श्रीमद्विद्यारण्यस्वामिविरचितः

बृहदारण्यकवार्त्तिकसारः

[द्वितीयो भागः]

श्रीओ०म०गोयनकासंस्कृतमहाविद्यालयाध्यक्षमहामहोपाध्याय-
पण्डितप्रवरश्रीहरिहरकृपालुद्विवेदिविरचितेन भाषानुवादेन

समेतः

श्रीमदच्युतग्रन्थमाला-विश्वनाथपुस्तकालयाध्यक्षेण पं० श्रीश्रीकृष्णपन्तशास्त्रि-
साहित्याचार्येण पं० श्रीमूलशङ्करशास्त्रिव्यासवेदान्ताचार्येण च

सम्पादितः

प्रकाशनस्थानम्—

अच्युतग्रन्थमाला-कार्यालयः

काशी

प्रथमावृत्तिः १०००]   सं० १९९९   [मूल्यम् ४॥)

प्रकाशक—
श्रेष्ठिप्रवर श्रीगौरीशङ्कर गोयनका
अच्युतग्रन्थमालाकार्यालय, काशी

श्रीलक्ष्मीनारायण प्रेसमें
ओम्प्रकाश कपूर द्वारा
मुद्रित

बृहदारण्यकवार्तिकसारके द्वितीय भागकी विषयसूची

द्वितीय अध्यायका द्वितीय ब्राह्मण [१३३८ – १३५०]

द्वितीय अध्यायका तृतीय ब्राह्मण [१३५१ – १४१०]

द्वितीय अध्यायका चतुर्थ ब्राह्मण [१४११ – १५३७]

विषय		पृष्ठ पंक्ति
'स एष नेति नेति' इत्यादि श्रुतिमें मतभेदसे पृथक्वाक्यत्व और एकवाक्यत्वका प्रदर्शन	...	१९१८ – ५
अष्टधा, पञ्चधा उपासनाका 'नेति नेति' वाक्यसे अपवाद	...	१९२३ – १
ब्राह्मत्व आदि धर्मोंका ब्रह्ममें अभावप्रदर्शन	...	१९२४ ३
शाकल्यको शाप देने और गार्गी आदिको शाप न देनेमें श्रीयाज्ञवल्क्यजीका तात्पर्यप्रदर्शन	...	१९३१ – १
'अथ होवाच ब्राह्मणा' इत्यादि श्रुतियाँ और उनका व्याख्यान	...	१९३३ – ३
ब्रह्मज्ञानी श्रीयाज्ञवल्क्यजीमें जिगीषा आदिके सद्भावमें हेतुकथन	...	१९४५ – १
'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' इत्यादि श्रुतिस्थ विज्ञानशब्दका विवेचन	...	१९४६ – ३
ब्रह्म परायण है, इस विषयका निर्वचन	...	१९५० – १
'जक्षन् क्रीडन् रममाणः' इत्यादि श्रुतिकी उपपत्ति	...	१९५९ – ३
'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' इत्यादि वाक्यके संसर्गार्थकत्वका खण्डन	...	१९६१ – १
ब्रह्मानन्दमें वेद्यत्वका खण्डन	...	१९६२ – २

चतुर्थ अध्यायका प्रथम ब्राह्मण [१९६५ – १९७८]

तृतीय अध्यायके साथ चतुर्थाध्यायकी सङ्गतिका प्रदर्शन	...	१९६७ – १
चतुर्थ अध्यायके छः ब्राह्मणोंके प्रतिपाद्य विषयोंका संक्षेपतः निर्देश	...	१९६८ – १
'यत्ते कश्चिदब्रवीत्' इत्यादि श्रुतियाँ और उनका व्याख्यान	...	१९६८ – ७

चतुर्थ अध्यायका द्वितीय ब्राह्मण [१९७९ – १९९७]

प्रथम ब्राह्मणके साथ द्वितीय ब्राह्मणकी सङ्गतिका कथन	...	१९७९ – २
'जनको ह वैदेहः कूर्चा०' इत्यादि श्रुतियाँ और उनका व्याख्यान	...	१९७९ – ४
गतिविषयक प्रश्नमें भर्तृप्रपञ्चके मतका अनुवादपूर्वक खण्डन	...	१९८३ – ५
प्राप्त ब्रह्मको प्राप्तिकी उपपत्ति	...	१९८५ – ३
जीवमें इन्द्रशब्दका उपपादन	...	१९८६ – २
संस्तावशब्दका निर्वचन	..	१९८७ – ७
इन्ध, तैजस आदिके तत्त्वका उपदेश	...	१९९१ – १
भयकी कारण अविद्याका विद्यासे ध्वंस होता है, यह प्रतिपादन	...	१९९३ – ३
याज्ञवल्क्यजीको जनकके आशीर्वाद-प्रदानमें हेतु-प्रदर्शन	...	१९९४ १

चतुर्थ अध्यायका तृतीय ब्राह्मण [१९९८ – २२५०]

द्वितीय ब्राह्मणके साथ तृतीय ब्राह्मणकी सङ्गतिका प्रदर्शन	...	१९९८ – २
आत्मामें देहादिभिन्नता, स्वप्रकाशता, असंगता आदिका स्वप्न-सुषुप्तिके प्रसंगसे विशेषरूपसे निरूपणकी प्रतिज्ञा	...	१९९९ – १
अविद्याध्वंसमें विद्याकी कर्मनिरपेक्षताका खण्डन	...	२०११ – ३

चतुर्थ अध्यायका चतुर्थ ब्राह्मण [२२५१ - २४२७]

अथ पञ्चमं ब्राह्मणम्

जीवतः कर्मकर्तृत्वलक्षणोऽनर्थ ईरितः ।
मृतस्याऽविदुषः कर्मफलानर्थ इहोच्यते ॥ १ ॥
पूर्वजन्मन्यनुष्ठाय कर्मोपास्ती अनात्मवित् ।
जगत् सप्तान्नरूपेण सृजत्युत्तरजन्मनि ॥ २ ॥

सङ्गतिका प्रदर्शन करनेके लिए पूर्वकथितका अनुवाद करके सप्तान्न ब्राह्मणका तात्पर्य कहते हैं—'जीवतः' इत्यादिसे ।

चतुर्थ ब्राह्मणमें जीवित अवस्थामें ऐहिक या आमुष्मिक फलके लिए विहित और निषिद्ध कर्मके कर्ताका कर्तृत्वलक्षण अनर्थ कह चुके हैं । अब पञ्चम ब्राह्मणमें मृत अविद्वान्के कर्म और ज्ञानके फलरूप अनर्थको कहते हैं । श्लोकमें 'कर्म' शब्द उपलक्षण है, अर्थात् कर्मशब्दसे वक्ष्यमाण ज्ञानका भी संग्रह समझ लेना चाहिए । पूर्व जन्ममें जीवका जैसा शुक्ल, कृष्णादि कर्म और ज्ञान होता है, उसीके अनुसार मरणके बाद पुनः अन्य शरीरके साथ उसका सम्बन्ध होता है और उसीके अनुसार जाति, आयु और भोग आदि फल भी मिलते हैं । सांसारिक उत्तम राज्य आदिके भोग भी परिणाममें विरस, विनाशी और बन्धनके हेतु होनेसे वेदान्तियोंके मतसे अनर्थ ही कहे जाते हैं ॥ १ ॥

'पूर्वजन्म०' इत्यादि । आत्माको न जाननेवाले संसारी पुरुष द्वारा अनुष्ठित पूर्व जन्मके कर्म और उपासना भेदज्ञानपूर्वक ही हैं, क्योंकि भेदज्ञानके बिना कर्मानुष्ठान या उपासना नहीं हो सकती। अन्ततः उपास्य और उपासकका भेद उपासनाके लिए आवश्यक ही होता है। 'अन्योऽसावन्योऽहमस्मीति नासौ वेद' इत्यादि श्रुतिसे उपासनज्ञान आविद्यिक है, यह निश्चित होता है । इन दोनोंका अनुष्ठान करके जीव भावी जन्ममें सप्तान्नरूपसे जगत्की सृष्टि करता है ।

शङ्का—विशिष्ट ज्ञान-क्रियासे युक्त सूत्रात्मा जगत्की सृष्टि कर सकता है, क्योंकि वह अप्रतिबद्ध ज्ञान-क्रियारूप शक्तिसे विशिष्ट है । जीवात्मा तो उक्त ज्ञान-क्रियारूप शक्तिसे शून्य है, अतः वह सृष्टि कैसे कर सकता है ? यदि वह स्रष्टा होता, तो अपने प्रतिकूल पदार्थोंकी सृष्टि क्यों करता ?

समाधान—जैसे सूत्रात्मा पूर्व जन्ममें विहित और अविहित ज्ञान और कर्म करता है और उसके प्रभावसे इस कल्पमें जगत्का स्रष्टा होता है, वैसे ही

जीव भी उक्त ज्ञान और कर्म द्वारा जगत्का स्रष्टा माना जाता है; पूर्वार्जित कर्मका भोग करनेके लिए ही आगेकी सृष्टि होती है; इसलिए जीवका अदृष्ट भी सृष्टिमें निमित्त है; अतएव भोगारम्भक अदृष्टके न रहनेपर भी प्रलय होता है; ऐसा माना जाता है। 'भुजि' (भोजनरूप) क्रिया जैसे भोक्ताके लिए होती है, वैसे ही (सृष्टि) भी भोक्ताके लिए ही होती है।

शङ्का—सर्ग (सृष्टि) भोक्ताके लिए है, यह ठीक है, किन्तु वह भोक्ताके अदृष्टसे हुआ है; यह कहनेकी क्या आवश्यकता है?

समाधान—जैसे जीवको दूसरेके शरीरसे सुख-दुःखका परिज्ञान नहीं होता, किन्तु अपने शरीर आदिसे ही होता है, क्योंकि अपना शरीर ही अपने अदृष्टसे बना है, अन्य शरीर नहीं, इस नियमके देखनेसे यह माना जाता है कि जो जिसके अदृष्टसे बना है, उसके द्वारा ही उसको उपभोग (सुख-दुःखका साक्षात्कार) होता है, दूसरेके द्वारा नहीं होता। जगत्के द्वारा जीवोंको उपभोग होता है, इसलिए जीवोंके अदृष्टसे ही जगत् बना है, यह मानना चाहिए।

शङ्का—यदि उक्त न्यायसे जीवोंके अदृष्टसे संसार बना है, तो शरीर, इन्द्रिय आदिके समान जगत् असाधारण हो जायगा; सर्वसाधारण नहीं हो सकेगा, किन्तु पृथिवी, जल आदि साधारण देखे जाते हैं।

समाधान—संपूर्ण कर्मोंके फल दो प्रकारके होते हैं—एक साधारण और दूसरा असाधारण। जैसे वर्षा और धूप, दिन तथा रात्रि आदि साधारण हैं, क्योंकि अनेक जीवोंके लिए तृप्तिकर वर्षा, सन्तापकर ग्रीष्मकी धूप, निद्रासुखके लिए रात्रि और कर्म करनेके लिए दिन होता है। 'रात्रिः स्वप्नाय भूतानां चेष्टायै कर्मणामहः' इत्यादि धर्मशास्त्र भी साधारण सर्गमें प्रमाण है। नावमें बैठे हुए अनेक प्राणियोंके दैवदुर्विपाकसे नाव डूब जाती है और 'कुपितकपिकपोलान्तर्गतोदुम्बरदंशमशकवत्' (क्रुद्ध वानरकी गालमें गये हुए गूलरके फलमें जो मच्छर हैं, वे सब दुर्दैवसे मर जाते हैं) इत्यादि दृष्टान्तोंसे अनेक प्राणियोंके अदृष्टसे साधारण कार्य भी होता है यह मानना पड़ेगा और शरीर, इन्द्रिय आदि असाधारण कार्य तो प्रसिद्ध ही हैं।

सारांश यह है कि अदृष्टसे तीन प्रकारके कार्य होते हैं साधारण, असाधारण और उभयात्मक। साधारण नृत्यादि हैं, क्योंकि अनेक जीव एक समयमें उसे देख सकते हैं और तज्जन्य आनन्दका अनुभव करते हैं। असाधारण अपने पुत्रके अवलोकनसे जनित सुख है और उभयात्मक रमणीय बगीचा आदिके दर्शनसे

चतुर्थब्राह्मणप्रोक्तं यद्यपि ज्ञानकर्मणोः ।
फलं तथापि वैषम्यमस्ति जीवेशरूपतः ॥ ३ ॥
उत्कृष्टज्ञानकर्मभ्यां वैराजं पदमाप्य यत् ।
जगत् सृजति तत्प्रोक्तं चतुर्थब्राह्मणे पुरा ॥ ४ ॥
निकृष्टज्ञानकर्मभ्यां मनुष्यादिपदं गतः ।
स्वभोग्यं सृजते यत्तत्पञ्चमेऽस्मिन्नुदीर्यते ॥ ५ ॥
सृष्ट्या क्रीडत्यविश्रान्त ऐन्द्रजालिकवद्विराट् ।
स्वप्नदृष्ट्येव विश्रान्तः सृष्ट्या क्लिश्नाति मानवः ॥ ६ ॥

होनेवाला सुख है । अतः यह सिद्ध हुआ कि साधारणरूपसे, असाधारणरूपसे तथा उभयरूपसे कर्मफलभोगके लिए ही जगत् है । यह सर्ग अदृष्टवश एक-एक प्राणी द्वारा भी बना है । इसी अभिप्रायसे मधुविद्याके प्रसङ्गमें इस सिद्धान्तको कहेंगे कि सब सबके कर्ता हैं और कार्य भी हैं ॥ २ ॥

'चतुर्थ०' इत्यादि। यद्यपि चतुर्थ ब्राह्मणमें ज्ञान और कर्मोंके फलोंका निरूपण हो चुका है, तथापि पञ्चम ब्राह्मणमें फिर उन्हींका निरूपण करते हैं, इसलिए पुनरुक्त दोष होगा, इस शङ्काका निराकरण—'जीवेशरूपतः' इस शब्दसे करते हैं अर्थात् चतुर्थ ब्राह्मणमें ईश्वरके ज्ञान और कर्मके फलोंका निरूपण किया गया है और इस पञ्चम ब्राह्मणमें जीवके ज्ञान और कर्मोंके फलोंका निरूपण किया जायगा; अतः पूर्वकी अपेक्षा इसमें यह भेद है, इसलिए उक्त दोषकी प्राप्ति नहीं है ॥ ३ ॥

वैषम्यको ही स्फुट करते हैं—'उत्कृष्ट०' इत्यादिसे ।

उत्कृष्ट याने अतिप्रशस्त ज्ञान (प्राणादिकी उपासनासे होनेवाला तथा सम्पूर्ण पदार्थोंको विषय करनेवाला अप्रतिबद्ध यथार्थ ज्ञान) और अश्वमेधादि याग-जन्य अदृष्ट—इन दोनोंके द्वारा विराट्के स्थानको प्राप्त कर जिसने जगत्की सृष्टि की है, वह पहले, चतुर्थ ब्राह्मणमें, कहा गया है, अतः उसको यहाँ नहीं कहते; इसलिए पुनरुक्त दोषकी प्रसक्ति नहीं है । किन्तु उक्त ज्ञान और कर्मकी अपेक्षासे निकृष्ट ज्ञान और कर्म द्वारा मनुष्यभावको प्राप्त हुआ जीव, जो कि अपने भोगके अनुकूल अनेक पदार्थोंकी सृष्टि करता है, उसीको इस पञ्चम ब्राह्मणमें कहते हैं ॥ ४, ५ ॥

साधन-वैषम्य कहकर फल-वैषम्य कहते हैं—'सृष्ट्या' इत्यादिसे ।

येन यद् दृश्यते तत्तु तेन सृष्टं स्वकर्मणा।
दृश्यस्य भ्रान्तिरूपत्वाद्दर्शनं सृष्टिरुच्यते॥ ७॥

जैसे ऐन्द्रजालिक (जादूगर) सर्प आदि और दूसरेका सिर काटना आदि विविध दुःखप्रद वस्तुएँ उत्पन्न करके उन्हें दूसरोंको दिखलाता है और वे भयप्रद कर्मोंको सत्य समझकर दुःखी होते हैं; किन्तु जादूगर उन कर्मोंको मिथ्या समझकर स्वयं दुःखी नहीं होता, वह तो उन कर्मोंसे दूसरेको व्यर्थ दुःखी देखकर खेलता है, खेलके सुखका अनुभव करता है, वैसे ही विराट् अविश्रान्त तथा श्रमशून्य होकर मायाके सदृश विविध क्लेशप्रद पदार्थोंकी सृष्टि कर उससे आमोद-प्रमोद ही करता है, स्वयं अणुमात्र भी क्लेश नहीं करता। वस्तुतः अभ्रान्तमें क्लेशका कारण भी तो कोई नहीं है और भ्रान्त जीव उन वस्तुओंको यथार्थ मानकर स्वयं क्लेशका अनुभव करता है। जैसे स्वप्नमें व्याघ्रको देखकर भयभीत होता है, वस्तुतः व्याघ्र और उसके दर्शनके उस कालमें मिथ्या होनेपर भी उनको सत्य समझकर ही दुःखी होता है। यदि उस कालमें यह प्रतीत हो जाय कि यह स्वप्न है, अतएव मिथ्याज्ञान है तो दुःख नहीं होता, अगर होता है तो थोड़ा होता है, ऐसा प्रायः स्वप्नमें देखा जाता है, इसीलिए ज्ञानियोंको इष्टवियोग आदिसे उतना दुःख नहीं होता जितना कि अज्ञानियोंको होता है। 'आहेदं मिथिलादाहे न मे किञ्चन दह्यते' इत्यादि वचन भी इस अर्थके ही पोषक हैं। 'मानव' शब्द संसारी जीवमात्रका उपलक्षण है। मनुष्योंका ही शास्त्रमें अधिकार है, इसलिए मानव कहा।

शङ्का—ईश्वर साक्षात् तथा विराट्के द्वारा जगत्का स्रष्टा है; यह श्रुति, स्मृति तथा पुराण आदिसे ज्ञात है। तथा युक्तिसे भी तार्किक कहते हैं—सर्वज्ञ एवं सर्वशक्तियुक्त ईश्वरसे ही सृष्टि होती है, सम्भव भी यही है; अतः आप जीवोंसे सृष्टि कैसे कहते हैं? जीव तो स्वयं सर्गके अन्तर्गत है। कार्य ही तो अपना कारण नहीं हो सकता। ईश्वरसृष्ट प्रपञ्चसे अतिरिक्त दूसरा प्रपञ्च प्रत्यक्षसिद्ध भी नहीं है, जिससे कि अमुक प्रपञ्च ईश्वरसृष्ट है और अमुक जीवसृष्ट है, यह कह सकें। एक ही ईश्वर द्वारा सृष्ट प्रपञ्च देखते हैं, उसको जीवसृष्ट कैसे कहते हो? ॥६॥

समाधान—'येन' इत्यादिसे।

जो जिसको देखता है, उसके कर्मसे वह बना है, ऐसा माना

सृष्टं जगद्विराजेदं सदेवपशुमानुषम् ।
मर्त्येनाऽपि जगत्सृष्टं सविराण्नरदेवतम् ॥ ८ ॥

जाता है; दृश्य भ्रान्तिस्वरूप है। दर्शन ही वस्तुतः सृष्टि है। जो पुरुष प्रातिभासिक शुक्तिरजत आदि देखता है; उसीके अदृष्टसे शुक्तिशकलमें प्रातिभासिक रजतकी उत्पत्ति मानी जाती है। प्रतिभासमात्रस्वरूप होनेसे वह भानके समय तक ही रहता है और भाननिवृत्तिके साथ ही निवृत्त हो जाता है। जगत् यद्यपि वैसा नहीं है, किन्तु कल्पान्तस्थायी है; तथापि जगत्के दो आकार हैं—एक ईश्वरसृष्ट, जो सर्वसाधारण तथा उक्त काल तक स्थायी है। दूसरा आकार हेयोपादेयत्वादि है, यह जीवसृष्ट है और स्वाप्निक दृश्यके समान प्रातिभासिक है। हेयत्व आदिके ज्ञानके कालमें ही हेयत्व आदिके आकारसे जगत् रहता है, इसलिए इस आकारसे जगत् जीवकर्तृक माना जाता है। इस विषयका दृष्टिसृष्टिवादमें विशेषरूपसे निरूपण किया गया है, यहाँ विस्तारके भयसे इस विषयमें विस्तार नहीं किया जाता ॥ ७ ॥

'सृष्टम्' इत्यादि। यद्यपि देवता, पशु, मनुष्य आदिसे युक्त जगत् स्वरूपतः तो विराट्से बना है तथापि भोग्याकार, उपादेयत्वाकार आदिसे विशिष्ट कार्यकारणात्मक विराड्, नर और देवताके सहित सम्पूर्ण जगत् जीवका बनाया है।

भाव यह है कि सुवर्ण द्रव्यका स्वरूप विराट्ने बनाया है। वह स्वतः किसीको सुख या दुःख नहीं देता। जीवने उसमें उपादेयस्वभावकी सृष्टि की है इस कारण पानेवालेको सोना सुख देता है और न पानेवालेको दुःख देता है; जिनकी उसमें उपादेयताबुद्धि नहीं है; जैसे वीतराग अथवा पशु आदि, उनको सोना न सुखप्रद होता है और न दुःखप्रद ही होता है। इसी प्रकार हर एक विषयमें दृष्टि देनी चाहिए। समष्टिस्वरूप विराट् स्वयं तत्तत् आकारोंमें स्वप्नके समान नानाविध देवता, पशु, मनुष्य आदिको देखता है और व्यष्ट्यात्मा मनुष्य आदि अपनेको यथार्थ संसारी मानकर दुःखादि भोगते हैं और उसकी निवृत्तिके लिए विराडादि देवताओंकी कल्पना कर उनकी उपासना करते हैं। वस्तुतः उपासक उपास्यसे व्यतिरिक्त तत्त्व नहीं है, केवल भ्रान्तके समान वह उसे अतिरिक्त मानता है और पशु आदिको अपनेसे निकृष्ट मानकर अपने स्वार्थकी सिद्धिके लिए उसने उनको अपने सुखका साधन बना लिया है। और देवताओंकी, उपासना आदिके

तेन तेनेक्षितः स्वप्नस्तत्तत्कर्मानुसारतः ।
सुखदुःखे तस्य तस्य यथा दत्ते तथा जगत् ॥ ९ ॥

द्वारा, प्रसन्नता चाहता है, उसीके लिए याग, दान, होम आदि श्रौत-स्मार्त कर्मोंका अनुष्ठान करता है। उनके कोपका परिहार करनेके लिए निषिद्ध कर्मोंका त्याग करता है। वही कर्मी कहा जाता है ॥८॥

उक्त रीतिसे जगत् जीव द्वारा बना है, इसका उपपादन करके जीवसृष्ट ही जगत् जीवके सुख-दुःखका निदान है, ऐसा दृष्टान्तके साथ कहते हैं— 'तेन तेने०' इत्यादिसे ।

अपने-अपने कर्मोंके अनुसार मनुष्य जैसा-जैसा सुस्वप्न अथवा दुःस्वप्न देखता है, वह सुस्वप्न या दुःस्वप्न मनुष्यको वैसा सुख अथवा दुःख देता है ।

तात्पर्य यह है कि जीवकी जागर, स्वप्न और सुषुप्ति—ये तीनों अवस्थाएँ भोगार्थ ही हैं। भोगका मूल अदृष्ट है। जाग्रत् अवस्थामें सुख आदिका भोग जैसे धर्मादिके अधीन है अर्थात् जिसका जैसा धर्म्मादिका प्राचुर्य होता है, उसको वैसा सुखादिका प्रचुर भोग प्राप्त होता है, वैसे ही स्वाप्निक सुखादि भी अदृष्टमूलक हैं। अदृष्टके भेदसे ही सुस्वप्न और दुःस्वप्न हुआ करते हैं। भेद केवल इतना ही है कि जाग्रत्कालिक सुखादि और उसके साधन चिरस्थायी होते हैं और स्वाप्निक सुख और उसके साधन चिरस्थायी नहीं होते। उसमें भी मूल कारण धर्मा-धर्म ही हैं। जिसका दुःखमय जीवन बितानेके योग्य अदृष्ट है, किन्तु मध्यमें राज्यका उपभोग करने योग्य स्वल्प शुभ अदृष्ट भी है और उसके विकासका समय भी वही है, परन्तु एक समयमें दोनों हो नहीं सकते, इसलिए क्षणिक राज्य-सुखोपभोगके लिए योग्य शुभ अदृष्टवश उसको स्वप्नमें ही राज्य मिल जाता है। 'अथ रथान् रथयोगान् पथः सृजते' इत्यादि श्रुतिसे यह तो स्पष्ट ही है कि माया तत्-तत् कर्मोंके अनुसार स्वप्नमें भी सृष्टि करती है। वह मनुष्यकी स्वाप्निक सृष्टि है; इसलिए क्षणस्थायी है और यह हिरण्यगर्भकी स्वाप्निक सृष्टि है, इसलिए चिरस्थायी है। इसी प्रकार सुखमय जीवनादृष्टक बाहुल्यकी दशामें स्वल्प दुरदृष्टवश दुःखोपभोग भी होता है। उक्त रीतिसे दोनोंका एक समयमें अस्तित्व हो नहीं सकता; इसलिए मध्यमें स्वल्प दुःख भोगनेके लिए माया स्वप्नमें राज्य आदि इष्टके वियोग आदिको उत्पन्न करती है, जिससे मनुष्यको

ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तं जीवानां स्रष्टृता समा ।
सप्ताऽन्नान्यत्र मूढोऽतः सृजतीत्यभिधीयते ॥ १० ॥
एकं व्रीहियवाद्यन्नं सर्वसाधारणं तु तत् ।
द्वे दर्शपूर्णमासाख्ये देवानामेव ते मते ॥ ११ ॥
क्षीरमेकं पशूनां तत् मनोवाक्प्राणरूपकम् ।
अन्नत्रयं चिदात्मार्थं तेन व्यवहरत्ययम् ॥ १२ ॥

उस कालमें दुःख भोगना पड़ता है; वस्तुतः अज्ञानवश ही दोनों भोग होते हैं, इसलिए सांसारिक सुख भी स्वाप्निक सुखके समान हेय ही है ।

'ब्रह्मादि०' इत्यादि । सब जीव समानरूपसे हिरण्यगर्भसे लेकर अतिलघु प्राणी और स्तम्ब तक जङ्गम-स्थावर सृष्टि करते हैं अर्थात् सबके अदृष्टसे संसारका आरम्भ है—सब प्राणी अपने अपने अनुकूल हेयोपादेयत्वादि आकारकी सृष्टि करते हैं । उभयाकार जगत् है, यह पूर्वमें कह चुके हैं; इसी तात्पर्यसे स्रष्टृता सबमें समान है, ऐसा कहा । अब संसारी मूढ़ जीव सात अन्नोंकी सृष्टि करता है, यह विशेष कहते हैं ॥ १० ॥

'एकम्' इत्यादि । सात अन्नोंमें एक अन्न व्रीहि, यव आदि लोकमें प्रसिद्ध है, जिसको सब प्राणी प्रतिदिन खाते हैं । वह सर्वसाधारण अन्न है, क्योंकि मनुष्य, पशु, पक्षी आदि सब प्राणी उसे खाते हैं । और दो दर्शपौर्णमास नामक अन्न देवताओंके लिए हैं । इन दोनों अन्नोंका देवता ही भक्षण करते हैं, दूसरे प्राणी भक्षण नहीं करते, इसलिए ये दोनों उन्हींके अन्न हैं ॥ ११ ॥

'क्षीरमेकम्' इत्यादि । क्षीर (दूध) पशुओंका अन्न है । क्षीर तो मनुष्योंका भी अन्न है, क्योंकि उत्पन्न बालक पशुके बच्चेके सदृश क्षीरका ही पान करता है; अनन्तर व्रीहि, यव आदिका भक्षण करता है, पशु भी तो अनन्तर तृणादि खाता ही है, फिर दूध पशुओंका ही अन्न है, यह कैसे कहा ? इसका उत्तर श्रुतिकी व्याख्याके समय कहेंगे । मन, वाक् और प्राण—ये तीनों अन्न चिदात्माके हैं । ये तीनों अन्न फल हैं और कर्म द्वारा पूर्वोक्त चार अन्न—इन तीनों फलोंके साधन हैं । यागादि कर्मोंके द्वारा प्रशस्त मन, वाक् और प्राण प्राप्त होते हैं । मन आदि तीनोंसे चिदात्मा व्यवहार आदि कर्म करता है ॥ १२ ॥

नन्वन्नान्यत्र भुज्यन्ते कुसूलस्थितधान्यवत् ।
कस्मात्तेषां क्षयो न स्यादिति चेत्तदुदीर्यते ॥ १३ ॥
भुञ्जानः पुरुषो भूयः करोति ज्ञानकर्मणी ।
शास्त्रीये अप्यशास्त्रीये अनुच्छिन्नं ततो जगत् ॥ १४ ॥
एवं प्रबन्धरूपेण साध्यसाधनलक्षणम् ।
अविद्यावृतदृष्टीनां जगन्नित्यमिवेक्ष्यते ॥ १५ ॥
इह जन्मनि कर्तृत्वं भाविजन्मनि भोक्तृता ।
पुनस्तत्राऽपि कर्तृत्वं तत ऊर्ध्वं च भोक्तृता ॥ १६ ॥

शङ्का—'नन्व०' इत्यादि। जब प्राणी प्रतिदिन अन्न खाते हैं, तब कुसूल-स्थ (कोठेमें स्थित) अन्नके समान उनका क्षय क्यों नहीं होता? जैसे कोठीमें जो धान्य आदि रहता है, उसका नित्य खर्च करनेसे उसकी समाप्ति हो जाती है; इसीलिए पुनः कोठी अन्नसे भरनी पड़ती है ॥ १३ ॥

समाधान—'भुञ्जानः' इत्यादि। पूर्वकृत कर्मफलोंका उपभोग करता हुआ पुरुष फिर भी ज्ञान-कर्म करता ही है, चाहे वह शास्त्रीय हो या अशास्त्रीय। कुछ किये बिना तो कोई भी भोक्ता नहीं हो सकता; पूर्व कर्मोंके फलके उपभोगके समय जिन कायिक, वाचिक, मानसिक शास्त्रीय या अशास्त्रीय कर्मोंको प्राणी करता है, वे ही जन्मान्तरके लिए अन्नका उत्पादन करते हैं, अतः उत्तरोत्तर अन्नके उत्पादनसे कभी भी अन्नका निश्शेष क्षय नहीं हो सकता ॥१४॥

'एवं प्रबन्ध०' इत्यादि। उक्त प्रकारसे फलके उपभोगके समयमें कर्मानुष्ठान आवश्यक होनेसे पूर्व-पूर्व कर्म साधन हैं और उत्तरोत्तर फल (अन्न) साध्य है। इन साध्य-साधनोंका पूर्वोत्तरभावसे प्रवाह घटीयन्त्रके समान विच्छिन्न नहीं होता; प्रत्युत भोगक्षयसे अन्नका उपचय ही अधिक होता जाता है; अतएव जिनका दर्शन अविद्यासे आवृत है अर्थात् जो तात्त्विक ज्ञानसे शून्य हैं; उनकी दृष्टिसे जगत् नित्य ही प्रतीत होता है; ज्ञानीके कर्म बन्धक नहीं होते। 'प्रवृत्तयोऽप्यात्ममयप्रकाशान् नश्यन्ति नश्यन्तिमदेहगासान्' इस श्लोकके अनुसार तत्कृत कर्म बन्धक नहीं होते, इसलिए उनकी दृष्टिसे संसार निःसार तथा अनित्य है; क्योंकि उनके लिए आगे अन्न नहीं बनता ॥ १५ ॥

'इह जन्मनि' इत्यादि। इस जन्ममें याने वर्तमान जन्ममें जैसा कर्म-

तत्र कर्तृत्वविस्तारः पूर्वब्राह्मण ईरितः ।
इह भोक्तृत्वविस्तार इत्यविद्या द्विधोदिता ॥ १७ ॥

श्रुतिः ॥ यत्सप्तान्नानि मेधया तपसाजनयत्पिता । एकमस्य साधारणं द्वे देवानभाजयत् । त्रीण्यात्मनेऽकुरुत पशुभ्य एकं प्रायच्छत् । तस्मिन् सर्वं प्रतिष्ठितं यच्च प्राणिति यच्च न । कस्मात्तानि न क्षीयन्तेऽ-

---

कर्तृत्व है, उससे आगेके जन्ममें वैसा ही कर्मफल-भोक्तृत्व होता है। फिर उत्तर जन्ममें फलके भोगके समय जो कर्तृत्व होगा, उसीसे उसके आगेके जन्ममें भी भोक्तृत्व होता है; इस प्रकार कर्तृत्व और भोक्तृत्वका प्रवाह निरन्तर चलता ही रहता है ॥१६॥

'तत्र कर्तृत्व०' इत्यादि । पूर्व ब्राह्मणमें कर्तृत्व आदिका निरूपण विस्तारसे किया गया है और इस ब्राह्मणमें भोक्तृत्वका विस्तारसे निरूपण होगा, इस तरह कर्तृत्व और भोक्तृत्वके भेदसे अविद्या दो प्रकारकी कही गई है ॥ १७ ॥

'यत्सप्तान्नानि' इत्यादि श्रुतिका अर्थ—यहाँ पिताशब्दसे संसारी जीव और मेधाशब्दसे ज्ञान विवक्षित है। यद्यपि ग्रन्थके अर्थकी अवधारणशक्तिको मेधा कहते हैं; अतएव अमरकोशमें 'धीर्धारणावती मेधा' धीविशेषका वाची मेधाशब्द देखा जाता है; तथापि जगत्की सृष्टिके लिए उक्त मेधाका उपयोग नहीं हो सकता, इसलिए प्रकृतमें उसका ज्ञानमात्र अर्थ ही अभीष्ट है, चाहे वह शास्त्रीय हो या लौकिक। उत्कृष्ट और अपकृष्ट पदार्थोंके लिए साधनरूपसे दोनों अपेक्षित हैं। एवं 'तप' शब्दसे कर्ममात्रका ग्रहण इष्ट है; कृच्छ्र, चान्द्रायण आदिका ग्रहण इष्ट नहीं है। निष्कर्ष च यह हुआ कि पिता जीवात्माने ज्ञान और कर्मसे सात अन्नोंकी सृष्टि की है। मन्त्रका अर्थ प्रायः आवृत रहता है; इसलिए उसके अर्थको स्फुट करनेके लिए उत्तर ब्राह्मण स्वयं प्रवृत्त होता है। पिताने जिन सात अन्नोंकी सृष्टि की है, उनका विभाग और स्पष्टीकरण इस प्रकार है—धान, जौ आदि नामसे प्रसिद्ध जिस अन्नको प्रतिदिन प्राणी खाते हैं, वह सब प्राणियोंके लिए साधारण अन्न है। उन सात अन्नोंमें से दो अन्न देवताओंको दिये और तीन अन्न अर्थात् वाक्, मन और प्राण अपने लिए रक्खे। पशुको एक अन्न (क्षीर) दिया। इसीमें (पशुके अन्न दूधमें)

द्यमानानि सर्वदा । यो वैतामक्षितिं वेद सोऽन्नमत्ति प्रतीकेन । स देवानपिगच्छति स ऊर्जमुपजीवतीति श्लोकाः ॥ १ ॥

सब संसार प्रतिष्ठित है। जो सांस लेते हैं और जो नहीं लेते, वे सब दूधमें प्रतिष्ठित हैं।

प्रश्न—कैसे ?

उत्तर—अग्निहोत्र आदि कर्मोंका कारण दूध है और उनका परिणामस्वरूप जगत् है, यह श्रुति, स्मृति, इतिहास और पुराण आदिमें प्रसिद्ध है ।

शङ्का—यदि सब प्राणी इन अन्नोंको खाते हैं, तो कुसूलस्थ (कुठलामें स्थित) अन्नके समान इनका क्षय क्यों नहीं होता ?

समाधान—इस शङ्काका पहले ही समाधान कर चुके हैं तथा आगेके ब्राह्मणमें भी करेंगे। चूँकि अन्न सब प्राणियोंकी स्थितिका हेतु है, अतएव सर्वसाधारण अन्नकी उपासना करता है। यहाँ उपासनाका अर्थ है—तत्परता, अर्थात् अपना ही समझकर केवल अपने काममें लाता है। जो अन्नसे बलि, वैश्वदेव आदि अदृष्टफलक कर्मोंको न कर केवल अपने उदरकी पूर्ति करता है; वह पापसे (अधर्मसे) युक्त होता है। यही 'मोघमन्नं विन्दते'* इत्यादि मन्त्र भी कहते हैं। स्मृतियोंमें भी केवल अपने लिए अन्नके पाककी निन्दा है—'नात्मार्थं पाचयेदन्नम्', 'तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः', 'अन्नादे भ्रूणहा मार्ष्टि'† ।

‡'अदत्वा तु य एतेभ्यः पूर्वं भुङ्क्तेऽविचक्षणः ।
स भुञ्जानो न जानाति श्वगृध्रैर्जग्धिमात्मनः ॥
देवान् ऋषीन्मनुष्यांश्च पितॄन्गृह्याश्च देवताः ।

---

* देवता द्वारा जिस अन्नका भोग नहीं होता, ऐसे अन्नको यदि ज्ञानशून्य पुरुष प्राप्त करता है, तो वह निष्फल है ।

† 'केवल अपने लिए अन्नका पाचन नहीं करना चाहिए', 'देवताओं द्वारा प्राप्त अन्न देवताओंको समर्पण किये बिना जो अपने काममें लाता है, वह चोर है', 'भ्रूण ब्राह्मणका विनाश करनेवाला (ब्राह्मणघाती) जिसको अपना अन्न देता है, उससे अपने पापका शोधन करवाता है'।

‡ सुवासिनी, कुमारी और रोगी आदिको अन्न न देकर जो बुद्धिहीन पुरुष केवल अपने आप अन्नका भक्षण करता है, वह यह नहीं जानता है कि हमको इस पापसे आगे जाकर कुत्ते, गिद्ध आदि नोच डालेंगे। देवता, ऋषि, मनुष्य, पितर और घरके देवता—इन सबका

यत्सप्तान्नानि मेधया तपसाजनयत्पितेति मेधया हि तपसाजनयत्पिता । एकमस्य साधारणमितीदमेवास्य तत्साधारणमन्नं यदिदमद्यते । स य एतदुपास्ते न स पाप्मनो व्यावर्तते मिश्रꣳह्येतत् ।

पूजयित्वा ततः पश्चाद् गृहस्थः शेषभुग् भवेत् ॥
अघं स केवलं भुङ्क्ते यः पचत्यात्मकारणात् ।
यज्ञशिष्टाशनं ह्येतत् सतामन्नं विधीयते ॥
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात् ।' इत्यादि ।

शङ्का—क्यों पापसे मुक्त नहीं होते ?

समाधान—अन्नरूप धनमें केवल अपना ही स्वत्व नहीं है; किन्तु उसमें सबका स्वत्व है; अतः विभाग किये बिना जो केवल स्वयं भोजन करता है, वह पापसे कैसे मुक्त हो सकता है ? मनुष्योंका दुष्कृत अन्नमें रहता है; अतः उसका विभाग अवश्य करना चाहिए । अन्नको असाधारण मानना महापाप है । अन्न सर्वसाधारण है, इसमें प्रत्यक्ष भी प्रमाण है—जब कोई भोजन करता रहता है और उसके समीपमें कोई भूखा खड़ा रहता है, तब उस भूखे पुरुषको यह सोचकर दुःख होता है कि ये ग्रास मेरे मुँहमें क्यों नहीं पड़ते ? इस तरह हर एक भूखे प्राणीकी आशा उसमें लगी रहती है; अतः दूसरेको दुःखी कर भोजन करना ठीक नहीं है । दो अन्न देवताओंके लिए हैं—हुत और प्रहुत । अग्निमें जो हवन होता है, उसको हुत कहते हैं और हवन करनेके अनन्तर जो बलि दी जाती है; उसको प्रहुत कहते हैं । ये दोनों अन्न पिताने देवताओंको दिये, इसलिए इस समय भी गृहस्थ लोग देवताओंके उद्देश्यसे हवन करते हैं और हवनके बाद बलिहरणसे प्रहुत भी करते हैं ।

इस विषयमें मतान्तर कहते हैं—भर्तृप्रपञ्चका मत यह है कि प्रतिदिन गृहस्थ लोग जिस अन्नसे अग्निमें वैश्वदेवनामक हवन कर्म करते हैं,

---

पहले अन्नादिसे पूजन करके गृहस्थ अविशिष्ट अन्नका भक्षण करे । चूँकि सज्जन मनुष्योंके लिए देवताओंके यज्ञसे अवशिष्ट अन्नका ही भक्षण श्रुति आदिसे सम्मत है, इसलिए जो पुरुष केवल अपने लिए अन्नका पाककर भक्षण करता है, वह अन्नका भक्षण नहीं करता, किन्तु केवल पापका ही भक्षण करता है ।

द्वे देवानभाजयदिति हुतं च प्रहुतं च तस्माद्देवेभ्यो जुह्वति च प्र च जुह्वत्यथो आहुर्दर्शपूर्णमासाविति तस्मान्नेष्टियाजुकः स्यात् । पशुभ्य

वही अन्न सर्वसाधारण है, अतः उसीके विषयमें यह नियम है कि विभागके बिना भक्षण नहीं करना चाहिए। पर यह मत ठीक नहीं है, कारण कि वैश्वदेव नामक अन्न सर्वसाधारण नहीं है; वह तो केवल वैश्वदेवके लिए ही है। सर्वसाधारण अन्नके बारेमें ही यह कहा गया है कि 'यदिदमद्यते'। अतः वैश्वदेवान्नका ग्रहण करनेपर उक्त वचन अनुकूल नहीं होता है, क्योंकि सब प्राणियों द्वारा जो अन्न खाया जाता है, उसके अन्तर्गत वैश्वदेव नामक अन्न है। पर कुत्ते, चाण्डाल आदि जिस अन्नका भक्षण करते हैं, उसके अन्तर्गत वैश्वदेवाख्य अन्न नहीं भी देखा जाता, अतः 'यदिदमद्यते' इससे उसका ग्रहण नहीं कर सकते। यदि इसका ग्रहण नहीं होगा, तो यह अन्न पितृसृष्ट तथा सर्वसाधारण-रूपसे विनियुक्त नहीं हो सकेगा और वैश्वदेवाख्य शास्त्रीय कर्म करनेसे पापसे विमुक्ति नहीं होगी, यह कहना भी उचित नहीं है; क्योंकि वैश्वदेव नामक कर्म श्येनयागके समान अनर्थ फल देनेवाला नहीं है। जैसे श्येनका अनुष्ठान 'मा हिंस्यात्' इस श्रुतिसे निषिद्ध है; वैसे वैश्वदेवके अनुष्ठानका निषेध किसी श्रुतिसे नहीं है। मत्स्यके बन्धन आदिके समान स्वभावतः यह कर्म जुगुप्सित भी नहीं है, कारण कि वैश्वदेवाख्य कर्म शिष्टाचारका विषय है, इसलिए उसके न करनेमें प्रायश्चित्तकी श्रुति है—'अवश्यं याति तिर्यक्त्वं जग्ध्वा चैवाहुतं हविः' (वैश्वदेव किये बिना जो अन्न खाता है, वह पशु पक्षी हो जाता है) इससे वैश्वदेव न करनेसे दुरित होता है, यह श्रुति स्पष्ट कहती है; इसलिए वैश्वदेव करनेवालेको पापका लेश भी नहीं होता। फिर इसके करनेसे पापसे मुक्ति नहीं होती, यह कहना सर्वथा असंगत है। यदि इससे अतिरिक्त सर्वसाधारण अन्नका ग्रहण करें, तो तत्परकी (केवल स्वोदरम्भरिकी) निन्दाके लिए यह वचन अनुकूल होता है; इसलिए प्रकृतमें सर्वसाधारण अन्नका ही ग्रहण है, केवल वैश्वदेवान्नका नहीं।

श्रुति भी कहती है कि 'अहमन्नमन्नमदन्तमद्मि' अर्थात् विभागशः अर्थियोंको अन्न न देकर जो स्वयं अन्न भोजन करता है, उसको हम अन्न ही खिलाते हैं अर्थात् वह अनर्थका भागी ही होता है।

एकं प्रायच्छदिति तत्पयः । पयो ह्येवाग्रे मनुष्याश्च पशवश्चोपजीवन्ति तस्मात्कुमारं जातं घृतं वै वाऽग्रे प्रतिलेहयन्ति स्तनं वानु धापयन्त्यथ वत्सं जातमाहुरतृणाद इति । तस्मिन् सर्वं प्रतिष्ठितं यच्च प्राणिति यच्च

मतान्तर कहते हैं—'अथो' इत्यादिसे । देवताओंके लिए जो दो अन्न दिये गये हैं, वे हुत और प्रहुत नहीं हैं, किन्तु दर्श-पूर्णमासरूप दो अन्न हैं, यद्यपि द्वित्व संख्या दोनोंमें समान है याने हुत और प्रहुत दो हैं और दर्श और पूर्णमास भी दो हैं। दो ही अन्न देवताओंको दिये गये हैं, इसलिए हुत और प्रहुतका ग्रहण नहीं करना चाहिए, किन्तु दर्श और पूर्णमासका ही ग्रहण करना चाहिए, यह नहीं बन सकता, तथापि दर्श-पूर्णमासरूप ही दो अन्न लेने चाहिएँ, क्योंकि उसमें मूल यह है कि हुत और प्रहुत स्मार्त हैं और दर्श और पौर्णमास श्रौत हैं। स्मार्तकी अपेक्षा श्रौत प्रधान होता है। गुण और प्रधानकी प्राप्तिमें प्रधान ही पहले बुद्धिमें आरूढ होता है। प्रथम उपस्थित योग्यका ही ग्रहण करना उचित है, इसलिए दर्श-पूर्णमासका ही ग्रहण युक्तिसंगत है। स्मृतिकी अपेक्षा श्रुति प्रबल है, इसलिए उसका ग्रहण विफल भी नहीं हो सकता और 'नेष्टियाजुकः' इत्यादि वाक्यसे यह कहा गया है कि दर्श और पूर्णमास देवान्न हैं, इसलिए इष्टि कामनाके लिए नहीं करनी चाहिए।

शङ्का—यदि कामनार्थ यह इष्टि नहीं है, तो 'दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेत स्वर्गकामः' इत्यादि श्रुति विरुद्ध होगी, क्योंकि स्वर्ग तो काम्य ही है।

समाधान—'याजुक' यहां 'उकञ्' प्रत्यय ताच्छील्य अर्थमें आया है, काम्य इष्टिका नियमसे यजन करनेवाला नहीं होना चाहिए, यह तात्पर्य है, अन्यथा देव-प्रधान दर्शपूर्णमासका अनुष्ठान ही विरल हो जायगा; इससे देवप्रधान दर्शपूर्णमास अवश्य करे और कभी स्वर्गार्थ भी उक्त याग करे, यह परम तात्पर्य सिद्ध होता है, इसलिए उक्त वाक्यसे विरोध नहीं हो सकता। तीन अन्न अपने लिए किये। इस विषयका विस्तार अधिक है, अतः पाठक्रमका उल्लंघन कर अल्पविषयक 'पशुभ्य एकम्' इस मन्त्रपदकी व्याख्या करते हैं—पशुओंको एक अन्न दिया, वह है—पय याने दूध। जन्मके अनन्तर सबसे पहले मनुष्य और पशु दूधका ही आहार करते हैं, अतएव उत्पन्न बालकको जातकर्ममें पहले घृत ही चटाते हैं।

शङ्का—'एकम्' इत्यादि मन्त्रकी व्याख्याके अनन्तर 'त्रीणि' इत्यादि मन्त्रका

नेति पयसि हीद्ँसर्वं प्रतिष्ठितं यच्च प्राणिति यच्च न। तद्यदिदमाहुः

व्याख्यान क्रमप्राप्त है, पर इसका व्याख्यान न कर पहले सप्तम अन्नकी (पयकी) व्याख्या करनेमें तात्पर्य क्या है?

समाधान—मन, वाक् और प्राण—ये तीनों अन्न साध्यस्वरूप हैं, और सप्तम पशु अन्न सहित पूर्वोक्त अन्न साधनस्वरूप हैं, अतः पूर्वोक्त तीन अन्नोंसे ये फलस्वरूप तीन अन्न अत्यन्त विलक्षण हैं, अतः साधनभूत चार अन्नोंके व्याख्यानके अनन्तर ही इन साध्यस्वरूप अन्नोंका व्याख्यान समुचित है, यह दृष्टिमें रख कर पाठक्रमका उल्लंघन किया गया है। और श्रोताके समझनेमें सौकर्य हो, इसलिये भी पाठक्रमका त्याग समुचित ही है। सात अन्नोंमें चार अन्न साधन हैं और तीन साध्य हैं। कौन चार साधन हैं? ऐसी जिज्ञासा होनेपर प्रथम तीनके निरूपणके अनन्तर साधनभूत सप्तम अन्नका व्याख्यान ही प्रथम जिज्ञासित है। यदि उसकी व्याख्या न कर साध्यस्वरूप तीन फलोंकी पहले व्याख्या की जाय, तो फिर सप्तम अन्नके व्याख्यानकी जिज्ञासा उत्पन्न करनी होगी, अन्यथा अजिज्ञासितका अभिधान हो जायगा। दूसरी बात यह भी है कि अध्यात्म, अधिभूत और अधिदैवके भेदसे फलभूत अन्न भी अनेक हैं, और दूधके सहित उक्त अन्न साध्यभूत अन्नोंकी (मन वाक् और प्राणकी) अपेक्षा अल्पविषय हैं, इसलिए सप्तमके व्याख्यानके लिए क्रमका उल्लंघन करना उचित ही है।

शङ्का—मनुष्य भी तो प्रथम दुग्धका ही पान करता है, फिर दूधको पशुका ही अन्न क्यों कहा?

समाधान—'पशवो द्विपादश्चतुष्पादश्च' इत्यादि श्रुतिसे मनुष्योंका भी पशुशब्दसे संग्रह है। पयके अभावमें उसके विकार घृतका प्राशन कराते हैं। घृतके अभावमें स्तन ही पिलाते हैं। द्विपाद पशुके अधिकारके विच्छेदका सूचन करनेके लिए 'अथ' शब्दका प्रयोग किया गया है। चार पैरवाले पशुके बच्चेके तात्पर्यसे कोई प्रश्न करता है कि आपका बच्चा किस अवस्थाका है? तो उत्तर मिलता है—अभी तो वह अतृणाद है अर्थात् दूध ही पीकर रहता है, तृण नहीं खाता। दूधमें स्थावरजङ्गमात्मक सकल संसार प्रतिष्ठित है, इसमें प्रमाण क्या है? 'पयसि हि इदं सर्वं प्रतिष्ठितम्' यह ब्राह्मणवाक्य ही उक्त अर्थमें प्रमाण है।

शङ्का—इसमें और कुछ युक्ति भी है? या केवल यह वचन ही प्रमाण है?

समाधान—युक्ति तो स्फुट है, यह 'हि' शब्दसे ही सूचित है। प्रसिद्धि

संवत्सरं पयसा जुह्वदप पुनर्मृत्युं जयतीति न तथा विद्याद्यदहरेव जुहोति तदहः पुनर्मृत्युमपजयत्येवं विद्वान्त्सर्वं हि देवेभ्योऽन्नाद्यं प्रयच्छति। कस्मात्तानि न क्षीयन्तेऽद्यमानानि सर्वदेति पुरुषो वा अक्षितिः। स हीदमन्नं पुनः पुनर्जनयते। यो वै तामक्षितिं वेदेति पुरुषो वा अक्षितिः स हीदमन्नं धिया धिया जनयते कर्मभिर्यद्धैतन्न कुर्यात्क्षीयेत ह सोऽन्नमत्ति

इस प्रकार है—जिसकी आहुति होती है, वह पय कहलाता है। आज्य भी पयरूपसे 'घृताहुतिं वा पयआहुतिं वोभयमेतत्पय एव' इत्यादि श्रुतिमें व्यवहृत है। केवल आहुतिके साधन पयका विकार घृत ही पय नहीं कहलाता है, किन्तु पुरोडाशादि हवि और पशु—ये सभी आज्य ही हैं, क्योंकि कोई भी चरु आदि हवि आज्याभिघारित हुए बिना होमके योग्य नहीं होता। आज्य पय है, यह निश्चित हो चुका है; इसलिए होमसाधन हविमात्रको पय कहना चाहिए, यह आगमकी आज्ञा है। आज्याभिघारसंस्कार द्वारा सब हवि आज्य हैं, और आज्य पय है।

शङ्का—अच्छा सबको पय माना, फिर भी पयमें संसार प्रतिष्ठित है, यह कैसे सिद्ध हुआ?

समाधान—पयसे अग्निहोत्र होता है, अग्निहोत्रमें सब संसार प्रतिष्ठित है।

शङ्का—यही कैसे?

समाधान—'ते वा एते आहुती हुते उत्क्रामतस्ते अन्तरिक्षमाविशत' इत्यादि श्रुतिसे पयोरूप अग्निहोत्रका परिणाम ही सारा जगत् है, यह स्पष्ट प्रतीत होता है। मनुजीने भी लिखा है कि—

'अग्नौ प्रास्ताऽऽहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते।
आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः॥'

अर्थात् सायं प्रातःकालमें अग्निमें विधिपूर्वक प्रक्षिप्त आहुति तेज द्वारा आदित्यको प्राप्त होती है फिर वहांसे वृष्टिरूपसे पृथिवीमें आती है। वृष्टिसे अन्न होता है, अन्नसे प्रजाएँ होती हैं, इसलिए अग्निहोत्रसे जो अपूर्व होता है, उसीका परिणाम सारा जगत् है। इससे स्पष्ट हो गया कि सब जगत् पयमें (दूधमें) प्रतिष्ठित है।

श्रुति उक्त विधित्सित दर्शनकी स्तुतिके लिए अन्य शाखाके मतका, निन्दाके

प्रतीकेनेति मुखं प्रतीकं मुखेनेत्येतत्, स देवानपिगच्छति स ऊर्जमुप-जीवतीति प्रशंसा ॥ २ ॥

लिए, अनुवाद करती है—'तद्यदिदम्' इत्यादिसे। जो यह शाखान्तरमें कहते हैं कि दूधसे एक संवत्सरपर्यन्त हवन करनेसे पुरुष मृत्युको जीत लेता है, उसको ऐसा नहीं समझना चाहिए, परन्तु जिस दिन हवन करता है, उसी दिन मृत्युपर विजय पा लेता है, इस प्रकार जो जानता है, वह विद्वान् देवताओंको अन्नादि देता है।

उस वाक्यसे तो जो पुरुष एक वर्ष अग्निहोत्र करता है, वह मृत्युपर विजय पा जाता है, यह अर्थ प्रतीत होता है, दर्शनान्तरकी प्रतीति ही नहीं होती, फिर उसकी निन्दाकी क्या सम्भावना? ऐसी आशङ्का करके विवक्षित दृष्टिकी हेतु सामान्य संख्याके लिए अग्निहोत्रगत संख्या कहते हैं—एक वर्ष तक होम करनेसे सायं प्रातःकालमें जो अग्निहोत्र होता है, वह तीन सौ साठ सङ्ख्यावाला होता है। दोनों कालका होम एक मानकर ३६० सङ्ख्या होती है। ३६० दिनका एक वर्ष होता है। संवत्सरके अवयव प्रत्येक दिन और रात्रि भी ३६०।३६० दोनों मिलकर ७२० होते हैं। सायं प्रातः होम भी ७२० होते हैं। श्रुति भी कहती है-—'तस्य ह वा एतस्य अग्निहोत्रस्य सप्त च शतानि विंशतिश्च संवत्सरे सायमाहुतयः सप्त चैव शतानि विंशतिश्च संवत्सरे प्रातराहुतयः'। संवत्सर ३६० अहोरात्रका है। दिन व रात्रिका विभाग करनेपर ७२० संख्या होती है। 'सप्त च शतानि विंशतिश्च संवत्सरस्याहोरात्राः' ऐसी श्रुति है। संवत्सरात्मक चित्याग्निरूप प्रजापतिके अवयव-भूत याजुष्मतीसंज्ञक ईंटें ३६० होती हैं। प्रयोगके भेदसे उन ईंटोंकी संख्या ७२० होती है, इतनी ही अग्निकी याजुष्मती नामक ईंटें होती हैं। देहाभिमानी साधक पुरुषकी देह और पार्श्वभेदसे नाडियां ७२० होती हैं। श्रुति भी है कि 'त्रिणीतः षष्ठिशतानि त्रिणीतस्तानि सप्तविंशतिशतानि भवन्तीति'। अब संख्यासामान्यसे दर्शन कहते हैं—उक्त संख्याके सामान्यसे अग्निहोत्र आहुतिका दर्शन (आरोपज्ञान) याजुष्मतीसंज्ञक ईंटोंमें करे, मानो ये ही ईंटें आहुति हैं अर्थात् ईंटोंका आहुतिरूपसे ध्यान करे। और आहुतिमय ईंटोंका संवत्सरके अवयव अहोरात्रस्वरूपसे ध्यान करे। पुरुषकी नाड़ियोंकी सामान्य संख्यासे नाड़ियोंका अहोरात्रस्वरूपसे ध्यानकर तद्रूपसे

आहुतिमें ईंटरूप नाड़ीका अनुसंधान करता हुआ एक वर्षतक हवन करके इसी संपत्से (होमसहित विद्यासे) संवत्सरात्मक प्रजापतिको प्राप्त कर उपासक मृत्युपर विजय पाता है। तात्पर्य यह है कि यहां वास्तविक अग्निहोत्रका विधान नहीं किया गया है, किन्तु पुरुष, संवत्सर और अग्नि—इन तीनोंके अवयव नाड़ी, अहोरात्र और ईंटोंकी संख्या समान है, इसलिए संपादित चित्य अग्निको संवत्सरात्मक प्रजापति मान कर 'मैं अग्निस्वरूप प्रजापति हूँ', इस धारणासे अग्निहोत्रके द्वारा संवत्सरात्मक कालभूत प्रजापतिमें आत्मभावनाका संपादन करनेवाला उपासक देहत्यागके अनन्तर कालात्मा प्रजापतिको प्राप्त कर मृत्युपर विजय पाता है, यह 'संवत्सरं पयसा' इत्यादि श्रुतिका अर्थ है, ऐसा किसी शाखाका मत है। श्रुति स्वयं उक्त मतका अनुवाद कर खण्डन करती है—'न तथा विद्यात्' (वैसा न समझिए) किन्तु संपूर्ण जगत् हूयमान पयमें मग्न है, यों पयका ध्यान करके एकबारके अग्निहोत्रसे ही जगद्रूप प्रजापतिको प्राप्त कर मृत्युका अतिक्रमण कर लेता है अर्थात् एकबार मरकर फिर परिच्छिन्न शरीरका ग्रहण नहीं करता। इस अर्थमें श्रुति हेतु कहती है—'सर्वं हि' इत्यादि।

पयको जगत्-रूप समझ कर जो उस पयसे होम करता है, वह एक ही आहुतिसे संपूर्ण जगद्रूप अन्नादि खाद्यको देवताओंके अर्पण कर उन्हें तृप्त कर देता है, फिर उनकी कृपासे मृत्युका अतिक्रमण कर लेता है। विद्वान्में विद्याकी सामर्थ्यसे एक ही आहुतिसे जगत्का समपर्ण करनेकी सामर्थ्य होती है, यह स्फुट करनेके लिए श्रुतिमें 'हि' शब्द है।

शङ्का—अभी चार ही प्रकारके अन्नोंकी व्याख्या हुई है, तीन प्रकारके अन्नोंकी व्याख्या अपेक्षित है, फिर मध्यमें ही 'कस्मात्' यों हेतुका प्रश्न क्यों किया गया?

समाधान—चारोंकी व्याख्यासे ही वक्ष्यमाण तीन भी प्रायः व्याख्यात हो ही चुके हैं, क्योंकि वे फलस्वरूप हैं। कुसूलस्थ अन्नके समान प्रतिदिन उपयोग करनेपर भी वे क्यों क्षीण नहीं होते? इसका उत्तर श्रुति स्वयं देती है—'पुरुषो वा अक्षितिः' अर्थात् पुरुष अविनाशी है।

पुरुषके अविनाशी होनेपर भी अन्नमें अविनाशित्व कैसे आया? इस शङ्काका उत्तर देते हैं—'स हि' इत्यादिसे। पुरुष ही फिर अन्न पैदा करता है, इसलिए उसके ज्ञान और कर्म द्वारा उत्पन्न किए जानेवाले सात प्रकारके अन्न प्रतिदिन उपभुज्यमान होनेपर भी क्षीण नहीं होते।

एवमाध्यात्मिकाविद्यामग्नस्याऽप्याधिदैवतम् ।
विराट्त्वं वाञ्छतः पुंसस्त्र्यन्नात्मोपास्तिरीर्यते ॥ १८ ॥
सृष्टो यद्यपि मर्त्येन वर्तमानो विराट् स्वयम् ।
तथाऽप्यस्येश्वरो भूत्वा भाति तादृशकर्मणा ॥ १९ ॥

अक्षयहेतुत्वरूपगुणवाला सप्तान्नात्मक प्रजापतिरूप जो उपासक है, उसका फल कहनेके लिए 'यो वै ताम्' इत्यादि मन्त्रका अवतरण कहते हैं—अन्नके अक्षयका हेतु पुरुष है, इसलिए अक्षिति कहलाता है, उसीके ज्ञान और कर्मसे प्रतिदिन अन्न बनता है; वही अक्षिति पुरुष लौकिक एवं शास्त्रीय ज्ञान और कर्मसे अन्नको उत्पन्न करता है। यदि आत्मा अन्नको न बनाता, तो अन्न अवश्य क्षीण हो जाते। 'मुखेन' यहां मुखशब्दका मुख्य अर्थ है। अविद्वान्में विद्याकी सामर्थ्य नहीं है, इसलिए वह अन्नके प्रति गुण (अप्रधान) है, मुख्य नहीं, विद्वान् विद्याकी सामर्थ्यसे अन्नके प्रति प्रधान है अर्थात् अन्नका आत्मा होकर भोक्ता ही है, भोग्य नहीं है। वह उपासक उपास्य देवस्वरूप हो जाता है, अतएव अमृतका ही उपभोग करता है; यह केवल प्रशंसामात्र है, क्योंकि 'सोऽन्नमत्ति' इससे यहीं देवभावकी प्राप्ति होती है फिर आगे अपूर्व अर्थका विधान नहीं है। ऊर्जको (बलको) प्राप्त करता है। साधनात्मक चार अन्नोंके निरूपणके अनन्तर अन्नके अक्षयके कारण अक्षितित्वगुणके उपक्षेपके प्रसंगसे पुरुषोपासनाका फल—'मन, वाक् और प्राण—ये तीनों अन्न अपने लिए किये' इत्यादिसे—ब्राह्मणकी समाप्तिपर्यन्त कहेंगे ॥ १,२ ॥

'एवमा०' इत्यादि। अज्ञानसे आवृत आत्मा याने संसारी पुरुष यदि अधिदैवत विराट्स्वरूपकी इच्छा करे, तो उसके लिए त्र्यन्न आत्माकी उपासना कही जाती है; क्योंकि इस उपासनासे उक्त फलकी प्राप्ति होती है ॥१८॥

'सृष्टो' इत्यादि। यद्यपि विराट् स्वरूपसे वर्तमान है; परन्तु भोग्यत्वाकारसे जीवसे बना है; इसका उपपादन पूर्वमें कर चुके हैं। तथापि पूर्वोक्त उपासना आदिके प्रयाससे वह जीवका ईश्वर है; स्वामित्वरूपसे जीवने उसकी कल्पना की है, अतः जीवोंका स्वामी (ईश्वर) विराट् है; जैसे स्वप्नावस्थामें जीव यदि अपने स्वामीकी कल्पना करता है अर्थात् स्वामीका स्वप्न देखता है; तो

स्वस्वप्नकल्पितो राजा गुरुर्वा स्वनियामकः।
यथा तथा विराडेष स्वस्रष्टारं नियच्छति ॥ २० ॥
स्वप्नेऽहमेव राजेति द्रष्टा सर्वं नियच्छति।
न त्वन्येन नियम्यः स्यात् स्वविराट्त्वे तथा भवेत् ॥ २१ ॥
विनोपास्तिं विराडेष स्वभिन्नत्वेन कल्प्यते।
उपासकस्य स्वत्वेनेत्येषा कल्पकयोर्भिदा ॥ २२ ॥
कर्मोत्कर्षापकर्षौ च स्वत्वभिन्नत्वकारणम्।
तस्मादुपासनोत्कृष्टा वर्ण्यते स्वत्वसिद्धये ॥ २३ ॥

उस समयमें यह ज्ञान नहीं होता कि यह हमारा कल्पित है, इसलिए स्वयं उसका अनुगामी (दास) हो जाता है और उसके अनुग्रह तथा निग्रहसे अपनेको वस्तुतः अनुगृहीत और निगृहीत मानता है, वैसे ही विराट्की भी संसारदशामें जीवोंने ईश्वररूपसे कल्पना की है, अतएव उस भावसे उसकी उपासना समुचित ही है ॥ १९ ॥

कल्पित राजा या गुरु अपना शासक होता है, इसमें दृष्टान्त देते हैं—'स्वस्वप्न०' इत्यादिसे।

जैसे स्वप्न अथवा जागर अवस्थामें ही जो जिसको राजा या गुरु मान लेता है, वह राजा अथवा गुरु उस माननेवालेका प्रजा अथवा शिष्यभावसे नियन्त्रण करता है, वैसे ही कल्पित विराट् भी अपने उपासकका नियन्त्रण करता है ॥२०॥

'स्वप्ने' इत्यादि। जैसे स्वप्नमें जो अपनेको राजा देखता है, उसको 'मैं राजा हूँ' ऐसा ज्ञान होता है; और स्वप्नमें आभासमान सब पुरुषोंका वह स्वयं नियामक होता है; किसीका नियम्य नहीं होता, वैसे ही उपासक स्वयं विराट् होनेपर अपनेको सबका राजा मानता है; इसलिए सबका नियामक ही होता है; किसीका नियम्य नहीं होता ॥ २१ ॥

'विनोपास्तिम्' इत्यादि। सर्वसाधारण जीव उपासनाके बिना विराट्को अपनेसे भिन्न अतएव स्वामी मानता है और उपासक अपनेको, उपासक होनेके कारण, उससे भिन्न मानता है; उपासना भेदाधिष्ठान होती है; इसलिए विराट् और जीवमें उपास्योपासक या स्वस्वामिभावसम्बन्ध होता है ॥ २२ ॥

'कर्मोत्कर्षा०' इत्यादि। फलपर्य्यन्त कर्मका उत्कर्ष और अपकर्ष स्वत्व और

अश्वाद्युपासनं पूर्वं स्वत्वार्थं यद्यपीरितम् ।
तथाऽप्यविद्याकार्यत्वसिद्धयेऽत्राऽप्युदीर्यते ॥ २४ ॥
अध्यात्ममधिभूतं च विज्ञेयमधिदैवतम् ।
उपासनाय व्यापित्वं विराजोऽन्नत्रयात्मनः ॥ २५ ॥
अन्नत्रयस्य संव्याप्तिरध्यात्मं स्वानुभूतितः ।
शास्त्रैकगम्यमन्यत्र तत्राऽध्यात्मं प्रदर्श्यते ॥ २६ ॥
अनुमेयं मनोरूपं साक्षिवेद्यास्तु वृत्तयः ।
कादाचित्कार्थविज्ञानं लिङ्गं तद्वद्विशेषधीः ॥ २७ ॥

भिन्नत्वका कारण है; अर्थात् विराट्स्वरूपकी प्रापक उपासनासे सब जीवोंमें विराट्का स्वत्व उत्पन्न होता है और उसके अपकर्षसे स्वभिन्न स्वामित्व उत्पन्न होता है। जो उपासना नहीं करते हैं, उनका स्वामी प्राणोपासक होता है और उसका स्वत्व अन्य जीवोंमें होता है; अतः अन्य जीवोंमें स्वत्वकी उत्पत्तिकी हेतु उत्कृष्ट प्राणोपासनाका वर्णन करते हैं ॥ २३ ॥

'अश्वाद्युपासनम्' इत्यादि। स्वत्वादिकी उत्पत्तिके लिए पहले अश्वादिकी उपासना यद्यपि कही जा चुकी है, तथापि यह सब अविद्याका कार्य है, यह सूचित करनेके लिए यहाँपर भी उसे कहते हैं; अतः पुनरुक्त दोष नहीं है ॥ २४ ॥

'अध्यात्म०' इत्यादि। मन, वाक् और प्राण—इन तीन अन्नोंके स्वरूपभूत विराट्के अध्यात्म, अधिभूत और अधिदैवत—ये तीन विभाग कहेंगे। इन तीनोंका व्यापक विराट् है; यों विराट्के व्यापित्वका कथन उपासनाके तात्पर्यसे है, यह आगे व्यक्त होगा ॥ २५ ॥

'अन्नत्रयस्य' इत्यादि। अध्यात्म उपासनाके विषयमें अन्नत्रय—वाक्, मन और प्राण, ये तीनों—शरीरमें व्यापक हैं, इसमें प्रमाण अपना अनुभव ही है, अतएव अन्य प्रमाणकी आवश्यकता नहीं है, अधिभूत और अधिदैवतके विषयमें व्यापित्व शास्त्रसे ही जाना जा सकता है, अतः इस विषयके निरूपणके समयमें शास्त्र प्रमाणरूपसे कहा जायगा, प्रथम अपने अनुभवरूप प्रमाणका विषय जो अध्यात्म है, उसीका प्रदर्शन करते हैं ॥ २६ ॥

'अनुमेयम्' इत्यादि। मन अनुमेय है और उसकी वृत्तियां साक्षिवेद्य हैं। मनके अनुमानमें अर्थका कादाचित्क विज्ञान ही लिङ्ग (प्रमाण) है और

आत्मेन्द्रियार्थसान्निध्ये सन्ततेऽप्यर्थवेदनम् ।
क्षणिकं दृश्यतेऽतस्तदन्तःकरणपूर्वकम् ॥ २८ ॥

वक्ष्यमाण स्पर्श आदिका विशेष ज्ञान भी मनमें प्रमाण है—कादाचित्क अर्थका विज्ञान मनमें लिङ्ग (मनका साधक हेतु) है, यह कहा है । इसीका विवरण आगेके श्लोकमें करेंगे ॥ २७ ॥

'आत्मेन्द्रियार्थ०' इत्यादि । मनका अनुमान इस प्रकार है—विमतमर्थवेदनम्, आत्मादित्रयातिरिक्तासाधारणकारणसापेक्षम्, तस्मिन् सत्यपि कादाचित्कत्वात्, घटवत् (विवादास्पद अर्थका परिज्ञान आत्मा आदि तीनसे भिन्न किसी असाधारण कारणकी अपेक्षा करता है, क्योंकि आत्मादिके रहनेपर भी वह किसी समयमें ही होता है, घटके समान) । तात्पर्य यह है कि मन न्यायमतमें परमाणुरूप माना जाता है, इसलिए वे लोग उसका प्रत्यक्ष नहीं मानते; किन्तु उसकी अनुमानसे सिद्धि करते हैं । रूपादिज्ञानक्रिया सकरणक है, क्योंकि क्रियामात्र सकरणक होती है; जैसे छेदन आदि क्रियामें कुठार आदि करण हैं वैसे ही ज्ञानक्रियामें अनुमित मन करण है । श्रुति भी मनकी सिद्धिमें अनुमान ही प्रमाण आगे कहती है । मनके सिद्ध होनेपर काम आदि धर्मोंका धर्मी मन ही है; यह भी श्रुति स्वयं कहती है ।

शङ्का—न्यायमतमें तो काम आदि आत्मधर्म माने जाते हैं, आप (वेदान्ती) उन्हें मनोधर्म क्यों मानते हैं ?

समाधान—'असङ्गो ह्ययं पुरुषः' इस श्रुतिसे आत्मामें किसी धर्मका संभव नहीं है; अतएव स्वयं श्रुतिने 'काम आदि मनके धर्म हैं' ऐसा कहा है; इसलिए श्रुतिके अनुसार काम आदि मनके धर्म ही माने जाते हैं, आत्माके धर्म नहीं माने जाते । किम्बहुना उनकी आत्मधर्मताका निरास करनेके लिए विशेष प्रयत्न भी करेंगे । उक्त अनुमानको स्पष्ट करते हैं—वस्तुके प्रत्यक्षमें विषय और इन्द्रियका सन्निकर्ष कारण है; इसमें किसीको विवाद नहीं है, परन्तु प्रमाता, प्रमेय और प्रमाण—इन तीनोंके रहनेपर भी कदाचित् विषयका प्रत्यक्ष नहीं होता; जैसे शस्त्रादिके निर्माणमें दत्तचित्त शिल्पीके समीपसे 'एक बुड्ढा बैल गया', उसके साथ शिल्पीके चक्षुका दैवात् संयोग भी हो गया । थोड़ी देर बाद एक मनुष्यने उससे पूछा कि इधरसे कोई बूढ़ा बैल गया है ? उसने सत्य ही उत्तर दिया कि

मेरा मन शस्त्रके निर्माणमें लगा था, इस कारण मैंने उसे नहीं देखा। अब यह विचार करना चाहिए कि यदि विषयके प्रत्यक्षमें प्रमाता आदि तीन ही कारण हों, तो वे तीनों थे ही, फिर उस बूढ़े बैलका प्रत्यक्ष क्यों नहीं हुआ? इसलिए इन तीनोंसे अतिरिक्त चौथा भी कोई असाधारण कारण है, जिसके संबन्ध और असंबन्धसे प्रत्यक्षका होना एवं न होना बनता है, अतः प्रमाता आदि तीनोंके सान्निध्यमें कदाचिद् ज्ञानकी उत्पत्तिकी अनुपपत्तिरूप अर्थापत्ति ही मनकी साधक प्रमाण है।

शङ्का—मनसे अतिरिक्त ही कोई कारण क्यों न हो?

समाधान—उक्त तीन कारणोंसे अतिरिक्त जो कारण है, वह मन ही है, दूसरा नहीं।

शङ्का—क्या अदृष्ट नहीं हो सकता?

समाधान—अदृष्ट दृष्ट कारणके संघटन आदिका कारण होता है, अतएव अदृष्टमात्रके वैकल्यसे कार्यकी अनुत्पत्ति नहीं मानी जाती। दृष्ट कारणके विघटन द्वारा अदृष्ट कार्यकी अनुत्पत्तिका कारण माना जाता है; साक्षात् नहीं। और लोकप्रसिद्धि भी मनमें ही प्रमाण है। 'अभून्मम मनोऽन्यत्र यतो नाऽद्राक्षम्' अर्थात् मेरा मन अन्यत्र था, इस कारण मैंने नहीं देखा, यह लोकव्यवहार है। यदि मन उक्त कार्यमें कारण न होता, तो प्रकृतमें उसके अभावका बोधन निष्फल होता, इसलिए मनको भी कारण अवश्य मानना चाहिए। उक्त स्थलमें प्रत्यक्षके कारण मनके असान्निध्यसे प्रत्यक्ष नहीं हुआ, यही अर्थ स्वरसतः सिद्ध होता है। सारांश यह है कि आत्मा आदि तीन दर्शनके कारण नहीं हैं, क्योंकि मनसे ही द्रष्टा गाय आदिको देखता है; अन्यथा नहीं देखता। मनके सन्निकर्षसे आत्मादि तीन स्वतः सिद्ध होते हैं। वेदान्तीके मतसे मनःपरिणामरूप ज्ञानका कारण मन है, यह स्पष्ट ही है। तद्विशेषधीका अभिप्राय यह है कि त्वगिन्द्रियके संयोगसे स्पर्शका ज्ञान तो सामान्यतः होता है, किन्तु स्पर्श किसका हुआ, यह जिसका चित्त ठिकाने नहीं है, वह नहीं जान सकता। हां, जब चित्तके द्वारा आलोचना करता है, तब उसको स्पर्शविशेषका ज्ञान होता है। अनवधान-दशामें इस स्पर्शको न समझकर त्याग भी करता है। वस्तुतः अपने-अपने विषयोंमें सब इन्द्रियोंसे ज्ञानकी उत्पत्ति मनसे ही होती है, इसलिए

लोचनागोचरे पृष्ठे त्वचाऽस्य स्पर्शवेदनम् ।
पादस्य स्पर्श इत्येष विशेषो ज्ञायते धिया ॥ २९ ॥
लिङ्गद्वयानुमेयेऽस्मिन् चित्ते कामादिवृत्तयः ।
भास्यन्ते साक्षिणा रूपं नेत्रेणेवाऽपरोक्ष्यते ॥ ३० ॥

ज्ञानके करण सब चक्षुरादि मन ही हैं; इस तात्पर्यसे श्रुति कहती है, 'मनसा ह्येव पश्यति' इत्यादि ।

शङ्का—'मनसा ह्येव' इस श्रुतिमें 'हि' शब्दका तात्पर्य क्या है ?

समाधान—यह शङ्का होती है कि यद्यपि चक्षु आदि द्वारा तत्-तत् ज्ञानकी उत्पत्ति होती है, तथापि मनके बिना नहीं होती; इसलिए सकल इन्द्रियोंसे जन्य ज्ञानमें मनको साधारण कारण मानना चाहिए, असाधारण नहीं, इसका उत्तर 'हि' शब्दसे होता है अर्थात् यदि श्रुतिको ऐसा अभिप्रेत होता, तो 'मनसा ह्येव पश्यति' ऐसा कहनेकी क्या आवश्यकता थी ? इस कथनके बिना भी मनमें साधारण ज्ञानकारणत्वका लाभ हो जाता । 'हि' शब्द प्रसिद्धार्थक है, मनमें असाधारणकारणत्व उक्त लोकव्यवहारसे प्रसिद्ध है, अथवा संपूर्ण ज्ञानकरण चक्षुरादि मन ही हैं । विषयाकार मनःपरिणामरूप बुद्धि भी मनसे भिन्न नहीं है, क्योंकि धर्म और धर्मीका अभेद वेदान्तका सिद्धान्त ही है । इन सब बातोंको मनमें रखकर श्रुति कहती है—कामादि जितनी वृत्तियाँ मनमें होती हैं, वे सब वस्तुतः मन ही हैं, अतिरिक्त नहीं हैं ॥ २८ ॥

'लोचनागोचरे' इत्यादि । चक्षुके अविषय पीठमें हस्त आदिसे स्पर्श होनेपर सामान्य स्पर्शका ज्ञान ही होता है, परन्तु पादका स्पर्श है; अथवा हस्तका, यह मनके अवधानके बिना नहीं होता । इसलिए मनका लिङ्ग जो बुद्धिविशेष पूर्वमें कहा है, वह मनसे ही उत्पन्न होता है । चित्त और उसकी विशेषवृत्ति बुद्धिको अभिन्न मानकर 'धिया' यह कहा है । अथवा 'हृदा' ऐसा मूलमें पाठ होना चाहिए । प्रमादसे 'धिया' यह पाठ हो गया होगा, क्योंकि मूलकारने अभी मन और बुद्धिको एक नहीं बतलाया है ॥ २९ ॥

'लिङ्गद्वया०' इत्यादि । लिङ्गद्वयके—पूर्वोक्त ज्ञानकादाचित्कत्व और बुद्धि-विशेष इन दोनोंके—द्वारा अनुमेय (अनुमानके विषय) चित्तमें जो कामादि वृत्तियाँ होती हैं, उन सबका नेत्रादिसे रूपादिके समान साक्षीसे प्रत्यक्ष होता है । साक्षीसे वृत्तियोंका अपरोक्ष भान होता है ॥ ३० ॥

अनेन मनसा रूपप्रपञ्चोऽत्रोपलक्ष्यते ।
वागिन्द्रियेण निष्पाद्यं नाम वागिह गीयते ॥ ३१ ॥
पञ्चवृत्त्यात्मकात् प्राणादिह कर्मोपलक्ष्यते ।
नामरूपक्रिया एवमध्यात्मं सुपवर्णिताः ॥ ३२ ॥
देहेन्द्रियादिसङ्घातरूपा एतास्त्रिदण्डवत् ।
एकीभूता इहाऽध्यात्मं चिन्तनीया उपासकैः ॥ ३३ ॥

'अनेन' इत्यादि । यहां मनशब्द उपलक्षण है, अतः उससे रूपात्मक प्रपञ्चमात्रका ग्रहण होता है और वाग्से वागिन्द्रियसे निष्पाद्य नाममात्र विवक्षित है, क्योंकि सृष्टिप्रक्रियाके वाक्यमें 'नामरूपे व्याकरवाणि' यह स्फुट कहा गया है । नामरूपात्मक ही प्रपञ्च है, और यही जीवका अन्न है; जीवोंके उपभोगके लिए ही समस्त प्रपञ्च है, उपभोगका साधन ही अन्न कहा गया है, इसलिए मन और वाग्का उपादान प्रपञ्चमात्रकी विवक्षासे किया गया है ॥ ३१ ॥

'पञ्चवृत्त्या०' इत्यादि । प्राण, अपान आदि पञ्च वृत्तिरूप प्राण भी उससे साध्य कर्मका उपलक्षण है, कर्मका असाधारण कारण प्राण ही है, इस रीतिसे नाम, रूप और कर्म—इन तीनों अध्यात्मका विशेषरूपसे वर्णन हो चुका है ॥ ३२ ॥

'देहेन्द्रिया०' इत्यादि । देह, इन्द्रिय, प्राण, मन और बुद्ध्यादिका समूह त्रिदण्डके समान है अर्थात् जैसे एक दण्ड केवल खड़ा नहीं रह सकता, किन्तु तीन दण्डोंके संबन्धसे वे खड़े ही नहीं किये जा सकते, किन्तु उनके द्वारा बड़े बड़े कार्य भी किये जाते हैं, वैसे ही इन तीनोंमें भी एक-एक केवल नहीं रह सकते, किन्तु परस्पर मिलकर त्रिदण्डकी तरह तीनों रहते हैं और बलवत् कार्य भी करते हैं । शरीर प्राणके बिना नहीं रह सकता और प्राण शरीरके बिना नहीं रह सकता । ऐसा ही मन आदि इन्द्रियोंके विषयमें भी समझना चाहिए । किन्तु उक्त त्रिदण्डके समान देह, इन्द्रिय, प्राण आदिकी स्थिति है । भोगादृष्ट ही इन तीनोंका संयोजक है । उसके समाप्त होनेपर ये तीनों वियुक्त हो जाते हैं, इत्यादि लोकप्रसिद्ध ही है । उपासक (प्राणोपासक) अध्यात्मभूत इन तीनोंको एकीभूत मानकर चिन्तन (उपासना) करे ॥ ३३ ॥

श्रुतिः ॥ त्रीण्यात्मनेऽकुरुतेति मनो वाचं प्राणं तान्यात्मनेऽकुरुतान्यत्रमना अभूवं नादर्शमन्यत्रमना अभूवं नाश्रौषमिति मनसा ह्येव पश्यति मनसा शृणोति। कामः सङ्कल्पो विचिकित्सा श्रद्धाश्रद्धा धृतिरधृतिर्ह्रीर्धीर्भीरित्येतत्सर्वं मन एव तस्मादपि पृष्ठत उपस्पृष्टो

'त्रीण्यात्मने' इत्यादि। जीवने सात अन्नोंकी सृष्टि कर उनमें से विभाग कर चार अन्न भोक्ताओंको दिये और तीन अन्न अपने लिए रक्खे। इन तीन अन्नोंका श्रुति विभाग करती है—मन, वाग् और प्राण। उपासनाके द्वारा अपनेको विराट्-स्वरूपकी प्राप्ति हो, इसलिए इन तीन अन्नोंको किया। मनकी सत्तामें अनुमान प्रमाण श्रुति कहती है—मेरा मन अन्यत्र आसक्त था, अतः उसे नहीं देखा। विषयान्तरमें मन था, इसलिए नहीं सुना, अतः प्राणी मनसे ही देखता है और मनसे ही सुनता है। इससे उक्त अन्वय और व्यतिरेकसे मन अतिरिक्त पदार्थ माना जाता है। मनके धर्म कहते हैं—'कामः' इत्यादिसे। काम विषयकी अभिलाषा है। सामान्यरूपसे देखे गये पदार्थमें विशेषरूपसे कामका हेतुभूत अवधारण ही सङ्कल्प है। अनिश्चयात्मक बुद्धि विचिकित्सा है 'याने स्थाणुर्वा पुरुषो वा' इत्यादि संशय। गुरु, शास्त्र आदिके वाक्योंमें आस्तिक्य बुद्धि श्रद्धा है और इससे विपरीत बुद्धि अश्रद्धा है।

शङ्का—श्रद्धा आदिके समान 'काम, अकाम' ऐसा कहना उचित था, पर श्रुतिमें काम मनोधर्म है, ऐसा ही कहा है, अकामको अश्रद्धा आदिके समान मनका धर्म क्यों नहीं कहा ?

समाधान—अकाम भी मनका धर्म है, यह अर्थात् सिद्ध होता है, इसलिए पृथक् नहीं कहा।

शङ्का—अर्थात् कैसे सिद्ध होता है ?

समाधान—काम आदि श्रद्धाके बिना नहीं हो सकते, अतः अश्रद्धा रहनेपर कामका अभाव स्वतः सिद्ध होता है, क्योंकि 'कारणाभावे कार्याभावः' (कारणका अभाव होनेपर कार्यका अभाव होता है) इस न्यायसे श्रद्धा आदिका अभाव रहनेपर काम आदि कार्यका अभाव स्वतः प्राप्त होता है, इसलिए उसे पृथक् नहीं कहा। धृति—धारणा याने देहादिका उत्तम्भन यह विधारक प्रयत्नके बिना नहीं होता, क्योंकि हाथ ऊपर किये रहें, ऐसा संकल्प करके ही हाथ ऊपर रख सकते हैं, अन्यथा नहीं, तद्विपर्यय (धृतिसे भिन्न) अधृति है। ह्री लज्जा।

मनसा विजानाति यः कश्च शब्दो वागेव सा एषा ह्यन्तमायत्तैषा हि

धी निश्चित ज्ञान। भी भय इत्यादि सब मनके ही धर्म हैं। धर्म और धर्मीके अभेदकी विवक्षासे ये सब मन ही हैं, ऐसा कहा है। मनके अस्तित्वमें पीठमें लगे हस्तादिके स्पर्शविशेषका ज्ञान भी हेतु है, यह श्रुति कहती है—'तस्मात्' इत्यादिसे। मनका निरूपण कर क्रमप्राप्त वाक्का निरूपण करते हैं—लोकमें जो वेणु, वीणा आदिके ध्वनिरूप शब्द अथवा वर्णात्मक शब्द हैं, वे सब शब्द वाक् ही हैं। वाक्का स्वरूप कहकर उसके कार्य शब्दजन्य ज्ञानको भी वाक् कहते हैं—'सा एषा' इत्यादिसे।

शङ्का—ध्वन्यात्मक या वर्णात्मक सारे नाद वाग् हैं, यह तो कहना ठीक है, किन्तु तज्जन्य प्रत्यय भी वाक् है, यह कहना ठीक समझमें नहीं आया।

समाधान—एषा ह्यन्तमायत्ता। अन्तशब्दका यहाँ निर्णय अर्थ है, इसलिए उसका यह अर्थ हुआ कि अभिधेय अर्थके निर्णयका अनुसरण करती है अर्थात् वाक् अर्थकी प्रकाशिका है।

वाग् स्वयं अन्यसे प्रकाशित होती है, या नहीं? नहीं, क्योंकि यह वाक् दीप आदिके समान सजातीय प्रकाशककी अपेक्षाके बिना ही अर्थकी प्रकाशिका है, अतः वह अन्यके द्वारा प्रकाशित होनेवाली नहीं है; किन्तु अन्यसे अप्रकाश्य है, अतः अन्य प्रकाशककी अपेक्षा द्वारा अनवस्था आदि दोष नहीं हैं।

शङ्का—श्रुतियोंमें जहाँ कहीं 'वाक्' शब्द आता है, वहाँ उससे वागिन्द्रियका ही ग्रहण होता है; यहां वाक्शब्दसे वागिन्द्रियके विषय शब्द और शब्दजन्य प्रत्यय विवक्षित हैं, ऐसा कहनेमें प्रमाण क्या है?

समाधान—ठीक है, अन्यत्र वाक्शब्दसे इन्द्रियका ही ग्रहण होता है और उसीके तात्पर्यसे वाक्शब्दका प्रयोग भी होता है; किन्तु तीन अन्नोंके प्रकरणमें वाक्शब्दसे वागिन्द्रियके विषय शब्द और उससे उत्पन्न होनेवाले ज्ञानका ही ग्रहण करना समुचित है, क्योंकि यहां वाक्शब्दकी सर्वात्मकत्वरूपसे विवक्षा है। यदि वागिन्द्रियका ग्रहण करोगे, तो वह सर्वात्मक नहीं हो सकती। शब्द सर्वात्मक होता है; अतः योग्यतावश यहां वाक्से शब्दका ही ग्रहण करना चाहिए, इन्द्रियका नहीं, क्योंकि प्रकृत अर्थमें अन्वयके लिए वाक् इन्द्रियकी योग्यता नहीं है। अतएव इन्द्रियमें ही वाक्शब्दकी प्रसिद्धि है, शब्दादिमें नहीं, यह

न प्राणोऽपानो व्यान उदानः समानः। अन इत्येतत्सर्वं प्राण एवैतन्मयो वा अयमात्मा वाङ्मयो मनोमयः प्राणमयः ॥ ३ ॥

आक्षेप भी युक्त नहीं है, क्योंकि अन्वययोग्य अर्थका ही ग्रहण सर्वत्र होता है। प्रसिद्धि भी अन्वयका विरोध न होनेपर ही ग्राह्य होती है, अन्यथा नहीं।

शङ्का—यहांपर अन्नत्रयके प्रकरणमें सर्वात्मत्व विवक्षित है; इसलिए वाक्से इन्द्रियका ग्रहण नहीं होगा, किन्तु प्रकाशकमात्रका वाक्शब्दसे ग्रहण होता है, इसमें क्या साधक है ?

समाधान—जितने काम आदि प्रकाशित होनेवाले पूर्वमें कहे गये हैं; वे सब मनमें जैसे अन्तर्भूत होते हैं; वैसे ही जितने प्रकाशक हैं; उन सबका वाक्में अन्तर्भाव करना चाहिए। सभी प्रकाशक वाक्शब्दके अर्थ हैं; वागिन्द्रिय अर्थ नहीं है; इस आशयको व्यक्त करनेके लिए 'एषा हि न' इत्यादि श्रुति है; इससे प्रकृत वाग्में इन्द्रियत्वका अभाव स्पष्ट ही बोधित होता है। रूप प्रकाश्य है और वाक् प्रकाशक है; यह निष्कृष्ट अर्थ हुआ।

अब प्राणका निरूपण करते हैं—मुख और नासिकामें गमन करनेकी जिसमें योग्यता है, ऐसा हृदय आदिमें रहनेवाला उच्छ्वासका हेतु प्राण है। नाभि आदि स्थानमें रहनेवाला अधोवृत्ति मूत्र आदिके निकालनेमें हेतुभूत वायु अपान कहलाता है। सब शरीरमें व्यापी वीर्यवान् कर्मका हेतु व्यान कहलाता है। उत्साहपूर्वक क्रियाका हेतु कण्ठादि स्थानमें रहनेवाला उदान है। अशित और पीतके समीकरणका हेतु कोष्ठादि स्थानमें रहनेवाला समान कहलाता है।

इस प्रकार प्राणकी पञ्च वृत्तियोंका निर्देश कर उक्त वृत्तियोंसे युक्त वायुके स्वरूपका अभिधान करते हैं—'प्राण' इत्यादिसे। प्राण आदि पाचों वृत्तियां यद्यपि भिन्न भिन्न कही गई हैं; तथापि वे सब वृत्तियां प्राणकी ही हैं, इसीको श्रुति कहती है—'अन' इत्यादिसे। सब प्राण ही हैं, 'अन' शब्दसे प्राण आदि विशेषणोंसे रहित वायुमात्रका ग्रहण अभीष्ट है; वही वायु विशेष संबन्धसे प्राण कहा जाता है; यह आगे स्पष्ट होगा। अब अध्यात्मशब्दसे प्रतिपादित शरीरमें तीन अन्नोंकी व्याप्तिका प्रदर्शन श्रुति करती है—'एतन्मयो वा' इत्यादिसे। 'अयमात्मा' यहां आत्मशब्दसे शरीर विवक्षित है। शरीर ही वाङ्मय, प्राणमय और मनोमय है ॥३॥

त्रयो लोका एत एव वागेवायं लोको मनोऽन्तरिक्षलोकः प्राणोऽसौ लोकः ॥ ४ ।

त्रयो वेदा एत एव, वागेवर्ग्वेदो मनो यजुर्वेदः प्राणः सामवेदः ॥ ५ ॥

देवाः पितरो मनुष्या एत एव वागेव देवा मनः पितरः प्राणो मनुष्याः ॥ ६ ॥

पिता माता प्रजैत एव, मन एव पिता वाङ्माता प्राणः प्रजा ॥ ७ ॥

शङ्का—शरीर वाग् आदि तीनका विकार कैसे है ?

समाधान—इसी विरोधका परिहार करनेके लिए वाक् आदि शब्दोंकी नाम आदिमें लक्षणा है, ऐसा पूर्वमें कहा गया है।

शङ्का—फिर भी शरीर नाम आदिका विकार कैसे हो सकता है ?

समाधान—नामशब्दसे प्रकाशकमात्र विवक्षित है, और रूपशब्दसे प्रकाश्यमात्र विवक्षित है। इस अवस्थामें जो जो प्रकाशक इन्द्रियादि हैं, वे सब नाम ही हैं, और जो जो प्रकाश्य शरीरादि हैं, वे सब रूप ही हैं।

शङ्का—इस रीतिसे वाक् और मनके विकारमें ही सम्पूर्ण शरीर समाविष्ट हो गया। फिर प्राणका विकार क्या रहा ?

समाधान—यद्यपि प्राण शब्दसे कही गई क्रिया प्रकाश्यमें अन्तर्गत है; तथापि उपासनाके लिए वह पृथक् कही गई है। वास्तवमें सारा प्रपञ्च नाम-रूपात्मक ही है।

अध्यात्म विषयके तीन अन्नोंके विभागका वर्णन हो चुका; अब अधिभूत विषयके तीन अन्नोंका विभाग कहते हैं—'त्रयो लोका एत' इत्यादिसे।

तीनों लोक याने भूर्लोक, भुवर्लोक और स्वर्लोक ये ही हैं अर्थात् वाग् ही भूर्लोक है, मन भुवर्लोक है और प्राण स्वर्लोक है ॥४॥

ऋग्, यजुः और साम ये तीनों वेद भी ये ही हैं— वाग् ऋग्वेद है, मन यजुर्वेद है और प्राण सामवेद है ॥५॥

देव, पितर और मनुष्य ये ही हैं—वाक् ही देव है, मन पितर है और प्राण मनुष्य है ॥६॥

माता, पिता और प्रजा भी ये ही हैं—मन ही पिता है, वाक् माता है और प्राण प्रजा है ॥७॥

विज्ञातं विजिज्ञास्यमविज्ञातमेत एव, यत्किञ्च विज्ञातं वाचस्तद्रूपं वाग्घि विज्ञाता वागेनं तद् भूत्वाऽवति ॥ ८ ॥

यत्किञ्च विजिज्ञास्यं मनसस्तद्रूपं मनो हि विजिज्ञास्यं मन एनं तद् भूत्वाऽवति ॥ ९ ॥

यत्किञ्चाविज्ञातं प्राणस्य तद्रूपं प्राणो ह्यविज्ञातः प्राण एनं तद् भूत्वाऽवति ॥ १० ॥

विज्ञात, विजिज्ञास्य और अविज्ञात—इन तीनोंको क्रमशः वाङ्, मन और प्राण ही समझना चाहिए। वाक् प्रकाशक है; अतः ज्ञात अर्थका वाग्में समावेश उचित है। मन ज्ञानकी इच्छाका विषय अर्थात् विजिज्ञास्य है, क्योंकि मन संकल्पात्मक है। जो अविज्ञात है, वह प्राण है। वाक्की विभूतिके वेत्ताका फल कहते हैं—जो विज्ञात है; वह वाग्रूप ही है, क्योंकि वाक् ही विज्ञाता है, वाग् ही उक्त वाग्विद्की, विज्ञात होकर, रक्षा करती है। जो कुछ विजिज्ञास्य है, वह सब मन ही है, क्योंकि मन ही विजिज्ञास्य है। मन ही विजिज्ञास्य होकर उक्त वाक्के वेत्ताकी रक्षा करता है। जो कुछ अविज्ञात है, वह प्राण ही है, प्राण ही अविज्ञात होकर उक्त उपासककी रक्षा करता है। 'निरुक्तं चानिरुक्तं च' इत्यादि श्रुतिके अनुरोधसे अनिरुक्तका पर्याय अविज्ञात प्राणका धर्म है।

शङ्का—लोकमें ज्ञातका ही उपभोग होता है, इसलिए मन और प्राणको, सन्दिह्यमान होने तथा अविज्ञात होनेके कारण, भोज्य कहना ठीक नहीं है।

समाधान—शिष्योंके प्रति मन और प्राण सन्दिह्यमान और अविज्ञात होते हैं, अतः वे उनके प्रति यद्यपि भोज्य नहीं हो सकते, तथापि गुरुओं द्वारा विज्ञात हैं, अतः उनके प्रति भोज्य हो सकते हैं अथवा जैसे जिनकी उपकारिता ज्ञात नहीं है, ऐसे पित्रादि बालकोंके प्रति उपभोग्य होते हैं, वैसे ही मन और प्राण भी अविज्ञात होकर उपभोग्य होते ही हैं, क्योंकि विज्ञात ही उपभोग्य होता है, ऐसा नियम नहीं है।

शङ्का—जब एक एक भूः आदिमें भी विज्ञाता आदि तीनोंका संभव है, तब वागादि भिन्न विषयोंमें—उन तीनोंका प्रतिपादन करनेमें क्या तात्पर्य है?

समाधान—हाँ, हो सकता है, किन्तु प्रकृतमें उपासनाके लिए वागादिमें विज्ञाता आदि दृष्टिका विधान किया गया है। अतः शास्त्रानुसार ही दृष्टि व्यवस्थित रखनी चाहिए ॥ ८–१० ॥

अधिभूतं तथोपास्या वाङ्मनःप्राणशब्दिताः ।
नामरूपक्रियाः शास्त्रप्रोक्तलोकादिरूपतः ॥ ३४ ॥
अधिदैवं तु पृथिवी वागधिष्ठानगोलकम् ।
अग्निर्वाचः स्वरूपं स्यान्मनो रविरिहेष्यते ॥ ३५ ॥

तस्यै वाचः पृथिवी शरीरं ज्योतीरूपमयमग्निस्तद्यावत्येव वाक्तावती पृथिवी तावानयमग्निः ॥ ११ ॥

उसी अभिप्रायसे कहते हैं—'अधिभूतम्' इत्यादिसे। उक्त प्रकार वाक् मन और प्राण शब्दसे कहलानेवाले अधिभूत नाम, रूप और क्रियाकी उपासना शास्त्रानुसार लोकादि दृष्टिसे करनी चाहिए ॥ ३४ ॥

अध्यात्म और अधिदैव भेदसे तीन अन्नोंका व्याख्यान हो चुका अब आधिदैविकके भेदको कहनेका प्रस्ताव करते हैं—'अधिदैवं तु' इत्यादिसे।

उक्त रीतिसे तीन अन्नोंके उपासकके, अध्यात्मशब्दसे कथित अपने देहमें, ध्यानके प्रकारका निरूपण कर अधिभूतशब्दसे कहे जानेवाले स्वदेहसे भिन्न स्थावर-जंगमरूप सब शरीरोंमें वागादिरूप नाम, रूप और क्रियाएँ हैं, उनमें लोक आदि दृष्टिका विधान किया जा चुका है, अब आधिदैविक वागादिविभूतिका प्रदर्शन करनेके लिए 'तस्यै वाचः' इत्यादि आगेकी श्रुति है, ऐसा इस श्लोकका तात्पर्यार्थ है। शब्दार्थ तो यह है—अधिदेव स्वरूप यह है कि वाणीका अधिष्ठान वाणीका गोलक पृथिवी है अग्नि स्वरूप है और सूर्य मन है ॥ ३५ ॥

जिस वाग्के अध्यात्म और अधिभूत स्वरूप पूर्वमें कहे जा चुके हैं; उसी वाग्का अधिदेव स्वरूप श्रुति कहती है—'तस्यै' इत्यादिसे। अनन्तरस्वरूपसे प्रस्तुत प्रजापतिकी वाक्—वागिन्द्रिय और तदधिष्ठान गोलक ये दोनों—विवक्षित हैं, इन दोनोंमें से यह पृथिवी शरीर है अर्थात् वागिन्द्रियका अधिष्ठान गोलक है, और जो यह अग्नि है वह ज्योतिरूप—आधेय इन्द्रिय—है। यों वाक्पदका वाच्य अर्थ कहकर आधिदैविकस्वरूप इस वाक्का जो अध्यात्म और अधिभूत कार्य है, उसमें व्यापित्व दिखलाते हैं—'तद्यावत्येव' इत्यादिसे।

अध्यात्म और अधिभूतके भेदसे भिन्न जितने विस्तारसे युक्त वाग् है, उतने परिमाणसे युक्त पृथिवी है, उतनी ही अग्नि है। और जो अध्यात्ममें वागिन्द्रिय है और उसका गोलक है, वह प्रजापतिकी वागिन्द्रिय है,

अथैतस्य मनसो द्यौः शरीरं ज्योतीरूपमसावादित्यस्तद्यावदेव मनस्तावती द्यौस्तावानसावादित्यस्तौ मिथुनꣳ समैतां ततः प्राणोऽजायत स इन्द्रः स एषोऽसपत्नो द्वितीयो वै सपत्नो नास्य सपत्नो भवति य एवं वेद ॥ १२ ॥

वही अग्नि है और उनकी आंखका अधिकरण गोलकरूप पृथिवी सर्वत्र व्याप्त है। प्रजापतिकी वाक्का कार्य दो श्रेणियोंमें विभक्त है; आधार अप्रकाशात्मा और करण प्रकाशरूप आधेय, ये दोनों अर्थात् पृथिवी और अग्नि प्रजापतिकी वाग् ही हैं, उससे अतिरिक्त नहीं है; अग्नि आधेय है और पृथिवी आधारस्वरूप है।

आधिदैविक वाक्के निरूपणके अनन्तर मनका निरूपण श्रुति करती है—मनका द्यौः शरीर है; ज्योतिःस्वरूप आधेय यह आदित्य है, जितना मन है, उतना ही द्यौ (आकाश) है, उतना ही बड़ा यह आदित्य है।

शङ्का—अन्य श्रुतिमें मनका अधिष्ठातृ देवता चन्द्रमा है और 'चन्द्रमा मनसो जातः' इस श्रुतिसे भी चन्द्रमाका ही संबन्ध मनके साथ श्रुत है। आप मनका अधिष्ठातृ देवता सूर्य है ऐसा कहते हैं, परन्तु सूर्यका मनके साथ संबन्ध श्रुति, स्मृति आदिमें नहीं पाया जाता।

समाधान—ठीक कहते हैं, किन्तु सविता (सूर्य) बुद्धिके देवता हैं, यह गायत्रीमन्त्रसे स्पष्ट प्रतीत होता है। बुद्धि और मनको एक मानकर मनके भी देवता सूर्य हो सकते हैं; इस तात्पर्यसे यहाँ मनके देवता सूर्य कहे गये हैं। संकल्पप्रधान वृत्तिको मन कहते हैं और अध्यवसायप्रधान वृत्तिको बुद्धि कहते हैं। एक ही पदार्थमें वृत्तिरूप उपाधिके भेदसे मन और बुद्धिका व्यवहार हो सकता है। इसलिए पृथक्-पृथक् पदार्थ माननेकी आवश्यकता नहीं है। चन्द्र और सूर्य—ये दो देवता मनके हैं, ऐसा प्रतिपादन करनेसे यह अर्थ वैदिक ही है। 'तौ मिथुनम्' इत्यादिका तात्पर्य यह है—अध्यात्ममें मन आत्मा है। वाग् जाया और प्राण प्रजा है, यह श्रुतिमें कहा है; तथा अधिभूतमें 'मन एव पिता वाङ् माता प्राणः प्रजा' यह कहा है तथा आधिदैविक उपासनाके लिए प्राणशब्दसे कहलानेवाले वायुमें प्रजात्व श्रुति दिखलाती है, फिर वाक् और मनस्स्वरूपसे पहले निर्दिष्ट अग्नि और आदित्य—इन दोनोंका परस्पर संबन्ध हुआ, तदनन्तर सर्वोत्पत्तिमें

रव्यग्नियोगादुत्पन्नो वायुरेपोऽन्तरिक्षगः ।
इन्द्रोऽसपत्न इत्येवं ध्यातुर्वैरी न सम्भवेत् ॥ ३६ ॥

श्रुतिः ॥ अथैतस्य प्राणस्यापः शरीरं ज्योतीरूपमसौ चन्द्रस्तद्या-

कारण अग्नि और आदित्यके संयोगसे प्रकृत अन्नसे अतिरिक्त प्राणशब्दित अन्तरिक्षगत वायु उत्पन्न हुआ ।

शङ्का—कालपरिपाकका हेतु आदित्य कालात्मक है । काल सबका कारण है; अतः सबकी उत्पत्तिमें वह निमित्त है; यह तो ठीक समझमें आ जाता है । पर अग्नि किस प्रकार सबकी उत्पत्तिका कारण है, यह समझमें नहीं आया ।

समाधान—स्वकारणमें सूक्ष्मरूपसे स्थित वस्तुकी कार्याकारसे अभिव्यक्ति उत्पत्ति ही कहलाती है; जैसे दोहनसे दुग्धकी अभिव्यक्ति ही दुग्धकी उत्पत्ति है । दोहनके पूर्वकालमें दूध गाय आदिमें रहता ही है, असत्‌की उत्पत्ति होती है, यह तार्किक आदिका मत ठीक नहीं है, इसका विवेचन पहले कर चुके हैं । अभिव्यक्ति—प्रकाशव्याप्ति है, अग्नि प्रकाशात्मक है; इस हेतुसे अग्नि भी उत्पत्तिमें हेतु मानी जाती है । प्रकाशात्मक अभिव्यक्तिके बिना उत्पत्ति ही नहीं होती; प्रकाश अग्निका कार्य है, अतः सबकी उत्पत्तिका कारण अग्नि है; यह श्रुतिका अभिप्राय है; उस वायुकी इन्द्रत्व और असपत्नत्व गुणसे विशिष्ट जो उपासना करता है उसका अर्थात् उक्त दो गुणोंसे विशिष्ट वायुकी उपासनाका फल श्रुति कहती है । 'श्रुतिस्थ' असपत्नशब्दके अर्थका स्पष्टीकरण श्रुति स्वयं करती है—'द्वितीयः' से । दूसरा कोई भी उपासकका प्रतिपक्षी नहीं हो सकता । अमरकोषमें 'रिपौ वैरिसपत्नारिद्विषद्द्वेषणदुर्हृदः' शत्रुवाची सपत्नशब्द है, वह यहां भी अभिमत है ।

'रव्यग्नि०' इत्यादि । रवि और अग्निके संयोगसे उत्पन्न अन्तरिक्षगत वायु इन्द्र है तथा असपत्न है, इस प्रकार इन्द्रत्व और असपत्नत्व इन दो गुणोंसे विशिष्ट वायुकी उपासना करनेसे उपासकका कोई वैरी नहीं हो सकता, सब उसके अनुकूल ही रहते हैं ।

शङ्का—मन और वाक्‌का कारण प्राण है, यह पूर्वमें आप कह चुके हैं, यहांपर प्राणको वाक् और मनको प्रजा (तज्जन्य) कहते हैं, इस प्रकार पूर्वापर-विरुद्ध अर्थमें श्रद्धा कैसे हो सकती है ?

वानेव प्राणस्तावत्य आपस्तावानसौ चन्द्रस्त एते सर्व एव समाः सर्वेऽनन्ताः । स यो हैतानन्तवत उपास्तेऽन्तवन्त९ँ स लोकं जयत्यथ यो हैताननन्तानुपास्तेऽनन्त९ँ स लोकं जयति ॥ १३ ॥

समाधान—अन्नत्रयापेक्ष प्राणकी उत्पत्ति यहां नहीं कहते, किन्तु अन्तरिक्षगत वायुको वागादिकी प्रजा कहते हैं। साधनभूत पाङ्क्त क्रियाके फल वायुकी वाङ्मनसे उत्पत्ति यहां कही गई है। वाक् और मनके व्यापारके बिना यागादि कर्म नहीं होते, यागादिजन्य अपूर्वसे ही समस्त सृष्टि होती है, अतः परम्परया बाह्य वायु वाङ्मनोजन्य है।

शङ्का—देहमें आध्यात्मिक प्राणसे अतिरिक्त आकाशगत वायुको प्राण क्यों कहते हो ?

समाधान—अध्यात्म और अधिभूत देहमें जैसे वायु प्राण कहलाता है, क्योंकि अध्यात्म और अधिभूत देह भी प्रजापतिकी व्यष्टि देह हैं, वैसे ही अधिदेवान्नभूत प्राणका व्यष्ट्यात्मा आकाशस्थ वायु है, इस श्रुतिरूप प्रमाणसे आधिदैविक वाक् और मनसे यह उत्पन्न होता है, ऐसा मानते हैं। असपत्नत्वका साधक इन्द्र है, 'यतः अयमिन्द्रः अतः असपत्नः।' दूसरा यदि होता तो सपत्न हो सकता, दूसरा कोई है नहीं, इसलिए असपत्न है।

शङ्का—द्वितीय वाक् और मन तो हैं ही, फिर वह असपत्न कैसे ?

समाधान—प्राणके अधीन होनेसे वाक् और मन तो प्राणके पक्षपाती हैं, उसके प्रतिकूल नहीं हैं। प्राणाधीनत्वमें यह भी प्रमाण स्पष्ट है कि जो मुख द्वारा प्राण अन्नका भक्षण करता है, उसीसे वाक् और मनकी स्थिति होती है और उसीसे वे तृप्त भी होते हैं। आधिदैविक प्राणसे अन्तरिक्षगत वायुस्वरूप प्राण अभिन्न है, अतः वह भी वाक् आदिका कारण है, इसलिए वाक् और मन उक्त वायुके अधीन हैं, इसलिए प्रतिपक्ष (स्वप्रतिकूल) पदार्थके अभावसे प्राण असपत्न माना जाता है। 'तं यथा यथोपास्ते' इत्यादि श्रुतिसे उपासनाके ही अनुकूल फल उपासकको मिलता है, इसलिए असपत्नत्वरूप गुणसे विशिष्ट प्राणकी उपासनासे उपासक असपत्न होता है, यह अर्थ न्यायतः प्राप्त है, अन्यथा उक्त श्रुतिसे विरोध हो जायगा।

शङ्का—वाक् और मन यदि प्राणके अधीन हैं, तो प्राणको प्रधान और वाक्

चन्द्रोऽधिदेवं प्राणस्य त एतेऽत्राऽऽधिदैविकाः ।
अध्यात्ममधिभूतं च सर्वं व्याप्य व्यवस्थिताः ॥ ३७ ॥
नामरूपक्रियास्तस्मादनन्ता अधिदैवतम् ।
विराड्रूपा इति ध्यात्वा ध्यायेत् कालात्मतां पुनः ॥ ३८ ॥

एवं मनको गुणभूत ही मानना पड़ेगा। इस परिस्थितिमें आगे 'एते सर्वे एव समाः' इत्यादि श्रुतिसे तीनोंमें साम्य क्यों कहा ?

समाधान—ये सब तीनों सम हैं, इस कथनका तात्पर्य वस्तुस्वरूपके निरूपणमें नहीं है, किन्तु अन्नत्रयके विभागसे अवस्थित वागादिविषयक उपासनाके लिए तीनोंमें साम्य कहा है । उपासना आरोपित धर्मसे भी होती है, यह स्पष्ट ही है। अध्यात्म, अधिभूत और अधिदैवके भेदसे कथित वागादि सब सम ही हैं ।

शङ्का—किस प्रकारसे साम्य है ?

समाधान—श्रुति स्वयं कहती है—'अनन्ताः' ।

शङ्का—अध्यात्म और अधिभूतमें वागादि परिच्छिन्न हैं, यह पूर्वमें कहा गया है, अब 'अनन्त' कहनेसे पूर्वापरविरोध होगा।

समाधान—उक्त रूपसे परिच्छिन्न होते हुए भी नाम आदि आधिदैविक रूपसे अनन्त हैं । भूरादि लोक और उसके अन्तर्गत देवादि आधिदैविकमें वागादिरूपसे जो आनन्त्य है, उसीको आध्यात्मिक परिच्छिन्न वागादिमें भी समझना चाहिए ।

शङ्का—वास्तव आनन्त्य तो ब्रह्ममें ही है, आप उससे अन्यको तो विनाशी मानते हैं, फिर वागादिमें आनन्त्य कैसे ?

समाधान—ठीक है, निरपेक्ष आनन्त्य इनमें नहीं है, किन्तु आभूतसंप्लव-स्थानरूप (जब तक भूतोंका विनाश नहीं होता तब तक स्थायीरूप) आपेक्षिक आनन्त्य इनमें है, यह तात्पर्य है। जब तक सर्ग है, तब तक इनकी स्थिति है । जो अनन्त वागादिकी उपासना करता है, वह अनन्त वागादि-लोक फल पाता है ॥ ३६ ॥

'चन्द्रोऽधिदेवम्' इत्यादि । प्राणका अधिदेव चन्द्रमा है । ये वागादि सब आधिदैविक हैं, अतएव अध्यात्म और अधिभूत नामादिके व्यापक हैं ॥ ३७ ॥

'नामरूप०' इत्यादि । इस प्रकरणमें वागादि पूर्व हैं और नामादि पर हैं ।

स एष संवत्सरः प्रजापतिः षोडशकलस्तस्य रात्रय एव पञ्चदश कला ध्रुवैवास्य षोडशी कला स रात्रिभिरेवा च पूर्यतेऽप च क्षीयते सोऽमावास्याꣳ रात्रिमेतया षोडश्या कलया सर्वमिदं प्राणभृदनुप्रविश्य ततः प्रातर्जायते तस्मादेताꣳ रात्रिं प्राणभृतः प्राणं न विच्छिन्द्यादपि कृकलासस्यैतस्या एव देवताया अपचित्यै ॥ १४ ॥

कालात्मको विराडेष चन्द्रः षोडश तत्कलाः ।
तिथयः प्रतिपन्मुख्याः कलाः पञ्चदशेरिताः ॥ ३९ ॥
आगमापायरूपास्ता ध्रुवैका षोडशी कला ।
तया सर्वं प्राणिजातं दर्शे विशति चन्द्रमाः ॥ ४० ॥

वाक्से नाम, मनसे रूप, प्राणसे क्रिया, नाम, रूप और कर्मसे संपूर्ण जगत् व्याप्त है, अतएव नामादि व्यापक हैं—विराट्स्वरूप हैं, ऐसा ध्यान कर फिर कालात्माका ध्यान करे, यह आगे श्रुति स्वयं कहती है ॥ ३८ ॥

'स एष' इत्यादि श्रुतिका अर्थ—जो उपासक नामीको अन्तवान् (परिच्छिन्न) मान कर उपासना करता है, वह विनाशी लोकको प्राप्त करता है और जो अनन्त दृष्टिसे उपासना करता है, वह अनन्त लोकको प्राप्त करता है, 'स एष संवत्सरः प्रजापतिः' । संवत्सररूप प्रजापतिकी सोलह कलाएँ हैं, रात्रि पन्द्रह कलाएँ हैं, सोलहवीं कला ध्रुव है । वह रात्रिरूपी कलाओंसे पूर्ण और क्षीण होता है । वह प्रजापति रात्रिमें इसी सोलहवीं कलासे सब प्राणधारियोंमें प्रविष्ट होकर प्रातःकालमें उत्पन्न होता है, इस कारणसे अमावस्याकी रात्रिमें किसी भी प्राणीका वध न करे । कृकलासका (गिरगिटका) भी वध नहीं करना चाहिए । तात्पर्य यह है कि कृकलास स्वभावतः दुष्ट होकर अमङ्गलका हेतु है, ऐसा संस्कार प्रायः लोगोंमें है, इसलिए देखनेपर कृकलासको लोग मार देते हैं, लेकिन उक्त दिनमें कृकलासका भी वध, सोम देवताकी पूजाके लिए, नहीं करना चाहिए, अन्यथा सोम देवताकी पूजा नहीं हो सकेगी ॥१४॥

'कालात्मको' इत्यादि । यह कालात्मक विराट् चन्द्रमा है, उसकी सोलह कलाएँ हैं, प्रतिपत् आदि पन्द्रह तिथियां पञ्चदश कलाएँ हैं ॥ ३९ ॥

'आगमा०' इत्यादि । पन्द्रह कलाएँ उत्पत्ति-विनाशशील हैं, एक कला (सोलहवीं कला) ध्रुव स्थिर है, अमावस्यामें चन्द्रमा सब जीवोंमें प्रवेश करते हैं,

श्रुतिः ॥ यो वै स संवत्सरः प्रजापतिः षोडशकलोऽयमेव स योऽयमेवंवित्पुरुषस्तस्य वित्तमेव पञ्चदश कला आत्मैवास्य षोडशी कला स वित्तेनैवा च पूर्यतेऽप च क्षीयते। तदेतन्नभ्यं यदयमात्मा प्रधिर्वित्तं तस्माद्यद्यपि सर्वज्यानिं जीयत आत्मना चेज्जीवति प्रधिनाऽगादित्येवाहुः ॥ १५ ॥

इसलिए सोमकी प्रतिष्ठाके लिए अमावस्यामें किसी प्राणीका वध नहीं करना चाहिए, यहां तक कि कृकलासका भी वध निषिद्ध है। लोक तथा काल—इन दोनोंके स्वरूप विराट् नामक प्रजापति हैं। काल-लोकात्मक दो प्रकारके प्रजापतिका तीन अन्नोंके स्वरूपमें निरूपण कर लोकरूपसे निरूपण किया गया है, इन्हीं प्रजापतिका अधिकाल चन्द्रमा ही आत्मा है। चन्द्रमा ही पक्षका निर्माण करते हैं, चन्द्रमामें वित्त और कर्मकी दृष्टि करनी चाहिए। पक्षनिर्माणकर्म चन्द्रमामें स्पष्ट ही है, उसकी कलाओंमें वित्तबुद्धि करनी चाहिए, वित्त जैसे आगमापायी (उत्पत्ति और विनाश शील) है वैसे ही चन्द्रकलाका भी प्रतिपक्षमें उपचय और अपचय क्रमशः दृष्ट ही हैं। पन्द्रह तिथियोंमें वित्तबुद्धिके संपादनके लिए ही प्रजापति चन्द्रमा कहा गया है, ये ही कालकी अवयव कलाएँ जगत्के विविध धर्मलक्षण अवस्थाओंके परिणाममें कारण हैं। काल सूत्रात्मक और विराडात्मक है। पन्द्रह कलाओंसे पन्द्रह तिथियां बनाई जाती हैं और एक कला ध्रुवा है, यह षोडशी कला नष्ट नहीं होती, इसीसे शुक्ल पक्षकी तिथियोंमें क्रमशः चन्द्रमाकी कलाओंकी वृद्धि होती है ॥ ४० ॥

'अथ यो वै स संवत्सरः' इत्यादि श्रुतिका अर्थ—उक्त प्रजापति संवत्सर है, षोडश कलावाला है। उक्त अन्नत्रयात्मक प्राणका उपासक 'चन्द्ररूपसे संपादित प्रजापति मैं हूँ', ऐसी भावना करे। चन्द्ररूपसे सम्पादित प्रजापतिकी जो पन्द्रह कलाएँ हैं, वे ही गवादि वित्त हैं। दोनोंमें साधारण धर्म है, उपचय और अपचय—वृद्धि और ह्रास—अपने धनमें पञ्चदश कलाकी दृष्टि कर ध्रुवामें (सोलहवीं कलामें) अपनी देहकी कल्पना कर षोडश कलावाला प्रजापति मैं ही हूँ, ऐसी उपासना करे। षोडशी ध्रुवा कला आत्मा है। श्रुति स्वयं इसीको रथचक्रके दृष्टान्तसे स्फुट करती है, यही नभ्य—'नाभ्यै हितं नभ्यम् अथवा नाभिमर्हति इति वा नभ्यम्'—है, ऐसा श्रुति कहती है।

इति ध्यात्वाऽथ चन्द्रत्वं स्वस्मिन्सम्पादयेद्बुधः ।
देहो ध्रुवा कला वित्तं कलाः पञ्चदशेरिताः ॥ ४१ ॥
आपूर्यते क्षीयते च क्रमाद्वित्तेन विग्रहः ।
स्वामी देहोऽस्य तद्वित्तं भृत्या इत्यत्र चिन्तयेत् ॥ ४२ ॥

श्रुतिः ॥ अथ त्रयो वाव लोका मनुष्यलोकः पितृलोको देवलोक इति सोऽयं मनुष्यलोकः पुत्रेणैव जय्यो नान्येन कर्मणा कर्मणा पितृलोको विद्यया देवलोको देवलोको वै लोकानाᳬ श्रेष्ठस्तस्माद्विद्यां प्रशंसन्ति ॥ १६ ॥

'इति ध्यात्वा' इत्यादि । श्रुतिके व्याख्यानसे श्लोक भी (४१ वाँ और ४२ वाँ श्लोक भी) व्याख्यात हो गये । इनमें संक्षेपसे उक्त अर्थका ही पुनः अभिधान है । श्रुतिने चक्रके दृष्टान्तसे देहमें स्वामित्व और वित्तमें परिवारत्व स्पष्ट किया है । जो यह आत्मा शरीर है, वही लोकप्रसिद्ध नभ्य है, चक्र-पिण्डिका—नाभि—स्थानीय शरीर है, परिवारस्थानीय वित्त है ॥४१,४२॥

देव, वित्त और विद्या संयुक्त पाङ्क्तरूप कर्मसे अन्नस्वरूप प्रजापति होते हैं, यह कह चुके हैं । अनन्तर जायादि वित्त परिवारस्थानीय है, यह भी कह चुके हैं । पुत्र, कर्म और अपर विद्या—ये तीनों लोकके साधन हैं, यह सामान्यसे मालूम हुआ, किन्तु यह विदित नहीं हुआ कि किसका क्या फल है ? और यह अवश्य वक्तव्य है कि पुत्रादि साधनोंका अमुक साध्यके साथ अमुक विशेष सम्बन्ध है, जबतक यह स्पष्ट प्रतीत न होगा, तब तक विशेष फलार्थीकी साधनविशेषमें प्रवृत्ति नहीं हो सकती, इसलिए विशेष संबन्धको कहनेके लिए 'त्रयो वाव' इत्यादि उत्तर कण्डिकाका आरम्भ है ।

अथशब्द वाक्यके उपन्यासके लिए है और 'वाव' शब्द एवकारार्थक है । तीन ही शास्त्रोक्त साधनके योग्य लोक हैं, इनसे न कम और न अधिक ।

शङ्का—कौन वे तीन लोक हैं ?

समाधान—मनुष्यलोक, पितृलोक और देवलोक। इन तीनों लोकोंमें जो यह मनुष्यलोक है, वह पुत्ररूप साधनसे ही जय करनेके योग्य है ।

शङ्का—कैसे ?

समाधान—इसका उत्तर आगे कहेंगे, उससे स्पष्ट हो जायगा कि न दूसरे

त्र्यन्नात्मोपासनं प्रोक्तं तत्फलोक्तिप्रसङ्गतः ।
पुत्रकर्मोपासनानां फलं वक्ति यथायथम् ॥ ४३ ॥
पुत्रेण जय्यो लोकोऽयं पितृलोकस्तु कर्मणा ।
विद्यया देवलोकोऽतो द्वाभ्यां विद्या प्रशस्यते ॥ ४४ ॥
क्रियात्वाल्लोकहेतुत्वं युज्यते कर्मविद्ययोः ।
द्रव्यात्मनस्तु पुत्रस्य कथमित्युच्यते शृणु ॥ ४५ ॥
प्रव्रजिष्यन्मरिष्यन्वा पिता कर्तव्यमात्मनः ।
पुत्रेऽध्ययनयागादि सर्वमप्यर्पयत्यसौ ॥ ४६ ॥

कर्मसे और न विद्यासे ही जय हो सकता है । केवल अग्निहोत्रादि कर्मसे पितृलोकका विजय होता है, न पुत्रसे और न विद्यासे। और विद्यासे देवलोकका विजय होता है, पुत्र और कर्मसे नहीं। देवलोक उक्त लोकोंमें अति उत्तम है, इस कारण देवलोक-साधक विद्याकी प्रशंसा सब करते हैं। उक्त पुत्र-कर्मरूप साधनोंकी अपेक्षा विद्यामें ही फलद्वारक उत्कर्ष है, यह उक्त श्रुतिका तात्पर्य है ॥ १६ ॥

'त्र्यन्नात्मनोपासनम्' इत्यादि । अन्नरूप वाक्, मन और प्राण—इन तीनोंकी उपासना कहनेके अनन्तर इस उपासनाका फल क्या है ? इसके निरूपणके प्रसंगसे पुत्र, कर्म और उपासनाका फल जैसा होता है, वैसा कहते हैं ॥४३॥

'पुत्रेण' इत्यादि । इसका अर्थ श्रुत्यर्थसे गतार्थ है, इसलिए पृथक् अर्थ कहनेकी आवश्यकता नहीं है ॥ ४४ ॥

कर्म और विद्याका उक्त फल ठीक है, पर मनुष्यलोक पुत्रसे ही जीता जाता है, दूसरेसे नहीं, इस अर्थमें आक्षेप करते हैं—'क्रियात्वात्' इत्यादिसे ।

कर्म और विद्या क्रियात्मक हैं, इसलिए उनके उक्त दो फलोंके साधन होनेमें आपत्ति नहीं है, पर पुत्र तो द्रव्यात्मक है, अतः वह पितृलोकजयमें साधन कैसे हो सकता है ? साधन तो क्रिया ही, अनुष्ठेय होनेसे, हो सकती है, केवल द्रव्य नहीं हो सकता ॥ ४५ ॥

इसका उत्तर कहते हैं—'प्रव्रजिष्यन्' इत्यादिसे ।

स्नानादिके सदृश उपासकके स्वगत संस्कार कर्मकी संपत्ति संज्ञा है । असाध्य रोगसे आक्रान्त अतएव मुमूर्षु गृहस्थको अर्थात् कर्मत्याग प्राप्त होता है, क्योंकि उस समय उसमें कर्म करनेकी शक्ति ही नहीं रह जाती, इसलिए कर्मत्याग अनिवार्य हो जाता है, जैसे अवभृथस्नानके अनन्तर यजमान अपने शरीरको खुजलानेके लिए कृष्ण

श्रुतिः ॥ अथातः सम्प्रत्तिर्यदा प्रैष्यन्मन्यतेऽथ पुत्रमाह त्वं ब्रह्म त्वं यज्ञस्त्वं लोक इति स पुत्रः प्रत्याहाहं ब्रह्माहं यज्ञोऽहं लोक इति यद्वै किञ्चानूक्तं तस्य सर्वस्य ब्रह्मेत्येकता ये वै के च यज्ञास्तेषां सर्वेषां यज्ञ इत्येकता ये वै के च लोकास्तेषां सर्वेषां लोक इत्येकतैतावद्वा इदं सर्वमेतन्मा

मृगके सींगको लिए रहता है, उसका चात्वालमें प्रक्षेप करता है, उस त्यागको प्रतिपत्ति कहते हैं, कृष्णमृगके सींगका ही त्याग करना है, कहाँ त्याग करे ? इस अपेक्षासे चात्वालमें त्याग करे अन्यत्र नहीं, वैसे ही असक्त पुरुष अवश्य कर्मका त्याग करेगा, इस अपेक्षासे पुत्रमें समर्पणरूपसे त्याग करे, इस प्रकार प्रतिपत्ति-क्रिया संप्रतिपत्ति कहलाती है । आपत्ति अवस्थामें कर्मसंन्यास किया जाता है, यह इष्ट है, यही संपत्ति है ।

शङ्का—किस कालमें संपत्ति कर्म करना चाहिए ?

समाधान—श्रुति स्वयं उत्तर देती है—'यदा प्रैष्यन्' इत्यादिसे । जिस समय संन्यास ग्रहण करना हो अथवा जिस समयमें मैं मरूँगा, यह ज्ञान हो उस समय ।

शङ्का—मरण-समयका ज्ञान कैसे होगा ?

समाधान—ज्यौतिषशास्त्रसे अथवा तत्सूचक दुःस्वप्न, असाध्य रोग आदिसे उसका ज्ञान होता है । उस समय पिता पुत्रको बुलाकर श्रुति द्वारा प्रदर्शित रीतिसे अनुशासन करे—'त्वं ब्रह्म त्वं यज्ञस्त्वं लोकः' । तदनन्तर पूर्वमें अनुशिष्ट होनेसे पुत्र यह उत्तर दे कि 'अहं ब्रह्म अहं यज्ञः अहं लोकः' । यहांपर ब्रह्मशब्द वेदपरक है, अबसे मेरा जो अध्ययनादि कर्तव्य अवशिष्ट रह गया है, उसको तुम करना । त्वं ब्रह्मेत्यादिको श्रुति स्वयं स्फुट करती है—'यत्किञ्च' इत्यादिसे । जो कुछ अधीत या अनधीत है, उस सबके तुम्हीं ब्रह्म हो अर्थात् जो मत्कर्तृक वेदाध्ययन है, वह त्वत्कर्तृक हो एवं जो मत्कर्तृक यागादि व्यापार है, वह सब त्वत्कर्तृक हो, जो लोक मेरा जेतव्य था वह तुम्हारा जेतव्य है । पदार्थ कहनेके अनन्तर श्रुति स्वयं वाक्यार्थ कहती है—'एतावद्वा इदं सर्वम्' से । यह गृहीको करना चाहिए । वेदोंका अध्ययन करना, यज्ञोंका करना तथा लोकका जय करना यह सब तुम्हारा कर्तव्य है अर्थात् अब मैं मुक्त होता हूँ, अतः आगेका मेरा कर्तव्य—अध्ययन, यज्ञ, लोकजय, कर्तव्य क्रतु आदि सब तुम्हें समर्पित करता हूँ ।

शङ्का—क्यों ?

समाधान—मैं पहिले कह चुका हूँ कि इन कर्तव्य कर्मोंसे मैं

सर्वं सन्नयमितोऽभुनजदिति तस्मात्पुत्रमनुशिष्टं लोक्यमाहुस्तस्मादेन-मनुशासति स यद्वैवंविदस्माल्लोकात्प्रैत्यथैभिरेव प्राणैः सह पुत्रमाविशति स यद्यनेन किञ्चिदक्ष्णया कृतं भवति तस्मादेनं सर्वस्मात्पुत्रो मुञ्चति तस्मात्पुत्रो नाम स पुत्रेणैवास्मिँल्लोके प्रतितिष्ठत्यथैनमेते दैवाः प्राणा अमृता आविशन्ति ॥ १७ ॥

प्राणोपासक मुक्त होता हूँ। पिताके इन सब अनुशासनोंको पुत्र स्वीकार करता है, क्योंकि वह पहले ही ऐसा करनेके लिए समझाया जा चुका है। पिताके इस अभिप्रायको मानती हुई श्रुति कहती है—'एतन्मेति। यह सब मेरा भार मुझसे हटाकर अपनेमें रखकर मेरा पालन करो, पिताके इस आदेशको मानकर पुत्र इस लोकके कर्तव्यताबन्धनसे पिताको मुक्त करता है; इस कारण ब्राह्मण अनु-शिष्ट पुत्रको पिताके लोकके लिए हित कहते हैं, अतएव पितरगण यह अनुशासन करते हैं कि यह पुत्र हमारा लोक्य हो अर्थात् लोकहित हो। पिता जिस कालमें एवंवित् पुत्रमें समस्त स्वकर्तव्यके भारका समर्पण कर इस लोकसे प्रस्थान—कूँच—करता है, उसी कालमें पिता प्रकृत वाङ्-मन-प्राणसे पुत्रमें प्रविष्ट होता है।

शङ्का—पिताके वाक्, मन और प्राण पुत्रमें कैसे प्रविष्ट होते हैं? पुत्रमें क्या दो वागादि हो जाते हैं, प्रवेशका अभिप्राय तो कुछ भी समझमें नहीं आता?

समाधान—श्रुत्यर्थ अति गहन होता है, इसलिए अवधानपूर्वक सुनिये, तो समझमें आ जायगा। सर्प जैसे बिलमें प्रवेश करता है, वैसे पिताके वागादि तीन पुत्रमें प्रविष्ट होते हैं, ऐसा प्रवेश यहाँ विवक्षित नहीं है, यह तो अवश्य ही निष्प्रयोजन और असंभव है।

यहां तात्पर्य यह है कि अध्यात्मपरिच्छेदके हेतु जो लौकिक ज्ञान और कर्म हैं, उनकी शास्त्रीय ज्ञान-कर्मरूप प्रकृत प्राणोपासनासे जब निवृत्ति हो जाती है, तब पिताके वाक्, मन और प्राण ये तीनों अपने आधिदैविक स्वरूपसे आगे वक्ष्यमाण पृथिव्यग्न्यादिरूपापन्न हो जाते हैं, उक्त मिथ्याज्ञानकी निवृत्ति होने-पर वागादि पृथिव्यादिस्वरूपापन्न होनेसे सर्वसाधारण होते हैं, अतएव सर्व-व्यापक होनेसे पुत्रमें भी रहते हैं, जैसे घटके भीतर प्रदीपके प्रकाशसे घटका भीतरी भाग ही प्रकाशसम्बन्धी होता है, समीपस्थ घटादि नहीं है, किन्तु घट फोड़नेसे वह प्रकाश गृहस्थित यावत्प्रकाश्यसम्बन्धी हो जाता है, उसी प्रकार पिताके वागादि भी पृथिव्यादिस्वरूप होकर सर्वसाधारण होते हैं।

याग़ाध्ययनकाम्यानि कुर्वन्पुत्रः पितुर्गृहे ।
वसत्येतावता पुत्रजितोऽयं लोक उच्यते ॥ ४७ ॥

पिता उपासककी यह धारणा हो गई है कि मैं अनन्त वाक्, मन और प्राण स्वरूप हूँ, जितने आध्यात्मिक वागादिके विस्तार हैं, वे सब मैं ही हूँ, इसलिए पुत्रमें वागादिकी अनुवृत्ति होती है, इस अर्थमें कोई अनुपपत्ति नहीं है, बल्कि प्रकृतोपासक सबका आत्मा हो जाता है अर्थात् सर्वात्मस्वरूप अपनेको मानता है। जब मैं सबका आत्मा हूँ तब वागादि सब पिताके ही हैं, यों समष्ट्यभिमानी हो जाता है, ऐसा लिखा है। जिस पिताका पुत्र उक्त प्रकारसे अनुशिष्ट होता है, वह पिता मरनेपर भी पुत्ररूपसे इसी लोकमें रहता है, उस पिताको मरा हुआ नहीं समझना चाहिए।

दूसरी श्रुतिमें भी ऐसा ही कहा है—'सोऽस्यायमितर आत्मा पुण्येभ्यः कर्मभ्यः प्रतिधीयते इति' वह पुत्र पिताके पुण्य-कर्मसे सम्पादित अन्य आत्मा है। पुत्र-शब्दका निर्वचन श्रुति करती हैं—'स यदि' इत्यादिसे। अध्ययन आदि स्वकर्तव्यका प्रमादादिवश पिताने जो अनुष्ठान नहीं किया, उसीको अक्ष्णया (छिद्रित) कहते हैं, उस कर्मच्छिद्रसे पिताको मुक्त करता है अर्थात् 'पूरणेन पितरं त्रायते' छिद्रित कर्मको पूर्णकर पिताकी रक्षा करता है, इस कारण पुत्र कहलाता है। जो कर्म प्रमादसे रह गये हैं, उन सब कर्मोंका 'मैं ब्रह्म हूँ, मैं यज्ञ हूँ', इत्यादि अनुशासनके स्वीकारसे पूरण करनेके कारण पुत्रमें वास्तविक पुत्रता है, सो पिता एवंगुणविशिष्ट पुत्रसे इस लोकमें प्रतिष्ठित होता है ॥ ४६ ॥

पुत्र क्रियात्मक नहीं है, अतः वह मनुष्यलोककी प्राप्तिका हेतु कैसे हो सकता है? इसपर कहते हैं—'यागाध्यन०' इत्यादि।

पिताके घरमें रहकर पुत्र याग, अध्ययन, काम्य अग्निहोत्र आदि कर्म करता है, इसीसे यह लोक पुत्रजित कहलाता है, देवलोक और पितृलोकके हेतु विद्या और कर्म हैं। इन साधनोंके स्वरूपसत्तामात्रसे उक्त लोकप्राप्ति होती है। इनमें स्वरूपभूत सत्तासे अतिरिक्त व्यापार नहीं है, पर पुत्रमें स्वरूपभूत सत्तासे अतिरिक्त नित्यादि कर्मका अनुष्ठानभूत व्यापार होता है, इसलिए विद्या और कर्मकी अपेक्षा पुत्र श्रेष्ठ माना जाता है, अतएव पिताकी प्रीति भी पुत्रमें अधिक होती है, क्योंकि पिताके संकल्पको पूरा करनेका अधिकारी पुत्र ही है। अतः जिस पिताने पुत्रमें

पुत्रकर्मोपासनानां प्रसङ्गात्फलमीरितम् ।
त्र्यन्नात्मोपासकस्याऽथ विराट्प्राप्तिरुदीर्यते ॥ ४८ ॥
पूर्वसिद्धविराजो वाक् पृथिव्यग्न्यात्मिका सती ।
उपासिता तत्प्रसादाद्दैवी वागाविशत्यमुम् ॥ ४९ ॥
मनःप्राणौ तथा दैवौ विशतोऽत उपासकः ।
सर्वेषामपि भूतानां भवत्यात्मा विराडिव ॥ ५० ॥

श्रुतिः ॥ पृथिव्यै चैनमग्नेश्च दैवी वागाविशति सा वै दैवी वाग्यया यद्यदेव वदति तत्तद्भवति ॥ १८ ॥

अपने कर्तव्य कर्मोंका समर्पण कर दिया है, उस पिताके दैव (हैरण्यगर्भ) वाक्, मन, प्राण आदि अमृत होकर पुत्रमें प्रविष्ट होते हैं, यह निष्कर्ष हुआ ॥ ४७ ॥

'**पुत्रकर्मो०**' इत्यादि । पुत्र, कर्म और उपासनाका फल प्रसङ्गवश कह दिया, तीन अन्नोंकी आत्मस्वरूपसे उपासना करनेवालेके लिए विराट्प्राप्तिरूप फल कहा जाता है ॥ ४८ ॥

'**पूर्वसिद्ध०**' इत्यादि । पूर्वसिद्ध विराट्की वाक् पृथिवी और अग्निस्वरूपा है, वही उपासित होकर उपासानाके प्रभावसे दैवी वाग् होकर प्राणके उपासकमें प्रविष्ट होती है ॥ ४९ ॥

'**मनः०**' इत्यादि । दैव (हैरण्यगर्भ) जो मन और प्राण हैं, वे भी उपासकमें प्रविष्ट हो जाते हैं, इसलिए उपासक सब भूतोंका—प्राणियोंका—विराट्के समान आत्मा है अर्थात् प्राणोपासक विराट्के समान समष्ट्यात्मा होता है ॥ ५० ॥

सूत्रभूत प्राणमें आत्मभावना करनेसे परिच्छिन्नाभिमान निवृत्त हो जाता है, इस प्रकार सामान्यतः कथित अर्थको विशेषरूपसे श्रुति कहती है—'**पृथिव्यै**' इत्यादि ।

दैवी वाक्का स्वरूप कहते हैं, पृथिवी और अग्नि ही अधिदैवात्मक वाग् है, यह वाग् आध्यात्मिक आसङ्ग दोषसे युक्त होनेके कारण प्रतिपुरुष भिन्न है । आसङ्ग दोषसे रहित विद्वान्की वाक् आवरण भङ्ग होनेसे जलवत् प्रदीपके प्रकाशके साथ व्यापक हो जाती है । यही श्रुति भी कहती है—'पृथिव्यै श्चैनमग्नेश्च दैवी वागाविशति' । यह दैवी वाग् अनृत आदि

दिवश्चैनमादित्याच्च दैवं मन आविशति तद्वै दैवं मनो येनानन्द्येव भवत्यथो न शोचति ॥ १९ ॥

अद्भ्यश्चैनं चन्द्रमसश्च दैवः प्राण आविशति स वै दैवः प्राणो यः सञ्चरंश्चासञ्चरंश्च न व्यथतेऽथो न रिष्यति स एष एवंवित्सर्वेषां भूतनामात्मा भवति ।

सर्वभूतात्मभूतोऽसौ　सर्वानन्यत्ववेदनः ।
जगदुत्पत्तिसंहारैः　क्रीडन्निव विचेष्टते　॥ ५१ ॥

दोषोंसे रहित है अतएव शुद्धा है। उक्त वाक्से अपने या दूसरेके लिए जो-जो कहता है, वह वह वस्तुतः हो जाता है, इसलिए उपासककी वाग् अन्वर्थ कही जाती है ॥१८॥

'दिवश्चैनमादित्याच्च' इत्यादि। वाक्में जो न्याय कहा गया है, उसीका मनमें श्रुति अतिदेश करती है। मन स्वभावतः निर्मल होनेसे दैव कहा जाता है। दिव और आदित्यसे उक्त दैव मन उपासकमें प्रविष्ट होता है, जिससे उपासक सदा आनन्दवान् रहता है, सुखी रहता है, कभी शोकादि दुःखवान् नहीं होता, क्योंकि शोकादिके निमित्तका संबन्ध ही नहीं होता। मनमें जो न्याय कहा है, उसीका श्रुति प्राणमें अतिदेश करती है ॥१९॥

'अद्भ्यश्चैनं चन्द्रमसश्च' इत्यादि श्रुतिका अर्थ—जल और चन्द्रमासे दैव प्राण उपासकमें प्रविष्ट होता है।

शङ्का—दैव प्राणका क्या लक्षण है?

समाधान—जो जङ्गमोंमें संचारी और स्थावरोंमें असंचारी होकर दुःखनिमित्तक भयसे कभी दुःखी नहीं होता और न विनष्ट होता है, वह दैव प्राण है। जो विद्वान्—अप्रात्मदर्शनवान्—है वह सब भूतोंका आत्मा होता है, सब भूतोंका प्राण होता है, सब भूतोंका मन होता है, सब भूतोंकी वाक् होता है, इस प्रकार सर्वभूतात्मा होनेसे सर्वज्ञ होना स्वाभाविक ही है। तथा सर्वकृत् भी कहा जाता है। जैसे पूर्वसिद्ध हिरण्यगर्भ देवता है, वैसे ही उपासक भी सर्वज्ञ और सर्वकृत् होता है, इसमें कोई प्रतिबन्ध नहीं है।

'सर्वभूतात्म०' इत्यादि। यह प्रकृत प्राणोपासक सब भूतोंका आत्म-स्वरूप होनेसे सबको अपनेसे अभिन्न मानता है, किसीको अपनेसे भिन्न

ननु पूर्वविराज्येष विशेद्बिन्दुरिवोदधौ ।
विराडन्तररूपेण जायते वोभयं न तत् ॥ ५२ ॥
नोपास्तिकार्यता त्वाद्ये विराजः पूर्वसिद्धितः ।
द्वितीये द्विगुणीभूतो विराड् दृश्येत जन्तुभिः ॥ ५३ ॥
नैष दोषः कल्पनायां द्वैगुण्यस्याऽप्रसङ्गतः ।
न रज्जुसर्पो द्विगुणो भाति द्वाभ्यां प्रकल्पितः ॥ ५४ ॥

नहीं जानता, अतएव हिरण्यगर्भके समान जगत्‌की उत्पत्ति, स्थिति तथा संहार द्वारा वह क्रीड़ा करता है, हिरण्यगर्भके समान होता है ॥ ५१ ॥

'ननु पूर्व०' इत्यादि । यह प्राणोपासक पूर्वसिद्ध विराड्‌में समुद्रमें जल-बिन्दुके समान समाविष्ट होता है, जैसे प्रवेशसे पूर्व जलबिन्दु समुद्रके जलसे भिन्न और पृथक् प्रतीत होता है, पर प्रवेशके अनन्तर समुद्रके जलसे अभिन्न अतएव पृथक् प्रतीत नहीं होता, वैसे ही उपासक उपास्य विराड्से अभिन्न हो जाता है, अथवा अन्य विराट् हो जाता है अर्थात् विराट्‌के समान वह स्वयं दूसरा विराट् हो जाता है, परन्तु ये दोनों प्रकार ठीक नहीं हैं, क्योंकि दोनों प्रकारके प्रवेशमें दोष देखा जाता है ॥ ५२ ॥

'नोपास्ति०' इत्यादि । प्रथम पक्षमें यह दोष है कि उपासक पूर्वसिद्ध विराट्‌स्वरूप स्वयं हो जाता है, ऐसा माननेसे विराट्‌स्वरूपके पहलेसे ही सिद्ध होनेके कारण उस उपासनासे वह साध्य नहीं हो सकता, फिर उस उपासनासे यह विराट्‌का स्वरूप साध्य है, यह कैसे कहा जा सकता है ? द्वितीय पक्ष भी ठीक नहीं जँचता, क्योंकि दूसरा विराट्‌स्वरूप माननेसे वह भी तो पूर्व विराट्‌के समान विश्व-व्यापक ही माना जायगा, ऐसी परिस्थितिमें द्विगुणीभूत विराट्‌को लोग देखेंगे, सो अनुभव तथा श्रुत्यादिसे विरुद्ध है, द्विगुण विराट्‌का निरूपण श्रुतियोंमें है नहीं ॥५३॥

'नैष दोषः' इत्यादि । द्वितीय पक्षमें दोषका परिहार करनेसे यही मत अभिमत है कि पूर्वसिद्ध विराट्‌के स्वरूपके समान ही प्रकृतोपासनाजन्य द्वितीय विराट्‌के स्वरूपको माननेमें बाधक यही कहा कि द्विगुण विराट्‌के स्वरूपके भानका प्रसङ्ग, सो ठीक नहीं है, कारण कि वास्तविक स्वरूपान्तर माननेसे उक्त दोषकी प्रसक्ति हो सकती है । किन्तु ऐसा है नहीं, यह तो काल्पनिक विराट्‌का अन्य स्वरूप है, इस कारण इसका द्विगुण भान नहीं हो सकता है, इसीमें अनुरूप दृष्टान्त

विराट् स्वेभ्योऽन्य इत्येवं कल्पयन्त्यनुपासकाः ।
उपासकाः कल्पयन्ति स्वयमेव विराडिति ॥ ५५ ॥
तद्यथा कल्प्यते येन तत्तथा तेन वीक्ष्यते ।
अन्येन कल्पितं त्वन्यो न कश्चिद्वीक्षितुं क्षमः ॥ ५६ ॥

कहते हैं—जैसे दो मनुष्य एक ही रज्जुमें सर्पकी कल्पना करते हैं, तो क्या एक पुरुष द्वारा कल्पित रज्जुसर्पकी अपेक्षासे दो पुरुषों द्वारा कल्पित रज्जुसर्प द्विगुण होता है ? कभी नहीं, कारण कि पुरुष स्वस्वकल्पित रज्जुसर्पको ही देखता है अन्य पुरुष द्वारा कल्पित रज्जुसर्पको नहीं देखता वैसे ही प्रतिपुरुष-कल्पित विराट्-स्वरूप अनेक पुरुषों द्वारा दृश्य नहीं होता, किन्तु स्वकल्पित ही स्वदृश्य होता है, इस नियमके अनुसार एकैककल्पित विराट् एकैकदृश्य होनेसे उसकी द्वैगुण्यकी आपत्तिका परिहार अनायाससे सिद्ध होता है, यह विषय पूर्वमें भी कहा जा चुका है। भोग्यत्वाकारविशिष्टत्वरूपसे तत्तज्जीव-कल्पित प्रपञ्च नाना है, स्व-स्वस्वप्नमें कल्पित राजवत् स्व-स्वप्रतीतिका गोचर होता है, अतएव अनेक स्वप्नोंमें कल्पित राजा प्रत्येकके प्रति अनेक नहीं होते, किन्तु स्व-स्वके प्रति असाधारण होते हैं, वैसे ही प्रत्येक उपासक द्वारा कल्पित विराट्के प्रत्येक उपासकके प्रति भिन्न होनेसे द्वैगुण्यापत्तिका परिहार हो जाता है ।

'विराट् स्वेभ्यो' इत्यादि । जो विराट्के उपासक नहीं हैं, वे अपनेसे भिन्न विराट् है, ऐसी कल्पना करते हैं, पर जो विराट्के उपासक हैं, वे अपनेसे अभिन्न रूपसे 'मैं ही विराट् हूँ' ऐसी ही कल्पना करते हैं ॥ ५५ ॥

'तद्यथा' इत्यादि । जो पुरुष जैसी कल्पना करता है, वह वैसा ही देखता है, अन्यकल्पित पदार्थको दूसरा वैसा देखनेमें समर्थ नहीं होता । इसीसे गोस्वामी श्रीतुलसीदासजीने भी लिखा है कि 'जिनके रही भावना जैसी प्रभु-मूरति देखी तिन तैसी' अर्थात् स्वस्वकल्पनानुसार ही पदार्थोंका ज्ञान होता है, तदनुसार ही हेयोपादानादि कल्पना भी होती है । अतएव सुवर्णादि द्रव्यका स्वभाव समान है, परन्तु वीतरागकी उसमें उपादेयबुद्धि नहीं होती और इतरकी होती है, इत्यादि युक्तियों और व्यवहारोंसे यह निश्चित होता है कि स्वस्वकल्पितरूपसे ही पदार्थ स्वस्वज्ञानके विषय होते हैं, पुरुषान्तर-कल्पितरूपसे नहीं, इसमें अधिक लिखनेकी आवश्यकता नहीं है ॥५६ ।

कल्पितस्य फलत्वं च युज्यते स्वप्नभोगवत् ।
कल्पितं निखिलं दृश्यमिति वेदान्तडिण्डिमः ॥ ५७ ॥
तस्मादुपास्तिजन्योऽयं विराट् तस्योपमा श्रुतौ ।
पूर्वसिद्धविराट्प्रोक्ता यथैषा देवतेति हि ॥ ५८ ॥

यथैषा देवतैवं स यथैतां देवतां सर्वाणि भूतान्यवन्त्येवं हैवंविदꣳ सर्वाणि भूतान्यवन्ति ।

सर्वभूतैर्यथा पूज्यो विराट् पूर्वस्तथा विराट् ।
पूज्यते नूतनोऽप्येष सर्वभूतात्मकत्वतः ॥ ५९ ॥

'कल्पितस्य' इत्यादि । स्वकल्पित ही स्वफल है, जैसे स्वप्नमें जैसी जिसको शुभाशुभरूपसे कल्पना होती है, स्वाप्निक सुखदुःखादि फल भी उसको वैसा ही होता है। स्वप्नमें कल्पनासे अतिरिक्त सुखदुःखादि निमित्त अन्य पदार्थ नहीं है, फिर भी एक ही स्थलमें किसीको जल दृष्टिगोचर होता है, किसीको नहीं होता। पिपासाकुल स्वप्नमें जलके अन्वेषणमें ही लगा रहता है, पर उसे जल नहीं मिलता और कोई उसी समय नदियोंमें अपनेको तैरता देखता है, इसलिए यह ठीक है कि अपनी कल्पनाके अनुसार ही पदार्थ दृष्टिगोचर होते हैं, अन्यकी कल्पनाके अनुसार नहीं होते। सम्पूर्ण दृश्य प्रपञ्च अज्ञानसे कल्पित है, पारमार्थिक नहीं है, यह वेदान्तका सिद्धान्तघोष है ॥ ५७ ॥

प्रकृत उपासनाका फल विराट्स्वरूपकी प्राप्ति है, इसीको उपसंहारमें कहते हैं—'तस्मात्' इत्यादिसे ।

उपासनासे जन्य यह विराट्पदकी प्राप्ति है, इसकी उपासना अग्रिम श्रुति कहती है। जैसे पूर्व कल्पकी उपासनासे वर्तमान कल्पके विराट् होते हैं, वैसे ही वर्त्तमान कल्पकी उपासनासे वर्तमान नवीन विराट् देवतास्वरूप होते हैं ॥ ५८ ॥

'यथैषा' इत्यादि श्रुतिका अर्थ—पूर्व कल्पके कर्मसे सिद्ध विराट् देवताके समान तद्भाव-साक्षात्कारवान् उपासककी सब अवस्थामें सब भूत रक्षा करते हैं—सभी प्रकारके भोगरूप फलको देते हैं, ऐसा कहा है ।

'सर्व०' इत्यादि । जैसे पूर्व विराट् सब भूतोंके पूज्य होते हैं, वैसे ये नवीन विराट् भी सब भूतों द्वारा पूजित होते हैं, क्योंकि पूर्व विराट्के समान ये भी सब भूतोंके आत्मा हैं ॥ ५९ ॥

न च सर्वप्रजादुःखप्रसङ्गोऽस्मिन्नुपासके ।
कृत्स्नाभिमानिनस्तस्य प्रजामात्रेऽनहम्मतेः ॥ ६० ॥
कुक्षिस्थकृमिदुःखैर्नो न मनागपि सङ्गतिः ।
तथाऽस्मदादिगैर्दुःखैर्न विराजोऽस्ति सङ्गतिः ॥ ६१ ॥

शङ्का—'न च सर्व०' इत्यादि । यदि उपासक सब भूतोंका आत्मा हो जाता है; अतः सब भूत आत्माके समान उसकी रक्षा करते हैं, तो सब भूतोंको जो दुःख होता है, वह उपासकको भी होना चाहिए, यदि ऐसा हो तो यह उपासना अनर्थके लिए होगी, अतएव कल्याणार्थियोंके लिए अनुपादेय है। यद्यपि उसे सब भूतोंकी सुखकी प्राप्ति भी होगी, लेकिन सांसारिक भूतोंको सुखकी अपेक्षा दुःख ही अधिक है', इसलिए अनर्थ ही अधिक होगा ।

समाधान—परिच्छेदाभिमान ही दुःखहेतु है, सर्वात्मता नहीं । विद्वान्‌को परिच्छेदाभिमान ही नहीं है, तो दुःख कैसे होगा ? अतएव जीवन्मुक्तादि तथा परमात्मामें सर्वभूतात्मता रहनेपर भी सर्वदुःखसम्बन्ध नहीं माना जाता ।

'सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चाऽऽत्मनि ।'
'यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति ।'

इत्यादि भगवान्‌के वचनके अनुसार सर्वभूतात्मता ज्ञानी और परमेश्वरमें मानी जाती है, पर सर्वदुःखानुभव नहीं माना जाता, कारण कि उनमें परिच्छेदाभिमान नहीं है। एवं उपासकमें भी समझना चाहिए, समष्ट्यभिमानी होनेसे उपासक प्रजामात्रमें अहं अभिमानसे रहित होता है ॥ ६० ॥

शङ्का—'कुक्षिस्थ०' इत्यादि । अपरिच्छिन्नबुद्धि उपासक है; यह माननेपर भी सूत्रात्मक विद्वान् उपासकमें सब भूतोंका समावेश होनेके कारण 'सब भूतात्मक मैं हूँ', ऐसा ज्ञान होनेपर सब भूतोंमें रहनेवाला दुःख उपासकात्मगत क्यों नहीं होगा ? उपासक क्या भूतगत दुःखोंको नहीं जानता, वह तो सर्वज्ञ है, फिर उसको सर्वदुःखानुभव क्यों नहीं होता ? और यह तो हो नहीं सकता कि दुःखरहित सब भूतोंके आत्माको ही अपनी आत्मा मानता है ।

समाधान—जैसे हम लोगोंके पेटमें कभी कृमि (कीट) हो जाते हैं, वे सब हमारे शरीरके भीतर ही रहते हैं, फिर भी उनके सुख और दुःखोंका अनुभव

ईश्वरत्वाच्च तस्याऽन्यदुःखैर्न स्यात्समागमः ।
अस्माकं दुःखसम्प्राप्तिरनैश्वर्यकृतैव हि ॥ ६२ ॥
सत्यसङ्कल्पयुक्तस्य यदिष्टं तद्भवेत्तथा ।
अनिष्टं न भवत्येव कुतो दुःखं प्रसज्यते ॥ ६३ ॥

हम लोगोंको नहीं होता, क्योंकि जिसके अदृष्टोंसे उपार्जित शरीर, इन्द्रिय जिसकी होती हैं, उसीको उन शरीर और इन्द्रियोंसे सुख या दुःख होता है, दूसरेको नहीं, इसलिए कृमिस्थ सुख आदिको पुरुष नहीं जान सकता और उक्त रीतिसे सुख, दुःख आदि कल्पित पदार्थ हैं, पारमार्थिक नहीं । स्वकल्पित पदार्थ ही देख सकता है; दूसरा नहीं, यह पूर्वमें निरूपण कर चुके हैं । अतः यद्यपि प्रजापतिरूप उपासक विद्वान्में सब भूत होते हैं; तथापि दुःखका सम्बन्ध विद्वान्में नहीं होता, यह निष्कर्ष है ।

शङ्का—उक्त कृमि-दृष्टान्त विषम है, क्योंकि कृमिके शरीरमें पुरुषका तादात्म्याभिमान नहीं है, इसलिए उसके दुःखसे पुरुष दुःखी नहीं होता । विद्वान्की अपरिच्छिन्न बुद्धि होनेपर भी उपासक सूत्रात्मस्वरूप होनेसे स्वांशभूत सब भूतोंका अभिमानी है, इसलिए दुःखयोग दुर्वार है ।

समाधान—इसका उत्तर पूर्व श्लोकमें दिया गया है, वह यह है कि तत्-तत् शरीराभिमानीको तत्-तत् शरीरादिसे दुःख होता है, सकल शरीराभिमानीको नहीं, जिसके अदृष्टसे जो शरीर आदि होता है, उसीको उस शरीर आदिसे दुःख आदि होते हैं, उपासकके अदृष्टसे सकल भूतोंके शरीरादिका आरम्भ नहीं होता, इसलिए विद्वान्को दुःखादिका भोग नहीं होता ॥ ६१॥

अथवा समाधानान्तर देते हैं—'ईश्वरत्वाच्च' इत्यादिसे ।

उपासक ईश्वर हो जाता है; इसलिए अस्मदाद्यभिमानी होनेपर भी उसको दुःख नहीं होता; अनीश्वरत्वप्रयुक्त ही दुःखादि अस्मदादिमें हैं; इसी अभिप्रायको हृदयमें रख कर श्रुति 'यदु किञ्चेमाः' इत्यादिसे आगे उदाहरण देगी ॥६२॥

'सत्य०' इत्यादि । ईश्वर सत्यसङ्कल्प होता है, जो उसको इष्ट है; वह सङ्कल्पमात्रसे सिद्ध होता है और अनिष्ट तो होता ही नहीं, अतः दुःख होनेकी क्या सम्भावना है ? ॥ ६३ ॥

उपास्त्याऽखिलपापस्य दग्धत्वाद् दुःखकारणम् ।
नाऽस्ति पुण्यैकसाध्यत्वात् सुखमेव विराट्पदे ॥ ६४ ॥

यदु किञ्चेमाः प्रजाः शोचन्त्यमैवासां तद्भवति पुण्यमेवामुं गच्छति न ह वै देवान्पापं गच्छति ॥२०॥

'उपास्त्या०' इत्यादि । उपासनासे संपूर्ण पाप दग्ध हो जाते हैं, पाप ही दुःखके कारण हैं । दुःखके कारणके नाशसे दुःखकी उत्पत्ति ही नहीं होगी, अतः केवल पुण्यसे विराट्में स्वतः सुख रहता है, क्योंकि उसका कारणीभूत पुण्य उपासनासे सञ्चित हो चुका है ॥ ६४ ॥

यदु किञ्चेमाः' इत्यादि श्रुति । अभिप्राय यह है कि जो परिच्छिन्न शरीरादिका अभिमानी पुरुष है, उसके प्रति किसीने यदि उपालम्भ आदि किये, तो उसकी यह धारणा होती है कि इसने हमको ऐसा क्यों कहा ? इससे उसके हृदयमें दुःख होता है । और जो सर्वात्मा है, उसको परिच्छेदाभिमान तो है नहीं, इसलिए उसकी दृष्टिमें आक्रोष्टा, उपालम्भक और उपालभ्यमानमें कोई अन्तर नहीं रहता, अतः इसने हमको ऐसा क्यों कहा ? यह ज्ञान जब उसको होता ही नहीं तब उस ज्ञानसे दुःख कैसे हो सकता है ? जैसे 'मित्र मर गया' इस प्रकार जिसको दूसरेके मरणका ज्ञान होता है, उसको उसके मरणसे दुःख होता है; यह ज्ञान परिच्छिन्नाभिमानीको ही होता है, अपरिच्छिन्नाभिमानीको नहीं होता, अतएव ज्ञानीको किसीके मरणसे दुःख नहीं हो सकता, उसकी अपेक्षा तो सब जीवित ही हैं, इसलिए मरण आदि दुःखका लेश भी उसे नहीं है । यही श्रुति कहती है—'यदु' इत्यादिसे । जो कुछ ये प्रजाएँ शोक करती हैं, वह प्रजाके साथ ही शोकादिनिमित्तक दुःख होता है, क्योंकि इस प्रकारका दुःख प्रजाकी परिच्छिन्न बुद्धिसे उत्पन्न होता है । सर्वात्मा विद्वान्का किसके साथ संयोग या वियोग समझा जाय ? प्रजापतिके पदमें वर्त्तमान उपासक निरतिशय पुण्यफल ही पाता है, पाप-फल नहीं, क्योंकि पापका अवसर ही नहीं आता, अतः उसमें पाप-फल दुःख नहीं होता । जैसे स्वभावतः अग्निमें शैत्यगुण नहीं मिलता, वैसे ही देवतामें पाप नहीं रहता । अग्नि और शैत्यके समान देवता और पापका मिथ्या संबन्ध भी नहीं होता ॥२०॥

इत्थं प्रोक्ता विराट्प्राप्तिर्मृतस्य त्र्यन्नदर्शिनः ।
त्र्यन्नात्मदर्शी जीवेच्चेत्तदा कर्तव्यमुच्यते ॥ ६५ ॥
सर्वकर्माणि संन्यस्य प्राणापानावनुस्मरन् ।
सर्वव्यापारकालेषु नाऽन्यत्किञ्चिद्विचिन्तयेत् ॥ ६६ ॥

श्रुतिः ॥ अथातो व्रतमीमाꣳसा प्रजापतिर्ह कर्माणि ससृजे तानि सृष्टान्यन्योन्येनास्पर्द्धन्त वदिष्याम्यहमिति वाग्दध्रे द्रक्ष्याम्यहमिति चक्षुः श्रोष्याम्यहमिति श्रोत्रमेवमन्यानि कर्माणि यथाकर्म तानि मृत्युः श्रमो

'इत्थं प्रोक्ता' इत्यादि । उक्त अन्नत्रयदर्शी प्राणोपासक मरनेपर विराट्स्वरूप होता है, यह कहा गया, अब अगर वह जीवित रहे, तो उसका कर्तव्य कहते हैं ॥ ६५ ॥

'सर्वकर्माणि' इत्यादि । सब कर्तव्य कर्मोंका संन्यासकर (त्यागकर) प्राण और अपानका स्मरण करता हुआ सब व्यापारोंके समय प्राण और अपानसे अतिरिक्त दूसरी किसी वस्तुकी चिन्ता न करे, सदा प्राणके ध्यानमें तत्पर रहे ॥६६॥

'अथातो व्रतमीमांसा' इत्यादि श्रुति । संन्यासके अनन्तर क्या करना चाहिए ? क्योंकि प्रवृत्तिशील मन आदिकी स्थिति व्यापारके बिना नहीं हो सकती, इस जिज्ञासासे व्रतमीमांसाका आरम्भ करते हैं । अनुष्ठेयविशेष व्रत कहलाता है, उसके विचारका आरम्भ होता है, यह अर्थ हुआ । गुणपूर्वक बोधके लिए इस विषयमें श्रुति आख्यायिका कहती है—प्रजापति हिरण्यगर्भने प्रजाओंकी सृष्टि कर कर्मोंकी याने वागादि इन्द्रियोंकी सृष्टि की । उत्पन्न होनेके बाद परस्पर वे स्पर्द्धा करने लगीं ।

स्पर्द्धाका प्रकार श्रुति स्वयं कहती है—वदनस्वरूप व्यापारसे कभी मैं विरत न होऊँगी अर्थात् सदा बोलती ही रहूँगी, ऐसा सङ्कल्प वागिन्द्रियने किया, मैं सतत देखती रहूँगी, कभी भी इस कर्मसे विरत न होऊँगी, ऐसा सङ्कल्प चक्षु इन्द्रियने किया, मैं सदा सुनती ही रहूँगी, ऐसा श्रोत्र इन्द्रियने सङ्कल्प किया । इसी प्रकार अन्य सब इन्द्रियोंने अपने-अपने व्यापारसे क्षणभर भी विरत न होनेका दृढ़ सङ्कल्प किया, किन्तु मारक श्रमरूप मृत्युने इन्द्रियोंका ग्रहण किया याने उन करणोंने श्रमस्वरूप मृत्युको पाया—वे करण मृत्युसे आक्रान्त हुए । श्रमरूपी मृत्युने इन्द्रियोंमें प्रविष्ट होकर उनके अपने-अपने कर्म करनेमें विघ्न किया—अपने-अपने कर्तव्योंसे इन्द्रियोंको प्रच्युत किया । प्रजापतिके वागादिमें भी श्रम द्वारा स्वकर्मकी प्रच्युति होती है, क्योंकि प्रजावर्गकी इन्द्रियोंमें

भूत्वोपयेमे तान्याप्नोत् । तान्याप्त्वा मृत्युरवारुन्ध तस्माच्छ्राम्यत्येव वाक् श्राम्यति चक्षुः श्राम्यति श्रोत्रमथेममेव नाप्नोद्योऽयं मध्यमः प्राणस्तानि ज्ञातुं दध्रिरे । अयं वै नः श्रेष्ठो यः सञ्चरंश्चासञ्चरंश्च न व्यथतेऽथो न रिष्यति हन्तास्यैव सर्वे रूपमसामेति त एतस्यैव सर्वे रूपमभवँस्तस्मादेत एतेनाख्यायन्ते प्राणा इति तेन ह वाव तत्कुलमाचक्षते यस्मिन्कुले भवति य एवं वेद य उ हैवंविदा स्पर्द्धतेऽनुशुष्यत्यनुशुष्य हैवान्ततो म्रियत इत्यध्यात्मम् ॥ २१ ॥

अथाधिदैवतं ज्वलिष्याम्येवाहमित्यग्निर्दध्रे तप्स्याम्यहमित्यादित्यो

दृश्यमान स्वकर्मच्युति ही प्रजापतिके वागादिमें स्वकर्मप्रच्युतिकी सत्तामें लिङ्ग है । अन्यथा उसके कार्य प्रजावर्गकी इन्द्रियोंमें स्वकर्म-च्युति कैसे होती ? वागादिके निश्चयके अनन्तर इस मुख्य प्राणमें श्रमरूपी मृत्यु नहीं आ सकी । इसमें भी कार्यलिङ्गक अनुमान है—जो प्राणियोंमें यह मध्य प्राण है; वह इस समय भी श्रान्त नहीं होता अर्थात् अपने उच्छ्वास आदि व्यापारसे विरत नहीं होता, इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि कारणीभूत प्रजापतिके प्राणमें भी श्रमवश अपने कार्यसे विरति नहीं थी । विरतिशील इन्द्रियोंने प्राणके जाननेके लिए मनोयोग दिया । ज्ञानके लिए अनुसंधानका प्रकार श्रुति कहती है—यह मुख्य प्राण हम लोगोंमें श्रेष्ठ है, क्योंकि स्थावरोंमें असंचारी और जङ्गमोंमें संचारी होकर भी कभी थकता नहीं है, अतः श्रेष्ठ है ।

श्रुति श्रेष्ठतासे फलित कहती है—इस समय हम सब इन्द्रियाँ इस प्राणका ही स्वरूप प्राप्त करें अर्थात् तत्स्वरूपापन्न होवें; ऐसा निश्चय कर वे तद्रूप हुईं, अतः प्राणात्मा होनेसे ही ये वागादि इन्द्रियां प्राणशब्दसे कही जाती हैं । वागादि इन्द्रियोंमें प्राणशब्दके प्रयोगका यही मूल है । जो पुरुष इस रीतिसे सब वागादि करणोंमें प्राणात्मता और प्राणशब्दाभिधेयताको जानता है; उसी विद्वान्‌के नामसे वह कुल प्रख्यात होता है । जो उक्त विद्यावाले विद्वान्‌के साथ स्पर्द्धा करता है, वह इसी वर्तमान शरीरमें सूखकर मर जाता है । अतः प्राणवेत्ताके साथ कभी स्पर्द्धा नहीं करनी चाहिए ॥२१॥

आध्यात्म निर्णयके अनन्तर श्रुति अधिदैवतका निर्णय करती है—'अथाधिदैवतं ज्वलिष्याम्येवाहम्' इत्यादि ।

देवताओंमें किस देवताका व्रत धारण करनेसे कल्याण होता है ?

भास्याम्यहमिति चन्द्रमा एवमन्या देवता यथादेवतꣳ स यथैषां प्राणानां मध्यमः प्राण एवमेतासां देवतानां वायुर्म्लोचन्ति ह्यन्या देवता न वायुः, सैषानस्तमिता देवता यद्वायुः ॥ २२ ॥

अथैष श्लोको भवति यतश्चोदेति सूर्योऽस्तं यत्र च गच्छतीति प्राणाद्वा एष उदेति प्राणेऽस्तमेति तं देवाश्चक्रिरे धर्मं स एवाद्य स उ श्व

इसपर श्रुति पहलेकी नाईं आख्यायिका कहती है—हम सदा प्रज्वलित रहेंगे, ऐसा अग्निने संकल्प किया, सदा तपा करेंगे, ऐसा आदित्यने संकल्प किया, सर्वदा प्रकाश करेंगे, ऐसा चन्द्रमाने निश्चय किया और इसी प्रकार अन्य वायु आदि देवताओंने भी अपने अनुरूप सङ्कल्प किये। परन्तु जैसे वागादिमें मध्यम प्राण मृत्युसे (श्रमसे) आक्रान्त नहीं हुआ, वैसे ही इन देवताओंमें वायु देवता ही अभग्नव्रत हुआ अर्थात् उसके संकल्पका भङ्ग नहीं हुआ और अन्य भग्नव्रत हो गये। वायुके अभग्नव्रतत्वका निर्देश करते हैं - 'म्लोचन्ति ह्यन्या देवता न वायुः' अर्थात् अन्य देवता अपने-अपने व्यापारसे विरत हो जाते हैं; पर वायु देवता अपने कार्यसे कभी भी विरत नहीं होता।

यद्यपि आदित्य आदि देवता भी सर्वदा तापपरायण ही रहते हैं, कभी भी उससे निवृत्त नहीं होते, तथापि देशान्तरमें आदित्यका ताप रहनेपर भी भारत आदि देशभेदसे रात्रिमें आदित्यादिका महा ताप नहीं रहता, पर वायु देवताका कार्य रात्रि और दिन सब देशोंमें समान रहता है, कभी कभी होनेवाला न्यूनाधिक-भाव भी सर्वत्र समानरूपसे ही होता है, अतएव श्रुति सादर कहती है -'सैषा नस्तमिता देवता यद्वायुः' यह वायु देवता कभी अस्त नहीं होता, किन्तु सदा अपने कार्यमें परायण ही रहता है ॥ २२ ॥

'अथैष' इत्यादि श्रुति। अनन्तर उस अर्थका पोषक यह श्लोक (मन्त्र) भी है—'यतश्चोदेति' इत्यादि। यहां प्रश्न यह होता है कि सूर्य कहांसे उदित होता है और कहां अस्त होता है?

सूर्य दो हैं—एक अध्यात्म और दूसरा अधिदैवत। अतः उक्त प्रश्न सामान्यतः उभयविषयक है। और प्रकरण अध्यात्मविषयक है, तथापि उभयविषयक उत्तर देते हैं—'प्राणाद्वा एष' इति।

चक्षुरूप सूर्यका प्राणसे उदय होता है और प्राणमें ही लय होता है; वाग् शब्द इन्द्रियमात्रका उपलक्षण है; सोनेके समयमें वागादि सब

इति यद्वा एतेऽमुर्ह्यध्रियन्त तदेवाप्यद्य कुर्वन्ति तस्मादेकमेव व्रतं चरेत् प्राण्याच्चैवापान्याच्च नेन्मा पाप्मा मृत्युराप्नुवदिति यद्युचरेत्समापिपयिषेत्तेनो एतस्यै देवतायै सायुज्यं सलोकतां जयति ॥ २३ ॥

इत्युपनिषदि तृतीयाध्यायस्य पञ्चमं ब्राह्मणं समाप्तम् ।

इन्द्रियाँ प्राणमें लीन हो जाती हैं, क्योंकि 'तदा हि वाक् प्राणमपिगच्छति' इत्यादि श्रुति इस अर्थमें प्रमाण है ।

एवं अधिदेवता सूर्य भी वायुसे उत्पन्न होता है और वायुमें ही लीन होता है, क्योंकि 'आकाशाद् वायुर्वायोरग्निः' इत्यादि श्रुति अग्निका कारण वायु है, ऐसा कहती है । कारणसे ही कार्य उत्पन्न होता है और उसीमें लीन भी होता है । इस अर्थमें 'यदा सूर्योऽस्तमेति वायुमेवाप्येति' इत्यादि श्रुति प्रमाण है ।

शङ्का—'प्राणाद्वा एष उदेति' इस श्रुतिसे कहा गया है कि प्राणसे सूर्य उदित होता है और प्राणमें ही लीन होता है, पर मुख्य प्राण तो थोड़ी शक्तिवाला है; अतः उससे सूर्य कैसे उदित और अस्त हो सकता है ? यह समझमें नहीं आता । यदि प्राणशब्दसे वायु लें; तो 'एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च खं वायुर्ज्योतिराकाशम्' इत्यादि श्रुतिसे सूर्योपलक्षित तेजोमात्र ब्रह्मात्मासे ही उत्पन्न होता है; यह जो सिद्धान्त किया गया है, वह भी विरुद्ध होगा ।

समाधान—ठीक है, यहां प्राणशब्दसे परमात्माकी ही विवक्षा है । प्राणशब्द ब्रह्मबोधके तात्पर्यसे श्रुतिमें बारबार कहा गया है; क्योंकि 'प्राणस्तथानुगमात्' इस वेदान्तसूत्रके भाष्यमें यह स्फुट है । 'प्राणबन्धनं हि सोम्य मनः' इस श्रुतिमें मन शब्दसे तदुपाधिक जीवका ग्रहण होता है । मुख्य प्राणस्वरूप पर आत्माके रहते जीवका प्राण धारयिता नहीं हो सकता, अतः जीवका आयतन प्राणशब्दवाच्य पर ब्रह्म ही है, ऐसा जैसे वहां विवक्षित है, वैसे ही यहां भी समझना चाहिए । अतएव 'असदेवेदमग्र आसीत्', 'तत्सदासीत्', 'तत्समभवत्', 'तदण्डं निरवर्तत', 'तन्निरभिद्यत' इत्यादि वाक्योंमें स्थित 'असत्' शब्दसे अव्यक्तनामरूपात्मक अशेष जगत्के हेतु पर ब्रह्मको प्रक्रान्त कर उसीसे पृथिव्यादिकी उत्पत्तिका निर्देश कर उसीसे ही आदित्यकी उत्पत्ति कही है, क्योंकि 'यत्तदजायत सोऽसावादित्यः' ऐसा कहा है;

अग्निरहस्यमें भी 'यदा आदित्योऽस्तमेति वायुं तर्हि प्रविशति वायुं चन्द्रमा वायौ दिशः प्रतिष्ठिता वायोरेवाधि पुनर्जायन्ते' इस प्रकार वायुसे आदित्यकी उत्पत्ति कही है। प्रकृतमें प्राणसे आदित्यकी उत्पत्ति बतलाई गई है, वस्तुमें विकल्प हो नहीं सकता। किसी श्रुतिमें अप्रामाण्यकी कल्पना करना भी ठीक नहीं है, इस कारण छन्दोगश्रुतिके अनुसार आदित्यकी उत्पत्तिका कारण प्रज्ञानात्मा ही है, जिससे उत्पत्ति होती है, लय भी उसीमें होता है।

शङ्का—कुलालसे घटकी उत्पत्ति होती है, पर घटका लय मृत्तिकामें होता है कुलालमें नहीं होता, अतः उक्त नियम ही असिद्ध है, अतः ब्रह्मसे उत्पन्न सूर्यका अन्यत्र भी लय हो सकता है।

समाधान—नहीं, कुलाल घटका निमित्त कारण है और यह नियम उपादान कारणके विषयमें लागू होता है। मृत्तिकासे उत्पन्न घटका तन्तु आदिमें लय कहाँ देखा जाता है? अर्थात् कहीं नहीं देखा जाता, सारांश यह निकला कि अध्यात्म और अधिदैवत प्राण और वायुका व्रत धारण करना चाहिए। मन्त्रके पूर्वार्द्धका व्याख्यान कर उत्तरार्द्धका व्याख्यान श्रुति करती है—'यद्वा' इति। जो प्राणादिका व्रत है, उसका ये वागादि और अग्न्यादि आज भी धारण करते हैं। तात्पर्य यह है कि उक्त जिस प्राण-वायुव्रतलक्षण धर्मका वागादि और अग्न्यादि देवताओंने विचार किया था, उस व्रतरूप धर्मका वागादि और अग्न्यादि देवता आज भी पालन कर रहे हैं और श्वः—भविष्यमें—भी करेंगे, क्योंकि वागादि और अग्न्यादि स्पन्दरहित कभी रह नहीं सकते। स्पन्द चलनके अधीन नहीं है, किन्तु वायुके अधीन है। वायुके बिना इनकी स्थिति ही असम्भव है, अतएव अन्य भी एक ही व्रतको करें। कौन? किसको कहते हैं—'प्राण्याच्चैवापान्याच्च' प्राणन और अपानन व्यापार करे। अग्न्यादि मदात्मक हैं, मैं प्राण हूँ, मैं ही वायुरूप आत्मा हूँ, सब व्यापार करता हूँ, ऐसा ध्यान करे। यदि इस व्रतसे हम प्रच्युत होंगे, तो श्रमरूपी पाप्मा मृत्यु हमको पा जायगा, इस भयसे भीत होकर प्राण-व्रतका मरणपर्यन्त धारण करना चाहिए। यदि कभी इस व्रतका प्रारम्भ करे, तो इसको समाप्त करनेकी इच्छा रक्खे। मध्यमें कभी भी न छोड़े, किन्तु मरणान्त इस व्रतका पूर्ण पालन करे। इस व्रतका फल सायुज्य और सालोक्यकी प्राप्ति है ॥ २३ ॥

वागादयः श्रमग्रस्ता न प्राणस्तेन तेऽखिलाः ।
प्राणरूपमनुप्राप्य प्राणनाम्ना प्रकीर्तिताः ॥ ६७ ॥

अभ्यन्तर उक्त श्रुत्यर्थका संक्षेपसे वर्णन करते हुए मूलकार आख्यायिकाका तात्पर्य कहते हैं—'वागादयः' इत्यादिसे ।

अध्यात्म वागादि इन्द्रियाँ और अधिदैवत अग्न्यादि देवता मृत्युरूपी श्रमसे ग्रस्त होकर अपने-अपने कर्मसे विरत हुए । प्राण उक्त श्रमसे ग्रस्त नहीं हुआ, अतएव अद्यावधि वह अपने कर्ममें सदा तत्पर ही रहता है, क्षण भरके लिए भी श्रान्त नहीं होता, इस कारण वागादि इन्द्रियाँ, उक्त साधनसे तद्रूपताको प्राप्तकर, प्राणनामसे प्रख्यात हुईं ।

भाव यह है कि संप्रत्तिकालमें संपूर्ण स्वकर्तव्य कर्मोंका पुत्रमें समर्पण करनेसे नैष्कर्म्य तो प्राप्त हुआ, किन्तु प्राणोपासनाङ्ग प्राणव्रतका पुनः विधान करनेके लिए उत्तर ग्रन्थका आरम्भ है ।

शङ्का—स्वतन्त्र प्राणव्रतका विधायक उत्तर प्रकरण है, अतः उसका प्राणोपासनाके अङ्गरूपसे विधान क्यों मानते हो ? अङ्गत्वरूपसे विधायक तो वाक्य होते ही नहीं, अतः अङ्गत्वरूपसे विधान कैसे हो सकता है ?

समाधान—'स यो हैताननन्तानुपास्ते' इत्यादि पूर्ववाक्यमें बहुवचनानुरोधसे वागादि तीनकी उपासना सिद्ध ही है, इसी वचनसे प्राणकी भी उपासना सिद्ध ही है, फिर प्राणोपासकके प्रति प्राणव्रतवाक्य—स यो हैतानित्यादि—पूर्व वाक्यकी अपेक्षा करता है, इसलिए यह स्वतन्त्र प्राणव्रतका विधायक नहीं है, किन्तु प्राणध्यानरूप धर्मका विधान करनेके लिए यह वाक्य है, अत्यन्त अप्राप्तमें विधि होती है, अतः उसके अङ्गत्वरूपसे ही प्रकृत व्रतका विधान है, स्वतन्त्र नहीं ।

शङ्का—यह वाक्य प्राणोपासनाङ्ग व्रतका विधायक नहीं है, किन्तु वाक् और मनकी उपासनाकी निवृत्ति करता है ।

समाधान—यदि ऐसा अभिप्राय हो, तो फिर वाक् और मनका उपादान ही व्यर्थ हो जायगा, अतः प्राणोपसर्जनत्वरूपसे वाक् और मनका ध्यान अवश्य विवक्षित है, यह मानना ही श्रेष्ठ है । उक्त रीतिसे वागादि इन्द्रियाँ भग्नव्रत हुईं और प्राण ही अभग्नव्रत रहा, इसलिए प्राणव्रतका ही धारण करना चाहिए, दूसरेका अर्थात् वागादि और अग्न्यादिका व्रत नहीं करना चाहिए, प्राणव्रत धारण करनेसे उपासक प्राणात्मा होकर प्राणनामरूप हो जाता है ॥ ६७ ॥

इन्द्रियेषु परिस्पन्दः प्राणांशोऽर्थगृहीतयः ।
इन्द्रियार्थस्ततः प्राणः सर्वरूपः प्रशस्यते ॥ ६८ ॥
प्राणोऽध्यात्मं यथा तद्वद्वायुः श्रेष्ठोऽधिदैवतम् ।
प्राण-वायुस्वरूपोऽहं प्राणिमीत्येव चिन्तयेत् ॥ ६९ ॥
आमृत्यनन्यव्यापारश्चिन्तयन्प्राणदेवताम् ।
याति सायुज्यसालोक्यं ध्यानोत्कर्षानुसारतः ॥ ७० ॥
पूर्वोक्ताया विराट्प्राप्तेरनुवादोऽयमिष्यते ।
उपासनान्तरं चेदं भवेत् पृथगुपक्रमात् ॥ ७१ ॥

'इन्द्रियेषु' इत्यादि । सब इन्द्रियोंमें अपने-अपने विषयोंका ग्रहण करनेमें अनुकूल जो परिस्पन्द क्रिया और अर्थप्रकाश है, तद्विशिष्ट मनके सहित एकादश इन्द्रियोंमें जितना व्यापार होता है, वह सब प्राणका ही है, वागादि बाह्य इन्द्रियोंमें चलनस्वभाव कर्म और चक्षु आदिमें प्रकाशस्वभाव विषय प्रयुक्त है, इसी कारण बाह्येन्द्रिय कर्मेन्द्रिय और चक्षुरादि ज्ञानेन्द्रिय कहे जाते हैं । एवं अधिदैवत अग्न्यादिमें जो परिस्पन्द होता है, सो वायुप्रयुक्त है, अतः पूर्ववत् अग्न्यादिमें वायुनामरूपकी योजना करनी चाहिए। अर्थगृहीति (अर्थप्रकाश) तो पूर्वमें कह चुके हैं, अतएव प्राण निखिलस्वरूप है, इसलिए प्रशस्त है। अतएव ध्येय है । अध्यात्म और अधिदैवत वागादि और अग्न्यादिमें प्राणका अनुग्रह उक्त रीतिसे स्फुट ही है, इसलिए यही ध्येय है, यह सारांश है ॥ ६८ ॥

'प्राणोऽध्यात्मम्' इत्यादि । अध्यात्म वागादि सब इन्द्रियोंमें जैसे प्राण श्रेष्ठ है, वैसे ही अधिदैवत अग्न्यादिमें वायु श्रेष्ठ है, उपासक यह धारणा करे कि हम प्राणवायुस्वरूप होकर ही सतत ध्यान करें ॥ ६९ ॥

'आमृत्य०' इत्यादि । उपासक अन्य व्यापारोंको छोड़कर मरणपर्यन्त प्राण देवताका निरन्तर व्यवधानरहित तैलधाराके समान अविच्छिन्न श्रद्धा, सत्कार और पुनः पुनः दीर्घकाल तक चिन्तन करनेसे ध्यानके उत्कर्ष और अपकर्षसे सायुज्य और सालोक्यरूप फल पाता है, यदि उत्कृष्ट ध्यान हुआ, तो सालोक्य फल मिलता है । साधनके तारतम्यसे साध्यमें उत्कर्षापकर्ष होता ही है ॥ ७० ॥

'पूर्वोक्ताया' इत्यादि । विराट्प्राप्तिरूप फलको देनेवाली पूर्वोक्त प्राणोपासनाका यह अनुवाद है, क्योंकि पूर्वमें भी प्राणकी उपासनाका विधान कर चुके हैं ।

इत्यनात्मविदां भावी संसारः सर्व ईरितः ।
पञ्चमे ब्राह्मणे तेन हेयोऽसौ तत्त्वविद्यया ॥ ७२ ॥

इति वार्त्तिकसारे प्रथमाध्यायस्य पञ्चमं सप्तान्न-ब्राह्मणं समाप्तम् ।



और देवता आदिका भेद भी नहीं है, जिससे कि उसको दूसरा कर्म कह सकें, इसलिए अनुवाद ही इष्ट है, कर्मान्तर इष्ट नहीं है । इस पक्षमें यह जिज्ञासा होती है कि इस अनुवादका फल क्या है ? निष्प्रयोजन अनुवाद पुनरुक्तसे भिन्न नहीं होता, अतः कर्मान्तर है, यही मानना समुचित है । इसका कुछ लोग यों समाधान करते हैं कि कर्मका भेदक उपक्रमभेद ही है, अतः 'स यो हैतान्' इत्यादि वाक्य घटकीभूत 'एतत्' शब्दसे पूर्वोक्त प्राणोपासनाका परामर्श कर उसके धर्मके विधान द्वारा यह वाक्य प्रकृतोपासनाका विधायक ही है, इसलिए प्राणोपासनाका अनुवाद धर्म विधानके लिए सार्थक है, व्यर्थ नहीं है । अतएव 'दध्ना जुहोति' इत्यादि वाक्यघटक 'जुहोति' शब्दसे होमका अनुवाद कर दधिरूप गुणके विधान द्वारा उक्त वाक्य गुणविध्यर्थक होता है, ऐसा पूर्वमीमांसामें सिद्धान्त किया है ॥७१॥

'इत्यनात्म०' इत्यादि । अनात्मवित् अर्थात् आत्मज्ञानशून्य मनुष्योंके भावी सम्पूर्ण संसारका पञ्चम ब्राह्मणमें कथन किया ।

शङ्का—ब्रह्मविद्याके प्रकरणमें संसारका कथन किसलिए किया ?

समाधान--तत्त्वविद्यासे उसकी हानि करनेके लिए, क्योंकि ग्रहणके तुल्य हान भी अज्ञातका नहीं हो सकता और आरम्भमें सुखफलक होनेसे संसारकी जिहासा भी नहीं हो सकती । जिहासाकी उत्पत्तिके लिए दोषका अनुसन्धान आवश्यक है, अतएव अनात्मवादी द्वारा मिथ्यात्वका साधन भी उपयुक्त होता है । संसाररूप अनर्थकी अनुवृत्ति अविद्याप्रयुक्त है । अविद्याकी निवृत्ति तत्त्वज्ञानसे होती है । तत्त्वज्ञानकी उत्पत्तिके लिए उपनिषत्का आरम्भ है । तत्त्वज्ञान वेदान्तमें आत्मैकत्वविज्ञान ही है । द्वैतनिवृत्तिके बिना आत्मामें एकत्व नहीं हो सकता । द्वैतकी निवृत्ति द्वैतके मिथ्यात्वके बिना नहीं हो सकती और मिथ्या ज्ञान अज्ञानके बिना नहीं हो सकता, इसलिए आत्मासे व्यतिरिक्त सकल द्वैतकी निवृत्तिके प्रति हेतुभूत तत्त्वविद्याकी प्रतिपत्तिके लिए वेदान्तशास्त्र है ॥७२॥

इति पञ्चम ब्राह्मण समाप्त ।



अथ षष्ठं ब्राह्मणम् ।

अविद्यासूत्रमारभ्य सार्द्धब्राह्मणवर्णितम् ।
विद्यासूत्रात् पुरोक्तं च जगत्सङ्क्षिप्य वर्ण्यते ॥ १ ॥
अल्पत्वे सति तत्त्यागं सम्भावयति धीर्नृणाम् ।
षष्ठेऽस्मिन् ब्राह्मणे तेन जगत्सङ्क्षिपति श्रुतिः ॥ २ ॥

श्रुतिः ॥ त्रयं वा इदं नाम रूपं कर्म तेषां नाम्नां वागित्येतदेषामुक्थमतो

'अविद्या०' इत्यादि । 'तद्धेदं तर्ह्यव्याकृतम्' इत्यादि अविद्यासूत्रसे लेकर विद्यासूत्रसे पूर्व आधे चतुर्थ अध्यायके सहित पञ्चम ब्राह्मणमें वर्णित जगत्का संक्षेपसे वर्णन करते हैं ।

शङ्का—विस्तारसे वर्णन करनेके अनन्तर संक्षेपसे वर्णन करनेकी क्या आवश्यकता ?

समाधान—वक्तव्य विषयका सुखपूर्वक अवबोध हो, इसलिए दो प्रकार हैं—एक संक्षेपसे कथन और दूसरा विस्तारसे कथन। एक प्रकारसे किसी वस्तुको कहनेके बाद दूसरे प्रकारसे उस वस्तुका कथन करनेपर वह हृदयंगम हो जाती है ॥ १ ॥

'अल्पत्वे' इत्यादि । संक्षेपसे फिर जगत्का वर्णन करनेमें यह भी अभिप्राय है कि थोड़ेमें समझ कर भी उसके त्यागकी संभावना बुद्धि हो जाती है । इसी कारण इस छठे ब्राह्मणमें श्रुति जगत्का संक्षेपसे वर्णन करती है ॥ २ ॥

'त्रयं वा इदं नाम रूपं कर्म' इत्यादि श्रुतिका अर्थ—इदं अर्थात् व्याकृत और अव्याकृत एतदुभयात्मक जगत् नाम, रूप और कर्म एतत्त्रितयात्मक ही है, अन्य वस्तु नहीं है । भाव यह है कि अविद्याके विषयत्वरूपसे प्रस्तुत साध्य-साधन-स्वरूपात्मक व्याकृत जगत् प्रत्यक्षरूपसे अनुभूयमान है । इसका फल भी अन्ततः प्राणात्मप्राप्तिपर्यन्त उत्कृष्ट और स्थावरान्तप्राप्ति पर्यन्त निकृष्ट है । और व्याकरणसे पूर्व इसकी जो अवस्था है, वही अव्याकृतशब्दसे कही जाती है । यद्यपि यह अवस्था प्रत्यक्षसिद्ध नहीं है, तथापि कार्यलिङ्गक अनुमान तथा श्रुति आदि प्रमाणसे सिद्ध होती है । जैसे वृक्षको देखनेसे उसके बीजका अनुमान होता है । बीजका मतलब बीजनिष्ठ अङ्कुरजनन

हि सर्वाणि नामान्युत्तिष्ठन्त्येतदेषाꣳ सामैतद्धि सर्वैर्नामभिः सममेतदेषां ब्रह्मैतद्धि सर्वाणि नामानि बिभर्त्ति ॥ १ ॥

शक्तिमें है; क्योंकि शक्ति प्रत्यक्षसिद्ध नहीं है, किन्तु अङ्कुरके देखनेसे जानी जाती है कि इसमें उक्त शक्ति है, वैसे ही संसारसे अव्यक्त शक्तिकी अवस्थाका परिज्ञान होता है।

शङ्का—तीन कौन हैं? क्या वाग्, मन और प्राण हैं?

समाधान—नहीं, श्रुति स्वयं उक्त संशयके निरासके लिए कहती है कि वे तीन नाम, रूप और कर्म हैं। ये तीनों अनात्मा ही हैं, क्योंकि 'यत्साक्षादपरोक्षाद् ब्रह्म' इस श्रुतिके अनुसार ब्रह्म ही आत्मा है। इस कारण नामादिरूप जगत्से विरक्त होना चाहिए। इसीलिए 'त्रयं वा' इत्यादि उत्तर ग्रन्थका आरम्भ है। इस अनात्म जगत्से विरक्त हुये बिना 'अहं ब्रह्मास्मि' (मैं ब्रह्म हूँ) इस बुद्धिसे उपासना नहीं हो सकती। बाह्य और आत्मा दोनोंमें प्रवृत्ति एक-साथ नहीं हो सकती, इसलिए प्रत्यगात्मामें प्रवृत्तिके लिए बाह्य विषयोंसे वैराग्य आवश्यक है; अतएव काठक श्रुति है—

'पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयम्भूस्तस्मात्पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्।
कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन्॥'

शङ्का—व्याकृत और अव्याकृतात्मक क्रिया-कारक-फलरूप संसार नाम-रूपात्मक ही है, उसमें आत्मत्वकी संभावना नहीं करनी चाहिए, यह कैसे जान सकते हो?

समाधान—अनुमान द्वारा जानते हैं। 'इदं त्रयम्' इस प्रतिज्ञात अर्थमें हेतुके प्रदर्शनके लिए 'तेषाम्' इत्यादि उत्तर वाक्य है। सामान्य और विशेषात्मक नामोंमें नाम-सामान्य नामविशेषका उपादान है। इसमें श्रुति हेतु कहती है—'अतो हि' इत्यादिसे। नामसामान्यसे चैत्र, मैत्र इत्यादि नाम-विशेषोंकी उत्पत्ति होती है। कार्यमात्र उपादानके बिना स्वतन्त्र नहीं रह सकता, क्योंकि कार्यकारणका तादात्म्य ही सम्बन्ध माना जाता है। लोकमें भी तन्तुके बिना पट, मृत्तिकाके बिना घट कहां देखा जाता है? अतः अनुमानका आकार यों—'नामविशेषाश्चैत्रमैत्रादयो नाम-सामान्यात् तत्त्वतो न भिद्यन्ते, तत्कार्यत्वात्, यद् यत्कार्यम् तत् ततो न तत्त्वतो भिद्यते, यथा मृदो घटः'—समझना चाहिए। इस अभिप्रायसे श्रुति कहती है—सब वाणियोंका वाग्—शब्दसामान्य—उक्थ—उपादान कारण—है। जैसे सामान्य

ब्रह्मादिस्थावरान्तं यज्जगत्तत्त्रयमेव हि ।
नाम रूपं कर्म चेति नाऽस्ति वस्त्वन्तरं क्वचित् ॥ ३ ॥
नामानि नामसामान्ये सर्वाण्यन्तर्भवन्ति हि ।
उद्भूतिस्थितिनाशेषु न विशेषाः पृथक्स्थिताः ॥ ४ ॥

सेंधा नमकका ढेला सेंधा नमकके कणोंका कारण होता है, वैसे ही शब्दसामान्य शब्दविशेषका कारण होता है। इसी प्रकार विशेषोंका सामान्यमें अन्तर्भाव होता है।

शङ्का—कैसे सामान्यविशेषभाव है ?

समाधान—यह शब्दविशेषोंका साम है। सामका अर्थ प्रकृतमें सामान्य है; यह सामान्य शब्द (वाग्) नादस्वरूप है। सामान्यके पृथक् करनेपर विशेष कुछ रहता ही नहीं। यदि भिन्न होता, तो घटके हटानेसे वस्तुतः पृथक् पट जैसे रहता है, वैसे ही सामान्यके अभावमें भी विशेष रहता, किन्तु ऐसा देखा नहीं जाता, इसलिए सामान्यसे अतिरिक्त विशेष नहीं होता, किन्तु सामान्यमें ही विशेष कल्पित है। इसमें अनुमान प्रमाण भी है—'सर्वे नामविशेषाः शब्दसामान्ये कल्पिताः, प्रत्येकं तदनुविद्धत्वात् रज्ज्विदमंशानुविद्धसर्पादिवत्'। यों वाक्सामान्य वाग्विशेषके स्वरूपलाभका हेतु है, अतः सामान्यसे भिन्न वाग्विशेष नहीं है। क्योंकि 'सर्वं नाम तत्सामान्यात् पृथक् न वस्तुतोऽस्ति, तेन आत्मवत्त्वात्, यद्येवमात्मवत् न ततोऽन्यद्वस्तुतोऽस्ति यथा मृदात्मवान् घटो न वस्तुतो मृदोऽन्यः, ऐसा अनुमान है ॥ १ ॥

'ब्रह्मादि०' इत्यादि। ब्रह्मासे (हिरण्यगर्भसे) लेकर स्थावर वृक्षादिपर्यन्त जगत् नाम, रूप और कर्म—इन तीनोंका स्वरूप है, उनसे दूसरी वस्तु कहीं भी नहीं है ॥ ३ ॥

'नामानि' इत्यादि। उत्पत्ति, स्थिति और नाशके समय यह देखा गया है कि सामान्यकी उत्पत्तिसे विशेषकी उत्पत्ति होती है, सामान्यकी स्थितिसे ही विशेषकी स्थिति होती है और सामान्यका नाश होनेपर विशेषका नाश होता है। इसलिए यह मानना आवश्यक है कि विशेष सामान्यात्मक ही है, अन्य नहीं है। अन्यथा घटकी उत्पत्ति, स्थिति और नाशके समय अतिरिक्त पटादि जैसे रहते हैं, वैसे ही सामान्यकी नाशावस्थामें विशेषकी स्थिति भी होनी चाहिए, पर ऐसा होता नहीं है, इसलिए सामान्यात्मक ही विशेष है, तदतिरिक्त नहीं है, यह मानना आवश्यक है ॥ ४ ॥

सामान्याच्चेत् पृथग्भूता लुप्येरन्नेव ते सदा।
ततो नामविशेषाणां तत्सामान्येन सङ्ग्रहः ॥ ५ ॥
रूपकर्मविशेषाणां सङ्ग्रहं योजयेत्तथा।

'सामान्या०' इत्यादि। सामान्यसे विशेष पृथक् है, यदि ऐसा मानोगे, तो विशेषका लोप ही हो जायगा, क्योंकि सामान्यकी अभाव-दशामें विशेषकी स्थिति दिखला नहीं सकते। जहां कहीं विशेष्यकी स्थिति देखते हैं, वहां सामान्यात्मक ही विशेष दृष्टिगोचर होता है। अन्यथा सामान्य-विशेषभाव ही नहीं बन सकता, इस कारण नामविशेषोंका—चैत्र, मैत्र आदिका—सामान्य वाग्शब्दसे संग्रह होता है॥ ५॥

'रूपकर्म०' इत्यादि। उसी रीतिसे रूप और कर्म-विशेषोंका भी सामान्यसे ही संग्रह समझना चाहिए।

शङ्का—कार्यकारणका अभेद मानना तो प्रत्यक्ष-विरुद्ध है, क्योंकि 'इयं मृद्', 'अयं घटः' (यह मट्टी है, यह घट है) तथा यह तन्तु है, यह पट है इत्यादि प्रत्यक्ष प्रमाणसे कार्यकारणका भेद ही प्रतीत होता है। यदि अभेद होता, तो मृद्में घटबुद्धि, घटशब्दका प्रयोग एवं उससे जलाहरणादि कार्य होता, परन्तु ऐसा होता नहीं, अतः कार्य और कारण दोनों अभिन्न हैं, यह विश्वास करने योग्य बात नहीं है। अतएव उक्त अभेदका साधक अनुमान अग्निमें अनुष्णत्वका साधन करनेवाले अनुमानके समान कालात्ययापदिष्ट है अर्थात् बाधित है।

समाधान—ठीक है, कार्यकारणका भेद प्रत्यक्षसिद्ध है, किन्तु श्रुति उन दोनोंके भेदका निषेध करती है। और इसपर भी दृष्टि दीजिए कि भेद तात्त्विक सिद्ध नहीं हो सकता, कारण कि अन्योन्याश्रयादि दोष हैं। भेद माननेपर भिन्नकी प्रतीति होगी और भिन्नकी प्रतीतिसे भेदकी सिद्धि होगी। यदि भेदावगाहिनी प्रतीतिसे भेदकी सिद्धि मानते हो, तो कहो, क्या भेदविशिष्ट बुद्धिसे भेदकी सिद्धि मानते हो या भेदोपलक्षित बुद्धिसे? प्रथम पक्षमें विशिष्टको साधक माननेपर विशेषणको भी साधक मानना पड़ेगा, इस परिस्थितिमें भेद ही भेदका साधक होगा इससे आत्माश्रय दोष होगा। द्वितीय पक्षमें अभेदबुद्धिसे भेदकी सिद्धि माननेपर व्याघात दोष स्पष्ट है। एवं भेदवान्में भेद है कि भेदशून्यमें? प्रथम पक्षमें आत्माश्रय, अन्योन्याश्रय, चक्रक और अनवस्थादि दोष होंगे।

श्रुतिः ॥ अथ रूपाणां चक्षुरित्येतदेषामुक्थमतो हि सर्वाणि रूपाण्युत्तिष्ठन्त्येतदेषां सामैतद्धि सर्वै रूपैः सममेतदेषां ब्रह्मैतद्धि सर्वाणि बिभर्त्ति ॥२॥

द्वितीय पक्षमें व्याघात दोष होगा। अतः अतात्त्विक (काल्पनिक) भेद प्रत्यक्षादि प्रमाणका विषय है और तात्त्विक भेद निषेधश्रुतिका विषय है, यह मानना चाहिए। इसलिए श्रुतिजन्य कार्यकारणभेदविषयक बोधमें प्रत्यक्षादि प्रतिकूल नहीं हो सकते।

शङ्का—तात्त्विक भेद तो वेदान्ती मानते नहीं है, क्योंकि ब्रह्मभिन्न निखिलपदार्थ कल्पित हैं, यह उनका परम सिद्धान्त है, अतः निषेध्याभावसे निषेध व्यर्थ है, कल्पित भेदको निषेधविषय भेद मानें, तो प्रत्यक्षादिके साथ स्पष्ट ही विरोध होगा।

समाधान—आपकी भ्रान्तिसे सिद्ध जो तात्त्विक भेद है, वही निषेधविषय है, आपने काल्पनिक भेदको ही सत्य मान रक्खा है।

शङ्का—हमको भ्रम नहीं है।

समाधान—तो आपके लिए निषेध भी नहीं है, जिनको कल्पित भेदमें तात्त्विकत्व भ्रम है, उनके लिए निषेध है। भेदके निषेधसे श्रुतिमें अज्ञातज्ञापकत्वप्रयुक्त प्रामाण्य भी उपपन्न होता है। अन्यथा कार्यकारण आदिका भेद लोकसिद्ध है और 'सुवर्णं कुण्डलम्' इत्यादि प्रतीतिसे भेदाभेद भी लोकसिद्ध है, ऐसी अवस्थामें तद्बोधक श्रुतिमें ज्ञातज्ञापकत्वरूप अप्रामाण्यकी प्रसक्ति हो जायगी।

'अथ रूपाणां चक्षु०' इत्यादि श्रुतिका अर्थ—नामव्याकरणके अनन्तर रूप याने रूपविशेष शुक्ल, नील और पीत आदि प्रकाश्य विशेषोंका प्रकाश्य-सामान्य चक्षु कारण है। यहाँ रूपशब्द प्रकाश्यविशेषोंका और चक्षु प्रकाश्यसामान्यका उपलक्षक है, इससे प्रकाश्यसामान्य प्रकाश्यविशेषका कारण है, यह अर्थ होता है।

तात्पर्य यह है कि जो जो बुद्धिसे प्रकाश्य होता है, वे सब रूप ही हैं। शब्द-स्पर्शादिबुद्धि प्रकाश्यरूप है। तैजसत्व दोनोंमें समान है, तैजस ही प्रकृतमें रूपपदसे विवक्षित है। संपूर्ण कार्यभूत वस्तु सूर्यके तेजसे परिपक्व हो कर आत्मलाभ करती है। उक्त रीतिसे रूपसामान्य रूपविशेषका कारण होता है और कार्य एवं कारणके अभेदकी सिद्धि हो चुकी है, इसलिए रूपविशेष रूपसामान्यसे अभिन्न है।

शङ्का—रूपसामान्यमें रूपविशेषका वस्तुतः अन्तर्भाव होता है, आप ऐसा मानते हैं, पर वह आपका अपसिद्धान्त है; ब्रह्मभिन्न मिथ्या है, यह आपका

अथ कर्मणामात्मेत्येतदेषामुक्थमतो हि सर्वाणि कर्माण्युत्तिष्ठन्त्येतदेषां सामैतद्धि सर्वैः कर्मभिः सममेतद्देषां ब्रह्मैतद्धि सर्वाणि कर्माणि बिभर्ति। तदेतत्त्रयँ सदेकमयमात्माऽऽत्मो वा एकः सन्नेतत्त्रयं तदेतदमृतँ सत्येन च्छन्नं प्राणो वा अमृतं नामरूपे सत्यं ताभ्यामयं प्राणश्छन्नः ॥ ३ ॥

इत्युपनिषदि प्रथमाध्याये षष्ठं ब्राह्मणं समाप्तम् ।
इति प्रथमोऽध्याय ॥ १ ॥

शब्दस्पर्शादयः सर्वे रूपात्मानो निरूपणात् ॥ ६ ॥

सिद्धान्त है, इसके अनुसार वस्तुतः सामान्यविशेष ही जब नहीं हैं, तब वास्तवमें उसका अन्तर्भाव कैसा ?

समाधान—सत्य है, कल्पित सामान्यविशेषको तो हम भी मानते ही हैं और उसीके अनुसार अन्तर्भाव भी करते हैं। 'एतदेषां साम' इसका पूर्ववत् अर्थ है। सामका सामान्य अर्थ है। ब्रह्म आश्रयरूप सामान्य ही रूपविशेषका आश्रय है, क्योंकि सामान्य ही विशेषका धारण करता है।

नाम और रूपमें अभेदका निरूपण करनेके अनन्तर कर्मके अभेदका निरूपण होता है—

'अथ कर्मणामात्मा' इत्यादि श्रुतिका अर्थ—सब कर्मविशेषोंका—श्रवण, मनन, दर्शन, चलनात्मक आदिका—क्रियासामान्यमें अन्तर्भाव समझना चाहिए।

शङ्का—क्यों ?

समाधान—सब कर्मविशेषोंका आत्मा (शरीर) सामान्य है, क्योंकि प्राणीमात्र शरीरसे ही कर्म करते हैं और शरीरमें ही सब कर्मोंकी अभिव्यक्ति भी होती है, अतः 'तात्स्थ्याचाच्छब्द्यम्', इस न्यायसे कर्मसामान्य शरीर ही है, नामविशेषका नामसामान्यमें और रूपविशेषका रूपसामान्यमें जैसे अन्तर्भाव होता है, वैसे ही क्रियाविशेषका क्रियासामान्यमें अन्तर्भाव समझना चाहिए ॥३॥

'शब्दस्पर्शादयः' इत्यादि। शब्द, स्पर्श आदि सब रूपात्मा ही हैं, क्योंकि वे सब बुद्धिसे प्रकाश्य हैं। नामादित्रितयका—नाम, रूप और कर्म इन तीनोंका—संग्रह कार्यकरणसंघात्मा शरीरसे हो जाता है। नाम, रूप और कर्म—ये तीनों त्रिदण्डविष्टम्भकके तुल्य संहत होकर एक होते हैं। तिपाई आदिमें

नामादित्रितयस्याऽपि स्यात्सङ्घातेन सङ्ग्रहः ।
त्रिदण्डविष्टम्भ इव वपुष्येकीभवेत्त्रयम् ॥ ७ ॥

जैसे तीन दण्डे लगे रहते हैं, वे तीनों परस्पराश्रित रहते हैं, वैसे ही ये तीनों संहत होते हैं।

शङ्का—इन तीनोंमें कैसे इतरेतराश्रय है ? नाम और कर्म विषयरूपको लेकर ही हो सकते हैं। विषयके बिना नाम और रूप नहीं देखे जाते। रूप भी नाम और कर्मसे ही अभिव्यक्त होता है। नाम और कर्मके बिना कोई वस्तु नहीं होती। वाचकसे वाच्यकी वाच्यसे वाचककी और दोनोंसे क्रियाकी और क्रियासे वाच्य-वाचकोंकी अपेक्षा दुष्टचर है। अतएव इन तीनोंमें अन्योन्याभिव्यञ्जकत्व है। रूप रहनेपर नामका संहार (लय) होता है। नाम रहनेपर रूपका संहार, नामरूप दोनोंके रहनेपर कर्मका संहार और कर्मके रहनेपर उक्त दोनोंका लय होता है, इसलिए इतरेतराश्रय भी है।

शङ्का—तीनोंमें एकता तो विरुद्ध है, यदि तीन हैं, तो एक कैसे ? एक है तो तीन कहां ? तीन एक है, यह कहना तो स्पष्ट विरुद्ध है।

समाधान—यद्यपि नाम, रूप और कर्म स्वरूपतः तीन हैं, किन्तु कार्यकरण-संघातत्वरूपसे तीनों एक ही हैं, जैसे तत्तद् वृक्षत्वरूपसे अनेक वृक्ष होनेपर भी वनत्वरूपसे 'एक वन', 'एक सेना' इत्यादि व्यवहार होते हैं, वैसे ही प्रकृतमें भी है। एकार्थसाधनके लिए नाम, रूप और कर्म—इन तीनोंकी संहति (समुदाय) होती है। वे संहत होकर एक ही भोक्ताके सुख-दुःखप्रद होते हैं, तथा एक शरीरके आरम्भक होते हैं।

शङ्का—यदि नामादि तीन केवल देह हैं, तो व्यवहारका सांकर्य क्यों नहीं होता ?

समाधान—व्यवहारदशामें नामरूपादिसे भिन्न शरीर है, ऐसा लोक समझते हैं, इसीसे व्यवहारका सांकर्य नहीं होता। व्याकृताव्याकृतात्मस्वरूप संपूर्ण जगत् नाम, रूप और क्रिया इन तीनोंका स्वरूप ही है। अध्यात्म, अधिदैवत और अधिभूतके भेदसे व्यवस्थित विश्वरूप कर्म एतत्त्रितयात्मक ही है। यही वक्ष्यमाण अमृत सत्यसे छिपा है। प्राण ही अमृत है। प्राण करणात्मक शरीरका उपष्टम्भक—धारयिता—है तथा आत्मभूत, अमृत और अविनाशी है।

अध्यात्मं देह उद्दिष्टोऽधिदैवं तु विराडिति ।
वपुष्यन्तःस्थितः प्राणश्छन्नोऽध्यात्माधिदैवयोः ॥ ८ ॥

'सच्च त्यच्च सत्यम्' इस श्रुतिसे पाँच भूतोंका सत्यशब्दसे व्यवहार किया गया है, क्योंकि इसी तात्पर्यसे सत्यशब्द प्रयुक्त है। नाम और रूप कार्यात्मक शरीरकी अवस्था है, यह ठीक है, किन्तु क्रियात्मक प्राण अवस्थात्मक नाम और रूपका उपष्टम्भक है। और बाह्य-शरीरात्मक उपजननापायधर्मी (उत्पत्ति और विनाशशील) मर्त्यसे छन्न—अप्रकाशीकृत—यह संसारसत्त्व अविद्याविषय ही है, ऐसा दिखलाया गया है। यहाँपर विराट्के शरीरको सत्य कहा है; इसीसे सौत्रका शरीर अमृत और आवृत है। 'प्राणो वा अमृतम्' इस वाक्यसे करणात्मक लिङ्गात्माका निर्देश किया गया है। पिण्डके मरनेपर भी उक्त प्राणका मरण नहीं होता, इसलिए अमृत कहलाता है ॥ ७ ॥

'अध्यात्मम्' इत्यादि । 'तदेतदमृतम्' इत्यादि वाक्यके तात्पर्यका निरूपण करनेके लिए अध्यात्म और अधिदैवतका अर्थ कहते हैं। श्रुतिमें तदेतत् इन दो पदोंसे अध्यात्म और अधिदैवतकी विवक्षा है। अध्यात्मशब्दसे अध्यात्म देह कहा जाता है और अधिदैवशब्दसे विराट् निर्दिष्ट है, शरीरान्तःस्थित प्राण अध्यात्म और अधिदेवसे आच्छन्न तिरोहित है।

भाव यह है कि नाम, रूप और क्रियात्मक तदेतच्छब्दबोध्य विराट्स्वरूप नामरूपात्मक सत्यसे आच्छन्न है अर्थात् सत्यशब्दित विराट्-शरीरकी अपेक्षा सौत्र शरीर अमृत और आवृत है। 'अध्यात्मं प्राणो वा अमृतम्' इत्यादि वाक्यका अर्थ यह है कि शरीरमें करणात्मक प्राणसे लिङ्गात्मा विवक्षित है। पिण्डका नाश होनेपर भी लिङ्गात्मा प्राण नष्ट नहीं होता, इसलिए अमृत कहा जाता है। नाम और रूप सत्य हैं, इसका अर्थ यह है कि पृथिवी, अग्नि, जल—ये तीनों भूत सत्संज्ञक हैं और वायु, आकाश—ये दो भूत त्यत्संज्ञक हैं, इसलिए सत्यशब्दसे पांचों भूतोंका ग्रहण इष्ट है। पञ्चीकृत पाँच भूत और उनके कार्य सब सत्य हैं। विराट्का शरीर कार्य है। अपञ्चीकृत पाँच भूत और उनके कार्य सप्तदश करणरूप सूत्राख्य जो लिङ्ग है, वह सूत्रका शरीर है, ऐसा वेदान्तियोंका

नित्यः प्राणो लिङ्गरूप आसंसारविमोक्षणात् ।
सोऽनित्यपिण्डस्याऽऽधारो गृहस्तम्भवदान्तरः ॥ ९ ॥
सोऽयं देहादिसङ्घातो नामादित्रयसङ्ग्रहः ।
सङ्घाते दृश्यते नामरूपकर्मत्रयं जनैः ॥ १० ॥
एतद्दृष्टान्ततः केचिद्भेदाभेदौ परात्मनि ।
आहुस्तत्तु न युक्तं स्यात् परस्परविरोधतः ॥ ११ ॥

सिद्धान्त है। 'क्रियात्मकस्तु प्राणः' इस भाष्यसे करणका यथार्थ स्वरूप कहते हैं। इसके भी अन्तर्गत प्राण है, जो विज्ञानात्मा कहा जाता है।

शङ्का—क्या प्राण ज्ञानरूप परमात्मा ही है ?

समाधान—नहीं, प्राण संसारकी समाप्ति पर्यन्त ही स्थिर है, अतः उपाधि और उपाधिमान्के एकत्वकी विवक्षासे विज्ञानात्मा कहा गया है। इसलिए इसमें अमृतत्व सापेक्ष है। ज्ञानकर्मके अनुसार शरीर ग्रहण करता है। अतएव श्रुतिमें कहा गया है कि 'समः प्लुषिणा समो नागेन' इत्यादि।

अज्ञानसे देहद्वयका अभिमान करनेवाला और दोषदृष्टिसे संसारसे विरक्त हुआ पुरुष ही विद्याका अधिकारी है, यह अजातशत्रु और बालाकीके संवादमें अतिस्फुट है। सूक्ष्म शरीर यद्यपि अनात्मा है, तथापि स्थूल शरीरसे आच्छन्न होनेके कारण दुर्ज्ञेय है और दुर्ज्ञेय सूक्ष्म शरीरसे आच्छन्न होनेके कारण प्रत्यगात्मा भी दुर्ज्ञेय है, अतः आत्मज्ञानमें अधिक अवधानकी अपेक्षा है ॥ ८ ॥

'नित्यः प्राणो' इत्यादि। जब तक संसार रहता है, तब तक स्थायी होनेके कारण उक्त लिङ्गस्वरूप प्राण नित्य है—अमृत है और अनित्य पिण्ड शरीरका नाश होनेपर भी नष्ट नहीं होता। प्राण अनित्य पिण्डरूप शरीरका आधार है; प्राणके बिना शरीर गिर जाता है। जैसे घरका आधार स्तम्भ होता है, वैसे ही शरीरका आधार प्राण है ॥ ९ ॥

'सोऽयं देहादि०' इत्यादि। नाम, रूप और कर्म एतत्-त्रितयात्मक यह देह-संघात है। संघातमें इन नाम, रूप और कर्मको लोग देखते हैं। श्रुत्यर्थके व्याख्यानसे ही इस श्लोकका विशेष व्याख्यान हो चुका, इसलिए फिर व्याख्यानकी आवश्यकता नहीं है ॥ १० ॥

'एतद्दृष्टान्ततः' इत्यादि। कोई वेदान्ती—यादवप्रकाशीय लोग—

कहते हैं कि ब्रह्म और जगत्‌का भेदाभेद है। इसमें साधक अनुमान यह कहते हैं कि 'ब्रह्म जगतः भिन्नाभिन्नम्, वस्तुत्वात्, देहादिवत्'। जैसे देह देहत्वरूपसे अभिन्न है और नाम-रूपादिसे भिन्न है। एवं जैसे घटादि वस्तुरूप जगत् घटत्वादिरूपसे अभिन्न है और नाम-रूप आदिसे भिन्न है, वैसे ही ब्रह्म भी जगत्‌से भिन्न और अभिन्न है। भाव यह है कि 'त्रयं सत् एकमेव' अर्थात् ये तीन होते हुए भी एक हैं—नाम, रूप और क्रिया—ये तीनों देहत्वरूपसे एक होते हैं और नाम, रूप और क्रियाके भेदसे तीन होते हैं, अतः देह नाम-रूपादिसे भिन्नाभिन्न है। देहमें जैसे एकत्व और नानात्व है, वैसे ही ब्रह्ममें भी एकत्व और नानात्वका अनुमान होता है।

शङ्का—यदि ब्रह्ममें अनेकत्व भी मानोगे, तो 'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म' इत्यादि श्रुतिसे विरोध होगा?

समाधान—यद्यपि ब्रह्ममें प्रपञ्चानुकूल शक्तियाँ अनेक हैं, तथापि 'शक्तिशक्तिमतोरभेदः' इस न्यायसे वे प्रपञ्चानुकूल शक्तियाँ ब्रह्मस्वरूप हैं, अतः ऐक्य श्रुतिविरुद्ध नहीं है।

शङ्का—भिन्न और अभिन्न—ये दोनों प्रकार एकमें नहीं हो सकते, क्योंकि व्याघात दोष होगा, अतः उक्त अनुमान आभास है।

समाधान—अनेक गोव्यक्तियोंमें 'गौर्गौः' इत्यादि प्रत्ययके अनुरोधसे एक ही गोत्व है। यद्यपि सास्नादि परस्पर व्यावृत्त हैं, तथापि उनसे गोत्व व्यावृत्त नहीं माना जाता, क्योंकि 'खण्डो गौः मुण्डो गौः' इत्यादि समानरूपसे अभेदबुद्धि होती है, एवं सब भाव एकत्वानेकत्व-व्यवस्थासे व्यवस्थित हैं।

शङ्का—गो, घट आदि स्थूल पदार्थ हैं, उनमें एकत्व और अनेकत्व उपाधिभेदसे किसी तरह हो सकता है। ब्रह्म तो 'अणोरणीयान् महतो महीयान्' इत्यादि श्रुतिसे अतिसूक्ष्म है, उसमें वह भेद कैसे रह सकता है?

समाधान—स्थूलके दृष्टान्तसे सूक्ष्ममें भी एकत्वानेकत्वस्थितिका अनुमान विद्वान् कर सकते हैं।

शङ्का—अनुमान तो यही करेंगे कि 'ब्रह्म भिन्नाभिन्नम्, वस्तुत्वात्, गवादिवत्' पर यह ठीक नहीं है, क्योंकि इसके विपरीत यह अनुमान हो सकता है कि 'ब्रह्म न भिन्नाभिन्नम्, निःसामान्यत्वात्, अन्त्यविशेषवत्।

समाधान—निःसामान्यत्वका अर्थ सामान्यभिन्नत्व है अथवा सामान्या-

दृश्यस्य मायिकत्वेन न विरोधोऽस्ति कश्चन।
तदेवं ब्राह्मणे षष्ठे जगत्सङ्ग्रह ईरितः ॥ १२ ॥

भाववत्त्व ? प्रथम पक्षमें खण्ड, मुण्ड आदिमें व्यभिचार है, क्योंकि सामान्यभिन्नत्व हेतु खण्डादिमें है फिर भी वे भिन्नाभिन्न ही हैं। द्वितीय पक्षमें गोत्वादिमें व्यभिचार स्फुट है; गोत्वादिमें सामान्याभाव तो है ही, पर साध्य नहीं है, अतः प्रत्यनुमान ठीक नहीं है, इसलिए पूर्वोक्त अनुमानसे भिन्नाभिन्नत्व मानना ही समुचित है। और प्रत्यनुमानमें दृष्टान्त भी नहीं है, क्योंकि अन्त्य विशेषकी सत्तामें कोई प्रमाण नहीं है, इसलिए दृष्टान्तशून्य प्रत्यनुमान अयुक्त है। इससे पूर्वोक्त अनुमानसे ब्रह्ममें एकत्वानेकत्व सिद्ध होता है।

भिन्नाभिन्न पक्षका खण्डन करते हैं—अनुमानसे ब्रह्म भिन्नाभिन्न है, यह सिद्ध होनेपर विकल्प होता है कि क्या उक्त ब्रह्मकी सिद्धि अनुमानसे मानते हो या आगमसे ? आद्य पक्षमें आगम तो इस अर्थमें प्रमाण ही नहीं हो सकता; बल्कि अनुमानसे ज्ञात अर्थका बोधक आगम अनुवादक ही होगा। इसलिए ईदृश ब्रह्ममें वेदान्त प्रमाण नहीं हो सकता। द्वितीय पक्षमें नानारस ब्रह्ममें वेदान्तका तात्पर्य ही नहीं हो सकता, क्योंकि तात्पर्यके निर्णायक उपक्रमोपसंहार आदि छः प्रकारके लिङ्गोंमें कोई भी लिङ्ग नहीं है। प्रत्युत एकरस ब्रह्म है, इसी अर्थमें उक्त लिङ्ग हैं, अतएव 'अस्थूलमनणु', 'नेति नेति' इत्यादि वाक्य संगत होते हैं। प्रवेशवाक्यसे भी एकरस ब्रह्म प्रतीत होता है—'स एष इह प्रविष्ट आनखाग्रेभ्यो यथा क्षुरः क्षुरधानेऽवहितः स्याद्विश्वम्भरो वा विश्वम्भरकुलाये' इत्यादि। विश्वम्भर अग्नि जैसे विश्वमें सामान्यरूपसे प्रविष्ट है, वैसे सृष्टिकर्ता परमात्मासे भी सर्वजगत् व्याप्त है। विश्वम्भरसे अग्नि लक्षित है। यों भिन्नाभिन्नत्वमतका निरास संक्षेपसे किया। विशेषजिज्ञासुओंको वार्तिक देखना चाहिए।

भिन्नाभिन्नत्वपक्ष यदि परस्पर विभिन्न है, तो अभिन्न नहीं हो सकता, अभिन्न है, तो भिन्न नहीं हो सकता। एकनिरूपित भेदाभेद एकमें बाधित है। सामान्य-विशेषके सम्बन्धसे अभेदव्यवहार होता है, यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि 'संबन्धो वा भेदव्यवहारविषयः, संबन्धत्वात्, संयोगवत्, इत्यादि प्रसिद्ध है॥ ११॥

'दृश्यस्य' इत्यादि। दृश्य प्रपञ्च मायिक है, इसलिए अद्वैतैकरस ब्रह्ममें

ब्रह्मण्यध्यारोप एवं तृतीयेऽध्याय ईरितः ।
मुमुक्षुभिर्निवर्त्योऽयं तत्त्वगोचरविद्यया ॥ १३ ॥
द्वे सहस्रे तथा सप्त शतान्यथ तु षोडश ।
सङ्ख्याताः सङ्ख्यया श्लोकास्तृतीयाध्यायसङ्ग्रहे ॥ १४ ॥

इति वार्तिकसारे प्रथमाध्यायस्य षष्ठं ब्राह्मणं समाप्तम् ।
प्रथमोऽध्यायः समाप्तः ।

प्रत्यक्षादिविरोध नहीं हो सकता, कारण कि प्रत्यक्षादि उस व्यावहारिक प्रपञ्चसत्ताका ग्रहण करते हैं जो श्रुतिसे निषेध्य नहीं है और जो निषेध्य पारमार्थिक सत्त्व है, वह प्रत्यक्षविषय नहीं है । इस प्रकार षष्ठ ब्राह्मणमें संक्षेपसे जगत्का संग्रह कहा गया है ॥ १२ ॥

'ब्रह्मण्य०' इत्यादि । तृतीय अध्यायमें ब्रह्ममें जगत्का आरोप कहा गया है, अतः मुमुक्षुओंको तत्त्वबुद्धिसे (आत्मतत्त्व या आत्मैकत्व बुद्धिसे) संसारकी निवृत्ति करनी चाहिए । जैसे शुक्तिमें आरोपित रजतकी शुक्तिके साक्षात्कारसे निवृत्ति होती है, वैसे ही ब्रह्ममें आरोपित जगत्की ब्रह्मसाक्षात्कारसे निवृत्ति होती है ॥ १३ ॥

'द्वे सहस्रे' इत्यादि । दो हजार सात सौ सोलह श्लोक तृतीयाध्याय-संग्रहमें कहे गये हैं ॥१४॥

[और वार्तिकमें चार हजार दो सौ पन्द्रह श्लोक हैं । इनकी अपेक्षा वार्तिकसारमें थोड़े श्लोक हैं, यह उचित ही है, क्योंकि विस्तृत वार्तिकके संक्षेपके लिए ही इस सारग्रन्थकी प्रवृत्ति है] ।

म० म० पण्डितवर श्रीहरिहरकृपालुद्विवेदिविरचितवार्तिकसार-
भाषानुवादमें षष्ठ ब्राह्मण समाप्त ।

इति प्रथमोऽध्यायः ।



ॐ

* श्रीगणेशाय नमः *

बृहदारण्यकवार्तिकसार

[भाषानुवादसहित]



द्वितीयोऽध्यायः

प्रथमं ब्राह्मणम्

योऽध्यायशेषस्तृतीयोक्तश्चतुर्थेऽस्मावपोद्यते ।
विद्यासूत्रस्य तात्पर्यमथवाऽत्र निरूप्यते ॥ १ ॥

'आत्मेत्येवोपासीत' इत्यादि श्रुति-वाक्यसे आत्माकी उपासनाका विधान किया गया है। आत्माको खोज लेनेसे सब कुछ मिल जाता है, क्योंकि 'आत्मानमेवावेदहं ब्रह्मास्मि' इत्यादि वाक्यसे केवल आत्मतत्त्व ही विद्याका विषय है, और जो भेददृष्टिका विषय है, वह तो 'अन्योऽसौ अन्योऽहमस्मीति न स वेद' इत्यादि श्रुतिसे अविद्याका ही विषय है, इस प्रकार सब उपनिषदोंमें विद्या और अविद्याका विषय अलग-अलग कहा गया है। उनमें अविद्याके विषयका साधन आदि भेदविशेषोंके विनियोगसे तृतीयाध्यायकी समाप्ति तक कथन कर चुके, अब यह कहते हैं कि वह उक्त अविद्याका विषय दो प्रकारका है—एक आन्तर और दूसरा बाह्य। आन्तर प्राण है, जो गृहके आधारभूत खम्भोंके समान शरीरका आधारभूत, प्रकाशक और अमृतस्वरूप है। और जो बाह्य है, वह कार्यरूप, घरके तृणादिके समान, अप्रकाशात्मक और सत्यशब्दवाच्य है; इसीसे अमृतशब्दवाच्य प्राण प्रच्छन्न है, यही उपसंहारमें कहा गया है। इसी प्राणका बाह्य आधारके भेदसे अनेक प्रकारका विस्तार है। प्राण एक देवता कहा जाता है। उसी एक प्राणका बाह्य पिण्ड, विराट्, वैश्वानर, आत्मा, पुरुषविध, प्रजापति और हिरण्यगर्भ इत्यादि पिण्डप्रधानके वाचक शब्दोंसे उल्लेख किया जाता है।

सन्ति षड् ब्राह्मणान्यत्र प्रथमं ब्राह्मणत्रयम् ।
अपवादप्रधानं सद्ब्रह्मतत्त्वनिरूपकम् ॥ २ ॥

यही एक और अनेक ब्रह्म कहलाता है, इससे दूसरा नहीं है, सब शरीरोंमें यही प्रविष्ट है, चेतनावान् कर्ता और भोक्ता है; इस प्रकार अविद्याविषयको ही आत्मा समझनेवाला गार्ग्य ब्राह्मण वक्ता है और वस्तुतः आत्मदर्शी अजातशत्रु श्रोता है । इस प्रकार पूर्वोत्तरपक्षरूप आख्यायिकासे कहा गया अर्थ श्रोताके चित्तमें अनायास आ जाता है । आख्यायिकाके बिना तर्कशास्त्रके समान केवल अर्थ कहनेसे श्रोताकी समझमें ठीक नहीं आता, क्योंकि यह विषय अत्यन्त सूक्ष्म है; अतएव काठकमें 'श्रवणायापि बहुभिर्यो न लभ्यः' इत्यादि वाक्य है । उपनिषद्का अर्थ सुन्दर सुसंस्कृत बुद्धिसे वेद्य है, संस्काररहित सामान्य बुद्धिसे वेद्य नहीं है, अतएव 'आचार्यवान् पुरुषो वेद', 'आचार्याद्धैव विद्या' इत्यादि छान्दोग्यमें भी कहा है । यहाँ भी शाकल्य और याज्ञवल्क्यके संवादसे ब्रह्म अतिगम्भीर है, यह स्पष्टरूपसे कहेंगे । अतः अतिगम्भीर ब्रह्मविद्या, पूर्वपक्ष और सिद्धान्तरूपसे आख्यायिका द्वारा निरूपित होनेपर ही, ज्ञात होती है; इसलिए इस अध्यायमें आख्यायिकाका आरम्भ करेंगे—**'दृप्तबालाकिः'** इत्यादिसे ।

'योऽध्यारोप०' इत्यादि । तृतीयमें जिस संसारका ब्रह्ममें आरोप किया है, उसीका चतुर्थमें अपोह करते हैं अथवा इसमें विद्यासूत्रके तात्पर्यका निरूपण करते हैं । 'आत्मेत्येवोपासीत' यह विद्यासूत्र है । आत्माके साक्षात्कारसे सब ज्ञेय समाप्त हो जाता है, क्योंकि ब्रह्मसे अतिरिक्त कुछ है ही नहीं । आत्मज्ञान ही परमपुरुषार्थका हेतु है, इसमें उक्त विद्यासूत्र ही प्रमाण है । उक्त सूत्रका अर्थ है -आत्माका अद्वयात्माका—अनुसंधान करे । अनर्थ और अनर्थकी हेतु अविद्या है । 'तद्धेदम्' इत्यादि अविद्याका सूत्र है अर्थात् यहाँसे अविद्याका आरम्भ कर 'अथ योऽन्याम्' इत्यादिसे उसका अनुवाद कर अध्यायकी समाप्ति तकके सन्दर्भमें अविद्याकार्यका विस्तारसे निरूपण किया है । उक्त विस्तृत कार्यका संक्षेप 'त्रयं वा इदम्' इत्यादिसे किया । 'त्रयम्' इत्यादिका भी संक्षेप स्थूलसूक्ष्मदेहात्मसंघात अर्थात् कार्यकारणसंघात है, विश्वरूप प्रजापति कार्य है और अन्तर्भावित अशेष जगत् तथा अनन्तदेवताक प्राण—प्रजापति—करण है ॥ १ ॥

'सन्ति षड्' इत्यादि । इस अध्यायमें छः ब्राह्मण हैं । उनमें पहलेके तीन ब्राह्मण, अपवाद प्रधान होकर, ब्रह्मतत्त्वका निरूपण करते हैं ॥ २ ॥

चतुर्थे त्वात्मसूत्रस्य साक्षात्तात्पर्यविस्तृतिः ।
फलानुसारी सार्वात्म्यविस्तारः पञ्चमे स्मृतः ॥ ३ ॥
विद्यावंशस्य विस्तारो जपार्थं षष्ठ ईरितः ।
जपाद् गुरूननुस्मृत्य विद्यां प्राप्नोति सुस्थिराम् ॥ ४ ॥
अपवादप्रधानं यद् ब्राह्मणत्रयमीरितम् ।
तत्राऽऽद्येनाऽऽत्मता तावत्प्राणादीनामपोद्यते ॥ ५ ॥
अतः प्राणात्मवाद्यत्र बालाकिः पूर्वपक्ष्यभूत् ।
ब्रह्मात्मतत्त्वविद्राजा सिद्धान्ती प्रतिवक्ति तम् ॥ ६ ॥
सुखावबुद्धये यद्वा श्रद्धाचारादिसिद्धये ।
आख्यायिका सुखाद्बोध उक्तिप्रत्युक्तितो भवेत् ॥ ७ ॥

'चतुर्थे' इत्यादि । चतुर्थ ब्राह्मणमें उक्त आत्मसूत्रका साक्षात् किसमें तात्पर्य है, उसका विस्तार किया गया है और पञ्चम ब्राह्मणमें फलानुसारी सर्वात्मभावका निरूपण किया गया है ॥ ३ ॥

'विद्यावंशस्य' इत्यादि । छठे अध्यायमें जपके लिए विद्यावंशका विस्तार कहा गया है । जपसे विद्यागुरुओंका अनुस्मरण कर स्थिर विद्या होती है ॥ ४ ॥

'अपवाद०' इत्यादि । जो पहलेके तीन ब्राह्मण अपवादप्रधान हैं, उनमें प्रथम ब्राह्मणसे प्राणमें आत्मत्वका निराकरण किया गया है अर्थात् प्राण आत्मा नहीं है, यह स्फुट किया गया है ॥ ५ ॥

'ततः' इत्यादि । अतः पहले आख्यायिकामें प्राणको आत्मा माननेवाले बालाकि पूर्वपक्षी हुए हैं और ब्रह्मात्मतत्त्वको जाननेवाले राजा अजातशत्रुने सिद्धान्ती बनकर पूर्वपक्षी बालाकिके मतका निराकरण किया है । इस पूर्वोत्तर-पक्षकी शैलीसे आत्माका अवधारण सहजमें हो जाता है ॥ ६ ॥

'सुखावबुद्धये' इत्यादि । आख्यायिकासे दुरूह तत्त्वका भी सुखसे अवबोध हो जाता है, क्योंकि पूर्वपक्ष और उत्तरपक्षसे गम्भीर तत्त्वका सुखसे बोध होता है, यह प्रत्येकके अनुभवसे सिद्ध है । एवं श्रद्धा और आचार आदिकी सिद्धिके लिए भी आख्यायिका है ॥ ७ ॥

अपृष्टोऽपि ब्रह्म तेऽहं ब्रवाणीति यदुक्तवान् ।
गार्ग्यस्तेनाऽजातशत्रोः श्रद्धालुत्वं प्रतीयते ॥ ८ ॥

'अपृष्टोऽपि' इत्यादि । बिना पूछे गार्ग्य अजातशत्रु नामक राजाके पास जाकर कहने लगा कि तुमसे ब्रह्मके विषयमें कुछ कहेंगे ।

शङ्का—'नाऽपृष्टः कस्यचिद् ब्रूयात् न चाऽन्यायेन पृच्छतः ।
जानन्नपि हि मेधावी जडवल्लोक आचरेत् ॥'

(पूछे बिना किसीसे कुछ कहना नहीं चाहिए, अतः बुद्धिमान् पुरुष जानता हुआ भी जड़के समान आचरण करे) इस मानवधर्मशास्त्रके अनुसार प्रश्नके बिना स्वयं कहनेका निषेध है, फिर अजातशत्रुके प्रति गार्ग्य बिना पूछे ब्रह्मके विषयमें क्यों कहने लगा ?

समाधान—निषेधका अभिप्राय यह है कि अपात्रके प्रति विद्योपदेश नहीं करना चाहिए। यथायोग्य पात्रताका निर्णय कहीं प्रश्नसे भी होता है, कहीं श्रद्धा आदिसे होता है । प्रकृतमें पात्रताका निर्णायक प्रश्न नहीं है, किन्तु राजा श्रद्धालु है, इस लिए प्रश्नके बिना भी ब्रह्मविद्योपदेश अयुक्त नहीं है अथवा 'ब्रह्म ब्रवाणि' का अर्थ है—ब्रह्म पृच्छानि अर्थात् ब्रह्म तुमसे पूछते हैं । धातु अनेकार्थक माने जाते हैं, इसलिए 'ब्रू' धातुका प्रश्न भी अर्थ हो सकता है । अतएव 'अधीहि भगवो ब्रह्म' यहाँ 'अधीहि' का 'अध्यापय' अर्थ किया जाता है ।

शङ्का—ऐसा माननेसे उक्त वचनके साथ विरोधकी शङ्का नहीं हो सकती, क्योंकि गार्ग्यने अपनेको अपूर्ण ब्रह्मज्ञानी समझकर और अजातशत्रुको पूर्ण ब्रह्मज्ञानी समझकर पूर्ण ब्रह्मज्ञानके लिए उससे पूछा ।

समाधान—हो सकता, यदि यथाश्रुत अर्थमें श्रुतिकी उपपत्ति न होती । अनुपपत्ति केवल यही है कि अपृष्ट क्यों कहा, इसका उत्तर यह है कि श्रद्धालु, अधिकारी एवं विनयान्वित जिज्ञासुके प्रति प्रश्नके बिना भी विद्वानोंको ब्रह्मविद्याका उपदेश करना चाहिए । अतएव—

अधर्मेण तु यः प्राह यश्चाऽधर्मेण पृच्छति ।
तयोरन्यतरः प्रैति विद्वेषं वाऽधिगच्छति ॥
विद्या ब्राह्मणमेत्याह शेवधिस्तेऽस्मि रक्ष माम् ।
असूयकाय मां मा दास्तथा स्यां वीर्यवत्तमा ॥

श्रद्धालुरधिकारी यो जिज्ञासुर्विनयान्वितः ।
अपृष्टेनाऽपि वक्तव्या तस्मै विद्येति शाश्वतः ॥ ९ ॥
विप्रोपसत्तिं यद्राजा निषिषेध ततोऽधमः ।
उत्तमश्चैवमाचार इति विज्ञापितं भवेत् ॥ १० ॥

इत्यादि वचनोंके अनुसार अनधिकारीको विद्याका उपदेश नहीं देना चाहिए, यही ज्ञात होता है । इसी तात्पर्यका अवलम्बन करके उक्त निषेध भी है ।

धर्मार्थौ यत्र न स्यातां शुश्रूषा वाऽपि तद्विधा ।
विद्या तत्र न वक्तव्या शुभं बीजमिवोषरे ॥

इस प्रकार अयोग्यमें विद्यादानका निषेध होनेसे योग्यमें विद्यादान करना चाहिए, यह स्फुट प्रतीत होता है ।

शङ्का योग्य अधिकारीको ब्रह्मविद्याका उपदेश करना ही चाहिए, इस उद्देश्यसे यदि उक्तार्थमें गार्ग्यकी प्रवृत्ति हुई, यों मानो, तो योग्य ब्राह्मण-व्यक्तिको छोड़कर उक्त राजाके प्रति प्रवृत्ति क्यों हुई ? इसके उत्तरमें यह कहना तो निर्मूल है कि उस समय योग्य कोई ब्राह्मण था ही नहीं ।

समाधान गार्ग्य दैववित्तसे पूर्ण था और राजा मानुष वित्तसे पूर्ण था अर्थात् गार्ग्य विद्वान् थे और राजा धनी थे । विद्वान्को धनकी इच्छा थी और राजाको विद्याकी इच्छा थी । परस्पर आदान-प्रदानकी इच्छासे राजाके प्रति बालाकिकी प्रवृत्ति उचित ही है ।

शङ्का—तो क्या बालाकि धनके कामुक थे ? यदि हाँ कहो, तो वे ब्रह्मज्ञानी कैसे हो सकते हैं ?

समाधान—दो प्रकारके द्रव्योंसे पूर्ण मनुष्य ही सब कर्मोंका अधिकारी होता है; इसलिए अपने अधिकारकी सिद्धिके लिए बालाकिका राजाके साथ संबन्ध करना समुचित ही है ॥ ८ ॥

'श्रद्धालु०' इत्यादि । श्रद्धालु तथा अधिकारीके प्रति, जो जिज्ञासु एवं विनीत है, बिना पूछे भी विद्याका उपदेश करना चाहिए, ऐसी शास्त्रकी विधि है ॥ ९ ॥

'विप्रोपसत्तिम्' इत्यादि । बालाकिको राजाके साथ संवाद करते समय यह प्रतीत होने लगा कि राजा उससे अधिक ब्रह्मवेत्ता थे, जो मन्त्रव्याख्यानके समय स्फुट होगा । अन्तमें गार्ग्यने कहा कि हम ब्रह्मज्ञानके लिए आपके ब्रह्मचारी

प्रश्नोत्तरे स्वयं राजा यदुवाच ततो गुरुः ।
अबुद्धमपि सच्छिष्यं नोपेक्षेति गम्यते ॥ ११ ॥

होते हैं। आप हमको ब्रह्मविद्याका उपदेश दीजिये। राजाने कहा कि ऐसा नहीं हो सकता। ब्राह्मणका शिष्य राजा होता है, यह स्वभावतः सिद्ध है; किन्तु अनापत्कालमें क्षत्रियका ब्रह्मचारी ब्राह्मण हो, यह प्रतिलोम आचरण है, जो धर्मशास्त्रसे निषिद्ध है। आपत्कालमें ब्राह्मण अब्राह्मणसे विद्याका उपार्जन करे तथा जबतक अध्ययन पूरा न हो, तब तक उसका अनुगमन भी करे; अध्ययनकी समाप्तिके अनन्तर नहीं, ऐसा गौतमादि महर्षियोंका सिद्धान्त है।

अब्राह्मणादध्ययनमापत्काले विधीयते ।
अनुव्रज्या च शुश्रूषा यावदध्ययनं गुरोः ॥
नाऽब्राह्मणे गुरौ शिष्यो वासमात्यन्तिकं वसेत् ।
ब्राह्मणे चाऽननूचाने काङ्क्षन् गतिमनुत्तमाम् ॥

इत्यादि वचनोंसे विद्याके लिए ब्राह्मणको राजा क्षत्रियके पास जाना धर्मशास्त्रसे निषिद्ध है। अन्य प्रयोजनके लिए राजाके पास जाना निषिद्ध नहीं है।

वेदार्थानधिगच्छेच्च शास्त्राणि विविधानि च ।
उपेयादीश्वरं चैव योगक्षेमार्थसिद्धये ॥

अतएव राजाने कहा कि अनुपेत ही आपको ब्रह्मविद्याका उपदेश करूंगा, जिसके ज्ञात होनेके बाद सब ज्ञात हो जाता है। वर्णसे तो गार्ग्य ब्राह्मण है, अतः बड़ा है, किन्तु विद्यासे राजा ही बड़ा है, अतएव

न हायनैर्न पलितैर्न वित्तैर्न च बन्धुभिः ।
ऋषयश्चक्रिरे धर्मं योऽनूचानः स नो महान् ॥

यह वचन भी विद्यासे सबसे अधिक महत्त्व प्राप्त होता है, यों कहता है। राजा गार्ग्यको विद्याका उपदेश देनेसे जो विरत हुए थे, उसका कारण यही है कि यह मध्यम आचार है। ब्राह्मणसे विद्या ग्रहण करना, यह उत्तम अचार है, अतः इसीको समझानेके अभिप्रायसे पूर्वमें निषेध किया, यह अतिस्फुट है ॥ १० ॥

'प्रश्नोत्तरे' इत्यादि। प्रश्न और उत्तर राजाने जो कहे, इससे यही मालूम होता है कि गुरुको अप्रबुद्ध अच्छे शिष्यकी उपेक्षा नहीं करनी चाहिए ॥ ११ ॥

श्रुतिः—दृप्तबालाकिर्हानूचानो गार्ग्य आस स होवाचाजातशत्रुं काश्यं ब्रह्म ते ब्रवाणीति स होवाचाजातशत्रुः सहस्रमेतस्यां वाचि दद्मो जनको जनक इति वै जना धावन्तीति ॥ १ ॥

स होवाच गार्ग्यो य एवासावादित्ये पुरुष एतमेवाहं ब्रह्मोपास इति स होवाचाजातशत्रुर्मा मैतस्मिन् संवदिष्ठा अतिष्ठाः सर्वेषां भूतानां मूर्धा राजेति वा

'दृप्तबालाकिर्हानूचानो' इत्यादि श्रुतिका अर्थ—अभिमानी तथा वाग्मी बलाकाका पुत्र बालाकिने, जिसका गोत्र गर्ग था, किसी समय अजातशत्रुनामक काशीराजके पास जाकर कहा कि 'ब्रह्म ते ब्रवाणि' आपकोमें ब्रह्म कहूँगा अर्थात् ब्रह्मका उपदेश दूँगा। राजाने जब ऐसा सुना तब वह कहने लगा कि इस प्रकारकी केवल वाणी बोलनेसे ही तुम्हें हजार गौएँ देता हूँ।

वाणीमात्रसे इतनी गो देनेमें राजाका अभिप्राय स्वयं श्रुति कहती है—जनक ही ब्रह्मको सुननेकी इच्छा रखता है और जनक ही दाता है। वही ब्रह्मज्ञानी है, अतः ब्रह्म कहनेके लिए जनकके पास ही लोग जाते थे। समीचीन उपदेश देनेपर उससे हजारों गउओंका लाभ होता था। और जो स्वयं ब्रह्मवेत्ता नहीं थे, किन्तु उसके जिज्ञासु थे वे लोग ब्रह्म सुननेके लिए जनकके पास जाते थे। अतः अभी तक यही प्रसिद्धि थी कि जनक ही ब्रह्म सुननेकी इच्छा, दानकी इच्छा और ब्रह्म कहनेकी इच्छा रखता है, दूसरा नहीं रखता, लेकिन आप मुझमें भी उक्त गुणोंकी संभावना कर मेरे पास आये हैं, इसलिए ब्रह्मनिर्णय आप कर सकें या नहीं, किन्तु केवल 'ब्रह्म ते ब्रवाणि' इस शब्दमात्रको सुनकर हजारों गौएँ देता हूँ ॥ १ ॥

'स होवाच' इत्यादि। इस प्रकार ब्रह्मके शुश्रूषु राजाके प्रति गार्ग्य बोला—जो आदित्यमें यह पुरुष है तथा चक्षुमें जो पुरुष है, वही चक्षुके द्वारा हृदयमें प्रविष्ट होकर इस देहमें कर्ता और भोक्ताके रूपसे व्यवस्थित है। आदित्य और चक्षुमें स्थित पुरुषको एक समझ कर उसकी ब्रह्मबुद्धिसे उपासना करता हूं, आप वैसी ही उपासना कीजिए। यह सुन कर राजाने हाथसे निषेध करते हुए कहा कि ऐसा मत कहिए, हम इसको जानते हैं, दूसरा कहिए।

शङ्का—शायद आप ब्रह्ममात्र जानते हों; किन्तु उसकी विशेष उपासना और फल नहीं जानते, इसलिए ब्रह्म सुनिए।

समाधान—नहीं, इन सबको, जिनको आप ब्रह्म कहते हैं, मैं खूब जानता हूँ

अहमेतमुपास इति स य एतमेवमुपास्तेऽतिष्ठाः सर्वेषां भूतानां मूर्द्धा राजा भवति ॥ २ ॥

स होवाच गार्ग्यो य एवासौ चन्द्रे पुरुष एतमेवाहं ब्रह्मोपास इति स होवाचाजातशत्रुर्मा मैतस्मिन्संवदिष्ठा बृहन्पाण्डरवासाः सोमो राजेति वा अहमेतमुपास इति स य एतमेवमुपास्तेऽहरहर्ह सुतः प्रसुतो भवति नास्यान्नं क्षीयते ॥ ३ ॥

यह आदित्य-चक्षुनिष्ठ पुरुष सब भूतोंका अतिक्रमण कर स्थित है, इसलिए यह अतिष्ठा कहलाता है। वह सब भूतोंका सिर है और दीप्तिगुणविशिष्ट होनेसे राजा भी कहलाता है, इन विशेषणोंसे विशिष्ट आदित्यात्माको मैं जानता हूँ और उसकी वैसी ही उपासना करता हूँ।

इस प्रकार गुणत्रयविशिष्ट ब्रह्मको जानता हूँ, यह कह कर उसकी उपासनामें होनेवाले फलको भी बतलाते हैं—**'एतमेव'** इत्यादिसे।

जो जिस प्रकारके गुणसे विशिष्ट ब्रह्मकी उपासना करेगा, उसको उसी गुणके अनुसार ही फल होता है, अतएव श्रुति कहती है 'तं यथा यथोपासते तदेव भवति'। अतः प्रकृतोपासक सबका अतिक्रमण करनेवाला सबका मूर्धन्य और राजा होता है याने सर्वश्रेष्ठ होता है ॥ २ ॥

संवाद दोषसे आदित्य ब्रह्म है, इसको छोड़कर गार्ग्य ब्रह्मान्तरका उपदेश करता है—**'स होवाच'** इत्यादिसे।

जो यह चन्द्रमा तथा बुद्धिमें एक पुरुष है, इसीकी ब्रह्मबुद्धिसे मैं उपासना करता हूँ। फिर राजाने कहा—ऐसा मत कहिये, क्योंकि वह ब्रह्म नहीं है। बृहत्पाण्डरवासा सोम किंवा राजा ऐसा मान कर हम उसकी उपासना करते हैं; जो उसकी इस रूपसे उपासना करता है, उसके यहां प्रतिदिन प्रकृति यागमें सोमलताका अभिषव और विकृति यागमें प्रसव होता है अर्थात् प्रकृतियागानुष्ठानकी सामर्थ्य अनायाससे प्राप्त होती है। बृहन्—महान्, पाण्डरं—शुक्लम्—वासो यस्य इस व्युत्पत्तिसे शुक्लवस्त्र-संयुक्त चन्द्राभिमानी प्राण पाण्डरवासा शब्दका अर्थ है। 'आपो वासः प्राणस्य' ऐसी श्रुति है। जलमय चन्द्र है, तदभिमानी शुक्लवस्त्रसंयुतके समान प्राण है। सोमशब्दसे सोमलता भी ले सकते हैं। सोमलता भी सोम देवतास्वरूप है। सूर्यमण्डलसे चन्द्रमाका मण्डल दूना है, इसलिए परिमाणमें सूर्यमण्डलसे चन्द्रमण्डलका बड़ा होना स्फुट ही है। इसमें प्रमाण—

स होवाच गार्ग्यो य एवासौ विद्युति पुरुष एतमेवाहं ब्रह्मोपास इति स होवाचाजातशत्रुर्मा मैतस्मिन्संवदिष्ठास्तेजस्वीति वा अहमेतमुपास इति स य एतमेवमुपास्ते तेजस्वी ह भवति तेजस्विनी हास्य प्रजा भवति ॥ ४ ॥

स होवाच गार्ग्यो य एवायमाकाशे पुरुष एतमेवाहं ब्रह्मोपास इति स होवाचाजातशत्रुर्मा मैतस्मिन्संवदिष्ठाः पूर्णमप्रवर्तीति वा अहमेतमुपास इति स य एतमेवमुपास्ते पूर्यते प्रजया पशुभिर्नास्यास्माल्लोकात्प्रजोद्वर्तते । ५ ॥

स होवाच गार्ग्यो य एवायं वायौ पुरुष एतमेवाहं ब्रह्मोपास इति स होवाचाजातशत्रुर्मा मैतस्मिन्संवदिष्ठा इन्द्रो वैकुण्ठोऽपराजिता सेनेति वा अह-

---

नवयोजनसाहस्रः विष्कम्भः सवितुर्मतः ।
द्विगुणस्तस्य विस्तारो मण्डलस्य प्रमाणतः ॥
द्विगुणः सूर्यविस्ताराद्विस्तारः शशिनः स्मृतः ।

ये पुराण-वाक्य हैं ॥ ३ ॥

'स होवाच' इत्यादि । सूर्य और चन्द्रमाका तेज मेघमालासे अभिभूत हो जाता है, किन्तु बिजलीका तेज और भी बढ़ जाता है, इसलिए बिजलीका तेज उक्त तेजोंमें उत्कृष्ट है । उत्कृष्ट तेजका ही ध्यान करना चाहिए, इस तात्पर्यसे गार्ग्य विद्युत्पुरुषकी ब्रह्मदृष्टिसे उपासना करनी चाहिए, ऐसा उपदेश देते हैं विद्युत्में और हृदयमें जो एक देवता है, वह ब्रह्म है । राजाने पूर्ववत् कहा कि नहीं, नहीं; वह तेजस्वी है, और ऐसा मानकर हम उसकी उपासना करते हैं, जो कोई इस बुद्धिसे उसकी उपासना करता है, वह तेजस्वी होता है और उसकी प्रजा (सन्तति) भी तेजस्वी होती है ॥ ४ ॥

'स होवाच' इत्यादि । फिर गार्ग्यने कहा कि आकाश और हृदयाकाशमें जो पुरुष है, वही ब्रह्म है, ऐसी हम उपासना करते हैं । राजाने फिर पूर्ववत् कहा— नहीं, ऐसा मत कहिये, हम तो पूर्ण और अप्रवर्ति (क्रियारहित) मान कर उसकी उपासना करते हैं । जो कोई पूर्ण और अप्रवर्ति (क्रियाशून्य) मानकर उसकी उपासना करता है, वह प्रजा और पशुओंसे परिपूर्ण होता है तथा उसकी सन्तानका विच्छेद नहीं होता ॥ ५ ॥

'स होवाच' इत्यादि । फिर गार्ग्यने कहा कि जो वायुमें पुरुष है, उसकी हम ब्रह्मबुद्धिसे उपासना करते हैं । राजाने पूर्ववत् मना करते हुए कहा कि वह इन्द्र (परमेश्वर), वैकुण्ठ (अप्रसह्य) और अपराजित सेना है, ब्रह्म नहीं है,

मेतमुपास इति स य एतमेवमुपास्ते जिष्णुर्हापराजिष्णुर्भवत्यन्यतस्त्यजायी ।६।

स होवाच गार्ग्यो य एवायमग्नौ पुरुष एतमेवाहं ब्रह्मोपास इति स होवाचाजातशत्रुर्मा मैतस्मिन्संवदिष्ठा विषासहिरिति वा अहमेतमुपास इति स य एतमेवमुपास्ते विषासहिर्ह भवति विषासहिर्हास्य प्रजा भवति ॥ ७ ॥

स होवाच गार्ग्यो य एवायमप्सु पुरुष एतमेवाहं ब्रह्मोपास इति स होवाचाजातशत्रुर्मा मैतस्मिन्संवदिष्ठाः प्रतिरूप इति वा अहमेतमुपास इति स य एतमेवमुपास्ते प्रतिरूपꣳ हैवैनमुपगच्छति नाप्रतिरूपमथो प्रतिरूपोऽस्माज्जायते ॥ ८ ॥

हम तो उसकी उपासना उक्त गुणसे ही करते हैं। जो कोई इन्द्र, वैकुण्ठ और अपराजित आदि गुणोंसे विशिष्ट उसकी उपासना करता है, वह उपासनाके गुण-भेदसे जयशील, अपराजिष्णु और अजितस्वभाव होता है। तीनों विशेषणोंके क्रमशः तीन फल हैं अर्थात् इन्द्रगुणविशिष्टकी उपासनासे जयशील होता है, वैकुण्ठगुणविशिष्टकी उपासनासे परैरजितस्वभाव अर्थात् स्वयं अजेय होता है और अपराजितसेना-गुणसे विशिष्टकी उपासनासे अन्यतस्त्योंपर अर्थात् सापत्न भाईयों-पर विजय पाता है ॥ ६ ॥

'स होवाच' इत्यादि। फिर गार्ग्यने कहा—जो अग्निमें पुरुष है, वह ब्रह्म है; ऐसी उपासना हम करते हैं। पूर्ववत् राजाने कहा कि नहीं, ऐसा मत कहिये, क्योंकि हम तो विषासहि मानकर उसकी उपासना करते हैं, [यद्धविः स्वस्मिन् विष्यते विक्षिप्यते तत्सर्वं भस्मीकरणेन सहते इति विषासहिः अर्थात् जो हवि अग्निमें डाला जाता है, उसको भस्मकर अग्नि सह लेता है, इसलिए अग्नि विषासहि कहलाता है], जो कोई उसकी उक्तगुणविशिष्टरूपसे उपासना करता है, वह शत्रुओंके पराक्रमका सहनेवाला शत्रुओंका मर्षयिता होता है तथा उसकी प्रजा भी उक्त गुणसे विशिष्ट होती है ॥ ७ ॥

'स होवाच' इत्यादि। फिर गार्ग्यने कहा—जलमें (रेतमें) और हृदयमें जो पुरुष है, वही ब्रह्म है। राजाने कहा—नहीं, नहीं, ऐसा नहीं है, वह प्रतिरूप है, उसी रूपसे हम उसकी उपासना करते हैं। प्रतिरूपशब्दका अर्थ प्रतिबिम्ब है। जलका कार्य प्रतिबिम्ब है। चूँकि जलका गुण प्रतिबिम्ब है, इसलिए जलादिमें उक्त गुणसे विशिष्ट पुरुषका ध्यान करना चाहिए।

शङ्का—प्रतिशब्दका प्रतिकूल अर्थ है, क्योंकि प्रतिपक्ष, प्रतिवादी आदि

स होवाच गार्ग्यो य एवायमादर्शे पुरुष एतमेवाहं ब्रह्मोपास इति स होवाचाजातशत्रुर्मा मैतस्मिन्संवदिष्ठा रोचिष्णुरिति वा अहमेतमुपास इति स य एतमेवमुपास्ते रोचिष्णुर्ह भवति रोचिष्णुर्हास्य प्रजा भवत्यथो यैः सन्निगच्छति सर्वांस्तानतिरोचते ॥ ९ ॥

शब्दोंमें प्रतिशब्दका प्रतिकूल ही अर्थ दीखता है। फिर यहाँ प्रतिशब्दका प्रतिकूल अर्थ क्यों नहीं मानते ?

समाधान—ऐसा माननेसे उपासना अनर्थफलक हो जायगी। कोई भी प्रतिकूल फलके लिए उपासना नहीं करता, अतः 'निपातानामनेकार्थत्वात्' इस न्यायसे यहां प्रतिशब्द अन्वर्थक ('अनु' शब्दके अर्थमें) है; क्योंकि ऐसा माननेसे ही उक्त फल पुरुषार्थ होगा; अन्यथा नहीं होगा। श्रुति, स्मृति और सदाचारसे संपन्न पुरुष स्वयं ही जैसे श्रुत्यादिशासनके अनुरूप गुणसे विशिष्ट होता है, वैसे ही इस उपासनासे उसका पुत्र उक्त गुणसे विशिष्ट होता है; अतः पुत्र पिताका प्रतिबिम्ब होता है याने पुत्र पिताके प्रतिकूल नहीं होता ॥ ८ ॥

'स होवाच' इत्यादि। गार्ग्यने फिर कहा अच्छा तो जो यह आदर्शमें (दर्पणमें) पुरुष है, वही ब्रह्म है। राजाने कहा—नहीं, नहीं; वह तो रोचिष्णु है, और उसी बुद्धिसे हम उपासना करते हैं अर्थात् देदीप्यमान और कान्तियुक्त पुरुषकी आदर्श, चक्षु आदि स्वच्छ पदार्थ तथा स्वच्छ बुद्धिमें हम उपासना करते हैं। जो उक्त गुणसे विशिष्ट पुरुषकी उक्त आश्रयोंमें उपासना करता है, वह स्वयं रोचिष्णु होता है तथा उसकी सन्तति भी उक्त गुणसे विशिष्ट होती है।

शङ्का—उपासना कर्मका फल उसके स्वामीको अर्थात् उपासना करनेवालेको ही होना चाहिए, सन्तानोंको क्यों होता है ? वे तो कर्ता नहीं हैं; अतएव 'शास्त्रदेशितं फलमनुष्ठातरि' ऐसा शास्त्रका वचन है।

समाधान—हां ठीक है; जहां शास्त्र स्वयं कहता है कि उपासक और उसके सन्तान दोनोंको फल होता है, वहां उभयगामी फल माना जाता है; अन्यथा शास्त्र ही अप्रमाण हो जायगा। अतएव पिता द्वारा किये गये वैश्वानरेष्टि आदिका फल (ब्रह्मवर्चस् आदि फल) पुत्रगामी ही माना जाता है और पुत्रकर्तृक अन्त्येष्ट्यादिका फल पितृगामी होता है। इससे अन्यत्र फलका बोधक वाक्य जहां नहीं है, वहाँ उत्सर्गतः कर्तृगामी ही फल होता है, यह मानना चाहिए ॥ ९ ॥

स होवाच गार्ग्यो य एवायं यन्तं पश्चाच्छब्दोऽनूदेत्येतमेवाहं ब्रह्मोपास इति स होवाचाजातशत्रुर्मा मैतस्मिन्संवदिष्ठा असुरिति वा अहमेतमुपास इति स य एतमेवमुपास्ते सर्वं हैवास्मिँल्लोक आयुरेति नैनं पुरा कालात्प्राणो जहाति ॥ १० ॥

स होवाच गार्ग्यो य एवायं दिक्षु पुरुष एतमेवाहं ब्रह्मोपास इति स होवाचाजातशत्रुर्मा मैतस्मिन्संवदिष्ठा द्वितीयोऽनपग इति वा अहमेतमुपास इति स य एतमेवमुपास्ते द्वितीयवान्ह भवति नास्माद्गणश्छिद्यते ॥ ११ ॥

'स होवाच' इत्यादि । गार्ग्यने फिर कहा कि जानेवालेके पीछे जो शब्द उत्पन्न होता है [जब मार्गमें पुरुष चलता है; तब कुछ शब्द अवश्य उत्पन्न होता है; जैसे घोड़ेके चलनेसे टापका शब्द सुन पड़ता है, वैसे ही अन्यके पादविक्षेपसे भी शब्द होता है], उसमें तथा अध्यात्म बुद्धिमें जो पुरुष है, वही ब्रह्म है, राजाने पूर्ववत् निषेध कर कहा कि वह असु है, और ऐसी बुद्धिसे हम उपासना करते हैं । असु प्राण जीवनका हेतु है। अथवा मार्गमें जब पुरुष दौड़ता है, तब देहदेशसे ताडित प्राणवायुवृत्तिविशेष उच्छ्वासादिवृत्तिसे जो बाह्यवत् शब्द होता है, जिसको हाफना कहते हैं, उस शब्दमें पुरुषका ध्यान प्रकृतमें विवक्षित है । शब्द पुरुषका 'असु' यह जो विशेषण दिया है उसका तात्पर्य यह है कि बाह्यांश प्राणवृत्तियोंका त्याग कर जो प्राणात्मा है, वही असुगुणक है । जो असुगुणसे विशिष्ट प्राणकी उपासना करता है, उसका फल यह है कि वह संपूर्ण आयु पाता है; रोगादिसे पीड़ित होनेपर भी प्रारब्ध कालसे पूर्व प्राण पिण्डको नहीं छोड़ता—प्राप्त आयुका पूर्ण भोग करता है ॥ १० ॥

गार्ग्यने कहा कि जो दिशाओंमें (कान और हृदयमें) पुरुष है, वही ब्रह्म है । राजाने पूर्ववत् कहा—नहीं, नहीं, इसकी तो अनपगरूपसे हम उपासना करते हैं । अनपग—अवियुक्तस्वभाव—अश्विनीकुमार हमेशा जोड़ेके रूपमें ही रहते हैं अन्योन्य इनका वियोग नहीं होता । दिशा और अश्विनोंका साधर्म्य यह है जैसे दिशाओंमें परस्पर वियोग नहीं है, किन्तु वे सदा संयुक्तस्वभाव ही होती हैं, वैसे ही ये देवता कभी भी परस्पर वियुक्त नहीं होते, सदा संयुक्त ही रहते हैं । जो इस गुणसे विशिष्ट उसकी उपासना करता है, वह सदा द्वितीयवान् ही रहता है अर्थात् पुत्र, भृत्य आदि परिवारसे सदा संयुक्त ही रहता है, उनसे कभी वियुक्त नहीं होता ॥ ११ ॥

स होवाच गार्ग्यो य एवायं छायामयः पुरुषः एतमेवाहं ब्रह्मोपास इति स होवाचाजातशत्रुर्मा मैतस्मिन् संवदिष्ठा मृत्युरिति वा अहमेतमुपास इति स य एतमेवमुपास्ते सर्वꣳ हैवास्मिंल्लोक आयुरेति नैनं पुरा कालान्मृत्युरागच्छति ॥ १२ ॥

स होवाच गार्ग्यो य एवायमात्मनि पुरुष एतमेवाहं ब्रह्मोपास इति स होवाचाजातशत्रुर्मा मैतस्मिन् संवदिष्ठा आत्मन्वीति वा अहमेतमुपास इति स य एतमेवमुपास्ते आत्मन्वी ह भवत्यात्मन्विनी हास्य प्रजा भवति स ह तूष्णीमास गार्ग्यः ॥ १३ ॥

स होवाचाजातशत्रुरेतावन्नू ३ इत्येतावद्धीति ।

'स होवाच' इत्यादि । गार्ग्यने कहा जो छायामय पुरुष है, वही ब्रह्म है । पूर्ववत् राजाने उसका भी प्रत्याख्यान कर कहा कि यह तो मृत्यु है, हम तो ऐसी ही उसकी उपासना करते हैं ।

शङ्का—छायामय पुरुष कौन है ?

समाधान—बाह्य तममें और अध्यात्म तममें (आवरक अज्ञानवाले हृदयमें) मृत्यु ही छायामय पुरुष है, उसकी उपासनासे दीर्घ आयु मिलती है अर्थात् उस उपासककी अकालमें मृत्यु नहीं होती, यही इसका फल है ॥ १२ ॥

'स होवाच' इत्यादि । गार्ग्यने फिर कहा जो आत्मामें पुरुष है, वही ब्रह्म है । राजाने इसको भी न मान कर कहा कि यह तो आत्मन्वी है, हम उसकी वैसी उपासना करते हैं । तात्पर्य यह है कि एक-एककी उपासना कह कर समस्तकी उपासनाका उपदेश गार्ग्यने किया । प्रजापति और बुद्धिमें —हृदयमें —जो एक देवता है; वही ब्रह्म है, पर राजाने कहा कि वह ब्रह्म नहीं है, वह तो आत्मन्वी विराट् पुरुषका गुण है । आत्मन्वीका अर्थ है जितमनाः । वही प्रशस्त भी कहलाता है । प्रशंसामें मतुबर्थ विनि है । आत्मशब्द मनके तात्पर्यसे अनेक श्रुतियोंमें आता है । इस प्रकारकी गुणोपासनाका फल यह है, वह स्वयं उपासक तथा उसकी प्रजा आत्मन्वी होती है । गार्ग्य अपने पक्षका बार बार प्रत्याख्यान देखकर आदर पूर्वक अन्यान्य ब्रह्मका उपदेश देते गये । परन्तु अन्तमें सारे उपदेशका राजाके द्वारा खण्डन होनेपर सिर नीचा कर अज्ञानसे चुप बैठ गये ॥ १३ ॥

'स होवाच' इत्यादि । समस्त और व्यस्तसे अतिरिक्त दूसरे

अध्यात्ममधिदैवं च ब्रह्म स्यात् प्राणदेवता ।
समष्टिव्यष्टिरूपाऽसाविति गार्ग्यस्य निश्चयः ॥ १२ ॥
रव्याद्या व्यष्टयः प्रोक्ताः समष्टिस्तु विराड् भवेत् ।
न मुख्यब्रह्मतैतेषामिति राज्ञो विनिर्णयः ॥ १३ ॥

प्रकारकी ब्रह्मोपदेशकी प्रतिभा गार्ग्यमें न थी। राजा गार्ग्यको चुप बैठा देख कर समझ गये कि अतिरिक्त ब्रह्मोपदेशकी प्रतिभा इसमें नहीं है, शायद सोचकर फिर कुछ कहे, इस शंकाकी निवृत्तिके लिए राजाने पूछा कि बस इतना ही ब्रह्म जानते हो या और भी जानते हो ? गार्ग्यने उत्तर दिया 'एतावन्नू' अर्थात् बस इतना ही जानते हैं।

शङ्का—'एतावन्नू३' यहाँ प्लुत करनेका तात्पर्य क्या है ?

समाधान—गार्ग्यने कहा कि ब्रह्म कहेंगे, पर कह न सका, इसलिए प्रतिज्ञा हानि हुई। प्रतिज्ञाहानि होनेपर प्रश्नके संबन्धमें 'निगृह्यानुयोगे च' इस अनुशासनसे प्लुत होना ही चाहिए; इसलिए उक्त स्थलमें प्लुत किया गया है।

शङ्का—जिस प्रतिज्ञात ब्रह्मको आदित्यादिके रूपमें गार्ग्यने कहा है, वह क्या ब्रह्म नहीं है ? आदित्य भी ब्रह्मकार्य होनेसे कारण ही है, वेदान्तियोंके मतमें कार्य कारणसे भिन्न नहीं माना जाता।

समाधान—जिसके अज्ञात होनेपर जगत् अज्ञात और जिसके ज्ञात होनेपर जगत् ज्ञात होता है; वह पूर्ण ब्रह्म है। आदित्यादि वैसे नहीं हैं, किन्तु उसके एकदेशमात्र हैं। अनावृत स्वतःसिद्ध आत्मवस्तुका वाचक ब्रह्मशब्द मुख्य है। गार्ग्योक्त आदित्यादि ब्रह्म व्यावृत्त है, सर्वानुवृत्त नहीं है।

'अध्यात्म०' इत्यादि। अध्यात्म और अधिदैवत प्राणदेवता ब्रह्म है। अध्यात्म व्यष्टिरूप है और अधिदैव समष्टिरूप है, यह गार्ग्यका निश्चय था; अतएव उसने वैसे ही ब्रह्मका निरूपण राजासे किया; परन्तु राजा अभिज्ञ था, अतः उसने गार्ग्य द्वारा उक्त ब्रह्मका प्रत्याख्यान किया ॥ १२ ॥

'रव्याद्या' इत्यादि। रविप्रभृति व्यष्टि हैं और विराट् समष्टि है, लेकिन ये दोनों मुख्य ब्रह्मशब्दार्थ नहीं हैं, यह राजाका निश्चय था। मुख्य ब्रह्मत्वाभावमें कारण यह है कि वे व्यावृत्त हैं और स्वतःसिद्ध नहीं हैं ॥ १३ ॥

अज्ञाते जगदज्ञातं ज्ञाते ज्ञातं तु यत्र तत् ।
तदेव ब्रह्म पूर्णत्वान्न रव्याद्या अकृत्स्नतः ॥ १४ ॥
अव्यावृत्ताननुगते स्वतःसिद्धात्मवस्तुनि ।
मुख्यार्थो ब्रह्मशब्दोऽतो वेदितव्यं तदेव हि ॥ १५ ॥
प्रतीचि साक्षाद्विज्ञाते ज्ञेयं सर्वं समाप्यते ।
निःशेषतस्तमोध्वस्तेः पुमर्थश्च समाप्यते ॥ १६ ॥
ब्रह्म विद्धि तदेव त्वं न त्विदं यदुपासते ।
इति श्रुतिरुपास्यस्य मुख्यब्रह्मत्ववारिका ॥ १७ ॥

शङ्का--यदि गार्ग्योक्त ब्रह्म मुख्य नहीं है, यों राजाको अभिमत है, तो मुख्य ब्रह्म है कौन ?

समाधान—'अज्ञाते' इत्यादि । इसका अर्थ पूर्वमें कह चुके हैं ॥ १४ ॥

'अव्यावृत्ता०' इत्यादि । देशसे, कालसे और वस्तुसे जिसका परिच्छेद होता है, वह पदार्थ व्यावृत्त कहलाता है और इससे भिन्न अव्यावृत्त है । जन्य-मात्र उक्त त्रिविध परिच्छेदसे विशिष्ट होता है । ब्रह्म उससे विपरीत है, अतः अव्यावृत्त है तथा अननुगत ब्रह्ममें ही घटादि अनुगत आरोपित हैं, ब्रह्म किसीमें अनुगत नहीं है । आदित्यादि स्वतः ब्रह्मानुभावसे सिद्ध होते हैं; ब्रह्म स्वतः सिद्ध है, क्योंकि 'तमेव भान्तमनुभाति सर्वम्' इत्यादि श्रुति इस अर्थमें प्रमाण है । अतः एवंविध अर्थ ही मुख्य ब्रह्म शब्दका अर्थ है; इसलिए वही वेदितव्य है ॥ १५ ॥

शङ्का ब्रह्मके ज्ञात होनेसे जगत् कैसे ज्ञात होता है ?

समाधान—'प्रतीचि' इत्यादि । 'प्रतीपमञ्चतीति प्रत्यग्' जडविलक्षण । अज्ञातका ज्ञान होनेपर सकल संसार ज्ञात हो जाता है ।

शङ्का --ब्रह्मके ज्ञानसे जगत्का ज्ञान कैसे हो सकता है ? आम्रके ज्ञानसे खदिर तो ज्ञात नहीं होता ।

समाधान- जगत् ब्रह्ममें कल्पित है । कल्पनाका मूल अज्ञान है । अधिष्ठान-तत्त्वसाक्षात्कारसे अज्ञान तथा तत्कल्पित पदार्थके निवृत्त होनेसे ज्ञेय ही समाप्त हो जाता है । शुक्तितत्त्वका साक्षात्कार होनेपर फिर रजतकी सत्ता कहाँ रहती है ? अर्थात् कहीं भी नहीं रहती । निःशेष अज्ञानका नाश होनेपर पुरुषार्थ समाप्त हो जाता है याने मोक्षकी प्राप्ति हो जाती है ॥ १६ ॥

'ब्रह्म विद्धि' इत्यादि । उक्त अव्यावृत्त आदि स्वरूपवाला ही ब्रह्म है

तस्मादुपासको गार्ग्यो न मुख्यं ब्रह्म वेत्त्यतः ।
अन्वयव्यतिरेकाभ्यां बोधयामास तं नृपः ॥ १८ ॥

श्रुतिः—नैतावता विदितं भवतीति स होवाच गार्ग्य उप त्वा यानीति ॥ १४ ॥

स होवाचाजातशत्रुः प्रतिलोमं चैतद्यद् ब्राह्मणः क्षत्रियमुपेयाद् ब्रह्म मे वक्ष्यतीति व्येव त्वा ज्ञपयिष्यामीति तं पाणावादायोत्तस्थौ तौ ह पुरुषं सुप्तमाजग्मतुस्तमेतैर्नामभिरामन्त्रयाञ्चक्रे बृहन् पाण्डरवासः सोम राजन्निति स नोत्तस्थौ तं पाणिनाऽऽपेषं बोधयाञ्चकार स होत्तस्थौ ॥ १५ ॥

गार्ग्य द्वारा कहा गया एवं उसके द्वारा उपासित ब्रह्म नहीं है, इसमें श्रुति ही प्रमाण है, उसीको अव्यावृत्तादि स्वरूपवाला ब्रह्म तुम समझो और जिसकी तुम उपासना करते हो, वह अपूर्ण—उसका एकदेशमात्र है— मुख्य ब्रह्म नहीं है ॥ १७ ॥

'तस्माद्' इत्यादि । उपासक गार्ग्य मुख्य ब्रह्म नहीं जानता था; इस कारण अन्वयव्यतिरेक द्वारा राजाने गार्ग्यको मुख्य ब्रह्म समझाया ॥ १८ ॥

'नैतावता' इत्यादि । इतने ज्ञानमात्रसे ब्रह्म नहीं जाना जा सकता और राजा ब्रह्मज्ञानमें निपुण है; अन्यथा इस प्रकार मेरे द्वारा कहे गये अर्थका निराकरण नहीं कर सकते; इसलिए ब्रह्मज्ञानके लिए इनका शिष्य बनूँ, इस अभिप्रायसे गार्ग्यने कहा—'उपयानि त्वा' इत्यादि । ब्रह्मविद्याकी प्राप्तिके लिए मैं आपके समीप शिष्यके समान उपस्थित हूँ, आप मुझको ब्रह्मविद्याका अनुशासन करें ॥१४॥

'स होवाचाजातशत्रुः' इत्यादि । राजा यह सुनकर बोले अनापत्कालमें यह उचित नहीं है—ब्रह्मविद्याके लिए ब्राह्मण क्षत्रियके पास जाय, यह प्रतिलोम (उलटा) आचार है; जो धर्मशास्त्र आदिसे निषिद्ध है । अध्यापन ब्राह्मणका कार्य है, सब वर्णोंको ब्राह्मणसे विद्या सीखनी चाहिए, यह आचार सीधा है । अतएव मनु भगवान्‌ने कहा है कि—

'एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः ।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः ॥' इत्यादि ।

परन्तु यदि आपकी इच्छा है, तो आप आचार्यके समान ही रहिये; हम आपको ब्रह्मविद्याका उपदेश देंगे । इस बातसे गार्ग्यको लज्जित समझकर विश्वासके लिए उसका हाथ पकड़ कर उठ खड़े हुए और गार्ग्य एवं राजा दोनों राजगृहमें सोये हुए पुरुषके पास आये । राजाने उस पुरुषको 'बृहन्' इत्यादि

स्याद्विज्ञानमयो भोक्ता न प्राण इति जागरे ।
विवेको दुःशको यस्मादत्र द्वावपि सुस्थितौ ॥ १९ ॥
यो विज्ञानमयः सुप्तावसावुपरतिं गतः ।
वर्तते पूर्ववत्प्राणो विवेकः सुशकस्तदा ॥ २० ॥
तस्मात् सुषुप्तं पुरुषमामन्त्र्य प्राणनामभिः ।
अप्रबोधादभोक्तृत्वं प्राणस्याऽस्पष्टयन्नृपः ॥ २१ ॥

श्रुत्युक्त वाक्य द्वारा जगानेकी चेष्टा की । परन्तु इस प्रकारके वाक्यसे सोया हुआ पुरुष नहीं जागा । फिर राजाने हाथमें दबाकर उसे जगाया, दबानेसे वह जाग गया, यों श्रुतिका अन्वय है ॥ १८ ॥

'स्याद्विज्ञान०' इत्यादि । विज्ञानमय भोक्ता है; अचेतन प्राण भोक्ता नहीं है, इसका निर्णय जाग्रत्कालमें नहीं हो सकता, क्योंकि उस कालमें अनेक इन्द्रिय-देवता और प्राण आदिकी स्थिति होनेके कारण अमुक ही भोक्ता है, इसका निर्णय करना कठिन है, इसलिए समीपस्थ जाग्रत् पुरुषको छोड़कर राजा सोये हुये पुरुषके पास गार्ग्यको ले गया । सुषुप्ति अवस्थामें प्राण और भोक्ता (आत्मा)—ये दोनों अवस्थित हैं, अर्थात् दो ही अवशिष्ट हैं । देवतासहित इन्द्रियादिका उस समय सान्निध्य नहीं है, कारण कि उनका आत्माश्रित अज्ञानमें लय हो गया है । पुरुष भोक्ता ही है, भोग्य नहीं है, यह काशिराजका मत है; अतः प्राण भोज्य है; भोक्ता नहीं है । प्रबोधमें भोक्ता और भोज्य दोनोंका सांकर्य है, इसलिए भोक्ताका विवेक दुर्घट समझकर राजा सोये हुये पुरुषके पास गार्ग्यको ले गया ॥ १९ ॥

'यो विज्ञान०' इत्यादि । जो विज्ञानमय पुरुष राजाको अभीष्ट है, वह तो सुषुप्तिकालमें उपरत है और जो गार्ग्याभिमत आत्मा प्राण है, वह तो अपने कार्यमें तत्पर ही है । यदि वह वस्तुतः भोक्ता होता, तो उसे पुकारे गये अपने नामका श्रवण अवश्य होता, क्योंकि वह उपरत है नहीं; इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि वह श्रोता नहीं है ॥ २० ॥

'तस्मात्०' इत्यादि । यद्यपि सुषुप्तिकालमें राजाने प्राणका नाम लेकर पुकारा तो भी प्राणको यह बोध नहीं हुआ कि मुझे कोई पुकार रहा है । हो भी कैसे ? वस्तुतः वह तो अन्य करणोंके समान अचेतन है; अतः इस अप्रबोधमें—अज्ञानसे—स्पष्ट ज्ञात होता है कि प्राण भोक्ता नहीं है; जैसा कि गार्ग्यने समझ रक्खा था ॥२१॥

यदि भोक्ता भवेत्प्राणो जाग्रद्वच्छब्दमागतम् ।
अश्रोष्यन्नाऽशृणोत्तस्मान्न स्याद्भोक्तोपलादिवत् ॥ २२ ॥
न विज्ञानमयोऽप्येतदशृणोदिति चेत्तथा ।
अस्त्वश्रवणमेतस्य प्राणमात्रानहङ्कृतेः ॥ २३ ॥
न बुध्यते देवदत्त आहूतोऽङ्गुलिनामभिः ।
तावन्मात्रानहम्मानादेवं प्राणस्य नामभिः ॥ २४ ॥

'यदि भोक्ता' इत्यादि । यदि प्राण भोक्ता होता, तो जाग्रत्कालमें उपस्थित शब्दको जैसे सुनता है, वैसे ही स्वापकालमें भी सुनता, किन्तु उक्त अवस्थामें सुनता नहीं है, अतः उपल (पत्थर) के समान भोक्ता नहीं है । इससे 'विमतो न भोक्ता, स्वनामश्रवणासमर्थत्वात्, पाषाणवत्', यह प्रयोग भी उक्तार्थमें हो सकता है ॥ २२ ॥

शङ्का—**'न विज्ञान०'** इत्यादि । स्वापकालमें जीव भी तो उक्त शब्दको नहीं सुनता, अतः प्राणके समान वह भी आत्मा भोक्ता नहीं हो सकता ।

समाधान—हां, सुषुप्तिकालमें जीव भी नहीं सुनता, यह कहना ठीक है; किन्तु उसका अश्रवण अभोक्तृत्वप्रयुक्त नहीं है, किन्तु वह सकल-शरीरेन्द्रियाभिमानी है, अतः उसके एकदेश प्राणमें उक्त अभिमान न होनेके कारण उस कालमें उसे नामका श्रवण नहीं हुआ ॥ २३ ॥

'न बुध्यते' इत्यादि । जैसे एकदेश हस्त, पाद, अङ्गुली आदि शब्दोंसे आहूत, देवदत्त अपनेको संबोधित नहीं समझता, वैसे ही केवल प्राणमात्रके नामसे जीव अपनेको संबोधित नहीं समझता, क्योंकि वह कार्यकरणसंघाताभिमानी है, केवल प्राणाभिमानी नहीं है । प्राण तो पादादिके समान उसका एकदेशमात्र है । 'बृहन्पाण्डरवासा' इत्यादि शब्द केवल संघातैकदेश प्राणमात्रके वाचक हैं, अतः राजाभिमत भोक्ता नहीं जागा, यह उचित ही है । इस अभिप्रायसे कहते हैं 'तावन्मात्रा०' इत्यादि । प्राणमात्रमें अहमभिमान नहीं है; किन्तु उसके समुदायमें है, अतः केवल प्राणनामसे आहूत होनेपर वस्तुतः अपना सम्बोधन न समझकर जीव नहीं उठता, अतः प्राणसे अतिरिक्त भोक्ता है ।

शङ्का—चन्द्रमा भी तो प्राणका एकदेश है, अतः यह नाम भी हस्त, पाद आदि नामोंके समान एकदेशका ही नाम है । हस्त, पाद आदि नामोंसे जैसे

स्वनामान्यपि नो जीवः सुप्तो वेत्तीति चेत्तदा ।
जीवो नामाऽत्र चिन्मात्रः सोपाधिर्वेति गम्यताम् ॥ २५ ॥
बोधाबोधौ चितेर्न स्तः कूटस्थज्ञप्तिमात्रतः ।
उपाधिलोपात् सोपाधिर्न वेत्तीति तु युज्यते ॥ २६ ॥
श्रोत्रादीनामुपाधीनां सुप्तावुपरतत्वतः ।
यथा जीवो न वेत्त्येवं प्राणोऽपीत्यसदुच्यते ॥ २७ ॥

देवदत्त नहीं उठता, वैसे ही उक्त नामसे प्राण भी नहीं उठता, इससे भोक्तृत्वमें क्या बाधा है ?

समाधान—बाधा यह है कि गोत्व जैसे प्रतिव्यक्ति परिसमाप्त रहता है, वैसे ही प्राणके भी प्रतिव्यक्ति परिसमाप्त होनेके कारण सर्वत्र 'अहम्' यह अभिमान होता है; इसलिए चन्द्रनामसे अज्ञान होना ठीक नहीं है ?

शङ्का—प्राणके समान चिदात्मा भी पूर्ण होनेसे सर्वतादात्म्याभिमानी है, अतः उसमें भी बोध होना ही चाहिए ।

समाधान—ऐसी शङ्का करनेपर प्रश्न यह होता है कि शुद्ध चिन्मात्रमें बोधकी आशङ्का करते हो या विशिष्टमें ? [इसका निराकरण 'बोधाबोधौ' इत्यादिसे करेंगे] ॥ २४ ॥

'स्वनामा०' इत्यादि । जिस आत्माका वस्तुतः देवदत्तादि नाम है, वह सुषुप्ति अवस्थामें जैसे उसे नहीं सुनता, वैसे ही यदि प्राण न सुने, तो भी प्राणके भोक्तृत्वमें क्या क्षति है ? अन्यथा चिदात्मा भी उसके समान भोक्ता नहीं हो सकता । यहाँ जीवको चिन्मात्र अथवा सोपाधिक चैतन्य समझना चाहिए ॥ २५ ॥

'बोधाबोधौ' इत्यादि । पहले जो दो विकल्प किये थे, उनमें से प्रथम पक्षका अङ्गीकार करनेपर शुद्ध चिन्मात्रमें बोध या अबोध (बोधाभाव) कुछ भी नहीं होता, क्योंकि वह कूटस्थ ज्ञानमात्रस्वरूप है; अतएव देवताओंमें जब आत्मत्वाभिमान ही नहीं है, तब देवताबोधक शब्दोंसे अपनेको बोधित कैसे मान सकता है ? अतः शुद्धमें बोध और बोधाभाव कुछ भी नहीं हो सकता; अन्यथा कूटस्थत्व ही व्याहत हो जायगा । द्वितीय पक्षमें उपाधिके लोपसे सोपाधिक बोद्धा ही जब नहीं रहेगा, तब बोधाभाव समुचित ही है । उपाधिशब्दसे यहां इन्द्रियां विवक्षित हैं ॥ २६ ॥

शङ्का—'श्रोत्रादी०' इत्यादि । यदि श्रोत्र आदि करणोंके व्यापारके अभावसे

नेन्द्रियाणां भवेत्स्वापो यदि प्राणप्रधानता ।
नाऽमात्याः शेरते यस्माद्राज्ञि स्वामिनि जाग्रति ॥ २८ ॥
स्वापः प्राणस्य नाऽऽशङ्क्यो यतः स्वप्नसुषुप्तयोः ।
कुर्वाणस्तुमुलं शब्दं प्राण आस्ते प्रबोधवत् ॥ २९ ॥

जीव नहीं सुनता, यह कहा जाय, तो उसके समान प्राण भी नहीं सुन सकता, यह समाधान गार्ग्यके मतमें भी हो सकता है ।

समाधान—यह समाधान उक्त मतमें नहीं हो सकता; इसमें कारण अग्रिम श्लोकसे कहेंगे ॥ २७ ॥

'नेन्द्रियाणाम्' इत्यादि । प्राण भोक्ता है, इस प्रकारके गार्ग्यके पक्षमें भी अपने नामका अश्रवण सुषुप्ति अवस्थामें अनुपपन्न ही है, कारण कि जैसे राजाके पक्षमें प्राणसे अन्य जीव यद्यपि भोक्ता है, तो भी पूर्ण उसके नामसे पुकारनेपर वह सुनता नहीं है, इस कारण आप कहते हैं कि जीव सो गया है । स्वापके समय उपकरण इन्द्रियाँ भी सो जाती हैं अर्थात् स्वकारणमें लीन हो जाती हैं, इसलिए जीव नहीं सुनता; वैसे ही उक्त अवस्थामें प्राण भी सो जाता है; इसलिए शब्दका श्रवण नहीं होता है; यह युक्ति दोनोंके मतमें समान है; फिर कैसे राजाका पक्ष अनुकूल मानते हैं ।

समाधान—यदि प्राणको ही प्रधान भोक्ता मानते हैं, तो इन्द्रियोंकी सुषुप्ति लयात्मक हो ही नहीं सकती, कारण कि लोकमें जैसे स्वामीके जागते रहनेपर उसके मन्त्री प्रभृति सेवक नहीं सोते, जागते ही रहते हैं; वैसे ही प्राणके जागते समय इन्द्रियां कैसे सो सकती हैं ? अतः जीवके समान प्राण भी सो जाता है; यह कथन तो सर्वथा अनुभवविरुद्ध है ॥ २८ ॥

'स्वापः' इत्यादि । प्राण भी सो जाता है, यह शङ्का तो हो ही नहीं सकती, क्योंकि स्वप्न और सुषुप्ति अवस्थामें प्राणका शब्द जाग्रत् अवस्थासे भी अधिक होता है; इसलिए प्रबोध (जाग्रत्) अवस्थाके समान निद्रा अवस्थामें भी प्राण जागता ही रहता है । 'प्राणेन रक्षन्नवरं कुलायम्', 'अपानस्तागिना देवता' इत्यादि श्रुतियोंसे भी यही ज्ञान होता है कि प्राण रात्रि दिन अपनी क्रियामें रत रहता है —प्राण सदा अश्रान्त होकर जागता ही रहता है । इसलिए यदि प्राण ही भोक्ता माना जायगा; तो जाग्रत् अवस्थाके समान उक्तावस्थामें भी श्रवण होना चाहिए, पर होता नहीं; इसलिए उससे अतिरिक्त ही आत्मा मानना ठीक है ॥२९॥

तस्मादभोक्तृतैवाऽस्य स्वनामाप्रतिबोधने ।
हेतुर्वाच्यस्तथा प्राणदेवताया अभोक्तृता ॥ ३० ॥
देवताप्रतिषेधार्थं बोध्यते चन्द्रनामभिः ।
तदबोधादभोक्तृत्वं देवतायाः सुनिश्चितम् ॥ ३१ ॥

'तस्माद०' इत्यादि। सुषुप्तिकालमें अपने नामका जो बोध नहीं होता, उसमें कारण प्राणका अभोक्तृत्व ही कहना होगा, दूसरे किसीको भी कारण नहीं कहना होगा ।

शङ्का---अच्छा, प्राण अचेतन है, इसलिए भले ही वह भोक्ता न हो, परन्तु उसका अधिष्ठातृ देवता चेतन है, इसलिए वही भोक्ता हो ।

समाधान नहीं, यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि देवता भी भोक्ता नहीं है । इसे समझानेके लिए ही देवताके नामसे राजाने पुकारा ।

शङ्का अच्छा तो प्राणके नामसे संबोधन ही नहीं हुआ, इसलिए अप्रति-पत्ति (अबोध) उचित ही है, फिर प्राणके भोक्तृत्वमें क्या आपत्ति है ?

समाधान आपत्ति यह है कि 'बृहन्' इत्यादि राजोक्त नाम प्राण और उसके देवता दोनोंका साधारण है, अतः दोनोंका या दोनोंमें से किसीका बोध होना चाहिए; पर हुआ किसीका नहीं, इसलिए यह स्वभावतः निश्चय होता है कि ये दोनों भोक्ता नहीं हैं ।

शङ्का उभयसाधारण कैसे है ?

समाधान -'प्राणस्यापः शरीरं ज्योतीरूपमसौ चन्द्रमाः' इत्यादि श्रुतिमें चन्द्र और प्राणको एक ही कहा है, इसलिए चन्द्र ही प्राणका नाम है, यह सिद्ध होता है ।

शङ्का --चन्द्रदेवताको इस शब्दमें शक्तिग्रह नहीं था अर्थात् उसको यह ज्ञान न था कि यह शब्द मेरा वाचक है; इसलिए प्रबोध न हुआ, यह भी कल्पना कर सकते हैं; फिर इसमें क्या प्रमाण कि वह भोक्ता नहीं है ?

समाधान देवता सर्वज्ञ माना जाता है; इसलिए उसके विषयमें ऐसी कल्पना करना अनुचित है ॥ ३० ॥

'देवता०' इत्यादि । उक्तार्थको स्पष्ट करनेके लिए कहते हैं --चन्द्र-नामसे संबोधन करनेका तात्पर्य यही है कि प्राणके समान चन्द्र देवता भी

प्राणस्याऽभोक्तृतां गार्ग्यो व्यबुध्येत ततो नृपः ।
विज्ञानमयबोधाय चक्रे यत्नमुपायतः ॥ ३२ ॥
आपिष्याऽऽपिष्य बहुशः सुप्तं राजा व्यबोधयत् ।
आपेषणोत्थसङ्क्षोभात् ततोऽसौ प्रत्यबुध्यत ॥ ३३ ॥
आपेषाल्लीनबुध्यादिसमुत्पत्तौ परात्मनः ।
घटाकाशवदुत्पत्तिर्या प्रबोधोऽयमिष्यते ॥ ३४ ॥

भोक्ता नहीं है; अन्यथा उक्त नामसे देवताका बोध अवश्य होता; किन्तु हुआ नहीं, इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि ये दोनों प्राण तथा देवता भोक्ता नहीं हैं। बोधाभावसे ही देव भी भोक्ता नहीं है, यह स्पष्ट निश्चित होता है, अन्यथा अग्नि दाह्य तृणादिको जैसे अवश्य भस्म करती है; वैसे ही बोद्धाको बोद्धव्यका अवश्य बोध होना चाहिए, पर उक्त अवस्थामें बोध नहीं होता, अतः यही निश्चय होता है कि बोद्धा उस समयमें जागता नहीं है। जो जागता है, वह बोद्धा नहीं है, प्राण ही जागता है, क्योंकि उसमें क्रिया हो रही है; परन्तु उस कालमें उसे बोध नहीं होता, इसलिए निश्चय होता है कि वह बोद्धा नहीं है ॥ ३१ ॥

'प्राणस्या०' इत्यादि। गार्ग्य प्राणको अभोक्ता समझे, इस तात्पर्यसे राजाने विज्ञानमय आत्मा भोक्ता है, इस ज्ञानके लिए पाणिपेषणादि द्वारा प्रयत्न किया अर्थात् हाथसे दबाकर सुप्तको जगाया ॥ ३२ ॥

'आपिष्या०' इत्यादि। राजाने सोये हुए पुरुषको हाथसे दबा-दबा कर जगाया; दबानेसे जो संक्षोभ याने प्रतिकूल वेदना हुई, उससे पुरुष प्रबुद्ध हुआ—जाग गया ॥ ३३ ॥

'आपेषा०' इत्यादि।

शङ्का—उठना और जागना प्रकृतमें क्या हैं?

समाधान—सुषुप्तिसे अपने स्वरूपका परिज्ञान ही उठना और जागना है।

शङ्का—परिज्ञान तो आत्मस्वरूप ही है, अतिरिक्त नहीं है, फिर वह पाणिपेषणजन्य कैसे हुआ?

समाधान--इसका जवाब 'आक्षेपाद्' इत्यादि उत्तर ग्रन्थमें स्वयं ग्रन्थकार देंगे। पर शरीर, इन्द्रिय आदिसे भिन्न जो आत्मा है, उसमें स्वापावस्थामें आत्मामें लीन जो बुद्धि आदि हैं, उनकी जाग्रत् अवस्थाके पाणिपेषणादि कर्म द्वारा जो उत्पत्ति है; वही आत्मप्रबोध हुआ, ऐसा व्यवहार होता है। जैसे घटकी

अत आपेषणाद्योऽसावुत्थितः करणैः सह ।
राजेव सचिवैः सार्द्धं स भोक्तेत्यवसीयताम् ॥ ३५ ॥
क्रोधहर्षभयोद्वेगज्ञानधर्मैर्विशेषयन् ।
शरीरं यः समुत्तस्थौ स भोक्तेत्यवसीयताम् ॥ ३६ ॥
मृतकल्पमिमं देहं स्वचिताऽऽवेशयन्निव ।
ज्वलन्निव समुत्तस्थौ यः स भोक्तेति गम्यताम् ॥ ३७ ॥

उत्पत्ति होनेपर उसके आकाशमें उत्पत्तिका केवल व्यवहार होता है, वैसे ही प्रकृत स्वापावस्थामें बुद्धि आदि आत्मामें लीन हो जाते हैं, अतएव तदवच्छेदसे प्रकाश भी नहीं रहता; पुनः आत्मासे बुद्ध्यादिके उत्पन्न होनेपर तदवच्छेदेन प्रकाश होता है; वही प्रबोध, उत्थान आदि शब्दोंसे कहा जाता है। प्रबोधकी वस्तुतः उत्पत्ति विवक्षित नहीं है।

'अत' इत्यादि। इस आपेषणसे अर्थात् हाथके दबानेसे इन्द्रियोंके साथ जो पुरुष उठा उसीको भोक्ता और शरीरादिका स्वामी समझो। जैसे राजा अपने मन्त्रियोंके साथ कहीं जाता तथा आता है; उसी प्रकार विज्ञानात्मा जब शयनके लिए अपने नियत स्थान पुरीति आदि नाडीमें प्रवेश करता है, तब मनरूप इन्द्रिय प्रधान- -सचिव —है और अन्य इन्द्रियाँ सेवकके समान हैं। वे भी सब विश्राम करनेके लिए अपने नियत स्थानमें प्रवेश करती हैं। समयपर अपने अपने कार्य करनेके लिए आ जाते हैं। आवश्यकतानुसार नियत समयके पूर्वमें ही यदि राजा आता है, तो उक्त सचिव आदि सभी उसी समयमें उपस्थित हो जाते हैं, वस्तुतः इनका प्रधान कर्म तो राजसेवा ही है, फिर भी राजा इनके आरामका भी ध्यान रखता ही है। यहाँसे लेकर तीन श्लोक वार्तिकके हैं; केवल पाठक्रम भिन्न है ॥ ३५ ॥

'क्रोधहर्ष०' इत्यादि। क्रोध, हर्ष, भय, उद्वेग, ज्ञान, धर्म आदिसे शरीरको प्रबुद्ध करता हुआ जो उठा है; वही भोक्ता है, यह निश्चय समझो। भोक्ताकी अनुपस्थितिमें शरीरादिमें कितना भी अपकार किया जाय, तो भी शरीरादिमें क्रोधादि लक्षित नहीं होते। पर विज्ञानमयके आते ही यथा अवसर उक्त भाव पूर्णरूपसे दृष्टिगोचर होने लगते हैं, इसलिए ये सब भाव भोक्तासे ही शरीरमें आते हैं ॥ ३६ ॥

'मृत०' इत्यादि। सुषुप्तिकालमें स्वामीकी अनुपस्थिति दशामें यह शरीर मृतके

देह एवाऽस्तु भोक्तेति न वक्तव्यं जडत्वतः ।
स्पर्शपेषणवैषम्यादप्यभोक्तृ भवेद्वपुः ॥ ३८ ॥

सदृश रहता है, यद्यपि मृत शरीरमें प्राणका संचार नहीं रहता और इसमें प्राणका संचार है; तथापि पूर्वोक्त क्रोधादि भावोंका अभाव दोनोंमें समान ही है; अतएव मृत न कहकर मृतसदृश कहा। तथाभूत इस शरीरमें स्वकीय चैतन्यका प्रवेश कर शरीरको भी चेतन करता हुआ जो उठता है; वही भोक्ता है, यह दृढ़ निश्चय करो। यदि विज्ञानमयका स्फुरण शरीरादिमें प्रविष्ट न हो; तो उनका स्फुरण ही नहीं हो सकता ॥ ३७ ॥

शङ्का—'देह' इत्यादि। यदि प्राणादि पूर्वोक्त रीतिसे भोक्ता नहीं हो सकते, तो प्रत्यक्षसिद्ध स्थूल देहको ही भोक्ता मानो।

समाधान—ऐसा मत कहिये; शरीर तो जड़ है। चेतन भोक्ता माना जाता है, जड़ शरीर नहीं; क्योंकि ओदन, कम्बलादिके समान जड़ शरीर भोग्य है; अतः भोक्ता इससे अतिरिक्त ही होना चाहिए।

शङ्का—केवल शरीर भले ही भोक्ता न हो; किन्तु चिद्विशिष्ट (चैतन्यसे युक्त) शरीरको भोक्ता माननेमें क्या आपत्ति है?

समाधान—चिद्विशिष्ट शरीर तो प्रत्यक्षसिद्ध नहीं है, कारण कि चितके प्रत्यक्षके बिना चिद्विशिष्टका प्रत्यक्ष कैसे हो सकता है? विशिष्टके प्रत्यक्षमें विशेषणका प्रत्यक्ष कारण होता है; दण्डप्रत्यक्षके बिना दण्डी पुरुषका प्रत्यक्ष कहां होता है? दूसरी बात यह है कि चिद्विशिष्टकी उपलब्धि किसको होती है? शरीरको या अन्यको? प्रथम पक्ष ठीक नहीं है, क्योंकि शरीर ही ज्ञेय है और शरीर ही ज्ञाता, यह तो हो नहीं सकता। एक क्रियानिरूपित कर्तृत्व और कर्मत्व एकमें विरुद्ध है, इसीसे अपने कन्धेपर कोई चढ़ नहीं सकता। द्वितीय पक्षमें दूसरा ज्ञाता मानना पड़ेगा जो आप चाहते नहीं, फिर उसमें प्रमाण क्या? ज्ञाता स्वयंसिद्ध है, इसलिए उसमें प्रमाणकी आवश्यकता नहीं है, अन्यथा अनवस्था होगी। ठीक है, तो वही स्वयंप्रकाश चिदात्मा है, वही भोक्ता है और वही हमारा सिद्धान्त है, उसीको मानिये। शरीर जड़ है, भोक्ता नहीं है, अतएव वह आत्मा भी नहीं है, 'चितोऽन्यः आत्मा न, अस्वप्रकाशत्वात, घटवत्' यह अनुमान भी उक्त अर्थमें प्रमाण है। और यह भी दोष है कि चित्सम्बन्ध जो शरीरमें है, सो भी ज्ञेय होगा। संबन्धज्ञानके बिना विशिष्टज्ञान नहीं हो सकता, इसलिए

संबन्धके ज्ञानके लिए भी चित्का ज्ञान आवश्यक है, क्योंकि संबन्धीके ज्ञानके बिना संबन्धका ज्ञान नहीं होता, यह सबका सिद्धान्त है। इस परिस्थितिमें चित्का ज्ञान अन्य चित्से मानोगे या जड़से? प्रथम पक्षमें अन्य चित् ही अप्रसिद्ध है; अन्यथा अनवस्थादि दोषोंकी प्रसक्ति होगी। द्वितीय पक्ष सर्वथा असंगत ही है, क्योंकि जड़ घटादिके समान प्रमाता हो ही नहीं सकता। किञ्च, चिद्विशिष्ट-देह-कर्तृक प्रत्यक्ष ही आपके मतमें प्रमाण है; अनुमानादि नहीं, अतः देहसे जायमान प्रत्यक्ष रूपादि और उनके आधार द्रव्य—दोनोंमें प्रमाण है, तदतिरिक्त चैतन्यांशमें नहीं।

एवं बाल्य, यौवन और वार्द्धक्य आदि अवस्थाओंमें अवयवोंके उपचय तथा अपचयसे शरीर भिन्न भिन्न होते हैं। ऐसी अवस्थामें बाल्यावस्थामें दृष्ट वस्तुओंका वृद्धावस्थामें स्मरण भी नहीं होगा, क्योंकि अनुभव और स्मरणमें सामानाधिकरण्यका नियम है। अतएव अन्य पुरुष द्वारा दृष्ट वस्तुका अन्य पुरुषको स्मरण नहीं होता। किञ्च, चार्वाक जो यह कहते हैं कि प्रत्यक्ष ही प्रमाण है, अनुमानादि नहीं; सो भी ठीक नहीं है, क्योंकि सन्दिग्ध, अज्ञानी या विपर्यस्त जो प्रश्न करता है, उस प्रश्नके वाक्यसे प्रष्टामें अज्ञान, संशय और विपर्यासका अनुमान कर उनका निराकरण करनेके लिए समुचित शब्दका प्रयोग वे करते हैं। अन्यथा परके अज्ञान आदिका परको प्रत्यक्ष न हो सकनेसे समझे बिना उनके निराकरणमें उपयोगी वाक्यका प्रयोग कैसे कर सकेंगे? जो कुछ कहनेसे वक्ता वस्तुतः वक्ता नहीं कहलाता और स्वकीय ग्रन्थकी रचनामें प्रवृत्ति भी नहीं बन सकती, क्योंकि ग्रन्थ तो परार्थ है, स्वार्थ नहीं है। परको जब यह समझा चुके हैं कि प्रत्यक्षसे अतिरिक्त प्रमाण नहीं है, तब ग्रन्थ भी तो प्रत्यक्षसे अतिरिक्त ही है, अतः इसको भी श्रोता अप्रमाण-सा ही मानेगा। अप्रमाणसे वस्तुकी सिद्धि नहीं होती, फिर ग्रन्थ व्यर्थ है। और परकीय पक्षका खण्डन भी नहीं हो सकता। यदि खण्डन-परक आपका वाक्य प्रमाण है, तो उक्त प्रतिज्ञा असंगत होगी। अगर अप्रमाण है, तो अप्रमाणसे साधन और बाधन हो ही नहीं सकते, फिर उनके लिए प्रवृत्ति ही व्यर्थ है। और यह भी समझना चाहिए कि जैसे पर-वाक्यसे हमको ज्ञान होता है, वैसे ही हमारे वाक्यसे परको भी ज्ञान होता है; यह ज्ञान अनुमानात्मक ही है, प्रत्यक्ष नहीं है। और इसको अप्रमाण भी नहीं कह सकते, क्योंकि व्यभिचारी अप्रमाण कहलाता है, अव्यभिचारी नहीं। आपका शास्त्र तथा उपदेश लोकके हितके लिए नहीं है, प्रत्युत अहितका ही साधक है; क्योंकि आपके शास्त्रके अनुसार

स्वर्ग, अपवर्ग आदि पदार्थ ही नहीं हैं। आत्माके उपभोगके लिए स्वर्गादि माने जाते हैं, देहातिरिक्त आत्मा नहीं है और देह इसी लोकमें क्रमशः पाँच भूतोंमें मिल जाता है; अतएव आपका यह भी उपदेश है--

'यावज्जीवेत् सुखं जीवेदृणं कृत्वा घृतं पिबेत्।
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः॥'

ऐसी शिक्षा मिलनेपर किस पुरुषको भिक्षा देनेमें उत्साह होगा? दाता इसी इच्छासे देता है कि इसका परलोक या जन्मान्तरमें फल अवश्य मिलेगा। यदि शरीर ही आत्मा है, तो परलोक और जन्मान्तर कहाँ? फिर किस अभिप्रायसे कोई कुछ देगा? इस प्रकार दान लुप्त हो जायगा। याग-होम तो लुप्त ही समझिये। वे तो देवताओंके लिए किये जाते हैं। देवताओंका प्रत्यक्ष न होनेसे अभाव ही सिद्ध होता है। एवं क्रमसे दान आदि तीनों धर्मसाधनोंका लोप होनेसे लोग नास्तिक और नरकगामी होंगे। इस प्रकार धर्मानुष्ठानके अभावसे लोकापकारका दिग्दर्शन कराकर साक्षात् अधर्मानुष्ठान द्वारा भी लोकका अहित होगा, यह कहते हैं—परकीय हिंसा और परकीयस्वत्वके अपहरण आदिसे अधर्म होता है। अधर्मसे लोकान्तर या जन्मान्तरमें अधिक दुःख होता है, इस धारणासे सत्पुरुषोंकी प्रवृत्ति निषिद्ध कर्मोंमें नहीं होती; यह सर्वानुभवसिद्ध है। यदि यह सिद्धान्त मान लिया जाय कि प्रत्यक्षका अविषय पदार्थ प्रामाणिक नहीं है, तो उसका फल भी प्रत्यक्षाविषय होनेसे अप्रामाणिक होगा, इसलिए उसके साधनोंमें द्वेष न होनेसे निवृत्ति नहीं होगी। प्रत्युत दृष्टफलके अनुसार लोककी उसमें प्रवृत्ति होगी, अतः उसके द्वारा भी संसारका अहित ही होगा। दूसरी बात यह है कि कृतहान और अकृताभ्युपगमकी प्रसक्ति भी इस मतमें है। यह तो प्रत्यक्ष ही देखते हैं कि कोई बड़े संपन्न घरमें उत्पन्न होता है और कोई दरिद्र घरमें, कोई सर्वाङ्ग सुन्दर, कोई विकलाङ्ग, कोई कुरूप, कोई पूर्णायु और कोई अल्पायु, कोई संपन्न कुलमें उत्पन्न होकर पश्चात् दरिद्र हो जाता है, कोई दरिद्र कुलमें उत्पन्न होकर भी सपन्न कुलमें चला जाता है अथवा स्वयं संपन्न हो जाता है, कोई सम्पन्न होनेपर रोगवश उपभोगसे वञ्चित रहता है और कोई परकीय सुखसाधनोंसे विशिष्ट सुखका भोगी होता है। यह जगद्वैचित्र्य निर्निमित्तक नहीं है। इसमें जन्मान्तरीय अदृष्ट प्रधान कारण है। जातमात्र बालकने तो अभी कुछ पुण्य या पाप किया नहीं, करनेकी सामग्री ही नहीं है, फिर उक्त वैलक्षण्यमें क्या हेतु है? समर्थ होनेपर भी पूर्वादृष्टके बिना वर्तमान

ईषत्स्पर्शादबुद्धोऽपि पेषणेन विबुध्यते ।
एतच्च देहादन्यस्य युक्तं सम्बन्धभेदतः ॥ ३९ ॥

जन्ममें केवल पुरुषार्थसे अभीष्टकी सिद्धि नहीं होती। इसलिए जन्मान्तरीय अदृष्ट आवश्यक है। उसका संबन्ध अनेक शरीरानुवृत्त आत्माके बिना नहीं हो सकता; अतएव श्रीभगवद्गीतामें लिखा है—

'अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम् ।'
'शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते ॥'
'बहूनां जन्मनामन्ते' इत्यादि ।

एवं पापानुष्ठानके अनन्तर मृत्यु होनेपर अभुक्त ही पापका क्षय मानना पड़ेगा।

'अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम् ।
नाऽभुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि ॥'
'ममैव जन्मान्तरपातकानाम् ।'

इत्यादि वचनोंसे यह प्रतीत होता है कि अभुक्त कर्मोंका क्षय नहीं होता, इसलिए चार्वाकका मत सर्वथा असंगत और उपपत्तिशून्य है। इसका निर्माण केवल आसुरी वृत्तिके लिए है, जो अत्यन्त हेय है। इस प्रकार संक्षेपसे यहाँ चार्वाक-मतका निराकरण किया गया है, परन्तु विस्तार अन्यत्र देखना चाहिए। देह आत्मा नहीं है; इसमें अन्य हेतु भी कहते हैं—'स्पर्श०' इत्यादिसे। स्पर्शसे पेषणमें वैषम्य है, जिसे आगे श्लोकमें कहेंगे। प्रकृतमें स्पर्श और पेषणके वैषम्यसे भी जाना जाता है कि देह भोक्ता नहीं है; अन्यथा स्पर्श और पेषणका वैषम्य ही दुर्वच हो जायगा ॥ ३८ ॥

'ईषत्स्पर्शा०' इत्यादि। थोड़े स्पर्शसे न जागनेपर भी पेषणसे (दबानेसे) पुरुष जागता है, यह अनुभव देहसे अन्य विज्ञानात्माको भोक्ता माननेपर संबन्ध-भेदसे उपपन्न होता है। यदि संघातमात्र देहको भोक्ता मानो, तो स्पर्श और पेषणमें कोई विशेष भेद नहीं हो सकेगा। इससे स्पर्शसे शरीरमें बोध न होनेपर दाबनेसे भी क्या होगा, क्योंकि वह भी स्पर्शके समान शरीरमात्रवृत्ति ही धर्म है।

शङ्का—शरीरातिरिक्त आत्मा माननेपर भी पेषणके बिना भी तो स्वयं उठता ही है फिर पेषणसे क्या प्रयोजन?

समाधान— पेषण ही समुत्थानका कारण है, यह बात नहीं है, किन्तु पेषण

देहादन्यस्य देहेऽस्मिन्सम्बन्धः कर्मभिः कृतः ।
अभिमानात्मकः सोऽपि कर्मभेदादनेकधा ॥ ४० ॥
तीव्राभिमानवेलायामीषत्स्पर्शेन बुध्यते ।
अन्यचित्तत्ववेलायां दृढस्पर्शमपेक्षते ॥ ४१ ॥
स्वप्नान्पश्यन्प्रबोधाय पाणिपेषमपेक्षते ।
सुषुप्तः पेषणाभ्यासाद् बुध्यते ह्युचितं हि तत् ॥ ४२ ॥

भी जागनेका कारण है, यही कहना है। अब यह विचारना है कि स्पर्श और पेषणमें क्या भेद है, जो स्पर्शसे न उठनेपर पेषणसे उठता ही है। इसका विचार आगेके श्लोकसे करेंगे। उसीसे यह भी स्पष्ट हो जायगा कि देह भोक्ता नहीं है, किन्तु उससे अन्य ही भोक्ता है ॥ ३९ ॥

'देहादन्यस्य' इत्यादि। देहसे भिन्नका इस देहमें जो संबन्ध है; वह कर्मोंसे हुआ है। संबन्ध अभिमानात्मक है; यह मेरा शरीर है, ऐसा जबतक आत्माको अभिमान रहता है, तबतक उस शरीरसे उस आत्माको सुख, दुःख आदि होते हैं, सुषुप्त्यादि अवस्थामें वह अभिमान नहीं रहता; इसलिए उस अवस्थामें शरीरके सुख, दुःखोंका सम्बन्ध भी आत्मामें नहीं रहता। अभिमान कर्मकृत है ॥ ४० ॥

'तीव्राभिमान' इत्यादि। तीव्र शरीराभिमानके समय थोड़े स्पर्शसे जीव प्रबुद्ध हो जाता है, अन्यचित्तत्वकालमें अर्थात् सुषुप्त्यादि समयमें उक्त सम्बन्ध नहीं रहता। मनका आत्माके साथ सम्बन्ध ही नहीं है, मनका स्वकारणमें लय हो जाता है; इसलिए थोड़े स्पर्शमात्रसे सुषुप्त नहीं जागता, क्योंकि स्पर्श बोद्धा तक नहीं पहुँचा, इसलिए दृढ़ स्पर्शकी—पेषणकी—आवश्यकता होती है। पेषणसे अधिक वेदना होती है। सुषुप्तिसुखहेतु अदृष्टसे समुत्थानहेतुके प्रबल होनेसे सुषुप्त पुरुषका समुत्थान होता है। समुत्थानके हेतु सुख, दुःख और संबुद्धि प्रभृति माने जाते हैं। उनके हेतु दृष्टादृष्टरूप धर्मादि हैं; उनके न्यूनाधिकभावसे उनकी वेदना भी भिन्न होती है। यही वेदनाभेद उसके प्रबोधका मूल कारण है ॥ ४१ ॥

उक्त तीव्रातीव्राभिमानभेदका प्रकृतमें उपयोग कहते हैं—**'स्वप्नात्'** इत्यादिसे।

स्वप्न देखते हुए पुरुषको जगानेके लिए केवल हाथके स्पर्शकी अपेक्षा होती है, क्योंकि उस समय इस स्थूल शरीरके साथ मनका

देहस्य भोक्तृतायां तु कस्य कुत्राऽभिमानिता ।
ततो बोधस्य वैषम्यं किंकृतं स्पर्शपेषयोः ॥ ४३ ॥
करणानामभोक्तृत्वं प्रत्येकं स्मृत्यसम्भवात् ।
चक्षुर्दृष्टं नहि स्मर्तुमन्येषां शक्तिरिष्यते ॥ ४४ ॥

सम्बन्ध नहीं है। उस समय स्पर्शमात्रसे स्थूल शरीरके साथ मनका सम्बन्ध हो जानेके कारण उसके द्वारा शरीरके साथ आत्माका भी उक्त सम्बन्ध हो जाता है, इसलिए स्पर्शमात्रकी अपेक्षा है। और सुषुप्तके प्रबोधके लिए दृढ़ स्पर्शकी अपेक्षा होती है, इसलिए असकृत् पेषण अर्थात् पेषणाभ्यास जो करते हैं, वह उचित ही है। सुषुप्त स्थानसे मन आकर जब स्वोचित स्थानमें स्थित होता है, तभी प्रबोध होता है, अन्यथा नहीं होता ॥ ४२ ॥

'**देहस्य**' इत्यादि। यदि देहमें भोक्तृत्व मानोगे, तो किसका किसमें अभिमान कहोगे? देहका देहमें अभिमान तो असम्भव ही है, क्योंकि एक तो देह अचेतन है और अभिमान चेतनधर्म है; अतः अचेतनमें अभिमान हो नहीं सकता और दूसरे दूसरेमें दूसरेको अभिमान होता है, अपनेमें नहीं होता। इसलिए देहसे अतिरिक्त ही भोक्ता है, देह नहीं है, इस तात्पर्यसे कहते हैं कि स्पर्श और पेषणके बोधमें वैषम्यका क्या कारण है॥ ४३ ॥

'**करणानाम्**' इत्यादि। चक्षु आदि प्रत्येक इन्द्रियां भी भोक्ता नहीं हो सकतीं; अन्यथा चक्षु आदिसे अनुभूत पदार्थका चक्षुरादिकी विगम-दशामें स्मरण नहीं होगा; क्योंकि उस समय अनुभविता नहीं है। पर चक्षु आदिकी विगम-दशामें भी पूर्वदृष्ट पदार्थका स्मरण होता है, यह सर्वानुभवसिद्ध है।

शङ्का—इन्द्रियान्तरसे स्मरण हो सकता है?

समाधान—कभी नहीं, अन्यथा देवदत्त द्वारा देखे गये पदार्थका स्मरण यज्ञदत्तको भी हो जायगा; पर ऐसा होता नहीं, इसलिए जिसको अनुभव होता है, उसीको स्मरण होता है; यह नियम सर्वमतसिद्ध है। केवल चक्षुरादि-नाश-दशामें ही उक्त आपत्ति है, यह नहीं, किन्तु उसकी सत्त्वदशामें 'योऽहं चक्षुषाऽद्राक्षं सोऽहमिदानीं स्पृशामि' यह अनुसन्धान भी नहीं बन सकता, कारण कि दर्शन चक्षुमें है, स्पर्शन त्वगिन्द्रियमें है। दोनों ज्ञान एक अधिकरणमें हैं नहीं, जहां जिसको देवदत्तने देखा ही और मैत्रने स्पर्श ही किया वहां तो

सङ्घातस्य परार्थत्वादभोक्तृत्वं गृहादिवत् ।
स्याद्विज्ञानमयो भोक्ता प्रोक्तदोषविवर्जनात् ॥ ४५ ॥

दोनोंमें से किसीको भी उक्त प्रत्यभिज्ञा नहीं होती, क्योंकि सामानाधिकरण्याभावरूप कारण स्पष्ट है । एवं प्रकृतमें भी उक्त अनुसन्धानकी अनुपपत्ति होगी और एक शरीरमें अनेक चैतन्योंकी आपत्ति भी होगी, क्योंकि चक्षु ही आत्मा है, श्रोत्रादि नहीं; इसमें कुछ विनिगमक हो नहीं सकता । अनेक चेतन होंगे तो अनेकेन्द्रियजन्य ज्ञान एक समयमें होने लगेंगे । तथा सुषुप्ति भी नहीं हो सकेगी । सब सदा एक मत ही रहेंगे, इसमें किसी नियामकके न होनेसे कोई देखना चाहेगी तो कोई सुनना चाहेगी ऐसी दशामें क्या होगा ? सकल विशेष ज्ञानोंके उपरमके बिना सुषुप्ति ही असंभव है । और इन्द्रियोंको अतीन्द्रिय मानते हैं, इसलिए ज्ञानादिका प्रत्यक्ष भी नहीं हो सकेगा । प्रत्यक्षमें महत्त्वको कारण मानते हैं; तथा ज्ञान-क्रिया सकरणिका, क्रियात्वात् , छिदादिक्रियावत् इस अनुमानसे ज्ञान-क्रियामें करण मानना आवश्यक है । चक्षुरादि करण यदि उक्त क्रियाके कर्ता होंगे, तो करणान्तर मानना आवश्यक होगा । ऐसी अवस्थामें लाघवके बदले गौरव ही इस पक्षमें है । एक अतिरिक्त आत्मा माननेसे पूर्वोक्त सकल दोषोंकी निवृत्ति अनायाससे हो जाती है, सो न मानकर अनेक इन्द्रियां और अनेक आत्मा मानना अनुचित है ॥ ४४ ॥

एकएक इन्द्रियमें भोक्तृत्वका निरास कर उनके समुदायमें भोक्तृत्वका निरास करते हैं—**'संघातस्य'** इत्यादिसे ।

'संघातः परार्थः, संघातत्वात् , गृहादिवत्', इस अनुमानसे यह निश्चित होता है कि जो संघात है, वह परार्थ होता है; जैसे अनेक पत्थर, काष्ठ आदिके समुदायसे निर्मित गृह स्वार्थ नहीं है, किन्तु परार्थ है अर्थात् काष्ठादिसे भिन्न उसके स्वामी देवदत्तादिके लिए है, वैसे ही इन्द्रियादिसमुदाय एक पुरुषार्थसाधनोद्देश्यसे संहन्यमान स्वेतर आत्मार्थ है; स्वार्थ नहीं है । यदि संघातस्वरूप आत्मा मानियेगा, तो तदर्थ होनेसे स्वार्थ ही होगा, इस परिस्थितिमें उक्तानुमानसे विरोध हटाना कठिन होगा ।

शङ्का—उक्त अनुमानसे जो अन्य सिद्ध होगा, वह भी तो संघातात्मक ही होगा दृष्टान्तस्थलमें गृहादि जो देवदत्ताद्यर्थ हैं, वे देवदत्तादि भी तो संघात ही हैं केवल आत्माके लिए तो गृहादि अपेक्षित नहीं हैं, किन्तु शरीरेन्द्रियादिविशिष्ट

सुखदुःखानुसन्धानं भोगश्चिति स उच्यते ।
न जडेष्विति निर्णीतमन्वयव्यतिरेकतः ॥ ४६ ॥
नाऽन्वयो व्यतिरेको वा यद्यप्यद्वैतवस्तुनि ।
पुंव्युत्पत्तिरथाप्याभ्यां भवति व्यावहारिकी ॥ ४७ ॥

आत्माके लिए है । और पर भी तो संघातात्मक ही है, अतः वह भी प्रकृतानुमानके बलसे परार्थक होगा । जिसके लिए वह होगा, वह भी संघातस्वरूप ही होगा, क्योंकि व्याप्तिग्रह सब जगह संघातको लेकर होता है जैसे साध्यसाधनमें व्याप्तिग्रह होता है, दृष्टान्तसिद्ध तादृश साधनसे पक्षमें तादृश साध्यकी सिद्धि होती है, वैसे ही जो जो साध्य सिद्ध होगा, वह सब संघात्मा ही सिद्ध होगा, उसमें परार्थकत्वानुमानसे अनवस्था होगी; इसलिए यह अनुमान आभास है ।

समाधान ठीक है, उक्त अनवस्था दोषके परिहारके लिए पर असंहत ही आत्मा मानना चाहिए, अतएव शरीरेन्द्रियादिसंघात केवल भोक्ता आत्माके लिए है; संहतके लिए नहीं, आत्मा शरीरादिसंघातसे अतिरिक्त है, अतः उक्त संघात भी आत्मा नहीं है, संघातमें भोक्तृत्वका निरास कर विज्ञानमयमें भोक्तृत्व कहते हैं । उसमें कारण है उक्त दोषोंकी निवृत्ति । शरीरादिको भोक्ता माननेमें जो दोष कहे गये हैं; उनमें से कोई भी दोष विज्ञानमयको भोक्ता माननेमें लागू नहीं होता; इसलिए यही पक्ष अदुष्ट है ॥ ४५ ॥

'सुखदुःखा०' इत्यादि । सुख-दुःखादिका साक्षात्कार भोग कहा जाता है; सो जड़ केवल शरीरादिमें नहीं हो सकता; किन्तु चेतन आत्मामें ही होता है; यह निर्णय अन्वय-व्यतिरेकसे शास्त्रकारोंने किया है । केवल शास्त्रकारोंका ही यह निर्णय नहीं है; लौकिक पुरुषोंका भी यही निर्णय है। अचेतनमें उक्त भोगकी सामग्री ही नहीं रहती फिर भोग कैसे होगा ? यह तो अतिस्पष्ट है कि इन्द्रियादिके बिना अनुभव होता ही नहीं, क्योंकि इन्द्रिय ही अनुभवमें करण है । अचेतनमें इन्द्रियां नहीं रहतीं, अतएव मृत शरीरमें कोई भी भोग नहीं मानता; जबतक उसमें चेतनत्व है; तभी तक भोग होता है । चैतन्यशून्यदशामें उसमें भोगका अभाव सर्वसंमत है ॥ ४६ ॥

शङ्का—**'नाऽन्वयो'** इत्यादि । अद्वैतमतमें आत्मव्यतिरिक्त पदार्थ ही जब नहीं है तब अन्वयव्यतिरेक कैसा ? तत्सत्त्वे तत्सत्त्वम्, यह अन्वय है, तदभावे

तदभावः, यह व्यतिरेक है; ये दोनों पदार्थ द्वैत होनेपर ही हो सकते हैं; अद्वैतमें नहीं। अद्वैतमें तो सब संसार अविद्यासे ब्रह्ममें कल्पित है, वास्तवमें प्राणादि भी कुछ नहीं हैं, यह माना जाता है।

समाधान—ठीक है, पारमार्थिक दूसरा नहीं है, किन्तु कल्पित पदार्थ तो मानते ही हैं, इसलिए कल्पिताकल्पितका अन्वयव्यतिरेक कर सकते हो।

शङ्का—कल्पितत्वरूपसे लोकसिद्ध स्वाप्निक अकल्पितत्वरूपसे लोकसिद्ध आकाशादि ये सब जड़ हैं, अतः ये स्वतःसिद्ध नहीं हैं, किन्तु आत्मस्वरूप ही हैं; अतएव 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म', 'ऐददात्म्यमिदं सर्वम्' इत्यादि श्रुति भी संगत होती है। ब्रह्मात्मक होनेसे फिर भी अन्वय-व्यतिरेक नहीं बन सकता, कल्पित मिथ्या है; उसका अन्वय व्यतिरेक हो ही नहीं सकता; क्योंकि स्वाधिकरणत्वेनाऽभिमतनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्व मिथ्यात्व है अर्थात् अपने आश्रयरूपसे अभीष्टमें विद्यमान अत्यन्ताभावका प्रतियोगी मिथ्या है। जहाँ प्रतीत होता है, वहीं नहीं रहता तो जहाँ प्रतीत ही नहीं होता, वहाँ कैसे रह सकता है? बिना सत्ताके अन्वय कैसे गृहीत होगा? अकल्पित आत्मा एक ही है, उसमें पुनरां अन्वय-ग्रहण नहीं हो सकता।

समाधान—पुंव्युत्पत्ति आदिसे यद्यपि वास्तविक अन्वयव्यतिरेक अद्वैतमतमें नहीं हो सकता, यह सत्य है तथापि कल्पितभेदमूलक व्यावहारिक अन्वय-व्यतिरेकमें कोई क्षति नहीं है।

शङ्का—अन्वय-व्यतिरेकसे आत्मज्ञान यदि अभीष्ट है, तो आत्मबोधक वाक्योंकी क्या आवश्यकता है?

समाधान—अन्वय-व्यतिरेक पारमार्थिक नहीं है और आत्मा औपनिषद माना जाता है, अतः उपनिषद्-वाक्यकी आवश्यकता है।

शङ्का—तो उक्त वाक्यसे ही आत्मतत्त्वकी सिद्धि हो जायगी, एतदर्थ अन्वय-व्यतिरेकका प्रदर्शन व्यर्थ है।

समाधान—व्यर्थ नहीं है, वाक्यजन्य ज्ञानमें अयोग्यका ज्ञान प्रतिबन्धक है। उसके निरासके लिए अन्वय-व्यतिरेक अत्यावश्यक है, इस तात्पर्यसे कहते हैं—आभ्यामित्यादि। पुंव्युत्पत्तिका अर्थ है, वाक्यार्थ ज्ञान अन्वय-व्यतिरेकसे अयोग्यता ज्ञान निवृत्ति द्वारा वाक्यार्थ ज्ञान होता है, अतः परंपरया योग्यताज्ञान भी आत्म-तत्त्वके निश्चयमें कारण है।

अध्यस्तयाऽपि व्युत्पत्त्या कृत्स्नभ्रान्तिर्निवर्त्तते ।
स्वप्नताडनदाहादिभीत्या स्वप्ननिवर्तनात् ॥ ४८ ॥

शङ्का—यदि आत्मज्ञान वस्तुतः वाक्यसे होता है, ऐसा मानते हो, तो वाक्य-ज्ञानसे पूर्व जब आत्मज्ञान ही नहीं है, तब अन्वय-व्यतिरेकका ग्रहण ही कैसे होगा? अज्ञातका तो अन्वय हो नहीं सकता। और अन्योन्याश्रय दोष भी उक्तार्थमें है, क्योंकि अन्वय-व्यतिरेकसे वाक्यार्थज्ञान होगा और वाक्यार्थज्ञान होनेपर आत्मज्ञान होगा, फिर अन्वय-व्यतिरेक हो सकेगा? इस क्रमसे अन्वय-व्यतिरेकसे वाक्यार्थज्ञान, वाक्यार्थज्ञानसे अन्वय-व्यतिरेकका अवधारण होता है, अतः अन्योन्याश्रय है।

समाधान—संसारदशामें वाक्यार्थज्ञानसे पूर्व भी आत्माका ज्ञान है; क्योंकि आत्मा स्वयंप्रकाश है, अतः प्राणिमात्रके प्रवृत्ति आदि अहंकारपूर्वक होते हैं—'मैं देखता हूँ, मैं करता हूँ' इत्यादि। किन्तु स्वाविद्यासे कल्पित शरीर, इन्द्रिय आदि अनेक अनात्मवर्गके मध्यगत होनेसे वास्तविक विवेक नहीं होता कि यह आत्मा है। चिदचित्तादात्म्याध्याससे पुरुष मूढ हो जाता है, अतएव शरीर इन्द्रिय आदिको आत्मा मान कर 'अहं गौरः, बधिरः' इत्यादि व्यवहार करता है। ऐसी परिस्थितिमें आत्मवाक्यका श्रवण होनेपर भी विश्वास नहीं होता। इसलिए त्वंपदार्थके शोधनके लिए अन्वय-व्यतिरेकके अवधारणकी परम आवश्यकता है।

शङ्का—आत्मा स्वयंप्रकाश है, ऐसा आप मानते हैं, फिर भी कहते हैं कि अन्वय-व्यतिरेकसे आत्मज्ञान होता है। यदि उक्त उपायसे आत्मज्ञान होता है, तो आत्मा स्वयंप्रकाश कैसे है? यदि स्वयंप्रकाश है, तो अन्वय-व्यतिरेक और वाक्य—ये दोनों व्यर्थ हैं।

समाधान—आत्मस्वरूपसे भासमान अनात्म पदार्थोंका विश्लेषण करनेके लिए अन्वय-व्यतिरेक अपेक्षित है और वाक्य अन्वय-व्यतिरेकमें जिसकी कुशल बुद्धि है, ऐसे पुरुष द्वारा विनिश्चित आत्माका ब्रह्मके साथ ऐक्यबोधन करनेके लिए है। आत्मा स्वयंप्रकाश है, अतएव स्वयंसिद्ध है; अतः उसके लिए अन्वय-व्यतिरेक तथा वाक्यकी आवश्यकता नहीं है दोनोंका उपयोग परिनिष्ठित है अर्थात् त्वमर्थके शोधनके लिए अन्वय-व्यतिरेक है और ब्रह्मात्मैक्यके बोधनके लिए 'तत्त्वमसि' इत्यादि वाक्य हैं। उन वाक्योंसे जायमान आत्मयथार्थज्ञानसे अज्ञानकी निवृत्ति द्वारा परम पुरुषार्थका प्रकाश होता है, इसलिए दोनों सप्रयोजन भी हैं॥ ४७॥

शङ्का—'अध्यस्त०' इत्यादिसे। वाक्यज्ञान भी तो अध्यस्त होनेसे

अतोऽन्वयेन विज्ञानमयो भोक्ताऽत्र वर्ण्यते ।
चिदन्वयो हि भोग्येषु निखिलेष्वनुभूयते ॥ ४९ ॥

अपारमार्थिक ही है और भ्रान्ति तो स्वतः अपारमार्थिक है ही, फिर इनके निवर्त्य निवर्त्तकभावमें क्या मूल है ? शुक्तिज्ञानसे शुक्तिरजतज्ञानकी निवृत्ति तो ठीक है, क्योंकि निवर्त्यकी अपेक्षा निवर्तक ज्ञान अधिक सत्तावाला है। प्रकृतमें तो दोनों समसत्ताक हैं, अतः विपरीत ही निवर्त्य-निवर्त्तकभाव क्यों नहीं होता ?

समाधान—स्वाप्निक ताड़न, दाह आदिके भयसे जैसे स्वप्नकी निवृत्ति होती है, वैसे ही अध्यस्त उक्त ज्ञानसे कर्तृत्व आदि भ्रान्तिकी निवृत्ति मानी जाती है। निवर्तकतामें मूल अधिकसत्ताकत्व नहीं है, किन्तु अन्यूनसत्ताकत्व है; अतः सम सत्ताक और अधिकसत्ताक दोनोंमें उक्त बीज समान है। इसलिए अन्वय व्यतिरेकसहकृत वाक्यजन्य ज्ञान निखिल भ्रान्तिका निवर्तक माना जाता है। विशेष अन्यत्र देखिए ॥ ४८ ॥

'अतोऽन्वयेन' इत्यादि। यहां अन्वयसे विज्ञानमय आत्मा भोक्ता कहा जाता है। संपूर्ण भोग्य पदार्थोंमें चित्का अन्वय अनुभवसिद्ध है। भाव यह है कि साभास अविद्याका कार्य संसार है। इसकी प्रत्येक वस्तुमें चित्का अनुगम है। 'अयं घटः' इत्यादि घटादिका व्यवहार चिदनुगत ही होता है। अधिष्ठानानुविद्ध ही अध्यस्त प्रतीतिका विषय होता है। एवं 'अस्ति भाति प्रियं रूपं नाम च' इस अभियुक्त वचनके अनुसार तीन सत्ताएँ ब्रह्मकी ही हैं। घटादिमें जो 'अस्तित्व' आदिका भान होता है, वह अधिष्ठान ब्रह्मका ही अस्तित्व है। अध्यस्तमें अधिष्ठानसत्तासे अतिरिक्त सत्ता नहीं सिद्ध होती, 'तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः' इत्यादि वेदान्तसूत्रमें भाष्यकारने यही सिद्धान्त किया है। ब्रह्ममें ही जगतका भान होता है। तत्-तत् आकारवाली वृत्तिसे उपहित चैतन्यसे जगत्का प्रकाश होता है। प्रियत्व भी जड़में स्वतः नहीं है, किन्तु ब्रह्मगत ही प्रियत्व अवच्छेदकत्व आदि संबन्धसे जड़में प्रतीत होता है। व्यतिरेक भी जहां जो प्रतीत होता है, वहीं 'नेह नानास्ति किञ्चन' इत्यादि वाक्यसे स्पष्ट ही है। जैसे जिस शुक्तिशकलमें रजतकी प्रतीति होती है, उसीमें उसका प्रतिषेध करनेसे व्यतिरेक सिद्ध होता है; इस कारणसे आत्मा अव्यभिचारी तथा सबका साक्षी है और अनात्मा व्यभिचारी तथा साक्ष्य है; इस प्रकार लोक तथा वेदमें अन्वय-व्यतिरेक प्रसिद्ध है।

भोग्यानां व्यभिचारेऽपि भोक्ता त्वव्यभिचारवान् ।
विज्ञानमयता तस्य विज्ञानप्रचुरत्वतः ॥ ५० ॥
विज्ञानमन्तःकरणं तस्मिन्नात्मोपलभ्यते ।
राहुश्चन्द्रे यथा तद्वद्विज्ञानमयता ततः ॥ ५१ ॥

शङ्का—विज्ञानमयको भोक्ता आप कहते हैं; पर मयट्प्रत्ययसे विज्ञानका विकार विज्ञानमय कहा जाता है; क्योंकि 'तत्प्रकृतिवचने मयट्' इस भगवत्पाणिनिके सूत्रसे विहित मयट्प्रत्यय विकार अर्थमें होता है। भोक्ता यदि अनित्य है, तो वेदान्तानुशासन ही व्यर्थ है।

समाधान—यहाँ विज्ञानमयशब्दमें मयट्प्रत्यय स्वार्थ या प्राचुर्य्य अर्थमें कहा गया है, विकार अर्थमें नहीं; अतः विज्ञानमय आत्मा नित्य भोक्ता है, उससे अन्य नहीं ॥ ४९ ॥

उसी तात्पर्यको कहते हैं- 'भोग्यानाम्' इत्यादिसे।

उक्त रीतिसे भोग्य अनात्मवर्गका व्यभिचार (व्यावृत्ति) है और पदार्थान्तरमें आत्मा अनुवृत्त है अर्थात् घट, पट आदि अनात्मवर्ग परस्पर व्यावृत्त हैं; किन्तु भोक्ता सर्वत्र अनुवृत्त ही है; कहीं भी उसका व्यभिचार नहीं है। विज्ञानमयता भोक्तामें विज्ञानविकारप्रयुक्त नहीं है; क्योंकि वह तो कूटस्थ नित्य तथा सदा स्वयंप्रकाश चिद्रूप है; किन्तु विज्ञानप्राचुर्य्यादिप्रयुक्त है ॥ ५० ॥

शङ्का—आत्मा विज्ञानमय क्यों कहलाता है?

समाधान—विज्ञान नाम अन्तःकरणका है। उसीमें आत्माका उपलम्भ होता है, इसलिए आत्मा विज्ञानमय कहलाता है।

शङ्का—कहींपर आत्मा स्वयंप्रकाश है और उससे अतिरिक्त अन्तःकरणादि जड़ अप्रकाशात्मा हैं ऐसा कहते हो। और यहाँपर विज्ञानसे आत्माका प्रकाश होता है, ऐसा कहते हो, अतः यह वचन ही अत्यन्त अश्रद्धेय प्रतीत होता है; प्रथम तो स्वयंप्रकाशको प्रकाशककी अपेक्षा ही नहीं है। यदि हो भी तो जड़ अन्धकारकी क्या अपेक्षा? वह तो प्रकाशविरोधी है, प्रकाशोपयोगी नहीं है।

समाधान—हां आपाततः ऐसा ही कहा जा सकता है, परन्तु विचार करनेपर तो जो कहा है, वही ठीक प्रतीत होता है।

शङ्का—कैसे?

समाधान—राहु प्रकाशयोग्य है; किन्तु स्वतः अन्धकारके समान उसका

स्वाभासवदविद्योत्थबुद्ध्यादिव्याप्तिविभ्रमात् ।
तादात्मत्वाभिमानी सन्नहमित्युपलभ्यते ॥ ५२ ॥

प्रकाश नहीं होता, चन्द्रादिके संबन्धसे राहुके स्वरूपका प्रकाश होता है, वैसे ही आत्मा स्वतःप्रकाशयोग्य है सही, पर अन्तःकरणके संबन्धसे ही उसका प्रकाश होता है; अन्यथा नहीं, यह वस्तुस्वभाव है ।

शङ्का—राहु तमःस्वरूप है तथा चन्द्रमा प्रकाशस्वरूप है, इसलिए प्रकाशकके संबन्धसे राहुका प्रकाश ठीक ही है । प्रकृतमें अन्तःकरण, तमःस्वरूप होनेसे, राहुतुल्य है । उसके संबन्धसे चन्द्रादिका प्रकाश होता है, ऐसा कहिये तो दृष्टान्त दार्ष्टान्तिकमें साम्य होता है; परन्तु ऐसा कहना ही असंगत है । चन्द्रादिका स्वतः प्रकाश प्रसिद्ध ही है; अतः उक्त अर्थमें तो वैषम्य है ।

समाधान—जैसे राहुमें चन्द्रकी किरण प्रविष्ट होती है, उस किरणसे राहु और तदवच्छिन्न चन्द्रमण्डलका प्रत्यक्ष होता है, चन्द्रके स्वरूपसे नहीं होता, वैसे ही राहुस्वरूप अन्तःकरणमें प्रतिफलित चैतन्यसे आत्मा और अन्तःकरणका उपलम्भ होता है, पर आत्मस्वरूपसे नहीं होता, अन्तःकरणके स्वभावसे होता है, अतएवतमस्त्वादिके समान आत्मामें कर्तृत्व आदिका भान अवास्तविक है । सारांश यह कि आत्मा प्रकाशस्वभाव है, किन्तु अज्ञानावृत होनेसे प्रकाशित नहीं होता, अन्तःकरणमें प्रतिफलित चैतन्यसे आवरक अज्ञानकी निवृत्ति होनेसे प्रकाशित स्वरूप होता है । आत्मस्वरूपभूत प्रकाश अज्ञानका साधक है, अतएव निवर्तक नहीं हो सकता । अन्तःकरणप्रतिबिम्बित चैतन्य उसका निवर्तक है, जैसे सूर्यके आलोकसे तत्त्वका प्रकाश होता है, नाश नहीं होता; पर सूर्यकान्तोपलप्रतिबिम्बित उसके आलोकसे तन्नाश होता है, वैसे ही प्रकृतमें भी समझना चाहिए ॥ ५१ ॥

'**स्वाभासव०**' इत्यादि । चिदाभासविशिष्ट अविद्यासे समुत्पन्न बुद्धि आदिसे सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, मोह आदि संबन्धकी भ्रान्तिसे 'असङ्गो ह्ययं पुरुषः' इत्यादि श्रुतिके अनुसार यद्यपि आत्मा--इन विकारोंसे असंबद्ध है, तथापि भ्रान्तिवश अपनेको अन्तःकरणके कर्मोंसे धर्मवान् मानकर 'सुखी दुःखी अहम्' इत्यादि प्रकारसे उपलब्धि करता है । अन्तःकरण तादात्म्याध्यास होनेसे अन्तःकरणके धर्मोंका भी आत्मामें आरोप हुआ है, अतः आरोपित धर्मसे अपना उपलम्भ करता है ॥ ५२ ॥

यद्वोपलब्धिमात्रोऽपि विज्ञानाध्यस्तकर्तृताम् ।
प्राप्योपलब्धा स्यात् तेन विज्ञानमय उच्यते ॥ ५३ ॥
स्फटिको रक्ततां प्राप्य जपाकुसुमकल्पिताम् ।
पद्मरागायते तद्वदुपलब्धृत्वमात्मनः ॥ ५४ ॥

शङ्का—'यद्वोपल०' इत्यादि । 'द्रष्टा दृशिमात्रः शुद्धोऽपि प्रत्ययानुपश्यः' इस योगसूत्रके अनुसार तथा अद्वैतवेदान्तके अनुसार ज्ञप्तिमात्रस्वरूप आत्मा स्वयंप्रकाश है, उपलब्धिका कर्ता नहीं है, इसलिए अन्य रूपसे भी उपलब्धिका कर्ता नहीं हो सकता । कूटस्थ सर्वव्यापक निरवयवमें क्रिया ही नहीं, फिर क्रियाकर्तृत्वादि तो दूर निरस्त हैं, ऐसी स्थितिमें अन्यरूपसे भी उपलब्धिका कर्ता कैसे हो सकता है ?

समाधान—इसी अभिप्रायसे कहते हैं—'यद्वा' इत्यादि । ठीक है, आत्मा उपलब्धिमात्र है, उपलब्धिका कर्ता नहीं है; किन्तु उपलब्धिकर्तृ अन्तःकरणके तादात्म्याध्याससे अपनेमें भी कर्तृत्व मानकर आत्मा विज्ञानमय कहलाता है। असलमें आत्मामें विज्ञानमयशब्दका प्रयोग औपाधिक है, स्वाभाविक या यौगिक नहीं है । मयट्प्रत्यय प्रायः अर्थमें है, विकार अर्थमें नहीं है । साक्षित्वरूपसे उपलम्भ आत्माका है, साक्ष्य बुद्ध्यादिके साथ आध्यासिक संबन्ध भी है । अकारक फल स्वरूप है । विज्ञानमानी होकर सब वस्तुओंको जानता है, इसलिए विज्ञानमय कहा जाता है ॥ ५३ ॥

'स्फटिको' इत्यादि । स्फटिक जपाकुसुमके सन्निधानसे रक्त गुण पाकर जैसे पद्मराग मणिके समान भासता है; वैसे ही उपलब्धिकर्तृत्वादि धर्मसे विशिष्ट मनके सन्निधानसे वस्तुतः उसके धर्मसे शून्य आत्मा भी तद्धर्मवान्के सदृश प्रतीत होता है, अपनेको उसके धर्मसे विशिष्ट मानता है ।

शङ्का—स्फटिक तो रूपवान् है, अतः उसमें जपाकुसुमकी छायाके ग्रहणकी सामर्थ्य है, इसलिए उसमें आरुण्यका (रक्तता) निश्चय हो सकता है । आत्मा तो नीरूप (रूपरहित) है, उसमें छाया कैसी ?

समाधान—रूपवान्में ही प्रतिबिम्ब होता है, यह नियम नहीं है, क्योंकि नीरूप गृह कूप या गृहाद्याकाशमें शब्दका प्रतिबिम्ब देखा जाता है, एवं रूपवान्का ही प्रतिबिम्ब होता है, यह भी नियम नहीं है । रूपादिका भी प्रतिबिम्ब स्पष्ट ही देखते हैं । रूपमें रूप नहीं तथा शब्द रूपवान् नहीं, फिर भी प्रतिबिम्ब कही चुके हैं ।

यद्वोपलभ्यो देहादेर्विज्ञानेन विवेचितः ।
स्याद्विज्ञानमयस्तेन पुरुषः परिपूरणात् ॥ ५५ ॥
अशेषान्कल्पितानेष विज्ञानादीननात्मनः ।
आत्मा पूरयति प्रत्यक् सर्पादीन् रशना यथा ॥ ५६ ॥

श्रुतिः—स होवाचाजातशत्रुर्यत्रैष एतत्सुप्तोऽभूद्य एष विज्ञानमयः पुरुषः क्वैष तदाऽभूत्कुत एतदागादिति तदु ह न मेने गार्ग्यः ॥ १६ ॥

अतएव सांख्याद्याचार्य प्रकृतिमें पुरुषकी छाया मानते हैं—'तस्मात्तत्संयोगादचेतनं चेतनावदिव भवति। गुणकर्तृत्वे च तथा कर्तेव भवत्युदासीनः' इत्यादि ॥ ५४ ॥

आत्मा विज्ञानमय कहलाता है, इसमें निमित्तान्तर भी कहते हैं **'यद्वोप०'** इत्यादिसे ।

देह, इन्द्रिय आदिसे विज्ञान शब्दित बुद्ध्यादि द्वारा विवेचित विचार द्वारा पृथक्कृत अर्थात् उससे भिन्नरूपसे अवधारित— आत्मा चूँकि प्रकाशित होता है तद्भिन्नरूपसे प्रकाशित होता है—, इसलिए भी विज्ञानमय कहलाता है। विज्ञानमयत्वके व्यपदेशमें अनेक निमित्त हैं। सर्वथा औपाधिक ही यह शब्द आत्मामें है, परिपूरणसे पुरुष कहलाता है ॥ ५५ ॥

'अशेषान्' इत्यादि। जैसे अकल्पित रज्जु कल्पित सर्पादिको पूर करती है, वैसे ही विज्ञानादि संपूर्ण कल्पित पदार्थोंको आत्मा पूर करता है।

शङ्का—'पुरि शेते इति पुरुषः', ऐसी पुरुषशब्दकी व्युत्पत्ति भाष्यकारने अन्यत्र लिखी है। उसकी उपेक्षा कर 'पूरणात् पुरुषः' ऐसी पुरुषशब्दकी व्युत्पत्ति माननेका प्रकृतमें अभिप्राय क्या है ?

समाधान—प्रत्यगात्मामें पूर्णत्वबोधके लिए उसी व्युत्पत्तिमें प्रकृत वाक्यका तात्पर्य है। 'स वा अयं पुरुषो जायमानः' इत्यादिसे उपक्रम कर 'नैनेन किञ्चनानावृतम्' इत्यादिसे पुरुषमें पूर्णत्वका निर्णय किया है, इसलिए पूर्णत्वमें श्रुतिका तात्पर्य है, पुरिशयत्वमें नहीं। सन्दिग्ध शब्दका वाक्यशेषानुसारी अर्थ मान्य होता है, यह सर्वसंमत न्याय है।

'स होवाचाजातशत्रु०' इत्यादि। राजाने गार्ग्यसे पूछा कि पाणिपेषणसे पूर्वकालमें यह विज्ञानमय आत्मा कहां सोया था ? यह कहां था ? पाणिपेषणसे कहांसे आया ? गार्ग्यने इसका कुछ उत्तर नहीं दिया, क्योंकि ये दोनों बातें उनको ज्ञात न थीं।

योे विज्ञानमयस्तस्य द्वैतधीः स्वप्नजाग्रतोः ।
अस्ति सुप्तौ तु सा नाऽस्ति स्वभावोऽस्याऽत्र को भवेत ॥५७॥
तस्य स्वभावं निर्णेतुं सुप्तौ क्वाऽभूदयं पुनः ।
कुत आगादिमं देहमित्येतदिह चिन्त्यते ॥ ५८ ॥

शङ्का—राजाके प्रति गार्ग्यने अपनेको शिष्य मान लिया था, अतः उससे राजाने पूछा ही किस अभिप्रायसे ?

समाधान—राजाने यह प्रतिज्ञा की है कि आपको ब्रह्मज्ञान करा देंगे। ब्रह्म जिज्ञासुओंको उक्त दो प्रश्नोंका ज्ञान आवश्यक है। ज्ञानाभावसे गार्ग्य पूछ न सके, यह समझ कर राजाने प्रश्न द्वारा एतद्विषयक जिज्ञासा गार्ग्यमें उत्पन्न कर दी। शास्त्रकारोंकी यह रीति है कि यदि अज्ञानवश शिष्य अवश्य-ज्ञातव्य विषयका प्रश्न न कर सके तो आचार्यको उचित है कि वह स्वयं उस विषयका प्रश्नादि द्वारा उत्थान कर व्याख्यान करे अन्यथा प्रतिज्ञातार्थकी सिद्धि न होगी, इसलिए गार्ग्यके प्रश्न न करनेपर भी राजा उस अर्थकी विवक्षासे उदासीन न हुए, किन्तु स्वयं प्रश्न कर व्याख्यान किया, यह राजाकी कर्तव्यपरायणता और उदारता है। सत्पुरुष अर्थीके प्रति उसके अभीष्ट अर्थके प्रदानकी प्रतिज्ञा कर उसका प्रदान किये बिना नहीं रहते, यह सत्पुरुषोंका व्रत है; अतः सत्पुरुष राजा अकुशल गार्ग्यको समझ कर भी प्रतिज्ञातसे उदासीन नहीं हुए ॥ ५६ ॥

'यो विज्ञान०' इत्यादि। जो विज्ञानमय पुरुष है, उसकी द्वैतविषयक बुद्धि स्वप्न और जाग्रत कालमें सम है, सुषुप्ति कालमें नहीं है। अतः यह विचारना आवश्यक है कि आत्माका क्या स्वभाव है ? जाग्रदादि कालमें कर्तृत्वादि प्रतीति होती है, इसलिए उसे कर्तृत्वादिस्वभाव मानना चाहिए अथवा सुप्तिदशामें कर्तृत्वादि-प्रतीति नहीं होती, अतः सांसारिक सकलधर्मातीत आत्मा है ? कर्तृत्वादि-प्रतीति औपाधिक है। उपाधिके सद्भाव कालमें उक्त कर्तृत्वादि धर्म प्रतीत होते हैं। उसकी विगमदशामें नहीं, इसका निर्णय करते हैं—तस्येत्यादिसे ॥ ५७ ॥

'तस्य' इत्यादि। आत्माके स्वभावका निर्णय करनेके लिये यह प्रश्न किया गया है कि सुषुप्तिकालमें यह आत्मा कहाँ था और पाणिपेषणके अनन्तर कहांसे इस देहमें आया ? इसीका यहां विचार करते हैं, यदि कहीं गया न होता, तो विज्ञानस्वभाव आत्मा सुषुप्तिकालमें भी प्रतीत होता, पर उस कालमें

विहायैतच्छरीरं किं सुप्तौ देशान्तरं गतः ।
विनष्टो वाऽथवाऽत्राऽऽस्ते विशेषज्ञानवर्जितः ॥ ५९ ॥
देहप्राणाविह त्यक्त्वा गच्छेन्निःसाधनः कथम् ।
नाशे बोधः पुनर्न स्यात् न स्थितौ ज्ञानवर्जनम् ॥ ६० ॥
ज्ञस्वभावोऽत्र तिष्ठेच्चेदभिमन्येत विग्रहम् ।
औपाधिकोऽभिमानश्चेदुपाधेः क्व गतिस्तदा ॥ ६१ ॥

'न किंचिदवेदिषम्' ऐसा अनुभव होता है, जो सुप्तोत्थित पुरुषके उक्त परामर्शसे सिद्ध होता है, इसलिए यह प्रश्न उचित है कि सुषुप्तिकालमें शरीरमें आत्मा रहता है या कहीं चला जाता है ? ॥ ५८ ॥

'विहायैत०' इत्यादि । क्या सुषुप्तिकालमें इस शरीरका त्याग कर आत्मा देशान्तरमें चला जाता है, अथवा उस कालमें विनष्ट हो जाता है, या विशेष ज्ञान रहित होकर शरीरमें ही रहता है ? तीनों विकल्पोंमें दोष कहते हैं ॥ ५९ ॥

'देहप्राणा०' इत्यादि । देह और प्राण ये दोनों आत्माके देशान्तरगमनमें साधन हैं । जीवितदशामें देह और प्राणके देशान्तरमें गमन करनेपर आत्मा देशान्तरमें जाता है । मरणकालमें यद्यपि देह इसी लोकमें रह जाती है, तथापि प्राण लोकान्तरमें चला जाता है; अतः उसके द्वारा आत्मा भी लोकान्तरमें जाता है, यह लोकानुभवसिद्ध है । परन्तु सुषुप्तिकालमें देह और प्राण इसी लोकमें रहते हैं, यह स्पष्ट देखते हैं, फिर निस्साधन आत्मा देशान्तरमें जाता है, यह कहना तो सर्वथा उपपत्तिशून्य है, क्योंकि कारणके बिना कोई कार्य नहीं होता है । यदि हो, तो वह नित्य ही होगा, कार्य नहीं । द्वितीय विकल्पमें फिर बोध ही नहीं होगा । विनष्टका तो प्रत्यागमन नहीं होता और 'नासते विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः' इत्यादि आगमविरोध भी दुष्परिहर होगा । अकृताभ्यागम, कृत-बिनाश आदि बहुत दोषोंकी प्रसक्ति होगी । स्थितिकल्पमें ज्ञानशून्यत्व ही असंभव है, क्योंकि आत्मा ज्ञानस्वभाव है । यदि उक्त समयमें वह शरीरमें रहता है, तो विशेष ज्ञान अनिवार्य है ॥ ६० ॥

'ज्ञस्वभावो०' इत्यादि । ज्ञानस्वभाव आत्मा यदि शरीरमें रहता है; तो शरीरका अभिमान अवश्य ही करेगा । 'अहं शरीरः' ऐसा अभिमान यदि होगा, तो जाग्रदादि अवस्थासे सुषुप्ति अवस्थामें सर्वानुभवसिद्ध वैलक्षण्य ही असङ्गत

उच्यते कर्मभिर्जीवः सुखदुःखोपभुक्तये ।
जाग्रत्स्वप्नाववाप्नोति क्षीणकर्मा सुषुप्सति ॥ ६२ ॥

हो जायगा। यदि शरीराद्यभिमान औपाधिक है; आत्मनिबन्धन नहीं है, तो जो उक्त अवस्थामें उपाधि कही गई उसीको कहिए कि उसमें कौन उपाधि है ? सुषुप्तिदशामें वह कही जाती है; इसीका निर्णय कीजिये यदि हो सके। वस्तुतः मोक्षके बिना उपाधिका वियोग होता ही नहीं, इसलिए सुषुप्तिदशामें आत्माको छोड़कर उपाधि अन्यत्र चली जाती है, यह तो सर्वथा असंभव ही है। तात्पर्य यह है कि सकल धर्मोंसे अतीत शुद्ध आत्मतत्त्वके बोधके लिए राजाने गार्ग्यके प्रति दो प्रश्न किये कि यह विज्ञानमय आत्मा पाणिपेषणजन्य प्रबोधसे पूर्व कहां सोया था और प्रबोधके समय कहांसे आया ? अधिकरण और अपादान—इन दोके विषयमें प्रश्न किया, परन्तु गार्ग्य उक्त प्रश्नोंका उत्तर न दे सके। वस्तुतः इसका उत्तर देना अनात्मज्ञके लिए कठिन है। यदि आत्मासे अतिरिक्त अधिकरण या अपादान कहा जाय, तो क्रिया-कारक-व्यवहार वास्तविक मानना पड़ेगा। ऐसी परिस्थितिमें उदासीन आत्मतत्त्वकी प्रतिपत्ति नहीं हो सकेगी, जो वेदान्तप्रतिपाद्य है। अगर आत्माको ही अधिकरण और अपादान कहें, तो उक्त व्यवहार ही असंगत है। एकमें ही अधिकरणत्व और अपादानत्व नहीं रहता, क्योंकि अपना अधिकरण तथा अपना अपादान लोकमें अपनेसे अतिरिक्त माने जाते हैं; इस गूढ़ अभिप्रायसे यह प्रश्न किया गया है। क्रिया-कारकादिव्यवहार भ्रम है। इसमें प्रमाण है—'यत्र द्वैतमिव भवति तदितर इतरं पश्यति' इत्यादि श्रुति। उक्त व्यवहार विद्यादशामें होता ही नहीं। इसमें प्रमाण है—'यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं पश्येत्' इत्यादि श्रुति।

बालाकि इसका उत्तर न दे सके, इसलिए राजा स्वयं उत्तर देनेके लिए उद्यत हुए। उन्होंने कहा—पूछनेपर भी आप नहीं समझ सके, तो मैं इसका उत्तर कहता हूँ। आप सावधान होकर सुनिये ॥ ६१ ॥

'उच्यते' इत्यादि। सुख और दुःखके उपभोगके लिए स्वकृत कर्मसे जीवको जाग्रत् और स्वप्न—ये दोनों अवस्थाएँ प्राप्त होती हैं—स्फुट कर्मोंसे जाग्रत् सुख आदिका अनुभव होता है और स्वल्प शुभाशुभ कर्मोंसे स्वाप्निक सुख-दुःख आदिका अनुभव होता है। दोनोंके उपभोगजनक कर्मोंका क्षय होनेपर किंवा

अक्रियस्याऽप्यवस्थासु सञ्चारो बुद्ध्युपाश्रितः ।
घटोपाधिवशाद्यद्वदाकाशस्य गमागमौ ॥ ६३ ॥
बुद्धेश्चाऽज्ञानकार्याया: स्थानं हृदयमिष्यते ।
तत्रेन्द्रियाणि सर्वाणि बुद्धितन्त्राणि सर्वदा ॥ ६४ ॥
गोलकेष्वेषु धीस्तानि नाडीभिः कर्मणो वशात् ।
प्रसारयत्यधिष्ठाय मत्स्यजालकवद् बहिः ॥ ६५ ॥

सौषुप्तिक सुखके अनुकूल कर्मके परिपाकसे पुरुष सुषुप्तिकी इच्छा करता है, इस दशामें स्वात्मसुखका अनुभव निर्विकल्पात्मक होता है ॥ ६२ ॥

'अक्रिय०' इत्यादि । यद्यपि आत्मा अक्रिय (क्रियाशून्य) है; इसलिए उक्त दो अवस्थाओंमें उसका स्वतः संचार नहीं हो सकता; तथापि बुद्धिरूप उपाधिके संचारसे आत्मामें भी संचारका व्यवहार होता है । इसमें अनुरूप दृष्टान्त देते हैं तार्किक घट आदिके आकाशको व्यापक तथा क्रियाशून्य मानते हैं, अतएव वस्तुतः आकाशका गमनागमन (आना-जाना) नहीं कह सकते, फिर भी घटके गमनागमनसे उसके मध्यवर्ती आकाशका औपाधिक गमनागमन कहा ही जाता है । एवं आत्माका भी आकाशके समान औपाधिक गमनागमन माना जाता है ॥ ६३ ॥

'बुद्धेश्चाऽज्ञान०' इत्यादि । अज्ञानका कार्य बुद्धि है, इसलिए हृदय बुद्धिका स्थान कहा जाता है; सब इन्द्रियाँ सदा बुद्धिके अधीन ही रहती हैं, स्वतन्त्र नहीं रहतीं । बुद्धिसे मनका ग्रहण समझना चाहिए । अथवा इन्द्रियां मनके द्वारा बुद्धिके अधीन हैं; अतएव 'बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च' इत्यादि आप्त वचन सुसङ्गत होते हैं । तार्किक भी इन्द्रियोंका अधिष्ठाता मन है, यही मानते हैं । 'अन्यत्रमना अभूवं नाऽश्रौषम्' इत्यादि श्रुति भी इसी अर्थको स्वहस्तगत करती है । 'एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च' इस श्रुतिमें मनकी सृष्टिके अनन्तर मनके नियन्त्रणमें रहनेवाली इन्द्रियोंकी सृष्टि कही गई है । अथवा बुद्धिपद अन्तःकरणपरक है । बुद्धि, मन और अहङ्कार अन्तःकरणके वृत्ति-विशेष हैं, इस अर्थमें भी कोई आपत्ति नहीं है ॥ ६४ ॥

'गोलके०' इत्यादि । धी (मन) स्वकृत कर्मवश नाड़ी द्वारा तत्-तत गोलक आदिमें स्थित चक्षु आदि इन्द्रियोंमें अधिष्ठित होकर उनको बाह्य विषयोंसे स्व-स्वग्राह्य विषयोंमें फैलाता है अर्थात् तत-तत इन्द्रियोंसे गृहीत

बुद्धावक्षेषु चात्माऽयं चिद्रूपः प्रतिबिम्बति ।
तादृग्बुद्धीन्द्रियोपाधिर्जागर्त्यात्मेति गम्यते ॥ ६६ ॥
कर्मक्षये बुद्धिरक्षैः सहाऽज्ञाने विलीयते ।
चैतन्यप्रतिबिम्बाश्च लीयन्ते स्वाश्रयाननु ॥ ६७ ॥

श्रुतिः—स होवाचाजातशत्रुर्यत्रैष एतत्सुप्तोऽभूद्य एष विज्ञानमयः

होनेवाले बाह्य विषयोंके ग्रहणमें उन्मुख करता है । इसमें अनुरूप दृष्टान्त कहते हैं, जैसे जाल जलमें प्रविष्ट होकर उसमें स्थित मछली आदि जलचर जीवोंको बाहर करता है; वैसे ही मन गोलकस्थित इन्द्रियोंको ग्राह्य विषयदेशमें स्थित करता है । इससे इन्द्रियां प्राप्यकारी हैं, यह सूचित होता है । बुद्धि और इन्द्रियोंमें प्रतिबिम्बित आत्मा इन्द्रिय द्वारा अर्थोपलब्धि करता है । वही जागरित अवस्था कहलाती है; अर्थात् बुद्धि और इन्द्रियां सावयव और सक्रिय हैं, अतएव उनका अपने-अपने विषयदेशमें गमन उचित है; किन्तु आत्मा निरवयव और निष्क्रिय है, इसलिए वह विषयदेशमें गमन नहीं कर सकता; फिर भी अपने अज्ञानसे विशिष्ट व्यक्तचैतन्याभासरूप विशेषधीसे युक्त श्रोत्रादि इन्द्रिय द्वारा ग्राह्य शब्दादि सब विषयोंको व्याप्त करता है; जैसे सूर्य आकाश देशमें स्थित होकर अपनी किरणों द्वारा सकल पदार्थोंको व्याप्त करते हैं, वैसे ही आत्मा भी ज्ञान द्वारा सर्वविषयव्यापक माना जाता है । अतः स्वस्वविषयग्रहणोन्मुख इन्द्रियोपाधिक अवस्था आत्माका जागरित है ॥ ६५, ६६ ॥

'कर्मक्षये' इत्यादि । जाग्रत्फलके भोगप्रद कर्मोंका क्षय होनेपर बुद्धि (अन्तःकरण) इन्द्रियोंके साथ अज्ञानमें लीन हो जाती है । प्रतिबिम्बाश्रय तत्-तद् इन्द्रियादि वृत्तिका भी लय होना स्वाभाविक है, क्योंकि आश्रयके बिना आश्रितका रहना असंभव ही है, वृत्त्यादिका लय होनेसे उसमें स्थित चैतन्यप्रतिबिम्बका भी लय होता है, इस प्रकार ऐन्द्रियक ज्ञानसे रहित आत्मा हो जाता है, यही सुषुप्ति है ॥ ६७ ॥

'सहोवाचा०' इत्यादि । यह विज्ञानमय पुरुष सुषुप्ति कालमें कहाँ था और कहाँसे आया, ऐसा जो प्रश्न पूछा था, उसका उत्तर सुनिये । जहांपर यह विज्ञानमय पुरुष सोया था उस कालमें (सुषुप्तिकालमें) इन वागादि करणोंका विज्ञानसे अर्थात् उपाधिभूत अन्तःकरणके स्वभावभूत उपादान

पुरुषस्तदेषां प्राणानां विज्ञानेन विज्ञानमादाय य एषोऽन्तर्हृदय आकाशस्तस्मिञ्छेते ।

तदेन्द्रियाणां विज्ञानं धीविज्ञानेन संयुतम् ।
विज्ञानमय आदत्त इति श्रुत्योपवर्ण्यते ॥ ६८ ॥

अज्ञानसे जनित अन्तःकरणमें अभिव्यक्त चैतन्याभासलक्षण विशेष विज्ञानसे विज्ञानको अर्थात् वागादिकी स्वस्वविषयगत प्रतिनियत प्रकाशन सामर्थ्यको लेकर आत्मा हृदयाकाशमें सोता है ।

शङ्का—आकाशशब्दसे प्रसिद्ध भूताकाशका ग्रहण क्यों नहीं करते ? हृदयके मध्यमें भूताकाश भी रहता ही है ।

समाधान—'सता सोम्य तदा सम्पन्नो भवति' इस श्रुतिमें परमात्मा ही में जीवका शयन कहा गया है । उसके अनुरोधसे यहां भी आकाशशब्दसे पर ही आत्मा लेना चाहिए, अन्यथा श्रुतियोंमें परस्पर विरोध हो जायगा ।

शङ्का—प्रकृतमें शयन क्या है ?

समाधान—लिङ्गोपाधिसंबन्धसे उत्पन्न विशेषात्मस्वरूपका त्यागकर स्वाभाविक जो अविशेषस्वभाव आत्मा है, उसीमें स्थिति करता है तब आत्मा वास्तविक स्वस्वरूपमें अवस्थित होता है ।

शङ्का—इसमें क्या प्रमाण है ?

समाधान—प्रमाण है नाम प्रसिद्धि । जिस कालमें वागादि इन्द्रियोंके ज्ञानका ग्रहण करता है, उस कालमें उस पुरुषका स्वपिति यह नाम होता है: स्वमात्मानमपीत्यपिगच्छति इति स्वपिति इत्युच्यते ।

शङ्का—उक्त नामप्रसिद्धिसे आत्मा संसारधर्मसे विलक्षण है; यह तो प्रतीत होता है सही, पर इसमें युक्ति कुछ नहीं है ।

समाधान—इसमें युक्ति श्रुति स्वयं दे रही है—'गृहीत एव प्राणो भवति' इत्यादि । प्राणसे घ्राणेन्द्रिय विवक्षित है, मुख्य प्राण नहीं, क्योंकि यह प्रकरण इन्द्रियोंका है । वागादिका संबन्ध रहनेपर तदुपाधिक आत्मा संसारधर्मी होता है । सुषुप्तिकालमें उक्त इन्द्रियां आत्मासे उपसंहृत हो जाती हैं । उक्त इन्द्रियोंका उपसंहार होनेसे, क्रिया-कारकफलके अभावसे, आत्मा स्वस्वरूपमें स्थित होता है, यह सुस्पष्ट ज्ञात होता है ॥

'तदेन्द्रियाणम्' सुषुप्तिकालमें वागादि इन्द्रियोंके विज्ञानको अर्थात् विषय-

धीविज्ञानोपसंहारे विज्ञानमयताक्षतौ ।
निर्विकारात्मचैतन्यं केवलं परिशिष्यते ॥ ६९ ॥

प्रकाशन-सामर्थ्यको विज्ञानमय जीव लेकर सो जाता है यही श्रुतिने वर्णन किया है। 'विज्ञानेन' यह तृतीया साहित्यमें है। सुषुप्ति अवस्थामें विशेष विषयोंका ज्ञान नहीं होता। इसका कारण इन्द्रियोंमें तादृश ज्ञान जननकी सामर्थ्यका अभाव है। 'उसका कारण इन्द्रियोंका लय है अथवा जीव विज्ञानसे (चिदाभाससे) इन्द्रियोंकी विषयग्रहणसामर्थ्यको लेकर ब्रह्मरूप आकाशमें सो जाता है। इस पक्षमें 'विज्ञानेन' यहां तृतीया करणमें है। जिस प्रकार संवर्गविद्यामें 'वायुर्वाव संवर्गः' इत्यादिसे पृथिव्यादि भूतोंका प्रलयकालमें वायुमें उपसंहार होता है, वैसे ही अध्यात्म 'प्राणो वाव संवर्गः' इत्यादि श्रुतिसे वागादि इन्द्रियोंका उपसंहार सुषुप्तिकालमें प्राणमें होता है। सो ठीक ही है, क्योंकि कार्यका कारणरूपसे ही उपसंहार हो सकता है, अन्यरूपसे नहीं। इन्द्रियोंका प्राणरूपसे उपसंहार करती हुई श्रुति कार्यका कारणरूपसे उपसंहार पक्षका ही समर्थन करती है। भूमविद्याके प्रकरणमें भी नामसे लेकर आशा तकका उपसंहार प्राणमें बतलाया है—'प्राणे सर्वं प्रतिष्ठितम्' इत्यादि वाक्यसे। परन्तु प्राणशब्द वहां मुख्यप्राणपरक नहीं है, किन्तु अज्ञातब्रह्मपरक है, वही सबका कारण है। 'एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च' इत्यादि श्रुति इसमें प्रमाण है। 'प्राणस्तथानुगमात्' इस सूत्रमें कथित रीतिसे भी प्राणशब्द ब्रह्मपरक है, इसमें विवाद नहीं है ॥ ६८ ॥

'धीविज्ञानम्' इत्यादि। धी और तज्जन्य विषयज्ञान—इन दोनोंका उपसंहार होनेपर आत्मामें विज्ञानमयता नहीं रह जाती, केवल निर्विकार आत्मचैतन्यमात्र अवशिष्ट रह जाता है। भाव यह है कि देह आदिके अभिमानी बद्ध जीवात्माका असंसारी ब्रह्मके साथ अभेद नहीं हो सकता, इस शंकाकी निवृत्तिके लिए तत्पदार्थ जीवका परिशोधन करते हैं। जीव कर्तृत्व आदि विज्ञानसे विशिष्ट है, अथवा उससे शून्य ? अन्वय-व्यतिरेकसे जीव कर्तृत्व आदि विज्ञानसे शून्य है, यही पक्ष सयुक्तिक है। जाग्रत् और स्वप्नमें यद्यपि विज्ञानमय आत्मा प्रतीत होता है, तथापि सुषुप्तिमें आत्माके रहनेपर भी विज्ञानमयताकी प्रतीति नहीं होती; इसलिए यह सुखसे जाना जाता है कि आत्माका विज्ञानमयता स्वभाव नहीं है, वह तो

एतदेव विवक्षित्वा प्रतिपादयति श्रुतिः ।
एषोऽन्तर्हृदयाकाशस्तस्मिञ्छेत इतीदृशी ॥ ७० ॥
बुद्धिर्हृदयशब्देन हृन्निष्ठत्वाद्विवक्ष्यते ।
आसमन्तात्काशतेऽयमित्याकाशोऽत्र चिद्वपुः ॥ ७१ ॥

मन आदि उपाधिवशसे होता है। अतएव सुषुप्तिदशामें जब मन आदि उपाधियोंकी निवृत्ति हो जाती है, तब स्वतः निर्विकार चिद्रूप आत्मा सकल सांसारिक धर्मोंसे रहित ही माना जाता है, अन्यथा सुषुप्तिमें भी विषयके अभानकी प्रसक्ति हो जायगी, निर्विकार चिद्रूप जीवात्मा तथा ब्रह्म ये दोनों हैं, इसलिए अभेदमें कोई बाधक नहीं है ।

शङ्का—जीवात्मा ब्रह्मके समान कूटस्थ चैतन्य स्वरूप है, तो जागर आदि दशामें कर्तृत्वादि ज्ञान उसमें क्यों होता है ?

समाधान—बोधैकरस आत्माका स्वरूप ज्ञान कूटस्थ तथा अव्यभिचारी है, परन्तु देहादिमें आत्माकी भ्रान्ति होनेसे अविवेकियोंकी आत्मामें भी कर्तृत्व आदि बुद्धि होती है, आत्मविद्यासे कार्यकारण दोनोंकी निवृत्ति होनेपर अपूर्वाद्यात्मभावसे आत्मामें आत्माको देख सकते हैं ॥ ६९ ॥

'एतदेव' इत्यादि । जीवब्रह्मैक्यकी विवक्षासे श्रुति प्रतिपादन करती है कि यह आत्मा हृदयाकाशमें सब कार्योंको समेट कर सोता है । भाव यह है कि 'य एषोऽन्तर्हृदय आकाश०' इत्यादि श्रुतिमें 'य एष' इन दो पदोंका उपादान जीवब्रह्मैक्यका बोधन करनेके लिए किया गया है । 'यः' शब्दका अर्थ स्वप्रकाश है । यही अर्थ 'तत्त्वमसि' इस वाक्यमें स्थित 'तत्' शब्दका है, वही स्वप्रकाश अरोक्षानुभवस्वभाव एष शब्दका है, जो ब्रह्मस्वरूप है । 'य एष' ये दोनों समानविभक्तिक नाम हैं, अतः दोनों पदार्थोंका अभेदान्वय होता है । अभेदका तात्पर्य ऐक्यमें है, अतएव 'अन्तर्हृदये' यह भी कहा । आत्माकी उपलब्धि प्रायः हृदयमें होती है, इसलिए हृदय स्थान कहा गया है और यही स्थान ब्रह्मका भी शास्त्रमें बतलाया गया है, उपनिषदोंमें यह अतिस्पष्ट है । अतः दोनोंका स्वरूपतः और स्थानतः ऐक्य ही अनुकूल है, इसी बोधके लिए 'हृदयेऽन्तर्ब्रह्म' इत्यादिसे ब्रह्मका स्थान हृदय कहा गया है ॥ ७० ॥

'बुद्धिर्हृदय०' इत्यादि । तात्स्थ्यसे हृदयशब्दसे हृदयस्थ बुद्धि विवक्षित है,

बुद्धेरन्तः प्रतीचोऽन्यो नाऽर्थः सम्भाव्यते यतः ।
तस्मादाकाशशब्देन प्रत्यगात्मेह गृह्यते ॥ ७२ ॥

इसलिए हृदयशब्दका औपचारिक प्रयोग बुद्धिमें है। आकाशशब्द यद्यपि रूढ़िसे भूताकाशमें प्रयुक्त होता है, तथापि उसका यौगिक प्रयोग ब्रह्ममें भी होता है। क्योंकि काश दीप्तौ धातुसे आसमन्तात् काशते इस व्युत्पत्ति द्वारा निष्पन्न आकाशशब्द चैतन्यरूप ब्रह्मका वाचक है। आत्मामें बुद्धिस्थत्व प्रसिद्ध ही है, अतः ब्रह्म भी बुद्धिस्थ है, ऐसा कहनेसे दोनोंका ऐक्य सिद्ध होता है, इसीलिए हृदयशब्दका पुण्डरीकाकार मांसखण्ड जो मुख्य अर्थ है, उसका त्यागकर 'रूढिर्योगाद्बलीयसी' इस न्यायका भी अनादर कर विवक्षितार्थकी सिद्धिके लिए अमुख्यार्थका ग्रहण किया गया है।

शङ्का- -जीवब्रह्मैक्यका तात्पर्य दोनोंके तादात्म्यमें है, अथवा ऐक्यमें ? प्रथम पक्षमें दोनोंका भेद भी सिद्ध होगा, क्योंकि तादात्म्य भेदघटित होता है, सो अद्वैतवेदान्तियोंको इष्ट नहीं है, द्वितीय पक्षमें पदान्त व्यर्थ है। 'य' और 'एतद्' इन दोनोंका अर्थ एक ही है सो एक ही पदसे प्रतीत हो गया, इसलिए पदान्तर अनावश्यक है।

समाधान – दोनोंका अर्थ एक ही है; लेकिन व्यावर्त्त्य भिन्न-भिन्न हैं, इसलिए उभयका उपादान आवश्यक है। जैसे घटाकाश और महाकाश इन दो पदोंसे एक ही अर्थका अभिधान होता है, परन्तु व्यावर्त्य भिन्न-भिन्न है, घटाकाश कहनेसे महाकाशकी व्यावृत्ति होती है और महाकाश कहनेसे घटाकाशकी व्यावृत्ति होती है, वैसे ही प्रकृतमें स्वप्रकाशसे अस्वप्रकाशकी व्यावृत्ति और प्रत्यग् आत्मासे अनात्माकी व्यावृत्ति होती है, इसलिए दोनोंका उपादान युक्तियुक्त है। अतः 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इत्यादि श्रुतिमें सत्यादि पदोंका उपादान सुसङ्गत होता है, अन्यथा वहाँ भी अन्य पदका उपादान व्यर्थ हो जायगा, 'तदादाय आकाशे शेते' इस कथनसे जीवब्रह्मैक्य-बुद्धि सिद्ध होती है ॥ ७१ ॥

भूताकाशरूप मुख्यार्थका त्याग कर आकाशशब्द चित्परक है, इसमें कारण कहते हैं- 'बुद्धेरन्तः' इत्यादिसे।

बुद्धिके भीतर प्रत्यग् आत्मासे अतिरिक्त किसी अन्य पदार्थकी स्थिति असंभव है; इसलिए योग्यतावश आकाशशब्दसे ब्रह्म ही प्रकृतमें विवक्षित है।

प्राणादीनां यतो जन्म वक्ष्यते प्रत्यगात्मनः ।
तस्माच्चाऽऽकाशशब्देन ब्रह्मैवाऽत्राऽभिधीयते ॥ ७३ ॥
अधिष्ठानत्वमन्तस्त्वमपरिच्छिन्नवस्तुनः ।
अन्तर्बहिर्विकारोऽयं न मुख्य उपपद्यते ॥ ७४ ॥

शङ्का—ब्रह्मके समान भूताकाश भी बुद्धिके भीतर रहता है, क्योंकि भूताकाश भी उसके समान व्यापक है ।

समाधान—हां, आकाश भी सर्वगत है, किन्तु आकाशशब्दसे उक्त आत्माका उसके आगेके वाक्यमें स्थित 'एतत्' शब्दसे परामर्श कर उसीसे प्राणादिकी उत्पत्ति बतलाई गई है—'एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च' इत्यादि । अतः आकाशशब्दसे ब्रह्म ही प्रकृतमें ग्राह्य है, ब्रह्म हीसे सकल संसारकी उत्पत्ति मानी जाती है । 'सर्वाणि ह वा इमानि भूतानि आकाशादेव समुत्पद्यन्ते' इत्यादि श्रुतिमें स्पष्ट ही आकाशशब्दसे ब्रह्मका अभिधान माना जाता है । अन्यथा सर्वशब्दको संकुचितवृत्तिक मानना पड़ेगा, कारण कि सब भूतोंमें आकाश भी आता है । आकाशकी उत्पत्ति आकाशसे नहीं हो सकती, इसलिए आकाशसे अन्य भूतोंके तात्पर्यसे सर्वशब्दका प्रयोग करना पड़ेगा, असंकुचित वृत्तिसे अर्थ हो सकनेपर संकुचित वृत्तिसे अर्थ करना अयुक्त है । एवं 'आकाशो ह नाम रूपयोर्निर्वहिता' इस श्रुतिमें नामरूपात्मक सृष्टिका निर्वाहक जो आकाश बतलाया गया है, वह ब्रह्म ही हो सकता है, अचेतन भूताकाश नहीं । 'सता सोम्य तदा सम्पन्नो भवति' इस श्रुतिसे सुषुप्तिदशामें जीवकी ब्रह्मसम्पत्ति स्पष्ट कही है, अतः ब्रह्माकाशसे अतिरिक्त आकाश यहाँ अभीष्ट नहीं है ।

'प्राणादिना' इत्यादि । चूँकि ब्रह्मसे ही प्राणादिकोंका जन्म है, इसलिए आकाशशब्दसे ब्रह्म ही यहां कहा गया है ॥ ७३ ॥

'अधिष्ठान०' इत्यादि । 'य एषोऽन्तर्हृदय आकाशस्तस्मिञ्छेते' इस श्रुतिवाक्यसे सब पदार्थोंका उसमें अधिष्ठानत्व और सर्वान्तरत्व कहा गया है । तथा 'एतस्मादात्मनः सर्वे प्राणाः सर्वे लोकाः' इत्यादि वाक्यसे (अन्तः) प्राणादिका और (बहिः) लोकादि विकारका हेतुत्व आगे कहा जायगा । ये सब आकाश-शब्दके मुख्य अर्थ भूताकाशमें नहीं घट सकते, इसलिए आकाशशब्द ब्रह्मपरक है, यही अर्थ उचित है ॥ ७४ ॥

पराक्प्रमेयभूमिभ्यो मनसि व्युत्थिते सति ।
अनन्यबोधप्रात्यक्षाद्य एष इति भण्यते ॥ ७५ ॥
स्वतोऽवगमरूपेऽस्मिन् कूटस्थे निर्द्वयात्मनि ।
कात्स्न्येनाऽवस्थितिर्भोक्तुः शेत इत्यभिधीयते ॥ ७६ ॥
घटभङ्गे यथाऽऽकाशो महाकाशान्न भिद्यते ।
विज्ञानलोपे विज्ञानमयस्यैवं परात्मता ॥ ७७ ॥

'पराक्०' इत्यादि । 'पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयम्भूः' इत्यादि श्रुति द्वारा उपदिष्ट प्रकारसे मन आदिकी स्वतः प्रवृत्ति पराग्विषयमें (आत्म-व्यतिरिक्त विषयमें) होती है; यह ज्ञात होता है । यह केवल श्रुतिगम्य ही नहीं है, किन्तु सर्वानुभवसिद्ध भी है । मनको अन्वय-व्यतिरेक द्वारा बाह्य विषयोंसे अलगकर जब आत्मविषयमें लगाया जाता है, तब तदेकतान दृष्टिसे निरुपाधिक स्वप्रकाशानुभवस्वरूप आत्मा प्रतीत होता है; यही 'य' और 'एष' शब्दसे कहा जाता है । यह अर्थ विद्वानोंके अनुभवका अनुसरण करनेवाला है, अतः अनन्यबोध स्वप्रकाश अपरोक्ष चिदात्माके ज्ञानके लिए 'य' और 'एष' यों प्रत्यक्षार्थक दो पदोंका प्रकृतमें प्रयोग किया गया है ॥ ७५ ॥

शयनशब्दका अर्थ कहते हैं—**'स्वतो'** इत्यादिसे ।

स्वयंप्रकाश बोधस्वरूप कूटस्थ अद्वितीयात्मामें सर्वात्मरूपसे भोक्ता जीवका अवस्थान ही शयन कहलाता है। सुषुप्ति अवस्थामें जीव ब्रह्मसे अभिन्न है, इसलिए सुषुप्तिमें शरीराभिमानसे होनेवाले सांसारिक सकल सुख, दुःख आदिकी निवृत्ति हो जाती है। चूँकि 'सुखमहमस्वाप्सम्' ऐसा जागनेपर पुरुषको स्मरण होता है, इस-लिए सुषुप्तिमें आत्मस्वरूपभूत सुखका निर्विकल्पक अनुभव होता है ॥७६॥

'घटभङ्गे' इत्यादि । जैसे घटके नष्ट होनेपर घटावच्छिन्न आकाश महाकाशस्वरूप हो जाता है, उससे भिन्न नहीं होता और जैसे विज्ञानका लोप होनेपर विज्ञानमय आत्मा परमात्मस्वरूप हो जाता है, उससे भिन्न नहीं होता । वास्तवमें उन दोनोंका भेद विज्ञानोपाधिप्रयुक्त ही है । घटाकाश महाकाशसे भिन्न नहीं है, किन्तु जब घटादिरूप उपाधिका भेद रहता है, तब उक्त उपाधिभेदप्रयुक्त ही घटाकाशसे महाकाश भिन्न है, यह व्यवहार होता है, वैसे ही प्रकृतमें भी वस्तुतः जीव और ब्रह्ममें भेद नहीं है, पर उपाधिदशामें उनके भेदका व्यवहार होता है, अतः वह उपाधिनिबन्धन है, स्वतः दोनोंमें भेद नहीं है ॥ ७७ ॥

देहाद्यध्यक्षतां हित्वा सुप्तौ स्वात्मनि वर्त्तते ।
इत्येतत्साध्यते श्रुत्या समाख्यायाश्च युक्तितः ॥ ७८ ॥
स्वप्नस्य स्वपितीत्येषा समाख्या सर्वसम्मता ।
निरुक्तिमाहुश्छन्दोगाः स्वमपीत इतीदृशीम् ॥ ७९ ॥
अतः समाख्यया सुप्तौ स्वाभाविक्यात्मना स्थितिः ।
युक्तिश्चोपाधिसंहारः संसारित्वनिवृत्तये ॥ ८० ॥

'देहाद्यध्यक्षताम्' इत्यादि ।

शङ्का—सुषुप्ति अवस्थामें जीव ब्रह्मसे अभिन्न होता है, ऐसा यदि मानो, तो उसी कालमें मुक्ति होनी चाहिए, क्योंकि निरुपाधिस्वरूपसे आत्माका अवस्थान ही मुक्ति है, उससे अतिरिक्त नहीं है; फिर उसके लिए श्रवण, मनन आदिका विधान ही व्यर्थ है और सुषुप्तिके अनन्तर किसीकी मुक्ति होती भी नहीं, क्योंकि सुप्तोत्थित पुरुष पूर्ववत् संसारी ही देखा जाता है ।

समाधान—ठीक है, किन्तु यहां देहद्वयाभिमानराहित्यमात्रसे जीवब्रह्मका अभेद विवक्षित है, इसी तात्पर्यसे कहते हैं—देहादिकी याने देह, इन्द्रिय, मन, प्रभृतिकी अध्यक्षताका त्यागकर सुषुप्तिकालमें विज्ञानमय आत्मा स्वात्मस्वरूपमें अवस्थित होता है। इसी बातको 'तानि यदा गृह्णाति' इस श्रुतिसे भी सिद्ध करते हैं एवं स्वपितिसमाख्या द्वारा और युक्तिसे भी उक्तार्थकी सिद्धि करते हैं ॥ ७८ ॥

'स्वप्नस्य' इत्यादि । स्वप्नकी स्वपिति' यह समाख्या 'सर्वसम्मत है' । यौगिक शब्दको समाख्या कहते हैं अर्थात् जिसके अर्थका व्युत्पत्तिसे बोध हो, जैसे कर्ता, भोक्ता इत्यादि । एवं स्वपितिका निर्वचन 'स्वमपीत' इत्यादिसे पूर्वमें कह चुके हैं । छन्दोगोंने भी निर्वचन कहा है ।

शङ्का—क्या निर्वचन कहा है ?

समाधान—'स्वमपीतः' ऐसा निर्वचन कहा है । अपीतशब्दका अर्थ लय है, अतः सुषुप्तिमें आत्मा लीन होता है, यह फलित होता है । यद्यपि आत्मा नित्य है, अतएव उसका वास्तविक लय नहीं हो सकता, फिर भी अभेदसे अवस्थान-मात्रके तात्पर्य्यसे लयका प्रयोग किया गया है ॥ ७९ ॥

'अतः समाख्यया' इत्यादि । अतः याने सुषुप्तिकालमें स्वपितिसमाख्यासे आत्माका अनौपाधिकरूपसे अवस्थान सूचित किया गया है । उपाधिका इन्द्रिय आदिका—उपसंहाररूप युक्ति संसारधर्मकी निवृत्तिके लिए कही गई है

वागाद्युपाधिसम्बन्धात् संसारित्वमिवेक्ष्यते ।
ते तूपसंहृताः सर्वे ततोऽसंसारिताऽऽत्मनः ॥ ८१ ॥

श्रुतिः—तानि यदा गृह्णात्यथ हैतत्पुरुषः स्वपिति नाम तद्गृहीत एव प्राणो भवति, गृहीता वाग्गृहीतं श्रोत्रं गृहीतं मनः ॥ १७ ॥

अन्वयव्यतिरेकसे कर्तृत्व आदि सांसारिक धर्मोंका भान इन्द्रियादि उपाधियोंकी समवधानदशामें ही होता है, असमवधानदशामें नहीं होता; इसलिए 'तदागमे हि दृश्यते' इस न्यायसे उक्त धर्म उपाधियोंके ही हैं और उपाधिधर्म आत्माके नहीं हैं, यह निश्चित किया गया है ॥ ८० ॥

'वागाद्युपाधिसम्बन्धात्' इत्यादि । वाक् आदि इन्द्रियरूप उपाधिके संबन्धसे जाग्रत् और स्वप्न अवस्थामें कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि संसारधर्मोंकी आत्मामें प्रतीति होती है । उक्त अवस्थामें 'अहं कर्त्ता', 'अहं भोक्ता', यह अभिमान आत्मामें होता है और सुषुप्ति-दशामें उक्त उपाधियोंका संस्काररूपसे अपने कारणमें अवस्थितिरूप उपसंहार होता है, अतः आत्मामें स्पष्टरूपसे असंसारिताका अनुभव होता है, अतएव 'न किञ्चिदवेदिषम्' (मैंने कुछ नहीं जाना), ऐसा जागनेपर पुरुषको स्मरण होता है । यद्यपि उपाधिकी अनुपसंहारदशामें वास्तविक कर्तृत्व आदि आत्मामें नहीं हैं, किन्तु जैसे जपाकुसुमके सन्निधानमात्रसे स्फटिकमें रक्तिमाकी प्रतीति होती है, वैसे ही उक्त धर्मवाले चित्तके सन्निधानसे संसारधर्मकी आत्मामें प्रतीति होती है; इसलिए आत्मा उक्त धर्मवाला नहीं कहा जा सकता, तथापि अविवेकियोंको तादृश प्रतीति होती है, इस अर्थको स्फुट करनेके लिए 'धर्मवानिव' यहाँ 'इव' शब्दका प्रयोग किया गया है ॥ ८१ ॥

'तानि यदा गृह्णाति' इत्यादि श्रुति । जिस कालमें पुरुष वागादि विज्ञान-साधन इन्द्रियोंका ग्रहण करता है; उस कालमें [यहाँ 'पुरुषः' यह प्रथमा षष्ठीके अर्थमें है, 'व्यत्ययो बहुलम्' यह अनुशासन भी है] पुरुषकी 'स्वपिति' ऐसी समाख्या (नाम) होती है अर्थात् 'स्वपिति' इस यौगिक नामसे पुरुष प्रसिद्ध होता है । तत्—तदा—याने स्वापकालमें प्राण भी गृहीत ही हो जाता है ।

शङ्का—प्राण तो उक्त समयमें गृहीत नहीं हो सकता, क्योंकि उसका श्वास-प्रश्वासरूप व्यापार निरन्तर जारी रहता है, अतएव उसे 'अनस्तमिता देवता' पूर्वमें कहा है ।

सुप्तौ क्वाऽभूदितिप्रश्नो यः स एवं विचिन्तितः ।
तेनाऽसंसारितैतस्य स्वभाव इति निश्चितम् ॥ ८२ ॥

समाधान—सत्य है, यहां प्राणशब्द मुख्य प्राणका वाचक नहीं है; किन्तु इन्द्रियोंके प्रकरणके अनुसार घ्राणेन्द्रियका वाचक है। 'वाक्' शब्द कर्मेन्द्रियोंका उपलक्षण है। वागादि कर्मेन्द्रियाँ भी गृहीत हो जाती हैं। श्रोत्र, मन आदि सब गृहीत हो जाते हैं। इस अन्वय-व्यतिरेकसे आत्मामें वागादि उपाधिसे संसारित्व और युक्तितः पारमार्थिक असंसारित्व है, ऐसा स्पष्टरूपसे प्रतीत होता है ॥ १७ ॥

'सुप्तौ' इत्यादि। राजाने बालाकिके प्रति जो यह प्रश्न किया था कि सुषुप्तिकालमें आत्मा कहां है? उस प्रश्नका विचार हो गया। उक्त प्रश्नके विचारका परिणाम यह हुआ कि आत्मा असंसारिस्वभाव है, यह स्पष्टरूपसे निश्चित हुआ। अनेक उपाधियोंके सन्निधानसे प्रतीयमान विविध धर्म वस्तुतः किसमें हैं, इसका विवेक विश्लेषणके बिना नहीं हो सकता। और प्राकृतिक पदार्थोंके विश्लेषणके उपायसे चिदचित्का विश्लेषण ठीक नहीं होता, इसलिए स्वप्नावस्थारूप विश्लेषणका उपाय परमदयालु परमात्माने ही स्वयं कर दिया है। केवल जिज्ञासुओंका उसके द्वारा लाभ उठानामात्र कर्तव्य है। यह विवेक मनुष्ययोनिमें ही हो सकता है, अन्य योनिमें नहीं हो सकता। यदि अधिकारी उसके द्वारा आत्मतत्त्वका विवेक न करे, तो उसका दुर्भाग्य है; ईश्वरने तो बन्धसे मुक्त करनेका उपाय बन्धके साथ साथ कर ही दिया है, इस विषयका विशेष विस्तार अन्यत्र है।

शङ्का—स्वप्नमें सब इन्द्रियोंका वियोग होनेपर भी आत्मामें सुखादिका अनुभव होता है; इसलिए संसारित्व औपाधिक कैसे कहते हो; मन इन्द्रिय नहीं है, अतः उसका संबन्ध रहनेपर भी इन्द्रियोंका उपसंहार माननेमें कोई क्षति नहीं है।

समाधान—स्वप्नमें जो सुख, दुःख आदिस्वरूप संसार आत्मामें प्रतीत होता है, वह मिथ्या है, आत्माका वस्तुतः न स्वाप है, न प्रबोध है; किन्तु आत्माकी अविद्यासे ही जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति आदि अवस्थाएं हैं, क्योंकि 'असङ्गो ह्ययं पुरुषः' इस श्रुतिसे ज्ञात होता है कि असङ्ग आत्मामें जाग्रदादि अवस्थाओंका सङ्ग नहीं हो सकता, अतएव 'स्वभावस्तु प्रवर्तते' इत्यादि भी उसके पोषक वचन हैं; स्वभावशब्दसे प्रकृतमें अविद्या विवक्षित है ॥ ८२ ॥

सुप्तः प्रबुद्ध इत्येवं स्वप्नं पश्यति चेति यः ।
विकल्प एष भूतानामविद्यारात्रिशायिनाम् ॥ ८३ ॥
चित्तसम्मोहमात्रेऽस्मिंल्लोकोऽयं परिखिद्यते ।
दिङ्मोहाकुलविज्ञानो नष्टमार्ग इवाऽध्वगः ॥ ८४ ॥

'सुप्तः' इत्यादि । 'सोया है, जागा है, स्वप्न देखता है' इत्यादि व्यवहार अविद्यारूपी निशामें सोनेवाले अविद्यापरायण पुरुषोंका विकल्पमात्र है अर्थात् 'शब्द-ज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः' इस योगसूत्रके अनुसार आकाशपुष्प आदिके प्रत्ययके समान वस्तुशून्य प्रत्ययमात्र है, तीन अवस्थाएँ नहीं हैं। अतएव स्थावर, जङ्गम आदि जो कुछ संसार देखते हो, वह सब मायामात्र है । जैसे रज्जुमें सर्प प्रतीत होता है, वैसे ही ब्रह्ममें जगत् प्रतीत होता है । रज्जुके समान प्रकृतमें पर तत्त्व ब्रह्म ही है, निरधिष्ठान भ्रम नहीं माना जाता, अतः तत्त्वका भी निर्देश किया गया है ॥ ८३ ॥

'चित्त०' इत्यादि । संसार केवल चित्तके संमोहसे हुआ है, वास्तविक नहीं है, लोक अर्थात् प्राणिसमुदाय व्यर्थ ही संसारसे खिन्न होते हैं । दिङ्मोह—दिशामें भ्रम—होनेपर जैसे पथिक गन्तव्य मार्गका परित्याग कर यत्र-तत्र पर्यटन कर परिश्रान्त होता है और गन्तव्य स्थलमें न पहुँचकर ऐसी जगह पहुँच जाता है, जहाँ अनेक प्रकारके कष्ट भोगने पड़ते हैं, वैसे ही संसारी पथिक भ्रान्तचित्त होकर गन्तव्य परम पदको न पहुँचकर संसारस्थ अनेक योनियोंमें प्रविष्ट होकर विविध दुःखोंका अनुभव करता है । विचार कर देखनेसे संसार और स्वप्नमें कोई अन्तर नहीं है । अज्ञानसे बन्ध और ज्ञानसे मोक्ष होता है, यह अद्वैत वेदान्तका सिद्धान्त है ।

शङ्का—आत्माको आप स्वयंप्रकाश मानते हैं, उसमें विरोधी अज्ञान तो हो ही नहीं सकता, किन्तु ज्ञान ही हो सकता है, अतः मोक्ष ही होना चाहिए, बन्ध क्यों हुआ ?

समाधान—भगवान्‌ने स्वयं अपने श्रीमुखसे गीतामें इसका उत्तर दिया है—

न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः
माययाऽपहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः ।
दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ॥

इति प्रपञ्चमिथ्यात्वं विस्पष्टयितुमञ्जसा ।
महाराजादयः श्रुत्या लोकाः स्वाप्ना उदाहृताः ॥ ८५ ॥

श्रुतिः—स यत्रैतत्स्वप्न्यया चरति ते हास्य लोकास्तदुतेव महाराजो

मायासे पार पानेका उपाय भगवान्ने स्वयं कहा है—मत्प्रपत्ति अर्थात् मेरी (भगवान्की) प्राप्ति ।

शङ्का—भगवत्प्राप्तिका उपाय क्या है ?

समाधान—यह सब जगत् सत्यज्ञानादिलक्षण ब्रह्म ही है; अतिरिक्त नहीं है, इसीकी वैराग्यादि-पुरःस्सर निरन्तर भावना करनी चाहिए । इस भावनाके परिपाकसे आत्मैकत्वकी प्रतिपत्ति अर्थात् भगवत्प्राप्ति होती है ।

शङ्का—क्या प्रत्यक्षसे भगवान्की प्रतिपत्ति नहीं होती ?

समाधान—नहीं, प्रत्यक्ष अविद्यासे उत्पन्न द्वैतमात्रमें पर्य्यवसन्न है; अतः प्रत्यक्ष उसका प्रकाशक नहीं हो सकता, उक्त तीन अवस्थाओंमें मिथ्यात्वका निश्चय होनेके बाद तत्पदार्थका परिशोधन होता है; तदनन्तर 'तत्त्वमसि' आदि वाक्यसे अविद्यानिवर्त्तक आत्मतत्त्वका निश्चय होता है; उसके बाद सर्वानर्थकी निवृत्ति फलित होती है ॥ ८४ ॥

'इति प्रपञ्च०' इत्यादि । संपूर्ण जगत् मिथ्या है; इसकी अनायास सिद्धिके लिए महाराजादि लोक और स्वप्नका उदाहरण श्रुतिने दिया है; इसका विशेष निरूपण श्रुत्यर्थके निरूपणके समय करेंगे ॥८५॥

यद्यपि वार्तिकसारकी पुस्तकमें पूर्वमें श्रुत्यर्थका निरूपण करके श्रुति लिखी है, पर यह मुद्रणक्रम ठीक नहीं है । क्योंकि पूर्वमें व्याचिख्यासित श्रुति लिखकर अनन्तर उसका व्याख्यान उचित होता है; पूर्वमें ऐसा ही किया गया है; इसलिए यहां व्युत्क्रम मुद्रणके समय हो गया होगा, अतः पूर्वमें श्रुतिका व्याख्यान करके पश्चात् श्लोकार्थ लिखना समुचित समझकर श्रुत्यर्थ लिखनेके लिए श्रुतिका निर्देश करते हैं—**'स यत्रैतत्'** इत्यादि ।

शङ्का—सुख-दुःखादिका उपभोगरूप संसारधर्म आत्मामें औपाधिक है; स्वाभाविक नहीं है, इसमें उपपत्ति यह दी गई है कि सुषुप्त्यवस्थामें वागादि इन्द्रियोंका उपसंहार होनेसे आत्मामें उक्त धर्मकी प्रतीति नहीं होती और जाग्रत्कालमें वागादिके समवधानसे आत्मामें उक्त धर्मकी प्रतीति होती है; अतः अन्वयव्यतिरेकसे उक्त धर्मकी

भवत्युतेव महाब्राह्मण उत वोच्चावचं निगच्छति, स यथा महाराजो जानपदान् गृहीत्वा स्वे जनपदे यथाकामं परिवर्तेतैवमेवैष एतत्प्राणान्गृहीत्वा स्वे शरीरे यथाकामं परिवर्त्तते ॥ १८ ॥

प्रतीति आत्मामें इन्द्रियोपाधिक है, स्वाभाविक नहीं है, यह मानना चाहिए, पर यह ठीक नहीं है, कारण कि स्वप्नावस्थामें यद्यपि इन्द्रियोंका उपसंहार सुषुप्तिके समान ही है, तथापि सुखादिकी प्रतीति जाग्रत्कालके समान होती है, इसलिए सुखादि वास्तविक आत्मधर्म ही हैं, औपाधिक नहीं हैं ।

समाधान—नहीं; ऐसा नहीं कहना चाहिए, क्योंकि स्वप्नकालमें प्रतीथमान सुखादि रज्जुसर्पके समान मिथ्या हैं; अतएव जब वे वस्तुधर्म ही नहीं हो सकते, तब आत्मधर्मकी क्या संभावना ? इसीका उपपादन श्रुत्यर्थके निरूपण द्वारा किया जाता है । वह आत्मा जिस समय दर्शनात्मक स्वप्नवृत्तिसे युक्त होता है अर्थात् स्वप्न देखता है उस समय वह लोक याने कर्मफल भोगता है ।

शङ्का—कौन कर्मफल ?

समाधान—शुभाशुभ कर्मफल । शुभ कर्मके फलसे स्वप्नमें छत्र, चामर आदिसे युक्त 'मैं महाराज हूँ' यों अपनेको महाराज देखता है । वास्तवमें महाराजके सदृश अपनेको देखता है, यह ठीक ही है, पर वह द्रष्टा वस्तुतः महाराज नहीं हुआ है; अतः उसका लोक भी महाराजके समान ही है । जागर अवस्थाके महाराजके समान लोक भी नहीं है; अतएव श्रुतिमें इवशब्दका प्रयोग है—'महाराज इव' (महाराजके समान अर्थात् महाराज नहीं) । अतः बन्धुवियोगादिजनित शोक आदिका सम्बन्ध स्वप्नकालमें आत्मामें नहीं है ।

शङ्का—'विमता लोका न मिथ्या, तत्कालाव्यभिचारित्वात्, जाग्रल्लोकवत्', इस अनुमानसे जाग्रत्-कालके समान स्वप्नकालमें महाराजत्वादि लोकोंको भी, उस कालमें अव्यभिचारी होनेसे, सत्य ही मानना चाहिए, अन्यथा जाग्रत्कालिक महाराजत्वादि भी स्वप्नमें व्यभिचरित हैं, इसलिए वे भी सत्य नहीं होंगे, क्योंकि तत्कालाव्यभिचारित्व दोनोंमें समान है, अतः स्वाप्निक महाराजत्वादि अविद्यारोपित हैं; जाग्रत्कालिक महाराजत्वादि नहीं, यह वैषम्य उपपत्तिशून्य है ।

समाधान—ठीक है, यद्यपि पूर्वमें जाग्रत्कार्यकरणात्मत्व और देवतात्मत्व आत्मामें अविद्यासे आरोपित हैं, पारमार्थिक नहीं हैं, पाणिपेषणन्याय द्वारा विज्ञानमय

देहादिसंघातसे अतिरिक्त है तथा जाग्रत्कालिक लोकादि भी मिथ्या है, केवल आत्मा ही परमार्थ सत्य है, यह कहा है; अतः जाग्रल्लोकको दृष्टान्त देकर स्वाप्निक लोकमें सत्यत्वकी शंका नहीं हो सकती, तथापि देह आदिमें आत्माका विवेक करनेके लिए पाणिपेषणादि ग्रन्थ है। 'स्थूलोऽहम्' इत्यादि जाग्रत्कालिक प्रतीति जैसे मिथ्या है, वैसे ही जाग्रत्कालिक अन्य पदार्थोंमें मिथ्यात्व आर्थिक सिद्ध होता है, तो भी इसको अविद्यमान समझकर जाग्रद्-दृष्टान्तसे स्वाप्निक पदार्थोंमें सत्यत्वकी शंका की गई है। इस शंकाका निरासकर स्वाप्निक मिथ्यात्वकी उक्तिसे जाग्रत् भी मिथ्या ही है, ऐसा साधन किया है, अतः देहसे युक्त आत्माकी शुद्धि स्वप्नवाक्यमें अभीष्ट है। वस्तुतः असत् दृष्टान्तको लेकर स्वप्नसत्यत्वकी शंकाकर उसके निराकरणसे आत्मामें सब प्रकारके धर्मोंका निरास स्वप्न-वाक्यसे कहा गया है; जाग्रत् भी स्वप्नके समान मिथ्या होनेसे एकरस परिशुद्ध आत्मा ही आखिरमें सिद्ध होता है।

यदि शङ्का हो कि पाणिपेषणवाक्यसे जगत्को मिथ्या सिद्ध करनेपर आत्मशुद्धि अर्थात् सिद्ध होती है, फिर उसी शुद्धिको स्वप्नवाक्यसे कहते हैं; अतः पुनरुक्ति दोष अपरिहार्य है, तो ऐसी शङ्का ठीक नहीं है, क्योंकि यत्किञ्चित्सामान्यसे पुनरुक्ति प्रायः सर्वत्र रहती है पर अवान्तर विशेषरूपसे अपुनरुक्ति यहांपर भी है। पूर्वत्र शुद्धि आर्थिक है, यहां वाचनिक है, यह परिहार स्पष्ट है। स्वप्नमें अनुभूत महाराजादि आत्मस्वरूप नहीं हैं, क्योंकि वे भी दृश्य होनेसे घटादिके समान भिन्न हैं। किञ्च जाग्रद्-दृष्टसे स्वप्नदृष्ट भिन्न है, अतः स्वप्नदृष्ट मिथ्या है। राजा पलङ्ग पर सोये हैं, यह पार्श्वस्थ लोग स्पष्टरूपसे देख रहे हैं, पर स्वप्न देखनेवाले देखते हैं कि राजा वनमें शिकार खेल रहे हैं, इसलिए स्वप्नप्रत्यय मिथ्या ही है। और इसपर भी दृष्टि दीजिये—राजा पलङ्गपर सोये हुए हैं और अमात्य आदि परिचारक-गण भी अपने अपने स्थानमें सो गये हैं, ऐसे समयमें राजा स्वप्न देखते हैं कि मैं अपने प्रकृतिवर्गके साथ वनमें घूम रहा हूँ और इष्ट भोगोंका उपभोग कर रहा हूँ, इस प्रकार अपनी स्वप्नवेलामें पलङ्गपर सोये राजासे अतिरिक्त अपने प्रकृतिवर्ग सहित वनमें घूमता हुआ क्या राजा लोकमें प्रसिद्ध है जिसको सोया हुआ राजा देखता है? और उस कालमें चक्षु आदि इन्द्रियोंका उपसंहार होनेसे रूपादि-विशिष्टका दर्शन भी नहीं हो सकता, क्योंकि रूपादिविशिष्टके दर्शनमें चक्षुरादि हेतु हैं और देहमें उस देहके तुल्य अन्य देहका सम्भव भी नहीं है, अतः

पाणिपेषप्रबोधेन देहादीनामनात्मता ।
यद्यप्युक्ता, तथाऽप्यात्मविशुद्धिस्तावता नहि ॥ ८६ ॥
सिद्धा देहादितादात्म्यमात्रस्यैव मृषात्मता ।
न तु देहस्य मिथ्यात्वं तेन सङ्गोऽस्य शङ्क्यते ॥ ८७ ॥

देहके भीतर ही जीव स्वप्न देखता है; यह आगे स्पष्ट होगा। यदि देहसे बाहर निकल कर स्वप्न देखा जाता, तो योग्य देशान्तर होनेसे सत्यताका संभव हो सकता, पर ऐसा होता नहीं है। पर्य्यङ्कमें ही सोया हुआ पुरुष मार्गमें अपनेको देखता है, शरीरसे बाहर होकर नहीं, यह **'स यथा महाराजो'** इत्यादि श्रुति स्पष्ट कहती है।

जनपद नाम देशका है, उसमें उत्पन्न हुआ जानपद कहलाता है। भृत्यगण तथा अन्य दर्शकगणको लेकर राजा अपने विजित देशमें जैसे यथेष्ट विहार करता है, वैसे ही यह विज्ञानमय आत्मा वागादि इन्द्रियोंको लेकर जागरित स्थानसे उठकर अपने देहमें ही स्वप्नस्थानमें यथेष्ट विहार करता है, यही स्वप्न कहलाता है। कामकर्मानुकूल पूर्वानुभूतकी समुद्‌बुद्ध वासनासे अनुभूत वस्तुओंके सदृश वस्तुओंको देखता है; अतः स्वप्न मृषा है। अतएव आरोपित लोक अविद्यमान ही रहता है। एवं जागरितमें प्रतीयमान लोक भी मृषा ही समझना चाहिए, अतः दर्शनमात्रसे उक्त दो अवस्थाओंमें वस्तुसत्ता सिद्ध नहीं हो सकती, इससे विशुद्ध तथा क्रियाकारकफलशून्य विज्ञानमय आत्मा है; यह सिद्ध होता है। जैसे स्वप्नमें दीखनेवाला लोक मिथ्या है, वैसे ही जागरितमें भी क्रियाकारकफलात्मक कार्य-करणलक्षण लोक मिथ्या है, उससे अतिरिक्त विज्ञानमय आत्मा विशुद्ध है, यह निष्कर्ष हुआ ॥ १८ ॥

दो श्लोकोंसे शङ्का और समाधान करते हैं—**'पाणिपेष०'** इत्यादिसे।

यद्यपि देह आदिसे अतिरिक्त आत्मा है, यह पाणिपेषणजन्य बोध द्वारा राजाने बालाकिको स्पष्ट समझा दिया और बालाकि यह अच्छी तरह समझ गये कि आत्मामें देहादितादात्म्य मिथ्या है, अन्यथा जागरित कालके समान स्वप्नकालमें भी नामाभिधानसे ही सुप्तको बोध हो जाता; फिर पाणिपेषणकी आवश्यकता नहीं होती, किन्तु आवश्यकता पड़ी; इसीसे देह आदि अनात्मा और मिथ्या हैं; यह सिद्ध होता है, फिर उसका परिज्ञान करनेके लिए प्रपञ्चमिथ्यात्वकी क्या आवश्यकता है, यह प्रश्न हो सकता है।

तथापि आत्माकी विशुद्धि उससे सिद्ध नहीं होती, क्योंकि उक्त बोधसे आत्मामें

स्पष्टं देहात्मनोर्भेदमभ्युपेत्याऽपि तार्किकाः ।
रागादिसङ्गमिच्छन्ति तन्निवृत्त्यै प्रयत्यते ॥ ८८ ॥
असङ्गत्वस्वभावोऽस्य सुप्तौ यद्यपि वर्णितः ।
तथाऽपि स्वप्नमालम्ब्य सोऽसिद्ध इति शङ्क्यते ॥ ८९ ॥
सर्वेन्द्रियवियोगेऽपि सुखिदुःखित्वमात्मनः ।
स्वप्ने दृष्टमतः सङ्ग आत्मनस्तात्त्विको भवेत् ॥ ९० ॥

प्रतीयमान देहादितादात्म्यमात्र ही मिथ्या सिद्ध होता है, देहमें मिथ्यात्व सिद्ध नहीं होता, इसलिए प्रपञ्चमात्रमें मिथ्यात्वके बोधन द्वारा देहादिमें मिथ्यात्वका बोध करनेके लिए स्वप्नादिका दृष्टान्त श्रुतिने दिया है, अन्यथा—देहादिके अमिथ्या होनेपर— आत्मामें उनके सङ्गकी प्रसक्ति हो जायगी ॥ ८६,८७ ॥

'स्पष्टम्' इत्यादि। नैयायिक आदि तार्किक देह और आत्माका स्पष्ट भेद मानकर भी रागादिका सम्बन्ध आत्मामें मानते ही हैं, उनके मतका निरास करनेके लिए प्रपञ्चमें मिथ्यात्वके साधनका प्रयत्न किया जाता है। प्रपञ्चमें मिथ्यात्वकी सिद्धि होनेपर उसके अन्तर्गत देहादि मिथ्या हैं, यह अनायास सिद्ध हो जाता है; उसमें मिथ्यात्वका सम्बन्ध ही नहीं हो सकता, इसलिए आत्मा परिशुद्ध है, यह निर्विवाद सिद्ध होता है ॥ ८८ ॥

'असङ्गत्व०' इत्यादि ।

शङ्का—प्रपंचमिथ्यात्वके साधनका जो यह प्रयोजन कहा कि यदि प्रपञ्चके समान देह आदि भी सत्य होंगे, तो कर्तृत्व आदि सांसारिक धर्म आत्मामें दुर्वार हो जायेंगे, इसलिए उसका साधन आवश्यक है, सो ठीक नहीं है, कारण कि सुषुप्ति अवस्थामें स्पष्टरूपसे असंसारित्वका वर्णन करनेसे कर्तृत्वादि धर्मकी प्रसक्तिका निराकरण भी हो जाता है, क्योंकि कर्तृत्वादि धर्मोंका संसर्ग यदि आत्मामें होता, तो उक्त अवस्थामें अवश्य प्रतीत होता, पर सुषुप्तिकालमें कर्तृत्वादि धर्मका भान कोई भी नहीं मानता, इसलिए प्रपंचमिथ्यात्वका साधन निष्प्रयोजन है ।

समाधान—स्वप्नावस्थामें इन्द्रियोंका उपसंहार होनेपर भी कर्तृत्वादिकी प्रतीति आत्मामें सर्वानुभवसिद्ध है । यदि संसारको मिथ्या सिद्ध न करेंगे, तो आत्मामें पाणिपेषणन्यायसे उक्त असंसारित्व सिद्ध नहीं होगा, इसी तात्पर्यसे कहते हैं—**'सोऽसिद्धः'** इत्यादि ।

उक्त असंसारित्व धर्मकी सिद्धि आत्मामें नहीं होगी, ऐसी शंका करते हैं— **'सर्वेन्द्रिय०'** इत्यादिसे ।

मैवं मृषात्वात् स्वप्नस्य मनोमात्रविजृम्भणात् ।
बाह्येन्द्रियविलोपेऽपि न मनो लुप्यते तदा ॥ ९१ ॥
महाराजादयः स्वस्य स्वप्नानुभवगोचराः ।
न वास्तवा इति ज्ञेयाः शयानेभ्यः पृथक्त्वतः ॥ ९२ ॥

शङ्का—यद्यपि स्वप्नावस्थामें सब इन्द्रियोंका उपराम है, तथापि स्वाप्निक सुख, दुःखकी प्रतीति उसमें सर्वानुभवसिद्ध है, इसलिए उसको इन्द्रियोपाधिक नहीं कह सकते; किन्तु उसका सङ्ग तात्त्विक ही कहना पड़ेगा ॥ ९० ॥

समाधान—'**मैवम्**' इत्यादि। स्वप्नकालमें चक्षु आदि बाह्य इन्द्रियोंका लोप होनेपर भी मनका लोप नहीं होता, अतः जाग्रद्भोगप्रद कर्मोंका क्षय होनेपर भी दृष्ट और श्रुत अर्थकी भावनासे युक्त मन स्वप्न देखता है, इसलिए कहते हैं—मनोमात्रविजृम्भणात्। यहाँ मात्रशब्दसे विषयादिसत्ताका स्वप्नमें अभाव बोधन करते हैं। उसमें तत्-तत् विषयाकार केवल मनोवृत्ति होती है, वह मिथ्या है। वस्तुतः आत्मामें न स्वाप है, न प्रबोध है, फिर स्वप्न कहां? अविद्यास्वभाव जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्तिरूप अवस्थाएँ हैं। केवल जाग्रदादि ही नहीं, किन्तु स्थावरजङ्गमात्मक समस्त संसार आभासमात्र है, वास्तविक नहीं है ॥ ९१ ॥

'**महाराजादयः**' इत्यादि। अपनेको याने स्वप्नद्रष्टाको होनेवाले स्वप्नानुभवके विषयीभूत महाराज वास्तविक नहीं हैं, क्योंकि वास्तविक महाराज तो पलंगपर सोये हैं, यह बगलमें बैठे हुए मनुष्योंके प्रत्यक्षादि प्रमाणसे सिद्ध है और स्वप्न-द्रष्टा उन्हीं राजाको वनमें घूमते हुए देखता है। यह कैसे सम्भव हो सकता है कि एक अयोगी पुरुष एक ही समयमें घरमें पलंगपर सोया रहे और वनमें घूमता भी रहे।

शङ्का—अच्छा तो स्वाप्निक राजाको ही सत्य मानिए और जागते हुए दृष्ट राजाको मिथ्या मानिये।

समाधान—ऐसा नहीं हो सकता, क्योंकि जाग्रत् राजा तो प्रत्यक्ष प्रमाणसे सिद्ध है।

शङ्का—स्वप्नद्रष्टा भी तो उसी कालके प्रत्यक्षसे राजाको देखता है, इसलिए वह सत्य क्यों नहीं होता?

समाधान—स्वप्नमें जिस राजाको पुरुष वनमें देखता है, वही पुरुष जागनेपर राजाको घरमें ही सोया हुआ देखता है, इसलिए स्वाप्निक राजदर्शन मिथ्या है।

गृहे शयाना ये दृष्टास्ते तु स्वप्ने वनं गताः ।
जाग्रद्दृष्टं मृषा स्वप्ने स्वप्नस्थं जागरे मृषा ॥ ९३ ॥
अन्योऽन्यव्यभिचारित्वात्स्वप्नजाग्रदवस्थयोः ।
मिथ्यात्वमित्यसावर्थः स्वप्नश्रुत्या विवक्षितः ॥ ९४ ॥
स्वप्ने देहाद्बहिर्गत्वा तत्तद्वस्त्ववलोकनात् ।
व्यभिचारो नेति चेत्, न, निस्तनोर्गत्यसम्भवात् ॥ ९५ ॥

पुरुष अपने घरमें स्थित है; अतः वनको जब वहांसे देख ही नहीं सकता, तब राजाका दर्शन उसे कैसे हो सकता है? अतः उसका दर्शन मिथ्या है। चक्षु आदिसे ग्रहण करने योग्य देश भी नहीं है, क्योंकि चक्षु आदि केवल बाह्य पदार्थोंकी उपलब्धिके साधन हैं; अतः अन्तःस्थित पदार्थोंके दर्शनमें बाह्य नेत्र प्रमाण नहीं हो सकते और छोटे परिमाणवाले हृदयमें महापरिमाण नदी, पर्वत, समुद्र आदिके अवस्थानका संभव भी नहीं है ॥ ९२ ॥

उसी तात्पर्यसे कहते हैं—'**गृहे**' इत्यादि ।

घरमें जो सोये हैं, वे स्वप्नमें वनगत भी देखे जाते हैं ।

शङ्का—अच्छा, जाग्रद्दृष्टसे स्वप्नदृष्ट भिन्न है, इसलिए यदि स्वप्नदृष्टको मिथ्या मानते हो, तो स्वप्नदृष्टसे भिन्न जाग्रद्दृष्ट भी है; अतः उसे भी मिथ्या मानना चाहिए, न्याय दोनों स्थलमें समान है ।

समाधान—ठीक है; स्वप्नदृष्ट तथा जाग्रद्दृष्ट दोनों मिथ्या हैं। इसी अर्थमें तो वस्तुतः श्रुतिका तात्पर्य ही है ॥ ९३ ॥

'**अन्योऽन्य०**' इत्यादि । जाग्रद्दृष्टका स्वप्नमें और स्वप्नदृष्टका जाग्रतमें व्यभिचार होनेसे स्वप्न और जाग्रद् अवस्थाओंके दोनों दर्शन मिथ्या हैं, यही अर्थ स्वप्नश्रुतिसे विवक्षित है। यही अद्वैतवेदान्तियोंका भी वक्तव्य है। और इसीसे अद्वितीय ब्रह्मकी सिद्धि होती है ॥ ९४ ॥

'**स्वप्ने**' इत्यादि ।

शङ्का—स्वप्नमें आत्मा शरीरसे बाहर निकल कर नदी, पर्वत आदि बड़े परिमाणवाली वस्तुओंको देखता है, शरीरके भीतर नहीं देखता, इसलिए व्यभिचार न होनेसे स्वप्नदर्शनको सत्य माननेमें आपत्ति नहीं है ।

समाधान—अच्छा, तो यह बतलाइये कि स्वप्नद्रष्टा देहके साथ बाहर

जाता है अथवा देहको छोड़कर ? प्रथम पक्षमें स्वप्नद्रष्टाकी उपलब्धि शयन-देशमें नहीं होनी चाहिए, किन्तु होती है, अतः ऐसा मानना दृष्टविरुद्ध है। द्वितीय पक्षमें आत्मगतिके साधन तो देह आदि ही हैं, उनके बिना केवल आत्माकी गति अदृष्टचर होनेसे असंभव ही है।

शङ्का—असंभव कैसे ? मृतकका शरीर इसी लोकमें रहता है और आत्मा अन्य योनिमें जाता है, यह जैसे आस्तिकमात्रका सिद्धान्त है, वैसे ही स्वप्नमें भी देहशून्य आत्माकी गति हो सकती है।

समाधान—मरणकालमें आतिवाहिक शरीर मिलता है, उसीके द्वारा आत्माका अन्य लोकमें गमन होता है; अशरीर आत्माका नहीं होता, क्योंकि कूटस्थ नित्य होनेसे आत्मा निष्क्रिय है, अतएव शास्त्रोंमें जलूकाका - कृमिविशेषका-- उदाहरण दिया गया है। जैसे उक्त कृमिविशेष अग्रिम आलम्बनको पकड़ कर ही पूर्वधृत आलम्बनका त्याग करता है, वैसे ही अग्रिम शरीरका आलम्बन करके ही जीव पूर्व शरीरका त्याग करता है। आतिवाहिक शरीरके समान स्वाप्निक शरीरकी प्राप्ति स्वप्नदशामें जीवको होती है, ऐसा कहीं भी शास्त्रोंमें निर्दिष्ट नहीं है। अलौकिक अर्थ शास्त्र प्रमाणसे ही माने जाते हैं; केवल कल्पनासे नहीं। और प्राणादिसे युक्त जीवका ही अन्य शरीरमें गमन होता है, प्राणादि सुप्त शरीरमें देखे जाते हैं, इसलिए स्वाप्निक शरीर अप्रामाणिक है और उपपत्तिशून्य भी है। स्वाप्निक शरीरको स्वीकारकर उसके द्वारा हिम आदिवाले देशमें जाकर देखता है, ऐसा माननेसे यह प्रश्न होगा कि क्या जीव सुप्त शरीरके साथ सर्वथा संबन्ध छोड़कर उक्त शरीर द्वारा तत्-तत् विषयोंका दर्शन करनेके लिए तत्-तत् देशमें जाता है ? अथवा पूर्व शरीरके साथ सम्बन्ध रखकर जाता है ? प्रथम पक्षमें भय, शब्द, कम्प आदि सुप्त शरीरमें क्यों होते हैं ? आपके मतके अनुसार सुप्त शरीर आत्माके सम्बन्धसे हीन ही रहता है, निरात्म शरीरमें तादृश धर्म कहीं भी देखे नहीं जाते। द्वितीय पक्षमें पूर्ववत् सुप्त शरीरमें भी यदि आत्माका सम्बन्ध माना जाय, तो दो देहोंसे युगपत् सुख-दुःखानुभव होना चाहिए, किन्तु ऐसा होता नहीं है, अतः स्वाप्निक शरीरमें न तो प्रमाण ही है; न उपपत्ति ही है, इसलिए अशरीर आत्माकी देशान्तरमें गति नहीं हो सकती और न तत्-तत् दृष्ट कार्य ही हो सकते हैं। और यह भी ध्यान देने योग्य दोष है—शरीरके बिना यदि आत्मा स्वप्नमें दृष्ट तत्-तत् कार्योंको करता है, ऐसा मान लिया जाय, तो जाग्रदादि कार्य करनेके

अन्तः कुतः पर्वताद्या इति चेद्, अत एव हि ।
आदायाऽशेषजगतो वासनाः स्वप्नमीक्षते ॥ ९६ ॥
वासनासु च वस्तुत्वधीरविद्याविजृम्भिता ।
इत्यात्मनो विशुद्धत्वं स्वप्ने श्रुत्योपवर्णितम् ॥ ९७ ॥

अथ यदा सुषुप्तो भवति यदा न कस्यचन वेद हिता नाम नाड्यो

लिए देहादिका उपादान व्यर्थ ही हो जायगा, क्योंकि स्वप्नकार्यके समान जाग्रत्कार्य भी देहके बिना ही हो सकेंगे इत्यादि अनेक प्रकारके विचार हो सकते हैं, पर विस्तारके भयसे उपरत होते हैं ॥ ९५ ॥

'अन्तः' इत्यादि ।

शङ्का—शरीरके अन्दर पर्वत आदि हैं नहीं और शरीरसे बाह्य देशमें स्वप्न देखता नहीं है, यह समर्थन कर चुके हैं, पर स्वप्नमें पर्वत आदिका दर्शन कैसे होता है ?

समाधान—इसीसे तो कहते हैं कि संपूर्ण जगत्की वासना लेकर स्वप्न देखता है; केवल पूर्वानुभूतकी वासनासे ही अविद्या तत्-तत् विषयोंके आकारमें परिणत होती है । उसी परिणामको मन देखता है । स्वाप्निक पदार्थ अविद्याका परिणाम है, यों किसीका मत है अथवा स्वप्नमें तत्-तत् विषयाकार मनःपरिणाम होता है, यह भी एक मत है, इन दोनोंका विचार विस्तारके भयसे छोड़ते हैं । यहां स्वाप्निक पदार्थोंमें आविद्यिकत्वमात्र वक्तव्य है ॥ ९६ ॥

'वासनासु' इत्यादि । वासनामय पदार्थोंमें वस्तुत्वकी बुद्धि अविद्यावश होती है; इसलिए आत्मामें विशुद्धत्वका प्रतिपादन स्वप्नावस्थाके प्रदर्शन द्वारा श्रुतिने किया है ॥ ९७ ॥

'अथ यदा सुषुप्तो भवति' इत्यादि श्रुति । स्वप्न मिथ्या ही सिद्ध होता है, पर उसका द्रष्टा आत्मा शुद्ध है, यह पूर्वमें कहा गया है । परन्तु 'यथाकामं विपरि-वर्तते'; इस कथनसे आत्मामें कामका सम्बन्ध भी प्रतीत होता है, द्रष्टाका दृश्यके साथ संबन्ध स्वाभाविक है; अतः फिर अशुद्धता आत्मामें प्राप्त हुई, इस शंकाकी निवृत्तिके लिए 'अथ यदा' इत्यादि श्रुति है । इसका अर्थ है—जब पुरुष सोता है याने जब स्वाप्निक वृत्ति होती रहती है, तब भी यह पुरुष विशुद्ध ही रहता है । अन्यत्र जब स्वाप्निक वृत्तिका भी त्यागकर सुषुप्त हो जाता है अर्थात् स्वस्वभावसे स्थित

द्वासप्ततिसहस्राणि हृदयात्पुरीततमभिप्रतिष्ठन्ते ताभिः प्रत्यवसृप्य पुरीतति

होता है; जैसे जल पङ्कसंबन्धसे उत्पन्न कालुष्यका त्यागकर अपने स्वच्छ स्वभावसे युक्त होता है; उसी प्रकार सुषुप्तिमें आत्मा सुप्रसन्न होता है।

शङ्का—कब सुषुप्ति होती है ?

समाधान—जब शब्दादिसे किसी वस्तुका ज्ञान नहीं होता, तब सुषुप्ति होती है। स्वप्नमें विशेषविज्ञानाभाव और सुषुप्तिमें ज्ञानसामान्याभाव रहता है; इसीसे उन दो अवस्थाओंमें वैलक्षण्य भी है।

शङ्का—किस क्रमसे सुषुप्ति होती है ?

समाधान—हितफलकी प्राप्तिमें निमित्त नाडियां हैं, अतः वे हिता कहलाती हैं। वे देहसम्बद्ध होनेके कारण अन्वयव्यतिरेकसे अन्नरसके विकार हैं। 'नाडी तु धमनि शिरा' इस कोशसे उन्हें शिरा भी कहते हैं। उन नाडियोंकी संख्या बहत्तर हजार है। वे हृदयसे पुण्डरीकाकार मांसपिण्डसे—पुरीतत्में—संपूर्ण शरीरमें [यद्यपि पुरीतत् हृदयवेष्टन कहलाता है, तथापि तदुपलक्षित शरीर यहां 'पुरीतत्' शब्दसे विवक्षित है] व्याप्त हैं अर्थात् पीपरके पत्तोंके समान वे सब बहिर्मुख हैं। बुद्धिशब्दसे अन्तःकरण अभिप्रेत है। इसका स्थान है – हृदय। वहाँ ही बुद्ध्यधीन इतर इन्द्रियाँ भी रहती हैं। जाग्रद्भोगप्रद कर्मोंसे बुद्धि श्रोत्रादि इन्द्रियोंको मत्स्यजालके समान उक्त नाडियाँसे —कर्णशष्कुल्यादि स्थानोंसे—बाहर फैलाती है, फैलाकर स्वाधिष्ठित करती है—स्वयं तदधिष्ठाता होती है; उसमें विज्ञानमयका चैतन्य अभिव्यक्त—प्रतिबिम्बित—होता है; इसलिए स्वचैतन्याभास द्वारा विज्ञानमय बुद्धिको व्याप्त करता है, वही जागरित है। संकोचन कालमें उसके संकोचका अनुभव करता है; यही स्वापकाल है। जब बुद्धिविकासका अनुभव करता है; तब आत्मा जागता है और जब उसके संकोचका अनुभव करता है, तब सोता है, यह लोकमें व्यवहार होता है। जीव बुद्ध्यादिके स्वभावका अनुशीलन करता है, जैसे जलादिस्वभावके अनुसार चन्द्रादिका प्रतिबिम्ब होता है। अतः जाग्रद्वस्तुविषयक बुद्धिको उक्त नाड़ियों द्वारा विषयसे हटाकर अनात्म-निवृत्ति द्वारा स्वयं भी निवृत्त होकर पुरीततिनाम शरीरमें स्थित होता है। लोहेके तप्त पिण्डमें जैसे सर्वतः अग्नि व्याप्त होता है, वैसे ही शरीरको व्याप्तकर ही आत्मा उसमें स्थित होता है।

शेते स यथा कुमारो वा महाराजो वा महाब्राह्मणो वा ऽतिघ्नीमानन्दस्य गत्वा शयीतैवमेवैष एतच्छेते ॥ १९ ॥

शङ्का—पहले हृदयाकाश ब्रह्ममें जीवका शयन कहा है; पर यहां श्रुति शरीरमें शयनका बोधन करती है; इसका क्या अभिप्राय ?

समाधान—वास्तवमें अपने-अपने स्वभावके रूपसे अवस्थिति ही शयन है। यहां औपचारिक शयन विवक्षित है, इसी तात्पर्यसे शरीरका उपादान है; क्योंकि सुषुप्तिकालमें शरीरका संबन्ध कहां है। अतएव 'सब शोकोंके पार उतर गये', ऐसा आगे श्रुति कहेगी। सब सांसारिक दुःखोंकी वियुक्तिस्वरूप वह अवस्था है। इसमें दृष्टान्त कहते हैं—'कुमारो' इत्यादिसे। जैसे वह कुमार - अत्यन्त बाल, महाराज—मन्त्री आदि जिसके वशमें हैं, ऐसा तथा महाब्राह्मण परिपक्वविद्याविनयसंपन्न—अतिघ्नीमें—अतिशयेन दुःखं हन्ति इति अतिघ्नी अर्थात् आनन्दकी अवस्थामें—प्राप्त होकर सोता है। कुमारादि अवस्थामें निरतिशय सुख-विशेष लोकमें प्रसिद्ध है। किसी प्रकारके विकारसे ही उनको दुःख होता है; स्वभावसे नहीं, इस कारण इनकी स्वाभाविक अवस्था दृष्टान्तरूपसे कही गई है।

शङ्का—कुमारादिका स्वाप ही दृष्टान्त है; ऐसा क्यों नहीं कहते ?

समाधान—स्वाप ही दार्ष्टान्तिक है, अतः वह दृष्टान्त कैसे हो सकता है ?

शङ्का—कुमारादिस्वापत्वेन दृष्टान्त हो सकता है।

समाधान—स्वापमात्र समान है, युवा आदिका स्वाप और कुमारादिका स्वाप समान ही है, उनमें कुछ भी विशेष नहीं है और विशेषके बिना दृष्टान्त-दार्ष्टान्तिक-भाव बन नहीं सकता; इसलिए कुमारादिका स्वाप दृष्टान्त नहीं है, किन्तु उनकी उक्तावस्था ही यहां दृष्टान्त है। कुमारादिकी जैसे स्वाभाविक सुखावस्था होती है; वैसे ही विज्ञानमय शयन करता है अर्थात् स्वाभाविक सर्वसंसारधर्मातीत स्वात्मामें स्वापकालमें जीव होता है। 'क्वैष तदाभूत्' इस प्रश्नका यह उत्तर कहा गया है। इस प्रश्नके निर्णयसे स्वभावतः विज्ञानमयकी शुद्धि और असंसा-रिता बतलाई गई है। प्रथम निर्णयसे जीवकी विशुद्धि और द्वितीयसे ब्रह्माभेद विवक्षित है। 'कुत एतदागात्' इसका द्वितीय प्रश्नके निर्णयके लिए आरम्भ है।

शङ्का—जिस ग्राम या नगरमें जो रहता है, वह यदि अन्यत्र जाता है, तो उसी ग्राम या नगरसे जाता है, अन्यतः नहीं जाता, अतः 'क्वैष तदाभूत्'

इतना ही प्रश्न उचित है। जो जहां होगा वह वहींसे आयेगा, यह तो लोकप्रसिद्ध ही है; इसलिए 'कुत एतदागात्' यह प्रश्न निरर्थक है।

समाधान—क्या श्रुतिमें आक्षेप करते हो ?

शङ्का—नहीं, श्रुतिमें आक्षेप नहीं करते, किन्तु दूसरे प्रश्नका अन्य अर्थ सुनना चाहता हूँ, इसलिए उसमें आनर्थक्यका आक्षेप करता हूँ।

समाधान—अच्छा तो सुनो, 'कुतः' शब्दका 'कहांसे' यह अर्थ नहीं है, क्योंकि ऐसा माननेसे उक्त वैयर्थ्य शङ्का होती है; किन्तु 'कुतः' शब्दका अर्थ है—किन्निमित्तात्—किस निमित्तसे—अर्थात् किंनिमित्तक आगमन है।

शङ्का—यह भी कहना ठीक नहीं है, कारण कि उत्तर-वाक्यके साथ सङ्गति नहीं मिलती। उत्तर-वाक्यसे अग्निविस्फुलिङ्गन्यायसे सबकी उत्पत्ति आत्मासे कही गई है। विस्फुलिङ्गोंके (चिनगारियोंके) निकलनेमें अग्नि निमित्त नहीं है, किन्तु अपादान है, एवं परमात्मा विज्ञानमय आत्माका अपादान है, ऐसा ही 'एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः' इत्यादि श्रुतियोंसे कहा गया है; अतः उत्तर-वाक्यसे प्रतिकूल होनेके कारण 'कुतः' यह प्रश्न निमित्तार्थक भी नहीं हो सकता।

शङ्का—अच्छा तो अपादानपक्षमें भी तो पुनरुक्तता दोष है ?

समाधान—अपादानपक्षमें यह दोष नहीं है; कारण कि आत्मामें क्रिया-कारक-फलात्मताका निरास यहां विवक्षित है। प्रकृतमें विद्या और अविद्याके विषयोंका उपन्यास है। 'आत्मेत्येवोपासीत', 'आत्मानमेवावेत्', 'आत्मानमेव लोकमुपासीत', यह विद्याका विषय है तथा अविद्याके विषय हैं—पाङ्क्त कर्म और उसका फल नाम-रूपकर्मात्मक अन्नत्रय। इन अविद्याके विषयोंमें जो वक्तव्य था सो सब कह चुके। विद्याविषय आत्माका केवल उपन्यास हुआ, पर निर्णय नहीं हुआ, अतः उसके निर्णयके लिए ही ब्रह्म तुमसे कहता हूँ, यह प्रकरण आया है, इसलिए विद्याविषय ब्रह्मका यथार्थ अवधारण होना चाहिए। और आत्मामें यथार्थत्व क्रिया-कारक-फलभेद-शून्यता-निबन्धन अद्वितीयता ही है; अतः उसके अनुरूप दो प्रश्न श्रुतिने किये—'क्वैष तदाभूत्' और 'कुत एतदागात्'। इनमें जहाँ जो रहता है, वह अधिकरण होता है, वही विवेचनीय है। परन्तु यह भी ध्यानमें रखना चाहिए कि आधार और अधिकरणका भेद लोकमें दृष्ट है—जैसे कुण्ड और बदरका। एवं जहाँसे आता है, वह अपादान होता है और आनेवाला कर्ता होता है। अपादान और कर्ता ये भी दोनों परस्पर भिन्न होते हैं, जैसे ग्राम और देवदत्त। तथा प्रथम प्रश्न-वाक्यमें

व्यतिरेकं विशुद्धिश्च जागरस्वप्नयोः श्रुतिः ।
प्रदर्श्याऽप्यद्वयानन्दरूपं सुप्तौ ब्रवीत्यसौ ॥ ९८ ॥
यद्यपि द्वैतमिथ्यात्वात् सिध्यत्यद्वयताऽऽत्मनः ।
भात्येवाऽथाऽपि तद्द्वैतं स्वप्नजाग्रदवस्थयोः ॥ ९९ ॥

स्वभिन्न किसीमें आत्मा था और द्वितीय प्रश्न-वाक्यसे स्वभिन्न किसी स्थानसे आत्मा आया, ऐसी प्रतीति होती है। इसी प्रतीतिकी उत्तर-वाक्यसे निवृत्ति की जाती है। यह आत्मा अन्यमें नहीं था, न अन्यसे आया ही है, न कोई रहने और आनेमें अन्य साधन है; किन्तु स्वात्मामें ही था। इस अर्थमें 'स्वमात्मानमपीतो भवति', 'सता सोम्य तदा सम्पन्नो भवति', 'प्राज्ञेनात्मना संपरिष्वक्तः', 'पर आत्मनि संप्रतिष्ठते', 'स भगवः कस्मिन् प्रतिष्ठितः स्वे महिम्नि' इत्यादि श्रुतियाँ प्रमाण हैं। और जब आत्मव्यतिरिक्त वस्तुकी संभावना ही नहीं है तब आत्मा स्वातिरिक्त स्थलमें था तथा वहाँसे आया, इस अर्थकी संभावना ही नहीं हो सकती। अतएव श्रुतिने स्पष्ट ही कहा है कि आत्मामें आत्मा था और वहांसे ही आया है। 'नेह नानास्ति' इत्यादि श्रुतियोंसे अन्य वस्तुका स्पष्ट निषेध है। निष्कर्ष यह निकला कि आत्माकी स्थिति और गतिकी अवधि आत्मा ही है, अन्य वस्तु नहीं है ॥ ९७ ॥

'व्यतिरेकम्' इत्यादि। आत्मामें शरीर, इन्द्रिय आदिका भेद तथा विशुद्धि इन दोनोंका जाग्रत् और स्वप्नमें प्रदर्शनकर श्रुति सुषुप्तिमें आत्मा अद्वयानन्दस्वरूप रहता है, यह भी कहती है। स्वप्नावस्थाके प्रदर्शनसे शरीरादिका अतिरेक (भेद) और सुषुप्ति अवस्थासे आत्मशुद्धिका स्पष्ट निरूपण किया है ॥ ९८ ॥

पुनरुक्तिशङ्काके निराकरणके लिए कहते हैं—**'यद्यपि'** इत्यादिसे।

शङ्का—द्वैतमिथ्यात्वके प्रतिपादनसे ही आत्मामें अद्वितीयत्वकी सिद्धि हो जाती है, फिर उसके लिए सुषुप्ति अवस्थाका उपादान व्यर्थ है।

समाधान—सिद्ध अद्वितीयत्वका ही पुनः संभावित द्वैतशङ्काके निराकरण द्वारा स्पष्टीकरण किया है, इसलिए प्रकृतमें पुनरुक्तत्वदोषकी शङ्का नहीं हो सकती, अतएव द्वैतमिथ्यात्वकी प्रतिपत्ति होनेपर भी द्वैतप्रतीतिकी निवृत्ति नहीं होती, प्रत्युत संसारदशामें द्वैतका भान ही होता रहता है।

शङ्का—किस अवस्थामें ?

समाधान—स्वप्न और जागर दोनों अवस्थाओंमें परोक्ष प्रमासे अपरोक्ष

द्वैतभावप्रतीत्याऽपि हीनं सुप्तावदर्शयत् ।
पूर्वं यद्यप्यथाऽप्यत्र विस्पष्टीक्रियते पुनः ॥ १०० ॥
दृश्यं मिथ्याऽस्तु तद्द्रष्टुर्द्रष्टृता वास्तवी ततः ।
दृश्यं साऽपेक्षतेऽप्येषा शङ्काऽत्र विनिवार्यते ॥ १०१ ॥
न किञ्चन यदा वेद तदा सुप्त इतीरणात् ।
आत्मनो ज्ञानकर्तृत्वं सुप्तौ नाऽस्तीति गम्यते ॥ १०२ ॥

भ्रम निवृत्त नहीं होता, किन्तु पुनः पुनः द्वैतभानसे उसके सत्यत्वका संशय हो जाता है, इसलिए सुषुप्ति अवस्थाके उपन्यास द्वारा अद्वितीयत्व दृढ़ किया है; अतः पुनरुक्त दोष नहीं है। वस्तुतः विशेषानाधायक पुनरुक्त पुनरुक्त दोष माना जाता है; दुरूह अर्थमें पुनरुक्तता गुण है, दोष नहीं है। शब्द परार्थ है। जबतक परकी प्रतिपत्ति न हो, तबतक शब्दका उपादान नहीं देखा जाता, अतएव श्रुतिमें नव बार 'तत्त्वमसि' का प्रयोग किया गया है ॥ ९९ ॥

'द्वैतभाव०' इत्यादि ।

द्वैतमें मिथ्यात्वज्ञानके बाद सुषुप्तिसे पूर्व प्रतीत भी द्वैत सुषुप्तिकालमें प्रतीत नहीं होता; प्रत्युत तद्रहित केवल आत्माकी प्रतीति होती है, इसलिए आत्मामें निष्प्रपञ्चत्वकी सिद्धि हो जाती है; फिर उसके लिए उत्तर श्रुतिकी क्या आवश्यकता ?

समाधान--ठीक है, उक्त रीतिसे सिद्ध निष्प्रपञ्चत्वका, संभावित शङ्काके निराकरण द्वारा, श्रुतिने फिर स्पष्टीकरण किया है ॥ १०० ॥

'दृश्यम्' इत्यादि ।

शङ्का—अच्छा तो भले ही दृश्य प्रपञ्च मिथ्या हो, परन्तु जो आत्मामें द्रष्टृता है, उसे सत्य क्यों न माना जाय ?

समाधान—यदि ऐसा माना जाय, तो दृश्यसत्यता भी माननी पड़ेगी, क्योंकि यदि दृश्य ही सत्य नहीं होगा, तो तत्सापेक्ष द्रष्टृता कैसे वास्तविक हो सकती है ? और उक्त शङ्काकी निवृत्तिके लिए उत्तर ग्रन्थ भी है। उत्तर ग्रन्थसे यह स्पष्ट समझाया गया है कि आत्मामें द्रष्टृता भी पारमार्थिक नहीं है। यदि होती, तो सुषुप्ति अवस्थामें उक्त धर्मकी प्रतीति होती ? परन्तु 'न किञ्चन वेद' इत्यादिसे स्पष्ट ही दर्शनकर्तृत्वका निषेध है; अतः यह भी औपाधिक ही है, वास्तविक नहीं है, यह स्पष्ट प्रतीत होता है ॥ १०१ ॥

'न किञ्चन' इत्यादि । सुषुप्तिकालमें कुछ नहीं जानता, इसलिए उस

साभासबुद्धिर्ज्ञानस्य कर्त्री तत्सन्निधानतः ।
स्फटिके पद्मरागत्वमिव स्याज्ज्ञातृताऽऽत्मनि ॥ १०३ ॥
परप्रयुक्तं ज्ञातृत्वं परलोपे विलुप्यते ।
अतोऽसंसारिता सुप्तावात्मनः स्वानुभूतितः ॥ १०४ ॥

कालमें पुरुष सोता है, ऐसा कहा जाता है; अतः आत्मामें ज्ञानकर्तृत्व भी वास्तविक नहीं है, यह स्पष्ट ज्ञात होता है।

शङ्का—आत्मामें ज्ञानकर्तृत्वका निरास करना ठीक नहीं है, परन्तु ज्ञानका साक्षी होनेसे ज्ञानकर्तृत्व उसमें मानना ही आवश्यक है।

समाधान—यद्यपि आत्मा जानता है, तो भी कूटस्थ होनेसे वस्तुतः नहीं जानता, क्योंकि क्रियामात्रका जिसमें संभव नहीं है, उसमें ज्ञान-क्रिया-विशेषका संभव कहां ? अतएव अभियुक्तोंका वचन है—'पश्यन्नपि न पश्यति'। वस्तुतः ज्ञानकर्ताका साक्षी आत्मा है; ज्ञानका नहीं, यह 'अथ यो वेद इदं जिघ्राणीति' इत्यादि उत्तर श्रुतियोंमें स्पष्ट है। 'ज्ञातारं यो वेद स आत्मा' इस वाक्यसे ज्ञातृसाक्षित्व आत्मामें स्फुट है; ज्ञानकर्तृत्व आत्मामें नहीं है ॥ १०२ ॥

'साभास०' इत्यादि। चित्प्रतिबिम्बविशिष्ट बुद्धि (अन्तःकरण) ज्ञानकी कर्त्री है, इसलिए यद्यपि ज्ञानकर्तृत्वसे विशिष्ट बुद्धि ही है, तथापि सन्निधानसे, स्फटिकमें जपा-कुसुमके आरुण्यके समान, आत्मामें औपाधिक कर्तृत्वादि प्रतीत होता है; वास्तविक नहीं। अविवेकी 'अहं जानामि' इत्यादि प्रतीतिसे वस्तुतः आत्मामें ज्ञानकर्तृत्व मान लेते हैं, पर विवेकी पुरुष उक्त अन्वयव्यतिरेक द्वारा उक्त धर्म आत्मामें औपाधिक हैं, वास्तविक नहीं हैं; यों मानते हैं, अन्यथा सुषुप्तिमें भी उनके भानकी प्रसक्ति हो जायगी ॥१०३॥

'परप्रयुक्तम्' इत्यादि। आत्मामें ज्ञातृत्व परप्रयुक्त अर्थात् बुद्धिप्रयुक्त है; अतः परलोप याने बुद्धिका लय होनेपर उसके कर्तृत्व आदि धर्म सुषुप्तिकालमें आत्मामें प्रतीत नहीं होते, इसीसे उस कालमें असंसारिता- संसारधर्मशून्यता आत्मामें स्वानुभवसिद्ध है। 'न किञ्चिदवेदिषम्' इत्यादि स्वानुभव है। केवल आत्माका सुषुप्ति-कालमें अनुभव होता है। यदि उसमें कर्तृत्व आदि धर्म होते, तो वे भी प्रतीत होते। आत्मा स्वप्रकाश है; इसलिए उसके कर्तृत्वादि धर्मोंके भासनके लिए अन्य हेतुकी अपेक्षा है; ऐसा माननेसे तो उसके कर्तृत्वादि औपाधिक हैं, यही प्रकारान्तरसे सिद्ध होगा। यद्यपि सुषुप्तिकालमें आत्माका अनुभव निर्विकल्पक है, इसलिए उस कालमें वह अप-

न यथा श्रोत्रविज्ञानं रूपेणैति समागमम् ।
संसारेण तथैवाऽऽत्मा कौटस्थ्यान्नेति सङ्गतिम् ॥ १०५ ॥
निःसङ्गस्य ससङ्गेन कूटस्थस्य विनाशिना ।
आत्मनोऽनात्मना योगो वास्तवो नोपपद्यते ॥ १०६ ॥
सुप्तौ केन क्रमेणाऽयमुपाधिः प्रविलीयते ।
तत्क्रमस्याऽवबोधाय हृदयादि विविच्यते ॥ १०७ ॥
आनाभितस्तथा कण्ठाहृदयं मध्यतः स्थितम् ।
सनालपद्मकोशाभं पञ्चच्छिद्रमधोमुखम् ॥ १०८ ॥

रोक्षरूपसे प्रतीत नहीं होता, तथापि जागनेपर उक्त परामर्श होता है, इसलिए उस कालमें शुद्ध आत्माका अनुभव सर्वसम्मत है ॥ १०४ ॥

'न यथा' इत्यादि । आत्मामें काम आदि धर्मोका सम्बन्ध नहीं है, इसमें दृष्टान्त कहते हैं—जैसे श्रोत्रजन्य ज्ञानका विषय रूप नहीं होता, किन्तु चक्षुर्जन्य-ज्ञानका ही विषय होता है, वैसे ही कामकर्तृत्व आदि संसारधर्मका संबन्ध अन्तःकरणके साथ है, आत्माके साथ नहीं है ।

शङ्का—क्यों ?

समाधान—आत्मा कूटस्थ है; क्रियाके संबन्धसे शून्य है ॥ १०५ ॥

'निःसङ्गस्य' इत्यादि । 'असङ्गो ह्ययं पुरुषः' इत्यादि श्रुतिसे आत्मा असंग है; यह निश्चित है अर्थात् किसी पदार्थका सम्बन्ध आत्मामें नहीं है, असंग कूटस्थ आत्माका ससङ्ग विनाशी अनात्मपदार्थके साथ वास्तविक सम्बन्ध नहीं हो सकता; किन्तु आध्यासिक ही संबन्ध है और यह विचारना चाहिए कि आत्मामें कर्तृत्वादि मल स्वतः हैं या परतः ? आत्मा कूटस्थ है, इसलिए प्रथम पक्ष ठीक नहीं है। द्वितीय पक्षमें पर वस्तु है या नहीं ? प्रथममें 'नेति नेति' इत्यादि श्रुति-विरोध स्पष्ट है । द्वितीय पक्षमें यदि आत्मा अवस्तु है, तो मोहात्मक ही है, अतिरिक्त नहीं है, अतः तत्कृत कर्तृत्वादि भी वस्तुसत् नहीं हैं ॥ १०६ ॥

'सुप्तौ केन' इत्यादि ।

शङ्का—सुषुप्ति अवस्थामें किस क्रमसे यह उपाधि लीन होती है ?

समाधान—लयक्रमके बोधके लिए हृदयादिका विवेक करते हैं ॥ १०७ ॥

'आनाभित०' इत्यादि । नाभीसे ऊपर कण्ठसे नीचे तदुभयावधिक मध्य देश हृदयका स्थान है ।

शङ्का—हृदयका स्वरूप कैसा है ?

समाधान—'पद्मकोशप्रतीकाशं हृदयं चाऽप्यधोमुखम्' इत्यादि श्रुतिके अनुसार ही हृदयका स्वरूप कहते हैं पद्मकोशेति। सनालपद्मकोशाभ अर्थात कमलकी डण्ठीसे युक्त जो कमल है उसके भीतरके कोशके समान अतिमृदु तथा पाँच छिद्रोंसे संयुक्त अधोमुख हृदय होता है । छान्दोग्य श्रुतिके अनुसार पञ्चच्छिद्र विशेषण दिया गया है । हृदयका छिद्र ही दो अवस्थाओंका आश्रय है । पूर्व आदि दिक् क्रमसे लोहित, शुक्ल, पिङ्गल श्याम और नील वर्णसे विशिष्ट छिद्र हैं; उनके अधिष्ठातृ देवता आदित्य, चन्द्र, अग्नि, पर्जन्य और वियत्—ये पांच हैं । प्राण, व्यान, अपान, समान और उदान—ये पांच मर्त्य हैं। चक्षु, श्रोत्र, वाक् मन और वायु—ये पांच प्राणविशेष, अधिष्ठातृ देवता, और मुख्य प्राण ये क्रमशः पूर्व, दक्षिण, पश्चिम, उत्तर और ऊर्ध्व—इन पाचों छिद्रोंमें रहते हैं । 'तस्य ह वा एतस्य हृदयस्य पञ्च देवसुषयः' इस प्रकार उपक्रम करके 'य एतानेवं पञ्च ब्रह्मपुरुषान् स्वर्गस्य लोकस्य द्वारपान्' इस श्रुतिसे यह अर्थ विस्तृतरूपसे कहा गया है । ये पांचो छिद्र जाग्रत् अवस्थाके समान स्वप्नमें भी शब्दाद्याकार नानाज्ञान की उत्पत्तिमें हेतु हैं । इन्हीं छिद्रोंसे चारों तरफ एक सौ एक नाडियां फैली हैं। जाग्रत और स्वप्नकालीन फलके उपभोगके लिए कर्मजन्य विषयग्रहणोन्मुख दश दश नाडियां एक-एक इन्द्रियके प्रति प्रवृत्त हैं । दश इन्द्रियां हैं । एक सौ एक नाडियां हैं । एक-एकके प्रति दश दशका विभाग ठीक ही है । अवशिष्ट रही एक नाड़ी, वह मोक्षमें उपयोगी है; सांसारिक भोगके लिए उपयोगी नहीं है, क्योंकि 'तयोर्ध्वमायन्न मृतत्वमेति' यह श्रुति उक्त अर्थमें प्रमाण है ।

शङ्का—ये नाड़ियां भोगकी साधन कैसे हैं ?

समाधान—जैसे नदियोंमें जल बहता है; वैसे ही नाडियोंमें कर्मफल बहता है, अनन्त उर्ध्वगत एक नाड़ी है । उस नाड़ी द्वारा गति होनेसे पुरुष मुक्त होता है । संक्षेपसे एक सौ एक प्रकारकी नाड़ियां कही गई हैं । विस्तारसे उन नाडियोंका सूक्ष्म भेद बहत्तर हजार है

"द्वासप्ततिसहस्राणि हृदयादभिनिःसृताः ।
हिता नाम हिता नाड्यः तासां मध्ये शशिप्रभम् ॥
मण्डलं तस्य मध्यस्थ आत्मा दीप इवाऽचलः ।"

यह हृदयस्थ नाडियोंका भेद है ।

कदम्बकुसुमोद्भूतकेसरा इव सर्वतः ।
प्रसृता हृदयान्नाड्यो बह्वन्नरसपूरिताः ॥ १०९ ॥
निर्गत्य हृदयाद् बुद्धिस्तासु स्वप्नं प्रपश्यति ।
ताभिर्देहाद् बहिर्गत्वा जाग्रतीत्यभिधीयते ॥ ११० ॥
पुनः प्रत्यवसृप्यैषा पुरीतद्वेष्टिते हृदि ।
प्रविश्य लीयते देहं व्याप्य सामान्यवृत्तितः ॥ १११ ॥

देहमें सम्पूर्ण नाडियां साढ़े तीन लाख हैं। उनके भी सुसूक्ष्म भेदके विषयमें यह लिखा है:--

"एकोनत्रिंशल्लक्षाणि तथा नव शतानि च ।
षट्पञ्चाशद्विजानीयाच्छिरा धमनिसंज्ञिताः ॥"

इत्यादि विशेष अन्यत्र देखिये ॥ १०८ ॥

हितानामक बहत्तर हजार नाड़ियोंका स्वरूप कहते हैं--'**कदम्ब०**' इत्यादिसे।

कदम्बवृक्षके पुष्पके केसर (किञ्जल्क) जैसे चारों ओर होते हैं अर्थात् कदम्बका पुष्प जैसे सर्वतः किञ्जल्कोंसे व्याप्त रहता है, वैसे ही शरीर सर्वतः नाडियोंसे व्याप्त रहता है। कोई भी शरीरका भाग ऐसा नहीं है, जिसमें नाडियाँ न हों। हृदयसे निकलकर नाड़ियां शरीरके प्रत्येक अवयवोंमें व्याप्त होती हैं। वे सब अन्नरससे परिपूर्ण हैं। रुधिरसंचार इन्हींके द्वारा सब शरीरमें होता है। जहां कहीं विकृत हो जाती हैं, उसी जगह शरीरमें विकार हो जाता है; यह लोकसिद्ध है। नाडियां हित फल देती हैं, इसलिए उनका नाम 'हिता' पड़ा है। जैसे सूर्यसे रश्मियां चारों तरफ निकलती हैं, वैसे ही ये हृदयसे निकलकर चारों तरफ शरीरमें प्रविष्ट होती हैं।

'**निर्गत्य**' इत्यादि। अन्तःकरण हृदयसे निकलकर उक्त हिता नामकी नाड़ियोंमें स्वप्न देखता है और जब नाड़ियों द्वारा बुद्धि बाहर जाकर बाह्य विषयोंको ग्रहण करती है, तब जागता है; ऐसा व्यवहार होता है ॥११०॥

'**पुनः प्रत्य०**' इत्यादि। यद्यपि हृदयवेष्टनका वाची 'पुरीतत्' शब्द है, तथापि यहां 'पुरीतत्' शब्दसे लक्षणावृत्ति द्वारा हृदय लिया जाता है। स्वाप्निक अशेष भोग भोगनेके अनन्तर स्वप्नक्रियाकी निवृत्ति होनेपर उक्त नाड़ियोंसे वागादि इन्द्रियोंका उपसंहार कर प्राज्ञ सुषुप्त होता है।

बुद्धेरव्याकृतावस्था वृत्तिः सामान्यशब्दिता ।
व्याप्तो देहस्तया सुप्तौ तैलेनेव तिलोऽखिलः ॥ ११२ ॥
व्याकृतोपाधिविलये द्वैतभानं निवर्त्तते ।
स्फुटीभवत्यद्वयत्वं तदानीं प्रत्यगात्मनः ॥ ११३ ॥
सर्वसंसारदुःखानामत्यन्तोपरमात्तदा ।
आनन्दस्य परा निष्ठा दृष्टान्तैः सोपमीयते ॥ ११४ ॥

शङ्का—जीवकी कर्म द्वारा जागरित और स्वप्न अवस्था होती है, यह ठीक है, क्योंकि उन अवस्थाओंमें भोग होता है। पर सुषुप्ति अवस्थासे तो मुक्ति होती नहीं; फिर सषुप्ति अवस्था क्यों मानते हो ?

समाधान—'सामान्यवृत्तितः' अर्थात् जैसे बाज पक्षी दिशाओंमें भ्रमण करनेसे श्रान्त होकर अपने कुलायमें (घोंसलेमें) आकर सुखी होता है, वैसे ही आत्माको जागरित और स्वप्न—इन दो स्थानोंमें जानेसे जो श्रम होता है, उसकी निवृत्तिके लिए वह शब्द आदि बाह्यविषयक विशेष बुद्धिका त्यागकर सामान्यवृत्तिसे चिन्मात्र प्रज्ञासे—अपने देहको तप्त लोहेके पिण्डके समान सर्वतः व्याप्तकर प्रत्यक्स्वरूप होनेसे ब्रह्ममें जाकर ब्रह्मके समान असंगोदासीनस्वरूप हो जाता है।

श्लोकार्थ—स्वाप्निक भोगके अनन्तर उक्त नाड़ियोंसे वागादि इन्द्रियोंका उपसंहारकर पुरीतद्वेष्टित हृदयमें बुद्धि प्रविष्ट होकर सामान्य वृत्तिसे वक्ष्यमाण-वृत्तिसे—देहको व्याप्तकर लीन हो जाती है; यही सुषुप्ति कहलाती है ॥ १११ ॥

'बुद्धेरव्याकृता०' इत्यादि। बुद्धिकी अव्याकृतावस्था सामान्यवृत्ति कहलाती है। जैसे तेलसे तिल सर्वात्मना व्याप्त रहता है, वैसे ही सुषुप्तिमें उक्त वृत्तिसे देह व्याप्त रहता है। तिलावस्थामें जैसे तेलकी स्वरूपसे अभिव्यक्ति नहीं देख पड़ती, पर सत्कार्यवादके सिद्धान्तके अनुसार अनभिव्यक्त तैलावस्थान माना जाता है, वैसे ही यद्यपि उक्त अवस्थामें बुद्धि अभिव्यक्तरूपसे शरीरमें प्रतीत नहीं होती, तथापि उक्त सामान्यवृत्तिसे शरीरको व्याप्तकर रहती है ॥ ११२ ॥

'व्याकृतो०' इत्यादि। व्याकृतोपाधिकी विलयदशामें द्वैतका भान निवृत्त होता है। तात्पर्य यह है कि जब अन्तःकरणके लीन होनेपर सुषुप्ति होती है तब द्वैतकी प्रतीति निवृत्त होती है और आत्मामें अद्वितीयत्व स्फुट होता है ॥ ११३ ॥

'सर्वसंसार०' इत्यादि। तदा अर्थात् सुषुप्तिकालमें संपूर्ण सांसारिक दुःखोंकी

इन्द्रियस्याऽप्ररूढत्वात् स्वेष्टप्राप्तेर्विवेकतः ।
नीरागाणां बालराजब्राह्मणानां क्रमात् सुखम् ॥ ११५ ॥

निवृत्ति होती है, यह सर्वानुभवसिद्ध है । केवल दुःखकी निवृत्ति ही नहीं होती, किन्तु परम आनन्दकी प्राप्ति भी होती है, इसका अग्रिम दृष्टान्तोंसे प्रतिपादन करते हैं । सुषुप्ति अवस्थाका आनन्द वैषयिक आनन्दके समान सातिशय नहीं है, किन्तु वह आत्मस्वरूप आनन्द है, इसलिए निरतिशय है । उस आनन्दका अन्य प्रकाशक नहीं है, क्योंकि उस कालमें द्वैतमात्रका भान नहीं होता; इसलिए स्वयंप्रकाश आत्मस्वरूप होनेसे उसे प्रकाशान्तरकी अपेक्षा ही नहीं होती । अतएव मोक्षसुख इसीके समान है, यों समझाया जाता है ॥ ११४ ॥

'इन्द्रियस्या०' इत्यादि। सुषुप्तिकालिक सुखमें बालक, राजा, महाब्राह्मण -- इन तीनोंके सुखका दृष्टान्तरूपसे श्रुतिने उपादान किया है। उसमें प्रथम बालकके सुखका निरूपण करते हैं —बालकशब्दसे स्तनन्धय विवक्षित है, क्योंकि वह सर्वथा राग और द्वेषसे शून्य है। राग और द्वेषके बिना विषय चित्तको विकृत नहीं कर सकते । यद्यपि विकारके हेतु विषय हैं, तथापि सहकारीरूपसे रागद्वेष भी चित्तके विकारमें कारण हैं, अतएव विषयका सन्निधान होनेपर भी बालकके चित्तमें विकार नहीं होता और इन्द्रियाँ भी अप्ररूढ याने अपने कार्यके जननमें अशक्त हैं। जैसे कोमल अभिनव कण्टक पैर आदिके वेधनमें अशक्त होता है, वैसे ही बालककी इन्द्रियां विषयभोगमें अशक्त होती हैं, इसलिए वे रागद्वेषादिके संपादक नहीं हैं। राजाके प्ररूढेन्द्रियवान् होनेपर उसकी आज्ञाका कोई भङ्ग नहीं कर सकता और सचिव आदि सेवकवर्ग सदा अनुकूल हो तो, वह लोकमें परम सुखी समझा जाता है । अशेष तत्त्वोंका यथार्थतः ज्ञाता और कृतकृत्य ब्राह्मणविशेष भी उत्तम आनन्दमें मग्न रहता है ।

शङ्का---दृष्टान्तस्वरूपसे बाल आदि तीनोंको कहनेका क्या अभिप्राय है ?

समाधान किसीका मत यह है कि बालक और राजाका दृष्टान्त ठीक नहीं है, कारण कि बालक अतिमूढ़ होता है और राजा प्रायः मदान्ध होता है, इसलिए महाब्राह्मण ही वस्तुतः दृष्टान्त है । उसमें उक्त दोनों दोषोंका सम्भव नहीं है । बालक अविवेकी है और राजा विवेकी होता है, इस अभिप्रायसे बालककी उपेक्षा कर राजाका दृष्टान्त दिया गया है । राजामें भी मदान्धता दोषकी सम्भावना है, अतः उसका त्यागकर महाब्राह्मणका दृष्टान्त दिया गया है और यह ठीक भी है;

दुःखं रागद्वेषजन्यं तदभावे सुखं स्वतः ।
इति व्याप्तिगृहीत्यर्थं बहुदृष्टान्तवर्णनम् ॥ ११६ ॥
यावद्यावत् प्ररूढत्वं रागादेर्जायते हृदि ।
तावत्तावत् प्ररूढत्वं दुःखस्याऽप्यभिजायते ॥ ११७ ॥
यावद्यावत्तनुत्वं स्याद्रागादेः प्रत्यगात्मनि ।
तावत्तावत्तनुत्वं स्याद् दुःखस्याऽपि सुखात्मनि॥ ११८ ॥

क्योंकि इसमें न तो अविवेक ही है और न मदान्धता दोष ही है । अतः अन्तिम उदाहरण ही श्रुतिका अभिप्रेत है । वस्तुतस्तु उक्त बालक, राजा और महाब्राह्मण—इन तीनों जीवोंका चित्त निर्विकार होता है; अतएव उनकी आत्मामें अत्यन्त आनन्द होता है, इसलिए तीनों दृष्टान्त ठीक हैं ॥ ११५ ॥

'दुःखम्' इत्यादि । राग और द्वेषसे ही दुःख होता है । जिस विषयमें राग है, वह विषय यदि नहीं मिलता, तो दुःख होता है । यदि राग नहीं होता, तो अनाकाङ्क्षित विषयोंकी अप्राप्तिके समान दुःख न होता अथवा इष्टकी प्राप्तिमें यदि कोई प्रतिबन्धक होता है अथवा इष्टका अपहारक किंवा नाशक कोई होता है, तो उसके द्वेषसे दुःख होता है । यह लोकसिद्ध है कि रागद्वेषनिमित्तक ही दुःख होता है, प्रकृतमें रागद्वेषशून्य तीनों विवक्षित हैं, इसलिए उनमें स्वतः सुख होता है; इस व्याप्तिके ग्रहणके लिए श्रुतिने अनेक दृष्टान्त दिये हैं । 'यत्र यत्र रागद्वेषाभावः तत्र तत्र स्वतः सुखम्' यह व्याप्ति सुषुप्त्यवस्थामें अपने ही शरीरमें गृहीत होती है ॥ ११६ ॥

सुषुप्तिदशामें आत्मामें आनन्दस्वरूपताका उपपादन करते हैं **'यावद्यावत्'** इत्यादिसे ।

जबजब आत्मामें रागादिकी अधिकता रहती है तबतब उसमें दुःख भी अधिक होता है । जागरादि अवस्थामें अवस्थित प्ररूढ़ रागादि सुषुप्तिमें नहीं हैं, इसलिए प्ररूढ दुःखादिका उद्भव भी उस कालमें नहीं होता, यह सर्वानुभवसिद्ध है ॥ ११७ ॥

'यावद्यावत्' इत्यादि । जबजब प्रत्यगात्मामें रागादिकी न्यूनता होती है; तबतब सुखस्वरूप आत्मामें दुःखादिकी भी न्यूनता होती है । स्वप्नावस्थामें रागादिकी न्यूनतासे सुखादिकी न्यूनता होती है । इस अन्वयव्यतिरेकसे रागादि ही दुःखमें मूल हैं, यह सिद्ध होता है । साधनके प्रकर्ष और निकर्षसे साध्यमें भी प्रकर्ष

अशेषदुःखहेतूनां विलोपात् सुप्त आत्मनि ।
दुःखहीने परा निष्ठाऽऽनन्दस्येत्युपपद्यते ॥ ११९ ॥
आनन्दस्याऽऽत्मरूपत्वाद् विषयीक्रियते न सः ।
स्वप्रकाशचिदात्मत्वात् स्वयमेव विभात्यसौ ॥ १२० ॥
अद्वयानन्दरूपत्वमित्थं सुप्तौ प्रदर्शितम् ।
एतावता स्वभावोऽस्य निर्णीतः प्रत्यगात्मनः ॥ १२१ ॥

श्रुतिः—स यथोर्णनाभिस्तन्तुनोच्चरेद्यथाऽग्नेः क्षुद्रा विस्फुलिङ्गा

और निकर्ष होता है, यह उक्तान्वयव्यतिरेकसे सकललोकप्रसिद्ध है; अतः इसमें अधिक कहनेकी आवश्यकता नहीं है ॥ ११८ ॥

'अशेषदुःख०' इत्यादि । सुषुप्तिदशामें सम्पूर्ण दुःखोंके हेतुओंका विलोप होनेसे अर्थात् रागादि दोषोंकी निःशेष निवृत्ति होनेसे दुःखहीन (रागादिशून्य) आत्मामें आनन्दकी पराकाष्ठा उपपन्न होती है ॥ ११९ ॥

'आनन्दस्या०' इत्यादि । आनन्दकी सत्तामें प्रकाशमानताका नियम है । अज्ञात आनन्दकी सत्ता नहीं मानी जाती । उक्त अवस्थामें सब प्रकाश ज्ञानोंकी निवृत्ति होनेसे आत्मस्वरूप आनन्द है, इसमें कुछ भी प्रमाण नहीं है, इस प्रकारकी शङ्काकी निवृत्तिके लिए कहते हैं कि आनन्द आत्मस्वरूप ही है और आत्मस्वरूप होनेके कारण स्वयंप्रकाश है, अतः वह ज्ञानका विषय नहीं है अर्थात् वह आत्मस्वरूप आनन्द स्वयं प्रकाशित होता है ॥ १२० ॥

'अद्वयानन्द०' इत्यादि । पूर्वोक्त प्रकारसे सुषुप्तिकालमें आत्मा अद्वितीयानन्दस्वरूप है; यह दिखलाया । इसीसे आत्माके स्वभावका भी निर्णय हो चुका । तात्पर्य यह है कि प्रथम प्रश्नके निर्णयका फल यह है कि मोहसे समुत्पन्न निखिल कार्यसे आत्मा परिशुद्ध है । इसको हाथ द्वारा दबानेसे उठे हुए पुरुषके वृत्तान्तके बोधन द्वारा श्रुतिने स्पष्ट समझाया और इसी प्रकार त्वमर्थका परिशोधन भी हुआ । 'कुत आगात्' इस द्वितीय प्रश्नके आशयका स्पष्टीकरण अग्रिम श्रुतिसे करेंगे ॥ १२१ ॥

'स यथोर्णनाभिः' इत्यादि श्रुति । लोकमें प्रसिद्ध ऊर्णनाभि (लूताकीट) अर्थात् मकड़ी एक ही होकर जैसे स्वाभिन्न तन्तुके साथ चलती है, क्योंकि तन्तुकी उत्पत्तिमें लूताकीटसे अतिरिक्त कारण नहीं है और जैसे अग्निसे छोटी चिनगारियां निकलती हैं [ये दोनों दृष्टान्त कारकका भेद न होनेपर भी प्रवृत्ति दिखलाते हैं;

व्युच्चरन्त्येवमेवास्मादात्मनः सर्वे प्राणाः सर्वे लोकाः सर्वे देवाः सर्वाणि भूतानि व्युच्चरन्ति । तस्योपनिषत्सत्यस्य सत्यमिति प्राणा वै सत्यं तेषामेष सत्यम् ॥ २० ॥

इत्युपनिषदि द्वितीयाध्याये प्रथमं ब्राह्मणं समाप्तम् ।

प्रवृत्तिसे पूर्व स्वभावतः एकत्व है] वैसे ही प्रतिबोधसे पूर्व जो आत्माका स्वरूप है; उससे वागादि सब प्राण पृथिवी आदि सब लोक, सब कर्मफल, सब देवता (प्राण और लोकके अधिष्ठाता अग्नि आदि) और सब भूत अर्थात् ब्रह्मादिसे लेकर स्तम्ब पर्यन्त सम्पूर्ण प्राणिसमुदाय उत्पन्न होते हैं अर्थात् जिस कारणरूप ब्रह्मसे स्थावर-जङ्गमात्मक प्रपञ्च, अग्निविस्फुलिङ्गदृष्टान्तसे, उत्पन्न होता है, जिसमें रहता है और जिसमें जलबुद्बुदके समान लीन होता है, उस आत्मब्रह्मकी उपनिषत् कहते हैं ।

शङ्का—उपनिषत् कौन है ?

समाधान—'सत्यस्य सत्यम्' यह उपनिषत् है, क्योंकि यह अलौकिकार्थक होनेसे दुर्विज्ञेयार्थ है, अतः सर्वत्र उपनिषत् कहलाता है, अतएव उस अर्थका निरूपण करनेके लिए आगेके दो ब्राह्मणोंका आरम्भ है ।

शङ्का—अस्तु, उपनिषत्के व्याख्यानके लिए आगेके दो ब्राह्मण भले ही हों, पर यहाँ प्रश्न यह होता है कि पाणिपेषणसे उठे हुए शब्दादिके भोक्ता संसारी आत्माका इस उपनिषत्से निरूपण है ? अथवा असंसारी किसी आत्माका ?

शङ्का—इससे क्या प्रयोजन ?

समाधान—प्रयोजन यह है कि प्रथम पक्षमें संसारी आत्मा ही ज्ञेय माना जायगा और उसीके विज्ञानसे सब फलोंकी प्राप्ति भी मानी जायगी, वही ब्रह्मशब्दवाच्य होगा और उसकी विद्या ही ब्रह्मविद्या कही जायगी । द्वितीय पक्षमें उसका विज्ञान ही ब्रह्मविद्या माना जायगा और उसके विज्ञानसे ही मोक्षकी प्राप्ति होगी ।

शङ्का—शास्त्रके प्रामाण्यसे यद्यपि दोनों हो सकते हैं, क्योंकि अदृष्ट विषयमें शास्त्र ही प्रमाण है, तथापि प्रथम पक्षमें 'आत्मेत्येवोपासीत', 'आत्मानमेवावेदहं ब्रह्मास्मि' इत्यादि ब्रह्मात्मैकत्वकी प्रतिपादक श्रुतियोंके साथ विरोध होगा, क्योंकि जब संसारीसे अतिरिक्त आत्मा है ही नहीं, तब अतिरिक्त आत्माका उपदेश कैसे होगा ?

समाधान—ठीक है, यह प्रश्न यद्यपि बड़े-बड़े विद्वानोंको भी मोहमें डालनेवाला है, फिर भी यथाशक्ति इसका विचार करेंगे, अन्यथा ब्रह्मके जिज्ञासुओंकी बुद्धि ब्रह्मप्रतिपादक वाक्योंमें परिनिष्ठित नहीं होगी। यहां पर कोई असंसारी विवक्षित नहीं है, क्योंकि पाणिपेषणसे बोधित सुषुप्त्यवस्थाविशिष्ट शब्दादिके भोक्ता संसारी आत्मासे ही जगत्की उत्पत्ति यहां कही गई है। इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि अशनाया आदिसे वर्जित पर कोई नहीं है।

शङ्का—क्यों?

समाधान—कारण यह है कि आपको ब्रह्मका उपदेश देंगे, ऐसी प्रतिज्ञा कर सुषुप्त पुरुषको पाणिपेषणसे जगाकर शब्दादिके भोक्ता संसारीको ही दिखलाकर उसीकी स्वप्न द्वारा सुषुप्त्याख्य अवस्थाका अनुमान कर उक्त अवस्थासे विशिष्ट उसी आत्मासे अग्निविस्फुलिङ्गन्याय तथा ऊर्णनाभिके दृष्टान्तसे संसारकी उत्पत्ति **'एवम्'** इत्यादिसे श्रुति दिखलाती है। मध्यमें अन्य कोई जगत्की उत्पत्तिका कारण नहीं कहा गया है; प्रकरण भी विज्ञानमयका ही है। अन्य श्रुतिमें आदित्य आदि पुरुषोंका प्रस्ताव कर कहा है कि हे बालाकि! जो इन पुरुषोंका कर्ता है और जिसका यह कर्म है, उसीको जानना चाहिए, इससे प्रबुद्ध उक्त आत्मा ही स्पष्ट वेदितव्यरूपसे दिखलाया गया है, दूसरा नहीं। एवं 'आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति' यह कहकर जो आत्मा प्रियरूपसे सबको प्रसिद्ध है, वही द्रष्टव्य, श्रोतव्य, मन्तव्य और निदिध्यासितव्य है, ऐसा दिखलाया गया है। तथा विद्योत्पत्तिकालमें 'आत्मेत्येवोपासीत', 'तदेतत्प्रेयः पुत्रात्प्रेयो वित्तात्', 'तदात्मानमेवावेदहं ब्रह्मास्मि' इत्यादि वाक्य उक्त आत्मामें ही अनुकूल होते हैं। आगे भी कहेंगे—'आत्मानं चेद्विजानीयादयमस्मीति पूरुषः। किमिच्छन् कस्य कामाय शरीरमनुसंज्वरेत्' इत्यादि।

और सब वेदान्तोंमें 'अहम्' इत्यादिसे उक्तात्मा ही वेद्य कहा गया है, जो अहंप्रतीतिका विषय नहीं है, ऐसा बाह्य कोई वेद्य नहीं बतलाया गया है; अन्यथा 'असौ ब्रह्म' यों अन्य शब्दसे कहा जाता, परन्तु ऐसा नहीं कहा गया है। एवं कौषीतकी उपनिषत्में 'न वाचं विजिज्ञासीत वक्तारं विद्यात्' इत्यादि वाक्योंसे वागादि करणोंसे व्यावृत्त आत्मा है, ऐसा ही उपदेश दिया गया है।

शङ्का—अन्य अवस्थासे विशिष्ट ही असंसारी क्यों न हो अर्थात् जो जागरित अवस्थामें शब्द आदिका भोक्ता विज्ञानमय है, वही सुषुप्तिरूप अन्य अवस्थाको प्राप्त हुआ असंसारी है।

समाधान—नहीं, ऐसा नहीं हो सकता, क्योंकि बौद्धोंको छोड़कर दूसरेके मतमें ऐसे पदार्थ नहीं माने जाते। लोकमें भी यह नहीं देखा जाता है कि जो चलती फिरती व्यक्ति हो वह गौ कही जाय और जो बैठी या सोई हो वह अश्व (घोड़ा)। ऐसा न्याय भी है कि यद्धर्मक जो पदार्थ प्रमाणसे निश्चित है, वह देशान्तर, कालान्तर और अवस्थान्तरमें भी तद्धर्मक ही रहता है। यदि ऐसा न माना जाय, तो संसारमें सब प्रमाण-व्यवहार ही लुप्त हो जायगा। अतएव न्यायपरायण सांख्य, मीमांसक आदि विद्वद्गण असंसारी आत्माको नहीं मानते। यदि संसारी ही अवस्थान्तरविशिष्ट असंसारी होगा, तो उक्त न्यायसे विरोध हो जायगा, सो उनको अभीष्ट नहीं है, इसलिए उनके मतमें परका अभाव ही सहनीय है; उक्त न्यायका विरोध सहनीय नहीं है।

ठीक है, आपने विस्तृतरूपसे यह सिद्ध किया कि संसारी ही अवस्थान्तरसे जगत्का कर्ता है; पर यह बन नहीं सकता, कारण कि जगत्को उत्पन्न, स्थित और लीन करनेकी शक्ति और उसके अनुकूल विज्ञानादि साधनोंका अभाव संसारी आत्मामें है, यह सर्वलोकसिद्ध बात है। क्योंकि प्रत्येक मनुष्यको 'मुझ जैसे संसारी मनसे भी अचिन्त्यविन्यासविशिष्ट पृथिवी, पर्वत और समुद्र आदिको कैसे बना सकते हैं' यह अनुभव पद-पदपर होता है। इसलिए यह पक्ष सर्वथा अयुक्त है।

शङ्का—शास्त्र यदि ऐसा ही कहता है; तो उसपर विश्वास कर वैसा ही माननेमें क्या हानि है? क्योंकि शास्त्रप्रामाण्यके भरोसे सब श्रद्धेय हो सकता है।

समाधान—नहीं, यह कभी शास्त्रका वक्तव्य नहीं है, क्योंकि 'यः सर्वज्ञः स सर्ववित्', 'योऽशनायापिपासे अत्येति', 'असङ्गो न हि सज्जते', 'एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने', 'यः सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्नन्तर्याम्यमृतः' 'स एतस्मान् पुरुषान्निरूह्यात्यक्रामत्', 'स वा एष महानज आत्मा', 'एष सेतुर्विधरणः', 'सर्वस्य वशी सर्वस्येशानः', 'य आत्मा अपहतपाप्मा विजरो विमृत्युः', 'तत्तेजोऽसृजत', 'आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्' और 'न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्यः' इत्यादि सैकड़ों श्रुतियोंसे और 'अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते' इत्यादि स्मृतियोंसे प्रतीत होता है कि असंसारी परमात्मा संपूर्ण जगतका कारण है, इसमें सन्देह नहीं है।

शङ्का—अच्छा, तो 'अस्मादात्मनः' इत्यादि वाक्यसे जगत्की संसारी आत्मासे उत्पत्ति श्रुतिने क्यों बतलाई?

क्वाऽभूदेष इति प्रश्नं निर्णीय कुत आगतः ।
इति प्रश्नं विनिर्णेतुमूर्णनाभ्यादिका श्रुतिः ॥ १२२ ॥
यत्राऽभूत् तत एवैष आगच्छेदिति यद्यपि ।
ज्ञायतेऽर्थात् तथाऽप्यत्र तदुक्तिरुपयुज्यते ॥ १२३ ॥
अवध्यवधिमद्भेद आधाराधेययोर्भिदा ।
यथा लोके तथा नाऽत्रेत्यसावर्थो विवक्षितः ॥ १२४ ॥

समाधान—'एषोऽन्तर्हृदय आकाशः' इत्यादि श्रुतिसे परमात्मा ही प्रकृत है । यह आगे स्पष्ट करेंगे । संक्षेपसे श्रुत्यर्थका निरूपण कर अब प्रकृत ग्रन्थका व्याख्यान करेंगे । प्रसङ्गवश श्रुत्यर्थका भी विचार किया जायगा ॥ २० ॥

'क्वाऽभूदेष' इत्यादि । यह आत्मा कहाँ था, इस प्रश्नका निर्णयकर कहाँसे आया, इस प्रश्नके निर्णयके लिए 'ऊर्णनाभि' आदि श्रुति है ।

शङ्का—जो जिस ग्राम या घरमें रहता है, वह वहींसे आता है; यह तो प्रसिद्ध ही है, फिर इस विषयमें प्रश्नोत्तर ही व्यर्थ है अर्थात् पूर्व प्रश्नसे ही उत्तर ग्रन्थ गतार्थ हो जाता है । स्थितिकी अवधि निश्चित होनेपर गतिकी अवधि निर्णीत हो जाती है, अतः पुनः गतिकी अवधि कहनेसे पुनरुक्त दोष होगा, इससे अतिरिक्त कुछ फल नहीं होगा । यदि अपादानविषयक प्रश्न नहीं है, किन्तु निमित्तविषयक प्रश्न है, यों कहो अर्थात् किस निमित्तसे आया, यह प्रश्नका अभिप्राय है, यों कहो, तो पुनरुक्त दोषकी संभावना यद्यपि नहीं है, तथापि उस तात्पर्यसे ऊर्णनाभि आदि दृष्टान्त असङ्गत होगा; क्योंकि उक्त दृष्टान्तसे प्रश्न निमित्तार्थक नहीं होगा एवं आक्षेपार्थ भी प्रश्न नहीं हो सकता; इससे दृष्टान्त असङ्गत हो जायगा ।

समाधान—यदि उक्त रीतिसे निमित्त तथा आक्षेपविषयक प्रश्न नहीं हो सकता तो, 'श्रौत प्रयोग अर्थवाद न होनेसे अनर्थक नहीं होता', इस नियमकी रक्षाके लिए अपादानविषयक ही प्रश्न मानना समुचित है । रह गया केवल पुनरुक्तता दोष, इसका परिहार इस प्रकार है कि संपूर्ण अज्ञानकार्यका नाश प्रकृतमें विवक्षित है, सो आगे विशद होगा ॥ १२२ ॥

'यत्राऽभूत्' इत्यादि । यद्यपि जो जहाँ रहता है, वहींसे वह आता है, यह अर्थात् प्रतीत हो जाता है, इससे उस अर्थके लिए प्रश्नोत्तरकी आवश्यकता नहीं है, तथापि यहाँ प्रश्नोत्तर आवश्यक है ॥ १२३ ॥

'अवध्य०' इत्यादि । अवधि और अवधिमान्‌का भेद एवं ग्राम और गन्ताका

एतदर्थानुकूलौ द्वौ प्रश्नौ तेनोत्तरं पृथक् ।
उक्तं तस्योत्तरस्यैष तात्पर्यार्थ उदीर्यते ॥ १२५ ॥
नान्यत्राऽभूदयं सुप्तौ नाऽन्यस्मादुत्थितः पुनः ।
सुप्त्युत्थानभ्रमः पूर्णे बुद्ध्युपाधिविजृम्भितः ॥ १२६ ॥

भेद लोकमें प्रसिद्ध है तथा आधार और आधेयका भी भेद याने घट और भूतलका भेद भी लोकमें प्रसिद्ध है। एक ही अवधि और अवधिमान् तथा आधार और आधेय लोकमें कहीं नहीं देखे जाते हैं; अतः 'य एव लौकिकाः त एव वैदिकाः' इस न्यायके अनुसार यहाँ भी उक्त दोनों भेदमें ही होने चाहिएँ, परन्तु यहां ऐसा नहीं है; यहाँ एकमें ही उक्त दोनोंका व्यवहार माना जाता है। यही अर्थ यहां विशेषरूपसे समझाया जाता है ॥ १२४ ॥

'एतदर्था०' इत्यादि। उक्त अर्थके अनुकूल ही दोनों प्रश्न हैं; जैसे लोकमें अवधि और अवधिमान्का एवं गन्तव्य और गन्ताका भेद है तथा आधाराधेयका भेद है, वैसे ही यहाँ भी उक्त पदार्थोंमें भेद मानकर उक्त दोनों प्रश्न किये गये हैं; इसीसे दो उत्तर दिये गये हैं, यह इसका तात्पर्यार्थ कहा गया है ॥ १२५ ॥

'नाऽन्यत्राऽ०' इत्यादि। यह आत्मा सुषुप्तिदशामें स्वातिरिक्त वस्तुमें है नहीं और न अन्य वस्तुसे आकर उठा है; किन्तु पूर्ण आत्मामें सुषुप्ति और उत्थानका भ्रममात्र है। भ्रममें हेतु है—बुद्धिरूप उपाधि। बुद्धिका ही सुषुप्ति-दशामें लय एवं जागर अवस्थामें उत्थान होता है; इसीसे उक्त दोनों अवस्थाओंका आत्मामें भ्रम होता है। तात्पर्य यह है कि प्रकृतमें अधिकरणाधेयभाव, अपादानकर्तृभाव प्रश्नोत्तरवाक्यसे विवक्षित नहीं हैं, किन्तु संपूर्ण अज्ञानकार्यका ध्वंस विवक्षित है, इसीसे आत्मव्यतिरिक्त वस्तुका श्रुतिने निषेध किया है।

शङ्का—उक्तावस्थामें भी तो प्राण आदि रहते ही हैं, फिर आत्मव्यतिरिक्त वस्तुका निषेध कैसे हो सकता है?

समाधान—हाँ, रहते हैं; लेकिन शुक्तिमें रजतका भान यद्यपि होता है तथापि परमार्थतः शुक्तिरजतका प्रतिषेध होता ही है, इससे केवल ज्ञानमात्रसे वस्तु सिद्ध नहीं होती, किन्तु अबाधित ज्ञानसे वस्तु वस्तुतः सिद्ध होती है, यह ज्ञात होता है।

शङ्का—'एतस्मादात्मनः सर्वे प्राणाः' इत्यादि श्रुतिसे वास्तवमें प्राणकी आत्मासे

सृष्टि होती है, ऐसा ज्ञात होता है; अतः वैसा ही क्यों नहीं मानते ? आत्मामें प्राणादिका अध्यास है, ऐसा माननेमें क्या साधक है ?

समाधान—कूटस्थ अद्वितीय असङ्ग आत्माका स्वरूप ही अध्यासका साधक है। उक्त स्वरूपसे वास्तविक प्राणादिकी सृष्टि नहीं हो सकती। और यह विचारिये कि असत् प्राणादिकी सृष्टि कहते हो अथवा सत् प्राणादिकी ? प्रथम पक्षमें असत्की आकाशपुष्पके समान सृष्टि ही असंभव है। द्वितीय पक्षमें प्राणादि यदि सत् हैं, तो उनकी सृष्टि क्या होगी ? जन्य पदार्थके स्वरूपके आलोचनसे सृष्टि नहीं हो सकती, यह कहा, अब जनकके स्वरूपके आलोचनसे भी उनकी सृष्टि नहीं हो सकती, यह कहते हैं—कूटस्थ उक्त आत्मामें विकार ही नहीं है, इसलिए उससे प्रतीयमान प्राणादिकी उत्पत्ति भ्रममात्र है।

शङ्का—यदि उक्त सृष्टि अवास्तविक है, तो श्रुतिने उसे क्यों कहा ?

समाधान—उक्त आत्माके स्वरूपके बोधके लिए, क्योंकि कूटस्थ आत्मामें वास्तविक सृष्टिका संभव नहीं है, अतः मृत्, लोह और विस्फुलिङ्ग द्वारा जो सृष्टि कही गई है, वह आत्मज्ञानका उपाय कहनेके लिए कही गई है; इसलिए उपेयकी प्राप्तिके लिए सृष्टि कल्पित है, वास्तविक नहीं है। सृष्टि वस्तुतः अन्यपरक है, ऐसी व्यवस्था करनेसे इस शङ्काका भी समाधान हो जाता है कि कूटस्थसे कैसे अवास्तविक संसार हुआ और चेतनसे चेतनात्मक कार्य न होकर अचेतनात्मक कैसे हुआ ? निमित्त कारण माननेपर भी यह सन्देह होता है कि साधनरहित ब्रह्मसे सृष्टि कैसे हुई ? एक कारणसे विजातीय अनेक कार्य कैसे हुए ? एवं ईश्वरने अपने लिए सृष्टि की अथवा दूसरेके लिए ? प्रथम पक्षमें आप्तकाम ईश्वरमें कामना ही कैसे हो सकती है ? द्वितीय पक्षमें सृष्टिसे पहले कोई दूसरा था ही नहीं, फिर उसके लिए सृष्टि कैसे ? यदि मान लें कि परार्थ सृष्टि की, तो सुखमयी सृष्टि क्यों नहीं की ? कारण कि ईश्वरको किसीसे भी राग और द्वेष तो है नहीं। सृष्टिको बनानेके लिए ईश्वरमें शक्ति नहीं है, ऐसी शंका तो हो भी नहीं सकती, क्योंकि वह सर्वशक्तिसम्पन्न है। खैर, सृष्टिमें विविध दुःखोंसे प्राणी विकल हैं, यह भी तो ईश्वर प्रत्यक्षसे ही देख रहा है, क्योंकि वह सर्वज्ञ और सर्ववित् है। प्राणियोंका उद्धार करनेकी सामर्थ्य उसमें नहीं है, ऐसा सन्देह करना भी पाप है, क्योंकि दयासागर होनेसे वह दयाशून्य भी नहीं है। कोई वैसा करनेमें विरोधी भी नहीं हो सकता,

अथवा दर्शितं सुप्तावसङ्गत्वं चिदात्मनः ।
जगद्धेतुतयोत्थाने ब्रह्मता तस्य वर्ण्यते ॥ १२७ ॥
अवास्तवत्वात् जगतो नाऽद्वयत्वं विहन्यते ।
दृश्यमज्ञानजत्वेन न वस्तु स्वप्नदृश्यवत् ॥ १२८ ॥
नाऽसतो जन्मना योगः सतः सत्त्वान्न चेष्यते ।
कूटस्थे विक्रिया नाऽस्ति तस्मादज्ञानतो जनिः ॥ १२९ ॥

क्योंकि वह सबसे बड़ा है, उससे बड़ा दूसरा है ही नहीं इत्यादि अनेक प्रकारकी शंकाओंका समाधान हो जाता है ॥१२६॥

इसी तात्पर्यसे लिखते हैं—'**अथवा**' इत्यादि ।

सुषुप्ति अवस्थामें आत्मामें असङ्गत्व स्पष्टरूपसे दिखलाया है और उत्थान-दशामें उसीमें जगत्कारणत्वके प्रदर्शन द्वारा ब्रह्मभाव स्फुट कहा गया है, अतः दो अवस्थाओंका प्रदर्शन आत्मस्वरूपके विवेकके लिए है, वास्तविक सृष्टिका प्रदर्शन करनेके लिए नहीं है । इससे साधारण विद्वानोंको ही यह भ्रम हो जाता है कि यह श्रुति वास्तविक सृष्टिका प्रतिपादन करती है । भाष्यकार आदि महाविद्वानोंने इस विषयका विशद विचार कर कहा है कि सृष्टि-श्रुतिका मुख्य तात्पर्य वस्तुतः आत्मै-कत्वके बोधनमें है, आपाततः प्रतीयमान अर्थमें मुख्य तात्पर्य नहीं है ॥ १२७ ॥

जीव अद्वितीय ब्रह्मसे अभिन्न है, इस बोधकी सिद्धिके लिए प्रपञ्चमें जो मिथ्यात्व सिद्ध किया गया है, उसीका यहां स्मरण कराते हैं --'अवास्तव०' इत्यादिसे।

जगत् अवस्तु है, इसलिए ब्रह्ममें अद्वयत्वका विघात नहीं है ।

शङ्का—विश्व तो प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोंसे सिद्ध है, अतः अवस्तु क्यों ?

समाधान—स्वाप्निक पदार्थ भी तो उस कालमें प्रत्यक्षसिद्ध ही प्रतीत होते हैं, किन्तु प्रबोध-समयमें वे नहीं रहते, अतः वे जैसे मिथ्या ही कहे जाते हैं वैसे ही जगत् भी संसारदशामें व्यावहारिक प्रमाणसे सिद्ध होनेपर भी ब्रह्मज्ञानदशामें नहीं रहता, अतः मिथ्या ही माना जाता है; इसमें यह अनुमान भी प्रमाण है दृश्यं मिथ्या, अज्ञानजत्वात्, स्वप्नदृश्यवत् ॥१२८॥

'**नाऽसतो**' इत्यादि ।

शङ्का—विश्व अज्ञानजन्य है, इसमें क्या युक्ति है ?

समाधान—युक्ति यह है कि सत् जगत्की उत्पत्ति कहते हो या असत्

वास्तवीं जनिमाहुर्ये तैर्वाच्यं सृष्टिकारणम् ।
प्रधानं परमाण्वादिः प्रवर्तकमपेक्षते ॥ १३० ॥
तत्प्रवर्तक ईशश्चेत् सोऽपि केन प्रवर्तितः ।
लीनत्वात् कामकर्मादि न प्रवर्तयितुं क्षमम् ॥ १३१ ॥

जगत्की ? प्रथम पक्षमें यदि जगत् सत् है, तो फिर उसकी उत्पत्ति कैसी ? उत्पन्न घटकी तो फिर उत्पत्ति नहीं देखी जाती है। द्वितीय पक्षमें असत् आकाशपुष्प आदिका जन्म नहीं देखा जाता है, अतः उसके समान असत् जगत्की भी उत्पत्ति नहीं बन सकती। कार्यके स्वरूपकी पर्यालोचनासे उत्पत्तिका असंभव दिखलाकर कारणके स्वरूपकी पर्यालोचनासे भी जगत्की उत्पत्तिका असंभव दिखलाते हैं—कूटस्थ आत्मामें क्रियाकृत विकार नहीं हो सकता, अतः अज्ञानसे ही संसारकी उत्पत्ति हुई है; यही समझना चाहिए ॥ १२९ ॥

उक्तार्थको दृढ़ करनेके लिए जगत्कारणवादी सांख्य, नैयायिक आदिके मतका निराकरण करते हैं---'**वास्तवीम्**' इत्यादिसे ।

सांख्य और न्याय मतमें क्रमशः प्रधान और परमाणु जो कारण कहे गये हैं, वह ठीक नहीं है, कारण कि वे अचेतन हैं; चेतनके व्यापारके बिना अकेला अचेतन कार्यकारी कहीं भी नहीं देखा गया है, इसलिए उनका प्रवर्तक कौन है ? उसे कहना चाहिए ॥१३०॥

सांख्यमतमें यद्यपि ईश्वर नहीं माना गया है, तथापि योग और न्याय मतमें ईश्वर माना गया है; अतः तदनुसार ईश्वर ही प्रवर्तक होगा, इसे कहते हैं—'**तत्प्रवर्तक**' इत्यादिसे ।

शङ्का—योग तथा न्यायमतमें जीवसे अतिरिक्त ईश्वर है, अतः ईश्वरके द्वारा प्रवर्तित प्रधान वा परमाणु मतभेदसे जगत्सृष्टिका हेतु हो सकता है ।

समाधान—अच्छा, तो यह कहिये कि प्रधान आदिका प्रवर्त्तक ईश्वर है अथवा उसकी शक्ति ? प्रथम पक्षमें ईश्वर निरपेक्ष होकर प्रवर्तक है अथवा कर्मादिकी अपेक्षा रखकर ? प्रथम पक्षमें सृष्टि सदातन होनी चाहिए, क्योंकि जब निरपेक्ष ईश्वर ही कारण (प्रवर्त्तक) है तब वह अपने व्यापारसे कभी विरत नहीं हो सकता और आपके मतमें कारण और प्रेरक दोनों नित्य ही हैं। द्वितीय पक्षमें प्रथम तो यह विरोध है कि जिसको ईश्वर कहते हो उसे पराधीन भी मानते हो, पर यह हो नहीं सकता, क्योंकि ऐश्वर्य और पारतन्त्र्य ये दो विरुद्ध धर्म एक धर्मीमें कैसे रह सकते हैं ?

शक्तिर्नियामिका चेत्सा केनाऽन्येन नियम्यते ।
अविचारितरम्याऽतः सृष्टिरात्मनि कल्पिता ॥ १३२ ॥

दूसरा दोष यह है कि कामकर्मादिसापेक्ष ईश्वर प्रवर्तक है, ऐसा जो कहते हो, सो भी ठीक नहीं है, क्योंकि प्रलयके समय कामकर्मादि भी लीन हैं, इसलिए वे प्रवर्त्तक ही नहीं हो सकते ॥१३१॥

पहलेके द्वितीय पक्षका अनुवाद कर निराकरण करते हैं—'**शक्ति०**' इत्यादिसे।

ईश्वरकी शक्ति ही प्रवर्त्तक है, यह मानना तो सर्वथा असङ्गत है, क्योंकि शक्ति स्वयं जड़ है, अतः वह सर्वज्ञ ईश्वरकी प्रवर्तिका है; यह कैसे संभव हो सकता है ? अस्तु, दूसरा दोष यह है कि शक्तिका प्रवर्त्तक कौन है ? चेतन तो स्वयं भी प्रवृत्त हो सकता है, पर अचेतन शक्ति स्वयं प्रवृत्त नहीं हो सकती; इस परिस्थितिमें वह प्रवर्त्तिका कैसे होगी ? और इसपर भी दृष्टि दीजिये कि क्या कार्य और कारणका भेद मानते हो या अभेद ? प्रथम पक्षमें उन दोनोंको भिन्न भिन्न स्थानमें स्थित मानो, तो हिमालय और विन्ध्यके समान उनमें कार्यकारणभाव ही नहीं हो सकता । एवं द्वितीय पक्षको लेकर दोनों एक ही हैं, ऐसा यदि मानो, तो भी कार्यकारणभाव नहीं हो सकता, सिद्ध कारण होता है और असिद्ध कार्य। एक ही कालमें एक ही वस्तुमें सिद्धत्व और असिद्धत्व—ये दोनों विरुद्ध धर्म नहीं रह सकते । एवं इसपर भी दृष्टि दीजिये कि कार्य क्रियमाण होता है अथवा नहीं ? प्रथम पक्षमें घटादि कार्य जैसे क्रियासे साध्य होते हैं, वैसे ही क्रिया भी तो कार्य है, अतः वह भी क्रियासाध्य होगी एवं उसकी कारण क्रिया भी कार्य है; अतः वह भी क्रियासे साध्य ही होगी, इस प्रकार अनवस्था है । द्वितीय पक्षमें अक्रियमाणको कार्य कहा जाय, तो आत्माको भी कार्य कह सकते हैं, पर ऐसा कहा नहीं जाता, बल्कि क्रियाशून्यको अकारक ही कहते हैं ।

शङ्का—'कालः सर्वस्य कारणम्' इत्यादि वाक्यसे काल ही सृष्टिका कारण है।

समाधान—यह भी ठीक नहीं है, 'स संवत्सरोऽभवत्' इत्यादि श्रुतिसे काल भी कार्य है, ऐसा प्रतीत होता है, इसलिए अपनी उत्पत्तिसे पहले वह भी नहीं है, अतः वह भी अपनी उत्पत्तिमें असमर्थ है । जब स्वरूपसे ही स्वयं नहीं है, तब उसका सृष्टिके प्रति व्यवस्थापक होना तो दूर ही रहा । अपने रक्षणमें जो असमर्थ है, वह दूसरेकी रक्षा कैसे कर सकता है ? अर्थात् नहीं कर सकता, यह न्याय लोकमें प्रसिद्ध है ।

शङ्का—यद्यपि कालकी उत्पत्ति अभी नहीं हुई है, तो भी कारणात्मना सत् है अर्थात् काल अपने कारणमें सूक्ष्मरूपसे अवस्थित है, इसलिए विश्वकी उत्पत्तिका व्यवस्थापक अनुत्पन्न कारणात्मा काल भी हो सकता है।

समाधान—इस विषयमें मैं आपसे पूछता हूँ कि क्या अपने पितामें जनक-रूपसे स्थित अनुत्पन्न कुलाल घटका उत्पादक हो सकता है? यदि नहीं, तो फिर काल भी उक्त अवस्थामें कैसे व्यवस्थापक हो सकता है? काल क्रिया है या द्रव्य? अन्त्य पक्षमें यदि वह निरवयव विभु द्रव्य है, तो आकाशके समान एक ही होगा फिर उससे भूत, भावी और वर्तमानत्व आदि भेद कैसे बनेंगे? यह कालका मुख्य प्रयोजन है। प्रथम पक्षमें आदित्यकी गति क्रियात्मक काल ही कही जायगी। आदित्यकी उत्पत्तिसे पूर्व उक्त क्रियात्मक काल है नहीं, अतः वह विश्वोत्पत्तिका व्यवस्थापक कैसे बन सकता है? न्यायमतमें जो यह व्यवस्था की है कि कार्यभूत द्व्यणुकादि द्रव्य अवयवी हैं, कारणरूप परमाणु आदि द्रव्य अवयव हैं और अवयवी अपने अवयवोंमें समवेत होता है, सो भी ठीक नहीं है, क्योंकि इसमें भी यह प्रश्न होता है कि अवयवी अपने अवयवोंमें एकदेशसे रहता है या सर्वात्मना? प्रथम पक्ष ठीक नहीं है, क्योंकि आरम्भक अवयव ही एकदेश कहलाता है, वह तो आधार ही है, उससे अतिरिक्त एकदेश अवयवीमें है नहीं, इसलिए एकदेशसे वृत्ति तो असंभव ही है। द्वितीय पक्षमें गुप्तिमें तलवारके समान द्व्यणुक यदि सर्वात्मना परमाणुओंमें प्रविष्ट हो जायगा, तो कार्यमें महत्त्व, स्थूलत्व आदि नहीं हो सकेगा इत्यादि अनेक दोष हैं। विस्तारभयसे अधिक नहीं लिखा। पूर्वोक्त रीतिसे कालादिकृत भी वास्तविक भेद नहीं है।

शङ्का—यदि वास्तविक भेद नहीं है, तो भेदका प्रत्यक्ष क्यों होता है?

समाधान—आकाशमें जैसे दिशाओंका भेद कल्पित है; वैसे ही जगत्में भी कल्पित भेद ही प्रत्यक्षका विषय है। एवं जगत्की उत्पत्ति, स्थिति और संहार आत्मामें कल्पित ही हैं, क्योंकि वस्तुस्वभावको देखनेसे सृष्टिका संभव ही नहीं हो सकता।

शङ्का—सृष्टिकी उत्पत्ति, स्थिति और नाश और उनमें क्रम—ये दोनों प्रत्यक्षसे प्रतीत होते हैं, अतएव सृष्टि नहीं है; ऐसा कहना ठीक नहीं है।

समाधान—वस्तुतः उत्पत्ति आदि तो प्रतिक्षण होते रहते हैं और क्रम भी

तथाप्यैकात्म्यबोधाय श्रुत्या सृष्टिरुदीर्यते ।
बुध्यारोहाय मन्दानां सृष्टौ दृष्टान्त उच्यते ॥ १३३ ॥
अचेतनो यथा तन्तुरूर्णनाभेः सचेतनात् ।
जातश्चिदात्मनस्तद्वत् प्राणलोकाद्यचेतनम् ॥ १३४ ॥
विस्फुलिङ्गा यथा वाऽग्नेर्जायन्तेऽग्निस्वभावकाः ।
तथा सुप्तात्मनो जीवा विज्ञानमयनामकाः ॥ १३५ ॥

अविद्यामूलक है, क्योंकि परमार्थतः जब सृष्टि ही नहीं है, तब क्रम कहांसे आयेगा ? ॥ १३२ ॥

'तथाप्यै०' इत्यादि ।

शङ्का—यदि सृष्टि अवास्तविक है, तो श्रुतिने उसका प्रतिपादन क्यों किया ?

समाधान—ब्रह्मात्मैकात्म्यके बोधके लिए श्रुतिने सृष्टिका प्रतिपादन किया है, वास्तविक सृष्टिकी सत्ताके बोधनके लिए नहीं किया है, अतः श्रुतिका परम तात्पर्य उक्त अर्थमें ही है, सृष्टिके तात्त्विकत्वमें नहीं है ।

शङ्का—यदि ऐसा ही है, तो सृष्टिका समर्थन करनेके लिए ऊर्णनाभि आदि दृष्टान्तोंका कथन क्यों किया ?

समाधान—मन्दबुद्धियोंको समझानेके लिए उक्त दृष्टान्त कहे गये हैं ॥१३३॥

'अचेतनो' इत्यादि । तार्किकोंका यह दावा है कि कार्यकारणभाव समानशीलोंका होता है । मृत्तिकासे मृद्घट होता है और सुवर्णसे स्वर्णघट होता है, विपरीत नहीं होता । शुद्ध स्वयंप्रकाश ब्रह्मसे अशुद्ध जडात्मक प्रपञ्च कैसे हो सकता है ? इसका उत्तर देनेके लिए उक्त दृष्टान्त दिये गये हैं समानशीलोंका ही कार्यकारणभाव होता है, यह नियम नहीं है, क्योंकि जैसे चेतन ऊर्णनाभिसे (मकड़ीसे) अचेतन तन्तु पैदा होता है एवं जैसे अचेतन गोमयादिसे वृश्चिक आदि चेतनकी उत्पत्ति देखी जाती है, वैसे ही चिदात्मासे भी चेतनविलक्षण प्राण आदि अचेतन कार्य उत्पन्न होते हैं, अतः इसमें सन्देहका अवकाश ही नहीं है ॥१३४॥

'विस्फुलिङ्गा' इत्यादि । जैसे अग्निसे विस्फुलिङ्ग अग्निके स्वभाववाले ही उत्पन्न होते हैं, वैसे ही सुप्त आत्मासे उसके स्वभाववाले विज्ञानमय जीव उत्पन्न होते हैं । प्रथम दृष्टान्तसे चेतन लूताकीटविशेषसे अचेतन तन्तुकी उत्पत्ति समझाई गई है । और द्वितीय दृष्टान्तसे (अग्निविस्फुलिङ्गदृष्टान्तसे) चेतनकी उत्पत्ति कही

प्राणाद्युत्पत्तिभिर्जीवाः उत्पन्ना इति विभ्रमः ।
आकाशोत्पत्तिविभ्रान्तिर्यथा कुम्भादिजन्मभिः ॥ १३६ ॥
प्राणाद्युत्पत्तिरप्यत्र भ्रान्तैवेति मतं यदि ।
तथाप्यस्ति विशेषोऽत्र तयोः प्राणादिजीवयोः ॥ १३७ ॥

गई है। इससे समस्वभावोंका ही कार्यकारणभाव होता है, अतः चेतन आत्मासे अचेतन जगत्की उत्पत्ति कैसे हो सकती है ? तथा अन्य साधनसे निरपेक्ष अकेले सुप्त चेतनसे चेतन कैसे होगा ? इत्यादि शङ्काका समाधान हो जाता है । जैसे केवल अग्निसे अग्निस्वभाववाले विस्फुलिङ्गकी उत्पत्ति होती है, वैसे ही अज्ञानोपहित ब्रह्मसे सब जीवोंकी उत्पत्ति होती है । माध्यन्दिन शाखामें 'सर्व एत्रात्मानः' ऐसा पाठ है; इसलिए जीवोंकी उत्पत्ति कही गई है ॥ १३५ ॥

'प्राणाद्यु०' इत्यादि ।

शङ्का—यदि जीवकी उत्पत्ति मानोगे; तो कृतविनाश और अकृताभ्यागमकी प्रसक्तिरूप दोष होगा याने कृतका—शुभाशुभ कर्मोंका—भोगके बिना नाश मानना पड़ेगा और अकृत कर्मोंका भोग मानना पड़ेगा, क्योंकि यदि जीव अनित्य है; तो जो कर्म कर चुका है, उनका, कर्ताका नाश होनेपर, भोग तो हो नहीं सकता, अतः भोगके बिना ही उनका नाश मानना पड़ेगा। एवं प्राथमिक उत्पत्ति भी कर्मानुष्ठानके बिना ही माननी पड़ेगी, जो सर्वथा अनुचित है । यदि अन्य जीवोंके कर्मोंसे अन्य जीवकी उत्पत्ति मानी जाय, तो मुक्तोंकी भी उत्पत्तिका प्रसङ्ग हो जायगा ।

समाधान— ठीक है, यहांपर यद्यपि वस्तुतः प्राणकी उत्पत्ति विवक्षित है, जीवकी नहीं; तथापि 'जीवा उत्पन्नाः' यह लोगोंको वैसे ही भ्रम होता है जैसे घटकी उत्पत्तिसे उससे अवच्छिन्न आकाशकी उत्पत्तिका भ्रम होता है । वास्तवमें आकाश उत्पन्न नहीं होता । प्रकृतमें भी जीवकी उत्पत्तिका भ्रम है । यदि जीवकी उत्पत्ति मानी जायगी, तो वह विनाशी हो जायगा; ऐसी परिस्थितिमें मोक्षशास्त्र ही व्यर्थ हो जायँगे । अतएव 'उत्पत्त्यसंभवात्' इस वेदान्तसूत्रसे भागवतमतके खण्डनमें जीवोंकी उत्पत्तिका असंभव ही मुख्य हेतु कहा गया है । 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्योंसे जीव ब्रह्मसे अभिन्न है, यही निश्चय कराया जाता है; अतः जीवोंकी उत्पत्तिका भ्रम ही है ॥ १३६ ॥

प्राणाद्युत्पत्ति०' इत्यादि ।

स्वरूपतो जन्मतश्च प्राणादिर्भ्रान्तिकल्पितः ।
जीवस्य कल्पितं जन्म स्वरूपं तु न कल्पितम् ॥ १३८ ॥
उद्भूतिस्थितिनाशाः स्युर्जगतोऽस्य प्रतिक्षणम् ।
अविद्यामात्रहेतुत्वान्नाऽमीषां विद्यते क्रमः ॥ १३९ ॥
यस्मादविद्ययैवाऽऽत्मा प्राणक्षेत्रज्ञरूपभाक् ।
स्वतोऽतः स परं ब्रह्म तस्योपनिषदुच्यते ॥ १४० ॥
यद् गुह्यं ब्रह्मणो नाम बोधायोपासनाय वा ।
तत् स्यादुपनिषच्छब्दवाच्यं तच्चाऽत्र बुद्धये ॥ १४१ ॥

शङ्का—अद्वैतमतमें उक्त रीतिसे जब सृष्टि ही परमार्थ सत्य नहीं है, तब प्राणादिकी एवं जीवकी सृष्टि भी भ्रान्त ही होगी । फिर जीव और प्राणमें भेद ही क्या रहा ?

समाधान—जीव और प्राणमें भेद अवश्य है । यद्यपि उनमें उत्पत्ति आदिको लेकर भेद नहीं है, यह कहना ठीक है, तथापि उनमें स्वरूपकृत भेद अवश्य है ॥ १३७ ॥

'स्वरूपतो' इत्यादि । स्वरूपसे तथा जन्मसे प्राण आदि भ्रान्तिसे कल्पित हैं तथा जीवका यद्यपि जन्म कल्पित है, तथापि उसका स्वरूप तो कल्पित नहीं है, क्योंकि उसीका स्वरूप तो परमार्थ सत् है ॥ १३८ ॥

'उद्भूति०' इत्यादि । इस जगत्की प्रतिक्षण उत्पत्ति, स्थिति और नाश होते रहते हैं । इस परिस्थितिमें जगत् ही जब स्थिर नहीं है; तब उसमें क्रम ही कैसे कहा जा सकता है ? क्रम स्थिर वस्तुओंमें होता है, क्षणिकोंमें नहीं होता, क्योंकि क्षणिक पदार्थ तो केवल अविद्यासे ही होते हैं ॥ १३९ ॥

'यस्माद०' इत्यादि । प्राण, जीव और परब्रह्म—ये तीनों पदार्थ उपासनाके लिए अपेक्षित हैं । उनमें ब्रह्म ही परमार्थ सत् है । चूँकि आत्मा अविद्यासे ही प्राण और जीवके स्वरूपको प्राप्त होता है और स्वतः याने उससे अनुपहित ब्रह्म है, अतः ब्रह्मकी उपनिषत् कहते हैं, क्योंकि उपासनाके लिए उपनिषत् (सत्यस्य सत्यम्) आवश्यक है ॥ १४० ॥

'यद् गुह्यम्' इत्यादि । बोधके लिए तथा उपासनाके लिए जो गुह्य (गोप्य) ब्रह्मका नाम है, वह उपनिषत्का अर्थ है, अर्थात् जिस शब्द द्वारा ब्रह्मका चिन्तन

सत्यस्य सत्यमित्येतन्नाम ब्रह्मावबोधकम् ।
प्राणा आपाततः सत्याः सत्यं ब्रह्मैव वस्तुतः ॥ १४२ ॥
असत्यो देह उदित एकजन्मन्युपक्षयात् ।
सत्याः प्राणा लिङ्गरूपा आमोक्षमनुपक्षयात् ॥ १४३ ॥

करनेसे ब्रह्मस्वरूपका साक्षात्कार होता है और उस साक्षात्कारसे आत्माके अज्ञानकी निवृत्ति द्वारा ब्रह्मके स्वरूपकी प्राप्ति होती है, वह उपनिषत् कहलाता है। 'उपनिषत्' शब्दका वाच्य परब्रह्म है। प्रकृतमें उपनिषत्-शब्द ब्रह्मबोधके लिए प्रयुक्त हुआ है ॥ १४१ ॥

'सत्यस्य' इत्यादि । 'सत्यस्य सत्यम्' (सत्यका भी सत्य) यह नाम ब्रह्मतत्त्वके अवबोधके लिए प्रयुक्त है ।

शङ्का—'प्राणा वै सत्यम्' इस श्रुतिमें प्राणका स्पष्ट निर्देश है, इसलिए प्राण भी ब्रह्मके समान सत्य है, अज्ञानकल्पित नहीं है, यह मानना चाहिए ।

समाधान—प्राणको आपाततः सत्य कहा है, जो आगेके श्लोकमें स्पष्ट होगा; अतएव 'तेपामेप सत्यम्' इससे स्फुट निर्देश किया गया है कि प्राण आदिमें आत्मा ही परमार्थ सत्य है, अतः ब्रह्ममें ही वास्तविक सत्यता है, प्राणमें नहीं है ॥ १४२ ॥

'असत्यो' इत्यादि । शरीर असत्य है, क्योंकि एक ही जन्ममें वह नष्ट हो जाता है । उसकी भी अपेक्षा लिङ्गात्मक प्राण सत्य कहलाता है, क्योंकि जबतक मोक्ष नहीं होता, तबतक उक्त प्राण नष्ट नहीं होता । कल्पके आदिसे लेकर कल्पके अन्त तक एक ही लिङ्गात्मा प्राण रहता है । वे ही शुभाशुभ याने स्वर्ग और नरक आदि तथा ऊँच और नीच योनियोंको भोगता है, अतः कल्प तक स्थायी होनेसे शरीर आदिकी अपेक्षा वह प्राण सत्य कहलाता है । वास्तवमें यह प्राण भी सत्य नहीं है, क्योंकि कल्पके अन्त और मोक्षमें उसका भी नाश हो ही जाता है । परमार्थ सत्य तो वह है, जो कल्पान्तमें भी नष्ट न हो अर्थात् जो कालत्रयमें अबाध्य हो । ऐसा तो ब्रह्म ही है, दूसरा पदार्थ ऐसा नहीं है । एवं सकल बाधोंका साक्षी भी ब्रह्म ही है । असाक्षिक बाध माना नहीं जाता । यदि ब्रह्मका भी बाध मानें, तो वह बाध असाक्षिक ही होगा, इससे शून्यवादकी आपत्ति हो जायगी ॥ १४३ ॥

मोक्षेऽप्यक्षीण आत्मा तु सत्यात्सत्य उदाहृतः ।
सत्यस्य सत्यं प्रोवाच ब्रह्म बालाकये नृपः ॥ १४४ ॥
एतद्ब्राह्मणतात्पर्यविचारस्य प्रसङ्गतः ।
कृत्स्नशास्त्रस्य तात्पर्यमिहेदानीं निरूप्यते ॥ १४५ ॥
संसार्येव किमात्मा स्यादुताऽसंसार्यपीश्वरः ।
स चेशो भिद्यते जीवादथवा नहि भिद्यते ॥ १४६ ॥

'मोक्षेऽप्य०' इत्यादि। राजाने बालाकि ब्राह्मणसे यह कहा कि मोक्षमें भी अविनाशी आत्मा तो सत्य प्राणसे भी सत्य है। अभिप्राय यह है कि शुक्तिमें रजतके समान ब्रह्ममें नामरूपात्मक प्राण कल्पित है। जैसे भ्रमदशामें रजत यद्यपि सत् प्रतीत होता है, तथापि उसमें वास्तविक सत्ता नहीं रहती; किन्तु अधिष्ठानभूत शुक्तिमें रहनेवाली सत्तासे रजत सत् कहा जाता है, वैसे ही उक्त प्राण संसारदशामें ब्रह्मसत्तासे ही सत् कहलाता है। उस ब्रह्मसत्तासे अतिरिक्त सत्ता प्राणमें नहीं है। ब्रह्म सत्यका भी सत्य इसलिए कहा जाता है कि उसमें स्वरूपसे ही परमार्थ सत्ता है, प्राणके समान वह अन्यकी सत्तासे सत्य नहीं है ॥ १४४ ॥

'एतद्०' इत्यादि। इस ब्राह्मणका तात्पर्य किसमें है? इसका निर्णय करनेके लिए प्रवृत्त विचारके प्रसङ्गसे सम्पूर्ण प्रकृत ग्रन्थके तात्पर्यका यहां निरूपण किया जाता है। विचारका अङ्ग संशय है, क्योंकि 'सन्दिग्धे हि न्यायः प्रवर्तते' यह प्रसिद्ध है। संशय यह है कि 'सत्यस्य सत्यम्' यह उपनिषत् (गुह्य) नाम किसका है? संसारीका अथवा असंसारीका? यदि कहो कि पाणिपेषणसे प्रबुद्ध संसारी जीवका यह नाम है, तो वही ज्ञेय होगा और उसीके ज्ञानसे मुक्ति मानी जायगी। और हम लोग भी वही ब्रह्मशब्दवाच्य हैं, संसारी आत्माकी विद्या ही ब्रह्मविद्या है, ऐसा ही मानेंगे। अथवा न्यायतः यदि असंसारी आत्माका उक्त नाम है, तो वही ब्रह्म है, उसकी विद्या ही ब्रह्मविद्या होगी और उसीसे मुक्ति मानी जायगी ॥ १४५ ॥

'संसार्य्येव' इत्यादि। उक्त रीतिसे संसारी आत्मा ब्रह्म है अथवा असंसारी? ब्रह्म जीवसे भिन्न है अथवा अभिन्न? यों और भी संशय हो सकते हैं ॥ १४६ ॥

नानारसमभेदेऽपि ब्रह्मैकरसमेव वा ।
सति चैकरसेऽन्योक्तविरोधोऽत्राऽस्ति वा न वा ॥ १४७ ॥
संसार्येवाऽस्ति नेशोऽन्यो यस्मादत्र श्रुतिः स्वयम् ।
सुप्तात् संसारिणो जीवात्प्राणाद्युत्पत्तिमब्रवीत् ॥ १४८ ॥
मैत्रेयी ब्राह्मणेऽप्येवं भार्यादिप्रीतिसूचितम् ।
संसारिणमुपक्रम्य द्रष्टव्यः स इतीर्यते ॥ १४९ ॥

'**नानारस०**' इत्यादि । अभेदपक्षमें यह विकल्प होगा कि ब्रह्म नानारस है ? या एकरस ? यदि एकरस है, तो उक्त विरोध अर्थात् नानारसकथनके साथ यहाँ विरोध है अथवा नहीं ? यही सब विचारना है ॥ १४७ ॥

'**संसार्येवा०**' इत्यादि । पहला पक्ष ग्रहण करते हैं- -संसारी जीवात्मा ही ईश्वर है, उससे अतिरिक्त ईश्वर है नहीं, कारण कि यहाँ स्वयं श्रुति कहती है—सुषुप्त संसारी जीवसे प्राणादिकी उत्पत्ति हुई । यदि संसारीसे अतिरिक्त ईश्वर होता, तो श्रुति भी उसीसे जगत्की उत्पत्ति कहती । ईश्वरका असाधारण कार्य तो प्राणनिर्माण नहीं है, क्योंकि 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' इत्यादि श्रुति और 'जन्माद्यस्य यतः' इत्यादि सूत्रसे जगत्की उत्पत्त्यादिका कर्ता ही ईश्वर कहा गया है । श्रुति यदि संसारीसे प्राण आदिकी उत्पत्ति स्पष्ट कहती है, तो वही ईश्वर है, अन्य नहीं है, यह मानना चाहिए ॥ १४८ ॥

'**मैत्रेयी**' इत्यादि । 'न वा अरे भार्यायाः कामाय भार्या प्रिया भवति आत्मनस्तु-कामाय भार्या प्रिया भवति' इत्यादि वाक्योंसे भार्या, पुत्र आदिकी प्रीति द्वारा संसारी आत्माका ही द्रष्टव्यत्वरूपसे मैत्रेयीके प्रति श्रीयाज्ञवल्क्य मुनिने उपदेश दिया है, अन्यका (ईश्वरका) नहीं दिया । यदि संसारी आत्माके ज्ञानसे मुक्ति न मानकर अतिरिक्त ईश्वरके ज्ञानसे मुक्ति मानी जाय, तो मुक्तिकी इच्छासे प्रश्न करनेवाली मैत्रेयीके प्रति उक्त मुनिका वह वचन ही असंगत हो जायगा । अतः संसारी ही आत्मा द्रष्टव्य है, उसीको ईश्वर तथा ब्रह्म भी कहते हैं । इसी अभिप्रायसे संसारीका उपक्रम कर वही द्रष्टव्य है, ऐसा याज्ञवल्क्यने भी कहा है । सब वेदान्तोंमें प्रत्यगात्मा ही द्रष्टव्य कहा गया है, उससे अन्य नहीं, क्योंकि तुमसे हम ब्रह्म कहें, यह प्रतिज्ञा कर राजाने बालाकिको सुप्त पुरुषके पास ले जाकर हाथसे दबाकर उसे जगाया, इससे जीव ही ब्रह्मशब्दवाच्य है ॥१४९॥

न चाऽसौ मुक्त्यवस्थायामसंसारी भविष्यति ।
स्वभावस्याऽन्यथाभावो यस्मान्न क्वाऽपि दृश्यते ॥ १५० ॥
साङ्ख्यादयस्तथेशस्य ह्यभावं बहुयुक्तिभिः ।
आपादयन्ति यत्नेन तेभ्योऽन्यः कोऽधिको धिया ॥ १५१ ॥

'न चाऽसौ' इत्यादि । सुषुप्ति आदि अवस्थाओंसे विशिष्ट जीवसे जगत्के जन्म आदि कहे गये हैं। और मैत्रेयी ब्राह्मणसे उसीमें द्रष्टव्यत्व भी कहा गया है, अतः जीवसे ईश्वर अतिरिक्त नहीं है, इस पूर्वपक्षमें ईश्वरवादी कहता है कि यद्यपि उक्त अवस्थामें आत्मा संसारी ही है, फिर भी मुक्तिदशामें असंसारी हो सकता है, इसका खण्डन करते हैं---स्वभावका अन्यथाभाव कहीं भी नहीं देखा गया है। सारांश यह है कि अन्य अवस्थामें जीव ईश्वर हो जाता है, इस वाक्यका तात्पर्य क्या है? अन्यजातीय हो जाता है अथवा पूर्वविलक्षण अन्य धर्मसे विशिष्ट हो जाता है? प्रथम पक्ष ठीक नहीं है, क्योंकि गमन, शयन आदि अवस्थाओंके विशेषसे गाय कभी भी अश्व नहीं हो सकती, अतएव महाभाष्यकारने परिहास किया है कि 'नहि गोधा सर्पन्ती सर्पणादहिर्भवति' (गोह सरकनेके कारण क्या सर्प हो जाती है?)। ईश्वरवादीके मतमें भी ईश्वरको छोड़कर अन्य हेतुसे उक्त घटना नहीं होती। द्वितीय पक्षमें अग्नि किसी अवस्थामें भी शैत्य गुणसे विशिष्ट नहीं होती, अन्यथा प्रमाण आदि ही अव्यवस्थित हो जायँगे अर्थात् देखनेके समय कुछ और रहेगा और प्रवृत्तिके समय कुछ और मिलेगा। संसार व्यवस्थित है, स्वाप्निकके समान अव्यवस्थित नहीं है ॥ १५० ॥

'सांख्यादय०' इत्यादि । उक्त न्यायसे जो जागरादि अवस्थाओंसे विशिष्ट स्वापाद्यवस्थाविशिष्ट आत्मा है, वह संसारी ही है, उससे अतिरिक्त ईश्वर नहीं है; अन्यथा ईश्वरके सद्भावमें यह प्रश्न होगा कि ईश्वर देहादिसे युक्त है या उससे रहित है? प्रथम पक्षमें हम लोगोंकी नाईं वह भी जगत्का कर्ता नहीं हो सकता। द्वितीय पक्षमें भी मुक्तके समान जगत्का कर्तृत्व ही उसमें असंभव है।

शङ्का—तो क्या जगत् नित्य है?

समाधान—नित्य नहीं है, किन्तु जीव ही अदृष्ट द्वारा जगत्का कर्ता है, क्योंकि जीवोंके अदृष्टसे सुख, दुःख आदिके उपभोगके लिए ही संसार होता है, अतः जीव ही कर्ता है। इस परिस्थितिमें ईश्वरकी आवश्यकता नहीं है इत्यादि अनेक युक्तियोंसे ईश्वरके अभावका ही सांख्यादि प्रतिपादन करते हैं।

एवं प्राप्ते वदामोऽत्र बहुश्रुत्युपजीवनात् ।
असंसारी परोऽस्तीशो यस्य सर्वमिदं वशे ॥ १५२ ॥
यः सर्वज्ञः सर्वविच्च योऽशनायादिवर्जितः ।
यः पृथिव्यामिति तथा नेति नेतीति चाऽऽगमः ॥ १५३ ॥
ब्रह्म ब्रवाणीत्युक्तत्वादत्राऽपि ब्रह्मणः श्रुतिः ।
प्राणाद्युत्पत्तिमाचष्टे न तु संसारिजीवतः ॥ १५४ ॥

शङ्का—सांख्यादिसे भी अधिक जो कोई विद्वान् होगा, वह ईश्वरका समर्थन करेगा ?

समाधान—सांख्यादिसे बुद्धिमें अधिक कौन हो सकता है ? अर्थात् कोई नहीं हो सकता, क्योंकि सांख्याचार्यकी प्रशंसा श्रुतियोंने भी की है। कल्पके आदिमें ही आठों सिद्धियोंसे युक्त विद्वान् कपिल हुए, ऐसा पुराणोंमें भी पाया जाता है। एवं 'विमतो न जगज्जन्मादिहेतुः, तत्राऽसमर्थत्वात्, संसारिवत्, इस अनुमानसे भी ईश्वरमें जगत्कर्तृत्वका अभाव ही सिद्ध होता है, यों यह पूर्वपक्ष प्राप्त हुआ ॥ १५१ ॥

उस बड़े पूर्वपक्षका समाधान करते हैं—**'एवं प्राप्ते०'** इत्यादिसे।

यद्यपि उक्त रीतिसे ईश्वरका अभाव ही प्राप्त होता है, तथापि अनेक श्रुतियोंके अनुसार जिस ईश्वरके वशमें सारा संसार है, वह असंसारी है, यही पक्ष सयुक्तिक और प्रामाणिक है ॥ १५२ ॥

'यः सर्वज्ञः' इत्यादि। 'यः सर्वज्ञः सर्वविद्यस्य ज्ञानमयं तपः', 'यो ऽशनायापिपासे अत्येति', 'यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्या अन्तरः' और 'नेति नेति' इत्यादि श्रुतियाँ जिस ईश्वरके सद्भावमें प्रमाण हैं वही ईश्वर जगत्का कर्ता है। श्रुतियोंने ईश्वरका स्वरूप सत्य, ज्ञान और आनन्द कहा है ॥ १५३ ॥

'ब्रह्म ब्रवाणी' इत्यादि। जो यह कहा है कि 'एतस्मादात्मनः' इत्यादि श्रुतिसे प्रकृत संसारी आत्माका 'एतत्' शब्दसे निर्देश कर उसीसे प्राणादिकी उत्पत्ति श्रुतिने कही है, ईश्वरसे नहीं, सो ठीक नहीं है, कारण कि 'ब्रह्म तेऽहं ब्रवाणि' इत्यादि राजाके वाक्यसे बालाकिके प्रति ब्रह्म ही प्रक्रान्त है और 'य एषोऽन्तर्हृदय आकाशः' इस श्रुतिमें आकाशशब्दवाच्य ब्रह्मका ही सर्वनाम 'एतत्' शब्दसे परामर्श है; जीवका नहीं, अन्यथा प्रकरण और राजाकी उक्त प्रतिज्ञाका भङ्ग हो जायगा ॥ १५४ ॥

सता सोम्येत्यादिशास्त्रात् सुप्तौ ब्रह्मावशेपतः ।
जगत्सृष्टिर्युज्यतेऽसौ सृष्टिप्राप्यात्पुराऽऽत्मनः ॥ १५५ ॥
द्रष्टव्यश्च परात्मैव सर्वमात्मेति वर्णनात् ।
अभेदाभिप्रायतोऽत्र भवेत् संसार्युपक्रमः ॥ १५६ ॥

'सता सोम्ये०' इत्यादि । यदि 'एतत्' शब्दसे सुषुप्त संसारी आत्माका परामर्श करें, तो भी उक्त अवस्थामें दो देहोंके अभिमानसे शून्य अतएव केवल स्वरूपमात्रसे अवशिष्ट उक्त आत्माको अज्ञात ब्रह्मके साथ अभेदकी विवक्षासे जगज्जन्मादिका हेतु कहना युक्त ही है । इस प्रकार अर्थ करनेसे सकल श्रुति और स्मृति आदिसे प्रसिद्ध ईश्वरमें जगज्जन्मादिहेतुत्वका विरोध नहीं होता और विवक्षित जीवब्रह्ममें अभेद भी सिद्ध हो जाता है । अतएव 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' यहांसे आरम्भ कर 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इत्यादिसे ब्रह्मका लक्षण कहकर 'तस्मात्' इसका अनुकर्षण कर और वहां आत्मशब्दका प्रयोग कर ब्रह्मवाची 'तत्' शब्द और आत्मशब्दके सामानाधिकरण्यसे प्रत्यक् ब्रह्मसे आकाशादिकी सृष्टि कही है । तात्पर्य यह है कि 'सता सोम्य तदा संपन्नो भवति' इस श्रुतिसे ज्ञात होता है कि सुषुप्तिकालमें जीव वास्तवमें ब्रह्मभावापन्न हो जाता है, क्योंकि उस कालमें जीवभावप्रयोजक उपाधिभूत देह आदिसे आत्मा रहित रहता है । जैसे घट आदि उपाधिकी विगमदशामें घटाकाश महाकाश-स्वरूपापन्न हो जाता है, वैसे ही उपाधिकी विगमदशामें जीव, वास्तविक स्वरूपापन्न होनेसे, ब्रह्मस्वरूप ही अवशिष्ट रह जाता है, अतः उससे जगत्की सृष्टि कहना युक्त ही है । अन्तःकरण आदि उपाधिकी सृष्टिसे विश्वतैजसत्व आदिकी प्राप्ति होती है; इससे पहले तो कोई भेदक नहीं है, इसलिए इस सृष्टिसे पूर्व प्रतिपादित आत्माकी सृष्टिका तात्पर्य पर आत्मसृष्टिमें ही है ॥ १५५ ॥

'द्रष्टव्यश्च' इत्यादि । जो यह कहा था कि वाक्यशेषमें भोक्ताका उपक्रम कर उसीको द्रष्टव्य कहा है, इससे सूचित होता है कि संसारीसे अतिरिक्त ईश्वर नहीं है, अन्यथा उसीको द्रष्टव्य कहा जाता; सो ठीक नहीं है ।

शङ्का—क्यों ?

समाधान—परमात्मा ही द्रष्टव्य कहा गया है, जीव नहीं । जीव तो द्रष्टा है । द्रष्टा ही द्रष्टव्य नहीं हो सकता, अतएव 'सर्वं यदयमात्मा' इत्यादि वाक्यसे कार्य-

जगत्सृष्ट्यादिसामर्थ्यं नेशादन्यस्य तेन ते ।
साङ्ख्यादयो बुद्धिहीना बुद्धिमन्तश्च तार्किकाः ॥ १५७ ॥

कारणके अभेदकी विवक्षासे निखिल विश्वको आत्मा कहा है । जीव विश्वका कारण नहीं होता है, यह अग्रिम श्लोकमें व्यक्त करेंगे ।

शङ्का—अच्छा, तो उपक्रमोपसंहारके ऐक्यका लाभ करनेके लिए ब्रह्मसे ही उपक्रम करना उचित था, संसारीसे उपक्रम क्यों किया ?

समाधान—जीव और ब्रह्मके अभेदके अभिप्रायसे उक्त उपक्रम हुआ है । जीव तो वस्तुतः ब्रह्म ही है, अतिरिक्त नहीं है, इसलिए उपक्रमोपसंहारके ऐक्यमें कोई क्षति नहीं है ॥ १५६ ॥

'जगत्सृष्ट्या०' इत्यादि । ईश्वरसे अतिरिक्तमें जगत्को बनानेकी शक्ति नहीं है, अतएव प्रधानसे जगत्को माननेवाले सांख्यादि बुद्धिसे शून्य ही हैं, बल्कि उनकी अपेक्षा नैयायिकादि बुद्धिमान् हैं, क्योंकि वे लोग ईश्वरसे ही सृष्टि मानते हैं । अभिप्राय यह है कि दुःखी संसारी जीवमें जगत्की रचनाकी सामर्थ्य तथा उसकी अनुकूल सामग्रीके संपादनकी क्षमता कहां ? जैसे हम लोग किञ्चिद्ज्ञ तथा थोड़ी सामर्थ्यवाले हैं; वैसे ही अन्य भी संसारी हो सकता है ।

शङ्का—'एवमेव' इत्यादि श्रुति संसारीसे ही जगत्की उत्पत्ति कहती है, अतः सामर्थ्य आदिके अभावकी आपादक युक्ति आभास है; जैसे जीव और ब्रह्मके अभेदमें श्रुति प्रमाण है, वैसे ही जीवसे संसारकी सृष्टिमें भी उक्त श्रुति प्रमाण है ।

समाधान—शास्त्र अपूर्व शक्तिका उत्पादक नहीं होता, किन्तु विद्यमान शक्तिका केवल ज्ञापक होता है; इसलिए शास्त्र द्वारा संसारीमें उक्त शक्ति उत्पन्न नहीं हो सकती ।

शङ्का—शास्त्र उत्पादक होता है, यह कहना ठीक नहीं है, किन्तु ज्ञापक होता है, यह कहना तो ठीक है, अतः यदि संसारीसे ही जगत्की उत्पत्तिका ज्ञापक शास्त्र होगा, तो भी विवक्षित अर्थकी सिद्धि हो सकती है ।

समाधान—अन्य प्रमाणके साथ विरोध न होनेपर ही शास्त्र ज्ञापक होता है, प्रकृतमें संसारी पुरुषोंमें उक्त सामर्थ्यका अभाव प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे सिद्ध है, इसलिए उस अर्थका शास्त्र ज्ञापक भी नहीं हो सकता ।

शङ्का—अच्छा, उक्त श्रुति और युक्तिसे जीवसे अतिरिक्त ईश्वरको भले

जीवेशभेदमाहुस्ते तस्माज्जीवो महेश्वरम् ।
आराधयेदहं ब्रह्मेत्येवं मत्वा पतत्यसौ ॥ १५८ ॥

ही मानो, किन्तु परस्परकी अपेक्षा न करनेवाले अन्धकार और प्रकाशके समान विरुद्ध स्वभाववाले जीव और ईश्वरका अभेद कैसे हो सकता है ? क्योंकि 'जीवेश्वरौ मिथो भिन्नौ, विरुद्धस्वभावत्वात्, तमःप्रकाशवत्; इस अनुमानसे दोनों स्वतन्त्र तथा भिन्न-भिन्न प्रतीत होते हैं। इस परिस्थितिमें यदि कोई भी पुरुष 'अहं ब्रह्मास्मि' ऐसा मानेगा, तो वह अवश्य अपराधी समझा जायगा। जैसे कोई अमात्य कहे कि हम ही राजा हैं, तो वह अमात्य अवश्य अपराधी अतएव दण्डनीय कहा जायगा, वैसे ही 'अहं ब्रह्मास्मि' यह धारणा भी अनुचित ही है, ऐसा करनेसे प्रत्यवाय होगा। यदि कहो कि उक्त ज्ञानरूप अपराध होनेपर मुक्ति कैसे होगी ? तो इसका उत्तर यह है कि पुष्प, उदकाञ्जलि, स्तुति, नमस्कार, बलिका उपहार, स्वाध्यायाध्ययन, योग आदि द्वारा जगत्के कारण परमेश्वरकी आराधनासे उसको जानकर मुक्त हो सकता है। पञ्चरात्रमें लिखा है—

'परब्रह्मत्वमायाति मत्कर्मपरमः पुमान्' इत्यादि ।
ये संश्रयन्ति तं भक्त्या सूक्ष्ममध्यात्मचिन्तकाः ।
ते यान्ति वै पदं विष्णोर्जरामरणवर्जितम्' ॥ इत्यादि ।

शङ्का—यदि ऐसा मानते हो, तो 'तत्त्वमसि' इत्यादि वाक्यकी क्या गति होगी ?

समाधान – यह 'आदित्यो यूपः' और 'यजमानः प्रस्तरः' इत्यादिके समान अर्थवाद है, अतएव 'निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति' इत्यादि वाक्य भी सङ्गत होते हैं। संपत्तिके आधिक्यसे जैसे यह पुरोहित राजा है, ऐसा केवल व्यवहार होता है, उसका स्वार्थमें तात्पर्य नहीं है, वैसे ही उक्त वाक्योंका स्वार्थमें तात्पर्य नहीं है, अन्यथा प्रत्यक्षादि प्रमाणोंके साथ विरोध अपरिहार्य होगा। उक्त वाक्योंको अर्थवाद माननेसे जीव और ब्रह्मका वस्तुतः भेद ही सिद्ध होगा। अतः ईशिता, ईशितव्य आदि जो भेद तर्कशास्त्र, लोक और न्यायसे सिद्ध हैं, उनके साथ विरोध भी शान्त हो जायगा ॥ १५७ ॥

'जीवेशभेद०' इत्यादि। तार्किकोंने जीव और ईश्वरका भेद कहा है; अतः जीव परमात्माकी उक्त प्रकारसे आराधना करके उसके प्रसादसे उक्त

नैतदेवं ब्रह्मणोऽत्र मन्त्रब्राह्मणमानतः ।
प्रवेशः श्रूयते तस्मान्नाऽस्ति जीवेशयोर्भिदा ॥ १५९ ॥
तत्सृष्ट्वाऽनुप्राविशत्तत्पुरः पुरुष आविशत् ।
इत्यादीन्यत्र वाक्यानि सन्ति ब्राह्मणमन्त्रयोः ॥ १६० ॥

ब्रह्मस्वरूपापत्तिरूप मोक्ष पाता है और 'अहं ब्रह्मास्मि' इस बुद्धिसे उपासना करनेसे तो उक्त अमात्यके दृष्टान्तानुसार वह पतित हो जाता है, इसलिए भेदबुद्धिसे ही उपनिषत्में ईश्वरकी उपासना विहित है; अभेद बुद्धिसे नहीं; यह द्वैतवादियोंका पूर्वपक्ष है ॥ १५८ ॥

इसका उत्तर अद्वैतवादी देते हैं—**'नैतदेवम्'** इत्यादिसे ।

उक्त पूर्वपक्ष ठीक नहीं है, क्योंकि मन्त्र और ब्राह्मणके प्रामाण्यसे ब्रह्मका ही प्रवेश सृष्टिमें सुना जाता है; अतः जीवेश्वरका परस्पर भेद नहीं है, यही उपनिषत्का सिद्धान्त है ॥ १५९ ॥

'तत्सृष्ट्वा' इत्यादि । 'पुरश्चक्रे' इत्यादिका आरम्भ कर 'पुरः पुरुष आविशत्', 'रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव तदस्य रूपं प्रतिचक्षणाय', 'सर्वाणि रूपाणि विचित्य धीरो नामानि कृत्वाभिवदन् यदास्ते' इत्यादि सकल शाखाओंमें सृष्टिके प्रतिपादक हजारों मन्त्र हैं तथा ब्राह्मणमें भी 'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्', 'स एतमेव सीमानं विदार्य्य एतया द्वारा प्रापद्यत', 'सेयं देवता....इमा तिस्रो देवता' 'अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य', 'एष सर्वेषु भूतेषु गूढोत्मा न प्रकाशते', 'एष सर्वभूतान्तरात्मा', 'एकमेवाद्वितीयम्', 'ब्रह्मैवेदम्', 'आत्मैवेदम्' इत्यादि श्रुतियोंसे 'अहं ब्रह्मास्मि' यही धारणा समुचित है । यदि यही शास्त्रार्थ है, तो परमात्मा संसारी है, यह सिद्ध होता है ।

शङ्का—यदि ब्रह्म ही संसारी है, तो शास्त्र और उपदेश—ये दोनों अनर्थक हो जायँगे, यह दोष अतिस्पष्ट है और यदि परमात्मा ही सब भूतोंका अन्तरात्मा है, ऐसा माना जाय, तो सब प्रकारके शरीरोंके सम्बन्धसे जायमान दुःखोंका वही अनुभव करता है, यह प्राप्त होगा; ऐसी परिस्थितिमें पर असंसारी है, इस अर्थकी बोधक श्रुतियाँ तथा स्मृतियां विरुद्ध होंगी । प्राण और शरीरके संबन्धसे जायमान सुख और दुःखोंका अनुभव नहीं करता, ऐसा समर्थन किसी प्रकार नहीं कर सकते एवं परमात्माका न कोई साध्य है और न कोई परिहार्य्य है; फिर उसके लिए उपदेश निरर्थक है ॥ १६० ॥

जीवो ब्रह्मविकारोऽतो ब्रह्म नानारसं ततः ।
बन्धमोक्षव्यवस्थेति केचित् तत्तु न युज्यते ॥ १६१ ॥

इस पूर्वपक्षका कुछ विद्वान् जिस मतसे समाधान देते हैं,उस मतका अनुवाद करते हैं—'**जीवो ब्रह्म०**' इत्यादिसे ।

जीव ब्रह्मका विकार है, अतः ब्रह्म नानारस है। 'समुद्रवीचितरङ्ग' न्यायसे जीव और ब्रह्ममें भेद और अभेद दोनों हैं। भेदांशसे संसारित्वप्रतिपादक श्रुतिकी और अभेदांशसे ऐक्यप्रतिपादक श्रुतिकी उपपत्ति हो सकती है। भाव यह है कि 'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्' इस श्रुतिसे अविकृत परमात्मस्वरूपका सृष्टिमें प्रवेश कहा गया है या विकृत स्वरूपका ? प्रथम पक्षका अङ्गीकार करनेसे पूर्वोक्त दोष आते हैं, इसलिए विकार-भावको प्राप्त हुए विज्ञानात्माका ब्रह्मादिसे लेकर स्थावरपर्यन्त भूतयोनिमें प्रवेश हुआ, इस अर्थमें उक्त श्रुतिका तात्पर्य माना जाय, तो कोई दोष नहीं आता। विज्ञानात्मा ब्रह्मसे भिन्न और अभिन्न है। भेदको लेकर बन्ध और मोक्ष आदिका व्यवहार और अभेदांशको लेकर आत्मैकत्वोपदेश दोनों अविरुद्ध हो जाते हैं। जिस अंशसे अन्य है, उस अंशसे 'संसारी' और जिस अंशसे अनन्य है, उस अंशसे 'अहं ब्रह्मास्मि' यह अवधारण होता है, यों सब अविरुद्ध है ।

समाधान—यहांपर ये विकल्प होते हैं कि क्या विज्ञानात्मा *पृथिवीके समान अनेकद्रव्यसमुदायात्मक सावयव परमात्माका एकदेश-परिणाम है ? अथवा † पूर्व संस्थानावस्थित परमात्माका एकदेश-विकार है ? किंवा ‡ दुग्धके समान सर्वात्मरूपसे परमात्माका परिणाम है ? प्रथम §कल्पमें जैसे पृथ्वीके

---

* जैसे लोकमें पृथ्वीशब्दसे कहलानेवाला द्रव्य अनेकविध अवयवोंका समुदाय ही है। और घट आदि उसी समुदायात्मक पृथ्वीके एकदेशके परिणाम हैं, वैसे ही परमात्मा भी अनेकविध भूत और भौतिक द्रव्योंका समुदाय है, उसीका एकदेश विकार जीव है, यह प्रथम कल्पका भाव है ।

† जैसे अवयवी भूमिका ऊषर आदि देश उसीका विकार कहलाता है अथवा जैसे पुरुषके केश, नख आदि पुरुषके विकार कहलाते हैं, वैसे ही जीव भी अवयवीभूत परमात्माका एकदेश-विकार है, यह द्वितीय कल्पका भाव है। पूर्व कल्पमें अवयवी विकृत होता है और इस कल्पमें अविकृत रहता है, इस प्रकार दोनों कल्पोंमें विलक्षणता है ।

‡ जैसे क्षीर अथवा सुवर्ण दधिके रूपमें या कटकके रूपमें सर्वात्मना परिणत होते हैं, वैसे ही परमात्मा भी सर्वात्मना जीवके रूपमें परिणत होता है, यह तृतीय कल्पका भाव है ।

§ सारांश यह है कि यदि परमात्मा अनेक द्रव्योंका समुदायरूप मान लिया जाय,

घटकेशदधीनीव विकारो भवतीति यः ।
युतसिद्धः पृथिव्यंशो मृत्पिण्डो घटतां व्रजेत् ॥ १६२ ॥
केशस्त्वयुतसिद्धांशः पलितत्वं समश्नुते ।
क्षीरं सर्वं दधि भवेद्भवेद् ब्रह्म न तु त्रिधा ॥ १६३ ॥

कुछ अंशका परिणाम घट बन जाता है, वैसे ही समानजातीय अनेकद्रव्यसमुदायका कुछ अंश विज्ञानात्माका स्वरूप बन जाता है, यह मानना होगा। इस परिस्थितिमें ब्रह्ममें वस्तुतः एकत्व नहीं है, किन्तु उसमें रहनेवाली जातिके एकत्वसे एकत्व है, यों औपचारिक ही एकत्व माना जायगा, ऐसा माननेमें सिद्धान्तविरोध होगा। द्वितीय पक्षमें सर्वदा भिन्नरूपसे अवस्थित अवयवोंमें अनुस्यूतरूपसे रहनेवाले अवयवी परमात्माका एकदेश जीवात्मा संसारी है, ऐसा माननेपर भी सब अवयवोंमें अनुस्यूतरूपसे रहनेवाला अवयवी परमात्मा अपने अवयवभूत विज्ञानात्माके गुण वा दोषसे मुक्त नहीं हो सकेगा अर्थात् जीवके गुण और दोषसे परमात्मामें भी गुण और दोपका प्रसङ्ग हो जायगा, यह भाव है। इसलिए यह द्वितीय कल्प भी समुचित नहीं है। क्षीरके समान परमात्माका सर्वात्मना जीवके रूपमें परिणाम होता है, यह तृतीय कल्प भी अयुक्त है, क्योंकि इस पक्षमें 'निष्कलं निष्क्रियं शान्तम्', 'दिव्यो ह्यमूर्तः पुरुषः', 'स बाह्याभ्यन्तरो ह्यजः', 'आकाशवत्सर्वगतश्च नित्यः', 'स वा एष महानजः', 'आत्माऽजरोऽमरोऽमृतः', 'न जायते म्रियते वा कदाचित्' और 'अव्यक्तोऽयम्' इत्यादि सब श्रुतियां विरुद्ध हो जायँगी, इसलिए ये तीनों पक्ष श्रुति, स्मृति और न्यायसे विरुद्ध हैं। यही विषय अग्रिम श्लोकोंसे भी स्फुट किया जायगा ॥ १६१ ॥

'**घटकेश०**' इत्यादि। घट, केश और दधिके समान अर्थात् विकृत अवस्थावाले मृत्पिण्डका विकार घट है, अविकृत अवस्थावाले अवयवीके विकार केश, नख आदि हैं और दूधका सर्वात्मना परिणाम दधि है, इस प्रकार जिन तीम परिणामोंको क्रमशः पहले कह चुके हैं, उनके समान जीव परमात्माका विकार है। उनमें जैसे युतसिद्ध पृथिवीका अंश मृत्पिण्ड घटस्वरूप होता है ॥ १६२ ॥

'**केशस्त्व०**' इत्यादि। जैसे केश, नख आदि अयुतसिद्धांश समय आनेपर

अथवा अन्योऽन्यसापेक्ष द्रव्य परमात्मा मान लिया जाय, तो अनेक द्रव्यात्मक परमात्मामें मुख्य एकत्व नहीं हो सकेगा अर्थात् एक ही परमात्मा है, यह पक्ष सिद्ध नहीं हो सकेगा, क्योंकि समुदाय समुदितसे भिन्न है या अभिन्न है? यों विकल्पपरम्पराके प्रसङ्गसे एकत्वका निर्णय नहीं हो सकेगा, इससे वेदान्तसिद्धान्तके साथ विरोध होगा।

कूटस्थत्वान्निरंशत्वाद् ब्रह्मणो नाऽस्ति विक्रिया।
दिव्यो ह्यमूर्त्त इत्यादिश्रुतिवाक्यसहस्रतः ॥ १६४ ॥
विस्फुलिङ्गश्रुतेर्जीवो ब्रह्मांशः संसरेद्यदि।
तद्ब्रंशस्फुटनाद् ब्रह्म संयुज्येत व्रणेन तत् ॥ १६५ ॥
अकायमव्रणं चेति श्रुतिर्व्रणनिषेधिनी।
स्वप्नसंसारवत् तस्मात् जीवसंसार इष्यताम् ॥ १६६ ॥

शरीरमें ही वृद्धावस्थासे श्वेत हो जाते हैं और जैसे क्षीर सर्वात्मना दधिरूप हो जाता है; वैसे ब्रह्मका जीवरूपमें त्रिविध परिणाम नहीं हो सकता ॥ १६३ ॥

'कूटस्थत्वा०' इत्यादि। ब्रह्म निरंश तथा कूटस्थ है, इसलिए उसमें विकार नहीं हो सकता। परिणामी पृथिव्यादि सांश और अकूटस्थ हैं, इसलिए उनका परिणाम होता है। ब्रह्म तो उनसे विलक्षण है, इसलिए उक्त त्रिविध परिणाम ब्रह्मका नहीं हो सकता। उक्त स्वभावमें 'दिव्योऽह्यमूर्तः' इत्यादि पूर्वोक्त हजारों श्रुतियाँ प्रमाण हैं। यदि जीवको ब्रह्मका एकदेश मानियेगा, तो संसारका ही अभाव हो जायगा एवं जीवका स्वर्गादिमें गमन भी नहीं हो सकेगा। यदि जीवका गमन मानेंगे, तो परमेश्वरमें भी गति माननी पड़ेगी, क्योंकि पटावयवके चलनेसे पटमें जैसे गति मानी जाती है, वैसे ही परावयव जीवकी गतिसे परमें भी गतिका स्वीकार अनिवार्य हो जायगा ॥ १६४ ॥

'विस्फुलिङ्ग०' इत्यादि। अग्निसे स्फुटित अग्निका एकदेश जैसे विस्फुलिङ्ग कहा जाता है, वैसे ही ब्रह्मसे स्फुटित ब्रह्मका एकदेश विज्ञानात्मा जीव कहलाता है; यह भी कल्पना ठीक नहीं है, कारण कि ब्रह्मका एकदेश यदि ब्रह्मसे फूटकर पृथक् जीव होगा, तो ब्रह्म व्रणसे संयुक्त हो जायगा, पर श्रुतियोंमें ब्रह्म अव्रण कहा गया है। और जहां ब्रह्मके अवयवभूत जीवका गमन होगा, वहां ब्रह्मके अवयवमें उपचय (शोथ) होगा, क्योंकि ब्रह्म सर्वव्यापक है, अतः उससे शून्य देश तो कोई हो ही नहीं सकता। अग्नि तो अव्यापक है, अतः उसका विस्फुलिङ्ग अनग्निदेशमें प्राप्त होता है। वैसा यहां हो नहीं सकता, इसलिए जहांसे अवयव निकलेंगे, वहां क्षति हो जायगी और जहाँ संसरण करेंगे, वहां अवयव अधिक संयुक्त हो जायँगे और उन अवयवोंसे ब्रह्मको हृदयशूलके समान दुःख हो जायगा ॥ १६५ ॥

'अकाय०' इत्यादि।

शङ्का—विस्फुलिङ्गश्रुतिके प्रामाण्यसे ब्रह्ममें व्रण भी मान सकते हैं।

समाधान—'अकायमव्रणम्' इत्यादि श्रौत वचनके अनुसार जब ब्रह्ममें शरीरसम्बन्ध ही नहीं है, तब व्रणकी क्या सम्भावना ? अव्रणमें अकाय भी हेतु है, यही श्रुति ब्रह्ममें व्रणका निषेध करती है।

शङ्का—उक्त रीतिसे ब्रह्म यदि एकरस है, तो उससे अभिन्न जीवमें संसारकी प्रतीति कैसे होगी ?

समाधान—गज आदिके न रहनेपर भी स्वप्नमें जैसे गज आदिकी प्रतीति होती है, वैसे ही परमार्थतः संसारके न रहनेपर भी भ्रमात्मक संसारकी प्रतीति होती है।

शङ्का—यदि अग्निविस्फुलिङ्गादि दृष्टान्तसे ब्रह्मका परिणाम जीव है, यह मानते हो, तो ब्रह्मको परिणामी और जीवको परिणाम मानना पड़ेगा, इस परिस्थितिमें दोनोंमें अनित्यताकी आपत्ति हो जायगी।

समाधान—नहीं, ऐसा नहीं हो सकता, क्योंकि शास्त्र-प्रामाण्यसे जीवमें नित्यत्व आदि भी मानेंगे, शास्त्र यथास्थित वस्तुका ज्ञापकमात्र है, कारक नहीं है, यह अनेक बार कह चुके हैं। अतएव प्रमाणसिद्ध पदार्थको कोई भी प्रमाण अन्यथा नहीं कर सकता।

शङ्का—यदि प्रमाणसिद्ध ही पदार्थका शास्त्र ज्ञापक है, ऐसा मानते हो, तो शास्त्रकी क्या आवश्यकता ? बोध्य पदार्थ ज्ञापक प्रमाणसे ही बुद्ध हो जायगा ?

समाधान—मूर्त या अमूर्त जो पदार्थ जिस प्रमाणसे सिद्ध होता है, उसीके दृष्टान्तसे तज्जातीय अपूर्व पदार्थ भी शास्त्र-प्रमाणसे मनाया जाता है, उससे विपरीत नहीं, इसलिए शास्त्र आवश्यक है। अग्नि अत्यन्त शीत है, इसको हजारों दृष्टान्त देकर इन्द्र भी सिद्ध नहीं कर सकते।

शङ्का—अन्य प्रमाणसे विरोध रखनेवाला भी प्रमाण अद्वैतवेदान्ती मानते हैं, क्योंकि 'हम ईश्वर नहीं हैं' इस प्रत्यक्ष प्रमाणके विरुद्ध 'तत्त्वमसि' इस शब्द-प्रमाणसे जीव और ईश्वरके अभेदका बोध माना ही जाता है।

समाधान—औपनिषद पुरुष प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोंका विषय ही नहीं है, क्योंकि 'अहं गौरः कृशः' इत्यादि प्रत्यक्षाभासके समान ही उक्त प्रतीति भी यथार्थ नहीं है, क्योंकि जब जीवका ही वास्तविक प्रत्यक्ष संसारदशामें नहीं होता, तब ईश्वरका प्रत्यक्ष कहां ? प्रतियोगी और अनुयोगीके प्रत्यक्षके बिना उसके भेदका प्रत्यक्ष असंभव ही है, प्रत्यक्षगोचर पद और उसके अर्थका अनादर कर आगममात्रसे कोई

विस्फुलिङ्गाद्युपन्यासः क्षेत्रज्ञपरमात्मनोः ।
ऐकात्म्यप्रतिपत्त्यर्थो न जीवं भेत्तुमर्हति ॥ १६७ ॥
मृल्लोहविस्फुलिङ्गाद्यैः सृष्टिर्या चोदिताऽन्यथा ।
उपायः सोऽवतारायेत्याहुरागमवेदिनः ॥ १६८ ॥

अर्थ कोई पुरुष नहीं जान सकता । कल्पित द्वैत प्रत्यक्षादिका विषय है, उसके अगोचर अद्वैतमें आगम ही प्रमाण हो सकता है, अन्य नहीं; अतः उक्त वाक्यमें प्रत्यक्षादिप्रमाणविरोध नहीं हो सकता । सारांश यह निकला कि लोकप्रसिद्ध अग्निविस्फुलिङ्ग आदि दृष्टान्तोंसे अंशांशित्वकी कल्पना समुचित नहीं है, कारण कि निष्कलत्व, अद्वयत्व आदिकी प्रतिपादक श्रुतिके साथ विरोध व्यक्त है, अतः दृष्टान्त-श्रुति उक्त प्रमाणविरुद्धार्थकी बोधक नहीं हो सकती ॥ १६६ ॥

'विस्फुलिङ्गा०' इत्यादि ।

शङ्का—उक्त विस्फुलिङ्गादिदृष्टान्तसे यदि अंशादिभाव विवक्षित नहीं है, तो फिर क्या विवक्षित है ?

समाधान—क्षेत्रज्ञ परमात्माका ऐक्य विवक्षित है अर्थात् विस्फुलिङ्ग अग्नि ही है, उससे अतिरिक्त नहीं, ऐसा लोकमें जैसे व्यवहार देखा जाता है, वैसे ही जीव भी ब्रह्म ही है, उससे अतिरिक्त नहीं है, इसी अर्थका बोध करानेके लिए उक्त दृष्टान्त हैं, इसलिए परमात्माके विकारांशके वाचक शब्द परमात्माके साथ जीवका ऐक्य है, ऐसे ज्ञानके उत्पादनके लिए प्रयुक्त हुए हैं । उपक्रमोपसंहारसे यही अर्थ सब श्रुतियोंसे प्रतीत होता है । सब उपनिषदोंमें प्रथम एकत्वकी प्रतिज्ञा कर दृष्टान्त और हेतुओंसे जगत् परमात्माका अंश (विकार) है, ऐसा प्रतिपादन कर फिर एकत्वका उपसंहार किया है । जैसे यहींपर 'इदं सर्वं यदयमात्मा' (यह सब आत्मा है) ऐसी प्रतिज्ञा कर उत्पत्ति, स्थिति और लयके हेतुमें दृष्टान्तसे विकार-विकारित्वादि एकप्रत्ययहेतुत्वका प्रतिपादन कर 'अनन्तरमबाह्यम्' 'अयमात्मा ब्रह्म' ऐसा उपसंहार करेंगे । इस कारणसे उपक्रमोपसंहार द्वारा यह अर्थ निश्चित होता है कि परमात्मैकत्वप्रत्ययको दृढ़ करनेके लिए ही उत्पत्ति, स्थिति और लयके बोधक वाक्य हैं; अन्यथा वाक्यभेद हो जायगा ॥ १६७ ॥

उक्त अर्थमें श्रीगौड़पादाचार्यकी कारिकाका उदाहरण देते हैं —'मृल्लोह०' इत्यादिसे ।

विस्फुलिङ्गो यथोत्पत्तेः पूर्वमग्न्यात्मकस्तथा ।
क्षेत्रज्ञः सृष्टितः पूर्वं परमात्मैव नाऽपरः ॥ १६९ ॥
भ्रान्त्या क्षेत्रज्ञता भाति बोधादेषा निवर्तते ।
इत्यत्र राजपुत्रस्य व्याधता स्यान्निदर्शनम् ॥ १७० ॥
राजपुत्रो रोगवशादुन्मत्तः सन् वनं गतः ।
चिरं व्याधगृहे स्थित्वा व्याधोऽस्मीत्यभिमन्यते ॥ १७१ ॥
उन्मादशान्तावप्येष न तां सस्मार राजताम् ।
अभिज्ञः कश्चिदागत्य स्मारयामास राजताम् ॥ १७२ ॥

मृत्तिका, लोह और विस्फुलिङ्ग आदि दृष्टान्तोंके द्वारा जो सृष्टि पूर्वमें कही गई है, वह वस्तुतः सृष्टि है नहीं; किन्तु स्वप्नके समान वह केवल प्रतीत होती है। वह आत्मैकत्वके बोधके उपायकी अवतरणिका है, यों शास्त्रमर्मज्ञोंका कथन है। जैसे मृत्तिकाका घटादि विकार वस्तुतः मृदादिस्वरूप ही है, अतिरिक्त नहीं है, वैसे ही ब्रह्मविकार जगत् ब्रह्मस्वरूप ही है, इसीमें उक्त दृष्टान्तोंका तात्पर्य है ॥१६८॥

'विस्फुलिङ्गो' इत्यादि। जैसे उत्पत्तिसे पूर्व विस्फुलिङ्ग अग्निस्वरूप ही है, उससे अतिरिक्त नहीं है, वैसे ही सृष्टिसे पूर्व क्षेत्रज्ञ जीव भी परमात्मस्वरूप ही है, उससे अतिरिक्त नहीं है ॥ १६९ ॥

'भ्रान्त्या०' इत्यादि।

शङ्का--संसार भ्रमकल्पित है, यह ठीक नहीं है, क्योंकि इस अर्थमें श्रुतिका अनुग्राहक कोई दृष्टान्त नहीं है।

समाधान—भ्रान्तिसे क्षेत्रज्ञता प्रतीत होती है और तत्त्वबोधसे वह निवृत्त हो जाती है, इसमें राजव्याधका पूरा दृष्टान्त है, यह संप्रदायको जाननेवाले आचार्योंका उदाहरण है ॥ १७० ॥

'राजपुत्रो' इत्यादि। कोई युवा चक्रवर्ती राजाका पुत्र था, वह व्याधि आदिके योगसे उन्मत्त होकर वनमें चला गया। वनमें उसे अकेला देख व्याधोंने पकड़ लिया और अपने घरमें रक्खा। चिरकाल तक व्याधके घरमें वास करनेके कारण राजपुत्र भी व्याधका कर्म करने लगा और अपनेको व्याध मानने लगा, क्योंकि चिरकालके व्याधोंके सहवाससे उसमें राजपुत्रके संस्कार नष्ट हो गये थे ॥ १७१ ॥

'उन्माद०' इत्यादि। कुछ समयके बाद शुभ औषधका सेवन करनेसे

ततो राज्येऽभिषिक्तः सन् व्याधतां नैव मन्वते ।
ब्रह्मण्येवं योजनीयौ बन्धमोक्षौ प्रकल्पितौ ॥ १७३ ॥
ब्रह्मैवाऽविद्यया देहं प्राप्य रागादिदोषतः ।
सदसत्कर्मजन्मादिबन्धमात्मन्यमन्यत ॥ १७४ ॥

उन्माद रोग निवृत्त हो गया और वह प्रकृतिस्थ हो गया तथा पूर्व क्षत्रियत्व जातिके संस्कारके प्रादुर्भावसे यद्यपि व्याधस्वभावसे उपरत हो गया फिर भी स्वजातिका पूरा स्मरण न होनेके कारण अपनेको व्याध ही मानता था। किसी समय राजपुत्रके पिताके सुहृद् मन्त्रीको किसी तरह यह पता लगा कि राजपुत्र अमुक वनमें व्याधोंके साथ व्याधस्वभावमें है। मन्त्रीने जाकर देखा कि इस बालकमें क्षत्रिय जातिके धर्म और परिपालन आदि कर्म—इन दोनोंका सद्भाव है और चक्रवर्ती राजा होनेके लक्षण भी पाये जाते हैं। देखनेके बाद वह इस नतीजे पर पहुँचा कि यही वस्तुतः वह राजपुत्र है। यह निश्चय कर उस पुरुषसे बोला कि आप अपनेको जैसा समझते हैं, वस्तुतः वैसे आप नहीं हैं, किन्तु अतिश्रेष्ठ राजपुत्र हैं, किसी तरह व्याधोंके नगरमें आकर उनके साथ रह गये हैं। यह सुनकर राजपुत्र अपने स्वरूपका परिचय पाकर, व्याधस्वभावाभिमानको छोड़कर अपनेको राजपुत्र मानकर पुनः अपने नगरमें आया और प्रजाओंसे सम्मानित हुआ।

'ततो राज्ये०' इत्यादि। वह युवा राजपुत्र पिताका सिंहासन पाकर अपने राज्यमें अभिषिक्त होता है और अपने को वस्तुतः क्षत्रिय राजा मानता है, शबर नहीं मानता, इसी प्रकार ब्रह्ममें भी कल्पित बन्ध और मोक्षकी योजना करनी चाहिए अर्थात् ब्रह्म ही अविद्यारूप दोषोंसे भ्रान्त होकर अपनेको जीव मानता है। 'तत्त्वमसि' आदिके उपदेशसे अपनेको ब्रह्मस्वरूप मानकर जीवभाव और बन्धादि संसारका त्यागकर अपने स्वरूपको प्राप्त होता है। शबरके घरमें निवास करनेसे राजपुत्रत्वकी प्राप्तिमें तथा सांसारिक जीवभावसे पुनः ब्रह्मत्वकी प्राप्तिमें ज्ञान-जन्य प्रतिबन्धक अज्ञानरूप दोषके ध्वंससे अतिरिक्त उपाय कर्तव्यस्वरूपसे अपेक्षित नहीं है, यह स्पष्ट है ॥ १७३ ॥

'ब्रह्मैवा०' इत्यादि। ब्रह्म ही स्वगत अविद्यासे देहधारण कर राग, द्वेष,

नित्यकर्मविपाकेन रागाद्यपगमे सति ।
गुरुशास्त्रोपदेशेन ब्रह्मत्वं स्वस्य बुध्यते ॥ १७५ ॥

मोह आदि दोषों द्वारा सदसत् कर्मोंसे अर्थात् विहितानुष्ठान और निषिद्धाचरण आदिसे शुभाशुभ जन्मरूप बन्ध अपनेमें स्वयं मानता है ।

दो शरीरोंका अभिमान करनेवाला 'अहं कर्ता, भोक्ता, स्थितः' ऐसा जो मानता है और अधिकारी है, उसके प्रति तत्त्ववित् गुरुका यह कर्तव्य है कि वास्तविक परिस्थितिपर उसका ध्यान दिलावे अर्थात् विविध योनियोंमें निरन्तर परिभ्रमण करता हुआ संसारी पुरुष अनेक जन्ममें संचित सुकृतसे किसी समय तत्त्ववित् गुरुके चरणोंका दर्शन पाता है और शम-दमादि-सम्पत्ति-प्रभृति चार साधनोंसे सम्पन्न होनेपर सब कर्मोंका त्याग कर देता है । उक्त स्वभाववाले मुमुक्षु पुरुपरत्नको तत्त्वज्ञ गुरु यों तत्त्वका उपदेश दे कि तुम अपनेको जैसा समझ रहे हो कि मैं संसारी कर्ता, भोक्ता और ब्रह्मसे भिन्न हूँ, वैसे तुम नहीं हो; किन्तु साक्षात् असंसारी स्वयंप्रकाश ब्रह्मस्वरूप हो । उक्त राजपुत्रके समान तुम अपने वास्तविक स्वरूपपर यदि ध्यान दोगे, तो सकल सांसारिक दुःखोंसे विमुक्त नित्यानन्दब्रह्मस्वरूप ही अपनेको समझोगे । इसीको हृदयंगम करानेके लिए श्रुतिमें अग्निविस्फुलिङ्ग आदि दृष्टान्त दिये गये हैं । जैसे विस्फुलिङ्ग अग्निसे पृथक् होनेके पहले अग्नि ही था, वैसे ही सृष्टिमें आनेके पहले तुम भी ब्रह्म ही थे, उससे भिन्न नहीं थे, अतः जीव और ब्रह्मका एकत्व दृढ करनेके लिए ही उक्त दृष्टान्त हैं, उत्पत्ति आदि द्वारा भेदका प्रतिपादन करनेके लिए नहीं हैं; अतएव सैन्धवघनके समान एकरस ब्रह्म कहा गया है । 'य इह नानेव पश्यति' इत्यादिसे भेदकी निन्दा भी की गई है, इसलिए हर एक वेदान्तमें उत्पत्ति, स्थिति और लयकी कल्पना आत्मैकत्वको दृढ़ करनेके लिए ही कही गई है, यह अनायास प्राप्त होता है । यदि ऐसा न होता, तो निरवयव असंसारी परमात्मामें अंशान्तर और संसारित्वका प्रतिपादन करना अत्यन्त अनुचित होता । अतः उक्त शिष्यके प्रति उन दृष्टान्तों द्वारा गुरुको आत्मैकत्वका उपदेश ही करना चाहिए ॥१७४॥

शङ्का—क्या गुरुके उपदेशसे शिष्यको आत्मैकत्वका ज्ञान हो जायगा ?

समाधान—'**नित्यकर्म०**' इत्यादिसे ।

चित्तमें विद्यमान राग, द्वेष और मोह—ये ज्ञानकी उत्पत्तिमें प्रतिबन्धक दोष हैं,

जीवन्मुक्तिं ततः प्राप्य स्वस्य बन्धं न मन्यते ।
इत्थं बन्धस्य मिथ्यात्वाद् ब्रह्मैकरसमेव हि ॥ १७६ ॥
अपूर्वानपराद्युक्तेः प्रज्ञानघनशब्दतः ।
भेददृष्ट्यपवादाच्च ब्रह्मैकरसमिष्यताम् ॥ १७७ ॥

उनकी निवृत्तिका कारण नित्यकर्मानुष्ठान है, अतः नित्यकर्मानुष्ठानके परिपाकसे तत्त्वज्ञानकी उत्पत्तिके प्रतिबन्धक राग आदि दोषोंकी निवृत्ति होनेपर गुरु और शास्त्रके 'तत्त्वमसि' आदि उपदेशसे शिष्य अपनेको ब्रह्मस्वरूप समझता है। अतएव 'ज्ञानमुत्पद्यते पुंसां क्षयात् पापस्य कर्मणः' इत्यादि वचन तथा 'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन' इत्यादि श्रुति एवं 'आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते' इत्यादि भगवद्वचन भी अनायास संगत होते हैं ॥ १७५ ॥

'जीवन्मुक्तिम्' इत्यादि। आत्मैकत्वज्ञान दो प्रकारका होता है---एक परोक्ष और दूसरा अपरोक्ष। पहला आत्मैकत्वज्ञान निर्विचिकित्स शाब्दज्ञानात्मक है, जो गुरु और शास्त्रके उपदेश द्वारा प्राप्त होता है। इसी ज्ञानके होनेपर मुमुक्षु जीवन्मुक्त कहा जाता है। इस अवस्थामें बन्धका भान होनेपर भी उसमें मिथ्यात्वदृष्टि होनेके कारण अधिकारी अपनेको वस्तुतः बद्ध नहीं समझता। जैसे मिथ्या धनसे अपनेको कोई वस्तुतः धनी नहीं समझता, वैसे ही प्रकृतमें भी समझना चाहिए। द्वितीय अपरोक्ष ज्ञान देहपातसे पूर्वक्षणमें होता है, जिसके विषयमें कहा है—

'भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः ।
क्षीयन्ते चाऽस्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे ॥'

'विद्वान् नामरूपाद्विमुक्तः' (विद्वान्—आत्मैकत्वसाक्षात्कारवान्—नामरूपात्मक बन्धसे मुक्त हो जाता है), 'अविद्यास्तमयो मोक्षः सा च बन्ध उदाहृतः' (द्वैताभावोपलक्षित आत्मस्वरूप ही मोक्ष पदार्थ है) इत्यादि। अतएव 'निवृत्तिरात्मा मोहस्य ज्ञातत्वेनोपलक्षितः' इत्यादि वचन भी सङ्गत होते हैं। इस सारे प्रपञ्चसे निष्कर्ष यह निकला कि उक्त अग्निविस्फुलिङ्गादि दृष्टान्त अभेदके प्रतिपादनके लिए ही हैं, सृष्टिके प्रतिपादनके लिए नहीं हैं ॥ १७६ ॥

इसीमें साधक हेतु कहते हैं---'अपूर्वा०' इत्यादिसे।

'तत्त्वमसि' आदि वाक्य ऐक्यपरक हैं और सृष्ट्यादिके प्रतिपादक वाक्य उसके

केचिदेकरसे तत्त्वे विरोधं मानमेययोः ।
बहुधा चोदयन्त्यत्र पण्डितम्मन्यतां गताः ॥ १७८ ॥

शेष हैं, इसलिए अन्यपरक सृष्ट्यादिबोधक वाक्योंके अनुसार जीव और ईश्वरमें अंशांशिभावकी कल्पना अयुक्त है, अन्यथा अन्य श्रुतिके साथ विरोध स्पष्ट ही है। यदि समुद्रतरङ्गादिन्यायसे जीव और ईश्वरमें अंशांशिभाव श्रुति द्वारा विवक्षित होता, तो 'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह', 'तदेतदपूर्वमनपरम्', 'प्रज्ञानघन एव' इत्यादि वाक्योंसे 'ब्रह्म वाणी और मनसे अतीत है', ऐसा प्रतिपादन न किया जाता, क्योंकि सविशेष तो वाङ्मनोगोचर ही है; अतएव 'प्रज्ञानघन एव' यह विशेषरूपसे एवकारसहित प्रयोग किया गया है। एवं 'यद् वाचानभ्युदितं येन वागभ्युद्यते' इत्यादि वाक्योंसे अशेष विशेषका स्पष्ट निषेध किया गया है। अतएव 'मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति' इत्यादि वाक्योंसे भेदकी निन्दा की गई हैं। निन्दा त्यागके लिए होती है, अतः भेद विवक्षित नहीं है, किन्तु एकरस अद्वितीय ब्रह्म ही विवक्षित है, यह स्पष्ट है। इसलिए उक्त दृष्टान्त सृष्टिका प्रतिपादन करनेके लिए नहीं हैं, बल्कि एकत्वकी प्रतिपत्तिके लिए ही हैं; इसकी उपपत्ति पूर्वमें कर चुके हैं ॥ १७७ ॥

'केचिदेक०' इत्यादि। वास्तवमें पण्डित तो हैं नहीं, किन्तु अपनेको जबरदस्ती पण्डित माननेवाले बहुतसे लोग चिदेकरस ब्रह्म माननेमें प्रमाण, प्रमेय आदि भावोंका विरोध उपस्थित करते हैं। यद्यपि इस प्रकारकी शङ्काओंका अनेक बार उत्तर दिया जा चुका है कि व्यावहारिक भेद मानकर व्यवहारदशामें उक्त व्यवहार करनेमें कोई अनुपपत्ति नहीं है और परमार्थदशामें जब व्यवहार ही नहीं है, तब उसके साथ विरोधका प्रसङ्ग ही नहीं हो सकता, तथापि दूसरे प्रकारसे उत्तर देनेके लिए पुनः उसका उत्थान हुआ है। भाव यह है कि उक्त दृष्टान्तसे ब्रह्ममें अंशांशिभावकी विवक्षा न हो तो न सही, पर उपादानभूत मृत्तिका जैसे सावयव होती है, वैसे ही जगत्का उपादानभूत ब्रह्म भी सावयव होना चाहिए।

शङ्का—अच्छा तो इस विषयमें हम पूछते हैं कि क्या स्वतः अंशांशिभावकी कल्पना करते हो या परतः ?

समाधान—प्रथम पक्ष तो ठीक नहीं है, कारण कि निरंश असंसारी आत्माका स्वतः अंशांशिभाव ही असंभव है। द्वितीय पक्षमें भी यह प्रश्न होता है कि

क्या उक्त भेद कल्पित है या अकल्पित? इस कल्पके प्रथम पक्षमें कोई आपत्ति नहीं है, क्योंकि कल्पित देह आदि उपाधिके भेदसे संसारित्वकी कल्पना अद्वैतवादियोंको इष्ट ही है, क्योंकि वह सत्य नहीं है, मृषा है। द्वितीय पक्ष तो असंभव ही है, क्योंकि जब ब्रह्मातिरिक्त कोई सत्य ही नहीं है तब अकल्पित उपाधिभेद आवेगा ही कहांसे? यद्यपि 'अहं कर्ता, अहं भोक्ता' इत्यादि बुद्धि लोकमें व्यवहारदशामें पायी जाती है, तथापि अविवेकियोंकी वह बुद्धि मिथ्या है। मिथ्या बुद्धिसे किसी पदार्थकी सिद्धि नहीं होती।

शङ्का—क्या विवेकियोंको भी ऐसी बुद्धि होती है?

समाधान—हां, होती है, किन्तु व्यवहारमात्रके लिए, अतः उनकी भी वह बुद्धि मिथ्यात्मक ही है। 'पश्वादिभिश्चाऽविशेषात्' इत्यादि वाक्यसे व्यवहारमें विवेकियोंकी बुद्धि भी अविवेकी पुरुषकी बुद्धिके समान मिथ्या ही होती है, ऐसा भाष्यकारने स्पष्ट ही कहा है। अतएव 'नील आकाशः' यह बुद्धि विवेकियोंको भी संसारदशामें होती है, परन्तु उसके अनुसार आकाश नीला नहीं माना जाता; इसलिए पण्डितोंको ब्रह्मस्वरूपकी प्राप्तिके विषयमें अंशांशित्व, एकदेशैकदेशित्व और विकारविकारित्वकी कल्पना नहीं करनी चाहिए। इसी प्रकारकी कल्पनाओंके निराकरणके लिए ही सब उपनिषत् हैं, अतः सम्पूर्ण कल्पनाओंका त्याग-कर आकाशके समान आत्माको निर्विशेष ही मानना चाहिए। इस अर्थमें 'आकाशवत्सर्वगतश्च नित्यः', 'न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्यः' इत्यादि श्रुतियां प्रमाण हैं। ब्रह्मसे विलक्षण आत्माकी कल्पना वैसी ही अत्यन्त अनुचित और उपपत्ति-शून्य है, जैसी उष्णात्मक वह्निके एकदेशमें शीतात्मकत्वकी कल्पना या प्रकाश-मय सूर्यके एकदेशमें अन्धकारमयत्वकी कल्पना अत्यन्त अनुचित और उपपत्ति-शून्य है; अतः असंसारी आत्मामें सब व्यवहार नामरूपोपाधिनिमित्तक ही होते हैं। 'रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव', 'सर्वाणि रूपाणि विचित्य धीरो नामानि कृत्वाभिवदन् यदास्ते' इत्यादि मन्त्रवर्णोंसे भी उक्त अर्थ ही स्फुट होता है। आत्मामें स्वतः संसारित्व नहीं है, किन्तु जपाकुसुमके सन्निधानसे स्फटिक मणिमें जैसे रक्त गुण औपाधिक प्रतीत होता है, वास्तविक प्रतीत नहीं होता, वैसे ही संसारिधर्मवाले अन्तःकरण आदि उपाधिके सन्निधानसे आत्मामें संसार-धर्मकी प्रतीति होती है, स्वतः नहीं; क्योंकि 'ध्यायतीव लेलायतीव', 'न कर्मणा वर्द्धते नो कनीयान्', न कर्मणा लिप्यते पापकेन', 'समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तम्', 'शुनि चैव श्वपाके च'

सर्वाद्वैतं बोधयेत् चेदधीतोपनिषत् तदा ।
स्वप्रामाण्यं कर्मकाण्डप्रामाण्यमपि हन्त्यसौ ॥ १७९ ॥
गुरुशास्त्राद्यभावेन स्वप्रामाण्यमसम्भवि ।
निषेधविध्यभावेन कर्मकाण्डेऽप्यमानता ॥ १८० ॥

इत्यादि श्रुति और स्मृतियोंसे परमात्मा असंसारी है, यही अर्थ माननीय है । अतः एकदेशविकार आदिकी कल्पना असंगत ही है । जब उक्त रीतिसे सब उपनिषदोंका तात्पर्य्य आत्मैकत्वमें ही है, तब भेद आदिकी कल्पना सर्वथा असंगत ही है ॥ १७८ ॥

शङ्का—विज्ञानका भेद माननेसे ही कर्मकाण्डके प्रामाण्यके विरोधका परिहार होता है, अन्यथा नहीं होता, इसलिए विज्ञानका भेद मानना आवश्यक है, इस आशयसे कहते हैं—**'सर्वाद्वैतम्'** इत्यादि ।

यदि एकात्ममात्र जगत्को निर्विकार असङ्ग उदासीन चैतन्यस्वरूप मानो, तो कोई पुरुषार्थ भी नहीं हो सकेगा, इस परिस्थितिमें कर्मकाण्डके विधि और निषेध निर्विषयक ही हो जायँगे । केवल कर्मकाण्डका ही वैयर्थ्य नहीं होगा, किन्तु जब आत्मा नित्य, शुद्ध, बुद्ध और मुक्तस्वभाव है, तब उसमें बन्धकी सम्भावना न होनेके कारण उसकी निवृत्तिके लिए वेदान्त भी व्यर्थ ही हो जायँगे । इसी बातको कहते हैं—यदि अधीत उपनिषत् सर्वाद्वैतका बोध कराती है, तो वह स्वकीय प्रामाण्यको और कर्मकाण्डके प्रामाण्यको भी नष्ट करती है, क्योंकि वस्तुतः बोध्यबोधकभाव भेदघटितमें ही होता है । यदि उक्त भेद नहीं होगा, तो प्रमाणप्रमेयभाव कैसे होगा ? इससे कर्मकाण्डके प्रामाण्यका विघात भी स्पष्ट ही है ॥ १७९ ॥

'गुरुशास्त्रा०' इत्यादि । ऐकात्म्यपक्षमें यथार्थतत्त्वको जाननेवाले गुरु और तत्त्वको न जाननेवाले शिष्यकी व्यवस्था नहीं हो सकती तथा बन्ध और बद्धकी भी व्यवस्था नहीं हो सकती अर्थात् ऐकात्म्यपक्षमें गुरु एवं शिष्य तथा बन्ध और बद्ध हो ही नहीं सकते । इस अवस्थामें यह प्रश्न स्वभावतः उठता है कि किस बद्धकी मुक्तिके लिए उपनिषत्का आरम्भ है ? क्योंकि बन्धके नाशके लिए ही उपनिषत्का आरम्भ है । जब बन्ध वस्तुतः है नहीं तब उपनिषत् निर्विषय ही होगी ।

एवं 'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः' 'मा हिंस्यात् सर्वा भूतानि' इत्यादि कर्मकाण्डके विधि-निषेध-बोधक उपदेश भी व्यर्थ ही हैं, क्योंकि अधिकारीके लिए उपदेश सार्थक होता है। अधिकारीके न होनेसे उपदेश भी व्यर्थ ही होता है। यह भी ध्यान देने योग्य है कि 'तम और प्रकाशके समान' परस्पर विरोधी कर्मकाण्ड और उपनिषत्—ये दोनों प्रमाण तो हो ही नहीं सकते, इसलिए 'सर्वनाशे समुत्पन्ने अर्धं त्यजति पण्डितः' इस न्यायके अनुसार दोमें से किसी एकका प्रामाण्य मान सकते हैं। इसमें भी यदि उपनिषत्को प्रमाण मानते हैं, तो केवल कर्मकाण्डका ही प्रामाण्य नहीं चला जायगा, किन्तु उपनिषत्का भी प्रामाण्य चला जायगा, क्योंकि भेदके बिना प्रमाणप्रमेयभाव हो ही नहीं सकता, ऐसी परिस्थितिमें कर्मकाण्डको ही प्रमाण मानना चाहिए। कर्मकाण्ड भेदाश्रित है, भेदके सिद्ध होनेपर गुरु-शिष्य आदिका भी लाभ हो सकेगा एवं उसके द्वारा उपनिषत् भी प्रमाण हो सकेगी। और आत्माके एकत्वका प्रतिपादन करनेवाली उपनिषदें केवल अपने प्रामाण्यकी तथा कर्मकाण्डके प्रमाण्यकी विघातक ही नहीं हैं, किन्तु प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोंसे विरुद्ध भी हैं, क्योंकि प्रत्यक्ष आदि प्रमाण स्वरूपसे ही द्वैतका ग्रहण करते हैं, इसलिए उपनिषदोंको अप्रमाण माननेमें ही कल्याण है।

शङ्का—आखिर उपनिषत् भी तो वेद ही हैं, उनको सर्वथा अप्रमाण मानना भी तो ठीक नहीं है।

समाधान—अच्छा, तो उन्हें अन्यार्थक मानिये अर्थात् प्रलयादिदशामें भी अद्वैत आत्मा अवशिष्ट रहता है, ऐसा उपनिषदोंका तात्पर्य है अथवा सजातीय अद्वैतमें उनका तात्पर्य है याने ब्रह्मके समान दूसरा नहीं है, इस अर्थमें उपनिषदोंका तात्पर्य है। अनेकेश्वरवाद तो माना नहीं जाता, अतः द्वैतनिषेधमें उपनिषदोंका तात्पर्य नहीं है, यह पूर्वपक्ष है।

समाधान—'प्रमाणत्वं प्रमोत्पादनिमित्तम्, अप्रमाणत्वं प्रमोत्पादानिमित्तम्' अर्थात् जिससे प्रमा उत्पन्न होती है, वह प्रमाण है और जिससे प्रमा उत्पन्न नहीं होती, वह अप्रमाण है। यदि प्रमाका अनुत्पादक भी प्रमाण माना जाय, तो स्तम्भ आदि भी शब्दादिके प्रमेयमें प्रमाण क्यों न कहे जायँ? प्रकृतमें ध्यान दीजिये - उपनिषत्से आत्मैकत्वकी प्रमा होती है या नहीं? यदि प्रथम पक्ष माना जाय, तो उपनिषत् अप्रमाण कैसे हो सकती है। द्वितीय पक्ष भी युक्त नहीं है,

क्योंकि वह अनुभवविरुद्ध है, अतः आपका उक्त कथन 'अग्नि शीत है' इस कथनके समान ही होनेसे अनुपादेय है ।

शङ्का—उपनिषत्में अनुत्पादकत्वरूप अप्रामाण्य न सही, पर निष्प्रयोजनत्व-रूप अप्रामाण्य है ही ।

समाधान—अग्निदाहका फल जैसे फोड़ा होता है और उदकपानका फल जैसे तृषानिवृत्ति होती है, वैसे ही आत्मैकत्वज्ञानका फल बन्धविनाश स्पष्ट है, अतः निष्प्रयोजनत्वरूप अप्रामाण्यकी शङ्का नहीं हो सकती । जो यह आक्षेप किया था कि स्वार्थका विघातक होनेसे उपनिषत् अप्रमाण है, सो भी ठीक नहीं है, क्योंकि उपनिषद्-वाक्यसे आत्मैकत्वकी प्रतिपत्ति होनेमें बाध नहीं है । यदि उक्त वाक्यसे एक अद्वैत ब्रह्म है और नहीं भी है, ऐसा बोध होता, तो स्वार्थका पक्षमें विघात हो सकता, सो तो होता है नहीं । अतः 'अग्निरुष्णः शीतश्च' यह वाक्य जैसे स्वार्थका विघातक है, वैसा उक्त वाक्य नहीं है । अभ्युपगमवादको लेकर यह कहा कि उक्त वाक्यसे विरुद्ध अर्थोंकी प्रतीति नहीं होती, इसलिए वह अप्रमाण नहीं है । परमार्थतः 'सकृदुच्चरितः शब्दः सकृदेवाऽर्थं बोधयति' इस न्यायसे एक वाक्यका एक ही अर्थ माना जाता है, दो अर्थ नहीं । यदि दो अर्थ माने जायँ, तो वाक्यभेद हो जायगा । एकवाक्यताका संभव होनेपर वाक्यभेद मानना बड़ा भारी दोष है, इसलिए उपनिषदें आत्मैकत्वपरक तथा स्वार्थविघातक भी हैं, इस प्रकार अर्थोंका संभव ही नहीं है, क्योंकि वाक्यसे प्रमाज्ञान माननेवालोंके मतमें एकवाक्य विरुद्ध और अविरुद्ध दो अर्थोंका प्रतिपादक नहीं हो सकता । शास्त्रकारोंका यह समय—संकेत—है कि 'अर्थैकत्वादेकं वाक्यं विभागे साकाङ्क्षं स्यात्' इस न्यायसे एकार्थता एकवाक्यत्वमें प्रयोजक है । कोई भी उपनिषद्-वाक्य ब्रह्मैकत्वका प्रतिषेध नहीं करता । जो 'अग्निरुष्णः शीतश्च' इत्यादि लौकिक वाक्य है, उसमें एकवाक्यता नहीं है, किन्तु उसमें जो अग्नि उष्ण है, ऐसा एकदेशवाक्य है, वह प्रत्यक्षप्रमाणसे प्राप्त उष्णत्वका अनुवाद करता है । 'अग्निः शीतः' यह एक दूसरा वाक्य है ।

शङ्का—शीत अग्नि तो प्रमाणान्तरसे सिद्ध नहीं है ।

समाधान—शिशिर कालमें हिमप्रदेशमें अग्नि भी शीत प्रतीत होती है अथवा जाड़ेमें अधिक शीतकी निवृत्ति पूर्णरूपसे न होनेपर अग्निमें शीत-शब्दका प्रयोग किया जाता है; अतएव

मेयं चाऽद्वैतवस्त्वत्र सर्वमानैर्विरुध्यते ।
भिन्ना रूपादिविषया मीयन्ते चक्षुरादिभिः ॥ १८१ ॥

'शैशिरोऽग्निर्भवेच्छीतस्तथोष्णः पार्थिवो भवेत् ।
भिन्नार्थत्वावबोधित्वाद् वाक्ययोर्न विरुद्धता ॥'

इत्यादि अन्यत्र विस्तार है। 'अग्निरुष्णः' यह वाक्य अन्य प्रमाणसे उत्पन्न अनुभवका स्मारक है, स्वयं अर्थका बोधक नहीं है, अतः 'अग्निः शीतः' इसके साथ एकवाक्यता नहीं है। और जो यह कहा था कि कर्मकाण्डके प्रामाण्यका विघात करनेवाला उपनिषद्-वाक्य है, सो भी ठीक नहीं है, कारण कि उक्त उपनिषदोंका आत्मैकत्व अर्थ है, कर्मकाण्डके प्रामाण्यका निषेध अर्थ नहीं है। और न वे इष्ट अर्थकी प्राप्तिमें साधनका उपदेश ही करती हैं और न उसमें पुरुष-प्रवृत्तिको ही रोकती हैं, क्योंकि ऐसा माननेसे अनेकार्थकत्व दोष प्रसक्त हो जायगा। यह भी नहीं है कि कर्मकाण्डवाक्य स्वार्थमें प्रमाका उत्पादक न हो, इसलिए असाधारण स्वार्थमें प्रमोत्पादक वाक्य अन्यसे विरुद्ध क्यों होगा?

शङ्का—ब्रह्म ही एक है, दूसरा कुछ भी नहीं है, ऐसा माननेसे कर्मकाण्ड ही निर्विषय हो जाता है; फिर उससे प्रमा कैसे उत्पन्न होगी?

समाधान—प्रमा तो प्रत्यक्ष-सिद्ध है। यदि उपनिषद् ब्रह्मैकत्वकी बोधक होगी, तो 'दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेत स्वर्गकामः', 'ब्राह्मणो न हन्तव्यः' इत्यादि विधिनिषेधबोधक वाक्योंसे जायमान प्रमा न होगी, यह अनुमान है। प्रत्यक्षके साथ विरोध होनेपर अनुमान प्रमाण नहीं माना जाता, यह सबका सिद्धान्त है, इसलिए यह अत्यन्त असत् कहते हो कि प्रमा ही नहीं होती।

शङ्का—अद्वैत ब्रह्म शास्त्रका प्रमेय ही नहीं हो सकता, क्योंकि प्रमाण-प्रमेयभाव द्वैतमें ही होता है, जैसे घट प्रमेय है, अतः घटविषयक प्रत्यक्ष या तज्जनक चक्षु आदि प्रमाण कहा जाता है। प्रकृतमें ब्रह्मसे अतिरिक्त जब कुछ है ही नहीं, तब प्रमाण क्या होगा? ॥ १८० ॥

इसीको कहते हैं—'**मेयं चा०**' इत्यादिसे।

अद्वैत वस्तु शास्त्रकी प्रमेय है, यह कहना समस्त प्रमाणोंसे विरुद्ध है। लोकमें रूपादि विषय और उनके ग्राहक चक्षु आदि प्रमाण परस्पर भिन्न देखे जाते हैं। अभेदमें प्रमाणप्रमेयभाव कहीं भी नहीं देखा जाता, इसलिए यदि ब्रह्म ही एक परमार्थ वस्तु है, अन्य वस्तु नहीं है, तो यह स्पष्टरूपसे सिद्ध होता है कि

नानाऽऽत्मानोऽनुमीयन्ते सुखदुःखव्यवस्थया ।
आगमेनाऽपि गम्यास्ते ग्रामकामादिभेदतः ॥ १८२ ॥
प्रत्यक्षेणाऽनुमानेन शास्त्रेणाऽपि विरुद्धताम् ।
एवमुद्भावयन्त्येते ब्रह्मैकत्वप्रदूषकाः ॥ १८३ ॥

ब्रह्ममें कुछ प्रमाण नहीं है एवं प्रमाण, प्रमाता और प्रमेय (देवदत्तादि प्रमाता, शब्द प्रमाण और घटादि प्रमेय)—ये तीन जैसे शब्दादिप्रमाणमें स्पष्टरूपसे देखे जाते हैं वैसे ही उपनिषत्प्रमाणमें भी उनका होना आवश्यक है, परन्तु एक वस्तु होनेपर वे हो नहीं सकते, इसलिए उपनिषत् प्रमाण ही नहीं है अथवा अद्वैत उसका प्रमेय नहीं है, यही मानना चाहिए ॥ १८१ ॥

'नानाऽऽत्मानो' इत्यादि । संसारमें कोई प्राणी सुखी है और कोई दुःखी है, ऐसा प्रत्यक्षसे देखा जाता है, यह प्रत्यक्षदृष्ट व्यवहार आत्माके भेदके बिना नहीं हो सकता । आगमसे भी ग्रामकामनादिभेद द्वारा आत्माका भेद सिद्ध होता है । 'ग्रामकामः सांग्रहिण्या यजेत' इत्यादि विधिवाक्य ग्रामकामीके प्रति ही उसके साधन यागका उपदेश देता है, सबके प्रति नहीं । एकात्मवादमें सुख और दुःख आदिकी व्यवस्था, ग्रामादिकामना और उसके अभाव आदिका समर्थन नहीं हो सकता; अतः प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द आदि प्रमाणके साथ विरोध होनेसे उपनिषत् एकात्मवस्तुका प्रतिपादन करती है, यह कथन युक्तिसङ्गत नहीं है ॥ १८२ ॥

'प्रत्यक्षेणा०' इत्यादि । एक ही ब्रह्म परमार्थ सत् है, इस सिद्धान्तमें दूषण देनेवाले प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम—इन तीनों प्रमाणोंके विरोधका उद्भावन करते हैं । जन्म, मरण, सुख, दुःख आदिके भेदसे आत्मा भिन्न-भिन्न है, यही प्रत्यक्षसे सिद्ध होता है। आत्माको एक माननेमें परस्पर विरुद्ध उक्त धर्म एकमें कैसे रह सकेंगे । सुख, दुःख आदिके तारतम्यसे उसके कारण अदृष्टमें भी तारतम्य माना जाता है । अदृष्टका तारतम्य पुरुषभेदके बिना नहीं हो सकता, इसलिए पुरुष अनेक हैं, ऐसा मानना आवश्यक है । सत्त्व, रज, और तम—इन तीन गुणोंके न्यूनाधिकभावसे अवस्थान द्वारा अर्थात् कोई पुरुष सात्त्विक होता है, कोई राजस होता है और कोई तामस होता है इत्यादि गुणभेदसे भी पुरुषभेद प्रत्यक्षसिद्ध है । आगम भी आत्माके भेदका अवलम्बन करता है—पुरुषके भेदसे कामनाओंका भेद और कामनाके भेदसे अधिकारीका भेद,

नैष दोषोऽप्रमाणत्वं कदोपनिषदो वद ।
बोधात् प्रागथवा पश्चान्न प्राक्द्वैत्वसम्भवात् ॥ १८४ ॥
गुरुशास्त्रादयः सन्ति बोधात् पूर्वमबाधिताः ।
अबोधसंशयभ्रान्तिशङ्का नाऽस्त्यप्रमा कुतः ॥ १८५ ॥

अधिकारीके भेदसे उपायका भेद इत्यादि मानकर ही कर्मकाण्ड सविषयक होता है; अन्यथा उक्त शास्त्र ही निर्विषय हो जायगा । एवं उपनिषद् भी बद्ध, मुक्त, गुरु, शिष्य आदिके भेदके बिना अनुपपन्न है, अतः आत्मभेद आवश्यक है, इस परिस्थितिमें आत्मैकत्व उपनिषद्का अर्थ नहीं हो सकता ॥ १८३ ॥

उक्त सारे पूर्वपक्षका समाधान करते हैं—**'नैष दोषो'** इत्यादिसे ।

उपनिषत् यदि आत्मैकत्वका प्रतिपादन करेगी, तो उसमें अप्रामाण्यकी प्रसक्ति हो जायगी, इस प्रकार आपका आक्षेप है, उसमें प्रश्न यह होता है कि अप्रामाण्यकी प्रसक्ति किस अवस्थामें आप कहते हैं? उपनिषत्के अर्थके बोधके पहले या पीछे? प्रथम पक्षमें उक्त अर्थके बोधके पहले भेदभासक अज्ञानकी निवृत्ति नहीं हुई है, अतः द्वैत भासमान ही है, इसलिए गुरु, शिष्य आदि पूर्वके समान अनुवृत्त ही हैं, अतः प्रमाण, प्रमेय आदि भाव पूर्वके समान अनायास ही सिद्ध होते रहेंगे, क्योंकि उसका निवर्तक तो आत्मैकत्वज्ञान ही है, सो अभी हुआ ही नहीं है, इसलिए आपका उक्त आक्षेप ही निर्बीज है ॥ १८४ ॥

'गुरुशास्त्रा०' इत्यादि । आत्माके बोधसे पहले पूर्ववासनाके अनुसार गुरु, शिष्य आदिका प्रवाह अबाधितरूपसे चलता ही है, इससे उक्त अर्थके बोधके पहले उनका बाध हो ही नहीं सकता, क्योंकि उनका बाध करने-वाला उक्त ज्ञान ही माना जाता है, वह तो अभी हुआ ही नहीं है । एवं अबोध, संशय और भ्रान्तिकी शङ्का न होनेके कारण उपनिषत्में अप्रमात्व कैसे हो सकता है? तात्पर्य यह है कि जो वाक्य व्युत्पन्नको भी अपने अर्थका बोध नहीं करा सकता, उसीमें अबोधकत्वरूप अप्रामाण्य होता है; जैसे 'दश दाडिमानि षडपूपाः' इत्यादि, 'स्थाणुर्वा पुरुषो वा' इत्यादिके समान संशयोपादक वाक्यमें निश्चयबोधाजनकत्वरूप अप्रामाण्य होता है एवं जो विपर्ययशङ्कासे कलंकित बोधका जनक होता है, उसमें भी निश्चयबोधाजनकत्वरूप अप्रामाण्य होता है । प्रकृतमें वे तीनों अप्रामाण्यके प्रयोजक नहीं हैं, इसलिए उक्त उपनिषत्

बोधादूर्ध्वं च नैष्फल्यादमात्वं किं भवेच्छ्रुतेः ।
मानान्तरविरोधाद्वा मेयस्याऽसम्भवादुत ॥ १८६ ॥
संसारानर्थहानाख्ये वेदान्तज्ञानजे फले ।
प्रत्यक्षेणाऽनुभूतेऽत्र नैष्फल्यं कथमुच्यते ॥ १८७ ॥

अप्रमाण नहीं हो सकती। वे सब अप्रामाण्यके प्रयोजक दोष प्रायः पौरुषेय वाक्यमें ही हुआ करते हैं। यदि शब्दमें स्वतः कोई दोष होता, तो वह अप्रमात्मक बोधका उत्पादक हो सकता, पर वैसा है नहीं, किन्तु वक्ताके दोषके संक्रमणसे वह अयथार्थ बोधका जनक होता है। नित्य अतएव निर्दोष वेदमें तो किसी भी प्रकारसे दोषकी संभावना ही नहीं हो सकती, इसलिए प्रकृतमें अप्रमात्वशङ्का सर्वथा अयुक्त ही है ॥ १८५ ॥

उपनिषत्में अप्रामाण्यके हेतुओंका अभाव है, ऐसा उपपादन करते हैं— **'बोधादूर्ध्वम्'** इत्यादिसे।

संसारदशामें जब तक उपनिषदोंका व्यवहार होता है, तब तक वे बाधित नहीं होतीं और व्युत्पन्न पुरुषको श्रवणके बाद अपने अर्थका बोध कराती हैं, अतः उनमें अबोधकत्वरूप अप्रामाण्यकी शङ्का ही नहीं हो सकती। आत्मज्ञानके बाद अप्रमात्व आदिका विचार ही निष्फल है। प्रमात्वादिका विचार असंदिग्ध प्रवृत्तिका निदान माना जाता है, अर्थकी प्राप्तिके अनन्तर अर्थात् उपेयकी प्राप्तिके बाद उसके उपायमें प्रमात्वादिका विचार निष्प्रयोजन है, इसलिए उपनिषत्में अप्रामाण्यकी शङ्का नहीं हो सकती। श्लोकार्थ यह है कि ज्ञानके बाद उपनिषत् अप्रमाण है, ऐसी शङ्का करनेवालेके प्रति यह प्रश्न होता है कि क्या उक्त अर्थमें अन्य प्रमाणके साथ विरोध है? अथवा श्रुतिप्रतिपाद्य तथाभूत प्रमेय ही नहीं है? ॥ १८६ ॥

'संसारानर्थ०' इत्यादि। तात्पर्य यह है कि अद्वैत ब्रह्मके ज्ञानके बाद द्वैतसमुदायमें मिथ्यात्वबुद्धि होनेके कारण विहित आदि कर्म तथा उनके फलोंमें स्पृहा नहीं होती, अतएव जिसको ब्रह्मज्ञान हुआ है, वह किसीमें प्रवृत्त नहीं होता। उसके लिए सभी प्रकारके विधि आदि अप्रवर्तक होनेसे निष्फलके समान ही हैं। इष्ट और अनिष्टमें अप्रवतर्क और अनिवर्तक वाक्य प्रमाण नहीं माने जाते। एवं प्रकृतमें अद्वैतोपनिषत् अपने वाक्यार्थका श्रावण ज्ञान कराकर पुरुषको किसमें प्रवृत्त करावेगी? अर्थात् किसीमें नहीं, कारण कि परमार्थतः ब्रह्मभिन्न कोई है

नहीं। प्रवृत्तिके बिना फल नहीं हो सकता। इसलिए निष्फल जलताडन आदिके बोधक वाक्यके समान उपनिषद्-वाक्य भी अप्रमाण है, यह आक्षेप सर्वथा अयुक्त है। हां, यह कहना ठीक है कि निष्फल बोधका जनक वाक्य प्रमाण नहीं होता, परन्तु फल प्रवर्तक वाक्यके ज्ञानसे ही होता है, यह नियम नहीं है, क्योंकि फल दो प्रकारका होता है—एक क्रियासाध्य और दूसरा ज्ञानसाध्य। प्रथम तो अनुष्ठेय अर्थके बोधक प्रवर्तक वाक्यसे ही होता है, इसमें विवाद नहीं है। द्वितीय अप्रवर्तक अतएव वस्तुतत्त्व-ज्ञापक वाक्यसे होता है—जैसे 'नाऽयं सर्पः रज्जुरेषा' (यह सर्प नहीं है, किन्तु रस्सी है)। यह वाक्य यद्यपि अनुष्ठेयरूपका प्रकाशक नहीं है, तथापि रज्जु-तत्त्वका ज्ञापक होनेसे भय, कम्प आदिके निवर्तन द्वारा सप्रयोजन और प्रमाण है; एवं सांसारिक दुःखसे दुःखित पुरुषके प्रति 'न त्वं संसारी अपि तु ब्रह्मस्वरूपः' (तुम संसारी जीव नहीं हो, किन्तु ब्रह्म हो) यों कहनेसे वह अपने स्वरूपको जाननेकी चेष्टा करता है। बोधक 'तत्त्वमसि' आदि उपनिषत् संसारके कारण अविद्या आदि दोषकी निवर्तक और आत्मैकत्वज्ञानकी उत्पादक होनेके कारण परम पुरुषार्थ फलको देनेवाली है। वेदान्तसे जानने योग्य आत्माके ज्ञानका फल मोक्ष है, यह श्रुति, स्मृति, इतिहास, पुराण आदिमें सुप्रसिद्ध है—'तद्धैतत्पश्यन् ऋषिर्वामदेवः प्रतिपेदेऽहं मनुरभवं सूर्यश्च' इत्यादि आर्ष (ऋषिका) प्रत्यक्ष भी उक्त अर्थमें मूल है; फिर उपनिषत् निष्फल है, यह कैसे कहते हो? यदि कर्तव्य अर्थका उपदेशक नहीं है, इसलिए उसे निष्फल कहते हो, तो क्या कर्तव्य अर्थके बोधक सब वाक्य सप्रयोजन होते हैं? यदि हां, तो 'स्वर्ग-कामः चैत्यं वन्देत जलं वा ताडयेत्' इत्यादि कर्तव्यार्थबोधक वाक्य भी प्रमाण हो जायँगे। यदि नहीं, तो क्यों नहीं?

समाधान—ये पौरुषेय वाक्य हैं; वक्ताको उक्त कर्ममें उक्तफलसाधनत्वका ज्ञान नहीं हो सकता, इसलिए वाक्य उक्तार्थमें प्रमाण नहीं हो सकते।

शङ्का—ईदृशार्थक अपौरुषेय वाक्य ही क्यों प्रमाण माने जाते हैं?

समाधान—ठीक है, अपौरुषेय वाक्य कर्तव्यार्थक हो या अकर्तव्यार्थक हो, उसे प्रमाण मानना ही चाहिए। उपनिषत् अकर्तव्यार्थ होनेपर भी प्रमाण ही है।

शङ्का—फिर भी इष्टसाधनत्वके बिना उपदिष्ट अर्थमें श्रोताकी प्रवृत्ति नहीं हो सकती, इसलिए शास्त्रसे कर्तव्यार्थका ही उपदेश होना चाहिए।

समाधान—प्रथम इसपर ध्यान दीजिये कि फल दो प्रकारका होता है—

किमेकविषयत्वेन किं वा विषयभेदतः ।
विरोधः शङ्क्यते तत्र नैकार्थ्येऽस्ति विरुद्धता ॥ १८८ ॥

एक क्रियासाध्य और दूसरा ज्ञानसाध्य। प्रथम पक्षमें तो आपका कहना समुचित है; परन्तु द्वितीय पक्षमें ठीक नहीं है, क्योंकि जैसे रज्जुमें किसीको सर्पभ्रान्ति हो गई और भय, कम्प आदिसे विकल हो गया, उसके प्रति यदि यह कहा जाय कि यह सर्प नहीं है, किन्तु रज्जु है और इस कथनसे उसका भय, कम्प आदि निवृत्त हो जाय, तो क्या यह वाक्य निष्फल है, ऐसा कह सकते हो ? यदि नहीं, तो इसी प्रकार प्रकृतमें संसारदुःखसे परितप्त पुरुषके प्रति यह कहा जाता है कि वस्तुतः तुम दुःखशील नहीं हो; तुम तो समस्त उपाधियोंसे रहित, आनन्द और चिदेकरसस्वरूप हो, अज्ञानवश तुम अपनेको भूल गये हो, श्रवण, मनन आदि उपायसे फिर आत्मस्वरूपका साक्षात्कार करो तो सदाके लिए दुःखसे मुक्त हो जाओगे। इसके अनुसार अनेक मुमुक्षु पुरुष आत्माका साक्षात्कार करके विष्णुपदको प्राप्त कर चुके हैं। इस परिस्थितमें यह कहा जाय कि अप्रवर्तक होनेसे यह वाक्य निष्प्रयोजन अतएव अप्रमाण है, तो यह कितना अनुचित और हठाग्रह है ॥१८७॥

द्वितीय पक्षमें दोष देनेके लिए विकल्प करते हैं---'**किमेक०**' इत्यादिसे ।

प्रत्यक्ष आदि प्रमाण तथा अद्वैतोपनिषद्---इन दोनोंका परस्पर विरोध समानविषयक मानकर कहते हो या विभिन्नविषयक मानकर ? प्रथम पक्ष तो ठीक नहीं है, कारण कि अन्य प्रमाणसे अधिगत अर्थमें अन्य प्रमाणकी प्रवृत्ति होनेपर उसको अनुवादक कहते हैं, विरोधी नहीं कहते ? जैसे भूतलमें घटको आंखसे देखकर कहे कि भूतलमें घट है, तो पीछेसे प्रवृत्त शब्द पहले प्रत्यक्ष द्वारा अवगत अर्थका अनुवादक कहा जाता है और पहलेके प्रमाणसे अवगत अर्थसे प्रतिकूल अर्थका बोधक विरोधी कहा जाता है---जैसे किसीने कहा कि भूतलमें घट है, पीछे दूसरेने कहा---नहीं, घटाभाव है। यहांपर एक कालमें एक ही धर्मीमें घट और उसका अभाव दोनों नहीं रह सकते, इसलिए ये परस्पर विरोधी हैं। इनमें एक प्रमाण होगा और दूसरा आभास। किन्तु यह कथा विभिन्न-विषयक प्रमाणोंमें होती है। प्रथम कल्प तो समानविषयक प्रमाणोंका है, इसमें विरोधकी क्या संभावना है ? प्रथम कल्पका इस श्लोकसे निराकरण करते

विभिन्नविषयत्वे तु नितरामविरुद्धता ।
नैवाऽसम्भवशङ्काऽस्ति सर्वार्थेष्ववभासनात् ॥ १८९ ॥

हैं—'नैकार्थ्ये' इत्यादिसे । वस्तुतः एक प्रमाणसे निश्चित अर्थमें उसके अनुकूल अन्य प्रमाणकी प्रवृत्ति प्रमाणोंका संप्लव कहा जाता है, उसे संवाद भी कहते हैं । दो प्रकारके विषय माने गये हैं—एक वे हैं जिनमें प्रमाणोंका संप्लव होता है—जैसे ब्रह्मादि । इसमें प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द—इन तीनों प्रमाणोंकी प्रवृत्ति होती है । स्वतन्त्ररूपसे तीनोंसे अर्थका परिच्छेद होता है । दूसरे वे हैं—जो एक-एक प्रमाणके विषय हैं, जैसे इक्षु और क्षीरका माधुर्य्यविशेष, सामग्री, स्वर्गापूर्व, देवता आदि । ये यथायथ प्रत्यक्षादिमात्रके विषय हैं, सर्वसाधारण नहीं, अतः समान विषयमें प्रवृत्त प्रमाणान्तर अनुवादक होता है, विरोधी नहीं है । प्रकृतमें प्रत्यक्ष आदि उपनिषत्के विरोधी नहीं हो सकते ॥ १८८ ॥

दोनों काण्ड विभिन्न-विषयक हैं, इस द्वितीय कल्पमें दोष कहते हैं—**'विभिन्न०'** इत्यादिसे ।

प्रत्यक्ष आदि प्रमाण तथा उक्त उपनिषत् भिन्न-भिन्न अर्थके प्रकाशक हैं; ऐसा यदि मानते हो, तो नितरां अविरोधिता है, अर्थात् परस्परकी अपेक्षा न करनेवाले स्वकीय विषयोंकी प्रमितिके उत्पादक हैं, इससे विरोध शङ्का नहीं हो सकती, क्योंकि कर्मकाण्ड दृष्टादृष्ट अनेक फलोंके साधनोंका उपदेश देता है । उनका विषय आत्मा नहीं है और ज्ञानकाण्डके उक्त फल तथा उसके साधन विषय नहीं है, किन्तु उसका आत्मतत्त्व ही विषय है । ज्ञानकाण्ड संसारसे विरक्त जो मुमुक्षु हैं, उनके लिए मोक्षसाधन आत्मज्ञान और उसका उपाय प्रदर्शन कराता है; इसका सांसारिक फलभेद और उसका उपायादि भेद विषय नहीं हैं । एक विषय होनेपर विरोधकी शङ्का हो भी सकती, पर विभिन्न-विषय होनेपर नितरां उक्त शङ्का नहीं हो सकती ।

शङ्का—'तत्त्वमसि' आदि वाक्यमें प्रत्यक्षादि प्रमाण उक्त रीतिसे विरोधी नहीं हैं, यह ठीक है; किन्तु स्वयं उक्त उपनिषत् गुरु, शिष्य आदि सापेक्ष होकर भी उनके अभावका प्रतिपादन करती है । यदि ब्रह्मातिरिक्त मिथ्या है; तो बद्ध ही कोई नहीं है, फिर उसकी मुक्तिके लिए साधनोपदेशकी क्या आवश्यकता है? यदि प्रकृतोपदेशयोग्य कोई बद्ध पुरुष है, तो अद्वितीय ब्रह्मका प्रतिपादन असङ्गत होता है ।

समाधान—ठीक है, इसका उत्तर संबन्धनिरूपणके समय कह चुके हैं;

प्रमाणमप्रमाणं च प्रमाभासस्तथैव च ।
कुर्वन्त्येव प्रमां यत्र तदसम्भवना कुतः ॥ १९० ॥
इष्टः प्रबुध्य ऐकात्म्ये गुरुशास्त्राद्यसम्भवः ।
मानस्य चरितार्थत्वात् स्वप्रामाण्यं न हन्त्यतः ॥ १९१ ॥

फिर आगे भी कहेंगे। तृतीय पक्षका निराकरण करते हैं—नेत्यादिसे। अद्वैत आत्मा प्रमेय ही नहीं है, ऐसा जो प्रश्न किया था, उसका उत्तर यह है कि जितने विषयके प्रकाशक प्रमाण हैं, उनके द्वारा विषयप्रकाशके समय आत्माका भान अवश्य होता है। यह घट है, ऐसा ज्ञान होनेपर घटप्रकाशके साथ आत्मप्रकाश न होता, तो यह घटज्ञान हमको हुआ या दूसरेको ऐसा संशय होता। पर उक्त संशय किसीको कभी नहीं होता, कारण कि विषयके साथ स्वात्मज्ञान भी हो ही जाता है, अतएव प्रभाकरमिश्रके मतमें त्रिपुटीवाद है—ज्ञान विषयविधया घटादिका, स्वतः स्वरूपका और आश्रयतया आत्माका नियमसे भासक होता है। न्यायमतके समान मिश्रमतमें भी आत्मा जड़ है और घटादिकी तरह ज्ञानसे ही प्रकाशित होता है; अतः सर्वप्रमाणसिद्ध मेयके अभावकी शङ्का अयुक्त है। स्वमतमें तो आत्मा स्वयंप्रकाश है, अतः उसके भानकी शङ्काका लेश भी नहीं हो सकता ॥ १८९ ॥

'प्रमाण०' इत्यादि। प्रमाण, अप्रमाण और प्रमाभास जिस आत्माके नियमसे भासक अर्थात् जिस आत्माकी प्रमाका उत्पादन करते हैं; उसकी असंभावना कैसे? घटादिविषयक प्रमाण ज्ञान उक्त रीतिसे आत्मविषयक प्रमाका जनक होता है, यह ज्ञान हमको हुआ, यह हमारा ज्ञान संशय और विपर्यय है, हमको ज्ञान नहीं हुआ इत्यादि रीतिसे आत्माका सर्वत्र भान होता है; इसलिए प्रमेयके असम्भवकी शङ्का ही नहीं हो सकती। जिसकी केवल प्रमा ही साधक है, ऐसे पदार्थका यदि अभाव कोई कहे, तो वह जैसे नहीं माना जाता, वैसे ही जिसके प्रमा, अप्रमा और प्रमाभास ये सब साधक हैं; उसका यदि अभाव कोई कहे, तो वह कैसे माना जा सकता है? ॥ १९० ॥

'इष्टः' इत्यादि। अद्वितीय आत्माका निर्विचिकित्स ज्ञान होनेपर गुरु, शास्त्र आदिका असंभव इष्ट ही है। प्रमाण चरितार्थ हो गया है, अतः स्वप्रामाण्यकी विघातक उपनिषत् नहीं है। भाव यह है कि 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म',

कर्मकाण्डस्य मात्वं च हन्यादुपनिषत्कथम् ।
काण्डयोरेकवाक्यत्वमथवा भिन्नवाक्यता ॥ १९२ ॥

'नेह नानास्ति किञ्चन' इत्यादि श्रुतियोंसे होनेवाला—प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोंसे प्रबोधित निखिल प्रपञ्च ब्रह्म ही है, उससे अतिरिक्त कुछ भी नहीं है—ऐसा बोध यदि प्रमा माना जाय, तो गुरु, शिष्य आदिका अभाव स्पष्ट सिद्ध होता है और ऐसी परिस्थितिमें उक्त उपदेश ही व्यर्थ होता है, क्योंकि ज्ञानी गुरुका उपदेश अज्ञानी शिष्यके प्रति ही सर्वत्र लागू होता है । ब्रह्म तो अज्ञानी है नहीं, अतः अधिकारीके अभावसे गुरुका या श्रुतिका उपदेश अनर्थक और निष्प्रयोजन होनेके कारण अपने प्रामाण्यका विघातक होगा, यह आक्षेप आत्मैक्यदूषणवादियोंका है । उत्तर यह है कि आत्मैकत्वके बोधसे पहले गुरु, शिष्य आदि हैं, अतः उसी समयके लिए गुरु या शास्त्रका उपदेश है । उपदेशके बाद तत्त्वज्ञान होनेपर अर्थात् 'अहं ब्रह्मैवास्मि' (मैं ब्रह्म ही हूँ) ऐसा ज्ञान होनेपर गुरु, शिष्य आदिका अभाव हो जाता है, सो तो इष्ट ही है । प्रमाण तो चरितार्थ हो गया, क्योंकि ज्ञानोत्पत्तिके लिए ही उक्त वाक्य है, एवंभूत ज्ञानकी उत्पत्तिके अनन्तर प्रयोजन न होनेसे उसको निष्प्रयोजन नहीं कहा जा सकता, क्योंकि ब्रह्मज्ञान ही उसका प्रयोजन स्पष्ट है । दूसरी बात यह है कि स्वार्थघातकत्व क्या है ? क्या स्वविषयघातकत्व स्वार्थघातकत्व है या स्वप्रयोजनघातकत्व ? प्रथम पक्ष असङ्गत है, क्योंकि 'यह सब आत्मा है' इस प्रकारकी प्रमा यदि वेदान्तवाक्यसे होती है, तो वेदान्त स्वविषयका घातक है, ऐसा कहना एक प्रकारसे निर्लज्जताकी भी पराकाष्ठा है, क्योंकि विश्वमात्रमें स्वविषयत्वकी प्रमाका जनक होनेके कारण वह घातक नहीं हो सकता । द्वितीय पक्ष भी असङ्गत है, क्योंकि परम पुरुषार्थरूप मोक्षकी प्राप्ति और सकल दुःखकी आत्यन्तिक निवृत्तिरूप दो फलोंकी प्राप्ति ही उसका प्रयोजन है, अतः उसे निष्फल कहना जननीको वन्ध्या कहनेके समान व्याहत है । इससे सर्वफलप्रदको निष्फल कहना परम धृष्टता है ॥ १९१ ॥

'कर्मकाण्डस्य' इत्यादि । कर्मकाण्डके प्रामाण्यका विघातक वेदान्त नहीं है, यह यद्यपि पूर्वमें कह चुके हैं, तथापि विस्ताररूपसे फिर उसीको कहते हैं—संक्षेप और विस्ताररूप उद्देश्यके भेदसे कथनमें भी भेद होता है, इसलिए

उपायोपेयबोधित्वात् कृत्स्नवेदैकवाक्यता ।
यदि तर्ह्यविरुद्धत्वात् कुतः प्रामाण्यघातिता ॥ १९३ ॥
अथाऽत्र भिन्नवाक्यत्वं सिद्धसाध्यार्थभेदतः ।
तदाऽपि न विरोधोऽस्ति विभिन्नविषयत्वतः ॥ १९४ ॥

पुनरुक्त दोषकी आशङ्का नहीं है । कर्मकाण्ड और ज्ञानकाण्डकी एकवाक्यता मानते हो अथवा भिन्नवाक्यता ? इन दोनों कल्पोंमें भी उपनिषत् कर्मकाण्डके प्रामाण्यका विघात नहीं कर सकती ॥ १९२ ॥

प्रथम पक्षमें उपनिषत् कर्मकाण्डके प्रामाण्यका विघात नहीं करती, यह कहते हैं—**'उपायो०'** इत्यादिसे ।

कर्मकाण्डमें कहे गये नित्य आदि कर्मोंके अनुष्ठानके द्वारा चित्तकी शुद्धि होती है । रज और तमसे असंसृष्ट सत्त्व चित्तकी शुद्धि है । शुद्धि ही चित्तकी एकाग्रतामें कारण है । जिस परिशुद्ध चित्तमें विक्षेपादि वृत्तियां नहीं होतीं, वह स्थिर होता है; उसीमें ब्रह्मध्यानयोग्यता भी होती है । संबन्धकथनके समय मतभेदसे चित्तशुद्धि द्वारा कर्मानुष्ठान ब्रह्मविविदिषामें करण है, ऐसा कहा है । यहांपर इस विषयमें संक्षेपसे कुछ कहते हैं—'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन' इत्यादि श्रुतियोंसे यह स्पष्ट जाना जाता है कि कर्मानुष्ठान ज्ञानकी उत्पत्तिके लिए है, इससे ज्ञानकाण्डके साथ कर्मकाण्डका उपायोपेयभाव सम्बन्ध प्रतीत होता है । कर्मकाण्डमें कहे गये कर्मोका अनुष्ठान उपाय है और ज्ञानकाण्डमें प्रदर्शित ज्ञान उपेय है, इस प्रकार दोनोंका सम्बन्ध परस्पर माना जाता है । इसीसे दोनोंकी एकवाक्यता कही जाती है । दोनोंका तात्पर्य आत्मतत्त्वज्ञानकी उत्पत्तिमें है । अतएव मन्त्रोपनिषद्रूप संपूर्ण वेदकी एकवाक्यता मानी जाती है । ऐसी परिस्थितिमें परस्पर अङ्गाङ्गिभाव होनेसे विरोध ही नहीं बन सकता, फिर उपनिषत् कर्मकाण्डके प्रामाण्यका विघात करती है, यह कैसे कहा जा सकता है ? जब दोनोंका परम तात्पर्य आत्मैकत्त्वज्ञानमें है, तब गुणप्रधानभावसे एकफलार्थ दोनों सम्बद्ध ही हैं, इसलिए उपनिषत्में उक्त आक्षेप मिथ्या है ॥ १९३ ॥

'अथाऽत्र' इत्यादि । सिद्धस्वरूप आत्मैकत्वका बोधक वेदान्तवाक्य है और साध्यभूत धर्मादिका बोधक कर्मकाण्डवाक्य है—इन दोनोंके प्रतिपाद्य

निषेधति विधत्ते वा नाऽसावुपनिषत् क्रियाम् ।
प्रत्यक्तत्त्वैकसम्बोधे तद्वाक्योपक्षयो यतः ॥ १९५ ॥

विषय भिन्न भिन्न हैं; अतः उक्त वाक्योंका परस्पर जब विरोध ही नहीं है तब बाध्यबाधकभावकी संभावना ही कैसे हो सकती है? जैसे 'घटोऽस्ति' इस वाक्यका 'पटोऽस्ति' इस वाक्यके साथ विरोध नहीं कहा जा सकता, क्योंकि वे दोनों वाक्य स्वतन्त्ररूपसे घट और पटकी सत्ताके बोधक हैं, वैसे ही प्रकृतमें भी समझना चाहिए। यद्यपि संसारी और असंसारी पुरुषके भेदसे उक्त दो वाक्य व्यवस्थितविषयवाले हैं, ऐसा 'हिंसाविधिनिषेधवत्' इत्यादिसे पूर्वमें भी परिहार कर चुके हैं, अतएव इस विषयमें विशेष प्रतिपादन करनेकी आवश्यकता नहीं है, तथापि विशेष जिज्ञासुओंके लिए फिर उक्त विरोधका परिहार करते हैं ॥ १९४ ॥

'निषेधति' इत्यादि। सूक्ष्म दृष्टिसे विचार कीजिये, तो प्रकृतमें वेदान्त-वाक्यके साथ कर्मकाण्डके विरोधकी संभावना ही नहीं है, बाध्यबाधक-भाव तो दूर ही रहा। उपनिषद्-वाक्य न तो इष्टविशेषकी प्राप्तिमें उपायके उप-देशका निराकरण ही करता है और न उसमें पुरुषप्रवृत्तिको ही रोकता है, किन्तु अद्वैत ब्रह्ममात्रका प्रतिपादन करता है। इसीमें वेदान्तवाक्य उपक्षीण हो जाता है, इसलिए उक्त अर्थका अभिधान और द्वैतका निषेध—ये दोनों अर्थ उपनिषद्-वाक्यसे प्रतीत होते हैं, ऐसा मानकर कर्मकाण्डके साथ जो विरोध कहा जाता है, वह वस्तुतः असङ्गत है, क्योंकि 'सकृदुच्चरितः शब्दः सकृदेवाऽर्थं बोधयति' (एक बार कहा गया शब्द एक ही अर्थका बोधन कराता है) इस न्यायसे एक वाक्यका अनेक अर्थ मानना अन्याय्य है। पौरुषेय वाक्यमें किसी तरह ऐसी शङ्का हो भी सकती है, परन्तु अपौरुषेय वेदवाक्यमें ऐसी शङ्का करना सर्वथा अनुचित है। कर्मकाण्ड 'जुहुयात्', 'यजेत' और 'दद्यात्' इत्यादिसे पशु, स्वर्ग आदि दृष्ट और अदृष्ट फल चाहनेवालोंके प्रति उनके साधनविशेषोंका उपदेश और तत्-तत् नियोगमें पुरुषोंकी केवल प्रेरणा करता है, अतः उसका व्यापार तत्-तत् साधन आदिमें पारमार्थिक सत्ताके बोधनमें या अद्वैत ब्रह्मके निषेधमें नहीं है। इसलिए विरोधशङ्का सर्वथा निर्मूल है। इस तात्पर्यसे कहते हैं कि उपनिषत् न किसी यागादि क्रियाका विधान ही करती है और न

द्वैतेऽस्मिन् बाधिते बोधात्कर्मकाण्डस्य सर्वथा ।
अपहीयेत विषय इति शङ्का न युज्यते ॥ १९६ ॥
न द्वैतसत्यता कर्मकाण्डस्य विषयोऽपि तु ।
साध्यसाधनसम्बन्धो न त्वसाविह बाध्यते ॥ १९७ ॥

किसी क्रियाका निषेध ही करती है अर्थात् उपनिषत् अन्यान्य क्रियासे सर्वथा निरपेक्ष होकर केवल प्रत्यक्-तत्त्वके बोधमात्रमें ही अपना व्यापार रखती है और इसीमें वह उपक्षीण और कृतकृत्य हो जाती है, फिर अन्य कुछ व्यापार नहीं करती। जो वाक्य अपने अर्थका बोध करानेपर भी परपूर्ण नहीं होता, उसीका अगत्या अन्य व्यापार माना जाता है, दूसरेका नहीं, अन्यथा वाक्य-पर्यवसान ही दुर्घट हो जायगा। और वेदान्तवाक्य कर्मकाण्डवाक्यकी प्रमाके उत्पादनमें विरोधी भी नहीं है, जिससे कि उसमें प्रमानुत्पत्तिलक्षण अप्रामाण्यकी भी प्रसक्ति हो जाय, कारण कि प्रमाकी उत्पत्ति प्रत्यक्षसिद्ध है, अतः उसका अपलाप नहीं किया जा सकता। कर्मकाण्ड स्वार्थप्रमाका उत्पादक होनेपर भी वेदान्तके साथ विरोध होनेके कारण अप्रमाण हो जायगा, ऐसा यदि कहो, तो वह वदतोव्याघात है। यदि प्रमाका उत्पादक है, तो अप्रमाण क्यों होगा? प्रमाका अनुत्पादक ही अप्रमाण माना जाता है ॥ १९५ ॥

'द्वैतेऽस्मिन्' इत्यादि। अद्वैत-ब्रह्मबोधक वेदान्तवाक्य द्वारा उत्पन्न होनेवाले अद्वैत-ब्रह्मबोधसे ब्रह्मभिन्न समस्त वस्तुओंका निराकरण होनेपर कर्मकाण्डवाक्यका अर्थ ही अपहृत हो जाता है, अतः कर्मकाण्डवाक्यसे प्रमा ही उत्पन्न नहीं होगी। इसमें यह अनुमान प्रमाण है—'विमतं न प्रमोत्पादकम्, प्रमाणापहृत-विषयत्वात्, अग्निरनुष्णः इत्यादिवाक्यवत्'। जैसे 'अग्निरनुष्णः' यह वाक्य प्रमाका उत्पादक होनेपर भी प्रमाण नहीं होता, कारण कि अग्निमें उष्णत्वग्राही प्रत्यक्ष प्रमाणसे उसके विषय अनुष्णत्वका अपहार हो जाता है, वैसे ही ब्रह्मवाक्यसे कर्म-वाक्यके विषयका अपहार होनेके कारण उक्त वाक्य भी प्रमाण नहीं हो सकता, पर यह ठीक नहीं है, कारण कि प्रत्यक्ष अनुमानसे प्रबल होता है अतः प्रमाका उत्पाद प्रत्यक्षसिद्ध है और उसका अनुत्पाद अनुमानसे सिद्ध है, ऐसा जो आप कहते हैं वह कैसे हो सकता है? क्योंकि प्रत्यक्षविरुद्ध अनुमान तो निर्दुष्ट नहीं होता, अतः अनुमानाधीन अप्रामाण्यकी शङ्का अयुक्त है ॥ १९६ ॥

'न द्वैत०' इत्यादि।

द्वैतसत्यत्वमिथ्यात्वे अविचार्यैव मानवः ।
इष्टप्राप्तिमनिष्टस्य निवृत्तिमभिवाञ्छति ॥ १९८ ॥

शङ्का--कर्मकाण्डका वाक्य यदि स्वार्थकी प्रमाका जनक माना जाय, तो उसका अर्थ प्रामाणिक होनेसे अबाध्यसत्ताक ही माना जायगा । इस परिस्थितिमें द्वैत वस्तु ही सिद्ध होगी, फिर उपनिषत् अद्वैतमें प्रमाण नहीं हो सकती, किन्तु अनुष्ण अग्नि है, इस वाक्यके समान अपहृतविषयक होनेसे अप्रमाण ही मानी जायगी ।

समाधान---द्वैतकी पारमार्थिक सत्ता कर्मकाण्डवाक्यकी विषय नहीं है, किन्तु साध्य-साधन संबन्ध ही उसका विषय है, वह चाहे व्यावहारिकसत्ताक हो या पारमार्थिकसत्ताक । इसमें विशेष आग्रह नहीं है कि उक्त संबन्ध पारमार्थिक-सत्ताक ही हो । सो प्रकृतमें अबाधित है । जो बाधित पारमार्थिक सत्ता है, वह उक्त विधिकी विषय नहीं है, इसलिए कर्मवाक्यके साथ उपनिषत्का कुछ भी विरोध नहीं है । भाव यह है कि 'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः' इत्यादि श्रुति केवल स्वर्गार्थी पुरुषके प्रति उसके उपायभूत अग्निहोत्र कर्मका ही उपदेश देती है, विशेषरूपसे यह नहीं कहती कि अग्निहोत्र कर्म तथा उसके फल आदि परमार्थ सत् हैं । केवल उपायके प्रतिपादनमात्रमें कर्मश्रुतिका तात्पर्य है । यह बात तो स्पष्ट ही है कि कामना मिथ्याज्ञाननिमित्तक ही होती है, फिर भी यथाप्राप्त कामोंको लक्ष्य कर तथाविध साधनका ही उपदेश देती है । यह नहीं कहती कि काम मिथ्याज्ञाननिमित्तक होनेसे वस्तुतः अर्थ नहीं है, किन्तु अनर्थस्वरूप है, इसलिए उसकी प्राप्तिके लिए चेष्टा मत करो । एवं यथाप्राप्त क्रियाकारकभेदको लेकर इष्टविशेषकी प्राप्ति और अनिष्टविशेषकी निवृत्तिके बोधक कर्मकाण्डके वाक्य हैं । तत्तत् फलकी इच्छावाला पुरुष भी तत्तत् इष्टादि फलप्राप्तिके तत्तत् साधनोंमें प्रवृत्त होता है । यह अवधान नहीं देता कि ये फल-साधनादि पारमार्थिक हैं या अपारमार्थिक ? अविद्वान् पुरुष तत्तत् कर्मोंमें प्रवृत्त ही देखे जाते हैं । अविद्यावश उन कर्मोंमें तथा उनके फल आदिमें पारमार्थिकत्वका ही अभिनिवेश रहता है ॥ १९७ ॥

'द्वैत०' इत्यादि ।

शङ्का---यदि अद्वैतवाक्यसे स्वर्गादि फल और उसके साधनोंमें मिथ्यात्वज्ञान हो जाता है, तो मिथ्याभूत यागादिमें अविद्वान् पुरुषकी भी प्रवृत्ति नहीं होनी चाहिए ।

साध्यसाधनसम्बन्धं तादृशः कामिनोऽर्कवत् ।
कर्मकाण्डो भासयते कामी तत्र प्रवर्तते ॥ १९९ ॥

समाधान—उक्त श्रुतिवाक्यसे मिथ्याज्ञान होनेपर भी अविद्वान् पूर्णरूपसे विचार नहीं करते, इसलिए पूर्ण निश्चय न होनेके कारण सामान्यतः ज्ञात इष्टसाधनमें प्रवृत्त होते हैं और अनिष्टसाधनसे निवृत्त होते हैं। अनभिज्ञोंकी कामना कभी समाप्त नहीं होती, अतः धर्मशास्त्रकारोंने स्पष्ट ही कहा है—

'न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाऽभिवर्धते ॥'

काष्ठसे जैसे अग्निकी शान्ति नहीं होती है, प्रत्युत और भी उसकी अधिक वृद्धि होती जाती है, वैसे ही कामियोंको कामोपभोगसे कभी भी शान्ति प्राप्त नहीं हो सकती। शान्ति तो दूर रही, प्रत्युत उनकी कामनाओंकी उत्तरोत्तर वृद्धि ही होती जाती है।

शङ्का—कर्म अविद्वानोंके लिए हैं, ऐसा कहना तो उचित प्रतीत नहीं होता, कारण कि पूर्वमीमांसामें अध्ययनसिद्ध विद्यावान्‌का ही कर्ममें अधिकार है, ऐसा निश्चय किया गया है।

समाधान—ठीक है, वहां द्रव्य, देवता आदिका ज्ञान ही विद्यापदसे विवक्षित है, ब्रह्मविद्या नहीं। जिसको ब्रह्मविद्या प्राप्त हुई है, ऐसे विद्वान्‌का तो कर्ममें अधिकार ही नहीं है, यह अनेक बार कह चुके हैं ॥ १९८ ॥

'साध्यसाधन०' इत्यादि।

शङ्का—कर्मकाण्ड साध्यसाधनसंबन्धका बोधन कराता हुआ तत्-तत् विहित कर्मोंमें पुरुषकी प्रवृत्ति भी कराता है, अतः प्रवर्तकशास्त्रीय विषय द्वैतको सत्य ही मानना चाहिए, अन्यथा प्रवृत्त्यादिबोधक शास्त्र शास्त्र ही नहीं हो सकता। मिथ्या वस्तुमें तो शास्त्र किसीकी प्रवृत्ति नहीं कराता, अन्यथा वञ्चकवाक्यके समान शास्त्रमें भी प्रामाण्यका परिज्ञान नहीं हो सकेगा, अतः अर्थापत्तिप्रमाणसे द्वैतमें सत्यत्वकी सिद्धि होती है।

समाधान—शास्त्र प्रवर्त्तक वा निवर्तक नहीं होता, किन्तु जिनका अनेक प्रकारके राग, द्वेष और मोह आदि दोषोंसे चित्त कलुषित है, ऐसे पुरुष स्वयमेव अपनी अपनी रुचिके अनुसार साधनविशेषोंमें प्रवृत्त होते रहते हैं। जैसे—सूर्य वस्तुका प्रकाश करता है, प्रकाशमें अनेक पुरुष अनेक कार्य अपनी इच्छासे आप ही करते

अकामतः क्रिया काचिद् दृश्यते नेह कस्यचित् ।
यद्यद्धि कुरुते जन्तुस्तत्तत् कामस्य चेष्टितम् ॥ २०० ॥

हैं—कोई अध्ययन करता है, कोई लिखता है, कोई घट आदिको बनाता है इत्यादि । ये सब कार्य जैसे श्रीसूर्य भगवान्‌के प्रकाशमें ही किये जाते हैं, परन्तु उन कार्योंमें सूर्य ही प्रवर्त्तक हैं, ऐसा नहीं माना जा सकता, वैसे ही शास्त्र भी उत्तम, अधम आदि अनेक फलोंका तथा उनके अनुकूल साधनविशेषोंका प्रकाशक ही है । रही प्रवृत्ति और निवृत्तिकी बात, सो तो शास्त्र द्वारा बोधित साधनविशेषोंमें तत्तत्फलार्थियोंकी अपनी अपनी रुचिके अनुसार स्वयं हुआ करती है, अतः उनमें प्रवर्तक शास्त्र है, ऐसा नहीं माना जाता । और यह भी देखा जाता ही है कि शास्त्र परमपुरुषार्थ मोक्षको सर्वसाधारणके प्रति समानरूपसे प्रकाशित करता है, लेकिन किसी पुरुषको दोषादिवश वह अपुरुषार्थके समान ज्ञात होता है, अतएव वह पुरुष उसके साधनमें प्रवृत्त नहीं होता । पूर्वके सुकृत कर्मोंके परिपाकसे किसीको शास्त्रप्रकाशित वह परम पुरुषार्थ वस्तुतः सत्य प्रतीत होता है, इसलिए वह सकल सांसारिक सुख और उनके साधनोंसे विरक्त होकर स्वतः उसमें प्रवृत्त होता है । जिसको जैसा भान होता है, वह वैसा ही प्रवृत्त या निवृत्त होता है । एवं 'मा हिंस्यात्' इत्यादि निषेधवाक्य हिंसा अनर्थसाधन है, ऐसा सामान्यतः सर्वसाधारणके प्रति प्रकाश करते हैं, पर पुरुषमतिविशेषसे किसीकी उससे निवृत्ति होती है और किसीकी नहीं होती, अतः ब्रह्मैकत्वज्ञापक वेदान्त कर्मविधिशास्त्रादिके प्रामाण्यका बाधक नहीं है और न कर्मकाण्ड ही वेदान्तके ब्रह्मैकत्व अर्थके प्रामाण्यका बाधक है, क्योंकि प्रमाण स्वविषयमें ही शूर होते हैं, ऐसा शास्त्रकारोंका सिद्धान्त है अर्थात् वे अपने अपने विषयके ही केवल ज्ञापक होते हैं । स्वर्ग आदिके साधनोंमें कामी पुरुषोंकी प्रवृत्ति या निवृत्ति स्वतः होती है, यह निष्कर्ष निकला ॥ १९९ ॥

'अकामतः' इत्यादिसे ।

शङ्का—यद्यपि काम्य कर्मोंमें भले ही कामना प्रवर्तक हो, तथापि नित्य-कर्मोंमें कामना प्रवर्तक नहीं हो सकती, कारण कि उनमें किसी भी प्रकारकी कामनाका श्रवण नहीं है, इस परिस्थितिमें उसमें शास्त्रको ही प्रवर्तक कहना होगा, क्योंकि इसके सिवा दूसरा कोई उपाय ही नहीं हो सकता । अतः शास्त्र प्रवर्तक नहीं है, किन्तु फलसाधनका केवल प्रकाशक ही है, यह कहना ठीक नहीं है ।

न निवर्तयितुं शक्ता पुरुषान्कामिनः श्रुतिः ।
नाऽपि प्रेरयितुं शक्ता विरक्तान्कर्मसु क्वचित् ॥ २०१ ॥

समाधान—इस संसारमें कोई भी क्रिया ऐसी नहीं की जाती, जिसमें कोई भी कामना न हो । प्राणिमात्र चाहे वह विद्वान् हो, पशु या पक्षी हो या छोटेसे छोटा कीट, पतङ्ग आदि हो, उसकी कोई भी प्रवृत्ति कामनाके बिना नहीं होती। जो कुछ कोई भी करता है, वह कामनासे ही करता है । भाव यह है कि चेतनमात्रकी प्रवृत्ति इष्टसाधनताके ज्ञानके बिना नहीं होती । प्रवृत्तिसे पहले इष्टसाधनताका ज्ञान अवश्य माना जाता है । 'पश्वादिभिश्चाविशेषात्' इत्यादि भाष्यसे यह स्पष्टरूपसे सूचित किया गया है कि पशु, पक्षी आदिकी प्रवृत्ति भी मनुष्यकी प्रवृत्तिके समान इष्टसाधनताके ज्ञानसे ही होती है । इसलिए नित्यकर्मानुष्ठानमें भी प्रवृत्ति कामनासे ही होगी । यद्यपि वहां स्वर्गादिविशेषकी कामना हेतु नहीं हो सकती है, तथापि प्रत्यवायनिवृत्तिरूप फलकी कामना अवश्य हेतु हो सकती है, अन्यथा उक्त रीतिसे उनका अनुष्ठान ही असंभव हो जायगा । कुछ लोग नित्यकर्मका भी फल पण्डापूर्व (स्वर्गापूर्व) मानते हैं । एवं अन्य मतमें 'विधूतपापास्ते यान्ति ब्रह्मलोकमनामयम्' इत्यादि अर्थवादोंमें उक्त ही फल मानते हैं। फल माननेसे भी नित्य और नैमित्तिक कर्मोंका जैसा भेद है, उसका पूर्वमें प्रतिपादन कर चुके हैं, इसलिए दोनोंमें परस्पर भेद ही सिद्ध नहीं होगा, यह शङ्का नहीं हो सकती ॥ २०० ॥

'न निवर्तयितुम्' इत्यादि । फलकी इच्छावाले पुरुषोंकी फलसाधनोंसे श्रुति न निवृत्ति ही करा सकती है और न विरक्त पुरुषोंकी फलसाधनमें प्रवृत्ति ही करा सकती है । भाव यह कि 'अग्निहोत्रं जुहुयात्स्वर्गकामः' यह श्रुति सब पुरुषोंके प्रति समान है । पर कोई अग्निहोत्र करता है, कोई नहीं करता; यह लोकमें प्रसिद्ध है । यदि उस कर्ममें श्रुतिसे ही प्रवृत्ति मानी जाय, तो सबकी उक्त कर्ममें प्रवृत्ति होनी चाहिए, पर ऐसा होता नहीं, इसलिए यह मानना बहुत ठीक है कि शास्त्र ज्ञापक होता है, कारक नहीं होता । तात्पर्य यह निकला कि हजारों वचनोंसे भी पुरुषकी प्रवृत्ति तबतक उस कर्ममें नहीं होती, जबतक इष्ट-साधनताका ज्ञान नहीं होता, अतएव जिसको इष्टसाधनताज्ञान होता है, वह उक्त कर्ममें प्रवृत्त होता है । जिसको नहीं होता, उसकी प्रवृत्ति नहीं होती, यह

यथोचितं बोधयन्ती श्रुतिः कामिविरागिणौ ।
वर्तते कर्मकाण्डस्य मानत्वं हन्यते कुतः ॥ २०२ ॥
नाऽप्यद्वैतविरोधोऽस्ति रूपादिग्राहकेन्द्रियैः ।
किं भो गवादिभेदेन व्योमैकत्वं विरुध्यते ॥ २०३ ॥

मानना चाहिए एवं निवृत्ति भी अनिष्टसाधनताज्ञानसे ही होती है, केवल निषेध-वाक्यसे नहीं होती, अतएव 'यजेत' और 'परदारां नोपगच्छेत्' इत्यादि वचन समान होनेपर भी उनसे प्रवृत्ति और निवृत्ति नहीं होती, किन्तु उक्त ज्ञानादिसे ही हो जाती है, ऐसा देखा जाता है ॥ २०१ ॥

वेदान्त कर्मकाण्डके प्रामाण्यका विघातक नहीं है, इसका उपसंहार करते हैं—**'यथोचितम्'** इत्यादिसे ।

कर्मकाण्ड-श्रुति कामनाके अनुसार कामीको केवल फलसाधनका बोध कराती है, साधनमें सत्यत्वादिका बोध नहीं कराती और अद्वैतश्रुति विरक्तके प्रति ब्रह्ममें सत्यत्वमात्रका बोध कराती है, स्वर्गादि फलके साधनोंमें असाधनत्वका बोध नहीं कराती, इसलिए परस्पर विरोध न होनेके कारण वेदान्तवाक्योंमें प्रामाण्य-विघातकत्वकी शङ्का सर्वथा निर्मूल है ॥ २०२ ॥

'नाऽप्यद्वैत०' इत्यादि । अपने पक्षमें अन्यान्य प्रमाणोंके साथ आनेवाले विरोधोंका परिहार कर वेदान्त स्वार्थमें प्रमाण है, यह निरूपण किया जा चुका । अब नैयायिकमतके अनुसार पुनः आक्षेप किया जाता है कि वेदान्तशास्त्रगम्य आत्मैक्यको माननेसे प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम आदि प्रमाणोंके साथ विरोध अपरिहार्य होगा ।

शङ्का—क्यों ?

समाधान—प्रत्यक्षविषय घटादि चक्षु आदिसे अतिरिक्त हैं, यह घटग्राही प्रत्यक्षसे ही सिद्ध होता है । इससे ब्रह्मैकत्व ही परमार्थ सत् है, उससे अन्य परमार्थ सत् नहीं है, ऐसा माननेवाले ब्रह्मवादियोंको स्पष्ट ही प्रत्यक्ष विरोध है, एवं श्रोत्र, शब्द और उसके ज्ञाता आदिमें भेद प्रत्यक्ष प्रमाणसे अवगत होता है, एवं 'स्वदेहसमवेतचेष्टातुल्यचेष्टा देहान्तरे दृष्टा, सा च प्रयत्नपूर्विका, विशिष्ट-चेष्टात्वात्, सम्मतवत्' इत्यादि अनुमानसे प्रत्येक शरीरमें प्रयत्नके समान आत्म-भेदकी सिद्धि होती है । 'पशुकामो यजेत', 'ग्रामकामो यजेत' इत्यादि आगम-

मायाकल्पितरूपादीन् प्रभिन्नांश्चक्षुरादयः ।
गृह्णन्त्वेव किमायातमद्वैते परमार्थतः ॥ २०४ ॥

विरोध स्पष्ट ही है, क्योंकि ग्राम, पशु आदि फल, उनके साधन और उन साधनोंके अनुष्ठाता आदिके भेदके बिना उक्त वाक्य ही असङ्गत हो जायँगे। इसका उत्तर देते हैं—'नाऽप्य०' इत्यादिसे ।

रूप आदिके ग्राहक चक्षु आदि इन्द्रियोंके साथ अद्वैत-प्रतिपादक आगमका विरोध नहीं है ।

शङ्का—क्यों ?

समाधान—विरोध किसके साथ कहते हो? क्या ब्रह्मैकत्वके साथ विरोध कहते हो अथवा अद्वैतांशके साथ ? प्रथम पक्षका दृष्टान्तके प्रदर्शन द्वारा निराकरण करते हैं—जैसे सब भूतोंमें रहनेवाला आकाश एक है, ऐसा कहनेसे गाय आदिके भेदका ग्रहण करनेवाले प्रत्यक्षसे विरोध नहीं कहा जा सकता, क्योंकि दोनों विभिन्न-विषयक हैं, वैसे ही आगमका ब्रह्मैकत्व विषय है और प्रत्यक्षका गवादि । ये दोनों अपने-अपने विषयमें परिनिष्ठित हैं, इसलिए सब भूतोंमें स्थित एक ब्रह्म है, ऐसा कहनेपर भी प्रत्यक्षादिके साथ विरोध नहीं हो सकता, इसी तात्पर्यसे वक्ष्यमाण शङ्का और समाधान करते हैं—

शङ्का—क्यों जी, गऊ आदिके भेदसे आकाशका एकत्व विरुद्ध है, ऐसा कहा जा सकता है ?

समाधान—नहीं, कभी नहीं कहा जा सकता ॥ २०३ ॥

'माया०' इत्यादि। चक्षु आदि प्रमाण मायाकल्पित रूप आदिका भले ही ग्रहण करें पर इससे प्रकृत अद्वैतमें क्या आया? अर्थात् कुछ नहीं। तात्पर्य यह है कि क्या प्रत्यक्ष आदि प्रमाण केवल अपने अपने विषयके ही ग्राहक होते हैं अथवा स्वेतरव्यावृत्तिसे (स्वविषयभिन्न पदार्थके भेदसे) विशिष्ट स्वार्थके? प्रथम पक्षमें विरोधकी शङ्का ही नहीं हो सकती, कारण कि ऐसा माननेसे प्रत्यक्ष आदि भेदके ग्राहक कैसे हो सकते हैं ? अर्थात् नहीं हो सकते । आत्मैकत्वका भेद घटादिमें जब गृहीत ही नहीं हुआ तब अभेद-ग्राही उपनिषत्का भेदग्राही प्रत्यक्ष विरोधी कैसे कहा जा सकता है ? द्वितीय पक्षमें विरोधका भय था, पर आत्माश्रयादि दोषोंसे स्वेतरव्यावृत्तिका ग्रहण ही दुघर्ट है, क्योंकि अपने ग्रहणके बिना स्वव्यावृत्तिका ग्रहण नहीं हो सकता। स्वशब्दसे यदि अपने आपका ही ग्रहण करें, तो आत्माश्रय दोष स्फुट ही है । वैधर्म्यलक्षण

नानाऽऽत्मानोऽनुमीयन्त इत्येदपि दुर्घटम् ।
किमप्रमेये नानात्वमाहोस्विन्मेय आत्मनि ॥ २०५ ॥

अन्योन्याभावके ग्रहणमें भी उक्त रीतिसे अन्योन्याश्रयादि दोष प्रसक्त होते हैं। अतः द्वैतग्राही प्रत्यक्ष आदि अद्वैत अर्थमें विरोधी नहीं हैं। इस विषयका आगे भी अच्छी तरह प्रतिपादन करेंगे। वास्तवमें कल्पित पदार्थ अधिष्ठानके परिच्छेदक भी नहीं हो सकते ॥ २०४ ॥

'नानाऽऽत्मानोऽ०' इत्यादि। पहले जो यह कहा था कि प्रत्येक शरीरमें शब्दादिके उपलब्धा, धर्माधर्मके कर्ता एवं सुख, दुःख आदिके भोक्ता आत्मा भिन्न-भिन्न हैं, ऐसा अनुमानसे सिद्ध होता है। ऐसी स्थितिमें ब्रह्मैकत्वमें अनुमानका विरोध कोई नहीं हटा सकता। उसमें प्रश्न यह होता है कि आत्मभेदका अनुमान कौन करता है? यदि कहो कि अनुमाननिपुण हम सब लोग करते हैं, तो इसमें भी हम आपसे पूछते हैं कि 'हम लोगोंसे' आपका तात्पर्य किसमें है? क्या स्थूल देहमें है? या करणसमुदायमें? किं वा दो देहोंसे भिन्न आत्मामें? प्रथम और द्वितीय पक्ष तो असङ्गत हैं, क्योंकि अचेतन होनेके कारण स्थूल शरीर आदिमें अनुमान करनेका कौशल ही नहीं हो सकता। तृतीय पक्ष भी ठीक नहीं है, क्योंकि आत्मा तो सर्वथा अविकारी होनेसे अनुमाता ही जब नहीं हो सकता तब उसमें अनुमानकुशलताकी बात तो दूर ही रही। ठीक है, देह, इन्द्रिय आदिसे विशिष्ट आत्मा अनुमानकुशल है, यह मेरा तात्पर्य्य है, क्योंकि क्रिया अनेक कारकोंसे साध्य होती है, इस प्रकारके विशिष्टात्मकर्तृक अनुमानसे प्रत्येक देहमें आत्मभेद सिद्ध होता है।

इस पूर्वपक्षमें प्रश्न यह पूछना चाहिए कि यदि प्रधानभूत अनुमानक्रिया कारकत्वविशिष्ट वस्तुमें मानते हो, तो प्रत्येक शरीर आदि कारकमें प्रधान क्रियाकी उत्पत्तिमें उपयोगी अवान्तरक्रियाकारणत्व भी मानना ही पड़ेगा, क्योंकि शास्त्रकारोंका यह कहना है कि सब कारक अपने अपने अवान्तर व्यापारोंके द्वारा प्रधानभूत क्रियाके उत्पादक होते हैं। अतएव कर्तासे भिन्न कारकमें भी स्वातन्त्र्यकी विवक्षा करनेपर कर्तृत्व माना जाता है—जैसे 'काष्ठानि पचन्ति', 'तण्डुलाः प्रच्यन्ते', 'स्थाली पचति' इत्यादि। यदि उनमें व्यापार न माना जाय, तो स्वातन्त्र्यकी विवक्षा कैसे होगी? इसलिए यह निर्विवाद सिद्ध है कि प्रत्येक कारकमें क्रिया उत्पन्न होती है। अब यहाँपर इस प्रश्नका होना

अप्रमेयेऽनुमानस्य प्रवृत्तिर्न कथञ्चन ।
प्रमेयस्य तु नानात्वाद् भेदोऽस्माभिरपीष्यते ॥ २०६ ॥

स्वाभाविक है कि आपके सिद्धान्तके अनुसार यदि क्रिया अनेक साधनोंसे साध्य होती है, यह माना जाय, तो प्रश्न होगा कि क्या देहमें समवेत अप्रधानभूत क्रिया भी अनेक देहोंसे साध्य होती है या नहीं ? प्रथम पक्षमें फिर अवान्तर प्रश्न यह होगा कि क्या वह आत्मासे भिन्न अनेक कारकोंसे साध्य है अथवा आत्मासे अभिन्न अनेक कारकोंसे साध्य है ? प्रथम पक्षमें अनवस्थारूप दोष स्फुट है। द्वितीय पक्षमें आत्मामें अनेकत्वकी आपत्ति होगी। यह कहना तो निर्युक्तिक है कि प्रधान क्रिया ही अनेक साधनोंसे साध्य होती है, अवान्तर क्रिया नहीं; क्योंकि अवान्तर क्रियाके अनुसार प्रधान क्रियामें भी तदभाव (अनेककारकसाध्यत्वाभाव) कह सकते हैं, कारण कि विनिगमक प्रमाण तो कुछ है नहीं। नैरात्म्यप्रसक्ति आदि दूषणोंसे जैसे आत्मामें कारकत्व नहीं हो सकता, वैसे ही देह, इन्द्रिय आदिमें भी कारकत्वका निरास कर सकते हैं। सारांश यह निकला कि अनुमानक्रिया संघातकर्तृक है, केवल आत्मकर्तृक नहीं है। समुदायमें शरीर, इन्द्रिय आदि अनात्म पदार्थ भी प्रविष्ट हैं, अतः जिसको आत्मतत्त्वका विवेक नहीं है, वही यह कह सकता है कि 'वयमनुमानकुशलाः'। इससे स्फुट होता है कि नैयायिकोंको वस्तुतः आत्माका परिचय नहीं है। लौकिक पुरुषोंके समान वे भी इस विषयमें कोरे ही हैं। आत्माके भेदका साधक जो यह अनुमान करते हैं कि 'आत्मा आत्मप्रतियोगिकभेदवान्, वस्तुत्वात्, घटवत्' उसमें यह प्रश्न होता है कि आत्मा सुज्ञात है ? अथवा नहीं ? अन्तिम पक्षमें जो धर्मिस्वरूप आत्माको ही नहीं जानता, वह उसके आश्रित भेद अथवा अभेदको ही कैसे जान सकेगा और उसमें किस हेतुसे किस साध्यका अनुमान करेगा ? पक्षज्ञानके बिना अनुमान कहां ? साध्यकी प्रतिज्ञा और हेतुका दर्शन आदि कहां होगा ? एवं अनुमित साध्यकी स्थिति भी कहां होगी ? इत्यादि अनेक दूषण हैं। श्लोकका वाच्यार्थ संक्षेपसे यह है कि अप्रमेय, स्वप्रकाश, चिदेकरस आत्मामें भेदका अनुमान करते हैं या अन्तःकरणविशिष्ट आत्मामें ? ॥ २०५ ॥

'अप्रमेयेऽ०' इत्यादि। प्रथम पक्षमें पक्ष आदिके ज्ञानका अभाव होनेके कारण उक्त रीतिसे अनुमानकी प्रवृत्ति किसी प्रकार नहीं हो सकती। द्वितीय पक्षमें हम लोग

भी अनेक प्रमेय मानते ही हैं, अतः सिद्धसाधन होगा। भाव यह है कि आत्मभेदके साधक जिन-जिन हेतुओंको आप कहते हैं, जैसे---जन्म, मरण, करणनियम, अयुगपत्प्रवृत्ति आदि, वे स्वतः आत्मभेदके साधक नहीं हो सकते, कारण कि वे तो शरीर आदिके भेदमें भी उपपन्न हो सकते हैं। जन्म, मरण आदि नामरूपगत हैं, आत्मा तो आपके मतसे भी अमर है, अतएव अज है, फिर उसके स्वतः जन्म, मरण आदि कहां ? वे जन्म आदि तो विनश्वर शरीर आदिमें रहनेवाले धर्म हैं, उसके द्वारा ही आत्मामें व्यवहृत होते हैं, जैसे घट, करक आदिगत आकाशमें घटादिगत उत्पत्ति और विनाशका आरोप कर घटाकाश उत्पन्न हुआ, नष्ट हुआ इत्यादि व्यपदेश लोकमें होता है, वैसे ही शरीरादिगत धर्मोंका उनसे अवच्छिन्न चैतन्यमें आरोप कर जन्म आदिका व्यवहार होता है, अतः वे जन्मादि औपाधिक भेदके ही साधक हो सकते हैं। औपाधिक भेद तो हम भी मानते ही हैं, इसलिए इस भेदके अनुमानमें सिद्धसाधन दोष है। अनौपाधिक आत्मभेद प्रत्यक्षविषय नहीं है। यदि अनौपाधिक आकाशका भेद किसीके प्रत्यक्षके योग्य होता, तो तथाभूत आत्मभेद भी प्रत्यक्ष हो सकता, अन्यथा नहीं; अतः आत्मभेदके साधक हेतुके अभावसे आत्मभेदसाधक अनुमान नहीं हो सकता। स्वतः आत्मभेदका साधक अनुमान तो असंभव ही है, क्योंकि आत्मा ज्ञानमात्रका जब अविषय है, तब अनुमानज्ञानका विषय कैसे हो सकता है ?

शङ्का---'आत्मा द्रव्यत्वातिरिक्तापरजातीयः, अश्रावणविशेषगुणवत्त्वात्, घटवत्', इस अनुमानसे आत्मत्व अपर जाति ही सिद्ध होती है, आत्मत्वजाति आत्माके भेदके बिना नहीं हो सकती, क्योंकि

'व्यक्तेरभेदस्तुल्यत्वं सङ्करोऽथाऽनवस्थितिः।
रूपहानिरसंबन्धो जातिबाधकसंग्रहः॥'

इस प्रामाणिक उक्तिसे आकाशत्वजाति माननेमें जैसे आकाशव्यक्ति एक होनेके कारण व्यक्त्यभेद बाधक होता है, वैसे ही आत्मव्यक्तिको एक माननेपर आत्मत्वजातिमें व्यक्त्यभेद बाधक होगा। प्रकृत अनुमानसे आत्मत्वजातिके सिद्ध होनेपर तो 'अधिकरणसिद्धान्तन्याय' से आत्मभेद भी सिद्ध होगा। प्रकृत अनुमानसे आकाशत्वजाति सिद्ध न हो, इसलिए विशेषगुणवत्त्व हेतुमें अश्रावणत्व विशेषण दिया गया है। यदि उस विशेषणको न देकर केवल विशेषगुणवत्त्व ही हेतु कहते, तो विशेष गुणवान् आकाश भी है, पर उसमें

ग्रामकामादिवाक्योक्तं भेदं चैवं नयेद् बुधः ।
इष्टो भेदः प्रमेयाणां काम्यन्तःकरणात्मनाम् ॥ २०७ ॥

द्रव्यत्वावान्तर जाति नहीं है, अतः उक्त हेतु व्यभिचारी हो जायगा और आकाशत्व जातिके माननेपर अपसिद्धान्त होगा, अतः इसके परिहारके लिए उक्त विशेषण दिया गया है। विशेषगुण पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश और आत्मामें रहते हैं, अन्य द्रव्योंमें नहीं रहते। आकाशमें उक्त अवान्तर जाति न्यायमतसे भी नहीं है। आत्मामें आत्मत्वजाति नैयायिक मानते हैं, किन्तु वेदान्ती नहीं मानते, इसलिए आत्मत्वजाति मनवानेके लिए उक्त अनुमान वेदान्तियोंके प्रति किया गया है।

समाधान—आप (नैयायिक) जो आत्मधर्म मानते हैं, वे सब नामरूपात्मक हैं और आत्मा नामरूपसे परे है। वह न तो स्वयं नामरूपात्मक है और न उसमें नामरूपात्मक धर्म ही रहते हैं। 'आकाशो वै नामरूपयोर्निर्वहिता', 'ते यदन्तरा तद्ब्रह्म' यह श्रुति है। एवं 'नामरूपे व्याकरवाणि' इत्यादि श्रुतिके अनुसार नामरूप भी उत्पत्ति और प्रलयात्मक हैं और ब्रह्म उनसे विलक्षण है। ब्रह्म ही नामरूपात्मक अशेष वस्तुकी उत्पत्ति, स्थिति और लयका कारण है, अतएव वह अविषय माना जाता है। 'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह', 'अविज्ञातं विजानताम्' इत्यादि श्रुतियोंसे शुद्ध आत्मामें जब ज्ञानमात्राविषयत्व सुप्रसिद्ध है, तब अनुमानविषयत्वकी तो उसमें संभावना भी नहीं हो सकती, अतः प्रकृत अर्थमें अनुमानविरोध नहीं है ॥ २०६ ॥

'ग्रामकामा०' इत्यादि। अन्तःकरणसे विशिष्ट आत्मा कामनावान् कहा जाता है, क्योंकि काम आदि आत्माके धर्म नहीं हैं, किन्तु 'एतत्सर्वं मन एव' इत्यादि श्रुतिसे वे अन्तःकरणके धर्म हैं। 'ग्रामकामः सांग्रहिण्या यजेत' इस श्रुतिसे ग्रामप्राप्तिका साधन 'सांग्रहिणी' याग है, ऐसा स्पष्ट ज्ञात है। अब विचारना यह है कि ग्रामकामना अन्तःकरणमें होती है? या आत्मामें? उक्त विचारसे यह सिद्ध हो चुका है कि नामरूपात्मक कोई वस्तु आत्मामें नहीं रहती। और उक्त कामना भी उत्पत्ति और विनाशसे युक्त है, अतः वह नामरूपात्मक ही है, इसलिए यह आत्मामें नहीं रह सकती, किन्तु अन्तःकरणमें रहती है, इसी तरह 'स्वर्गकामः', 'यशःकामः' इत्यादि श्रुतिबोधित कामनाएँ अन्तःकरणमें ही रहती हैं। अन्तःकरणको आत्मा मानकर यदि आत्मभेद कहते

हो, तो उसमें हमारा कोई विवाद नहीं है, क्योंकि हम भी उसका भेद मानते ही हैं। केवल हमारा कहना यही है कि वह वस्तुतः आत्माका भेद नहीं है। इन सब बातोंको लक्ष्यमें रखकर अनुमानविरोधके निराकरणका अतिदेश आगम-विरोधके निराकरणमें भी करते हैं--'एवम्' इत्यादिसे। ग्रामकामादि वाक्य द्वारा उक्त भेद भी आनुमानिक आत्मभेदके समान ही है अर्थात् जैसे आनुमानिक भेद अन्तःकरणगत है, वैसे ही उक्त वाक्योक्त भेद भी अन्तःकरणगत ही है, आत्मगत नहीं है, उसको हम भी मानते ही हैं।

शङ्का—अच्छा, प्रत्यक्ष, अनुमान और आगमका अद्वैतश्रुतिके साथ विरोध नहीं है, यह कहना यद्यपि ठीक है, तथापि यह नहीं कह सकते कि अद्वैतश्रुतिका प्रमाणके साथ विरोध ही नहीं है, क्योंकि अर्थापत्तिप्रमाणके साथ उक्त श्रुतिका विरोध है, जिसके लिए उपदेश किया गया है, और जिसको उपदेशग्रहणका फल होता है, वे यदि ब्रह्मस्वरूप ही हैं, तो उपदेश निष्प्रयोजन होगा।

समाधान—उसमें यह प्रश्न होता है कि क्रिया अनेक कारकोंसे साध्य होती है और निरुपाधिक ब्रह्म एक होनेके कारण अनेक कारकात्मक है नहीं, इसलिए क्या उक्त उपदेश व्यर्थ है अथवा ब्रह्म नित्य, शुद्ध, बुद्ध और मुक्त-स्वरूप है, इसलिए उपदेश व्यर्थ है? प्रथम पक्षमें शरीरादिमें अनेकत्वापत्ति दोष कह चुके हैं, इस कारण उक्त नियम ठीक नहीं है। द्वितीय पक्षमें नित्य, शुद्ध, बुद्ध और मुक्तस्वरूप ब्रह्म है, ऐसा ज्ञान होनेपर उपदेश व्यर्थ है या उक्त ज्ञानके न होनेपर व्यर्थ है? प्रथम पक्षमें इष्टापत्ति है, क्योंकि उस दशामें न उपदेश है, न उपदेष्टा है और न उपदेश ग्रहणका फल ही है। द्वितीय पक्षमें उक्तरूपसे यदि ब्रह्म ज्ञात नहीं है, तो उपदेश व्यर्थ कैसे हो सकता है? इसी ज्ञानके लिए उपदेश है, इसीसे उपदेश सप्रयोजन है। सब आत्मवादियोंके मतमें उपदेश आत्मज्ञानके लिए है, इस उपदेशसे पूर्व ईदृश आत्मा अज्ञात है, इसलिए उस अवस्थामें आनर्थक्य कहना असंगत है। फलोत्पत्तिके बाद उपायका कर्तव्यत्वरूपसे उपदेश ही नहीं होता, फिर वैयर्थ्यकी क्या संभावना?

शङ्का—आत्मैकत्वमें प्रमाणविरोध है नहीं, यह कहना ठीक है, किन्तु तार्किकसमयके (न्यायसिद्धान्तके) साथ विरोध तो अवश्य है।

प्रत्यक्षमनुमानं च शास्त्रं च प्रत्युताऽद्वये ।
आत्मन्येव प्रसिध्यन्ति सुतरां सुविचारिणाम् ॥ २०८ ॥

समाधान—प्रकृत विषयमें तार्किकोंका प्रवेश ही नहीं हो सकता, इसलिए उनके विरोधकी क्या चिन्ता ? यह बड़ा गहन विषय है, अल्पबुद्धिगम्य नहीं है। शास्त्र और गुरुप्रसादसे शून्य पुरुष इसको जान ही नहीं सकता, अतएव 'कस्तं मदामदं देवं मदन्यो ज्ञातुमर्हति', 'देवैरत्रापि विचिकित्सितं पुरा', 'नैषा तर्केण मतिरापनेया' इत्यादि अनेक श्रुतियां उसकी गहनार्थताका प्रतिपादन करती हैं। इसलिए ब्रह्मातिरिक्त कोई संसारी नहीं है, यह ठीक ही कहा है। एवं 'ब्रह्म वा इदमग्र आसीत् तदात्मानमेवावेत् अहं ब्रह्मास्मीति', 'नान्यदतोऽस्ति द्रष्टृ नान्यदतोऽस्ति श्रोतृ' इत्यादि श्रुतिवाक्योंसे उक्तार्थ ही निश्चित होता है ॥२०७॥

प्रत्यक्षादि भेदसाधक नहीं हैं, प्रत्युत अभेदके साधक हैं, ऐसा निरूपण करते हैं—'प्रत्यक्ष०' इत्यादिसे ।

प्रत्यक्ष, अनुमान और शास्त्र अद्वितीय आत्मामें ही प्रसिद्ध हैं, यह साधारण पुरुष भी उक्त रीतिसे जान सकता है और जो इस विषयमें विशेषविचार-शील हैं, वे तो अनायास जानते ही हैं ।

शङ्का—कौन प्रत्यक्ष आत्मैक्यमें प्रमाण है ?

समाधान—'आत्मन्येव०' इत्यादिसे । सब पुरुषोंके अन्तःकरणमें 'अहम्, अहम्' यों समानाकार बुद्धि एकरूपसे उत्पन्न होती है। यदि अहंपदार्थ परस्पर भिन्नस्वरूप होता, तो समानाकार प्रतीति कैसे होती ? एक विषयके बिना समानाकार प्रतीति नहीं हो सकती, क्योंकि विषयभेद प्रतीतिभेदका साधक है, अतएव 'घटः' इत्याकारक प्रतीति घटमात्रमें ही हुआ करती है, पटादिमें नहीं ।

शङ्का—एक घटव्यक्तिसे दूसरी घटव्यक्ति भिन्न है, तो भी प्रतिव्यक्तिमें उक्त समानाकार प्रतीति होती है ।

समाधान—हां, होती है, किन्तु उक्त प्रतीतिका विषयविधया नियामक घटत्व है, सो प्रत्येक व्यक्तिमें एक ही है ।

शङ्का—अच्छा तो यहां भी आत्मत्वजातिको एक मानकर उक्त प्रतीति उपपन्न हो जायगी और उसके समान आत्मभेद भी सिद्ध होगा ?

समाधान—नहीं, 'नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा' इत्यादि श्रुतियोंसे आत्माके भेदका

आत्मावभासिकाऽहंधीः सा चैकत्रैव जायते ।
निपुणोऽप्यहमित्येवं नाऽनेकत्राऽभिमन्यते ॥ २०९ ॥
एकात्मवन्तो देहाः स्युर्विवादो यत्र वर्तते ।
शरीरत्वाविशेषत्वात् प्रतिवादिशरीरवत् ॥ २१० ॥

पूर्वमें ही निषेध कर चुके हैं, इसलिए उक्त जातिके बाधक व्यक्त्यभेदके विद्यमान होनेसे आकाशत्वके समान आत्मत्वजाति नहीं बन सकती। अतः उसको लेकर समानाकार प्रतीतिका समर्थन किसी प्रकार नहीं हो सकता एवं 'अहं निपुणः' यह प्रतीति भी सर्वत्र एक ही व्यक्तिका अवगाहन करती है, इसलिए अनेकात्मक संघातरूप आत्मा भी उक्त प्रतीतिका विपय नहीं है, किन्तु एक ही आत्मा उक्त प्रतीतिका विपय है। आत्मा स्वप्रकाश है, इसलिए वह अन्य प्रमाणसे गृहीत नहीं हो सकता, क्योंकि स्वप्रकाश विपयी माना जाता है, वषय नहीं। प्रतियोगीके ग्रहणके बिना भेदका ग्रहण सर्वथा दुर्घट है, अतः उक्त विषयमें प्रमाणविरोधकी शङ्का नहीं हो सकती। एवं अनुमानविरोधका भी निराकरण करना चाहिए। सांख्योक्त भेदके साधक जन्मादि शरीरगत हैं, आत्मगत नहीं हैं। और तार्किकोक्त अश्रावणत्वे सति विशेषगुणवत्त्वरूप हेतु भी वेदान्तिमतमें स्वरूपासिद्ध है, क्योंकि 'साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च' इत्यादि श्रुतिसे जब आत्मामें सामान्यगुणवत्त्व ही नहीं है, तब विशेगुणवत्त्वकी क्या संभावना ? 'सर्वं मन एव' इत्यादि श्रुतिके अनुसार तार्किकोक्त गुण मनके हैं, आत्माके नहीं हैं ॥ २०८,२०९ ॥

आत्माके अभेदका साधक अनुमान कहते हैं—'एकात्मवन्तो' इत्यादि।

'सर्वदेहा एकात्मवन्तः, देहत्वात्, संप्रतिपन्नदेहवत्' अर्थात् सब देहोंमें एक ही आत्मा है, क्योंकि देहत्वरूपहेतु सब देहोंमें रहता है; जैसे हमारे देहमें देहत्व है, और उसमें एक ही आत्मा है, वैसे ही देहान्तरमें भी देहत्व है, इसलिए वहां भी एक ही आत्मा है, अन्य नहीं अर्थात् जो मेरी देहमें आत्मा है वही अन्य देहमें भी है, अन्य नहीं है। इसी प्रकार देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि और विषयमें इसी न्यायका अतिदेश समझना चाहिए -विमतानि प्रतिवादि-भोगसाधनानि, इन्द्रियत्वात्, प्रतिवादीन्द्रियवत'। इसी प्रकार मनःप्रभृतिमें भी अभेदानुमान करना चाहिए। जो शङ्का और समाधान एकात्मवादमें हैं, वे ही शरीरादिके ऐक्यमें हैं। समष्टिव्यष्टिभावसे एकत्वानेकत्वविचार है। तात्पर्य यह है

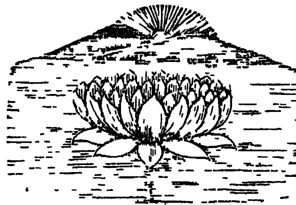
वेदान्तेष्वखिलेष्वात्मवस्त्वेकमिति डिण्डिमः ।
तस्मादेकरसेऽन्योक्तविरोधो नाऽस्ति कश्चन ॥ २११ ॥

इति श्रीविद्यारण्यमुनिप्रणीते वार्तिकसारे द्वितीयाध्यायस्य प्रथमं ब्राह्मणं समाप्तम् ।

सब चराचर शरीरोंमें स्वप्रकाश चिदेकरस आत्मा विद्वानोंके अनुभवसे एक ही सिद्ध होता है, अतः उससे विरुद्ध अनेकत्वानुमान अयुक्त है ॥ २१० ॥

'वेदान्तेषु' इत्यादि । श्रुतिमें एक ही आत्मा माना जाता है, यह अतिप्रसिद्ध है । यही कहते हैं—अद्वितीय इस आत्मामें दूसरोंके द्वारा बतलाये गये विरोध कुछ भी नहीं हैं, क्योंकि सम्पूर्ण वेदान्तमें एक ही आत्मा है, यह ध्वनि डंकाकी ध्वनिके समान प्रसिद्ध है अर्थात् छिपी नहीं है । इस विचारका निष्कर्ष यह है कि प्रत्यक्स्वरूप असंसारी ब्रह्ममें वेदान्त ही प्रमाण हैं । उसीके विषयमें 'सत्यस्य सत्यम्' यह उपनिषत् है ।

इति म० म० पण्डितप्रवर श्रीहरिहरकृपालुद्विवेदिविरचितवार्तिकसार-भाषानुवादमें द्वितीय अध्यायका प्रथम ब्राह्मण समाप्त ।



अथ द्वितीयं ब्राह्मणम्

पूर्वस्मिन् ब्राह्मणे प्राणादन्य आत्मेति विस्तृतम् ।
सङ्गृहीतं च तात्पर्यं सत्यसत्येति नामतः ॥ १ ॥
वस्तुसङ्ग्रहवाक्यत्वात् सूत्रप्रायमिति श्रुतिः ।
सत्यशब्दद्वयस्याऽर्थौ प्राणात्मानाववोचत ॥ २ ॥

द्वितीय ब्राह्मण

पूर्वग्रन्थकी उत्तरग्रन्थके साथ सङ्गतिका प्रदर्शन करनेके लिए पूर्वकथित वृत्तका अनुवाद करते हैं—'**पूर्वस्मिन्**' इत्यादिसे ।

पूर्वब्राह्मणके आरम्भमें अजातशत्रु राजाने बालाकिके प्रति यह कहा था कि तुमको ब्रह्मका उपदेश देंगे और वहांपर यह भी समझाया था कि जिससे जगत्की उत्पत्ति, स्थिति तथा लय होता है, वही एक ब्रह्म है ।

शङ्का—जो उत्पन्न और लीन होता है, उस जगत्का स्वरूप क्या है ?

समाधान—पांच भूत ही उसका स्वरूप है ।

शङ्का—भूत क्या है ?

समाधान—नामरूपात्मक ही भूत है । नामरूपमें सत्यत्व भी कहा है, उस पञ्चभूतात्मक सत्यका भी सत्य ब्रह्म है ।

शङ्का—ब्रह्म सत्यका भी सत्य है, ऐसा कहनेसे नामरूपमें बाध्यत्व अनायास प्रतीत होता है, इसलिए नाम और रूप सत्य कैसे हो सकते हैं ?

समाधान—'सच्च त्यच्च सत्यम्' इस श्रुतिसे नामरूपमें भी सत्यत्वका प्रयोग किया गया है, अतः इसी तात्पर्यसे भूत भी सत्य कहलाते हैं । भूत कार्य-करणात्मक अर्थात् शरीर और इन्द्रियात्मक हैं, अतः भूत एवं प्राण भी सत्य कहे जाते हैं । अतएव 'प्राणा वै सत्यम्' इत्यादि श्रुति सङ्गत होती है । श्लोकार्थ यह है कि पूर्व ब्राह्मणमें प्राणसे अन्य आत्मा है, ऐसा विस्तारपूर्वक निरूपण किया गया है और 'सत्यस्य सत्यम्' इस नामसे जगत्के जन्म आदिके कारण ब्रह्मका संक्षेपसे कथन किया गया है ॥ १ ॥

'**वस्तुसङ्ग्रह०**' इत्यादि । वस्तुका—चिदेकरस ब्रह्मका—संग्रह करनेवाली अर्थात् संक्षेपसे अभिधान करनेवाली श्रुति सूत्रप्राय याने सूत्रके सदृश है । सूत्र थोड़े अक्षरोंका और अधिक अर्थवाला होता है, यह प्रसिद्ध है । सत्य-

आविष्क्रियेते तावर्थौ क्रमेण ब्राह्मणद्वये ।
भवत्येतावता स्पष्टं गार्ग्यराजमतद्वयम् ॥ ३ ॥
तत्र प्राण उपाधिः स्यादात्मोत्क्रान्तिप्रवेशयोः ।
अत आत्मत्वविभ्रान्तिर्बालाकेरभवत् पुरा ॥ ४ ॥

शब्दके यहां दो अर्थ हैं—एक प्राण और दूसरा आत्मा। अतः ये दोनों अर्थ यहां सत्यशब्दसे कहे गये हैं ॥ २ ॥

'आविष्क्रियेते' इत्यादि। इन दोनों ब्राह्मणोंमें क्रमसे उन दोनों अर्थोंका स्पष्टीकरण किया जाता है। इस अर्थके स्पष्टीकरणसे बालाकि और राजाके दो मत स्पष्ट हो जाते हैं अर्थात् बालाकिके मतमें आत्मा कैसा है और राजाके मतमें कैसा है, यह अनायास ज्ञात हो जाता है ॥ ३ ॥

'तत्र प्राण' इत्यादि। शरीरसे आत्माके उत्क्रमणमें तथा शरीरमें होनेवाले आत्माके प्रवेशमें प्राण उपाधि है। आत्मा इन्द्रियका विषय नहीं है, अतः उसके उत्क्रमण और प्रवेशका प्रत्यक्ष नहीं हो सकता। प्राण ऐन्द्रियक (इन्द्रियों द्वारा वेद्य) है, अतः उसके उत्क्रमण और प्रवेश ऐन्द्रियक हैं, अतः प्राणके उत्क्रमण और प्रवेशके द्वारा ही आत्माका उत्क्रमण और प्रवेश जाना जाता है। अतएव मूर्च्छा आदि अवस्थाओंमें जीता है कि नहीं? ऐसा सन्देह होने-पर मूर्च्छित आदि पुरुषकी लोग नासिकाका स्पर्श करते हैं। उस समय जब नासिका द्वारा वायुका संचार ज्ञात होता है, तब अभी जीवित है, अतः औषध आदिके उपचारसे संभव है कि जी जाय, इस आशासे वैद्यको लानेका प्रयत्न करते हैं और वायुका संचार यदि नहीं हो रहा हो, तो यह जाना जाता है कि यह मर गया, और ऐसा जानकर उसके अन्तिम संस्कारके लिए प्रयास करते हैं। इसीसे बालाकिको भ्रम हुआ। उन्होंने प्राणको ही आत्मा समझ रक्खा था। यद्यपि उसकी सत्ता और उसके अभावसे ही शरीर सजीव तथा निर्जीव कहलाता है, तथापि अजातशत्रु वस्तुतः आत्मज्ञानी थे, इसलिए उन्होंने प्राणसे अतिरिक्त आत्माको समझाया। सुषुप्ति अवस्थामें प्राणका संचार पूर्णरूपसे शरीरमें होता है, किन्तु चैतन्यका प्रादुर्भाव नहीं होता, प्राण ही यदि आत्मा हो, तो उस समय विषयका ज्ञान दुर्निवार हो जायगा, अतः आत्माके शरीरमें प्रवेश या उत्क्रमणमें प्राण उपाधि है। प्राणके प्रवेशसे ही आत्माका प्रवेश और प्राणके निर्गमसे ही आत्माका निर्गम जाना जाता है। यद्यपि यह ठीक

आत्मोपाधितयैवाऽस्य प्राणस्य स्यादुपास्यता ।
स प्राणस्तदुपाधिश्च ब्राह्मणेऽस्मिन्विविच्यते ॥ ५ ॥

श्रुतिः—यो ह वै शिशुँ साधानँ सप्रत्याधानँ सस्थूणँ सदामं

है, तथापि जड़ात्मक प्राण आत्मा नहीं है, परन्तु उससे अतिरिक्त है; जिसका विशेष निरूपण आगे किया जायगा।

'आत्मोपाधि०' इत्यादि । आत्माकी प्राण उपाधि है, इसलिए प्राण उपास्य कहा गया है। उपाधिभूत प्राण और उपधेयभूत आत्मा—इन दोनोंका इस ब्राह्मणमें विवेचन किया जाता है। प्राण और आत्मा—इन दोनोंका भेद स्फुट नहीं है, अन्यथा बालाकिसदृश विद्वानोंको इसमें भ्रम न होता। अतः सर्व-साधारणको विवेक हो, इस कामनासे दोनोंका विवेक किया जाता है, जो उपासकोंके लिए अत्यावश्यक है।

शङ्का—वास्तविक विवेक तो आत्माका ही आवश्यक है, क्योंकि आत्म-ज्ञानसे ही मुक्ति होती है, अतएव 'नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय' ऐसा श्रुतिने कहा है। मुमुक्षु को आत्माका ही विवेक करना चाहिए, प्राणका नहीं; अतः प्राणका विवेक निष्प्रयोजन है।

समाधान—प्राणके विवेकके बिना आत्माका विवेक नहीं हो सकता, इसलिए उसके उपायभूत प्राणका विवेक भी आवश्यक है और मार्गमें यदि कोई रमणीय कूप या तालब प्राप्त होता है, तो पथिककी यह स्वतः जिज्ञासा होती है कि इसका निर्माता कौन पुरुषरत्न था? उस जिज्ञासाकी निवृत्तिके लिए यदि उस पुरुषका परिचय कराया जाय, तो वह प्रासंगिक होनेके कारण अजिज्ञासित नहीं कहा जा सकता। इसी प्रकार प्रकृतमें भी आत्माके निरूपणके समय प्राप्त प्राणका निरूपण अजिज्ञासित नहीं हो सकता।

'यो ह वै शिशुम्' इत्यादि श्रुति। जो विषयकी अभिलाषासे शून्य पुरुष साधान, सप्रत्याधान, सस्थूण और सदाम प्राणको जानता है अर्थात् साधानत्व आदि गुणोंसे विशिष्ट प्राणकी उपासना करता है, उसको यह फल मिलता है कि वह अपने सात विरोधी शत्रुओंपर विजय पाता है याने उन शत्रुओंका निग्रह करता है, यह सामान्यतः अर्ध श्रुतिका अक्षरार्थ हुआ। साधानशब्दका अर्थ है शरीराश्रय, क्योंकि 'आधीयतेऽस्मिन् इति आधानं आश्रयः—शरीरम्,

वेद सप्त ह द्विषतो भ्रातृव्यानवरुणद्धि अयं वाव शिशुर्योऽयं मध्यमः प्राणस्तस्येदमेवाधानमिदꣳ प्रत्याधानं प्राणः स्थूणाऽन्नं दाम ॥ १ ॥

शिशुवद्विषयासङ्गरहितः प्राण इष्यते ।
वागादीनामिव यतो विषयोऽस्य न दृश्यते ॥ ६ ॥

तेन सहितं साधानम्'—शरीराश्रय। शरीरमें आश्रित ही वागादि इन्द्रियाँ उपलब्धिकी साधन होती हैं। तात्पर्य यह है कि देहाश्रित प्राणमें इन्द्रियाँ सम्बद्ध हैं, देहानाश्रित प्राणमें नहीं, यह आगे स्पष्ट होगा। सप्रत्याधान शब्दका अर्थ है कि सिरमें रहनेवाला। सिर ही प्रत्याधान है। सिरके प्रदेशविशेषमें नेत्र, नासिका आदि स्थानविशेष हैं, इसलिए सिर ही प्रत्याधान है। 'प्रति आधीयते इति प्रत्याधानम्' यह प्रत्याधानशब्दकी व्युत्पत्ति है। सस्थूण—स्थूणा अन्नपान जनित शक्ति। जैसे वत्स स्थूणामें—कीलविशेषमें—बद्ध रहता है, वैसे प्राण भी उक्त शक्तिमें (बलमें) बद्ध रहता है। जब तक शरीरमें बल रहता है, तब तक प्राणकी स्थिति रहती है। बलक्षयके अनन्तर ही शरीरसे प्राणका वियोग हो जाता है। यह सबके अनुभवसे सिद्ध है। सदाम—प्रकृतमें अन्न ही रस्सी है, जैसे वत्स रस्सीसे खूँटेमें बँधा रहता है, वैसे ही शिशु (प्राण) अन्नके द्वारा बँधा रहता है। भुक्त अन्नके परिणाम तीन प्रकारके होते हैं—स्थूल अंश मूत्र-पुरीष होकर बाहर निकल जाता है और जो मध्यम रस होता है, वह रुधिरादिपरिणाम द्वारा शरीरका पोषक होता है। योग्य अन्नके न मिलनेपर शरीर क्षीण होने लगता है, यह भी अनुभवसिद्ध ही है। एवंभूत प्राणको जो जानता है, उसका फल यह है कि वह प्राणोपासक सात विरोधी सिरमें स्थित चक्षु आदि इन्द्रियोंको रोकता है। भ्रातृव्य दो प्रकारके होते हैं—एक विरोधी, दूसरा अविरोधी। अविरोधी भ्रातृव्यके परिहारके लिए द्विषतः यह विशेषण दिया गया है। श्रुति पूर्वपादमें उक्त अर्थको उत्तर पाद द्वारा स्फुट करती है। मध्यम प्राणको शिशु कहते हैं। मुख और नासिकाके मध्यमें संचारी वायुविशेषको मध्यम प्राण कहते हैं। शेष स्फुट कर चुके हैं ॥ १ ॥

'शिशुवद्' इत्यादि।

शङ्का—उक्त प्राण शिशुशब्दसे क्यों कहा गया ?

समाधान—तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार 'शिशु' विषयासङ्गसे रहित

शरीरमस्याऽऽधानं स्याद्देहमापादमस्तकम् ।
सामान्यवृत्त्या संव्याप्य चेष्टयत्यनिशं यतः ॥ ७ ॥

रहता है, उसी प्रकार उक्त प्राण भी विषयोंके आसङ्गसे दूर रहता है, अतः शिशुसादृश्यसे प्राणमें शिशुशब्दका गौण प्रयोग किया गया है। बालकका हृदय प्रथम राग, द्वेष आदिसे शून्य होता है, अतएव परिशुद्ध रहता है। विषयासङ्गियोंके संसर्गसे धीरे-धीरे विषयाभिमुख होता है और सङ्गवश ही चरित्रभेद भी होता है। विषयासङ्गकी निवृत्ति भी सत्सङ्गवश धीरे-धीरे होती है, इसलिए ये जीवात्माके स्वाभाविक धर्म नहीं है, अतएव नित्य नहीं हैं, पर दुस्त्याज्य अवश्य हैं। उक्त अर्थमें दृष्टान्त कहते हैं---वागादीनामित्यादिसे। वागादि इन्द्रियोंके जैसे वचन आदि विषय नियत हैं, वैसे प्राणका कोई विषय नियत नहीं है, अतएव प्राण वागादिसे श्रेष्ठ कहा गया है। विषयासङ्गियोंकी अपेक्षा विषयपराङ्मुख सज्जन श्रेष्ठ माने ही जाते हैं ॥ ६ ॥

'शरीर०' इत्यादि। इस प्राणका शरीर आधान—अधिष्ठान या आश्रय—है, इन्द्रियोंका भी आश्रय शरीर ही है। उनसे प्राण बँधा है, शरीरमें जबतक प्राण रहता है तबतक ही इन्द्रियाँ भी उसमें रहती हैं। अतएव दृष्टान्त दिया गया है कि जैसे अरबी घोड़ेके चारों पैर चार कीलोंमें बँधे रहते हैं, परन्तु चारों कीलोंको क्रमशः उखाड़कर वह भाग जाता है, वैसे ही प्राण वागादि इन्द्रियों द्वारा शरीरमें बँधा रहता है, किन्तु निकलनेके समय इन्द्रियोंको खींचकर साथ ही निकल जाता है। इससे इन्द्रियाँ कीलस्थानापन्न हैं और शरीर भूमिके समान आश्रय है। प्राणसे संबद्ध इन्द्रियाँ शरीराधिष्ठानके बिना उपलब्धिकी साधन नहीं होतीं, किन्तु शरीरमें ही प्राणसंबद्ध ही इन्द्रियाँ पुरुषकी उपलब्धिकी साधन होती हैं, इसलिए शरीर आधान है। वागादिके समान शरीरके एक देशमें ही प्राण नहीं रहता, किन्तु पैरसे लेकर मस्तक-पर्य्यन्त प्राणकी स्थिति रहती है। इसमें प्रमाण यही है कि जिस भागमें प्राणका संचार नहीं होता। वह शरीरभाग सूख जाता है और उसके द्वारा उपलब्धि भी नहीं होती, इस तात्पर्यसे कहते हैं कि सामान्यवृत्तिसे शरीरको व्याप्तकर सतत शरीरमात्रमें व्यापार कराता रहता है अर्थात् स्पन्दनरूप सामान्यवृत्तिसे प्राण शरीरको जीवित रखता है ॥ ७ ॥

प्रत्याधानं शिरो ज्ञेयं प्रतिच्छिद्रं व्यवस्थितः ।
प्रसारयति नेत्रादीन् प्राणो मूर्ध्नि विशेषतः ॥ ८ ॥
प्राणस्य बन्धनस्तम्भः शारीरं बलमिष्यते ।
दौर्बल्ये सति देहस्य प्राणोत्क्रान्तिर्हि दृश्यते ॥ ९ ॥

'प्रत्याधानम्' इत्यादि। सिरको प्राणका प्रत्याधान जानना चाहिए, कारण कि वह सिरके प्रदेशविशेषोंमें—श्रोत्र, अक्षि, नासिका इत्यादि अवयवविशेषोंमें—व्यवस्थित होकर नेत्रादि इन्द्रियोंको अपने अपने विषयोंमें प्रवृत्त कराता है। यद्यपि प्राण पैरसे लेकर सिर तक सम्पूर्ण शरीरावयवोंमें रहता है, यह पूर्वमें कह चुके हैं, तथापि उनमें सामान्यरूपसे रहता है और यहांपर विशेषरूपसे रहता है। प्राणाधीन ही इन्द्रियोंकी गति होती है।

शङ्का—इन्द्रियोंका प्रवर्त्तक तो मन माना गया है, प्राणको उनका प्रवर्त्तक कैसे कहते हो ?

समाधान—तात्पर्य यह है कि प्राण ही इन्द्रियोंमें बल देता है। प्राण प्रबल रहता है, तो इन्द्रियाँ बलवती रहती हैं, अन्यथा वे भी क्षीण हो जाती हैं, अतएव रुग्ण प्राणियोंकी इन्द्रियाँ भी कमजोर हो जाती हैं। मनकी प्रेरणासे निर्बल इन्द्रियाँ अपने विषयका ग्रहण नहीं कर सकतीं, इसलिए प्राण इन्द्रियोंका प्रसारक कहा गया है, प्रेरक नहीं। मूर्द्धस्थित प्राण ही विशेषरूपसे इन्द्रियोंका प्रसारक है॥ ८ ॥

'प्राणस्य' इत्यादि। शरीरका जो बल है, वही प्राणके बन्धनके लिए स्तम्भ है। जब शरीर अति दुर्बल हो जाता है, तब प्राणकी उत्क्रान्ति अर्थात् निष्क्रमण हो जाता है। इसलिए डाक्टर दुर्बल शरीरमें बल पहुँचानेके लिए विशेषरूपसे यत्न करते हैं। श्रुतिमें 'प्राणः स्थूणा' कहा है। यहाँपर प्राणशब्दका बल अर्थ है, क्योंकि प्राणका ही कार्य बल है, इसलिए कार्यमें कारणका गौण प्रयोग है। किन्तु भाष्यकारने लिखा है कि 'स्थूणा अन्नपानजनिता शक्तिः प्राणोबलमिति पर्य्यायाः'। भर्तृप्रपञ्चके मतमें 'उच्छ्वासनिःश्वासकर्मा वायुः शारीरः' यों शरीरपक्षपाती प्राण यहाँ कहा गया है। इसी शारीर वायुसे करणदेवतालिङ्गपक्षपाती शिशु प्राण लिया जाता है। वही प्राण इस बाह्य प्राणमें बँधा है। इस पक्षका 'अन्नं हि भुक्तं त्रेधा परिणमते' इत्यादिसे भाष्यकारने उपपादन किया है—वही कहते हैं॥ ९ ॥

बन्धनायाऽस्य दामान्नं वत्सबन्धनरज्जुवत् ।
अन्नो त्रेधा विभिन्नोऽस्मिन्भागाभ्यां बध्यते द्वयम्॥ १० ॥
स्थूलभागः पुरीषं स्यान्मध्यमो देहपोषकः ।
प्राणं तर्पयते सूक्ष्म इति बद्धं वपुर्द्वयम् ॥ ११ ॥
एवं विवेचितं प्राणं य उपास्ते रुणद्धि सः ।
भ्रातृव्यान्द्विषतः सप्त मूर्द्धिन छिद्रव्यवस्थितान् ॥ १२ ॥

'बन्धनायाऽस्य' इत्यादि । जैसे बछड़ेको बांधनेके लिए रस्सी होती है, वैसे ही इस शिशु प्राणको बांधनेके लिए अन्न दाम (रस्सी) है । पीत और भुक्त अन्नादि तीन राशियोंमें विभक्त होता है—एक स्थूल, दूसरा मध्यम, और तीसरा सूक्ष्म । जो स्थूल अंश होता है, वह मूत्र और पुरीषके रूपसे बाहर निकल जाता है, जो मध्यम अंश होता है, वह रस, रुधिर आदि क्रमसे अपने कार्य साप्तधातुक शरीरका वर्द्धक होता है ।

शङ्का—सात धातु कौन हैं ?

समाधान—त्वग्, असृक्, मांस, मेदा, मज्जा, अस्थि, शुक्र—इन्हीं सात धातुओंसे बने शरीरको साप्तधातुक कहते हैं । यह अन्वयव्यतिरेकसिद्ध है कि अपने भोगयोग्य अन्नके सेवनसे शरीर मोटा होता है और इस प्रकारके अन्नके अभावसे शरीर क्षीण हो जाता है । जो सूक्ष्मरस होता है, जिसको अमृत, ऊर्क् और प्रभाव कहते हैं । वह नाभीसे ऊपर हृदयदेशमें आकर हृदयमें फैली हुई जो बहत्तर हजार नाड़ियाँ हैं, उनमें प्रविष्ट होकर जो करणसंघातरूप लिङ्ग शिशुसंज्ञक है, उसकी शरीरमें स्थितिका कारण होता है । इसलिए अन्न स्थूणाख्य बलको उत्पन्न करता हुआ शरीर और प्राण दोनोंका बन्धन है । रस्सी जैसे वत्सको कीलमें और कीलको वत्समें बांधती है, वैसे ही अन्न प्राणको शरीरमें और शरीरको प्राणमें बाँधता है अर्थात् अन्न शरीर और प्राण दोनोंके बन्धनका कारण है ॥ १० ॥

'स्थूलभाग०' इत्यादि । स्थूलभाग पुरीष होता है, मध्यम भाग देहका पोषक है और सूक्ष्म भाग प्राणका तर्पक याने तृप्तिका कारण है । इसलिए लिङ्ग शरीर और स्थूल शरीर—ये दोनों शरीर अन्नसे बद्ध हैं । इसका निरूपण पूर्व श्लोकमें विशेषरूपसे कर चुके हैं, अतः संक्षेपसे कहा ॥ ११ ॥

'एवम्' इत्यादि । इस प्रकारसे विवेचित—परिचित—याने निश्चितस्वरूप

भ्रातृव्याः स्युः सहोत्पत्तेः शब्दाद्यासङ्गवृत्तयः ।
द्विषन्ति च मुमुक्षुं ताः प्रत्यग्दृष्ट्यपहारतः ॥ १३ ॥
सेवन्तेऽक्षिस्थितं प्राणं सप्त रुद्रादिदेवताः ।
अक्षीणा इत्युपास्ते यः सोऽन्नाक्षयमुपाश्नुते ॥ १४ ॥

प्राणकी जो पुरुष उपासना करता है, [यहाँ श्रुतिस्थ वेदशब्दका उपासना अर्थ है ।] वह उपासक सातों शत्रुओंको रोक सकता है याने नष्ट कर सकता है, यह भाष्यसंमत अर्थ है, यही उचित भी है । 'द्विषन्तः' इस विशेषणसे उन सातों भ्रातृव्योंमें शत्रुत्वकी प्रतीति होती है । शत्रुओंका नाश करना ही उचित है, जो कि सातों सिरके छिद्रविशेषोंमें व्यवस्थित हैं । सिरके सात छिद्र पूर्वमें कहे जा चुके हैं । भ्रातृव्यशब्दके दो अर्थ होते हैं—एक भाईका अपत्य—लड़का । यह 'भ्रातुर्व्यच्च' इस पाणिनीय सूत्रसे 'भ्रातुरपत्यम्' इस विग्रहमें भ्रातृशब्दसे व्यत्प्रत्यय करनेसे सिद्ध होता है । दूसरा शत्रु यह 'व्यन्सपत्ने' इस सूत्रसे शत्रु अर्थमें व्यन् प्रत्यय करनेसे सिद्ध होता है । प्रकृतमें पूर्वोक्त भ्रातृव्यशब्दका ही ग्रहण है, कारण कि शत्रु अर्थके बोधक 'द्विषत्' शब्दका पृथक् प्रयोग है । यद्यपि भ्रातृव्यशब्दका मुख्य अर्थ भाईका लड़का ही होता है, इन्द्रियाँ आत्माके भाईके लड़के नहीं हैं, तथापि सहोत्पत्तिके तात्पर्यसे उक्त शब्दका प्रयोग उक्त अर्थमें किया गया है ।

शङ्का—आत्माकी तो उत्पत्ति नहीं होती, क्योंकि वह नित्य है; फिर उक्तार्थ भी कैसे हो सकता है ?

समाधान—ठीक है, यहाँ उत्पत्तिका तात्पर्य अभिव्यक्तिमें है, उत्पत्तिके अनन्तर दोनों साथ ही ज्ञात होते हैं । भ्रातृव्य दो प्रकारके होते हैं—एक भाई, जैसे श्रीरामचन्द्रजीके श्रीभरतजी थे । दूसरोंके उदाहरणकी आवश्यकता नहीं है, क्योंकि इस युगमें सर्वत्र उपलब्ध है, इसलिए 'द्विषत्' यह विशेषण दिया गया है, जिससे कि शत्रुके नाशका बोध हो, भक्तके नाशका नहीं ।

शङ्का—अच्छा, तो वागादि इन्द्रियां शत्रु कैसे हैं ? वे तो विषयोपलब्धि-द्वारा सुखकी साधन हैं ।

समाधान—उक्त इन्द्रियां मोक्षसाधन आत्मदृष्टिको विषयोन्मुख कर देती हैं, इसीसे आत्मा सांसारिक विविध दुःखोंका अनुभव करता है, इस अर्थमें

श्रुतिः—तमेताः सप्ताक्षितय उपतिष्ठन्ते तद्या इमा अक्षन् लोहिन्यो राजयस्ताभिरेनं रुद्रोऽन्वायत्तोऽथ या अक्षन्नापस्ताभिः पर्जन्यो या कनीनिका तयाऽऽदित्यो यत्कृष्णं तेनाग्निर्यच्छुक्लं

'पराञ्चि खानि व्यतृणत्स्वयम्भूस्तस्मात्पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्' यह काठक श्रुति-प्रमाण है। अतएव मुमुक्षुओंको शत्रुके समान इन्द्रियोंपर विजय पानेके लिए शम, दम आदि साधनोंकी परमावश्यकता होती है॥ १२,१३॥

'यो ह वै शिशुम्' इत्यादिसे निर्दिष्ट शिशुशब्दार्थको स्फुटकर उत्तर ग्रन्थका तात्पर्य दिखलाते हैं—**'सेवन्तेऽ०'** इत्यादिसे।

सात रुद्र आदि देवता, जिनका स्फुट निर्देश आगे किया जायगा, नेत्र-स्थित प्राणकी सेवा करते हैं। अतएव वे अक्षिति—अक्षीण—हैं, यह जो जानता है अर्थात् प्राणकी अन्नभूत सातों इन्द्रियाँ सतत प्राणकी उपासना करती हैं, ऐसी भावनासे जो प्राणकी उपासना करता है, वह अक्षय अन्न पाता है अर्थात् उसको कभी भी अन्नकी कमी नहीं होती॥ १४॥

'तमेताः सप्ताक्षितयः' इत्यादि श्रुति। ये सात अक्षितियां सातों इन्द्रियाँ इस करणात्मक प्राणकी उपासना करती हैं।

शङ्का—'उपान्मन्त्रकरणे' भगवान् पाणिनिके इस सूत्रसे मन्त्रकरणक उपासनोरूप अर्थमें उपपूर्वक स्था धातुसे आत्मनेपद होता है, प्रकृतमें मन्त्रका निर्देश नहीं है, अतः आत्मनेपद कैसे हुआ?

समाधान—यहांपर सातों देवताओंके जो रुद्रादि नाम हैं, वे ही मन्त्र-स्थानापन्न हैं। इसलिए आत्मनेपदका प्रयोग समुचित है।

शङ्का—कौन-कौन अक्षितियां है?

समाधान—जो आंखमें लाल रेखाकी धारियाँ हैं, उन्हींके द्वारा रुद्र देवता मध्यम प्राणकी उपासना करते हैं और जो आँखमें जल है—धूमादिके संयोगवश आँखसे जलात्मक अश्रु गिरता है, इसलिए आँखमें जल रहता है, यह निश्चित है—उसके द्वारा पर्जन्य देवता नेत्रमें स्थित होकर प्राणकी उपासना करता है। वही अन्न होकर प्राणका अक्षिति कहलाता है। समयपर आवश्यकतानुसार जलके बरसनेमे प्रजावर्गको आनन्द होता है, यह लोकमें प्रसिद्ध है। जो नेत्रमें कनीनिका—काली पुतली—है, उसके द्वारा आदित्य भगवान् उक्त मध्यम प्राणकी उपासना करते हैं और जो नेत्रमें कृष्ण रूप है, उसके द्वारा अग्नि और जो शुक्ल रूप है, उसके द्वारा इन्द्र उपासना

तेनेन्द्रोऽधरयैनं वर्त्तन्या पृथिव्यन्वायत्ता द्यौरुत्तरया नास्यान्नं क्षीयते य एवं वेद ॥ २ ॥

तदेष श्लोको भवति—अर्वाग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्नस्तस्मिन्यशो निहितं विश्वरूपम् । तस्यासत ऋषयः सप्त तीरे वागष्टमी ब्रह्मणा संविदानेति । अर्वाग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्न इतीदं तच्छिर एष ह्यर्वाग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्न-

---

करते हैं और नेत्रकी नीचेकी पलकोंमें पृथ्वी स्थित होकर उक्त उपासना करती है, जैसे पलक आँखसे नीचे है, वैसे ही पृथ्वी भी नीचे है । इसलिए नीचे रहनेके कारण निचिले पलकोंमें पृथिवीका रहना ठीक ही है । और नेत्रकी ऊपरकी पलकोंमें द्यौ रहकर उक्त प्राणकी उपासना करती है, क्योंकि इन दोनोंमें ऊर्ध्वत्व समान है । ये सातों देवता अन्नभूत होकर प्राणकी सतत उपासना करते हैं । इस प्रकारकी जो प्राणोपासना करता है; उससे यह फल होता है कि उसको अन्नका घाटा नहीं रहता ॥ २ ॥

'तदेतच्छ्लोको भवति अर्वाग्बिल०' इत्यादि श्रुति । उक्त अर्थमें यह मन्त्र है । (प्रकृतमें श्लोकशब्दका मन्त्र अर्थ है) अर्वाग्बिलश्चमस' इत्यादि । चमस सोमरसके आधारभूत पात्रविशेषका नाम है, इसके समान सिर होता है । सादृश्य कहते—अर्वाग्बिल याने नीचे बिल (रन्ध्र) रहता है, जैसे चमसमें—उक्त यागके पात्रविशेषमें—नीचे छिद्र रहता है वैसे ही मुखस्वरूप छिद्र सिरके नीचे है । तथा ऊर्द्ध्वबुध्न—बुध्नका अर्थ है प्रकृतमें मूल, क्योंकि 'मूलं बुध्नोऽङ्घ्रिनामकः' ऐसा अमरकोश भी है—एवं 'बुध्नो ना मूलरुद्रयोः' यह कोशान्तर भी है ।

शङ्का—सिर मूल है, इसमें क्या प्रमाण ?

समाधान—'ऊर्द्ध्वमूलमधःशाखम्' इत्यादि भगवद्गीताका वचन ही प्रमाण है ।

शङ्का—यह वचन तो संसाररूप वृक्षका मूल परमात्मा है, इस अर्थमें प्रमाण है, शरीरका मूल सिर है, इसमें प्रमाण नहीं है ।

समाधान—नहीं, ऐसा नहीं है, किन्तु दोनों अर्थोंमें उक्त वाक्य प्रमाण है । मूल ही पूर्वाङ्ग कहलाता है, वृक्षमें जैसे मूल पूर्वाङ्ग है । वैसे शरीरमें सिर पूर्वाङ्ग है । सबसे पहले सिर ही अभिव्यक्त होता है, और प्रकृतार्थमें यह श्रुति ही स्वयं प्रमाण है । चमस भी ऊर्ध्वमूल है और सिर भी ऊर्ध्वमूल है, इसलिए सिर चमस कहा गया है । उसमें विश्वरूपनामक यश रक्खा है ।

स्तस्मिन्यशो निहितं विश्वरूपमिति, प्राणा वै यशो विश्वरूपं प्राणानेतदाह तस्यासत ऋषयः सप्त तीर इति, प्राणा वा ऋषयः प्राणानेतदाह वागष्टमी ब्रह्मणा संविदानेति वाग्घ्यष्टमी ब्रह्मणा संवित्ते ॥ ३ ॥

इमावेव गोतमभरद्वाजावयमेव गोतमोऽयं भरद्वाज इमावेव विश्वामित्र-जमदग्नी अयमेव विश्वामित्रोऽयं जमदग्निरिमावेव वसिष्ठकश्यपावयमेव वसि-

---

शङ्का—यश प्रकृतमें क्या है ?

समाधान—विश्वरूप प्राण, श्रोत्रादि और सात प्रकारसे उनमें स्थित वायु यश कहलाते हैं, क्योंकि वे ही शब्दादि-ज्ञानके हेतु हैं, उसके तीरमें सात ऋषि रहते हैं।

शङ्का—सात ऋषि कौन हैं ?

समाधान—परिस्पन्दात्मक प्राण द्वारके भेदसे सात माने जाते हैं। सो सिरके तीररूपी छिद्रोंमें रहते हैं। वाग् आठवें प्रकारकी है। ब्रह्मप्रतिपादक वर्णराशिसे (शब्दसमूहसे) संसृष्ट तादृश शब्दराशिका उच्चारण करनेवाली वाग् आठवीं ही है।

शङ्का—पूर्वमें सात प्राण हैं, ऐसा कहा, उनमें रसनेन्द्रिय भी आ गई है; फिर वह आठवीं कैसे हो सकती है ?

समाधान—भक्षणकर्तृत्व और उच्चारणकर्तृत्व—ये दो धर्म रसनेन्द्रियमें हैं, प्रथमोक्त-धर्ममात्रके तात्पर्यसे सात हैं, ऐसा कहा, और द्वितीय धर्मकी भी विवक्षा करनेसे आठवीं प्रकारकी कही गयी है। अतएव कार्यभेदका स्फुटीकरण करनेके लिए इसके दो नाम कहे गये हैं। 'रसना' नाम रसका ग्रहण करनेसे पड़ा है, और उच्यते अनया (जिससे बोला जाता हो) इस तात्पर्यसे वाक् हो जाती है ॥३॥

शङ्का—फिर कहिए, चमसरूपी सिरके तीरमें रहनेवाले वे सात ऋषि कौन-कौन हैं ?

समाधान—'**इमावेव गोतमभरद्वाजा०**' इत्यादि श्रुति।

दोनोंके नाम क्रमशः गोतम और भरद्वाज हैं। दक्षिण कर्ण गोतम है और वाम कर्ण भरद्वाज है, इस क्रममें प्रमाण नहीं है, इसलिए विपरीत भी हो सकता है, इस तात्पर्यसे श्रुतिमें समस्तासमस्तभेदसे दो बार नाम लिया गया है। चक्षुके तात्पर्यसे विश्वामित्र और जमदग्नि कहे गये हैं। दक्षिण चक्षु विश्वामित्र है और वाम चक्षु जमदग्नि है अथवा पूर्वके समान यहाँपर भी विपरीत क्रम समझना चाहिए। नासिकाके तात्पर्यसे 'इमावेव वसिष्ठकश्यपौ' यह निर्देश है।

ष्ठोऽयं कश्यपो वागेवात्रिर्वाचा ह्यन्नमद्यतेऽत्तिर्ह वै नामैतद्यदत्रिरिति सर्व-स्यात्ता भवति सर्वमस्यान्नं भवति य एवं वेद ॥ ४ ॥

इत्युपनिषदि चतुर्थाध्याये द्वितीयं ब्राह्मणं समाप्तम् ॥ २ ॥

कर्णादिसप्तच्छिद्रेषु गौतमाद्यृषिनामकाः ।
स्थिताः प्राणा इति ध्यायेद्वाचं च ब्रह्मवादिनीम् ॥ १५ ॥
हिरण्यगर्भरूपेण सर्वभुक् स्यादुपासकः ।
इति गार्ग्यमतं ब्रह्म ब्राह्मणेऽस्मिन्प्रपञ्चितम् ॥ १६ ॥

इति वार्तिकसारे द्वितीयाध्यायस्य द्वितीयं
ब्राह्मणं समाप्तम् ॥ २ ॥

यहां भी दक्षिणोत्तर नासिकाके भेदसे वसिष्ठ और कश्यपका कथन है और पूर्ववत् विपरीत भी हो सकता है, इसी तात्पर्यसे असमस्त पदसे भी दोनोंका निर्देश किया गया है। वाक् सप्तम अत्रि है। अदनक्रियाके (भक्षणक्रियाके) योगसे उसका 'अत्रि' नाम पड़ा है। अत्रिका परोक्ष नाम अत्रि है। वाचा—वागिन्द्रियसे अन्न खाता है, इसलिए अत्रि नाम अन्वर्थक है। श्रुति उपासकका फल कहती है—सर्वस्यात्ता। उपासकका सभी अन्न होता है और वह सबका अत्ता होता है अर्थात् उपासकका जो भोज्य है वह उपासकके प्रति भोक्ता नहीं है, किन्तु भोग्य है, यह परम तात्पर्य है ॥ ४ ॥

'कर्णादि०' इत्यादि।

कर्ण आदि सात छिद्रोंमें दो कान, दो नेत्र, दो नासिकाएँ—ये छः और एक मुख, यों सात छिद्र हैं, उनमें उक्त गोतमादि सात ऋषि रहते हैं, वे ही प्राण हैं ऐसा ध्यान करना चाहिए। और आठ प्रकारकी ही ब्रह्मवादिनी वाणीका भी ध्यान आवश्यक है ॥ १५ ॥

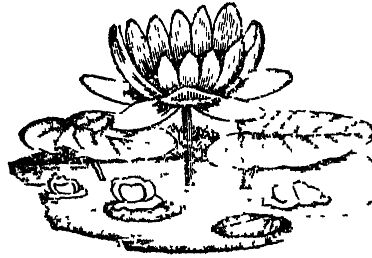
शङ्का—यद्यपि उपासक मनुष्य है, अतः अपने अधिकार और सामर्थ्यके अनुसार सब वस्तुओंका भोक्ता नहीं हो सकता, इसलिए सबमें भोग्यत्वका चिन्तन करना भी अनुचित ही है।

समाधान—ठीक है, इसीलिए कहा जाता है कि **'हिरण्यगर्भ०'** इत्यादि।

उपासक अपनेमें हिरण्यगर्भ जो उपास्य है, उसके स्वरूपका अनुचिन्तन कर

अर्थात् 'मैं हिरण्यगर्भ हूँ' ऐसा ध्यानकर तद्रूपसे उक्त ध्यान कर सकता है। हिरण्य-गर्भ सब जीवोंकी समष्टि है, किसी जीवका कोई भी भोज्य है ही, अतः उक्त ध्यान समुचित ही है। आधे श्लोकसे उपासकमें सर्वभोक्तृत्व फलका समर्थन-कर उत्तरार्द्धसे उक्त ब्राह्मणके अर्थका उपसंहार करते हैं—'इति' आदिसे। गार्ग्यको जो ब्रह्म अभिमत था अर्थात् जैसा वे ब्रह्मको मानते थे, वैसा ही इस श्रुतिमें निरूपण किया गया है, परन्तु यह मत राजाको मान्य नहीं है, सो आगे ब्राह्मणसे स्फुट होगा।

इति द्वितीयाध्याये द्वितीयं ब्राह्मणम्।



अथ तृतीयं ब्राह्मणम्

गार्ग्योक्तं ब्रह्म विस्तृत्य तन्निरासाय साम्प्रतम् ।
तृतीयब्राह्मणे प्राह राज्ञोक्तं ब्रह्म विस्तृतम् ॥ १ ॥

तृतीय ब्राह्मण

'गार्ग्योक्तम्' इत्यादि । गार्ग्योक्त ब्रह्मका विस्तारसे निरूपण कर उसके मतका निराकरण करनेके लिए सम्प्रति तृतीय ब्राह्मणमें राजा अजातशत्रु द्वारा उक्त विस्तृत ब्रह्मको कहते हैं—

शङ्का—इस कथनका प्रकृतमें क्या प्रयोजन है ?

समाधान—प्रतिपादयिताके लिए संबद्ध अर्थका प्रतिपादन इसलिए अत्यावश्यक है कि प्रकृत अर्थका श्रवण करनेके लिए श्रोताकी साभिलाष प्रवृत्ति हो । यह तभी हो सकता है, जब अजिज्ञासित अर्थका अभिधान न हो । अन्यथा अभिधीयमान अर्थमें विनेयकी (शिष्यकी) श्रद्धा, विश्वास आदि पूर्वक श्रवणमें प्रवृत्ति आदि नहीं होते, प्रत्युत वक्ताके उपदेशमें अनवधानादि दोष मानकर श्रवण आदिसे उपरत हो जाता है। इसलिए वक्ताका यह परम कर्तव्य है कि समय-समयपर उक्त आशङ्काके निरासार्थ पूर्वोत्तर वाक्योंका संबन्ध पहले कह देना चाहिए । अध्याय, पाद आदिमें तो यह अवश्य ही स्मरण कराना चाहिए कि उक्त अर्थकी वक्ष्यमाण अर्थसे यह सङ्गति है । अतः गार्ग्योक्त ब्राह्मणकी राजोक्त ब्राह्मणके साथ सङ्गति इस श्लोकसे स्फुट की गई है ? जो श्रोताकी बुद्धिके समवधानके लिए अत्यावश्यक है । अतएव भाष्यकारने 'प्राणा वै सत्यम्' इत्यादि वाक्यसे उक्त संगति स्फुट की है।

शङ्का—अच्छा, तो प्रकृतमें कौन-सी संगति सिद्ध हुई ?

समाधान—ब्रह्मोपनिषत्के प्रसंगसे प्राणोपनिषत्का व्याख्यान किया गया, जिससे विशिष्ट नाम-उपासनाकी व्याख्या हुई और प्राण कौन है ? और कितने हैं ? इस शङ्काकी भी उक्त व्याख्यान द्वारा निवृत्ति की गई है अर्थात् यद्यपि व्यष्टिरूपसे प्राण अनन्त हैं, अतः उनकी गणना असंभव है, तथापि श्रोत्रादि-स्थानवश सात और शब्दादि कार्योपाधिसे आठ प्राण पूर्वमें कह चुके हैं। ऋषि द्वारा उनका विशेषरूपसे सभी प्रकारसे परिचय कराया गया और वे सत्य हैं, ऐसा भी कहा

गया है। इसमें यह सन्देह होता है कि प्राण सत्य कैसे कहे जाते हैं ? इसको समझानेके लिए उत्तर ब्राह्मणका आरम्भ होता है।

शङ्का—'सत्या वै प्राणास्तेषामेष सत्यम्' इस श्रुति-वाक्यसे प्राणमें सत्यत्व दूसरा है, यह स्फुट प्रतीत होता है, कारण कि 'सत्यस्य सत्यम्' (सत्यका भी सत्य) इसमें पहलेके षष्ठ्यन्त सत्यसे द्वितीय सत्य भिन्न होना ही चाहिए, इसलिए परम सत्य तो आत्मा ही है। दूसरा सत्य प्राण कैसे है ? इसका अवधारण करनेके लिए षष्ठ्यन्त सत्यशब्दसे कथित कार्य शरीर, करण इन्द्रियादि और तदात्मक पांच भूतोंमें सत्यत्वके अवधारणके लिए तृतीय अध्यायका आरम्भ है।

शङ्का—तृतीय अध्याय ब्रह्मस्वरूपके निरूपणके लिए है ? या प्राणसत्यत्वके निरूपणके लिए है ? प्रथम पक्षमें 'द्वे वाव' इत्यादि वाक्य व्यर्थ है, क्योंकि इसके द्वारा ब्रह्मका निरूपण नहीं किया गया है, किन्तु 'अथात आदेशो नेति नेति' इससे ही ब्रह्मका निरूपण है। द्वितीय पक्षमें ब्रह्मस्वरूपका निरूपण ही नहीं करना चाहिए, प्रत्युत प्राणके सत्यत्वका निरूपण ही आदिसे अन्ततक करना चाहिए, क्योंकि यही अध्यायका उद्देश्य माना गया है।

समाधान—'सत्यस्य सत्यम्' इस उपनिषत्-वाक्यसे प्राण और ब्रह्म—ये दोनों सत्यशब्दसे कहे गये हैं, दोनोंमें एक-सा सत्यत्व नहीं हो सकता, यह कहना भी ठीक ही है। सत्यस्वरूप ब्रह्मका ही निरूपण करना प्रकृत अध्यायका विषय है, जिसका निरूपण 'अथात' इत्यादिसे होता है, यह भी कहना ठीक है। अब शङ्का यह रही कि ऐसी परिस्थितिमें 'द्वे वाव' इत्यादिसे प्रकृत अध्यायका आरम्भ क्यों हुआ ? इसका उत्तर यह है कि त्याग अथवा उपादान अज्ञात पदार्थका नहीं हो सकता, इसलिए किसी पदार्थका निरूपण त्यागके लिए किया जाता है और किसीका उपादानके लिए। प्रकृतमें उपाधिरहित ब्रह्म ज्ञेयत्वरूपसे अभीष्ट है, इसलिए अविद्यासे आरोपित उपाधियोंके स्वरूपका जबतक निर्णय नहीं कराया जायगा, तब तक उनके त्यागकी शिक्षा देना व्यर्थ है, इसलिए उपाधियोंके स्वरूपका परिचय करानेके लिए 'द्वे वाव' इत्यादि श्रुतियां आवश्यक हैं।

और यह भी शङ्का हो सकती है कि प्राण चेतन है अथवा अचेतन ? द्वितीय पक्षमें कारणात्मा है अथवा विकारात्मा ? प्रथम पक्षके प्रथम पक्षका तो सम्भव नहीं है, क्योंकि प्राण अनात्म-पदार्थोंमें परिगणित है, द्वितीय पक्ष भी ठीक नहीं है, क्योंकि 'एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च' इत्यादि श्रुतियोंसे

प्रथमब्राह्मणे राजा ब्रह्म यद्यप्यशेषतः ।
उवाचाऽथाऽपि सत्यस्य सत्यता नहि विस्तृता ॥ २ ॥
सत्यसत्यत्वविस्तारमुखेन प्रतिपाद्यते ।
निष्प्रपञ्चब्रह्मतत्त्वं तृतीयब्राह्मणे स्फुटम् ॥ ३ ॥

श्रुतिः । द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्त्तं चैवामूर्त्तं च मर्त्यं चामृतं च स्थितं च यच्च सच्च त्यच्च ॥ १ ॥

द्वे एव ब्रह्मणो रूपे प्रपञ्चत्वमुपागते ।
मूर्त्तामूर्त्तात्मके याभ्यामरूपं ब्रह्म रूप्यते ॥ ४ ॥

विकारात्मना उपदिष्ट हुआ है । 'वाचारम्भणं विकारो नामधेयम्' इत्यादि श्रुतियोंसे पारमार्थिक सत्यता प्राणमें सिद्ध नहीं हो सकती, इत्यादि शङ्काओंका निराकरण करनेके लिए तृतीय ब्राह्मणका कुछ अंश है । 'अथात' इत्यादि अंश परब्रह्मके स्वरूपका निरूपण करनेके लिए है । प्रश्न तो प्राणस्वरूप और उसके सत्यत्वका ही है, अतः अग्रिम श्रुतिसे उसका निरूपण होना चाहिए, परन्तु निरूपण किया गया है पांच भूतोंका । सो क्यों ?

समाधान—यहां सत्यशब्दका अर्थ कार्य शरीर और करण इन्द्रियां हैं और ये पञ्चभूतात्मक हैं, इसलिए पांच भूतोंका निरूपण प्राणके निरूपणके तात्पर्य्यसे ही है ॥ १ ॥

'प्रथम०' इत्यादि । द्वितीय अध्यायके प्रथम ब्राह्मणमें राजा अजातशत्रुने अशेषतः ब्रह्मके स्वरूपका निरूपण किया है, फिर भी 'सत्यस्य सत्यम्' इतना ही सत्यताके विषयमें कहा, इतनेसे यह नहीं जाना जा सकता कि प्राण कैसे सत्य है और उसका भी सत्य ब्रह्म कैसे है ? इसलिए इस विषयमें विशेष निरूपणकी आकाङ्क्षा है, उसकी निवृत्तिके लिए उत्तर ब्राह्मणके कुछ अंशका आरम्भ है ॥ २ ॥

'सत्यसत्यत्व०' इत्यादि । सत्यका जो सत्य है, उसके विस्तृत निरूपण द्वारा निष्प्रपञ्च—प्रपञ्चाभावोपलक्षित—ब्रह्मतत्त्वके स्वरूपका निरूपण तृतीय ब्राह्मणमें किया जाता है ॥ ३ ॥

'द्वे एव' इत्यादि । मूर्त और अमूर्त—ये ही दो ब्रह्मके रूप हैं, प्रपञ्चात्मक होनेसे ये प्रपञ्च भी माने जाते हैं । ब्रह्म यद्यपि 'अरूपमस्पर्शम्', 'क इत्था वेद यत्र सः', 'अविज्ञातं विजानताम्', 'यतो वाचो निवर्त्तन्तेऽप्राप्य मनसा

मूर्त्तामूर्त्तप्रपञ्चश्च वासना चेति वा द्वयम् ।
सवासनमिदं ज्ञानमिदं चेति वा द्वयम् ॥ ५ ॥
सन्निवेशो नेत्रदृश्यो यस्य तन्मूर्त्तमुच्यते ।
क्षित्यम्ब्वग्नित्रयं मूर्त्तममूर्तं त्वितरद् द्वयम् ॥ ६ ॥

सह', 'अगृह्यो नहि गृह्यते' इत्यादि श्रुतियोंके अनुसार अरूप माना गया है, तथापि व्यवहारदशामें अविद्यासे आरोपित शरीर, इन्द्रिय आदि आत्मामें प्रतीत होते हैं, अतः 'रूप्यते बोध्यते याभ्यां ते रूपे मूर्त्तामूर्त्ते' अर्थात् जिनसे ज्ञात होता है, वे दो रूप मूर्त और अमूर्त हैं, इस व्युत्पत्तिसे ब्रह्म सरूप कहा गया है ॥४॥

शङ्का—मूर्त्तामूर्त्तमय तो स्थूल शरीर आदि हैं, इससे कारणभूत सूक्ष्म शरीरका संग्रह नहीं हुआ और वह भी उपाधि है, इसलिए दूसरा अर्थ कहते हैं— **'मूर्त्तामूर्त्त०'** इत्यादिसे ।

मूर्त्तामूर्त्त—स्थूल-सूक्ष्म पृथिव्यादि भूत और वासनाएँ ये दो रूप ब्रह्मके विविक्षित हैं, अथवा वासनासहित जड़ और अजड़ । 'इदम्'से प्रथम और अनिदंसे अजड़ विवक्षित है । अन्तिम अर्थ भाष्यसम्मत है । भाष्यकारने यह कहा है कि पृथिवी आदि पांच भूतोंसे जन्य शरीर, इन्द्रिय आदिसे संबद्ध मूर्त्तामूर्त्तनामक वासनासे सहित सर्वज्ञ और सर्वशक्तिसे समन्वित ब्रह्मका एक रूप है, यही सोपाख्य कहा जाता है और सोपाख्य ही सकल व्यवहारका विषय है तथा कारणत्व, ज्ञातृत्व, प्रमाण-प्रमेयत्व, अधिष्टातृ देवतात्व, अधिष्ठेय इन्द्रियादिमत्त्व, अन्तर्यामित्व, साक्षित्व, असर्वज्ञत्व इत्यादि सकल धर्म व्यवहारमें जो अप्रमेय ब्रह्ममें अविद्यासद्भावदशामें प्रतीत होते हैं, वे सब सोपाख्य ब्रह्मके ही धर्म माने जाते हैं, ब्रह्मज्ञानके उत्पन्न होनेपर उक्त सब धर्मोंके साथ अविद्या भी निवृत्त हो जाती है, तब 'यतो वाचो निवर्तन्ते' इत्यादि श्रुतिके अनुसार ब्रह्म सकलधर्मातीत शुद्ध माना जाता है और उसीके ज्ञानसे मोक्ष होता है, जिसका विशेष निरूपण आगे किया जायगा ॥५॥

'सन्निवेशो' इत्यादि । जिनके अवयवसन्निवेश (अवयवोंकी गठन) चाक्षुप—प्रत्यक्ष—होते हैं, वे मूर्त कहे जाते हैं । इसमें उदाहरण है - पृथिवी, जल और तेज । इन तीन पदार्थोंके स्वरूपका नेत्रसे प्रत्यक्ष होता है, इसलिए ये तीनों मूर्त्त कहे जाते हैं । भाव यह है कि वेदान्तमें पाँच भूतोंका दो श्रेणियोंमें विभाग किया गया है—पृथिवी, जल और तेज ये तीन मूर्त एवं वायु और आकाश

मूर्त्तामूर्त्तस्वभावत्वमशेषजगतीक्षितुम् ।
आविष्कृतस्तत्स्वभावो मर्त्यत्वादिविशेषणैः ॥ ७ ॥

ये दो अमूर्त कहे जाते हैं। मूर्तका लक्षण चाक्षुषत्व है, उक्त तीनोंमें उद्भूत रूप है, इसलिए वे चाक्षुष हैं।

शङ्का—पृथिवी आदि तीनोंके परमाणुओंमें उद्भूत रूप न होनेसे उनमें मूर्तलक्षणकी अव्याप्ति होगी।

समाधान—वेदान्तमतमें वैशेषिकाभिमत परमाणु नहीं माने जाते, प्रत्युत वेदान्तसूत्रसे परमाणुवादका पूर्ण निराकरण किया गया है। इसलिए यह दोष नहीं हो सकता।

अब अमूर्त कहते हैं—इतर दो अर्थात् पृथिवी आदि तीनोंसे भिन्न वायु और आकाश अमूर्त हैं। यद्यपि वैशेषिकमतानुयायी लोग मूर्तका लक्षण अपकृष्टपरिमाण-वत्त्व आदि करके पृथिवी, जल, तेज, वायु और मन—इन पाँचोंकोमूर्त मानते हैं, तथापि यह सिद्धान्त वेदविरुद्ध होनेसे वेदान्तियोंको मान्य नहीं है ॥ ६ ॥

'मूर्तामूर्त०' इत्यादि।

शङ्का—ब्रह्मके मूर्त और अमूर्त ये ही दो रूप हैं, यदि यही अर्थ अभिमत है, तो अग्रिम मर्त्य, स्थित आदि विशेषण व्यर्थ होंगे। यदि वे भी विवक्षित हैं, तो 'दो ही' यह अवधारण अयुक्त है।

समाधान—वक्ष्यमाण विशेषण उक्त विशेषमें ही अन्तर्भूत हो जाते हैं, इसलिए अवधारण युक्त है।

शङ्का—विशेषण प्रधानभूत विशेष्यके अनुयायी होते हैं। यदि प्रधानके साथ संबन्धमें कोई बाधक हो, तो कथंचित् विशेषणोंमें भी संबन्ध हो सकता है, अन्यथा प्रधान विशेष्यके साथ ही सकल विशेषणोंका संबन्ध होता है, अतएव 'अरुणया पिङ्गाक्ष्या एकहायन्या' इत्यादिका प्रधानभूत क्रयणक्रियामें ही अन्वय माना जाता है। उन दोनोंका मिथः संबन्ध पीछे हो जाता है, जिससे विशिष्टार्थका ही ग्रहण होता है। एवं प्रकृतमें अविद्यावत्परब्रह्म विशेष्य है, उसके अधीन निखिल विशे-षणोंका अन्वय हो सकता है, तो फिर 'नहि भिक्षुको भिक्षुकान्तरं याचते सति अभिक्षुके' (जब तक अभिक्षुककी सम्भावना हो तबतक भिक्षुक भिक्षुकसे याचना नहीं करता) इस न्यायके विरुद्ध विशेषणोंकी परस्पर संगति क्यों मानते हो?

मूर्त्तं स्थूलवपुर्मर्त्यं सूक्ष्मात्क्षिप्रं विनाशतः ।
अमूर्त्तं सूक्ष्ममममृतमामोक्षमविनाशतः ॥ ८ ॥

समाधान—विशेषणका अन्वय मानोगे, तो शुद्धत्वका ही व्याघात हो जायगा, शुद्ध तो सर्वथा असङ्ग अतएव उदासीन है। यदि विशिष्टमें अन्वय मानोगे, तो विशेषणान्वयके बिना विशिष्टमें अन्वय हो ही नहीं सकता, इसलिए उक्त विशेषणमें ही वक्ष्यमाण विशेषणोंका अन्वय इष्ट है।

शङ्का—उक्त रूप और रूपी (ब्रह्म) इनमें भेद मानते हो या नहीं? यदि भेद मानते हो, तो अद्वैतकी हानि होगी, यदि भेद नहीं मानते हो, तो विशेष्यविशेषणभावकी अनुपपत्ति ही दोष है।

समाधान—कल्पित सर्पका अज्ञात रज्जूरूप अधिष्ठानके साथ जैसे वास्तविक भेद या अभेद नहीं है, क्योंकि कल्पित पदार्थ अकल्पित धर्मीका धर्म हो नहीं सकता, वैसे एवं प्रकृतमें कल्पित मूर्तत्व आदि वस्तु ही नहीं हैं, तो उनके साथ वास्तविक भेदाभेदका विचार ही व्यर्थ है, किन्तु ब्रह्मभेदके निरासके द्वारा वे भी केवल ब्रह्म ही हैं, यह 'तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः' इस अधिकरणमें स्पष्ट है। प्रकृतमें वक्ष्यमाण मर्त्यादि विशेषण ब्रह्मके उक्त दो रूपोंमें ही अन्तर्भूत होते हैं, यह आगे व्यक्त किया जायगा, इस तात्पर्यसे कहते हैं—सम्पूर्ण जगत्में मूर्तामूर्तस्वभाव जाननेके लिए वक्ष्यमाण मर्त्यत्वादि विशेषण द्वारा स्वस्वभावका प्रकाश कराया गया है अर्थात् निखिल भूत-भौतिक प्रपञ्चमात्र मूर्तादिस्वभाव है ॥ ७ ॥

'मूर्तं स्थूल०' इत्यादि। मूर्तामूर्त स्थूल-सूक्ष्म शरीरमें मर्त्यत्व-अमृतत्वका क्रमशः उपपादन करते हैं, मूर्त जो स्थूल शरीर है, वह मर्त्य है।

शङ्का—सूक्ष्म शरीर भी तो मर्त्य ही है, फिर स्थूल शरीरमें ही मर्त्यत्व कहनेका क्या अभिप्राय है?

समाधान—अभिप्राय यह है कि स्थूल शरीर सूक्ष्म शरीरकी अपेक्षा शीघ्र विनाशी है और सूक्ष्म शरीर अमृत—अविनाशी है, मोक्षकालतक स्थायी रहता है। अमृतत्व भी मर्त्यत्वके समान ही आपेक्षिक है। सूक्ष्म शरीरकी अपेक्षा स्थूल शरीर मर्त्य है और स्थूल शरीरकी अपेक्षा सूक्ष्म शरीर मोक्षकालतक रहनेसे अमृत कहा गया है, वस्तुतः दोनों शरीर मर्त्य ही हैं। यह व्यवस्था आध्यात्मिक और आधिदैविक दोनों स्थूल-सूक्ष्म शरीरोंके लिए समान है ॥ ८ ॥

पाञ्चभौतिकता तुल्या यद्यपि स्थूलसूक्ष्मयोः ।
तथाऽप्यत्र विशेषोऽस्ति प्रधानगुणभावतः ॥ ९ ॥
स्थूलस्य मूर्त्तप्राधान्याच्चक्षुषा तद्विलोक्यते ।
अमूर्त्तस्य प्रधानत्वात् सूक्ष्मं नैव विलोक्यते ॥ १० ॥
पाञ्चभौतिकयोः स्थूलसूक्ष्मयोर्मर्त्यतामृते ।
यथा तद्वत्परिच्छेदव्यापित्वे च विशेषणैः ॥ ११ ॥
सदिति त्यदिति प्रोक्ते प्रत्यक्षत्वपरोक्षते ।
मूर्त्तामूर्त्ते च तादृक्त्वाद्रूपे द्वे सत्यनामनी ॥ १२ ॥

'पाञ्चभौतिकता' इत्यादि ।

शङ्का—स्थूल और सूक्ष्म—इन दोनों शरीरोंके पाञ्चभौतिक होनेसे इनमें चाक्षुषत्वादिरूप मूर्तत्वादिकी व्यवस्था कैसे बन सकती है ?

समाधान—पाञ्चभौतिकत्व दोनोंमें समान है, यह कहना ठीक है, परन्तु मूर्त शरीर मूर्तप्रधान है, क्योंकि उसका चाक्षुष प्रत्यक्ष होता है और सूक्ष्म शरीर वायु-आकाशप्रधान है, वायु और आकाशका चाक्षुष प्रत्यक्ष नहीं होता, इसलिए वह अमूर्त माना जाता है, उक्तार्थको अग्रिम श्लोकसे भी स्फुट करेंगे ॥ ९ ॥

'स्थूलस्य' इत्यादि । स्थूल शरीर मूर्तप्रधान है, इस कारण उसका चाक्षुष प्रत्यक्ष होता है । सूक्ष्म शरीर अमूर्तप्रधान है, इसलिए वह चाक्षुष प्रत्यक्षका विषय नहीं होता ॥ १० ॥

स्थित और यत्—इन दो पदोंका अर्थ कहते हुए ये दोनों मर्त्य और अमर्त्यके सदृश मूर्त और अमूर्तमें विशेषण हैं ऐसा कहते हैं—**'पाञ्चभौतिकयोः'** इत्यादिसे ।

गति पूर्वक अव्याप्य आश्रित स्थितशब्दका भाष्यानुसारी अर्थ है । उसीका फलितार्थ प्रकृतमें परिच्छिन्नरूप अर्थ मूलकारने किया है, उससे विपरीत व्यापक 'त्यत्' शब्दका अर्थ है, इसका वार्तिककारने अर्थ किया है—'एत्येव न तिष्ठति' अर्थात् चलता ही रहता है, स्थिर नहीं रहता । पर आकाशका यह धर्म नहीं है, इसलिए संभव है कि वार्तिककारने व्यापकमात्र ही अर्थ किया हो । भूतत्रयसे वायु दशांश अधिक होनेसे उसकी अपेक्षा व्यापक है और आकाश तो न्यायादिमतमें व्यापक माना ही गया है ॥ ११ ॥

'सदिति' इत्यादि । सच्च त्यच्च—इन दो पदोंका अर्थ कहते हैं—सत्का अर्थ अपरोक्षत्व, और त्यत्का अर्थ परोक्षत्व है ।

अध्यात्ममधिदैवं च यथा सत्यं व्यवस्थितम् ।
प्रसिद्धमुभयस्याऽपि स्थूलसूक्ष्मत्वमुद्वयम् ॥ १२ ॥

शङ्का—मूर्तत्वका भी अपरोक्षत्व ही अर्थ किया गया है और 'सत्' शब्दका भी यदि वही अर्थ है, तो पुनरुक्त दोष हो जायगा।

समाधान—पूर्वमें चाक्षुष अपरोक्ष मूर्तशब्दका अर्थ किया गया है, यहांपर गुणक्रियासाधारण अपरोक्षत्व कहा जाता है, इसलिए उक्त दोषकी शङ्का नहीं है। स्थूल-सूक्ष्म प्रपञ्चमात्र उक्त विशेषणविशिष्ट है, अतः सत् और त्यत्शब्दका वाच्य है, अतः उक्त रूप सत्यके नाम हैं। सारांश यह है कि मूर्त, मर्त्य, स्थित और सत्—इन चार विशेषणोंसे संयुक्त पृथिवी, जल, तेज ये तीनों भूत हैं। इन चारों विशेषणोंमें परस्पर हेतुहेतुमद्भाव विवक्षित है, मूर्तत्वहेतुक मर्त्यत्व है, मर्त्यत्वहेतुक स्थितत्व है, स्थितत्वहेतुक है—इन्द्रियग्राह्यत्व। वायु और आकाश—ये दोनों अमूर्तत्व, अमृतत्वआदि विशेषणोंसे युक्त हैं। अमूर्तसे अमर्त्य, त्यत्से अतीन्द्रिय, अतीन्द्रियसे व्यापी, व्यापीसे अमृत माने जाते हैं। 'मूर्तं विनाशि, परिच्छिन्नत्वात्, घटादिवत्', 'अमूर्तम् अविनाशि, अपरिच्छिन्नत्वात्, आकाशवत्' इत्यादि अनुमानके लिए पूर्व-पूर्वकी उत्तरोत्तरके साथ संगति है, उसे पूर्वमें स्फुट कर चुके हैं॥ १२ ॥

'अध्यात्म०' इत्यादि। किसीका यह मत है कि स्थूलशरीरावच्छिन्न आधिदैविक लिङ्गसे अतिरिक्त आध्यात्मिक लिङ्ग नहीं है, इसका निराकरण करते हुए मूलकार कहते हैं कि जैसे उक्त चार विशेषणोंसे विशिष्ट सत्य आध्यात्मिक और आधिदैविक भेदसे द्विधा व्यवस्थित है, वैसे ही आध्यात्मिक और आधिदैविक भेदसे अमूर्त भी दो प्रकारसे व्यवस्थित है, यह प्रसिद्ध है। स्थूल मूर्त और सूक्ष्म अमूर्त एतदुभयात्मक जैसे आधिदैविक सूर्यादिशरीर है, वैसे ही उक्तो-भयात्मक आध्यात्मिक शरीर भी है। सांख्यका यह जो सिद्धान्त है कि इन्द्रियां आहंकारिक होनेसे व्यापक हैं, क्योंकि अहंकार जगन्मण्डलवृत्ति होनेसे व्यापक है; इसलिए तत्कार्य इन्द्रियां भी व्यापक हैं, केवल वृत्तिलाभ (विषय-ग्रहण) शरीरके बाहर नहीं होता, इसलिए प्रादेशिक (शरीरान्तर्गत) कही जाती हैं, तन्निवर्तक ही इहलोक और परलोकमें, गति तथा आगतिका शास्त्रादिमें व्यवहार है, अतएव 'प्राणाः सर्वेऽनन्ताः' इत्यादि श्रुति भी सुसंगत होती है, सो ठीक नहीं है

श्रुतिः—तदेतन्मूर्त्तं यदन्यद्वायोश्चान्तरिक्षाच्चैतन्मर्त्यमेतत्स्थितमेतत्सत्तस्यैतस्य मूर्तस्यैतस्य मर्त्यस्यैतस्य स्थितस्यैतस्य सत एष रसो य एष तपति सतो ह्येष रसः ॥ २ ॥

कारण कि सर्वगत होनेपर गति और आगतिके बोधक आगमके मुख्यार्थका बाध हो जायगा और व्यवहित और विप्रकृष्ट वस्तुके ग्रहणकी भी आपत्ति होगी। यदि सर्वगत होनेपर भी वृत्तिका लाभ शरीरमें ही होता है, यह माना जाय, तो प्राप्ताप्राप्तविवेकन्यायसे शरीरके भीतर ही इन्द्रियां कही जा सकती हैं। अहंकार-विकारको बाह्य माननेपर भी उसे इन्द्रिय नहीं कह सकते, अतः इन्द्रियोंको अव्यापक ही मानना उचित है। व्यापकबोधक उक्त श्रुति उपासनार्थ है, स्वरूपनिर्णायक नहीं है। उपासना आरोपितरूपसे भी होती है, अतः अन्यपर वाक्यसे इन्द्रियस्वरूपका निर्णय समुचित नहीं है, उक्त संक्षिप्त अर्थका श्रुति स्वयं विभाग करती है—**'तदेतन्मूर्तम्'** इत्यादिसे।

मूर्त और अमूर्तोंमें मूर्त—परस्परमिलितावयव समुदाय—वायु और आकाशरूप अमूर्तसे अतिरिक्त है; परिशेषसे पृथिवी आदि तीन ही मूर्त मर्त्य हैं, विनाशी हैं।

शङ्का—क्यों ?

समाधान—क्योंकि वे स्थित हैं, अर्थात् परिच्छिन्न हैं, अन्य अर्थके साथ एक समयमें एक अधिकरणमें वे नहीं रह सकते, क्योंकि जिस स्थलमें जिस समयमें घट है, उस स्थलमें उसी समय अन्य घट नहीं रह सकता, यह सर्वानुभव सिद्ध है। अतएव शास्त्रकारोंका वचन है 'मूर्तयोः सहावस्थानविरोधः' अर्थात् मूर्तोंका एकाधिकरणमें एक साथ रहनेमें विरोध है। अमूर्तकी अपेक्षा मूर्तका यह असाधारण धर्म है। अमूर्त वायु और आकाश संघटितावयव नहीं हैं। इसलिए उनमें उक्त विरोध नहीं होता। स्थित होनेसे सत् है। मूर्तत्व, मर्त्यत्व, स्थितत्व और सत्त्व—इन चारों धर्मोंमें व्यभिचार अर्थात् एककी सत्तामें अपरोंका अभाव नहीं है, प्रत्युत नियमेन सद्भाव ही रहता है; इसलिए इनमें विशेष्यविशेषणभावका कामचार है—परस्परमें विशेष्यविशेषणभाव वक्ताकी इच्छापर निर्भर है, विषयस्वभावके अनुसार अन्यत्रके सदृश नियत नहीं है एवं हेतुहेतुमद्भाव भी परस्पर समुचित है। सर्वथा तीन भूत—मूर्तत्वादिचतुष्टयविशेषणसे विशिष्ट मूर्त—ब्रह्मके रूप हैं, इन चार विशेषणोंमें एकका ग्रहण करनेसे उससे भिन्न विशेषणत्रयका ग्रहण हो जाता है, क्योंकि ये चारों परस्पर अव्यभिचारित हैं, यह कह चुके हैं, इसीसे फिर

अथामूर्त्तं वायुश्चान्तरिक्षं चैतदमृतमेतद्यदेतत्त्यं तस्यैतस्यामूर्त्तस्यैतस्यामृतस्यैतस्य यत एतस्य त्यस्यैष रसो य एष एतस्मिन्मण्डले पुरुषस्त्यस्य ह्येष रस इत्यधिदैवतम् ॥ ३ ॥

श्रुतिने चारों विशेषणोंका अनुवाद कर इनमें सारभूत पदार्थका निर्णय किया है। इससे पुनः कथनके बिना भी उक्त चार विशेषणोंका उपादान सिद्ध ही था, पुनः उक्त चारोंका कथन पुनरुक्तदोषोत्पादक होनेसे व्यर्थ है, यह शङ्का भी निरस्त हो जाती है; क्योंकि उक्त चार विशेषणोंसे युक्त तीन भूतोंका कार्य सूर्यमण्डल है, एक-एकका कार्य नहीं है, इस विशेष अर्थका बोधन करनेके लिए फिर उक्त विशेषणोंका अनुवाद श्रुतिने किया है। अविशेष अर्थका अभिधान करनेवाला पुनरुक्त पुनरुक्त दोष माना जाता है। उक्त चार गुणोंसे विशिष्ट तीन भूतोंका रस—सार—सविता (सूर्य) है।

शङ्का—क्यों ?

समाधान—'यद्रोहितं तदग्नेः यच्छुक्लं रूपं तदपां यत्कृष्णं तदन्नस्य' इत्यादि श्रुतिसे रोहित, शुक्ल और कृष्ण—ये तीनों असाधारण विशेषण तीनों भूतोंके हैं, उक्त तीन रूप सूर्यसे ही विभक्त होते हैं। अतः मधुविद्यामें 'रोहिताभी रश्मिनाडीभिः शुक्लाभिः कृष्णाभिः' इत्यादि विशेषण सूर्यकी रश्मियोंमें दिये गये हैं। आधुनिक वैज्ञानिक सूर्य्य-रश्मि-तरङ्गको ही रंग मानते हैं। वेदसे भी ऐसा ही प्रतीत होता है, भूतत्रयके कार्य-वर्गोंमें सूर्य्य प्रधान है। 'य एष तपति' इसका अर्थ यह है, चूँकि भूतत्रयका सविता रस (सार) है, अतः तपति—मूर्त ही सविता संसारको प्रकाशित करते हैं। यद्यपि श्रुतिमें 'सतो ह्येष रसः' ऐसा कहा है, तथापि उक्त मूर्तत्वादि तीन गुणोंका 'सत्' शब्द उपलक्षण है; जो आधिदैविक करण है, उसे आगे कहेंगे ॥ २ ॥

'अथामूर्तम्' इत्यादि श्रुति। मूर्तके निरूपणके बाद अमूर्त पदार्थका निरूपण श्रुति करती है—जो अपरिछिन्न दो भूत हैं, वायु और अन्तरिक्ष—ये दोनों अमृत हैं, अमूर्त होनेसे अस्थित हैं, अतएव अविरुद्ध्यमान हैं, इनका किसीके साथ विरोध नहीं है, हो भी कैसे ? ये मूर्तके समान दृढावयवसंघटित नहीं हैं, एक स्थलमें अन्यके साथ रहते हैं, तथा अमृत—अविनाशी—और स्थितसे विपरीत हैं, व्यापी और अपरिच्छिन्न हैं। जिस कारणसे अमूर्त अन्यसे अविभज्यमानविशेष है,

अथाध्यात्ममिदमेव मूर्त्तं यदन्यत्प्राणाच्च यश्चायमन्तरात्मन्नाकाश एतन्मर्त्यमेतत्स्थितमेतत्सत्तस्यैतस्य मूर्त्तस्यैतस्य सत एष रसो यच्चक्षुः सतो ह्येष रसः ॥ ४ ॥

स्थूलसारतया ज्ञेये चक्षुरादित्यमण्डले ।
मूर्तमर्त्यपरिच्छिन्नप्रत्यक्षत्वविशेषिते ॥ १४ ॥
अमूर्तामृतसंव्याप्तपरोक्षत्वैस्तु संयुतम् ।
उभयत्र स्थितं लिङ्गममूर्तरस उच्यते ॥ १५ ॥
हिरण्यगर्भक्षेत्रज्ञममूर्तरसमूचिरे ।
केचिन्मेधाकर्ममुख्याद्वियद्वाय्वादिसर्जनात् ॥ १६ ॥

अतः 'त्यत्' कहलाता है । त्यत् परोक्षको कहते हैं, वह अचाक्षुष है । अमूर्त, अमृत, यत् और त्यत्—इन चार विशेषणोंसे विशिष्ट अमूर्तके रसभूत आदित्यमण्डलमें जो करणात्मक पुरुष हिरण्यगर्भ है, वही प्राण कहा जाता है । वह दो अमूर्तोंका रस है अर्थात् पूर्ववत् सार है । पुरुषसार ही अमूर्त (वायु और आकाश ये दो भूत) है । हिरण्यगर्भरूप लिङ्गके आरम्भके लिए दो भूतोंकी अभिव्यक्ति है । अव्याकृत दो भूतोंका सार हिरण्यगर्भ है । सूर्यमण्डलस्थ पुरुष जो सूर्यमण्डलके समान दृष्टिगोचर नहीं होता, वही उक्त दो भूतोंका सार है । उस पुरुष और दो भूतोंमें अमूर्तत्वादि-विशेषण-चतुष्टयवैशिष्ट्य साधर्म्य है; अतः 'त्यस्य एष रसः' ऐसा श्रुतिका उद्घोष है । अथवा सूत्रात्मा लिङ्ग शरीरके आरम्भके लिए ही तीन मूर्तोंको उपसर्जन कर दो अमूर्तोंकी सृष्टि परमात्माने की, इसलिए दो भूतोंका सार सूत्रात्मा है। जैसे मण्डल तीन मूर्तोंका सार है, इसमें हेतु मूर्तत्वादि-चतुष्टयानुवृत्ति है, वैसे ही लिङ्गात्मा दो भूतोंका सार है, इसमें उक्त अमूर्तत्वादि-विशेषणचतुष्टयानुवृत्ति हेतु है । श्रुतिमें त्यत्-ग्रहण अन्योंका उपलक्षक है, यह भाष्यकारका मत है । श्रुत्यर्थके व्याख्यानसे 'स्थूलसारतया' और 'अमूर्ता०' इत्यादि दो श्लोकोंका भी व्याख्यान हो चुका, अतः पृथक् नहीं कहते ॥ ३,४,१४,१५ ॥

स्वमतकी परिशुद्धिका ज्ञापन करनेके लिए भर्तृप्रपञ्चके मतका निर्देश करते हैं **'हिरण्यगर्भ०'** इत्यादिसे ।

उनका आशय यह है कि 'त्यस्य रसः' इत्यादि श्रुतिवाक्योंमें रसशब्द कारणके तात्पर्य्यसे प्रयुक्त हुआ है, कार्यमें कारण ही सार—तत्त्व—

नैवं मूर्त्तरसेनाऽस्य विरूपत्वप्रसङ्गतः ।
वाक्यप्रयुक्तौ तुल्यायां न युक्तार्थविरूपता ॥ १७ ॥

है, कार्य तो वाचारम्भणमात्र है । कारण चेतन ही हो सकता है, अचेतन नहीं, पुरुषशब्दका उपादान भी इस अर्थमें अनुकूल है। यद्यपि जीव भी चेतन है, तथापि सृष्टिकरणमें असमर्थ होनेके कारण वह प्रकृतमें कारणरूपसे विवक्षित नहीं है । ब्रह्म कूटस्थ और उदासीन है, इससे वह भी कारणरूपसे विवक्षित नहीं हो सकता अतः चेतन क्षेत्रज्ञ ही यहाँ कारणरूपसे अभिप्रेत है ।

शङ्का—वह भी दो भूतोंका कारण कैसे है ?

समाधान—जो इस मण्डलमें विज्ञानात्मा पुरुष है, उसीका भुक्तसे अवशिष्ट पूर्वजन्मार्जित प्रज्ञा-कर्म आदिके फलके भोगके लिए ही मण्डलमें विज्ञानात्मरूपसे आविर्भाव हुआ है । जिसके भोगके लिए जिनका आरम्भ होता है, वे उसके कारण माने जाते हैं, उसका यह कर्म वायु और अन्तरिक्षका प्रयोजक है ।

शङ्का—हिरण्यगर्भका शरीर केवल भूतद्वयात्मक नहीं है, किन्तु पञ्च-भूतात्मक माना जाता है, अतः उसके लिए पाँच भूतोंकी आवश्यकता है, दो भूतोंका ही अभिधान क्यों ?

समाधान—ठीक है, किन्तु प्रथम आकाशकी उत्पत्ति हुई, उसके बाद आकाशाधार परिस्पन्दात्मक वायुकी, उसके अनन्तर उन दोनोंके सम्बन्धसे तेजकी, इत्यादि क्रमसे जल और पृथिवीकी भी उत्पत्ति विवक्षित है । भूतत्रयोपसर्जन वायु और आकाशकी उत्पत्ति यहां अभिप्रेत है, अतएव 'मेधया तपसाऽजनयत् पिता' इत्यादि श्रुतिका स्वारस्य सङ्गत होता है । न्यायसे भी यही अर्थ ठीक है । भोग्यकी सृष्टि भोक्ताके अदृष्टसे होती है, इसलिए वह भोगार्थ है । जो जिसके अदृष्टसे होता है, उससे उसको साक्षात् या परम्परया सुख और दुःखका साक्षात्कार (भोग) होता है, यह मानी हुई बात है ॥१६॥

किन्तु, उक्त मत ठीक नहीं है, उसे कहते हैं,—**'नैवम्'** इत्यादिसे ।

जैसा मूर्तरस है, वैसा ही अमूर्तरस भी होना चाहिए एवं मूर्तरस आदित्य-मण्डल जैसे अचेतन है, वैसे ही अमूर्तरसको भी अचेतन मानना चाहिए। उक्त मतमें विज्ञानात्मा अमूर्तरस कहा गया है, इसलिए दोनों रसोंमें समानता नहीं आती ।

शङ्का—दोनोंमें असमानता होनेसे क्या दोष है ?

समाधान—वाक्यवैरूप्य दोष स्पष्ट है । मूर्त, मर्त्य, स्थित और सत्—ये चार धर्म

यद्वन्मूर्त्तरसोऽभीष्टश्चतुर्विधविशेषणः ।
अचेतनस्तथैवाऽयममूर्त्तरस इष्यताम् ॥ १८ ॥
अचेतनोऽप्यन्नमयो देहः पुरुषशब्दितः ।
श्रुत्यन्तरे तथा चाऽस्तु लिङ्गं पुरुषशब्दभाक् ॥ १९ ॥

मूर्तके हैं। अमूर्त, अमृत, व्यापी और त्यत्—ये चार धर्म अमूर्तके कहे गये हैं। जैसे मूर्तामूर्तमें समानधर्मता है, वैसे ही उसके रसोंमें भी समानता होनी चाहिए, मूर्तरस अचेतन है और अमूर्तरस चेतन है, ऐसा व्याख्यान करनेसे अर्द्धजरतीय दोष होता है, जो अप्रामाणिक होनेसे मान्य नहीं हो सकता। इसलिए उक्त दोषके परिहारके लिए अचेतनको ही अमूर्तरस कहना ठीक है, अतः उक्त मत हेय है॥१७॥

'यद्वन्मूर्त०' इत्यादि। जैसे तीन मूर्तोंका रस मूर्त ही सूर्यमण्डल है और वह भूतत्रयका समानजातीय है, वैसे ही अमूर्त दो भूतोंके रसको अमूर्त भूतद्वयका समानजातीय ही मानना समुचित है। अमूर्तरस यदि चेतन न माना जायगा, तो रसोंमें वैलक्षण्य हो जायगा।

शङ्का—उक्त दोषके समाधानके लिए यदि कहा जाय कि मूर्तरस भी मण्डलोपाधिक चेतन ही विवक्षित है, अचेतन मण्डल नहीं।

समाधान—यह तो बहुत थोड़ा कहते हो, मण्डल ही चेतनकार्य होनेसे चेतन क्यों? समस्त संसार ही चेतनरूप ब्रह्मका कार्य होनेसे चेतन है; फिर रसमें 'चेतन' विशेषण ही व्यर्थ है। विशेषण इतरकी व्यावृत्ति द्वारा ही सार्थक होता है, अन्यथा व्यर्थ ही है, प्रकृतमें तदितर है नहीं, तो व्यावृत्ति किसकी हो सकती है?॥१८॥

'अचेतनोऽ०' इत्यादि।

शङ्का—यदि अमूर्त भूतसारके करण अचेतन ही हैं, तो उनमें पुरुषशब्दका प्रयोग क्यों हुआ? उक्त प्रयोग चेननमें ही होता है, यह सर्वत्र दृष्ट है।

समाधान—श्रुतिमें अचेतन अन्नमय देहमें भी पुरुषशब्दका प्रयोग पाया जाता है, इसलिए अचेतनके बोधके तात्पर्यसे पुरुषशब्दका प्रयोग श्रुतिमें नहीं पाया जाता, यह कहना ही असङ्गत है। 'स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः', 'ते प्राणा न शक्ता विभक्ता व्यवहारं जनयितुमिति कृतालोचनास्त्वक्चक्षुःश्रोत्रजिह्वाघ्राणवाङ्मनोरूपानेतान् पुरुषानेकं लिङ्गात्मकं पुरुषमकुर्वन्' इत्यादि वाक्य उक्त अर्थमें

ब्रह्मोपास्तिस्थानतया रव्यक्ष्णोरतिसारता ।
व्यवहारोपाधितया लिङ्गस्याऽपि च सारता ॥ २० ॥

प्रमाण हैं । एवं जैसे गोलकात्म चक्षुमें करणात्मा अचेतन इन्द्रियकी स्थिति है, वैसे ही आदित्यमण्डलमें करणात्मा प्राणकी स्थिति विवक्षित है ।

शङ्का—अच्छा, तो विज्ञानात्मा कहां है ?

समाधान—वह भी आदित्य-मण्डलमें ही है । मण्डल जैसे लिङ्गोपाधिक है, वैसे विज्ञानोपाधिक भी माना जाता है । इसमें कोई विरोध नहीं है ।

शङ्का—असामर्थ्यसे जीवमें अमूर्तादिके प्रति कारणता मानते नहीं हो, और कूटस्थ अविकारी परात्मामें तो कारणत्वका सम्भव ही नहीं हो सकता, फिर प्रपञ्चका कारण कौन है ?

समाधान—वस्तुतः प्रपञ्च कोई वस्तु हो, तो उसका कोई कारण कहा जाय, परन्तु प्रपञ्च ही जब अविद्यासे परमें आरोपित प्रतीत होता है, तब 'यक्षानुरूपो बलिः' इस न्यायके अनुसार कारणत्व भी उसमें आरोपित ही है । अज्ञातस्वरूपत्व कारणत्वके और मिथ्याज्ञानरूपत्व कार्यत्वके व्यवहारमें हेतु है ।

आधिदैविक मूर्तामूर्तका विवेचन हो गया । एवं परपक्षका सयुक्तिक निराकरण तथा स्वाभिप्रेत ही अर्थ श्रुतिसंमत है, इसका विवेचन समाप्त हुआ ॥१९॥

'ब्रह्मोपास्ति०' इत्यादि । चक्षु सार है, इस कथनमें कारण यह भी है—यद्यपि शरीरमात्रका निष्पादक तेज सब अङ्गोंमें सदा सन्निहित रहता है, तथापि तेजोविशेषका प्रकाशक तेज चक्षुमें ही अधिक रहता है । 'आदित्यश्चक्षुर्भूत्वाऽक्षिणी प्राविशत्' यह श्रुति इस अर्थमें प्रमाण है; अतः तेजःपर्याय रसशब्दका चक्षुमें प्रयोग उचित ही है । अतएव चक्षु तैजस है, यह सर्वत्र प्रसिद्धि है । चक्षु मूर्त हैं, इसलिए मूर्तका कार्य है । देहावयवोंमें अन्यकी अपेक्षा चक्षु प्रधान माना जाता है । त्यत्का सारभूत रस यह है, जो दक्षिण आँखमें पुरुष है ।

शङ्का—वाम अक्षिमें भी उक्त रस है, फिर दक्षिण अक्षिका विशेष निर्देश क्यों ?

समाधान— उक्त तेज अतीन्द्रिय है, उसमें शास्त्र ही विशेषरूपसे प्रमाण माना जाता है । शास्त्रमें कहा गया है कि विशेषरूपसे दक्षिण नेत्रमें ही तेजोविशेषका अवस्थान रहता है । और लोकमें भी अनुमानादि द्वारा यह जाना

सारासारयुते रूपे मूर्त्तामूर्त्ते उदीरिते ।
अरूपं ब्रह्म रूपाभ्यां व्यवहारे निरूप्यते ॥ २१ ॥
मूर्त्तामूर्त्तव्यवस्थेयं यथाश्रुत्युपवर्णिता ।
अथ युक्त्यनुसारेण साऽन्यथाऽप्युपवर्ण्यते ॥ २२ ॥

जाता है कि दक्षिण नेत्रमें विशेषरूपसे उक्त तेज रहता है। अनुमानका आकार इस प्रकार है—दक्षिणनेत्रं वामनेत्रापेक्षया अतिशयवत्, दक्षिणाङ्गत्वात्, हस्तादिवत्। अतः उपासनाके लिए दक्षिण नेत्रका ही निर्देश युक्तियुक्त है, इस तात्पर्यसे लिखते हैं—ब्रह्मकी उपासनाका स्थान रवि और दक्षिण अक्षि है, इसलिए वे दोनों अतिसार हैं—अतिश्रेष्ठ हैं। लिङ्ग भी व्यवहारोपाधि होनेसे सार है ॥ २० ॥

'सारासार०' इत्यादि। मूर्त और अमूर्तका निरूपण किया गया तथा उन दोनोंमें सार और असारका भी विशेषरूपसे निरूपण किया गया। यद्यपि ब्रह्म स्वतः अरूप है; तो भी अविद्यारोपित इन्हीं दोनों रूपोंसे व्यवहारदशामें निरूपित होता है। इससे जो विद्वान् यह कहते हैं कि उक्त श्रुतिसे अरूप निर्विशेष ब्रह्म सिद्ध नहीं होता, क्योंकि श्रुति स्पष्ट रूपसे मूर्त्तामूर्तादि-स्वरूपका बोधन कराती है; अतः सविशेष ही ब्रह्म श्रुतिको सम्मत है; निर्विशेष नहीं; पर उनका मत ठीक नहीं है, क्योंकि यहां औपाधिक स्वरूपका उपासनाके लिए निर्देश है, वास्तविक स्वरूपका नहीं; 'योषा वाव गोतमाग्निः' इत्यादिके समान यहां भी आरोपितरूपसे उपासनाके लिए उक्त रूपका निर्देश है, अन्य वाक्यसे स्वरूपसत्ताकी निश्चिति सर्वत्र मानी जाती ॥ २१ ॥

'मूर्तामूर्त०' इत्यादि। यह मूर्तामूर्त व्यवस्था जैसे श्रुतिमें कही गई है; वैसे ही उसकी यहां व्याख्या की गई है, किन्तु उससे अभीष्ट अर्थ पूर्ण नहीं होता, इस लिए वह व्यवस्था युक्तिके अनुसार प्रकारान्तरसे अब कही जाती है। उपेयकी प्राप्तिके लिए उपायका निर्देश किया जाता है, इसलिए उपेयकी अपेक्षा उपाय अव्यवस्थित रहता ही है और उक्त उपायसे अतिरिक्त उपाय यदि आवश्यक हो, तो उसके निर्देशके लिए शास्त्रकारोंमें स्वतन्त्रता है और यह उचित भी है; अतएव अभियुक्तोंका वचन है—उपेयकी प्रतिपत्तिके लिए उपाय अव्यवस्थित हैं। भाव यह है कि अद्वैत ब्रह्मतत्त्वका निश्चय हो, इसीलिए श्रुति प्रतियोगिभूत द्वैतस्वरूपका परिचय मूर्तामूर्तरूपसे कराती है, वह द्वैतमात्रका स्वरूप अधिदैवत और

अमूर्त्तताऽतिसूक्ष्मेऽत्र समाप्ता मूलकारणे ।
मूर्तत्वमप्यतिस्थूले कार्ये ह्यन्ते समाप्यते ॥ २३ ॥
मध्यकारणकार्याणां मूर्ततामूर्तते इमे ।
आपेक्षिक्यौ यथायोग्यमुदाहरणमिष्यताम् ॥ २४ ॥

अध्यात्मके उक्त विभाग द्वारा संगृहीत नहीं होता, अतः केवल प्रतियोगीके ज्ञानके लिए अन्य प्रकारका अनुसरण आवश्यक है; अन्यथा मूल कारणका संग्रह नहीं हो सकेगा; इसलिए श्रौत विभागका उल्लङ्घन करके भर्तृप्रपञ्चके मतके अनुसार मूर्तामूर्तविभागकी ही कल्पना प्रकृतमें उपयोगिनी है । कारण कि मूर्तामूर्तसे निखिल ब्रह्मरूप संगृहीत होना चाहिए । अमूर्तत्व अव्याकृतमें ही मुख्य है, अतः वास्तवमें अव्याकृत ही अमूर्त है, वाय्वादि नहीं । मूर्तत्व भी वास्तविक घटादि कार्यमें ही है, बीचवाले पदार्थोंमें मूर्तत्व और अमूर्तत्व आपेक्षिक है । किसीकी अपेक्षा किसीमें मूर्तत्व है, और किसीमें अमूर्तत्व । जैसे पृथिव्यादिकी अपेक्षा वायु अमूर्त है और वाय्वादिकी अपेक्षा पृथिव्यादि मूर्त हैं, वास्तवमें लक्षण लक्ष्यमें रहनेसे ही लक्ष्यका व्यापक होता है; अन्यथा लक्षणमें अव्यापकत्व दोष आ जाता है, प्रकृतमें दोनों लक्षण मुख्य वृत्तिसे लक्ष्यके व्यापक नहीं होते ॥ २२ ॥

'अमूर्तताऽ०' इत्यादि । अतिसूक्ष्म मूल कारण (जगत्का मूल कारण) अव्याकृत जो आकाशशब्दका वाच्य है । उसीमें निरवयव अमूतत्व सर्वकार्य्यव्यापी परोक्षत्व है, अतः अमूर्तलक्षणका मुख्य लक्ष्य वही है एवं मूर्तत्वलक्षणका मुख्य लक्ष्य अतिस्थूल अन्त्य कार्य पृथिवी ही है, शेष मध्यम गोलादिक हैं, उनमें आपेक्षिक अतएव अमुख्य ही लक्षण है । उक्त दो लक्षणोंको मध्यम वर्गोंके अमुख्य ही लक्षण कह सकते हैं, मुख्य नहीं कह सकते । जहां तक संभव हो सके वहां तक मुख्यार्थ ही श्रुत्यर्थ सर्वमान्य होता है ॥ २३ ॥

'मध्यकारण०' इत्यादि ।

शङ्का—मध्यवर्त्ती पदार्थोंकी क्या गति होगी ?

समाधान—उनमें से किसीको यथायोग्य उक्त लक्षणका लक्ष्य समझना चाहिए अर्थात् आपेक्षिक ही उक्त व्यवहार है, अतः वे दोनों उक्त लक्षणोंसे संगृहीत हो जायँगे । मध्यवर्तियोंमें भी उक्त गौण व्यवहार होता ही है, इसलिए उनका भी संग्रह हो जायगा ॥ २४ ॥

अविद्यामात्रगं ब्रह्म कारणं बुद्ध्युपाधिगम् ।
ज्ञातृतद्वृत्त्युपाधिस्थं ज्ञायमानं घटादिकम् ॥ २५ ॥
एवं च सत्युपाधीनां ह्रासे ह्रसति मूर्तता ।
उपाधिवृद्धौ मूर्तत्वं वर्द्धतेत्युदितं भवेत् ॥ २६ ॥
मूर्तामूर्ते ब्रह्मरूपे इति पक्षो निरूपितः ।
प्रपञ्चतद्वासने द्वे रूपे इत्येष वर्ण्यते ॥ २७ ॥

'**अविद्यामात्रगम्**' इत्यादि । कारणत्व आदि भी अतिरिक्त नहीं है, किन्तु अविद्यारूप उपाधिसे विशिष्ट ब्रह्म ही कारण है, कार्यभूत मूर्तादिकी अपेक्षा उसमें कारणत्व है, स्वतन्त्र नहीं है। इसका यथायोग्य मूर्तादिमें ही अन्तर्भाव हो जाता है, एवं ज्ञातृत्व भी स्वतन्त्र नहीं है, किन्तु बुद्ध्युपाधिक चैतन्यमें ही ज्ञातृत्व है । जिस समय घटादिविषयक बुद्धि होती है, उसी समय उसमें ज्ञातृत्वका व्यवहार होता है, अतः ज्ञातृत्व भी स्वतन्त्र नहीं है । बुद्धिवृत्त्युपाधिकका ज्ञान-रूपसे व्यवहार होता है, अतः यह भी अतिरिक्त नहीं है एवं प्रमाणादि भी अतिरिक्त नहीं हैं, यह पूर्वमें भी कह चुके हैं ॥ २५ ॥

'**एवं च**' इत्यादि । अनिर्वचनीय अविद्यारूप उपाधिके ह्राससे मूर्तता घटती है और उसकी वृद्धिसे मूर्तत्वकी वृद्धि होती है। उदाहरण—पृथिवी आदिसे उत्तरोत्तर ह्रास देखनेमें आता है, अतः अन्यथानुपपत्त्यादि प्रमाणसे उसके कारण उपाधिकी न्यूनता ही ज्ञात होती है । एवं आकाश आदिकी अपेक्षा वायु आदि उत्तरोत्तरमें मूर्तत्वकी वृद्धिसे उसकी मूलभूत उपाधिकी वृद्धि ही सिद्ध होती है, एवं देहादिसंबन्ध, सुखदुःखादिकी अभिमानता, गो, धनादिका संबन्ध सब उपाधिनिब-न्धन हैं, वास्तविक नहीं हैं ॥ २६ ॥

'**मूर्तामूर्ते**' इत्यादि । ब्रह्मके मूर्त और अमूर्त—इन दोनोंके स्वरूपोंका निरूपण हो चुका; अतः यह पक्ष समाप्त हुआ। अब प्रपञ्च और प्रपञ्चके द्वारा ये दोनों ब्रह्मके रूप हैं, इस पक्षके विचारका आरम्भ किया जाता है । सन्देहके विषयमें विचारसे ही तत्त्वनिर्णय होता है और उस अर्थमें तात्पर्य होनेसे आगम प्रमाण माना जाता है। पूर्वोत्तरकी सङ्गति यह है कि पिण्ड-प्राणके विभाग द्वारा अध्यात्म और अधिदैवत मूर्तामूर्तनामक ब्रह्मके रूप कहे गये । 'तस्य ह' इत्यादिसे करणात्मक लिङ्गस्वरू-पका प्रस्ताव कर उसका निरूपण किया जायगा, उक्त स्वरूप मूर्तामूर्तवासना और

प्रपञ्चो नाम पूर्वोक्तमूर्तामूर्तद्वयं भवेत् ।
तद्वासना विचित्राः स्युरनन्ता लिङ्गमाश्रिताः ॥ २८ ॥
अनेकवासनाचित्रं तल्लिङ्गं पटभित्तिवत् ।
मायेन्द्रजालसदृशं व्यामोहास्पदमात्मनः ॥ २९ ॥

विज्ञानमयके संयोगसे हुआ है । वह विचित्र पटादिचित्रके समान तथा मायेन्द्रजाल एवं मृगतृष्णिकाके समान है अर्थात् सबको मुग्ध करनेका एक विषयन्त्र है ॥२७॥

'प्रपञ्चो नाम' इत्यादि । पूर्वोक्त मूर्तामूर्त ही प्रपञ्च है तथा उसकी विचित्र, अनिर्वचनीय और अनन्त अपरिसंख्येय वासनाएँ लिङ्गात्मा शरीरमें रहती है, इससे वासना आत्मसमवेत है, यह तार्किकोंका मत अश्रद्धेय है । अन्तःकरणका ही मूर्तामूर्त सब विषयोंके साथ सम्बन्ध है, अतः उसकी निमित्त वासना अन्तः-करणाश्रित ही है, ऐसी परिस्थितिमें 'योऽयं दक्षिणोऽक्षन् पुरुषः' इस वाक्यमें पुरुषशब्दसे कथित लिङ्गका ही प्रकरण होनेसे लिङ्गप्रधान अन्तःकरणका ही 'तस्य हैतस्य' इत्यादि वाक्यसे परामर्श होता है । वक्ष्यमाण अनेकों उदा-हरणोंके सार्थक्यके लिए विचित्र और अनन्तका अभिधान है ॥ २८ ॥

शङ्का—यदि अन्तःकरण ही रागादिमान् है, तो पुरुष क्यों तन्मय देखे जाते हैं ?

समाधान—**'अनेक०'** इत्यादिसे । पट और भित्तिके चित्र जैसे पट और भीतमें प्रतीत होते हैं, वैसे ही अन्तःकरणमें अनेक वासनाएँ रहती हैं ।

अच्छा, तो यह कहिए कि अन्तःकरणमें वासनाएँ आरोपित हैं या अनारोपित ? प्रथम पक्षमें पुरुषमें भी तो आरोपित ही मानते हैं, फिर क्या कारण है कि वासनाएँ अन्तःकरणमें ही कही जायँ, पुरुषमें नहीं । द्वितीय पक्षमें यदि अनारोपित हैं, तो धर्मी भी अनारोपित होना चाहिए । प्रायः समसत्ताकका ही धर्मधर्मिभाव युक्तिसङ्गत है । अद्वैतके व्याघातके भयसे धर्मीकी यदि अकल्पित सत्ता नहीं है, तो धर्मकी ही वह सत्ता कैसे हो सकती है ? अतः अन्तःकरणकी ही धर्मवासना है, आत्माकी नहीं, यह कथन प्रमाणशून्य है और 'अहं जानामि, सुखी' इत्यादि प्रतीति अचेतन लिङ्ग शरीरमें कैसे होगी ? अहमर्थसे अतिरिक्त आत्मामें प्रमाण नहीं है, यह आक्षेप ठीक नहीं है, कारण कि धर्म और धर्मी दोनों कल्पित ही हैं । उसके अनुसार ही दोनोंका संबन्ध भी कल्पित ही है और उसमें हेतु

एतावन्मात्र आत्मेति तत्र भ्रान्ता निरागमाः ।
बौद्धकाणादसाङ्ख्याद्यास्तर्कमात्रोपजीविनः ॥ ३० ॥

अनिर्वचनीयत्वादि है। माया अघटितघटनापटीयसी है। आत्मत्वसामानाधिकरण्यसे जो सुखादिकी प्रतीति होती है। उसमें कारण यह है कि अन्तःकरण अति स्वच्छ द्रव्य है, अतः उसमें चित्का आभास पड़नेसे वह भी अपनेको चेतन मानने लगता है। जैसा कि सांख्याचार्योंने माना है—

तस्मात्तत्संयोगादचेतनं चेतनावदिव भवति ।
गुणकर्तृत्वेऽपि तथा कर्तेव भवत्युदासीनः ॥

अर्थात् आत्मसंयोगसे अचेतन बुद्धितत्त्व चेतनके समान होता है तथा अन्तः-करणगत भी कर्तृत्व आदि उदासीन आत्मामें उपलब्ध होते हैं। 'व्यामोहास्पदमात्मनः' का स्फुट अर्थ यह है कि स्वाभासका निदान व्यामोह ही है। व्योमाह अज्ञान-प्रयुक्त है। अज्ञान और आत्माका संबन्ध भी आध्यासिक ही है। केवल साधारण मोह नहीं है, किन्तु विशिष्ट है। विशिष्ट होनेपर भी यत्किञ्चिद्विषयक नहीं है, किन्तु आ-समन्तात् अर्थात् सर्वव्यवहारविषयक है ॥ २९ ॥

आत्मभ्रान्तिका विषय लिङ्ग है, इसको स्फुट करनेके लिए प्रथम विज्ञानवादी बौद्धकी भ्रान्ति कहते हैं—**'एतावन्मात्र'** इत्यादिसे ।

अहमाकारवृत्तिसे विशिष्ट प्रतिक्षण भङ्गुर राग आदि दोषसे कलुषित बुद्धिमात्र आत्मा है, उससे अतिरिक्त स्थायी कोई है ही नहीं, इस प्रकार बौद्धोंकी भ्रान्ति जिसमें है, उसके स्वरूपका विशेषरूपसे निरूपण करेंगे; जिससे स्पष्टरूपसे सूचित होगा कि बौद्धोका मत वस्तुतः भ्रान्तिपूर्ण है ।

शङ्का—उनकी इस भ्रान्तिका कारण क्या है ?

समाधान—केवल तर्कका आश्रयण और आगमका अभाव। आत्मा केवल आगमका ही विषय है, तर्क आदिका विषय नहीं है, किन्तु वे लोग आगमपर भरोसा न रख केवल तर्कके बलसे ही आत्मस्वरूपका निरूपण करते हैं। तर्क जब अपने विषयमें भी प्रतिष्ठित नहीं माना जाता, तब अपने अविषयमें तो कहना ही क्या है ? अतएव 'तन्त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि' यह श्रुति संगत होती है। ब्रह्म केवल उपनिषद्से ही पुरुष गम्य है, प्रमाणान्तरसे नहीं, अतः 'औपनिषद' विशेषण सार्थक होता है ॥३०॥

एकैकां वासनां तत्र प्रतिक्षणविनश्वरीम् ।
आहुः क्षणिकमात्मानं बौद्धा विज्ञानवादिनः ॥ ३१ ॥
आत्मनो द्रव्यभूतस्य गुणा बुद्ध्यादयो नव ।
वासनात्वेन वेदोक्ता इति वैशेषिकादयः ॥ ३२ ॥

उक्त अर्थको अतिस्फुट करनेके लिए कहते हैं—**'एकैकाम्'** इत्यादि ।

यहां वासनाशब्द वासनाकी निदानभूत तत्-तत् मूर्तामूर्तविषयक बुद्धिवृत्तिके तात्पर्यसे प्रयुक्त है, अतएव क्षणिकत्व आदि विशेषणका उपादान किया गया है, अन्य मतमें विषयेन्द्रियके सन्निकर्षके भेदसे बुद्धिवृत्तिके भेदकी व्यवस्था है । विज्ञान-वादियोंके मतमें विज्ञानसे अतिरिक्त अन्य वस्तु ही नहीं है, अतः स्वाप्निक वृत्तिके भेदके समान जागरित वृत्तियां भी संस्कारसे ही होती हैं, अन्यथा स्वाप्निक-पदार्थ-विषयक वृत्तियोंकी उत्पत्तिका समर्थन ही अन्य प्रकारसे अशक्य हो जायगा ॥ ३१ ॥

एवं बौद्धके समान वैशेषिक आदि तार्किकोंकी भी भ्रान्ति कहते हैं— **'आत्मनो'** इत्यादिसे ।

वे पृथिवी आदि द्रव्यके समान आत्मा भी अचेतन द्रव्य है, ऐसा कहते हैं और गन्ध आदि गुणोंके समान बुद्धि आदि नौ गुण आत्मामें मानते हैं। वे नौ गुण वेदमें वासनाशब्दसे कहे गये हैं । ये लोग बुद्धि आदिके धर्मी अन्तःकरणको ही भ्रमसे आत्मा मानकर उसके गुणोंको आत्मगुण कहने लगे । यद्यपि ये आगम मानते हैं, तथापि तर्कमें इनकी पूर्ण आस्था है, इसलिए ये लोग आगमनिरपेक्ष केवल तर्कसे आत्माकी सिद्धि मानकर तर्कानुसारी आगमद्वारा उसकी पुष्टि करते हैं । एक प्रकारसे तर्कसिद्ध आत्माका आगम अनुवादक है, ऐसा उनका भाव है । उनके मतसे आत्माके विशेष गुण संसार और उनका आत्यन्तिक उच्छेद मोक्ष कहा जाता है । सुखके समान दुःखकी निवृत्ति भी स्वतन्त्र पुरुषार्थ है । वे निवृत्तिकी निवृत्ति नहीं मानते, इसलिए मुक्तको पुनः संसार नहीं होता, मुक्त सदा मुक्त ही रहता है। 'दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायादपवर्गः' यहां पञ्चमीका अभेद अर्थ है अर्थात् अपाय ही अपवर्ग है। अपवर्ग नित्य है। यह सब शास्त्रकारोंको अभिमत है । इसीके लिए विविध प्रकारसे उसके स्वरूपकी व्यवस्था करते हैं। द्वैतवादी आत्मस्वरूप मोक्ष नहीं मानते एवं भावात्मक भी नहीं मानते, क्योंकि ऐसा माननेपर उसका जन्म होनेसे भावान्तरके समान वह भी विनाशी हो जायगा,

त्रिगुणं यत्प्रधानं तत्पुरुषार्थेन हेतुना।
प्रवर्तते वासनात्वक्लृप्तिस्तत्रेति कापिलाः ॥ ३३ ॥

इसलिए अभावात्मक मानते हैं। इस मतमें आत्मा और मनके सन्निकर्षके बलसे जायमान ज्ञान ही आत्मगुण चैतन्य है, सुषुप्ति अवस्थामें मनके सन्निकर्षके अभावसे आत्मामें कोई ज्ञानादि गुण नहीं होते, अतएव 'सुखमहमस्वाप्सं न किञ्चिदवेदिषम्' इत्यादि सुप्तोत्थितके ज्ञानको अनुमान कहते हैं, स्मरण नहीं, क्योंकि तद्विषयक अनुभव न होनेसे संस्कार ही नहीं हो सकता और संस्कारके बिना स्मरण असम्भव है ॥ ३२ ॥

अब सांख्यकी भ्रान्तिका कारण कहते हैं—**'त्रिगुणम्'** इत्यादिसे।

सांख्यके मतमें सुख आदि आत्मधर्म हैं। अन्तःकरण ही आत्मा है, यह भ्रान्ति नहीं है, कारण कि वे आत्माको वेदान्तियोंके समान ही सब विकारोंसे रहित अतएव उदासीन, कूटस्थ और स्वप्रकाश मानते हैं। अतः आत्माके स्वरूपमें विवाद नहीं है, किन्तु उनके मतमें प्रकृति सत्त्व, रज और तम एतद्गुणत्रयात्मक है, अन्तःकरण तत्स्थ अतएव तत्परिणामविशेष है, अतः वह भी प्रधानके समान गुणत्रयात्मक है। वह पुरुषके भोग और अपवर्गके साधनके लिए ही आत्मासे संयुक्त और वियुक्त होता है। वे अन्तःकरणका पुरुषके साथ संबन्ध होनेमें कारण भोगको ही मानते हैं—'पुरुषार्थ एव हेतुर्न केनचित् कार्यते करणम्' अर्थात् पुरुषार्थ ही प्रकृतिके परिणामका कारण है, कोई चेतन ईश्वर आदि प्रकृतिका प्रेरक नहीं है। इसीसे वे लोग निरीश्वरवादी कहे जाते हैं। पुरुषके भोगके लिए समयपर प्रकृति स्वयं जगत्के आकारमें परिणत हो जाती है, जैसे दूध आदि बालककी शरीरकी वृद्धिके लिए परिणत होते हैं, वैसे ही प्रकृतमें भी समझना चाहिए। वे आत्मभेद-वादी हैं, अतः सांख्योक्त तत्त्वज्ञानके द्वारा जिस पुरुषको प्रकृति और पुरुषके भेदका साक्षात्कार हो जाता है अर्थात् 'अहं प्रकृतेर्भिन्नः' यों तत्त्वापरोक्ष हो जाता है, उसके प्रति प्रकृतिकी संसारभोगार्थक प्रवृत्ति नहीं होती, कारण कि उनके मतमें प्रकृति कुलाङ्गनासे भी अधिक सुकुमार और लज्जावती है, जिसको एक समय भी यदि पुरुष देख ले, तो फिर वह वैसी चेष्टा करती है, जिससे कि फिर वह पुरुष प्रकृतिको कभी भी न देख पावे।

'प्रकृतेः सुकुमारतरन्न किञ्चिदस्तीति मे मतिर्भवति।
या दृष्टाऽस्मीति न पुनर्दर्शनमुपैति पुरुषस्य ॥'

अप्यौपनिषदम्मन्याः प्रक्रियां कल्पयन्त्यमुम् ।
वस्तूनां राशयः प्रोक्ता उत्तमाधममध्यमाः ॥ ३४ ॥
उत्तमः परमात्मा स्यान्मूर्तामूर्तात्मकोऽधमः ।
जीवात्मा मध्यमः साकं वासनाज्ञानकर्मभिः ॥ ३५ ॥

इत्यादि उनका अभिधान उक्त अर्थमें प्रमाण है। सारांश यह निकला कि जिस अन्तःकरणके विषयमें वे भी भ्रान्त हैं, उस अन्तःकरणके स्वरूपका यहां विशेषरूपसे निर्धारण करेंगे, कारण कि यह विषय अतिजटिल और अवश्य विवेचनीय है। इसी विषयमें दार्शनिकोंकी अधिक भूल होती है। कापिल—सांख्य—लोग अन्तःकरणको ही श्रुत्युक्त वासना पदार्थ मानते हैं ॥३३॥

'अप्यौपनिषद०' इत्यादि। वस्तुतः औपनिषद नहीं हैं, किन्तु अपनेको औपनिषद माननेवाले पुरुष इस अनुपद वक्ष्यमाण प्रक्रियाकी कल्पना करते हैं, उनकी कल्पनाके अनुसार पदाथाकी तीन राशियां हैं। उत्तम, मध्यम और अधम ॥३४॥

'उत्तमः' इत्यादि। उत्तम राशि परमात्मा है, मूर्तामूर्तात्मक जगत् अधम राशि है तथा वासना, ज्ञान और कर्मके साथ जीवात्मा मध्यम राशि है। उत्तमकी अपेक्षा मध्यम और अधम राशियोंमें विशेष यह है कि कर्मराशि प्रयोक्ता - उत्पादक है और मूर्तामूर्तराशि प्रयोज्य—उत्पाद्य—है। यहां कर्मपद विद्या और पूर्व प्रज्ञाका भी उपलक्षण है, अतः वे भी प्रयोजक हैं। साधन ज्ञानकर्मका कारण भी प्रयोज्य है। इस कल्पनासे तार्किकोंके साथ ये सन्धि करते हैं। कर्मराशि लिङ्गाश्रय है, ऐसा कहनेसे भय करने लगे कि यह तो सांख्यमत हो गया, इससे नैयायिक सन्तुष्ट न होंगे, इसलिए फिर यह कहने लगे कि पुष्पका गन्ध पुष्पके वियोगकालमें जैसे पुटतैलवासित तैलके आश्रित हो जाता है, वैसे ही लिङ्गवियोगके समय कर्मराशि परमात्माके एकदेशमें आ जाती है। वह परमात्मैकदेश अन्य स्थलसे आये हुए गुण और कर्मोंसे निर्गुण भी सगुण, और अकर्ता भी कर्ता हो जाता है तथा भोक्ता, बोद्धा, मुक्त, विज्ञानात्मा इत्यादि व्यवहारोंका विषय माना जाता है। इस कथनसे वैशेषिकोंके चित्तको सन्तुष्ट करते हैं। जीव परमात्मैकदेश होनेसे यद्यपि स्वतः निर्गुण है, तथापि भूतराशिसे कर्मराशि घृततैलवत् आत्मामें भी प्रतीत होती है। इसलिए यह कहा जाता है कि भूतराशिनिष्ठ कर्मराशि जब उसके द्वारा आत्मामें भी आती है, तब जीव कर्तृत्वादि संसारका अनुभव करता

कृष्णशक्तिरविद्याख्या परमात्मन उत्थिता ।
विकृत्य परमात्मांशं जीवभावं नयत्यमुम् ॥ ३६ ॥
यथोषरात्मको दोषो भूमेर्जातो विकृत्य तम् ।
भूम्यंशमास्ते तद्वत्स्यादविद्येयं परात्मनः ॥ ३७ ॥
अनात्मधर्म एवेयमविद्या भ्रान्तिलक्षणा ।
अंशेऽस्मिन्साङ्ख्यसिद्धान्तमनुवर्त्तामहे ततः ॥ ३८ ॥
वासनाकामकर्माणि लिङ्गस्थान्येव तान्यपि ।
लिङ्गादात्मानमायान्ति गन्धः पुष्पपुटं यथा ॥ ३९ ॥

है, कर्मराशिको अन्तःकरणमें मानकर सांख्यके चित्तका अनुरोध किया और पुट-तैलन्यायसे आत्मामें भी मानकर वैशेषिकोंको सन्तुष्ट किया, पर इस प्रकारसे उन दोनोंका चित्त भी पूर्ण सन्तुष्ट नहीं हुआ और उपनिषत्सिद्धान्तपर तो ध्यान ही नहीं दिया था, न्यायविरोध भी नहीं देखा था जो आगे स्फुट होंगे ॥ ३५ ॥

'कृष्णशक्ति०' इत्यादि । भगवान् कृष्णकी शक्तिका नाम अविद्या है। यद्यपि यह परमात्मामें स्वभावतः रहती है, तथापि भोक्ता प्राणियोंके अदृष्टसे परमात्मामें ही अभिव्यक्त होकर, उसके एकदेशको विकृत कर, अन्तःकरणमें ही स्थित होकर उसी ब्रह्म अंशको जीवभावापन्न करती है ॥ ३६ ॥

शङ्का—जिससे अविद्या उत्थित हुई, उसीका आश्रयण करना चाहिए अन्तःकरणका आश्रयण क्यों किया ?

समाधान—**'यथोषरात्मको'** इत्यादि । जैसे भूमिसे समुत्पन्न ऊषर—क्षाररूप मृत्तिकादोष—भूमिके एकदेशमें ही रहता है, सम्पूर्ण भूमिमें नहीं रहता, वैसे ही उक्त अविद्याख्य दोष ब्रह्मैकदेशमें ही रहता है, इसलिए उसी देशको जीव बनाता है, सम्पूर्णको नहीं ॥ ३७ ॥

इस प्रकार अविद्याको अनात्मधर्म मानकर सांख्यके मतका अनुसरण करते हैं—**'अनात्मधर्म'** इत्यादिसे ।

भ्रान्तिलक्षण अविद्या अनात्माका ही धर्म है, इस अंशमें सांख्यके सिद्धान्तकी अनुवृत्ति करते हैं ॥ ३८ ॥

न्यायकी अनुवृत्तिके लिए कहते हैं—**'वासना०'** इत्यादि ।

वासना, काम, कर्म आदि सब लिङ्ग-शरीरमें ही रहते हैं, अतः उन्हें उसीका

गन्धः पुष्पगुणः पुष्पात् पुटमाश्रित्य तिष्ठति ।
कुसुमापगमेऽप्येवं लिङ्गस्था वासनाऽऽत्मनि ॥ ४० ॥
निर्गुणोऽपि परैकांशो बाह्याद्भ्यागतेन ह ।
कर्मणा सगुणस्तेन कर्त्ता भोक्ता भवत्ययम् ॥ ४१ ॥
वैशेषिकमतं चैवमंशादनुसृतं भवेत् ।
अपाञ्चभौतिकं रूपं चैवमेतत्सवासनम् ॥ ४२ ॥
इत्यौपनिषदम्मन्यैरुक्तं भर्तृप्रपञ्चकैः ।
लिङ्गस्य वासनारूप एवं मुह्यन्ति वादिनः ॥ ४३ ॥
अश्रौतत्वादुपेक्ष्याः स्युः प्रक्रिया वादिकल्पिताः ।
राशित्रयस्य गमकं वचो नोपलभामहे ॥ ४४ ॥

धर्म मानना उचित है । लिङ्गसे आत्मामें आते हैं, जैसे पुष्पपुटस्थ गन्ध पुटित तैलमें आता है ॥ ३९ ॥

'गन्धः पुष्पगुणः' इत्यादि । गन्ध पुष्पका गुण है, पुष्पोंके साथ कुछ समयतक तिल रखनेपर पश्चात् पुष्पोंसे अलग करनेपर भी उनका गन्ध तैलमें आता है, अतएव चमेलीका तेल इत्यादि व्यवहार होता है, वैसे ही लिङ्गस्थित वासना आत्मामें प्रतीत होती है ॥ ४० ॥

'निर्गुणोऽपि' इत्यादि । परमात्माका एक अंश वस्तुतः निर्गुण होनेपर भी बाह्य अन्तःकरण कर्मसे सगुण माना जाता है, अतएव जीव कर्ता-भोक्ता होता है । विशेष व्याख्यान कर चुके हैं ॥ ४१ ॥

'वैशेषिक०' इत्यादि । अन्तःकरणसे आत्मामें भी आता है, इस अंशसे वैशेषिक मतका अनुसरण किया गया है । उक्त प्रक्रियासिद्ध मध्यमराशि जीवका उपसंहार करते हैं—'अपाञ्चभौतिकम्' से । उक्त रीतिसे अविद्याकृत वक्ष्यमाण वासनायुक्त भूत-भौतिकसे भिन्न जीवस्वरूप मध्यम राशि है ॥ ४२ ॥

'इत्यौपनिषदम्' इत्यादि । उपनिषत्के तात्पर्यसे अनभिज्ञ और अपनेको उपनिषत्का विद्वान् माननेवाले भर्तृप्रपञ्च आदि विद्वानोंने ऐसी प्रक्रिया कही है । लिङ्गके वासनारूपमें इस प्रकार वादियोंको मोह है ॥ ४३ ॥

'अश्रौतत्वा०' इत्यादि । बौद्धादिका निराकरण तो इसीसे हो जाता है, वे अश्रौत होनेसे वेदको प्रमाण माननेवालोंके लिए उपेक्ष्य हैं । भर्तृप्रपञ्चके मतमें यह

जीवो न ब्रह्मणोऽन्योऽस्ति कामसङ्कल्पपूर्विकाः ।
वासनाश्च मनोधर्मा मध्यमो राशिरत्र कः ॥ ४५ ॥

दोष है कि 'तत्त्वमसि' इत्यादि श्रुति जीवको ब्रह्मस्वरूप कहती है और 'कामः संकल्पः' इत्यादि श्रुतिसे वासना मनोधर्म है, यह स्फुट ही प्रतीत होता है। तीन राशियोंके बोधक वैदिक वचन नहीं मिलता है, इसलिए इस कल्पनामें कोई मूल नहीं है, अतएव अग्राह्य है। सारांश यह है कि यदि जीवको ब्रह्मका अंश मानें, तो ब्रह्मको सावयव अतएव सकल सांसारिक धर्मवान् मानना पड़ेगा। इस अवस्थामें 'अस्थूलमव्रणम्' इत्यादि कूटस्थादिप्रतिपादनपरक श्रुतियाँ असंगत हो जायँगी। इस दोषके परिहारके लिए यदि जीव और ब्रह्मका अत्यन्त भेद मानें, तो 'तत्त्वमसि' इत्यादि अभेदबोधनपरक वाक्य असङ्गत हो जायँगे, क्योंकि भेदाभेदरूप परस्पर विरुद्ध धर्मोंका एकमें समावेश हो ही नहीं सकता।

शङ्का—जीवको लिङ्गोपाधिक परका अंश मानें, तो क्या आपत्ति है? क्योंकि जैसे घटोपाधिक आकाशमें रज, धूमादिके रहनेपर आकाशमात्रमें उनकी प्रसक्तिका निवारण हो जाता है वैसे ही यहांपर भी समझना चाहिए।

समाधान—आपत्ति यह है कि सुषुप्ति अवस्थामें लिङ्गका भी नाश हो ही जाता है, अतः उसकी वासना आत्मामें कैसे आ सकती है? इसलिए यह कहना सर्वथा असंगत है कि लिङ्गका नाश होनेपर भी उसकी वासना आत्मामें रहती है।

शङ्का—औपाधिक आत्मामें या लिङ्गमें वासना नहीं है, किन्तु बिम्बमें ही वासना है, ऐसा कहें, तो क्या दोष है?

समाधान—दोष यह है कि पुष्पादिकी वासना तैल या वस्त्रादिमें जो आती है, उसमें साजात्य कारण है, तैल पुष्पादि दोनों सावयव हैं, अतएव एककी वासना दूसरेमें जाती है, पर विसदृश आकाशमें उक्त वासनाका सञ्चय नहीं होता, कारण कि आकाश निरवयव है। द्रव्यत्वादिसे साजात्य अकिञ्चित्कर है, अन्यथा आकाशमें भी वासनाकी आपत्ति हो जायगी, वस्तुतः निर्धर्मक ब्रह्ममें पर या अपर कोई भी जाति नहीं मानी जाती, इसलिए द्रव्यत्व आदिसे भी साज्यात्यकी शङ्का ब्रह्ममें नहीं कर सकते।

और यह भी प्रश्न होता है कि वासना आत्मासे अभिन्न है या भिन्न? प्रथम पक्षमें जैसे मृत्तिका घटाकार होती है, वैसे ही आत्मा वासनाकार होता है,

श्रुतिः—अथामूर्तं प्राणश्च यश्चायमन्तरात्मन्नाकाश एतदमृतमेतद्यदेतत्त्यं तस्यैतस्यामूर्तस्यैतस्यामृतस्यैतस्य यत एतस्य त्यस्यैष रसो योऽयं दक्षिणेऽक्षन्पुरुषस्त्यस्य ह्येष रसः ॥ ५ ॥

तस्य हैतस्य पुरुषस्य रूपम् ।

एतस्य पुरुषस्येति श्रुतेश्चेनधर्मता ।
न वासनानामाशङ्क्या लिङ्गस्य पुरुषत्वतः ॥ ४६ ॥

ऐसा यदि कहो, तो मृद्घट जैसे मृत्तिकासे अभिन्न होता है, वैसे ही वासनाका आकार भी चैतन्यात्मस्वरूप ही होगा, उससे अतिरिक्त नहीं होगा, इस परिस्थितिमें आत्मा और वासनाका भेद ही सिद्ध हो नहीं सकेगा। द्वितीय पक्षमें आत्मासे वासना असंबद्ध है या सम्बद्ध ? प्रथम पक्ष तो प्रकृतानुकूल ही नहीं है, इसलिए यह कल्पना ही व्यर्थ है । द्वितीय पक्षमें श्रोत्रजन्य शब्दज्ञान रूपवासनासे वासित नहीं देखा गया है, क्योंकि दोनों विषय हैं, अतः उनका परस्पर विषयविषयिभाव नहीं बनता और चित् तो असंग होनेसे विषय ही नहीं है, तो उसमें रागादि वासनाकी संगति कहां ? विस्तरभयसे यहीं समाप्त करते हैं ॥ ४५ ॥

'अथामूर्तं प्राणश्च०' इत्यादि श्रुति । अनन्तर अमूर्त कहते हैं - अवशिष्ट जो भूतद्वय—प्राण और शरीरके भीतर आकाश ये दोनों-- अमूर्त हैं, त्यका यही सार है, जो दक्षिण अक्षिमें पुरुष है, इत्यादि अर्थ पूर्वमें हो चुका है ॥ ५ ॥

'एतस्य' इत्यादि । जो पूर्वमें यह आक्षेप किया गया था कि मध्यम राशिके सद्भावमें श्रौत प्रमाण नहीं है, अतः उक्त कल्पना मान्य नहीं है, वह ठीक नहीं है, क्योंकि मध्यम राशिमें 'तस्यैतस्य पुरुषस्य' यह श्रुति वाक्य ही प्रमाण है । वासना पुरुषनिष्ठ है । पुरुषशब्द चेतनवाची है, यह प्रसिद्ध ही है । इसलिए वासना जिस पुरुषका धर्म है, वह पुरुष जीव है, यह ठीक नहीं है, कारण कि पुरुषशब्दका यहां प्रयोग चेतनके तात्पर्यसे किया गया है या अचेतनके तात्पर्यसे ? यह विषय विचारणीय है । यह दावा करना कि पुरुषशब्द चेतनके बोधके तात्पर्यसे ही सर्वत्र प्रयुक्त होता है, सो ठीक नहीं है, क्योंकि 'स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः' इत्यादि श्रुतियोंमें शरीरके बोधके तात्पर्यसे भी पुरुषशब्दका प्रयोग किया गया है । अतः उक्त नियम ठीक नहीं है । इसलिए उक्त श्रुतिसे वासना चेतनधर्म है, यह व्यवस्था सर्वथा असंगत ही है ।

हृदये ह्येव रूपाणि कामा येऽस्य हृदि श्रिताः ।
इत्यादिभिर्वासनानां श्रूयते लिङ्गधर्मता ॥ ४७ ॥
न पुष्पगन्धवल्लिङ्गवासना जीवमाश्रयेत् ।
असङ्गो हीति जीवस्य सर्वसम्बन्धवारणात् ॥ ४८ ॥
अविद्यया ससङ्गत्वे त्वविद्या न त्वदीरिता ।
परात्मनस्तदुत्थाने मुक्तावप्युदियादसौ ॥ ४९ ॥
अविद्या चेदनिर्वाच्या तया लिङ्गस्थवासनाः ।
आरोप्यन्तां यथाकाममलिङ्गेऽपि चिदात्मनि ॥ ५० ॥

वासनाएँ मनोधर्म हैं, इसमें अन्य श्रुति प्रमाण है, ऐसा कहते हैं—'हृदये' इत्यादिसे ।

हृदयमें—अन्तःकरणमें—ही रूपादि वासनाएँ रहती हैं, इसमें 'कामा येऽस्य हृदि स्थिताः' इत्यादि श्रुतिवाक्य प्रमाण है, अतः वासनाएँ लिङ्गधर्म ही हैं, आत्मधर्म नहीं हैं, ऐसा समझना चाहिए ॥ ४६,४७ ॥

'न पुष्प०' इत्यादि। पुष्पपुटिकान्यायसे मनके ही धर्म जीवमें रहते हैं, ऐसा जो पूर्वमें कहा था, सो भी ठीक नहीं है, कारण कि उसमें प्रश्न यह होता है कि जीवके साथ वासनाका संबन्ध वास्तव है या काल्पनिक ? प्रथम पक्षमें दृष्टान्त-वैषम्य है ।

शङ्का—क्यों ?

समाधान—'असङ्गो ह्ययं पुरुषः' इत्यादि श्रुति जीवमें सब प्रकारके संबन्धोंका स्पष्ट निषेध करती है । द्वितीय पक्षमें अग्रिम विकल्प है ॥ ४८ ॥

'अविद्यया' इत्यादि । द्वितीय पक्षमें अविद्या वास्तविक है या काल्पनिक ? प्रथम पक्षमें मुक्ति ही नहीं होगी, कारण कि अविद्या यदि वास्तविक याने नित्य है, तो उसकी निवृत्ति ही कैसे होगी ? यदि उस अविद्याको जीवगत मानें, तो वह अनित्य ही होगी, नित्य नहीं । यदि उसका उत्थान परमात्मासे मानो, तो वह सदा ही रहेगी, अतः मुक्त्यवस्थामें भी उसका उत्थान होनेके कारण मुक्ति ही नहीं हो सकेगी ॥ ४९ ॥

'अविद्या चेद०' इत्यादि । यदि हमारे मतके अनुसार आप भी अविद्याको अनादि और अनिर्वचनीय मानते हैं, तो उस अविद्यासे ही लिङ्गस्थ वासनाओंका अलिङ्ग—लिङ्गशून्य—चिदात्मामें भी आरोप सुखसे कर सकते हैं, इसमें कोई बाधा ही नहीं है, फिर तीन राशियोंकी आवश्यकता ही नहीं पड़ती ॥ ५० ॥

वासना भूरिरूपास्ता लिङ्गस्था लिङ्गसाक्षिणः ।
कुर्वन्ति बहुरूपत्वं मणेरास्तरणं यथा ॥ ५१ ॥
भौतिकं बहुरूपत्वं भूतवासनया कृतम् ।
पुष्पवासनया जन्यो गन्धः पौष्पो यथा पुटे ॥ ५२ ॥
आत्मनानात्वमप्येतद्यदा स्याद्भौतिकं तदा ।
भूतलेशस्वरूपाणां वासनानां तु का कथा ॥ ५३ ॥
भूतभौतिकवस्तूनां यदा संयुज्यते मनः ।
तदेवाऽऽधीयते चित्ते तल्लेशात्मकवासनाः ॥ ५४ ॥

'वासना०' इत्यादि। जैसे आस्तरण—चित्र कम्बलादि अपने प्रतिबिम्ब द्वारा सन्निहित स्फटिक मणिको स्वगतचित्ररूपवान्‌की नाईं करता है, वैसे ही लिङ्गस्थ वासना लिङ्गके साथ साक्षीमें अध्यस्त होकर साक्षीको वासनावान्‌की नाईं करती है, अतः इस पक्षमें कोई विरोध नहीं है ॥ ५१ ॥

पहले जो यह कहा था कि अपाञ्चभौतिक मध्यमराशिस्वरूपसे अभिगत वासनासहित जीवरूप भौतिक रूपसे विलक्षण विवक्षित है, उस विषयमें यहांपर वासना भौतिक है, ऐसा सिद्ध करते हैं—**'भौतिकम्'** इत्यादिसे ।

वासनाके भौतिकत्वमें हेतु है - वासनागत नानात्व । यह साधनभूत नानात्व भी भौतिक ही है। जैसे पुष्पके एकदेश तत्-तत् केतकी, बकुल आदिके चूर्णके चिर संबन्धसे उत्पन्न पुष्पवासना अनेकविध गन्धोंसे पूर्ण पुष्पोंसे जन्य कहलाती है, वैसे ही पञ्चभूतकार्य लिङ्ग देहके साथ अनादि संबन्धसे उत्पन्न आत्मनानात्व भी भूतजन्य ही कहलाता है, अतिरिक्त नहीं ॥ ५२ ॥

'आत्मनानात्व०' इत्यादि । लिङ्ग द्वारा भूतप्रयुक्त आत्मगत नानात्व यदि भौतिक है, तो भूतजन्य भूतसूक्ष्मरूप वासनाओंमें भौतिकत्व 'कैमुतिक' न्यायसे सिद्ध ही है। कैमुतिकन्याय यह है कि जो पुरुष अतिकठिन कार्य करता है, वह सहज कार्य अनायाससे कर सकता है, जैसे भीमसेन सिरसे पत्थर फोड़ते हैं तो उनको घट फोड़नेमें क्या देर ? ॥ ५३ ॥

'भूतभौतिक०' इत्यादि। भूत और भौतिक वस्तुका जब मनके साथ संबन्ध होता है, तब चित्तमें भूतलेशात्मक वासनाएँ उत्पन्न होती हैं ॥ ५४ ॥

हिङ्गुगन्धो यथा लग्नः करण्डं न विमुञ्चति ।
एवं जगद्वासनाश्च न मुञ्चन्ति धियं सदा ॥ ५५ ॥
कदाचित् काचिदुद्बोध्या कर्मणा भोगसिद्धये ।
भोगकालेऽनलाश्चाऽन्याः सुप्तास्तिष्ठन्ति मानसे ॥ ५६ ॥
अनन्तकल्पोपचयादनन्ता एव वासनाः ।
उदाहरणमात्रं तु दृष्टान्तैरिह वर्ण्यते ॥ ५७ ॥

उसीमें दृष्टान्त कहते हैं—'**हिङ्गुगन्धो**' इत्यादिसे ।

जैसे हींग जिस पात्रमें रक्खी जाती है, उस पात्रमें हींगका ऐसा गन्ध यों लग जाता है कि उसे निकालनेपर भी वह उस पात्रको सहसा नहीं छोड़ता, इसी-प्रकार जगत्की वासना बुद्धिसे संसृष्ट होकर उसे नहीं छोड़ती । प्राचीन जन्मार्जित सुकृतोंके परिपाक आदिसे सदुपदेश द्वारा जब किसीको छोड़ देती है, तब वह पुरुष धन्य हो जाता है ॥ ५५ ॥

'**कदाचित्**' इत्यादि ।

शङ्का—यदि बुद्धिमें एक बार उत्पन्न वासना बुद्धिको नहीं छोड़ती, तो सम्पूर्ण वासनाकार्य एक ही समयमें होने चाहिएँ, पर ऐसा नहीं देखा जाता, किन्तु क्रमशः कदाचित् कोई वासना भोगानुरूप अभिव्यक्त होती है, इसमें क्या कारण ?

समाधान—तत्-तत् भोगकी उत्पादक सामग्री वासनाकी उद्दीपिका है । जिस समय जिसको जैसा भोग होता है, उस समय उसके अनुकूल ही वासना अभिव्यक्त होती है और अन्य वासनाएँ चित्तमें विलीन रहती हैं, अतएव अनेक जन्मोंमें उत्पन्न कर्मराशिको माननेपर भी अन्य योनिमें जीवका प्रवेश होनेपर वर्तमान योनिके अनुकूल ही वासना उत्पन्न होती है, चाहे वह अनेक जन्मसे व्यवहित या अव्यवहित जन्मकी ही क्यों न हो । यदि प्रकृत योनि जीवनोपयोगी नहीं होती, तो उसकी वासना अभिव्यक्त नहीं होती ॥ ५६ ॥

'**अनन्त०**' इत्यादि । अनन्त कालके उपचयसे वासनाएँ अनन्त हैं, कालका ही जब अन्त नहीं है, तो उसके संसर्गसे जायमान वासनाओंका अन्त कैसे हो सकता है ? केवल दृष्टान्त द्वारा उदाहरणमात्रका यहां वर्णन करते हैं । उदाहरण उपलक्षणके लिए है, परिगणनके लिए नहीं, इससे

श्रुतिः—यथा माहारजनं वासो यथा पाण्ड्वाविकं यथेन्द्रगोपो यथाऽ-ग्न्यर्चिर्यथा पुण्डरीकं यथा सकृद्विद्युत्तꣳ सकृद्विद्युत्तेव ह वा अस्य श्रीर्भवति य एवं वेद ।

उदाहरणके परिमित होनेसे वासनाएँ भी परिमित ही होंगी, इस प्रकारकी संभावनाका अवकाश नहीं है ॥ ५७ ॥

'यथा महारजनम्' इत्यादि श्रुति । भर्तृप्रपञ्च द्वारा उक्त 'तस्य' इत्यादिके संबन्ध और उसकी प्रक्रियाको दूषित कर अपने मतमें 'तत्' शब्दका अर्थ कहते हैं । पूर्वप्रकृत लिङ्गात्माका 'तत्' शब्दसे ग्रहण होता है ।

शङ्का—जीव भी तो पाणिपेषणवाक्यसे प्रकान्त है, इसलिए जीवका ग्रहण क्यों नहीं होता ?

समाधान—यद्यपि जीव प्रकृत है, तथापि जीवका निर्विशेष ब्रह्मस्वरूपसे प्रतिपादन करना अभीष्ट है, वासनामय संसारीरूपसे नहीं, इसलिए लिङ्गात्माका ही परामर्श उचित है और इस कारणसे भी जीव वासनारूप नहीं हो सकता, किन्तु जीवका ही 'नेति नेति' इत्यादि वाक्य द्वारा अनाख्येयरूपसे आदेश है ।

शङ्का—उक्त आदेश तटस्थ ब्रह्मके बोधनके लिए है, जीवस्वरूपके बोधनके लिए नहीं है, ऐसा ही यदि कहा जाय, तो क्या दोष है ?

समाधान—छठे अध्यायकी समाप्तिमें 'विज्ञातारमरे केन विजानीयात्' (विज्ञाताको किससे जाने) इत्यादिसे आत्माका उपक्रम कर 'स एष नेति नेति' (आत्मा द्वैतवान् नहीं है) इत्यादिसे विज्ञानमयका ही उपदेश किया गया है, तटस्थका नहीं किया गया; अतः प्रकान्त विज्ञात्माका ही प्रकरणके अनु-रोधसे ग्रहण करना समुचित है । अन्यथा—यदि अन्य विज्ञानमय है और 'नेति नेति' इत्यादिसे अन्य निर्दिष्ट है, ऐसा माना जाय, तो—'ब्रह्म भिन्न है और अहं भिन्न है' यों विपरीत ही धारणा हो जायगी, जो इष्ट नहीं है, इष्ट है यथाश्रुति । 'आत्मानमेवावेदहं ब्रह्मास्मि' (आत्माको ही मैं ब्रह्म हूँ, ऐसा जाने) यही श्रुति द्वारा बोधन करना अभीष्ट है, अतः 'तस्य ह' इत्यादि वाक्यसे लिङ्ग पुरुषका ही उक्त रूप विवक्षित है । सत्यका सत्य परम सत्य वक्तव्य है, इसलिए निःशेष सत्यको कहना भी आवश्यक है । वासनाएँ सत्यके विशेष रूप हैं । उन्हींके ये रूप हैं, ऐसा कहते हैं—इस प्रकृत पुरुषके अर्थात् लिङ्गात्माके ये रूप हैं ।

शङ्का—कौन ?

समाधान—जैसे लोकमें महारजनके—हल्दीसे रँगे वस्त्रके—निजी गुण शुक्लादि थे, किन्तु हल्दीसे रँगनेपर वह पीतरूप हो जाता है; उस समय वह पीतत्वेनैव व्यवहृत होता है, स्वस्वरूपसे नहीं, वैसे ही रूपादिविषयसंयोग-दशामें वासनारूप ही रञ्जनाकार चित्तका आकार होता है। जिस कारणसे पुरुष भी रक्त कहा जाता है। रागादि अन्तःकरणमें रहते हैं, किन्तु उक्त उदाहरणके समान आत्मा भी तद्रूपसे व्यवहृत होता है। दूसरा दृष्टान्त यह है कि जैसे वर्षाके आरम्भमें इन्द्रगोपनामक अतिरक्त वर्तुल कीटविशेष उत्पन्न होता है, वैसे ही वासनानामक रूप अतिरक्त होता है, कहीं विषयविशेषकी अपेक्षासे रागोंका तारतम्य (उत्कर्षापकर्ष) भी होता है; जैसे लोकमें अग्निकी दीप्ति अतिशुक्ल होती है, वैसे ही किसी विषयमें अति उज्वल वासना होती है। जैसे कमल शुक्ल होता है और जैसे लोकमें एक बारका विद्युद्का विद्योतन सर्वत्र प्रकाशक होता है, वैसे ही ज्ञानकी (प्रकाशकी) विवृद्धिसे किसीका वासना-रूप होता है। उन वासना-रूपोंका न तो आदि ही है और न अन्त ही है, फिर मध्य कैसे कहा जाय? आदि और अन्त्य-सापेक्ष ही मध्य माना जाता है। आदि और अन्तसे शून्यका भी अभाव ही रहता है; एवं संख्या, देश, काल, निमित्त आदिमें से किसीका अवधारण नहीं हो सकता। वासनाके कारणोंके आनन्त्यसे वासनाएँ अपरिसंख्येय हैं, यह आगे 'इदम्मयोऽदोमयः' इत्यादिसे स्पष्ट होगा। अतः स्वरूपसंख्याका अवधारण करनेके लिए 'यथा माहारजनं वासः' इत्यादि दृष्टान्त नहीं है, किन्तु प्रकारका प्रदर्शन करनेके लिए है—इस प्रकारके वासना रूप होते हैं। परिमित दृष्टान्तसे वासना परिमित ही है, ऐसा किसीको भ्रम हो सकता है, उस भ्रमका निराकरण करनेके लिए यह कहा है। प्रकारभेदको स्पष्ट करनेके लिए दृष्टान्तभेद है। जो अन्तमें वासना रूपके लिए 'सकृत् विद्योतनमिव' कहा है, उसका तात्पर्य यह है कि अव्याकृतसे हिरण्यगर्भकी तडित्के समान एक बार ही अभिव्यक्ति होती है। उस हिरण्यगर्भके वासनारूपको जो जानता है; उसकी एक बार विद्युत्के समान ही ख्याति लोकमें होती है, निरवशेष सत्य स्वरूपको कह कर जिसको सत्यका सत्य कहा है, उसीके स्वरूपका अवधारण करनेके लिए इस अग्रिम ग्रंथका आरम्भ करते हैं,—अथ—सत्यस्वरूपके निर्देशके अनन्तर— जो सत्यका सत्य है, वही अवशिष्ट रहता है; अतः सत्यके स्वरूपका निर्देश करेंगे। आदेशका अर्थ प्रकृतमें निर्देश है।

हारिद्रं वसनं यद्वत् संसर्गात्पीततां व्रजेत् ।
तद्वन्नार्यादिसंसर्गाल्लिङ्गं रागादिमद्भवेत् ॥ ५८ ॥
ईषत्पाण्डुश्च परुषः स्यात् स्वतः श्वेतकम्बलः ।
तथेषच्छ्रद्धया युक्तं स्वतो रागादिभागपि ॥ ५९ ॥
इन्द्रगोपोऽतिरक्तः स्यात् स्वत एव तथा मनः ।
विविक्तदेशस्थस्याऽपि विषयप्रवणं क्वचित् ॥ ६० ॥

शङ्का—किसका ?

समाधान—ब्रह्मका ।

शङ्का—कौन निर्देश ?

समाधान—'नेति नेति' यह निर्देश ।

शङ्का—कैसे 'नेति नेति' शब्दसे सत्यके सत्यका निर्देश होता है ?

समाधान—सब उपाधियोंका विशेषरूपसे प्रतिषेध करनेपर जिसमें कोई नाम, कर्म, रूप, भेद, जाति अथवा गुणविशेष अवशिष्ट नहीं रहता । क्योंकि इन्हीं विशेषोंके द्वारा शब्दकी प्रवृत्ति होती है । कोई भी विशेष ब्रह्ममें नहीं रहता है, अतः ब्रह्म किसी भी शब्दसे निर्दिष्ट नहीं किया जा सकता है, यह भाव है ॥ ६ ॥

'हारिद्रम्' इत्यादि । 'माहारजनं वासः' इस दृष्टान्तका विशेष विवरण यह है—महारजन नाम हल्दीका है; जैसे शुक्ल आदि गुणसे विशिष्ट वस्त्र हल्दीसे संसृष्ट होनेपर पीत प्रतीत होता है । पीत गुण वस्त्रका स्वाभाविक नहीं है, वैसे ही असत्के संसर्गसे चित्त भी मलिन प्रतीत होता है असत् विषय नारी आदि हैं, उनके संसर्गसे चित्त रजःप्रधान हो जाता है, जिससे विषयोंमें विशेष आसक्ति होती है ॥ ५८ ॥

'ईषत्पाण्डुश्च' इत्यादि। अवि—मेष—(भेड़ा)। अवेरिदमाविकम् अर्थात् ऊर्णादि । अविसंबन्धि ऊर्णामय कम्बलादि स्वतः पाण्डुर होते हैं। 'ईषत्पाण्डुस्तु धूसरः' इस कोशसे पाण्डुशब्द शुक्लवाची है। यद्यपि भेड़ काले भी होते हैं, तथापि यहां वे विवक्षित नहीं हैं। जैसे श्वेत भेड़ोंका ऊन श्वेत होता है, उसका कम्बल भी स्वतः श्वेत ही होता है, वैसे ही स्वतः रागादि युक्त भी चित्त वेदान्तोपयोगी वैराग्यादि विषयमें स्वल्प भी श्रद्धादि होनेसे श्वेत कम्बलके समान शुद्ध प्रतीत होता है ॥ ५९ ॥

'इन्द्र०' इत्यादि । इन्द्रगोप—उक्त कीटविशेष—स्वतः अधिक लाल

अग्नेरर्चिर्यथा भास्वद्दहत्यपि तथा क्वचित् ।
वेदशास्त्रविदप्यन्यान् बाधेतेर्ष्याद्युपद्रवैः ॥ ६१ ॥
सिताम्भोजं यथा सौम्यं सुगन्धि मृदु च स्वतः ।
जन्मनैव तथा चित्तं युक्तं शमदमादिभिः ॥ ६२ ॥
तीव्रविद्युद्यथाऽत्यन्तं घनध्वान्तापनोदकृत् ।
तथा हिरण्यगर्भस्य सर्वज्ञा वासना भवेत् ॥ ६३ ॥

होता है एवं मन भी किसीका स्वतः अतिरागयुक्त होता है, अतएव विविक्त—निर्जन एकान्त—प्रदेशमें—('विविक्तौ पूतविजनौ' इस अमरकोशके अनुसार यहां 'विविक्त' शब्द विजनके तात्पर्यसे प्रयुक्त हुआ है)—स्थित पुरुषका भी चित्त विषयप्रवण ही (विषयग्रहणोन्मुख ही) रहता है । यद्यपि बाह्य विषयका सन्निधान नहीं है, तथापि उसमें आसक्ति होनेसे तद्विषयक चिन्तनमें उत्सुक होता है ॥ ६० ॥

'अग्नेरर्चि०' इत्यादि । जैसे अग्निकी देदीप्यमान अर्चि—ज्वाला—कहीं प्रकाशक होती है, कहीं दाहक भी होती है, वैसे ही वेद और शास्त्र जाननेवाले इर्ष्यादि उपद्रव द्वारा इतरके बाधक भी होते हैं । यद्यपि सत्त्वगुण प्रकाशक और प्रिय है, तथापि रजोगुणके संसर्गसे उसमें दुःखजनकस्वभावता भी हो जाती है । इसीसे दूसरेसे डाह करता है । डाहसे दोनोंको दुःख होता है । इसलिए ठीक ही कहा है, कि अग्निवत् चित्त स्वतः भास्वर है; फिर भी अग्निके समान क्वचित् रजःसंसर्गस्थलमें ईर्ष्यादि उपद्रव द्वारा दाहक भी होता है ॥ ६१ ॥

'सिताम्भोजम्' इत्यादि । जैसे शुक्ल कमल देखनेमें रमणीय, सुगन्धपूर्ण एवं जन्मसे ही स्वतः मृदु होता है, वैसे सत्पुरुषोंका चित्त जन्मसे ही स्वतः विशुद्ध रज और तमसे असंसृष्ट अतएव मृदु और दुःखदर्शनाद्यसहिष्णुताशील होता है । इसका उदाहरण इतिहास और पुराणोंमें विस्तृत है तथा लोकमें भी प्रसिद्ध है, इसलिए विशेष उदाहरण देनेकी आवश्यकता नहीं है । शम, दमादि भी परिशुद्ध सत्त्वगुणयुक्त चित्तमें ही सफल होते हैं ॥ ६२ ॥

'तीव्रविद्युद्' इत्यादि । सकृत्का तात्पर्य यह है कि तीव्र विद्युत् जैसे अतिघन मेघमालाजनित रात्रिके निबिड़ अन्धकारकी अतिशीघ्र निवृत्ति करती है, वैसे ही हिरण्यगर्भकी सर्वज्ञ वासना अतिशीघ्र सर्वविषयक होकर उत्पत्तिके बाद साधन-सामग्रीवश सब विषयोंकी प्रकाशक नहीं होती, किन्तु उत्पत्तिके समय ही सब

तामुपासीत आप्नोति श्रियमत्यन्तमूर्जिताम् ।
रजःसत्त्वतमोयोगात् वासनानां विचित्रता ॥ ६४ ॥
प्रपञ्चवासने ब्रह्मरूपे इत्येवमीरितम् ।
तथेदमनिदंरूपे इति पक्षोऽधुनोच्यते ॥ ६५ ॥
सवासनं जगत् सर्वं तत्रेदंरूपमीरितम् ।
सच्च त्यच्चेति सत्यं तत् प्रोच्यते पाञ्चभौतिकम् ॥ ६६ ॥

श्रुतिः—अथात आदेशो नेति नेति न ह्येतस्मादिति नेत्यन्यत्परम-

विषयोंकी प्रकाशक होती है, क्योंकि ज्ञानप्रकाशातिशयवश हिरण्यगर्भकी वासना सब विषयोंका प्रकाश करती हुई ही विद्युत्के समान उत्पन्न हुई है। अन्त्य वासनासे विशिष्ट सूत्रात्माकी उपासना या विधान करनेके लिए स्तुति की गई है, जो प्रकृतमें आवश्यक है; हिरण्यगर्भ परमात्मासे उत्पन्न हुए हैं तथा भास्वर हैं, इस विषयमें श्रुतिस्मृत्यादि प्रमाणरूपसे प्रसिद्ध हैं ॥ ६३ ॥

'तामुपासीत' इत्यादि। हिरण्यगर्भकी उक्त वासनाकी उपासना करनेवाला उपासक अतिस्थिर लक्ष्मीको पाता है; रजःसत्त्वादिके संसर्गसे वासनामें विचित्रता होती है ॥ ६४ ॥

'प्रपञ्च०' इत्यादि। प्रपञ्च और वासना—ये दो ब्रह्मके रूप हैं, इस पक्षका निरूपण हो चुका। अब 'इदम्' और 'अनिदम्'—ये दोनों ब्रह्मके रूप विवक्षित हैं, इस पक्षका निरूपण किया जाता है ॥ ६५ ॥

'सवासनम्' इत्यादि। वासनासहित सम्पूर्ण जगत् इदंपदसे कहा गया है।

शङ्का—सत्यका सत्य अद्वितीय ब्रह्म विवक्षित है, द्वितीयाभाव अद्वितीय कहा जाता है। अभावका ज्ञान प्रतियोगीके ज्ञानके बिना नहीं होता, इस तरह द्वैताभावके ज्ञानके लिए द्वैतज्ञान आवश्यक है, इसीका पूर्वमें प्रस्ताव हुआ है, अतः इदमनिदंरूपका निरूपण प्रकृतमें किस प्रसंगसे आया है?

समाधान—ब्रह्मके रूप वे हैं, जो द्वैत कहलाते हैं—एक सत् और दूसरा त्यत्। ये दोनों पदार्थ उक्त रीतिसे पञ्चभूतके वाचक हैं तीन मूर्त और दो अमूर्तोंके। अनिदंपदार्थका अब निरूपण करनेका अवसर आया है, इसलिए अब अनिदंपदार्थका निरूपण करेंगे ॥ ६६ ॥

'अथात आदेशो नेति नेति' इत्यादि श्रुति। षष्ठ्यन्त सत्यशब्द-

स्त्यथ नामधेयꣳ सत्यस्य सत्यमिति प्राणा वै सत्यं तेषामेष सत्यम् ॥ ६ ॥

इत्युपनिषदि द्वितीयाध्याये तृतीयं ब्राह्मणं समाप्तम् ॥ ३ ॥

सत्यस्य सत्यमनिदं वक्तव्यं शिष्यते ततः ।
आदेशोऽनन्तरं तस्य क्रियतेऽनन्यमानिनः ॥ ६७ ॥
आदेशो नेति नेतीति ब्रह्मतत्त्वावबोधकः ।
यथाऽयमुपपद्येत तथा सम्यङ्निरूप्यते ॥ ६८ ॥

वाच्य प्रपञ्चका निरूपण करनेके अनन्तर प्रथमान्त सत्यशब्दवाच्य जो अनिदंरूप है, वही वक्तव्यरूपसे अवशिष्ट है, अतः उसीका उपदेश आरम्भ करते हैं—'अथात' इत्यादि ग्रन्थसे ।

'सत्यस्य' इत्यादि । 'सत्यस्य सत्यम्' इस पूर्वोक्त वाक्यमें दो सत्यशब्दके दो अर्थ हैं—एक षष्ठ्यन्त सत्यशब्दका अर्थ और दूसरा प्रथमान्त सत्यशब्दका अर्थ। प्रथमका तो सविस्तर निरूपण किया गया। अब प्रथमान्त सत्यशब्दका अर्थ अवशिष्ट है । इसलिए उसीका निरूपण करनेके लिए निर्देश करते हैं—'आदेशो' इत्यादिसे । अब उस अनन्यमानीका—अद्वितीयका निर्देश करते हैं, क्योंकि अद्वितीयात्मज्ञानसे ही परम पुरुषार्थकी प्राप्ति होती है, अन्य प्रकारके ज्ञानसे नहीं; यह अद्वैतवेदान्तका सिद्धान्त है ॥ ६७ ॥

'आदेशो' इत्यादि । 'नेति नेति' यह आदेश (उपदेश) ब्रह्मका बोधक है, इसकी जैसे उपपत्ति होती है, वैसे समीचीनरूपसे यहाँ निरूपण करते हैं।

शङ्का—आदेशशब्द करण-साधन है या कर्म-साधन है अथवा भावसाधन है ? प्रथम पक्षमें 'आदिश्यते—उपदिश्यते—' इस व्युत्पत्तिसे आदेशशब्द ब्रह्मपरक हो सकता है । 'आदिश्यतेऽनेन इति आदेशः' इस व्युत्पत्तिसे आदेशकरण (शब्द) आदेशपदार्थ होता है। 'आदिष्टिः आदेशः' इस व्युत्पत्तिसे ज्ञान आदेशपदार्थ कहा जा सकता है । परन्तु वे तीनों पक्ष ठीक नहीं हैं, करण कि प्रथम पक्षमें 'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह' इत्यादि श्रुतियोंसे ब्रह्म वाणी और मनका गोचर नहीं है, ऐसा सिद्धान्त किया गया है । जब ब्रह्म उनका विषय ही नहीं है तब ब्रह्म आदेश नहीं हो सकता । वह तो वस्तुतः अनादेश है । द्वितीय पक्षमें भी ब्रह्म शब्दविषय नहीं है, अतः शब्दकरण भी आदेश नहीं हो सकता । अतएव भाव-व्युत्पत्ति भी ठीक नहीं है, क्योंकि शब्दजन्य ज्ञानका विषय ब्रह्म नहीं है, यह उक्त श्रुतिसे सिद्ध ही हो चुका है ।

इतिशब्देन चिद्भास्यमनूद्य प्रतिषिध्यते ।
नकारेण द्विरुक्तिस्तु वीप्सा कृत्स्ननिषिद्धये ॥ ६९ ॥

समाधान—यद्यपि उक्त शब्द ब्रह्मका वाचक नहीं है, फिर भी वह ब्रह्मज्ञानका निमित्त है। यह विषय अतिगम्भीर है। इसलिए खूब सावधान होकर सुनिए और समझिये—आत्मामें अध्यस्त अविद्या और तज्जनित मूर्तादि प्रपञ्चके निरास द्वारा ब्रह्मज्ञानके हेतु उक्त दो शब्द हैं।

शङ्का—मूर्तादिका निषेध यदि ब्रह्मातिरिक्त है, तो अद्वैतकी हानि होगी। यदि ब्रह्मस्वरूप है, तो ब्रह्म भी अभावरूप हो जायगा।

समाधान—ब्रह्माज्ञान और उसके कार्यका ध्वंस ब्रह्ममात्रस्वरूप ही है, अतः सद्वयत्वका संभव नहीं है। अभावत्व भी कल्पित है। कल्पनाकी निवृत्तिके अनन्तर अभावत्व भी नहीं रहता, अतः अभावस्वरूपताका आपादन भी नहीं हो सकता; केवल स्वस्वरूपसे अवस्थानमात्र ही ब्रह्म विवक्षित है।

शङ्का—फिर भी मूलकारण अवशिष्ट रह गया, अतः अद्वैतकी उपपत्ति नहीं हो सकती।

समाधान—अमूर्तकी अन्तिम परिसमाप्ति मूलकारणमें ही होती है और भूतत्वकी पृथिवीमें ऐसा पूर्वमें समर्थन कर चुके हैं। इन दोनोंके मध्यवर्गोंमें उन दोनोंका सांकर्य माना गया है, इसलिए पृथिवीसे लेकर मूलकारणपर्यन्त भूत-भौतिक निखिल पदार्थ निषेध्य हैं।

शङ्का—कार्यकारणसे अतिरिक्त कोई अन्य द्वितीय हो सकता है; अतः उसीसे अद्वैतकी क्षति हो सकती है।

समाधान—यदि वह (कारणातिरिक्त) वाणी और मनसे अतीत है, तो उसकी सत्तामें कुछ प्रमाण ही नहीं है। यदि वह उनका विषय है, तो उक्त मूर्तामूर्तकोटिमें ही अन्तर्भूत हो जायगा। नामरूपात्मक कर्म, प्राण, लोक, कारक, क्रिया, फल आदि जितने विषय हैं, उन सबका निषेध ब्रह्ममें है। निषेध्यका समर्थक न रहनेसे निषेधप्राप्ति ही नहीं बन सकती, क्योंकि प्रसक्तका ही प्रतिषेध माना जाता है ॥ ६४ ॥

'इतिशब्देन' इत्यादि। चिद्भास्यका—सकल नाम आदि निषेध्यका—'इति' शब्दसे अनुवाद कर 'नञ्' से निषेध करते हैं।

शङ्का—जैसे एक प्रदेशमें घटका निषेध करनेपर अन्य प्रदेशमें घटकी

सत्ता मानी जाती है, वैसे ही ब्रह्ममें मूर्तादिका निषेध माननेपर भी अन्यत्र उसकी सत्ता रह सकती है।

समाधान—ब्रह्ममें ही नामादि कल्पित हैं, अन्यत्र उनकी सत्ता है ही नहीं, जहाँ वे कल्पित हैं, वहींपर निषेध करनेसे अन्यत्र उनकी सत्ताकी संभावना ही कहाँ होगी? इदंपदार्थमें शुक्तिरजतका निषेध करनेपर अन्यत्र उसकी सत्ताका कहां संभव हो सकता है? भूतलमें घटादि व्यवहारदशामें व्यावहारिक माने जाते हैं, इसलिए उनकी अन्यत्र सत्ता रहती है। प्रकृतमें नामादि ब्रह्ममें ही शुक्तिमें रूप्यके समान कल्पित हैं, अतः उनकी अन्यत्र सत्ता असंभव है।

शङ्का—नामादि ब्रह्ममें कल्पित हैं, पारमार्थिक नहीं हैं, इसमें क्या प्रमाण है?

समाधान—'विमतं नामादि कल्पितम्, व्यभिचारित्वात्, सर्पवत्' इत्यादि अनुमान उक्त अर्थमें प्रमाण है। 'अयं घटः, अयं पटः' इत्यादि स्थलमें इदंपदार्थ सर्वत्र अनुवृत्त है। घटादि नाम परस्पर व्यावृत्त और व्यभिचारी हैं, अतः वे रज्जुमें सर्पवत् कल्पित कहे जाते हैं।

शङ्का—आत्मामें कल्पित प्रकृत इतिशब्दसे उक्त आकाशादिका नञ्से निषेध करते हैं। यदि ऐसा मानते हो, तो प्रकृत वाक्यमें ब्रह्मवाचक पदके न होनेसे ब्रह्मका बोध प्रकृत वाक्यसे हो ही नहीं सकता; इसलिए निषेध भी व्यर्थ ही है। वस्तुतः आपको उक्त वाक्यका विषय निर्विशेष ब्रह्म इष्ट है, सो नहीं बनता।

समाधान—ब्रह्मवाची पद नहीं है, यह कहना ठीक है, फिर भी प्रतीत अधिकरणमें ही प्रतिषेध होता है, अन्यत्र नहीं, अतएव शास्त्रका यह परम सिद्धान्त है कि सब वस्तुएँ पुरुषमें ही नष्ट होती हैं, विनाशहेतुके अभावसे पुरुष ही केवल अविनाशी है। आत्माके विनाशकी शङ्का भी नहीं हो सकती, क्योंकि असाक्षिक विनाशमें प्रमाण नहीं है। अन्य साक्षी है नहीं। सबके विनाशका साक्षी आत्मा है, इसलिए उनका ही नाश माना जाता है, साक्षी न होनेसे आत्माका विनाश नहीं माना जाता।

शङ्का—इतिशब्दको यदि प्रकृतपरामर्शी कहते हो, तो प्रकृत ब्रह्म भी है, अतः प्रकृतत्वहेतुक दृश्यके समान ब्रह्मका भी परामर्श इतिशब्दसे कर उसका भी निषेध होना चाहिए, इस परिस्थितिमें बौद्धों द्वारा उक्त शून्यवाद ही तत्त्व होगा।

समाधान—भाव और अभावमें सत्तास्फूर्तिप्रद तो ब्रह्म ही है और ब्रह्म स्वयंप्रकाश होनेसे वाणी और मनसे परे है, इसलिए इतिशब्द ब्रह्मको नहीं कह सकता, यह अनेक बार कह चुके हैं, अतएव शून्यवादकी क्या संभावना?

शङ्का---यदि आत्मबलसे नञ् द्वैतका निषेधक है, तो आत्मा और नञ् ये दोनों सनातन हैं, अतः प्रतिषेध भी सनातन ही होना चाहिए, अतएव किसी समय भी द्वैतका भान उचित नहीं ?

समाधान---वाक्यजन्य निष्प्रपञ्चात्मक ब्रह्मका साक्षात्कार ही द्वैतका निवर्तक कहा गया है, अतः वाक्यजन्य तथाविध ज्ञानसे ही चिदात्मा, सबकी निवृत्ति कर, स्वाभाविक अविच्छिन्नरूपसे व्यवस्थित होता है। उक्त ज्ञानसे पूर्व द्वैत-बुद्धि होनेमें कोई बाधक नहीं है। आत्मा तीन अवस्थाओंका साक्षी है। उससे अन्य कार्य वा कारण जो चिदाभासके समान हैं, वे सब निषेध्य हैं। सकल द्वैतके निषेधका फल यह है कि ईश्वरार्पणबुद्धिसे नित्यादि कर्मोंका अनुष्ठान और उनके द्वारा उत्पन्न विवेकसे युक्त चित्त परिशुद्ध हो जाता है, तदनन्तर 'तत्त्वमसि' आदि वाक्यके श्रवणसे परमात्मबुद्धिका लाभ होता है। उस बुद्धिके बलसे अविद्या और तज्जनित सकल विकारका ध्वंस होता है; उस अवस्थामें निर्व्यापार होकर स्वमहिमामें प्रतिष्ठित रहता है।

शङ्का---आत्मज्ञानसे उसके अज्ञानकी निवृत्ति तो उचित ही है, पर जगत्की निवृत्ति क्यों कहते हो ? क्या जगत्की निवृत्तिके बिना मोक्ष नहीं हो सकता ?

समाधान---जो अज्ञान कार्य और कारणकी अपेक्षा करता है; वह वास्तविक आत्मामें नहीं रहता, किन्तु आकाशमें नीलिमाके समान कल्पित ही माना जाता है।

शङ्का---आकाशनीलिमाके समान जगत् अज्ञानजन्य है; अतः निषेध्य है; यह ठीक है परन्तु जगत्के निषेध द्वारा आत्माका प्रतिपादन नहीं हो सकता; क्या नीलके निषेधसे आकाशका प्रतिपादन होता है ?

समाधान---आकाश तो विषय है, इसलिए विधि द्वारा भी उसका प्रतिपादन होता है। आत्मा शब्दादिका अविषय, कूटस्थ और अद्वितीय है, अतः उसका विधि-मुखसे प्रतिपादन नहीं हो सकता, किन्तु निषेध द्वारा ही उसका प्रतिपादन किया जा सकता है। आकाश विधिगोचर है; इसलिए उसका निषेध द्वारा प्रतिपादन नहीं किया जा सकता, यह कहना ठीक ही है; पर उक्त आत्मा तो शब्दादिहीन तथा मानान्तरका अविषय है। आगम भी विधिमुखसे आत्माका प्रतिपादन नहीं कर सकता, इसलिए प्रतिषेध ही प्रतिपादनका द्वार माना जाता है।

शङ्का---जिसको विधिमुखसे नहीं कह सकते, वह है ही नहीं, जैसे

मूर्तं वा यदि वाऽमूर्त्तमज्ञानं वासनाऽथवा ।
अध्यात्ममधिदैवं वा तत्सर्वं प्रतिषिध्यते ॥ ७० ॥
न चेद्वीप्सा तदा द्वाभ्यां द्वयमेव निषिध्यते ।
ततश्च ब्रह्मताशङ्का दृश्येऽन्यस्मिन् प्रसज्यते ॥ ७१ ॥
वीप्सया सर्वदृश्यस्य निषेधे त्ववशिष्यते ।
अमेयमेकमेवाऽतो यथावद् ब्रह्म बुध्यते ॥ ७२ ॥

वन्ध्यापुत्र । आत्माको भी विधिमुखसे नहीं कह सकते; अतः उसका अभाव ही क्यों नहीं मानते ?

समाधान—आत्मा स्वयंप्रकाश स्वयंसिद्ध है; अतः उसकी सत्ताका अपलाप कोई नहीं कर सकता ।

शङ्का—'इति' शब्दसे सकल दृश्यका अनुवाद कर उसका 'नञ्' से निषेध करते हैं। यदि यही ईप्सित है, तो उसके लिए एक ही नञ् पर्याप्त है। दो नञ् और दो इति शब्दका उपादान व्यर्थ है; इसलिए कहते हैं—'द्विरुक्ति' इत्यादि । दो 'नञों' का उपादान वीप्साके बोधनके लिए है; अन्यथा यत्किञ्चिद् दृश्यके निषेधसे अभिमत अर्थ सिद्ध नहीं होगा, अतः उसका उपादान आवश्यक है ॥ ६९ ॥

'मूर्तं वा' इत्यादि । मूर्त, अमूर्त, अज्ञान अथवा वासना आदि अध्यात्म और अधि-दैवत भेदसे भिन्न जो कुछ है, उस सबका प्रतिषेध करनेके लिए वीप्सा की गई है ॥७०॥

वीप्साके अभावपक्षमें दोष कहते हैं—**'न चेद्वीप्सा'** इत्यादिसे ।

जो यह कहते हैं कि यहां वीप्सा नहीं है; उनके मतमें ये 'नेति नेति' दो वाक्य हैं और उनसे मूर्त और अमूर्त—ये ही दो प्रतिषेध्य होंगे । इस परिस्थितिमें एक एक वाक्यसे एक एकका निषेध होनेपर भी अन्य राशिमें ब्रह्मस्वरूपकी शङ्काका सम्भव होनेसे शुद्ध ब्रह्मकी सिद्धि नहीं होगी ।

शङ्का—उक्त दो राशियोंमें सबका समावेश हो ही जाता है, फिर अवशिष्ट ही क्या है ? जिसमें ब्रह्मस्वरूपकी शङ्काका सम्भव कहते हो ।

समाधान—प्रतिषेध ही अवशिष्ट रह जाता है, इसमें ही उक्त शङ्का हो सकती है, क्योंकि दो 'इति' शब्दोंसे मूर्तामूर्तकी ही उपस्थिति होनेसे दोनों 'नञों' का क्रमशः उक्त पदार्थोंमें अन्वय होनेपर प्रतिषेध अवशिष्ट रह जायगा, अतः वीप्सा आवश्यक है ॥ ७१ ॥

'वीप्सया' इत्यादि । वीप्साका स्वीकार करनेपर सब दृश्योंका निषेध होनेसे

न शून्यं शिष्यतेऽस्याऽपि दृश्यत्वादेव निह्नवात् ।
भावाभावनिषेधेऽन्यद् ब्रह्मणः शिष्यतेऽत्र किम् ॥ ७३ ॥
न ब्रह्मणो निषेधः स्यादितिशब्दासमर्पणात् ।
ब्रह्म चेदितिशब्दार्थः किमन्यदनिदं भवेत् ॥ ७४ ॥
नाऽन्तरेणाऽनिदन्तत्त्वमिदमर्थः प्रसिध्यति ।
यत्ते स्यादनिदं तत्त्वं तदेव ब्रह्म मे मते ॥ ७५ ॥

जो अवशिष्ट रह जाता है, वह अमेय (ज्ञानाविषय) एक ही ब्रह्मात्मा अवशिष्ट रहता है, इसलिए ब्रह्मका यथार्थ बोध होता है और उसीसे मुमुक्षु कृतार्थ हो जाता है। मन स्वभावतः बाह्यविषयक होता है, कथंचित् देवताप्रसादादि द्वारा परमात्मामें अनुरक्त हो जाता है और पराक् विषयोंसे निवृत्त होकर ब्रह्ममें स्थिर होता है।

शङ्का—'द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे' इत्यादि वाक्यसे मूर्तामूर्तव्यतिरेक तो पहले ही सिद्ध हो जाता है, कारण कि षष्ठी भेदमें ही होती है, अतः आदेशोक्ति व्यतिरेक द्वारा ब्रह्मके प्रतिपादनके लिए है, यह व्याख्यान समीचन नहीं है।

समाधान—यह वाक्य पदार्थशोधनके अनन्तर साक्षात् ही ब्रह्मका बोधक है। किसीका मत यह है कि 'नेति नेति' यह निषेधादेश निषेध्य मूर्तादिके निषेधके लिए नहीं है, किन्तु लक्षणासे त्वमर्थपरक है। अन्यथा अप्रमित ब्रह्ममें प्रमित मूर्तादिका निषेध होनेसे विश्वमें तात्त्विकशून्यता ही प्रसक्त हो जायगी, इसका निराकरण करते हैं—'**न शून्यम्**' इत्यादिसे।

शून्य भी अवशिष्ट नहीं रह सकता, क्योंकि वह भी तो दृश्य ही है, दृश्यमात्रका 'नञ्' से प्रतिषेध किया जाता है, चाहे वह भावात्मक हो या अभावात्मक। इसलिए शून्यके शेषकी संभावना नहीं हो सकती। केवल ब्रह्म ही अवशिष्ट रहता है, अन्य नहीं रहता ॥ ७३ ॥

'**न ब्रह्मणो**' इत्यादि। इतिशब्दार्थ ब्रह्म नहीं है, किन्तु मूर्तामूर्तात्मक जगत् उसका अर्थ है, ब्रह्म वाणी और मनसे अतीत अतएव शब्दावाच्य है। 'इति' शब्दसे उक्त अर्थका अनुवाद कर प्रतिषेध किया गया है। इदंशब्दका पर्याय 'इति' शब्द है। यदि ब्रह्म भी इतिशब्दार्थ कहा जायगा, तो सब इदंशब्दार्थ हो जायगा। अनिदंशब्द ही अनर्थक हो जायगा। ब्रह्म अनिदंपदार्थ माना जाता है, इसलिए 'ब्रह्म' इति शब्दार्थ नहीं है ॥ ७४ ॥

'**नाऽन्तरेण**' इत्यादि। इदन्त्वकी सिद्धि अनिदं तत्त्वके बिना नहीं हो

निषेधोऽपि ससाक्ष्येव नाऽतः साक्षी निषिध्यते।
यन्निषेद्धुमशक्यं तत्साक्षी ब्रह्मेति गम्यताम् ॥ ७६ ॥
इतिशब्दनकाराभ्यां वाच्यस्य ब्रह्मता नहि।
अतिरिक्तं तु न प्रोक्तं कथं ब्रह्म विबुध्यते ॥ ७७ ॥

सकती, दृश्यवर्गमें इदन्त्व है, भोक्ता साक्षी अनिदंतत्त्व है। भोक्ताके बिना भोग्यकी सिद्धि नहीं हो सकती। अतः भोग्यजात भोक्ताके अधीन है, इसमें किसीको विवाद नहीं है। जिसको आप अनिदं कहते हैं, वही हमारे मतमें ब्रह्म कहा जाता है ॥ ७५ ॥

'निषेधो०' इत्यादि। निषेध ससाक्षिक ही प्रामाणिक माना जाता है, केवल यौक्तिक नहीं। चेतन आत्माको छोड़कर दूसरा कोई साक्षी नहीं हो सकता। अतः दृश्यमात्रके निषेधमें आत्मा साक्षी कहा जाता है। यदि दृश्य-निषेधके समान साक्षीका भी निषेध किया जाय, तो उसमें साक्षी कौन माना जाय, स्वयं आत्मा तो स्वनिषेधका साक्षी हो नहीं सकता, कारण कि स्वस्थिति-कालमें स्वाभाव नहीं है और स्वाभावकालमें स्वयं नहीं है, भावाभावकी समान-कालमें स्थिति ही असंभव है। ध्वंसकी प्रतियोगीके साथ समानकालता नहीं हो सकती, अन्यथा ध्वंस और प्रतियोगीके विरोधका ही भङ्ग हो जायगा ॥ ७६ ॥

'इति शब्द' इत्यादि।

शङ्का—अच्छा, तो साक्षीका प्रतिषेध असंभव है, इसलिए प्रतिषेध न हो, फिर भी साक्षीमें कोई प्रमाण नहीं कह सकते। प्रमाणके बिना प्रमेयकी सिद्धि नहीं मानी जाती, अतएव सप्तम रस नहीं माना जाता। अरूपी द्रव्य होनेसे प्रत्यक्षादि प्रमाण तो हो नहीं सकते, केवल आगमको ही साक्षीकी सत्तामें प्रमाण कह सकते हैं। उसे भी अब नहीं कह सकते, कारण कि यदि साक्षीको शब्द-वाच्य मानें, तो इतिशब्दसे उसका भी अनुवाद कर मूर्तादिके समान निषेध ही हो जायगा। यदि इस दोषके परिहारके लिए शब्दवाच्य ही न मानें, तो 'नञ्' प्रतिषेध वाची है और इति शब्द मूर्तादिका उपस्थापक है, ब्रह्मका उपस्थापक कोई पद प्रकृत वाक्यमें नहीं है, अतः यह आदेश ब्रह्मका बोधक कैसे माना जायगा ? ब्रह्मविषयक बोधनका वाक्य ही ब्रह्मबोधक होता है; अतः औपनिषद ब्रह्म है, यह अद्वैतवेदान्तियोंका सिद्धान्त ही असंगत होता है ॥ ७७ ॥

स्वतः प्रत्यक्परागर्थद्वयेनैषाऽनुरञ्जिता ।
धीर्निषिद्धा पराग्थात्प्रतीचि लभते स्थितिम् ॥ ७८ ॥
कीदृक्तत्प्रत्यगिति चेत्तादृगीदृगितिद्वयम् ।
यत्र न प्रसरत्येतत्प्रत्यगित्यवधार्यताम् ॥ ७९ ॥

'स्वतः प्रत्यक्' इत्यादि । संपूर्ण दृश्य स्वकारणीभूत चित्से संबद्ध रहते हैं, अतः तद्विषयकबुद्धिवृत्ति (ज्ञान) स्वभावतः चिदचिद्विषयक होती है । निषेधवाक्यसे सकल दृश्यके अभावका बोध होनेके अनन्तर चिन्मात्र ब्रह्ममें बुद्धि परिनिष्ठित हो जाती है । इस परम्परासे ब्रह्म श्रौत माना जाता है । व्यवहारदशामें 'अयं घटः' इत्यादि बुद्धि होती है, यह सर्वानुभवसिद्ध है । इदर्थ अव्यभिचरित होनेसे चिद्विषयक है । घटादिके व्यभिचरित होनेसे तद्विषयक बुद्धि अचिद्-बुद्धि कही जाती है । 'नेति नेति' इस निषेधवाक्यसे अचिद् घटादिका निषेध करनेपर भी चिन्मात्रका प्रतिषेध न होनेसे तन्मात्रमें बुद्धि परिनिष्ठित रह जाती है । इसलिए आत्मामें श्रौत प्रमाण माना जाता है । 'इदं रजतम्' इत्यादि बुद्धि जब रजतांशमें बाधित नहीं होती है तब तद्विषयमें अपरिनिष्ठित होनेपर भी 'इदम्' अंशमें अपरिनिष्ठित नहीं होती; उसी प्रकार प्रकृतमें भी समझना चाहिए ॥ ७८ ॥

'कीदृक्' इत्यादि । ब्रह्म कैसा है, यह जिज्ञासा श्रोताको जब उत्पन्न होती है, तब वह पूछता है कि ब्रह्म कैसा है ? इसका उत्तर साकारबोधक वाक्य ही होता है, जैसे किसीने पूछा घट कैसा होता है, तो उत्तर दिया जाता है कि पृथुबुध्नोदराकार । इससे इतरव्यावृत्त घटके आकारका श्रोताको बोध हो जाता है, एवं ब्रह्म कैसा है ? इस जिज्ञासाकी निवृत्तिके लिए 'एतादृग् ब्रह्म है, इत्यादि वाक्य ही उत्तर होना चाहिए, प्रकृतमें ब्रह्मको निर्विशेष मानते हैं, अतएव वह शब्द-वाच्य नहीं है, ऐसा समर्थन करते हैं । ऐसी परिस्थितिमें उक्त प्रश्नका उत्तर यह है कि जैसी वस्तु रहती है, वैसी ही उसको कहना चाहिए। पराग् विषय साकार है , इसलिए उसके आकारोंका निर्देश करना युक्तिसंगत ही है । ब्रह्ममें ईदृग्-तादृग् कोई आकार है नहीं, इसलिए उसके विषयमें यही उत्तर पर्याप्त और यथार्थ है कि जिसमें ईदृग् तादृग् -- ये दोनों नहीं हैं और न जिसे कह सकते हैं; अर्थात् दोनोंका प्रसंग जहां नहीं है, वही ब्रह्म है, यही निश्चय कीजिये ।

ज्ञानक्रियाभ्यां व्याप्यं तदित्याकाङ्क्षानिवर्तनात् ।
अप्रमित्सित एकस्मिन् धीस्तिष्ठत्यचिकीर्षिते ॥ ८० ॥
दृश्यत्वादितिशब्दार्थौ प्रमित्सिताचिकीर्षितौ ।
तत्त्यागे कृतकृत्यत्वं ज्ञेयकार्यसमाप्तितः ॥ ८१ ॥

'ज्ञानक्रियाभ्याम्' इत्यादि । ज्ञानव्याप्यत्व याने ज्ञानकर्मत्व, क्रियाव्याप्यत्व याने कर्मव्याप्यत्व—इन दो प्रकारोंकी आकाङ्क्षा क्रमशः ज्ञेय और कार्यमें रहती है। इन दो प्रकारोंसे मूर्तामूर्तात्मक अशेष जगत्का ग्रहण हो जाता है। प्रकृत ब्रह्म न ज्ञेय है और न कार्य ही है, अतः उक्त दोनों आकाङ्क्षाएँ उसमें से निवृत्त हो जाती हैं अर्थात् 'नेति नेति' इस वीप्सासे युक्त वाक्यसे—उक्त दो प्रकारोंसे जो जो पदार्थ लोकमें व्यवहृत होते हैं, वे सब ब्रह्ममें नहीं हैं, कारण कि ब्रह्म न ज्ञेय है और न कार्य है, ऐसा—समझनेपर विद्वान् ज्ञानक्रियाके अविषय ब्रह्ममें तादात्म्यरूप निष्ठाको प्राप्त होता है।

शङ्का—केवल स्थूल आदिके अभावके ज्ञानसे ही द्वैत और द्वैतके हेतु अज्ञानका ध्वंस होकर मोक्षकी प्राप्ति हो जायगी, फिर उसके लिए ब्रह्मनिष्ठा व्यर्थ है और अभावपक्षसे वीप्सापक्षमें कुछ विशेष भी दृष्टिगोचर नहीं होता अर्थात् शून्यवादसे इस पक्षमें कुछ विशेष प्रतीत नहीं होता।

समाधान—इस पक्षमें विशेष यह है कि ब्रह्मतत्त्वधी सिद्ध होती है, जिसका प्रतिषेध हजारों वर्षोंमें भी नहीं कर सकते। अभावपक्षमें साक्षीका भी अभाव मानते हैं, जो उक्त रीतिसे सर्वथा असंभव है, अतः वह विशेष थोड़ा नहीं है ॥ ७९,८० ॥

'दृश्यत्वादिति' इत्यादि । मुमुक्षुके लिए दो ही विषय रहते हैं—कर्तव्य और ज्ञेय। कर्तव्य तो पूर्वावस्थामें (युञ्जानावस्थामें) ही समाप्तप्राय हो जाता है। केवल ज्ञेयमात्र अवशिष्ट रहता है; उसकी भी सीमा है। उक्त वीप्साघटित वाक्यसे दोनोंकी समाप्ति कही गई है, इसलिए यही निश्चय होता है कि अब कार्य और ज्ञेय दोनोंकी समाप्ति होनेसे मुमुक्षु कृतकृत्य हो गया अर्थात् जन्म आदिसे सदाके लिए रहित हो गया, अतएव कृतकार्य और ज्ञातज्ञेय हो गया, उसके कर्तव्यादि समाप्त हो गये, जो वेदान्तका ध्येय है, वह पूर्ण हो गया। यदि वीप्सा न मानियेगा, तो दो वाक्य हो जायँगे, ऐसी अवस्थामें एक-एकके निषेधके लिए ही एक-एक

आत्मनः स्वप्रकाशत्वाद् बुद्धेस्तत्पक्षपाततः ।
अन्यापह्नवमात्रे सा पर्यवस्यति शास्त्रगीः ॥ ८२ ॥
सर्वप्रत्ययवेद्ये वा ब्रह्मरूपे व्यवस्थिते ।
प्रपञ्चस्य प्रविलयः शब्देन प्रतिपाद्यते ॥ ८३ ॥

वाक्यके सार्थक होनेसे अनुक्त विषयकी शङ्का रह जायगी। अथवा अभाव ही अवशिष्ट रह जायगा, इससे उक्त अर्थकी सिद्धि नहीं होगी, इसलिए वीप्साका ही भाष्यकारने सिद्धान्त किया है ॥ ८१ ॥

'**आत्मनः**' इत्यादि। आत्मा स्वप्रकाश अतएव स्वयंसिद्ध है, इसलिए वह न कार्य है और न ज्ञेय, केवल अविद्योपस्थापित नामादिसे संसृष्ट होकर उनका प्रकाशक होता है; इसीसे दार्शनिकोंको आत्मतत्त्वके निर्णयमें अनेक प्रकारकी भूलें हुई हैं। केवल तर्कादि द्वारा आत्मतत्त्वका विवेचन जिन लोगोंने किया है, वे प्रायः आत्मतत्त्वका यथार्थ निर्णय नहीं कर पाये हैं। आत्मा आगमैकगम्य है, अतः आगम द्वारा ही उसका यथार्थ निर्णय हो सकता है, अन्यथा नहीं। जैसे मिश्रित अष्टधातुओंका विश्लेषण अभिज्ञ पुरुष ही प्रयोग द्वारा कर सकता है, अनभिज्ञ नहीं कर सकता, वैसे ही चिदचिन्मिश्रित शरीरादिमें चिदंश कौन है और अचिदंश कौन और कितने हैं? इत्यादिके निर्णयका उपाय आगम ही है, तर्कादि नहीं हैं। धातुओंके विश्लेषणका उपाय जैसे नियत है, वैसे ही यहां भी उपाय नियत है। भेद इतना ही है कि वे भौतिक हैं, इसलिए उनके विश्लेषणके उपाय भी भौतिक ही हैं। चिदचिद्विभागके उपाय आध्यात्मिक हैं। आगमोक्त उपाय तथा महात्माओंके उपदेश पर जो विश्वास कर उसमें परायण होते हैं, वे ही उक्त विभागमें कुशल होते हैं, इसीसे यह कहा जाता है कि बुद्धिका तत्त्वमें पक्षपात होता है; इसी क्षणमें उत्पन्न भी तत्त्वबुद्धि दीर्घकालोत्पन्न प्रबल अतत्त्व बुद्धिको समूल नष्ट करती है; अतएव भविष्यमें पुनः अतत्त्वबुद्धि द्वारा तत्त्वबुद्धिके तिरोभावकी शङ्का नहीं रह जाती। आत्मा स्वप्रकाश है और बुद्धिका आत्मामें पक्षपात है, इसलिए 'नेति नेति' इत्यादि वाक्य द्वैतमात्रनिषेधपरक है अर्थात् द्वैतनिषेधमें ही उसका पर्यवसान है। आत्मतत्त्व स्वतः सिद्ध है ॥ ८२ ॥

'**सर्वप्रत्यय०**' इत्यादि। सर्वप्रत्ययवेद्य ब्रह्मस्वरूप स्वयं व्यवस्थित है; उसके साधन या ज्ञापनके लिए वेदान्तकी आवश्यकता नहीं है, किन्तु आवश्यकता है

इति प्राह ब्रह्मसिद्धिकारो वेदरहस्यवित् ।
अतोऽत्राऽन्यनिषेधेन ब्रह्मबोधः समाप्यते ॥ ८४ ॥
पटे घटो निषिद्धः सन् पटादन्यत्र तिष्ठति ।
इदं जगत् तथाऽन्यत्र स्यादित्येतदसङ्गतम् ॥ ८५ ॥

प्रपञ्चके विलयकी, अतः उक्त शास्त्र प्रपञ्चविलयके ही लिए है, अन्य अर्थके लिए नहीं है। भाव यह है कि घटादिशब्दसे घटावच्छिन्न चैतन्यका बोध होता है; अतः घटादि-शब्द भी घटोपाधि द्वारा ब्रह्मके वाचक हैं। एवं 'अयं घटः' इत्यादि प्रत्यक्ष ज्ञान भी शुद्ध-घट-विषयक नहीं है, किन्तु घटोपहित-ब्रह्म-विषयक है। अधिष्ठानभानके बिना केवल अध्यस्तका भान कहीं दृष्टचर नहीं है; अतः सभी घटादिविषयक ज्ञान घटाद्युपहित-ब्रह्मविषयक माने जाते हैं। विशिष्टाद्वैत-मतमें भी घटादिशब्द अचि-द्विशिष्ट-चिद्विषयक माने जाते हैं, इसलिए उनके मतमें भी ज्ञानमात्र विशेष्यविधया ब्रह्म-विषयक कहा जाता है ।

शङ्का—यदि घटादिज्ञान भी ब्रह्मविषयक है, तो उसीसे मोक्ष क्यों नहीं मानते ?

समाधान—अज्ञान और तदीय-कार्याविषयक ब्रह्मज्ञानसे ही मोक्ष होता है, यह श्रुतिके अनुकूल सिद्धान्त है। उक्त ज्ञान विशेषणविधया अज्ञानकार्य-घटादिविषयक होनेसे उससे उक्त आपत्ति नहीं हो सकती, अतएव 'तमेव धीरो विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत', 'नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय' इत्यादि श्रुतियोंमें एवकारादि पद प्रयुक्त हुए हैं। ब्रह्मा-तिरिक्तकी व्यावृत्ति ही उनका मुख्य फल है। अतः यह बहुत ठीक कहा गया है कि 'सर्वप्रत्यय-वेद्य ब्रह्म व्यवस्थित है'। इसके भानके लिए शब्दकी आवश्यकता नहीं है, किन्तु ब्रह्मेतरके भानकी व्यावृत्तिके लिए ही वेदान्तादि आवश्यक हैं। ब्रह्मभान तो स्वतःसिद्ध है ॥ ८३ ॥

'इति प्राह' इत्यादि। वेदका रहस्य (अतिगोप्य) तत्त्व जाननेवाले ब्रह्मसिद्धिकार मण्डनमिश्रने उक्त श्लोकसे यही अर्थ स्फुट किया है। अतः उक्त अर्थ वेदान्तानभिमत और कपोलकल्पित नहीं है, किन्तु प्रामाणिक है। इस-लिए ब्रह्मातिरिक्तके निषेध द्वारा ब्रह्मबोधकी परिसमाप्ति होती है अर्थात् स्वयंप्रकाश सर्वान्तर्यामीके बोधके लिए वेदान्त नहीं हैं, किन्तु इतरकी व्यावृत्तिके लिए वेदान्त हैं, यह परम निष्कर्ष है ॥ ८४ ॥

'पटे घटो' इत्यादि।

रूपिद्रव्याद्विपिद्धं तद्रूपं नाऽन्यत्र तिष्ठति ।
रूपं घटस्य भिन्नं सन्नहि क्वाऽप्युपलभ्यते ॥ ८६ ॥

शङ्का—जैसे पटमें घट नहीं है, ऐसा कहनेपर पटमें ही घटका निषेध माना जाता है, अन्यत्र भूतलादिमें नहीं; प्रत्युत भूतलादिमें तो घटकी स्थिति ही मानी जाती है । अन्यथा अविशेषसे घट नहीं है, ऐसा कहना उचित होगा । और पटमें घट नहीं है, ऐसा विशेषरूपसे घटादिपदका उपादान ही व्यर्थ हो जायगा । वैसे ही 'नेह नानास्ति किञ्चन' इत्यादि श्रुति द्वारा ब्रह्ममें जगत्‌का निषेध किया गया है, इसलिए ब्रह्ममें भले ही जगत्‌को न मानिये, किन्तु अन्यत्र जगत् नहीं है, इसमें क्या प्रमाण ? यदि कहीं अन्यत्र भी जगत् रहता है, तो अद्वैत ब्रह्म सिद्ध नहीं हो सकता।

समाधान-- यह दृष्टान्त विषम है । घट और पटमें परस्पर कार्यकारणभाव नहीं है और न अध्यासाधिष्ठानभाव ही है, इसलिए घटादिकी अनिषिद्धाधिकरणमें स्थिति हो सकती है; ब्रह्म और जगत्का रूप और घटादिके समान कार्यकारणभाव है एवं शुक्तिरूप्यादिके समान अध्यासाधिष्ठानभाव है । जैसे घटीय रूपादि घटको छोड़कर अन्यत्र नहीं रह सकते, अतएव जहां घटादिका निषेध करते हैं वहाँ उसके रूपादिका भी निषेध अर्थतः सिद्ध होता है; यह संभव नहीं है कि घट न हो और घटीय रूप हो । कार्य कारणका व्यभिचारी नहीं हो सकता । अगर हो, तो कार्यकारणभाव ही नहीं होगा । प्रकृतमें जगत्‌का कारण ब्रह्म है, इसलिए ब्रह्मसे अतिरिक्त स्थलमें जगत्‌की स्थितिकी संभावना ही नहीं है । जहाँ सम्भव है, वहां निषेध ही करते हैं, अतः उक्त शङ्का सर्वथा निर्मूल है ॥ ८५ ॥

'रूपिद्रव्या०' इत्यादि । घट और उसके रूपका कार्यकारणभाव है । कार्यकारण भाव अत्यन्त भेद होनेपर नहीं हो सकता । जैसे अश्व और गऊ ये दोनों परस्पर अत्यन्त भिन्न हैं, इसलिए उक्त दोनोंमें कार्यकारणभाव नहीं है, वैसे ही अत्यन्त अभेदमें भी आत्माश्रयादि दोषसे कार्यकारणभाव नहीं होता । इसीलिए घटका कारण घट नहीं हो सकता ।

वस्तुतस्तु कारणसे अतिरिक्त कार्य नहीं है, किन्तु कारणकी एक अवस्था ही कार्य है, अतएव 'मृद्घटः' इत्यादि सामानाधिकरण प्रतीति होती है । इसीसे वेदान्ती कार्य और कारणका मीमांसकादिमतके अनुसार तादात्म्यसंबन्ध मानते हैं, यह संबन्ध भेदाभेदमें माना जाता है, अतः 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्' इत्यादि श्रुतिके अनुसार

रूपिणो ब्रह्मणस्तद्वज्जगद्रूपं निराकृतम् ।
न ब्रह्मणि तथाऽन्यत्र स्थातुमर्हति कुत्रचित् ॥ ८७ ॥

जगत् और ब्रह्मका सामानाधिकरण्य स्फुट होनेसे रज्जुमें भुजङ्गके समान ब्रह्ममें जगत् अज्ञानकल्पित है। जगत्कल्पनाके अधिष्ठान ब्रह्ममें प्रतीयमान जगत्का 'नेह नानास्ति किञ्चन' इत्यादि श्रुतिसे जब निषेध किया जाता है, तब उसमें अथवा अन्यत्र उसकी सत्ताकी संभावना ही कैसे होगी ?

शङ्का—यदि जगत् शुक्ति-रूप्यके समान कल्पित है, तो अधिष्ठानमें उसका निषेध होनेपर उसकी अन्यत्र सत्ता नहीं हो सकती, यह कहना माना जा सकता है, परन्तु जगत् कल्पित है, इसीमें क्या प्रमाण ?

समाधान—प्रमाण है अनुमान। विमतं कल्पितम्, व्यभिचारित्वात्, सर्पवत्। जो व्यभिचारी होता है, वह कल्पित ही माना जाता है। जैसे रज्जु कभी सर्पात्मना प्रतीत होती है और कभी स्वरूपसे प्रतीत होती है। सर्पप्रतीति-वेलामें भी रज्जुकी स्वरूपसे ही प्रतीति होती है, अतएव इदंपदसे उसीका निर्देश किया जाता है। 'नाऽयं सर्पः रज्जुरेषा' इत्यादि ज्ञानदशामें भी रज्जुकी प्रतीति होती है, अतः अव्यभिचरित रज्जु-प्रतीति परमार्थतः सद्विषयक है। सर्पप्रतीति निषेधवेलामें नहीं होती, अतः सर्पप्रतीति व्यभिचारी होनेसे सर्प कल्पित ही माना जाता है। एवं 'सन् प्रपञ्चः' इत्यादि प्रपञ्चके भानके समयमें तथा 'नेह नानास्ति किञ्चन' इत्यादि द्वैतप्रतिषेध-वेलामें ब्रह्मका भान अव्यभिचरित होनेसे ब्रह्म परमार्थ सत् है और जगत् प्रतिषेध-वेलामें भासता नहीं है, इसलिए सर्पके समान वह कल्पित अतएव मृषा है ॥८५॥

'रूपिणो' इत्यादि। जगत्कारण रूपी ब्रह्मसे अतिरिक्त जगत्का जब निषेध श्रुति करती है, तब ब्रह्ममें या अतिरिक्तमें जगत् नहीं रह सकता, क्योंकि ऐसा माननेमें विकल्प होता है कि अन्यत्र स्थिति भेदेन होती है या अभेदेन ? प्रथम पक्षमें व्याघात होगा; यदि ब्रह्मभिन्न जगत्का प्रतिषेध होनेपर भी उक्तरूपसे उसकी स्थिति मानी जाय, तो प्रतिषेध ही व्यर्थ तथा अप्रामाणिक हो जायगा। द्वितीय पक्षमें ब्रह्म ही केवल अवशिष्ट रहा, जगत् नहीं।

शङ्का—जैसे मुद्गर आदिके आघातसे घटादि चूर-चूर किया जाता है, वैसे ही ब्रह्मतत्त्वज्ञानसे प्रपञ्च चूर-चूर नहीं होता। फिर आप कैसे कहते हैं कि उक्त ज्ञानसे प्रपञ्चकी निवृत्ति होती है, अतः अद्वैत-ब्रह्मभानसे प्रपञ्चकी निवृत्ति होती है, यह कहना सयुक्तिक नहीं है।

घटवज्जगतो भङ्गो नाऽस्तीति यदि मन्यसे ।
माऽस्त्वविद्याकल्पितस्य बोधादेव निवृत्तितः ॥ ८८ ॥
जगतोऽस्तित्वमज्ञानं तन्निवृत्तिश्चिदात्मता ।
जगतस्तन्निवृत्त्या वा कथं द्वैतं प्रसज्यते ॥ ८९ ॥

समाधान—हां, इस प्रकार प्रपञ्चकी निवृत्ति नहीं होती, यह कहना ठीक है, किन्तु प्रकारान्तरसे उसकी निवृत्ति अवश्य होती है ॥ ८७ ॥

'घटवज्जगतो' इत्यादि । उक्त प्रकारसे जगत्का घटके समान भङ्ग नहीं होता, यह मानते हैं; परन्तु रज्जुज्ञानसे अध्यस्त सर्पकी निवृत्तिके समान अज्ञान-कल्पित जगत्के अधिष्ठानभूत ब्रह्मतत्त्वके साक्षात्कारसे जगत्की निवृत्ति श्रुत्यादि प्रमाणसे सिद्ध है । श्रुति आदि द्वारा अद्वितीय ब्रह्मतत्त्वका प्रतिपादन करना इष्ट है; अद्वितीयत्व द्वैतनिवृत्तिके बिना नहीं हो सकता, इसलिए द्वैतनिवृत्ति आवश्यक है । उक्त निवृत्ति मुद्गरादिपातजन्य घटादिकी निवृत्तिके समशील हो या रज्जु-सर्पादिकी निवृत्तिके समशील हो, इसमें विशेष आग्रह नहीं है । अतः यद्यपि घटादिनिवृत्तिका प्रकार बाधित है; तो भी रज्जुसर्पादिकी निवृत्तिके प्रकारका आश्रयण कीजिये, क्योंकि दोनोंके फलमें कुछ भेद नहीं है ।

शङ्का—यदि रज्जुसर्पकी निवृत्तिके समान जगत्की निवृत्ति मानते हो, तो मोक्ष सिद्ध नहीं हो सकता, कारण कि उक्त सर्पकी निवृत्ति होनेपर भी फिर कालान्तरमें उक्त भ्रम होता है, यह सर्वानुभवसिद्ध है । एवं प्रकृतमें भी ब्रह्ममें पुनः संसारानुवृत्तिकी प्रसक्ति होनेसे मोक्ष सिद्ध नहीं होगा ॥ ८८ ॥

समाधान—**'जगतो'** इत्यादि । अज्ञान ही जगत्के अस्तित्वका मूल है, अतः उसका अस्तित्व ही अज्ञान है और अज्ञानकी निवृत्ति ही चिदात्मता है । भाव यह है कि आपके अभिमत द्वितीय वस्तुके अस्तित्वका मूल अज्ञान ही है, क्योंकि 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्' इत्यादि श्रुतिसे यह ज्ञात होता है कि वास्तविक आत्मा एक ही है, और दूसरा कुछ नहीं है। जैसे आकाशमें चन्द्रमा एक ही है, दूसरा नहीं है, किन्तु नैमित्तिकादि दोषसे आकाशमें दो चन्द्रमा दीख पड़ते हैं; चन्द्रगत एकत्वका अज्ञान ही द्विचन्द्रदर्शनका मूल है, वैसे ही यहां कहते हैं कि आत्मतत्त्वके अज्ञानसे अतिरिक्त आत्मभिन्न द्वितीय वस्तुका अस्तित्व नहीं है, किन्तु तद्रूप ही है और आत्मावगतिसे अतिरिक्त जगन्निवृत्ति नहीं है । इस प्रकार जब आत्मावगतिके होनेपर

अयोग्यत्वाद्यथा नीलं रूपं श्रोत्रेण कश्चन ।
नाऽग्रहीन्न च गृह्णाति न ग्रहिष्यति शब्दवत् ॥ ९० ॥

द्वैतनिवृत्ति ही हो जाती है, तब द्वैतके प्ररोहकी सम्भावना ही कैसे हो सकती है ? जगत्‌की निवृत्ति होनेसे तन्मूलक द्वैत नहीं हो सकता और अभावात्मक निवृत्ति अधिकरणस्वरूप मानी जाती है, इसलिए तन्मूलक भी द्वैत नहीं हो सकता ॥८९॥

'**अयोग्यत्वात्**' इत्यादि । कोई लोग प्रश्न करते हैं कि जैसे रज्जुमें सर्पभ्रम और उसकी निवृत्ति अनेक बार भी देखी जाती है, वैसे ही उक्त अज्ञानकी निवृत्ति तथा पुनः उत्पत्ति यदि असकृत् आत्मामें होगी, तो फिर आत्यन्तिक दुःखनिवृत्तिरूप मोक्षकी क्या संभावना ? इसका उत्तर यह है कि सर्पोपादान अज्ञानका समुच्छेद नहीं होता, किन्तु अभिभवमात्र होता है । जैसे अग्निमें दाहानुकूल शक्ति है; किन्तु मणि, मन्त्र आदि प्रतिबन्धकके सद्भावकालमें उक्त अग्निशक्ति अभिभूत हो जाती है; इसलिए दाह नहीं होता और प्रतिबन्धकी अविगमदशामें फिर दाह होने लगता है, वहांपर यह कल्पना ठीक नहीं है कि प्रतिबन्धसे अग्निमें दाहशक्ति ही नष्ट हो जाती है; अन्यथा प्रतिबन्धकका वियोग होनेपर भी दाह नहीं हो सकेगा । अग्निमें पहलेकी दाहशक्ति तो नष्ट हो गई और नवीन शक्तिका तो वह उत्पादक है नहीं, अतः शक्तिकी उत्पत्तिके बिना फिर दाह कैसे होगा ? अभिभववादीके मतसे यह अनुपपत्ति नहीं है, क्योंकि अभिभावकके सद्भावकालमें ही उक्त शक्ति अभिभूत हो सकती है, कालान्तरमें नहीं । अथवा अज्ञान दो प्रकारके होते हैं—एक मूलाज्ञान और दूसरा तूलाज्ञान । मूलाज्ञान एक माना जाता है और तूलाज्ञान 'यावन्ति ज्ञानानि तावन्ति अज्ञानानि' के अनुसार जितने ज्ञान होते हैं उतने ही अज्ञान भी माने जाते हैं; अतः शुक्तिसाक्षात्कारसे उसके अज्ञानकी निवृत्ति माननेपर भी कालान्तरमें शुक्तिके अन्य अज्ञानसे पुनः शुक्ति-रूप्यभ्रम होता है और अन्य शुक्तिसाक्षात्कारसे पुनः उसकी निवृत्ति होती है । यावत्कार्यदर्शन यह कल्पना कर सकते हैं । ब्रह्मसाक्षात्कारसे मूलाज्ञानकी निवृत्ति होती है, उसकी निवृत्ति होनेपर फिर कभी भ्रम नहीं होता, उसके उपादान अज्ञानके बिना 'कारणाभावात् कार्याभावः' इस न्यायसे भ्रमभाव सिद्ध नहीं होता; इसलिए उक्त शङ्का अयुक्त है । अथवा मूलाज्ञानकी अवस्था तूलाज्ञान है । शुक्ति-रूप्यादि तत्-तत् भ्रम अज्ञानावस्थाविशेषसे होते हैं और तत्तदधिष्ठानज्ञानसे नष्ट होते हैं । मूलाज्ञानका नाश ब्रह्मतत्त्व-साक्षात्कारसे

तद्वत्सकारणं द्वैतं प्रत्यक्तत्त्वावलोकनात् ।
प्रतीचि ब्रह्मतत्त्वेऽस्मिन्नाऽभूदस्ति भविष्यति ॥ ९१ ॥
तदेवं नेति नेतीति वाक्यादेशात् पुमानयम् ।
निवृत्तसर्वबाह्यार्थः सम्यङ् निर्वात्यथाऽऽत्मनि ॥ ९२ ॥

ही होता है; कारणान्तरसे नहीं । इस प्रकारसे भी उक्त शङ्काका परिहार होता है । प्रकृतमें अन्य प्रकारसे भी उक्त शङ्काका परिहार करते हैं—किसी भी पुरुषकी श्रोत्रेन्द्रियने शब्दके समान रूपका साक्षात्कार न किया न करती है और न भविष्यमें करेगी ही, कारण कि उक्त इन्द्रियमें रूपग्रहहेतुत्वका सम्भव नहीं है । एवं 'नेति नेति' इस वाक्यसे आत्मतत्त्वका ज्ञान होनेपर सकारण अनात्मपदार्थका 'नासीदस्ति भविष्यति' (न था, न है और न होगा) इस प्रकार त्रैकालिक निषेध होता है; इसीको अग्रिम श्लोकसे भी स्फुट करेंगे ॥ ९० ॥

'तद्वत्' इत्यादि । रूपका श्रोत्रसे त्रैकालिक ग्रहणाभाव सर्वानुभवसिद्ध है, इसलिए इसी न्यायका अतिदेश प्रकृतमें भी करते हैं---श्रोत्रसे जैसे रूपग्रहणका त्रैकालिक अभाव है, वैसे ही प्रत्यक् अचिद्विलक्षण आत्मतत्त्वके साक्षात्कारसे प्रतीचि---ब्रह्मतत्त्वमें---सकारण द्वैतका मूलाज्ञानके साथ प्रपञ्चका—त्रैकालिक 'नासीदस्ति भविष्यति' ऐसा निषेध होता है ॥ ९१ ॥

'तदेवम्' इत्यादि । यह मुमुक्षु पुरुष 'नेति नेति' इत्यादि वाक्यके आदेशानुसार अनात्मस्वरूप सब बाह्यार्थकी निवृत्ति कर अर्थात् बाह्यार्थसे निवृत्त होकर आत्म-स्वरूपमें सुखरूपसे स्थित हो जाता है । आत्माके स्वस्वरूपावस्थानमें विषय प्रति-कूल होते हैं । पराग्-विषयग्रहणप्रवण इन्द्रियादि द्वारा पुरुष विषयग्रहणोन्मुख होता है, अतएव स्वस्वरूपसे प्रच्युत हो जाता है, उक्त वाक्य द्वारा विषयके त्रैकालिक अभावका बोध होनेपर तदुद्देश्यक प्रवृत्ति हो नहीं सकती, इसलिए प्रति-रोधके अभावसे सुखमय स्वस्वरूपमें अनायाससे आत्मा सुस्थिर हो जाता है । मन स्वभावतः पराग्-विषयक है, यह 'पराञ्चि खानि व्यतृणत्स्वयंभूः' इत्यादि श्रुतिसे स्पष्ट ही है । पुरातन शुभादृष्टके परिपाकसे किसी पुरुषका मन जब विषयविमुख होता है, तब उक्त श्रुतिके अर्थमें विश्वास कर विषयोंसे चित्तको हटा लेता है, चित्त निरालम्ब नहीं रह सकता, इसलिए अवशिष्ट आत्मा ही उसका अवलम्बन होता है, अतः निरतिशयानन्दस्वरूप आत्मामें ही सदा मुमुक्षु पुरुष स्थित रहता है;

अथवा नेति नेतीति य आदेशः स योज्यताम् ।
जीवब्रह्मैक्यसिद्ध्यर्थमहं ब्रह्मेति वाक्यवत् ॥ ९३ ॥
अहंशब्दो बुद्धिवाची साक्षिणं लक्षयेद्यदि ।
निषेधको नकारोऽपि साक्षिणं लक्षयेत्तथा ॥ ९४ ॥

इससे वीप्सा द्वारा सूचित सम्पूर्ण अनात्म-पदार्थोंका अभाव ही प्रकृतमें तात्पर्यका विषय है । आत्मैक्य अनन्यायत्त है—अन्य पदार्थसे सापेक्ष नहीं है ॥ ९२ ॥

निषेध-वाक्य निषेधका बोधक है, इस तात्पर्यसे उक्त श्रुतिके अर्थका निरूपण कर अब विधिमुखसे भी उक्त वाक्य उक्तार्थका ही बोधक है, ऐसा अन्य पक्ष कहते हैं—'अथवा' इत्यादिसे ।

अथवा 'नेति नेति' इस वाक्यसे जो आदेश है, उसका 'अहं ब्रह्मास्मि' के समान लक्षणासे जीव-ब्रह्मैक्यकी सिद्धिके अनुकूल अर्थ करना चाहिए । यद्यपि शब्दशक्तिसे पूर्वोक्त अर्थका ही बोधन हो सकता है और उसके अनुसार व्यतिरेक आदि ही उसका अर्थ होता है, पर ऐसा माननेमें पुनरुक्ति आदि दोषोंकी प्रसक्ति होगी और 'ब्रह्मणः' इस षष्ठीसे आदेशवाक्य द्वारा पूर्वमें व्यतिरेक सिद्ध हो ही चुका है, फिर उसीको आदेशवाक्यार्थ माननेपर जामिता (आलस्य) दोष होगा, क्योंकि कथित वा कृतका पुनःकथन या करणमें स्वभावतः आलस्य हो ही जाता है, अतएव 'जामि वा एतद्यज्ञस्य क्रियते यदन्वञ्चौ पुरोडाशौ' इत्यादि वाक्यार्थ-विवेचन-वेलामें पूर्व-मीमांसामें जामितादोषकी निवृत्तिके लिए 'विष्णुरूपांशु यष्टव्योऽजामित्वाय' इत्यादि उत्तर ग्रन्थसे आज्यप्रकृतिक यागका पुरोडाश-प्रकृतिक यागके मध्यमें विधान किया गया है । यह पूर्वमीमांसामें अतिस्फुट है । यदि विशेष देखनेकी इच्छा हो, तो वहांपर देखिए । यहां केवल इतना कहना है कि जो अर्थ शक्तिसे प्रतीत होता है, उसमें प्रकृत वाक्यका तात्पर्य नहीं है, किन्तु लक्षणावृत्तिसे आत्मैक्यके प्रतिपादनमें ही इस वाक्यका परम तात्पर्य्य है । अहं और ब्रह्म—इन दो पदोंकी अखण्डचिन्मात्रमें लक्षणा मानकर जैसे दो पदोंसे एक ब्रह्मव्यक्ति-मात्रका बोध होता है, वैसे ही 'न' और 'इति'—इन दो पदोंकी साक्षिचिन्मात्रमें लक्षणा कर उनसे आत्मैक्य ही बोधित करना अभीष्ट है । ऐसा माननेसे पुनरुक्ति आदि दोषोंकी प्रसक्ति नहीं होती और वाक्य भी सप्रयोजन होता है ॥ ९३ ॥

'अहंशब्दो' इत्यादि । 'अहं ब्रह्म' इस दृष्टान्त-वाक्यमें 'अहं' शब्द अन्तः-

ब्रह्मशब्दो जगद्धेतुवाची चिन्मात्रलक्षकः ।
इतिशब्दो जगद्वाची तथा चिन्मात्रलक्षकः ॥ ९५ ॥
अखण्डैकरसे तुल्यो वाक्यार्थो वाक्ययोर्द्वयोः ।
उक्तार्थस्यैव दार्ढ्याय द्विर्नेतीति वचः श्रुतम् ॥ ९६ ॥

करणका वाची है, क्योंकि 'अहं जानामि, अहं करोमि' इत्यादि व्यवहार होता है । ज्ञान, कृति इत्यादि मनके ही धर्म हैं, न्याय-मतके अनुसार आत्माके नहीं हैं, इसमें प्रमाण 'ह्रीर्धीर्भीः' इत्यादि श्रुति ही है; ब्रह्मशब्द जगत्के हेतु ब्रह्मका वाचक है, ऐसी परिस्थितिमें उक्त दोनों पद एकार्थके बोधक नहीं हो सकते, इसलिए अहंशब्द बुद्धिसाक्षी चैतन्यमात्रका लक्षक माना जाता है, एवं निषेधबोधक नकार भी निषेध-साक्षी चिन्मात्रका लक्षक माना जाता है, असाक्षिक निषेधमें प्रमाण नहीं है । साक्षी चेतन ही हो सकता है, अचेतन नहीं। ब्रह्मसे अतिरिक्त दूसरा चेतन है नहीं, क्योंकि 'नान्योऽतोस्ति द्रष्टा' इत्यादि श्रुतिसे ब्रह्मातिरिक्त चेतनका स्पष्ट निषेध है ॥ ९४ ॥

'ब्रह्मशब्दो' इत्यादि । उक्त दृष्टान्तवाक्यमें 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' इत्यादि श्रुतिके अनुसार जगत्की हेतुतासे विशिष्ट चैतन्यका वाची ब्रह्मशब्द है, किन्तु 'अहं ब्रह्मास्मि' इस वाक्यसे अभीष्ट अखण्डार्थका बोध लक्षणाके बिना नहीं हो सकता, इसलिए जगद्धेतुत्वका त्यागकर केवल चैतन्यमात्रमें ब्रह्मशब्दकी लक्षणा करते हैं । एवं 'इति' शब्द मूर्तादिविशिष्ट चैतन्यका परामर्शक है । मूर्तादि ब्रह्म-रूपका त्यागकर और 'इति' शब्दकी केवल चैतन्यमात्रमें लक्षणा मानकर उन दोनों पदोंसे 'अहं ब्रह्म' के समान अखण्डचिद् व्यक्तिका ही बोध होता है । 'नेति नेति' वाक्यसे जो केवल मूर्तामूर्तरूप ब्रह्मस्वरूपमात्रका ही निषेध मानते हैं, उनका मत ठीक नहीं है, कारण कि उक्त स्वरूप प्रत्यक्षसिद्ध है, उसका प्रतिषेध करनेपर ब्रह्म-स्वरूपके प्रत्यक्षसिद्ध न होनेसे शास्त्रसे भी यदि उसका प्रतिपादन न किया जायगा, तो अन्ततः शून्यवाद ही प्रसक्त हो जायगा और शाकल्यके प्रति राजाने जो प्रतिज्ञा की थी कि आपको ब्रह्म कहेंगे, वह भी पूर्ण नहीं होगी, क्योंकि आपके मतसे प्रकृत वाक्य ब्रह्मका बोधक नहीं है, केवल स्वरूपमात्रका निषेधक है । एवं यह वाक्य भी, निष्प्रयोजन होनेसे, प्रमाण भी नहीं माना जा सकता और शून्यतामें तो कोई पुरुषार्थ हो नहीं सकता ॥ ९५ ॥

'अखण्डैकरसे' इत्यादि । 'तत्त्वमसि' आदि वाक्यसे जैसे अखण्ड एकपदार्थका

अथवाऽत्रेति शब्दौ द्वौ जीवेशोपाधिवाचिनौ ।
नकाराभ्यामुपाधी द्वौ निषिध्य ब्रह्म लक्ष्यते ॥ ९७ ॥

बोध होता है, वैसे ही 'नेति' इत्यादि वाक्यसे भी अखण्ड आत्माका बोध इष्ट है, अतः द्वयोः अर्थात् तत्त्वम् और नेति—इन दोनों वाक्योंका वाक्यार्थ अखण्डैकरस तुल्य है ।

शङ्का—यदि अखण्डार्थ बोध ही अभीष्ट है, तो 'नेति' इस एक वाक्यसे ही उक्तार्थका बोध उपपन्न हो जायगा, फिर द्वितीय 'नेति' शब्दका क्या प्रयोजन है ?

समाधान—उक्त अर्थका बोध दृढ़ हो, इसलिए उसका दो बार उच्चारण (प्रयोग) किया गया है, जैसे लोकमें रमणीय व्यक्तिको देखकर लोग प्रायः कहा करते हैं कि अहो रमणीया अहो रमणीया, यहांपर द्वितीय रमणीयशब्दका प्रयोग जैसे रमणीयताकी दृढ़ताके बोधके लिए है, वैसे ही प्रकृतमें भी समझना चाहिए ॥९६॥

वेद स्वतः प्रमाण है, अतः उससे प्रतीयमान अर्थमें, वेदार्थ होनेसे, दार्ढ्य भी स्वतः सिद्ध है, इसलिए पौरुषेय वाक्यके समान वेद-वाक्यार्थमें दार्ढ्यके लिए दो बार प्रयोगकी आवश्यकता नहीं हो सकती, इस अभिप्रायसे उक्त वाक्यका अन्य अर्थ करते हैं—'अथवा०' इत्यादिसे ।

यहांपर दो 'इति'शब्द हैं, उनमें प्रथम 'इति' शब्द ब्रह्मोपाधि अज्ञानका बोधक है और द्वितीय इतिशब्द जीवोपाधि अन्तःकरणका वाचक है । दो नकारोंसे दोनों उपाधियोंका निषेधकर ब्रह्ममात्रमें लक्षणा की जाती है । जैसे 'तत्त्वमसि' इत्यादि वाक्यमें सर्वज्ञत्व, किञ्चिद्ज्ञत्व आदि धर्मोका त्यागकर चिन्मात्रमें ही तत् और त्वम्—दो पदोंकी लक्षणा मानी जाती है, वैसे ही उक्त दो उपाधियोंसे विशिष्ट जीव और ईशका दो 'इति' शब्दोंसे अनुवाद कर नञ्-द्वयसे उपाधिके निषेध द्वारा ब्रह्ममें नञ्द्वयकी लक्षणा करना ही ठीक है ।

शङ्का—दो नञ्की शुद्ध ब्रह्ममें लक्षणा मानते हो, यह ठीक नहीं है, कारण कि पदार्थोंमें परस्पर अन्वय आदिकी अनुपपत्तिके प्रतिसन्धानपूर्वक पदार्थसंबन्धीमें वाक्यार्थादिकी उपपत्तिके लिए लक्षणा मानी जाती है । 'गङ्गायां घोषः' इत्यादि लक्षणास्थलमें यही प्रकार देखा जाता है । प्रकृतमें दो नञ्का जो वाच्यार्थ है, उसका सम्बन्ध वस्तुतः ब्रह्ममें नहीं है, क्योंकि 'असङ्गो ह्ययं पुरुषः' इस श्रुतिसे भावाभावसाधारण संबन्धमात्रका ब्रह्ममें निषेध किया गया है ॥ ९७ ॥

यथा मात्रादिमत्तेयं प्रत्यक्संवित्तिसाक्षिका ।
प्रमात्रादेरभावेऽपि तथाऽतस्तेन लक्ष्यते ॥ ९८ ॥
अतिरोहितसंवित्को [illegible] ।
विनैव वाचकं शब्दं बोध्यो लक्षणयाऽन्यतः ॥ ९९ ॥

नञ् शब्द शुद्धका लक्षक नहीं हो सकता, क्योंकि उसका वाच्यार्थके साथ संबन्ध नहीं है, ऐसी आशङ्का करके दृष्टान्तप्रदर्शनपूर्वक उक्त संबन्धको कहते हैं—**'यथा मात्रादि०'** इत्यादिसे ।

'अहं ब्रह्म' इत्यादि लक्षणास्थलमें प्रमातृत्वविशिष्ट चैतन्य अहंपदका वाच्य अर्थ है । अन्तःकरणका विषयाकार परिणाम होता है । चैतन्याभास द्वारा वही वस्तुतः प्रमाता माना जाता है । ईश्वरत्वविशिष्ट चिद् ब्रह्मपदका वाच्य है । वे दोनों- प्रमातृत्व और ईश्वरत्व—शुद्धचिद्भास्य हैं, इसलिए उक्त दो धर्मियोंके साथ चित्का भास्य-भासकभाव संबन्ध है। अतः जैसे तत् और त्वं पदकी, उक्त संबन्ध मानकर, चैतन्यमें लक्षणा होती है, वैसे ही नञ्पदवाच्य उक्त उपाधिका अभाव भी साक्षिभास्य है, अतः उक्त अभावका साक्षीके साथ भास्यभासक संबन्ध स्फुट ही है, इसलिए दो नकारोंकी आत्मैक्यमें लक्षणा समुचित ही है; इसी अभिप्रायसे 'नकारोऽपि साक्षिणं लक्षयेत' ऐसा कहा है । उक्त सम्बन्धके सिद्ध होनेपर फलित अर्थ कहते हैं—'अतस्तेन' इत्यादि । चूँकि संबन्ध सिद्ध है, इसलिए लक्षणा उक्त प्रकारसे समीचीन ही है । 'असङ्गो' इत्यादि उक्त श्रुति वास्तविक संबन्धाभावकी बोधिका है । इसलिए आध्यासिक उक्त संबन्धके माननेपर भी श्रुतिके साथ विरोध नहीं हो सकता ।

शङ्का—भावाभावस्वरूप अनात्म पदार्थोंको यदि अनुभवसिद्ध मानते हो, तो उनकी सत्यताको भी अनुभवसिद्ध मानना चाहिए, अनुभव पदार्थस्वरूपका साधक है; अतः उसकी सत्यता नहीं है, यह कहना प्रमाणाभावसे अश्रद्धेय है ।

समाधान—सब अनात्म पदार्थ स्वप्रकाश आत्माके प्रभावसे भासमान-से होते हैं अर्थात् उनका भानमात्र होता है । भानमात्रसे पदार्थकी सत्ता सिद्ध नहीं होती, अन्यथा मरुभूमिमें प्रतीयमान जलादि भी सिद्ध होंगे । भानके अनन्तर सत्त्वादि धर्मसे सुनिरूप हो तो, वह माना जाता है- जैसे आत्मा । अनात्म पदार्थ तो मरीचिजलके समान सत्त्वादि धर्मोंसे दुर्निरूप हैं, अतः आत्मगत-अविवेक स्वभाव होनेसे उनमें सत्यताकी संभावना ही कहां ? ॥ ९८ ॥

आत्मा प्रमाता आदिका भासक है, यह कहना ठीक नहीं है, प्रत्युत प्रमाता

अनन्यानुभवेनैव　　भावाभावात्मभूमिषु ।
प्रत्यक्कूटस्थमात्मानं पश्यन्नास्ते फलात्मतः ॥ १०० ॥

आदिसे ही आत्माकी सिद्धि होती है, यह कहना ठीक है, क्योंकि अहमादिके भानके बिना आत्माके सद्भावका अन्य साधक ही नहीं है, ऐसी शङ्का होनेपर आत्माकी स्वप्रकाशता होनेसे उक्त प्रकारकी शङ्का नहीं करनी चाहिए, ऐसा कहते हैं—'अतिरोहित०' इत्यादिसे ।

'न तिरोहिता प्रकाशान्तराधीना संवित् प्रकाशो यस्य स अतिरोहितसंवित्कः' अर्थात् स्वयंप्रकाश । इसमें हेतु है—दृष्टिमात्रात्मकत्व । 'द्रष्टा दृशिमात्रः शुद्धोऽपि प्रत्ययानुपश्यः' इस योगसूत्रसे तथा 'सत्यं ज्ञानम्' इत्यादि श्रुतिसे आत्मा स्वयंप्रकाशानुभूतिस्वरूप माना जाता है। योगसूत्रमें मात्रशब्दका प्रयोग ज्ञानत्वादि धर्मोका निरास करनेके लिए आया है। सकल धर्मोसे रहित प्रकाश, आनन्द और एकरसस्वरूप आत्मा ही विषयादिका साधक है ।

शङ्का—यदि आत्माको साधक मानते हो, तो प्रदीप आदिके समान आत्मा भी विकारी हो जायगा ।

समाधान—क्रियाका विषय ही विकारी होता है। आत्मा क्रियाका विषय नहीं है, इसलिए उक्त शङ्का अयुक्त है ।

शङ्का—'गङ्गायां घोषः' इत्यादि लक्षणास्थलमें शब्दवाच्य अर्थ ही अन्य शब्दका लक्ष्य देखा गया है। तीरपद-वाच्य ही तीर गङ्गापदका लक्ष्य है। और जाति आदिसे विशिष्ट ही अर्थ शब्दका वाच्य होता है। प्रकृतमें ब्रह्म जाति आदि धर्मोसे शून्य होनेके कारण किसी भी पदका वाच्य नहीं है, फिर उक्त पदोंका लक्ष्यार्थ भी कैसे हो सकेगा ?

समाधान—यह नियम अद्वैत वेदान्ती नहीं मानते, किन्तु शब्दान्तरसे अवाच्य भी ब्रह्म उक्त नञादि पदका लक्ष्य माना जाता है । हां, लक्ष्यतावच्छेदक-धर्मविशिष्टमें जहां लक्षणा होती है, वहांके लिए उक्त नियम है। प्रकृतमें लक्ष्यभूत ब्रह्म निर्विशेष है, अतः अवाच्यको भी लक्ष्य मानते हैं। अतएव इक्षु, क्षीर, आदिका मधुर रसविशेष यद्यपि शब्दवाच्य नहीं होता, तथापि मधुरादि पदोंका वह लक्ष्य होता ही है, अतः इस स्थलमें उक्त नियमका व्यभिचार स्फुट है, व्यभिचरित उक्त नियम अप्रामाणिक है ॥ ९९ ॥

शङ्का—आत्माको यदि एकरस मानते हो, तो वह भावाभावका साक्षी कैसे हो सकेगा ? ईक्षण-कर्ता द्रष्टा ही साक्षी कहलाता है ।

अतो मात्रादिसम्बन्धो यत्र यत्र निवर्तते ।
तत्र तत्रैकलः प्रत्यक् स्वमहिम्नैव सिद्ध्यति ॥ १०१ ॥

समाधान—'**अनन्या०**' इत्यादि ।

'न अन्यः स्वस्वरूपातिरिक्तः अनुभवो यस्य स अनन्यानुभवः' अर्थात् मन जहां द्रष्टा कहा जाता है, वहां मनःस्वरूपसे अतिरिक्त तत्-तत् विषयका अनुभव रहता है, अतः मनमें तादृशानुभवाश्रयत्वरूप द्रष्टृत्व मुख्य होता है । आत्मा तत्-तत् विषयका अनुभवस्वरूप ही है, उससे अतिरिक्त नहीं है। अतः उक्त मुख्य द्रष्टृत्व तो आत्मामें हो नहीं सकता, किन्तु विषयप्रकाशरूप जो फल है, वही फलस्वरूप साक्षी है। अन्तःकरणादिस्थलमें विषयप्रकाशरूप फल अन्तःकरणके स्वरूपसे अतिरिक्त है, इसलिए उक्त फलके अन्तःकरणसमवेत होनेसे अन्तःकरण मुख्य द्रष्टा कहा जाता है । आत्मा तादृशानुभवस्वरूप है, तादृशानुभवका समवायी नहीं है, अतः विषयप्रकाशरूप फल वहां भी स्फुट ही है ।

शङ्का—यदि 'पश्यन्नास्ते' इस शब्दसे आत्मामें दर्शनकर्तृत्वका प्रतिपादन करते हो, तो व्यापारके बिना उक्त धर्मका समावेश कैसे होगा ? यदि व्यापार मानो, तो आत्मामें कूटस्थत्व नहीं रह सकता ?

समाधान—वस्तुतः ब्रह्म कूटस्थ ही है, दर्शनसमवायी नहीं है । चिदेकरस होनेसे ही आत्मा स्वरूपसे विषयका भासक है, इसलिए उसमें दर्शनकर्तृत्वका गौण व्यवहार किया गया है । तार्किकोंके मतके अनुसार यदि अन्य ज्ञानसे आत्माका प्रकाश मानें, तो अनवस्था दोष ही होगा ॥ १०० ॥

'**अतो**' इत्यादि । उपाधि-सन्निधानदशामें तत्-तत् उपाधिसे विशिष्ट आत्मा उपाधिको देखता है और निरुपाधि होनेपर स्वयं भासित होता है। उस समयमें आत्मा साक्षी नहीं कहा जा सकता। साक्ष्यसापेक्ष साक्षित्व होता है; जैसे राज्यसापेक्ष राजत्व होता है। जिसको राज्य नहीं है, वह राजा भी नहीं है। एवं व्यवहार-दशामें कल्पित साक्ष्य विषयोंके सम्बन्धसे आत्मामें कल्पित ही साक्षित्व है । परमार्थदशामें जब विषय ही नहीं है, तो साक्षित्व भी कैसे हो सकता है ? अतः कल्पित साक्षित्वादिसे वास्तविक कूटस्थत्वकी हानि नहीं हो सकती । भाव यह है कि प्रमाता आदि उपाधिकी जब निवृत्ति हो जाती है, तब आत्मा चिदेकरस स्वमहिमासे ही सिद्ध होता है ।

एतद्वस्तु स्वतःसिद्धं प्रमात्राद्यनपेक्षतः ।
सर्वस्यैव ततः सिद्धेः कथं सिद्ध्येत्तदन्यतः ॥ १०२ ॥
तदित्थं नेति नेतीति वाक्यं ब्रह्मात्मबोधकम् ।
जीवेशोपाधिनिह्नुत्या लक्ष्याखण्डावसानतः ॥ १०३ ॥
अथात आदेश इति प्रतिज्ञायाऽतिसम्भ्रमात् ।
निषेधो नेति नेतीति न युक्त इति चेच्छृणु ॥ १०४ ॥

विषयसिद्धिके समान आत्मसिद्धि अन्य साधकसे सापेक्ष नहीं है, अन्यथा अनवस्था आदि दोष होंगे ॥ १०१ ॥

आत्मा स्वयंप्रकाश है, इसका निगमन करते हैं—'**एतत्**' इत्यादिसे ।

आत्मतत्त्व स्वतः सिद्ध है। जो यह कहा था कि प्रमातृत्व आदिके बिना आत्माकी सिद्धि नहीं होती, सो ठीक नही है, कारण कि आत्मा ही चेतन होनेसे साक्षी तथा सकल अनात्म पदार्थोंका साधक है; अतः अन्य प्रमातृत्व आदिसे आत्मसिद्धि कैसे हो सकती है, जो स्वसाध्य है ? वह स्वका साधक नहीं हो सकता, सिद्ध ही साधक होता है और असिद्ध साध्य होता है। एक कालमें एक वस्तुमें ही सिद्धत्व और साध्यत्व—ये दोनों विरुद्ध धर्म नहीं रह सकते ॥ १०२ ॥

निषेधवाक्यके अर्थका उपसंहार करते हैं—'**तदित्थं नेति**' इत्यादिसे ।

उक्त प्रकारसे 'नेति नेति' यह निषेधवाक्य ब्रह्मात्मैक्यका बोधक है ।

शङ्का—उपाधिविशिष्टका ऐक्य प्रमाणसे बाधित है ।

समाधान—उपाधिका निह्नव (त्याग) कर उक्त प्रकारसे ऐक्यके बोधनमें क्षति नहीं है, उपाधिके त्यागनेपर अखण्डार्थका ही पर्यवसान होगा। भाव यह है कि जीवब्रह्मैक्यमें 'नेति नेति' यह वाक्य ही प्रमाण है। यद्यपि परिच्छिन्नके साथ ऐक्य बाधित है, तथापि वाच्यार्थके परिच्छिन्न होनेपर भी लक्ष्यार्थ परिच्छिन्न नहीं है। आत्मव्यतिरिक्त दूसरी वस्तु है ही नहीं। 'इति' शब्दसे ब्रह्म और नञ्पदसे प्रत्यङ्मात्र लक्षित है, इसीका बोध प्रकृत वाक्यसे अभीष्ट है ॥ १०३ ॥

'**अथात**' इत्यादि। शङ्का यह है कि ब्रह्मोपदेशके लिए प्रतिज्ञा कर अति-शीघ्रतासे उपदेश दिया कि 'नेति नेति'; इससे वे दोनों वाक्य परस्पर असंबद्ध प्रतीत होते हैं, उपदेशकी प्रतिज्ञाके अनन्तर 'सत्यं ज्ञानम्' इत्यादि वाक्य द्वारा विधिमुखसे ब्रह्मका उपदेश देना युक्तिसंगत प्रतीत होता है। 'नेति नेति' से तो

अवाङ्मनसगम्यस्य न निषेधमुखं विना।
अस्त्यन्यो मुख्य आदेशो निषेधो युज्यते ततः ॥ १०५ ॥
इत्येवमनिदंरूपं ब्रह्मणः प्रतिपादितम्।
निर्नाम्नस्तस्य नामैतत्सत्यसत्यमिति श्रुतम् ॥ १०६ ॥

आपाततः यही बोध होता है कि ब्रह्मका उपदेश ही नहीं है, अतः प्रतिज्ञा और उत्तर ये दोनों वाक्य परस्पर अयोग्यार्थक हैं। उसका समाधान करते हैं कि नहीं, ऐसा नहीं कहना चाहिए, क्योंकि विधिमुखसे किसी शब्द द्वारा ब्रह्मका उपदेश नहीं हो सकता। 'यतो वाचो निवर्तन्तेऽप्राप्य मनसा सह' इत्यादि श्रुतिसे ब्रह्म अवाङ्मनसगोचर कहा गया है और यह अर्थ सोपपत्तिक भी है। शब्द जाति आदि धर्मोंसे विशिष्ट अर्थके ही बोधक माने गये हैं। ब्रह्ममें कोई भी धर्म नहीं है, इसलिए विधिमुखसे किसी शब्द द्वारा ब्रह्मका उपदेश नहीं बन सकता, इसलिए 'नेति नेति' वाक्यसे ही मूर्तादिस्वरूपके निषेध द्वारा चिदेकरस ब्रह्मका उपदेश देना युक्तियुक्त है ॥ १०४ ॥

'अवाङ्मन०' इत्यादि। अर्थ अतिस्पष्ट है और पूर्वमें कह भी चुके हैं, अतः अब इसके अर्थ करनेकी आवश्यकता नहीं है ॥ १०५ ॥

'इत्येव०' इत्यादि। 'न इदं रूपमनिदंरूपम्', 'क इत्था वेद यत्र सः' इत्यादि श्रुतियोंसे प्रतीत होता है कि ब्रह्मका स्वरूप शब्दादिका अविषय है। इसलिए ब्रह्म अनिदंरूप कहा जाता है। वस्तुतः ब्रह्मका कोई नाम (वाचक-शब्द) नहीं है, कारण कि वाच्यवाचकभाव संबन्ध सविशेष पदार्थोंमें ही होता है, ब्रह्ममें कोई जाति आदि धर्म है नहीं, अतएव अवाच्य होनेसे वह अनाम ही माना जाता है, फिर भी शब्दके बिना उसका व्यवहार नहीं होता, इसलिए व्यवहारार्थ सत्यसत्य यह नाम उसका रक्खा गया है। जैसे अङ्गुलियोंका अङ्गुष्ठ आदि तत्-तत्-नाम हैं, परन्तु अनामिकाका नाम पूछनेपर उसका कोई नाम नहीं है, इस अभिप्रायसे कहा गया कि वह अनामिका है, परन्तु अब इसका अनामिका यही नाम हो गया है; वैसे ही ब्रह्म अनामरूप है। नामरूप प्रपञ्चके अन्तर्गत है, अथवा वही प्रपञ्च है। यद्यपि ब्रह्म प्रपञ्चसे रहित है, इसलिए अनामरूप ही माना जाता है, तथापि व्यवहारार्थ 'सत्यसत्य' कहा गया है ॥ १०६ ॥

सच्च त्यच्चेति सत्याख्याः प्राणास्ते ब्रह्मणाऽऽत्मना ।
आत्मवन्तस्ततो ब्रह्म सत्यसत्यमितीरितम् ॥ १०७ ॥
व्यावहारिकमेवैतन्नामोक्तं न तु वास्तवम् ।
शब्दप्रवृत्तिहेतूनां साक्षाद् ब्रह्मण्यसम्भवात् ॥ १०८ ॥

इति वार्त्तिकसारे द्वितीयाध्यायस्य तृतीयं
ब्राह्मणं समाप्तम् ॥ ३ ॥

—०—

'सच्च त्यच्चेति' इत्यादि । पृथिवी आदि पांच महाभूत तथा प्राण आदि सत्य हैं, ऐसा 'सच्च त्यच्च' इत्यादि श्रुतिसे पूर्वमें कहा गया है, पर वे वास्तविक सत्य नहीं हैं, किन्तु उनका सत्यस्वरूप ब्रह्म उपादान है, अतः सत्योपादानकत्वरूपसे वे सत्य कहे जाते हैं । ब्रह्म ही वास्तविक अबाध्यरूप सत्य है, इसलिए ब्रह्म सत्य-सत्य कहा गया है । सारांश यह है कि मूर्तामूर्त, प्राण इत्यादि सब व्यावहारिक सत्य हैं, परम सत्य—सबका मूलभूत सत्य—ब्रह्म ही है ।

शङ्का—जीव और ईश्वर आदिसे युक्त सब जगत् षष्ठ्यन्त सत्यशब्दका अर्थ है, यह कहना ठीक है, परन्तु निरुपाधिक ब्रह्म प्रथमान्त सत्यशब्दका अर्थ है, ऐसा जो आप कहते हैं, वह ठीक नहीं है, कारण कि 'यतो वाचो निवर्तन्ते' इत्यादि श्रुतियोंसे ब्रह्म शब्दका अविषय है, यह पूर्वमें सिद्धान्त कर चुके हैं, फिर उससे विपरीत कहते हैं, अतः पूर्वापरविरोध होगा ।

समाधान—इसका उत्तर तो पूर्वमें दे चुके हैं, परन्तु फिर उसका स्मरण करा देते हैं—अभिधा द्वारा ब्रह्म सत्यशब्दका अर्थ नहीं होता, किन्तु लक्षणा द्वारा ही सत्यशब्दका अर्थ होता है, अतः वह सत्यशब्दार्थ कहा जाता है । सब शब्द कार्यकारणोपाधिक ब्रह्मके नाम हैं, क्योंकि सोपाधिकमें ही शब्दप्रवृत्तिके हेतुभूत जाति आदि रहते हैं । अतः उसके वाचक शब्दोंका शुद्ध ब्रह्ममें लक्षणासे प्रयोग किया जाता है । इसीसे निष्प्रपञ्च ब्रह्म वेदान्तप्रमाणक माना जाता है, यह वेदान्तियोंका निष्कर्ष है ॥ १०७ ॥

'व्यावहारि०' इत्यादि । 'ॐ तत्सदिति ब्रह्मणो निर्देशस्तस्य वाचकः प्रणवः' इत्यादि वचनोंसे जो ब्रह्मके नाम कहे गये हैं, वे सब व्यावहारिक नाम हैं, पार-

मार्थिक नहीं हैं, कारण कि शब्दप्रवृत्तिके हेतुभूत जाति आदि जिसमें वस्तुतः रहते हैं, वही शब्दका वाच्य (अर्थ) होता है। ब्रह्म निरस्तसमस्तविशेष, स्वयंप्रकाश, अखण्ड और एकरस है, इसलिए उसमें व्यवहारके लिए उक्त प्रयोग लक्षणावृत्तिसे किये जाते हैं, इसीसे लोगोंको यह भ्रम होता है कि ब्रह्मके वाचक उक्त शब्द हैं, किन्तु ऐसा है नहीं ॥ १०८ ॥

द्वितीयाध्यायका तृतीय ब्राह्मण समाप्त ।



अथ चतुर्थ ब्राह्मणम्

अपोदितः समारोप इत्येवं ब्राह्मणत्रये ।
ओमित्येवेति सूत्रार्थो ब्राह्मणेऽस्मिन्नुदीर्यते ॥ १ ॥

चतुर्थ ब्राह्मण

'अपोदितः' इत्यादि । यद्यपि चतुर्थ ब्राह्मणके आरम्भमें 'आत्मेत्येवोपासीत' ऐसा भाष्यपाठ है और 'आत्मेत्येवेति सूत्रस्य व्याख्येयं प्रस्तुता स्फुटा' ऐसा प्रकृत ब्राह्मणके आरम्भमें श्रीसुरेश्वराचार्यका श्लोक है, तदनुसार यद्यपि वार्तिकमें भी 'आत्मेत्येवेति सूत्रार्थः' ऐसा पाठ ही समुचित होता, तथापि अर्थमें कोई अन्तर नहीं पड़ता है। ॐ शब्द भी आत्माका ही बोधक है। आत्मशब्द जीवात्मा और परमात्मा दोनोंमें साधारण है, इसलिए सम्भव है कि वार्तिककारने परमात्माके ग्रहणके लिए ॐ शब्दका प्रयोग किया हो, 'ॐ तत्सदिति ब्रह्मणो निर्देशः' इस अभियुक्तके वचनसे ओंकार विशेषरूपसे ब्रह्मका ही बोधक होता है। 'आत्मेत्येवोपासीत' इस वाक्यसे परमात्माका ही, उपासनाके लिए, प्रतिपादन करना अभीष्ट है, क्योंकि वही पदनीय—अन्वेषणीय—है अर्थात् परमप्रेमास्पद और जिज्ञासित होनेसे निरूपणीय है। पहलेके तीन ब्राह्मणोंमें मूर्त, अमूर्त आदिके भेदसे समारोपित प्रपञ्चको ब्रह्मका रूप बतलाकर 'नेति नेति' इस वाक्यसे उसका निराकरण कर निष्प्रपञ्च ब्रह्म ही मुक्तिकी कामनासे उपासनीय है, ऐसा कहा। शाकल्यसे 'ब्रह्म ते ब्रवाणि' अर्थात् मैं आपसे ब्रह्म कहता हूँ, ऐसी प्रतिज्ञा करके राजाने मूर्तामूर्तादि ब्रह्मरूपका जो निरूपण किया है, वह प्रतिज्ञाके विपरीत प्रतीत होता है, परन्तु दूसरा उपाय न देखकर राजाने उक्तरूपके प्रतिषेध द्वारा ही ब्रह्मका निर्देश किया है। इसमें विद्या ही साधन है और मुक्ति फल है। 'तदात्मानमेवावेदहं ब्रह्मास्मि', 'तस्मात्तत्सर्वमभवत्' इत्यादि पूर्वमें स्पष्ट कह चुके हैं। इससे यह निश्चित हो चुका है कि प्रत्यगात्मा ही ब्रह्मविद्याका विषय है। अविद्याका विषय 'अन्योऽसौ अन्योऽहमस्मीति न स वेद' इत्यादिसे भेददर्शन ही माना गया है। अतएव चातुर्वर्ण्य, चातुराश्रम्य आदिका विभाग, निमित्त-भूत पाङ्क्त कर्म और साध्यसाधनलक्षण व्याकृताव्याकृतस्वभाव नामरूपकर्मात्मक संसारका 'त्रयं वा इदं नाम रूपं कर्म' इत्यादि वाक्यसे उपसंहार किया गया है। शास्त्रीय ज्ञानकर्मका उत्कर्ष हिरण्यगर्भलोककी प्राप्ति तक ही सीमित है और

अपोदितं यदि जगद् ब्रह्मणोऽन्यतया स्थितम् ।
तदा साङ्ख्यमतप्राप्तिरतः सार्वात्म्यमुच्यते ॥ २ ॥

अशास्त्रीय स्वाभाविक ज्ञानकर्मका निकर्ष स्थावरान्त अधोभाव है, इत्यादि पूर्वमें निरूपित हो चुका है। इस अविद्याके विषय संसारसे जो विरक्त हैं, उन्हींका प्रत्यगात्मविषयक ब्रह्मविद्यामें अधिकार है। समस्त अविद्याविषयका उपसंहार तृतीय ब्राह्मणमें हो चुका। चतुर्थ ब्राह्मणमें 'ब्रह्म ते ब्रवाणि', 'ब्रह्म ते ज्ञपयिष्यामि' इत्यादि वाक्योंसे सब विशेषोंसे शून्य अद्वय ब्रह्मका प्रस्ताव कर क्रिया, कारक, फल आदि सत्यशब्दवाच्य संपूर्ण द्वैतका 'नेति नेति' वाक्यसे प्रतिषेध कर वही (ब्रह्म ही) समझाया गया है ॥ १ ॥

'अपोदितम्' इत्यादि।

शङ्का—दृश्यके निषेधमात्रसे ही अद्वैतब्रह्मज्ञान द्वारा मोक्ष सिद्ध हो सकता है, फिर ब्रह्मस्वरूपका विशेषरूपसे प्रतिपादन करनेका क्या प्रयोजन ?

समाधान—संपूर्ण जगत् प्रतिषिद्ध होनेपर भी यदि ब्रह्मभिन्नस्वरूपसे स्थित होगा, तो सांख्यमतकी प्राप्ति हो जायगी। सांख्यमतमें आत्मा चेतन और जड़ प्रकृति—ये दोनों स्वयम्भू अतएव स्वतन्त्र पदार्थ माने गये हैं। केवल इनके परस्पर संयोगसे संसार और वियोगसे मुक्ति मानी जाती है; वियोग दो प्रकारका होता है—एक आत्यन्तिक और दूसरा अनात्यन्तिक। आत्यन्तिक प्रकृतिपुरुषान्यताख्यातिरूप तत्त्वज्ञानसे अनात्यन्तिक संसार-भोगजनक अदृष्टके परिपाककी समाप्तिसे जैसे प्रलयावस्थामें कर्म अवशिष्ट प्रकृतिमें लीन हो जाते हैं और अन्य सर्गके आरम्भमें फिर कर्म जाति, आयु और भोगरूप फलके परिपाकके लिए उन्मुख हो जाते हैं इत्यादि प्रकार सांख्यमतमें माना जाता है, वैसे यहाँ भी प्रतीत होता है, ऐसा किसीको भ्रम न हो, इसलिए यहाँ सार्वात्म्यका प्रतिपादन विशेषरूपसे करते हैं अर्थात् 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म नेह नानास्ति किञ्चन' इत्यादि श्रुतिसे यह समझाया जाता है कि ब्रह्मसे अतिरिक्त कोई वस्तु कालत्रयमें नहीं हो सकती। जैसे शुक्तिरजतका भान भ्रमात्मक होता है, परन्तु उक्त पदार्थकी सत्ता किसी समयमें नहीं मानी जाती, केवल शुक्तिकी ही सत्ता है, वैसे ही संसारदशामें भी ब्रह्मसे अतिरिक्त वास्तविक कोई पदार्थ नहीं है, केवल अविद्यावश शुक्तिरजतके समान आरोपित संसारका भान होता है। भासमान द्वैतका निषेध ब्रह्मसे अतिरिक्त नहीं है, वह भी ब्रह्म ही है। अभावको अधिकरणस्वरूप तार्किक भी मानते हैं।

अथवा ब्रह्म वच्मीति प्रक्रम्य ब्रह्मता पुरा ।
नेति नेत्यनिदंरूपे प्रतीच्येव समापिता ॥ ३ ॥

शङ्का—यदि द्वैतके निषेधको ब्रह्मस्वरूप न माने, तो अद्वैत ब्रह्म क्यों नहीं सिद्ध होगा ? आपको भी द्वैतनिषेधरूप अद्वैत और ब्रह्म मानना ही चाहिए, जैसे कि नील और उत्पल इन दोनोंके माननेपर ही निलोत्पल माना जाता है ।

समाधान—अव्यावृत्त और अननुगत ब्रह्मका लक्षण है। यदि द्वितीय भावात्मक या अभावात्मक कोई भी पदार्थ रहेगा, तो ब्रह्म अव्यावृत्त और अननुगत कैसे रह सकता है ?

शङ्का—अच्छा तो ब्रह्म द्वैतमात्रको निगलकर अद्वत हो जाता है, श्रुतिने भी 'यस्य ब्रह्म च क्षत्रं च उभे भवत ओदने' इत्यादिसे इस पक्षका ही निर्देश किया है।

समाधान—तब तो जीवको भी ब्रह्म भक्षण कर लेगा, ऐसी परिस्थितिमें न संसार ही हो सकेगा न मोक्ष ही । यदि कहो कि जीव ब्रह्मस्वरूप ही है, अतः उसका निगरण ब्रह्म नहीं कर सकता, तो यह कहना भी युक्त नहीं है, क्योंकि संसारको यदि ब्रह्म निगल जायगा, तो ब्रह्मज्ञानके बिना भी सब मुक्त हो जायँगे, फिर ब्रह्मज्ञानकी क्या आवश्यकता ? अतः अन्वयका निषेध करनेके लिए 'सर्वमात्मा' यह वाक्य है; इससे यह स्पष्ट समझाया जाता है कि सर्वत्र ब्रह्म है, ऐसा अन्वय नहीं समझना चाहिए, अन्यथा 'अनन्वयाननुगत' इत्यादि ब्रह्म लक्षण ही असंगत हो जायगा; किन्तु सब ब्रह्म है, ऐसा ज्ञान प्रकृतमें श्रुतिको अभीष्ट है, इसीलिए मैत्रेयीब्राह्मणग्रन्थका आरम्भ है ॥ २ ॥

उसीका अन्य तात्पर्य्य कहते हैं—'**अथवा**' इत्यादिसे ।

तत्त्वं और त्वं तत्—इन दो वाक्योंसे जीव और ब्रह्मका अभेद दृढ़ होता है अर्थात् ब्रह्म तुम हो, इससे ब्रह्माभिन्न तुम हो और त्वं तत्से तुम ब्रह्मसे अभिन्न हो, ऐसा प्रतीत होता है। उक्त वचनभङ्गीसे केवल उद्देश्यविधेयका वैलक्षण्य प्रतीत होता है; परन्तु दोनोंका अर्थ उभयाभेद ही विवक्षित रहता है, इसलिए अभेदका दो बार भान करानेका प्रयोजन अभेदका दार्ढ्य ही है। अभ्यासका प्रयोजन शास्त्रकारोंने दार्ढ्य ही बतलाया है । प्रकृतमें 'ब्रह्म ते ब्रवाणि' इस वाक्यसे जीवमें ब्रह्माभेद विवक्षित है, अतएव उक्त वाक्यसे ब्रह्मका प्रस्ताव करके 'नेति नेति' इस वाक्यसे त्वं पदार्थका परिशोधन करके अनिदंरूप आत्मामें उक्त वाक्यका पर्य्यवसान किया गया है अर्थात् जीवमें ब्रह्माभेद कहा गया है॥ ३ ॥

इह त्वात्मानमारभ्य सृष्टिस्थित्यन्तकारिणि ।
ब्रह्मणि प्रत्यगात्मत्वं समापयितुमुद्यमः ॥ ४ ॥
वित्तस्य कर्महेतुत्वात्तत्त्यागो ज्ञानसाधनम् ।
इति दर्शयितुं प्राह श्रुतिराख्यायिकां शुभाम् ॥ ५ ॥

'इह त्वा०' इत्यादि । इस प्रकृत ब्राह्मणमें आत्मासे लेकर सृष्टि, स्थिति और लयकारी ब्रह्ममें प्रत्यगात्मा जीवकी परिसमाप्ति अर्थात् ब्रह्ममें जीवके अभेदका बोध करानेके लिए उद्यम (प्रयास) किया जाता है ॥ ४ ॥

पूर्व श्लोकसे इस ब्राह्मणका तात्पर्य्य संक्षेपसे कहकर आख्यायिकाका तात्पर्य्य कहते हैं—'वित्तस्य' इत्यादिसे ।

वित्त (धन) कर्मका हेतु है । धनके बिना कोई श्रौत-स्मार्त कर्म नहीं हो सकता । वित्तत्याग ज्ञानका (ब्रह्मज्ञानका) साधन है, इसको दिखलानेके लिए श्रुति वक्ष्यमाण मैत्रेयीकी शुभ आख्यायिकाको कहती है । तात्पर्य यह है कि ब्रह्मज्ञान होनेपर भी जबतक त्याग नहीं होता, तब तक कोई भी यति मुक्त नहीं हो सकता, इस आख्यायिकासे यह निष्कर्ष स्पष्टरूपसे निकलता है, क्योंकि याज्ञवल्क्य पूर्ण ब्रह्मज्ञानी थे अनेक ब्रह्मज्ञानियोंने उनकी परीक्षा की थी तथा स्वयं जनकजी भी उनसे ही ब्रह्मका उपदेश लेकर कृतार्थ (मुक्त) हुए थे, तो भी जबतक गृही रहे तबतक कैवल्य नहीं पा सके, अतः कैवल्यके लिए उनको भी त्यागपूर्वक संन्यास लेना पड़ा, तदनन्तर वैष्णव पदको प्राप्त हुए ।

शङ्का—यदि त्यागसे ही याज्ञवल्क्य महर्षि मुक्त हुए, तो त्यागको ही मुक्तिका साधन मानिये, त्यागसमुचित ब्रह्मज्ञानको नहीं ।

समाधान—'त्यजतैव हि तज्ज्ञेयम्' इत्यादि वचनोंसे त्याग ब्रह्मज्ञानका साधन है और ब्रह्मज्ञानके द्वारा वह मुक्तिसाधन है, साक्षात् नहीं, अतएव श्रुति कर्मको मोहका कार्य मानती है, अतएव

मुक्तेश्च बिभ्यतो देवा मोहेनाऽपिदधुर्नरान् ।
ततस्ते कर्मसूद्युक्ताः प्रावर्तन्ताऽविपश्चितः ।

इत्यादि वचन इसमें प्रमाण कहे जाते हैं । देवताओंको यह भय रहता है कि मनुष्य मुक्त न हो जायँ ।

शङ्का—मनुष्योंकी मुक्तिसे देवताओंको भय क्यों ?

समाधान—अविद्वान् मनुष्य कर्मानुष्ठान द्वारा देवताओंको संन्तुष्ट करता है। यदि वह मुक्त हो जायगा, तो देवताओंकी सेवा न होगी, इसलिए स्वार्थकी हानिसे देवता लोग मनुष्यकी मुक्तिसे डरते हैं, अतः मोहसे मनुष्यके चित्तको ढांक देते हैं, जिससे मनुष्य कर्मानुष्ठानका ही सतत उद्योग करता रहता। ब्रह्मज्ञानके साधनभूत कर्मत्यागमें प्रवृत्त नहीं होता, फिर भी जब प्राचीन पुण्योंके विपाकसे किसी पुरुषधौरेयका चित्त विविध-फलप्रलोभक कर्मजालोंसे विरक्त होकर उनका त्याग (संन्यास) कर आत्मतत्त्वके बोधसे मोहको नष्ट कर ब्रह्मज्ञानपरायण हो जाता है, तब वह पुरुष आत्माकी उपासना करता हुआ जीवन्मुक्त हो जाता है।

शङ्का—कर्मानुष्ठान ऋणके अपाकरणका मूल है, उसका त्याग करनेसे मोक्षका अधिकारी नहीं हो सकता, क्योंकि 'ऋणानि त्रीण्यपाकृत्य मनो मोक्षे निवेशयेत्' ऐसा स्मार्त वचन है।

समाधान—'ब्रह्मचर्य्याद् गृहाद्वा प्रव्रजेत्' इत्यादि श्रुतिसे मुमुक्षुको कर्मानुष्ठानकी आवश्यकता नहीं है, क्योंकि पूर्वजन्मके कर्मानुष्ठानोंसे भी ऋणका अपाकरण माना जाता है, अन्यथा गर्भस्थ वामदेवादिकी प्रव्रज्यामें प्रवृत्ति ही असंगत हो जायगी और उक्त ऋणकी आशङ्कासे कभी भी कर्मका संन्यास ही नहीं हो सकेगा। 'ब्रह्मचर्याद्' इत्यादिका कभी अवसर ही नहीं आयेगा।

किसीका यह मत है कि जाबाल श्रुतिमें जो कर्मसंन्यासका विधान किया गया है, वह कर्ममें जो अनधिकारी जड़, बधिर, मूक, अन्ध आदिके लिए है, कर्माधिकारियोंके लिए नहीं।

'अत्रैवं शक्यते वक्तुं येऽन्धपङ्ग्वादयो नराः
गृहस्थत्वे न शक्ष्यन्ति कर्तुं तेषामयं विधिः।
नैष्ठिकं ब्रह्मचर्य्यं वा परिव्राजकताऽपि वा
तैरवश्यं ग्रहीतव्या तेनादावेतदुच्यते।

इत्यादि स्मार्त वचन इसमें प्रमाण हैं, पर यह मत ठीक नहीं है, कारण कि विधिवाक्यसे जहाँ अर्थवाद या स्मृतिवाक्यका विरोध होता है, वहाँ विधिसे अर्थवादस्मृतिका ही बाध होता है, विपरीत नहीं। जाबाल श्रुति विधि है, उक्त स्मार्त वाक्य स्मृति तथा अर्थवाद है, इसलिए उक्त श्रुतिसे वे बाध्य हैं, बाधक नहीं हैं 'अथ पुनरव्रती' इत्यादि वाक्यसे अनधिकारियोंका पुनर्विधान देखनेसे पूर्व वाक्य अधिकारियोंके लिए है, यह स्पष्ट है। यदि पूर्व वाक्य भी अनधिका-

एषणात्रयसंन्यासो वित्तत्यागेन लक्ष्यते।
ज्ञानस्य हेतुः संन्यास इति शास्त्रेषु डिण्डिमः ॥ ६ ॥

रियोंके लिए कहते हो, तो पुनर्विधायक वाक्य ही व्यर्थ हो जायगा। असलमें, तो बाध्यबाधकभाव विरोध होनेपर होता है; अन्यथा नहीं। प्रकृतमें कामनाके भेदसे दोनों वाक्य व्यवस्थित हैं, मनुष्यलोककामनावान्‌के लिए गृहस्थाश्रमादिके बोधक वाक्य हैं और मोक्षकामनावान्‌के लिए कर्मसंन्यासके बोधक वाक्य हैं। अधिकारीके भेदसे दोनों वाक्य स्वविषयमें व्यवस्थित हैं, इसलिए विरोधकी शंका ही नहीं हो सकती; 'किं प्रजया करिष्यामो येषामयमात्मा लोकः' इत्यादि श्रुति इस अर्थको स्पष्ट करती है। जो ऐहिकामुष्मिक फलसे वितृष्ण हैं, उनके लिए कर्मानुष्ठान अपेक्षित नहीं है, किन्तु मोक्षमें मोह अन्तराय है, केवल उसकी निवृत्तिमात्र अपेक्षित है। उसका निवर्तक आत्मज्ञान है, इसका साधन कर्मत्याग है, अतः ब्रह्मभावकी प्राप्तिकी इच्छाके लिए ज्ञानाङ्ग त्याग परमावश्यक है, कर्मानुष्ठान नहीं, यह निष्कर्ष है ॥ ५ ॥

'एषणात्रय०' इत्यादि। वित्तत्याग एषणात्रयके त्यागमें उपलक्षण है अर्थात् उसका पुत्रैषणा, वित्तैषणा और लोकैषणामें तात्पर्य है। ऐहिकामुष्मिक फलके साधनका त्याग यहां विवक्षित है। यह उसी पुरुषको हो सकता है, जो सब फलोंसे वितृष्ण होकर केवल मोक्षसाधन ज्ञानके अर्जनमें ही सदा रत हो। ज्ञानका हेतु संन्यास है, यह वेदान्तशास्त्रमें डंकेकी चोट कहा जाता है। तात्पर्य यह है कि जाया, पुत्र आदि लक्षण पाङ्क्त कर्म अविद्याविषयक है, इसलिए आत्म-साधन नहीं है। अन्यके साधनका अन्य फलकी प्राप्तिके लिए उपयोग नहीं किया जाता, जैसे भूख और प्यासके साधन भोजन, जलपान आदि हैं, इनका गमनके लिए प्रयोग नहीं किया जाता। करनेपर उस फलकी सिद्धि नहीं हो सकती, पुत्रादिसाधन मनुष्यलोक, पितृलोक और देवलोकके साधनरूपसे श्रुत हैं, आत्मज्ञानके साधनरूपसे श्रुत नहीं हैं, 'एतावान् वै कामः' इत्यादि श्रुतियोंसे उक्त कर्म कामनावान्‌के लिए ही विहित हैं। ब्रह्मवेत्ताको उक्त कामनाएँ हैं नहीं, प्रत्युत वह आप्तकाम कहा जाता है। आप्तकामको कामनाका संभव नहीं है 'येषां नोऽयमात्माऽयं लोकः' इत्यादि श्रुति स्व-व्यतिरिक्त निखिल कामनाका अभाव बोधन करती है, जो लोग ब्रह्मवेत्तामें भी एषणा-त्रयका संबन्ध कहते हैं, उन्होंने बृहदारण्यक सुना भी नहीं है, क्योंकि पुत्रादिकी एषणा अविद्वद्विषयक है, वस्तुतः आत्मैक्यज्ञानसे सब क्रिया, कारक और फलके भेदका

श्रुतिः—मैत्रेयीति होवाच याज्ञवल्क्य उद्यास्यन्वा अरेऽहमस्मात्स्थानादस्मि हन्त तेऽनया कात्यायन्याऽन्तं करवाणीति ॥ १ ॥

उपमर्दन होनेसे विद्यादशामें कार्यके साथ अविद्याकी उपपत्ति ही नहीं हो सकती। उक्त विरोध वे लोग नहीं समझ सके, अन्यथा वे ऐसा कहनेका साहस भी नहीं कर सकते, अतएव—

'यदिदं वेदवचनं कुरु कर्म त्यजेति च।
कां गतिं विद्यया यान्ति कां च गच्छन्ति कर्मणा॥
एतद्वै श्रोतुमिच्छामि तद्भवान् प्रब्रवीतु मे।
एतावन्योन्यवैरूप्ये वर्तेते प्रतिकूलतः॥'

इत्यादि प्रश्नके उत्तरमें यह कहा है कि नित्य और अनित्य दो प्रकारके फल हैं। नित्य फलका साधन संन्यासपूर्वक आत्मज्ञान है और अनित्य फलका साधन कर्मयोग है। इसमें अवान्तर विशेष यह है कि ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य और वानप्रस्थ—इन तीन आश्रमोंके उचित कर्मोंका अनुष्ठान करके अन्तमें जो संन्यास लिया जाता है, वह आश्रमानुक्रमसे होता है और जो ब्रह्मचर्य्यावस्थासे ही विरक्त होकर संन्यासका ग्रहण किया जाता है, वह व्युत्क्रमसंन्यास कहा जाता है। फल दोनोंका समान ही है। केवल अधिकारीके भेदसे उनका भेद है। वस्तुतः चित्त-शुद्धि अपेक्षित है। जिनका चित्त अशुद्ध रहता है, उनको चित्तकी शुद्धिके लिए अन्य आश्रमका ग्रहण करना आवश्यक है, जिनका चित्त जन्मान्तरके कर्मानुष्ठानोंसे ही शुद्ध हो चुका है, उनके लिए ब्रह्मचर्य्य आदि आश्रमोंसे ही संन्यासका ग्रहण करनेकी विधि है। विशेष विस्तर-भयसे छोड़ देते हैं॥ ६॥

'मैत्रेयीति होवाच' इत्यादि श्रुति। आख्यायिका श्रुतिका अक्षरार्थ यह है कि जब महर्षि श्रीयाज्ञवल्क्यजीने संन्यास लेनेका दृढ़ संकल्प कर लिया, तब अपनी प्रिय भार्या मैत्रेयीको संबोधित किया।

शङ्का —क्यों?

समाधान—भार्य्यासे अनुज्ञा लेकर ही संन्यासका ग्रहण करना चाहिए, अन्यथा नहीं। सारांश यह है कि विवाहके समय पतिपत्नीका अग्निसाक्षिक परस्पर संबन्ध स्थापित होता है। उसमें यह शर्त रहती है कि कोई किसीसे छिपाकर ऐहलौकिक या पारलौकिक कर्म न करे। विशेषतः स्वमात्रगामी फलके लिए अनुज्ञा लेना

सा होवाच मैत्रेयी यन्नु इयं भगोः सर्वा पृथिवी वित्तेन पूर्णा स्यात्कथं तेनामृता स्यामिति, नेति होवाच याज्ञवल्क्यो यथैवोपकरणवतां जीवितं तथैव ते जीवितं स्यादमृतत्वस्य तु नाशास्ति वित्तेनेति ॥ २ ॥

आवश्यक है। संन्यासका फल मुक्ति है। वह केवल महर्षिको ही होगा, मैत्रेयीको नहीं। इसलिए उनकी अनुज्ञा लेना आवश्यक है और उनकी रक्षाका पूरा प्रबन्ध उनके विश्वासके अनुसार करना चाहिए। इसलिए उनका आमन्त्रण (आह्वान) किया। उनके समीपमें आनेपर उनसे कहा कि ['अरे' यह संबोधन है] अब मैं इस गृहस्थाश्रमसे ऊपर ऊँचे संन्यास आश्रममें जाना चाहता हूँ। इसलिए इस समय तुम्हारा कात्यायनीके साथ (इस नामकी उक्त महर्षिकी द्वितीया भार्य्या थी) पहले विभाग करना चाहता हूँ अर्थात् अभीतक मेरे उपार्जित धनमें तुम लोगोंका साक्षात् स्वत्व नहीं था, मेरे आश्रमान्तरका ग्रहण करनेपर इस धनमें तुम लोगोंका सत्व होगा। संभव है कि उस समय धनके लिए तुम लोगोंमें परस्पर विवाद हो, ऐसी दशामें विज्ञ भी कष्ट पाते हैं और धन नष्ट कर देते हैं अर्थात् दूसरेके अधीन हो जाता है, इसलिए मैं चाहता हूँ कि तुम दोनोंको यथाविधि विभक्त कर दूँ और उसीके अनुसार भविष्यमें धनका स्वार्थके लिए उपयोग करना, जिसमें परस्पर कलह न हो और अन्य आश्रमका ग्रहण करनेपर तुम लोगोंके व्यवहारसे मुझे परिताप न हो। शास्त्रकी आज्ञा भी है कि 'वृत्तिभिः संविभज्य स्वान् संन्यसेत्' अर्थात् आत्मीय पुत्र, कलत्र आदिकी वृत्तियोंका—जीवनसाधन द्रव्योंका—विभाग करके संन्यास ग्रहण करना चाहिए। मैत्रेयीने उत्तर दिया कि भगवन्, आप ठीक कहते हैं, देश, काल, अवस्था और ज्ञानके अनुरूप ही आपकी आज्ञा है। यदि आप शास्त्रके आदेशका पालन न करेंगे, तो दूसरेसे क्या आशा ? ठीक है, अब आप हम लोगोंके कर्तव्योंका उपदेश दीजिये।

शङ्का—याज्ञवल्क्यको यदि संन्यास लेना ही था, तो ले लेते। द्रव्यका विभाग वे दोनों आपसमें ही कर लेतीं अथवा साथ ही रहतीं, विभागकी कोई आवश्यकता न थी।

समाधान—'भार्या पुत्रश्च दासश्च त्रय एवाऽधनाः स्मृताः।
यत् ते समधिगच्छन्ति यस्य ते तस्य तद्धनम् ॥'

इत्यादि शास्त्रसे धनमें स्वतः उनका अधिकार नहीं है। अधिकार तब होगा जब उनको विभक्त करनेवाला मिलेगा और दूसरा कारण 'धनका विभाग करके

ज्ञानादेवाऽमृतत्वं स्यादविद्याध्वंसमात्रतः ।
अमृतत्वस्य तु नाऽऽशाऽस्ति वित्तसाध्येन कर्मणा ॥ ७ ॥

ही संन्यासका ग्रहण करना चाहिए' इत्यर्थक शास्त्रकी भी आज्ञा है। इसलिए विभाग करना अत्यावश्यक है। उसपर मैत्रेयीने उत्तर दिया कि ठीक है, संन्यास जैसे आपके लिए हितकर है, वैसे ही हम लोगोंके लिए विभक्त धन हितकर है। यद्यपि 'स्त्रियो वैश्याश्च शूद्राश्च येऽपि स्युः पापयोनयः' इत्यादि श्रुतियोंसे स्त्रियां अशुचि मानी गयी हैं, अतएव धन पानेपर भी जीवननिर्वाहमात्र कर सकूँगी उसके द्वारा कोई धर्मकार्य्य कर विशेष स्वहितके साधन करनेकी आशा नहीं है, ऐसी शङ्का मुझे होती है, तथापि वह ठीक नहीं है, कारण कि महानुभावका संसर्ग परम उन्नतिका कारण होता है। जैसे नालीका गन्दा जल गङ्गाजीके संबन्धसे परम पवित्र हो जाता है, यह लोकमें प्रसिद्ध है, वैसे ही आपके संसर्गसे पापात्मक स्त्री भी परम शुचि है, अतः प्राप्त धनसे अपना हित कर सकती हूँ, इसमें सन्देह नहीं हो सकता, परन्तु मैं आपसे यह पूछती हूँ कि यह संपूर्ण पृथिवी धनसे परिपूर्ण होकर यदि मिल जाय, तो क्या मैं मुक्त हो जाऊँगी ? महर्षिजीने नहीं, ऐसा उत्तर दिया और कहा कि जैसे धनसे अन्य धनियोंका जीवन-निर्वाह होता है, वैसे तुम्हारा भी जीवन-निर्वाह होगा, मोक्षकी तो आशा भी नहीं, क्योंकि धनसे जैसे दूसरेकी मुक्ति नहीं होती, वैसे तुम्हारी भी नहीं होगी ॥ १,२ ॥

'ज्ञानादेवा०' इत्यादि। ज्ञानसे ही मोक्ष होता है। विद्याका अविद्याके साथ विरोध है। 'तत्त्वमसि' आदि प्रमाणोंसे जनित विद्यासे अविद्याका ध्वंस होता है। अविद्यासे ही नित्य स्वात्मरूप मोक्ष तिरोहित रहता है। पिधानभूत अविद्याकी निवृत्ति होनेसे स्वतःसिद्ध मोक्ष अभिव्यक्त होता है। वित्तसाध्य कर्मसे मोक्षकी आशा नहीं की जा सकती। यद्यपि श्रुतिमें 'वित्तेन' यह पाठ है, तथापि उसका भाष्यकारने वित्तसाध्येन कर्मणा, ऐसा अर्थ किया है, इसका अभिप्राय यह है कि केवल स्वरूपसे वित्त तो सांसारिक सुखादिका भी कारण नहीं होता; किन्तु किसी क्रियाके द्वारा ही कारण होता है, इसलिए मोक्षके प्रति भी स्वरूपसे वित्त कारण होगा, यह शङ्का भी नहीं हो सकती, इसलिए भाष्यकारने वित्तशब्दकी वित्तसाध्य श्रौत, स्मार्त आदि कर्मजातमें लक्षणा कर शङ्का-समाधानकी उपपत्ति की है।

शङ्का—यदि मोक्षसाधन वित्त नहीं है, तो आप क्यों देते हैं ?

न कर्म कारणं मुक्तेर्नोऽग्निस्तापस्य भेषजम् ।
कर्मभ्यो जन्म नियतं जन्म चेन्निर्वृतिः कुतः ॥ ८ ॥

समाधान—जैसे धनियोंका सूखपूर्वक जीवन होता है; वैसे ही तुम्हारा भी होगा ॥ ७ ॥

कर्म मुक्तिके प्रतिकूल है; यह स्फुट करते हैं—'**न कर्म**' इत्यादि ।

कर्म मुक्तिका कारण नहीं है, किन्तु बन्धका कारण है, क्योंकि कर्मसे जन्मका होना नियत है, फिर उससे मुक्ति कैसे होगी ? 'तदत्यन्तविमोक्षोऽपवर्गः', 'दुःखजन्म-प्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायादपवर्गः' इत्यादिसे और 'अशरीरं वाव सन्तं प्रियाप्रिये न स्पृशतः' इत्यादि श्रुतियोंसे जन्म-प्रबन्धविच्छेद ही मुक्ति है, ऐसा कहा गया है, वह जन्मके कारणोंसे कैसे हो सकती है ? अग्निसे ताप होता है, जो तापकी शान्ति चाहता है, उसके लिए अग्निका सन्निधान तापनिवृत्तिका उपाय नहीं कहा जा सकता, किन्तु अग्निका परिहार ही तापशान्तिका साधन हो सकता है । मैत्रेयीने कहा कि स्वभावतः महात्माओंकी प्रवृत्ति जब अपकारीके प्रति हितकारिणी होती है, तब भक्त जनोंके प्रति हितकारिणी होती है, इसमें तो कहना ही क्या ? किन्तु यह मेरे ही अपराधोंका फल है, जो आप महानुभाव भी अनन्य मादृश भक्तोंके प्रति अहितोपदेशमें ही प्रवृत्त हुए । यदि आप ऐसा करेंगे, तो दूसरा कौन मेरा हितचिन्तन या हितोपदेश करेगा ? मैं आपकी अनुरूप अनन्य-भक्त प्रिय सती भार्या हूँ । मेरी कामनाओंको अपूर्ण कर केवल धनका प्रलोभन देकर आप संन्यास कैसे ग्रहण कर सकते हैं ? अगर वित्तसे भी मोक्षकी संभावना हो, तो आपके लिए उसका त्याग करना उचित नहीं है । यदि वित्तसे मुक्तिकी संभावना नहीं है, तो मैं उसको लेकर भी क्या करूँगी ? यदि मेरी सेवाओंका कुछ प्रभाव हो या मुझ असहायके ऊपर अनुग्रहकी इच्छा हो या स्वतः उपकार करनेकी दया हो, तो मेरा भी वैसा ही उद्धार कीजिये जैसा कि आप अपना करना चाहते हैं । मैं भी वह जानना चाहती हूँ जिसे आप जानते हैं । आपके तपःप्रभावसे मैं उस साधनमें सफल हो सकती हूँ, इसका मुझे पूर्ण विश्वास है । जिस विज्ञानको पाकर आप चिरप्रिय धनको निर्मम होकर त्याग रहे हैं, वही ज्ञानरूपी धन हमको भी दीजिये । जिस धनका आदि, मध्य और अन्त नहीं है और भोगसे जिसका कभी क्षय नहीं होता, वही धन कृपया दीजिये । आप अनन्तवित्त हैं, फिर विनाशी (अन्तवान्) वित्त मुझे क्यों देते

हैं ? दाताके सदृश ही दान होना चाहिए। असदृश दानसे दाताकी ख्याति भी नहीं होती। दानसे वह धन उपभोगके समान क्षीण नहीं होता, चाहे जितना आप देते जायँ, किन्तु अनवरत दान करनेपर भी उसका परमाणुमात्र क्षीण नहीं हो सकता और अनन्यभक्तका उद्धार भी हो जायगा। अतः उसी धनको देनेकी कृपा करें, यही चरणोंमें असकृत् प्रार्थना है। महर्षिजीने उत्तर दिया—प्रिये, सत्य है; धन देनेका मेरा अभिप्राय यह था कि जो सांसारिक फलोंसे निवृत्त नहीं हैं अर्थात् सतत सांसारिक ही फल चाहते हैं, वे इस धनके पानेके अधिकारी नहीं हैं। अतएव मेरी इच्छा रहनेपर भी वे इस धनको नहीं पा सकते और न मैं दे ही सकता हूँ! इस धनके पानेका अधिकार उन्हींको है, जो सब फलोंमें निवृत्ततृष्ण हैं, अतएव मैंने तुम्हारी परीक्षा की कि तुम इस धनसे सन्तुष्ट हो सकती हो या नहीं। अब मुझे यह मालूम हो गया कि तुम सब सांसारिक फलोंसे पराङ्मुख हो, इसलिए मैं अत्यन्त हर्षके साथ उस उत्तम धनको तुम्हें देता हूँ, तुम प्रसन्नचित्तसे उसका ग्रहण करो, मैं तुम्हारे स्वभाव, शील और भाषणसे बहुत सन्तुष्ट हुआ हूँ। प्रायः ऐसे अवसरोंपर स्त्रियां स्वभावसे प्रतिकूल भाषण किया करती हैं। परन्तु तुम पूर्ववत् इस अवसरपर भी अनुकूल और मधुर ही भाषण करती हो, जैसा कि शास्त्रमें लिखा है—

'कुशीलः कामवृत्तो वा गुणैर्वा परिवर्जितः।
पूजनीयः स्त्रिया साध्व्या सततं देववत्पतिः॥
पाणिग्राहस्य साध्वी स्त्री जीवतो वा मृतस्य वा।
पतिलोकमभीप्सन्ती नाऽऽचरेत् किञ्चिदप्रियम्॥'

अर्थात् सुन्दर स्वभावसे हीन, कामी, गुणोंसे रहित कैसा भी पति क्यों न हो साध्वी स्त्रीको उसकी देवके समान पूजा ही करनी चाहिए। पतिलोकको चाहनेवाली स्त्री जीवित या मृत पतिके लिए कुछ भी अप्रिय काम न करे।

सब लोग मोक्षमें प्रवृत्त पुरुषका त्याग कर देते हैं, कोई भी साथ जानेको तैयार नहीं होता, लेकिन मुझमें तुम्हारी इतनी अधिक भक्ति है कि इस अवस्थामें भी तुम मुझे छोड़ना नहीं चाहती हो। मेरा वियोग तुमको असह्य प्रतीत हो रहा है, इसलिए यह धनविभाग भी तुमको पसंद नहीं है। मुक्तिमें भी साथ ही रहना चाहती हो। साधारण स्त्रियोंसे तुम्हारी तुलनाकी तो संभावना ही नहीं है। पार्वतीजीसे भी तुम प्रकृष्ट प्रतीत होती हो। श्रीमहादेवजीके प्रेमवश उनकी आधी देह हो गई, अर्द्ध देह

श्रुतिः—सा होवाच मैत्रेयी येनाहं नामृता स्यां किमहं तेन कुर्यां यदेव भगवान्वेद तदेव मे ब्रूहीति ॥ ३ ॥

हरकी है और तुमको आधा भी अंश मेरे रहित अभीष्ट नहीं है। इसलिए मुक्ति-दशामें सर्वथा ऐक्यकी प्रार्थना करती हो। सारांश यह है कि महर्षिजी मैत्रेयीका वैराग्य देखकर नितान्त संतुष्ट हुए और यह विश्वास शिथिल हुआ कि ब्रह्म-ज्ञानके योग्य वैराग्य हमको ही है। अब महर्षिजी समझ गये कि स्त्री और पुरुषका भेद इसमें अपेक्षित नहीं है। योग्य मैत्रेयीको ब्रह्मोपदेश देना आवश्यक है, ऐसा संकल्प कर बोले—हम तुमारी वैराग्यभावनासे नितान्त सन्तुष्ट हैं, अतएव मोक्षसाधन आत्मज्ञानका उपदेश देना चाहते हैं। तुम निदिध्यासन अर्थात् चित्तको एकाग्र करो। चित्तकी एकाग्रताके बिना यह उपदेश फलदायक नहीं होता। 'अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः' इस योग सूत्रसे यह स्पष्ट घोषित किया गया है कि मनका निरोध अभ्यास और वैराग्यसे ही होता है, अन्य उपायसे नहीं। 'मनःसमाधानरूप कार्य्यसे मैत्रेयीका वैराग्य पूर्णरूपसे प्रमाणित हो जायगा, शाब्दिक वैराग्यसे चित्त एकाग्र नहीं हो सकेगा। यह विषय अतिगम्भीर है, इसका कहना और सुनना अतिकठिन है। वस्तुतः यह वाग्का विषय नहीं है, जिससे कि व्युत्पन्नको शब्द द्वारा लौकिक विषयके समान अनायाससे कोई समझा सके। इसके विषयमें यह ठीक ही कहा गया है— 'आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेनम्' इत्यादि। 'अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानताम्'। हिरण्यगर्भलोकपर्य्यन्त जो उत्कृष्ट फल हैं, उन सब फलोंसे पुरुष जबतक विरक्त न हो जाय, तबतक उसकी बुद्धि शुद्ध ब्रह्मज्ञानोत्पत्तिके लिए योग्य नहीं होती और जबतक ऐसी बुद्धि न हो, तबतक वह अधिकारी नहीं होता। दृष्ट-नष्टस्वभाव होनेसे यद्यपि 'घटीयन्त्रके समान' सतत प्रवृत्त जन्ममरणप्रबन्धमें स्वतः ही वैराग्य है, इसमें वैराग्यार्थ विशेष उपदेशकी आवश्यकता नहीं है, तथापि इसमें धर्मादिहेतुक राग शास्त्रतः और आपाततः विवेकियोंको भी स्वतः उत्पन्न हो जाता है, अतः कर्मानुष्ठान द्वारा शुद्धात्मा ही इस संसारसे विरक्त होता है, वस्तुतः कर्मभोगवासनावश पुरुषका संसारमें अनुराग होता है। निष्काम कर्मानुष्ठानसे शुद्धबुद्धि पुरुषको ही वैराग्य होता है ॥ ८ ॥

'स होवाच मैत्रेयी' इत्यादि श्रुति। जिस धनसे मैं मुक्त न होऊँगी, उसको लेकर मैं क्या करूँगी। मुक्तिका साधन जो आप जानते हैं, उसीको मुझसे कहिए ॥ ३ ॥

द्विविधः कर्मसंन्यासः फलसाधनभेदतः ।
फलाय ज्ञानिनस्त्यागो जिज्ञासोर्ज्ञानसिद्धये ॥ ९ ॥
ज्ञानित्वाद् याज्ञवल्क्योऽयं जीवन्मुक्तिफलेच्छया ।
चित्तविक्षेपबहुलं गार्हस्थ्यं त्यक्तुमिच्छति ॥ १० ॥
गृहस्थ एव जनको जीवन्मुक्तोऽस्ति यद्यपि ।
धीस्वास्थ्यातिशयोऽथाऽपि सर्वकर्मत्यजोऽस्ति हि ॥ ११ ॥

'**द्विविधः**' इत्यादि । संन्यास दो प्रकारका है—एक फलका (मोक्षका) साधन और दूसरा मोक्षकारण ब्रह्मज्ञानका साधन । ज्ञानियोंका कर्मत्याग मोक्षका साधन माना जाता है । जैसे याज्ञवल्क्यका कर्मत्यागके बिना कर्मानुष्ठानकालमें गृहावस्थामें भी अर्थात् संन्याससे पूर्वमें भी ज्ञान था ही । यदि संन्यासको ही ज्ञानका साधन मानें, तो यह अर्थ होता है कि संन्यासके बिना ज्ञान ही नहीं होता, पर ऐसा नहीं कह सकते, कारण कि संन्याससे पूर्व भी याज्ञवल्क्य पूर्ण ब्रह्मज्ञानी थे । यह बात जनककी सभामें प्रसिद्ध हो चुकी थी । इसलिए श्रीयाज्ञवल्क्यजीका कर्मसंन्यास फलके लिए माना जाता है, मोक्षसाधन ज्ञानके लिए नहीं । यदि कर्मसंन्यासको केवल फलका ही कारण मानें, तो मैत्रेयीके प्रति जो विद्वत्साध्य कर्म त्याग कहा गया है; वह व्यर्थ हो जायगा । यदि कर्मत्याग ज्ञानसाधन है, तब तो ज्ञानकी उत्पत्तिके लिए वह आवश्यक होता है । कर्मत्यागके दोनों फल स्पष्ट दिखाई देते हैं, इसलिए उक्त व्यवस्था परम आवश्यक है ॥ ९ ॥

'**ज्ञानित्वाद्**' इत्यादि । वक्ष्यमाण उपदेशसे याज्ञवल्क्य ज्ञानी है, इसमें सन्देह नहीं । अतः उनका कर्मत्याग ज्ञानके लिए तो कह नहीं सकते और कर्मत्याग किया अवश्य है, इसलिए यही मानना पड़ेगा कि उनका कर्मत्याग फलार्थ है, फल प्रकृतमें जीवन्मुक्ति है, उसीके लिए कर्मत्याग है । यह तो अनुभव सिद्ध है कि कर्मका अधिकार गृहस्थाश्रममें है । यह कर्म—क्रिया—करना अवशिष्ट है, इस कर्मका साधन-उपस्थित है, इसका अभी संचय करना है इत्यादि चिन्ताओंसे चित्त एकाग्र नहीं रह सकता । आत्मसुखानुभव जो जीवन्मुक्तिदशामें होता है, वह चित्तकी एकाग्रतामें ही होता है, विक्षेपमें नहीं होता, इसलिए गृहस्थाश्रम उक्त सुखानुभवके प्रतिकूल है, अतएव उसका त्याग करना अभीष्ट है ॥ १० ॥

'**गृहस्थ**' इत्यादि ।

विज्ञानसाधनत्वेन मैत्रेयी वित्तमत्यजत् ।
तत्त्यागे धीसमाधानाज्ज्ञाने स्यादधिकारिता ॥ १२ ॥

शङ्का—जो यह आपने कहा था कि जीवन्मुक्तिरूप सुखके अनुभवके लिए भी कर्मत्याग आवश्यक है, अतः ज्ञानी याज्ञवल्क्य कर्मोंको त्यागनेके लिए प्रस्तुत हुए, सो ठीक नहीं है, कारण कि जनकजी भी जीवन्मुक्त थे, अतएव शुक आदि ब्रह्मर्षिगण ब्रह्मविद्याभ्यासके लिए जनकके यहां गये थे। जनकजीने कर्मका त्याग नहीं किया था। श्रौत-स्मार्त कर्मके साथ लौकिक राज्यपालन आदि कर्म भी करते थे और उनके जीवन्मुक्तिसुखास्वादमें कोई अन्तर नहीं था।

समाधान—ठीक है, जनकजी कर्मी और जीवन्मुक्त थे, परन्तु यह तो अनुभवसिद्ध बात है कि एक समयमें चित्त व्युत्थित और समाहित नहीं रह सकता। जीवन्मुक्तिसुखास्वाद चित्तकी एकाग्रताके बिना नहीं होता। राज्य-शासन आत्मासे अन्य तत्-तत् विषयोंकी वृत्तियोंके बिना नहीं हो सकता। अतः यह अवश्य मानना पड़ेगा कि शासनके समय आत्मेतरविषयक वृत्तियाँ अवश्य रहती थीं। फिर उस समय जीवन्मुक्तिका सुख कहाँ। जनकजी निरन्तर उक्त सुखार्थी नहीं थे, इसलिए उन्होंने कर्म-संन्यास नहीं किया। श्रीयाज्ञवल्क्यजी सतत उक्त सुखार्थी थे, इसलिए उन्होंने कर्मसंन्यास किया। चित्तविश्रान्तिकी परा काष्ठा केवल त्यागसे ही साध्य है, इसमें सन्देह नहीं, अतएव विद्वत्संन्यास निष्फल नहीं है। यदि धीस्वास्थ्यातिशय—चित्तवृत्तिका अत्यन्त समाधान—भी कर्मसंन्यासका फल नहीं माना जायगा, तो उक्त ऋषिका कर्मत्याग व्यर्थ ही हो जायगा, अतः सब कर्मोंके त्यागसे विद्वान्का धीस्वास्थ्यातिशय अवश्य फल मानना चाहिए। जनक याज्ञवल्क्यमें उक्तातिशय अवश्य स्वीकरणीय है ॥ ११ ॥

'विज्ञान०' इत्यादि। फलके लिए कर्मत्यागका निरूपण करके ज्ञानके लिए कर्मत्यागका उदाहरण देते हैं। मैत्रेयीने ज्ञानोत्पत्तिके लिए कर्मत्याग किया है, कर्मत्याग दृष्ट द्वारा ज्ञानोत्पत्तिका हेतु है, यह स्फुट कहते हैं। कर्मानुष्ठानके लिए तत्-तत् साधनसामग्रीसञ्चयके लिए तत्-तत् देश-काल आदि घटित साधनोंका समयपर ध्यान करना आवश्यक है। अतः चित्त अवश्य ही विक्षिप्त होगा। विक्षिप्त चित्तमें निदिध्यासन (ध्यान) नहीं हो सकता। चित्तकी पांच प्रकारकी वृत्तियाँ योगशास्त्रमें बतलाई गयी हैं—क्षिप्त, विक्षिप्त, मूढ़, एकाग्र और निरुद्ध। उनमें क्षिप्त, विक्षिप्त और मूढ़ ये तीनों वृत्तियां ध्यानके प्रतिकूल हैं। एकाग्र और निरुद्ध

चतुर्थ आश्रमो नार्या नाऽस्ति चेन्माऽस्त्वथाऽप्यसौ।
ज्ञानाङ्गं　सर्वसन्त्यागमर्हत्येवाऽनिषेधकात् ॥ १३ ॥

—ये दोनों वृत्तियां भोगके अनुकूल हैं। कर्मानुष्ठान विक्षेपका संपादक होनेसे ध्यानार्थियोंके लिए अवश्य त्याज्य है। इसलिए मैत्रेयीने ज्ञानकी प्राप्तिके लिए कर्मका त्याग किया है। कर्मत्यागसे चित्तगत विक्षेपका विनाश हो जानेसे ज्ञानमें अधिकार होता है। कर्मजन्य भोगकी वासनासे प्राणियोंका संसारमें अनुराग होता है। जब कर्मोंमें अशुद्धि, पारतन्त्र्य, क्षयिष्णुत्व आदिकी भावना करता है, तब बुद्धि शुद्ध होती है और कर्मोंके त्यागकी इच्छा उत्पन्न होती है॥ १२ ॥

'चतुर्थ' इत्यादि।

शङ्का—जिनका उपनयन होता है, उन्हींका संन्यासमें अधिकार माना जाता है, स्त्रियोंका यज्ञोपवीत-संस्कार नहीं होता, अतः उनका संन्यासमें भी अधिकार नहीं है, फिर मैत्रेयीका चतुर्थ आश्रममें प्रवेश कैसे हो सकता है?

समाधान—भले ही संन्यासमें स्त्रियोंका अधिकार न हो, किन्तु उनका कर्म-त्यागमें अधिकार माननेमें क्या आपत्ति है? संन्यासी ही कर्मत्याग करे, दूसरा नहीं, ऐसा व्यवहार नहीं है। 'स्त्रियां कर्मत्याग न करें', ऐसा कोई निषेधक वाक्य भी नहीं है, जिससे कि स्त्रियोंका कर्मत्याग अवैध समझा जाय। वस्तुतः स्त्रियोंका स्वतन्त्ररूपसे कर्ममें अधिकार नहीं है, किन्तु पतिके साथ ही कर्ममें अधिकार है। पतिके संन्यास लेनेपर स्त्री स्वतन्त्ररूपसे कर्म कैसे कर सकती है? अतः कर्मका त्याग स्वतः प्राप्त होता है। हाँ, स्वतन्त्र फलकी इच्छासे पतिकी आज्ञा लेकर जो कुछ स्मार्त कर्म कर सकती है, वह भी फलकी इच्छा होनेपर ही। विषयमें दोषके दर्शन आदिसे यदि उसकी फलकी इच्छा ही निवृत्त हो जाय, तो कर्मसे निवृत्ति स्वाभाविक हो जायगी। संन्यास दो प्रकारका होता है—एक दण्डादिधारणपूर्वक सब कर्मोंका संन्यास कर चतुर्थाश्रमका ग्रहण करना और दूसरा फलत्यागपूर्वक केवल कर्मसंन्यास। प्रथम संन्यासमें उपवीतादिका नियम है, इसलिए उसमें स्त्रियोंका अधिकार नहीं है, यह कहना ठीक है, पर द्वितीय संन्यासमें कोई प्रतिबन्धक न होनेसे वह स्त्रियोंके लिए भी हो सकता है। स्वर्गादिफलविशेषमें आसक्तिपूर्वक जिन यागादि कर्मोंका अनुष्ठान कर पुरुष संसारमें बद्ध होता है, दोषदर्शनके अनन्तर ईश्वरार्पण-बुद्धिसे उन्हीं कर्मोंके अनुष्ठानसे बुद्धि शुद्ध होती है, इसीसे ज्ञानके निरतिशय फलका अर्थी ब्रह्मजिज्ञासु होता है॥ १३ ॥

श्रुतिः—स होवाच याज्ञवल्क्यः प्रिया बतारे नः सती प्रियं भाषस एह्यास्व व्याख्यास्यामि ते व्याचक्षाणस्य तु मे निदिध्यासस्वेति ॥ ४ ॥

निदिध्यासस्वेति शब्दात्सर्वत्यागफलं जगौ ।
नह्यन्यचिन्तामत्यक्त्वा निदिध्यासितुमर्हति ॥ १४ ॥
निरन्तरं विचारो यः श्रुतार्थस्य गुरोर्मुखात् ।
तन्निदिध्यासनं प्रोक्तं तच्चैकाग्र्येण लभ्यते ॥ १५ ॥
अनात्मन्यरुचिश्चित्ते रुचिश्चाऽऽत्मनि चेद्भवेत् ।
पुण्यपुञ्जेन शुद्धं तच्चित्तमैकाग्र्यमर्हति ॥ १६ ॥

'स होवाच' इत्यादि श्रुति । अरे, तुम पहले भी मेरी सती प्रिया थी, इस समय भी प्रिय ही भाषण कर रही हो । आओ, बैठो, तुम्हें अमृतसाधनका उपदेश देता हूँ, मेरे उपदेशवाक्योंका ध्यानपूर्वक श्रवण करो ॥४॥

'निदिध्यास०' इत्यादि । निदिध्यासन संन्यासका अन्वयव्यतिरेकसिद्ध फल है अर्थात् कर्मत्यागरूप संन्याससे चित्त एकाग्र होता है, यह अन्वय है । उक्त संन्यासके अभावसे निदिध्यासनका अभाव होता है, यह व्यतिरेक है । इस अन्वय-व्यतिरेकसे सिद्ध निदिध्यासनका 'निदिध्यासस्व' से अनुवाद करते हैं । अतः निदिध्यासन विधेय नहीं है। इसका इष्ट फल व्यतिरेकमुखसे दृढ़ करते हैं—'नह्य०' इत्यादिसे । तात्पर्य यह है कि सब कर्मोंका त्याग करनेसे किसी विहित कर्मके अनुष्ठानके लिए चित्त चञ्चल नहीं होता, अतः चित्तैकाग्र्य सिद्ध है, क्योंकि अन्यविषयक चिन्ताओंका त्याग न कर कोई भी निदिध्यासन नहीं कर सकता ॥१४॥

'निरन्तरम्' इत्यादिसे । गुरुमुखसे जो अर्थ सुना गया हो, उसका निरन्तर विषयान्तरसे अव्यवहित जो विचार है, उसको निदिध्यासन कहते हैं। 'तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्' इस योगसूत्रका भी यही अर्थ है । उदाहरण—'तत्त्वमसि' इस वाक्यका जीवब्रह्माभेद अर्थ है, ऐसा गुरुमुखसे सुना, अनन्तर उसीकी निरन्तर लगातार चित्तवृत्तियाँ होती रहें, बीचमें अन्य विषयकी चित्तवृत्तियाँ न हों, उसको निदिध्यासन कहते हैं । दीर्घकालपर्यन्त उक्तार्थविषयक चित्तवृत्ति एकाग्रताके बिना नहीं हो सकती, अतः यह निदिध्यासन चित्तैकाग्र्यसे ही लब्ध होता है ॥ १५ ॥

'अनात्मन्य०' इत्यादि। अनात्मभूत (आत्मभिन्न) निखिल पदार्थोंमें जो अरुचि (अप्रीति) और आत्मामें पूर्ण रुचि—परम प्रेम—होता है; वह पूर्व जन्मोंके पुण्य-पुञ्जसे ही होता है । जिनको पूर्व जन्मका पुण्यपुञ्ज नहीं रहता, उनको अनवरत

शुद्ध्याऽङ्कुरितमैकाग्र्यं विवेकेनाऽभिवर्द्धयेत् ।
प्रियाप्रियविवेकोऽतो मैत्रेय्या उपदिश्यते ॥ १७ ॥

श्रुतिः—स होवाच न वा अरे पत्युः कामाय पतिः प्रियो भवत्यात्मनस्तु कामाय पतिः प्रियो भवति । न वा अरे जायायै कामाय जाया प्रिया भवति आत्मनस्तु कामाय जाया प्रिया भवति । न वा अरे पुत्राणां कामाय पुत्राः प्रिया भवन्ति आत्मनस्तु कामाय पुत्राः प्रिया भवन्ति । न वा अरे वित्तस्य कामाय वित्तं प्रियं भवति आत्मनस्तु कामाय वित्तं प्रियं भवति । न वा अरे ब्रह्मणः कामाय ब्रह्म प्रियं भवति आत्मनस्तु कामाय ब्रह्म प्रियं भवति । न वा अरे क्षत्रस्य कामाय क्षत्रं प्रियं भवति आत्मनस्तु कामाय क्षत्रं प्रियं भवति । न वा अरे लोकानां कामाय लोकाः प्रिया भवन्ति

सुननेपर भी उस प्रकारकी रुचि नहीं होती । चित्तशुद्धि एवंभूत रुचिके होनेपर ही मानी जाती है । परिशुद्ध चित्त ही एकाग्र होता है । और शुद्ध चित्त पुण्यसे होता है, वह चाहे इस जन्मका हो या अन्य जन्मका । इसीसे शास्त्रमें लिखा है—'अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्' ॥ १६ ॥

'शुद्ध्याऽ०' इत्यादि । विषयोंमें दोषभावनासे चित्त विषयाभिलाषसे पराङ्मुख होता है और नित्य निरतिशय मोक्षरूप फलके लिए उत्सुक होता है, उसके बाद श्रुत आत्मदर्शनोपायकी इच्छा होती है, आत्मदर्शन चित्तशुद्धिके बिना नहीं हो सकता, इसलिए चित्तशुद्धिकी कामनासे उसके साधनत्वरूपसे श्रुत नित्य कर्मानुष्ठानमें निरभिसन्धि प्रवृत्ति होती है । उक्त कर्मसे चित्तैकाग्र्य अङ्कुरित होता है । उसके अङ्कुरित होनेसे ही फल सिद्ध नहीं होता, किन्तु उसको बढ़ानेका प्रयास सतत करना चाहिए, अन्यथा एकाग्रताका अङ्कुर पुनः विषयवासनासे परिशुष्क हो जाता है । अतः प्रमादादिनिरासके द्वारा उसकी वृद्धिका उपाय प्रियाप्रियविवेक सतत करना चाहिए । अतः महर्षि स्वयं सहृदय होकर प्रियाप्रियका विवेक करते हैं ॥ १७ ॥

'स होवाच' इत्यादि श्रुति ।

अरे मैत्रेयि, पतिकी प्रीतिके लिए स्त्रीको पति प्रिय नहीं होता, किन्तु अपनी प्रीतिके लिए पति स्त्रीको प्रिय होता है । पतिके द्वारा स्त्रीको सुख होता है, अतः स्त्री स्वसुखके लिए ही पतिसे प्रेम करती है । एवं जाया (स्त्री) की प्रीतिके लिए पतिको स्त्री प्रिय नहीं होती, किन्तु पतिको स्त्रीसे सुख होता है, इसलिए

आत्मनस्तु कामाय लोकाः प्रिया भवन्ति। न वा अरे देवानां कामाय देवाः प्रिया भवन्ति आत्मनस्तु कामाय देवाः प्रिया भवन्ति। न वा अरे भूतानां कामाय भूतानि प्रियाणि भवन्ति आत्मनस्तु कामाय भूतानि प्रियाणि भवन्ति। न वा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवति आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति। आत्मा वा अरे द्रष्टव्य श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो मैत्रेय्यात्मनो वा अरे दर्शनेन श्रवणेन मत्या विज्ञानेन सर्वमिदं विदितम् ॥ ५ ॥

पतिजायादिभोग्येषु भोक्तर्यात्मनि चेक्ष्यते।
प्रीतिस्तत्र क्व मुख्येयं क्व चाऽमुख्येति चिन्त्यताम् ॥ १८ ॥

पति स्वसुखके लिए ही स्त्रीसे प्रेम करता है। एवं पुत्रकी प्रीतिके लिए पुत्र प्रिय नहीं होता, किन्तु अपनी प्रीतिके लिए पुत्र प्रिय होता है। धनकी कामनाके लिए धन प्रिय नहीं होता, किन्तु आत्म-कामनाके लिए धन प्रिय माना जाता है। एवं ब्रह्मकी कामनाके लिए ब्रह्म प्रिय नहीं होता, किन्तु आत्मकामनाके लिए ब्रह्म प्रिय होता है। क्षत्रियकी कामनाके लिए क्षत्रिय प्रिय नहीं होता, आत्मकामनाके लिए क्षत्रिय प्रिय होता है। लोककी कामनाके लिए लोक प्रिय नहीं होता, आत्मकामनाके लिए ही लोक प्रिय होता है। एवं देवताओंकी कामनाके लिए देवता प्रिय नहीं होते, आत्मकामनाके लिए ही देवता प्रिय माने जाते हैं। एवं भूतोंकी कामनाके लिए भूत प्रिय नहीं होते, किन्तु अपनी कामनाके लिए भूत प्रिय होते हैं। कहाँ तक कहें, सबकी कामनाके लिए सब प्रिय नहीं होते, किन्तु आत्माकी कामनाके लिए सब प्रिय माने जाते हैं। अरे मैत्रेयि, आत्मा द्रष्टव्य है, अर्थात् आत्माको देखना चाहिए, आत्मा श्रोतव्य—श्रवण करनेके योग्य है, मन्तव्य—मनन करनेके योग्य और निदिध्यासन करनेके योग्य है, हे मैत्रेयी, आत्माके दर्शनसे, श्रवणसे, मननसे, विज्ञानसे यह सब प्रपञ्च विदित हो जाता है ॥ ७ ॥

'पतिजायादि०' इत्यादि। पति, जाया आदि भोग्य पदार्थोंमें और भोक्ता आत्मामें प्रीति देखी जाती है। इसमें विचार यह करना है कि मुख्य और गौणके भेदसे प्रिय पदार्थ दो प्रकारके होते हैं—मुख्य प्रिय आत्मा भोक्ता है और गौण प्रिय भोग्य जाया, पति, पुत्र आदि अनात्मा हैं। शब्दादि पदार्थ न स्वयं प्रिय हैं और न स्वयं अप्रिय हैं, किन्तु अनुरक्त पुरुषके शब्द प्रिय होते हैं और द्वेषयुक्त पुरुषके शब्द अप्रिय

सदा भूयासमेवाऽहं मा न भूवं कदाचन।
इत्यनौपाधिकी प्रीतिः प्राणिनामात्मनीक्ष्यते ॥ १९ ॥

होते हैं। इससे सामान्यतः यही ज्ञात होता है कि अनात्मभूत जितने पदार्थ हैं, वे सब आत्माके मोहके कारण होनेसे अप्रिय और आत्माके सुखके भी कारण होनेसे प्रिय कहे जाते हैं। एवं जायादि भी आद्यन्तवान् होनेसे दुःखकारी प्रसिद्ध ही हैं, किन्तु कुछ काल तक आत्माके सुखके कारण होते हैं, इसलिए प्रिय भी कहे जाते हैं। किसी अवस्थामें आत्मा अपनेको अप्रिय नहीं जंचता, इसलिए मुख्य प्रिय आत्मा है। जायादि समयपर प्रिय और समयपर अप्रिय भी प्रतीत होते हैं, अतः प्रिय और अप्रिय दोनों हैं।

शङ्का—जायादि अनात्म पदार्थ यदि स्वतः अप्रिय हैं, तो आत्मार्थत्वरूपसे प्रिय भी नहीं हो सकते, अन्यमें अन्यभाव नहीं होता, जो देवदत्तके लिए घट है, वह मैत्रके लिए पट नहीं हो सकता है।

समाधान—माणवक (बालक) यद्यपि अग्निस्वरूप नहीं है, तथापि उसमें तेजस्वित्वादि धर्मसे अग्निका गौण व्यवहार होता हैं। 'अग्निरनुवाकमधीते' यहांपर वास्तविक अग्नि जड़ पदार्थ है, अतः वह अनुवाकका अध्ययन नहीं कर सकता और अध्ययन करनेवाला बालक है, वह अग्नि नहीं है, फिर भी विद्वानोंका भी 'अग्निरनुवाकमधीते' इत्यादि प्रयोग देखा जाता है, इसलिए यह माना जाता है कि बालकमें अग्निशब्दका गौण प्रयोग होता है, एवं अनात्म जायादि पदार्थोंमें प्रियशब्दका गौण प्रयोग होता है ॥ १८ ॥

'सदा भूयास०' इत्यादि। मैं सतत बना रहूँ, ऐसा समय न आवे कि मैं न रहूँ, इससे अनौपाधिकी प्रीति हर एक प्राणीकी आत्मामें देखी जाती है, ऐसा सुख संसारमें कोई नहीं है, जो दुःखद न हो, अन्ततः जिन-जिन साधनोंसे सुख होता है, वे साधन अप्राप्तिदशामें, विच्छेददशामें एवं विनाशदशामें दुःखद होते हैं, यह सर्वानुभवसिद्ध है। अतएव शास्त्रकारोंने स्पष्ट कहा है कि

'क्षयान्ता निचयाः सर्वे पतनान्ताः समुच्छ्रयाः।
संयोगा विप्रयोगान्ता मरणान्तं च जीवितम् ॥'

जिन साधनोंसे सुख होता है, वे सब परिणाममें दुःखद होते हैं, क्योंकि

स्वसम्बन्धोपाधिनैव भोग्ये प्रीतिर्न तु स्वतः ।
अन्यथा वैरिभोग्येऽपि भोग्यत्वात् प्रीतिरापतेत् ॥ २० ॥
ननु द्वेषोऽपि वैर्यादावात्मसम्बन्धतो भवेत् ।
वैरिवैरिण्यपि द्वेषः प्रसज्येताऽन्यथेति चेत् ॥ २१ ॥

साधन क्षयी हैं, इसलिए सम्पूर्ण वैषयिक सुखोंका त्याग करके आत्यन्तिक आत्मसुखका आश्रयण करना चाहिए। वेदान्तशास्त्रका यह उपदेश है कि सांसारिक सुख आपाततः अविवेकियोंको परम ईप्सित होता है। उसको परिणाममें दुःख समझ कर उससे प्रीति हटाकर निरतिशय सुखस्वरूप आत्मामें ही प्रीति करनी चाहिए, जैसे शुक्तिमें रजतका भ्रम होता है, वस्तुतः वह रजत है नहीं, पर भ्रमदशामें उसके लाभसे सुख होता है, अन्तमें दुःख नियत है, वैसे ही पति, जाया आदिमें सुखके होनेपर भी अन्तमें दुःख ही है ॥ १९ ॥

'स्वसम्बन्धो०' इत्यादि। किसीका मत यह है कि भोग्य पदार्थोंमें भोग्य-स्वरूपनिमित्तक ही प्रीति होती है, आत्मोपाधिक नहीं, स्रगादि भोग्य हैं, एतावत् ज्ञानमात्रसे उसमें स्वाभाविक भोक्ताओंकी प्रीति होती है, परन्तु यह मत ठीक नहीं है, क्योंकि स्ववैरीके भोग्य पदार्थोंमें प्रीति नहीं होती; प्रत्युत उसको देखकर दुःख होता है। यदि स्वरूपतः भोग्यपदार्थोंमें ही प्रीति होती, तो वैरीके भोग्योंमें भी प्रीति होती, पर होती नहीं, इसलिए आत्मोपाधिक ही भोग्यमें प्रीति मानी जाती है। सारांश यह है कि जैसे 'तप्तायःपिण्डमें' यह स्फुट देखा जाता है कि अग्निगत ताप, प्रकाश आदि लौहमें भी प्रतीत होते हैं, वैसे ही प्रियविशिष्ट आत्मसंबन्धसे जायादिमें भी प्रीतिका भान होता है, वास्तविक प्रेमभाव नहीं होता ॥ २० ॥

'ननु द्वेषो०' इत्यादि।

शङ्का—यदि जाया आदि प्रिय होनेपर भी वास्तविक प्रीति जायादिगत नहीं मानते, किन्तु आत्मौपाधिक ही प्रीति अनात्म पदार्थोंमें मानते हैं, कारण कि वे सब आत्माके बन्धके कारण होनेसे परिणाममें दुःखकर हैं। संसारदशामें विवेकके न रहनेसे कुछ समय तक आत्मप्रीतिकर हैं, इसलिए उनमें आत्मौपाधिक ही प्रेम है। यदि ऐसा मानते हो, तो वैरीमें जो द्वेष होता है, सो भी साक्षात् वैरि-गत नहीं है, किन्तु आत्मसंबन्धसे उसमें द्वेषका भान होता है, ऐसा वहाँ भी

बाढं तथाऽप्ययं दोषो नाऽऽत्मनि द्वेषसाधकः ।
प्रत्युत प्रीतिमेवात्मन्यसौ द्वेषोऽपि साधयेत् ॥ २२ ॥

कह सकते हैं ? यदि स्वरूपतः उसमें द्वेष होता, तो उसके पुत्र, भार्य्या आदिको भी उसमें द्वेषका भान होना चाहिए, पर ऐसा होता नहीं, इसलिए यह कह सकते हैं कि स्वशत्रुमें जो द्वेषका भान होता है, वह द्वेष वस्तुतः शत्रुगत नहीं है, किन्तु आत्मसम्बन्धसे ही प्रीत्यादिवत् उसका भी भान आत्मौपाधिक ही है । वस्तुतः द्वेष शत्रुमें है और प्रेम आत्मौपाधिक है, इसमें कुछ विनिगमक प्रमाण नहीं है । इस परिस्थितिमें प्रतीतिके तुल्य होनेसे जैसे आत्मामें प्रीति मानकर उसके संबन्धसे जायादिमें प्रीति औपाधिक कहते हैं, वास्तविक नहीं, वैसे ही आत्मामें वास्तविक द्वेष भी मानना चाहिए । उसके संबन्धसे वैरीमें द्वेषकी प्रतीति होती है, यह न्यायतः प्राप्त है । ऐसी परिस्थितिमें अनात्मपदार्थके समान ही आत्माको भी प्रिय और अप्रिय मानना चाहिए, फिर मुख्य प्रेम आत्मामें ही है, अनात्मामें नहीं, क्योंकि अनात्म पदार्थ प्रिय और अप्रिय दोनों प्रकारके समय-समयपर देखे जाते हैं । परन्तु यह दलील ठीक नहीं है, क्योंकि अनात्माके समान ही आत्मा भी प्रिय और अप्रिय समयभेदसे होता है, अतएव अपने शत्रुमें द्वेष होता है, शत्रुके शत्रुमें द्वेष नहीं होता । यदि अपनी स्वार्थहानि हुई हो, तो स्वापकारसे उसमें स्वतः ही द्वेष हो जाता है । यदि शत्रुमें द्वेष स्वाभाविक मानोगे, तो शत्रुका-शत्रु, जो अपना शत्रु नहीं है, उसमें भी द्वेषकी प्रसक्ति हो जायगी, इसलिए प्रीतिके समान द्वेषको भी औपाधिक ही मानना चाहिए ॥ २१ ॥

'बाढं तथाऽप्ययम्' इत्यादि । स्वसम्बन्धी वैरीमें ही द्वेष होता है, वैरीके वैरीमें नहीं होता, यह आपका कहना मानते हैं । 'बाढम्' शब्द स्वीकारका बोधक है ।

शङ्का—तब तो आत्मामें प्रीतिके समान द्वेषको भी स्वाभाविक मानना चाहिए ।

समाधान—नहीं, ऐसा नहीं,

शङ्का—क्यों ?

समाधान—'एषोऽस्य परमानन्दः' 'आनन्दस्यैष सीमा' 'यो वै भूमा तत्सुखम्', 'सत्यं ज्ञानमानन्दं ब्रह्म' इत्यादि सैकडों श्रुतियोंसे आत्मा परमप्रेमास्पद है, यह निश्चित हो चुका है । एवं 'सुखमहमस्वाप्सं न किञ्चिदवेदिषम्' इत्यादि सुप्तोत्थितके

वैरिदुःखप्रदानेन प्रीतेराच्छादकत्वतः ।
द्विष्यते तेन स द्वेषः प्रीतेरात्मनि कल्पकः ॥ २३ ॥
एवं विचारतः पुंस आत्मा प्रेयाननात्मनः ।
मूढस्तु तद्विपर्यासात् प्रेयः पुत्रादि मन्यते ॥ २४ ॥

परामर्शसे श्रौतार्थ तय हो चुका है, अतः उसके विरुद्ध दुःखरूपत्वकी कल्पना आत्मामें नहीं की जा सकती, स्ववैरिद्वेष आत्मामें स्वाभाविक द्वेषका साधक नहीं हो सकता; प्रत्युत आत्मा सुखस्वरूप है, इसीका साधक होता है ॥ २२ ॥

'वैरिदुःख०' इत्यादि । परस्परके अपकार द्वारा जो दोनोंके हृदयमें दुःख होता है, उसीसे परस्पर द्वेष होता है; यह द्वेष आत्मामें अप्रीत्यात्मकत्वका साधक यदि माना जाय, तो उपकार द्वारा जाया आदिमें जो प्रीति होती है, वह आत्मौपाधिक है, ऐसा मानकर आत्मा प्रीत्यात्मक है, यह जैसे व्यवस्था की जाती है, वैसे ही शत्रुमें जो द्वेष होता है, सो भी आत्मौपाधिक है, ऐसा मानकर आत्माको अप्रीत्यात्मक भी कह सकते हैं । इस आक्षेपका उत्तर देते हैं कि वैरीकी आत्मामें जो दुःखप्रदान होता है, वह शत्रुगत आत्मप्रीतिका आच्छादक होता है, अर्थात् दुःखसे आत्मगत प्रीति तिरोहित हो जाती है, इसलिए उस पुरुषके प्रति वह आत्मा प्रीतिस्वरूप प्रतीत नहीं होता, प्रत्युत प्रीतिके तिरोधानसे अपकारादि द्वारा अप्रीतिकी प्रतीति होती है, इसलिए उसमें द्वेष होता है। यद्यपि दुःखप्रदान स्वतः दुःसह है, इसलिए वैरीमें द्वेष होता है अथवा स्वतः-सिद्ध आत्मप्रतीतिके आच्छादकरूपसे द्वेष होता है, ऐसे पक्ष प्रतीत होते हैं, तथापि द्वितीय पक्ष ही युक्तियुक्त है, कारण कि उक्त श्रुतियोंसे तथा सुप्तो-त्थितके 'सुखमहमस्वाप्सं न किञ्चिदवेदिषम्' इत्यादि सर्वानुभवसिद्ध सौषुप्तिक परामर्शसे आत्मा परमप्रेमास्पद है, यह तय किया जा चुका है, अतः द्वितीय पक्षकी व्यवस्था ही समुचित है ॥ २३ ॥

'एवं विचारतः' इत्यादि । पूर्वोक्त रीतिसे विचार करनेवाले पुरुषको अनात्म-पदार्थोंकी अपेक्षा यद्यपि आत्मा ही परम प्रेमास्पद है, तथापि उस प्रकारके विवेकसे रहित मूढ़ पुरुष पुत्रादि अनात्मपदार्थोंको जो साक्षात् प्रिय समझते हैं, वह उनका विपर्य्यास (भ्रम) है । इस मतके निराकरणके लिए श्रुति उपदेश देती है कि वास्तविक प्रेमास्पद आत्मा है; आत्माके जो अनुकूल हैं;

अविचारेण पुत्रादौ या प्रीतिस्तां विचारतः ।
आत्मन्येवोपसंहृत्य चित्तैकाग्र्यं विवर्द्धयेत् ॥ २५ ॥
ऐकाग्र्यमचलं कृत्वा निदिध्यासनकारणम् ।
आत्मा द्रष्टव्य इत्येतत्सूत्रं व्याख्यातुमाददे ॥ २६ ॥

वह प्रिय होता है; जो प्रतिकूल होता है, वह अप्रिय माना जाता है । अतएव प्रियत्व और अप्रियत्व अव्यवस्थित हैं; कोई पदार्थ किसीके प्रति अनुकूल होनेसे प्रिय होता है और कोई प्रतिकूल होनेसे अप्रिय होता है । यह अव्यवस्था प्रत्यक्ष देखी जाती है—ग्रीष्मकालमें शीत प्रिय मालूम होता है, और शीतकालमें वही अप्रिय मालूम होता है; एवं शीतकालमें सौर ताप प्रिय प्रतीत होता है, किन्तु ग्रीष्मकालमें अप्रिय प्रतीत होता है, इसलिए किसी भी पदार्थमें प्रियत्व और अप्रियत्व व्यवस्थित नहीं हैं, किन्तु आत्मौपाधिक ही प्रियत्व है । यद्यपि उक्त न्यायसे अप्रियत्वको भी आत्मामें स्वाभाविक मानना चाहिए, तथापि पूर्वोक्त श्रुति और सुप्तोत्थित परामर्शके अनुसार आत्मा परम प्रेमास्पद है, उससे भिन्न अनात्मभूत पति, पुत्र आदि स्वतः बन्धकत्वरूपसे अप्रेमास्पद हैं अर्थात् आत्मा प्रीत्यात्मक और अनात्मा अप्रीत्यात्मक है । यह आत्मा और अनात्माके वास्तविक स्वरूपका निर्णय है । कहीं आत्मामें अप्रीति और अनात्मामें प्रीतिकी जो प्रतीति देखी जाती है, वह औपाधिक है, स्वाभाविक नहीं है, यह वेदान्तशास्त्रकी व्यवस्था है ॥ २४ ॥

'अविचारेण' इत्यादि । विचारसे पूर्व संसारियोंकी जो पुत्रादिमें प्रीति होती है, उस प्रीतिका उक्त विचार द्वारा आत्मामें उपसंहार करके चित्तकी एकाग्रता बढ़ानी चाहिए । प्राणिमात्र सुख चाहता है; सुखका ही सदा अन्वेषण करता है, परन्तु सुखका निदान उपनिषत्के उपदेशके बिना कोई जान नहीं सकता, इसीसे अनेक संप्रदायोंकी वृद्धि हुई, पर यथार्थ सुख छिपा ही रह गया । श्रुतिसे यह निश्चय होता है कि वास्तविक सुख आत्मा ही है, इसलिए सब जगहसे चित्तको हटाकर आत्मामें ही लगाना चाहिए अर्थात् अन्य विषयोंकी चिन्ताका त्यागकर चित्तको सर्वथा एकाग्र करना चाहिए, एकाग्र चित्तमें आत्माका प्रकाश होता है ॥२५॥

'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः' इत्यादि वाक्यका तात्पर्य कहते हैं—**'ऐकाग्र्य०'** इत्यादिसे ।

अनेक जन्मोंमें अनुष्ठित सुकृतसे जिनका चित्त शुद्ध हो जाता है, उनको उक्त

आहाऽऽत्मशब्दः प्रत्यञ्चं तथा लोकेऽनुभूतितः ।
अनेनाऽत्राऽऽत्मशब्देन प्रमेयं निर्दिदिक्षितम् ॥ २७ ॥
द्रष्टव्य इति निर्दिष्टा प्रमितिर्दर्शिताऽधुना ।
अज्ञातज्ञापनं तव्यप्रत्ययेनाऽभिधीयते ॥ २८ ॥

युक्ति और अनुभवसे आत्मप्रतीतिका उपसंहार करके आत्मामें ही वक्ष्यमाण विचारका साधन चित्तैकाग्रताका संपादन करना चाहिए, उन्हींके विचारके लिए 'आत्मा वा' इत्यादि वाक्य प्रवृत्त है। जो समाहितचित्त नहीं हैं, वे प्रकृत वाक्यार्थके बोधके अधिकारी भी नहीं हैं और जो उक्त युक्ति और अनुभवसे चित्तकी एकाग्रताका सम्पादन कर चुके हैं, उनके लिए 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः' इत्यादि वाक्य आत्मविचारका सूत्र है। प्राचीन विद्वानोंने सूत्रका लक्षण ऐसा किया है—

'अल्पाक्षरमसन्दिग्धं सारवद्विश्वतो मुखम् ।
अस्तोभमनवद्यं च सूत्रं सूत्रविदो विदुः ॥'

अल्पाक्षर, असन्दिग्ध और अनेकार्थका प्रतिपादक जो होता है, वह सूत्र कहा जाता है। 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः' इस वाक्यमें उक्त लक्षण स्पष्ट है, इसलिए यह वाक्य सूत्र कहा गया है ॥ २६ ॥

'आहाऽऽत्मशब्दः' इत्यादि। यहांपर आत्मशब्द प्रत्यगात्माका बोधक है, क्योंकि लोकमें उक्त शब्द उक्त अर्थमें अनुभूत—अनुभवसिद्ध—है। 'अहं जानामि', 'अहं ब्रवीमि' इत्यादि लौकिक प्रतीति उक्तार्थके बोधनके लिए प्रसिद्ध है। इस आत्मशब्दसे वेदान्तशास्त्रका प्रमेय निर्दिदिक्षित—निर्देशेच्छाविषय—है अर्थात् वेदान्त शास्त्रके प्रमेयके निर्देशकी इच्छासे आत्मशब्दका प्रयोग किया गया है। इससे आत्मव्यतिरिक्त ब्रह्मका वेदान्तसे प्रतिपादन करना अभीष्ट है, इस भ्रमका अवकाश नहीं है। आत्मा ही यहाँ प्रमेय है—अन्य नहीं है ॥ २७ ॥

द्रष्टव्य यहांपर प्रकृत्यर्थका निर्देश करते हैं—**'द्रष्टव्य'** इत्यादिसे।

द्रष्टव्यमें तव्यप्रत्ययकी प्रकृति दृश् धातु है, उसका अर्थ ज्ञान है। ज्ञान प्रमात्मक विवक्षित है, भ्रमात्मक नहीं। तव्यप्रत्ययसे अज्ञातज्ञापनरूप विधि कही गई है ॥२८॥

यदि आत्मज्ञान लोकानुभवसिद्ध है, तो प्रकृतमें वह विधित्सित है, ऐसा कहना असंगत है, कारण कि वह ज्ञात ही है; ज्ञातज्ञापन तो अनुवाद हो

अज्ञात आत्मा वेदान्तजन्यज्ञानेन मीयते ।
इत्येवैषोऽत्र वाक्यार्थो नाऽप्रवृत्तप्रवर्तनम् ॥ २९ ॥
नन्वहम्प्रत्ययेनाऽऽत्मा वेदान्तश्रवणात् पुरा ।
विज्ञात इति चेत् मैवं सार्वात्म्यानवबोधनात् ॥ ३० ॥

सकता है, विधि नहीं, इस शङ्काकी निवृत्तिके लिए कहते हैं—'अज्ञात' इत्यादिसे।

यद्यपि अहंप्रतीतिसे सिद्ध आत्मा ही यहांपर ज्ञेयत्वरूपसे विवक्षित है, तथापि भेद यह है कि उक्त प्रतीतिसिद्ध आत्माको लोग प्रतिव्यक्ति व्यावृत्त मानते हैं और वेदान्तका उपदेश है कि उक्त प्रतीतिसिद्ध आत्मा सर्वात्मा है। इसलिए सामान्यतः आत्मा तो प्रसिद्ध है, परन्तु विशेषरूपसे अज्ञात है। वेदान्त उसका विशेषरूपसे बोधन कराता है, अतः अज्ञातज्ञापकत्वरूप विधि होनेमें कोई आपत्ति नहीं है। विधि दो प्रकारकी होती है—एक अप्रवृत्तप्रवर्तक, जैसे 'जुहुयात्, यजेत' इत्यादि। यह विधि कार्यविषयक है। दूसरी अज्ञातज्ञापनरूप सिद्धार्थविषयक है, वह वाक्यमें मानी जाती है। जैसे प्रकृतमें ब्रह्म कार्य नहीं है और न कार्यान्वित ही है, इसलिए उसके विषयमें अप्रवृत्तप्रवर्त्तनरूप विधि नहीं हो सकती, किन्तु अज्ञात-ज्ञापनरूप ही विधि हो सकती है। जो 'प्रवृत्तिर्वा निवृत्तिर्वा नित्येन कृतकेन वा' इत्यादि वचनके अनुसार प्रवर्त्तक वाक्यमें ही विधि मानते हैं, उनके मतका पूर्वमें ही विशेषरूपसे निराकरण कर चुके हैं, इसलिए फिर यहांपर विशेषरूपसे कहनेकी आवश्यकता नहीं है। निष्कर्ष यह निकला कि सप्रयोजन वाक्यमें विधि होती है, निष्प्रयोजनमें नहीं। प्रयोजन कहीं कर्तव्य अर्थके उपदेशके अनन्तर उसके अनुष्ठान द्वारा सिद्ध होता है, कहीं ज्ञानमात्रसे सिद्ध होता है, अतः वहाँ कर्तव्य अर्थके उपदेशकी आवश्यकता नहीं होती। जैसे रज्जुमें सर्पभ्रान्तिके समय कोई भय, कम्प आदिसे व्याकुल होता है, वहांपर 'रज्जुरेषा न भुजङ्गमः' केवल इसी वाक्यसे उक्त भय, कम्प आदिकी निवृत्ति होनेसे यह वाक्य सप्रयोजन माना जाता है, वैसे ही वास्तविक सांसारिक दुःख अपनेमें मानकर जो अतिदुःखी होते हैं, उनके प्रति 'न त्वं संसारी, किन्तु प्रकाशानन्दब्रह्मस्वरूपः' (तुम संसारी नहीं हो, किन्तु स्वप्रकाश ब्रह्मरूप हो) इत्यादि बोधनमात्रसे सकल क्लेशोंसे मुक्ति हो जाती है। इसलिए यह भी सप्रयोजन है, इत्यादि विशेषरूपसे पूर्वमें कह चुके हैं ॥ २९ ॥

'नन्वहम्' इत्यादि ।

लिङ्गदेहपरिच्छेदरूपग्राहिण्यहम्मतिः ।
सार्वात्म्यमात्मनस्तत्त्वं तदज्ञातमहंधिया ॥ ३१ ॥

शङ्का—आप कहते हैं कि अज्ञातज्ञापकत्वरूपसे वेदान्तवाक्यमें भी विधि है, सो ठीक नहीं है, कारण कि वेदान्तश्रवणसे पूर्व 'अहम्' इत्याकारक प्रत्यय होनेसे आत्मा ज्ञात ही है, अज्ञात नहीं है, अतः उक्तरूप विधि भी वेदान्तवाक्यमें नहीं हो सकती।

समाधान—अहंप्रत्ययसे वेदान्तवेद्य आत्माकी प्रतीति नहीं होती। हम इसी मकानमें हैं, हम श्याम हैं, हम शुक्ल हैं इत्यादि प्रतीतिसे शरीरान्तःकरणादिसाधारण अहंप्रत्ययका भान होनेसे अकर्ता, अभोक्ता, स्वप्रकाशानन्द और उदासीन आत्माका ज्ञान उक्त प्रत्ययसे असिद्ध है, अतः उसके साधक वेदान्तवाक्यमें उक्त स्वरूपविधि अक्षुण्ण है। सर्वान्तरत्वका बोधन उक्त अर्थमें उपलक्षण है। जो सर्वान्तर है, वह किसी शरीरसे सुख या दुःख आदिका अनुभव नहीं कर सकता अथवा अहमाकार-वृत्तिसे प्रतिव्यक्ति व्यावृत्त जो आत्मा कहा गया है, वेदान्त द्वारा वही सर्वात्मा कहा गया है, इससे अज्ञातज्ञापकत्व स्पष्ट बोधित होता है। अतः 'एष आत्मा सर्वान्तरः' इत्यादि वाक्य संगत होते हैं ॥ ३० ॥

उक्तार्थका ही स्पष्टीकरण करते हैं—'लिङ्गदेह०' इत्यादिसे।

दश इन्द्रियाँ, पांच प्राण, मन और बुद्धि—इन सप्तदश पदार्थोंसे युक्त सूक्ष्म शरीर, जो सर्गादिसे सर्गान्ततक नियत एक ही रहता है, और स्थूल देह ये दोनों परिच्छिन्न हैं। एवं श्यामादिरूप अन्तःकरणादिसाधारण अहंप्रतीति होती है, 'अहमिहैवाऽस्मि सदने जानानः' इत्यादि प्रत्यय लोकमें प्रसिद्ध है, अतः यह प्रतीति केवल आत्मविषयक नहीं कही जा सकती, 'आकाशवत् सर्वगतश्च नित्यः' इत्यादि श्रुतियोंसे आत्मा व्यापक, अपरिच्छिन्न कहा गया है और 'अहं श्यामः' इत्यादि प्रतीति देहविषयक होनेसे स्पष्ट ही अनात्मविषयक है। 'सर्वभूतेषु चाऽऽत्मानं सर्वभूतानि चाऽऽत्मनि' इत्यादि गीतावाक्यसे सार्वात्म्यज्ञान ही यथार्थ आत्मविषयक है, ऐसा निश्चित हो चुका है, सो आत्मतत्त्वके प्रतिपादक वेदान्त-वाक्यजन्य बोधसे पूर्व अहमाकारधीसे अज्ञात ही है, अतः वेदान्तवाक्य अज्ञात-ज्ञापकत्वरूपसे प्रतिपिपादयिषित आत्मतत्त्वमें प्रमाण हैं। ब्रह्मसे अभिन्न आत्मा है, यह छान्दोग्यके भूमाप्रकरणमें स्पष्ट कहा गया है। वहाँ नामसे लेकर

सर्वास्वुपनिषत्स्वेतत्सार्वात्म्यं प्रतिपाद्यते ।
कार्यज्ञेयसमाप्तिः स्यात् सार्वात्म्यस्याऽवबोधतः ॥ ३२ ॥
नाऽविध्वस्तं तमोऽत्राऽस्ति न च ज्ञानमनुत्थितम् ।
नाऽनिवृत्तस्तथाऽनर्थो नाऽनवाप्तं सुखं तथा ॥ ३३ ॥

प्राणपर्यन्तको उत्तरोत्तर भूमा (बड़ा) बतलाकर आत्माको ही सबसे बड़ा बतलाया है। भूमाको ही जानना चाहिए। भूमाका लक्षण किया है—'यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति स भूमा'। इस वाक्यसे अद्वितीय आत्मा ही ज्ञेय है, यह स्पष्ट सिद्ध होता है। द्वितीयके न रहनेसे ज्ञेय और ज्ञाताका भेद समाप्त हो जाता है। अतएव नियोज्यादिभेद न होनेसे विधि नहीं हो सकती, यह भी सुखसे सिद्ध होता है ॥ ३१ ॥

'सर्वासू०' इत्यादि। सब उपनिषदोंमें ऐसा प्रतिपादन किया गया है कि सबका आत्मा एक ही है, उसीमें अविद्यासे द्वैत कल्पित है। उसका साक्षात्कार होनेपर कार्य और ज्ञेय दोनोंकी समाप्ति हो जाती है। जबतक अद्वैतात्मसाक्षात्कार नहीं होता, तभीतक आविद्यिक द्वैतका भान होनेसे क्रिया, कर्ता, ज्ञाता और ज्ञेय आदिका भेद रहता है, अतः कार्य और ज्ञेयकी समाप्ति नहीं होती। उक्त साक्षात्कारके अनन्तर उक्त दोनोंकी समाप्ति हो जाती है और कृतकृत्य तथा ज्ञातज्ञेय हो जाता है, न कोई कर्तव्य ही अवशिष्ट रहता है और न ज्ञातव्य ही रहता है, सर्वथा अनात्मपदार्थसे पुरुष मुक्त हो जाता है ॥ ३२ ॥

उक्तार्थका ही प्रपञ्च करते हैं—'नाऽविध्वस्तम्' इत्यादिसे।

अद्वैतात्मसाक्षात्कारवाले पुरुषमें कोई अज्ञान ऐसा नहीं है, जो ध्वस्त न हो चुका हो अर्थात् सब तूलमूलादि भेदसे भिन्न अज्ञान नष्ट हो जाते हैं, अनुत्थित ज्ञान भी कोई नहीं रहता। अज्ञाननाशके लिए ज्ञानोत्पत्तिकी आवश्यकता होती है, जब कोई अज्ञान अध्वस्त है नहीं, तो फिर किस प्रयोजनके लिए ज्ञानोत्थानकी आवश्यकता कह सकते हैं। एवं कोई भी अनर्थ दुःख अनिवृत्त नहीं होता, किन्तु समस्त ऊँचा नीचा दुःख निःशेष निवृत्त हो जाता है। सुख भी कोई अनवाप्त नहीं है, किन्तु सब अवाप्त ही है। असलमें सब सुख आत्मसुखके ही लेश हैं। 'एतस्यैवानन्दस्यान्ये मात्रामुपजीवन्ति' इत्यादि श्रुतिसे यह सिद्ध हो चुका है, अतः आत्मसुख प्राप्त होनेपर कोई सुख अनाप्तव्य नहीं रहता।

इत्यज्ञातज्ञापनाख्यो विधिरत्रोपवर्णितः ।
अप्रवृत्तप्रवृत्त्याख्यो विधिर्नाऽत्रोपपद्यते ॥ ३४ ॥
विधेयं वा फलं वाऽस्य न सम्भवति किञ्चन ।
ब्रह्म तद्धीस्तदभ्यास उपायो वा विधीयताम् ॥ ३५ ॥

कोई सुख है ही नहीं, तो अनवाप्तव्य कैसे हो सकता है ? इसलिए उक्त कार्य और ज्ञेयकी समाप्ति हो जाती है। छान्दोग्य-उपनिषत्का और अन्यान्य सभी उपनिषदोंका उक्त आत्मतत्त्वमें तात्पर्य है। अतएव बृहदारण्यकमें 'ब्रह्मैवेदममृतम्' इत्यादि वाक्यसे इदंपदोक्त अशेष आत्मभिन्न जगत् ब्रह्म ही है, ऐसा कहा गया है, यहांपर सामानाधिकरण्य बाधामें है। श्रुतियोंमें परस्पर संवाद होनेसे उक्त आत्मस्वरूपमें प्रामाण्य सुस्थिर है, मूर्तामूर्तके निषेधसे, पृथक् अभावका भी निषेध करनेसे और 'सर्वमात्मैवाभूत्' (सब आत्मा ही है) ऐसी व्यवस्था करनेसे अद्वैत आत्मा ही बृहदारण्यक आदिको भी अभीष्ट है ॥ ३३ ॥

'इत्यज्ञात०' इत्यादि। प्रमाणान्तरसे अज्ञात जो अद्वैत आत्मा है तज्ज्ञापकत्व रूप विधि वेदान्तवाक्यमें है। अप्रवृत्तप्रवर्तनाख्यरूप विधिकी यहां उपपत्ति ही नहीं हो सकती। भावार्थ यह है कि उपनिषत् सिद्धब्रह्मार्थबोधक होनेसे कर्तव्यार्थोपदेशक नहीं है, अतः पुरुषार्थोपदेशक न होनेसे 'सोऽरोदीत्' इत्यादि वाक्यके समान उसमें आनर्थक्यप्रसक्ति होगी, इसलिए उसके परिहारके लिए 'बर्हिषि रजतं न देयम्' के साथ एकवाक्यता करके जैसे अर्थवादवाक्य प्रमाण माना जाता है; वैसे ही उपनिषद्वाक्यका स्वप्रकरणस्थ उपासनादि क्रियाके साथ अन्वय मानकर उसके साथ एकवाक्यतासे उसको प्रमाण मानना चाहिए। कहीं भी विधिके स्पर्शके बिना वेदवाक्यमें प्रामाण्य दृष्ट नहीं है, यह प्रभाकरमतानुयायियोंका आक्षेप है, इसका उत्तर पूर्वमें विशेषरूपसे दे चुके हैं, अतः यह संक्षेपसे उत्तर दिया जाता है। विधि दो प्रकारकी होती है—एक अज्ञातज्ञापकत्व और दूसरी अप्रवृत्तप्रवर्तकत्व। द्वितीय विधिका उपनिषत्में संभव नहीं है, परन्तु प्रथम विधिकी उपपत्ति उपनिषत्से पूर्णरूपसे है, इसलिए प्रामाण्यमें कोई क्षति नहीं है ॥ ३४ ॥

'विधेयम्' इत्यादि। इसके फलके विधानका तो सम्भव है नहीं। विधेयासम्भवका प्रदर्शन करनेके लिए विकल्प करते हैं—ब्रह्म इत्यादि। इसलिए ब्रह्म, उसका साक्षात्कार, ब्रह्मधीसन्तति या उसके ध्यानका उपाय, इन्हींको विधेय कह सकते हैं ॥३५॥

न ब्रह्म नित्यसिद्धत्वाद्विधातुं शक्यते क्वचित् ।
अभूतभावियागादिर्विधिमर्हति नेतरः ॥ ३६ ॥
नित्यं न भवनं यस्य यस्य वा नित्यभूतता ।
न तयोर्विधियोग्यत्वं खपुष्पाकाशयोरिव ॥ ३७ ॥
तद्धीर्विधेयेत्यस्मिंश्च पक्षे धीः केति कथ्यताम् ।
अन्तःकरणवृत्तिर्वा किंवा तत्फलवेदनम् ॥ ३८ ॥

इन सबमें क्रमशः विधेयताका निराकरण करते हैं—**'न ब्रह्म'** इत्यादिसे ।

ब्रह्म नित्यसिद्ध है, अतः उसका विधान नहीं कर सकते । अभूतपूर्व, अनुत्पन्न और कारणव्यापारोत्तरभावी यागादि ही विधेय हो सकते हैं, अनागतोत्पाद्य भावविषयक ही विधि मानी जाती है । वह भावरूप धात्वर्थविषयक ही हो सकती है । धात्वर्थ ही करनेके योग्य होता है, द्रव्य, गुण आदि व्यापाराविष्ट होनेसे उसके द्वारा विधेय कहे जाते हैं, साक्षात् नहीं ॥ ३६ ॥

'नित्यं न' इत्यादि । जिसका सतत अभवन—असत्ता—है अथवा जिसका सतत भवन (सत्ता) है, वे दोनों विधिके योग्य नहीं होते । प्रथम उदाहरण आकाशपुष्पका है वह कभी नहीं हुआ है, न है । दूसरा तार्किक मतसे आकाश है, उसकी नित्यसत्ता मानते हैं । न्यायमतसे आकाश नित्य है । एवं ब्रह्म सर्वमतसे नित्य है; इसलिए वह विधियोग्य नहीं है । आत्माकी घटादिके समान स्वतः उत्पत्ति नहीं होती, आकाश आदिके समान उपाधिसे भी उत्पत्ति नहीं है एवंभूत आत्मवस्तु क्रियानपेक्षसत्ताक होनेसे स्वयं सदा विद्यमान है, अतः उसमें विधिकी संभावना नहीं है । जो पदार्थ उत्पत्तिके योग्य हैं, जैसे घटादि, वे स्वाभिव्यक्तिके लिए हेतुकी अपेक्षा करते हैं, वे ही कर्म तदभिव्यक्तिकारी होनेसे सफल माने जाते हैं । कारणसे ही कार्यका आत्मलाभ होता है, इसलिए कार्य कारणतन्त्र कहलाता है । अकार्य और अन्यकार्य—ये दोनों क्रमशः कारण और अन्य कारणकी अपेक्षा नहीं करते ॥३७॥

द्वितीय पक्षका (तद्धी विधेय है, इस पक्षका) सुखसे निराकरण करनेके लिए विकल्प करते हैं—**'तद्धी०'** इत्यादिसे ।

तद्धी शब्दसे क्या अभीष्ट है, यह स्पष्ट कहिये—क्या अन्तःकरणवृत्ति विवक्षित है ? अथवा तत्फल वेदन अर्थात् वृत्त्यभिव्यक्त चैतन्य ? मनको सावधान कर कहिये ॥ ३८ ॥

वृत्तिः प्रत्यक्चिदाकारा किंवा सार्वात्म्यगोचरा ।
आद्ये विधिरपूर्वो वा नियमो वाऽथवेतरः ॥ ३९ ॥
प्रत्यक्चिदाकारतायाः प्राप्तत्वान्नाऽस्त्यपूर्वता ।
समाहिता व्युत्थिता वा वृत्तिः सर्वा चिदाकृतिः ॥ ४० ॥

'वृत्तिः प्रत्यक्चिदा०' इत्यादि । चिदाकार प्रत्यक् वृत्ति विधेय है ? या सार्वात्म्यगोचरवृत्ति ? प्रथम पक्षमें फिर विकल्प है, अपूर्वविधि है अथवा नियमविधि अथवा तदितर ॥ ३९ ॥

'प्रत्यक्' इत्यादि ।

विधिरत्यन्तमप्राप्तौ नियमः पाक्षिके सति ।
तत्र चाऽन्यत्र च प्राप्तौ परिसंख्येति गीयते ॥

इस श्लोकके अनुसार विधियाँ तीन प्रकारकी होती हैं। जो सर्वथा प्रमाणान्तरसे अप्राप्त है, वह अपूर्वविधि कहलाती है, जैसे 'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः' यहांपर अग्निहोत्र होममें स्वर्गसाधनता प्रत्यक्षादि प्रमाणान्तरसे अप्राप्त है और केवल इसी वाक्यसे प्राप्त होती है, अतः वह अपूर्वविधि है । पक्षमें अप्राप्तका विधान नियमविधि है, जैसे 'व्रीहीनवहन्ति', यहांपर पुरोडाश बनानेके लिए धानसे तण्डुलकी निष्पत्ति आवश्यक है, उसकी निष्पत्ति दो प्रकारसे होती है, एक अवघातसे दूसरे नखविदलनसे । जब नखविदलनसे तण्डुलकी निष्पत्ति की जायगी, उस पक्षमें अवघात नहीं प्राप्त होता है । प्रयोजन तण्डुलसे है, सो नखविदलनसे सिद्ध हो चुका, फिर अवघातकी क्या आवश्यकता ? अतः पक्षमें अप्राप्त अवघातकी विधि नियमविधि है । नियमविधिसे नियमापूर्वकी उत्पत्ति होती है, तादृश अपूर्वसे सहकृत पुरोडाशसे प्रधानापूर्वकी उत्पत्ति मानी जाती है, अन्यथा नहीं, इसलिए 'व्रीहीनवहन्ति' इत्यादि वाक्य सार्थक होते हैं । तत्र अन्यत्र प्राप्तिमें परिसंख्या होती है । उदाहरण—'पञ्च पञ्चनखाः भक्ष्याः ।' यहां पञ्चनख पांच हैं—'शशकः शल्यकी गोधा' इत्यादिसे परिगणित । यहांपर इन पाँचोंमें भक्ष्यत्वकी न अपूर्वविधि है और न नियमविधि है, कारण कि भक्ष्यत्व रागतः प्राप्त है, अप्राप्त नहीं, नित्य प्राप्त होनेसे पाक्षिक भी प्राप्ति नहीं है, किन्तु क्षुधाकी निवृत्तिके लिए पञ्चनखापञ्चनखसाधारणमें मांसाशियोंकी भक्षणप्राप्ति है, इसलिए इस परिसंख्याविधिका अन्यत्र भक्षणनिवृत्तिमें तात्पर्य है । इन पाँचोंसे

न समाहितधीः कश्चित् प्रतीचोऽन्यत्प्रपश्यति ।
व्युत्थितात्माऽपि चाऽऽत्मानं पश्यन्नेवाऽन्यदीक्षते ॥ ४१ ॥
एवञ्च नित्यप्राप्तत्वान्नियमोऽपि न युज्यते ।
न काचिद् वृत्तिरस्त्यत्र चिदाकारविवर्जिता ॥ ४२ ॥

अतिरिक्त पञ्चनखका भक्षण नहीं करना चाहिए। यद्यपि यह अर्थ शब्दशक्तिसे प्राप्त नहीं होता, तथापि पञ्चनखकी तदितरमें और भक्ष्यकी अभक्ष्यमें लक्षणा कर उक्त पञ्चनखेतर पञ्चनखका भक्षण नहीं करना चाहिए, यह अर्थ प्राप्त होता है। यद्यपि लक्षणा माननेमें गौरव और तीन दोष होते हैं—स्वार्थत्याग, परार्थकल्पना और प्राप्तबाध, तथापि अन्य गतिके न होनेसे उन दोषोंका सहन करना ही पड़ता है। यह विषय पूर्वमीमांसाका है, पर यहां इसका विचार आया है; अतः जानकारीके लिए संक्षेपसे इसका निरूपण कर दिया। अब प्रकृत श्लोकका अर्थ कहते हैं—प्रत्यक्-चिदाकार वृत्तिका अपूर्व विधान नहीं हो सकता, कारण कि वह प्राप्त है। समाधि-अवस्थामें अथवा व्युत्थान-अवस्थामें अहमाकार वृत्ति रहती है। जब स्वविषयक अहमाकार वृत्ति नहीं होती, जैसे सुषुप्तकी; तब उसके प्रति स्वेतरविषयक ज्ञानके न होनेसे विधिकी क्या चर्चा ? जो व्युत्थितात्मा जाग्रत् और स्वप्नका साक्षी है, वह अहमाकार वृत्तिमान् ही है, उस समय स्व और स्वेतर दोनोंको विषय करनेवाला ज्ञान विधिके बिना भी प्राप्त ही है, अतः अपूर्वविधि नहीं हो सकती। इसीको स्फुट करनेके लिए कहते हैं—'वृत्तिः सर्वा चिदाकृतिः'। दो अवस्थाओंमें जो वृत्तियां होती हैं, वे अहमाकारसे रहित नहीं हैं, अतएव किसका ज्ञान है, ऐसा संशय नहीं होता। जिस कार्यमें कर्ता स्वतन्त्र है अर्थात् कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं समर्थ है, उसी कार्यमें कर्ताके लिए विधान होता है, अन्यत्र नहीं। प्रकृत वृत्तिरूप कार्यमें कर्ता स्वतन्त्र नहीं है, अतः विधिके होनेपर भी उसका ज्ञान दुर्वार है॥४०॥

'न समाहित०' इत्यादि। समाहित पुरुषकी वृत्ति प्रत्यक्-चिदाकार होती है, यह सर्वसंमत है; केवल आत्मभानके लिए ही समाधिकी आवश्यकता होती है। समाधिमें योगी जन आत्मव्यतिरिक्त किसी पदार्थको नहीं देखते, व्युत्थानदशामें लोग आत्माको देखते हुए ही आत्मव्यतिरिक्तको देखते हैं, यह सर्वानुभवसिद्ध है॥४१॥

यहांतक नित्य प्राप्त होनेसे अपूर्वविधि नहीं हो सकती, इसका उपपादन कर चुके; अब बुद्धिवृत्तिमें नियमविधि नहीं हो सकती, इस पक्षका उपपादन करते हैं—**'एवञ्च'** इत्यादिसे।

नानाद्रव्यैर्यथा योगे वियोगे च सदा घटः ।
वियत्सम्पूर्ण एवाऽऽस्ते न वियद्वर्जितः क्वचित् ॥ ४३ ॥
बाह्यशब्दादिभिर्योगे वियोगे च तथा धियः ।
प्रत्यक्चैतन्यसम्पूर्तिर्नित्येत्येतत्स्वसाक्षिकम् ॥ ४४ ॥
अनात्मदृष्टिव्यावृत्त्यै परिसङ्ख्येति चेत्, न तत् ।
न खल्वनात्मविश्रान्तिं विधिर्वारयितुं प्रभुः ॥ ४५ ॥

दो अवस्थाओंकी वृत्तिमें आत्मभान नित्यप्राप्त होनेसे नियमविधि भी नहीं हो सकती। पाक्षिक प्राप्तिमें नियमविधि होती है, यह पूर्वमें स्पष्ट कर चुके हैं। नित्यप्राप्तिको स्फुट करते हैं—'न काचिद्' इत्यादिसे। कोई भी वृत्ति चिदाकारसे वर्जित नहीं होती, किन्तु चिदाकारसे संयुक्त ही होती है, अतएव उसके नित्य प्राप्त होनेसे नियमविधिका संभव नहीं है ॥ ४२ ॥

'नानाद्रव्यै०' इत्यादि। नाना द्रव्योंका घटके साथ कभी संयोग होता है, कभी वियोग होता है। मनुष्य प्रयोजनानुसार घटमें पञ्च पल्लव, पञ्च रत्न, सप्त धान और मृत्तिका आदिका संयोग और वियोग किया करता है; किन्तु आकाशका उसके समान संयोग या वियोग नहीं कर सकता, क्योंकि घट आकाशसे सदा पूर्ण रहता है, कभी भी आकाशसे रहित नहीं हो सकता। एवं प्रकृतमें चिदाकार आकाशके समान वृत्तिमें सार्वकालिक है, अतः नियमविधिका भी संभव नहीं है ॥ ४३ ॥

दृष्टान्तसिद्ध अर्थका दार्ष्टान्तिकमें उपपादन करते हैं—**'बाह्य०'** इत्यादिसे।

एवं बाह्य शब्द, स्पर्श आदि विषयोंका बुद्धिके साथ संयोग और वियोग होता रहता है, शब्दविषयक बुद्धिमें शब्दका संयोग और उससे भिन्न स्पर्शादिका वियोग एवं स्पर्शादिबुद्धिमें स्पर्शादिका संयोग और उससे इतरका वियोग अनुभवसिद्ध है, परन्तु प्रत्यक् चैतन्यका सदा बुद्धिके साथ संबन्ध ही रहता है। कोई भी बुद्धि तद्विषयक नहीं होती। एवं बुद्धिमें सदा प्रत्यगात्मपूर्ति स्वसाक्षिक और स्वानुभवसिद्ध है, इसमें विशेष साधन और प्रमाण आदिकी अपेक्षा नहीं है ॥४४॥

'अनात्म०' इत्यादि।

शङ्का—आत्मानात्मसाधारण शरीर, इन्द्रिय आदिसे विशिष्ट चैतन्यमें अहमादिज्ञान प्रसक्त है, इसलिए अनात्म शरीर आदिमें आत्मदृष्टिकी व्यावृत्तिके लिए परिसंख्या-

प्रमाणजन्यज्ञानेन विना विधिशतैरपि ।
रज्जुसर्पादिविभ्रान्तिर्नहि क्वाऽपि निवर्तते ॥ ४६ ॥
सार्वात्म्यगोचरा वृत्तिरप्यत्र न विधीयते ।
यतोऽपुरुषतन्त्रा सा तस्मादत्र कथं विधिः ॥ ४७ ॥

विधि मानो, जैसे पञ्चनखापञ्चनखसाधारणमें भक्ष्यत्व प्राप्त है, 'शल्यकी' इत्यादिसे परिगणित पञ्चनखेतर पञ्चनखमें भक्ष्यत्वकी निवृत्तिके लिए परिसंख्या मानी गई है, वैसे ही प्रकृतमें मानना चाहिए ।

समाधान—यह ठीक नहीं है, कारण कि दृष्टान्तमें पापभयसे विहित पञ्चनखसे इतर पञ्चनखमें भक्षणकी निवृत्ति होती है, किन्तु यहांपर अनात्मामें जो आत्म-दृष्टि प्रसक्त है, उसका निवारण करनेके लिए परिसंख्याविधि समर्थ नहीं है, अतः हजार परिसंख्याविधि माननेपर भी उक्त दृष्टि अपरिहार्य है; इसलिए परिसंख्याविधि भी निष्फल है ॥ ४५ ॥

'प्रमाणजन्य०' इत्यादि । सर्पज्ञान सर्प और रज्जु दोनोंमें होता है, सर्पमें प्रमा है, रज्जुमें भ्रम है, यह आवान्तर विशेष है । पर ज्ञान दोनोंमें समानरूपसे प्रसक्त है । यहां परिसंख्याविधि एक नहीं, सौ मानें, तो भी उक्त भ्रमकी निवृत्ति नहीं हो सकती । उक्त भ्रमका निवर्तक प्रमाणजन्य यह रज्जु है, इत्याकारक यथार्थज्ञान ही है, विधि एक भी न मानें, लेकिन रज्जुप्रमाके होनेपर सर्पभ्रान्ति निवृत्त हो जाती है। एवं प्रकृतमें भी आत्माका जब वेदान्तप्रमाणजन्य वास्तविक स्वरूपज्ञान होगा, तभी आत्मानात्मसाधारण प्रत्ययकी निवृत्ति होगी, इसके बिना सैकड़ों विधियाँ माननेपर भी उक्त प्रत्ययकी निवृत्ति नहीं हो सकती ।

शङ्का—'पञ्च पञ्चनखा भक्ष्याः' यहांपर परिसंख्याविधिको माननेसे विहितेतरमें भक्षणत्वकी निवृत्ति होती है । एवं आत्मानात्मामें आत्मबुद्धि समान प्रसक्त है, परन्तु परिसंख्या माननेपर भी उसके समान भ्रान्तिकी निवृत्ति नहीं देखी जाती, इसमें क्या कारण ?

समाधान—इसका उत्तर आगे कहेंगे ॥ ४६ ॥

प्रत्यक्-चिदाकार बुद्धिवृत्तिमें अपूर्वविधि, नियमविधि और परिसंख्याविधि—इन तीनोंका निराकरण करके सर्वात्मत्वगोचर बुद्धिवृत्तिमें विधि है, इस पक्षका अनुवाद कर प्रतिषेध करते हैं—**'सार्वात्म्य०'** इत्यादिसे ।

कर्तृतन्त्रा यदि भवेत् तदा योषाऽग्निबुद्धिवत् ।
क्रिया स्यात् क्रियया नैव क्वाऽप्यविद्या निवर्तते ॥ ४८ ॥

यहांपर सर्वात्मगोचर बुद्धिका भी विधान नहीं हो सकता । यद्यपि यह बुद्धि सतत नहीं होती, किन्तु यागादिके समान कभी और कहींपर होती है, तथापि उसका विधान नहीं हो सकता, इसमें कारण कहते हैं—'अपुरुषतन्त्रा' इत्यादि । तात्पर्य यह है कि क्रिया पुरुषतन्त्र—पुरुषाधीन होती है अर्थात् पुरुषके द्वारा कर्तुम्, अकर्तुम् और अन्यथा कर्तुम् शक्य होती है—जैसे गाँवको जाता है, गाँवको चाहे जाय, चाहे न जाय, चाहे घोड़ेसे जाय, जानारूप क्रिया पुरुषतन्त्र है, अतः उसका विधान हो सकता है, पुरुष अपनी इच्छाके अनुसार उसको करता है । प्रमाणज्ञान वस्तुतन्त्र होता है, घट, पट आदि जैसा विषय इन्द्रियसंबद्ध होगा, इच्छा न रहनेपर भी, वैसा ही ज्ञान होगा, इच्छानुसार नहीं, मार्गमें जाते समय चोर न देखें, ऐसी इच्छा रहनेपर भी यदि चोर मार्गमें उपस्थित हो जायगा, तो वह अवश्य ही दीख पड़ेगा कि यह चोर है । इस परिस्थितिमें पूर्वक्त चोरविषयक अनीक्षणका संकल्प व्यर्थ ही हो जाता है; अतः वस्तुतन्त्र ज्ञानमें विधि कैसे हो सकती है ? कभी नहीं हो सकती ॥ ४७ ॥

'कर्तृतन्त्रा' इत्यादि । यदि सर्वात्मगोचर बुद्धिको पुरुषतन्त्र मानियेगा, तो 'योषा वाव गौतमाग्निः' इत्यादि वाक्यजन्य ज्ञानके समान ही सर्वात्मगोचर ज्ञान भी मानना पड़ेगा । 'योषाग्निज्ञान' मानस क्रिया है, यह क्रियात्मक मानस ज्ञान दो प्रकारका होता है—एक वस्तुस्वरूपानपेक्ष और दूसरा वस्तुस्वरूप-विपरीत । 'यस्यै देयतायै हविर्गृहीतं स्यात् तां ध्यायेत् मनसा वषट्करिष्यन्' इत्यादिसे देवतास्वरूपनिरपेक्ष उक्त मन्त्रोंसे यथाम्नात उसका ध्यान विहित है । दूसरा 'योषा वाव गौतमाग्निः' इत्यादि वाक्यसे अग्निविपरीत स्त्रीमें अग्निबुद्धिका विधान है । ये दोनों ज्ञान मानसी क्रिया हैं, इसलिए पुरुषतन्त्र हैं । प्रमाणजन्य घटादिज्ञान वस्तुतन्त्र होता है, पुरुषाधीन नहीं । यदि उक्त ज्ञानके समान सर्वात्मबुद्धिवृत्तिको मानसक्रियात्मक मानेंगे, तो वह पुरुषतन्त्र हो सकती है, किन्तु मिथ्याज्ञानकी निवर्त्तिका नहीं हो सकेगी । प्रकृतमें सर्वात्मज्ञान अविद्यानिवर्तक इष्ट है, अविद्या निवर्तक प्रमाणजन्यज्ञान ही होता है, मानस नहीं ॥ ४८ ॥

फलसंवेदनं नाऽपि विधातुमिह शक्यते ।
संवेदनस्य नित्यत्वात् फलत्वं तूपचारतः ॥ ४९ ॥
प्रमाणमप्रमाणं च प्रमाभासश्च सर्वदा ।
चैतन्याभासितं तच्च चैतन्यं फलमुच्यते ॥ ५० ॥
मानादिव्यभिचारेऽपि संविदव्यभिचारिणी ।
अतो नित्यतया नैतद्विधेयं फलवेदनम् ॥ ५१ ॥

वृत्त्यभिव्यक्त चैतन्यरूप फल विधेय है, इस पक्षका भी निराकरण करते हैं—'**फलसंवेदनम्**' इत्यादिसे ।

फलभूत संवेदनका भी यहां विधान नहीं कर सकते, क्योंकि फलरूपसे अभिमत चैतन्य नित्य है । नित्यका विधान करना असंभव ही है । अनागत-उत्पाद्यकी ही विधि हो सकती है, यह पूर्वमें कह चुके हैं ।

शङ्का—चैतन्य नित्य है, अतएव उसका विधान नहीं हो सकता, फिर उसको फल कैसे कहते हो ? क्योंकि फल तो क्रियाजन्य ही माना जाता है ।

समाधान—ठीक है, वस्तुतः फल क्रियाजन्य ही होता है, किन्तु यह मुख्य फल नहीं है, इसमें औपचारिक फलत्वका व्यपदेश माना जाता है । सर्वात्मज्ञानसे अविद्याका नाश होता है और आवारक अविद्याकी निवृत्तिसे स्वतःसिद्ध आत्मैकत्वका स्फुरण होता है, इसलिए अपने कण्ठमें रहनेवाले हारकी प्राप्तिके समान ज्ञानमात्रसे वह फल कहा जाता है ॥ ४९ ॥

चैतन्य नित्य है, इसमें युक्ति कहते हैं—'**प्रमाण०**' इत्यादिसे ।

प्रमाण, अप्रमाण और प्रमाणाभास—ये सब चैतन्यमें कल्पित ही स्फुरित होते हैं, अतः सर्वाधिष्ठानत्वसे सन्निहित जो चिद्रूप वस्तु है, वह विधियोग्य नहीं हो सकती, सद् वस्तु अखण्डचिद्रूप एवं अनेक विशेषोंकी आलम्बन है और स्वतः समस्त विशेषोंसे रहित है, अतः विधियोग्य नहीं है । एकरसस्वरूप चैतन्य आत्मा व्यभिचारी नहीं है । अनात्म पदार्थ मिथः व्यभिचारी होते हैं, इसलिए ये भी सदेकरस वस्तुकी विधिमें उपयोगी नहीं है ॥ ५० ॥

'**मानादि०**' इत्यादि । मानादिका परस्पर व्यभिचार अतिस्फुट है, किन्तु संविद्का कहीं व्यभिचार नहीं कह सकते; अतः संविद् नित्य है । भाव यह है कि घटादिविषयक ज्ञानके होनेपर घटादिका भान होता है, पटादिका नहीं । एवं पटादि-ज्ञानदशामें पटादिका भान होता है, घटादिका नहीं । एवं रीत्या तत्-तत्

विषयक ज्ञानदशामें अन्य विषयका व्यभिचार स्फुट है, परन्तु संविद्का कहीं व्यभिचार नहीं होता, किसी विषयका भान संविद्भावके बिना नहीं होता। इसमें विचारना यह है कि संविद् विषयके समान भिन्न है, या अभिन्न? तार्किक कहते हैं कि संविद् भिन्न-भिन्न है, अतएव 'घटज्ञानं जातम्', 'पटज्ञानं नष्टम्' इत्यादि प्रतीति स्वरसतः संगत होती है। वेदान्तियोंका कहना है कि उक्त प्रतीति 'घटाकाशो जातः', करकाकाशो नष्टः' इत्यादि प्रतीति जैसे उपाधिभूत घट, करक आदिकी उत्पत्ति और नाशको लेकर तदुपधेय आकाशमें औपधिकरूपसे अवगाहन करती है, मुख्यरूपसे घटादिमें ही उन दोनोंका अवगाहन करती है, आकाशमें नहीं, क्योंकि आकाशको वे लोग नित्य मानते हैं। इस कल्पनामें लाघव भी है, घटादिकी उत्पत्ति और नाश तो सबको अभीष्ट ही हैं, उसीसे जब उक्त प्रतीतिकी उपपत्ति हो जाती है तब अक्लृप्त आकाशकी उत्पत्ति आदिका स्वीकार करना गौरवग्रस्त है, वैसे ही घटादिकी संविद् भी नित्य ही है, उत्पत्ति और विनाशकी प्रतीति विषय, इन्द्रिय और सन्निकर्षमें रहनेवाली उत्पत्ति और विनाशको लेकर उपपन्न हो जाती है, इस लिए संविद् आकाशके समान नित्य ही है एवं जाग्रत् अवस्थाकी संविदसे स्वप्नावस्थाकी सविद् भिन्न नहीं है, विषयभेदप्रयुक्त भेद ही दोनोंमें प्रतीत होता है।

शङ्का—अच्छा, तो सुषुप्ति अवस्थामें संविद् नहीं रहती, अतएव 'न किञ्चिद-वेदिषम्' यह सुप्तोत्थितको परामर्श होता है, इस परिस्थितिमें संवित्को नित्य कैसे कहते हो?

समाधान—उक्त अवस्थामें यदि संविद् न होती, तो अज्ञानादिका अनुभव कैसे होता? अनुभवके बिना संस्कार नहीं हो सकता और उसके अभावसे स्मरण ही नहीं हो सकेगा। अतः स्मरणकी अन्यथानुपपत्तिसे संस्कारजनक अनुभवको उक्त अवस्थामें भी मानना चाहिए, इस प्रकार जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति—इन तीनों अवस्थाओंमें संविद् अभिन्न है, इस क्रमसे एक दिन-रातकी संविद् जैसे एक ही है, वैसे ही अन्य दिनकी संविद् भी भिन्न नहीं है। एवं जीवनपर्यन्त एक पुरुषकी संविद् एक ही सिद्ध होती है, तब अन्य पुरुषकी भी संवित् अन्य पुरुषकी संवित्से भिन्न नहीं है, किन्तु सम्पूर्ण पुरुषोंकी संवित् एक ही है, ऐसा माननेमें क्या आपत्ति है?

शङ्का—यदि सब पुरुषोंकी संवित् एक ही मानते हो, तो देवदत्त द्वारा अनुभूत पदार्थोंका स्मरण यज्ञदत्त आदिको भी होना चाहिए, संविद्का भेद माननेसे यह आपत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि अनुभव और स्मरणमें सामानाधिकरण्येन हेतुफलभाव

विधेयोऽभ्यास इति चेन्नाऽशक्यानुपयोगतः ।
अविज्ञाते ब्रह्मतत्त्वे तद्बुद्ध्यावर्त्तनं कथम् ॥ ५२ ॥

माना जाता है। अनुभव प्रतिव्यक्ति भिन्न भिन्न है, अतः उक्त स्मरणकी आपत्ति नहीं हो सकती, अतः संविदैक्यपक्षमें उक्त दोष दुष्परिहर है।

समाधान—एक घटाकाशके धूमपूर्ण होनेसे अन्य घटाकाशमें जैसे धूमका प्रसङ्ग नहीं होता, वैसे ही पुरुषोंके अन्तःकरणोंके भिन्न-भिन्न होनेसे जिस अन्तःकरणमें संस्कार उत्पन्न होता है, उसी अन्तःकरणमें स्मरण होता है, अन्यत्र नहीं। श्रुति-प्रमाणसे यह ज्ञात होता है कि ज्ञान, इच्छा आदि अन्तःकरणके धर्म हैं। आत्माके नहीं आत्मा उक्त संवित्स्वरूप ही है।

आत्मा आकाशादिके समान जड़ द्रव्य है, उसका प्रकाश ज्ञानसे होता है। आत्मामें ज्ञानगुणकत्व ही चैतन्य है, अतएव सुषुप्त्यादि अवस्थामें जब मन पुरीतति नाड़ीमें प्रविष्ट हो जाता है, तब उक्त चैतन्य आत्मामें नहीं रहता, अतएव 'न किञ्चिद्वेदिषम्' यह परामर्श अनुमानात्मक होता है। ज्ञानादि गुण आत्माके ही हैं, अतएव 'अहं सुखी, अहं जानामि, करोमि' इत्यादि प्रतीति आत्मत्वसामानाधिकरण्यसे ज्ञानादिका अवगाहन करती है। पदार्थतत्त्वज्ञानसे मुक्ति होती है। अशेष-विशेषगुणोच्छेद ही मुक्ति है अर्थात् ध्वंसात्मक ही मुक्ति है, सुखके समान दुःख-निवृत्ति भी पुरुषार्थ है। सुखात्मक मोक्ष ठीक नहीं है, अन्यथा सुखरागसे मुमुक्षुओंकी मोक्षमें प्रवृत्ति माननी पड़ेगी। सुख-राग भी द्वेषके समान दोष ही है। तत्त्वज्ञानियोंकी प्रवृत्ति दोषमूलक है, यह कहना उचित नहीं है, इत्यादि न्यायमत श्रुतिविरोधसे उपेक्ष्य है। निष्कर्ष यह हुआ कि अव्यभिचारी संविद् नित्य सिद्ध है, अतः नित्यभूत संवित्का विधान नहीं हो सकता, इसलिए संविद् अविधेय है ॥ ५१ ॥

ब्रह्मधीसन्तति विधेय है, इस पक्षका भी निराकरण करते हैं—'**विधेयो**' इत्यादिसे।

ब्रह्मधीसन्ततिका विधान अशक्य है, इसमें हेतु यह है कि अज्ञातब्रह्मविषयक धीसन्ततिका विधान कहते हो या ज्ञातब्रह्मविषयक धीसन्ततिका ? प्रथम पक्षमें अशक्ति कहते हैं—'अविज्ञाते' इत्यादिसे। अज्ञात ब्रह्मकी धी जब होती ही नहीं, तब आवृत्ति किसकी की जायगी ? धीके होनेपर अज्ञात ब्रह्म कैसे ? और अज्ञात-समयमें धी कहां ? अज्ञातकी धी कहना वन्ध्यापुत्रके समान व्याहत है और धीसन्तति-के विधानको प्रकृतमें कुछ उपयोग भी नहीं है; इस विषयको आगे स्फुट करेंगे ॥ ५२ ॥

ज्ञातेऽप्यविषयप्रत्यगनाकारस्य तस्य धीः ।
नैवाऽऽवर्तयितुं शक्या देवतामूर्तिबुद्धिवत् ॥ ५३ ॥
अभ्यासस्योपयोगोऽपि किं जीवब्रह्मरूपता ।
मुक्तौ चेतोऽनुवृत्तिर्वा किंवाऽविद्यानिवर्तनम् ॥ ५४ ॥

'ज्ञाते०' इत्यादि । शब्दादिसे अपरोक्ष ब्रह्मज्ञान होनेपर भी उसकी आवृत्तिका विधान नहीं कर सकते, कारण कि आत्मा देवताके समान अनाकार है । मीमांसकोंके मतसे देवताओंका आकार नहीं है । यागमें मन्त्र द्वारा देवताओंका आवाहन करनेसे देवतागण आते हैं, वेदप्रामाण्यकी रक्षाके लिए यह मानना आवश्यक है । यदि देवताओंका आकार माना जायगा, तो वहाँ उनका प्रत्यक्ष होना चाहिए, पर प्रत्यक्ष नहीं होता, अप्रत्यक्षके प्रति न आना तो कारण हो नहीं सकता, क्योंकि ऐसा माननेसे वेदप्रामाण्यका ही भङ्ग हो जायगा, इसलिए यही कहना उचित होगा कि देवताओंका आकार नहीं है, इस कारण यागस्थलमें मनुष्य उन्हें देख नहीं पाते ।

शङ्का—ऐसा ही क्यों कहें, ऐसा भी तो कह सकते हैं कि देवता तिरस्करिणी विद्यासे अपने स्वरूपको छिपा लेते हैं, इसलिए दूसरे देख नहीं सकते ।

समाधान—हां, इस प्रकारसे उक्त दोषका परिहार कर सकते हो, परन्तु एक समयमें अनेक दूर देशोंमें जो याग होते हैं, उन सबमें परिच्छिन्न आकारवाले देवता कैसे उपस्थित होंगे । जिस यागमें देवताकी उपस्थिति न होगी, उसी यागको लेकर वेदके अप्रामाण्यकी आशङ्का होगी । यदि स्वप्रभावातिशयसे अनेक शरीरोंको धारण कर और उनको उक्त विद्यासे आवृत्त कर युगपत् अनेक यागस्थलमें उपस्थित होते हैं, ऐसी कल्पना करो, तो वह अनुचित है, क्योंकि अनेक शरीरोंका धारण करने और तिरस्करिणी विद्या द्वारा उनके आवरण आदिकी कल्पना करनेकी अपेक्षा अनाकार माननेमें ही लाघव है । घटादि जो साकार विषय हैं, उनके ज्ञानकी आवृत्ति हो सकती है और तदाकारविषयक ज्ञानकी सन्तति भी हो सकती है, पर जिस विषयका आकार ही नहीं है, तद्विषयक ज्ञानकी आवृत्ति कैसे की जा सकती है ? आलम्बनके बिना प्रत्ययावृत्ति दुर्घट है ॥ ५३ ॥

'अभ्यासस्यो०' इत्यादि । अभ्यास प्रकृतमें अनुपयुक्त है, इसका उपपादन करनेके लिए विकल्प करते हैं; अभ्यासका उपयोग प्रकृतमें जीवमें ब्रह्मात्मताके

न जीवब्रह्मताऽभ्याससापेक्षा किन्तु सा स्वतः ।
न घटादेर्घटादित्वं बुद्ध्यभ्यासमपेक्षते ॥ ५५ ॥
भावनोपचितं चेतो न कैवल्येऽनुगच्छति ।
तस्येहैव समुच्छित्तेस्तद्धेत्वज्ञानहानतः ॥ ५६ ॥

लिए कहते हो किम्वा मुक्तिमें चित्तकी अनुवृत्तिके लिए ? अथवा अविद्याकी निवृत्तिके लिए ? ॥ ५४ ॥

प्रथम पक्षका निराकरण करते हैं—'न जीव०' इत्यादिसे ।

जीवब्रह्मता स्वतः सिद्ध है, अतः उसके लिए ज्ञानाभ्यासकी क्या आवश्यकता है ? स्वतः सिद्ध वस्तुमें ज्ञानाभ्यासकी अपेक्षा नहीं होती । इसमें दृष्टान्त कहते हैं—घटमें घटत्व धर्म स्वतः सिद्ध है, अतः उसके लिए उसके ज्ञानसन्ततिकी जरूरत नहीं होती। असिद्धके साधनके लिए कारण अपेक्षित होता है । जो कार्य स्वतः सिद्ध है, उसके लिए कारणकथा ही व्यर्थ है । वस्तुतः ज्ञान वस्तुका उत्पादक नहीं है, किन्तु प्रकाशक है । प्रकाशरूप ज्ञानने सकृत् उत्पन्न होकर यदि वस्तुका प्रकाशन न किया, तो असकृत् आवृत्त होनेपर भी विशेषका आधायक नहीं होगा; इसलिए वह व्यर्थ ही होगा । जैसे घटादिके प्रकाशक प्रदीपादिमें आवृत्तिप्रयुक्त विशेष देखा नहीं जाता, वैसे ही प्रकृतमें भी समझना चाहिए ॥ ५५ ॥

द्वितीय पक्षका प्रत्याख्यान करते हैं—'भावनो०' इत्यादिसे ।

भावनासे (ध्यानसे) उपचित—सहकृत—चित्त कैवल्यरूप मोक्षमें नहीं जाता, कारण कि चित्तका संसारदशामें ही नाश हो जाता है; क्योंकि मुक्तिसे पूर्व ही अज्ञानका नाश माना जाता है । अज्ञान ही चित्तका कारण है; ज्ञानसे कारण अज्ञानका विनाश होनेपर उसके कार्यभूत चित्तका भी विनाश हो जाता है । जब चित्तकी स्थिति ही नहीं है, तब मुक्तिकालमें उसकी अनुवृत्तिकी क्या सम्भावना है ?

शङ्का—यह विकल्प ही किस अभिप्रायसे किया गया है ? क्योंकि 'विद्वान् नामरूपाद्विमुक्तः', 'अविद्यास्तमयो मोक्षः सा च बन्ध उदाहृतः' इत्यादि श्रुति और स्मृतियोंसे अद्वैतात्मस्वरूप मोक्ष अद्वैतवेदान्तिमतमें प्रसिद्ध है, अतः मुक्तिमें चित्तकी अनुवृत्तिका प्रसङ्ग कैसे होगा ?

समाधान—ब्रह्मकी उपासना दो प्रकारसे की जाती है—एक सगुण ब्रह्मोपासना और दूसरी निर्गुण ब्रह्मोपासना । जैसे सगुण ब्रह्मोपासनासे तत्-तत्-उपास्यतादात्म्यापन्न अथवा तत्-तत् लोकप्राप्त उपासकका चित्त तत्—तत् लोकके फलके उपभोगके लिए

भावनाभावितं चेतो यत्र जन्मान्तरप्रदम् ।
तत्र चेतोऽनुवृत्तिः स्यात् सा कैवल्ये कथं भवेत् ॥ ५७ ॥
ब्रह्मात्मैकत्वविज्ञानमविद्यामात्मनि स्थिताम् ।
सकृज्जातं न चेद्धन्ति ज्ञानमेव न तद्भवेत् ॥ ५८ ॥

उपासनासे उपचित होकर अनुवृत्त होता है; वैसे ही ब्रह्मवेत्ताका भी विहिताभ्यास-सचिव चित्त मुक्तिकालमें उसके आनन्दके अनुभवके लिए यदि अनुवृत्त हो, तो तादृश अनुवृत्तिके लिए उक्त अभ्यासकी आवश्यकता हो सकती है। इस संभावनामात्रसे यह एकदेशीका विकल्प है। वस्तुतः मुक्तिमें चित्तकी अनुवृत्ति उसके कारण अज्ञानके ध्वंससे ही नहीं हो सकती, इस अभिप्रायसे उसका निराकरण किया गया है ॥५६॥

'भावना०' इत्यादि । भावनासंस्कृत चित्त जहां दूसरे जन्मका कारण होता है, वहाँ चित्तकी अनुवृत्ति कही गई है; यह कथा कैवल्यमें (मोक्षमें) कैसे कही जा सकती है; कैवल्यमें तो जन्मान्तर होता ही नहीं। इसमें भेद यह है कि सगुणो-पासनासे मूलाज्ञानकी निवृत्ति नहीं होती, उसमें कारण यह है कि मूलाज्ञानकी निवृत्तिका कारण अधिष्ठान-तत्त्वसाक्षात्कार है, सगुण ईश्वर जगद्विभ्रमरूप कार्यका अधि-ष्ठान नहीं है, अतः उसके साक्षात्कार आदिसे अज्ञान और उसके कार्यकी निवृत्ति भी नहीं हो सकती, प्रत्युत द्वैतका ही भान रहता है, इसलिए तत्-तत् लोकोचित भोगके लिए तत्-तत् उपासनासे संस्कृत चित्तकी अनुवृत्तिकी परम आवश्यकता है। तादृश चित्तके विना तादृश भोग ही नहीं हो सकता। निर्गुण ब्रह्मोपासनामें यह बात नहीं है, इससे तो जगद्विभ्रमाधिष्ठानके तत्त्वका साक्षात्कार हो जाता है; और उसीसे निखिल जगत्का निदान अज्ञान अपने कार्यके साथ समूल नष्ट हो जाता है; फिर चित्तकी अनुवृत्तिकी क्या संभावना ? ॥ ५७ ॥

'ब्रह्मात्मैकत्व०' इत्यादि । आत्मा ब्रह्म है और वह एक ही है; इस प्रकार ब्रह्मात्मैकत्वविज्ञान एकवार उत्पन्न होकर आत्मामें स्थित और अनादिकालसे अनुवृत्त अविद्याको यदि नष्ट नहीं करता, तो वह ज्ञान ही नहीं हो सकता। ज्ञानका अज्ञानके साथ तम और प्रकाशके समान परस्पर विरोध है। अद्वितीय आत्मामें द्वैतकी भ्रान्ति है, जैसे एक चन्द्रमामें द्वितीय चन्द्रमाकी भ्रान्ति होती है। और यह भ्रान्ति तबतक निवृत्त नहीं होती, जब तक 'एकश्चन्द्रः' इत्याकारक वस्तुतत्त्व-साक्षात्कार नहीं होता। उक्त साक्षात्कारके हो जानेपर चन्द्रद्वैतकी भ्रान्ति निवृत्त हो

एकाश्रयैकविषयौ ज्ञानमोहौ तथासति।
अबाधितं तमोऽत्राऽऽस्ते इत्युक्तिर्जडवक्तृता ॥ ५९ ॥
ज्ञानोपायो विधेयश्चेन्नोपायस्याऽप्रतीतितः।
आत्मा द्रष्टव्य इत्युक्तौ ज्ञानोपायो न भासते ॥ ६० ॥

जाती है, इसके लिए एकचन्द्रत्वज्ञानाभ्यासकी आवश्यकता नहीं है। यदि चन्द्रद्वैतकी निवृत्ति न हुई, तो उक्त ज्ञान ही नहीं हुआ, यही कहा जा सकता है। यह नहीं कहा जा सकता कि उसकी अनुवृत्ति नहीं हुई ॥ ५८ ॥

'एकाश्रयैक०' इत्यादि। एकाश्रयक और एकविषयक ज्ञान ['जडवक्तृका' यह पाठ शुद्ध है, वार्तिकमें ऐसा ही है।] और मोह (अज्ञान) दोनों एकत्र नहीं रह सकते। देवदत्तमें घटका ज्ञान और यज्ञदत्तमें घटका अज्ञान रहता है, इसमें विरोध नहीं है। यद्यपि ज्ञान और अज्ञानका विषय एक ही घट है, तथापि आश्रयका भेद होनेसे समानविषयक ज्ञान और अज्ञानमें विरोध नहीं है एवम् आश्रयके एक होनेपर विषय-भेदसे ज्ञान और अज्ञान एकमें रहते हैं, जैसे देवदत्तमें घटका ज्ञान है और पटका अज्ञान है, इसमें भी विषय घट, पट आदिके भेदसे एक ही आश्रयमें ज्ञान और अज्ञान हैं, इसलिए एक विषयक एकाश्रयक ज्ञानाज्ञान परस्पर विरुद्ध हैं, एकाश्रयकत्व आदि उपलक्षण है, एककालिकत्वका भी निवेश विवक्षित है। एक ही पुरुषको एक विषयका पहले अज्ञान और पश्चात् ज्ञान होता है, वहाँ भी कालके भेदसे एकविषयक ज्ञान और अज्ञान एकाश्रयमें रहते ही हैं, इसलिए एक कालमें एक आश्रयमें एक विषयक अज्ञान और ज्ञान नहीं रह सकते, यह निष्कृष्ट अर्थ हुआ। तद्विषयक प्रकाशके आश्रयमें तद्विषयक तम अज्ञान है, यह जडकी उक्ति हो सकती है। जैसे प्रकाश और अन्धकारका विरोध है, वैसे ही अज्ञानका ज्ञानके साथ विरोध है ॥ ५९ ॥

ब्रह्म, तद्धी, तदभ्यास और ज्ञानोपाय—इन चारोंमें विधिका विकल्प किया है। तीनका निरास कर संप्रति चतुर्थ विकल्पका निकारण करते हैं—**'ज्ञानोपायो'** इत्यादिसे।

आत्मज्ञानके उपायकी विधि है, यह कहना भी ठीक नहीं है, कारण कि 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः' इस वाक्यमें उसके उपायरूपसे अभिमत श्रवण आदिके वाचक पदके न रहनेसे श्रवण आदि उसके उपाय हैं, यह कैसे जाना जा सकता है? अज्ञातकी विधि होती नहीं, इसको स्फुट करते हैं—उक्त वाक्यमें आत्मज्ञानका उपाय प्रतीत नहीं होता ॥ ६० ॥

विधेः फलं च नाऽस्त्येव तत्किं मात्वं पदान्वयः ।
नैरपेक्ष्यमवच्छेदहानिर्वाऽज्ञानबाधनम् ॥ ६१ ॥
मात्वं मानान्तराप्राप्तवस्तुतत्त्वावबोधतः ।
सिद्ध्यत्येवोपनिषदां प्रामाण्ये विधिनाऽत्र किम् ॥ ६२ ॥

द्रष्टव्यवाक्यमें विधेयाभावका उपपादन करके फलाभावको भी कहते हैं—'विधेः फलम्' इत्यादि ।

फलके लिए ही किसीका विधान किया जाता है, जैसे स्वर्गादिके लिए यागादिका । यहाँ न विधेय ही है और न कुछ फल ही है, अतः विपक्ष सर्वथा असङ्गत है । फलाभावको स्फुट करनेके लिए विकल्प करते हैं—यहाँ विधिका जो फल कहना चाहते हो, वह क्या प्रमात्व है अथवा पदान्वय है किम्वा नैरपेक्ष्य है या अवच्छेदहानि है अथवा अज्ञानका बाधन है ? जैसे कर्मकाण्डमें सिद्धार्थबोधक अर्थवादादि वाक्योंका, विधिवाक्यके साथ एकवाक्यता मानकर, स्वार्थमें प्रमाण्य माना गया है, स्वतः नहीं; वैसे ही उपनिषद्-वाक्य भी सिद्धार्थके बोधक हैं, अतः साक्षात् स्वार्थमें प्रमाण नहीं हो सकते, इसलिए उपनिषद्-वाक्योंके स्वार्थमें प्रामाण्यव्यवस्थाके लिए उपनिषत्में भी विधि आवश्यक है; इस तात्पर्यसे प्रथम विकल्प है । विधिमें भी मतभेद है—मीमांसक प्रभाकरका मत है कि अप्रवृत्तप्रवर्तक वाक्य विधि है और वेदान्तियोंका मत है कि अबाधितार्थबोधक वाक्य विधि है । स्मृति और अनुवादक वाक्यके व्यवच्छेदके लिए असन्दिग्धान-धिगत विशेषण उभयमत संमत है ॥ ६१ ॥

'मात्वम्' इत्यादि । यद्यपि शब्दसे ज्ञानकी उत्पत्ति होती है, यह स्वभावसिद्ध है, अतः उसके लिए विधिकी आवश्यकता नहीं है, तथापि प्रमाण्यके लिए विधिकी आवश्यकता होती है । कर्मकाण्डमें 'विधिना त्वेकवाक्यत्वात्' इत्यादि सूत्रसे सिद्धार्थक वाक्योंकी विधिके साथ एकवाक्यता प्रामाण्यके लिए मानी है एवं ज्ञानकाण्डमें भी विध्यर्थ मानान्तरायोग्य ही होता है, इसलिए अनपेक्षत्वलक्षण प्रामाण्य सिद्ध होता है । 'अयमात्मा' इत्यादि विधिहीन वाक्य सिद्ध अर्थमें विधिके विना स्वतः प्रमाण नहीं हो सकते, कारण कि आत्मा मानान्तर योग्य है; अतः प्रामाण्यार्थ वेदान्तमें विधि आवश्यक है, यह पूर्वपक्षीका अभिप्राय है । सिद्धान्तीका कहना यह है कि वेदान्तमें विधिकी आवश्यकता नहीं है । आत्मैकत्व

विधेरपीह मानत्वं साध्यसाधनबोधनात् ।
न विधित्वात्, अन्यथा स्याद्बाधितोऽपि विधिः प्रमा ॥ ६३ ॥
आरण्यतिलसम्बन्धियवाग्वा जुहुयादिति ।
पूर्वपक्षविधिं वेदोऽनूद्य बाधितवानमुम् ॥ ६४ ॥

अर्थ यद्यपि सिद्ध है; तथापि रूपादिशून्य होनेसे प्रत्यक्ष आदि प्रमाणका विषय नहीं है । अतः मानान्तराप्राप्त यथार्थ आत्मैकत्वके बोधमात्रसे वेदान्तमें प्रमात्व अनायाससे सिद्ध होता ही है, फिर विधिसे क्या प्रयोजन ? वस्तुतः जहां क्रिया रहती है, वहां भावना रहती है, क्योंकि यही साध्य—क्रियाका विषय—है और जहां भावना रहती है; वहीं विधि रहती है । एकात्मा सिद्ध अर्थ है; अतः यहां क्रिया नहीं है, इसलिए विधिसे कुछ लाभ नहीं है, किन्तु सिद्धार्थबोधिका अभिधाश्रुति ही यहां प्रमाण है । जैसे विधि इतरानपेक्ष होनेसे प्रमाण मानी जाती है, वैसे ही अभिधाश्रुति भी अनपेक्ष होनेसे स्वार्थमें प्रमाण है । वेद अपौरुषेय है, अतः कर्मकाण्डके समान ज्ञानवाक्यमें अनपेक्षत्व लक्षण प्रामाण्य सम है ॥ ६२ ॥

'विधेरपीह' इत्यादि । साध्य और साधनके सम्बन्धके बोधनसे ही विधिमें प्रामाण्य माना जाता है । केवल विधित्वहेतुक प्रामाण्य नहीं माना जाता, अन्यथा असाध्यसाधनबोधक विधिमें भी अप्रामाण्यकी प्रसक्ति हो जायगी; इसीको स्फुट करते हैं—बाधित भी विधि होती है, अतः वह प्रमाण हो जायगी ॥ ६३ ॥

बाधितका उदाहरण देते हैं—'आरण्य०' इत्यादिसे ।

अग्निहोत्रमें ऐसी श्रुति है 'जर्तिलयवाग्वा जुहुयात् गवीधुकयवाग्वा जुहुयात् न ग्राम्यान् पशून् हिनस्ति नारण्यान् अथो खल्वाहुः अनाहुतिर्वै जर्तिला गवीधुकाश्चेत्यजक्षीरेण जुहोति' ऐसा पाठ वार्तिककी टिप्पणीमें है । न्यायमालामें 'अजक्षीरेण' इसकी जगह 'पयसा अग्निहोत्रं जुहोति' ऐसा पाठ है और यही उचित प्रतीत होता है, क्योंकि जर्तिल—आरण्य तिल—(वनतिल) और (गवीधुक आरण्य गोधूम) इन दोनोंका विकल्प श्रुतिसे प्राप्त है, अर्थात् चाहे जर्तिलयवागूसे होम करे या गवीधुकयवागूसे होम करे, किन्तु एतदर्थ ग्रामीण पशु या आरण्य पशुको न मारे । यदि हिंसाके विना भी अभीष्ट सिद्ध हो जाय, तो हिंसा नहीं करनी चाहिए, इन दोनों पक्षोंका निराकरण करनेके लिए 'अथो खल्वाहुरनाहुतिर्वै जर्तिला गवीधुकाश्च पयसा अग्नि होत्रं जुहुयाद्' यह श्रुति प्रवृत्त हुई । इससे दोनों पक्षोंको दूषित कर अनाहुतिसे होमाभाव ही प्राप्त हुआ ।

पदान्वयः क्रियामात्रमाकाङ्क्षति विधिं तु न ।
अस्त्यस्यस्मीत्येवमादि सुलभं तत्क्रियापदम् ॥ ६५ ॥

शङ्का—अनाहुति शब्दस्य नञ् प्रसज्यप्रतिषेधक नहीं है, जिससे कि आहुत्यभावरूप तृतीय पक्षका प्रसङ्ग हो, किन्तु उसे पर्युदास मान कर जर्तिलयवागू आदिमें आहुतिसाधनके भेदका बोध मानेंगे, इससे होमाभावरूप तृतीय पक्ष कैसे प्राप्त हो सकता है ?

समाधान—नञ्का आहुतिके साथ समास है, इसलिए आहुतिके साथ ही अन्वय होगा, जर्तिलादिके साथ नहीं, अन्यथा सामर्थ्याभावसे समास ही नहीं होगा। जिस पदार्थका जिस पदार्थके साथ अन्वय होता हो, उन्हीं पदोंका परस्पर सामर्थ्य माना जाता है, जर्तिलादिके साथ अन्वय करनेपर आहुतिके साथ सामर्थ्य ही नहीं हो सकता; अतः समास ही असङ्गत हो जायगा, इसलिए आहुत्यभावरूप तृतीय पक्ष प्राप्त हुआ। 'पयसा अग्निहोत्रं जुहुयात्' इसका (पयसे) दूधसे अग्निहोत्र करना चाहिए, यह चौथा पक्ष प्राप्त हुआ, इन चारों परस्पर विरुद्ध पक्षोंका षोडशीग्रहणाग्रहणके समान विकल्प ही मानना चाहिए; दूसरी कोई गति नहीं है, ऐसा पूर्वपक्ष कर सिद्धान्त किया कि पयोविधिके साथ श्रुत जर्तिलादिवाक्य अर्थवाद है। आरण्य-पशुहिंसाभावसम्पादक जर्तिलादि यद्यपि प्रशंसा है। तथापि अग्निहोत्रका साधन नहीं, उनसे आहुति अनाहुति ही मानी जाती है। पय आहुतिका साधन है, ऐसा पय महाभाग है, जिससे कि अग्निहोत्र सम्पन्न होता है; इस प्रकार जर्तिलादिमें असाधनत्वोपन्यासके द्वारा पयकी स्तुति की गई है; अतः अर्थवाद है, यह पूर्वमीमांसामें निर्णय किया गया है। प्रकृतमें इसके उदाहरणका अभिप्राय यह है कि विधिमात्रसे यदि वाक्य प्रमाण होता, तो 'जर्तिलयवाग्वा जुहुयाद्' इत्यादि वाक्यमें विधि है, पर यह बाधितार्थकी बोधक है अर्थात् जर्तिलादिमें अग्निहोत्रसाधनत्व नहीं है और यह वाक्य तत्साधनत्वका बोधक है, इसलिए वह बाधितार्थक है; अतएव प्रमाण नहीं, इससे यह स्पष्ट सूचित होता है कि अबाधितार्थबोधक वाक्य प्रमाण माना जाता है, उसमें विधि हो या न हो। प्रामाण्यके लिए विधिकी आवश्यकता नहीं, यह निष्कृष्टार्थ हुआ। उत्तरार्द्धका अर्थ स्पष्ट है, फिर भी कहते हैं—अनाहुतिबोधक वेदवाक्य 'जर्तिलादिमें' अग्निहोत्रसाधनत्वका अनुवाद कर इसको बाधित करता है ॥ ६४ ॥

पदोंके अन्वयके लिए विधि आवश्यक है, इस द्वितीय विकल्पका निराकरण करते हैं—'पदान्वयः' इत्यादिसे ।

कर्मवाक्येष्विवैतेषु वेदान्तेष्वनपेक्षता ।
नाऽन्यत्राऽपेक्षितुं योग्यं सरित्तीरफलोक्तिवत् ॥ ६६ ॥

पदोंका अन्वय क्रियामात्रकी अपेक्षा करता है, विधिकी नहीं । 'सत्यं ज्ञान-मनन्तं ब्रह्म' इत्यादि वाक्यमें पदोंके अन्वयके लिए 'अस्ति' क्रियाका अध्याहार होता है, 'तत्त्वमसि' में 'असि' यह क्रियापद है 'अहं ब्रह्मास्मि' इस वाक्यमें 'अस्मि' यह क्रियापद है । एवं जिस वाक्यमें क्रियापद श्रुत नहीं है, उस वाक्यमें योग्य क्रियापदका अध्याहार करके पदोंका परस्पर सम्बन्ध किया ही जाता है । 'आदि' पदसे 'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' इत्यादिमें 'वेद' और 'भवति' इत्यादि क्रियापद समझना चाहिए ॥ ६५ ॥

'**कर्मवाक्ये०**' इत्यादि । 'नद्यास्तीरे पञ्च फलानि सन्ति' यह वाक्य सिद्धार्थ-बोधक वाक्य है । प्रभाकर मिश्र आदि इसको प्रमाण नहीं मानते, इस विषयमें उनका कहना यह है कि वक्ता यदि प्रत्यक्ष प्रमाणसे यह जानकर कहता है, तो उक्तार्थमें प्रत्यक्षादि ही मुख्य प्रमाण माने जायँगे । ज्ञातज्ञापक शब्द केवल उसी अर्थका अनुवादक होता है, अतएव स्मरण प्रमाण नहीं माना जाता, किन्तु यथार्थ स्मरणमें भी मूलभूत अनुभव ही उस अर्थमें प्रमाण होता है । यदि प्रमाणान्तरसे नदीके तीरमें पाँच फल हैं, यह न जानकर ही उक्त वाक्यका प्रयोग करता है, तब तो अनाप्त शब्दके समान प्रमाण ही नहीं हो सकता । प्रकृत वाक्यार्थका यथार्थ ज्ञानवान् ही आप्त कहा जाता है । पौरुषेय वाक्योंमें आप्तवाक्य ही प्रमाण होता है । इस प्रकार सिद्धार्थक वाक्य, ज्ञातार्थक हो चाहे अज्ञातार्थक हो, कोई भी प्रमाण नहीं है । इसी प्रकार वेदान्त वाक्य भी सिद्धार्थक होनेसे प्रमाण नहीं हो सकता, इसका खण्डन करते हैं—कर्मवाक्यमें प्रमाणान्तराप्राप्त अर्थका बोध मानकर अनपेक्षत्व-लक्षण प्रामाण्य जैसे मानते हैं, वैसे ही वेदान्तवाक्यमें सिद्धार्थक होनेपर भी अनपेक्षत्वलक्षण प्रमाण्य अप्रतिहत है, कर्मके समान ब्रह्म भी प्रमाणान्तरागम्य अर्थ है, रूपवान् द्रव्य ही प्रत्यक्षादिग्राह्य होते हैं, आत्मामें रूप है नहीं, अतः वह प्रत्यक्षका भी विषय नहीं है । प्रत्यक्षके विषयमें ही अनुमानादि प्रमाण प्रवृत्त होते हैं, प्रत्यक्षका अविषय होनेसे अनुमानादिका भी आत्मा विषय नहीं है, अतः कर्मवाक्यके समान वेदान्तवाक्यमें भी अनपेक्षत्वलक्षण प्रामाण्यमें बाधा नहीं है । नदीतीरफलोक्तिमें विशेष यह है कि उस वाक्यका अर्थ प्रत्यक्षादि प्रमाणके योग्य है और वेदान्तवाक्यका

फलानि चक्षुर्योग्यानि योग्यं ब्रह्म तु कस्य ते ।
प्रत्यक्षस्याऽनुमादेर्वा नाऽऽद्यो रूपादिवर्जनात् ॥ ६७ ॥
नेतीत्यस्थूलमित्यादिवाक्याद्योऽर्थोऽवगम्यते ।
योगिप्रत्यक्षतो वाऽयं कथं गम्येत तद्वद ॥ ६८ ॥

अथ प्रमाणान्तरायोग्य है, अतएव 'वेदान्ताः सापेक्षाः, सिद्धबोधित्वात् , नदीतीर फलोक्तिवत्' यह अनुमान असंगत है, क्योंकि मानान्तरयोग्यार्थकत्व इसमें उपाधि है। सारांश यह है कि उक्त वाक्यार्थ मानान्तरग्राह्य है। ब्रह्म अविषय होनेसे सर्वथा अग्राह्य है, यह विशेष अतिस्पष्ट है ॥ ६६ ॥

उपाधिमें साधनव्यापकत्वका निरास कहते हैं, **'फलानि'** इत्यादिसे ।

वेदान्त पक्ष है, सापेक्षत्व साध्य है। सिद्धबोधित्व हेतु है। यह हेतु नदीतीर-फलोक्तिमें और वेदान्तमें भी है। मानान्तरयोग्यार्थकत्व उपाधि है। साध्यव्यापक होकर साधनकी जो अव्यापक हो, वह उपाधि कहलाती है। उक्त उपाधि यदि वेदान्तमें भी रहेगी, तो साधनकी व्यापक होनेसे उपाधि ही नहीं हो सकती। परन्तु उक्त उपाधि वेदान्तमें नहीं है, कारण कि आत्मा मानान्तरयोग्य नहीं है, अतः साधनव्यापक न होनेसे उपाधि ठीक रही। सोपाधिक हेतु होनेसे उक्त अनुमान ही असङ्गत है। आप ब्रह्मको किस प्रमाणका योग्य कहते हैं? क्या प्रत्यक्षका या अनुमानादिका? प्रथम कल्प ठीक नहीं है, क्योंकि रूपवान् द्रव्यका प्रत्यक्ष होता है, आत्मामें रूप नहीं है, अतः वह प्रत्यक्षयोग्य नहीं है ॥ ६७ ॥

आत्मा प्रत्यक्षगम्य है, यह आपका कहना हम लोगोंके तात्पर्यसे है? अथवा योगीके तात्पर्यसे? रूपके निषेधसे हम लोगोंकी प्रत्यक्षयोग्यताका तो निराकरण कर चुके। द्वितीय पक्षके निराकरणके लिए आत्मा निर्विशेष है, ऐसा प्रतिपादन करते हैं—**'नेती०'** इत्यादिसे ।

'अस्थूलमनण्वह्रस्वम्' इत्यादि वाक्य एवं 'नेति नेति' इत्यादि वाक्यसे सकल धर्मोंका ब्रह्ममें निषेध कर अद्वितीय केवल चित्स्वरूप ब्रह्म कहा गया, वह योगियोंको भी कैसे प्रत्यक्ष हो सकता है? सो कहिये, भावनाप्रकर्षजन्य योगीका प्रत्यक्ष निर्विशेष वस्तुको भी स्वविषय करता है। जैसे अतीत, अनागत विप्रकृष्ट और व्यवहित वस्तुओंका योगीको प्रत्यक्ष होता है, वैसे ही निर्विशेष वस्तुका भी प्रत्यक्ष होता है, अतएव योगिप्रत्यक्षमें विषयकी योग्यता अपेक्षित नहीं

यत्राऽप्यतिशयो दृष्टः स स्वार्थानतिलङ्घनात् ।
पुरः सूक्ष्मादिदृष्टया स्यान्न रूपे श्रोत्रवृत्तिता ॥ ६९ ॥

होती; अन्यथा जैसे हम लोगोंको अविद्यमान विषयका प्रत्यक्ष नहीं होता, वैसे ही योगियोंको भी अविद्यमान विषयका प्रत्यक्ष नहीं होता, ऐसा भी कह सकते हैं ॥६८॥

परन्तु योगज धर्मके प्रभावसे उनको अतीतादि विषयोंका प्रत्यक्ष होता है, यह प्रसिद्ध है, इसलिए ब्रह्म योगिप्रत्यक्षगम्य हो सकता है? इस शङ्काका निराकरण करते हैं—'यत्राऽप्य०' इत्यादिसे ।

जो आप यह कहते हैं कि योगज धर्मजन्य अतिशयसे सहकृत योगीकी इन्द्रिय ब्रह्मका भी ग्रहण कर सकती है, यह ठीक नहीं है, क्योंकि अतिशय इन्द्रियोंको स्वविषयमें ही प्रवृत्त करा सकता है, अविषयमें नहीं । जैसे हम लोगोंका श्रोत्र समीपमें शब्द ग्रहण करता है, किन्तु योगियोंका श्रोत्र उक्त अतिशयसे सहकृत दूरस्थ शब्दोंका भी ग्रहण कर सकता है, यह कल्पना कर सकते हैं; परन्तु उक्त अतिशयसे सहकृत तदीय श्रोत्र रूपका भी ग्रहण करता है, यह कल्पना सर्वथा अयुक्त है । अन्यथा योगियोंको अनेक इन्द्रियोंकी आवश्यकता ही नहीं रह जायगी, उक्त अतिशयसे सहकृत एक ही इन्द्रियसे सब विषयोंका ग्रहण हो जायगा और शेष इन्द्रियाँ व्यर्थ हो जायँगी, अतएव सिद्धाञ्जन आदिसे सहकृत चक्षु दूरस्थ पदार्थका ग्रहण करनेपर भी शब्दका ग्राहक नहीं होता । जो अतिशय जिस विषयकी ग्राहक इन्द्रियमें आहित होता है, वह अतिशय उसी विषयका ग्रहण करानेमें तदिन्द्रियके उत्कर्षमें हेतु होता है, विषयान्तरमें नहीं । और यह नियम स्वाभाविक है कि वर्तमान समयमें यज्जातीय इन्द्रियसे यज्जातीय विषयका ग्रहण देखा जाता है, अतीत कालमें भी तज्जातीय इन्द्रियोंसे तज्जातीय विषयका ग्रहण होता था, यह कल्पना कर सकते हैं, विपरीत नहीं । इस समयमें किसीकी कोई भी इन्द्रिय ब्रह्मका ग्रहण करती नहीं देखी जाती, इसलिए कालान्तरमें भी किसीकी कोई भी इन्द्रिय ब्रह्मका ग्रहण करती थी, यह कल्पना नहीं हो सकती । निरङ्कुश कल्पनाका कोई मूल्य नहीं है । प्रत्युत उससे विपरीत यह अनुमान होता है कि 'विमतम् इन्द्रियं न ब्रह्म ग्राहकम्, इन्द्रियत्वात्, संमतवत्' सांप्रतिक इन्द्रियोंके समान कालान्तरीय इन्द्रियाँ भी ब्रह्मग्राहक नहीं थीं । 'अतीतः कालः-सर्वज्ञशून्यः, कालत्वात्, वर्तमानकालवत्' इस अनुमानसे सर्वज्ञका अभाव ही

तस्मादिन्द्रियगम्येषु शिल्पं कुर्वन्तु योगिनः ।
अतीन्द्रियं ब्रह्मतत्त्वं वाक्यादेव विजानते ॥ ७० ॥
व्याप्तिग्रहादिराहित्यान्नाऽनुमानादियोग्यता ।
नैरपेक्ष्यमतः सिद्धं वेदान्तानां विधेरिव ॥ ७१ ॥

सिद्ध होता है और असर्वज्ञ मनुष्य सर्वज्ञको कैसे जान सकता है? सर्वज्ञता-विशिष्ट पुरुषके ज्ञानके लिए स्वयं सर्वज्ञ होना चाहिए। यदि आगम द्वारा सर्वज्ञताका ज्ञान कहो, तो अन्योन्याश्रय होगा, कारण कि उसके द्वारा प्रणीत आगमसे उसमें सर्वज्ञता मानोगे। इस परिस्थितिमें आगममें सर्वज्ञप्रणीतत्वका निश्चय उसकी सर्वज्ञताके अधीन होगा और उस पुरुषमें सर्वज्ञत्वका निश्चय आगममें सर्वज्ञप्रणीतत्व-निश्चयके अधीन होगा; अतः अन्योन्याश्रय स्पष्ट है। यह श्लोकवार्तिकके चोदना-सूत्रप्रकरणका ११४ वाँ श्लोक है; इसका अविकलरूपसे उपादान सुरेश्वराचार्यकृत बृहदारण्यकभाष्यवार्तिकके द्वितीयाध्यायके चतुर्थ ब्राह्मणके १७४ वें श्लोकमें है, उसीका उपादान वार्त्तिकसारमें पुरःपदके साथ किया है, पुरःपदके प्रवेशकी कोई आवश्यकता नहीं है, 'यथास्थित' पाठसे ही प्रकृतार्थ संगत हो जाता है। यह श्लोक प्रायः अन्य ग्रन्थोंमें भी आया है, किन्तु पाठमें वार्त्तिकका ही उल्लेख देखा जाता है ॥६९॥

'**तस्मादि०**' इत्यादि। अतिशयसहकृत योगिप्रत्यक्ष भी ऐन्द्रियक पदार्थ तक ही सीमित है, अतः तादृश अर्थको, दूरस्थ होनेपर भी, योगिजन देखनेका कौशल प्राप्त कर सकते हैं, परन्तु अतीन्द्रिय ब्रह्मतत्त्व आदिमें उनके प्रत्यक्षका प्रसर नहीं हो सकता। ऐकात्म्य अतीन्द्रिय है, अतएव वह योगिप्रत्यक्षका अविषय है। इससे उनको उसका ज्ञान वाक्यसे ही हो सकता है, दूसरा उपाय नहीं है ॥ ७० ॥

शङ्का—प्रत्यक्षका अविषय होनेपर भी लिङ्गादि द्वारा उसका ज्ञान हो सकेगा?

समाधान—'**व्याप्तिग्रहादि०**' इत्यादि। साध्य और साधनके व्याप्तिरूप सम्बन्धका ग्रहण होनेपर ही अनुमान होता है, अन्यथा नहीं होता। सम्बन्ध-ग्रहण दृष्टान्तस्थलमें प्रत्यक्षसे ही हो सकता है। जो प्रत्यक्षका विषय है नहीं, उसके साथ साधनका सम्बन्धग्रह ही नहीं हो सकता। सम्बन्धग्रहके बिना अनुमान कैसे होगा? अतः वह अनुमानगम्य भी नहीं है। जैसे आपके मतसे विधेयके प्रत्यक्षादिके अविषय होनेसे वेदमें निरपेक्षत्वलक्षण प्रामाण्य सिद्ध होता है, वैसे ही हमारे मतमें भी अभिधाशक्तिके अतीन्द्रियार्थनिष्ठ होनेसे उपनिषदोंमें अनपेक्षत्वलक्षण

प्रामाण्य सिद्ध होता है। विधेयार्थके समान अभिधेय भी अतीन्द्रिय है। वेदान्तमें अनपेक्षत्वलक्षण प्रामाण्य सिद्ध हो, इस इच्छासे ब्रह्मज्ञानमें विधिकी आवश्यकता जो आप कहते हैं, उसपर भी ध्यान दीजिये। प्रश्न यह है कि वाच्य ब्रह्मात्मैक्य नदीतीरफलके समान मानान्तरसे गम्य है या नहीं? प्रथम पक्षमें सैकड़ों विधियाँ माननेपर भी सापेक्षत्वका निरास नहीं हो सकता। द्वितीय पक्षमें विधिके बिना भी उक्त लक्षण प्रामाण्य अनायाससे ही सिद्ध होता है, इसलिए विधिका स्वीकार व्यर्थ है, प्रत्युत सूक्ष्म दृष्टि देनेसे विधि माननेपर भी सापेक्षत्वकी प्रसक्ति दुर्वार है। अपनी सामर्थ्यको देखे बिना कोई भी पुरुष विधेय अर्थमें प्रवृत्त नहीं होता, यह सर्वानुभवसिद्ध है; अतः विधिमें अनपेक्षत्व कैसे होगा? अतएव 'कृष्णलान् श्रपयेत्' यहां विधि देखनेपर भी पुरुषको यह ज्ञान है कि कृष्णलमें विक्लृति मैं नहीं कर सकता, अतः उसके उद्देश्यसे पुरुषकी उक्त पाकमें प्रवृत्ति नहीं होती, किन्तु अदृष्टार्थ घृतमें सन्तपनमात्रके उद्देश्यसे प्रवृत्ति होती है। इसलिए विधिमें भी पुरुषशक्तिसापेक्षत्व अनिवार्य ही है।

शङ्का—यदि पुरुषशक्तिसापेक्षत्वसे प्रामाण्यका भङ्ग मानियेगा, तो 'तत्त्वमसि' आदि वाक्य भी अधिकारीकी ही प्रमितिके जनक होते हैं, अनधिकारीकी नहीं, इसलिए पुरुषशक्तिसापेक्षत्वसे प्रामाण्यका भङ्ग नहीं होता, अन्यथा वेदमात्रमें अप्रामाण्यकी प्रसक्ति हो जायगी। पुरुषशक्ति भावनान्तर है, मानान्तर नहीं है, अतः मानान्तरानपेक्षत्व होनेसे विधिपक्षमें भी अप्रामाण्यकी प्रसक्ति नहीं है।

समाधान—विधि नियोगरूप और जड है; मानान्तरके बिना उसमें शक्तिग्रह ही नहीं हो सकता, इसलिए उसको मानान्तरकी नियमसे अपेक्षा होती है। आत्मा स्वयंप्रकाश है, अतएव अप्रमेय है। मानान्तरके बिना शक्तिग्रह उसमें होता है। यह पूर्वमें उपपादन कर चुके हैं, अतः 'तत्त्वमसि' आदि श्रुति विधिरहित होकर ऐक्यका बोधन करती है, अन्य अनुष्ठान और अन्य प्रमाणकी अपेक्षा नहीं करती; अपनी महिमासे ही अधिकारीके प्रति ब्रह्मका बोधन कराती है। विधिसे वेदान्तमें यह विशेष है कि वेदान्त सर्वथा अनपेक्ष है, अतः उक्त रीतिसे शक्तिग्रहके लिए भी मानान्तरकी अपेक्षा नहीं है।

शङ्का—यदि वेदान्तको सर्वथा अनपेक्ष मानते हो, तो अव्युत्पन्नको भी 'तत्त्वमसि' आदि वाक्यसे बोध होना चाहिए।

समाधान—शक्ति द्वारा जहाँ शब्द बोधक होता है, वहाँ शब्द मानान्तर

जीवावच्छेदहानिश्च विधिना नैव सिद्धयति ।
अविद्यया कल्पितस्य विद्ययैव निवर्तनात् ॥ ७२ ॥
अज्ञानबाधनं च स्याज्ज्ञानादेव विधेर्न तु ।
द्वैविध्यमप्यविद्यायां न युक्तं परकल्पितम् ॥ ७३ ॥

हो सकता है; प्रकृतमें शब्द शक्ति द्वारा ब्रह्मका बोधक नहीं है, क्योंकि 'यतो वाचो निवर्तन्ते' इत्यादि श्रुतिसे 'ब्रह्म' शब्दका विषय नहीं है, यह बार-बार कह चुके हैं ॥ ७१ ॥

चौथे विकल्पका निरास करते हैं—**'जीवावच्छेद०'** इत्यादिसे ।

अविद्यासे जीवका अवच्छेद अर्थात् कल्पित अविद्याकी हानि (ध्वस्ति) विधिसे सिद्ध नहीं होती; किन्तु विद्यासे अविद्याकी निवृत्ति होनेसे उसके द्वारा कल्पित अवच्छेदकी निवृत्ति हो जाती है, अतः तदर्थ विधि विफल है । भाव यह है कि यदि वैध ज्ञान फलवान् है, इसलिए उसमें विधि मानो, तो इसमें प्रश्न यह होता है कि विधिका फल भेदध्वंस कहते हो या अविद्यानिवृत्ति ? भेदध्वंस, क्योंकि विहित ज्ञानसे ही भेदका ध्वंस होता है ।

शङ्का—अच्छा, तो वह आविद्यिक है या वास्तविक ? द्वितीय पक्षमें उसकी निवृत्ति ही दुर्घट है, वस्तुकी निवृत्ति होती नहीं। प्रथम पक्षमें अविद्याकी निवृत्ति होनेसे उसके कार्य भेदकी भी निवृत्ति हो जायगी, उसके लिए विधि अनावश्यक है ॥७२॥

'अज्ञानबाधनम्' इत्यादि । अनवच्छिन्न यथार्थात्मैक्यज्ञानसे अवच्छिन्न आभासक अज्ञानकी निवृत्ति विरोधसे ही सिद्ध है, उसके लिए विधि निष्प्रयोजन है ।

शङ्का—अविद्या दो प्रकारकी होती है, एक तो उक्त ज्ञानसे बाधित हो जायगी, जैसा कि आप कहते हैं; किन्तु द्वितीय विधिसे ही निवृत्त होती है; अन्यथा नहीं, यह विधिवादीका कथन है; इसका निराकरण करते हैं—परकल्पित अविद्याद्वैविध्य अयुक्त है । अविद्याको तो अद्वैतवेदान्ती मानते हैं, मीमांसक नहीं मानते, अतः अविद्याद्वैविध्यकी कल्पना विधिके सार्थक्यके लिए करते हो या प्रयोजनान्तर भी है ?

प्रथम पक्ष तो अश्रद्धेय है । द्वितीय पक्षमें फल कहो । भाव यह है कि आश्रय और विषयके भेदसे अविद्या भिन्न हो सकती है, जैसे प्रमेयके भेदसे प्रमाण भिन्न माना जाता है । प्रकृतमें आश्रय और विषयके एक होनेसे अविद्याद्वैविध्य कैसे ?

अविद्यैका ज्ञानहेया विधिहेया तथेतरा।
इत्येवं कल्पयन्त्येतत्त्वाऽद्वैते कथं भवेत् ॥ ७४ ॥
विषयस्य विभेदेन ज्ञानानां स्याद्यथा भिदा।
अज्ञानस्य तथा वाच्या नाऽद्वैते विषयेऽस्ति सा ॥ ७५ ॥

अद्वैतमतमें आश्रय और विषयका भेद हो नहीं सकता। अज्ञानभेदमें युक्ति यह है कि एक अज्ञान आत्माका आच्छादक होता है और दूसरा जगत्का कारण होता है, क्योंकि एक ही अज्ञान दोनों कार्य नहीं कर सकता।

समाधान—यह दलील ठीक नहीं है, क्योंकि एकसे भी दो कार्य होते हैं। नहरसे लोग खेत सींचते हैं और स्नानादि कार्य भी करते हैं एवं प्रदीप प्रसादव्यापक आलोककारी और वर्त्तिविकारकारी होता है। जो विरुद्ध कार्य हैं, उन्हें एक नहीं कर सकता, पर अविरुद्ध अनेक कार्य एकसे होते हैं, इसमें अनेक दृष्टान्त हैं। आत्माका आवरण और जगत्सृष्टि ये विरुद्ध नहीं हैं, अतः ये दोनों कार्य एक ही अज्ञानसे हो जायँगे, इसके लिए अज्ञानद्वैविध्यकी अपेक्षा नहीं है ॥ ७३ ॥

अयुक्तत्वोपपादन करनेके लिए परपक्षका अनुवाद करते हैं—'**अविद्यैका**' इत्यादिसे।

एक अविद्या ज्ञानहेय है और द्वितीया विधिहेय है, यह कल्पना जो आप लोग करते हैं, सो अद्वैतमें कैसे हो सकती है? 'इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते' इस श्रुतिमें 'मायाभिः' इस प्रकार बहुवचनके निर्देशसे मायाभेद श्रुतिसिद्ध है, यह आशा अयुक्त है, क्योंकि 'अजामेकाम्', 'मायान्तु प्रकृतिं विद्यात् मायिनन्तु महेश्वरम्', 'तम आसीत्' 'अनृतेन प्रत्यूढाः', 'सम्भवाम्यात्ममायया', मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतान्तरन्ति ते' इत्यादि अनेक श्रुति और स्मृतियोंमें एकवचनान्त माया और तत्पर्य्यायवाचक शब्द देखनेसे माया एक ही मानी जाती है। एक माननमें लाघव भी है। अनेक मायाओंका स्वीकार करनेपर किसी कार्यकी अनुपपत्ति हो, तो अनेक मानना उचित होता है, अन्यथा नहीं। उक्त श्रुतिमें बहुवचन मायाशक्तिके भेदके तात्पर्य्यसे भी उपपन्न हो सकता है, अतः उसकी उपपत्तिके लिए उसके भेदकी कल्पना करना व्यर्थ है ॥ ७४ ॥

'**विषयस्य**' इत्यादि। अज्ञान अनादि है; अनादिका कारण नहीं माना जाता, अतः कारणप्रयुक्त भेद तो कह नहीं सकते। रह गया विषय-

विधेयतत्फलाभावादप्रवृत्तप्रवर्तनम् ।
दुर्घटं तेन पूर्वोक्तमज्ञातज्ञापनं भवेत् ॥ ७६ ॥
ननु चिद्रहिता वृत्तिर्नाऽस्तीति प्रतिपादितम् ।
उत्पन्नैव ततो विद्या किं शास्त्रेणेति चेच्छृणु ॥ ७७ ॥

भेद, तत्प्रयुक्त भेद भी अज्ञानमें सिद्ध नहीं हो सकता, क्योंकि घट, पट आदि विषयोंके भेदसे जैसे घटादि ज्ञानमें भेद मानते हो, वैसे ही अज्ञानमें भी भेद कहोगे, वह अद्वैतमतमें बन नहीं सकता। वस्तुतः घटादिके भेदसे उसके ज्ञानका भेद भी नहीं माना जाता। विषयोंके भिन्न होनेपर भी संविद् एक ही है, इसका पूर्वमें निरूपण कर चुके हैं। भेदप्रत्यय औपाधिक है। एवम् अज्ञानभेद भी औपाधिक है, वास्तविक नहीं। हां, वृत्तिरूप ज्ञानके भेदके तात्पर्य्यसे 'यावन्ति ज्ञानानि तावन्ति अज्ञानानि' यह कहा जाता है, पर इसका तात्पर्य मूल अज्ञानके भेदमें नहीं है, किन्तु अज्ञानशक्तिके भेदमें है। अज्ञानमें अनेक शक्तियाँ हैं, अतएव अधिष्ठानज्ञानके बाद उसके भ्रमजनक अज्ञानकी निवृत्ति होनेपर कालान्तरमें फिर उसमें भ्रम होता है, अथवा उसकी अवस्थाभेदसे भी उक्तकी उपपत्ति हो जाती है, इसलिए अज्ञानके भेदकी कल्पना करना सर्वथा असङ्गत है, अद्वैतमें विषयभेदकी सम्भावना नहीं है ॥७५॥

'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः' यह वाक्य आत्मदर्शनका विधायक नहीं है, इसके उपपादनका उपसंहार करते हैं—**'विधेय०'** इत्यादिसे।

पूर्वोक्त रीतिसे विधिके योग्य न तो कोई अर्थ ही है और न विधिका कुछ फल ही है, अतः अप्रवृत्तप्रवर्तनरूप विधि वेदान्तमें नहीं है, किन्तु अज्ञातज्ञापकत्व-रूप विधि है ॥ ७६ ॥

विधिके निराकरणके समय आपने यह कहा है कि बुद्धिवृत्तिमें चिदाकारता नित्य प्राप्त है। ऐसी परिस्थितिमें शास्त्रवैयर्थ्य अवश्यंभावी है, यह शङ्का करते हैं—**'ननु'** इत्यादिसे।

बुद्धिवृत्ति चिदुपहित नहीं है, यह पूर्वमें प्रतिपादन किया गया है, तब तो विद्या स्वतः उपपन्न है, शास्त्रकी क्या आवश्यकता? इसका श्रृणुसे उत्तर देते हैं—सुनो, जिस प्रकार शास्त्र आवश्यक है ॥ ७७ ॥

उत्पन्नमपि विज्ञानं प्रमातृत्वाद्युपग्रहात् ।
अनुत्पन्नवदाभाति तद्व्युत्पत्तेः पुरा नृणाम् ॥ ७८ ॥
व्युत्पाद्यते पुमाञ्छास्त्रादन्वयव्यतिरेकतः ।
व्युत्पादनमिदं प्रोक्तमज्ञातज्ञापनं बुधैः ॥ ७९ ॥

'उपपन्नम्' इत्यादि । यद्यपि आत्मा चिद्रूप है, अतः उसका ज्ञान सदा सिद्ध होनेसे तदर्थ श्रवणादिकी विधि व्यर्थ है, ऐसी शङ्का हो सकती है, तथापि विहित श्रवणादिसे जन्य ज्ञानोत्पत्तिसे पूर्व प्रत्यगात्ममें ज्ञान सिद्ध है, इसलिए प्रमातृत्वादिके योगसे परिच्छेदाभिमान रहता ही है, अतः ज्ञान है सही, किन्तु अनुत्पन्नवत् प्रतीत होता है अर्थात् वेदान्तवाक्यश्रवणादिसे अनवच्छिन उदासीन आत्मज्ञान होता है, वह ज्ञान उसके पूर्व नहीं होता । यद्यपि स्वयंप्रकाश तादृश आत्मा पूर्वकालमें है, किन्तु शरीरेन्द्रियादिके अभिमानसे वह परिच्छिन्न प्रतीत होता है, अतएव उसका ज्ञान अनुत्पन्नवत् कहा जाता है, उसकी निवृत्तिके लिए ही वेदान्तश्रवणादिका विधान है ॥ ७८ ॥

'व्युत्पाद्यते' इत्यादि । वेदान्तशास्त्र अन्वय और व्यतिरेक द्वारा पुरुषको जब आत्मतत्त्वका व्युत्पादन कराता है अर्थात् प्रमातृत्वादिका व्यभिचार है, जाग्रत्स्वप्नावस्थामें प्रमाताका भान होता है, पर सुषुप्ति अवस्थामें प्रमातृत्वका भान नहीं होता, सुप्तोत्थितपरामर्शान्यथानुपपत्तिलिङ्गक परामर्शसे संविद्का भान वहां भी है । पूर्वावस्थामें तो सद्भावमें सन्देह ही नहीं, इसलिए अव्यभिचारी संवित् ही आत्मस्वरूप है, प्रमातृत्वादिका भान औपाधिक है । इस प्रकार जब वेदान्तशास्त्र जिज्ञासु पुरुषको वास्तविक आत्मस्वरूपकी शिक्षा देता है, तब उक्त पुरुषको वास्तविक आत्मज्ञान होता है । यद्यपि उपदेशसे पूर्व भी यह ज्ञान आत्मस्वरूप होनेसे प्राप्त ही है, तथापि मायासे आवृत था, अतएव अप्राप्तके समान प्रतीत होता था, उपदेशसे आत्माके आवरण मायाके अपनीत होनेपर पुरुष तादृश आत्मस्वरूपका निश्चय करता है । शास्त्र यदि व्युत्पादनार्थ हैं, तो उन्हें अज्ञातज्ञापनार्थ क्यों कहते हो, इसका उत्तर यह है कि पण्डित व्युत्पादनको ही अज्ञातज्ञापन कहते हैं ।

शङ्का—ईदृश व्युत्पादनसे पूर्व एतादृश बुद्धि नहीं हो, तो व्युत्पादनोत्तर होती है, इसलिए इसको आगन्तुक क्यों नहीं कहते ?

समाधान—नहीं जानता हूँ, यह अज्ञानविषयक बुद्धि स्वसाक्षिक सर्वानुभव-

अविचारितसिद्ध्येतदज्ञातज्ञापनं त्वयि ।
नाऽद्वैते वास्तवं युक्तमितरव्यवहारवत् ॥ ८० ॥
अव्युत्पत्तिर्बन्धहेतुर्व्युत्पत्तिर्बन्धमोचनी ।
आत्मव्युत्पत्तये तस्माद्विधत्ते श्रवणादिकम् ॥ ८१ ॥

सिद्ध है, तो जानता हूँ, इस बुद्धिके विषयमें क्या कहना है ? ज्ञानत्वाज्ञानत्वकी साधक आत्मस्वरूपसंविद् ही है ॥ ७९ ॥

'अविचारित०' इत्यादि ।

शङ्का—यदि उक्त व्युत्पादनको आवश्यक मानते हो, तो व्युत्पादक शास्त्रको सत्य मानना होगा । यथार्थका उपदेशक वाक्य अयथार्थ वा मिथ्या नहीं कहा जा सकता; सत्य और मिथ्याका यही परिचायक है । शास्त्रको सत्य मानोगे, तो अद्वैत-हानि हो जायगी । वेदान्तीके लिए यह दोष उभयतःपाशा रज्जूके समान है ।

समाधान—इस विषयका विचारके बिना ही आप अद्वैतमें दोष दे रहे हैं, इसलिए मेरा अनुरोध है कि इसपर आप पूरा विचार करें, सत्यका साधक (ज्ञापक) सत्य ही होता है, यह नियम नहीं है, धूलीपटलमें किसीको धूमभ्रम हो जाय और वह पुरुष उक्त हेतुको पर्वतमें देखकर अनुमान करे कि वह पर्वत अग्निमान् है और दैवगतिसे उसमें वस्तुतः अग्नि भी हो, तो कहिये, क्या यह अनुमान सत्य नहीं है ? क्या इसका कारण सत्य है ? यदि नहीं है, तो फिर सत्यका उत्पादक सत्य ही होता है, यह नियम कहां रहा ? एवं लिपिमें वर्णह्रस्वत्वदीर्घ-त्वादिज्ञानके मिथ्या होनेपर भी अर्थप्रतिपत्ति सत्य ही होती है । अतः प्रमात्वादि साधनसत्यत्वप्रयुक्त नहीं है, किन्तु विषयाबाधप्रयुक्त है, प्रकृतमें विषयका बाध नहीं है, इसलिए यह सत्य है, साधन बाष्पादिवत् असत्य हैं ॥ ८० ॥

पूर्वोक्त शास्त्रके अवैयर्थ्यका उपसंहार करते हैं—'अव्युत्पत्ति०' इत्यादिसे ।

पूर्वोक्त शास्त्रकी अव्युत्पत्ति बन्धका (संसारका) हेतु है और उक्त प्रकारकी व्युत्पत्ति बन्धको छुड़ानेवाली है, अतः सहृदय श्रुति संसारबन्धनसे मुक्त करनेके लिए मुमुक्षुके प्रति श्रवणादिका विधान करती है । शम, दम आदि साधनसंपन्न अधिकारी पुरुष वेदान्त द्वारा श्रवण, मनन आदि द्वारा और आत्मतत्त्वके साक्षात्कारसे जगत्के उपादानभूत अज्ञानका समूल ध्वंस कर नित्य निरतिशय सुखस्वरूप ब्रह्ममें सम्पन्न हो जाता है, अतः शास्त्र सर्वथा सप्रयोजन है ॥ ८१ ॥

आत्मेत्येवेति सूत्रस्य द्विधा व्याख्या पुरोदिता।
आत्मतत्त्वपरत्वेन तद्विचारपरत्वतः ॥ ८२ ॥
आत्मा द्रष्टव्य इत्युक्त्या तत्त्वधीरुपदर्शिता।
श्रोतव्य इत्यादिना तु विचार उपदिश्यते ॥ ८३ ॥

'श्रोतव्यः' इस वाक्यके व्याख्यानकी इच्छासे उसके उपयोगी विद्यासूत्र द्वारा उक्त अर्थका स्मरण कराते हैं—'आत्मेत्येवेति' इत्यादिसे।

'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः' इस श्रुतिके दो अर्थ पूर्वमें किये गये हैं, एक आत्मतत्त्वपरक और दूसरा तद्विचारपरक। 'आत्मा' यह प्रमेयका निर्देश है। 'द्रष्टव्य' में दृशधातुसे तव्यत्प्रत्यय है, उसका अर्थ है—दर्शन। 'वै' शब्दका स्मरण अर्थ है। 'वै' की अरेके साथ सन्धि है। 'एचोऽयवायावः' इस सूत्रसे 'आय्' आदेश हुआ है। यकारका 'लोपः शाकल्यस्य' इस सूत्रसे लोप हुआ है, अतः 'आत्मा वा अरे' यह सिद्ध हुआ। असलमें 'आत्मा वै अरे' यह शब्द समझना चाहिए। पूर्वोक्त रीतिसे दर्शनमें विधिका निरास कर चुके हैं। अब 'श्रोतव्यः' इसमें विधि हो सकती है, या नहीं ? इसका विचार करना है। एतदर्थ उक्त वाक्यका आत्मविचारपरकत्वरूपसे भी व्याख्यान किया है।

शङ्का—यदि 'द्रष्टव्यः' वाक्यघटक 'तव्यत्' प्रत्यय विधायक नहीं है, तो उसका प्रयोग किस तात्पर्यसे किया गया है ?

समाधान—'अर्हे कृत्यतृचश्च' इस पाणिनिके सूत्रसे 'अर्ह' अर्थमें 'तव्यत्प्रत्यय' हुआ है। जिस कारणसे सबसे अधिक प्रिय आत्मा है, अतः दर्शनार्ह है अर्थात् आत्मानात्मविभागवित् विवेकी दर्शनार्ह आत्माको ब्रह्म जानता है; यह अर्थ इस श्रुतिसे प्रतीत होता है। आत्मा दर्शनार्ह है, इस ज्ञानके अनन्तर उसके उपायकी जिज्ञासा होती है—किस उपायसे दर्शन हो ? अविशेषसे सब प्रमाणोंसे, यह अर्थ माननेपर ब्रह्म औपनिषद नहीं हो सकेगा। 'तन्त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि' इस श्रुतिसे उपनिषदेकगम्यत्व ब्रह्ममें निश्चित है। इस निश्चयके अनुसार वेदान्त ही आत्मदर्शनके उपाय हैं, अतएव 'श्रोतव्यः' यह कहा। इससे आत्मामें औपनिषदत्व सिद्ध होता है। 'श्रोतव्यः श्रुतिवाक्येभ्यो मन्तव्यश्चोपपत्तिभिः' इत्यादि स्मृति भी इसी अर्थको पुष्ट करती है ॥ ८२ ॥

'आत्मा' इत्यादि। 'आत्मा द्रष्टव्यः' इस वचनसे तत्त्वधीका प्रदर्शन कराया

श्रुत्यर्थाविष्कृतेर्हेतुः शब्दशक्तिविवेककृत् ।
श्रुतिलिङ्गादिको न्यायः प्रोक्तः श्रोतव्य इत्यतः ॥ ८४ ॥

गया है और 'श्रोतव्यः' इस वचनसे विचारका उपदेश किया गया है। 'सर्वमात्मैवाभूत्' इत्यादि वाक्यसे अद्वितीयात्मदर्शन ही तात्त्विक है, ऐसा कहा है, किन्तु यह ज्ञान हो कैसे? इस जिज्ञासासे 'श्रोतव्यः' इस वाक्यसे साधनका उपदेश किया अर्थात् वेदान्तके श्रवण आदिसे उक्त दर्शन होता है ॥ ८३ ॥

'श्रुत्यर्थाविष्कृते०' इत्यादि । श्रुत्यर्थके आविर्भावमें हेतुभूत शब्दशक्तिके अर्थात् तदर्थनिरूपित तत्पदनिष्ठ शक्तिके ज्ञानके बिना तत्-तत् पदघटित वाक्यसे शाब्दबोध नहीं होता, अतः पदनिष्ठ शक्तिका ज्ञान शाब्दबोधमें कारण है, यह माना जाता है। तात्पर्य यह है कि श्रवणसे केवल शब्दकी आनुपूर्वीका प्रत्यक्ष ही यहां विवक्षित नहीं है, कारण कि वैसा प्रत्यक्ष तो अव्युत्पन्न पुरुषको भी होता है। यदि वही यहां श्रवणपदसे विवक्षित होगा, तो वह आत्मदर्शनका नहीं हो सकेगा । इसलिए यहां शब्दश्रवणके अनन्तर तदर्थविषयक संशय-निश्चयसाधारण शब्दज्ञान विवक्षित है, जो व्युत्पन्नको ही हो सकता है; अव्युत्पन्नको नहीं । शाब्दबोधमें कारण शब्दशक्तिग्रह है । श्रुति, लिङ्ग, वाक्य, प्रकरण, स्थान और समाख्या आदि सब न्याय श्रवणशब्दसे विवक्षित हैं । 'ऐन्द्या गार्हपत्यमुपतिष्ठते' यहांपर इन्द्रप्रकाशनसामर्थ्यरूप लिङ्गसे 'ऐन्द्री' ऋक्का इन्द्रसंबन्धी कार्यमें विनियोग होना चाहिए, यह प्राप्त होता है और तृतीया-श्रुतिसे गार्हपत्य अग्निके उपस्थानमें विनियोग होना चाहिए, इस संशयसे वाक्यार्थबोध ही ठीक नहीं हो सकता, अतः श्रुति, लिङ्ग आदि न्यायकी आवश्यकता पड़ती है। लिङ्ग विलम्बसे विनियोजक होता है और श्रुति अविलम्बसे, क्योंकि लिङ्ग श्रुतिकी कल्पना कर विनियोजक माना जाता है, स्वतः नहीं । जबतक लिङ्गसे विनियोजक श्रुतिकी कल्पना करेंगे, तबतक श्रुतिसे विनियोग हो जाता है, इत्यादि पूर्वमीमांसामें स्फुट है। इसलिए शब्दज्ञानके हेतु जो शक्ति-ज्ञान आदि हैं, वे सब श्रोतव्यसे कहे गये हैं । शक्तितात्पर्यनिर्णायक श्रुति आदि लिङ्गोंसे ब्रह्मस्वरूप आत्मामें वेदान्ततात्पर्यनिरूपणात्मक श्रवण 'श्रोतव्य' पदसे विवक्षित है ॥ ८४ ॥

अर्थासम्भावनोच्छेदी तर्को मननमीरितम् ।
वेदशास्त्राविरोध्यत्र तर्को ग्राह्यो न चेतरः ॥ ८५ ॥

मननशब्दके अर्थको कहते हैं—**'अर्थासम्भावनो०'** इत्यादिसे ।

श्रुत अर्थकी असम्भावनाका निवर्तक तर्क मनन कहलाता है ।

शङ्का—तर्क अनेक हैं । यदि उन सबका संग्रह यहां अभीष्ट है, तो 'नैषामतिस्तर्केणापनेया' तर्कमें अनादर सूचन करनेवाली यह श्रुति असङ्गत हो जायगी ।

समाधान—वेद और शास्त्रका अविरोधी तर्क यहाँ उपादेयरूपसे विवक्षित है। वस्तुतः वेदादिसे विरोध न रखनेवाला तर्क ही तर्क कहा जा सकता है और उससे अन्य तर्काभास है अर्थात् वह तर्क ही नहीं है ।

शङ्का—तर्कका प्रकृतमें कैसे उपयोग है ?

समाधान—'तत्त्वमसि' इस श्रुतिके सुननेपर व्युत्पन्न पुरुषको यह बोध होता है कि तत्पदका अर्थ सर्वज्ञत्व और सर्वशक्तिसे समन्वित जगत्का उपादान परमात्मा है एवं त्वंपदका अर्थ सांसारिक सुख, दुःख और मोह आदिसे उपप्लुत संबोध्य जीव है। समानविभक्तिक दो वाक्योंसे 'नीलो घटः' के समान अभेदका बोध होता है; अतः प्रकृतमें भी जीव ब्रह्मसे अभिन्न है, ऐसा ही श्रुतिको बोधन करना अभीष्ट है । परन्तु इस बोधमें अयोग्यताज्ञान प्रतिबन्धक है । 'वह्निना सिञ्चति' इत्यादि वाक्यसे शाब्दबोध नहीं देखा जाता, इसलिए योग्यताज्ञान भी शाब्दबोधमें कारण माना जाता है । प्रकृतमें अयोग्यताज्ञान प्रतिबन्धक होनेसे अथवा योग्यताज्ञानके विरहसे अभीष्ट बोध उक्त वाक्यसे नहीं हो सकता, ऐसी परिस्थितिमें तर्ककी अपेक्षा होती है, उक्त अन्वयव्यतिरेकादिमूलक तर्क द्वारा तत्पदसे वाच्य जगत्कारण प्रधानादिसाधारण नहीं है, किन्तु सच्चिदानन्दात्मक अद्वय ब्रह्म है । एवं त्वंपदवाच्य देहादिविशिष्ट उक्त आत्मा नहीं है, किन्तु उसका साक्षी है, इस प्रकार वाच्यवाचकका अवधारण तर्कसे किया जाता है । तदनन्तर साक्षी चिद्रूप है, जगत्कारण भी चीद्रूप ही है, इसलिए शोधित तत्त्वंपदार्थके अभेदबोधमें कोई अनुपपत्ति नहीं है । यद्यपि शब्द भी तत्त्वका निश्चायक होता है; तथापि असंभावना आदिकी निवृत्तिके लिए मननाख्य तर्क अवश्य अपेक्षित होता है। शब्द शाब्दबोधमें करण है, करणका सहकारी इतिकर्तव्यतारूप तर्क होता है।

अपरायत्तबोधोऽत्र निदिध्यासनमुच्यते ।
ध्यानाशङ्कानिवृत्त्यर्थं विज्ञानेनेत्युदीरणात् ॥ ८६ ॥

कुठारसे वृक्षका छेदन करो, कैसे ? इस अपेक्षासे उद्यमन, निपातन आदि व्यापारकी आवश्यकता जैसे होती है, वैसे ही प्रकृतमें भी समझना चाहिए ॥ ८५ ॥

'निदिध्यासितव्यः' इस श्रुतिसे उक्त निदिध्यासनशब्दका अर्थ कहते हैं—**'अपरायत्त०'** इत्यादिसे ।

शम, दम आदि साधनोंसे युक्त श्रवण, मनन करनेके अनन्तर 'तत्त्वमसि' वाक्यका अपरायत्त बोध होता है अर्थात् 'न परायत्तः पराधीनो बोधः' इस व्युत्पत्तिसे अपराधीन बोध होता है । तात्पर्य यह है कि उक्त प्रतिबन्धककी निवृत्तिसे उक्त वाक्यके अर्थका अनायास बोध होता है । वही यहाँ निदिध्यासनशब्दसे कहा गया है ।

शङ्का—अन्यत्र निदिध्यासनशब्दसे ध्यानका ही असकृद् व्यवहार किया जाता है; यहाँ उसीको क्यों नहीं कहते ?

समाधान—निदिध्यासितव्यका अर्थ उक्त शङ्काकी निवृत्तिके लिए उपनिषत् स्वयं कहती है—'श्रवणेन मत्या विज्ञानेन' इत्यादि । इससे निदिध्यासनशब्दसे तादृश ज्ञान ही यहाँ विवक्षित है ।

शङ्का—उपक्रमके अनुसार उपसंहारका होना समुचित है; क्योंकि उपक्रमानुसार ही प्रायः सर्वत्र उपसंहार माना जाता है । इसलिए 'विज्ञायते अनेन' इस करण-व्युत्पत्तिसे विज्ञान ध्यानार्थक ही हो सकता है ।

समाधान—ऐसा यहाँ नहीं हो सकता, कारण कि निर्विशेष वस्तुका ध्यान नहीं हो सकता । ध्यान मानस कर्म है, अतः मनोगोचर पदार्थका ध्यान हो सकता है । अद्वैत आत्मा निर्विशेष है, अतः 'यतो वाचो निवर्तन्ते' इत्यादि श्रुतिसे उसका मानस ज्ञान ही नहीं हो सकता । यदि यहाँपर उसकी कल्पना करें, तो वह भी ठीक नहीं है, क्योंकि 'सन्दिग्धे वाक्यशेषात्' इस न्यायसे जो पद सन्दिग्ध हो अर्थात् यह पद इस अर्थका वाचक है अथवा इस अर्थका ? ऐसा जहाँ संशय हो, उस अर्थका वाक्यशेषसे निर्णय करना चाहिए । अतएव 'अक्ताः शर्करा उपदधाति' यहांपर यह सन्देह होता है कि किससे चिक्कन करना चाहिए ? घृतसे या तेलसे अथवा चर्बीसे ? वाक्यशेषमें लिखा है कि 'तेजो वै घृतम्' । तेजःपदसे घृतकी स्तुति की गई है, स्तुति केवल

द्रष्टव्य इति विज्ञानमुद्दिश्य श्रवणं तथा।
मननं च विधायाऽथ विज्ञानमवधिं जगौ ॥ ८७ ॥
श्रवणादिक्रिया तावत् कर्त्तव्येह प्रयत्नतः।
यावद्यथोक्तं विज्ञानमाविर्भवति भास्वरम् ॥ ८८ ॥

स्तुति स्तुत्यकी स्तुतिके लिए नहीं की जाती, किन्तु उसके ग्रहणके लिए की जाती है। यदि प्रकृतमें घृतका ग्रहण करना न होता, तो वाक्यशेषसे उसकी स्तुति व्यर्थ हो जायगी, इसलिए घृतसे ही चिक्कन किया जाता है एवं प्रकृतमें भी वाक्यशेषमें श्रुत विज्ञानके अनुसार यहाँ निदिध्यासनसे उक्त ज्ञान ही विवक्षित है। वस्तुतः जबतक चित्त पूर्ण एकाग्र नहीं होता, तबतक ध्यानकी आवश्यकता है। पूर्ण एकाग्रता होनेपर सकृत् श्रुत 'तत्त्वमसि' आदि वाक्यसे अप्रतिबद्ध आत्मैक्य ज्ञान हो जाता है। यहां शम, दम आदि साधनोंसे परिशुद्ध चित्तके अनन्तर निदिध्यासन श्रुत है। प्रतिबन्धक अयोग्यताज्ञानकी निवृत्तिके लिए निदिध्यासन पूर्वमें कहा है। यहांपर अपरायत्तबोधविशेषण प्रतिबन्धादिके निरासके लिए है। यह निदिध्यासन नहीं है, किन्तु एतदुत्तरकालिक ज्ञानमात्र विवक्षित है, यही वाक्यशेषसे स्फुट होता है ॥ ८६ ॥

'द्रष्टव्य' इत्यादि।

शङ्का—निदिध्यासनशब्दसे यदि निर्विशेषात्मज्ञानका ग्रहण करते हैं, तो 'द्रष्टव्यः' यहाँपर भी तो वही दर्शन मोक्षका उपाय होनेसे विवक्षित है; अतः पुनरुक्त दोषकी प्रसक्ति होगी।

समाधान—इसी ज्ञानका साधनत्वरूपसे विधानके लिए उक्त पदसे अनुवाद किया गया है। उक्त दोष अनुवादातिरिक्त विषयमें लागू होता है। द्रष्टव्यसे उसी ज्ञानका अनुवाद कर उसके साधनभूत श्रवण एवं मननका विधान कर कबतक साधनका अनुष्ठान करना चाहिए, इस अवधिजिज्ञासाकी निवृत्तिके लिए उक्त ज्ञानोत्पत्तिको ही अवधि कहते हैं। जबतक उक्त ज्ञान न हो, तबतक मनन आदि अपेक्षित हैं; इसी अभिप्रायको व्यक्त करनेके लिए श्रवण आदिमें शम, दम आदि विशेषण दिया गया है ॥ ८७ ॥

ध्यानापरपर्याय निदिध्यासनसे सहित श्रवणादिकी अन्तिम भूमिकाका सूचक उक्त ज्ञान है; इसको स्पष्ट करनेके लिए कहते हैं—**'श्रवणादि०'** इत्यादि।

श्रवण, मनन आदि उपायका अनुष्ठान तबतक प्रयत्नसे करना चाहिए,

अनन्यायत्तविज्ञाने श्रवणादेरुपायतः ।
ज्ञाने नाऽपेक्षते किञ्चित्प्रतीचोऽनुभवात्परम् ॥ ८९ ॥

जबतक निर्विशेष आत्मज्ञान उत्पन्न न हो। इस प्रकारके ज्ञानकी उत्पत्तिके बाद पुरुष कृतकृत्य और ज्ञातज्ञेय होकर मुक्त हो जाता है। भास्वररूपमोक्ष-फलक होनेसे विज्ञानको भास्वर कहा है। फलाव्यभिचारित्वका सूचन करनेके लिए उक्त विशेषण दिया गया है। पाठक्रमसे दर्शनादिका क्रम है। अङ्गोंके साथ अधीत वेदान्तसे प्रथम विचारप्रयोजक ज्ञान होता है, उसके बाद आगम और आचार्य्यसे श्रवण होता है, तदनन्तर मनन, तदनन्तर उक्त श्रवण आत्मज्ञानका हेतु होनेसे और मननका पूर्ण अनुष्ठान करनेसे असंभावनाशून्य सुस्थिर निदिध्यासनात्मक ब्रह्मज्ञान होता है, यह क्रम केवल श्रौत ही नहीं है; किन्तु आर्थ क्रम भी ऐसा ही है। जबतक श्रुतका मनन नहीं किया जाता, तबतक श्रवण करना चाहिए, श्रवण और मनन ही साक्षात् आत्मप्रतिपत्तिकी सामग्री है ॥ ८८ ॥

'अनन्यायत्त०' इत्यादि। श्रवण, मनन आदि उपायसे अनन्यायत्त उक्त विज्ञानके होनेपर विद्वान् फिर दूसरे किसीकी अपेक्षा नहीं करता, यह भाव है।

शङ्का—शब्द द्वारा उक्त ज्ञानकी उत्पत्तिके लिए उससे अतिरिक्त श्रवण आदिकी अपेक्षा यदि कहते हो, तो उक्त विज्ञानके होनेपर भी फिर किसीकी अपेक्षा होनी चाहिए ?

समाधान—स्वतःसिद्ध आत्माकार ज्ञान श्रवण आदिसे लब्ध होनेपर प्रत्यगात्माका आपरोक्ष्य लब्ध हो जाता है, इसलिए फिर विद्वान् किसीकी अपेक्षा नहीं करता। 'आत्मलाभान्न परं लाभः' इत्यादि अभियुक्त वचन ही अन्यानपेक्षामें प्रमाण हैं। ज्ञान होनेपर मोक्षको और किसीकी अपेक्षा होती है ऐसा पूछनेवालेके प्रति यह प्रश्न होता है कि क्या ज्ञानातिरिक्तसापेक्ष मोक्ष कहते हो या उक्त ज्ञानको मोक्षफलके लिए स्वातिरिक्त साधनकी अपेक्षा है यह कहते हो ? प्रथम पक्ष तो ठीक नहीं है, क्योंकि जो जिस कार्यमें योग्य होता है, उस कार्यके लिए उसीकी अपेक्षा होती है, अयोग्यकी नहीं। मोक्षमें ज्ञान ही योग्य है, अतः अन्यकी अपेक्षा नहीं हो सकती। द्वितीय पक्ष भी ठीक नहीं है, क्योंकि अद्वैतात्मविज्ञानसे अतिरिक्तका उपमर्दन होनेसे उक्त शङ्का ही अयुक्त है। क्योंकि 'यत्र सर्वमात्मैवाभूत् तत्केन कं पश्येत्' इत्यादि श्रुतिसे द्वितीयाभावका निश्चय होनेपर सद्वितीयकी अपेक्षा अयुक्त ही है। द्वैतभान होनेपर

ऐकात्म्याज्ञानविध्वंसाव्यतिरेकेण नेष्यते ।
ऐकात्म्यविज्ञानफलं प्राप्तमेव हि तत्त्वतः ॥ ९० ॥

इतर इतरकी अपेक्षा कर सकता है, अद्वैतभानमें नहीं, क्योंकि यह न्यायतः सिद्ध अर्थ है, एवम् 'आत्मा आत्मानं जानाति' यह बोध जहां वाक्यादिसे होता है, वहां शुद्धबुद्धिको प्रमात्रादिका अवश्य उपमर्दन होता है, शुद्ध अद्वितीय स्वयंप्रकाश आत्मा ही अवशिष्ट रहता है ।

शङ्का—आदिशब्दसे मानान्तरका भी आत्मामें संभव सूचित होता है या नहीं ? यदि हां, तो औपनिषदत्वका व्याघात होगा ।

समाधान—तर्क और परकीय अनुमान केवल पदार्थविषयक माना जाता है । केवल जीव एवं केवल ब्रह्मविषयक ही उक्त प्रमाण और तर्क है । वाक्यार्थ अखण्ड स्वप्रकाशरूपका वाक्यार्थ भान लक्षण या वाक्यसे ही होता है, अतः औपनिषदत्वमें क्षति नहीं है, क्योंकि शब्दसे भी अपरोक्ष ज्ञान अद्वैती मानते हैं ।

शङ्का—तर्क आदि पदार्थमात्रविषयक ही क्यों है ?

समाधान—अविशेषरूपसे दृष्ट पदार्थोंमें कोई आत्मा है और कोई अनात्मा है, यह विवेक तर्कके बलसे ही होता है, वाक्यार्थसे नहीं होता ?

शङ्का—क्यों ?

समाधान—कारण यह है कि तर्क आदि अविशेषवस्तुविषयक ही माने जाते हैं और वाक्यार्थ प्रकृतमें अखण्डैकरसव्यक्तिविषयक है ।

शङ्का—वाक्यसे जो आप आत्मज्ञान मानते हैं, वह अनात्माको भी विषय करता है या केवल आत्माको ही ? प्रथम पक्षमें आत्मामें स्वविशेषत्वकी प्रसक्ति दुष्परिहर होगी । द्वितीय पक्षमें ज्ञान परिच्छिन्नविषयक ही दृष्ट है, अतः वह भी तद्विषयक होनेसे असमीचीन हो जायगा ।

समाधान—अनात्मपदार्थ वस्तुतः प्रत्यग्के अज्ञानसे ही सिद्ध होता है, ज्ञान द्वारा उसके अज्ञानके नष्ट होनेपर अन्यत्वादिका प्रश्न ही नहीं हो सकता । आत्मा अद्वितीय है; द्वैत आविद्यिक है, यह सिद्ध होनेपर केवल आत्मामें अनुत्पन्न-ज्ञान नहीं है और न अध्यस्त अज्ञान ही है ॥ ८९ ॥

शङ्का—ऐकात्म्यज्ञानका फल यदि मोक्ष कहते हो, तो साधनाधीन होनेसे मोक्ष अनित्य हो जायगा ।

समाधान—'**ऐकात्म्यज्ञान०**' इत्यादि। अज्ञानध्वंससे अतिरिक्त ज्ञानका फल दूसरा नहीं है अर्थात् मोक्ष ज्ञानका मुख्य फल नहीं है, यह तो ज्ञानोत्पत्तिसे पूर्वमें भी है।

शङ्का—यदि पूर्वमें है, तो उसकी प्रतीति क्यों नहीं होती ?

समाधान—अज्ञानसे आवृत है; अतः उसकी प्रतीति नहीं होती, जैसे भूमिके नीचे जल सदा ही रहता है, किन्तु मिट्टीसे व्यवहित है, इसलिए वह प्रतीत नहीं होता। मिट्टीको खोदकर बाहर कर देनेसे जलकी उपलब्धि होती है। यहाँपर यह नहीं कह सकते कि खोदनेसे जल उत्पन्न हुआ है और पहले नहीं था, किन्तु पूर्वमें था ही, पर व्यवहित होनेसे प्रतीत नहीं होता था, व्यवधानको दूर कर देनेसे प्रतीत होने लगा, यही बात मोक्षके विषयमें भी कही जाती है, अतः मोक्षमें अनित्यत्वकी आशङ्का अयुक्त है। ऐकात्म्यज्ञानका फल मोक्ष नित्य प्राप्त है, अतः मोक्षमें औपचारिक कार्यत्व है, मुख्य नहीं है ?

शङ्का—सकार्य अविद्याकी निवृत्ति आत्मासे अन्य है, अथवा अनन्य ? प्रथम पक्षमें द्वैतापत्ति दोष होगा। द्वितीय पक्षमें अविद्यानिवृत्ति आत्मस्वरूप है और तत्स्वरूप ही मोक्ष है। उक्त निवृत्ति ज्ञानाधीन होनेसे तत्स्वरूप मोक्ष भी ज्ञानाधीन हुआ, इस क्रमसे अनित्यत्वापत्ति दोषका परिहार नहीं होगा।

समाधान—जैसे रज्जुमें सर्पकी निवृत्ति रज्जुस्वरूप ही है, अतिरिक्त नहीं है, वैसे ही आत्माकी अविद्यानिवृत्ति आत्मस्वरूप ही है, अतिरिक्त नहीं है। एतावता आत्मा ज्ञानकार्य नहीं हो सकता। ज्ञानाधीन अज्ञानध्वंस आत्मस्वरूपसे अतिरिक्त नहीं है, क्योंकि अभावको अधिकरणस्वरूप प्राभाकरादि मानते हैं, अतः उत्तर ज्ञानसे पूर्व अज्ञानका ध्वंस आत्मामें आत्मरूप होनेपर भी आत्मा उत्तरज्ञानजन्य नहीं है। जैसे ज्ञानाधीन अज्ञानध्वंस रज्जुमें रज्जुस्वरूप होनेपर भी रज्जुज्ञानजन्य है ऐसा कोई नहीं मानता, वैसे ही प्रकृतमें भी समझना चाहिए।

शङ्का—सकार्य अज्ञानके ध्वंससे उक्त रीतिसे आत्मा सद्वय न सही, किन्तु ज्ञाता आत्मासे भिन्न है या अभिन्न ? आद्य पक्षमें आत्मा अद्वय नहीं हो सकता, द्वितीय पक्षमें कूटस्थत्व नहीं बनता।

समाधान—ज्ञातृत्वादि अद्वितीय आत्मामें कल्पित हैं, अतः आत्मासे भिन्न ज्ञाता नहीं है और न वास्तविक ज्ञातृत्व है, जिससे कूटस्थत्वकी अनुपपत्ति हो सकती हो, मरुमरीचिकामें कल्पित जलसे जैसे मरुभूमि आर्द्र नहीं होती, वैसे ही कल्पित ज्ञातृत्व आदिसे वास्तविक अज्ञातृत्व आदिकी क्षति नहीं होती।

नन्वनात्मा न विज्ञात आत्मदर्शनमात्रतः।
ततोऽकृत्स्नत्वदोषश्चेन्मैवं सर्वस्य वेदनात् ॥ ९१ ॥
आत्मनो दर्शनेनेदं दृष्टं स्यादखिलं जगत्।
प्रत्यङ्मात्रैकयाथात्म्यात् कार्यकारणवस्तुनः ॥ ९२ ॥
कार्यात्मा कारणात्मा च द्वावात्मानौ परात्मनः।
प्रत्यग्याथात्म्यमोहोत्थौ मोहे नष्टे विनश्यतः ॥ ९३ ॥

शङ्का—अच्छा, ज्ञान आत्मासे भिन्न है या अभिन्न? प्रथम पक्षमें अद्वैतकी हानि होगी। द्वितीय पक्षमें आत्मा सतत रहता है, अतः उससे अभिन्न ज्ञानके सातत्यसे अज्ञानका ध्वंस सदा ही रहेगा, इस परिस्थितिमें अज्ञानकी स्थिति दुर्घट है।

समाधान—अद्वयवाक्यसे उत्पन्न बुद्धिमें प्रत्यग् आत्मा ही आरूढ़ होकर कार्य-सहित स्वकीय अज्ञानको भस्म करता है, अतः पूर्वोक्त दोषोंका अवकाश नहीं है ॥९०॥

'आत्मनो वा दर्शनेन श्रवणेन मत्या विज्ञानेन इदं सर्वं विज्ञातम्' इस उत्तर वाक्यसे श्रवणादिजन्य ज्ञान सर्वविषयक है, यह ज्ञात होता है, इसकी व्याख्या करनेके लिए व्यावर्त्यकी शङ्का करते हैं—**'नन्वनात्मा'** इत्यादिसे।

आत्मदर्शनमात्र—आत्ममात्रका दर्शन—अर्थात् आत्मातिरिक्ताविषयक आत्म-विषयक दर्शनसे अनात्म पदार्थका ज्ञान नहीं हो सकता, अतएव आत्मामें अकृत्स्नत्व असर्वज्ञत्व आदि दोष प्राप्त होता है। विद्यासूत्रमें जो यह कहा गया है कि आत्मज्ञानसे सब विदित हो जाता है, आत्मवेत्ताको कोई भी पदार्थ अविदित नहीं रहता, पर उसकी स्पष्ट ही असंगति है, क्योंकि केवल आत्माके ज्ञानसे तदितर कैसे विदित होगा? घट-ज्ञानसे पट विदित नहीं हो सकता। 'मैवम्' से इस शङ्काका निरास करते हैं—सबका वेदन हो जाता है। भाव यह है कि कल्पित पदार्थ अधिष्ठानसे अति-रिक्त नहीं होता, अतः कल्पितका तत्त्व अधिष्ठान ही है। सबका अधिष्ठान ब्रह्म ही है, उसीमें सारा जगत् कल्पित है। ब्रह्मका ज्ञान होनेपर सकल कल्पित जगत् तत्त्वतः ज्ञात हो जाता है, यह कहना सर्वथा युक्तियुक्त ही है ॥ ९१ ॥

'आत्मनो' इत्यादि। आत्मदर्शनसे यह सम्पूर्ण जगत् दृष्ट हो जाता है। यह सब जगत् कार्यकारणात्मक है। कोई किसीका कारण है, कोई किसीका कार्य है, इस प्रकार कार्यकारणरूप जगत्का तत्त्व प्रत्यगात्मा ही है, अतः उसके ज्ञानसे सब जगत् ज्ञात हो जाता है, यह श्रुति यथार्थ ही कहती है ॥ ९२ ॥

'कार्यात्मा' इत्यादि। परमात्माकी दो आत्माएँ हैं—एक कार्यात्मा और

मोहतत्कार्ययोर्बाधे प्रत्यक् सर्वमितीर्यते ।
अतः प्रतीचि विज्ञाते सुलभं सर्ववेदनम् ॥ ९४ ॥
तत्रैवं सति यो मूढः समस्तव्यस्तरूपताम् ।
ज्ञातव्यां मन्यते तत्तु वेद एव निषेधति ॥ ९५ ॥

दूसरी कारणात्मा। प्रत्यक्-तत्त्वके मोहसे—आत्माके अज्ञानसे वे दोनों उत्पन्न होती हैं और कारणीभूत मोहका नाश होनेपर उसकी कार्यभूत उक्त दोनों आत्माओंका नाश हो जाता है।

शङ्का—आत्माका अनात्माके साथ तादात्म्य ही सम्बन्ध हो सकता है। तादात्म्य भी साकल्येन कहियेगा, ऐसी अवस्थामें कल्पितका तत्त्व आत्मा कैसे हो सकता है? प्रत्युत आत्माको भी कल्पित ही कहना होगा या अनात्माको भी परमार्थिक मानना होगा, अन्यथा सत् और असत्का तादात्म्य ही अनुपपन्न होगा?

समाधान—अनात्मा विभक्त है और स्वतः अनात्मरूप है, अतएव आत्माके अज्ञानसे उसकी उत्पत्ति है। अज्ञानजन्य होनेसे शुक्तिरूप्यके समान मिथ्या जो मातृत्वादि हैं, उनका रूप आत्मा ही है। आत्माकी सिद्धि दूसरेके अधीन है और अनात्म पदार्थ आत्माधीनसिद्धिक है। अतः आत्मामें ही सब कल्पनाका अधिष्ठानत्व हो सकता है, अन्यत्र नहीं।

शङ्का—अद्वय आत्मा ही सबका तत्त्व है, इसमें क्या प्रमाण?

समाधान—'इदं सर्वं यदयमात्मा' यह उत्तर श्रुति ही प्रमाण है। यदि अनात्मा स्वतः तत्त्व होता, तो 'इदं सर्वं यदयमात्मा' यह कथन ही असङ्गत हो जायगा। जो घटको पटसे पृथक् तत्त्व मानते हैं, वे घटको पट नहीं कह सकते॥९३॥

'मोहतत्कार्य्ययो०' इत्यादि। मोह—सकल पदार्थोंकी कल्पनाका मूल मोह (अज्ञान) और उसका कार्य जगत्—इन दोनोंका बाध होनेपर सब जगत् आत्मस्वरूप ही है, यह कहा जाता है। अतः प्रत्यगात्माके ज्ञात होनेपर सबका ज्ञान सुलभ है; अतएव केवल आत्मधीगम्यत्व अर्थसे अन्य जो भासित होता है, उसके दर्शनके निषेधके लिए 'सर्वं ब्रह्म' (सब ब्रह्म है) अर्थात् सर्वत्र ब्रह्मदृष्टि करनी चाहिए, ऐसा श्रुतिने कहा है॥ ९४॥

'तत्रैवं सति' इत्यादि। उस अद्वितीय ब्रह्ममें जो मूढ याने अविवेकी पुरुष हैं, वे अपनेमें कर्यकारणत्वको देखते हैं, उसका वेद ही निषेध करता है। 'तन्तु' ऐसा पाठ होना चाहिए। 'तत्तु' यह पाठ प्रकृत अर्थके अनुकूल नहीं है। 'सर्वं तं परादाद्

श्रुतिः—ब्रह्म तं परादाद्योऽन्यत्रात्मनो ब्रह्म वेद, क्षत्रं तं परादाद्योऽ-

योऽन्यत्रात्मनः सर्वं वेद' इत्यादि श्रुतिसे अनात्मदर्शी पुरुषकी ही निन्दा की गई है। वार्तिकमें—

'तत्रैवं सति यो मूढः कार्यकारणदर्शनः।
पराङ्मुखं निदध्यात्तमात्माकृत्स्नत्वदर्शिनम् ॥'

ऐसा पाठ है। यही अर्थ वार्तिकसारकारको भी विवक्षित है, पर उसमें केवल शब्दभेद कर दिया गया है। 'यो मन्यते तन्निषेधति' यही अन्वय समुचित है। गीतामें भगवान्‌ने स्वयं ऐसा कहा है—

'ज्ञेयं यत् तत् प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वाऽमृतमश्नुते।
अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नाऽसदुच्यते ॥
यस्मात् क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः।
अतोऽस्मिन् लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ॥
यो मामेवमसंमूढो जानाति पुरुषोत्तमम्।
स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत ॥' इत्यादि।

इसका अर्थ अतिस्पष्ट है, इसलिए श्लोकस्थ प्रत्येक पदके अर्थको छोड़कर संक्षेपसे तात्पर्यार्थको सूचित करते हैं—अर्जुनके प्रति भगवान्‌ने मुक्तिसाधन ज्ञानका उपदेश दिया है—'यज्ज्ञात्वाऽमृतमश्नुते'। इससे यह स्पष्ट है कि ज्ञान ही मुक्तिका साधन है। ज्ञानका निरूपण ज्ञेयनिरूपणके अधीन होता है अर्थात् ज्ञान ज्ञेय-परतन्त्र है, अतः ज्ञेयस्वरूपके निरूपणकी परम आवश्यकता होती है। ज्ञेय प्रकृतमें अनादिनिधन है। अर्थात् 'आदिश्च निधनं च आदिनिधने न आदिनिधने यस्य तत्' इस व्युत्पत्तिसे उत्पत्तिविनाशशून्य याने कूटस्थ नित्य, जो सत् और असत् दोनों नहीं कहा जा सकता, यह अर्थ है।

शङ्का—असत् नहीं है, यह कहना तो ठीक है, किन्तु सत् क्यों नहीं कह सकते, अबाध्यत्वरूप सत्त्व तो उसमें मानना उचित है।

समाधान—सत्त्वधर्म जिसमें मानते हैं, उसीको सत् कहते हैं। अथवा 'सद्' इत्याकारक प्रतीतिका विषय सत् कहा जाता है। प्रकृतमें न तो उसमें सत्ताधर्म ही है और न तादृश प्रतीतिका विषय ही है। वह केवल विषयी है, इसलिए उभयथा प्रतिषेध किया गया है एवं मूर्तामूर्तादिधर्मशून्यताके बोधनके लिए भी उक्त विशेषण है ॥९५॥

'ब्रह्म तं परादा०' इत्यादि श्रुति।

न्यत्रात्मनः क्षत्रं वेद, लोकास्तं परादुर्योऽन्यत्रात्मनो लोकान्वेद, देवास्तं परादुर्योऽन्यत्रात्मनो देवान्वेद, भूतानि तं परादुर्योऽन्यत्रात्मनो भूतानि वेद, सर्वं तं परादाद्योऽन्यत्रात्मनः सर्वं वेदेदं ब्रह्मेदं क्षत्रमिमे लोका इमे देवा इमानि भूतानि इद२ सर्वं यदयमात्मा ॥ ६ ॥

शङ्का—आत्मज्ञानसे सब ज्ञात हो जाता है, ऐसा पूर्वमें कहा, उसमें सन्देह यह है कि घटज्ञानसे पट ज्ञात नहीं होता, कारण कि पट घटसे भिन्न है, अतएव तत्-तत् वेद्यके ज्ञानके लिए तत्-तत् शास्त्रका अध्ययन करना पड़ता है, यह सर्वलोकप्रसिद्ध है। फिर इसके विपरीत आत्माके विदित होनेपर सब विदित हो जाता है, इस कथनका अभिप्राय समझमें नहीं आता।

समाधान—सत्य है, यह कठिन अर्थ है, अतएव श्रुति स्वयं इस अर्थको समझाती है। श्रुतिका कथन है कि आत्मासे अतिरिक्त कोई पदार्थ ही नहीं है, जो कुछ देखते और सुनते हैं, वह सब आत्मा ही है। आत्मभेद आविद्यिक है। यदि यह ज्ञान आपको हो जाय कि वस्तुतः सब आत्मा ही है, उससे अतिरिक्त कुछ नहीं है, तो उक्त प्रतिज्ञा समुचित ही प्रतीत होगी। अतएव ध्यान देकर सुनिये और मनन कीजिए, तदनन्तर उक्त अर्थ आपके हृदयमें स्थिर हो जायगा।

अच्छा, तो समझाइये, कैसे सब आत्मा ही है? सुनो, ब्राह्मण जाति उस पुरुषका निराकरण करे, जो ब्राह्मणजातिको अपनेसे भिन्न समझता हो।

शङ्का—क्या अपराध है?

समाधान—अपराध यह है कि वह ब्राह्मणजातिको परमात्मासे अतिरिक्त देखती है, वस्तुतः परमात्मा ही ब्राह्मणजाति है, फिर भी उससे व्यतिरिक्त उक्त जातिको मानता है, यही अपराध है। एवं क्षत्रियजाति उस पुरुषका निराकरण करे जो स्वव्यतिरिक्त परमात्माको देखता है। क्षत्रसमभिव्याहारसे पूर्वमें ब्रह्मशब्द ब्रह्मका बोधक नहीं है, किन्तु ब्राह्मणत्वजातिविशिष्टका बोधक है। ब्रह्मशब्द अनेकार्थक है, अतः 'ब्रह्म वेद ब्राह्मणः' इत्यादिका बोधक ब्रह्मशब्द है। अनेकार्थक शब्दोंके अर्थविशेषका निर्णय प्रकरणसे होता है एवं लोक, देव और भूतका भी पूर्वोक्तानुसार अर्थ है। जितने पूर्वमें कहे हैं, सब आत्मा ही हैं, जो 'आत्मा द्रष्टव्यः श्रोतव्यः' इत्यादिसे प्रक्रान्त है, कारण कि सब ब्रह्मसे ही उत्पन्न होते हैं, ब्रह्म ही में ही रहते हैं और उसीमें लीन होते हैं, अतः ब्रह्म सबका उपादान कारण है, कारणसे अतिरिक्त कार्य नहीं है, यह तन्तुपट और मृद्घट आदिमें प्रसिद्ध है।

योविप्रजातिं चैतन्यादन्यद्वस्त्वभिमन्यते ।
कैवल्याच्चं पराकुर्याद्विप्रजातिः पराङ्मुखम् ॥ ९६ ॥

'यो विप्रजातिं च' इत्यादि । जो पुरुष विप्रजातिको चेतन्य आत्मस्वरूपसे अतिरिक्त मानता है, कैवल्यसे (मोक्षसे) पराङ्मुख उस पुरुषको विप्रजाति कैवल्यसे निराकरण करे, कारण कि वह अधिकारी नहीं है । उसका यही अपराध है कि जो विप्रत्वादि जाति आत्मामें नहीं है, उसको आत्मामें देखता है और जो आत्मत्व आदि हैं, उनको नहीं देखता, अतः वह विपरीतदर्शी है ।

शङ्का—क्या आप जाति पदार्थको नहीं मानते ?

समाधान—नहीं मानते ।

शङ्का—क्यों ?

समाधान—न कुछ प्रमाण है और न कोई उपपत्ति ।

शङ्का—जातिके न माननेपर अनेक घटादि व्यक्तियोंमें समान बुद्धि और समान शब्दप्रयोग कैसे होगा ? क्योंकि एक विषयके बिना समान ज्ञान तथा समान शब्द-का प्रयोग नहीं होता, अन्यथा घट, पट आदिमें भी तथाव्यवहारकी आपत्ति होगी ।

समाधान—जाति आदिमें जाति नहीं है, तो भी तथाव्यवहार होता ही है । अपि च आप जातिको भाव और क्रियाशून्य पदार्थ मानते हैं, उसमें आपसे प्रश्न करते हैं कि जहां घट उत्पन्न होता है, वहां घटत्व है नहीं, फिर उस घटमें घटत्व आया कहांसे ? यदि घटत्वको वहां मानो, तो घटवत्ताप्रतीति हो जायगी । यदि देशान्तरस्थ घटसे घटत्वका आगमन वहाँ मानो, तो घटत्वमें व्यापार है नहीं, फिर वहांसे आया कैसे ? और आनेपर पूर्व घट घटत्वशून्य हो जायगा, क्योंकि घटत्वको आप एक ही मानते हैं। एवं वह पूर्व आश्रयको छोड़ता नहीं, उसमें क्रिया भी नहीं है, जहांपर घट उत्पन्न होता है, वहां है नहीं, घट होनेपर उसमें घटत्व आता है, घट नष्ट होनेपर घटत्व नष्ट नहीं होता, फिर भी उसकी प्रतीति नहीं होती, इसमें क्या कारण ? दो घटके बीचसे यदि कोई निकलता है, तो घटत्व व्यवधायक क्यों नहीं होता ? और आश्रय घटादिमें घटत्व सर्वात्मना रहता है या एक देशसे ? प्रथम पक्षमें एक ही व्यक्तिमें समाप्त हो जायगा, दूसरी व्यक्तिमें रहेगा ही नहीं । उसका एकदेश तो निरवय होनेसे है नहीं, अतः एकदेशसे रहता है, यह कहना बन नहीं सकता और सब आश्रयोंमें पर्य्याप्त होनेसे शतत्व संख्यादिके समान सम्पूर्ण आश्रयोंके ग्रहणसे ही

ब्राह्मणोऽहमिति भ्रान्त्या बृहस्पतिसवादिषु ।
प्रवृत्तो लभते जन्मेत्येषैवाऽस्य पराक्रिया ॥ ९७ ॥
विप्रत्ववत् क्षत्रलोकदेवभूतादिकं जगत् ।
स्वस्माद्भेदेन पश्यन्तं क्लेशयेदपराधिनम् ॥ ९८ ॥

गृहीत होगा। यावत् आश्रयोंका असर्वज्ञ पुरुष ग्रहण नहीं कर सकता, अतः घटत्वादिका प्रत्यक्ष भी दुर्घट ही है। एवं यदि घटादिव्यक्तिको घटत्वादिकी अभिव्यञ्जक मानते हैं, तो अभिव्यञ्जकतावच्छेदक धर्म एक और घटत्वादिसे अतिरिक्त मानना पड़ेगा एवं उस अभिव्यञ्जकतावच्छेदक धर्मको ही घटत्वादिकी स्थितिमें नियामक कहियेगा, नियामक धर्मका भी नियामक अन्य धर्म मानना पड़ेगा एवं उसका भी मानना पड़ेगा, इस प्रकारसे अनवस्था दोष होगा। यदि किसी धर्मको नियामकके बिना ही नियत मानियेगा, तो फिर किसी नियामककी आवश्यकता नहीं रहेगी। अन्तिम धर्मके समान धर्मान्तर भी स्वयं नियत हो जायंगे इत्यादि रीत्या विचार करनेपर जात्यादिकी व्यवस्थापक युक्ति आदि, बालूके कुएकी तरह, स्वयं भसक जाते हैं, अतः जात्यादि शुक्तिरजत आदिके समान कल्पित हैं, कल्पितका तत्त्व अधिष्ठान ही होता है, इसलिए ब्राह्मणत्व आदि जाति आत्मस्वरूप ही है, उससे अतिरिक्त नहीं है, इसी कारण भेददर्शीकी निन्दा की गई है, वास्तविक निन्दा नहीं है, किन्तु तत्त्वकथन है ॥ ९६ ॥

'ब्राह्मणो०' इत्यादि। 'ब्राह्मणो बृहस्पतिसवेन यजेत' इस वाक्यसे आत्मामें ब्राह्मणत्वका अभिमान करनेवालेके प्रति बृहस्पतिसव यागका विधान किया गया है। क्षत्रियत्वाद्यभिमानियोंका उक्त यागमें अधिकार नहीं है। परन्तु आत्मामें ब्राह्मणत्वादि जाति नहीं है, फिर भी उक्त यागके कर्ताको अपनेमें ब्राह्मणत्व मानकर उक्त याग करना पड़ता है, इसी अपराधसे उसको फिर जन्म ग्रहण करना पड़ता है। ब्राह्मणत्वादि जाति शरीरमें मानी जाती है। शरीर आत्मा नहीं है, अतः 'अहं ब्राह्मणः' इस ज्ञानको भ्रमात्मक ही मान सकते हैं, क्योंकि उसमें ब्राह्मणत्व नहीं है। शरीरविशिष्ट आत्मामें उक्त प्रतीति सबके मतसे भ्रम है। एवं 'जातपुत्रः कृष्णकेशोऽग्नीनादधीत', 'गृहस्थः सदृशीं भार्यां विन्देत' इत्यादि विधि आत्मामें वय, आश्रम आदिका अध्यास करनेवालोंके उद्देश्यसे तत्-तत् कर्मकी विधायक है, अतः कर्मकाण्डमात्र अनात्मज्ञके लिए है ॥ ९७ ॥

'विप्रत्ववत्' इत्यादि। विप्रत्वके समान लोक, देव, भूत आदि मन्त्रोक्त जगत्

यदस्ति तन्न जानाति यन्नोहाऽस्ति तदीक्षते ।
इत्येवमपरोधोऽस्य विद्यते भेददर्शिनः ॥ ९९ ॥
योऽन्यथासन्तमात्मानमन्यथा प्रतिपद्यते ।
किं तेन न कृतं पापं चौरेणाऽऽत्मापहारिणा ॥ १०० ॥

अपनेसे भिन्न आत्माको देखनेवालोंको क्लेश देता है ॥ ९८ ॥

'यदस्ति' इत्यादि । आत्मामें आत्मत्व है, उसको नहीं जानता और जो इस आत्मामें विप्रत्वादि नहीं है, उसको देखता है, यही भेददर्शीका अपराध है । जैसे कर्तव्यको न करनेवाला और अकर्तव्यको करनेवाला अपराधी माना जाता है, वैसे ही उपनिषद्में जो अद्रष्टव्यको देखता है और द्रष्टव्यको नहीं देखता है, वह अपराधी समझा जाता है, ऐसा भगवान् श्रीवेदव्यासने स्पष्ट ही कहा है ॥९९॥

'योऽन्यथा' इत्यादि । जो अन्यथास्थित आत्माको अन्यथा समझता है । उस आत्मोपहारी चोरने क्या पाप नहीं किया ? अर्थात् पाप किया ही । निर्विशेष स्वयंप्रकाश आत्माको जातिसे विशिष्ट समझना यह महापाप है । भाव यह है कि जो आत्मतत्त्वको नहीं जानता और वह यदि जात्यादिसे विशिष्ट आत्माको जाने, तो मिथ्या ज्ञात जाति आदि उस अयथादर्शी पुरुषको कैवल्यसे नीचे गिराते हैं, इसलिए आत्माका अपहार अच्छा नहीं है ।

शङ्का—जात्यादि आत्मासे भिन्न है या अभिन्न ? प्रथम पक्षमें अद्वैतहानि स्फुट है, द्वितीय पक्षमें अनात्मासे यदि आत्मा अभिन्न है, तो आत्मा भी अनात्मा हो जायगा । अनात्माके अभेदसे अनात्मत्वप्रसक्ति ही दृढ़ होती है ।

समाधान—अनात्मा और उसका ज्ञान—ये दोनों स्वरूपसे परस्पर व्यभिचारी हैं, अतः उसमें सदा अव्यभिचारीरूपसे जो एक सत् देखा जाता है, वही अनात्माका तत्त्व है, उससे अतिरिक्त अनात्मा है ही नहीं ।

शङ्का—'तत्त्वमसि' आदि वाक्यजन्य अद्वितीयात्मविषयक ज्ञानको अनात्मभूत जाति आदिका बाधक मानते हो, इसमें प्रश्न यह होता है कि आत्माके अज्ञानसे जैसे जाति आदिकी उत्पत्ति है, वैसे ही उक्त वाक्यजन्य ज्ञानकी भी उसीसे उत्पत्ति है; अतः समानकारणजत्वसे जाति आदिका बाधक जैसे उक्त वाक्यजन्य ज्ञान होता है, वैसे ही ज्ञानके बाधक जाति आदि नहीं होते, इसमें क्या विनिगमक है ? जाति आदिसे कालमें भी तात्पर्य है, क्योंकि काल सबका उत्पादक और नाशक है, ऐसा शास्त्रकार मानते हैं ।

अपोदितत्वाज्जात्यादिदर्शनस्येह किं पुनः ।
द्रष्टव्य इत्यतो वक्ति सर्वाखण्डत्वदर्शनम् ॥ १०१ ॥
प्रत्यक्त्वेन य आभाति प्रत्यग्बुद्धिप्रमाणकः ।
तावन्मात्रैकयाथात्म्यमुक्तं जात्यादि दृश्यताम् ॥ १०२ ॥

समाधान—दोनों अज्ञानज हैं, यह ठीक है; किन्तु वाक्यजन्य ज्ञान आत्माकार होता है, ज्ञानसे आकार ही अनुभवसिद्ध है, ज्ञेय आत्मा है, उसके बलसे ज्ञान बलवान् है। काल आदिमें उक्त बल नहीं है, इसलिए वे दुर्बल होनेसे बाध्य हो जाते हैं। कालादिका भी तत्त्व यद्यपि आत्मा है, तथापि वह ज्ञेय नहीं है, इसलिए अर्थतः ज्ञान ही बलवान् है, अतएव जात्यादिका बाधक है, बाध्य नहीं है, एवं 'ब्रह्म तं परादात्' इत्यादिका अर्थ हो चुका। इससे सारांश यह निकला कि आत्माके अयथार्थ ज्ञानसे संसार होता है और उसके समीचीन ज्ञानसे मोक्ष होता है ॥ १०० ॥

'अपोदितत्वात्' इत्यादि। जात्यादिदर्शनका पूर्वमें निरास कर ही चुके हैं, फिर यहां क्यों 'द्रष्टव्य' इससे सर्वाखण्डत्वको दर्शन कहते हैं? ॥ १०१ ॥

'प्रत्यक्त्वेन' इत्यादि। 'प्रत्यग्बुद्धिः प्रमाणं यस्य स प्रत्यग्बुद्धिप्रमाणकः', अर्थात् जड़ स्वयं सिद्ध नहीं होता, किन्तु तद्विषयक आत्मबुद्धि ही उसकी साधिका होती है। 'अयं घटः' इत्यादि बुद्धिसे ही घटादि विषयकी सिद्धि होती है। वृत्तिरूप बुद्धि यद्यपि जड़ है, तथापि तदवच्छिन्न चैतन्यात्मक बुद्धि ही प्रमाण है, अतः यथार्थमें तावन्मात्र ही जात्यादि है, यही समझो।

शङ्का—नाम, जाति आदिसे संयुक्त जगत् है, तब आत्माको ही कैसे समझें? ऐसा समझना सहज नहीं है, क्योंकि प्रत्यक्षादि प्रमाण बाधक है?

समाधान—निर्विशेष अबाधितात्मबोधसे जगत् व्याप्त है, अतः उससे अतिरिक्त जगत्की सत्ता नहीं कह सकते।

शङ्का—जितना देखते हैं, वह सब चिन्मात्र है, ऐसी बुद्धि तो हम लोगोंकी होती नहीं, फिर किस बलसे जगत्को आत्मा समझें?

समाधान—वेदान्तके श्रवण, मनन आदिसे जिनका चित्त अद्वैतात्मवासनासे वासित है, उनको यह सब चिन्मात्र ही है, तदतिरिक्त नहीं है, ऐसी बुद्धि होती है; अतः सम्पूर्ण जगत् नित्यबोधात्मस्वरूप है और केवल तादृश विद्वानोंकी ही उक्त

एवं श्रोतव्य आत्माऽयं समाप्तः श्रवणे विधिः ।
कथं मन्तव्य इत्यत्र दुन्दुभ्यादिनिदर्शनम् ॥ १०३ ॥

श्रुतिः—स यथा दुन्दुभेर्हन्यमानस्य न बाह्याञ्छब्दाञ्छक्नुयाद्ग्रहणाय दुन्दुभेस्तु ग्रहणेन दुन्दुभ्याघातस्य वा शब्दो गृहीतः ॥ ७ ॥

बुद्धि होती है, दूसरेको नहीं, ऐसी बात नहीं है, हम लोगोंको भी इसका ज्ञान होता है। सब बोधोंमें जो बोध अव्यभिचारी है, उस अव्यभिचारी अतएव प्रमाणभूत बोधसे उपस्थापित जो अर्थ है, वह अकल्पित होनेसे परमार्थ है और व्यभिचारी बोधोंसे उपस्थापित जो अनात्मवर्ग है, वह कल्पित अतएव अवस्तुसत् है, कल्पितका अकल्पित ही तत्त्व होता है, तदतिरिक्त नहीं होता। शुक्तिरूप्यका तत्त्व शुक्ति ही होता है, इस रीतिसे विचार करनेपर सब जगत् चिन्मात्र है, ऐसा ज्ञान विवेचकोंको भी होता है ॥ १०२ ॥

'स यथा दुन्दुभे०' इत्यादि वाक्यका वृत्तानुवादपूर्वक अवतरण कहते हैं— **'एवम्'** इत्यादिसे।

'अयमात्मा श्रोतव्यः' इस प्रकार जो श्रवणमें विधि है, वह यथोक्त रीतिसे समाप्त हुई अर्थात् शक्तितात्पर्यानुसारी विचार समाप्त हुआ। अनन्तर 'मन्तव्यः' इस मननविधिके विस्तारके लिए अग्रिम सन्दर्भ है। इसीमें दुन्दुभ्यादि दृष्टान्त हैं॥१०३॥

'स यथा दुन्दुभेर्हन्यमानस्य' इत्यादि श्रुति।

शङ्का—यह संपूर्ण जगत् आत्मा है, यह कैसे जान सकते हैं?

समाधान—चूँकि सब जगह चिन्मात्रका अनुगम होता है, इसलिए सबचिन्मात्र है, ऐसा समझो। इसमें दृष्टान्त कहते हैं—जिसके स्वरूपके बिना जिसका ग्रहण न होता हो, वह तदात्मा है, यह लोकमें दृष्ट है। जैसे दुन्दुभि (नगारे) पर दण्ड द्वारा आघात करनेसे जो बाह्य शब्द होते हैं, वे दो प्रकारके होते हैं—एक सामान्य और दूसरा विशेष। कितना ही निपुण पुरुष क्यों न हो, लेकिन वह सामान्य शब्दोंसे अलग कर विशेष शब्दोंका, कोश (मियान) से रहित तलवारके समान, ग्रहण नहीं कर सकता। दुन्दुभिशब्दरूप सामान्यका ग्रहण करनेपर ही उसके विशेष शब्दोंका ग्रहण होता है, कारण कि सामान्यमें ही विशेष कल्पित है।

शङ्का—विशेषके ग्रहणके बिना सामान्यका भी ग्रहण नहीं होता, क्योंकि

स्थितौ जनौ लयेऽप्येतज्जगदात्मातिरेकतः ।
नाऽस्तीत्येतत् क्रमेणाऽत्र दृष्टान्तैः प्रतिपाद्यते ॥ १०४ ॥
यथा दुन्दुभिशब्दत्वसामान्यादुत्थितात् पृथक् ।
नाऽऽदातुं शक्नुयात् कश्चिद्विशेषानसिकोशवत् ॥ १०५ ॥

विशेषकूटसे अतिरिक्त सामान्य भी तो नहीं है, अतः विशेषमें ही सामान्यकी कल्पना क्यों नहीं करते ?

समाधान—विशेषके बिना भी सामान्यका ग्रहण होता है। जैसे बाजारके समीप जानेपर दूरसे सांय सांय शब्दका श्रवण होता है, किन्तु यह नहीं जाना जा सकता कि विशेषतया कौन शब्द हो रहा है ? समीप जानेपर वह विशेषरूपसे व्यक्त हो जाता है, एवं दूरसे वृक्षसामान्यकी प्रतीति होती है, वृक्षविशेषकी नहीं। समीप जानेपर 'यह शिंशपा है' इस प्रकार विशेषका भान होता है। इससे सिद्ध होता है कि सामान्यकी प्रतीतिके अनन्तर ही विशेषकी प्रतीति होती है, इसलिए यही मानना चाहिए कि सामान्यमें विशेष कल्पित है, विशेषमें सामान्य नहीं। इस विषयमें विशेष आगे कहेंगे। दुन्दुभिके आघातके ग्रहणसे दुन्दुभिके शब्दका ग्रहण होता है। वाशब्दके स्वारस्यसे दो अर्थ किये गये हैं, पर तात्पर्य एक ही है। सारांश यही है कि शब्दसामान्यांशका ग्रहण होनेपर ही उसके विशेष शब्दोंका ग्रहण होता है, उसके बिना विशेष शब्दोंका ग्रहण नहीं कर सकते। एवं विज्ञानव्यतिरिक्तसे स्वप्न अथवा जागरित अवस्थामें किसी वस्तुविशेषका ग्रहण नहीं होता, अतः विज्ञानव्यतिरिक्त वस्तुका अभाव ही समझना चाहिए ॥ १०३ ॥

'स्थितौ' इत्यादि। स्थिति, उत्पत्ति तथा लयमें यह जगत् आत्मातिरिक्त नहीं है अर्थात् आत्मामें उत्पन्न होता है, आत्मामें ही रहता है और आत्मामें ही लीन होता है, इन तीनों अवस्थाओंमें आत्मगत ही प्रतीत होता है, इसलिए यह जाना जाता है कि यह आत्मव्यतिरिक्त नहीं है, इसीका क्रमसे यहांपर दृष्टान्तों द्वारा प्रतिपादन किया जाता है ॥ १०४ ॥

सब जगत् चैतन्यमात्र है, क्योंकि चैतन्यके बिना उसका ज्ञान नहीं हो सकता है, इस अर्थमें दृष्टान्तका व्याख्यान करते हैं—**'यथा दुन्दु०'** इत्यादिसे।

दुन्दुभेर्हन्यमानस्य—इन दो शब्दोंसे शब्दत्वसामान्य लक्षित होता है, शब्द-विशेष बाह्य है। विशेष शब्दोंका, सामान्यसे अलग कर, कोई ग्रहण नहीं कर सकता, अतः वे विशेष सामान्यमें, रज्जुमें सर्पके समान, कल्पित हैं ॥ १०५ ॥

तद्वदात्मातिरेकेण नाऽऽत्मीयोऽर्थो मनागपि ।
यतः समीक्षितुं शक्यस्तेनाऽसौ रज्जुसर्पवत् ॥ १०६ ॥

'तद्वदात्माति०' इत्यादि । एवं आत्माके ग्रहणके बिना कोई किसी अर्थका ग्रहण नहीं कर सकता, कारण कि अर्थग्राहक ज्ञानमें अर्थके समान आत्माका भी भान होता है, अन्यथा घटादिका ज्ञान किसको हुआ, यह निर्णय नहीं होगा, किन्तु ऐसा नहीं है । जिसको ज्ञान होता है, उसको आत्माका नियमसे भान होता है, यह ज्ञान हमको हुआ है, अतः आत्माका भास होनेपर ही घटादि विषयका भान लोकमें होता है, इसलिए शुक्तिमें रजतकी तरह आत्मामें घटादि कल्पित है, यही निश्चय होता है ।

शङ्का—जैसे दृष्टान्तमें सामान्यविशेषभाव है, वैसे ही दार्ष्टान्तिकमें भी सामान्यविशेषभाव मानना चाहिए, ऐसी परिस्थितिमें आत्मा अद्वितीय है, यह कैसे कह सकते हो ?

समाधान—विचार करनेपर दृष्टान्तमें भी सामान्यविशेषभाव सिद्ध नहीं होता, अतः दार्ष्टान्तिकमें उसका स्वीकार निष्प्रामाणिक है । जैसे—सामान्यका विशेषसे अभेद मानते हो या भेद ? प्रथम पक्षमें, जैसे सामान्यका विशेषोंके साथ अन्वय होता है, वैसे विशेषोंका विशेषान्तरके साथ कहीं भी अन्वय नहीं है, ऐसी अवस्थामें यदि सामान्यके साथ अभेद होता, तो विशेषके समान सामान्यका भी अन्वय नहीं होता । परन्तु सामान्यका अन्वय होता है और विशेषका नहीं होता, इससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि विशेष और सामान्यका अभेद नहीं है और विशेषकल्पनाका अधिष्ठानभूत सामान्य कल्पितविशेषस्वरूप हो भी नहीं सकता । अन्यथा—सामान्यके भी कल्पित विशेषसे अभिन्न होनेके कारण—सामान्यविशेषभाव ही असङ्गत हो जायगा, ऐसा होनेपर सामान्य ही नहीं सिद्ध होगा, सामान्यबुद्धि भी नहीं होगी और तदपेक्षासे विशेष भी सिद्ध नहीं होगा, अतः अभेद है ही नहीं । द्वितीय पक्ष भी ठीक नहीं है, क्योंकि विशेषोंका परस्पर अन्वय नहीं होता, यह कहना ठीक है, किन्तु खण्ड, मुण्ड आदि ही विशेष कहा जाता है । गौसे जो सामान्यकी प्रतीति होती है, उसीसे 'खण्डो गौः, मुण्डो गौः' इस प्रकार खण्ड, मुण्ड आदि विशेष व्यक्तिकी प्रतीति लोकमें होती है, परन्तु विचार करनेपर सामान्यसे अतिरिक्त विशेषकी सिद्धि नहीं होती । जब विशेष धर्मी ही सिद्ध नहीं होगा, तब भेदधर्मकी सिद्धि कहांसे होगी ?

सामान्यं तद्विशेषाश्च तद्विशेषा इति त्रयः ।
दुन्दुभिस्तस्य चाऽऽघातः शब्दश्चेत्येभिरीरिताः ॥१०७॥

शङ्का—यदि सामान्यविशेषका भेदाभेद नहीं सिद्ध होता, न सही, किन्तु उनकी व्याप्ति तो अवश्य है, सामान्य व्यापक है और विशेष व्याप्य है, इस प्रकार व्याप्तिरूप सम्बन्ध दृष्ट होता है ।

समाधान—व्याप्य और व्यापकरूप दो व्यक्तियोंके होनेपर ही उक्त सम्बन्ध होता है, जैसे वह्नि व्यापक है, धूम व्याप्य है । वहां दो सम्बन्धी हैं, इसलिए व्याप्तिसम्बन्ध ठीक है, किन्तु जब विशेष ही उक्त रीतिसे सिद्ध नहीं होता, तब दो सम्बन्धियोंके अधीन व्याप्ति भी सिद्ध नहीं हो सकती, अतएव उन्हें उक्त सम्बन्धाधार भी नहीं कह सकते, इसलिए यह कहना चाहिए कि सामान्यमें विशेषकी केवल कल्पना ही होती है ।

शङ्का—आत्माके समान अनात्माका भी भान संसारदशामें होता है, अतः आत्माके समान अनात्मा भी अकल्पित ही है।

समाधान—अनात्मा सत् है या असत् ? प्रथम पक्षमें नित्य बोधस्वरूप है, अथवा उससे भिन्न ? भेदपक्षमें वह स्वतः सिद्ध नहीं होगा, अन्यथा जड़त्व ही अनुपपन्न हो जायगा। परतः पक्षमें परकीय कल्पनाके बिना 'परतःपक्ष' हो ही नहीं सकता । अनात्मा असत् है, यह भी नहीं कह सकते, क्योंकि वह प्रत्यक्षधीका विषय है, जो असत् खपुष्पादि हैं, वे प्रत्यक्ष ज्ञानके विषय नहीं होते। सत् है, किन्तु नित्यबोधस्वरूप नहीं है, इसका पूर्वमें ही खण्डन हो चुका, अन्यथा जड़त्वानुपपत्तिरूप दोष स्फुट है, अतः आत्मामें अनात्म पदार्थ कल्पित है, इसके सिवा और क्या कह सकते हैं ? ॥ १०६ ॥

'सामान्यम्' इत्यादि । सामान्य—शब्दत्वसामान्य, तद्विशेष—दुन्दुभिशब्द-त्वरूप अवान्तर विशेष—और तद्विशेष—दुन्दुभि शब्दके अवान्तर विशेष अर्थात् छोटे-बड़े दुन्दुभिशब्द—इस प्रकार क्रमसे तीन विशेष हैं; ये दुन्दुभि, आघात और शब्द—इन तीन विशेषणोंसे स्पष्ट कहे गये हैं। दुन्दुभिसे अनेक शब्द उत्पन्न होते हैं, वे परस्पर व्यभिचारी हैं—एक दूसरेसे भिन्न हैं । पर उनमें शब्दत्वरूप सामान्य अनुगत है, इसलिए शब्दत्वको सामान्य कहना चाहिए । एवं जितने छोटे-बड़े दुन्दुभिशब्द हैं, उन सबमें दुन्दुभिशब्दत्व सामान्य एक है । अवान्तर

सामान्यं दौन्दुभः शब्दो वीरादिरससंयुतः ।
विशेषस्तद्विशेषास्तु नीचोच्चादिविभेदिनः ॥ १०८ ॥
नीचादिभेदिनः शब्दा वीरादिरससंयुते ।
अन्तर्भवन्ति सोऽप्यन्तर्भूतः स्याद्दौन्दुभध्वनौ ॥ १०९ ॥

विशेष तत्-तत् शब्द हैं। सामान्य अव्यभिचारी और विशेष व्यभिचारी है; इस कथनसे यह फलित हुआ कि सामान्यके बिना विशेषका उपलम्भ नहीं होता, इसलिए विशेष निरात्मक है, अतएव सामान्यके बिना वह उपलब्ध नहीं होता। यदि उसकी पृथक् सत्ता होती, तो वह अवश्य उपलब्ध होता। सामान्यके उपलम्भकी आवश्यकता नहीं कह सकते।

शङ्का—उपनिषत्में 'दुन्दुभेर्हन्यमानस्य' ऐसा ही पाठ है, उससे दुन्दुभिशब्दका लाभ कैसे होता है?

समाधान—वाक्यशेषमें शब्दका उपादान है। काष्ठमय दुन्दुभिके कथनसे शब्दका ग्रहण हो भी नहीं सकता, कारण कि वे दोनों परस्पर भिन्न हैं। अन्यके ग्रहणसे अन्यका ग्रहण नहीं होता; अतः योग्यतावश शब्दका लाभ होता है। दुन्दुभिके ये शब्द हैं, ऐसा ग्रहण होनेपर उसके शेष शब्द भी गृहीत हो जाते हैं, क्योंकि सामान्यका विशेषके साथ तादात्म्य है, शब्दत्वके अवान्तर सामान्यके ग्रहणसे भी उसके विशेषका ग्रहण होता है॥ १०७॥

'सामान्यम्' इत्यादि। दुन्दुभिका शब्द वीररसका उपयोगी होता है, संग्राममें दुन्दुभिका बजाना प्राचीन कालकी प्रथा थी। इसके द्वारा योद्धाओंमें वीररसका प्रादुर्भाव होता है। दुन्दुभिशब्दके सामान्यके उपलम्भसे उसके अवान्तर छोटे बड़े सभी दुन्दुभिके शब्द गृहीत हो जाते हैं॥ १०८॥

'नीचादि०' इत्यादि। नीचादि भेदसे भिन्न जो शब्द सङ्ग्राम या अङ्गणमें होते हैं, वे सब वीररससे संयुक्त शब्दमें अन्तर्भूत हो जाते हैं और वे वीररससे संयुक्त शब्द दुन्दुभिध्वनिमें अन्तर्भूत हो जाते हैं अर्थात् मनुष्य, घोड़े आदिके जो अल्प शब्द होते हैं, वे सब वीररससे संयुक्त शब्दसमुदायमें और वह समुदाय उससे बड़े भेरीके शब्दमें अन्तर्भूत हो जाता है, बड़े शब्दोंसे छोटे शब्द तिरोभूत हो जाते हैं, अतः प्रातिस्विकरूपसे लक्षित नहीं होते, परन्तु श्रुतिगोचर होते हैं। वस्तुतस्तु 'दुन्दुभ्याघातस्य वा शब्दो गृहीतः' यहांपर वाशब्द है, उसके स्वारस्यसे दो अर्थ विवक्षित

श्रुतिः—स यथा शङ्खस्य ध्मायमानस्य न बाह्याञ्छब्दाञ्छक्नुयाद्ग्रहणाय शङ्खस्य तु ग्रहणेन शङ्खध्मस्य वा शब्दो गृहीतः ॥ ८ ॥

स यथा वीणायै वाद्यमानायै न बाह्याञ्छब्दाञ्छक्नुयाद् ग्रहणाय वीणायै तु ग्रहणेन वीणावादस्य वा शब्दो गृहीतः ॥ ९ ॥

एवं शङ्खेऽपि वीणायां योजयित्वा ततः पुनः ।
शङ्खदुन्दुभिवीणाख्यध्वनीनन्यत्र योजयेत् ॥ ११० ॥

हैं। पूर्वमें दुन्दुभिशब्दके ग्रहणसे उसके अवान्तर दुन्दुभि शब्द गृहीत होते हैं, कारण कि सामान्यका विशेषके साथ तादात्म्य है, अतः सामान्य दुन्दुभिशब्दके ज्ञानके बिना उसके अवान्तर भेदसे भिन्न तत्-तत् शब्द दुन्दुभिके शब्द हैं, ऐसा ज्ञान नहीं हो सकता । सामान्यज्ञानपूर्वक ही उसके विशेषका ज्ञान होता है। दूसरे अर्थमें दुन्दुभ्याघातकी लक्षणा तदाघातजन्य शब्दमें होती है । शब्दत्वसामान्यग्रहणपूर्वक उसके अवान्तर दुन्दुभ्यादिशब्दविशेषका ग्रहण होता है, अतः वे शब्द—विशेष शब्द—सामान्यमें अन्तर्भूत होते हैं । इसी तात्पर्य्यसे पूर्वमें तीन सामान्य-विशेष कहे हैं। एक शब्दत्वादि सामान्य, उसके विशेष दुन्दुभिशब्द, दूसरा दुन्दुभि-शब्दत्वसामान्य, उसके विशेष अवान्तर दुन्दुभिशब्द, जो छोटे बड़े होते हैं, दुन्दुभिशब्दत्व सामान्य और विशेष दोनों कहलाता है, शब्दत्वसामान्यकी अपेक्षा वह विशेष है और दुन्दुभिके अवान्तर शब्दोंकी अपेक्षा वह सामान्य भी है । शब्दत्व केवल सामान्य ही है । दुन्दुभिशब्दविशेष केवल विशेष ही है । विशेष सामान्यमें कल्पित है एवं तत्-तत् अवान्तर सामान्य महासामान्यमें कल्पित है, महासामान्य ही वस्तुसत् है, यह आगे स्पष्ट होगा ॥ १०९ ॥

'स यथा शङ्खस्य' इत्यादि श्रुति । उक्त रीतिसे अग्रिम दो वाक्योंकी योजना है । यहाँपर भी 'शङ्खस्य ध्मायमानस्य' इन दो पदोंकी शङ्खशब्द-सामान्यमें लक्षणा है । शङ्खशब्दसामान्यको निकालकर उसके अवान्तर शब्दोंका ग्रहण कोई नहीं कर सकता, किन्तु शङ्खशब्दत्वसामान्यका ग्रहण कर ही उसके अवान्तर सब शङ्खशब्द-विशेषोंका ग्रहण होता है, अन्यथा नहीं ॥ ८ ॥

'स यथा वीणायै' इत्यादि श्रुति । अर्थ पूर्वके समान समझना चाहिए ॥९॥

'एवं शङ्खेऽपि' इत्यादि ।

शङ्का—स्थितिकालमें भी ब्रह्मव्यतिरिक्त जगत् नहीं है, यह अकेले दुन्दुभि-

ध्वनित्रयं महाशब्दसामान्येऽन्तर्भवेदिति ।
विवक्षया शङ्खभेरिवीणास्तिस्र उदीरिताः ॥ १११ ॥
यथा विशेषसामान्यतत्सामान्यपरम्पराः ।
शब्दे स्थिताः, तथा सर्वमुपलब्धिस्थमीक्ष्यते ॥ ११२ ॥
उपलब्धोऽस्ति सन्कुम्भो लम्बोष्ठो देशकालवान् ।
पूर्वपूर्वातिरेकेण नोत्तरार्थोऽनुभूयते ॥ ११३ ॥

शब्दके उदाहरणसे ही सिद्ध होता है, अतः उसके लिए पृथक् शङ्ख और वीणाका उदाहरण देना व्यर्थ है ।

समाधान—दुन्दुभ्यादिशब्दसामान्य भी केवल शब्दत्वसामान्यकी अपेक्षासे ही विशेष है, अतः उन अवान्तर सामान्योंका शब्दत्वसामान्यमें अन्तर्भाव है, यह कहनेके लिए तीन उदाहरण दिये गये हैं । एवं शङ्ख और वीणामें भी दुन्दुभिन्यायकी योजना कर अर्थात् शङ्खके विशेष शब्द तथा वीणाके विशेष शब्दका शङ्ख और वीणाके शब्दसामान्यमें अन्तर्भाव कर दुन्दुभि, वीणा और शङ्खके ध्वनियोंका शब्दसामान्यमें अन्तर्भाव समझना चाहिए ॥ ११० ॥

'ध्वनित्रयम्' इत्यादि । दुन्दुभि, शङ्ख और वीणाके तीन ध्वनियाँ शब्द-सामान्यमें अन्तर्भूत होती हैं, इस अर्थकी विवक्षासे दुन्दुभि, शङ्ख और वीणा—ये तीन उदाहरण दिये गये हैं ॥ १११ ॥

'यथा विशेष०' इत्यादि । जैसे विशेष, सामान्य और उसके सामान्यकी परम्परा—दुन्दुभिशब्द विशेष, उसका सामान्य दुन्दुभिशब्दत्व और सामान्य-शब्दत्व इत्यादि परम्परा—शब्दमें स्थित है, अर्थात् देखी जाती है । जैसे शब्दत्व-सामान्यसे व्यतिरिक्त उसके अवान्तर सामान्य तथा उसके विशेष अनुभवगोचर नहीं होते, वैसे ही सामान्यविशेषात्मक जगत् महासामान्य स्थानीय ब्रह्मसे भिन्न अनुभवगोचर नहीं होता, यह निष्कर्ष है । उपलब्धिरूप ब्रह्म ही तत्स्थ सम्पूर्ण जगत् है, उससे अतिरिक्त नहीं है ॥ ११२ ॥

दृष्टान्तको कहकर दार्ष्टान्तिकका व्याख्यान करते हैं—**'उपलब्धो०'** इत्यादिसे ।

उपलब्ध—उपलब्धिका विषय, सन् कुम्भ लम्बोष्ठ है । घटमें ओष्ठ नहीं होता, पर यहाँ ओष्ठशब्द कपालके अग्रभागके तात्पर्यसे प्रयुक्त हुआ है । तात्पर्य यह है कि अमुक देश, अमुक कालसे संबद्ध अस्तित्वविशिष्ट लम्बे

एवं चिदन्वयात्सर्वं चित्यध्यस्तं तथा सति ।
चिदात्मैवास्य सर्वस्य तात्त्विकं रूपमिष्यताम् ॥ ११४ ॥

ओठवाला घट उपलब्ध होता है, यह प्रतीति होती है, किन्तु विचार करनेपर मूलकी आनुपूर्वीमें पूर्व पूर्वसे अतिरिक्त उत्तरोत्तर कुछ नहीं है, उपलब्धि यथार्थ है। विषय तो कुछ नहीं है। 'असङ्गो ह्ययं पुरुषः' इत्यादि श्रुतिके अनुसार चित्का विषयके साथ कोई वास्तविक संबन्ध नहीं है, स्वयं प्रकाशमें चेत्यका (विषयका) अध्यास होनेसे चेत्यका भी स्फुरण होता है, तत्प्रयुक्त ही विषयत्व आदिकी कल्पना होती है, एवं अस्ति और सन्—इन दोनोंका भी उपलब्धिसे अतिरिक्त कुछ अर्थ नहीं है, उपलब्धि ही अस्ति है और वही सत् है। कुम्भ भी उपलब्धिसे व्यतिरिक्त नहीं है। यदि वह अतिरिक्त होता, तो उपलब्धिके (ग्रहणके) बिना भी गृहीत होता। जैसे अश्व महिषसे भिन्न है, अतः महिषके ग्रहणके बिना भी अश्वका ग्रहण होता है। प्रकृतमें उपलब्धिके (ग्रहणके) बिना चेत्यका ग्रहण नहीं होता। इसलिए चेत्य उपलब्धिसे भिन्न नहीं है। एवं देश और कालको भी समझना चाहिए। इनका भी ज्ञानग्रहणके बिना ग्रहण नहीं होता, अतः चिदतिरिक्त चेत्यका सर्वथा अभाव ही समझना चाहिए ॥ ११३ ॥

'एवं चिद्०' इत्यादि ।

शङ्का—यदि कोई अतिरिक्त चेत्य नहीं है, तो व्यतिरिक्तरूपसे वह प्रतीत क्यों होता है?

समाधान—चित् और चेत्यका वस्तुतः भेद नहीं है, लेकिन अज्ञानसे चित्में चेत्यका अध्यास है, अतः अध्यस्त समस्त सामान्यादिका तादात्म्यसे भान होता है। जैसे शुक्तिमें रजत नहीं है, पर शुक्तित्वके अज्ञानसे अध्यस्त रजतका शुक्तिमें भान होता है। ज्ञानमात्रसे वस्तु सिद्ध नहीं होती। अन्यथा शुक्तिरजत आदिकी सत्ता भी सिद्ध हो जायगी। जगत्का अबाधित भान भी नहीं है, क्योंकि 'नेह नानास्ति' इत्यादि श्रुति स्पष्ट बाध करती है, अतः ठीक कहते हैं—इस भासमान निखिल जगत्का तात्त्विक स्वरूप आत्मा ही है।

शङ्का—अनात्मा यदि आत्मासे भासित होता है, तो आत्मा भी अन्यसे भासित होगा, जैसे घट प्रदीप आदिसे भासता है और प्रदीप आदि चक्षुसे, वैसे ही चेत्य आत्मासे और आत्मा पदार्थान्तरसे भासित होगा। यदि ऐसी व्यवस्था हो, तो अनवस्था दोष अवश्य होगा?

स्थितिकाले यथैकात्म्यं शक्यते ज्ञातुमञ्जसा ।
यथोक्तन्यायतस्तद्वदुत्पत्तावपि शक्यते ॥ ११५ ॥
धूमार्चिर्विस्फुलिङ्गादिविभागजननात् पुरा ।
अग्निरेव न धूमाद्यास्तथैकात्म्यं जनेः पुरा ॥ ११६ ॥

समाधान—अनात्माकी सिद्धिमें जैसे अनात्मव्यतिरिक्त प्रमाताका स्वरूप साधक है, वैसे आत्माकी सिद्धिमें दूसरा कोई साधक नहीं है, क्योंकि आत्मा स्वयंसिद्ध है, अतः उसके साधककी अपेक्षा ही नहीं होती ।

शङ्का—प्रमातृ-स्वरूप अनात्माका साधक है, ऐसा यदि कहते हो, तो आत्मा ही सबका साधक है, आपका यह सिद्धान्त नष्ट हो जायगा ।

समाधान—जिस प्रमाताके स्वरूपको अनात्माका साधक कहा है, वह भी आत्मोपसर्जन ही है अर्थात् आत्मा ही प्रमातृस्वरूपापन्न होकर अनात्माका साधक है, अतः उक्त सिद्धान्तकी क्षति नहीं होती ।

शङ्का—प्रमातृत्वापन्न होकर आत्माको जैसे अनात्माका साधक मानते हो, वैसे ही उसी स्वरूपसे उसे स्वका भी साधक क्यों नहीं मानते ?

समाधान—कर्तृत्वापन्न होकर 'अहं जानामि' इत्यादि रूपसे जैसे अनात्माको आत्मा देखता है, वैसे स्वको वह नहीं देखता, किन्तु कूटस्थदृष्टिरूपसे देखता है, अतः उक्त शङ्काका अवसर नहीं है ।

शङ्का—कूटस्थ आत्मामें दृष्टिमात्रत्व ही असिद्ध है, फिर तद्रूपसे आत्म-दर्शनमें क्या प्रमाण ?

समाधान—जैसे अनात्मपदार्थ प्रत्यक्षसे संहत प्रतीत होते हैं अतएव 'स्थूलः, सद्वयः' इत्यादि अनात्मविषयक प्रत्यय होते हैं, वैसे असंहत, सूक्ष्म, निष्क्रिय आत्मा स्वरूपचैतन्यसे ही सिद्ध होता है ॥ ११४ ॥

स्थितिकाले' इत्यादि । उक्त न्यायसे स्थितिकालमें जैसे अनायाससे ऐकात्म्यको जान सकते हैं, वैसे ही उत्पत्तिकालमें भी ऐकात्म्यको जान सकते हैं ॥ ११५ ॥

'धूमार्चि०' इत्यादि । धूम, अर्चि, विस्फुलिङ्ग आदिके [अग्नि-शिखाको अर्चि कहते हैं और अग्निके क्षुद्र कणोंको विस्फुलिङ्ग कहते हैं] विभागसे पहले केवल अग्नि ही रहती है अर्थात् काष्ठके साथ अग्निसंयोग होनेसे पूर्व केवल अग्नि ही रहती है, पश्चात् धूम निकलने लगता है, तदन्तर अग्निकी शिखा आविर्भूत होती है,

स्वार्थसाधनयत्नादीननपेक्ष्य यथाऽसृजत् ।
धूमादीन् हुतभुक् तद्वद्वागादीन् प्रत्यगीश्वरः ॥ ११७ ॥

तदन्तर विस्फुलिङ्गादि होते हैं, यह अनुभवसे सिद्ध है, इसमें विशेष कहनेकी आवश्यकता नहीं है। केवल कहना यही है कि जैसे पहले आग ही थी और धूमादि कार्यविशेष कुछ नहीं थे, वैसे ही अनात्मभूत प्राण, लोक आदिकी उत्पत्तिसे पूर्व केवल एक आत्मा ही था।

शङ्का—एक जातिमें तज्जातीय अनेक पदार्थोंका अन्तर्भाव होता है, यह दुन्दुभि आदि दृष्टान्तोंसे कहा गया है और वह ठीक भी है, किन्तु अनेकजातीय प्रपञ्चका आत्मसामान्यमें अन्तर्भाव होता है, यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि घट, पट आदिका दण्डसामान्यमें अन्तर्भाव कहीं भी देखनेमें नहीं आता।

समाधान—इसी शङ्काकी निवृत्तिके लिए अग्निका दृष्टान्त श्रुतिने दिया है। यद्यपि धूम, विस्फुलिङ्ग आदि विजातीय हैं, तथापि एक ही वह्निसामान्यमें जैसे वे अन्तर्भूत होते हैं, वैसे ही अनेकजातीय प्रपञ्च एक आत्मामें अन्तर्भूत होता है। वस्तुतः नाम, जाति आदि ही नहीं हैं, अतः विजातीय जाति आदिका अन्तर्भाव कैसे होगा? यह शङ्का ही अयुक्त है, क्योंकि जाति आदि भी तो अद्वैत-वेदान्तिमतमें चिन्मात्र ही हैं, उससे अतिरिक्त नहीं हैं, अतः पूर्वोक्त अर्थमें कोई अनुपपत्ति नहीं है ॥ ११६ ॥

'स्वार्थसाधन०' इत्यादि। परमात्मा संसारका कारण है, यह आप मानते हैं, इसमें अनेक शङ्काएँ होती हैं। जब तक उनका समुचित निराकरण न हो, तब तक उक्त अर्थमें श्रद्धा ही नहीं होगी, इसलिए कुछ शङ्काओंको उपस्थित करता हूँ, कृपया उनका निराकरण अवश्य कीजिये।

परमात्मा किस फलके लिए सृष्टि करता है? यदि परमात्मा सृष्टिसे कुछ फल चाहता है? तो वह अवाप्तकाम (पूर्णकाम) नहीं कहा जा सकता। यदि फलकी कामनाके बिना ही सृष्टि करता है, तो फलके बिना मन्द भी प्रवृत्त नहीं होता, फिर प्रेक्षावान् परमात्मा कैसे प्रवृत्त होगा? यदि जबरदस्ती वैसा मानो, तो उसमें प्रेक्षावत्त्व ही नष्ट हो जायगा। एवं परमात्मा अन्य साधनसे संयुक्त है या नहीं? यदि अन्य साधनसे संयुक्त है, तो 'एकमेव' इत्यादि श्रुतिके साथ विरोध होगा, यदि नहीं है, तो वह सृष्टि ही नहीं बना सकेगा, क्योंकि

नाऽर्थं बुद्ध्वा वेदसृष्टिः कालिदासादिवाक्यवत् ।
किन्तु श्वास इवाऽयत्नात् स्यादतोऽपौरुषेयता ॥ ११८ ॥

कोई भी कार्य साधननिरपेक्ष नहीं देखा जाता और साधनान्तरका अभाव स्पष्ट ही है। एवं दयासागर परमात्माने सुखमयी सृष्टि क्यों नहीं की? जिससे जीवोंको सुख होता। एवं यदि वह सर्वज्ञ है, तो प्रश्न यह होता है कि वह सृष्टिगत जीवोंके दुःखको जानता है या नहीं? यदि जानता है, तो करुणासागर उनका उद्धार करनेमें विलम्ब क्यों करता है? यदि कर्मसे प्रतिरुद्ध होकर उद्धार नहीं करता, तो क्या कर्म परमात्मासे भी बड़ा है? जिससे कि कर्मसे प्रतिरुद्ध होनेपर ईश्वर अप्रतिबद्धेच्छत्व, सत्यसङ्कल्पत्व आदि गुणोंसे रहित हो जायगा? एवं संहार करना तो अति दारुण कार्य है, वह द्वेषके बिना नहीं होता, परमात्मामें द्वेषकी कल्पना करना भी अनुचित है। क्रीडा भी दयालुकी ऐसी नहीं होती, जिससे अनेक जीव संसारानलमें तड़पें।

इत्यादि विविध शङ्काओंका समाधान इस श्लोकसे करते हैं—स्वार्थके (स्वप्रयोजनके) साधनमें हेतुभूत यत्न आदिकी अपेक्षाके बिना ही जैसे अग्नि धूमादिको उत्पन्न करती है, वैसे ही प्रत्यगीश्वर—परमात्मा—उक्त सामग्रीके बिना ही ऋग् आदि वेदोंकी सृष्टि करता है।

शङ्का—अग्नि तो जड़ पदार्थ है, इसलिए भले ही उक्त आक्षेप उसके विषयमें लागू न हों, पर चेतनके विषयमें तो वे सब लागू हो सकते हैं?

समाधान—यहाँ भी माया सृष्टि करती है, वह तो जड़ ही है। चेतनमें कारणत्व मायाधिष्ठानत्वको लेकर ही है, साक्षात् नहीं है, अतएव 'मयाऽध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्' इत्यादि भगवद्-वाक्यसे मायामें ही सृष्टिकारणत्वका प्रतिपादन किया गया है। अतः वास्तविक सृष्टि ईश्वरने की है, ऐसा जो मानते हैं, उन्हींको उक्त दोषोंका परिहार करना चाहिए। अद्वैतमतमें तो सृष्टि मिथ्या है, अतः उक्त दोषोंका उद्धार अनायाससे ही हो जाता है ॥ ११७ ॥

'नाऽर्थं बुद्ध्वा' इत्यादि।

शङ्का—'श्रोतव्यः श्रुतिवाक्येभ्यः' यह जो आप कहते हैं, वह ठीक नहीं है, कारण कि यदि वेदको ईश्वरकृत मानते हो, तो वह पौरुषेय हुआ।

पौरुषेय वाक्यमें निरपेक्षत्वलक्षण प्रामाण्य नहीं हो सकता, अतएव जैसे बौद्ध आदिके वाक्य अप्रमाण माने जाते हैं, वैसे ही वेद भी अप्रमाण हो जायगा ।

समाधान—जो अन्य प्रमाणसे अर्थका अवधारण कर उस अर्थकी बोधेच्छासे शब्दका प्रयोग करता है, उसीका वाक्य पौरुषेय कहलाता है। जैसे कवि कालिदास आदिके वाक्य। उनके वाक्यार्थमें मूलभूत अन्य प्रमाण ही प्रमाण होता है, अतः स्मरणके समान उनका वाक्य अनुवादक है । वेदकी सृष्टि प्रमाणान्तरसे अर्थका अवधारण करके नहीं हुई है, किन्तु जैसे निश्वास अबुद्धि-पूर्वक अयत्नसे होते रहते हैं, वैसे ही परमात्मासे वेद निश्वासके समान अबुद्धि-पूर्वक हुए हैं। 'यस्य निश्वसितमेतत्' इत्यादि वेदवाक्य इसी अर्थको अतिस्पष्ट करते हैं। सर्वज्ञ ईश्वरने गतकल्पीय वेदका इस कल्पके आदिमें स्मरण कर महर्षियोंको उसका उपदेश दिया है ।

शङ्का—ईश्वरके यदि शरीर आदि नहीं हैं, तो उसने उपदेश कैसे किया ?

समाधान—भक्तोंके अनुग्रहके लिए शरीर धारण करनेमें उन्हें क्या विलम्ब ? उनका शरीर कर्माधीन नहीं है, इसलिए शरीरावस्थामें भी उन्हें अशरीरी कहा जाता है, जब योगी इच्छानुकूल शरीर धारण करनेमें समर्थ होते हैं, तब ईश्वरमें क्या सन्देह ? कर्मजन्य शरीर ही सुख, दुःख आदिका प्रयोजक होता है, अतः ईश्वरमें दुःखादिका प्रसङ्ग भी नहीं हो सकता ।

शङ्का—एक पुरुषके स्मरणमें क्या विश्वास ?

समाधान—विश्वासका कारण अर्थका अबाध है। यदि अबाधित अर्थवाला वाक्य है, तो वह एक ही पुरुष द्वारा उक्त क्यों न हो, प्रमाण माना ही जाता है। यदि वह बाधितार्थक हो, तो अनेक पुरुषोंके कहनेपर भी वह प्रमाण नहीं माना जा सकता। अनेक महर्षियोंने भी वेदको प्रमाणरूपसे स्वीकार किया है, इसलिए शिष्टोपादेय होनेसे वेद प्रमाण और उपादेय है। अतएव कुमारिल भट्टजीने स्पष्ट कहा है कि 'यत्नतः प्रतिषेध्या नः पुरुषाणां स्वतन्त्रा' अर्थात् वेदापौरुषेयत्वके लिए यत्नतः पुरुषकी स्वतन्त्रता ही प्रतिषेध्य है, याने जो वक्ता वाक्यानुपूर्वीकी रचनामें स्वतन्त्र है, चाहे 'घटमानय' कहे, चाहे 'आनय घटम्' कहे, उसी पुरुषका वह वाक्य पौरुषेय कहलाता है और जो पुरुष पूर्वानुपूर्वीका स्मरण कर तादृशानु-पूर्वीका उपदेश देता है, वह वाक्य पौरुषेय नहीं कहलाता, अतएव अध्यापकके उपदेशसे वेदमें अपौरुषेयत्वकी क्षति नहीं होती एवं न अनपेक्षत्वलक्षण प्रामाण्यका

श्रुतिः—स यथाऽऽर्द्रैधाग्नेरभ्याहितात्पृथग्धूमा विनिश्चरन्त्येवं वा अरेऽस्य महतो भूतस्य निश्वसितमेतद्यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस इतिहासः पुराणं विद्या उपनिषदः श्लोकाः सूत्राण्यनुव्याख्यानानि व्याख्यानान्यस्यैवैतानि सर्वाणि निश्वसितानि ॥ १० ॥

ही भङ्ग होता है। 'अनादिनिधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयंभुवा' इत्यादि वचनोंसे वेदमें नित्यत्वका समर्थन किया गया है, इत्यादि संक्षेपसे इस विचारको पूर्ण करते हैं। वस्तुतस्तु नैयायिक वेदको ईश्वरकृत मानते हैं, फिर भी प्रमाण ही मानते हैं, उनका कहना है कि नित्यत्व प्रामाण्यका प्रयोजक नहीं है, अन्यथा आकाशमें प्रामाण्यापत्ति हो जायगी, क्योंकि आकाश भी नित्य है, एवं अनित्यत्व अप्रामाण्यका प्रयोजक नहीं है, यदि हो, तो चक्षु आदिमें प्रामाण्यकी अनुपपत्ति हो जायगी, क्योंकि वे अनित्य ही हैं, किन्तु अबाधितार्थ ही प्रामाण्यका प्रयोजक है, सो वेदमें है, इत्यादि न्यायमतका विशेष विचार प्रकृतमें अनुपयुक्त समझ कर छोड़ देते हैं। सारांश यह निकला कि जो वेदप्रतिपाद्य है, उसमें कल्याण चाहनेवालेकी सदा श्रद्धा होनी चाहिए। यद्यपि अद्वैतमतमें वेद भी ब्रह्मविवर्त ही है, तथापि सूर्य्यप्रकाशके समान वह नित्य अर्थप्रकाशक ही है। प्रमाणान्तरकी अपेक्षा श्रुतिमें यह अतिशयविशेष है कि वह मनुष्यत्वाभिमानीके प्रति अन्वयादिसे त्वमर्थका शोधन कर, अद्वयस्वरूपका प्रतिपादन कर, ज्ञान द्वारा जगत्का बाध कर, ब्रह्मस्वरूप बतलाकर स्वयं तद्रूपसे अवशिष्ट रहती है। यद्यपि सब मान और मेय परमात्मस्वरूप ही हैं, तथापि उनकी अपेक्षा श्रुतिमें यह विशेष है कि वह तत्त्वको स्फुट कर देती है, पर दूसरे प्रमाण ऐसा नहीं कर सकते।

'स यथाऽऽर्द्रैधाग्ने०' इत्यादि श्रुति।

यहांपर भी 'स' यह दृष्टान्तार्थ है। उत्पत्तिमें भी ब्रह्मव्यतिरिक्त जगत् नहीं है, इसमें दृष्टान्त कहते हैं—आर्द्रैधाग्ने०' इत्यादि। गीले काष्ठसे उत्पन्न अग्निको सामने रखनेपर [गीली लकड़ी जलानेसे धुआँ अधिक होता है, यह सर्वानुभवसिद्ध है, इसीलिए उक्त विशेषण दिया गया है] जैसे नाना प्रकारके धूम आदि [अर्चि, विस्फुलिङ्ग आदिका धूम उपलक्षण है] उत्पन्न होते हैं, वैसे ही 'अरे मैत्रेयि' यह परमात्मा, जो प्रकृत है, वह महान् अनवच्छिन्न—देश, काल और वस्तु रूप त्रिविध परिच्छेदोंसे शून्य—एवं पारमार्थिक

मन्त्राश्चतुर्विधा ज्ञेया ऋग्वेदादिगिरोदिताः ।
ब्राह्मणं चेतिहासादिरूपमष्टविधं भवेत् ॥ ११९ ॥

है, उसीका यह निश्वसित है अर्थात् पुरुषनिश्वासके समान प्रयत्नके बिना परमात्मासे ये सब उत्पन्न हुए हैं । यद्यपि निश्वासमें भी जीवनयोनियत्न कारण है, तथापि वह प्रयत्न नहीं है, किन्तु केवल यत्न है, जो सङ्कल्पके बिना भी होता रहता है । प्रयत्न सङ्कल्पके बिना नहीं होता, अतएव सुषुप्तिमें प्रयत्न नहीं होता, जैसे कालिदासादिके पौरुषेय वाक्य प्रयत्नपूर्वक हैं, वैसे परमात्माके ये वाक्य प्रयत्नपूर्वक नहीं हैं, किन्तु निश्वासके समान अनायाससे उत्पन्न हुए हैं ।

शङ्का—कौन वाक्य ?

समाधान—ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्वाङ्गिरस—इन चार वेदोंके मन्त्रोंका समूह, इतिहास याने ब्राह्मण, जिसमें उर्वशी और पुरूरवाका संवाद आदि है, जैसे—'उर्वशी हाप्सरा' इत्यादि, पुराण—'असद्वा इदमग्र आसीत्' इत्यादि, विद्या—देवजनविद्याप्रभृति अर्थात् नृत्यगीतादिशास्त्र, उपनिषत्—'प्रियमित्येतदुपासीत' इत्यादि, श्लोक याने ब्राह्मणप्रभव मन्त्र, जो 'तदेते श्लोकाः' इत्यादिसे स्फुट हैं, सूत्र—वस्तुसंग्रहवाक्य—अर्थात् 'आत्मेत्यवोपासीत' इत्यादि, अनुव्याख्यान—वस्तुसंग्रहवाक्योंका विवरण, जैसे विद्यासूत्रके लिए बृहदारण्यकका चौथा अध्याय और व्याख्यान—मन्त्रोंका विवरण—इत्यादि सब इन्हीं महापुरुषके निश्वसित हैं ।

'मन्त्राश्चतु०' इत्यादि ।

शङ्का—इतिहाससे रामायण और महाभारतका ग्रहण क्यों नहीं ? क्योंकि उन्हींमें इतिहासकी प्रसिद्धि है ।

समाधान—वे ऋषिप्रणीत हैं, अतएव कालिदास आदिके वाक्योंके समान वे प्रयत्नपूर्वक बनाये गये हैं, निश्वासके समान नहीं, अन्यथा 'निश्वसितम्' यह विशेषण असंबद्ध हो जायगा । अतः ब्राह्मणादिका ही ग्रहण समुचित है ।

शङ्का—नामप्रपञ्चकी सृष्टिका ही उदाहरण दिया, अर्थप्रपञ्चकी सृष्टिका उदाहरण नहीं दिया, इसमें क्या कारण ?

समाधान—इसका उत्तर अगले श्लोकसे दिया जायगा । प्रकृतमें ऋक्, यजु, साम और अथर्वाङ्गिरस—इन चार वेदोंके मन्त्र एवं इतिहास, पुराण, विद्या, उपनिषद्, श्लोक, सूत्र, अनुव्याख्यान और व्याख्यान—ये आठ, कुल मिलाकर बारहकी उत्पत्ति यहां कही गई है ॥ ११९ ॥

प्रसिद्धैर्वेतिहसाद्या　　ऋग्वेदाद्युपबृंहका ।
निखिलाऽपि जगत्सृष्टिः शब्दसृष्ट्योपलक्ष्यते ॥ १२० ॥

रामायण, महाभारत आदि लोकप्रसिद्ध इतिहासका ग्रहण करनेके लिए अन्य पक्ष कहते हैं—'प्रसिद्धै०' इत्यादिसे ।

भाव यह है कि मन्त्र और ब्राह्मण इन दोनोंके लिए वेदशब्द प्रवृत्त होता है; अतः ऋग्वेदादिसे ही उक्त आठ ब्राह्मणोंका ग्रहण सिद्ध ही है, इसलिए इतिहासशब्द लोकप्रसिद्ध इतिहासादिके ग्रहणके लिए है । यदि बाधक न हो, तो वृद्धप्रसिद्धिका अनादर करना अच्छा नहीं है । ऋक् आदिके सन्निहित उच्चरित इतिहासशब्द प्रसिद्ध इतिहासके ग्रहणमें लिङ्ग है, अतएव 'इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्' इत्यादि वचन है ।

शङ्का— इतिहास, पुराण आदिके द्वारा वेदार्थका यदि निरूपण किया जायगा, तो वेदमें अनपेक्षत्वलक्षण प्रामाण्यका ही भङ्ग हो जायगा ?

समाधान—इतिहास, पुराण आदि वेदमूलकत्वेन प्रमाण माने जाते हैं, स्वतः नहीं, इसलिए व्याख्याताके वचनके समान इतिहास और पुराण भी वेदार्थके निर्णायक हैं । व्याख्याताके वाक्यसे वेदार्थका निर्णय करनेपर वेदमें अनपेक्षत्व लक्षण प्रामाण्यका भङ्ग नहीं होता, कारण कि व्याख्याताके वचनोंमें वेदमूलकत्वसे ही प्रामाण्य माना जाता है, स्वतः नहीं । एवं इतिहास आदिमें भी समझना चाहिए ।

शङ्का—इतिहास आदि यदि ईश्वरप्रणीत हैं, तो व्यासादिकृत कैसे कहे जाते हैं ?

समाधान—व्यासादिरूपसे ईश्वर ही उनका प्रणेता है, इसलिए वे व्यासादिकृत कहे जाते हैं । वेदान्तमें ईश्वरव्यतिरिक्त कर्ता नहीं माना जाता, परमात्मा ही अज्ञान द्वारा जगत्का कारण है, यह श्रुतिसिद्ध है, अतः व्यासादिके इतिहासादि कार्यमें जो कर्तृत्वका स्मरण होता है, उससे वही जगत्कारण ब्रह्म तत्-तत्रूपसे तत्तत्कार्यका कर्ता है यह सिद्ध होता है। अतएव 'कोऽह्यन्यः पुण्डरीकाक्षात् महाभारतकृद्भवेत्' इत्यादि वचन संगत होते हैं । जैसे बीज अङ्कुर, पत्र, पुष्प आदिका कारण माना जाता है, परन्तु पत्र, पुष्पादिके अङ्कुरादि भी कारण होते हैं, एतावता बीजकारणत्वकी क्षति नहीं होती । अङ्कुरादिस्वरूपसे बीज पुष्पादिका कारण है । तात्पर्य यह है कि कोई साक्षात् कार्य है, तो कोई परम्परया । बीज साक्षात् अङ्कुरका कारण है और पत्र, पुष्पादिका परम्परया। वैसे ही परमात्मा साक्षात् श्रुतिका कारण है और इतिहास

आदिका परम्परया। इस विशेषसे मूलकारणजन्यत्वकी अनुपपत्ति उत्तरोत्तर कार्यमें नहीं आती।

शङ्का—बीज ही अङ्कुरादिस्वरूपसे पुष्प, फल आदिका कारण है, अङ्कुरादि स्वयं नहीं, इसमें क्या प्रमाण है?

समाधान—इसमें यह दृढ़ प्रमाण है कि जिस आम्रादि बीजसे अङ्कुर, नालकाण्ड, पत्र, पुष्प आदि होते हैं, उनका अन्तिम कार्य वही फल होता है, आदिमें आम्र और अन्तमें आम्र। इस प्रकार प्रत्येक वृक्षमें देखिये, जिस प्रकारके बीजसे अङ्कुरादि होंगे, उनसे अन्तिम कार्य उसी प्रकारका फल होगा। यदि आदिका लगातार अन्तिम कार्य तक सम्बन्ध नहीं होता, तो फलान्तर होता, वही फल नहीं होता, पर ऐसा नहीं देखा जाता, इसलिए आदि कारण ही तत्-तत् अवान्तर कार्य द्वारा अन्तिम कार्यका भी कारण होता है।

शङ्का—यदि इतिहासादि ईश्वरकर्तृक हैं, तो वेदके समान उन्हें स्वतः प्रमाण मानना चाहिए।

समाधान—वेद ईश्वरकृत है, इसलिए हम उसे स्वतः प्रमाण नहीं मानते, किन्तु मानान्तरदृष्टत्वादि अप्रामाण्यके कारण वेदमें नहीं हैं, अतः उसे स्वतः प्रमाण मानते हैं। इतिहास आदि वेदके उपष्टम्भक हैं, अतः उनमें मानान्तर-दृष्टार्थकत्वका त्याग नहीं है।

शङ्का—इतिहासादिके विषयमें निश्वसित श्रुतिकी क्या गति है?

समाधान—उत्तम गति है। व्यासादिरूपसे अनायास ही इतिहास आदिकी अभिव्यक्ति हुई है, अतएव भारतके विषयमें यह प्रसिद्धि है कि व्यास भगवान् धाराप्रवाहसे बोलते थे और गणेशजी अप्रतिबद्ध लेखनीसे लिखते थे। यदि मध्यमें कोई रुक जाय, तो वहीं कार्य समाप्त हो जायगा; ऐसा दोनोंमें समयबन्ध हुआ था। अन्तमें गणेशजीको रुकते न देख व्यासजीने कहा— श्लोकका अर्थ समझकर लिखिए, उन्होंने स्वीकार कर लिया, फिर भी रुकते न देख कूटश्लोक बोलने लगे, किसी अर्थके समझनेके लिए थोड़ी लेखनी रुकी कि ग्रन्थ समयबन्धके अनुसार समाप्त हुआ। यह स्पष्ट ही है कि जिसमें श्रीमद्भगवद्गीता जैसा अनुपम ग्रन्थ है, वह सोचकर भी नहीं लिखा जा सकता, सोचकर लिखे जानेवाले कोई भी ग्रन्थ भगवद्गीताके समान नहीं हुए हैं, ऐसा दार्शनिक पण्डितोंका सिद्धान्त है।

शङ्का—'लोकावगतसामर्थ्यः शब्दो वेदेऽपि बोधकः' इस न्यायसे वेदमें

प्रज्ञानव्यतिरेकेण यथैव स्थितिसर्गयोः ।
वस्त्वन्तरं न सम्भाव्यं प्रलयेऽपि तथोच्यते ॥ १२१ ॥

श्रुतिः—स यथा सर्वासामपाꣳ समुद्र एकायनमेवꣳ सर्वेषाꣳ स्पर्शानां त्वगेकायनमेवꣳ सर्वेषां गन्धानां नासिके एकायनमेवꣳ सर्वेषां रसानां

अन्यप्रमाणादृष्टार्थत्व ही असिद्ध है, क्योंकि उसमें शक्तिग्रहके लिए तत्-तत् अर्थोंका प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोंसे ग्रहण आवश्यक है ।

समाधान—यद्यपि शक्तिग्रहके लिए उक्त प्रमाणोंकी अपेक्षा होती है, तथापि वाक्यार्थ अपूर्व माना जाता है; अतः उसके लिए अन्य प्रमाणकी अपेक्षा नहीं होती । जिस व्यक्तिमें शक्तिग्रह होता है, उसकी समान जातीय अन्य व्यक्तिका बोध उस शक्तिसे होता है, अतः बाक्यार्थमें उक्त आशङ्का नहीं हो सकती ।

शङ्का—अज्ञातार्थकत्व ही प्रामाण्यका प्रयोजक है, इसका कैसे निश्चय होगा ?

समाधान—प्रसिद्ध प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोंमें अज्ञातार्थकत्व दृष्ट है, ज्ञातार्थक प्रत्यक्ष आदि अनुवादक कहे जाते हैं, अतः अज्ञातार्थक ही प्रमाण होता है, यह बात विद्वानोंके लिए छिपी नहीं है । अविधेय सृष्टि क्यों नहीं कही ? इस पूर्व प्रश्नका उत्तर देते हैं—'निखिला०' इत्यादिसे । अभिधानश्रुति सम्पूर्ण सृष्टिकी उपलक्षण है ।

'स यथा सर्वासा०' इत्यादि उत्तर श्रुतिवाक्यकी सङ्गति कहते हैं—'**प्रज्ञान०**' इत्यादिसे ।

जिस प्रकार स्थिति और सर्गमें प्रज्ञानसे—ब्रह्मसे—अतिरिक्त किसी वस्तुकी सम्भावना नहीं है, उसी प्रकार प्रलयमें भी समझना चाहिए ॥ १२१ ॥

'**स यथा सर्वासामपाम्**' इत्यादि श्रुति । 'स' यह दृष्टान्तार्थक है, जिस प्रकार नदी, बावड़ी, कूप, तड़ाग आदि विभिन्न नाम और रूपवाले जलोंका एक (अभिन्न) नामरूप समुद्र ही एक अयन याने एक गमन—एक प्रलय—स्थान है, अर्थात् सब जलोंकी एक समुद्रमें ही अविभागप्राप्ति याने एकरूपापत्ति हो जाती है, वैसे ही सब मृदु, कठिन, कर्कश, पिच्छिल आदि स्पर्शोंका त्वग् ही एकायन है, त्वक्-शब्दसे त्वग्विषय स्पर्शसामान्य विवक्षित है ।

शङ्का—विषय इन्द्रियकार्य नहीं हैं, अतः मृदु, कठिन आदि सब विषयोंका त्वग्में लय कैसे हो सकता है ?

समाधान—त्वक्शब्दकी स्पर्शसामान्यमें लक्षणा है, अतः स्पर्शसामान्यमें स्पर्श-

जिह्वैकायनमेव२ सर्वेषां रूपाणां चक्षुरेकायनमेव२ सर्वेषां शब्दानां श्रोत्रमेकायनमेव२ सर्वेषा२ सङ्कल्पानां मन एकायनमेव२ सर्वासां विद्यानां हृदयमेकायनमेव२ सर्वेषां कर्मणां हस्तावेकायनमेव२ सर्वेषां मानन्दानामुपस्थमेकायनमेव२ सर्वेषां विसर्गाणां पायुरेकायनमेव२ सर्वेषामध्वनां पादावेकायनमेव२ सर्वेषां वेदानां वागेकायनम् ॥ ११ ॥

विशेषका अन्तर्भाव होता है, यह तात्पर्य फलित होता है। इसी रीतिसे कूपादि जलोंका समुद्र एक आयतन है। जब कूपादिके जलका समुद्रके साथ संबन्ध उत्पन्न नहीं है, तब उससे वह अविभक्त कैसे हो सकता है? यह शङ्का यहाँपर होती है, इसका समाधान यही है कि समुद्रशब्दकी जलसामान्यमें लक्षणा है, विशेष जल सामान्य जलके साथ अभिन्न है, इसीलिए भाष्यकारने अविभागप्राप्ति एकायतनका अर्थ किया है। तथा त्वक्-शब्दवाच्य अथवा लक्ष्य स्पर्शसामान्य है। अतः सङ्कल्पमें—मनोविषयसामान्यमें—त्वग्-विशेषोंका, त्वक्-सामान्यके समान, अन्तर्भाव होता है। एवं सम्पूर्ण मनोविषय बुद्धिसामान्यमें प्रविष्ट हैं, अर्थात् उनका तद्व्यतिरेकेण अभाव है, तात्पर्य यह कि वे विज्ञानमात्र होकर प्रज्ञानघन पर ब्रह्ममें समुद्रमें जलके समान लीन होते हैं। इस परम्पराक्रमसे ग्राहक करणके साथ शब्दादि प्रज्ञानघनमें लीन होता है, उपाधियोंके अभावसे सैन्धवघनके समान प्रज्ञानघन, एकरस, अनन्त और अपारस्वरूप ब्रह्म ही अवस्थित रहता है, अतः आत्माको एक और अद्वय समझना चाहिए। तथा सब पृथिवीसहित गन्धविशेषोंका नासिका घ्राणविषय सामान्य है तथा सब रसोंका—जलविशेषोंका—जिह्वेन्द्रिय विषयसामान्य है, सब तेजोविशेषसहित रूपोंका चक्षु विषयसामान्य है और शब्दोंका श्रोत्र विषयसामान्य पूर्ववत् एकायतन है। श्रोत्रादि विषयसामान्यका मनोविषयसामान्य सङ्कल्पमें प्रवेश होता है, मनोविषयसामान्यका बुद्धिविषयसामान्यमें—विज्ञानमात्रमें—प्रवेश होता है, विज्ञानमात्र होकर प्रज्ञानमें लीन होता है, एवं कर्मेन्द्रियोंके विषय वदन, आदान, गमन विसर्ग, और आनन्दविशेष तत्-तत् क्रियासामान्यमें प्रविष्ट होते हैं, अतएव विभागयोग्य नहीं होते। वे पूर्वोक्त सामान्य प्राणमात्र ही हैं, प्राण प्रज्ञानमात्र है, क्योंकि 'यो वै प्राणः सा प्रज्ञा या वै प्रज्ञा स प्राणः' ऐसा कौषीतकी शाखावाले पढ़ते हैं।

शङ्का—सब जगह विषयका ही प्रलय कहा गया है, करणका नहीं, इसका क्या अभिप्राय है?

स्वाभाविकात्यन्तिकौ द्वौ प्रलयौ जगतस्तयोः ।
स्वाभाविकः स्यात् कल्पान्ते बोधादात्यन्तिको मतः ॥ १२२ ॥

समाधान—विषयसामान्यजातीय करण है, ऐसा श्रुति मानती है, उससे व्यतिरिक्त नहीं मानती। विषयज्ञान करण विषयका ही संस्थानान्तर है। जैसे रूपविशेषका ही संस्थान प्रदीप है, कारण कि वह सब रूपका प्रकाशक है, वैसे ही सब विषयविशेषोंके स्वात्मविशेषप्रकाशक होनेसे संस्थानान्तर (चक्षु आदि) करण हैं । इस कारणसे करणोंके पृथक् प्रलयमें यत्नकी आवश्यकता नहीं होती, करण विषयसामान्यात्मक हैं, अतः विषयके प्रलयसे करणोंका प्रलय सिद्ध हो जाता है ॥ १२१ ॥

'**स्वाभाविका०**' इत्यादि । जगत्के प्रलय दो प्रकारके होते हैं—एक स्वाभाविक अर्थात् सर्गारम्भमें कारणभूत सम्पूर्ण प्राणियोंके कर्म जब समाप्त हो जाते हैं, तब परमात्माकी सञ्जिहीर्षासे प्रलय होता है, इस प्रलयको स्वाभाविक प्रलय कहते हैं, यह नियत समयपर ही होता है और दूसरा आत्यन्तिक प्रलय है, जो केवल आत्मबोधसे—ब्रह्मतत्त्वबोधसे—होता है । प्रथम प्रलयकी अवधि समाप्त होनेपर कर्मानुसार यथाश्रुत पुनः पूर्ववत् संसार होता है । ज्ञानसे आत्यन्तिक लय होता है, फिर उसको कभी संसार नहीं होता, क्योंकि 'न स पुनरावर्तते' इत्यादि श्रुतिसे परमपदकी प्राप्ति नित्य मानी जाती है । वस्तुतः पौराणिक लोग नैमित्तिक, स्वाभाविक और आत्यन्तिक भेदसे तीन प्रकारका प्रलय मानते हैं—

'सर्वेषामेव भूतानां त्रिविधः प्रतिसञ्चरः ।
नैमित्तिकः प्राकृतिकस्तथैवात्यन्तिको लयः इति ।

'ब्रह्मणो वर्षशतमायुः' इत्यादि श्रुतिके अनुसार ब्रह्माकी आयु सौ वर्षकी मानी गई है, ब्रह्माकी आयु समाप्त होनेपर उसके द्वारा किया गया विश्व भी समाप्त हो जाता है, अतः वह ब्रह्मकर्तृक प्रलय नैमित्तिक तथा अवान्तर प्रलय कहलाता है, जैसे 'ब्राह्मो नैमित्तिकस्तेषां कल्पान्ते प्रतिसंचरः । द्वितीय प्रलयमें सम्पूर्ण कार्योंका प्रकृतिमें पर्यवसान हो जाता है । इसलिए वह प्राकृत कहा जाता है । ज्ञानाधीन लय आत्यन्तिक है, यही मोक्ष है। आत्यन्तिकश्च मोक्षाख्याः' प्राकृतो द्विपरार्धिकः' इत्यादि वचन उक्त अर्थमें प्रमाण हैं । आत्यन्तिक लयसे पृथक् दूसरा प्रलय अपने-अपने कारणोंमें कारणरूपसे कार्योंका अवस्थान है, अतएव पुनर्जन्म होता है ।

समुद्रखिल्यौ दृष्टान्तौ क्रमात् प्रलययोर्मतौ ।
लीयतेऽब्धौ जलं यद्वत्तथा ब्रह्मणि तज्जगत् ॥ १२३ ॥
साक्षाद्वाऽथ प्रणाड्या वा जलमब्धौ विलीयते ।
साक्षाद् गङ्गादिका नद्यस्तत्प्रणाड्या जलान्तरम् ॥ १२४ ॥
तथैव कारणं वस्तु साक्षाद्ब्रह्मणि लीयते ।
कार्यं तु कारणद्वारेत्येतदत्र विवक्षितम् ॥ १२५ ॥
अतश्चरमकार्याणां स्पर्शादीनां स्वकारणे ।
त्वगादौ विलयस्तद्वत्त्वगादेश्च स्वकारणे ॥ १२६ ॥
त्वग्ग्राह्यं स्पर्शसामान्यं त्वक्शब्देनोपलक्ष्यते ।
सामान्यात् तद्विशेषाणां जातत्वात्तत्र तल्लयः ॥ १२७ ॥

त्रैकालिक जन्महेतु अज्ञानका ध्वंस आत्मतत्त्व ज्ञानसे होता है, इसलिए यह आत्यन्तिक है ॥ १२२ ॥

'समुद्रखिल्यौ०' इत्यादि । समुद्र और खिल्य ये दोनों उक्त दो प्रलयोंमें दृष्टान्त हैं । जैसे जल समुद्रमें लीन हो जाता है, वैसे ही ब्रह्ममें जगत् लीन होता है ॥ १२३ ॥

'साक्षाद्वाऽथ' इत्यादि । साक्षात् या परम्परया जल समुद्रमें लीन हो जाता है 'गङ्गादि' शब्दमें उक्त आदिपदसे नर्मदा, सिन्धु आदिका ग्रहण है, क्योंकि वे भी साक्षात् समुद्रमें गिरती हैं, अतः उनका जल साक्षात् समुद्रमें लीन होता है और जलान्तर याने यमुना, सरयू आदिका जल गङ्गा द्वारा समुद्रमें लीन होता है ॥१२४॥

'तथैव' इत्यादि । एवं कारण वस्तु साक्षात् ब्रह्ममें लीन हो जाती है और कार्य कारण द्वारा जिसकी जिससे जैसे उत्पत्ति है उसका उसमें वैसा ही लय होता है जो साक्षात् ब्रह्मसे उत्पन्न है, उसका साक्षात् ब्रह्ममें लय होता है, जिसकी परम्परासे उत्पत्ति है, उसका परम्परया लय होता है, इसीमें उक्त गङ्गादि दृष्टान्त हैं ॥ १२५ ॥

'अतश्चरम०' इत्यादि । उक्त युक्तिसे अन्तिम कार्य स्पर्शादिका अपने अपने कारणमें लय होता है और त्वगादिका उसके कारणमें लय होता है ।

शङ्का—त्वक् स्पर्शका कारण नहीं है, किन्तु रूपादिके समान स्पर्श उसका गुण है, अतः त्वक्में लय कैसे हो सकता है ? कार्यका स्वकारणमें लय माना जाता है ।

समाधान—त्वक्शब्द यहां त्वग्ग्राह्य स्पर्शसामान्यमें लाक्षणिक है ।

कठिनः पार्थिवः स्पर्शः शीतोष्णौ जलवह्निजौ ।
मृदुर्वायोरिति स्पर्शविशेषा इह कीर्तिताः ॥ १२८ ॥

स्पर्शविशेषका स्पर्शसामान्यमें लय होता है, यह अर्थ प्रकृतमें विवक्षित है, क्योंकि सामान्यसे विशेषकी उत्पत्ति होती है, इसलिए विशेषका सामान्यमें लय होना ठीक ही है ॥ १२७ ॥

'कठिनः' इत्यादि । शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध—इन पांचोंका समूह पृथिवी है । यद्यपि नैयायिक गुणसे गुणीको अतिरिक्त मानते हैं, तथापि वेदान्तमतमें गुण और गुणीका भेद नहीं है । गुणात्मक ही द्रव्य माना जाता है, अतः पृथिवी पञ्चगुणसंघातात्मक है, जल रसादिचतुर्गुणात्मक है, तेज रूप आदि त्रिगुणात्मक है, वायु स्पर्शादिगुणद्वयात्मक है, और आकाश शब्दात्मक है, यह वस्तुस्थिति है । इसके अनुसार पृथिवीका स्पर्श कठिन है, जलका स्पर्श शीत है, तेजका स्पर्श उष्ण है, वायुका स्पर्श मृदु है और आकाश स्पर्शरहित द्रव्य है । पञ्चीकरणके अनुसार पृथिवी आदि पाँच भूत पञ्चात्मक हैं, अतः पृथिवीमें जलादिका भाग भी है, इसलिए जलादिगुण भी पृथिवी आदिमें उपलब्ध हैं ।

शङ्का—स्पर्शसामान्यका काठिन्यादिस्पर्शविशेषरूपसे परिणाम होनेपर भान कैसे होता है ?

समाधान—काठिन्यादिका स्पर्श और त्वक्के साथ सम्बन्ध होनेपर यदि उक्त स्पर्श उद्भूत है, तो 'अयं कठिनः स्पर्शः' इत्याकारक मनोवृत्तिरूप ज्ञान होता है । यद्यपि वह भी जड़ है, तथापि उसका साक्षीसे भास होता है ।

शङ्का—ज्ञानको स्वयंप्रकाश मानते हैं, उसीसे विषयका भान हो जायगा, फिर साक्षीकी क्या आवश्यकता है ?

समाधान—ज्ञान भी जड़ ही है, अतः घटादिके समान प्रकाशक नहीं हो सकता, इसलिए साक्षीकी परमावश्यकता है ।

शङ्का—ज्ञान अचेतन है, इसमें क्या प्रमाण ?

समाधान—'ज्ञानं परार्थम्, अचेतनत्वात्, स्पर्शादिवत्' यह अनुमान प्रमाण है । अन्यथा साक्षिस्वरूप हो जायगा । तात्पर्य यह है कि ज्ञान स्वप्रकाश है, यहांपर ज्ञान वृत्तिरूप विवक्षित है या साक्षिरूप ? प्रथम पक्षमें मनःपरिणाम-

लीयन्ते स्पर्शसामान्ये तद्विशेषा यथा तथा।
गन्धादीनां च सामान्ये तद्विशेषलयो भवेत् ॥ १२९ ॥

विशेष ज्ञान परार्थक होनेसे स्पर्श आदिके समान जड़ है, अतः प्रकाशक नहीं हो सकता। द्वितीय पक्षमें साक्षिस्वरूपता अनिवार्य है।

शङ्का—स्पर्श आदि विशेषका सामान्यमें लय कैसे होता है ?

समाधान—त्वग् आदि जन्य स्पर्श आदिका ज्ञान, इन्द्रिय और अर्थसे जन्य होनेके कारण, अतिस्थूल है, विषयसहित इन्द्रियका मनके साथ तादात्म्य होनेसे मन सूक्ष्म है, अतः स्थौल्यांशका त्याग होनेसे ज्ञान सूक्ष्म होता है, वही ज्ञान बुद्धिके तादात्म्यसे निरूप्यमाण होकर सूक्ष्मतर होता है, क्योंकि 'मनसस्तु परा बुद्धिः' इत्यादि श्रुतिवचनके अनुसार बुद्धि मनसे भी सूक्ष्म है, यह विद्वानोंको अविदित नहीं है, सामान्यकरणभूत वृत्ति चैतन्याख्य उस बुद्धिको व्याप्त करती है, इस क्रमसे विषयसहित इन्द्रिय आदिका प्रत्यगात्मामें लय होता है।

शङ्का—आत्माको दुःखादिका भान कैसे होता है ?

समाधान—अधर्म आदिसे अनिष्ट कण्टक आदिका योग होनेपर देहमें जब विकार होता है, तब देहमें व्याधि (दुःख) उत्पन्न होती है।

शङ्का—देहमें उत्पन्न दुःख देहस्थ है, वह बुद्धिस्थ कैसे होता है ?

समाधान—देहके एकदेशमें दुःख हुआ है, अतः देहमें दुःख है, एवं अहं बुद्धि भी देहविशिष्टविषयक होनेसे देहस्थ है; अतः आश्रय द्वारा दुःख भी बुद्धिस्थ हो जाता है। दुःखविशिष्ट 'अहमाकार' आदि वृत्ति अन्तःकरणको दुःखविशिष्ट करती है और अन्तःकरण सभास जीवको दुःखित करता है और जीव साक्षीमें दुःखको अर्पण करता है ॥ १२८ ॥

'लीयन्ते' इत्यादि। स्पर्शसामान्यमें जैसे स्पर्शविशेष लीन होते हैं, वैसे ही गन्धसामान्यमें गन्धविशेषका लय होता है। गन्धविशेष सुगन्ध और दुर्गन्ध। पृथिवीजलका अंश जब समानरूपसे तेजसे पकता है, तब सुरभिगन्ध होता है। समान परिपाकमें अदृष्ट भी हेतु है, अतः पुण्यकर्मप्रयुक्त गन्ध सुगन्ध कहलाता है। पार्थिव आदि अंशके विषम परिपाकसे जायमान दुरदृष्टनिमित्तक गन्ध असुरभि कहलाता है। एवं रसादि भेदकी भी उपपत्ति समझनी चाहिए ॥ १२९ ॥

गन्धरूपरसस्पर्शशब्दसामान्यपञ्चकम् ।
सङ्कल्प्यते तन्मनसा बुध्या निश्चाय्यते तथा ॥ १३० ॥
सङ्कल्पानां तु पञ्चानां मनःशब्दाभिधे लयः ।
भवेत् सङ्कल्पसामान्ये निश्चये योजयेत्तथा ॥ १३१ ॥
सङ्कल्पो निश्चयश्चैतौ ज्ञानशक्तेः समुद्गतौ ।
ज्ञानशक्त्याख्यसामान्ये लीयते तावुभावपि ॥ १३२ ॥
ज्ञानशक्तिविकासानां ज्ञानशक्तौ यथा लयः ।
क्रियाशक्तिविकासानां क्रियाशक्तौ तथा भवेत् ॥ १३३ ॥
आदानत्यागभेदानां कर्मणां हस्तसञ्ज्ञके ।
आदानत्यागसामान्ये लयोऽन्यत्राऽप्यसौ नयः ॥ १३४ ॥

'गन्धरूप०' इत्यादि । गन्ध, रूप, रस, स्पर्श और शब्द—इन पाँचोंका सङ्कल्प मनसे होता है, एवं उक्त पाँचोंका निश्चय बुद्धिसे होता है, सङ्कल्पात्मक मन है और अध्यवसायात्मक बुद्धि है । पहले सङ्कल्प होता है और तदन्तर निश्चय होता है, यह क्रम स्वाभाविक है ॥ १३० ॥

'सङ्कल्पानां' इत्यादि । शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध—इन पाँचोंके सङ्कल्पविशेषोंका मनःशब्दवाच्य सङ्कल्पसामान्यमें लय होता है । एवं शब्द आदि-विषयक निश्चयविशेषोंका हृदयशब्दवाच्य निश्चयसामान्यमें अन्तर्भावकी योजना करनी चाहिए अर्थात् उसके समान निश्चयसामान्यमें निश्चयविशेषका अन्तर्भाव समझना चाहिए, यह भाव है ॥ १३१ ॥

'सङ्कल्पो' इत्यादि । सङ्कल्प और निश्चय—ये दोनों ज्ञानशक्तिसे ही उत्पन्न होते हैं, सङ्कल्प भी ज्ञान ही है, अतः ये दोनों—सङ्कल्प और निश्चय ज्ञानशक्ति-सामान्यमें लीन होते हैं ॥ १३२ ॥

'ज्ञानशक्ति०' इत्यादि । ज्ञानशक्तिविकासोंका जैसे ज्ञानशक्तिमें लय होता है, वैसे ही क्रियाशक्तिविकासोंका क्रियाशक्तिमें लय होता है ॥ १३३ ॥

'आदान०' इत्यादि । आदान और त्यागविशेषोंका हस्त आदि करणके साथ याने आदानत्यागसामान्यमें लय होता है, अन्यत्र भी यही न्याय है । ज्ञानशक्तिके विषयमें लयका जो न्याय है, वह न्याय अन्यत्र क्रियाशक्तिके विषयमें भी है ॥ १३४ ॥

विसर्गानन्दगमनभाषणानां लये सति ।
प्राणे गत्यादिसामान्ये पञ्चकं प्रविलीयते ॥ १३५ ॥
क्रियाशक्त्याख्यसामान्ये लीयते प्राणपञ्चकम् ।
ज्ञानशक्तिक्रियाशक्त्योर्लयो ब्रह्मणि मायिनि ॥ १३६ ॥
विषयाणां लयः प्रोक्तो नेन्द्रियाणां श्रुताविति ।
न मन्तव्यं यतोऽक्षाणां ग्राह्यजातीयतेष्यते ॥ १३७ ॥
एकं वाय्वाख्यसामान्यं ग्राह्यग्राहकरूपतः ।
स्पर्शस्त्वक्चेति भिन्नं स्यादेवं सर्वत्र योज्यताम् ॥ १३८ ॥

'**विसर्गानन्द०**' इत्यादि । पायु, उपस्थ, पाद और वाक्‌से जन्य क्रिया-विशेष विसर्ग आदिका तत्-तत् क्रियासामान्यमें लय होनेके अनन्तर गत्यादि पाँच क्रियासामान्यका, प्राणाधीन उत्पत्ति, स्थिति और लय होनेके कारण, स्वहेतु पञ्चवृत्ति प्राणमें लय होता है ॥ १३५ ॥

'**क्रिया०**' इत्यादि । उक्त पञ्चवृत्त्यात्मक प्राणका क्रियाशक्ति सामान्यमें अन्तर्भाव होता है और ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्तिका लय मायाविशिष्ट ब्रह्ममें होता है ॥ ३६ ॥

शङ्का—फिर भी सम्पूर्ण जगत्‌का लय सिद्ध नहीं हुआ, कारण कि चक्षुरादि करणोंका लय श्रुतिने नहीं बतलाया है, इसीको कहते हैं—'**विषयाणाम्**' इत्यादिसे । श्रुतिमें विषयोंका लय कहा गया है, इन्द्रियोंका नहीं ।

समाधान—ऐसा नहीं समझना चाहिए, कारण कि इन्द्रियग्राह्य विषय तज्जातीय हैं अर्थात् जो इन्द्रिय जिस विषयका ग्रहण करती है, वह विषय तज्जातीय होता है, अतः विषयलयके कथनसे तज्जातीय इन्द्रियोंका भी लय सङ्गृहीत हो जाता है ॥ १३७ ॥

'**एकं**' इत्यादि । करण ग्राह्यजातीय है, इसको स्फुट करते हैं । अव्याकृतसे उत्पन्न भूतसूक्ष्म शब्द, स्पर्श आदि गुणविशिष्ट स्थूलभूतात्मस्वरूपसे और श्रोत्र, त्वग् आदिरूपसे परिणत हुआ, अतः श्रोत्र, त्वग् आदि करण और शब्द, स्पर्श आदि विषय एकजातीय हैं, यह स्पष्ट सिद्ध होता है, इसे कहते हैं—एक वाय्वाख्यसामान्य अव्याकृत सूक्ष्मवायु ग्राह्य स्पर्श और ग्राहक त्वक् एतदुभय-रूपसे परिणत हुआ अर्थात् स्पर्श और त्वक् हुआ । इसी प्रकार सर्वत्र अवशिष्ट ग्राह्य और ग्राहकको भी समझना चाहिए ॥ १३८ ॥

ग्राहकग्राह्यनियम एकजातित्वसाधकः ।
ग्राह्यग्राहकयो रूपदीपयोस्तैजसत्वतः ॥ १३९ ॥
सर्वभूतात्मकत्वात्तु सर्वार्थग्रहणं द्वयोः ।
मनोबुद्ध्योरिति ज्ञेयमन्यथा तदसम्भवात् ॥ १४० ॥

'ग्राहक०' इत्यादि । ग्राह्यजातीय ग्राहकसे ग्राह्यका ग्रहण होता है, यह नियम ग्राह्य रूपके ग्राहक प्रदीपमें दृष्ट है। उक्त नियममें यह अनुमान प्रमाण है—'चक्षुस्तैजसम्, रूपादिषु मध्ये रूपस्यैवाऽभिव्यञ्जकत्वात्, प्रदीपवत्' अर्थात् चक्षु तैजस है, क्योंकि वह रूपका ही प्रकाशक है, प्रदीपके समान। एवं घ्राणं पार्थिवम्, रूपादिषु मध्ये गन्धस्यैवाऽभिव्यञ्जकत्वात्, कुङ्कुमगन्धव्यञ्जकघृतवत्'; त्वक् वायवीयम्, रूपादिषु मध्ये स्पर्शस्यैवाऽभिव्यञ्जकत्वात्, व्यजनवायुवत्'; श्रोत्रं नाभसम्, रूपादिषु मध्ये शब्दस्यैवाऽभिव्यञ्जकत्वात्, वेणुविवरवत ; रसनं जलीयम्, रूपादिषु मध्ये रसस्यैवाऽभिव्यञ्जकत्वात्, सक्तुरसाभिव्यञ्जकोदकवत्' इत्यादि अनुमानप्रकार अन्यत्र विस्तृत हैं। यहां संक्षेपसे इसलिए कहे गये हैं कि तार्किकका भी ऐसा ही सिद्धान्त है, अतः इस विषयमें विशेष निरूपणकी आवश्यकता नहीं है ॥१३९॥

शङ्का—'अन्नमयं हि सोम्य मनः' इत्यादि श्रुतिसे अन्नमात्रके मन और बुद्धि कार्य हैं, ऐसा निश्चित होता है। कार्य कारणसमानजातीय होते हैं, इस नियमसे मन एवं बुद्धिको पार्थिव मानना ही उचित होगा, किन्तु वे दोनों शब्दादिके भी ग्राहक हैं, अतः उक्त अनुमान असंगत है।

समाधान—'सर्वभूता०' इत्यादि। 'विमते मनोबुद्धी भूतपञ्चकसजातीये, तद्ग्राहकत्वात्, यद् यद्ग्राहकं तत् तत्सजातीयम्, यथा रूपग्राहको दीपः तत्सजातीयः', इस अनुमानसे यह ज्ञात होता है कि मन और बुद्धि केवल पार्थिव ही नहीं हैं, किन्तु पाञ्चभौतिक हैं; अतएव उनसे पाँच भूतोंके गुणोंका ग्रहण होता है। यही पाञ्चभौतिकत्वका साधक है, अन्यथा घ्राणादिके समान वे केवल पार्थिव गुणके ही ग्राहक होते, ऐसा है नहीं, अतः मन और बुद्धि पाञ्चभौतिक हैं, यह सिद्ध होता है। यतः मन और बुद्धि सर्वभूतात्मक हैं, अतएव उन दोनोंमें सर्वार्थग्राहकत्व है, अन्यथा—यदि सर्वभूतात्मक न होते, तो—दोनोंसे सब अर्थोंका ग्रहण नहीं होता। दोनों सर्वार्थके ग्राहक हैं, अतः सर्वभूतात्मक हैं यह मानना चाहिए ॥ १४० ॥

मनोऽन्नमयमित्येषा श्रुतिः पार्थिवरूपताम् ।
ब्रूते मनसि नैवाऽन्यभूतात्मत्वं निवारयेत् ॥ १४१ ॥
विषयप्रलयेनाऽक्षप्रलयस्योदितत्वतः ।
लयः सर्वस्य जगतो ब्रह्मणीत्यत्र सुस्थितम् ॥ १४२ ॥
एवं मन्तव्य आत्माऽयमर्थासम्भवनुत्तये ।
दुन्दुभ्याद्युक्तदृष्टान्तन्यायमार्गेण यत्नतः ॥ १४३ ॥

शङ्का—यदि मन और बुद्धि पाँच भूतोंके कार्य हैं, तो अन्नमयत्वबोधक उक्त श्रुतिकी क्या गति होगी ?

समाधान—'**मनोऽन्नमय०**' इत्यादि। उक्त श्रुति मन और बुद्धि पार्थिव हैं, इतने मात्रका बोधन करती है, किन्तु यह नहीं कहती कि वे पार्थिव ही हैं और दूसरे भूतोंके कार्य नहीं हैं। यदि अवधारणार्थ एवकार होता, तो यह शङ्का हो सकती, पर वैसा है नहीं, अतः पूर्वोक्त श्रुति मन और बुद्धिमें पाञ्चभौतिकत्वकी बाधक नहीं है। पूर्वोक्त अनुमानसे ग्राह्यग्राहकोंमें समानजातीयत्वका नियम यहां भी सिद्ध होता है ॥१४१॥

'**विषय०**' इत्यादि। विषयोंके प्रलयका कथन करनेसे करणोंका भी प्रलय सूचित हुआ, अतः सब जगत्‌का प्रलय ब्रह्ममें होता है; यह अर्थ सुस्थिर हुआ, इसमें सन्देह नहीं है ॥ १४२ ॥

मननविधिके प्रपञ्चका उपसंहार करते हैं—'**एवम्**' इत्यादिसे।

सब आत्मा है, यों तर्कसे मनन करना चाहिए, इसमें जो यह असंभव प्रतीत होता है कि बाह्य घट, पट आदि सब आत्मा कैसे हो सकते हैं ? उसकी निवृत्तिके लिए 'दुन्दुभि' आदि दृष्टान्तका उपन्यास किया गया है। उक्त दृष्टान्त द्वारा यह समझाया गया कि जो विशेष हैं, वे सब सामान्यसे उत्पन्न होते हैं, उन्हींमें स्थित रहते हैं और उन्हींमें लीन होते हैं, अतः विशेष सामान्यात्मक ही है। तत्-तत् सामान्य भी ब्रह्म सामान्यकी अपेक्षा विशेष हैं। सबका सामान्य ब्रह्म ही है, कारण कि ब्रह्मसे ही साक्षात् या परम्परया सम्पूर्ण संसारकी उत्पत्ति, स्थिति और लय होता है, अतः सब जगत् ब्रह्मसे अभिन्न है, इसलिए आत्मा ही सब है, इस प्रतिज्ञाका पूरा समर्थन हुआ ॥ १४३ ॥

अपरायत्तबोधाख्यनिदिध्यासनसिद्धये ।
आत्यन्तिकलयं वक्तुं खिल्यदृष्टान्त उच्यते ॥ १४४ ॥

श्रुतिः—स यथा सैन्धवखिल्य उदके प्रास्त उदकमेवानु विलीयेत न हास्योद्ग्रहणायेव स्याद्यतो यतस्त्वाददीत लवणमेवैवं वा अरे इदं महद्भूत-

---

'अपरायत्त०' इत्यादि । अपरायत्त बोधरूप निदिध्यासनकी व्याख्या पूर्वमें कर चुके हैं। निदिध्यासन दो प्रकारके होते हैं—उनमें एक ध्यानशब्दसे कहा जाता है और दूसरा परिशुद्ध चित्त होनेपर 'तत्त्वमसि' आदि वाक्यजन्य चरमात्मक तत्त्वज्ञानरूप है । इसी निदिध्यासनकी सिद्धिके लिए खिल्यदृष्टान्त कहा जाता है । ये दोनों श्लोक युग्म हैं अर्थात् दोनोंका अन्वय एक साथ ही है । अर्थासंभवके निराकरणके लिए प्रयत्नपूर्वक अनेक दुन्दुभि आदिके दृष्टान्त दिये गये हैं । आत्यन्तिक प्रलयको कहनेके लिए खिल्य दृष्टान्त कहा गया है अर्थात् कार्यकारणात्मक प्रपञ्चका कार्यकारणविलक्षण ब्रह्ममें ज्ञानसे लय होता है, ऐसा प्रतिपादन करनेके लिए श्रुतिमें खिल्य दृष्टान्त कहा गया है, वह आगे स्फुट होगा ॥१४४॥

'स यथा सैन्धवखिल्य' इत्यादि श्रुति । 'स' यह दृष्टान्तार्थक है । सैन्धवखिल्य याने समुद्रसे उत्पन्न नमकका टुकड़ा । सिन्धुका विकार सैन्धव कहलाता है । सिन्धुशब्दसे यहां समुद्रका जल विवक्षित है । 'स्यन्दू प्रस्रवणे' ऐसा पाणिनीय धातुपाठ है । उसके अनुसार स्यन्दन होनेके कारण जल सिन्धु कहा जाता है । उसका विकार याने उससे उत्पन्न सैन्धव कहलाता है । 'स चाऽसौ खिल्यश्च' इस व्युत्पत्तिसे सैन्धवरूपी खिल्य सैन्धवखिल्य कहा जायगा। खिल एव खिल्यः यों स्वार्थमें खिलशब्दसे यत् प्रत्यय है । वह सामुद्रिक नमकका ढेला स्वयोनि—स्वकारण—समुद्रमें गिरकर जलरूपसे विलीन हो जाता है अर्थात् जो भूमिके तेजके योगसे कठिन हुआ था, उस ढेलेका काठिन्य स्वकारण समुद्र-जलके संपर्कसे हट जाता है । यही जलका विलयन है । तदन्तर सैन्धवखिल्यका विलयन कहा है । यद्यपि 'उदकविलयनमनुविलीयते' इस भाष्यसे यह अर्थ निकलता है कि उदकके विलियनके बाद उक्त ढेलेका विलयन होता है, पर यह अर्थ ठीक नहीं है, कारण कि उदकका विलयन तो होता नहीं, केवल ढेलेका ही विलयन होता है, इसलिए भाष्यकारने स्वतः ही अपने आशयको व्यक्त किया है कि यहां उदकविलयनका तात्पर्य काठिन्यविलयनमें हैं। काठिन्यविलयके बाद ही सैन्धवखिल्यका विलय

मनन्तमपारं विज्ञानघन एवैतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानु विनश्यति न प्रेत्य संज्ञाऽस्तीत्यरे ब्रवीमीति होवाच याज्ञवल्क्यः ॥ १२ ॥

अनुभवसिद्ध है। 'उदकमेवानुविलीयेत' इस श्रुतिके अनुसार भाष्यकारको उक्त अर्थ करना पड़ा। यहां 'ह' शब्द एवकारार्थक है। उस विलीन ढेलेको समुद्र-जलसे पूर्ववत् निकालनेमें कोई समर्थ नहीं है। कितना भी कुशल पुरुष क्यों न हो, वह पूर्व आकारवाले ढेलेको निकाल नहीं सकता, यह अनुभवसिद्ध है। 'इव' शब्द यहां अनर्थक है।

शङ्का—क्यों नहीं समर्थ है ?

समाधान—जिस जिस प्रदेशसे जलका ग्रहण कर आस्वादन करते हैं, उस जलमें नमकका ही स्वाद रहता है, ढेला नहीं मिल सकता, जैसे यह दृष्टान्त है, वैसे ही अरे मैत्रेयि! जो यह परमात्माख्य वस्तु है, उस महान् वस्तुसे अविद्या द्वारा परिच्छिन्न होकर कार्यकारणोपाधिसंबन्धसे तुम खिल्यभावको प्राप्त हुई हो। जन्म, मरण, भूख, प्यास आदि संसारधर्मवती हुई हो। कार्यात्मकनामरूपके सम्बन्धसे 'अहम्' ऐसा खिल्यभाव तुमको प्राप्त हुआ है। यह खिल्यभाव कार्यकारणशरीरेन्द्रियोपाधिसबन्धसे जनित भ्रान्ति द्वारा उत्पन्न हुआ है। इससे तुम अपनेको परिच्छिन्न और संसारधर्मविशिष्ट मानती हो। वस्तुतः भ्रान्तिसे ही समुद्रस्थानीय अजर, अमर, अभय और शुद्ध सैन्धवघन-के समान एकरस, प्रज्ञानघन, अपार, निरन्तर और अविद्याजनितभ्रान्तिभेदवर्जित ब्रह्ममें यह खिल्यभाव तुमने स्थापित किया है। एवंभूत इस आत्मामें उसके प्रविष्ट होनेपर—खिल्यभावके स्वकारणग्रस्त होनेपर—अर्थात् खिल्यभावके निवृत्त होनेपर (अविद्या-कृत भेदभावका समूल नाश होनेपर) यही एक अद्वैत महान्भूत—सबसे महत्तर—, जो आकाश आदिका भी कारण है, तीनों कालोंमें एकरूपसे रहता है, इसलिए 'भूत' कहा जाता है, यह निष्ठाप्रत्यय त्रैकालिक है, तीनों कालोंसे स्वरूपका व्यभिचार नहीं होता यानी सदा परिनिष्पन्न ही रहता है, अथवा भूतशब्द परमार्थवाची यहाँ विवक्षित है, महाभूतशब्दका अर्थ महत् और पारमार्थिक है।

शङ्का—महत् कहनेके बाद पारमार्थिक विशेषण क्यों दिया ?

समाधान—स्वप्नमायाकृत पदार्थ हिमवान् पर्वतके समान महान् होता है, किन्तु पारमार्थिक नहीं होता, उसकी व्यावृत्तिके लिए पारमार्थिक विशेषण दिया है। प्रकृतमें महान् ब्रह्म पारमार्थिक है। अनन्तम्, न अन्तोऽस्येति अनन्तम् अर्थात् जिसका अन्त नहीं है, किन्तु सबके अन्तका वही साक्षी है, उसका यदि अन्त कहा जाय, तो

उसका साक्षी कौन होगा ? असाक्षिक अन्त माननेमें कोई प्रमाण नहीं है और निष्प्रमाण वस्तुका स्वीकार कोई नहीं करता। किसी कालमें अनन्त है, सर्वदा नहीं, इस प्रकारके आपेक्षिक आनन्त्यका वारण करनेके लिए 'अपारम्' यह विशेषण कहा गया है। 'विज्ञप्तिर्विज्ञानम्, विज्ञानञ्च तत् घनश्चेति विज्ञानघनः। विज्ञायतेऽस्मिन्निति विज्ञानम्' इस अधिकरणव्युत्पत्तिके निरासार्थ भावव्युत्पत्ति कही गई है। एव-शब्दका अवधारण अर्थ है। घनशब्द अन्य जातिके प्रतिषेधके लिए है; जैसे 'सुवर्णघनः' इत्यादि कहनेसे सुवर्ण ही है, जात्यन्तर नहीं, एवं प्रकृतमें विज्ञानघन ही है, तद्विलक्षण जात्यन्तर नहीं है।

शङ्का—यदि ब्रह्म परमार्थतः एक और अद्वितीय है तथा स्वच्छ एवं संसार-दुःखसे असंसृष्ट है, तो किस कारणसे वह खिल्यभावको प्राप्त हुआ, क्योंकि जातः, मृतः, सुखी, दुःखी, अहं, मम इत्यादि अनेक संसारधर्मोंसे उपद्रुत आत्मा संसार-दशामें प्रतीत होता है।

समाधान—यह जो कार्यकरणभूत शरीरेन्द्रियादि नामरूपात्मक प्रपञ्च जलके फेन या बुद्बुद्के समान प्रतीत होता है, वह स्वच्छ सलिलस्वरूप परमात्माका ही है जैसे फेनादि जलसे अतिरिक्त नहीं हैं, किन्तु अतिरिक्त-से प्रतीत होते हैं, वैसे ही शरीर आदि आत्मस्वरूपमें प्रतीत होते हैं। जिन विषयपर्यन्त पदार्थोंका प्रज्ञानघन आत्मामें परमार्थविवेक ज्ञानसे नदीसमुद्रवत् प्रविलापन कहा गया है, इन्हीं हेतुभूत सत्य-शब्दवाच्य भूतोंसे सैन्धवखिल्यवत् समुत्पन्न होकर आगे उन्हींसे नष्ट होते हैं। प्रश्नका उत्तर यह निकला कि जैसे तेजःसंयोगसे जलका खिल्यभाव होता है, वैसे ही शरीर आदिके सबन्धसे आत्मामें खिल्यभाव प्राप्त हुआ है।

शङ्का—जल तो सावयव है, इसका विकार यानी रूपान्तरप्राप्ति हो सकती है, आत्मा तो कूटस्थ नित्य है, अतः उसका खिल्यभाव कैसे हुआ ?

समाधान—जैसे जलसे सूर्य और चन्द्रका प्रतिबिम्ब होता है एवं जैसे स्फटिक-मणिमें जपाकुसुम आदिके संसर्गसे तद्भावका ज्ञान होता है, वैसे ही कार्यकारणभूत भूतोपाधिसे विशेषात्मखिल्यभावसे अर्थात् अहमित्यादि खिल्यभावसे समुत्थित होकर जब शास्त्राचार्योपदेश द्वारा प्राप्त ब्रह्मविद्यासे आत्मविशेषखिल्यभावके हेतुभूत कार्यकरणात्मक विषयाकारोंमें परिणत भूतोंका, नदीसमुद्रन्यायसे, प्रविलापन किया जाता है, अर्थात् वे नष्ट हो जाते हैं, तब—सलिलफेनबुद्बुद्के समान उनका नाश होनेपर पीछे—खिल्यभाव भी नष्ट हो जाता है। जैसे प्रतिबिम्बके हेतु जल,

रक्तभावके हेतु जपाकुसुम आदिके हटानेपर सूर्यका प्रतिबिम्ब और स्फटिकका रक्त-भाव नष्ट हो जाता है अर्थात् सूर्यादिरूपसे परमार्थतः व्यवस्थित हो जाता है । वैसे ही उक्त प्रतिबिम्ब जीव ब्रह्मरूपसे अवस्थित हो जाता है। उस कैवल्यमें विशेषसंज्ञा नहीं रहती, शरीरेन्द्रियादिसे रहितकी विशेषसंज्ञा हो ही नहीं सकती, इसलिए अरे मैत्रेयि ! मैं कहता हूं कि उस समय विशेषसंज्ञा नहीं है, असौ, अहम्, मेरा यह है, अमुकका पुत्र हूं, मेरा क्षेत्र धन है, सुखी, दुःखी इत्यादि सब अविद्याकृत हैं, अतएव वे अविद्यासद्भाव तक ही रहते हैं । जब अविद्या ब्रह्मविद्यासे निवृत्त हो जाती है, तब विशेषसंज्ञा कैसे हो ? निमित्तके अभावसे नैमित्तिकका अभाव 'निमित्तापाये नैमित्तिकस्याऽप्यपायः' इस न्यायसे सिद्ध है । उस समय ब्रह्मवेत्ता चैतन्यस्वभाव रहता है । वस्तुतः शरीरादि-सद्भावदशामें भी जब विशेषसंज्ञा नहीं हो सकती तब कैवल्यमें विशेषसंज्ञाभाव कैमुतिकन्यायसे सिद्ध है । यह परमार्थ-दर्शन महर्षि याज्ञवल्क्यजीने भार्या मैत्रेयीसे कहा। संक्षिप्त तात्पयार्थ यह है कि हम लोगोंकी जैसे सुषुप्ति अवस्था है, वैसे ही सृष्टिपूर्वकालकी अवस्था परमात्माकी सुषुप्ति अवस्था है और हम लोगोंकी स्वप्नावस्थाके समान परमात्माकी सृष्टि स्वप्न अवस्था है । सुषुप्तिमें कुछ भान नहीं होता, यहां तक कि अहमर्थका भी भान नहीं होता। स्वाप्निक भोगजनक अदृष्टवश पूर्वसंस्कार जब उद्बुद्ध होते हैं, तब मनका सन्निकर्ष आत्माके साथ होता है। मनने यदि राज्यकी कल्पना की, तो राजसामग्री तुरत उपस्थित हुई। शिकार खेलनेकी इच्छा हुई, तो जंगल, पहाड़ सब दीख पड़ने लगे । जो जो कल्पना मन करता गया, सो सो सब उपस्थित होता गया, तदुचित भोग भी होने लगे । शत्रुकी कल्पनासे शत्रु भी तैयार हो गया, युद्ध भी होने लगा, पर वास्तवमें कुछ नहीं था । जागनेपर पूरा विश्वास होता है कि उस अवस्थामें भी केवल मैं ही था और जिन साधक, बाधकोंको हम देखते थे, वे नहीं थे, केवल अज्ञानवश सुख-दुःख हुआ । यथार्थमें उनकी सामग्री कुछ नहीं थी। उसका अभाव त्रैकालिक था। एवं 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्' इस श्रुतिके अनुसार इस प्रतीयमान जगत्से पूर्व अद्वितीय ब्रह्मसे अतिरिक्त कुछ नहीं था, किन्तु सृज्यमान प्राणीके भोगजनक अदृष्टसे उक्त ब्रह्ममें अविद्या प्रादुर्भूत हुई। अविद्याके अतिस्वच्छ होनेसे उसमें चैतन्यका प्रति-बिम्ब पड़ा, जैसे जलादिमें सूर्य्यका प्रतिबिम्ब पड़ता है । उस आभाससे अविद्या चेतन-सी प्रतीत होने लगी । उस चिदाभास चित्प्रतिबिम्बने मनके लिए कामना की कि हम मनस्वी हों, इस कल्पनाके अनन्तर ही वह मनसे संयुक्त हुआ ।

सामुद्रमम्भो लवणक्षेत्रे भानुविपाकतः ।
लवणोपलतां प्राप्य सैन्धवः खिल्य उच्यते ॥ १४५ ॥

शङ्का—कल्पना तो मनसे ही होती है, मनके सम्बन्धके पूर्व कल्पना कैसे हुई?

समाधान—अन्य कल्पनाओंमें उक्त नियम है, परन्तु आदि कल्पनामें वह नियम नहीं है अथवा मन और कल्पना दोनों साथ ही उत्पन्न हुए, अतः वह प्रतिबिम्ब मनोवच्छिन्न हुआ ।

मनकी दो वृत्तियाँ हैं—एक संकल्पात्मक और दूसरी अध्यवसायात्मक। अध्यवसायात्मक वृत्तिको बुद्धि कहते हैं। बुद्धि संकल्पात्मक वृत्तिसे सूक्ष्म होती है। बुद्ध्यवच्छिन्न होकर ब्रह्म अहंकारावच्छिन्न हुआ, अहंकार भी एक प्रकारकी मनकी वृत्ति ही है, अहंकारावच्छिन्न होनेपर शरीरकी कामना हुई, बस शरीरी प्रतीत होने लगा, शरीरके सम्बन्धके बाद कलत्र, पुत्र आदि निखिल जगत्की कल्पनासे सारा संसार स्वप्नके समान प्रतीत होने लगा। यह प्रतीति तब तक रहती है, जबतक ब्रह्मज्ञानरूप जागर अवस्था नहीं आती, यह अवस्था श्रवण, मनन आदि साधनसामग्रीसे ही होती है। इस अभिप्रायसे श्रुतिने ठीक ही कहा कि 'इदं सर्वं यदयमात्मा'। कल्पित अधिष्ठानस्वरूप ही होता है तदतिरिक्त नहीं होता, यही दुन्दुभि आदि अनेक दृष्टान्तोंसे समझाया गया है । अद्वितीयात्मतत्त्वज्ञानसे मुक्ति और उसके अज्ञानसे बन्ध होता है, यह अद्वैत वेदान्तका सिद्धान्त है। यद्यपि इसमें भी माया या अविद्या यदि पूर्वमें नहीं थी, तो आई कैसे? असत्का तो आविर्भाव होता नहीं, एवं संस्कारादिमें भी यह आक्षेप हो सकता है, तथापि संसार अनादि है, अतः पूर्वकल्पके संस्कारादि उत्तरोत्तर संसारमें निदान हैं, यह सब दर्शनोंमें समान उत्तर है। जो कर्मसे संसार मानते हैं, उनके मतमें शरीरादिके सम्बन्धसे कर्म और कर्मसम्बन्धसे शरीर आदि, ऐसा माना जाता है। प्रथम कौन है? इसका उत्तर उक्त उत्तरसे अतिरिक्त नहीं हो सकता ॥ १२ ॥

सैन्धव और खिल्य—इन दोनोंका अर्थ कहते हैं—'सामुद्र०' इत्यादिसे ।

'समुद्रस्येदं सामुद्रम्' अर्थात् समुद्रसम्बन्धी जलका नाम सिन्धु है, सिन्धुसे आगत या सिन्धुका विकार सैन्धव कहलाता है, सामुद्र जल नमककी खानमें आकर सूर्य्यके तापसे पककर नमकका पत्थर-सा ढेला बन जाता है, यही खिल्य कहलाता है। यद्यपि नमककी खानमें कोई भी पानी ठहरता है, तो वह नमक हो जाता है, पानी ही नहीं,

स खिल्य उदधौ क्षिप्तस्तापशान्तौ विलीयते ।
अशक्यः पुनरुद्धर्तुं खिल्यरूपेण पूर्ववत् ॥ १४६ ॥

काष्ठादि कोई भी पड़े, तो वह नमक हो जाता है, एवं नमकके ढेलेको समुद्रमें छोड़िये या किसी नदी या कूपके जलमें छोड़िये, पूर्ववत् उसका निकालना सर्वत्र असंभव-सा ही है, तो फिर समुद्रका नाम क्यों विशेषरूपसे लिया गया ? इसका उत्तर यह है कि सब जलका मूल स्थान समुद्र ही है, इसलिए प्राधान्यसे समुद्रका नाम श्रुतिमें आया है। समुद्रका ही जल नमक होता है, फिर समुद्रमें ही छोड़नेसे दुष्प्राप हो जाता है, ऐसा श्रुतिका निर्देश नहीं है। वस्तुतस्तु सिन्धुशब्दसे समुद्रका जल प्रकृतमें विवक्षित नहीं है, किन्तु 'स्यन्दनात्सिन्धुः' इस व्युत्पत्तिसे जलसामान्य विवक्षित है, अतः जलसामान्य नमककी खानमें पड़कर सूर्यके तापसे नमकका पत्थर-सा ढेला हो जाता है। उसका जलसामान्यमें प्रक्षेप करनेपर पूर्ववत् निष्कासन नहीं हो सकता, यह तात्पर्य है, इस अर्थमें कोई शङ्का ही नहीं है। वार्तिकमें समुद्रजलका कथन प्रसिद्धिके तात्पर्यसे उपलक्षण है ॥ १४५ ॥

'स खिल्य' इत्यादि। उस टुकड़ेका जलमें प्रक्षेप करनेके अनन्तर जलमें वह टुकड़ा विलीन हो जाता है, कारण कि काठिन्यका आरम्भक सौर (सूर्यका) ताप है, उसका विरोधी जल है और जलका अग्निके साथ विरोध लोकानुभवसिद्ध है। जलसे काठिन्यारम्भक तापकी शान्ति होनेपर 'निमित्तापाये नैमित्तिकस्याप्यपायः' इस न्यायसे काठिन्यकी भी निवृत्ति हो जाती है। काठिन्यकी निवृत्ति होनेसे खिल्यभावकी भी निवृत्ति हो जाती है अर्थात् जलरूप हो जाता है, इसलिए उस ढेलेका पूर्वके समान उद्धार अशक्य हो जाता है। तात्पर्य यह है कि लवणोदकका अपना अकृत्रिम याने स्वाभाविक जो रूप था, औपाधिक खिल्यभावकी निवृत्तिके अनन्तर वही रूप पुनः प्राप्त हुआ।

शङ्का—यदि केवल तेजके संयोगको ही खिल्यभावका कारण मानते हो, तो नमककी खानरूप पृथिवी क्या खिल्यभावकी कारण नहीं है ?

समाधान—क्यों नहीं ? अन्वयव्यतिरेकसे उक्त पृथिवी भी खिल्यभावकी कारण है, अन्यथा अन्यत्र भी उक्त तापसे जल नमक हो जायगा, अन्यत्र होता नहीं, इसलिए पृथिवी आदि भी कारण है ॥ १४६ ॥

खिल्योद्धृत्यै नीरमब्धावाददीत यतो यतः ।
तत्र तत्र रसो लभ्यः खिल्यस्त्वेष न कुत्रचित् ॥ १४७ ॥
सामुद्रस्याऽम्भसस्तापात् खिल्यतैवं परात्मनः ।
आब्रह्मस्तम्बपर्यन्तं जीवता स्यादविद्यया ॥ १४८ ॥
महद्भूतमनन्तं स्यादपारं चिद्घनं स्वतः ।
देहेन्द्रियाख्यभूतेभ्यो जीवत्वेन समुत्थितिः ॥ १४९ ॥

'खिल्योद्धृत्यै' इत्यादि । खिल्यको (नमकके ढेलेको) चाहनेवाला पुरुष उसे निकालनेके लिए समुद्रके जिस जिस प्रदेशमें चेष्टा करता है, वहाँसे जलका ही ग्रहण करता है और उसमें नमकका रस पाया जाता है, किन्तु पूर्ववत् खिल्य-स्वरूपकी प्राप्ति नहीं होती ॥ १४७ ॥

'सामुद्रस्याऽ०' इत्यादि । जैसे तापसे समुद्रका जल खिल्यभावको प्राप्त होता है, वैसे ही परब्रह्म भी आब्रह्मस्तम्बपर्यन्त अर्थात् कार्य ब्रह्मसे लेकर तृणतक अविद्यासे जीवभावको प्राप्त होता है । तात्पर्य यह है कि यदि ब्रह्म अविद्यासे कार्य-कारणात्मक प्रपञ्च तथा जीवभावको प्राप्त हुआ है, ऐसा माना जाय, तो ज्ञानसे अज्ञानकी निवृत्ति होनेपर 'कारणाभावात् कार्याभावः' इस न्यायसे सप्रपञ्च जीवभावकी निवृत्ति होनेसे ब्रह्मका स्वस्वरूपसे अवस्थान हो सकता है । यदि जीवभाव ही अविद्याकृत है, प्रपञ्च नहीं अथवा प्रपञ्च ही अविद्याकृत है जीवभाव नहीं, ऐसा माना जाय, तो एकतरकी निवृत्ति होनेपर अद्वितीय आत्मस्वरूपसे ब्रह्मका अवस्थान नहीं हो सकता, कारण कि अद्वितीयत्वविरोधी एकतर कोटि अवस्थित है, अतः अनात्ममात्र तथा सप्रपञ्च जीव अविद्याकृत है, यह कहना होगा । इस परिस्थितिमें ज्ञानसे सप्रपञ्च अज्ञानकी निवृत्ति होनेसे जीवभावकी निवृत्ति आवश्यक है ॥ १४८ ॥

'महद्भूत०' इत्यादि । महद्भूत याने अनन्त, अपार याने स्वतः चिद्घन ब्रह्म देह, इन्द्रिय आदि भूतों द्वारा जीवभावसे समुत्थित होता है ।

शङ्का—भूतशब्दका प्रयोग पाँच महाभूतोंमें प्रसिद्ध है, किन्तु प्रकृतमें देह, इन्द्रिय आदिमें जो उसका प्रयोग हुआ है, इसमें क्या साधक है ?

समाधान— जो पाँच महाभूत प्रसिद्ध हैं, वे जीवभावके उत्थापक नहीं हो सकते और श्रुतिमें क्षेत्रज्ञके उत्थापकत्वरूपसे भूतोंका श्रवण है, इसलिए प्रकृत अर्थके अन्वयोपयोगित्वरूपसे भूतशब्द भूतारब्ध शरीरादिपरक है, ऐसा उक्त श्रुतिका भाव

है। इसी अभिप्रायसे भाष्यकार, वार्तिककार आदिने व्याख्यान भी किया है। वस्तुतस्तु जिसमें सब कार्य लीन होते हैं, वही मूलकारण अविद्या भूतशब्दार्थ है। अतएव आचार्य वाचस्पतिमिश्रका यह वचन है—'नामरूपबीजशक्तिभूतमव्याकृतं भूतसूक्ष्मम्'। प्रकृतमें आविद्यिक शरीरादि भी हैं, इसलिए उनमें भी भूतशब्दका प्रयोग किया गया है। पाँच महाभूतोंमें प्रायः भौतिक पदार्थोंका लय देखा जाता है, इसलिए उनमें विद्वान् भूतशब्दका प्रयोग करते हैं। उसीके अनुसार प्रसिद्धि भी है। इसीलिए वाचस्पति प्रभृति विद्वानोंने अविद्यामें मुख्य भूतशब्दका प्रयोग किया है, अन्यत्र गौण। इससे यह निष्कर्ष निकला कि अविद्याप्रयुक्त ही ब्रह्ममें जीवभाव है। तत्त्वज्ञानसे अविद्याकी निवृत्ति होनेपर तन्निबन्धन जीवभावका विलय होनेसे केवल चिन्मात्र ब्रह्म ही अवशिष्ट रहता है। अतएव उस समय विशेष संज्ञाका उसमें सम्भव ही नहीं है। अविद्या अनेकरूपा है, अतः उसके संबन्धसे आत्मा भी कार्यकारणभावको प्राप्त होता है और साभास मन, बुद्धि आदि उपाधियोंके भेदसे बहुभावको प्राप्त होता है। जितने आभास उत्थित हैं, वे सब अज्ञानजन्य हैं, इसमें विवाद नहीं है। आत्मासे समुत्थित हुआ प्रथम अज्ञान 'नाऽवेदिषं मूढोऽहमस्मि' इस प्रकार अग्रहात्मक मिथ्याज्ञान करता हुआ उसके सदृश अन्य मिथ्याज्ञानका जनक होता है। बुद्धि अविद्याकी कार्य है, उसमें प्रतिबिम्बित चैतन्य (चिदाभास) बोद्धा कहलाता है। उक्त रीतिसे बोद्धाका समुत्थान अविद्यासे ही होता है। अविद्यासे जन्य श्रोत्र आदि द्वारा श्रोता, स्प्रष्टा इत्यादि व्यवहार होते हैं। अविद्याजन्य शरीर आदिके द्वारा 'श्यामः', 'गौरः' इत्यादि व्यवहार होते हैं। देह द्वारा धनादिका सम्बन्ध आत्मामें मानकर धनी, गोमान्, दरिद्र इत्यादि व्यवहार आत्मामें प्रसिद्ध हैं। कहाँतक गिनावें, इतना ही कहना यथार्थ होगा कि ब्रह्मासे लेकर स्थाणु पर्यन्त जो जीव और शरीरका भेद ज्ञात होता है, वह आत्मयाथात्म्यके आवरणसे होता है। वस्तुतः आत्मा ही केवल तत्त्व है, शेष सब उसीमें अज्ञान द्वारा कल्पित हैं। वेदान्तवाक्यके श्रवणसे वास्तविक आत्मबोध जब होता है, तब अविद्याशब्दवाच्य भूत निवृत्त हो जाते हैं अर्थात् नष्ट हो जाते हैं और कारणके अभावसे क्षेत्रत्व आदिका उत्थान भी नष्ट हो जाता है।

शङ्का—'तत्त्वमसि' आदि वाक्यसे आत्मैकत्वबुद्धि होती है, पर उससे अज्ञानकी निवृत्ति और उसके द्वारा प्रपञ्चकी निवृत्ति नहीं होती, इसमें क्या कारण ?

समाधान—शाब्द ज्ञानसे परोक्षात्मक ऐक्यज्ञान अपेक्षित नहीं है,

महत्त्वं सर्वगत्वं स्याद् भूतत्वं नित्यसिद्धता ।
अनन्तापारशब्दाभ्यां व्याप्तिनित्यत्वसाधनम् ॥ १५० ॥
कार्यकारणराहित्यं यदि वेहोपलक्ष्यताम् ।
अनन्तत्वमकार्यत्वमपारत्वमहेतुता ॥ १५१ ॥

किन्तु अपरोक्षात्मक ऐक्य ज्ञान अपेक्षित है। उसकी उत्पत्तिके लिए प्रत्यया-वृत्तिकी आवश्यकता है अर्थात् उससे जब चित्त शुद्ध होता है, तब उसमें उक्त ज्ञानोत्पत्तिकी योग्यता होती है। एक बार उत्पन्न आत्माका ऐक्यप्रत्यक्ष अज्ञानका तत्क्षण निवर्तक हो जाता है, तमोनिवृत्ति प्रदीपसे त्वरित हो जाती है, प्रदीपकी आवृत्तिकी जरूरत नहीं होती। यहां यह कह देना आवश्यक है कि ब्रह्म सदा अपरोक्ष है, उसमें पारोक्ष्य अज्ञानकृत है; एवं ब्रह्माभिन्न आत्मामें संसारित्व भी अज्ञानकृत है, आत्मामें ब्रह्मता और ब्रह्ममें आत्मता, यह सदा सिद्ध है, केवल अज्ञान ही इसमें व्यवधायक है, जिससे स्फुट नहीं होता। अतः एतदर्थीको केवल तमोनिवृत्तिके लिए ही प्रयत्न करना चाहिए। वस्तुतस्तु 'जीवत्वेन समुत्थितिः' इस पाठमें विभक्तिका विपरिणाम करनेसे अन्वय होता है, अतः 'समुत्थितम्' यह पाठ ही अच्छा है ॥ १४९ ॥

महद् और भूत—इन दो पदोंका अर्थ कहते हैं—**'महत्त्वम्'** इत्यादिसे।

महत् याने सबकी अपेक्षा महत्तम, क्योंकि साधारण महत्त्व तो आकाश आदिमें भी अनुगत है। तीनों कालोंमें उसके स्वरूपका व्यभिचार नहीं है, यह बतलानेके लिए भूतत्व कहा, उसका अर्थ है—सर्वदा परिनिष्पन्नत्व। अनन्तम्, न अन्तो यस्य तत् अनन्तम् अर्थात् मोक्ष आदि अवस्थामें भी अन्तरहित। सापेक्ष आनन्त्यकी निवृत्तिके लिए 'अपारम्' कहा, इससे अनापेक्षिक आनन्त्य विवक्षित है। महत्त्व और भूतत्वसे नित्यसिद्धताकी और अनन्त एवं अपार शब्दसे व्याप्ति और नित्यत्वकी सिद्धि होती है। वस्तुतः भूतत्वका तात्पर्य कूटस्थत्वमें है और महत्त्वका तात्पर्य सर्वाधिष्ठानत्वमें है ॥१५०॥

भाष्यकारके मतसे श्रुतिका व्याख्यान करके वार्त्तिककारके मतसे उक्त श्रुतिके दो पदोंकी व्याख्या करते हैं—**'कार्य०'** इत्यादिसे।

अथवा कार्यकारणराहित्यके उक्त दो पद उपलक्षक हैं अर्थात् अनन्तत्वका तात्पर्य अकार्यत्वमें है और अपारत्वका तात्पर्य अहेतुत्वमें है। सारांश यह निकला

कि ब्रह्म कार्य और कारणसे रहित है, अतएव कार्यकारणात्मक प्रपञ्चसे भिन्न है। वास्तविक ब्रह्मस्वरूपका निरूपण करनेके लिए अर्थात् तत्त्वज्ञानसे पहले भी अधिकारियोंको ब्रह्मस्वरूप समझानेके लिए महत्त्वादि शब्दोंको श्रुति स्फुट करती है—'महत् इत्यादिसे। अनन्तम्' कहनेसे कारणका निषेध किया गया है और 'अपारम्' इस उक्तिसे कार्यका निषेध किया गया है।

शङ्का—अपारशब्दसे ब्रह्ममें कार्यत्वका निषेध कैसे होता है?

समाधान—'पारः कार्यस्य कारणम्' इसके अनुसार कार्यका पार कारण कहलाता है। 'न पारो यस्य' इस व्युत्पत्तिसे पार (कारण) जिसका नहीं है, वह अपारशब्दका अर्थ होता है। इससे ब्रह्ममें कार्यत्वका निषेध स्फुट ही है। कारणनिरूपित ही कार्य होता है, कारणके प्रतिषेधसे उसमें अकार्यत्व भी सिद्ध ही है।

शङ्का—अनन्तपदसे कारणत्वका प्रतिषेध कैसे होता है?

समाधान—'कारणस्य तथा कार्यमन्तः' इस वचनके अनुसार कारणका अन्त ही कार्य कहलाता है। 'न अन्तो यस्य' इस व्युत्पत्तिसे जिसका अन्त (कार्य) नहीं है, ऐसा ब्रह्म है। कार्यत्वनिरूपित कारणत्व होता है, कार्यत्वके निषेधसे उसके कारणका प्रतिषेध फलित होता है। मूल कारण अनादि पदार्थ ही हो सकता है, कारण कि कार्य कारणान्वित ही देखा जाता है। यदि मूल कारणको भी जन्य मानें, तो उसके कारणकी कल्पना करनी होगी, एवं उसके भी कारणान्तरकी एवं उसके भी कारणान्तरकी, इस प्रकार अनवस्था हो जायगी। कारणके बिना यदि कार्यकी उत्पत्ति मानें, तो अनन्वित कार्योत्पत्ति होगी। पर अनन्वित कार्य कहीं दृष्टचर नहीं है। घटादि कार्य मृत्तिकासे अन्वित ही देखे गये हैं, अनन्वित नहीं। अतएव सांख्यसूत्रकारने कहा है—'मूले मूलाभावात् अमूलम्'। अतः सम्पूर्ण जगत्का कारण ब्रह्म अकारणक ही है, अतएव अकार्य भी है। उससे अन्य जगत्के कार्य और कारण दोनों रूप हैं। 'तत्त्वमसि' आदि वाक्यसे जीवेश्वरका ऐक्य निश्चित होनेपर कार्यकारणात्मक जगत् निवृत्त हो जाता है और एकरस ब्रह्म सिद्ध होता है।

शङ्का—ब्रह्मज्ञानसे ध्वस्त भी जीवभाव छिन्न वृक्षके समान यदि फिर उदित होगा, तो मोक्ष नहीं हो सकेगा?

समाधान—जलमें प्रक्षिप्त नमकका टुकड़ा जैसे गलनेके अनन्तर फिर अपने पूर्व स्वरूपसे नहीं निकल सकता, वैसे ही पुनर्जीवभाव नहीं हो सकता ॥ १५१ ॥

विज्ञानघन एवेति जात्यन्तरनिषेधनम् ।
तदिदं वस्तुनस्तत्त्वं मायिकी या समुत्थितिः ॥ १५२ ॥
अब्धिस्थानीयमैकात्म्यं जलस्थानं तु साक्षिचित् ।
क्षेत्रस्थानं शरीरादि तापस्थानं तु विभ्रमः ॥ १५३ ॥

'विज्ञानघन' इत्यादि । विज्ञानघनोक्तिसे जात्यन्तरका निषेध किया गया है अर्थात् विज्ञानसे व्यतिरिक्त दूसरा पदार्थ है नहीं । महद्भूतादि विशेषणोंसे बोधितस्वरूप ही पारमार्थिक आत्माका स्वरूप है । जीवादिभावेन उसकी समुत्थिति मायिक है । भाव यह है कि आत्मामें 'अहं कर्ता, अहं भोक्ता, संसारी' इत्यादि बुद्धि मायासे है । वेदान्तवाक्यसे अकर्तृत्वादि बुद्धि जमानी चाहिए । ऐसा करनेपर उक्त वाक्यसे जन्य अकर्तृत्वादिबुद्धिसे कर्तृत्वादिबुद्धिका नाश हो जायगा ।

शङ्का—कर्तृत्वादिबुद्धिकी नाशक अकर्तृत्वादिबुद्धि है । अकर्तृत्वबुद्धि भी आविद्यिक ही है, जबतक वह बुद्धि रहेगी, तबतक अविद्या भी रहेगी । क्योंकि कारणके बिना कार्यकी अवस्थिति नहीं रह सकती । इसलिए उसका भी नाशकके बिना नाश नहीं हो सकता । यदि किसी अन्यको उसका भी नाशक मानें, तो अनवस्था हो जायगी ।

समाधान—'तत्त्वमसि' आदि वाक्यजन्य उक्त बुद्धि कर्तृत्व आदि प्रपञ्चका शमन करती हुई स्वयं शान्त हो जाती है । जैसे अग्नि काष्ठको भस्म कर आश्रया-भावसे स्वयं शान्त हो जाती है अथवा जैसे कतकरज (निर्मलीका रज) पङ्किल जलमें छोड़नेसे जलके पङ्कको नीचे बैठाती हुई स्वयं नीचे बैठ जाती है, अथवा जैसे गरम लोहेपर जलकणको डालनेसे लोहकी गर्मीको शान्त करता हुआ वह कण स्वयं शान्त हो जाता है, एवं स्वपरशान्तिमें अनेक उदाहरण हैं, वैसे ही प्रकृतमें उक्त धी स्वयं निवृत्त हो जाती है, इसमें कोई आपत्ति नहीं है ॥ १५२ ॥

दृष्टान्तकी दार्ष्टान्तिकमें योजना करते हैं—'अब्धि०' इत्यादिसे ।

ऐकात्म्य अब्धिस्थानापन्न है, अकृत्रिमस्वरूप ब्रह्म सामान्य जलके स्थानापन्न है । अज्ञानोपहित साक्षिचित् विशेष जलस्थानापन्न है, नमककी खानके स्थानापन्न शरीर, इन्द्रिय, मन आदि हैं एवं विभ्रम—अनादि अनिर्वचनीय अज्ञान—खिल्यभावके हेतु सौरतापके स्थानापन्न है ॥ १५३ ॥

खिल्यस्थानं चिदाभासयोगात्कर्तृत्वभोक्तृते ।
द्रष्टा श्रोता द्विजो गौरो धनी गोमान्भवेत्ततः ॥ १५४ ॥
प्रत्यगात्मैव सद् ब्रह्म परोक्षमभवत्तदा ।
ब्रह्मैव सन्नपश्चात्मा संसारित्वमवाप्तवान् ॥ १५५ ॥
इत्येवं परवस्त्वेव पञ्चभूताख्यमायया ।
जीवत्वेन समुत्थाय ततः शास्त्रेण बुध्यते ॥ १५६ ॥
सर्वमात्मेति सम्यग्धीजन्मनैवाऽखिले भ्रमे ।
नष्टे नश्यति जीवत्वं जले प्रक्षिप्तखिल्यवत् ॥ १५७ ॥

'खिल्यस्थानम्' इत्यादि । खिल्यस्थान अर्थात् खिल्यस्थानापन्न चित् आभासके (चित्प्रतिबिम्बके) योगसे कर्तृत्वका अनुभव करता है । प्रत्यगात्मा ही अविद्यावश शरीरेन्द्रियादिका अभिमानी होकर सुख, दुःख आदिका भोक्ता होता है । द्रष्टा, श्रोता इत्यादिका पूर्वमें निरूपण कर चुके हैं । इसीलिए यहां पुनरुक्ति दोषके भयसे उसका त्याग किया ॥ १५४ ॥

'प्रत्यगात्मैव' इत्यादि । वस्तुतः अपरोक्ष प्रत्यगात्यस्वरूपमें परोक्षत्वका आरोप कर सत् अपञ्चभूतस्वरूप ब्रह्म ही संसारी हुआ है । एवं स्वाभिन्न ब्रह्ममें स्वभिन्नत्वका भी आरोप समझना चाहिए ॥ १५५ ॥

'इत्येवम्' इत्यादि । एवं उक्त रीतिसे पर वस्तु (परब्रह्म) पञ्चभूताख्य मायासे जीवरूपसे समुत्थित होकर याने जीवरूपसे आविर्भूत होकर सांसारिक सुख, दुःखका भोग करता है, पश्चात् वेदान्तवाक्यके श्रवण, मनन आदि द्वारा जब अपना वास्तविक ब्रह्मस्वरूपका अवधारण करता है अर्थात् जब प्रबुद्ध (तत्त्वज्ञानी) होता है तब आरोपित क्लेशोंसे छुटकारा पा जाता है ॥ १५६ ॥

'सर्वमात्मेति' इत्यादि । 'सर्वमात्मा' इस वाक्यसे जायमान जो सम्यग्धी (समीचीन ज्ञान) है, उसकी उत्पत्तिसे सम्पूर्ण भ्रम नष्ट हो जाता है, तदनन्तर जीवत्वका भी नाश हो जाता है । भ्रमोपादान अज्ञानका नाश होनेपर उसके उपादेय (अज्ञानजन्य) कार्यकी निवृत्ति होती है । जैसे जलमें क्षिप्त खिल्यका । यद्यपि खिल्यभावका नाश पीसनेपर भी होता है, परन्तु उस दशामें पुनः उसका उपादान हो सकता है । समुद्रमें क्षेप करनेके बाद फिर उसका उपादान नहीं हो सकता, इसलिए श्रुतिने जलसामान्यका नाम लेकर समुद्रजलका विशेषरूपसे नाम लिया कि समुद्र जल सब जलका उपादान है ॥ १५७ ॥

क्षेत्रज्ञेश्वरभेदेन पुनः संज्ञा न विद्यते ।
तद्धेतोस्तमसो ध्वंसात्खिल्यानुद्धरणं यथा ॥ १५८ ॥
दृष्टिमात्रात्म्ययाथात्म्यात्कार्यकारणवस्तुनः ।
नाऽज्ञातं किञ्चिदप्यस्ति नाऽनपास्तं तथा तमः ॥ १५९ ॥

'क्षेत्रज्ञे०' इत्यादि । अद्वैत आत्माकी प्रतिपत्तिके अनन्तर फिर जीव, ईश्वर आदिका भेद नहीं हो सकता, कारण कि उस भेदके मूलभूत तमका आत्माके ऐक्य-ज्ञानसे नाश होनेपर कारणाभावप्रयुक्त उस भेदका अभाव भी सिद्ध होता है। जैसे खिल्यभावका कारण सौरताप-जन्य परिपाक है। शीत जलके स्पर्शसे उक्त ताप और तज्जन्य काठिन्यरूप परिपाकके नष्ट हो जानेसे फिर खिल्यभाव नहीं हो सकता। यद्यपि नमक खपुष्पके समान अत्यन्त असत् नहीं है, वास्तविक स्वस्वरूपसे जलमें है, आस्वाद लेनेपर स्पष्ट प्रत्यभिज्ञात होता है, तथापि खिल्यरूपसे अनु-भवगोचर नहीं हो सकता, कारण कि उसके निमित्त काठिन्यका विनाश हो गया है एवं आत्मा स्वप्रकाश मुक्तिदशामें अवस्थित है, पर जीव, ईश्वर आदिके भेदके निमित्त अज्ञानके अभावसे पूर्ववत् तत्-तत्‌रूपसे प्रतीत नहीं होता ॥ १५८ ॥

'दृष्टिमात्रात्म्य०' इत्यादि । दृष्टि यानी दर्शन, तन्मात्रस्वरूप आत्मा अद्वैत वेदान्तमतमें माना जाता है। यद्यपि द्वैतवेदान्ती ज्ञानवान् आत्मा मानते हैं, तथापि 'सत्यं ज्ञानमनन्तम्' इत्यादि श्रुति और 'द्रष्टा दृशिमात्रः शुद्धोऽपि प्रत्ययानु-पश्यः' इत्यादि योगसूत्रादिके संवादसे आत्मा दृष्टिमात्रस्वरूप है। तद्विषयक यथार्थ-ज्ञानके (अद्वितीयात्मज्ञानके) अनन्तर कार्यकारणवस्तुरूप समस्त प्रपञ्चका लय हो जाता है कार्यकारणात्मकरूपसे प्रपञ्चगत निखिल पदार्थ प्रसिद्ध हैं, 'एतस्मादात्मनः आकाशः सम्भूतः आकाशाद्वायुः' इत्यादि श्रुतिसे भी तद्रूपसे अनात्मपदार्थ प्रसिद्ध हैं, इन सब पदार्थोंका प्रातिस्विकरूपसे ज्ञान अशक्य है, परन्तु उक्त आत्मयथार्थज्ञानसे कोई भी पदार्थ अज्ञात नहीं रह जाता, किन्तु सब तत्त्वतः ज्ञात हो जाते हैं, एवं तम (अज्ञान) कोई भी अनपास्त (अनिरस्त) नहीं रह सकता, घटज्ञानसे घटा-ज्ञानकी निवृत्ति होती है और पटाज्ञान अवशिष्ट रह जाता है। एवं तत्-तत् अज्ञान तत्-तत् ज्ञानसे निवृत्त होता है, यह सर्वानुभवसिद्ध है। परन्तु श्रुतिप्रामाण्यसे यह माना जाता है कि आत्माके ज्ञानसे सबका ज्ञान हो जाता है और उससे सब अज्ञानोंकी निवृत्ति हो जाती है, कोई अनिवृत्त नहीं रहता, कारण कि आत्मव्यति-रिक्त कोई पदार्थ है नहीं ॥ १५९ ॥

आत्यन्तिकोऽयं प्रलयः पुनर्जन्मविवर्जनात् ।
स्वाभाविकलये शक्तिशेषादस्ति पुनर्जनिः ॥ १६० ॥

श्रुतिः—सा होवाच मैत्रेय्यत्रैव मा भगवानमूमुहन्न प्रेत्य सञ्ज्ञाऽस्तीति स होवाच याज्ञवल्क्यो न वा अरेऽहं मोहं ब्रवीम्यलं वा अरे इदं विज्ञानाय ॥ १३ ॥

'आत्यन्तिकोऽयम्' इत्यादि । आत्मयथार्थज्ञानसे जो लय होता है, वह आत्यन्तिक लय कहलाता है; अतएव इससे फिर जन्म नहीं होता । स्वाभाविक लयमें शक्तिका शेष होनेके कारण फिर जन्म हो सकता है ॥ १६० ॥

'सा होवाच मैत्रेय्य०' इत्यादि श्रुति । उक्त प्रकारसे समझानेपर वह मैत्रेयी बोली—इसी एक ब्रह्म वस्तुके विषयमें विरुद्ध धर्म बतलाते हुए आपने मुझको मुग्ध किया अर्थात् आपके विरुद्ध वचनोंसे मुझको मोह हुआ, ठीक समझमें नहीं आया।

शङ्का—विरुद्धधर्मवत्त्व कैसे हुआ ?

समाधान—विज्ञानघन ही आत्मा है, ऐसी प्रतिज्ञा कर कहा कि 'न प्रेत्य संज्ञास्ति' अर्थात् मरनेपर फिर कुछ नाम नहीं रहता । कैसे विज्ञानघन ? और कैसे मरनेपर कुछ नाम नहीं ? जैसे एक ही अग्नि शीतल और गरम नहीं होती, क्योंकि अग्नि तो गरम ही रहती है, शीत नहीं रहती, वैसे ही विज्ञानघन सदा रहता ही है; अतः उसका मरण और संज्ञाभाव कभी नहीं रह सकता; पर आप कहते हैं, अतः हमको मोह है ।

याज्ञवल्क्य बोले—अरे मैत्रेयि ! मैंने मोहकी बात नहीं कही याने मैं मोहप्रद वाक्य नहीं कह रहा हूँ ।

शङ्का—फिर कैसे विरुद्ध धर्म एकमें ही कहे, विज्ञानघन और संज्ञाभाव ?

समाधान—मैंने एक धर्मीमें उन दोनों धर्मोंको नहीं कहा है, तुमने उन दोनों विरुद्ध धर्मोंको एकमें जो समझ लिया है, वह भ्रान्तिसे समझ लिया है, वस्तुतः मैंने ऐसा नहीं कहा । मैंने तो यह कहा कि जो अविद्यासे उपस्थापित कार्यकरणसङ्घात शरीरेन्द्रियविशिष्ट अतएव खिल्यभावको प्राप्त आत्मा है, उसका ब्रह्मविद्यासे नाश होनेपर तन्निमित्तक (अविद्यानिमित्तक) जो विशेष संज्ञा—शरीर आदि सम्बन्धियोंमें अन्यत्व (ब्रह्मभिन्नत्व) दर्शनस्वरूप—थी, वह शरीरेन्द्रियोपाधिका विलय करनेपर नष्ट हो जाती है, कारण कि कारणके अभावसे कार्यका अभाव होता ही है । जैसे जलाधारका नाश होनेपर सूर्य और चन्द्रका प्रतिबिम्ब

विज्ञानैकघनस्याऽस्य सञ्ज्ञा नाऽस्तीति यद्वचः ।
तद्व्याहतिर्न शङ्क्याऽत्र तयोर्विषयभेदतः ॥ १६१ ॥

उसमें नहीं रहता, किन्तु उसका अभाव ही रहता है एवं तन्निमित्त प्रकाशका अभाव भी अनुभवसिद्ध है। सारांश यह कि जैसे परमार्थ चन्द्र और आदित्यका नाश नहीं होता, वैसे ही असंसारी ब्रह्मस्वरूप विज्ञानघनका नाश नहीं होता, अतएव वह विज्ञानघन कहा जाता है। वस्तुतः वही सम्पूर्ण जगत्का आत्मा है, भूतोंके नाशसे उसका नाश नहीं होता। अविद्याकृत खिल्यभाव (संसार) ही विनाशी है। 'वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्' ऐसा ही श्रुति कहती है। विकार माने नामरूपात्मक वस्तु। उसका केवल वाणीसे व्यवहार ही होता है, वस्तुतः वह नहीं है, जैसे भ्रमकालमें शुक्तिमें रजतका व्यवहार होता है, पर वह वस्तु नहीं है। केवल उपादान सत्य होता है, सबका उपादान ब्रह्म ही है। मृत्तिकापद उपादानके तात्पर्यसे प्रयुक्त है। मृदादि घटादिके उपादान हैं, यह संसार-दशामें प्रसिद्ध ही है। तदनुसार श्रुतिमें 'मृत्तिकेत्येव सत्यम्' ऐसा कहा गया है। वस्तुतः मृत्तिकादि भी घटादिके समान कार्य हैं, सबका उपादान ब्रह्म ही है। अरे यह अविनाशी विज्ञानघन आत्मा पारमार्थिक है; अतः इस महद्भूत अनन्त अपार विज्ञानघनका विज्ञान अवश्य करना चाहिए। 'नहि विज्ञातुर्विज्ञातेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वात्' ऐसी श्रुति आगे आवेगी, इसका व्याख्यान भी उसी जगह किया जायगा। यहाँ केवल इतना ही कहना पर्याप्त है कि यह श्रुति विज्ञानघनको नित्य कहती है ॥ १२ ॥

'**विज्ञानैकघन०**' इत्यादि। विज्ञानघन परब्रह्मकी संज्ञा नहीं है, ऐसा जो पहले मैंने कहा था, उससे व्याघातकी शङ्का करना उचित नहीं है, क्योंकि विषयभेद है। एक धर्मीमें दो विरुद्ध धर्मोंको कहनेसे व्याघात हो सकता है, भिन्न धर्मीमें विरुद्ध दो धर्मोंके कथनसे उक्त शङ्का नहीं हो सकती। 'आत्मा नित्यः बुद्धिरनित्या' ऐसा कहनेपर संशयकी क्या सम्भावना? एकधर्मिक विरुद्धधर्मद्वयावगाही ज्ञान संशय कहलाता है। तुमने अपने अपराधसे मेरे वाक्यका विरुद्ध अर्थ समझा है। मैंने तो स्पष्ट शब्दोंसे यह कहा है कि विज्ञानघन ही अविद्यावश शरीर, इन्द्रिय आदि उपाधिवाला होकर विशेष—क्षेत्रज्ञ, ईश्वर आदि—संज्ञावान् होता है। विद्यासे अविद्या-और तन्निबन्धन शरीर आदिका प्रविलापन होनेपर आत्मा वास्तविक स्वस्वरूपसे अवस्थित होता है। उस अवस्थामें अविद्याप्रयुक्त विशेष संज्ञा नहीं हो सकती,

विज्ञानैकघनोक्त्याऽस्य कृत्स्नैकात्म्यं पुरोदितम् ।
सञ्ज्ञा नाऽस्तीति चाऽविद्याजन्या बुद्धिर्निषिध्यते ॥ १६२ ॥

अतः तद्भाव है । तुमने समझा कि विज्ञानघन ही नहीं रहता, इसलिए विशेष संज्ञाका अभाव कहा जाता है, पर मेरा ऐसा तात्पर्य नहीं है, किन्तु मेरा तात्पर्य यह है कि विशेष संज्ञाके निमित्तके अभावसे विशेष संज्ञाका अभाव है । विशेष संज्ञाका धर्मी अविद्योपाधिक चैतन्य है, उसके अभावका धर्मी शुद्ध चैतन्य है, इस प्रकार उक्त दो विरुद्ध धर्मोंका धर्मी भिन्न है, अतएव दोनों वाक्य अपने अपने विषयमें व्यवस्थित हैं, अतः व्याघातशङ्का ठीक नहीं है ॥१६१॥

'विज्ञानैक०' इत्यादि । विज्ञानघनोक्तिसे सब जगत्का एक ही आत्मा है, प्रतिदेह आत्मा भिन्न नहीं हैं, ऐसा मैंने तुमसे स्पष्ट कहा । जैसे कि सूर्य आकाशमें एक ही है, पर जलाशयोंमें सूर्यके प्रतिबिम्ब असंख्य दिखलाई देते हैं । आश्रयके भेदसे उनके स्वरूपमें भी भेद प्रतीत होते हैं । मलिन आश्रयमें मलिन प्रतिबिम्ब, और स्वच्छमें स्वच्छ । जलके नष्ट होनेपर प्रतिबिम्ब भी नष्ट हो जाते हैं ।

शङ्का—तब तो शरीर आदि उपाधिभूत अविद्याका नाश होनेपर उसमें प्रतिबिम्बित जीवका भी नाश हो जायगा, फिर मुक्ति किसकी कहते हो ? और मोक्ष पुरुषार्थ भी नहीं कहा जा सकता, किसी समझदारकी उसके लिए प्रवृत्ति भी नहीं होगी । यदि प्रज्ञानघनकी मुक्ति कहिए, तो मेरे नष्ट होनेपर भी मुझसे भिन्न प्रज्ञानघन मुक्त होगा, इस आशासे भी प्रवृत्ति नहीं हो सकती; प्रज्ञान-घन तो सदा मुक्त ही है, अतः उसके लिए भी प्रवृत्ति दुर्वच है ।

समाधान—बिम्ब प्रतिबिम्बसे अभिन्न है । जैसे प्रतिबिम्ब आश्रयभूत जलादिके निवृत्त होनेपर बिम्बरूपसे अवस्थित हो जाता है, वैसे ही कर्ता, भोक्ता अविद्यो-पाधिक जीव अविद्याकी निवृत्तिके अनन्तर परब्रह्मस्वरूपसे अवस्थित होता है, यही मोक्ष है । इसी अवस्थामें विशेष संज्ञाकी निवृत्ति कही गई है । इसी तात्पर्यसे श्लोकमें कहते हैं—अविद्याजन्य बुद्धिकी निवृत्ति ही विशेष संज्ञाकी निवृत्ति है । बुद्धिके सम्बन्धसे संसार और उसके वियोगसे अपवर्ग होता है, यही सांख्यसिद्धान्त भी है । इस विषयमें विशेष अभिधान—सांख्य और अद्वैतवेदान्तका मोक्षके विषयमें समन्वय है, इसका प्रतिपादन—समयपर होगा, यहाँ संक्षेप ही उचित है, इसलिए इस विषयको यहीं छोड़ते हैं ॥ १६२ ॥

कार्यकारणनाशेऽपि स्वतःसिद्धमनन्यगम् ।
यद्वस्तु तदलं स्वात्मा संवित्त्यै निरपेक्षतः ॥ १६३ ॥

श्रुतिः—यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितर इतरं जिघ्रति तदितर इतरं

'कार्यकारण०' इत्यादि ।

शङ्का—अविद्याका ध्वंस होनेपर जीवादि संज्ञा यदि निवृत्ति हो जाती है, तो चैतन्यघनका ज्ञान ही कैसे होगा ? ज्ञान भी आविद्यिक ही है ।

समाधान—ज्ञान दो प्रकारका है—एक वृत्तिरूप जो कि आविद्यिक है अर्थात् जो अविद्याके बिना नहीं हो सकता । दूसरा चैतन्यात्मक जो कि स्वयंप्रकाशरूप है । प्रथमके विषयमें आपकी शङ्का ठीक है, क्योंकि कार्य-कारण, जो अनात्म पदार्थ हैं, उनका नाश होनेपर तदात्मक ज्ञान नहीं हो सकता, किन्तु जो स्वतःसिद्ध अतएव अनन्यग (अननुगत) ['अव्यावृत्ताननुगतब्रह्मत्वप्रतिपत्तये' इस वार्तिकके श्लोकके अनुसार ब्रह्मका वस्तुतः यही लक्षण है] स्वात्मा चिद्घनस्वरूप वस्तु परमार्थ सत् है, अतएव निरपेक्ष है, वह ज्ञानके लिए पर्याप्त है अर्थात् निखिल प्रपञ्चकी कारण अविद्याकी निवृत्ति होनेपर कार्यात्मक कोई भी पदार्थ नहीं रह सकता, यह ठीक है । पर उक्त चैतन्य, अकारणक होनेसे, सापेक्ष नहीं है, किन्तु निरपेक्ष और प्रकाशात्मा है, इसलिए वही पर्याप्त है । अतएव आत्मज्ञान अपार कूटस्थ नित्य पारमार्थिक है; उसकी निवृत्ति किससे हो, किसीसे नहीं; इसलिए शून्यवादकी भी शङ्का नहीं हो सकती। यद्यपि वार्तिकसारकी आदर्श प्रतिमें 'अनन्यमम्' ऐसा पाठ है, पर वह अशुद्ध है । 'अनन्यगम्' ऐसा पाठ होना चाहिए, इसका अर्थ है—चैतन्यविषयत्वायोग्यम् । अनात्मपदार्थ चैतन्यके विषय होते हैं, इसलिए वे चैतन्यग कहे जाते हैं । चैतन्य विषयी है विषय नहीं, अतः अनन्यग है । स्वात्मनि कर्मकर्तृविरोध ही विषयभावमें बाधक है ॥ १६३ ॥

'यत्र हि द्वैतमिव' इत्यादि श्रुति ।

शङ्का—तब क्यों कहते हैं कि 'प्रेत्य संज्ञा नास्ति' अर्थात् खिल्यभावके समान जीवभावके निवृत्त होनेपर संज्ञा नहीं है ।

समाधान—सुनो, यतः अविद्याकल्पित कार्यकारणसंघातोपाधिजनित विशेषात्मामें द्वैतके समान (वस्तुतः अद्वैत ब्रह्ममें द्वैतके समान) तथा अभिन्नमें

पश्यति तदितर इतरꣳ शृणोति तदितर इतरमभिवदति तदितर इतरं मनुते, तदितर इतरं विजानाति, यत्र वा अस्य सर्वमात्मैवाऽभूत्तत्केन कं जिघ्रेत्तत्केन कं पश्येत्तत्केन कꣳ शृणुयात्तत्केन कमभिवदेत्तत्केन कं मन्वीत तत्केन कं विजानीयाद्येनेदꣳ सर्वं विजानाति तं केन विजानीयाद्विज्ञातारमरे केन विजानीयादिति ॥ १४ ॥

इत्युपनिषदि द्वितीऽध्याये चतुर्थं ब्राह्मणं समाप्तम् ।

भिन्नके समान अपनेसे अन्य वस्तु लक्षित होती है, इसलिए अन्य अन्यको देखता है, यह सम्बन्ध विवक्षित है ।

शङ्का—इवशब्द उपमानका सूचक है । द्वैतका अद्वैतके साथ उपमानोपमेयभावका बोधन करनेसे द्वैतको सत्य ही मानना चाहिए, जैसे 'चन्द्र इव मुखम्' यहाँपर उपमान चन्द्र और उपमेय मुख दोनों वास्तविक पदार्थ हैं । अतएव 'वन्ध्यापुत्र इव देवदत्तः' ऐसा नहीं कहा जा सकता, कारण कि उपमान वन्ध्यापुत्र ही जब है नहीं, तब देवदत्त उसका उपमेय कैसे कहा जा सकता है, इसलिए द्वैत सत्य है, यही श्रुतिसे सिद्ध होता है ।

समाधान—'वाचारम्भणं विकारो नामधेयम्', 'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म', 'आत्मैवेदं सर्वम्' इत्यादि अनेक श्रुतियोंसे आत्मा ही परमार्थ सत्य है । उससे अन्य संसार उसमें कल्पित है; यह असकृत् श्रुतिप्रमाणसे सिद्ध कर चुके हैं, अतः प्रकृतमें द्वैतदशामें प्रतीयमान व्यावहारिक सत्यको लेकर उक्त श्रुतिकी प्रवृत्ति है । जिस अवस्थामें द्वैतके समान प्रतीत होता है, उस अवस्थामें दूसरा—जैसे चन्द्रसे दूसरा जलमें चन्द्रप्रतिबिम्ब है, वैसे ही परमात्मासे भिन्न शरीराद्युपाधिक जीव—इतरसे—घ्राणेन्द्रियसे—घ्राणयोग्य गन्धका आघ्राण करता है। जीव घ्राणसे गन्धका ग्रहण करता है । 'इतरः इतरम्' इस प्रकार कर्तृकर्मकारकका उपादान कारकमात्रमें उपलक्षक है एवं 'जिघ्रति' शब्द क्रिया और उसके फलका बोधक है । जैसे उठा उठाकर कुठारको लकड़ीपर गिराना और छेद्य काष्ठका विभाग—ये दोनों उद्यम्यनिपातन और द्वैधीभाव एक ही 'छिनत्ति' पदसे कहे जाते हैं, वैसे ही 'जिघ्रति' आदि पदसे भी दो अर्थोंका अभिधान होता है । फल होनेपर क्रिया समाप्त होती है, अतः फल क्रियावसान कहा जाता है । क्रियाके बिना फलोपलब्धि नहीं होती । इतरः—घ्राता, इतरेण—घ्राणेन, इतरं—गन्धं जिघ्रति' इसी प्रकार सर्वत्र समझना

चाहिए। पश्यति, शृणोति, अभिवदति, मनुते, विजानाति—इन सब वाक्योंमें इतर याने अन्य इतरका अर्थ पूर्ववत् समझना चाहिए। यह अविद्या-अवस्थाका समाचार है। जिस अवस्थामें ब्रह्मविद्यासे अविद्या नष्ट हो जाती है, उस अवस्थामें आत्मासे अन्यका अभाव होता है। जिस अवस्थामें ब्रह्मवेत्ताके सब नाम, रूप आदि आत्मामें ही प्रविलापित हो जाते हैं, सब आत्मा ही हो जाते हैं, उस अवस्थामें कौन किससे किसको देखे ? क्रियाकारकफलका अभाव हो जाता है, जैसे सुषुप्ति अवस्थामें सकल व्यवहारोंकी निवृत्ति हो जाती है, वैसे ही मुक्तिदशामें भी समझना चाहिए, अतः अविद्यादशामें ही क्रियाकारकफलका व्यवहार होता है, ब्रह्मवेत्तामें उक्त व्यवहार नहीं हो सकता। उसके कारणके अभावसे सब आत्मा ही हो गये हैं, अतः उससे व्यतिरिक्त कारक क्रिया या उसका फल कुछ भी नहीं है। यहाँपर इस बातपर अवश्य ध्यान देना चाहिए कि अनात्म पदार्थ यदि वास्तविक होते, तो ब्रह्मज्ञान होनेपर वे आत्मा कैसे हो जाते ? यह तो आप खूब जानते हैं कि घट, पट ये दोनों पदार्थ परस्पर भिन्न हैं और कोई भी कितना निपुण कारीगर क्यों न हो दोनोंको एक नहीं कर सकता, फिर श्रुति ब्रह्मज्ञान होनेपर निखिल जगत्को ब्रह्मस्वरूप बतलाती है। श्रुतिमें अविश्वास करनेका भी कोई कारण नहीं है। इस अर्थकी उपपत्ति श्रुति स्वयं करती है। इससे यह सिद्ध होता है कि संसार अज्ञानजनित है। जबतक अज्ञान है, तबतक अनेक अनात्म पदार्थ दृष्टिगोचर होते हैं। ज्ञान होनेसे अज्ञान और उसके कार्यकी निवृत्ति हो जाती है और परमार्थ अद्वैत ब्रह्म ही अवशिष्ट रह जाता है। इससे यह निष्कर्ष निकला कि परमार्थात्मैकत्वप्रत्यय होनेपर क्रियाकारकफलप्रत्यय नहीं हो सकता। ब्रह्मवेत्ताके प्रति क्रिया और उसके साधनकी अत्यन्त निवृत्ति ही सिद्ध होती है। केन, किम् ये वचन आक्षेपार्थक हैं। अर्थात् किं शब्द प्रकारान्तरकी सर्वथा अनुपपत्ति दिखलानेके लिए है, प्रश्नार्थक नहीं है। किं शब्द प्रश्नार्थक वहां होता है; जहाँ प्रकारान्तरका संभव हो, जैसे आप ग्रामको पैदल जायँगे या घोड़ेसे ? यहाँ दोनों प्रकार हो सकते हैं। यहाँ क्रियाकर्तृभाव भेद ही प्रकारमें हो सकता है, अभेद नहीं हो सकता। 'सर्वमात्मैवाभूत्' इस वाक्यसे सब आत्मा हो गया, इस प्रकार अभेदबोधनसे भेद और तन्निबन्धन क्रियाकर्तृभावका अभाव स्फुट होनेसे प्रकारान्तरका अभाव स्पष्ट है; अतः किंशब्द आक्षेपार्थक है अर्थात् क्रिया-कर्तृभावके निषेधार्थ है; प्रश्नार्थ नहीं है। कोई किसीसे किसीको किसी तरह नहीं सूंघ सकता, यह तात्पर्य है और जहाँ (अविद्यावस्थामें) दूसरा दूसरेको देखता है, वहाँ भी

ऐकात्म्यं यदविज्ञातं तद्द्वैतमिव विभ्रमात् ।
स्याद्यत्र तत्र पुंसोऽसौ कर्तृकर्मादिभेदधीः ॥ १६४ ॥

विचार करनेपर जिससे इन सबको जानता है; उसको किससे जाने । जिससे जानता है उस कारणका किसमें विनियोग हुआ है, क्योंकि ज्ञाताकी जिज्ञासा ज्ञेयमें ही होती है, आत्मामें नहीं । अग्निका दाह्य विषय जैसे अग्नि ही नहीं हो सकती, किन्तु काष्ठादि ही होते हैं, वैसे ही आत्माका विषय आत्मा नहीं है, किन्तु तद्भिन्न घटादि हैं । ज्ञाताका ज्ञान अविषयमें नहीं होता, अतः जिससे इस सब संसारको जानता है, उस विज्ञाताको किस करणसे कौन जानेगा; फिर जिस समय परमार्थविवेकी ब्रह्मवित्के प्रति विज्ञाता ही केवल अद्वितीय है दूसरा कोई है नहीं अरे उस विज्ञाताको किससे जानेगा ? किसीसे नहीं । इस प्रकार महर्षिका स्वस्वरूपविशेषापेक्ष विज्ञानघनत्व वचन है और विशेषविज्ञानापेक्ष संज्ञा-भाववचन है । इसलिए आपाततः प्रतीयमान विरोध बोद्धाके प्रज्ञापराधसे है, वास्तविक दोनों वचन व्यवस्थित हैं ॥ १४ ॥

'ऐकात्म्यम्' इत्यादि जिस अवस्थामें आत्मैकत्व अज्ञात रहता है, उसी अवस्थामें भ्रमसे सद्वितीयके समान होता है और उसी अवस्थामें इतर (घ्राता) घ्राणसे घ्रातव्य गन्धका ग्रहण करता है, वहींपर कर्तृकर्मादिभेद बुद्धि होती है । जिस समय अविद्योपहितबुद्धि आत्मा अपने स्वरूपको नहीं देखता, तभी वह द्वैतदर्शी होता है ।

शङ्का—प्रपञ्च है या नहीं ? प्रथम पक्षमें अविद्याका उपयोग ही नहीं है, क्योंकि अविद्याके बिना भी वह है, इसलिए प्रतीत होगा ही । द्वितीय पक्षमें खपुष्पके समान असत्को अविद्या भी कैसे दिखलायेगी ।

समाधान—प्रमाण और उसके आभासके स्वभावको समझकर उत्तरपर ध्यान दीजिये, प्रमाण सत्का अभिव्यञ्जक होता है और आभास असत्का अभिव्यञ्जक होता है, ये दोनोंके स्वभाव हैं । अतएव रज्जुमें असत् ही सर्पका भान होता है अन्यथा प्रमाण और तदाभास अभिन्न हो जायँगे ।

शङ्का—तब खपुष्पका अविद्यासे भान क्यों नहीं होता ?

समाधान—वह अत्यन्त असत् है, यद्रूपसे अविद्याका परिणाम नहीं होता वह अत्यन्तासत है । जगद्रूपसे अविद्याका परिणाम होता है, इसलिए जगत्

ननु द्वैतमिवेत्येतदुपमानं कथं भवेत् ।
उपमेयद्वैतवस्तुराहित्यादिति चेच्छृणु ॥ १६५ ॥
रामरावणयोर्युद्धं रामरावणयोरिव ।
इत्यादावुपमा दृष्टा स्वस्य स्वेन तथेष्यताम् ॥ १६६ ॥
यद्वा लोके चन्द्रभेदः कल्पितत्वेन सम्मतः ।
जगद्भेदोपमाऽसौ स्यान्मिथ्यात्वं तेन सिध्यति ॥ १६७ ॥

अन्त्यन्तासत् नहीं है । अपरोक्ष प्रतीति ही इसमें प्रमाण है । शुक्तिरजतके समान दृश्यत्वहेतुसे जगत् आविद्यिक है, यह वेदान्तसिद्धान्त है ॥ १६४ ॥

'ननु द्वैत०' इत्यादि ।

शङ्का—यदि सब आत्मा ही है, उससे अतिरिक्त वस्तु नहीं है, यह श्रुतिका अर्थ है, तो द्वैतमिव यह उपमान कैसे होगा ? उपमानोपमेयभाव द्वैतमें ही होता है, अद्वैतमें नहीं होता । उपमेय द्वैत वस्तुसे रहित आत्मा है, यह आपका सिद्धान्त है ।

समाधान—सुनो,

'रामरावणयो०' इत्यादि । राम और रावणका युद्ध राम और रावणके युद्धके समान ही हुआ इत्यादि स्थलमें अपनेमें अपना उपमानोपमेयभाव देखा जाता है । भेदमें ही उपमानोपमेयभाव होता है, अभेदमें नहीं, ऐसा नियम नहीं है । अतएव 'दिगिव आकाशो भाति' यह भी प्रयोग होता है । आकाशसे अतिरिक्त दिक् नहीं है, ऐसा भी विद्वानोंका मत है । विचार करनेपर यही सिद्धान्त समुचित प्रतीत होता है । नव्य नैयायिकोंका भी यही मत है । विस्तारके भयसे इसका विचार नहीं किया है ॥ १६६ ॥

शङ्का—आपने रामरावणयुद्धके बारेमें जो कहा कि एकमें भी उपमानोपमेयभाव होता है, सो ठीक नहीं है, कारण कि उक्त श्लोकमें रामरावणयुद्धके सदृश राम और रावणका युद्ध था, यह अर्थ विवक्षित नहीं है, किन्तु कविको यह अर्थ विवक्षित है कि राम और रावणका युद्ध अनुपम था, अतः एकमें उपमानोपेमयके प्रतिपादनके लिए उक्त उदाहरण युक्त नहीं है । इसी अनुपपत्तिको हृदयमें रखकर आलङ्कारिक विद्वानोंका कहना है कि ऐसे स्थलपर अनन्वय अलङ्कार माना

समस्तव्यस्तरूपत्वं यो वक्तीहाऽऽत्मनः श्रुतेः ।
तत्पक्षस्य निषेधाय द्वैतमिथ्यात्ववर्णनम् ॥ १६८ ॥

जाता है, उपमा नहीं। उपमा नियमसे भेदघटितमें ही होती है, अभेदमें कभी नहीं होती।

समाधान—'यद्वा लोके' इत्यादिसे। जैसे लोकमें 'एकश्चन्द्रः सद्वितीयवत् भवति' इत्यादिक स्थलमें अर्थात् अङ्गुलि द्वारा आंख चिपटी करनेसे नेत्ररश्मिके दो प्रवाह स्वतन्त्ररूपसे जब चन्द्रमाका ग्रहण करते हैं, तब दो चन्द्रमा आकाशमें दीख पड़ते हैं। दो में एक ही परमार्थ सत्य है, दूसरा कल्पित ही माना जा सकता है। कल्पितका अकल्पितके साथ उपमानोपमेयभाव मानकर ही उक्त प्रयोग हो सकता है, अन्यथा नहीं। एवं प्रकृतमें भी कल्पित द्वैतको लेकर उपमा हो सकती है। अतएव स्वप्नमहेन्द्रजालादिमें स्वप्नमायादि द्वारा एक ही कर्ता दो कर्ताके समान प्रतीत होता है।

शङ्का—स्वप्नादि द्वैत मिथ्या है, अतः मिथ्या द्वैत परमार्थ सत् आत्माका दृष्टान्त कैसे होगा?

समाधान—क्यों नहीं होगा। यह सत्य मिथ्याके समान प्रतीत होता है, ऐसा लोकमें कहा जाता है। वहां लोग मिथ्या सत्यका उपमान कहते ही हैं एवं 'मिथ्यार्थः सत्यवद्भाति' यह भी प्रयोग होता है।

शङ्का—जो देख पड़ता है, वह सत्य ही है, मिथ्या नहीं। रामानुज आदिके सिद्धान्तमें शक्तिरूप्य मिथ्या नहीं माना जाता है, शुक्तिमें भी रजतारम्भक अवयव रहते हैं। भ्रान्तिसमयमें तबतक तदारब्ध रजत रहता है, जबतक उसका भान होता है। इसलिए वह मिथ्या नहीं, अतः मिथ्या दृष्टान्त या उपमा नहीं हो सकता।

समाधान—भ्रान्ति और बाध ही मिथ्या पदार्थके सद्भावमें प्रमाण हैं। यदि शुक्तिरूप्य सत् होता, तो बाजारके रजतके समान उसका बाध न होता और यदि सर्वथा न होता, तो खपुष्पवत् प्रतीत नहीं होता, इसलिए प्रतीतिकाल तक है पश्चात् नहीं, इसीसे प्रतीति समकालिक प्रतीतिमात्रशरीर मिथ्या पदार्थ माने जाते हैं प्रतीतिबाधान्यथानुपपत्ति ही उनके सद्भावमें प्रमाण है ॥ १६७ ॥

'समस्त०' इत्यादि।

ज्ञातृज्ञानज्ञेयरूपं प्रायः स्वप्ने मृषा यथा ।
एको व्यवहरत्येवमज्ञो व्यवहरेन्मृषा ॥ १६९ ॥

शङ्का—'यत्र हि द्वैतमिव भवति' इस वाक्यसे पूर्वके वाक्योंसे ही तत्त्वोपदेश हो चुका, क्योंकि 'न प्रेत्य संज्ञास्तीति' यहाँ तकके वाक्य ही तत्त्वोपदेशके उपयोगी हैं। अनन्तरवाक्योंका प्रकृतमें क्या उपयोग है ?

समाधान—'एष हि द्रष्टा' और 'सर्वं यदयमात्मा' इत्यादि श्रुतियोंसे कहीं जगत्से अतिरिक्त आत्मा है, ऐसी प्रतीति होती है और कहीं 'सर्वमात्मा' इत्यादिसे सम्पूर्णविश्व आत्मा ही है, ऐसी प्रतीति होती है। इसलिए यह जिज्ञासा होती है कि आत्माका वास्तविक स्वरूप क्या है ? इस विषयमें शरीरशरीरिभावादिवादी कहते हैं कि समस्त प्रपञ्चात्मक भी आत्मा है और उससे अतिरिक्त भी आत्मा है। 'देवदत्तो गच्छति' (देवदत्त जाता है) यहाँपर शरीरविशिष्ट आत्मा देवदत्तशब्दका अर्थ है, क्योंकि शरीरके बिना आत्माका गमन नहीं हो सकता, इसलिए समस्त (शरीर आदिसे विशिष्ट) आत्मा उक्त पदका अर्थ है। 'देवदत्तो जानाति' यहाँपर व्यस्त (शरीरसे अतिरिक्त) आत्मा देवदत्तशब्दका अर्थ है, कारण कि ज्ञान आत्मधर्म है, शरीरधर्म नहीं है। 'यः पृथिव्यां तिष्ठन्····यस्य पृथिवी शरीरम्' इत्यादि श्रुतियोंसे यह सिद्ध होता है कि समस्त जगत् परमात्माकी देह है, अतः समस्तके तात्पर्यसे 'सर्वमात्मा' ऐसा श्रुतिका निर्देश है और व्यस्तके तात्पर्यसे उससे अतिरिक्त 'एष हि द्रष्टा' इत्यादि आत्मबोधक श्रुति है, ऐसा जो मानते हैं, उनके मतका खण्डन करनेके लिए अग्रिम श्रुति है। यहांपर प्रश्न यह होता है कि ब्रह्मकी समस्तरूपताको अवास्तविक मानते हो या वास्तविक ? प्रथम पक्षमें तो दो श्रुतियोंमें कोई विरोध ही नहीं आ सकता। द्वितीय पक्षमें, अविद्यादशामें ही द्वैतका दर्शन श्रुति कहती है, विद्यादशामें नहीं, यह श्रुतिविरोध अपरिहार्य्य है, क्योंकि वास्तविककी निवृत्ति नहीं हो सकती। फिर अविद्यादशामें ही द्वैत है, विद्यादशामें नहीं यह कैसे ? इससे द्वैतमिथ्यात्व स्पष्ट होता है। सारांश यह कि उभयविध आत्मश्रुतिसे उभयस्वरूप आत्मा है, ऐसा जो मानते हैं, उनके मतका खण्डन करनेके लिए अग्रिम श्रुतिसे द्वैतमिथ्यात्वका वर्णन किया है। ज्ञाननिवर्त्यत्वरूप मिथ्यात्वमें प्रकृत श्रुतिका तात्पर्य है ॥१६८॥

'ज्ञातृज्ञान०' इत्यादि। स्वप्नमें बाह्य ज्ञानेन्द्रियाँ प्राणमें लीन हो जाती हैं, केवल मात्र मनका आत्माके साथ सम्बन्ध रहता है। मन भीतर रहकर स्वतन्त्ररूपसे

यस्यामविद्यावस्थायां भेदभ्रान्तिस्तदा पुमान् ।
घ्रातृघ्राणघ्रेयसंज्ञामाप्नोत्यन्यां तथा त्रिधाम् ॥ १७० ॥

सब विषयोंका ग्रहण करता है। केवल बाह्य तत्-तत् विषयोंका ग्रहण करनेके लिए तत्-तत् विषयोंकी अपेक्षा मनमें मानी जाती है, इस तात्पर्यसे 'बहिर्न स्वतन्त्रं मनः' यह नियम है। जहाँपर ऐसा स्वप्न हो कि मैं घ्राणसे गन्धका ग्रहण कर रहा हूँ, वहाँपर घ्राण तो लीन है, उससे गन्धका ग्रहण नहीं हो रहा है। फिर यह स्वप्न कैसा ? ऐसे स्वप्नकी उपपत्तिके लिए विषयके समान करण भी तावत्-कालके लिए अनिर्वचनीय माना जाता है। ज्ञाता—स्वाप्निक शरीरविशिष्ट—, ज्ञान, ज्ञेय गन्ध आदि। जैसे स्वप्नमें बाह्य गन्ध आदिके साथ सन्निकर्ष न होनेके कारण अनिर्वचनीय गन्धादि ज्ञेय माने जाते हैं, अतएव घ्राणसे मैं गन्धका ग्रहण करता हूँ, इत्याकारक मृषा स्वप्नकी उपपत्ति होती है, वैसे ही अविद्यादशामें भी एक ही अज्ञात्मा अज्ञानोपहित होकर ज्ञेयादि भेदकी कल्पना करके मैं घ्राणसे गन्धका ग्रहण करता हूँ, ऐसी मिथ्या प्रतीति करता है ॥ १६९ ॥

'यस्याम०' इत्यादि। जिस अविद्यावस्थामें एक ही आत्मामें अज्ञ पुरुषको भेदकी भ्रान्ति होती है, उस अवस्थामें वह घ्राता, घ्राण और घ्रेय—इन तीन संज्ञाओंको प्राप्त करता है। यद्यपि वास्तविक एक ही आत्मा है तथापि अविद्यासे उसीमें कर्तृ, कर्म और क्रिया आदि भेद दीखता है।

शङ्का—'इतर इतरम्' इत्यादि श्रुतिमें कर्ता, कर्म और क्रियार्थक पदोंका ही श्रवण है, पर 'घ्राणेन' इत्यादि भाष्यनिर्देशका क्या तात्पर्य है ?

समाधान—'इतर इतरम्' यह श्रुतिनिर्देश कारकमात्रका उपलक्षण है अर्थात् योग्य कारकमात्रमें उक्त श्रुतिका तात्पर्य है, अतएव विद्यादशामें कर्ता, कर्म आदिके प्रतिक्षेपके साथ करणका भी प्रतिक्षेप किया गया है—'केन कं पश्येत्' इत्यादि। अन्यथा अप्रसक्तप्रतिषेधापत्ति दोष हो जायगा।

शङ्का—तो भी फलका अभिलाप नहीं हो सकता, कारण कि उसका वाचक पद नहीं हैं।

समाधान—'जिघ्रति'का निर्देश क्रिया और उसके फलके लिए है अर्थात् क्रियावाचक जिघ्रतिपद उसके फलका भी उपलक्षक है। उत्तर वाक्योंमें भी इसी प्रकार योजना करनी चाहिए। ग्राहकादि सब आत्माके अज्ञानसे उत्थित हैं, वास्तविक नहीं हैं ॥ १७० ॥

अविद्यायां विनष्टायां घ्रातृघ्राणादिभेदधीः ।
विनश्यतीत्यभिप्रेत्य संज्ञा नाऽस्तीति वर्णितम् ॥ १७१ ॥
अभिज्ञोऽप्यज्ञवद्भेदं घ्रातृघ्राणादिलक्षणम् ।
विजानातीति चेन्नैवं विद्यायां तदसम्भवात् ॥ १७२ ॥
यस्यां तु विद्यावस्थायामात्मैवाऽस्य भवेज्जगत् ।
तदा कः केन कं जिघ्रेदद्वैतपरवस्तुनि ॥ १७३ ॥

'अविद्यायाम्' इत्यादि । अविद्याके नष्ट होनेपर तन्निबन्धन घ्राता, घ्राण आदि भेदबुद्धि भी नष्ट हो जाती है, इस अभिप्रायसे संज्ञा नहीं रहती, यह कहा है । जैसे काठिन्य-संयोगके नष्ट होनेपर खिल्यपदार्थ नष्ट हो जाता है और उसके बाद जलात्मना नमक स्वाभाविकरूपसे रहता है, क्योंकि औपाधिक संज्ञा-निमित्तका नाश होनेपर औपाधिक संज्ञाकी निवृत्ति हो जाती है, वैसे ही प्रकृतमें तत्-तत् संज्ञानिमित्त अविद्याका नाश होनेपर संज्ञाका भी अभाव हो जाता है, यह महर्षिका अभिप्राय है ॥ १७१ ॥

'अभिज्ञो०' इत्यादि ।

शङ्का—अज्ञ संसारीके समान अभिज्ञ (आत्मतत्त्वज्ञानी) भी घ्राता, घ्राण आदि रूप भेदको यदि जानेगा, तो संज्ञा क्यों नहीं हो सकेगी ?

समाधान—विद्याका उदय होनेपर उक्त भेदका ही जब असम्भव है, तब उसका ज्ञान कैसे होगा ? विद्या अविद्याकी निवर्तिका है । अविद्याके निवृत्त होनेपर उसका कार्य भी निवृत्त ही हो जाता है । फिर उक्त भेदको आत्मज्ञ कैसे जान सकता है ? यद्यपि जीवन्मुक्तिदशामें तत्त्वज्ञानीको भी उक्त भेदका भान होता है, तथापि प्रकृत शङ्काका समाधान विदेहकैवल्यके तात्पर्यसे किया गया है, यह अग्रिम श्लोकमें स्फुट है ॥ १७२ ॥

'यस्यां तु' इत्यादि । शास्त्र और आचार्यके उपदेश द्वारा जनित भास्वद्भास्कर-दीधितिके समान तत्त्वज्ञानसे सम्पूर्ण अविद्या भस्म हो जाती है, उस समय तत्त्व-ज्ञानीके लिए सारा जगत् आत्मा हो जाता है अर्थात् आविद्यिक भेदके निवृत्त होनेपर ज्ञानीको एक आत्मा ही प्रतीत होता है । तब कौन कर्ता किस करणसे किस विषयका ग्रहण करेगा ? ग्राह्यग्राहकभेद अविद्या समुत्थ है, अतएव वह

षष्ठगोचरवत्सर्वं कार्यकारणवज्जगत् ।
ध्वस्तात्मान्ध्यस्य विदुषः सम्यग्ज्ञानोदये भवेत् ॥ १७४ ॥
ग्राहकादिविभागोऽत्र नाऽस्ति तद्धेत्वसम्भवात् ।
चिन्मात्रस्य स्वतःसिद्धैर्विज्ञानघनतेरिता ॥ १७५ ॥

अविद्यादशामें ही रहता है । विद्यादशामें तो निमित्ताभावसे ग्रहणाद्यभाव न्याय-प्राप्त है ॥ १७३ ॥

'षष्ठगोचरवत्' इत्यादि ।

शङ्का—यदि तत्त्वज्ञानके बाद सम्पूर्ण जगत् ज्ञानीका आत्मा ही हो जाता है तो जगत्का अभाव नहीं कह सकते, किन्तु उसकी, आत्माके समान, पारमार्थिक सत्ता ही मानना उचित है, फिर भेद और उस भेदसे जायमान विशेष संज्ञाकी निवृत्ति कैसे होगी ?

समाधान—कार्यकारणरूप सम्पूर्ण जगत् षष्ठ प्रमाणगोचरके (अभावके) समान हो जाता है। तात्पर्य यह है कि शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध—ये पाँच विषय हैं, इनके ग्राहक श्रोत्र, त्वक् नेत्र, रसन और घ्राण—ये पाँच इन्द्रियाँ हैं । छठी न इन्द्रिय है और न उसका विषय है । जो इन पाँचोंमें से किसी इन्द्रियका विषय नहीं है, वह है ही नहीं, जैसे सप्तम रस, कूर्मरोम, नरशृङ्ग आदि । आत्मा इन पाँचोंमें से किसी इन्द्रियका विषय नहीं है, किन्तु विषयी है । ऐसा होनेपर भी कूर्मरोमादिके समान उसे असत् नहीं कह सकते, कारण कि वह स्वयं-प्रकाश और स्वतःसिद्ध है । जगत् जड़ है, अतः प्रमाणसे ही उसकी सिद्धि हो सकती है, अन्यथा नहीं । निवृत्ताविद्य तत्त्वज्ञानीको ज्ञानोदय होनेपर आत्मव्यतिरिक्त किसी पदार्थकी उपलब्धि ही नहीं होती । उपलब्धि हो कैसे ? ग्राह्यग्राहकका भेद भी नहीं है, इसलिए जगत् षष्ठ प्रमाण गोचरके समान असत् है, केवल अधिष्ठानभूत आत्मा ही सत् है । बाधामें सामानाधिकरण्य मानकर सब आत्मा है, ऐसा श्रौत निर्देश है ॥ १७४ ॥

'ग्राहकादि०' इत्यादि ।

शङ्का—प्रमाताके बिना प्रमाणसिद्धि नहीं हो और प्रमाणके बिना प्रमेयसिद्धि नहीं होती, इस नियमके अनुसार बाह्य प्रपञ्च आत्ममात्ररूपसे लीन हो जाता है, ऐसा ज्ञानोदयसमयमें मानते हैं। यहांपर प्रश्न यह होता है कि आत्मसिद्धि भी तो प्रमाणके

मुक्तस्य व्यवहारस्तु भ्रान्तिवासनया कृतः ।
भ्रान्तिनाशेऽपि संस्कारानुवृत्तिर्दृश्यते खलु ॥ १७६ ॥
वासनामात्रसंज्ञां तु देहे सति न वार्यते ।
वस्तुत्वभ्रान्तिसंज्ञैव प्रबुद्धस्याऽत्र वार्यते ॥ १७७ ॥

बिना नहीं हो सकती, उसके लिए प्रमातृत्वको यदि मानेंगे, तो विज्ञानघनोक्ति कैसे सङ्गत होगी ?

समाधान—अविद्याके निवृत्त होनेपर तन्निमित्तक ग्राह्यग्राहकका भेद भी निवृत्त हो जाता है, अतः प्रमातृत्व आदिके सद्भावकी सम्भावना नहीं है। चिन्मात्र आत्मा स्वतःसिद्ध है, इसलिए उसमें साधककी अपेक्षा नहीं है। अतएव वह विज्ञानघन कहा गया है; विज्ञानमात्र ही अवशिष्ट रहता है। उससे अन्य सबकी निवृत्ति हो जाती है, क्योंकि वे जड़ हैं, उनका साधक प्रमाण नहीं है और आत्माके समान वे स्वयंसिद्ध भी नहीं हैं ॥ १७५ ॥

'मुक्तस्य' इत्यादि ।

शङ्का—तत्त्वज्ञानके बाद स्वप्रकाश चिन्मात्रसे अतिरिक्त किसी वस्तुका स्फुरण नहीं होता। यदि ऐसा आप मानते हो, तो जीवन्मुक्तिकालिक बोधके साथ स्पष्ट विरोध होगा, कारण कि जीवन्-मुक्तको संसारका भान होता है। यदि ऐसा न माना जाय, तो उसकी जीवनमात्रोपयोगी कार्योंमें प्रवृत्ति नहीं हो सकेगी और जिज्ञासुजनोंको तत्त्वोपदेश भी नहीं मिल सकेगा, कारण कि जो तत्त्वज्ञ है, उसको द्वैतदर्शन ही जब नहीं है, तो कहेगा किससे ? कहनेके साधन शरीरादि भी नहीं हैं। और जो अतत्त्वज्ञ है, उसको साधन आदि हैं, पर वह स्वयं ही तत्त्वको नहीं जानता, फिर उपदेश कैसे करेगा ? अज्ञात विषयका तो उपदेश हो नहीं सकता ?

समाधान—ठीक है, मुक्त पुरुषका व्यवहार भ्रान्तिवासनासे होता है। भ्रान्तिका नाश होनेपर तदीयवासना रहती है जैसे स्वाप्निक बुद्धि नष्ट होनेपर भी तदीयवासनासे उसका व्यवहार (तदभिधान आदि व्यवहार) जाग्रत्कालमें होता है, वैसे ही प्रकृतमें भी समझना चाहिए ॥ १७६ ॥

'वासनामात्र०' इत्यादि। देहके रहते रहते वासनामात्र संज्ञाका वारण नहीं कर सकते, देहकी अनुवृत्तिकी कारण वासना है। वासनाके निवृत्त होनेपर देहभी निवृत्त हो जाता है, किन्तु तत्त्वज्ञानीमें वस्तुतत्त्वभ्रान्तिरूप संज्ञाका यहाँ

ज्ञातृज्ञानज्ञेयरूपा न संज्ञा विद्यते यथा।
प्रतीच्यपि तथा संज्ञा प्रबुद्धस्य न विद्यते ॥ १७८ ॥

वारण है। संसारी पुरुषको द्वैतमें वस्तुतत्त्वकी (पारमार्थिकत्वकी) भ्रान्ति रहती है; अर्थात् वह द्वैतको परमार्थ सत् मानता है, वस्तुतः उसकी यह बुद्धि भ्रमात्मक है, जीवन्मुक्तमें यह भ्रमात्मक बुद्धि नहीं रहती। शास्त्राचार्योपदेश द्वारा द्वैतमें मृषात्वबुद्धि निश्चयात्मक हो जाती है, इसलिए वस्तुभ्रान्ति संज्ञाका यहांपर वारण है अर्थात् निषेध है। वार्त्तिकसारकी आदर्श प्रतिमें 'कार्यते' यह पाठ मुद्रणदोषसे हुआ है। 'वार्यते' यहं पाठ साधु है ।

शङ्का—जीवन्मुक्तको तत्त्वज्ञान है या नहीं ? प्रथम पक्षमें तम और प्रकाशके तुल्य विद्या और अविद्याका परस्पर विरोध है, इसलिए विद्याधिकरणमें अविद्याकी स्थिति दुर्घट है। अन्यथा विरोधका ही भङ्ग हो जायगा। आत्मा एकरस है, अतः उसका ज्ञान भी एक ही प्रकारका हो सकता है, अतएव उसका फल (मोक्ष) निरतिशय माना गया है। अन्यथा ज्ञानोत्कर्षनिकर्ष प्रयुक्त उत्कर्ष और निकर्ष मोक्षमें भी हो जायगा। प्रकृतमें व्यभिचारके दर्शनसे विद्यामें अविद्यानिवर्तकत्व ही सिद्ध नहीं होगा इत्यादि अनेक दूषण हैं। द्वितीय पक्षमें जीवन्मुक्तिप्रतिपादक शास्त्र-विरोध, मोक्षोपायप्रदर्शनानुपपत्ति, उक्त मोक्षोपायमें श्रद्धादिके अभावसे प्रवृत्त्याद्यनुपपत्ति इत्यादि बहुविध दूषण हैं। विस्तारके भयसे सबका यहाँ निर्देश नहीं किया गया है।

समाधान—प्रथम पक्ष मान्य है। विद्या संस्काररूप अविद्यासे अतिरिक्त अविद्याकी निवर्त्तिका है। भोगजनक अदृष्ट प्रतिबन्धक है। भोगके समाप्त होनेपर संस्कारका भी लोप हो जायगा। प्रतिबन्धकके सद्भावमें व्यभिचारदर्शन कार्यकारण-भाव, निवर्त्यनिर्वतकभाव आदिमें प्रतिबन्धक होता है; अतएव प्रतिबन्धकदशामें दाहादिके न देखनेपर भी अग्निमें दाहकारणत्वग्रह होता है; प्रतिबन्धकाभावदशामें कहीं व्यभिचार दृष्ट नहीं है, इत्यादि संक्षेपतः विचार कर विरत होते हैं ॥ १७७ ॥

'ज्ञातृज्ञान०' इत्यादि। संसारी पुरुषको एक ही आत्मामें अविद्या द्वारा भेदबुद्धि मानकर ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय इत्यादि संज्ञा होती है, विद्यासे अविद्याकी निवृत्ति होनेपर तत्त्वज्ञानीको वह संज्ञा जैसे नहीं होती, कारण कि उसमें तत्तत् संज्ञानिमित्त अविद्याकृत भेद नहीं रहा, वैसे ही प्रत्यक् आत्मामें भी उक्त संज्ञा नहीं होती।

ज्ञानोत्पत्तौ न संज्ञाऽस्तीत्यास्तां तावदिहाऽऽत्मनि ।
अपि सत्यामविद्यायां न संज्ञाऽस्त्यात्मनीदृशी ॥१७९॥
ग्राहकादिजगत्सर्वं येन कूटस्थसाक्षिणा ।
लोकः सर्वं विजानाति जानीयात् केन तं वद ॥ १८० ॥

शङ्का—जैसे सुषुप्ति अवस्थामें संज्ञा नहीं रहती, उसका कारण अज्ञान आत्मामें लीन हो जाता है, किन्तु जाग्रदादिमें फिर संज्ञाका लाभ होता है, वैसे ही संज्ञाकारण अविद्यादि विद्वान्‌के प्रति लीन हो गये हैं, अतः समयपर फिर संज्ञा होगी ।

समाधान—सुषुप्तिमें भोगहेतु अविद्याका ज्ञान द्वारा लय नहीं है, इसलिए पुनः संज्ञादिका उत्थान होता है । यहाँपर भोग समाप्त है, अतएव तत्त्वज्ञानसे समूल अविद्याकी निवृत्ति हो गई है, इसलिए उक्त शङ्का प्रकृतमें अयुक्त है ॥१७८॥

'ज्ञानोत्पत्तौ' इत्यादि । ज्ञानोत्पत्ति होनेपर विद्वान्‌में संज्ञा नहीं रहती इसको रहने दो, वह तो कैमुतिकन्यायसिद्ध अर्थ है, उसके साधनका प्रयास ही व्यर्थ है । अविद्यादशामें जब कि संज्ञासाधनसामग्रीकी संभावना है, उसी दशा-में यदि आत्मामें संज्ञा नहीं रहती, तब जिस समयमें उक्त कार्यकी सामग्री ही नहीं है, उस समयमें उसका आपादन सुतरां अशक्य है ॥ १७९ ॥

'ग्राहकादि०' इत्यादि । ग्राहकादि अर्थात् ग्राह्यग्राहकात्मक संपूर्ण जगत्‌को जिस कूटस्थ साक्षीसे लोक जानता है उसको किससे जानेगा ? अर्थात् किसीसे नहीं ।

शङ्का—जैसे कूटस्थ साक्षीको स्वयं सिद्ध मानते हो, वैसे ही जगत्‌को स्वयं-सिद्ध क्यों नहीं मानते; दोनोंमें क्या विशेष है ?

समाधान—विशेष यह है कि जगत् जड़ है और कूटस्थ साक्षी चित् है । स्वयंप्रकाश होनेसे चित्‌की स्वतःसिद्धि है और पराधीनप्रकाश होनेसे जगत्‌की सिद्धि दूसरेके अधीन है ।

शङ्का—ज्ञान चिद्रूप स्वयंप्रकाश है, यह जो आपने कहा, सो ठीक नहीं है, कारण कि पुरुषान्तरज्ञानका भी तो उक्त ही रूप है, परन्तु उसका ग्रहण करनेके लिए पुरुषान्तरज्ञानकी अपेक्षा देखते हैं, उसके बिना पुरुषान्तरज्ञान पुरुषान्तरसे गृहीत नहीं होता ।

समाधान—ठीक है, परन्तु जहाँ ग्राहक है और जहाँ ग्राहकान्तर

बोद्धृत्वालोचने नापि न संज्ञा प्रत्यगात्मनि ।
न बोद्धा गृह्यतेऽन्येन बोधेन विषयेण वा ॥ १८१ ॥
व्यावहारिकसंज्ञाऽसौ संसारिण्यपि दुर्लभा ।
किमु विध्वस्तनिःशेषसंसारानर्थकारणे ॥ १८२ ॥

नहीं है, वहां स्वयं ग्रहणके बिना उपायान्तर नहीं है, अन्यथा अनवस्था दोष हो जायगा, अर्थात् जिस-जिसको ग्राहक कहियेगा उस-उसका ग्रहण अन्य ग्राहकसे कहियेगा, इस प्रकार अनवस्था स्पष्ट है। अन्तिम ग्राहकका अग्रहण माननेपर आमूल अग्रहण हो जायगा। इसलिए निरुपाधिक चित्तकी सिद्धिके लिए अन्यकी अपेक्षा नहीं है, यही मानना होगा, इसके बिना निस्तार नहीं है। 'नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा श्रोता मन्ता विज्ञाता' इत्यादि श्रुतिसे चेतन एक ही है, अनेक नहीं, यह स्फुट है, अतः अविद्यादशामें भी आत्मामें ग्राहकभेदधी नहीं हो सकती। यथार्थात्मज्ञानरूप सूर्यका उदय होनेके अनन्तर ग्राहकज्ञानाभावके विषयमें कहना ही क्या है? क्योंकि भेद-ज्ञानका अभाव कैमुतिकन्यायसे सिद्ध है ॥ १८० ॥

'बोद्धृत्वा०' इत्यादि। 'विज्ञातारमरे केन विजानीयात्' इस श्रुतिमें विज्ञाता शब्दका अर्थ प्रमाता है। प्रमाताकी अपेक्षासे भी ग्राहकादिभेद भी नहीं है, साक्षीमें तो वह कैमुतिकन्यायसे सिद्ध है। कैमुतिकन्यायका स्वरूप पूर्वमें कह चुके हैं और वह अतिस्पष्ट तथा प्रसिद्ध है। विज्ञाताके ग्राहकका अभाव व्यतिरेकमुखसे कहते हैं—न इत्यादिसे। बोद्धाका—प्रमाताका—अन्यबोध या विषयसे ग्रहण नहीं होता। यद्यपि विषयमें ज्ञानग्राहकता नहीं है, किन्तु ज्ञानग्राह्यता है, इससे विषयसे उसका निषेध अयुक्त है, तथापि ज्ञानका निरूपण विषयनिरूपणाधीन है, विषयके बिना ज्ञानका प्रत्यक्ष नहीं होता, इस तात्पर्यसे विषयसे उसका निषेध किया गया है ॥१८१॥

उक्त अर्थको अतिस्फुट करनेके लिए पुनः अभिधान करते हैं—'व्याव-हारिक०' इत्यादिसे।

संसारी पुरुषमें भी व्यावहारिक संज्ञा दुर्लभ है, अज्ञानसे ही प्रमातामें विशेष संज्ञा लोग करते हैं, विचार करनेपर उक्त संज्ञा दुर्लभ है। सम्पूर्ण संसाररूप अनर्थका कारण जिसमें नष्ट हो गया है, ऐसे ज्ञानीमें विशेष संज्ञाका सम्भव कहाँ? सांसारिक जन्म, मरण, जरा, दुःख आदि सब जिहासित होनेके

इत्येवमपरायत्तबोधेनाऽऽत्यन्तिको लयः ।
निदिध्यासनरूपोऽत्र फलभूतः प्रकीर्तितः ॥ १८३ ॥

इति वार्तिकसारे द्वितीयाध्यायस्य चतुर्थं ब्राह्मणं समाप्तम् ।



कारण अनर्थ कहे जाते हैं । सचेता पुरुष उनकी कामना नहीं करता, किन्तु सदा जिहासा ही करता है । अनर्थ्यमान होनेसे वे अनर्थ कहलाते हैं, उनकी कारण अनादि अनिर्वचनीय अविद्या है । जिस पुरुषधौरेयने अविद्याकी निःशेष निवृत्ति कर दी है, उसमें विशेष संज्ञाकी सम्भावना कहाँ ? ॥ १८२ ॥

प्रकृतार्थका उपसंहार करते हैं—'इत्येवम०' इत्यादिसे ।

अपरायत्त बोधकी व्याख्या पूर्वमें कर चुके हैं । उक्त बोधसे आत्यन्तिक लय होता है । प्रलयमें संसारका जो लय है, वह कारणमें शक्त्यात्मना अवस्थानरूप है, अतः फिर संसारका अविर्भाव होता है । परन्तु उक्त बोधसे तो आत्यन्तिक अर्थात् पुनरनुत्पत्तिलक्षण लय होनेके कारण फिर संसार नहीं होता । निदिध्यासन दो प्रकारका है—एक ध्यानापरपर्य्याय उपायस्वरूप और दूसरा फलभूत, जो सकृत् श्रुत 'तत्त्वमसि' आदि वाक्यसे होता है । प्रकृतमें 'सर्वमात्मा' इत्यादिसे जो सर्वात्मविषयक ज्ञान होता है, वही मोक्षका साधन है, उसका पूर्णरूपसे निरूपण हो चुका और यह निष्कर्ष निकला कि अविद्या-दशामें ही भेदव्यवहार होता है, विद्यादशामें नहीं ।

म० म० पं० श्रीहरिहरकृपालुद्विवेदिविरचितवार्तिकसारभाषानुवादमें
द्वितीय अध्यायका चतुर्थ ब्राह्मण समाप्त ।



अथ पञ्चमं ब्राह्मणम्

श्रुतिः—इयं पृथिवी सर्वेषां भूतानां मध्वस्यै पृथिव्यै सर्वाणि भूतानि मधु ॥

पञ्चम ब्राह्मण

जो केवल कर्मनिरपेक्ष मोक्षका साधन है, उसको यहां कहना है, इसलिए मैत्रेयीब्राह्मणका आरम्भ है। मोक्षका साधन आत्मज्ञान है, जो सर्वसंन्यासरूप अङ्गसे विशिष्ट है। आत्माके जाननेपर यह सब जगत् ज्ञात हो जाता है। आत्मा सबसे प्रिय है, अतः आत्माका दर्शन करना चाहिए। 'वह श्रोतव्य है—सुननेके योग्य है, मनन करनेके योग्य है, निदिध्यासितव्यः—ध्यानके योग्य है' इस प्रकार उसके दर्शनके उपाय कहे गये हैं। 'आचार्य और आगमसे सुनना चाहिए, तर्कसे मनन करना चाहिए' यहाँपर तर्क यह कहा गया है कि 'यह सब जगत् आत्मा ही है। प्रतिज्ञात अर्थकी सिद्धिके लिए यह हेतुवचन है—आत्मैकत्व-सामान्यत्व, आत्मैकोद्भवत्व और आत्मैकप्रलयत्व। इसमें हेत्वसिद्धिकी शङ्का होती है, उसकी निवृत्तिके लिए इस ब्राह्मणका आरम्भ करते हैं। यह संपूर्ण जगत् यतः परस्परोपकार्योपकारकभूत है और जो लोकमें परस्परोपकार्य्योपकारकभूत है, वह स्वप्नके समान एककारणपूर्वक, एकसामान्यात्मक और एकप्रलयक दृष्ट है, अतः यह जगत् परस्परोपकार्योपकारकभूत होनेसे एककारणजन्य होना चाहिए; इसी अर्थका इस ब्राह्मणमें प्रतिपादन किया जायगा।

अथवा आत्मा ही यह सब है, इस प्रतिज्ञात अर्थमें आत्मोत्पत्ति, आत्मस्थिति और आत्मलयरूप हेतुको कहकर फिर आगमप्रधान मधुब्राह्मणसे प्रतिज्ञात अर्थका निगमन करते हैं। निगमन भी प्रतिज्ञात अर्थका साधक होता है, इसमें—'हेत्वपदेशात् प्रतिज्ञायाः पुनर्वचनं निगमनम्' यह न्यायसूत्र प्रमाण है। 'पर्वतो वह्निमान्' यह प्रतिज्ञा है, 'धूमात्' यह हेतु है। 'यो यो धूमवान् स स वह्निमान्' यह उदाहरण है, 'वह्निव्याप्य-धूमवांश्चाऽयम्' यह उपनय है, 'तस्मात् पर्वतो वह्निमान्' यह निगमन है। जैसे एक-बार 'पर्वतो वह्निमान्' यह कहकर फिर व्याप्तिविशिष्ट हेतुका पक्षमें निर्देश कर अनन्तर 'पर्वतो वह्निमान्' इस प्रकारका निगमन तार्किक लोग किया करते हैं और

उस निगमनको प्रतिज्ञातार्थका साधक भी मानते हैं, वैसे ही प्रकृतमें भी 'इदं सर्वं ब्रह्म' यह कहा गया है।

भर्तृप्रपञ्चके मतसे इस ब्राह्मणके आरम्भका प्रकार यों है—'आत्मा द्रष्टव्यः' यहांसे लेकर दुन्दुभ्यादिदृष्टान्तपर्यन्त आगमवचन श्रवणविधिका निरूपण करनेके लिए है और दुन्दुभिदृष्टान्तसे लेकर मधुब्राह्मणके पहले तकके आगमवचन उत्पत्तिप्रतिपादन द्वारा 'मन्तव्यः' इस वाक्यसे विहित मननका निरूपण करनेके लिए हैं। अवशिष्ट रहा निदिध्यासन, उसका व्याख्यान करनेके लिए इस ब्राह्मणका आरम्भ है। परन्तु यह प्रकार भगवान् भाष्यकार शङ्कराचार्यजीको सम्मत नहीं है।

शङ्का—क्यों ?

समाधान—श्रवणादिमें विधिका निरास पूर्वमें कर चुके हैं।

शङ्का—तो श्रवणादिकी पुरुषकी प्रवृत्ति कैसे होगी ?

समाधान—अन्वयव्यतिरेकसे श्रवणमें प्रवृत्त पुरुषका पहले श्रवण हो जानेपर अर्थतः मननमें प्रवृत्ति हो जायगी, इसलिए मननमें भी विधिकी आवश्यकता नहीं है, इसका सविस्तर निरूपण पूर्वमें हो चुका है। जैसा आगमसे अर्थका अवधारण हो, वैसा ही तर्कसे मनन करना चाहिए, उससे विपरीत नहीं, अतएव 'तर्क्यतां मा कुतर्क्यताम्' ऐसा अभियुक्तोंका वचन है। 'नैषा मतिस्तर्केणापनेया' इस श्रुतिका भी यही अर्थ है। जैसा तर्कसे निश्चित हो, वैसा ही निदिध्यासन करना चाहिए, अतः निदिध्यासनमें अलग विधि व्यर्थ है। यह भगवान् भाष्यकारका अभिप्राय है, अतः भर्तृप्रपञ्चोक्त पृथक् प्रकरणविभाग निरर्थक है। अतः दो अध्यायोंमें उक्त अर्थका इस ब्राह्मणमें उपसंहार करना ही अभीष्ट है।

'इयं पृथिवी सर्वेषां' इत्यादि श्रुति। यह प्रसिद्ध पृथिवी सब भूतोंकी मधु है अर्थात् ब्रह्मादिसे लेकर स्तम्बपर्यन्त सम्पूर्ण प्राणियोंकी मधु है। मधुका अर्थ कार्य है। 'मधु इव मधु' अर्थात् मधुसदृश। कार्यत्वसे सादृश्य विवक्षित है—जैसे मधु कार्य है; वैसे पृथिवी भी कार्य है। जैसे एक मधुका छत्ता अनेक मधुमक्खियों द्वारा निर्मित हैं, वैसे ही यह पृथिवी अनेक भूतोंसे निर्मित है। जैसे पृथिवी सब भूतोंकी मधु है, वैसे ही सब भूत पृथिवीके मधु हैं अर्थात् कार्य हैं। किञ्च, पृथ्वीमें जो यह चिन्मय, प्रकाशमय, अमृतमय और अमरणधर्मा पुरुष है एवं जो यह अध्यात्म (शरीरमें रहनेवाला) पूर्ववत् तेजोमय और

पञ्चमब्राह्मणे विद्याफलं सार्वात्म्यलक्षणम् ।
अभिव्यञ्जयितुं वस्तुसर्वात्मत्वं प्रपञ्च्यते ॥ १ ॥
यो जन्मस्थितिनाशाख्यो हेतुः सार्वात्म्य ईरितः ।
तस्याऽसिद्धिर्वार्यतेऽत्रेत्येवं भाष्यकृतो जगुः ॥ २ ॥

अमृतमय पुरुष है, वह लिङ्गाभिमानी एवं सब भूतोंका उपकारक होनेसे मधु है । और सब भूत उक्त पुरुषके मधु हैं ।

शङ्का—प्रथम वाक्यमें दो बार मधु शब्दका श्रवण है, अतः पृथिवी और भूतोंमें परस्पर दो मधुकी कल्पना ठीक है, परन्तु उत्तर वाक्यमें जब मधुशब्दका श्रवण ही नहीं है, तब उनमें परस्पर मधुकी कल्पना करनेमें क्या बीज है ?

समाधान—'च' शब्द अनुक्तसमुच्चयार्थक है, अतः उत्तर वाक्यमें अनुक्त मधुका समुच्चय इष्ट ही है । अन्यथा चकारका प्रयोग प्रकृतमें व्यर्थ हो जायगा । इसलिए पृथिवी, सब भूत, पार्थिव पुरुष, और शारीर—ये चारों एक दूसरेके मधु हैं । मधु शब्दार्थको स्फुट करते हैं—सब पृथिवी भूतोंकी कार्य है और सब भूत पृथिवीके कार्य्य हैं, अतः इनमें एककारणपूर्वकत्व है । जिस एक कारणसे ये सब उत्पन्न हुए हैं, वही एक परमार्थ ब्रह्म है, इतर कार्य्य वाचारम्भणविकारनामधेय है, यह संक्षेपसे सब मधुपर्य्यायोंका अर्थ है । यही वह है, जो 'सर्वं यदयमात्मा' इससे प्रतिज्ञात है । यह अमृत है, अर्थात् मैत्रेयीके लिए मोक्षके साधनभूत जिस आत्मज्ञानको महर्षिने कहा है, यही वह अमृत है । यही वह ब्रह्म है, जो 'ब्रह्म ते ब्रवाणि ज्ञपयिष्यामि' (ब्रह्म तुमसे कहें, ब्रह्मका ज्ञापन कराऊँगा) इत्यादिसे अध्यायके आदिमें प्रकृत है, यद्विषक विद्या ब्रह्मविद्या कही जाती है और जिस ब्रह्मविज्ञानसे सर्वात्मक हो जाता है ॥ १ ॥

'पञ्चम०' इत्यादि । सार्वात्म्य (सर्वतादात्म्यत्वलक्षण) विद्याफलको पञ्चम ब्राह्मणमें अभिव्यक्त करनेके लिए सर्वात्मवस्तुका विस्तार करते हैं । चतुर्थ ब्राह्मणमें 'इदं सर्वं यदयमात्मा' इत्यादिसे जो आत्मविद्याका फल सर्वात्मत्वकी प्राप्ति कहा था, वही विद्याविषय वस्तु सर्वात्मा है, उसीको प्रपञ्च द्वारा स्पष्ट करते हैं ॥१॥

'यो जन्मस्थिति०' इत्यादि । सार्वात्म्यमें (सर्वतादात्म्यमें) जगज्जन्मस्थितिनाशरूप (ब्रह्मसामान्यसे जगत्की उत्पत्ति, स्थिति और नाशरूप) जो हेतु कहा है, उससे

प्रतिज्ञायाऽथवैकात्म्यं पूर्वमेवोपपादितम् ।
निगमायोत्तरो ग्रन्थ इति चाऽऽहुरमी पुनः ॥ ३ ॥

जगत् ब्रह्मसामान्यात्मक है, तदतिरिक्त नहीं है, यह ज्ञात होता है। जिस सामान्यसे जो विशेष उत्पन्न होते हैं, वे उस सामान्यसे भिन्न नहीं होते। जैसे दुन्दुभ्यादि-विशेष दुन्दुभ्यादिसामान्यसे उत्पन्न होते हैं, अतः वे उनके सामान्यसे भिन्न नहीं होते, वैसे ही जगत् भी ब्रह्मसामान्यसे भिन्न नहीं है।

शङ्का—ब्रह्ममें जगज्जन्मस्थितिलयहेतुत्व ही असिद्ध है, कारण कि चित्में सामान्यविशेषभाव ही नहीं है, वह तो सैन्धवघनके समान एकरस है। इसलिए सामान्यविशेषोभयात्मक प्रधानसे जगत् उत्पन्न होता है, ऐसा सांख्यवादी मानते हैं। उनका मत ठीक भी है, क्योंकि अद्वैतवेदान्तवादीके मतकी—चित्से जगत् उत्पन्न होता है, इसकी—उपपत्ति ही असम्भव-सी प्रतीत होती है, कारण कि वे लोग चित्को कूटस्थस्वरूप, असङ्ग और अद्वय मानते हैं।

समाधान—ठीक है, पर इस विकल्पका उत्तर दो कि क्या आप वास्तविक सामान्यविशेषभाव चित्में नहीं है, यह कहते हैं या अवास्तविक भी नहीं है? प्रथम पक्ष तो ठीक ही है, क्योंकि ऐकात्म्यसिद्धिके लिए हेत्वादिकी विवक्षा है, वास्तविक नहीं। द्वितीय पक्ष ठीक नहीं है, क्योंकि अज्ञात ब्रह्ममें चित्सामान्य-विशेषका सम्भव है। ब्रह्मज्ञान होनेपर ही सामान्य-विशेषका प्रतिषेध श्रुति-सम्मत है।

शङ्का—यदि ज्ञानके पहले ब्रह्ममें सामान्यविशेषभाव मानते हैं, तो हेत्व-सिद्धिकी शङ्का ही नहीं हो सकती, अतः उसका वारण करनेके लिए उत्तर ब्राह्मण ही असङ्गत है।

समाधान—अभ्युप्येत्यवाद मानकर अर्थात् हेत्वसिद्धिको मानकर उक्त शङ्काका निरास करनेके लिए उत्तर ब्राह्मण है ॥ २ ॥

दूसरी भी सङ्गति कहते हैं—'प्रतिज्ञायाऽथवै०' इत्यादि।

ऐकात्म्यका पूर्वमें ही उपपादन कर चुके हैं। निगमनके लिए उत्तर ब्राह्मण है। तात्पर्य यह है कि 'पर्वतो वह्निमान्' के समान 'सर्वमात्मा' ऐसी प्रतिज्ञा करके 'धूमात्'के समान जगज्जन्मस्थितिनाशकारणत्वरूप हेतुका अभिधान किया। तदनन्तर जैसे सहेतु प्रतिज्ञाका पुनरभिधानरूप निगमन तार्किक लोग किया करते हैं—

फलं निगमनं वाऽस्तु सार्वात्म्यं ब्रह्मणः स्फुटम् ।
विभाति हेत्वसिद्धिस्तु पुंवाक्य इव नाऽऽगमे ॥ ४ ॥
तथापि मन्दाः शङ्कन्त आत्मनानात्वदर्शिनः ।
एकात्मनो जगज्जन्मेत्यादिहेतोरसिद्धताम् ॥ ५ ॥

'तस्मात् पर्वतो वह्निमान्' इत्यादि, वैसे ही प्रकृतमें भी उत्तर ब्राह्मणसे निगमन किया जाता है । निगमनको भी साधनाङ्ग वादी लोग मानते हैं ॥ ३ ॥

'फलं निगमनम्' इत्यादि । पञ्चम ब्राह्मणका फल निगमन हो किंवा ब्रह्ममें स्पष्ट सर्वात्मकत्व हो, परन्तु पुरुषोक्त वाक्यके समान आगमरूप वेदवाक्यमें हेत्वसिद्धिका ज्ञान नहीं होता है ।

शङ्का—आप अनेक सङ्गतियां कहते हैं, परन्तु किस सङ्गतिको प्रकृतमें वास्तविक मानना चाहिए ।

समाधान—श्रौत अर्थमें विप्रतिपत्ति न हो, इसलिए जितने संबन्धोंकी उपपत्ति हो सके, उन सबको मानना चाहिए ।

यदि शङ्का हो कि हेत्वसिद्धिका निवारण करनेके लिए उत्तर ब्राह्मण है, यह पक्ष तो समुचित प्रतीत नहीं होता, कारण कि वेदोक्त अर्थमें शङ्का सर्वथा अनुचित है । भ्रमादि दोषोंकी संभावनासे पौरुषेय वाक्यमें शङ्का हो सकती है, पर अपौरुषेय वेदवाक्यमें दोषाभावसे शङ्का ही अयुक्त है, तो ठीक है, इसका उत्तर अग्रिम श्लोकमें देखो ॥ ४ ॥

'तथापि' इत्यादि। तर्करूपी घोड़ेकी पीठ पर आरूढ़ जो मन्दमति हैं, उनको वेदार्थमें भी सन्देह होता है । उनकी यह समझ है कि 'जगत् अनेकात्मजन्यम्, विचित्रकार्यत्वात्, प्रासादादिवत्' इस अनुमानको लेकर प्रासाद आदि विचित्र कार्य जैसे अनेक शिल्पी मिलकर करते हैं, वैसे ही यह विचित्र जगत् एकात्मकृत नहीं हो सकता । विचित्र कार्यका तात्पर्य अनेकजातीय कार्यमें है । ईंटा, लोहा, पत्थर आदि कार्य एक मनुष्य नहीं करता, किन्तु तत्-तत् कार्यके कर्ता भिन्न भिन्न मनुष्यलोकमें प्रसिद्ध हैं । प्रासादमें तत्-तत् कार्य हैं, अतः वह जैसे अनेकात्मजन्य है, वैसे ही जगत् भी है । अतः एकात्मजन्यत्व हेतु असिद्ध है । इस शङ्काकी व्यावृत्तिके लिए उत्तर ब्राह्मण है ॥ ५ ॥

जगदेकस्य कार्यं स्यादेकमातृजपुत्रवत् ।
परस्परोपकारित्वादिति हेतुः समर्थ्यते ॥ ६ ॥
निदिध्यासनविध्यर्थं केचिद्ब्राह्मणमूचिरे ।
असत्तदपरायत्तबोधत्वेनाऽस्य वर्णनात् ॥ ७ ॥
परस्परोपकारित्वं पृथिव्याः प्राणिनामपि ।
यत्तन्मधुत्वं विज्ञेयमुपकारस्तु सर्जने ॥ ८ ॥
जन्तुभिः पृथिवी सृष्टा स्वकर्मफलभुक्तये ।
पृथिव्याऽप्यात्मभोगार्थं सृष्टाः सर्वेऽपि जन्तवः ॥ ९ ॥

'जगदेकस्य' इत्यादि । एक माताके अनेक पुत्र जैसे एकमातृज हैं, वैसे ही जगत् परस्परोपकारी होनेसे एकात्मज हैं, इस प्रकार हेतुका समर्थन करते हैं । मधुब्राह्मणसे परस्परोपकारित्व स्पष्ट करते हैं । 'विमतम् एकात्मजम्, परस्परोपकारित्वात्, स्वप्नवत्' यह अनुमान भी उक्त अर्थमें प्रमाण है ॥ ६ ॥

'निदिध्यासन०' इत्यादि । भर्तृप्रपञ्चका मत है कि 'श्रोतव्यो मन्तव्यः' इत्यादि वाक्यसे श्रवणादित्रयका विधान कर श्रवण और मननके स्वरूपका पूर्वमें व्याख्यान किया गया है, अब निदिध्यासनका व्याख्यान करनेके लिए यह प्रञ्चम ब्राह्मण है । लेकिन यह मत युक्त नहीं है, कारण कि जो अर्थ आगमसे श्रुत और तर्कसे समर्थित है, वही निपुणतया निश्चित अर्थ निदिध्यासन कहलाता है ।

शङ्का—निदिध्यासन तो ध्यान कहलाता है ।

समाधान—पूर्वमें यह कह चुके हैं कि निदिध्यासन दो प्रकारका है—एक ध्यानस्वरूप कर्तृतन्त्र और दूसरा फलस्वरूप अपरायत्त बोध अर्थात् वस्तुतन्त्र ज्ञान । प्रकृतमें अन्तिम अपरायत्त बोधरूप निदिध्यासनका वर्णन है, ध्यानका नहीं । अतः भर्तृप्रपञ्चोक्त व्याख्यान ठीक नहीं है ॥ ७ ॥

'परस्परोप०' इत्यादि । पृथिवीमें और प्राणियोंमें मधुत्व परस्परोपकारित्व-स्वरूप है । पृथिवी प्राणियोंकी उपकारक है, इसलिए प्राणियोंकी मधु है और प्राणी पृथिवीके उपकारक हैं, इसलिए वे पृथिवीके मधु हैं ।

शङ्का—भूतोंसे पृथिवीका क्या उपकार होता है ?

समाधान—भूतोंके भोगार्थ पृथिवीकी सृष्टि है ॥ ८ ॥

'जन्तुभिः' इत्यादि । प्राणियोंने अपने-अपने शुभाशुभ कर्मजन्य सुख-दुःख

पार्थिवानि शरीराणि भुज्यन्ते जन्तुभिस्तथा ।
पृथिव्याऽपि धरित्रीत्वं भुज्यते जन्तुधारणात् ॥ १० ॥

आदिरूप फलके भोगके लिए पृथ्वीकी सृष्टि की है । अदृष्ट और प्रयोजनके बिना किसी पदार्थकी सृष्टि नहीं होती, यह सब विद्वानोंका सिद्धान्त है । इसलिए स्वभोग-जनक अदृष्ट द्वारा भूतमात्र पृथिवीकी उत्पत्तिमें कारण हैं; एवं भोग्य पृथिवीकी सृष्टि भोक्ताओंके लिए है, अन्यथा भूतोंकी उत्पत्ति ही असम्भव है, कारण कि शरीर, इन्द्रिय आदि भौतिक हैं, भूतोंके बिना शरीर, इन्द्रिय आदिका निर्माण एवं स्थिति आदि असम्भव ही हैं, इसलिए पृथिवी भी भूतोंकी उत्पत्तिमें कारण स्पष्ट ही है । यही परस्परोपकार्यत्वरूप दोनोंमें मधुत्व है ॥ ९ ॥

'पार्थिवानि' इत्यादि । यहाँ पृथिव्यादिशब्दसे तत्-तत् अभिमानी देवता विवक्षित हैं । पृथिव्यभिमानी देवता पृथिवीशब्दका अर्थ है, ऐसा माननेपर अचेतन-स्थूलशरीरप्रधान पृथिवी प्राणियोंके प्रति भोग्य है, और चेतनांशप्रधान भोक्ता है, इसी तरह प्राणी भी स्थूलशरीरप्राधान्यसे पृथिवीके प्रति भोग्य हैं और चेतनके प्राधान्यसे भोक्ता हैं । यद्यपि प्राणियोंके शरीर पाञ्चभौतिक हैं, तथापि पृथिवीका अंश अधिक होनेसे पार्थिव कहे जाते हैं । इस श्लोकका यह अर्थ वार्तिकसारकी टीकाके अनुसार है, परन्तु यह अर्थ श्लोकसे नहीं निकलता, इसलिए मैं इसका अर्थ यह करता हूँ—पृथिवी इस प्रकार भूतोंकी भोग्य है—जन्तुओंके शरीर पार्थिव हैं, इसलिए वे पृथिवी ही हैं, दूसरे जन्तु दूसरे जन्तुओंका भक्षण करते ही हैं, इसलिए पृथिवी प्राणियोंकी भोग्य है, इसमें सन्देह नहीं, अतएव 'जीवो जीवस्य जीवनम्' यह कहा जाता है । व्याघ्रादि केवल मांसाशी ही हैं ।

शङ्का—भूत पृथिवीके भोग्य कैसे ?

समाधान—पृथिवी भूतोंको धारण और पालन करती है, इसलिए भूत पृथिवीके भोग्य हैं । 'धरा धरित्री धरणी' इत्यादि कोशसे धरित्री पृथिवीका नाम है । नाम अन्वर्थ है । 'भुज पालनाभ्यवहारयोः' इस पाणिनीय धातुपाठसे भुजधातुके पालन और भक्षण ये दोनों अर्थ हैं । द्वितीय अर्थसे पृथिवी भूतोंकी भोग्य है, क्योंकि पार्थिव शरीरोंका भक्षण भूत करते ही हैं । प्रथम अर्थसे भूत पृथिवीके भोग्य हैं । 'पृथिव्या भूतानि भुज्यन्ते' । उसमें हेतु है—'जन्तुधारणात्' । भुज्यन्ते पाल्यन्ते, इसमें भी हेतु है—धरित्रीत्व । इसलिए उत्तरार्द्ध यों होना चाहिए—

श्रुतिः—यश्चायमस्यां पृथिव्यां तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चाय-मध्यात्मꣳ शारीरस्तेजोमयोऽमृतयः पुरुषोऽयमेव स योऽयमात्मेदममृत-मिदं ब्रह्मेदꣳ सर्वम् ॥ १ ॥

अस्यां पृथिव्यां यो भास्वानामोक्षमविनश्वरः ।
लिङ्गात्मा मध्वसौ सर्वभूतानां तानि तस्य च ॥ ११ ॥
अध्यात्मं यश्च शारीरो लिङ्गात्मा पार्थिवांशगः ।
स चाऽपि मधु सर्वेषां सर्वभूतानि तस्य च ॥ १२ ॥
साध्यात्मं साधिदैवं च साधिभूतमिदं जगत् ।
एकैकस्याऽऽत्मनः कृत्स्नं भोग्यत्वेनाऽवतिष्ठते ॥ १३ ॥
सर्वं सर्वस्य कार्यं स्यात् सर्वः सर्वस्य भोजकः ।
इत्येषा मधुविद्याऽत्र वैषम्यक्लेशहारिणी ॥ १४ ॥

'पृथिव्याऽपि धरित्रीत्वाद्भुज्यन्ते जन्तुधारणात्' । इसमें विद्वानोंको जो अभिमत हो, उसका ग्रहण करें । निष्कर्ष यह हुआ कि पृथिवी और भूतोंका परस्पर कार्यकारण-भाव तथा भोक्तृभोग्यभाव है, इसलिए वे एकात्मजन्य हैं ॥ १० ॥

'अस्यां पृथिव्याम्' इत्यादि । श्रुतिमें उक्त तेजोमयका व्याख्यान है—भास्वान् (दीप्तिमान्) । इस पृथिवीमें जो दीप्तिमान् तथा आमोक्ष अविनाशी अर्थात् जबतक मोक्ष नहीं हो, तबतक अविनाशी [इससे आत्यन्तिक अमृतत्वका निरास इष्ट है । पुरुषशब्द क्षेत्रज्ञपरक है । इस शङ्काकी व्यावृत्तिके लिए लिङ्गात्मा कहा गया है] लिङ्गात्मा पुरुष है, वह सब भूतोंका मधु है और वे सब भूत लिङ्गात्मा पुरुषके मधु हैं ॥ ११ ॥

'अध्यात्मम्' इत्यादि । और जो अध्यात्म शारीर पुरुष पार्थिवांशग अर्थात् पार्थिव अंशमें है, जिसको लिङ्गात्मा कहते हैं, वह भी सब भूतोंका मधु है और सब भूत उसके मधु हैं ॥ १२ ॥

'साध्यात्मम्' इत्यादि । साध्यात्म, साधिदैव और साधिभूत यह सम्पूर्ण जगत् एक-एक आत्माका भोग्य है ॥ १३ ॥

'सर्वं सर्वस्य' इत्यादि । सब सबका कार्य है और सब सबका भोजक है, इस प्रकार यहाँ प्रतिपादित मधुविद्या समस्त वैषम्यात्मक क्लेशका अपहरण करती है । तात्पर्य यह है कि यह इसका कारण है, और यह

भूतानि भूमिर्लिङ्गे द्वे इत्युक्तं यच्चतुर्विधम् ।
मध्वविद्याकृतं तस्य वस्तुतत्त्वमथोच्यते ॥ १५ ॥

इसका कार्य है, तथा यह इसका भोजक है और यह इसका भोज्य है, इस प्रकार जो कार्यकारण और भोज्यभोजकका वैषम्य है, उससे क्लेश होता है, क्योंकि कार्य और भोज्यकी अपेक्षा कारण और भोजक प्रशस्त माने जाते हैं। इसलिए भोज्य और कार्यको यह स्वाभाविक दुःख होता है कि हम इसके भोज्य हैं, भोजक नहीं हैं। इसी दुःखको मधुविद्या हरण करती है, कारण कि अचेतन शरीरादि द्वारा सब सबके कार्य और कारण दोनों हैं। अदृष्ट द्वारा पृथिवी आदि पाँच भूतोंके प्रति सब भूत (प्राणी) कारण हैं। सबके शरीर, इन्द्रिय आदि पार्थिवादि ही हैं, इसलिए स्व (भूत) कार्यरूप पृथिव्यादिके कार्य भूतोंके शरीर आदि हैं। इस परम्परासे सब सबके कारण एवं सब सबके कार्य भी हैं, यह स्पष्ट है। एवं सब भोज्य और सब भोजक भी हैं। चेतनांशको लेकर ही उपभोग होता है, चेतनांश लिङ्गात्मामें है ही। भक्ष्य द्वारा पालन आदि होनेसे सबमें भोजकभाव स्फुट है; अतः वैषम्यप्रयुक्त दुःख मधुविद्यावेत्ताको नहीं हो सकता। इतर विद्याकी अपेक्षा इस विद्यामें यह वैलक्षण्य प्रशस्त है। इससे भाव यह निकला कि सब भूत सब भूतके कारण तथा कार्य होनेसे सब सर्वात्मक हैं। कार्य और कारणका अभेद वेदान्तमें सिद्ध कर चुके हैं। जैसे परमात्मा सबका कारण है; अतः सर्वात्मक है, वैसे ही भूतोंका भी वास्तविक भेद नहीं है; इससे 'सर्वमात्मा' यह निगमन उचित ही किया गया है ॥ १४ ॥

'भूतानि' इत्यादि। भूत, पृथिवी और अधिदैवत पृथिवीमें और अध्यात्म शरीरमें उक्त तेजोमय दो प्रकारके लिङ्गात्मा—इन चारोंका, जो कि मधुकी अविद्यासे जन्य हैं, प्रतिपादन किया गया। अब उनका तत्त्व कहते हैं अर्थात् कार्य, कारण, भोग्य और भोक्ता ये जो चार कहे गये हैं, उनका तत्त्व अब कहते हैं।

शङ्का—आत्मा स्वार्थ है, अतएव विभागके योग्य नहीं है, फिर उसका विभाग क्यों हुआ ?

समाधान—आत्मा स्वकीय अविद्यासे चतुष्टयात्मना अवस्थित है, अतः उसका चार प्रकारसे विभाग कहा गया है। विभाग वास्तविक नहीं होता।

अयमेव स इत्यत्र मधुरूपश्चतुर्विधः ।
प्रपञ्चोऽयमिति प्रोक्तः स इत्यात्मोच्यते परः ॥ १६ ॥
अयमेव स इत्युक्त्या सामानाधिकरण्यतः ।
प्रत्यङ्मात्रैकयाथात्म्यं प्रपञ्चस्याऽवबोध्यते ॥ १७ ॥
स इत्यनेन निर्दिष्टमतीतग्रन्थवर्णितः ।
योऽयमित्यादिभिर्वाक्यैश्चतुर्भिः स्मार्यते परः ॥ १८ ॥
आत्मा द्रष्टव्य इत्युक्तममृतं चेति वर्णितम् ।
नेति नेत्युदितं ब्रह्म तत्सर्वमभवत्त्विति ॥ १९ ॥

उक्त हेतु वास्तविक विभागके विरोधी हैं । उक्त चार आत्माके विवर्त हैं, अतएव आत्मार्थ हैं । इसलिए चारोंमें भोक्ता आत्मा ही तत्त्व है ॥ १५ ॥

इस उपनिषद्-वाक्यमें जो 'अयम्' शब्द श्रुत है, उसका अर्थ कहते हैं—**'अयमेव स'** इत्यादिसे ।

चार प्रकारका मधुरूप प्रपञ्च जो पूर्वमें कहा गया है, वही 'इदम्' शब्दका अर्थ है । उक्त चारोंसे विलक्षण अपरोक्षरूपसे प्रतीयमान साक्षी 'अयम्' शब्दका अर्थ है । साक्षी ही पर आत्मा है ॥ १६ ॥

'अयमेव' इत्यादि । 'अयमेव सः' इससे अर्थात् सामानाधिकरण्यके (अभेदके) बोधक समानविभक्तिक (अयं और सः) इन दो पदोंसे भोक्ता भोग्य, कार्य और कर्ता एतच्चतुष्टयात्मक प्रपञ्चकी प्रत्यङ्मात्र ही यथार्थरूपसे आत्मा है, यह बोध कराया गया है । भाव यह है कि पृथिवी आदिमें आन्तर और बाह्य भेदसे अर्थात् आधाराधेयभावसे जिसका व्याख्यान किया गया है, उसीको आत्मा समझना चाहिए । 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः' इस वाक्यसे जिस आत्माका निर्देश करनेकी इच्छा है, वही उक्त चारोंकी आत्मा है, जिसे कि याज्ञवल्क्य महर्षिने स्वभार्या मैत्रेयीके प्रति अमृत कहा है ॥ १७ ॥

'योऽयमात्मा' इत्यादिका तात्पर्य कहते हैं—**'स इत्यनेन'** इत्यादिसे ।

पूर्व ग्रन्थसे वर्णित जो 'स' इससे निर्दिष्ट है, उसी परमात्माका 'योऽयम्' इत्यादि चार वाक्योंसे फिर स्मरण कराया गया है, उसका अपूर्व कथन नहीं है ॥ १८ ॥

'आत्मा०' इत्यादि । 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः' इस वाक्यसे आत्म-

आत्मामृतब्रह्मसर्वशब्दैः प्राक् प्रतिपादितम् ।
वस्त्वस्य मधुनस्तत्त्वमिति वाक्यार्थ ईरितः ॥ २० ॥

दर्शनको कर्तव्यत्वरूपसे कहा । और आत्मा ही अमृत है, इसका मैत्रेयीके प्रति वर्णन किया । मूर्तामूर्तब्राह्मणमें 'नेति नेति' इस वाक्यसे ब्रह्मको कहा । 'तत्सर्वमभवत्' इस वाक्यसे भी ब्रह्म ही कहा । यहाँपर श्रुतियोंकी योजना ऐसी करनी चाहिए— 'आत्मा द्रष्टव्यः' इस वाक्यसे जो आत्मा दर्शनविषयत्वेन प्रकृत है, वही यह चार प्रकारका मधु है, तदतिरिक्त नहीं है। 'जिससे मैं अमृत न हो सकूँगी' इत्यादिसे अमृतत्वका साधन जो मैत्रेयीने श्रीयाज्ञवल्क्य महर्षिसे पूछा था, उसके उत्तरमें अमृतत्वसाधन आत्मज्ञानका उपदेश करते हुए महर्षि श्रीयाज्ञवल्क्यजीने मैत्रेयीके प्रति जिस ब्रह्मको अमृत कहा था, वही यह मधुचतुष्टय ब्रह्मरूपी अमृत है। 'ब्रह्म ते ब्रवाणि व्येव त्वा ज्ञपयिष्यामि' इत्यादि वाक्यसे अध्यायके आदिमें प्रस्तावकर मूर्तामूर्तब्राह्मणमें 'नेति नेति' इस वाक्यसे जिस निर्विशेष ब्रह्मको कहा था, वही यह मधुचतुष्टय है । 'इदं सर्वम्' इसका अर्थ यह है कि जिसके स्वरूपज्ञानसे सम्पूर्ण जगद् ब्रह्म होता है, वही यह मधुचतुष्टय है ॥ १९ ॥

'आत्मामृत०' इत्यादि । आत्मा, अमृत, ब्रह्म और सर्व-इन चार शब्दोंसे पूर्वमें प्रतिपादित परमार्थ सत् वस्तु ब्रह्म उक्त मधुका तत्त्व है। यह वाक्यार्थ पूर्व वाक्योंमें कहा गया है, पूर्वश्लोककी व्याख्या भी हो चुकी है । रह गया सामानाधिकरण्यके विषयमें कुछ वक्तव्य, उसको यहाँ स्फुट कर देते हैं । यहाँ नीलोत्पलके समान सामानाधिकरण्य विवक्षित नहीं है, कारण कि नीलोत्पलमें नील और उत्पलरूप दो पदार्थोंके अभेदरूप संसर्गका भान होता है । यहाँ अद्वैतश्रुतिके अनुसार सामानाधिकरण्य बाधामें है । 'योऽयं स्थाणुः स पुमान्' अर्थात् जो पूर्वमें दूरसे स्थाणु प्रतीत होता था, वह समीपमें आनेपर अवान्तर कर-चरणादिरूप विशेषके दर्शनसे पुरुष प्रतीत हुआ। यहांपर आपाततः प्रतीत स्थाणुत्वका बाध कर वस्तु-स्वभावानुसार पुरुषका ज्ञान होता है। यही ज्ञान समीचीन माना जाता है, इससे बाधित होनेसे पूर्व स्थाणुज्ञानको मिथ्या मानते हैं । इसमें ज्ञानके साथ विषय भी बाधित होता है । एवं प्रकृतमें भी विषयोंका उनके ज्ञानके साथ बाध होता है । श्रौताद्वितीयात्मज्ञान भावनापरिपाकसे होता है । इसी तात्पर्यसे 'इदं सर्वमात्मा' इत्यादि सामानाधिकरण्यका निर्देश है ॥ २० ॥

उत्तरेष्वपि वाक्येषु मधुरूपमिदं जगत् ।
ब्रह्माऽपि मधुनस्तत्त्वं योजयेदुक्तवर्त्मना ॥ २१ ॥

श्रुतिः—इमा आपः सर्वेषां भूतानां मध्वासामपां सर्वाणि भूतानि मधु यश्चायमास्वप्सु तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमध्यात्मं रैतसस्तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव स योऽयमात्मेदममृतमिदं ब्रह्मेद९ँ सर्वम् ॥२॥

अयमग्निः सर्वेषां भूतानां मध्वस्याग्नेः सर्वाणि भूतानि मधु यश्चायमस्मिन्नग्नौ तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमध्यात्मं वाङ्मयस्तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव स योऽयमात्मेदममृतमिदं ब्रह्मेद९ँ सर्वम् ॥ ३ ॥

अयं वायुः सर्वेषां भूतानां मध्वस्य वायोः सर्वाणि भूतानि मधु यश्चायमस्मिन् वायौ तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषः यश्चायमध्यात्मं प्राणस्तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव स योऽयमात्मेदममृतमिदं ब्रह्मेद९ँ सर्वम् ॥ ४ ॥

'उत्तरेष्वपि' इत्यादि । 'इयं पृथिवी' इत्यादि स्थलमें जो अर्थ किया गया है, वही अर्थ 'इमा आपः' इत्यादि उत्तर वाक्योंका भी समझना चाहिए, क्योंकि हेय अथवा उपादेयसे अन्य अर्थान्तर है ही नहीं । ब्रह्म हेय या उपादेय हो नहीं सकता, क्योंकि वह व्यापक और नित्य प्राप्त है । वस्तुतः द्वितीय अर्थ ही नहीं है, जो हेयोपादेय हो सके । संपूर्ण जगत् मधुरूप है । पूर्ववत् अग्निमें मधुका भी तत्त्व ब्रह्म ही है, यह योजना भी उक्त मार्गसे समझनी चाहिए ॥ २१ ॥

'इमा आपः' इत्यादि श्रुति । ये जल सब भूतोंके मधु हैं और इन जलोंके सब भूत मधु हैं । जो जलमें यह तेजोमय अमृतमय पुरुष है और जो यह अध्यात्म रैतस तेजोमय अमृतमय पुरुष है, यही वह है, जो यह आत्मा है, यही अमृत है, यही ब्रह्म है, यही सब है ॥ २ ॥

'अयमग्निः' इत्यादि श्रुति । यह अग्नि सब भूतोंकी मधु है और इस अग्निके सब भूत मधु हैं । जो यह अग्निमें तेजोमय अमृतमय पुरुष है और जो यह अध्यात्म वाङ्मय तेजोमय अमृतमय पुरुष है, यही वह है, जो यह आत्मा है, यही अमृत है, यही ब्रह्म है, यही सब है ॥ ३ ॥

'अयं वायुः सर्वेषाम्' इत्यादि श्रुति । यह वायु सब भूतोंका मधु है और सब भूत इस वायुके मधु हैं । जो यह इस वायुमें तेजोमय अमृतमय पुरुष है और जो यह अध्यात्म प्राण तेजोमय अमृतमय पुरुष है, यही वह है, जो यह आत्मा है,

अयमादित्यः सर्वेषां भूतानां मध्वस्यादित्यस्य सर्वाणि भूतानि मधु यश्चायमस्मिन्नादित्ये तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमध्यात्मं चाक्षुषस्तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव स योऽयमात्मेदममृतमिदं ब्रह्मेदꣳ सर्वम् ॥ ५ ॥

इमा दिशः सर्वेषां भूतानां मध्वासां दिशाꣳ सर्वाणि भूतानि मधु यश्चायमासु दिक्षु तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमध्यात्मꣳ श्रौत्रः प्रातिश्रुत्कस्तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव स योऽयमात्मेदममृतमिदं ब्रह्मेदꣳ सर्वम् ।६।

अयंश्चन्द्रः सर्वेषां भूतानां मध्वस्य चन्द्रस्य सर्वाणि भूतानि मधु यश्चायमस्मिꣳश्चन्द्रे तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमध्यात्मं मानसस्तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव स योऽयमात्मेदममृतमिदं ब्रह्मेदꣳ सर्वम् ॥७॥

यही अमृत है, यही ब्रह्म है, यही सब है। अध्यात्म प्राण भूतोंके शरीरका आरम्भक होनेसे उपकारक है, अतएव उसमें मधुत्व है। तदन्तर्गत तेजोमयादिमें करणरूपसे उपकारक होनेसे मधुत्व है, ऐसी श्रुति भी है—तस्यै वाचः पृथिवी शरीरं ज्योतीरूपमयमग्निः ॥४॥

'**अयमादित्यः**' इत्यादि श्रुति। यह आदित्य सब भूतोंका मधु है और इस आदित्यके सब भूत मधु हैं। जो यह इस आदित्यमें तेजोमय अमृतमय पुरुष है और जो यह अध्यात्म चाक्षुष तेजोमय अमृतमय पुरुष है, यही वह है, जो यह आत्मा है, यही अमृत है, यही ब्रह्म है, यही सब है ॥ ५ ॥

'**इमा दिशः सर्वेषाम्**' इत्यादि श्रुति। ये दिशाएँ सब भूतोंकी मधु हैं तथा इन दिशाओंके सब भूत मधु हैं। जो यह इन दिशाओंमें तेजोमय अमृतमय पुरुष है और जो यह अध्यात्म श्रौत्र प्रातिश्रुत्क तेजोमय अमृतमय पुरुष है, यही वह है, जो यह आत्मा है, यही अमृत है, यही ब्रह्म है, यही सब है। प्रतिश्रवणवेलामें जो सन्निहित पुरुष है, वह प्रातिश्रुत्क है। श्रोत्र आकाशात्मक है, अतएव सदा सन्निहित रहता है ॥ ६ ॥

'**अयं श्चन्द्रः**' इत्यादि श्रुति। यह चन्द्रमा सब भूतोंका मधु है और इस चन्द्रके सब भूत मधु हैं। जो यह इस चन्द्रमें तेजोमय अमृतमय पुरुष है और जो यह अध्यात्म मानस तेजोमय अमृतमय पुरुष है, यही वह है, जो यह आत्मा है, यही अमृत है, यही ब्रह्म है, यही सब है ॥ ७ ॥

इयं विद्युत्सर्वेषां भूतानां मध्वस्यै विद्युतः सर्वाणि भूतानि मधु यश्चायमस्यां विद्युति तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमध्यात्मं तैजसस्तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव स योऽयमात्मेदममृतमिदं ब्रह्मेद१ँ सर्वम् ॥ ८ ॥

अय१ँ स्तनयित्नुः सर्वेषां भूतानां मध्वस्य स्तनयित्नोः सर्वाणि भूतानि मधु यश्चायमस्मिन्स्तनयित्नौ तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमध्यात्म१ँ- शाब्दः सौवरस्तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव स योऽयमात्मेदममृतमिदं ब्रह्मेद१ँ सर्वम् ॥ ९ ॥

अयमाकाशः सर्वेषां भूतानां मध्वस्याकाशस्य सर्वाणि भूतानि मधु यश्चायमस्मिन्नाकाशे तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमध्यात्म१ँहृद्याकाशस्तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव स योऽयमात्मेदममृतमिदं ब्रह्मेद१ँ सर्वम् ॥ १० ॥

अयं धर्मः सर्वेषां भूतानां मध्वस्य धर्मस्य सर्वाणि भूतानि मधु यश्चायमस्मिन् धर्मे तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमध्यात्मं धार्मस्तेजोमयो-

---

'इयं विद्युत्सर्वेषाम्' इत्यादि श्रुति। विद्युत् सब भूतोंकी मधु है और सब भूत इस विद्युत्के मधु हैं। जो यह इस विद्युत्में तेजोमय अमृतमय पुरुष है और जो यह अध्यात्म तैजस तेजोमय अमृतमय पुरुष है, यही वह है, जो यह आत्मा है, यही अमृत है, यही ब्रह्म है, यही सब है ॥८॥

'अयं स्तनयित्नुः सर्वेषाम्' इत्यादि श्रुति। यह स्तनयित्नु (मेघ) सब भूतोंका मधु है और इस स्तनयित्नुके सब भूत मधु हैं। जो यह इस स्तनयित्नुमें तेजोमय अमृतमय पुरुष है और जो यह अध्यात्म शाब्द सौरव तेजोमय अमृतमय पुरुष है, यही वह है जो यह आत्मा है, यही अमृत है, यही ब्रह्म है, यही सब है ॥ ९ ॥

'अयमाकाशः सर्वेषाम्' इत्यादि श्रुति। यह आकाश सब भूतोंका मधु है, और सब भूत इस आकाशके मधु हैं। और जो यह इस आकाशमें तेजोमय अमृतमय पुरुष है और जो यह अध्यात्म हृदयाकाश तेजोमय अमृतमय पुरुष है, यही वह है जो यह आत्मा है, यही अमृत है, यही ब्रह्म है, यही सब है ॥१०॥

'अयं धर्मः सर्वेषाम्' इत्यादि श्रुति। यह धर्म सब भूतोंका मधु है और इस धर्मके सब भूत मधु हैं और जो यह इस धर्ममें तेजोमय अमृतमय पुरुष है और जो यह अध्यात्म धार्म तेजोमय अमृतमय पुरुष है, यही वह है, जो

ऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव स योऽयमात्मेदममृतमिदं ब्रह्मेद॑ सर्वम् ॥ ११ ॥
इद॑ सत्य॑ सर्वेषां भूतानां मध्वस्य सत्यस्य सर्वाणि भूतानि मधु

यह आत्मा है, यही अमृत है, यही ब्रह्म है, यही सब है। पृथिवीसे लेकर आकाश पर्यन्त भूतगण और देवगण कार्यकारणसङ्घातात्मा होते हुए परस्परोपकारकत्वरूपसे मधु होते हैं। हर-एक शरीरियोंके लिए यह कहा गया है। जिसके द्वारा शरीरियोंसे सम्बद्ध भूतगण तथा देवगण परस्परोपकारक होते हैं, वह वक्तव्य है, इसलिए उसका आरम्भ करते हैं। यद्यपि धर्म अप्रत्यक्ष है, इसलिए उसका निर्देश 'इदम्' शब्दसे नहीं होना चाहिए, कारण कि 'इदमः सन्निकृष्टे' इत्यादि शास्त्रसे प्रत्यक्ष विषयमें ही इदंशब्दका प्रयोग किया जाता है, परोक्षमें नहीं, तथापि धर्मकार्य पृथिव्यादि प्रत्यक्ष हैं और कार्यकारणका अभेद वेदान्तसिद्धान्तसे सिद्ध ही है, इसलिए कार्यगत प्रत्यक्षका औपचारिक प्रयोग कारणमें किया गया है। कार्य प्रत्यक्ष है, इसलिए उसके कारण धर्मको प्रत्यक्ष मानकर ,'अयम्' यह श्रौत निर्देश है। धर्मका व्याख्यान श्रुति और स्मृतियोंमें किया गया है। मनुष्योंका नियन्ता क्षत्रिय राजा होता है और राजाका भी नियन्ता धर्म ही है। एवं जगत्-वैचित्र्यका निदान धर्म ही है तथा पृथिव्यादि परिणामका हेतु और प्राणियोंसे अनुष्ठीयमान भी धर्म है, इस कारणसे 'अयं धर्मः' इस प्रकार प्रत्यक्षसे व्यवहार किया गया है। सत्य और धर्मका श्रुतिमें अभेदेन निर्देश किया गया है।

शङ्का—तृतीयाध्यायमें 'यो वै स धर्मः सत्यं वैतत्' इस प्रकारके वचनसे सत्य और धर्म एक ही हैं, ऐसा प्रतीत होता है, अतः यहाँ सत्य और धर्मका अलग अलग उपादान करना अनुचित है।

समाधान—एक होनेपर भी यहाँ भेदेन निर्देशका अभिप्राय यह है कि दृष्टरूपसे और अदृष्टरूपसे कार्यका आरम्भक होनेके कारण धर्म दो रूपसे कार्यका कारण है, इसलिए दो रूपसे उसका निर्देश किया गया है। जो अदृष्ट (अपूर्व) नामक धर्म है, वह सामान्य और विशेषरूपसे कार्यका आरम्भक होता है। सामान्यरूपसे पृथिव्यादिका प्रयोजक होता है और विशेषरूपसे अध्यात्म शरीरेन्द्रियादिका। पृथिव्यादिप्रयोजक धर्ममें 'यश्चायमस्मिन्धर्मे तेजोमयः' इत्यादि प्रयोग है और अध्यात्म कार्यकरणसङ्घातप्रयोजकमें 'धार्म' यह प्रयोग है ॥११॥

'इद॑ सत्य॑ सर्वेषाम्' इत्यादि श्रुति। यह सत्य सब भूतोंका मधु है और

यश्चायमस्मिन्सत्ये तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमध्यात्मं सात्यस्तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव स योऽयमात्मेदममृतमिदं ब्रह्मेद१ँ सर्वम् ॥१२॥

इदं मानुष१ँ सर्वेषां भूतानां मध्वस्य मानुषस्य सर्वाणि भूतानि मधु यश्चायमस्मिन्मानुषे तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमध्यात्मं मानुषस्तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव स योऽयमात्मेदममृतमिदं ब्रह्मेद१ँ सर्वम् ॥१३॥

इस सत्यके सब भूत मधु हैं। जो यह इस सत्यमें तेजोमय अमृतमय पुरुष है और जो यह अध्यात्म सात्य तेजोमय अमृतमय पुरुष है, यही वह है, जो यह आत्मा है, यही अमृत है, यही ब्रह्म है, यही सब है। दृष्ट आचाररूपसे अनुष्ठीयमान आचार भी धर्म ही है। इसमें—

'श्रुतिः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः।
एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम्॥
वेदोऽखिलो धर्ममूलं स्मृतिशीले च तद्विदाम्।
आचारश्चैव साधूनाम्...................... ॥'

इत्यादि वचन प्रमाण हैं। धर्म दो प्रकारका है—एक सामान्य और दूसरा विशेष। सामान्यरूप धर्म पृथिव्यादिमें समवेत (कारणत्वरूपसे अनुगत) है। और विशेषरूप धर्म शरीरेन्द्रियादिसङ्घातमें समवेत है। उसमें—वर्तमानक्रियारूप पृथिव्यादिसमवेत सत्यमें तथा अध्यात्म कार्यकरणसङ्घातसमवेत सत्यमें—उत्पन्न सात्य कहलाता है। सत्यमें 'सत्येन वायुरावाति' इत्यादि श्रुतिप्रमाणसे पृथिव्यादिसमवेतत्व सिद्ध होता है॥ १२॥

'इदं मानुष१ँ सर्वेषाम्' इत्यादि श्रुति। यह मानुष सब भूतोंका मधु है और इस मानुषके सब भूत मधु हैं। यह जो इस मानुषमें तेजोमय अमृतमय पुरुष है, यही वह है, जो यह आत्मा है, यही अमृत है, यही ब्रह्म है, यही सब है। धर्म और सत्यसे यह कार्यकरणसङ्घात बना है। यह सङ्घातविशेष जिस जात्यादिविशेषसे सम्बद्ध होता है, वही मानुषादि जातिविशेष यहां विवक्षित है। मानुषादिजातिविशिष्ट ही प्राणिसमुदाय परस्परोपकार्योपकारकभावसे देखा जाता है; अतः मानुषादि जाति भी सब भूतोंकी मधु है। इसमें मानुषादि जातिका भी बाह्य और आध्यात्मिकभावसे दो प्रकारसे निर्देश करना योग्य ही है॥ १३॥

अयमात्मा सर्वेषां भूतानां मध्वस्यात्मनः सर्वाणि भूतानि मधु यश्चाय-मस्मिन्नात्मनि तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमात्मा तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव स योऽयमात्मेदममृतमिदं ब्रह्मेदꣳ सर्वम् ॥ १४ ॥

स वा अयमात्मा सर्वेषां भूतानामधिपतिः सर्वेषां भूतानाꣳ राजा तद्यथा रथनाभौ च रथनेमौ चाराः सर्वे समर्पिता एवमेवास्मिन्नात्मनि सर्वाणि भूतानि सर्वे देवाः सर्वे लोकाः सर्वे प्राणाः सर्व एत आत्मानः समर्पिताः ॥१५॥

साधारण्यविशेषाभ्यां धर्मो भोगप्रदो द्विधा ।
अधिदैवं तथाऽध्यात्ममित्यत्राऽसौ विभज्यते ॥ २२ ॥

'**अयमात्मा सर्वेषाम्**' इत्यादि श्रुति । यह आत्मा सब भूतोंकी मधु है और इस आत्माके सब भूत मधु हैं । जो यह इस आत्मामें तेजोमय अमृतमय पुरुष है और जो यह आत्मा अमृतमय तेजोमय पुरुष है, यही वह है, जो यह आत्मा है, यही अमृत है, यही ब्रह्म है, यही सब है ।

जो कार्यकरणसङ्घात मानुषादिजातिविशिष्ट है, वह सब भूतोंका मधु है ।

शङ्का—यह तो शारीरशब्दसे निर्दिष्ट है, इसलिए पृथिवीका पर्याय ही है ।

समाधान—पार्थिवांशका ही वहां ग्रहण है। यहाँ तो अध्यात्म, अधिभूत आदि सब विशेषोंसे रहित, सब भूत और देवतागणसे विशिष्ट कार्यकरणसंघातरूप सर्वात्मा 'सोऽयमात्मा' से कहा गया है। इस आत्मामें तेजोमय, अमृतमय, अमूर्तरस, एवं सर्वात्मक पुरुषका निर्देश है। एकदेशसे पृथिव्यादिमें जो निर्दिष्ट है, उसका यहाँपर, अध्यात्मविषेशका अभाव होनेसे, निर्देश नहीं करते हैं। जो परिशिष्ट विज्ञानमय आत्मा है, जिसके लिए देहलिङ्गसङ्घात है, वही 'यश्चायमात्मा' से कहा जाता है ॥ १४ ॥

'**स वा अयमात्मा सर्वेषाम्**' इत्यादि श्रुति । वही यह आत्मा सब भूतोंका अधिपति है, सब भूतोंका राजा है । जैसे रथकी नाभिमें और रथकी नेमिमें सब अर लगे रहते हैं, वैसे ही इस आत्मामें सब भूत, सब लोक, सब देव, सब प्राण तथा ये आत्माएँ स्थित हैं ॥ १५ ॥

'**साधारण्य०**' इत्यादि । सुख-दुःख आदिका साक्षात्कारस्वरूप ही भोग है । उसका कारण धर्म है । वह दो प्रकारका है—एक साधारण और दूसरा विशेष । इसीका विभाग अधिदैवादिसे किया गया है । अधिदैव साधारण धर्म है और अध्यात्म

सत्यमानुषयोरेवं विभागं योजयेद् द्विधा।
पृथिव्याद्या मनुष्यान्ता विराडंशा उदीरिताः ॥ २३ ॥
अयमात्मेति निर्देशो विराजोऽभिमतोंऽशिनः।
हिरण्यगर्भस्तत्रत्य उक्तस्तेजोमयोक्तितः ॥ २४ ॥

विशेष धर्म है। साधारण धर्मके कार्य पृथिव्यादि हैं और विशेष धर्मके कार्य शरीर, इन्द्रिय आदि हैं। साधारण धर्मसे उत्पन्न पृथिव्यादि सर्वप्राणिसाधारण भोगके जनक हैं। और विशेषधर्मजन्य शरीर, इन्द्रिय आदि तत्-तत् प्राणिगत असाधारण सुख, दुःख आदिके जनक हैं, इसीलिए जिसके अदृष्टसे उपार्जित जो शरीरादि हैं, वे उसीके भोगके जनक होते हैं, ऐसा नियम तार्किक आदि मानते हैं और उचित भी है। आत्मा व्यापक होनेसे सब शरीरोंमें समानरूपसे है। पर भोग अपनी-अपनी देहसे ही होता है, अन्य प्राणीकी देहसे नहीं। भोगजनक सामग्रीका वैकल्य नहीं कह सकते, क्योंकि शरीरादि दृष्ट सामग्री समान है। इसलिए अदृष्टरूप सामग्रीके एकदेशका अभाव ही उसमें कारण कहना होगा, इसलिए विशेषभोगजनक विशेष धर्म है, यह सर्वमान्य मार्ग है ॥ २२ ॥

'सत्यमानुषयो०' इत्यादि। उसी प्रकार सत्य और मानुषके दो विभागोंकी योजना करनी चाहिए। पृथिव्यादिमनुष्यान्तग्रन्थसे विराट्के अंश कहे गये हैं। समस्त प्रपञ्च विराट्का शरीर है। पृथिवी, जल आदि एक-एक विराट्के अंश (अवयव) हैं। सामान्य और विशेषके भेदसे सत्य दो प्रकारका है। सामान्यप्रयुक्त कार्य है—हिरण्यगर्भ और विराट्का शरीर। विशेषप्रयुक्त कार्य हैं—अपने-अपने शरीरादि। मानुषादि जाति भी बाह्य और आध्यात्मिकभेदसे धर्मादिके समान दो प्रकारकी है। मानुष शब्द सब जातिमें उपलक्षण है, अतः सकल तत्-तत् जाति-विशिष्ट मानुषपदसे विवक्षित हैं। यह साधारण है, जो 'यश्चायमस्मिन्' इत्यादिसे बोधित है और 'अध्यात्मम्' इत्यादिसे विशेष कहा गया है; अतः धर्मवत् सत्य और मानुषका भी सामान्यविशेषभावसे दो प्रकारका विभाग समझना चाहिए ॥ २३ ॥

'अयमात्मेति' इत्यादि। 'अयमात्मा सर्वेषां भूतानां मधु' इस वाक्यसे जो आत्मा सब भूतोंका मधु कहा गया है, वह आत्मा अंशी विराड्स्वरूप है। और जो 'अस्मिन्' इत्यादि सप्तम्यन्त आत्मशब्दार्थमें तेजोमय अमृतमय पुरुष कहा गया है, वह प्रथमान्त आत्मशब्दार्थ हिरण्यगर्भ है। विराट्के अभ्यन्तर

विराड्ढिरण्यगर्भाख्यः स्थूलसूक्ष्मशरीरगः ।
चिदाभासोऽत्र यश्चायमात्मेत्युक्त्याऽभिधीयते ॥ २५ ॥
अपूर्वानपरामध्यप्रत्यग्याथात्म्यवित्तये ।
स वा इत्यादिको ग्रन्थः सदृष्टान्तोऽभिधीयते ॥ २६ ॥
ननूक्तं मधुनस्तत्त्वमयमेव स इत्यतः ।
वचनाद्बहुपर्यायैर्भूयोऽप्येतद् दृढीकृतम् ॥ २७ ॥

तेजोमय लिङ्गात्मा ही विवक्षित है। सारांश यह है कि प्रथम 'अयमात्मा' यहाँ आत्मा विराट् विवक्षित है। और 'अस्मिन् आत्मनि' इस सप्तम्यन्त आत्मशब्दसे भी विराट् ही कहा गया है और विराट्के अभ्यन्तर जो आत्मा प्रथमान्तपदसे कहा गया है, वह हिरण्यगर्भ है। तेजोमय आदिशब्दसे लिङ्गात्मा हिरण्यगर्भ ही कहा गया है ॥ २४ ॥

'विराट्' इत्यादि। स्थूल शरीरगत विराट् और सूक्ष्म शरीरगत हिरण्यगर्भ नामक चिदाभास (शरीरद्वयप्रतिबिम्बित चैतन्य) जीव है, वह यहां 'यश्चायमात्मा' से कहा गया है। वह स्वप्रकाश होनेसे तेजोमय और नित्य होनेसे अमृतमय है॥२५॥

'अपूर्वानपरा०' इत्यादि। 'स वा अयमात्मा परः' इसमें जिससे कोई पूर्व नहीं है और कोई पर नहीं है, वह आत्मा है। पूर्व और पर न होनेसे उसका मध्य भी नहीं है। एवंभूत जो प्रत्यगात्मा है, उसके बोधके लिए 'स वा' इत्यादि ग्रन्थ है। उसका दृष्टान्तके साथ व्याख्यान करते हैं। उस आत्मामें अविद्याकी निवृत्ति होनेपर खिल्यदृष्टान्तके अनुसार विज्ञानात्माका प्रवेश होता है ॥ २६ ॥

शङ्का—**'ननूक्तं मधुनः'** इत्यादि। 'इयं पृथिवी' इत्यादिग्रन्थसे पृथिवी मधु है, यह कहकर 'अयमेव स' इत्यादि ग्रन्थसे मध्वात्मक प्रपञ्चकी प्रत्यक्सत्तासे अतिरिक्त सत्ता नहीं है, यह अनेकबार कहा गया है। इसीसे आदि, मध्य और अवसानसे शून्य ब्रह्मतत्त्व है; यह निश्चय होता है। फिर ब्रह्मतत्त्वका प्रतिपादन करनेके लिए उत्तर ग्रन्थकी क्या आवश्यकता है? शब्दका प्रयोग अर्थके निर्णयके लिए होता है; अर्थके निर्णीत होनेपर फिर शब्दका प्रयोग व्यर्थ होता है। व्यर्थ ही नहीं, किन्तु पुनरुक्तत्वादि दोषसे दूषित भी होता है, अतएव 'तदप्रामाण्यमनृतव्याघातपुनरुक्तदोषेभ्यः' इत्यादि गौतमसूत्रके अनुसार पुनरुक्तत्व अप्रामाण्यका प्रयोजक होनेसे हेय माना गया है। उक्त अर्थका दार्ढ्य भी अनेक जलादिदृष्टान्तोंसे हो ही जाता है। अतः तदर्थ भी नहीं कह सकते ॥ २७ ॥

बाढमेतावता वस्तुसार्वात्म्यं स्यात् प्रपञ्चितम् ।
तदेवाऽभिव्यज्यतेऽथ विदुषः फलरूपतः ॥ २८ ॥
स एव मधुतत्त्वाख्य आत्माऽयं तत्त्वविन्मतः ।
आधिपत्यं च राजत्वं विदुष्यविदुषोऽधिकम् ॥ २९ ॥
अत्राऽधिपतिशब्देन स्वातन्त्र्यमभिधीयते ।
स्वार्थः प्रत्यक्तदर्थत्वात्सहेतोर्जगदात्मनः ॥ ३० ॥

समाधान—'बाढमेतावता' इत्यादि । हां, अनेक पर्यायवाची शब्दोंसे यद्यपि ब्रह्मका तत्त्व निर्णीत हो जाता है, तथापि ब्रह्मवेत्ताको जो यह सब प्रपञ्च ब्रह्मसत्ताक ही है, उससे अतिरिक्त सत्तावाला नहीं है, इस प्रकार जो वेदान्तज्ञानका फल है, उसीका उत्तर ग्रन्थसे प्रपञ्च किया गया है । ब्रह्मीभूत पुरुषको सब आत्मस्वरूप ही प्रतीत होता है । जैसे भ्रमदशामें रज्जुमें सर्पादिकी प्रतीति होती है, किन्तु रज्जुतत्त्वका साक्षात्कार होनेपर सर्पकी तत्सत्तासे अतिरिक्त सत्ता प्रतीत नहीं होती, 'सर्पः सन्' यह प्रतीति रज्जुसत्ताको ही लेकर होती है; वैसे ही प्रकृतमें तदनुभवका प्रपञ्च किया गया है ॥ २८ ॥

'स वा अयमात्मा—इन पदोंका अर्थ कहते हैं—'स एव' इत्यादिसे ।

वही मधुतत्त्वाख्य यह आत्मा तत्त्ववित् माना गया है ।

शङ्का—परमात्मा होनेपर तत्त्ववित् कैसे सर्वाधिपति और सबका राजा होता है, क्यों ? क्या अनुपपत्ति है ? अनुपपत्ति यह है कि ब्रह्मवेत्ताको आत्मव्यतिरिक्त वस्त्वन्तरका अभाव जब निश्चित हो गया, तब राजत्व तथा सर्वाधिपतित्वका सम्भव कैसे होगा ?

समाधान—जीवन्मुक्तिदशाके तात्पर्यसे ऐसा कहते हैं । उस दशामें प्रारब्धकर्मवश विक्षेपकी अनुवृत्ति रहती है, इसलिए उसमें उक्त विशेषणोंकी उपपत्ति हो सकती है । अविद्वान्‌की अपेक्षा विद्वान्‌में उक्त विशेष है अर्थात् अविद्वान् पुरुषके प्रति राजा तथा अधिपति प्रसिद्ध ही है, उन प्रसिद्धोंकी अपेक्षा ब्रह्मवेत्तामें उक्त धर्म अधिक हैं, क्योंकि वह ब्रह्मके समान है ॥ २९ ॥

'अत्राऽधिपति०' इत्यादिसे ।

शङ्का—राजा और अधिपति—ये दोनों पद एक ही अर्थके वाचक हैं, अतः दोनोंके उपादानसे पुनरुक्त दोष स्फुट है ।

राजत्वं राजनाद्भास्वदविलुप्तात्मदर्शनात् ।
ब्रह्माऽस्मीतिपरिज्ञानध्वस्तध्वान्तत्वकारणात् ॥ ३१ ॥
योऽसावविद्यया देही संसारीवाऽप्यभूत्पुरा ।
स एव विद्यया ब्रह्मेत्यतोऽस्मिन्जगदर्पितम् ॥ ३२ ॥
चक्रस्याऽरा यथा सर्वे नाभिनेम्योः समर्पिताः ।
सजीवा निखिला देहा ब्रह्मविद्यर्पितास्तथा ॥ ३३ ॥

समाधान—यहाँ अधिपतिशब्द स्वतन्त्रार्थक है, अतः उक्त दोषकी शङ्का अयुक्त है, एवं राजशब्द भी राजनवान् यानी दीप्तिमान्‌का वाचक है। सो आगे स्फुट होगा।

शङ्का—आत्मा स्वतन्त्र कैसे है ?

समाधान—सम्पूर्ण सहेतु जगत् आत्मार्थ है। भोग्य भोक्ताके लिए होता है। जैसे शयन, आसन आदि भोग्यजात भोक्तार्थ है, वैसे ही जगत् आत्मार्थ है और आत्मा स्वार्थ है, वह दूसरेके लिए नहीं है, इसलिए स्वतन्त्र है ॥ ३० ॥

'राजत्वम्' इत्यादि। ज्ञानसे अज्ञानका निरास होनेपर अप्रतिबद्ध स्व-स्वरूपका स्फुरण (भान) होता है, अतः ब्रह्मज्ञानी राजाके समान दीप्तिमान् (सुशोभित) होता है। ध्वान्त याने अज्ञान है, उसके नाशमें हेतु 'ब्रह्माऽस्मि' ऐसा विज्ञान है। आत्मा यद्यपि स्वयंप्रकाश है, तथापि अविद्यासे स्वयंप्रकाशत्व लुप्त (तिरोहित) रहता है। अविद्यानिवर्तक उक्त ज्ञानसे तदीय प्रकाश अविद्याकी निवृत्ति द्वारा अविलुप्त हो जाता है, इसलिए राजाके समान शोभता है ॥ ३१ ॥

'योऽसाव०' इत्यादि। जो देही स्वकीय अविद्यासे पुरा (तत्त्वज्ञानसे पूर्व) संसारीके सदृश था। वस्तुतः उस समयमें भी संसारी नहीं है, किन्तु अपनेको संसारीके समान अज्ञानसे मानता है। जैसे मलीन दर्पणमें मुख देखनेसे स्वमुख मलिन-सा प्रतीत होता है और अज्ञानी पुरुष उस मालिन्यको वस्तुतः अपने मुखमें समझकर दुःखी होता है और विवेक होनेपर यह समझता है कि यह मालिन्य दर्पणगत है मुखगत नहीं है, वैसे ही संसारी पुरुष मनोगत सुख, दुःख आदिको आत्मगत मानकर संसारीके समान होता है। वही पुरुष विद्या होनेपर यानी 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्याकारक बोध होनेपर ब्रह्म हो जाता है, इसलिए सब जगत् उसमें अर्पित है—उसमें स्थित है ॥ ३२ ॥

'चक्रस्यारा' इत्यादि। कार्यकारणात्मक प्रपञ्च ब्रह्मावसान है, इस अर्थको

ब्रह्मवित्त्वाद्वामदेवः प्रागहं मनुरीदृशम् ।
सार्वात्म्यं प्रतिपेदे यत्तदेवाऽत्र निरूपितम् ॥ ३४ ॥
सोपाधिर्निरुपाधिश्च द्वेधा ब्रह्मविदुच्यते ।
सोपाधिकः स्यात् सर्वात्मा निरुपाख्योऽनुपाधिकः ॥ ३५ ॥

अति स्फुट करनेके लिए यह दृष्टान्त श्रुति देती है—जैसे चक्रमें (रथके पहियेमें) एक नाभि है, जिसके बीचमें छिद्र रहता है और उसमें धुरी रहती है और नेमि ऊपरका चक्का कहलाता है, जिसमें रबड़ भी लगता है तथा वही सड़कसे संयुक्त रहता है । नाभि और नेमिके बीचमें जो छोटे-छोटे काष्ठके टुकड़े लगे रहते हैं, वे अर कहलाते हैं, वे ही प्रकृतमें दृष्टान्त हैं । जैसे अर रथकी नाभिमें लगे रहते हैं, वैसे ही सम्पूर्ण सदेह जीव ब्रह्मविद्में अर्पित (आश्रित) हैं ॥ ३३ ॥

'ब्रह्मवित्त्वा०' इत्यादि । 'तद्धैतत्पश्यन् ऋषिर्वामदेवः प्रतिपेदे अहं मनुरभवम्' इस श्रुतिका अर्थ यह है कि प्रबुद्ध वामदेव ऋषिने यह समझा कि मैं ही मनु हुआ और सूर्य हुआ । ब्रह्मज्ञानी जब अपनेको ब्रह्म समझता है और ब्रह्म ही वस्तुतः मनु ओर सूर्य है, तो अपनेको तद्रूप समझना उचित ही है । इस प्रकार तत्त्वज्ञानोत्तर वामदेवजीको जो सार्वात्म्यप्राप्ति हुई है, उसीका यहाँ निरूपण किया गया है ॥ ३४ ॥

'सोपाधि०' इत्यादि । सोपाधि और निरुपाधिभेदसे ब्रह्मवेत्ता दो प्रकारका कहा जाता है—सोपाधिक सर्वात्मा होता है और अनौपाधिक निरूपाख्य कहा जाता है । भाव यह है कि मुक्ति दो प्रकारकी है—एक जीवन्मुक्ति और द्वितीय परम मुक्ति । जीवनमुक्तिमें उपाधिभूत सूक्ष्म अविद्या रहती है, अतएव मिथ्याभूत जगत्का मिथ्यारूपसे भान होता है । अपनेको ब्रह्मस्वरूप देखता हुआ तत्त्ववेत्ता निखिल कल्पित जगत्में भी ब्रह्मके तत्त्वका ही अनुभव करता है । कल्पित अधिष्ठानात्मक होता है, इसलिए ब्रह्मको सर्वात्मक समझ कर ब्रह्माभिन्न स्वको भी उचित ही सर्वात्मक समझता है । निरुपाधिक ब्रह्म भी देहपातके अनन्तर होता है, उस समय कल्पना-निमित्तोपाधिके अभावसे कल्पित जगत्का भी अभाव न्यायप्राप्त है, अतएव अनौपाधिक होकर निरुपाधि कहलाता है । यही विदेहकैवल्य है । विदेहकैवल्यमें अपनेमें सर्वात्मकत्वका भान नहीं होता, क्योंकि जब सब पदार्थ ही उस अवस्थामें नहीं हैं, तब सर्वात्मकत्वका भान कैसे होगा ? ॥ ३५ ॥

जक्षन्क्रीडन् रतिं प्राप्त इति सोपाधिकस्य तु ।
सार्वात्म्यात्सर्वभोगाप्तिश्छान्दोग्ये स्पष्टमीरिता ॥ ३६ ॥
अहमन्नं तथाऽन्नादः श्लोककार्यप्यहो अहम् ।
इति तत्त्वविदः सामगाने सर्वात्मता श्रुता ॥ ३७ ॥
अत्राऽपि चक्रदृष्टान्तात् सोपाधिस्तत्त्वविच्छ्रुतः ।
अपूर्वानपराद्युक्त्या श्रोष्यते निरुपाधिकः ॥ ३८ ॥
भर्तृप्रपञ्च आहाऽत्र समस्तव्यस्तसिद्धये ।
नाभिरात्मा वपुर्नेमिररा इन्द्रियदेवताः ॥ ३९ ॥

'जक्षन्' इत्यादि। छान्दोग्य-उपनिषद्में मुक्त पुरुष ब्रह्मके साथ हँसता और खेलता है, ऐसा स्पष्ट निर्देश किया गया है। निरुपाधि ब्रह्ममें तो हँसने और खेलनेका सम्भव नहीं है, अतः सोपाधिक ब्रह्मका ही वहाँ ग्रहण है और 'जो जो कामना करता है, सो सो पाता है' इत्यादिसे कहा गया है कि सब अभिलषित फलोंको पाता है। यह कामनादि सोपाधिकमें ही हो सकती है, इसलिए सर्वतादात्म्य और सर्वफलप्राप्ति सोपाधिक ब्रह्मोपासक और सोपाधिक मुक्तको ही होती है, इसलिए जीवन्मुक्ति श्रुतिसंमत है ॥ ३६ ॥

'अहमन्नम्' इत्यादि। मैं अन्न हूँ, अन्नाद हूँ तथा स्तुतिकर्ता भी मैं हूँ, इस प्रकार तत्त्ववेत्ता सर्वात्मा है, यह तैत्तिरीय श्रुतिमें भी श्रुत है अर्थात् अनेक श्रुतियोंमें सर्वभावापत्तिफल श्रुत है, अतः जो जीवन्मुक्ति नहीं मानते, उनका मत श्रुतिविरुद्ध है ॥ ३७ ॥

'अत्राऽपि' इत्यादि। यहाँ भी चक्रदृष्टान्तसे तत्त्ववेत्ता सोपाधिक श्रुत है। अपूर्वानपरादि उक्तिसे निरुपाधिक भी सुनते हैं। जैसे नाभिमें अर समर्पित हैं, वैसे ही तत्त्ववेत्तामें सब प्राण, सब लोक, सब देवता आदि अर्पित हैं। इस कथनसे सोपाधिक सर्वभावापत्ति स्पष्ट है। यदि अविद्या नहीं रहती, तो तत्कृत प्राण, लोक, देव आदिकी स्थिति नहीं होती फिर तत्तत्स्वरूपानुप्रवेश तत्त्ववेत्तामें कैसे होता? रही निरुपाधिक ब्रह्मभावप्राप्ति, सो आगे अपूर्वानपरा इत्यादि वाक्यसे श्रुति सुनावेगी। इसकी व्याख्या भी वहां ही होगी ॥ ३८ ॥

'भर्तृप्रपञ्च' इत्यादि। स्वमतानुसार समस्त और व्यस्तस्वरूप ब्रह्म है, इसकी सिद्धि होनेके लिए भर्तृप्रपञ्च (व्याख्याकारविशेष), आत्मा नाभि है, और वपु

प्रत्येकं प्राणिनां ब्रह्मचक्रमव्यक्तमस्ति हि ।
तद्व्यक्तये निदिध्यासेत् तद्भावाविष्टधीः सदा ॥ ४० ॥
तप्तलोहवदेकत्वं प्राप्य ध्यानादयं पुमान् ।
अविद्यातिमिरान्धानां ध्येयत्वमुपगच्छति ॥ ४१ ॥

(शरीर) नेमि है, इन्द्रिय और देवतागण अर हैं, ऐसा व्याख्यान करते हैं । भाव यह है कि यह आत्मा सप्रपञ्च है, यह प्रतिज्ञा 'इदं सर्वं यदयमात्मा' यहांपर की गई है । इसकी सिद्धिके लिए अन्यथा व्याख्यान है । 'तत्त्वमसि' इत्यादि जीवात्मैक्यबोधक श्रुतिसे जीव परमात्मासे अभिन्न है, अतः अपनेको अक्षर परमात्मामें एक कर चक्रनाभिस्थानीय स्वआत्मामें चक्रनेमिस्थानीय पञ्चभूतात्मक देहके एवं आत्मामें और भूतोंमें अरस्थानीय देवता आदि जगत्के अर्पणकी कल्पना कर इस काल्पनिक अर्थमें बुद्धिको स्थिर कर सदा ध्यान करे । इस अवस्थामें प्राप्त होकर ध्याता और ध्यानका परित्याग कर क्रमशः केवल ध्येयमात्रविषयक वृत्तिसे ध्यातृत्वांशका त्याग कर ध्याता ध्येयस्वरूप हो जाता है ।

शङ्का—ध्येय क्या है ?

समाधान—जिसको जानकर मुक्त पुरुष फिर संसारमें नहीं आते, साधारण बुद्धिसे अचिन्त्य, ज्ञानियोंका अयन एवं स्वप्रकाशानन्दचिद्घन ब्रह्म ध्येय है ॥३९॥

'प्रत्येकम्' इत्यादि । प्रत्येक प्राणियोंके हृदयमें अव्यक्त ब्रह्मनामक चक्र है, यह श्रुति, स्मृति और न्यायसे सिद्ध है। उनमें 'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया' इत्यादि श्रुति है, 'केनापि देवेन हृदि स्थितेन', 'यो मां पश्यति सर्वत्र', 'सर्वभूतस्थितं यो माम्' इत्यादि स्मृति है और न्याय है सर्वव्यापकत्वादि ।

शङ्का—अव्यक्त क्यों है ?

समाधान—अज्ञानसे । अतः पुरुष तद्भावसे आविष्टबुद्धि होकर ब्रह्मचक्रकी अभिव्यक्तिके लिए निदिध्यासन करे अर्थात् ध्यान करे ॥ ४० ॥

'तप्तलोह०' इत्यादि । जैसे अनेक लोहेके टुकड़ोंको आगमें तपाकर ढालनेसे एक लोहा हो जाता है, वैसे ही पुरुष ध्यानसे ध्येय ब्रह्मस्वरूप हो जाता है । तदनन्तर वह अविद्यारूपी तिमिरसे जो अन्ध हैं यानी अविद्याके आवरणसे स्वस्वरूपाभिन्न ब्रह्मचक्रका जिनको प्रकाश नहीं है, उनका ध्येय होता है । अर्थात् अज्ञानी अज्ञाननिवृत्तिकी कामनासे जब ब्रह्मका ध्यान करते हैं, तब ब्रह्मीभूत वह ज्ञानी भी उन पुरुषोंका ध्येय हो जाता है ॥ ४१ ॥

श्रुत्यक्षरबहिष्ठत्वान्न साध्वी चक्रकल्पना।
उपास्यं यन्न तद् ब्रह्मतत्त्वमित्येष डिण्डिमः ॥ ४२ ॥

उक्त कथनका खण्डन करते हैं—'श्रुत्यक्षर०' इत्यादिसे।

यह ब्रह्मचक्रकी कल्पना श्रुतिके अक्षरसे बहिर्भूत है यानी श्रुत्यर्थ नहीं है। अतः यह कल्पना समीचीन नहीं है। 'नेदं यदिदमुपासते' इस श्रुतिसे जो उपास्य है, वह ब्रह्म नहीं है, यह अर्थ डंकेकी चोट स्पष्ट प्रतीत होता है।

शङ्का—दृष्टान्तकी सामर्थ्यसे मदिष्ट अर्थ श्रुतिसंमत ही है, बाह्य नहीं है; कारण यह है कि दृष्टान्तमें नाभि और नेमिका उपादान है। दार्ष्टान्तिकमें नाभिस्थानापन्न केवल आत्मा ही है, नेमिका समावेश नहीं है, इसलिए दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिकका वैषम्य है। मेरी ब्रह्मचक्रकी कल्पनामें नाभिस्थानापन्न आत्मा और नेमिस्थानापन्न शरीर—इन दोनोंमें इन्द्रिय एवं देवतागण अर्पित हैं, ऐसा माननेसे वैषम्य नहीं होता।

समाधान—हां, दृष्टान्तकी सामर्थ्यसे आपका अभिप्रेत अर्थ हो सकता है, पर वस्तुतः है नहीं।

शङ्का—क्यों ?

समाधान—श्रौत अर्थ वही माना जाता है, जो श्रुतिके पदोंसे प्रतीत होता हो। जो अर्थ श्रुतिके पदोंसे प्रतीत नहीं होता, सामर्थ्यबलसे उसके उपस्थित होनेपर भी वह मान्य नहीं होता। श्रुतिमें चक्रादिवाचकपद नहीं है, आत्मा भी अनेकरस इष्ट नहीं है एवं जो अर्थ अर्थतः प्रतीयमान होता है, वह आर्थिक कहा जाता है, शाब्द नहीं।

शङ्का—चक्रादि पद नहीं है, तो कल्पना कर लीजिये।

समाधान—प्रमाण होनेपर कल्पना हो सकती है, प्रमाणके बिना अणुमात्रकी भी कल्पना असह्य होती है। श्रुत्यक्षरसे ब्रह्मचक्र प्रतीत नहीं होता और न 'निदिध्यासेत्' पद इस ब्राह्मणभरमें है।

शङ्का—तो दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिकमें साम्य कैसे होगा ?

समाधान—सर्वथा साम्यमें दृष्टान्त-दार्ष्टान्तिकभाव नहीं होता, किन्तु विवक्षित अंशसे साम्य अपेक्षित होता है, सो प्रकृतमें आत्मा और नाभिका है। आपके मतमें चक्रनाभिस्थानीय आत्मा एवं नेमिस्थानीय देहात्मक भूतोंमें

समाप्ता ब्रह्मविद्येयं कैवल्यावाप्तयेऽखिला ।
यथोक्तब्रह्मविद्यायाः स्तुत्यर्थाऽऽख्यायिकोच्यते ॥ ४३ ॥

देवतादि जगत् अरके तुल्य (आरागजके समान) अर्पित है, ऐसा अर्थ होता है, परन्तु यह ठीक नहीं है, कारण कि श्रुतिमें प्राणादि जगत्का आत्मामें अर्पण सुना गया है, भूतादिमें देवतादिका नहीं, अब आप भूतादिमें देवतासहित जगत्का अर्पण किस प्रमाणसे कहते हैं ? प्रत्युत श्रुतिविरुद्ध होनेसे यह अर्थ सर्वथा उपेक्ष्य है । किञ्च, ब्रह्मैकात्म्य फल केवल अज्ञानमात्रसे व्यवहित है । अतः उसके लिए केवल अज्ञानकी निवृत्तिकी आवश्यकता है । अज्ञाननिवृत्ति द्वारा उक्त फलकी प्राप्तिमें केवल विद्याकी अपेक्षा है; निदिध्यासन आदिकी नहीं । किञ्च, प्रकृत आत्मा ध्यानके योग्य भी नहीं है, क्योंकि 'यद्वाचानभ्युदितं येन वागभ्युद्यते', 'यन्मनसा न मनुते''''तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते' इत्यादि श्रुतियोंसे वह अनुपास्य कहा गया है । उक्त रीतिसे उपास्य माननेमें उक्त श्रुतिके साथ विरोध स्पष्ट है ।

शङ्का—जो उक्त निषेध किया गया है, वह असंस्कृत वाणी तथा असंस्कृत मनके अभिप्रायसे किया गया है । अतएव 'दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या', 'मनसैवानु-द्रष्टव्यम्' इत्यादि श्रुतियोंसे संस्कृत वाक् और मनके विषयत्वाभिधान द्वारा उपास्यत्वमें उक्त श्रुतिका तात्पर्य है ।

समाधान—विद्याप्राप्तिमें हेतुभूत मनःशुद्धिके तात्पर्यसे उक्त वाक्य है, अथवा सगुण ब्रह्मोपासनाके लिए उक्त वाक्य है ॥ ४२ ॥

'समाप्ता' इत्यादि । मोक्षप्राप्तिके लिए स्वभार्या मैत्रेयीके प्रति याज्ञवल्क्य महर्षिने जो विद्या कही थी, वह ब्रह्मविद्या सम्यक्-रूपसे समाप्त हो गई । उसमें कुछ भी वक्तव्यविशेष शेष नहीं रहा, अब उसकी स्तुतिके लिए आख्यायिका कही जाती है ।

शङ्का—स्तुतिसे क्या प्रयोजन ?

समाधान—स्तुति पुरुषप्रवृत्तिकी कारण है, अतः उक्त विद्यामें पुरुषोंकी प्रवृत्ति हो, इसलिए स्तुति करते हैं ।

शङ्का—फलेच्छा होनेसे प्रवृत्ति हो जायगी, उसके लिए स्तुति अनावश्यक है ।

समाधान—हाँ, फलेच्छासे भी प्रवृत्ति होती ही है । अतएव सब कर्मोंकी

स्तुति नहीं की गई है, किन्तु जहाँ स्तुति है, वहाँके लिए यह भी कहा जा सकता है कि यह स्तुति प्रवृत्तिके लिए है।

शङ्का—जब स्तुतिके बिना भी प्रवृत्ति होती है, जैसा कि आप कहते हैं, तब स्तुति प्रवृत्तिमें कारण नहीं हो सकती? कारण तो नियतपूर्ववर्त्ती ही कहा जाता है।

समाधान—हाँ ठीक है, किन्तु कारण दो प्रकारके होते हैं—एक साक्षात् और दूसरा प्रतिबन्धके अपनयन द्वारा, जैसे दाहमें साक्षात् कारण अग्नि है, किन्तु प्रतिबन्धक मणि, मन्त्र आदिसे प्रतिबद्ध अग्नि दाहजनक नहीं होती; उस दशामें प्रतिबन्धको प्रतिबद्ध करनेके लिए उत्तेजक मणि, मन्त्र आदिकी आवश्यकता होती है। उनके समवधानसे फिर दाह होने लगता है, इसलिए वे भी उक्त कार्यमें परम्परया कारण माने जाते हैं। वैसे ही प्रकृतमें जो पुरुष आलस्य आदिसे प्रतिबद्ध होकर कर्ममें प्रवृत्त नहीं होता, उसकी प्रवृत्तिके लिए स्तुति आवश्यक है। विशेष फिर कहेंगे।

उस आख्यायिकाके संक्षिप्त अर्थका प्रकाश वक्ष्यमाण दो मन्त्रोंसे होता है। इस प्रकार मन्त्र-ब्राह्मणसे स्तुत होनेके कारण अमृतत्व और सर्वप्राप्तिकी साधन ब्रह्मविद्या है, यह प्रकट किया याने गलीसे सड़कपर आ गये। जैसे सूर्य भगवान् उदयकालमें रात्रिके अन्धकारको दूर कर देते हैं, वैसे ही यह विद्या भी है। और इस प्रकार स्तुत यह ब्रह्मविद्या इन्द्र राजासे रक्षित थी, अतएव देवोंको भी दुष्प्राप्य थी। जिस कारणसे स्वर्गलोकके देवताओंके वैद्य अश्विनी-कुमारोंने इन्द्र द्वारा रक्षित यह विद्या बड़ी कठिनतासे प्राप्त की थी यानी उन्होंने ब्राह्मणका सिर काटकर, अश्वका सिर जोड़कर और इन्द्र द्वारा उक्त सिरके काटे जानेपर फिर उसके सिरको जोड़कर ब्राह्मणके सिरसे उक्त अशेष ब्रह्मविद्या सुनी थी, इस कारणसे मधुविद्यासे अन्य कोई भी पुरुषार्थसाधन उत्तम न हुआ और न होगा, वर्तमानमें तो सुतरां नहीं है। इससे बढकर अधिक स्तुति क्या हो सकती है? अपि च, इस प्रकार भी ब्रह्मविद्याकी स्तुति होती है—सब पुरुषार्थोंका साधन कर्म ही है, यह लोकमें सुप्रसिद्ध है। वह कर्म वित्तसाध्य है। कर्म या वित्तसे मोक्ष मिलनेकी आशा भी नहीं हो सकती, फिर मिलना तो दूर रहा, क्योंकि यह मोक्ष कर्मनिरपेक्ष केवल आत्मविद्यासे ही मिलता है। यद्यपि कर्म-प्रकरणमें इसके कहनेका अवसर था तथापि कर्मप्रकरणको छोड़कर प्रवर्ग्य-प्रकरणमें कर्मसे विरुद्ध होनेके कारण केवल संन्याससहित यह विद्या मोक्षकी

श्रुतिः—इदं वै तन्मधु दध्यङ्ङाथर्वणोऽश्विभ्यामुवाच तदेतदृषिः पश्यन्नवोचत् ।

तद्वां नरा सनये दंसं उग्रमाविष्कृणोमि तन्यतुर्न वृष्टिं दध्यङ् ह यन्मध्वाथर्वणो वामश्वस्य शीर्ष्णा प्र यदीमुवाचेति ॥ १६ ॥

सिद्धिके लिए कही गई है। इसलिए इससे उत्तम दूसरा कोई पुरुषार्थका साधन नहीं है। अपिच, इस प्रकारसे भी ब्रह्मविद्याकी स्तुति की गई है—सब लोग जोड़ेसे सन्तुष्ट होते हैं, अकेला कोई रमण (विहार) नहीं कर सकता, अतः प्रजापति भी अकेला रमण नहीं कर सका, यह श्रुतिमें स्पष्ट है। श्रीयाज्ञवल्क्य महर्षि लोकसाधारण होनेपर भी आत्मज्ञानके बलसे भार्य्या, पुत्र, वित्त आदि संसारमें रतिका परित्याग कर ब्रह्मज्ञानसे तृप्त होकर आत्माराम हुए। अपिच, इस प्रकार स्तुत ब्रह्मविद्या है कि साधारण मार्गसे हटते समय श्रीयाज्ञवल्क्य महर्षिजीने प्रियभार्य्याके प्रति प्रीत्यर्थ ही इसका उपदेश दिया था। प्रियभाषण करती हो, आओ, बैठो इत्यादि शब्दोंसे यह आशय स्फुट है ॥४३॥

शङ्का—जो यह स्तुत्यर्थ आख्यायिका कही है, वह कौन है ?

समाधान—सुनो कहते हैं—'इदं वै तन्मधु' इत्यादि श्रुति ।

इदंशब्द अनन्तर पूर्व निर्दिष्ट 'इयं पृथिवी' इत्यादि मन्त्रस्थ इदमर्थका परामर्शक है, क्योंकि बुद्धिसन्निहित वही है। सन्निहितका ही परामर्श उक्त शब्दसे होता है। 'वै' शब्दका स्मरण अर्थ है। तत् शब्दका अर्थ है—आख्यायिकासिद्ध प्रकरणान्तरमें (प्रवर्ग्यप्रकरणमें) कथित परोक्ष। उसका वैशब्दसे स्मरण कराते हुए यहाँ कहते हैं—जो प्रवर्ग्यप्रकरणमें केवल सूचित किया गया है, प्रकट नहीं किया गया है, वह यही मधु है, जो 'इयं पृथिवी' इत्यादि अनन्तर पूर्व मन्त्रसे निर्दिष्ट है।

शङ्का—कैसे प्रकरणान्तरमें सूचित हुआ है ?

समाधान—'दध्यङ् ह वा आभ्यामाथर्वणो मधु नाम ब्राह्मणमुवाच' इत्यादिसे। यह मधु दोनों अश्विनीकुमारोंका प्रीत्यास्पद था, अतएव उनके द्वारा प्रार्थित ब्राह्मणने उक्त मधु दोनोंसे कहा। इन्द्रने उक्त ब्राह्मणसे यह कहा था कि इस विद्याको यदि दूसरेसे कहोगे, तो तुम्हारा सिर काट देंगे, इसलिए ब्राह्मणने उनसे कहा कि इन्द्रकृत शिरश्छेदनके भयसे मैं तुम दोनोंको उक्त विद्याका उपदेश नहीं दे सकता,

क्योंकि मैं डरता हूँ। हाँ, यदि वह सिर न काटे, तो आप लोगोंको शिष्य बनाऊँगा। उन दोनोंने कहा कि हम दोनों आपकी रक्षा करेंगे।

शङ्का—कैसे तुम हमारी रक्षा करोगे ? इन्द्र राजा है, अतएव बलवान् है, उसके विपरीत तुम लोग हमारी रक्षा कैसे कर सकोगे ?

समाधान—जब आप हम दोनोंको शिष्य बनावेंगे, तो आपका सिर काटकर अन्यत्र छिपाकर रख देंगे, उसके बाद घोड़ेका सिर ले आकर आपके धड़से जोड़ देंगे। उसी घोड़ेके सिरसे आप हम दोनोंको उपदेश देंगे। आपके उपदेश देनेपर जब इन्द्र आपका सिर काट देंगे, तब आपका सिर जो अन्यत्र रक्खा है, उसे ले आकर हम फिर आपके धड़से जोड़ देंगे। उन्होंने यह बात मान ली और दोनोंको शिष्य बनाया। उनका सिर काटकर अन्यत्र रख दिया गया, उसके स्थानपर घोड़ेका सिर लाकर जोड़ दिया गया। घोड़ेके सिरसे उन दोनोंको उक्त विद्याका उपदेश ब्राह्मणने दिया। जब उस विद्याका उपदेश उनको दिया, तब इन्द्रने आकर पूर्वप्रतिज्ञानुसार उसका सिर काट दिया। फिर अश्विनीकुमारने अपनी पूर्वप्रतिज्ञानुसार उसका अन्यत्र सुरक्षित सिर लाकर उसके धड़से जोड़ दिया। जितना प्रवर्ग्यकर्माङ्गभूत मधु था, उतना ही अश्वके सिरसे कहा। कक्ष्य (श्रेष्ठ) आत्मज्ञान अश्वके सिरसे नहीं कहा, यह आख्यायिका वहाँपर कही गई है। यह यहाँ स्तुतिके लिए फिर प्रदर्शित की गई है। अथर्वाके पुत्र दध्यङ् नामक ऋषिने इस मधुविद्याका विस्तारपूर्वक अश्विनीकुमारोंको उपदेश दिया। ऋषिशब्द यहां मन्त्रबोधके लिए प्रयुक्त हुआ है। मन्त्र भी ऋषि कहा जाता है; ऋषिने (मन्त्रने) उस कर्मको देखते हुए कहा। 'दंस' कर्मका वाचक है, वह दंस कैसा है ? उग्र (क्रूर) है। वां याने युवयोः अश्विनीकुमारयोः। 'नरा' यह अश्विनीकुमारोंका सम्बोधन है।

शङ्का—वे तो देवता हैं, मनुष्य नहीं, फिर 'नरा' यह सम्बोधन क्यों ?

समाधान—हाँ, वे देवता हैं, किन्तु उनका आकार मनुष्यके सदृश है। इसलिए 'नरा' यह विशेषण समुचित है। 'नरा' इसका 'नरत्वजातिविशिष्टाः' यह अर्थ नहीं है, किन्तु 'हे नराकाराः' यह अर्थ है। अश्विनीकुमार नराकृति हैं। क्रूर कर्म क्यों किया गया ? लाभके लिए। लोभीजन क्रूर कर्म भी लाभके लिए करते हैं, यह लोकमें प्रसिद्ध है, वैसे ही ये लोग भी देखे गये हैं, उस कर्मको प्रकट करते हैं—जो एकान्तमें आप लोगोंने किया था।

इदं वै तन्मधु दध्यङ्ङाथर्वणोऽश्विभ्यामुवाच तदेतदृषिः पश्यन्नवोचत् । आथर्वणायाश्विना दधीचेऽश्व्यꣳ शिरः प्रत्यैरयतं स वां मधु प्रवोचदृतायन्त्वाष्ट्रं यद्दस्रावपि कक्ष्यं वामिति ॥ १७ ॥

शङ्का—कैसे ?

समाधान—तन्यतुर्न वृष्टिम् । जैसे पर्जन्य याने मेघ वृष्टिको प्रकाशित करता है वैसे । 'न' का यहाँ सादृश्य अर्थ है, अर्थात् इवार्थक नञ् है ।

शङ्का—नकारके प्रतिषेध आदि अर्थ होते हैं, उपमा अर्थ तो न-कारका नहीं होता ।

समाधान—'अश्वं न गूढमश्विना' यहाँपर नञ् उक्तार्थक ही है; अश्व-मिव, ऐसा अर्थ लिखा है । जैसे मेघ गरज कर वृष्टिको प्रकाशित करता है, वैसे ही मैं आप दोनोंके दारुण कर्मको प्रकाशित करता हूँ ।

शङ्का—इन मन्त्रोंसे अश्विनीकुमारकी स्तुति कहाँ प्रतीत होती है ? प्रत्युत निन्दाकी ही प्रतीति होती है ?

समाधान—नहीं, निन्दा प्रतीत नहीं होती, किन्तु स्तुति ही प्रतीत होती है, क्योंकि गुरुशिरश्छेदनरूप दारुण कर्म करनेवाले अश्विनीकुमारका बाल भी बाँका नहीं हुआ । इसलिए इस विद्याके प्रभावसे उनकी स्तुति ही कही गई है, यद्यपि स्वरूपसे निन्दाकी प्रतीति होती है, तथापि वह स्तुतिमें परिणत हो जाती है, एवं स्तुति भी निन्दामें परिणत होती है, इनका उदाहरण व्याजस्तुतिमें देखिए । दध्यङ् नामक आथर्वण । 'ह' यह अनर्थक निपात है । जिस आत्मज्ञानलक्षण श्रेष्ठ मधुका आप दोनोंको घोड़ेके सिरसे उपदेश दिया । 'ईम्' यह अनर्थक निपात है ॥ १६ ॥

'इदं वै तन्मधु' इत्यादि श्रुति । एवं अन्य मन्त्र भी उसी आख्यायिकाका अनुसरण करते हैं । आथर्वण दध्यङ्नामा [आथर्वण अन्य भी है, इसलिए विशेषण देते हैं—दध्यङ्नामा दधीच आथर्वणके लिए है] अश्विनौ यह मन्त्र-द्रष्टाका वचन है । ब्राह्मणके सिरके छिन्न होनेपर घोड़ेका सिर काटकर, ऐसा अति क्रूर कर्म करके अश्वका सिर ब्राह्मणमें लगाया । उस अथर्वाने आप दोनोंको मधुविद्याका उपदेश दिया, जिसने पहले प्रतिज्ञा की थी कि तुमसे कहेंगे ।

शङ्का—उस ऋषिने जीवनसन्देहपर आरूढ़ होकर क्यों ऐसा कहा ?

समाधान—पूर्वप्रतिज्ञात सत्यके परिपालनकी कामनासे ऐसा किया । जीवनसे भी सत्यधर्मका परिपालन गुरुतर है, यह भी इसमें लिङ्ग है ।

दध्यङ्ङाथर्वणोऽश्विभ्यामुवाच द्विविधं मधु ।
प्रवर्ग्याङ्गं रविध्यानं ब्रह्मध्यानमिति द्वयम् ॥ ४४ ॥
तं वृत्तान्तमृषिः पश्यन्प्राब्रवीदश्विनौ प्रति ।
वृत्तान्तमब्रवीदृग्भ्यामृग्भ्यां च ब्रह्मवेदनम् ॥ ४५ ॥

शङ्का—कौन मधु है, जो कहा है ?

समाधान—त्वाष्ट्र, त्वष्टा नाम आदित्यका है । तत्संबन्धि यज्ञका छिन्न सिर सूर्य हुआ 'यज्ञस्य शिरोऽच्छिद्यत ते देवा अश्विनावब्रुवन् भिषजौ वै स्थ इदं यज्ञस्य शिरः प्रतिधत्तम्' इत्यादि अन्य श्रुतिमें प्रसिद्ध है ।

शङ्का—प्रवर्ग्यकर्ममें ऐसा हुआ, तो इस विज्ञानमें इसका क्या संबन्ध है ?

समाधान—प्रवर्ग्यकर्माङ्गभूत जो विज्ञान है, वही त्वाष्ट्रमधु है । यज्ञका शिरश्छेदनप्रतिसंधानादिविषयक जो दर्शन है वह त्वाष्ट्र मधु है । हे दस्रौ, दस्रका तात्पर्य परपक्षका क्षय करनेवालेमें है अथवा शत्रुके हिंसकमें है । अपि च, कर्मसम्बन्धि त्वाष्ट्र मधु ही आप दोनोंसे नहीं कहा, किन्तु कक्ष्य (गोप्य) रहस्य परमात्मसंबन्धी जो विज्ञान मधु है, मधुब्राह्मणोक्त और अध्यायद्वयमें प्रकाशित है, सो भी आप दोनोंसे कहा । प्रवोचत्का यहाँ भी सम्बन्ध है ॥ ४३ ॥

'दध्यङ्ङाथ०' इत्यादि । अथर्वाके पुत्र आथर्वण, आथर्वण और भी हैं, अतः उनकी व्यावृत्तिके लिए दध्यङ् नामका निर्देश किया । उक्त नामक ऋषिने अश्विनीकुमारोंसे दो प्रकारका मधु कहा । एक प्रवर्ग्यकर्माङ्गभूत रविध्यान और दूसरा ब्रह्मध्यान—ये ही दो मधु कहे ॥ ४४ ॥

'तं वृत्तान्तम्' इत्यादि । ऋषिशब्दका अर्थ है—मन्त्रद्रष्टा । वृत्तान्त यानी प्रकृत शिष्याचार्यसंबद्ध कर्म—गुरुके सिरका छेदन, अश्वके सिरका संस्थापन मधुविद्याध्ययन, इन्द्रकर्तृक सिरका छेदन एवं पुनः गुरुस्वशिरःस्थापन आदि । प्रकृतमें वृत्तान्त कहा गया है, इसको धर्मोत्कर्षके प्रभावसे मन्त्रद्रष्टाने साक्षात्कार करके मन्त्र द्वारा अश्विनीकुमारोंके प्रति कहा ।

शङ्का—कितने मन्त्रोंसे कहा ?

समाधान—दो ऋचाओंसे वृत्तान्त कहा और दो ऋचाओंसे ब्रह्मवेदन कहा ॥ ४५ ॥

अश्विनौ युवयोरुग्रं लाभाय गुरुमारणम् ।
आविष्करोमि लोकेऽस्मिन्मेघो वृष्टिं यथा तथा ॥ ४६ ॥
दध्यङ्ङाथर्वणोऽश्वस्य शिरसा युवयोर्मधु ।
यत्प्रोवाच तदप्यत्र जानन्नाविष्करोम्यहम् ॥ ४७ ॥
छित्वा गुरोः शिरोऽन्यत्र निक्षिप्याऽश्वस्य यच्छिरः ।
तदाहृत्य गुरोः कण्ठे प्रतिष्ठापयतो युवाम् ॥ ४८ ॥

'अश्विनौ' इत्यादि । हे अश्विनीकुमार, लाभके लिए तुम दोनोंके उग्र (क्रूर) गुरुमारणरूप (मस्तकछेदनरूप) कर्मको प्रकट करता हूँ। जैसे लौकिक पुरुष स्वलाभके लिए अनुचित कर्म करते हैं, यह लोकमें प्रसिद्ध है, वैसे ही आप लोगोंने भी लोभी पुरुषके समान मधुविद्याके लाभके लिए गुरुके सिरका छेदनरूप जो क्रूर कर्म किया है, उसको मैं मेघ जैसे गर्ज कर वृष्टिका प्रकाश करता है, वैसे ही प्रकाशित करता हूँ, यानी स्फुट करता हूँ ॥ ४६ ॥

'दध्यङ्ङाथर्वणो०' इत्यादि । दध्यङ् आथर्वण ऋषिने घोड़ेके सिरसे आप दोनोंको जिस मधुविद्याका उपदेश दिया है, उसको भी मैं जानता हूँ, अतएव उसे भी प्रकाशित करता हूँ ॥ ४७ ॥

'छित्वा गुरोः' इत्यादि। यदि इस मधुविद्याका उपदेश अन्य किसीको दोगे, तो तुम्हारा सिर काट देंगे, इस प्रकार इन्द्रकी प्रतिज्ञासे भीत होकर उक्त ऋषि अपनी पूर्वप्रतिज्ञासे—तुम दोनोंको इस विद्याका उपदेश देंगे, इस प्रतिज्ञासे—जब विरत हुए, तब तुम दोनोंने कहा कि आपका सिर काटकर अन्यत्र रख देंगे और अश्वका सिर जोड़ देंगे, अश्वके सिरसे ही प्रकृत विद्या आपसे सुनेंगे, इन्द्र द्वारा सिर काटे जानेपर फिर आपका अन्यत्र रखा हुआ सिर लाकर आपके धड़से जोड़ देंगे, इस उपायसे हम आपकी रक्षा करेंगे । यज्ञका सिर हम जोड़ चुके हैं, यह आप जानते ही हैं, अतः इस कार्यके सम्पादनमें हम लोगोंकी निपुणतामें सन्देह करनेका अवकाश भी नहीं है । इससे निर्भय होकर उक्त ऋषिने दोनोंको मधुविद्याका उपदेश दिया । तदनन्तर पूर्वप्रतिज्ञाके अनुसार इन्द्रने उक्त ऋषिका सिर जब काट दिया, तब अश्विनीकुमारोंने अपनी प्रतिज्ञाके अनुसार अन्यत्र रक्खा हुआ गुरुका सिर लाकर फिर गुरुके धड़से जोड़ दिया, यह सब मैं प्रकाशित करूँगा ॥ ४८ ॥

सत्यप्रतिज्ञः स गुरुः सोढ्वाऽप्येतादृशीं व्यथाम् ।
मधुद्वयमुवाचेति कथितोऽर्थ ऋचोर्द्वयोः ॥ ४९ ॥
नन्वेतयाऽऽख्यायिकया कथं विद्या स्तुता भवेत् ।
शृण्वायासेन महता लब्धेति श्रूयते ह्यसौ ॥ ५० ॥
मधुविद्यामिमामिन्द्रो गोपायितुमिदं जगौ ।
अन्यस्मै चेदिमां ब्रूयाः शिरश्छिन्द्यामितीदृशम् ॥ ५१ ॥

'सत्यप्रतिज्ञः' इत्यादि ।

शङ्का—माना कि अश्विनीकुमारोंमें यह सामर्थ्य है, पर सिरके काटनेमें, फिर उसके जोड़नेमें एवं पुनः काटने और जोड़नेमें जो व्यथा हुई होगी, वह तो गुरुको सहनी ही पड़ी होगी, ऐसी व्यथा सहकर उक्त विद्योपदेशसे उनको क्या लाभ हुआ ?

समाधान—और लाभ न भी सही, पर यह लाभ तो अवश्य हुआ कि उक्त ऋषिकी प्रतिज्ञाकी रक्षा हो गई । महान् लोग जीवनकी बाज़ी लगाकर अपनी प्रतिज्ञाकी रक्षा करते हैं । उनके सिद्धान्तसे जीवनकी अपेक्षा सत्य बढ़कर है । इसलिए प्राण देकर भी सत्यकी रक्षा करनी चाहिए । व्यथाका सहन तो कोई विशेष वस्तु नहीं है, अतः उक्त सिरके छेदनादिसे उत्पन्न व्यथाको न सहकर मधुद्वयका उक्त अधिकारीके प्रति उपदेश दिया । यही दोनों ऋचाओंमें अर्थ कहा गया है ॥४९॥

'नन्वेतयाऽऽख्यायिकया' इत्यादि ।

शङ्का—इस आख्यायिकासे विद्याकी स्तुति कैसे हुई, विद्याका गुणगान तो इसमें कुछ है नहीं ।

समाधान—सुनो यह बड़े प्रयत्नसे प्राप्त की गई है, ऐसा सुना जाता है ॥५०॥

'मधुविद्या०' इत्यादि । सम्पूर्ण पुरुषार्थको प्राप्त करनेवाले त्रैलोक्यके अधिपति इन्द्रने जिस विद्याकी रक्षाके लिए इतनी कड़ी प्रतिज्ञा की थी कि यदि अन्य किसीसे इस विद्याको कहोगे, तो तुम्हारा सिर काट देंगे, अतः वह विद्या साधारण नहीं हो सकती । साधारणकी रक्षाके लिए महापुरुषकी इतनी कड़ी प्रतिज्ञा नहीं हो सकती, इस प्रतिज्ञासे यह स्फुट है कि त्रैलोक्यकी सारभूता उक्त विद्या है । दूसरा महत्त्वका कारण यह भी है कि अश्विनीकुमार स्वर्गके वैद्य हैं, उनको इस विद्याका ग्रहण करनेके लिए कितना आयास और कितना दुष्कर कर्म—गुरुके सिरका छेदन, अश्वके सिरका स्थापन आदि—करना पड़ा ।

तथाऽश्वीयं शिरश्छित्वा छिन्ने तस्मिन् पुनः स्वकम् ।
शिरः संस्थाप्य विद्याऽसौ लब्धेत्यायास ईरितः ॥ ५२ ॥
प्रवर्ग्याध्याययोरेवमृग्भ्यां तात्पर्यमीरितम् ।
उत्तराध्याययोरेवमृग्भ्यां तात्पर्यमीर्यते ॥ ५३ ॥
ऋचां चतसृणां सृत्या प्रत्येकमवतारणम् ।
आदरायेति विज्ञेयमर्थाधिक्यं न किञ्चन ॥ ५४ ॥

जिस कर्मको साधारण मनुष्य भी करनेमें संकोच करता है फिर उसे वे क्यों करें, वे तो देवता हैं। देवताओंकी प्रवृत्ति स्वतः साधु कर्ममें ही होती है। विशेष कारणवश ही कहीं असाधु कर्ममें प्रवृत्ति होती है। प्रकृतमें सब पुरुषार्थोंमें मोक्ष सर्वोत्तम पुरुषार्थ है। अतएव यह मधुविद्या सब पुरुषार्थ-साधनोंका उत्तम साधन है। साध्यके गौरवसे साधन भी गुरु माना जाता है ॥ ५१ ॥

जो आयास पूर्वमें कहा गया है, उसीका यहां निर्देश करते हैं—'तथाऽश्वीयम्' इत्यादिसे।

अश्वका सिर काटकर गुरुके धड़में जोड़ना और उससे पूर्व गुरुके सिरको काटकर अन्यत्र सुरक्षित रखना, विद्योपदेशके अनन्तर अश्वके सिरको, जो गुरुके धड़में लगा था और इन्द्रके मना करनेपर भी जिससे दूसरेको उपदेश दिया था, इन्द्रके काटनेपर गुरुके सिरको फिर गुरुके धड़में जोड़ना इत्यादि आयास विद्याके लाभके लिए किया गया है। साधारण वस्तुके लिए महापुरुषोंका इतना आयास नहीं होता ॥ ५२ ॥

'प्रवर्ग्या०' इत्यादि। दो ऋचाओंसे जैसे प्रवर्ग्याध्यायका तात्पर्य कहा, वैसे ही दो ऋचाओंसे उत्तराध्यायका (तृतीय और चतुर्थ अध्यायका) तात्पर्य कहते हैं॥५३॥

'ऋचां चतसृणाम्' इत्यादि।

शङ्का—चारों ऋचाओंका अवतरण 'इदं वै तन्मधु' इत्यादि मार्गसे किया गया है। उसमें प्रश्न यह होता है कि चारों ऋचाओंके अवतरणमें जो 'इदं वै तन्मधु' इसका जो चार बार पाठ आया है, इसमें कुछ अर्थभेद है या नहीं? प्रथम पक्षमें अर्थभेद क्या है? यदि नहीं है, तो उक्त अर्थका पुनः प्रयोग पुनरुक्त दोषके लिए स्पष्ट है।

समाधान—यद्यपि अर्थका भेद नहीं है, तथापि पुनः पुनः उसका उपादान

ईशो मनुष्यपश्वादिदेहांश्चक्रे पुरा ततः ।
स पक्षी लिङ्गरूपेण भूत्वा तान् प्राविशत् पुनः ॥ ५५ ॥
योऽयं पुरुषशब्दोऽस्मिन्मन्त्रे तस्य निरुक्तितः ।
जीवब्रह्मैक्यतात्पर्यं मन्त्रस्याऽस्योपवर्ण्यते ॥ ५६ ॥

आदरके लिए है। जैसे लोकमें आदरका सूचन करनेके लिए आइये, आइये, बैठिये, बैठिये इत्यादिका प्रयोग किया जाता है, वैसे ही वेदमें भी मधुविद्याका आदर करनेके लिए पुनः पुनः उसका उपादान किया गया है। जहाँ आदरादिका सूचन करनेमें तात्पर्य नहीं है और अर्थभेद भी नहीं है, वहां पुनरुक्त दोष होता है, यह विद्वानोंका सिद्धान्त है ॥ ५४ ॥

'पुरश्चक्रे' इत्यादि मन्त्रस्थ पदोंका व्याख्यान करनेके लिए कहते हैं—'ईशो' इत्यादि ।

ईशने (ईश्वरने) यानी सृष्टिके कर्ताने पहले मनुष्य, पशु आदिके (आदिसे पक्षी आदिके) शरीरोंका निर्माण किया। द्विपद उपलक्षण है यानी जिसको दो पैर होते हैं, ऐसे मनुष्य तथा पक्षी आदि । चतुष्पाद् यह भी चार पैरवालोंमें उपलक्षण है ।

शङ्का—कूटस्थ आत्माने शरीरका निर्माण कैसे किया ?

समाधान—मायासे । माया द्वारा शरीर आदिके उत्पादनसे कूटस्थताकी क्षति नहीं होती। वही आत्मा पक्षी होकर (पक्षीका अर्थ सूक्ष्म भागवान् है) लिङ्ग द्वारा उन शरीरोंमें प्रविष्ट हुआ ।

शङ्का—वह तो व्यापक है; प्रथम भी वहाँ था ही, फिर प्रविष्ट हुआ, यह कैसे ?

समाधान—जलचन्द्रप्रतिबिम्बवत् प्रवेश समझना चाहिए, इसका निरूपण पूर्वमें हो चुका है। विशेष जिज्ञासा हो, तो वहीं देखिए ॥ ५५ ॥

'स वा अयम्' इस ग्रन्थका अवतरण करते हैं—'योऽयम्' इत्यादिसे ।

इस मन्त्रमें जो पुरुषशब्द है, उसकी निरुक्ति अवयवव्युत्पत्तिसे स्पष्ट प्रतीत होती है कि यह मन्त्र जीवब्रह्मैक्यतात्पर्यपरक है । इसीका इस श्लोकसे वर्णन करते हैं। तात्पर्य यह है कि श्रुति स्वयं पुरुषशब्दका निर्वचन करती है। 'पुरि शेते' इति इस निर्वचनका प्रकृतमें क्या तात्पर्य है ? ऐसा प्रश्न होनेपर

पुरि शेते यतस्तस्मात् पुरुषो जीव उच्यते ।
सर्वं पूरयतीत्येवं पुरुषो ब्रह्म भण्यते ॥ ५७ ॥
अनेन ब्रह्मणा किञ्चिद्बहिर्नाऽनावृतं क्वचित् ।
नाऽस्त्यसंवृतमन्तश्च पूरणात् पुरुषस्ततः ॥ ५८ ॥

उत्तर देते हैं—जीव और ब्रह्मके ऐक्यका बोधन करनेके लिए निर्वचन किया गया है, सो आगे स्पष्ट होगा ॥ ५६ ॥

'पुरि शेते' इत्यादि। सर्वपुरमें याने सब शरीरोंमें शयन करता है यानी वर्तमान है, इसलिए जीव पुरुष कहलाता है और सब चराचरको पूर्ण करता है, इसलिए ब्रह्म पुरुष कहलाता है। व्युत्पत्तिके भेदसे जीव और ब्रह्म दोनों पुरुष-शब्दके अर्थ हैं।

शङ्का—एकशब्दवाच्य होनेसे यदि अर्थका अभेद माना जाय, तो हरिशब्द-वाच्य अश्व और सिंहका भी अभेद होना चाहिए।

समाधान—पुरुषशब्दवाच्य ब्रह्म ही है, अतिरिक्त नहीं है, इस सिद्धान्तको मानकर पुरुषशब्दका प्रयोग जीवमें किया गया है। यदि जीव ब्रह्मसे भिन्न माना जाय, तो उसमें पुरुषका प्रयोग श्रुति न करती। श्रुतिने जीवमें पुरुषशब्दका प्रयोग किया है, इसलिए जीव ब्रह्मसे अभिन्न है, यह श्रुतिको अभीष्ट है ॥ ५७ ॥

'अनेन' इत्यादि। इस ब्रह्मसे न कोई बाहर है और न कोई अनावृत ही है अर्थात् सब जगत् ब्रह्ममें ही है और ब्रह्मसे असंवृत नहीं है, किन्तु प्रोत-तन्तुवत् ब्रह्मसे संवृत ही है। सबको पूरण करनेसे पुरुष है।

शङ्का—अनावृत और असंवृतका तात्पर्य व्याप्तिमें है। वह तो एक ही पदसे प्रतीत होती है, पुनः पदान्तरोपादान क्यों?

समाधान—वाच्यार्थ दोनोंका भिन्न है—'न अनावृतं किन्तु आवृतम्' अर्थात् आच्छादित और असंवृतका अर्थ है—अननुप्रवेशित अर्थात् आत्माने सबको अपने भीतर प्रवेशित किया है। इन दोनोंसे एवं अक्षराधिकरणन्यायसे (ओत-प्रोतत्वसे) सब जगत् आत्मव्याप्त है, यह फलितार्थ है। अथवा आवृतका अर्थ है, सबको ज्ञान द्वारा आत्म-सा करना और संवृतका अर्थ है जो अनात्मा प्रतीत होते हैं, वे सब प्रतिषिद्ध हैं। इस अर्थमें पुनरुक्तिदोषकी शङ्काका लेश भी

श्रुतिः—इदं वै तन्मधु दध्यङ्ङार्थवणोऽश्विभ्यामुवाच। तदेतदृषिः पश्यन्नवोचत्। द्विपदः पुरश्चक्रे चतुष्पदः। पुरः स पक्षी भूत्वा पुरः पुरुष आविशदिति। स वा अयं सर्वासु पूर्षु पुरिशयो नैनेन किञ्चनानावृत्तं नैनेन किञ्चनासंवृतम्॥ १८॥

श्रुतिः—इदं वै तन्मधु दध्यङ्ङार्थवणोऽश्विभ्यामुवाच। तदेतदृषिः पश्यन्नवोचत। रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव तदस्य रूपं प्रतिचक्षणाय। इन्द्रो

नहीं है। ऐसा कोई कारण या कार्य्य नहीं है, जिसको ब्रह्मने न अपनाया हो एवं ऐसा कोई कार्य या कारण नहीं है; जिसका ब्रह्मने अपह्नव न किया हो॥ ५८॥

'इदं वै तन्मधु' इत्यादि श्रुति। 'इदं वै तन्मधु' इसका अर्थ पूर्ववत् ही समझना चाहिए उक्त दोनों मन्त्र प्रवर्ग्यसंबन्धि आख्यायिकाके उपसंग्राहक हैं। दोनों प्रवर्ग्यकर्मार्थक अध्यायोंका अर्थ आख्यायिकाभूत दो मन्त्रोंसे कहा। ब्रह्मविद्यार्थक दो अध्यायोंका अर्थ उत्तर ऋचाओंसे प्रकाशित करना है, अतः यह प्रवृत्ति है। जिस कक्ष्य मधुका आथर्वणने तुम दोनोंको उपदेश दिया, उसे भी कह चुके। वह मधु कौन है? कहते हैं—पुरश्चक्रे पुरः—पुराणि। पुरका अर्थ यहाँ शरीर है। जिससे यह अव्याकृतव्याकरणप्रक्रिया अर्थात् सृष्टि हुई उस परमेश्वरने अव्याकृतनामरूपका व्याकरण करते हुए प्रथम 'भूर्भुवः' इत्यादि लोकोंकी सृष्टि कर द्विपद (दो पैरवाले) मनुष्यशरीर एवं पक्षिशरीरकी उत्पत्ति की, तदन्तर चार पैरवाले पशुशरीरोंकी उत्पत्ति की। वह ईश्वर पक्षी (लिङ्गशरीर) होकर शरीरोंमें प्रविष्ट हुआ। 'पुरुष आविशत्' इसका अर्थ श्रुति करती है, सो यह पुरुष सब शरीरोंमें शयन करता रहता है। पुर (शरीर) में रहनेसे पुरुष कहा जाता है। कोई भी वस्तु इससे अनाच्छादित नहीं है, किन्तु सब आच्छादित है। तथा कोई भी वस्तु ऐसी नहीं है, जिसको इसने अपने भीतर न किया हो, सबको भीतर कर लिया है। बाह्यभावसे एवं अन्तर्भावसे अनावृत नहीं, किन्तु आवृत ही है। एवं वही नामरूपसे, अन्तर्बहिर्भावसे तथा कार्यकारणरूपसे व्यवस्थित है। 'पुरश्चक्रे' इत्यादि मन्त्र संक्षेपसे आत्मैक्यको कहते हैं अर्थात् अद्वैत ब्रह्मके प्रकाशक हैं॥१८॥

'इदं वै तन्मधु' इत्यादि श्रुति। 'इदं और वै' इत्यादिका पूर्ववत् अर्थ समझना चाहिए। प्रत्येक मन्त्रके अवतरणमें उनका आदरार्थ प्रयोग है। 'रूपं रूपं प्रतिरूपो' अर्थात् प्रति उपाधिमें रूपान्तर (प्रतिबिम्ब) हुआ। जैसे एक ही मुखका

मायाभिः पुरुरूप ईयते युक्ता ह्यस्य हरयः शतादशेत्ययं वै हरयोऽयं वै दश च सहस्राणि बहूनि चानन्तानि च तदेतद्ब्रह्मापूर्वमनन्तरमबाह्यमयमात्मा ब्रह्म सर्वानुभूरित्यनुशासनम् ॥ १९ ॥

इत्युपनिषदि चतुर्थाध्याये पञ्चमं ब्राह्मणं समाप्तम् ॥ ५ ॥

मणि, दर्पण, कृपाण आदि उपाधिके भेदसे अनेक प्रकारका प्रतिबिम्ब होता है, क्योंकि तत्-तत् उपाधिके अनुरूप प्रतिबिम्बभेद लोकमें दृष्ट है एवं देव, असुर, मनुष्य, अश्व आदि उपाधिभेदसे तत्-तत् उपाधिके अनुरूप एकरस आत्माका प्रतिबिम्ब होता है अथवा प्रतिरूपका अर्थ अनुरूप है। जिस संस्थानके माता और पिता होते हैं तत्संस्थान (तदनुरूप) पुत्र होता है, यह नहीं देखा जाता कि माता और पिता चतुष्पाद हों और उनकी संतान द्विपाद हो। यदि अपूर्वके विपर्य्ययसे कहीं ऐसा हो भी तो वह जीवित नहीं रह सकता, क्योंकि सृष्टिनियमके विपरीत है। इसी प्रकार द्विपादसे चतुष्पाद भी नहीं होता, वही परमेश्वर नाम और रूपका व्याकरण करता हुआ रूप रूपके प्रति प्रतिरूप हुआ।

शङ्का—परमात्माका प्रतिरूप आगमन क्यों होता है?

समाधान—अपने नामरूपको जनानेके लिए। यदि नामरूपका व्याकरण न किया जाता, तो इस आत्माका निरुपाधिक रूप जो प्रज्ञानघनाख्य है, उसका प्रकाशन न होता। जब कार्यकारणरूपसे नाम-रूप व्याकृत होते हैं; तब इसके रूपका प्रकाश होता है। इन्द्र—परमेश्वर—मायासे (अज्ञानसे) अथवा नाम-रूपकृत मिथ्याभिमानसे न कि परमार्थतः बहुरूप कहा जाता है यानी एक ही प्रज्ञानघन पुरुष अविद्याप्रज्ञासे बहुविध कहा जाता है।

शङ्का—क्यों?

समाधान—रथमें जुते घोड़ेके समान विषयप्रकाशनके लिए इस आत्माकी दस और सौ इन्द्रियाँ हैं। विषयं हरन्ति प्रापयन्ति इति हरयः इन्द्रियाणि अर्थात् विषयदेशमें हरण करनेसे इन्द्रियाँ 'हरि' कहलाती हैं।

शङ्का—इन्द्रियाँ दस तो हैं, पर सौ कहां हैं?

समाधान—एक प्राणीके तात्पर्यसे सौ नहीं हैं, किन्तु पुरुषभेदसे सौ कही गई हैं। वस्तुतः सौ भी उपलक्षण है, आगे हजार भी कहा है, अनन्तमें तात्पर्य है। प्राणियोंके आनन्त्यसे इन्द्रियोंमें भी आनन्त्य है। इन्द्रियविषयबाहुल्यसे तत्-तत् विषयप्रकाशनके लिए इन्द्रियाँ हैं, आत्मप्रकाशनके लिए नहीं। आत्मा तो एक ही है।

यदि आत्मप्रकाशनके लिए इन्द्रियाँ हों, तो एक ही इन्द्रियसे आत्मप्रकाशन सिद्ध हो जाता ऐसी अवस्थामें इतर इन्द्रियाँ व्यर्थ हो जायँगी। यदि इन्द्रियाँ विषयप्रकाशनके लिए हैं, यह पक्ष है, तो भिन्न विषयोंके प्रकाशनार्थ अनेक इन्द्रियोंकी आवश्यकता उचित ही है। अतएव 'पराञ्चि खानि व्यतृणत्स्वयम्भूः' यह काठक श्रुति है। इसका यह अर्थ है कि स्वयभूः ब्रह्मा खानि इन्द्रियाणि व्यतृणत् हिंसितवान्—परागृविषयोंकी ग्राहक बनाकर ब्रह्माने इन्द्रियोंकी हिंसा की, इसलिए इन्द्रियाँ पराग्-विषयकी ग्राहिका होती हैं, आत्माकी नहीं। इससे विषयस्वरूप इन्द्रियोंसे ही आत्मा बहुरूप प्रतीत होता है, प्रज्ञानघनैकरस स्वस्वरूपसे नहीं।

शङ्का—ऐसी परिस्थितिमें इन्द्रियाँ भिन्न हैं और आत्मा भिन्न है, यह सिद्ध होता है, परन्तु ऐसा माननेपर अद्वैतक्षति होगी ?

समाधान—तत्-तत् इन्द्रियादिस्वरूपसे आत्माका भान जो होता है, वह अविद्यासे होता है, क्योंकि 'असङ्गो ह्ययं पुरुषः' इत्यादि श्रुतिसे वास्तविक इन्द्रियसम्बन्ध आत्मामें नहीं है। इन्द्रियाँ और उनका संबन्ध—ये दोनों कल्पित हैं। कल्पितका अधिष्ठान ही तत्त्व होता है, इस तात्पर्यसे 'अयं वै हरयोऽयं वै दश च सहस्राणि च बहूनि चानन्तानि च' यह श्रुति सङ्गत होती है। प्राणी अनन्त हैं, इसलिए इन्द्रियोंको अनन्त कहना ठीक ही है। बहुत कहाँतक कहें, प्रकृत ब्रह्मका निरूपण श्रुतियोंने यों किया है—यह आत्मा ब्रह्म अपूर्व जिसका पूर्व कारण नहीं वह 'अपूर्व' कहलाता है। जब ब्रह्मका कोई कारण नहीं है, तब पूर्वमें रहेगा कौन? अनपरं पर नाम कार्यका है। न परं यस्य तदनपरं ब्रह्मका कोई कार्य नहीं है, यदि उसका कार्य होता, तो वह पर कहा जा सकता, पर ऐसा है नहीं, इसलिए 'अनपरम्' यह कहा। बीचमें कोई जात्यन्तर नहीं है, इसलिए 'अनन्तर' और बाहर भी कोई नहीं है, इसलिए वह 'अबाह्य' कहा गया है।

शङ्का—अच्छा, तो निरन्तर ब्रह्म कौन है ?

समाधान—अयमात्मा।

शङ्का—आत्मा कौन है ?

समाधान—जो 'द्रष्टा श्रोता मन्ता बोद्धा विज्ञाता सर्वानुभूः' सर्वात्मना सबका अनुभव करता है, वह आत्मा है। सर्वानुभू यह सब वेदान्तोंका अनुशासन है। सब वेदान्तोंका उपदेश है, यही सब वेदान्तोंका उपसंहृत अर्थ है। यही अमृत है, अभय है। प्रकृत शास्त्रका अर्थ समाप्त हुआ ॥१९॥

रूपं रूपं प्रविष्टः सन् प्रतिबिम्बो भवत्ययम् ।
तदस्य प्रतिबिम्बत्वं प्रत्यग्याथात्म्यवित्तये ॥ ५९ ॥
चैतन्यात्मादयः शब्दा व्युत्पन्नाः प्रतिबिम्बके ।
लक्षयन्ति चिदात्मानं तेन याथात्म्यवेदनम् ॥ ६० ॥

प्रतिदेहमें प्रविष्ट होकर यह प्रतिबिम्ब होता है, जैसे जलाशयमें चन्द्रमाका प्रतिबिम्ब पड़ता है। बिम्ब एक है, किन्तु जलाशयादिके भेदसे प्रतिबिम्ब अनेक होता है और उपाधिधर्म प्रतिबिम्बमें ही होते हैं। बिम्बसे उनका कोई सम्बन्ध नहीं है। तरङ्गगत चञ्चलत्वादि प्रतिबिम्बमें ही देखे जाते हैं, बिम्बमें नहीं, अतएव उपाधिधर्मा प्रतिबिम्बपक्षपातिनो भवन्ति' ऐसी विद्वानोंकी संमति है। एवं प्रकृतमें देहाद्यनुरूप ही प्रतिबिम्ब आत्माका पड़ता है। देहादिभेदसे प्रतिबिम्ब अनेक होते हैं। देहादिगत सुख-दुःखादिका भान प्रतिबिम्बरूप जीवात्मामें ही होता है, बिम्बस्थानीय आत्मामें नहीं। शरीरादिके विनाशसे तत्प्रतिबिम्ब ही अदृश्य (अप्रतीत) होता है, प्रतिबिम्बान्तर नहीं।

शङ्का—परमात्माने प्रतिबिम्बात्मना बहुत रूप धारण क्यों किये ?

समाधान—मायाकृत रूपप्रतिबिम्बके बिना शास्त्राचार्योपदेशसे भी साक्षात् आत्मतत्त्वज्ञान अशक्य है? इसलिए मनुष्योंके हितके लिए अनेक रूप धारण किये। तदनन्तर शास्त्राचार्य भी तद् द्वारा आत्मज्ञान करानेमें समर्थ होते हैं।

शङ्का—आत्माके बहुभवनमें निमित्त क्या है ?

समाधान—मिथ्याज्ञान। हरिशब्दवाच्य इन्द्रियां अज्ञानज और अज्ञानसे ही आत्मसंबद्ध होती हैं। और उसीसे प्रतिबिम्ब द्वारा आत्माका बहुभवन होता है। आत्मतत्त्व-ज्ञान होनेपर अज्ञान और तदुत्थ इन्द्रियोंकी निवृत्ति हो जाती है। तदनन्तर उपाध्यभावसे प्रतिबिम्बकी निवृत्ति यानी बिम्बरूपसे अवस्थान होता है॥५९॥

'चैतन्यात्मादयः' इत्यादि।

शङ्का—प्रतिबिम्ब आत्मतत्त्वज्ञानका हेतु कैसे होता है ?

समाधान—शुद्ध बिम्बभूत आत्मा तो न प्रमाणका विषय है और न व्यवहारका विषय है, अतः उसमें किन्हीं शब्दोंकी व्युत्पत्ति (शक्तिग्रह) नहीं हो सकती, अतएव 'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह' ऐसा श्रुति कहती है। आचार्य शास्त्र द्वारा उसी अर्थका उपदेश दे सकते हैं, जिस अर्थमें श्रोता व्युत्पन्न हो,

मिथ्याभिमानैः साभासबुद्ध्यादिपरिकल्पितैः ।
द्रष्टा श्रोताऽहमित्यादिबहुरूपो विचेष्टते ॥ ६१ ॥

इसलिए चैतन्य आत्मशब्दादिकी व्युत्पत्ति व्यवहारविषय ब्रह्ममें है नहीं, अतः उन शब्दोंसे भी श्रोता ब्रह्मको नहीं समझ सकता । अविद्याकृत देहादिमें प्रतिबिम्ब होनेसे बिम्बके समान ही प्रतिबिम्ब होता है । इस नियमसे प्रतिबिम्ब भी चैतन्यात्मक प्रतीत होता है । प्रथम चैतन्यात्मक प्रतिबिम्बमें आत्मचैतन्यादिकी शक्ति गृहीत होती है । संसारदशामें प्रतिबिम्बके लिए उक्त शब्द बार-बार प्रयुक्त होते हैं । तदनन्तर जिज्ञासुको यह समझाया जाता है कि वास्तविक यह आत्मा नहीं है । यह तो परिछिन्न शरीरादिधर्माभिमानी सांसारिक जन्म, जरा मरण आदि अनेक धर्मोंसे उपप्लुत प्रतीत होता है । और वेदान्तशास्त्र कहता है कि आत्मा अपरिछिन्न आनन्द उदासीन चिद्घन स्वरूप है, इसलिए तुम अज्ञानसे संसारी तथा दुःखादिमान् हो श्रवणादि उपायसे उसका साक्षात्कार होनेपर इस दुःखसे मुक्त हो जाओगे ।

शङ्का—वास्तविक आत्मा तो शब्दगोचर नहीं है, फिर उसमें शब्दकी व्युत्पत्ति कैसे होगी ? व्युत्पत्तिके बिना शब्द बोधक होता नहीं ?

समाधान—हां, शक्तिग्रह नहीं है; परन्तु लक्षणावृत्तिसे शब्द द्वारा उसका बोध माना जाता है । शब्द दो प्रकारसे अर्थका बोधक होता है । शक्तिसे तथा लक्षणासे । लक्षणा जैसे बोधक होती है, उसका अन्यत्र विस्तार किया गया है, इसलिए इस विषयको यहाँ छोड़ देते हैं ॥ ६० ॥

'मिथ्याभिमानैः' इत्यादि । 'इन्द्रो मायाभिः पुरूप ईयते' इस श्रुतिके अनुसार इन्द्र—परमेश्वर—अर्थात् साभास जो चित्प्रतिबिम्ब है, वह बुद्ध्यादिसे परिकल्पित मिथ्याभिमानसे अपनेको द्रष्टा—देखनेवाला—श्रोता—सुननेवाला—मैं हूँ इत्यादि अनेक प्रकारकी चेष्टाएँ करता है, जैसे स्वप्नावस्थामें सुख, दुःख आदिके जनक बाह्यविषयका वस्तुतः समवधान नहीं है, तो भी आत्मा स्वाप्निक देह, इन्द्रिय और विषयोंकी अज्ञानसे कल्पना कर और उनके सम्बन्धकी अपने साथ कल्पना करके सुखी, दुःखी, मुग्ध और भीतके समान अपने स्वरूपकी कल्पना करता है, एवं दुःखजनक वस्तुओंकी जिज्ञासासे उनके त्यागकी चेष्टा करता है, तथा सुखजनक वस्तुओंकी उपादित्सासे उनकी प्राप्तिकी चेष्टा करता है और उनके प्रतिकूल

सन्त्यस्य हरयोऽक्षाख्या हरणाद्विषयान् प्रति ।
प्राणिभेदादनन्तास्ते तैस्तु संसरतीश्वरः ॥ ६२ ॥
मन्त्रोक्ता हरयोऽप्यस्तास्तत्संख्या च प्रकल्पिता ।
एतेषां तत्त्वमात्मैवेत्याह ब्राह्मणमादरात् ॥ ६३ ॥

पुरुषोंसे विद्वेष भी करता है, परन्तु जागनेपर वे शरीर, इन्द्रिय और विषय बाधित हो जाते हैं और निश्चय होता है कि यह स्वप्न था, मिथ्याभानमात्र था वस्तुतः उस अवस्थामें अकेला मैं ही था और कोई नहीं था, कल्पित वस्तुओंसे वस्तुतः मेरा उपकार कुछ भी नहीं है, एवं संसारदशामें मनुष्यादि निखिल जीव कल्पित शरीर, इन्द्रिय और विषयोंसे इष्टानिष्ट भोग पा रहे हैं, जागर-ज्ञानके समान तत्त्वज्ञान होनेपर न आत्मा द्रष्टा है, न श्रोता है, न बोद्धा है और न अहमर्थ ही है । यही वेदान्तका मुमुक्षुओंके प्रति वक्तव्य है और यही प्रकृत मधुब्राह्मणका रहस्य है ॥६१॥

'**सन्त्यस्य**' इत्यादि । इस भोक्ता संसारी आत्माके इन्द्रियरूपी अश्व हैं ।

शङ्का—इन्द्रियाँ हरि क्यों कही गईं ?

समाधान—विषयदेशमें उसे ग्रहण करनेके लिए शरीररूपी रथको ले जाती हैं, 'हरणाद् हरयः' इस व्युत्पत्तिसे इन्द्रियाँ 'हरि' हैं, इन्द्रियोंकी संख्या नियत नहीं है, कारण कि प्राणी अनन्त हैं, अतः तत्कल्पित इन्द्रियाँ भी अनन्त हैं । इन्हीं कल्पित इन्द्रियोंसे ईश्वर संसारी, जन्म, जरा, मरण आदि संसारके धर्मोंसे युक्त होता है । विचार करनेपर इन्द्रियादिका स्वरूप तथा आत्माके साथ सम्बन्ध तात्त्विक नहीं ठहरता । जो आदि और अन्तमें नहीं है, केवल मध्यमें कुछ समयतक प्रतीत होता है, वह मरीचिकाजल, शुक्तिरजत आदिके समान मिथ्या है । अद्वय आत्मामें बुद्धिकी कल्पना कर बोद्धा, मनकी कल्पना कर मन्ता, श्रोत्रकी कल्पना कर श्रोता, चक्षुकी कल्पना कर द्रष्टा, अहङ्कारकी कल्पना कर अहं ऐसा व्यवहार करता है । आदिसे घ्राण आदि इन्द्रियोंकी कल्पना कर अपनेको घ्राता मानता है, इत्यादि समझना चाहिए, यह पूर्व श्लोकका निचोड़ अर्थ है ॥ ६२ ॥

'अयं वै हरयः' इस वाक्यका अर्थ स्फुट करते हैं—'**मन्त्रोक्ता**' इत्यादिसे ।

मन्त्रोक्त इन्द्रियाँ और उनकी दश, शत आदि संख्या आत्मामें कल्पित है; इन कल्पित इन्द्रिय एवं संख्याओंका तत्त्व अधिष्ठानभूत आत्मा ही है, यही बात आदरसे ब्राह्मण (वेदभाग) कहता है । भाव यह है कि इन्द्रिय आदि यदि पृथक् तत्त्व हों,

निःशेषमधुकाण्डस्य तदेतदिति वाक्यतः ।
सारः संक्षिप्यते साक्षात्करविन्यस्तबिल्ववत् ॥ ६४ ॥
अज्ञातं संशयज्ञातं मिथ्याज्ञातमिदं जगत् ।
तदेतदित्यनूद्याऽत्र तत्त्वं ब्रह्मेति बोध्यते ॥ ६५ ॥

तो 'अयं वै हरयः' यह उपनिषत् वाक्य असङ्गत हो जायगा, क्योंकि 'अयमेव घटः पटः' ऐसा नहीं कहा जाता, कारण कि घट और पट दोनों पृथक् तत्त्व हैं, 'रजतत्वेन प्रतीता शुक्तिरेव' इस तात्पर्यसे 'शुक्तिरेव रजतम्' यह प्रयोग माना जाता है। प्रकृतमें 'अयं वै हरयः' इस वाक्यसे यह स्पष्ट प्रतीत होता है। आत्मा भी इन्द्रियाँ है, यह कथन तभी सङ्गत हो सकता है, जब आत्मामें इन्द्रिय और उनकी संख्याओंका अध्यास माना जाय। श्रुतिने यह कहा है कि इन्द्रियाँ आत्मा ही हैं, इसलिए उक्त अध्यासमें यह श्रुति प्रमाण है, अतः अविद्यासे इन्द्रियादि-रूपसे आत्मा ही कल्पित है और कल्पितका तत्त्व अधिष्ठान ही होता है, इस तात्पर्यसे 'अयमेव सः' इत्यादि श्रौत निर्देश है ॥ ६३ ॥

'तदेतद्ब्रह्म' इत्यादि अग्रिम वाक्यका अवतरण करते हैं—**'निःशेष०'** इत्यादिसे।

'तदेतत्' इत्यादि वाक्यसे सम्पूर्ण मधुकाण्डके सारका संक्षेप करते हैं। जैसे हाथमें स्थित बिल्वका अनायास साक्षात्कार हो जाता है, वैसे ही सम्पूर्ण काण्डका निचोड़ अर्थ थोड़े शब्दोंसे स्पष्ट करते हैं। श्रमभीरु जिज्ञासु जन थोड़े श्रमसे सिद्धान्त अर्थके पूर्ण अभिज्ञ हो जायँ यह श्रुतिकी मुमुक्षुओंपर दया है ॥६४॥

'अज्ञातम्' इत्यादि। कार्यकारणात्मक अनुभूयमान यह जगत् अधिकारी पुरुषके भेदसे तीन प्रकारका है—अज्ञात, सन्दिग्ध और मिथ्याज्ञात। सद्गुरुसे जिसने अद्वैत वेदान्तका श्रवणादि नहीं किया है, उसके लिए वास्तविक मिथ्यास्वरूपसे अज्ञात है। जो प्रपञ्चका असली स्वरूप है, उस रूपसे उसको जब कभी ठीक ठीक सुना ही नहीं, तब उस रूपसे अज्ञात भी कहा जायगा और जो जिज्ञासु हैं, अतएव जिन्होंने कभी द्वैतमतसे कभी अद्वैतमतसे संसार सुना है और अवान्तर विशेषका प्रारब्धवश भान नहीं हुआ, उनके लिए संसार संदिग्ध है; वे अभी तक निश्चय नहीं कर सके कि यह प्रपञ्च वस्तुतः सत्य है या मिथ्या। व्यवहार-दशा तथा द्वैतपारमार्थिकत्व-प्रतिपादक शास्त्र, युक्ति आदि श्रवणवेलामें जगत् सत्य प्रतीत होता है और अद्वैतस्थापक शास्त्र, युक्ति आदि श्रवणवेलामें मिथ्या प्रतीत होता है

निष्कारणं तन्निष्कार्यं निश्छिद्रं बाह्यवर्जितम् ।
पारोक्ष्यप्रतिषेधार्थमात्मा ब्रह्मेति भण्यते ॥ ६६ ॥

दोनों कोटियाँ समान हैं जिन्हें एकतर कोटिमें प्रामाण्यनिश्चय नहीं, उनके प्रति संदिग्ध है और जिनकी द्वैतमतमें ही निष्ठा है, वे लोग प्रपंचको सत्य ही मानते हैं। मिथ्यात्वप्रतिपादक आगम आदिको अर्थवाद मानते हैं। उनके प्रति मिथ्या ज्ञात है। रूपान्तरसे विद्यमान अर्थ रूपान्तरसे ज्ञात होनेपर मिथ्या ज्ञात कहलाता है। मिथ्यारूपसे विद्यमान प्रपंचको जो सत्यरूपसे विद्यमान मानते हैं, उनके प्रति मिथ्या ज्ञात संसार कहलाता है। इस प्रकारसे त्रिविध इस जगत्का 'तदेतत्' इत्यादिसे अनुवाद कर प्रपंचका तत्त्व ब्रह्म है, ऐसा श्रुति बोधन कराती है।

शङ्का—जगत् जड़ तथा विकारी है, इसका तत्त्व ब्रह्म कैसे ?

समाधान—हां, ठीक है, पर श्रुति कहती है। श्रुतिका कथन जिस प्रकार उपपन्न हो वैसा करना आस्तिकमात्रका कर्तव्य है। यदि ब्रह्म और प्रपञ्च दोनों परमार्थ सत् माने जायँ, तो प्रपञ्चका तत्त्व ब्रह्म है; यह श्रौतार्थ कभी उपपन्न नहीं हो सकता; इसलिए बलात् यही कहना होगा कि जगत् ब्रह्ममें कल्पित है। कल्पितका तत्त्व अधिष्ठान होता है; यह रज्जुसर्पादि स्थलमें उभयसंमत है, श्रुतिका तत्त्वमें पक्षपात आस्तिकमात्रसे छिपा नहीं है। यह श्लोक वार्तिकका है। इसका सारमें निर्देश किया गया है। पर छापेके दोषसे आदर्श प्रतिमें 'अज्ञानं संशयज्ञानम्' इत्यादि हुआ है। वास्तविक स्वरूप 'अज्ञातं संशयज्ञातम्' इत्यादि है। अतएव मैंने शुद्ध पाठ ही लिखा है ॥ ६५ ॥

'अपूर्वमनपरम्' इत्यादि पदोंका क्रमसे व्याख्यान करते हैं—**'निष्कारणम्'** इत्यादिसे।

'न पूर्वं यस्य तदपूर्वम्' कार्यसे पूर्व कारण रहता है, ब्रह्म अकार्य है, अतएव अपूर्व है। 'न परं यस्य तदपरम्' कारणसे पर कार्य होता है, ब्रह्म किसीका कारण नहीं है, अतः अनपर है। न अन्तरं यस्य तदनन्तरं अन्तर (अवकाश) तच्छून्य खोखला नहीं। अबाह्य (बाह्यवर्जित) है, परोक्षत्वके प्रतिषेधार्थ 'अयम्' यह है। 'यत्साक्षादपरोक्षाद् ब्रह्म' इत्यादि श्रुतिसे अपरोक्षस्वरूप आत्मा माना जाता है, केवल श्रुति ही से नहीं अनुभवसे भी आत्मा अपरोक्ष है। यदि परोक्ष होता तो उसमें कभी अज्ञान, संशय और विपर्यय भी होता जैसे घटादि विषयोंमें होता है,

सर्वानुभव एवाऽयं यतः सर्वानुभूस्ततः ।
कात्स्न्यात् सर्वो भवेदेष चिन्मात्रत्वात्तथाऽनुभूः ॥ ६७ ॥

परन्तु आत्मामें कभी किसीको अज्ञान—'मैं नहीं हूँ, मैं हूँ या नहीं' इत्यादि—नहीं होता, किन्तु उसका सदा प्रकाश ही रहता है। इसलिए अपरोक्षस्वरूप है। वास्तवस्वरूप निर्देशके लिए ब्रह्मपदका उपादान है। इससे ब्रह्मत्व ज्ञानसे होता है, अतः ज्ञानसाध्यफल ब्रह्मत्व सबका तत्त्व कैसे हो सकता है? इस शङ्काका अवसर ही नहीं, ज्ञानोत्पत्तिसे पूर्व भी सब ब्रह्म ही हैं। सामानाधिकरण्यश्रुतिसे ब्रह्मत्व ज्ञानका फल नहीं, यह स्पष्ट प्रतीत होता है। अन्यथा पूर्व श्रुत सामानाधिकरण्यकी सर्वथा अनुपपत्ति हो जायगी। अथवा ब्रह्म निःसामान्य है, एतदर्थ 'अनन्तर' पद है। अन्तरका अर्थ है—भेद। भेद रहनेपर समान्य माना जाता है। जैसे अनेक घटोंमें घटत्व सामान्य माना जाता है। आकाशत्व जाति नहीं है, कारण कि आकाश एक ही है, भेद नहीं है। वैसे ही ब्रह्म भेदरहित होनेसे सामान्यशून्य है एवं ब्रह्म निर्विशेष है। इसके लिए 'अबाह्य' कहा। सामान्य और विशेषका निषेध करनेपर एकरस ब्रह्म सिद्ध होता है।

शङ्का—अपूर्व, अनपर आदि ब्रह्म हो, किन्तु आत्मामें इससे क्या अर्थ सिद्ध होता है?

समाधान—अपूर्व आदि आत्मामें ही हो सकते हैं। अन्यत्र नहीं, यदि ब्रह्ममें वे धर्म हैं, तो अवश्य ब्रह्म आत्मा ही है, इस प्रकारसे जीव ब्रह्मका अभेद सिद्ध होता है। जो वेदान्तका वास्तविक सिषाधयिषित है और यही बुबोधयिषित है ॥ ६६ ॥

'सर्वानुभव' इत्यादि। यतः सर्वानुभव सर्वाधिष्ठान चैतन्यस्वरूप जो ब्रह्म है, तद्रूप आत्मा है, इसलिए आत्मा भी सर्वानुभूः (सर्वानुभवस्वरूप) है, अर्थात् सर्वाधिष्ठान चैतन्यस्वरूप है।

शङ्का—परब्रह्ममें कैसे परत्व तथा अनुभवत्व है?

समाधान—'एष परमात्मा कात्स्न्यात् सम्पूर्णत्वात्' सम्पूर्णत्वसे सब है और चिन्मात्र होनेसे अनुभवस्वरूप है। 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म', 'नेह नानास्ति किञ्चन', 'सर्वं तम्परादाद्योऽन्यत्रात्मनः पश्येत्' इत्यादि श्रुति तथा मधुकाण्डसे कारणसामान्यात्मक कार्य है। अतिरिक्त नहीं है, इसकी सिद्धिके लिए ही दुन्दुभ्यादि अनेक दृष्टान्त

कर्त्तव्यमेतद्विज्ञानमिति वेदानुशासनम् ।
अस्याऽतिलङ्घने दोषः संसारानर्थसङ्गतिः ॥ ६८ ॥

दिये गये हैं, तत एव ब्रह्ममें सर्वत्व सिद्ध हो चुका है। चैतन्यात्मक होनेसे अनुभवत्व भी सिद्ध ही है। तदभिन्न आत्मा है, ऐसा श्रुति कहती है; इसलिए आत्मामें सर्वत्व और अनुभवत्व है; अतः सर्वानुभवस्वरूप आत्मा है, इसमें सन्देह नहीं है। 'अयमात्मा ब्रह्म सर्वानुभूः यहाँपर 'आत्मा ब्रह्म' और 'ब्रह्म अयमात्मा' ऐसा अन्वय करना चाहिए। श्रुतिने तन्त्रसे 'अयमात्मा ब्रह्म' कहा है।

शङ्का—क्यों ?

समाधान—ब्रह्ममें परोक्षत्वका प्रतिषेध करनेके लिए ब्रह्म आत्मा ही है। आत्मा सबको अपरोक्ष है, अतः तत्स्वरूप ब्रह्म भी अपरोक्ष है, ऐसा कहनेसे ब्रह्ममें परोक्षत्वका प्रतिषेध स्फुट होता है और 'आत्मा ब्रह्मैव' (आत्मा ब्रह्म ही है) ऐसा कहनेसे ब्रह्म संसारी नहीं है, यह सर्वसम्मत सिद्धान्त है। वैसे ही यदि आत्मा है, तो आत्मामें संसारित्व नहीं है; इस प्रकार संसारधर्मका प्रतिषेध आत्मामें स्पष्ट सिद्ध होता है, इसलिए उक्त रीतिसे अन्वय कर दोनों अर्थ मान्य हैं, परोक्षत्व ब्रह्ममें और संसारित्वादि आत्मामें वास्तविक नहीं, अन्यथा चैतन्यके समान उसकी निवृत्ति न हो सकेगी, किन्तु अज्ञानज है, अतः उक्त ज्ञानसे उसकी निवृत्ति होती है, तदर्थ उभयविध अर्थ आवश्यक है ॥ ६७ ॥

'कर्तव्यमेतत्' इत्यादि। एतद्विज्ञानका—जीवब्रह्मात्मैक्यविज्ञानका—श्रवण, मनन आदि द्वारा अवश्य सम्पादन करना चाहिए, ऐसा वेदका अनुशासन (आज्ञा) है। इस अनुशासनका उल्लङ्घन करनेमें दोष कहते हैं—संसाररूपी जो अनर्थ है, उसकी सङ्गति (प्राप्ति) होती है। तात्पर्य यह है कि केवल वेदकी आज्ञा-मात्रसे विधिमें प्रवृत्ति नहीं होती, किन्तु इष्टसाधनताज्ञानसे पुरुषकी प्रवृत्ति होती है; अतएव—

पुंसां नेष्टाभ्युपायत्वात् क्रियास्वन्यः प्रवर्तकः ।
प्रवृत्तिहेतुं धर्मञ्च प्रवदन्ति प्रवर्तनाम् ॥

इत्यादि शास्त्रकारका वचन है। इसका अर्थ स्पष्ट है एवं आज्ञाके उल्लङ्घनसे पुरुषकी निवृत्ति स्वतः नहीं होती कि शास्त्रकी वह आज्ञा है, इसलिए इसका उल्लङ्घन करे। किन्तु तदुल्लङ्घनमें जो दोष है, अर्थात् अनिष्ट है, उससे पुरुष

कुर्वतस्तु महान् लाभः स्वात्मनः कृतकृत्यता ।
मधुकाण्डर्षिसर्वस्वमित्थं श्रुत्योपसंहृतम् ॥ ६९ ॥

इति वार्तिकसारे द्वितीयाध्यायस्य पञ्चमं ब्राह्मणं समाप्तम् ॥

—०—

निवृत्त होता है, अतः उल्लङ्घनमें निवृत्तिके लिए दोषाविधान आवश्यक है। इसलिए अनर्थसङ्गति यह दोष कहा ॥ ६८ ॥

'कुर्वतस्तु' इत्यादि। अब शास्त्रकी उक्त आज्ञाके पालनमें इष्टप्राप्ति कहते हैं, क्योंकि आज्ञामात्रसे प्रवृत्ति शास्त्रीय कर्ममें नहीं होती; किन्तु इष्ट-साधनताज्ञानसे होती है, यह कह चुके हैं, अतः उक्त आज्ञाका पालन करनेसे महान् लाभ है। आपके आत्माकी कृतकृत्यता (कृतं कृत्यं येन स तद्भावः कृत-कृत्यता) जब तक आत्मज्ञान नहीं होता, तबतक कर्तव्यकी समाप्ति नहीं होती। एक कर्म करनेपर भी कर्मान्तर अवशिष्ट रहते हैं। आत्मज्ञान होनेपर कोई कर्म कर्तव्यत्वरूपसे अवशिष्ट नहीं रहता, कारण कि फलकामीके लिए कर्म हैं, आत्म-ज्ञानीको किसी फलकी कामना नहीं रहती, इसलिए वह कृतकृत्य हो जाता है। मधुकाण्डस्थ मन्त्रोंके सर्वस्व ऋषिमन्त्रका श्रुतिने इस प्रकार उपसंहार किया ॥६९॥

म० म० पं० श्रीहरिहरकृपालुद्विवेदिविरचित वार्तिकसारभाषानुवादमें द्वितीया-ध्यायका पञ्चम ब्राह्मण समाप्त।



श्रुतिः—अथ व ँशः पौतिमाष्यो गौपवनाद्गौपवनः पौतिमाष्यात्पौतिमाष्यो गौपवनाद्गौपवनः कौशिकात्कौशिकः कौण्डिन्यात्कौण्डिन्यः शाण्डिल्याच्छाण्डिल्यः कौशिकाच्च गौतमाच्च गौतमः ॥ १ ॥

अग्निवेश्यादाग्निवेश्यः शाण्डिल्याच्चानभिम्लाताच्चानभिम्लात आनभिम्लातादानभिम्लात आनभिम्लाता दानभिम्लातो गौतमाद्गौतमः सैतवप्राचीनयोग्याभ्या ँसैतवप्राचीनयोग्यौ पाराशर्यात्पाराशर्यो भारद्वाजाद्भारद्वाजो भारद्वाजाच्च गौतमाच्च गौतमो भारद्वाजाद्भारद्वाजः पाराशर्यात्पाराशर्यो बैजवापायनाद् बैजवापायनः कौशिकायनेः कौशिकायनिः ॥ २ ॥

घृतकौशिकाद् घृतकौशिकः पाराशर्यायणात्पराशर्यायणः पाराशर्यात्पाराशर्यो जातूकर्ण्याज्जातूकर्ण्य आसुरायणाच्च यास्काच्चासुरायणः त्रैवणेः त्रैवणिरौपजन्धनेरौपजन्धनिरासुरेरासुरिर्भारद्वाजाद्भारद्वाज आत्रेयादात्रेयो माण्टेर्माण्टिर्गौतमाद् गौतमो गौतमाद् गौतमो वात्स्याद्वात्स्यः शाण्डिल्या-

'अथ व ँशः पौतिमाष्यो' इत्यादि श्रुति। ब्रह्मविद्यार्थक मधुकाण्डका वंश ब्रह्मविद्याकी स्तुतिके लिए कहा जाता है। यह मन्त्र स्वाध्याय और जपके लिए है। स्वाधीन उच्चारणके योग्य अध्यापन स्वाध्याय है और प्रतिदिन मन्त्रावृत्ति जप है, वंशशब्द वेणुवाची है। यहांपर सादृश्यात् उसका गौण प्रयोग है—वंश इव वंशः। बाँसमें जैसे पर्व (पोर) होते हैं, और वह पोर पोरसे भिन्न होता है, वैसे ही अग्रभागसे लेकर मूलप्राप्तिपर्यन्त यह वंश है। चार अध्यायोंका (दो अध्याय मन्त्रभागके और दो अध्याय इस उपनिषद्भागके इस संकलनासे चार अध्याय हुए; बृहदारण्यक उपनिषत्के दो ही अध्याय हैं पर इस वंशपरम्परामन्त्रभागके दो अध्यायोंके साथ इस उपनिषत्के दो अध्यायोंको मिलाकर चार अध्याय कहते हैं, उनका) आचार्य्यपरम्पराक्रम वंश कहलाता है। इसमें प्रथमान्त (प्रथमाविभक्त्यन्त) शिष्य हैं और पञ्चम्यन्तपदवाच्य आचार्य हैं। परमेष्ठी और ब्रह्मा एक ही अर्थके वाचक हैं, इस शंकाकी निवृत्तिके लिए परमेष्ठिशब्दका विराट् यह अर्थ किया है। ब्रह्मासे (हिरण्यगर्भसे) पूर्व आचार्यपरम्परा नहीं है।

शङ्का—तो हिरण्यगर्भको विद्याप्राप्ति कैसे हुई? यद्यपि ब्रह्मस्वरूप ही वेद हैं और ब्रह्मके नित्य होनेसे उसको कारणकी अपेक्षा नहीं है, तो भी ज्ञानार्थ अध्यापककी आवश्यकता है।

च्छाण्डिल्यः कैशोर्यात्काप्यात्कैशोर्यः काप्यः कुमारहारितात्कुमारहारितो गालवाद्गालवो विदर्भीकौण्डिन्याद्विदर्भीकौण्डिन्यो वत्सनपातो बाभ्रवाद्व-त्सनपाद्बाभ्रवः पथः सौभरात्पन्थाः सौभरोऽयास्यादाङ्गिरसादयास्य आङ्गिरस आभूतेस्त्वाष्ट्रादाभूतिस्त्वाष्ट्रो विश्वरूपात्त्वाष्ट्राद्विश्वरूपस्त्वाष्ट्रोऽश्वि-भ्यामश्विनौ दधीच आथर्वणाद्दध्यङ्ङाथर्वणोऽथर्वणो दैवादथर्वा दैवो मृत्योः प्राध्वंसनान्मृत्युप्राध्वंसनः प्रध्वंसनात्प्रध्वंसन एकऋषेरेकऋषि-र्विप्रचित्तेर्विप्रचित्तिर्व्यष्टेर्व्यष्टिः सनारोः सनारुः सनातनात्सनातनः सनगा-त्सनगः परमेष्ठिनः परमेष्ठी ब्रह्मणो ब्रह्म स्वयम्भुब्रह्मणे नमः ॥ ३ ॥

इत्युपनिषदि चतुर्थाध्याये षष्ठं ब्राह्मणं समाप्तम् ।

उच्यते मधुकाण्डार्थविद्यागुरुपरम्परा ।
स्तुत्यर्थं ब्रह्मविद्यायाः स्तुत्या च स्यात् प्ररोचना ॥ १ ॥

समाधान—पूर्वजन्ममें अधीत वेदका ईश्वरके अनुग्रहसे कल्पके आदिमें आविर्भूत ब्रह्माकी बुद्धिमें अपने तपःप्रभावसे स्वयं भान हुआ। जैसे सुप्तप्रबुद्धको पूर्वभात विषयोंका भान होता है, वैसे ही हिरण्यगर्भको वेदोंका स्वतः भान हो गया, इसलिए उनको अध्यापककी आवश्यकता नहीं हुई। आदि और अन्तमें जिन ग्रन्थोंमें मङ्गल रहता है, उनका अधिक प्रचार होता है; इसकी सूचनाके लिए अन्तमें 'ब्रह्मणे नमः' ऐसा कहा; यह इष्टदेवतानमस्कारात्मक मङ्गल है ॥३॥

'उच्यते' इत्यादि। ब्रह्मविद्याकी स्तुतिके लिए मधुकाण्डकी अर्थभूत विद्याकी गुरुपरम्परा कही जाती है।

शङ्का—प्रयोजनके बिना केवल स्तुतिसे श्रोता तथा वक्ताको क्या लाभ? 'न कुर्याच्च वृथा चेष्टाम्' इत्यादि मनुवचनसे निष्फल कर्म करनेका निषेध किया गया है। प्रयोजन दृष्टादृष्ट कोई भी हो, इसमें विशेष आग्रह नहीं है कि दृष्ट ही प्रयोजन होना चाहिए। अदृष्ट भी कालान्तरमें दृष्टार्थक हो जाता है।

समाधान—नहीं, उसका दृष्ट प्रयोजन है और वह यह कि स्तुतिसे प्ररोचना होती है। जिस कर्मकी स्तुति की जाती है, उस कर्ममें प्रवृत्ति उत्साहपूर्वक होती है। एवंभूत महात्माओंकी इसमें प्रवृत्ति हुई, तो इस अति उत्तम कर्मको हमें अवश्य करना चाहिए।

शङ्का—वंशपरम्पराके कथनसे विद्याकी क्या स्तुति हुई?

पुंबुद्धिकल्पनाशङ्कानुत्यर्थमथवोच्यते ।
ब्रह्म स्वयंभ्विति प्रोक्ता वेदस्याऽपौरुषेयता ॥ २ ॥

समाधान—बड़े बड़े महर्षियोंने इसका परिग्रह किया है, इसलिए यह विद्या धन्य है। स्तुतिसे पुरुष प्रोत्साहित होकर प्रकृत कर्ममें प्रवृत्त होता है, इसलिए स्तुति आवश्यक है ॥ १ ॥

वंशपरम्पराका प्रयोजनान्तर भी कहते हैं—'पुंबुद्धि०' इत्यादिसे।

शङ्का—क्या पूर्व प्रयोजनमें अरुचि है, इसलिए दूसरा प्रयोजन कहते हैं?

समाधान—नहीं, अरुचिसे ही प्रयोजनान्तर कहा जाता है, ऐसा नियम नहीं है। हां, अरुचिसे भी कहीं प्रयोजनान्तर कहा जाता है, पर यहां ऐसा नहीं है। किसीके दो या इससे भी अधिक प्रयोजन होते हैं। यदि उसका एक ही प्रयोजन कहा जाय, तो प्रयोजनके वक्तामें न्यूनता हो जायगी, उसके परिहारके लिए सब प्रयोजनोंका कथन आवश्यक है, इसलिए प्रयोजनान्तर कहते हैं। किसीको यह सन्देह हो सकता है कि यह पौरुषेय वाक्य है, पुरुषमें भ्रम, प्रमाद, विप्रलिप्सा और करणापाटव—ये चार दोष होते हैं, अतः उससे उक्त वाक्यमें असंदिग्ध प्रामाण्यग्रह नहीं हो सकता। चार दोषोंमें से कोई भी एक दोष अवश्य हो सकता है और उसीसे वाक्य अप्रमाण होता है, इसलिए प्रामाण्यग्रहके बिना प्रवृत्ति नहीं हो सकती। प्रामाण्यग्रह प्रामाणान्तरके संवादसे हो अथवा शिष्टोंके परिग्रहसे हो, यह दूसरी बात है। इस सन्देहको दूर करनेके लिए वंश-परम्परा कही गई है, इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि यह पौरुषेय वाक्य नहीं है। पुरुषबुद्धिप्रभव वाक्य पौरुषेय माना जाता है, यह नित्य ब्रह्म-स्वरूप है। कल्पादिमें जगत्सृष्टिक्षम ज्ञान हिरण्यगर्भको प्राप्त हो, इस भगव-दिच्छासे हिरण्यगर्भकी बुद्धिमें वेदोंका स्वयं भान हुआ और वे ही आदि आचार्य हैं, उन्हींसे संप्रदायका प्रारम्भ है। जिस क्रमसे ऋषियोंको प्राप्त हुआ वही क्रम वंशपरम्परा है। वेद जिसका अनुशासन है, उस ब्रह्मकी प्रतिपत्तिके लिए पौतिमाष्यादिक ग्रन्थ श्रुतिसे कहा गया है।

शङ्का—ब्रह्ममें 'स्वयंभू' विशेषण देनेका क्या प्रयोजन है? 'स्वयंभूश्चतु-राननः' इस अमरकोशसे दोनों शब्द एकार्थवाची हैं, यह स्पष्ट है।

समाधान—ब्रह्म वेद द्वारा सूत्रभावापन्न हुआ है, इसका प्रकृत विज्ञान हम

यस्मादपरतन्त्रोऽयं वेदात्मा ब्रह्मशब्दितः ।
मनोवाक्कर्मभिस्तस्माद्भक्त्या तस्मै नमो नमः ॥ ३ ॥
नमोन्तत्वेन लिङ्गेन जप्योऽयं वंश इष्यते ।
विद्याप्रकरणे पाठाद्विद्याहेतुर्जपो मतः ॥ ४ ॥
शतानि पञ्च श्लोकानां ततो द्वानवतिस्तथा ।
चतुर्थाध्यायसारस्य तावद्भिः सङ्ग्रहः कृतः ॥ ५ ॥
॥ ५९२ ॥

इति वार्तिकसारे द्वितीयाध्याये षष्ठं ब्राह्मणं समाप्तम् ।

—— ० ——

लोगोंके समान भिन्नाचार्यप्रयुक्त है, इस शङ्काकी निवृत्तिके लिए 'स्वयंभू' यह विशेषण दिया गया है । 'स्वयं भवति, न तु कर्मवशाद् भवति' इस व्युत्पत्तिसे वह स्वयं ही होता है, कर्मवश नहीं । हिरण्यगर्भ ब्रह्मस्वरूप ही है । अनवस्थाभयसे आचार्यपरम्परा यहाँतक ही है और विश्वमात्रका गुरु स्वयं ब्रह्म है, उसका गुरु अन्य कौन हो सकता है ? अतः अपौरुषेय होनेसे वेदके स्वतःप्रामाण्यमें कोई सन्देह नहीं है ॥ २ ॥

'यस्माद्०' इत्यादि । ब्रह्मशब्दवाच्य वेदात्मा यतः अपरतन्त्र यानी स्वतन्त्र है, पुरुषबुद्धिप्रभव नहीं है, अतः मन, वाणी और कायकर्मसे यानी मानसिक, वाचिक और कायिक कर्मों द्वारा भक्तिसे ब्रह्मको प्रणाम है ॥ ३ ॥

'नमोन्तत्वेन' इत्यादि । अन्तमें नमः पद है, इस लिङ्गसे यह मन्त्र जप करनेके लिए है । इस जपका फल ब्रह्मविद्याकी प्राप्ति है । नमःके योगमें चतुर्थी विभक्ति होती है । चतुर्थी देवताबोधक है । इस प्रकार नमःसे मन्त्रकी प्रतीति होती है ॥ ४ ॥

'शतानि' इत्यादि । प्रथम ब्राह्मणके २११, द्वितीय ब्राह्मणके १६, तृतीय ब्राह्मणके १०८, चतुर्थ ब्राह्मणके १८३, पञ्चम ब्राह्मणके ६९, षष्ठ ब्राह्मणके ५ कुल मिलाकर ५९२ श्लोकोंसे द्वितीय अध्यायके सारका संग्रह किया गया है ॥ ५ ॥

द्वितीय अध्यायका षष्ठ ब्राह्मण समाप्त

—— ० ——

तृतीयोऽध्यायः

प्रथमं ब्राह्मणम्

समाप्तो मधुकाण्डोऽयमुपदेशप्रधानकः ।
उपपत्तिप्रधानोऽथ याज्ञवल्क्याख्य उच्यते ॥ १ ॥
पदार्थविषया युक्तिर्वाक्यार्थे उपदेशगीः ।
अतो न पुनरुक्तत्वं काण्डयोः शेषशेषिणोः ॥ २ ॥

'समाप्तो' इत्यादि । उपदेशप्रधान मधुकाण्ड समाप्त हुआ । अब उपपत्ति-प्रधान याज्ञवल्क्यकाण्ड कहा जाता है ।

शङ्का—मधुकाण्डके अनन्तर याज्ञवल्क्यकाण्डकी उक्तिमें क्या बीज है? विपरीत होनेमें क्या आपत्ति थी?

समाधान—प्रमाणसे पदार्थका प्रतिपादन करनेके अनन्तर उसकी उपकारक युक्तिकी अपेक्षा होती है । युक्ति स्वयं प्रमाण नहीं है, अतएव 'प्रमाणतर्क-साधनोपालम्भः' इत्यादि सूत्रमें 'प्रमाणेन साधनतर्केण उपालम्भोऽस्मिन्' यह अर्थ माना जाता है, कारण कि व्यवस्थापक प्रमाण होता है । अतः आगमप्रधान मधुकाण्डका पहले और उसके बाद युक्तिप्रधान याज्ञवल्कीय काण्डका आरम्भ समुचित ही है ॥ १ ॥

'पदार्थ०' इत्यादि ।

शङ्का—पूर्वकाण्डमें जो अर्थ कहा है, उसी अर्थको इस काण्डमें भी कहते है, अतः पुनरुक्त दोष क्यों नहीं?

समाधान—यद्यपि एक ही अर्थ अनेक शाखाओंमें कहा गया है, तो भी पुनरुक्त दोष नहीं है, कारण कि शास्त्रभेद है अर्थात् जैसे जिसकी जो शाखा होती है, उसीका वह अध्ययन करता है, उसके लिए तो वह प्रथमोक्त ही है, वैसे ही यहाँ भी काण्ड-भेदसे उक्त दोषका परिहार हो सकता है । यदि यह कहिये कि वहाँ भिन्न शाखाओंमें भिन्न-भिन्न भी अर्थ हैं। यद्यपि किसी स्थलविशेषमें शाखान्तरोक्त भी कर्म हैं, तथापि उनका विशेष विधान करनेके लिए अनुवाद है; अतएव सर्वशाखा-प्रत्ययन्यायसे शाखान्तरोक्त धर्मका शाखान्तरमें भी उपसंहार होता है, यहाँ तो एक

ही शास्त्र है, इसलिए काण्डभेदसे न अर्थभेद है और न पुरुषभेद ही है, अतः एक पुरुषके लिए दो काण्डोंका अध्ययन आवश्यक है, तो इसका उत्तर यह है कि मधुकाण्ड आगमप्रधान है और याज्ञवल्कीय काण्ड उपपत्तिप्रधान है, इसलिए दोनोंमें शेषशेषि-भाव (उपकार्योपकारकभाव) होनेसे उक्त दोष नहीं हो सकता।

शङ्का—यदि आगम स्वार्थप्रतिपादनमें युक्तिकी अपेक्षा करेगा, तो स्वार्थ-बोधनमें निरपेक्षत्वलक्षण जो प्रामाण्य माना जाता है, उसका भङ्ग हो जायगा।

समाधान—युक्ति स्वयं प्रमाण नहीं है, किन्तु प्रमाणकी अनुग्राहिका है। प्रमाणान्तरसापेक्ष होकर जो अर्थका प्रतिपादन करता है, उसमें निरपेक्षत्वलक्षण प्रामाण्य नहीं माना जाता, जैसे पौरुषेय वाक्य। पुरुष प्रमाणान्तरसे (प्रत्यक्ष आदिसे) अर्थका निश्चय कर यदि वाक्यका प्रयोग करता है, तो वह वाक्य उस वाक्यार्थमें प्रमाण नहीं माना जाता, क्योंकि वह प्रत्यक्षादिसापेक्ष होकर अर्थका बोधक हुआ है। यदि प्रमाणान्तरके निश्चयके बिना ही प्रयोग करता है, तो वह वाक्य प्रमाण ही नहीं है। अपौरुषेय वेदवाक्यका कोई कर्ता नहीं है, इसलिए उक्त वाक्यके अर्थमें प्रमाणान्तरदर्शनका प्रश्न ही नहीं उठता, अतः आगम यदि युक्तिसापेक्ष होकर भी अर्थका अभिधान करे, तो भी उसमें उक्त दोष नहीं है, क्योंकि युक्ति प्रमाण नहीं है।

शङ्का—युक्ति प्रमाण क्यों नहीं ?

समाधान—युक्ति सर्वप्रमाणशेष है। किसी भी प्रमाणसे अर्थकी व्यवस्था करनेके लिए युक्तिकी अपेक्षा होती है, युक्ति विपरीत आभासोंकी निवृत्ति कर प्रकृत प्रमाणको परिपुष्ट करती है, इसलिए स्वयं प्रमाण नहीं है, न्यायभाष्यकारने भी कहा है—'तत्त्वविषयाभ्यनुज्ञालक्षणादूहाद्भावितात्प्रसन्नादनन्तरं प्रमाणसामर्थ्या-त्तत्त्वज्ञानमुपपद्यते।' न्यायवार्तिककार श्रीउद्योतकराचार्यने भी कहा है कि 'प्रमाणानि पुनः प्रवर्तमानानि तर्कविविक्तमर्थं यथाभूतमधिगमयन्ति इति। युक्ति प्रमाण-शेष होनेसे उसकी अपेक्षासे आगम अर्थका व्यवस्थापक होता है, इसके माननेपर भी आगममें स्वातन्त्र्यकी क्षति नहीं होती।

शङ्का—युक्ति तो अनुमानात्मक है, प्रमाणशेष होनेपर भी प्रमाण ही है। प्रमाणशेष प्रमाण नहीं है, यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि विरोधाभावसे प्रमाण भी प्रमाणशेष होता है। अन्यथा प्रमाणव्यवस्थापकत्व ही असङ्गत होगा। अप्रमाणसे प्रमाणकी ही क्या। किसीकी भी व्यवस्था नहीं हो सकती। आगम यदि युक्ति सापेक्ष होगा, तो स्वातन्त्र्यक्षति अनिवार्य है।

समाधान—अच्छा, यदि युक्तिको प्रमाण मानिये, तो भी स्वातन्त्र्यक्षति नहीं होती, क्योंकि दोनोंके विषयोंमें भेद है। युक्ति पदार्थविषयक है और आगम वाक्यार्थविषयक है। ऐसी परिस्थितिमें युक्तिनिरपेक्ष आगम स्वार्थका बोधन करता है, ऐसा माननेसे स्वातन्त्र्यक्षति नहीं है। युक्तिसे पदार्थका परिशोधन करके आगमसे वाक्यार्थ परिनिष्पन्न होता है। और दूसरी बात यह है कि लौकिक वाक्यमें आप्तोक्तत्व और अनाप्तोक्तत्वके संशयका निरास करनेके लिए युक्तिकी अपेक्षा होती है। आप्तोक्त सयुक्तिक होता है और अनाप्तोक्त निर्युक्तिक होता है। आप्तोक्त ही पौरुषेय वाक्य प्रमाण है, इतर नहीं, इसलिए लौकिक वाक्यमें युक्ति प्रधान है। अपौरुषेय आगममें युक्ति केवल तात्पर्य-निर्णयके लिए अपेक्षित होती है, इसलिए अप्रधान है। वाक्यार्थके प्रतिपादनके समय आगम ही प्रधान होता है, जैसे 'एकमेवा-द्वितीयं ब्रह्म' इस वाक्यार्थको प्रत्यक्षादिविरोधनिवर्तक 'वाचारम्भणं विकारो नामधेयम्' इत्यादि युक्ति दृढ़ करती है। तात्पर्य यह है कि वाक्यार्थबोधसे पूर्व अयोग्यताज्ञान आदिकी निवृत्तिके लिए युक्तिकी अपेक्षा होती है और कहीं वाक्यार्थ-बोधोत्तर प्रमाणान्तरविरोधके निरासके लिए उसकी अपेक्षा होती है। युक्ति विरोधका निरास कर ज्ञात वाक्यार्थको दृढ़ करती है; अतः पूर्वमें तात्पर्यनिर्णयार्थ उत्तरमें वाक्यार्थदृढ़ीकरणार्थ युक्ति है। वाक्यार्थबोधनमें युक्ति कारण नहीं है। किञ्च, विमतं न युक्त्यपेक्षम्, प्रत्यक्षाद्ययोग्यत्वात्, धर्मवत्' इस अनुमानसे आत्मैक्यमें युक्तिकी अपेक्षा नहीं है।

शङ्का—वेदार्थमें यदि युक्तिकी अपेक्षा नहीं है, तो फिर वहां युक्ति क्यों कहते हैं?

समाधान—यह पुरुषस्वभाव है कि आत्मा ब्रह्मस्वरूप है, ऐसा कहनेपर भी आरोपित कर्तृत्वाद्यभिमानसे उक्तार्थको असम्भव समझता है। उस असम्भावनाकी निवृत्तिके लिए युक्तिकी आवश्यकता है, इसके द्वारा असम्भावनाकी निवृत्ति जिस प्रकार होती है, उसे पूर्वमें कह चुके हैं।

शङ्का—तर्कादिशास्त्रके समान वेद भी यदि पुरुषबुद्धिके अनुरोधसे बोधक होता है, तो दोनोंमें विशेष ही क्या रहा?

समाधान—तर्कादि पुरुषोत्प्रेक्षानुसारी होते हैं, वस्तुतत्त्वकी अपेक्षा नहीं करते। एक ही अर्थको तर्कसे अनेक पुरुष स्वतर्कानुसार अनेकरूपसे व्यव-स्थापित करते हैं और आगम प्रत्यक्षके समान वस्तुतत्त्वानुसारी होता है। जैसा

काण्डोऽयं याज्ञवल्क्याख्यः स्यादध्यायद्वयात्मकः ।
जल्पवादकथाभेदादध्यायार्थौ व्यवस्थितौ ॥ ३ ॥

वस्तुस्वरूप होता है, आगम वैसा ही प्रतिपादन करता है, दोनोंमें यह महान् विशेष है।

शङ्का—अच्छा, जो आपने यह कहा कि मधुकाण्ड आगमप्रधान है और याज्ञवल्क्यीय काण्ड युक्तिप्रधान है, सो ठीक नहीं है, क्योंकि मधुकाण्डमें दुन्दुभ्यादिदृष्टान्तविशेषोंका सामान्यमें अन्तर्भाव करनेकी युक्ति ही कही गई है, तो वह आगमप्रधान कैसे ? एवं याज्ञवल्कीय काण्डमें भी आगम है अर्थात् दोनों काण्डोंमें दोनों हैं, तो फिर एक आगमप्रधान और दूसरा युक्तिप्रधान कैसे ?

समाधान—हां, दोनोंमें दोनों हैं, परन्तु गुणप्रधानभावसे हैं। मधुकाण्डमें आगम प्रधानरूपसे है और युक्ति गौणरूपसे है एवं याज्ञवल्कीय काण्डमें युक्ति प्रधानरूपसे है और आगम गौणरूपसे है।

शङ्का—अच्छा, तो इस प्रकारसे पुनरुक्तिका परिहार हो गया, परन्तु अब प्रश्न यह होता है कि आगमगम्य अर्थमें युक्ति कहनेकी क्या आवश्यकता ? आगम तो स्वतन्त्र अर्थका प्रतिपादक है ?

समाधान—असंभावनादिनिवर्तन द्वारा युक्ति भी उक्तार्थमें सहायक है, आगम और युक्ति दोनों मिलकर सूक्ष्म अर्थको करामलकवत् प्रकाशित करते हैं ॥ २ ॥

'काण्डोऽयम्' इत्यादि। याज्ञवल्क्यकाण्डमें दो अध्याय हैं, एक जल्पकथासे है, दूसरा वादकथासे है, अतः दोनों अध्यायोंका अर्थ व्यवस्थित है। कथाके तीन भेद होते हैं—वाद, जल्प और वितण्डा। प्रमाणतर्कसाधनोपालम्भः सिद्धान्तविरुद्धः पञ्चावयवोपपन्नः पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहो वादः। यथोक्तोपपन्नश्छलजातिनिग्रहसाधनोपलम्भो जल्पः। सप्रतिपक्षस्थापनाहीना वितण्डा—ये इनके लक्षण हैं। सारांश यह है कि तत्त्व जाननेकी इच्छावाले पुरुषोंकी कथा वाद है। तत्त्वनिर्णय और विजयप्रयोजनके लिए जल्प होता है। वादमें छल, जाति, निग्रह आदिका प्रयोग नहीं होता और जल्पमें होता है। प्रतिपक्षस्थापनाहीन वितण्डा है। इसमें एक ही पक्षकी स्थापना होती है। वितण्डा केवल विजयके लिए की जाती है। प्रकृतमें वितण्डा अनुपयुक्त है। इसलिए इसका उपनिषत्में अवसर नहीं है। वाद और जल्प—इन दोनोंका यहां निर्देश किया गया है ॥ ३ ॥

तत्र जल्पकथारूपिण्यध्याये पञ्चमे नव ।
ब्राह्मणान्यथ एतेषां क्रमेणेहोपवर्ण्यते ॥ ४ ॥

आद्ये मृत्योरतिक्रान्तिर्द्वितीये मृत्युनिर्णयः ।
तृतीये संसृतिव्याप्तिस्तुर्ये प्रत्यग्विनिर्णयः ॥ ५ ॥

पञ्चमे ब्रह्मता तस्य षष्ठे तु ब्रह्मकार्यगीः ।
सप्तमे कारणावस्था ब्रह्मतत्त्वमथाऽष्टमे ॥ ६ ॥

नवमे देवविस्तारः संक्षेपद्वारतः पुनः ।
सगुणं निर्गुणं चोक्तं ब्रह्म सर्वाधिकारिणाम् ॥ ७ ॥

दानं तत्त्वज्ञसंयोगस्तत्संवाद इति त्रयम् ।
विद्याप्राप्तेरुपायोऽयमित्याख्यानेन सूच्यते ॥ ८ ॥

'तत्र जल्प०' इत्यादि । जल्प कथारूपी पञ्चम अध्यायमें नौ ब्राह्मण हैं, इन ब्राह्मणोंका अर्थ क्रमशः यहां कहते हैं ॥ ४ ॥

'आद्ये' इत्यादि । पहले ब्राह्मणमें मृत्युकी अतिक्रान्ति (मृत्युका अति क्रमण), दूसरेमें मृत्युका निर्णय, तीसरेमें संसारव्याप्ति और चौथेमें आत्माका निर्णय किया गया है ॥ ५ ॥

'पञ्चमे' इत्यादि । पञ्चम ब्राह्मणमें आत्मामें ब्रह्मता, छठेमें ब्रह्मकार्यवाद, सातवेंमें कारणकी अवस्था और आठवेंमें ब्रह्मतत्त्वका निरूपण किया गया है ॥६॥

'नवमे' इत्यादि । नवममें संक्षेप और विस्तारसे देवताओंका निरूपण, तदनन्तर सब अधिकारियोंके लिए सगुण और निर्गुण ब्रह्म निरूपण किया गया है अर्थात् जो सगुण ब्रह्मोपासनाके अधिकारी हैं, उनके लिए सगुण ब्रह्मका निरूपण किया गया है और जो निर्गुण ब्रह्मोपासनाके अधिकारी हैं, उनके लिए निर्गुण ब्रह्मका निरूपण किया गया है ॥ ७ ॥

'दानम्' इत्यादि । दान, तत्त्वज्ञोंका संयोग और तत्त्वज्ञोंका संवाद—ये तीनों विद्याप्राप्तिके उपाय हैं, यह इस आख्यानसे सूचित होता है । सहिरण्य हजारों गोदान, जनकसभामें अनेक ब्रह्मवेत्ताओंका समागम और उनके साथ याज्ञवल्क्यका संवाद—ये सब विद्याप्राप्तिके उपाय हैं । इस आख्यायिकासे इन सबकी सूचना स्पष्टरूपसे की गई है ॥ ८ ॥

उद्गीथप्रमुखा येऽर्था मधुकाण्डे पुरोदिताः ।
तद्विशेषा विचार्यन्ते तस्मात्तैरेकवाक्यता ॥ ९ ॥

'उद्गीथ०' इत्यादि । पहले मधुकाण्डमें उद्गीथ आदि जिन अर्थोंका निरूपण किया गया था, उन्हींका इस ब्राह्मणमें निरूपण किया जाता है, अतः दोनों काण्डोंकी परस्पर एकवाक्यता है, अर्थात् उद्गीथ ब्राह्मणमें उक्त वागादि और उनके स्वरूपका निरूपण करनेके लिए यह ब्राह्मण है, यहाँका दर्शन वहाँकी उपासनाका अङ्ग है, अतः इन दोनों ब्राह्मणोंकी एकवाक्यता है ।

मधुकाण्डमें त्वाष्ट्र और कक्ष्य नामक दो मधुओंका व्याख्यान हो चुका, अब याज्ञवल्कीय काण्डके आरम्भकी प्रतिज्ञा है ।

शङ्का—पूर्वके दो अध्यायोंसे तत्त्वका व्याख्यान किया, फिर उत्तर अध्यायसे तत्त्वका ही यदि व्याख्यान करेंगे, तो पुनरुक्ति होगी ।

समाधान—पूर्वमें आगमबलसे तत्त्वका प्रतिपादन किया गया है और उत्तरमें उपपत्तिसे भी आगमार्थकी पुष्टि की जायगी; इस प्रकार पूर्वोत्तर ग्रन्थमें शेषशेषिभाव है । परस्पर निरपेक्ष दो आगमोंसे एकार्थाभिधान होनेपर पुनरुक्त दोष होता है । मधुकाण्ड आगमप्रधान है और याज्ञवल्कीय काण्ड उपपत्तिप्रधान है । आत्मैकत्त्वका प्रतिपादन करनेके लिए प्रकृतमें आगम और उपपत्तिकी प्रवृत्ति है । दोनों मिलकर कर-स्थित बिल्वके समान तत्त्वका साक्षात्कार करानेमें समर्थ हो सकते हैं । श्रवण मनन करना चाहिए, यह पहले कह चुके हैं; अतः परीक्षापूर्वक आगमार्थका ही निर्णय करनेके लिए उपपत्तिप्रधान याज्ञवल्कीय काण्डका आरम्भ होता है । आख्यायिकाको विज्ञानस्तुत्यर्थ समझिये अथवा उपायविधिपरक समझिये । ज्ञानियोंकी पूजा इस प्रकरणमें देखी जाती है, अतः विज्ञान बड़ा भाग्यवान् है, इस प्रकार स्तुति प्रतीत होती है । विद्याग्रहणमें दान भी उपाय है । दान विद्याग्रहणका उपाय है, यह इस आख्यायिकासे, 'गुरुशुश्रूषया विद्या पुष्पकलेन धनेन वा' इस श्लोकसे तथा लोकप्रसिद्धिसे भी सिद्ध है । दानसे प्राणिमात्र समीपमें आते हैं । अधिक सुवर्णसे युक्त हजार गोदान इस आख्यायिकामें स्पष्ट हैं । इससे अन्यपरक शास्त्रसे विद्याप्राप्तिके उपायका प्रदर्शन करनेके लिए आख्यायिका प्रारब्ध हुई । अपि च तत्-तत् विद्याके विद्वानोंका परस्पर संयोग और परस्पर वाद करना विद्याप्राप्तिका उपाय है, यह न्यायविद्यामें दृष्ट है ।

श्रुति—जनको ह वैदेहो बहुदक्षिणेन यज्ञेनेजे तत्र ह कुरुपञ्चालानां ब्राह्मणा अभिसमेता बभूवुस्तस्य ह जनकस्य वैदेहस्य विजिज्ञासा बभूव कःस्विदेषां ब्राह्मणानामनूचानतम इति । स ह गवां सहस्रमवरुरोध दश दश पादा एकैकस्याः शृङ्गयोराबद्धा बभूवुः ॥ १ ॥

शङ्का—आख्यायिका ब्रह्मिष्ठतमके निर्धारणके लिए है, परन्तु दान विद्या-प्राप्तिका उपाय है, यह अर्थ कैसे सिद्ध हुआ ?

समाधान—हां, यद्यपि उक्त निर्धारण ही मुख्य प्रयोजन है तथापि दान विद्याप्राप्तिका उपाय है, यह भी सिद्ध होता है; अतः 'अन्यपर' इत्यादि भाष्य है। विद्वानोंका परस्पर संवाद उसका उपाय है, यह प्रबलतासे इसमें दिखलाया गया है। विद्वानोंके परस्पर संयोगसे प्रज्ञाकी वृद्धि होती है, यह प्रत्यक्ष सिद्ध है, इसमें प्रमाणकी आवश्यकता नहीं है। इससे विद्याप्राप्तिके प्रदर्शनके लिए आख्यायिका है, यह सिद्ध हुआ ॥ ९ ॥

'जनको ह वैदेहो' इत्यादि श्रुति ।

विदेहमें जनकनामक राजा (सम्राट्) हुआ। 'विदेहानां भव वैदेहः' यह जनकका विशेषण है। उसने जिस यागमें अधिक दक्षिणा दी जाती है उस यागसे अथवा शाखान्तरमें प्रसिद्ध बहुदक्षिणानामक यागसे अथवा अश्वमेध यागसे [अश्वमेधमें दक्षिणा बहुत दी जाती है। तात्पर्य अधिक दक्षिणामें है। अतएव पञ्चाल तकके बड़े-बड़े विद्वान् उपस्थित हुए। यदि स्वल्प दक्षिणा होती, तो वहां तकके विद्वान् उपस्थित नहीं हो सकते, बहुदक्षिणा चाहे जो हो,] यज्ञ किया। उस यज्ञमें पञ्चाल और कुरुक्षेत्रके ब्राह्मण एकत्रित हुए थे, उन सबके आनेका कारण चाहे राजाका निमन्त्रण हो या उन लोगोंकी यज्ञ देखनेकी इच्छा हो; दोनोंका संभव है। श्रुतिमें कारणविशेषका निर्देश नहीं है।

शङ्का—कुरु-पञ्चाल ही का नाम विशेषरूपसे क्यों लिया ? उक्त कारणसे अन्यत्रके विद्वान् भी आये होंगे ?

समाधान—अवश्य आये होंगे, परन्तु पंचाल और कुरुके नामके निर्देशका कारण यह है कि उस कालमें उन दोनों जगहोंमें विद्वानोंकी संख्या अधिक थी, अतः उपलक्षणके लिए उनका निर्देश है। उस सभामें महान् विद्वत्समुदायको देखकर वैदेह यजमान जनककी यह जिज्ञासा (जाननेकी इच्छा) हुई कि इस विद्वत्समूहमें

तान् होवाच ब्राह्मणा भगवन्तो यो वो ब्रह्मिष्ठः स एता गा उद्जतामिति। ते ह ब्राह्मणा न दधृषुरथ ह याज्ञवल्क्यः स्वमेव ब्रह्मचारिणमुवाचैताः सोम्योदज सामश्रवा ३ इति ता होदाचकार ते ह ब्राह्मणाश्चुक्रुधुः कथं नो ब्रह्मिष्ठो ब्रुवीतेति।

अथ ह जनकस्य वैदेहस्य होताऽश्वलो बभूव स हैनं पप्रच्छ त्वं नु खलु नो याज्ञवल्क्य ब्रह्मिष्ठोऽसी ३ इति। स होवाच नमो वयं ब्रह्मिष्ठाय कुर्मो गोकामा एव वयं स्म इति तं ह तत एव प्रष्टुं दध्रे होताऽश्वलः ॥२॥

सबसे बड़ा ब्रह्मवेत्ता कौन है ? इनमें यद्यपि पढ़े सब हैं, तथापि सबसे अधिक विद्वान् कौन है, ऐसी जिज्ञासा होनेपर उक्त निश्चयपर पहुँचनेके लिए राजाने आदेश देकर हजार गौओंको एकत्र किया और दस दस पाद सोना एक एक गौके दोनों सींगोंमें बँधवाया। एक-एक गौके एक-एक सींगमें पाँच पाँच पाद सोना था, इसलिए एक गौके दोनों सींगोंमें दस पाद सोना हुआ यह 'दश दश पादा एकैकस्याः' इत्यादिका अर्थ है ॥१॥

'तान् होवाच' इत्यादि श्रुतिः। इस प्रकार सुवर्णयुक्त हजार गौओंको एकत्रित कर राजा ब्राह्मणोंसे बोले—हे ऐश्वर्यशाली ब्राह्मणों, आप लोगोंमें जो ब्रह्मिष्ठ अर्थात् सबसे बड़ा ब्रह्मवेत्ता हो, वह इन गउओंको अपने घर ले जाय, यह सुनकर उन ब्राह्मणोंमें से किसीका साहस न हुआ कि गउओंको घर ले जाय, कारण कि मैं सबसे अधिक ब्रह्मवेत्ता हूँ, ऐसी प्रतिज्ञा करनेका साहस किसीमें न था। ब्राह्मणोंको असमर्थ देखकर श्रीयाज्ञवल्क्य महर्षिने अपने ब्रह्मचारी छात्रके प्रति कहा — हे सोम्य सामश्रव, इन गउओंको हांको, अपने घर ले जानेके लिए। सामश्रव विशेषणसे याज्ञवल्क्य महर्षि चारों वेदके अभिज्ञ थे, यह प्रतीत होता है।

शङ्का—कैसे ?

समाधान—'सामविधिं शृणोति' इति—सामश्रवाः। इससे माल्रम होता है कि यह ब्रह्मचारी श्रीयाज्ञवल्क्यमुनिसे सामवेद पढ़ता था। सामवेदकी योनि ऋक् है अर्थात् ऋग्वेदके मन्त्रोंमें सामका गान होता है। साम केवल गानमात्र कहलाता है। तदाधार मन्त्र ऋक्के हैं। यदि ऋग्वेदके ज्ञानी उक्त ऋषि न होते, तो साम कैसे पढ़ा सकते ? यजुर्वेदके तो स्वयं आविष्कारक (कर्ता) ही थे, अतः यजुर्वेदाभिज्ञ थे, इसमें तो सन्देह ही नहीं। गुरुके कहनेपर उन्होंने जब कृष्ण

आसुरासङ्गमृत्युघ्नं प्राणध्यानं पुरोदितम् ।
मृत्युघ्नमेवं वागादेर्ध्यानं सोऽपृच्छदश्वलः ॥ १० ॥
अध्यात्ममधिभूतं च यजमानर्त्विगादिषु ।
स्वाभाविकः परिच्छेदो मृत्युर्मर्त्यफलार्जनात् ॥ ११ ॥

यजुका त्याग कर दिया, तब सूर्य भगवान्‌से शुक्ल यजुका अध्ययन किया, यह इतिहास प्रसिद्ध है। अथर्ववेदका उन तीनों वेदोंमें ही अन्तर्भाव है, वह अतिरिक्त वेद नहीं है, अतएव वेद त्रयी कहलाते हैं। 'स्त्रियामृक् सामयजुषी' और 'वेदास्त्रयस्त्रयी' यह अमरकोष है। आचार्यका वचन सुनकर सामश्रवा घर ले जानेके लिए गउओंको जब हांकने लगा, तब अन्य ब्राह्मण इसलिए अतिक्रुद्ध हुए कि याज्ञवल्क्यने इस पणसे (बाजीसे) अपनेमें ब्रह्मिष्ठताकी प्रतिज्ञा कर ली अर्थात् इन सबोंमें हम ही ब्रह्मिष्ठ हैं, ऐसी प्रतिज्ञा कर ली। एक-एक हम लोग प्रधान ब्रह्मवेत्ता हैं, ऐसे हम लोगोंके मध्यमें याज्ञवल्क्य अपनेको ही क्यों ब्रह्मवेत्ता कहते हैं, ब्राह्मणोंके क्रुद्ध होनेके अनन्तर यजमान जनकका होता (ऋत्विग्) अश्वलनामक था, ब्रह्मिष्ठाभिमानी राजाके यहाँ रहनेसे निडर एवं प्रगल्भ था, उसने याज्ञवल्क्यसे पूछा, क्यों याज्ञवल्क्य तुम हम लोगोंमें ब्रह्मिष्ठ हो क्या ? यहाँपर अनादरके सूचनके लिए 'सी' में ईकार प्लुत किया गया है। याज्ञवल्क्य बोले, ब्रह्मिष्ठको हम प्रणाम करते हैं, इस समय गउओंके इच्छुक हैं। पर यह बात अश्वलको न जँची, क्योंकि उक्त पणके करनेसे ब्रह्मिष्ठकी प्रतिज्ञा इतर लोगोंके मनमें क्षोभकी कारण हुई। राजाश्रित अश्वल ऋषिने प्रश्नकी इच्छासे याज्ञवल्क्यका प्रथम संबोधन किया। हे याज्ञवल्क्य, जो ये सब मृत्युसे व्याप्त हैं, व्याप्त ही क्यों अभिपन्न हैं, वशीकृत हैं, किस उपायसे यजमान मृत्युव्याप्तिका अतिक्रमण कर सकता है ? ॥ २ ॥

'आसुरासङ्ग०' इत्यादि। आसुर आसङ्गरूप जो मृत्यु है, उसका नाशक प्राणध्यान पूर्वमें कहा जा चुका है, एवं वागादि-ध्यान भी मृत्युका नाशक है, यह भी कहा जा चुका है, उसीको अश्वलजीने याज्ञवल्क्यजीसे पूछा ॥ १० ॥

सब मृत्युसे व्याप्त हैं, यहाँ मृत्युका अर्थ कहते हैं—'अध्यात्म०' इत्यादिसे।

यजमान और ऋत्विग् आदि [होता, उद्गाता प्रभृति] इनमें स्वाभाविक अध्यात्म और अधिभूत जो परिच्छेदाभिमान है, वही मृत्युरूप फलप्रद होनेसे मृत्युपद-

कालोऽपि मृत्युः कर्त्रादिमारणात् स्यात् स च द्विधा।
सौरोऽहोरात्रिरूपेण चान्द्रः पक्षादिरूपतः ॥ १२ ॥

वाच्य है; आत्मा अपरिच्छिन्न सर्वव्यापक है; परन्तु यजमान आदि स्वाभाविक 'अहं ब्राह्मणः', 'अहं क्षत्रियः गृहेऽस्मि' इत्यादि भ्रान्तिसे अपनेको परिच्छिन्न समझते हैं। एवं अग्नि आदि देवता भी अपरिच्छिन्नस्वभाव हैं, किन्तु उनमें भी परिच्छेदाभिमान है, यही राग आदि सहित मृत्यु है। उक्त मृत्युका नाश होनेपर साधन सहित सकल कर्मोंकी निवृत्ति हो जाती है।

शङ्का—परम पुरुषार्थ मोक्षके साधन कर्मका त्याग उचित नहीं है?

समाधान—मर्त्यसाधनेका फल मर्त्य ही होता है, अमर्त्य नहीं, अतः जन्य होनेसे विनाशी कर्मका फल नित्य कैसे हो सकता है। इससे सिद्ध हुआ कि कर्म मोक्षका हेतु नहीं है, अतः उसका त्याग उचित है, इसलिए कर्मव्यापक मृत्युके अतिक्रमणका उपाय कहना चाहिए, तत्त्वनिर्णयफलक यह महान् विचार ज्ञानी अश्वलका याज्ञवल्क्यके साथ आरब्ध हुआ। ज्ञानी अश्वलने जयके उद्देश्यसे प्रश्न किया है और आगे निग्रहस्थानका उद्भावन भी है, अतः यह जल्पकथा है। जल्पकथा भी तत्त्वनिर्णयके लिए की जा सकती है, अतएव कहा भी है कि 'तत्त्वाध्यवसायसंरक्षणार्थं जल्पवितण्डे बीजप्ररोहसंरक्षणार्थं कण्टकशाखावरणवत्' अर्थात् जल्प और वितण्डा तत्त्वाध्यवसायका संरक्षण करनेके लिए हैं, जैसे बीजसे उत्पन्न होनेवाले अङ्कुरोंका रक्षण करनेके लिए काँटेवाली शाखाओंका आवरण है। इससे वादके समान जल्पकथा भी तत्त्वनिर्णायक होती है, यह सिद्ध हुआ ॥११॥

यद्यपि पाठक्रमके अनुसार प्रथम प्रश्नके उत्तरका ही व्याख्यान करना चाहिए था, तथापि 'पाठक्रमादर्थक्रमो बलीयान्' (पाठक्रमकी अपेक्षा आर्थिक क्रम बलवान् होता है) इस न्यायके अनुसार द्वितीय आदि प्रश्नोंका यहीं निरूपण करते हैं—'**कालोऽ०**' इत्यादिसे।

अश्वलका यह प्रश्न है कि किस उपायसे यजमान अहोरात्रकी व्याप्तिसे मुक्त होता है; परन्तु यह प्रश्न ठीक नहीं है, कारण कि कालमें पूर्वोक्त लक्षण मृत्युत्व नहीं है, अतः कालमें भी मृत्युत्व सिद्ध करते हैं। कर्ता आदिका (आदिसे कर्म और साधनका ग्रहण है) मारक काल है, इसलिए काल भी मृत्यु है, उससे भी मुक्ति कहनी चाहिए। काल दो प्रकारका है—एक अहोरात्रलक्षण और दूसरा

जेतुं मृत्युत्रयं ब्रह्मलोकं प्राप्तुं च साधनम् ।
प्रश्नैश्चतुर्भिः प्रपच्छ देवध्यानं तदुत्तरम् ॥ १३ ॥
यजमानस्य वागादीन् होत्रादींश्चाऽऽधिदैविके ।
अग्न्यादावेकतां ध्यात्वा मुच्यते चाऽतिमुच्यते ॥ १४ ॥
मुक्तिस्त्यक्त्वाऽऽसुरं भावं देवभावस्य चिन्तनम् ।
ब्रह्मलोकोऽतिमुक्तिः स्यान्न कैवल्यमुपासनात् ॥ १५ ॥

तिथ्यादि लक्षण—इन दोनोंसे मुक्तिका उपदेश यहाँ कहा जाता है । अहोरात्रात्मक काल कर्मका आरम्भक तथा समापक होता है, अतएव मृत्यु है; उससे मुक्ति कैसे हो सकती है ? ॥ १२ ॥

'जेतुं मृत्युत्रयम्' इत्यादि । उक्त मृत्युत्रयके जीतनेका तथा ब्रह्मलोक-प्राप्तिका साधन चार प्रश्नोंसे पूछा, देवताका ध्यान उन प्रश्नोंका उत्तर है ॥ १३ ॥

'यजमानस्य' इत्यादि । अध्यात्म—यजमानकी वाक्—आधिदैविक—होता—इन दोनोंका अग्निस्वरूपसे होता जब ध्यान करता है, तब वह होता और यजमान— दोनोंकी मृत्युका अतिक्रमण करता है ॥ १४ ॥

यह मुक्ति अतिमुक्ति है, कैवल्य नहीं है, इसीको स्फुट करते हैं—**'मुक्तिस्त्यक्त्वा'** इत्यादिसे ।

आसुर साधनसे दैव साधनकी प्राप्ति मुक्ति है और आसुर साधनके फल स्वर्गादिसे दैवसाधनके फल सूत्रात्मकी प्राप्ति अतिमुक्ति है । जो यह कहते हैं कि सूत्रोपासना सहित देवताध्यानादिसे साक्षात् मुक्ति होती है, उनका कथन ठीक नहीं है; कारण कि ब्रह्मविद्या व्यर्थ हो जायगी, उसका फल मुक्ति है, वह उक्त कर्मसे ही हो जायगी । विद्या और कर्ममें शेषशेषित्वका निरास पूर्वमें कर चुके हैं । अध्यात्म चक्षु और अधियज्ञ अध्वर्यु—ये दोनों साक्षात् अनवच्छिन्न रवि हैं; इस प्रकार ध्यान करता हुआ अध्वर्यु अहोरात्राख्य मृत्युसे स्वयं मुक्त हो जाता है तथा यजमानको भी मुक्त करता है । मत्सम्बन्धी यजमानका अवयवभूत चक्षु और मैं अध्वर्यु—ये दोनों सूर्य ही हैं, इस प्रकार साक्षात् ध्यानकर जिस समय अध्वर्यु बैठता है; उस समय यजमान और अध्वर्यु दोनों अहोरात्राख्य मृत्युसे मुक्त हो जाते हैं। चन्द्रमामें वृद्धि एवं ह्रास जैसे होते हैं, वैसे ही पक्षोंमें भी वृद्धि और ह्रास तिथि-प्रयुक्त होते हैं; इस ह्रास और वृद्धिके सादृश्यसे चन्द्रमा ह्रास-वृद्धिके कर्ता हैं, इस कारणसे

आधिदैविकरूपेण धीरध्यात्माधिभूतयोः ।
ऊह्या, सर्वत्र तेनोक्ता प्राणविद्याऽभिपूर्यते ॥ १६ ॥

याज्ञवल्क्येति होवाच यदिदं सर्वं मृत्युनाऽऽप्तं सर्वं मृत्युनाऽभिपन्नं केन यजमानो मृत्योराप्तिमतिमुच्यत इति । होत्रर्त्विजाऽग्निना वाचा, वाग्वै यज्ञस्य होता तद्येयं वाक् सोऽयमग्निः स होता स मुक्तिः साऽतिमुक्तिः ॥३॥

चन्द्रात्मना मन और ब्रह्माका ध्यान करनेसे पक्षद्वयात्मक मृत्युसे यजमान और ब्रह्मा दोनों मुक्त हो जाते हैं। चन्द्रमाके ह्रास और वृद्धिका कर्ता वायु है, अतः यजमानके प्राण तथा उद्गाताके प्राणका वायुस्वरूपसे ध्यान करनेसे पक्षद्वयात्मक मृत्युसे उद्गाता और यजमान मुक्त हो जाते हैं ॥ १५ ॥

'आधिदैविक' इत्यादि। अध्यात्म और अधिभूत बुद्धिका आधिदैविक-रूपसे सब जगह ऊहा करनी चाहिए। ऊहाका अर्थ पूर्वमें स्फुट कर चुके हैं। उसी रूपसे सब जगह समझना चाहिए। सब जगहका तात्पर्य उद्गीथ ब्राह्मणमें है ॥ १६ ॥

'याज्ञवल्क्येति होवाच' इत्यादि श्रुतिः। हे याज्ञवल्क्य, मधुकाण्डमें दर्शनसहित पाङ्क्त कर्मसे यजमानकी मृत्युका नाश संक्षेपसे उद्गीथ प्रकरणमें कहा है। उसीकी परीक्षाके लिए यह ग्रन्थ है। इसलिए तद्गत दर्शनविशेषार्थ यह विस्तार है अर्थात् उद्गीथ उपासनामें वागादिकी अग्नि आदि रूपतारूप विशेषकी सिद्धिके लिए यह उपक्रम है। जो इस कर्मका साधनसमुदाय ऋत्विगादि है, वह स्वाभाविक आसंगसहित कर्मलक्षणमृत्युसे व्याप्त है, केवल व्याप्त ही नहीं है, किन्तु अभिपन्न वशीकृत है।

शङ्का—किस दर्शनलक्षण साधनसे यजमान मृत्युव्याप्तिका अतिक्रमण कर मुक्त होता है, स्वतन्त्र—मृत्युका अवश—होता है।

समाधान—यह तो उद्गीथमें कहा है, जिससे मुख्य प्राणात्मदर्शन अतिमुक्त होता है। हाँ, ठीक कहा है; जो अंश नहीं कहा, इसके लिए यह आरम्भ है। अश्वलके प्रश्नका उत्तर ऋषिने दिया। 'होत्रर्त्विजाऽग्निना वाचा' इसका व्याख्यान करते हैं।

शङ्का—कौन होता है, जिससे यजमानादि मृत्युका अतिक्रमण करता है।

समाधान—'यज्ञस्य'का अर्थ यहां यजमान है, 'यज्ञो वै यजमानः' यह श्रुति

याज्ञवल्क्येति होवाच यदिदं सर्वमहोरात्राभ्यामाप्तं सर्वमहोरात्राभ्या-

इस अर्थमें प्रमाण है। यजमानकी जो वाग् है, वही अधियज्ञमें 'होता' है, वह अग्नि 'होता' है, क्योंकि 'अग्निर्वै होता' यह श्रुति है। जो यज्ञके ये दो साधन हैं यानी अधियज्ञ ऋत्विक् और अध्यात्म वाक् ये दोनों परिच्छिन्न हैं, मृत्युसे व्याप्त हैं। स्वाभाविक अज्ञानासङ्गप्रयुक्त कर्मरूप मृत्युने प्रतिक्षण परिवर्तन द्वारा उन दोनोंको अपने स्वाधीन किया है। अधिदैवतरूप अग्निरूपसे दृश्यमान दो साधनोंसे यज्ञरूप यजमानकी मुक्ति होती है, यही कहते हैं—होता अग्निस्वरूप मुक्ति है अर्थात् अग्निस्वरूप दर्शन मुक्ति है। जिस समय उन साधनोंको अग्निरूपसे देखता है, उसी समय स्वाभाविक आसङ्गलक्षण मृत्युसे विमुक्त होता है, आध्यात्मिक परिच्छेदरूपसे तथा आधिभौतिक परिच्छेदरूपसे विमुक्त हो जाता है, इससे अग्निरूपसे दृष्ट वह होता मुक्ति है यानी यजमानकी मुक्तिका साधन है। यह मुक्ति यजमानकी अतिमुक्ति यानी अतिमुक्ति-साधन है। उक्त दो साधन परिच्छिन्न हैं; उनमें अपरिच्छिन्न अग्निरूपसे दृष्टि ही मुक्ति है जो यह मुक्ति अधिदेवतादृष्टि है, वही अध्यात्म और अधिभूत परिच्छेदसे युक्त विषयासक्तिरूप मृत्युका अतिक्रमण कर अधिदेवतात्वरूप अग्निभावकी प्राप्ति है, जो उक्त ध्यानकी फलस्वरूप है, वही अतिमुक्ति कहलाती है। इस अतिमुक्तिका साधन मुक्ति है, इस बातको ध्यानमें रखकर अतिमुक्ति कही है। यजमानकी अतिमुक्ति वागादि इन्द्रियोंकी अग्निभावापत्ति है, यह उद्गीथ-प्रकरणमें व्याख्यात हो चुका है।

शङ्का—तब तो यह ब्राह्मण ही निरर्थक है।

समाधान—वहां मुख्य प्राणदर्शनमात्र मुक्तिका साधन है, ऐसा कहा गया है, प्राणविशेष वागादि इन्द्रियोंमें अग्निभावदर्शन नहीं कहा गया है। यहाँ वह कहा गया है, अतः प्रकृतमें विशेष है।

शङ्का—दर्शनके समान क्या फल भी विशेष है?

समाधान—फल तो वही—मृत्युप्राप्त्यतिमुक्तिस्वरूप ही—है, जो 'मृत्युमतिक्रान्तो दीप्यते' इत्यादिसे उद्गीथब्राह्मणमें व्याख्यात हो चुका है॥ ३॥

'याज्ञवल्क्य इति होवाच यदिदं सर्वमहोरात्राभ्या०' इत्यादि श्रुति। स्वाभाविक अज्ञानासङ्गप्रयुक्त कर्मलक्षण मृत्युसे अतिमुक्ति होती है, इसका

मभिपन्नं केन यजमानोऽहोरात्रयोराप्तिमतिमुच्यत इत्यध्वर्युणर्त्विजा चक्षुषाऽऽदित्येन, चक्षुर्वै यज्ञस्याध्वर्युस्तद्यदिदं चक्षुः सोऽसावादित्यः सोऽध्वर्युः स मुक्तिः साऽतिमुक्तिः ॥ ४ ॥

याज्ञवल्क्येति होवाच यदिदं सर्वं पूर्वपक्षापरपक्षाभ्यामाप्तं सर्वं पूर्वपक्षापरपक्षाभ्यामभिपन्नं केन यजमानः पूर्वपक्षापरपक्षयोराप्तिमतिमुच्यत इत्युद्गात्रर्त्विजा वायुना प्राणेन, प्राणो वै यज्ञस्योद्गाता तद्योऽयं प्राणः स वायुः स उद्गाता स मुक्तिः साऽतिमुक्तिः ॥ ५ ॥

व्याख्यान हो गया है। उस कर्मके—सासङ्ग मृत्युके—आश्रयभूत जो दर्शपूर्णमासादि साधन हैं, उनके परिणामका हेतु जो काल है, उस कालसे पृथक् अतिमुक्ति कहनी चाहिए, इसलिए इसका आरम्भ करते हैं। क्रियानुष्ठानके बिना भी क्रियासे पूर्व और अनन्तर साधनादिके परिणामका हेतु काल है, क्योंकि कालका व्यापार कर्मके समयमें और उसके पूर्व तथा अन्तमें भी देखा जाता है। कर्मसे काल पृथक् मृत्यु है, अतः इससे भी अतिमुक्ति कहनी चाहिए, इसलिए कहते हैं—'यदिदम्' इत्यादिसे। यह सब अहोरात्रसे व्याप्त है। कालके दो स्वरूप हैं—एक अहोरात्रिरूप और दूसरा तिथ्यादिस्वरूप। उनमें से पहले अहोरात्रलक्षण कालसे अतिमुक्ति कहते हैं—अहोरात्रसे ही सब होते हैं, बढ़ते हैं और विनष्ट भी होते हैं, एवं यज्ञसाधनोंके विषयमें भी समझना चाहिए। यज्ञका (यजमानका) चक्षु और अध्वर्यु—इन दो साधनोंको अध्यात्म और अधिभूत परिच्छेदका त्याग कर अधिदैवतस्वभावसे देखना चाहिए; वही मुक्ति है। आदित्यभावसे दृष्ट वह अध्वर्यु मुक्ति है, वह मुक्ति ही अतिमुक्ति है। आदित्यभावको प्राप्त हुए पुरुषके लिए अहोरात्र नहीं होता ॥ ४ ॥

संप्रति तिथ्यादिलक्षण कालसे अतिमुक्ति कहती है **'याज्ञवल्क्येति होवाच'** इत्यादि श्रुति।

शङ्का—अहोरात्रादिलक्षण कालमें तिथ्यादिलक्षण कालका अन्तर्भाव है, अहोरात्रलक्षण कालसे अतिमुक्ति कहनेपर तिथ्यादिलक्षण कालसे भी अतिमुक्ति कही जा चुकी, अतः पृथक् आरम्भ व्यर्थ है।

समाधान—आदित्य अहोरात्र आदिके कर्ता हैं, प्रतिपदादि तिथियोंके नहीं; क्योंकि प्रतिपत्प्रभृति तिथियोंमें ह्रास और वृद्धि होती है, इस कारण ह्रास और

याज्ञवल्क्येति होवाच यदिदमन्तरिक्षमनारम्बणमिव केनाक्रमेण यजमानः स्वर्गं लोकमाक्रमत इति ब्रह्मणर्त्विजा मनसा चन्द्रेण मनो वै यज्ञस्य ब्रह्मा तद्यदिदं मनः सोऽसौ चन्द्रः स ब्रह्मा स मुक्तिः साऽतिमुक्तिरित्यतिमोक्षा अथ सम्पदः ॥ ६ ॥

वृद्धिसे युक्त चन्द्रमा ही उक्त तिथियोंके कर्ता हैं। अतः चन्द्रभावापत्तिसे पहले पक्ष और दूसरे पक्षका अत्यय (विनाश) होता है, जैसे आदित्यभावापत्तिसे अहोरात्रका अत्यय होता है, वैसे ही चन्द्रभावापत्तिसे पहले पक्ष और दूसरे पक्षका अत्यय होता है। चन्द्रप्राप्तिसे तिथ्यादिका अत्यय होता है, यह माध्यन्दिन शाखियोंका मत है और काण्व श्रुतिसे प्रतीत होता है कि वायुभावापत्तिसे उक्त पक्षका अत्यय होता है।

शङ्का—तब तो श्रुतियोंमें परस्पर विरोध है।

समाधान—हां, आपाततः विरोध प्रतीत होता है, पर परिहार इस प्रकार है कि यजमानका प्राण वायु है, वही उद्गाता है; यह उद्गीथब्राह्मणमें कहा है—'वाचा च ह्येव स प्राणेन चोदगायत्'। इस प्राणका शरीर जल है, 'ज्योतीरूपमसौ चन्द्रः'। प्राण, वायु और चन्द्रमा एक ही हैं, यह सप्तान्नाधिकारमें निश्चित हो चुका है, यतः प्राण, वायु और चन्द्रमा एक ही हैं, इसलिए चन्द्रमा या वायुसे उपसंहार करनेमें कोई अन्तर नहीं है, इस प्रकार मानती हुई श्रुति अधिदैवतरूप वायुसे उपसंहार करती है। अपि च, वायुनिमित्तक ही वृद्धि और ह्रास चन्द्रमामें होते हैं। इससे तिथ्यादिलक्षण कालके कर्ता चन्द्रमाका कारयिता वायु है, अतः वायुरूपापन्न होकर तिथ्यादिलक्षण कालसे अतीत होता है, यह सोपपत्तिक अर्थ है। अतएव श्रुत्यन्तरमें चन्द्ररूप दृष्टि मुक्ति और अतिमुक्ति कही गई है; यहाँपर काण्वोंके दो साधनोंमें तत्कारणभूत वायुरूपसे दृष्टि मुक्ति और अतिमुक्ति है, इस प्रकार श्रुतियोंमें परस्पर विरोधका लेश भी नहीं है ॥ ५ ॥

'याज्ञवल्क्येति होवाच' इत्यादि श्रुति। यजमानकी मृत्युरूप कालसे अतिमुक्तिका व्याख्यान हो गया। अब प्रश्न यह उठता है कि अतिमुच्यमान यजमान किस आलम्बनसे परिच्छेदविषय मृत्युका अतिक्रमण कर फल पाता है, जो 'अतिमुच्यते' ऐसा कहते हैं। जो यह प्रसिद्ध अन्तरिक्ष (आकाश) है, वह अनालम्बन है। श्रुतिमें इवशब्दका प्रयोग है, इससे प्रतीत होता है कि

कुछ आलम्बन अवश्य है; अन्यथा 'अनालम्बनम्' यह कहना पर्याप्त था, पर उसकी प्रतीति नहीं होती। जो अज्ञायमान आलम्बन है, उसको सर्वनाम किंशब्दसे निष्पन्न 'केन' शब्दसे पूछते हैं। आलम्बनके बिना फल-प्राप्तिका ही संभव नहीं है। जिस आलम्बनसे परिच्छेदविषय मृत्युका अतिक्रमण कर फल पाता है, स्वर्गलोकका आक्रमण करता है; वही स्वर्गलोक पाता है, यह कहते हैं—'ब्रह्मणर्त्विजा मनसा चन्द्रेण'। अक्षरयोजना पूर्ववत् समझनी चाहिए।

अध्यात्म यजमानका जो यह प्रसिद्ध मन है, वह यह चन्द्र अधिदैवत है, क्योंकि मन अध्यात्म है और चन्द्र अधिदैव है, यह प्रसिद्ध है। वही चन्द्रमा ब्रह्मा ऋत्विग्रूपसे अधिभूत ब्रह्माका परिच्छिन्न रूप है और मनका अध्यात्म स्वरूप है, इन दोनोंको जो अपरिच्छिन्न चन्द्ररूपसे देखता है; वही चन्द्रमा और मनरूप आलम्बनसे कर्मफल स्वर्गको प्राप्त करता है; अतएव अतिमुक्त होता है; यह अभिप्राय है। 'इति' यह उपसंहारार्थ है। मृत्युसे इस प्रकारके अतिमोक्ष होते हैं। यज्ञाङ्गविषयक सब दर्शनप्रकार इस अवसरमें कहे गये हैं, इसलिए उपसंहार है—'अतिमोक्षाः'। अर्थात् इस प्रकारके अतिमोक्ष हैं।

अथ संपदः। अब संपत् कहते हैं—संपद्—किसी सामान्यसे फलवान् अग्निहोत्र आदि कर्मोंका उनके फलके लिए संपादन—महान् फलवान् अश्वमेध आदि कर्मोंका कर्मत्वसामान्यसे छोटे कर्ममें विवक्षित फल-सिद्धिके लिए संपत्ति (संपादन)—संपत् कहा जाता है, जैसे यथाशक्ति अग्नि-होत्रादि करता हुआ पुरुष 'हम अश्वमेध करते हैं', इस प्रकार यदि ध्यान करे, तो वह ध्यान संपत् कहा जाता है, अथवा देवलोकादि फल अति उज्ज्वल है, उस अति उज्ज्वलत्वादि सामान्यसे आज्याहुतिमें देवलोकका ध्यान संपद् है। उज्ज्वल आज्याहुतिको ही देवलोक समझे। पूर्ण उत्साहसे फलसाधनानुष्ठानमें प्रयत्न करनेपर भी सामग्रीके वैकल्यसे वह असंभव हो, तो संपद् करना चाहिए। कर्मियोंका ही सपत्-कर्मानुष्ठानमें अधिकार है; इसका उदाहरण भाष्यकार देते हैं—'आहिताग्नि' इत्यादिसे। आहिताग्नि (अग्निहोत्री) अग्निहोत्र आदि कर्मोंमें से किसी कर्मका आलम्बन कर कर्मफल विद्वत्ता होनेपर जिस फलकी कामना अग्निहोत्रीको हो, उसीका संपादन करे।

शङ्का—कर्म ही फलवान् होता है, संपद् नहीं।

अथ सम्पद उच्यन्ते स्वल्पे कर्मणि कर्मणः ।
महतश्चिन्तनं सम्पत्तया प्राप्यं महाफलम् ॥ १७ ॥
एवं सत्यश्वमेधादेः पाठो विप्रैः कृतोऽर्थवान् ।
न शास्त्रस्य ह्युपालम्भः सम्पदैवाऽस्तु तत्फलम् ॥ १८ ॥

समाधान—विहित अध्ययनकी अर्थज्ञानानुष्ठान आदि परम्परासे अर्थवत्ता विद्वानोंने मानी है; राजसूय, अश्वमेध आदि यागोंमें सब किसीका अधिकार नहीं है, इस समय तो उक्त यागोंको करनेकी सामर्थ्य ही किसी पुरुषमें नहीं है। फिर इनका पाठ केवल स्वाध्यायार्थ कहना होगा; परन्तु प्रयोजनके बिना उसका अध्ययन भी नहीं हो सकेगा, इसलिए तत्-तत् यागके फलकी प्राप्तिका कोई उपाय अवश्य मानना चाहिए, उपाय संपत् है, संपत्के द्वारा भी तत्-तत् फल होता है, अतः उसके संपादनार्थ उसका पाठ आवश्यक है, अतः संपत् भी फलवती है, इसलिए संपद्का आरम्भ करते हैं ॥ ६ ॥

संपत् कर्म कहते हैं—'अथ संपद' इत्यादिसे ।

शङ्का—संपद् क्या है ?

समाधान—स्वल्प (छोटे) कर्ममें बड़े कर्मोंका चिन्तन संपद् कहलाता है। संपद्से भी महाफल प्राप्त होता है, जैसे अग्निहोत्रादि कर्ममें कर्मत्वसामान्यसे अश्वमेध आदि बड़े कर्मोंका ध्यान संपद् है, सो कह चुके हैं ॥ १७ ॥

'एवं सत्यश्व०' इत्यादि ।

शङ्का—यदि महान् कर्मोंका फल छोटे कर्मसे हो जायगा, तो महान् कर्ममें किसीकी प्रवृत्ति ही नहीं होगी, कहा भी है—

अर्के चेन्मधु विन्देत किमर्थं पर्वतं व्रजेत् ।
इष्टस्याऽर्थस्य संसिद्धौ को विद्वान् यत्नमाचरेत् ॥'

अर्थात् घरके कोनेमें यदि शहद मिल जाय, तो कौन विद्वान् उसे प्राप्त करनेके लिए पर्वतपर जायगा ?

समाधान—संपत्से भी फल होता है, यदि ऐसा शास्त्र कहता है, तो ऐसा माननेमें आपत्ति क्या है ? अन्यथा ब्राह्मणादिका राजसूयादि यागमें अधिकार नहीं, फिर तत्कर्तृक अश्वमेधादिमन्त्रपाठ व्यर्थ हो जायगा। अथवा फलाभावसे उसके अध्ययनमें विप्रादिकी प्रवृत्ति ही नहीं होगी। संपत्से अश्वमेधफलकी

श्रुतिः—याज्ञवल्क्येति होवाच कतिभिरयमद्यर्ग्भिर्होताऽस्मिन् यज्ञे करिष्यतीति तिसृभिरिति कतमास्तास्तिस्र इति पुरोऽनुवाक्या च याज्या च शस्यैव तृतीया किं ताभिर्जयतीति यत्किञ्चेदं प्राणभृदिति ॥ ७ ॥

होतृप्रयुक्तऋग्जातित्रये सम्पादयन्नमून् ।
लोकाँस्त्रैलोक्यमाप्नोति समत्वात्त्रित्वसंख्यया ॥ १९ ॥

प्राप्ति होती है, यदि यह शास्त्र कहता है, तो विद्वानोंको इसमें खिन्न नहीं होना चाहिए, क्योंकि शास्त्रोक्त अर्थमें शङ्का करना उचित नहीं है, अतएव ब्राह्मणादिके लिए भी अश्वमेधमन्त्रपाठ सार्थक होता है ॥ १८ ॥

'याज्ञवल्क्येति होवाच' इत्यादि श्रुति। याज्ञवल्क्यको अभिमुखीकरणार्थ 'याज्ञवल्क्य' यह संबोधन है। इस यज्ञमें कितनी ऋचाओंसे अर्थात् कितनी कितनी संख्याके ऋग्जाति मन्त्रोंसे यह होता शस्त्रका संशन करता है, महर्षिने उत्तर दिया—'तिसृभिः' अर्थात् तीन ऋग्जातियोंसे।

शङ्का—कौन तीन हैं, पूर्वमें संख्याविषयक प्रश्न है, उत्तरमें संख्येय-विषयक प्रश्न है।

समाधान—यागकालसे पूर्व जो ऋचाएँ प्रयुक्त होती हैं, वे ही ऋग्-जाति हैं, वे ही पुरोनुवाक्या कही जाती हैं। यागार्थ जो ऋचाएँ प्रयुक्त होती हैं वे ऋग्जातीय याज्या हैं। शस्त्रार्थ जो प्रयुक्त होती हैं, वे शस्या हैं। कोई ऋचाएँ स्तोत्रिया हैं और अन्य जो कोई ऋचाएँ हैं, वे सब इन्हीं तीनोंमें अन्तर्भूत होती हैं।

शङ्का—उनसे किसका जय होता है ?

समाधान—जो कुछ यह प्राणी है, संख्यासामान्यसे जो कुछ प्राणभृत्-जात है अर्थात् तीन लोक हैं, उन सबका जय करता है, सब फलजातका संपादन करता है ॥ ७ ॥

'होतृप्रयुक्त०' इत्यादि। 'त्रयो लोकास्त्रैलोक्यम्' यानी भूरादि लोकमें त्रित्व संख्या है, पुरोनुवाक्यादिमें भी त्रित्व संख्या है, अतः लोकत्रयका त्रित्वसंख्यासादृश्यसे पुरोनुवाक्यादिमें लोकत्रयका संपादन करनेसे त्रिलोकके प्राणियोंका जय होता है।

शङ्का—फल उपास्यानुसारी होता है, लोककी उपासनासे लोकका जय होना चाहिए। सब प्राणियोंका जय कैसे ?

समिन्मांसादिमुख्यानामुज्ज्वलत्वादिसाम्यतः।
देवलोकादिसम्पत्त्या देवलोकादिमाप्नुयात् ॥ २० ॥

श्रुतिः—याज्ञवल्क्येति होवाच कत्ययमद्याध्वर्युरस्मिन्यज्ञ आहुतीर्होष्यतीति तिस्र इति कतमास्तास्तिस्र इति या हुता उज्ज्वलन्ति, या हुता अतिनेदन्ते, या हुता अधिशेरते, किं ताभिर्जयतीति या हुता उज्ज्वलन्ति देवलोकमेव ताभिर्जयति दीप्यत इव हि देवलोको या हुता अतिनेदन्ते पितृलोकमेव ताभिर्जयत्यतीव हि पितृलोको या हुता अधिशेरते मनुष्यलोकमेव ताभिर्जयत्यध इव हि मनुष्यलोकः ॥ ८ ॥

समाधान—लोकके अन्तर्गत प्राणीमात्र हैं, लोकके जयसे उनका भी जय होता है, यह अर्थतः सिद्ध होता है ॥ १९ ॥

द्वितीय सम्पत्तिके विषयमें उदाहरण देते हैं—**'समिन्मांसादि॰'** इत्यादिसे।

आज्याहुतिमें दीप्ति, मांसाद्याहुतिमें नाद (शब्द), पयःसोमाहुतिमें अधःशयन है। देव, पितृ, मनुष्यलोकमें भी दीप्तिमत्त्वादि है, अतः घृताद्याहुतिमें देवलोक, समित्, मांसादिकी आहुतियोंमें मनुष्यलोक संपद् है। ये आहुतियां जब होती हैं तब लोक निष्पन्न होते हैं। इस अनुसन्धानसे लोकजय होता है। एवं 'अनन्तं मनः' इत्यादिका भी संपद् अर्थ इस प्रकार समझना चाहिए। वृत्तिके आनन्त्यसे मनमें भी आनन्त्यका व्यपदेश है; वस्तुतः मन प्रतिप्राणि एक ही रहता है, वृत्तिके आनन्त्यमें शब्दादिविषयोंका आनन्त्य हेतु है। 'अनन्ता वै विश्वेदेवा' इस श्रुतिसे विश्वेदेवा अनेक हैं; अनन्तत्वके साम्यसे मनोवृत्तिमें विश्वेदेवाका संपादन कर सम्यक् ज्ञानसे यजमान अनन्त लोकको प्राप्त करता है, यह दृष्टि यजमानकर्तृक है; फल भी तद्गामी है ॥ २० ॥

'याज्ञवल्क्येति होवाच' इत्यादि श्रुति। याज्ञवल्क्येत्यादिका अर्थ पूर्ववत् ही है। यह अध्वर्यु संप्रति इस यज्ञमें कितना हवन करेगा; आहुतिके कितने प्रकार हैं? उत्तर दिया तीन। संख्येयविषयक प्रश्न करते हैं—कौन तीन हैं? उत्तर—जो हुत होकर 'उज्ज्वलन्ति' दीप्त होती हैं, ऐसी समिद् और आज्यकी आहुतियां। या हुता अतिनेदन्ते अतिशब्द करती हैं, मांसाद्याहुतियां। या हुता अधिशेरते नीचे जाकर भूमिमें ठहरती हैं, पयःसोमाहुतियां। इन आहुतियोंसे किसका जय करता है जो आहुतियां हुत होकर दीप्तिमती होती हैं, इनका फल उज्ज्वल देवलोक है।

याज्ञवल्क्येति होवाच कतिभिरयमद्य ब्रह्मा यज्ञं दक्षिणतो देवताभिर्गोपायतीत्येकयेति कतमा सैकेति मन एवेत्यनन्तं वै मनोऽनन्ता विश्वेदेवा अनन्तमेव स तेन लोकं जयति ॥ ९ ॥

दोनोंमें उज्ज्वलत्व धर्म समान है। जो उज्ज्वलनयुक्त आहुतियां मैंने दी हैं, वे साक्षात् देवलोकात्मक कर्मफल देती हैं, उक्तस्वरूप देवलोकाख्य फलका ही मैंने संपादन किया है, यह उनमें ध्यान करे और जो हुत होकर अतिशब्द करती हैं, उनसे पितृलोकका जय होता है। इन दोनोंमें साम्य है—शब्दकर्तृत्व।

शङ्का—देवलोकमें शब्द कैसे हैं ?

समाधान—पितृलोकसे संबद्ध (सटी हुई) जो संयमनी पुरी है, उसमें यमराजकी यातनासे पीड़ितोंका 'हा हताः स्मः मुञ्च मुञ्च' इत्यादि शब्द होता है, यह पुराणादिमें प्रसिद्ध है तथा अवदानाहुतियाँ, जो काटकर आहुतियाँ दी जाती हैं, वे अवदानाहुतियाँ कहलाती हैं, जैसे मांसाद्याहुतियाँ। उनका शब्दवत्त्वेन पितृलोकके साथ सादृश्य है, इसलिए उन आहुतियोंके अनुष्ठानकालमें पितृलोकका ही सम्पादन कर रहा हूँ, ऐसा ध्यान करे और जो हुत होकर नीचे जमीनमें ठहरती हैं, उन आहुतियोंसे मनुष्यलोकका जय होता है, क्योंकि दोनोंमें भूम्युपरि सम्बन्ध समान है। भूमिके ऊपर हुत क्षीरादि हैं और प्राणी भी भूमिके ऊपर ही हैं, अतः दोनोंमें उक्त धर्म स्पष्ट ही है अथवा श्रौत सादृश्यसे उक्त संपादन करना चाहिए। श्रौत सादृश्य है, 'अध इव'। यहाँ इव शब्द एवकारार्थक है—अध एव। साध्यादिलोकसे मनुष्यलोक नीचे ही है। काष्ठस्थित अग्निके नीचे क्षीरादि रहता है, अतः उक्त सादृश्य दोनोंमें अति स्फुट है। अधोगमनसादृश्य दोनोंमें यहाँ विवक्षित है 'ऊर्ध्वं सत्त्वविशाल०' इत्यादि श्लोकोक्त नियमसे धर्मप्रधानोंका स्वर्गमें, रजःप्रधानोंका भूमिमें और तमःप्रधानोंका अधोलोकमें वास होता है, जिसकी अपेक्षा जो अधः (नीचे) है, उसकी अपेक्षा उसमें पाप या तम अधिक समझना चाहिए। देवताओंकी अपेक्षा सम्पूर्ण मनुष्य आदिमें पाप अधिक है। अतः उनकी अपेक्षा मनुष्यादिका अधोगमन एवं निवास आदि समझने चाहिएँ। इन आहुतियोंके अनुष्ठानकालमें मनुष्यलोकका ही मैं संपादन कर रहा हूँ, ऐसा ध्यान करे ॥ ८ ॥

'याज्ञवल्क्येति होवाच' इत्यादि श्रुति। याज्ञवल्क्येति होवाचका अर्थ पूर्ववत् है। यह ऋत्विग् ब्रह्मा है। वेदीकी दक्षिणदिशामें ब्रह्माका आसन रहता है।

शङ्का—अन्य देवताओंका आसन अग्निके उत्तर या पूर्वमें रहता है, ब्रह्माका आसन दक्षिण दिशामें क्यों ?

समाधान—ब्रह्मा यज्ञके रक्षक माने जाते हैं, यज्ञकी रक्षा उनका प्रधान कर्म है। यज्ञमें विघ्न डालनेवाले यातुधान आदि हैं, उनकी दिशा दक्षिणसे लेकर नैऋत्यकोणतक प्रसिद्ध है, अतः दक्षिण दिशासे ही आक्रमणका भय रहता है, इसलिए ब्रह्माका आसन वेदीकी दक्षिण दिशामें लगाया जाता है। रावण आदि दक्षिण दिशाके ही रहनेवाले थे, अतः ब्रह्मा वेदीसे दक्षिण दिशामें आसनपर स्थित होकर यज्ञकी रक्षा करते हैं।

शङ्का—कितनी देवताओंसे रक्षा करते हैं ?

समाधान—एक देवतासे।

शङ्का—यदि एक देवतासे रक्षा करते हैं, तो 'कतिभिः' यों बहुवचनसे प्रश्न करना अनुचित है, 'कया' यों एक वचनसे प्रश्न करना चाहिए था।

समाधान—हाँ, करना चाहिए था, किन्तु यहाँ बहुवचन प्रासङ्गिक है। पूर्व पूर्वमें बहुवचनान्तसे ही प्रश्न किया गया है, इसलिए यहाँ भी बहुवचन आया है। अर्थकी विवक्षासे बहुवचनान्तका प्रयोग नहीं किया गया है। अतः एक देवतासे इस यज्ञकी ब्रह्मा रक्षा करते हैं, यह निश्चित है।

शङ्का—अच्छा, प्रश्नकर्ताको यदि यह मालूम हो कि एक ही देवतासे ब्रह्मा यज्ञकी रक्षा करते हैं, तो आपका यह उत्तर—पूर्वकण्डिकाओंमें 'कतिभिः' इत्यादिरूपसे प्रश्न हुआ है, इसलिए यहाँ भी प्रसङ्गवश बहुवचनान्तसे प्रश्न हो गया है—देना अनुचित है और यदि प्रश्नकर्ताको ज्ञात न हो प्रत्युत यही ज्ञात हो कि ब्रह्मा अनेक देवताओंसे रक्षा करते हैं, तो प्रासङ्गिक कहना उचित नहीं है।

समाधान—प्रश्नकर्ता अश्वल ऋषि श्रौतविद्याके पूर्ण ज्ञाता थे, अतः वे जनक राजाके यहाँके होता थे, उनमें निष्प्रमाण अज्ञानकी कल्पना करना अत्यन्त अनुचित है। हां, यह हो सकता है कि जल्पकथासे दोनोंमें विचार होता था, जल्पमें छल, जाति आदिका प्रयोग किया जाता है; अतः बुद्धिके सम्मोहार्थ बहुवचनसे प्रश्न किया गया हो, परन्तु उत्तर देनेवाले याज्ञवल्क्यने उनके मोहजालमें न पड़ स्पष्ट उत्तर दिया कि 'एकया' यानी एक देवतासे। एक वह देवता है, जिससे दक्षिण तरफ आसनपर बैठकर ब्रह्मा यज्ञकी रक्षा करते हैं।

शङ्का—वह कौन एक देवता है ?

ब्रह्मणो मनसो वृत्तिष्वनन्तास्वन्तवर्जितान् ।
विश्वान्सम्पादयन्देवाननन्तं लोकमाप्नुयात् ॥ २१ ॥

श्रुतिः—याज्ञवल्क्येति होवाच कत्ययमद्योद्गाताऽस्मिन्यज्ञे स्तोत्रियाः स्तोष्यतीति तिस्र इति कतमास्तास्तिस्र इति पुरोऽनुवाक्या च याज्या च शस्यैव तृतीया कतमास्ता या अध्यात्ममिति प्राण एव पुरोऽनुवाक्याऽपानो याज्या व्यानः शस्या किं ताभिर्जयतीति पृथिवीलोकमेव पुरोऽनुवाक्यया जयत्यन्तरिक्षलोकं याज्यया द्युलोकꣳशस्यया ततो ह होताश्वल उपरराम॥१०॥

इत्युपनिषदि तृतीये प्रथमं ब्राह्मणं समाप्तम् ।

—— ० ——

समाधान—मन ही वह देवता है, मनसे ब्रह्मा व्यापार करते हैं अर्थात् ध्यान द्वारा, क्योंकि 'तस्य यज्ञस्य मनश्च वाक् च वर्तनी तयोरन्यतरां मनसा संस्करोति ब्रह्मा' ऐसी श्रुति है। इसका यह अर्थ है—यज्ञके दो मार्ग हैं—वाक् और मन। 'वर्तनी' 'वर्त्मनीके' तात्पर्यसे है। दोनों मार्गोंमें से अन्यतरका यानी एक वाग्रूप मार्गका मौनसे ब्रह्मा संस्कार करते हैं। इससे स्पष्ट होता है कि मन ही देवता है, उस मनरूपी देवतासे ब्रह्मा यज्ञकी रक्षा करते हैं। मन वृत्तिभेदसे अनन्त है। 'वै' शब्द प्रसिद्धि-द्योतनके लिए है। वृत्तिभेदसे मन अनन्त हैं, यह लोकमें प्रत्येक प्राणी जानता है। अतः इसकी उपपत्तिके लिए जिज्ञासा नहीं है। मनोवृत्त्यभिमानी देवता अनन्त हैं—'अनन्ता वै विश्वेदेवाः'। 'सर्वे देवा यत्रैकं भवन्ति' इत्यादि श्रुत्यन्तर है। इसका अर्थ यह है कि जिस मनमें सब देवता एक हो जाते हैं अर्थात् अभिन्न हो जाते हैं। मन और विश्वेदेवमें आनन्त्यरूप धर्म समान है, अतः विश्वेदेवदृष्टिसे मनकी उपासना करनेसे अनन्तलोकफलकी प्राप्ति होती है ॥ ९ ॥

'ब्रह्मणो' इत्यादि। ब्रह्माके मनकी अनन्त वृत्तियोंमें अनन्त विश्वेदवोंकी दृष्टि करनेसे अनन्तलोककी प्राप्ति होती है ॥ २१ ॥

'याज्ञवल्क्येति होवाच' इत्यादि श्रुति। 'याज्ञवल्क्येति होवाच' इसका अर्थ पूर्ववत् है। यह उद्गाता कितनी स्तोत्रियाओंसे स्तुति करेगा।

शङ्का—स्तोत्रिया किसको कहते हैं?

समाधान—ऋक् और सामका समुदाय स्तोत्रिया है।

शङ्का—क्या सम्पूर्ण ऋक् और सामका समुदाय स्तोत्रिया है?

उक्तास्वृग्जातिषूद्गात्रा गीयमानासु सम्पदा ।
लोकत्रयस्य प्राणादेरपि लोकत्रयं व्रजेत् ॥ २२ ॥

समाधान—नहीं, कुछ ऋचाओंका, यह याज्ञिकोंमें प्रसिद्ध है। प्रगीत ऋग्-जात स्तोत्र है और अप्रगीत शस्त्र है, यों उनका मीमांसकोंने लक्षण किया है। स्तोत्रिया या शस्या जो कोई ऋचाएँ हैं, वे सब तीन हैं—पुरोनुवाक्या, याज्या और तिसरी शस्या। वहाँ जो यह कहा है कि जो कुछ यह है प्राणभृत् उस सबका जय करता है सो किस सादृश्यसे कहा है? कौन तीन ऋचाएँ हैं, जो अध्यात्म हैं। प्राण ही पुरोनुवाक्या है। शब्दका दोनोंमें सादृश्य है। अपान याज्या है। आनन्तर्य दोनोंमें समान है। पुरोनुवाक्याके अनन्तर याज्या है और प्राणके अनन्तर अपान है; अतः उक्त धर्मसे दोनों समान हैं। अपानमें याज्यादृष्टिमें कारणान्तर भी कहते हैं—अपानेन हि प्रत्तं हविर्देवता असन्ति। याग प्रदान है। अपानेन अर्थात् हस्ताद्यादानव्यापारेण। अपानशब्द हस्तादिव्यापारो-पलक्षणार्थ है। व्यानः शस्या यानी व्यान शस्या है, क्योंकि 'अप्राणन्ननपानन्नृच-मभिव्याहरति' ऐसी अन्य श्रुति है। इनसे क्या जीतता है? यह कह चुके हैं। लोकसंबन्धसामान्यसे पृथिवीलोकका प्रथमत्वरूप संबन्धसामान्य पुरोनुवाक्यामें है। पृथिवीलोकमें पहले पुरोनुवाक्याका संबन्ध हुआ है, तदनन्तर याज्यादि क्रमसे पठित हैं, इसलिए क्रमसे पृथिवीलोकके साथ इनका संबन्ध हुआ है। अतः पुरोनुवाक्यासे पृथिवीलोकका जय करता है और अन्तरिक्षलोकका याज्यासे। पृथिवी और स्वर्गके मध्यमें जैसे अन्तरिक्ष लोक है, वैसे ही पुरोनुवाक्या और शस्याके मध्यमें याज्या है, अतः दोनोंमें मध्यमत्व साधारण धर्म है। द्युलोकका जय शस्यासे करता है। दोनोंमें साधारण धर्म है—ऊर्ध्वत्व। अपने सब प्रश्नोंका निर्णय सुनकर प्रश्नकर्ता अश्वल यह समझकर चुप हो गये कि यह हमारी बुद्धिसे बाहर है अर्थात् याज्ञवल्क्य हमसे अधिक विद्वान् हैं अथवा यह विषय मेरी बुद्धिका गोचर नहीं है, अतिदुर्ज्ञेय है ॥ १० ॥

'उक्ता०' इत्यादि। उद्गाता द्वारा गीयमान उक्त पुरोनुवाक्यादि ऋग्जातीय मन्त्रोंमें लोकत्रयकी संपद्से लोकत्रयमें उसका स्वतन्त्र प्रचार (गमन) होता है। यही लोकत्रयकी विजय है। संख्यासामान्यसे प्राणादित्रयका पुरोनुवाक्यादित्रयमें क्रमसे संपादन कर फिर आदित्व, मध्यत्व और अन्तत्वसामान्यसे भूरादिलोकत्रयदृष्टिका

कर्मण्यल्पे महाकर्म तत्फलं चाऽनया दिशा ।
ध्यायेन्महाफलप्राप्त्यै लोकेऽप्येवमुदीर्यते ॥ २३ ॥
गया भूर्ब्राह्मणो विष्णुरन्नं ब्रह्मेति सम्पदा ।
श्राद्धे फलस्य बाहुल्यं मत्वा सम्पादयन्ति हि ॥ २४ ॥

इति वार्त्तिकसारे तृतीयाध्याये प्रथमं ब्राह्मणं समाप्तम् ।

संपादन कर लोकत्रयकी विजय करता है, यह भाष्यव्याख्यानमें स्पष्ट है ॥ २२ ॥

'कर्मण्यल्पे' इत्यादि । संपत्का लक्षणान्तर कहते हैं—स्वल्प अग्निहोत्रादि कर्ममें महाकर्मोंका (अश्वमेधादि कर्मोंका) अथवा उसके फल हिरण्यगर्भादिलोककी प्राप्तिका उक्त रीतिसे महाफलकी (अश्वमेधादि फलकी) प्राप्तिके लिए ध्यान करे । ऐसा माननेसे ही ब्राह्मणादि साधारणके लिए अध्ययनार्थ अश्वमेधाङ्ग मन्त्रोंका संप्रदायमें पाठ है । इसका तात्पर्य पूर्वमें कह चुके हैं । ब्राह्मणादिकर्तृक अध्ययनका विधान 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' इस श्रुतिसे किया गया है । अर्थज्ञान द्वारा तत् तत् कर्मानुष्ठानके लिए अध्ययन किया जाता है । ब्राह्मण आदिका उक्त कर्ममें अधिकार नहीं है । फिर इन मन्त्रोंका उनके लिए अध्ययन व्यर्थ है । यदि संपद्से भी फल मानते हैं, तो संपद्के लिए उक्त मन्त्रोंका अध्ययन सार्थक होता है इत्यादि लोक और वेदसे अतिरिक्त शास्त्रमें भी संपद्का, फलप्राप्तिके लिए, अनुष्ठान किया जाता है, जो आगेके श्लोकसे स्पष्ट किया जायगा ॥ २३ ॥

'गया भू०' इत्यादि । जिस भूमिमें श्राद्ध करे, उस भूमिमें गयाकी दृष्टि करे और ब्राह्मणमें विष्णुदृष्टि करे तथा अन्नमें ब्रह्मदृष्टि करे, ऐसा करनेसे श्राद्धमें अधिक फल होता है । यह मानकर आजकल भी लोग ऐसा ही किया करते हैं । संपद्का परम तात्पर्य यह है कि जहाँ सामग्री पूर्ण नहीं है, वहाँ भी कर्मत्याग नहीं करना चाहिए, किन्तु सांपादिक सामग्रियोंसे ही कर्म करना चाहिए और जहाँ पूर्ण सामग्रीकी संभावना है, वहां आलस्य आदि वश सांपादिक सामग्रियोंसे कर्म करना समुचित नहीं है, अन्यथा बड़े कर्मोंका विधान ही व्यर्थ हो जायगा । कर्म स्वतः पुरुषार्थ नहीं है, किन्तु इष्टसाधन होनेसे उपादेय होता है । इष्ट फल स्वल्प कर्मोंसे यदि हो जायगा, तो बड़े कर्मोंमें किसीकी प्रवृत्ति ही नहीं होगी, इसलिए मुख्यके असम्भवमें ही संपत् कर्म करना चाहिए । जहाँ विशेषरूपसे

संपत्का फलविशेषकी प्राप्तिके लिए श्रुत्यादिसे विधान है, वहां संपद् अवश्य ही करनी चाहिए। जैसे 'अनन्तं वै मनः' इत्यादि श्रुतिसे अनन्त लोककी प्राप्तिके लिए मनमें विश्वेदेवकी दृष्टिका विधान है, अतः वहाँ तो संपत्कर्म आवश्यक ही है।

शङ्का—अन्यमें अन्यदृष्टि तो मिथ्याज्ञान है। मिथ्याज्ञानसे तो अनर्थकी प्राप्ति होती है, अतः संपत्से अर्थकी प्राप्ति कैसे होगी?

समाधान—संपद् मिथ्याज्ञान नहीं है, मिथ्याज्ञान भेदाग्रहपूर्वक होता है। आरोप और उसके अधिष्ठानके भेदग्रहसे उसकी निवृत्ति हो जाती है। संपद् भेदग्रह होनेपर होती है, अतएव भेदग्रहसे वह निवृत्त नहीं होती, किन्तु यह गौण प्रयोग है। मुख्यके असंभवमें गौणका विधान शास्त्रोंमें है, इसलिए फलके लिए संपत् कर्म किया जाता है ॥ २४ ॥

तृतीय अध्यायका प्रथम ब्राह्मण समाप्त



अथ द्वितीयं ब्राह्मणम्

बन्धाख्यमृत्युस्तन्मृत्युर्विदुषोऽनुक्रमस्तथा ।
प्रयोजकलयो मृत्योः प्रेरकश्चाऽत्र पृच्छयते ॥ १ ॥

अथ हैनं जारत्कारव आर्तभागः पप्रच्छ याज्ञवल्क्येति होवाच कति ग्रहाः कत्यतिग्रहा इति । अष्टौ ग्रहा अष्टावतिग्रहा इति ये तेऽष्टौ ग्रहा अष्टावतिग्रहाः कतमे त इति ॥ १ ॥

द्वितीय ब्राह्मण

आर्तभागके पाँचों प्रश्नोंका श्लोकसे संग्रह करते हैं—**'बन्धाख्य०'** इत्यादिसे ।

इस तृतीयाध्यायके द्वितीय ब्राह्मणमें आर्तभागने पांच प्रश्न किये हैं—बन्धाख्य मृत्युका लक्षण क्या है ? उस बन्धाख्य मृत्युकी भी मृत्यु है या नहीं ? आत्मज्ञ विद्वान्‌के प्राणोंकी उत्क्रान्ति होती है या नहीं ? द्वितीय पक्षमें प्राणके समान प्रयोजक कर्म आदिका लय होता है या नहीं ? काल, कर्म, ईश—इनके मध्यमें मृत्युका प्रेरक कौन है ? ये ही पांच प्रश्न हैं ॥ १ ॥

'अथ हैनं जारत्कारव' इत्यादि श्रुति । आख्यायिकाका संबन्ध प्रसिद्ध है अर्थात् याज्ञवल्क्य विद्याके प्रकर्षसे पूजाके भागी हुए, आर्तभाग नहीं; कारण कि उनमें प्रकृष्ट विद्या न थी, याज्ञवल्क्यकी पूजाका कारण विद्या है । जिससे सब पूज्य होते हैं, वह विद्या धन्य है और उसकी प्राप्तिके लिए पूर्ण श्रम आदि करना चाहिए इत्यादि स्तुति है। मृत्युकी अतिमुक्तिका व्याख्यान तो हो चुका और काललक्षण तथा कर्मलक्षणसे अतिमुक्ति व्याख्यात हो चुकी । अब प्रश्न यह है कि मृत्यु क्या है ? जिससे अतिमुक्तिका व्याख्यान किया गया है । नैसर्गिक अनादिसिद्ध अज्ञानके द्वारा विषयादिमें आसङ्गास्पद तथा अध्यात्म और अधिभूत विषयोंसे परिच्छिन्न ग्रहातिग्रहलक्षण मृत्यु है, उस परिच्छिन्नलक्षण मृत्युसे अतिमुक्तका रूप अग्न्यादि-त्यादि उद्गीथ ब्राह्मणमें कहा गया है । अतिमुक्ति अग्न्यादित्यरूप होती है; परन्तु अग्नि और आदित्य आदि भी तो ग्रहातिग्रहलक्षण मृत्युसे व्याप्त ही हैं। अश्वलके प्रश्नमें तद्गत विशेष भी कुछ कहा । अग्न्यादित्यात्मक सौत्रपद ज्ञानसहित कर्मका फल है । इस साध्यसाधनरूप संसारसे मोक्ष करना चाहिए, इस कारणसे बन्धरूप मृत्युका स्वरूप कहते हैं । बद्धका मोक्ष करना चाहिए । यद्यपि अतिमुक्तका

स्वरूप कहा, तथापि ग्रहातिग्रहलक्षण मृत्युसे वह भी मुक्त नहीं है। श्रुतिने स्पष्ट कहा है—'अशनाया हि मृत्युरेष एव मृत्युः'। आदित्यमण्डलस्थ पुरुषको मानकर कहा—'एको मृत्युर्बहवा इति च।' 'बहवा' यह छान्दस रूप है, लोकमें 'बहवः' ऐसा प्रयोग होता है। तत्-तत् देवतात्मभावापन्न मृत्युकी प्राप्तिका अतिक्रमण कर अतिमुक्त होता है, ऐसा कहा है। वहाँ ग्रहातिग्रहलक्षण मृत्यु क्या नहीं है? है ही। 'अथैतस्य मनसो द्यौः शरीरम्' इत्यादि श्रुतिसे ग्रहातिग्रहलक्षण मृत्युका स्पष्ट निर्देश है। आगे भी कहेंगे—'प्राणो वै ग्रहः सोऽपानेनाऽतिग्राहेण' इत्यादिसे। व्यन्न-विभागमें इसका व्याख्यान कर चुके हैं। यह सुविचारित है कि जो प्रवृत्तिका कारण है, वह निवृत्तिका कारण नहीं होता। किसीका यह मत है कि सब नित्य, नैमित्तिक आदि कर्म निवृत्तिके ही कारण हैं, 'स्वर्गकामो यजेत्' इस वाक्यसे देहात्मत्वनिवृत्ति होती है, अन्यथा स्वर्गरूप आमुष्मिक फलके उद्देश्यसे पुरुषकी प्रवृत्ति नहीं होगी, क्योंकि शरीरका यहीं विनाश देखा जाता है—नित्य, नैमित्तिकविधि द्वारा अनुष्ठेयरूपसे अर्थान्तरका विधान होनेसे स्वाभाविक कर्मसे निवृत्ति अर्थात् प्रतीत होती है, निषेधविधि साक्षात् ही निवृत्तिकी बोधिका है। इस प्रणालीसे सम्पूर्ण कर्मकाण्ड निवृत्ति द्वारा मोक्षपरक है।

शङ्का—शास्त्रीय कर्मसे उत्तरोत्तर पूर्व शरीरकी अपेक्षा उत्तम शरीरेन्द्रियादिकी प्राप्ति होती है, जैसे प्राणोपासनासे सूत्रात्मभावापत्ति, वागादिकी उपासनासे अग्न्यादिभावापत्ति फल कहा है। यदि तत्-तत् देवभावापन्न होकर ही पूर्व शरीरादिसंघातसे मुक्त होता है, तो कर्मकाण्ड निवृत्तिपरक कैसे हुआ?

समाधान—जो उत्तरोत्तर सातिशय प्राजापत्यपदप्राप्तिरूप फल है, वह भी—प्रासादारोहणक्रमसे यानी पूर्व-पूर्व सीढ़ीसे उत्तरोत्तर सीढ़ीपर जाकर अन्तिम सीढ़ीसे प्रासादके ऊपर जैसे मनुष्य पहुँचता है, वैसे ही वागादिकी उपासनासे अग्न्यादि-भावापत्ति, प्राणोपासनासे हिरण्यगर्भपदप्राप्ति तदनन्तर मोक्षप्राप्ति होती है, इस प्रकार—मोक्षका सम्पादन करनेके लिए है। उक्त प्राजापत्य पदमें ही श्रुतिका तात्पर्य नहीं है; क्योंकि वह निरतिशय फल नहीं है। अतः हिरण्यगर्भपदकी प्राप्तिके लिए उक्त वाक्य नहीं है, उक्त पद भी विनाशी होनेसे वस्तुतः फल नहीं है, अतः द्वैतपर्य्यन्त जितने फल हैं, सब मृत्युग्रस्त हैं, अतः प्रासादारोहणन्यायसे मोक्षार्थ ही सब कर्म हैं। हिरण्यगर्भपदकी प्राप्तिसे जब द्वैतक्षय होता है, तब वस्तुतः मृत्युकी व्याप्तिका अतिक्रमण कर परमात्मरूपसे अवस्थित होता है, वही मुक्त

कहलाता है। मनुष्यभावसे ऊपर और परमात्मभावसे नीचे मध्यमें जितनी तत्-तत्-पदप्राप्तियाँ हैं, वे सब आपेक्षिक मुक्ति यानी गौणी मुक्तियां हैं और परमात्मभावसे अवस्थानरूपा मुख्य मुक्ति तो पूर्वमें कही है, इसका खण्डन करते हैं— 'सर्वम्' इत्यादि भाष्यसे। यह सब अर्थ अपनी उत्प्रेक्षासे कहा गया है, पर बृहदारण्यक अथवा श्रुत्यन्तरका यह अर्थ नहीं है।

शङ्का—सर्वैकत्वलक्षण मोक्ष बृहदारण्यका अर्थ है, यही हम कहते हैं, अतः यह बृहदारण्यकका अर्थ क्यों नहीं है?

समाधान—ठीक है, पर 'ग्रामकामो यजेत', 'पशुकामो यजेत' इत्यादि श्रुतियोंका मोक्ष अर्थ नहीं होता, इसलिए कहा कि यह उत्प्रेक्षामात्र है, श्रुत्यर्थ नहीं है। यदि उदाहृत श्रुतियां अद्वैतार्थक होतीं, ग्रामपशुस्वर्गार्थक नहीं होतीं, तो ग्रामादिका ग्रहण ही न किया होता; विचित्र कर्मफलविशेष तत्-तत् श्रुतियोंमें उपात्त हैं, इसलिए मोक्षार्थ वे नहीं हैं, किन्तु श्रुत फलविशेषार्थ हैं, यह मानना चाहिए। किञ्च, धर्माधर्मनिमित्तिक संसार है, यह सर्वमतसिद्ध है। धर्माधर्म विधिनिषेधाधीन है, विधिनिषेध आपके कथनके अनुसार जब मोक्षार्थ हैं, तब 'कारणाभावात्कार्याभावः' इस न्यायसे संसार ही नहीं होगा।

शङ्का— निवृत्ति द्वारा विधिनिषेधके मोक्षार्थक होनेपर भी विध्यादिज्ञानसे जनित जो कर्म पदार्थ है, उसका स्वभाव है कि वह कर्त्ताको अनर्थसे संयुक्त करता है; एवञ्च, मोक्षार्थ कर्म संसारार्थक भी होगा। इसमें दृष्टान्त है—रूपदर्शनके लिए आनीत प्रदीप तत्रस्थित सकल पदार्थोंका प्रकाशक होता है।

समाधान—विद्यासहित वैदिक कर्म मोक्षार्थ हैं और कर्म अनुनिष्पादित हैं, इसमें कुछ प्रमाण नहीं है यानी न प्रत्यक्ष प्रमाण है, न अनुमान है, अतएव आगम भी नहीं है।

शङ्का—कर्मवाक्योंका अवान्तर तात्पर्य यथाश्रुत अर्थमें है। निवृत्ति द्वारा मुक्तिमें महातात्पर्य है, ऐसा माननेसे आगम ही उक्त अर्थमें प्रमाण है। तात्पर्य यह है कि जैसे कुल्यासे ('कुल्याल्पा कृत्रिमा सरित्' इस कोषके अनुसार कुल्यानाम नहरका है) धान सींचते हैं, स्नान करते हैं, पानी भी पीते हैं। जैसे प्रासादकी शोभाके लिए प्रदीप जलाया जाता है, पर मार्गप्रकाशन द्वारा गमनका भी हेतु होता है एवं जैसे वृक्षके मूलमें तर्पण करनेसे वृक्ष सिञ्चित होता है और पितर भी तृप्त होते हैं, वैसे ही प्रकृतमें भी समझना चाहिए।

प्राणो वै ग्रहः सोऽपानेनातिग्राहेण गृहीतोऽपानेन हि गन्धाञ्जिघ्रति ॥२॥
वाग्वै ग्रहः स नाम्नाऽतिग्राहेण गृहीतो वाचा हि नामान्यभिवदति ॥३॥

समाधान—हाँ, एकसे अनेक फल होते हैं, यह हम भी मानते हैं, परन्तु वाक्यके विषयमें विशेष यह है कि 'सकृदुक्तः सकृदेवार्थं गमयति' इस नियमसे एक वाक्यकी यथाश्रुत अर्थसे अर्थवत्ता होनेपर फिर अर्थान्तरमें उसके तात्पर्यकी कल्पना नहीं की जाती। अनेक अर्थोंको माननेपर 'अर्थैक्यादेकं वाक्यम्' इत्यादि जैमिनिसूत्रसे अनेक-वाक्यत्वापत्ति दोष होगा, 'संभवति एकवाक्यत्वे अनेकवाक्यताया अन्याय्यत्वात्' यह विद्वानोंका परम सिद्धान्त है। जहां कहीं अनेक अर्थ माने जाते हैं, वहाँ आवृत्ति आदिकी आवश्यकता होती है। यह पौरुषेय वाक्यमें प्रायः दोष नहीं है, पर अपौरुषेय वाक्यमें प्रबल प्रमाण होनेपर ही अनेकार्थ होता है, अन्यथा नहीं। प्रकृतमें प्रमाण है नहीं, अतः अनेकार्थ मानना उचित नहीं है।

शङ्का—प्रमाण क्यों नहीं है? 'विद्यां चाविद्यां च' इत्यादि मन्त्र समुच्चयपरक है। निवृत्ति द्वारा कर्मकाण्ड मोक्षार्थ भी है, ऐसा माननेसे ही विद्याके साथ कर्मकाण्डका समुच्चय सिद्ध हो सकता है, अन्यथा नहीं।

समाधान—मन्त्र समुच्चयपरक हैं या नहीं? इसीका प्रथम निर्णय करना चाहिए। उक्त मन्त्र समुच्चयपरक नहीं हैं, यह आगे स्पष्ट होगा। अतः ग्रहातिग्रहलक्षण मृत्यु बन्ध है, उससे मोक्ष कहना चाहिए, इसलिए इसका आरम्भ करते हैं। जो कोई यह कहते हैं कि कर्मकाण्ड न बन्धके लिए है और न मोक्षके लिए है, किन्तु अन्तराल (बीचकी) अवस्थामें अवस्थानके लिए है, उनका निराकरण करते हैं—'न च जानीम' इत्यादि भाष्यसे। जैसे कोई यह कहे कि विषयग्रहणवेलामें पुरुष न सोता है और न जागता है, किन्तु अन्तराल अवस्थामें अवस्थित रहता है, वैसे ही यह भी है अर्थात् यह अर्थ ही दुर्घट है। जैसे मुर्गीकी आधी देह भक्षणार्थ और आधी प्रसवार्थ रखनेका कौशल किसीमें नहीं पाया जाता है, वैसे ही कर्मकाण्ड न बन्धके लिए है और न मोक्षके लिए है, ऐसा व्याख्यान करनेका कौशल हममें नहीं है। इसको अर्द्धजरतीय कहते हैं। आधे शरीरमें यौवन, आधेमें वार्धक्य यह जैसे असंभव है, वैसे ही यह श्रुत्यर्थ भी असंभव है। या तो मुक्त ही होगा या बद्ध ही। जब उन दो अवस्थाओंसे अतिरिक्त तृतीय अन्तरालावस्था ही नहीं है, तब उसमें अवस्थान

जिह्वा वै ग्रहः स रसेनातिग्राहेण गृहीतो जिह्वया हि रसान्विजानाति ॥४॥
चक्षुर्वै ग्रहः स रूपेणातिग्राहेण गृहीतश्चक्षुषा हि रूपाणि पश्यति ॥५॥
श्रोत्रं वै ग्रहः स शब्देनातिग्राहेण गृहीतः श्रोत्रेण हि शब्दाञ्छृणोति ॥६॥
मनो वै ग्रहः स कामेनातिग्राहेण गृहीतो मनसा हि कामान्कामयते ॥७॥

कहां ? मृत्युकी व्याप्तिका अतिक्रमण कर मुक्त होता है, यह कहकर जो ग्रहातिग्रह कहा गया है, वह तो यह सब साध्यसाधनलक्षण बन्ध है, इस अभिप्रायसे कहा गया है। उस बन्धका, मृत्यु पदार्थके साथ अन्वय देखनेसे, ग्रहातिग्रहसे छुटकारा नहीं है। बेड़ीके ज्ञात होनेपर ही बेड़ीसे बद्ध पुरुषको छुड़ानेका यत्न करना चाहिए। यदि बेड़ीको ही नहीं पहचानेंगे, तो उससे पुरुषको कैसे छुड़ा सकेंगे ? इसलिए मुमुक्षुके सप्रयोजक बन्ध ज्ञानके लिए ही उत्तर ब्राह्मणकी प्रवृत्ति है।

'अथ हैनम्' इत्यादिमें हशब्द ऐतिह्यार्थक है। अश्वलके चुप हो जानेपर जरत्कारु-गोत्रमें उत्पन्न ऋतभागके अपत्य (पुत्र) आर्तभागने याज्ञवल्क्यसे पूछा। 'याज्ञवल्क्येति होवाच' यह स्वाभिमुखीकरणार्थ सम्बोधन है। पूर्ववत् प्रश्न है कि कितने ग्रह हैं और कितने अतिग्रह हैं ? इतिशब्द वाक्यकी परिसमाप्तिका सूचन करनेके लिए है।

शङ्का—प्रश्नकर्ताको ग्रह और अतिग्रह ज्ञात थे अथवा नहीं ? यदि ग्रह और अतिग्रह ज्ञात थे, तो तद्गत संख्यारूप गुण भी ज्ञात ही था, फिर संख्याविषयक प्रश्न नहीं बनता। यदि कहिये कि अज्ञात थे, तो संख्येयविषयक प्रश्न हो सकता है—'के ग्रहाः' इस प्रकार। संख्याविषयक प्रश्न नहीं हो सकता—कति-ग्रहा इत्यादि। अपिच, सामान्यका ज्ञान होनेपर ही विशेषकी जिज्ञासासे प्रश्न होता है, जैसे यहाँपर कौन कठ है, कौन कलाप है ? इत्यादि। ग्रह और अतिग्रह पदार्थ लोकमें प्रसिद्ध नहीं हैं, जिससे कि यह विशेषार्थ प्रश्न है, यह कह सकें।

यदि कहो कि अतिमुक्त होता है, यह कहा है। ग्रहसे गृहीतका ही मोक्ष होता है, अतः ग्रह और अतिग्रह प्राप्त हैं, तो यह कहना भी युक्त नहीं है, क्योंकि वहां भी चार ग्रह और अतिग्रह ज्ञात ही थे—वाक्, चक्षु, प्राण और मन। फिर कितने, यह प्रश्न ठीक नहीं होता, क्योंकि संख्या भी ज्ञात ही है।

समाधान—वहाँपर चतुष्टय संख्या विवक्षित नहीं है, यहाँ ग्रहातिग्रहमें अष्टत्व-संख्या विवक्षित है, इसलिए 'कति ग्रहाः', 'कति अतिग्रहाः' यह प्रश्न समुचित है। स मुक्तिः, सातिमुक्तिः, यों मुक्ति और अतिमुक्तिके दो बार कहे जानेपर ग्रह और अति-

हस्तो वै ग्रहः स कर्मणातिग्राहेण गृहीतो हस्ताभ्यां हि कर्म करोति ॥८॥ त्वग्वै ग्रहः स स्पर्शेनातिग्राहेण गृहीतस्त्वचा हि स्पर्शान्वेदयत इत्येतेऽष्टौ ग्रहा अष्टावतिग्रहाः ॥ ९ ॥

अधिभूताधियज्ञादिपरिच्छेदफलात्मकः ।
मोहासङ्गात्मको मृत्युर्ग्रहातिग्रहबन्धवान् ॥ २ ॥

ग्रह भी सिद्ध हैं, इसलिए ग्रह और अतिग्रह कितने हैं ? यह पूछते हैं ? महर्षि श्रीयाज्ञवल्क्यजीने उत्तर दिया—आठ ग्रह हैं और आठ अतिग्रह हैं।

शङ्का—कौन आठ ग्रह हैं और कौन आठ अतिग्रह हैं ?

समाधान—प्राण ग्रह है। यहाँ प्राणशब्द घ्राणपरक है।

शङ्का—क्यों ?

समाधान—प्रकरणसे।

शङ्का—कौन प्रकरण है ?

समाधान—वायुसहित इन्द्रिय। गन्धग्रहणार्थ वायुमहित कहा है। अपान अतिग्रह है। यहाँ अपानशब्द गन्धपरक है। अपानोपनीत गन्धका सब लोग ग्रहण करते हैं। वाग् ग्रह है। अध्यात्मपरिच्छिन्न, आसङ्गविषयास्पद एवं असत्य, (अनृत) असभ्य, बीभत्स आदि वचनमें व्यापृत वाक्से गृहीत लोग अपहृत होते हैं, इस कारणसे वाक् ग्रह है। वह नामरूप अतिग्रहसे गृहीत है यानी वागाख्य ग्रह नामरूप (वक्तव्यविषयरूप) अतिग्राहसे गृहीत है। 'अतिग्राह' यहाँ दीर्घ छान्दस है। वक्तव्यार्थ ही वाग् है। उस वक्तव्यार्थसे प्रयुक्त वाग् उससे वशीकृत है। इस कारणसे उसकी उसके कार्यका छुटकारा किये बिना मुक्ति नहीं होती, इस कारणसे नामातिग्रहसे गृहीता वाग्, ऐसा कहा गया है। वक्तव्यासंगसे प्रवृत्त वाग् सब अनर्थोंसे युक्त होती है। इसीके समान अन्य श्रुतियोंका भी अर्थ समझना चाहिए। उत्तर प्रश्नोंमें विशेष बात नहीं है। जैसे पूर्व प्रश्नके उत्तरमें कहा गया है, वैसे ही सब जगह प्रश्नोत्तर हैं। तात्पर्य यह है कि घ्राण, वाग्, जिह्वा, चक्षु, श्रोत्र, मन, हस्त और त्वग् ये आठ ग्रह हैं और गन्ध, नाम, रस, रूप, शब्द, काम, कर्म, स्पर्श ये आठ अतिग्रह हैं। इनके ज्ञानके अनन्तर मुक्तिकी चेष्टा युक्त है ॥१–९॥

यदि कहो कि ग्रहातिग्रहरूप मृत्युका असाधारण रूप कहना चाहिए ? इसपर कहते हैं—'अधिभूता०' इत्यादिसे।

> ग्रहाः प्राणादयो ज्ञेया गृह्णन्ति विषयान् यतः ।
> घ्राणादिप्रेरकत्वेन गन्धाद्याः स्युरतिग्रहाः ॥ ३ ॥

अधिभूताधियज्ञादिमें पठित आदिशब्दसे अध्यात्मका परिग्रह है। अनादि अज्ञानसे समुत्पन्न जो अधिभूत आदि हैं, उनका परिच्छेद करनेवाला यानी अग्न्यादि देवताओंमें परिच्छेद, परिमितत्वादिज्ञान करनेवाला क्रियाकारकफलात्मक मोहासङ्गास्पद ग्रहातिग्रहलक्षण पाप मृत्यु है, अपरिच्छिन्न आत्मामें प्राणेन्द्रियादिगत परिच्छिन्नत्वज्ञान अनादि अज्ञानप्रयुक्त है, इसीसे आसङ्ग होता है, अतएव स्वाभाविक ज्ञान-कर्मोंमें ही लौकिक पुरुषकी प्रवृत्ति होती है, शास्त्रीय ज्ञान-कर्मोंमें नहीं। पूर्व ब्राह्मणमें यह कहा है कि वागादिकी उपासनासे अग्न्यादिदेवभावापत्ति होती है, सो मुक्ति है और प्राणोपासनासे सूत्रभावापत्ति जो होती है, वह अति मुक्ति है, पर ये भी दोनों मृत्युग्रस्त हैं।

शङ्का—अग्न्यादिभावापत्ति भले ही मृत्यु हो। पर ज्ञानकर्मसमुच्चयसे जो सूत्रात्मभावापत्ति होती है, वह यथार्थ मुक्ति है, ऐसा क्यों नहीं मानते ?

समाधान—हिरण्यगर्भकी उत्पत्ति 'हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे' इत्यादि श्रुतिसे प्रसिद्ध ही है, अतः वह भी घटादिके समान अनित्य ही है। अग्न्यादि, सूत्रात्मा तथा जगन्मात्रमें उत्पत्त्यादिका सम्बन्ध है, अतः ये सब मृत्युग्रस्त हैं, इसलिए ज्ञानसे अज्ञानके निरास द्वारा उससे मुक्त होना चाहिए, इसीलिए यह ब्राह्मण है। ज्ञानकर्मका फल देवभावापत्ति पूर्वमें यद्यपि कही गई है, तथापि वह ग्रहातिग्रहरूप मृत्युसे ग्रस्त ही है, अतः वह भी बन्ध ही है ॥ २ ॥

'ग्रहाः' इत्यादि। प्राणादि इन्द्रियाँ ग्रह हैं।

शङ्का—क्यों ?

समाधान—यतः 'विषयान् गृह्णन्ति' विषयोंका ग्रहण करती हैं, इसलिए वे ग्रह कही जाती हैं। घ्राणादि इन्द्रियोंके प्रेरक गन्ध आदि विषय हैं, अतः गन्धादि विषय अतिग्रह हैं। अनादि वासनासे वे घ्राण आदिके प्रेरक हैं, अतएव वे घ्राण आदि ग्रहोंका अतिक्रमण कर उन्हें स्ववशमें करते हैं।

शङ्का—प्राण आदि 'गृह्णन्ति' इस व्युत्पत्तिसे ग्रह हो सकते हैं, पर गन्धादि अतिग्रह कैसे हैं ?

समाधान—बुद्धिमें अनादि कालसे स्थित वासनाके विषय गन्ध आदि शुभ कर्मसे तथा अशुभ कर्मसे प्रेरित होकर स्वाकार ज्ञानके उत्पादनार्थ घ्राणादि

पूर्वब्राह्मणसंप्रोक्तध्यानसंयुक्तकर्मभिः ।
परिच्छेदविनाशेऽपि मृत्योः सर्वस्य न क्षयः ॥ ४ ॥
हिरण्यगर्भरूपेऽपि श्रूयन्ते हि क्षुधादयः ।
अतो मृत्योरशेषस्य मृत्युरन्योऽत्र पृच्छ्यते ॥ ५ ॥
निर्णयौ मृत्युतन्मृत्यू बन्धमोक्षाववुद्धये ।
दुर्वचौ च ग्रहादीनां लोकेऽत्यन्ताप्रसिद्धितः ॥ ६ ॥

इन्द्रियोंकी प्रेरणा करते हैं, इस रीतिसे विषय ग्रहोंका अतिक्रमण कर अपने वशमें ले आते हैं, इसलिए विषय अतिग्रह कहलाते हैं ॥ ३ ॥

'पूर्वब्राह्मण०' इत्यादि ।

शङ्का—'यदिदम्' इत्यादिसे जो दूसरा प्रश्न किया है, सो ठीक नहीं है, क्योंकि 'स मुक्तिः सातिमुक्तिः' यहाँपर सूत्रप्राप्ति मृत्युनिवर्तकरूपसे कही गई है, अतएव अतिमुक्ति कही ही है ?

समाधान—पूर्वब्राह्मणोक्त ध्यानसमुच्चित कर्मसे परिच्छेदका विनाश होनेपर भी सम्पूर्ण मृत्युका क्षय नहीं होता, सम्पूर्ण मृत्युक्षयको मुक्ति कहते हैं, अतएव उसका नाम अतिमुक्ति रक्खा गया है। यदि वास्तविक मुक्ति होती, तो शब्दान्तरकी क्या आवश्यकता थी ? हिरण्यगर्भस्वरूपापन्न होनेपर मृत्युसे छुटकारा नहीं होता, यह अग्रिम श्लोकसे स्फुट करेंगे ॥ ४ ॥

'हिरण्यगर्भ०' इत्यादि । हिरण्यगर्भरूपमें भी अशनायादि होते हैं, यह पूर्वमें कह चुके हैं । अशनाया आदि भी मृत्यु ही हैं, मृत्युके अविषय नहीं हैं, इस कारण आर्तभाग व्यवस्थासे सम्पूर्ण मृत्युओंकी मृत्यु यहाँ पूछते हैं । हिरण्यगर्भकी कल्पादिमें उत्पत्ति होती है, यह श्रुति, स्मृति और पुराण आदिमें प्रसिद्ध है । जिसकी उत्पत्ति होती है, उसका घटादिके समान नाश भी होता है, यह न्याय-सिद्ध अर्थ है ॥ ५ ॥

'निर्णयौ' इत्यादि ।

शङ्का—मृत्यु और मृत्युकी मृत्युका निश्चय पुरुषार्थ नहीं है, अतः उनका निर्णय करनेके लिए दो प्रश्न अयुक्त हैं ?

समाधान—यह बन्ध है, यह मोक्ष है, इस प्रकारके निश्चयके बिना बन्धनिवृत्ति चाहनेवाले पुरुषकी मोक्षके उपायमें प्रवृत्ति नहीं हो सकती, इसलिए मृत्यु और उसकी

ग्रहातिग्रहवद् बन्धो देहोऽप्येष तथाप्यसौ ।
जन्मान्तरेष्वसञ्चारान्नाऽप्रसिद्धो न दुर्वचः ॥ ७ ॥
एकमेव मनः सर्वजन्मगामीति तार्किकाः ।
अक्षान्तराण्यपीत्यन्ये तेन सङ्ख्याऽत्र दुर्वचा ॥ ८ ॥

मृत्युका ज्ञान भी परम्परया सुखहेतु होनेसे पुरुषार्थ है, अतः उसका विवेक आवश्यक है। बन्ध और मोक्षके ज्ञानके लिए मृत्यु और उसकी मृत्युका निर्णय अवश्य करना चाहिए। चक्षु आदिकी इन्द्रियत्वरूपसे घटादिकी विषयत्वरूपसे लोकमें प्रसिद्धि है, परन्तु ग्रहत्वेन एवं अतिग्रहत्वेन प्रसिद्धि नहीं है। उक्त अर्थमें ग्रहातिग्रहशब्द लोकमें अत्यन्त अप्रसिद्ध हैं, अतः साधारण विद्वान्‌के दुर्वच हैं, अतः याज्ञवल्क्यके वैदुष्यकी परीक्षाके लिए उक्त प्रश्न समुचित है ॥ ६ ॥

'ग्रहातिग्रह०' इत्यादि ।

शङ्का—उक्त रीतिसे बन्धका निर्णय अवश्य करना चाहिए, अतएव ग्रहातिग्रहका निर्णय करनेके लिए यदि प्रश्न किया गया है, तो इन्द्रिय और विषयके ही समान देह भी बन्ध है, उसके निर्णयके लिए भी प्रश्न करना उचित था, पर देहके निर्णयके लिए प्रश्न नहीं किया गया, इसमें क्या कारण ? यदि कहिए कि प्रश्नके बिना भी उसके अर्थका निर्णय हो जाता है, इसलिए इस विषयमें प्रश्न नहीं किया गया, तो ग्रहातिग्रहके विषयमें भी प्रश्न व्यर्थ है, क्योंकि देहके समान ग्रहातिग्रहका भी निर्णय हो सकता था ।

समाधान—दोनोंमें वैषम्य है। जैसे इन्द्रियका जन्मान्तरमें संचार है, वैसे देहका नहीं है। प्राणका इन्द्रियोंके साथ उत्क्रमण होता है तथा अन्य शरीरमें इन्द्रियोंके साथ ही स्थिति होती है, वैसी देहकी स्थिति प्रसिद्ध नहीं है और देह बन्धात्मक है, फिर भी उसका स्वरूप अतिप्रसिद्ध है, अतः देहमें और उसकी संख्यामें विवाद नहीं है, इस कारण उसकी चर्चा यहाँ नहीं की ॥ ७ ॥

ग्रहशब्दसे कही जानेवाली इन्द्रियोंकी संख्यामें विप्रतिपत्ति दिखलाते हुए इन्द्रियोंमें दुर्वचत्वका उपपादन करते हैं—**'एकमेव'** इत्यादिसे ।

अकेला अणुपरिमाण मन ही लोकान्तरमें जाता है और अन्य इन्द्रियां स्वर्गीय भोगादृष्टवश नवीन उत्पन्न होती हैं, यह तार्किकोंका सिद्धान्त है। उनके मतमें वस्तुतः आत्ममनःसम्बन्धमात्रका निर्णय आवश्यक है। इन्द्रियान्तररूपबन्धोंका वियोग तो स्वतः ही मरणानन्तर हो जायगा, किन्तु मनके नित्य होनेसे उसके

मनोन्यायः समोऽन्येषु तेनाऽशेषविवक्षया ।
पर्यग्रहीदक्षसंख्यामन्यान्तर्भावदर्शिताम् ॥ ९ ॥

सम्बन्धका परिहार करनेके लिए उसका ज्ञान आवश्यक है, केवल उसीसे मुक्ति हो जायगी; इतर इन्द्रियोंके ज्ञानकी आवश्यकता नहीं है। अद्वैतवेदान्ती श्रुतिरूप प्रमाणसे सब इन्द्रियोंका भूलोक एवं स्वर्गलोकमें गमनागमन मानते हैं। उनके मतमें सब इन्द्रियोंकी निवृत्तिके लिए यत्न करना चाहिए। केवल मनकी ही निवृत्तिके लिए नहीं। एवं संख्यामें भी विप्रतिपत्ति है। एकादश इन्द्रियाँ सांख्य मानते हैं, छः इन्द्रियाँ नैयायिक मानते हैं, वे कर्मेन्द्रियाँ नहीं मानते। कोई मनको इन्द्रिय मानते हैं, कोई नहीं मानते। अतः इन्द्रियसंख्यामें विप्रतिपत्ति है, उसके निरासके लिए तद्विषयक प्रश्न आवश्यक है ॥ ८ ॥

'**मनोन्यायः**' इत्यादि। विमतानि लोकान्तरं गच्छन्ति, इन्द्रियत्वात् मनोवत्, यह न्याय शेष इन्द्रियोंमें समझना चाहिए। जैसे मनको इन्द्रिय मानते हैं और लोकान्तरमें फलोपभोगार्थ गमनागमन मानते हैं, वैसे ही इतर इन्द्रियोंका भी फलोपभोगार्थ गमनागमन आवश्यक है।

शङ्का—मन तो नित्य है, नित्यका उत्पाद और विनाश नहीं होता, इसलिए गमनागमन मानते हैं, पर अन्य इन्द्रियाँ तो अनित्य हैं, उनकी उत्पत्ति हो सकती है, अतः उनके गमनागमनकी कल्पना व्यर्थ है।

समाधान—प्रतिजन्म अपूर्व इन्द्रियोंका अनन्त उत्पाद और विनाश माननेमें महागौरव है। अतः उक्त कल्पनाकी अपेक्षा मनके समान अन्य इन्द्रियोंके गमनागमनकी कल्पनामें ही लाघव है। इस आशयसे आठ ग्रह कहते हैं।

शङ्का—यदि सब इन्द्रियां बन्ध हैं, तो एकादश कहना था, आठ क्यों कहा?

समाधान—पाद, पायु, उपस्थ—इनका इन्हींमें अन्तर्भाव मानकर वैसा कहा है अथवा उपलक्षणार्थ आठ कहा है, एकादशमें तात्पर्य है। वार्तिकसारकी आदर्श-प्रतिमें 'मन्येऽन्तर्भाव०' इत्यादि पाठ है, सो मुद्रणदोषसे हुआ ज्ञात होता है। 'मन्यान्तर्भाव' ऐसा पाठ होना चाहिए। एषु अष्टसु इन्द्रियेषु अन्यासां पादादीनामन्तर्भावः तद्दर्शितां संख्यां पर्यग्रहीत् याज्ञवल्क्यः अर्थात् पाद, पायु, उपस्थ—इन तीन इन्द्रियोंका उक्त आठ इन्द्रियोंमें अन्तर्भाव करनेसे आठ इन्द्रियां हुईं। इसलिए उत्तरमें आठ संख्या कही गई है ॥ ९ ॥

यस्येन्द्रियस्य योऽर्थोऽस्मिन् जन्मन्यन्यत्र तत्तथा।
उताऽन्यथेति सन्देहात्सङ्ख्येयं पृच्छयते पुनः॥ १० ॥
दृष्टानुसार्यदृष्टं तु कल्पनीयमितीदृशात्।
न्यायात् प्राह यथादृष्टमिन्द्रियार्थव्यवस्थितिम्॥ ११ ॥
बन्धत्वं विशदीकर्तुं ग्रहातिग्रहकल्पनम्।
मोचनीयो ग्रहग्रस्तस्तथैवाऽज्ञानबन्धनात्॥ १२ ॥

'यस्येन्द्रियस्य' इत्यादि।

शङ्का—माना कि इन्द्रियसंख्यामें उक्त रीतिसे विप्रतिपत्ति है, इसलिए तद्विषयक प्रश्नोत्तर ठीक है, किन्तु उसके स्वरूपमें तो विप्रतिपत्ति नहीं है, अतः 'कतमे ते' यह प्रश्न क्यों हुआ?

समाधान—इस जन्ममें जिस इन्द्रियसे जो अर्थ गृहीत होता है, वही अर्थ जन्मान्तरमें भी उससे गृहीत होता है, अथवा अन्यथा भी, यह सन्देह होता है। सब प्राणियोंमें समान इन्द्रियाँ नहीं होतीं, यह स्वाभाविक सृष्टिका नियम है, जैसे सर्पको श्रोत्र नहीं होता, वह चक्षुसे ही देखता और सुनता है, इसीलिए उसका नाम चक्षुःश्रवा है। इसी प्रकार उनसे क्षुद्र प्राणियोंमें और न्यून इन्द्रियां होती हैं। मनुष्यमें भी जो अन्ध, पङ्गु, मूक आदि हैं, उनमें पूर्ण इन्द्रियाँ कहां होती हैं? उनमें जन्मान्तरमें ये ही इन्द्रियां रहेंगी या अन्य भी होंगी, यह संशय होता है, इसलिए संख्याके समान संख्येयमें भी संशय होता है, अतः संख्यावत् संख्येयका भी प्रश्न समुचित है॥ १० ॥

'दृष्टानुसार्य०' इत्यादि। 'दृष्टके अनुसार अदृष्टकी कल्पना करनी चाहिए' इस न्यायसे ऋषिने उत्तर दिया कि जैसे इन्द्रियोंकी व्यवस्था वर्तमानमें दीख पड़ती है। वैसे ही जन्मान्तरमें भी इन्द्रियाँ होंगी। यज्जातीयमें जितनी इन्द्रियां देखी जाती हैं, तज्जातीयमें उतनी ही इन्द्रियां जन्मान्तरमें भी होती हैं, यह स्वाभाविक प्रकृतिका नियम है। जैसे मनुष्यमें एकादश इन्द्रियाँ वर्तमान समयमें देखी जाती हैं, जन्मान्तरमें मनुष्य जातिमें उतनी ही इन्द्रियाँ होंगी। भोगजनक अदृष्टवश इन्द्रियाँ न्यून भी हो जाती हैं, यह दूसरी बात है, पर यह संभावना नहीं कि भावी मनुष्यजातिमें १२ या १३ भी इन्द्रियाँ होंगी॥ ११ ॥

'बन्धत्वम्' इत्यादि। बन्धको विशद करनेके लिए इन्द्रियोंमें ग्रहातिग्रहकी

श्रुतिः—याज्ञवल्क्येति होवाच यदिदꣳ सर्वं मृत्योरन्नं कास्वित्सा देवता यस्या मृत्युरन्नमित्यग्निर्वै मृत्युः सोऽपामन्नमप पुनर्मृत्युं जयति॥१०॥

कल्पना की गई है ।

शङ्का—बन्ध तो पुरुषार्थ नहीं है, अतः तद्विषयक जिज्ञासासे प्रश्न भी समुचित प्रतीत नहीं होता ।

समाधान—दो प्रकारके विषय जिज्ञासित होते हैं, एक तो वे हैं, जो इष्ट या इष्ट-साधन हैं, उनके ग्रहणके लिए उनका ज्ञान अपेक्षित होता है और दूसरे वे हैं, जो अनिष्ट या अनिष्ट-साधन हैं, उनके त्यागके लिए उनका ज्ञान अपेक्षित होता है। ज्ञानके बिना उपादेयका उपादान और हेयका हान—ये दोनों नहीं बन सकते। बन्ध प्रकृतमें त्यागके लिए जिज्ञासित है। त्याग भी दो प्रकारके होते हैं—एक आत्यन्तिक और और दूसरा अनात्यन्तिक । अनात्यन्तिक त्याग सुषुप्ति अवस्थामें प्राणिमात्रको प्राप्त होता है, उसके लिए ज्ञानकी आवश्यकता नहीं है, वह प्रकृतिके नियमसे ही हो जाता है, परन्तु आत्यन्तिक त्यागके लिए ज्ञानकी आवश्यकता होती है ।

शङ्का—ज्ञान तो पदार्थका प्रकाशक है, कारक नहीं है; अतः ज्ञानसे बन्धा-भाव कैसे होगा ?

समाधान—हाँ, ज्ञान प्रकाशक है, किन्तु स्वविरोधी अज्ञानका नाशक है । बन्ध अज्ञानसे हुआ है, अज्ञानके नाशसे 'कारणके अभावसे कार्यका अभाव होता है' इस न्यायसे बन्धका अभाव होता है । यह प्रश्न मनुष्योंके कल्याणके लिए किया गया है, क्योंकि यह बद्धको छुड़ानेके लिए है । बद्ध छूटनेकी इच्छा करता है, किन्तु उपायज्ञानके न होनेसे उसके लिए प्रवृत्ति समीचीन नहीं होती, इसलिए यह प्रश्न सर्वजनीन है ॥ १२ ॥

'याज्ञवल्क्येति होवाच' इत्यादि श्रुति । ग्रहातिग्रहका उपसंहार होनेपर फिर याज्ञवल्क्यका संबोधन किया—**'याज्ञवल्क्येति'** । जो यह सब जगत् मृत्युका अन्न है, जो व्याकृत स्थूल नामरूपात्मक पञ्चीकृत जगत् है, यह सब मृत्युका अन्न है, क्योंकि सब उत्पन्न होता है और नष्ट होता है । ग्रहातिग्रहलक्षण मृत्युसे सब ग्रसा है, वह कौनसा देवता होगा, जिसका मृत्यु भी अन्न होगा ? क्योंकि 'मृत्युर्यस्योपसेचनम्' इस श्रुतिसे स्पष्ट मालूम होता है कि मृत्युका भी कोई मृत्यु अवश्य है । प्रश्नकर्ताका अभिप्राय यह है कि यदि मृत्युका भी कोई मृत्यु है,

ग्रस्तं हिरण्यगर्भान्तं मृत्युना सकलं जगत् ।
ग्रहातिग्रहरूपेण मृत्युस्तस्याऽस्ति वा न वा ॥ १३ ॥
अस्ति चेदनवस्था स्यादनिर्मोक्षोऽन्यथा भवेत् ।
इत्यसौ दुर्वचः प्रश्नो दृष्टान्तेनाऽपनुद्यते ॥ १४ ॥

ऐसा कहेंगे, तो अनवस्था होगी और यदि इस भयसे न कहेंगे, तो इस ग्रहातिग्रहलक्षण मृत्युसे मोक्ष नहीं हो सकेगा। ग्रहातिग्रहका नाश होनेपर ही मोक्ष हो सकता है। यदि ग्रहातिग्रहलक्षण मृत्युका भी वह मृत्यु होगा, तो इसका विनाश होगा; इसलिए यह प्रश्न दुर्वच है; ऐसा मानकर पूछते हैं, कौन वह देवता है, जो मृत्युका भी मृत्यु है। यदि इसमें अनवस्था दोष मानो, तो वह ठीक नहीं है, क्योंकि उक्त दोष नहीं होगा, जो सबका मृत्यु है, उसका अन्य मृत्यु नहीं हो सकता।

शङ्का—कैसे यह समझते हैं कि मृत्युकी भी मृत्यु है?

समाधान—देखा जाता है। सबकी मृत्यु अग्नि प्रसिद्ध ही है, क्योंकि मृत्यु विनाशक है; अग्नि जगत्-मात्रकी विनाशक है, इसलिए अग्निको मृत्यु कहते हैं, किन्तु उस अग्निरूप मृत्युको जल खा जाता है 'सोऽग्निरपामन्नम्' ऐसी श्रुति है; अग्नि जलका अन्न है—भक्ष्य—है। इसलिए मानो कि मृत्युकी भी मृत्यु है। वह मृत्यु-मृत्यु सब ग्रहातिग्रहलक्षण मृत्युसमूहका भक्षण करती है। सब बन्धनोंका नाश होनेपर संसारसे मोक्ष होता है। ग्रहातिग्रहलक्षण बन्धनोंको पूर्वमें कह चुका हूं, उनसे मोक्ष हो जाता है, यह भी सिद्ध कर आये हैं, अतः बन्ध-मोक्षके लिए पुरुषप्रयास सार्थक है ॥ १० ॥

'ग्रस्तं हिरण्य०' इत्यादि। हिरण्यगर्भपर्यन्त सम्पूर्ण जगत् मृत्युसे ग्रस्त है, वह मृत्यु ग्रहातिग्रहलक्षण है; उसका भी कोई मृत्यु है या नहीं? ॥ १३ ॥

'अस्ति चेद०' इत्यादि। यदि मृत्युकी मृत्यु कहिए, तो उसका भी कोई मृत्यु है या नहीं, यह प्रश्न होगा। यदि उसकी भी मृत्यु कहियेगा, तो फिर प्रश्न होगा। इस प्रकार जब तक मृत्युकी कोई दूसरी मृत्यु कहियेगा, तब तक प्रश्न होता रहेगा, कभी प्रश्नसे छुटकारा नहीं होगा। यदि इस अनवस्था-दोषके भयसे ही मृत्युकी मृत्यु न कहियेगा, तो उस मृत्युकी निवृत्ति न होनेसे मुक्ति नहीं हो सकेगी। अद्वितीय आत्माके अवशिष्ट रहनेपर ही मुक्ति मानी जाती है, इसलिए यह प्रश्न दुर्वच है। मृत्युकी मृत्युका निर्देश करें, तो अनवस्था होगी, न

वह्नेः सर्वाशिनो मृत्योर्यथा मृत्युर्जलं महत् ।
बन्धमृत्योस्तथा मृत्युरज्ञानं बन्धहृल्लये ॥ १५ ॥
अज्ञानमृत्योर्विज्ञानं मृत्युस्तस्याऽपि तत्तथा ।
तत्कातकरजोन्यायान्नाऽनवस्थामिहाऽऽनयेत् ॥ १६ ॥

करें, तो मुक्ति नहीं होगी और मुक्तिकी उपपत्ति आवश्यक है। यह समझकर आर्तभागने याज्ञवल्क्यसे प्रश्न किया और यह समझा कि वे इसका उत्तर न दे सकेंगे। इस क्लिष्ट प्रश्नका निराकरण दृष्टान्तसे करते हैं ॥ १४ ॥

'वह्नेः सर्वाशिनो' इत्यादि। सबका भक्षण करनेवाली अग्नि है, उसका भक्षण अधिक जल करता है। महान् अग्नि थोड़े जलसे नहीं निवृत्त होती। बड़े-बड़े दमकलोंकी जरूरत पड़ती है। थोड़े जलको तो अग्नि ही खा जाती है, इसलिए जलमें महान् विशेषण दिया है। अज्ञान सर्वबन्धमृत्युका मृत्यु है, क्योंकि लयमें यानी सुषुप्त्यादिमें बन्धका अपहरण अज्ञान ही करता है, इसलिए वही मृत्यु है। भाव यह है कि मृत्यु कोई नियत भावस्वरूप नहीं है, जैसा कि लोकमें समझते हैं, किन्तु जो जिसका विनाशक है, उसका वही मृत्यु कहलाता है। जैसे सबकी नाशक होनेसे अग्नि स्वनाश्यके प्रति मृत्यु है, अग्निका नाशक जल है, अतः जल अग्निका मृत्यु है। सुषुप्तिदशामें बन्धका हृदयस्थ अज्ञानमें लय होता है, अतः हृदयस्थ अज्ञान बन्धका मृत्यु है ॥ १५ ॥

'अज्ञानमृत्यो०' इत्यादि।

शङ्का—अज्ञानका मृत्यु कौन है?

समाधान—विज्ञान यानी आत्मतत्त्वज्ञान अज्ञानका मृत्यु है।

शङ्का—अच्छा तो विज्ञानका मृत्यु कौन है? यदि उसका भी कोई मृत्यु होगा, तो अनवस्था ही होगी, इससे अद्वैतात्मस्वरूप मोक्षकी अनुपपत्तिके सिवा और कुछ हाथ नहीं लगेगा।

समाधान—विज्ञान ही विज्ञानका मृत्यु है।

शङ्का—विज्ञान अज्ञान और उसके कार्यका निवर्तक है, यह मानना ठीक है, क्योंकि तेज और तिमिरके समान उन दोनोंमें परस्पर विरोध है, अतएव जैसे प्रकाशसे तिमिरकी निवृत्ति होती है, वैसे ही प्रकाशरूप विज्ञानसे तिमिररूप अज्ञानकी निवृत्ति और कारणीभूत अज्ञानकी निवृत्तिसे उसके कार्यरूप सम्पूर्ण

प्राक्तनान्यपि जन्मानि सम्यग्ज्ञानमपह्नुते ।
अपह्नुते स्वमित्यस्मिन्नर्थे ते का चमत्कृतिः ॥ १७ ॥

दृश्यकी भी निवृत्ति हो सकती है । किन्तु विज्ञानसे विज्ञानकी निवृत्ति कैसे हो सकती है ? तलवारकी धार कितनी भी तीक्ष्ण क्यों न हो, पर वह अपनेको नहीं काट सकती ?

समाधान—ठीक है, पर सब जगह उक्त नियम लागू नहीं होता, किन्तु वस्तुस्वभाववश कहीं स्वयं भी स्वका निवर्तक होता है—जैसे कतकरज । पङ्किल जलको स्वच्छ करनेके लिए कतकरज लोकमें प्रसिद्ध है । उसको (निर्मलीके चूर्णको) जलमें डाल देनेसे वह जलगत भौमरजको नीचे दबाकर फिर स्वयं भी स्वतः दबकर जलको स्वच्छ कर देता है । वहाँ जैसे भौमरजके अधःपातमें और स्वपातमें भी उक्त रज ही कारण है, वैसे ही विज्ञान अज्ञान, अज्ञानकार्य और स्वके नाशमें भी कारण है, विज्ञाननाशके लिए दूसरी मृत्युकी अपेक्षा नहीं है, अतः अनवस्था दोष नहीं है और न उक्त मोक्षकी ही अनुपपत्ति है ।

शङ्का—अज्ञान आदिकी निवृत्ति अज्ञान आदि स्वरूपसे अतिरिक्त ही होगी, अतः उसकी निवृत्तिके लिए अन्य मृत्युकी अपेक्षा अवश्य होगी, अतः अनवस्थाका परिहार नहीं हुआ ।

समाधान—अज्ञान आदिकी उत्पत्तिका निरोधक जैसे विज्ञान है, वैसे ही नाशका भी निरोधक है । भाव यह है निवर्त्यतावच्छेदकरूपाक्रान्तमात्रका निवर्तक विज्ञान है । निवर्त्यतावच्छेदक दृश्यत्व है, वह जैसे अज्ञान आदिमें है, वैसे ही तन्निवृत्तिमें भी है, इसलिए अनवस्था दोष नहीं है । लोकमें प्रदीपका निवर्तक वायु है । वायुसे प्रदीपके बुझनेपर फिर उसकी निवृत्ति आदिकी निवृत्तिके लिए कोई कारण नहीं माना जाता एवं प्रकृतमें भी निवर्तकान्तरकी अपेक्षा नहीं है । तात्पर्य यह है कि बन्धमात्रका निवर्तक तत्त्वज्ञान है । ब्रह्मातिरिक्त द्वैत बन्ध है, अतः निवृत्ति आदि भी बन्ध ही है । उसका भी निवर्तक तत्त्वज्ञान ही है, दूसरा नहीं है; इसलिए अनवस्थादि दोषका सम्भव नहीं है ॥ १६ ॥

'प्राक्तनान्यपि' इत्यादि । ब्रह्मज्ञानमें विचित्र शक्ति है । वह पुरातन अनेक जन्मोंका भी नाश करता है, फिर वह अपना नाश करे इसमें तुम्हें आश्चर्य क्या है ? ब्रह्मवेत्तामें विज्ञानसे ऐसी बुद्धि उत्पन्न होती है कि तीनों कालोंमें मेरा जन्म

श्रुतिः—याज्ञवल्क्येति होवाच यत्रायं पुरुषो म्रियत उदस्मात्प्राणाः क्रामन्त्याहो३ नेति नेति होवाच याज्ञवल्क्योऽत्रैव समवनीयन्ते स उच्छ्व-यत्याध्मायत्याध्मातो मृतः शेते ॥ ११ ॥

नहीं है। असङ्ग आत्मामें जन्म आदिका सम्बन्ध मिथ्याभिमानसे है। उक्त विज्ञानसे मिथ्याभिमानकी निवृत्ति होनेपर त्रैकालिक जन्म आदिके संबन्धका अभाव आत्मामें सिद्ध होता है।

शङ्का—याज्ञवल्क्यके उत्तरमें सम्यग्ज्ञानका नाम तो नहीं है, फिर आप विज्ञान मृत्युका मृत्यु है, यह किस आधारसे कहते हैं?

समाधान—यद्यपि साक्षात् ज्ञानपद उत्तरवाक्यमें नहीं है, तो भी अर्थसङ्गतिसे ज्ञानपदका अध्याहार आवश्यक है, अन्यथा 'अप पुनर्मृत्युञ्जयति' यह फलश्रुति सर्वथा अनुपपन्न हो जायगी। आत्मैकत्वज्ञान होनेपर फिर मृत्यु नहीं हो सकती, इसलिए समीचीन आत्मज्ञान ही मृत्युका मृत्यु विवक्षित है, अर्थान्तर नहीं। अज्ञान सबका मृत्यु है, विज्ञान उसका मृत्यु है। विज्ञान आत्मैकत्वज्ञान है, उसीसे मुक्ति होती है ॥ १७ ॥

'याज्ञवल्क्येति होवाच' इत्यादि श्रुति। परमात्मदर्शनस्वरूप पर मृत्युसे मृत्युका भक्षण होनेपर जो मुक्त विद्वान् पुरुष है, वह जिस कालमें मरता है, उस समयमें वागादि ग्रह और नामादि अतिग्रह, जो वासनारूपसे अन्तस्थ हैं, उनका ब्रह्मवेत्तासे उत्क्रमण होता है या नहीं? नहीं, वे उत्क्रान्त नहीं होते हैं, ऐसा श्रीयाज्ञवल्क्यजीने कहा। वे यहीं परमात्माके साथ अविभक्त हो जाते हैं। विद्वान्‌के कार्य, करण—शरीरेन्द्रिय—आदि स्वकारण परब्रह्मतत्त्वमें लीन हो जाते हैं, जैसे समुद्रमें तरङ्गें लीन हो जाती हैं। वैसे ही दूसरी श्रुति है, जो कलाशब्दवाच्य प्राणोंका परमात्मामें लय कहती है—'एवमेवास्य परिद्रष्टुरिमाः'। इससे परमात्माके साथ प्राण अविभक्त हो जाते हैं, यह स्पष्ट दिखलाया है। सविषय एकादश इन्द्रियाँ और पांच प्राण मिलकर सोलह हुए, उनका लय पुरुषसे अतिरिक्तमें नहीं है, यह सूचित करते हैं—'पुरुषं प्राप्य अस्तं गच्छन्ति'।

शङ्का—यदि प्राणोंका उत्क्रमण नहीं होता, तो वह मरता ही नहीं, ऐसा कहिए।

समाधान—नहीं, मरता क्यों नहीं है? निश्चेष्ट—चेष्टासे (कर, चरण आदिके

अथ तत्त्वविदः प्राणा उत्क्रामन्त्यथवा नहि ।
स्यात्पुनर्जनिरुत्क्रान्तावनुत्क्रान्तौ मृतिः कथम् ॥ १८ ॥
नोत्क्रामन्ति न तिष्ठन्ति किन्तु निर्वाणदीपवत् ।
न कारणं शिष्यतेऽत्र तस्य ज्ञानेन निह्नुतेः ॥ १९ ॥
अनारब्धफलं कर्म तदुत्क्रान्तेः प्रयोजकम् ।
स्थितेर्निमित्तमारब्धं ते नष्टे ज्ञानभोगतः ॥ २० ॥

व्यापारसे) शून्य—हो जाता है, अतः मरता ही है। पर प्राणोंका उत्क्रमणरूप जो मरण है, वह नहीं होता, क्योंकि बन्धका नाश होनेपर मुक्तका कहीं गमन नहीं होता ॥११॥

'अथ तत्त्व०' इत्यादि । स्वतः जीवका उत्पाद और विनाश नहीं होते, यह विचार तो हो चुका है। चैतन्यके संबन्धसे जो अचेतन शरीर जीवित कहलाता है, वियोगसे मृत कहलाता है वह शरीर ही मरता है, उसके संबन्धसे आत्मामें गौण मरणव्यवहार है ।

शङ्का—प्राणका ही लय होता है अथवा काम आदिका भी ? प्रथम पक्षमें प्राणोंका लय होनेपर भी कामादिवशसे पुनर्जन्म अनिवार्य्य है, उत्तर पक्षमें मुक्ति हो सकती है, पर प्रयोजकका निर्देश नहीं है ।

समाधान—यहाँ प्राणपद सप्रयोजक प्राणका उपलक्षक है, अतः पुनर्जन्मकी शङ्का नहीं हो सकती, श्लोकका अर्थ स्पष्ट है । तत्त्ववित्‌के प्राणकी उत्क्रान्ति होती है, अथवा नहीं ? प्रथम पक्षमें पुनर्जन्म होगा। द्वितीय पक्षमें मरण कैसे ? प्राणके उत्क्रमणसे ही 'पुरुषो मृतः' यह व्यवहार होता है, अन्यथा नहीं ॥ १८ ॥

'नोत्क्रामन्ति' इत्यादि । तत्त्ववेताके प्राण न ऊपर ही निकलते हैं और अज्ञानियोंके समान कारणरूपसे स्थित ही रहते हैं, यह कहना तो असंभव है, क्योंकि प्राण या तो निकलते हैं या स्थित रहते हैं ।

शङ्का—मरणके अनन्तर कैसे प्राण रह सकते हैं ।

समाधान—अज्ञके प्राण जैसे प्रलय आदि अवस्थामें बुते हुए प्रदीपके समान अज्ञानमें कारणात्मना अवस्थित रहते हैं, अन्यथा जन्मान्तरका अभाव ही हो जायगा, वैसे ज्ञानीके प्राण नहीं रहते, क्योंकि ज्ञानीका जन्मान्तर है नहीं, अतः कारणात्मनावस्थिति भी नहीं है, अनवस्थानमें हेतु है ज्ञानसे अपह्नुति अर्थात् आत्मतत्त्वज्ञानसे अज्ञानके साथ ही प्राणोंकी भी निवृत्ति हो जाती है ॥ १९ ॥

'अनारब्धफलम्' इत्यादि । अनारब्धफलक वे कर्म कहे जाते हैं, जो अपने

उपादाननिमित्ताभ्यां हीनानामुत्क्रमः कथम् ।
कथं वाऽत्र स्थितिस्तस्माद्युक्त आत्यन्तिको लयः ॥ २१ ॥
प्राणत्यागेन देहोऽयं म्रियते बाह्यवायुना ।
आपूर्णः स्थौल्यमापन्नो निश्चेष्टो दृश्यते यतः ॥ २२ ॥

फलोंको देनेके लिए प्रवृत्त अभी नहीं हुए हैं। कर्मोंके फलोन्मुखपरिणाममें देश, काल, आदि तथा बलवत्कर्मप्रतिबन्धाभाव हेतु है। कोई कर्म जन्मान्तरमें फल देनेवाले होते हैं, क्योंकि वर्तमान जन्ममें तन्निमित्त देश, काल आदि नहीं हैं, उन कर्मोंकी स्थिति रहती है। वे ही प्राणोत्क्रान्तिके निमित्त होते हैं। तत्त्ववेत्ताके अनारब्धफलक कर्म नहीं रह जाते। 'भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः। क्षीयन्ते चास्य कर्माणि' इत्यादि श्रुति और 'ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन' इत्यादि स्मृतिसे तत्त्वज्ञानसे सबका नाश हो जाता है; अतः प्रयोजकाभावसे प्राणोत्क्रमण नहीं होता। तथा स्थितिका प्रयोजक प्रारब्ध कर्म है। स्वापादि अवस्थामें प्राणका स्वकारणात्मना जो अवस्थान होता है, उसका प्रयोजक प्रारब्ध कर्म है। वह भी तत्त्वज्ञानीमें नहीं है। प्रथमके अभावमें कारण तत्त्वज्ञान है और द्वितीयके अभावमें कारण भोग है। उक्त दो कारणोंसे दो प्रयोजकोंकी निवृत्ति होनेसे तदीय प्राणोंकी उत्क्रान्ति या स्थिति दोनों नहीं होती, यह श्रुतिका तात्पर्य है ॥ २० ॥

'उपादान०' इत्यादि। अज्ञान उपादान है और उक्त दो कर्म निमित्त हैं। तत्त्वज्ञानसे इन दोनोंका नाश हो गया है, अतः उपादान तथा निमित्त कारणसे रहित प्राणोंकी उत्क्रान्ति कैसे होगी? अतएव स्थिति भी नहीं हो सकती, उपादानका नाश होनेपर उपादेय अवश्य नष्ट हो जाता है, अन्यथा उपादानोपादेयभाव ही नहीं होगा, अतः प्राणका आत्यन्तिक लय होता है, यही सिद्धान्त युक्तियुक्त है ॥२१॥

'प्राणत्यागेन' इत्यादि। प्राणोंके त्यागसे वर्तमान देह मरता है। मरनेके अनन्तर बाह्य वायुसे भर जाता है, अतएव स्थूल हो जाता है, अर्थात् फूल जाता है, निश्चेष्ट होनेसे मरा कहा जाता है। यद्यपि वस्तुतः आत्मा मरता नहीं और शरीर अचेतन ही है, तो भी जिस प्राणादिके संयोगसे शरीरमें कर, चरण आदिके व्यापार होते हैं, उस प्राणादिका त्याग करनेसे शरीर तादृश व्यापारसे शून्य हो जाता है, इसलिए शरीरमें ही मुख्य मरणका व्यवहार है और तत्संबन्धसे आत्मामें

श्रुतिः—याज्ञवल्क्येति होवाच यत्रायं पुरुषो म्रियते किमेनं न जहातीति नामेत्यनन्तं वै नामानन्ता विश्वेदेवा अनन्तमेव स तेन लोकं जयति ॥ १२ ॥

उक्त व्यवहार गौण है, यह पूर्वमें कह चुके हैं। उपनिषत्में पुनरुक्त दोष नहीं होता, इसलिए फिर लिख दिया है ॥ २२ ॥

'याज्ञवल्क्येति होवाच' इत्यादि श्रुति। मुक्त पुरुषके प्राण ही ब्रह्ममें लीन होते हैं या तत्प्रयोजक काम, कर्म आदि भी? यदि प्राण ही लीन होते हैं, तत्प्रयोजक लीन नहीं होते, ऐसा कहो, तो प्रयोजक रहनेपर, फिर प्राणोंका प्रसंग प्राप्त होगा, इससे मुक्ति ही नहीं हो सकेगी। यदि प्राण और तत्प्रयोजक काम, कर्म आदि सबका लय होता है, ऐसा कहो, तो मोक्ष हो सकता है, इसलिए उत्तर प्रश्न है—याज्ञवल्क्येति होवाच' इत्यादिसे। तत्त्वज्ञानी जब मरता है, तब कौन वस्तु तत्त्वज्ञानीको नहीं छोड़ती? याज्ञवल्क्यजीने उत्तर दिया कि नाम। और सब अविभक्त हो जाते हैं नाममात्रका लय नहीं होता।

शङ्का—नाम अनित्य है, उसका लय क्यों नहीं होता?

समाधान—नामका तात्पर्य नामत्वमें है, वेदान्तमें मीमांसकके समान आकृतिमें शक्ति है। नामत्व नित्य है। नामत्व नित्य है, इसमें 'अनन्तं वै नामा०' यह श्रुति ही प्रमाण है।

शङ्का—श्रुतिमें तो 'अनन्तं' पद आया है, नित्य नहीं।

समाधान—आनन्त्य ब्रह्ममें नित्यत्व ही है, व्यक्तिभेद तो स्पष्ट है, अतस्तदभिधान निष्प्रयोजन है, इसलिए अनन्तत्वाभिधान नित्यत्वके तात्पर्यसे है। यद्यपि मुक्तकी दृष्टिसे नाम भी अवशिष्ट नहीं रहता, तथापि परदृष्टिसे नामका अवशेष रह जाता है; अतएव 'शुको मुक्तः, वामदेवो मुक्तः' इत्यादि व्यवहार होता है। वस्तुतस्तु अद्वैतश्रुतिके अनुरोधसे नामत्वमें भी अनित्यत्व ही है। नित्यत्वाभिधान व्यावहारिक नित्यत्वके तात्पर्यसे है, 'ब्रह्मास्मि' (मैं ब्रह्म हूँ) इस दर्शनसे विश्वेदेवाको भी आत्मरूप मानकर अनन्त लोकका जय करता है। वस्तुतः यह कथन ब्रह्मविद्याकी स्तुतिके लिए अनुवादात्मक है। विद्वान्को आत्मातिरिक्त अन्य लोक प्राप्तव्य नहीं और न उसकी दृष्टिसे लोक आदि हैं, 'यत्र सर्वमात्मैवाभूत्' इस श्रुतिके अनुसार अद्वैत आत्माका ही अवस्थान रहता है ॥ १२ ॥

प्राणा एव विलीयन्ते किं वा सर्वं प्रयोजकम् ।
आद्ये प्राणजनिर्भूयो द्वितीये नाम तत्कथम् ॥ २३ ॥
अप्रयोजकनामैव शिष्यते न प्रयोजकम् ।
अविद्याकामकर्मादि नोक्तदोषद्वयं ततः ॥ २४ ॥
परवाचाऽभिनिष्पत्तेर्विदुषो बन्धनं प्रति ।
नामाप्रयोजकं युक्तस्तच्छेषः परदेहवत् ॥ २५ ॥

'प्राणा एव' इत्यादि । क्या केवल प्राण ही विलीन होते हैं ? या सब प्रयोजक काम, कर्म आदि भी विलीन हो जाते हैं ? प्रथम पक्षमें प्राणप्रयोजक काम, कर्म आदिके रहनेपर तो फिर भी प्राणका जन्म होगा, क्योंकि कारणके रहनेपर कार्य अवश्य ही होता है, अन्यथा कारणसत्ता ही सिद्ध नहीं होगी। कथञ्चित् सत्ता मानी भी जाय, तो व्यभिचारसे कार्यकारणभावका ही भङ्ग हो जायगा। द्वितीय पक्षमें नामका शेष कैसे रह सकता है ? सबमें नाम भी आ जाता है ॥ २३ ॥

'अप्रयोजक०' इत्यादि । प्राणादिकी उत्पत्तिमें अप्रयोजक केवल नाम ही अवशिष्ट रहता है, उनकी उत्पत्तिके प्रयोजक अवशिष्ट नहीं रहते ।

शङ्का—प्रयोजक कौन हैं ?

समाधान—अविद्या और काम, कर्म आदि । इसलिए उक्त दोष यानी प्रयोजकके रहनेपर प्राणादिकी उत्पत्ति और सबकी निवृत्ति होनेपर नामकी भी निवृत्ति होनेसे नामावशेष कैसे ? ये दो दोष प्रकृतमें नहीं आ सकते। नाम प्राण आदिकी उत्पत्तिमें प्रयोजक नहीं है और जो प्रयोजक हैं, वे अवशिष्ट नहीं रहते । अतः नामका शेष और प्रयोजकके अभावसे प्राणादिकी अनुत्पत्ति दोनों ठीक हैं ॥२४॥

नाम अप्रयोजक है, इसका उपपादन करते हैं—**'परवाचाऽ०'** इत्यादिसे ।

नाम बन्धका प्रयोजक नहीं है, स्वकृत ही बन्धकी उत्पत्तिका प्रयोजक होता है । तत्त्वज्ञानीका नाम तत्त्वज्ञानी पुरुष द्वारा कृत नहीं है, किन्तु पुरुषान्तर द्वारा यानी माता, पिता आदि द्वारा कृत है । नामकरण व्यवहारके लिए किया जाता है, स्वशब्द और अहमादि शब्दसे अपना अपनेसे प्रत्यक्षादि व्यवहार हो जाता है । अन्यकर्तृक परोक्षादि साधारण व्यवहारके लिए नामकरण आदि होते हैं । इसमें दृष्टान्त कहते हैं—'परदेहवत्' । जैसे परकर्मार्जित परकीय शरीर स्वबन्धका कारण नहीं होता,

भर्तृप्रपञ्च आहाऽत्र नाममात्रावशेषिणः ।
पुंसोऽन्तरालेऽवस्थानं द्वयोः संसारमोक्षयोः ॥ २६ ॥
हिरण्यगर्भपर्यन्तः संसारोऽज्ञानकर्मजः ।
भोगेन क्षपिते तस्मिन्निवृत्तं स्याद्वपुर्द्वयम् ॥ २७ ॥
अविद्यया परिच्छिन्नो जीव ऊषररूपया ।
भवेदद्वैतविद्यायामधिकारी विमुक्तये ॥ २८ ॥

कारण कि वह स्वकृत नहीं है, किन्तु परकृत है, अतः परबन्धका कारण है, वैसे ही नाम भी परकृत है, इसलिए प्राणादिकी उत्पत्तिका प्रयोजक नहीं है, अतः नाम परदेहवत् अवशिष्ट रहता है। तात्पर्य यह निकला कि एककी मुक्ति होनेपर जैसे संसारभरकी मुक्ति नहीं होती, शरीरान्तरका शेष रहता है, वैसे ही नामका शेष रहता है। अप्रयोजकत्व दोनोंमें समान है ॥ २५ ॥

'भर्तृप्रपञ्च' इत्यादि। यहाँपर भर्तृप्रपञ्चनामक आचार्यने ऐसा कहा है कि नाममात्रावशेषी तत्त्वज्ञानी पुरुषका संसार और मोक्षके अन्तरालमें (बीचमें) अवस्थान रहता है ॥ २६ ॥

'हिरण्यगर्भ०' इत्यादि। स्तम्बादिसे लेकर हिरण्यगर्भपर्यन्त संसार है। क्रमसे सब कर्मोंका अनुष्ठान कर और सब फलोंका उपभोग करके प्राणोपासक ज्ञानकर्मसमुच्चयके अनुष्ठानसे हिरण्यगर्भका पद पाता है। उस अवस्थामें ऐसा कोई फल नहीं है, जो न पा चुका हो। अप्राप्त फलकी इच्छा होती है। जब कोई फल अप्राप्त ही नहीं है, तब कामादिकी सुतरां ही निवृत्ति हो जाती है। कामादिकी निवृत्तिसे दो शरीरोंकी भी निवृत्ति हो जाती है। शरीर भोगार्थ है, जब भोग है ही नहीं और जो थे वे सब भुक्त हो चुके, तब शरीर भी निवृत्त हो जाता है।

शङ्का—दो देहोंकी निवृत्ति हो जानेसे वह मुक्त हो जाता है। यद्यपि सदा ही मुक्त है, तथापि दो देह मुक्तिके आविर्भावमें प्रतिबन्धक हैं, प्रतिबन्धककी निवृत्ति होनेपर मुक्तिकी अभिव्यक्ति हो जाती है।

समाधान—नहीं, मुक्त नहीं होता, किन्तु संसार और मोक्षके बीचमें तत्त्वज्ञानी अवस्थित रहता है ॥ २७ ॥

'अविद्यया' इत्यादि। ऊषर वह भूमि है, जिसमें घास भी नहीं उगती। उस ज्ञानीकी अविद्या ऊषरभूमिरूपा है। अतः वह अविद्या ऊषरके समान कार्यक्षम नहीं होती। तादृश अविद्यासे जीव परिच्छिन्न है। परिच्छिन्न जीवको यद्यपि सांसारिक

सुख, दुःख होते हैं, तथापि जिसकी अविद्या ऊषरके समान है, उसके परिच्छिन्न होनेपर भी वह संसारवान् नहीं होता। बुद्धि आदि भी नाममात्रावशिष्ट ज्ञानीमें नहीं रहते, अतएव वह अन्तरालावस्थ होकर अद्वैत ब्रह्मज्ञानका अधिकारी होता है। इसी अन्तरालावस्थ अद्वैत ब्रह्मविद्याके अधिकारीके प्रति परविद्याशेष उत्तरग्रन्थका आरम्भ है। अद्वैतदर्शनसे द्वैतदृष्टिकी निवृत्ति होनेपर ब्रह्मविद्याकी प्राप्ति होती है, यह उक्त आचार्यका मत है।

भर्तृप्रपञ्चके मतको लेकर भगवान् भाष्यकारने यों कहा है—ग्रहातिग्रहलक्षण मृत्युका प्रलय यहाँ मोक्ष कहलाता है। यह प्रलय प्रदीपनिर्वाणके समान होता है। जो ग्रहातिग्रहलक्षण बन्ध मृत्यु है, उसका जो प्रयोजक है, उसके स्वरूपका निर्णय करनेके लिए याज्ञवल्क्येत्यादिका आरम्भ है। यहांपर भर्तृप्रपञ्च यह कहते हैं कि प्रयोजकके साथ ग्रहातिग्रहका विनाश होनेपर भी पुरुष मुक्त नहीं होता, कारण कि ऊषरस्थानीय स्वात्मप्रभव अविद्यासे पुरुष परमात्मासे परिच्छिन्न होता है और भोज्य जगत्से स्वयं भोक्ता व्यावृत्त ही रहता है। हिरण्यगर्भपदकी प्राप्तिसे सब कामोंके पूर्ण हो जानेके कारण उसकी सब कामनाएँ निवृत्त हो जाती हैं, अतएव संसार और मोक्षके अन्तरालमें अवस्थित रहता है। उसका कर्तव्य यह है कि परमात्मदर्शनसे द्वैतका अपनयन करना। इसलिए परमात्मदर्शनका आरम्भ करना चाहिए। इस प्रकार अपवर्गाख्य अन्तरालावस्थाकी परिकल्पना कर भर्तृप्रपञ्च उत्तर ग्रन्थके साथ संबन्ध जोड़ते हैं। इस वक्तव्यमें भाष्यकारका यह प्रश्न है कि ब्रह्म-विद्याधिकारी हिरण्यगर्भसे भिन्न है या अभिन्न? प्रथम पक्षमें मृतका विद्याधिकार कहते हो या जीवितका? प्रथम पक्षके तात्पर्यसे कहते हैं—इन्द्रियोंके विशीर्ण होनेपर जब देहसे रहित तत्त्ववेत्ता हो जाता है, तब उसकी प्रवृत्ति आत्माके दर्शन श्रवण, मनन, निदिध्यासन आदिमें कैसे हो सकती है? शरीर और इन्द्रियोंके बिना जब आत्मा किसी कर्ममें प्रवृत्त नहीं हो सकता, तब नाममात्रावशिष्टका ब्रह्म-विद्यामें अधिकार कैसा? 'मृतः शेते' (मरा हुआ सोता है) ऐसा स्पष्ट कहा है; मृतका कहाँ किसी कर्ममें अधिकार माना गया है? मनोरथसे भी इसकी उपपत्ति नहीं कर सकते हो। द्वितीय पक्षको लेकर जो यह कहते हो अविद्यामात्र जिसको अवशिष्ट रह गई और भोज्यवर्गसे जो व्यावृत्त है उसका विद्यामें अधिकार है सो कैसे हो सकता है? जब तक आत्मैकत्वलक्षण तत्त्वज्ञान नहीं होता तब तक भोज्यसे व्यावृत्ति ही असंभव है। द्वैतमें आत्मैकत्वदर्शनका पूर्वमें

ही निराकरण कर चुके हैं। यह जो कहा कि कर्मसहित द्वैतात्मैकत्वदर्शनसे सम्पन्न विद्वान् मृत अतएव अविभक्तप्राण होकर जगदात्मत्व या हिरण्यगर्भस्वरूपको प्राप्त होता है और अविभक्तप्राण जीवितदशामें भोज्यसे व्यावृत्त (विरक्त) होकर परमात्मदर्शनके अभिमुख होता है, वह युक्त नहीं है, क्योंकि हिरण्यगर्भपदप्राप्ति और भोज्यव्यावृत्ति—ये दोनों फल एक साधनसे नहीं हो सकते। जो हिरण्यगर्भकी प्राप्तिका साधन है, उससे व्यावृत्ति नहीं होती, यदि वह परमात्माभिमुखीकरणरूप भोज्यव्यावृत्तिका साधन होगा, तो हिरण्यगर्भप्राप्तिका साधन नहीं हो सकता। जो गतिका साधन है, वह गतिकी निवृत्तिका साधन नहीं हो सकता, यह लोकमें अतिप्रसिद्ध है। हिरण्यगर्भ विद्याधिकारी है, इस पक्षमें दोष कहते हैं—मरनेके बाद हिरण्यगर्भको प्राप्त कर परतत्त्वमें एकीकृत प्राण नाममात्रावशिष्ट होकर परमात्मज्ञानमें अधिकारी होता है, यदि ऐसा मानियेगा; तो हम लोगोंके लिए ब्रह्मविद्याका उपदेश ही अनर्थक हो जायगा, क्योंकि आपके सिद्धान्तके अनुसार हिरण्यगर्भ ही ब्रह्मविद्याके अधिकारी हैं, दूसरा नहीं। हाँ, बात तो ऐसी ही है, क्योंकि हम लोगोंसे विशिष्ट जो महानुभाव हैं, उन्हींको उक्त विद्या प्राप्त होती है और वे ही मुक्त होते हैं, इसका निराकरण 'सर्वेषाम्' इस भाष्यसे किया गया है। जो आप कहते हैं, सो ठीक नहीं है, क्योंकि 'तद्यो यो देवानाम्' इत्यादि श्रुतिसे सबके लिए समानरूपसे ब्रह्मविद्याका उपदेश है, अतः यह कल्पना अत्यन्त निकृष्ट और शास्त्रबाह्य है। वस्तुतः निर्विशेष चिन्मात्र ब्रह्ममें न विद्या ही है और न अविद्या ही है, न बन्ध ही है और न मोक्ष ही है, इस अभिप्रायसे परपक्षके निराकरण द्वारा उपसंहार कर श्रुतिके व्याख्यानका प्रस्ताव करते हैं—'तस्मात्' से। ग्रहातिग्रहलक्षण बन्धका प्रयोजक कौन है? इसके निर्धारणकी इच्छासे कहते हैं—यत्रेति। असम्यग्दर्शी हस्तपादादिविशिष्ट मृतकी वाग् अग्निमें लीन होती है, प्राण वायुमें लीन होता है, चक्षुका आदित्यमें लय होता है, मनका चन्द्रमामें, श्रोत्रका दिग्में, शरीरका पृथिवीमें और आत्माका आकाशमें लय होता है।

शङ्का—आत्मा नित्य है, उसका लय कैसे हो सकता है?

समाधान—आत्माका अधिष्ठान आकाश यहाँ आत्मशब्दसे विवक्षित है, जो हृदयाकाश कहलाता है, उसका लय महाकाशमें होता है। लोमका ओषधियोंमें लय होता है, केशोंका वनस्पतियोंमें लय होता है। जो फलोंके पकनेके बाद ही सूख जाते हैं, वे ओषधियाँ कही जाती हैं—जैसे व्रीहि, यव आदि। और जो

बिना फूलके फलती हैं, वे वनस्पति कहलाती हैं—जैसे उदुम्बरादि यानी गूलर प्रभृति। रेत और रुधिरका लय जलमें होता है। लय इसलिए कहा कि जहाँ जिसका लय होता है, उसीसे समयपर फिर उसका ग्रहण होता है। यहाँ सब जगह वागादिसे अधिष्ठाता देवता विवक्षित है, करण नहीं। करणोंका तो लोकान्तर या जन्मान्तरमें फलोपभोगके लिए प्राणके साथ ही गमन होता है यह बात श्रुतिरूप प्रमाणसे पूर्वमें सिद्ध कर चुके हैं। मोक्षके पूर्व करणोंका वियोग नहीं होता, अन्यथा भोगार्थ पुनः करणान्तरोत्पत्ति माननी पड़ेगी, उसमें गौरव होगा और सह-गमनप्रतिपादक श्रुतिसे विरोध भी होगा। देवताओंसे अनधिष्ठित करण यानी देवताओंसे असम्बद्ध करण अपने-अपने कार्यमें क्षम नहीं होते; जैसे केवल कुठार पुरुषानधिष्ठित उदासीन रहता है—छिदादि क्रिया नहीं कर सकता। कर्ता विदेह यानी स्थूलदेहशून्य हो जाता है।

शङ्का—अस्वतन्त्र पुरुष उस समय किमाश्रित होता है? इसे पूछते हैं—यह पुरुष कहां रहता है? यानी पुरुष किसका आश्रयण कर रहता है? जिसका आश्रयण कर कार्यकरणसंघात (शरीरेन्द्रियादिसमुदाय) फिर ग्रहण करता है, जिससे ग्रहातिग्रहलक्षण बन्धनको प्राप्त होता है, वह क्या है?

समाधान—इसमें अनेक दार्शनिकोंकी अनेक विप्रतिपत्तियाँ हैं—मीमांसक स्वभाव, चार्वाक यदृच्छा, ज्योतिर्विद् काल, वैदिक कर्म, देवताकाण्डीय देवता, विज्ञान-वादी विज्ञान और माध्यमिक शून्यको प्रयोजक मानते हैं। अतः अनेक विप्रति-पत्तियोंका यह विषय है। इसका निर्णय जल्पकथासे नहीं हो सकता। यदि आप इसका निर्णय चाहते हैं, तो हे सौम्य, आर्तभाग हाथ बढ़ाइये, बाहर चलिए। हम और आप ही आपके प्रश्नमें जो वेदितव्य है, उसको जान सकते हैं और निरूपण कर सकते हैं।

शङ्का—क्यों बाहर जाने की क्या आवश्यकता है? सभामें ही इसका निर्णय कर लेते?

समाधान—नहीं; सजनमें यानी सभामें इसका निरूपण हम और आप नहीं कर सकते; अतः निर्णयार्थ बाहर जानेकी आवश्यता है, इसलिए हम दोनों एकान्तमें चलें, इसके विचारके लिए 'तौ ह' इत्यादि श्रुतिका वचन है। याज्ञ-वल्क्य और आर्तभाग दोनोंने एकान्तमें जाकर क्या किया, सो कहते हैं। उन दोनोंने सभासे निकल कर एकान्तमें परस्पर मन्त्रणा की। प्रथम लौकिकवादियोंके एक एक पक्षको लेकर विचार किया। दोनोंने विचार कर सब पूर्वपक्षोंका चार बार निरा-

नामशेषस्तु तेनैतद् व्याख्यानं नहि युज्यते ।
यस्माद्द्वैतविद्यायां नाऽधिकारो वपुर्विना ॥ २९ ॥

करण कर जो निश्चित किया, उसको सुनो, यह श्रुतिका कथन है । कर्म ही आश्रय है; पुनः पुनः शरीरेन्द्रियोपादानका हेतु है, इसीको वहांपर चार बार कहा । केवल कर्मको कारण ही नहीं कहा, किन्तु काल, कर्म, दैव, ईश्वरादिको कारण माननेपर भी जो दोनोंने प्रशंसा की सो कर्मकी ही प्रशंसा की, इस कारणसे यह निश्चित हुआ कि कर्मप्रयुक्त ही शरीरेन्द्रियोंका पुनः पुनः ग्रहण होता है । अतएव शास्त्रविहित पुण्य कर्मसे पुण्यवान् होता है और शास्त्रनिषिद्ध पाप कर्मसे पाप (पापी) होता है । इस प्रकार उक्त प्रश्नोंका निर्णय करनेपर याज्ञवल्क्यको विचलित करना असम्भव मान कर आर्तभाग उपरत हो गये ॥ २८ ॥

'नामशेषस्तु' इत्यादि । भर्तृप्रपञ्चने नामशेषके विषयमें जो व्याख्या की, सो ठीक नहीं है, कारण कि शरीरादिके बिना अद्वैतविद्यामें अधिकार नहीं हो सकता । श्रवणादिपूर्वक अद्वितीय ब्रह्मविद्या मोक्षफलक है; शरीरादिरहित पुरुष उक्त साधनसंपत्तिके अभावसे अधिकारी नहीं है । भर्तृप्रपञ्चका भाव यह है कि समुच्चयके अनुष्ठानसे सम्पूर्ण द्वैतकार्य कर्मादिका ध्वंस हो जाता है, अतः देहारम्भक भूतमात्राके उपादानमें कोई कारण नहीं है । काम, कर्म आदिसे ही देह ग्रहण करना पड़ता है, वे हैं नहीं, अतः देहशून्य अन्तरालमें अवस्थित रहता है । अविद्यावश परिच्छिन्नत्वज्ञान है; इसीसे ब्रह्मभावापत्ति नहीं हुई । अद्वैतात्मज्ञान होनेपर मुक्ति होगी, इसलिए अन्तरालावस्थ दो शरीरोंसे रहितको आत्मैकत्वज्ञान होनेके लिए उत्तर ग्रन्थका आरम्भ है, यह ठीक नहीं है, क्योंकि सम्पूर्ण द्वैतकी निवृत्तिसे पुरुषार्थसंपत्ति हो गई; अतः वह पुरुष कृतार्थ हो गया, फिर उसके प्रति शास्त्रकी प्रवृत्ति ही नहीं होगी, अद्वैतमतमें द्वैतभान ही अनर्थ है, उसकी निवृत्ति ही पुरुषार्थ है ।

शङ्का—अद्वैतात्मस्वरूप मोक्ष तो सदा सिद्ध ही है, अतः अद्वैतदर्शनके लिए शास्त्रारम्भ है; यह उनका कहना असंगत है ।

समाधान—समुच्चयोपासना और अद्वैतदर्शन दोनोंके कार्य भिन्न-भिन्न हैं, जैसे दाँत और उलूखल । दाँतका चबाना कार्य है और उलूखलका कूटना, अतः एकसे अपरका वैयर्थ्य नहीं कह सकते । वैसे प्रकृतमें उक्तोपासनाका कार्य हिरण्यगर्भ-

पदप्राप्त पुरुषके द्वैतदर्शनसे आसङ्गके कार्योंका ध्वंस हो जाता है। कार्यध्वंस कारण ध्वंसके बिना नहीं होता, इसलिए आसङ्गका भी ध्वंस माना जाता है। आसङ्ग ही शरीरारम्भक भूतोपादानमें कारण है।

शङ्का—द्वैतदृष्टिसे ही सम्पूर्ण कामादि निवृत्त हो जाते हैं, फिर निवर्त्याभावसे ही अद्वैत ज्ञान व्यर्थ है; उक्त ज्ञानका भी तो निवर्त्य द्वैत ही होगा, वह तो सब उक्त ज्ञान हीसे निवृत्त हो गया ?

समाधान—जीवमें परमात्मपरिच्छेदक अविद्यारूप जो ज्ञान वर्तमान है, वही अद्वैतका निवर्त्य है। यह विज्ञान अविद्यास्वरूप है, इसीसे परमात्माकी अपेक्षा अपनेको परिच्छिन्न मानता है।

शङ्का—अविद्या और कर्मादिका कार्य तो एक ही है ?

समाधान—नहीं, दोनोंके कार्य भिन्न-भिन्न हैं। वासनादिसहित कर्म स्वाश्रयका विकारी होता है और अविद्या वस्तुतः अपरिच्छिन्न चिदात्मामें परिच्छेदका आरोप कर कर्ता आदिरूपसे अवस्थानका बोधन कराती है, अतः परिच्छेदका कारण अज्ञान ही है, कर्मादि नहीं हैं।

शङ्का—परिच्छेदक ज्ञानके रहनेपर भी उक्त समुच्चयके अनुष्ठानसे पुरुषकी संसारसे व्यावृत्ति हो ही गई, फिर अद्वैतदृष्टिका क्या प्रयोजन है ?

समाधान—प्रयोजन यह है कि यद्यपि संसारसे व्यावृत्त हो गया है, तथापि परमात्मा पृथक् अतएव संसारविषयस्थ ही है। परमात्मामें इसका लय करना आवश्यक है, अद्वैतज्ञानके बिना परमात्मामें लय नहीं हो सकता, इसलिए उक्त ज्ञान आवश्यक है। समुच्चयके अनुष्ठानसे पहले जैसे परम पुरुषार्थकी प्राप्ति नहीं है, वैसे आगे जबतक ब्रह्ममें लय न होगा, तबतक पुरुषार्थका पर्य्यवसान नहीं होगा, अतः वेदान्तवाक्य निराकाङ्क्ष नहीं हैं, ब्रह्ममें लयहेतु अद्वैतात्मदर्शनके लिए उक्त वाक्यकी प्रवृत्ति है।

शङ्का—यदि द्वैतदर्शन और अद्वैतदर्शनका कार्य भिन्न-भिन्न है, तो दोनोंकी एकवाक्यता नहीं होगी।

समाधान—द्वैतदृष्टिसे संसारका ध्वंस होनेपर भी मोहका ध्वंस नहीं हुआ, अतः संपूर्ण पुरुषार्थ नहीं समाप्त हुआ, इससे उस फलावस्थका ब्रह्मविद्यामें अधिकार माननेसे अधिकृत-अधिकारीभावसे दोनोंमें स्फुट एकवाक्यता होती है।

शङ्का—आपके मतसे ऐक्यदृष्टिसे अविद्याका उच्छेद होनेपर परिच्छिन्नत्वके

न चाऽविद्या परिच्छेत्री तमोरूपा हि सा यतः ।
न संसारक्षये कृत्यमस्त्यद्वैतात्मविद्यया ॥ ३० ॥

अभिमानकी निवृत्ति हो जायगी और उससे सर्वभावापत्ति फल हो ही जायगा, फिर द्वैतदर्शनका क्या प्रयोजन है ?

समाधान—'कारणकी निवृत्तिसे कार्यकी निवृत्ति होती है' इस न्यायसे अविद्याकी निवृत्ति होनेपर उसके कार्य परिच्छिन्नत्वमात्रकी निवृत्ति होगी । पर काम, कर्म आदि अवशिष्ट ही रह जायगा ।

शङ्का—आत्मैकत्वदर्शनसे अज्ञानवत् कार्यका ध्वंस होनेसे काम, कर्म आदि रहनेपर भी अपने कार्य नहीं करेंगे, इसलिए कोई दोष नहीं है ।

समाधान—काम, कर्मादिकी यदि सत्ता रह जायगी, तो फिर अविद्याको उत्पन्न कर देंगे, क्योंकि दोनोंकी एकमें अविभागसे स्थिति रहती है अर्थात् एकके रहनेपर दूसरेकी भी स्थिति आवश्यक है और काम आदिकी स्थितिदशामें मोक्ष ही असम्भव है; कारण कि अशुद्धचित्तमें अद्वैतदर्शन होता ही नहीं, अतएव यज्ञ, दान तथा तप और चित्तशुद्धिके लिए विहित हैं, इसीसे 'आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते' इत्यादि स्मृति सुसङ्गत होती है ॥ २९ ॥

'न चाऽ०' अविद्या परिच्छेदक है, यह जो भर्तृप्रपञ्चने कहा, सो ठीक नहीं है, क्योंकि अविद्या तमोरूपा है । उसका कार्य आवरण है, प्रकाश नहीं, इसलिए ब्रह्मसे हम परिच्छिन्न हैं, यह ज्ञान, जो प्रकाशक है, अविद्यात्मक कैसे हो सकता है ? यदि द्वैतदृष्टिसे उक्त रीतिसे संसारका क्षय मानते हो, तो फिर अद्वैतात्मविद्याका क्या कार्य रह जाता है, जिसके लिए उक्त विद्याकी आवश्यकता हो अर्थात् जो अद्वैत-विद्यासे ही संसारकी निवृत्ति कहते हैं, उनके मतमें उक्त विद्याकी क्या आवश्यकता रह जायगी । क्योंकि आप तो द्वैतज्ञानसे ही संसारापगम कहते हैं; अतः आपके मतमें अद्वैतविद्या निष्फल है और हिरण्यगर्भपदप्राप्तिसे संसारकी निवृत्ति भी असंभव है, हिरण्यगर्भ ही तो संसारके मूल हैं । जो तत्पदप्राप्तिसे सर्वभोगकी समाप्ति कहते हैं, सो भी ठीक नहीं है, अनेक जन्मभोगयोग्य जो कर्मफल हैं, उनका भोग हिरण्यगर्भपदप्राप्तिसे कैसे हो सकता है ? अभुक्त कर्मोंका नाश उक्त पदकी प्राप्तिसे होता है, इसमें कुछ प्रमाण नहीं है ॥ ३० ॥

न च भोगेन संसारः क्षीयते किन्तु वर्द्धते ।
सप्तान्नब्राह्मणे भोक्तुरुक्ता ह्यक्षयहेतुता ॥ ३१ ॥

'न च भोगेन' इत्यादि ।

शङ्का—अच्छा, यदि उक्त पदकी प्राप्तिसे संसारका क्षय नहीं होता, तो भोगसे संसारका क्षय हो जायगा । हिरण्यगर्भ सर्वात्मा है, अतः उसका उपासक भी सर्वात्मा होकर सब कर्मोंके फलोंको भोग सकता है, इसलिए भोगसे ही संसारका क्षय हो जायगा, इसमें तो कोई वक्तव्य नहीं है ।

समाधान—है क्यों नहीं ?

"न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति ।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाऽभिवर्द्धते ॥"

इस न्यायसे सांसारिक फलभोगकी उत्तरोत्तर अभिवृद्धि ही होती रहती है, ऐसा प्रतीत होता है । फलभोग कुछ किये बिना नहीं हो सकता । अतः उसके उपभोगके समय जो कुछ शुभाशुभ कर्म होगा, वही अग्रिम संसारका बीज होगा । इस प्रकार भोग संसारकी वृद्धिका कारण है, ह्रासका नहीं है । इसमें उक्त स्मृतिके अतिरिक्त 'पुरुषो वा अक्षितिः' यह वाक्य भी प्रमाण है। व्रीहि आदि अन्नोंका प्रतिदिन भोजन करनेसे क्षय अवश्य होता है, परन्तु भोक्ता पुरुष स्वकीय ज्ञान-कर्मरूप निमित्तकारणसे भोग्यसमूहका उत्पादक भी होता है, इसलिए अन्नके अक्षयमें पुरुष हेतु है । और यह भी कारण स्पष्ट है कि जन्मान्तरीय शुभाशुभ कर्मोंसे ही वर्तमान सुखदुःखात्मक भोग प्राप्त होते हैं; अन्यथा अकृताभ्यागम और कृत-हानि दोष हो जायँगे । उनके परिहारके लिए वर्तमान भोगके उपयुक्त कर्मोंसे जन्मान्तरमें भोग मानना आवश्यक है । इस प्रकार भोग संसारका वर्धक है, घातक नहीं । प्रायः प्राणिमात्र भोगके समय आसङ्गयुक्त होता है । अतएव कामकर्मादि-वासनाके वैचित्र्यसे पुनः पुनः अन्नोंकी सृष्टि कहते हैं ।

शङ्का—कार्यस्वरूप होनेके कारण शरीर और इन्द्रियकी आरम्भक भूतमात्रा नष्ट हो जाती है और उसके संबन्धसे भोक्ता पुरुष भी नष्ट हो जाता है । यद्यपि केवल पुरुष नित्य है, तथापि वह कर्ता एवं भोक्ता नहीं है । शरीरादिविशिष्ट ही पुरुष कर्ता और भोक्ता होता है। शरीरका नाश होनेपर तद्विशिष्ट कर्ता तथा भोक्ताका अभाव स्फुट ही है, अतः जब पुरुष ही अनित्य है, तब अन्न नित्य कैसे हो सकता है ?

समाधान—प्रदीपकी जैसे पूर्व-पूर्व प्रभाएँ नष्ट होती जाती हैं और उत्तरोत्तर

नई प्रभाएँ उत्पन्न होती जाती हैं, उनका प्रवाहरूपसे अस्तित्व होनेके कारण नाश नहीं कहा जा सकता, वैसे ही शरीर आदिकी आरम्भक भूतमात्राएँ नष्ट हो जाती हैं, किन्तु प्रवाहरूपसे उत्तरोत्तर वे आती जाती रहती हैं। सन्तानके उपचय और अपचयके समान भूतमात्राओंका भी उपचय और अपचय होता रहता है। भोक्ता नित्य है, अतः उसका नाश हो ही नहीं सकता। अन्य भूतोंके उपचयसे प्रवाहरूपसे शरीरादिविशिष्ट कर्ता और भोक्ताका अभाव नहीं होता।

शङ्का—जगत्के जनक जीव हिरण्यगर्भ जगत्का उत्पादन कर और उसका उपभोग कर जब मुक्त हो जायँगे, तब जगत् तो रहेगा नहीं, फिर जगत् अक्षय है, यह कैसे? मोक्षशास्त्रके प्रामाण्यसे यह तो कह नहीं सकते कि हिरण्यगर्भ मुक्त ही नहीं होते।

समाधान—परस्पर भोक्तृभोग्यभावको प्राप्त सब संसारी जीव मिलकर सृष्टि करते हैं। सब जीवोंकी एक समयमें मुक्ति नहीं होती। यदि कोई जीव मुक्त भी हुआ, तो असंख्य अन्य जीव हैं ही, तन्निमित्तक जगत्की अवस्थिति माननेमें कुछ क्षति नहीं है।

शङ्का—जगत्के उत्पादन आदिमें समर्थ बुद्धि, शक्ति आदि सब जीवोंमें हैं नहीं, किन्तु सूत्रात्मा हिरण्यगर्भमें ही उक्त बुद्धि आदि हैं, इसलिए केवल वे ही एक जगत्के उत्पादक हैं, यह श्रुति आदिसे संमत है, फिर संसार अनेक जीवकर्तृक है, यह कैसे कहते हो?

समाधान—अदृष्ट द्वारा सब जीव कर्ता हैं, ऐसा भी शास्त्रका सिद्धान्त है, क्योंकि जीवोंके उपभोगके लिए संसार है, अतएव तादृश अदृष्टके समाप्त होनेपर प्रलय हो जाता है, इसके अनुसार उक्त कथन है। क्षेत्रज्ञमात्र जगत्का कारण है, यह पूर्वमें विशेषरूपसे कह चुके हैं। पूर्वोपपादनसे अन्न अक्षय है, यह सिद्ध हो चुका है। प्रसंगसे यहां भी पूर्व निश्चित वस्तुका स्मरण करा दिया गया है। इससे यहां निष्कर्ष यह निकला कि समुच्चयसे सूत्रात्मपदकी प्राप्तिसे भी कामादिका क्षय नहीं होता, इससे आपकी स्वतन्त्र कल्पना मान्य नहीं है। अतः समुच्चयसे दो देहोंका ध्वंस होता है, यह कहना अप्रामाणिक होनेसे श्रुतिमार्गानुसारियोंको सर्वथा अग्राह्य है।

शङ्का—जगत् अक्षय है, यह आपका कहना उपपत्तिशून्य और श्रुतिविरुद्ध है। 'उत्पन्नो विनाशी, जन्यभावत्वात्, घटवत्' इस अनुमानसे जन्यभावमात्र विनाशी है। जगत् भी जन्य भाव है, अतः अविनाशी कैसे हो सकता है?

और 'यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति' इस श्रुतिसे विनश्वर जगत् ब्रह्ममें प्रवेश करता है, यह स्पष्ट ही है, फिर अक्षय कैसे ?

समाधान—उक्त श्रुति कारणमें कार्यका अव्यक्तरूपसे अवस्थान है, ऐसा कहती है। जैसे सुषुप्ति आदि अवस्थाओंमें इन्द्रियोंका लय बतलाया है, वैसे ही प्रलयावस्थामें जगत्का ब्रह्ममें प्रवेश सत्कार्यवादकी सिद्धिके लिए कहा गया है, अत्यन्त उच्छेदके बोधनके लिए नहीं कहा गया है।

शङ्का—यदि जगत् विनाशी है, तो आपके मतसे भी द्वैतक्षय द्वारा मोक्ष कैसे हो सकता है ?

समाधान—आत्मतत्त्वज्ञानसे ही द्वैतध्वंस होता है, अतएव उक्त ज्ञान पुमर्थ है; ज्ञानसे अतिरिक्त मोक्षका साधन है नहीं। तादृश ज्ञानके उत्पादन द्वारा परम्परया कर्म भी मोक्षका साधन है; ज्ञानके समान साक्षात् नहीं, यही हम लोगोंका वक्तव्य है। 'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति' इत्यादि श्रुतिके अनुरोधसे परम्परया कर्मोंमें अपवर्गहेतुता इष्ट ही है।

शङ्का—उक्त श्रुतिका ज्ञानसहकृत कर्मसे मोक्ष होता है, केवल कर्मसे नहीं, इस अर्थमें तात्पर्य है।

समाधान—'भिद्यते हृदयग्रन्थिः' इत्यादि श्रुतिसे ज्ञान ही मोक्षका साक्षात् कारण है, अन्य नहीं। 'तस्मिन् दृष्टे' (उसका साक्षात्कार होनेपर) इत्यादि श्रुतिसे आत्माका दर्शन हृदयग्रन्थि आदिका निवर्तक है, यह अर्थ स्पष्ट प्रतीत होता है।

शङ्का—यदि ज्ञानसे कर्मका क्षय कहते हो, तो प्रारब्धकर्मका भी नाश हो जायगा, इस परिस्थितिमें जीवन्मुक्तिका ही असम्भव हो जायगा और तत्प्रतिपादक श्रुति, पुराण आदिके साथ विरोध भी होगा ?

समाधान—तत्त्वज्ञान काम्य, निषिद्ध और प्रारब्धेतर कर्मोंका ही नाशक होता है। इस विषयका अन्यत्र विवेचन किया गया है, इसलिए यहाँ इसका विवेचन नहीं करते हैं। यह परम सिद्धान्त सुनिए कि संसारमें जितने शुभाशुभ कर्म हो चुके हैं, उन सबका नाशक आत्मतत्त्वज्ञान है। केवल प्रारब्ध कर्मोंका नाशक नहीं है। अतएव जीवन्मुक्तिकी उपपत्ति होती है।

शङ्का—जैसे ज्ञानसे कर्मक्षय मानते हैं, वैसे ही सूत्रप्राप्तिसे भी कर्मक्षय मानें, तो क्या आपत्ति है ?

समाधान—आपत्ति यही है कि ज्ञानसे कर्मक्षय होता है, इसमें जैसे

आगामिकर्मणोऽश्लेषाद्विद्वद्भोगो न वृद्धिकृत् ।
अज्ञस्य भोगकालीनं कर्म संसारकारणम् ॥ ३२ ॥
नाऽन्तराले स्थितं तस्मान्नामशेषगिरोच्यते ।
किन्तु प्रयोजकाशेषलयान्मुक्तिरुदीर्यते ॥ ३३ ॥

प्रमाण मिलते हैं, वैसे सूत्रप्राप्तिसे कर्मक्षय होता है, इसमें नहीं मिलते। समुच्चयसे सूत्रप्राप्ति और तदन्तर कर्मक्षय होता है, इसका तो निराकरण हो चुका। अविद्या जीवकी परिच्छेदक है, इसका निराकरण संक्षेपसे सुनिये—अविद्याशब्दसे ज्ञानाभाव, अन्यथाग्रह या विपरीतज्ञान इनमें से आपको क्या विवक्षित है ? प्रथम पक्षमें तम आदि आच्छादक होते हैं, प्रकाशक नहीं। द्वितीय पक्षमें 'नीलं नभः' के समान मिथ्याज्ञान वस्तुपरिच्छेदक नहीं माना जाता। 'विमतं न परिच्छेदकम्, मिथ्याज्ञानत्वात्, नीलं नभः इति ज्ञानवत्', इस अनुमानसे उक्त ज्ञानमें परिच्छेदकत्वाभाव ही सिद्ध होता है, परिच्छेदकत्व नहीं इत्यादि विस्तार अन्यत्र देखिये ॥३१॥

'आगामि०' इत्यादि।

शङ्का—आपके (अद्वैतवेदान्तीके) मतमें मोक्ष कैसे होता है ? यदि उपभोग संसारकी वृद्धिका कारण है, तो भोग होनेके कारण जीवन्मुक्तके भी तत्कालीन कर्मसे संसारकी वृद्धि होगी, फिर विदेहमुक्तिकी आशा कैसे ?

समाधान—अज्ञका भोगकालिक कर्म संसारवर्द्धक है, विज्ञका नहीं।

शङ्का—क्यों ?

समाधान—ज्ञानी जो कर्म करता है, उसमें आसक्ति नहीं करता, अतएव भोगकालिक कर्मोंका उसके साथ संश्लेष नहीं होता। पूर्वके कर्म भोगसे निवृत्त हो जाते है। वर्तमान कर्मोंका संश्लेष जब होता ही नहीं, तब संसारकी वृद्धि कैसे होगी ? रह गये सञ्चित कर्म, उनकी निवृत्ति ज्ञानसे होती है ॥ ३२ ॥

'नाऽन्तराले' इत्यादि। नामशेष वाणीका इसमें तात्पर्य नहीं है कि शरीरद्वयरहित पुरुष संसार और मोक्षके अन्तरालमें (बीचमें) रहता है, किन्तु सम्पूर्ण प्रयोजकोंके लयसे मुक्ति होती है, इसमें है।

अच्छा, तो आपके मतसे ब्रह्म जगत्का उपादान है अथवा अविद्या ? प्रथम पक्षमें जड़ और अजड़का तादात्म्य ही विरुद्ध है, अतः कार्यकारणका तादात्म्यसम्बन्ध जो आप मानते हैं, सो असम्भव होगा। यदि तादात्म्यके बिना भी कार्य-

कारणभाव मानें, तो तन्तु और घटका भी कार्यकारणभाव मानना पड़ेगा। जैसे तादात्म्यके असंभवसे उनका कार्यकारणभाव अश्रद्धेय है, वैसे ही ब्रह्म और जगत्‌का भी समझना चाहिए। द्वितीय पक्षमें स्वाभ्युपगमके साथ विरोध होगा। ऊषर-स्वरूप अविद्या परमात्मासे स्वयं होती है और सवासन काम-कर्म पूर्व-पूर्व कामादिवशसे उत्तरोत्तर आत्मामें उत्पन्न होते हैं। कामादि अविद्याकृत नहीं हैं, यह आप कहते हैं, अतः अविद्या कामकर्मात्मक जगत्‌की उपादान है; यह आधुनिक कथन पूर्व कथनसे विरुद्ध होगा। और जो यह कहा था कि यदि काम-कर्म स्थित रहेंगे, तो फिर अविद्याको उत्पन्न कर देंगे, सो भी ठीक नहीं है, क्योंकि अविद्या जब नष्ट हो जायगी, तब कामादि नष्ट अविद्याको फिर नहीं उत्पन्न कर सकते। अविद्याके कारण कामादि नहीं हैं, अकारणसे कार्य नहीं होता और अत्यन्त असत्‌की उत्पत्ति भी नहीं हो सकती, कितनी भी अच्छी वृष्टि क्यों न हो आकाशमें कमल नहीं होते, कारण कि आकाशमें कमल नहीं हो सकते एवं असती अविद्याकी उत्पत्ति नहीं हो सकती।

शङ्का—कमलका उपादानकारण जैसे पृथिवी है और वृष्टि निमित्तकारण है, वैसे ही अविद्याका उपादान ब्रह्म है और कामादि निमित्तकारण हैं, अतः अविद्या अहेतु कैसे ?

समाधान—तो ब्रह्ममें अविद्याकी अत्यन्त समुच्छित्ति नहीं होगी। किञ्च, कारण ब्रह्मके रहनेपर भी यदि अविद्याका अत्यन्त समुच्छेद हो, तो स्वतः नाशशील अविद्याका स्वयं उच्छेद हो जायगा फिर उसके लिए उपायका अनुष्ठान ही व्यर्थ हो जायगा और कामादि यदि अविद्याकी रक्षा नहीं कर सकते, तो नष्ट अविद्याके उत्पादक कैसे हो सकते हैं ? किञ्च, आपने जो यह कहा कि आद्य समुच्चयसे कामादिका ध्वंस होता है अविद्याका नहीं, सो भी ठीक नहीं है; क्योंकि अविद्याके रहनेपर कामादिका नाश ही असम्भव है।

शङ्का—आत्यन्तिक नाश न सही, किन्तु तिरोभाव माननेमें क्या आपत्ति है ?

समाधान—'**नेति नेति**' इस श्रुतिवाक्यकी व्याख्याके साथ विरोध स्पष्ट है। प्रथम 'नेति' से दो मूर्तामूर्तका निरास अभिप्रेत है और द्वितीय 'नेति'से कामादि-भावनाका प्रतिषेध अभिप्रेत है। यदि शान्तमें भी कामादिका ध्वंस नहीं कहकर संस्काराद्यात्मना अवस्थान कहियेगा, तो मूर्तामूर्तब्राह्मणमें 'अथादेशो नेति नेति' इत्यादिकी व्याख्यासे विरोध स्पष्ट होगा। वहाँ वासनाका समुच्छेद स्पष्टतया कहा है। इस विषयका विस्तार अन्यत्र देखिए ॥ ३२ ॥

मुक्तावप्यवशिष्टत्वान्नाम्नोऽनन्तत्वसाम्यतः ।
विश्वान् संपादयन् देवाननन्तं लोकमश्नुते ॥ ३४ ॥
ग्रहातिग्रहबन्धाख्यमृत्योर्यत् स्यात् प्रयोजकम् ।
कालकर्मेश्वरादीनां मध्ये तत्किमितीर्यताम् ॥ ३५ ॥
अविद्वद्विषयः प्रश्नो विदुषो जन्मसंक्षयात् ।
आतत्त्वबोधमज्ञानी बध्यतेऽनन्तजन्मभिः ॥ ३६ ॥
अनुगृह्णन्ति वागादीन् स्वांशैरग्न्यादिदेवताः ।
भोगक्षये मृतौ स्वांशान् संहरन्ति यथायथम् ॥ ३७ ॥

'मुक्तावप्य०' इत्यादि । मुक्ति होनेपर भी नाम अवशिष्ट रहता है 'अहं ब्रह्मास्मि' (मैं ब्रह्म हूँ) इत्याकारक ज्ञानसे अनन्तत्वसाम्यसे विश्वेदेवाको आत्मा मानकर जीव अनन्त लोकको प्राप्त करता है । यद्यपि तत्त्वदर्शन होनेपर केवल आत्मरूप ही वस्तु अवशिष्ट रहती है, अन्य सबकी निवृत्ति हो जाती है, इससे अनन्त लोककी प्राप्ति नहीं हो सकती, तथापि यह श्रुति ब्रह्मविद्याकी स्तावक है । स्तुतिवाक्योंका सर्वत्र प्रतीयमान अर्थमें तात्पर्य नहीं रहता, किन्तु सर्वात्मभावापत्तिरूप फलप्रदर्शन द्वारा रुचिके उत्पादनमें ही तात्पर्य रहता है ॥ ३४ ॥

'ग्रहातिग्रह०' इत्यादि । ग्रह (इन्द्रिय), अतिग्रह (विषय) नामक मृत्यु काल, कर्म, ईश्वर आदिके मध्यमें कौन हैं ? क्योंकि इसमें विद्वानोंकी अनेक विप्रतिपत्तियां हैं । आदिसे स्वभाव, यदृच्छा आदि विवक्षित हैं । भाष्यव्याख्यानके समय विप्रतिपत्ति-कर्ताओंके नामका निर्देश कर चुके हैं । तत्-तत् मतकी साधक युक्तियोंका निरूपण ग्रन्थविस्तारके भयसे, छोड़ दिया । प्रकृतमें वे आवश्यक भी नहीं हैं ॥ ३५ ॥

'अविद्वद्विषयः' इत्यादि । यह प्रश्न अविद्वद्विषयक है । अविद्वान्‌के कर्मोंका प्रयोजक रहता ही है और तदनुसार ही उत्तरोत्तर जन्म होता है । विद्वान्‌के तो प्रयोजकसहित सकल कर्मोंका नाश हो जाता है; अतः जब उसके कर्म ही नहीं हैं, तब प्रयोजक कौन है, यह प्रश्न ही असंगत है । इसलिए उक्त प्रश्न अज्ञानी पुरुषके तात्पर्यसे है । जब तक आत्मतत्त्वबोध नहीं होता, तबतक पुरुष अज्ञानी कहलाता है और वही अनन्तकाल तक जन्मोंसे बद्ध रहता है ॥ ३६ ॥

'अनुगृह्णन्ति' इत्यादि ।

शङ्का—अविद्वान् पुरुषके वागादि इन्द्रियोंका लय तो होता नहीं है, किन्तु

पुंसो देहग्रहणे या देहस्थानेषु देवताः ।
अंशान् निदधति स्वं स्वं न देहग्रहणात् पुरा ॥ ३८ ॥
अधिष्ठातृवियोगेन न्यस्तदात्रोपमैर्युतः ।
वागादिभिरसौ किंस्वित् प्रयोजकमुपाश्रयेत् ॥ ३९ ॥

श्रुतिः—याज्ञवल्क्येति होवाच यत्रास्य पुरुषस्य मृतस्याग्निं वागप्येति वातं प्राणश्चक्षुरादित्यं मनश्चन्द्रं दिशः श्रोत्रं पृथिवीं शरीरमाकाशमात्मौषधी-

लोकान्तर या जन्मान्तरमें स्वकृत शुभाशुभ कर्मके फलोंके भोगके लिए प्राणके साथ गमन पूर्वमें सिद्ध कर चुके हैं, अतः श्रुत वागादिलय विद्वान् पुरुषोंका ही होता है, यह कहना चाहिए ।

समाधान—यहाँपर वागादिशब्दसे तत्-तत् करणाधिष्ठातृदेवतांश विवक्षित हैं; उनका अप्यय होता है यानी वे मरणकालमें करणप्रेरणारूप व्यापारको छोड़कर अग्न्यादिस्वरूपसे अवस्थित रहते हैं, इसलिए कोई आपत्ति नहीं है । कर्मार्जित अग्नि आदि देवतांश भोगार्थ वागादि इन्द्रियोंके अनुग्राहक होते हैं, तत्-तत् देवताधिष्ठित तत्-तत् इन्द्रियाँ तत्-तत विषयोंका ग्रहण करती हैं, उनके द्वारा पुरुष सुख-दुःखादिका उपभोग करता है । और भोगकी समाप्ति होनेपर यथायोग्य अपने अपने अंशोंका वे अपनेमें संहार करते हैं ॥ ३७ ॥

'पुंसो' इत्यादि ।

शङ्का—वर्तमान देहका पात होनेपर वागादि इन्द्रियोंका यदि अग्नि आदि देवताओंमें लय कहते हो, तो अन्य शरीरका ग्रहण करनेपर तत्-तत् अधिष्ठातृशून्य तत्-तत् करण भोगसाधन नहीं होंगे, फिर जन्मान्तरग्रहण किसलिए होगा ?

समाधान—देहग्रहणके समय जो जो देवता जहाँ जहाँ प्रेरकत्वेन स्थित हैं, मरणके बाद पुनः अन्य शरीरका ग्रहण करनेपर फिर वे देवता अपने अपने अंशोंको उन उन स्थानोंमें रख देते हैं । देवताकर्तृक स्वांशस्थापन भोगके लिए है, शरीरादिरहित जीवको भोग प्राप्त नहीं होता, अतः वे स्वांशका उपसंहार कर लेते हैं । जब जीव फिर भोगार्थ शरीरधारण करता है, तब वे देवता अपने अपने अंशको उसमें अर्पण कर देते हैं । परन्तु यह नियम है कि शरीरधारणसे पूर्व स्वांशका समपर्ण देवता नहीं करते हैं, कारण कि उस दशामें कोई भोग नहीं है ॥ ३८ ॥

'अधिष्ठातृ०' इत्यादि ।

शङ्का—स्थूलदेहका त्याग होनेपर भी मोक्षसे पूर्व लिङ्गशरीर रहता ही है;

लोमानि वनस्पतीन्केशा अप्सु लोहितं च रेतश्च निधीयते क्वायं तदा पुरुषो भवतीति । आहर सोम्य हस्तमार्तभागावामेतस्य वेदिष्यावो न नावेतत्सजन इति । तौ होत्क्रम्य मन्त्रयाञ्चक्रोत । तौ ह यदूचतुः कर्म हैव तदूचतुरथ यत्प्रशशꣳसतुः कर्म हैव तत्प्रशशꣳसतुः पुण्यो वै पुण्येन कर्मणा भवति पापः पापेनेति ततो ह जारत्कारव आर्तभाग उपरराम ॥ १३ ॥

इत्युपनिषदि तृतीये द्वितीयं ब्राह्मणं समाप्तम् ॥

किं कारणात्मतामेति किं वा केनचिदात्मना ।
अवतिष्ठत एवाऽयं किं वा कर्मैव संश्रितः ॥ ४० ॥

फिर मरणके बाद पुरुष कहाँ रहता है, यह प्रश्न ही नहीं हो सकता, कारण कि वह लिङ्गशरीरमें रहता है, यह निश्चित है ।

समाधान—हाँ, जीव लिङ्गशरीराश्रित है, परन्तु स्थूल देहके न रहनेपर भूमिस्थित कुठारादिके समान अधिष्ठातासे हीन वागादि इन्द्रियाँ भोगप्रद नहीं होतीं, इसलिए रहना भी न रहनेके समान होनेके कारण भोगहेतुका आश्रयविषयक प्रश्न समुचित ही है । अर्थ—अधिष्ठाता अग्नि आदि देवताके वियोगसे भूमिस्थित कुठारके समान अर्थात् अधिष्ठातासे शून्य वागादिसे युक्त आत्मा किस प्रयोजकका आश्रयण करता है ?

शङ्का—भूमिस्थित कुठार चेतनसे अनधिष्ठित होनेसे स्वकार्य क्षम नहीं होता, परन्तु इन्द्रियाँ चेतन आत्मासे अधिष्ठित हैं, अतः वे कुठारोपम कैसे ?

समाधान—लिङ्गदेहके रहनेपर भी स्थूलदेहके बिना भोग नहीं हो सकता, इसलिए लिङ्गशरीरस्थित जीवचैतन्य इन्द्रियादिका अधिष्ठाता नहीं होता, अन्यथा सूक्ष्म शरीरमें भी भोगकी प्रसक्ति हो जायगी । स्थूलदेह और तत्-तत् अधिष्ठातृदेवतासे शून्य पुरुष कहाँ रहता है अर्थात् उक्त पुरुषका आश्रय कौन है ? यह याज्ञवल्क्यके प्रति प्रश्न है ॥ ३९ ॥

'याज्ञवल्क्येति होवाच' इत्यादि श्रुति । इस श्रुतिका सविस्तर निरूपण १६३५ वें पेजमें भर्तृप्रपञ्चके व्याख्यानके समय कर दिया गया है, अतः यहाँ छोड़ देते हैं ॥ १३ ॥

'किं कारणात्म०' इत्यादि । स्थूल देहका त्यागकर जीव साभास प्रत्यगविद्यालक्षण कारणरूपताको प्राप्त करता है । कतिपय हमारे साथी लोग जीवको भी कार्य कहते हैं । कार्य अव्यक्तदशामें कारणात्मना अवस्थित रहता है, यह भी

गुणान् वा यदि वेशानं कालं वा दैवमेव वा ।
यदृच्छां सन्ततिं शून्यं विनाशं वेति भण्यताम् ॥ ४१ ॥

सब मानते ही हैं, इसलिए जीवका उक्तरूपसे अवस्थान हो सकता है। स्थूल देहका पात होनेपर प्रतिबन्धका अभाव होनेके कारण जीव अपने असाधारण स्वरूपसे स्थित रहता है, 'एष संप्रसादोऽस्माच्छरीरादुत्थाय स्वेन रूपेण' इत्यादि श्रुति इसमें प्रमाण है। मीमांसक, सांख्य और तार्किकोंका मत क्रमसे कहते हैं—मीमांसकमतमें कर्म ही प्रयोजक है। जिसका जैसा शुभ और अशुभ कर्म रहता है, उसको वैसी ही ही ऊँच और नीच योनि मिलती है। 'ये रमणीयचरणास्ते रमणीयां योनिमापद्यन्ते ये कपूयचरणास्ते कपूयां योनिमापद्यन्ते' (जो अच्छे कर्म करते हैं, उन्हें अच्छी योनि और जो बुरे कर्म करते हैं उन्हें बूरी योनि प्राप्त होती है) इत्यादि श्रुति भी इस अंशमें प्रमाण है। ईश्वरप्रयोजकवादमें भी वैषम्य और नैर्घृण्य दोषके परिहारके लिए कर्मका कारणकोटिमें प्रवेश करना ही पड़ता है ॥ ४० ॥

'गुणान्' इत्यादि । सांख्यमतका यह कहना है कि सत्त्व, रज और तम—इन तीन गुणोंकी स्वरूपभूता प्रकृति संसारकी जननी है। यद्यपि प्रकृति अचेतन है, तथापि पुरुषकी छायाप्राप्तिसे चेतन-सी होकर अपने कार्यमें प्रवृत्त होती है। उसकी प्रवृत्ति केवल परार्थ है यानी पुरुषको भोग और अपवर्ग हो, यही उसका उद्देश्य है। यद्यपि पुरुष पुष्करपलाशके (कमलपत्रके) समान निर्लेप है, तथापि विवेकाग्रहसे बुद्ध्यादिगत सुख, दुःख आदिको आत्मगत मानकर सुखादिका भोक्ता होता है। 'प्रकृतिसे मैं भिन्न हूँ' यह विवेक है। इसीसे मुक्ति होती है इत्यादि।

तार्किकोंका मत यह है कि ईश्वर ही सृष्टिका कारण है। कल्पान्तरके अवशिष्ट अदृष्टके उपभोगके लिए वे परमाणु द्वारा सृष्टि करते हैं। प्रयत्नवत्-आत्म-संयोगसे दो परमाणुओंका द्व्यणुकारम्भक संयोग होता है। एवं द्व्यणुकादि तथा त्र्यणुकादि क्रमसे महावयविपर्यन्त सारे पृथिवी आदि पदार्थोंकी उत्पत्ति होती है यानी पृथिवी, जल, तेज, वायु—इन चार भूतोंकी उत्पत्ति होती है। आकाश, काल, आत्मा, दिक् और मन—ये नित्य हैं। ईश्वर ही प्राणियोंके ऊपर अनुग्रह करनेके लिए सृष्टिके आरम्भमें प्रयोज्यप्रयोजकरूपसे दो शरीरोंको धारण कर सम्पूर्ण व्यवहारोंको सिखलाते हैं। ईश्वरके भजनसे अशेषविशेषगुणोच्छेदस्वरूप मुक्ति होती है इत्यादि विस्तार अन्यत्र देखिए।

ज्योतिर्विद्की प्रक्रियासे काल ही सृष्टि, स्थिति और संहारका कारण है। देवताकाण्डके अभिप्रायसे दैव ही सबका कारण है। चार्वाकमतमें यदृच्छासे ही सृष्टि होती है। पहले जीव उत्पन्न होता है पश्चाद् उसका ध्वंस होता है, यह जीवकार्यत्ववादियोंका मत है। इनमें जो आपको अभिमत हो, उसे कहिए। इन प्रश्नोंसे सन्तुष्ट होकर याज्ञवल्क्यजीने प्रश्नकर्ताका हाथ पकड़ लिया उक्त प्रश्नके असाधारण एवं अतिगम्भीर होनेके कारण श्रीयाज्ञवल्क्यजी अत्यन्त सन्तुष्ट हुए। यह प्रश्न और इसका उत्तर हम और आप दो ही जान सकते हैं, अन्य नहीं; इसलिए इसका निर्णय सभासे बाहर चलकर एकान्तमें करें।

शङ्का—ज्ञान तो गोप्य नहीं है, विचारार्थ ही सभा एकत्र हुई थी, फिर बाहर जानेकी क्या आवश्यकता थी?

समाधान—अनधिकारियोंसे विद्या सदा गोप्य रखनी चाहिए, ऐसी श्रुतिकी आज्ञा है—

'विद्या ह वै ब्राह्मणमाजगाम तवाहस्मि त्वं मां पालयस्वानर्हते मानिने नैव मा दाः। गोपाय मा श्रेयसी तेऽहमस्मि विद्यया सार्द्धं म्रियेत न विद्यामूषरे वपेत। ब्रह्मचारी धनदायी मेधावी श्रोत्रियः प्रियो विद्यया वा विद्यां यः प्राह तानि तीर्थानि षण्मम' (विद्या ब्राह्मणके पास आकर कहने लगी मैं तुम्हारी हूँ, मेरी रक्षा करो, अयोग्य और अभिमानीको कभी मत दो, मेरी रक्षा करो, मैं तुम्हारे लिए कल्याणकारिणी हूँ। विद्याके साथ मर जाना श्रेष्ठ है, पर अयोग्य ऊपरमें विद्याको कभी नहीं बोना चाहिए। मेरे छः तीर्थ हैं—ब्रह्मचारी, धनदायी, मेधावी, श्रोत्रिय, प्रिय और जो विद्यासे विद्याका ग्रहण करता है) इत्यादि। एवं

'आचार्यपुत्रः शुश्रूषुः ज्ञानदो धार्मिकः शुचिः।
शक्तोऽर्थदोऽर्थी स्वः साधुरध्याप्या दश धर्मतः॥
विद्ययैव समं कामं मर्तव्यं ब्रह्मवादिना।
आपद्यपि च घोरायां न त्वेनामीरिणे वपेत्॥
विद्या ब्राह्मणमेत्याऽऽह शेवधिस्तेऽस्मि रक्ष माम्।
असूयकाय मां मा दास्तथा स्यां वीर्यवत्तमा॥'

इत्यादि स्मृतियाँ हैं, इनका अर्थ उपर्युक्त ही है। उन दोनों श्रुति और स्मृतियोंसे विद्या गोप्य है, यह स्पष्ट प्रतीत होता है। प्रयोजकविषयक ज्ञान

प्रश्नेन तुष्टः संन्यस्य विजिगीषां स वादिना ।
निर्गतौ विजिगीषुभ्यो मिथो निश्चयमूचतुः ॥ ४२ ॥
संसारभूमिवर्त्तित्वान्नैवाऽयं कारणाश्रयः ।
कर्मादिपरतन्त्रत्वात् स्वाश्रयोऽयं न चेष्यते ॥ ४३ ॥

पहले पहल हम दोनोंको ही हुआ है । आगे भी हम और आप ही इसको पूर्णरूपसे जाने, इसलिए एकान्तमें विचार करना ठीक है, सभामें नहीं । अनेक-विध मनुष्योंसे युक्त सभामें आपके प्रश्नकी व्याख्या करेंगे, तो यह ज्ञान असाधारण नहीं रहेगा; इसलिए जनसमूहसे हटना आवश्यक है ।

शङ्का—प्रयोजक ज्ञान असाधारण ही रहे, इस तात्पर्यसे श्रीयाज्ञवल्क्यजीने सभासे बाहर जानेके लिए नहीं कहा, किन्तु मध्यमें और लोग भी प्रश्न कर देंगे, इस भयसे बाहर जाना पसन्द किया ।

समाधान—ऐसा तात्पर्य नहीं है, कारण कि जल्पमें दूसरेको बोलनेका अधिकार नहीं है, इसलिए दूसरेके बोलनेका भय नहीं है; अतः प्रश्नान्तरके भयसे बाहर नहीं गये । अन्य प्रश्नोंका निर्णय फिर सभामें आकर ही किया है । यदि उक्त भयसे बाहर जाते, तो फिर सभामें आकर शेष प्रश्नोंका निर्णय कैसे करते ? सभामें शेष प्रश्नोंका निर्णय किया है, अतः प्रश्नान्तरके भयसे बाहर नहीं गये, किन्तु प्रयोजक ज्ञानकी असाधारणताकी रक्षाके लिए ही बहिर्गमन हुआ है । अतएव आगेके श्लोकमें भी यही निर्देश हैं—'प्रश्नेन तुष्टः' ॥ ४१ ॥

प्रश्नेन तुष्टः इत्यादि । वादीके प्रश्नसे संतुष्ट होकर श्रीयाज्ञवल्क्यजी जितनेकी इच्छाका त्याग कर विचार करनेके लिए बाहर गये । दोनोंने परस्पर परामर्श कर जो निश्चित किया सो विजिगीषुओंको कह सुनाया । उन लोगोंसे क्या कहा ? इस जिज्ञासाकी निवृत्तिके लिए और हितार्थ भी श्रुतिने स्वयं प्रकाशित कर दिया—आत्मा स्वकारणाश्रित रहता है । इस पक्षमें उभय संमत दोष यह है कि जीव अकार्य है और कर्मपरतन्त्र है, अतः स्वकारणाश्रित कहना ही असंगत है, इत्यादि अग्रिम श्लोकमें स्फुट करते हैं ॥ ४२ ॥

'तौ होत्क्रम्य' इत्यादि श्रुति द्वारा सूचित विचारको देखलाते हुये स्वमतपरि-शुद्धिकी कामनासे परपक्षका निराकरण करते हैं—'संसारभूमि०' इत्यादिसे ।

संसार भोगभूमिमें रहता है; अतः स्वकारणाश्रयत्वोक्ति असंगत है और कर्म आदि परतन्त्र होनेके कारण जीव स्वाश्रय भी नहीं है ॥ ४३ ॥

जडत्वाद् गुणकालादि न जीवं नेतुमर्हति ।
हठो यदृच्छा शून्यं तु मानहीनं तथेतरत् ॥ ४४ ॥
देवेश्वरौ स्वतन्त्रौ चेद्विधिशास्त्रमनर्थकम् ।
अतोऽसाधारणो जन्महेतुः कर्माऽवशिष्यते ॥ ४५ ॥

'जडत्वाद्' इत्यादि । प्रधानकारणवाद और कालकारणवाद आदिकी अपेक्षा नियति, यदृच्छा आदि कारणवादोंमें यह दोष स्फुट ही है कि नियति आदि अचेतन हैं । जड स्वतन्त्र भोक्ताका भोगायतन नहीं हो सकता । नेता चेतन होता है । गुणादि अचेतन होनेसे उक्त कार्यके संपादनमें क्षम नहीं हैं। हठ (स्वभाव), यदृच्छा, शून्य तथा अन्य विनाश और सन्तति—इनमें से कोई प्रामाणिक ही नहीं है । प्रमाणसिद्ध पदार्थमें प्रयोजकत्व कहना उचित है । जो स्वयं प्रमाणसिद्ध नहीं हैं, वे जीवके प्रयोजक कैसे हो सकते हैं ? और ये स्वभावके पर्य्यायवाची हैं, अतएव उक्त दोषसे दुष्ट हैं ॥ ४३ ॥

'देवेश्वरौ' इत्यादि । जो तार्किक आदि ईश्वरको बन्धका कारण मानते हैं, सो भी ठीक नहीं है, कारण कि यदि ईश्वर भोग और स्वर्ग आदिके प्रति कारण माने जायँ, तो वे स्वतन्त्र हैं, चाहे जिसको जो दे सकते हैं, इस परिस्थितिमें शास्त्र आदिकी अपेक्षा नहीं होगी अर्थात् शास्त्रारम्भ ही व्यर्थ हो जायगा और कृतनाश और अकृताभ्युपगमकी प्रसक्ति भी हो जायगी । ईश्वर फल देनेमें भी स्वतन्त्र हैं, कर्मोंकी उपेक्षा कर पापीको सुख और पुण्यवान्‌को दुःख भी दे सकते हैं, ऐसी परिस्थितिमें पुण्यका फल है—सुखभोग, सो नहीं होगा, किन्तु पापका फल जो दुःखभोग है, वही होगा, इससे कृत (पुण्य) का भोगके बिना विनाश और अकृत पापका अभ्युपगम होगा । इस अव्यवस्थासे प्रवृत्ति और निवृत्तिकी बोधक शास्त्रकी मर्यादाका भी भङ्ग हो जायगा । देवता चेतन है, पर स्वतन्त्र नहीं, वह भी ईश्वर-परतन्त्र है, 'भीषास्माद् वातः पवते' (ईश्वरके भयसे वायु चलती है) इत्यादि श्रुति इसमें प्रमाण है । अतः देवता प्रयोजक नहीं हो सकते, ईश्वर स्वतन्त्र है, पर उसकी प्रयोजकतामें दोष कह चुके हैं । और यह भी दोष होगा कि आगन्तुक प्रयोजकके बिना कदाचित् प्रवृत्ति और कदाचित् निवृति नहीं हो सकेगी, कारण कि प्रवृत्ति-प्रयोजक ईश्वर नित्य है, इसलिए नित्य प्रवृत्ति ही होगी; निवृत्ति नहीं ।

एवं यदि ईश्वरको निवृत्तिकारण मानेंगे, तो सदा निवृत्ति ही होती रहेगी, प्रवृत्ति नहीं होगी और इष्ट है—कदाचित् प्रवृत्ति और कदाचित् निवृत्ति, एतदर्थ प्रश्न है। जो केवल कर्मको ही प्रयोजक मानते हैं, सो भी ठीक नहीं हैं, क्योंकि कर्म अचेतन और अनित्य है, यह दोष पूर्वमें भी कह चुके हैं और अचेतन कर्मको यह परिज्ञान कहाँ कि यही पुरुष मेरा कर्ता है, अतः इसीमें हमको जाना चाहिए अन्यत्र नहीं और अवधारणके बिना फलप्रदानके लिए यदि पुरुषान्तरका आश्रयण करेगा, तो विश्वकी व्यवस्था ही व्याकुल हो जायगी और विधि-निषेध आदिके प्रतिपादक शास्त्र भी व्यर्थ हो जायँगे। शास्त्रका अनुशासन है कि कर्ता ही फलभोगका भागी होता है, अन्य नहीं होता, क्योंकि 'शास्त्रदेशितं फलमनुष्ठातरि' ऐसा मीमांसाका सूत्र है यानी शास्त्रोक्त फल अनुष्ठाताको ही मिलता है। यह उत्सर्ग है, यानी कहीं वचनके बलसे अन्यगामी भी होता है, क्योंकि पुत्रेष्टि या अन्त्येष्टि आदिमें वैसा नहीं देखा जाता है। योगाचार ज्ञानसन्तानको बन्धका प्रयोजक कहते हैं, पर उनसे यह प्रश्न करना चाहिए कि क्या ज्ञानसन्तान सन्तानीसे अतिरिक्त है अथवा अनतिरिक्त? अतिरिक्तपक्षमें अपने सिद्धान्तकी हानि होगी, क्योंकि विज्ञानसे व्यतिरिक्त वस्तु नहीं है, यह उनका सिद्धान्त है। एवं दूसरा प्रश्न यह होगा कि सन्तानीके समान सन्तान भी क्षणिक है, या स्थिर? द्वितीय पक्षमें स्वसिद्धान्तका व्याघात होगा, क्योंकि भावमात्र जलधरमालाके समान क्षणिक है, यह भी आपका सिद्धान्त है। द्वितीय विकल्पके प्रथम पक्षमें विज्ञानस्वरूप ही सन्तान है, अतिरिक्त वस्तुस्वरूप यदि वह नहीं है, तो प्रयोजक कैसे हो सकता है? प्रथम कल्पके द्वितीय पक्षमें भी यही दोष है। एवं क्षणिक होनेसे जब स्थिति ही दुर्घट है, तब उक्त समयमें प्रयोजकत्वकी क्या सम्भावना? शून्य और नाश पक्ष तो सर्वथा अनुपादेय और अश्रद्धेय है, कारण कि उस पक्षमें शास्त्रका वैयर्थ्यदोष स्फुट है। शास्त्र कृत्य और अकृत्यके उपदेश द्वारा मनुष्यके कल्याणके लिए हैं। दुःख आदि कार्योंकी निवृत्ति उनके कारणकी निवृत्तिसे साध्य है। एवं सुख आदिकी प्राप्ति उनके कारणकी प्राप्तिसे साध्य है, शास्त्र तत्-तत् फलकी प्राप्ति और परिहारके उपदेशके लिए है। यदि शून्यको (विनाशको) कारण मानोगे, तो शून्य आदिका अनुष्ठान ही दुःसम्पाद्य है, फिर उसके कारण आदिकी तो सम्भावना ही नहीं है, यदि उसके कारण आदि हों, तो वह शून्य कैसे कहा जा सकता है? इत्यादि विशेष अन्यत्र देखिए ॥ ४५ ॥

सति कर्मणि वैचित्र्यं देहानामुपपद्यते ।
देवेशानुगृहीतत्वाज्जाड्यदोषो न कर्मणः ॥ ४६ ॥
इति सर्वं विचार्यैतौ कर्मैव प्रशशंसतुः ।
देहोत्कर्षापकर्षौ तु पुण्यापुण्यविभेदतः ॥ ४७ ॥

इति वार्तिकसारे तृतीयाध्यायस्य द्वितीयं ब्राह्मणं समाप्तम् ।

पूर्वपक्षोंमें दोषोंका प्रदर्शन कराकर स्वसम्मत प्रयोजक कहते हैं— **'सति कर्मणि'** इत्यादिसे ।

काल आदि कारणोंमें प्रधान कारण कर्म है, क्योंकि काल आदि साधारण कारण हैं । घटवैचित्र्य (सकलाङ्गत्व, विकलाङ्गत्वादि) और देहवैचित्र्य कर्मसे ही होता है ।

शङ्का—कर्म अचेतन है, अतः पूर्वोक्त दोषोंसे प्रयोजक कैसे होगा ?

समाधान—देवता या ईश्वर तो चेतन हैं, उनसे अनुगृहीत कर्ममें जाड्य दोष नहीं होगा । 'यथाकर्म यथाश्रुतम्' इस श्रुतिके अनुसार यहाँ कर्मशब्द भावनाका भी बोधक है । काल, ईश्वर आदि कारणकलापोंमें श्रीयाज्ञवल्क्य महर्षिजीने भूरि-भूरि जिसकी प्रशंसा की है, वह कर्म ही है ॥ ४६ ॥

'इति सर्वम्' इत्यादि ।

शङ्का—यदि काल आदि भी कारण हैं, तो कर्मकी ही अधिक प्रशंसा क्यों की गई ?

समाधान—कारण सब हैं, किन्तु उक्त कारणोंमें प्रधान कारण कर्म ही है । प्रधानकी प्रशंसा सर्वत्र होती है, यह लोक और वेदमें प्रसिद्ध ही है ।

शङ्का—क्या ईश्वरसे भी कर्म प्रधान है ?

समाधान—अवश्य प्रधान है, क्योंकि फलविभागके समय ईश्वर तदीय कर्मोंका पर्य्यालोचन करके ही उत्तम या अधम योनि भोगके लिए देते हैं, अन्यथा वैषम्य, नैर्घृण्य आदि दोषोंकी प्रसक्ति अनिवार्य होगी। पिता और मातासे हजार गुण दया ईश्वरमें है । वे किसीको दुःखी करना स्वतः नहीं चाहते, परन्तु कर्मानुसार दुःखभोगोपयोगी अङ्गवैकल्य आदि शरीरमें देते हैं । तथा विविध प्राणिभेदकी सृष्टिका मुख्य कारण कर्म ही है । कारणभेदके बिना कार्यभेद नहीं

होता, यह स्पष्ट है। एवं परमदयालु परमात्मा संसारका प्रलय करते हैं—इसमें भी प्रधान कारण कर्म ही है। अतएव गोस्वामी श्रीतुलसीदासजीने स्पष्ट कहा है कि 'कर्मप्रधान विश्व करि राखा, जो जस करहि सो तस फल चाखा'।

शङ्का—यदि ईश्वरकी अनुग्रहेच्छाका विघात कर्मसे मानोगे, तो अप्रतिहतेच्छत्व ही ईश्वरमें नष्ट हो जायगा।

समाधान—नहीं, यह दोष नहीं हो सकता, कारण कि कर्म भी तो ईश्वर-सृष्ट है, ईश्वरने तादृशस्वभाववाले कर्मकी सृष्टि की है।

प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति।
अवश्यंभाविभावानां प्रतीकारो भवेद् यदि॥
तदा दुःखैर्न लिप्येरन् नलरामयुधिष्ठिराः॥

(सब प्राणी प्रकृतिके वशमें हो जाते हैं, निग्रह क्या करेगा ? जो अवश्यंभावी है, वह होगा ही यदि उसका प्रतिकार हो सकता, तो नल, युधिष्ठिर आदि दुःखी नहीं होते)।

इत्यादि वचनोंसे कर्म सबसे प्रबल है, यह सम्पूर्ण दार्शनिकोंका सिद्धान्त है। सर्वप्रपञ्चनाशक अद्वैतात्मक विज्ञान भी प्रारब्ध कर्मको नष्ट नहीं कर सकता, इससे कर्मका प्रभाव स्पष्ट है। 'पुण्यो वै पुण्येन कर्मणा पापः पापेन' (पुण्य कर्मसे पुण्यवान् और पाप कर्मसे पापवान्) इत्यादि श्रुतिसे कर्म ही देहके उपादानमें प्रधान है, अतः स्थूलदेहका त्याग कर जीव, काल आदि सहकृत कर्मके बलसे बार बार संसारी होता है। कालादि सहकृत कर्म ही मृत जीवका प्रधान प्रयोजक है। यह अर्थ अलौकिक है, अतः 'पुण्यो वै पुण्येन कर्मणा' इत्यादि उदाहृत श्रुति इस अर्थमें प्रमाण है॥ ४८॥

तीसरे अध्यायका द्वितीय ब्राह्मण समाप्त।

———०———

तृतीयं ब्राह्मणम्

तृतीये ब्राह्मणे पुण्यफलावधिरुदीर्यते ।
अश्वमेधः परं पुण्यं ब्रह्मलोकः फलावधिः ॥ १ ॥

तृतीय ब्राह्मण

'तृतीये' इत्यादि ।

शङ्का—पूर्वोत्तर ब्राह्मणोंकी सङ्गति क्या है ?

समाधान—सङ्गति यह है कि दो प्रकारके जीव हैं—एक जीवन्मुक्त और दूसरे अमुक्त । मृत्युके अनन्तर देहादिका नाश दोनोंका समानरूपसे होता है; फिर भी अमुक्तोंको पुनः देह आदिको ग्रहण करना पड़ता है और मुक्तोंको नहीं करना पड़ता है ।

शङ्का—क्यों ?

समाधान—विद्यावासनासहित कर्म ही शरीर आदिके उपादानमें प्रयोजक है, अज्ञानियोंमें उक्त प्रयोजक रहता है, इसलिए वे पुनर्जन्म आदिका ग्रहण करते हैं । जीवन्मुक्तमें उक्त प्रयोजक नहीं रहता, अतः उसको पुनर्जन्मादि नहीं होते । अन्वय-व्यतिरेकसे विद्यावासनासहित कर्म ही प्रधान प्रयोजक है, यही दोनोंके विचारसे निश्चित हुआ है ।

शङ्का—अच्छा, माना कि अर्थेन्द्रियात्मक ग्रहातिग्रहलक्षण मृत्युरूप बन्धका प्रयोजक विद्यासहित कर्म है । अब प्रश्न यह है कि उक्त प्रयोजकका फल कहाँतक होता है अर्थात् उसकी सीमा क्या है ? इसीका निरूपण करनेके लिए अनन्तर ब्राह्मण है । अनन्तर प्रश्नका उत्तर यह है कि पूर्व ब्राह्मणमें जो फल कहा है, उसकी अवधि (सीमा) इस ब्राह्मणमें कहते हैं । अश्वमेध सबसे बड़ा पुण्य है, उससे अधिक पुण्य दूसरा नहीं है और उसका फल ब्रह्मकार्य ब्रह्मलोकप्राप्ति है । इस फलसे बड़ा संसार में कोई दूसरा फल नहीं है । फलप्रकर्षसे ही उपाय उत्कृष्ट माना जाता है । संसारमें सबसे बड़ा कर्म अश्वमेध और फलोंमें सबसे बड़ा फल ब्रह्मलोक है ।

शङ्का—वैदिककर्मफलकी सीमा ब्रह्मलोक है, यह तो पूर्वमें कह चुके हैं, यहाँ भी उसीको कहते हैं, अतः पुनरुक्त दोष क्यों होगा ?

प्रत्यक्षः स्थावरत्वाख्यः स्पष्टः पापफलावधिः ।
विज्ञायते द्वयं ज्ञानादियत्ता हेयसंसृतेः ॥ २ ॥

समाधान—कर्मके फल दो प्रकारके हैं—एक समष्टिरूपसे और दूसरा व्यष्टिरूपसे । व्यष्टिरूपसे उसके फलकी स्थिति उद्गीथब्राह्मणमें 'सोऽग्निरभवत्' से कह चुके हैं। समष्टिरूप सौत्र फलका यहाँ विशेषरूपसे निरूपण किया जायगा, अतः पुनरुक्त दोष नहीं है ।

शङ्का—पूर्वमें भी संसारात्मक ही कर्मफल कहा है, क्योंकि सौत्र पद भी संसारात्मक ही है, वहाँ भी अशनायादि मृत्यु सुनी गई है ।

समाधान—अनुष्ठेय कर्मसे साध्य फलमात्र स्वकीय अविद्यासे ही समुत्पन्न होता है, यही इस ब्राह्मणमें कहा जायगा, जो पहले प्रधानरूपसे नहीं कहा गया है, उसे अच्छी तरह कह देनेपर अनुक्त कुछ भी शेष नहीं रह जाता है ॥ १ ॥

'प्रत्यक्षः' इत्यादि । पुण्यफलावधिका निरूपण कर पापफलावधि कहते हैं । स्थावराख्य स्तम्बात्मलाभपर्यन्त पापकर्मके फलोंकी अवधि है, सो स्पष्ट प्रत्यक्ष है; दोनों फलोंके ज्ञानसे संसारकी इयत्ता सुतरां ज्ञात हो जाती है और संसारमध्यपाती होनेसे ब्रह्मलोक भी हेय ही प्रतीत होता है ।

शङ्का—संसार कर्मफल है, यह ठीक है, किन्तु पुण्यफलके समान पापफलोंका भी विशेषरूपसे निरूपण करना चाहिए, अन्यथा उसमें विरक्ति नहीं होगी ?

समाधान—पापकर्मका फल प्रत्यक्षसिद्ध है । जैसे पशु, प्रेत आदिको जो दुःखादि होते हैं, वे लौकिक प्रमाणसे सिद्ध हैं, अतः उनमें जिज्ञासा नहीं होती, इसलिए उनका विशेषरूपसे निरूपण नहीं किया ?

शङ्का—जो नरकनिपतननिमित्तक आमुष्मिक दुःख है, उसका विशेषरूपसे निरूपण होना चाहिए, अन्यथा उससे लोग विरक्त न होंगे ।

समाधान—पुरुषार्थ फलोंके निरूपणमें श्रुतिका समादर देखा जाता है, पापफल अधिक अनर्थस्वरूप हैं, अतः श्रुतिका उनमें आदर नहीं—'कथापि खलुपापानामलमश्रेयसे यतः' (पापियोंकी कथा भी अकल्याणकारिणी है) इस न्यायसे पापोंकी चर्चा भी गर्हित ही है ?

शङ्का—अधर्मकी भी जिज्ञासा करनी चाहिए, अन्यथा अज्ञातका परिहार नहीं हो सकेगा ।

आसक्तिरहितं पुण्यं विद्योपेतं विमुक्तये ।
अतः फलावधिर्मोक्षः संसारो नेति केचन ॥ ३ ॥
तदयुक्तं यतः कर्म न मोहस्य निवर्तकम् ।
मोहानिवृत्तौ तत्कार्यात् संसारान्मुच्यते कथम् ॥ ४ ॥

समाधान—पापसे स्वतः जिहासा उत्पन्न होती है और स्मृतियोंमें उसका विशेषरूपसे निरूपण है, इसलिए श्रुतिने उसके निरूपणकी उपेक्षा की है।

शङ्का—पाप-पुण्य भी कर्मफल हैं, इसलिए श्रुतिका उसमें भी अनादर होना चाहिए।

समाधान—अश्वमेधका फल उत्कृष्ट है, इस सामान्य ज्ञानसे लोगोंकी स्वतः उससे निवृत्ति नहीं हो सकती, इसलिए वह भी संसारमध्यपाती होनेसे अनर्थ-कोटिमें प्रविष्ट है, त्याग करनेके लिए उसका बोधन करना आवश्यक है ॥ २ ॥

'आसक्ति०' इत्यादि। किसीका मत है कि सम्पूर्ण पुरुषार्थका साधन पुण्य ही है और यह अनेक श्रुति, स्मृति आदि प्रमाणोंसे सिद्ध है, 'यजेत स्वर्गकामः' इत्यादि श्रुति-स्मृतियाँ ऐहिक तथा आमुष्मिक फलजातमें प्रमाण हैं ? 'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन' इत्यादि श्रुतियाँ अपवर्ग फल भी पुण्यसाध्य है, इसमें प्रमाण हैं। पुण्य दो प्रकारका होता है—एक आसक्तिसहित और दूसरा उससे रहित। विद्यारहित केवल कर्म आसक्तियुक्त होता है और विद्यासहित कर्म आसक्तिशून्य होता है। प्रथम कर्मसे पशु, पुत्र, स्वर्ग आदि विविध फल प्राप्त होते हैं और द्वितीय कर्मसे मोक्ष होता है।

शङ्का—विनश्वर फलके साधनोंसे अविनश्वर फल कैसे होगा ?

समाधान—विद्यासहित कर्म विनश्वर फलका साधन नहीं कहा गया है, किन्तु केवल कर्म उक्त फलका साधन कहा गया है। यद्यपि पुण्यकर्म दोनों कोटिमें प्रविष्ट हैं, तथापि सहकारीके भेदसे विलक्षण कार्यकारित्व भी संसारमें दृष्ट है. जैसे केवल विष मारक है एवं केवल दधि ज्वरादिकारी है, पर मन्त्र, शर्करा आदिसे युक्त वे जीवनदायक तथा पुष्ट्यादिकारी होते हैं वैसे ही केवल कर्म विनश्वरफल-जनक होनेपर भी विद्यासहित कर्म मोक्षका कारण है, ऐसा माननेमें कोई आपत्ति नहीं है, अतः ब्रह्मलोक ही पुण्यफलावधि है, यह निर्णय शास्त्रसम्मत नहीं है ॥३॥

'तदयुक्तम्' इत्यादि।

प्रत्यग्याथात्म्यसम्मोहः क्रियाकारकरूपवान्।
प्रथतेऽपास्तनिःशेषक्रियाकारकवस्तुनि ॥ ५ ॥

शङ्का—विद्यासहित कर्मको अविद्यानिवर्तन द्वारा मुक्तिका हेतु कहते हो या साक्षात्? प्रथम पक्षका खण्डन करते हैं—'यतः' इत्यादिसे। कर्म मोहका निवर्तक नहीं है, अतः वह मोहनिवृत्ति द्वारा मोक्षका हेतु नहीं हो सकता। द्वितीय पक्षमें दोष देते हैं कि मोहनिवृत्तिके बिना संसारसे मुक्त कैसे होगा? विरोध न होनेके कारण कर्म मोहका निवर्तक नहीं हो सकता और यह भी दोष स्पष्ट है कि मोक्ष साध्य नहीं है। यदि मुक्तिको साध्य मानें, तो वह कर्मसाध्य हो सकती है पर 'न स पुनरावर्तते' इत्यादि श्रुतिके अनुसार मुक्ति नित्य है, कर्मसाध्य नहीं है, किन्तु ज्ञानसाध्य है।

शङ्का—ज्ञानसाध्यत्वके समान कर्मसाध्यत्व भी मुक्तिमें मानें, तो क्या दोष है?

समाधान—मोक्ष वस्तुतः ज्ञानसाध्य भी नहीं है, अतएव 'ब्रह्म वा इदमग्र आसीत्' इत्यादि श्रुतिके अनुसार ज्ञानसे पूर्व भी संसारीमें ब्रह्मत्व सिद्ध है, यह स्पष्ट प्रतीत होता है। यदि आत्मा स्वतः मुक्त हो और परतः बद्ध हो, तो मुक्तिके लिए प्रयत्न फलवान् होगा, इससे विपरीतमें नहीं। बन्ध यदि वास्तविक है, तो प्रयत्न निष्फल है। वस्तुकी ब्रह्मके समान निवृत्ति नहीं हो सकती। यदि अवस्तु है, तो वह अवश्य विनाशी होगा, इसलिए कर्मकी अपेक्षा ही नहीं है।

शङ्का—यदि ज्ञानसे पूर्व भी आत्मा मुक्त है, तो ज्ञानकी भी आवश्यकता नहीं है।

समाधान—ज्ञान तो सिद्ध वस्तुका अभिव्यञ्जक है, अन्धकारमें स्थित घटके प्रकाशके लिए जैसे प्रदीपादिकी अपेक्षा नियमतः होती है वैसे ही मोक्षाभिव्यक्तिके लिए नियमतः ज्ञानकी अपेक्षा होती है।

शङ्का—अच्छा तो ज्ञानके समान कर्मको भी मोहनिवर्तक मानो, क्या दोष है?॥४॥

समाधान—'प्रत्यग्०' इत्यादिसे। 'अपास्तानि निश्शेषणि क्रियाकारकवस्तूनि यस्मात् तस्मिन्' अर्थात् क्रियाकारक वस्तुशून्य केवल चिदात्मामें क्रियाकारकलक्षणरूपसे युक्त प्रत्यग्याथात्म्यसंमोह प्रकाशित होता है, अतः निर्विशेष आत्मामें अविद्याके कार्य काम, कर्म आदि हैं। अतएव अविद्याका वह निवर्तक नहीं होता है। जो जिसका कार्य है, वह उसका निवर्तक नहीं हो सकता। कर्मजन्य होनेपर भी बन्ध अविद्याजन्य है। जब कर्म ही अविद्याजन्य है, तो तज्जन्य बन्ध भी कर्म द्वारा अविद्याजन्य है, इसमें कोई सन्देह नहीं है ॥ ५ ॥

प्रत्यग्याथात्म्यविज्ञानं तन्मोहस्य निवर्त्तकम् ।
भविष्यतीति चेत्तर्हि कर्मणा कृत्यमत्र किम् ॥ ६ ॥
सममज्ञानकार्यत्वं यद्यपि ज्ञानकर्मणोः ।
मेयैकात्म्यानुरोधित्वं तथाऽप्यतिशयो धियः ॥ ७ ॥
कर्माऽविद्यानुरोधि स्यान्न त्वैकात्म्यानुरोधि हि ।
सर्वस्यैकात्म्यमात्रत्वे कः किं केन करिष्यति ॥ ८ ॥

'प्रत्यग्०' इत्यादि । आत्मयथार्थज्ञानको मोहका निवर्तक मानिये, तो कर्मका क्या प्रयोजन है, अतः कर्मसमुच्चितज्ञान मोहका निवर्तक है, यह पक्ष सर्वथा अयुक्त है, ज्ञान और कर्मका समुच्चय नहीं हो सकता, इसका निर्णय पूर्वमें कर चुके हैं । आत्मैकत्वज्ञान द्वैतमात्रका उपमर्दक है, अतः आत्मैकत्वज्ञान होनेपर कर्मानुष्ठानका अधिकार ही लुप्त हो जाता है । जब आत्मज्ञानमात्रसे मोहकी निवृत्ति हो जाती है, तब कर्मसहकृत उक्त ज्ञानको कारण माननेमें गौरवसे अतिरिक्त और कुछ फल नहीं है ॥ ६ ॥

'सममज्ञान०' इत्यादि । कर्म अज्ञानका निवर्तक नहीं हो सकता, इसमें कारण बतलाया कि कर्म अज्ञानजन्य है । जन्य जनकका निवर्तक नहीं है, इसमें प्रमाण यह है—कर्म न अज्ञाननिवर्तकम्, अज्ञानजत्वात्, रज्जुसर्पज्ञानवत्' रज्जु-सर्पज्ञान अज्ञानजन्य होनेसे जैसे स्वोपादान अज्ञानका निवर्तक नहीं होता, वैसे ही कर्म भी अज्ञानजन्य है, अतएव स्वकारणीभूत अज्ञानका निवर्तक नहीं होता, यह उक्तानुमानसे सिद्ध है । कर्मके समान ज्ञान भी अज्ञानजन्य है, इसमें सन्देह नहीं है, परन्तु ज्ञान प्रमेय वस्तुका अनुसारी होता है, अर्थात् जैसा प्रमेय रहेगा वैसा ही ज्ञान होगा, पुरुषेच्छानुसारी नहीं । यह ज्ञानमें अतिशय है और कर्म पुरुषेच्छानुसारी होता है, वस्त्वनुसारी नहीं । उक्तानुमानमें वस्त्वननुसारित्व उपाधि है, अतः कर्म अज्ञानका निवर्तक नहीं है, किन्तु ज्ञान अज्ञानका निवर्तक है, यह अद्वैतवेदान्तियोंका सिद्धान्त है ॥ ७ ॥

'कर्मा०' इत्यादि ।

शङ्का—कर्मको भी वस्त्वनुसारी मानिए ।

समाधान—ऐसा नहीं हो सकता । कर्म शास्त्रीय ज्ञानका अनुसारी होता है, जिस कर्मका अनुष्ठान जिस प्रकार शास्त्रमें विहित है, उस कर्मका अनुष्ठान उसी

यथा स्वर्गः कर्मसाध्यस्तथा मुक्तिरपीति चेत्।
मुक्तिस्वभाववीक्षायां न युक्ता कर्मकार्यता ॥ ९ ॥

प्रकार किया जाता है। इसलिए कर्म वस्तुका अनुसारी नहीं होता। यदि ज्ञानको ऐकात्म्यवस्तुका अनुसारी मानोगे, तो कर्मज्ञान ही असंभव हो जायगा।

शङ्का—क्यों?

समाधान—कर्म साध्य, साधन और कर्तृत्व आदिकी अपेक्षा करता है और आत्मैकत्वज्ञान उसका उपमर्दी यानी कर्तृत्वादिका निरास करता है। निर्विशेषचिन्मात्र आत्मा ही एक परमार्थ तत्त्व है, उससे अन्य प्रपञ्च आत्मामें अज्ञानसे कल्पित है। ज्ञान होनेपर अज्ञान और उसके कार्यकी निवृत्ति हो जाती है, केवल एक आत्माका ही स्फुरण होता है। 'यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन किं पश्येत् केन किं शृणुयात्' (जिस अवस्थामें सब आत्मरूप ही हो गये उस अवस्थामें किस करणसे किसको देखेगा, सुनेगा) इत्यादि श्रुतिसिद्ध कर्माद्यभावका अनुवाद करते हैं—'कः किं केन करिष्यति'। जब विद्वान् आत्मव्यतिरिक्त किसी वस्तुको ही नहीं देखता, केवल अपनेको ही देखता है, तब 'कौन किससे क्या करेगा अर्थात् कुछ नहीं करेगा'। साध्य, साधन आदि भेदको लेकर ही प्रवृत्ति होती है, उक्त भेदके बिना प्रवृत्ति आदिका असंभव ही है ॥ ८ ॥

'यथा स्वर्गः' इत्यादि।

शङ्का—'यजेत स्वर्गकामः' इत्यादि वाक्यसे जैसे स्वर्गादिको कर्मसाध्य मानते हैं, वैसे ही 'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन' इत्यादि श्रुतिसे मोक्षको कर्मजन्य क्यों नहीं मानते?

समाधान—कर्मस्वरूप और मोक्षस्वरूपका विचार करनेपर कर्म और मोक्षका परस्पर साध्यसाधनभाव नहीं हो सकता, इसलिए विविदिषावाक्य चित्तशुद्धि-सम्पादकतया मोक्षोपयोगी ज्ञानमात्रका हेतु है, यही निर्णय किया गया है। मुक्ति अद्वितीय आत्मस्वरूप है। संसारदशामें अविद्यासे तिरोहित है, इसलिए प्रतीत नहीं होती। 'तत्त्वमसि' आदि वाक्यजन्य समीचीन ज्ञानसे आवारक अविद्याका ध्वंस हो जाता है, तदनन्तर मुक्तिकी अभिव्यक्ति होती है। यदि मोक्षको साध्य मानियेगा, तो ज्ञान साधन हो नहीं सकता, कारण कि ज्ञान प्रदीप आदिके समान वर्तमान पदार्थका व्यञ्जकमात्र है, चक्रादिके समान उत्पादक नहीं, अतः साधनकोटिमें ज्ञानका प्रवेश नहीं हो सकता, इसलिए उसका उपादान ही व्यर्थ

उत्पाद्यमाप्यं संस्कार्यं विकार्यं च क्रियाफलम्।
नैव मुक्तिर्यतस्तस्मात्कर्म तस्या न साधनम्॥ १०॥

हो जायगा। अनारभ्यत्वपक्षमें साधनकी अपेक्षा नहीं होती, किन्तु व्यञ्जककी ही अपेक्षा होगी। व्यञ्जककोटिमें ज्ञानका प्रवेश निर्बाध है, इसलिए उसका उपादान सार्थक होता है। अविद्यातिरिक्त कोई दूसरा मुक्तिमें व्यवधान करनेवाला नहीं है, जिससे कि विद्यासे अतिरिक्त कर्मादिकी अपेक्षा हो। अविद्या विद्यामात्रसे निवृत्त हो जाती है, इसलिए सहकारिविधया या समुच्चयविधया कर्मादिकी अपेक्षा नहीं होती। अविद्यानाशको छोड़कर यदि मोक्षको साधनाधीन मानियेगा, तो निश्चय मुक्ति अनित्य हो जायगी। अतः आत्मामें अविद्याध्वंस ही मोक्ष है, इसमें समुच्चयादिकी क्या संभावना?

'उत्पाद्य०' इत्यादि। उत्पाद्य, आप्य, संस्कार्य्य और विकार्य्य—ये ही चार प्रकारके क्रियाके फल लोकमें प्रसिद्ध हैं। घटादि उत्पाद्य हैं, आप्य ग्रामादि हैं, संस्कार्य्य 'व्रीहीन् प्रोक्षति' (व्रीहिका प्रोक्षण करे) इत्यादिसे बोधित प्रोक्षणादि-क्रियासे संस्कृत व्रीहि आदि हैं और विकृति आदि विकार्य्य कर्म हैं—इन चारो कर्मोंमें से किसीमें मोक्षका अन्तर्भाव नहीं होता, कारण कि उक्त चारों प्रकारके कर्म अनित्य हैं। इनमें मुक्तिका समावेश करनेपर वह अनित्य हो जायगी।

शङ्का—अच्छा, तो मुक्तिको नित्य मानिए, किन्तु उसका व्यवधायक अविद्यासे अतिरिक्त कर्म भी है, ऐसा भी तो कह सकते हैं?

समाधान—उससे अन्य व्यवधानको माननेमें प्रमाण नहीं है, तदतिरिक्त कर्मादिको व्यवधान माननेमें दोष पूर्वमें कह चुके हैं; विष, दधि आदिके समान विद्या-सहकृत कर्ममें अविद्यानिवर्तकत्व शक्ति माननेपर पूर्वक्लृप्त शक्तिका परित्याग। और अपूर्व शक्तिकी कल्पनामें प्रमाणकी अपेक्षा है, सो है नहीं, विषदध्यादिमें तादृश शक्ति तत्कार्यदर्शनादिसे लोकप्रमाणसिद्ध है। आगमसे अतिरिक्त मुक्तिमें कोई प्रमाण अन्य नहीं है, अतएव मुक्ति आगमैकवेद्य है, अतः विषदध्यादिदृष्टान्त प्रकृतमें अयुक्त है। केवल दृष्टान्तमात्रसे वस्तुकी सिद्धि नहीं होती, दृष्टान्त अनुमानका एक अङ्ग है? अनौपाधिक हेतुकी नियमसे दृष्टान्तस्थलमें आवश्यकता रहती है। अनौपाधिक सम्बन्धका ग्राहक कोई प्रमाण नहीं है। किञ्च, समुच्चित या असमुच्चित कर्म मोक्षहेतु है, इसमें प्रत्यक्षादि प्रमाण है अथवा आगम?

कर्मस्वभाववीक्षायामपि कर्म न साधनम् ।
एकेन वा भवेन्मुक्तिर्यदि वा सर्वकर्मभिः ॥ ११ ॥

प्रथम पक्ष ठीक नहीं है, कारण कि साध्यसाधनसंबन्ध प्रकृतमें आगममात्रसे वेद्य है, क्योंकि यह विषय पारलौकिक है । द्वितीय पक्षमें कर्म मोक्षसाधन है, ऐसा श्रुतिमें कहीं भी श्रुत नहीं है ।

शङ्का—क्यों श्रुत नहीं है, 'अपाम सोमममृता अभूम' (सोमपानसे हम अमृत हुए) ऐसा सुना जाता है । सोमपान यागमें ही होता है । यदि याग अमृतहेतु नहीं होता, तो उक्त श्रुतिका क्या अर्थ है ? एवं 'अक्षय्यं ह वै चातुर्मास्यायाजिनः' इत्यादि श्रुतिसे चातुर्मास यागसे जो सुकृत होता है, वह विनाशी नहीं होता । यदि सुकृत विनाशी नहीं, तो तज्जन्य सुखविशेष भी विनाशी नहीं होगा ।

समाधान—यह अर्थवाद है । अर्थवादका विधिप्राशस्त्यमें तात्पर्य्य रहता है, अतएव 'तद् यथेह कर्मचितो लोकः क्षीयते एवमेवामुत्र पुण्यचितो लोकः क्षीयते', 'अदृढा ह्येते प्लवा यज्ञरूपाः', 'त्यागेनैके अमृतत्वमानशुः' (जैसे इस लोकमें कृषी आदि कर्मोंसे सञ्चित कर्म क्षीण होते हैं, वैसे ही यज्ञादिजन्य पुण्यसे सञ्चित स्वर्ग भी क्षीण होता है; यज्ञरूपी नौका दृढ़ नहीं है; केवल त्यागसे ही मुनि अमृतको प्राप्त हुए) इत्यादि श्रुतियोंसे यागादि कर्म अमृतके साधन हैं, ऐसा प्रतीत नहीं होता, किन्तु संन्यास ही उसका साधन है, यह स्पष्ट बोधन कराया गया है और कर्तृत्वाद्यभिमानके बिना कर्मानुष्ठान नहीं हो सकता और ज्ञान उक्त अभिमानका उपमर्दी होता है । कर्म उक्त अभिमानको नष्ट नहीं कर सकता, क्योंकि उक्त अभिमानपूर्वक ही कर्म होता है ॥ १० ॥

'कर्मस्वभाव०' इत्यादि । कर्म स्वभावपर दृष्टि देनेसे यह निश्चय होता है कि कर्म मुक्तिका साधन नहीं है; कर्म अनित्य फलका उत्पादक होता है, मुक्ति नित्य अतएव अभिव्यङ्ग्या है । उसका अभिव्यञ्जक प्रदीपादिवत् विज्ञान ही है । कार्यका उपादान ही कर्मका विषय होता है । घट आदिका अर्थी उसके उपादान मृत्तिकामें ही व्यापार करता है । मुक्ति नित्य होनेसे निरुपादान है, अतः कर्म-साध्य मुक्ति नहीं है । और कर्मसाध्यत्व पक्षमें यह विकल्प होगा कि एक ही कर्मसे मोक्ष होता है, या सब कर्मोंसे ? श्रुतिमें यज्ञ, दान आदि उपलक्षण हैं, अफलेच्छापूर्वक सकल कर्मानुष्ठानसे मोक्ष होता ॥ ११ ॥

सकृत्प्रवृत्तैरथवा यावज्जीवप्रयोगतः ।
काम्यैर्वा यदि वा नित्यैरुभयैर्वा विमुच्यते ॥ १२ ॥
श्रौतैर्वा यदि वा स्मार्तैर्यदि वोभयकर्मभिः ।
केवलैर्वाऽथवा ज्ञानसंयुक्तैर्वेति भण्यताम् ॥ १३ ॥
एकस्य मुक्तिदत्वे स्यात् कर्मान्तरमनर्थकम् ।
सर्वेषां मुक्तिदत्वे तु फलैक्यादेककर्मता ॥ १४ ॥

उक्त दो कल्पोंमें फिर विकल्प करते हैं—'सकृत' इत्यादिसे ।

फलार्थ कर्मोंका अनुष्ठान दो प्रकारसे होता है—एक सकृत् अग्न्याधानोपनयनादि और दूसरा जीवनपर्यन्त अनुष्ठित होनेवाला अग्निहोत्रादि । अग्निहोत्रादिविधिवाक्यमें यानी 'यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहुयात्' इत्यादि वाक्यमें जीवन निमित्तत्वेन श्रुत है, अतएव उसकी आवृत्ति फलके लिए इष्ट है। किञ्च स्वर्ग, पुत्र, पश्वादि फलक कर्म काम्य कर्म कहे जाते हैं और नित्यकर्म अग्निहोत्र, सन्ध्यावन्दनादि हैं, जिनके फलविशेषका निर्देश नहीं है, वे केवल प्रत्यवायपरिहारके लिए किये जाते हैं क्या उन दोनोंसे मुक्ति होती है ? ॥ १२ ॥

'श्रौतैर्वा' इत्यादि । श्रुतिविहित कर्म श्रौत है और स्मृतिविहित कर्म स्मार्त है । क्या श्रौत कर्मसे या स्मार्त कर्मसे या उन दोनों कर्मोंसे या ज्ञानसंयुक्त उन कर्मोंसे या केवल उन कर्मोंसे मुक्ति होती है ? सारांश यह है कि इतने विकल्प हैं, इनमेंसे किससे मुक्ति मानते हो ? कर्मसे मुक्ति होती है, ऐसा कहनेमें इतने विकल्प किये गये हैं । अग्रिम श्लोकसे इनका खण्डन किया जायगा, जिससे यह स्पष्ट होगा कि कर्मसाध्य मुक्ति है, यह कहना सर्वथा असंगत है ॥ १३ ॥

'एकस्य' इत्यादि । एक ही कर्मसे मुक्ति होती है, ऐसा माननेसे कर्मान्तर अनर्थक हो जायगा ।

शङ्का—'व्रीहिभिर्यजेत यवैर्यजेत' यहाँपर व्रीहियवादि एक-एकसे याग होता है, तो भी दूसरा व्यर्थ नहीं कहा जाता । अपौरुषेय आगमसे दोनोंमें साधनभाव सिद्ध है । किन्तु तुल्यबलतया विकल्प होता है, कभी व्रीहिसे याग होता है, कभी यवसे । प्रयोगभेदसे दोनों सार्थक हैं, वैसे एक-एक कर्मसे मुक्ति माननेपर कर्मान्तर व्यर्थ नहीं होगा, पुरुषभेदसे सब कर्म सार्थक हो जायँगे ।

समाधान—यागादिके उद्देश्यसे व्रीहि, यव आदिका विधान है, अतः अगत्या

सर्वेष्वपि विकल्पेषु मानाभावो ह्यतिस्फुटः ।
न चाऽश्रौषं श्रुतेर्वाक्यात् कर्म मोक्षफलं क्वचित् ॥ १५ ॥

वहाँ विकल्प मानते हैं। मोक्षके उद्देश्यसे कर्मोंका विधान श्रुतिमें कहीं नहीं है, इसलिए आठ दोषोंसे दूषित विकल्पको मानना प्रकृतमें अनुचित है। सब कर्मोंसे मुक्ति होती है, इस पक्षमें दोष कहते हैं। सब कर्मोंसे यदि मुक्ति मानियेगा, तो फलैक्यसे एक ही कर्म कहे जायँगे, अनेक नहीं। जैसे दर्शपूर्णमासमें आग्नेय आदि छः याग होते हैं, परन्तु वे सब मिलकर एक स्वर्ग या उसके उपयोगी प्रधानापूर्वके जनक हैं, अतः एक ही कर्म कहलाते हैं, वैसे ही प्रकृतमें भी एकमुक्तिफलकत्वरूपसे सब कर्म एक हो जायँगे ॥ १४ ॥

'सर्वेष्वपि' इत्यादि। सब विकल्पोंमें प्रमाणाभाव दोष स्पष्ट है। जिस विकल्पको मोक्षसाधन कहियेगा, उसीमें यह प्रश्न होगा कि वह मुक्तिसाधन है, इसमें क्या प्रमाण है? यह अलौकिक अर्थ है, अतः इसमें लौकिक प्रमाण तो हो नहीं सकते, इसलिए श्रौत प्रमाण ही अपेक्षित हैं, वे हैं नहीं, इस परिस्थितिमें मोक्ष कर्मोंका फल नहीं हो सकता।

शङ्का—'हिरण्यदा अमृतत्वं भजन्ते' यह श्रुति ही कर्मसे मोक्ष होता है, इस अर्थमें प्रमाण है।

समाधान—वह तो दानप्रशंसापरक है, यत्परक जो वाक्य होता है, वह उसी अर्थमें प्रमाण माना जाता है, प्रतीयमान अर्थमें नहीं, अन्यथा 'न दानेन न प्रजया धनेन' इत्यादि श्रुतिविरोध दुर्वार हो जायगा, अतएव काम्य कर्मोंका मोक्षातिरिक्त पशु, पुत्र, स्वर्ग आदि फल ही श्रुत है।

शङ्का—जैसे 'दध्ना जुहोति' दध्ना जुहुयादिन्द्रियकामस्य' इत्यादि वचनोंसे एक ही दधि आदि नित्यार्थ और काम्यार्थ श्रुत है, वैसे ही काम्य कर्म भी उभयार्थक है, ऐसा क्यों नहीं मानते?

समाधान—वहाँ तो दोनों अर्थोंके बोधक दो वचन स्पष्ट हैं, अतः दधि आदि उभयार्थक हैं, ऐसा मानना ठीक ही है, यहाँपर कर्मका फल मोक्ष है, इस अर्थका बोधक कोई वचन नहीं है।

शङ्का—'अप्रतिषिद्धमनुमतं भवति' इस न्यायसे प्रतिषेध न होनेके कारण अनुमत हो सकता है?

समाधान—प्रतिषेध स्फुट है ॥ १५ ॥

न तत्र दक्षिणा यान्ति नाऽविद्वांसस्तपस्विनः ।
न कर्मणेत्यादिवाक्यात् कर्म प्रत्युत निन्द्यते ॥ १६ ॥
निन्द्यतां केवलं कर्म तस्याऽनित्यफलत्वतः ।
विद्यासमुच्चितं नित्यं मुक्त्यर्थमिति चेन्न तत् ॥ १७ ॥
एकदेशे चैककाले स्थितयोरविरुद्धयोः ।
समुच्चयः फलैक्ये स्यात् न त्वसौ ज्ञानकर्मणोः ॥ १८ ॥

'न तत्र दक्षिणा' इत्यादि । 'तत्र' इस सप्तम्यन्त पदसे मोक्षका परामर्श है । कर्मी मोक्ष नहीं पाते, किन्तु स्वर्गादिमें जाते हैं । एवं अविद्वान् तपस्वी भी मोक्ष-भागी नहीं होते, कारण कि मोक्षप्राप्तिकी साधन विद्या है । विद्यासे प्रकृतमें आत्मविद्या विवक्षित है, उक्त दो पुरुष विद्याशून्य हैं । अतएव 'तमेव विदित्वाऽति मृत्युमेति' इत्यादि वाक्य विद्यासे ही मोक्ष होता है, उपायान्तरसे नहीं, इस अर्थका स्पष्ट बोधन करता है । कर्मसे मोक्ष होता है, यह प्रतिपादन तो दूर रहा, प्रत्युत मोक्षार्थीके लिए कर्मकी निन्दा की गई है—'न कर्मणा' इत्यादिसे । केवल निन्द्यकी निन्दा निष्प्रयोजन होनेसे व्यर्थ मानी जाती है, अतः शास्त्रोंमें जहां जिसकी निन्दा है, वहाँ उसके त्यागमें शास्त्रका तात्पर्य माना जाता है, इसलिए मोक्षार्थीको सर्वथा कर्मका त्याग ही करना चाहिए है ॥ १६ ॥

'निन्द्यताम्' इत्यादि । कर्मसे अनित्य स्वर्गादि होता है, इसलिए केवल कर्मकी निन्दा कीजिए, किन्तु विद्यासमुच्चित कर्मसे मोक्ष होता है, ऐसा माननेपर कर्मकी निन्दा कैसे हो सकती है ? क्योंकि नित्य मोक्षफलक होनेसे मोक्षार्थियोंको कर्म अभीष्ट है, इसका निराकरण करते हैं—'इति चेन्न तत्' से । खण्डन-प्रकार अग्रिम श्लोकमें कहा गया है ॥ १७ ॥

'एकदेशे' इत्यादि । एकदेश और एककालमें स्थित जो अविरुद्ध दो पदार्थ हैं, उनका एक फलमें समुच्चय हो सकता है । जैसे अनेक सैनिकोंका समुच्चय विजयका कारण होता है । विजयरूप एक कार्य्यके लिए समान देश और कालमें स्थित अनेक पुरुषोंका समुच्चय अविरुद्ध उक्त कार्यके लिए अत्यावश्यक होता है । प्रकृतमें ज्ञान और कर्म एक समयमें हो नहीं सकते और भिन्नकालिकोंका समुच्चय असम्भव ही है । आत्मैकत्वज्ञानसे द्वैतज्ञानका उपमर्दन होनेसे साध्यसाधनादि-भेदसापेक्ष कर्मका अनुष्ठान ही असंभव है; फिर समुच्चय तो सुतराम् असंभव ही

बाध्यबाधकभावेन पञ्चास्योरणयोरिव ।
एकदेशानवस्थानान्न समुचय एतयोः ॥ १९ ॥
साध्यसाधनरूपत्वादेककालानवस्थितिः ।
हेतुस्वरूपकार्येषु विरोधस्त्वनयोः स्फुटः ॥ २० ॥

है । यद्यपि कर्म आराद् उपकारक माना जाता है यानी फलेच्छारहित कर्मके अनुष्ठानसे मनःशुद्धि तदनन्तर आत्मतत्त्वज्ञानोत्पत्ति तदनन्तर मोक्ष इस प्रणालीसे कर्म भी परंपरया मोक्षमें उपकारक है; परन्तु सन्निपत्योपकारक नहीं है, कारण कि उक्त रीतिसे दोनों एक कालमें एकत्र नहीं रह सकते । कर्म परंपरया मोक्षका उपकारक है, इसलिए ज्ञानका अङ्ग नहीं माना जाता, किन्तु एकप्रयोगारुढ अविरुद्ध उपकारकोंमें ही अङ्गाङ्गिभाव शास्त्रसम्मत है । अतएव जन्मान्तरीय कर्मानुष्ठान भी तत्त्वज्ञानोपकारक होता है । शुक, वामदेव आदिकी चित्तशुद्धि जन्मान्तरीय शुभ कर्मोंसे हुई है, क्योंकि वर्तमान समयमें उन महापुरुषोंमें कर्मानुष्ठानका अवसर ही नहीं पाया जाता ॥ १८ ॥

समप्रधान समुच्चयका निरास करते हैं—'**बाध्यबाधक०**' इत्यादिसे ।

बाध्य कर्म है और बाधक ज्ञान है—इनका समुच्चय मेष और सिंहके समान असंभव है । सिंहके साथ समान देश और कालमें जब मेष रह ही नहीं सकता, तब दोनोंका समुच्चय कैसे कहा जा सकता है ?

शङ्का—बाध्यबाधकका भी समुच्चय कार्यकारी लोकमें इष्ट है—जैसे दाहरूप कार्यमें अग्नि और काष्ठका समुच्चय ही कारण होता है। अग्नि बाधक है, काष्ठ बाध्य है । एवं सूर्य और रात्रिका अन्धकार—इन दोनोंका समुच्चय तमोनाशका हेतु है । यदि अन्धकार न होगा, तो सूर्य निवृत्ति किसकी करेंगे ? यदि निवर्तक सूर्य न हों, तो उक्त निवृत्ति नहीं हो सकती, अतः दोनोंका समुच्चय रात्रिके अन्धकारका नाशक है, वैसे ही अविद्या और उसके कार्य द्वैतमात्रका निवर्तक आत्मज्ञान है । इन दोनोंके समुच्चयसे अविद्याकी निवृत्ति होती है । अविद्याकी निवृत्तिसे शुद्ध, बुद्ध, मुक्तात्मस्वभाव मोक्षका आविर्भाव होता है, यह अद्वैतसिद्धान्त है। उक्त मेष और सिंहका दृष्टान्त कार्यान्तरके लिए है । मेषनाशके लिए वहाँ भी उन दोनोंका समुच्चय इष्ट ही है । प्रकृतमें अविद्याकी निवृत्तिसे अतिरिक्त कार्यान्तर इष्ट ही नहीं है ॥ १९॥

समाधान—'**साध्यसाधन०**' इत्यादि । उक्त रीतिसे ज्ञानकी उत्पत्तिमें कर्म

अध्यासः कर्मणो हेतुः प्रमाणं बोधकारणम् ।
न भासकं कर्मरूपं बोधरूपं तु भासकम् ॥ २१ ॥

साधन है, अतः ज्ञान और कर्ममें साध्यसाधनभाव होनेसे एक कालमें उन दोनोंकी स्थिति ही जब दुर्घट है, तब समुच्चयकी क्या सम्भावना ? ज्ञान और कर्मका परस्पर विरोध हेतुमें, स्वरूपमें और कार्य्यमें है । क्रमशः त्रिविध विरोधका अग्रिम श्लोकोंसे स्पष्टीकरण करेंगे । विद्या वस्तुके अधीन है और क्रिया कर्त्ताके अधीन है । कूटस्थ कर्त्ता नहीं होता, किन्तु क्रियाका आश्रय कर्त्ता होता है । क्रियाश्रयत्व अविद्योपहित आत्मामें रहता है । विद्याके उत्पन्न होनेपर उसके विरोधी कर्तृत्व आदि निवृत्त हो जाते हैं ॥ २० ॥

'अध्यासः' इत्यादि । अध्यास ही कर्मका कारण है । क्रियाश्रय शरीर, इन्द्रिय और मनके साथ तादात्म्यके अध्याससे कूटस्थ आत्मामें क्रियाकी प्रतीति होती है, अतः लौकिक पुरुषोंको भ्रम होता है कि शरीर आदिके समान क्रिया वस्तुतः आत्मधर्म है, इसलिए आत्माको कर्ता कहते हैं । तत्त्वज्ञानी वस्तुतः कूटस्थ आत्माको जानकर उसे अकर्ता कहते हैं, जैसे जो अपनेको क्षत्रिय कहता है, उसकी बृहस्पतिसवमें प्रवृत्ति नहीं होती, क्योंकि 'ब्राह्मणो बृहस्पतिसवेन यजेत' इस विधिवाक्यसे ब्राह्मणत्वाभिमानीका ही उक्त यागमें अधिकार है । ब्राह्मणत्वका अभिमान न करनेवाले क्षत्रिय आदिका नहीं । एवं अश्वमेधादि यागमें या राजसूयमें 'राजा राजसूयेन यजेत' इस वाक्यसे क्षत्रियका ही अधिकार है, ब्राह्मण आदिका नहीं है, वैसे ही 'नेति नेति' इत्यादि वाक्यसे शरीर, इन्द्रिय आदि और उनके धर्म कर्तृत्व आदिका निराकरण कर आत्माको जो अकर्ता मानता है, उसको उस समय क्रियाका समुच्चय कैसे हो सकता है ?

शङ्का—'यदेव विद्यया करोति', 'ज्ञात्वा कर्माणि कुर्वीत' इत्यादि वचनोंसे ज्ञान और कर्मका समुच्चय स्पष्ट प्रतीत होता है, आप निषेध कैसे करते हैं ?

समाधान—ज्ञान और कर्ममें जहाँ निमित्तनैमित्तिकभाव है; वहाँ समुच्चय कहते हो या सर्वत्र ? प्रथम पक्ष तो मान्य है, किन्तु कर्म और ज्ञानमें निमित्त-नैमित्तिकभाव इष्ट नहीं है, अतएव रात्रिमें पथिकको स्थाणुमें चोरबुद्धि होनेसे वह भागता है; भागनेमें स्थाणुतत्त्वज्ञानकी अपेक्षा नहीं है । भागनेका कारण अध्यास ही है । यहाँ चौरज्ञान और पलायनक्रियामें निमित्तनैमित्तिकभाव है । एवं कर्ममें

कर्मकार्यं भाविजन्म तन्निवृत्तिस्तु बोधजा ।
समुच्चितात्केवलाद्वा नाऽतो मोक्षोऽस्ति कर्मणः ॥ २२ ॥

केवल आत्मज्ञान ही निमित्त है, तत्रापि आत्मतत्त्वज्ञानकी अपेक्षा नहीं है, किन्तु कर्तृत्व आदि अध्यासज्ञान ही अपेक्षित है । द्वितीय पक्षमें जहाँ ज्ञान कर्मका विरोधी है, वहाँ समुच्चय असम्भव है, कारण कि ज्ञान प्रमाण है; अतः स्वार्थविषयक अज्ञानका नाशक है । ज्ञान होनेपर कर्म रह ही नहीं सकता फिर दोनोंका समुच्चय कहाँ ? कर्म कर्ता आदि कारकोंकी अपेक्षा रखता है, ज्ञान कर्ता आदि भेदका निरासक है, अतः ज्ञानसे कारकसमुदायका उपमर्दन हो जानेके कारण कर्म हो ही नहीं सकता, इसलिए समुच्चय असम्भव ही है । त्रिविध विरोधको स्फुट करते हैं—कर्मका हेतु है अध्यास और ज्ञानके हेतु हैं बोधकारण प्रमाणभूत अद्वैतश्रुतिवाक्य आदि। ये स्वरूपके भेदक होते हैं, कर्मके भासक नहीं होते, क्योंकि जडस्वरूप हैं, बोध (ज्ञान) अजड़ होनेसे भासक है । कार्यभेद अग्रिम श्लोकसे कहेंगे ॥ २१ ॥

'कर्मकार्य्यम्' इत्यादि । कर्मका कार्य है—भावी जन्म । 'कपूयचरणाः कपूयां योनिमापद्यन्ते रमणीयचरणा रमणीयां योनिमापद्यन्ते', 'यथाकर्म यथाश्रुतम्' इत्यादि श्रुति और स्मृतिके वचनोंसे उपार्जित शुभ अशुभ कर्मके अनुरूप ही शुभ और अशुभ योनि जीवको (पुरुषको) मिलती है, यह असकृत् श्रुति, स्मृति और पुराणोंमें वर्णित है और सम्पूर्ण आस्तिकोंको सम्मत है । बोधका कार्य है—जन्म-निवृत्ति । 'न स पुनरावर्तते न स पुनरावर्तते', 'अशरीरं वाव सन्तं प्रियाप्रिये न स्पृशतः', 'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति', 'संप्राप्यैव तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते', 'तदत्यन्तविमोक्षोऽपवर्गः' इत्यादि श्रुति, स्मृति और सूत्र वचनोंसे तत्त्वज्ञानका कार्य है—अज्ञान और उसके कार्यकी निवृत्ति । शरीरादि अज्ञानके कार्य्य हैं, इस प्रकार त्रिविध विरोधसे कर्म और ज्ञानका समुच्चय ही असंगत है; अतः केवल कर्मसे या ज्ञानसमुच्चित कर्मसे मोक्ष नहीं हो सकता । अलौकिक अर्थमें आगम ही प्रमाण हो सकता है । कर्मसे मोक्षका प्रतिपादक कोई आगम नहीं है ।

शङ्का—'यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहुयात्' इत्यादि नित्य कर्मोंके बोधक आगम हैं । ये निष्फल अग्निहोत्रादि नित्य कर्मोंका विधान तो करते नहीं, अन्यथा महाप्रयास-साध्य कर्ममें किसीकी प्रवृत्ति ही नहीं होगी । 'न कुर्य्याच्च वृथा चेष्टाम्' इत्यादि स्मार्तवचनसे विरोध भी होगा । अतः श्रुत नित्यविधिकी अन्यथा अनुपपत्तिसे उसका

अश्वमेधादि यत्पुण्यं महोपासनया युतम् ।
तत्फलं संसृतिस्तस्या भुज्युना पृच्छ्यतेऽवधिः ।। २३ ।।

अर्थ नित्य कर्मसे नित्य मोक्ष फल होता है, ऐसा मानना आवश्यक है । यदि कहिये कि 'कर्मणा पितृलोकः' इत्यादि श्रुतिके अनुसार पितृलोकादि फल है, मोक्ष नहीं, तो वह ठीक नहीं है, कारण कि नित्यकर्मप्रकरणमें उक्त वचनका पाठ नहीं है; कर्मका प्राकरणिक ही फल माना जाता है, अप्राकरणिक नहीं, अतः परिशेषसे मोक्षको ही फल मानना चाहिए ।

समाधान—नित्य कर्मोंका फल प्रत्यवायनिवृत्ति है, उसका त्यागकर अक्लृप्त मोक्षरूप फलकी कल्पना करना अनुचित है; अतएव श्रीभट्टपादने स्पष्ट कहा है कि 'लभ्यमाने फले दृष्टे नादृष्टपरिकल्पना' अर्थात् यदि दृष्ट फल मिलता हो, तो उसका त्यागकर अदृष्ट फलकी कल्पना नहीं की जाती । यह भाष्य-व्याख्यानमें और अधिक स्फुट होगा ।। २२ ।।

'अश्वमेधादि' इत्यादि । यज्ञोंमें सबसे बड़ा यज्ञ अश्वमेध है । सम्राट् ही इस यज्ञमें अधिकारी है, दूसरा नहीं । सम्राट् यदि क्षत्रिय हो तो, अन्य जातिके सम्राटोंका भी उसमें अधिकार नहीं है । उस यागमें प्राणोपासनाका भी विधान है । दोनोंका अर्थात् उपासना और याग—इन दोनोंको करनेसे अधिक फल होता है । जो उक्त कर्मके अधिकारी नहीं हैं और उसके फलकी अभिलाषा करते हैं, उनके लिए केवल उपासनामात्रका विधान है । यह उपासना भी बड़ी है, इसलिए इसका नाम महोपासना है । इस महोपासनासे श्रुत फल है—हिरण्यगर्भस्वरूपापत्ति । यह फल भी संसार ही है । संसारका वास्तव लक्षण है—जननमरणशीलत्व । हिरण्यगर्भ भी 'हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे' इत्यादि और 'ब्रह्मणो वर्षशतमायुः' इत्यादि शास्त्रसे जननमरणशील है, अतः वह भी संसृति (संसार) ही है, नित्य नहीं है । यह समझकर याज्ञवल्क्यसे भुज्यु नामक ऋषि संसृतिकी अवधि पूछते हैं । भुज्युको यह अभिमान था कि संसारकी अवधिका ज्ञान गन्धर्व द्वारा हमको ही हुआ है । याज्ञवल्क्य इस विषयमें कोरे हैं, अतः इस प्रश्नसे याज्ञवल्क्यका पराजय अवश्य होगा; इसलिए भुज्युने उक्त महर्षिसे अवधिविषयक प्रश्न किया । जिसका उत्तर आगे श्रीयाज्ञवल्क्यजीने दिया है, जिससे भुज्युको श्रीयाज्ञवल्क्यके वचनोंमें पूर्ण विश्वास हो गया और उनका यह अभिमान निवृत्त हो गया

कि भुवनपरिमाणका ज्ञान उक्त गन्धर्व द्वारा हम्हीको है, दूसरेको नहीं। अनन्तर लाह्यके पुत्र भुज्युनामक ऋषिने श्रीयाज्ञवल्क्यसे पूछा कि ग्रहातिग्रहलक्षण बन्ध आपने बतलाया। जिस जन्मप्रयोजक कर्मराशिसे मुक्त होनेपर पुरुष मुक्त होता है और जिससे बद्ध होकर संसारी होता है, वही मृत्यु है, उससे मोक्ष होता है, क्योंकि मृत्युकी भी मृत्यु है। मुक्तकी गति कहीं नहीं होती। सबका नाश हो जाता है; केवल नाममात्र अवशिष्ट रहता है। जैसे प्रदीपके बुझानेपर आलोक आदि कुछ अवशिष्ट नहीं रहता केवल नाममात्र शेष रह जाता है, यह निश्चित हुआ। इस विषयमें संसारियोंका और तत्त्वज्ञानियोंका शरीर, इन्द्रियादिके साथ संबन्ध समान है। केवल भेद इतना है कि तत्त्वज्ञानियोंको शरीर, इन्द्रिय आदिका कभी ग्रहण नहीं करना पड़ता और संसारियोंको पुनः पुनः शरीरेन्द्रियोंका उपादान करना पड़ता है। वही कर्म शरीर आदिके ग्रहणका प्रयोजक है, यह विचारपूर्वक सुनिश्चित हुआ। जिस कर्मका क्षय होनेपर नाममात्रका अवशेष रहता है और सर्वोत्साद मोक्ष होता है, वह कर्म दो प्रकारका है—एक पुण्य और दूसरा पाप। 'पुण्यो वै पुण्येन कर्मणा भवति पापः पापेन' इत्यादि वाक्यसे पुण्यसे पुण्ययोनि और पापसे पापयोनि प्राप्त होती है, यों योनिभेदका भी निश्चय हो चुका। इन्हीं दोसे संसार बना है। इस विषयमें यह निश्चय हुआ कि स्थावर, जङ्गम आदि एवं स्वभावतः दुःखमय नरक, तिर्यक्, प्रेत आदि योनियोंमें पुनः पुनः उत्पन्न होकर मरता है; यह राजपथ (पक्की सड़क) के समान सब लोगोंको ज्ञात है। जो शास्त्रीय कर्म है—'पुण्यो वै पुण्येन कर्मणा भवति' इसीमें श्रुति आदर करती है। पुण्य ही कर्म सब पुरुषार्थोंका साधन है वही सब श्रुति-स्मृति वचनोंका सार है। मोक्ष भी पुरुषार्थ है; अतः उसे भी कर्मसाध्य ही मानना चाहिए। जैसे जैसे पुण्योंका उत्कर्ष होता है, वैसे वैसे फलका भी उत्कर्ष होता है; अतः उत्तम पुण्यके उत्कर्षसे मोक्ष होगा, यह आशङ्का होगी, उसकी निवृत्ति करना आवश्यक है। ज्ञानसहित उत्तम कर्मकी इतनी गति होती है; अधिक नहीं। व्याकृत नामरूपका विषय कर्म और उसका फल है और जो अकार्य अतएव नित्य अव्याकृत धर्मी अनामरूपात्मक अतएव क्रियाकारकफलस्वभावशून्य है, अर्थात् आत्मस्वरूप मोक्ष है, उसमें कर्मका व्यापार नहीं है, जहाँतक व्यापार है, वहाँतक संसार ही है, इस अर्थको स्पष्ट दिखलानेके लिए इस ब्राह्मणका आरम्भ करते हैं। जो कोई यह कहते हैं कि विद्या-

सहित फलेच्छाशून्य कर्म विष, दधि आदिके समान अन्य कार्यका भी आरम्भक होता है। अर्थात् जैसे केवल विष मारक है और केवल दधि कफ, ज्वर आदिका उत्पादक है, परन्तु मन्त्रसंयुक्त विष और शर्करासंयुक्त दधि क्रमशः जीवन और पुष्टि आदिके उत्पादक हैं, वैसे ही यद्यपि केवल कर्म बन्धप्रद है तथापि फलेच्छाशून्य अनुष्ठित विद्या-सहित वह मोक्षके लिए होता है, सो ठीक नहीं है, कारण कि मोक्ष साध्य (कार्य) ही नहीं है। मुक्ति यदि साध्य हो, तो उसे ज्ञानसमुच्चित कर्मसे साध्य कह सकते हैं, किन्तु जब मुक्ति कार्य ही नहीं है, तब उसे उक्त समुच्चयकी भी कार्य कैसे कह सकते हैं। वस्तुतः बन्धननाश ही मोक्ष है, कार्य नहीं। बन्धन असलमें अविद्या है, यह कह चुके हैं। अविद्याका कर्मसे नाश नहीं हो सकता। 'मोक्षो न कर्मसाध्यः, अविद्यास्तमयत्वात्, रज्ज्वविद्यास्तमयवत्' यह अनुमान भी उक्त अर्थमें प्रमाण है। कर्मकी सामर्थ्य उत्पत्ति, प्राप्ति, संस्कार और विकार—इन चार विषयोंमें ही देखी गई है, अन्यत्र नहीं। उत्पादन करनेकी, प्राप्ति करनेकी, विकृत करनेकी और संस्कृत करनेकी शक्ति कर्ममें देखी गई है; इससे अतिरिक्त कर्मसामर्थ्यका विषय दृष्टचर नहीं है, क्योंकि कहीं लोकमें प्रसिद्ध नहीं है, मोक्ष इन चारोंमें कोई भी नहीं हो सकता। अविद्यामात्रव्यवहित शुद्धात्मस्वरूप मोक्ष है, यह कह चुके हैं।

शङ्का—यदि आत्मस्वरूप मोक्ष नित्य है, तो संसारदशामें क्यों नहीं प्रतीत होता ?

समाधान—अविद्यासे ढका है, अतः आवरणनिवृत्तिके अनन्तर प्रतीत होता है।

शङ्का—पूर्ववादी द्वारा उक्त चतुर्विध विषयोंमें कर्मकी सामर्थ्य है, यह माना। फिर भी प्रश्न होता है कि केवल कर्मकी उक्त विषयमें सामर्थ्य है, यह कहना ठीक है ? किन्तु ज्ञानसहित अभिलाषाशून्य कर्मका भिन्न ही स्वभाव है। जैसे उक्त विषदध्यादिन्यायसे अन्यादृश कार्यके जननका स्वभाव भी पदार्थोंमें देखा जाता है, वैसे ही कर्ममें भी अन्य कार्यको उत्पन्न करनेका स्वभाव मान सकते हैं।

समाधान—ऐसा कहनेमें कुछ प्रमाण नहीं, विषदध्यादिमें तो प्रत्यक्षादि प्रमाणसे तादृश सामर्थ्य विदित है। कर्ममें एतादृश स्वभाव है, इसमें न प्रत्यक्ष प्रमाण ही है और न अनुमानादि ही प्रमाण हैं। कर्म अतीन्द्रिय है, अतएव प्रत्यक्षादि प्रमाण नहीं हो सकता, यह कहना ठीक है; किन्तु अर्थापत्ति इस अर्थमें प्रमाण हो सकती है। अर्थापत्ति इस प्रकारसे समझनी चाहिए कि नित्य कर्मोंका मोक्षसे अतिरिक्त फल श्रुत नहीं है, फिर भी नित्य कर्मोंका श्रुति और स्मृतियोंमें विधान है। यदि

उनका मोक्षरूप फल न मानियेगा, तो उक्त कर्मोंका विधान ही असंगत हो जायगा, फलकी कामनासे ही क्लेशकारक कर्मोंमें पुरुषकी प्रवृत्ति होती है। निष्फलमें किसीकी प्रवृत्ति न होनेके कारण नित्य कर्मोंके विधायक वाक्य ही व्यर्थ हो जायँगे, अतः फलान्तरका अश्रवण होने एवं विधानकी अन्यथानुपपत्तिसे उनके मोक्षरूप फलकी कल्पना ही की जाती है। जैसे 'विश्वजिता यजेत' इस वाक्यसे विश्वजित् यागका विधान है, किन्तु उसके फलका श्रवण नहीं है, इसलिए उसके विधानकी सार्थकताके लिए स्वर्गरूप फलकी कल्पना करते हैं, वैसे यहाँ स्वर्गकी कल्पना नहीं करते। यद्यपि फल श्रुत नहीं है, फिर भी कर्मोंका विधान है, अतः परिशेषसे मोक्षरूप फलकी कल्पना करते हैं।

शङ्का—आप कहते हैं कि विश्वजिन्न्यायकी कल्पना नहीं करते और नित्य कर्मोंके विधानकी अन्यथा अनुपपत्तिसे उनका मोक्षरूप फल कहते हैं, यह तो आप विरुद्ध ही कहते हैं, क्योंकि नित्य कर्मोंके विधानकी अन्यथानुपपत्तिसे मोक्षकी कल्पना करना ही तो उक्त न्यायका विषय है। मोक्ष या फलान्तरकी (स्वर्गादि फलकी) कल्पनाके बिना पुरुषकी प्रवृत्ति नहीं हो सकती, अतः मोक्षकी कल्पना करते हैं, यही श्रुतार्थापत्ति है, यही प्रकार विश्वजित् यागमें भी है। विशेष इतना ही है कि वहाँ स्वर्गकी कल्पना करते हैं, यहाँ मोक्षकी। पर प्रकारमें तो कुछ भेद नहीं है। विधिकी सार्थकताके लिए फलकल्पना दोनों स्थलोंमें समान है। आप मोक्षकी कल्पना करते हैं और यहाँ विश्वजित् न्याय नहीं है, यह भी कहते हैं, लेकिन यह कथन विप्रतिषिद्ध है।

यदि कहो कि मोक्ष फल ही नहीं है, इसलिए फलकल्पना नहीं करते हैं। उक्त न्याय जहाँ फलकी कल्पना होती है, तद्विषयक है। स्वर्गादि फल हैं, इसलिए विश्वजिद् यागमें उक्त न्याय लगता है।

समाधान—यदि मोक्षको फल नहीं मानोगे, तो प्रतिज्ञाहानिनामक निग्रहस्थान होगा। जिससे कथकका कथाधिकार ही निरुद्ध हो जायगा। पहले आपने कहा था कि विद्यासहित कर्म विषदध्यादिन्यायसे कार्यान्तर कर सकता है; अतः विशिष्ट कर्मसे मोक्ष होगा। यदि मोक्ष कर्मका कार्य नहीं है, तो फल भी नहीं हो सकता, क्योंकि कार्यको ही फल भी कहते हैं, अतः पूर्वप्रतिज्ञाकी हानि सुस्पष्ट है। यदि मोक्ष कर्मका कार्य है, तो मोक्षमें स्वर्गादिसे विशेष कहना होगा और यदि मोक्ष कर्मका कार्य नहीं है, तो नित्य कर्मोंका फल मोक्ष है, इस वाक्यका अर्थ क्या है? कर्म और फल शब्दोंके भेदमात्रसे अर्थविशेषकी कल्पना नहीं कर सकते।

अन्यथा घट और कुम्भ शब्दोंके भेदसे भी अर्थविशेषकी कल्पना होनेसे पर्य्याय-शब्दोंका उच्छेद ही हो जायगा। मोक्ष फल नहीं है, नित्य कर्मोंसे मोक्ष होता है, नित्य कर्मोंका फल कार्य्य नहीं है, यह कथन अग्नि और शीतके समान विरुद्ध है।

शङ्का—जैसे ज्ञानका फल मोक्ष है, किन्तु वह ज्ञानका कार्य नहीं है, कार्य क्रियमाण कहलाता है, मोक्ष नित्य है, वह ज्ञानसे उत्पन्न नहीं होता; फिर भी आप उसको ज्ञानका फल मानते हैं; वैसे ही कर्मका अकार्य मोक्ष फल क्यों नहीं कहा जा सकता?

समाधान—ज्ञान तो अज्ञानका निवर्तक है, अज्ञान मोक्षका व्यवधायक है; अतः मोक्षव्यवधायक अज्ञानका निवर्तक ज्ञान है, इसलिए मोक्ष ज्ञानका औपचारिक कार्य है।

शङ्का—कर्मको भी व्यवधायकका निवर्तक मानकर मोक्षको भी औपचारिक कर्मका कार्य कह सकते हैं।

समाधान—कर्म अज्ञानका निवर्तक नहीं हो सकता, कारण कि कर्म और अज्ञानमें विरोध ही नहीं है; प्रत्युत अज्ञान कर्मका कारण है। अज्ञानके बिना आत्मामें कर्तृत्वादि ही नहीं हो सकते, यह पूर्वमें कह चुके हैं।

शङ्का—अच्छा, तो अज्ञानसे अतिरिक्त किसी अन्यको ही मोक्षका व्यवधायक मानो, जो कर्मसे निवृत्त हो सकता है।

समाधान—मोक्ष नित्य है, मुमुक्षुका मोक्ष आत्मस्वरूप ही है; अतः ऐसा कोई अज्ञानातिरिक्त व्यवधायक नहीं कहा जा सकता, जो कर्मसे निवर्त्य हो।

शङ्का—अच्छा, यदि अज्ञानको ही कर्मसे निवर्त्य मानें, तो क्या दोष है?

समाधान—ज्ञानसे कर्म विलक्षण है। अनभिव्यक्ति अज्ञान है, वह अभिव्यक्तिलक्षण ज्ञानसे विरुद्ध है और अनभिव्यक्तिरूप अज्ञानसे कर्मका विरोध नहीं है, अतः कर्म ज्ञानसे विलक्षण है। अज्ञान ज्ञाननिवर्त्य है, इसमें यह भी कारण है कि अज्ञान यदि ज्ञानाभाव हो अथवा संशय हो किंवा विपरीत ज्ञान हो—ये सब अज्ञान ज्ञानसे निवृत्त होते हैं और नित्य, नैमित्तिक तथा काम्य कर्मोंमें से किसी एकसे भी अज्ञान निवृत्त नहीं हो सकता।

शङ्का—यदि कर्ममें अज्ञाननिवर्तकत्व दृष्ट नहीं है, तो अदृष्टमें ही अज्ञान निवर्तकत्वकी कल्पना करेंगे।

समाधान—दृष्ट उपायकी अनुपलब्धिसे अदृष्ट उपायकी कल्पना की जाती है। प्रकृतमें दृष्ट उपाय ज्ञान है, इसलिए अदृष्टकी कल्पना अयुक्त है; जैसे

कूटनेसे धानकी भूसी अलग हो जाती है, यह दृष्ट है, इसमें यदि कोई यह कल्पना करे कि पासमें अग्नि रहनेसे ही भूसी अलग हो जाती है, तो यह कल्पना अनुचित ही कही जायगी, क्योंकि भूसी अलग करनेका उपाय अवघात स्पष्टरूपसे दृष्ट है, एवं अज्ञाननिवृत्ति कर्मसे होती है, यह कहीं दृष्ट नहीं है, इसलिए ऐसी कल्पना अनुचित है और ज्ञानके साथ कर्मका विरोध है, यह अनेक बार कह चुके हैं। जो ज्ञान कर्मोंसे अविरुद्ध है, वह देवलोकप्राप्तिमें निमित्त है, यह भी कह चुके हैं। 'विद्यया देवलोकः' इत्यादि श्रुति उक्त अर्थमें प्रमाण है। अतएव हिरण्यगर्भफल-प्राप्ति कही गई है। किञ्च, मोक्षमें कर्मकी सामर्थ्य नहीं है, इसमें पूर्वोक्त ही कारण नहीं है, किन्तु और भी कारण हैं। उनको भी सुनिए, श्रुत नित्य कर्मोंका जो विरोधी है अर्थात् द्रव्य, गुण, कर्मका जो कार्य ही नहीं है, अर्थात् जिसमें कर्मोंकी सामर्थ्य ही कभी दृष्ट नहीं है; उस फलकी कल्पना करनी चाहिए अथवा जिसमें कर्मोंकी सामर्थ्य दृष्ट है और जो कर्मका अविरोधी फल है, उस फलकी कल्पना करनी चाहिए? इस संशयमें पुरुषप्रवृत्तिके लिए यदि अवश्य फलकी कल्पना करनी है, तो कर्माविरुद्ध विषयकी कल्पना ही समुचित है और उसीमें अर्थापत्ति क्षीण हो जाती है, उसके लिए नित्य मोक्षरूपी फलकी कल्पना नहीं कर सकते और न कर्म द्वारा मोक्षव्यवधायक अज्ञानकी निवृत्तिकी ही कल्पना कर सकते हैं, कारण कि एक तो कर्म और अज्ञानका परस्पर विरोध ही नहीं है और दूसरे कर्मोंकी सामर्थ्य अज्ञानकी निवृत्तिमें कहीं दृष्ट नहीं है। विवक्षित देवता आदिका ज्ञान कर्मका कारण है, ऐसा ही दृष्ट है, आत्मज्ञानके साथ सहभाव ही नहीं है।

शङ्का—परिशेषन्यायसे मोक्षरूप फलकी ही कल्पना कर सकते हैं, जितने पशु, पुत्र, स्वर्ग आदि फल हैं, वे तत्-तत् कर्मोंके हैं, ऐसा तत्तत्कर्मविधायक वचनोंमें श्रुत है; उनकी कल्पना तो कर नहीं सकते, वे तत्तत्कर्मोंके फल क्लृप्त ही हैं, और मोक्षातिरिक्त दूसरा कोई फल है नहीं जो कि कल्पना करने योग्य हो। अब फलोंमें केवल मोक्ष ही अवशिष्ट है और कर्मोंमें नित्य कर्मोंको ही फलशून्य देखते हैं, अतः नित्य कर्मोंको अपने अनुष्ठानके लिए फलकी अपेक्षा है और फलको स्वसाधनकी अपेक्षा है, अतः नष्टाश्वदग्धरथके समान दोनोंका परस्पर सम्बन्ध होना ठीक है और वह वेदान्तियोंको अभीष्ट है, इसलिए मोक्षकी ही कल्पना समुचित है?

समाधान—कर्मफल व्यक्तियाँ अनन्त हैं, अतः पारिशेष्य ही नहीं हो

सकता। यदि पुरुषेच्छाविषय फलोंकी इयत्ता कोई असर्वज्ञ पुरुष जान सकता कि इतने ही फल हैं, इनसे अतिरिक्त कोई फल संसारमें नहीं है, तो पारिशेष्य हो सकता, किन्तु ऐसा है नहीं। और कर्मफलसाधन पुरुषकी इच्छाएँ देश, काल आदिके भेदसे अनियत है। किसीको किसी समय कोई फल इष्ट होता है, समयान्तर, देशान्तर, अवस्थान्तरमें नहीं। हर-एक प्राणीमें इच्छा विलक्षण होती है, तदनुसार फल और तत्साधन अनन्त हैं। इन दोनोंके आनन्त्यसे फल और उनके साधनोंकी इयत्ता इतनी ही है, यह कोई भी नहीं जान सकता। जब फल और उसके साधनोंकी इयत्ता ही नहीं जानी जा सकती, तब मोक्षमें पारिशेष्य कैसे सिद्ध हो सकता है।

शङ्का—यह ठीक कहा कि पुरुषभेदसे इच्छाएँ भिन्न हैं और इच्छाके आनन्त्यसे फल और तत्साधन अनन्त हैं, परन्तु कर्मफलजातित्व सबमें समान है। मोक्ष ही केवल अकर्मफल है; इसमें कर्मफलजातित्व नहीं है; अतः परिशेषसे मोक्षकी ही कल्पना युक्त है।

समाधान—यदि मोक्षको नित्य कर्मोंका फल कहते हो, तो मोक्षमें भी कर्मफलजातित्व ही आ गया, इसलिए पारिशेष्य कैसे ? मोक्ष कर्मफलसमानजातीय न होता, तो उसमें पारिशेष्य हो सकता, किन्तु नित्य कर्मोंका फल मोक्ष है, ऐसा माननेपर तो पारिशेष्यकी सर्वथा अनुपपत्ति ही है; अतः अन्यथा भी उपपत्ति होनेसे श्रुतार्थापत्ति इस अर्थमें प्रमाण नहीं हो सकती। उत्पत्ति, प्राप्ति, विकार और संस्कार—इन चारोंमें से कोई एक भी फल नित्य कर्मोंका हो, तो अर्थापत्ति चरितार्थ हो जाती है, इसलिए मोक्षफलमें वह प्रमाण नहीं हो सकती।

शङ्का—अच्छा, तो उक्त चारोंमें से किसीको मोक्ष मान लीजिए ?

समाधान—मोक्ष नित्य है, अतः उत्पाद्य नहीं है और नित्य होनेसे अविकार्य है, इसलिए विकार्य भी नहीं हो सकता। साधनद्रव्यात्मक न होनेसे उसको संस्कार्य भी नहीं कह सकते, पय, आज्य (घी) आदि साधनात्मक द्रव्य ही संस्कार्य होते हैं, और संस्कारनिर्वर्त्य यूपादिके समान भी मोक्ष नहीं है, अनित्य ही यूपादि संस्कारनिर्वर्त्य कहे जाते हैं। मोक्ष आप्य भी नहीं है, आत्मस्वरूप होनेसे नित्यप्राप्त है और कर्ता कर्मका जहाँ भेद होता है वहींपर आप्य कर्म होता है; जैसे देवदत्त और ग्राम। यहाँ आत्मा और मोक्ष दोनोंमें भेद नहीं है, किन्तु दोनों एक हैं, इसलिए आप्य भी नहीं है।

शङ्का—काम्य और नैमित्तिक कर्मोंसे विलक्षण नित्य कर्म है, इसलिए तत्फल भी इतर फलोंसे विलक्षण होना चाहिए, विलक्षण मोक्ष ही है।

समाधान—काम्य कर्मादिमें जैसे कर्मत्व है वैसे ही नित्य कर्ममें भी कर्मत्व-सामान्य एक ही है, अतः दोनोंमें कर्मत्वसालक्षण्य होनेसे उसके फलमें भी सालक्षण्य ही मानना चाहिए, वैलक्षण्य नहीं, जैसे इतर फलोंमें सालक्षण्य है वैसे ही मोक्षमें भी मानना चाहिए।

शङ्का—निमित्तवैलक्षण्यसे फलवैलक्षण्य आवश्यक है।

समाधान—नैमित्तिक कर्मके समान ही नित्य कर्म भी है, अतः उक्त कर्ममें इतर कर्मवैलक्षण्य ही असिद्ध है। 'यस्याहिताग्नेरग्निर्गृहान् दहेत् अग्नये क्षामवते पुरोडाशमष्टाकपालं निर्वपेत्' ऐसा नैमित्तिककर्मबोधक वाक्य है। इसका अर्थ यह है कि जिस आहिताग्नि अग्निहोत्रीके घरको अग्नि भस्म कर दे, वह अग्निहोत्री दुर्बल अग्निदेवताक अष्टाकपाल पुरोडाशका निर्वाप करे अर्थात् इस इष्टिको करे। एवं मोक्षको 'भिन्ने जुहोति स्कन्ने जुहोति' इत्यादि नैमित्तिक कर्मोंका फल नहीं मानते। इन कर्मोंका निमित्त गृहदाह आदि है। निमित्त होनेपर ही नैमित्तिक कर्मका अनुष्ठान किया जाता है। नित्य कर्म शुचिजीवननिमित्तत्वेन श्रुत है; इस प्रकार नैमित्तिक और नित्य कर्म सलक्षण हैं। नैमित्तिक कर्मोंका फल मोक्ष नहीं है, तो नित्यकर्मका फल मोक्ष कैसे हो सकता है। और भी सुनिए—नित्यकर्म कर्मान्तरसे विलक्षण हो, तो भी मोक्षफलकी कल्पना नहीं कर सकते; इसमें दृष्टान्त कहते हैं, मनुष्यादिके नेत्रोंसे उल्लूके नेत्रोंमें वैलक्षण्य है; क्योंकि मनुष्योंके नेत्र आलोककी सहायतासे रूपको ग्रहण करते हैं, पर उल्लूके नेत्र आलोकमें रूप आदि नहीं देखते; किन्तु अन्धकारमें ही पदार्थका ग्रहण करते हैं। इस वैल-क्षण्यसे क्या यह कह सकते हैं कि उल्लूका नेत्र रसादिका भी ग्राहक होता है? कभी नहीं, कारण कि उनके नेत्रोंमें ऐसी सामर्थ्य कभी देखी नहीं गई है, इसलिए दृष्टविरुद्ध अदृष्टकी कल्पना सर्वथा अनुचित है। अन्ततो गत्वा जिस विषयमें सामर्थ्य दृष्ट है, उसीमें अतिशयविशेषकी कल्पना कर सकते हैं। जो आपने यह कहा कि विषदध्यादिन्यायसे नित्यकर्म कार्य्यान्तरके आरम्भक होते हैं, सो ठीक है, कार्य्यान्तरका आरम्भ करें, क्योंकि वह कार्य दृष्ट है'। एक-एक ज्वर आदि-कारक होनेपर भी शर्करासंयुक्त दधि पुष्टिकारकत्वेन दृष्ट है; एवं केवल विषमारक होनेपर भी मन्त्रसंयुक्त विष जीवनोपयोगी है; यह दृष्ट है, इसमें अदृष्टचर सामर्थ्यकी

कल्पना नहीं है। विद्यासंयुक्त निरभिसन्धि कर्म कार्यान्तरका आरम्भक है; इसमें कुछ विरोध नहीं है, किन्तु इस अर्थमें शतपथश्रुति प्रमाण है, 'तदाहुः' ऐसा उपक्रम कर देवयाजीसे आत्मयाजी श्रेयान् है, ऐसा कहा है, काम्य कर्म करनेवाले देवयाजीसे आत्मशुद्ध्यर्थ कर्म करनेवाला आत्मयाजी श्रेष्ठ है। 'आत्मयाजी विशिष्यते' ऐसी स्मृति भी है। 'यदेव विद्यया करोति' इत्यादि श्रुतिसे भी विद्यासंयुक्त कर्म विशिष्ट फलजनक है, यह सब ठीक है। तत्-तत् देवलोकफलप्राप्तिपर्य्यन्त विद्यासहकृत कर्मका व्यापार है। आत्मयाजीशब्दका दो अर्थोंमें प्रयोग पाया जाता है—एक तो उक्त कर्ममें और दूसरा परमात्मदर्शनमें। जैसे 'सर्वभूतेषु चाऽऽत्मानं सर्वभूतानि चाऽऽत्मनि। समं पश्यन्नात्मयाजी स्वाराज्यमधिगच्छति' इत्यादि है, सब प्राणियोंको अपनेमें और अपनेको सब प्राणियोंमें जो सम देखता है वह परमात्माके साथ एकीभूत होकर मुक्त होता है, इसके द्वारा आत्मज्ञानकी स्तुति की गई है। यह ब्रह्मविद्या सब विद्याओंसे बड़ी है; अतएव एतद्विद्वान् ही आत्मयाजी कहलाता है, दूसरा नहीं। अथवा परमात्मदर्शीमें आत्मयाजीशब्द भूतपूर्वगतिसे प्रयुक्त हुआ है, ज्ञानोत्पत्तिसे पूर्व आत्मसंस्कारके लिए नित्य कर्मका जो अनुष्ठान करता है, आत्मसंस्कारार्थ कर्मानुष्ठान होता है, इसमें प्रमाण 'इदं मेऽनेनाङ्गं संक्रियते' यह श्रुति प्रमाण है। गर्भाधानसंबन्धी होम तथा मौञ्जीबन्धनादि संस्कारसे बैजिक पापकी निवृत्ति होती है। इसी प्रकरणमें यह भी कहा गया है कि कार्यकरण शरीरेन्द्रियादिके संस्कारार्थ नित्य कर्म किये जाते हैं, उन कर्मोंसे संस्कृत पुरुष आत्मयाजी होता है। इन्हीं कर्मोंके करनेसे सबमें साम्यदर्शन कर सकता है। उसको इस जन्ममें अथवा जन्मान्तरमें साम्यदर्शन होता है—'समं पश्यन् आत्मयाजी भवति' यह निचोड़ अर्थ है। नित्य कर्म ज्ञानोत्पत्तिके साधन हैं नित्य कर्मानुष्ठायी इस जन्ममें या जन्मान्तरमें आत्मज्ञानी होता है, इसको दिखलानेके लिए समदर्शीमें भूतपूर्वगतिसे आत्मशब्दका प्रयोग होता है।

ब्रह्मा विश्वसृजो धर्मो महानव्यक्तमेव च।
उत्तमां सात्त्विकीमेतां गतिमाहुर्मनीषिणः॥

(ब्रह्मा, जगत्की सृष्टि करनेवाले मरीचि आदि, शरीरी धर्म, सांख्यदर्शनमें प्रसिद्ध महत्त्व और अव्यक्तके अधिष्ठाता देवता—इनकी स्वरूपताको पण्डित लोग उत्तम सात्त्विक गति कहते हैं।)

इस श्लोकसे प्राणोपासनादि कर्मका फल देवसार्ष्टि होता है, तथा—

एष सर्वः समुद्दिष्टस्त्रिप्रकारस्य कर्मणः ।
त्रिविधस्त्रिविधः कर्मसंसारः सार्वभौतिकः ॥

अर्थात् मानसिक, वाचिक, कायिकरूप तीन प्रकारके कर्मोंका फल सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुणके भेदसे तीन प्रकारका फिर उत्तम, मध्यम और अधम भेदसे तीन प्रकारका यह सम्पूर्ण प्राणियोंका संसार कहा गया है ।

और भी

प्रवृत्तं कर्म संसेव्य देवानामेति सार्ष्टिताम् ।
निवृत्तं सेवमानस्तु भूतानप्येति पञ्च वै ॥

प्रवृत्त कर्मोंके अभ्याससे देवरूपताको प्राप्त होता है, निवृत्तिरूप कर्मको करता हुआ पुरुष पाँच भूतोंका अतिक्रमण करता है । जो लोग 'भूतानत्येति पञ्च वै' ऐसा पाठ मानकर कहते हैं कि ज्ञानकर्मसमुच्चयानुष्ठानसे प्रकृतमें मुक्ति फल विवक्षित है, क्योंकि भूतोंका अतिक्रम मुक्तिके बिना नहीं हो सकता, उन लोगोंका वेदान्तमें ज्ञान बहुत परिमित है; इसलिए उनकी यह उक्ति हो सकती है। 'नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय' इसपर भी अवधान देते, तो यह स्पष्ट हो जाता कि ज्ञान ही मुक्तिका हेतु है, यही उपनिषदोंका वक्तव्य है, उपनिषत्के विरोधसे 'भूतानप्येति' यही पाठ समीचीन है, 'अत्येति' यह उससे विरुद्ध है ।

शङ्का—यह अध्याय अर्थवाद है ।

समाधान—नहीं यह अर्थवाद नहीं हो सकता, कर्मका विपाक (परिणाम) ब्रह्मस्वरूपप्राप्ति है, तथा उससे अतिरिक्त आत्मज्ञानार्थ है; इसीमें कर्मकाण्ड और सब उपनिषदोंका समान तात्पर्य है । तात्पर्यविषयीभूत अर्थमें कोई वाक्य अर्थवाद नहीं माना जाता । विहित कर्म न करनेसे तथा प्रतिषिद्ध कर्मके करनेसे वृक्ष, श्वान, सूकर आदि योनियोंका लाभ होता है और वान्ताशी प्रेतयोनि भी मिलती है, अतएव—

'अकुर्वन् विहितं कर्म निन्दितं च समाचरन् ।
प्रसज्जंश्चेन्द्रियार्थेषु नरः पतनमृच्छति ॥
शारीरजैः कर्मदोषैर्याति स्थावरतां नरः ।
वाचिकैः पक्षिमृगतां मानसैरन्त्यजातिताम् ॥
श्वसूकरखरोष्ट्राणां गोजाविमृगपक्षिणाम् ।
चण्डालपुल्कसानां च ब्रह्महा योनिमृच्छति ॥

शास्त्रविहित कर्मको छोड़कर जो निन्दित कर्मका अनुष्ठान करता हुआ इन्द्रियोंको उनके विषयोंमें प्रेरित करता है, वह पतनको प्राप्त होता है। कायिक, वाचिक और मानसिक दोषोंसे क्रमशः स्थावरता, पक्षिता और अन्त्यजातिताको प्राप्त होता है। ब्राह्मणकी हत्या करनेवाला श्वान, सूकर आदि योनियोंको प्राप्त होता है।

इन वाक्योंसे उक्त अर्थ प्रत्यक्षसे भी दृष्ट होता है, इसलिए अर्थवाद मानना युक्तियुक्त नहीं है। एवं उक्त अध्याय भी अर्थवाद नहीं है।

श्रुति और स्मृतिसे विहित तथा प्रतिषिद्ध कर्मोंसे अतिरिक्त विहित या प्रतिषिद्ध कर्म हैं; यह तो कोई जान नहीं सकता। अगर ऐसे कर्म ज्ञात होते, तो यह भी कहा जा सकता कि प्रेत, श्वान, सूकर आदि योनिकी प्राप्तिरूप फल उन्हीं विहित कर्मोंके अननुष्ठान तथा प्रतिषिद्ध कर्मोंके अनुष्ठानसे होता है। प्रेत, श्वान, सूकर आदि योनियाँ तो प्रत्यक्षसे देखते हैं, ये भी किसी कर्मकी ही फल हैं। यह तो कोई कह नहीं सकता कि ये बिना कर्मसे ही होती हैं; अतः विहित कर्मोंके न न करनेसे तथा प्रतिषिद्ध कर्मोंके अनुष्ठानसे जैसे ये कर्मविपाक प्रेत, श्वान, सूकर आदि होते हैं एवं उत्कृष्ट कर्मोंके भी विपाक नरादिसे लेकर ब्रह्म लोकपर्य्यन्त उत्कर्षतारतम्यसे व्यवस्थित हैं, ऐसा अर्थ माननेपर भी भूतार्थवाद ही कह सकते हैं। भूतार्थवाद स्वार्थमें भी प्रमाण होता है—'स आत्मनो वपामुदखिदत्' इत्यादिके समान अभूतार्थवाद नहीं, जो स्वार्थमें प्रमाण नहीं माना जाय।

शङ्का—'प्रजापति०' इत्यादि भी अर्थवाद नहीं है, प्रजापति समर्थ थे; अतः आत्मवपोत्खेदन कर सकते थे।

समाधान—अच्छा, ऐसा ही मानिए, इससे हमारे मतमें कोई क्षति नहीं है।

शङ्का—तो वैधर्म्यदृष्टान्त कैसे सिद्ध होगा ?

समाधान—मत हो।

शङ्का—तो आपका पक्ष कैसे सिद्ध होगा ?

समाधान—अन्वयिदृष्टान्तसे ही सिद्ध होगा। दृष्टान्त अपेक्षित है, चाहे साधर्म्य दृष्टान्त हो या वैधर्म्य। वैधर्म्यदृष्टान्त ही विशेषरूपसे अपेक्षित नहीं है।

शङ्का—अच्छा, भले ही कर्मविपाकप्रकरण अर्थवाद न हो, तथापि ब्रह्मलोकप्राप्ति फल काम्य कर्मोंका ही हो सकता है ज्ञानसंयुक्त नित्य कर्मोंका नहीं, अतः उनका फल मोक्ष ही हो सकता है।

समाधान—ज्ञानसहित काम्यकर्मका देवतासार्ष्टि (समानैश्वर्य) फल पूर्वमें कह

श्रुतिः—अथ हैनं भुज्युर्लाह्यायनिः पप्रच्छ याज्ञवल्क्येति होवाच। मद्रेषु चरकाः पर्यव्रजाम ते पतञ्चलस्य काप्यस्य गृहानैम तस्यासीद्

चुके हैं, इसलिए वह फल भी ज्ञानसहित नित्य कर्मोंका है, ऐसा नहीं मान सकते; अतः फलेच्छासे किये जानेवाले कर्मोंका—नित्यकर्म, सर्वमेध, अश्वमेध आदिका—फल ब्रह्मप्राप्ति आदि है और आत्मसंस्कारके लिए निरभिसन्धि किये जानेवाले नित्यकर्मका फल ज्ञानोत्पत्ति है; क्योंकि 'ब्राह्मीयं क्रियते तनुः' इत्यादि स्मृति इस अर्थमें प्रमाण है। वे कर्म आरात् उपकारक होनेसे संस्कार द्वारा मोक्षसाधन हैं, ऐसा कहनेमें कुछ विरोध नहीं है, यह अर्थ बृहदारण्यकके छठे अध्यायमें स्पष्ट होगा। जो 'विषदध्यादिके समान' ऐसा कहा था, वह प्रत्यक्ष और अनुमानका विषय है, अतः विरोध नहीं है। जो केवल शब्दगम्य अर्थ है, वहाँपर यदि कोई वचन न हो, तो उस अर्थका प्रतिपादन केवल विषदध्यादिन्यायके भरोसे नहीं हो सकता। प्रमाणान्तरविरुद्ध अर्थमें श्रुति प्रमाण नहीं हो सकती। जैसे यदि कोई कहे कि 'शीतोऽग्निः क्लेदयति' (शीत अग्नि तण्डुलको शिथिल करती है), तो वह वाक्य प्रत्यक्षविरुद्ध होनेसे उक्त अर्थमें प्रमाण नहीं माना जा सकता। अगर श्रुत हो और प्रत्यक्षादि उस अर्थमें विरोधी भी हों, तो श्रुति-विरोधी प्रमाणान्तरोंका बाध हो जाता है, इसलिए वे आभास माने जाते हैं। जैसे लड़कोंको यह निश्चय होता है कि खद्योत अग्नि है और आकाश श्यामल है, पर वह उनका निश्चय खद्योत अग्नि नहीं है, आकाश श्यामल नहीं है, इस निश्चयसे आभास हो जाता है। वेदप्रामाण्यके अव्यभिचारी होनेसे द्वैतविषयक प्रत्यक्षादि अद्वैतागमविद्यासे आभास माने जाते हैं। उनमें पुरुषमतिके कौशलकी अपेक्षा नहीं है जिससे कि वे अव्यवस्थित हो सकें। उक्त अर्थमें दृष्टान्त देते हैं—'नहि' इत्यादिसे। जैसे पुरुषमतिके कौशलसे सूर्य रूपका प्रकाश न करे, ऐसा कभी नहीं हो सकता, वैसे ही वेदवाक्य भी पुरुषकी इच्छानुसार अन्यार्थक हों, ऐसा नहीं हो सकता, अतः कर्म मोक्षके लिए नहीं है, यह सिद्ध हुआ। इसलिए कर्मोंका फल संसार ही है, यह स्पष्टतया समझानेके लिए इस ब्राह्मणका आरम्भ करते हैं॥

'अथैनं भुज्युर्लाह्यायनिः' इत्यादि श्रुति। बादसे जरत्कारुके उपरत होनेपर भुज्युने (भुज्यु यह नाम है, लह्यके अपत्यके अपत्य होनेसे वे लाह्यायनि भी कहे जाते थे) याज्ञवल्क्यको सम्बोधन कर पूछा—'मद्रेषु' इत्यादिसे। इसका अर्थ भाष्यके अर्थके अनुसार आगे लिखेंगे। पहले अश्वमेधदर्शन कहते हैं।

दुहिता गन्धर्वगृहीता तमपृच्छाम कोऽसीति सोऽब्रवीत्सुधन्वाऽऽङ्गिरस इति, तं यदा लोकानामन्तानपृच्छामाथैनमब्रूम क्व पारिक्षिता अभवन्निति क्व पारिक्षिता अभवन्, स त्वा पृच्छामि याज्ञवल्क्य क्व पारिक्षिता अभवन्निति ॥ १ ॥

अश्वमेधके समष्टि और व्यष्टि दो फल हैं। ज्ञानसमुच्चित अश्वमेध या केवल ज्ञानसम्पादित अश्वमेध सब कर्मोंकी पराकाष्ठा यानी उत्तम श्रेणीमें है। स्मृति-कारोंने कहा है, 'भ्रूणहत्याश्वमेधाभ्यां न परं पुण्यपापयोः' इत्यादि। कामनाभेदसे उपासक अश्वमेध द्वारा समष्टिरूप तथा व्यष्टिरूप देवताको प्राप्त करता है।

शङ्का—व्यष्टि कौन है ?

समाधान—अग्नि, आदित्य और वायु। 'सोऽग्निरभवत्' इत्यादि वाक्यसे अश्वमेधके फलभूत अण्डान्तर्वर्ती अग्न्यादि देवता बतलाये गये हैं।

शङ्का—समष्टि देवता कौन है ?

समाधान—मृत्यु। इन सब देवताओंका एक आत्मा है, यह कह चुके हैं।

शङ्का—मृत्यु कौन है ?

समाधान—मृत्यु अशनाया लक्षण है। अशनाया भूखको कहते हैं।

शङ्का—अशनाया तो प्राणका धर्म है; वह मृत्युलक्षण कैसे हो सकती है।

समाधान—बुद्ध्यात्मा समष्टि कहलाता है, जो सबसे पहले उत्पन्न हुआ और वायु, सूत्र, सत्य और हिरण्यगर्भ शब्दसे व्यवहृत होता है। वही समष्टि है। उसका व्याकृत विषय है यदात्मक सब द्वैतैकत्व, जो सब प्राणियोंका अन्तरात्मा लिङ्ग और अमूर्त रसात्मक है। यदाश्रित ही सब भूतोंके कर्म हैं और जो कर्म तथा कर्मसम्बन्धी विज्ञानोंकी परा गति है—अन्तिम फल है और उसकी सर्वतः परिमण्डलभूता—परिमण्डलभावका आश्रण कर स्थित—व्याप्ति कितनी है ? वह व्याप्ति अब कहनी चाहिए।

शङ्का—क्यों ?

समाधान—उसके कहनेपर बन्धगोचर सम्पूर्ण संसारका कथन हो जाता है कि इतना बन्ध है, इससे अधिक या कम नहीं है। अन्यव्यवच्छेद द्वारा बन्ध-परिमाणपरिच्छेदके लिए कर्मफलव्याप्तिका उपयोग है और बन्धपरिच्छेद वैराग्य द्वारा मुक्तिका हेतु है। समष्टिव्यष्ट्यात्मक हिरण्यगर्भके दर्शनमें अलौकिकत्वके

ब्रह्माण्डाद् बहिरन्तश्च समष्टिव्यष्टिरूपिणः ।
व्याप्तिर्हिरण्यगर्भस्य संसारस्याऽवधिर्मतः ॥ २४ ॥

प्रदर्शनके लिए पूर्ववृत्त आत्माकी आख्यायिका कहते हैं। इससे प्रतिवादी याज्ञवल्क्यकी बुद्धिमें व्यामोह कर देंगे, ऐसा भुज्युको अभिमान है। अब श्रुत्यर्थ कहते हैं— मद्र देशका नाम है। चरकशब्दसे प्रकृतमें ब्रह्मचारी विवक्षित हैं। अध्ययनके लिए व्रतका आचरण करनेसे वे 'चरक' कहे जाते हैं। अथवा चरकसे अध्वर्यु विवक्षित हैं। एक समय हम ब्रह्मचारी अथवा अध्वर्यु उक्त मद्र देशमें भ्रमण करते हुए पतञ्चलके, (यह नाम है) जो कपि-गोत्र होनेसे काप्येय भी कहलाते थे, घर गये। उनकी लड़की गन्धर्वसे गृहीत थी अर्थात् उसमें गन्धर्वका आवेश था। गन्धर्व अमानुष प्राणी है अथवा गन्धर्वशब्दसे यहां अग्नि देवता विवक्षित है। यही ठीक भी है, क्योंकि अन्य प्राणीमें इस प्रकारका विशिष्ट विज्ञान नहीं हो सकता। उसको चारों तरफसे घेरकर हम लोगोंने पूछा कि तुम कौन हो, क्या तुममें कोई तत्त्व है ? वह बोला— मैं गन्धर्व हूँ, सुधन्वा मेरा नाम है और गोत्र आङ्गिरस है। उससे हमने जब लोकका अन्त पूछा तब उससे कहा कि पारिक्षित कहाँ थे। ऐसा पूछनेका अभिप्राय यह था कि हम लोग भी भुवनपरिमाणका ज्ञान रखते थे। उस गन्धर्वने हम सब लोगोंसे सब यथार्थ कह दिया। यों इस ज्ञानको मैंने देवताके अनुग्रहसे पाया है। आपको यह ज्ञान प्राप्त नहीं है, इसलिए अब आप निगृहीत हुए, ऐसा भुज्युका अभिप्राय था। गन्धर्वसे ज्ञानतत्त्व और विद्यासंपन्न हम आपसे पूँछते हैं—याज्ञवल्क्य, 'क्व पारिक्षिता अभवन्' यानी कहां पारिक्षित हुए, क्या उसे आप जानते हैं ? यदि जानते हैं, तो कहिए कि कहां पारिक्षित हुए ? ॥ १ ॥

'ब्रह्माण्डाद्०' इत्यादि ।

शङ्का—ज्ञान सहित कर्म तथा केवल कर्म—इन दोनों प्रकारके कर्मोंके प्रभावका वर्णन किसमें उपयोगी है, भोगापवर्गमें तो इसका कोई उपयोग है नहीं।

समाधान—इतना ही भोग है, इससे कम या अधिक नहीं है, यों अन्य-व्यवच्छेद द्वारा बन्धके परिमाणकी इयत्ताका परिज्ञान वैराग्य द्वारा मोक्षका हेतु है। ब्रह्माण्डके भीतर एवं बाहर समष्टिव्यष्टिरूप हिरण्यगर्भ संसारकी व्याप्ति (संसारकी अवधि) है, हिरण्यगर्भ तक ही संसार है, यहाँ तक ही कर्मका व्यापार है। मोक्ष इसके आगे है, उसमें कर्मका सामर्थ्य नहीं है ॥२४॥

आगमैकाधिगम्योऽयमर्थ इत्युपदर्शयन् ।
गन्धर्वाख्यायिकामाह गन्धर्वस्तद्गुरुस्ततः ॥ २५ ॥
लोकान्तानपि गन्धर्वादश्वमेधकृतां फलम् ।
श्रुत्वा पारिक्षितोक्त्याऽत्र वादिनं तं व्यमोहयत् ॥ २६ ॥
अश्वमेधकृतो वक्ति भुज्युः पारिक्षिता इति ।
परितः क्षितिमावेष्टय स्थिता इति विवक्षया ॥ २७ ॥

'आगमैका०' इत्यादि । लोकपरिमाण केवल आगमगम्य है । उपदेशके बिना यह अर्थ किसीको ज्ञात नहीं होता और इसका उपदेष्टा भी सुलभ नहीं है । भाग्यवश गन्धर्व द्वारा हमको यह ज्ञान प्राप्त हुआ है । याज्ञवल्क्यको इस ज्ञानका संभव नहीं है, अतः जल्पकथा द्वारा किसी प्रकार वादीको निगृहीत करके विजयका लाभ करना समुचित है, इस अभिप्रायसे गन्धर्वकी आख्यायिका भुज्युने कही । गन्धर्व गुरु द्वारा भुज्युको जो अलौकिक भुवनपरिमाणका ज्ञान हुआ था, उससे भुज्युको अपने विजयकी पूरी आशा थी । परन्तु इस आख्यायिकासे श्रीयाज्ञवल्क्यकी बुद्धिका व्यामोह भुज्यु नहीं कर सके, कारण कि उक्त महर्षि अतीन्द्रियज्ञानके निधि थे ॥ २५ ॥

'लोकान्ता०' इत्यादि ।

शङ्का—गन्धर्व द्वारा उपदिष्ट अश्वमेध यागका अनुष्ठान करनेवाले पुरुषकी गति यहाँ भुज्युको पूछनी थी तो उन्होंने प्रसिद्ध संज्ञाका परित्याग कर अप्रसिद्ध संज्ञा द्वारा उसे क्यों पूछा ?

समाधान—वादी याज्ञवल्क्यकी बुद्धिको व्यामोहमें डालनेके लिए । अश्वमेधका फल कहाँतक है, ऐसा पूछनेसे तो स्पष्टरूपसे सबकी समझमें आ जाता और शास्त्रानुसार उसका फल हिरण्यगर्भप्राप्ति तक है, यह उत्तर भी शीघ्र हो जाता । पारिक्षित-शब्द अश्वमेधयागानुष्ठायियोंमें प्रसिद्ध नहीं है, अपि तु यौगिक है; सो आगे स्पष्ट होगा। लोकान्त (लोकका अवसान) यानी समाप्ति—जहाँ लोक न हो वह अवधि—गन्धर्वकी आख्यायिका और पारिक्षितशब्दका अभिधान—ये केवल व्यामोहके लिए प्रयुक्त हुए हैं ॥ २६ ॥

'अश्वमेध०' इत्यादि । भुज्युने अश्वमेधयाग करनेवालोंको पारिक्षित कहा है । 'परितः क्षितिमावेष्टय स्थिता इति पारिक्षिताः' इस अभिप्रायसे इस यौगिकशब्दका उक्त यागकर्तामें प्रयोग किया गया है; परन्तु इससे अच्छी व्युत्पत्ति वार्तिककारने

त्रिर्याज्ञवल्क्यमुद्दिश्य प्रश्नोक्तिस्त्रासजन्मने ।
अत्रस्तोऽतीन्द्रियज्ञानं दर्शयन्निदमुक्तवान् ॥ २८ ॥

श्रुतिः—स होवाचोवाच सोऽगच्छन्वै ते तद्यत्राश्वमेधयाजिनो गच्छन्तीति, क्व चाश्वमेधयाजिनो गच्छन्तीति, द्वात्रिꣳशतं वै देवरथाह्न्यान्ययं लोकस्तꣳसमन्तं पृथिवी द्विस्तावत्पर्येति ।

की है—'परितः क्षीयते ब्रह्महत्यादि येन स परिक्षितः अश्वमेधः तद्याजिनः पारिक्षिता इति' अर्थात् ब्रह्महत्या आदि पाप जिससे सर्वथा नष्ट हो जाते हैं वह परिक्षित (अश्वमेध) है, उसका अनुष्ठान करनेवाले पारिक्षित कहलाते हैं। 'तरति ब्रह्महत्यां योऽश्वमेधेन यजेत' इत्यादि श्रुति इस यौगिक अर्थमें प्रमाण है ॥ २७ ॥

'त्रिर्याज्ञवल्क्य०' इत्यादि। 'पारिक्षिताः क्व अभूवन्' इस प्रकार याज्ञवल्क्यके प्रति भुज्युने तीन बार पूछा।

शङ्का—एक बार पूछनेसे ही विवक्षित अर्थ सिद्ध हो सकता था, फिर तीन बार पूछनेका क्या अभिप्राय है ?

समाधान—श्रीयाज्ञवल्क्यको भय हो, इसलिए तीन बार उक्त प्रश्न पूछा गया है। अतीन्द्रियज्ञाननिधि महर्षि श्रीयाज्ञवल्क्यजी इस प्रकारके प्रश्नसे कुछ भी भीत न हुए और उन्होंने अपने अतीन्द्रियज्ञानका प्रकाश करते हुए प्रश्नका समुचित उत्तर दिया—जहाँ अश्वमेधयाजी जाते हैं। कहाँ जाते हैं, यह आगे स्पष्ट होगा। प्रथम उक्ति गन्धर्वके प्रति प्रश्नके लिए है और द्वितीय उक्ति तदनुरूप प्रतिवचनके लिए है। जो यह प्रश्न हुआ कि 'क्व पारिक्षिता अभूवन्' उसका जो प्रतिवचन हुआ वह सब गन्धर्वने हमसे कहा और तृतीय मुनिके प्रति प्रश्नार्थ है, इस प्रकार विभाग होनेसे पुनरुक्तिकी शङ्का नहीं है ॥ ॥ २८ ॥

'स होवाच' इत्यादि श्रुतिः। याज्ञवल्क्यमुनिने भुज्युसे कहा कि उस गन्धर्वने आपसे वे पारिक्षित वहाँ गये, यह कहा ही था।

शङ्का—कहाँ ?

समाधान—जहाँपर अश्वमेधयागानुष्ठायी जाते हैं।

शङ्का—उक्त यागानुष्ठायी कहाँ जाते हैं ? इसके उत्तरके लिए भुवनका परिमाण पहले कहते हैं। एक दिन और रात्रिमें सूर्यरथकी गतिसे जितना देश परिच्छिन्न होता है, उसका बत्तीस गुना देश सूर्यके किरणसे व्याप्त रहता है और

चन्द्ररश्मिके साथ व्याप्त वह देश पृथिवी कहलाता है। 'रविचन्द्रमसोर्यावन्मयूखैरवभाष्यते। ससमुद्रसरिच्छैला तावती पृथिवी मता॥' अर्थात् जितना प्रदेश सूर्य और चन्द्रमाकी किरणोंसे प्रकाशित होता है, समुद्र नदी और पर्वतोंसे युक्त वह प्रदेश पृथिवी कहलाता है। यही वह लोक है, लोकालोक नामक पर्वतसे संयुक्त है। यहाँ वैराज शरीर है। और जहाँ कर्मोंके फलोंका उपभोग होता है, वही यह प्राणियोंका लोक है। इसके परे अलोक है। लोकके चारों तरफ लोकविस्तारसे द्विगुण परिमाणसे (विस्तारसे) युक्त पृथिवी है। उस पृथिवीकी चारों दिशाओंमें द्विगुण परिमाणवाला समुद्र है, जिसको पौराणिक घनोद कहते हैं। इस विषयमें अण्डकपालका परिमाण कहते हैं। जिस छिद्रात्मक मार्गसे बाहर निकलते हुए अश्वमेधयाजियोंसे देश व्याप्त रहता है, वहाँ जितना परिमाण छूरेकी धारका होता है अथवा जितना परिमाण सूक्ष्म मक्खीके परका होता है, उतना परिमाणवाला सूक्ष्म अण्डकपालके मध्यमें आकाशका छिद्र है। उसी छिद्रात्मक आकाशसे अश्वमेधयाजी जाते हैं, उन पारिक्षित अश्वमेधयाजियोंको इन्द्रने (परमेश्वरने), जो अश्वमेधमें अग्निचित है, (प्रकृत अग्निको सुपर्ण कहते हैं। सुपर्णशब्दका श्येनसादृश्यसे अग्निमें प्रयोग आया है, तद्विषयक दर्शन 'तस्य प्राची दिक् शिरः' इत्यादिसे पूर्वमें कहा है) सुपर्ण (पक्षपुच्छाद्यात्मक सुपर्ण) होकर वायुको दिया। मूर्त होनेसे स्वगति नहीं हो सकती, अतः अमूर्त वायुको दिया। वायुकी गतिका प्रतिरोध नहीं है, उन पारिक्षितोंको वायुने अपनेमें रखकर वहाँ पहुँचाया।

शङ्का—कहाँ ?

समाधान—जहाँपर पहलेके अश्वमेधयाजी रहते हैं। इस प्रकार उस गन्धर्वने वायुकी ही प्रशंसा की। वायु ही पारिक्षितोंकी गति है। यह आख्यायिका समाप्त हुई। आख्यायिकासे सिद्ध अर्थको आख्यायिकासे निकाल कर श्रुतिने हम लोगोंसे कहा। जिस कारणसे वायु स्थावर जङ्गमात्मक भूतोंका अन्तरात्मा है और बाहर भी वही है, अतः आध्यात्मिक, अधिभूत और अधिदैव भावसे जो त्रिविध व्याप्ति है, वह वायुकी है तथा केवल सूत्रात्मासे वायु ही समष्टि है। एवं वायुको ही समष्टि और व्यष्टिभावसे आत्मा जानता है, जो इसको जानता है, उसका फल कहते हैं—'अपमृत्युम्' इत्यादिसे। इस प्रकार वायुका उपासक फिर नहीं मरता। मृत्युको जीतता है। जबतक सूत्रात्मा हिरण्यगर्भ रहेंगे, तबतक मृत्यु नहीं हो सकती। अपने प्रश्नोंका निर्णय सुनकर लाह्यायनि भुज्यु वादसे उपरत हो गये।

गन्धर्वेण गतिः प्रोक्ता ह्यश्वमेधकृतामिति ।
भूयः पृष्टः स्वयं वक्तुं प्राह लोकस्य विस्तृतिम् ॥ २९ ॥
आदित्यरथगत्याऽध्वा मितो यावदहर्निशम् ।
द्वात्रिंशद्गुणितस्तावान्व्याप्तो भानुगभस्तिभिः ॥ ३० ॥
इयानेव प्राणिभोगसिद्ध्यै लोक इष्यते ।
इतः परस्ताद् द्विगुणा पृथिव्यालोकवर्जिता ॥ ३१ ॥
अन्तरालोकयुक्तः सन्बहिरालोकवर्जितः ।
लोकालोकगिरिर्मध्ये पृथिव्योरनयोः स्थितः ॥ ३२ ॥
श्रुतिः—ताꣳ समन्तं पृथिवीं द्विस्तावत्समुद्रः पर्येति ।
समुद्रो द्विगुणो भूमेर्घनोदाख्यो बहिः स्थितः ।
अण्डाद् बहिर्घनोदोऽयमिति पौराणिका जगुः ॥ ३३ ॥

'गन्धर्वेण' इत्यादि । अश्वमेधयाजियोंकी गति गन्धर्वने भुज्युसे कही । फिर पूछनेपर उसे कहनेके लिए स्वयं उसने लोकका विस्तार कहा ॥ २९ ॥

'आदित्यरथ०' इत्यादि । रात्रि और दिनमें सूर्य्यकी रथगतिसे जितना मार्ग परिच्छिन्न होता है, ३२ गुना उतना प्रदेश सूर्य्यकी किरणोंसे व्याप्त रहता है । वही पृथिवी कही जाती है ॥ ३० ॥

'इयानेव' इत्यादि । प्राणियोंके शुभाशुभ फलके भोगके लिए इतना ही प्रदेश लोक कहा जाता है; इससे आगे द्विगुण पृथिवी आलोकशून्य है, वहाँ सूर्यकी किरणोंका प्रवेश नहीं है, अतएव वह भोगभूमि भी नहीं है । सूर्यके आलोकके बिना प्राणियोंकी स्थिति नहीं हो सकती । भोगभूमिकी चारों दिशाओंमें आलोक-शून्य आलोकवती पृथिवीसे द्विगुण पृथिवी है ।

शङ्का—अग्न्यादि देवता तो रह सकते हैं ।

समाधान—अग्न्यादि देवता प्राणियोंके भोगमें सहायक हैं । भोगी प्राणियोंके न रहनेसे करणात्मक देवताओंका सद्भाव भी व्यर्थ है ॥ ३१ ॥

'अन्तरालोक०' इत्यादि । भीतरका प्रदेश आलोकसे संयुक्त है, पर बाहरका प्रदेश आलोकसे शून्य है । सालोक और निरालोक—इन दोनों पृथिवियोंके मध्यमें लोकालोकनामक पर्वत है ॥ ३२ ॥

'तां समन्तम्' इत्यादि श्रुति—इसका व्याख्यान हो चुका है ।

'समुद्रो' इत्यादि । समुद्रका भूमिसे द्विगुण परिमाण है, जिसका नाम घनोद

पुराणं बाध्यते श्रुत्या ध्यानार्था वा श्रुतिर्मता ।
सर्वथाऽप्यण्डरूपोऽयं वैराजो देह इष्यताम् ॥ ३४ ॥
योऽण्डाद् बहिःस्थितो वायुः सूत्रात्मेति श्रुतीरितः ।
एषोऽश्वमेधकृत्पुण्यपरिपाको न चाऽपरः ॥ ३५ ॥
क्षुरधाराद्युपमितः सन्धिर्योऽण्डकपालयोः ।
तेन बाह्यं नयत्येतानश्वमेधस्य देवता ॥ ३६ ॥

श्रुतिः—तद्यावती क्षुरस्य धारा यावद्वा मक्षिकायाः पत्रं तावान्तरेणा-

---

है । वह घनोद बाहर है । अण्ड (ब्रह्माण्ड) से बाहर घनोद है, यह पौराणिकोंका मत है । 'तां समन्तम्' इत्यादि श्रुतिवाक्यसे पृथिवीके अनन्तर ही समुद्र है, ऐसा प्रतीत होता है और पुराण समुद्रको ब्रह्माण्डसे बाहर बतलाता है । ऐसी अवस्थामें श्रुति और पुराणमें परस्पर विरोध प्रतीत होता है ॥३३॥

'पुराणम्' इत्यादि । श्रुतिसे पुराणका बाध होता है, अतः श्रुतिके अनुसार ही पदार्थ माना जाता है, इसलिए पुराण स्वार्थमें प्रमाण नहीं है । अथवा विरोधके परिहारके लिए यह भी उपाय है कि श्रुति ध्यानके लिए घनोदको ब्रह्माण्डके भीतर कहती है । अतः उक्त श्रुतिका तात्पर्य्य वास्तविक पदार्थस्थितिमें नहीं है । घनोदाख्य समुद्र ब्रह्माण्डसे (विराज शरीरसे) बाहर हो या भीतर, इसमें श्रुति उदासीन है । सूत्रात्मा ही कर्मफल है और वह व्यापक है, केवल यही श्रुतिको विवक्षित है । लोकालोक तदन्तर्गत पृथिव्यादिका उक्त परिमाणसे तदात्मक सूत्रात्माका ध्यान विवक्षित है । भुवनकोशका वास्तविक यह परिमाण है, इसमें श्रुतिका तात्पर्य्य नहीं ॥ ३४ ॥

'योऽण्डात्' इत्यादि । जिस ब्रह्माण्डसे बाहर स्थित सूत्रात्मा वायुको श्रुतिने कहा है । वह अश्वमेधयागके पुण्यका परिपाक है, दूसरा नहीं है ॥ ३५ ॥

'क्षुरधारा०' इत्यादि । जिस अण्डकपालकी सन्धि क्षुरधारासे उपमित की गई है; उसी मार्गसे अश्वमेधयागदेवता अश्वमेध यज्ञ करनेवालोंको हिरण्यगर्भके पास ले जाता है, उक्त समुद्रको पार कर लोकसे अन्य अण्डसे बाहर स्थित जो गन्तव्य है, उसकी गतिके उपयोगी उक्त अण्डकपालसबन्धी छिद्रका उपमान इससे कहा गया है ।

शङ्का—तावानित्यादि ग्रन्थसे आकाशान्तरका ही निर्देश किया गया हो, यह

काशस्तानिन्द्रः सुपर्णो भूत्वा वायवे प्रायच्छत्तान्वायुरात्मनि धित्वा तत्रागमयद्यत्राश्वमेधयाजिनोऽभवन्नित्येवमिव वै स वायुमेव प्रशशंस तस्माद्वायुरेव व्यष्टिर्वायुः समष्टिरप पुनर्मृत्युं जयति य एवं वेद, ततो ह भुज्युर्लाह्यायनिरुपरराम ॥ २ ॥

इत्युपनिषदि तृतीयं ब्राह्मणं समाप्तम् ।

भी हो सकता है, कपालछिद्रका ही यह निर्देश है, इसमें विनिगमक प्रमाण नहीं है।

समाधान—समुद्रसे परे अण्डकपालोंके छिद्रसे अतिरिक्त अतिसूक्ष्म पदार्थकी जब उपलब्धि ही नहीं होती, तब उसका निर्देश कैसे किया जा सकता है? अतः अण्डकपालकी सन्धिमें स्थित छिद्रका ही 'तावान्' इत्यादि ग्रन्थसे निर्देश है, आकाशान्तरका नहीं, उसी मार्गसे वायुस्वरूपापन्न सूत्रात्मा अश्वमेधयागके कर्ताओंको अपने ऊपर रखकर ब्रह्मलोकमें पहुँचाते हैं।

शङ्का—'इन्द्रः सुपर्णो' इत्यादिसे किस देवताका निर्देश है, वास्तवमें इन्द्र तो सुपर्ण है नहीं और वह अश्वमेध यज्ञके कर्ताओंको ब्रह्मलोकमें पहुँचाता है, इसमें कुछ प्रमाण भी नहीं है।

समाधान—यहाँ सूत्रात्मा या विराट् ही सुपर्णशब्दका अर्थ है। अर्चिरादिमार्गसे अण्डकपालदेशमें प्राप्त जो अश्वमेधयज्ञकारी हैं, उनको बाहर ले जानेकी शक्ति विराट् या सूत्रात्मामें ही है, दूसरेमें नहीं है, अतः इन दोनोंमें किसीको सुपर्णशब्दार्थ मानना चाहिए। जैसे सूत्रकी व्याप्ति भीतर है, वैसे बाहर भी है, इसलिए उसमें बाहर ले जानेकी सामर्थ्य होनेपर भी विराट्की भीतर ही सत्ता होनेके कारण उसमें बाहर ले जानेकी सामर्थ्य नहीं है, यदि कोई ऐसी शङ्का करे, तो उसका निवारण करनेके लिए इन्द्रशब्दार्थ कहते हैं—इन्द्रशब्दसे प्रकृतमें चित्यात्मा विराट् सूत्ररूप विवक्षित है, वह बाहर ले जानेमें समर्थ है, वह वायुको देता है।

शङ्का—सूत्र और वायु एक ही है, अतएव श्रुति है 'वायुर्वै गौतम तत्सूत्रम्'। यह श्रुति यदि उक्त अर्थमें प्रमाण है, तो सूत्रात्मा अण्डसे बाहर निकलकर अश्वमेधयागकर्ताओंको वायुको कैसे देता है?

समाधान—ज्ञानशक्तिमान् सूत्रका क्रियाशक्तिमान् स्वस्वरूप वायुके प्रति क्रियाज्ञानवान् उक्त यागियोंको ले जाना उचित ही है।

ते वायुभावमापन्नाः समष्टिव्यष्टिरूपतः ।
अण्डाद् बहिस्तदन्तश्च तिष्ठन्त्यखिलरूपिणः ॥ ३७ ॥

शङ्का—उक्तस्वरूप इन्द्र अश्वमेध-यागियोंको फल कैसे देता है ।

समाधान—अश्वमेधजन्य अग्निरूप देवता प्रकृतमें अपूर्वशब्दसे कहा जाता है । अपूर्व फलदाता होता है, इसमें किसीको विवाद नहीं है ।

शङ्का—तब तो अग्निदेवतारूप अपूर्व ही फलदाता होगा, फिर वायुसे क्या प्रयोजन ?

समाधान—वह अपूर्व वायुशरीर ही है । वायु शरीरी है और शरीर है अपूर्व, अतः उन दोनोंमें भेद स्पष्ट है ।

शङ्का—ऐसे अवसरमें एकको ही फलदाता माननेमें लाघव है, फिर दोनोंको फलदाता क्यों मानते हो ?

समाधान—अश्वमेधसे उत्पन्न अपूर्व फल देनेके लिए जब अभिव्यक्त होता है, तब वह वायुस्वरूप हो जाता है, इसलिए वास्तविक भेद उन दोनोंमें नहीं है, इसके बाद पारिक्षितोंको अपनेमें लेकर प्राणस्वरूप वाय्वात्मा जहाँ रहते हैं और जहाँ पहलेके अश्वमेधयाजी रहते हैं, वहाँपर समष्टिव्यष्टिता फल प्राप्तिके लिए ले जाते हैं । यहाँ तक आख्यायिका समाप्त हुई ।

शङ्का—और भी तो अग्न्यादि देवता हैं, केवल वायुकी ही प्रशंसा गन्धर्वने क्यों की ?

समाधान—अण्डके भीतर और बाहर जैसे वायु देवताकी गति होती है वैसे अन्य देवताकी नहीं है, किन्तु अण्डके भीतर ही है; अतः देवताओंके मध्यमें वायु ही सबसे बड़ा है, इसलिए उसीकी प्रशंसा की गई । वायु समष्टि और व्यष्टि दो रूपसे व्यवस्थित है । अश्वमेधका फल प्राणवायु है, इसलिए उसकी प्रशंसा युक्त ही है ॥ २ ॥

'ते वायु०' इत्यादि । अश्वमेधयाग करनेवाले वायुभावापन्न होकर समष्टि और व्यष्टिरूपसे अण्डके बाहर तथा भीतर समस्त भूतस्वरूपसे रहते हैं । प्रत्येक प्राणियोंका प्रणात्मा व्यष्टिस्वरूप है और सम्पूर्ण चराचरका आत्मा समष्टि-स्वरूप है । वह बिम्बप्रतिबिम्बभावसे व्यवस्थित है । वस्तुतः हिरण्यगर्भ ही आत्मा है । 'नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा' इत्यादि श्रुतिसे एकचेतनवाद ही अद्वैतवेदान्तियोंको अभिमत है । शरीर आदि उपाधिके भेदसे भिन्न-भिन्न चेतन प्रतीत होते हैं,

अध्यात्मादिविभागेन व्याप्तिर्व्यष्टिरितीर्यते ।
समस्तत्वेन संव्याप्तिः समष्टिरिति कीर्त्तिता ॥ ३८ ॥

समष्टिव्यष्टिरूपेण उपास्तेऽसौ सकृन्मृतः ।
हिरण्यगर्भो भूत्वाऽथ मुच्यते म्रियते न तु ॥ ३९ ॥

संसारोत्कर्षसीमेत्थं वर्णिता ज्ञानकर्मजा ।
इतो विरक्तमालक्ष्य वक्ष्यते स्वात्मनिर्णयः ॥ ४० ॥

इति वार्त्तिकसारे तृतीयाध्यायस्य तृतीयं ब्राह्मणं समाप्तम्

उपासना द्वारा 'शरीरादिसे भिन्न आत्मा है' इस भावनाके दृढ़ होनेपर बिम्ब-स्वरूपका साक्षात्कार होता है; अतएव उपासक बिम्बात्मा हो जाता है। यह फल केवल उपासनाका है और उपासनासहित अश्वमेध यागके अनुष्ठानका भी है।

'अध्यात्मादि०' इत्यादि। अध्यात्म, अधिदेव और अधिभूतके विभागसे जो हिरण्यगर्भकी व्याप्ति है; वह व्यष्टि कही जाती है। अर्थात् प्रत्येक प्राणीमें जो भिन्न-भिन्न आत्माकी 'अहं सुखी', 'अहं दुःखी' इत्यादिरूपसे प्रतीति होती है यही व्यष्टि है। अधिदेव सूर्य्य, चन्द्र आदि देवताओंसे अन्य (व्यावृत्त) अहमर्थ है। अधिभूत पृथिवी आदि देवता एक-एककी विवक्षासे व्यष्टि हैं और सर्वात्मना समष्टि हैं ॥ ३८ ॥

'समष्टि०' इत्यादि। असौ उपासकः, यानी समष्टि और व्यष्टिरूपसे जो प्राणकी उपासना करता है, वह मरकर हिरण्यगर्भ हो जाता है, फिर मरता नहीं है, कल्पके अन्तमें ब्रह्माके साथ मुक्त हो जाता है। जब फिर जन्म नहीं लेता तो मरना कहाँ ॥ ३९ ॥

इस ब्राह्मणके अर्थका उपसंहार करते हुए ग्रन्थकार उत्तर ब्राह्मणके साथ पूर्व ब्राह्मणके सम्बन्धकी सूचना करते हैं—'संसारो०' इत्यादिसे।

संसारके उत्कर्षकी सीमा ब्रह्मस्वरूपकी प्राप्तिपर्य्यन्त है, इससे अधिक अर्थात् परब्रह्मभावापत्तिपर्यन्त नहीं है, यह फल ज्ञानसमुच्चित कर्मका है; केवल कर्मका नहीं, इस फलसे जो विरक्त हैं, उन महापुरुषोंके उद्देश्यसे स्वात्मनिर्णय अग्रिम ब्राह्मणसे करेंगे, अर्थात् जो संसारसे सदाके लिए मुक्ति चाहते हैं, उनके लिए

स्वात्मनिर्णयका निरूपण ही श्रेयस्कर है। 'तमेव विदित्वाति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय' इत्यादि श्रुतियोंसे आत्मज्ञान ही मोक्षसाधन है, यह अनेक बार कह चुके हैं। यद्यपि आत्माका निर्णय 'नेति नेति' इत्यादि वाक्यसे कर चुके हैं, अतः पुनः उसका निर्णय करनेमें पुनरुक्त दोषकी आपत्ति हो सकती है; तथापि जो विषय अतिसूक्ष्म नहीं है और एक बारके कथनसे जिसका यथार्थ ज्ञान हो जाता है, उसके पुनः कथनसे पुनरुक्त दोष होता है और जो अतिगम्भीर विषय है, जिसका अनेक बार कथन करनेपर भी पूर्ण ज्ञान नहीं होता, उसका पुनः पुनः कथन आवश्यक है; अन्यथा सकृत् कथन भी व्यर्थ हो जायगा, कथन तो श्रोताके समझानेके लिए होता है। यदि एक बारके कथनसे श्रोताको ज्ञान न हो, तो पुनः कथन जिज्ञासितका बोधक होनेसे युक्त है, अतएव आत्मपदार्थके निर्णयके लिए श्रुतिमें नौ बार 'तत्त्वमसि' शब्दका प्रयोग किया गया है, जहाँ महात्मा आरुणि वक्ता और प्राज्ञ श्वेतकेतु श्रोता थे, अतः सर्व-साधारणके लिए आत्मोपदेशार्थ बार-बार वाक्यप्रयोग समुचित ही है ॥ ४० ॥

तृतीय ब्राह्मण समाप्त



चतुर्थ ब्राह्मणम्

चतुर्थब्राह्मणे मोहयोग्यः कर्तृत्ववर्जितः ।
विषयो ब्रह्मविद्याया अस्त्यात्मेति निरूप्यते ॥ १ ॥

चतुर्थ ब्राह्मण

'चतुर्थ०' इत्यादि । त्वंपदार्थका निरूपण करनेके लिए उत्तर ब्राह्मण है । वास्तवमें अज्ञानोपहित कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि धर्मोंसे रहित ब्रह्माभेदयोग्य कोई प्रत्यग् धातु है; उसीका यहां निरूपण किया जायगा । भाव यह है कि आत्मतत्त्वानवबोधका ग्रहातिग्रहलक्षण बन्ध जो कार्य है, उसका सविस्तर निरूपण हो चुका । अब अनर्थमूल अज्ञानके ध्वंसक ज्ञानकी उत्पत्तिके लिए अव्यवहितोत्तर ब्राह्मणका आरम्भ है । अज्ञानयुक्त आत्मामें कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदिका आरोप कर ग्रहातिग्रहलक्षण बन्धसे आत्मा बद्ध होता है; अतएव विविध शुभाशुभ योनिमें विविध दुःख आदिको भोगनेके लिए उत्पन्न होकर मरता है, वही बद्ध है । संसारीको ही कर्मफल प्राप्त होता है; यह पूर्वमें कह चुके । अब प्रमाताका जो साक्षी है और आत्मामें संसारको जो अध्यस्त मानता है, वास्तविक नहीं, वही मुमुक्षु त्वं पदार्थ है, उसीका उत्तर ब्राह्मणसे निरूपण किया जायगा ।

शङ्का—मुमुक्षुको तो मुक्ति अपेक्षित है, इसलिए उसीका निरूपण करना उचित है । मुमुक्षुके अस्तित्वका अवधारण निष्प्रयोजन है ?

समाधान—देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि और वेदनासे अतिरिक्त साक्षी है, ऐसा सिद्ध होनेपर ही संसारसे मुक्ति पानेकी चेष्टा करनी चाहिए । जिसको देह, इन्द्रिय आदिमें अन्यतम आत्मा है, उससे अतिरिक्त कोई साक्षी नहीं, ऐसा निश्चय है, उसके प्रति जबतक उससे अतिरिक्त साक्षीकी सिद्धि न मनवाई जायगी, तबतक मुक्तिके लिए प्रयत्न करना व्यर्थ है, इसलिए अतिरिक्त साक्षीका निरूपण अत्यावश्यक है ।

शङ्का—प्रमाताको देह आदिसे अतिरिक्त कहते हो या उससे अन्यको ? प्रथम पक्षमें कर्मकाण्डसे ही यह निश्चय हुआ है कि शरीर, इन्द्रिय आदिसे अतिरिक्त आत्मा है; अन्यथा स्वर्ग आदि एवं जन्मान्तरीय सुख आदिके लाभके लिए विहित कर्ममें प्रवृत्ति और प्रतिषिद्धके अनुष्ठानसे निवृत्ति नहीं हो सकेगी । द्वितीय पक्षमें

अहंधीकर्मशास्त्राभ्यां दृष्टेर्द्रष्टा न सिध्यति ।
किन्तु दृष्ट्यादिसंयुक्तो ब्रह्मताऽस्य विरुध्यते ॥ २ ॥

अप्रसिद्ध बुद्धिविषय ही नहीं हो सकता, फिर उसका प्रतिपादन कैसे हो सकता है?

समाधान—ठीक है, कर्मकाण्डसे जिनको यह निश्चित हो चुका है कि स्थूल देह आदिसे अतिरिक्त परलोकोक्त आत्मा है, वही साक्षी कहलाता है; उनके प्रति साक्षीके अस्तित्वके साधनके लिए यह ब्राह्मण नहीं है, क्योंकि उनके प्रति तो वह सिद्ध ही है। द्वितीय पक्षमें प्रमाताके भावाभावसाधकत्वरूपसे सामान्यतः प्रसिद्ध साक्षीका विशेषाकारसे प्रतिपादन हो सकता है। कर्मकाण्ड द्वारा कर्तृत्व आदिसे विशिष्ट ही स्थूल देहादिसे अतिरिक्त आत्माकी सिद्धि होती है। कर्तृत्व आदिसे विशिष्ट ही आत्मा पूर्वकाण्डमें अपेक्षित है, उससे शून्य नहीं। यहाँ उससे शून्य आत्माका निरूपण करना है। इसलिए पूर्वकाण्डसे यह गतार्थ नहीं हो सकता, वास्तवमें ब्रह्मविद्याका योग्य अधिकारी कौन है, इसका निर्णय करनेके लिए उत्तर ब्राह्मण है। अधिकारीका निर्णय होनेपर ही उपदेश सार्थक होता है, अन्यथा नहीं।

शङ्का—अच्छा, तो योग्य अधिकारी कौन है? ब्रह्म या अब्रह्म? प्रथम पक्षमें ब्रह्ममें ब्रह्मत्व स्वतःसिद्ध है, अतः उसके लिए उपदेश अनर्थक है। द्वितीय पक्षमें सैकड़ों उपदेशोंसे अब्रह्म ब्रह्म नहीं हो सकता, इसलिए पुनः उपदेश व्यर्थ है तथा व्याघात भी है और अब्रह्म आपके मतसे है नहीं, क्योंकि 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म', 'नेह नानास्ति किञ्चन' इत्यादि श्रुति और 'तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः' इत्यादि सूत्रोंसे ब्रह्मसे अतिरिक्त किसीकी सत्ता नहीं है; यह आपका परम-सिद्धान्त है; उसके अनुसार अब्रह्ममें ब्रह्मत्वका प्रतिपादन करना सर्वथा असंभव है; अतः अधिकारिनिरूपणके लिए यह ब्राह्मण है; यह अर्थ असंगत है।

समाधान—ठीक है, किन्तु प्रत्यगात्मा और ब्रह्ममें वास्तविक भेद नहीं है, यह समझाते हुए अविद्यासे व्यवहित ब्रह्म ही अधिकारी है, ऐसा निश्चय करनेके लिए यह ब्राह्मण है। अज्ञानोपहित ब्रह्मचैतन्य ही जीव या अधिकारी है।

शङ्का—यह तो 'तत्त्वमसि' आदि वाक्य ही से कहा गया है, फिर इसकी क्या आवश्यकता है?

समाधान—उसीका यह विवरण (विस्तृत व्याख्यान) है ॥ १ ॥

'अहंधी०' इत्यादि।

अतो ब्रह्मत्वयोग्यस्य प्रतीचोऽत्र बुभुत्सया ।
अनूद्य ब्रह्मतामादौ तदर्थं परिपृच्छति ॥ ३ ॥

श्रुतिः—अथ हैनमुषस्तश्चाक्रायणः पप्रच्छ याज्ञवल्क्येति होवाच यत्साक्षादपरोक्षाद् ब्रह्म य आत्मा सर्वान्तरस्तं मे व्याचक्ष्वेत्येष त आत्मा

शङ्का—यदि उक्त अधिकारके निर्णयके लिए यह ब्राह्मण है, तो उक्त अधिकारी 'अहं कर्ता, भोक्ता, सुखी, दुःखी' इत्यादि मानस प्रत्यक्षसे ही सभीको ज्ञात है; अतः उसका निरूपण व्यर्थ है ।

समाधान—उक्त मानस प्रत्यक्षसे कर्तृत्वादिविशिष्टका प्रत्यक्ष होता है; किन्तु वह अधिकारी नहीं कहा जा सकता, कारण कि यदि कर्तृत्व आदि वास्तवमें आत्माके धर्म होंगे, तो उनसे कभी भी छुटकारा नहीं हो सकेगा एवं कर्मकाण्डसे भी नहीं इत्यादि पूर्वमें कह चुके हैं । दृष्टिका द्रष्टा जो साक्षी है वह उक्त प्रमाणोंसे सिद्ध हो सकता है, पर दृष्ट्यादिसे संयुक्त उसमें ब्रह्मत्व ही विरुद्ध है, इसलिए अधिकारीका निर्णय आवश्यक है ॥ २ ॥

'अतो ब्रह्मत्व०' इत्यादि । दृष्ट्यादि संयुक्तमें ब्रह्मता विरुद्ध है; अतः ब्रह्मत्व-योग्य प्रत्यगात्माकी बुभुत्सासे पहले ब्रह्मताका अनुवाद कर अधिकारी मुमुक्षुके लाभके लिए उषस्त श्रीयाज्ञवल्क्यसे पूछते हैं । विशेष आगे कहेंगे ॥३॥

'अथ' इत्यादि श्रुति । पुण्य और पाप प्रयुक्त ग्रहातिग्रहसे बद्ध जीव पुनः पुनः ग्रहातिग्रहरूप बन्धको छोड़कर और पुनः पुनः ग्रहण कर संसारी होता है । पुण्यका अन्तिम उत्कर्ष कह चुके कि व्याकृत विषय समष्टिव्यष्टिरूप द्वैतात्मैकत्वप्राप्ति । जो ग्रहातिग्रहसे गृहीत होकर संसारी होता है, वह है या नहीं? यदि है, तो उसका स्वरूप क्या है? इस प्रकार आत्माका निर्णय करनेके लिए उषस्त प्रश्न करते हैं । निरुपाधि-स्वरूप आत्मा, जो कि क्रियाकारकसे रहित स्वभाववाला है, उसके ज्ञानसे जीव सप्रयोजक बन्धसे मुक्त होता है । आख्यायिकाका सम्बन्ध प्रकृत विद्याके साथ जो किया गया है, उसका प्रयोजन विद्याकी स्तुति और सुखावबोध है, सो प्रसिद्ध है । अनन्तर प्रकृत श्रीयाज्ञवल्क्यजीसे चक्रके पुत्र नामतः उषस्त चाक्रायणजीने पूछा—जो ब्रह्म अगौण साक्षाद् अव्यवहित है, वह कौन है? घटादि भी द्रष्टाके अव्यवहित होते हैं, इसलिए उसकी व्यावृत्तिके लिए अगौण यह विशेषण है । घटादि गौण अपरोक्ष हैं, मुख्य अपरोक्ष आत्मा ही है । 'यत्साक्षा

सर्वान्तरः कतमो याज्ञवल्क्य सर्वान्तरो यः प्राणेन प्राणिति स त आत्मा सर्वान्तरो योऽपानेनापानीति स त आत्मा सर्वान्तरो यो व्यानेन व्यानीति स त आत्मा सर्वान्तरो य उदानेनोदानिति स त आत्मा सर्वान्तर एष त आत्मा सर्वान्तरः ॥ १ ॥

दपरोक्षात्' यह श्रुति उक्त अर्थमें प्रमाण है। अपरोक्ष आत्मामें अध्यस्त होनेसे घटादि अपरोक्ष होता है, अन्यथा नहीं, इसलिए घटादि गौण अपरोक्ष हैं। 'श्रोत्रं ब्रह्म मनो ब्रह्म' के समान अद्वितीय ब्रह्म गौण नहीं है। आत्मशब्दसे यहां प्रत्यगात्मा विवक्षित है, मन आदि नहीं, क्योंकि आत्मशब्द प्रत्यगात्मामें ही प्रसिद्ध है। संभव होनेपर प्रसिद्ध अर्थका ही ग्रहण करना चाहिए। परिच्छिन्नत्वशङ्काकी निवृत्तिके लिए कहते हैं—'सर्वान्तर' इति। जो सबके भीतर है अर्थात् अपरिच्छिन्न है, एवं 'यत्' और 'यः'—इन दोनों शब्दोंसे प्रसिद्ध जो आत्मा है, वही ब्रह्म है, उस आत्माको हमसे कहिए। जैसे सींग पकड़ कर यह गऊ है, ऐसा स्पष्ट उपदेश करनेसे किसीको इस विषयमें सन्देह नहीं रह जाता, वैसे ही असंदिग्ध स्पष्ट उपदेश कीजिये। ऐसा पूछनेपर श्री याज्ञवल्क्यजीने उत्तर दिया—यह तुम्हारा जो आत्मा है, वही सर्वान्तर है यानी सबके भीतर है, जो साक्षाद् अपरोक्ष अगौण अपरोक्ष बृहत्तम (बहुत बड़ा) और सर्वव्यापक है, वह तुम्हारा आत्मा है। तुम्हारा जो यह कार्यकरणसङ्घात पिण्ड है, वह जिस आत्मासे आत्मवान् है, 'अहं गौरः' इत्यादि प्रतीतिसे पिण्डमें भी आत्मव्यवहार पाया जाता है। एवं 'बधिरो मूढः' इत्यादि व्यवहारसे करणमें भी आत्मव्यवहार होता है। तीसरा जो साक्षी है और जिसमें सन्देह है, वह भी आत्मशब्दसे व्यवहृत होता है—जैसे स्वप्नके बाद 'गाढं मूढोऽहमासं न किञ्चिदवेदिषम्' इत्यादि प्रतीतिसे सिद्ध है। इन तीनोंमें कौन आत्मा सर्वान्तर आपको विवक्षित है? यह पूछनेपर श्रीयाज्ञवल्क्यजीने उत्तर दिया मुखनासिकासञ्चरणशील वायुसे जो सांस लेता है, जिससे प्राणक्रिया होती है, वही तुम्हारे कार्यकरणसङ्घातका विज्ञानमय आत्मा है। जो अपानसे अपानवायुका त्याग करता है तथा व्यानसे सब शरीर आदिमें व्याप्त रहता है, संपूर्ण कार्यकरणसंघातगत प्राणानादि क्रिया दारुयन्त्रके समान जिससे होती है। दारुयन्त्र कठपुतली लोकमें प्रसिद्ध है। मंदारी जैसा चाहता है, वैसे ही कठपुतलीमें क्रिया होती है।

यत्साक्षादपरोक्षं स्याद् ब्रह्म तद्रूपतामयम् ।
अर्हेत् सर्वान्तरस्ताद्दग्य आत्मा ब्रूहि तं मुने ॥ ४ ॥

पर अज्ञ बालक आदि जानते हैं कि स्वयं कठपुतली ही सब क्रियाएँ कर रही है; परन्तु जानकार यह समझते हैं कि इन क्रियाओंका करानेवाला छिपा है । यद्यपि वह दृष्टिगोचर नहीं है, तो भी वह अवश्य है, क्योंकि चेतनसे अनधिष्ठित अचेतनमें कोई क्रिया नहीं देखी जाती है एवं साक्षिरहित मृत शरीर आदिमें भी कोई क्रिया नहीं होती, अतः विज्ञानमयसे अधिष्ठित शरीर आदि दारुयन्त्रके समान नानाविध क्रियाएँ करते हैं । अतः कार्यकरणसंघातसे विलक्षण आत्मा है, जो शरीरादिमें विविध चेष्टाएँ करता है ॥ ३ ॥

'यत्साक्षाद्०' इत्यादि । हे मुनिजी, साक्षात् अपरोक्षस्वरूप जो ब्रह्म उपनिषदोंमें प्रसिद्ध है, उसके साथ अभेदके योग्य जो सर्वान्तर त्वमर्थ है, उसको कहिये, इस प्रकार उषस्तजीने श्रीयाज्ञवल्क्यजीके प्रति प्रश्न किया । मुनिजीने उत्तर दिया कि जो साक्षात् अपरोक्ष सर्वान्तर ब्रह्म है, वही तुम्हारा आत्मा है । इस उत्तरवाक्यमें पाँच पद हैं । क्रमसे उनकी सार्थकता इस प्रकार समझनी चाहिए । 'यत्' पदसे विवक्षित आत्माका निर्देश है । 'अपरोक्ष' शब्दसे प्रत्यक्ष विवक्षित है । प्रत्यक्ष घटादि भी हैं, उनकी व्यावृत्तिके लिए 'साक्षात्' पद है । घटादिका वृत्ति द्वारा प्रत्यक्ष होता है, साक्षात् नहीं ।

शङ्का—'अहं सुखी' इत्यादि मानस प्रत्यक्ष आत्माका भी होता है, अतः आत्मामें अव्याप्ति होगी ।

समाधान—उक्त प्रत्यक्ष चिदचिद्-ग्रन्थिरूप अहमर्थका है, आत्माका नहीं । आत्मा अहमर्थसे अतिरिक्त है, यह आगे कहेंगे । आत्मा स्वयंकाश होनेसे साक्षात् अपरोक्ष है, किसीके द्वारा आत्माका प्रत्यक्ष नहीं होता । अतएव श्रुति कहती है— 'न दृष्टेर्द्रष्टारं पश्येः', 'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह' इत्यादि ।

शङ्का—साक्षात् प्रत्यक्षको भी कहते हैं, ऐसी अवस्थामें केवल साक्षात्पदसे ही प्रत्यक्षका लाभ हो जायगा, फिर 'अपरोक्ष' पदका क्या प्रयोजन है ?

समाधान—द्रष्टा, दृश्य और दर्शन ये भी गौण प्रत्यक्ष हैं, इनकी व्यावृत्तिके लिए 'अपरोक्ष' पदका उपादान है । अपरोक्ष मुख्य आत्मा ही है, दूसरा नहीं । 'यत्साक्षादपरोक्षाद् ब्रह्म' इस श्रुतिसे यह स्पष्ट है कि मुख्य अपरोक्ष ब्रह्म ही है ।

साक्षादिति पदेनाऽत्र व्यवधानं निवार्यते ।
स्वर्गलोकादिवद् ब्रह्म नाऽतो देशान्तरादिगम् ॥ ५ ॥
अगौणताऽपरोक्षार्था ब्रह्मत्वस्य विवक्षिता ।
नामादेरिव नो गौणं ब्रह्मत्वं प्रत्यगात्मनः ॥ ६ ॥
आविर्भावोऽपरोक्षत्वं तच्चाऽस्त्यव्यवधानतः ।
स्वप्रकाशस्वभावत्वादिति वाऽर्थः पदद्वये ॥ ७ ॥

जो एक तथा एकरस है, वह दो प्रकारका हो सकता है—सद्वय और अद्वय । प्रकृतमें उक्त लक्षणसे लक्षित आत्मा सद्वय है या अद्वय ? इस शङ्काकी निवृत्तिके लिए ब्रह्मपदका उपादान है । 'अद्वितीयं ब्रह्म' इत्यादि श्रुतिसे ब्रह्म एक अद्वितीय है, यह पूर्वमें बतलाया गया है । यहांपर 'यत्' पदके अर्थमें ब्रह्म विशेषण देनेसे पूर्वोक्त विशेषणोंसे जो कहा गया है, वह अद्वितीय ही है, सद्वितीय नहीं, यह समझना चाहिए। यदि ब्रह्म आत्मस्वरूप न होगा, तो पुरुषार्थ ही नहीं हो सकता, इसलिए 'यत्' शब्दोपात्त जो विशेष्य है, उसका अनुवाद करके उसीको आत्मा कहते हैं, सो आगे वार्तिकमें स्पष्ट होगा। समझानेके लिए अग्रिम श्लोकोंका वक्तव्य यहां व्यक्त कर दिया गया है, अब ग्रन्थक्रमके अनुसार प्रत्येक श्लोकका अर्थ संक्षेपसे कहते हैं ॥ ४ ॥

'साक्षादिति' इत्यादि । 'साक्षाद्' पदसे व्यवधानकी निवृत्ति करते हैं । व्यवधान दो प्रकारका होता है—कालका व्यवधान और देशका व्यवधान । 'यन्न दुःखेन सम्भिन्नं न च ग्रस्तमनन्तरम्' इत्यादि श्लोकसे निर्दिष्ट सुखविशेष स्वर्ग देशान्तर और कालान्तरमें होता है, इसलिए वह व्यवहित है । ब्रह्मस्वरूप आत्मा वैसा व्यवहित नहीं है, किन्तु सदा प्राप्त है, देशान्तरस्थ भी नहीं है ॥ ५ ॥

'अगौणता०' इत्यादि । एक गौण और दूसरा मुख्य, इस प्रकार अपरोक्ष दो प्रकारका होता है, यह पूर्वमें कह चुके हैं । 'नाम ब्रह्मेत्युपासीत' इत्यादि श्रुतिसे निर्दिष्ट नाम आदिमें जैसे गौणब्रह्मत्व है, वैसे आत्मामें गौणब्रह्मत्व नहीं है, किन्तु आत्मा वस्तुतः ब्रह्म है ॥ ६ ॥

अपरोक्षका अर्थान्तर कहते हैं—'आविर्भावो०' इत्यादिसे ।

आविर्भाव अपरोक्ष कहलाता है । स्पष्ट प्रकाशको अपरोक्ष कहते हैं । पर्वतमें अनुमान आदिसे अग्नि आदिका ज्ञान होनेपर भी स्पष्ट प्रकाशके लिए प्रत्यक्षकी अपेक्षा लोकमें होती है, वह प्रकाश (प्रत्यक्ष) आत्मा ही है ।

अव्यावृत्ताननुगतं वस्तु ब्रह्मगिरोच्यते ।
अकारणमकार्यं तदित्यनेनोदितं भवेत् ॥ ८ ॥
अपुमर्थमिदं प्राप्तं न चेदात्मैव तद्भवेत् ।
यतोऽत आत्मरूपार्थं य आत्मेति विशेष्यते ॥ ९ ॥

शङ्का—घट आदिका भी तो साक्षात्कार होता है ।

समाधान—हाँ होता है, किन्तु अव्यवधानसे नहीं, लेकिन अन्तःकरणके व्यवधानसे होता है । घटाकारान्तःकरणवृत्तिके बिना घटादिका प्रकाश नहीं होता, आत्मा स्वयंप्रकाश है, अतः उसके प्रत्यक्षमें किसीका व्यवधान नहीं होता। इसलिए व्यवधाननिवृत्तिके लिए 'साक्षात्' पदका उपादान किया गया है । अथवा साक्षात् और अपरोक्ष—इन दोनों पदोंके समभिव्याहारसे स्वप्रकाशस्वभावका बोध होता है, उक्त स्वभाव आत्माका ही है, दूसरेका नहीं ॥ ७ ॥

ब्रह्मका लक्षण कहते हैं—'अव्यावृत्ता०' इत्यादिसे ।

अव्यावृत्त और अननुगत वस्तु ब्रह्म है । घट, पट आदि कार्य परस्पर व्यावृत्त होते हैं । ब्रह्म किसीका कार्य नहीं है, अतः अव्यावृत्त है । कारण कार्यमें अनुगत रहता है, मृत्तिका-स्वभावकी अनुवृत्ति घट आदिमें दृष्ट ही है, स्वभावानुवृत्तिसे भी कार्यकारणभावका परिज्ञान होता है । ब्रह्म किसीका कारण नहीं है, अतः कहीं अनुवृत्त नहीं है, इसीको स्पष्ट करनेके लिए ब्रह्मशब्दका आत्मामें प्रयोग हुआ है ।

शङ्का—यदि ब्रह्म कारण नहीं है, तो 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' इत्यादि श्रुति तथा 'जन्माद्यस्य यतः' इत्यादि सूत्र एवं 'अहं सर्वस्य प्रभवः' इत्यादि स्मृतियोंकी क्या गति होगी ?

समाधान—विश्वका कारण अनादि अनिर्वचनीय अज्ञान है, तदाश्रय ब्रह्म है, इसलिए विश्वोपादानाज्ञानाश्रयत्वरूप कारणत्व ब्रह्ममें कहा जाता है । वस्तुतः कारणत्व तो कार्यनिरूपित होता है, जब वास्तविक कार्य ही नहीं है, तब कारण किसका कहा जायगा ? व्यापारशून्य कारण नहीं होता, यह तो लोकमें प्रसिद्ध ही है ॥ ८ ॥

'अपुमर्थ०' इत्यादि । ब्रह्मभाव यदि आत्मस्वरूप न माना जाय, तो वह अत्यन्त पुरुषार्थ नहीं हो सकता । स्वर्ग आदि आत्मासे भिन्न होनेपर भी पुरुषार्थ हैं, किन्तु वे अत्यन्त पुरुषार्थ नहीं हैं, कारण कि अज्ञानदशामें ही स्वर्ग आदि

सजातीयविजातीयद्वितीयार्थनिवृत्तये ।
सर्वान्तर इति प्राह सार्वात्म्यं तेन सिध्यति ॥ १० ॥

रहते हैं। आत्मज्ञान होनेपर क्षयातिशय आदि दोषोंके दर्शनसे उनमें भी वैराग्य हो जाता है। पर उक्तस्वरूप मोक्षमें कभी वैराग्य नहीं होता। हो भी कैसे? आत्मा परमप्रेमास्पद है, तद्रूप ही मोक्ष है। जब आत्मामें किसीको भी वैराग्य नहीं होता, तब मोक्षमें वैराग्य कैसे हो सकता है? इससे मोक्ष परम पुरुषार्थ है, यह सिद्ध हुआ। इसीलिए 'य आत्मा' ऐसा विशेषण दिया गया है ॥ ९ ॥

'सजातीय०' इत्यादि। 'सर्वान्तर' विशेषण देनेका प्रयोजन यह है कि सांख्यसिद्धान्तमें आत्मा प्रकृति और उसके विकारोंसे पर माना गया है, अतएव अनात्मासे सर्वथा असंबद्ध है। किन्तु आत्मा नाना हैं, क्योंकि जनन, मरण, करण आदि नियमके दर्शनसे आत्मामें नानात्व युक्तिसिद्ध है। पर औपनिषद मतमें आत्मा एक ही है, इसीलिए 'सर्वान्तर' यह विशेषण है। संपूर्ण प्रपञ्चका अधिष्ठान आत्मा है, आत्मामें ही संपूर्ण प्रपञ्चकी कल्पना होती है। कल्पित प्रपञ्च अकल्पित आत्माका परिच्छेदक नहीं हो सकता। आत्मा अद्वितीय होनेसे सर्वान्तर है, अतएव सर्वात्म-स्वरूप है। सर्वान्तर होनेसे नानात्वकी निवृत्ति स्वतः सिद्ध होती है। यदि आत्मा नाना होता, तो सर्वान्तर नहीं कहा जा सकता। व्यापक नाना नहीं होता। आकाश व्यापक है, ऐसा कहनेवाले तार्किक यह नहीं कहते कि आकाश नाना है, कारण कि जब व्यापक मानते हैं, तब नाना नहीं हो सकता। परिच्छिन्न ही नाना माना जाता है।

शङ्का—आत्मा सर्वव्यापक है, ऐसा मानकर फिर यह जो कहा जाता है कि वह सर्वान्तर है, वह ठीक नहीं है, क्योंकि ऐसा कहनेमें व्याघात होता है। यदि सर्वान्तर है, तो सर्वपरिच्छिन्न अवश्य ही होगा, इस स्थितिमें अन्याभावप्रतियोगि-त्वरूप परिच्छिन्नत्वका वारण कैसे कर सकते हैं?

समाधान—जैसे मालामें सर्पभ्रान्ति होनेपर भी वस्तुतः वह सर्प नहीं है, किन्तु माला ही है, वैसे ही आत्मामें प्रपञ्चका विभ्रम होनेपर भी वस्तुतः वह आत्मा ही प्रपञ्चरूपसे दीख पड़ता है; आत्मव्यतिरिक्त जब प्रपञ्चकी सत्ता ही नहीं है, तब वह परिच्छेदक कैसे हो सकता है? एकमें तो परिच्छेद्य-परिच्छेदकभाव हो नहीं सकता, वह भेदमें ही हो सकता है, अभेदमें नहीं। कल्पित प्रपञ्चको लेकर सर्वान्तर कहा है ॥ १० ॥

सार्वात्म्यं ब्रह्मणो योग्यं तच्च जीवात्मनीरितम् ।
मुख्यापरोक्ष्यं जीवस्य योग्यं ब्रह्मणि वर्णितम् ॥ ११ ॥
अभेदो वास्तवो जीवब्रह्मणोर्व्यत्ययादतः ।
विवक्षितस्तत्प्रसङ्गाद् वादिव्यामोह आर्थिकः ॥ १२ ॥
आत्मनो ब्रह्मता मुख्या ब्रह्मणोऽप्यात्मता तथा ।
प्रत्यग्दृष्टया पराग्दृष्टया मिथो ब्रह्मात्मनोर्भिदा ॥ १३ ॥

'सार्वात्म्यम्' इत्यादि । सर्वात्मता वस्तुतः ब्रह्ममें है, किन्तु वह जीवमें भी कही गई है तथा वास्तविक आपरोक्ष्य धर्म जीवमें है, किन्तु वह ब्रह्ममें बतलाया गया है । इसका तात्पर्य तत्पदार्थ ब्रह्ममें त्वंपदार्थ जीवकी अभेदयोग्यताके सद्भावमें है । अन्यथा अयोग्यताज्ञानरूप प्रतिबन्धकसे 'तत्त्वमसि' इत्यादि वाक्यसे विवक्षित जीवब्रह्माभेदविषयक बोध ही नहीं होगा ॥ ११ ॥

'अभेदो' इत्यादि । अभेद दो प्रकारका होता है—एक वास्तविक और दूसरा अवास्तविक । प्रथम अभेद वह है, जो 'सोऽयं देवदत्तः' इत्यादि वाक्यसे तद्देशकाल और एतद्देशकालका परित्याग करके केवल धर्मीमात्रका अभेद भासता है। यही अखण्ड अर्थ कहलाता है, इसमें अभेदका संसर्गतया भान नहीं होता, कारण कि संसर्गका बोध दो संसर्गियोंके बिना नहीं हो सकता। यहाँपर दो संसर्गी नहीं हैं। द्वितीय अभेद नीलोत्पलादिका है। यहांपर नीलपदार्थका उत्पल पदार्थमें अभेद प्रतीत होता है, किन्तु नील और उत्पल दो पदार्थ होनेसे यहां अखण्डरूप वास्तविक अभेद नहीं कहा जा सकता । जीव और ब्रह्मका अभेद नीलोत्पलके समान अवास्तव नहीं है, किन्तु 'सोऽयं' के समान अखण्डरूप वास्तविक है ।

शङ्का—कैसे जानते हो ?

समाधान—जीव-ब्रह्मधर्मोंका व्यत्ययसे निर्देश किया गया है। जीवमें अपरोक्षत्व सर्वानुभवसिद्ध है, उसका निर्देश ब्रह्ममें किया गया है और ब्रह्मधर्म सर्वान्तरत्वका निर्देश आत्मामें किया गया है । इस प्रकारका निर्देश दो तात्पर्य्यसे होता है—पहला मुख्य अभेदका बोध करानेके लिए और दूसरा वादिव्यामोहके लिए । दोनों तात्पर्य्योंसे प्रकृतमें व्यत्यय कहा गया है । मुख्य तात्पर्य्य अखण्डरूप अभेदमें है और अमुख्य तात्पर्य्य वादीके व्यामोहमें है ॥ १२ ॥

'आत्मनो' इत्यादि ।

ब्रह्मत्वमात्मनो रूपं तमसा तत्तिरोहितम् ।
आत्मत्वं ब्रह्मणोऽप्येवं ततो जीवेशभेदधीः ॥ १४ ॥

शङ्का—'गौर्वाहिकः', 'अग्निर्माणवकः' इत्यादि स्थलके समान यहांपर भी ब्रह्मभिन्न आत्मामें ब्रह्मशब्दका प्रयोग एवं आत्मभिन्न ब्रह्ममें आत्मशब्दका प्रयोग गौण है, मुख्य नहीं है, अतएव 'ब्रह्म जीवभिन्नम्' इत्यादि प्रत्यक्ष प्रतीति उपपन्न होती है, इसलिए वास्तव अभेद प्रकृतमें विवक्षित नहीं है ?

समाधान—प्रत्यग् दृष्टि और पराग् दृष्टिसे केवल भेदका व्यपदेश होता है, वस्तुतः अखण्ड ही अर्थ प्रकृतमें विवक्षित है। 'राहोः शिरः' इत्यादिके समान अभेदमें भेदकी कल्पना करके 'ब्रह्म जीवभिन्नम्' इत्यादि प्रतीति होती है। भिन्नसत्ताक भेदाभेदकी प्रतीति एक पदार्थमें होती है, इसमें विरोध नहीं है। समसत्ताक भावाभावकी एकमें प्रतीति विरुद्ध है, सो प्रकृतमें नहीं है ॥ १३ ॥

भेद है नहीं, फिर भी प्रतीत होता है, इसमें कारण कहते हैं—'ब्रह्मत्व०' इत्यादिसे ।

आत्मामें ब्रह्मत्व है, किन्तु अज्ञानसे तिरोहित (छिपा) है, इसलिए प्रत्यक्षादिसे प्रतीत नहीं होता। जैसे घर आदिमें घट रहता है, किन्तु अन्धकारादिसे आवृत होनेके कारण प्रतीत नहीं होता। यह कहना प्रामाणिक नहीं है कि घरमें घटादि नहीं हैं। हां, आलोक रहनेपर यदि घटादि उक्त स्थलमें प्रतीत न हों, तो घटादि नहीं हैं, यह कहना प्रामाणिक होता है एवं प्रकृतमें आत्मामें ब्रह्मत्व है, किन्तु अनादि अनिर्वचनीय अज्ञानसे आवृत होनेपर उक्त धर्मकी प्रतीति नहीं होती, ऐसी परिस्थितिमें यह कहना कि आत्मामें ब्रह्मत्व होता तो आत्मत्वके सदृश प्रतीत होता, प्रतीत न होनेसे वह है नहीं, अप्रामाणिक ही है। सर्वान्तर ब्रह्ममें भी आत्मत्व है, किन्तु अज्ञानावृत होनेसे प्रतीत नहीं होता, इसीसे साधारण लोग यह कहते हैं कि ब्रह्ममें आत्मत्व नहीं है। परन्तु शास्त्रके अभ्याससे परिशुद्ध बुद्धिवाले जो ज्ञानी पुरुष हैं और जो वास्तविक इस अतिगूढ़ विषयके अस्तित्व-नास्तित्व-कथनके अधिकारी हैं, उनका यह यथार्थ उपदेश कल्याणके लिए है कि दोनों एक ही हैं जैसा कि श्रीयाज्ञवल्क्यजीने उपदेश दिया है, इतर पुरुषोंको भेदज्ञान होता है, अतएव उषस्तने यह गम्भीरविषयक प्रश्न श्रीयाज्ञवल्क्यजीसे किया है ॥ १४ ॥

तमसो बोधविध्वंसे अब्रह्मानात्मताहतेः ।
प्रत्यङ्मात्रावशेषत्वात् स्यामपूर्वादिमानहम् ॥ १५ ॥
अमूढो याज्ञवल्क्योऽत्र प्रत्यग्दृष्ट्या परामृशन् ।
प्रत्याहैष त आत्मेति तं सर्वान्तरमद्वयम् ॥ १६ ॥
मुख्यापरोक्षोऽयं प्रत्यक् स्वप्रकाशोऽवभासते ।
एतच्छब्देन तं प्राह विस्पष्टत्वविवक्षया ॥ १७ ॥

'तमसो' इत्यादि । तमोरूप (आवारक) उक्त अज्ञानकी आत्मयथार्थज्ञानसे निवृत्ति होनेपर आत्मामें अब्रह्मत्व और ब्रह्ममें अनात्मत्वकी निवृत्ति हो जाती है । आरोप्य पदार्थ स्वोपादानाज्ञानसमानकालिक ही होता है, अतः अज्ञाननिवृत्तिसे ही उक्त धर्मोंकी निवृत्ति हो जाती है । दोनों आविद्यिक होनेसे ज्ञानबाध्य हैं । अनन्तर अपूर्वादिमान् कारणकार्य्यादिविलक्षण ब्रह्मस्वरूप 'मैं हूँ' इत्यादि प्रत्यक्ष होता है ।

शङ्का—अज्ञानका नाश होनेपर उसके विकार अन्तःकरण आदिका जब नाश हो जायगा, तब 'मैं हूँ' यह ज्ञान कैसे होगा ?

समाधान—हां, अन्तःकरणादिका नाश हो जाता है और प्रत्यक् आत्ममात्रका अवशेष रहता है । आत्मा स्वप्रकाश है, इसलिए उसके प्रकाशनके लिए अन्तः-करणादिकी आवश्यकता नहीं है ॥ १५ ॥

'अमूढो' इत्यादि । प्रश्नवाक्यका संक्षेपसे तात्पर्य कहकर ब्रह्मबोधानुरञ्जित आत्मदृष्टि रखकर उषस्तके प्रति श्रीयाज्ञवल्क्यजीने उत्तर दिया कि एष (पृच्छा-विषय) आपका आत्मा ही है, जिसको आप पूछते हैं वह आपका आत्मा ही है । वही अद्वितीय और सर्वान्तर है । याज्ञवल्क्यजी उषस्तके प्रश्नसे मुग्ध नहीं हुए, किन्तु व्यामोहजनक प्रश्न होनेपर भी अमूढ़बुद्धि होकर प्रत्यग् आत्मदृष्टिसे उक्त प्रश्नवाक्यका परामर्श करते हुए उन्होंने यथार्थ उत्तर दिया ॥ १६ ॥

'मुख्यापरोक्षो०' इत्यादि ।

शङ्का—श्रीयाज्ञवल्क्यजीने 'एष त आत्मा' इत्यादिसे जो उत्तर दिया, उस वाक्यमें 'एतत्' शब्दका प्रयोग किया गया है 'इदमः सन्निकृष्टे' इत्यादि वचनसे इदंशब्द चक्षुरादिसन्निकृष्ट पदार्थका वाचक है । प्रत्यगात्मा चक्षुरादिगोचर है नहीं, अतः उसके अभिप्रायसे 'एतत्' शब्दका प्रयोग कैसे किया गया ?

अन्तर्मुखस्य विस्पष्टो नाऽयं सन्देहगोचरः ।
इत्यभिप्रेत्य तत्प्रश्ने बहुमानं तु नाऽकरोत् ॥ १८ ॥
षष्ठ्यन्तस्य त इत्यस्य युष्मद्बुद्ध्युपलक्षितम् ।
देहादिसर्वमाव्योम्नो दृश्यमर्थो विवक्षितः ॥ १९ ॥
आत्मेति च प्रमात्रादेः स्वरूपमभिधीयते ।
प्रमात्राद्यागमापायसाक्षित्वात् तत्स्वरूपता ॥ २० ॥

समाधान—'ते' यह षष्ठ्यन्त पद केवल उषस्तमात्रके बोधके लिए प्रयुक्त नहीं हुआ है, किन्तु पृथिवी आदिसे लेकर आकाशपर्यन्त सकारण जगत्के बोधके लिए प्रयुक्त हुआ है, अर्थात् त्वदुपलक्षित सम्पूर्ण जगत्का यह आत्मा है। स्वयं-प्रकाश होनेसे आत्मा सन्निकृष्ट वस्तुके समान अतिविस्पष्ट है, अतएव 'एतत्' शब्दसे निर्दिष्ट हुआ है, यह अग्रिम श्लोकसे स्पष्ट होगा ॥ १७ ॥

'अन्तर्मुखस्य' इत्यादि।

शङ्का— अतिगम्भीर सूक्ष्मतम प्रष्टव्य विषयकी प्रशंसा करके समीचीन उत्तर देना चाहिए, परन्तु याज्ञवल्क्यजीने प्रश्नकी प्रशंसा न कर केवल उत्तर ही क्यों दिया?

समाधान—इतर पुरुषकी अपेक्षा प्रश्न जटिल अवश्य है, परन्तु अन्तर्मुख आत्मज्ञानियोंके लिए यह प्रश्न अतिस्पष्ट है, इसलिए उसका अधिक अभिनन्दन न कर केवल उत्तर ही दिया। उक्त योगियोंको इस विषयमें कभी सन्देह, अज्ञान और विपर्य्यय नहीं है। अतएव अतिस्पष्ट है। इसलिए उस प्रश्नके प्रति श्रीयाज्ञ-वल्क्यजीने अधिक आदर न कर केवल समुचित उत्तरमात्र दिया ॥ १८ ॥

'षष्ठ्यन्त०' इत्यादि। षष्ठ्यन्त 'ते' पद 'युष्मद्' बुद्धिसे उपलक्षित देह आदिसे लेकर आकाशान्त जड़मात्रका बोधक है अर्थात् यावद् दृश्यका बोधक है। दृश्यमात्रका आत्मा एक ही है, देह, इन्द्रिय आदिके समान भिन्न-भिन्न नहीं है, इसमें प्रमाण अग्रिम श्लोकसे कहेंगे ॥ १९ ॥

'आत्मेति च' इत्यादि। रज्जुमें भुजङ्गके समान आत्मामें प्रमाण, प्रमेय, प्रमाता इत्यादि कल्पित हैं। कल्पितका वास्तविक स्वरूप अधिष्ठान ही माना जाता है, अतः उक्त प्रमाता आदिका स्वरूप आत्मा है। इसमें कारण कहते हैं—'आगम' इत्यादिसे। आगम, उत्पत्ति और विनाश—इनका साक्षी आत्मा ही है।

शङ्का—प्रसिद्ध प्रमाताको आत्मा न मानकर उससे अतिरिक्त आत्मा क्यों मानते हो?

यद्यस्मिन् व्यभिचार्येत तत्स्वरूपं न कुत्रचित् ।
कुण्डलित्वं यथा पुंसः साक्षी त्वव्यभिचारवान् ॥ २१ ॥
व्यभिचारो मिथो यद्वत्प्रमात्रादेः ससाक्षिकः ।
साक्षिणोऽव्यभिचारस्तु तथा किंसाक्षिको भवेत् ॥ २२ ॥

समाधान—प्रमाता प्रत्येक शरीरमें भिन्न-भिन्न है, अतः देहके समान वह अनात्मा है। उससे अतिरिक्त साक्षी सर्वत्र एक ही है, अतएव वही आत्मा है ॥ २० ॥

'**यद्यस्मिन्**' इत्यादि। जिस अधिष्ठानमें जो प्रतीत होता है, वह यदि अधिष्ठानके रहनेपर भी कालान्तरमें प्रतीत न हो, तो व्यभिचारी कहलाता है। जैसे कुण्डलित्वादि। जिस पुरुषमें कुण्डलधारणके समय कुण्डलित्व धर्म रहता है, कुण्डलवियोगदशामें उस पुरुषमें कुण्डलित्व नहीं रहता, अतः व्यभिचारी होनेसे कुण्डलित्व पुरुषका स्वरूप नहीं हो सकता। पुरुषका स्वरूप वही हो सकता है, जो पुरुषकी स्थितिपर्यन्त रह सके। एवं देह आदि, प्रतिपुरुष भिन्न-भिन्न होनेके कारण, व्यभिचारी हैं; अतः वे साक्षी नहीं हो सकते। साक्षी तो अव्यभिचारी है, प्रमाता आदिका भेद होनेपर भी साक्षी भिन्न नहीं होता ॥ २१ ॥

'**व्यभिचारो**' इत्यादि।

शङ्का—प्रमाताके समान साक्षीको भी तो प्रतिदेह भिन्न ही मानना चाहिए, जैसे परकीय सुख आदिका प्रमाता अनुभव नहीं करता, वैसे ही परकीय दुःख आदिका साक्षीसे भी प्रकाश नहीं होता, इसलिए साक्षीका भी भेद मानना चाहिए।

समाधान—जैसे प्रमाता और उसके अभावका साक्षीसे भान होता है (जागरावस्थामें प्रमातृत्वका भान होता है और सुषुप्ति अवस्थामें प्रमातृत्वके अभावका भान होता है, अतएव प्रतिशरीर प्रमातृत्वका भेद मानना उचित है), वैसे साक्षीके अभावको कोई नहीं देखता। देखेगा ही कैसे ? क्योंकि साक्षी ही देखनेवाला है। यदि साक्षी है, तो उसका अभाव नहीं कह सकते। उसका अभाव रहनेपर जब साक्षी ही नहीं है, तब उसके अभावका परिज्ञान ही कैसे हो सकता है ? असाक्षिक भाव या अभाव किसीकी सिद्धि नहीं होती, इस अभिप्रायसे कहते हैं कि प्रमाता आदिका परस्पर व्यभिचार जैसे ससाक्षिक है, वैसे साक्षीका व्यभिचार नहीं कह सकते, कारण कि साक्षीके व्यभिचारका साक्षी कौन होगा ? अर्थात् कोई नहीं। यदि साक्षीका अभाव है, तो साक्षी कहाँ ? यदि साक्षी है, तो उसका अभाव नहीं। असाक्षिक

आत्मात्मवत्त्वसम्बन्धः षष्ठ्योक्तो जगदात्मनोः ।
स्वतो निरात्मकं दृश्यमात्मना सात्मतां व्रजेत् ॥ २३ ॥
आत्मा सर्वस्वरूपत्वात् सर्वान्तरगिरेरितः ।
सर्पधारादिकल्पेषु रज्जोरान्तरता यथा ॥ २४ ॥

साक्षिव्यभिचारमें प्रमाण नहीं है, अतः अव्यभिचारसे साक्षिभेद नहीं माना जा सकता। सकल शरीरोंमें एक ही साक्षी है, वही प्रत्यगात्मा है ॥ २२ ॥

'आत्मात्म०' इत्यादि। 'एष त आत्मा' इत्यादि उत्तर वाक्यमें जो तत्-शब्द है, उसका अर्थ—देह आदिसे लेकर आकाश पर्यन्त विश्वमात्र—पहले कह चुके हैं। अब यहाँपर षष्ठ्यर्थरूपसे जिस सम्बन्धकी विवक्षा है, उसको कहते हैं—सम्पूर्ण जगत्का आत्माके साथ संयोग या समवाय सम्बन्ध नहीं हो सकता, कारण कि संयोग द्रव्य और गुणका नहीं माना जाता, द्रव्यका द्रव्यके ही साथ संयोग सम्बन्ध होता है। विश्वमें गुण और कर्म आदि भी हैं, अतः उनके साथ संयोग नहीं हो सकता। एवं अवयवका अवयवीके साथ और गुण आदिका द्रव्यके साथ समवाय सम्बन्ध होता है। अकारण और अकार्य द्रव्यात्मक होनेसे आत्माका समवाय भी नहीं हो सकता। आत्माका विश्वके साथ यदि सम्बन्ध न हो, तो विश्वका प्रकाश ही नहीं हो सकेगा। प्रकाश स्वसंबद्ध वस्तुका ही प्रकाशक होता है, असंबद्धका नहीं, इसलिए क्लृप्त संयोग और समवाय आदिके बाधदर्शनसे अन्य सम्बन्धकी कल्पना आवश्यक है। यहां सम्बन्धान्तर आध्यासिक ही है।

शङ्का—जैसे द्रव्यका द्रव्यके साथ संयोग होता है और द्रव्य एवं गुणके संयोगके बाधित होनेपर उससे अतिरिक्त समवायकी कल्पना करते हैं, वैसे ही प्रकृतमें संयोग और समवायका बाध होनेसे उससे अतिरिक्त अनाध्यासिक ही सम्बन्ध क्यों नहीं मानते?

समाधान—अन्य सम्बन्धसे प्रकाश्यप्रकाशकभाव दृष्ट नहीं है, तप्तायःपिण्डका आध्यासिक सम्बन्ध दृष्ट है, इसलिए जैसे आत्मा और अनात्मका सम्बन्ध आध्यासिक है, वैसे ही आत्माका आत्माके साथ आध्यासिक ही सम्बन्ध मानना समुचित है। स्वतः संसार निरात्मक (आत्मरहित) है, वह आत्मासे ही सात्मक माना जाता है ॥२३॥

'आत्मा' इत्यादि। कल्पित अधिष्ठानस्वरूप होता है, इस अभिप्रायसे आत्मा सर्वस्वरूप है। आत्मामें सब कल्पित होनेसे अधिष्ठानीभूत उसका सर्वस्वरूप होना

आत्मनोऽनवशेषेण तदन्यार्थाभिसङ्गतेः ।
प्रत्यङ्मात्रतयैवाऽवबोधादात्मनि लीयते ॥ २५ ॥
अतः सर्वान्तरत्वेन सर्वात्मत्वं विवक्षितम् ।
न सर्वेष्वन्वयो यस्मादन्वयादि न चाऽऽत्मनि ॥ २६ ॥

ठीक ही है, इसीसे आत्मा सर्वान्तर कहा गया है । सर्वान्तरतामें दृष्टान्त कहते हैं—जैसे रज्जुमें सर्पकी भ्रान्तिमें रज्जु सर्पान्तरता (सर्पाविछिन्नता) है, वैसे ही आत्मा सबमें अनुस्यूत है, अतएव सर्वान्तर माना जाता है ॥ २४ ॥

'आत्मनो०' इत्यादि ।

शङ्का—कार्यकारणात्मक समस्त प्रपञ्च प्रत्यगात्मस्वरूप है, उससे अतिरिक्त नहीं है, यह कैसे सिद्ध होता है ?

समाधान—आत्मव्यतिरिक्त जितने अनात्मभूत जड़ पदार्थ देखे जाते हैं; वे सब आत्मामें ही देखे जाते हैं, उससे अन्यमें नहीं, इससे ज्ञात होता है कि ये आत्माके अज्ञानसे ही आत्मामें अध्यस्त हैं और आत्मतत्त्वावबोधसे आत्मामें लीन हो जाते हैं । इसलिए आत्मस्वरूप ही हैं, अतिरिक्त नहीं हैं, यह कहना युक्त है । यदि अतिरिक्त होते, तो नियमसे आत्मसंबद्ध प्रतीत न होते । जैसे वास्तविक (व्यावहारिक) सर्प प्रातिभासिक सर्प भिन्न-भिन्न हैं, अतः नियमतः रज्जुमें ही सर्प प्रतीत होता है, ऐसा नियम नहीं है । अनात्म पदार्थमें यह नियम लागू नहीं होता, क्योंकि वे नियमसे आत्मामें उसके अज्ञानसे प्रतीत होते हैं और आत्मतत्त्वज्ञानसे निवृत्त हो जाते हैं, इसलिए वे आत्मस्वरूप ही हैं, अतिरिक्त नहीं हैं ॥ २५ ॥

'अतः' इत्यादि । सर्वान्तर होनेसे साक्षी सर्वात्मा कहा जाता है ।

शङ्का—यदि आत्मा सर्वान्तर है, तो सर्वान्वयी है, यह फलितार्थ होता है । सम्पूर्ण पदार्थोंकी सत्ता यदि न मानी जायगी, तो आत्माको सर्वान्तर नहीं कह सकेंगे, इस प्रणालीसे सम्पूर्ण पदार्थोंकी सत्ताके सिद्ध होनेपर द्वैतकी आपत्ति स्फुट है ।

समाधान—सबका अन्वय आत्मामें है अथवा आत्माका अन्वय सबमें है, इस प्रकार दो अर्थ विवक्षित नहीं हैं, किन्तु आत्मा सर्वान्तर अर्थात् सबका अधिष्ठान है । यही वस्तुतः विवक्षित है । ऐसा माननेसे द्वैतकी पृथक् सत्ता सिद्ध नहीं हो सकती । तत्सत्त्वे तत्सत्त्व अन्वय है । काल्पनिककी जब पृथक् सत्ता ही नहीं है, तब अन्वय कैसे कहा जा सकता है ? इसलिए सर्वत्र अन्वय

व्यतिरेकान्वयाभावाः कार्यकारणवस्तुनि ।
अकारणमकार्यं तद्व्यतिरेकादिभाक् कथम् ॥ २७ ॥
अन्वेति सर्वकार्येषु कारणं तन्तवो यथा ।
व्यतिरेकस्तु कार्यस्य स्पष्टः कार्यान्तरात्मनः ॥ २८ ॥
प्रध्वंसप्रागभावौ च कार्याणां सर्वसम्मतौ ।
आत्मनः सत्स्वभावत्वादभावः शङ्क्यतेऽपि न ॥ २९ ॥

होनेसे सर्वान्तर है, ऐसा न कहकर सबका अधिष्ठान होनेसे सर्वान्तर है, यही कहना समुचित है ॥ २६ ॥

'व्यतिरेका०' इत्यादि । व्यतिरेक, अन्वय और अभाव ये कार्यकारणशील वस्तुमें रहते हैं । आत्मा न कार्य है और न कारण है, क्योंकि निःसङ्ग कूटस्थ चैतन्य होनेसे वह कार्य हो ही नहीं सकता, अविक्रिय होनेसे व्यापारशून्य है, अतएव कार्य-कारणभिन्न उन दोसे विलक्षण आत्मामें अन्वय, व्यतिरेक, अभाव आदि कुछ नहीं रहते, अतः वह व्यतिरेकादिमान् कैसे हो सकता है ? अभावसे प्रकृतमें प्रागभावादि विवक्षित है, यह आगे स्पष्ट होगा ॥ २७ ॥

'अन्वेति सर्व०' इत्यादि । कारणका सब कार्योंमें अन्वय पाया जाता है, जैसे तन्तु प्रत्येक पटमें रहता है । यद्यपि शास्त्रदृष्टिसे कारणमें कार्य रहता है, यह प्रसिद्ध है, अतः तन्तुमें पट रहता है, ऐसा कहना समुचित है, तथापि लोकमें 'वृक्षमें शाखा है' ऐसा कहा जाता है, शाखामें वृक्ष है ऐसा नहीं, इसलिए लौकिकदृष्टिसे कार्यमें कारण रहता है, ऐसा प्रयोग किया गया है। व्यतिरेक भेद है, सो भी कार्यमें स्पष्ट ही है । 'घटभिन्नः पटः' (घटसे भिन्न पट है) इत्यादि व्यवहारसे घटभेद पटमें है, यह बोध होता है ॥ २८ ॥

'प्रध्वंस०' इत्यादि। कार्य (घटादि) का प्रागभाव यानी 'इह कपाले घटो भविष्यति' (इस कपालमें घट होगा) इत्यादि प्रतीतिसे घटादि कार्यका कपालादि कारणमें प्रागभाव स्पष्ट है । तथा 'इह कपाले घटो ध्वस्तः' इत्यादि प्रतीतिसे घटादिध्वंस कपालादिमें प्रतीत होता है । एवं सब कार्योंका स्वकारणमें प्रागभाव और प्रध्वंस सर्वसम्मत है, इसमें किसीका कुछ विवाद नहीं है । आत्मा सदा सत्स्वभाव है, इसलिए उसे न कारण ही कह सकते हैं और न कार्य ही । इससे उभयविलक्षण सदा सत्स्वभाव आत्माके प्रागभावादिकी शङ्का भी नहीं हो सकती ॥ २९ ॥

प्रत्यक्तया समाप्तत्वात्प्रतीचोऽन्यस्य वस्तुनः ।
व्यतिरेकैकरूपस्य व्यतिरेको न लभ्यते ॥ ३० ॥

'प्रत्यक्तया' इत्यादि । 'प्रतीचोऽन्यस्य' यानी आत्मव्यतिरिक्त वस्तु आत्मामें कल्पित होनेसे आत्ममात्रस्वरूप ही है, अतिरिक्त नहीं है । व्यतिरेकस्वरूप भी आत्मा ही है, इसलिए व्यतिरेक भी दुर्लभ ही है । तात्पर्य्य यह है कि आत्मामें कल्पित होनेसे जब प्रपञ्चमात्र आत्मस्वरूप ही है, उससे अतिरिक्त नहीं है, तब उसमें जो आत्मभेदकी कल्पना होगी, वह भी कल्पित होनेसे आत्मस्वरूप ही है, उससे अतिरिक्त नहीं है । 'आत्मा न आत्मा' ऐसी आत्मामें आत्मभेदकी कल्पना तो हो ही नहीं सकती, कारण कि अन्योन्याभावका प्रतियोगितावच्छेदकके साथ विरोध होनेसे वह प्रतियोगिवृत्ति नहीं हो सकता, इसलिए आत्मव्यतिरेक सर्वथा दुर्लभ ही है । एवं अनात्माका भेद भी आत्मामें नहीं कह सकते, कारण कि अनात्मा आत्मासे भिन्न नहीं है । अतः उक्त रीतिसे अनात्मभेद भी आत्मामें नहीं है । वास्तविक भेद वास्तविक प्रतियोगी और अनुयोगीके रहनेपर ही हो सकता है, यहाँ वे दोनों वास्तविक नहीं हैं, इसलिए व्यतिरेक उभयथा दुर्लभ है । काल्पनिक व्यतिरेक भी वस्तुतः ब्रह्मस्वरूप होनेसे क्षतिकर नहीं है ।

शङ्का—यदि भेद और भेदवान् अनात्मा—इन सबको आत्मस्वरूप ही मानते हो, अतिरिक्त नहीं, तो अनात्मा जड़के अभेदसे आत्मा भी जड़ हो जायगा ?

समाधान—ब्रह्ममें जैसे भेद नहीं है, वैसे अभेद भी नहीं है । भेदाभावरूप अभेद तो भेदसाध्य है । जब भेद ही नहीं है, तो उसका अभावरूप अभेद कहाँसे और कैसे आवेगा ? स्वरूपाभेद तो अखण्ड है, सप्रतियोगिक नहीं है ।

शङ्का—अभीतक तो आप कहते आये हैं कि अनात्म पदार्थ आत्मासे अभिन्न हैं, भिन्न नहीं है, जब जड़ता दोष आया तब आप कहने लगे कि अभिन्न भी नहीं मानते, इस अवस्थामें आपसे पूछते हैं कि यदि अनात्मपदार्थ न ब्रह्मस्वरूप ही है न तदतिरिक्त ही है, तो क्या खपुष्पादिके समान तुच्छ (अलीक) है ?

समाधान—नहीं, तुच्छ भी नहीं है । यदि तुच्छ होता, तो उसे आत्मस्वरूप कैसे कहते ? तुच्छ तो कभी आत्मस्वरूप कहा नहीं जा सकता । और दूसरा यह भी कारण है कि तुच्छकी न कभी अपरोक्ष प्रतीति होती है और न कभी बाध ही होता है । अनात्मपदार्थका तो अपरोक्ष और बाध दोनों होते हैं, इसलिए उसे तुच्छ नहीं कह सकते ॥ ३० ॥

सर्वस्वरूपभूतस्य कुत्राऽन्वय इतीर्यताम् ।
तस्मात् सार्वात्म्यमेवेह वक्ति सर्वान्तरोक्तितः ॥ ३१ ॥
इत्थं स्वानुभवाद् याज्ञवल्क्यः सर्वान्तरं जगौ ।
अन्यः संशयमापद्य जिगीषुः परिपृच्छति ॥ ३२ ॥
तवाऽऽत्मेत्युत्तरं दत्तं ममाऽऽत्माऽत्र त्रिधेक्ष्यते ।
देहो लिङ्गं च साक्षीति तेषु सर्वान्तरोऽत्र कः ॥ ३३ ॥

'सर्वस्वरूप०' इत्यादि। आत्मव्यतिरिक्त वस्तु है नहीं, अतः अनात्मामें वस्तुतः आत्माका अन्वय भी नहीं हो सकता। आत्मा अन्वय आदिके योग्य नहीं है, ऐसा कहनेसे यह फलितार्थ होता है कि आत्मा ही सब है। तात्पर्य यह है कि व्यतिरेक और अन्वय ये दोनों भिन्न वस्तुएँ परस्पर सापेक्ष हैं। 'सर्वान्तर' इत्यादि वाक्यसे सबमें आत्मस्वरूपका ही बोधन करना है; परन्तु जबतक प्रतीयमान प्रपञ्चके स्वरूपका अपलाप न किया जायगा, तबतक विरुद्ध धर्मका ज्ञापन श्रद्धेय नहीं होगा, जैसे शुक्ति-रजतविभ्रमदशामें यदि शुक्तिरजतको शुक्ति कहा जाय, तो शुक्तिस्वरूपका वास्तविक असन्दिग्ध ज्ञान नहीं हो सकेगा; प्रत्युत सन्देह होगा कि यह शुक्ति है या रजत? इसलिए रजतनिश्चायक पुरुष पूर्वमें अन्यथाप्रसक्त रजतका निषेध करता है—'नेदं रजतम्' यह रजत नहीं है। फिर क्या है? इस आकाङ्क्षाकी शान्तिके लिए कहता है कि शुक्तिशकल है। एवं क्रमसे पूर्वमें प्रपञ्चके प्रतीयमान स्वरूपका निराकरण कर पश्चादात्मस्वरूपका बोधन किया जाता है कि ये सब आत्मस्वरूप हैं, इसी तात्पर्यसे श्रुति 'सर्वान्तर' विशेषण द्वारा सार्वात्म्यका उपदेश करती है ॥ ३१ ॥

'इत्थम्' इत्यादि। इस प्रकार उस अनुभवसे श्रीयाज्ञवल्क्यजीने आत्मा सर्वान्तर है, ऐसा उत्तर दिया, किन्तु विजिगीषु कहोल संशयकी आपत्ति कर श्रीयाज्ञवल्क्यजीसे फिर पूछते हैं यानी संशयप्रकार कहते हैं ॥ ३२ ॥

'तवाऽऽत्मेत्युत्तरम्' इत्यादि। आपने आत्माका उपदेश दिया कि आपका आत्मा ही सर्वान्तर आत्मा है। हमारे आत्मा तीन हैं—देह, लिङ्ग और साक्षी। इन तीनोंमें से स्पष्ट कहिये कि किसको आप आत्मा कहते हैं, जो सर्वान्तर है, क्योंकि अनेक आत्माओंका यहाँ सम्भव है, उनमें से विवक्षित आत्माको पृथक् करके कहिए कि यह तुम्हारा सर्वान्तर आत्मा है। जैसे अनेक गऊओंमें चैत्रकी गऊ कौन है? ऐसा पूछनेपर सींग पकड़कर स्पष्ट बतलाया जाता है कि यह चैत्रकी गाय है,

सर्वान्तरत्वं दुःसाध्यमल्पयोर्देहलिङ्गयोः ।
सद्भावेऽन्यस्य किं मानमप्रमेयस्य साक्षिणः ॥ ३४ ॥
एवं पृष्टः स्वानुभूतौ वादिनोऽनधिकारिताम् ।
मत्वाऽनुमानतः सत्तामात्मनः प्रत्यपादयत् ॥ ३५ ॥
स्वप्रभे मानवैफल्यादप्रमेयत्वमिष्यते ।
वादिभ्रान्तिनिवृत्त्यर्थं मानोक्तौ हीयतेऽत्र किम् ॥ ३६ ॥

वैसे यहाँपर भी स्पष्ट कहिये कि कौन उक्त तीनोंमें मेरा आत्मा है ॥ ३३ ॥

'सर्वान्तरत्वम्' इत्यादि ।

शङ्का— उक्त तीनोंमें जो सर्वान्तर होने योग्य हो, उसीको आत्मा जानना चाहिए । पिण्ड एवं लिङ्ग ये दोनों परिच्छिन्न हैं, अतएव उनमें सर्वान्तरत्व विशेषणका असंभव है, अतः परिशेषसे साक्षीको ही सर्वान्तर आत्मा मानना चाहिए, यह अति स्पष्ट अर्थ है । इसमें संशयका अवकाश कैसे आया ?

समाधान—शरीर तथा लिङ्ग परिच्छिन्न हैं; इसलिए उनकी सर्वान्तरता तथा साक्षित्वमें कुछ प्रमाण नहीं है, अतः सर्वान्तर आत्मा कौन है ? यह उषस्तका प्रश्न ठीक ही है ।

शङ्का—साक्षी अप्रामाणिक क्यों ?

समाधान—अप्रमेय है, प्रमाणजन्यज्ञानका विषय ही प्रमेय माना जाता है । 'न दृष्टेर्द्रष्टारं पश्येः' इत्यादि श्रुति इस अर्थमें प्रमाण है । दृष्टि वृत्तिरूप ज्ञान है, उसका द्रष्टा साक्षी है । वह ज्ञानविषय नहीं है, यह अर्थ स्पष्ट है, इस अभिप्रायसे पुनः स्पष्टीकरणके लिए प्रश्न हुआ ॥ ३४ ॥

'एवं पृष्टः' इत्यादि । उषस्तके पुनः स्पष्टीकरणार्थ प्रश्न करनेसे श्रीयाज्ञवल्क्य महर्षिने अपने अनुभूत अर्थमें वादी उषस्तका अधिकार नहीं है, यह समझकर अनुमानसे साक्षीकी सत्ता सिद्ध करनेके लिए उपक्रम किया । यह ठीक है कि आत्मा अप्रमेय है, किन्तु स्वप्रकाश होनेसे सर्वानुभवसिद्ध है; अतः उसमें प्रमाणकी अपेक्षा नहीं हो सकती; वह स्वयं प्रमाणका साधक है । उसका साधक अन्य प्रमाण नहीं है ॥ ३५ ॥

'स्वप्रभे' इत्यादि ।

शङ्का—यदि आत्माको वस्तुतः स्वानुभवसे श्रीयाज्ञवल्क्यजी अप्रमेय मानते हैं,

प्राणादिकरणैश्चेष्टा कर्तृपूर्वा क्रियात्वतः।
छिदिक्रियावत्कर्तृत्वं न युक्तं देहलिङ्गयोः॥ ३७॥

तो फिर उसकी सत्ताको सिद्ध करने लिए उन्होंने अनुमानका उपन्यास क्यों किया? इसमें तो स्पष्ट व्याघात प्रतीत होता है, क्योंकि यदि अनुमानका विषय है, तो अप्रमेय कैसे? अप्रमेय है, तो अनुमानका विषय कैसे? अविषयमें अनुमानका उपन्यास करना समुचित नहीं है।

समाधान—अप्रकाशित अर्थके प्रकाशके लिए प्रकाशक प्रमाणकी अपेक्षा होती है। स्वयंप्रभ (स्वयंप्रकाश) अर्थमें प्रमाणोपन्यास निष्फल है, इसलिए साक्षी अप्रमेय है, ऐसा कहा गया है। वादीकी भ्रान्तिकी निवृत्ति करनेके लिए यदि उसमें अनुमान प्रमाणका उपन्यास किया जाय, तो कोई क्षति नहीं है, इस अभिप्रायसे उक्त महर्षिने उक्त अर्थमें अनुमानका प्रयोग किया है। शरीर, इन्द्रिय और बुद्धिसे आत्मा पर है; यह प्राणादिलिङ्गक अनुमानसे समझाकर पश्चात् सर्वान्तरत्व आदि विशेषणवाले आत्माका बोधन करावेंगे, ऐसा समझकर उक्त महर्षिने अनुमान द्वारा समझानेकी उचित चेष्टा की। सारांश यह है कि अनुमान द्वारा त्वंपदार्थका परिशोधन करके त्वंपदार्थमें उक्तविशेषणवाले ब्रह्मत्वका बोध करावेंगे, ऐसा हृदयमें समझ कर 'यः प्राणेन' इत्यादि अनुमान महर्षिका है। इससे यह नहीं समझना चाहिए कि जैसे पदार्थशुद्धिमें अनुमान है, वैसे ही वाक्यार्थबोध भी लिङ्ग द्वारा विवक्षित है। ऐक्य वस्तुतः वाक्यैकगम्य है, अनुमानादिगम्य नहीं है॥ ३६॥

'प्राणादि' इत्यादि। प्राणादि करणोंकी चेष्टा (प्राणनादि क्रिया) कर्तृपूर्वक है अर्थात् सकर्तृक है। इसमें हेतु है—क्रियात्व। जो-जो क्रियाएँ होती हैं, वे सब कर्तासे ही होती हैं। कर्त्ताके बिना क्रिया कहीं नहीं होती, जैसे कुठार आदिसे काष्ठछेदन आदि क्रिया लोहारके बिना नहीं होती, कर्ताके व्यापारके बिना केवल कुठारसे वृक्ष आदिका छेदन नहीं होता, कारण कि अचेतन कुठार आदि जबतक चेतनसे अधिष्ठित न होगा, तबतक क्रियाका करण नहीं हो सकता, यह सर्वानुभवसिद्ध अर्थ है। प्राणादि कुठारादिके समान अचेतन हैं, इसलिए चेतन आत्माके अधिष्ठानके बिना प्राणनादि क्रिया नहीं कर सकते, प्राणादि द्वारा प्राणनादि क्रियाओंके देखनेपर यह अनुमान होता है कि प्राणादि चेतन आत्मासे अधिष्ठित हैं,

करणप्रेरकः कर्ता करणैः प्रेर्यते वपुः ।
लिङ्गं तु करणात्मत्वान्नैवं कर्तृत्वमर्हति ॥ ३८ ॥
मुखसंचारिणा जाग्रद्यः प्राणेनाऽनितीक्षिता ।
सर्वप्रत्यक्तमः सोऽयमात्मा सर्वान्तरावधिः ॥ ३९ ॥
सुप्तेऽस्मिन् करणग्रामे यो सुप्तोऽलुप्तदृष्टिकः ।
सर्वान्मवासनारूपान् पश्यन्प्राणिति वायुना ॥ ४० ॥

अन्यथा प्राणन आदि क्रिया नहीं होती । लिङ्ग या शरीर प्राणके अधिष्ठाता नहीं हो सकते, कारण कि वे दोनों अचेतन हैं ॥ ३७ ॥

'करणप्रेरकः' इत्यादि । करणका प्रेरक कर्ता होता है और शरीर करणोंसे प्रेरित होता है ।

शङ्का—तो लिङ्गको ही करणोंका प्रेरक मानिये ?

समाधान—लिङ्ग भी करण ही है । सुख आदिके साक्षात्कारका करण लिङ्ग ही है । लिङ्गका प्रेरक लिङ्ग नहीं हो सकता, इसलिए उससे अतिरिक्त आत्मा ही प्रेरक माना जाता है । करण कर्ता नहीं हो सकता, इसलिए लिङ्ग कर्ता नहीं है, उसमें करणत्व क्लृप्त है ॥ ३८ ॥

'मुखसंचारिणा' इत्यादि । जाग्रत् अवस्थामें जो ईक्षिता आत्मा मुखसंचारी प्राणसे प्राणनव्यापार (उच्छ्वास-निश्श्वास) करता है, वही प्रत्यक्तम सर्वान्तर आत्मा है । शरीरके भीतर इन्द्रियां, इन्द्रियोंके भीतर लिङ्ग, उसके भी भीतर आत्मा है, यों आत्मा सर्वान्तरका अवधि है, क्योंकि उसके भीतर दूसरा नहीं है, सबके भीतर आत्मा ही है । निरङ्कुश महत्त्व आत्मामें ही है ॥ ३९ ॥

'यत्' पदसे जागरावस्थामें साक्षीका व्याख्यान कर सुषुप्ति अवस्थामें साक्षीका स्फुट बोध करानेके लिए व्याख्यान करते हैं—'सुप्ते' इत्यादिसे ।

स्वप्नावस्थामें सम्पूर्ण करण जिस समय सो जाते हैं अर्थात् व्यापाररहित हो जाते हैं, उस समय अलुप्तदृष्टि (अनष्टज्ञान) अतएव असुप्त साक्षी अपनी वासनाके अनुरूप शुभाशुभ स्वप्न देखता हुआ प्राणसे निःश्वास आदि क्रिया करता है । स्वप्नावस्थामें ज्ञानेन्द्रियां प्राणमें लीन हो जाती हैं और वासनानुरूप अविद्यापरिणाम जो स्वाप्निक पदार्थ हैं, उनको मनके द्वारा साक्षी देखता है ।

स्पष्टेषु बहुलिङ्गेषु मानाभावमचूचुदः ।
इन्युपालब्धये लिङ्गान्यपानादीन्युदाहरत् ॥ ४१ ॥
एकादशेन्द्रियोत्पन्नचेष्टानामुपलक्षणम् ।
प्राणाद्युदाहृतिस्तेन लिङ्गानां बहुता स्फुटा ॥ ४२ ॥
प्राणादिकार्यकरणैः स्वतोऽसंहत एकलः ।
तच्चेष्टां कुरुतेऽकुर्वन्नयस्कान्तो मणिर्यथा ॥ ४३ ॥

शङ्का—प्राणसे प्राणनक्रिया होती है, यह माननेपर भी प्राणादिव्यतिरिक्त आत्माका विवेक कैसे होता है ।

समाधान—प्राणसे लेकर लिङ्गपर्यन्तमें करणशब्दके प्रयोगसे ये अनात्मा हैं, यह तो निश्चित हो गया, इसमें यह अनुमान भी प्रमाण है—'प्राणादिः अनात्मा, करणत्वात् , दीपवत्' अर्थात् प्राणादि आत्मा नहीं है, क्योंकि प्रदीपके समान करण हैं । तृतीयाश्रुतिसे प्राणादिमें करणत्वका बोध होता है । 'कर्तृकरणयोस्तृतीया' इत्यादि सूत्रसे यहां करणमें तृतीया विभक्ति हुई है । एवं बुद्धि आदि भी करण होनेसे अनात्मा हैं, यह कह चुके हैं । देह अनात्मा है, इसमें प्रमाण—'देहोऽनात्मा, दृश्यत्वात , घटादिवत्'—यह अनुमान है । घटादिके समान दृश्य होनेसे शरीर भी आत्मा नहीं है ॥ ४० ॥

'स्पष्टेषु' इत्यादि । साक्षीमें अनेक लिङ्ग स्पष्ट हैं, फिर भी उषस्तने कहा कि साक्षीमें कोई प्रमाण नहीं है । इसलिए उनके उपालम्भके लिए प्राण, अपान आदि अनेक लिङ्गोंका उदाहरण दिया गया है ॥ ४१ ॥

'एकादशे०' इत्यादि । पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, एक बुद्धि—ये सब मिलकर ग्यारह हुए । इन एकादश इन्द्रियोंसे उत्पन्न चेष्टाओंका उपलक्षण प्राण आदि क्रिया है, इसीका स्पष्ट बोधन करनेके लिए प्राण, अपान आदिका उदाहरण श्रुतिमें आया है, इससे लिङ्गोंमें बहुत्व स्पष्ट है ॥ ४२ ॥

'प्राणादि०' इत्यादि । यह वार्तिकका श्लोक है । उसमें पाठ है—'प्राणादिकार्यकरणैः' । यही शुद्ध है । वार्तिकसारकी आदर्श प्रतिमें मुद्रणदोषसे 'करणः' यह पाठ हो गया है । प्राणादिमें आदिपदसे अपान आदिका संग्रह होता है । पाँच प्राण, कार्य शरीर, करण एकादश इन्द्रियाँ—इनके द्वारा शरीर आदिमें चेष्टा करता हुआ वस्तुतः अकर्ता भी अद्वितीय आत्मा कर्ता माना जाता है ।

रथादौ नियता चेष्टा चेतनेनाऽनधिष्ठिते ।
न दृष्टा, चेतनस्तेन प्राणादीनां प्रवर्त्तकः ॥ ४४ ॥

श्रुतिः—स होवाचोषस्तश्चाक्रायणो यथा विब्रूयादसौ गौरसावश्व इत्येवमेवैतद् व्यपदिष्टं भवति यदेव साक्षादपरोक्षाद् ब्रह्म य आत्मा

शङ्का—यदि आत्माको प्राणन आदि क्रियाका कर्ता मानते हो, तो वह संहत और सक्रिय हो जायगा। असंहतमें क्रिया कहीं नहीं देखी गई है और आत्माको अविक्रिय कहते हो। यदि वस्तुतः आत्मा अक्रिय है, तो उसे कर्ता कैसे मानते हो? व्यापारके विना कुलाल, कुविन्द आदि चक्र, वेम आदिका अधिष्ठाता नहीं होता।

समाधान—आत्मा संहत माना जाय, तो अनित्य हो जायगा, इसलिए उसे असंहत मानना ठीक ही है। 'संहत परार्थ होता है' इस न्यायसे पर आत्मा असंहत माना जाता है। एकल (अद्वितीय) आत्मा अक्रिय होनेपर भी सन्निधिमात्रसे करणोंका अधिष्ठाता होकर करण आदिकी प्रेरणा द्वारा तत्-तत् क्रियाओंका कर्ता कहा जाता है। इसमें दृष्टान्त देते हैं—अयस्कान्त (लोह चुम्बक) स्वयं अचेतन होनेपर भी स्वसन्निधिमात्रसे जैसे लोहेका आकर्षक होता है। वैसे ही आत्मा स्वयं अक्रिय होनेपर भी सन्निधिमात्रसे करणोंका प्रवर्तक होता है ॥ ४३ ॥

'रथादौ' इत्यादि। चेतन सारथीके बिना रथ आदिमें नियत चेष्टा नहीं देखी गई है। अनियत चेष्टा वायुवेगके अतिशयसे हो सकती है, इसलिए 'नियता' यह विशेषण है। अथवा क्वचिद् दृष्टमें अप्रयोजकत्वशङ्का होती है, उसके निवारणके लिए व्याप्तिग्रहमें उपयोगी सर्वत्रदर्शनाभावका बोधन करनेके लिए 'नियता' ऐसा कहा। वैसा नियमसे कहीं नहीं देखा गया है, अतः रथकी चेष्टासे जैसे चेतन अधिष्ठाता सारथीकी अनुमितिरूप कल्पना की जाती है, वैसे ही करण आदिकी नियत क्रियासे उस अधिष्ठाता चेतन आत्माका अनुमान होता है, उक्त व्याप्तिदर्शनमें उपयोगी अनुमान इस प्रकार है—'अचेतनप्रवृत्तिः चेतनाधिष्ठातृपूर्विका, अचेतनप्रवृत्तित्वात्, रथादिगतिवत्', 'रथगत्येव सारथिः' इत्यादि वचनोंसे इसी अनुमानको तार्किकगण आत्मसिद्धिमें प्रमाण देते हैं ॥ ४४ ॥

'स होवाचोषस्तश्चाक्रायणः' इत्यादि श्रुति। उषस्त चाक्रायणने कहा—आपने पहले प्रतिज्ञा की थी कि आपको प्रत्यक्षरूपसे आत्माका ज्ञान करावेंगे, पर उस

सर्वान्तरस्तं मे व्याचक्ष्वेत्येष त आत्मा सर्वान्तरः कतमो याज्ञवल्क्य सर्वान्तरः।

प्रतिज्ञाका त्याग कर प्राणनादि क्रिया द्वारा अनुमानसे आप आत्माको बतला रहे हैं, यह तो ऐसी बात है कि जैसे कोई प्रतिज्ञा करे कि गाय या अश्व आपको प्रत्यक्षरूपसे दिखलावेंगे, बतलानेके समय कहे कि जो दौड़ता है, उसको गऊ समझिये अर्थात् धावन आदि लिङ्ग द्वारा उपदेश करे, वैसे ही यह आपका आत्माके लिए उपदेश है, इस विषयमें बहुत कहना व्यर्थ है। गउओंका लालच छोड़कर साधुभावसे जो साक्षाद् अपरोक्ष ब्रह्म है और जो आत्मा सर्वान्तर है, उसको हमसे कहिए। श्रीयाज्ञवल्क्यजीने कहा कि जो आत्मानुशासनकी प्रतिज्ञा आपसे मैंने की थी, वह प्रतिज्ञा मैंने छोड़ी नहीं है, किन्तु उक्त प्रतिज्ञाकी अनुवृत्ति करते हुए मैंने आत्माका उपदेश प्रतिज्ञाके अनुसार ही आपसे किया है, अन्यथा नहीं। भेद इतना है कि आप चाहते हैं कि घट आदिके समान मैं आपको आत्माका प्रत्यक्ष कराऊँ, सो ठीक नहीं है, कारण कि घट आदि चाक्षुष हैं, आत्मा चाक्षुष नहीं है।

शङ्का—क्यों?

समाधान—यह तो वस्तुओंका स्वभाव है।

शङ्का—आत्माका क्या स्वभाव है?

समाधान—दृष्टयादिद्रष्टृत्व। दृष्टिके द्रष्टा घटादि नहीं हैं, किन्तु दृष्टिके विषय हैं, आत्मा दृष्टिका द्रष्टा है, अतएव दृष्टिका विषय नहीं है। दृष्टि दो प्रकारकी है—एक लौकिकी और दूसरी वैदिकी। पहली चक्षुःसंयुक्त अन्तःकरणकी वृत्ति है, वह कार्य है, अतएव उत्पन्न और नष्ट होती है। दूसरी आत्माकी दृष्टि। जैसे अग्निका उष्ण तथा प्रकाश धर्म अग्निस्वरूप है, वैसे ही वह दृष्टि भी आत्मस्वरूप है, अतः उत्पत्ति और विनाशसे शून्य है।

शङ्का—यदि आत्माका नित्यदृष्टि ही स्वभाव है, तो 'वह द्रष्टा है' ऐसा व्यवहार क्यों होता है, वह दृष्टिस्वभाव है, ऐसा व्यपदेश होना चाहिए।

समाधान—साक्ष्य बुद्धि और उसकी वृत्तिमें रहनेवाला कर्तृत्व और क्रियात्व आध्यासिकरूपसे नित्य दृग्रूप आत्मामें व्यवहृत होते हैं, अतएव द्रष्टा, दृष्टि इस प्रकार भेदका व्यवहार भी होता है।

शङ्का—यदि आत्मा नित्यदृष्टिस्वभाव है, तो देखता है, नहीं देखता है—

ये दो व्यवहार कालभेदसे जो होते हैं, वे कैसे होंगे? दृष्टिके अनित्य होनेपर ही 'न द्रष्टा' यह व्यवहार हो सकता है, अन्यथा नहीं।

समाधान—जो लौकिकी दृष्टि चक्षु आदि द्वारा रूपसे उपरक्त (सम्बद्ध) होती है, वह नित्यात्मदृष्टिकी छायासे व्याप्त हो जाती है, लौकिकी दृष्टि उत्पत्ति और नाशसे युक्त है, उसके सम्बन्धसे नित्य दृष्टिमें भी उत्पादन और विनाशका औपचारिक व्यवहार होता है, अतएव द्रष्टाके सदा देखनेपर भी कदाचित् देखता है, कदाचित् नहीं देखता है इत्यादि व्यवहार होता है। द्रष्टाकी दृष्टि तो सदा ही रहती है, अतः उसके अभावसे 'न द्रष्टा' यह व्यवहार नहीं हो सकता, इसको छठे अध्यायमें 'ध्यायतीव लेलायतीव' इत्यादि ग्रन्थसे तथा 'नहि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यते' इत्यादिसे कहेंगे। इसी अर्थको कहते हैं—लौकिकवृत्तिरूप जो दृष्टि है, वह नित्य दृष्टिकी कर्म है और नित्य दृष्टिसे व्याप्त है, उस द्रष्टा तथा नित्यदृष्टि-स्वभाव आत्माको कोई नहीं देखता, इस प्रकार जो लौकिक दृष्टि है, वह नित्य-दृष्टिकी कर्मभूत है। वह रूपोपरक्त तथा रूपाभिव्यञ्जिका है, अतः स्वव्यापक आत्माको नहीं देखती, इसलिए दृष्टिके द्रष्टा आत्माको न देखो एवं श्रुतिके श्रोताको न सुनो तथा मतिके (मनोवृत्तिके) मन्ताको मत मानो तथा विज्ञाति (केवल बुद्धि-वृत्तिके) विज्ञाताको मत जानो, यही वस्तुका स्वभाव है। अतः गऊ आदिके समान प्रत्यक्षसे उसे नहीं दिखला सकते। यहां भर्तृप्रपञ्चके मतसे अर्थान्तर कहते हैं—'दृष्टेर्द्रष्टारम्' (दृष्टिका कर्ता) यहां दो प्रकारकी दृष्टि न बतलाकर सामान्यतः दृष्टि-मात्रके कर्ताको द्रष्टा कहकर दृष्टिके कर्ताको न देखना, यह अर्थ किया है। 'दृष्टेः' यहां कर्ममें षष्ठी है। वह लौकिकवृत्तिरूप दृष्टि घटादिके समान है। 'द्रष्टारम्' इस तृजन्तमें द्रष्टा (दृष्टिका कर्ता) है, यह बोध होता है। तृजन्तसे दृष्टिका कर्ता द्रष्टा है, यह उन भर्तृप्रपञ्च महाराजका अभिप्राय है। परन्तु इस व्याख्यानमें 'दृष्टेः' यह षष्ठ्यन्तपद अनर्थक हो जाता है, इस दोषको वे नहीं देखते। देखनेवाले इस व्याख्यानको पुनरुक्त अतएव असार (निस्तत्त्व) समझ कर इसका आदर नहीं करते।

शङ्का—कैसे उक्त पद निरर्थक है?

समाधान—'द्रष्टा' इस पदसे ही दृष्टिकर्ताका लाभ हो जाता है, अतः दृष्टि-पद अनर्थक होता है। जिस धातुसे पर तृच्प्रत्ययका श्रवण होता है, उस धातुके अर्थभूत कर्तामें ही तृच् प्रत्यय 'ण्वुल्तृचौ' से होता है। 'गन्तारं भेत्तारं वा नयति' ऐसा कहनेपर गतिकर्ताको अथवा भेदनकर्ताको ले जाता है, ऐसा अर्थ प्रतीत होता

है। अतः इतने अर्थके बोधके लिए उक्त प्रयोग ही ठीक है; यह ठीक नहीं कि 'गतेर्गन्तारं भिदेर्भेत्तारं वा नयति' यह प्रयोग किया जाय। यदि अर्थविशेषकी प्रतीति नहीं है, तो 'गतेर्भिदेः' इत्यादिका प्रयोग नहीं करना चाहिए। गन्ता (भेत्ता) से गतिकर्ताका (भेदनकर्ताका) लाभ हो ही जाता है। पुनः गति आदि पदके प्रयोगसे पुनरुक्त दोष होगा। इसलिए ऐसा प्रयोग समुचित नहीं है।

शङ्का—अर्थवाद है, इसलिए इसपर विशेष ध्यान देना ठीक नहीं है अथवा 'दृष्टेः' यह पाठ लेखकके प्रमादसे हो गया है, 'द्रष्टारम्' यही पाठ है।

समाधान—यदि अर्थवादवाक्यका अर्थ करनेका प्रकार है, तो यह अर्थवाद है, इस बुद्धिसे उपेक्षा कर अनर्थ नहीं करना चाहिए। इसे प्रमादपाठ भी नहीं कह सकते, क्योंकि काण्व, माध्यन्दिन आदि शाखाओंमें संप्रदायसे यही पाठ देखा जाता है। और उक्त प्रकारसे अर्थ भी ठीक है, तो प्रमादपाठ भी कैसे कहा जा सकता है? केवल व्याख्याताओंकी बुद्धिका दौर्बल्य है, पाठप्रमाद नहीं है, यह मानना चाहिए। जैसा हमने पूर्वमें व्याख्यान किया है—लौकिक दृष्टिसे विवेक कर नित्य-दृष्टिविशिष्ट आत्माको दिखलाना चाहिए, वैसे कर्मकर्तृविशेषणसे दो बार दृष्टिशब्दका प्रयोग आवश्यक है। आत्मस्वरूपका निर्णय करनेके लिए 'नहि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यते' यह वाक्य प्रदेशान्तरमें पठित है। इसके साथ उक्त वाक्यकी एक-वाक्यता भी उपपन्न होती है। और 'चक्षूँषि पश्यति श्रोत्रमिदं श्रुतम्' इत्यादि अन्य श्रुतिके साथ एकवाक्यता भी उपपन्न होती है। इसी तरह आत्मामें नित्यत्वकी उपपत्ति होती है। जो विकारी हो वह नित्य भी हो, यह कहना विरुद्ध है, अन्यथा 'ध्यायतीव लेलायतीव', 'नहि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यते', 'एष नित्यो महिमा ब्राह्मणस्य' इत्यादि अन्य श्रुतियाँ सङ्गत नहीं हो सकतीं।

शङ्का—यदि उक्त श्रुतियोंके अनुसार आत्माको अविक्रिय मानते हो, तो 'द्रष्टा श्रोता मन्ता' इत्यादि श्रुतियाँ भी सङ्गत नहीं होंगी, इनसे तो दर्शन, श्रवण, मनन आदि क्रियाएँ आत्मामें स्पष्ट प्रतीत होती हैं।

समाधान—नहीं, ये तो यथाप्राप्त लौकिक वाक्योंकी अनुवादिकाएँ हैं, आत्मतत्त्वका निर्णय करनेके लिए नहीं हैं। 'नहि दृष्टेर्द्रष्टारम्' इत्यादि तो अनु-वादार्थक हो नहीं सकतीं, कारण कि लोकमें द्रष्टा, श्रोता, मन्ता आत्मा नहीं है, ऐसी प्रसिद्धि नहीं है। प्रत्युत उक्त क्रियाओंका कर्ता ही आत्मा है, अतः 'अहं द्रष्टा श्रोता' इत्यादि लोकमें व्यपदेश होता है। अहमर्थ ही लोकमें आत्मा माना जाता

सत्रदारुयन्त्रेण सदृशं लिङ्गयुग्वपुः ।
यः प्रेरयत्यसावात्मेत्युक्तेऽन्योऽपजहास तम् ॥ ४५ ॥
प्रतिज्ञाय पुरा साक्षाद्गामहं दर्शयामि ते ।
अशक्नुवंस्तथा कर्तुं लिङ्गेन प्रतिबोधयेत् ॥ ४६ ॥
यथा कश्चित्तथैव त्वं प्रतिज्ञाय पुराऽऽत्मनः ।
अपरोक्षमनुक्त्वा तल्लिङ्गेनाऽवेदयस्यहो ॥ ४७ ॥

है, अतिरिक्त नहीं, अतः उक्त वाक्योंका उक्त ही अर्थ है, दूसरा नहीं, यह अति-स्पष्ट है। अतः अज्ञानसे ही दृष्टिविशेषणका त्याग किया गया है। यह आपका आत्मा है, जिसमें 'सर्वान्तरत्व' आदि विशेषण कहे हैं। इसीसे यह भी कहा गया है कि आत्मासे अतिरिक्त जो है, वह सब विनाशी है।

शङ्का—अन्य कौन ?

समाधान—कार्य्य (शरीर), करण (लिङ्ग)—ये सब विनश्वर हैं, केवल आत्मा ही अविनश्वर कूटस्थ है, तदनन्तर उषस्त चाक्रायण चुप हो गये ॥ ४४ ॥

'ससूत्रदारु०' इत्यादि। दारुयन्त्र (कठपुतली) में सूत बाँधकर जैसे मदारी उसको स्वेच्छानुसार नचाता है, वैसे ही लिङ्गके समान शरीरकी जो प्रेरणा करता है, वह आत्मा है, ऐसा उपदेश देनेपर उषस्तने श्रीयाज्ञवल्क्यजीका उपहास किया कि मैंने प्रत्यक्षरूपसे आत्माका निर्देश कीजिए, यह पूछा, आपने प्रत्यक्षसे आत्माका बोध कराया जायगा, इस प्रकार प्रतिज्ञा की, अब आप प्रश्न और प्रतिज्ञाका उल्लङ्घन करके अनुमान द्वारा आत्माका उपदेश देते हैं। ऐसा करना ठीक नहीं है, क्योंकि इसमें प्रतिज्ञाहानि और अनवधेयवचनत्व—ये दोष आते हैं, अतः सावधान होकर आत्माको प्रत्यक्षतः बतलाइए, इसी अर्थको श्लोकसे कहते हैं ॥ ४५ ॥

'प्रतिज्ञाय' इत्यादि। जैसे कोई कहे कि प्रत्यक्षसे तुमको गऊ दिखलावेंगे, दिखलानेके समय प्रत्यक्षसे दिखलानेमें असमर्थ होकर कहे कि जो दौड़ रही है, वह गऊ है अर्थात् लिङ्ग द्वारा गऊका परिचय दे, वैसे ही यह आपका उपदेश है ॥ ४६ ॥

दृष्टान्त कहकर दार्ष्टान्तिक कहते हैं—'यथा कश्चित्' इत्यादि।

यह अतिस्पष्ट है और व्याख्यात भी हो चुका है ॥ ४७ ॥

लिङ्गं वाच्यं परोक्षार्थे न त्वात्मनि परोक्षता ।
इति मत्वा हैवकारं पारोक्ष्यस्य निवर्त्तकम् ॥ ४८ ॥
मुख्यापरोक्ष्यमुक्तं त इति दर्शयितुं पुनः ।
प्रत्यग्दृष्टिपरं वाक्यमुत्तरत्वेन वक्त्यसौ ॥ ४९ ॥
विद्वद्भाषामबुद्ध्वाऽन्यः सरूपादिष्विवाऽऽत्मनि ।
अक्षजन्यापरोक्षत्वं मत्वाऽपृच्छत्पुरेव तम् ॥ ५० ॥
दृष्टश्रुतमतज्ञातेष्वेषां सर्वान्तरस्तु कः ।
दृष्ट्याद्यगोचरः प्रत्यगिति प्रश्नमपाकरोत् ॥ ५१ ॥

'लिङ्गं वाच्यम्' इत्यादि । परोक्ष अर्थमें लिङ्ग कहा जाता है, आत्मा परोक्ष नहीं है, यह समझकर परोक्षका निवर्तक एवकार कहा । प्रश्न और पूर्व प्रतिज्ञाके अनुरूप ही मैं आपको आत्माका उपदेश दे रहा हूँ, परन्तु आप अन्यथा समझ रहे हैं । 'यः प्राणेन प्राणिति' इत्यादि वाक्य लिङ्गविधया आत्मोपदेशपरक नहीं है, पर आपकी समझ है, इन क्रियाओं द्वारा उस अधिष्ठाताका अनुमान करनेमें उक्त वाक्योंका तात्पर्य है, इसलिए आपको सन्तोष नहीं होता और प्रत्यक्षसे पुनः उपदेश करनेका आग्रह करते हैं ॥ ४८ ॥

'मुख्यापारोक्ष्य०' इत्यादि । अपरोक्षत्व दो प्रकारका है—एक मुख्य और दूसरा गौण । मुख्य अपरोक्षत्व आत्मामें है और दूसरोंमें गौण है । पर यह बात आपकी समझमें नहीं आई, अतः स्पष्टीकरणके लिए उक्त वाक्यको ही पुनः उत्तररूपसे कहा, विद्वानोंके प्रति आत्मस्वरूप दृष्टि ही अपरोक्ष है ॥ ४९ ॥

विद्वद्भाषाम०' इत्यादि । अन्यसम्बोध्य उषस्तने विद्वानोंकी परिभाषाको अर्थात् आत्मा ही मुख्य अपरोक्ष है, इसको न समझकर प्रत्युत रूपादिसहित घटादिमें इन्द्रियजन्य अपरोक्षत्वके समान ही आत्मामें अपरोक्षत्व है, ऐसा समझ कर पहलेके समान फिर श्रीयाज्ञवल्क्यजीसे पूछा ॥ ५० ॥

'दृष्टश्रुत०' इत्यादि । दृष्ट, श्रुत, मत, ज्ञात—इनमें सर्वान्तर आत्मा कौन है ? इसको सङ्घातके (शरीरके) समान प्रत्यक्षसे दिखलाइये । घट आदिके समान ऐन्द्रियक आत्मा नहीं है, यह 'न दृष्टेर्द्रष्टारं पश्येः' इत्यादि श्रुतिसे संमत है; इसलिए घट आदिके समान उसे प्रत्यक्षविषय करना अशक्य है, अतः प्रत्यक्षसे दिखलानेका प्रश्न ही असंगत है, जैसे रूप श्रोत्रसे दिखलाइए, यह प्रश्न असंगत

श्रुतिः—न दृष्टेर्द्रष्टारं पश्येः ॥

वेद्मीति यद्बलाद्वक्ति न वेद्मीत्यपि यद्बलात् ।
योगिनोऽनुभवन्त्येतमगोचरतयैव हि ॥ ५२ ॥
उक्तवर्त्मातिरेकेण नाऽऽत्मवस्तु घटादिवत् ।
शक्यते प्रतिनिर्देष्टुं प्रमाणागोचरत्वतः ॥ ५३ ॥

है, कारण कि रूप श्रोत्रका विषय नहीं है एवं आत्माको चक्षुसे दिखलाइए; यह प्रश्न भी असंगत है ॥ ५१ ॥

शङ्का—यदि आत्मा दृष्टि आदिका विषय नहीं है, तो फिर उसकी सिद्धि कैसे होगी ?

समाधान—'वेद्मीति' इत्यादि ।

जिस कूटस्थ स्वयंप्रकाश आत्माके प्रसादसे (प्रभावसे) मैं जानता हूँ, ऐसा कहता है और मैं नहीं जानता हूँ, ऐसा भी कहता है । जिस विषयको जिस कालमें जानता है, उस कालमें कहता है कि मैं जानता हूँ और जिस कालमें नहीं जानता है, उस कालमें मैं नहीं जानता हूँ; ऐसा भी कहता है, उस कूटस्थको कौन देखेगा ? वही अपनेको तो देख नहीं सकता, कारण कि जिस क्रियाका जो कर्ता है, उसी क्रियाका वह कर्म नहीं हो सकता, यह अनुभवसिद्ध है, क्योंकि कोई बाजीगर खिलाड़ी कैसा भी आश्चर्यजनक खेल क्यों न करे', पर वह स्वयं अपनी गर्दनपर चढ़नेका खेल नहीं दिखला सकता । और दूसरा द्रष्टा है नहीं । दूसरा द्रष्टा यदि माना जाय, तो अनवस्था होगी, क्योंकि वह भी अपनेको पूर्वन्यायसे न देखेगा, फिर दूसरेकी अपेक्षा होगी, इस प्रकार उसको देखनेके लिए दूसरा इस प्रकार दौड़नेसे सीढ़ी कभी समाप्त न होगी; अतः अन्तमें यह मानना ही पड़ेगा कि आत्मा स्वयंप्रकाश है । स्वज्ञानका स्वयं विषय नहीं हो सकता, इसलिए अप्रमेय माना जाता है । रह गये प्रमाण, सो यह स्वयं प्रमाणोंका साधक है, अतः उसकी सिद्धि प्रमाणोंसे नहीं होती । हां, योगी समाधि अवस्थामें स्वयं अविषयतया उसका अनुभव करते हैं, उस समयमें वे लोग भी उसे ज्ञानविषय नहीं कर सकते, करें भी कैसे ? क्योंकि वह अविषयस्वभाव है । कोई भी पदार्थ अपने स्वभावका परिवर्तन नहीं कर सकता, अतः इस आत्माका ज्ञानविषयीकरण अशक्य है, इसलिए घट आदिके समान इसका प्रत्यक्षसे निर्देश नहीं हो सकता ॥ ५२ ॥

'उक्तवर्त्मा०' इत्यादि । उक्त प्रकारसे भिन्न प्रकारसे यानी घट आदिके समान आत्माका निर्देश करना असंभव है ।

द्रष्टृदर्शनदृश्यानां साक्षिणः स्वप्रभस्य तत् ।
प्रमाणागोचरत्वं तु वस्तुस्वाभाव्यतो भवेत् ॥ ५४ ॥

शङ्का—क्यों ?

समाधान—आत्मा प्रमाणका अगोचर (अविषय) है । घट आदि प्रमाणके विषय हैं, इसलिए उनका प्रत्यक्षविषयत्वरूपसे निर्देश किया जाता है, आत्मा अविषयस्वभाव है, अतः विषयत्वरूपसे उसका निर्देश सर्वथा अशक्य है ॥ ५३ ॥

'द्रष्टृदर्शन०' इत्यादि । द्रष्टा, दर्शन और दृश्य—इन सबका साक्षी स्वयंप्रकाश आत्मा है, यह प्रमाणान्तरका अगोचर (अविषय) है, ऐसा साक्षीका स्वभाव है । जिस वस्तुका जैसा स्वभाव होता है, वह वैसा ही सदा बना रहता है ।

शङ्का—साक्षी यदि वस्तु है, तो वह भी प्रमाणग्राह्य होना चाहिए, अन्यथा शशशृङ्ग आदिके समान अप्रामाणिक हो जायगा ?

समाधान—प्रत्यग्दृष्टि उत्पत्ति और विनाशसे शून्य कूटस्थ है, स्वाप आदि अवस्थामें उसका स्फुरण रहता है । अतः वह प्रमातृग्राह्य नहीं है ।

शङ्का—भले ही साक्षीको मानो, पर लोकमें निष्क्रिय लोष्ठ आदि साक्षी नहीं माना जाता है, किन्तु जैसे श्रवण, वदन आदि व्यापारवान् चेतन ही साक्षी कहा जाता है वैसे ही शरीर आदिके साक्षीमें सक्रियत्वापत्ति होनेसे वह कूटस्थत्व कैसे ?

समाधान—आत्मामें न स्वतः क्रिया है, न परतः, अतएव 'असङ्गो नहि सज्जते' इत्यादि श्रुति सङ्गत होती है । कार्य या कारणमें ही क्रिया सर्वत्र दृष्ट है । आत्मा उन दोनोंसे विलक्षण है, इसलिए भी अक्रिय है ।

शङ्का—'विज्ञानं यज्ञं तनुते' इत्यादि श्रुतिसे आत्मामें यागादिकर्तृत्वका स्पष्ट निर्देश है; अतः अक्रियत्व कैसे ?

समाधान—इसका उत्तर पूर्वमें दे चुके हैं, किन्तु आरोपित कर्तृत्वको लेकर लोकव्यवहारदशामें कर्तृत्व आदिका स्पष्ट निर्देश होता है । किञ्च, आत्मामें क्रिया क्यों मानी जाय ? क्या प्रकाशार्थ मानी जाय या ब्रह्मप्राप्त्यर्थ मानी जाय या तमोनाशार्थ मानी जाय अथवा भेदध्वंसार्थ । प्रथम पक्ष ठीक नहीं है, क्योंकि वह सदा प्रकाशस्वरूप है । द्वितीय पक्ष भी ठीक नहीं है, क्योंकि जीवके ब्रह्मस्वरूप होनेसे ब्रह्म सदा प्राप्त ही है, तृतीय पक्ष भी ठीक नहीं है, क्योंकि आत्मा स्वयं तमःशून्य है ।

शङ्का—आत्माको ही यदि अज्ञात मानते हो, तो वह तमःशून्य कैसे ?

दृष्टेर्न पश्येर्द्रष्टारमिति प्रत्युत्तरं वचः ।
वक्त्यगोचरतामेतद्वाक्यं व्याक्रियते स्फुटम् ॥ ५५ ॥
चक्षुर्जन्यमनोवृत्तिश्चिद्युक्ता रूपभासिका ।
दृष्टिरित्युच्यते द्रष्टा दृष्टेः कर्त्रेति लौकिकैः ॥ ५६ ॥
अतो दृष्टिद्वयं वाक्ये भाति षष्ठ्यन्तशब्दतः ।
एका दृष्टिस्तृजन्तेन धातुनाऽन्येति तद्द्वयम् ॥ ५७ ॥
भर्तृप्रपञ्चो व्याख्याति वाक्यं दृष्टिद्वयं विना ।
दृष्टिः षष्ठ्यन्तशब्दोक्ता कर्तृमात्रं तृजन्ततः ॥ ५८ ॥

समाधान—अज्ञान आत्मामें है, किन्तु आवरणकार्य जीवमें है, बिम्बमें नहीं है। चतुर्थ पक्ष भी ठीक नहीं है, क्योंकि भेद वास्तविक नहीं है, किन्तु आविद्यिक है ? वह अविद्याकी निवृत्ति होनेपर निवृत्त हो जाता है, इसके लिए पृथक् कारण माननेकी आवश्यकता नहीं इत्यादि विस्तृत विचार अन्यत्र देखिये ॥५४॥

'दृष्टेर्न पश्ये०' इत्यादि। उषस्तके प्रति श्रीयाज्ञवल्क्यजीने जो यह उत्तर दिया कि दृष्टिके द्रष्टाको कोई नहीं देख सकता, इस उत्तरवाक्यसे आत्मा दृष्ट्यादिका अविषय है, ऐसा प्रतीत होता है, इसलिए उस उत्तरवाक्यकी स्पष्ट व्याख्या करते हैं ॥ ५५ ॥

'चक्षुर्जन्य०' इत्यादि। चक्षुर्जन्यमनोवृत्ति। जब चक्षुःसंयुक्त घटादि होते हैं तब उसके द्वारा मनका घटादिसे सम्बन्ध होता है, उस कालमें घटाकारान्तःकरणवृत्ति होती है, वही चित् आत्मासे संयुक्त होकर रूपभासिका होती है, उसी मनोवृत्तिको दृष्टि कहते हैं और दृष्टिकर्ताको लोग द्रष्टा कहते हैं ॥ ५६ ॥

'अतो दृष्टि०' इत्यादि। 'दृष्टेर्द्रष्टा' इस वाक्यमें दो दृष्टियोंकी प्रतीति होती है, एक दृष्टि 'दृष्टेः' इस षष्ठ्यन्त शब्दसे और दूसरी तृजन्त (तृच् प्रत्ययान्त) 'द्रष्टा' शब्दसे। तात्पर्य यह है कि 'दृश्' धातुसे तृच्प्रत्यय करनेसे द्रष्टा यह शब्द बनता है, इसका अर्थ दृष्टिकर्ता होता है, अतः यहाँ भी एक दृष्टिका बोध होता है। इस प्रकार दृष्टि और द्रष्टा इन दोनों पदोंसे दो दृष्टियोंकी प्रतीति स्फुट होती है ॥ ५७ ॥

भर्तृप्रपञ्चके व्याख्यानका अनुवाद करते हैं—'भर्तृप्रपञ्चो' इत्यादिसे।

उक्त आचार्य उक्त दो दृष्टियोंके बिना ही एक दृष्टि मानकर व्याख्यान करते हैं।

शङ्का—कौन एक दृष्टि मानते हैं ?

मैवं पदे तृजन्तेऽस्मिन्प्रकृतिप्रत्ययद्वयात् ।
दृष्टितत्कर्तृसंसिद्धेः षष्ठ्यन्तस्याऽनपेक्षणात् ॥ ५९ ॥
अतो दृष्टिद्वयं वाच्यं नित्यानित्यविभेदि तत ।
मनोवृत्तिरनित्याऽन्या साक्षिचैतन्यरूपिणी ॥ ६० ॥
वृत्तिर्जडाऽप्यसावात्मचैतन्यच्छायया युता ।
चैतन्यवद्भासकत्वाद् दृष्टिशब्दार्थतां व्रजेत् ॥ ६१ ॥
यत्सर्वव्यापि चैतन्यं तद्दृष्टिं व्याप्नुयात्तया ।
दृष्ट्यैकतामुपगतमागन्तुकमिवेक्ष्यते ॥ ६२ ॥

समाधान—'दृष्टेः' इस षष्ठ्यन्त पदसे दृष्टि कही गई है, तृजन्तसे केवल कर्तामात्रका बोध होता है, 'दृष्टेः द्रष्टा' इन दो पदोंके समभिव्याहारसे दृष्टिकर्ताकी प्रतीति होती है ॥ ५८ ॥

उक्त मतका निराकरण करते हैं—'मैवम्' इत्यादिसे ।

'दृश्' धातुसे कर्तामें तृच्प्रत्यय करनेसे 'द्रष्टा' यह पद सिद्ध होता है, इसका अर्थ दृष्टिका कर्ता है। प्रकृतिभूत 'दृश्' धातुका दृष्टि और तृच् प्रत्ययका कर्ता अर्थ है । प्रकृतिप्रत्ययसमुदायका दृष्टिकर्ता यह उक्त आचार्यका अभिप्रेत अर्थ निकल आता है; पुनः श्रुतिवाक्यमें 'दृष्टेः' यह षष्ठ्यन्त पद व्यर्थ हो जाता है; दृष्टिकर्ता इस अर्थके लिए 'दृष्टेः' इस पदकी अपेक्षा नहीं है ॥ ५९ ॥

'अतो दृष्टि०' इत्यादि। दृष्टिपदके वैयर्थ्यका वारण करनेके लिए दो दृष्टियोंकी आवश्यकता बतलानी चाहिए, सो भाष्यकारने बतलाई है । एक नित्य और दूसरी अनित्य । मनोवृत्ति अनित्य दृष्टि है और साक्षिचैतन्यरूप दृष्टि नित्य है ॥ ६० ॥

'वृत्तिर्जडाऽप्य०' इत्यादि । यद्यपि मनोवृत्तिरूप दृष्टि जड़ है, क्योंकि मन ही जड़ है, इसलिए उसकी परिणामरूप विषयाकारवृत्ति भी जड़ है । जड़ भासक नहीं हो सकता, अतः वह दृष्टि कैसे हो सकती है ? यह शङ्का हो सकती है, तथापि आत्मचैतन्यकी छायासे संयुक्त होकर वह भासक हो सकती है, अतः चैतन्यके योगसे मनोवृत्ति दृष्टिशब्दसे कही जाती है ॥ ६१ ॥

'यत्सर्वव्यापि' इत्यादि । जो सर्वव्यापि चैतन्य है, उससे वृत्तिरूपा दृष्टि सदा व्याप्त रहती है । मनोवृत्तिरूप कार्यदृष्टि आगन्तुक विषय और इन्द्रियके सन्निकर्षके समयमें ही उत्पन्न होती है, अतएव उस सम्बन्धसे आत्मदृष्टिरूप चैतन्य भी आगन्तुकके समान भासित होता है ॥ ६२ ॥

व्याप्तत्वमेव द्रष्टृत्वं नाऽक्रिये द्रष्टृता स्वतः ।
न धूमाग्न्योरिव व्याप्तिः किन्तु स्रक्सर्पयोरिव ॥ ६३ ॥
कात्स्न्र्येन यत्र वृत्तिः स्याद्व्याप्यव्यापकवस्तुनोः ।
व्याप्तिस्तत्रैव मुख्या स्यात्स्रग्जसर्पादिवस्तुवत् ॥ ६४ ॥
देशकालादिसम्भेदादसाधारणतत्त्वयोः ।
व्याप्तिर्न मुख्या धूमाग्न्योर्हिमवद्विन्ध्ययोरिव ॥ ६५ ॥

'व्याप्तत्वमेव' इत्यादि । यद्यपि आत्मा अक्रिय है, अतएव दर्शनक्रिया-श्रयत्वरूप द्रष्टृत्व आत्मामें नहीं हो सकता; तथापि मनोवृत्तिका वह व्यापक है; अतः व्याप्ति द्वारा कर्तृत्वका आत्मामें आरोपकर आत्मा कर्ता माना जाता है। स्वतः साक्षात् उसमें द्रष्टृत्व नहीं है । उक्त व्याप्ति धूमाग्निके समान नहीं है, किन्तु स्रक् (माला) और सर्पके समान है ॥ ६३ ॥

'कात्स्न्र्येन' इत्यादि । जहाँ व्याप्य और व्यापक वस्तुओंकी सर्वात्मना वृत्ति होती है, वहीं मुख्य व्याप्ति रहती है। इसमें उदाहरण रज्जुसर्प है । तात्पर्य यह है कि लोकमें दो प्रकारकी व्याप्ति होती है—एक मुख्या और दूसरी गौणी । पहली व्याप्य-व्यापकके तादात्म्यरूप है, जैसे रज्जुसर्प । रज्जुसे पृथक् रज्जुसर्पकी स्थिति नहीं होती, किन्तु सर्वात्मना रज्जुमें ही उसकी स्थिति है । दूसरी अत्यन्त भिन्न पदार्थोंकी देशादिके अभेदसे होती है । जैसे धूम और अग्निकी । वस्तुतः दो मूर्तोंमें एकदेशस्थिति विरुद्ध है । तथापि दोनोंमें समानदेशत्व मानकर जहाँ धूम है, वहाँ अग्नि है, इस प्रकार व्याप्ति मानी जाती है । प्रकृतमें मुख्य व्याप्ति विवक्षित है, इस अभिप्रायको अभिव्यक्त करनेके लिए दोनों व्याप्तियोंका क्रमसे उदाहरण देते हैं । मुख्यव्याप्तिका उदाहरण रज्जुसर्प है ॥ ६४ ॥

'देशकालादि०' इत्यादि । देश यानी संयोगीदेश, काल यानी पूर्वोत्तर क्षण, (आदिशब्दसे समवायी देशका ग्रहण है) इनके भेदसे असाधारण तत्त्व स्वरूपतः भिन्न दो पदार्थोंमें (धूम और अग्निमें) रहता है । अग्निमें तैजसत्व और धूममें पार्थिवत्व असाधारण तत्त्व है, अतएव ये दोनों पदार्थ स्वतः भिन्नभिन्नस्वरूप हैं, फिर भी इन दोनोंकी समान देशकालमें स्थिति मानकर जहां धूम है, वहां अग्नि है, ऐसी व्याप्ति लोकमें मानी जाती है । परन्तु यह व्याप्ति मुख्य नहीं है, जैसे भिन्नदेशस्थित हिमवान् और विन्ध्यकी व्याप्ति तार्किक भी नहीं मानते, कारण

क्रियाकारकरूपा धीरक्रियाकारकात्मना ।
व्याप्त्यैव जायते कुम्भ आकाशेन यथा तथा ॥ ६६ ॥
व्याप्या दृष्टिर्जन्मत्त्वादनित्याऽव्यापिका त्वियम् ।
कूटस्थत्वेन साक्षित्वान्नित्या जन्मादिवर्जनात् ॥ ६७ ॥

कि दोनों भिन्न देशमें हैं, वैसे ही धूम और अग्निकी भी व्याप्ति नहीं हो सकती, पर्वतके नीचेके भागमें अग्नि है और ऊपरके भागमें धूम है, अतः ये दोनों भी हिमवान् और विन्ध्यके समान भिन्नदेशमें स्थित हैं, अतएव इनकी व्याप्ति मुख्य नहीं है। यदि अग्निदेश और धूमदेशको पर्वतत्व आदिसे एकदेश मानकर व्याप्ति कहे, तो पृथिवीत्वरूपसे समानदेश मानकर हिमवान् और विन्ध्यकी भी व्याप्ति कह सकते हैं, परन्तु इसकी व्याप्ति तार्किक भी नहीं मानते और वह्नि और धूमकी व्याप्ति मानते हैं; अतः उसके अनुसार अमुख्य व्याप्ति ही वह कही जा सकती है ॥६५॥

अक्रिय आत्मामें मुख्य व्याप्ति ही बन सकती है, यह सदृष्टान्त कहते हैं—'क्रियाकारक०' इत्यादिसे।

क्रियाकारकरूप दृष्टि प्रतिदेह भिन्न, क्षणविध्वंसिनी और विषयोंसे अनुरञ्जित होती है। अपारमार्थिक दृष्टि चैतन्यरूप, क्रियाकारकशून्य तथा आत्मस्वरूप है यानी न किसीकी कार्य है और न किसीकी कारण ही है, अतएव नित्य और कूटस्थ मानी जाती है। पहली दृष्टि द्वितीय दृष्टिसे व्याप्त ही होती है; अन्यथा नहीं। इसमें दृष्टान्त है—घट। जैसे घड़ा आकाशसे व्याप्त होकर उत्पन्न होता है। यद्यपि आकाश नित्य होनेसे परमतमें उत्पाद्य नहीं है, फिर भी उत्पाद्य घटमें व्याप्त होनेसे उसमें भी गौण उत्पत्तिका व्यवहार होता है; घट होनेपर घटाकाश हुआ, ऐसा लोकमें व्यवहार होता है, वैसे ही प्रकृतमें भी समझना चाहिए ॥ ६६ ॥

इस प्रकार दो दृष्टियोंका एवं साक्षीमें द्रष्टृत्वका उपपादन करके 'नित्यानित्यविभेदि तत्' इत्यादि जो पूर्वमें कहा है, उसका उपपादन करते हैं—'व्याप्या दृष्टि०' इत्यादिसे।

व्याप्य (परिच्छिन्न) मनोवृत्तिरूप दृष्टि जन्मवती होनेसे अनित्य है, व्यापक आत्मचैतन्यरूप दृष्टि व्यापक है और कूटस्थ होनेसे साक्षी नित्य है। नित्यत्वमें हेतु है—जन्म आदिशून्यत्व। अनुत्पत्ति होनेसे नित्य है, विकारित्वकी व्यावृत्तिके लिए कूटस्थत्व विशेषण कहा गया है ॥ ६७ ॥

कूटस्थदृष्टिस्तन्मोहो दृष्ट्याभासं च तत्त्रयम् ।
साक्षी सर्वजगद्धेतुर्नियन्तेति च भण्यते ॥ ६८ ॥
कूटस्थदृष्टेः साक्षित्वं स्वमोहाभासवर्त्मना ।
साक्ष्येणाऽर्थेन सम्बन्धात् सिद्ध्यत्येव स्वतो न तु ॥ ६९ ॥
व्यावृत्तत्वेन मादादेः सिद्धः साक्षी सुषुप्तगः ।
नाऽवेदिषं सुषुप्तोऽहमिति धीर्नाऽन्यथा भवेत् ॥ ७० ॥

'कूटस्थदृष्टि०' इत्यादि । मूल वार्तिकमें 'कूटस्थदृष्टितन्मोहौ' ऐसा पाठ है और वार्तिकसारमें असमस्त पाठ है । पर अर्थमें कुछ भेद नहीं आता । आत्मा कूटस्थ होनेसे साक्षी है और उसका मोह जगत्का कारण है, अतः उसके द्वारा कारण और दृष्ट्याभाससे नियन्ता कहा जाता है । वास्तवमें ये तीनों धर्म आत्मामें नहीं हैं, किन्तु साक्षित्व, कारणत्व और नियन्तृत्व सब आविद्यिक हैं ।

शङ्का—कूटस्थ आत्माको कारण क्यों नहीं मानते ?

समाधान—कार्य्य प्रपञ्च जड़ है । यदि ब्रह्मको जगत्का कारण मानें, तो कार्य्यमें जाड्य होनेसे उसके कारण ब्रह्ममें भी जड़त्वकी आपत्ति हो जायगी, क्योंकि कार्य्यका अनुसारी कारण माना जाता है; अतः जड़शक्तिविशिष्टमें ही कारणत्व है । वास्तव कारणत्व आत्मामें नहीं है ॥ ६८ ॥

विकाररहित आत्मामें साक्षित्वका समर्थन करते हैं—'कूटस्थदृष्टेः' इत्यादिसे ।

स्व यानी आत्मा उसमें स्थित मोह (अज्ञान) उसके आभाससे यानी चैतन्यप्रतिबिम्बसे कूटस्थ आत्मामें साक्षित्व होता है । साक्ष्य आत्मव्यतिरिक्त अर्थ । इसका अज्ञान द्वारा आत्माके साथ सम्बन्ध होनेसे आत्मा साक्षी माना जाता है । भाव यह है कि साक्षित्व, अन्तर्यामित्व और कारणत्व ये तीनों धर्म आत्मामें आविद्यिक हैं और प्रमाता धर्माधर्मनिमित्तक है; अन्यथा धर्माधर्मका उपयोग ही लुप्त हो जायगा ॥ ६९ ॥

'व्यावृत्तत्वेन' इत्यादि ।

शङ्का—अनित्य दृष्टिसे अतिरिक्त साक्षीमें क्या प्रमाण है ?

समाधान—सुषुप्तिकालीन अनुभव ही प्रमाण है । सुषुप्तिमें अन्य इन्द्रिय आदिका विलय होनेसे प्रमातृत्वकी निवृत्ति होनेके कारण वहाँ यदि साक्षी भी नहीं रहेगा, तो सुप्तोत्थितको जो 'मैं सुखपूर्वक सोया किसी भी विषयका भान उस

समय मुझे नहीं हुआ' यह परामर्श (स्मरण) होता है, वह नहीं हो सकेगा, कारण कि स्मरण अनुभवजनित वासनाके बिना नहीं होता । अनुभविता प्रमाता है नहीं, अज्ञानके अनुभवके बिना वासना नहीं हो सकती, वासनाके बिना स्मरण साथ अनुपपन्न है, अतः उक्त स्मरणकी उपपत्तिके लिए उक्त कालमें साक्षीका मानना आवश्यक है ।

शङ्का—उस कालमें साक्षीका उक्त अनुभव निर्विकल्पस्वरूप है । अतः उसकी वासना भी वैसी ही होनी चाहिए, फिर उक्त स्मरण अहमर्थसे अनुरञ्जित क्यों होता है ?

समाधान—परामर्शदशामें अहमर्थ है, इसलिए उससे अनुरञ्जित स्मरण ठीक ही है, इस स्मरणकी अन्यथा अनुपपत्तिसे सौषुप्त नित्य अनुभव मानना अत्यावश्यक है।

शङ्का—उक्त स्मरण नहीं है, किन्तु तात्कालिक अनुमान है । 'सुषुप्ति कालीनोऽहं ज्ञानसामान्याभाववान्, ज्ञानसामग्र्यभाववत्त्वात्, यन्नैवं तन्नैवं यथा जागरावस्थायाम्' (सुषुप्तिकालीन अहमर्थ—आत्मा—सामान्य ज्ञानके अभावसे युक्त है, ज्ञानसामग्रीका अभाव होनेसे, जो ऐसा नहीं है, वह वैसा भी नहीं है, जैसे जागरण) इत्यादि ।

समाधान—उक्त कालमें अहमर्थका भान नहीं है, अतः पक्षज्ञान न होनेसे अनुमान नहीं हो सकता ।

शङ्का—पूर्वापरकालका अनुमान कर 'उदयास्तमयकालः उदयास्तमयपूर्वकः' कालत्वात्, वर्तमान कालवत्' इस अनुमानसे सुषुप्तिकालका अनुमान कर उसमें पुनः आत्मसम्बन्धका अनुमान कर 'अहं सुषुप्तिपूर्वोत्तरकालमध्यकालसम्बन्धवान्, तत्पूर्वोत्तरकालसम्बन्धित्वात्, यथा जाग्रत्-पुरुषः' इत्यादि रीतिसे ज्ञानाभावका अनुमान होता है, अज्ञानका स्मरण नहीं होता ?

समाधान—सुषुप्तिदशामें ज्ञानसामान्याभाववत्त्वरूप हेतुका ज्ञान ही दुर्घट है; अन्यथा 'न किञ्चिदवेदिषम्' यह अनुमानका आकार ही व्याहत हो जायगा । यदि ज्ञानसामान्यभावसे सामग्र्यभावका अनुमान कीजियेगा, तो अन्योन्याश्रय होगा, ज्ञानसामग्र्यभावसे ज्ञानसामान्याभावका अनुमान और ज्ञानसामान्याभावसे उसकी सामग्रीके अभावका अनुमान इस प्रकार उक्त दोषका परिहार दुर्वार हो जायगा; अतः प्रमात्रादिव्यावृत्त सुषुप्तिकालीन अनुभव ही आत्मव्यतिरिक्त साक्षीमें प्रमाण है ॥ ७० ॥

बुद्ध्यादेः प्रविलीनत्वाद्देहादेश्च जडत्वतः ।
लोष्टादेरिव नैव स्यान्नाऽज्ञासिषमितीक्षणम् ॥ ७१ ॥
प्रत्यक्साक्ष्यतिरेकेण नाऽभावोऽपि प्रसिद्ध्यति ।
किमु भावो जगत्यस्मिन् साक्षी चाऽनन्यसिद्धिकः ॥ ७२ ॥
शून्यस्याऽपि हि शून्यत्वं तत्साक्षिणि सतीक्ष्यते ।
असाक्षिकं चेत्तत्सिद्धं साक्षिवत् स्यात् स्वयम्प्रभम् ॥ ७३ ॥

'बुद्ध्यादेः' इत्यादि । बुद्धि आदिसे इन्द्रिय आदिका ग्रहण है । उक्त अवस्थामें बुद्धि आदि विलीन हो जाते हैं और जो अविलीन शरीर आदि हैं, वे जड़ हैं, अतः जड़ लोष्ठ आदिको जैसे अनुभव, स्मरण आदि नहीं होते, वैसे ही उन्हें 'कुछ नहीं जाना' यह सर्वानुभवसिद्ध स्मरण अनुपपन्न हो जायगा ।

शङ्का—प्रमाता कौन है ?

समाधान—स्मरण, निश्चय और संशयवत्त्व आदि अहंरूपसे जिसमें अन्वित होते हैं, वह प्रमाता है अर्थात् ज्ञानादिवृत्तिमान् प्रमाता है ॥ ७१ ॥

शून्यवादियोंको भी शून्य पदार्थकी सिद्धिके लिए जब साक्षी मानना आवश्यक होता है, तब दूसरोंके लिए इस विषयमें कहना ही क्या है ? इस अभिप्रायसे कहते हैं—'प्रत्यक्०' इत्यादिसे ।

प्रत्यक्रूप साक्षीके बिना जब अभावकी भी सिद्धि नहीं होती, तब भावके विषयमें कहना ही क्या है ? भावसिद्धिके लिए साक्षीका स्वीकार आवश्यक है ।

शङ्का—इस प्रणालीसे साक्षीकी सिद्धिके लिए अन्य साक्षीको भी मानना चाहिए एवं पुनः उसकी सिद्धिके लिए अन्य साक्षीको मानना चाहिए, इस प्रकार कल्पना करनेमें अनवस्थादोष होगा ।

समाधान—साक्षी स्वयंसिद्ध है, उसके लिए अन्य साक्षीकी आवश्यकता नहीं है ॥ ७२ ॥

'शून्यस्याऽपि' इत्यादि ।

शङ्का—शून्यके शून्यत्वकी सिद्धिके लिए साक्षीकी आवश्यकता नहीं है, जैसे साक्षीके बिना साक्षीकी सिद्धि मानते हो, वैसे ही शून्यत्वकी भी सिद्धि मानो ।

समाधान—साक्षी तो स्वयंप्रकाश है, इसलिए उसमें अन्य साधककी अपेक्षा नहीं है, शून्यत्वको भी यदि साक्षीके समान स्वयंप्रकाश मानियेगा, तो नाममात्रमें

न देशकालावस्थादेरपेक्षा साक्षिसिद्धये ।
देशादेः साक्ष्यपेक्षत्वात् स्वतः सिद्ध्यति साक्ष्यतः ॥ ७४ ॥
जन्मनाशादिसाक्षित्वाज्जन्मनाशादिवर्जिता ।
साक्षिदृष्टिरियं नित्या मोहजन्या तथेतरा ॥ ७५ ॥
अविचारितसंसिद्धिर्मोहोऽयं साक्षिसन्निधेः ।
साभासो मातृमानादिर्भवेद्धर्माद्यपेक्षया ॥ ७६ ॥

विवाद है, जो अकिञ्चित्कर है । आखिर आपने भी स्वप्रकाश पदार्थ माना है । चाहे उसको साक्षी कहिए चाहे शून्य । यदि साक्षीके समान उसे स्वयंप्रकाश नहीं मानिएगा, तो जड़ शून्यकी सिद्धि साक्षीके बिना नहीं हो सकेगी । साक्षी शून्यभिन्न भावस्वरूप है, वह शून्य तत्त्व कैसे हो सकता है ? ॥ ७३ ॥

साक्षी स्वयंप्रकाश है, यह सिद्ध कर अब वह स्वयंसिद्ध है, अतः उसमें साधककी अपेक्षा नहीं है, यह सिद्ध करते हैं—'न देश०' इत्यादिसे ।

साक्षीकी सिद्धिके लिए देश, कालकी अपेक्षा नहीं है, कारण कि देश, काल आदि जड़ हैं, साक्षीके बिना उनकी सिद्धि नहीं होती । इसलिए उनसे पूर्व साक्षीकी सिद्धि होती है, अतः उसके अनन्तर सिद्ध देश, काल आदि अपने पूर्वसिद्ध साक्षीके साधक नहीं हो सकते ॥ ७४ ॥

'जन्म०' इत्यादि । साक्षिस्वरूप दृष्टि जन्म और नाशकी साक्षिणी है, इसलिए स्वयं जन्म और नाशसे शून्य है । जब साक्षी जन्मसे पूर्वमें रहेगा, तब वह जन्मका साक्षी हो सकता है, अन्यथा नहीं । साक्षी अपने जन्मसे पूर्व यदि रहता है, तो साक्षीका जन्म कहना ही व्याहत है । आद्यक्षणसंबन्ध जन्म माना जाता है । और उत्तर कालमें यदि साक्षी कहा जाय, तो भी जन्मका साक्षी नहीं कहा जा सकता एवं स्वनाशका भी साक्षी नहीं हो सकता । अपनी स्थितिके कालमें स्वका अभाव ही नहीं है । नाशोत्तर साक्षी है नहीं, तो स्वनाशका साक्षी कैसे हो सकता है ? असाक्षिक जन्म और नाशमें प्रमाण नहीं है, अतः जन्म और नाशसे रहित साक्षी-रूपा दृष्टि नित्य है । मनोवृत्ति मोहजन्य होनेसे अनित्य मानी जाती है ॥ ७५ ॥

मोहदृष्टिकी उत्पत्तिका प्रकार कहते हैं—'अविचारित०' इत्यादिसे ।

अनिर्वचनीय साभास (चित्प्रतिच्छाया-समन्वित) अज्ञान साक्षीकी केवल सन्निधिसे प्रमाता द्वारा ज्ञानादिके आकारमें परिणत होता है । उस परिणाममें निमित्त कारण है—धर्म और अधर्म ॥ ७६ ॥

स्मृतिनिश्चयसन्देहरागद्वेषादिवृत्तिषु ।
अहंरूपेण योऽन्वेति स प्रमाताऽस्त्यनित्यचित् ॥ ७७ ॥
स्मराम्यहं निश्चिनोमि संशये रागवानिति ।
अहंरूपान्वयः स्पष्टः कर्त्ता भोक्ताऽप्यसौ भवेत् ॥ ७८ ॥
प्रत्यङ्मोहोत्थबुद्ध्यादिर्जडरूपप्रधानतः ।
कर्तृता भोक्तृता त्वस्य चिदाभासप्रधानतः ॥ ७९ ॥

'स्मृति०' इत्यादि ।

शङ्का—कौन प्रमाता है ? जिसके द्वारा ज्ञानादिका परिणाम होता है ?

समाधान—स्मृति (स्मरण), निश्चय, सन्देह, राग, द्वेष आदि वृत्तियोंमें अहं-रूपसे जो अन्वित है अर्थात् तत्-तत् आकारयुक्त वृत्तिदशामें जो अपनेको तादृश वृत्ति-मान् मानता है तथा 'अहं स्मरामि' इत्यादि व्यापार जिसमें पाया जाता है, वही अनित्य चित् प्रमाता है । यद्यपि चित्स्वरूपसे नित्य है, तथापि तत्-तत् वृत्तिविशिष्टत्वरूपसे अनित्य है । वृत्ति धर्मादिहेतुक उत्पत्ति और विनाशसे युक्त है, सदातन नहीं है, अतः उससे उपरक्त चैतन्य भी अनित्य कहा गया है ॥ ७७ ॥

'स्मराम्यहम्' इत्यादि । 'अहं स्मरामि' (मैं स्मरण करता हूं) 'अहं निश्चिनोमि' (मैं निश्चय करता हूं), संशयवाला हूं, रागवान् हूं इत्यादि मनोवृत्तियोंमें अहमर्थका अन्वय स्पष्ट है । वही कर्ता और भोक्ता कहलाता है । वृत्तिमान् अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्यमें ही कर्तृत्व और भोक्तृत्व आदि धर्म माने जाते हैं । उक्त वृत्तियोंमें 'अहं स्मरामि' इत्यादि अनुभव ही प्रमाण है ॥ ७८ ॥

'प्रत्यङ्मोहोत्थ०' इत्यादि । प्रत्यग्में—चिदात्मामें—स्थित मोहसे—अनिर्वचनीय अनादि भावरूप अज्ञानसे—उत्पन्न तत्-तत् विषयाकार वृत्तिमें चित्-छायाके पड़नेसे तथोक्त आभासकी उपसर्जनीभूत उक्त बुद्धिमें जड़भूत वृत्तिके प्राधान्यकी विवक्षासे कर्तृत्व है और चिदाभासके प्राधान्यसे उसमें भोक्तृत्व है । वृत्ति और चित्प्रतिबिम्बके गुणप्रधानभावकी विवक्षासे अहमर्थमें कर्तृत्व और भोक्तृत्वका व्यवहार होता है, आत्मा शुद्ध तथा उक्त दो धर्मोंसे उदासीन है । प्रत्यक् चिदाकार सदा स्थायी है, हानोपादानलक्षण उपाधिभूत दृष्टिसे 'संसृष्टा इव' (संसृष्टकी नाईं) नित्य दृष्टि प्रतीत होती है, संसर्गमें हेतु है—एकाश्रयवृत्तित्व ॥ ७९ ॥

प्रमातुर्जायते वृत्तिश्चक्षुषा रूपरञ्जिता ।
द्रष्टव्यं तु तया रूपं न साक्षी दृश्यते तया ॥ ८० ॥
दृष्टेर्द्रष्टारमात्मानं दृष्ट्या पश्येन्न दृश्यया ।
इति वाक्यं मुनिर्वक्ति वर्णितन्यायगर्भितम् ॥ ८१ ॥

'प्रमातु०' इत्यादि । चक्षु आदि इन्द्रियों द्वारा रूपोपरञ्जित (रूपविषयक) वृत्ति प्रमातामें उत्पन्न होती है, उससे दृश्य रूपादि हैं, साक्षी उस वृत्तिसे दृश्य नहीं है ।

शङ्का—यदि दृष्टि नित्य है, तो कभी देखता है, कभी नहीं देखता है, उत्पन्नत्व, अनुत्पन्नत्व इत्यादि विरुद्ध धर्मोंका एक ही दृष्टिमें कैसे व्यवहार होता है ?

समाधान—जैसे स्फटिक मणि सदा शुक्ल रूपसे ही युक्त है, पर जपाकुसुमरूप उपाधिके सम्बन्धसे रक्त स्फटिक और उसके असम्बन्धसे श्वेत स्फटिक इत्यादि व्यवहार होता है, वैसे ही नित्य दृष्टिमें वृत्तिरूप उपाधिके सद्भाव और अभावसे विविध व्यवहार होते हैं, इसमें कोई विरोध नहीं है ।

शङ्का—अनित्य दृष्टिके संबन्धसे आत्मदृष्टि अनित्य है, स्वतः नहीं है, ऐसा क्यों मानते हैं ? स्वतः अनित्य माननेमें क्या आपत्ति है ?

समाधान—अनित्य दृष्टिकी उत्पत्ति और विनाशकी साक्षिणी नित्य दृष्टि है । उसके भी उत्पत्ति आदि माने जायँ, तो उसका अन्य साक्षी माननेमें अनवस्था होगी, इसलिए वह नित्य मानी जाती है; किन्तु उसके संसर्गसे नित्य दृष्टिरूप साक्षीमें उत्पत्ति आदिका औपाधिक व्यवहार माना जाता है ॥ ८० ॥

'दृष्टेर्द्रष्टार०' इत्यादि । दृश्य दृष्टिसे यानी मनोवृत्तिरूप दृष्टिसे दृष्ट्यादिकी द्रष्टा साक्षिस्वरूप नित्य दृष्टि दृश्य नहीं है, उक्त रीतिसे न्यायनिर्णीत इस वाक्यको श्रीयाज्ञवल्क्य मुनिजी उषस्तसे कहते हैं । उक्त मनोवृत्ति जड तथा परार्थ है, अतः चित्स्वरूप वृत्तिको नहीं देख सकती । पराग् विषय परिच्छिन्न होते हैं, उससे विलक्षण चित् दृश्य नहीं है, कर्ता क्रियाका उत्पादक होता है । क्रिया अपने विषयमें अतिशयाधायक होती है । कर्तृक्रियाफलभूत प्रत्यगात्मा क्रियाऽव्याप्य नहीं है, आत्मा नित्य दृष्टि तथा बुद्ध्यादिका साक्षी है और अनित्य दृष्टिका कर्ता भी है ।

शङ्का—पूर्वमें आपने आत्माको अकर्ता कहा है, अब उसे कर्ता कैसे कहते हैं ?

समाधान—यद्यपि आत्मा क्रियाशून्य, उदासीन तथा चित्स्वरूप है, अतः वस्तुतः कर्ता नहीं है, तथापि वह स्वाश्रित अविद्या द्वारा कर्ता भी कहा जाता है ॥ ८१ ॥

येन चक्षुरिदं दृष्टं चक्षुषा यं न पश्यति।
ब्रह्म विद्धि तदेव त्वमिति श्रुत्यन्तरे स्फुटम् ॥ ८२ ॥

श्रुतिः—न श्रुतेः श्रोतारꣳ शृणुया न मतेर्मन्तारं मन्वीथा न विज्ञानेर्विज्ञातारं विजानीयाः। एष त आत्मा सर्वान्तरोऽतोऽन्यदार्त्तं ततो होषस्तश्चाक्रायण उपरराम ॥ २ ॥

इत्युपनिषदि चतुर्थं ब्राह्मणं समाप्तम्।

श्रोत्रजधीवृत्तिस्तस्याः श्रोताऽवभासकः।
श्रुत्या शब्दावगाहिन्या श्रोतारं शृणुयान्न तम् ॥ ८३ ॥
ऊहापोहात्मधीवृत्तिर्मतिस्तस्याः प्रकाशकम्।
अनूह्यमनपोह्यं तं न मन्वीथास्त्वमेतया ॥ ८४ ॥
अस्पष्ट ऊह्य आत्मा तु विस्पष्टो भानरूपतः।
अनपोह्योऽनुपाधित्वादात्मा नाऽपैति कर्हिचित् ॥ ८५ ॥

'येन चक्षु०' इत्यादि। 'न दृष्टेर्द्रष्टारम्' इत्यादि श्रुत्यर्थमें श्रुत्यन्तर भी प्रमाण है; जो इस चक्षुको देखता है, चक्षुसे जिसको कोई नहीं देखता, उसको ब्रह्म जानो। जिसकी उपासना करते हो, वह ब्रह्म नहीं है ॥ ८२ ॥

'न श्रुतेः श्रोतारꣳशृणुया न' इत्यादि श्रुति। श्रुतिके श्रोताको कोई नहीं सुन सकता, मतिके मन्ताको कोई नहीं मान सकता। विज्ञातिके विज्ञाताको कोई नहीं जान सकता, वही यह तुम्हारा आत्मा है। 'सर्वान्तरम्' इससे अतिरिक्त सब आर्त यानी विनाशी है, इसके बाद उषस्त चुप हो गये ॥ २ ॥

'श्रोत्रज०' इत्यादि। शब्द और श्रोत्रके सन्निकर्षसे जायमान जो शब्दविषयक श्रावणवृत्ति है, उसका भासक श्रोता साक्षी चेतन है। इस शब्दविषयक श्रावणवृत्तिसे श्रोताको कोई नहीं सुन सकता ॥ ८३ ॥

शब्दादिवृत्तिसे मनोवृत्तिविशेषरूप मतिमें भेद कहते हैं—'ऊहापोहा०' इत्यादिसे।

ऊहापोहात्मक मनोवृत्तिविशेष मति कहलाती है, अनुपलब्ध अर्थकी कल्पना ऊह है और उपलब्धका परित्याग अपोह है, तदात्मक मतिका प्रकाशक आत्मचैतन्य अनूह्य और अनपोह्य है। इसलिए उसकी मति कोई नहीं कर सकता ॥८४॥

'अस्पष्ट' इत्यादि।

निश्चयात्मकधीवृत्तिर्विज्ञातिस्तद्विभासकम् ।
असंदिग्धं तया वृत्त्या न विज्ञातुं त्वमर्हसि ॥ ८६ ॥
दृष्टश्रुतमतज्ञातेष्वित्थमात्मा न कश्चन ।
किं तर्ह्येष तवाऽऽत्मेति प्रोक्तः प्रत्यक्तया पुरा ॥ ८७ ॥
यः सर्वं विषयीकुर्वन् विषयीक्रियते नहि ।
किन्तु भाति स्वयं सोऽयं सर्वान्तर इतीरितः ॥ ८८ ॥
सर्वान्तरत्वं सार्वात्म्यमन्यस्मिन् सति तत्कुतः ।
न चेदन्यत्तदा सर्वशब्दार्थो नेति शङ्कितः ॥ ८९ ॥

शङ्का—आत्मा अनूह्य और अनपोह्य क्यों है ?

समाधान—जो अस्पष्ट है, स्पष्टीकरणार्थ उसकी ऊहा होती है। आत्मा प्रकाशक होनेसे अतिस्पष्ट है, अतः अनूह्य है। रत्न आदि अविस्पष्ट गुणविशेषके स्पष्टीकरणके लिए ऊह्य एवं दोषविशेषके निर्णयके लिए अपोह्य भी होते हैं, आत्मा हेयोपादेयरूप दोषगुणोंसे शून्य है, अतः अनूह्य और अनपोह्य है। आत्मा धर्मिमात्र तथा अप्रमेय है, इसलिए उक्त आशङ्का नहीं हो सकती ॥ ८५ ॥

'निश्चयात्मक०' इत्यादि। निश्चयात्मक धीवृत्ति विज्ञाति कही जाती है, उसका प्रकाशक चैतन्य असन्दिग्ध है, इसलिए उस वृत्तिसे आप उसको नहीं जान सकते ॥ ८६ ॥

'दृष्टश्रुतमत०' इत्यादि। दृष्ट, श्रुत, मत और ज्ञातोंमें यदि कोई आत्मा नहीं है, तो आप 'एष' यों प्रत्यक्ष द्वारा आत्माको क्यों कहते हैं, जो प्रत्यक्षसिद्ध हैं, उनको अनात्मा कहते हैं और यह भी साथ-साथ कहते हैं कि तुमको अपरोक्ष तुम्हारा आत्मा है। महात्माओंको इस प्रकारका उत्तर नहीं देना चाहिए ॥ ८७ ॥

'यः सर्वं' इत्यादि। जो सबको विषय करता हुआ स्वयं ज्ञानविषय नहीं होता, फिर भी परोक्ष नहीं है, किन्तु स्वयंप्रकाश होनेसे सबको अति अपरोक्ष है, वही यह सर्वान्तर है; जिसको आपसे बार-बार कहा है। पर आप आध्यात्मिक दृष्टिसे विचार न कर लौकिक दृष्टिसे विचार करते हैं। इसलिए मेरे उत्तरका आप पर असर नहीं पड़ रहा है, इसमें मेरा दोष नहीं है ॥ ८८ ॥

'सर्वान्तरत्वम्' इत्यादि। सर्वान्तरत्वका अर्थ सार्वात्म्य है, सार्वात्म्यका अर्थ सब आत्मस्वरूप ही है, अतिरिक्त नहीं, यही आपका अभिप्राय है।

अतोऽन्यदार्तमित्याह दोषद्वयनिवृत्तये ।
आरोपितप्रपञ्चस्य तत्त्वज्ञानेन पीडनात् ॥ ९० ॥
सर्पादीनां कल्पितानां रज्जुरात्मा यथा तथा ।
मायामयस्य सर्वस्य चिद्वस्त्वात्मेति सुस्थितम् ॥ ९१ ॥

इति वार्त्तिकसारे तृतीयाध्यायस्य चतुर्थं ब्राह्मणं समाप्तम् ॥ ४ ॥

शङ्का—यदि आत्मव्यतिरिक्त पदार्थ हैं, तो सबको आत्मा कैसे कहते हो ? जो उससे भिन्न है, सो तो आत्मा नहीं है । यदि उससे अतिरिक्त पदार्थ नहीं हैं, तो सर्वशब्दका अर्थ क्या है ? अर्थात् कुछ नहीं ॥ ८९ ॥

समाधान—'अतोऽन्य०' इत्यादि ।

उक्त प्रश्नका उत्तर स्वयं श्रुतिने 'अन्यदार्तम्' इत्यादिसे दिया है, जो आत्मव्यतिरिक्त पदार्थजात कार्यकारणरूपसे संसारमें प्रसिद्ध है, वही सर्वशब्दका अर्थ है; किन्तु वह आर्त यानी विनाशी है, अतएव वह आत्मामें अज्ञानसे आरोपित है।

शङ्का—आरोपित है, इसमें क्या प्रमाण ?

समाधान—अद्वैत श्रुति और उसके अनुकूल अनुमान आदि। आत्मसाक्षात्कारसे संसारकी निवृत्ति श्रुति कहती है । 'विद्वान्नामरूपाद्विमुक्तः', 'ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्', 'नेह नानास्ति किञ्चन', 'सर्वं तं परादाद् योऽन्यत्रात्मनः पश्येत्', 'मायामेतां तरन्ति ते' (विद्वान् नाम और रूपसे मुक्त होता है । यह सब ब्रह्मरूप है, यहाँ नाना कुछ नहीं है, जो आत्मासे अन्यको देखता है, उसका सब अनादर करते हैं। इस मायाका वे अतिक्रमण करते हैं) इत्यादि श्रुति और भगवद्गीताके वाक्य भी उक्त अर्थमें प्रमाण हैं । ज्ञाननिवर्त्य मिथ्या है । जैसे शुक्तित्वके अज्ञानसे उसमें रजतका आरोप होता है और अधिष्ठान शुक्तिके साक्षात्कारसे रजतकी निवृत्ति होती है; अतएव रजत मिथ्या माना जाता है। एवं आत्माके अज्ञानसे प्रपञ्चका भान होता है और आत्माके ज्ञानसे उसकी निवृत्ति होती है, इसलिए प्रपञ्च आत्मामें शुक्तिरजतके समान कल्पित है ॥ ९० ॥

'सर्पादीनाम्' इत्यादि । जैसे रज्जुमें कल्पित सर्पका रज्जु ही आत्मा है, दूसरा नहीं, वैसे ही मायामय निखिल प्रपञ्चका आत्मा सारभूत उसका अधिष्ठान ही

है, अतः आत्मामें सार्वात्म्य अति स्पष्ट है। इस प्रकार चिद्-वस्तु ही आत्मा है, यही श्रुतियोंसे सुस्थिर किया गया है। श्रुतिमें 'अतः' शब्द हेत्वर्थक है, 'यत्साक्षा-दपरोक्षाद्' इत्यादि श्रुतिमें जो विशेषण कहे गये हैं, उन विशेषणोंसे युक्त आत्मा सर्वत्र प्रत्यक्स्वभाव है। उससे अतिरिक्तका सत्त्व ही नहीं सिद्ध होता है, इसलिए भासमान सब अर्थान्तर तुच्छ ही हैं॥ ९१ ॥

वार्तिकसारके तृतीय अध्यायका चतुर्थ ब्राह्मण समाप्त



पञ्चमं ब्राह्मणम्

पञ्चमब्राह्मणे ब्रह्मबोधसंसिद्धिसाधनम् ।
समुत्पन्ने तत्त्वबोधे मुक्तलक्ष्म च वर्ण्यते ॥ १ ॥
कहोलोषस्तयोः प्रश्ने पौनरुक्त्यं निवर्तयन् ।
जीवात्मपरमात्मानौ भिन्नावित्याह कश्चन ॥ २ ॥

पञ्चम ब्राह्मण

'पञ्चम०' इत्यादि । तीन ब्राह्मणोंसे कर्म आदि प्रयोजकके साथ संसार कहा गया है, चतुर्थ ब्राह्मणसे कूटस्थ बोधस्वरूप प्रत्यगात्माका मुमुक्षुओं द्वारा निश्चय किया गया । सकारण बन्धके नाशक संन्यास सहित तत्त्वज्ञानके उपदेशके लिए पञ्चम ब्राह्मणका आरम्भ है ।

शङ्का—अज्ञानका विनाशक ज्ञान है, अतः ज्ञानका ही निरूपण उचित है । संन्यास प्रकृतमें अनुपयुक्त है, अतः उसके निरूपणकी क्या आवश्यकता है ?

समाधान—मोक्षोपयोगी ब्रह्मज्ञानका साधन संन्यास है, इसलिए उसका निरूपण आवश्यक है । प्रवृत्तिलक्षण योग है और संन्यासलक्षण ज्ञान है । अतः उक्त ज्ञानके उद्देश्यसे संन्यास लेना चाहिए ॥ १ ॥

'कहोलोषस्तयोः' इत्यादि । कहोल और उषस्तके प्रश्नमें पुनरुक्तिका परिहार करनेके लिए कोई कहता है कि जीवात्मा और परमात्मा दोनों भिन्न-भिन्न हैं । उषस्तने जीवात्मा पूछा था, इसलिए उसके प्रति जीवस्वरूपका निर्णय किया और कहोलका प्रश्न परमात्मविषयक था, इसलिए उसके प्रति परमात्माके स्वरूपका निरूपण किया गया है । अतः विभिन्न विषयका निरूपण होनेसे पुनरुक्तिकी शङ्काका अवकाश नहीं है ।

शङ्का—शाखाभेदसे जिस प्रकार पुनरुक्तिका परिहार होता है, वैसे प्रष्टाके भेदसे भी पुनरुक्तिका परिहार हो सकता है। फिर भिन्नविषयक प्रश्न माननेकी क्या आवश्यकता है ?

समाधान—यह कोई लोकप्रसिद्ध कथा नहीं है कि उक्त रीतिसे ही उक्त दोषका परिहार किया जाय, अतः उपायान्तरका अन्वेषण निरर्थक है । श्रुति अपौरुषेय है, उसमें वास्तविक प्रष्टाका भेद विवक्षित नहीं है, किन्तु कल्पित है । कल्पित अकल्पित दोषका निवारक नहीं हो सकता ।

कहोलब्राह्मणोक्तोऽयमापञ्चमसमाप्तितः ।
अशनायादिरहितः परमात्मा प्रपञ्च्यते ॥ ३ ॥
उषस्तब्राह्मणोक्तस्तु जीवात्माऽयं परेण सः ।
षष्ठाध्यायेन सर्वेण प्रपञ्च्यत इति स्थितिः ॥ ४ ॥

शङ्का—भिन्नार्थत्वमें प्रमाण क्या है ?

समाधान—माध्यन्दिन शाखामें उक्त प्रश्नोंके विषयमें भाष्यकारने स्पष्टरूपसे पौर्वापर्यका निर्देश किया है। 'इस विज्ञानात्माका परमात्मामें लय कहना है' इत्यादि ग्रन्थसे एक प्रकरणमें दोनोंका उपन्यास करनेसे प्राकरणिक ऐक्य है, उसमें उषस्तप्रकरणमें वाक्यार्थके अवयव विज्ञानात्माकी निरुक्ति है। कहोल-प्रकरणमें उक्त वाक्यार्थके द्वितीय अवयव परमात्माका निर्वचन है। दोनोंमें समान-देशका उपन्यास होनेसे एककार्यत्व है। वाक्यार्थका प्रथम भाग जीवात्मा और द्वितीय भाग परमात्मा ये दोनों प्रकृत प्रश्नके विषय हैं।

शङ्का—जीव और परके धर्म परस्पर सङ्कीर्ण हैं। सर्वान्तरत्व ब्रह्मधर्म जीवमें बतलाया गया है और अपरोक्षत्व जीवधर्म ब्रह्ममें कहा गया है, इससे यह निर्णय करना कठिन है कि किस प्रश्नका विषय पर है और किस प्रश्नका विषय जीव है ?

समाधान—ठीक है, कहोलप्रकरणमें परमात्माके धर्मरूपसे उक्त सर्वान्तरत्व विज्ञानात्माका धर्म है, अतः उसीका उषस्तप्रश्नगतरूपसे बोध होगा यानी एक प्रकरणमें दोनोंका कथन होनेसे परमात्मामें कहा जानेवाला सर्वान्तरत्व विज्ञानात्मामें सिद्ध होगा, अन्तरतमत्व जीवधर्म है, पर परमात्मामें भी वह कहा गया है, इसलिए पूर्व वाक्यसे परमात्मस्वरूप ही जीव है, उससे अतिरिक्त नहीं है, यह ज्ञात होता है; अतः उक्त धर्म जीवात्मामें भी अनायाससे उपपन्न होता है ॥ २ ॥

'कहोल०' इत्यादि। कहोलके प्रश्नसे विवक्षित जो आत्मा है, वह पञ्चमा-ध्यायकी समाप्तितक ग्रन्थसे विस्तारपूर्वक व्याख्यात अशनायादि संसारधर्मोंसे रहित परमात्मा ही है, परमात्मधर्ममें जो प्रकार है, वही जीवात्मधर्ममें भी है, ज्योति-र्ब्राह्मणमें अशनायादिधर्मरहितत्व तथा स्वयंप्रकाशत्व जीवधर्म कहे गये हैं, वे ही धर्म पञ्चमाध्यायसे ब्रह्ममें कहे गये हैं, इसलिए दोनोंमें वास्तविक अभेद है ॥ ३ ॥

'उषस्त०' इत्यादि। उषस्तप्रश्नके साथ छठे अध्यायकी एकवाक्यता है। उषस्तब्राह्मणमें उक्त जो यह जीवात्मा है, उसका परमात्माके साथ सम्पूर्ण षष्ठाध्यायसे विस्तारपूर्वक व्याख्यान हुआ है; इस प्रकार जीवात्मा और परमात्मा इन दोनोंका

मैवं प्रश्नस्य साम्येन प्रत्युक्तेश्च समत्वतः ।
आत्मद्वयासम्भवाच्च न जीवपरयोर्भिदा ॥ ५ ॥

यहाँ उपन्यास होनेसे पुनरुक्त दोष नहीं हो सकता, यह भर्तृप्रपञ्चका मत है ॥४॥

इसका निराकरण करते हैं—'मैवम्' इत्यादिसे ।

उक्त व्याख्यान समीचीन नहीं है । प्रश्न और 'एष ते' इत्यादि प्रत्युत्तर दोनों समान हैं । 'नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा' इत्यादिसे दो आत्माओंका असंभव हैं । आत्मा वस्तुतः एक ही है; अतः जीवात्मा और परमात्माका भेद ही अप्रसिद्ध है । इसलिए उक्त व्याख्यान असङ्गत है और एक शरीरमें दो आत्माओंका सम्भव भी नहीं है, एक ही आत्माकी प्रतीति 'अहमस्मि' इत्यादिसे होती है और 'नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा' इत्यादि श्रुतिवचन भी एकात्माका ही समर्थक है ।

शङ्का—एक शरीरमें दो भोक्ता नहीं हैं, यह कहना ठीक है, किन्तु एकको भोक्ता और दूसरेको अभोक्ता मानें तो क्या आपत्ति है ? अतएव 'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते तयोरेकः पिप्पलं स्वाद्वत्ति अनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति' (दो सम्बद्ध मित्र पक्षी एक वृक्षके ऊपर विराजते हैं, उनमें से एक स्वादु कर्मफलका उपभोग करता है और दूसरा उसका उपभोग न कर देखता रहता है) इत्यादि श्रुति प्रकृत अर्थमें अनुकूल है, उषस्त एवं कहोलके संघातभेदसे आत्माका भेद भी उचित ही है ।

समाधान—उक्त एकात्मानुभव तथा 'एको देवः सर्वभूतेषु गूढः' इत्यादि श्रुतिविरोधसे वस्तुतः आत्माका भेद नहीं है । 'सर्वदेहा एकात्मकाः, देहत्वात्, प्रतिवादिदेहवत्' यह अनुमान भी प्रकृत अर्थमें प्रमाण है । इस कारणसे भी उक्त दो प्रश्न भिन्नार्थक नहीं हो सकते, अगौण अपरोक्षत्व तथा सर्वान्तरत्व विशेषण भी अनेकात्मवादपक्षमें सङ्गत नहीं हो सकते । आत्मभेद माननेमें महान् दोष यह है कि उपनिषदोंका आरम्भ ही व्यर्थ हो जायगा । ब्रह्मात्मैक्यके बोधके लिए उपनिषदोंका आरम्भ है । यदि आत्मभेद है, तो उपनिषदोंकी क्या आवश्यकता रह जायगी ? जीव ईश्वरका यदि वास्तविक भेद है, तो ज्ञान वस्तुतन्त्र है, इसलिए ऐक्यापरोक्ष ही असंभव है, जीवको ब्रह्मभावाख्य मोक्ष ही नहीं होगा और न अविद्याका नाश ही हो सकेगा । निवर्तकत्वरूपसे विवक्षित ऐक्य-ज्ञान ही दुर्लभ है । अतः व्यर्थ उपनिषदोंका अनारम्भ ही श्रेष्ठ है ।

शङ्का—यदि प्रश्नविषय एक है, तो पुनरुक्ति दोषका परिहार कैसे होगा ?

साक्षादित्यादिकः प्रश्नो द्वयोरेकविधस्तथा ।
प्रत्युक्तिश्चैष इत्यादिस्तत्राऽर्थो भिद्यते कुतः ॥ ६ ॥
एकेनैवाऽऽत्मना देहे सात्मके सति यः पुनः ।
द्वितीय आत्मा किं तेन तस्मादात्मद्वयं नहि ॥ ७ ॥
पृष्टो देहविभेदेन यद्यात्मा भिद्यते तदा ।
सर्वान्तरत्ववचनं द्वयोरपि विरुध्यते ॥ ८ ॥
उषस्तपृष्टादन्यत्वं निवर्तयितुमात्मनः ।
य एव साक्षादित्युक्तावेवकारः प्रयुज्यते ॥ ९ ॥

समाधान—कुछ विशेषान्तरके उद्देश्यसे पृष्टविषयक पुनः प्रश्न प्रकृतमें किया गया है ॥ ५ ॥

'साक्षादि०' इत्यादि । दोनोंमें 'साक्षाद्' इत्यादि विशेषण तथा प्रश्न समान है तथा 'एष त आत्मा' इत्यादि प्रत्युत्तर वाक्य भी समान है, तो फिर अर्थमें भेद कैसे हो सकता है ? ॥ ६ ॥

'एकेनैवा०' इत्यादि । एक ही आत्मासे देह सात्मक होता है, फिर द्वितीय आत्मासे क्या प्रयोजन ? अतः दो आत्मा नहीं हैं ॥ ७ ॥

'पृष्टो देह०' इत्यादि । यद्यपि वार्तिकमें 'पृष्टो देहविभेदेन' ऐसा पाठ है, पर यह पाठ प्रमादसे हुआ है, 'प्रष्ट्रोर्हि देहभेदेन' ऐसा पाठ प्रकृतमें युक्त प्रतीत होता है । प्रष्टा (प्रश्नकर्ता) उषस्त तथा कहोल हैं, इनके शरीरभेदसे आत्मभेदकी आशङ्का है, कारण कि 'अहमस्मि' इत्यादि आत्मानुभव दोनोंमें भिन्न-भिन्न है, यही प्रत्यक्ष आत्मसत्तामें प्रमाण है, इस आक्षेपका उत्तर देते हैं कि आपका तब सर्वान्तरत्व प्रतिपादन असङ्गत है, क्योंकि आत्माको भिन्न माननेपर जब वह प्रतिशरीर व्यावृत्त होता है, तब वह सर्वान्तर कहाँ रहा ॥ ८ ॥

'उपस्त०' इत्यादि । उषस्त और कहोलका प्रश्न भिन्नात्मविषयक है, इस शङ्काकी निवृत्तिके लिए 'यदेव' इत्यादि घटित याज्ञवल्क्यके प्रति कहोलका प्रश्न है । इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि जिस आत्माको उषस्तने पूछा, श्रीयाज्ञवल्क्यजीने उसका उपदेश दिया, उससे कहोलको सन्तोष नहीं हुआ । असन्तोषका कारण आगे स्फुट होगा, इसलिए पुनः उसके निश्चयके लिए कहोलका प्रश्न है । दोनोंका प्रष्टव्य एक ही आत्मा है, भिन्न-भिन्न नहीं ।

उपदेशस्य विषयस्त्वमर्थः शोधितः पुरा ।
न ब्रह्मत्वं सम्यगुक्तमिति पृच्छति तत्पुनः ॥ १० ॥

शङ्का—यदि एक ही आत्मतत्त्व मानते हो, तो दुःखित्व, दुःखातीतत्व आदि विरुद्ध धर्म अद्वय आत्मामें एक समयमें कैसे रहेंगे ?

समाधान—दुःखित्व आदि धर्म आत्मामें अज्ञानसे हैं, वस्तुतः नहीं हैं । दुःखातीतत्व वस्तुतः है । पारमार्थिकका कल्पित धर्मसे विरोध नहीं होता, आकाशमें नीलिमा और उसका अभाव—दोनोंकी प्रतीति होती है । नीलिमा कल्पित है और उसका अभाव पारमार्थिक है, जैसे सूर्यकिरणोंमें वास्तविक प्रकाशकत्व है और उलूक द्वारा कल्पित तिमिरत्व भी है, वैसे ही प्रकृतमें भी समझना चाहिए । वह निरुपाधिरूपसे असंसारी और उपाधिरूपसे संसारी है, ऐसा माननेमें कोई विरोध नहीं है । मृद्घटादि दृष्टान्तमें विकार वाचारम्भणमात्र है, वास्तविक नहीं, अतः विद्यासे अविद्याकी निवृत्ति होनेपर परमार्थतः अद्वैत ही तत्त्व है । अनिर्वचनीय अनादि अविद्यासे जिनका चित्त समाक्रान्त है, उनको अद्वय ब्रह्म द्वयवत् मृषा प्रतीत होता है । वस्तुतः मेघोदकके समान आत्मा एकरस ही है, किन्तु अविद्यायुक्त अन्तःकरण आदिके भेदसे अनेकात्मक प्रतीत होता है । मेघोदक एकरस ही होता है । आम्ल, मधुर आदिसे युक्त आश्रयके भेदसे अनेकरस हो जाता है, वैसे ही प्रकृतमें भी है ॥ ९ ॥

'उपदेशस्य' इत्यादि । उपदेशके विषय त्वमर्थ जीवका परिशोधन पूर्व प्रबन्धसे हो चुका है, किन्तु ब्रह्मात्मत्वका यथावत् उपदेश नहीं हुआ । इसलिए असन्तुष्ट कहोलने फिर प्रश्न किया, उषस्तके प्रश्नके उत्तरसे बुद्ध्यन्तसे अर्थात शरीर, इन्द्रिय, प्राण बुद्धिसे व्यतिरिक्त आत्मा साक्षी है, यह निश्चित हुआ । यही साक्षी त्वमर्थ मुमुक्षु है, यह प्रश्नोत्तरसे परिज्ञात हुआ । अशनाया आदि रहितत्व वस्तुतः साक्षीमें है, यह प्रतिपादन मोहनिवृत्तिके लिए किया गया है, किन्तु प्रश्नके अनुसार उत्तर नहीं हुआ । इस ध्यानसे फिर महर्षिसे कहोलने पूछा—प्रत्यक्षसे आत्मस्वरूपके निर्देशका प्रश्न हुआ और प्रत्यक्षसे उपदेश देनेकी आपने प्रतिज्ञा भी की । परन्तु अभीतक प्रत्यक्षसे आत्मोपदेश नहीं हुआ, अतः प्रश्न समुचित है ।

शङ्का—यदि प्रश्नानुरूप उत्तर नहीं दिया गया, तो उषस्तको ही फिर पूछना चाहिए था, कहोलने क्यों पूछा ?

समाधान—उषस्तकी अपेक्षा कहोल इस विद्यामें अधिक निपुण थे, इसलिए

श्रुतिः—अथ हैनं कहोलः कौषीतकेयः पप्रच्छ याज्ञवल्क्येति होवाच यदेव साक्षादपरोक्षाद् ब्रह्म य आत्मा सर्वान्तरस्तं मे व्याचक्ष्वेत्येष त आत्मा सर्वान्तरः। कतमो याज्ञवल्क्य सर्वान्तरो योऽशनायापिपासे शोकं मोहं जरां मृत्युमत्येति ॥

उनका प्रश्न करना अनुचित नहीं है 'एष त आत्मा····यः प्राणेन प्राणिति' (जो प्राणसे प्राणन क्रिया करता है, वह तुम्हारा आत्मा है) इत्यादि वाक्यसे वस्तुतः पृष्ट अर्थका समीचीन निश्चय नहीं हुआ, अतः उसके निर्धारणके लिए फिर उसी विषयका प्रश्न करना ठीक है ॥ १० ॥

'अथैवं कहोलः कौषीतकेयः' इत्यादि श्रुति। उषस्तके प्रश्नके अनन्तर कहोलने (कहोल यह नाम है, वे कुषीतकके पुत्र थे, इसलिए कौषीतकेयशब्दसे भी कहे जाते हैं।) पूर्ववत् याज्ञवल्क्यका सम्बोधन कर कहा कि जो आत्मा साक्षात् अपरोक्ष सर्वान्तर है, उसको हमसे कहिये; जिसको जानकर विद्वान् बन्धसे मुक्त होता है। श्रीयाज्ञवल्क्यजीने पूर्ववत् उत्तर दिया कि यह अपरोक्ष आपका आत्मा है।

शङ्का—क्या उषस्त और कहोलका प्रश्न एकात्मविषयक है या भिन्नात्मविषयक?

समाधान—दोनोंका प्रश्न समानात्मविषयक है, क्योंकि समान उत्तरवाक्यसे यही प्रतीत होता है।

यहाँ भर्तृप्रपञ्चका व्याख्यान है कि भिन्नात्मविषयक दोनों प्रश्न हैं, यदि ऐसा न माना जाय, तो प्रश्नमें पुनरुक्त दोष होगा। तात्पर्य यह है कि यदि एक ही आत्माके विषयमें दोनोंका प्रश्न होता, तो एक ही प्रश्नसे गतार्थ हो जाता, फिर द्वितीय प्रश्न निरर्थक ही है।

शङ्का—द्वितीय प्रश्न अर्थवाद है।

समाधान—दोनों वाक्य समानलक्षण हैं, विशेषान्तरके बिना केवल अनुवाद निष्प्रयोजन है, अतः भिन्न-भिन्न दो आत्मा हैं,—एक क्षेत्रज्ञ और दूसरा परमात्मा, यह उक्त आचार्यका अभिप्राय है।

परन्तु उक्त आचार्यका व्याख्यान ठीक नहीं है, क्योंकि प्रतिवचनसे—'एष ते' इत्यादिसे—पूर्व पृष्ट और व्याख्यात आत्माकी ही प्रत्यभिज्ञा है। शरीर, इन्द्रिय आदि संघातमें दो आत्माओंका संभव भी नहीं है, क्योंकि एक कार्यकरणसङ्घात एक ही आत्मासे आत्मवान् है। और उषस्तका अन्य आत्मा और कहोलका अन्य

आत्मा यों भिन्नजातीय आत्मा भी नहीं हो सकता। अन्यथा दोनोंमें अगौणत्व, आत्मत्व और सर्वान्तरत्वकी उपपत्ति नहीं हो सकेगी। यदि दोनोंमें एक अगौण ब्रह्म है, तो दूसरा गौण नियमसे होगा एवं आत्मत्व और सर्वान्तरत्वको भी समझना चाहिए, क्योंकि दोनों पदार्थ परस्पर विरुद्ध हैं। यदि एक सर्वान्तर अतएव ब्रह्मस्वरूप मुख्य आत्मा है, तो दूसरा असर्वान्तर, अनात्मा तथा अमुख्य अवश्य होगा। अतः एक ही आत्माका दो बार श्रवण धर्मान्तरकी विवक्षासे है, ऐसा मानना चाहिए।

जो यह कहा कि पूर्व प्रश्नके समान ही द्वितीय प्रश्न है, उसपर हमारा कहना है कि उस अंशमें अवश्य अनुवाद है, परन्तु विशेषबोधनके लिए अनुवाद आवश्यक है।

शङ्का—विशेष क्या है ?

समाधान—कहते हैं, सुनिए; पूर्व प्रश्नमें शरीर आदिसे व्यतिरिक्त आत्मा है, जिसमें सप्रयोजक बन्ध कहा गया है और द्वितीय प्रश्नमें उसी आत्मामें अशनाया आदि संसारधर्मातीतत्वरूप विशेष कहते हैं, जिस संन्याससहित विशेषज्ञानसे पूर्वोक्त बन्धनसे पुरुष मुक्त होता है। अतः प्रश्न और उत्तरमें 'एष त आत्मा' इत्यादि तुल्यार्थ ही है।

शङ्का—एक ही आत्मामें अशनायावत्त्व और तद्रहितत्व—ये विरुद्ध दो धर्म कैसे रह सकते हैं ?

समाधान—इसका तो अनेक बार परिहार कर चुके हैं। नाम-रूप विकार कार्यकरणसंघातरूप उपाधिके संसर्गसे जनित भ्रान्तिरूप ही संसारित्व है, यह बार बार कहा जा चुका है।

शङ्का—कब ?

समाधान—विरुद्ध श्रुतियोंके व्याख्यानके समय जैसे रज्जु, शुक्ति और गगन आदि आरोपित धर्मविशिष्ट होकर सर्प, रजत और मलिन दीख पड़ते हैं, परन्तु स्वतः रज्जु, शुक्ति और गगन शुद्ध ही हैं, अतः इस प्रकार एकमें विरुद्ध धर्म माननेमें कोई विरोध नहीं। विरोध समसत्ताक भावाभाव या उनके व्याप्योंमें होता है, भिन्नसत्ताकमें नहीं। निरुपाधिकरूपसे असंसारित्व और उपाधिरूपसे संसारित्व एक ही आत्मामें रह सकते हैं। इनमें कोई विरोध नहीं है।

शङ्का—अच्छा, तो यह बतलाइये कि उपाधियोंकी सत्ता आप मानते हैं,

या नहीं। यदि मानते हैं, तो अद्वय श्रुतिके साथ विरोध होगा। यदि नहीं मानते हैं, तो उपाधिके भेदसे संसारित्व कहना असङ्गत है। उपाधिके रहनेपर ही उपधायक हो सकता है। क्योंकि अत्यन्त असत् आकाशपुष्प आदि किसीका व्यवधायक नहीं कहा जा सकता।

समाधान—जलसे अतिरिक्त फेन, बुद्बुद् आदि मृत्तिकासे अतिरिक्त घट, शराव आदि विकार नहीं हैं, किन्तु कार्यकारणसङ्घात, अविद्यासमुत्थ होनेसे, तन्मात्र ही है, अविद्याकी निवृत्ति विद्यासे होती है, इसलिए अविद्यानिवृत्तिसे पहले रजत आदिके समान प्रतीति होनेपर भी उसकी निवृत्तिके बाद कुछ भी नहीं रहता। जिस समय श्रुत्यनुसारिणी परमार्थ दृष्टिसे अन्यत्वरूपसे विचार करनेपर मृदादिविकार जैसे मृत्तिकासे अन्य नहीं हैं, वैसे ही मायाविकार उससे अन्य नहीं हैं, इस विचारसे नामरूप वस्तुतः नहीं है, यह निश्चय होता है। तत्र 'एकमेवाऽद्वितीयम्', 'नेह नानास्ति किञ्चन' इत्यादि श्रुतियोंसे परमार्थ तत्त्वकी प्रतिपत्ति होती है, जिस समय स्वाभाविक अविद्यासे ब्रह्मस्वरूप रज्जु, शुक्ति तथा गगनके समान अपने स्वरूपसे विद्यमान तथा किसी वस्तुस्वभावसे सर्वथा अस्पृष्टस्वभाव होनेपर भी नामरूप-प्रयुक्त शरीर, इन्द्रिय आदि उपाधियोंसे विवेकबुद्धिसे निश्चित नहीं होता, प्रत्युत नाम, रूप आदि दृष्टि ही होती है, उस समय वस्त्वन्तरके अस्तित्वका व्यवहार होता है, यह भेदकृत मिथ्या व्यवहार है, किसीकी दृष्टिमें ब्रह्मतत्त्वसे अतिरिक्त वस्तु है और किसीकी दृष्टिमें नहीं। परमार्थवादी विद्वान् श्रुतिके अनुसार वस्तु-तत्त्वका जब विचार करते हैं कि वस्तुतत्त्व है या नहीं, तब यही निश्चय कर पाते हैं कि अद्वितीय एक ब्रह्म ही सम्पूर्ण व्यवहारोंसे शून्य है, इस प्रकार अधिकारीके भेदसे दोनों व्यवहार होते हैं, इनमें कुछ विरोध नहीं है। व्यवहार दृष्टिके आश्रयणसे भेदकृत मिथ्याव्यवहार और तत्त्वदृष्टिसे अनात्माभावविषयक शास्त्रीय व्यवहार होता है, इस प्रकार उभयविध व्यवहार सिद्ध होता है। परमार्थ अवधारणदशामें अन्य वस्तुका अस्तित्व नहीं मानते, क्योंकि 'एकमेवाद्वितीयम्', 'अनन्तरमबाह्यम्' इत्यादि श्रुतिके अनुसार अद्वितीय ब्रह्म ही केवल है, दूसरा नहीं, और संसारदशामें अविवेकियोंको क्रियाकारकफल आदिका जो व्यवहार होता है, वह नहीं है, ऐसा नहीं कहते, जिससे विरोध हो, ज्ञान और अज्ञानकी अपेक्षासे सब शास्त्रीय और लौकिक व्यवहार होता है। अज्ञानसे लौकिक और ज्ञानसे शास्त्रीय यह विभाग है। इस प्रकार प्रकृतमें कोई विरोधकी भी शङ्का नहीं है,

यह व्यवस्थाप्रकार केवल हमारा ही नहीं है, किन्तु सब वादियोंका यही प्रकार है। ऐसी परिस्थितिमें आत्मतत्त्वस्वरूपकी अपेक्षासे ही (जिज्ञासासे ही) फिर कहोलका 'कतमो याज्ञवल्क्य सर्वान्तरः' (हे याज्ञवल्क्य सर्वान्तर आत्मा कौन है ?) यह प्रश्न हुआ है। उक्त ऋषिका उत्तर है—'अशनायापिपासे' इत्यादि। भोजनकी इच्छाको अशनाया और पीनेकी इच्छाको पिपासा कहते हैं। जो इन दोनोंका अतिक्रमण करता है, [इसका आगेके साथ सम्बन्ध है।] जैसे अविवेकियोंको तल-मलसे युक्त-सा प्रतीयमान आकाश तलमलका अतिक्रम हो करता है अर्थात् उनसे रहित है, क्योंकि वास्तवमें उस स्वभावका आकाशमें स्पर्श ही नहीं है; वैसे ही मूढ़बुद्धियोंको ब्रह्म अशनाया और पिपासासे युक्त प्रतीयमान होता है, अतएव 'हम भूखे हैं, प्यासे हैं' ऐसा कहते हैं, परन्तु अशनाया, पिपासा आदिसे आत्माका कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। आत्माका स्वभाव ही उससे असंसृष्ट है। इस अर्थको श्रुति भी दृढ़ करती है—'न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्यः' इत्यादि। अविद्वान् पुरुषके द्वारा आरोपित दुःख यहाँ लोकदुःखशब्दसे विवक्षित है। समस्त अशनाया और पिपासाके उपादानका अभिप्राय प्राणके ये दोनों धर्म हैं, ऐसा बोधन करनेमें है। 'शोकं मोहम्' इत्यादि। इष्ट वस्तुके उद्देश्यसे जो चिन्ता मनमें होती है, उसकी हेतु जो अरति है, वही तृष्णाभिभूत पुरुषके कामकी बीज है, उसीसे काम दीप्त होता है। मोह विपरीतज्ञानजन्य अविवेक है, उसीको भ्रम भी कहते हैं, यही अविद्यास्वरूप है तथा सब अनर्थोंका उत्पादक (बीज) है। शोक, मोह ये दोनों भिन्न कारणसे होते हैं, इसलिए असमस्त पदसे कहे गये हैं। ये दोनों मनके धर्म हैं। जरा और मृत्यु ये दोनों शरीरके धर्म हैं। शरीर और इन्द्रियका परिणाम-विशेष श्वेतकेशादिलिङ्गक जरा है, शरीरके परिणामके विच्छेदको—समाप्तिको—मृत्यु कहते हैं। शरीरमें रहनेवाली जरा और मृत्युका आत्मा अविषय है। जो ये अशनाया आदि प्राण, मन एवं शरीर आदिमें रहनेवाले धर्म हैं, वे ही प्राणियोंमें, सतत वर्तमान अहोरात्र (दिन, रात) के समान तथा समुद्रतरङ्गके समान, संसार हैं और जो दृष्टिका द्रष्टा साक्षाद् अव्यवहित अपरोक्ष अगौण सर्वान्तर आत्मा ब्रह्मासे लेकर स्तम्बपर्यन्त भूतोंके अशनाया, पिपासा आदि संसारधर्मसे, मेघमलसे आकाशके समान, सदा असंबद्ध है; उस आत्माको अपना तत्त्व मानकर यानी 'मैं परम ब्रह्म हूँ, सदा संसारसे मुक्त तथा नित्यतृप्त हूँ' ऐसा समझ कर ब्राह्मण ऐषणात्रयसे (पुत्रकी अभिलाषा, धनकी अभिलाषा और कीर्तिकी

अभिलाषासे) विमुख होकर संन्यासका ग्रहण करते हैं।

शङ्का—संन्यासविधायक वाक्यमें विशेषरूपसे ब्राह्मणका निर्देश क्यों किया गया है?

समाधान—संन्यासमें ब्राह्मणका ही अधिकार है, दूसरेका नहीं। इसीलिए ब्राह्मणपदका उपादान है।

शङ्का—किससे व्युत्थान विवक्षित है?

समाधान—पुत्रैषणा आदिसे। पुत्रार्थ एषणा (इच्छा) पुत्रैषणा है यानी पुत्रसे इस लोकका जय करें, यह इच्छा पुत्रैषणा है अर्थात् पुत्रेच्छाप्रयुक्त दारसंग्रह आदि। दाराका (स्त्रीका) असंग्रह व्युत्थान है। वित्तैषणा यानी कर्मसाधन गवादिका ग्रहण। अर्थात् इससे कर्म करके पितृलोकका जय करें, ऐसी इच्छा या विद्यासंयुक्त कर्मसे या केवल विद्यासे देवलोकका जय करें, ऐसी इच्छा वित्तैषणा है। वित्त दो प्रकारका है—मानुष और दैव। गाय आदि मानुष वित्त है, यह भी कर्मका साधन है, इसका उपार्जन कर, उससे कर्म कर केवल कर्मसेपितृलोकका जय होता है। दैववित्त विद्या है, उससे संयुक्त कर्मसे देवलोक प्राप्त होता है और केवल विद्यासे भी उक्त लोकका जय होता है। यहाँ विद्या—हिरण्यगर्भ आदि देवताविषयक विद्या—विवक्षित है, वह देवलोक-प्राप्तिकी हेतु है। 'तस्मात् सर्वमभवत्' (उससे सब उत्पन्न हुआ) यह श्रुति उक्त अर्थमें प्रमाण है।

शङ्का—विद्याशब्दसे हिरण्यगर्भ देवता आदिविषयक विद्या ही वित्तरूपसे विवक्षित है, ब्रह्मविद्या क्यों नहीं?

समाधान—देवलोकप्राप्तिकी हेतु ब्रह्मविद्या नहीं है, क्योंकि निरुपाधि ब्रह्मज्ञानसे तो 'तस्मात्तत्सर्वमभवत्', 'आत्मा ह्येषां स भवति' इत्यादि श्रुतियोंसे सर्वात्मक ब्रह्मस्वरूप मोक्षको ही सब फल मानते हैं। किसीका मत है कि दैववित्त विद्यासे किसीका व्युत्थान ही नहीं होता, कारण कि विद्या सर्वथा उपादेय है, सो ठीक नहीं है, कारण कि 'एतावान्वै कामः' यह वाक्य एषणात्रयके आगे पढ़ा है। एषणात्रयका त्याग कर्तव्यत्वरूपसे विहित है। यदि विद्यावित्तका त्याग न हो, तो एषणात्रयके अन्तर्गत दैववित्तका निर्देश ही असंगत हो जायगा और देवलोकप्राप्तिके सब साधनोंका त्याग होनेपर ही ज्ञानसाधन वैराग्य प्राप्त होता है। वैराग्यके बिना मोक्षमार्गमें अधिकार ही नहीं है, अतः अनात्मलोककी प्राप्तिके साधन इन तीनों एषणाओंसे विरत होकर संन्यासका ग्रहण प्रकृतमें विवक्षित है। संपूर्ण साधनेच्छा फलेच्छा ही है, क्योंकि फलेच्छाके बिना साधनेच्छा होती ही नहीं। इस तात्पर्यसे एक ही इच्छाको श्रुति कहती है।

शङ्का—कैसे ?

समाधान—जो पुत्रैषणा है, वही वित्तैषणा है, क्योंकि दृष्टफलसाधनत्वरूप धर्म दोनोंमें समान है एवं जो वित्तैषणा है, वही लोकैषणा है, क्योंकि वह भी फलार्थ ही होती है, यह लोकमें प्रसिद्ध है। सम्पूर्ण प्राणी फलके लिए ही पुनः पुनः सब साधनोंका अनुष्ठान करते हैं; अतः वस्तुतः एक ही एषणा, जो लोकैषणा है, उसका साधनके बिना अनुष्ठान नहीं कर सकते। साध्यसाधनके भेदसे ही ये दोनों एषणाएँ होती हैं, अतः ब्रह्मवेत्ताके लिए न कर्म है और न कर्मसाधन ही है, 'किं प्रजया करिष्यामि' (प्रजासे क्या करूंगा) इत्यादि वचनोंसे जो कर्मफलसे परे हैं, उनके लिए कर्म और उसके साधन देव, पितृ और मानुषके निमित्त सब यज्ञोपवीत आदि नहीं हैं।

शङ्का—यज्ञोपवीत आदि कर्मके साधन हैं, इसमें क्या प्रमाण ?

समाधान—'निवीतं मनुष्याणाम् ।', 'यज्ञोपवीतिना भाव्यं सदा बद्धशिखेन च' (मनुष्योंके लिए निवीत यानी यज्ञोपवीतको कण्ठमें करना, सदा उपवीतसे युक्त होना चाहिए और सदा शिखाको बद्ध रखना चाहिए) इत्यादि श्रुति और स्मृतियोंसे यज्ञोपवीतादि कर्मके निमित्त हैं, यह स्फुट है। अतः पहले ब्रह्मवेत्ता ब्राह्मण कर्मसे विरत होकर भिक्षाचर्य्य करते हैं। श्रौत एवं स्मार्त कर्मके लिङ्ग यज्ञोपवीत आदिका त्यागकर शरीरयात्राके लिए भिक्षाचरण करते हैं। 'विद्वान् लिङ्गविवर्जितः' (विद्वान् चिह्नोंसे रहित है), 'तस्मादलिङ्गो धर्मज्ञोऽव्यक्तलिङ्गोऽव्यक्ताचारः' (इससे उपवीत आदि लिङ्गसे रहित, धर्मज्ञ, स्पष्टलिङ्गसे रहित, तथा अव्यक्त आचारसे युक्त यानी लोगों द्वारा न देखे जानेवाले आचारसे युक्त) इत्यादि स्मृतियोंसे भी उक्त अर्थकी पुष्टि होती है। 'अथ परिव्राड् विवर्णवासा ऽमुण्डोऽपरिग्रहः संन्यासी' (संन्यासी गेरुए वस्त्रसे युक्त, मुण्डित तथा परिग्रहसे रहित होवे) इत्यादि श्रुतियां भी उक्त अर्थको स्पष्ट करती हैं। इससे संन्यासी शिखा सहित केशोंका त्याग करे और यज्ञोपवीतका भी त्याग करे, यह निष्कर्ष निकला।

शङ्का—'व्युत्थाय' इत्यादि वाक्यके 'चरन्ति' इस पदमें वर्तमानार्थक लट् प्रत्ययके देखनेसे यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि यह अर्थवाद है, विधायक नहीं है, अन्यथा विधिबोधक लिङ् आदि पदसे घटित होता। लिङ्, लोट्, तव्य और तव्यत्—ये ही विधायक माने जाते हैं। केवल अर्थवादवाक्यके आधार पर श्रुति और स्मृतिसे विहित यज्ञोपवीत आदि और फलसाधन कर्मादिका त्याग नहीं करा सकते। अपिच इसके प्रतिकूल 'यज्ञोपवीत्येवाधीयीत' (यज्ञोपवीती ही अध्ययन करे,

यज्ञ करावे और करे) ऐसी श्रुति है। संन्यासमें भी अध्ययनकी विधि है—

'वेदसंन्यसनाच्छूद्रस्तस्माद्वेदं न संन्यसेत्' (वेदका त्याग करनेसे शूद्र हो जाता है, इससे वेदका परित्याग न करे), यह अर्थ है। 'स्वाध्याय एवोत्सृज्यमानो वाचम्' यह आपस्तम्बमें है। स्वाध्यायके समय ही वाग्का विसर्जन करे, कालान्तरमें मौनी रहे। यह उक्त वचनका अर्थ है।

तथा—'ब्रह्मोज्झं वेदनिन्दा च कौटसाक्ष्यं सुहृद्वधः।
गर्हितान्नाद्ययोर्जग्धिः सुरापानसमानि षट्॥'

(वेदनिषिद्धका आचरण, वेदकी निन्दा, झूठी साक्षी, मित्रवध तथा गर्हित अन्नका भक्षण—ये छः सुरापानके समान महापातक हैं) इन वचनोंसे वेदके त्यागमें दोष स्पष्टतया प्रतीत होता है। एवं गुरु, अतिथि और वृद्धोंकी उपासनामें तथा होम, जप, कर्म, भोजन, आचमन और स्वाध्यायमें यज्ञोपवीती हो, इस प्रकार संन्यासधर्ममें भी गुरुकी उपासना, स्वाध्याय, भोजन, आचमन आदि कर्म भी श्रुति और स्मृतियोंसे विहित हैं, अतः गुरु आदिकी उपासनाके अङ्ग यज्ञोपवीत आदिका परित्याग सर्वथा अनुचित है। यद्यपि एषणाओंसे व्युत्थानकी विधि अवश्य है, तथापि पुत्रादि एषणात्रयसे ही व्युत्थान इष्ट है, सब कर्म या उनके साधनोंसे भी व्युत्थान इष्ट नहीं है, सबका त्याग करनेसे अश्रुतका विधान और श्रुतका त्याग हो जायगा, ऐसा होनेपर यानी विहितके न करनेसे और प्रतिषिद्धके आचरणसे बड़ा अपराध होगा, अतः यज्ञोपवीत आदि लिङ्गोंका त्याग करना केवल अन्धपरम्परा है यानी प्रमाणशून्य केवल देखादेखी है।

समाधान—यज्ञोपवीतं वेदांश्च सर्वं तद्वर्जयेद्यतिः' (यज्ञोपवीत, वेद और सम्पूर्ण कर्मोंका विद्वान् त्याग करे) इस वाक्यसे वेद और यज्ञोपवीतका त्याग संन्यासियोंके प्रति कहा गया है। और भी सुनिये, सब उपनिषद् आत्मज्ञानपरक हैं। 'आत्मा-द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यः' यह प्रस्तुत है और वह आत्मा ही साक्षाद् अपरोक्ष, सर्वान्तर तथा अशनाया आदि सकल संसारधर्मोंसे रहित ज्ञेयत्वरूपसे कहा गया है, यह प्रसिद्ध है। संपूर्ण उपनिषत् ऐसे आत्माके बोधनके लिए ही प्रवृत्त हुई हैं, अतः वे अन्य विधिके शेष नहीं हैं, अतएव अर्थवाद भी नहीं हैं, क्योंकि आत्मज्ञान कर्तव्य है। आत्मा अशनायादि धर्मवान् नहीं है, अतः उसे साधन एवं फलसे विलक्षण समझना चाहिए। उक्त स्वरूपसे विपरीत आत्माका ज्ञान ही अविद्या है। 'अन्योऽसौ अन्योऽहमस्मीति' (वह दूसरा है

में दूसरा हूँ, ऐसा जो जानता है, वह नहीं जानता है), 'मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति' (मृत्युसे मृत्युको पाता है जो अनेक-सा देखता है), 'एकधैवानुद्रष्टव्यम्' (एक ही प्रकारके आत्माको देखना चाहिए), 'एकमेवाद्वितीयम्' यानी एक ही अद्वितीय (द्वितीयशून्य) ब्रह्म है, 'तत्त्वमसि' (वह ब्रह्म तुम्हीं—जीवात्मा—हो) इन श्रुतियोंसे स्पष्ट समझा जाता है कि उपनिषद् आत्मज्ञानपरक हैं, अन्य विधिपरक नहीं हैं। संसारधर्मशून्य आत्मासे अतिरिक्त क्रिया, फल तथा उसके साधन ये सब अविद्याके विषय हैं। 'यत्र हि द्वैतमिव भवति', 'अन्योऽसौ अन्योऽहमस्मीति न स वेद', 'अथ ये अन्यथाऽतो विदुः' इत्यादि सैकड़ों वाक्योंसे उक्त अर्थ सिद्ध होता है। एक पुरुषमें तमःप्रकाशके समान परस्पर विरुद्ध विद्याके साथ अविद्या नहीं रह सकती, अतः आत्मज्ञका अविद्याविषयक अधिकार नहीं समझना चाहिए। आत्मज्ञका विषय अभेद है और अविद्वान्का विषय क्रिया, फल, साधन आदि भेद है। 'मृत्योः स मृत्युमाप्नोति' इत्यादि वाक्योंसे भेदकी निन्दा की गई है। निन्दा त्यागके लिए की जाती है, यह अनेक बार कह चुके हैं। क्रिया, साधन, फल आदि जो अविद्याके विषय हैं, उन सबका उससे विपरीत आत्म-विद्यासे त्याग करना इष्ट है। यज्ञोपवीत आदि कर्मके साधन अविद्याके विषय हैं, अतः साधन-फलस्वभावरहित आत्मासे विलक्षण अन्यविषयक एषणा है ये दोनों—साधन और फल—एषणा ही हैं। यज्ञोपवीतादि और उनसे साध्य कर्म ये सब साधन ही हैं, फलितार्थ यह हुआ कि यज्ञोपवीत आदि साधनोंसे और उनसे साध्य कर्मोंसे (जो कि अविद्याके विषय हैं तथा एषणारूप और हेय हैं) व्युत्थान विधित्सित ही है।

शङ्का—उपनिषद् आत्मज्ञानविधिपरक है; अतः व्युत्थानश्रुति उसकी स्तुतिके लिए है, उसकी विधायक नहीं है, ऐसा क्यों नहीं मानते ?

समाधान—'व्युत्थाय भिक्षाचर्यं चरन्ति' इस वाक्यमें ज्ञान और व्युत्थानमें (संन्यासमें) समानकर्तृकत्वका श्रवण है। कर्तव्यका अकर्तव्यके साथ वेदमें कहीं श्रवण नहीं है। किन्तु जैसे 'अभिषुत्य हुत्वा भक्षयन्ति' (सोमलताको कूट, कर निचोड़ कर, होम कर उसका भक्षण करना चाहिए) इत्यादिमें कर्तव्यके साथ समानकर्तृकत्वका श्रवण होता है, वैसे ही आत्मज्ञान, एषणाव्युत्थान और भिक्षाचरणरूप कर्मोंमें ही समानकर्तृकत्वका श्रवण होगा।

शङ्का—यज्ञोपवीतादिका, अविद्या और एषणाके विषय होनेसे, त्याग

आर्थिक (अर्थतः) प्राप्त है, अतः विधिविषय केवल आत्मज्ञान ही है, ऐसा क्यों नहीं मानते, परित्यागमें भी विधि है, ऐसा माननेकी क्यां आवश्यकता है ?

समाधान—यज्ञोपवीत आदिके त्यागमें, विवक्षित आत्मज्ञानके साथ समान-कर्तृकत्वका श्रवण होनेसे, आवश्यकत्वकी 'सिद्धिके लिए उसका भी विधान किया गया है, यही न्याय भिक्षाचरणमें भी समझना चाहिए। विधि-वाक्यके साथ एकवाक्यत्वरूपसे विहित भिक्षाचरणमें दार्ढ्यकी उपपत्ति होती है, अर्थात् ज्ञानके लिए संन्यास आवश्यक है। जो यह कहा था कि 'चरन्ति' इस वाक्यमें वर्तमानार्थक लट् है, इसलिए विधि नहीं है, सो भी ठीक नहीं है, कारण कि 'औदुम्बरो यूपो भवति' इत्यादिमें लेट्लकार मान कर जैसे विधि मानी जाती है, वैसे ही यहाँपर भी लेट्लकार मानकर विधिकी उपपत्ति हो सकती है।

शङ्का—'व्युत्थाय भिक्षाचर्यं चरन्ति' इस वाक्यसे संन्यासका विधान है, यह ठीक है, परन्तु उक्त आश्रममें श्रुति और स्मृतियोंसे यज्ञोपवीत आदि लिङ्गका विधान है, इसलिए उससे अतिरिक्त विषयोंका ही व्युत्थान (त्याग) विवक्षित है, अतः यज्ञोपवीतादिका धारण आवश्यक है।

समाधान—ऐसा नहीं। विज्ञानसमानकर्तृक पारिव्राज्य है, इसमें एषणा-त्रयका त्याग है, उक्त रीतिसे यज्ञोपवीत आदि एषणात्रयमें आ गये हैं। यदि उससे अतिरिक्तका एषणात्रयमें निवेश कीजियेगा, तो यह उक्त संन्याससे अतिरिक्त संन्यास हो जायगा। जो एषणात्रयसे व्युत्थानलक्षण संन्यास है, वह आत्मज्ञानका अङ्ग है, कारण कि वह आत्मज्ञानके विरोधी एषणात्रयपरित्याग-स्वरूप है और एषणा अविद्याविषय है। उक्त मुख्य संन्याससे अतिरिक्त एक दूसरा आश्रम है जो ब्रह्मलोक आदि फलका साधन है, जिसमें यज्ञोपवीत आदि साधनोंका विधान है। 'पुराणे यज्ञोपवीते विसृज्य नवमुपादायाऽऽश्रमं प्रविशेत्', 'त्रिदण्डी कमण्डलुमान्' (पुराने उपवीतका त्याग कर नवीन उपवीतका धारण कर आश्रममें प्रवेश करे। त्रिदण्ड और कमण्डलुको धारण करे) इत्यादि श्रुति-स्मृतियोंसे स्फुट है। एषणारूप साधनका उपादान जिस आश्रमान्तरमें विहित है, उसके संन्यासवत्त्वमात्र धर्मको लेकर आत्मज्ञानाङ्ग संन्यासमें भी यज्ञोपवीत आदि लिङ्गका त्याग नहीं करना चाहिए, यह कहना समुचित नहीं है, कारण कि एषणारूप यज्ञोपवीत आदि साधनोंका उपादान संन्यासाभासका धर्म है, संन्यासका नहीं। यदि मुख्य संन्यासमें भी यज्ञोपवीत आदिका धारण मानियेगा, तो

मुख्य संन्यासका बाध हो जायगा। मुख्यका बाध सर्वथा अयुक्त है, इसलिए यज्ञोपवीत आदिका धारण एवं निषेधकी बोधक श्रुतियाँ और स्मृतियाँ मुख्यगौण-संन्यासाश्रमभेदसे व्यवस्थित हैं। अविद्याविषय यज्ञोपवीत आदि एषणारूप साधनके ग्रहणकी इच्छासे असाधनफलस्वरूप तथा अशनाया आदि संसारधर्मोंसे रहित 'अहं ब्रह्मास्मि' (मैं ब्रह्म हूँ) इत्यादि विज्ञानका अवश्य बाध हो जायगा। यह बाध समुचित नहीं है, क्योंकि सब उपनिषदोंका इसीमें तात्पर्य है, यह बार-बार सिद्ध कर चुके हैं।

शङ्का—'भिक्षाचर्यं चरन्ति' इस श्रुतिसे भिक्षाचरण विहित है। विहितका अनुष्ठान यज्ञोपवीत आदिके बिना नहीं हो सकता, इसलिए यज्ञोपवीत आदिका भी विधान करती हुई वह श्रुति ही स्वयं उक्त ज्ञानका बाध करती है।

समाधान—भिक्षाचरण यज्ञोपवीत आदिका आक्षेपक नहीं है। जैसे 'हुत्वा भक्षयेत्' इस वाक्यसे हवनके उत्तरकालमें हुतशेषके भक्षणका विधान है, किन्तु वह प्रतिपत्ति कर्म है, भक्षण द्रव्यान्तरका आक्षेपक नहीं होता, वैसे ही प्रकृतमें सर्वस्व-त्यागके अनन्तर शरीरपातपर्यन्त शरीरयात्राके लिए ही भिक्षाचरण है, वह यज्ञो-पवीत आदिका आक्षेपक नहीं है। जिससे द्रव्य, देवता आदिका संस्कार होता है, वह आक्षेपक होता है। हुतशेषका भक्षण पुरुषसंस्कारक हो सकता है, पर भिक्षा-चरण तो वैसा भी नहीं है, केवल शरीरस्थितिके लिए ही कहा गया है।

शङ्का—'एककालं चरेद्भैक्षम्' इत्यादि वचन नियमविधि है। शरीररक्षणार्थ भोजन अनियतरूपसे प्राप्त होता है, इसलिए एककालमें भोजनका विधान उक्त वाक्य करता है, इससे नियमादृष्टकी सिद्धि जैसे होती है, वैसे ही यज्ञोपवीत आदिका भी आक्षेपक उक्त वाक्य होगा?

समाधान—ब्रह्मवेत्ताके लिए नियमादृष्ट भी ईप्सित नहीं है।

शङ्का—यदि नियमादृष्ट ईप्सित नहीं है, तो उक्त वचनका क्या प्रयोजन है?

समाधान—जिस किसी उपस्थित अन्नसे शरीरकी स्थिति हो सकती है। फिर भी अन्नप्राप्तिका प्रतिग्रह आदि भी उपाय है, उसकी व्यावृत्तिके लिए भिक्षाचरण उपाय बतलाया गया है।

शङ्का—प्रकारान्तरकी निवृत्तिके बोधनसे वाक्य अर्थवान् हो सकता है, फिर भी उसका उपदेश सार्थक नहीं हो सकता, क्योंकि आत्मा कूटस्थ तथा निष्क्रिय है, अतः इस आत्मज्ञानसे ही निवृत्ति सिद्ध है, पुनः उसका उपदेश व्यर्थ है।

समाधान—यदि निष्क्रिय आत्माके उपदेशसे निवृत्ति हो जाय, तो वाक्यको निरर्थक मानना इष्ट ही है । परन्तु कदाचित् क्षुधा आदि दोषोंकी प्रबलतासे आत्मा निष्क्रिय है, यह ज्ञान विस्मृत हो जाय और अन्नप्राप्तिके लिए उपायान्तरमें प्रवृत्ति हो, तो उसकी निवृत्तिके लिए उक्त वचन आवश्यक है ।

शङ्का—पूर्वोक्त वाक्यसे विरोध होनेसे निवृत्तिका उपदेश अशक्य है । जो संन्यासाश्रममें भी कर्मविधायक वचन हैं, जैसे 'यज्ञोपवीत्येवाधीयीत' इत्यादि, उन वचनोंके रहते सब कर्मोंसे और उसके साधन यज्ञोपवीतधारण आदिसे निवृत्ति कैसे होगी ?

समाधान—ये सब अविद्वत्-संन्यासविषयक हैं, यह पूर्वमें कह चुके हैं, उनके लिए सब कर्मोंका परित्याग नहीं है । यदि उत्तमाश्रमके लिए भी ये वचन विधायक माने जायँ, तो उक्त ज्ञानविरोध स्पष्ट ही है ।

निराशिषमनारम्भं निर्नमस्कारमस्तुतिम् ।
अक्षीणं क्षीणकर्माणं तं देवा ब्राह्मणं विदुः ॥

(किसी प्रकारकी अभिलाषासे रहित, शुभाशुभ कर्मानुष्ठानसे शून्य, नमस्कार-रहित, स्तुतिरहित, कभी क्षीण न होनेवाला तथा सम्पूर्ण कर्मफलाभिलाषासे रहित जो पुरुष है, उसे देवता ब्रह्मज्ञानी जानते हैं)

उक्त वचनसे विद्वान्‌में सब कर्मोंके अभावका बोधन स्पष्ट है एवं 'विद्वान् लिङ्गविवर्जितः', 'तस्मादलिङ्गो धर्मज्ञः' इत्यादि वाक्य भी इस अर्थके पोषक हैं । अतः व्युत्थानलक्षण पारमहंस पारिव्राज्य ही (सब कर्म तथा उनके साधनका परित्यागरूप संन्यास) ही आत्मवेत्ताको उपादेय है, कारण कि पुराने ब्राह्मणोंने इस आत्माको असाधनफलस्वभाव जानकर सब साधन-फलस्वरूप एषणालक्षणसे विमुख होकर दृष्टफलक और अदृष्टफलक कर्म और उसके साधनका त्याग कर भिक्षाचरण किया था । अतः इस समयमें भी ब्रह्मवेत्ताको निरवशेष आत्मविज्ञानस्वरूप पाण्डित्यको सम्पूर्णतः जानकर आचार्य्य और आगमोंसे एषणाओंसे पराङ्मुख होना चाहिए । एषणात्यागावसान ही पाण्डित्य है, वस्तुतः पाण्डित्य एषणाओंके तिरस्कारसे ही उत्पन्न होता है, अतः एषणाका विरोधी होता है । एषणापरित्यागके बिना आत्मविषयक पाण्डित्यका आविर्भाव नहीं हो सकता, इसलिए आत्मज्ञानसे ही एषणात्रय व्युत्थानका विधान होता है, उपपाचकी विधि उपपादकी विधिका आक्षेप करती है । गुरुमतमें जैसे अध्यापन-

विधिसे अध्ययनमें भी विधि आक्षिप्त होती है, क्योंकि अध्ययनके बिना अध्यापन नहीं हो सकता। 'अष्टवर्षं ब्राह्मणमुपनयीत', 'तमध्यापयीत' यह अध्यापनमें विधि है। 'उपनीय तु यः शिष्यं वेदमध्यापयेद्द्विजः' इत्यादि वाक्यमें 'उपनीय' यहां क्त्वाके स्थानमें ल्यप् हुआ है। उक्त प्रत्यय 'समानकर्तृकयोः पूर्वकाले क्त्वा' इस सूत्रसे कर्तामें होता है। जैसे 'भुक्त्वा व्रजति' इस वाक्यसे भोजनोत्तरकालिक भोजनकर्तृकर्तृक गमनकी प्रतीति होती है, वैसे ही प्रकृतमें भी यानी 'व्युत्थाय पाण्डित्यं निर्विद्याथ बाल्येन तिष्ठासेत्' यहांपर भी ज्ञानसमानकर्तृक क्त्वाप्रत्ययके उपादानरूप लिङ्गश्रुतिसे त्यागमें भी विधि दृढ़ की गई है अर्थात् आत्मज्ञानके लिए व्युत्थान आवश्यक है, अतः एषणाओंसे उपरत होकर मुमुक्षु ज्ञानबलभावरूप बाल्यसे रहनेकी इच्छा करे। अन्य अनात्मवेत्ताओंको साधनफलका आश्रयण ही बल है। उस बलका त्याग कर ब्रह्मवेत्ता असाधनफलस्वरूप आत्माके विज्ञानरूप बलका ही आश्रयण करे, इसका आश्रयण करनेपर इन्द्रियाँ अपने विषयोंमें उक्त विद्वान्को खींचकर लगा नहीं सकतीं। ज्ञानबलसे हीन मूढ पुरुषको दृष्टादृष्टफलक एषणाविषयमें इन्द्रियां प्रेरित करती हैं। यहांपर बल आत्मविद्यासे संपूर्ण विषयोंकी दृष्टिका तिरस्कार है, अतः तादृश बलभावसे स्थितिकी इच्छा करे। 'आत्मना विन्दते वीर्यम्', 'नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः' इत्यादि श्रुतियां भी उक्तार्थको स्वहस्तगत करती हैं, बाल्य और पाण्डित्यको अच्छी तरह जानकर मनन करनेसे मुनि यानी योगी होता है। इतना ही ब्राह्मणोंका कर्तव्य है कि सब अनात्मप्रत्ययोंका तिरस्कार करना, इसके करनेपर ब्राह्मण कृतकृत्य हो जाता है और 'सब ब्रह्म ही है' यह ज्ञान होता है। आचार्यकी परिचर्या कर वेदान्तोंके तात्पर्यका निर्णय करना ही पाण्डित्य है और युक्तियोंसे अनात्मदृष्टिका तिरस्कार करना बाल्य है। 'हम परब्रह्म परमात्मा हैं, हमसे अतिरिक्त कुछ नहीं है' इस प्रकार मनसे ही अनुसन्धान करना मौन है। पाण्डित्य, बाल्य और मौनका यह संक्षिप्त अर्थ है।

शङ्का—ब्रह्मवेत्ताका आचार कैसा होता है ?

समाधान—अनियत, जिस किसी आचारसे रहे, क्योंकि वह कृतकृत्य है।

शङ्का—यदि अव्यवस्थित आचरणके इच्छुक ब्रह्मवेत्ताको स्वेच्छाचारिता अभीष्ट है, तो तदनुसार वह अविहितका आचरण कर सकता है, क्योंकि उसे कोई नियन्त्रण है नहीं, इस परिस्थितिमें 'यद्-यदाचरति श्रेष्ठः' (श्रेष्ठ पुरुष जिस जिसका आचरण करता है, साधारण पुरुष उस उसका अनुसरण

अशनायादिरहितब्रह्मताया अभापणे ।
न स्यात् सर्वान्तरत्वादि संसारिणि चिदात्मनि ॥ ११ ॥

करते हैं) इस वचनके अनुसार दूसरेका भी आचारमें आदर नहीं होगा। यद्यपि ब्रह्मवेत्ताकी उक्त स्वेच्छा-आचारसे हानि नहीं होती, पर इतर पुरुषोंकी तो, उससे अवश्य हानि होगी, अतः लोकसंग्रहके लिए स्वेच्छाचार न करना उचित है।

समाधान—यद्यपि ब्रह्मवेत्ताके लिए विधि और निषेध लागू नहीं हैं, तो भी वह विहितका ही आचरण करता है और निषिद्धका त्याग करता है, क्योंकि अनिष्टाचरण दोषसे होता है, शुद्धबुद्धि होनेसे उसकी अनिष्टमें स्वभावतः ही प्रवृत्ति नहीं होती और शुद्धमें स्वतः प्रवृत्ति होती है। यद्यपि उसे इन विहित और निषिद्धोंके आचरण और परिवर्जनसे कोई इष्ट या अनिष्ट फल नहीं होता, तथापि निषिद्धप्रवृत्तिके हेतु दोषोंका अभाव होनेके कारण समीचीन प्रवृत्तिहेतु शुद्धबुद्धिसे उपादेय प्रवृत्ति ही होती है; अनुपादेय नहीं, अतः उक्त शङ्का व्यर्थ है। वासनावश उसकी चेष्टा सदा व्यवस्थित ही रहती है, अतः इस ब्रह्मावस्थानरूप अशनायाद्यतीत आत्मस्वरूपसे भिन्न अविद्याविषय एषणात्रयलक्षण वस्तु आर्त (विनाशी) है, यानी विनाश-ग्रस्त है, स्वप्न, माया, और मरीचि-उदकके समान असार है, अनुपादेय है, केवल एक आत्मा ही नित्यमुक्त तथा नित्यतृप्त है। इस प्रकार श्रीयाज्ञवल्क्यजीके उपदेशको सुनकर कौषीतकेय कहोल चुप हो गये। इस यथार्थोपदेशसे उनके हृदयमें पूर्ण सन्तोष हो गया ॥ १० ॥

'अशनायादि०' इत्यादि।

शङ्का—यदि आत्मामें ब्रह्मत्वका प्रतिपादन करना ही अभीष्ट है, तो उसीका प्रतिपादन प्रश्नपूर्वक होना चाहिए। 'यत्साक्षाद्' इत्यादि विशेषणोंके कथनका क्या प्रयोजन है?

समाधान—अशनाया आदिसे रहित स्वप्रकाश सर्वात्मक ब्रह्म है, उसके अभेदके योग्य जीवस्वरूपके निर्धारणके लिए उषस्तने 'यत्साक्षाद्' इत्यादि विशेषणसमूह अर्थवान् है, ऐसा कहा है। यहाँपर भी तथोक्त जीव-स्वरूपमें ब्रह्मत्वका निश्चय करनेके लिए उक्त सम्पूर्ण विशेषणोंका अनुवाद किया गया है। अशनायादिरहित ब्रह्मस्वरूप ही जीव है। इसको कहे बिना संसारी चिदात्मा जीवमें सर्वान्तरत्व आदि विशेषणोंका संभव नहीं हो सकता, कारण कि संसारदशामें जीव शरीर आदिसे परिच्छिन्न है, यह लोकानुभव-

इत्यभिप्रेत्य तेनोक्तं साक्षादित्यादिकं पुनः ।
अनूद्य सर्वं पप्रच्छ कहोलो ब्रह्मरूपताम् ॥ १२ ॥
त्वमर्थाच्छोधितान्नाऽन्यद्ब्रह्मेत्येतद्विवक्षया ।
उक्तमेवोत्तरं भूय एष इत्याद्यवोचत ॥ १३ ॥

सिद्ध है, ऐसी परिस्थितिमें कोई भी कहे कि जीव सबके भीतर एक ही है अर्थात् हमारा ही जीव सब शरीरोंके भीतर होनेसे सर्वान्तर है, तो उसपर लोगोंको विश्वास नहीं होगा, क्योंकि अपने सुख, दुःख आदिका अपनेको ही अनुभव होता है, दूसरेके सुख, दुःख आदिका अनुभव नहीं होता । यदि एक ही आत्मा होता, तो उसका भी साक्षात्कार हो जाता इत्यादि सांसारिक व्यवहारोंसे आत्म-भेद निश्चितप्राय है । हां, परमात्मा सबके भीतर है, यह कहनेपर किसीको अविश्वास नहीं होता, क्योंकि उसका अनुभव होता नहीं, अतः उसको चाहे जैसा कहे इसमें दृष्टविरोध नहीं होता । जीवका स्वरूप निश्चित नहीं है । हां, इतना ज्ञान तो लोकव्यवहारसे होता है कि शरीरमें जीव अवश्य है, जिसके रहनेसे जीता है और न रहनेसे मर गया, ऐसा व्यवहार होता है । परन्तु उसका स्वरूप कैसा है, यह अज्ञात है । अतएव इसके विषयमें दार्शनिकोंका मत-भेद है, पर जिज्ञासित सबको है । वेदान्तमतके अनुसार आत्मा ब्रह्मस्वरूप है, ऐसा समझानेसे जो ब्रह्मधर्म सर्वान्तरत्वादि हैं, वे सब जीवके भी धर्म हैं, क्योंकि यदि जीव ब्रह्मसे भिन्न नहीं है, किन्तु ब्रह्म ही है, तो सर्वान्तरत्व आदि ब्रह्मधर्म स्वतः जीवके धर्म सिद्ध हो जाते हैं। इसलिए श्रीयाज्ञवल्क्यजीने आत्माके जो विशे-षण उषस्तके प्रति कहे हैं, वे सब कहोलके प्रश्नके प्रतिवचनमें कहे हैं ॥ ११ ॥

'इत्यभिप्रेत्य' इत्यादि । उक्त अभिप्रायसे यानी जीव यदि ब्रह्मस्वरूप न होगा, तो वह सर्वान्तर नहीं हो सकेगा, इस युक्तिसे जीवको मुनिजीने सर्वान्तर कहा, किन्तु ब्रह्मका स्वरूप अभी तक नहीं कहा गया, इस तात्पर्य्यसे 'साक्षात्' इत्यादि पूर्वोक्त विशेषणोंका अनुवाद कर ब्रह्मके स्वरूपके विषयमें प्रश्न किया कि 'साक्षात्' इत्यादि पूर्वोक्त विशेषणोंसे विशिष्ट आत्मा कौन है ?

'त्वमर्थात्' इत्यादि ।

शङ्का—यदि कहोल 'तत्' पदके अर्थभूत ब्रह्मको पूछते हैं, तो उत्तरमें 'त्वम्'

पदार्थका निर्देश करनेमें महर्षिका क्या भाव है? 'एष त आत्मा' इत्यादि उत्तर-वाक्यसे जीवका निर्देश स्फुट है।

समाधान—शोधित त्वमर्थसे अतिरिक्त ब्रह्म नहीं है, किन्तु त्वमर्थ ही ब्रह्म है, इस इच्छासे पूर्वोक्त ही उत्तर दिया। यदि उससे अतिरिक्त ब्रह्म श्रुतिको अभिप्रेत होता, तो अतिरिक्तका अभिधान सङ्गत होता। 'तत्त्वमसि' इत्यादि श्रुतियोंसे वास्तवमें जीवब्रह्मात्माका ऐक्य है, अतः उसके अनुसार उक्त उत्तर ही समुचित है। अविद्यासे भेदका भान होता है और विद्यासे अभेदका यथार्थ अनुभव होता है।

शङ्का—विद्या और अविद्यामें विरोध है, इसलिए एक दूसरेकी नाशक है, यह कहना ठीक है, पर अविद्यासे विद्याका ही नाश क्यों नहीं कहते, विपरीतमें क्या विनिगमक है?

समाधान—अविद्या तमके समान है और विद्या प्रकाशके समान है। तम बाध्य है और प्रकाश बाधक है, यह नियम लोकमें देखते हैं। सूर्यका उदय होनेपर सम्पूर्ण अन्धकारकी निवृत्ति अनेक बार दृष्ट है। अन्धकारके रहनेपर क्या सूर्यका उदय नहीं होता? अवश्य होता है। यदि अन्धकार बाधक होता, तो सूर्यका उदय ही नहीं होता, किन्तु सूर्योदय प्रतिदिन देखते हैं, इस अनुभवसे जैसे यह निश्चित है कि प्रकाश तमका बाधक ही होता है, बाध्य नहीं, वैसे ही विद्या प्रकाशस्वरूप होनेसे बाधिका है, अविद्या तमःस्वरूप होनेसे बाध्या है, यह दृष्टानुसारी नियम है। इसमें अन्य विनिगमककी आवश्यकता नहीं है, विद्या अपने उदयके अनन्तर ही अविद्या और तज्जनित निखिल कार्यको समकालमें ही निवृत्त करती है। विद्या और अविद्याका बाध्यबाधकभाव अनुभवसिद्ध है, फिर भी यदि प्रमाणकी जिज्ञासा प्रबल हो, तो भगवद्वाक्य सुनिये—

'या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः॥'

अविद्वानोंकी जो निशाके समान ब्रह्मावस्था है, उसमें विद्वान् जागता है और जिस अविद्याके विषयमें प्राणी-मात्र जागते हैं, अर्थात् भेदमय जगत्में व्यवहार करते हैं, वह ब्रह्मज्ञानियोंके लिए रात्रिके समान ही है। यहाँ निशाशब्द मुख्य रात्रिरूप अर्थका वाचक नहीं है, क्योंकि रात्रि विद्वान् और अविद्वान् दोनोंके लिए समान ही है, किन्तु निशाशब्द गौण अप्रकाशरूप अर्थका वाचक है। संसारियोंके लिए ब्रह्मात्मैक्यका भान नहीं होता, इसलिए वह उन्हींकी

क्षुत्पिपासे शोकमोहौ जरामृत्यू इतीदृशैः ।
त्रिभिर्युग्मैर्विशिष्टानां मध्येऽसौ कतमो वद ॥ १४ ॥
यद्यन्यतम एतेषां तस्य न ब्रह्मता तदा ।
एतेष्वनन्तर्गतस्तु न कोऽप्यात्मा जनैर्मतः ॥ १५ ॥
विद्वज्जनानुभूत्यैष क्षुदादेरवभासकः ।
प्रसिद्ध इत्यभिप्रेत्य ब्रह्मत्वेन तमुक्तवान् ॥ १६ ॥

रात्रि है, ज्ञानियोंकी नहीं । जगत्का भान ज्ञानियोंको नहीं होता, इसलिए वह रात्रि ब्रह्मज्ञानियोंकी है ।

शङ्का—भान क्यों नहीं होता ?

समाधान—विद्यासे अविद्या और तत्कृत द्वैतका नाश हो जाता है, अतः उसका भान नहीं होता । जैसे भ्रान्तको शुक्तिरजतका भान होता है, पर अभ्रान्तको नहीं होता, वैसे ही प्रकृतमें भी समझना चाहिए ।

शङ्का—ज्ञानियोंका जैसे 'अहं ब्रह्म' यह व्यवहार होता है, वैसे ही अन्य व्यवहार क्यों नहीं होता ?

समाधान—हां, व्यवहार होता है, पर बाधित होता है । भ्रान्तिज्ञ पुरुष भी भ्रमकालिक व्यवहारको करता है, पर उसको समीचीन नहीं मानता ॥ १३ ॥

'क्षुत्पिपासे' इत्यादि । क्षुत् (भूख), पिपासा (प्यास)—ये दोनों धर्म प्राणके हैं, शोक और मोह—ये दोनों धर्म मनके हैं तथा जरा और मृत्यु—ये दो धर्म शरीरके हैं । दो दो जोड़ोंका तीन त्रिक है । इन विशेषणोंसे विशिष्ट तीनोंमें कौन आत्मा है, क्या प्राण आत्मा है या मन अथवा शरीर आत्मा है? स्पष्ट कहिये कि अमुक आत्मा है । भाव यह है कि यदि उक्त तीनोंमें से किसी एकको आत्मा कहेंगे, तो वह ब्रह्माभेदयोग्य नहीं हो सकेगा ? यदि इन तीनोंसे अतिरिक्तको आत्मा कहेंगे, तो वह लोकमें प्रसिद्ध नहीं है, और जो प्रसिद्धार्थक 'एष' शब्दसे आत्माका निर्देश किया गया है, वह असङ्गत हो जायगा, यों उभयतः पाशारज्जु है ॥ १४ ॥

'यद्यन्यतम' इत्यादि । इसका अर्थ ऊपर कह चुके हैं ॥ १५ ॥

'विद्वज्जना०' इत्यादि । विद्वज्जनोंके (तत्त्वज्ञानियोंके) अनुभवके अनुसार 'एष' इस प्रत्यक्षार्थक शब्दसे आत्माका श्रीयाज्ञवल्क्यजीने निर्देश किया है । यद्यपि संसारियोंको वह प्रत्यक्ष नहीं है, तथापि अपनी क्षुधा, पिपासा आदिका साक्षी

अत्येति योऽशनायादीन्विचारेण निरूपणे।
क्षुदादिसाक्षी तस्याऽस्य ब्रह्मत्वं केन बाध्यते ॥ १७ ॥
नन्वेक आत्मा मूढानां विदुषां चेति ते मतम्।
उक्तोर्मिषट्कातीतत्वं तद्बन्धश्चाऽस्य तत्कथम् ॥ १८ ॥

आत्मा प्राण आदिसे भिन्न निश्चित है, इसलिए स्वदृष्टिसे 'एष' शब्द द्वारा उसका निर्देश समुचित ही है ॥ १६ ॥

'अत्येति' इत्यादि।

शङ्का—क्षुधा आदिका साक्षी तो प्रसिद्ध है, परन्तु वह ब्रह्म कैसे हो सकता है? प्राणादि अचेतन होनेसे साक्षी नहीं हो सकते, इसलिए उससे अतिरिक्त जीवात्माको साक्षी कह सकते हैं, परन्तु वह ब्रह्मस्वरूप नहीं हो सकता, ब्रह्म सुख, दुःख आदि शून्य और सर्वव्यापक है। जीव सुखादिका भोक्ता एवं प्रतिशरीर भिन्न है, इसलिए ब्रह्माभेदयोग्य नहीं है।

समाधान—अशनायादिशून्य साक्षी भी है, क्योंकि अशनायादिरहित चेतन अशनायादिका साक्षी माना जाता है। लोकमें भी जिसपर अभियोग न हो तथा वहांपर उपस्थित हो और समझदार हो, वही साक्षी माना जाता है। यदि अभियुक्त हो, तो अन्य योग्यता रहनेपर भी साक्षी नहीं माना जाता। इसी तरह क्षुधादि-शून्य क्षुधा आदिका साक्षी है।

शङ्का—लोकमें साक्षीका उक्त स्वभाव ही है, इसमें सन्देह नहीं है, पर प्रकृतका साक्षी तो क्षुधा आदिसे शून्य नहीं है, क्योंकि 'अहं क्षुधितः' इत्यादि व्यवहारसे आत्मामें क्षुधा आदिका भान ही होता है।

समाधान—यह प्रतीति आत्मामें प्राणादिधर्मका आरोप कर होती है, जैसे शरीरधर्म गौरत्व श्यामत्व आदिके आरोपके कारण 'अहं गौरः श्यामः' इत्यादि प्रतीति होती है, वैसे ही उक्त प्रतीति भी पारमार्थिक नहीं होती। अपारमार्थिक प्रतीति वस्तुस्वरूपकी निर्णायक नहीं मानी जाती, यहाँपर विचार करनेसे यही सिद्ध होता है कि क्षुधादि और उसके अभावादिका साक्षी जो है, वह वस्तुतः उक्त धर्मोंसे शून्य है, लोकमें जैसा साक्षी मानते हैं, वैसा ही प्रकृतमें भी साक्षी मानते हैं, उससे विपरीत नहीं, अतः प्रकृत साक्षीमें ब्रह्मत्वप्राप्तिका बाध किससे करोगे? अर्थात् किसीसे नहीं ॥ १७ ॥

'नन्वेक' इत्यादि। विद्वानों तथा मूढ़ोंमें आत्मा एक ही है, भिन्न-भिन्न नहीं है,

अविचारविचाराभ्यां यथा सर्पत्वरज्जुने ।
तथाऽऽत्मन्यपि संसारभावाभावविवीक्ष्यताम् ॥ १९ ॥

यह आपका (अद्वैतवेदान्तीका) मत है और इस अर्थमें 'नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा' इत्यादि श्रुतिको प्रमाण देते हैं। ऐसी परिस्थितिमें उक्त जो छः उर्मियाँ हैं, वे बाधित होंगी—क्षुधा, पिपासा, शोक, मोह, जरा, मृत्यु ये ही छः उर्मियाँ यहाँपर कही गई हैं। यद्यपि भास्कर आचार्यने जायते, अस्ति, विवर्द्धते, विपरिणमते, अपक्षीयते, विनश्यति ये छः उर्मियाँ कही हैं, तथापि ये सभी देह आदिके ही धर्म हैं। उर्मिशब्द तरङ्गका पर्याय है, जैसे जलमें एक तरङ्गके बाद दूसरा तरङ्ग होता ही रहता है, तरङ्गशून्य जल कभी नहीं रहता, वैसे ही ये अवस्थाएँ जड़में निरन्तर होती रहती हैं, इनसे कभी जड़ पदार्थ शून्य नहीं रह सकते, इनका जड़ पदार्थोंके साथ तादात्म्य सम्बन्ध है। जैसे जलस्थ पुरुषोंका तरङ्गोंसे सतत अभिघात होता है, वैसे ही शरीरस्थ आत्माओंका भी इन उक्त तरङ्गोंसे सदा अभिघात होता है। जैसे जलतरङ्गोंके अभिघातसे बचाव जलसे बाहर आनेपर ही हो सकता है अन्यथा नहीं, वैसे ही उक्त उर्मियोंसे बचाव देहाभिमानके छोड़नेपर ही हो सकता है, दूसरे उपायसे नहीं। अब प्रकृतमें प्रश्न यह होता है कि अचेतन प्राणादिमें क्षुधा, पिपासा आदि हो नहीं सकते और रहनेमें न प्रमाण ही है। 'अहं क्षुधितः' इत्यादि प्रतीतियोंसे आत्मामें ही उक्त धर्मकी प्रतीति होती है। यदि वही ब्रह्म है, तो उक्त ब्रह्म उर्मियोंसे सदा परे है, इस प्रकार एक ही आत्मामें उक्त उर्मिरहितत्व और उर्मिसहितत्व जो बन्ध है, ये दोनों परस्पर विरुद्ध धर्म कैसे रह सकेंगे? यदि आत्मभेद होता, तो उक्त बन्ध मूढात्माओंमें है और तद्रहितत्व विद्वानोंके आत्मामें है, ऐसा मानकर परिहार हो सकता, जैसे कि तार्किकोंके मतमें कहा जाता है। पर आपके मतसे तो एक ही आत्मा है, इसलिए उक्त परिहारका यहाँ सम्भव ही नहीं है ॥१८॥

'अविचार०' इत्यादि। जैसे रज्जुत्व और सर्पत्व ये दोनों धर्म परस्पर विरुद्ध हैं, फिर भी रज्जुमें सर्पभ्रमकालमें भ्रान्तको सर्पत्वकी प्रतीति होती है और अभ्रान्त पुरुषको रज्जुत्वकी प्रतीति होती है, यह लोकमें बार-बार देखा जाता है, वैसे ही एक ही आत्मामें संसारी पुरुषोंकी अपेक्षा उक्त बन्धकी प्रतीति होती है और तत्त्वज्ञानियोंके लिए वह सर्वथा उक्त बन्धसे शून्य प्रतीत होता है, इसमें आश्चर्य क्या? वस्तुतः विरुद्ध धर्म एकमें अधिकारीके भेदसे उक्त न्यायसे रहते हैं ॥१९॥

क्षुत्पिपासे प्राणधर्मौ शोकमोहौ तु मानसौ ।
जरामृत्यू देहधर्मावात्मधर्मो न कश्चन ॥ २० ॥
प्राणसञ्चारबाहुल्याद् गमनादिश्रमे सति ।
क्षुत्पिपासाजनिस्तेन प्राणधर्मत्वमेतयोः ॥ २१ ॥
इष्टस्य वस्तुनोऽसिद्धौ चेतसो याऽनवस्थितिः ।
स शोको मानसो धर्मो मोहश्च विषयभ्रमः ॥ २२ ॥

'क्षुत्पिपासे' इत्यादि ।

शङ्का—यदि अशनाया आदि आत्मधर्म नहीं हैं, तो वे किसके धर्म हैं ?

समाधान—भूख और प्यास—ये प्राणके धर्म हैं, शोक और मोह—ये दोनों मनके धर्म हैं तथा जरा और मृत्यु—ये दो देहके धर्म हैं। इनमें कोई भी आत्माका धर्म नहीं है ॥ २० ॥

'प्राणसञ्चार०' इत्यादि । चलन आदि कार्योंमें प्राणकी गति अधिक होती है, अतएव श्रम भी होता है, इस कारण भूख, प्यास अधिक लगती है। इसलिए यह सिद्ध होता है कि वे धर्म प्राणके हैं और प्राणने यह प्रश्न किया था कि 'किम्मेऽन्नम्'; इसका उत्तर दिया गया है कि जो कुछ कुत्ता, कीट, पतङ्ग आदि हैं, वह सब तुम्हारा अन्न है । जलके बिना जो न जी सकें, वे प्राणी हैं। जलके बिना वृक्ष आदि भी नहीं रह सकते, इसलिए वे भी प्राणी माने जाते हैं। उक्त धर्म प्राणके हैं, इसमें श्रुति और अनुमान दोनों प्रमाण हैं ॥ २१ ॥

शोक और मोहशब्दोंके अर्थोंको स्फुट करते हुए ये दोनों मनके धर्म हैं, इसका प्रतिपादन करते हैं—'इष्टस्य' इत्यादिसे। जिस वस्तुको जो पुरुष चाहता है उसकी अप्राप्तिसे मनमें जो अरति यानी व्यग्रता या चाञ्चल्यविशेष प्राप्त होता है, वही शोक कहलाता है। लोकमें इष्टवियोगजन्य दुःखावस्थाविशेषको शोक कहते हैं, यह अनुभवैकवेद्य और सर्वप्रसिद्ध है। इष्ट, अनिष्ट आदि विषयोंमें अनिष्टत्व, इष्टत्व आदि-ज्ञानको भ्रम कहते हैं, यह भी सबको प्रसिद्ध ही है। प्रकृतमें अद्वयमें सद्वय-ज्ञान मोह है, यह अज्ञानका कार्य है, अतएव अज्ञानात्मक है ।

शङ्का—अशनाया और पिपासाका श्रुतिमें समाससे निर्देश किया गया है और दूसरोंका असमाससे, इसमें क्या तात्पर्य है ?

समाधान—दोनों प्राणके धर्म हैं और दोनोंका कार्य शोक है, इसलिए उनका समाससे निर्देश किया गया है ।

जरा देहस्य शैथिल्यं मृत्युः प्राणवियुक्तता ।
ते सर्वेऽप्यात्मनि भ्रान्त्या कल्पिता व्योमनैल्यवत् ॥२३॥

शङ्का—शोक और मोह भी तो एक मनके ही धर्म हैं तथा उन दोनोंसे एक दुःख कार्य्य ही होता है फिर उनका अशनायःपिपासाके समान समाससे निर्देश क्यों नहीं किया गया ?

समाधान—दोनों एकके ही धर्म हैं, यह कहना ठीक है, पर दोनोंका कार्य एक नहीं है। शोकका कार्य है—प्रवृत्ति और मोहका कार्य्य है—अनर्थप्राप्ति, यों भिन्न कार्य्य होनेसे असमस्त पदसे उनका निर्देश किया गया है ॥ २२ ॥

जरा और मृत्युशब्दके अर्थोंको स्फुट करते हैं—'जरा देहस्य' इत्यादिसे।

जिस अवस्थासे देहमें शिथिलता होती है, केश श्वेत हो जाते हैं और त्वचा लटक जाती है, उसीको जरा कहते हैं। यही वृद्धावस्थासे भी प्रसिद्ध है। शरीर और प्राणके वियोगको मृत्यु कहते हैं। यह लोकमें प्रसिद्ध है, इसलिए इसकी विशेष व्याख्या करनेकी आवश्यकता नहीं है।

शङ्का—'अहं बुभुक्षितः, मुग्धः, वृद्धः' इत्यादि प्रतीति आत्मामें क्यों होती है ? 'प्राण भूखा है, मन मुग्ध है, देह वृद्ध है' ऐसी प्रतीत होनी चाहिए।

समाधान—ठीक है, जो विवेकी हैं, उनको वैसी ही प्रतीति होती है; किन्तु जो भ्रान्त हैं, उनको भ्रान्तिसे कल्पित ये सब धर्म आत्मामें प्रतीत होते हैं। जैसे वस्तुतः आकाश काला नहीं है, किन्तु भ्रान्तिसे आकाश नीला है, ऐसी प्रतीति लोकमें प्रसिद्ध है, वैसे ही प्रकृतमें भी समझना चाहिए।

अशनाया, पिपासा आदि तो चेतनके ही धर्म हैं, ऐसा मानना चाहिए, कारण ये चेतनमें ही प्रतीत होते हैं, अचेतनमें नहीं। यदि इन्हें अचेतनमें मानेंगे, तो घट आदिको भी भूख, प्यास आदि लगेंगे।

समाधान—अचेतनमात्रके उक्त धर्म हैं, ऐसा तात्पर्य्य नहीं है; किन्तु चेतनसंसृष्ट अचेतनके धर्म हैं, ऐसा तात्पर्य है।

शङ्का—क्यों ?

समाधान—यदि चेतनके उक्त धर्म माने जायँ, तो श्रुतिविरोध होगा। 'असङ्गो ह्ययं पुरुषः' (यह पुरुष असङ्ग है) इस श्रुतिसे आत्मामें किसी धर्मका संसर्ग नहीं है, अन्यथा आत्माका मोक्ष ही असम्भव हो जायगा। आरोपित धर्मोंकी निवृत्ति

यः स्वकारणसंसर्गः क्षुदादेरत्ययो मतः ।
अनात्यन्तिकरूपत्वात् सोऽत्ययोऽत्र न गृह्यते ॥ २४ ॥
तत्कारणनिषेधो यः स्वमहिम्नैव वस्तुनः ।
तमत्ययं मोक्षविधौ तद्विद्वांसः प्रचक्षते ॥ २५ ॥

तो होती है, पर स्वाभाविक धर्मोंकी निवृत्ति कभी नहीं होती । हमारे मतसे तो आत्माके अज्ञानसे उक्त धर्मोंकी आत्मामें प्रतीति और उसके यथार्थ ज्ञानसे मुक्ति होती है; यह स्पष्ट मार्ग है ॥ २३ ॥

'यः स्वकारण०' इत्यादि ।

शङ्का—कार्य्यका कारणमें नाश अत्यय कहा जाता है । यदि आत्मामें उक्त धर्मोंका अत्यय होता है, ऐसा कहते हो, तो उक्त धर्म उसमें अपरिहार्य्य हैं, अन्यथा अत्यय भी उक्त असङ्ग श्रुतिके अनुसार आत्मामें नहीं रह सकता ।

समाधान—अत्यय दो प्रकारका है—एक आत्यन्तिक और दूसरा अनात्यन्तिक। अन्तिम अत्यय लोकमें प्रसिद्ध है, किन्तु वह यहां विवक्षित नहीं है, यहां प्रथम अत्यय विवक्षित है ॥ २४ ॥

'तत्कारण०' इत्यादि । यहां तत्पदसे क्षुधा और पिपासा विवक्षित हैं, इनका कारण प्राण है, उसका अत्यय प्रतिपिपादयिषित है। कारणके अत्ययके बिना कार्य्यका आत्यन्तिक अत्यय नहीं हो सकता । 'अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रः' इत्यादि श्रुतियोंसे प्राण आदिका अत्यन्त असङ्ग आत्मामें सुना गया है, अतः मोक्ष-प्रतिपादनके अवसरमें मोक्षवेत्ता विद्वान् प्राणासंसर्गको ही उक्त धर्मोंका आत्यन्तिक अत्यय कहते हैं ।

शङ्का—प्राणका अत्यय न कहकर अशनायादिका अत्यय क्यों कहा ?

समाधान—उक्त धर्मोंके अत्यन्त अत्ययका बोध करनेके लिए ऐसी उक्ति है । कार्य्यका अत्यन्त अत्यय कारणके अत्ययसे ही होता है, अन्यथा नहीं। अतः अर्थतः प्राणात्ययका भी बोध हो ही जाता है। अशनायाशब्दसे अशनायाके हेतु प्राणका ही ग्रहण उपक्रमके अनुसार उचित है । उपक्रममें 'मृत्युनैवेदमावृतमासीत्', 'कोऽसौ मृत्युः अशनाया' इत्यादि कहा गया है, यहां कारण लक्ष्य है, इसके अनुसार मृत्युसे कारण आवृत था, ऐसा कहा गया है ।

शङ्का—अशनाया आदिसे लक्षित कारण कौन है ? क्या अवान्तर कारण या मूल कारण विवक्षित है । सृष्टिका अवान्तर कारण प्राणात्मा है और मूलकारण अज्ञान है ।

प्राणहेतुस्तमः प्राणधर्माभ्यामुपलक्ष्यते ।
सूत्रात्मा शोकमोहाभ्यां जरया मृत्युना विराट् ॥ २६ ॥

समाधान—अनिर्वचनीय अज्ञानोपाधिक ईश्वर अशनाया आदि धर्मवान् यहाँ अशनायादि शब्दसे लक्षित है, अतः अशनाया आदिकी मूल कारणमें लक्षणा है, सबका मूल कारण उक्त ईश्वर ही है।

शङ्का—ईश्वर तो प्राप्तव्य है, अतएव उसका अत्यय असम्भव है। इस परिस्थितिमें अशनाया आदिका भी अत्यय अशक्य है, क्योंकि कारणके अत्ययके बिना कार्यका आत्यन्तिक अत्यय नहीं हो सकता, यह आप कह ही चुके हैं, फिर लक्षणा द्वारा कारणका ग्रहण करनेसे क्या प्रयोजन ?

समाधान—निरुपाधिक ईश्वर नित्यप्राप्त है, किन्तु अज्ञानसे अप्राप्त कहा जाता है। जब ज्ञानसे अज्ञान दूर हो जाता है, तब वह प्राप्त समझा जाता है; अतः ईश्वरोपाधिभूत अज्ञानके अत्ययसे अज्ञानसे उपहित ईश्वरका भी अत्यय माना जाता है; अतएव उसके कार्य अशनायादिका अत्यय सिद्ध होता है।

शङ्का—वृत्तिरूप ज्ञान भी तो अज्ञानका कार्य ही है, अतः उक्त ज्ञान अज्ञान और अज्ञान-कार्यका निवर्तक नहीं हो सकता।

समाधान—अज्ञान और अज्ञानके कार्यको विषय न करनेवाला वृत्तिरूप ज्ञान अज्ञानका निवर्तक होता है, ऐसा अद्वैत-वेदान्ती मानते हैं, इस प्रकार तत्त्वज्ञानसे अज्ञान और उसके कार्यकी निवृत्ति हो जानेपर अज्ञान और अज्ञान-कार्य अशनाया आदिका सम्बन्ध आत्मामें कैसे रह सकता है ?॥ २५ ॥

'प्राणहेतु०' इत्यादि। जैसे अशनाया और पिपासासे लक्षणा द्वारा मूलकारण प्राणहेतु तम विवक्षित है, वैसे ही शोक और मोहसे उनका कारण सूत्रात्मा विवक्षित है एवं जरा आदिसे उनका कारण विराट् विवक्षित है। भाव यह है कि 'सोऽग्निरभवद्' इत्यादि श्रुतिसे वाग् आदि इन्द्रियाँ अग्नि आदि कारणरूप हैं, यह ज्ञात होता है। कारणके प्रत्ययसे ही कार्यका अत्यन्त अत्यय होता है, अन्यथा नहीं। विद्याप्रकरणस्थ उद्गीथ उपासनाका फल क्रमशः मुक्तिकी प्राप्ति है। जबतक वागादिका अत्यय नहीं होगा, तबतक मुक्ति नहीं हो सकती। यह तो संभव है नहीं कि कारणके अस्तित्वकालमें कार्य्यका अत्यय हो जायगा। अतः वागादिका स्वकारणापत्ति द्वारा कारणका ध्वंस होनेपर ध्वंस हो जाता है; इस प्रकार जब कार्यमात्रकी निवृत्ति हो जाती है, तब नित्यसिद्ध आत्मस्वभाव मोक्ष अभिव्यक्त होता है। जो वागादि इन्द्रियोंका

तमः सूत्रं विराजं च योऽत्येत्यात्मा स्वयंप्रभः ।
असङ्गस्तत्परं ब्रह्म साक्षादित्यादिलक्षणम् ॥ २७ ॥
यथा विशुद्धमाकाशं सति वाऽसति वा मले ।
नीहारादौ तथैवाऽऽत्मा कार्यकारणवस्तुनि ॥ २८ ॥
परमात्मस्वभावोऽयं कहोलाय प्रपञ्चितः ।
तद्बोधसाधनं सर्वकर्मत्याग इहोच्यते ॥ २९ ॥

लय कहा गया है, उसका तात्पर्य कारणात्ययसे कार्यका आत्यन्तिक अत्यय होता है, यह बतलानेके लिए है। उद्गीथोपासनाके समान ब्रह्मविद्याप्रकरणस्थ अन्य उपासनाएँ भी कारणके अत्ययसे कार्यके अत्यन्त अत्ययकी द्योतिका हैं। मूल कारणके अत्ययसे सूत्रका अत्यय होता है और सूत्रके अत्ययसे विराट्का अत्यय होता है।

शङ्का—शोक और मोह आत्माके धर्म नहीं हैं, यह कहना ठीक है, किन्तु जैसे आनन्द आत्मका धर्म नहीं है, परन्तु आत्मस्वरूप माना जाता है, वैसे ही शोक, मोह आदि आत्मस्वरूप ही हैं, ऐसा मानें, तो क्या आपत्ति है?

समाधान—आपत्ति यह है कि अन्वय-व्यतिरेकसे अज्ञानात्मक ही शोकादि ज्ञात होते हैं, अतः रज्जुसर्पवत् आत्मामें उक्त धर्म अध्यस्त हैं, वास्तविक नहीं हैं। आत्मज्ञानसे कार्यकारणस्वरूप अज्ञानादिका नाश होनेपर केवल एक आत्मा ही अवशिष्ट रह जाता है ॥ २६ ॥

'तमः सूत्रम्' इत्यादि। जो स्वयंप्रकाश आत्मा मूल कारण तम (अज्ञान) और उसके कार्य सूत्र एवं सूत्रकार्य विराट्—इन सभीका अत्यय करता है, वही असङ्ग (सब विकारोंसे रहित) 'साक्षात्' इत्यादि लक्षणसे लक्षित परब्रह्म है ॥२७॥

स्वभावतः आत्मा तीनों कालोंमें असङ्ग है, यह दृष्टान्त द्वारा स्फुट करते हैं—'यथा' इत्यादिसे।

जैसे कोहरे आदि मलके रहने या न रहनेपर भी आकाश सदा विशुद्ध ही रहता है, कोहरे आदिके सम्बन्धसे आकाशमें मलका वास्तविक असर कुछ नहीं पड़ता, वैसे ही आत्मा शोकादि मलके सद्भाव या असद्भाव दशामें सदा शुद्ध ही रहता है। अध्यस्त संसारधर्मसे आत्मामें वास्तविक कुछ सम्बन्ध नहीं होता, कार्यकारणात्मक अनात्मपदार्थ अप्रकाशात्मक जड़स्वरूप होनेसे मल कहे जाते हैं ॥ २८ ॥

'परमात्म०' इत्यादि। 'साक्षात्' इत्यादिसे उक्त लक्षणसे लक्षित परमात्मस्वभावका

उत्पन्नसम्यग्ज्ञानस्य संन्यासो लक्षणं यतः ।
साधनं च तदुत्पत्तौ संन्यासस्तत्र गम्यताम् ॥ ३० ॥

श्रुतिः—एतं वै तमात्मानं विदित्वा ब्राह्मणाः पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्च व्युत्थायाथ भिक्षाचर्यं चरन्ति ।

ब्रह्मात्मनोर्यदैकत्वं ब्राह्मणद्वयनिश्चितम् ।
एतं तमितिशब्दाभ्यां तदैकात्म्यमनूद्यते ॥ ३१ ॥

श्रीयाज्ञवल्क्यजीने कहोलके प्रति विशेषरूपसे प्रतिपादन किया । अब उक्त ब्रह्मके यथार्थ ज्ञानकी उत्पत्तिमें कारण सब कर्मोंके त्यागको (संन्यासको) कहते हैं ॥२९॥

'उत्पन्न०' इत्यादि। यहाँपर विद्यासाधन और विद्वान्‌का लक्षण—इन दोनोंका प्रतिपादन करना अभीष्ट है, संन्यास भी उभयस्वरूप है। जिस पुरुषरत्नको आत्माका समीचीन ज्ञान हो गया है, उसका लक्षण संन्यास है। कर्म फलके लिए किया जाता है। जब ज्ञानी ऐहिक और आमुष्मिक सम्पूर्ण फलोंसे वीतराग हो जाता है; तब प्रयोजनके अभावसे कर्मोंका त्याग कर देता है, अतः संन्यास ज्ञानीका लक्षण है। और आत्मज्ञानकी उत्पत्तिमें संन्यास साधन भी है। साधनसंपत्तिमें वैराग्य मुख्य है। अनभिसन्धिपूर्वक कर्मोंके अनुष्ठानसे चित्तशुद्धि होती है और उसके द्वारा ज्ञानकी उत्पत्ति होती है। इसलिए उसे ज्ञानसाधन कहना भी समुचित ही है ॥ ३० ॥

'ब्रह्मात्मनो०' इत्यादि। ब्रह्म और आत्मा—ये दोनों एक हैं, यह बात उषस्त और कहोल—इन दो ब्राह्मणोंसे निश्चित हो चुकी है। 'तम्' और 'एतम्'—इन दोनों शब्दोंसे उन्हीं दोनों ब्रह्म और आत्माके ऐकात्म्यका (अभेदका) अनुवाद किया गया है। दोनों ब्राह्मणोंसे दोनोंके प्रति भिन्न-भिन्न आत्माका उपदेश नहीं किया गया है और दोनों उपदेशोंमें ब्रह्मात्माका अभेद कहा गया है। इस श्लोकमें संन्यासका विधान करनेके लिए फिर उसी ऐक्यका अनुवाद किया गया है। श्रुति 'तत्' पदसे त्वमर्थका अनुवाद कर एतत्पदार्थ ब्रह्मके साथ तत्पदार्थके सामानाधिकरण्यका बोधन करती है, अथवा तत्पदार्थ ब्रह्म है, एतच्छब्दका अर्थ 'त्वम्' है। पूर्वकल्पकी अपेक्षा इस कल्पमें 'तत्' शब्द प्रसिद्धार्थक ही है। 'तत्त्वमसि' इस श्रुतिमें 'तत्' शब्दार्थ ब्रह्म है, यह सब वेदान्तोंमें प्रसिद्ध है और 'एतत्' यह शब्द जीवपरक है, यह व्याख्या उत्तम है ॥ ३१ ॥

अत्येति योऽशनायादीन् स आत्मेति गिरोच्यते ।
तमात्मानं विदित्वाऽथ व्युत्तिष्ठन्त्येषणात्रयात् ॥ ३२ ॥

'अत्येति' इत्यादि । अशनाया आदि धर्म सांसारिक धर्मोंका उपलक्षण है । अर्थात् जो संसार-धर्मोंसे अतीत है, वह आत्मा है । उक्त धर्मोंसे अतीत ब्रह्म ही है, दूसरा नहीं है, इसलिए ब्रह्म आत्मा है, यह स्पष्ट शब्दसे कहा गया है । उस आत्माको (ब्रह्मात्माको) न जानकर विद्वान् एषणात्रयसे यानी पुत्रैषणा, वित्तैषणा और लोकैषणासे व्युत्थित होकर भिक्षाचरण करते हैं । भिक्षाचरणका तात्पर्य्य संन्यासमें है यानी संन्यासका ग्रहण करते हैं। यद्यपि ब्रह्मचारी आदि भी भिक्षाका ग्रहण करते हैं, पर सदा नहीं करते, क्योंकि समावर्तनोत्तर भिक्षाचरण समाप्त हो जाता है । संन्यासीके लिए आजीवन भिक्षाका विधान है, इसलिए संन्यासी भिक्षु कहे जाते हैं । 'भिक्षुः परिव्राट् कर्मन्दी पाराशर्यपि मस्करी' इस अमरकोशकी भी सम्मति है । उषस्त द्वारा विशेष्य उक्त है और कहोल द्वारा विशेषण उक्त है। इस विशेषणविशेष्यभावसे प्रत्यगात्मामें ब्रह्मत्वका ज्ञान होनेपर जीवके अज्ञानका ध्वंस हो जाता है, इसीसे तज्जनित बन्धकी निवृत्ति फलित होती है ।

शङ्का—विशेषणविशेष्यभाव माननेसे नीलोत्पलमें जैसे नील और उत्पल दो पदार्थोंका भान होता है, अखण्डका नहीं, वैसे ही प्रकृतमें भी अखण्डार्थका भान नहीं होगा, अतः अद्वैत ब्रह्म सिद्ध नहीं होगा ?

समाधान—घटाकाश और महाकाशमें विशेषणविशेष्यभाव माननेपर भी जैसे केवल घट ही भिन्नरूपसे प्रतीत होता है और आकाश अखण्डरूपसे ज्ञात होता है, वैसे ही प्रकृतमें भी केवल विशेषणमात्र भिन्न है, तदुभयात्मा एक ही है । विशेषण भी अज्ञानसमानकालिक है । अज्ञानके नाशके बाद वाक्यसे अखण्डार्थका ज्ञान होता है, क्योंकि उस समय विशेषणकी सत्तामें कुछ प्रमाण नहीं है ।

शङ्का—उषस्त ब्राह्मण द्वारा उक्त आत्मा विशेष्य है और कहोल द्वारा उक्त विशेषण है, इसमें क्या विनिगमक है ? विपरीत ही क्यों न कहा जाय ?

समाधान—'साक्षात्' इत्यादि सब विशेषण उषस्त द्वारा कथित आत्मामें कहे गये हैं और अशनाया, पिपासा आदि कहोलब्राह्मणमें जो कहे गये थे, वे भी उसमें हैं, इसलिए यह पृथक् नहीं है ॥ ३२ ॥

ब्रह्मप्रश्नेन पृष्टे ते तद्बोधफलसाधने।
इति मत्वोत्तरत्वेन व्युत्थानद्वयमुच्यते ॥ ३३ ॥
पूर्वं विदित्वा पश्चात्तु व्युत्थायेत्यन्वयाच्छ्रुतात्।
विद्वत्संन्यास आभाति ब्रह्मबोधफलात्मकः ॥ ३४ ॥

'ब्रह्मप्रश्नेन' इत्यादि।

शङ्का—उक्त दो प्रश्न आत्ममात्रविषयक हैं, अतः उसीका उत्तर देना आवश्यक है। ब्रह्मज्ञान और उसके साधनका प्रश्न नहीं है, इसलिए साधनका (उपायका) प्रदर्शन अनावश्यक है।

समाधान—ब्रह्मशब्दसे ब्रह्मबोध (फल) और साधन—ये दोनों पूछे गये हैं, ऐसा मानकर उसके उत्तररूपसे दो प्रकारका व्युत्थान कहते हैं ॥ ३३ ॥

'पूर्वम्' इत्यादि। 'विदित्वा व्युत्थाय' ऐसा श्रौत पाठक्रम है, इसके अनुसार यह अर्थ होता है कि प्रथम आत्मज्ञान और तदनन्तर संन्यास। यह विद्वान्‌का लक्षण-भूत स्वभाव है। इसीको ब्रह्मबोधफलात्मक संन्यास कहते हैं। यह यथाश्रुत यानी पाठक्रमानुसारी अर्थ है। यहाँ वेदन दो प्रकारका है—एक तत्त्वसाक्षात्कार और दूसरा प्रयोजक ज्ञान। प्रथम पक्षमें साक्षात्कारसे जो व्युत्थान होता है, वह आत्मस्वरूपके ज्ञानके बाद होता है। वह ब्रह्मस्वरूपसे अवस्थानस्वरूप है। इसमें विधि नहीं हो सकती, कारण कि अद्वैतात्माके साक्षात्कारके बाद कार्यके साथ अज्ञानका नाश हो जाता है, अतः जब द्वैतमात्रकी निवृत्ति होनेसे अधिकारी आदिका ज्ञान ही नहीं होता, तब विधिकी क्या सम्भावना? विधि द्वैतभानकालमें ही होती है, अन्यत्र नहीं। द्वितीय पक्षमें साङ्गवेदाध्ययनके कर्ताके प्रति संन्यासपूर्वक श्रवण आदिके प्रयोजक शब्दजन्य बुद्धि यदि 'विदित्वा' शब्दसे कही जाती है, तो साक्षात्कारके लिए संन्यासविधि समुचित है।

शङ्का—विधिबोधक लिङ् आदि पद यहाँ नहीं हैं, इसलिए यहाँ विधि कैसे हो सकती है?

समाधान—यद्यपि इसमें विधि नहीं हैं, तथापि जैसे बाल्य और मौनमें विद्यासहकारितारूपसे विधि मानी जाती है, वैसे ही इसमें भी विधि मानना उचित है। वहाँपर 'तिष्ठासेत्' यह विधि स्फुट है ॥ ३४ ॥

व्युत्थायाऽथ विदित्वेति व्यत्ययेनाऽऽर्थिकान्वयात् ।
सिद्धो विविदिषात्यागः स्पष्टः श्रुत्यन्तरेऽप्यसौ ॥ ३५ ॥
स्वात्मलोकं स्वमिच्छन्तः प्रव्रजन्तीति वक्ष्यति ।
त्यागेनैकेऽमृतत्वं तु प्राप्ता इत्यपरा श्रुतिः ॥ ३६ ॥

'व्युत्थायाऽथ' इत्यादि । 'पाठक्रमादार्थक्रमो बलीयान्' (पाठक्रमसे अर्थ-क्रम बलवान् होता है) यह न्याय शास्त्रमें प्रसिद्ध है । 'अतएव 'अग्निहोत्रं जुहोति', 'यवागूं पचति' इसका यह अर्थ होता है कि अग्निहोत्र करे और यवागूका पाक करे । दोनोंको एक मनुष्य एक समयमें नहीं कर सकता, अतः क्रमकी अपेक्षा होती है कि प्रथम किसको करना चाहिए ? उपस्थित श्रौत क्रमका त्याग कर अनु-पस्थित अन्य क्रमकी कल्पनामें प्रमाण नहीं है, इसलिए श्रुत क्रमके अनुरोधसे पूर्वमें अग्निहोत्र, पश्चात् यवागूका पाक करे, यह बोध होता है । पर इसमें अग्निहोत्र किस द्रव्यसे करे, यह आकाङ्क्षा बनी रहती है और यवागूपाकका क्या प्रयोजन है, यह भी आकाङ्क्षा रहती है, इनकी निवृत्तिके लिए यह कहना पड़ेगा कि जहाँ अग्निहोत्रके द्रव्यका उपदेश न हो, वहाँ आज्य लेना चाहिए और जिस कर्मका फल नहीं कहा गया हो, वह अदृष्टके लिए है, अतः यवागूपाक अदृष्टार्थ है। परन्तु ये दोनों अनन्यगतिक होते हैं, अतः अर्थक्रमके अनुसार पहले यवागूपाक करना और तदनन्तर अग्निहोत्र करना चाहिए, ऐसा माननेपर अग्निहोत्रके साधनकी आकाङ्क्षाकी निवृत्ति यवागूसे हो जाती है और उसका पाक दृष्टार्थक हो जाता है । इसलिए 'लभ्यमाने फले दृष्टे नादृष्ट-परिकल्पना (जब तक दृष्ट फलकी प्राप्ति हो सके, तब तक अदृष्ट फलकी कल्पना करना अनुचित है), यह भट्टपादोक्त श्लोक भी सुसंगत होता है । इस पक्षमें संन्यास श्रवण द्वारा ज्ञानका साधन होता है ।

शङ्का—त्याग ज्ञानका हेतु है, यह यदि प्रमाणसे सिद्ध हो, तो अर्थक्रमा-नुसार व्यवहितान्वय करके प्रकृत वाक्य त्यागपरक है, ऐसी कल्पना उचित हो सकती है, किन्तु इस अर्थमें प्रमाण क्या है ?

समाधान—त्याग ज्ञानका साधन है, इसमें केवल बृहदारण्यककी यह श्रुति ही प्रमाण नहीं है, अपि तु इस अर्थमें अनेक श्रुतियाँ प्रमाण हैं, इस अभिप्रायसे कहते हैं—'स्पष्टः श्रुत्यन्तरेऽप्यसौ' इत्यादि ॥ ३५ ॥

'स्वात्मलोकम्' इत्यादि । आत्मलोककी इच्छा करनेवाले पुरुष सबका

ब्राह्मणग्रहणश्रुत्या विप्राणामेव भाष्यकृत् ।
संन्यासेऽधिकृतिं प्राह चतुर्थाश्रमरूप्यसौ ॥ ३७ ॥

संन्यास करते हैं 'एतमेव लोकमिच्छन्तः प्रव्रजन्ति' (आत्मलोककी ही इच्छा करके संन्यासी होते हैं), 'त्यागेनैके अमृतत्वमानशुः' (ऋषि त्यागसे ही मुक्तिको प्राप्त हुए) 'ब्रह्मचर्यं समाप्य गृही भवेत् गृही भूत्वा वनी भवेत् वनी भूत्वा प्रव्रजेत् यदि वेतरथा प्रव्रजेद् गृहाद्वा वनाद्वा यदहरेव विरजेत्तदहरेव प्रव्रजेत्' (ब्रह्मचर्यकी समाप्ति कर गृहस्थ होवे तदनन्तर वानप्रस्थी होवे, तदनन्तर संन्यासी होवे अथवा ब्रह्मचर्यसे ही संन्यासी बने अथवा गृहस्थाश्रमसे या वानप्रस्थसे, जिस समय वैराग्य हो उसी समय संन्यासी बने), 'विवर्णवासा मुण्डोऽपरिग्रहः', 'वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः' इत्यादि अनेक श्रुतियाँ संन्यासमें प्रमाण हैं ।

शङ्का—माना कि संन्यास प्रामाणिक है, परन्तु सब फल कर्मानुष्ठानसे ही प्राप्त होते हैं, अतः संन्यासमें क्यों प्रवृत्ति होगी ?

समाधान—जैसे फलकी कामना करनेवालोंकी श्रौतज्ञानसे कर्ममें प्रवृत्ति होती है, वैसे ही विवेकियोंकी श्रौतज्ञानसे संन्यासमें प्रवृत्ति होती है, इसमें सन्देह करनेका कोई अवसर नहीं है ॥ ३६ ॥

'ब्राह्मण०' इत्यादि । 'एतं वै तमात्मानं विदित्वा ब्राह्मणाः' इत्यादि संन्यासके विधायक वाक्यमें ब्राह्मणशब्दका प्रयोग है । इसलिए जैसे 'राजा राजसूयेन यजेत' इस वाक्यमें राजशब्द होनेसे उक्त यागमें क्षत्रियका ही अधिकार है, ब्राह्मण या वैश्यका नहीं, वैसे ही प्रकृत वाक्यमें ब्राह्मणशब्द होनेसे संन्यासमें ब्राह्मणका ही अधिकार सिद्ध होता है; क्षत्रिय या वैश्यका नहीं । इस तात्पर्यसे भाष्यकारने कहा है कि संन्यासमें ब्राह्मणका ही अधिकार है, क्षत्रिय और वैश्यका नहीं ।

शङ्का—'वस्तुतः 'ब्राह्मणः क्षत्रियो वापि वैश्यो वा प्रव्रजेद् गृहात्' इत्यादि स्मृतियोंसे संन्यास त्रैवर्णिकसाधारण माना जाता है; अतः ब्राह्मण ही संन्यासका अधिकारी है यह बात नहीं है, अतएव 'ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेत्' इस श्रुतिमें ब्राह्मणशब्दका प्रयोग नहीं है । अधिकारीमें श्रुत विशेषण केवल ब्रह्मचर्य्य ही है । ब्रह्मचर्य्य वेदाध्ययनाङ्ग होनेसे त्रैवर्णिकसाधारण है । क्षत्रिय और वैश्यके लिए वेदाध्ययनार्थ ब्रह्मचर्य्यका आवश्यकरूपसे विधान है । यदि यह कहिए कि विशेष शास्त्रके अनुसार सामान्य शास्त्रमें सङ्कोच कर ब्राह्मण ब्रह्मचारी ही विशेषणरूपसे विवक्षित है,

तो यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि विरोध होनेपर ही सङ्कोच माना जाता है, अन्यथा नहीं। 'एतं वै····ब्राह्मणाः' इस वाक्यसे ब्राह्मण संन्यासी हो, इतना ही अर्थ सिद्ध होता है; क्षत्रिय आदि संन्यासी न हों, यह अर्थ नहीं निकलता। यदि 'सर्वं वाक्यं सावधारणम्' यह नियम मानकर दोनों अर्थ कहिए अर्थात् 'ब्राह्मण एव न क्षत्रियादिः' तो वाक्य-भेद दोष हो जायगा। सङ्कोच माननेमें उक्त स्मृतिके साथ विरोध स्पष्ट है।

समाधान—ठीक है, संन्यास दो प्रकारका होता है—एक संन्यास सम्पूर्ण कर्मोंका त्यागरूप है, वह तो सर्वसाधारण है, यह त्याग चाहे कर्मत्यागरूप हो अथवा कर्मफल-त्यागरूप हो, इसमें विवाद नहीं है। मोक्षफलक ज्ञानसाधनके बिना ब्राह्मणेतर कैसे मुक्त हो सकेंगे, ब्राह्मण ही मुक्त होता है, दूसरा नहीं, इसमें कुछ प्रमाण नहीं है, प्रत्युत इन्द्रादि देवता तथा विरोचन आदि असुरोंकी भी मोक्षके उपयोगी ब्रह्मज्ञानमें प्रवृत्ति उपनिषद्में ही वर्णित है। यह तो कह नहीं सकते कि वे संन्यासके बिना ही मुक्त होना चाहते थे, कारण कि ऐसा कहनेसे तो यह सिद्ध हो जायगा कि संन्यासके बिना भी ज्ञान होता है तथा मुक्ति भी होती है। यदि यह सत्य होगा, तो संन्यास उक्त ज्ञानका साधन है, यह सिद्ध नहीं होगा। साधन तो वही माना जाता है, जिसके अभावमें फल न हो और अस्तित्वमें अवश्य ही फल हो। और ब्रह्मा भी यह अवश्य कहते कि तुम लोग संन्यासी नहीं हो, इसलिए तुमको ब्रह्मज्ञान नहीं होगा। प्रत्युत ब्रह्माने मोक्षज्ञानके अधिकारके लिए उन लोगोंसे बत्तीस वर्षतक तप करनेके लिए कहा, संन्यासके लिए नहीं। इन्द्र आदि देवता ब्राह्मण नहीं हैं, यह देवताधिकरणमें स्पष्ट है, इसलिए सब कर्मोंका अथवा उनके फलका त्याग संन्यास है और वह सर्वसाधारण है। इसके अनुसार संन्यासविधायक वाक्यमें ब्राह्मणपद त्रैवर्णिकका उपलक्षण है अर्थात् तीनों वर्णोंका संन्यासमें समान अधिकार है।

शङ्का—आचार ऐसा नहीं देखते।

समाधान—न देखनेका असल कारण यह है कि संन्यास दो प्रकारसे लोगोंमें प्रसिद्ध है—एक उक्त त्यागरूप और दूसरा त्यागसहित दण्डधारणरूप। प्रथम त्रैवर्णिकसाधारण है और द्वितीयके केवल ब्राह्मण ही अधिकारी हैं, क्षत्रियादि नहीं। इस प्रथाके अनुसार दण्डधारी संन्यासी ब्राह्मण ही होते हैं, उनसे अन्य नहीं। यह ठीक भी है, क्योंकि उपदेशादि कार्यमें ब्राह्मण ही अधिक कुशल तथा शास्त्रविहित हैं। इनसे ही उपदेश लिया करे, इस व्यवस्थाके लिए इतना भेद कर दिया गया है, पर अब यह भेद अकिञ्चित्कर हो गया है, क्योंकि ब्राह्मण भी दण्डधारणके

विना संन्यासी देखे जाते हैं, इसलिए यह कहना कठिन हो गया है कि अदण्ड-धारी संन्यासीसे उपदेश ग्रहण करना ठीक नहीं, क्योंकि संभव हो सकता है कि दण्डधारणके विना ही ब्राह्मण संन्यासी हो। हां, दण्डके धारण और अधारणसे संन्यास दो प्रकारका होता है, इसमें अन्य शास्त्रीय प्रमाण विद्वानोंको खोजने चाहिएँ अभी तक हमें वे नहीं मिले हैं। यद्यपि सारग्रन्थमें ऐसी व्यवस्था है, तथापि इसमें मूलभूत प्रमाणका उपन्यास नहीं किया गया है। केवल सिद्धवत् निर्देशमात्र है। पर मूल वार्तिकमें यह व्यवस्था नहीं है। वार्तिककार केवल इतना ही लिखते हैं कि 'ब्राह्मणवत् क्षत्रियवैश्ययोरपि संन्यासाधिकारस्तदा विशेषणमुपलक्षणार्थम्, आचारादृष्टिस्तु प्रत्युक्ता'। 'प्रत्युक्त' पदसे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि वार्तिककारके समयमें श्रीविद्यारण्यस्वामिकृत् व्यवस्था नहीं थी, पर इतर जातिके लोग दण्डग्रहण नहीं करते थे, अन्यथा प्रत्युक्तिकी अपेक्षा अन्य भी दण्डग्रहण करते हैं, ऐसा ही कहा जाता। यदि ऐसा होता, तो संन्यासकी उक्त द्वैविध्यव्यवस्था ही नहीं हो सकती। परन्तु भाष्यकारका अभिप्राय दण्डधारणपूर्वक संन्यासमें है, यह ठीक है, इसमें विशेषणविधया ब्राह्मणत्वकी विवक्षा की गई है। पर दण्डधारणकी चर्चा भाष्यकारने नहीं की है। सामान्यतः भाष्यकारने यही कहा है कि संन्यासमें ब्राह्मणका ही अधिकार है। स्मृतिविरोधका परिहार नहीं किया है। वार्तिककारने स्मृतिविरोधका परिहार ब्राह्मणत्वको उपलक्षण मानकर किया है। अब इस बातका निर्णय आवश्यक है कि क्षत्रियादिको दण्डधारण करना चाहिए या नहीं और यह भी विवेक करना आवश्यक है कि दण्डसे संन्यास तथा उसके द्वारा होनेवाले मोक्ष-जनक ज्ञानमें कुछ उपकार होता है या नहीं। यह तो निर्विवाद है कि मोक्ष एकरस तथा निरतिशय है। उसका साधन ज्ञान अखण्डाद्वैतात्मसाक्षात्कार भी सम ही है। क्षत्रिय और वैश्य भी मोक्षके अधिकारी हैं, अतः उनको भी आत्मसाक्षात्कार होता है। यद्यपि उसके साधन संन्यासका अधिकार उनको भी है, तथापि दण्डधारणमें नहीं है। स्वामी विश्वेश्वरकृत यतिधर्मनिर्णयमें संन्यासाधिकारमें लिखा है—

'ब्रह्मचारी गृहस्थो वा वानप्रस्थोऽथवा पुनः।
विरक्तः सर्वकामेभ्यः पारिव्राज्यं समाहितः॥
अन्धः पङ्गुर्दरिद्रो वा विरक्तः संन्यसेद् द्विजः।
सर्वेषामेव वैराग्यं संन्यासे तु विधीयते॥' इत्यादि।

ब्रह्मचारी, गृहस्थ या वानप्रस्थ कोई भी हो, सम्पूर्ण कामनाओंका परित्याग

कर, एकाग्रचित्त हो पारिव्राज्यका (संन्यासका) धारण करे। द्विज चाहे अन्धा हो, पङ्गु हो या दरिद्र हो, विरक्त होकर संन्यासी होवे। सभीके संन्यासमें वैराग्यका विधान है, यह उक्त श्लोकोंका तात्पर्यार्थ है। यहाँपर भी द्विजशब्द क्षत्रिय आदि-साधारण है। दण्डलक्षणमें लिखा है—

'धारयेद् वैणवं दण्डं न स्थूलं न कृशं तथा।
तस्य चाऽग्रे च मूले च ग्रन्थिं त्यक्त्वा तु धारयेत्॥
द्विचत्वारि षडष्टौ वा ह्यङ्गुलानि समाहितः।
न न्यूनं नाऽतिरिक्तं च द्विगुणं मूलतोऽग्रके॥'

बाँसका दण्ड धारण करे, वह न स्थूल हो, न कृश हो, उसके आगे और मूलमें ग्रन्थि नहीं होनी चाहिए। दो अङ्गुल, चार अङ्गुल, छः अङ्गुल या आठ अङ्गुल मूलमें रक्खा जाय, तो उससे द्विगुणित अग्रभागमें रखना चाहिए, उससे न्यून और अधिक नहीं। इत्यादि।

दण्डके त्यागमें लिखा है—

'त्रिदण्डं कुण्डिकां चैव सूत्रं चाऽथ कपालिकाम्।
जन्तूनां वारणं वस्त्रं सर्वं भिक्षुः परित्यजेत्॥

(त्रिदण्ड, कमण्डलु, सूत्र, खप्पर, जन्तुओंका वारण और वस्त्र सभीका भिक्षु त्याग करे)।

परमहंस इन सभीका त्याग करता है अर्थात् परमहंसके लिए दण्डधारणकी विधि नहीं है।

मुखजानामयं धर्मो वैष्णवं लिङ्गधारणम्।
बाहुजातोरुजातानां नाऽयं धर्मो विधीयते॥
न तावन्मुच्यते दुःखात् जन्मसंसारबन्धनात्।
यावन्न धारयेद् विप्रो वैष्णवं लिङ्गमुत्तमम्॥'

(वैष्णव लिङ्गका धारण करना, ब्राह्मणोंका धर्म है, क्षत्रिय और वैश्योंका नहीं। तबतक जन्मसंसाररूप दुःखसे ब्राह्मण मुक्त नहीं होता, जबतक वह वैष्णव लिङ्गका ग्रहण नहीं करता) इत्यादि।

यहाँपर यदि वैष्णवलिङ्गसे संन्यास विवक्षित है, तो भाष्यकारका मत ठीक है, क्योंकि उनके मतसे क्षत्रिय आदिका अधिकार उसमें नहीं है; किन्तु उपलक्षण-

माननेवाले वार्तिककारका एवं द्विविध संन्यासकी व्यवस्था करनेवाले वार्तिकसारकारका मत असङ्गत हो जायगा, क्योंकि यदि क्षत्रिय आदिका अधिकार ही नहीं है, तो उपलक्षण और अदण्ड संन्यासकी व्यवस्थाकी क्या आवश्यकता है ? उक्त स्मृतिके विरोधका भी परिहार नहीं हो सकता। यदि उक्त श्लोकोंमें वैष्णवके स्थानमें 'वैणव' यह पाठ हो तो वार्तिकसारकारकी व्यवस्था ठीक है और वार्तिककारका भी उपलक्षण पक्ष ठीक होता है और भाष्यकारका तात्पर्य्य दण्डधारणपूर्वक संन्यासमें मानकर विशेषण पक्ष भी ठीक हो सकता है, इस विषयमें विद्वद्गण स्वयं विचार कर लें। यह श्लोक कहाँका है, यह नहीं लिखा है। यदि मूलका निर्देश होता, तो प्रकरण आदिसे यथार्थ निर्णय करनेमें बहुत सहायता मिलती। यह विषय जटिल है, इसका विचार स्वतन्त्ररूपसे होना ठीक है। यहाँपर प्रसङ्गवश यह विचार आ गया है, सो सन्दिग्ध ही रहने देते हैं। ब्रह्मविद्यामें ब्राह्मणका ही विशेषतः अधिकार है, इत्यादि तर्क भी शुष्क है, क्योंकि उपनिषद् और पुराणके परिशीलन करनेवाले महाशयोंसे यह छिपा नहीं है कि आरुणि प्रभृति महर्षिगण ब्रह्मविद्याभ्यासके लिए अजातशत्रु प्रभृति राजाओंके समीप गये थे और उन्होंने उनसे ब्रह्मविद्याका अध्ययन भी किया था। श्रीजनक राजर्षिके पास ब्रह्मविद्याके अध्ययनार्थ चतुर्वेदाभिज्ञ श्रीवेदव्यास भगवान्‌के सुपुत्र वीतराग श्रीशुक पिताकी प्रेरणासे गये थे और कृतकार्य हुए थे। अष्टावक्र आदिकी कथा भी प्रसिद्ध ही है। श्रीयाज्ञवल्क्यजीने दण्डधारण किया था या नहीं यह भी स्पष्ट नहीं मालूम होता। शुक आदि तो परमहंसोंमें थे, इसलिए उनको दण्डधारणकी आवश्यकता ही नहीं थी। सारांश यह है कि फलात्मा संन्यास ब्रह्मसाक्षात्काराधीन है, इसलिए विधेय नहीं है और साधनस्वरूप संन्यास चाहे प्रयोजक ज्ञानाधीन हो, चाहे परोक्षज्ञानकृत हो यद्यपि विधेय हो सकता है, तथापि त्याग ज्ञानका हेतु है, इस दृष्टिसे उसमें ब्राह्मणका ही अधिकार है, यह नियम हेतुशून्य है।

शङ्का—क्यों ?

समाधान—उक्त अन्यतरस्वभाव ज्ञान संन्यासका प्रयोजक है, ऐसा माननेपर जिसको व्युत्थापक ज्ञान होगा, वह संन्यासमें अधिकारी है। इसमें ब्राह्मणका ही नियम कैसे ?

शङ्का—यदि त्रैवर्णिकका संन्यासमें अधिकार है, तो उसके विधायक वाक्यमें ब्राह्मण ग्रहण क्यों किया ?

विद्याङ्गतत्फलात्मानं गार्गीविदुरयोरपि ।
स्त्रीशूद्रयोर्भाष्यकारः संन्यासमनुमन्यते ॥ ३८ ॥

समाधान—ब्राह्मणग्रहण उपलक्षणार्थक है, यह पूर्वमें कह चुके हैं और व्युत्थानपूर्वक ब्रह्मसाक्षात्कार होनेपर निश्शेष अविद्याकी निवृत्ति हो जाती है, अतः फलावस्थामें श्रुति स्वयं कहती है—'अमौनं मौनं च निर्विद्याथ ब्राह्मणः' ब्राह्मण ब्रह्मस्वरूपतापन्न होता है, यह आगे स्पष्ट हो जायगा ॥ ३७ ॥

'विद्याङ्गत०' इत्यादि । भाष्यकार भगवान् श्रीशङ्कराचार्य विदुरादि शूद्र और गार्गी प्रभृति स्त्रियोंका सर्वकर्मफलत्यागरूप संन्यास मानते हैं । अपशूद्राधिकरणमें यह विचार आया है कि औपनिषद ब्रह्मविज्ञानमें स्त्री और शूद्रका अधिकार है या नहीं ? ऐसा संशय करके कर्मकाण्डके समान ब्रह्मविद्यामें स्त्री और शूद्रका अधिकार नहीं है, यह समाधान किया है । यद्यपि देवताओंका वेदाध्ययनाङ्ग उपनयन आदिमें अधिकार नहीं है तथापि वे स्वयंभातवेद हैं, अतः उनका ब्रह्म विद्यामें अधिकार माना जाता है । शूद्रादि स्वयंभातवेद नहीं हैं । वेदाध्ययनके बिना उसका विचार नहीं कर सकते । उपनयनादि संस्कारोंके अभावसे उन्हें वेदके अध्ययनका अधिकार नहीं है । प्रत्युत 'पद्यु ह वा' इत्यादि शास्त्रसे उनके लिए वेदाध्ययनका निषेध है । निषेध यहां तक लागू है कि उनके समीपमें ब्राह्मणोंको भी वेदाध्ययन नहीं करना चाहिए, इस विषयको अनेक श्रुति और स्मृति तथा सदाचारोंसे सिद्ध कर अन्तमें कहा कि पूर्व जन्मोंके सुकृतके संस्कारवश जिन विदुर, धर्मव्याध आदिको ज्ञानोत्पत्ति हुई है, उनमें फलप्राप्तिका प्रतिषेध नहीं कर सकते, कारण कि ज्ञानका फल नियत है; ऐसा अनियत नहीं कि ज्ञान होनेपर भी शूद्र है, इसलिए फल न हो ।

शङ्का—यदि ज्ञान हुआ, तो उसके कारण श्रवणको भी मानना पड़ेगा अन्यथा श्रवणमें ज्ञानकारणत्व ही सिद्ध नहीं होगा ।

समाधान—हाँ, इतिहास, पुराण आदि द्वारा श्रवणका विधान है । 'श्रावयेच्चतुरो वर्णान्' इत्यादि स्मृति है । वेदपूर्वक श्रवणका निषेध है अर्थात् वेद पढ़कर उसके द्वारा आत्मविचार न करे । यदि शूद्र आदि विरक्त तथा ब्रह्मजिज्ञासु हों, तो पुराणादि द्वारा आत्माका श्रवण कर मुक्त हो सकते हैं । अतएव विदुरजीने स्पष्ट ही कहा है कि 'शूद्रयोनावहं जातो नाऽन्यद्वक्तुं समुत्सहे' इत्यादि । अर्थात्

पुत्रैषणेति पुत्रार्थं दारस्वीकारवाञ्छनम् ।
कर्मणां साधने वित्ते तृष्णा वित्तैषणा मता ॥ ३९ ॥

शूद्रयोनिमें मैं उत्पन्न हुआ हूँ, अतः अन्य कुछ कहनेमें असमर्थ हूँ । इस न्यायसे भाष्यकार क्षत्रिय और वैश्यका भी संन्यासमें अधिकार मानते हैं ।

शङ्का—फिर संन्यासमें ब्राह्मणका ही अधिकार है, अन्य जातिका नहीं, यह कैसे कहा ?

समाधान—इसका तात्पर्य दण्डग्रहणपूर्वक संन्यासमें है । वस्तुतः आजकलका झगड़ा संन्यासके वेशके विषयमें है । सर्वकर्मफलत्यागपूर्वक स्वाश्रमविहित कर्मफल अथवा उस कर्मके त्यागपूर्वक आत्मचिन्तनमें कोई अधिकारका प्रश्न ही नहीं होता । हर-एक जातिमें विशिष्ट पुरुष होते हैं, जिनका वास्तविक लक्ष्य परमात्मचिन्तन ही होता है, इस विषयकी विशेष जिज्ञासा हो, तो पुराण आदि देखिए । केवल लिङ्गधारण व्यर्थ है और इस विषयका विवाद भी निष्प्रयोजन अतएव हेय है ॥ ३८ ॥

व्युत्थान (संन्यास) किसका विवक्षित है ? इस आकाङ्क्षाकी निवृत्तिके लिए त्यागप्रतियोगियोंका निर्देश करनेकी इच्छासे प्रथम पुत्रैषणाशब्दका अर्थ कहते हैं—'पुत्रैषणेति' इत्यादिसे ।

पुत्रकी उत्पत्तिके लिए दारपरिग्रहकी इच्छाको पुत्रैषणा कहते हैं अर्थात् पुत्रके लिए उपयोगी दाराके लिए उद्योग पुत्रैषणा है एवं कर्मसाधन वित्त (धन) की तृष्णा वित्तैषणा कही जाती है ।

शङ्का—वित्तैषणाका धनेच्छा या धनोपार्जनेच्छा यह अर्थ स्पष्ट है, फिर कर्मसाधन कहनेका क्या तात्पर्य ?

समाधान—धन कुठारवत् स्वयं पुरुषार्थ नहीं है, कुठार छेदनका साधन अवश्य है, पर जैसे उक्त कार्य पुरुषप्रयुक्त उद्यमन तथा निपातन व्यापारके बिना नहीं होता, वैसे ही द्रव्य सुखसाधन है, किन्तु स्वरूपसत्तामात्रसे स्वर्ग आदि फलका जनक नहीं होता, अतः तदर्थ कर्मसाधनकी उक्ति है । उचित शरीरयात्रा तो स्वल्पधनसे भी होती है । अहित उपभोग तो शास्त्र आदिसे गर्हित है । 'विद्या विवादाय धनं मदाय' (विद्या विवादके लिए और धन मदके लिए) इत्यादि स्पष्ट है । साधुजनोंके विद्या और द्रव्य 'ज्ञानाय दानाय' इत्यादिसे साधु कर्मके साधन माने जाते हैं ।

लोकैषणेति देवादिलोकार्थोपासनार्थिता।
न कश्चिदन्यः संसार उक्तादस्त्येषणात्रयात् ॥ ४० ॥

'दद्यात्, जुहुयात्, यजेत' इत्यादिसे विहित याग, दान, होम ये तीनों कर्म द्रव्यसे साध्य हैं, अतः तदर्थ वित्तैषणाका भी त्याग करना चाहिए। ऐहिकामुष्मिक फलभोगमें वैराग्य रखनेवाले पुरुषको जब कर्म करना ही नहीं है, तब उसके लिए वित्तैषणाका त्याग समुचित ही है।

शङ्का—लोकैषणासे वित्तका संग्रह हो जाता है फिर वित्तैषणाका पृथक् उपादान क्यों किया ?

समाधान—नित्यकर्मके साधन द्रव्यकी इच्छा वित्तैषणा है और काम्य कर्मके साधन द्रव्येच्छाको लोकैषणा कहते हैं, अन्यथा श्रुतिमें पुनरुक्त दोष हो जायगा ॥३९॥

'लोकैषणेति' इत्यादि। देव आदि लोककी प्राप्तिकी हेतुभूत उपासनार्थिता लोकैषणा है, इसीमें सब कामोंका अन्तर्भाव हो जाता है। एषणात्रयसे अतिरिक्त कोई संसार नहीं है, यह स्पष्ट है, अतः विरक्त जिज्ञासुका एषणात्रयसे व्युत्थान होना ठीक ही है।

शङ्का—क्यों ?

समाधान—त्रिविध कर्म अज्ञानपूर्वक कामसे ही होते हैं। अतः कामसे विरक्त विविदिषुकी एषणामें प्रवृत्ति कैसे हो सकती है ? फलेच्छाशून्य होनेके कारण वह उसके साधनका अनुष्ठान नहीं करता।

शङ्का—विरक्त कर्मोंका त्याग करेगा, तो कर्म कौन करेगा ?

समाधान—'सोऽकामयत' इत्यादि श्रुतिसे प्रमित कामनावान् देवताओंका पशु (अज्ञ) कर्माधिकारी है, यह पूर्वमें कह चुके हैं ?

शङ्का—ज्ञानी जनक आदि भी कर्म करते थे, अतः अज्ञानी ही कर्म करते हैं, यह नियम कहाँ रहा ?

समाधान—जिसके अज्ञानसे कर्ममें प्रवृत्ति होती है, उसके ज्ञानसे पुनः प्रवृत्ति कैसे हो सकती है ? अज्ञानकी लेशानुवृत्तिसे लोकानुग्रहार्थ जनकादि कर्म करते थे, फलेच्छासे नहीं, यह भगवान्ने गीतामें स्पष्ट कहा है—'न मे कर्मफले स्पृहा', 'उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम्' (मुझे कर्मके फलमें स्पृहा नहीं है। यदि मैं कर्मका त्याग कर दूँ, तो ये लोग नष्ट हो जायँगे) इत्यादि। जो

मनुष्यलोकः पुत्रेण पितृलोकस्तु कर्मणा ।
विद्यया देवलोकश्चेत्यब्रवीत् सङ्ग्रहं श्रुतिः ॥ ४१ ॥
न्याय्यां वृत्तिं समुल्लङ्घ्य तद्विरुद्धतया स्थितिः ।
व्युत्थानमुदितं राज्ञः सामन्तो व्युत्थितो यथा ॥ ४२ ॥
भिक्षया लक्ष्यते चर्या परिग्रहविवर्जिता ।
किं भोग्यं परिगृह्णीयात्सर्वभोग्येषु दोषदृक् ॥ ४३ ॥

रागादिके प्राबल्यसे कर्मका त्याग नहीं कर सकता, वह पुरुष रागादिका शमन करनेके लिए कर्म करे । गीतामें भी ऐसा ही कहा है—'आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते' (योगपर आरुढ़ होनेकी इच्छावाले योगीका कर्म साधन है) इत्यादि ॥४०॥

'मनुष्यलोकः' इत्यादि । पुत्रसे मनुष्य-लोकका, कर्मसे पितृलोकका और विद्यासे देवलोकका जय होता है, इस प्रकार श्रुतिने संग्रह कहा है ॥ ४१ ॥

'न्याय्याम्०' इत्यादिसे ।

शङ्का—व्युत्थानपदका अर्थ क्या है ?

समाधान—एषणात्रयकी अनुकूल स्थितिका अतिक्रमण अर्थात् एषणात्रयकी प्रतिकूल स्थितिको व्युत्थान कहते हैं, यह लोकमें प्रसिद्ध है, जैसे—महाराजाधिराजसे सामन्तका विरोध होनेपर सामन्तकी स्थिति पूर्ववत् नहीं रहती, किन्तु प्रतिकूल हो जाती है, इसलिए लोकमें ऐसा कहा जाता है कि आजकल सामन्त व्युत्थित है। यहांपर भी व्युत्थानशब्दका लोकवत् प्रयोग है। फलेच्छाके समयमें जैसी कर्मानुष्ठानमें निष्ठापूर्वक प्रवृत्ति थी, वैराग्यदशामें उसके प्रतिकूल आत्मश्रवण और मनन आदिमें ही प्रवृत्ति होती है, कर्ममें नहीं । प्रत्युत कर्मका त्याग ही होता है । लोक और वेदमें शब्दार्थ नहीं बदलते 'य एव लौकिकाः त एव वैदिकाः' (जो वैदिक हैं, वे ही लौकिक हैं अर्थात् जिस प्रकार शब्द लोकमें अर्थबोध कराते हैं, वैसे ही वेदमें भी कराते हैं, ऐसी विद्वानोंकी धारणा है ।) इससे तीन एषणाओंके प्रतिकूलत्वसे निर्व्यापार स्थित रहना व्युत्थानका निचोड़ अर्थ है ॥ ४२ ॥

'भिक्षया' इत्यादि । शरीरयात्रामात्रके निर्वाहमें हेतु भिक्षान्नसे अतिरिक्त पूर्ण भोग्य वस्तुके त्यागमें भिक्षापदकी लक्षणा है । यह चर्या (आचरण) विवेकियोंको अतिसुलभ है । इसमें कारण यह है कि जो पुरुष सब भोग्य पदार्थोंमें दोष देखता है, उसकी प्रवृत्ति भोग्य पदार्थके संग्रहमें कैसे होगी ? सचेता पुरुष इष्ट-

लोकत्रयार्थैषणाभ्यो व्युत्थानं चाऽपरिग्रहः ।
द्वयं बोधमहिम्नैव विदुषां न तु यत्नतः ॥ ४४ ॥
आनन्दैकस्वभावं स्वमात्मानं पश्यतः कुतः ।
कामः परिग्रहो वा स्याद्योऽकाम इति वक्ष्यति ॥ ४५ ॥

साधनोंका ही संग्रह करता है, क्योंकि वह जानता है कि भविष्यमें इसके द्वारा मेरी अमुक इष्टसिद्धि होगी। जानकार अनिष्टसाधनोंका संग्रह कभी नहीं करता, विषयोंमें दोषदर्शनके बिना वैराग्य परिपक्व नहीं होता। वैराग्यके बिना आत्मज्ञानका अधिकारी कोई नहीं हो सकता। एषणा और काम पर्यायवाची शब्द हैं। कामना अप्राप्त विषयकी होती है। मुमुक्षु आत्मामें ही अवाप्तकाम है, अतः उसमें कामनाविरहप्रयुक्त कर्माभाव स्वतःसिद्ध है ॥ ४३ ॥

'लोकत्रयार्थै०' इत्यादि। लोकत्रयके अर्थात् मनुष्यलोक, पितृलोक और देवलोक—इन तीन लोकोंके लिए जो तीन एषणाएँ होती हैं—पुत्रैषणा, वित्तैषणा और कर्मैषणा—इन तीनोंसे व्युत्थान और विषयापरिग्रह ये दोनों विद्वान्‌को बोधमहिमासे ही प्राप्त होते हैं, इनके लिए यत्नकी कोई आवश्यकता नहीं है, वास्तवमें ये ही विद्वान्‌के लक्षण हैं ॥ ४४ ॥

'आनन्दैक०' इत्यादि।

शङ्का—विषयसुखकी अपेक्षा अधिक सुखकी इच्छा तो हो सकती है?

समाधान—वह तो आत्मस्वरूप मोक्ष है, सो प्राप्त ही है। इच्छा अप्राप्त विषयकी होती है। आत्मा सबको प्राप्त ही है, अतः तद्विषयक इच्छा नहीं हो सकती।

शङ्का—अच्छा, तो दुःखनिवृत्तिकी कामना हो सकती है, क्योंकि वह भी पुरुषार्थ है।

समाधान—सुख और दुःख—ये दोनों तम और प्रकाशके समान परस्परविरोधी हैं। आनन्दघनावस्थामें दुःखका सम्भव ही नहीं है। सूर्य भगवान्‌को अन्धकारकी निवृत्तिकी इच्छा कहाँ? 'योऽकामः' इत्यादि श्रुतिने कामनाके सामान्याभावका स्फुट निर्देश किया है। सुख और दुःखनिवृत्तिकी इच्छाके विरहसे परिग्रहाभाव स्वतः प्राप्त होता है, क्योंकि परिग्रह स्वयं पुरुषार्थ नहीं है, किन्तु उक्त पुरुषार्थका साधन है। फलेच्छाकी निवृत्ति होनेपर उसके उपायमें निवृत्ति स्वाभाविक है॥ ४५ ॥

न दुःखहानयेऽप्यस्य साधनानां परिग्रहः ।
बुभुक्षादिनिषेधेन निर्दुःखात्माऽवबोधनात् ॥ ४६ ॥
विदुषः कृतकृत्यत्वात् स्मार्तं संन्यासलिङ्गकम् ।
भाष्य आश्रममात्रैकशरणानामितीरितम् ॥ ४७ ॥
न यथेष्टाचारशङ्का तस्येष्टानिष्टवर्जनात् ।
आरब्धक्षपणायैव तस्य देहः प्रवर्त्तते ॥ ४८ ॥

'न दुःख०' इत्यादि । उक्तार्थका ही स्पष्टीकरण किया है। अतः श्लोकार्थ स्फुट है ॥ ४६ ॥

'विदुषः' इत्यादि ।

शङ्का—यदि विद्वान् सर्वथा परिग्रहसे उदासीन है, तो दण्डका भी उसे परिग्रह नहीं करना चाहिए ।

समाधान—हाँ, कृतकृत्य विद्वान् दण्डका भी त्याग करता है ।

शङ्का—दण्ड भी स्मार्त संन्यासका लिङ्ग है, अतः उसका त्याग करना अनिष्टापत्ति है।

समाधान—नहीं, इष्टापत्ति ही है, अनिष्टापत्ति नहीं है ।

शङ्का—'त्रिदण्डेन यतिश्चरेत्' इत्यादि स्मृतिबोधित लिङ्गसे रहित यति कैसे हो सकता है ?

समाधान—'अव्यक्तलिङ्गा अव्यक्ताचाराः' इत्यादि श्रुतियोंसे विद्वान् संन्यासी लिङ्गसे (दण्ड आदिसे) रहित ही होता है । वस्तुतः स्मृति आदि शास्त्र अविद्वद्विषयक ही हैं, अतः विधि और निषेध भी अविद्वत्संन्यासविषयक ही हैं । विद्वान् तो उक्त विधि-निषेधसे परे है, अतएव भाष्यकारने स्पष्ट ही कहा है कि 'स्मार्तलिङ्गमाश्रममात्रशरणानां जीवनसाधनपारिव्राज्यव्यञ्जकम्' इत्यादि । अर्थात् ज्ञानके बिना केवल लिङ्गधारण जीवननिर्वाहके लिए होता है, दण्ड आदिके धारणसे समुचित आदरके साथ भिक्षा मिलेगी, इस बुद्धिसे ज्ञानोपयोगी व्यापारसे शून्य दण्ड आदिका धारण करते हैं ॥ ४७ ॥

'न यथेष्टा०' इत्यादि ।

शङ्का—यदि विद्वान्के लिए विधिनिषेधशास्त्र नहीं हैं, तो विधिनिषेधके उल्लङ्घनसे जनित प्रत्यवायका भय न होनेसे विद्वान्की निषिद्ध कर्ममें भी प्रवृत्ति हो सकेगी ।

फलात्मकोऽयं संन्यासस्तत्त्वविद्यापुरःसरः ।
अन्यो विविदिषात्याग आपातज्ञानरूपकः ॥ ४९ ॥

समाधान—नहीं, अनिष्ट कर्ममें प्रवृत्ति इष्टसाधनताके भ्रमसे अथवा बलवान् द्वेषसे दूषित हृदयवाले मनुष्योंकी होती है, तत्त्वज्ञानीका हृदय दोषशून्य अतएव अतिपरिशुद्ध होता है, अतः कर्ममें प्रवृत्तिकी सम्भावना नहीं, जो सब फलोंसे विमुख है, अतएव उदासीन रहता है, उसकी जब इष्टसाधनमें ही प्रवृत्ति नहीं होती, तो फिर अनिष्टसाधनमें उसकी प्रवृत्ति कैसे होगी ?

शङ्का—विद्वान् यदि सर्वथा कामनारहित हो जाता है, तो भिक्षाचरण आदिमें भी उसकी प्रवृत्ति नहीं होगी।

समाधान—प्रारब्ध कर्मके भोगके लिए उसका शरीरके साथ सम्बन्ध है। यदि शरीरयात्रोपयोगी कर्ममें उसकी प्रवृत्ति नहीं होगी, तो शरीर नहीं रह सकेगा, इसलिए उक्त कर्ममें अनासक्तिपूर्वक प्रवृत्ति मानी जाती है।

शङ्का—अच्छा तो प्रारब्धवश निषिद्ध कर्ममें भी प्रवृत्ति हो सकती है। यह कहनेमें कोई प्रमाण नहीं है कि उनका निषिद्धकर्ममें प्रवृत्तिप्रयोजक प्रारब्ध ही नहीं है।

समाधान—प्रमाण क्यों नहीं, अर्थापत्ति ही प्रमाण है। यदि उनमें उक्तकर्ममें प्रवृत्तिकी हेतु वासना होती, तो तत्त्वज्ञान ही उत्पन्न नहीं होता। उक्त ज्ञानोत्पत्ति ही तादृश वासनाभावमें प्रमाण है। 'भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः। क्षीयन्ते चास्य कर्माणि' इत्यादि श्रुति तथा 'ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन' इत्यादि स्मृतियाँ उक्त अर्थमें प्रमाण हैं।

शङ्का—तब तो प्रारब्धकर्म भी उक्त हेतुसे नष्ट हो जाता है, यह भी मानना पड़ेगा। इस परिस्थितिमें उक्त समाधान ही असंगत हो जायगा।

समाधान—प्रारब्धकर्मसे अतिरिक्त कर्मोंका नाश ज्ञानसे माना जाता है। 'तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्ये' (उसकी आत्मस्वरूपापत्तिमें उतनी ही देर है जितनेमें प्रारब्धकर्मके क्षयसे देहपात होता है) इत्यादि श्रुति 'नाभुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि' इत्यादि शास्त्रके अनुसार नाश्य कर्मोंमें प्रारब्धातिरिक्तत्वका निवेश होता है। प्रारब्धकर्मका नाश होनेपर देहपात और तदनन्तर विदेहकैवल्य माना जाता है॥४८॥

'फलात्मको०' इत्यादि। संन्यास दो प्रकारका होता है—एक तत्त्वविद्यापुरःसर, जिसको फलात्मक कहते हैं और दूसरा आपात ज्ञानरूप, जिसको

विविदिषात्याग कहते हैं। भाव यह है कि 'एवं विदित्वा व्युत्थाय' ऐसा अन्वय करनेपर आत्मवेदनपूर्वक संन्यासका बोध होता है। इसको विद्वत्संन्यास कहते हैं। यह संन्यास ज्ञानका साधन नहीं है, क्योंकि पूर्वमें श्रवण आदिसे ज्ञान उत्पन्न हो चुका है, किन्तु विद्वान्‌का लक्षण और विद्याका फल है। अद्वैतात्म-साक्षात्कार होनेपर 'यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं पश्येत्' इत्यादि श्रुतिके अनुसार साध्य, साधन, इतिकर्त्तव्यता आदि भेदोपयोगी द्वैतज्ञानके उपमर्दनसे स्वतः सब कर्मोंका त्याग हो जाता है। वासनाकी अनुवृत्तिसे कथञ्चित् द्वैतभावके रहनेपर भी कर्मोंमें श्रद्धा नहीं रहती, 'अश्रद्धया हुतं दत्तम्' इत्यादि स्मार्तवचनके अनुसार श्रद्धाहीन पुरुष कर्माधिकारी नहीं हो सकता। अनधिकारी द्वारा कृत कर्मका फल नहीं होता। यदि ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य लोभ करें, तो उसका कुछ फल नहीं है, यह पूर्वमीमांसाका सिद्धान्त है, तथा सर्वमान्य है। उपेयके सिद्ध होनेपर उपायमें अप्रवृत्ति लोकानुभवसिद्ध भी है। 'व्युत्थाय विदित्वा' ऐसा व्यत्यास करके अन्वय करनेपर पहले त्याग तदनन्तर आत्मज्ञानका लाभ होता है। यह द्वितीय संन्यास है, इसमें आपाततः अद्वैतात्मज्ञान होता है अर्थात् परोक्षात्मक शाब्द निश्चय होता है, अतः जिज्ञासुके तादृश आत्मयाथात्म्यज्ञानका साधन संन्यास है। इसका लाभ 'व्युत्थाय विदित्वा' ऐसा अन्वय करनेसे होता है।

शङ्का—ऐसा अन्वय करनेमें प्रमाण?

समाधान—अनेक श्रुतियों और स्मृतियोंके वाक्य प्रमाण हैं—

'मुक्तेश्च बिभ्यतो देवा मोहेनापिदधुर्नरान्।
प्रावर्तन्त ततो भीताः कर्मस्वज्ञाततत्त्वकाः॥
सर्वकर्माण्यतस्त्यक्त्वा प्रत्यक्प्रवणबुद्धयः।
मोहं भित्वाऽऽत्मसंबोधाद् ययुः कैवल्यमुत्तमम्॥'

'पराञ्चि खानि व्यतृणत्स्वयंभूः' इत्यादि। 'वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः संन्यासयोगाद् यतयः शुद्धसत्त्वाः' इत्यादि (मुक्तिका सम्पादन ये न कर लें, इस डरसे मनुष्योंको देवताओंने मोहित किया। मनुष्य आत्मतत्त्वको न जानकर कर्मोंमें प्रवृत्त हुए। [परन्तु उसमें विशेष तत्त्वको न देखकर] आत्मतत्त्वको जाननेकी इच्छासे मनुष्योंने आत्मप्रवणबुद्धि होकर मोहका भेदन कर आत्मज्ञानसे उत्तम कैवल्य प्राप्त किया), (स्वयंभूने इन्द्रियोंको बहिर्मुख बनाया है), (वेदान्तविज्ञानसे निश्चित अर्थवाले संन्यासयोगसे शुद्धसत्त्व यति) यह इन वाक्योंका अर्थ है ॥४९॥

ज्ञानद्वयं विवक्षित्वा विदित्वेत्यस्य कीर्तनात् ।
त्यागद्वयं लक्ष्यतेऽत्र व्यत्ययेनाऽन्वयं विना ॥ ५० ॥
न ज्ञानिवद्विविदिषोस्त्यागः स्वाभाविकस्ततः ।
भिक्षाचर्यं चरन्तीति साधनत्वेन तद्विधिः ॥ ५१ ॥
त्याग एव हि सर्वेषां मोक्षसाधनमुत्तमम् ।
इत्यादिश्रुतिषु स्पष्टं साधनत्वमुदीरितम् ॥ ५२ ॥

'ज्ञानद्वयम्' इत्यादि । व्यत्ययसे अन्वयके बिना भी उक्त दो अर्थोंके बोधका उपाय लक्षणा है । उक्त ज्ञानद्वयकी विवक्षा विदित्वा पदमें है । एक विद्वान्‌का ज्ञान जो तत्त्वज्ञान है और दूसरा जिज्ञासुका ज्ञान जो आपाततः कहा गया है । उक्त दो ज्ञानोंके अनुसार दो व्युत्थानोंका भी लक्षणासे लाभ हो सकता है । उक्त रीतिसे एक व्युत्थान विद्वान्‌का लक्षण है और दूसरा व्युत्थान जिज्ञासुके ज्ञानका साधन है; परन्तु इस द्वितीय व्याख्यानमें विशेष फल नहीं है । व्यत्ययसे अन्वयकी अपेक्षा लक्षणामें विशेष फल नहीं ॥ ५० ॥

'न ज्ञानि०' इत्यादि । जिज्ञासुका (विविदिषुका) कर्मत्याग ज्ञानीके कर्मत्यागके समान स्वाभाविक नहीं है, अतः 'चरन्ति' पद दो प्रकारका माना जाता है—एक अनुवादक और दूसरा विधायक । ज्ञानीका कर्मत्याग स्वाभाविक है, इसलिए उसमें विधिकी अपेक्षा नहीं है । विधि अप्राप्त अर्थमें मानी जाती है, स्वतः प्राप्तमें नहीं, इसलिए ज्ञानीके त्यागके विषयमें 'चरन्ति' यह पद अनुवाद है । जिज्ञासुका त्याग स्वतः प्राप्त नहीं है, अतः तदीय त्यागके लिए 'चरन्ति' इसमें विधि मानना आवश्यक है ।

शङ्का—'चरन्ति' यहां वर्तमानकालादिका बोधक 'लट्'लकार है, यह विधायक नहीं है ।

समाधान—विधिपक्षमें 'चरन्ति' यहां 'लेट्' लकार मानते हैं, यह लोकमें प्रयुक्त नहीं होता, केवल वेदमें ही इसका प्रयोग पाया जाता है । लिङर्थ ही इसका भी अर्थ है । विधि लिङर्थ है, अतः इसका विधि अर्थ होता है, जिज्ञासु अद्वितीयात्मज्ञानोत्पत्तिके लिए सब कर्मोंका त्याग कर ज्ञानसाधन श्रवण, मनन आदि न्यायमें ही सतत तत्पर हो ॥ ५१ ॥

'त्याग एव' इत्यादि । सबके मतमें त्याग ही मोक्षका उत्तम साधन है ।

फलसाधनभेदेन वाक्यभेदो भवेदिति ।
मा शङ्क्यतामपूर्वार्थलाभेनाऽदूषणत्वतः ॥ ५३ ॥
कश्चिद्यज्ञोपवीतादित्यागं नेच्छत्यसद्धि तत् ।
यज्ञं यज्ञोपवीतं च त्यक्त्वेति स्पष्टमीरणात् ॥ ५४ ॥

शङ्का—'तरति शोकमात्मवित्' इत्यादि श्रुतियोंसे आत्मज्ञान मोक्षका साधन माना गया है । त्याग मोक्षसाधन कैसे ?

साधन—मोक्षपद मोक्षौपयिक ज्ञानपरक है, उक्त ज्ञानका साधन त्याग है अथवा ज्ञान द्वारा त्याग ही मोक्षका साधन है, श्रुतिमें भी ऐसा ही कहा गया है । 'त्यागेनैके अमृतत्वमानशुः' इस श्रुतिमें त्याग मोक्षका साधन है, यह स्पष्ट है, इस अभिप्रायसे 'श्रुतिषु स्पष्टम्' कहा गया है ॥ ५२ ॥

'फलसाधन०' इत्यादि ।

शङ्का—'यदहरेव विरजेत्तदहरेव प्रव्रजेत्', 'व्युत्थाय भिक्षाचर्य्यं चरन्ति' इत्यादि वाक्योंसे यदि त्यागमें अपूर्वविधि मानते हो, तो त्यागमें ज्ञानहेतुत्वका विधान नहीं हो सकता । सिद्ध साधन होता है और असिद्ध साध्य (विधेय) होता है । एक पदार्थ एक कालमें सिद्ध और साध्य एतदुभयरूप नहीं माना जाता और एकवाक्यसे एक रूपसे ही उपस्थित होगा, दोनों रूपोंसे उपस्थिति होनेके लिए दो वाक्य मानने पड़ेंगे, ऐसा माननेसे वाक्यभेद दोष होगा । यदि एक वाक्य हो सके, तो वाक्यभेद शास्त्रकारोंने अनुचित माना है ।

समाधान—उक्त दो अर्थोंके लाभके लिए वाक्यभेद इष्ट ही है । इस अभिप्रायसे कहते हैं—फलसाधनोभयरूपसे बोध माननेपर वाक्यभेद हो जायगा, यह शङ्का मत करो, अपूर्व दो अर्थोंके लाभके लिए वाक्यभेद दोष नहीं है, प्रत्युत इष्ट है ॥ ५३ ॥

'कश्चिद्य०' इत्यादि । कोई संन्यासमें यज्ञोपवीतका त्याग नहीं करते, किन्तु यह ठीक नहीं है, क्योंकि यज्ञ और यज्ञोपवीतका त्याग स्पष्ट कहा है । जैसे—

'त्रिदण्डं कुण्डिकां चैव सूत्रं चाथ कपालिकाम् ।
जन्तूनां वारणं वस्त्रं सर्वं भिक्षुः परित्यजेत् ॥'

त्रिदण्ड, कण्डलु, सूत्र (यज्ञोपवीत), खप्पर, जन्तुओंका वारण और वस्त्र इन सबका भिक्षु परित्याग करे, यह अर्थ है । बोधायन महर्षिजीने त्याग-

विधिमें लिखा है—'अरण्यं गत्वा शिखामुण्डः काषायवासा वाङ्मनःकर्मदण्डै-र्भूतानामद्रोही यज्ञोपवीतं वेदं त्रिदण्डं कमण्डलुपात्रं परित्यज्य विसृज्य सर्व-कर्माणि' (अरण्यमें जाकर शिखासहित मुण्डित, कषायवस्त्रधारी, वाणी, मन और कर्म रूप दण्डोंसे भूतोंके साथ द्वेष न करनेवाला, यज्ञोपवीत, वेद, त्रिदण्ड, कमण्डलुपात्रका परित्याग कर एवं सम्पूर्ण कर्मोंका परित्याग कर) इत्यादि। आरुण्युपनिषद्में भी लिखा है—'आरुणिः प्रजापतेर्लोकं जगाम गत्वोवाच केन भगवन् कर्माण्य-शेषतो विसृजामीति तं होवाच प्रजापतिः तव पुत्रान् भ्रातॄन् बन्ध्वादीन् शिखां यज्ञोपवीतं यागं सूत्रं स्वाध्यायं चेत्यादि।' काठकमें भी लिखा है—'यज्ञोपवीतं वेदांश्च सर्वं तद्विसर्जयेद्यतिः।' परमहंसोपनिषद्में लिखा है—'असौ स्वपुत्रमित्र-कलत्रबन्ध्वादीन् शिखां यज्ञोपवीतं यागं सूत्रं च स्वाध्यायं च सर्वकर्माणि संन्यस्य' इत्यादि। बाष्कलने भी कहा है—'कुटुम्बं पुत्रदारांश्च वेदाङ्गानि च सर्वशः। यज्ञयज्ञोपवीतं च त्यक्त्वा गूढश्चरेन्मुनिः॥' इत्यादि। इन अनेक वचनोंसे स्पष्ट है कि संन्यासियोंको यज्ञोपवीतका भी त्याग अवश्य करना चाहिए। भाव यह है कि संन्यासमें सन्ध्याकी विधि है, पर संन्यास सम्प्रदायभेदसे दो प्रकारका प्रचलित है। शाङ्करमतानुयायी संन्यासी शिखा और सूत्रका भी त्याग करते हैं और एक वैणव दण्डका धारण करते हैं। रामानुजीय संन्यासी जिनकी संख्या कम है, वे शिखा-सूत्रधारण करते हैं और तीन वैणव दण्डोंका धारण करते हैं, इसलिए वे त्रिदण्डी कहलाते हैं। 'पुराणे यज्ञोपवीते विसृज्य नवमुपादाय आश्रमा-न्तरं प्रविशेत् त्रिदण्डी कमण्डलुमान्' इत्यादि वचनोंसे शास्त्रमें दोनों प्रकारकी विधि पाई जाती है। शिखासूत्रधारी संन्यासियोंका कहना है कि 'सदोपवीति-ना भाव्यं सदा बद्धशिखेन च' इत्यादि स्मृतियोंसे शिखासूत्रका धारण कर्माङ्गत्वेन विहित है। संन्यास आश्रममें भी भगवदर्चन, पुराणपारायण, श्रवण, वैदिकात्म-वाक्यश्रवण, मननादि, गुरुका सेवन, प्रणवजप आदि कार्य विहित हैं ही, शिखादिका धारण स्मृतियोंमें विवक्षित है। केवल बन्धनौपयिक कर्मोंका त्याग ही आत्मज्ञानियोंके लिए विहित है। प्रकृत ग्रन्थमें संन्यासकी व्यवस्था दो प्रकारसे की गई है। एक श्रौत संन्यास और द्वितीय स्मार्त। स्मार्त संन्यासमें शिखासूत्र आदिका धारण माना जा सकता है, श्रौतमें नहीं। 'मुण्डोऽपरिग्रहश्च' इत्यादि श्रुतिसे प्रसिद्ध शिखा, सूत्र आदिसे रहित संन्यासी ही मोक्षके अधिकारी हैं। श्रुति-विरोधसे स्मृति बाधित होती है। इसलिए स्मार्त संन्यास उपादेय नहीं है, कारण कि

किसी स्मृतिमें त्रिदण्डधारण है और किसीमें उसका निषेध है, अतः परस्पर-विरोधसे दोनों स्मृतियाँ अप्रमाण हैं। जैसे क्षणिकविशुद्धविज्ञानस्मृति और सर्वशून्यता विधि—ये दोनों परस्पर विरुद्ध होनेसे मान्य नहीं हैं वैसे ही त्रिदण्ड-धारणस्मृति उसके निषेधकी बोधक स्मृतिसे विरुद्ध होनेसे मान्य नहीं है।

शङ्का—उक्त न्यायसे जब निषेधबोधक स्मृति भी अप्रमाण है, तब शिखा-सूत्रादिका त्याग भी अप्रामाणिक हो जायगा।

समाधान—नहीं, उक्त निषेधमें 'मुण्डोऽपरिग्रहः' इत्यादि श्रुति ही साक्षात् प्रमाण है, इसलिए निषेधबोधक स्मृति प्रबल है, शिखादिविधायक स्मृतिकी मूल श्रुति नहीं है, अतः निर्मूल स्मृति प्रमाण नहीं है। जैसे 'औदुम्बरी सर्वा वेष्टयितव्या' (गूलरको चारों ओरसे लपेट लेना चाहिए।) यह स्मृति 'औदुम्बरीं स्पृष्ट्वोद्गायेत्' (गूलरका स्पर्शकर उद्गाता गान करे) इस श्रुतिसे प्रमाण नहीं है। यज्ञमें 'सामगाता उद्गाता गूलरकी शाखाका स्पर्श कर उक्त गान करे' ऐसी विधि श्रुतिमें है और स्मृतिमें गूलरकी उक्त शाखाको रक्त वस्त्रसे संपूर्ण वेष्टित करना लिखा है। यदि स्मृति-वचनसे उक्त शाखाको वेष्टित कर दें, तो उसका स्पर्शपूर्वक गान जो श्रुतिमें विहित है, वह नहीं हो सकेगा, इसलिए श्रौत अनुष्ठानके लिए स्मृति अप्रमाण मानी जाती है। यह पूर्वमीमांसाका सिद्धान्त है। तदनुसार यहां भी शिखादिके धारणकी बोधक स्मृति अप्रमाण है। शास्त्रमें लिखा है—'रागद्वेषमदोन्मादप्रमादालस्यलुब्धताः। क वा नोत्प्रेक्षितुं शक्याः स्मृत्यप्रामाण्यहेतवः॥ क्वचिद्भ्रान्तिः क्वचिल्लोभः क्वचिद् युक्तिविकल्पनम्। प्रतिभाकरणत्वेन निराकर्तुं न शक्यते॥' राग, द्वेष, मद, उन्माद, आलस्य, लुब्धता, ये स्मृतिके अप्रामाण्यके हेतु हैं, इनकी उत्प्रेक्षा कहाँ नहीं की जा सकती? कहीं भ्रान्ति, कहीं लोभ और कहीं युक्तियोंका विकल्प, ये सब प्रतिभाके सम्पादक हैं, अतः इनकी उपेक्षा कोई नहीं कर सकता। इत्यादि स्मृतिके अप्रामाण्यके कारण हैं, जिनका सहजमें परिहार नहीं हो सकता।

शङ्का—त्रिदण्डादिके धारणकी बोधिका स्मृति भी वेदमूलक अतएव उक्त अर्थमें प्रमाण है।

समाधान—मोक्षसाधन ज्ञानके लिए त्रिदण्डादिसाधारण संन्यासके विधायक वेदकी उपलब्धि होनेपर ऐसा कह सकते हैं, परन्तु तादृश वेद उपलब्ध नहीं है। हाँ, ब्रह्मलोकादिकी प्राप्तिके लिए यदि उक्त संन्यासका विधान मानें, तो ठीक है;

यज्ञोपवीतं भूः स्वाहेत्यप्सु त्यक्त्वा निरेषणः ।
यतिरात्मानमन्विच्छेदिति जाबालगीः श्रुता ॥ ५५ ॥
यस्तु त्यक्तुं न शक्नोति रागादिप्रबलत्वतः ।
गार्हस्थ्यादौ स्थिरो रागं पाचयत्वेष कर्मभिः ॥ ५६ ॥

अतएव भाष्यकारने स्पष्ट ही कहा है कि 'तद्व्यतिरेकेण चाऽत्स्याश्रमरूपं पारिव्राज्यं ब्रह्मलोकादिप्राप्तिसाधनम्, अतएव—

त्यज धर्ममधर्मं च तथा सत्यानृते त्यज ।
उभे सत्यानृते त्यक्त्वा येन त्यजसि तत्त्यज ॥

इत्यादि स्मृतियोंसे मोक्षज्ञानका मूल सर्वकर्मसंन्यास है, यह स्पष्ट प्रतीत होता है ॥ ५४ ॥

'यज्ञोपवीतम्' इत्यादि। उक्त तीन एषणाओंसे रहित मुमुक्षु 'भूः स्वाहा' इसका उच्चारण कर यज्ञोपवीतको जलमें छोड़कर आत्माकी इच्छा आदि द्वारा जिज्ञासा करे, ऐसी जाबालश्रुति है । यह श्रुति भी यज्ञोपवीतके त्यागमें प्रमाण है ।

शङ्का—'यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहोति' इत्यादि श्रुति जीवनकालपर्य्यन्त अग्निहोत्र कर्म करनेके लिए आज्ञा देती है । यदि मध्यमें कर्मका त्याग किया जाय, तो उक्त श्रुतिकी क्या गति होगी ?

समाधान—जो सांसारिक फलभोगोंसे विरक्त नहीं हैं, किन्तु उनके भोगमें ही सतृष्ण हैं, उन पुरुषोंके लिए उक्त श्रुति अग्निहोत्र आदि कर्मोंका विधान करती है ॥ ५५ ॥

'यस्तु त्यक्तुम्' इत्यादि । जो पुरुष राग आदिके त्यागमें समर्थ नहीं है ।

शङ्का—क्यों ?

समाधान—राग आदि प्रबल हैं । 'इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः', 'तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ', 'प्रमाथि बलवद् दृढम्' (प्रमाथी इन्द्रियाँ मनको हठात् अपनी ओर खींचती हैं । राग-द्वेष इसके विरोधी हैं । मन प्रमाथी दृढ़ और बलवान् है), इत्यादि गीता आदिके वाक्योंसे तथा पुराण आदिमें अनेक वीतरागोंकी पुनः राग आदिमें प्रवृत्तिके श्रवणसे ज्ञात होता है कि राग अति प्रबल है, इसलिए पुरुषको गृहस्थाश्रममें स्थित होकर राग आदि दोषोंको पचाना आवश्यक है । राग आदिके परिपाकके बिना श्रौत संन्यासमें अधिकार नहीं है । निरभिसन्धि कर्मानुष्ठानके

कर्मानधिकृता अन्धबधिराद्या यथारुचि ।
आश्रमात्मकसंन्यासं गृह्णन्तूत्तमजन्मने ॥ ५७ ॥
अव्रती वा व्रती वेति जाबालोपनिषद्वचः ।
ब्रूते व्रतादिशून्यानामपि संन्याससमाश्रमम् ॥ ५८ ॥

बिना उक्त दोषोंका परिपाक नहीं हो सकता । निखिल कर्मोंके परिपाकसे ही चित्त शुद्ध होता है, चित्तशुद्धिके बिना ज्ञानका अधिकारी नहीं होता। अनधिकारीका संन्यासग्रहण व्यर्थ है ॥ ५६ ॥

'कर्मान०' इत्यादि । पूर्वोक्त रीतिसे विद्वान् तथा मुमुक्षुओंका संन्यास कहकर अब जो अग्निहोत्र आदि कर्मोंके अधिकारी नहीं हैं, जैसे अन्ध, बधिर, पङ्गु इत्यादि वे भी उत्तम जन्मकी प्राप्तिके लिए आश्रमात्मक संन्यासका ग्रहण करें, ऐसा कहते हैं।

शङ्का—जो अन्ध, बधिर आदि ब्राह्मण हैं, उनको तो उत्तम जन्म प्राप्त ही है, फिर संन्यास द्वारा उनको उत्तम जन्मकी प्राप्ति क्या होगी ?

समाधान—उत्तम जन्मकी प्राप्तिसे ब्रह्मलोकप्राप्ति विवक्षित है, यही जन्मका उत्तम फल है और यही क्रम मुक्तिका मार्ग है ॥ ५७ ॥

'अव्रती वा' इत्यादि। 'पुनरव्रती वा व्रती वा स्नातको वाऽस्नातको वोत्सन्नाग्निरनग्निको वा यदहरेव विरजेत्तदहरेव प्रव्रजेत्' इस जाबालश्रुतिसे अनाश्रमी अन्ध, बधिर आदि संन्यासके अधिकारी हैं, यह स्पष्ट है । तात्पर्य यह है कि संन्यास आश्रमानुक्रम और अननुक्रम एतदुभयपूर्वक शास्त्रमें विहित है । 'ब्रह्मचर्यं समाप्य गृहीभवेत् गृहीभूत्वा वनीभवेत् वनीभूत्वा प्रव्रजेत्' (ब्रह्मचर्य अवस्थाकी समाप्ति कर गृहस्थ हो, तदनन्तर वानप्रस्थका ग्रहण करे, अनन्तर संन्यास ले) यह आश्रमानुक्रमपूर्वक है । 'यदहरेव विरजेत् तदहरेव प्रव्रजेत्' यह व्युत्क्रमसे है । दोनोंमें मूल है—रागोंका परिपाक और अपरिपाक। जिनके कषायादि दोष परिपक्व नहीं हैं, किन्तु परिपाकोन्मुख हैं, उनके लिए तत्तदाश्रमपूर्वक ही संन्यास समुचित है। वे उन आश्रमोंमें रहकर तत् तत् कर्मोंके अनुष्ठान द्वारा कषायादिका परिपाक करें । और जिनके प्राचीन जन्ममें अनुष्ठित सुकृतोंसे उक्त दोष परिपक्वप्राय हैं और जो आवश्यक परिपाक अपेक्षित है, उसका ब्रह्मचर्य आश्रममें ही परिपाक हो जाता है, उनके लिए गृहस्थ आश्रमकी आवश्यकता नहीं है, वे प्रथमाश्रमसे संन्यासग्रहण कर लेते हैं और जिन पुरुषरत्नोंका दोष परिपक्व है,

संन्यास एवं त्रिविधो विद्वद्विविदिषाश्रमैः ।
कृतकृत्यस्तु संन्यस्य स्वात्ममात्ररतिर्भवेत् ॥ ५९ ॥
त्यक्त्वा विविदिषुः पुत्रवित्तलोकैषणा अथ ।
अनुतिष्ठति विद्यार्थं श्रवणादीन्यहर्निशम् ॥ ६० ॥

उनके लिए प्रथमाश्रमकी भी आवश्यकता नहीं है, वे गर्भमें ही या जन्म होनेपर ही संन्यासी हो जाते हैं जैसे वामदेव, शुकमुनि प्रभृति। और जो अव्रती हैं, उनके लिए भी स्मार्त संन्यास राग आदि परिपाकके लिए विहित है। सौर पुराणमें यह लिखा हैं कि 'यदा मनसि वैराग्यं जायते सर्ववस्तुषु। तदैव संन्यसेद्विद्वान् अन्यथा पतितो भवेत् ॥' (जब मनमें सब वस्तुओंके प्रति वैराग्य हो जाय, तभी विद्वान् संन्यासी होवे, अन्यथा पतित हो जाता है) इत्यादि ॥ ५८ ॥

'संन्यास एवं' इत्यादि। पूर्वोक्त रीतिसे संन्यास तीन प्रकारका कहा गया है, एक विद्वत्संन्यास जो मुख्य संन्यास है, दूसरा मुमुक्षुका संन्यास जो तत्त्वज्ञानका साधन है। यद्यपि ये दोनों संन्यास परमहंसरूपसे एक ही कहे जा सकते हैं, इन्हें दो कहना ठीक नहीं, तथापि इनमें अवान्तर भेद है, उसकी विवक्षासे संन्यास तीन प्रकारका कहा गया है। वह भेद यह है कि विविदिषुमें श्रवण, मनन आदि व्यापार रहता है और तत्त्वज्ञानीमें नहीं रहता। वह कृतकृत्य होकर केवल आत्मरतिपरायण होता है; प्रारब्ध कर्मका क्षय करनेके लिए ही जीवन यापन करता है। उपेयकी प्राप्तिके अनन्तर उपायका त्याग स्वाभाविक है ॥ ५९ ॥

'त्यक्त्वा' इत्यादि। विविदिषु जो आत्मज्ञानोत्पत्तिके लिए निखिल कर्मका त्याग करता है, वह पुत्रैषणा, वित्तैषणा और लोकैषणाका त्यागकर आत्मविद्योत्पत्तिके लिए उसके साधन, श्रवण, मनन आदिका रात दिन अनुष्ठान करता है। तात्पर्य निदिध्यासनमें है। ज्ञानोत्पत्तिके लिए श्रवण है। जबतक संशय होता है, तबतक श्रवण आवश्यक है। संशयनिवृत्तिके बाद श्रवणकी आवश्यकता नहीं रहती एवं मनन भी 'तत्त्वमसि' आदि वाक्यार्थ ज्ञानोत्पत्तिके प्रतिबन्धक अयोग्यता आदि ज्ञानकी निवृत्तिके लिए अपेक्षित होता है। शाब्दबोधमें उपयोगी योग्यताज्ञानकी उत्पत्तिके अनन्तर मननकी भी आवश्यकता नहीं होती। हाँ, मध्यमें कहीं संशय या अयोग्यताज्ञान हो जाय, तो उसके लिए श्रवण और मननका निषेध भी नहीं है। निदिध्यासन भी जबतक आत्मसाक्षात्कारात्मक बोध न हो, तबतक आवश्यक है। उसके अनन्तर

आहुर्हिरण्यगर्भादिध्यानलोकैषणात्मकात् ।
न व्युत्थानं पुमर्थत्वादिति श्रद्धाजडं किल ॥ ६१ ॥
समाना हीतराभ्यां सा नाऽऽत्मलोकाप्तिहेतवः ।
इति मत्वैकतां तासामेषणानामवोचत ॥ ६२ ॥

श्रुतिः—या ह्येव पुत्रैषणा सा वित्तैषणा या वित्तैषणा सा लोकैषणोभे ह्येते एषणे एव भवतः ।

क्रमण्येवाऽधिकारस्ते मा फलेष्विति शास्त्रतः ।
एषणात्वात्फलं त्याज्यं न तु कर्मादिसाधनम् ॥ ६३ ॥

सम्पूर्ण कर्तव्य समाप्त हो जाता है । अतएव वह कृतकृत्य कहा जाता है ॥ ६० ॥

'आहुः' इत्यादि । किसी श्रद्धाजडका आक्षेप है कि वित्तैषणा और पुत्रैषणाका त्याग करना चाहिए, यह कहना तो ठीक ही है, क्योंकि इनके त्यागके विना त्याग ही क्या होगा और ये अनात्मफलक हैं, इसलिए आत्मलोकार्थी इनका त्याग अवश्य करे, किन्तु लोकैषणाका त्याग नहीं करना चाहिए, वह तो हिरण्यगर्भोपासनात्मक है; और उसका फल ब्रह्मलोकप्राप्ति है, जो वस्तुतः पुरुषार्थ है । पर यह ठीक नहीं है, कारण आगे स्पष्ट किया गया है । यहाँपर सब एषणाओंका त्याग अभीष्ट है ॥ ६१ ॥

'समाना' इत्यादि । 'या पुत्रैषणा सा वित्तैषणा' (जो पुत्रैषणा है वह वित्तैषणा है ।) इत्यादि श्रुतिने तीनों एषणाओंको समान मानकर अन्तमें एक ही एषणा कही है, अनात्मलोककी साधन तीनों एषणाएँ समान ही हैं, इसीलिए तीनों एषणाएँ एक ही हैं, ऐसा श्रुतिने कहा है । भाव यह है कि दारपरिग्रह करनेपर पुत्रैषणा होती है, स्त्रीरहित पुरुषको पुत्रैषणा नहीं होती । पुत्रैषणाके अनन्तर उसके पालन-पोषणके लिए वित्तैषणा होती है, क्योंकि धनके बिना पारिवारिक सुख नहीं होता, इसलिए वित्तैषणा समुचित ही है । पुत्रैषणा और वित्तैषणा ये दोनों इष्ट फलके साधन होने और इनमें परस्पर हेतुहेतुमद्भाव होनेसे अर्थात् पुत्रैषणा हेतु है, वित्तैषणा कार्य्य है । हेतु हेतुमद्की अभेदविवक्षासे भी दोनोंमें एकत्वकी विवक्षा कर दोनों एषणाएँ एक ही मानी जाती हैं । स्तुतः तो लोकैषणा भी उक्त एषणामें अन्तर्भूत हो जाती है । तीनोंमें फलसाधनत्व समान है; इसलिए साधनैषणारूपसे एक ही एषणा श्रुतिको अभीष्ट है ॥ ६२ ॥

'कर्मण्येवा०' इत्यादि । किसीका मत है कि 'कर्मण्येवाऽधिकारस्ते मा

इति भ्रमं व्युदसितुं प्राब्रवीत् साध्यसाधने ।
उभे अप्येषणे एव भवतस्त्यागयोर्द्वयोः ॥ ६४ ॥

फलेषु कदाचन' इस भगवद्वाक्यसे यह सिद्धान्त निकलता है कि कर्म त्याज्य नहीं है, किन्तु कर्म-फल त्याज्य है । फलकी कामनासे यदि कर्मानुष्ठान किया जायगा, तो तत् तत् फल भोगनेके लिए जन्मग्रहण अनिवार्य्य होगा। जन्म ही बन्ध है, इसलिए कर्मके फलका त्याग कर केवल कर्म करना चाहिए । यही निरभिसन्धि कर्म कहलाता है; इससे चित्तकी शुद्धि होती है, तदनन्तर आत्मज्ञानोत्पत्ति द्वारा मोक्ष होता है इत्यादि । सारांश यह निकला कि जो ज्ञानोत्पत्तिमें प्रतिबन्धक है, उसीका त्याग ज्ञानार्थीको इष्ट होता है और जो ज्ञानोत्पत्तिका कारण है, उसका त्याग अनुचित है । फलार्थी साधनका त्याग नहीं कर सकता, अतएव भगवद्वाक्य है कि—

आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते ।
योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते ॥

योगारुरुक्षुको कर्म करना ही चाहिए । योग आत्मदर्शनोपाय है, यह 'यद्योगेनात्मदर्शनम्' इत्यादि वचनसे प्रसिद्ध है । जो पुरुष योगारूढ़ हो गया हो, उसके लिए कर्म आवश्यक नहीं है, शम ही आवश्यक है ॥ ६३ ॥

'इति भ्रमम्' इत्यादि। फल और साधन इन दोनोंकी एषणाएँ एषणाएँ ही हैं, इसलिए दोनों एषणाओंका त्याग आवश्यक है। वस्तुतः ब्रह्माज्ञानसे ही एषणाएँ होती हैं, यह अन्वयव्यतिरेकसे सिद्ध है । आत्मज्ञानीका अज्ञान नष्ट हो जाता है, इसलिए एषणाओंका सम्भव नहीं है ।

शङ्का—एषणाएँ अज्ञानमूलक हैं, इसलिए उनका त्याग उचित है, किन्तु कर्मका त्याग क्यों करना चाहिए ?

समाधान—कर्मत्याग अधिकारीके भेदसे दो प्रकारका कहा गया है—एक विद्वान्‌का लक्षण और दूसरा ज्ञानसाधन, जिसे विविदिषुके लिए आवश्यक समझते हैं । यदि आपका आक्षेप प्रथम पक्षमें है, तो उत्तर यह है कि कर्म तो उपाय है स्वयं पुरुषार्थ नहीं है । कर्म-फलकी प्राप्तिके अनन्तर कोई कर्म नहीं करता और ज्ञानी तो कृतकृत्य ही हो गया है, अतः उसका न कोई कर्तव्य ही है और न कोई प्राप्तव्य ही है । वह सब कर चुका है और सब पा चुका है । यद्यपि उसे विदेहकैवल्य अभी प्राप्त नहीं हुआ है, तथापि कैवल्य सिद्ध पदार्थ है, साध्य

अविशुद्धधियः कर्मण्यधिकारो, विशुद्धधीः ।
सत्यां विविदिषोत्पत्तौ तदर्थं कर्म सन्त्यजेत् ॥ ६५ ॥

श्रुतिः—तस्माद् ब्राह्मणः पाण्डित्यं निर्विद्य बाल्येन तिष्ठासेद्बाल्यं च पाण्डित्यं च निर्विद्याथ मुनिरमौनं च मौनं च निर्विद्याथ ब्राह्मणः ।

यस्माद्ब्रह्मविदः पूर्वे फलसंन्यासमाप्नुयुः ।
तस्माद्विविदिषुः कुर्यात्पाण्डित्यं फलसिद्धये ॥ ६६ ॥

नहीं, फिर इसके लिए भी कर्म क्यों करेगा ? द्वितीय पक्षमें जिज्ञासुको, जिसको कि आत्मयथार्थज्ञान ही हुआ है, सब कर्मोंके त्यागका विधान ज्ञानोत्पत्तिके लिए श्रुतिने स्वयं किया है । इसलिए जिज्ञासुको भी कर्म त्याज्य ही है ।

शङ्का—'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन' इत्यादि श्रुतिसे कर्म ज्ञानका साधन माना जाता है, यहाँपर आप कर्मत्याग ज्ञानका साधन है, यह भी श्रुतिसिद्ध ही कहते हैं, परस्पर विरुद्ध दो तो अर्थ श्रुतितात्पर्यके विषय नहीं हो सकते, इसलिए कृपया सिद्धान्त कहिए क्या अर्थ है ?

समाधान—कर्म ज्ञानेच्छाका साधन है और उसका त्याग ज्ञानका साधन है; अतएव श्रुतिमें 'यज्ञेन विविदिषन्ति न तु विदन्ति' प्रकृति और प्रत्ययार्थोंमें प्रत्ययका अर्थ प्रधान होता है, ऐसा विद्वानोंका सिद्धान्त है । मुख्य पदार्थमें ही मुख्य पदार्थका अन्वय होता है, अतः याग आदिकरणत्वका वेदनमें अन्वय न कर सन्प्रत्ययार्थ इच्छामें ही अन्वय होता है, इस प्रकार दोनों श्रुतियोंमें कोई विरोध नहीं होता और अभिमत अर्थ भी सिद्ध हो जाता है, इस अभिप्रायसे लिखा है कि 'भ्रमं व्युदसितुम्' अर्थात् आत्मज्ञानकी उत्पत्तिके लिए कर्म आवश्यक है, इस भ्रमकी निवृत्तिके लिए दोनों एषणाओंका त्याग करना चाहिए, यह श्रुति बोधन करती है ॥ ६४ ॥

उक्त अर्थको स्फुट करते हैं—'अविशुद्धधियः' इत्यादि ।

जिस पुरुषका चित्त राग आदि दोषोंसे विरहित अतएव परिशुद्ध नहीं है । उसका कर्ममें ही अधिकार है, उसके तात्पर्य्यसे ही 'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन' इत्यादि भगवद्वाक्य है; अतएव विविदिषा भी उनके मनमें नहीं हुई । और जिसका चित्त उक्त दोषोंसे शून्य अतएव परिशुद्ध है, उनको विविदिषोत्पत्तिके अनन्तर कर्मका त्याग करना ही चाहिए, यही श्रुतिका आदेश है ॥ ६५ ॥

'यस्माद्' इत्यादि । पूर्वकालिक ब्रह्मवेत्ताओंने, जिनका यह सिद्धान्त था कि

पाण्डित्यबाल्यमौनानि श्रवणादीनि तैरयम् ।
भवति ब्राह्मणस्तच्च ब्राह्मण्यं ब्रह्मरूपता ॥ ६७ ॥
पण्डेति बुद्धेर्नामैतत्सा जाता यस्य मानतः ।
स पण्डितस्तस्य कर्म पाण्डित्यं श्रवणं तु तत् ॥ ६८ ॥
आचार्याच्चाऽऽगमाच्छ्रुत्वा निःशेषं वेदनं ततः ।
बालभावेन तिष्ठासेद् युक्त्या मननतत्परः ॥ ६९ ॥

'किं प्रजया करिष्यामो येषान्नोऽयमात्मा लोकः' इत्यादि, कर्म और कर्मसाधन यज्ञोपवीतादिका त्यागकर विद्वत्संन्यास लिया था, अतः इस समयमें भी विरक्त ब्राह्मण विविदिषु संन्यासफलप्रयोजक ज्ञानोत्पत्तिके लिए तादृश पाण्डित्यका सम्पादन करे । तादृशपाण्डित्य होनेपर उक्त त्याग स्वतः सिद्ध होता है ॥ ६६ ॥

'पाण्डित्यबाल्य०' इत्यादि । पाण्डित्यसे श्रवण, बाल्यसे मनन और मौनसे निदिध्यासन प्रकृतमें विवक्षित हैं । श्रवणादिके द्वारा विविदिषु ब्राह्मण होता है ।

शङ्का—ब्राह्मण तो श्रवणादि कालमें भी है ही, क्योंकि आपका तो यह सिद्धान्त है कि ब्राह्मणका ही संन्यासपूर्वक श्रवणादिमें अधिकार है, जात्यन्तरका नहीं ।

समाधान—ठीक है, यहांपर ब्राह्मणपदसे ब्रह्मस्वरूपताकी विवक्षा है, अर्थात् ब्रह्मस्वरूप होता है । अतएव 'ब्रह्म जानाति ब्राह्मणः' यह लक्षण भी शास्त्रमें पाया जाता है । इसके अनुसार ब्रह्मज्ञानी ही ब्राह्मण है । अथवा वह ब्राह्मण ब्रह्मस्वरूप होता है । 'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' इस श्रुतिके अनुसार ब्रह्मस्वरूप हो जाता है ॥ ६७ ॥

'पण्डेति' इत्यादि । सदसद्विवेकिनी बुद्धि पण्डा कही जाती है, वह हो जिसको वह पण्डित कहा जाता है । पण्डाशब्दसे 'इतच्' प्रत्यय करनेसे 'पण्डित' शब्द बना है । वास्तवमें सदसद्विवेकी पण्डित कहा जाता है । 'मानतः'का तात्पर्य समीचीन बुद्धिमें है । साधारण बुद्धि तो प्राणिमात्रमें होती है, असद् बुद्धिकी व्यावृत्तिके लिए 'मानतः' यह विशेषण दिया गया है । पण्डितका भाव पाण्डित्य कहलाता है । निर्विचिकित्सश्रौतशाब्दात्मज्ञान प्रकृतमें पाण्डित्यशब्दसे विवक्षित है ॥ ६८ ॥

'आचार्याच्च' इत्यादि । ब्रह्मवेत्ता आचार्य्यसे आगम द्वारा आत्माका यथार्थ श्रवण कर तद्विषयक आत्मज्ञानरूप पाण्डित्यका पूर्ण संपादन कर बाल्यभावसे स्थित हो ।

श्रवणं शास्त्रतात्पर्यनिश्चयो मननं पुनः ।
अर्थासम्भावनोच्छित्त्यै युक्तीनामनुचिन्तनम् ॥ ७० ॥
असम्भावनया ज्ञाने दुर्बले सत्यथैषणाः ।
उद्भवन्ति ततो ज्ञानं कुर्वीत प्रबलं सुधीः ॥ ७१ ॥

शङ्का—बाल्यभावसे क्या विवक्षित है ?

समाधान—बालकका हृदय जैसे राग-द्वेषसे शून्य अतएव परिशुद्ध शत्रु-मित्र सबमें सम होता है, वैसे ही उक्त पण्डितका हृदय भी होना चाहिए।

शङ्का—बालकका हृदय तो कर्तव्य और अकर्तव्यके विवेकसे विकल, कामचार कामवाद और कामभक्षमें निरत होता है, यह अर्थ क्यों नहीं करते।

समाधान—पण्डित होनेपर उक्त अर्थकी संभावना नहीं है और मननमें उपयोगी भी नहीं है। इसलिए उक्त अर्थ ही श्रुतिको विवक्षित है; श्रवणके अनन्तर ज्ञानबलभावसे स्थिर मनन करे।

प्रश्न—ज्ञानबलभावका क्या अर्थ है ?

उत्तर—आत्मज्ञानसे संपूर्ण विषयदृष्टिका तिरस्करण आत्मज्ञानका बल है। विज्ञानबलपर स्थिर न होनेसे इन्द्रियाँ विषयोंमें बलपूर्वक खींचकर प्रवेश कराती हैं, इसलिए श्रुति विशेषरूपसे निर्देश करती है कि विज्ञानबलपर स्थिर होकर मनन करे। विद्वानोंका बल आत्मज्ञान ही है, कर्मजन्य धर्मादि नहीं, अतएव 'नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः' (बलहीनसे आत्मा लभ्य नहीं है) ऐसा आगमका उद्घोष है। आगमोक्त अर्थका युक्तिसे मनन करे, मनन अनुमानात्मक है। जीवब्रह्माभेदज्ञानमें प्रतिबन्धक अयोग्यताज्ञानके निरासके लिए योग्यताज्ञानका संपादन करना अत्यावश्यक है, यही मनन है ॥ ६९ ॥

'श्रवणम्' इत्यादि। शास्त्रतात्पर्य्यका निर्णय श्रवण है, शास्त्र तात्पर्य्यगोचर अर्थमें प्रमाण होता है। यदि शास्त्रका तात्पर्य्य वाच्य अर्थमें रहता है, तो वाच्यमें ही प्रमाण होता है। यदि लक्ष्य अर्थमें तात्पर्य होता है, तो उक्त अर्थमें ही प्रमाण होता है। इसलिए तात्पर्य्यका निश्चय ही श्रवण है। श्रवणसे केवल शाब्दप्रत्यक्षमात्र विवक्षित नहीं है, किन्तु श्रावणप्रत्यक्षके अनन्तर जायमान शाब्दबोध विवक्षित है। श्रुत अर्थमें असम्भावनाकी निवृत्तिके लिए श्रुतार्थोपपत्तिके लिए युक्तियोंका अनुचिन्तन करना मनन है ॥ ७० ॥

'असम्भावनया' इत्यादि। श्रुत अर्थका ज्ञान असम्भावनासे दुर्बल होता

नैवाऽऽत्मा बलहीनेन लभ्य इत्यपरा श्रुतिः ।
अनाविष्करणं बाल्यं दम्भादेरिति सूत्रकृत् ॥ ७२ ॥

है, अतः ज्ञानके प्राबल्यके लिए असम्भावनाकी निवृत्ति करना आवश्यक है, अन्यथा एषणा उत्पन्न होती है। एषणा उत्पन्न होनेपर पुनः संसारमें रति होती है, इसलिए विद्वान् विवक्षित अर्थमें असम्भावनानिवृत्त्युपयोगी ज्ञानको प्रबल करे। ज्ञानके प्रबल होनेपर पुनः एषणाओंका प्राबल्य नहीं होता ॥ ७१ ॥

'नैवाऽऽत्मा' इत्यादि। बलहीनको आत्मा लभ्य नहीं है, यह दूसरी श्रुति है। दम्भ आदिका अनाविष्कार बाल्य है, यह सूत्रकारने कहा है। भाव यह है कि 'बाल्येन तिष्ठासेत्' इस श्रुतिमें बाल्यका अनुष्ठेयरूपसे विधान है। अवस्थाविशेषरूप बाल्यका अनुष्ठान नहीं हो सकता, अतः यत्र तत्र मूत्रपुरीषत्व आदि बालचरित तदन्तर्गत भावशुद्धि, अप्ररूढेन्द्रियत्व, दम्भदर्पादिरहितत्व बाल्य यहाँ विवक्षित है, ऐसा संशय कर उसका एकदेशने परिहार किया कि कामचार, कामवाद कामभक्षणता, यत्रतत्र मूत्रपुरीषत्व आदि जो बाल्य लोकमें प्रसिद्ध है, उसीका ग्रहण करना चाहिए।

शङ्का—कामचार आदिसे पातित्य दोष होगा ?

समाधान—विद्वान् संन्यासीको वचनकी सामर्थ्यसे दोष प्राप्त नहीं होगा। जैसे विधिकी सामर्थ्यसे अग्नीषोमीय पशुकी हिंसामें दोष नहीं होता, वैसे ही प्रकृतमें सामान्यशास्त्रका विशेषशास्त्रसे सङ्कोच होता है, यह पूर्वपक्ष है। उत्तरपक्ष यह है, अन्य बाल्यशब्दका अभिलप्य (अर्थ) प्रकृतार्थका उपयोगी यदि मिलता है, तो वही ग्राह्य है; प्रधानके उपकारार्थ अङ्गका विधान किया जाता है, यतियोंके लिए प्रधानरूपसे अनुष्ठेय ज्ञानाभ्यास ही है, समस्त बालचरित जो लोकमें प्रसिद्ध है, उसके अनुष्ठानसे ज्ञानके उपकारका सम्भव नहीं है, अतः आन्तर भावशुद्धि, अप्ररूढेन्द्रियत्व आदि बाल्य ही आश्रयणीय है। ज्ञान, अध्ययन, धार्मिकत्व आदिसे आत्मख्यातिकामनारहित एवं दम्भदर्पादिशून्य रहना चाहिए। जैसे बालक आत्मबोधश्लाघाशून्य तथा दम्भ-दर्पादिरहित होता है, वैसे ही ज्ञानीको भी दम्भ-दर्पादि रहित होना चाहिए। स्मृतिकारोंने तत्त्वज्ञानियोंके विषयमें ऐसा लिखा है—

'यं न सन्तं न चाऽसन्तं नाऽश्रुतं न बहुश्रुतम् ।
न सुवृत्तं न दुर्वृत्तं वेद कश्चित्स ब्राह्मणः ॥'
गूढधर्माश्रितो विद्वानज्ञातचरितं चरेत् ।

पाण्डित्येन विदित्वाऽथ छित्वा बाल्येन संशयम् ।
मुनिर्ध्यानसमाधिभ्यां भवेद्धीवृत्तिशान्तये ॥ ७३ ॥
प्रशान्तवृत्तिके चित्ते परमानन्ददीपके ।
कृतकृत्यो ब्रह्मभावं गतो ब्राह्मण उच्यते ॥ ७४ ॥
भाष्याभिप्रायतस्त्वेतत्पाण्डित्याद्युपवर्णितम् ।
अथोच्यते वार्त्तिकोक्तं पाण्डित्यादिचतुष्टयम् ॥ ७५ ॥
पदार्थाधिगतिः पूर्वं ततस्तदभिसङ्गतिः ।
विरुद्धार्थनुतिः पश्चात्ततो वाक्यार्थबोधनम् ॥ ७६ ॥

अन्धवज्जडवच्चाऽपि मूकवच्च चरेन्महीम् ॥'
'अव्यक्तलिङ्गोऽव्यक्ताचारः ।' इत्यादि ॥७२॥

बाल्य और पाण्डित्यका संपादन कर मुनि हो, इसका स्पष्टीकरण करते हैं— **'पाण्डित्येन'** इत्यादिसे ।

पाण्डित्यसे आत्मस्वरूपका यथार्थ निर्णय कर तथा बाल्यसे संशयकी निवृत्ति कर धीवृत्तिकी शान्तिके लिए ध्यान और समाधिसे मुनि होना चाहिए । 'प्रत्ययैकतानता ध्यानम्' अन्य विषयोंमें सञ्चारके निरासपूर्वक गृहीत विषयमें विच्छिन्न-चित्तवृत्तिसमुत्पाद ध्यान है । समाधि सबीज, निर्बीज आदि भेदसे दो प्रकारकी योगशास्त्रमें प्रसिद्ध है। विस्तारसे जाननेकी इच्छा हो, तो इसे वहीं देखिए ॥७३॥

'प्रशान्तवृत्तिके' इत्यादि । विषयवासनारूप वायुके संपर्कसे चित्त चञ्चल होता है, आत्मविषयक निरन्तर ध्यानसे विषयवासनाकी निवृत्ति होनेसे चित्तवृत्ति प्रशान्त हो जाती है, जैसे निर्वात स्थानमें स्थित प्रदीपकी शिखा निश्चल होती है, वैसे ही चित्तवृत्ति परमानन्द ब्रह्मानन्दका प्रदीप होती है । वैसी वृत्ति होनेपर विद्वान् कृतकृत्य हो जाता है और ब्रह्मभावको प्राप्तकर वास्तविक ब्राह्मण कहा जाता है । श्रवण, मनन और निदिध्यासनसे ब्रह्मके साक्षात्कारके अनन्तर 'ब्रह्म जानाति ब्राह्मणः' (ब्रह्मका जो साक्षात्कार करता है, वह ब्राह्मण) इस लक्षणसे लक्षित ब्राह्मण होता है ॥७४॥

वार्तिककार पाण्डित्य आदिसे स्वमर्थका शोधन कहते हैं—**'भाष्या०'** इत्यादिसे।

भगवान् भाष्यकारके अभिप्रायके अनुसार पाण्डित्य आदि शब्दोंका अर्थ कहा गया, अब वार्तिककारके अभिप्रायके अनुसार पाण्डित्य आदि चार शब्दोंका अर्थ कहा जाता है ॥ ७५ ॥

'पदार्था०' इत्यादि । वेदाध्ययनके अनन्तर 'तत्त्वमसि' आदि वाक्योंके

ब्राह्मणो ब्रह्मवाक्यार्थः साक्षादित्यादिलक्षणः ।
ब्राह्मण्यं गौणमन्यस्य ब्रह्मबोधार्धजन्मनः ॥ ७७ ॥

श्रवणके बाद तत्त्वंपदके शक्तिग्रहके लिए पहले तत् और त्वं पदका अर्थज्ञान आवश्यक है। अर्थके ज्ञानके बिना उसमें शक्तिग्रह नहीं हो सकता। उक्त दो पदोंका ज्ञान होनेपर समानविभक्तिक दो पदोंके श्रवणके बाद उनके अर्थोंमें विशेष्य-विशेषणभाव ज्ञान होता है। त्वमर्थका अभेद तत्पदार्थमें प्रतीत होता है, तदनन्तर कर्तृत्व आदिसे विशिष्ट जीवका कर्तृत्व आदिसे रहित ब्रह्मके साथ अभेद नहीं हो सकता, ऐसा विरोध प्रतीत होता है, अतः विरुद्धांश कर्तृत्वका त्यागकर चैतन्यांश-मात्रको त्वंपदार्थ एवं सर्वज्ञत्व, परोक्षत्व आदि धर्मोंका परित्याग कर चैतन्यमात्रको तत्पदार्थ मानकर दोनोंके परस्पर अभेदभानका समर्थन किया जाता है, अर्थात् तत्, त्वम् और असि—इन तीनों पदोंकी सामर्थ्यसे तीन अर्थोंका ज्ञान होता है। पहले पदार्थज्ञान, तदनन्तर पदार्थोंका सम्बन्ध ज्ञान, तदुत्तर विरोधज्ञान, ततः अन्वय-व्यतिरेक द्वारा कर्तृत्व आदिको आरोपित धर्म मानकर उनका त्याग, तदनन्तर आत्मैक्यमें उक्त वाक्यका तात्पर्यनिश्चय—ये चारों प्रकारके ज्ञान श्रवणाख्य पाण्डित्य हैं। इन चार प्रकारके ज्ञानोंके सम्पादनके अनन्तर बाल्यका सम्पादन करनेकी सामर्थ्य होती है। अन्वय आदिका फल यह है कि ब्रह्मातिरिक्त सब अनात्म पदार्थ हैं। जैसे ब्रह्मधी और तच्छब्द ब्रह्मनिष्ठ हैं वैसे ही आत्मधी और तच्छब्द भी आत्मनिष्ठ है, क्योंकि अनात्म पदार्थ घटके समान ब्रह्म नहीं हो सकता, अतः आत्मशब्दका अर्थ और ब्रह्मशब्दका अर्थ एक ही है, वह तो पदार्थविषयक बाल्य हुआ। वाक्यार्थविषयक बाल्य यह है कि वाक्यार्थान्वयविरोधी कर्तृत्व आदि और परोक्षत्वादिका त्याग कर ब्रह्मात्मामें [illegible] साक्षीमें न परस्पर संसर्ग ही है और न भेद ही है, क्योंकि दोनोंका स्वभाव एक ही है। अतएव अखण्डताका अनुसन्धान वाक्यार्थमें बाल्य है ॥ ७६ ॥

'ब्राह्मणो' इत्यादि। 'यत्साक्षाद्' इत्यादि पूर्वोक्त वाक्यार्थज्ञानी वस्तुतः ब्राह्मण होता है।

शङ्का—ब्राह्मण तो ब्राह्मणत्वविशिष्ट माना जाता है, ब्रह्मज्ञानीको ही ब्राह्मण क्यों कहते हैं?

श्रुतिः—स ब्राह्मणः केन स्यात् ।

प्रश्नः स ब्राह्मणः केनेत्याक्षेपो वाऽत्र पृच्छयते ।
ब्राह्मण्यसाधनं यद्वा लक्षणं ब्रह्मवेदिनः ॥ ७८ ॥
एषणात्यागपाण्डित्याद्युपायात् साधनान्तरम् ।
पृष्टं तस्योत्तरं प्राह येन स्यादिति वाक्यतः ॥ ७९ ॥

समाधान—ब्रह्मज्ञानयोग्य ही ब्राह्मणशब्दका मुख्य अर्थ है, इसलिए उक्त ज्ञानसे सम्पन्न मुख्य ब्राह्मण है, केवल ब्राह्मणत्व जातिमात्रमें उक्त शब्दका प्रयोग गौण है, क्योंकि ब्राह्मणका जन्म ब्रह्मबोधके लिए है ।

शङ्का—यदि ब्रह्मज्ञानी मुख्य ब्राह्मण हैं, तो क्षत्रियादि भी ब्रह्मज्ञानी होते हैं—जनकादि उपनिषदोंमें प्रसिद्ध हैं, अतः उनमें भी मुख्य ब्राह्मण-शब्दका प्रयोग होना चाहिए ।

समाधान—इष्ट ही है, इस फलावस्थामें सभी ब्राह्मण हो सकते हैं, क्षत्रियादिमें उक्त शब्दका अप्रयोग केवल पूर्व जातिमात्रकी विवक्षासे नहीं किया जाता है ।

शङ्का—एक ही ब्राह्मणशब्द ज्ञानवान्, मुक्त और ज्ञानशून्य बद्धमें कैसे प्रयुक्त होता है ? क्योंकि अनेक अर्थमें शक्ति माननेसे उक्त शब्द अनेकार्थक हो जायगा, जो गति रहनेपर अनुचित माना जाता है ।

समाधान—अनेक मुख्य अर्थ माननेसे अनेकार्थकत्वकी प्रसक्ति होती है । प्रकृतमें ऐसा नहीं है, ज्ञानहीन ब्राह्मणमें ब्राह्मणशब्द गौण है और परमहंस ज्ञानीमें उक्त शब्दका मुख्य प्रयोग वेदान्तमें माना जाता है; अतः शक्तिभेदके अभावसे उक्त दोषकी प्रसक्ति नहीं हो सकती ॥ ७७ ॥

'प्रश्नः स' इत्यादि । 'स ब्राह्मणः केन स्यात्' इस श्रुतिके अर्थके निर्णयके लिए सन्देह करते हैं कि 'केन' यह किंशब्द आक्षेपार्थक है अथवा प्रश्नार्थक ? अन्तिम पक्षमें भी दो प्रश्न होते हैं—ब्राह्मण्यके साधनका प्रश्न है, अथवा ब्रह्मवेत्ताके लक्षणका । उक्त चारों अर्थ किंशब्दसे सूचित होते हैं । अभिमत अर्थकी सिद्धिके लिए अविवक्षित अर्थोंका क्रमशः निराकरण करते हैं ॥ ७८ ॥

'एषणा०' इत्यादि । एषणात्रयका यानी उक्त पुत्रैषणा, वित्तैषणा और लोकै-षणा—इन तीनों एषणाओंका त्यागरूप पाण्डित्य तथा आदि शब्दसे श्रवण-मननरूप

विराड्ढिरण्यगर्भादिप्राप्तौ सत्याद्युपासनात् ।
ब्राह्मण्यं लभ्यते यद्वा महता तपसा वरात् ॥ ८० ॥
प्रयासो बहुलस्तत्र फलं त्वेतावदेव हि ।
इत्यभिप्रेत्य येन स्यात्तेनेदृगिति भण्यते ॥ ८१ ॥

ब्राह्मण्यके उपायोंसे अतिरिक्त ब्राह्मण्यका उपाय है या नहीं? यही पूछा गया है। उसका उत्तर 'येन स्यात्' इस वाक्यसे कहा गया है।

शङ्का—साधनविषयक प्रश्न तो असंगत है, कारण कि श्रवणादि ब्राह्मण्यके साधन हैं, इसका पूर्वमें विशदरूपसे निरूपण कर चुके हैं, तद्विषयक निर्णय तद्विषयक संशयका प्रतिबन्धक है, अन्यथा विचार ही व्यर्थ हो जायगा। सन्देह-निवृत्ति ही विचारका मुख्य प्रयोजन है।

समाधान—ठीक है, किन्तु कतिपय विद्वानोंका मत है कि तीव्र तपःप्रभृतिसे भी ब्राह्मण्य प्राप्त होता है, जैसा कि अग्रिम श्लोकसे कहते हैं ॥ ७९ ॥

'विराड्' इत्यादि। विराट्, हिरण्यगर्भ आदि सगुण ब्रह्मकी उपासनासे पहले विराड्, हिरण्यगर्भ आदिरूप सगुण ब्रह्मकी प्राप्ति होती है, अनन्तर प्रलयके बाद 'ब्रह्मणा सह ते सर्वे संप्राप्ते प्रतिसंचरे' इस वचनके अनुसार उसके उपासक तद्भावापन्न होकर मुक्त होते हैं, इसलिए उसकी उपासना भी ब्राह्मण्यका कारण है, यह श्रुतिमें ही सुस्पष्ट है। एवं पुराण, इतिहास आदिका पर्य्यालोचन करनेवाले विद्वानोंसे यह छिपा नहीं कि कितने ही मुनिगण तीव्र तप और भगवद्भक्ति सहित समाराधनादिसे भी मुक्त हुए हैं और होते हैं। ब्राह्मण्यनामके बिना मुक्ति असंभव है, अतः यह सन्देह स्वाभाविक है कि साधनभेदसे साध्य ब्राह्मण्यमें भी भेद है अथवा नहीं? यदि भेद है, तो उत्कृष्ट ब्राह्मण्यका साधन कौन है? यदि नहीं तो साधनभेद क्यों?

समाधान—ब्राह्मण्यमें भेद नहीं है, कारण मोक्षोपयोगी ब्रह्मज्ञान समान ही होता है। अन्यथा तत्फल मुक्ति भी अनेकविध हो जायगी। मुक्ति एकरस होती है, इसमें उत्कर्षापकर्ष नहीं, यह सब शास्त्रोंका निष्कर्ष है। साधनभेद तत्-तत् पुरुषकी रुचि, योग्यता आदि भेदके कारण है ॥ ८० ॥

'प्रयासो' इत्यादि। श्रवण आदिसे भिन्न तीव्र तप आदि उपायोंमें प्रयास (श्रम) अधिक है। फल इतना ही है, जितना श्रवण आदि उपायों का है, अतः—

आक्षेपपक्षे केन स्यान्न केनाऽपीति योजना ।
न कर्मणा न प्रजयेत्यन्यसाधननिह्नुतेः ॥ ८२ ॥

श्रुतिः—येन स्यात्तेनेदृश एवातोऽन्यदार्त्तं ततो ह कहोलः कौषीतकेय उपरराम ॥ १ ॥

इत्युपनिषदि पञ्चमं ब्राह्मणं समाप्तम् ॥

'अर्के चेन्मधु विन्देत किमर्थं पर्वतं व्रजेत् ।
इष्टस्याऽर्थस्य संसिद्धौ को विद्वान् यत्नमाचरेत् ॥'

इस वचनके अनुसार उक्त फलके लाभके लिए श्रवण आदि उपायोंका ही निरन्तर सम्पादन करना चाहिए इस अभिप्रायसे कहा कि 'येन स्यात् ईदृगेव' अर्थात् उक्तोपायान्तरसे भी ऐसा ही होगा। फलमें कुछ विशेष नहीं, फिर क्लिष्ट उपायमें प्रवृत्ति व्यर्थ है।

शङ्का—आश्रमान्तरविषयक प्रश्न क्यों नहीं ?

समाधान—संन्याससे उत्तम आश्रम दूसरा है नहीं। और त्यक्तैषण ब्रह्मज्ञानी अतएव कृतार्थ मुनिको आश्रमान्तर अभीष्ट नहीं। गृहस्थ आदिको ही आश्रमान्तर कह सकते हैं, क्योंकि चार आश्रमोंसे अतिरिक्त आश्रम नहीं है। पूर्व आश्रम उक्त तीन एषणावालोंके लिए है; उक्त एषणात्रयसे निवृत्त लोगोंके लिए नहीं और व्युत्थितके लिए धर्मशास्त्रोंमें आश्रमान्तरग्रहणका प्रतिषेध भी है। अकृतार्थ प्रयोजक ज्ञानीके लिए भी आश्रमान्तर मुक्तिसाधन नहीं है। श्रवण आदि द्वारा अन्यत्र ज्ञानोत्पत्ति दुर्घट है ॥ ८१ ॥

'केन' इत्यादिका साधनपरत्वेन व्याख्यान करके अब आक्षेपपरत्वेन व्याख्यान करते हैं—'आक्षेप' इत्यादिसे। आक्षेप पक्षमें श्रवण आदिसे व्यतिरिक्त मोक्षोपयोगी ज्ञानजनक साधनान्तर नहीं है, कारण कि प्रजासे और धनसे मोक्ष नहीं होता है, किन्तु केवल त्यागसे (संन्याससे) ही मुक्ति होती है, इस वचनसे साधनान्तरका स्पष्टरूपसे निषेध है; अतः 'केन ब्राह्मणः स्यात्' इसका उत्तर यह है कि 'न केनापि' किसीसे नहीं, क्योंकि 'न प्रजया न धनेन' इत्यादि श्रुतिने स्पष्ट निषेध किया है ॥ ८२ ॥

शङ्क्यमानेन येन स्यात्तेनेदङ् न ततोऽधिकः ।
सन्त्यज्य निश्चितं कस्माच्छङ्क्यते साधनान्तरम् ॥ ८३ ॥

'शङ्क्यमानेन' इत्यादि ।

शङ्का—लोकेऽस्मिन् द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयाऽनघ ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम् ॥

निष्पाप अर्जुनके प्रति भगवान् कहते हैं कि मैं द्वितीयाध्यायमें पहले ही कह चुका हूँ कि लोकमें दो प्रकारकी निष्ठाएँ हैं, कर्मियोंकी योगनिष्ठा और सांख्योंकी ज्ञाननिष्ठा, इससे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि अधिकारीके भेदसे मोक्षके दो उपाय हैं—एक कर्मयोग और दूसरा ज्ञानयोग। जो पुरुष कर्म द्वारा मोक्षमार्गमें प्रवृत्त है, वह ब्राह्मण क्यों नहीं हो सकता और मोक्षका साधनान्तर क्यों नहीं है ? फिर 'केन ब्राह्मणः' यह प्रश्न साधनान्तरविषयक क्यों नहीं हो सकता, अतः उत्तर 'न केनापि' यह नहीं हो सकता।

समाधान—ठीक है, किन्तु—
आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते ।
योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते ॥'

इस भगवद्वाक्यसे ज्ञानयोगका साधन कर्म है। ज्ञानयोग प्राप्त होनेपर शमसे ही आत्मज्ञान होता है, इसलिए साधनान्तरका निरास और उक्त उत्तर समुचित नहीं किया गया है। अथवा 'न प्रजया' इत्यादि श्रुतिसे साधनान्तरका निरास है और उक्त भगवद्वाक्यसे कर्म भी साधन मान लिया जाय, तो भी कर्ममें साधनत्वका सन्देह होता है और ज्ञानमें मोक्षसाधनत्व असंदिग्ध है। इसलिए कहते हैं कि सन्दिग्ध जिस कर्मसे होगा उससे भी ऐसा ही होगा। जैसे संन्याससे होगा उससे अधिक नहीं, अतः निश्चित साधनका त्यागकर क्यों साधनान्तरका सन्देह करते हो ? यह तो पूर्वमें पूर्णरूपसे सिद्ध कर चुके हैं कि मोक्षका साधन कर्म नहीं है, मोक्ष नित्य होनेसे कर्मफलसे विलक्षण है, उत्पाद्य, विकार्य, संस्कार्य और प्राप्य ये चार प्रकारके फल कर्मके होते हैं। ये सब अनित्य ही होते हैं, मोक्ष नित्य है, केवल उसके आवरक अज्ञानकी निवृत्ति अपेक्षित है। यह ज्ञानसे ही हो सकती है, कर्मसे नहीं। कर्म स्वयम् अविद्यात्मक है, जैसे अन्धकारसे अन्धकारका नाश नहीं होता, वैसे ही कर्मसे अज्ञानका नाश नहीं हो सकता। प्रदीपके समान ज्ञान ही उसका साधन है ॥ ८३ ॥

लक्षणप्रश्नपक्षे तु येनेदक्केन लक्ष्यताम् ।
इत्युत्तरं वचो योग्यं तस्याऽर्थः प्रविविच्यते ॥ ८४ ॥
गीतायां कुत्रचित्प्रोक्तं स्थितप्रज्ञस्य लक्षणम् ।
अन्यत्र विष्णुभक्तस्य गुणातीतस्य च क्वचित् ॥ ८५ ॥

'केन' यह प्रश्नवाक्य विद्वल्लक्षणपरक है, इस पक्षमें अर्थ कहते हैं—'लक्षण०' इत्यादिसे ।

आत्मज्ञानीका लक्षण क्या है अर्थात् जिस लक्षणसे ब्रह्मज्ञानीका परिचय हो कि इस प्रकारका ब्रह्मज्ञानी होता है, वह लक्षण क्या है ? इस प्रश्नका उत्तर देनेके योग्य जो वाक्य है, उसके अर्थका विचार किया जाता है ॥ ८४ ॥

'गीतायाम्' इत्यादि । किस चिह्नसे परमहंस ब्राह्मण जाना जा सकता है ? इस प्रश्नपर विचार करनेके लिए श्रीमद्भगवद्गीताके द्वितीय अध्यायमें अर्जुनने प्रश्न किया है—

'स्थितप्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशव ।
स्थितधीः किं प्रभाषेत किमासीत व्रजेत किम् ॥'

प्रश्नवाक्यका अर्थ यह है कि 'अहं ब्रह्मास्मि' यह प्रज्ञा जिसकी स्थिर (निश्चल) है वह स्थितप्रज्ञ कहा जाता है, उसकी अवस्था दो प्रकारकी होती है—एक समाधिस्थ और दूसरी व्युत्थितचित्त । दूसरीकी व्यावृत्तिके लिए 'समाधिस्थस्य' विशेषण दिया है यानी समाधि-अवस्थाके विषयमें प्रश्न है । 'भाष्यते अनया इति भाषा' यहां भाषाशब्द लक्षणपरक है अर्थात् स्थितप्रज्ञका लक्षण क्या है ? किस लक्षणसे यह स्थितप्रज्ञ है, ऐसा लोग व्यवहार करते हैं और वह जब व्युत्थितचित्त होता है, [क्योंकि समाधि-अवस्थामें तो भाषण कर नहीं सकता, इसलिए योग्यतानुसार द्वितीय अवस्थाके विषयमें प्रश्न है] तब क्या बोलता है ? अर्थात् जब कोई स्तुति या निन्दा करता है तब क्रमशः अभिनन्दन तथा द्वेष प्रगट करता है या नहीं ? यह द्वितीय प्रश्न है । 'किमासीत' व्युत्थित स्थितप्रज्ञ चित्तके निग्रहके लिए बाह्येन्द्रियोंका निग्रह कैसे करता है और इन्द्रियनिग्रहाभावकालमें विषयोंको कैसे प्राप्त करता है ? उसके भाषण, आसन तथा गमन मूढ़ जनोंके भाषणादिसे क्या विलक्षण होते हैं ? इस प्रकार चार प्रश्न हैं यानी समाधिके समयमें एक और व्युत्थानकालमें तीन यों कुल चार प्रश्न हैं। आप सबके अन्तर्यामी हैं, अतएव आप ही इस रहस्यको जानते हैं, दूसरा नहीं,

इस आशयसे 'केशव' यह संबोधन किया है। इन चारों प्रश्नोंका उत्तर श्रीभगवान्‌ने क्रमसे अध्यायसमाप्तिपर्यन्त दिया है।

प्रजहाति यदा कामान् सर्वान् पार्थ मनोगतान्।
आत्मन्येवाऽऽत्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते॥

प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृतिके भेदसे पाँच प्रकारकी काम, सङ्कल्प आदि मनोवृत्तियोंका जो त्याग कर देता है, वही स्थितप्रज्ञ कहलाता है। कामादि आत्मधर्म नहीं हैं, भ्रमसे आत्मगत प्रतीत होते हैं, अतः वे त्यागके योग्य हैं, इस अभिप्रायसे 'मनोगतान्' कहा है। यदि आत्मधर्म होते, तो वह्निगत उष्णत्वके समान जबतक आत्मा है तबतक कामादि रहते अर्थात् नित्य होनेसे उनका त्याग ही असंभव हो जाता। मनोधर्म होनेसे मनका त्याग करनेसे उनका भी स्वयं त्याग हो जाता है।

शङ्का—मुखप्रसन्नतासे स्थितप्रज्ञमें सन्तोष आदिकी प्रतीति होती है, यह प्रतीति सब कामनाओंका त्याग होनेपर कैसे होगी?

समाधान—परमानन्दरूप स्वात्मामें स्वप्रकाश चिद्रूप आत्मासे ही वह तुष्ट होता है, मनोवृत्तिसे नहीं, क्योंकि परम पुरुषार्थके लाभसे परितृप्त हो गया है। श्रुति भी यही कहती है—'यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि स्थिताः। अथ मर्त्योऽमृतोभवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते॥' इस लक्षणसे समाधिस्थ स्थितप्रज्ञ समझा जाता है। व्युत्थितचित्तके भाषण, उपवेशन आदि प्रश्नका 'दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः' इत्यादिसे भगवान्‌ने उत्तर दिया है। शोक, मोह आदि आध्यात्मिक; व्याघ्र, सर्प आदिसे प्रयुक्त आधिभौतिक तथा अतिवृष्टि आदिहेतुक आधिदैविक—यों तीन प्रकारके दुःख होते हैं। दुःख रजोगुणका परिणामविशेष माना जाता है, प्रारब्ध कर्मानुसार प्राप्त तापात्मक मनोवृत्तिविशेषकी दशामें जिसका चित्त उद्विग्न यानी दुःखके हटानेमें असामर्थ्यवश व्याकुल नहीं होता, वही अनुद्विग्नमनाः कहलाता है। अविवेकीको जब दुःख होता है, तब उसे मैं बड़ा पापी हूँ, ऐसे दुःखभागी मुझको धिक्कार है, मेरे इस दुःखको कौन हटा सकता है, यों अनुतापात्मक तामस चित्तवृत्तिविशेषरूप उद्वेग होता है। यदि यह उद्वेग पाप करनेके समय होता, तो बड़े कामका होता, क्योंकि ऐसा ज्ञान होनेपर निन्द्य कर्म कोई करता ही नहीं। भोगकालमें जब ज्ञान होता है, तब वह निष्फल है; क्योंकि कारणीभूत पूर्वजन्मार्जित दुरदृष्टके रहनेपर तन्निमित्तक दुःखका परिहार नहीं हो सकता। विवेकीको दुःख होनेपर भी ऐसा परिताप नहीं होता, क्योंकि वह जानता है कि यह दुःख पूर्व कर्मका फल है,

भोगनेसे ही इसका क्षय होगा, अन्यथा नहीं। एवं सत्त्वपरिणामरूप सुख जब प्रारब्ध पुण्य कर्मसे प्राप्त होता है, तब उसमें स्पृहा नहीं होती, जैसे अविवेकीको होती है। वह सुखानुभवकालमें तज्जातीय सुखकी इच्छा करता है—ऐसा ही सुख बना रहे, पर यह नहीं जानता कि यह सुख आकस्मिक नहीं है, किन्तु पूर्वकृत सुकृतका ही फल है, उक्त सुकृतके नष्ट होनेपर वह भी नष्ट हो जायगा, इसलिए स्पृहा व्यर्थ है। विवेकीको इसका परिज्ञान है, इसलिए वह स्पृहा नहीं करता इत्यादि विशेष जिज्ञासा हो तो श्रीगीताको देखिये।

'ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते ॥'

इत्यादिसे बारहवें अध्यायमें भगवद्भक्तोंका लक्षण कहा गया है। 'सगुण ब्रह्म वासुदेवात्मक मुझमें सब कर्मोंको समर्पण कर, मत्पर होकर जो अनन्ययोगसे यानी अनन्यभक्तिलक्षण योगसे आनन्दघन चतुर्भुज या द्विभुज जैसे अभीष्ट हो वैसे भगवान् वासुदेवकी ध्यानपूर्वक उपासना करते हैं, उनका संसारसागरसे (मृत्युयुक्त मिथ्या अज्ञानकार्य्य प्रपञ्चात्मक संसार ही सागर है, वह अति दुस्तर है, उस अतिदुस्तर संसारसागरसे) शीघ्र उद्धार कर सबके बाधका अवधिस्वरूप परब्रह्म मैं उनको धारण करता हूँ।' इत्यादि भगवद्भक्तोंका स्वभाव उक्त अध्यायमें वर्णित है। विशेष जिज्ञासा हो तो उस अध्यायको देखिये। चौदहवें अध्यायमें भगवान्‌से अर्जुनने प्रश्न किया है—

'कैर्लिङ्गैस्त्रीन् गुणानेतानतीतो भवति प्रभो।
किमाचारः कथं चैतांस्त्रीन् गुणानतिवर्तते ॥'

जो गुणसे यानी सत्त्व, रज और तमसे अतीत (परे) है, उसका लक्षण क्या है, क्या आचार है? क्या उसकी चेष्टा नियन्त्रित है या वह यथेच्छाचारी है? और किससे उक्त गुणोंका अतिक्रमण करता है, इस प्रकार अर्जुनके तीन प्रश्न हैं। इनका उत्तर भगवान्‌ने इस प्रकार दिया है—

'प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पाण्डव।
न द्वेष्टि सम्प्रवृत्तानि न निवृत्तानि काङ्क्षति ॥'

यह प्रथम प्रश्नका उत्तर है। प्रकाश सत्त्वका कार्य्य है, प्रवृत्ति रजोगुणका कार्य्य है और मोह तमोगुणका कार्य्य है। उपलक्षणविधया अन्य गुणकार्योंका भी प्रकृतमें ग्रहण समझना चाहिए। सम्पूर्ण गुणकार्य्य स्वकारणवश जो प्राप्त होते

येन चिह्नेन तत्राऽयमीदृगेव निरेषणः ।
उपलक्षयितुं शक्यस्तदेवाऽस्त्वस्य लक्षणम् ॥ ८६ ॥
आक्षिप्यते यदा लक्ष्म तदाऽभिप्राय उच्यते ।
नियतं लक्षणं किञ्चिन्न ह्यस्ति ब्रह्मवेदिनः ॥ ८७ ॥

हैं, चाहे वे दुःखरूप ही क्यों न हों, किन्तु दुःखबुद्धिसे उनसे द्वेष नहीं करता एवं विनाशसामग्रीवश जो निवृत्त होते हैं, चाहे सुखरूप ही वे क्यों न हों, किन्तु सुखबुद्धिसे उनकी इच्छा नहीं करता कि ऐसे सुख सदा बने रहें, कारण कि स्वाप्निक सुखके समान उनको मिथ्या मानता है, यह लक्षण स्वार्थ है। परार्थ नहीं, क्योंकि राग और तदभाव एवं द्वेष और तदभाव स्वात्मसाक्षिक ही होते हैं, अन्यके अन्तःकरणमें रहनेवाले राग आदि और उनके अभावका अन्य प्रत्यक्ष नहीं कर सकता। गुणातीतका आचरण कैसा होता है ? इस प्रश्नका उत्तर 'उदासीन-वदासीन' इत्यादि श्लोकसे दिया गया है। तृतीय प्रश्नका उत्तर

'मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते ।
स गुणान् समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥'

इस श्लोकसे दिया गया है। ये दो श्लोक अतिस्फुट हैं, इसलिए इनका अर्थ करनेकी आवश्यकता नहीं है। प्रथम श्लोकके मतभेदसे अनेक अर्थ किये गये हैं, वे सब प्रकृत ग्रन्थके अनुकूल नहीं हैं, इसलिए अपेक्षित अर्थ किया गया है, जिससे उपनिषदर्थ समझनेमें सहायता मिले। ग्रन्थके विस्तारके भयसे शेष अर्थ छोड़ दिये गये हैं। जिज्ञासुओंको उनके ज्ञानकी पिपासा गीतासे ही निवृत्त हो सकती है ॥ ८५ ॥

'येन चिह्नेन' इत्यादि। उक्त तीन अध्यायोंके लक्षणोंमें से जिस लक्षणसे यही आत्मतत्त्वज्ञानी परमहंस है, यह ज्ञान हो सके, उसी लक्षणसे विद्वान् परमहंसको जानना चाहिए, अतः उसका वही लक्षण है, यह निष्कर्ष है ॥ ८६ ॥

लक्षणाक्षेपपक्षमें 'केन' इत्यादि प्रश्नवाक्यका अर्थ करते हैं—'आक्षिप्यते' इत्यादिसे।

यदि लक्षणका आक्षेप है, तो प्रष्टाका अभिप्राय यह है कि ब्रह्मज्ञानीका कोई लक्षण ही नहीं है, जिससे यह निश्चय किया जाय कि यह ब्रह्मज्ञानी इस लक्षणसे युक्त है, क्योंकि ज्ञानी अनेक प्रकारके देखे व सुने जाते हैं। यदि कोई नियत आचरण आदि होते, तो यह कहा जाता कि ऐसे आचारादि ब्रह्मवेत्तामें नियमसे

रागी कश्चिद्विरक्तोऽन्यः क्रुद्धोऽन्यः शान्तिमान् परः ।
प्रारब्धभोगनानात्वात् कथं लक्ष्म नियम्यते ॥ ८८ ।
देहेन्द्रियमनोबुद्धिधर्मानेषोऽत्यवर्तत ।
प्रत्यगात्मैकसम्बोधात्तद्धर्मैर्लक्ष्यते कथम् ॥ ८९ ॥

पाये जाते हैं, अतः ये ही लक्षण हैं । पर सम्पूर्ण विद्वानोंमें कोई नियत धर्म नहीं देखे जाते, इसलिए उनके लक्षण नहीं हैं ॥ ८७ ॥

'रागी' इत्यादि । कोई महात्मा रागी होते हैं, कोई विरक्त होते हैं, कोई क्रोधी होते हैं और कोई शान्त स्वभावके होते हैं ।

शङ्का—क्यों ?

समाधान—प्रारब्ध कर्म अनेकविध होते हैं, प्रारब्धके अनुसार ही मनोवृत्तियाँ होती हैं, अतः उक्त कर्मोंके वैचित्र्यसे वर्तमानमें चित्तवृत्तियाँ भी उसके अनकूल अनेक प्रकारकी होती हैं, इसमें आश्चर्य नहीं है । पर वे वृत्तियाँ प्रायः प्रारब्ध कर्मको भोगनेके लिए ही होती हैं, उनसे ज्ञानीकी बन्धनोपयोगी कर्ममें प्रवृत्ति नहीं होती, कभी किसीकी प्रबल प्रारब्धसे हो जाती है, तो उस कर्मके भोगनेके लिए 'शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते' इस भगवद्वचनके अनुसार उसको फिर भोगानुकूल शरीर-धारण करना पड़ता है, यह इतिहास-पुराणोंमें प्रसिद्ध है, परन्तु यह भी भगवद्-वाक्य है कि 'नहि कल्याणकृत् कश्चिद् दुर्गतिं तात गच्छति' इसके अनुसार अवशिष्ट कर्म भोगनेके बाद फिर उसके चित्तसे वे भाव सर्वदाके लिए दूर हो जाते हैं और जिनके निकृष्ट प्रारब्ध कर्म थोड़े हैं, उनकी क्रोधादि वृत्तियोंसे ही उन कर्मोंकी निवृत्ति हो जाती है, उसके लिए अन्य शरीरको धारण करनेकी आवश्यकता नहीं होती ॥ ८८ ॥

'देहेन्द्रिय०' इत्यादि ।

शङ्का—जैसे पृथिवी आदिका उनसे भिन्न गन्धवत्त्वादि लक्षण है, वैसे ही ब्रह्मज्ञानीका उससे अतिरिक्त कोई लक्षण क्यों नहीं हो सकता ?

समाधान—क्या आप शमादि भावभूत धर्मको ज्ञानीमें चाहते हैं या संसाराभावरूप अभावात्मक धर्मको ? प्रथम पक्षमें उत्तर यह है कि ज्ञानी देह, इन्द्रिय, मन और बुद्धिके धर्मोंसे अतिक्रान्त है, इनसे अपनेको भिन्न मानता है, अतः श्यामत्व, कृशत्व आदि शरीरधर्म; अन्धत्व, काणत्व आदि इन्द्रियधर्म; संकल्प

सर्वसंसारभावोऽस्य न यथा लक्षणं तथा।
सर्वाभावोऽपि नैव स्यात् सुषुप्ते व्यभिचारतः ॥ ९० ॥
शोभते श्रद्धानानां लक्ष्मैतन्न विवेकिनाम्।
वेद्यानुरोधतो यस्माद्युज्यते लक्ष्म तद्विदः ॥ ९१ ॥

आदि मनोधर्म तथा शमादि बुद्धिधर्मोंसे भी अपनेको परे समझता है; अविवेकीको ही अध्यास द्वारा ये धर्म आत्मगत प्रतीत होते हैं, विवेकीको उक्त धर्मोंसे शून्य आत्माका ज्ञान है, इसलिए शम आदि धर्म भी आत्मामें नहीं है, अतः पृथिवी आदिमें गन्धके समान ये धर्म लक्षण नहीं हो सकते। जो धर्म लक्ष्यमें नहीं हैं, वे उसके लक्षण कैसे कहे जा सकते हैं ? इसमें हेतु है—प्रत्यगात्मैकसंबोध। प्रत्यग् जीव है, आत्मा ब्रह्म है, उनके ऐक्यका समीचीन (अबाधित) बोध अथवा प्रत्यगात्मा ब्रह्म है, उसका ऐक्यज्ञान ब्रह्मस्वरूप ही आत्मा है और वह सकल संसारधर्मोंसे अतीत है, ऐसा निश्चय जिसको होगा, वह उन धर्मोंको, जिनको ब्रह्ममें नहीं मानता, वस्तुतः आत्मामें नहीं मान सकता ॥ ८९ ॥

'सर्वसंसार०' इत्यादि। इस तत्त्वज्ञानीके लक्षण सांसारिक भावभूत धर्म नहीं होते, कारण कि संसारमें ही सांसारिक भावभूत धर्म बारबार देखे जाते हैं, ज्ञानी (तत्त्वज्ञानी) संसारसे अतीत है, इसलिए असंसारी आत्मामें वस्तुतः संसारके धर्म कैसे रह सकते ? अज्ञानमूलक उनकी प्रतीति आत्मामें तबतक होती है, जबतक आत्मस्वरूपका निश्चय नहीं हो सकता, उक्त निश्चय होनेपर वे धर्म आत्मामें नहीं रह सकते, अतः संसारके भावात्मक धर्म आत्मामें नहीं हैं, यह कहना ठीक है।

यदि शङ्का हो कि सांसारिक भावभूत धर्म तत्त्वज्ञानीमें नहीं रहते, यह कहना ठीक है, परन्तु सांसारिक धर्माभावरूप धर्म तो उक्त ज्ञानीमें रह सकता है, अतः वही लक्षण क्यों न कहा जाय, तो इस द्वितीय शङ्काकी निवृत्तिके लिए कहते हैं—उक्त धर्म भी लक्षण नहीं हो सकता, कारण कि सुषुप्त आत्मामें उसका भी व्यभिचार है। उस दशामें अभावात्मक भी धर्म प्रतीत नहीं होता है, अतएव सुप्तोत्थित पुरुषका परामर्श है—'न किञ्चिदवेदिषम्'। किञ्चित्पदसे भावाभावात्मक निखिल धर्मोंका अज्ञान रहता है, अतः उक्त अभावभूत धर्म भी आत्मामें नहीं है, इसलिए वह प्रबुद्धात्माका वास्तविक लक्षण नहीं है ॥ ९० ॥

'शोभते' इत्यादि। ज्ञानसाधनकी अवस्थामें जो अमानित्व, अदम्भित्व आदि

भावाभावोभयध्वंसि ब्रह्म वेद्यं ततः श्रुतिः ।
येनेदगेव तेनेति लक्षणं तद्विदोऽब्रवीत् ॥ ९२ ॥

ज्ञानके साधन हैं, वे ही ज्ञानीके लक्षण हैं, ऐसा आचार्योंने माना है, अतएव गीतामें क्षेत्रज्ञविवेकके साधनोंका निर्देश है—

'अमानित्वमदम्भित्वमहिंसा क्षान्तिरार्जवम् ।
आचार्य्योपासनं शौचं स्थैर्यमात्मविनिग्रहः ॥' इत्यादि ।

विद्यमान अथवा आरोपित गुणोंसे अपनी श्लाघा करना मानित्व है, लाभ, पूजा और ख्यातिके लिए स्वधर्मको प्रकट करना दम्भित्व है। कायिक, वाचिक और मानसिक त्रिविध हिंसाका अभाव अहिंसा है । निर्विकार भावसे परकीय अपराध सहना क्षान्ति है । जैसा हृदय हो, वैसा ही व्यवहार करना अकौटिल्य है । हृदयके विपरीत व्यवहारको कौटिल्य कहते हैं । मोक्षसाधनका उपदेष्टा प्रकृतमें आचार्य्य विवक्षित है, मनूक्त 'उपनीय तु यः शिष्यं वेदमध्यापयेद् द्विजः' इत्यादि लक्षणसे लक्षित आचार्य्य प्रकृतमें विवक्षित नहीं है। शुश्रूषा, नमस्कार आदि प्रयोगके द्वारा उसका सेवन आचार्य्योपासन है । इत्यादि लक्षण ज्ञानीके हो सकते हैं ।

परन्तु यहाँ यह समझना चाहिए कि ये लक्षण साधनावस्थावाले योगीके ही हैं ज्ञानावस्थावाले तत्त्वदर्शीके नहीं, क्योंकि वह तो सकल धर्मोंसे अतीत है ।

शङ्का—अच्छा, तो व्यवहारातीतका कुछ लक्षण हो सकता है या नहीं ?

समाधान—हां, स्वरूप लक्षण हो सकता है। वेद्य ब्रह्म है, ब्रह्मका जो स्वरूप लक्षण है—सत्य, ज्ञान, आनन्द आदि, वही लक्षण ब्रह्मवेत्ताका है। 'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' इस श्रुतिके अनुसार ज्ञानी ब्रह्म ही हो जाता है, इसलिए ब्रह्मका लक्षण ब्रह्मवेत्ताका लक्षण है, यह ठीक ही है, अतएव गीतामें भगवान्‌ने कहा है—'ज्ञानी त्वात्मैव मे मतः' इत्यादि। अग्रिम श्लोकसे भी इसका निर्देश स्वयं ग्रन्थकार करेंगे ॥९१॥

'भावाभावो०' इत्यादि ।

शङ्का—'तद्यथा अहिनिर्ल्वयिनी' इत्यादि श्रुति तथा 'स्थितप्रज्ञस्य का भाषा' इत्यादि प्रश्नोत्तरबोधक स्मृतियोंमें तत्त्ववेत्ताका लक्षण पाया जाता है, फिर आप कैसे कहते हैं कि आत्मज्ञानीका लक्षण नहीं हो सकता ?

समाधान—लक्षण दो प्रकारके होते हैं—एक भावात्मक और दूसरा अभावात्मक पृथिवीका गन्ध लक्षण भावात्मक है । गुण आदिका निर्गुणत्व

ब्रह्म यादृक्तादृगेव भवेद्विद्वान्निबोधतः ।
बोधोऽतो लक्षणं तस्य बोधश्च स्वात्मसाक्षिकः ॥ ९३ ॥
अतोऽन्यदार्तमित्येव व्यतिरेकस्त्रिधोच्यते ।
प्रतीचो ब्रह्मतेहोक्ता ततोऽन्यद्यद्विनाशि तत् ॥ ९४ ॥

आदि लक्षण अभावात्मक है। ब्रह्म भावाभावोभयध्वंसि है यानी भाव और अभाव दोनोंसे शून्य है। इसलिए दोनों प्रकारके लक्षण ब्रह्ममें नहीं हैं। यहाँ ध्वंसपद अभावका बोधक है, न्यायमतके अनुसार जन्य अभावविशेषका बोधक नहीं है, क्योंकि वेदान्तमें ब्रह्मसे अतिरिक्त सब अनित्य है, इसलिए जन्यत्व विशेषण अभावमें व्यर्थ है।

शङ्का—ब्रह्म सकल धर्मोंसे शून्य भले ही हो, उसके लक्षणका तो यहाँ प्रश्न नहीं है। प्रश्न तो ब्रह्मज्ञानीके लक्षणका है?

समाधान—श्रुति स्वयं उत्तर देती है—'येनेदृगेव' इत्यादि। जिस अद्वैतात्मबोधसे वेद्य ब्रह्म उक्त उभय धर्मसे शून्य माना जाता है, उसी बोधसे तद्वेत्ता ज्ञानी भी तथाविध उभय धर्मोंसे शून्य है, इसलिए उसका भी लक्षण असम्भव है। 'तदिवायं दृश्यत इति ईदृक्' यानी ब्रह्मविद् ज्ञानी भी संसार धर्मोंसे अतीत है; इसलिए ज्ञानी ब्रह्मलक्षण ही है। सत्य, ज्ञान, आनन्द आदि स्वरूपलक्षण ही ब्रह्मज्ञानीका हो सकता है, उससे अतिरिक्त नहीं, अतएव श्रुतिने स्पष्ट ही कहा है—'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति'। एव कारसे सम्पूर्ण धर्मोंका निषेध प्रकृतमें विवक्षित है, इससे तद्भावापत्ति मोक्ष ही श्रुति-सम्मत है, 'तत्सालोक्यादि मोक्ष गौण है; मुख्य नहीं, यह भी स्पष्ट प्रतीत होता है ॥ ९२ ॥

उक्त अर्थको ही स्पष्ट करते हैं—'ब्रह्म यादृक्' इत्यादिसे। ब्रह्म जैसा है, वैसा ही ज्ञानी भी होता है। इसमें कारण है—ब्रह्मका यथार्थानुभव। ब्रह्मका वास्तविक स्वरूप है बोध, इसलिए मुक्तका भी स्वरूपलक्षण बोध ही है, वह प्रकृतमें प्रत्यक्षानुभवस्वरूप है, सो स्वात्मसाक्षिक है ॥ ९३ ॥

'अतोऽन्यदार्त०' इत्यादि। इस प्रकरणमें आत्मामें ब्रह्मभाव कहा है, ब्रह्मसे अन्य आर्त यानी विनाशी है, यहाँ तीन व्यतिरेकोंका हेयत्वेन बोध कराना अभीष्ट है, और तत्प्रतियोगित्रयका उपादेयत्वेन बोध कराना विवक्षित है।

शङ्का—कौन प्रतियोगित्रय?

निरेषणत्वं विद्याया हेतुरार्त्ता इहैषणाः ।
विदुषो लक्षणं बोध आर्तं तल्लक्षणान्तरम् ॥ ९५ ॥

इति वार्त्तिकसारे तृतीयाध्याये पञ्चमं ब्राह्मणं समाप्तम् ।

समाधान—ब्रह्मात्मैक्य, उसके बोधका साधन और प्रबुद्धका लक्षण—ये तीनों उपादेयत्वरूपसे विवक्षित हैं और इन तीनोंके अभाव अनुपादेयत्वरूपसे विवक्षित हैं ॥ ९४ ॥

'निरेषणत्वम्' इत्यादि । निरेषणत्व (इच्छारहितत्व) विद्याका हेतु है, इसका उपपादन पूर्वमें हो चुका है । एषणाएँ सब आर्त यानी विनश्वर हैं । विद्वान्‌का लक्षण बोध है । सम्पूर्ण अनात्म पदार्थोंका लक्षण आर्त है, यह लक्षणान्तर है ॥ ९५ ॥

वार्त्तिकसारके भाषानुवादमें तृतीय अध्यायका पञ्चम ब्राह्मण समाप्त



षष्ठं ब्राह्मणम्

षष्ठेऽस्मिन् ब्राह्मणे ब्रह्मकार्यं सर्वं विविच्यते ।
सर्वान्तरत्वं निर्णेयं ब्रह्मणः सर्वनिर्णयात् ॥ १ ॥

षष्ठ ब्राह्मण

'षष्ठेऽस्मिन्' इत्यादि । पहलेके दो ब्राह्मणोंसे आत्मामें सर्वान्तरत्व कहा गया है, इसका निर्णय 'सर्व' पदार्थके निर्णयके अधीन है, अतः सम्पूर्ण ब्रह्मकार्योंके निर्णयके लिए उत्तर ब्राह्मण है । यही पूर्वोत्तर ब्राह्मणोंकी सङ्गति है । इस छठे ब्राह्मणमें सम्पूर्ण ब्रह्मकार्य्योंका निरूपण किया जायगा, कारण कि पूर्व ब्राह्मणमें ब्रह्म सर्वान्तर कहा गया है । 'सर्व' पदार्थके ज्ञानके विना सर्वान्तरत्वका ज्ञान नहीं हो सकता और मुमुक्षुको ब्रह्ममें सर्वान्तरत्वका ज्ञान आवश्यक है, अतः उसके ज्ञानके लिए सब ब्रह्मकार्योंका इस छठे ब्राह्मणमें निरूपण किया जायगा ।

शङ्का—'साक्षाद्' इत्यादि विशेषण भी पूर्वमें कहे गये हैं, उनको छोड़ केवल सर्वान्तरत्वका ही निर्णय क्यों किया जाता है ?

समाधान—आत्मामें सर्वान्तरत्वका निर्णय हो जानेपर 'साक्षाद्' इत्यादिका निर्णय अनायाससे हो जाता है, इसलिए विशेषतः सर्वान्तरत्वका निर्णय करते हैं ।

शङ्का—'योऽशनायापिपासे अतिक्रामति' इत्यादिसे प्रश्नार्थका निर्णय हो ही चुका है, पुनः उस विषयमें गार्गीका प्रश्न क्यों ?

समाधान—वह निर्णय समीचीन नहीं है, इस अभिप्रायसे गार्गीने पुनः श्री-याज्ञवल्क्यजीसे प्रश्न किया है ।

शङ्का—'यत्साक्षाद्' इत्यादि प्रश्नका 'योऽशनाया०' इत्यादिसे निर्णीत अर्थ समीचीन क्यों नहीं है ?

समाधान—जब तक पृथिवीसे लेकर आकाशपर्यन्त पदार्थोंमें एक ही आत्मा है, यह निर्णय न हो जाय, तब तक सर्वान्तरत्वका निर्णय नहीं हो सकता । अशनाया आदिके अतिक्रमसे आत्मा शरीर आदिका आन्तर हो सकता है; किन्तु सर्वान्तर नहीं कहा जा सकता, क्योंकि 'सर्व' पदार्थमें पृथिव्यादि पदार्थ भी आ जाते हैं, अतः उक्त हेतु सर्वान्तरत्वका निर्णय करनेमें असमर्थ है ।

श्रुतिः—अथ हैनं गार्गी वाचक्नवी पप्रच्छ याज्ञवल्क्येति होवाच यदिदं सर्वमप्स्वोतं च प्रोतं च कस्मिन्नु खल्वाप ओताश्च प्रोताश्चेति वायौ गार्गीति कस्मिन्नु खलु वायुरोतश्च प्रोतश्चेत्यन्तरिक्षलोकेषु गार्गीति कस्मिन्नु खल्वन्तरिक्षलोका ओताश्च प्रोताश्चेति गन्धर्वलोकेषु गार्गीति कस्मिन्नु खलु गन्धर्वलोका ओताश्च प्रोताश्चेत्यादित्यलोकेषु गार्गीति

शङ्का—अच्छा, प्रश्नका समीचीन निर्णय नहीं हुआ, इस बुद्धिसे गार्गीने श्रीयाज्ञवल्क्यजीसे पूछा, यह मान लेते हैं, किन्तु गार्गीके प्रश्नमें मूल क्या है ?

समाधान—मूल व्याप्ति है । जैसे पार्थिव लोष्ठ (मिट्टीका ढेला), कुम्भ आदि भीतर बाहर पृथिवीसे व्याप्त हैं, क्योंकि पृथिवी उक्त विकारोंकी उपादान है, वैसे ही जल आदिके कार्य्य पृथिवी आदि जलादिसे व्याप्त हैं, इस प्रकार जो जो अनात्मा होकर व्यापक है, वह तदन्यसे व्याप्य है, यह व्याप्ति स्फुट प्रतीत होती है; जैसे कि घट आदि पृथिवीसे व्याप्त हैं; पृथिवी आदि स्वकारण जल आदिसे व्याप्त हैं । इस प्रकार यदि आत्मा सबका कारण हो, तो सर्वव्यापक तथा सर्वान्तर हो सकता है, अन्यथा नहीं, इस अभिप्रायसे यह प्रश्न हुआ है ॥ १ ॥

'अथ हैनं गार्गी वाचक्नवी पप्रच्छ' इत्यादि श्रुति । पूर्वमें 'यत्साक्षादपरोक्षाद् ब्रह्म' (ब्रह्म साक्षात् अपरोक्ष है) तथा 'सर्वान्तर आत्मा' ऐसा कहा गया है । उस सर्वान्तर आत्माके स्वरूपके ज्ञानके लिए शाकल्यब्राह्मणपर्य्यन्त ग्रन्थका प्रारम्भ किया जाता है । पृथिवीसे लेकर आकाश पर्य्यन्त जो भूत हैं, वे सब (पृथिवी आदि) अपने कारणमें बाह्यान्तरभावसे अवस्थित हैं, उनमें जो जो बाह्य हैं, परिज्ञान पूर्वक उनको हटाकर आत्मज्ञानके अभिलाषीको सर्वान्तर तथा सर्वसंसारधर्मोंसे रहित आत्मा दिखलाना चाहिए, इस आशयसे श्रुतिका 'अथ हैनम्' इत्यादिसे आरम्भ है। गार्गी यह नाम है । वह वचक्नुकी पुत्री थी, इसलिए वाचक्नवी भी कही जाती थी । उसने श्रीयाज्ञवल्क्यजीसे पूछा कि जो ये सब पार्थिव धातु हैं, वे जलमें ओत और प्रोत हैं जैसे पट सीधे और लम्बे तागोंमें ओत तथा तिर्यक् तन्तुओंमें प्रोत रहता है अर्थात् जैसे पटकी लम्बाई और चौड़ाई तन्तुओंमें ही रहती है, वैसे ही पृथिवी सर्वतः जलमें ही ओत और प्रोत है, अन्यथा सत्तुए अथवा बालूकी मुट्ठीके समान वह अलग-अलग विशीर्ण हो जाती, उसके अवयव भी पृथक्-पृथक् रह जाते, स्थूल, कठिन तथा एक अवयवी नहीं होता । चूर्णोंको

कस्मिन्नु खल्वादित्यलोका ओताश्च प्रोताश्चेति चन्द्रलोकेषु गार्गीति कस्मिन्नु खलु चन्द्रलोका ओताश्च प्रोताश्चेति नक्षत्रलोकेषु गार्गीति कस्मिन्नु खलु नक्षत्रलोका ओताश्च प्रोताश्चेति देवलोकेषु गार्गीति कस्मिन्नु खलु देवलोका ओताश्च प्रोताश्चेतीन्द्रलोकेषु गार्गीति कस्मिन्नु खल्विन्द्र-लोका ओताश्च प्रोताश्चेति प्रजापतिलोकेषु गार्गीति कस्मिन्नु खलु प्रजापति-लोका ओताश्च प्रोताश्चेति ब्रह्मलोकेषु गार्गीति कस्मिन्नु खलु ब्रह्मलोका ओताश्च प्रोताश्चेति ।

पिण्डरूपमें परिवर्तित करनेमें हेतुभूत गुण (स्नेह) जलमें ही रहता है, उसीसे अवयवोंसे अवष्टब्ध अवयवी बनता है । यह अनुमान देखा गया है कि जो कार्य परिच्छिन्न (परिमित) तथा स्थूल है वह अपरिच्छिन्न सूक्ष्म कारणसे व्याप्त रहता है । अतः जैसे पृथिवी जलसे व्याप्त है, वैसे ही पूर्वपूर्व पदार्थका व्यापक उत्तर-उत्तर पदार्थ होना चाहिए, यही आसर्वान्तर आत्मामें प्रश्न है । यहाँपर पाँचों भूत संहत परस्पर मिश्रित हैं और वे उत्तरोत्तर सूक्ष्म, व्यापक तथा कारणरूपसे व्यवस्थित हैं, पर परमात्मासे अतिरिक्त उससे उत्तर कोई वस्तु ही वस्तुतः नहीं है, अतएव श्रुतिने ब्रह्मको सत्यका सत्य कहा है । लोग पाँच भूतोंको भी सत्य समझते हैं, पर श्रुति उनको सत्य नहीं मानती, उनका भी सत्य आत्मा ही है, आत्मव्यतिरिक्त वस्तुमात्र अज्ञानकल्पित और असत्य है, परमार्थ सत्य परमात्मा ही है । जल किसमें ओत और प्रोत है, क्योंकि जल भी कार्य, स्थूल और परिच्छिन्न है, अतः उसको भी कहीं ओत-प्रोत अवश्य होना चाहिए। इसी प्रकार उत्तरोत्तर प्रश्न समझना चाहिए। जल किसमें ओत-प्रोत है ? इसका उत्तर दिया कि वह वायुमें ओत प्रोत है ।

शङ्का—यह तो ठीक नहीं, कारण कि जलका कारण अग्नि है, इसलिए जल अग्निमें ओत-प्रोत है, ऐसा कहना चाहिए ।

समाधान—पार्थिव अथवा जलीय धातुके बिना स्वतन्त्र अग्नि नहीं रहती । तार्किक अग्निको चार प्रकारकी मानते हैं—भौम, आप्य, उदर्य और आकरज । भौम (अग्नि) काष्ठादिमें आश्रित है, विद्युत् जलमें आश्रित है, उदर्य्य (जठराग्नि) पूर्वोक्त दोनोंमें आश्रित है; और आकरज (सुवर्ण आदि) पार्थिवाश्रित है। उन दोनोंमें न रहनेवाला स्वतन्त्र अग्निपदार्थ नहीं है, इसलिए अग्निका निर्देश न कर वायुका ही निर्देश श्रुतिने किया है ।

यद्यत्कार्यं कारणेन व्याप्तमन्तर्बहिश्च यत् ।
इति तर्केण पप्रच्छ कारणस्य परम्पराम् ॥ २ ॥
पार्थिवं कठिनं सर्वमोतप्रोतं द्रवे जले ।
दधिपिण्डद्रवक्षीरे जलं तत्र तथा स्थितम् ॥ ३ ॥

शङ्का—वायु किसमें ओत-प्रोत है ?

समाधान—अन्तरिक्ष लोकमें । संहत भूत अन्तरिक्षलोक कहलाते हैं । वे भी गन्धर्वलोकमें ओतप्रोत हैं । उक्त लोक किसमें ओतप्रोत है? आदित्यलोकमें, आदित्य-लोक किसमें ओतप्रोत है? चन्द्रलोकमें । चन्द्रलोक नक्षत्रलोकमें, नक्षत्रलोक देवलोकमें, देवलोक इन्द्रलोकमें, इन्द्रलोक प्रजापतिलोकमें और प्रजापतिलोक ब्रह्मलोकमें ओत-प्रोत है । ब्रह्मलोक किसमें ओतप्रोत है ? ऐसा पुनः गार्गीके प्रश्न करनेपर श्रीयाज्ञवल्क्य-जीने उससे कहा कि हे गार्गि, अन्यायसे अपने प्रश्नको मत पूछो, जो आगमैकवेद्य है, वह अनुमानसे नहीं कहा जा सकता है; इस रीतिसे यदि तुम प्रश्न करोगी, तो तुम्हारा सिर धड़से गिर जायगा, इसलिए सबके कारण ब्रह्मको अनुमानसे मत पूछो, जिससे कि तुम्हारा सिर न गिरे । यह प्रश्न आगमविषयक है, उसका अतिक्रमण कर गार्गीका प्रश्न आनुमानिक हुआ है, अतः ऋषि कहते हैं कि जिस ब्रह्मदेवताका तुम प्रश्न करती हो, वह देवता अनतिप्रश्न्या है यानी केवल आगमगम्या है, अतः उसके विषयमें प्रश्न इस प्रकारसे तुम्हें नहीं करना चाहिए, इस प्रकारके प्रश्नोत्तर अनुमेय विषयमें ही हो सकते हैं; उससे भिन्नमें नहीं, अतः गार्गी यदि तुम्हारी इच्छा मरनेकी न हो, तो ऐसा प्रश्न मत करो, तदनन्तर गार्गी वाचक्नवी चुप हो गई ॥ १ ॥

'यद्यत्कार्य्यम्' इत्यादि । जो जो कार्य्य है, वह बाहर भीतर अपने-अपने कारणसे व्याप्त है, इस तर्कसे गार्गीने कारणकी परम्परा श्रीयाज्ञवल्क्य-जीसे पूछी ॥ २ ॥

'पार्थिवम्' इत्यादि । सब कठिन पार्थिव पदार्थ द्रवात्मक जलमें ओत-प्रोत रहते हैं ।

शङ्का—दधिपिण्ड द्रवात्मक क्षीरमें रहता है, जलमें नहीं ।

समाधान—क्षीरमें जलीय अंश अधिक है, उसीमें पिण्ड रहता है । इसलिए व्यभिचारकी आशङ्का व्यर्थ है ॥ ३ ॥

दीर्घतन्तुवदोतत्वं तिर्यक्तन्तोरिवेतरत् ।
यद्वाऽन्तर्व्याप्तिरोतत्वं प्रोतत्वं तु बहिः स्थितम् ॥ ४ ॥
जलस्य कारणं तेजस्तेजसो वायुराश्रयः ।
श्रुत्यन्तरादिदं ज्ञेयं वायोस्तु वियदाश्रयः ॥ ५ ॥

ओत और प्रोत शब्दोंका अर्थ कहते हैं—'दीर्घतन्तु०' इत्यादिसे ।

दीर्घतन्तुओंमें पट 'ओत' कहा जाता है और तिर्य्यक् तन्तुओंमें 'प्रोत' कहा जाता है, अथवा अन्तर्व्याप्ति ओतशब्दका अर्थ है और बहिर्व्याप्ति प्रोतशब्दका अर्थ है, अन्तर्बहिर्व्याप्तिके सूचनके लिए दो शब्दोंका उपादान है । अन्यथा जैसे सूत्रमें माला प्रोत है, यों केवल प्रोत कहनेसे मालाके भीतर सूत है, ऐसी प्रतीति होनेके कारण अन्तर्व्याप्तिका बोध होनेपर भी बहिर्व्याप्तिका लाभ नहीं होता वैसे ही प्रकृतमें दोनों पदोंके उपादानके बिना अन्तर्व्याप्ति और बहिर्व्याप्तिका लाभ नहीं होगा और उसके बिना कार्यकारणभाव नहीं होगा, इस अभिप्रायसे दो पदोंका उपादान किया गया है ॥ ४ ॥

'जलस्य' इत्यादि। 'एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः। आकाशाद्वायुः। वायोरग्निः। अग्नेरापः। अद्भ्यः पृथिवी' इत्यादि तैत्तिरीयक श्रुतिसे जलका कारण तेज कहा गया है, पर गार्गीके प्रश्नोत्तरमें श्रीयाज्ञवल्क्यजीने जलका कारण वायु बतलाया है। आधुनिक वैज्ञानिक केवल कहते ही नहीं, बल्कि वायुसे जल होता है, यह प्रत्यक्षतः दिखलाते भी हैं, इसलिए उक्त महर्षिका उत्तर समुचित ही है। लेकिन तैत्तिरीयक श्रुतिके विरोधका परिहार भी होना चाहिए, इसलिए भाष्यकारने कहा कि अग्नि भौम और आप्य इनमें से किसी एक भागमें आश्रित ही रहती है; स्वतन्त्र अग्निधातुकी स्थिति नहीं है, इसलिए जल वायुके आश्रित है ऐसा कहा गया है । वस्तुतः वायुसे अग्नि होती है, अतः अग्निमें भी वायुतत्त्व रहता है, अग्निगत वायुतत्त्वसे जलकी सृष्टि होती है, ऐसा माननेसे उक्त विरोधका परिहार हो जाता है । जैसे लोकमें गोघृत कहा जाता है; पर साक्षात् गौसे घृत नहीं होता, किन्तु गौसे दुग्ध तदनन्तर घृत होता है, फिर भी परम्परया गौसे भी होता है, इसलिए गोघृत कहा जाता है, वैसे ही यद्यपि वायुसे उत्पन्न तेजसे जल होता है, तथापि परम्परया वायुसे भी होता है, इस तात्पर्य्यसे उक्त ऋषिने जल वायुके आश्रित है, यह कहा है । वैज्ञानिकोंको अभीतक तेजसे जल उत्पन्न करनेका प्रकार परिज्ञात नहीं हुआ है । यदि

भूम्यादिवियदन्तानां भूतानामुत्तरोत्तरम् ।
सूक्ष्मताव्यापिते दृष्टे ताभ्यां कारणतोच्यताम् ॥ ६ ॥
पञ्चभूतैश्च उत्पन्ना अस्मदेहादयोऽखिलाः ।
ब्रह्माण्डान्ता इमे देहा भोग्यत्वाल्लोकसंज्ञकाः ॥ ७ ॥
यथैकस्मादिक्षुरसादुत्तरोत्तरपाकतः ।
गुडादीनि बहूनि स्युर्भूतेभ्योऽण्डादयस्तथा ॥ ८ ॥

इसके अन्वेषणमें तत्पर रहेंगे, तो उसका भी परिज्ञान हो जायगा । वस्तुतः स्वतन्त्र आश्रयविषयक गार्गीका प्रश्न है, अग्नि स्वतन्त्ररूपसे स्थित नहीं है, किन्तु, वह नियमसे भौम जलीय एतदन्यतर भागमें आश्रित है, वायु स्वतन्त्र है; इसलिए जल किसमें आश्रित है, इसका उत्तर वायुमें, ऐसा जो कहा, वह ठीक ही है ।

शङ्का—पूर्वपूर्व उत्तरोत्तरसे व्याप्त है, इसमें क्या हेतु है ?

समाधान—भूमिसे लेकर आत्मपर्यन्त पदार्थोंमें पूर्व-पूर्वकी अपेक्षा उत्तरोत्तर सूक्ष्म और व्यापक हैं, यही कारण है कि पूर्व-पूर्व उत्तरोत्तरसे व्याप्त हैं ॥ ५ ॥

'भूम्यादि०' इत्यादि । भूमि आदिसे लेकर आकाशपर्यन्त पञ्च महाभूतोंमें उत्तरोत्तरमें सूक्ष्मता और व्यापिता दृष्ट है, इसलिए उत्तरोत्तर पूर्व-पूर्वके कारण हैं, ऐसा कहो । कार्य्यकी अपेक्षा कारण सूक्ष्म और व्यापक होता है ॥ ६ ॥

'पञ्चभूतैश्च' इत्यादि । पाँच भूतोंसे यानी पृथिवी, अप्, तेज, वायु और आकाश—इन पाँच भूतोंसे हम लोगोंके देह आदि निखिल ब्रह्माण्डान्त पदार्थ उत्पन्न हुए हैं । ये सब देह भोग्य होनेसे लोक भी कहे जाते हैं ।

शङ्का—हम लोगोंकी देह तो देहशब्दसे लोकमें प्रसिद्ध है, पर ब्रह्माण्डान्त सब देह कैसे हैं ?

समाधान—देह भोगसाधन है और ब्रह्माण्डान्त सब पदार्थ भी भोगके साधन हैं, इसलिए ये सब देहस्वरूप ही हैं ।

शङ्का—भोगसाधन तो विषय भी हैं, क्या वे भी देह कहे जा सकते हैं ?

समाधान—हाँ, कहे ही जा सकते हैं । तात्पर्य यह है कि अस्मदादि देह व्यष्टिरूपसे देह कहे जाते हैं और ब्रह्माण्डादि समष्टिरूपसे देह हैं, यों विराड्के सब देह ही हैं ॥ ७ ॥

'यथैक०' इत्यादि । जैसे एक ही इक्षुरससे परिपाकवश गुड़, चीनी, मिश्री, आदि अनेक प्रकारके विलक्षण परिणाम होते हैं, वैसे ही उक्त पाँच भूतोंसे

नरगन्धर्वमार्तण्डचन्द्रनक्षत्रदेवताः ।
इन्द्रो विराट् तदण्डश्चेत्येता भूतदशाः स्थिताः ॥ ९ ॥
तत्तद्देहारम्भदशास्तत्तन्नाम्ना समीरिताः ।
स्थूलसूक्ष्मदशास्तासु कार्यकारणताक्रमात् ॥ १० ॥

श्रुतिः—स होवाच गार्गि मातिप्राक्षीर्मा ते मूर्द्धा व्यपप्तदनतिप्रश्न्यां वै देवतामतिपृच्छसि गार्गि मातिप्राक्षीरिति ततो ह गार्गी वाचक्नव्युपरराम ॥ १ ॥

इत्युपनिषदि षष्ठं ब्राह्मणं समाप्तम्

परिपाकवश और अदृष्टवश अनेकविध ब्रह्माण्ड होते हैं, भोगप्रद अदृष्टके अनुसार विविध प्रकारके प्राणिसमूह इनमें निवास करते हैं, यही ईश्वरकी लीला है ॥ ८ ॥

'नरगन्धर्व०' इत्यादि । दशा यानी अवस्थाविशेष । नरादिसे अण्डान्त ये सब पाँच भूतोंकी दशा (अवस्थाविशेष) हैं, जीवके उपभोगके लिए ही निखिल ब्रह्माण्डकी रचना ईश्वरने की है ॥ ९ ॥

'तत्तद्देहा०' इत्यादि । भूमिसे लेकर आकाशपर्य्यन्त उत्तरोत्तर पूर्व-पूर्वका कारण है, इसका समर्थन भी श्रुति और युक्तिसे हो चुका, इन पाँच भूतोंकी जो मनुष्यादि-आरम्भक दशा है, वह स्थूलतमा है, इसी अवस्थाका 'कस्मिन्नु खल्वन्तरिक्षलोकः' इत्यादि प्रश्नवाक्यमें स्थित अन्तरिक्षपदसे निर्देश किया गया है । यह दशा स्वकारणीभूत गन्धर्वलोकशब्दित गन्धर्वशरीरारम्भक पाँच भूतोंकी दशामें अवस्थित है । और वह आदित्यशरीरारम्भक भूतावस्थामें रहती है । इसी प्रकार चन्द्र आदिमें भी योजना कीजिए । इन्द्रशरीरारम्भक भूतदशा प्रजापतिलोकशब्दित चतुर्मुखशरीरारम्भक भूतदशामें विद्यमान है । और वह ब्रह्मलोकशब्दित ब्रह्माण्डशरीरारम्भक पञ्चीकृत पञ्चमहाभूतकी अतिसूक्ष्मावस्थामें रहती है ।

शङ्का—अन्तरिक्ष आदि लोक तो एक ही है, इसलिए एकवचनान्त प्रयोग ही होना चाहिए, बहुवचनका प्रयोग क्यों किया गया ?

समाधान—आरम्भक बहुत हैं, इसलिए उनके बोधके तात्पर्य्यसे बहुवचन ही ठीक है ।

शङ्का—अनात्ममात्रकी कारण अविद्या है, सो एक ही है, इसलिए एकवचनान्तका ही प्रयोग उचित प्रतीत होता है ।

पञ्चीकृतानां भूतानां सूक्ष्मताऽण्डे समाप्यते ।
एतावदेव तर्केण गम्यं न तु ततः परम् ॥ ११ ॥
अण्डारम्भकभूतानामपञ्चीकृतभूतजम् ।
सूत्रं कारणमित्येतदागमेनैव गम्यते ॥ १२ ॥
अचिन्त्याः खलु ये भावा न तांस्तर्केण योजयेत् ।
सूत्रान्तर्याम्यक्षराणि तार्किका नाऽनुमन्वते ॥ १३ ॥
तर्काभासो भवेत्तेषु हेतुदृष्टान्तवर्जनात् ।
अन्यथाप्रतिपत्त्याऽतो मूर्द्धपातं मुनिर्जगौ ॥ १४ ॥

इति वार्त्तिकसारे तृतीयाध्यायस्य षष्ठं ब्राह्मणं समाप्तम् ॥ ६ ॥

समाधान—अविद्याकार्य्य पाँच भूत साक्षात् तत्-तत् लोकके आरम्भक हैं और वे अनेक हैं, इसलिए बहुवचनान्तका प्रयोग किया गया है ॥ १० ॥

'पञ्चीकृतानाम्' इत्यादि । उक्त रीतिसे पञ्चीकृत भूतोंकी सूक्ष्मावस्था अण्डमें (अपञ्चीकृत भूतोंकी सूक्ष्मावस्थामें) समाप्त होती है । यहाँ तक ही तर्कगम्य विषय है, आगे तर्कका विषय नहीं है ॥ ११ ॥

'अण्डारम्भक०' इत्यादि । अण्डारम्भक भूतोंकी सूक्ष्मावस्थाका अपञ्चीकृत-भूतसूक्ष्मजन्य सूत्र कारण है, यह आगमसे जाना जाता है, अनुमानसे नहीं, अतः इस विषयका ज्ञान अनुमान द्वारा नहीं हो सकता, अतः उसीके लिए तुम्हारा प्रश्न होना चाहिए यानी प्रष्टव्य विषय ही तुम्हें पूछना चाहिए ॥ १२ ॥

'अचिन्त्याः' इत्यादि । जो विषय चिन्तासे (अनुमानसे) परे हैं, उन विषयोंमें तर्ककी योजना उचित नहीं है । सूत्र, अन्तर्यामी और अक्षर—इनका अनुमान तार्किक भी नहीं कर सकते अर्थात् ये अनुमानके विषय नहीं हैं ॥ १३ ॥

'तर्काभासो' इत्यादि । अचिन्त्य विषयका अनुमान आभास कहा जाता है, कारण कि ऐसे विषयमें हेतु या दृष्टान्त नहीं मिलता । अतः हे गार्गि, विषयका अतिक्रमण कर प्रश्न मत पूछो । आनुमानिक प्रश्नके विषय इन्द्र आदिका अतिक्रमण कर सूत्रज्ञानके लिए अनुमान द्वारा प्रश्न मत करो । अन्यथा तुम्हारा सिर गिर जायगा । अनतिप्रश्न्याका अर्थ यह है—अविषयका प्रश्न अतिप्रश्न कहलाता है, 'अति-

प्रश्नमर्हति' इति अतिप्रश्न्या, न अतिप्रश्न्या अनतिप्रश्न्या यानी अनुमान द्वारा प्रश्नके अयोग्य। स्थूल पदार्थको अनुमान द्वारा जान सकते हैं, अतः अनुमान द्वारा उसके ज्ञानके लिए प्रश्न ठीक है और जो देवता अचिन्त्य एवं अप्रतर्क्य है और प्राणभावसे स्थित है, उसको आगमातिरिक्त प्रमाणसे नहीं पूछना चाहिए, अन्यथा शिरःपातरूप अनिष्ट अनिवार्य होगा ॥ १४ ॥

वार्तिकसारके भाषानुवादमें तृतीयाध्यायका छठा ब्राह्मण समाप्त



सप्तमं ब्राह्मणम्

सप्तमब्राह्मणे तर्के सन्त्यज्याऽऽगममार्गतः ।
ब्रह्माण्डकारणं सूत्रमन्तर्यामी च वर्ण्यते ॥ १ ॥
सूत्रान्तर्यामिणौ जानन्गन्धर्वस्योपदेशतः ।
तर्कात्रेति विवक्षित्वा कथां भुज्युवदुक्तवान् ॥ २ ॥

सप्तम ब्राह्मण

'सप्तमब्राह्मणे' इत्यादि । ब्रह्म सर्वान्तर है । उसके निर्णयके लिए अनुमान-गम्य सम्पूर्ण कार्य्योंका निर्णय करके अब आगमगम्य सूत्र और अन्तर्यामीके निर्णयके लिए सप्तम ब्राह्मणका आरम्भ है, यही पूर्वोत्तर ग्रन्थकी संगति है । जिनको—सूत्र तथा अन्तर्यामीको— अनुमान द्वारा जाननेके लिए गार्गीने प्रश्न किया था और सिर गिरनेका भय दिखला कर मुनिजीने जिसे रोक दिया था, तर्कका त्याग कर उन्हीं विषयोंको आगम द्वारा जाननेके लिए उद्दालकजीने इस ब्राह्मणमें प्रश्न किया है, अतः जगत्के कारणभूत सूत्र और अन्तर्यामीका इस ब्राह्मणमें निरूपण किया जाता है ॥ १ ॥

'सूत्रान्तर्यामिणौ' इत्यादि ।

शङ्का—सूत्र और अन्तर्यामीका ज्ञान उद्दालकको था या नहीं ? प्रथम पक्षमें ज्ञात होनेसे जिज्ञासा आदिके अभावसे प्रश्न ही नहीं हो सकता । द्वितीय पक्षमें प्रष्टव्य विषयके अज्ञानसे भी प्रश्न अनुपपन्न है, क्योंकि तद्विषयक प्रश्नमें तद्विषयक ज्ञान कारण माना जाता है । यदि विषयज्ञान नहीं हो, तो तद्विषयक प्रश्नके बोधनके लिए शब्दप्रयोग ही असंभव हो जायगा, अतः सामान्यरूपसे ज्ञात तथा विशेषतः अज्ञात पदार्थ ही सर्वत्र प्रश्नका विषय होता है ।

समाधान—ठीक है, प्रकृत प्रश्नका विषय उपदेश द्वारा आरुणिको भी ज्ञात है, किन्तु तद्विषयक गार्गीके प्रश्नको भयप्रदर्शन द्वारा मुनिजीके रोक देनेसे कुछ लोगोंके मनमें यह भी सन्देह हो सकता है कि गार्गीके प्रश्नका उत्तर मुनिजी नहीं दे सकते थे, इस सन्देहकी निवृत्तिके लिए उद्दालकने आगम द्वारा उसके परिज्ञानके लिए वही प्रश्न किया । प्रश्नविषयका उनको पूरा ज्ञान था, अतः उक्त विकल्प असङ्गत है, ज्ञान होनेपर भी परीक्षाके लिए प्रश्न होता है ।

श्रुतिः—अथ हैनमुद्दालक आरुणिः पप्रच्छ याज्ञवल्क्येति होवाच मद्रेष्ववसाम पतञ्चलस्य काप्यस्य गृहेषु यज्ञमधीयानास्तस्यासीद्भार्या गन्धर्वगृहीता तमपृच्छाम कोऽसीति सोऽब्रवीत्कबन्ध आथर्वण इति सोऽब्रवीत्पतञ्चलं काप्यं याज्ञिकाꣳश्च वेत्थ नु त्वं काप्य तत्सूत्रं येनायं च लोकः परश्च लोकः सर्वाणि च भूतानि संदृब्धानि भवन्तीति सोऽब्रवीत्पतञ्चलः काप्यो नाहं तद्भगवन्वेदेति सोऽब्रवीत्पतञ्चलं काप्यं याज्ञिकाꣳश्च वेत्थ नु त्वं काप्य तमन्तर्यामिणं य इमं च लोकं परं च

उद्दालक शान्तस्वभाव थे, अतएव उन्होंने तद्विषयक ज्ञानार्जनके साधनका आख्यायिका द्वारा स्पष्ट निर्देश कर दिया है ॥ २ ॥

'अथ हैनमुद्दालक आरुणिः' इत्यादि श्रुति। सिरके पतनके भयसे गार्गीके प्रश्नसे उपरत हो जानेके अनन्तर अवश्यनिरूपणीय ब्रह्मलोकके अन्तरतम सूत्रका निरूपण करनेके लिए इस प्रकरणका आरम्भ है। उसे आगमसे ही पूछना चाहिए, इसलिए इतिहास द्वारा आगमका उपन्यास किया गया है। उद्दालक नाम था, अरुणके पुत्र थे, इसलिए आरुणि भी कहे जाते थे। उन्होंने याज्ञवल्क्यजीसे पूछा—हम लोग मद्रदेशमें काप्य (कपिगोत्रोत्पन्न) पतञ्चल-नामक विद्वान्के घरमें यज्ञशास्त्रका अध्ययन करते हुए निवास करते थे। पतञ्चलकी भार्य्या गन्धर्वसे गृहीता थी। हम लोगोंने उस गन्धर्वसे पूछा कि तुम कौन हो? उसने कहा—मैं नामतः कबन्ध हूँ और अथर्वाका पुत्र होनेसे आथर्वण भी कहलाता हूँ। उस गन्धर्वने पतञ्चल काप्यसे तथा याज्ञिकोंसे (हम लोगोंसे) पूछा—हे काप्य, क्या तुम उस सूत्रको जानते हो?

शङ्का—किस सूत्रको?

समाधान—जिस सूत्रसे यह लोक, यह जन्म, परलोक, भावी (प्राप्तव्य) जन्म और ब्रह्मासे लेकर स्तम्बपर्य्यन्त सब भूत ग्रथित हैं, जैसे कि सूत्रसे मालाके फूल गुँथे रहते हैं। इस प्रश्नका काप्यने उत्तर दिया—भगवन्, नहीं, उसको नहीं जानते। उस गन्धर्वने उन उपाध्याय (अध्यापक) तथा हम लोगोंसे फिर प्रश्न किया, हे काप्य, क्या उस अन्तर्यामीको जानते हो, जो इस लोक, परलोक तथा सब भूतोंके अन्दर स्थित होकर सबका नियमन करता है जैसे नट कठ-घोड़वा, हिंडोला, दारुयन्त्र आदिको नचाता है, अपना अपना उचित व्यापार

लोकꣳसर्वाणि च भूतानि योऽन्तरो यमयतीति सोऽब्रवीत्पतञ्चलः काप्यो नाहं तं भगवन्वेदेति सोऽब्रवीत्पतञ्चलं काप्यं याज्ञिकाꣳश्च यो वै तत्काप्य सूत्रं विद्यात्तं चान्तर्यामिणमिति । स ब्रह्मवित्स लोकवित्स देववित्स वेदवित्स भूतवित्स आत्मवित्स सर्वविदिति तेभ्योऽब्रवीत्तदहं वेद तच्चेत्त्वं याज्ञवल्क्य सूत्रमविद्वाꣳस्तं चान्तर्यामिणं ब्रह्मगवीरुदजसे मूर्द्धा ते विपतिष्यतीति वेद वा अहं गौतम तत्सूत्रं तं चान्तर्यामिणमिति यो वा इदं कश्चिद् ब्रूयाद्वेद वेदेति यथा वेत्थ तथा ब्रूहीति ॥ १ ॥

कराता है। काप्यने सम्मानपूर्वक उत्तर दिया—भगवन्, मैं उसे नहीं जानता । सूत्र और अन्तर्यामीके ज्ञानकी स्तुतिके लिए उस गन्धर्वने फिर कहा कि हे काप्य, जो कोई उस सूत्रको तथा उस अन्तर्यामीको जानता है अर्थात् उस सूत्रके नियन्ता अन्तर्यामीको जानता है, वही ब्रह्मवित् और वही परमात्मवित् है । और वही अन्तर्यामीसे नियन्त्रित भू आदि लोकोंको जानता है, वही अग्नि आदि देवताओंको, सब प्रमाणभूत वेदोंको तथा सूत्रसे धृत तथा तदन्तर्गत अन्तर्यामीसे नियन्त्रित ब्रह्मादि भूतोंको जानता है। वही कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदिसे विशिष्ट उस अन्तर्यामीसे नियन्त्रित आत्माको भी जानता है और यथावस्थित संपूर्ण जगत्को भी जानता है । इस प्रकार अन्तर्यामीके विज्ञानकी स्तुति होनेपर उसके ज्ञानकी प्राप्तिके लिए लुब्ध काप्य उनके संमुख स्थित हुए, हम लोग भी अवहित हुए । हम लोगोंको उस गन्धर्वने सूत्र और अन्तर्यामीके विषयमें उपदेश दिया । अतः मैं उस गन्धर्वके द्वारा सूत्र और अन्तर्यामीका ज्ञान पा चुका हूँ, इसलिए हे याज्ञवल्क्य, उस सूत्र और अन्तर्यामीको न जानकर यदि तुम अपनेको ब्रह्मवित् मानते हो और ब्रह्मवेत्ताओंकी गउओंको अपने घर ले जाते हो, तो तुम अन्यायसे ब्रह्मस्व ले जाते हो, मेरे शापसे आज तुम्हारा सिर गिर जायगा । उद्दालकके यों कहनेपर श्रीयाज्ञवल्क्यजी सावधान होकर बोले—मैं जानता हूँ गौतम ! गन्धर्वने जो तुमसे कहा है यानी जिस अन्तर्यामीको गन्धर्वसे आप लोगोंने जाना है, उस अन्तर्यामीको हम जानते हैं । ऐसा कहनेपर गौतम बोले—प्राकृत मनुष्य उस अन्तर्यामीको कैसे जानेगा, जिसको कि भाग्यवश हम लोगोंने गन्धर्वसे जाना है । हम जानते हैं, जानते हैं, इस प्रकार आप आत्मश्लाघा कर रहे हैं, केवल गर्जनेसे काम नहीं चलेगा, उसको दिखलाइये, कार्य द्वारा स्पष्ट कीजिये और जैसा जानते हैं वैसा कहिए ॥ १ ॥

स होवाच वायुर्वै गौतम तत्सूत्रं वायुना वै गौतम सूत्रेणायं च लोकः परश्च लोकः सर्वाणि च भूतानि संदृब्धानि भवन्ति तस्माद्वै गौतम पुरुषं प्रेतमाहुर्व्यस्रꣳसिषतास्याङ्गानीति वायुना हि गौतम सूत्रेण संदृब्धानि भवन्तीत्येवमेवैतद्याज्ञवल्क्यान्तर्यामिणं ब्रूहीति ॥ २ ॥

यः पृथिव्यां तिष्ठन्पृथिव्या अन्तरो यं पृथिवी न वेद यस्य पृथिवी शरीरं यः पृथिवीमन्तरो यमयत्येष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः ॥ ३ ॥

'स होवाच वायुर्वै गौतम तत्सूत्रम्' इत्यादि श्रुति। जैसे पृथ्वी जलमें ओत-प्रोत है, वैसे वर्तमान कालमें जिसमें ब्रह्मलोक ओत-प्रोत हैं, उस आगमगम्य सूत्रको कहना है, इसलिए दूसरा प्रश्न उठाया गया है; अतः उसके निर्णयके लिए 'वायुर्वै' इत्यादि कहते हैं। दूसरा प्रश्न है—सूत्रविषयक गौतमका वाक्य। याज्ञवल्क्यजीने कहा—हे गौतम, वायु ही वह सूत्र है, अतिरिक्त नहीं। वह वायु आकाशके समान अतिसूक्ष्म पृथिवी आदिका विष्टम्भक (धारयिता) है। सत्रह प्रकारके लिङ्ग उसीके स्वरूप हैं, वही प्राणियोंके कर्म और वासनाका आश्रय है, वही उत्तर सृष्टिका कारण, कर्म और वासनाका आश्रय है, एवं उसीके समुद्रकी तरङ्गके समान बाह्यभेद सात-सात मरुद्गण हैं यही वायव्य तत्त्व (वायुका तत्त्व) सूत्र कहा जाता है। हे गौतम, वायुरूप सूत्रसे यह लोक, पर लोक और सब भूत गुँथे हुए हैं। इस विषयमें विशेष व्याख्यानकी आवश्यकता नहीं है, क्योंकि इसकी लोकमें प्रसिद्धि है।

शङ्का—क्या प्रसिद्धि है?

समाधान—वायु सूत्र है, वायुरूप सूत्रसे सब वस्तुएँ अपने-अपने स्थानमें स्थित हैं। हे गौतम, प्रेत (मृत) पुरुषके प्रति लोग कहते हैं कि इसके सब अङ्ग गिर गये हैं, जैसे सूतमें गुँथी हुई मणियां सूत्रके अलग हो जानेपर सब बिखर जाती हैं, वैसे ही वायुरूपी सूत्रमें मणि आदिके समान सब अङ्ग गुँथे हैं, सूतके टूटनेपर जैसे मणियाँ अलग-अलग हो जाती हैं, वैसे वायुरूप सूत्रके अपगमसे सब अङ्गोंका अवस्रंसन होना उचित ही है, अतः हे गौतम, वायुरूप सूत्रसे सब ग्रथित हैं। यह सुनकर उद्दालकने कहा कि हां, ऐसा ही है, हे श्रीयाज्ञवल्क्य, आपने सूत्रको यथार्थरूपसे कहा। अच्छा, अब सूत्रान्तर्गत और सूत्रके नियन्ता अन्तर्यामीको कहिये, ऐसा कहनेपर श्रीयाज्ञवल्क्य बोले॥ २॥

'यः पृथिव्यां तिष्ठन्' इत्यादि श्रुति। जो पृथिवी आदिमें स्थित रहता है,

सूत्रबद्धं दारुयन्त्रं पुरुषो नर्तयेद्यथा।
अन्तर्यामी जगत्तद्वत्सूत्रबद्धं नियच्छति ॥ ३ ॥
सूत्रान्तर्यामिणौ सर्वं जगत्यनुगतावतः।
तौ विद्वानखिलं वेत्तीत्यतो ज्ञातव्यता तयोः॥ ४ ॥

वह अन्तर्यामी है। पृथवीमें तो अनेक पदार्थ रहते हैं, अतः वे भी अन्तर्यामी हो जायँगे। उनमें इस लक्षणकी अतिव्याप्तिके वारणके लिए और भी विशेषण देते हैं—पृथिवीके अन्तर (अभ्यन्तर) है। वहींपर रहनेवाला पृथिवीदेवता भी अन्तर्यामी हो जायगा, अतः उसका वारण करनेके लिए फिर विशेषण हैं—'यं पृथिवी न वेद' पृथिवी देवता भी जिसको नहीं जानता कि दूसरा कोई नियन्ता मुझमें अवस्थित है। पृथिवी अपनेको जानती है, इसलिए अतिव्याप्तिका परिहार हो गया। जिसका शरीर पृथिवी है, यानी पृथ्वीदेवताका जो शरीर है, वही जिसका शरीर है, दूसरा शरीर अन्तर्यामीका नहीं है। यहाँ शरीरग्रहण उपलक्षण है—इन्द्रियाँ भी वे ही हैं अर्थात् पृथिवीदेवताके जो कारण हैं वे ही अन्तर्यामीके हैं। पृथिवीदेवताके स्वकर्मप्रयुक्त ही कार्य (शरीर) और करण (इन्द्रियाँ) हैं।

शङ्का—पृथिवीदेवताके कार्य करण और ही अन्तर्यामीके कार्य और करण क्यों मानते हैं? अन्तर्यामीके स्वकर्मप्रयुक्त ही कार्य और करण क्यों नहीं मानते?

समाधान—अन्तर्यामी नित्यमुक्त है, अतः उसके कर्म ही नहीं हैं, तत्प्रयुक्त कार्य और करणकी क्या सम्भावना है? अन्तर्यामी परार्थकर्तव्यतास्वभाव है, इसलिए परके जो कार्य और करण हैं वे ही अन्तर्यामीके भी हैं; स्वतः वे नहीं हैं, अतः श्रुति कहती है—जिसका पृथिवी शरीर है। देवताके कार्य और करणोंकी प्रवृत्ति और निवृत्ति केवल ईश्वरसाक्षीके सान्निध्यसे ही होती है। जो ऐसा नारायण पृथिवीदेवताका नियमन करता है; वही तदन्तःस्थित तुम्हारा आत्मा है, मेरा और सब भूतोंका भी वही आत्मा है, यही अन्तर्यामी है जो आपने पूछा। वह अमृत और सम्पूर्ण संसारधर्मोंसे शून्य है। ऐसा ही जल आदिके विषयमें भी समझना चाहिए ॥२॥

'सूत्रबद्धम्' इत्यादि। पुरुष सूत्रबद्ध कठपुतलियोंको जैसे नचाता है, वैसे ही अन्तर्यामी सूत्रबद्ध समस्त संसारको नचाता है यानी उसका नियन्त्रण करता है ॥३॥

'सूत्रान्त०' इत्यादि। सूत्र और अन्तर्यामी ये दोनों सम्पूर्ण जगत्में अनुगत हैं, सर्वव्यापक हैं, अतः सूत्र और अन्तर्यामीको जो जानता है; वह अखिलज्ञ

समष्टिव्यष्टिरूपेण भुज्युं प्रति य ईरितः ।
स एव वायुः सूत्रात्मा तेन सर्वं जगद्धृतम् ॥ ५ ॥
ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तं प्राणिकर्म पुरा कृतम् ।
वाय्वात्मना परिणतं वर्त्तते कारणात्मनि ॥ ६ ॥

सर्ववेत्ता है, इस कारण सूत्र और अन्तर्यामी—ये दोनों अवश्य ज्ञातव्य हैं, सूत्रसे विधृत और अन्तर्यामीसे नियन्त्रित समस्त जगत् तथा आत्माको जो जानता है; वही आत्मविद् है, सूत्रान्तर्यामी रूपसे जो इन पूर्वोक्तोंको जानता है, वही ब्रह्मलोक-पर्यन्तको जानता है, यह निष्कर्ष है ॥ ४ ॥

'समष्टि०' इत्यादि । भुज्युब्राह्मणमें समष्टिव्यष्टिरूपसे लिङ्गात्मा जो हिरण्यगर्भशब्दसे कहा गया है, वही हिरण्यगर्भ क्रियाशक्तिप्रधान होकर वायु कहा जाता है, यह पूर्वमें भी कह चुके हैं । यही सूत्रशब्दसे भी कहा जाता है ।

शङ्का— सूत्रके ज्ञानके लिए ही गार्गीने प्रश्न किया, पर श्रीयाज्ञवल्क्यजीने यह कहकर क्यों रोका कि यह विषय अनुमान द्वारा नहीं जाना जा सकता, किन्तु केवल आगमसे ही जाना जाता है ।

समाधान—सर्वान्तर और अतिसूक्ष्म यह सूत्र है; अतएव अनुमानका विषय नहीं है । जो यद्विषयक नहीं है, उससे उसको पूछना अनुचित है ॥ ५ ॥

'ब्रह्मादि०' इत्यादि ।

शङ्का—वायु सबका विधारक कैसे है ?

समाधान—वायु लिङ्गात्मा है, अतएव सबका विधारक है; यह सर्वानुभव-सिद्ध है; इसको स्पष्ट करनेके लिए लिङ्गस्वरूप कहते हैं । ब्रह्मने सूत्ररूपसे यजमानावस्थामें जो कर्म किये अर्थात् पूर्वजन्ममें यजमानावस्थामें सूत्र जन्म-प्राप्तिनिमित्तक जो उत्कृष्ट कर्म करता है और जो कर्म अन्य प्राणियोंके जन्मान्तर-साधनक्षम हैं, वे सब सूत्रात्मरूपसे परिणत हो जाते हैं ।

शङ्का—क्यों ?

समाधान—वे सब यजमानके देहका अवसान होनेपर फल देनेके लिए अभि-व्यक्त होते हैं, प्रलयकालमें हिरण्यगर्भ भी नहीं रहते, इसलिए मूलकारणमें ही सबकी स्थिति रहती है । सृष्टिकालमें फल देनेके लिए फिर अभिव्यक्त होते हैं, उक्त सूत्रात्मक ही सब वासनाके आश्रय हैं, अतएव समष्टिव्यष्ट्यात्मक लिङ्ग देह भी

मूर्तामूर्तब्राह्मणोक्तवासना एतमाश्रिताः ।
तदात्मकमिदं लिङ्गं यत्सप्तदशमुच्यते ॥ ७ ॥
विष्टब्धो वायुना देह इत्येतन्मरणे सति ।
अवायोर्वपुषो कर्मायोग्यत्वादवगम्यताम् ॥ ८ ॥

माने जाते हैं। पाँच महाभूत, दस इन्द्रियाँ, पाँच प्रकारका प्राण (एक), चतुर्विध अन्तःकरण (एक)—ये सत्रह पदार्थ लिङ्गमें रहते हैं।

शङ्का—कर्म लिङ्गमें क्यों रहते हैं ?

समाधान—साधनरूप आश्रयके बिना कोई कर्म रह नहीं सकता। कर्म साध्य-स्वभाव है और साध्य साधनके अधीन रहता है। कर्मका साधन वायु ही है, क्योंकि प्राणके बिना स्पन्द भी नहीं हो सकता। प्राण वायुस्वरूप ही है, अतः वायुस्वरूप सूत्रका आश्रय कर कर्म अपनी स्थिति करता है ॥ ६ ॥

'मूर्तामूर्त०' इत्यादि। मूर्तामूर्तब्राह्मणमें उक्त वासनाएँ इसी वायुका आश्रयण करती हैं। वाय्वात्मक ही वह यह लिङ्ग है; जो सत्रह प्रकारका कहा गया है। सामान्य क्रिया और तत्-तत् प्राणियोंकी विशेष क्रिया—इन सब क्रियाओंका आश्रय वायु ही है। यह तो स्वानुभवसिद्ध है कि वायुके बिना क्रिया नहीं हो सकती। क्रियाशक्ति वायुमें ही मानी जाती है। कर्माश्रय वायु और तदाश्रित कर्म—इन दोनोंको सम्बन्धीरूपसे प्राप्त कर जो पुरुषोंके बीचमें स्थित है, वही उन दोनोंमें आत्मीय अभिमान करनेवाला जीव यहाँ फलस्वरूप वायु कहलाता है। आकाशके समान सूक्ष्म-रूपसे अवस्थित यह सूत्र वर्तमानजन्म तथा भावी जन्मको धारण करनेवाला है, यही पृथिवी आदिका भी धारक है ॥ ७ ॥

'विष्टब्धो' इत्यादि। वायु देहको धारण करता है, यह मरणावस्थामें स्पष्ट प्रतीत होता है; कारण कि शरीरसे जब प्राण-वायु निकल जाता है, तब शरीर कर्मके अयोग्य हो जाता है, अतएव मृत पुरुषके प्रति उसके ज्ञातिजन यह कहते हैं कि अब यह जीवित नहीं है, क्योंकि इसके शरीर आदिमें पहले जैसी क्रिया थी, वैसी अब नहीं है, हाथ, पैर सब गिर गये। ये चिह्न मृतकके ही होते हैं। जब जीवित अवस्थामें वायुसे अङ्ग स्तब्ध रहते हैं, तब वे कर्मकुशल रहते हैं। अब इसके कोई अङ्ग स्वकर्मक्षम नहीं हैं, अतः यह गतप्राण (मृत) है। आवह, प्रवह, निवह, संवह और उद्वह आदि भेद समुद्रतरङ्गके समान वायुके ही हैं, यह शास्त्रा-न्तरमें स्फुट है, इसलिए यहाँ इस विषयका विशेष निरूपण नहीं करते हैं ॥ ८ ॥

अपञ्चीकृतभूतानां कार्यं सूत्रमुदीरितम् ।
अण्डारम्भकभूतानि प्रोतान्योतानि चाऽत्र हि ॥ ९ ॥
सूत्रादप्यान्तरं तत्त्वमन्तर्याम्याख्यमुच्यते ।
कार्यकारणभावोऽयं यस्मिन्नुक्ते समाप्यते ॥ १० ॥
भूमिष्ठोऽभ्यन्तरो भूमेर्भूम्यज्ञातश्च भूवपुः ।
नियच्छति भुवं योऽन्तः स आत्माऽन्यस्य तेऽपि मे ॥११॥
लोकं धत्ते स्वयं भूमिः स्वान्तर्यामी स्वयं ततः ।
इति स्वभाववादोऽयं भूमिष्ठत्वेन वार्यते ॥ १२ ॥
अन्तरत्वेन भूमिष्ठपर्वतादिर्निवर्तते ।
भूदेवतानिवृत्तिः स्याद् यं न जानाति भूरिति ॥ १३ ॥

'अपञ्चीकृत०' इत्यादि । अपञ्चीकृत पाँच महाभूतोंका कार्य सूत्र कहा गया है, अण्डारम्भक भूत इसी सूत्रमें ओत-प्रोत हैं ॥ ९ ॥

'सूत्राद०' इत्यादि । सूत्रसे भी आन्तरतम और अतिसूक्ष्म अन्तर्यामी नामक तत्त्व है, जिसका निरूपण करनेपर कार्यकारणभावकी समाप्ति हो जाती है ॥१०॥

'भूमिष्ठो०' इत्यादि । जो भूमिमें स्थित तथा भूमिके भीतर है जिसका भूमि ही शरीर है और जिसको भूमि भी नहीं जानती कि मेरे अन्दर स्थित होकर मेरा कोई नियन्त्रण करता है, वही अन्तर्यामी अन्यका, तुम्हारा और हमारा आत्मा है । वही एक सबका आत्मा है, वही सबका नियन्ता है ॥ ११ ॥

'लोकं धत्ते' इत्यादि । स्वयं पृथिवी लोकको तथा अपनेको भी धारण करती है, ऐसा ही स्वपरधारणस्वभाव भूमिका है, यों स्वभाववादी मानते हैं । उनका कहना है कि पृथिवी लोकको धारण करती है और पृथिवीको दूसरा धारण करता है, ऐसा यदि माना जाय, तो अनवस्था हो जायगी, क्योंकि पृथिवीको धारण करनेवालेको दूसरा धारण करेगा और उसको धारण दूसरा, फिर उसको तीसरा, इस प्रकार कहीं विश्रान्ति न देखकर अन्तमें एकको ही स्वयं धारण करनेवाला मानना पड़ेगा, अतः उपस्थित पृथिवीका ही स्वपरधारणस्वभाव मानना अच्छा है । इस स्वभाववादका श्रुति स्वयं निराकरण करती है—'पृथिव्यां तिष्ठन्' इत्यादिसे । अर्थात् पृथिवीमें स्थित होकर पृथिवीका नियन्त्रण करता है । आत्माश्रय-दोषवश पृथिवीमें पृथिवी नहीं रह सकती, इसलिए तदन्य ही अन्तर्यामी है ॥१२॥

'अन्तरत्वेन' इत्यादि । अभ्यन्तरत्वविशेषणसे भूमिमें स्थित पर्वत आदि अन्तर्यामी

नाऽन्तर्यामी विदेहत्वे शासनानामसम्भवात् ।
देहिता तु न दृष्टेति न दोषो भूवपुष्मतः ॥ १४ ॥

नहीं हैं, यह स्पष्ट सिद्ध होता है। यद्यपि पर्वत भूधर या महीधर शब्दसे भी कहे जाते हैं, उनका पृथिवीको धारण करना यह अर्थ शब्दसे सूचित होता है, तथापि वे स्वयं पृथिवीके आश्रित तथा जड़स्वभाव हैं; अतः वे नियन्त्रण नहीं कर सकते।

शङ्का—अच्छा, तो भूदेवताको ही अन्तर्यामी कहिये, वह तो चेतन है, अतः पृथिवीका नियन्त्रण करनेमें समर्थ है।

समाधान—भूदेवता भी श्रुतिको इष्ट नहीं है, अतएव उसकी व्यावृत्तिके लिए विशेषण दिया गया है—'यं पृथिवी न वेद' अर्थात् जिसको पृथिवीदेवता नहीं जानता, वह अन्तर्यामी है। पृथिवीदेवता तो अपनेको जानता है। यद्यपि मैं महा-भूशरीर हूँ और सब जगत्को धारण करता हूँ, यों उक्त देवताको अभिमान हो सकता है, तथापि वह यह नहीं जानता कि मुझको धारण करनेवाला सूत्र है, सूत्रके प्रभावसे मैं स्थिर हूँ तथा वही मेरे अन्दर स्थित होकर मेरा नियमन करता है ॥१३॥

'नाऽन्तर्यामी' इत्यादि।

शङ्का—अन्तर्यामीके शरीर आदि हैं या नहीं? प्रथम पक्षमें श्रुतिविरोध स्पष्ट है, क्योंकि 'न तस्य कार्यं करणं च विद्यते' (उसका कार्य और करण हैं नहीं) इत्यादि कहा गया है। शरीर होनेसे अनित्यत्व आदि दोषोंकी प्रसक्ति होगी। शरीर कर्मजन्य होता है और कर्मका अनुष्ठान अज्ञानके बिना नहीं हो सकता इत्यादि अनेक दोष प्रथम पक्षमें हैं। दूसरे पक्षमें दृष्टविरोध है, सशरीर ही तक्षादि-वास्यादिके अधिष्ठाता होते हैं, अतः उभयतः पाशारज्जु है।

समाधान—इसका उत्तर स्वयं श्रुति देती है—'यस्य पृथिवी शरीरम्' इत्यादि। पृथिवीके शरीरसे शरीरी होकर ईश्वर पृथिवीका नियन्त्रण करते हैं।

शङ्का—जो शरीर आदि जिस पुरुषके कर्मसे उपार्जित हैं, उन्हींका वह अधि-ष्ठाता होता है और उन्हींसे दूसरेका नियन्त्रण करता है। तक्षाके हाथसे दूसरा हाथ बसुला नहीं चला सकता। कारण स्पष्ट है कि पुरुषान्तरके कर्मसे वैसा हाथ नहीं उत्पन्न हुआ है, किन्तु तक्षाके कर्मसे उत्पन्न हुआ है, इसलिए वही उसको चला सकता है, दूसरा नहीं, अतः पृथिवीके शरीर आदिसे अन्तर्यामी नियामक कैसे हो सकता है?

भूदेवताया यो देहोऽन्तर्यामिणोऽपि सः ।
देवस्य कर्मणेशस्य मायया चाऽर्जितो यतः ॥ १५ ॥
न चैकदेहयोगेऽपि यन्तृयन्तव्यसङ्करः ।
बहिष्ठां देवतां भूमिमन्तःस्थेशो नियच्छति ॥ १६ ॥

समाधान—भूदेवताका अपने शरीर आदिके साथ स्वकर्मोपार्जितत्वरूप जैसा असाधारण संबन्ध है, वैसे ही अन्तर्यामीका भी अपने शरीर आदिके साथ स्वाविद्यार्जितत्वरूप असाधारण संबन्ध है । केवल भेद इतना ही है कि पृथिवीदेवताका उक्त संबन्ध स्वशरीरादिके ही साथ है और अन्तर्यामीका उक्त सम्बन्ध जगन्मात्रके साथ है, अतः पृथिवी आदि शरीरसे नियन्त्रण अनुपपन्न नहीं है । भाव यह है कि अन्तर्यामी भी अपने मोहके द्वारा पृथिवी आदिको उत्पन्न करता है, उत्पन्न करके 'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्' इस श्रुतिके अनुसार स्वयं उसमें प्रविष्ट होकर तदीय कार्य-करण आदिसे स्वयं कार्यकरणवान् होकर सम्पूर्ण कार्योंका नियमन करता है; इसीको अग्रिम श्लोकसे स्पष्ट करेंगे ॥ १४ ॥

'भूदेवताया' इत्यादि । भूदेवताकी जो देह है, वही देह अन्तर्यामीकी भी है । देवताकी देह कर्मसे अर्जित है और साक्षीकी वही देह मायासे अर्जित है । जिस देहके साथ जिसका असाधारण सम्बन्ध है, उसी देह आदिसे वह नियन्त्रण कर सकता है । पुरुषान्तरके शरीरसे पुरुषान्तरके नियन्त्रणकी शङ्का नहीं हो सकती, क्योंकि उक्त शरीर आदिके साथ उक्त पुरुषान्तरका असाधारण सम्बन्ध नहीं है ।

शङ्का—अन्तर्यामी अपने शरीर आदिसे नियन्त्रण क्यों नहीं करते, जिस देवतामें जगत्-सर्जनशक्ति है, क्या वह अपने शरीर आदिको नहीं बना सकता ? जिससे कि वह दूसरेके शरीर आदिसे नियन्त्रण करता है, यह माना जाय । जिसके प्रभावसे ऋषियोंमें कामनानुरूप शरीर-धारणकी शक्ति प्राप्त होती है, उसमें वैसी शक्ति नहीं है, ऐसा कहनेकी तो सम्भावना भी नहीं है ।

समाधान—ठीक है, शक्ति क्यों नहीं है ? अवश्य है, पर उससे प्रकृतमें प्रयोजन क्या है ? जो प्रयोजन अभीष्ट है, उसकी सिद्धि यदि उक्त रीतिसे नहीं होती, तो स्वशरीरधारण करनेकी आवश्यकता भी होती । स्वयं अकारण, अदेह, निर्गुण, चिद्घनानन्द और स्वयंप्रकाश है । चिदाभासवश ही कार्यकरणवान् प्रतीत होता है ॥ १५ ॥

'न चैक०' इत्यादि ।

शङ्का—अन्तर्यामी यदि भूदेवताके शरीर, इन्द्रिय आदिसे स्वयं शरीरादिमान्

कार्योपाधिर्बहिष्ठः स्यात् कारणोपाधिरान्तरः।
उपाधिमात्रतो भेदो वस्तुतस्तु न भिद्यते ॥ १७ ॥

है, तो तादृशदेहवत्त्वेन नियामकत्व और नियम्यत्व कैसे हो सकता है? क्योंकि यह तो आत्माश्रयदोषसे दुष्ट है। सर्वत्र नियम्य और नियामकका भेद ही इष्ट है। यदि तादृश देह आदिसे युक्तको नियम्य कहिये, तो अन्तर्यामी भी तादृश देहवान् है, अतः वह भी नियम्य कहा जायगा है। एवं नियामक मानें, तो भूदेवता भी नियामक हो सकता है, क्योंकि उक्त देह आदिके साथ उसका भी सम्बन्ध है। यह दूसरा भी दोष है—विनिगमकके न रहनेसे कौन नियम्य और कौन नियामक है, इस विषयका विवेक ही नहीं हो सकेगा।

समाधान—जैसे दाहक अग्नि दाह्य काष्ठ आदिके संसर्गसे उत्पन्न होकर ही दाह्यकी दाहक होती है, स्वतः नहीं, क्योंकि काष्ठ आदिके साथ संयोगके बिना सूक्ष्म-रूपसे अन्तःस्थित होनेपर भी स्थूलरूपसे उसका आविर्भाव न होनेके कारण वह दाहक नहीं होती, वैसे ही यह आत्मा भी देवता आदिरूप कार्यगत होकर देवता आदिके शरीर द्वारा ही देवता आदिका नियन्ता होता है, स्वतः नहीं। काष्ठादि चातु-र्भौतिक होनेसे जैसे अग्निके कार्य्य हैं, वैसे ही भूमि आदि भूत भी आत्ममोहजन्य होनेसे आत्मकार्य हैं। यद्यपि एकरूपसे नियम्य-नियामक माननेसे आत्माश्रयदोषकी शङ्का हो सकती है, तथापि वह यहाँ नहीं है, क्योंकि कार्य्यकारणतादात्म्यापन्न भूदेवता-भिमानित्वेन नियम्यत्व और उक्त तादात्म्याभिमानरहित मायोपहित चिद्धातुत्वरूपसे नियामकत्व माना जाता है। अतएव द्वितीय दोष भी नहीं है, क्योंकि उक्त तादात्म्या-भिमान और उसका अभाव—ये दोनों ही नियम्यनियामकमें विनिगमक हैं ॥१६॥

'कार्योपाधि०' इत्यादि।

शङ्का—उक्तरूपसे नियम्य-नियामकभाव माननेपर वास्तविक दोनोंमें भेद सिद्ध होनेसे अद्वैतका भङ्ग होगा, इसलिए यह व्यवस्था अद्वैतियोंको मान्य नहीं हो सकती।

समाधान—कार्य्योपाधिसे ही आत्मा बहिष्ठ यानी नियम्य माना जाता है। 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म नेह नानास्ति किञ्चन' इत्यादि श्रुति तथा 'तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः' इत्यादि सूत्रोंमें यह अर्थ स्फुट है। कारणोपाधि द्वारा उक्त आत्मा आन्तर यानी नियामक माना जाता है, अतएव आत्मामें उपाधिके भेदसे दोनों व्यवहार होते हैं, अतः

अतस्ते मेऽखिलस्याऽपि सोऽन्तर्याम्यात्मतां गतः ।
अमृतत्वान्न जीवत्वमात्मत्वेऽप्यस्य शङ्क्यते ॥ १८ ॥

भेद औपाधिक है; वास्तविक नहीं है। जैसे एक ही व्यक्तिमें निमित्तभेदसे पिता, पुत्र, भ्राता, जामाता इत्यादि अनेकविध व्यवहार लोकमें होते हैं और व्यक्ति परमार्थतः एक ही रहती है, शास्त्रमें भी प्रमाण, प्रमेय आदि व्यवहार निमित्तभेदसे एक व्यक्तिमें देखे जाते हैं, वैसे नियम्यनियामकादि व्यवहार निमित्तभेदसे एक आत्मामें माननेमें अद्वैतहानिकी शङ्का नहीं हो सकती, यह श्रुतिका भाव है ॥ १७ ॥

'एष ते' इत्यादि श्रौत वाक्यका अर्थ कहते हैं—'अतस्ते' इत्यादिसे ।

'ते' यह प्रतिवादीका वाचक शब्द है, वह अपना और अन्यका उपलक्षक है, अर्थात् तुम्हारा, हमारा तथा अन्य वक्ता एवं श्रोतासे व्यतिरिक्त सबका अन्तर्यामी आत्मा ही हुआ है ।

शङ्का—आत्मा, तो प्रतिव्यक्ति सुख, दुःख आदि भेदसे भिन्न देखा जाता है । यदि एकको ही सबका अन्तर्यामी मानते हो, तो फिर अन्तर्यामी आत्मा कैसे हो सकता है ?

समाधान—आत्मा भी तो सबका एक ही है, भिन्न-भिन्न नहीं, अतएव श्रुति स्पष्ट कहती है, 'नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा श्रोता मन्ता' इत्यादि । इससे दो चेतनोंका स्पष्ट निरास है ।

शङ्का—यदि आत्मा अन्तर्यामी ही है, उससे अतिरिक्त नहीं है, तो वह संसारी ही है, संसारधर्मोंसे शून्य नहीं । संसारी नियम्य है नियामक नहीं, फिर अन्तर्यामी नियामक कैसे ?

समाधान—एक होनेपर भी अन्तर्यामी अमृत है, उससे अभिन्न आत्मा भी वस्तुतः अमृतस्वरूप ही है। जैसे जलमें सूर्यका प्रतिबिम्ब जलगत चाञ्चल्यसे चञ्चल-सा प्रतीत होता है, परन्तु वास्तविक चञ्चलता उक्त प्रतिबिम्बमें नहीं है, किन्तु उसके उपाधिभूत जलमें है, वैसे ही बुद्धिप्रतिबिम्बित आत्मामें भी सुख, दुःख आदि संसारधर्म परमार्थतः नहीं हैं, किन्तु वे सब परमार्थतः बुद्धिमें ही हैं। बिम्बप्रतिबिम्बके अभेदका अन्यत्र स्पष्टरूपसे प्रतिपादन किया गया है। अतएव जैसे प्रतिबिम्ब अवस्तुसत् होता है, वैसे आत्मा भी अवस्तुसत् हो जायगा, यह शङ्का निराधार है। विस्तारभयसे यहाँ उसका प्रतिपादन छोड़ दिया गया है ॥ १८ ॥

सार्वात्म्यं वक्तुमस्यैष बहूपाधिषु वर्णितः ।
सर्वात्मशक्तियुक्तो यः सोऽन्तर्यामीति गम्यताम् ॥ १९ ॥

श्रुतिः—योऽप्सु तिष्ठन्नद्भ्योऽन्तरो यमापो न विदुर्यस्यापः शरीरं योऽपोऽन्तरो यमयत्येष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः ॥ ४ ॥ योऽग्नौ तिष्ठन्नग्नेरन्तरो यमग्निर्न वेद यस्याग्निः शरीरं योऽग्निमन्तरो यमयत्येष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः ॥ ५ ॥ योऽन्तरिक्षे तिष्ठन्नन्तरिक्षादन्तरो यमन्तरिक्षं न वेद यस्यान्तरिक्षꣳ शरीरं योऽन्तरिक्षमन्तरो यमत्येष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः ॥ ६ ॥ यो वायौ तिष्ठन्वायोरन्तरो यं वायुर्न वेद यस्य वायुः शरीरं यो वायुमन्तरो यमयत्येष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः ॥ ७ ॥ यो दिवि तिष्ठन् दिवोऽन्तरो यं द्यौर्न वेद यस्य द्यौः शरीरं यो दिवमन्तरो यमयत्येष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः ॥ ८ ॥ य आदित्ये तिष्ठन्नादित्यादन्तरो यमादित्यो न वेद यस्यादित्यः शरीरं य आदित्यमन्तरो यमयत्येष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः ॥ ९ ॥ यो दिक्षु तिष्ठन्दिग्भ्योऽन्तरो यं दिशो न विदुर्यस्य दिशः शरीरं यो दिशोऽन्तरो यमयत्येष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः ॥ १० ॥ यश्चन्द्रतारके तिष्ठꣳश्चन्द्रतारकादन्तरो यं चन्द्रतारकं न वेद यस्य चन्द्रतारकꣳ शरीरं यश्चन्द्रतारकमन्तरो यमयत्येष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः ॥ ११ ॥ य आकाशे तिष्ठन्नाकाशादन्तरो यमाकाशो न वेद यस्याकाशः शरीरं य आकाशमन्तरो यमयत्येष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः ॥ १२ ॥ यस्तमसि तिष्ठꣳस्तमसोऽन्तरो यं तमो न वेद यस्य तमः शरीरं यस्तमोऽन्तरो यमयत्येष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः ॥ १३ ॥ यस्तेजसि तिष्ठꣳस्तेजसोऽन्तरो यं तेजो न वेद यस्य तेजः शरीरं यस्तेजोऽन्तरो यमयत्येष त आत्माऽन्तर्याम्यमृत

'सार्वात्म्यम्' इत्यादि । 'योऽप्सु तिष्ठन्' इत्यादि अनेक उदाहरणोंका प्रकृतमें क्या तात्पर्य्य है ?

समाधान—चराचर जगत्मात्रका आन्तर आत्मा अन्तर्यामी एक ही है, भिन्न नहीं, इसी अर्थको स्फुट करनेके लिए अनेक उपाधियोंमें अन्तर्यामीका वर्णन किया गया है । इससे सर्वात्मत्व सिद्ध होता है । सर्वात्मशक्तिसे युक्त जो है, वही अन्तर्यामी है, यह समझो । स्वतः देहादिरहित होनेसे नियम्य देहादिसे वह नियामक माना गया है ॥१९॥

इत्यधिदैवतमथाधिभूतम् ॥१४॥ यः सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन् सर्वेभ्यो भूतेभ्योऽन्तरो यꣳ सर्वाणि भूतानि न विदुर्यस्य सर्वाणि भूतानि शरीरं यः सर्वाणि भूतान्यन्तरो यमयत्येष त आत्माऽन्तर्याम्यमृत इत्यधिभूतमथाध्यात्मम् ॥ १५ ॥ यः प्राणे तिष्ठन् प्राणादन्तरो यं प्राणो न वेद यस्य प्राणः शरीरं यः प्राणमन्तरो यमयत्येष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः ॥ १६ ॥ यो वाचि तिष्ठन्वाचोऽन्तरो यं वाङ् न वेद यस्य वाक् शरीरं यो वाचमन्तरो यमयत्येष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः ॥ १७ ॥ यश्चक्षुषि तिष्ठꣳश्चक्षुषोऽन्तरो यं चक्षुर्न वेद यस्य चक्षुः शरीरं यश्चक्षुरन्तरो यमयत्येष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः ॥ १८ ॥ यः श्रोत्रे तिष्ठञ्छ्रोत्रादन्तरो यꣳ श्रोत्रं न वेद यस्य श्रोत्रꣳ शरीरं यः श्रोत्रमन्तरो यमयत्येष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः ॥ १९ ॥ यो मनसि तिष्ठन्मनसोऽन्तरो यं मनो न वेद यस्य मनः शरीरं यो मनोऽन्तरो यमयत्येष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः ॥ २० ॥ यस्त्वचि तिष्ठꣳस्त्वचोऽन्तरो यं त्वङ् न वेद यस्य त्वक् शरीरं यस्त्वचमन्तरो यमयत्येष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः ॥ २१ ॥ यो विज्ञाने तिष्ठन्विज्ञानादन्तरो यं विज्ञानं न वेद यस्य विज्ञानꣳ शरीरं यो विज्ञानमन्तरो यमयत्येष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः ॥ २२ ॥ यो रेतसि तिष्ठन् रेतसोऽन्तरो यꣳ रेतो न वेद यस्य रेतः शरीरं यो रेतोऽन्तरो यमयत्येष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः ॥

प्रत्यग्ध्वान्तं चिदाभासं स्वकार्यनियमात्मकम् ।
तदुपाधिर्नियन्तैष परः प्रोक्तो न तु स्वतः ॥ २० ॥

'योऽप्सु तिष्ठन्' इत्यादि श्रुतियोंका सुगम अर्थ है ।

किसीका मत है कि अन्तर्यामी निरुपाधिक परमात्मा ही है, वही सकल संसारका नियामक है, इस मतका निराकरण करते हैं—'प्रत्यग्ध्वान्तम्' इत्यादिसे ।

प्रत्यक् आत्माका चिदाभास चित्प्रतिबिम्बसे विशिष्ट अज्ञान स्वकीय विवर्त है । 'अतत्त्वतोऽन्यथाभावः' (अतात्त्विकरूपसे अन्यथा प्रतीत होना) विवर्त कहा जाता है । जैसे रज्जुसर्प रज्जुका विवर्त है । रज्जु वस्तुतः सर्प नहीं है, किन्तु भ्रान्तको जैसे सर्परूपसे प्रतीत होती है, वैसे ही वस्तुतः आत्मा भूमि आदिके रूपसे परिणत नहीं है, किन्तु तद्रूपसे प्रतीत होता है । वस्तुतः तद्रूपसे जो परिणत होता है, वह परिणाम कहलाता है । जैसे मृत्तिका घटरूपसे और दुग्ध दधिरूपसे परि-

सर्वज्ञः सर्वशक्तिश्च सर्वभुक् सर्वगो ध्रुवः ।
जगज्जनिस्थितिध्वंसहेतुरेष महेश्वरः ॥ २१ ॥
नारायणाभिधो मन्त्र एतस्यैवाऽभिधायकः ।
पञ्चाक्षरेण मन्त्रेण शिव इत्येष गीयते ॥ २२ ॥

णत होता है। जड़ और सावयवका ही सर्वत्र परिणाम देखा जाता है। आत्मा निरवयव और चेतन है, इसलिए उसका परिणाम नहीं हो सकता। अतः सम्पूर्ण जगत् ब्रह्मका विवर्त है, ऐसा अद्वैतवादियोंका सिद्धान्त है। स्वविवर्त स्वनियम्य है, इस प्रकार नियम्यनियामकभाव भी अनात्मिक ही है, इसलिए वह भी वास्तविक नहीं है। अतः परमात्मा उक्त उपाधि द्वारा ही नियन्ता कहा जाता है, स्वतः नहीं, क्योंकि व्यापारवान् ही नियन्ता होता है। उदासीन आत्मामें स्वतः व्यापार नहीं है, इसलिए उसमें औपाधिक ही नियन्तृत्व है ॥ २० ॥

'सर्वज्ञः' इत्यादि ।

शङ्का—जैसे निरुपाधिक परमात्माको सर्वज्ञ मानते हैं, वैसे ही उसे नियन्ता क्यों नहीं मानते ?

समाधान—सर्वज्ञत्व आदि भी निरुपाधिक आत्मामें नहीं माना जाता। वास्तवमें सम्पूर्ण विषय हों, तो सर्वविषयकज्ञानवत्त्वरूप सर्वज्ञत्व आत्मामें कह सकते हैं। 'ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्' इत्यादि श्रुतिसे जब आत्मा ही एक वस्तुतत्त्व है, उससे अन्य कुछ है ही नहीं, तब उसमें उक्त धर्म भी तत्त्वतः कहाँसे रहेगा? उक्त धर्म भी औपाधिक ही है। एवं जगत्जन्मस्थितिभङ्गहेतुत्व आदि धर्म भी औपाधिक ही हैं, अतः दृष्टान्तके अभावसे निरुपाधि आत्मामें नियन्तृत्वकी सम्भावना नहीं है ॥ २१ ॥

'नारायणा०' इत्यादि। नारायणाख्य मन्त्र है—ॐ नमो नारायणाय। यह मन्त्र संन्यासियोंके समुदायमें प्रसिद्ध है। इस मन्त्रका वाच्य उक्त अन्तर्यामी ही उनका उपास्य है और पाशुपत शैवोंका 'ॐ नमः शिवाय' यह मन्त्र है, इस पदका वाच्य भी वही है। केवल घट और कलशके समान वाचकशब्दानुपूर्वी भिन्न है। अर्थ दोनोंका एक ही है। एवं भागवत तथा रामानुजीय लोग भी पञ्चरात्र-मतके अनुसार इसी अन्तर्यामीकी उपासना करते हैं। उक्त मतके अनुसार वासुदेव भगवान् अन्तर्यामी हैं, चार विभाग कर चतुर्व्यूहरूपसे उनका पूजन करते हैं।

हिरण्यगर्भं हैरण्यगर्भीया एनमूचिरे ।
व्यासस्तत्तत्पुराणेषु तत्तद्रूपतयोचिवान् ॥ २३ ॥

चार व्यूह इस प्रकार हैं—वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध । इनमें प्रधान वासुदेव हैं—

'परं ब्रह्म परं धाम चतुरात्मकमव्ययम् ।
प्रीणयेद्वासुदेवं च मूर्तित्रयसमन्वितम् ॥'

वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्धस्वरूप चतुरात्मक तथा संकर्षण, प्रद्युम्न, अनिरुद्ध—इन तीन मूर्तियोंसे समन्वित (युक्त) वासुदेव भगवान्‌को उपासना द्वारा प्रसन्न करना चाहिए। वासुदेव ही परब्रह्म और मुमुक्षुओंके परम धाम (प्राप्य) हैं। माहेश्वर भी कहते हैं—

'निरञ्जने परे व्योम्नि नित्यस्थः कारणोऽव्ययः ।
साञ्जनैः शक्तिकरणैरधितिष्ठति शङ्करः ॥
स्थितौ स कारकानेतान् समाक्रम्य स्वतेजसा ।
युनक्ति स्वार्थसिद्ध्यर्थं भूतैरनभिलक्षितः ॥'

अञ्जन यानी माया, उससे शून्य, परम व्योममें यानी आकाशके समान सर्वव्यापक स्वस्वरूपमें नित्य स्थित होकर अर्थात् उदासीन होकर कारणस्वरूप अविनाशी भगवान् श्रीशङ्कर अञ्जनयुक्त शक्तिकरणों द्वारा मायाके अधिष्ठान होते हैं। वे अपने तेजसे सम्पूर्ण कारकोंका नियमन कर पृथिवी आदि भूतोंसे अलक्षित होकर जगत्-विकासके लिए उक्त कारकोंका संयोजन करते हैं। स्थितिसमयमें भी निखिल भूतोंका परस्पर सहयोग ईश्वरेच्छावश रहता है, संहारसमयमें सम्पूर्ण पदार्थोंका परस्पर वियोग होता है इत्यादि विस्तृत विचार अन्यत्र देखिये ॥ २२ ॥

'हिरण्यगर्भम्' इत्यादि । हिरण्यगर्भीय योगशास्त्रके वेत्ताओंने हिरण्यगर्भको ही अन्तर्यामी माना है। ईश्वरप्रणिधानसे योग सिद्ध होता है।

शङ्का—ईश्वर कौन है ?

समाधान—'क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः ।' क्लेश पाँच हैं—अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश । शुक्ल और कृष्ण आदि भेदसे कर्म तीन हैं। विपाक यानी जाति, आयु और भोग । आशय यानी कर्माशय, उनसे असंस्पृष्ट पुरुषविशेष ईश्वर है। तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम् (उसमें निरतिशयता सर्वज्ञताका बीज है), 'स पूर्वेषामपि गुरुः०' (वह पूर्वोंका भी गुरु है) इत्यादि योगसूत्रोंसे

श्रुतिः—अदृष्टो द्रष्टाऽश्रुतः श्रोताऽमतो मन्ताऽविज्ञातो विज्ञाता नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा नान्योऽतोऽस्ति श्रोता नान्योऽतोऽस्ति मन्ता नान्योऽतोऽस्ति विज्ञातैष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतोऽतोऽन्यदार्त्तं ततो होद्दालक आरुणिरुपरराम ॥ २३ ॥

इत्युपनिषदि सप्तमं ब्राह्मणं समाप्तम्

भूम्यादिदेवताः कस्मान्न स्वान्तर्यामिणं विदुः ।
अदृष्टोऽश्रुत इत्याह कारणं तदवेदने ॥ २४ ॥

ईश्वरका प्रतिपादन किया गया है। एवं ईश्वरवादियोंके मतमें ईश्वरका जो निरूपण है, वही अन्तर्यामीका है । व्यासजीने तत्-तत् पुराणोंमें सात्त्विक, राजस और तामस रूपसे ईश्वरका विशेषरूपसे निरूपण किया है । जैसे—

'नारायणः परोऽव्यक्तादण्डमव्यक्तसंभवम् ।
अण्डस्याऽन्तस्त्विमे लोकाः सप्तद्वीपा च मेदिनी ॥'
तस्मै नमोऽस्तु देवाय निर्गुणाय गुणात्मने ।
नारायणाय विश्वाय देवानां परमात्मने ॥'

(अव्यक्तसे नारायण पर है, ब्रह्माण्ड अव्यक्तसे उत्पन्न है, ब्रह्माण्डके भीतर ये लोक और सात द्वीपोंसे युक्त पृथिवी है । उस सगुण और निर्गुण स्वरूप, विश्वस्वरूप तथा देवताओंके ईश वासुदेव नारायणको नमस्कार है) इत्यादि ।

केवल पुराण आदिसे ही ईश्वरका अधिगम नहीं होता, किन्तु श्रुतिवाक्योंसे भी ईश्वरका प्रतिपादन स्पष्ट है—'सहस्रशीर्षा पुरुषः', 'एतावानस्य महिमा' इत्यादि ॥२३॥

'अदृष्टो' इत्यादि श्रुतिवाक्य ।

वह साक्षीस्वरूप अन्तर्यामी किसी पुरुषके दर्शनका विषय नहीं है, किन्तु स्वयं द्रष्टा है; वह किसी पुरुषके श्रोत्रेन्द्रियका विषय नहीं है, किन्तु स्वयं श्रोता है; वह किसीके मनका विषय नहीं है, किन्तु स्वयं मन्ता (मननकर्ता) है; वह किसीके निश्चयका विषय नहीं है, किन्तु स्वयं निश्चयकर्ता है । इस अन्तर्यामीको छोड़कर दूसरा द्रष्टा, श्रोता, मन्ता और विज्ञाता नहीं है, यही तुम्हारा आत्मा है, यही अन्तर्यामी और सम्पूर्ण सांसारिक धर्मोंसे रहित है, इससे अन्य विनाशी है, याज्ञवल्क्यके यों कहनेपर आरुणि चुप हो गये ॥ २३ ॥

'भूम्यादि०' इत्यादि ।

दृष्टिश्रुतिमतिज्ञातिविषयत्वं चिदात्मनः ।
उपस्तब्राह्मणे पूर्वं युक्त्या सम्यङ् निवारितम् ॥ २५ ॥
मागोचरातिवर्तित्वाद् मातृमानादिसाक्षिणः ।
द्रष्टुरन्यस्य चाऽभावाच्च तं पश्यन्ति देवताः ॥ २६ ॥
अदृष्टत्वाश्रुतत्वादि प्रत्यग्ध्वान्तेऽपि सम्भवेत् ।
तन्निवृत्त्यै श्रुतिर्द्रष्टा श्रोता मन्तेत्यभाषत ॥ २७ ॥

शङ्का—पृथिव्यादिके देवता अपने अन्तर्यामीको (साक्षीको) क्यों नहीं जानते ?

समाधान—साक्षीके अवेदनमें कारण है—अदृष्टत्व, अश्रुतत्व आदि। दृश्यत्वशक्ति जिसमें है, वही दृश्य होता है; उक्त शक्ति अन्तर्यामीमें नहीं है, अतः वह दृश्य (ज्ञेय) नहीं है। यद्यपि पृथिवी महाभाग देवता है, फिर भी वह अन्तर्यामीको जाननेमें असमर्थ है। 'अदृष्टो द्रष्टाऽश्रुतः' इत्यादि श्रुति अन्तर्यामीमें विषयत्वका निराकरण करती है ॥ २४ ॥

'दृष्टिश्रुति०' इत्यादि। चिदात्मामें दृष्टि, श्रुति, मति और विज्ञातिके विषयत्वका निराकरण उपस्तब्राह्मणमें युक्तिसे भली भाँति किया गया है, अतः इस विषयके जिज्ञासुओंको उसी प्रकरणको स्थिर चित्तसे देखना चाहिए। वस्तुतः यहाँ भी यह स्पष्ट कह चुके हैं कि जिसमें दृश्यत्वादि शक्ति है, वही दृष्टि आदिका विषय हो सकता है। श्रुतिने विषयत्वसामान्यका निराकरण किया है, इसलिए फिर उसमें ज्ञेयत्वादिकी शङ्का ही अयुक्त है ॥ २५ ॥

'मागोचराति०' इत्यादि। प्रमाता और प्रमाणका साक्षी ज्ञानविषयतासे रहित है, इसलिए दृश्य नहीं है। दूसरा द्रष्टा है नहीं, क्योंकि 'नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा' इत्यादि श्रुतियोंसे तद्भिन्न द्रष्टाका स्पष्ट निषेध है, अतः देवताओंका न देखना उचित ही है ॥ २६ ॥

'अदृष्टत्वा०' इत्यादि।

शङ्का—'अदृष्टो द्रष्टाऽश्रुतः श्रोताऽमतो मन्ता' इत्यादि श्रुतिवाक्यमें अदृष्ट इत्यादि पदोंसे स्वेतर व्यावृत्त साक्षिस्वरूपका बोध हो जाता है, फिर 'द्रष्टा' इत्यादि विशेषणोंका उपादान किसकी व्यावृत्तिके लिए किया गया है।

समाधान—साक्षिभास्य आत्माके अज्ञानमें अदृष्टत्व और अश्रुतत्व आदि विद्यमान हैं, अतः वही (अज्ञान ही) द्रष्टा है; इस प्रकारका भ्रम हो सकता है, उसकी निवृत्तिके

द्रष्टृत्वश्रोतृताद्यस्य दृष्टिश्रुत्यादिसाक्षिता ।
अलुप्तचित्स्वभावत्वान्न विकारो मनागपि ॥ २८ ॥
लोकसिद्धा नियम्यस्य जीवस्य द्रष्टृता तथा ।
अन्तर्याम्यपि चेद् द्रष्टा देहे भासेत तद्द्वयम् ॥ २९ ॥

लिए 'द्रष्टा श्रोता' इत्यादि पदोंका उपादान आवश्यक है। अज्ञान जड़ है, इसलिए वह द्रष्टा या श्रोता नहीं हो सकता। द्रष्टृत्वादि चेतनके धर्म हैं, अचेतनके नहीं। द्रष्टा, दृश्य और दर्शन—इनमें परस्पर ग्राह्यग्राहकभाव नहीं है, कारण कि उनका विषयत्वरूपसे साम्य है. अन्तर्यामीसे ही उनका भान माना जाता है, अतएव इनसे साक्षीका दर्शन नहीं होता ॥ २७ ॥

'द्रष्टृत्वश्रोतृता०' इत्यादि ।

शङ्का—यदि साक्षीको द्रष्टा मानते हो, तो दृश्यविषयक ज्ञानवान् ही द्रष्टा कहा जाता है, ज्ञानवान् माननेमें अन्तर्यामी भी विकारवान् हो जायगा, जो इष्ट नहीं है।

समाधान—द्रष्टाको अन्तर्यामी इसलिए कहा जाता है कि वह दृष्टि, श्रुति आदिका साक्षी है। द्रष्टाको जो रूप आदिका ज्ञान होता है, उसका अन्तर्यामी साक्षी है और वृत्त्यादि ज्ञानके उत्पाद और विनाशका भी साक्षी है एवं यह ज्ञान उत्पन्न हुआ, यह ज्ञान नष्ट हुआ इत्यादिका जो आत्मामें भान होता है, उसका भी साक्षी अन्तर्यामी ही है।

शङ्का—क्यों ?

समाधान—वही सबका आन्तर है, चिन्मात्रस्वरूप है, नित्यात्मदृष्टिस्वरूप है, अलुप्तचित्स्वभावत्वका यही अर्थ है। अतः विकारकी शङ्का अन्तर्यामीमें नहीं हो सकती, इन्हीं कारणोंसे पृथिवी आदिके देवता अन्तर्यामीको नहीं देख सकते ॥२८॥

'लोकसिद्धा' इत्यादि ।

शङ्का—लोकसिद्ध नियम्य जीव द्रष्टा, श्रोता और मन्ता है, यह तो सर्व-मान्य है; अन्यथा विधि और प्रतिषेधके बोधक शास्त्र निरर्थक हो जायँगे। जीवके ही इष्टकी प्राप्तिके लिए विधिशास्त्र है तथा उसीके अनिष्टके परिहारके लिए निषेधशास्त्र है। अन्तर्यामी तो संसारी है नहीं, अतः उक्त शास्त्र उसके लिए हैं, इस कथनकी तो संभावना ही नहीं है। यदि जीव भी द्रष्टा, श्रोता आदि न हो,

इति शङ्कानिवृत्त्यर्थं नान्योऽतोऽस्तीति भण्यते ।
लोके जीवतया मूढैरन्तर्याम्येव भाव्यते ॥ ३० ॥
साधारणो यथा सूर्यो मां प्रत्येवैति पामरैः ।
असाधारणरूपेण भाव्यते जीवता तथा ॥ ३१ ॥

तो उक्त शास्त्र अधिकारीके अभावसे व्यर्थ हो जायँगे। उपायोंका उपदेश तो उपेयार्थीके लिए होता है। एवं बन्धमोक्षशास्त्र भी द्रष्टा जीवके लिए ही हैं, यह तो निर्विवाद अर्थ है। यदि आप उसके अतिरिक्त अन्तर्यामीको भी द्रष्टा मानते हैं, तो ऐसी परिस्थितिमें शरीरमें दो द्रष्टा सिद्ध हो जाते हैं, एक अन्तर्यामी और दूसरा सर्व-सम्मत जीव। परन्तु लोकमें एक शरीरमें दो द्रष्टाओंका भान नहीं होता, अतः उक्त सिद्धान्त मान्य नहीं हो सकता।

समाधान—ठीक है, इसी शङ्काकी निवृत्तिके लिए 'नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा श्रोता' इत्यादि श्रुति दो द्रष्टाओंका वारण करती है। प्राप्ति होनेपर ही वारण किया जाता है, अन्यथा नहीं ॥ २९ ॥

उक्त अर्थको ही स्फुट करते हैं—**'इति शङ्का०'** इत्यादिसे।

उक्त शङ्काकी निवृत्तिके लिए ही उक्त श्रुति अन्य चेतनका वारण करती है। अन्तर्यामीसे अतिरिक्त द्रष्टा जीव नहीं हैं; किन्तु मूढ़ संसारी लोग अन्तर्यामीको ही जीव समझते हैं, वस्तुतः जीव चिदाभास है, जिसको वेदान्ती चिदचिद्ग्रन्थि कहते हैं। वस्तुतः वह द्रष्टा नहीं है, किन्तु विवेकाग्रहसे द्रष्टा अन्तर्यामीमें ही सुख, दुःख आदिको मानकर जीवको भोक्ता, द्रष्टा कहते हैं, परन्तु वस्तुस्थिति ऐसी नहीं है, इसी अर्थको 'नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा' इत्यादि श्रुतिने व्यक्त किया है। अन्तर्यामी ही निखिल व्यवहारका साक्षी होनेसे द्रष्टा है, वह भी उपाधिस्वरूपसे, स्वतः नहीं। स्वतः तो निर्विकार तथा सम्पूर्ण संसारधर्मोंसे अतीत चितिमात्र तथा अद्वितीय परमानन्दस्वरूप है ॥ ३० ॥

अद्वितीय उक्त चिद्धातुको स्वकीय अज्ञानवश मूढ़ जनता बुद्ध्याद्यवच्छिन्न मानकर तद्धर्मवान् और प्रत्येक शरीरमें भिन्न-भिन्न मानती है, अतएव सर्वसाधारण होनेपर भी उसको असाधारण ही मानती है। इस भ्रान्तिमें दृष्टान्त कहते हैं—**'साधारणो'** इत्यादिसे।

जैसे आकाशमें स्थित सूर्य सर्वसाधारण है, पर प्रत्येक पुरुष यह समझता

बुद्धिस्थः पर एवाऽऽत्मा जीवात्मेति निगद्यते ।
बुद्ध्यागमापायसाक्षी नियन्तेत्युच्यते परः ॥ ३२ ॥
सूत्रान्तर्यामिणौ शास्त्रगम्यत्वेन प्रतिष्ठितौ ।
अप्रतिष्ठिततर्केण गम्यमानमितोऽपरम् ॥ ३३ ॥

इति वार्तिकसारे तृतीयाध्याये सप्तमं ब्राह्मणं समाप्तम् ।

है कि सूर्य मेरे ही ठीक सामने है, दूसरेके नहीं, यह ज्ञान वास्तविक नहीं हो सकता, कारण कि काशी और बम्बई एक दूसरेसे यद्यपि दूर अवस्थित हैं, तथापि वहांकी जनताका यह समझना कि मेरे सम्मुख सूर्य है, अनुचित नहीं, कारण कि सूर्यमण्डल महान् होनेसे उन दोनोंके सम्मुख अवश्य है; पर साथ ही यह मानना कि अन्यत्र-स्थित पुरुषके सम्मुख वह नहीं है, भ्रम है, इस भ्रममें मूल कारण सूर्य-मण्डलके अल्प परिमाणका प्रत्यक्ष ही है। यदि यह समझमें आ जाय कि सूर्य-मण्डलका वास्तविक परिमाण, जैसे ज्योतिष शास्त्रमें वर्णित है, पृथिवीपरिमाणसे अधिक है, तो उक्त दुराग्रह निवृत्त हो जाय और यह प्रामाणिकरूपसे निश्चय हो जाय कि सूर्य सबके संमुख है; केवल मेरे ही नहीं, वैसे ही प्रकृतमें परिच्छिन्न स्वस्वबुद्धिमें आरूढ़ अन्तर्यामीके सर्वसाधारण होनेपर भी उसको स्वाविद्योत्थबुद्धि आदि उपाधिके द्वारा अनेक प्रकारका और भिन्न-भिन्न मानते हैं, इसी भ्रान्तिकी निवृत्तिके लिए वेदान्तशास्त्रका उपदेश है, इसमें विश्वास कर जो इस सिद्धान्तको हृदयंगम करते हैं, उनका भ्रम सदाके लिए निवृत्त हो जाता है और जीवनका मुख्य कर्तव्य समाप्त हो जाता है, दूसरोंका नहीं ॥ ३१ ॥

प्रकरणार्थका उपसंहार करते हैं—**'बुद्धिस्थः'** इत्यादिसे ।

बुद्धिस्थ परमात्मा ही जीवात्मा कहा जाता है। उससे अतिरिक्त नहीं, बुद्धि आदिके आगम और अपायका (उत्पत्ति और विनाशका) साक्षी होनेसे वही परमात्मा नियन्ता भी कहा जाता है, एक ही परमात्मामें उपाधिभेदसे दो व्यवहारोंकी उत्पत्ति होती है। सर्वानात्मविलक्षण एक ही दृष्टि अनेक प्रकारसे सर्वत्र भासती है, यह प्रकरणका निष्कृष्ट अर्थ है ॥ ३२ ॥

'अतोऽन्यदार्तम्' इसका अर्थ कहते हैं—**'सूत्रान्तर्यामिणौ'** इत्यादिसे ।

सूत्र और अन्तर्यामी—ये दोनों शास्त्रगम्य होनेसे प्रतिष्ठित हैं, इन दोनोंसे व्यतिरिक्त प्रमाता आदि अनात्मवर्ग स्वयं अप्रतिष्ठिततर्कमूलक होनेसे अप्रतिष्ठित है। अद्वितीयप्रतिपादक आगम तत्परक होनेसे स्वार्थमें वस्तुतः प्रमाण माना जाता है। तर्क स्वयं अप्रतिष्ठित होता है, क्योंकि एक पुरुषके तर्कसे जो पदार्थ सिद्ध होता है, वह अन्य पुरुषके तर्कसे अन्यथासिद्ध हो जाता है; इससे तर्क-सिद्ध पदार्थमें प्रामाणिकोंका विश्वास नहीं होता, तर्ककी परिसमाप्ति है नहीं, इसलिए तर्कान्तरसे अब यह अन्यथा न होगा, इसकी आशा नहीं कर सकते। अतः तर्कसिद्ध पदार्थोंके यथार्थस्वरूपके अवधारणमें विश्वास न होना उचित ही है ॥३३॥

वार्तिकसारके भाषानुवादमें तृतीय अध्यायका सप्तम ब्राह्मण समाप्त



अष्टमं ब्राह्मणम्

अष्टमब्राह्मणे ब्रह्मतत्त्वं सम्यङ्निरूप्यते ।
सूत्रमन्तर्यामिता च यत्रोतप्रोततां व्रजेत् ॥ १ ॥
पूर्वत्र गौतमोऽपृच्छत् सूत्रान्तर्यामिवस्तुनी ।
ओतप्रोतात्मतां गार्गी तयोरेवाऽत्र पृच्छति ॥ २ ॥

श्रुतिः—अथ ह वाचक्नव्युवाच ब्राह्मणा भगवन्तो हन्ताहमिमं द्वौ प्रश्नौ प्रक्ष्यामि तौ चेन्मे वक्ष्यति न वै जातु युष्माकमिमं कश्चिद् ब्रह्मोद्यं जेतेति पृच्छ गार्गीति ॥ १ ॥

अष्टम ब्राह्मण

'अष्टम०' इत्यादि । पूर्व ब्राह्मणमें सूत्र और अन्तर्यामीका निरूपण किया गया है। अब उत्तर ब्राह्मणका तात्पर्य कहा जाता है। सोपाधिक होनेसे अन्तर्यामी हेयपक्षमें ही है, अतः उसके ज्ञानसे पुरुषार्थका लाभ नहीं हो सकता, पुरुषार्थलाभ तो निरुपाधिक अक्षरज्ञानसे ही होगा। साक्षात्त्व आदि विशेषणवाला निष्प्रपञ्च अक्षर ब्रह्म जो वस्तुतः वाक्यार्थ है, उसका निरूपण आवश्यक है, इसलिए उत्तर ब्राह्मणका उत्थान है ॥ १ ॥

'पूर्वत्र' इत्यादि । पूर्वमें गौतमजीने सूत्र और अन्तर्यामीके ही विषयमें प्रश्न किया था। इसलिए श्रीयाज्ञवल्क्यजीने उक्त दो स्वरूपोंका ही निर्णय किया। व्याप्य और व्यापकका निर्णय नहीं किया, क्योंकि वे प्रश्नके विषय ही नहीं थे। सम्प्रति गार्गीने ओतप्रोतत्वविषयक प्रश्न किया है, इसलिए इस विषयका विशेषरूपसे निरूपण आवश्यक है। सूत्रका व्यापक आकाश है और आकाशका व्यापक अक्षर है। अक्षरमें ही समस्त संसार ओत-प्रोत है, इसका निर्णय किया जाता है ॥२॥

'अथ ह वाचक्नव्युवाच' इत्यादि श्रुति। सोपाधिक वस्तुके निर्धारणके अनन्तर वाचक्नवी गार्गीने प्रश्न किया।

शङ्का—पूर्वमें श्रीयाज्ञवल्क्यजीने पुनःप्रश्नके विषयमें मूर्द्धपातका भय दिखलाकर गार्गीको विरत किया था। वह भय अब भी ज्योंका त्यों बना है, फिर गार्गीको अन्य विद्वानोंकी उपेक्षा कर प्रश्न करने का साहस क्यों हुआ?

समाधान—इसीसे उपस्थित ब्राह्मणोंसे प्रार्थना करती है और प्रश्न करनेकी

सा होवाचाहं वै त्वा याज्ञवल्क्य यथा काश्यो वा वैदेहो वोग्रपुत्र उज्ज्यं धनुरधिज्यं कृत्वा द्वौ बाणवन्तौ सपत्नातिव्याधिनौ हस्ते कृत्वो-पोत्तिष्ठेदेवमेवाहं त्वा द्वाभ्यां प्रश्नाभ्यामुपोदस्थां तौ मे ब्रूहीति पृच्छ गार्गीति ॥ २ ॥

अनुमति चाहती है। सिरके पतनके भयसे ब्राह्मणोंकी अनुज्ञा नहीं चाहती है, उक्त भयका परिहार तो तर्कसे न पूछ कर आगमसे पूछनेपर ही हो जाता है; किन्तु केवल पुनःप्रश्नका अवसर ही चाहती है, क्योंकि और भी विद्वान् प्रश्न करना चाहते होंगे, अतः उनको भी अवकाश देना समुचित है। गार्गीको समय मिल चुका था। एक व्यक्तिको ही पुनः पुनः प्रश्न करनेके लिए अवकाशप्रदानमें कुछ कारण अवश्य होना चाहिए। शेष ब्राह्मणोंका तिरस्कार न हो, इसलिए पुनःप्रश्नके विषयमें जिज्ञासु विद्वानोंकी अनुमति प्राप्त करना आवश्यक है। गार्गीने कहा—हे माननीय पूज्य विद्वद्गण, मेरी बात सुनिये—फिर मैं श्रीयाज्ञवल्क्यजीसे दो प्रश्न पूछना चाहती हूं। (हन्तका अर्थ है—यदि इस विषयमें आप महानुभावोंकी अनुमति हो) तो, मैं उनसे पूछूँ, यदि याज्ञवल्क्य मेरे उन दो प्रश्नोंका उत्तर अच्छी तरहसे देंगे, तो आप लोगोंमें कोई भी विद्वान् ब्रह्मज्ञानके विषयमें उनको जीत नहीं सकेगा। ऐसा कहनेपर ब्राह्मणोंने अनुमति देते हुए कहा—हे गार्गि, तुम पूछो।

ब्राह्मणोंकी अनुज्ञा पाकर श्रीयाज्ञवल्क्यके प्रति वह बोली, मैं आपसे दो प्रश्न करूँगी।

शङ्का—कौन दो प्रश्न ?

समाधान—वे दोनों प्रश्न दुरुत्तर हैं, यह सूचन करनेके लिए दृष्टान्त-पूर्वक दोनों प्रश्नोंको कहती है—हे याज्ञवल्क्यजी, जैसे लोकमें काश्य (काशीमें उत्पन्न काशिराज) तथा वैदेह यानी विदेहके राजा (ये दोनों शूरान्वय हैं, इनके वंशमें शूर [वीर] सन्तान होती हैं, अतः ये दोनों प्रसिद्ध वीर हैं) उतरी हुई धन्वाको फिर चढ़ाकर बाण हाथमें लेकर (प्रकृतमें बाणशब्दसे शरके आगे जो बाँसका टुकड़ा रहता है, वह विवक्षित है, उसके बिना भी शर होता है, इसलिए विशेषण है—'बाणवान्' अर्थात् अतिवेधनसमर्थ अथवा बाण यानी तीक्ष्ण लोहखण्ड जो शरके आगे वेधन करनेके लिए लगाया जाता है, तद्वान् होकर) यानी अति दुःसह बाणवान् शरको, जो शत्रुको पीडा देनेमें समर्थ है, हाथमें लेकर जैसे समीपमें

सा होवाच यदूर्ध्वं याज्ञवल्क्य दिवो यदवाक् पृथिव्या यदन्तरा द्यावापृथिवी इमे यद् भूतं च भवच्च भविष्यच्चेत्याचक्षते कस्मिꣳस्तदोतं च प्रोतं चेति ॥ ३ ॥

स होवाच यदूर्ध्वं गार्गि दिवो यदवाक् पृथिव्या यदन्तरा द्यावापृथिवी इमे यद् भूतं च भवच्च भविष्यच्चेत्याचक्षते आकाशे तदोतं च प्रोतं चेति ॥ ४ ॥

सा होवाच नमस्तेऽस्तु याज्ञवल्क्य यो म एतं व्यवोचोऽपरस्मै धारयस्वेति पृच्छ गार्गीति ॥ ५ ॥

ही उपस्थित हो जायँ, वैसे ही मैं शरस्थानापन्न उन दोनों प्रश्नोंके साथ आपके समीप उपस्थित हुई हूं। यदि आप ब्रह्मवेत्ता हों, तो उन मेरे प्रश्नोंका उत्तर दीजिये। श्रीयाज्ञवल्क्यजीने कहा—हे गार्गि, पूछो ॥ १,२ ॥

'सा होवाच' इत्यादि श्रुति। गार्गीने कहा—भगवन्, जलमें सुवर्णका अण्डा था जिससे ब्रह्मा उत्पन्न हुए। उस अण्डेका ऊपरका भाग कपाल कहा जाता है। ऊर्द्धकपालसे द्युलोककी सृष्टि है और अधःकपालसे पृथिवीकी सृष्टि है। प्रकृतमें प्रश्न यह है कि द्युलोकरूप अण्डकपालसे ऊपर जो है और जो पृथिवीरूप अधःस्थित अण्डकपालसे नीचे है, जो उन दोनोंके मध्यमें है, जो स्वर्ग और पृथिवी ये दो हैं, जिसे ये सब लोग आगम द्वारा अतीत, वर्तमान और भावी कहा करते हैं, ये सब द्वैतजात जिसमें एक हो जाते हैं, वह पूर्वोक्त सूत्र किसमें ओत-प्रोत है? जैसे पृथिवी जलमें ओत-प्रोत है, वैसे सूत्र किसमें ओत-प्रोत है? याज्ञवल्क्यजीने उत्तर दिया—हे गार्गि, तुमने 'दिव ऊर्द्ध' इत्यादिसे जो सूत्र कहा, वह सूत्र आकाशमें ओत-प्रोत है, जो यह नाम, रूप आदि व्याकृत सूत्रात्मक जगत् है, वह अव्याकृत आकाशमें, जलमें पृथिवीके समान, तीनों कालोंमें रहता है एवं उत्पत्ति, स्थिति और लय दशामें सम्पूर्ण जगत् उसीमें रहता है। फिर गार्गी बोली [प्रश्न दुर्वच है—इस आशयसे गार्गीने याज्ञवल्क्यजीको प्रणाम किया] आपने मेरे दुर्वच प्रश्नका जो ठीक उत्तर दिया [इस प्रश्नके दुर्वचत्वमें कारण यह है कि जब सूत्र ही प्रथम आगमैकगम्य होनेसे दूसरोंके लिए दुर्वाच्य है तब सूत्र जिसमें ओत और प्रोत है, उसके विषयमें तो कहना ही क्या?] इसके लिए आपको नमस्कार है। अब दूसरे प्रश्नके उत्तरके लिए तैयार हो जाइये। श्रीयाज्ञवल्क्यजीने कहा—हम तैयार हैं, हे गार्गि, तुम पूछो ॥ ३—५ ॥

अण्डोर्ध्वाधोमध्यदेशान्कालं च व्याप्य तिष्ठति ।
सूत्रमित्याहुराचार्या ओतं प्रोतं च कुत्रचित् ॥ ३ ॥
अण्डारम्भकभूतानां न पृष्टा सूत्र ओतता ।
सूत्रेण विधृतं सर्वमिति पूर्वत्र निर्णयात् ॥ ४ ॥
तार्किकत्वनिवृत्त्यर्थमाचार्योक्तिमुदाहरत् ।
निःशेषदेशकालोक्त्या सूत्रसर्वात्मतोदिता ॥ ५ ॥

'अण्डोर्द्ध्वा०' इत्यादि । जो वस्तु द्युलोकरूप अण्डकपालसे ऊपर है और जो पृथिवीरूप अण्डकपालसे नीचे है और जो दो अण्ड कपालोंके बीचमें है, तथा जो ये द्युलोक और पृथिवी हैं, वे सब और जो अतीत (वर्तमानध्वंसप्रतियोगी), वर्तमान तथा भावी (वर्तमानप्रागभावप्रतियोगी) लिङ्गगम्य सम्पूर्ण द्वैतजात है, वे सब जिसमें एक हो जाते हैं, वही सूत्रसंज्ञक है । वह सूत्र जलमें पृथिवीके समान किसमें ओत-प्रोत है ? 'आहुः' का तात्पर्य अनुमान दोषके निराममें है अर्थात् किसमें ओतप्रोत है, ऐसा आगमसे जाना जाता है ? मूर्द्धपातके भयसे तर्क द्वारा प्रश्न और उत्तर हो ही नहीं सकता, इसलिए गार्गीने तर्कको छोड़कर आगमसे ही पूछा और आगमसे ही उत्तर भी चाहती है, जो श्रुत्यर्थ जानते हैं, वे कहते हैं कि सब भूत सूत्रमें ही हैं, अतः वह किसमें ओत और प्रोत है, यह कहिये ॥ ३ ॥

'अण्डा०' इत्यादि ।

शङ्का—गार्गीब्राह्मणमें ब्रह्मलोकपर्यन्त ही कौन किसमें ओतप्रोत है, यह पूछा गया है । वहाँ ब्रह्मलोकशब्दसे अण्डारम्भक भूत विवक्षित हैं, अतः वे भूत किसमें ओत और प्रोत हैं, यही पूछना चाहिए, इसे पूछे बिना सूत्र किसमें ओत-प्रोत है यह कैसे पूछा ?

समाधान—सूत्रका लक्षण कहनेसे यह प्रतीत होता है कि सब भूत सूत्रमें ही ओत और प्रोत हैं । अब यहाँपर यह पूछना है कि सूत्र किसमें ओत और प्रोत है ॥ ४ ॥

'तार्किकत्व०' इत्यादि । यह प्रश्न तर्कसे नहीं पूछा जाता है, इसको व्यक्त करनेके लिए 'आचक्षते' का प्रयोग किया गया है । निश्शेष देशकालोक्तिसे सूत्र सर्वात्मा है, यह स्पष्ट ही कहा गया है ।

शङ्का—ससूत्र जगत्का आश्रय कौन है ? यही गार्गीका प्रश्न है, यहाँपर

व्यक्तं सर्वं सूत्ररूपमव्यक्तव्योमसंज्ञके।
ओतं प्रोतं च विद्धीति प्राह पृष्टमनूद्य सः ॥ ६ ॥

यह सन्देह होता है कि वर्तमान कालमें आश्रय पूछा जाता है या अतीत या अनागत-कालमें? वर्तमानकालमें प्राणात्मक सूत्रमें ही शरीर आदि हैं, क्योंकि प्राणके निकल जानेपर शरीर, इन्द्रिय आदि गिर जाते हैं, प्राणके रहनेपर ही रहते हैं, अतः अन्वयव्यतिरेकसे देह आदि प्राणके आश्रित हैं, यह दृढ़ निश्चय होता है। अतः वर्तमानकालमें प्रश्न नहीं है। अतीत या अनागत समयमें भी प्रश्न नहीं हो सकता, क्योंकि अतीत समयमें जगतका नाश ही है और अनागत समयमें जगत्की उत्पत्ति ही नहीं है, उक्त दोनों कालोंमें जब जगत ही नहीं है, तब तदाश्रयविषयक प्रश्न ही नहीं हो सकता। आश्रितके रहनेपर आश्रयका प्रश्न हो सकता है, अन्यथा नहीं।

समाधान—यह ठीक नहीं है, कारण कि असत्की उत्पत्ति नहीं होती, कारणमें सूक्ष्मरूपसे जो कार्य सत् है, उसकी उत्पत्ति सब जगह देखी जाती है, जैसे तिलमें तैल रहता है, और गौमें दूध रहता है तो निष्पेषण, दोहन आदि व्यापारसे तैल, दुग्ध आदिकी अभिव्यक्ति होती है। बालूमें तैल तथा बैलमें दुग्ध नहीं रहता, अतः उनमें उक्त व्यापार करनेपर भी उक्त कार्योंकी उत्पत्ति नहीं होती, इसलिए अतीत अनागत-दशामें जो जगतका आश्रय होता है, वही वस्तुतः वर्तमानकालमें भी आश्रय कहा जा सकता है, दूसरा नहीं। वर्तमानकालमें जिस सूत्रात्मामें जगत्की सत्ता निहित है, उस सूत्रात्माके साथ जगत्की सत्ता अवर्तमानकालमें किसमें है, जिसमें सत्ता होगी, वही वस्तुतः ससूत्र जगतका आधार है, दूसरा नहीं, अतः हे श्रीयाज्ञवल्क्य उसे कहिये ॥ ५ ॥

'व्यक्तं सर्वम्' इत्यादि। सम्पूर्ण सूत्ररूप व्यक्त (व्याकृत नामरूपवत् जगत) आकाशनामक अव्यक्तमें (नामरूपशून्यमें) ओत और प्रोत है, यों याज्ञवल्क्यजीने गार्गीके प्रश्नवाक्योंका अनुवाद कर उत्तर दिया।

शङ्का—अनुवादकी क्या आवश्यकता थी?

समाधान—अप्रतिभानामक निग्रहस्थानके परिहारके लिए अनुवादकी आवश्यकता होती है, दूसरा प्रयोजन अग्रिम श्लोकमें व्यक्त होगा। पृथिवी आदिसे लेकर सूत्रान्त यह सब जगत् उत्पत्तिसे पूर्व और नाशके अनन्तर अविज्ञानसत्तामात्रसे आकाशमें रहता है, प्रविभक्तनामरूपात्मक उत्पत्तिशील जगतका तत्त्व आकाश

ही है, 'मृत्तिकेत्येव सत्यम्' इस श्रुतिमें उक्त न्यायसे कार्यमात्रका तत्त्व कारण ही माना जाता है।

शङ्का—कार्यकारणका अभेद ही क्यों नहीं मानते ?

समाधान—अभेद असंभव है। आत्मा चित् स्वयंप्रकाश है, जगत् जड़ और तमःस्वरूप है, दोनोंका वास्तविक अभेद हो नहीं सकता, इसलिए आत्मामें जगत्को कल्पित मानना ही ठीक है, रज्जुसर्पका तत्त्व जैसे रज्जु है, रज्जुके बिना रज्जुसर्पकी प्रतीति नहीं होती, वैसे ही आत्माके बिना जगत्की प्रतीति नहीं हो सकती, अतएव आत्मामें जगत् कल्पित है, कल्पितका तत्त्व अधिष्ठान ही होता है।

शङ्का—स्थितिकालमें ही जगत्को सत् मानिये, अतीत और अनागतमें वह यदि असत् ही हो, तो क्या आपत्ति है ?

समाधान—आपत्ति है—श्रुतिविरोध। 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्' यह श्रुति उक्त दशामें भी जगत् सत्य ही है, असत् नहीं, ऐसा कहती है। एवकार असत्की व्यावृत्तिके लिए ही आया है, इससे कालत्रयमें जगत् सत् है, यही अर्थ श्रुति-सम्मत है।

शङ्का—तार्किक सत्ताजातिको मानकर जगत्को सत्य मानते हैं, उनके मतमें वर्तमान समयमें ही जगत् सत् माना जाता है, कालान्तरमें नहीं, इस मतमें क्या दोष है ?

समाधान—सत्ताजाति स्वयं प्रमाणसिद्ध नहीं है और जगत्में वह कारण है, यह भी विचारसिद्ध नहीं है। यदि सत्तासम्बन्धसे जगत् सत्य माना जाय, तो आत्मा-श्रय दोषसे सत्तामें सत्ता मानेंगे नहीं, अतः जब सत्ता ही स्वयं असत् है, तब उसके सम्बन्धसे जगत् सत्य कैसे कहा जा सकता है ? हाँ, 'सदेव सोम्येदम०' इत्यादिसे जो सच्छब्दवाच्य शक्ति तेजोबन्नादिसृष्टिकर्तृत्वरूपसे कही गई है, वही शक्ति संपूर्ण जगत्की उपादान कारण है, 'सतो भावः सत्ता' यह व्युत्पत्ति है, 'ॐ तत्सदिति ब्रह्मणो निर्देशः' इस वाक्यके अनुसार 'सत्' शब्द ब्रह्मका वाचक है, यह सर्वसिद्धान्त है। 'सा जातिः सा महानात्मा तामाहुस्त्वतलादयः' इत्यादि हरिकारिकामें भी यही अर्थ स्पष्ट है। सत्का भाव सत्से अतिरिक्त है या नहीं ? अतिरिक्त भावस्वरूप हो नहीं सकता, भावमात्र सदात्मक ही है। यदि अभाव कहें, तो अभावात्मक सत्ताके सम्बन्धसे धर्मी भी अभावात्मक हो जायगा और भावसे

देशकालौ च सूत्रेण स्यूतौ देशात्मकं ततः ।
वियन्नाऽऽकाशमत्रेति सूचनायाऽनुवादगीः ॥ ७ ॥
आकाशो वै नाम नामरूपयोर्निर्वहेज्जनिम् ।
इत्याह कारणं ब्रह्म श्रुतिराकाशशब्दतः ॥ ८ ॥

अतिरिक्त अभाव विचारसिद्ध नहीं है—'भावान्तरमभावोऽन्यो न कश्चिदनिरूपणात्' विशेष अन्यत्र देखिये ॥ ६ ॥

'देशकालौ च' इत्यादि। आकाशशब्द यहाँ अव्यक्तवाचक है, प्रसिद्ध आकाशका वाचक नहीं है, इस अभिप्रायकी सूचनाके लिए अनुवाद किया गया है। प्रसिद्ध आकाश जगत्‌का एकदेश होनेसे जगदात्मक सूत्रके अन्तर्गत ही है। सूत्रसे संपूर्ण जगत् अनुस्यूत (ग्रथित) है और आकाश देशात्मक है, अतः यहां आकाश उक्त अर्थका वाची है, प्रसिद्ध आकाशवाची नहीं है ॥ ७ ॥

'आकाशो' इत्यादि।

शङ्का—आकाशशब्द भूताकाशमें रूढ़ है, फिर उसे यहां कारणवाची कैसे मानते हो ?

समाधान—'आकाश एव नामरूपयोर्निर्वहिता' इस श्रुतिमें आकाशशब्दसे ब्रह्म ही कहा गया है। भूताकाश नाम और रूपका उत्पादक नहीं हो सकता और 'सर्वान्तरत्व' विशेषण भी अनात्मपदार्थमें युक्तियुक्त नहीं होता है, अतः ससूत्र जगत्‌का आन्तरत्वरूपसे श्रुत आकाश अज्ञात ब्रह्मसे अतिरिक्त नहीं हो सकता। यद्यपि 'आकाशवत् सर्वगतश्च नित्यः', 'एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः', 'ज्यायाना-काशात्' इत्यादि श्रुतियोंमें एवं अन्य शास्त्र तथा लोकमें भी आकाशशब्दसे भूताकाशका बोध होता है तथा श्रुतिमें भी ब्रह्मबोधके तात्पर्य्यसे बारबार आकाशशब्दका प्रयोग देखा जाता है। 'को ह्येवान्यात् कः प्राण्याद्यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्', 'सर्वाणि भूतानि आकाशादेवोत्पद्यन्ते' इत्यादि श्रुतियोंमें ब्रह्मके तात्पर्यसे ही आकाशपदका प्रयोग आया है, अतः यहाँपर आकाश-शब्द किस तात्पर्यसे प्रयुक्त हुआ है, ऐसा संशय होता है, तथापि यहाँपर योग्यतावश आकाशशब्द अज्ञात ब्रह्मका ही, जो जगत्‌का कारण है, वाचक है, भूताकाशका नहीं। 'आकाशस्तल्लिङ्गात्' इस सूत्रमें इस प्रकार निर्णय हो चुका है, वही निर्णय यहाँ भी लागू है ॥ ८ ॥

आ समन्तात्काशतेऽयमित्याकाशत्वमात्मनः ।
जगत्कारणता तस्य सर्ववेदान्तसम्मता ॥ ९ ॥
मायाप्रयुक्तमेवेदं कारणत्वं न वास्तवम् ।
अपूर्वानपराद्युक्तेः कुतो वास्तवहेतुता ॥ १० ॥
मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम् ।
इति मायाप्रयुक्तं तत्कारणत्वं श्रुतिर्जगौ ॥ ११ ॥

'आ समन्तात्' इत्यादि । योगवृत्तिसे भी आकाशशब्द ब्रह्मका बोधक होता है, इस अभिप्रायसे 'आ समन्तात्काशते' यह व्युत्पत्तिप्रदर्शन है। वस्तुतस्तु व्युत्पत्तिप्रदर्शन अनावश्यक है। पूर्वोक्त प्रबल प्रमाणसे जगत्-कारण ब्रह्ममें आकाश-शब्दका प्रयोग समर्थित हो चुका, अतः योगप्रदर्शनकी अपेक्षा नहीं होती। फिर भी किसीको ऐसा दुराग्रह हो, तो उसके सन्तोषके लिए व्युत्पत्तिका भी प्रदर्शन किया गया है। सब वेदान्तोंका यही निर्णय है कि ब्रह्म ही जगत्का कारण है ॥९॥

'माया०' इत्यादि ।

शङ्का—यदि आकाशशब्दवाच्य ब्रह्मको ही जगत्का कारण मानते हो, तो उसकी सर्वान्तरताका निश्चय हो ही जाता है, फिर 'कस्मिन्नु' इत्यादि संशय क्यों?

समाधान—जगत्-कारणत्व ब्रह्ममें मायिक है, वास्तविक नहीं है। वास्तवमें जब जगत् ही नहीं है, तब तत्कारणत्व ब्रह्ममें वास्तविक कैसे हो सकता है? 'अपूर्वानपर' इत्यादि वक्ष्यमाण विशेषणोंके व्याख्यानके समय यह अर्थ स्फुट होगा ।

शङ्का—अच्छा, आकाशशब्दको अज्ञात ब्रह्मका ही वाचक मानिये, फिर भी वह अन्तर्यामीका वाचक है, यह सिद्ध नहीं हुआ, क्योंकि अन्तर्यामी ब्रह्मभिन्न है।

समाधान—अन्तर्यामी जगज्जन्मस्थितिभङ्गका हेतु है, ऐसा कहनेपर ब्रह्म-भिन्न कैसे हो सकता है। सब श्रुतियोंने एकस्वरसे ब्रह्मातिरिक्तका निषेध किया है। अन्तर्यामी और ब्रह्म दोनों एक ही हैं, 'एषोऽन्तर्याम्येष योनिः सर्वस्य प्रभवाप्ययौ' इत्यादि माण्डूक्य श्रुतिमें ब्रह्म ही अन्तर्यामी है, यह स्पष्ट कहा है। दोके भेदमें प्रमाण नहीं है, अभेदमें उक्त श्रुति प्रमाण है, अतः अन्तर्यामीसे अतिरिक्त अव्याकृत नहीं है ॥ १० ॥

'मायां तु०' इत्यादि ।

व्यावृत्तिविधिरूपाभ्यां तमोवद्भावरूपिणी ।
मायाऽनुभूयमानेयं प्रत्याख्यातुं न शक्यते ॥ १२ ॥

शङ्का—माया और अविद्या ये एकार्थके वाचकशब्द हैं, कहीं-कहीं शुद्ध-सत्त्व, मलिनसत्त्व आदिवश उनका अवान्तर भेद भी मानते हैं, परन्तु प्रकृतिशब्दसे दोनोंका संग्रह होता है। माया भी तात्त्विक दृष्टिका आच्छादन करके स्वकल्पित पदार्थोंका साक्षात्कार कराती है, यह लोकमें प्रसिद्ध है। यह सम्पूर्ण जगत् मायासे दीख पड़ता है, इसलिए मिथ्या है। मायाका प्रभाव मायिक इन्द्रियोंपर पड़ता है, आत्मा स्वयंप्रकाश तथा सर्वावभासक है, अतः मायासे उसका आवरण कैसे हो सकता है? आत्माके साक्षात्कारसे माया स्वयं विलीन हो जाती है। अतः उसको माया आवृत करती है, यह कथन ऐसा ही है, जैसे कोई यह कहे कि मध्याह्नका सूर्य अन्धकारसे आवृत है। मध्याह्नका सूर्य अन्धकारसे आवृत है, इस कथनमें जैसे किसीका विश्वास नहीं होता, वैसे ही मायावृत ब्रह्ममें जगत्-कारणत्व है; अतएव वह मायाप्रयुक्त (मायिक) कहा जाता है, इसपर किसीका विश्वास नहीं हो सकता।

समाधान—विश्वास श्रवण, मनन आदि द्वारा चित्तके परिशुद्ध होनेपर तथा श्रुति-वाक्यमें श्रद्धा रहनेपर होता है। यह अर्थ तर्कगम्य नहीं है, किन्तु केवल आगमगम्य है। श्रुति स्वयंप्रमाण है। उसके लिए दृष्टान्तकी आवश्यकता नहीं है। अनुभूय-मान पदार्थका प्रत्याख्यान नहीं हो सकता। उसके हृदयङ्गम करनेका प्रकार वेदान्तमें बहुत स्थलोंमें कहा गया है, यहाँ भी संक्षेपसे कहेंगे ॥ ११ ॥

'व्यावृत्ति०' इत्यादि। अग्रिम श्लोकसे वक्ष्यमाण विधि और व्यावृत्ति रूपसे अन्धकारके समान भावस्वरूप अनुभूयमान इस मायाका प्रत्याख्यान कोई नहीं कर सकता। तमको नैयायिक तेजका अभावस्वरूप मानते हैं, कारण कि तेजका तमसे विरोध है, भाव और अभावका साक्षाद् विरोध पाया जाता है, आलोकरूप सहकारी कारणके बिना तमका चाक्षुप प्रत्यक्ष होता है, अतः उसे द्रव्यान्तर माननेमें कई बाधक हैं। यद्यपि नीलरूप तथा चलना आदि क्रिया तममें दीख पड़ती है, तथापि केवल इसीसे उसे द्रव्य नहीं कह सकते, क्योंकि रूपवत् द्रव्यके प्रत्यक्षमें आलोक सर्वत्र सहकारी कारण देखा गया है, परन्तु तमका प्रत्यक्ष आलोकके बिना होता है। दूसरी यह अनुपपत्ति है कि तमके कारणका निरूपण नहीं हो सकता। यदि परमाणुओंसे तमका आरम्भ मानें, तो उनमें स्पर्श नहीं है। स्पर्शवत् द्रव्य ही द्रव्यका आरम्भक होता है, निःस्पर्श द्रव्य आकाशके समान

व्यावृत्तः शुक्लपीतादेरन्धकारोऽनुभूयते ।
तथा विधिमुखेनाऽपि द्विरेफोदरवत्तमः ॥ १३ ॥

या मनके समान द्रव्यका आरम्भक नहीं होता इत्यादि अन्यत्र विस्तृत विचार है । इस मतका वेदान्ती और मीमांसक खण्डन करते हैं—तम भावस्वरूप है। त्वग् इन्द्रियसे जैसे आलोकके बिना भी द्रव्यका ग्रहण होता है, वैसे ही तमके चाक्षुषमें आलोक कारण नहीं है। 'नीलं तमः चलति' इस प्रतीतिमें भ्रमत्व नहीं है। मनसे आरब्ध द्रव्य पुरुषार्थजनक नहीं होते, अतः मन आरम्भक नहीं है। आकाश अन्यथासिद्ध है, इसलिए वह भी आरम्भक नहीं है। परमाणुसे ही द्रव्यका आरम्भ होता है, यह सिद्धान्त नहीं है, क्योंकि मेघमण्डल आदिसे ही सहसा तमका आरम्भ होता है इत्यादि अन्यत्र विशेषरूपसे निरूपण किया गया है। यहाँपर केवल सारांशमात्र कहा है। तमको भावरूप माननेका मुख्य प्रयोजन यह है कि ब्रह्मकी आवारक माया यदि अभावरूप मानी जाय, जैसा कि तार्किक तमको कहते हैं, तो 'अभावसे किसीका आवरण नहीं होता' इस सिद्धान्तसे उससे भी ब्रह्मका आवरण नहीं होगा। इसलिए तमको भावस्वरूप मानते हैं। मायाविषयक अनुभव अग्रिम श्लोकसे दिखलाया जायगा ॥१२॥

व्यावृत्ति और विधिरूपसे मायाविषयक अनुभवको दृष्टान्त द्वारा स्पष्ट करते हैं—**'व्यावृत्तः'** इत्यादिसे ।

व्यावृत्ति यानी स्वेतरभेद। घट आदि सम्पूर्ण पदार्थ प्रतीतिके समय स्वेतरव्यावृत्तरूपसे ही प्रतीत होता है, जैसे—यह घट ही है, पट आदि नहीं। अन्यथा घटमें ही घटज्ञानसे नियमतः प्रवृत्ति न होगी। 'अयं शुक्लो न नीलः' जैसे यह प्रतीति होती है, वैसे ही 'अन्धकारोऽयम्, इदं तमः, न शुक्लादि' इस प्रकार इतरव्यावृत्त स्वस्वरूपकी प्रतीति दोनोंमें समान है। अतएव शुक्ल आदिके समान तम भी भावरूप पदार्थ है एवं विधिरूपसे भी तमकी प्रतीति होती है। यदि तम तेजोऽभावस्वरूप होता, जैसा कि वैशेषिक कहते हैं, तो निषेधमुखसे ही उसकी प्रतीति होती; जैसे कि 'घटो नास्ति' इस रीतिसे घटाभावकी प्रतीति होती है। अभावप्रत्यक्षमें प्रतियोगी आदिका ज्ञान कारण है। 'तेजो नास्ति' इस प्रकार यदि अन्धकार प्रतीत होता, तो अन्धकार तेजोऽभावरूप कहा जाता। 'शुक्लोऽस्ति' के समान 'तमोऽस्ति' यह प्रतीति जब सर्वानुभवसिद्ध है, तब तम भावस्वरूप ही है, अभावस्वरूप नहीं। द्विरेफ यानी भ्रमर, उदर यानी पेट। भ्रमरके पेटके समान भावरूप काला तम सबके अनुभवसे सिद्ध है, अतएव वह भावस्वरूप ही है अभावस्वरूप नहीं ॥ १३ ॥

स्वप्नाज्जागरणाच्चैवं व्यावृत्ता सुप्तिरीक्ष्यते ।
मूढोऽस्मीति विभात्येष मोहो विधिमुखादपि ॥ १४ ॥
अहङ्कारजनेः पूर्वं मोहश्चिन्मात्रवर्त्यभूत् ।
तदुत्पत्तावहङ्कारविशेषणमिवेक्ष्यते ॥ १५ ॥

'स्वप्ना०' इत्यादि । सुषुप्तिरूपा अविद्या वेदान्तीके मतमें मानी जाती है । 'तमःप्रधानालम्बना वृत्तिर्निद्रा' इस योगसूत्रके अनुसार तमका (अविद्याका) ही प्राधान्य उक्त वृत्तिदशामें रहता है । नैयायिकमतमें ज्ञानाभाव रहता है, कारण कि ज्ञानजनक सामग्रीसामान्यका अभाव है, 'न किञ्चिद्वेदिषम्' (कुछ नहीं जाना) यह सुप्तोत्थितको परामर्श भी होता है; इसलिए यह निर्विवाद है कि जागरणदशामें या स्वप्न-दशामें जैसे ज्ञान होते हैं, वैसे सुषुप्तिदशामें ज्ञान नहीं होते । विवाद केवल इसमें है कि 'कुछ नहीं जाना' यह परामर्श ज्ञानाभावविषयक है ? या अज्ञानरूप तमोविषयक है ? वेदान्तियोंका दावा है कि वह अविद्याविषयक है, ज्ञानाभावविष-यक नहीं, क्योंकि प्रतियोगी और अधिकरणज्ञानके बिना अभावज्ञान नहीं होता; उस समय उन दोनोंका ज्ञान माननेपर ज्ञानसामान्याभाव ही नहीं हो सकता, उक्त ज्ञानके न होनेपर ज्ञानाभावग्राहक सामग्री ही नहीं है, इसलिए ज्ञानाभावका समर्थन करना असंभव है । यदि उक्त परामर्श स्मरण नहीं है, किन्तु अनुमान है, यह माना जाय, तो भी सुषुप्तिदशामें पक्ष, हेतु आदिके ज्ञानके अभावसे अनुमान नहीं हो सकता । इस विषयका विचार पूर्वमें हो चुका है और यह भी निश्चय हो चुका है कि यह परामर्श अविद्याविषयक स्मरण ही है, दूसरा नहीं हो सकता । स्वप्नदशामें जागरावस्थासे व्यावृत्तरूपसे मोहकी प्रतीति होती है और सुषुप्तिदशामें विधिमुखसे 'मूढोऽस्मि' यह प्रतीति होती है । यद्यपि उस दशामें स्वयं यह भी नहीं जानता कि मैं मूढ़ हूँ, किन्तु बोध होनेपर यह स्मरण अवश्य करता है कि 'उस समय मैं मूढ़ था कुछ भी नहीं जानता था' । स्मरण समानविषयक अनुभवके बिना नहीं हो सकता, स्मरणसे तात्कालिक तादृश अनुभव सिद्ध होता है अथवा सुषुप्त अन्य पुरुषके प्रति यह कहा जाता है कि इस समय यह मूढ़ है, पर यह ठीक नहीं है, क्योंकि दूसरेके मोहका दूसरेको प्रत्यक्ष नहीं होता, अतः पूर्वोक्त ही प्रत्यक्ष अविद्यापर-पर्याय मोहका साधक है ॥ १४ ॥

शङ्का—**'अहङ्कार०'** इत्यादि । मोहका आश्रय कौन है ? आत्मा या अहङ्कार ?

प्रत्यक्त्त्वं मोहयुक्तं पूर्वं व्यक्तं जगज्जनेः।
अव्याकृताख्यमभवत् सूत्रं तत्र समाश्रितम्॥ १६॥

प्रथम पक्ष ठीक नहीं है, कारण कि 'अहं मूढः' यह प्रतीति अहङ्कारगत मोहको विषय करती है, आत्मगत मोहको नहीं। अन्यथा 'आत्मा मूढः' यह प्रतीति होनी चाहिए, 'अहं मूढः' ऐसी नहीं होनी चाहिए। यदि अहङ्कारगत मानें, तो अहङ्कार अज्ञानका कार्य है, अतः अज्ञानके बाद हुआ है, इस परिस्थितिमें पूर्वसिद्ध मोहका उत्तरसिद्ध अहङ्कार आश्रय कैसे हो सकता है? अज्ञानके सिद्ध होनेपर अहङ्कारकी सिद्धि, अहङ्कारकी सिद्धि होनेपर तदाश्रयतया मोहकी सिद्धि, यों अन्योन्याश्रय भी है। संक्षेपशारीरककारने स्पष्ट कहा है—'पूर्वसिद्धतमसो हि पश्चिमो नाऽऽश्रयो भवति नाऽपि गोचरः।' इत्यादि॥ १५॥

समाधान—**'प्रत्यक्तत्वम्'** इत्यादि। मोहयुक्त आत्मा जगत्की उत्पत्तिसे पूर्व अभिव्यक्त होता है, तदाश्रित अव्याकृतसंज्ञक सूत्र होता है अर्थात् पूर्व प्रश्नका उत्तर है। मोह आत्मामें ही उत्पन्न होता है और आत्मा ही तद्विषयक है जैसे ज्ञान सविषयक और साश्रय होता है, वैसे ही अज्ञान भी नियमसे सविषयक और साश्रय होता है। मोह और अज्ञान एक ही हैं। इस विषयका संक्षेपशारीरककारने भी प्रतिपादन किया है—

'आश्रयत्वविषयत्वभागिनी निर्विभागचितिरेव केवला।
पूर्वसिद्धतमसो हि पश्चिमो नाऽऽश्रयो भवति नाऽपि गोचरः॥' इति।

शङ्का—चिदात्मा ही नियन्ता तथा कारण है, यह वेदान्तसिद्धान्त है। अज्ञानको भी यदि जगत्-कारण तथा नियामक मानो, तो सिद्धान्तविरोध होगा। यदि अज्ञानविशिष्ट चिदात्माको कारण कहोगे, तो विशेषण अज्ञान भी कारण कहा ही जायगा, ऐसी परिस्थितिमें केवल चिदात्मा ही कारण नहीं रहा।

समाधान—ठीक है, ऐसा समझिये कि केवल चिदात्मा ही कारण तथा नियन्ता है; इसका यह अभिप्राय है—उदासीन अतएव अविक्रिय आत्मामें स्वतः कारणत्व या नियामकत्व नहीं हो सकता, किन्तु अज्ञानप्रयुक्त ही उक्त दोनों धर्म हैं, ऐसा कहा गया है। ज्ञानसे अज्ञानका ध्वंस होनेपर वही अकार्य, अकारण अक्षर-स्वरूप कहा जाता है, इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि आत्मामें कारणत्व और नियामकत्व आदि अज्ञानकल्पित ही हैं, वास्तविक नहीं। 'यक्षानुरूपो बलिः' इस

एषोऽन्तर्याम्येष योनिरिति श्रुतिसमीक्षणे।
नोक्तान्तर्यामिणः कल्प्यमन्यत्तत्त्वान्तरं बुधैः ॥ १७ ॥

श्रुतिः—सा होवाच यदूर्ध्वं याज्ञवल्क्य दिवो यदवाक् पृथिव्या यदन्तरा द्यावापृथिवी इमे यद् भूतं च भवच्च भविष्यच्चेत्याचक्षते कस्मिꣳस्तदोतं च प्रोतं चेति ॥ ६ ॥

न्यायके अनुसार नियम्य (कार्य) ही जब कल्पित है, तब कारणत्व और नियामकत्व भी कल्पित ही हो सकते हैं; वास्तविक नहीं ॥ १६ ॥

'एषोऽन्तर्याम्येष' इत्यादि। कोई अव्याकृत और अन्तर्यामीको भिन्न भिन्न मानते हैं। उनका खण्डन करते हैं कि दोनों एक ही हैं, भिन्न नहीं। 'यही अन्तर्यामी है, यही कारण है' इस अर्थकी प्रतिपादक श्रुतिको देखनेसे यह स्पष्ट ज्ञात होता है। श्रुति उक्त दोनों पदार्थोंको भिन्न नहीं मानती, किन्तु उपाधिभेदसे उक्त व्यवहार एक ही में होता है, अतः विद्वानोंको भी तत्त्वान्तरकी कल्पना नहीं करनी चाहिए।

शङ्का—'नेति नेति' इत्यादि वाक्यसे चिदात्मामें स्थित कल्पित द्वैतका यदि निषेध मानते हैं, तो कर्मराशिका भी निषेध मानिये, क्योंकि वह भी द्वैतमें ही आ जाती है; फिर उत्तर सर्ग (सृष्टि) कैसे होगा?

समाधान—उक्त वाक्यसे कर्मराशिका निषेध नहीं होता, कारण कि वह उत्तर सर्गकी कारण है, अतः प्रलय आदिके समयमें उसकी स्थिति कारणरूपसे रहती है, कार्यरूपसे नहीं। उक्त वाक्यसे कार्यरूपसे स्थित द्वैतका ही निषेध विवक्षित है, जो विशेषरूपसे विद्यमान होता है, वही प्रतिषेध्य होता है।

शङ्का—यदि प्रलयमें भी सूक्ष्मरूपसे कर्मराशि रहती है, तो उसका भान क्यों नहीं होता। यदि कहें कि ग्राहक नहीं है, तो सो भी नहीं कह सकते, क्योंकि ग्राहक साक्षी है ही।

समाधान—स्वापदशामें अहङ्कारके न रहनेसे जैसे अज्ञानका सविकल्पक ज्ञान नहीं होता, वैसे ही प्रलयदशामें तदभावप्रयुक्त तद्विषयक सविकल्पक ज्ञान नहीं होता। निर्विकल्पक ज्ञान तो माना ही जाता है, पर यह कर्मराशि है, यों व्यपदेश नहीं होता। कर्मराशिका ग्रहण सविकल्पक है नहीं और निर्विकल्पक ग्रहण व्यपदेशका कारण ही नहीं होता ॥ १७ ॥

'सा होवाच' इत्यादि श्रुतियाँ। इनका अर्थ पूर्व श्रुतियोंके ही अनुसार है।

स होवाच यदूर्ध्वं गार्गि दिवो यदवाक् पृथिव्या यदन्तरा द्यावापृथिवी इमे यद् भूतं भवच्च भविष्यच्चेत्याचक्षत आकाश एव तदोतं च प्रोतं चेति कस्मिन्नु खल्वाकाश ओतश्च प्रोतश्चेति ॥ ७ ॥

बोद्धुं बोधयितुं चैतदत्यन्तं दुःशकं त्विति ।
विस्मिता प्रणनामाऽसौ तमव्याकृतवादिनम् ॥ १८ ॥
भूयोऽपि पृष्टमप्राक्षीत् प्रधानादिषु शङ्कया ।
प्रधानादीन् जगद्धेतून् वादिनः स्थापयन्ति हि ॥ १९ ॥

क्योंकि प्रश्न और उत्तरका अनुवाद ही किया गया है। गार्गीने फिर अन्तिम वाक्यसे प्रश्न किया कि हे श्रीयाज्ञवल्क्य, वह आकाश किसमें ओत और प्रोत है ॥६,७॥

'बोद्धुं बोधयितुम्' इत्यादि। अव्याकृतका बोध ही दुर्घट है, प्रमाणान्तरा-गम्य वस्तु केवल आगमैकवेद्य है, अतः उसका जब ज्ञान ही कठिन है, तब दूसरेको समझाना तो उससे भी दुःशक है, फिर भी श्रीयाज्ञवल्क्यजीने उसको समझाया, इसलिए गार्गीने विस्मित होकर अव्याकृतवादी श्रीयाज्ञवल्क्यजीको प्रणाम किया। प्रतिवादी होनेपर भी श्रीयाज्ञवल्क्यमें ज्ञानका अतिशय देखकर गार्गीको श्रद्धा हुई ॥ १८ ॥

'भूयोऽपि' इत्यादि। फिर वही प्रश्न गार्गीने पूछा, जिसका कि उत्तर हो चुका था।

शङ्का—फिर पूछनेका तात्पर्य क्या है? श्रीयाज्ञवल्क्यजीने यही क्यों न कहा कि इसका उत्तर तो दे चुके हैं?

समाधान—गार्गीका अभिप्राय यह था कि जो उत्तर श्रीयाज्ञवल्क्यजीने दिया है, उसमें उनका दृढ़ निश्चय है या नहीं? यदि दृढ़ निश्चय न होगा, तो दूसरी बार दूसरा ही उत्तर देंगे अथवा कोई यक्ष आदि देवता उनका सिद्ध किया हुआ होगा तो वही उत्तर देंगे। यह देखा भी जाता है कि भाषाको न पढ़नेपर भी बालक, स्त्री, शूद्र आदि भूतावेशवश अपूर्व भाषा बोलते हैं, जो उसका आवेश न होनेपर बोल नहीं सकते, इस तरह श्रीयाज्ञवल्क्यका भी हो सकता है, इस शङ्काकी निवृत्तिके लिए फिर भी पृष्टका ही प्रश्न गार्गीने किया। श्रीयाज्ञवल्क्यजी प्रतिभाशील थे, गार्गीका आशय समझ गये और इसका उत्तर हो चुका है, इत्यादि नहीं कहा, क्योंकि ऐसा कहनेसे गार्गीका अभिप्राय व्यक्त नहीं हुआ, यह सम्भावना हो जाती,

सावधारणमाकाश एवेत्यन्यनिवृत्तये ।
आहोत्तरं मूर्द्धपातं सूचयंस्तर्कनिर्णये ॥ २० ॥
यद्वा तन्तुष्विव पटः सूत्रं बहुषु संश्रितम् ।
इत्याशङ्क्य पुनः प्रश्न एवकारो बहुत्वनुत् ॥ २१ ॥

अतः दृढ़ और अनाविष्ट उत्तर है, यह स्फुट करनेके लिए उक्त प्रश्नका उक्त ही उत्तर दिया । यह तृतीय प्रश्न है, ऐसा किसीको भ्रम भी होता है, परन्तु यह ठीक नहीं है, क्योंकि दृष्टान्तप्रदर्शनपूर्वक गार्गीने दो ही प्रश्न करनेकी प्रतिज्ञा की है । इसलिए तीसरे प्रश्नका अवकाश ही नहीं है और उक्त शब्दविषयके अतिरिक्त दूसरा शब्दविषय ही नहीं है, अतः पुनः प्रश्नोत्तरका उक्त ही तात्पर्य है । सारकारके 'प्रधानादीन्' इत्यादि वाक्यका अभिप्राय उत्तर श्लोककी व्याख्यामें अभिव्यक्त करेंगे ॥ १९ ॥

'सावधारण०' इत्यादि । पुनःप्रश्नका तात्पर्य यह है कि पृथिवी आदिका जैसे अनेकमें लय होता है, वैसे ही सूत्रका भी अनेकमें लय होना चाहिए अथवा केवल आकाशमें ही । यद्यपि प्रश्नवाक्यमें ऐसा कोई शब्द नहीं है, जिससे यह शङ्का सूचित हो, तथापि उत्तरवाक्यमें 'आकाशे एव' यहां एवकार देखनेसे उक्त शङ्काका अवसर आता है । आकाशमें ही सूत्रका लय होता है, दूसरेमें नहीं । यदि दूसरेमें लयकी शङ्का पूर्व प्रश्नसे सूचित न होती, तो इतरव्यावृत्तिके लिए उत्तरवाक्यमें एवकारका प्रयोग ही व्यर्थ हो जाता ।

शङ्का—अच्छा, आकाशेतर कौन पदार्थ है, जिसमें सूत्रके लयकी सम्भावना हो सकती है ?

समाधान—प्रधान । तार्किक सांख्यवादी जगत्का लय प्रधानमें ही मानते हैं, इसलिए उसमें लयकी शङ्का हो सकती है, किन्तु तर्कगम्य प्रधानका प्रश्नोत्तरवाक्यमें उपादान न करनेका कारण मूर्द्धपात दोष है, इसलिए याज्ञवल्क्यजीने भी उत्तर-वाक्यमें प्रधानका नाम न लेकर एवकारसे ही व्यावृत्ति कर दी, अन्यथा आकाशमें ही सूत्रका लय होता है, प्रधानमें नहीं, ऐसा उत्तर देते; परन्तु ऐसे उत्तरमें उक्त दोष स्फुट है, प्रधान अशब्द है, यह 'ईक्षतेर्नाऽशब्दम्' इस सूत्रमें स्फुट है । अतः यह प्रश्नोत्तरवाक्य पूर्ववाक्यका शेष है, स्वतन्त्र नहीं है ॥ २० ॥

पुनःप्रश्न करनेका अन्य तात्पर्य कहते हैं—**'यद्वा तन्तु०'** इत्यादिसे ।

कस्मिन् खल्वयमाकाश ओतश्च प्रोत ईर्यताम् ।
अनोतत्वे स्वतन्त्रत्वात्प्रधानत्वं प्रसज्ज्यते ॥ २२ ॥
सूक्ष्मत्वाद् दुवर्चं सूत्रं व्योम सूक्ष्मतरं ततः ।
व्योमाश्रयः सूक्ष्मतमो न वाग्गोचरमेत्यतः ॥ २३ ॥

जैसे पटका अनेक तन्तुओंमें लय होता है, एक ही में नहीं, यह लोकमें प्रसिद्ध है, वैसे ही उपादानमें ही कार्यका लय होता है अन्यत्र नहीं, यह तार्किकको भी अभिमत है। सम्पूर्ण कार्य अनेकमें आश्रित दृष्ट हैं, अतः एकमात्र किसीका कारण नहीं होता, 'न एकं स्वकार्ये पर्याप्तम्' ऐसा उनका सिद्धान्त है। प्रकृति त्रिगुणात्मक होनेसे एक नहीं है। आकाशपदसे विवक्षित आत्मा एक है, अतएव वह उपादान नहीं हो सकता, फिर सूत्रका वह लयस्थान कैसे हो सकेगा? यह शङ्काका बीज है। श्रीयाज्ञवल्क्यजीके उत्तरका यह तात्पर्य है कि तार्किक लोग जैसे सर्गके आदि कालमें परमाणुमें जो अन्य परमाणुका संयोगजनक कर्म मानते हैं, उसका उपादान एक ही परमाणु माना जाता है तथा सुषुप्तिके बाद आत्मामें जो ज्ञान होता है, उसका उपादान एक ही आत्मा माना जाता है, वैसे ही सूत्रका भी कारण और लयस्थान एक ही आत्मा है। एक कारण नहीं होता, यह कथन निर्मूल है; अतः आकाश आदि समस्त प्रपञ्च अव्याकृतमात्रजन्य है; इसलिए प्रपञ्च केवल उसीमें ही आश्रित है और उसीमें लीन होता है, एवकार अनेकत्वका वारक है ॥ २१ ॥

'कस्मिन्' इत्यादि। गार्गीने याज्ञवल्क्यजीसे पूछा कि आकाश किसमें ओत-प्रोत है? यह कहिए। यदि आकाशको भी किसीमें ओत-प्रोत कहेंगे, तो आकाशपद ब्रह्मार्थक न होकर भूताकाशपरक हो जायगा। यदि अनवस्थाके परिहारके लिए कोई आश्रयान्तर न कहेंगे; तो अनोत (ओत नहीं) ही सिद्ध होगा, ऐसी अवस्थामें उसमें प्रधानत्वकी प्रसक्ति हो जायगी। क्योंकि सांख्य प्रधानको ही जगत्का मूल कारण मानते हैं। 'मूलप्रकृतिरविकृतिः' इस श्लोकके तथा 'मूले मूलाभावाद-मूलं मूलम्' इस सूत्रके अनुसार प्रधान किसीका कार्य नहीं है। अतएव किसीमें ओत-प्रोत नहीं, कार्य्य ही स्वकारणमें ओत और प्रोत माना जाता है; इस अभिप्रायसे यह प्रश्न है ॥ २२ ॥

'सूक्ष्मत्वात्' इत्यादि। सूक्ष्म होनेसे प्रथम सूत्र ही दुर्वच है। आकाश सूत्रसे भी सूक्ष्मतर है, अतः उसका उत्तर अति कठिन है, आकाशका आश्रय इससे

वेत्ति चेन्निग्रहस्थानमवाच्यस्योक्तितो भवेत् ।
अनुक्तौ वादिताहानिरिति गार्ग्या विवक्षितम् ॥ २४ ॥
उक्तदोषद्वयास्पृष्टं प्रत्युत्तरमभाषत ।
एतद्वा अक्षरं गार्गि प्राहुस्तद्ब्राह्मणा इति ॥ २५ ॥

भी सूक्ष्मतम है । जब बृहस्पति भी इसको नहीं कह सकते, तब साधारण विद्वान्की तो बात ही क्या ? वस्तुतः सूत्रान्त ही निर्देश्य है । सूत्र अनिर्देश्य नियन्तामें आश्रित है और नियन्ता शुद्ध आत्मामें, इसलिए यह सर्वथा दुर्वच है; कारण कि वह किसी भी प्रमाण आदिका विषय नहीं है, अतएव अव्यावृत्याननुगत अद्वितीय प्रत्यक्-तत्त्व है ।

शङ्का—यदि वह किसी प्रमाणज्ञानका विषय नहीं है, तो उसकी सत्तामें ही क्या प्रमाण है ? प्रमाणसे ही प्रमेयकी सिद्धि मानी जाती है ।

समाधान—स्वयंप्रकाशानुभवस्वरूप होनेसे उसका अस्वीकार नहीं हो सकता । वस्तुतः प्रमाण आदि निखिल वस्तुओंका तो वही साधक है, अतएव वह स्वयंसिद्ध है, इसलिए उसका अपलाप नहीं हो सकता ॥ २३ ॥

'वेत्ति चेन्निग्रह०' इत्यादि । यदि उक्त रीतिसे आकाशाश्रय दुर्वच है, तो गार्गीने किस अभिप्रायसे पूछा ?

समाधान—गोलाभकी तृष्णासे मोहवश यदि आकाशके आश्रयको श्रीयाज्ञवल्क्यजी कहेंगे, तो विप्रतिपत्तिनामक निग्रहस्थानसे निगृहीत होकर पराजित हो जायँगे । जो सर्वथा अवाच्य है, उसका कथन विप्रतिपत्तिरूप (विरुद्धप्रतिपत्तिरूप) निग्रहस्थान होता है अर्थात् वक्ता यह भी नहीं जान सका कि वह अवाच्य है, उसका निर्देश नहीं हो सकता, इसलिए उसका कथाधिकार छिन जाता है । याज्ञवल्क्यके निगृहीत होनेपर मेरी विजय होगी । यदि न कहेंगे, तो मेरे प्रश्नका उत्तर न दे सकनेसे, उनकी पराजय और मेरी विजय निश्चित हो जायगी, यह भाव चित्तमें रखकर गार्गीने श्रीयाज्ञवल्क्यजीसे पूछा ॥ २४ ॥

'उक्तदोष०' इत्यादि । उक्त द्विविध निग्रहस्थानको बचाकर श्रीयाज्ञवल्क्यजीने उत्तर दिया कि हे गार्गि, इस आकाशाश्रयको ब्राह्मण अक्षर कहते हैं ।

शङ्का—अच्छा, तो अनिर्देश्यका निर्देश करनेपर श्रीयाज्ञवल्क्यजी विप्रतिपत्तिनामक निग्रहस्थानसे बचे कैसे ?

श्रुतिः—स होवाचैतद्वै तदक्षरं गार्गि ब्राह्मणा अभिवदन्त्यस्थूलमनण्वह्रस्वमदीर्घमलोहितमस्नेहमच्छायमतमोऽवाय्वनाकाशमसङ्गमरसमगन्धमचक्षुष्कमश्रोत्रमवागमनोऽतेजस्कमप्राणममुखममात्रमनन्तरमबाह्यं न तदश्नाति किञ्चन न तदश्नाति कश्चन ॥ ८ ॥

एतच्छब्देन तस्याऽऽह प्रत्यक्साक्षिकतामसौ ।
प्रत्यक्तया तदैकात्म्यं स्वयमेव प्रतीयताम् ॥ २६ ॥
न व्यावृत्तं विशेषेभ्यो नाऽनुवृत्तं च गोत्ववत् ।
अव्यावृत्ताननुगतं चैतन्यं केन वीक्ष्यताम् ॥ २७ ॥

समाधान—इसका उत्तर कुछ आगे चलकर दिया जायगा ॥ २५ ॥

'स होवाचैतद्वै तदक्षरम्' इत्यादि श्रुति । यहाँका भाष्य तथा इस श्रुतिका अर्थ वार्तिकके व्याख्यानसे ही व्याख्यात हो जायगा, इसलिए इसका स्वतन्त्ररूपसे व्याख्यान नहीं किया गया है ॥ ८ ॥

'एतच्छब्देन' इत्यादि । 'एतद्वै तदक्षरम्' इत्यादिश्रुतिवाक्यघटक 'एतत्' शब्द उषस्तप्रश्नमें उक्त त्वम्पदलक्ष्य साक्षीका वाचक है, 'कस्मिन्नु खलु' इत्यादि प्रश्नवाक्यसे आकाश किसमें ओत-प्रोत है, यह जो तुमने पूछा है, वही अन्तर्यामिस्वरूप अक्षर है । अक्षरका अर्थ 'न क्षीयते न क्षरति वा, तद् अक्षरम्' अर्थात् जो न क्षीण हो या न परिणामी हो, किन्तु सदा एकरस ही रहे, वही अक्षर है, ऐसा ब्राह्मण आत्मवेत्ता कहते हैं । यह आत्मसाक्षिक है—स्वस्वात्मानुभवस्वरूप है । प्रत्यगात्मस्वरूप होनेसे उस आकाशाश्रयको तुम स्वयं समझो, तुम्हारा आत्मा तुमको अनुभवसिद्ध है, क्योंकि किसी प्राणीको अपने आत्मामें संशय, विपर्यय या अज्ञान नहीं रहता, प्राणीमात्रको 'हम हैं या नहीं ? या हम नही हैं' इत्यादि संशय आदि नहीं होते, प्रत्युत 'हैं' इत्यादि स्वसत्ताका दृढ़ निश्चय ही होता है, इसलिए उसमें अन्य प्रमाण देनेकी आवश्यकता नहीं है । स्वानुभवस्वरूप स्वात्मा ही वह है, जिसको हे गार्गि, तुमने पूछा है ॥ २६ ॥

'न व्यावृत्तम्' इत्यादि । खण्ड, मुण्ड आदि व्यक्तिविशेषके समान वह व्यावृत्त नहीं है, सकल गोव्यक्तियोंमें अनुवृत्त गोत्वके समान अनुवृत्त नहीं है, किन्तु अनुवृत्त और व्यावृत्तसे भिन्न स्वयं उसको चैतन्यस्वरूप समझो । उसको प्रमाणसे कोई भी नहीं देख सकता, क्योंकि स्वयंप्रकाश होनेसे वह सकल प्रमाणोंका अविषय है ॥२७॥

यस्मात्प्रसिद्धं नाऽस्त्यन्यत्प्रसिद्धं यन्न कस्यचित् ।
स्वप्रभत्वादसङ्गत्वात् वैशब्दस्तत्प्रसिद्धये ॥ २८ ॥
साक्षादित्यादिना पूर्वं योऽशनायादिना तथा ।
यत्नादभिहितः प्रत्यक् तच्छब्देन स गृह्यते ॥ २९ ॥

'यस्मात्' इत्यादि ।

शङ्का—ऐकात्म्य भी यदि वस्तु है, तो घट आदिके समान वह अस्वप्रकाश ही होगा, अतएव उसके समान मेय भी हो सकता है ।

समाधान—दोनोंमें वैषम्य है ।

शङ्का—वैषम्य क्या है ?

समाधान—आत्मासे अतिरिक्त कोई प्रसिद्ध नहीं है ।

शङ्का—क्यों ?

समाधान—'नेह नानास्ति किञ्चन' इत्यादि श्रुतिसे अतिरिक्तका अभाव स्फुट है।

शङ्का—स्वेतर प्रसिद्ध न हो, पर स्वयं तो प्रसिद्ध है, अतः लौकिक क्यों नहीं?

समाधान—वह भी किसीको प्रसिद्ध नहीं है ।

शङ्का—तो क्या शून्य है ?

समाधान—नहीं, शून्य नहीं है ।

शङ्का—तो क्यों प्रसिद्ध नहीं है ?

समाधान—स्वप्रकाश तथा असङ्ग है, अतः ज्ञानविषय नहीं है । प्रसिद्ध वही कहा जाता है, जो प्रायः अनायास ज्ञानगोचर होता है । ऐसा तो प्रकाशसे अतिरिक्त हो ही नहीं सकता, जो विषयी है, वह ज्ञानविषय नहीं होता, इसलिए घट आदिके समान प्रकृतमें लौकिकत्वकी आशङ्का अयुक्त है। इसीको स्फुट करनेके लिए प्रकृत वाक्यमें 'वै' शब्दका प्रयोग आया है ॥ २८ ॥

कहोलप्रश्नोक्त जो 'तत्' शब्दका अर्थ है, वही यहाँ भी 'तत्' शब्दका अर्थ है, इसी बातको कहते हैं—**'साक्षात्'** इत्यादिसे ।

'जो अशनाया आदिसे अतिक्रान्त है' और जो 'साक्षाद् अपरोक्षस्वरूप है' इत्यादि उसके ज्ञानके उपायके अभिधानयत्नसे जो प्रत्यक् आत्मा कहा गया है, वही यहाँ 'तत्' शब्दका अर्थ है ।

शङ्का—उषस्तप्रश्नमें जो कहा गया है, वह 'एतत्' शब्दका अर्थ है और

क्षराद्विरुद्धधर्मत्वादक्षरं ब्रह्म भण्यते ।
कार्यकारणरूपं तु नश्वरं क्षरमुच्यते ॥ ३० ॥

कहोल प्रश्नमें जो कहा गया है, वह 'तत्' शब्दका अर्थ है, ऐसा आप कहते हैं, इसमें उषस्तप्रश्नमें उक्त 'तत्' शब्दका अर्थ है और कहोलप्रश्नमें उक्त 'एतत्' शब्दका अर्थ है, ऐसा कहा जाय, तो कोई दोष है क्या ?

समाधान—हाँ, है क्यों नहीं, 'इदमः सन्निकृष्टे' इत्यादि कोशके अनुसार इदंपद सन्निकृष्ट अर्थका वाची है और 'तत्' शब्द परोक्ष अर्थका वाचक माना जाता है। कोश शब्दार्थनिर्णयका उपाय है। उषस्तप्रश्नमें 'यत्साक्षात्' इत्यादिसे त्वंपदलक्ष्य कहा गया है। इसलिए वही 'एतत्' शब्दका अर्थ हो सकता है, 'तत्' शब्दका नहीं। जैसे कि 'एष घटः' इत्यादि प्रयोग सन्निकृष्ट घटस्थलमें ही होता है। सन्निकृष्ट घटके तात्पर्यसे 'स घटः' यह प्रयोग नहीं होता। एवं असन्निकृष्ट वस्तुके तात्पर्यसे एतच्छब्दका प्रयोग नहीं होता, किन्तु तत् शब्दका ही प्रयोग होता है। प्रकृतमें कहोलप्रश्नोक्त, परोक्ष होनेसे, तच्छब्दार्थ है, यही निर्णय साधु है, दूसरा नहीं।

शङ्का—यदि अक्षर सन्निहित है, तो घटादिवद् 'इदं' पदसे उसका निर्देश कर सकते हैं, फिर उसे अनिर्देश्य क्यों मानते हो ?

समाधान—यद्यपि कूटस्थानुभवगम्य प्रमाता लौकिक है, तो भी आन्तर होनेके कारण घट आदिके समान निर्देशयोग्य नहीं है, अतः 'इदम्' इत्यादिसे उसका निर्देश नहीं हो सकता। जब लौकिक प्रमाताके विषयमें वैसी बात है तब सर्वान्तर, असङ्ग अतएव सब प्रमाणोंके अविषय आकाशाश्रयके बारेमें तो कहना ही क्या ? उसका तो किसी पदसे वास्तविक निर्देश नहीं हो सकता ॥ २९ ॥

'अक्षरं ब्राह्मणा वदन्ति' इन तीनों पदोंका क्रमसे व्याख्यान किया जाता है— '**क्षराद्वि०**' इत्यादिसे।

अक्षरज्ञानमें प्रतियोगिविधया क्षरज्ञान कारण है। इसलिए प्रथम क्षर-पदार्थका निरूपण करते हैं, क्योंकि क्षरभिन्न अक्षरको समझाना है, जो क्षर-शब्दका ही अर्थ नहीं जानता, वह तद्भिन्न अक्षरको कैसे समझेगा ? कार्यकारण-भावापन्न जितने पदार्थ संसारमें हैं, वे इसी रूपमें हैं अर्थात् किसीके कारण हैं और किसीके कार्य हैं, अतः उभयात्मक ये सब क्षर यानी विनश्वर हैं; तद्भिन्न अर्थात् जो

ध्वस्तात्माज्ञानतत्कार्याः प्रत्यग्याथात्म्यबोधतः ।
त्यक्तसर्वैषणा अत्र ब्राह्मणा इति कीर्तिताः ॥ ३१ ॥
शास्त्रैकगम्यतासिध्यै वदन्तीत्यभिधीयते ।
ब्राह्मणास्तद्वदन्तीति स्वापराधनिषेधगीः ॥ ३२ ॥

न किसीका कारण है और न किसीका कार्य है, अतएव अविनाशी है, वही अक्षर ब्रह्म कहा जाता है ।

शङ्का—कार्यको क्षर कहना तो ठीक है, क्योंकि जो कार्य है, वह विनाशी है, ऐसा नियम तार्किक आदि मानते हैं, पर कारण तो अक्षर भी हो सकता है, जैसे परमाणु द्व्यणुकका कारण है और अविनाशी होनेसे अक्षर भी है ।

समाधान—परमाणुकारणवाद वेदान्तियोंको मान्य नहीं है । तार्किक परमाणुसे तदारब्ध द्व्यणुक आदिको वे भिन्न मानते हैं, इसलिए उनके मतसे कारण परमाणु आदि अक्षर हो सकते हैं । परन्तु वेदान्तीके मतमें विशेषावस्थान्तरापन्न कारण ही कार्य है, तद्व्यतिरिक्त नहीं, इसलिए कार्यका नाश होनेपर कार्यरूपसे कारणका नाश आवश्यक है, अतः आत्मा कारण भी नहीं है । आत्मा सदा एकरस माना जाता है, आत्मामें न हानि है और न वृद्धि है, अतएव अविक्रिय भी कहा जाता है, कूटस्थ होनेसे अन्य प्रमाणका विषय भी नहीं है ॥ ३० ॥

'ध्वस्तात्मा०' इत्यादि । आत्माका अज्ञान और उस अज्ञानके कार्य जिनके ध्वस्त (विनष्ट) हो गये हैं, वे ध्वस्तात्माज्ञानतत्कार्य हैं । सारा प्रपञ्च ही अज्ञानका कार्य है ।

शङ्का—किससे उनके अज्ञान आदि नष्ट हो गये हैं ?

समाधान—आत्मायाथार्थ्यसे । संसार आत्मयाथार्थ्यानुभवरूप निमित्तसे है, अतः आत्मयथार्थज्ञानसे उक्त निमित्तकी निवृत्ति होनेपर संसारकी निवृत्ति समुचित ही है । जिनके अज्ञान और अज्ञानकार्य निवृत्त हो गये हैं, वे ही यहाँ ब्राह्मणपदसे विवक्षित हैं । त्यक्तसर्वैषणाः । एषणा भी अज्ञानकार्य ही है, इसलिए उसकी भी निवृत्ति तत्त्वज्ञानियोंमें होती है, यह भी तो विद्वानोंका लक्षण है, ऐसा पूर्वमें कह चुके हैं । वैसे विद्वान् त्वंपदार्थको सामान्यतः जानकर ही एषणात्रयसे उपरत होकर संन्यासका ग्रहण करते हैं । संन्यासी होकर श्रवण, मनन आदि द्वारा तत्पदार्थ अक्षरस्वरूप स्वात्माका अनुभव करते हैं ॥ ३१ ॥

'शास्त्रैकगम्यता०' इत्यादि । यदि इस प्रश्नका उत्तर देंगे, तो अवाच्यके

नाऽवाच्यं वच्म्यहं किन्तु वदन्ति गुरवोऽखिलाः ।
इति वच्मि यतस्तेन वादिताऽपि न हीयते ॥ ३३ ॥

वचनसे विप्रतिपत्तिनामक निग्रहस्थानसे श्रीयाज्ञवल्क्यजी निगृहीत हो जायँगे। यदि उत्तर न देंगे, तो वादित्वकी हानि हो जायगी अथवा अप्रतिपत्तिनामक निग्रह-स्थान हो जायगा, इस अभिप्रायसे गार्गीने प्रश्न किया था, पर श्रीयाज्ञवल्क्यजी कथानिपुण थे, इसलिए प्रश्नका उत्तर भी दिया और निग्रहके पाशमें भी न फसे।

शङ्का—कैसे ?

समाधान—उक्त प्रश्नका विषय अक्षर शास्त्रैकसमधिगम्य है। इस अभिप्रायसे 'वदन्ति' पदका प्रयोग किया गया है, अर्थात् तत्त्वज्ञानी कहते हैं—मैं नहीं कहता हूँ, इसलिए अवाच्य वचनका अपराध मुझको नहीं लग सकता।

शङ्का—तत्त्वज्ञानी कहते हैं, इसका अभिप्राय तो यह भी हो सकता है कि मैं नहीं जानता, किन्तु वे ही लोग जानते हैं। यदि ऐसा हो, तो अप्रतिपत्ति-नामक निग्रहस्थान क्यों नहीं होगा ?

समाधान—नहीं, यह अभिप्राय नहीं हो सकता, कारण कि अक्षरका निरूपण आगे श्रीयाज्ञवल्क्यजीने विशदरूपसे किया है। यदि तद्विषयक अज्ञान होता, तो अग्रिम उपदेश ही असङ्गत हो जायँगे। अतः आगेके उनके वाक्यके साथ विरोध होनेसे स्वाज्ञानप्रकाशनार्थ उक्त वाक्य नहीं है, किन्तु उक्त निग्रहापराधके निरासके लिए ही 'वदन्ति' यह कहा गया है ॥ ३२ ॥

'नाऽवाच्यम्' इत्यादि। स्वापराधकी निवृत्तिके लिए अवाच्यको मैं नहीं कहता हूँ, जिससे विप्रतिपत्तिनामक निग्रहस्थानकी सम्भावना की जाय, किन्तु तत्त्वज्ञानी गुरु-जन ऐसा कहते हैं। मेरा यह कथन उनके कथनका अनुवादमात्र है, इसलिए प्रकृत विषयमें अप्रतिपत्तिनामक द्वितीय निग्रहकी भी सम्भावना नहीं है। दो बार वादीके कहनेपर तथा सभापति और सभ्यके समझानेपर भी यदि प्रतिवादी न समझे और उत्तर न दे, तो वह अप्रतिपत्तिनामक निग्रहस्थान कहा जाता है। इससे भी प्रतिवादीका पराजय माना जाता है। प्रकृतमें गुरुकथन द्वारा प्रश्नका उत्तर भी हो जाता है और निग्रहस्थानका भी परिहार हो जाता है, इस अभिप्रायसे 'वदन्ति' का प्रयोग किया गया है ॥ ३३ ॥

गुरवोऽपि कथं प्राहुरवाच्यमिति चेच्छृणु ।
स्थूलादीनां निषेधेन लक्षयन्त्यक्षरं बुधाः ॥ ३४ ॥

'गुरवोऽपि' इत्यादि ।

शङ्का—अक्षर वस्तुतः अवाच्यस्वभाव है, अतएव श्रीयाज्ञवल्क्यजी उसे नहीं कह सके, बुद्धिमें शिथिल होनेके कारण नहीं कह सके, यह बात नहीं है । जब वह अवाच्य ही है, तब गुरु लोगोंने उसे कैसे कहा ? यदि कहा, तो वह अवाच्यस्वभाव नहीं रहा ।

समाधान—ठीक है, प्रश्नविषय वस्तुतः अवाच्यस्वभाव ही है । अतएव साक्षात् पदोंसे उक्त अर्थका अभिधान उन लोगोंने भी नहीं किया, किन्तु स्थूलादिके निषेध द्वारा गुरुजनों अक्षरको लक्षणा द्वारा प्रकाशित किया है । आत्मयथार्थ-ज्ञानियोंको अक्षर सर्वात्मा है, यह प्रत्यक्ष है, यही परमपुरुषार्थ है, यही मैं हूँ, इत्यादि उनका अनुभव ही है । अस्थूलका अर्थ है स्थूलभिन्न ।

शङ्का—तो अणु होगा ?

समाधान—नहीं, वह अनणु है यानी अणुसे भी भिन्न है ।

शङ्का—अच्छा, तो दीर्घ होगा ?

समाधान—नहीं, अदीर्घ है यानी दीर्घसे भी भिन्न है ।

शङ्का—ह्रस्व होगा ?

समाधान—नहीं, अह्रस्व है यानी ह्रस्वसे भी भिन्न है, इस प्रकार चारों प्रकारके परिमाणोंका प्रतिषेध करनेसे द्रव्यधर्मोंका प्रतिषेध सिद्ध हो जाता है, इससे वह द्रव्य नहीं है । यदि द्रव्य होता, तो उसमें कोई न कोई द्रव्यधर्म अवश्य रहता ।

शङ्का—अच्छा, तो उसमें लाल गुण होगा ?

समाधान—नहीं, वह लोहित भी नहीं है, लोहित गुण आग्नेय है, इससे वह अग्नि भी नहीं है, अन्यथा वह लोहित होता । जलगुण स्नेह है, सो भी नहीं है, किन्तु तद्भिन्न है ।

शङ्का—अच्छा, तो छायास्वरूप है ?

समाधान—नहीं, अच्छाय है यानी छायासे भिन्न है, अतम है, तमसे भी भिन्न है । वायुस्वरूप भी नहीं है, किन्तु अवायु है ।

शङ्का—आकाश है क्या ?

समाधान—नहीं, अनाकाश है, आकाशसे भिन्न है, असङ्ग यानी सङ्गात्मक नहीं

अभावशेषो नाऽऽशङ्क्यो निषेधावधिशेषताम् ।
नाऽभावनिष्ठो लोकेऽपि निषेधः किमुताऽक्षरे ॥ ३५ ॥
नञर्थः पर्युदासो वा स्थूलादेरन्यताऽक्षरे ।
विवक्षिता न च द्वैतं स्थूलादेः कल्पितत्वतः ॥ ३६ ॥

है। रससे भिन्न अरस है, गन्धसे भिन्न अगन्ध है, चक्षुष्मान्‌से भिन्न तथा श्रोत्रवान्‌से भिन्न है। 'पश्यत्यचक्षुः' इस श्रुतिसे तदुभयरहित है। वाग् भी नहीं है—अवाग् है एवं अमना है, अतेजस्क है यानी न तेजो यस्मिन् तदतेजस्कम्' जैसे अग्नि आदिमें तेज है, उसके द्वारा अग्निका प्रकाश होता है, वैसे तेज अक्षरमें नहीं है, वह स्वयंप्रकाश है, आध्यात्मिक वायुके प्रतिषेधके लिए 'अप्राणम्' कहा गया है, मुखके प्रतिषेधके लिए 'अमुखम्' यह निर्देश है। 'मीयते येन तन्मानं यानी मात्रा' इसका भी प्रतिषेध है। मानमेयके सम्बन्धका निरास है। अक्षरसे किसी वस्तुका परिच्छेद नहीं हो सकता, कोई इसके भीतर नहीं है, अतएव अनन्तर है, सबके भीतर यही है, इसके भीतर दूसरा नहीं है। अबाह्य है, कुछ खाता नहीं। अच्छा, तो स्वयं किसीका भक्ष्य होगा? नहीं, उसका भक्षक भी कोई नहीं है। सब विशेषणोंसे रहित अतएव एक अद्वितीय अक्षर है ॥ ३४ ॥

'अभावशेषो' इत्यादि ।

शङ्का—अस्थूल आदि पदोंको स्थूलाभावमात्रके बोधक क्यों नहीं मानते?

समाधान—'अस्थूलो घटः' इत्यादि प्रयोग लोकमें होता है, यहांपर अस्थूलसे स्थूलभिन्नकी प्रतीति होती है, स्थूलाभावमात्रकी नहीं, अन्यथा 'स्थूलाभावो घटश्च' यों परस्पर विशेषणविशेष्यभावानापन्न दो पदार्थोंका बोध होना चाहिए, पर ऐसा बोध अनुभवसिद्ध नहीं है, कारण यह है कि स्थूलपदार्थका सामान्यतः प्रतिषेध नहीं है, अन्यथा शशशृङ्गादिके समान स्थूल पदार्थ असत् हो जायगा। किन्तु किसी वस्तुविशेषमें ही उक्त निषेध विवक्षित है, जिसमें निषेध प्रतिपिपादयिषित होता है, उसमें विशेषणविधया वह भासित होता है, इस भावसे कहते हैं कि जब लोकमें भी अस्थूल आदि पदोंसे अभावविशेष्यक बोध नहीं होता, तब अक्षरमें अभावविशेष्यककी सम्भावना ही कहां? विशेष अभिप्राय अग्रिम श्लोकमें स्फुट करेंगे ॥ ३५ ॥

'नञर्थः' इत्यादि ।

ननूत्सर्गविशेषौ स्तो यत्र तत्र निषेधधीः ।
दातव्यं दधि विप्रेभ्यो न चैत्रायेत्युदाहृते ॥ ३७ ॥

यहाँ यह आक्षेप होता है—नञर्थ यहां प्रसज्य है या पर्युदास ? प्रथम पक्षमें स्थूलादिका अभाव प्रतीत होगा । द्वितीय पक्षमें स्थूलादिभेदवान्की प्रतीति होगी । यद्यपि समस्त नञ्पदसे पर्युदासका ही बोध होता है और असमस्तसे प्रसज्यका, तथापि वह उत्सर्ग ही है, कहीं प्रजापतिव्रत आदि स्थलमें अन्यथा भी प्रसिद्ध है । प्रथम पक्ष अद्वैतके अनुकूल है, द्वितीय पक्षमें अद्वैतकी हानि होगी, क्योंकि अक्षरभिन्न स्थूलादि भी मानना पड़ेगा; अन्यथा प्रतियोगीके अभावसे भेद भी सिद्ध नहीं होगा । भेदज्ञानमें प्रतियोगी आदि कारण हैं, इस आक्षेपका निराकरण करते हैं कि यहां नञर्थ पर्युदास ही है, प्रसज्य नहीं है, कारण कि समस्त नञ्से पर्युदासकी प्रतीति होती है और ब्रह्ममें वस्तुतः स्थूलादिका भेद विवक्षित है ।

शङ्का—पर्युदासमें उक्त प्रकारसे अद्वैतकी हानि हो जायगी ।

समाधान—स्थूलादि द्वैत कल्पित है, कल्पित पदार्थसे अद्वैतक्षति नहीं हो सकती । कल्पित पदार्थसे अधिष्ठानमें गुण या दोष नहीं आता । जैसे मरुमरीचिकामें जलकी कल्पनासे मरुभूमि वस्तुतः आर्द्र नहीं होती वैसे ही कल्पित स्थूल आदिसे अद्वैतक्षतिकी सम्भावना नहीं है । तात्पर्य यह है कि कल्पित पदार्थ अधिष्ठानसे अतिरिक्त नहीं माने जाते, अतः प्रसज्य हो अथवा पर्युदास, दोनों पक्षोंमें दोष नहीं है ॥ ३६ ॥

'ननूत्सर्ग०' इत्यादि ।

शङ्का—सर्वत्र प्रसक्तका ही निषेध किया जाता है । लोकमें यदि कहा जाय कि सब ब्राह्मणोंको दधि दो, मगर चैत्रको नहीं, तो उक्त वाक्यमें दो अंश माने जाते हैं—एक सब ब्राह्मणोंको दधि दो और दूसरा चैत्रको नहीं, यहाँपर सब ब्राह्मणोंके अन्तर्गत ही चैत्र है, चैत्र भी ब्राह्मण ही है, अन्यजाति नहीं है, अतः पूर्ववाक्यसे चैत्रको भी दधिदान प्राप्त होता है, अतः उसको दधि न दिया जाय, इसलिए 'चैत्रको नहीं' यह वाक्य चैत्रके लिए दधिदानका अपवाद माना जाता है । सारांश यह कि सामान्यसे प्राप्तका तद्विशेषमें निषेध माना जाता है; उक्त वाक्यमें 'ब्राह्मण' सामान्य है और चैत्र ब्राह्मणविशेष है । अद्वैत अक्षरमें सामान्य-विशेषभाव है ही नहीं, इसलिए उसमें स्थूल आदिका निषेध कैसे होगा ? ॥३७॥

बाढमज्ञानमात्मा च द्वयं सामान्यमुच्यते ।
विशेषः शुद्ध आत्माऽतो निषेधोऽत्र प्रवर्त्तताम् ॥ ३८ ॥
निषेधः कल्पितस्याऽपि स्थूलादेरिह युज्यते ।
अध्यस्तव्योमनैल्यादिनिषेधस्योपलम्भनात् ॥ ३९ ॥
यदि वाऽक्षरयाथात्म्यं स्थूलादेरिह भण्यते ।
स्रग्याथात्म्यमहेर्यद्वन्न तु किञ्चिन्निषिध्यते ॥ ४० ॥

समाधान—'**बाढम्०**' इत्यादि । वास्तविक अद्वयमें भी सामान्य-विशेषकी व्यवस्था हो सकती है । अज्ञान और आत्मा—ये दोनों सामान्य हैं और शुद्ध आत्मा विशेष है; अतः सामान्यविशेषनिबन्धन उक्त निषेध यहाँ भी प्रवृत्त हो सकता है, अज्ञात आत्मामें स्थौल्यादि प्रसक्त हैं, उसी आत्मामें, ज्ञान होनेपर, प्रतिषेध होता है ॥ ३८ ॥

वस्तुतः अप्रसक्तका भी शुद्ध ब्रह्ममें प्रतिषेध हो सकता है, यह दृष्टान्तके साथ कहते हैं—'**निषेधः**' इत्यादिसे ।

जिसको यह ज्ञान नहीं है कि आकाश रूपसामान्यशून्य द्रव्य है, जैसा तार्किक आदि मानते हैं, उसको आकाश नीला है, यह ज्ञान होता ही है; किन्तु न्यायके अनुसार जब यह निर्णय होता है कि आकाशमें वस्तुतः कोई रूप नहीं है, तब वह स्वयं कहता है कि आकाशमें नीलरूप नहीं है, इस निषेधसे अध्यस्त नीलरूपका ही निषेध करता है, वैसे ही प्रकृतमें भी समझना चाहिए । एवं दिङ्मोहके विषयमें भी ऐसा ही प्रतिषेध है । पूर्व दिशामें किसीको पश्चिम दिशाका भ्रम होता है; अनन्तर पश्चिमत्वका निश्चय होनेपर वह पूर्वनामसे कल्पित दिक्का निषेध करता है । एवं अज्ञानदशासे कल्पित स्थूल आदिका ज्ञान-दशामें निषेध अनुपपन्न नहीं है ॥ ३९ ॥

प्रसज्यप्रतिषधके अनुरोधसे अस्थूल आदि वाक्यका अर्थ कहकर पर्युदासके अनुरूप अर्थान्तरको कहते हैं—'**यदि वाऽ०**' इत्यादिसे ।

स्थूल आदिका वास्तविक तत्त्व अक्षर ही है, इसमें दृष्टान्त यह है—जैसे रस्सीमें जो सर्पका भ्रम होता है, उसमें तत्त्व रस्सी है, सर्प तो कल्पित है । रस्सी व्यावहारिक है, परन्तु सर्परूपसे प्रतीत होती है एवं स्थूल आदि जगत् अद्वयात्मस्वरूप ही है, अतिरिक्त नहीं है, अतः किसीमें किसीका निषेध नहीं किया जाता है ॥ ४० ॥

स्थूलादिहेतोर्दाहो वा ध्वान्तस्य प्रत्यगात्मनि ।
[illegible] ॥ ४१ ॥
नन्वोतप्रोतवाक्येन व्यक्तमव्याकृते जगत् ।
विलापितं पुनः कस्मात् स्थूलादिः प्रतिषिध्यते ॥ ४२ ॥
समस्तव्यस्ततां कश्चिद्वक्त्योतप्रोतवाक्यतः ।
ब्रह्मणस्तद्व्युदासाय स्थूलादि प्रतिषिध्यते ॥ ४३ ॥

'स्थूलादि०' इत्यादि । स्थौल्यादिके हेतु अज्ञानका अस्थूल आदि वाक्यजन्य आत्मयथार्थज्ञानरूप अग्निसे प्रत्यगात्मामें दाह होता है, एतत्परक उक्त वाक्य है ॥४१॥

स्थूलादि वाक्य पूर्वसे गतार्थ है, ऐसा सन्देह करते हैं—**'नन्वोतप्रोत०'** इत्यादिसे ।

सम्पूर्ण व्यक्त (सम्पूर्ण जगत्) अव्याकृतमें लीन होता है, यह ओतप्रोत-वाक्यसे सिद्ध कर चुके हैं, फिर स्थूलादिका निराकरण क्यों ? क्योंकि उक्तार्थका बोधक होनेसे प्रकृत वाक्य ही व्यर्थ है । यदि कहिये कि सूत्रमें स्थौल्य आदि प्रसक्त है, अतः उसमें निषेध करनेके लिए यह वाक्य है, तो वह भी ठीक नहीं है, क्योंकि सूत्र अव्याकृत है, अतः उसमें स्थौल्यकी प्रसक्ति ही नहीं हो सकती । व्याकृत आकाशमें ही जब स्थौल्य नहीं है, तब सूत्रमें उसकी कैसे सम्भावना होगी एवं शुद्ध चैतन्यमें प्रतिषेध भी असङ्गत ही है, उसमें स्थौल्यादि सर्वथा अप्रसक्त ही हैं, अन्यथा शुद्धत्व ही व्याहत हो जायगा ॥ ४२ ॥

'समस्त०' इत्यादि । किसी वेदान्तीका यह मत है कि ब्रह्म समस्तात्मक और व्यस्तात्मक है । जैसे वृक्ष वृक्षत्वेन एक ही प्रतीत होता है, अतः तदात्मना एक कहा जाता है—अमुक स्थलमें एक ही वृक्ष है, यह व्यवहार लोकमें देखा जाता है। अद्वितीयका भी अर्थ सजातीयद्वितीय रहित ही कहा जाता है, जैसे इस ग्राममें यह अद्वितीय पुरुष है । वैसे ही शाखा, काण्ड, पुष्प, फल आदि द्वारा अनेकत्वका भी व्यवहार होता है एवं आत्मामें भी प्रपञ्च आदि द्वारा अनेकत्वका व्यवहार और आत्मत्वरूपसे एकत्व, अद्वितीयत्व आदि व्यवहारकी उपपत्ति अनायास उपपन्न होती है । अतएव द्वैतबोधक आगम तथा अद्वैतबोधक आगममें प्रामाण्यकी उपपत्ति होती है । अन्यथा सुन्दोपसुन्दन्यायसे परस्पर प्रामाण्यप्रतिक्षेपसे वेदमात्रमें प्रामाण्यका निरास हो जायगा । इस मतका निराकरण करते हैं—'ब्राह्मण' इत्यादिसे । आरम्भमें एकविज्ञानसे सम्पूर्णके विज्ञानकी प्रतिज्ञा की गई

व्यक्तावस्थाऽथवैतेषां निषिद्धा कारणात्मनि ।
शक्त्यवस्थानिषेधस्तु क्रियतेऽत्राऽक्षरात्मनि ॥ ४४ ॥
एवं च सति तत्पूर्णं ब्रह्म कृत्स्नं भविष्यति ।
नो चेदकृत्स्नमेव स्याच्छक्त्यवस्थाऽनपह्नवात् ॥ ४५ ॥

है। यदि अनेकत्व भी पारमार्थिक हो, तो उक्त प्रतिज्ञाका समर्थन नहीं हो सकेगा। उसका समर्थन श्रुति और सूत्रोंसे विकारमिथ्यात्वबोधन द्वारा ही किया गया है। 'वाचारम्भणं विकारो ना मधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्' 'तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः' इत्यादिसे स्पष्ट है। एक, एव और अद्वितीय—ये तीन पद त्रिविध भेदके निराकरणके लिए ही श्रुतिमें आये हैं। निरास्य तीन भेद—सजातीय, विजातीय और स्वगत भेद— अन्यत्र स्पष्ट कहे गये हैं। प्रकृतमें पुनः निषेध भी उक्त मतके निराकरणार्थ ही है अर्थात् व्यक्तका सर्वथा निषेध ही श्रुतिके तात्पर्यका विषय है। यदि वस्तुतः प्रपञ्च है नहीं, तो तदात्मना ब्रह्मके अस्तित्वका समर्थन ही असम्भव है ॥ ४३ ॥

'व्यक्तावस्था०' इत्यादि। अन्य प्रकारसे पूर्व निषेधसे यह निषेध इस श्लोकसे गतार्थ नहीं है, इसका उपपादन करते हैं। ''पृथिवी जलमें ओत-प्रोत है' इत्यादि वाक्यसे पहले कारणमें व्यक्त जगत्का निषेध किया गया है, जैसे बीजावस्थामें अभिव्यक्तावस्थ कार्य नहीं रहता, परन्तु सूक्ष्मरूपसे तो रहता ही है, यह मानना ही पड़ता है, अन्यथा व्रीहिबीजसे व्रीहिका ही अङ्कुर होता है, अन्यका नहीं, इसमें क्या कारण? अतः यह सर्वसम्मत मार्ग है कि कारणमें सूक्ष्मरूपसे कार्य रहता है, अतः सूत्रमें सूक्ष्मरूपसे व्यक्तका अस्तित्व सिद्ध होता है इस सूक्ष्मसत्तावादके निराकरणके लिए सूत्रमें उक्तरूपसे भी व्यक्त प्रपञ्च नहीं है, ऐसा श्रुति समर्थन करती है। जिनके मतमें प्रपञ्च सत्य है, उनके मतमें बीजमें अङ्कुर सूक्ष्मरूपसे है, यह कहा जा सकता है। परन्तु जिनके मतमें अङ्कुर ही रज्जुसर्पके समान है, उनके मतमें सूक्ष्मरूपसे भी कार्य माननेकी क्या आवश्यकता? इस अभिप्रायसे कहते हैं—अक्षरात्मामें शक्त्यवस्थारूपसे यानी सूक्ष्मावस्थारूपसे भी श्रुति कार्यका निषेध करती है ॥ ४४ ॥

'एवं च' इत्यादि।

शङ्का—अक्षरमें सूक्ष्मरूपसे कार्यनिषेधका क्या फल है?

समाधान—कार्यका निषेध करनेसे कार्यकारणभावका निषेध होता है। कार्य

न वा निषेधः स्थूलादेस्तस्य प्रागेव सिद्धितः ।
तन्निषेधानुवादेन प्रतीचि ब्रह्म बोध्यते ॥ ४६ ॥
स्थूलादिमेयमामातृनिषेधे स्वप्रभं फलम् ।
विद्धि सर्वान्तरं ब्रह्म साक्षादित्यादिलक्षणम् ॥ ४७ ॥

ही जब नहीं है, तब कारण ही कहाँ, अतः अक्षर कारण नहीं है, अतएव उसमें श्रुत ब्रह्म आदि पद मुख्यार्थक होता है । मुख्यार्थ होनेसे ब्रह्म परिपूर्ण होता है, अन्यथा वह अकृत्स्न यानी अपरिपूर्ण हो जायगा । ब्रह्म अपरिपूर्ण नहीं हो सकता, इसलिए अगत्या माणवकमें अग्निशब्दके प्रयोगके समान अब्रह्ममें ब्रह्मबोधक अक्षर आदि पद गौण ही मानने पड़ेंगे ।

शङ्का—उक्त रीतिसे कारण होनेपर अक्षर आदि पद गौण क्यों होगा ?

समाधान—ब्रह्मका स्वरूपलक्षण है—'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इत्यादि । सत्य वह है जो कालत्रयमें धर्म आदि लक्षणसे परिणत न हो तथा अनन्तका अर्थ है, देशकालवस्तुपरिच्छेदसे शून्य । वही अनन्त अतएव पूर्ण ब्रह्म है । यदि संस्कार-रूपसे प्रपञ्च उसमें स्थित होगा, तो परिच्छेदशून्य नहीं होगा । एवं कार्यकारणका तादात्म्य ही वेदान्तसिद्धान्त है, इसलिए कार्यप्रादुर्भावादि द्वारा विक्रियादिमान् भी कहा जा सकेगा । और अखण्डात्मना अवस्थान मोक्ष माना जाता है, सो भी सिद्ध नहीं होगा । इस परिस्थितिमें वेदान्तशास्त्र ही व्यर्थ हो जायगा । इसलिए सूक्ष्मरूपसे भी कार्यकी सत्ता अक्षरमें नहीं है, ऐसा निश्चय करनेके लिए पुनः निषेध आवश्यक है ॥ ४५ ॥

निषेधवाक्यका अर्थान्तर कहते हैं—**'न वा'** इत्यादिसे ।

तत्त्वमसि इत्यादि वाक्य विधिमुखसे जैसे आत्मैकत्वप्रतिपादनपरक हैं, वैसे ही अस्थूलादि वाक्य भी आत्मैकत्वबोधपरक हैं, स्थूलादिनिषेधपरक नहीं हैं, कारण कि स्थूलादि-निषेध अन्य वाक्यसे सिद्ध ही है, अतः स्थूलादि-निषेधका अनुवाद कर प्रत्यगात्मामें ब्रह्मत्वबोधक प्रकृत वाक्य है ॥ ४६ ॥

स्थूलादि-निषेधका अनुवाद कर प्रत्यगात्मामें ब्रह्मत्वबोधन-प्रकारका अभिनय करते हैं—**'स्थूला०'** इत्यादिसे ।

स्थूलादि पदार्थ तीन श्रेणियोंमें विभक्त हैं—कोई माता—प्रमाता—यानी प्रमासमवायी जिसको स्थूलादिविषयक प्रमा होती है । कोई प्रमाण है यानी प्रमितिका

नेति नेतीतिवद् व्याख्या सर्वाऽपीह समीक्ष्यताम् ।
सर्वेषामपि चोद्यानामेवं सति न सम्भवः ॥ ४८ ॥
यत्किञ्चिद्वस्तु लोकेऽस्मिन्वाचो गोचरतां गतम् ।
प्रमाणस्य च तत्सर्वमक्षरे प्रतिषिध्यते ॥ ४९ ॥

कारण है यथा चक्षुरादि या तज्जन्य ज्ञान। मतभेदसे दोनों प्रमाण कहे जाते हैं। तीसरा प्रकार प्रमेय है यानी प्रमाविषय घट आदि। इन तीनोंके निषेधसे निषेधका अवधिभूत अर्थात् उसका साक्षी जो स्वयंप्रकाश है, उसीको 'साक्षाद्' इत्यादि पूर्वोक्त लक्षणलक्षित ब्रह्म जानो, इस प्रकार वाक्यकी योजना है ॥ ४७ ॥

'नेति नेति' इत्यादि।

शङ्का—नञ्घटित अस्थूलादि वाक्य विधिमुखसे ब्रह्मबोधक कैसे हो सकता है?

समाधान—'नेति नेति' इत्यादि वाक्यका पूर्व ग्रन्थमें विवेचन करते समय स्पष्ट दिखलाया है कि यह वाक्य स्थूल एवं सूक्ष्म वस्तुके निषेधका अनुवाद कर सम्पूर्ण निषेधके साक्षी स्वप्रकाश ब्रह्मका बोधक है तथा अस्थूलादि वाक्य भी उक्त रीतिसे ब्रह्मका ही बोधक है, इस प्रकार वहाँकी सम्पूर्ण व्याख्या यहाँ भी देखिये, इस अनुसन्धानसे यह नञ्घटित वाक्य है, अतएव अभाव-निष्ठ है, अतएव अक्षरतद्वान् अभाववान् सिद्ध होगा, ऐसी स्थितिमें अद्वैत अक्षर कैसे सिद्ध हो सकता है? इत्यादि सब आक्षेपोंका सम्भव ही नहीं होगा, यह परम लाभ है ॥ ४८ ॥

'यत्किञ्चिद्' इत्यादि। इस लोकमें जो कुछ वस्तु वाग्-विषय है अर्थात् जो कुछ शब्दसे कहा जा सकता है और जो प्रमाण हैं उन सबका प्रतिषेध अक्षरमें समझना चाहिए जितने विशेषण कहे गये हैं, वे सब उपलक्षण हैं, जितने सम्भव हो सकें सबका प्रतिषेध प्रकृतमें विवक्षित है, इससे यह न समझना कि जिनका प्रतिषेध किया गया है, उनसे अतिरिक्त धर्म अक्षरमें हो सकते हैं, इस भ्रमकी निवृत्तिके लिए विशेषरूपसे यह कहा गया है कि जो वाग्-विषय हो। सबके निषेधमें उक्त निषेध उपलक्षण है।

शङ्का—यदि सबका निषेध उपलक्षणतया विवक्षित है, तो एक ही बार सबके निषेधसे उक्त अर्थका लाभ हो जाता, फिर तत्-तत् विशेषणों का प्रतिषेध व्यर्थ है।

समाधान—'सकृदुक्तः शब्दः सकृदेवार्थं बोधयति' इस न्यायके अनुसार एकबार

मागोचरे निषिद्धे च मानहीनं तदक्षरम् ।
कथमस्तीति चेत् कोऽर्थः कथंशब्दस्य कथ्यताम् ॥ ५० ॥
आक्षिप्यतेऽक्षरे सत्ता मानं वा तत्र पृच्छयते ।
प्रमाणाभावमात्रेण सत्ताऽऽक्षेप्तुं न शक्यते ॥ ५१ ॥

उच्चरित निषेधसे प्रातिस्विकरूपसे सबका निषेध नहीं हो सकता, इसलिए क्रमसे अनेक विशेषणोंका निषेध किया । इतने ही से विवक्षित अर्थ सिद्ध नहीं होता, क्योंकि अनेक धर्मोंकी सम्भवना फिर भी ब्रह्ममें हो सकती है, इसलिए उपलक्षण-परतया व्याख्यान कर यह स्पष्ट बोधन कर दिया कि जो जो शब्दगोचर धर्म हों, उन सबका प्रतिषेध विवक्षित है ।

शङ्का—जो वाग्के विषय नहीं हैं, उनका निषेध है या नहीं ?

समाधान—हाँ है, परन्तु उनका निषेध शब्दसे नहीं हो सकता, इसलिए अभिधान-प्रकरणमें उनका निषेध नहीं है,केवल अनुभूतिसे उनका निषेध समझना चाहिए ॥४९॥

'मागोचरे' इत्यादि । प्रमाणगोचर धर्मोंका तथा मानका भी निषेध कहनेसे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि अक्षर मानहीन है अर्थात् प्रमाणशून्य है । यदि अक्षरमें प्रमाण नहीं है, तो वह माना कैसे जायगा, क्योंकि लक्षण और प्रमाणसे ही वस्तुसिद्धि होती है, अन्यथा नहीं, यह विद्वानोंका सिद्धान्त है ?

समाधान—कैसे माना जायगा ? इस वाक्यमें किंशब्दका (कैसे शब्दका) क्या अर्थ है ?इस विकल्पसे यदि प्रश्नका अभिप्राय स्फुट होगा, तो उत्तर देना भी ठीक होगा, इस अभिप्रायसे प्राश्निकके प्रति प्रश्न करनेकी शैली भी शास्त्रमें मानी जाती है—जो प्रश्न वाक्य स्फुट होता है, उसमें इसकी आवश्यकता नहीं रहती, किन्तु जिसमें अनेकविषयक प्रश्न हो सकते हैं, उनका क्रमसे उत्तर देनेके लिए ऐसे विकल्पोंकी नितान्त आवश्यकता पड़ती है, अतः यह प्रश्न होता है—किंशब्दका अर्थ क्या है, सो कहिए ॥ ५० ॥

'आक्षिप्यते' इत्यादि । क्या आपका यह अभिप्राय है कि यदि अक्षरमें कोई प्रमाण नहीं है, तो वह सप्तम रसादिके समान अप्रामाणिक हो जायगा, अप्रामाणिककी सत्ता सिद्ध नहीं होती, इसलिए यदि वह मानविषय हो, तो प्रमाण अवश्य कहना होगा, अन्यथा अक्षरकी सिद्धि नहीं हो सकेगी; यह आपके प्रश्नका अभिप्राय है अथवा अक्षर श्रुतिसिद्ध है, इसलिए इसमें प्रमाणप्रदर्शन आवश्यक है, इस अभिप्रायसे आप

मानस्याऽभिव्यञ्जकत्वादव्यक्तं स्यादमानकम् ।
नैतावता वस्तुसत्ता नाऽस्तीति ग्राहकं विना ॥ ५२ ॥
नाऽस्याऽस्तित्वे यथा मानमेकत्वादक्षरात्मनः ।
तथा तन्नास्तितायां च नाऽतोऽसत्ताऽक्षरात्मनः ॥ ५३ ॥

अक्षरविषयक प्रमाण पूछते हैं ? प्रथम पक्षमें उत्तर यह है कि प्रमाणाभावमात्रसे सर्वत्र प्रमेयाभाव सिद्ध नहीं हो सकता, जैसे घटमें जो प्रमाण है, उसमें क्या प्रमाण है ? इस प्रश्नका उत्तर यदि प्रमाणान्तर कहा जायगा, तो फिर उसमें भी प्रश्न होगा कि उसमें क्या प्रमाण है ? पुनः उसमें, उसमें इत्यादि रीतिसे अनवस्था होगी, इसलिए घटादिसत्ताकी साधक संविद् स्वयं प्रमाण है, प्रमाणाभावमात्रसे उसकी सत्ताका अभाव सिद्ध नहीं होता, एवं अक्षर सबका साधक व स्वयंप्रकाश है, यह अनेक बार कह चुके हैं, फिर प्रमाणाभावमात्रसे उसकी सत्तामें आक्षेप नहीं हो सकता, वह अमेय ही है ॥ ५१ ॥

'मानस्या०' इत्यादि । मान मेयका अभिव्यञ्जक होता है, जैसे घटादिका अभिव्यञ्जक प्रदीपादि है। मान लो कि प्रदीप नहीं है, तो क्या एतावता घट भी नहीं है, यह निश्चय समुचित है ? संभव है कि अन्धकारमें घट हो पर जबतक घटादि-सत्ताभावका ग्राहक प्रमाण न हो, तब तक अभिव्यञ्जकाभावमात्रसे अभिव्यङ्ग्याभावकी सिद्धि नहीं होती, तदभावग्राहक मानकी अपेक्षा अभावके निश्चयके लिए भी आवश्यक है । और जो आप यह कहते हैं कि प्रमाणाभावसे अक्षराभाव सिद्ध होगा उसमें यह प्रश्न हो सकता है कि प्रमाणाभाव और अक्षराभावको आपने कहीं देखा है या नहीं, यदि नहीं, तो साध्यसाधनके सहचारको जिसने नहीं देखा है, उस पुरुषको साधनाभिमतसे साध्याभिमतका ज्ञान नहीं हो सकता । अदृष्टव्याप्तिक धूमसे वह्निका ज्ञान कोई नहीं मान सकता । द्वितीय पक्षमें तो अक्षराभाव असंभव ही है, क्योंकि आत्मा ही तो वेदान्तिमतमें अक्षर माना जाता है, वह स्वाभावको कैसे देखेगा ? द्रष्टाके समयमें तो उसका अभाव नहीं और अभावकालमें वह द्रष्टा ही नहीं, तो देखने-वाला कौन होगा ? इसलिए द्रष्टाका तो अभाव किसी भी कालमें सिद्ध नहीं हो सकता । हां, प्रमाणाभावमात्रका दर्शन कर सकते हो, पर केवल उतनेसे ही तो अक्षराभाव सिद्ध नहीं हो सकता, व्यञ्जकाभावमें भी व्यङ्ग्य रहता है, यह भी कह चुके हैं, वस्तुतः यहां व्यञ्जककी आवश्यकता ही नहीं है, क्योंकि अक्षर स्वयंप्रकाश है ॥ ५२ ॥

'नाऽस्याऽस्तित्वे' इत्यादि । अक्षरके अस्तित्वमें प्रमाणकी अपेक्षा नहीं होती ।

नाऽसत्त्ववत्तस्य सत्त्वं मानहीनं न भासते ।
स्वतोऽवभासरूपत्वादन्याभासानपेक्षणात् ॥ ५४ ॥

शङ्का—क्यों ?

समाधान—अक्षर और प्रमाण दोनों एक ही हैं। अक्षर ही प्रमाण है, तदतिरिक्त नहीं है, अतः अक्षरका ज्ञान होनेपर प्रमाणका भी ज्ञान हो ही जाता है। अज्ञानदशामें तद्विषयक प्रमाणकी जिज्ञासाके अभावसे ही प्रश्न नहीं हो सकता। एवं अक्षरकी नाऽस्तितामें भी प्रमाण-प्रश्न नहीं हो सकता, क्योंकि अक्षर ही तो प्रमाण है, वह स्वाभावमें स्वयं प्रमाण तो हो नहीं सकता, अतः उसके सत्त्व और असत्त्वमें प्रमाणापेक्षा नहीं हो सकती।

शङ्का—यदि अन्तर्यामीको प्रमाण मानते हो, तो प्रमाण प्रमेयसंगत ही होता है, इसलिए उसमें भी प्रमेयसङ्ग कहना पड़ेगा, ऐसी अवस्थामें उसको असङ्ग कैसे कहोगे ? 'असङ्गो ह्ययं पुरुषः' इस श्रुतिके अनुसार वह अभीतक असङ्ग ही माना जाता था। यदि उक्त श्रुतिके अनुसार उसे प्रमाण न मानेंगे, तो प्रमाणान्तर कहना पड़ेगा, इस प्रकार उभयतःपाशा रज्जु है। अतिरिक्त माननेपर अद्वैतहानि होगी, यह महान् दोष है।

समाधान—वस्तुतः अक्षरकी सत्ता और असत्तामें कुछ मान नहीं है। सबकी सत्ता अक्षरसत्तासे ही सिद्ध होती है, एतावता उसमें ससङ्गता नहीं आ सकती। असङ्ग होनेपर भी सूर्य घट आदिका प्रकाशक देखा ही जाता है। मरुमरीचिका स्वासम्बद्ध ही जलकी भासिका होती है एवं रज्जुसर्पादि भी प्रसिद्ध ही हैं॥ ५३ ॥

'नाऽसत्त्ववत्' इत्यादि।

शङ्का—यदि अक्षरकी सत्ता और असत्तामें प्रमाण नहीं है, तो असत्ताके समान सत्ताका भी भान नहीं होना चाहिए, क्योंकि मानाभाव दोनोंमें समान है।

समाधान—अक्षर स्वप्रकाश है, इसलिए उसकी महिमासे उसकी सत्ताका भी भान हो जाता है।

शङ्का—तो सत्त्वके समान असत्त्वका भी भान उसकी महिमासे क्यों नहीं होता?

समाधान—सत्त्व तो साक्षिस्वरूप है, इसलिए स्वयंभासता है। अभाव तो जड़ अतएव परार्थ है। अतः उसका भान उक्त महिमासे कैसे हो सकता है ? इस अभिप्रायसे कहते हैं—'मानहीनम्'। तात्पर्य यह है कि असत्त्वके समान सत्त्व भी मानहीन है, इसलिए असत्त्ववत् सत्त्वका भी भान न होना चाहिए, इसका

यथा कुम्भः प्रकाशाय मानयोगमपेक्षते ।
तथा भानं प्रकाशाय नाऽन्यत्किञ्चिदपेक्षते ॥ ५५ ॥

समाधान यह है कि सत्त्व साक्षिस्वरूप है, अतः स्वयंप्रकाश है और असत्त्व तद्भिन्न जड़ और परार्थ है, इसलिए स्वतः उसका भान नहीं हो सकता ।

शङ्का—'अक्षराभावो न मानाधीनप्रकाशः, अक्षरतदभावयोरन्यतरत्वात्, अक्षरवत्' इस अनुमानसे अक्षराभाव भी स्वयंप्रकाश क्यों नहीं है ? ॥ ५४ ॥

समाधान—**'यथा कुम्भः'** इत्यादि । जैसे कुम्भ (घट) आदि स्वभान—स्वप्रकाश—के लिए प्रमाणकी अपेक्षा नियमसे करता है, प्रमाणके बिना उसका प्रकाश नहीं होता, वैसे तद्विषयक प्रमाण स्वप्रकाशके लिए प्रमाणान्तरकी अपेक्षा नहीं करता, यह लोकमें प्रसिद्ध है, कारण यही है कि घट अप्रकाशस्वरूप है, इसलिए उसके प्रकाशक सूर्य्यादिकी अपेक्षा होती है और घटप्रकाशक सूर्यादिके प्रकाशके लिए प्रकाशान्तरकी अपेक्षा नहीं होती एवं असत्त्वप्रकाशके लिए प्रमाणकी अपेक्षा होती है । अक्षर सूर्यके समान प्रकाशस्वरूप है, इसलिए उसकी सत्ताको प्रकाशके लिए अन्य प्रकाशकी अपेक्षा नहीं होती । इससे निष्कर्ष यह निकला कि अक्षरास्तित्व स्वतःसिद्ध है, तदभाव नहीं । दृष्टान्तमें घटभाव और तदभाव—ये दोनों घटके ज्ञानसे ही प्रकाशित होते हैं, अन्यथा नहीं । परन्तु उन दोनोंका ज्ञान स्वयंप्रकाश माना जाता है । ज्ञानप्रकाशके लिए अन्य प्रकाशकी अपेक्षा नहीं होती, पर ज्ञानके समान ज्ञानाभाव स्वयंप्रकाश नहीं है । उसके प्रकाशके लिए ज्ञानकी अपेक्षा होती ही है । एवं अक्षर स्वयंप्रकाश है, अतः उसके प्रकाशके लिए प्रकाशकान्तरकी अपेक्षा नहीं है, किन्तु उसके अभावके लिए प्रकाशान्तर आवश्यक है । प्रकृतमें अक्षराभावका साधक प्रमाण नहीं है, अतः उसकी सिद्धि नहीं हो सकती ।

शङ्का—अच्छा, तो स्थूलादिनिवृत्ति आत्मस्वरूप है ? अथवा तदतिरिक्त ? प्रथम पक्षमें अभाव शून्य एवं तुच्छ है, अतः तत्स्वरूप अक्षर भी शून्य ही सिद्ध होगा, जैसा कि बौद्ध मानते हैं । द्वितीय पक्षमें अद्वैतहानि स्पष्ट ही है, क्योंकि एक तो स्थूलादिकी निवृत्ति और उससे अतिरिक्त दूसरा अक्षर अतः पुनः उभयतः-पाशा रज्जु अद्वैतवेदान्तियोंके सामने है ।

समाधान—स्थूलादि अज्ञानसे अतिरिक्त नहीं है । आत्मयथार्थज्ञानसे अज्ञानकी निवृत्ति होनेपर अद्वैतात्मसिद्धि सुदृढ़ होती है ॥५५॥

प्रमाणप्रश्नपक्षेऽपि　मानं　तद्भानसिद्धये ।
अज्ञानहानये　वोत　विवादविनिवृत्तये　॥ ५६ ॥
दत्तमुत्तरमाद्यस्य　स्वप्रकाशत्ववर्णनात् ।
अज्ञानहानिर्बोधात्स्यादस्मादक्षरवाक्यजात्　॥ ५७ ॥
नाऽक्षरास्तित्वबोधश्चेत् वाक्यात् स्यात् किं फलं भवेत् ।
स्थूलाद्यनेकधर्माणां　निषेधस्य　प्रयासतः ॥ ५८ ॥

उक्त प्रकारसे अक्षरकी सत्ताके प्रतिषेधपक्षका निराकरण कर अक्षरकी सत्तामें प्रमाण क्या है ? इस द्वितीय पक्षका अनुवाद करके विकल्प करते हैं— **'प्रमाण०'** इत्यादिसे ।

प्रमाणप्रश्नपक्षमें क्या अक्षरके भानके लिए प्रमाणप्रश्न है अथवा अक्षरके अज्ञानकी हानिके लिए किंवा विवादकी निवृत्तिके लिए ? ॥ ५६ ॥

'दत्तमुत्तर०' इत्यादि । अक्षर स्वप्रकाश है, इस निरूपणसे प्रथम पक्षका उत्तर हो चुका है । द्वितीय पक्षका उत्तर यह है कि अज्ञाननिवृत्ति इस अक्षरवाक्य-जन्य ज्ञानसे ही होती है । तम और प्रकाशके समान ही ज्ञान और अज्ञान परस्पर प्रतिद्वन्द्वी पदार्थ हैं, जैसे तमकी अपेक्षा प्रकाश बलवान् है वैसे ही इनमें अज्ञानकी अपेक्षा ज्ञान बलवान् है, अतएव चिरनिबिड़ निरूढ़वासन भी अज्ञान अचिरोत्पन्न उक्त वाक्यजन्य ज्ञानसे समूल नष्ट हो जाता है । अज्ञानसे ज्ञान बलवान् होता है, यह सिद्धान्त केवल वेदान्तियोंका ही नहीं, किन्तु बौद्ध आदि भी ऐसा ही मानते हैं ॥ ५७ ॥

'नाऽक्षरा०' इत्यादि ।

शङ्का—यह वाक्य स्थूलाद्यभावका बोधक है, इसे अक्षरबोधक कैसे मानते हो ?

समाधान—यदि यह वाक्य अक्षराकार बोधजनक नहीं हो तो, इस वाक्यका फल क्या है ? स्थूलाद्यभावमात्रके बोधसे तो कोई पुरुषार्थ सिद्ध नहीं हो सकता और निषेध अनुयोगिस्वरूपके निर्णयके लिए ही है । यदि इस वाक्यसे अक्षर-बोध नहीं माना जाय, तो स्थूल आदिके निषेधका किसमें बोधन कराना है ? यह आकाङ्क्षा बनी ही रहेगी ।

शङ्का—अक्षर तो अनिर्देश्य है, ऐसा सिद्धान्त आप कर चुके हैं; फिर शब्दसे उसका निर्देश कैसे कर सकते हो ?

समाधान—साक्षात् निर्देश्य नहीं है, किन्तु लक्षणा द्वारा उसका निर्देश हो सकता है । अक्षर मानाविषय है, इसका तात्पर्य यह है कि मानविषय घट

विवादोऽप्यक्षरे किं स्यान्निरुपाधौ चिदात्मनि ।
अन्तर्यामिणि सोपाधावोतप्रोतेऽथवा वद ॥ ५९ ॥
चित्स्वरूपे विवादश्चेज्जगदान्ध्यं प्रसज्ज्यते ।
अन्तर्यामिण्यतो वादिविवादः परिशिष्यते ॥ ६० ॥
प्रशासनेन लिङ्गेन स विवादोऽपनुद्यते ।
अन्तर्यामिण्यभ्युपेते सुशकं बोद्धुमक्षरम् ॥ ६१ ॥

आदिसे विलक्षण है, घट आदि परप्रकाश्य हैं और अक्षर स्वप्रकाश है । वह लक्षणा-वृत्तिका भी विषय नहीं है, इसमें तात्पर्य नहीं है; अन्यथा 'तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि' इत्यादि प्रश्न ही असङ्गत हो जायगा । अतः स्थूलादि अनेक धर्मोंके निषेधप्रयाससे उक्तवृत्तिविषय अक्षर है, यह अवश्य मान्य है ॥ ५८ ॥

तृतीय कल्पमें दो विकल्प करते हैं—**'विवादो०'** इत्यादिसे ।

विवाद भी आप किसमें करते हैं ? क्या सकलोपाधिशून्य अतएव अक्षर-स्वरूप चिदात्मामें अथवा सोपाधिक अन्तर्यामीमें ? क्योंकि उसीमें समस्त संसार ओत-प्रोत है ॥ ५९ ॥

उक्त विकल्पके प्रथम पक्षमें दोष कहते हैं—**'चित्स्वरूपे'** इत्यादिसे ।

यदि निरुपाधि चिदात्मामें विवाद मानिये, तो जगत् ही अन्धा हो जायगा । चिदात्मासे अतिरिक्त संसार जड़ है । चिदात्मासे ही सबका प्रकाश होता है, क्योंकि 'तमेव भान्तमनु भाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति' इस श्रुतिसे स्पष्ट जाना जाता है कि चिदात्मा ही प्रकाशक है । यदि इसीमें विवाद करें, तो जो चिदात्मा नहीं मानेंगे, उनके मतमें विश्वका प्रकाश कैसे होगा; अतः परिशेषसे अन्तर्यामीमें ही विवाद हो सकता है; इस विवादका निराकरण आवश्यक है ॥ ६० ॥

'प्रशासनेन' इत्यादि ।

शङ्का—अच्छा, तो विवादका निराकरण कैसे होगा ?

समाधान—विवादका निराकरण अनुमान द्वारा किया जायगा, क्योंकि अन्त-र्यामीका ज्ञान होनेपर अनायास अक्षरका ज्ञान हो जायगा, अन्यथा नहीं, अतः अन्तर्यामीका ज्ञान पुरुषार्थोपयोगी नहीं है, तो भी पुरुषार्थोपयोगी अक्षरज्ञानका साधन है, इसलिए अन्तर्यामीका निर्णय आवश्यक है ।

शङ्का—पहले तो अक्षरको ही अन्तर्यामी कहा है । अब दोनोंमें भेद मानते हो, ऐसी अवस्थामें यह कथन ही व्याहत है और अक्षर अनुमानादिका अविषय है, यह भी

ईशितव्यार्थसम्बन्धादन्तर्याम्येतदक्षरम् ।
चैतन्याभासमोहाख्यवर्त्मनैव न तु स्वतः ॥ ६२ ॥

श्रुतिः—एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठतः ।

सिद्ध कर चुके हो, अतः अन्तर्यामीका निर्णय अनुमान द्वारा जो करना चाहते हो, वह भी ठीक नहीं है, क्योंकि यदि अन्तर्यामी अनुमानका विषय है, तो उससे अभिन्न अक्षर भी उक्त ज्ञानका विषय हो सकता है। अक्षर यदि अनुमानादिका विषय नहीं है, तो तदभिन्न अन्तर्यामी ही कैसे उक्त ज्ञानका विषय होगा ?

समाधान—इसका उत्तर अग्रिम श्लोकसे किया जाता है ॥ ६१ ॥

'ईशितव्यार्थ०' इत्यादि । ईशितव्यार्थ (विश्वार्थ) के सम्बन्धसे ही अन्तर्यामी अक्षर है। चैतन्याभास (चैतन्यप्रतिबिम्ब) आदि जो मोह है, उसके सम्बन्धसे ही इन दोनोंका भेद कहा गया है, वास्तविक अभेद ही है। भाव यह है कि उनका भेद कल्पित है। और अभेद वास्तविक है। ऐसी स्थितिमें कल्पित भेदवान् अन्तर्यामीमें अनुमानकी प्रवृत्ति होती है।

शङ्का—तो अन्तर्यामीकी अनुमानसे सिद्धि होनेपर अक्षरकी सिद्धि कैसे होती है ?

समाधान—जगज्जन्मादिकारणत्व उपलक्षण माना गया है, अतः उसकी सिद्धिके बाद पूर्ण अनौपाधिक अक्षरकी सिद्धि होती है अर्थात् जगज्जन्मादि तटस्थलक्षण माना जाता है और 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इत्यादि स्वरूपलक्षण है, अतः स्वरूपलक्षणका ज्ञापक तटस्थलक्षण है, इसलिए अन्तर्यामीमें अनुमानकी प्रवृत्ति मानी जाती है, यह आगे स्पष्ट होगा ॥६२॥

'एतस्य वा अक्षरम्' इत्यादि श्रुति । अनेक विशेषणोंके प्रतिषेधके प्रयाससे अक्षरका अस्तित्व श्रुति द्वारा ज्ञात हुआ, फिर भी लोकबुद्धिकी अपेक्षासे शङ्का होती है, अतः उसके अस्तित्वकी सिद्धिके लिए अनुमानप्रमाणका उपन्यास है—'एतस्य वा' इत्यादिसे । लौकिक बुद्धि इस प्रकार है कि जो है, वह सविशेषण है; क्योंकि उसमें इतरव्यावर्तक विशेषण स्वरूपके साङ्कर्यकी निवृत्तिके लिए अवश्य रहता है। विशेष-परिचयके लिए उसका निरूपण भी आवश्यक है। यह अधिगत अक्षर सर्वान्तर है, जिसके विषयमें श्रुतिने कहा है—'यत्साक्षादपरोक्षाद् ब्रह्म' और आत्मा अशनायादिसे अतीत है। इसी अक्षरके शासनमें सूर्य और चन्द्रमा स्थित हैं जैसे राजाके शासनमें

एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि द्यावापृथिव्यौ विधृते तिष्ठतः। एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि निमेषा मुहूर्ता अहोरात्राण्यर्द्धमासा मासा ऋतवः संवत्सरा इति विधृतास्तिष्ठन्ति।

अनुगत राज्य स्थित रहता है एवं हे गार्गि, इस अक्षरके शासनमें दिन और रात्रिके लिए लोकके प्रदीपस्वरूप सूर्य और चन्द्रमा स्थित हैं। विधाताने यह समझ कर कि इनके द्वारा लोकका उपकार होगा, इनका निर्माण किया है। जैसे साधारण सब प्राणियोंको प्रकाश हो, इस उद्देश्यसे राजमार्गमें राजाकी तरफसे प्रदीप स्थिर किये जाते हैं, वैसे ही परमात्माने उक्तोद्देश्यसे आकाशमें इन दोनों प्रदीपोंको प्रज्वलित किया है। अनुमान इस प्रकार है—'सूर्याचन्द्रमसौ विशिष्टज्ञानवता निर्मितौ, प्रकाशकत्वात्, प्रदीपवत्; सूर्याचन्द्रमसौ नियन्तृपूर्वकौ, विशिष्टचेष्टात्वात्, भृत्यादिवत्'। इस अभिप्रायसे श्रुतिमें 'विधृतौ' कहा गया है। सूर्यका इतने समय तक प्रकाश रहे, चन्द्रमाका प्रकाश इतने समय तक रहे तथा तदुभयप्रकाशदेशमें भी नियत उदयास्तकालका भी नियम है ही। चन्द्रमाकी कलावृद्धि और कलाक्षय भी नियत ही हैं। इससे यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि प्रदीपकर्ता एवं धारयिताके समान इनका भी कर्ता एवं धारयिता अक्षराभिध अवश्य है। यही एक लिङ्ग नहीं है, किन्तु अन्य लिङ्ग भी है, उसको भी कहते हैं—हे गार्गि, यद्यपि द्यौ और पृथिवी सावयव हैं, अतः फूटनेके लायक है, तो भी फूटते नहीं, भारी होनेसे गिरने लायक हैं, फिर भी गिरते नहीं, संयुक्त होनेसे वियुक्तस्वभाव हैं, फिर भी सदा संयुक्त ही रहते हैं, चेतनावत्तदभिमानी देवतासे अधिष्ठित अतएव स्वतन्त्र हैं, तो भी इस अक्षरके शासनके परतन्त्र हैं सर्वथा स्वतन्त्र नहीं हैं। यह अक्षर सब व्यवस्थाओंका सेतु है, सब मर्यादाओंका धारयिता है, इस अक्षरके शासनका उल्लङ्घन द्यौ या पृथिवी नहीं कर सकती है, अतः इस अक्षरका अस्तित्व सिद्ध हुआ। यह अव्यभिचारिलिङ्गसे जो द्यावापृथिवी नियत रहती हैं, चेतन असंसारी प्रशासिताके बिना यह नहीं हो सकता। मन्त्रवर्ण भी ऐसा ही कहता है— 'येन द्यौरुग्रा पृथिवी च दृढा' चेतनावदभिमानिदेवतावत्त्वेन स्वातन्त्र्य ही उग्रत्व है। हे गार्गि! इसी अक्षरके प्रशासनमें कालके अवयव निमेष, मुहूर्त्तादि सम्पूर्ण अतीत, अनागत तथा वर्त्तमान जन्मधारियोंके कलयिता हैं, सबके गणक हैं; जैसे राजनियुक्त आय-व्ययलेखक अवधानसे आयव्ययका हिसाब करता है, वैसे राजस्थाना-

एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि प्राच्योऽन्या नद्यः स्यन्दन्ते श्वेतेभ्यः पर्वतेभ्यः प्रतीच्योऽन्या यां यां च दिशमनु।

एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि ददतो मनुष्याः प्रश्ंसन्ति यजमानं देवा दर्वीं पितरोऽन्वायत्ताः॥ ९॥

पन्न यह अक्षर इन कालावयवोंका नियन्ता है। अनुमान इस प्रकार है—'निमेषादयो नियन्तृपूर्वकाः, कलयितृत्वात्, सम्प्रतिपन्नवत् इति'। तथा पूर्वदिशामें बहनेवाली नदियाँ गङ्गाजी आदि—जैसे श्वेत पर्वत हिमवान्‌से पूर्व दिशामें चलकर पूर्व सागरमें मिलती है, जो गङ्गासागर कहलाता है—सदासे वैसी ही बहती हैं, जैसा अक्षरका अनुशासन है। अनुशासनके भङ्गके भयसे दिगन्तरमें बहनेकी इच्छा होनेपर भी नहीं बह सकतीं। इसका तात्पर्य यह है कि भगवती भागीरथी चेतन देवता है, अतएव स्वक्रियामें स्वतन्त्र और समर्थ है, फिर भी—इच्छा रहनेपर भी अन्यत्र न जानेका कारण उक्तानुशासनभङ्गभयके और कुछ नहीं है। तथा पश्चिम दिशामें बहनेवाली नदियाँ सिन्धु, नर्मदा प्रभृति एवं दक्षिण उत्तरमें बहनेवाली जहाँ जो नदियाँ हैं, वे सब अपने-अपने पूर्वनियत देशमें ही बहा करती हैं, स्वेच्छा होनेपर भी उक्त कारणसे दिगन्तरमें नहीं जा सकतीं, यह अक्षरकी सत्तामें अव्यभिचारी लिङ्ग है। इसमें अनुमान इस प्रकार है—विमता गङ्गादिनियतदेशप्रवृत्तिः नियन्तृपूर्विका, नियतप्रवृत्तित्वात्, भृत्यादिवत्'। किञ्च, जो दाता स्वयं क्लेश सहकर स्वोपार्जित हिरण्य, सोना आदिका दान देता है, विद्वान् भी उसकी प्रशंसा करते हैं, यहाँपर विचारना यह है कि जो दिया जाता है, जो देता है और जो ग्रहण करता है, उनका यहाँ ही समागम और विश्लेष प्रत्यक्ष सिद्ध है; देशान्तर और कालान्तर और अवस्थान्तरमें समागम अदृष्ट है, तो भी विद्वान् दाताका दानफलके साथ संबन्ध जानकर दाताकी प्रशंसा करते हैं कि बहुत अच्छा कर्म किया, इनको बहुत सुख होगा, यह प्रशंसा कर्मफलसंयोजयिता और किस कर्मका क्या फल होना चाहिए, इस प्रकारके विवेकी प्रशासिताके बिना नहीं हो सकती, कारण कि दानक्रिया तो प्रत्यक्षसे ही विनाशी है, अतः दाताका फलके साथ संयोग करानेवाला कोई है, यह अवश्य माना जाता है। इसमें अनुमान इस प्रकार है—विमतं विशिष्टज्ञानवद्दातृकम्, कर्मफलत्वात्, सेवाफलवत्'।

शङ्का—यद्यपि दानक्रिया विनश्वर है और फल कालान्तरभावी है, तथापि

दानक्रियाजन्य अपूर्वसे फलकी उपपत्ति हो सकती है, एतदर्थ ईश्वरकी आवश्यकता नहीं है। मीमांसाका ऐसा ही सिद्धान्त है।

समाधान—अपूर्व स्वयम् अचेतन है। यदि चेतनासे अधिष्ठित भी न होगा तो वह विवेकसाध्य फलको कैसे दे सकता है? उक्त अपूर्व ही फल देता है, इसमें कुछ प्रमाण नहीं है।

शङ्का—प्रशासिता में ही क्या प्रमाण है?

समाधान—वह तो आगमके तात्पर्यसे सिद्ध है?

शङ्का—'आम्नायस्य क्रियार्थत्वात्' इत्यादि सूत्रसे आगम कार्यपरक है, यह मीमांसकसिद्धान्तसे निश्चित है, अतः उसका तात्पर्य शासितामें कहां है?

शङ्का—इस विषयमें यह सिद्धान्त हो चुका है कि आगम क्रियापरक ही सर्वत्र नहीं है, किन्तु वस्तुपरक भी है। किञ्च, अपूर्वमें कोई प्रमाण नहीं है। जो आपने यह कहा कि कर्म क्षणिक है, फल कालान्तरभावी है, अतः अपूर्वके बिना कर्मफल ही नहीं हो सकता, अतः फलसिद्धिकी अन्यथा अनुपपत्तिरूप प्रमाणसे सिद्ध अपूर्व अप्रमाण नहीं, सो ठीक नहीं है, कारण कि फलसिद्धि अन्यथा भी हो सकती है। अर्थापत्तिमें ये दोष हैं—अन्यथा उपपत्ति और अन्यथैवोपपत्ति। इस प्रकारके दोषोंसे शून्य अर्थापत्ति प्रमाण मानी जाती है। प्रकृतमें अन्यथैवोपपत्तिरूप दोष विद्यमान है, इसलिए प्रमाण नहीं है। लोकमें जैसे सेवाका फल सेव्य स्वामीसे ही मिलता है, अपूर्वसे नहीं, वैसे ही याग, दान आदि भी क्रिया ही हैं, अतः इनका भी फल सेव्य ईश्वरसे ही मिल सकता है। एतदर्थ अपूर्वकी क्या आवश्यकता है, जो क्रियामें सामर्थ्य दृष्ट है, उसका त्याग कर ही यदि फलप्राप्ति हो सकती है, तो दृष्ट क्रियाधर्मसामर्थ्यका परित्याग न्याययुक्त नहीं है, क्योंकि अधिक कल्पना ही दोष है। अतएव भट्टपादने कहा है—'लभ्यमाने फले दृष्टे नाऽदृष्टपरिकल्पना।' यद्यपि यह वाक्य फलविषयक है, उपायविषयक नहीं है, तथापि दृष्टसे उपपत्ति हो सके तो अदृष्टकल्पना, कल्पनाधिक्यदोषदूषित होनेसे, अयुक्त है, इसमें ही उक्त वचनका तात्पर्य है, न्याय दोनोंमें सम है। दृष्टानुसार ही कल्पना होती है, अतएव दृष्टविरुद्ध कल्पना अयुक्त मानी जाती है।

शङ्का—अपूर्वकी कल्पना नहीं करती है, वह तो क्लृप्त ही है?

समाधान—क्रियाका फल सेव्यसे मिलता है, यह क्रियाका स्वभाव लोकमें

एतस्य वा अक्षरस्य शासने इत्यदो जगत्।
स्याद् व्यवस्थितमर्यादं सूर्यचन्द्रादिलक्षणम्॥ ६३॥

दृष्ट है। अपूर्वसे उसका फल कहीं भी उपलब्ध नहीं है, कारण कि अपूर्व प्रत्यक्ष नहीं है। अतः सर्वत्र कल्प्य ही है। एवं अपूर्वकल्पना, उसमें फलदानसामर्थ्यकी कल्पना तथा कर्ममें अपूर्वजननसामर्थ्यकी कल्पना इस प्रकार अपूर्वसे फलोत्पत्ति माननेमें तीन तीन कल्पनाएँ करनी पड़ेंगी। सेव्यसे फल माननेमें केवल सेव्य ईश्वरकी ही कल्पनाकी आवश्यकता है। सेव्यमें फलदानकी सामर्थ्य तो लोकमें प्रसिद्ध ही है एवं फलदातृत्व भी प्रसिद्ध ही है। दूसरी बात यह भी है कि केवल उतनेके ही लिए ईश्वरकी कल्पना नहीं करनी है, किन्तु अन्यान्य प्रयोजन भी हैं। 'द्यावापृथिव्यौ विधृते तिष्ठतः' इत्यादि वचनकी व्याख्या करते समय ईश्वरास्तित्वविषयक अनुमान प्रमाण दिखला चुके हैं। उक्त कार्य अपूर्वसे नहीं हो सकते, अतः ईश्वर आवश्यक है। ईश्वरके द्वारा ही दानक्रियाओंके फलोंकी उपपत्ति हो जाती है, फिर अपूर्व माननेकी क्या आवश्यकता है? ईश्वरपक्षमें धर्मिमात्रकी कल्पना है। धर्म तो सिद्ध ही है। परमतमें धर्मी और धर्म—इन दोनोंकी कल्पना करनी पड़ती है।

वस्तुतः अर्थ (धर्मी) अनुमानसिद्ध ही है, इस बुद्धिसे हमारे मतमें किसीकी कल्पना नहीं है। परमत उक्त कल्पनासे दुष्ट है। यद्यपि इन्द्र आदि देवता स्वयं जीवननिर्वाहके लिए समर्थ हैं, तथापि पशु, चरु, पुरोडाश आदि द्वारा स्वजीवनार्थ यजमानके अधीन होते हैं, अपनी इच्छासे नहीं। कौन पुरुष ऐसा होगा, जो स्वतन्त्रतासे निर्वाहयोग्य होनेपर भी स्वापेक्ष या अधमकी अपेक्षा करेगा। उनकी कृपणवृत्ति ईश्वरके अनुशासनसे ही होती है एवं पितृगण भी उक्त अनुशासनवश ही दर्वीहोमके आश्रित होते हैं। जो किसीकी प्रकृति तथा विकृति नहीं है, वह दर्वीहोम है॥

'एतस्य' इत्यादि। इस अक्षरके शासनमें सूर्य, चन्द्र आदि समस्त संसार स्थित होकर नियतमर्याद रहता है। यद्यपि सूर्य और चन्द्रमा देवता हैं, अतएव ईश्वर हैं, अन्यथा कार्य करनेमें भी समर्थ हैं; तथापि अक्षरके अनुशासनसे विपरीत करनेमें भयभीत होकर तदनुकूल ही सदा आचरण करते हैं। यदि अक्षरकी सत्ता न होती, तो इनका विपरीत आचरण भी हो सकता, किन्तु ऐसा होता नहीं, इसलिए अक्षरकी सत्ता अवश्य है॥ ६३॥

विवादगोचरापन्ना यन्तृपूर्वा जगत्स्थितिः ।
व्यवस्थितत्वाल्लोकस्य राजपूर्वा स्थितिर्यथा ॥ ६४ ॥
सूर्यचन्द्रौ द्युभूलोकौ कालो नद्यो यथायथम् ।
नियमेन प्रवर्त्तन्ते सा प्रवृत्तिर्व्यवस्थितिः ॥ ६५ ॥
धने दानेन नष्टेऽपि तत्फलप्रद ईश्वरः ।
यतोऽस्ति तेन दातारं तं प्रशंसन्ति वैदिकाः ॥ ६६ ॥

'विवाद०' इत्यादि । विवादविषय जगत्स्थिति नियन्तृपूर्वक है । नियन्ताके बिना जगत्की स्थिति व्यवस्थित (एकरूपसे) नहीं रह सकती, इसमें दृष्टान्त यह है—राज्यस्थिति जैसे राजासे नियन्त्रित रहती है । राजा जो कानून बनाता है, उसके अनुसार प्रजावर्ग चलता है । विपरीत चलनेवालोंको दण्ड मिलता है, इसलिए यद्यपि प्रजाकी इच्छा विपरीत भी हो, तो भी राजाके अनुसार ही चलना पड़ता है, अन्यथा नहीं । एवं जगत्की व्यवस्था अक्षरके अधीन है, उसके विपरीत नहीं जा सकती । इस अनुमानका आकार भाष्यव्याख्यानमें लिख चुके हैं, पुनरुक्त भयसे यहां फिर उसके आकारका निर्देश नहीं किया गया है ॥ ६४ ॥

'सूर्यचन्द्रौ' इत्यादि । सूर्य, चन्द्रमा, द्युलोक, भूलोक, काल (निमेष मुहूर्तादि) तथा गङ्गादि नदियोंकी आरम्भसे लेकर जैसी यथायथ प्रवृत्ति चली आई है, आजतक वैसी ही बनी है, विपरीत नहीं हुई और आगे भी ऐसी ही व्यवस्थित रहेगी । उनकी यह व्यवस्था नियन्ताके बिना स्थिर नहीं रह सकती, इसलिए अनुमान द्वारा भी उनके नियन्ता अन्तर्यामीका ज्ञान होता है । यद्यपि श्रुतिने स्पष्ट ही कहा है कि ये सब अन्तर्यामीसे नियन्त्रित हैं, तथापि उसका वह निर्देश लौकिक बुद्धिके अनुसार है, तदनुसार ही अनुमान द्वारा यह अर्थ समझाया गया है ॥ ६५ ॥

'धने दानेन' इत्यादि । दुःखार्जित धनको सुपात्रमें विधिपूर्वक देनेवाले दाताओंकी प्रशंसा श्रोत्रियगण करते हैं । यह प्रशंसा सर्वज्ञ ईश्वरके बिना संगत नहीं हो सकती । प्रशंसामें मूल तो पुरुषार्थलाभ ही है, अन्यथा समुद्रमें धन त्याग करनेवालोंकी प्रशंसा होनी चाहिए, पर उससे निन्दा ही होती है । यहां विचारना यह है कि कालान्तरभावी पुरुषार्थप्राप्तिका कारण क्या है ? धन तो उपभोगसे यहीं नष्ट हो जाता है, यह प्रत्यक्षसे ही देखते हैं । एवं विनश्वर होनेसे दाता, प्रतिग्रहीता, दानक्रिया आदि कालान्तरमें भी फललाभकी संभावना

नाऽपूर्वं फलदं तस्मिन्मानाभावात् फलं पुनः ।
ईशादप्युपपन्नत्वान्नैवाऽपूर्वस्य कल्पकम् ॥ ६७ ॥

नहीं है, तो सुपात्र एवं कुपात्रमें धनत्याग करनेसे क्या विशेष है? विशेषके बिना स्तुति या निन्दा क्यों? निष्कारण तो विद्वान् प्रशंसा और निन्दा नहीं करेंगे। सदसत्कर्म करनेवालोंको ईश्वर फल अवश्य देते हैं, चाहे जिस देश या योनिमें हों, इसलिए उक्त कार्य वे लोग करते हैं।

शङ्का—फलदाता नहीं है, इसलिए दान देना ही मूर्खता है। भावी सुखके लिए प्रत्यक्ष सुखोपायका त्याग अनुचित ही है।

समाधान—अतर्कित सुखदुःख-प्राप्तिसे जन्मान्तरके कर्म जन्मान्तरमें अवश्य-फल देते हैं, यह मानना ही पड़ता है, अन्यथा गर्भस्थ तथा उत्पन्न प्राणीको जो सुख-दुःख होते हैं एवं कोई सकलाङ्ग होता है, कोई विकलाङ्ग होता है, इसमें क्या कारण? अच्छे लोग जब दुःखी देखे जाते हैं, तो जन्मान्तर कर्मोका यह फल है, ऐसा सब कहा करते हैं, अतः सबका नियन्ता और शुभाशुभ कर्मके फलोंका दाता ईश्वर है, यह मानना अनिवार्य्य है। और अच्छे लोगोंको यह ज्ञान भी होता है कि 'ममैव जन्मान्तरपातकानाम्' इत्यादि। अतएव शुभाशुभ फलकी प्राप्ति-परिहारके लिए विधिनिषेध शास्त्र है। इसमें 'विमतं दानं विशिष्टविज्ञानवद्दातृकम्, कर्मफलत्वात्, सेवाफलवत्' यह अनुमान भी प्रमाण है। अतएव शास्त्रमें 'दद्यात्', 'यजेत', 'जुहुयात्', 'नानृतं वदेत्', 'मा हिंस्यात् सर्वाभूतानिं' इत्यादि प्रसिद्ध है॥६६॥

'नाऽपूर्वम्' इत्यादि।

शङ्का—अपूर्वसे ही कर्मोंका फल मिलता है, उसके लिए ईश्वरकी क्या आवश्यकता है?

समाधान—चेतनसे अनधिष्ठित स्वयं अचेतन अपूर्व फलदानमें समर्थ नहीं है। उसको यह ज्ञान कहाँ कि किसने क्या किया है और क्या फल उचित है?

शङ्का—जीवरूप चेतनसे अधिष्ठित अपूर्व चेतनानधिष्ठित कैसे है?

समाधान—अपूर्व ही में प्रमाण नहीं है, इसलिए अधिष्ठान-विचार विफल है।

शङ्का—अर्थापत्ति अपूर्वमें प्रमाण है, अपूर्वके बिना क्षणविनश्वरदानादि क्रियासे कालान्तरभावी फल नहीं हो सकता, अतः उक्त फलकी अन्यथानुपपत्तिरूप अर्थापत्ति प्रमाण कह चुके हैं।

सेव्याद्राज्ञः फलप्राप्तिर्दृश्यते न त्वपूर्वतः ।
दानादिक्रियया सेव्यादीशात्तद्वत्फलं भवेत् ॥ ६८ ॥

समाधान—हां, अवश्य कहा है, पर अन्यथापि उपपत्तिरूप दोषसे वह दुष्ट अतएव आभास है, यह भी कह चुके हैं ।

शङ्का—अन्यथापि उपपत्ति कैसे ?

समाधान—लोकमें सेव्यसे सेवाका फल मिलता है, यह प्रसिद्ध है, इसी प्रकार सेव्य ईश्वरसे दानादि क्रियाके फलकी प्राप्तिकी उपपत्ति हो जाती है, उसके लिए दृष्टविरुद्ध अपूर्वकी कल्पना अन्याय्य है। 'विमता दानादिक्रिया विशिष्टज्ञानवता दीयमानफलवती, विशिष्टक्रियात्वात्, सेवाफलवत्' यह अनुमान भी हमारे अर्थमें प्रमाण है ।

शङ्का—आपके अर्थमें यदि आपका अनुमान प्रमाण है, तो ईश्वरसे फल नहीं मिल सकता, इस अर्थमें मेरा 'ईश्वरो न वैदिकक्रियाफलदाता, ईश्वरत्वात्, लौकिकेश्वरवत्, यह अनुमान प्रमाण है ।

समाधान—आपका अनुमान 'नरशिरःकपालं शुचि, प्राण्यङ्गत्वात्, शुक्तिशङ्खवत्' इस अनुमानके समान स्मृतिविरुद्ध है ।

शङ्का—मेरे अनुमानमें स्मृतिविरोध कैसे ?

समाधान—सुनिए—

'यो यो यां यां तनुं भक्तः श्राद्धयाऽर्चितुमिच्छति ।
तस्य तस्याऽचलां भक्तिं तामेव विदधाम्यहम् ॥
स तया श्रद्धया युक्तः तस्याऽऽराधनमीहते ।
लभते च ततः कामान् मयैव विहितान् हि तान् ॥'

तथा—

'यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम् ।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ॥' इत्यादि ।

शङ्का—सेवाफल स्वामीसे होता है, यह तो दृष्ट है, पर ईश्वर तो दृष्ट नहीं है, उसकी तो अपूर्वके समान कल्पना ही करनी है, ऐसी अवस्थामें क्या विशेष है ?

समाधान—विशेष यह है कि मेरी कल्पना दृष्टानुसार है और आपकी कल्पना उससे विरुद्ध है ।

जैसे सेवाक्रियामें सेव्य द्वारा फलप्रापकत्व दृष्ट है, वैसे ही दान आदि

देवता यागकर्तारं पितरः श्राद्धकारिणम् ।
नाऽऽप्नुयुर्हव्यकव्यार्थं यदि नाऽभूत्प्रशासिता ॥ ६९ ॥

श्रुतिः—यो वा एतदक्षरं गार्ग्यविदित्वाऽस्मिँल्लोके जुहोति यजते तपस्तप्यते बहूनि वर्षसहस्राण्यन्तवदेवास्य तद्भवति । यो वा एतदक्षरं गार्ग्यविदित्वाऽस्माल्लोकात्प्रैति स कृपणोऽथ य एतदक्षरं गार्गि विदित्वाऽस्माल्लोकात्प्रैति स ब्राह्मणः ॥ १० ॥

क्रियामें सेव्य ईश्वर द्वारा फलप्रापकत्व दृष्टानुरूप है । लोकमें अपूर्व द्वारा फलप्रापकत्व कहीं भी दृष्ट नहीं है, फिर भी दानादिक्रियामें उसके द्वारा तत्कल्पना स्पष्ट ही दृष्ट-विरुद्ध है, क्योंकि जब अपूर्व ही अलौकिक है, तब उसके द्वारा फलप्रापकत्व किस क्रियामें दृष्ट हो सकता है ? वस्तुतः जब अपूर्वमें प्रमाण ही नहीं है, तब उसके द्वारा फलकल्पना निराधार है । ईश्वरापेक्षया अपूर्वकल्पनामें कल्पनाधिक्य दोष पूर्वमें कह चुके हैं ॥ ६७,६८ ॥

'देवता' इत्यादि । देवगण यज्ञकर्ताओंके और पितृगण श्राद्धकर्ताओंके अधीन न होते, यदि प्रशासिता ईश्वर न होता, क्योंकि वे लोग मनुष्यकी अपेक्षा बहुत उच्च कोटिके हैं, तथा ईश्वर हैं, शक्तिसंपन्न हैं । जो स्वयं अपने निर्वाहमें क्षम है, वह निष्कारण कृपणवृत्ति धारण नहीं कर सकता । देवताओंके देय द्रव्यको हव्य कहते हैं और पितरोंके देय द्रव्यको कव्य कहते हैं ।

'देवान् भावयताऽनेन ते देवा भावयन्तु वः । परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ ॥'

यह गीतामें भगवान्‌का अनुशासन है, इसके अनुसार देवताओंको मनुष्याधीन होना पड़ता है ॥ ६९ ॥

'यो वा एतदक्षरं गार्ग्यविदित्वा' इत्यादि श्रुति ।

और यह भी अक्षरकी सत्तामें प्रमाण है कि अक्षरके अज्ञानसे संसार होता है और उसके ज्ञानसे संसारकी निवृत्ति होती है ।

शङ्का—क्रियासे ही मुक्ति हो सकती है, फिर उसके लिए अक्षरज्ञानकी क्या आवश्यकता है ?

समाधान—श्रुति स्वयं उत्तर देती है—'यो वा' इत्यादिसे । जो पुरुष इस अक्षरको न जानकर चाहे हजारों वर्षों तक इस लोकमें हवन करे, याग करे, जप करे, पर उसका फल विनाशी ही होता है अर्थात् स्वर्गादि ही हो सकता है, मोक्ष नहीं । 'यथेह कर्मचितो लोकः क्षीयते एवमेवामुत्र पुण्यचितो लोकः

होमदानतपांस्यज्ञैर्बहुकृत्वः कृतान्यपि ।
विनाशिफलदानीति शासनं तत्प्रशासितुः ॥ ७० ॥
अज्ञानमात्रतो बन्धो ज्ञानमात्रेण मुक्तता ।
इत्याश्चर्याणि सर्वाणि कल्पयन्तीश्वरास्तिताम् ॥ ७१ ॥

क्षीयते' इत्यादि श्रुतिसे तथा कार्यलिङ्गक अनुमानसे कर्मसाध्य फल विनाशी ही माना जाता है। उक्त फल नित्यसिद्ध है, अतः कर्मसाध्य नहीं। और जिसके ज्ञानसे कार्पण्यका (दीनताका) नाश होता है और संसारका विच्छेद होता है तथा जिसके विज्ञानके बिना कर्मकृत् पुरुष कृपण होता है, जो कर्म किया उसीका फल भोगता है और जनन-मरण-चक्रारूढ होकर संसारी होता है, वह अक्षर प्रशासिता अवश्य है, यही कहते हैं—'यो वा' इत्यादिसे। हे गार्गि, जो पुरुष इस अक्षरको न जानकर इस लोकसे परलोकको जाता है, वह कृपण—क्रीत दास—के समान है और हे गार्गि, जो इस अक्षरको जानकर मरता है, वह ब्राह्मण है ॥ १० ॥

'होमदान०' इत्यादि।

क्रियारूप साधनसे मुक्तिलाभ असंभव है, यही इस श्लोकका तात्पर्य है। अज्ञ (वेदान्तानभिज्ञ) अनेक बार अनेकविध तप आदि करते हैं, पर वे सब विनश्वरफलप्रद होते हैं, अमृतफलक नहीं होते।

शङ्का—क्यों ?

समाधान—प्रशासिता अक्षरका यही अनुशासन है। उसका अनुशासन अन्यथा नहीं हो सकता।

शङ्का—जिसके अज्ञानसे अत्युत्तम भी कर्म संसाररूप ही फल दे सकते हैं, अमृत नहीं; उसको हम नहीं मानते।

समाधान—यदि नहीं मानोगे, तो संसार ही लुप्त हो जायगा। संसारका मूल कारण तो आत्माका अज्ञान ही है, यह अनेक बार कह चुके हैं। हे गार्गि, जिसके ज्ञानसे संपूर्ण कार्पण्यकी निवृत्ति होती है, वह नहीं है, ऐसा कैसे कहा जा सकता है ? ॥ ७० ॥

'अज्ञानमात्रतो' इत्यादि।

जिसके अज्ञानसे बन्ध और जिसके ज्ञानमात्रसे मुक्ति—ये सब आश्चर्य ईश्वरकी सत्ताकी कल्पना करते हैं ॥ ७१ ॥

विवादशङ्काऽपीशेऽस्मिन्न सम्भाव्येति दर्शयन् ।
प्रशासनं लिङ्गरूपं प्रपञ्चितमनेकशः ॥ ७२ ॥
यदप्रबोधात्कार्पण्यं ब्राह्मण्यं यत्प्रबोधतः ।
तदक्षरं प्रबोद्धव्यं यथोक्तेश्वरवर्त्मना ॥ ७३ ॥

श्रुतिः—तद्वा एतदक्षरं गार्ग्यदृष्टं द्रष्टृश्रुतꣳश्रोत्रमतं मन्त्रविज्ञातं विज्ञातृ नान्यदतोऽस्ति द्रष्टृ नान्यदतोऽस्ति श्रोतृ नान्यदतोऽस्ति मन्तृ नान्यदतोऽस्ति विज्ञात्रेतस्मिन्नु खल्वक्षरे गार्ग्याकाश ओतश्च प्रोतश्चेति ॥ ११ ॥

अक्षरस्य प्रशास्तृत्वं स्वमोहाभासकल्पितम् ।
न स्वाभाविकमित्येतद्वक्त्यदृष्टादिवाक्यतः ॥ ७४ ॥

अनेक लिङ्गवाक्योंके उदाहरणका अभिप्राय कहते हैं—**'विवाद०'** इत्यादिसे ।

इस ईश्वरमें जो अस्तित्व और अनस्तित्वके विवादकी शङ्का है, वह भी असंभाव्य ही है, इसको स्फुट करनेके लिए अनेक लिङ्गोंका प्रपञ्च किया गया है । तात्पर्य यह है—यदि किसी पदार्थकी सत्ताकी सिद्धिके लिए अनेक हेतु दिये जाते हैं, तो उनमें पूर्व पूर्वमें अरुचि (असाधकत्वज्ञान) भी हो जाती है, इसलिए अन्य हेतुओंका उपादान किया जाता है । इसी भावसे अनेक लिङ्गस्थलमें पूर्व पूर्व हेतुओंमें अरुचिप्रदर्शनकी शैली शास्त्रोंमें पायी जाती है । यहांपर भी ऐसा भ्रम हो सकता है, अतः उसकी निवृत्तिके लिए कहते हैं कि यहां अनेक लिङ्गोंका प्रदर्शन विवादशङ्काके असंभवके सूचनके लिए है, अतः पूर्व-पूर्व हेतुओंमें असाधकत्वसंभावना नहीं है ॥ ७२ ॥

'यदप्रबोधा०' इत्यादि । जिसके अज्ञानसे कार्पण्य और प्रबोधसे ब्राह्मण्य (ब्रह्मज्ञता) प्राप्त होता है, वह अक्षर है । उसका शासितृत्व आदि तटस्थ लक्षण द्वारा ज्ञान करना चाहिए । इसे कार्यलिङ्गक कारणानुमान समझना चाहिए । संसार और उसकी निवृत्तिका निदान अक्षरका अज्ञान और ज्ञान ही है ॥ ७३ ॥

'तद्वा एतदक्षरं गार्ग्यदृष्टम्' इत्यादि श्रुति । इसका व्याख्यान वार्तिकसारके व्याख्यानसे ही व्यक्त हो जायगा, अतः पृथक् व्याख्यान नहीं किया है ॥११॥

'अक्षरस्य' इत्यादि ।

शङ्का—जैसे अग्निमें प्रकाशकत्व धर्म स्वाभाविक है वैसे ही ईश्वरमें ईश्वरत्व भी स्वाभाविक है, अतः ईश्वरत्वके निरास द्वारा निरुपाधि ब्रह्म कैसे सिद्ध हो सकता है ?

समाधान—इस सर्वज्ञमें प्रशास्तृत्वादि धर्म स्वमोहसे यानी अक्षरके अज्ञानसे कल्पित हैं, अग्निके प्रकाशकत्वके समान स्वाभाविक नहीं है ।

मागोचरातिवर्त्तित्वाददृष्टं स्यात्तदक्षरम् ।
अभावत्वनिषेधार्थं द्रष्ट्रक्षरमितीर्यते ॥ ७५ ॥
कूटस्थदृक्त्वं द्रष्टृत्वं न दृश्ये दृष्टिकर्तृता ।
ओतप्रोतगिराऽशेषदृश्यवस्तुनिराकृतेः ॥ ७६ ॥

शङ्का—क्यों ?

समाधान—अदृष्ट द्रष्टा है इत्यादि अर्थ विषयी होनेसे स्वयं किसीकी दृष्टिका विषय नहीं है ।

शङ्का—तो क्या उसकी सत्तामें ही कुछ प्रमाण नहीं है ?

समाधान—स्वयं दृष्टिस्वरूप है तथा अश्रुत श्रोत्रका विषय नहीं है । स्वयं श्रोत्रस्वरूप है । मनोविषय न होनेसे अमत है । स्वयं मतिस्वरूप होनेसे मन्ता है, विज्ञानका विषय नहीं अतएव अविज्ञात है । परन्तु विज्ञानस्वरूप होनेसे स्वयं विज्ञाता है और इस अक्षरसे अन्य कोई द्रष्टा (दर्शनक्रियाकर्ता) नहीं है । यही अक्षर सर्वत्र दर्शनक्रियाकर्ता है तथा श्रोता भी कोई दूसरा नहीं सर्वत्र स्वयं श्रोता है एवं मन्ता तथा विज्ञाता भी दूसरा नहीं है, किन्तु स्वयं सर्वत्र मन्ता तथा विज्ञाता है । अचेतन प्रधान अथवा और कोई द्रष्टा आदि नहीं है । इसी अक्षरमें हे गार्गि, आकाश ओत-प्रोत है । यही साक्षात् अपरोक्ष ब्रह्म है । जो आत्मा सर्वोत्तर है, अशनायादि संसारधर्मोंसे अतीत है, जिसमें आकाश ओत-प्रोत है, वही परा काष्ठा परा गति है, वही परब्रह्म है । पृथिव्यादिसे लेकर आकाशान्त सत्यका सत्य है ॥ ७४ ॥

'मागोचरा०' इत्यादि । मानविषयातिवर्ती है, अतएव अदृष्ट (दर्शनाविषय) कहा जाता है ।

शङ्का—यदि सर्वथा अप्रमेय है, तो उसका असत्त्व ही सिद्ध होगा ?

समाधान—नहीं, असत्त्व नहीं होगा, वह स्वयं द्रष्टृस्वरूप है, अतः अप्रमेयत्व उसमें भूषण है, दूषण नहीं है । जो द्रष्टृस्वरूप न होकर अमेय होता है, उसका असत्त्व माना जाता है—यथा कूर्मरोमादि ।

शङ्का—यदि दृष्टिक्रियाकर्ताको द्रष्टा मानते हो, तो उसमें क्रियाकारकत्वकी प्रसक्ति हो जायगी और दर्शन भी स्वविषयक है या अन्यविषयक ? यदि स्वविषयक है, तो कूटस्थमें दृष्टिमात्रत्व असंगत हो जायगा इत्यादि दूषण कहते हैं ॥ ७५ ॥

'कूटस्थदृक्०' इत्यादि । द्वितीय पक्षमें ओत-प्रोत-कथन तदतिरिक्त समस्त-

उक्तद्रष्ट्रतिरेकेण दृश्यं नाऽस्ति यथा तथा ।
जीवदृक्प्रतिषेधार्थं नाऽन्यदित्याद्युदीरणम् ॥ ७७ ॥
विजातीयसजातीयवस्त्वन्तरनिषेधतः ।
कूटस्थमेकं चैतन्यं सिद्धं वस्त्वक्षरं परम् ॥ ७८ ॥
एतस्मिन्नक्षरे गार्गि स्रजि क्लृप्तफणीन्द्रवत् ।
ओतः प्रोतश्च निःशेष आकाशोऽकारणात्मनि ॥ ७९ ॥
अक्षरं स्वात्मसम्मोहात् कारणत्वं निगच्छति ।
तथा कार्यत्वमप्येतन्निरवद्यं तदेकलम् ॥ ८० ॥
सर्वस्याऽक्षरमात्रत्वात् कृत्स्नज्ञेयसमाप्तितः ।
न ज्ञेयं शिष्यते किञ्चिन्नाऽप्यध्वस्तं तथा तमः ॥ ८१ ॥
इति वार्तिकसारे तृतीयाध्यायेऽष्टमं ब्राह्मणं समाप्तम् ।

वस्तुका निराकरण करता है। यदि अन्य विषय वास्तवमें है ही नहीं, तो अन्यविषयक ज्ञानकी संभावना कैसे? अतः वह अकारक है। अद्वितीय होनेसे द्रष्टा नहीं हो सकता। क्रियाविरहसे कारकत्व नहीं है और परके अभावसे तद्विषयक दृष्टि नहीं है। 'ण्वुल्तृचौ' इस पाणिनीय सूत्रसे तृच्प्रत्यय कर्तामें ही होता है ॥ ७६ ॥

समाधान—'**उक्तद्रष्ट्र०**' इत्यादि। उक्त स्वयंप्रकाशरूप अक्षरसे अतिरिक्त दृश्यके न होनेसे जैसे 'नेति नेति' इत्यादि श्रुति संगतार्थक होती है, वैसे ही ओत-प्रोतश्रुति भी अशेष दृश्योंका निराकरण करती है और 'नान्यत्' इत्यादि वाक्य तदतिरिक्त जीव द्रष्टा नहीं है, ऐसा बोधन करता है। ब्रह्मव्यतिरिक्त जडाजड सजातीय विजातीय सम्पूर्ण पदार्थोंके प्रतिषेधसे अखण्डवस्तुभूत श्रुतितात्पर्यगम्य कूटस्थ एक चैतन्य अक्षररूप ब्रह्म सिद्ध होता है ॥ ७७,७८ ॥

'**एतस्मिन्न०**' इत्यादि। हे गार्गि, इसी अक्षरमें मालामें कल्पित सर्पराजके समान निःशेष आकाशादि पदार्थ ओत-प्रोत हैं। जैसे रज्जुसर्पका रज्जु कार्यकारण नहीं है, वैसे ही अशेष जगत्का यह भी कार्यकारण नहीं है ॥ ७९ ॥

'**अक्षरम्**' इत्यादि। अक्षर केवल स्वात्मसंमोहसे ही कारणभावको प्राप्त होता है। यह निःशेष जगत् भी वाणीसे ही कार्य कहलाता है, परमार्थतः न कोई कार्य है और न कारण है। अज्ञानवश जैसे रज्जु-सर्पमें कार्यकारणभाव कल्पित है, वैसे ही अक्षरमें भी समझना चाहिए। अतएव उक्त आक्षेपसे रहित अद्वितीय आत्मा सिद्ध हुआ ॥ ८० ॥

निरवद्य ब्रह्म है, इसीको विशद करते हैं—'**सर्वस्या०**' इत्यादिसे।

श्रुतिः—सा होवाच ब्राह्मणा भगवन्तस्तदेव बहु मन्येध्वं यदस्मान्नमस्कारेण मुच्येध्वं न वै जातु युष्माकमिमं कश्चिद् ब्रह्मोद्यं जेतेति ततो ह वाचक्नव्युपरराम ॥ १२ ॥

इत्युपनिषदि तृतीयाध्याये अष्टमं ब्राह्मणं समाप्तम् ।

ऐसा कोई अर्थान्तर नहीं है, जिसका अक्षरमें अन्तर्भाव न हो, क्योंकि जब अक्षरातिरिक्त कुछ है ही नहीं, तब उससे असंगृहीत वस्तुकी क्या संभावना ? समस्त प्रतीयमान द्वैत ब्रह्माभिन्न होनेसे ब्रह्ममें है, अतएव अखण्ड सिद्ध नहीं हुआ, इस आशङ्काका भी अवसर नहीं है, क्योंकि आत्माश्रयदोषसे स्वमें स्वका आधाराधेयभाव नहीं हो सकता ।

शङ्का—भेदाभेदविकल्पसे आत्मा और प्रपञ्चका यदि कार्यकारणभाव नहीं हो सकता हो, तो मत हो, वस्त्वन्तर ही जगत् हो ?

समाधान—ठीक समझानेके लिए विकल्प यह है कि वस्त्वन्तर ज्ञेय नहीं है या है ? प्रथम पक्षमें कार्यका कारणमें अन्तर्भाव हो जानेसे भेदाभेदविकल्प द्वारा भी पूर्वके सदृश वस्त्वन्तराभाव ही सिद्ध होगा । द्वितीय पक्षमें वह स्वयंप्रकाश है अथवा नहीं ? प्रथम कल्पमें अभिप्रेत अक्षरमें ही उसका अन्तर्भाव हो जायगा । द्वितीय पक्षमें प्रमाणका अभाव-स्पष्ट है । जो न किसी प्रमाणसे प्रतीत हो और न स्वयंप्रकाश हो, ऐसे पदार्थकी-सत्तामें प्रमाण नहीं है, अतः ईदृश पदार्थ किसीको मान्य नहीं हो सकता ।

शङ्का—निराचिकीर्षित (निराकरणके लिए इष्ट) अज्ञान ही वस्त्वन्तर क्यों नहीं है ?

समाधान—अध्यस्त अज्ञान भी वस्त्वन्तर नहीं है ।

शङ्का—क्यों ?

समाधान—ज्ञेय समाप्त हो गया है । अज्ञान भी ज्ञेयपदार्थके ही अन्तर्गत है, अतः उसकी समाप्तिसे अज्ञानकी भी समाप्ति स्वतःसिद्ध है, अन्यथा ज्ञेयकी समाप्ति ही नहीं कह सकते ।

शङ्का—अक्षरसे वर्णविशेषका ही ग्रहण क्यों नहीं करते ?

समाधान—इसका समाधान अक्षराधिकरणभाष्यमें स्पष्ट है—अचेतन वर्णविशेष द्रष्टा या श्रोता नहीं हो सकता इत्यादि ॥ ८१ ॥

'सा होवाच ब्राह्मणा' इत्यादि श्रुति । पूज्य ब्राह्मणोंका सम्बोधन कर गार्गी

बोली—हे माननीय विद्वद्गण, मेरी बात सुनिये, जो मैंने पहले ही अमूल्य वचन कहा था, उसीको बहुत समझिये ।

शङ्का—कौन वचन ?

समाधान—श्रीयाज्ञवल्क्यजीको नमस्कार कर उनकी अनुज्ञा पाकर अनुचिताचरणसे मुक्त हो जाओ। इनसे विजय पानेका तो मनोरथ भी नहीं करना चाहिए, फिर कार्यतः इनपर विजय पाना तो दूर रहा ।

शङ्का—क्यों ?

समाधान—आप लोगोंमें कोई भी विद्वान् ऐसा नहीं है, जो श्रीयाज्ञवल्क्यजीका ब्रह्मज्ञानके विषयमें पराजय कर सके । 'मेरे इन दोनों प्रश्नोंका यदि ये उत्तर देंगे, तो इन्हें कोई नहीं जीत सकता' यह पहले ही मैं कह चुकी हूँ । उत्तर सुननेसे इस समय मेरा यही दृढ़ निश्चय हुआ है कि ब्रह्मज्ञानमें इनके बराबर दूसरा कोई नहीं है, यह कहकर वाचक्नवी चुप हो गई ।

वार्तिकसारके भाषानुवादमें तृतीयाध्यायका अष्टम ब्राह्मण समाप्त ।



नवमं ब्राह्मणम्

नवमब्राह्मणे देवनिर्णयस्तदुपासनम् ।
अष्टधा पञ्चधा चौपनिषदश्चोच्यते क्रमात् ॥ १ ॥
सूर्यचन्द्रादयो देवाः शासितव्या उदीरिताः ।
तेषां विस्तार आनन्त्यं सङ्क्षेपस्त्वेकदेवता ॥ २ ॥
त्रयश्चेत्यादिभिर्लक्ष्या बहुशब्दैरनन्तता ।
सुषुप्तिप्रलयावस्थः कारणात्मैकदेवता ॥ ३ ॥

नवम ब्राह्मण

'नवम०' इत्यादि । 'यत्साक्षात्' इत्यादि श्रुतिवाक्यसे उपक्रम कर सर्वान्तरत्वके निरूपण द्वारा अर्थतः साक्षात्त्व आदिका तीन ब्राह्मणोंमें निर्णय हुआ। इस समय उसका साक्षात् निर्णय करनेके लिए इस ब्राह्मणका आरम्भहै। सूत्रान्तर्यामिब्राह्मणमें 'यः पृथिव्यां तिष्ठन्' इत्यादि श्रुतिवाक्यसे नियम्य सब पदार्थोंका नियन्ता कारणीभूत आत्मा है, यह भी कहा गया है। उसीका यहाँ प्राणशब्दसे अनुवाद कर और उसीका आलम्बन कर नियम्य देवताओंके विस्तार और सङ्कोचके कथन द्वारा आत्मसम्बन्धित्वरूपसे पूर्वमें कथित भी साक्षात्त्वका पुनः निर्णय करनेके लिए यह ब्राह्मण है। नियम्य देवता कितने हैं, इस प्रश्नके उत्तरमें संक्षेप-विस्तारसे प्रागुक्त ब्रह्मका ही पुनः स्पष्टीकरणार्थ यह ब्राह्मण है। कूटस्थ असङ्ग अद्वय आत्मा नियन्ता कैसे है ? चिदाभास (स्वकीय अज्ञान) द्वारा स्वकार्यका कारण और नियन्ता कहा जाता है ॥ १ ॥

'सूर्यचन्द्रा०' इत्यादि । सूर्य, चन्द्र आदि देवता अनुशास्य कहे गये हैं, उनका विस्तार यानी आनन्त्य है अर्थात् प्रातिस्विकरूपसे वे अनन्त हैं। संक्षेपसे कहा जाय, तो एक ही देवता है ॥ २ ॥

'त्रयश्चेत्य०' इत्यादि ।

शङ्का—देवताके आनन्त्यका प्रतिपादन इस ब्राह्मणमें है, यह आपका कहना ठीक नहीं जँचा, कारण कि अनन्तपद इसमें नहीं है।

समाधान—'त्रयश्च' इत्यादि शब्दका यद्यपि आनन्त्य वाच्य नहीं है, फिर भी लक्ष्य है, और बहुशब्द तो अनन्तका भी वाची समझा जाता है। यदि कोई यह प्रश्न करे कि आकाशमें कितने तारे हैं, तो उसका उत्तर यह भी हो सकता है कि

नानात्वैकत्वरूपाभ्यां तिष्ठति प्राणदेवता ।
नियन्तव्यनियन्तृत्वसम्बन्धस्य प्रसिद्धये ॥ ४ ॥
ब्रह्मेशः सूत्रमण्डं च जीवो लिङ्गं वपुर्बहिः ।
इत्यष्टावस्थतां भर्तृप्रपञ्चस्तात्त्विकीं जगौ ॥ ५ ॥

बहुत हैं। उसका तात्पर्य यही है कि अनन्त हैं, हम लोग उनका परिच्छेद नहीं कर सकते। संक्षेपसे एक ही देवता है, इस उत्तरको कहते हैं—'सुषुप्ति' इत्यादिसे। सुषुप्ति और प्रलयावस्थामें कारणात्मा एक ही देवता रहता है।

शङ्का—सुषुप्ति अवस्थामें 'प्राणं तर्हि वागप्येति' इत्यादि श्रुतिके अनुसार स्वापावस्थापन्न प्राण ही इन्द्रिय आदिका कारण है, अक्षर कैसे कारण है?

समाधान—'स' इत्यादि श्रुतिने प्राण और ब्रह्मको अभिन्न ही कहा है, 'स ब्रह्म त्यदित्याचक्षते' यहाँपर 'स' से प्राणका परामर्श कर उसमें ब्रह्मका स्पष्ट बोधन किया है, अतः उक्त व्याख्यानुसार प्राण और ब्रह्मका ऐक्य स्फुट कहा गया है।

शङ्का—अच्छा प्राण और ब्रह्म दोनों अभिन्न हैं, यह माना, पर किस क्रमसे वह नियन्ता होता है?

समाधान—उक्त रीतिसे साभास (अज्ञानोपाधिक) अक्षर कारण है, यह तो निर्विवाद सिद्ध है। अब नियन्ता इस प्रकार होता है कि प्रथम प्राणदेवता जो साभास अज्ञान है, उसका नियन्त्रण करता है, तदनन्तर प्राणकार्य सूत्रादिसे अवच्छिन्न (तदात्मना स्थित) होकर सूत्रको नियन्त्रित करता है, इस प्रकारसे तत्-तत् कारणरूपसे अवस्थित होकर तत्-तत् कार्यके नियन्त्रण द्वारा सब कार्योंका नियन्ता होता है ॥३॥

'नानात्वैकत्व०' इत्यादि। वही प्राणदेवता नानात्व और एकत्वरूपसे रहता है।

शङ्का—किसलिए?

समाधान—नियन्तव्य-नियन्तृत्वके सम्बन्धकी प्रसिद्धिके लिए प्राणियोंके विविध कर्मोंके अनुसार यह प्राणदेवता जगत्को व्याप्तकर उक्त दो रूपोंसे रहता है। भर्तृप्रपञ्चके मतसे ब्रह्मकी आठ अवस्थाएँ हैं—पिण्ड, जाति, विराट्, सूत्र, दैव, अव्याकृत, साक्षी और क्षेत्रज्ञ। किसीके मतमें अक्षरकी शक्तिके ये आठ स्वरूप हैं। कोई इनको उसकी एक प्रकारकी अवस्था मानते हैं, परन्तु यह सब असङ्गत है, कारण कि श्रुतिने अक्षरको संसारातीत कहा है।

शङ्का—आपके मतमें इनका कैसा भेद है?

श्रुतिः—अथ हैनं विदग्धः शाकल्यः पप्रच्छ कति देवा याज्ञवल्क्येति स हैतयैव निविदा प्रतिपेदे यावन्तो वैश्वदेवस्य निविद्युच्यन्ते त्रयश्च त्री च शता त्रयश्च त्री च सहस्रेत्योमिति होवाच कत्येव देवा याज्ञवल्क्येति त्रयस्त्रिꣳशदित्योमिति होवाच कत्येव देवा याज्ञवल्क्येति षडित्योमिति होवाच कत्येव देवा याज्ञवल्क्येति त्रय इत्योमिति होवाच कत्येव देवा याज्ञवल्क्येति द्वावित्योमिति होवाच कत्येव देवा याज्ञवल्क्येत्यध्यर्ध इत्योमिति होवाच कत्येव देवा याज्ञवल्क्येत्येक इत्योमिति होवाच कतमे ते त्रयश्च त्री च शता त्रयश्च त्री च सहस्रेति ॥ १ ॥

समाधान—औपाधिक भेद है, स्वतः नहीं। 'अपूर्वमनपरमनन्तरमबाह्यम्', 'अयमात्मा ब्रह्म' इत्यादि श्रुति मदुक्त अर्थमें प्रमाण है, अविद्याकामकर्मसे विशिष्ट (कार्यकरणोपाधि) आत्मा संसारी जीव कहलाता है और नित्यनिरतिशयज्ञानशक्त्युपाधि आत्मा अन्तर्यामी ईश्वर कहा जाता है। वही निरुपाधि केवल (शुद्ध) आत्मा अपने स्वभावसे अक्षर कहा जाता है। इस प्रकार हिरण्यगर्भ (अव्याकृत देवता) जाति, पिण्ड, मनुष्य, तिर्यक्, प्रेत आदि कार्य-कारणोपाधिसे विशिष्ट होकर तत्तन्नामसे युक्त तत्तद्रूपवाला होता है, इत्यादि स्पष्ट है ॥ ४ ॥

'अथ हैनं विदग्धः शाकल्यः' इत्यादि श्रुति। गार्गीके प्रश्नोंका निर्णय होनेके अनन्तर विदग्धने (विदग्ध यह उनका नाम था और शकल उनके पिताका नाम था, अतः वे शाकल्य भी कहे जाते थे) श्रीयाज्ञवल्क्यजीसे पूछा। पूर्वके साथ सङ्गति बतलानेके लिए पूर्वका अनुवाद करना आवश्यक है, अतः आवश्यक अंशका अनुवाद यह है—'यत्साक्षात्' इत्यादिसे प्रस्ताव कर सर्वान्तरत्वके निरूपण द्वारा अर्थतः साक्षित्त्व आदिका पूर्वके तीन ब्राह्मणोंमें निश्चय किया गया है। अन्तर्यामिब्राह्मणमें कहा गया है कि नाम-रूपसे व्याकृत द्वैत प्रपञ्च है, उसमें सूत्रके जो पृथिव्यादिभेद हैं, वे ही नियम्य हैं, उनका नियन्ता भी वही अक्षर है।

शङ्का—व्याकृतविषयमें ही नियन्तृत्व क्यों कहा? अव्याकृतमें क्यों नहीं।

समाधान—व्याकृत पृथिव्यादिमें नियन्तृत्व सुस्पष्ट है, इसलिए व्यक्त विषयमें ही कहा गया, यह तो पूर्वका अनुवाद है। अब उत्तर ब्राह्मणका तात्पर्य कहते हैं—नियन्तव्य देवता विशेषोंका सङ्कोच प्राणपर्यन्त है और विकास आनन्त्यपर्य्यन्त है। इनके द्वारा ब्रह्ममें साक्षात्त्व और परोक्षत्व है, यही 'नेति नेति आत्मा' इत्यादि शब्दोंसे समझाया गया है। प्रथम देवतासङ्कोच और विकासके कथनानन्तर वस्तु-

स होवाच महिमान एवैषामेते त्रयस्त्रिꣳशत्त्वेव देवा इति कतमे ते त्रयस्त्रिꣳशदित्यष्टौ वसव एकादश रुद्रा द्वादशादित्यास्त एकत्रिꣳशदिन्द्रश्चैव प्रजापतिश्च त्रयस्त्रिꣳशाविति ॥ २ ॥

कतमे वसव इत्यग्निश्च पृथिवी च वायुश्चान्तरिक्षं चादित्यश्च द्यौश्च चन्द्रमाश्च नक्षत्राणि चैते वसव एतेषु हीदꣳ सर्वꣳ हितमिति तस्माद्वसव इति ॥ ३ ॥

कतमे रुद्रा इति दशेमे पुरुषे प्राणा आत्मैकादशस्ते यदाऽस्माच्छरीरान्मर्त्यादुत्क्रामन्त्यथ रोदयन्ति तद्यद्रोदयन्ति तस्माद्रुद्रा इति ॥ ४ ॥

निर्देशके लिए यह ब्राह्मण है। 'निवेद्यते देवतासंख्या यया सा निविद्' यानी मन्त्ररूप वाणीसे देवताओंकी संख्या जिसके द्वारा कही जाती है, वह मन्त्रपदात्मक वाक्य 'निविद्' कहा जाता है। 'निविद्' उसकी संज्ञा है। उक्त ऋषिनेश्री याज्ञवल्क्यजीसे पूछा कि कितने देवता हैं? श्रीयाज्ञवल्क्यने वक्ष्यमाण निविद्से ही उक्त संख्याको जाना, जिसे शाकल्यने उनसे पूछा था यानी जितने देवता वैश्वदेवशस्त्रके हैं, उन्हें पूछा था। [अप्रगीतमन्त्रसाध्य स्तुतिका नाम शस्त्र है, जो देवतावाचक मन्त्रपद वैश्वदेवशस्त्रमें कहे जाते हैं, वे ही प्रकृतमें निवित्संज्ञक हैं]। उस निविद्में जितने देवता स्तुत हैं, उतने ही देवता हैं।

शङ्का—कौन यह निविद् है?

समाधान—उन निविद्-पदोंको कहते हैं—'त्रयश्च त्री च शता च' इत्यादिसे। ३३०६ तीन हजार तीन सौ छः। शाकल्यने कहा ठीक है। इस प्रकारसे इनकी मध्यमा संख्या ज्ञात हुई। फिर उन देवताओंकी सङ्कुचित संख्या पूछते हैं—कितने देवता हैं? याज्ञवल्क्यने कहा—३३। शाकल्यने कहा—ठीक है। फिर पूछा—इससे भी कम संख्यामें कितने देवता हैं? याज्ञवल्क्यने कहा—६। शाकल्यने कहा—ठीक है, इससे कम संख्यामें कितने देवता हैं? याज्ञवल्क्यने कहा—३। शाकल्यने कहा—ठीक है। फिर पूछा—कितने देवता हैं? याज्ञवल्क्यने कहा—२। शाकल्यने कहा—ठीक है। फिर पूछा—कितने देवता हैं, याज्ञवल्क्यने कहा—अध्यर्द्ध। शाकल्यने कहा—ठीक है। फिर पूछा—कितने देवता हैं? याज्ञवल्क्यने कहा—एक। शाकल्यने कहा—ठीक है। देवताओंकी संकुचित संख्याको पूछकर फिर संख्येय स्वरूपको पूछते हैं—'कतमे ते'से। उक्तसंख्याक देवता ३३ देवताओंकी महिमा ही हैं, परमार्थतः ३३ ही देवता हैं।

कतम आदित्या इति द्वादश वै मासाः संवत्सरस्यैत आदित्या एते हीद॑सर्वमाददाना यन्ति ते यदिद॑सर्वमाददाना यन्ति तस्मादादित्या इति ॥ ५ ॥

कतम इन्द्रः कतमः प्रजापतिरिति स्तनयित्नुरेवेन्द्रो यज्ञः प्रजापतिरिति कतमः स्तनयित्नुरित्यशनिरिति कतमो यज्ञ इति पशव इति ॥ ६ ॥

कतमे षडित्यग्निश्च पृथिवी च वायुश्चान्तरिक्षं चादित्यश्च द्यौश्चैते षडेते हीद॑ सर्व॑ षडिति ॥ ७ ॥

शङ्का—कौन ३३ हैं ?

समाधान—आठ वसु, एकादश रुद्र, द्वादश आदित्य ये ३१ हुए, बत्तीसवाँ इन्द्र और तैंतीसवाँ प्रजापति—यों ३३ हो गये ।

शङ्का—वसु कौन है ?

समाधान—अग्नि, पृथिवी, वायु, अन्तरिक्ष, आदित्य, द्यौ, चन्द्रमा और नक्षत्र—ये वसु हैं । इन्हींमें सब स्थित हैं, इसलिए ये वसु हैं ।

शङ्का—कितने रुद्र हैं ?

समाधान—एकादश, दस इस पुरुषमें जो प्राण हैं और ग्यारहवाँ आत्मा है ।

शङ्का—ये रुद्र क्यों कहे जाते हैं ?

समाधान—इस विनश्वर शरीरसे जब ये निकलते हैं तब प्राणियोंको रुलाते हैं, इसलिए रुद्र कहलाते हैं ।

शङ्का—आदित्य कौन हैं ?

समाधान—वर्षके जो ये बारह महीने हैं, वे ही १२ आदित्य हैं ।

शङ्का—किस कारणसे ये आदित्य कहे जाते हैं ?

समाधान—पुनः पुनः गमनागमनसे प्राणियोंकी आयु तथा कर्मफलोंको ग्रहण करते हुए जाते हैं, जिस कारणसे लेकर जाते हैं (आदाय यन्ति) इससे आदित्य कहे जाते हैं ।

शङ्का—कौन इन्द्र है और कौन प्रजापति है ?

समाधान—स्तनयित्नु इन्द्र है और यज्ञ प्रजापति है ।

शङ्का—स्तनयित्नु कौन है ?

समाधान—अशनि—वज्र—यानी वीर्य (बल) जो प्राणियोंका हिंसक है । यह इन्द्रका ही काम है ।

कतमे ते त्रयो देवा इतीम एव त्रयो लोका एषु हीमे सर्वे देवा इति कतमौ तौ द्वौ देवावित्यन्नं चैव प्राणश्चेति कतमोऽध्यर्ध इति योऽयं पवत इति ॥ ८ ॥

तदाहुर्यदयमेक इवैव पवतेऽथ कथमध्यर्ध इति यदस्मिन्निदꣳसर्वमध्यार्ध्नोत्तेनाध्यर्ध इति कतम एको देव इति प्राण इति स ब्रह्म त्यदित्याचक्षते ॥ ९ ॥

शङ्का—यज्ञ कौन है ?

समाधान—पशु । यद्यपि पशु स्वयं यज्ञके रूप नहीं हैं, तथापि वे यज्ञके साधन हैं, अतएव पशु ही यज्ञ हैं ।

शङ्का—कौन छः हैं ?

समाधान—अग्नि, पृथिवी, वायु, अन्तरिक्ष, आदित्य और द्यौ । वसुरूपसे जो आठ पठित हैं, उनमें से चन्द्रमा और नक्षत्रको छोड़कर छः होते हैं ।

शङ्का—कौन तीन देव हैं ?

समाधान—ये तीनों लोक । इन्हींमें सब देवता हैं ।

शङ्का—दो कौन है ?

समाधान—अन्न और प्राण ।

शङ्का—अध्यर्द्ध कौन है ?

समाधान— 'योऽयं पवते' यानी वायु । 'ते' इस शब्दसे उक्त छः देवताओंका परामर्श कर उन्हींमें से दो दोका एकीकरण कर लोक कहा गया है । जैसे—पृथिवी और अग्निका एकीकरण कर एक लोक हुआ, वायु और अन्तरिक्षका एकीकरण कर दूसरा लोक हुआ एवं द्यौ और आदित्यको एक कर तीसरा लोक हुआ । ये ही तीनों देव हैं, इन्हीं तीनों देवोंमें सब देव अन्तर्भूत हो जाते हैं, इसलिए ये ही तीन देव हैं ।

शङ्का—कौन दो देव हैं ?

समाधान—अन्न और प्राण, ये ही दो देव हैं । इन दोनोंमें पूर्वोक्त सम्पूर्ण देवोंका अन्तर्भाव है । अध्यर्द्ध कौन है ? जो पवित्र करनेवाला वायु है, केवल यही एक पवित्र करता है, अतः 'योऽयं पवते' ऐसा कहा है ।

शङ्का—अध्यर्द्ध क्यों ?

तदसन्नेति नेतीति निष्प्रपञ्चत्वमात्मनः ।
कथयिष्यत्यतोऽवस्था भ्रान्त्या ब्रह्मणि कल्पिताः ॥ ६ ॥
अन्तर्यामितया पूर्वमव्याकृततयाऽपि च ।
कथितं कारणं प्राणो वायुः सूत्रमुदीर्यते ॥ ७ ॥
सूत्राकारविकारोऽयं कारणादधिकस्तु सः ।
अस्वतन्त्रतयाऽर्द्धश्च वायोरध्यर्द्धता ततः ॥ ८ ॥

समाधान—जिस कारणसे यह सब (प्रपञ्च) इसी वायुमें ऋद्धिको प्राप्त करता है, इसलिए वायु अध्यर्द्ध कहा जाता है ।

शङ्का—कौन एक देव है ?

समाधान—प्राण । यही प्राण ब्रह्म है ।

शङ्का—क्यों ?

समाधान—सर्वदेवतात्मक होनेसे सबसे महान् है, इसी कारणसे 'स ब्रह्म त्यदित्याचक्षते' यह कहा है, 'त्यत्' शब्दसे ब्रह्म ही कहा जाता है, यह परोक्षवाची शब्द है। यही देवताओंमें एकत्व और नानात्व है, अनन्त देवोंका निवित्संख्याविशिष्टमें अन्तर्भाव है। उन ३३ तैतिसोंका उतरोत्तरमें और अन्ततः एक प्राणमें अन्तर्भाव होता है। अतः एक प्राणका ही अनन्त-संख्याविस्तार है। इस प्रकार एक, अनन्त और अवान्तरसंख्याविशिष्ट प्राण ही होता है। अधिकारभेदसे ही एक देवका नानारूप गुणकर्मशक्तिसे भेद है ॥१–९॥

'तदसन्नेति' इत्यादि। अत्मामें 'नेति-नेति' इत्यादि वाक्यसे सकल प्रपञ्चका प्रतिषेध कहेंगे, अतः आत्मामें प्रपञ्चावस्था भ्रान्ति द्वारा कल्पित हैं ॥ ६ ॥

'अन्तर्यामि०' इत्यादि। इस श्लोकसे वायु और प्राण शब्दोंमें पुनरुक्तिकी आशङ्काका परिहार करते हैं। पूर्व ब्राह्मणमें प्रकृत जगत्कारण यहाँ प्राणशब्दसे कहा गया है और वायुशब्दसे सूत्र विवक्षित है। भेद केवल इतना ही है कि पूर्व ब्राह्मणमें अन्तर्यामीका प्रयोग किया गया है और इसमें अव्याकृतत्वरूपसे सूत्र कहा गया है। विवक्षाभेदसे एक ही अर्थके लिए दो शब्दोंका प्रयोग है। एक ही रूपसे जहाँ दो शब्दोंसे एक अर्थ कहा जाय, वहाँ पुनरुक्त दोष होता है ॥ ७ ॥

सूत्रमें अध्यर्द्धशब्दका प्रयोग करनेमें निमित्तान्तर कहते हैं—**'सूत्राकार०'** इत्यादिसे ।

ईदृगध्यर्द्धताऽन्येषु द्विसंख्यादिष्वपीक्ष्यते ।
अतोऽधिकसमृद्ध्यैव श्रुतिरध्यर्द्धतां जगौ ॥ ९ ॥

यद्यपि वायु सूत्राकारका विकार ही है, तथापि कारणावस्थाकी अपेक्षा कार्यावस्थाके स्थूल होनेसे वह अधिक है और अन्तर्यामीकी अपेक्षासे हीन है, अतएव अर्ध है। अधिकत्व और हीनत्वरूप दो निमित्तोंके समावेशसे वायु अध्यर्द्ध कहा जाता है ॥८॥

'ईदृग्' इत्यादिसे।

शङ्का—इस प्रकारका अध्यर्द्ध द्विसंख्या आदिमें भी हो सकता है, फिर विशेषरूपसे एक संख्याके विषयमें ही क्यों कहा गया है ?

समाधान—ठीक है, इसीलिए उक्त निमित्तको छोड़कर श्रुति अन्य निमित्तको कहती है।

शङ्का—कौन अन्य निमित्त है ?

समाधान—वायुके रहनेपर ही चराचर सम्पूर्ण अधिक वृद्धिको प्राप्त होता है, इसलिए वायु अध्यर्ध कहा गया है।

शङ्का—विदग्ध शाकल्यने प्रथम तीन देवताओंके विषयमें पूछा था, अनन्तर दो देवताओंके विषयमें पूछा, द्वित्वसंख्यासे न्यून एकत्व संख्या ही है, अतः तद्विषयक प्रश्न ही उन्हें करना चाहिए, अध्यर्द्धविषयक प्रश्न क्यों किया ?

समाधान—यह ठीक है कि द्वित्वसंख्यासे न्यून एकत्व-संख्या ही है, अन्य संख्या नहीं है, अतः अध्यर्द्धशब्द संख्याविषयमें अयोग्य है, यह समझकर भी उक्त प्रश्नको संख्याविषयक मानकर एक होनेपर भी निमित्तवश वह अध्यर्द्ध कहा जा सकता है। इस अभिप्रायसे श्रीयाज्ञवल्क्यजीने उत्तर दिया—'योऽयं पवते' इत्यादिसे। किस निमित्तसे एक वायु अध्यर्द्ध है, इस अभिप्रायसे पूछा कि कैसे वायु अध्यर्द्ध है? इसका उत्तर यह दिया गया कि वायुके रहनेपर ही संपूर्ण जगत् ऋद्धिको प्राप्त होता है, इसलिए वायु अध्यर्द्ध है। महर्षिका यह उत्तर उपहासके लिए है।

शङ्का—विदग्ध शाकल्यने संख्याके विषयमें पूछा था, उसका उत्तर उपहासात्मक क्यों हुआ ?

समाधान—शाकल्य इस विषयमें मिथ्याज्ञानी हैं, इसलिए उनके मतको छोड़कर सम्यग्ज्ञानी श्रीयाज्ञवल्क्यजीका मत ही उपास्य है, कारण कि उनका मत श्रुतिसम्मत है। वायुके रहनेपर ही सब जगत् ऋद्धिको प्राप्त होता है, यही श्रुतिसंमत मत

अनन्तेष्वेषु देवेषु यो यो देव उपास्यते ।
तेन तेन स्वरूपेण प्राण एक उपास्यते ॥ १० ॥
इति दर्शयितुं देवभेदानां प्राणरूपता ।
निर्णीता प्राणदेवोऽयं परोक्षं ब्रह्म भण्यते ॥ ११ ॥
स्वरूपमपि सद्ब्रह्म स्वाविद्याव्यवधानतः ।
परोक्षं भाति तत्तस्मादुपास्यं चित्तशुद्धये ॥ १२ ॥

है। यह बतलानेके लिए, आशय यह कि पूर्वोक्त अधिकतत्त्वनिमित्तक ही अध्यर्धशब्दका प्रयोग वायुमें नहीं है, यह श्रौत निष्कर्ष है। शाकल्यका यह अभिप्राय था कि वायु संपूर्णदेवतात्मक होनेसे अधिक है और तदन्य अग्नि आदि देवता वाय्वात्मक हैं, परन्तु कनीयान् होनेसे अर्द्ध हैं, अतः वायुमें दोनों निमित्तोंके होनेसे वायु अध्यर्द्ध है। पर यह याज्ञवल्क्यको अभीष्ट नहीं है, अतः उन्होंने श्रौत निमित्त ही कहा ॥९॥

'अनन्तेष्वेषु' इत्यादि। सब देवविस्तार जगत्का कारण है, यह कहनेका प्रकृतमें तात्पर्य यह है कि देवता अनन्त हैं। उनमें से जिस जिस रूपसे जिस देवताकी उपासना की जाती है, उस उस रूपसे केवल प्राणदेवताकी ही उपासना होती है।

शङ्का—क्यों ?

समाधान—जो अन्य पदार्थ हैं, वे सब प्राणमें ही अन्तर्भूत हैं। शेष देवता केवल प्राणकी महिमामात्र हैं, स्वतन्त्र नहीं ॥ १० ॥

'इति दर्शयितुम्' इत्यादि। पूर्वोक्त निष्कर्षको समझानेके लिए देवताविशेषोंमें प्राणरूपता कही गई है। जैसे महिम्नस्तोत्रमें कहा है—'रुचीनां वैचित्र्यादृजुकुटिलनानापथजुषां नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव'। अतएव गीतामें भी भगवान्ने स्पष्ट ही कहा है—'तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम्' इत्यादि। परमात्मा सर्वात्मक हैं; उनसे अन्य देवता हैं ही नहीं, अतः किसी भी रूपसे पूजा की जायगी तो वह परमेश्वरकी ही पूजा होगी, 'स ब्रह्म त्यदित्याचक्षते' इसका अर्थ यह है—वही प्राणदेवता परोक्षवाची 'त्यत्' शब्दसे ब्रह्म कहा जाता है।

शङ्का—ब्रह्म तो अपरोक्ष है, अतः अपरोक्षसे ही अभिधान क्यों नहीं हुआ ?

समाधान—'परोक्षप्रिया हि देवाः' इस न्यायके अनुसार उक्तशब्दप्रयोग ही समुचित है ॥ ११ ॥

'स्वरूपमपि' इत्यादि।

भूकामरूपव्योमानि तमोरूपजलान्यथो ।
रेत इत्यष्टधा भिन्नं ब्रह्मोपास्यमुदीर्यते ॥ १३ ॥

श्रुतिः—पृथिव्येव यस्यायतनमग्निर्लोको मनोज्योतिर्यो वै तं पुरुषं विद्यात्सर्वस्यात्मनः परायणꣳ स वै वेदिता स्याद्याज्ञवल्क्य वेद वा अहं तं पुरुषꣳ सर्वस्यात्मनः परायणं यमात्थ य एवायꣳ शारीरः पुरुषः स एष वदैव शाकल्य तस्य का देवतेत्यमृतमिति होवाच ॥ १० ॥

शङ्का—'यत्साक्षादपरोक्षाद् ब्रह्म' इत्यादि श्रुतियोंसे ब्रह्म जब स्वापरोक्षानुभव-स्वरूप है, परोक्ष है ही नहीं, तब वह परोक्ष कैसे होगा ?

समाधान—अविद्याके व्यवधानसे वह परोक्ष हो गया है, अतः परोक्ष ब्रह्मकी उपासना करनी चाहिए ।

शङ्का—किसलिए ?

समाधान—चित्तशुद्धिके लिए । भाव यह है कि यद्यपि ब्रह्म अपरोक्ष है, तथापि अविद्यावृत होनेसे अपरोक्षरूपसे उसका भान नहीं होता, अतः उक्त भानके लिए श्रवण, मनन आदिका शास्त्रोंमें विधान है ।

शङ्का—श्रवण आदिसे कब ज्ञान होगा ?

समाधान—जब चित्त शुद्ध होगा । चित्तके शुद्ध होनेपर ही उक्तोपायसे तत्त्वज्ञानकी उत्पत्ति, तदनन्तर अविद्याकी निवृत्ति, तदनन्तर स्वरूपसाक्षात्कार, तदनन्तर परम पुरुषार्थका लाभ और कृतकृत्यता होती है ॥ १२ ॥

'भूकामरूप०' इत्यादि । भूः यानी पृथिवी, काम, रूप यानी शुक्ल आदि, आकाश, तम यानी अन्धकार, रूप यानी प्रकाशक, जल और रेत इस प्रकार आठ प्रकारसे भिन्न ब्रह्म उपास्य कहा जाता है। इस विषयमें विशेष आगे चल कर कहेंगे ॥१३॥

'पृथिव्येव' इत्यादि श्रुति । जिस देवताका पृथिवी ही शरीर है, अग्निलोक (लोकयति अनेन इति लोकः) नेत्र है, मन ज्योति है, क्योंकि मनो द्वारा ही जीव सङ्कल्प, विकल्प आदि करता है, पृथिवी आदिका अभिमानी शरीरेन्द्रियवान् देव है, जो इस प्रकारके पुरुषको जानता है, वह सबके आत्माओंको जानेगा ।

शङ्का—क्यों ?

समाधान—वही सब कार्यकरणसङ्घात आध्यात्मिक आत्माका परम अयन आश्रय है । वही वस्तुतः आत्मज्ञानी है, जो इस परायणको जानता है । मातृज-

क्षितिदेहोऽग्निनयनो मनःसङ्कल्पसाधनः ।
देवस्तिष्ठति देहेषु त्वगसृङ्मांसरूपधृक् ॥ १४ ॥

त्वक्, माँस और रुधिर रूपसे जो क्षेत्रस्थानीय है और बीजस्थानीय पितृज जो अस्थि, मज्जा और शुक्ररूप है, इन दोनोंका परम अयन है । इसीका ज्ञाता सर्वात्मज्ञाता है, इसीके विज्ञानसे पण्डित होता है । श्रीयाज्ञवल्क्यजीने उत्तर दिया कि हम उस परायणको जानते हैं, जिसको तुम कहते हो । यदि आप जानते हैं, तो उस पुरुषको कहिये—वह कैसा है ? सुनो, जैसा वह है, जो वह शारीर पार्थिवांश शरीरमें स्थित मातृज कोशत्रयरूप है । यही वह देव है, हे शाकल्य, आपने जिसे पूछा है । किन्तु इसमें कुछ विशेषणान्तर कहना है, उसे हे शाकल्य, कहो ।

शङ्का—शाकल्य तो प्रष्टा है, याज्ञवल्क्य वक्ता हैं, ऐसी परिस्थितिमें श्रीयाज्ञवल्क्यजीने क्यों पूछा ?

समाधान—ठीक है, श्रुतिमें 'वदेव' आया है, परन्तु आचार्य श्रीभाष्यकारने उसका 'पृच्छैव' अर्थ किया है, अर्थात् जो विशेषणान्तर है, उसके लिए अवश्य पूछो, इस तात्पर्यसे श्रीयाज्ञवल्क्यका पूछना अनुचित नहीं है, पर श्रीयाज्ञवल्यजीके उक्त व्यवहारसे शाकल्यको क्रोध हुआ । जैसे अङ्कुशसे पीडित गज क्रुद्ध होता है, वैसे ही क्रुद्ध होकर शाकल्य बोले—उस शारीरका देवता कौन है ? जिससे उसकी उत्पत्ति होती है, याज्ञवल्क्यजीने कहा—अमृत है ।

शङ्का—अमृत कहनेका तात्पर्य्य क्या है ?

समाधान—भुक्त अन्नका रस जो मातृज लोहितकी निष्पत्तिका कारण है, उस अन्नरससे रुधिर होता है, जो स्त्रियोंमें रहता है, वही लोहितमय शरीर बीजका आश्रय है ॥ १० ॥

'क्षिति०' इत्यादि । क्षिति पृथिवी जिसकी देह है, अग्नि जिसका नेत्र है, मन ही जिसके सङ्कल्पादिका साधन है एवं भूतपृथिवीका अभिमानी जो देवता है, उसको जो जानता है, वही पण्डित है । तुम उसको न जानकर क्यों पण्डितमानी होते हो ? श्रीयाज्ञवल्क्यजीने उत्तर दिया—यदि इतने ज्ञानसे ही कोई पण्डित होता है, तो हे शाकल्य, उसको मैं जानता हूँ । शाकल्यजीने पूछा अच्छा, तो उसका देवता कौन है ?

समाधान—अमृत ।

पितृजन्यास्थिमज्जादेराश्रयोऽस्य तु कारणम् ।
मातृभुक्तान्नजं बीर्यं प्रथमोपास्तिरीदृशी ॥ १५ ॥

काम एव यस्यायतन१ँ हृदयं लोको मनोज्योतिर्यो वै तं पुरुषं विद्यात् सर्वस्यात्मनः परायण१ँ स वै वेदिता स्याद्याज्ञवल्क्य वेद वा अहं तं पुरुष१ँ सर्वस्यात्मनः परायणं यमात्थ य एवायं काममयः पुरुषः स एष वदैव शाकल्य तस्य का देवतेति स्त्रिय इति होवाच ॥ ११ ॥

कामदेहो बुद्धिनेत्रो मनोज्योतिः सुखाश्रयः ।
रतीच्छात्मा स्त्रिया दीप्यो द्वितीयोपास्तिरीदृशी ॥ १६ ॥
शुक्लादीन्यत्र रूपाणि भास्वराण्युत्तरत्र तु ।
देवो वर्णाश्रयः सूर्यस्तद्धेतौ दृशि सत्यगीः ॥ १७ ॥

शङ्का—देवताका प्रश्न हुआ और उत्तर है—अमृत, यह तो प्रश्नका उत्तर होता नहीं ?

समाधान—जिससे जिसको सिद्धि मिलती है, वही उसका देवता है । अन्नरससे ही उक्त देवताकी निष्पत्ति होती है, अतः उसका वही देवता है ।

शङ्का—तो श्रीयाज्ञवल्क्यजीने अन्नरस न कहकर अमृत क्यों कहा ?

समाधान—स्त्रीसे उपभुक्त अन्नका जो रस होता है, वही मातृज रुधिरका हेतु है, वही अमृत कहा गया है। रससे शोणित होता है—बीजाश्रित शोणितसे शरीरी जीव जन्म लेता है । किसीका मत यह है कि चन्द्रमामें स्थित जो अमृत है अर्थात् जो जल है, उसका भी अमृत नाम है—मेघसे उसकी वृष्टि होती है। उसीसे पृथिवी और शरीरकी दृढ़ता होती है ॥ १४ ॥

'पितृजन्या०' इत्यादि । पितृजन्य अस्थि, मज्जा आदिका आश्रय और शारीरका कारण मातृभुक्त अन्नसे जायमान वीर्य है । प्रथम इसी प्रकारसे उपासना होती है । अन्नमय कोश यही है ॥ १५ ॥

'काम एव यस्यायतनम्' इत्यादि श्रुति । इसका अर्थ स्पष्ट है तथा सारके व्याख्यानसे भी गतार्थ है ॥११॥

'कामदेहो' इत्यादि । हृदयसे बुद्धि विवक्षित है, वही नेत्र हैं यानी प्रकाशक है, क्योंकि बुद्धिसे ही सब जीव देखते हैं । यह काममय जीव कामभावनासे युक्त होता है । कामकी देवता स्त्रियाँ है, क्योंकि स्त्रियोंसे ही काम होता है ॥ १६ ॥

'शुक्ला०' इत्यादि । 'रूपाण्येव' इत्यादि श्रुतिमें रूपशब्दसे शुक्ल, कृष्ण आदि

अधिदैवाध्यात्मभागौ शेषेषूपासनेष्वपि ।
व्याख्यातव्यौ यथायोगमित्युक्तोपास्तिरष्टधा ॥ १८ ॥

श्रुतिः—रूपाण्येव यस्यायतनं चक्षुर्लोको मनोज्योतिर्यो वै तं पुरुषं विद्यात्सर्वस्यात्मनः परायणꣳ स वै वेदिता स्याद्याज्ञवल्क्य वेद वा अहं तं पुरुषꣳ सर्वस्यात्मनः परायणं यमात्थ य एवासावादित्ये पुरुषः स एष वदैव शाकल्य तस्य का देवतेति सत्यमिति होवाच ॥ १२ ॥

आकाश एव यस्यायतनꣳ श्रोत्रं लोको मनोज्योतिर्यो वै तं पुरुषं विद्यात्सर्वस्यात्मनः परायणꣳ स वै वेदिता स्याद्याज्ञवल्क्य वेद वा अहं तं पुरुषꣳ सर्वस्यात्मनः परायणं यमात्थ य एवायꣳ श्रौत्रः प्रातिश्रुत्कः पुरुषः स एष वदैव शाकल्य तस्य का देवतेति दिश इति होवाच ॥ १३ ॥

रूप विवक्षित हैं। पन्द्रहवीं श्रुतिमें रूपशब्द प्रकाशकपरक है, अन्यथा पुनरुक्ति-दोष हो जायगा। उक्त रूपोंका आयतन सूर्य है, क्योंकि सूर्यसे ही सब रूपोंका प्रकाश होता है।

शङ्का—जिसको चक्षुसे दर्शन होता है, मनसे संकल्प होता है, वह आदित्य-मण्डलमें कैसे ?

समाधान—सब रूपोंका प्रकाश आदित्यसे ही होता है, अतः समष्टि-भावसे सूर्यका निर्देश है। सावित्र पुरुष ही रूपायतन है, उसका सत्य कारण है—चक्षु।

शङ्का—आदित्यका कारण चक्षु कैसे है ?

समाधान—'चक्षोः सूर्यो अजायत' यह श्रुति ही आदित्यका कारण चक्षु है, यह स्पष्ट कहती है ॥ १७ ॥

'अधिदैवा०' इत्यादि। शेष वक्ष्यमाण उपासनाओंमें भी अधिदेव और अध्यात्म-भाग उक्त व्याख्यानसे ही व्याख्यात है। विशेष व्याख्येय नहीं है, अतः उपासना आठ प्रकारकी हुई। अग्रिम कई ब्राह्मणोंमें वार्तिकसार नहीं है, क्योंकि उनमें विशेष कुछ वक्तव्य नहीं है, इसलिए उक्त व्याख्यानप्रकारका अतिदेश कर दिया गया है। ऐसे स्थलोंमें ब्राह्मणोंकी केवल संस्कृतमें व्याख्या है, वार्तिक नहीं है; फिर भी जिज्ञासुओंके लिए भाषाव्याख्यानकी आवश्यकता समझ कर संक्षेपसे व्याख्या कर देते हैं ॥ १८ ॥

'आकाश०' इत्यादि श्रुति। जिसका आकाश आयतन है, श्रोत्र लोक है, मन

तम एव यस्यायतनꣳ हृदयं लोको मनोज्योतिर्यो वै तं पुरुषं विद्यात्सर्वस्यात्मनः परायणꣳ स वै वेदिता स्याद्याज्ञवल्क्य वेद वा अहं तं पुरुषꣳ सर्वस्यात्मनः परायणं यमात्थ य एवायं छायामयः पुरुषः स एष वदैव शाकल्य तस्य का देवतेति मृत्युरिति होवाच ॥ १४ ॥

रूपाण्येव यस्यायतनं चक्षुर्लोको मनोज्योतिर्यो वै तं पुरुषं विद्यात्सर्वस्यात्मनः परायणꣳ स वै वेदिता स्याद्याज्ञवल्क्य वेद वा अहं तं पुरुषꣳ सर्वस्यात्मनः परायणं यमात्थ य एवायमादर्शे पुरुषः स एष वदैव शाकल्य तस्य का देवतेत्यसुरिति होवाच ॥ १५ ॥

आप एव यस्यायतनꣳ हृदयं लोको मनोज्योतिर्यो वै तं पुरुषं विद्यात्सर्वस्यात्मनः परायणꣳ स वै वेदिता स्याद्याज्ञवल्क्य वेद वा अहं तं पुरुषꣳ सर्वस्यात्मनः परायणं यमात्थ य एवायमप्सु पुरुषः स एष वदैव शाकल्य तस्य का देवतेति वरुण इति होवाच ॥ १६ ॥

ज्योति है इत्यादि पूर्ववत् समझना चाहिए। सुननेके समय जो श्रोत्रमें रहता है, वही प्रातिश्रुत्क पुरुष है। उसका देवता दिशा है ॥१३॥

'तम एव' इत्यादि श्रुति। तम यानी रात्रिका अन्धकार, अध्यात्म—छायामय पुरुष—यानी अज्ञानमय पुरुष, उसका देवता मृत्यु है, क्योंकि 'मृत्युनैवेदमावृतम्' इत्यादि श्रुतिसे मृत्यु ही अज्ञानमय पुरुषकी उत्पत्तिका कारण है ॥१४॥

'रूपाण्येव' इत्यादि श्रुति। पूर्वमें साधारण रूप कहा गया है, इसमें कारण कह चुके हैं। यहाँपर रूपशब्दसे प्रकाशकविशिष्ट रूपका ग्रहण है। रूपायतनवाले देवका विशेषायतन—प्रतिबिम्बाधार—आदर्श आदि हैं। उसका देवता असु है, क्योंकि प्रतिबिम्बकी उत्पत्ति प्राणसे होती है।

शङ्का—प्राण प्रतिबिम्बका कारण कैसे है?

समाधान—प्राणवान् पुरुषके द्वारा निघर्षण आदिसे मालिन्यके निवृत्त होनेपर ही दर्पणमें प्रतिबिम्ब पड़ता है, अन्यथा नहीं, यह प्रसिद्ध ही है ॥१५॥

'आप एव' इत्यादि श्रुति। जल ही जिसका शरीर है। यहाँ जलसे वापी, कूप, तड़ाग आदिमें रहनेवाला जलमात्र विवक्षित है। देवता वरुण है।

शङ्का—वापी, कूप, तड़ाग आदि विशेषायतनवाले जलका वरुण देवता कैसे है? क्योंकि यहाँ देवताशब्दसे कारण लिया जाता है, उक्त जलोंका कारण वरुण नहीं है।

रेत एव यस्यायतनꣳ हृदयं लोको मनोज्योतिर्यो वै तं पुरुषं विद्यात्सर्वस्यात्मनः परायणꣳ स वै वेदिता स्याद्याज्ञवल्क्य वेद वा अहं तं पुरुषꣳ सर्वस्यात्मनः परायणं यमात्थ य एवायं पुत्रमयः पुरुषः स एष वदैव शाकल्य तस्य का देवतेति प्रजापतिरिति होवाच ॥ १७ ॥

शाकल्येति होवाच याज्ञवल्क्यस्त्वाꣳ स्विदिमे ब्राह्मणा अङ्गारावक्षयणमक्रता ३ इति ॥ १८ ॥

समाधान—ठीक है, यहाँ वरुणशब्दसे किरणों द्वारा भूमिमें गिरनेवाला जल विवक्षित है। वही वापी, कूप आदि जलका कारण है, अतः आयतनके प्रति वरुण कारण है, यह ठीक ही है ॥१६॥

'रेत एव' इत्यादि श्रुति। रेत ही जिसका आयतन है, वही पुत्रमय होकर विशेषायतन है। पुत्रमयसे अस्थि, मज्जा, शुक्र—इनका ग्रहण है। ये भी पितासे ही उत्पन्न होते हैं। उसका देवता प्रजापति है। प्रजापतिका तात्पर्य पितामें है, क्योंकि पितासे ही पुत्रकी उत्पत्ति होती है ॥१७॥

'शाकल्येति होवाच' इत्यादि श्रुति। सम्पूर्ण ग्रन्थका तात्पर्य यह है कि लोक–सामान्याकार पुरुष—विशेषावच्छिन्नरूपसे देव है, वह उक्त प्रकारसे अपना तीन-तीन प्रकारका विभाग कर स्थित है। जो एक-एक देवता कहा है, वह सूत्रात्मा प्राण है। पूर्वोक्त सब उसीके भेद हैं। यह भेद उपासनाके लिए कहा गया है। उत्तर ग्रन्थका तात्पर्य प्रविभक्त समस्त जगत्का आत्मामें उपसंहार करनेमें है। दिग्ज्ञानको छोड़कर जितना ज्ञात था सब पूछ चुके, कुछ बाकी न छोड़ा। सबका उत्तर ठीक-ठीक श्रीयाज्ञवक्यजीने दिया। अनन्तर शाकल्य चुप हो गये। तदनन्तर श्रीयाज्ञवल्क्य ग्रहगृहीत (क्रोधवश) बोले—हे शाकल्य, इन ब्राह्मणोंने, जो सभामें उपस्थित हैं, तुमको अङ्गारावक्षयण कर दिया है। 'अङ्गारा अवक्षीयन्ते यस्मिन् सन्दंशादौ तत्' यानी सँड़सीसे पकड़कर जैसे अङ्गार नष्ट किया जाता है, वैसे ही तुमको बना दिया है, क्योंकि 'अतिनिर्मथनादग्निश्चन्दनादपि जायते' यानी चन्दन शीतस्वभाव है, पर अत्यन्त रगड़नेपर उससे भी आग निकलती है। एवं अतिशान्तस्वभाव श्रीयाज्ञवल्क्यजी हैं, किन्तु दुराग्रहपूर्वक विवादसे उत्पन्न अग्नि शाकल्यको भस्म कर देगी। तुम बालकके समान यह नहीं समझ रहे हो कि हम अग्निमें कूद रहे हैं, ये ब्राह्मण भी

पञ्चधोपासनं प्रष्टुं क्षोभयामास वाक्यतः ।
त्वामङ्गारावक्षयणं संदंशं चक्रुरित्यतः ॥ १९ ॥

श्रुतिः—याज्ञवल्क्येति होवाच शाकल्यो यदिदं कुरुपञ्चालानां ब्राह्मणानत्यवादीः किं ब्रह्म विद्वानिति दिशो वेद सदेवाः सप्रतिष्ठा इति यद्दिशो वेत्थ सदेवाः सप्रतिष्ठाः ॥ १९ ॥

श्रुतिः—किंदेवतोऽस्यां प्राच्यां दिश्यसीत्यादित्यदेवत इति स आदित्यः कस्मिन् प्रतिष्ठित इति चक्षुषीति कस्मिन्नु चक्षुः प्रतिष्ठितमिति रूपेष्विति

तुमको मना नहीं कर रहे हैं, इससे जान पड़ता है कि इन लोगोंकी भी सम्मति इस कार्यमें है । किन्तु मैं करुणासे कहता हूँ कि तुम आत्मनाशकी चेष्टा कर रहे हो ॥१८॥

'पञ्चधोपासनम्' इत्यादि श्लोकका अर्थ 'शाकल्येति' इत्यादि श्रुत्यर्थके व्याख्यानसे ही व्याख्यात हो चुका ॥ १९ ॥

'याज्ञवल्क्येति' इत्यादि श्रुति । दैवदुर्विपाकसे मुनिका अभिप्राय न समझकर शाकल्यने फिर प्रश्न करनेके लिए मुनिका संबोधन किया—हे याज्ञवल्क्य इत्यादि । शाकल्यका अभिप्राय यह था कि हमको शापादि द्वारा ये मारना चाहते हैं, इससे पहले ही हम इन ब्राह्मणों द्वारा इनको मरवा देंगे ।

शङ्का—क्या शाकल्यको ब्रह्महत्याका भय नहीं था ?

समाधान—'जिघांसन्तं जिघांसीत न तत्र ब्रह्महा भवेत्' इस वचनसे मारनेवालेको मारनेसे ब्रह्महत्या आदि दोष नहीं होते, ऐसी धर्मशास्त्रकी आज्ञा है । इससे निर्भय होकर क्रोधके साथ शाकल्य बोले—कुरु तथा पाञ्चाल देशके ब्राह्मण विद्वानोंका तुम अधिक्षेप कर रहे हो अर्थात् ये लोग डरकर भी स्वयं कुछ नहीं कह रहे हैं, किन्तु तुम्हें खड़ा कर दिया है । पर यह अधिक्षेप उचित नहीं है। मैं तुमसे यह पूछता हूँ कि क्या तुम अपनेको ब्रह्मवित् मानकर इनका अधिक्षेप कर रहे हो या अज्ञ होकर ? यदि अज्ञ होकर कर रहे हो, तो ब्रह्मज्ञानीकी पणभूत गौओंको नहीं ले जा सकते हो । यदि अपनेको ब्रह्मज्ञानी मानते हो, तो यह कहो कि कौन विद्या फलवती है ? याज्ञवल्क्यजीने कहा दिग्विज्ञान हमें है, तत्रापि केवल दिङ्मात्रका ज्ञान ही दिग्-विज्ञान नहीं, किन्तु देवताओंकी स्थितिके साथ भी दिग्विज्ञान हमें है । शाकल्य बोले यदि तुम सदेव और सप्रतिष्ठ दिशाओंको जानते हो, यदि इस विषयका तुम्हें प्रत्यक्ष है, तो बोलो तुम किस देवतासे विशिष्ट होकर पूर्वदिशामें हो।

चक्षुषा हि रूपाणि पश्यति कस्मिन्नु रूपाणि प्रतिष्ठितानीति हृदय इति होवाच हृदयेन हि रूपाणि जानाति हृदये ह्येव रूपाणि प्रतिष्ठितानि भवन्तीत्येवमेवैतद्याज्ञवल्क्य ॥ २० ॥

शङ्का—पूर्वदिशामें कौन देवता है? ऐसा प्रश्न होना चाहिए था, क्योंकि याज्ञवल्क्यजीने यह कहा है कि हमें केवल दिशाओंका ही ज्ञान नहीं है, किन्तु देवताविशिष्ट दिशाओंका ज्ञान है। 'का देवता अस्य तव दिग्भूतस्येति किंदेवत' इससे तो किंदेवताक दिक्स्वरूप तुम पूर्वदिशामें हो, ऐसा प्रश्न सूचित होता है, जो प्रकरणानुरूप नहीं है। क्योंकि उक्त प्रश्नसे देवता दिशामें विशेषणतया नहीं प्रतीत होता, किन्तु मुनिमें विशेषणतया प्रतीत होता है?

समाधान—हां, ठीक है। दिशाओंमें पञ्चधाविभक्त अपने हृदयको आत्मा मानकर यानी पाँच दिशाओंका आत्मा मदीय हृदय है, यह मानकर हम ही दिगात्मा हैं, यह निश्चय कर श्रीयाज्ञवल्क्यजी बोले थे कि देवसे प्रतिष्ठित दिशाओंको हम जानते हैं, ऐसी ही याज्ञवल्क्यकी प्रतिज्ञा थी, तदनुसार ही शाकल्यका प्रश्न है कि 'किंदेवतस्त्वमस्यां दिश्यसि' अर्थात् किस देवतासे तुम पूर्वदिग्रूप सम्पन्न हुए हो, अतः शाकल्यका प्रश्न उचित है। याज्ञवल्क्यजीने उत्तर दिया कि 'आदित्यदेवत इति'। पूर्वदिशामें मेरी देवता आदित्य है। वेदमें यह लिखा है कि 'यां यां देवतामुपास्ते इहैव तद्भूतः तां तां प्रतिपद्यते' अर्थात् जिस जिस देवताकी जो उपासना करता है, वह उपासक इसी लोकमें तत्तद्देवतास्वरूप होकर उस-उस देवताको स्वस्वरूप जानता है। ऐसा ही आगे भी कहेंगे, देव होकर देवको प्राप्त करता है इत्यादि।

शङ्का—वह आदित्य किसमें प्रतिष्ठित है?

समाधान—चक्षुमें। प्रश्न—क्यों? उत्तर—कार्य कारणमें ही प्रतिष्ठित होता है। सूर्यका कारण 'चक्षोः सूर्योऽजायत' इस श्रुतिके अनुसार चक्षु ही है।

शङ्का—किसमें चक्षु प्रतिष्ठित हैं?

समाधान—रूपमें।

शङ्का—चक्षुका कारण तो रूप नहीं है, फिर रूपमें चक्षु कैसे प्रतिष्ठित है?

समाधान—रूपग्रहणके लिए रूपात्मक चक्षु रूपोंके द्वारा प्रयुक्त होता है, रूपोंने अपने ग्रहणके लिए चक्षुका आरम्भ किया है। इसलिए चक्षु रूपप्रयुक्त

साक्षात्करणपर्यन्तं किमुपासनमस्ति ते ।
इति पप्रच्छ स क्षुब्धो दिगुपास्तिं परो जगौ ॥ २० ॥
ध्येयरूपत्वाभिमानः साक्षात्कार उपास्तिषु ।
किंदेवोऽसीत्यतः प्रश्न आदित्योऽस्मीति चोत्तरम् ॥ २१ ॥
स आदित्यो नेत्ररूपद्वारा बुद्धौ प्रतिष्ठितः ।
ऊर्ध्वान्तास्वन्यदिक्ष्वेवं सर्वं बुद्धौ प्रतिष्ठितम् ॥ २२ ॥

होनेसे रूपमें प्रतिष्ठित है । अतः आदित्यके साथ चक्षु पूर्व-दिग्के साथ और उस दिशामें स्थित पदार्थोंके साथ रूपमें प्रतिष्ठित है, जिस गुणसे जो इन्द्रिय उत्पन्न है, वह उस गुणकी ग्राहक है ।

शङ्का—रूप किसमें प्रतिष्ठित है ?

समाधान—हृदयमें । हृदयारब्ध रूप है । हृदय रूपाकारसे परिणत होता है। अतएव सब प्राणी हृदयसे रूपको देखते हैं । हृदयशब्दसे बुद्धि और मन दोनोंका ग्रहण है। हृदयकी दो वृत्तियां होती है, एक अध्यवसायात्मक, जिसको बुद्धि कहते हैं और दूसरी सङ्कल्पाद्यात्मक, जिसको मन कहते हैं। व्यावृत्त-व्यवहारके लिए बुद्धि और मन आदि शब्द हैं और संमिलित-व्यवहारके लिए अन्तःकरण और हृदय आदि शब्द हैं, अतः हृदयमें ही रूप प्रतिष्ठित है । हृदयसे ही वासनात्मक रूपका स्मरण होता है, इसलिए हृदयमें रूप प्रतिष्ठित है, यह कहना उचित है । शाकल्यने कहा ऐसा ही यह है—याज्ञवल्क्य ॥ १९,२० ॥

'साक्षात्करणपर्यन्तम्' इत्यादि दो श्लोकोंका व्याख्यान श्रुतिके व्याख्यानसे ही गतार्थ है । अतः पृथक् व्याख्यान नहीं किया ॥ २०,२१ ॥

'स अदित्यो' इत्यादि । वह आदित्य नेत्ररूप द्वारा बुद्धिमें प्रतिष्ठित है। ऊर्द्ध्वा-पर्यन्त दिशाओंमें यही न्याय है । सब बुद्धिमें प्रतिष्ठित है, यह निष्कर्ष है ।

शङ्का—श्रुतिमें ऊर्द्ध्वका नाम नहीं है ।

समाधान—ध्रुवाका नाम है । ध्रुवासे ऊर्द्ध्व दिशा विवक्षित है, यह विषय उसके व्याख्यानमें स्फुट होगा। 'किंदेवतोऽस्यां प्राच्याम्' इत्यादि न्याय 'किंदेवतो दक्षिणायाम्' इत्यादिमें भी समझना चाहिए। 'दिशो वेद' इत्यादि श्रुतिसे दिशाओंके विभाग द्वारा प्राणदेवताका पाँच प्रकारसे ध्यान कहा गया है । उसकी प्रतिपादक श्रुतिका आशय यह है—आद्य पर्यायसे रूपप्रपञ्चका उपसंहार हृदयमें कहा गया है और

श्रुतिः—किंदेवतोऽस्यां दक्षिणायां दिश्यसीति यमदेवत इति स यमः कस्मिन्प्रतिष्ठित इति यज्ञ इति कस्मिन्नु यज्ञः प्रतिष्ठित इति दक्षिणायामिति कस्मिन्नु दक्षिणा प्रतिष्ठितेति श्रद्धायामिति यदा ह्येव श्रद्धत्तेऽथ दक्षिणां ददाति श्रद्धाया१ ह्येव दक्षिणा प्रतिष्ठितेति कस्मिन्नु श्रद्धा प्रतिष्ठितेति हृदय इति होवाच हृदयेन हि श्रद्धां जानाति हृदये ह्येव श्रद्धा प्रतिष्ठिता भवतीत्येवमेवैतद्याज्ञवल्क्य ॥ २१ ॥

'दक्षिणायाम्' इत्यादि तीन पर्य्यायोंसे उसीमें कर्मोंका उपसंहार कहा गया है और 'ध्रुवायाम्' इत्यादि अन्तिम पर्यायसे उसीमें नामका उपसंहार कहा गया है। अग्निकी प्रतिष्ठा वाक् है। वाग् हृदयमें प्रतिष्ठित है, इस प्रकार नामरूपकर्मात्मक सम्पूर्ण जगत्का उपसंहार हृदयमें ही श्रुतिने कहा है ॥२२॥

'किं देवतोऽस्याम्' इत्यादि श्रुति ।

शङ्का—दक्षिणदिग्भूत आपकी देवता कौन है ?

समाधान—श्रीयाज्ञवल्क्यजीने स्वकीय हृदयका पञ्चधा विभागकर स्वयं दिगात्मभूत होकर उसके द्वारा अपनेको समस्तजगदात्मक समझकर पूर्वकी नाईं उत्तर दिया कि 'यमदेवत' यानी दक्षिणदिग्रूप हमारा देवता यम है ।

शङ्का—यम किसमें प्रतिष्ठित है ?

समाधान—यज्ञमें—यज्ञरूप कारणमें—दक्षिण दिशाके साथ यम प्रतिष्ठित है ।

शङ्का—यज्ञका कार्य यम है, ऐसा कैसे कहते हो ?

समाधान—ऋत्विग् आदि द्वारा किये गये यज्ञको दक्षिणा द्वारा यजमान खरीदकर उस यज्ञसे दक्षिण दिशाके साथ यमका जय करता है, अतः यज्ञमें यम कार्य होनेसे यम यज्ञमें दक्षिण दिशाके साथ प्रतिष्ठित है ।

शङ्का—यज्ञ किसमें प्रतिष्ठित है ?

समाधान—दक्षिणामें, क्योंकि दक्षिणा द्वारा ही यज्ञ होता है, अतः यज्ञ दक्षिणाकार्य है ।

शङ्का—दक्षिणा किसमें प्रतिष्ठित है ?

समाधान—श्रद्धामें । श्रद्धा यानी भक्ति या आस्तिक्यबुद्धिसे देनेकी इच्छा ।

शङ्का—दक्षिणा उसमें कैसे प्रतिष्ठित है ?

समाधान—जब यजमान श्रद्धा करता है, तब दक्षिणा देता है, अतः दक्षिणा श्रद्धामें ही प्रतिष्ठित है ।

किंदेवतोऽस्यां प्रतीच्यां दिश्यसीति वरुणदेवत इति स वरुणः कस्मिन् प्रतिष्ठित इत्यप्स्विति कस्मिन्न्वापः प्रतिष्ठिता इति रेतसीति कस्मिन्नु रेतः प्रतिष्ठितमिति हृदय इति तस्मादपि प्रतिरूपं जातमाहुर्हृदयादिव सृप्तो हृदयादिव निर्मित इति हृदये ह्येव रेतः प्रतिष्ठितं भवतीत्येवमेवैतद्याज्ञवल्क्य ॥ २२ ॥

किंदेवतोऽस्यामुदीच्यां दिश्यसीति सोमदेवत इति स सोमः कस्मिन्प्रतिष्ठित इति दीक्षायामिति कस्मिन्नु दीक्षा प्रतिष्ठितेति सत्य इति तस्मादपि दीक्षितमाहुः सत्यं वदेति सत्ये ह्येव दीक्षा प्रतिष्ठितेति कस्मिन्नु सत्यं प्रतिष्ठितमिति हृदय इति होवाच हृदयेन हि सत्यं जानाति हृदये ह्येव सत्यं प्रतिष्ठितं भवतीत्येवमेवैतद्याज्ञवल्क्य ॥ २३ ॥

शङ्का—श्रद्धा किसमें प्रतिष्ठित है ?

समाधान—हृदयमें । श्रद्धा हृदयकी ही वृत्ति है, क्योंकि हृदयसे ही श्रद्धाको लोग जानते हैं । वृत्ति वृत्तिमान्‌में ही प्रतिष्ठित होती है, अतः हृदयमें ही श्रद्धा प्रतिष्ठित है । हाँ, ऐसा ही है, याज्ञवल्क्य ! इस प्रकार शाकल्यने स्वीकार किया ॥२१॥

'किंदेवतोऽस्यां प्रतीच्यां दिश्यसि' इत्यादि श्रुति । पश्चिम दिशामें मेरा देवता वरुण है ।

शङ्का—वरुण किसमें प्रतिष्ठित है ?

समाधान—जलमें । जल वरुणका कारण है, क्योंकि 'श्रद्धा वा आपः' और 'श्रद्धातो वरुणमसृजत' ऐसी श्रुति है ।

शङ्का—जल किसमें प्रतिष्ठित है ?

समाधान—रेतमें, क्योंकि 'रेतसो हि आपः सृष्टाः' यह श्रुति है ।

शङ्का—रेत किसमें प्रतिष्ठित है ?

समाधान—हृदयमें, क्योंकि वह हृदयका कार्य है—रेत (काम) हृदयकी वृत्ति है, कामी पुरुषके हृदयसे रेत गिरता है । इसीसे अनुरूप पुत्र होनेपर लोग कहते हैं कि इसके पिताके हृदयसे पुत्र उत्पन्न हुआ । हृदयसे ही मानो यह बनाया गया है । जैसे कि सोनेसे कुण्डल बनता है । हृदयमें ही रेत प्रतिष्ठित है, शाकल्यने कहा हाँ ठीक है—याज्ञवल्क्य ॥ २२ ॥

'किंदेवतोऽस्यामुदीच्याम्' इत्यादि । 'सोमदेवत' इसमें सोमलता और चन्द्रमा दोनोंके तात्पर्यसे सोमशब्दका प्रयोग आया है ।

किंदेवतोऽस्यां ध्रुवायां दिश्यसीत्यग्निदेवत इति सोऽग्निः कस्मिन्प्रतिष्ठित इति वाचीति कस्मिन्नु वाक्प्रतिष्ठितेति हृदय इति कस्मिन्नु हृदयं प्रतिष्ठितमिति ॥ २४ ॥

शङ्का—वह सोम किसमें प्रतिष्ठित है ?

समाधान—दीक्षामें। क्योंकि दीक्षित यजमान सोमक्रयण करता है, क्रीत, सोमसे यज्ञ कर ज्ञानी होकर उत्तर दिग्-रूपतापन्न होता है। सोमदेवतासे अधिष्ठित उत्तर दिशा है।

शङ्का—किसमें दीक्षा प्रतिष्ठित है ?

समाधान—सत्यमें।

शङ्का—क्यों ?

समाधान—यतः सत्यमें दीक्षा प्रतिष्ठित है। इसीसे दीक्षितके प्रति यह कहा गया है कि सत्य बोलो, क्योंकि कारणकी च्युतिसे कार्य भी च्युत न हो। अतः सत्यमें ही दीक्षा प्रतिष्ठित है।

शङ्का—सत्य किसमें प्रतिष्ठित है ?

समाधान—हृदयमें, क्योंकि हृदयसे ही सत्य जाना जाता , अतः हृदय ही सत्य प्रतिष्ठित है। हां, यह ऐसा ही है याज्ञवल्क्य ! यह शाकल्यकी स्वीकृति है ॥ २३ ॥

किंदेवतोऽस्यां ध्रुवायाम् दिश्यसि इत्यादि श्रुति। मेरु पर्वतके चारों ओर रहनेवालोंकी जो अव्यभिचारी ऊर्द्ध्व दिक् है, वह ध्रुवा कहलाती है यानी अव्यभिचरितको ध्रुवलोक कहते हैं।

शङ्का—उसकी देवता कौन है ?

समाधान—अग्नि।

शङ्का—क्यों ?

समाधान—ऊर्द्ध्व दिक् प्रकाशमय है और प्रकाश अग्नि है।

शङ्का—वह अग्नि किसमें प्रतिष्ठत है ?

समाधान—वाग्में ?

शङ्का—वाग् किसमें प्रतिष्ठित है ?

समाधान—हृदयमें। यहांपर श्रीयाज्ञवल्क्यजीने सब दिशाओंमें फैले हुए

हृदयसे सब दिशाओंको आत्मा माना है। सदेव और सप्रतिष्ठ दिग् आत्मस्वरूप है, क्योंकि याज्ञवल्क्य नामरूपकर्मात्मक हैं। सारांश यह कि जो रूप है वह पूर्वदिशाके साथ याज्ञवल्क्यका हृदयस्वरूप है। केवल (ज्ञानरहित) कर्म—पुत्रोत्पादन लक्षण—और ज्ञानसहित कर्म फल और अधिष्ठातृदेवताके साथ कर्मफलात्मक दक्षिण, पश्चिम और उत्तर दिशाएँ याज्ञवल्क्यके हृदयस्वरूप हैं। ध्रुवदिशाके साथ संपूर्ण नाम वाणीके द्वारा उनके हृद्व्यापन्न हैं, इतना ही नहीं, परन्तु जो यह सब रूप, कर्म तथा नाम है, वह सब हृदय ही है। अब सर्वात्मक हृदयके विषयमें पूछते हैं—

शङ्का—हृदय किसमें प्रतिष्ठित है?

समाधान—अहल्लिकशब्दसे शाकल्यका संबोधन कर श्रीयाज्ञवल्क्यजीने उत्तर दिया कि शरीरमें।

शङ्का—पूर्व पूर्व वाक्योंके अनुसार तो यह प्रतीत होता है कि हृदयका आधार अहल्लिक है।

समाधान—नहीं, अहल्लिकशब्द शाकल्यका संबोधन है, जैसे उनका दूसरा नाम विदग्ध है, वैसे ही अहल्लिक भी है।

शङ्का—कैसे?

समाधान—सुनिये, 'अहनि लीयते' इस विग्रहमें लीधातुसे 'क्विप् च' इस सूत्रसे 'क्विप्' करनेपर 'साधनं कृता बहुलम्' से समास कर 'तोर्लि' से लत्व करनेपर 'संज्ञायां कन्' से कन् प्रत्यय कर 'केऽणः' से ह्रस्व कर 'ञ्नित्यादि नित्यम्' से आद्युदात्त अहल्लिकशब्द सिद्ध होता है। वह शाकल्यकी संज्ञा है।

शङ्का—कैसे?

समाधान—जैसे आद्युदात्त विदग्धशब्द है, वैसे ही यह भी आद्युदात्त है।

शङ्का—विदग्ध कैसे आद्युदात्त है?

समाधान—'दह' धातुसे कर्ममें 'क्त' प्रत्यय करनेपर 'दग्ध' शब्दकी निष्पत्ति हुई, तदनन्तर विशब्दके साथ दग्धशब्दका गतिसमास करनेपर 'गतिरनन्तर०' सूत्रसे प्रकृतिस्वर होनेपर विदग्धशब्द आद्युदात्त होता है।

शङ्का—फिर भी प्रसिद्ध 'शाकल्य' या 'विदग्ध' शब्दको छोड़कर 'अहल्लिक' शब्दके प्रयोगमें मुनिका क्या तात्पर्य्य है?

समाधान—जैसे प्रेत दिनमें लीन होता है और रात्रिमें दीख पड़ता है, वैसे ही यह विदग्ध पुरुष भी है, क्योंकि प्रेतके समान भाषण करता है, इस तात्पर्यसे प्रेतार्थक

प्राच्यां रूपोपसंहारो दिक्त्रये कर्म संहृतम् ।
ध्रुवायां संहृतिर्नाम्नो हृद्येवं सर्वसंहृतिः ॥ २३ ॥
निःशेषं ब्रह्मलोकान्तं संहृत्य हृदयात्मना ।
याज्ञवल्क्ये स्थिते भूयः पप्रच्छ हृदयाश्रयम् ॥ २४ ॥
देहस्थे हृदये स्पष्टे मन्यमानोऽन्यमाश्रयम् ।
लीनोऽहनीत्यधिक्षेप्तुं वक्त्येषोऽहल्लिकेत्यमुम् ॥ २५ ॥

अहल्लिकशब्दका प्रयोग किया गया है। मेरा हृदय मेरे शरीरसे अन्यत्र कहाँ रह सकता है ! यह तो साधारण लोग भी जानते हैं। तुम पण्डित होकर पूछते हो कि तुम्हारा हृदय कहाँ प्रतिष्ठित है ? इस प्रकार उसके प्रेतवद् भाषणको देखकर प्रेतार्थक उक्त शब्दका प्रयोग मुनिने चिढ़कर किया है। यदि इस देहसे अतिरिक्त स्थानमें हृदय जायगा, तो अवश्य ही इस शरीरको कुत्ते आदि जानवर खा जायँगे। यह शरीर मरा नहीं है, अतः समझो कि वनसिंहके समान ये दोनों अन्योन्यसंश्रित हैं ॥२४॥

'प्राच्यां रूपो०' इत्यादि। पूर्वदिशामें रूपका उपसंहार किया गया है, दक्षिण, पश्चिम और उत्तर दिशामें कर्मका उपसंहार कहा गया है, ध्रुवदिशामें नामका उपसंहार किया गया है और अन्तमें सबका उपसंहार हृदयमें बतलाया गया है ॥२३॥

'निःशेषम्' इत्यादि। ब्रह्मलोक यानी हिरण्यगर्भलोक। हृदयात्मरूपसे सम्पूर्ण ब्रह्मलोकान्त जगत्का उपसंहार कर जब श्रीयाज्ञवल्क्यजी चुप हो गये, तब शाकल्यने फिर हृदयका आश्रय कौन है ? यह प्रश्न किया ॥ २४ ॥

'देहस्थे' इत्यादि। हृदय देहस्थ है, यह यद्यपि सबपर अतिस्पष्टरूपसे विदित है, तो भी शाकल्य उसे अन्याश्रित मानकर यह प्रश्न करता है कि हृदय किसमें प्रतिष्ठित है ? प्रश्न तो सन्दिग्धविषयका किया जाता है, स्पष्टका नहीं। अतः दिनमें नहीं दीख पड़नेवाले तथा रात्रिमें व्यक्त होनेवाले प्रेतके समान शाकल्य भी है, इस अधिक्षेपके अभिप्रायसे प्रेतवाची 'अहल्लिक' शब्दसे श्रीयाज्ञवल्क्यजीने शाकल्यका संबोधन किया। पूर्वमें कह चुके हैं कि अतिरगड़से जैसे चन्दनसे भी आग निकलती है, वैसे ही अतिविवादसे शान्तप्रकृति याज्ञवल्क्यमहर्षिको भी क्रोध हो ही गया। इसलिए उन्होंने उक्त शब्दका प्रयोग किया। लिङ्गशरीरके बिना स्थूलशरीर नहीं रह सकता और स्थूलशरीरके बिना लिङ्गशरीर नहीं रहता, अतः इन दोनोंकी अन्योन्यसापेक्ष स्थिति है।

श्रुतिः—अहल्लिकेति होवाच याज्ञवल्क्यो यत्रैतदन्यत्रास्मन्मन्यासै यद्ध्येतदन्यत्रास्मत्स्याच्छ्वानो वैनदद्युर्वयाᳪ सि वैनद्विमथ्नीरन्निति ॥ २५ ॥

कस्मिन्नु त्वं चात्मा च प्रतिष्ठितौ स्थ इति प्राण इति कस्मिन्नु प्राणः प्रतिष्ठित इत्यपान इति कस्मिन्न्वपानः प्रतिष्ठित इति व्यान इति कस्मिन्नु व्यानः प्रतिष्ठित इत्युदान इति कस्मिन्नूदानः प्रतिष्ठित इति समान इति ।

शङ्का—सूक्ष्मशरीरके बिना स्थूल शरीर नहीं रहता, यह तो ठीक है, किन्तु स्थूलशरीरके बिना जबतक मुक्ति न हो, तबतक सूक्ष्मशरीर रहता है, ऐसा माननेमें तो कोई अनुपपत्ति नहीं है ?

समाधान—हाँ, स्वरूपसे रह सकता है, पर कोई काम करनेके लायक नहीं रहता । निष्प्रयोजन किसीकी स्थिति नहीं मानी जाती, इसलिए उसका अभाव ही मानना ठीक है और यह भी स्पष्ट है कि जो संहत है, वह परस्परमें आश्रित रहता है । ये दोनों देह भी संहत हैं, अतएव परस्परमें आश्रित ही हैं ॥ २५ ॥

'कस्मिन् नु त्वं चात्मा च प्रतिष्ठितौ' इत्यादि श्रुति । हृदय और शरीर परस्परमें प्रतिष्ठित हैं, यह तो आपने कहा । अब कार्य और कारणके विषयमें प्रश्न करता हूँ, उसका भी उत्तर दीजिए । तुम (शरीर) और आत्मा (हृदय)—ये दोनों किसमें प्रतिष्ठित हैं ।

समाधान—प्राणमें । देह और आत्मा ये दोनों प्राणमें यानी प्राणवृत्तिमें प्रतिष्ठित हैं ।

शङ्का—प्राण किसमें प्रतिष्ठित है ?

समाधान—अपानमें ।

शङ्का—कैसे ?

समाधान—यदि अपान न रहता, तो प्राणवृत्ति प्रथम ही निकल जाती । अतः अपानसे निगृहीत प्राण शरीरमें स्थित रहता है, यह मानना ही चाहिए ।

शङ्का—अपान किसमें प्रतिष्ठित है ?

समाधान—व्यानमें । अपान नीचेसे चला जाता और प्राण ऊपरसे चला जाता, यदि मध्यस्थित व्यान दोनोंको न रोकता ।

शङ्का—व्यान किसमें प्रतिष्ठित है ?

समाधान—उदानमें, उक्त तीनों वृत्तियाँ कीलस्थानापन्न उदानमें यदि बँधी न होती, तो चारों तरफसे निकल जाती ।

स एष नेति नेत्यात्माऽगृह्यो नहि गृह्यतेऽशीर्यो नहि शीर्यतेऽसङ्गो नहि सज्यतेऽसितो न व्यथते न रिष्यत्येतान्यष्टावायतनान्यष्टौ लोका अष्टौ देवा अष्टौ पुरुषाः स यस्तान्पुरुषान्निरुह्य प्रत्युह्यात्यक्रामत्तन्त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि तं चेन्मे न विवक्ष्यसि मूर्द्धा ते विपतिष्यतीति तꣳह न मेने शाकल्य तस्य ह मूर्द्धा विपपातापि हास्य परिमोषिणोऽस्थीन्यपजह्रुरन्यन्मन्यमानाः ॥ २६ ॥

शङ्का—उदान किसमें प्रतिष्ठित है ?

समाधान—समानमें। समानमें ही ये सब वृत्तियाँ प्रतिष्ठित हैं। सारांश यह है कि अन्योन्यप्रतिष्ठित शरीर, हृदय और वायु नियमतः संहत हैं। संहत परस्पर प्रतिष्ठित होते हैं, यह लोकमें प्रसिद्ध है। घटादि पार्थिव आदि चार तत्त्वोंसे बने हैं, वे चारों तत्त्व परस्पर प्रतिष्ठित हैं। यदि घटमें पार्थिव तत्त्व न रहे, तो जल किसके आश्रित रह सकेगा। यदि जल तत्त्व न रहे, तो घटके अवयव बालूके कणके समान एक दूसरेसे नहीं सटेंगे। अवयवके दृढ़ संश्लेपका कारण स्नेह है और स्नेह जलका गुण है, इसलिए संहतका परस्पराश्रयत्व सिद्धान्त ठीक ही है। उक्त सब जिससे नियत हैं, जिसमें प्रतिष्ठित हैं तथा आकाशान्त सम्पूर्ण पदार्थ ओत-प्रोत हैं, उस निरुपाधिक साक्षात् अपरोक्ष ब्रह्मका निर्देश अवश्य करना चाहिए, इसलिए यह आरम्भ है। जो मधुकाण्डमें 'नेति नेति' इत्यादि वाक्यसे निर्दिष्ट है, वह यही है। यह आत्मा अगृह्य है, कोई भी इसका ग्रहण नहीं कर सकता।

शङ्का—क्यों ?

समाधान—आत्मा सम्पूर्ण कार्य-धर्मोंसे अतीत—परे—है, अतः अगृह्य है, जो वस्तु कारणविषय (व्याकृत) है—वही ज्ञानविषय है। यह आत्मतत्त्व उक्तसे विपरीत है, अतः अगृह्य है। वैसे ही अशीर्य है यानी अविनाशी है तथा असङ्ग है। मूर्त्तान्तरसे संबद्ध होकर मूर्त ही सटता है। उदुम्बर आदिकी शाखा और जन्तु ये दोनों मूर्त हैं, इसलिए उक्त शाखा और जन्तुका परस्पर श्लेष होता है। यह उसके विपरीत है, अतः संसक्त नहीं होता। तथा असित (अबद्ध) है जो मूर्त्त होता है, वह बद्ध होता है, यह उससे विपरीत है। अबद्ध होनेसे ही व्यथित भी नहीं होता, अतः हिंसित भी नहीं होता। ग्रहण, विशरण, सङ्ग संबन्ध आदि कार्य-धर्मोंसे रहित होनेके कारण आत्मा हिंसाका विषय नहीं होता अर्थात् कभी नष्ट नहीं होता।

आख्यायिकाक्रमका त्याग कर और आख्यायिकासे सम्बन्ध हटा कर औपनिषद् पुरुषके स्वरूपका निर्देश श्रुतिने अतिशीघ्र कर दिया। अब फिर श्रुति आख्यायिकाके अनुसार ही कहती है—ये जो आठ आयतन हैं (पृथिवी जिसका आयतन है इत्यादिसे कथित), जो आठ लोक—अग्निलोकादि—हैं, जो आठ देव हैं (यानी 'अमृतमिति होवाच' इत्यादिसे कथित) तथा आठ जो शारीर आदि पुरुष हैं; जो कोई पुरुष उन शारीर प्रभृतिको जानकर यानी अष्ट चतुष्क भेदसे लोकस्थितिका उपपादन कर फिर प्राची दिशा आदि द्वारा आत्मामें उपसंहार कर हृदयादि उपाधिधर्मोंसे अतिक्रान्त हो स्वस्वरूपसे व्यवस्थित औपनिषद आशनायादिशून्य है, उस पुरुषको मैं तुमसे पूछता हूँ। अष्टचतुष्कका अर्थ है चारों आठ।

शङ्का—कौन चारों आठ।

समाधान—पृथिवी, काम, रूप, आकाश, तम, रूप, उदक और रेत—ये आठ आयतन हैं। आठ अग्न्यादि लोक यानी अग्नि, हृदय, चक्षु, श्रोत्र, हृदय, चक्षु, हृदय और हृदय। अमृत, स्त्री, सत्य, दिक्, मृत्यु, असु, वरुण और प्रजापति ये देवता आठ। पुरुष—शारीर, काममय, आदित्यस्थ, श्रौत्र प्रातिश्रुत्क, छायामय, दर्पणादिस्थ प्रतिबिम्ब, जलस्थ (वापी, कूप, तड़ाग आदिका अभिमानी) तथा पुत्रमय ये आठ पुरुष हैं। इनका पूर्वमें निरूपण किया गया है। इन सबका हृदयमें उपसंहार कर औपनिषद् पुरुषका प्रतिपादन किया गया है। उस पुरुषको शाकल्यसे श्रीयाज्ञवल्क्यजी ने पूछा और यह भी कहा कि यदि हमसे उसको न कहोगे, तो तुम्हारा सिर गिर जायगा। पर शाकल्य उस पुरुषको नहीं समझ सके, अतः उनका सिर गिर गया। ब्रह्मविद्वेषसे परलोक भी नहीं सुधरता। शाकल्यके शिष्य गुरुकी अस्थियोंको संस्कारार्थ घर ले जा रहे थे। मार्गके बीचमें चोर मिले, उन्होंने समझा कि ये जनक राजाके यहांसे प्राप्त धनको ले जा रहे हैं, इसलिए उन्होंने डाका दे कर उसको छीन लिया। शिष्यगण भाग गये। पूर्वमें अष्टाध्यायीनामक ग्रन्थ जो बृहदारण्यकसे भी प्राचीन हैं, उसमें भी शाकल्य और याज्ञवल्क्यका बराबर विचार हुआ था, विचारके समय याज्ञवल्क्यजीने शाकल्यको शाप दिया था कि तुम पुण्यक्षेत्रसे अतिरिक्त किसी अपुण्य नगरमें तथा अपुण्य तिथिमें मरोगे। तुम्हारी हड्डी भी घर न पहुँच पायेगी। उसीके अनुसार उनकी मृत्यु हुई और अस्थियोंपर भी डाका पड़ा। शास्त्रका तात्पर्य यह है किसीकी भी पराजयके लिए हठसे वाद न करे, यही समझानेके

प्रतिष्ठिते देहलिङ्गे तद्वै प्राणादिवायुषु ।
पञ्चधोपासनं त्वेवं समानान्तं समापितम् ॥ २६ ॥
एतावदेव शाकल्यो वेत्ति मायामयं तु तत् ।
इति मत्वा श्रुतिस्तत्त्वं वदत्युक्तनिषेधतः ॥ २७ ॥
विहायाख्यायिकारूपं स्वेनैव वचसा श्रुतिः ।
स एष नेति नेतीति वक्ति तत्त्वविनिर्णयम् ॥ २८ ॥
समापय्यात्मविज्ञानं याज्ञवल्क्यात्मिका सती ।
पश्चात्पप्रच्छ शाकल्यमब्रह्मिष्ठत्वसिद्धये ॥ २९ ॥

लिए इतना अंश है। सदाचारसूचनके लिए और विद्याकी स्तुतिके लिए यह आख्यायिका कही गई है ॥ २६ ॥

'प्रतिष्ठिते' इत्यादि। देह और लिङ्ग—ये दोनों परस्पर प्रतिष्ठित हैं और समानान्त वायु प्राणादि वायुमें प्रतिष्ठित हैं, इस रीतिसे पांच प्रकारकी प्राणोपासना समाप्त हुई, इसका विशद व्याख्यान हो चुका है, अतः यहां संक्षेपसे व्याख्या की गई है ॥ २६ ॥

'एतावदेव' इत्यादि। इतना ही शाकल्य जानते थे। परन्तु यह सब मायामय है, ब्रह्मज्ञान नहीं है। इसलिए उक्तका निषेध कर श्रुति स्वयं तत्त्वको कहती है ॥ २७ ॥

'विहाया०' इत्यादि।

शङ्का—शाकल्य और याज्ञवल्क्यकी संवादात्मक आख्यायिका है। इस आख्यायिकामें शाकल्यने अक्षरविषयक प्रश्न नहीं किया है, फिर याज्ञवल्क्य अक्षरके निरूपणके लिए क्यों प्रवृत्त हुए ?

समाधान—विज्ञान आदि वाक्यमें पुरुषार्थसमाप्ति वक्ष्यमाण है, वह ब्रह्मज्ञानके बिना हो नहीं सकती, इसलिए श्रुतिने स्वयं निर्विशेष ब्रह्मस्वरूपका निरूपण किया है ॥ २८ ॥

'समापय्या०' इत्यादि। श्रीयाज्ञवल्क्यात्मभूत श्रुतिने आत्मविज्ञानको समाप्त कर शाकल्य ब्रह्मवेत्ता नहीं है, इसकी सिद्धिके लिए शाकल्यसे फिर पूछा।

शङ्का—याज्ञवल्क्यात्मिका प्रयोगसे ग्रन्थकारका तात्पर्य क्या है ?

समाधान—श्रीयाज्ञवल्क्यजी ब्रह्मज्ञान द्वारा सर्वात्मक थे, अतः ग्रन्थकारने श्रुतिको याज्ञवल्क्यात्मिका कहा है।

स एष नेति नेत्यादि सर्वो वा प्रश्न ईक्ष्यताम् ।
मध्ये वाक्यच्छिदोऽसत्त्वादितिशब्दस्य पूर्ववत् ॥ ३० ॥

शङ्का—याज्ञवल्क्य और शाकल्यको ब्रह्मविज्ञानके विषयमें अपने अपने उत्कर्षका प्रकाश करना अभीष्ट था। श्रुति दोनोंको समानरूपसे मान्य है, फिर शाकल्यके पराभवके लिए याज्ञवल्क्यका पक्ष ग्रहण कर क्यों शीघ्र श्रुतिने 'एष न' इत्यादि द्वारा उस अक्षरको कहा, जिसका निरूपण मधुकाण्डमें हो चुका है। 'एष न' इत्यादि श्रुतिवाक्य है, 'एतानि' यहाँसे याज्ञवल्क्यका शाकल्यके प्रति प्रश्न है।

समाधान—जनक राजर्षिकी वह सभा ब्रह्मज्ञानियोंकी थी। दूसरेको बोलनेका अधिकार नहीं था। शाकल्यका ज्ञान माया तक ही था, निर्विशेष ब्रह्म तक नहीं था, फिर भी धृष्टताके साथ वे बोलते गये। श्रीयाज्ञवल्क्यजी ब्रह्मज्ञान द्वारा सबके आत्मस्वरूप थे, इसलिए श्रुति भी तदात्मस्वरूपा थी, अतः श्रुतिका श्रीयाज्ञवल्क्यका पक्षग्रहण करना आत्मपक्षग्रहण ही है और श्रुति तत्त्वनिरूपणपरक है, तत्त्व-निर्णयके लिए श्रुतिकी प्रवृत्ति है।

'एष न' इत्यादि श्रुतिवाक्य है और 'एतानि' याज्ञवल्क्य प्रश्नवाक्य है, यों दो वाक्यपक्ष वस्तुतः ठीक नहीं है, इसलिए एकवाक्यपक्षमें व्याख्यान करते हैं—**'स एष'** इत्यादिसे।

शङ्का—दो वाक्यपक्षमें क्या दोष है?

समाधान—पहला दोष तो यह है कि जबतक एकवाक्यताका संभव हो सके, तबतक दो वाक्योंको मानना अन्याय्य है। द्वितीय दोष है—प्रमाणविरह। यदि दो वाक्य अभीष्ट होते, तो श्रुतिवाक्यके अन्तमें उसका समाप्तिका सूचक इतिशब्द रहता, वह है नहीं, इसलिए सम्पूर्ण प्रश्नवाक्य ही है, यह निर्णय समुचित प्रतीत होता है।

शङ्का—एकवाक्य ही सही, परन्तु शाकल्यके प्रश्नोंका निर्णय करना ही याज्ञवल्क्यका कर्तव्य था, क्योंकि आरम्भसे ही शाकल्य प्रष्टा और याज्ञवल्क्य उत्तर-दाता हैं, ऐसा देखते आये हैं, यहां याज्ञवल्क्य प्रष्टा क्यों हुए। शाकल्यका पराजय तो याज्ञवल्क्यके उत्तरसे ही हो गया।

समाधान—हां, हो गया। पर याज्ञवल्क्यको अब यह दिखलाना है कि शाकल्य ब्रह्मवेत्ता नहीं हैं और इस सभामें ब्रह्मवेत्ताका ही प्रश्नोत्तरमें अधिकार है, इसके विपरीत शाकल्यका प्रश्न अनुचित है, अतः संक्षेप और विस्तारसे जो शाकल्यने पूछा, उसके आगे श्रीयाज्ञवल्यजी पूछते हैं। यदि इनके प्रश्नोंका उत्तर शाकल्यजी दे

ऐकात्म्ये सर्वमेवेदं समासव्यासरूपतः ।
समापनीयमित्युक्ते भूयः प्रश्नोत्तरे इमे ॥ ३१ ॥
पुमर्थेऽवसितं शास्त्रं भवत्यैकात्म्यवर्णने ।
तदनुक्तौ तु पूर्वोक्तं सर्वं स्यात्तुषकण्डनम् ॥ ३२ ॥

सकेंगे, तो अपनेको ब्रह्मवेत्ता सिद्ध कर प्रश्नके अधिकारी बन सकते हैं, अन्यथा नहीं। इस अभिप्रायसे याज्ञवल्क्यजीका प्रश्न है और यह प्रश्न उस समय हुआ जब कि शाकल्यजीको जितना पूछना था सब पूछ कर आगे प्रष्टव्या-भावसे चुप हो गये थे किन्तु आगे प्रष्टव्य है, केवल उसके ज्ञानके अभावसे ही शाकल्य प्रश्नसे विरत हुए हैं, सभासदोंमें ऐसी धारणा हो, यह दर्शानेके लिए उक्त महर्षिने प्रश्न किया, सो ठीक ही किया ॥ ३० ॥

प्रश्नोत्तरवाक्यका तात्पर्य कहते हैं—**'ऐकात्म्ये'** इत्यादि ।

कार्य-कारण-लक्षण समस्तसंसारका सामान्यविशेषशून्य एक आत्मामें निःशेष उपसंहार कर शास्त्रार्थको समाप्त करना है, अतः तादृश लयाधिकरण आत्माका व्युत्पा-दन आवश्यक है, सो अभी तक हुआ नहीं है, इसलिए याज्ञवल्क्यजीने प्रश्न किया। विवर्तवादके अनुसार यहां कार्य-कारणभाव विवक्षित हैं। जैसे कल्पित सर्पकी अधिष्ठानभूत रज्जुमें समाप्ति होती है, वैसे ही समस्त संसारकी ब्रह्ममें समाप्ति होती है। वस्तुतः पुरुषार्थकी प्राप्ति तो ब्रह्मज्ञानसे ही होती है। ब्रह्मका निरूपण शाकल्यके प्रश्नसे हुआ नहीं, इसलिए श्रुतिने स्वयं ब्रह्मका निरूपण किया है। यह अर्थ दो वाक्यपक्ष माननेपर है। एकवाक्यपक्षमें शाकल्य अब्रह्मिष्ठ हैं, अतएव इस सभामें प्रश्न करनेसे अपराधी प्रमाणित हुए, इसलिए याज्ञवल्क्यजी उनको शाप देंगे। परन्तु शाप देनेसे याज्ञवल्क्यजीमें भी अब्रह्मिष्ठताकी शङ्का होती है, क्योंकि द्वेषके बिना कोई किसीको शाप नहीं दे सकता, द्वेष मनका दोष है, यह सुप्रसिद्ध है। 'समः शत्रौ च मित्रे च' इत्यादि भगवद्वाक्यसे राग, द्वेष आदिकी निवृत्ति ब्रह्मज्ञानीमें स्पष्ट कही गई है, इस शङ्काकी निवृत्तिके लिए स्वयं याज्ञवल्क्यजीने ब्रह्मविषयक प्रश्न शाकल्यजीसे किया। प्रश्नसे उक्त मुनिमें ब्रह्मज्ञान था, यह सिद्ध होता है, क्योंकि अज्ञात विषयका प्रश्न ही असंभव है ॥ ३१ ॥

'पुमर्थे०' इत्यादि। पूर्वोत्तर श्रुतियोंका यही शास्त्रार्थसम्बन्ध है कि एकरस ब्रह्ममें सबकी समाप्तिका प्रतिपादन किया जाय, परन्तु अभी तक एकरस ब्रह्मका प्रतिपादन हुआ नहीं, उसका प्रतिपादन मूल कारणके निरूपणके बिना हो

नाऽक्षरब्राह्मणे प्रोक्ता विज्ञानानन्दरूपता ।
तथौपनिषदत्वं च द्वयं तदुपवर्ण्यते ॥ ३३ ॥
नेति नेतीति पूर्वत्र मूर्त्तामूर्त्तविवेचने ।
अत्राऽप्यस्थूलमित्युक्तं स एष इति भण्यते ॥ ३४ ॥

नहीं सकता । शाकल्यका प्रश्न मायिक पदार्थों तक ही सीमित था, इसलिए याज्ञवल्क्यजीने स्वयं मूल कारणके विषयमें प्रश्न किया ।

शङ्का—पुरुषार्थलाभके लिए एक आत्माका वर्णन आवश्यक है, उसीसे पूर्वोत्तर शास्त्रका एक अर्थमें सम्बन्ध हो जायगा ।

समाधान—उक्त मूलकारण विषयक प्रश्नके बिना पूर्व श्रुति और उत्तर श्रुति सार्थक नहीं हो सकती, इसलिए तत्त्वज्ञानशेषतया उक्त श्रुतियाँ सार्थक हों, इस अभिप्रायसे याज्ञवल्क्यजीका प्रश्न हुआ है । तुषकण्डन (भूसी कूटना) जैसे व्यर्थ है, वैसे ही आत्मशून्य केवल मायिक पदार्थोंका विचार भी व्यर्थ है । इस प्रश्नवाक्यसे ही श्रुतिसारभूत अर्थका बोध होता है, इसलिए ज्ञानोपयोगी ही पूर्ववाक्य हैं, यह निर्णय होनेपर दोनोंका एक अर्थके साथ सम्बन्ध होनेसे दोनों वाक्य सार्थक होते हैं ॥ ३२ ॥

'नाऽक्षर०' इत्यादि ।

शङ्का—ऐकात्म्य भी पूर्वब्राह्मणमें कह ही चुके हैं—'नान्योतोऽस्ति द्रष्टा' इत्यादि । फिर यहाँ ऐकात्म्यके वर्णनसे पुनरुक्तिदोष है ?

समाधान—नहीं, पूर्वमें विज्ञानानन्दरूपता और औपनिषदत्व नहीं कहा गया है; यहाँपर उक्त एकात्माका अनुवाद कर अनुक्त उक्त धर्मोंका बोधन करना है, अतः पुनरुक्तिदोषकी सम्भावना नहीं है ॥ ३३ ॥

'नेति नेतीति' इत्यादि । मूर्तामूर्तविवेचनके समय 'नेति नेति' इत्यादि वाक्योंसे ब्रह्मातिरिक्त समस्त वस्तुजातका जिसमें प्रतिषेध किया गया है यानी 'अस्थूल-मनणु' इत्यादि वाक्योंसे जिसमें स्थौल्य आदि धर्मोंका निषेध किया गया है, वही आत्मा 'एष' शब्दसे कहा गया है । 'एष' शब्द प्रत्यक्षका वाची है । स्वात्मा सबको प्रत्यक्ष है, उक्त धर्मोंका प्रतिषेध सकलकल्पनाधिष्ठान ब्रह्ममें किया गया है; जो प्रत्यक्ष नहीं है । 'स एष' इन दोनों पदोंके समभिव्याहारसे परोक्ष उक्तकल्पनाधिष्ठान और अपरोक्ष स्वकीय आत्मा—दोनों एक ही हैं, इस प्रकार बोधन करानेसे ऐका-त्म्यकी प्रतिपत्ति होती है । पूर्वोत्तर वाक्योंकी परस्पर संगति भी ठीक होती है ॥३४॥

अथवाऽशेषवेदान्तप्रसिद्धः स इतीरितः ।
स्वानुभूतप्रसिद्धिस्तु प्रोक्तैष इतिशब्दतः ॥ ३५ ॥

'अथवा०' इत्यादि। 'तत्' शब्द दो प्रकारका होता है—एक प्रक्रान्तपरामर्शी अर्थात् पूर्वप्रकरणसे जो चला आ रहा है उसका निर्देश करनेवाला। ऐसे स्थलमें 'तत्' शब्दसे उसका परामर्श न कर साक्षात् कहनेपर पुनरुक्त दोष होता है और ऐसा करना लेख-कलाके अनुकूल भी नहीं है, इसलिए उसका निर्देश 'तत्' पदसे किया जाता है। दूसरा प्रसिद्धपरामर्शी है, जैसे 'स वः शशिकलामौलिस्तादात्म्यायोपकल्पताम्' 'स' यानी सर्व-प्रसिद्ध शशिकलामौलि शिव आपके तादात्म्य (मोक्ष) के लिए हों, यहां पूर्वमें प्रक्रान्त शिव नहीं है, किन्तु प्रथमवाक्यमें ही तत्पद आया है । अतः यह प्रसिद्ध-परामर्शी है । ग्रन्थकारका पूर्वव्याख्यान 'तत्' शब्दको प्रक्रान्तपरामर्शी मानकर हुआ है। प्रक्रान्तत्वको स्पष्ट करनेके लिए 'नेति नेति' इत्यादि वाक्य एवं 'अस्थूलम्' इत्यादि वाक्यका निर्देश है। अर्थात् जिसमें उक्त धर्मोंका प्रतिषेध किया गया है, वही 'तत्' शब्दका अर्थ (ब्रह्म) है, 'एष' यह स्वात्मा है । 'स' और 'एष' दोनों पदोंके समभिव्याहारसे ब्रह्म और स्वात्मा अभिन्न हैं; यह बोध श्रोताको होता है । द्वितीय व्याख्यान द्वितीय प्रकारसे है। प्रसिद्धपरामर्शी 'तत्' शब्दको कहते हैं— 'अशेष०' इत्यादिसे । ब्रह्म सम्पूर्ण वेदान्तोंमें प्रसिद्ध है, क्योंकि उसके निरूपणके लिए ही वेदान्त हैं । अतएव औपनिषद ब्रह्म माना जाता है । उपनिषत्से ही ब्रह्म जाना जा सकता है, अन्य शास्त्रसे नहीं, अतः समस्त वेदान्तमें प्रसिद्ध ब्रह्म है । तद्बोधक 'स' शब्दसे ब्रह्मका निर्देश किया गया है । 'तत्' और 'एतत्' दोनों पदोंके समभिव्याहारसे जीवब्रह्मैकत्वकी सिद्धि होती है । सारकारने स्वबुद्धिवैभवका सूचन करनेके लिए द्वितीय व्याख्यान किया है । प्रथम व्याख्यानमें न कोई अनुपपत्ति ही थी और न कुछ फलभेद ही था। वस्तुतस्तु प्रक्रान्तसे अव्यवहित प्रक्रान्तका ही ग्रहण किया जाता है, व्यवहित साधारणका नहीं। ब्रह्म अव्यवहितरूपसे प्रक्रान्त नहीं है, इसलिए द्वितीय व्याख्यान किया गया है ।

शङ्का—फिर प्रथम व्याख्यानकी क्या आवश्यकता है ?

समाधान—जो व्यवहिताव्यवहितसाधारणको प्रक्रान्त मानते हैं, उनके सन्तोषके लिए प्रथम व्याख्यान है, अतः मतभेदसे दोनों व्याख्यान आवश्यक हैं । वार्तिक-सारमें 'स्वानुभूतप्रसिद्धिस्तु' यह पाठ है; परन्तु 'स्वानुभूतिप्रसिद्धिस्तु' यह पाठ उचित प्रतीत होता है ॥ ३५ ॥

देवविस्तारसङ्क्षेपावष्टधा पञ्चधा च यत् ।
उपास्यमुक्तं तत्सर्वं नेति नेतीत्यपोह्यते ॥ ३६ ॥
इतिशब्देन निर्दिष्टे दृश्ये तस्मिन्नपोदिते ।
योऽवशिष्टः स आत्माऽस्य दृश्यस्याऽऽत्मवतो मतः ॥ ३७ ॥
आत्मात्मवत्त्वसम्बन्धो नाऽन्यो दृग्दृश्ययोरिति ।
मत्वाऽऽत्मशब्दो दृग्वस्तुन्यवाच्येऽपि प्रयुज्यते ॥ ३८ ॥

'देवविस्तार०' इत्यादि । उपासनाके लिए देवोंका संक्षेप और विस्तार अष्टधा, पञ्चधा इत्यादिसे पूर्वमें जो कहा गया है, उन सबका 'नेति' इत्यादि वाक्यसे निषेध करते हैं । अष्टधा उपास्यका निर्देश शाकल्यके प्रश्नसे पृथिवी, काम, रूप आदि द्वारा स्पष्ट ही है, जिसका व्याख्यान भाष्यव्याख्यान द्वारा कर चुके हैं । विस्तारके भयसे यहाँ उसका व्याख्यान छोड़ दिया है । गार्गीके प्रश्नोत्तरसे पञ्चधा उपास्यभेद स्पष्ट है । गार्गीने पूछा कि जल किसमें ओत-प्रोत है ? इसके उत्तरमें श्रीयाज्ञवल्क्यजीने कहा कि वायुमें, वह किसमें ओतप्रोत है ? इन प्रश्नोत्तरोंसे पञ्चभूत द्वारा पञ्चधा उपासना स्पष्ट कही गई है ।

शङ्का—उसमें तो पञ्च भूतोंसे अतिरिक्त गन्धर्व आदि लोकका भी निर्देश है, अतः पञ्च भूत द्वारा पञ्चधा उपासना कैसे ?

समाधान—पञ्च भूतोंसे अतिरिक्त गन्धर्व आदि लोक नहीं हैं, वे भी पञ्च भूतोंकी अवस्थाएँ हैं, अतः सत्य पांच भूत हैं, उनका भी सत्य परब्रह्म है, इन दोनोंके बीचमें वस्त्वन्तर न समझना चाहिए, इस तात्पर्यसे सारकारने पञ्चधा उपासनाका निर्देश किया है ॥ ३६ ॥

'इतिशब्देन' इत्यादि । नामरूपोपलक्षित दृश्य निखिल जगत्का प्रतिषेध करनेपर साक्षी ही अवशिष्ट रहता है, क्योंकि उसका प्रतिषेध नहीं हो सकता, सबके प्रतिषेधका साक्षी तो ब्रह्म ही है । यदि उसका भी प्रतिषेध किया जायगा, तो साक्षी कौन होगा । असाक्षिक प्रतिषेध प्रामाणिक नहीं है, स्वप्रतिषेधका वह स्वयं साक्षी नहीं हो सकता, कारण कि स्वसत्ताकालमें स्वप्रतिषेध नहीं हो सकता और प्रतिषेधकालमें स्वसत्ता नहीं है । इसलिए स्वयंप्रकाश प्रतिषेधानर्ह सकलप्रतिषेधका साक्षी अवशिष्ट रहता है । वही इस दृश्य जगत्का आत्मा है, उसीसे जगत् आत्मवान् माना जाता है ॥ ३७ ॥

'आत्मात्मवत्त्व०' इत्यादि । दृग् (आत्मा), दृश्य (पराग् जड़)—इन

ननु ब्रह्माधिकारेऽस्मिन् कथमात्मेति वर्ण्यते ।
नैष दोषोऽतिरेकेण नाऽऽत्मनो ब्रह्मता यतः ॥ ३९ ॥
ग्राह्यत्वं शीर्णता सङ्गो बन्धो भीतिश्च हिंसनम् ।
जाड्याज्जडस्य धर्माः स्युर्न तु सन्त्यात्मवस्तुनि ॥ ४० ॥

दोनों दृग्-दृश्योंका वास्तविक कोई सम्बन्ध नहीं है। दृश्यमात्र दृग्में अध्यस्त ही प्रतीत होता है। जैसे रज्जुमें सर्पकी प्रतीति होती है, पर दोनोंका वास्तविक कोई सम्बन्ध नहीं है, वैसे ही दृश्यमात्रका दृक्के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है।

शङ्का—यदि आत्मामें दृश्यका सम्बन्ध नहीं मानते, तो आत्मशब्दका प्रयोग आत्मामें क्यों करते हो? शब्द असम्बद्ध अर्थका बोधक तो माना नहीं जाता, अन्यथा एक ही शब्दसे सब अर्थोंका बोध हो जायगा, फिर शब्दान्तर ही व्यर्थ हो जायँगे। इसलिए शब्द स्वसम्बद्ध अर्थका बोधक होता है, यह मानना आवश्यक है। यदि आत्मशब्दका प्रयोग दृग्बोधनार्थ करते हैं, तो सम्बन्ध मानिये, अन्यथा उक्त अर्थमें उक्त शब्दका प्रयोग ही न कीजिये।

समाधान—ठीक है, उक्त अर्थमें उक्त शब्दका प्रयोग लक्षणावृत्तिसे करते हैं, जिस शब्दका जिस अर्थमें वास्तविक सम्बन्ध नहीं है, उस अर्थमें उस शब्दका लक्षणासे प्रयोग माना ही जाता है। जैसे तीरमें गङ्गाशब्दका प्रयोग लक्षणासे होता है, वैसे ही आत्मामें उक्त शब्दका प्रयोग समझना चाहिए ॥३८॥

'ननु ब्रह्मा०' इत्यादि।

शङ्का—'स एष नेति नेति आत्मागृह्यः' इत्यादि वाक्यसे यदि ब्रह्मका निर्देश विवक्षित है, तो ब्रह्मशब्दका प्रयोग उचित है, आत्मशब्दका प्रयोग कैसे आया?

समाधान—आत्मासे अतिरिक्त ब्रह्म नहीं है, किन्तु आत्मस्वरूप ही ब्रह्म है, इस अभिप्रायसे ब्रह्मबोधके लिए आत्मशब्दका प्रयोग श्रुतियोंमें पाया जाता है, 'य आत्मा अपहतपाप्मा' इत्यादि ब्रह्मप्रतिपादनपरक श्रुतियोंमें आत्मशब्दका प्रयोग दृष्ट है। जीव अपहतपाप्मा नहीं हो सकता, अतः ब्रह्मका ही उक्त स्वरूप है, उसके निर्णयके लिए आत्मशब्दका प्रयोग है। एवं प्रकृतमें भी समझना चाहिए ॥ ३९ ॥

'ग्राह्यत्वम्' इत्यादि। 'आत्मा अगृह्य है' इसमें हेतु श्रुति स्वयं कहती है—'नहि गृह्यते'। जो व्याकृत रूपादिमद् वस्तु है, वही गृहीत होती है, यह

कार्यधर्माननतीत्यैतांस्तद्धेत्वज्ञाननिह्नुतेः ।
अपूर्वानपरः पूर्ण आत्मा स्वात्मन्यवस्थितः ॥ ४१ ॥

आत्मतत्त्व उससे विलक्षण है, अतः अगृह्य है, एवं आत्मा अशीर्य यानी अशिथिल है, जो शरीर आदि मूर्त्त हैं, वे ही शिथिल होते हैं, आत्मा मूर्तविलक्षण है, अतएव शिथिल नहीं है तथा असङ्ग है, मूर्त्त ही मूर्तान्तरसे संसृष्ट होता है, यह वैसा नहीं है, अतः असंग है; अतएव असित (अबद्ध) है। 'षिञ् बन्धने' इस धातुसे 'क्त' प्रत्यय करनेसे 'सित' शब्द निष्पन्न होता है । अबद्ध है, अतएव व्यथारहित है । बद्धको ही व्यथा होती है । व्यथारहित होनेसे डरता नहीं, डर तो व्यथासे ही होता है । असलमें व्यथा द्वारा व्यथाकारणसे ही डर होता है, अन्यथा उसके कारणसे भय नहीं होगा । तथा 'न रिष्यति' हिंसाको नहीं प्राप्त होता है, नित्य और निरवयवकी हिंसाका संभव ही नहीं है । उक्त ग्राह्यत्वादि जड़के धर्म हैं, इसमें कारण है—जाड्य । जाड्य होनेसे वे जडधर्म हैं, अतः उनसे विलक्षण स्वयंप्रकाश चिद्रूप आत्मामें उन धर्मोका संभव नहीं है ॥ ४० ॥

'कार्यधर्मा०' इत्यादि । इन पूर्वोक्त कार्यधर्मोंका अतिक्रमण कर और निखिल कार्योंका मूलभूत कारण जो अज्ञान है, उसका निह्नव कर अर्थात् उससे भी पर, अपूर्व (न पूर्वं कारणं यस्य स अपूर्वः, कारण कार्यनियतपूर्ववर्ती माना जाता है) यानी कारणरहित होनेसे अपूर्व तथा अनपर (न परं कार्यं यस्य स अनपरः) अर्थात् कार्यरहित, तदुभयविलक्षण होनेसे पूर्ण, अतएव स्वात्मामें अवस्थित । अज्ञानसद्भावदशामें अज्ञान और उसके कार्यके अनुसार आत्माकी अवस्थिति रहती है—'अहं ब्राह्मणः, अशनायादिमान्' इत्यादि । उक्त कार्याकारसे आत्माकी प्रतीति होनेके कारण आत्मा अपूर्ण प्रतीत होता है । आत्मतत्त्वका ज्ञान होनेपर तदावारक अज्ञानकी निवृत्ति होती है, तदनन्तर उपाधिशून्य स्वकीय आकारसे वह प्रतीत होता है । स्वयं परिपूर्ण है, इसलिए उसका पूर्णाकारसे प्रतीत होना समुचित ही है। योगशास्त्रमें भी—'तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्' अर्थात् निर्विकल्पक समाधिके समय द्रष्टा (आत्मा) का अवस्थान स्वस्वरूपमें ही रहता है; 'वृत्तिसारूप्यमितरत्र' यानी उक्त समाधिसे अतिरिक्त कालमें मनोवृत्तिसारूप्य अर्थात् जैसी मनोवृत्ति होती है, वैसा आत्मस्वरूपका भान होता है, जिसको अविवेकी पुरुष वास्तविक आत्मस्वरूप समझता है—इत्यादि स्पष्ट है ॥ ४१ ॥

इदं यदा श्रुतेर्वाक्यं तदा तत्त्वं निरूपितम् ।
याज्ञवल्क्यस्य वाक्यत्वे पृष्टमेतदनूदितम् ॥ ४२ ॥
आत्मा निरुह्य प्रत्युह्य पुरुषान्योऽत्यवर्त्तत ।
तमौपनिषदं ब्रूहि मूर्द्धा पततु तेऽन्यथा ॥ ४३ ॥

'इदम्' इत्यादि। 'स एष नेति नेति' इत्यादि वाक्यमें दो मत हैं, जिनका पूर्वमें निरूपण कर चुके हैं। यहाँ उनका फिर प्रसङ्ग आ गया है, इसलिए निर्णीतविषय-स्मरणार्थ संक्षेपसे उनके विषयमें कहा जाता है। एकमतमें 'न रिष्यति' यहाँ तक स्वतन्त्र श्रुतिवाक्य है, इससे पूर्व और उत्तरवाक्य पुरुषार्थोपयोगिज्ञानसम्पादकत्त्वेन सार्थक हैं, अन्यथा तुषकण्डनके समान उभयवाक्यार्थ-विचार निष्फल हो जायगा। द्वितीय मत है कि याज्ञवल्क्यका ही सम्पूर्ण वाक्य है, क्योंकि वाक्य-भेदसूचक इति शब्द आदि और मध्यमें नहीं है। अस्तु, यदि दो वाक्य हैं, तो उक्त वाक्य तत्त्वनिरूपणार्थ है और यदि एक वाक्य है, तो पृष्टका अनुवाद है, इस प्रकारसे उभयथा उक्त वाक्य सङ्गत है ॥ ४२ ॥

'आत्मा' इत्यादि। जो निरञ्जन जगदात्मा चिन्मात्र स्वयंप्रकाश पुरुष—निरुह्य यानी अविद्याकार्यभूमिमें स्थित होकर उक्त चतुर्विध आठ आयतन, लोक आदिके भेदसे जगत्की स्थितिका उपपादन कर तथा स्वकारण अन्तर्यामीमें सम्पूर्ण जगत्का उपसंहार कर ('प्रत्युह्य'का अर्थ है—उपसंहार कर) अर्थात् साभास अज्ञानसे उक्त आयतन आदिका विभाग कर और उक्त विभाग द्वारा लोकस्थितिहेतुताका संसारदशामें सम्पादन कर तत्त्वज्ञानदशामें अथवा प्रलय आदि दशामें स्वात्मामें ही सबका उपसंहार कर—स्थित है, 'अत्यक्रामत्' का स्फुट अर्थ यह है कि कार्य नाना और परस्पर भिन्न प्रतीत होते हैं, इसलिए कार्यके नानात्व तथा भेदसंसर्गसे शून्य उस औपनिषद (उक्त 'साक्षात्' इत्यादि लक्षणलक्षित) आत्माको तुमसे—शाकल्यसे—हम पूछते हैं, यह याज्ञवल्क्यकी उक्ति है। उसको उक्त औपनिषद आत्माको तत्त्वतः तुम हमसे कहो। यदि तुम उस पृष्ट पुरुषको मुझसे तत्त्वतः न कहोगे, तो अब्रह्मज्ञ होकर ब्रह्मज्ञानियोंकी सभामें जो तुमने प्रश्न किया है, इस अनधिकार चेष्टा करनेके अपराधसे तुम्हारा सिर गिर जायगा। यदि अन्यथा—रूपान्तरसे—कहोगे अथवा कुछ न कहोगे, तो भी उक्त अपराधसे तुम्हारा विनाश अवश्यम्भावी है ॥ ४३ ॥

योऽनूदितो नेति नेति संविन्मात्रो ह्यविक्रियः ।
उक्तौ पुरुषनिर्वाहप्रतिवाहौ तु मायिकौ ॥ ४४ ॥
सृष्टिरष्टविधोपास्यरूपा निर्वाह उच्यते ।
प्रतिवाहस्तु संहारो दिग्देवद्वारतो हृदि ॥ ४५ ॥
वस्तुवृत्तेन निःशेषकार्यकारणवर्जनम् ।
तस्याऽतिक्रान्तिरुद्दिष्टा स चोपनिषदि श्रुतः ॥ ४६ ॥

'योऽनूदितो' इत्यादि। जिस पुरुषका 'नेति नेति' वाक्यसे अनुवाद किया गया है, वह संविन्मात्र—ज्ञानमात्रस्वरूप—अतएव अविक्रिय निखिलविकारशून्य है ।

शङ्का—उसीको सृष्टिका कर्ता कहते हो और अविक्रिय भी कहते हो, पर यह कैसे हो सकता है ? यदि अविक्रिय है, तो कर्ता नहीं है । यदि कर्ता है, तो अविक्रिय नहीं है ।

समाधान—'तान् पुरुषान्निरुह्य प्रत्युह्य' इस वाक्यसे पुरुषोपलक्षित आयतन आदि चतुष्टयका जो निर्वाह-प्रतिवाह यानी सृष्टि एवं संहार कहा है, वह आविद्यिक (अविद्याकल्पित) है, वास्तविक नहीं है । अविक्रियत्व आत्मामें वास्तविक है । अधिष्ठानस्वरूप कल्पित धर्मसे विपरीत होता है, यह नील नभ और मृगतृष्णाजलमें प्रसिद्ध ही है, इसलिए उक्त आक्षेप अयुक्त है ॥ ४४ ॥

निर्वाह-प्रतिवाह-शब्दोंके अर्थोंको स्फुट करते हैं—**'सृष्टिरष्टविधो०'** इत्यादिसे ।

उक्त अष्टविध उपास्यरूपा सृष्टि निर्वाह है और दिग्देवता द्वारा हृदयमें उसका प्रतिसंहार प्रतिवाह है। इस विषयका विशद व्याख्यान हो चुका है, अतः पुनः इस विषयका विशेष व्याख्यान अजिज्ञासिताभिधान अतएव अश्रद्धेय होगा, इसलिए छोड़ देते हैं ॥ ४५ ॥

'वस्तुवृत्तेन' इत्यादि ।

शङ्का—जब 'अत्यक्रामत्' इस वाक्यसे अतिक्रमणक्रियाका सम्बन्ध आत्मामें स्पष्ट प्रतीत होता है, तब आप उसको अविक्रिय कैसे कहते हैं, इसलिए यह समझना कठिन हो जाता है कि वास्तविक आपके कथनका अभिप्राय क्या है ?

समाधान—हां, ठीक ही है; भगवान्ने अपने श्रीमुखसे 'आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेनम्' इत्यादि वाक्यसे कहा ही है कि उसका ज्ञान और कथन आदि सब आश्चर्यमय ही है । जो वास्तविक शब्दविषय और मनोविषय नहीं है, उसका कथन भी

कर्मकाण्डे विरोधित्वान्न चाऽयं श्रूयते क्वचित् ।
ऐकात्म्यवस्तुविज्ञानं कर्मभिर्हि विरुध्यते ॥ ४७ ॥

तो वैसा ही होना चाहिए । असलमें अतिक्रमण-क्रियाके सम्बन्धसे अतिक्रान्त नहीं कहा जाता, किन्तु वस्तुस्वभाव ही ऐसा है कि उक्त क्रियाके साथ सम्बन्धके बिना भी अतिक्रान्त कहा जाता है ।

शङ्का—वस्तुस्थिति क्या है ?

समाधान—अविक्रिय उदासीन आत्मा न तो किसीका कारण है और न कार्य ही है, उसमें कार्यकारणशून्यत्व स्वतःसिद्ध है, उसीको अभिव्यक्त करनेके लिए उसे तदुभयातिक्रान्त कहते हैं। क्रियाके बिना कोई वाक्य ही वास्तवमें नहीं बनता, अन्ततः 'तत्त्वमसि' में भी 'असि'क्रिया कहनी ही पड़ती है । परन्तु वस्तुतः तत्त्वके अन्तरालमें कोई क्रिया नहीं कही जा सकती। जैसे 'आकाशोऽस्ति' यह प्रयोग तार्किक आदि भी आकाशके तात्पर्यसे करते ही हैं और आकाशमें क्रिया नहीं मानते, वैसे ही प्रकृतमें भी समझना चाहिए। तदुभयवर्जनस्वभाव ही उत्क्रान्ति अभीष्ट है। उपनिषदोंमें ही श्रुत होनेसे आत्मा औपनिषद माना जाता है ॥ ४६ ॥

'कर्मकाण्डे' इत्यादि ।

शङ्का—आत्मा उपनिषद्में ही श्रुत है, अन्यत्र कर्मकाण्डादिमें नहीं, अतएव औपनिषद कहा जाता है, यह आपका कथन ठीक नहीं है, कारण कि 'विज्ञानं यज्ञं तनुते' इत्यादि वाक्योंसे कर्मकाण्डमें भी उसकी श्रुति और प्रसिद्धि है । उसकी अश्रुतिमें जो यह कारण कहते हैं कि वह कर्मविरोधी है, इसलिए उसका निरूपण उसमें नहीं है, वह भी ठीक नहीं है, क्योंकि कर्मका कर्ता तो आत्मा ही है । कर्तृत्वस्वरूपसे वह कर्मके अनुगुण ही है, प्रतिकूल नहीं है । किञ्च, 'औत्पत्तिक०' सूत्रमें 'स एष यज्ञायुधी यजमानोऽञ्जसा स्वर्गं लोकं जयति' इस श्रुतिके व्याख्यानमें यह निर्णय किया गया है कि शरीरसे अतिरिक्त आत्मा है, अन्यथा अग्निहोत्रीका मृत शरीर यज्ञायुधोंके साथ चितामें ही भस्म होता दीख पड़ता है, फिर उसके आयुधोंके साथ वह स्वर्गमें कैसे जायगा । अतः शरीरसे अतिरिक्त आत्मा है, यह सिद्धान्त किया गया है ।

प्रश्न—अच्छा, यज्ञायुध तो चिताग्निमें ही जलते हैं, वे कैसे स्वर्गमें जाते हैं ? और उन आयुधोंसे निरवयव आत्मा आयुधवाला कैसे कहा गया ?

अविरोधं मन्यमानाः केचिद्विज्ञानकर्मणोः ।
कर्मच्छिद्रेऽपि कुर्वन्ति यथावस्त्वात्मबोधनम् ॥ ४८ ॥

समाधान—जिस आत्माका वह शरीर था, उस शरीरके द्वारा जो पात्र यज्ञमें काम देते थे, वे ही पात्र उस आत्माके आयुध कहे गये हैं।

शङ्का—उन्हें पात्र न कहकर आयुध क्यों कहा ? आयुध तो वस्तुतः शस्त्र कहलाते हैं ।

समाधान—'स्वर्गं लोकं जयति' कहा गया है, 'गच्छति' नहीं । जय आयुधके बिना नहीं हो सकता । प्रकृतमें इन आयुधोंके प्रभावसे ही स्वर्गरूप फल प्राप्त होता है, इसलिए इनमें आयुधत्वका आरोप किया गया है ।

शङ्का—ठीक है, पर वे भी तो यहीं शरीरके साथ ही जल जाते हैं । जीव इनको लेकर जाता कहाँ है ?

समाधान—यह ध्यानके लिए कहा गया है, अन्यथा शरीररहित आत्माका प्रत्यक्ष न होनेसे यह निर्देश ही असङ्गत हो जायगा ।

शङ्का—आप औपनिषदपदका उपनिषद्में ही श्रुत ऐसा अर्थ करते हैं, कर्मकाण्डमें श्रुत अर्थ नहीं करते, यह ठीक नहीं है।

समाधान—बहुत ठीक है, कारण कि यदि कर्मकाण्डके साथ आत्मज्ञानका विरोध न होता, तो कर्मोपयोगी साध्य, साधन और इतिकर्तव्यताके निरूपणके समान आत्मनिरूपण भी जैमिनिमहर्षि अवश्य करते । पर वे जानते थे कि शरीर आदिसे अतिरिक्त कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदिसे विशिष्ट आत्माका ज्ञान ही कर्मोपयोगी है । वह न्यायादिमतसे सिद्ध है । उससे अतिरिक्त सकल धर्मोंसे अतीत, उदासीन, ब्रह्म, क्षत्र आदि भेदसे अपेत जो वास्तविक आत्मस्वरूप है, जैसा कि उपनिषदोंमें श्रुत है, उसका यदि निरूपण किया जायगा, तो वह कर्मविरोधी होगा । इसलिए उक्त आचार्य आत्मस्वरूपके निरूपणसे ही विरत हो गये । इससे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि आत्मा 'औपनिषद' ही है । यह मीमांसकको भी अभीष्ट है । अतएव आत्मज्ञानका कर्मके साथ समुच्चय भी नहीं बन सकता, क्योंकि आत्मैकत्वविज्ञान भेदसापेक्ष कर्मोंका विरोधी है, अतः 'औपनिषद' पदका उक्त अर्थ समुचित ही है ॥४७॥

'अविरोधम्' इत्यादि । एकदेशीका मत यह है कि आत्मतत्त्वज्ञानी भी कर्मविहित कालसे अतिरिक्त कालमें यथावस्तुका (अद्वितीयात्म वस्तुका) ज्ञानाभ्यास

यत्कर्तुमन्यथाकर्तुमकर्तुं चाऽपि शक्यते।
कुर्वन्तु स्वेच्छया तादृग् विज्ञानं तु न तादृशम् ॥ ४९ ॥

कर सकता है। एक कालमें एक पुरुष कर्मानुष्ठान और आत्मज्ञानाभ्यास नहीं कर सकता, यह ठीक है, परन्तु कालभेदसे एक ही पुरुष उक्त दोनों कार्योंको कर सकता है, इसमें विरोध नहीं है, अतः समुच्चयपक्ष ठीक है। परन्तु यह मत ठीक नहीं है, ज्ञान और क्रियामें यह भेद है कि ज्ञान वस्तुतन्त्र होता है, जैसा वस्तु-स्वरूप रहेगा, वैसा ही उसका ज्ञान होता है, ज्ञाताकी इच्छाके अनुसार वह बदल नहीं सकता। मान लो कि यात्राके समय किसीने यह सङ्कल्प कर लिया कि मैं मार्गमें चौरादि न देखूंगा और इस सङ्कल्पसिद्धिके लिए वह पूर्णरूपसे सचेष्ट भी रहा, किन्तु मध्यमें चौरके साथ इन्द्रियसन्निकर्ष होनेसे 'अयं चौरः' यह ज्ञान उसे अवश्य हो ही जायगा, इसलिए ज्ञान वस्तुतन्त्र है, पुरुषतन्त्र नहीं है। क्रिया पुरुषतन्त्र होती है, पुरुष चाहे तो ग्राममें जा सकता है और न चाहे तो नहीं जाता।

शङ्का—ज्ञान भी तो पुरुषतन्त्र होता है, जैसे 'योषा वाव गौतमाग्निः' इत्यादि वाक्यसे अनग्नि स्त्रीमें अग्निदृष्टि कही गई है।

समाधान—वह ज्ञान नहीं है, किन्तु ध्यान है, ध्यान मानसी क्रिया ही है, इसलिए वह पुरुषतन्त्र है, जो ठीक ही है, अतः कर्मविहित कालसे अतिरिक्त कालमें यदि ज्ञानाभ्यास किया जायगा, तो पुरुषतन्त्र होनेसे वह ज्ञान न होगा, किन्तु क्रिया ही होगी, इसलिए दोनोंका समुच्चय असम्भव है ॥ ४८ ॥

'यत्कर्तु०' इत्यादिसे।

अभ्यासका कर्मके साथ समुच्चय कहते हो या ज्ञानका ? प्रथम पक्षमें कहते हैं—जो कर्तुमन्यथाकर्तुम् अकर्तुं शक्य अभ्यास है, उसे चाहे करे या कालान्तरमें करे अथवा न करे, वह क्रिया ही है, ज्ञान नहीं। द्वितीय पक्षके तात्पर्यसे कहते हैं—विज्ञान तादृश नहीं है अर्थात् पुरुषेच्छाधीन नहीं है कि चाहे तो कर्मकालसे व्यतिरिक्त कालमें ही करे, कर्मकालमें नहीं, क्योंकि आत्मैकत्व तो सब कालमें है, फिर क्या कारण कि वह कर्मकालमें न होकर तच्छून्यकालमें ही हो, अतः उक्त प्रकारसे समुच्चय-प्रतिपादन सर्वथा असंगत ही है। ज्ञानविशेष ही ध्यान है, इस भ्रमसे समुच्चयवादका उत्थान है।

शङ्का—ध्यान भी तो मनोवृत्ति है।

तस्मादुपनिषत्स्वेव ज्ञातः कर्मविरोधतः ।
न कर्मकाण्डे, शाकल्यः कर्मित्वान्नैव वेत्ति तम् ॥ ५० ॥
ब्रह्मिष्ठा अपि गार्ग्याद्याः स्वस्वप्रश्नोत्तरे सति ।
तुष्टा उपरतास्तेन स मुनिर्न शशाप तान् ॥ ५१ ॥

समाधान—ठीक है, पर ज्ञान मनोवृत्तिमात्र नहीं है । सुख, दुःख, इच्छा आदि भी मनोवृत्तियां हैं, पर उनका ज्ञानपदसे व्यवहार नहीं होता एवं ध्यान भी मनोवृत्ति है, पर वह क्रियात्मक है, ज्ञान नहीं है ॥ ४९ ॥

'तस्मादु०' इत्यादिसे । औपनिषदका उपसंहार इस श्लोकसे किया गया है । आत्मा कर्मके साथ कर्तृत्वरूपसे सम्बन्धी है, अतः जैमिनिको कर्मप्रकरणमें आत्माका निरूपण करना था, पर उसका वास्तविक स्वरूपज्ञान कर्मविरोधी है, इसलिए कर्मकाण्डप्रकरणसे हटा कर ज्ञानकाण्ड उपनिषद्से ही उसका निरूपण उचित मानकर जैमिनिने आत्माका निरूपण नहीं किया । आत्मा उपनिषदोंमें ही श्रुत है, विरोधसे कर्मकाण्डमें उसका श्रवण नहीं है, अतः कर्मज्ञानी शाकल्य औपनिषद आत्माको नहीं जानते थे ? वे कर्मकाण्डके पूर्ण विद्वान् थे, पर उपनिषद्के ज्ञाता न थे । केवल याज्ञवल्क्यकी ब्रह्मज्ञानपणभूत गवानयनमें प्रवृत्ति देखकर असहिष्णुतावश याज्ञवल्क्यके साथ विवादमें प्रवृत्त हुए थे । जहाँतक पहुँच थी, वहांतक उन्होंने प्रश्न किया । श्रीयाज्ञवल्क्यजीने सबका समीचीन उत्तर दिया । अन्तमें पूर्वोक्त रीतिसे इन दोनोंमें विवादप्रयुक्त वैर हुआ । उसी समय उक्त मुनिजीने शाप दिया, वह भी फल देनेके लिए प्रवृत्त्युन्मुख हुआ, इन सब दुरदृष्टोंका फल आगे स्पष्ट होगा ॥ ५० ॥

'ब्रह्मिष्ठा' इत्यादिसे ।

शङ्का—आश्वल, गार्गी आदिको शाप न देकर शाकल्यको ही मुनिजीने शाप क्यों दिया ?

समाधान—वे ब्रह्मज्ञानी थे और अपने-अपने प्रश्नोंका सत् उत्तर मुनिसे पाकर सन्तुष्ट तथा विवादसे विरत हो गये थे, इसलिए मुनिजीने उनको शाप नहीं दिया । शाकल्यको शाप देनेका कारण एक तो अब्रह्मिष्ठता थी, क्योंकि वे कर्मी थे ब्रह्मज्ञानी नहीं थे, जनकराजर्षिकी प्रतिज्ञानुसार उस सभामें उनको बोलनेका अधिकार नहीं था । पर वे उक्त कारणोंसे विवादमें प्रवृत्त हुए थे । इन कारणोंसे उक्त मुनिजीने उन्हींको शाप दिया ॥ ५१ ॥

अब्रह्मिष्ठो ब्रह्मविदो द्विषन्ब्रह्मविदां धनम् ।
शाकल्यो वाञ्छतीत्येनं शाकल्यमशपन्मुनिः ॥ ५२ ॥
शापेन दग्धशाकल्यस्तस्याऽस्थीन्यपि तस्कराः ।
अपजह्रुरतः शास्त्रसंस्कारोऽप्यस्य नाऽभवत् ॥ ५३ ॥
शाकल्यो ब्रह्मविद्द्वेष्टा भ्रष्टो लोकद्वयाद्यतः ।
ततो ब्रह्मविदां भक्तिः कार्या द्वेषो न कुत्रचित् ॥ ५४ ॥

'अब्रह्मिष्ठो' इत्यादि । अब्रह्मिष्ठत्व, ब्रह्मवेत्ताके प्रति द्वेष और ब्रह्मवेत्ताके धनको स्वयं लेनेकी इच्छा—ये तीन शापके प्रबल कारण थे । इनमें प्रत्येक अनर्थका कारण है । वहाँ तीनों एक समयमें उपस्थित हुए थे, फिर उनकी अनर्थ-कारणताका क्या ठिकाना था, इसीलिए शाकल्यको मुनिने शाप दिया ॥ ५२ ॥

'शापेन' इत्यादि । मुनिके शापसे शाकल्य भस्म हो गये, उनकी हड्डियां संस्कारार्थ शिष्यगण घर ले जा रहे थे, मार्गमें डाकुओंने राजप्राप्त धन समझकर उन्हें छीन लिया, अतः उनका अन्तिम संस्कार भी नहीं हुआ, जो लोकान्तरमें शुभफलप्राप्तिके लिए आवश्यक समझा जाता है ॥ ५३ ॥

'शाकल्यो' इत्यादि। शाकल्य ब्रह्मज्ञानीके द्वेष्टा थे, इसीसे लोकद्वय—इहलोक और परलोक—दोनोंसे भ्रष्ट हुए, अतः ब्रह्मवेत्ताओंपर भक्ति करनी चाहिए, द्वेष कभी नहीं करना चाहिए। तात्पर्य भाष्यकारने लिखा है कि 'तस्मान्नोपवादी स्यात्' उपवादी उसको कहते हैं—जो विवाद द्वारा विद्वान्का परिभव करता है । इस वृत्तान्तसे यह शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए कि परमशान्तस्वान्त महामुनि ब्रह्मवित्तम श्रीयाज्ञ-वल्क्यजी जिस उपवादसे ऐसे विचलित हुए कि उन्होंने कर्मनिष्ठ विद्वान् तपस्वी शाकल्यजीको भस्म कर दिया, उस उपवादमें कल्याणार्थीको कभी प्रवृत्त नहीं होना चाहिए । इसीसे धर्मशास्त्रमें भी लिखा है—

'गुरुं हुंकृत्य त्वंकृत्य विप्रं निर्जित्य वादतः ।
श्मशाने जायते वृक्षः कङ्कगृध्रोपसेवितः ॥'

इत्यादि शास्त्रके अनुसार शास्त्रार्थ द्वारा विद्वान्का पराजय करना अत्यन्त निकृष्ट कर्म है, अतः इसका सर्वथा त्याग करना चाहिए । याज्ञवल्क्य और शाकल्य दोनों ब्राह्मण, विद्वान् , तपस्वी तथा सुशीतलचन्दनशाखाके सदृश थे, जब उनमें भी उपवादप्रयुक्त भयङ्कर परिणाम हो गया, तब

य औपनिषदस्तस्य विज्ञानानन्दरूपता ।
दातृता भोगमुक्त्योश्च वक्तव्येत्युत्तरा श्रुतिः ॥ ५५ ॥

श्रुति—अथ होवाच ब्राह्मणा भगवन्तो यो वः कामयते स मा पृच्छतु सर्वे वा मा पृच्छत यो वः कामयते तं वः पृच्छामि सर्वान् वा वः पृच्छामीति ते ह ब्राह्मणा न दधृषुः ॥ २७ ॥

साधारण मनुष्योंके विषयमें तो कहना ही क्या है ? वादसे अधिक कष्टप्रद दूसरा पदार्थ नहीं है, श्रीयाज्ञवल्क्य और शाकल्यमें भी इसने अन्ततः शत्रुभाव उत्पन्न कर ही दिया । अतः कल्याणार्थियोंको सर्वदा इससे विरत रहना चाहिए। 'पुन्नाम्नो नरकात्त्रायते शरीरान्तिमसंस्कारद्वारा इति पुत्रः' (यानी अन्त्येष्टि द्वारा जो पिताको नरकमें जानेसे रोकता है, वह पुत्र है) इस अर्थकी भी शाकल्यको आशा नहीं रही । यह तब होती जब कि शाकल्यका अस्थिपञ्जर निर्विघ्न घरपर पहुँच जाता । वहाँ जानेपर पुत्र आदि द्वारा यथाविधि संस्कारसे द्वेषप्रयुक्त पापका प्रतीकार हो सकता था और शाकल्यका परलोक भी सुधर जाता, लेकिन वह भी न होने पाया, अतः उपवाद (विवाद) इहलोक, परलोक दोनोंका विनाश करता है। अतएव सर्वथा अनुपादेय है, यह सूचित करनेके लिए यह आख्यान है ॥५४॥

'य औपनिषद०' इत्यादि । शाकल्य और याज्ञवल्क्यकी संवादात्मक आख्यायिकाकी समाप्तिके अनन्तर आई हुई 'अथ होवाच' इत्यादि श्रुतिका तात्पर्य यह है कि जो औपनिषद पुरुष कहा गया है, उसमें विज्ञानानन्दरूपता एवं भोगमुक्तिदातृता भी है, जिसका अभीतक निर्वचन नहीं किया गया है, इसलिए उसको अवश्य कहना चाहिए । 'नेति नेति' इत्यादि वाक्योंसे अनात्मभूत सम्पूर्ण धर्मोंके निषेधाधिकरणरूपसे जिसका व्याख्यान हुआ है, उसका निर्देश विधि द्वारा भी होना चाहिए, इसलिए उत्तर श्रुति है, इससे विधि द्वारा औपनिषद पुरुष कहा जायगा । यह भी आख्यायिका द्वारा ही कहा गया है। इसका मुख्य कारण यह है कि दुर्बोध अर्थका भी आख्यायिका द्वारा निर्वचन होनेपर वह सहजमें ज्ञात हो जाता है, अतः सुखावबोधके लिए आख्यायिका है ॥ ५५ ॥

'अथ होवाच ब्राह्मणा' इत्यादि श्रुति । सब ब्राह्मणोंके चुप हो जानेपर 'ब्राह्मणा भगवन्तः' यों सभामें स्थित सम्पूर्ण विद्वान् ब्राह्मणोंका सम्बोधन कर श्रीयाज्ञवल्क्यजी बोले—आपमें से किसी एककी मुझसे पूछनेकी इच्छा हो

तान् हैतैः श्लोकैः पप्रच्छ—

यथा वृक्षो वनस्पतिस्तथैव पुरुषोऽमृषा ।
तस्य लोमानि पर्णानि त्वगस्योत्पाटिका बहिः ॥ १ ॥

अथवा आप सब लोगोंकी इच्छा हो, तो आप लोगोंमें से एक व्यक्ति या सब लोग समीप आकर मुझसे पूछें अथवा यदि आपमें से किसीकी यह इच्छा हो कि याज्ञवल्क्य हमसे पूछे, तो उससे हम पूछते हैं अथवा आप सबसे हम पूछते हैं। इस बातको सुन कर सब सन्न रह गये, किसीको कुछ भी बोलनेका साहस नहीं हुआ। होता भी कैसे ? शाकल्यकी दुरवस्थासे सब भयभीत हो चुके थे।

शङ्का—शाकल्यके बाद जब सब चुप हो गये, तब मना करनेवाला तो कोई था नहीं, अतः ब्रह्मविज्ञानपणभूत गोधन ले जानेमें कोई रुकावट थी नहीं, फिर याज्ञवल्क्य क्यों बोले ?

समाधान—जो सर्वब्राह्मणसाधारण धन है, उसे सर्वसंमतिके बिना ले जाना अनुचित है, इसलिए सभामें उपस्थित विद्वद्-वृन्दसे अनुमति लेना आवश्यक हुआ। जो वादमें भाग ले चुके थे और समुचित उत्तरसे सन्तुष्ट हो चुके थे, उनकी तरफसे तो इसमें प्रतिरोध नहीं हो सकता था, यह ठीक है, किन्तु जो अवशिष्ट थे, उनकी सम्मति लेना परमावश्यक था। उनकी भी सम्मति लेनेका प्रकार यही है कि हम उनसे पूछें या वे हमसे पूछें। यदि इस विषयमें किसीकी प्रश्नोत्तरकी इच्छा होगी, तो श्रीयाज्ञवल्क्यजी उपस्थित सब विद्वानोंमें ब्रह्मिष्ठ हैं, यह सर्वसंमत निर्णय समझा जायगा, तदनुसार उक्त गोधन लेनेका उनको अधिकार होगा, इस अभिप्रायसे पुनः श्रीयाज्ञवल्क्यका प्रश्न है ॥ २७ ॥

'तान् हैतैः श्लोकैः पप्रच्छ' इत्यादि श्रुति। उक्त प्रश्नोत्तरकी ललकारसे भी जब किसीको प्रश्नोत्तरका साहस न हुआ, तब श्रीयाज्ञवल्क्यजीने स्वयं वक्ष्यमाण श्लोकोंसे पूछा—

'यथा वृक्षो' इत्यादि। लोकमें जैसे वृक्ष वनस्पति है, ऐसा कहनेपर वृक्षमें वनस्पति विशेषण समझा जाता है।

शङ्का—वनस्पति भी वृक्षवाचक है, अतः घट-कलशके समान वनस्पतिको वृक्षका पर्याय क्यों नहीं कहते ?

समाधान—पर्यायवाची शब्दोंसे अर्थबोध नहीं माना जाता, यह शाब्दिक

त्वच एवाऽस्य रुधिरं प्रस्यन्दि त्वच उत्पटः ।
तस्मात्तदातृण्णात्प्रैति रसो वृक्षादिवाऽऽहतात् ॥ २ ॥
मा॰ँसान्यस्य शकराणि कीनाट॰ँ स्नाव तत्स्थिरम् ।
अस्थीन्यन्तरतो दारूणि मज्जा मज्जोपमा कृता ॥ ३ ॥
यद् वृक्षो वृक्णो रोहति मूलान्नवतरः पुनः ।
मर्त्यः स्विन्मृत्युना वृक्णः कस्मान्मूलात्प्ररोहति ॥ ४ ॥

संप्रदाय है और वस्तुतः वनस्पतिशब्द वृक्षका पर्यायवाची है भी नहीं, किन्तु 'तैरपुष्पाद् वनस्पतिः' इस अमरकोषसे पुष्पके बिना फलनेवाले उदुम्बर आदि वनस्पति माने जाते हैं, वैसे ही पुरुषमें 'अमृषा, सत्य' यह विशेषण है । पुरुषके लोमके समान वृक्षमें पत्ते हैं, पुरुषकी ऊपरकी त्वक् वृक्षकी विपाटिका है । वृक्षकी नीरस छाल विपाटिका कहलाती है ॥ १ ॥

'त्वच एवाऽस्य' इत्यादि । त्वक्से ही पुरुषका रुधिर बहता है, वनस्पतिकी त्वक्से (छालसे) निर्यासरस टपकता है । यतः ये सब पुरुष और वनस्पति समान हैं, इसलिए आहत पुरुषसे रुधिर बहता है, जैसे कि आहत वनस्पतिसे रस निकलता है ॥ २ ॥

'मा॰ँसान्यस्य' इत्यादि । एवं पुरुष और वनस्पतिका माँस शकर यानी खण्ड (अंश) है, कीनाट शकलके भीतर काष्ठसंलग्न वल्कल रहता है, उसके समान पुरुषमें स्नायु (नस) रहती है, वह कीनाट स्नायुके समान दृढ़ (कड़ा) होता है। स्नायुके भीतर जैसे कड़ी हड्डियाँ होती हैं, वैसे ही कीनाटके भीतर कड़ा दारु (काष्ठ) होता है । जैसे पुरुषमें मज्जा रहती है, वैसे ही वनस्पतिमें भी मज्जा रहती है। काष्ठमज्जामें पुरुषमज्जा ही उपमा है, दूसरी नहीं, इन दोनोंमें विशेष अन्तर नहीं है । जैसे वनस्पतिकी मज्जा है वैसे ही पुरुषकी मज्जा है, जैसे पुरुषकी मज्जा है वैसे ही वनस्पतिकी मज्जा है ॥ ३ ॥

'यद् वृक्षो वृक्णो' इत्यादि । यदि वृक्षके कुछ अंश कट जाते हैं, तो वे पुनः पनपते हैं । मूल छोड़कर काटनेपर बहुत वृक्ष फिर पनपते हैं, बदरीके काटनेपर पुनः पुनः उसके अनेक प्ररोह होते हैं, नये-नये पुरुषका भी घाव भरता ही है, ये सब समान ही हैं, किन्तु वनस्पतिमें यह विशेष है कि वह छिन्न होनेपर पुनः प्ररूढ़ होता है । पुरुष मृत्युसे छिन्न होनेपर फिर नहीं जीता

श्रुतिः—रेतस इति मा वोचत जीवतस्तत्प्रजायते धानारुह इव वै वृक्षोऽञ्जसा प्रेत्य सम्भवः ॥ ५ ॥

यत्समूलमावृहेयुर्वृक्षं न पुनराभवेत् ।
मर्त्यः स्विन्मृत्युना वृक्णः कस्मान्मूलात्प्ररोहति ॥ ६ ॥
जात एव न जायते को न्वेनं जनयेत्पुनः ।

इसका भी पुनःप्ररोहण होना चाहिए ? इसका कारण आपसे पूछते हैं । मृत्युसे छिन्न मनुष्य किस मूलसे प्ररूढ होता है, मृत पुरुषका पुनर्जन्म कैसे होता है, यह हम आप सबसे पूछते हैं ॥ ४ ॥

'रेतस इति' इत्यादि श्रुति । यदि यह कहिये कि रेतसे फिर पुरुष प्ररूढ़ होता है, तो ऐसा मत कहिए।

शङ्का—क्यों ?

समाधान—कारण कि जीवित पुरुषसे ही रेत होता है, मृतसे नहीं । और वृक्ष काण्डसे भी होता है और बीजसे भी होता है । 'इव'शब्द यहाँ अनर्थक है। वैशब्द प्रसिद्धिद्योतक है ॥ ५ ॥

'यत्समूल०' इत्यादि । यदि मूलके साथ बीजका नाश किया जाय, तो वृक्ष फिर नहीं होगा, अतः आप लोगोंसे पूछता हूँ कि यदि सम्पूर्ण जगत्का मूल मृत्युसे छिन्न हो जाता है, तो फिर किस मूलसे पुनः वह उत्पन्न होता है ॥ ६ ॥

'जात एव न जायते' इत्यादि । जो उत्पत्स्यमान हो, उसके विषयमें प्रश्न हो सकता है कि वह किससे उत्पन्न होता है, परन्तु जो उत्पन्न हो चुका है, उसके विषयमें वैसा प्रश्न करना व्यर्थ है, क्योंकि उसको तो जब उत्पन्न देखते ही हैं, तब उसमें प्रश्न ही क्या ? ऐसा मत समझिये । बात यह है कि मृत पुनः उत्पन्न होता ही है, अन्यथा उसके द्वारा किये गये पुण्य या पाप निष्फल हो जायँगे । अर्थात् कृतनाश और अकृताभ्यागमरूप दोष होगा । इसका व्याख्यान पूर्वमें हो चुका है और आस्तिकोंकी दृष्टिमें उसका स्वरूप अतिस्पष्ट है, इसलिए हमने इस विषयकी पुनः व्याख्या नहीं की है । अस्तु, आप लोगोंसे मैं पूछता हूँ कि मृत पुरुषको फिर कौन पैदा करता है ? इस बातको ब्राह्मण न जान सके यानी मृत प्राणी जिससे फिर उत्पन्न होते हैं, उस जगत्के मूलको ब्राह्मणोंने न जाना, इसलिए यह स्पष्ट हो गया कि उपस्थित विद्वानोंमें ब्रह्मविदग्रणी श्रीयाज्ञवल्क्यजी

विज्ञानमानन्दं ब्रह्म रातिर्दातुः परायणं तिष्ठमानस्य तद्विद इति ॥ ७, २८ ॥

इत्युपनिषदि तृतीयाध्यायस्य नवमं ब्राह्मणं समाप्तम् ।

ही हैं, अतएव उक्त पणभूत गोधनको मुनिजीने ही ले लिया और सब विद्वानोंके ऊपर विजय भी प्राप्त की। यह आख्यायिका भी समाप्त हुई।

जो जगत्का मूल है, जिसका (ब्रह्मका) शब्दसे साक्षात् व्यपदेश होता है और जिसके विषयमें ब्राह्मणोंसे श्रीयाज्ञवल्क्यजीने पूछा था, उसको श्रुति अपने आप हम लोगोंके प्रति कहती है—'विज्ञानम्' विज्ञान यानी विज्ञप्ति। वह आनन्द-रूप है। उक्त विज्ञानानन्द विषयविज्ञानके समान दुःखानुविद्ध नहीं है, किन्तु प्रसन्न, शिव, अतुल, अनायास, नित्यतृप्त तथा एकरस ब्रह्म है, वह धन देनेवाले यजमानकी परा गति (कर्मफलदाता) है। किञ्च, एषणाओंसे विरत होकर तथा उसीमें स्थिर रहकर जो कर्म नहीं करते, उन ब्रह्मज्ञानियोंका भी वह परायण है। यहाँपर यह विचार किया जाता है कि जो आनन्दशब्द लोकमें सुखवाची प्रसिद्ध है, वह यहाँपर ब्रह्ममें विशेषणरूपसे श्रुत है—'आनन्दं ब्रह्म' इति। अन्य श्रुतियोंमें भी वैसा देखा जाता है—'आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्', 'आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्', 'यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्', 'यो वै भूमा तत् सुखम्', 'एष परम आनन्दः'। संवेद्य सुखमें आनन्दशब्द प्रसिद्ध है। ब्रह्मानन्दको यदि संवेद्य मानो, तो ब्रह्ममें आनन्द आदि शब्दोंका प्रयोग करना ठीक है, अतः यह विचारना चाहिए कि लोकवत् यहां आनन्द वेद्य है या नहीं।

शङ्का—श्रुतिरूप प्रमाणसे ब्रह्मको संवेद्य आनन्दस्वरूप ही मानते हैं, फिर उसमें विचार करनेकी क्या आवश्यकता है?

समाधान—नहीं, विचार करना आवश्यक है; क्योंकि विरुद्ध श्रुतिवाक्य देखे जाते हैं। यह सत्य है कि आनन्दशब्द ब्रह्ममें श्रुत है, पर वह लौकिक आनन्दके समान ज्ञायमान नहीं है। प्रत्युत आनन्दके ज्ञानका श्रुतियोंमें प्रतिषेध है—'यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत् तत् केन कं पश्येत् केन कं विजानीयात्', 'यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति स भूमा', 'प्राज्ञेनात्मना सम्परिष्वक्तो न बाह्यं किञ्चन वेद' इत्यादि। इन श्रुतिवाक्योंका अर्थ स्पष्ट है। तात्पर्य यह है कि विचारके बिना

श्रुतिवाक्योंके तत्त्वार्थका निर्णय नहीं हो सकता, इसलिए विचार आवश्यक है। और मोक्षवादियोंकी विप्रतिपत्तियाँ भी हैं। सांख्य और वैशेषिक भी मोक्षवादी हैं, पर उनका मत है कि मोक्षमें संवेद्य सुख नहीं है। साङ्ख्य कहते हैं कि ज्ञान बुद्धिधर्म है। प्रकृति और पुरुषका भेदज्ञान ही तत्त्वज्ञान है। तत्त्वज्ञानसे बुद्धिका लय हो जाता है, अतः ज्ञान नहीं होता। आत्मा अप्रतिसंक्रम है, उसमें ज्ञान होता ही नहीं। वैशेषिक अशेषविशेषगुणोच्छेदको अथवा आत्यन्तिक दुःखध्वंसको मोक्ष मानते हैं। शरीर, इन्द्रिय आदि द्वारा ही आत्मामें ज्ञान होता है। शरीर, इन्द्रिय आदि कर्मनिबन्धन हैं, कर्मोंके निश्शेष समाप्त होनेपर ही मोक्ष होता है; स्वतः आत्मा पृथिव्यादिके समान जड़ है, अतः ज्ञानजनक सामग्रीके वैकल्यसे आत्मामें उस समय ज्ञान नहीं होता। भागवतोंका मत है कि मोक्षकालमें भी ज्ञान होता है। उस समयका सुख निरतिशय और स्वसंवेद्य है। यदि ज्ञान न माना जाय, तो अविदितसत्ताक सुख अपुरुपार्थ ही होगा, इस परिस्थितिमें उसके उद्देश्यसे किसीकी मोक्षमार्गमें प्रवृत्ति ही नहीं होगी।

शङ्का—ठीक है, फिर इस विषयमें क्या माना जाय ?

समाधान—ज्ञायमान आनन्दका ही श्रुतियोंमें श्रवण पाया जाता है—'जक्षन् क्रीडन् रममाणः', 'स यदि पितृलोककामो भवति सङ्कल्पादेवास्य पितरः समुत्तिष्ठन्ति' 'यः सर्वज्ञः स सर्ववित्', 'सर्वान् कामान् समश्नुते' इत्यादि श्रुतियोंसे स्पष्ट है कि मोक्ष संवेद्य है, अवेद्य नहीं।

शङ्का—मोक्षमें अद्वितीय आत्मा ही अवशिष्ट रहता है। उससे भिन्न सारा पपञ्च अज्ञानकल्पित होनेसे अज्ञानके साथ ही निवृत्त हो जाता है। उसकी निवृत्तिके अनन्तर कारकविभागके न होनेसे क्रियाकी उत्पत्ति कैसे होगी ? यह तो अनुभव-सिद्ध है कि क्रिया अनेककारकसाध्य होती है। विज्ञान भी क्रिया ही है।

समाधान—मोक्ष लोकदृष्ट वस्तुसे विलक्षण है, अतः श्रुतिप्रमाणसे आनन्द-विषयक विज्ञान होता है, ऐसा मान सकते हैं, अतएव 'विज्ञानमानन्दम्' इत्यादि श्रौत वाक्य उपपन्न होते हैं। 'विज्ञायते यत् तद्विज्ञानम्' ऐसा विग्रह करके कर्ममें बाहुलकत्वात् ल्युट्प्रत्यय होनेपर विषयार्थक विज्ञानशब्द बनता है, अतएव आनन्दके साथ अभेदसे विज्ञान अन्वित होता है। समानविभक्तिक दो पदोंसे उपस्थित अर्थोंका अभेदसे अन्वय होता है, यह शाब्दिक सम्प्रदाय है, अन्यथा 'विज्ञानमानन्दम्' यह वाक्य ही अनुपपन्न हो जायगा।

शङ्का—वचन पदार्थका उत्पादक नहीं होता, अन्यथा 'अग्निः शीतः, उदकम् उष्णम्' इत्यादि वाक्यसे अग्निमें शैत्यकी और जलमें उष्णकी उत्पत्ति होनी चाहिए, पर होती नहीं, इसलिए वचन ज्ञापक माना जाता है। अभिमत अर्थ-ज्ञानकी उत्पत्ति शब्दसे हो जायगी, ज्ञान चाहे बाधितार्थ ही क्यों न हो, अतएव 'अत्यन्तासत्यपि ह्यर्थे ज्ञानं शब्दः करोति हि' इत्यादि वचन और लोकानुभव संगत होते हैं। यह तो हो नहीं सकता कि अगम्य देश और कालमें अग्नि शीत और जल गरम होता है, जिससे उभयविध वाक्य प्रमाण हों।

समाधान—यद्यपि वचन ज्ञापक ही है, कारक नहीं है, यह कहना ठीक है, तथापि श्रुतिप्रमाणसे यह तो कल्पना कर ही सकते हैं कि आनन्दात्मक विज्ञानक्रिया लौकिक विज्ञानक्रियासे विलक्षण है, अतः लौकिक क्रियाके अनेक कारकोंसे साध्य होनेपर भी उक्त क्रिया अनेक कारकोंके बिना भी होती है। जैसे सांसारिक प्राणियोंके ज्ञान आदिको अनित्य माननेपर भी तार्किक ईश्वरके ज्ञान, इच्छा आदिको नित्य मानते हैं, वैसे ही प्रकृतमें भी कह सकते हैं। अग्नि और जलके समान विज्ञानको भी सर्वत्र एकरूप ही मानना उचित है।

शङ्का—तो नैयायिकोंने ईश्वरज्ञानको नित्य कैसे कहा है?

समाधान—जैसे उनका मोक्षस्वरूपका निरूपण उपपत्तिशून्य अतएव हेय है, वैसे ही ज्ञानक्रियाका नित्यत्व-प्रतिपादन भी उपपत्तिशून्य अतएव हेय है।

शङ्का—मोक्ष कैसे अनुपपन्न है?

समाधान—अशेषविशेषगुणोच्छेदको जो मोक्ष मानते हैं, उनके मतमें मुक्त और शिलाखण्डमें कुछ भी भेद नहीं हो सकता। कौन सचेता पुरुष शिलाखण्ड बननेके लिए प्राप्त सम्पूर्ण सुखोंके उपभोगसे विमुख होकर विविध दुःखोंका अनुभव करते हुए मोक्षके उपायभूत वैराग्याभ्यास आदिके साथ ज्ञानार्जनमें प्रवृत्त होगा? उपेय मधुर रसकी लिप्सासे ही उसके उपाय कटु रसमें जनता प्रवृत्त होती है, यह किसीसे छिपा नहीं है। एवं सांख्यमत भी उपेक्ष्य है। मोक्षको सुखानुभवरूप माने बिना प्रेक्षावान्‌की उसके उपायमें प्रवृत्ति नहीं हो सकती, यह स्पष्ट ही है। हां, भागवतोंका मत ठीक है, ये लोग मोक्षको संवेद्य मानते हैं, अतः 'सुखी अहम्' ऐसी प्रतीति मुक्तको होती है। 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' इत्यादि आनन्दप्रतिपादक श्रुतियां भी इस अर्थमें प्रमाण हैं। परन्तु यह भागवत मत भी अद्वैतवेदान्तियोंको मान्य नहीं है।

शङ्का—क्यों ?

समाधान—शरीर और इन्द्रियके बिना विज्ञानकी उत्पत्ति नहीं हो सकती। यह तो सबको मान्य है कि शरीरवियोग ही मोक्ष है। शरीरके बिना इन्द्रियाँ नहीं रह सकतीं, क्योंकि वे शरीराश्रित ही सर्वत्र देखी जाती हैं। इससे स्पष्ट है कि मोक्षसमयमें विज्ञानकी उत्पत्ति नहीं हो सकती।

शङ्का—देहादिके बिना भी मोक्षकालमें विज्ञानोत्पत्ति मानें, तो क्या आपत्ति है ?

समाधान—आपत्ति यह है कि शरीर आदिके उपादानका वैयर्थ्य होगा। शरीर आदिके बिना भी यदि विज्ञान्की उत्पत्ति मानी जाय, तो संसारमें शरीर आदिका उपादान ही व्यर्थ हो जायगा। भोग भी विज्ञानके समान शरीर आदिके बिना हो सकता है।

शङ्का—ठीक है, परन्तु ब्रह्मस्वरूपभूत ज्ञानसे ही मोक्ष वेद्य हो सकता है, अतिरिक्त ज्ञानकी क्या आवश्यकता है ?

समाधान—विषय और विषयी एक नहीं हो सकते। मोक्ष ब्रह्मस्वरूप ही है। यदि उसे वेद्य मानें, तो वह विषय होगा, विषयी नहीं। यदि उसको विषयी (भासक) मानिये, तो वह विषय नहीं होगा। एक ही विषय और विषयी कहीं नहीं देखा गया है। किञ्च, ब्रह्म मोक्षानन्दका अनुभव करता है ? या मुक्त अनुभव करता है या संसारी ? प्रथम पक्षमें दोष कह चुके हैं कि एकमें विषयविषयिभाव नहीं होता। द्वितीय पक्षमें यह दोष है कि जबतक संसार निवृत्त नहीं होता, तबतक अपनेको संसारी ही मानता है। संसारनिवृत्ति होनेके अनन्तर स्वयं ब्रह्मस्वभाव हो जाता है, अतः प्रथमपक्षोक्त दोष दुर्निवार है। तृतीय पक्षमें, संसारदशामें तो वह अपनेको संसारी ही मानता है, अतः उस समय ब्रह्मानन्दका अनुभव असम्भव ही है। संसारके निवृत्त होनेपर जीव जब मुक्त हो जाता है, तब उसको ब्रह्मभिन्न मानते हो या अभिन्न ? अभिन्न पक्षमें जैसे एक अञ्जलि जलको जलाशयमें छोड़-देनेपर वह जलाशयगत जलके समान हो जाता है, पृथक्रूपसे लक्षित नहीं होता, वैसे ही मुक्त होनेपर संसारी ब्रह्मस्वरूप हो जाता है, रूपान्तरसे उसकी अव-स्थिति नहीं होती। ब्रह्मस्वरूपावस्थानमें दोष कह ही चुके हैं। भिन्न पक्षमें ब्रह्मसे भिन्न होकर ब्रह्मानन्दका अनुभव करता है, तो एकत्वविरोध स्पष्ट है, केवल एकत्व-श्रुतिसे ही विरोध नहीं है, किन्तु सर्वश्रुतिविरोध भी होगा, कारण कि सब श्रुतियोंका तात्पर्य अद्वितीय ब्रह्ममें ही है, यह अनेक बार निर्णीत हो चुका है।

शङ्का—अच्छा, तो भेदाभेदरूप तृतीय कल्पना ही हो ?

समाधान—यह तो उपपत्तिशून्य है, इस विषयको पूर्वमें विशेषरूपसे सिद्ध कर चुके हैं। और यह भी दोष है कि यदि ब्रह्मको सतत ज्ञान रहता है, तो विज्ञान-अविज्ञानकल्पना असंगत ही है, क्योंकि ब्रह्म सततविज्ञानस्वभाव ही है, अतः ब्रह्म आत्मानन्दको जानता है, यह कल्पना कैसे युक्तिपूर्ण हो सकती है ? यदि कभी आत्मविज्ञान न होता और कभी होता, तो यह कल्पना करना ठीक होता कि ब्रह्म आत्मानन्दको जानता है, जैसे देवदत्त कभी अपनेको जानता है और कभी दूसरेको जानता है, ऐसी परिस्थितिमें यह प्रयोग होता है कि अमुक समय देवदत्त अपनेको जानता है और अमुक समय दूसरेको जानता है। निरन्तर ज्ञान होनेपर वैसा नहीं होता, जैसे लक्ष्यवेधनके समय धानुष्कको (धनुर्धारीको) केवल लक्ष्यविषयक ही ज्ञान रहता है, उस समय उसमें ज्ञान और अज्ञान दोनोंकी कल्पना नहीं हो सकती, वैसे ही प्रकृतमें भी समझना चाहिए। यदि आत्मानन्दको विच्छेदपूर्वक जानता है, तो विज्ञानविच्छेदकालमें अन्यविषयत्वका भी प्रसङ्ग हो जायगा तथा आत्मामें विक्रियत्वकी भी प्रसक्ति होगी। इस परिस्थितिमें आत्मामें अनित्यत्वप्रसक्ति हो जायगी। अतः 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' यह श्रुति ब्रह्मस्वरूप आनन्दज्ञानका प्रतिपादन करती है, आत्मानन्द वेद्य है, इसका प्रतिपादन नहीं करती; यह समझना चाहिए।

शङ्का—यदि ब्रह्मानन्दको संवेद्य नहीं मानोगे, तो 'जक्षन् क्रीडन् रममाणः' इस श्रुतिके साथ विरोध होगा।

समाधान—मुक्तके सर्वात्मस्वरूप हो जानेपर यदि कोई आत्मामें क्रीडा करता है, तो वह (मुक्त) अपनेको भी वैसा ही समझकर उसका अनुवाद करता है। अतः उक्त श्रुति सर्वात्मभावस्वरूप मोक्षकी स्तुति करती है, आनन्दमें वेद्यत्वका प्रतिपादन नहीं करती।

शङ्का—यदि यथाप्राप्तका अनुवाद मानते हो, तो दुःखी मनुष्य तथा स्थावरादिकी आत्माको भी स्वात्मा समझकर मुक्त पुरुष अपनेको दुःखी मानकर उसका अनुवाद क्यों नहीं करता ?

समाधान—नाम, रूपसे निर्मित कार्य और करणरूप उपाधिके संपर्कसे जनित भ्रान्तिसे आत्मामें दुःख धर्मका आरोप होता है। आत्मैकत्वविज्ञानसे भ्रान्तिनिमित्त नाम, रूप आदिकी वासनाके साथ निवृत्ति हो जानेपर मुक्तमें दुःख आदिके अनुवादका

महाप्रलयसम्पत्तौ जगतः पुनरुद्भवे ।
कारणं पृच्छ्यते वृक्षसर्वसाधर्म्यपूर्वकम् ॥ ५६ ॥
वृक्षः काण्डरुहो बीजरुहश्चेति द्विधा तयोः ।
समः काण्डरुहेणैष रेतसो योऽभिजायते ॥ ५७ ॥

संभव कहां ? विरुद्ध श्रुतियोंका विषयविभाग बतलाया जा चुका है। एवं 'एषोऽस्य परमानन्दः' इत्यादि वाक्यके समान सम्पूर्ण आनन्द आदि वाक्योंको भी समझना चाहिए अर्थात् 'एषोऽस्य' इस वाक्यमें षष्ठ्यर्थ भेद विवक्षित नहीं है, क्योंकि 'यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत् तत् केन कं पश्येत्' इत्यादि वाक्योंसे ब्रह्मसे अतिरिक्त कोई पदार्थ ही जब मुक्तिदशामें नहीं है, तब षष्ठ्यर्थ भेद कैसे हो सकता है ? भेद भिद्यमानतन्त्र माना जाता है । प्रतियोगी और अनुयोगी दो पदार्थोंके रहनेपर 'इदमिदं न भवति' (घट पट नहीं है) यों भेदकी प्रतीति होती है । वास्तवमें जब घट, पट आदि पदार्थ ही नहीं हैं, तब उक्तप्रतीतिसापेक्ष भेदकी स्थिति कहांसे होगी ? अतः भेद पूर्वानुभूतका केवल अनुवादमात्र है । इसी प्रकार 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म', 'जक्षन् क्रीडन्' इत्यादि श्रुतियोंके विषयमें भी समझना चाहिए ॥ ७, २८ ॥

बृहदारण्यकोपनिषद्में तृतीयाध्यायका नवम ब्राह्मण समाप्त ।

'महाप्रलय०' इत्यादि । सम्पूर्ण जगत्का प्रलय होनेपर पुनः जगत्की उत्पत्ति होनेमें क्या कारण है ? जैसे वृक्षके कटनेपर उसकी पुनः उत्पत्तिमें बीज या काण्ड कारण है, वैसे ही पुरुषके मरनेपर उसकी पुनः उत्पत्तिमें बीज और काण्डके स्थानापन्न कारण क्या है ? यह प्रश्नका आशय है । वृक्ष और पुरुषमें सर्वांशसे साधर्म्य श्रुतिने बतलाया है । उसका प्रयोजन पुरुषकी पुनः उत्पत्तिमें वृक्षका साधर्म्य दृढ़ है, यह बोधन करना है । साधारणतः तो साधर्म्यज्ञान द्वारा यह ज्ञात होता है कि पुरुषोत्पत्तिका भी कोई बीज अवश्य है, पर बीज और काण्डके समान सामान्यविशेषरूपसे मनुष्यकी पुनः उत्पत्तिका बीज किसीको ज्ञात नहीं था, अतएव सभामें उपस्थित सम्पूर्ण विद्वान् चुप रहे, कुछ भी उक्त प्रश्नका उत्तर न दे सके ॥ ५६ ॥

'वृक्षः' इत्यादि । वृक्ष दो प्रकारके होते हैं—एक बीजरुह, जो बीजसे

न पृच्छ्यतेऽतिस्पष्टत्वात् तदवान्तरकारणम् ।
किन्त्वस्पष्टमशेषस्य पृच्छ्यते मूलकारणम् ॥ ५८ ॥
अन्वयव्यतिरेकाभ्यां बीजाख्या मूलकारणात् ।
दृष्टा वृक्षजनिस्तद्वत्कस्मान्मूलाज्जगज्जनिः ॥ ५९ ॥

पैदा होते हैं और दूसरे काण्डरुह, जो छिन्न होनेपर अवशिष्ट अंशोंसे पुनः उत्पन्न हो जाते हैं। जैसे छिन्न बदरी आदि। जो काण्डरुह होते हैं, उनका कारण काण्ड ही है। पुरुषके रेतसे जो पैदा होते हैं, वे पुरुष काण्डरुहके समान हैं, यह अति स्पष्ट है। अतः रेत ही पुरुषोत्पत्तिका मूल है, यह मत कहिये, क्योंकि जीवित पुरुषमें ही रेत रहता है, मृतमें नहीं। इसलिए इस विषयमें मेरा प्रश्न ही नहीं है। बीजसे जैसे स्थानान्तर या कालान्तरमें वृक्षकी उत्पत्ति होती है, वैसे ही मरणके अनन्तर कालान्तर, देशान्तर और योन्यन्तरमें जो पुरुषकी उत्पत्ति होती है, उसका बीजके समान कारण क्या है? ॥ ५७ ॥

'न पृच्छ्यते' इत्यादि। काण्डरुह वृक्षका कारण काण्ड है, उसके समान पुरुषका कारण जो रेत है, उसको हम नहीं पूछते हैं। वह कारण तो अतिस्पष्ट है। प्रश्न जटिल (दुर्ज्ञेय) विषयका होता है। जो अस्पष्ट और सबका मूल कारण है, तद्विषयक प्रश्न है। सम्पूर्ण जगत्का लय होना प्रलय कहलाता है। जन्यभावानधिकरण महाप्रलय है। जब पुनः सृष्टि होती है, तब रेत नहीं रहता। रेत भी जन्य है। सर्गकी उत्पत्तिसे पूर्व रेतकी सत्ता ही नहीं रहती। जीवित प्राणीमें रेतकी स्थिति रहती है। पुरुषकी उत्पत्ति कारणसे ही होती है, इसलिए मैं पूछता हूँ कि पुरुषोत्पत्तिका कारण क्या है?

शङ्का—जैसे बीज न रहनेपर भी छिन्न बदरी प्रभृतिका पुनः उद्भव देखते हैं, वैसे ही बीजके बिना भी मृतकी पुनः उत्पत्ति हो सकती है।

समाधान—जैसे बीजके बिना काण्डरुह वृक्षकी पुनः उत्पत्ति होती है, वैसे मृत प्राणीकी छिन्न हस्त, पाद आदिसे पुनः उत्पत्ति नहीं देखी जाती, अतः मूलभूत बीजसे जैसे वृक्षकी उत्पत्ति होती है, वैसे ही मृत पुरुषकी उत्पत्तिका कारण क्या है? जो कि बीजस्थानापन्न है। जो पुत्र, पौत्र आदि रेत द्वारा उत्पन्न होते हैं, तद्विषयक प्रश्न नहीं है ॥ ५८ ॥

'अन्वय०' इत्यादि। अन्वय-व्यतिरेकसे बीजरूपी मूलकारणसे वृक्षका जन्म

नित्यजातस्वभावत्वं न मन्तव्यं यतो मृतः ।
पुनः पुनर्जायते स्यात्कृतनाशादिरन्यथा ॥ ६० ॥
को न्वेनं जनयेन्नित्यमित्युक्ता न विदुर्द्विजाः ।
जित्वा तान्याज्ञवल्क्यस्तु गोसहस्रं गृहीतवान् ॥ ६१ ॥

देखा जाता है, जहां बीज बोया जाता है, वहां वृक्ष उगता है, जहां बीज नहीं, वहां वृक्ष भी नहीं होता, यही अन्वय-व्यतिरेक बीजमें वृक्षकारणत्वका निर्णायक है। इस प्रकारके किस मूल कारणसे जगत्का जन्म होता है, यह प्रश्न है ।

शङ्का—जैसे समूल वृक्षको नष्ट कर देनेपर फिर उसका जन्म नहीं होता, वैसे मृत पुरुषका भी जन्म नहीं होता, ऐसा माननेपर पुनः उसके जन्म-कारणकी चिन्ता ही व्यर्थ है।

समाधान—ऐसा नहीं, अन्यथा कृतहानि और अकृताभ्यागमप्रसक्तिरूप दोष हो जायगा, इस दोषका विवेचन पूर्वमें कर चुके हैं। और यह निश्चित हो चुका है कि तत्त्वज्ञानके बिना मृतकी पुनः उत्पत्ति अवश्य होती है ॥ ५९ ॥

जो उत्पन्न है, उसके कारणकी चिन्ता ही व्यर्थ है, कारण कि वह तो उत्पन्न ही है, उत्पत्स्यमान कोई है ही नहीं अर्थात् मरकर पुनः कोई उत्पन्न नहीं होता, यह मत ठीक नहीं है, इसलिए कहते हैं—**'नित्यजात०'** इत्यादिसे ।

प्राणियोंको नित्यजातस्वभाव मानना ठीक नहीं ।

शङ्का—क्यों ?

समाधान—मृत प्राणी पुनः-पुनः उत्पन्न होता है ।

शङ्का—क्यों ?

समाधान—यदि ऐसा न मानोगे, तो कृत पुण्य और पापका भोगके बिना नाश और अकृत कर्मके भोगका प्रसङ्ग हो जायगा। सारांश यह है कि स्वभावसे ही सबकी उत्पत्ति तथा नाश होता है, अतः कारणचिन्ता व्यर्थ है, यों स्वभाववादियोंका मत है, परन्तु उनका मत असङ्गत है, क्योंकि कारणके बिना किसीका न जन्म ही होता है और न किसीका नाश ही होता है। स्वभाववादमें न कोई युक्ति है और न आगम ही है। अतः जगत्का मूलकारण क्या है ? यों श्रीयाज्ञवल्क्यजीने सभास्थ विद्वानोंके प्रति प्रश्न किया है ॥ ६० ॥

'को न्वेनम्' इत्यादि। जगत्के मूल कारणको सभामें उपस्थित विद्वानोंने

जिगीषा तामसी धेनुजिघृक्षा वा कथं मुनेः ।
यथा सात्त्विकवैराग्यशान्त्यादीनि तथेक्ष्यताम् ॥ ६२ ॥
न रजस्तमसी देहे विद्यमाने विनश्यतः ।
किन्तु बोधनाऽभिभूते भोगायोद्भवतः पुनः ॥ ६३ ॥

न जाना और न उत्तर दिया। अतः सम्पूर्ण ब्राह्मणोंपर विजय पाकर श्रीयाज्ञवल्क्यजीने एक सहस्र गौएँ ले लीं। उनके शिष्य श्रीसोमश्रवा महर्षिकी आज्ञाके अनुसार उन गौओंको अपने आश्रममें ले गये और अवशिष्ट विद्वान् अपने-अपने आश्रमोंको चले गये ॥ ६१ ॥

'जिगीषा' इत्यादि ।

शङ्का—विद्वानोंको जिगीषा करना (विजय करनेकी इच्छा करना) उनकी तामसी वृत्तिका द्योतक है और तामसी वृत्ति विद्वानोंको हेय है ।

'गुरुं हुंकृत्य त्वंकृत्य विप्रं निर्जित्य वादतः ।
श्मशाने जायते वृक्षः कङ्कगृद्ध्रोपसेवितः ॥'

इत्यादि धर्मशास्त्रसे विद्वान्‌का विप्रके ऊपर विजय पाना, अनिष्ट फलप्रद होनेसे, गर्हित है और धेनुजिघृक्षा (गउओंको ले जानेकी इच्छा) राजसी वृत्ति है । तम और रज—ये दोनों चित्तके प्रबल दोष हैं। दोषोंकी निश्शेष निवृत्तिके बिना तत्त्वज्ञान नहीं होता । यद्यपि उक्त मुनि तत्त्वज्ञानी थे, अतः उनमें उक्त दोषोंकी सम्भावना नहीं हो सकती, यह कह सकते हैं, तथापि उक्त कार्यके द्वारा महर्षिमें उक्त दोष ही स्फुट प्रतीत होता है, इसमें रहस्य क्या है ?

समाधान—जैसे उनमें शान्ति, वैराग्य आदि सात्त्विक वृत्तियाँ थीं, वैसे ही राजस, तामस वृत्तियाँ भी थीं । इस विषयका स्पष्टीकरण उत्तर श्लोकसे होगा ॥ ६२ ॥

'न रज०' इत्यादि । जबतक शरीर रहता है, तबतक तत्त्वज्ञानीमें रज और तमकी निश्शेष निवृत्ति नहीं होती, किन्तु तत्त्वबोधसे वे अभिभूत हो जाते हैं, अतएव तत्त्वज्ञानियोंमें राजस और तामस वृत्तियाँ प्रायः उद्‌बुद्ध नहीं होतीं। इसीसे साधारण जनोंको यह भ्रम होता है कि तत्त्वज्ञानियोंमें रज और तम रहता ही नहीं । शरीर, इन्द्रिय आदि सब तीन गुणोंके परिणाम हैं। यदि ज्ञानियों तीन गुणोंकी निवृत्ति वस्तुतः मान ली जाय, तो शरीर आदिकी भी निवृत्ति हो जायगी । यह नहीं हो सकता कि कारणकी निवृत्ति होनेपर कार्य बना रहे । जैसे दिनमें सूर्यके तेजसे नक्षत्र आदि

आविर्भावतिरोभावौ पर्यायाद् भोगबोधयोः ।
यज्जीवन्मुक्तिशास्त्रं तत्सत्येवमुपपद्यते ॥ ६४ ॥
मुनिपृष्टं जगन्मूलं मुमुक्ष्वनुजिघृक्षया ।
आह विज्ञानमानन्दं ब्रह्मेति श्रुतिरादरात् ॥ ६५ ॥

अभिभूत रहते हैं, इसलिए उनका और उनके प्रकाशका प्रत्यक्ष नहीं होता। परन्तु साधारण मनुष्योंको तो यह भ्रम होता ही है कि दिनमें नक्षत्र आदि अस्त हो जाते हैं; वैसे ही प्रकृतमें भी समझना चाहिए। अतः किसी समय प्राचीन कर्मोकी वासनासे स्वोचित भोगके लिए तत्त्वज्ञानीमें वे पुनः उद्भूत हो जाते हैं ॥ ६३ ॥

'आविर्भाव०' इत्यादि। जीवन्मुक्तिदशामें प्रारब्ध कर्मोका भोग भी होता है। बोध और भोग तम और प्रकाशके समान विरुद्धस्वभाव हैं, अतः एक समयमें दोनों नहीं हो सकते, किन्तु कालभेदसे होते हैं। बोध-समयमें रज और तम अभिभूत हो जाते हैं और भोग-समयमें बोध अभिभूत हो जाता है, अतः भोग-समयमें उक्त दोष उद्भूत होते हैं। उद्भूत होकर वे अपने कार्यको भी उत्पन्न करते हैं। विदेहमुक्तिकी अपेक्षा जीवन्मुक्तिमें यही विशेष है। जीवन्मुक्तिशास्त्र ही इस विषयमें प्रमाण है। जो जीवन्मुक्ति नहीं मानते, उनका मत श्रुतिविरुद्ध है। इसका प्रतिपादन पूर्व ग्रन्थमें विशेषरूपसे कर चुके हैं ॥ ६४ ॥

'मुनिपृष्टम्' इत्यादि। प्रासङ्गिक निरूपण समाप्त हुआ। अब प्रकृत 'विज्ञान-मानन्दम्' इत्यादि वाक्यका व्याख्यान किया जाता है। मुनिने जो जगत्का मूल कारण पूछा था, जिसका कि उत्तर उपस्थित विद्वान् नहीं दे सके थे, मुमुक्षुओंपर दया कर श्रुति स्वयं आदरसे उसका निरूपण करती है। जो 'यत्साक्षादपरोक्षाद् ब्रह्म' इत्यादि वाक्यसे अपरोक्ष कहा गया है, जो 'यः पृथिव्यां तिष्ठन्' इत्यादि वाक्योंसे सर्वान्तर कहा गया है, जो 'अस्थूलमनणु' इत्यादि वाक्योंसे स्थूलत्वादि धर्मोसे रहित कहा गया है, जो 'नेति नेति' वाक्योंसे निषेधमुखसे समझाया गया है तथा औपनिषद शब्द द्वारा जिसका निरूपण किया गया है, उसी पुरुषका 'विज्ञान-मानन्दं ब्रह्म' इत्यादिसे श्रुति साक्षाद् निर्देश करती है। जो विधिमुखसे तथा निषेध-मुखसे प्रत्यगभिन्न ब्रह्म कहा गया है, उसीका विधिमुखसे निर्णय करनेके लिए यह वाक्य है, यह सारांश है ॥ ६५ ॥

एतावदिह निर्णीतं विजिगीषुकथामुखात् ।
तत्त्वमित्यखिलाध्यायतात्पर्यं चोपसंहृतम् ॥ ६६ ॥
विज्ञानमिति चैतन्यं न क्रिया नाऽपि तत्फलम् ।
न कारकं न चाऽऽभासः क्रियादेः किन्तु भासकम् ॥ ६७ ॥
एतावन्मात्रयाथात्म्यात् कार्यकारणवस्तुनः ।
श्रुत्या तत्त्वमसीत्युक्त्या तादात्म्यं प्रतिपाद्यते ॥ ६८ ॥

'एतावदिह' इत्यादि । इस अध्यायमें विजिगीषुकथासे जल्प आदि विवक्षित हैं, उसके द्वारा निर्णीत अर्थ छहों अध्यायोंका तात्पर्यार्थ है ॥ ६६ ॥

'विज्ञान०' इत्यादि । विज्ञानशब्दसे यहां कूटस्थ चैतन्य विवक्षित है, क्रिया (धात्वर्थ) और कारक विवक्षित नहीं है यानी 'ज्ञायतेऽनेन' इस व्युत्पत्तिसे सिद्ध वृत्तिरूप ज्ञान और विज्ञानक्रियाका फल विवक्षित नहीं है, किन्तु क्रियादिका भासक जो कूटस्थ चैतन्य है, वही प्रकृतमें विवक्षित है, वही सबका भासक है ।

शङ्का—कारक आदि क्यों विवक्षित नहीं हैं ?

समाधान—अस्थूलादि वाक्योंसे ब्रह्मातिरिक्त निखिल पदार्थोंका अभाव सिद्ध हो चुका है ।

शङ्का—'न प्रेत्य संज्ञास्ति' इत्यादि वाक्यसे कूटस्थ चैतन्यका भी प्रतिषेध है ?

समाधान—नहीं, कूटस्थ चैतन्यका प्रतिषेध नहीं हो सकता, यह मैत्रेयी-ब्राह्मणमें कह चुके हैं। जो संसारके प्रतिषेधका साक्षी है, उसके प्रतिषेधका साक्षी कौन हो सकता है ? असाक्षिक प्रतिषेध प्रामाणिक नहीं है इत्यादि युक्ति भी कह चुके हैं॥ ६७ ॥

'एतावन्मात्र०' इत्यादि । कार्यकारण वस्तु यानी निखिल जगत्, क्योंकि जगत्में जितने पदार्थ हैं, वे सब परस्पर कार्यकारणभावापन्न ही हैं—कोई किसीका कार्य है और कोई किसीका कारण । एतदुभयविलक्षण चैतन्य ही है । अविक्रिय होनेसे वह न किसीका कार्य ही हो सकता है और न किसीका कारण ही हो सकता है, परन्तु कार्य और कारणोंका यथार्थ आत्मा वही है, उसीमें कार्य और कारण कल्पित हैं । कल्पित पदार्थोंका यथार्थस्वरूप अधिष्ठान ही होता है, जैसे कि कल्पित भुजङ्गका वास्तविक रूप रज्जु ही है। अथवा इसका यह भी अर्थ हो सकता है—यदि कूटस्थ चैतन्य है, तो वह भी कार्य और कारण दोमें से किसी एकके ही अन्तर्गत

निर्धूताशेषदुःखौघहेतुत्वात् सुखमेव तत् ।
अथैष परमानन्दो यो वै भूमेति शास्त्रतः ॥ ६९ ॥
विषयेन्द्रियसम्बन्धाद् यत्तु लोके सुखायते ।
आद्यन्तवत्त्वादायासजन्यत्वाच्च न तत् सुखम् ॥ ७० ॥

हो सकता है । यदि सम्पूर्ण जगत् कार्य और कारणमें से किसी एकके अन्तर्गत है, तो वह विलक्षण नहीं हो सकता । इसका उत्तर इस श्लोकसे कहते हैं कि कूटस्थ चैतन्य ही कार्यकारणभावापन्न निखिल पदार्थोंकी कल्पनाओंका, अधिष्ठान होनेसे, यथार्थ आत्मा (स्वरूप) है, अतः उसकी सत्तामें सन्देह ही नहीं है । कूटस्थ चैतन्यका प्रत्यगात्माके साथ तादात्म्य (अभेद) है, यह प्रतिपादन करनेके लिए 'तत्त्वमसि' आदि वाक्य हैं ॥ ६८ ॥

'निर्धूता०' इत्यादि । निर्धूताशेषदुःखौघका हेतु होनेसे (सम्पूर्ण दुःखोंका क्षालन करनेमें हेतु आत्मविज्ञान है, अतः) उसको आनन्द कहते हैं। आत्मज्ञानसे ही संपूर्ण दुःखोंकी निवृत्ति होती है। लोकमें दुःखनिवर्तक वस्तुको आनन्द कहते हैं ।

शङ्का—आनन्दशब्द लोकमें वैषयिक आनन्दपरक प्रसिद्ध है । तत्-तत् इन्द्रियोंसे जनित विषयानुभवसे तत्-तत् इन्द्रिय द्वारा लोकमें आनन्दका अनुभव होता है । ब्रह्म वैषयिक आनन्दस्वरूप नहीं है, अतः ब्रह्ममें आनन्दशब्दका प्रयोग कैसे ?

समाधान—ब्रह्म परम आनन्दस्वरूप है । इसमें प्रमाण 'यो वै भूमा तत्सुखम्' इत्यादि श्रुति है ॥ ६९ ॥

'विषयेन्द्रिय०' इत्यादि । विषय और इन्द्रियके सम्बन्धसे जो लोकमें सुख माना जाता है, वह वास्तवमें सुख नहीं है, किन्तु दुःखानुविद्ध होनेसे आभास है यानी सुखके समान प्रतीत होता है, परिणाममें वह दुःख ही सिद्ध होता है ।

शङ्का—दुःखसम्भिन्न कैसे ?

समाधान—विषयपरतन्त्र है, इससे विषयके रहनेपर उसके सुखकी प्रतीति होती है, न रहनेपर नहीं होती । विषय विनश्वर है, अतः विषयका नाश होनेपर उसका सुख भी नष्ट हो जाता है । नाश होनेपर उसकी चिन्तासे असह्य दुःख होता है । और विषयके अर्जनमें भी कम दुःख नहीं होता । विषय तो स्वयं समीप आता नहीं है, किन्तु प्रयास करनेपर आता है। प्रयास भी विहित उत्तम, मध्यम आदि वृत्तियोंसे होता है । उसके रक्षण और परिवर्द्धनमें भी क्लेशाधिक्य होता है। कहाँ तक कहें,

अव्यावृत्ताननुगतभास्वद्विज्ञानमात्रतः ।
निरविद्याद्वयत्वात्तत्साक्षाद् ब्रह्मेति शब्द्यते ॥ ७१ ॥
तदेवाऽविद्यया शक्त्या भोगमोक्षप्रदानतः ।
जगतो मूलमित्याह रातिरित्यादिवाक्यतः ॥ ७२ ॥

उसके रक्षणके लिए प्राणों तकका त्याग करना पड़ता है। फिर भी क्षयितालक्षण दुःख अपरिहार्य है ॥ ७० ॥

विशेष्यभूत ब्रह्मको कहते हैं—**'अव्यावृत्ता०'** इत्यादिसे ।

अव्यावृत्त घटत्व आदि जो अव्यापक पदार्थ हैं, वे पटादिसे व्यावृत्त होते हैं। ब्रह्म सर्वगत है,अतः वह किसीसे व्यावृत्त नहीं होता। घटत्व, पटत्व आदि सकल घट, पट आदि व्यक्तियोंमें अनुगत रहते हैं। 'असङ्गो ह्ययं पुरुषः' इत्यादि श्रुतियोंसे ब्रह्म किसीमें अनुगत नहीं है। वस्तुतः ब्रह्मसे अतिरिक्त जब पदार्थ ही नहीं है, तब उसको किसमें अनुगत कहें ? अतः वह अव्यावृत्ताननुगत भास्वद्विज्ञानमात्र-स्वरूप है। रज और तमसे अनुविद्ध सत्त्वका भी परिणाम विज्ञान है, उसकी व्यावृत्तिके लिए 'भास्वत्' विशेषण दिया गया है। रजस्तमोनुविद्ध सत्त्वज ज्ञान सब विषयोंका प्रकाशक नहीं हो सकता। ब्रह्मज्ञान उससे अनुविद्ध न होनेसे भास्वद् अतएव सर्वविषयप्रकाशक है। मात्रशब्दसे सकलधर्मातीत अतएव अखण्ड है। 'निर्गता अविद्या यस्मात् तत् निरविद्यम्' यानी ब्रह्म अद्वय—सजातीय-विजातीय-स्वगतभेदशून्य—साक्षाद् अपरोक्षस्वरूप है।

शङ्का—यदि ब्रह्म निरविद्य है, तो वह जगज्जन्म आदिका कारण कैसे हो सकता है ? अविद्याधिष्ठान द्वारा ही ब्रह्म जगत्का कारण कहा जाता है।

समाधान—जो उक्तलक्षण प्रत्यगात्मा है, वही अविद्यावश वियदादि जगत्का कारण है, ऐसा वेदान्तोंमें कहा गया है। अतः अन्तर्यामी, सर्वज्ञ तथा सर्वशक्तिरूपसे उसकी जो प्रतीति होती है, वह मिथ्या है ॥ ७१ ॥

'तदेवाऽविद्यया' इत्यादि। उक्त अविशिष्ट ब्रह्म अविद्याशक्तिसे भोग (कर्म-फल) तथा मोक्षके (विज्ञानफलके) प्रदान द्वारा अशेष जगत्का मूल कारण है। राति नाम धनका है। और धन दाता यजमानको कालान्तरभावी फलको देनेवाला है, इसमें प्रमाण है—'रातिर्दातुः परायणम्' इत्यादि श्रुति ॥ ७२ ॥

अदृष्टफलसंप्रेप्सोः सुवर्णादि प्रयच्छतः ।
फलदानेन तद् ब्रह्म परायणमुदीरितम् ॥ ७३ ॥
दग्धमोहान्धकारस्य प्रत्यग्बोधाग्निना मुनेः ।
ऐकात्म्ये वर्त्तमानस्य ब्रह्माऽऽत्मत्वात्परायणम् ॥ ७४ ॥

'अदृष्ट०' इत्यादि । कालान्तरमें शुभ फलकी प्राप्तिकी कामनासे जो सुपात्रको विधिपूर्वक सुवर्ण आदि द्रव्य देता है, अभीष्ट फल प्रदान द्वारा ब्रह्म उसका परायण (परम गति) माना जाता है ।

शङ्का—कर्म स्वयं फल देगा । जैसे मर्दनसे जो सुख होता है, उस सुखको मर्दनक्रिया देती है । उसके लिए कोई ईश्वर नहीं मानता । अनीश्वरवादी भी मर्दनक्रियाजन्य सुखका अनुभव करता है ।

समाधान—ठीक है, क्रिया दो प्रकारकी होती है—एक स्वकालमें ही फल देनेवाली, जैसे मर्दन आदि क्रिया । दूसरी कालान्तरमें फल देनेवाली, जैसे दान, होम, यज्ञ और कृषि आदि । इनका वर्तमान समयमें फल नहीं होता, किन्तु कालान्तर, अवस्थान्तर और जन्मान्तरमें फल होता है । उस समय तक क्षणिक क्रिया नहीं रह सकती । अतः उसका फलदाता ईश्वर ही है, दूसरा नहीं; यह माना जाता है । एवं कालान्तर्भावी अशुभ फलोंके दाता भी ईश्वर ही हो सकते हैं, अन्य नहीं । जैसे संसारदशामें दुष्ट कर्मोंका फल राजा देता है, वैसे ही परलोकमें ईश्वर भी कर्मफल देता है ॥ ७३ ॥

'दग्धमोहान्ध०' इत्यादि । जैसे संसारी प्राणियोंका विहित और निषिद्ध कर्मोंसे जनित शुभ और अशुभ फलोंके प्रदान द्वारा ब्रह्म परायण है, वैसे ही संसार-विरस (फलसे विरक्त) अतएव संन्यास लिये हुए, त्रिविध एषणाओंसे रहित, श्रवण, मनन आदि द्वारा निरन्तर ब्रह्मतत्त्वका अभ्यास करनेवाले मुमुक्षुका भी ब्रह्म ही परायण है । उस मुनिका प्रत्यगात्मतत्त्वबोधरूप अग्निसे मोह (अविवेकरूपी अन्धकार) समूल दग्ध (नष्ट) हो गया है, अतएव वह ऐकात्म्यमें स्थित रहता है अर्थात् एकात्मविषयक ही निरन्तर भावना करता रहता है । मध्यमें यद्यपि उसे सांसारिक पदार्थ भासित होते हैं, तथापि स्वाप्निक स्मृत पदार्थके समान ही प्रतीत होते हैं । अतएव उधर चित्त आकृष्ट नहीं होता, किन्तु ब्रह्मभावनामें ही सदा चित्तको व्यापृत रखता है, अतएव ब्रह्मात्मा मुमुक्षुका परायण है । एवं मुक्त

यत्र वाऽन्यदिवेत्येवं यत्र त्वस्येति शास्त्रतः ।
भेदाभेदानुरोधेन व्याचक्षीत परायणम् ॥ ७५ ॥
तस्मात्तमस्विनो ब्रह्म भेदेनैव परायणम् ।
ध्वस्ताविद्यस्य चैकात्म्यात्कैवल्येन परायणम् ॥ ७६ ॥
किं दुःखाभाव आनन्द उत भावस्तदाऽपि किम् ।
संवेद्यश्चित्स्वभावो वा ब्रह्मानन्दोऽत्र चिन्त्यते ॥ ७७ ॥

पुरुषका भी परायण ब्रह्म ही है, इस पक्षमें परायण औपचारिक है, कारण कि मुक्त ब्रह्मसे अभिन्न है, वास्तवमें परायण भेदप्रयुक्त माना जाता है ॥ ७४ ॥

'यत्र वाऽन्यदि०' इत्यादि ।

शङ्का—ब्रह्म कर्मियोंका भेदसे परायण है और विद्वानोंका अभेदसे परायण है, यह जो आपने कहा, वह ठीक नहीं है, क्योंकि एक परायणशब्दका एक ही अर्थ होना उचित है ।'सकृदुक्तः शब्दः सकृदेवार्थं गमयति' यह शाब्दिकन्याय है ।

समाधान—हां, न्याय तो है, परन्तु संसारदशामें भेद और विद्यादशामें अभेद मानकर परायणपद उभयार्थक माना गया है। सारांश यह है कि एक कालमें एक शब्दसे एक ही अर्थका बोध होता है, इस अभिप्रायसे उक्त शाब्दिकन्याय है । प्रयोग-भेदसे अर्थोंका भेद होनेपर भी उक्त न्यायसे विरोध नहीं है । प्रकृतमें सांसारिक पुरुषोंके तात्पर्यसे परायणशब्दका प्रयोग भेदसापेक्ष है । और विद्यादशामें मुक्त पुरुषोंके तात्पर्यसे परायणशब्दका प्रयोग ब्रह्ममें भेदाभावप्रयुक्त है । श्लोकार्थ यह है—'यत्र तु द्वैतमिव भवति तदितर इतरं पश्यति' इत्यादि वाक्यसे अविद्यादशामें काल्पनिक भेद है, अतः तद्दशामें परायणशब्द भेदप्रयुक्त है । 'यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाऽभूद्' इत्यादि वाक्यसे विद्यादशा सूचित होती है। उस दशामें परायण-शब्द भेदाभावप्रयुक्त है । दो दशाओंके अनुरोधसे भेदाभेदानुसार ब्रह्ममें परायण-शब्दकी प्रवृत्ति होती है, यही व्याख्यान करना उचित है ॥ ७५ ॥

द्विविध परायणशब्दका उपसंहार करते हैं—**'तस्मात्'** इत्यादिसे ।

तमस्वीका (अविद्वान्का) भेदसे ब्रह्म परायण है और ध्वस्ताविद्यमें (विद्वान्में) ऐकात्म्य होनेसे भेदका संभव ही नहीं है, अतः उसका कैवल्यसे (अभेदसे) ब्रह्म परायण है, कैवल्यशब्द प्रकृतमें भेदाभावपरक है ॥ ७६ ॥

'किं दुःखाभाव' इत्यादि । 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' इस श्रुतिमें आनन्दशब्दका

प्रयोग आया है, केवल इसी श्रुतिमें नहीं, किन्तु 'आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चन', 'आनन्दं ब्रह्मेति व्यजानात्', 'कः प्राण्याद्यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्', 'कं ब्रह्म खं ब्रह्म', 'यो वै भूमा तत्सुखम्', 'एष परम आनन्दः', 'आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते' इत्यादि सब श्रुतियोंमें सुखवाची आनन्दशब्दका प्रयोग पाया जाता है; अतः यह विचार आवश्यक है कि ब्रह्म आनन्दस्वरूप है अथवा नहीं।

शङ्का—यदि ब्रह्ममें आनन्दशब्दका प्रयोग है, तो ब्रह्म आनन्दस्वरूप है, यह मानना ही ठीक है, इसमें विचारकी क्या आवश्यकता है ?

समाधान—आवश्यकता इसलिए है कि आनन्दशब्द वेद्य विषयमें प्रयुक्त होता है। ब्रह्म अवेद्य है, अतः अवेद्य ब्रह्ममें आनन्दशब्दके प्रयोगका अभिप्राय क्या है? यदि लौकिक आनन्दके समान ब्रह्मानन्द भी संवेद्य हो, तो ब्रह्ममें आनन्दशब्दका प्रयोग हो सकता है, अन्यथा लोक और वेदमें शब्दार्थोंके भिन्न होनेपर 'ये लौकिकास्ते वैदिकाः' इस न्यायके अनुरोधसे उभयत्र वाक्यार्थ अविशिष्ट (समान) है, यह जो सिद्धान्त है, वह असङ्गत हो जायगा, क्योंकि वेदमें असंवेद्य ब्रह्ममें आनन्दप्रयोग होनेसे अविशिष्टवाक्यार्थनियमका भङ्ग हो जायगा। यदि वेद्य कहें, तो अद्वैतश्रुतिविरोध होगा। इसलिए विरुद्ध श्रुतियोंके परिहारके लिए विचार आवश्यक है। 'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह' इत्यादि श्रुतियोंसे ब्रह्म सर्वप्रमाणाविषय सिद्ध होता है। यदि उसे वेद्य कहेंगे, तो प्रमाणविषय होगा, इसलिए वस्तुतत्त्वके निर्णयके लिए विचार आवश्यक है। 'यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाऽभूत् तत् केन कं पश्येत्', 'न दृष्टेर्द्रष्टारं पश्येः', 'विदिताविदिताभ्यामन्यत्' इत्यादि वचनोंसे ब्रह्म अविषय सिद्ध होता है। 'आनन्दं ब्रह्म' इत्यादि वाक्योंसे ब्रह्म विषय सिद्ध होता है, अतः आगमविप्रतिपत्ति है। उसके निरासके लिए विचार आवश्यक है। केवल आगमविप्रतिपत्ति ही नहीं है, अपि तु वादिविप्रतिपत्ति भी है। कोई मोक्षको वेद्य मानते हैं, कोई अवेद्य ? इससे विचार आवश्यक है। जो निरानन्द मोक्ष मानते हैं, उनका निराकरण भी करना है, सो बिना विचारके नहीं हो सकता, इसलिए भी विचार आवश्यक है।

शङ्का—विप्रतिपत्ति है, इसलिए एकतर पक्षके निर्णयके लिए विचार आवश्यक है, यह ठीक नहीं है, जैसे 'उदिते जुहोत्यनुदिते जुहोति' इत्यादि विप्रतिपत्तिसे विकल्प माना जाता है, वैसे ही प्रकृतमें भी विकल्प माननेसे विप्रतिपत्ति शान्त हो जायगी, अतः उक्त फलके लिए विचार अनावश्यक है।

आहुर्मोक्षं निरानन्दं साङ्ख्या वैशेषिका अपि।
तेषामानन्दशब्दोऽयं दुःखाभावस्य लक्षकः ॥ ७८ ॥

समाधान—विकल्प क्रियामें होता है, वस्तुमें नहीं। होम क्रियात्मक है, अतः उसमें विकल्प ठीक है। परन्तु ब्रह्म वस्तु है, अतः उसमें विकल्पकी सम्भावना ही नहीं है। विचारसौकर्यके लिए विकल्प करते हैं—क्या आनन्द अभावस्वरूप (दुःखाभावस्वरूप) है या भावस्वरूप है ? किसीका मत है कि आनन्द (सुख) दुःखाभावसे अतिरिक्त नहीं है। बोझेसे आक्रान्त, ग्रीष्मकी रविकिरणोंसे सन्तप्त अतएव पसीनेसे तर पुरुष शीतलवायुयुक्त वृक्षकी छायामें बोझा रखकर कहता है कि इस समय मैं आनन्दानुभव कर रहा हूँ। वहांपर आनन्दानुभवकी कोई अपूर्व सामग्री तो है नहीं, केवल दुःखप्रद सामग्रीके अभावसे प्राप्त दुःखाभावको ही आनन्द मानकर वैसा कहता है। अतः आलोकाभाव जैसे तम है, वैसे ही दुःखाभाव आनन्द है, अथवा आनन्द भावस्वरूप है पर उक्त मत ठीक नहीं है, जैसे राग-द्वेष परस्परविरोधी और स्वतन्त्र भावपदार्थ हैं, भावाभावात्मक नहीं हैं, वैसे ही सुख-दुःख भी स्वतन्त्र और परस्परप्रतिद्वन्द्वी भावात्मक हैं। अन्यथा सुख भावात्मक है, तदभावात्मक ही दुःख है; यह भी कल्पना हो सकती, अतः उक्त मतमें विनिगमकके न रहनेसे दोनोंको स्वतन्त्र भावात्मक मानना ही युक्तियुक्त है। विशेष अन्यत्र स्पष्ट है। द्वितीय विकल्पमें फिर दो विकल्प हैं—यदि भावस्वरूप है, तो चित्स्वभावब्रह्मानन्द वेद्य है अथवा अवेद्य है इसीकी चिन्ता अग्रिम श्लोकसे करते हैं ॥७७॥

'आहुर्मोक्षम्' इत्यादि। सांख्य और वैशेषिक मोक्षको निरानन्द मानते हैं, उनके मतमें आनन्दशब्द दुःखाभावका लक्षक है। सांख्यमतमें सुख (आनन्द) आदि सत्त्वगुणके परिणाम हैं।

'सत्त्वं लघु प्रकाशकमिष्टमुपष्टम्भकं चलं च रजः।
गुरु वरणकमेव तमः प्रदीपवच्चाऽर्थतो वृत्तिः ॥'

सत्त्व हलका, प्रकाशक और इष्ट (सुखस्वरूप) है। उपष्टम्भक और चल रजोगुण है। गुरु (भारी) और वरणक—आच्छादक—तमोगुण है। सत्त्वपरिणाम आनन्दादि बुद्धिधर्म हैं। बुद्धिवियोगसे ही आत्मा मुक्त होता है। उक्त वियोग प्रकृतिपुरुषके भिन्नत्वज्ञानसे होता है। उक्त ज्ञान होनेपर प्रकृति और उसके विकारोंका विलय हो जाता है और पुरुष अपने स्वरूपसे अवस्थित रहता है। अहङ्कारकी निवृत्ति होनेपर

औदासीन्यरूपसे आत्माका अवस्थान स्वरूपावस्थान है। जबतक अहङ्कार रहता है, तब-तक आत्मा बौद्धधर्माभिमानी होनेसे बुद्धिवृत्तिके अनुसार अवस्थित रहता है। उसकी निवृत्ति होनेपर स्वरूपावस्थान उचित ही है। जैसे जपाकुसुमके संसर्गसे स्फटिक अरुण प्रतीत होता है, संसर्गके हट जानेपर स्फटिक स्वरूपसे अवस्थित रहता है, वैसे ही प्रकृतमें भी समझना चाहिए। बुद्धिनिवृत्तिसे होनेवाला मोक्ष सांख्यमतमें निरानन्द ही है। वैशेषिक मतमें आत्यन्तिकदुःखनिवृत्ति मोक्ष है। [स्वसमानाधिकरण-दुःखासमानकालीनदुःखध्वंसरूप आत्यन्तिकदुःखाभाव मोक्ष है, यह न्यायवार्तिक-कारका मत है। चरमदुःखध्वंस मोक्ष है, यह भी एक मत है। निःश्रेयस दो प्रकारका होता है—एक पर और दूसरा अपर। अपर जीवन्मुक्तिलक्षण है। वह तत्त्वज्ञानके अनन्तर ही निश्चितात्मतत्त्वज्ञानी विद्वान्को प्राप्त होता है। उसमें निरन्तराभ्याससे मिथ्याज्ञानकी निवृत्ति और प्रारब्धकर्मफलका भोग होता है। पहला यानी पर निःश्रेयस क्रमसे होता है। क्रम यह है—तत्त्वज्ञानसे मिथ्याज्ञानका नाश, मिथ्याज्ञानके नाशसे दोषका नाश, दोषके नाशसे प्रवृत्तिका नाश, प्रवृत्तिके नाशसे जन्मका नाश और जन्मके नाशसे दुःखका नाश होता है। 'अपि' शब्द मतान्तरका उपलक्षक है। मोक्षमें जो जो मतभेद हैं, उन्हें संक्षेपसे दिखलाते हैं—स्वातन्त्र्य या मृत्यु ही मोक्ष है, यह चार्वाकोंका मत है। आत्मनाश मोक्ष है, यह माध्यमिकका मत है। धर्मिनिवृत्ति होनेपर निर्मल ज्ञानका उदय मोक्ष है, यह विज्ञानवादीका मत है। आवरणमुक्ति ही मुक्ति है, यह जैनोंका मत है। अविद्याप्रभव मिथ्याज्ञानकी निवृत्तिसे ब्रह्मांश जीवका स्वस्वरूपाधिगम मोक्ष है, यह आचार्य श्रीशङ्करका मत है। आनन्दमय परमात्मामें जीवका लय मोक्ष है, यह त्रिदण्डियोंका मत है। जीवका लिङ्गशरीरापगम मोक्ष , यह भास्करमत है। सर्वकर्तृकत्वधर्मको छोड़कर भगवान् वासुदेवके अवशिष्ट जितने कल्याण गुण हैं, उन सब धर्मोंकी प्राप्ति-पूर्वक भगवद्याथात्म्यानुभव मोक्ष है, यह विशिष्टाद्वैतवादी रामनुजीय मत है। जगत्-कर्तृत्व, लक्ष्मीपतित्व तथा श्रीवत्सको छोकड़र भगवज्ज्ञानायत्त निर्दुःख पूर्ण सुख मोक्ष है, यह द्वैतवादी माध्व मत है। द्विभुज कृष्णके साथ स्वांश-भूत जीवोंका गोलोकमें लीलानुभव मोक्ष है, यह शुद्धाद्वैतवादी वल्लभानुयायियोंका मत है। परमैश्वर्य्यप्राप्ति मोक्ष है, यह पाशुपत मत है। नकुलीशार्चादि मोक्ष है, यह माहेश्वर मत है। चन्द्रचूडशरीरी होकर पार्वत्यालिङ्गन मोक्ष है, यह कापालिकोंका मत है। पूर्णात्मतालाभ मोक्ष है, यह प्रत्यभिज्ञावादीका मत है।

संवेद्यानन्दमिच्छन्ति मुक्तौ नैयायिकादयः ।
भावरूपस्ततो मुख्यो विषयानन्दवन्मतः ॥ ७९ ॥

पारदरसपानसे देहके स्थिर होनेपर जीवन्मुक्ति मोक्ष है, यह रसेश्वरवादी गोविन्द-भगवत्पादका मत है। आत्यन्तिकदुःखनिवृत्ति मोक्ष है, यह गौतम आचार्यका मत है। आत्यन्तिकदुरितनिवृत्ति मोक्ष है, यह न्यायके एकदेशीका मत है। दुःखोत्पत्त्यभाव मोक्ष है, यह प्राचीन नैयायिकोंका मत है। स्वर्गादि मोक्ष है, यह मीमांसकोंका मत है। दुःखसाधन शरीरका नाश होनेपर नित्य निरतिशय सुखकी अभिव्यक्ति मोक्ष है, यह मीमांसक एकदेशीका मत है। नित्यसुखसाक्षात्कार मोक्ष है, यह कुमारिलभट्टपादका मत है। आत्यन्तिकदुःखप्रागभावपरिपालन मोक्ष है, यह प्रभाकरमिश्रका मत है। परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी—इन चार वाणियोंमें ब्रह्मरूप परा वाणीका दर्शन मोक्ष है, यह भगवान् पाणिनि आचार्यका मत है। पुरुषार्थशून्य बुद्धि आदि गुणोंका प्रलय कैवल्य है अथवा चिच्छक्तिकी स्वरूप-प्रतिष्ठा मुक्ति है, यह योगी पतञ्जलिका मत है। ऊर्ध्वगति मुक्ति है, यह जैनके एक-देशीका मत है। निरुपप्लव चित्तसन्तति मोक्ष है, यह भी किसीका मत है। अग्रिम चित्तानुत्पादपूर्वक पूर्वचित्तनिवृत्ति मोक्ष है, यह भी किसीका मत है। चित्तानुत्पाद मोक्ष है, यह भी कोई मानते हैं। इन बातोंका विशेष व्याख्यान ग्रन्थ-विस्तारके भयसे नहीं किया है, केवल संक्षेपसे निर्देश कर दिया है] साङ्ख्य और वैशषिक मतमें यह शङ्का होती है कि मोक्षदशामें आनन्दस्फुरण श्रुतिप्रमाणसिद्ध है। यदि वे मोक्षको निरानन्द मानेंगे, तो उनका ऐसा मानना श्रुतिविरुद्ध ही होगा, इस शङ्काकी निवृत्तिके लिए वे कहते हैं कि आनन्दबोधक श्रुतियोंमें श्रुत आनन्दशब्दको दुःखाभावमें लाक्षणिक मानना चाहिए, क्योंकि ब्रह्मभावापपत्ति-रूप मोक्षमें दुःख नहीं होता, इसलिए श्रुतिमें ब्रह्म आनन्द कहा गया है ॥ ७८ ॥

मुख्य वृत्तिसे यदि काम चल जाय, तो आनन्दशब्दका लक्षणया व्याख्यान ठीक नहीं है, इस अरुचिसे कहते हैं—**'संवेद्या०'** इत्यादिसे ।

नैयायिक मुक्तिसमयमें वेद्य आनन्द मानते हैं, अतएव वह भावस्वरूप है, अभावरूप नहीं है। जैसे विषयानुभवजन्य आनन्द भावस्वरूप और वेद्य है, वैसे ही मोक्षानन्द भी भावस्वरूप और वेद्य है ॥ ७९ ॥

जक्षन्क्रीडन् रतिं प्राप्तः सर्वान्कामान्सहाश्नुते ।
इत्यादिश्रुतयः प्राहुर्विषयानन्दतुल्यताम् ॥ ८० ॥
क्रियाकारकशून्यत्वेऽप्यस्याऽऽनन्दस्य वेदनम् ।
यतो विज्ञानमानन्दं ब्रह्मेति श्रुतिरब्रवीत् ॥ ८१ ॥
यथा सुख्यहमस्मीति स्वानन्दः स्वेन गृह्यते ।
ब्रह्मानन्दो ब्रह्मणैव गृह्यतां का विरुद्धता ॥ ८२ ॥

'जक्षन्' इत्यादि । मोक्षसुख संवेद्य है, इसमें 'जक्षन् क्रीडन्' इत्यादि श्रुति प्रमाण है । मुक्तिको प्राप्त हुआ पुरुष हँसता है, खेलता है, ईश्वरके साथ आनन्दका अनुभव करता है और जिस-जिस फलकी कामनाएँ करता है, उस फलको पाता है, इस वाक्यसे ब्रह्मानन्द वेद्य है, यह स्पष्ट प्रतीत होता है ॥ ८० ॥

'क्रियाकारक०' इत्यादि ।

शङ्का—आत्मैकत्वविज्ञानसे निखिल ब्रह्मेतर पदार्थोंकी निवृत्ति मानी जाती है, ऐसी स्थितिमें ज्ञानक्रियाका संभव नहीं है, क्योंकि क्रिया कारकाधीन होती है; क्रियाभाजन कारक माना जाता है । द्वैतज्ञानके बिना क्रियाकारकभाव होता नहीं, अतः मुक्तिदशामें आनन्दानुभव कैसे ?

समाधान—'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' इत्यादि श्रुतिप्रमाणसे कारकके बिना भी आनन्दज्ञान मान सकते हैं । लौकिकानन्दज्ञान कारकसाध्य है, पर मोक्षानन्दके अलौकिक होनेसे उसमें कारककी अपेक्षा नहीं है, यह कहना ठीक नहीं है, कारण कि अद्वैतश्रुतिविरोध स्पष्ट है । आनन्द और आनन्दज्ञान—इन दोनोंको माननेसे अद्वैतश्रुतिके साथ विरोध होनेके कारण उक्त कल्पना अयुक्त है । जैसे लौकिक प्रमाण प्रमाणान्तरविरुद्धार्थमें प्रवृत्त नहीं होते, वैसे ही श्रुति भी श्रुत्यन्तरविरूद्धार्थमें प्रवृत्त नहीं हो सकती और यह भी प्रश्न होता है कि मानोंको (प्रमाणोंको) कारक मानते हो या बोधक ? कारक तो वे हो ही नहीं सकते, किन्तु प्रदीपादिवत् यथास्थित वस्तुके बोधक ही हैं, इस पक्षमें प्रमाण स्वविषयका ही बोधक होता है । जैसे चक्षु स्वविषय रूपका ही व्यञ्जक होता है, अविषय गन्ध, रस आदिका नहीं, वैसे ही ज्ञान स्वविषय लौकिकानन्द आदिका ही बोधक होता है, अविषय ब्रह्मानन्दका नहीं, अतः मोक्षानन्द वेद्य नहीं हो सकता ॥ ८१ ॥

'यथा' इत्यादि । आनन्दमें वेद्यत्व स्वानुभवसिद्ध है, अतः वेद्यत्व-विरोधकी शङ्का ही नहीं कर सकते । 'अहं सुखी' यह प्रतीति सर्वानुभवसिद्ध है ।

नैतदेवं यतो मोक्षे देहेन्द्रियविवर्जनात् ।
ऐकात्म्यादपि नाऽऽनन्दगोचरा युज्यते मतिः ॥ ८३ ॥
देहादिनैरपेक्षेण मतिश्चेज्जायते तदा ।
लौकिकव्यवहारेऽपि देहादि स्यादनर्थकम् ॥ ८४ ॥
ब्रह्म चेन्नित्यमानन्दं वेत्ति विद्यात्तदा ध्रुवम् ।
संसार्यपि तदैकात्म्यान्मुक्तौ कोऽतिशयो भवेत् ॥ ८५ ॥

जैसे मनुष्य अपने आनन्दको स्वयं जानता है, वैसे ही ब्रह्मानन्दको ब्रह्म स्वयं जान सकता है, इसमें कुछ विरोध नहीं है ॥ ८२ ॥

'नैतदेवम्' इत्यादि । मुक्तिदशामें आनन्दज्ञान आगन्तुक है अथवा अनागन्तुक है ? प्रथम पक्षमें यह दोष है कि आगन्तुक ज्ञान शरीर, इन्द्रिय आदिके बिना होता ही नहीं । शरीर आदि उस समयमें हैं नहीं, इसलिए मुक्तिमें उक्त ज्ञानकी सम्भावना ही नहीं है । यदि कारणके बिना भी उक्त श्रुतिप्रमाणसे आनन्द-ज्ञान मानें, तो अद्वितीय-श्रुतिविरोध स्पष्ट है, यह असकृत् कह चुके हैं ॥ ८३ ॥

'देहादि०' इत्यादि । यदि देह आदिके बिना भी मोक्षकालमें ज्ञानको मानते हो, तो लोकमें भी शरीरादिके बिना ज्ञान हो सकता है, फिर शरीराद्युपादान ही व्यर्थ हो जायगा । सुखदुःखान्यतरसाक्षात्कार ही भोग है । उक्त साक्षात्कारके लिए शरीर, इन्द्रिय आदिका ग्रहण आवश्यक होता है । यदि मोक्षज्ञानके समान शरीर आदिके बिना भी लौकिक विषयज्ञान हो, तो शरीरादिग्रहणकी क्या आवश्यकता है ? और यह तो प्रत्यक्षसे ही सिद्ध है कि चक्षुके बिना रूपादिविषयक चाक्षुष ज्ञान नहीं होता । एवं इन्द्रियान्तरविरहप्रयुक्त तत्-तत् ऐन्द्रियक ज्ञानाभाव स्फुट है ॥ ८४ ॥

'ब्रह्म' इत्यादि । मुक्तिमें आनन्द वेद्य है, इसमें प्रश्न यह होता है कि क्या ब्रह्मस्वरूपापन्न मुक्त स्वानन्दका अनुभव करता है अथवा उससे अन्य दूसरा अनुभव करता है ? प्रथम पक्षमें जीव तो वस्तुतः ब्रह्माभिन्न ही है, इसलिए संसारदशामें भी मोक्षसुखका अनुभव होना चाहिए, किन्तु होता नहीं । यदि हो, तो मुक्तिमें विशेष क्या होगा ? नित्य आनन्दका अनुभव और तदभाव ही मुक्ति और संसारमें विशेष है । यदि उक्त रीतिसे नित्य आनन्दका अनुभव संसारदशामें भी हो, तो संसारसे मुक्तिमें अतिशय क्या रहा ? कुछ भी नहीं ॥ ८५ ॥

ब्रह्मानन्दमथाऽन्यः सन्मुक्तौ वेत्ति घटादिवत् ।
सर्ववेदान्तकोपः स्यात् तदैकात्म्यविरोधतः ॥ ८६ ॥

भेदपक्षमें दोष देनेके लिए अनुवाद करते हैं—'**ब्रह्मानन्द०**' इत्यादिसे ।

यदि ब्रह्मातिरिक्त ब्रह्मानन्दका अनुभव करता है, ऐसा मानें, तो इस पक्षमें दोष यह है कि सम्पूर्ण वेदान्तोंका कोप अनिवार्य होगा। जैसे संसारदशामें देवदत्त आदि घट आदि पदार्थको देखते हैं और घट आदि देवदत्त आदिसे अतिरिक्त हैं, वैसे ही मुक्तिमें भी द्रष्टा और दृश्यमें भेद माना जायगा, तो उक्त अवस्थामें ब्रह्माद्वैतका प्रतिपादन असङ्गत ही हो जायगा। 'न प्रेत्य संज्ञास्ति' इत्यादि श्रुतियाँ मुक्तिमें एकत्वके कारण द्रष्टा, दृश्य आदि विभागका प्रतिषेध करती हैं । एवं 'स्त्रिया संपरिष्वक्तो न बाह्यं किञ्चन वेद' इत्यादि दृष्टान्तसे ब्रह्मानन्दका अनुभव वेद्यान्तरस्पर्शशून्य है, यह स्पष्ट किया है । तथा 'यद्वै तन्न पश्यति पश्यन्वै तन्न पश्यति' इत्यादि वाक्योंसे ज्ञाता आदिका असंभव स्फुट किया गया है । 'नेति नेति' इत्यादि वाक्योंका भी विरोध होगा, यदि मुक्तिमें क्रियाकारकभाव माना जायगा ।

शङ्का —ठीक है, आगन्तुक ज्ञानसे मुक्तिमें आनन्द वेद्य है, यह नहीं कह सकते, परन्तु नित्यसिद्ध ब्रह्मस्वरूपज्ञानसे आनन्दको वेद्य माननेमें क्या आपत्ति है ?

समाधान—कर्मकर्तृ-विरोध ही आपत्ति है ।

शङ्का—जैसे 'गुहायां शब्दो नाऽस्ति' यह शब्द स्वपरसाधारणको प्रकाशित करता है, पर कर्मकर्तृविरोध वहाँ नहीं माना जाता, वैसे ही उक्त स्थलमें भी कर्म-कर्तृविरोधको त्याग दें, तो क्या दोष है ?

समाधान—दोष तो अनेक बार कह चुके हैं कि ब्रह्मानन्द विषयी है, वह विषय नहीं हो सकता । अन्यथा घटादिके समान उसमें जड़त्व, मिथ्यात्व आदिकी आपत्ति होगी। अज्ञान और अन्यार्थविज्ञानकी प्रसक्तिदशामें ही 'ब्रह्म सुखं वेत्ति' ऐसा प्रयोग होता है, प्रज्ञानघनस्वरूप ब्रह्मकी प्राप्तिदशामें उक्त प्रयोग असंभव है।

शङ्का—विज्ञानघन ब्रह्ममें भी अज्ञान और अन्यार्थज्ञान रहता है । स्वप्रकाशात्मा सूर्यमें अप्रकाश और अन्यार्थप्रकाश दृष्ट ही है।

समाधान—यदि ऐसा कहियेगा, तो उसके समान ब्रह्ममें जाड्य, जन्म, बन्ध आदिकी भी प्रसक्ति हो जायगी । अतः उक्त अवस्थामें आनन्द वेद्य नहीं है ॥८६॥

तस्माद्विज्ञानमानन्दमिति नाऽऽनन्दगोचरा ।
मतिः किन्तु चिदानन्दघनस्वाभाव्यमुच्यते ॥ ८७ ॥
जक्षदित्यादि यत्प्रोक्तं तच्चाऽत्र न विरुद्ध्यते ।
सर्वात्मकत्वाद्विदुषः सर्वतः पाणिपादवत् ॥ ८८ ॥
योगिदेवादिदेहेषु जक्षणादि यदीक्ष्यते ।
तेन सर्वात्मकब्रह्मविदो मुक्तिः प्रशस्यते ॥ ८९ ॥

'तस्माद्वि०' इत्यादि ।

शङ्का—यदि ब्रह्ममें आनन्दज्ञान माननेपर विषयविषयिभावादि दोष हैं, तो 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' यह श्रुतिनिर्देश कैसे संगत होगा ?

समाधान—वस्तुतः विज्ञानानन्दस्वरूपसे अवस्थित ब्रह्मका अनुवादक उक्त वाक्य है, ज्ञानादिका विधायक नहीं है अर्थात् 'विज्ञानमानन्दम्' का आनन्दविषयक ज्ञान है, इसमें तात्पर्य नहीं है, किन्तु विज्ञानानन्दस्वरूप ब्रह्म है, इसी अर्थमें तात्पर्य है; अन्यथा ज्ञानमें विषयित्व, आनन्दमें विषयत्व एवं ब्रह्ममें गुणित्व, ज्ञातानन्दमें गुणत्व इत्यादि भी मानना पड़ेगा । चैत्र स्वानन्दका अनुभव करता है, इस लौकिक वाक्यमें उक्त कल्पना सर्वसंमत है ॥ ८७ ॥

'जक्षदि०' इत्यादि ।

शङ्का—'जक्षन्' इत्यादि वाक्यसे ब्रह्मानन्द वेद्य है, यह प्रतीत होता है । आपके मतमें उस वाक्यकी क्या गति होगी ?

समाधान—उस वाक्यका ब्रह्मानन्द वेद्य है, इसमें तात्पर्य नहीं है, किन्तु ब्रह्म सर्वात्मक है, यों ब्रह्मकी सर्वात्मकतामें तात्पर्य है । जैसे 'सर्वतः पाणिपादं तत् सर्वतोक्षिशिरोमुखम्' इत्यादि वाक्य निरवयव ब्रह्ममें हाथ आदि अवयवोंका बोधन नहीं करता, किन्तु संसारस्थ प्राणियोंके जो सहस्र असंख्य हाथ, पैर आदि हैं, वे सर्वात्मक ब्रह्मके ही कहे जा सकते हैं, इस अर्थका बोधन करता है, वैसे ही प्रकृतमें भी समझना चाहिए ॥ ८८ ॥

'योगिदेवा०' इत्यादि ।

शङ्का—विद्वान् सर्वात्मक ब्रह्मस्वरूप है, ऐसा माननेपर श्रुत जक्षणादिका निर्वाह कैसे होगा ?

समाधान—योगी और देव आदिकी [आदिसे पितृगण विवक्षित हैं]

ननु जक्षणवन्मुक्तौ सर्वात्मत्वात् परात्मनः ।
दुःखित्वमपि सम्प्राप्तं कुम्भीपाकादिदेहिषु ॥ ९० ॥
मैवं नारकदेहेषु तादात्म्यभ्रान्त्यभावतः ।
न दुःखं प्राप्यते नाऽपि विद्यास्तुत्युपयोगि तत् ॥ ९१ ॥

देहोंमें जक्षण आदि होते हैं। देवताधिकरणन्यायसे इन्द्र आदि देवोंके शरीर हैं, यह सिद्ध है।

"यन्न दुःखेन सम्भिन्नं न च ग्रस्तमनन्तरम् ।
अभिलाषोपनीतं च तत्सुखं स्वःपदास्पदम् ॥"

इस श्लोकसे दुःखासम्भिन्न, स्थिर और सर्वाभिलाषगोचर सुखविशेष स्वर्ग कहलाता है। देवगण इसी सुखविशेषका सदा अनुभव करते हैं। विद्वान् मुक्त पुरुष सर्वात्मक होनेसे देवशरीरमें जो जक्षण आदि हैं, उनको स्वगत ही मानता है। वस्तुतः मिथ्याज्ञानके बिना भोग होता नहीं। देवताओंमें भी मिथ्याज्ञान रहता है, इसलिए देवताओंको भोग होता है। पर विद्वान्का आत्मैकत्वविज्ञानसे निखिल वासनाओंके साथ मिथ्याज्ञान नष्ट हो गया है, अतः उसको भोग नहीं हो सकता। इस कारण उक्त वाक्य मुक्तिप्रशंसार्थक है ॥ ८९ ॥

'**ननु जक्षण०**' इत्यादि।

शङ्का—विद्वान् सर्वात्मक है, अतः देवादिगत जक्षणादिका मुक्तमें अनुवाद है, ऐसा यदि मानते हो, तो कुम्भीपाक आदि नरककोंको जो प्राणी भोगते हैं, वे भी मुक्तके आत्मा ही हैं, अतः तद्गत दुःखविशेषका भी अनुवाद श्रुतिने क्यों नहीं किया ? यह तो कह नहीं सकते कि देवादितादात्म्य ही मुक्तमें है, नारक्यादितादात्म्य नहीं, क्योंकि श्रुति उसके सर्वात्मकत्वका प्रतिपादन करती है। असङ्कुचित सर्वशब्दार्थमें नारकी प्रभृति भी आ ही जाते हैं। यही अर्थ अद्वैतादिश्रुत्यनुगुण है ॥ ९० ॥

समाधान—'**मैवम्**' इत्यादि। आविद्यिक नामरूपसे रचित कार्यकारणरूप दो उपाधियोंके सम्बन्धसे जनित मिथ्याज्ञानाधीन दुःखिताध्यासवश आत्मामें बन्धप्रतीति होती है। आत्मामें वस्तुतः न दुःखित्व है, न जक्षणादि ही हैं, किन्तु मुक्ति-स्तुतिके लिए आविद्यिक जक्षणादिका अनुवाद किया गया है। अपेक्षित श्रेष्ठ गुणोंके सम्बन्धसे ही स्तुति होती है। वास्तविक धर्मोपन्याससे स्तुति नहीं होती,

आनन्दब्रह्मविज्ञानपदार्थैकत्वहेतुतः ।
नीलोत्पलादिवन्नाऽत्र संसर्गो ब्रह्मणीष्यते ॥ ९२ ॥

वह तो वस्तुस्वभाव है। स्तुति वस्तुतः आरोपित धर्मसे ही हुआ करती है। सूर्यको सूर्य कहनेसे सूर्यकी स्तुति नहीं होती, किन्तु किसी पुरुषको सूर्य कहनेसे पुरुषकी स्तुति होती है। नारकित्व आदि अपेक्षित श्रेष्ठ गुण नहीं हैं, किन्तु उपेक्षित दोष हैं, इसलिए दुःखित्व आदिका उपादान नहीं है। निकृष्ट गुणोंके उपन्याससे निन्दा हो सकती है, किन्तु वह प्रकृतमें विवक्षित नहीं है। स्तुति प्रवृत्त्युपयोगी है और निन्दा निवृत्त्युपयोगी है। मुक्तिमें पुरुषप्रवृत्तिके लिए स्तुतिकी अपेक्षा है, अतः उक्त अर्थकी सिद्धिके लिए श्रुतिमें जक्षण आदिका उपादान किया गया है। दुःखित्वादिका अनुवाद प्रकृत अर्थके प्रतिकूल है, अतः उसका त्याग किया गया है॥ ९१ ॥

विज्ञानादिवाक्यस्थ ब्रह्मानन्द अवेद्य है, यह सिद्ध हो चुका। किसीका मत यह है कि वाक्यार्थ संसर्ग या विशिष्टपरक होता है। जैसे 'नीलोत्पल' इस वाक्यसे उत्पलमें नीलाभेदका या नीलाभेदविशिष्ट उत्पलका बोध होता है, इसलिए उक्त वाक्य अभेद या तद्विशिष्ट पदार्थपरक है, वैसे ही 'विज्ञानमानन्दम्' इत्यादि वाक्य भी संसर्ग या संसृष्ट अर्थका ही बोधक हो सकता है, ये दोनों पक्ष अद्वैतवादीको अभिमत नहीं हैं, कारण कि उक्त दोनों पक्षोंमें अखण्डार्थकी सिद्धि नहीं हो सकती, यों इस मतका निराकरण करते हैं—**'आनन्द०'** इत्यादिसे।

आनन्द और विज्ञान एक ही पदार्थ हैं, दो नहीं हैं। नील और उत्पल—ये दो पदार्थ हैं, इसलिए वहां संसर्ग या संसृष्ट पदार्थका बोध मानना ठीक है। यहाँ 'प्रकृष्टप्रकाशश्चन्द्रः' के समान एक ही पदार्थ है, अतः उक्त वाक्य अखण्डार्थक ही है, संसर्गाद्यर्थक नहीं है।

शङ्का—अखण्डार्थत्व क्या है ?

समाधान—संसर्गासङ्गिसम्यग्धीहेतुत्व यानी संसर्गाविषयक शाब्दबोधजनकत्व अर्थात् जिस वाक्यसे संसर्गाविषयक बोध होता है, वही वाक्य अखण्डार्थक माना जाता है। जैसे कोई चन्द्र व्यक्तिको न जानकर पूछता है कि चन्द्रव्यक्ति कौन है ? ज्ञाता पुरुष उत्तर देता है कि जो तारोंमें सबसे अधिक प्रकाशमान व्यक्ति है, वही चन्द्रमा है। यहाँपर चन्द्रव्यक्ति ही बुभुत्सित (जाननेके लिए अभीष्ट) है, इससे तद्विषयक प्रश्न है। अतः उत्तर भी तद्विषयक ही मानना चाहिए

न जडं ज्ञानरूपत्वादानन्दत्वान्न निःसुखम् ।
नाऽन्तवद् ब्रह्मरूपं तदिति योज्यं पदत्रयम् ॥ ९३ ॥
विषयानन्दवन्नाऽतो वेद्यं किन्तु स्वयम्प्रभम् ।
तादृगानन्दरूपत्वं सुप्तावप्यवसीयताम् ॥ ९४ ॥

यदि उत्तरवाक्य प्रकृष्टप्रकाशनसम्बन्धका बोधक माना जाय, तो प्रश्नोत्तरवाक्य भिन्नार्थक हो जायँगे । इस विषयका विशेष निरूपण अन्यत्र विशद है; अतएव यहाँ संक्षेपसे किया गया है ॥ ९२ ॥

'न जडम्' इत्यादि ।

शङ्का—यदि विज्ञान आदि तीन पदोंको एक ही अर्थके बोधक मानते हो, तो एक पदसे ही विवक्षित अर्थका बोध हो जानेके कारण अन्य पदोंका उच्चारण ही व्यर्थ हो जायगा ।

समाधान—यद्यपि वे लक्षणावृत्तिसे एकार्थके ही बोधक हैं, तथापि शक्त्या उपस्थित भिन्नार्थके व्यावर्तक होनेसे तीनों पद सार्थक हैं । व्यावर्त्यभेद कहते हैं—विज्ञानसे जड़की व्यावृत्ति होती है, आनन्दसे असुखकी व्यावृत्ति होती है और ब्रह्मपदसे विनाशित्वकी व्यावृत्ति होती है, इस प्रकार व्यावर्त्यभेदसे तीनों पद सार्थक हैं ।

शङ्का—विज्ञान आदि पद जडादिकी व्यावृत्तिके प्रतिपादक हैं अथवा जडादि-व्यावृत्तिविशिष्टके प्रतिपादक हैं ? प्रथम पक्षमें अखण्डार्थत्वकी हानि होगी और द्वितीय पक्षमें संसृष्टार्थत्वकी प्रसक्ति होगी ।

समाधान—प्रथम पक्ष ठीक है, क्योंकि तत्-तद्व्यावृत्ति ब्रह्मस्वरूप है । अभाव अधिकरणात्मक ही होता है । 'भावान्तरमभावोऽन्यो न कश्चिदनिरूपणात्' इत्यादि प्राचीन विद्वानोंका सिद्धान्त है ॥ ९३ ॥

'विषयानन्द०' इत्यादि । विषयानन्दके समान ब्रह्मानन्द वेद्य नहीं है, किन्तु स्वयंप्रकाश है । ब्रह्मानन्द अवेद्य है, इसमें यह भी हेतु है—सुषुप्तिदशामें यद्यपि प्रमाता आदिका विभाग नहीं रहता, कारण कि वेदान्ति-मतमें अन्तःकरणका लय हो जाता है, तथापि आत्मानन्दका अनुभव होता है । यद्यपि उस समयमें 'सुखमनुभवामि' (सुखका अनुभव करता हूँ) यह प्रतीति नहीं होती है, तथापि सुप्तोत्थित पुरुषको यह स्मरण होता है कि 'सुखपूर्वक खूब सोया, कुछ भी मालूम नहीं हुआ' । स्मरण संस्कारके बिना नहीं होता । संस्कारका

ताद्दग्ब्रह्मात्मबोधेन कृतार्थत्वमतिस्तु या ।
सा धीवृत्तिस्वरूपत्वाद्वेद्या विषयतुष्टिवत् ॥ ९५ ॥
आरभ्य मानुषानन्दमुत्तरोत्तरवृद्धितः ।
श्रुता हैरण्यगर्भान्ता ब्रह्मानन्दस्य बिन्दवः ॥ ९६ ॥

कारण अनुभव है, इसलिए उक्त कालमें ताद्दश अनुभव अवश्य होता है; यह मानना चाहिए । अन्यथा उक्त स्मरण नहीं होगा ।

शङ्का—यदि उस समय उक्त अनुभव होता है, तो साक्षात्कार क्यों नहीं होता ?

समाधान—निर्विकल्पक अनुभव है, अतः प्रत्यक्ष नहीं होता ।

शङ्का—निर्विकल्पानुभव स्मरणोपयोगी संस्कारका आधायक नहीं होता ।

समाधान—ऐसा नियम नहीं है, उक्त स्मरणसे वह भी संस्काराधायक माना जाता है ॥ ९४ ॥

'ताद्दग्' इत्यादि । ब्रह्मात्मैकत्वके बोधसे जो कृतार्थत्वबुद्धि होती है, अर्थात् ब्रह्मज्ञानी यह मानता है कि मैं अपने सब कर्तव्योंको कर चुका हूँ। अब कोई कर्तव्य अवशिष्ट नहीं है, अतएव प्राप्तव्य प्राप्त हो चुका है, अब कुछ प्राप्तव्य शेष नहीं है। इसी बुद्धिसे नित्य-नैमित्तिक आदि कर्मोंसे उदासीन हो जाता है। उक्त बुद्धि मनोवृत्तिस्वरूप है, अतएव वह विषयसेवनादिजन्य तुष्टिवत् वेद्य है। 'धन्योऽस्मि कृतकृत्योऽस्मि' इत्यादि धारणा ज्ञानियोंको होती है, यह पञ्चदशीग्रन्थोक्त प्रकार भी सुसङ्गत होता है ॥ ९५ ॥

उक्त संविदेकरस अवेद्य ब्रह्मानन्दमें निरतिशयत्व कहते हैं—**'आरभ्य'** इत्यादिसे।

शुभ कर्मसे आनन्द होता है । यद्यपि नैयायिक मतमें आनन्दसे आनन्द नहीं होता, किन्तु विजातीय कर्मादि द्वारा आनन्द होता है; पर वेदान्ती ऐसा नहीं मानते, उनके मतमें आनन्दसे भी आनन्द होता है। अतएव आनन्द आनन्दका कार्य और कारण माना जाता है । ईद्दश आनन्द मनुष्यसे लेकर हिरण्यगर्भपर्यन्त उत्तरोत्तर उत्कृष्ट है, क्योंकि साधनके तारतम्यसे साध्यमें तारतम्य रहता है। हिरण्यगर्भको जितनी साधनसामग्री है, उतनी उसके अधीन इन्द्रादिको नहीं है एवं इन्द्र आदिकी अपेक्षा उसके अधीन मनुष्योंमें नहीं है, इस कारणसे साध्य आनन्दमें भी उत्कर्षापकर्ष है। उत्तरोत्तरमें उत्कर्ष और पूर्व-पूर्वमें अपकर्ष है । उत्कर्ष परमावधिकी समाप्ति ब्रह्मानन्दमें है, तदपेक्षया कोई आनन्द उत्कृष्ट नहीं है, अतएव वह

आनन्दसागरः सोऽयमनन्यानुभवात्मना ।
सर्वदा सर्वतो भाति सर्वं वस्तु तदात्मकम् ॥ ९७ ॥
शतानि पञ्च श्लोकानां द्वाविंशतिरितीरिता ।
संख्या वार्तिकसारेऽस्मिन्पञ्चमाध्यायसङ्ग्रहे ॥ ९८ ॥

इति वार्त्तिकसारे तृतीयाध्यायः समाप्तः

आनन्द-समुद्र है । तदपेक्षा इतर आनन्द बिन्दुमात्र हैं, 'सैषानन्दस्य सीमा' ऐसा ही श्रुतिका भी कथन है ॥ ९६ ॥

'आनन्द०' इत्यादि । ब्रह्मानन्द ही आनन्दसागर है । अनन्यानुभवात्मना यानी वैषयिक आनन्द जैसे आनन्दातिरिक्त ज्ञानसे भासित होता है, वैसा ब्रह्मानन्द नहीं है, किन्तु वह अनुभवस्वरूप और स्वयंप्रकाश है, अतएव उसका सर्वदा भान होता है । यदि वह अन्याधीनप्रकाश होता, तो कदाचिद् अन्यकी अनुपस्थितिदशामें उक्त आनन्दका भी प्रकाश न होता, पर वह वैसा नहीं है, किन्तु स्वयंप्रकाश है, अतः उसका सर्वदा भान समुचित ही है । सर्वतः—सब कारणोंसे—यानी विषयेन्द्रियादिकोंसे । श्रुतिने भी स्पष्ट ही कहा है कि अन्य प्राणी इसी आनन्दके लेशका अनुभव करते हैं । इसमें कारण यह है कि ब्रह्मात्मक ही सब है । जब विश्वमात्र ब्रह्मात्मक है, तब किसीसे भी आनन्द होगा, तो वह ब्रह्मसे ही होता है, ऐसा ही कहा जा सकता है ॥ ९७ ॥

श्लोकोंकी गणना करते हैं—'शतानि' इत्यादिसे ।

यद्यपि यह तृतीय अध्याय है, तथापि उपनिषत्की अपेक्षा पञ्चम अध्याय है । इसका रहस्य पूर्वमें कह चुके हैं, अतः इसको पञ्चमाध्याय भी कहते हैं । इसी तात्पर्यसे वार्तिकसारकार कहते हैं कि इस पञ्चमाध्यायमें ५२२ श्लोक कहे गये हैं ॥९८॥

म० म० पं० श्रीहरिहरकृपालुद्विवेदिविरचित वार्तिकसारभाषानुवादमें
तृतीयाध्यायका नवम ब्राह्मण समाप्त

चतुर्थोऽध्यायः

प्रथमं ब्राह्मणम्

श्रुतिः—जनको ह वैदेह आसाञ्चक्रेऽथ ह याज्ञवल्क्य आवव्राज तꣳ होवाच याज्ञवल्क्य किमर्थमचारीः पशूनिच्छन्नण्वन्तानीत्युभयमेव सम्राडिति होवाच ॥ १ ॥

'जनको ह वैदेह आसाञ्चक्रे' इत्यादि श्रुति। पूर्व अध्यायमें सच्चिदानन्द प्रत्यग् ब्रह्मका निश्चय कर चुके हैं। अध्यायान्तरका आरम्भ करते समय वृत्तका अनुवाद करना आवश्यक होता है, अतः उसे करते हैं। पूर्व अध्यायमें जल्प-कथा द्वारा तत्त्वनिर्णय किया गया है। 'यथोक्तोपपन्नश्छलजातिनिग्रहस्थानोपालम्भो जल्पः' (वादलक्षणमें उक्त प्रमाण और तर्कोंसे साधन और उपालम्भसे युक्त तथा छल, जाति और निग्रहस्थानोंसे जिसमें साधन-बाधन हो, वैसी कथा जल्प है)। 'प्रमाणतर्कसाधनोपालम्भः सिद्धान्ताविरुद्धः पञ्चावयवोपपन्नः पक्षप्रतिपक्ष-परिग्रहो वादः' (जिसमें प्रमाण और तर्कोंसे साधन और प्रतिषेध हो, जो सिद्धान्तसे अविरुद्ध हो तथा प्रतिज्ञा आदि पञ्चावयवोंसे उपपन्न हो, ऐसा पक्षप्रतिपक्षप्रति-पादक वचनसन्दर्भ वाद है)। संक्षेपसे विजिगीषु-कथा जल्प और तत्त्वबुभुत्सु-कथा वाद है। पहले शाकल्य आदिके ऊपर विजय पानेके उद्देश्यसे श्रीयाज्ञवल्क्यजीकी कथा थी। अब केवल तत्त्वनिर्णयके लिए कथा होगी, अतः पूर्वकथा जल्प है और उत्तर कथा वाद है। श्रीयाज्ञवल्क्यकी विजय हो जानेके अनन्तर जनक राजाने दर्शनार्थियोंको दर्शन, भाषण आदिके लिए उपयोगी समय तथा अनुकूल स्थल बतलानेके लिए घोषणा करा दी कि जो महाराजसे मिलना चाहते हों, वे अमुक समयमें अमुक स्थानपर मिलें, इस तात्पर्य्यसे कहा गया है—'जनको ह वैदेह आसाञ्चक्रे' यानी जनक राजा लोगोंसे मिलनेके लिए बैठे। शारीर आदि उक्त आठ पुरुषोंका प्रादुर्भाव और उपसंहार कर, फिर हृदयमें पूर्व आदि दिशाओंके भेदसे पाँच प्रकारसे विस्तार और हृदयमें उपसंहार कर, अन्योन्य प्रतिष्ठित हृदय और शरीरका प्राण आदि पञ्चवृत्त्यात्मक समाननामक जगदात्मक सूत्रमें उनका उप-

संहार कर शरीरहृदयसूत्रावस्थ जगदात्माका जिस 'नेति नेति' से व्यपदिष्ट औपनिषद् पुरुषने अतिक्रम किया है, उसका 'विज्ञानमानन्दम्' इत्यादिसे साक्षात् और उपादानकारण द्वारा निर्देश किया गया है। उसी पुरुषका वागादि देवता द्वारा फिर ज्ञान कराना है। अतः उसके अधिगमके उपायान्तरके लिए इन दो ब्राह्मणोंका आरम्भ है। आख्यायिका आचारार्थ है। 'राजा दर्शनार्थियोंकी प्रतीक्षामें बैठे हैं, यह सुनकर श्रीयाज्ञवल्क्यजी योगक्षेमार्थ अथवा राजाकी विविदिषा समझकर उसके ऊपर अनुग्रह करनेके लिए अर्थात् सूक्ष्मपदार्थविषयक प्रश्नोंका उचित निर्णय करनेके लिए आ गये। सभागत श्रीयाज्ञवल्क्यकी उचित पूजा करके राजा बोले। भगवन्, अब आप किसलिए पधारे हैं? क्या और पशुओंको लेनेके लिए अथवा मुझसे परमाण्वन्त अतिसूक्ष्म पदार्थोंके प्रश्नोंको सुननेके लिए। श्रीयाज्ञवल्क्यजीने उत्तर दिया कि दोनोंके लिए। जनक समस्त भारतवर्षके राजा थे, इसलिए 'सम्राट्' यह सम्बोधन किया है। जो आज्ञासे राजाओंपर शासन करता है, वह 'सम्राट्' कहलाता है। किसीका यह कहना है—योगक्षेमके लिए अथवा विद्याके लिए ब्राह्मण विद्वान् राजाके समीप जाते हैं, अतः श्रीयाज्ञवल्क्य भी उसीके लिए गये थे। इसलिए राजाने कहा कि क्या प्रश्नोंके द्वारा मुझसे सूक्ष्म अर्थोंका निर्णय करनेके लिए आपका यहाँ आना हुआ है? यह 'अण्वन्तान्' का अर्थ है, किन्तु यह उसका कहना ठीक नहीं है, कारण कि आपत्कालमें धनके लिए राजाओंके पास जाना तो धर्मशास्त्रोंमें विहित है, जैसे—'उपेयादीश्वरं चैव योगक्षेमार्थसिद्धये।' परन्तु अनापत्कालमें द्विजोत्तमोंको विद्याके लिए राजाओंके पास जाना उचित नहीं है।

शङ्का—गार्ग्य प्रभृति ब्राह्मण विद्याके लिए राजाके पास गये थे, यह छान्दोग्यमें स्पष्ट है, अतः अनुचित कैसे?

समाधान—वे गये थे अवश्य, पर उन लोगोंको वह विद्या ज्ञात नहीं थी और ब्राह्मणोंमें तद्विषयक विद्वान् ब्राह्मण उन लोगोंको नहीं मिला। पर एतावता यह उचित नहीं कहा जा सकता है। सर्वश्रेष्ठ ब्रह्मज्ञानी याज्ञवल्क्य यदि सूक्ष्म पदार्थोंको जाननेके लिए जनकजीके पास जायंगे, तो ब्रह्मवित्तम कैसे हो सकते हैं?

शङ्का—श्रीयाज्ञवल्क्य ब्रह्मवित्तम थे, पर इतर सूक्ष्म पदार्थोंका उन्हें ज्ञान नहीं था, ऐसा माननेमें क्या आपत्ति है?

समाधान—श्रुत्युक्त एकविज्ञानसे सर्वविज्ञानसमर्थन ही असंगत हो

कथितः पञ्चमे जल्पः षष्ठे वाद उदीर्यते ।
वादिनामपि शिष्याणां बुद्ध्यारोहो द्विधोक्तितः ॥ १ ॥

जायगा, यही आपत्ति है। और मुनि जनक राजाके गुरु थे, यह उपनिषत्‌से स्पष्ट प्रतीत होता है। पर याज्ञवल्क्य जनकके शिष्य थे, इसका लेश भी उपनिषदादि ग्रन्थोंमें नहीं मिलता।

शङ्का—'विद्या गुरूणां गुरुः' इस अभियुक्तोक्तिसे किसी विषयमें गुरु भी शिष्य और शिष्य गुरु होता है, अतः द्वितीय अर्थ भी असङ्गत नहीं है।

समाधान—याज्ञवल्क्य सर्वज्ञ थे, इसलिए शिष्य नहीं हो सकते।

शङ्का—प्रश्नवाक्यमें विकल्पश्रुति नहीं है, अण्वन्त पशुकी इच्छासे आये हैं, ऐसा प्रश्न है, तो मुनिजीने 'उभयम्' क्यों कहा ?

समाधान—उत्तर वाक्यमें दो पदार्थोंके देखनेसे प्रश्नवाक्यको भी उभयार्थक मानना चाहिए। उपक्रममें जो सन्दिग्ध होता है, उसका निर्णय उत्तर वाक्यसे किया जाता है, यह न्यायशास्त्रमें प्रसिद्ध है और पशुमें अण्वन्त विशेषण भी व्यर्थ है।

शङ्का—प्रश्नवाक्यसे इच्छाकी प्रतीति होती है। इसलिए 'उभयेच्छया आगतः' ऐसा उत्तर होना चाहिए 'उभयम्' यह उत्तर कैसे ?

समाधान—प्रश्नवचन और पशुग्रहण इन दोनोंमें हेतुहेतुमद्भावके सूचनके लिए इच्छाका त्याग कर 'उभयम्' ऐसा कहा गया है। प्रश्नका उत्तर देनेसे ही पशु मिल सकता है, अन्यथा नहीं। यद्यपि प्रश्नके देखनेसे उत्तरवाक्यमें इच्छाकी प्राप्ति होती है, तो भी फलविशेषकी इच्छासे उसका त्याग किया गया है।

शङ्का—इच्छापदके प्रयोगसे भी हेतुहेतुमद्भावकी प्रतीति हो सकती है, फिर त्याग क्यों किया ?

समाधान—यदि 'उभयमिच्छामि' ऐसा कहते, तो दोनों इच्छामें स्वतन्त्र विशेषणविधया प्रतीत होते, अतएव उनकी परस्पर हेतुहेतुमद्भावसे प्रतीति नहीं होगी, अतः इच्छापदका त्याग कर 'उभयम्' यह उत्तर समीचीन है ॥ १ ॥

वृत्त और वर्तिष्यमाणकी संगति कहते हैं—'**कथितः**' इत्यादिसे।

पञ्चम यानी अतीत अध्यायमें जल्पकथा द्वारा आत्मनिर्णय किया गया है, छठे अध्यायमें वादकथासे आत्मतत्त्वका निर्णय किया जायगा। वादी तथा शिष्योंकी बुद्धिमें दो कथाओं द्वारा पदार्थ शीघ्र आ जाते हैं यानी बुद्ध्यारूढ़ हो जाते हैं॥१॥

षड् ब्राह्मणानि तेष्वाद्ये उपास्तिः क्रममुक्तये ।
द्वितीये जाग्रदाद्युक्त्या प्रत्यगात्मविनिर्णयः ॥ २ ॥
तृतीये परलोकस्य मोक्षस्याऽपि निदर्शनम् ।
दार्ष्टान्तिकं चतुर्थे तु पञ्चमे बोधसाधनम् ॥ ३ ॥
षष्ठे वंश इति प्रोक्ता ब्राह्मणार्था अथोच्यते ।
प्रथमब्राह्मणे प्रोक्तं चतुष्पात्त्वेन चिन्तनम् ॥ ४ ॥

यत्ते कश्चिदब्रवीत्तच्छृणवामेत्यब्रवीन्मे जित्वा शैलिनिर्वाग्वै ब्रह्मेति यथा मातृमान्पितृमानाचार्यवान्ब्रूयात्तथा तच्छैलिनिरब्रवीद्वाग्वै ब्रह्मेत्यवदतो हि किꣳस्यादित्यब्रवीत्तु ते तस्यायतनं प्रतिष्ठां न मेऽब्रवीदित्येकपाद्वा एतत्सम्राडिति स वै नो ब्रूहि याज्ञवल्क्य । वागेवायतनमाकाशः प्रतिष्ठा

'षड्' इत्यादि । इस अध्यायमें छः ब्राह्मण हैं, उनमें प्रथम ब्राह्मणमें मुक्तिफलक उपासनाका क्रममुक्तिके लिए निर्णय किया गया है । द्वितीय ब्राह्मणमें जाग्रत्, स्वप्न आदि अवस्थाओंके उपन्यास द्वारा युक्तिसे प्रत्यगात्मतत्त्वका निर्णय किया गया है ॥ २ ॥

'तृतीये' इत्यादि । तृतीय ब्राह्मणमें परलोक तथा मोक्षका निदर्शन है, चतुर्थमें दार्ष्टान्तिक और पञ्चममें मोक्षसाधनका निरूपण है ॥ ३ ॥

'षष्ठे' इत्यादि । छठे ब्राह्मणमें वंशका निरूपण किया गया है, यही इस अध्यायके ब्राह्मणोंका सामान्यरूपसे अर्थ है । अब प्रथम ब्राह्मणमें चतुष्पाद्रूपसे ब्रह्मका चिन्तन कहते हैं ॥ ४ ॥

याज्ञवल्क्यजी राजा जनकके प्रति स्वयं प्रश्न उपस्थापित करते हैं— **'यत्ते'** इत्यादिसे ।

आपने अनेक आचार्योंकी सेवा की है । अतः आपसे किसी आचार्यने कहा है, यह हमने सुना है । राजाने कहा—हाँ, कहा है, हमारे आचार्यका जित्वा नाम था । वे शिलिनिके पुत्र थे, इसलिए शैलिनि कहलाते थे । (अतः दोनों नामोंका निर्देश है ।) उन्होंने कहा है कि 'वाग् वै ब्रह्म' वाग्देवता ही ब्रह्म है । श्रीयाज्ञवल्क्यजीने कहा ठीक है, जैसे माता जिस पुत्रका भली भाँति अनुशासन करनेवाली हो, उस पुत्रको मातृमान् कहते हैं । इसके अनन्तर जिसका अनुशासन करनेवाला पिता है, वह पितृमान् है । उपनयनके बाद समावर्तनपर्यन्त जिसका अनुशासन आचार्य करता हो,

प्रज्ञेत्येनदुपासीत, का प्रज्ञता याज्ञवल्क्य । वागेव सम्राडिति होवाच । वाचा वै सम्राड् बन्धुः प्रज्ञायते ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस इतिहासः पुराणं विद्या उपनिषदः श्लोकाः सूत्राण्यनुव्याख्यानानि व्याख्यानानीष्टꣳ हुतमाशितं पायितमयं च लोकः परश्च लोकः सर्वाणि च भूतानि वाचैव सम्राट् प्रज्ञायन्ते वाग्वै सम्राट् परमं ब्रह्म नैनं वाग्जहाति सर्वाण्येनं भूतान्यभिक्षरन्ति देवो भूत्वा देवानप्येति य एवंविद्वानेतदुपास्ते हस्त्यृषभꣳ सहस्रं ददामीति होवाच जनको वैदेहः स होवाच याज्ञवल्क्यः पिता मेऽमन्यत नाननुशिष्य हरेतेति ॥ २ ॥

वह आचार्यवान् कहलाता है, जो आचार्य इस प्रकार त्रिविध शुद्धिसे संयुक्त है, वह कभी अप्रामाणिक नहीं हो सकता, वह शिष्यके लिए जैसा उपदेश दे, ठीक वैसा ही जित्वा शैलिनिने कहा है—'वाग् वै ब्रह्मेति'।

शङ्का—जो व्यक्ति बोल नहीं सकता यानी मूक है, उसका क्या होता है।

समाधान—कहे बिना ऐहिक या पारलौकिक कुछ भी इष्ट सिद्ध नहीं होता। क्या ब्रह्मका आयतन और प्रतिष्ठा भी आपसे कही है? आयतन शरीर कहलाता है और प्रतिष्ठा है तीनों कालोंमें आश्रय। जनकजीने कहा—यह तो हमसे नहीं कहा। श्रीयाज्ञवल्क्यजीने कहा—तब तो उन्होंने आपसे एकपादका ही निर्देश किया है। किन्तु एकपाद ब्रह्मकी उपासनासे इष्ट फल सिद्ध नहीं होता, क्योंकि पादत्रयशून्य होनेसे वह उपासना अपूर्ण ही है। यदि ऐसा है, तो आप विद्वान् हैं। हे याज्ञवल्क्यजी, अवशिष्ट तीन पाद कहिए। श्रीयाज्ञवल्क्यजीने कहा—वाग् इन्द्रिय ब्रह्मका आयतन है और आकाश (अव्याकृतावस्थ आकाश) उसकी प्रतिष्ठा—उत्पत्ति, स्थिति और लय इन तीनों कालोंमें व्यापी आश्रय—है। प्रज्ञारूपसे ही इसकी उपासना करनी चाहिए। 'प्रज्ञा' यह उपनिषद् ब्रह्मका चतुर्थपाद है।

शङ्का—याज्ञवल्क्यजी, प्रज्ञता क्या है? क्या वह स्वयं ही प्रज्ञा है, किंवा प्रज्ञाका निमित्त है? जैसे आयतन और प्रतिष्ठा ये दोनों ब्रह्मसे भिन्न हैं, वैसे ही क्या प्रज्ञा भी उससे भिन्न है अथवा नहीं?

समाधान—नहीं, सम्राट्, वाक् ही प्रज्ञता है, अतिरिक्त नहीं है।

शङ्का—कैसे वाग् ही प्रज्ञता (ब्रह्म) है?

समाधान—हे सम्राट्, वाणीसे बन्धु जाने जाते हैं, यानी जैसे हमारा यह बन्धु

यदेव ते कश्चिदब्रवीत्तच्छृणवामेत्यब्रवीन्म उदङ्कः शौल्बायनः प्राणो वै ब्रह्मेति यथा मातृमान्पितृमानाचार्यवान्ब्रूयात्तथा तच्छौल्बायनोऽब्रवीत्प्राणो वै ब्रह्मेत्यप्राणतो हि कि॰ स्यादित्यब्रवीत्तु ते तस्यायतनं प्रतिष्ठां न मेऽब्रवीदित्येकपाद्वा एतत्सम्राडिति स वै नो ब्रूहि याज्ञवल्क्य प्राण एवायतनमाकाशः प्रतिष्ठा प्रियमित्येनदुपासीत का प्रियता याज्ञवल्क्य प्राण एव सम्राडिति होवाच प्राणस्य वै सम्राट् कामायायाज्यं याजयत्यप्रतिगृह्यस्य प्रतिगृह्णात्यपि तत्र वधाशङ्कं भवति यां दिशमेति प्राणस्यैव सम्राट् कामाय प्राणो वै सम्राट् परमं ब्रह्म नैनं प्राणो जहाति सर्वाण्येनं भूतान्यभिक्षरन्ति। देवो भूत्वा देवानप्येति य एवं विद्वानेतदुपास्ते हस्त्यृषभ॰ सहस्रं ददामीति होवाच जनको वैदेहः स होवाच याज्ञवल्क्यः पिता मेऽमन्यत नाननुशिष्य हरेतेति ॥ ३ ॥

है, ऐसा कहनेपर ही बन्धु जाना जाता है वैसे ही ऋग्वेदादि, इष्ट (यागनिमित्त धर्मजात), हुत (होमनिमित्त धर्म), आशित (अन्नदाननिमित्त धर्म) एवं पायित (पानदाननिमित्त धर्म), यह जन्म तथा भाविजन्म और सब भूत हे सम्राट्, वाणीसे ही जाने जाते हैं, अतः हे सम्राट्, वाग् ही परम ब्रह्म है। एवंभूत ब्रह्मवेत्ताको वाक् कभी नहीं छोड़ती। सब प्राणी इसका अनुसरण करते हैं। देवता होकर शरीरत्यागके अनन्तर देवताओंमें ही जाता है, अर्थात् उपास्य देवतारूप हो जाता है, जो इस प्रकार जानकर इसकी उपासना करता है।

विद्यानिष्क्रयके लिए हाथीके समान हजार बैल आपको देते हैं, ऐसा जनकने कहा। 'गुरुशुश्रूषया विद्या पुष्कलेन धनेन वा।' (गुरुकी सेवासे, विद्यासे या धनसे विद्याका अर्जन करना चाहिए) इस वाक्यसे विपुल धन देना समुचित था। याज्ञवल्क्यजीने कहा—मेरे पिताजीका यह मत था कि शिष्यको अनुशासनसे कृतार्थ करके ही धन लेना चाहिए अन्यथा नहीं, मेरा भी यही सिद्धान्त है, इसलिए आपको शिक्षा द्वारा कृतार्थ करके ही मैं धन लूँगा, उससे पूर्व नहीं ले सकता; यह अभिप्राय है ॥ २ ॥

'यदेव ते' इत्यादि श्रुति। और जो आपसे किसीने कहा है, सो भी सुनें। जनकजीने कहा—हाँ, उदङ्क शौल्बायनने कहा है कि प्राण ब्रह्म है। जैसे मातृमान्, पितृमान् और आचार्यवान् उपदेशक कभी अप्रामाणिक नहीं हो सकता वैसे ही उदङ्कने

यदेव ते कश्चिदब्रवीत्तच्छृणवामेत्यब्रवीन्मे बर्कुर्वार्ष्णश्चक्षुर्वै ब्रह्मेति यथा मातृमान्पितृमानाचार्यवान्ब्रूयात्तथा तद्वार्ष्णोऽब्रवीचक्षुर्वै ब्रह्मेत्यपश्यतो हि किꣳ स्यादित्यब्रवीत्तु ते तस्यायतनं प्रतिष्ठां न मेऽब्रवीदित्येकपाद्वा एतत्सम्राडिति स वै नो ब्रूहि याज्ञवल्क्य चक्षुरेवायतनमाकाशः प्रतिष्ठा सत्यमित्येनदुपासीत का सत्यता याज्ञवल्क्य चक्षुरेव सम्राडिति होवाच चक्षुषा वै सम्राट् पश्यन्तमाहुरद्राक्षीरिति स आहाद्राक्षमिति तत्सत्यं भवति चक्षुर्वै सम्रा ् परमं ब्रह्म नैनं चक्षुर्जहाति सर्वाण्येनं भूतान्यभिक्षरन्ति देवो भूत्वा देवानप्येति य एवं विद्वानेतदुपास्ते हस्त्यृषभꣳ सहस्रं ददामीति होवाच जनको वैदेहः स होवाच याज्ञवल्क्यः पिता मेऽमन्यत नाननुशिष्य हरेतेति ॥ ४ ॥

कहा—'प्राणो वै ब्रह्म'। प्राण ही वायु देवता है। यदि कोई व्यक्ति प्राणन क्रियासे शून्य हो, तो उसका क्या हो ? कुछ नहीं। शेष पूर्ववत् है। प्राण ही आयतन है। आकाश प्रतिष्ठा है। 'प्रिय' इस बुद्धिसे इसकी उपासना करनी चाहिए।

शङ्का—प्राण प्रिय कैसे है ?

समाधान—हे सम्राट्, लोग प्राणकी कामनासे अयाज्य-याजन करते हैं, जिससे प्रतिग्रह नहीं लेना चाहिए उससे भी प्रतिग्रह लेते हैं। प्राणपोषणके लिए ही ये अकार्य कर्म करते हैं। जिस दिशामें चोर डाकू आदिका भय रहता है, उस दिशामें भी प्राणपोषण आदिके लिए जाया करते हैं। यह सब प्राण प्रिय है, इसलिए होता है। अतः हे सम्राट्, प्राण ही परम ब्रह्म है। प्राण उसको कभी नहीं छोड़ता, जो प्राणब्रह्मकी उपासना करता है ॥ ३ ॥

'यदेव ते' इत्यादि श्रुति। श्रीयाज्ञवल्क्यजीने फिर कहा कि जो किसीने आपसे कहा है, सो भी सुनें। राजाने कहा—हाँ, वर्कु वार्ष्णने कहा है कि चक्षु ही ब्रह्म है। जैसे मातृमान्, पितृमान् और आचार्यवान् कहता है, वैसा ही वार्ष्णने कहा है—चक्षु ब्रह्म है। यदि कोई व्यक्ति न देखे, तो उसका क्या होगा ? कुछ नहीं। याज्ञवल्क्यजीने कहा—आपसे उन्होंने आयतन और प्रतिष्ठा कही ? जनकने कहा—आयतन और प्रतिष्ठा मुझसे नहीं कही; याज्ञवल्क्यजीने कहा—यह तो सम्राट्, एक पाद ब्रह्म है। राजाने कहा—भगवन्, आप हमसे अवशिष्ट अंश कहिए। श्रीयाज्ञवल्क्यजीने कहा—चक्षु आयतन है और आकाश प्रतिष्ठा है। 'सत्यम्' इस बुद्धिसे इसकी उपासना करनी चाहिए।

यदेव ते कश्चिदब्रवीत्तच्छृणवामेत्यब्रवीन्मे गर्दभीविपीतो भारद्वाजः श्रोत्रं वै ब्रह्मेति यथा मातृमान्पितृमानाचार्यवान्ब्रूयात्तथा तद्भारद्वाजोऽब्रवीच्छ्रोत्रं वै ब्रह्मेत्यशृण्वतो हि किꣳ स्यादित्यब्रवीत्तु ते तस्यायतनं प्रतिष्ठां न मेऽब्रवीदित्येकपाद्वा एतत्सम्राडिति स वै नो ब्रूहि याज्ञवल्क्य श्रोत्रमेवायतनमाकाशः प्रतिष्ठाऽनन्त इत्येनदुपासीत काऽनन्तता याज्ञवल्क्य दिश एव सम्राडिति होवाच तस्माद्वै सम्राडपि यां कां च दिशं गच्छति नैवास्या अन्तं गच्छत्यनन्ता हि दिशो दिशो वै सम्राट् श्रोत्रꣳ श्रोत्रं वै सम्राट् परमं ब्रह्म नैनꣳ श्रोत्रं जहाति सर्वाण्येनं भूतान्यभिक्षरन्ति देवो भूत्वा देवानप्येति य एवं विद्वानेतदुपास्ते हस्त्यृषभꣳ सहस्रं ददामीति होवाच जनको वैदेहः स होवाच याज्ञवल्क्यः पिता मेऽमन्यत नाननुशिष्य हरेतेति ॥ ५ ॥

शङ्का—याज्ञवल्क्यजी, सत्यता क्या है ?

समाधान—सम्राट्, चक्षु ही सत्यता है, ऐसा मुनिजीने कहा। सम्राट् , जो आँखसे देखता है। उसके प्रति पूछा जाय कि तुमने ऐसा देखा है या सुना है जो कहे कि देखा है वह सत्य है, जो कहे सुना है, वह सत्य भी होता है और मिथ्या भी, नियमसे सत्य नहीं, शेष पूर्ववत् है ॥ ४ ॥

'यदेव ते' इत्यादि श्रुति। श्रीयाज्ञवल्क्यजीने कहा—जो आपसे किसीने कहा है, उसको भी सुनें। जनकजीने कहा—हाँ, गर्दभीविपीत भारद्वाजने मुझसे कहा—श्रोत्र ही ब्रह्म है, यथा मातृमान्, पितृमान् और आचार्यवान् पुरुष कहता है वैसा ही भारद्वाजने कहा है—श्रोत्र ब्रह्म है। न सुननेसे कुछ नहीं होता, यह तो कहा। आपसे आयतन और प्रतिष्ठा भी कही ? मुझसे नहीं कही। याज्ञवल्क्यजीने कहा—सम्राट्, यह तो एकपाद ब्रह्म है। राजाने कहा—महाराज, तो आप ही आयतन और प्रतिष्ठा कहिये। श्रीयाज्ञवल्क्यजीने कहा—श्रोत्र ही आयतन है और आकाश प्रतिष्ठा है। अनन्तदृष्टिसे इसकी उपासना करनी चाहिए।

जनकने पूछा—याज्ञवल्क्यजी, अनन्तता क्या है ? सम्राट् , दिशा ही अनन्तता है। अतः हे सम्राट्, जिस किसी भी दिशामें जाय अन्त नहीं पा सकता, क्योंकि दिक् अनन्त है। जिसका अन्त ही नहीं उसका अन्त कौन पा सकता है ? और हे सम्राट्, दिशा ही श्रोत्र है, हे सम्राट्, श्रोत्र ही परब्रह्म है। उसको श्रोत्र नहीं छोड़ता, जो श्रोत्रब्रह्मकी उपासना करता है, शेष पूर्वत् है ॥ ५ ॥

यदेव ते कश्चिदब्रवीत्तच्छृणवामेत्यब्रवीन्मे सत्यकामो जाबालो मनो वै ब्रह्मेति यथा मातृमान्पितृमानाचार्यवान्ब्रूयात्तथा तज्जाबालोऽब्रवीन्मनो वै ब्रह्मेत्यमनसो हि किꣳस्यादित्यब्रवीत्तु ते तस्यायतनं प्रतिष्ठां न मेऽब्रवीदित्येकपाद्वा एतत्सम्राडिति स वै नो ब्रूहि याज्ञवल्क्य मन एवायतनमाकाशः प्रतिष्ठाऽऽनन्द इत्येनदुपासीत का आनन्दता याज्ञवल्क्य मन एव सम्राडिति होवाच मनसा वै सम्राट् स्त्रियमभिहार्यते तस्यां प्रतिरूपः पुत्रो जायते स आनन्दो मनो वै सम्राट् परमं ब्रह्म नैनं मनो जहाति सर्वाण्येनं भूतान्यभिक्षरन्ति देवो भूत्वा देवानप्येति य एवंविद्वानेतदुपास्ते हस्त्यृषभꣳ सहस्रं ददामीति होवाच जनको वैदेहः स होवाच याज्ञवल्क्यः पिता मेऽमन्यत नाननुशिष्य हरेतेति ॥ ६ ॥

यदेव ते कश्चिदब्रवीत्तच्छृणवामेत्यब्रवीन्मे विदग्धः शाकल्यो हृदयं वै ब्रह्मेति यथा मातृमान्पितृमानाचार्यवान्ब्रूयात्तथा तच्छाकल्योऽब्रवीद् हृदयं

'**यदेव ते**' इत्यादि श्रुति। श्रीयाज्ञवल्क्यजीने फिर कहा—जो किसीने आपसे कहा है, उसको भी सुनें। राजाने कहा—हाँ, सत्यकाम जाबालने कहा है—मन ही ब्रह्म है। मातृमान्, पितृमान् और आचार्यवान् जैसा कहते हैं, वैसा ही सत्यकाम जाबालने कहा है कि मन ही ब्रह्म है। मनके बिना क्या हो सकता है? अर्थात् कुछ नहीं। आपसे उन्होंने उसका आयतन और प्रतिष्ठा कही? नहीं, मुझसे नहीं कही। श्रीयाज्ञवल्क्यजीने कहा—सम्राट्, उन्होंने यह तो एकपाद ही ब्रह्मका उपदेश दिया है। राजाने कहा—तो याज्ञवल्क्यजी, आप हमसे पूर्ण कहिए। याज्ञवल्क्यजीने कहा—मन ही आयतन है। आकाश प्रतिष्ठा है। ब्रह्म आनन्द है यों ब्रह्मकी उपासना करनी चाहिए।

शङ्का—याज्ञवल्क्यजी, आनन्दता क्या है?

समाधान—सम्राट्, पुरुष मनसे ही स्त्रीकी प्रार्थना करता है। उसमें सदृश पुत्र होता है। वह आनन्द—आनन्ददायक—है। सम्राट्, मन ही परब्रह्म है। शेष पूर्ववत् है।

'**यदेव ते**' इत्यादि श्रुति। याज्ञवल्क्यजीने कहा—जो कुछ आपसे किसीने कहा है, सो भी सुनें। जनकजीने कहा—हाँ, विदग्ध शाकल्यजीने कहा है कि हृदय ही ब्रह्म है, जैसे मातृमान्, पितृमान् और आचार्यवान् पुरुष कहता है, वैसे ही

वै ब्रह्मेत्यहृदयस्य हि किꣳ स्यादित्यब्रवीत्तु ते तस्यायतनं प्रतिष्ठां न मेऽब्रवीदित्येकपाद्वा एतत्सम्राडिति स वै नो हि याज्ञवल्क्य हृदयमेवायतनमाकाशः प्रतिष्ठा स्थितिरित्येनदुपासीत का स्थितता याज्ञवल्क्य हृदयमेव सम्राडिति होवाच हृदयं वै सम्राड् सर्वेषां भूतानामायतनꣳ हृदयं वै सम्राड् सर्वेषां भूतानां प्रतिष्ठा हृदये ह्येव सम्राड् सर्वाणि भूतानि प्रतिष्ठितानि भवन्ति हृदयं वै सम्राड् परमं ब्रह्म नैनꣳ हृदयं जहाति सर्वाण्येनं भूतान्यभिक्षरन्ति देवो भूत्वा देवानप्येति य एवंविद्वानेतदुपास्ते हस्त्यृषभꣳ सहस्रं ददामीति होवाच जनको वैदेहः स होवाच याज्ञवल्क्यः पिता मेऽमन्यत नाननुशिष्य हरेतेति ॥ ७ ॥

इत्युपनिषदि प्रथमं ब्राह्मणम् ॥ १ ॥

वागाद्या देवतास्तासामाधारस्तत्तदिन्द्रियम् ।
अव्याकृतं च नामेति पादाश्चत्वार ईरिताः ॥ ५ ॥

शाकल्यजीने मुझसे कहा है—हृदय ब्रह्म है, अहृदयका (हृदयशून्यका) क्या हो सकता है, अर्थात् कुछ नहीं। यह तो उन्होंने कहा। परन्तु उसका आयतन और प्रतिष्ठा आपसे कही ? नहीं, हमसे नहीं कही। तब तो एक देशकी उपासना कही है। श्रीयाज्ञवल्क्यजी, आप आयतन, प्रतिष्ठा आदिके कथन द्वारा हमें पूर्ण उपदेश दीजिये। श्रीयाज्ञवल्क्यजी बोले—हृदय ही आयतन है और आकाश प्रतिष्ठा है। ब्रह्मकी स्थितिरूपसे उपासना करनी चाहिए।

शङ्का—स्थितता क्या है ?

समाधान—याज्ञवल्क्यजीने सम्राट्, हृदय ही यह उत्तर दिया। सम्राट्, हृदय ही सब भूतोंका आश्रय है। सम्राट्, हृदय ही सब भूतोंकी प्रतिष्ठा है। हृदयमें ही सबभूत प्रतिष्ठित हैं। सम्राट्, हृदय ही परम ब्रह्म है। यदि इसको हृदय नहीं छोड़े, तो सब भूत इसकी रक्षा करते हैं, शेष पूर्ववत् है ॥

'वागाद्या' इत्यादि। एक-एक पादका उपदेश तो तत्-तत् उपदेशक आचार्योंने दिया ही है, अवशिष्ट पादत्रयका समीचीन उपदेश श्रीयाज्ञवल्क्यजीने किया है। जैसे जित्वा शैलिनिने कहा कि वाग् ही ब्रह्म है, परन्तु आयतन आदि पादत्रयका निर्देश नहीं किया, अपूर्ण ब्रह्मकी उपासनासे अभीष्टसिद्धि नहीं होती। अतः अवशिष्ट तीन पादोंका उपदेश श्रीयाज्ञवल्क्यजीने किया। 'वाग् वै ब्रह्म' इसमें वाग्

चतुष्पाद् ब्रह्म सर्वात्मरूपमस्तीति चिन्तनात् ।
प्राणिभिः पूज्यते सर्वैरिह वागाद्यनुग्रहात् ॥ ६ ॥
परत्राऽऽप्नोति देवत्वं भावनोपचयादयम् ।
अतो विलक्षणं ब्रह्म विद्यायास्तदुपासनम् ॥ ७ ॥

तत्-तत् इन्द्रियोंके अधिष्ठातृ अग्न्यादि देवतापरक है । वाग्देवता अग्नि है । इसमें 'अग्निर्वाग् भूत्वा मुखं प्राविशत्' यह श्रुति प्रमाण है। उक्त देवताका आधार तदिन्द्रिय द्वितीय पाद है । 'आकाशः प्रतिष्ठा' इससे उसके आधाररूपसे उक्त अव्याकृत तृतीय पाद है । प्रज्ञादिनामक चतुर्थ पाद है । प्रथम पर्यायके समान उत्तर पाँच वाक्योंमें देवता, आयतन, प्रतिष्ठा उपनिषत् ये चार पदार्थ अवश्य ज्ञेय हैं। 'मातृमान्' इत्यादि विशेषणोंसे जित्वा शैलिनि समीचीन वक्ता हैं, यह सूचित किया है । इसी प्रकार उत्तर वाक्योंमें 'मातृमान्' इत्यादिका तात्पर्य समझना चाहिए । बिना बोले लोकमें कोई भी दृष्ट या अदृष्ट प्रयोजन सिद्ध नहीं होता, अतएव सब पुरुषार्थसाधक वाग् ही ब्रह्म है । आयतनाद्युपदेशके बिना एकपाद ही ब्रह्मका निर्देश होता है । वह असमस्त है । असमस्त ब्रह्मकी उपासनाका फल नहीं है । असमस्त उपासना व्यर्थ है । यहाँ विराडात्माकी उपासना कही गई है ॥ ५ ॥

'चतुष्पाद्' इत्यादि । चतुष्पाद् ब्रह्म सर्वात्मकस्वरूप है, इस चिन्तनसे उपासक सब प्राणियोंसे स्तुत होता है । कार्यकारणात्मक सब जगत् देवतारूपसे कहा गया है । अतः अग्न्यादि देवताओंमें ब्रह्मदृष्टिसे सब जगत् उपास्यत्वेन विवक्षित है, एकदेशावच्छिन्न उपासना इष्ट नहीं है ॥ ६ ॥

'परत्राऽऽप्नोति' इत्यादि । उपासनाके दो फल हैं—दृष्ट और अदृष्ट । उक्त उपासनासे भावनाके उपचयसे उपासनावेलामें ही उपासक उपास्यदेवतास्वरूप हो जाता है, यह दृष्ट फल है । अब अदृष्टप्रधान फल कहते हैं—शरीरत्यागके अनन्तर उपासक अपने उपास्य देवताके रूपको प्राप्त करता है । ब्रह्मविद्यासे प्रकृत उपासनामें यह वैलक्षण्य है । अदेवस्वरूप उपासक उपासनाके बलसे देवस्वरूप हो जाता है ।

शङ्का—उपास्य अग्न्यादि देवता तो एक ही कही गई है और उपासक प्रकृत उपासनाओंसे अग्न्यादि तत्-तत् देवतास्वरूप ही होगा, अतः 'देवान् अप्येति' इसमें बहुत्वका उपादान क्यों ?

समाधान— छहों उपासनाएँ एक ही हैं, भिन्न-भिन्न नहीं हैं यह सूचन करनेके लिए बहुवचनका निर्देश है । यदि 'देवमप्येति' ऐसा पाठ होता, तो भिन्न-भिन्न

प्रागपि ब्रह्मविद्याया ब्रह्मैवाभूद्यथा तथा ।
देवोपासनतः पूर्वं नाऽभूद्देव उपासकः ॥ ८ ॥
किन्त्वविच्छिन्नतद्ध्यानाद्देवोऽस्मीत्यभिमन्यते ।
तद्भावनाभावितः सन्मृतौ देवत्वमाप्नुयात् ॥ ९ ॥

फलक होनेसे छः उपासनाएँ स्वतन्त्र हो जातीं । एक उपासनासे अनेकदेवत्वकी प्राप्ति नहीं हो सकती, अतः सब प्रकृत उपासनाओंमें 'देवान्' बहुवचनश्रुतिसे एकपर्यायोपासना अन्यपर्यायोपासनासे अभिन्न है, यह सूचित किया गया है ॥ ७ ॥

'प्रागपि' इत्यादि । ब्रह्मविद्यापेक्षया उपासनामें स्फुट वैलक्षण्य कहते हैं । जैसे ब्रह्मविद्योत्पत्तिसे पूर्व भी जीव ब्रह्मस्वरूप ही रहता है, वैसे प्रकृत उपासनासे पूर्व उपासक उपास्य अग्न्यादिके स्वरूपको प्राप्त नहीं होता, किन्तु उपासनाके अनन्तर ही उपास्यस्वरूप होता है, ब्रह्मविद्या प्राप्तप्रापक है और प्रकृत उपासनाएँ अप्राप्तप्रापक हैं ।

शङ्का—सर्वपर्यायोपासना एक हो, पर उसे विद्याके समान ही फलप्रद क्यों नहीं मानते ?

समाधान—अधिकारीके भेदसे फलमें वैलक्षण्य है । मुमुक्षु पूर्वमें भी ब्रह्म स्वरूप है, केवल अविद्या व्यवधायक है । उपासक उपासनासे पूर्व अदेव रहता है, उपासनासे ही देवता होता है और फलवैलक्षण्यमें यह भी कारण है कि कर्मसाध्य फल उत्पत्ति, विकृति, संस्कृति, प्राप्ति—एतदन्यतमस्वरूप होता है, अतः साध्य है । ब्रह्मविद्याका फल सिद्ध है साध्य नहीं है । और ज्ञान और उपासनाके स्वरूपमें भी भेद है । उपासना मानसी क्रिया है, अतएव वह पुरुषतन्त्र है, ज्ञान वस्तुतन्त्र है । विषय द्वारा भी दोनोंमें भेद स्पष्ट है—उपासना विभिन्नार्थविषयक है और विद्या एकरसविषया है ॥८॥

'किन्त्व०' इत्यादि । उपासनाकालमें अविच्छिन्न—लगातार—अग्न्यादि देवताओंके ध्यानसे उपासक अपनेको तत्-तत् देवतास्वरूप मानता है, मरणानन्तर तादृश भावनावश तत्-तत् देवतास्वरूपको प्राप्त होता है ।

'यं यं वापि स्मरन् भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्'
'तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः'

इस गीतावचनसे प्रापणकालिक भावनानुरूप फल प्राणियोंको प्राप्त होता है, यह सुनिश्चित किया गया है ॥ ९ ॥

असमाप्तेः पुमर्थस्य न मुख्यमनुशासनम् ।
तद्वत्तां याज्ञवल्क्योऽतो नाऽग्रहीद् गुरुदक्षिणाम् ॥ १० ॥
यस्मिन् ज्ञातेऽखिलं ज्ञातं कृतं कृत्यं च कामितम् ।
प्राप्तं त्याज्यं च संत्यक्तं मुख्यं तदनुशासनम् ॥ ११ ॥

इति वार्तिकसारे चतुर्थाध्याये प्रथमं ब्राह्मणं समाप्तम् ॥ १ ॥

'असमाप्तेः' इत्यादि । शिष्यको कृतार्थ किये बिना उससे दक्षिणा लेना उचित नहीं है, यह अभिप्राय मेरे (श्रीयाज्ञवल्क्यके) पिताजीका था, वही अभिप्राय मेरा भी है । आप अभी कृतार्थ नहीं हुए ।

शङ्का—क्यों ?

समाधान—परब्रह्मका ज्ञान अभीतक आपको नहीं हुआ है, अतः अभी आपसे दक्षिणा नहीं ले सकते ।

शङ्का—यदि अकृतार्थ शिष्यसे दक्षिणाग्रहण करना उचित नहीं है, तो आप पहले हजार गौएँ क्यों ले गये ?

समाधान—वह ब्रह्मवेत्ताओंकी परीक्षाका फल था । उपस्थित विद्वानोंपर जो विजय प्राप्त करे, वही उन गौओंको ले जा सकता था, मैंने सबपर विजय प्राप्त की, इसलिए उनका लेना उक्त अभिप्रायके विरुद्ध नहीं है । पुनर्दक्षिणा गुरुदक्षिणा है, उसे कृतार्थ होनेपर ही ग्रहण करनेका मेरा अभिप्राय है । मुक्ति-फलप्रापक अनुशासनसे शिष्य कृतार्थ होता है । तादृश अनुशासन अभीतक नहीं किया, इसलिए आपकी दक्षिणा अभी ग्राह्य नहीं है, तत्त्वज्ञानसे ही पुमर्थ-प्राप्ति होती है । तत्त्वज्ञान अभी आपको हुआ नहीं है ॥ १० ॥

'यस्मिन्' इत्यादि । जिसके ज्ञात होनेपर सब ज्ञात हो जाता है, सब कर्तव्य कृत हो जाता है । कामित (प्राप्तव्य) प्राप्त हो जाता है और त्याज्य सन्त्यक्त हो जाता है, वही मुख्य अनुशासन है । यह केवल पिताजीका ही मत नहीं, किन्तु मेरा भी यही मत है ।

शङ्का—क्यों ?

समाधान—सब वस्तु ब्रह्मात्मक है, अतः ब्रह्मदृष्टि सम्यग्दृष्टि है, अन्यधी मिथ्याधी है ।

शङ्का—यदि ऐसा है, तो तत्त्वज्ञानका ही उपदेश देना उचित था, प्रकृत उपासनाओंमें मुनिकी सम्मति क्यों ?

समाधान—'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसा-नाशकेन' इत्यादि श्रुतिवाक्यसे सब कर्म मोक्ष-ज्ञान-जनक माने जाते हैं। अतः प्रकृत उपासनाएँ तदुपयोगी हैं, इसलिए मुनिकी सम्मति उक्त उपासनाओंमें उचित ही है ॥ ११ ॥

चतुर्थाध्यायका प्रथम ब्राह्मण समाप्त



द्वितीयं ब्राह्मणम्

द्वितीयब्राह्मणे जाग्रत्स्वप्नसुप्तिमुखान्निजम् ।
आत्मानं शास्त्यतो राजा यथाविध्युपसन्नवान् ॥ १ ॥

श्रुतिः—जनको ह वैदेहः कूर्चादुपावसर्पन्नुवाच नमस्तेऽस्तु याज्ञवल्क्यानु मा शाधीति स होवाच यथा वै सम्राण्महान्तमध्वानमेष्यन् रथं वा नावं वा समाददीतैवमेवैताभिरुपनिषद्भिः समाहितात्माऽस्येवं वृन्दारक आढ्यः सन्नधीतवेद उक्तोपनिषत्क इतो विमुच्यमानः क्व गमिष्यसीति ।

द्वितीय ब्राह्मणका तात्पर्य कहते हैं—**'द्वितीय०'** इत्यादिसे ।

द्वितीय ब्राह्मणमें जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्तिदशा द्वारा आत्मज्ञानके लिए प्रत्यगभिन्न आत्माका शासन करते हैं, इस कारण यथाविधि—शास्त्रमें ब्रह्मविद्याग्रहण करनेका जैसा विधान है, उसके अनुसार—सिंहासनसे (राजगद्दीसे) उतरकर श्रीयाज्ञवल्क्यजीको पादस्पर्शपूर्वक प्रणाम कर राजा जनकने कहा कि भगवन्, अपनी इच्छानुसार मेरा अनुशासन करें ।

शङ्का—ब्रह्मविद्याग्रहण करनेके लिए गुरु-समीपगमन श्रुति तथा स्मृतिमें प्रसिद्ध है, किन्तु यहां तद्विपरीत दिखलाई देता है, क्योंकि गुरु श्रीयाज्ञवल्क्य ही शिष्य जनकके घरमें स्वयं आ गये हैं ।

समाधान—जबतक जनकजीको यह विश्वास नहीं था कि उक्त मुनि ब्रह्मज्ञ हैं, तबतक वे ब्रह्मविद्याग्रहणके लिए श्रीयाज्ञवल्क्यजीके घरमें नहीं गये, परन्तु उक्त सभामें श्रीयाज्ञवल्क्यजीका ब्रह्मविद्यामें अतिशय देखकर उन्हें पूर्ण विश्वास हो गया, अतः गुरुसमीपगमनविधिका पालन करनेके लिए स्वकीय आसनसे उठकर श्रीयाज्ञवल्क्यजीके पास जाकर राजा जनकने विनीतभावसे उन्हें आत्मसमर्पण किया ॥१॥

'जनको ह वैदेहः' इत्यादि श्रुति । श्रीयाज्ञवल्क्य सविशेष सब ब्रह्मको जानते हैं, यह निश्चय होनेपर अपनेमें आचार्यत्वका त्याग कर जनकजीने गद्दीसे उतर कर समीप जाकर चरणस्पर्शपूर्वक प्रणाम कर कहा—'नमस्तेऽस्तु याज्ञवल्क्य' मेरा अनुशासन कीजिए। इतिशब्द समाप्त्यर्थ है । श्रीयाज्ञवल्क्य बोले—हे सम्राट्, जैसे लोकमें लम्बे मार्गमें जानेवाला यदि स्थलमार्गसे जाना आवश्यक हो, तो रथका तथा यदि जलमार्गसे जाना आवश्यक हो, तो नौकाका प्रबन्ध करता है और गमनके साधनसे संयुक्त होता है, वैसे ही 'प्रज्ञा० प्रियम्' इत्यादि उपनिषद्से युक्त हो उक्त

नाहं तद् भगवन् वेद यत्र गमिष्यामीत्यथ वै तेऽहं तद्वक्ष्यामि यत्र गमिष्यसीति ब्रवीतु भगवानिति ॥ १ ॥

इन्धो ह वै नामैष योऽयं दक्षिणेऽक्षन्पुरुषस्तं वा एतमिन्धꣳ सन्तमिन्द्र इत्याचक्षते परोक्षेणैव परोक्षप्रिया इव हि देवाः प्रत्यक्षद्विषः ॥ २ ॥

रीतिसे सब ब्रह्मोपासनाओंको कर रहे आप समाहितात्मा हैं अर्थात् आपके साधनके विषयमें कुछ वक्तव्य नहीं है। साधनोंसे आप पूर्ण हैं। केवल परिपूर्ण ही नहीं, किन्तु वृन्दारक (श्रेष्ठ) और ईश्वर हैं, दरिद्र नहीं हैं। वेदोंका अध्ययन आपने किया है फिर भी श्रमके मध्यमें ही अभी आप पड़े हैं, कारण कि ब्रह्मज्ञानके बिना आप अकृतार्थ हैं, जबतक परब्रह्मका ज्ञान नहीं होगा, तबतक इस देहसे मुक्त होनेपर इन नौका-रथ-स्थानीय उपनिषदोंसे संयुक्त आप कहां जायँगे ?

शङ्का—'तस्य प्राणा इहैव समवलीयन्ते' इत्यादि श्रुतिके अनुसार तत्त्वज्ञानी तो कहीं जाता ही नहीं है, यह निश्चित है। फिर गतिविषयक मुनिका प्रश्न कैसे ?

समाधान—ठीक है, इसलिए भाष्यकारने 'किं वस्तु प्राप्स्यसि' यह अर्थ किया है यानी किस वस्तुको पाओगे ?

शङ्का—यह भी तो ठीक नहीं है, ब्रह्म भी तो ज्ञानसे प्राप्त ही है।

समाधान—प्राप्त है, पर अज्ञानसे अप्राप्तके समान होता है। ज्ञान होनेपर प्राप्तके समान होता है। श्रीजनकजीने उत्तर दिया कि भगवन्, उस वस्तुको मैं नहीं जानता जहां जाना है। श्रीयाज्ञवल्क्यजीने कहा—यदि यह नहीं जानते कि जहां जाकर जीव कृतार्थ होता है, तो हम आपको बतलावेंगे जहां आप जायँगे। श्रीजनकजीने प्रार्थना की कि भगवन्, उसको कहिए, यदि मेरे ऊपर आप प्रसन्न हैं। मुनिने कहा—सुनिये ॥ १ ॥

'इन्धो ह वै' इत्यादि श्रुति। विश्व, तैजस और प्राज्ञके अनुवादसे तुरीय ब्रह्मके उपदेशके लिए प्रथम विश्वका निर्देश करते हैं—'इन्धः' इत्यादिसे।

इन्ध वह पुरुष है, जो दाहिने आँखमें व्यवस्थित रहता है। उसीका सत्य नाम है। दीप्तिगुणसे विशिष्ट उस पुरुषको इन्ध कहते हैं। उसी इन्धको परोक्षशब्दसे इन्द्र कहते हैं।

शङ्का—क्यों ?

समाधान—देवता परोक्षप्रिय होते हैं, प्रत्यक्ष नाम लेनेसे द्वेष करते हैं। आप वैश्वानररूप आत्माको सम्पन्न हैं, तद्रूप हैं ॥ २ ॥

अथैतद्वामेऽक्षणि पुरुषरूपमेषाऽस्य पत्नी विराट् तयोरेष सꣳस्तावो य एषोऽन्तर्हृदय आकाशोऽथैनयोरेतदन्नं य एषोऽन्तर्हृदये लोहितपिण्डोऽथैनयोरेतत्प्रावरणं यदेतदन्तर्हृदये जालकमिव। अथैनयोरेषा सृतिः सञ्चरणी यैषा हृदयादूर्ध्वा नाड्युच्चरति यथा केशः सहस्रधा भिन्न एवमस्यैता हिता नाम नाड्योऽन्तर्हृदये प्रतिष्ठिता भवन्त्येव ताभिर्वा एतदास्रवदास्रवति तस्मादेष प्रविविक्ताहारतर इवैव भवत्यस्माच्छरीरादात्मनः ॥ ३ ॥

'वामनेत्रमें जो पुरुष है' वही इस पुरुषकी पत्नी है, जिस वैश्वानरस्वरूप आत्माको आप प्राप्त हैं, उस भोक्ता इन्द्रकी यह भोग्या पत्नी है। इन्द्राणीसहित इन्द्र—इन दोनोंका युगल दक्षिण-वामनेत्रस्थ पुरुषद्वय है। विराट् अन्न है। यह अन्न और अत्ताका युगल स्वप्नमें है। इन्द्र और इन्द्राणीका यह संगमस्थान है, जिसमें मिलकर परस्पर सङ्गम होता है।

शङ्का—कौन संगमस्थान है ?

समाधान—जो हृदयके भीतर आकाश है। हृदयसे यहाँ मांसपिण्ड विवक्षित है। इन दोनोंका वक्ष्यमाण अन्न भोज्य यानी स्थितिहेतु है। कौन ? जो यह हृदयके भीतर लोहितपिण्ड यानी सूक्ष्म अन्नरस है। भुक्त अन्न दो प्रकारसे परिणत होता होता है, जो स्थूल है, वह मल होकर नीचे गिर जाता है, जो उससे भिन्न सूक्ष्म है, वह अग्निसे परिपच्यमान होकर दो रूपोंसे परिणत होता है, जो मध्यम रस है, वह लोहितक्रमसे पाञ्चभौतिक शरीरपिण्डको बढ़ाता है। जो अणिष्ठ रस है, वही लिङ्गात्मा इन्द्रका लोहितपिण्ड है, जिसको तैजस कहते हैं, वही हृदय मिथुनीभूत इन्द्र और इन्द्राणीका सूक्ष्म नाड़ियोंमें प्रविष्ट होकर स्थितिहेतु होता है, यही 'अनयोः' इत्यादिसे कहा गया है, इन दोनोंका यही प्रावरण है, लोकमें भोग कर चुके और सोये हुए जोड़ेका प्रावरण होता है।

शङ्का—यहाँ प्रावरण क्या है ?

समाधान—जो हृदयमें जालकके समान है—अनेक नाडीरूप छिद्राधिक्यसे जालकके समान है—इन दोनोंका यही मार्ग चलनेके लिए है, सञ्चरतः अनया इति सञ्चरणी अर्थात् मार्ग।

शङ्का—सृतिः कौन मार्ग है ?

समाधान—जो हृदयदेशसे ऊर्ध्वाभिमुखी नाड़ी है, उसका परिमाण कहते

तस्य प्राची दिग्प्राञ्चः प्राणा दक्षिणा दिग्दक्षिणे प्राणाः प्रतीची दिक्प्रत्यञ्चः प्राणा उदीची दिगुदञ्चः प्राणा उर्ध्वा दिगूर्ध्वाः प्राणा अवाची दिगवाञ्चः प्राणाः सर्वा दिशः सर्वे प्राणाः । स एष नेति नेत्यात्माऽगृह्यो नहि गृह्यतेऽशीर्यो नहि शीर्यतेऽसङ्गो नहि सज्जतेऽसितो न व्यथते न रिष्यत्यभयं वै जनक प्राप्तोऽसीति होवाच याज्ञवल्क्यः स होवाच जनको वैदेहोऽभयं त्वा गच्छताद्याज्ञवल्क्य यो नो भगवन्नभयं वेदयसे नमस्तेऽस्त्विमे विदेहा अयमहमस्मि ॥ ४ ॥

इत्युपनिषदि द्वितीयं ब्राह्मणं समाप्तम् ॥ २ ॥

हैं—जैसे लोकमें केशके हज़ार खण्ड करनेपर अत्यन्त सूक्ष्म अंश होता है, वैसे ही इस देहकी हिता नामक नाड़ियाँ हैं, वे हृदयके मध्यमें मांसपिण्डमें व्यवस्थित हैं। हृदयस्थित वे नाड़ियाँ सर्वत्र कदम्बकेसरके समान—कदम्बमें जैसे चारों तरफ पुष्प-कलियाँ रहती हैं, वैसे ही—हैं। अतिसूक्ष्म इन नाड़ियोंसे अन्न जाता है। यह देवताका शरीर इस अन्नसे बढ़ता है और स्थित रहता है। यतः स्थूल अन्नमे पिण्ड उपचित होता है। यह देवताशरीर सूक्ष्म अन्नसे बढ़ता है और स्थिर रहता है, पिण्डवर्द्धक अन्न मूत्र-पुरीष आदि स्थूलकी अपेक्षासे सूक्ष्म है, लिङ्गस्थितिहेतु अन्न इससे भी सूक्ष्मतर है, अतः पिण्ड प्रविविक्ताहार है। उस प्रविविक्ताहारसे भी प्रविविक्ताहारतर यह लिङ्गात्मा ही है, शरीर ही शारीर यहाँ विवक्षित है। स्वार्थमें 'अण्' है। वैश्वानर आत्मासे तैजस आत्मा सूक्ष्मान्नोपचित होता है ॥ ३ ॥

'तस्य प्राची दिक् प्राञ्चः प्राणाः' इत्यादि श्रुति। वह हृदयभूत तैजस पुरुष सूक्ष्मभूत प्राणसे भ्रियमाण प्राण ही है। एवंभूत विद्वान् जो क्रमसे वैश्वानरसे तैजसस्वरूपापन्न हुआ है, अतएव हृदयात्मापन्न हुआ है, हृदयात्मासे प्राणात्मापन्न हुआ है प्राची दिक् उसके प्राक् प्राण हैं तथा दक्षिण दिक् दक्षिण प्राण हैं, प्रतीची दिक् प्रत्यक् प्राण हैं, उदीची दिक् उदक् प्राण हैं, ऊर्द्ध्व दिक् ऊर्द्ध्व प्राण हैं, अवाची दिक् अवाक् प्राण हैं, सर्व दिक् सब प्राण हैं। एवंविद्वान् क्रमसे सर्वात्मक प्राणको आत्मा मानता है। उस सर्वात्माका प्रत्यगात्मामें उपसंहार कर द्रष्टाके द्रष्टृत्वस्वरूप 'नेति नेति'से प्रबोधित तुरीय आत्माको जानता है। जिसको यह विद्वान् क्रमसे जानता है, 'स एष नेति नेत्यात्मा' इत्यादि और 'न रिष्यति' इत्यन्ताका पूर्वमें

उक्तोपासनतः प्राप्यो देवभावः पुरोदितः ।
देवत्वान्मुच्यमानेन प्राप्तं पृच्छत्यसौ मुनिः ॥ २ ॥
उपासनानि सर्वाणि परविद्याधिकारतः ।
क्रममुक्तिफलानीति प्रश्नेनाऽनेन गम्यते ॥ ३ ॥
ब्रह्मतत्त्वविदोऽप्यस्य राज्ञो गतिमजानतः ।
तां वक्तुं प्रश्न इत्याहुः केचित्, तत्तु न युज्यते ॥ ४ ॥

व्याख्यान हो चुका है। हे जनक, आप अभय—जन्म और मरणादिके भयसे शून्य हो गये, इस प्रकार जनकसे श्रीयाज्ञवल्क्यजीने कहा। ये दोनों हम आपसे कहेंगे जहां जाओगे। श्रीजनकजीने भी श्रीयाज्ञवल्क्यजीसे कहा कि आपको भी अभय हो, जो कि भगवन्, पूज्य आपने हमको अभयका उपदेश दिया है—उपाधिकृत अज्ञानके व्यवधानका निराकरण किया है। इस विद्याप्रदानका मूल्य हम आपको नहीं दे सकते हैं, साक्षात् आत्माके देनेवालेको आत्मासे बढ़कर क्या आत्माके समान भी संसारमें कोई पदार्थ नहीं है, जो मूल्यरूपसे दिया जाय ? अतः आपको प्रणाम है। सानुनय यही निवेदन करता हूं कि समस्त विदेहराज्य आपका है। इसका निःसंकोच आप उपभोग करें और मैं आपका सेवक हूँ। मेरे ऊपर सेवकदृष्टि रखकर आप इस राज्यका यथेष्ट उपभोग अपना समझकर कीजिये ॥ ४ ॥

'उक्तोपासनतः' इत्यादि। उक्त उपासनाओंसे देवभावकी प्राप्ति होती है, यह 'देवो भूत्वा देवानप्येति' इस वाक्यसे कह चुके हैं, अतः इस विषयमें प्रश्न नहीं है। देवभाव प्राप्त होनेपर वह भी तो नित्य नहीं है, उसका भी शरीरवत् त्याग करना ही होगा, फिर आप कहाँ जायँगे ? राजाके प्रति मुनिजीका यह प्रश्न है। राजाने उत्तर दिया कि भगवन्, मैं नहीं जानता कि कहाँ जाऊँगा। उक्त उपासनाओंके दो फल हैं—एक देवप्राप्ति और दूसरा ज्ञान द्वारा मोक्ष। आद्य फलका ज्ञान तो राजाको है पर द्वितीय फलका ज्ञान नहीं है, इसलिए राजाने उत्तर दिया कि नहीं जानता ॥ २ ॥

'उपासनानि' इत्यादि। परब्रह्मविद्या-प्रकरणमें इन उपासनाओंका विधान है, अतः ये उपासनाएँ क्रममुक्तिफलक हैं, यह इस प्रश्नवाक्यसे ही सूचित होता है। राजाजी यह नहीं जानते थे कि इन उपासनाओंका फल ब्रह्मभाव भी है, अतः 'हम नहीं जानते' यह उनका उत्तर भी ठीक ही है ॥ ३ ॥

'ब्रह्मतत्त्व०' इत्यादि। भर्तृप्रपञ्चका मत यह है कि राजा ब्रह्मतत्त्वके ज्ञानी

यत्साक्षादित्युपक्रम्य य आत्मेत्युपसंहृतेः ।
ब्रह्मणः स्वात्मरूपत्वाद् ब्रह्मणि स्यात्कथं गतिः ॥ ५ ॥

थे, किन्तु केवल गति उनको अविज्ञात थी । गतिका उपदेश मुनिजीको करना है, अतः तदुपदेशार्थ राजाके प्रति मुनिजीका प्रश्न है ।

शङ्का—यदि केवल गति ही राजाको अज्ञात थी, तो उसीका उपदेश मुनिजीको करना था, प्रश्नकी क्या आवश्यकता थी ? प्रश्न तो अज्ञात विषयको जाननेके लिए ही होता है । यदि वे स्वयं जानते थे कि यह इनको ज्ञात है, तो फिर प्रश्न व्यर्थ है ?

समाधान—गतिके उपदेशके लिए ही यह प्रश्नोपोद्घात है । परमात्मवित् भी जनकने गतिज्ञानके विरहसे 'हम नहीं जानते' यह कहा ।

परन्तु यह भर्तृप्रपञ्चका मत ठीक नहीं है, श्रुतिके अक्षरोंका यह अर्थ नहीं पाया जाता । राजा ब्रह्मज्ञानी थे, इसमें कुछ प्रमाण नहीं है, प्रत्युत यह कह सकते हैं कि उन्हें ब्रह्मज्ञान नहीं था, कारण कि पूर्वग्रन्थमें आत्मज्ञान नहीं कहा गया है और श्रीयाज्ञवल्क्यजीने यह राजासे स्पष्ट ही कहा है कि शिष्यको बिना कृतार्थ किए गुरुदक्षिणा नहीं लेनी चाहिए । शिष्य ब्रह्मज्ञानसे ही कृतार्थ होता है, सो अभीतक आपको नहीं हुआ है । जनकजी भी इस बातको मानकर तच्छरणागत हुए और कहा कि मेरा अनुशासन कीजिये । एतदर्थ ही उत्तरग्रन्थारम्भ है और प्रश्न भी गत्यर्थ नहीं है, किन्तु गन्तव्यार्थविषयक है । 'क्व गमिष्यसि' ऐसा प्रश्न है, इस प्रश्नाकारसे गतिका प्रश्न विवक्षित है, यह प्रतीति नहीं होती ॥ ४ ॥

'यत्साक्षाद्' इत्यादि । 'यत्साक्षादपरोक्षाद् ब्रह्म' इत्यादिसे आरम्भ कर 'यत्र तु सर्वमात्मैवाभूत्' इत्यादिके उपसंहारसे स्वात्मस्वरूप ही ब्रह्म है, अतिरिक्त नहीं; यह सिद्ध है । आत्मा अपनेको नित्य ही प्राप्त है । अतः गन्तृगन्तव्यभेदनिबन्धन गति मोक्षमें सर्वथा अनुपपन्न है ।

शङ्का—ब्रह्मसे अन्य यदि है, तो वर्तमान समयमें ब्रह्मतादात्म्य नहीं हो सकता, नष्ट होनेपर भी तादात्म्य असम्भव ही है, स्थित या नष्ट घट आदिमें पटादितादात्म्यका सम्भव नहीं है ॥ ५ ॥

गतिगन्तव्यगन्त्रादेरोतप्रोतात्मवर्त्मना ।
ब्रह्मात्मनि समाप्तत्वाद्गतिः का परमात्मनि ॥ ६ ॥
ब्रह्मैव सन्नवाप्नोति ब्रह्मेत्यादिश्रुतेरयम् ।
अविद्यामात्रविध्वस्तावनाप्तवदवाप्यते ॥ ७ ॥

समाधान—'**गतिगन्तव्य०**' इत्यादि। ओतप्रोतवाक्यसे गति, गन्तव्य, गन्ता आदिकी परिसमाप्ति ब्रह्ममें कह चुके हैं। ब्रह्मातिरिक्तके विरहसे वहाँ गति क्या हो सकती है?

शङ्का—उक्त वाक्यसे पृथिवी आदि चार भूतोंकी आकाशमें परिसमाप्ति कही गई है, अन्यकी नहीं, अतः जीवकी गति परमात्मामें क्यों नहीं हो सकती?

समाधान—स्वप्नदर्शनमें द्रष्टा और दृश्य ये सब अविद्योत्थ ही हैं। वे द्रष्टासे अतिरिक्त नहीं रहते। यद्यपि उस समय गति आदिकी प्रतीति होती है, पर वह वास्तवमें होती नहीं है। एवं 'नेति नेति' इत्यादि वाक्यसे ब्रह्ममें कल्पित सम्पूर्ण अनात्मपदार्थका केवल अधिष्ठान ही स्वरूप है, अतः नित्यमुक्त परमात्मामें गति नहीं हो सकती॥ ६॥

'**ब्रह्मैव**' इत्यादि। मुक्तिमें गति माननेपर श्रुतिसे विरोध होता है, क्योंकि 'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति', ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति' इत्यादि वाक्योंसे गन्तव्य आदि भेदके अधीन गतिका अभाव मुक्तिमें स्फुट कहा गया है।

शङ्का—तो 'अवाप्नोति' (ब्रह्मको प्राप्त होता है) यह कैसे? क्योंकि अप्राप्तकी प्राप्ति होती है? प्राप्त तो प्राप्त ही है, क्या उसकी प्राप्ति भी भेदाधीन ही है?

समाधान—व्यवधायक अविद्याका ध्वंस होनेपर प्राप्ति ज्ञात होती है, अतः उक्त वाक्यका ज्ञातकी प्राप्तिमें तात्पर्य्य है। किञ्च, ब्रह्म और आत्मामें अज्ञान व्यवधायक है, उसका विनाश केवल ज्ञानसे ही होता है। अतएव उसमें गति कहाँ? भर्तृप्रपञ्चके मतका निराकरण हो चुका है। उस मतमें प्रश्नोत्तरका अभिप्राय यह है—हे नराधिप, उक्त उपासना द्वारा अध्यात्मपरिच्छेदसे विमुक्त होकर आप कहां जायँगे? यह हमसे कहिये, यह मुनिका प्रश्न है। जनकजीने उत्तर दिया कि 'नाऽहं तद्भगवन् वेद' हे भगवन्, यहांसे कहां जायँगे, यह हम नहीं जानते, देवकी उपासना द्वारा क्या गन्तव्य है, यह हमें ज्ञात नहीं है। यह पूर्वमें ही हमने आंपसे सुना है कि इस उपासनासे उपास्यस्वरूपकी प्राप्ति होती है, इतना ही हम जानते हैं।

गन्तव्यं तु न जानामीत्यविद्यां स्वात्मनि स्थिताम् ।
प्रकटीकुर्वतो राज्ञ इन्धं तत्त्वमुपादिशत् ॥ ८ ॥
इन्ध्यतेऽहर्निशं यस्मादिन्धनामा ततः पुमान् ।
वीर्यवद्दक्षिणं चक्षुः श्रौतो वाऽतिशयोऽत्र हि ॥ ९ ॥
परोक्षनामव्याजेन परमैश्वर्यवाचिनम् ।
इन्द्रशब्दं प्रयुञ्जान इन्धस्याऽऽहेश्वरात्मताम् ॥ १० ॥

शङ्का—देवताप्राप्तिसे अतिरिक्त पम्परया ब्रह्मप्राप्ति फल भी विवक्षित है ?

समाधान—स्पष्ट कथनके बिना अतिगम्भीर अर्थको केवल तात्पर्यमात्रसे हम नहीं जान सकते हैं, राजाके ऐसा कहनेपर श्रीयाज्ञवल्क्यजीने कहा कि हे नराधिप, मुच्यमान आप जहां जायँगे, वह सब हम आपसे कहेंगे ।

शङ्का—परमें गतिका सम्भव नहीं है, यह मुनिजी कह चुके हैं, फिर वे राजासे यह कैसे कहते हैं कि जहाँ आप जायँगे, वह आपसे कहेंगे ?

समाधान—जैसे स्वास्थ्य पूर्वसिद्ध है, किन्तु ज्वरादिसे उसके प्रतिबद्ध होनेपर देवदत्त अस्वस्थ है, ऐसा व्यवहार होता है। औषधोपचारसे प्रतिबन्धकीभूत ज्वरादिके निवृत्त हो जानेपर पूर्वसिद्ध स्वास्थ्यके तात्पर्यसे 'स्वास्थ्यं यातः' यह व्यवहार होता है, वैसे ही 'मोक्षं प्राप्तः' यह भी व्यवहार होता है ।

शङ्का—यदि अविद्याके ध्वंससे ब्रह्मप्राप्ति विवक्षित है, तो गतिशब्दका प्रयोग क्यों किया ?

समाधान—गतिसे अवगति विवक्षित है ॥ ७ ॥

'गन्तव्यम्' इत्यादि । हम गन्तव्यको नहीं जानते, इस प्रकार स्वात्मामें स्थित अविद्याको प्रकट करनेवाले राजाको मुनिने इन्धतत्त्वका (विश्वतत्त्वका) उपदेश दिया ॥८॥

शङ्का—जागरिताभिमानी विश्वमें इन्द्रशब्दका प्रयोग क्यों ?

समाधान—**'परोक्ष०'** इत्यादि । 'इन्ध्यतेऽहर्निशं यस्मात्तस्मादिन्द्रः' 'इदि परमैश्वर्ये' धातुसे इन्द्रशब्द बना है । परमैश्वर्य जीवमें नहीं है । फिर भी आत्मा एक ही है, इस दृष्टिसे जीवको भी इन्द्र कहनेमें आपत्ति नहीं है ।

शङ्का—साक्षाद् तद्वाचक जीवशब्दसे निर्देश न कर इन्द्रशब्दसे उसके अभिधानमें क्या तात्पर्य है ?

समाधान—वास्तवमें जीव ईश्वर है, इसको समझानेके लिए व्याजसे परमेश्वर-

दक्षिणाक्षिणि चैतन्यं पुरुषो वामचक्षुषि ।
चैतन्यं स्त्रीति भेदोऽयं कल्प्यते सुखबुद्धये ॥ ११ ॥
एकस्यैव हि देवस्य विभागः स्थानभेदतः ।
अग्नीषोमात्मना श्रुत्या ध्यानार्थं त्विह भण्यते ॥ १२ ॥
उक्ता जाग्रदवस्थैवमिन्द्रस्य व्यवहारकृत् ।
दम्पत्योः सङ्गमः स्वप्नो हार्दाकाशेऽथ वर्ण्यते ॥ १३ ॥
सम्भूय स्तुतिरत्रेति संस्तावो हृदये सुषिः ।
अणिष्ठान्नरसो रक्तपिण्डो यः सोऽन्नमेतयोः ॥ १४ ॥
हृद्यन्तः शतनाडीनां पुञ्जं प्रावरणं विदुः ।
स्वप्नाज्जागरणप्राप्त्यै मार्गो नाड्यूर्ध्वगामिनी ॥ १५ ॥

वाची इन्द्रशब्दका जीवमें प्रयोग किया है। इसका 'जीव ईश्वरस्वरूप है' यह बोध करानेमें तात्पर्य है। 'परोक्षप्रिया हि देवाः' यह श्रुति भी इसमें मूल है ॥ १० ॥

'दक्षिणा०' इत्यादि। दक्षिण नेत्रमें स्थित चैतन्य पुरुष है और वामनेत्रमें स्थित चैतन्य स्त्री है। सुख-बोधके लिए इस भेदकी कल्पना की गई है। पत्नी भोग्य होनेसे विराट् कही गई है। उसका भोक्ता दक्षिणनेत्रस्थ पुरुष है ॥ ११ ॥

शङ्का—दक्षिणनेत्रस्थ चैतन्य पुरुष है और वामनेत्रस्थ पत्नी है, क्या यह भेद मानते हो ?

समाधान—**'एकस्यैव'** इत्यादि। एक ही देवका दक्षिणनेत्र, वामनेत्र आदि स्थानके भेदसे भेद ध्यानार्थ कहा गया है। कल्पितरूपसे भी ध्यान होता ही है। भोक्ताका अग्न्यात्मना और भोग्यका सोमात्मना ध्यान यहाँ विवक्षित है ॥ १२ ॥

'उक्ता' इत्यादि। जाग्रदवस्था ही इन्द्रके व्यवहारकी हेतु है। इन्द्र, इन्द्राणी-रूप दम्पतीके सङ्गमरूप स्वप्नका हृदयाकाशमें वर्णन होता है ॥ १३ ॥

'संभूय' इत्यादि। जो यह हृदयमें आकाश है, वह संस्ताव है। वह संस्ताव इसलिए कहलाता है कि वहाँपर मिलकर वे (दम्पती) परस्पर एक दूसरेकी स्तुति करते हैं यानी एक दूसरेसे सङ्गम करते हैं और जो अत्यन्त सूक्ष्म अन्नरस-रूप लोहितपिण्ड है, वह इनका अन्न है ॥ १४ ॥

'अथैनयोरेतत्प्रावरणम्' इसका अर्थ कहते हैं—**'हृद्यन्तः'** इत्यादिसे।

जो हृदयके भीतर अधिक छिद्रयुक्त सौ नाड़ियाँ हैं यानी इन्द्रके गवाक्ष (वाता-

यस्मादन्नरसः केशसहस्रांशेन सम्मितैः ।
नाडीभेदैः स्वप्नदृशं याति सूक्ष्मतरस्ततः ॥ १६ ॥
स्थूलो रसः पुरीषात्मा बहिर्यात्यतिसूक्ष्मकः ।
शरीरमिन्धमात्मानं तर्पयेत् सप्तधातुभिः ॥ १७ ॥

यन) के समान प्रतीयमान नाडीसमूह है, वही प्रावरण यानी परिधान है—दम्पतीके वस्त्रके समान है और स्वप्नावस्थासे जागरणावस्थामें आनेके लिए हृदयसे ऊर्ध्व-गामिनी जो नाड़ी है, वह मार्ग है ॥ १५ ॥

'यस्मादन्नरसः' इत्यादि। तैजसकी स्थितिके हेतु अन्नरसमें सूक्ष्मतरत्वका उपपादन करते हैं। केशके हजारवें भागके समान अतिसूक्ष्म नाड़ियों द्वारा अति-सूक्ष्मतर अन्नरस स्वप्नद्रष्टा तैजसके पास जाता है। अर्थात् उनके द्वारा प्राप्त अन्नरससे तैजसकी स्थिति होती है। अतः भोक्ता व भोग्य दोनों ही अतिसूक्ष्म हैं।

शङ्का—केश सूक्ष्म है, उसके हजार भाग ही असम्भव हैं, फिर केशके हजारवें भागके समान सूक्ष्म नाड़ियां हैं, ऐसा कैसे कहते हो?

समाधान—वस्तुतः वहाँ उपमानोपमेयभाव विवक्षित नहीं है, कारण कि नाडीके समान दूसरा सूक्ष्म पदार्थ संसारमें कोई प्रसिद्ध नहीं है और प्रसिद्ध ही उपमान माना जाता है। नाडी अतिसूक्ष्म है, इसको समझानेके लिए संभावितोपमा है। प्रकृतमें उपमानान्तरका अभाव ही कहना है। देवतात्मा इन्द्र तथा इन्द्राणीकी संचरणमार्गभूता ये नाडियाँ हैं, एवं चक्षुरादि देवताओंकी सञ्चरणमार्गभूता अतिसूक्ष्म हजारों नाड़ियाँ शरीरमें हैं,

एकोनत्रिंशल्लक्षाणि तथा नव शतानि च ।
षट्पञ्चाशद्विजानीयात् सिरा धमनिसंज्ञिताः

इस श्लोकके अनुसार उन्तीस लाख नौ सौ छप्पन नाड़ियां शरीरमें हैं, ये हम लोगोंके लिए दुर्ज्ञेय हैं। ये सूक्ष्म नाड़ियाँ कारणाश्रित होकर विषयोंको भोक्ताके प्रति पहुँचाती हैं और स्वाश्रय करणोंको, उनके द्वारा अन्तःकरणको तथा तदवच्छिन्न आत्माको व्यवहारदशामें तृप्त करती हैं ॥१६॥

स्थूलसूक्ष्मके विनियोगके प्रतिपादन द्वारा सूक्ष्मतर अन्नरस तैजसस्थिति-हेतु है, यह स्फुट करते हैं—**'स्थूलो रसः'** इत्यादिसे ।

स्थूल अन्नरस पुरीष होकर बाहर निकल जाता है । अतिसूक्ष्म

रसः सूक्ष्मतरो लिङ्गं पोषयन् लिङ्गधारिणः ।
आत्मनो वासनाभोगकारी स्वप्ने च चिन्तने ॥ १८ ॥
स्वचिदाभाससंव्याप्तिः पुंभोगः सुखदुःखयोः ।
सोऽप्यस्य देवतातन्त्रो देवताश्चाऽन्नसंश्रयाः ॥ १९ ॥
प्रविविक्ततराहार इवैवेत्युपमानया ।
लिङ्गाहारादप्यणीयान् प्राज्ञाहारो विवक्षितः ॥ २० ॥

अन्नरस अस्थि, मज्जा आदि सप्तधातुओं द्वारा शरीर, इन्द्रिय, मन और आत्माको तृप्त करता है ॥ १७ ॥

'रसः' इत्यादि ।

शङ्का—उक्त अन्नरस भले ही लिङ्गपोषक हो, पर तैजसका उससे क्या उपकार होता है ?

समाधान—उक्त अन्नरस लिङ्गपोषण द्वारा तदुपहित तैजसके स्वप्न और मनोरथमें वासनोपनीत भोगका कारण है । अतिसूक्ष्मतर अन्नरस तैजसका आहार होता है । इसीसे श्रुतिने स्थूल देहकी अपेक्षा लिङ्गको प्रविविक्ततराहार कहा है । यतो लिङ्गात्मा अतिसूक्ष्म है, अतः इस देहसे देहान्तरमें जानेके समय वह दृष्टिगोचर नहीं होता और किसीसे प्रतिहत भी नहीं होता शिलामें भी प्रविष्ट हो जाता है ॥ १८ ॥

'स्वचिदाभास०' इत्यादि ।

शङ्का—अविक्रिय आत्मामें भोग कैसे ?

समाधान—अन्तःकरणकी सुखादिवृत्तियोंमें चैतन्यव्याप्ति ही पुरुषमें सुख-दुःखका उपभोग कहा जाता है । 'मण्डलं तस्य मध्यस्थ आत्मा दीप इवाऽचलः' इस वचनके अनुसार यदि पूछो कि आत्मामें भोक्तृत्वज्ञान कैसे होता है ? तो वह भी देवतातन्त्र है, ऐसा हम कहते हैं । वस्तुतः देवताओंमें ही भोग होता है । आत्मामें वह स्वसम्बन्धितया प्रतीत होता है । देवता प्रकृतमें इन्द्रियादि हैं । तदधीन लिङ्गतादात्म्यके भ्रमसे आत्मामें भोक्तृत्वज्ञान होता है, वह भ्रमात्मक ही है ।

शङ्का—देवताओंमें भोक्तृत्व किंनिबन्धन है ?

समाधान—देवता अन्नाश्रित हैं, अतः तन्निबन्धन ही भोक्तृत्व उनमें है ॥१९॥

'प्रविविक्त०' इत्यादि । 'प्रविविक्ताहारतर इवैव' इस श्रुतिवाक्यका अर्थ भर्तृप्रपञ्च यों करते हैं कि लिङ्गात्मा प्रविविक्ताहारतर है । 'एव' अवधारणार्थक है ।

स्वप्नावस्था समाप्ताऽथ तस्य प्राचीति वाक्यतः ।
सुषुप्तिरुच्यते तत्र युक्ता सर्वदिगात्मता ॥ २१ ॥
आश्रयैः करणैर्हीनो ग्रस्ताध्यात्माधिदैवतः ।
सुषुप्तावेक एवाऽऽस्ते प्रज्ञानघनविग्रहः ॥ २२ ॥

'एव' से पूर्व इवशब्द व्यर्थ है । 'इव' शब्दका उपमा अर्थ होता है । सो ब्रह्ममें विवक्षित नहीं है । भाष्यकारने उक्त मतका खण्डन किया है, क्योंकि उनके मतमें दोनों शब्दोंकी आवश्यकता है । विश्व जैसे प्रविविक्ताहार है, क्योंकि विश्वका आहार भी स्थूल पुरीषाद्यंशकी अपेक्षा सूक्ष्म है, वैसे ही तैजस प्रविविक्ताहार ही नहीं है, किन्तु प्रविविक्ताहारतर है । जैसे प्राज्ञ प्रविविक्ताहारतर ही है, वैसे लिङ्गात्मा नहीं है, किन्तु 'प्रविविक्ताहारतर इव भवति' यानी विश्वकी अपेक्षा तैजस सूक्ष्माहार है, तैजसकी अपेक्षा प्राज्ञ सूक्ष्माहार है, इसमें उक्त वाक्यका तात्पर्य है । लिङ्गाहारसे प्राज्ञाहार अतिसूक्ष्म विवक्षित है । जैसे हृदयसे बहिर्विनिःसृत नाडियोंमें सूत्रदेवता अनुस्यूत हैं, वैसे ही अन्य भी देवता इन्द्रिय आदिमें अनुस्यूत हैं । शरीर, इन्द्रिय आदि सब देवता साधारण हैं ।

शङ्का—यदि सब इन्द्रियोंको देहव्यापी मानते हो, तो इन्द्रियान्तरसे भी रूपादिके ग्रहणकी प्रसक्ति हो जायगी, क्योंकि घ्राण आदिमें भी चक्षुरादिको मानते हो, अन्यथा व्यापकत्वका भङ्ग हो जायगा ।

समाधान—जिस इन्द्रियसे जिस विषयका ग्रहण अभीष्ट होता है, उस समय अन्य इन्द्रियाँ विषयविशेषग्राहक इन्द्रियोंमें गुणभूत हो जाती हैं, अतः प्रधानीभूत इन्द्रिय ही विषयग्राहक होती है ॥ २० ॥

'स्वप्ना०' इत्यादि । स्वप्नावस्था समाप्त हुई । 'तस्य प्राची' इत्यादि वाक्यसे सुषुप्तिको कहते हैं ।

शङ्का—प्राज्ञ परिच्छिन्न है, अतः तैजसके समान सर्वदिशात्मत्व, सर्वप्राणात्मत्व इसमें कैसे कहते हो ?

समाधान—प्राज्ञमें भी सर्वदिगात्मत्व और सर्वप्राणात्मत्व समुचित है, वह आगेके श्लोकसे स्पष्ट होगा ॥ २१ ॥

अकार्य, अकारण, तुरीय तथा निष्प्रपञ्च आत्माको प्राप्त हुए विद्वान्‌का स्वरूप कहते हैं—**'आश्रयैः'** इत्यादिसे ।

इन्धतैजससौषुप्तैर्विराट्सूत्रेश्वरा अपि ।
विवक्षिता अथैतेषां तत्त्वमात्मोपदिश्यते ॥ २३ ॥

आश्रय (शरीर), करण यानी इन्द्रियाँ इन दोनोंसे रहित तथा अस्त यानी निवृत्त है—अध्यात्मपरिच्छेद और अधिदेवपरिच्छेद जिसका अर्थात् उक्त दो अभिमानोंसे शून्य अतएव प्रज्ञानघनविग्रहस्वरूप प्राज्ञ सुषुप्ति अवस्थामें रहता है । इसलिए सर्वदिगात्मत्वादि उसमें ठीक ही है । परिच्छिन्नमें उक्त धर्म नहीं रह सकते । अपरिच्छिन्नमें उक्त धर्मोंका स्वीकार करनेमें कुछ विरोध नहीं है । विभागशून्य प्राज्ञके पूर्व दिशामें जो प्राण थे, वे सब पूर्व दिशामें उपसंहृत हो जाते हैं यानी पूर्व दिग्रूप हो जाते हैं, कारण कि उस दशामें परिच्छेद—पूर्वादिदिग्ज्ञान—रहता नहीं है । एवं पूर्वावस्थामें जो प्राण दक्षिण दिशामें थे, वे सब उक्त कालमें परिच्छेदज्ञानके विरहसे दक्षिण आदिसे शून्य हो जाते हैं । इस प्रकार आगे भी तत्-तत् दिगादिभावप्राप्ति समझनी चाहिए । भाव यह है कि अध्यात्म आदिरूपसे परिच्छिन्न प्राण सब दिशाओंमें स्थित रहते हैं । विद्वान्के परिच्छेदके नाशसे तत्-तत् प्राण तत्तद्दिग्स्वरूप हो जाते हैं । दिशाएँ चरम पर्यायोक्त प्राणरूप मूल कारण प्राज्ञमें लीन हो जाती हैं और कारण तुरीय आत्मामें लीन हो जाता है । इस शरीरसे उठकर तुरीयमें लीन हो जाता है, यह 'स्वेन रूपेण अभिसम्पद्यते' इत्यादि श्रुतिवाक्योंसे स्फुट हो चुका है ।

शङ्का—कारणका प्रत्यगात्मामें लय ठीक नहीं है, प्रत्यगात्मा ही तो कारण है, अतः स्वमें स्वका लय कैसे ?

समाधान—'न किञ्चिदवेदिषम्' इत्यादि प्रतीतिसे जिससे अज्ञानकी सिद्धि होती है तथा जिससे समयान्तरमें अज्ञान और तत्कार्य भी गृहीत होते हैं, वह केवल साक्षी ही है, कारण नहीं है ॥ २२ ॥

निष्प्रपञ्च आत्मतत्त्वका प्रतिपादन करनेके लिए 'स एष' इत्यादि वाक्यके अवतरणार्थ भूमिकाकी रचना करते हैं—'**इन्ध०**' इत्यादिसे ।

अध्यात्म इन्ध, तैजस, सौषुप्त प्राज्ञसे विराट्, सूत्र और ईश्वर भी विवक्षित हैं । इन सबका तत्त्व आत्मा है, इसका तत्त्व पूर्वमें कहा जा चुका है । केवल उपसंहार द्वारा प्रज्ञानघन अद्वितीयात्माका अधिगम होता है ॥२३॥

विराडिन्धादिभिर्भेदैरभिन्नो योऽवभासते ।
स एष नेति नेत्यात्मा न कार्यं नाऽपि कारणम् ॥ २४ ॥
तेनैव ज्ञात्मनाऽशेषं तद्भ्रान्तं ध्वान्तजं तथा ।
जग्ध्वा नेत्यात्मना विद्वान्पूर्णदृष्ट्याऽवशिष्यते ॥ २५ ॥

'विराडिन्धादि०' इत्यादि। विराट्, इन्ध आदि भेदसे अभिन्न जो आत्मा भासित होता है, वह 'एष नेति नेति' इत्यादि वाक्योंसे निखिल प्रपञ्चशून्य कहा गया है। वह न किसीका कारण है और न कार्य है, इसको अनेक बार कह चुके हैं। वस्तुतः उपनिषत्में पुनरुक्त दोषपर ध्यान कम दिया जाता है। इसलिए व्याख्यामें विवश होकर कथितका पुनः कथन करना ही पड़ता है, अतः पाठक महोदय पराधीनके ऊपर क्षमा करेंगे ॥ २४ ॥

'तेनैव' इत्यादि। अध्यात्म जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्तिके भेदसे विश्व, तैजस और प्राज्ञ ये तीन भेद आत्माके कहे गये हैं। समष्टिसे विराड्, हिरण्यगर्भ और ईश्वर ये तीन भेद भी कहे गये हैं। इसका मुख्य तात्पर्य यह है कि विश्वशब्दोपलक्षित विराट्का तैजस हिरण्यगर्भमें प्रविलय करना चाहिए। व्यष्टिरूपसे जो जागरावस्थामें विश्व कहा गया है, वही समष्टिरूपसे विराट् है। और स्वप्नमें जो तैजस है, वही हिरण्यगर्भ है। इसलिए विराट् विश्वका उसमें लय करना ठीक है। प्रविलय करनेका अभिप्राय यह है कि प्रथम विश्वको व्यष्टिभावका त्याग कर समष्टिभावसे विश्व समझना और विराट्का तैजस और हिरण्यगर्भमें लय करना अर्थात् तन्मात्रबुद्धि करना। व्यष्टिसे तैजस और समष्टिसे हिरण्यगर्भ विवक्षित है। बादमें तैजस हिरण्यगर्भका प्राज्ञ ईश्वरमें प्रविलय करना चाहिए। उक्त दो बुद्धियोंका त्याग कर व्यष्टिसमष्टिभावसे प्राज्ञेश्वरभावकी भावना करनी चाहिए। फिर प्राज्ञ ईश्वरका प्रत्यगात्मतत्त्वमें लय करना चाहिए। उक्त बुद्धिका भी त्यागकर केवल प्रत्यगात्मतत्त्वमात्रकी भावना करनी चाहिए। यही बोध 'एष नेति नेति' इत्यादि वाक्यसे विवक्षित है। ईदृश बोध होनेपर अज्ञान और अज्ञानकार्य जगत्की निःशेष निवृत्ति होती है। अनन्तर उपासक विद्वान् केवल आनन्दात्मना अवस्थित रहता है। इस प्रकार आत्मा न करण है और न कार्य है। अज्ञानमें ही कार्यकारणभाव है। आत्मा केवल साक्षी है। हां, अज्ञान आत्मामें है, इसलिए उक्त व्यवहार भी भ्रमसे आत्मामें होता है ॥ २५ ॥

गन्तव्यमुपदिश्यैवं प्राप्तोऽस्यभयमित्यृषिः ।
ऊचे बोधस्ततः प्राप्तः प्राप्स्यसीत्यन्यथा वदेत् ॥ २६ ॥
भयहेतुरविद्यैव सा च दुःस्थितसिद्धिका ।
ततो विद्योदयादस्या ध्वस्तिरात्यन्तिकी भवेत् ॥ २७ ॥
बोधमार्ग इह प्रोक्त ऐकात्म्यप्राप्तिसिद्धये ।
न त्वर्चिरादिवत्तस्य प्राप्तये गतिकल्पना ॥ २८ ॥

'गन्तव्य०' इत्यादि । इस प्रकारसे गन्तव्यका उपदेश देकर श्रीजनकजीसे मुनिजीने कहा कि अभयकी प्राप्ति हो गई है यानी आप अभय हो गए । आत्मतत्त्वका बोध हो गया । आत्मतत्त्वबोध होगा, यह अर्थ नहीं है । यदि बोधको भावी मानो, तो अभय हो गये, यह मुनिवाक्य असङ्गत हो जायगा । भावी बोधके तात्पर्यसे बोध होगा यही कहना चाहिए । केवल वाक्य ही असंगत नहीं होगा, मुनिजी भी अन्यथावादी हो जायँगे । प्रमादिसे ही अन्यथावदन होता है । मुनि तत्त्वज्ञानी थे, उनमें प्रमादिकी सम्भावना नहीं है । फिर अन्यथा क्यों कहेंगे, अतः उक्त वाक्यका उक्त अर्थ ही उचित है । इससे यह स्पष्ट होता है कि गन्तव्यविषयक प्रश्न है, गतिविषयक नहीं है ॥ २६ ॥

'भयहेतुर०' इत्यादि । भयकी हेतु अविद्या ही है । रज्जुसर्पसे जो भय होता है, उसका कारण अविद्या ही है । एवं स्वप्नदृष्ट व्याघ्र आदिसे भी भय होता है । तबतक भय बना रहता है, जबतक अधिष्ठानका तत्त्वज्ञान नहीं होता । श्रीयाज्ञवल्क्यजीके उपदेशसे राजाको आत्माका यथार्थ ज्ञान हुआ, उससे अविद्या नष्ट हो गई । अतएव वे अभयको प्राप्त हुए । अविद्याध्वंस दो प्रकारका होता है— एक अनात्यन्तिक और दूसरा आत्यन्तिक । अन्तिम ध्वंस अभयप्राप्तिका करण है । तूलाविद्याध्वंस अनात्यन्तिक है और मूलाविद्याध्वंस आत्यन्तिक है । वार्तिकके मूलमें 'दुःस्थितसिद्धिका' यह पाठ है, पर आदर्श-प्रतिमें 'दुःस्थितिसिद्धिका' यह पाठ प्रमादसे मुद्रित हुआ है । 'दुःस्थिता सिद्धिर्यस्याः सा दुस्थितसिद्धिका' यानी अविद्या सदसत्से अनिर्वचनीय है । इस अनिर्वचनीय अविद्याका आत्यन्तिक विनाश विद्यासे होता है ॥ २७ ॥

विश्व, तैजस आदिके कथनके फलका उपसंहार करते हैं—**'बोधमार्ग'** इत्यादिसे ।

ज्ञानेन सदृशीमन्यामपश्यन् गुरुदक्षिणाम् ।
अभयं त्वेति वचसा दक्षिणामाशिषं ददौ ॥ २९ ॥
वेत्ति ब्रह्म मुनिः शब्दान्न तु साक्षाच्चकार तत् ।
साक्षात्कृतय एषाऽऽशीरित्येवं केचिदूचिरे ॥ ३० ॥

ऐकात्म्यज्ञानकी उत्पत्तिके लिए इस मार्गका उपन्यास किया गया है। जैसे उपास्य तत्-तत् देवताकी प्राप्तिके लिए अर्चिरादि मार्गका उपदेश सगुणब्रह्म-विद्यामें किया गया है, वैसे ही मोक्षप्राप्तिके लिए मार्गका उपन्यास यहाँ नहीं किया गया है। तत्-तत् फल परिच्छिन्न हैं, इसलिए तत्-तत् फलोंकी प्राप्तिके लिए मार्गो-पदेश आवश्यक है। सर्वतादात्म्यप्राप्ति अपरिच्छिन्न है, अतः यहाँ गतिकी अपेक्षा ही नहीं है। किसीका मत है कि ब्रह्मज्ञानीको भी अर्चिरादिके समान गतिका उपदेश आवश्यक है, अतएव तदनुगुण नाड़ी सुनाई गई है, पर उसका मत ठीक नहीं है, क्योंकि मोक्षमें ज्ञानसे अतिरिक्त किसीकी अपेक्षा नहीं है। व्यवधायक अज्ञानकी निवृत्तिके लिए ज्ञान अपेक्षित है, अतः यह शङ्का असङ्गत है कि मार्गके समान ज्ञान भी अनपेक्षित है ॥ २८ ॥

'ज्ञानेन' इत्यादि। संसारमें ज्ञानके सदृश कोई दूसरा पदार्थ न देखकर आप भी अभयको प्राप्त हों, यही प्रार्थना गुरुदक्षिणारूपमें राजाने मुनिजीको दी, विद्याके अनुरूप ही गुरुदक्षिणा उचित है। आविद्यिक अतएव विनश्वर वस्तु आत्मविद्या-प्रदानकी दक्षिणा नहीं हो सकती, इसलिए उक्त विद्याका ही आशीर्वाद दिया है। जब सगुण ब्रह्मविद्याकी योग्य दक्षिणा नहीं है, तब निर्गुण आत्म-विद्याप्रदानकी दक्षिणाके विषयमें तो कहना ही क्या है? ॥ २९ ॥

शङ्का—अभयप्रदाता मुनिजीको तो अभय प्राप्त ही था, फिर उनको अभयदानके आशीर्वादकी क्या आवश्यकता है? अतः आशीर्वादप्रदानमें राजाका अभिप्राय क्या है?

समाधान—**'वेत्ति'** इत्यादि। मुनि केवल शब्दसे ही ब्रह्मको जानते थे, अतः तद्विषयक साक्षात्कार होनेके लिए राजाने मुनिको आशीर्वाद दिया है, यह अभिप्राय कोई कहते हैं।

शङ्का—परोक्षतत्त्वज्ञान ही मुनिमें था, अपरोक्ष नहीं, इसमें क्या प्रमाण?

समाधान—प्रमाण तो यही है कि मुनिजीने जनकका अनुशासन किया। यदि अपरोक्ष ज्ञान होता, तो गुरु, शिष्य आदि भेदकी निवृत्ति हुई होती। 'यत्र तु सर्वमात्मैवाभूद्' इत्यादि श्रुतिसे उपदेश आदि असंभव है, यह निश्चित हो चुका है॥३०॥

साक्षात्कृतब्रह्मतत्त्वो जीवन्मुक्तो मुनिः स्थितः।
आशीर्विदेहमोक्षायेत्याहुरन्ये द्वयं न तत् ॥ ३१ ॥
शाब्दविज्ञानमात्रेण वाऽऽचार्यत्वेन युज्यते।
श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठं च गुरुं यायादिति श्रुतेः ॥ ३२ ॥

'साक्षात्' इत्यादि। दूसरा परिहार भी कुछ लोगोंने किया है कि मोक्ष दो प्रकारका होता है—इसी शरीरमें ब्रह्मतत्त्वका साक्षात्कार कर जीवन्मुक्तिरूपसे स्थित रहना पहला मोक्ष है। शरीरपातके (मरणके) उत्तर ब्रह्ममें लीन होना द्वितीय मोक्ष है, यही प्रार्थनीय है। श्रीयाज्ञवल्क्य प्रथम पक्षके अनुसार मुक्त थे। श्रीजनकजीने द्वितीयपक्षोक्त मुक्तिकी प्राप्तिके लिए आशीर्वाद दिया। विदेह-मुक्ति आशीर्वादसे भी हो सकती है, यह परिहारवादीका मत है। पर यह ठीक नहीं है, क्योंकि मुनिजीने जनकके प्रति कहा कि 'अभयं वै प्राप्तोऽसि'। राजाने इसी अभयप्राप्तिका आशीर्वाद याज्ञवल्क्यको दिया कि आप भी अभयको प्राप्त हों। शरीरपातके बाद मुक्तिकी प्राप्ति और उसका परिज्ञान जनकजीको अभी तक हुआ है नहीं और याज्ञवल्क्यजीने दो प्रकारकी मुक्तिका प्रतिपादन किया ही है; अतः उक्त परिहार असंगत है। दूसरा दोष यह है कि ब्रह्मज्ञानके उपदेशके अनन्तर ही श्रीयाज्ञवल्क्यजीने कहा कि 'अभयं प्राप्तोऽसि' यानी राजन्, आप अभय ब्रह्मको प्राप्त हो गये हो। ब्रह्मत्व तो जीवमें स्वतः सिद्ध है। केवल अज्ञान-मात्र व्यवधायक है। प्रकृतमें उसकी निवृत्ति ही अभयप्राप्ति विवक्षित है, उससे अतिरिक्त ब्रह्मसाक्षात्कारसे ब्रह्मलयरूप अभयप्राप्ति विवक्षित नहीं है ॥ ३१ ॥

'शाब्द०' इत्यादि। जो यह कहा गया है कि मुनिमें परोक्ष ब्रह्मज्ञान था अर्थात् शाब्द ब्रह्मज्ञान था, अपरोक्ष ब्रह्मज्ञान था नहीं, यह कहना असंगत है, क्योंकि शाब्दज्ञानमात्रसे आचार्यत्व अभिमत नहीं है, इसमें श्रुति प्रमाण है—'श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठमाचार्यमुपेयात्'। 'श्रोत्रियश्छन्दोऽधीते' इस पाणिनिसूत्रके अनुसार अधीत या अधीयान वेद अर्थात् जिसने वेदाध्ययन किया है, या जो कर रहा है वह श्रोत्रिय कहलाता है। इस पदसे परोक्ष शाब्द ब्रह्मज्ञानका लाभ हो गया। यद्विषयक परोक्षज्ञान भी जिसको नहीं है, उस विषयमें वह आचार्य ही कैसे कहा जा सकता है।

'आचिनोति च शास्त्रार्थमाचारे स्थापयत्यपि।
स्वयमाचरते यस्माद्........................ ॥'

जीवन्मुक्तस्य पतिते देहे मुक्तिः सुनिश्चिता।
तत्राऽप्याशीरतो मा भूद्दक्षिणार्थैव सा ततः॥ ३३॥

इत्यादि आचार्यका लक्षण है। 'ब्रह्मणि निष्ठा यस्य तं ब्रह्मनिष्ठम्' यह विशेषण अपरोक्ष ब्रह्मज्ञानके लाभके लिए ही कहा गया है; अतः अपरोक्ष ब्रह्मज्ञान मुनिमें नहीं था, यह कल्पना श्रुतिविरुद्ध है। और श्रीजनकजीने यह स्पष्ट ही कहा है कि 'यो नो भगवन्नभयं वेदयसे नमस्तेऽस्तु' इसका अर्थ यह है कि जो आपने हमको तत्त्वसाक्षात्कार कराया, तदर्थ आपको नमस्कार है। 'वर्तमानसामीप्ये वर्तमानवद्वा' इस सूत्रके अनुसार वर्तमानसमीप भूतकालमें यहां 'लट्' का प्रयोग है। यदि गुरुमें उसका साक्षात्कार न होता, तो शिष्यको भी साक्षात्कार नहीं करा सकते, अतः तत्साक्षात्कारसे अनुमान होता है कि गुरुमें भी तद्विषयक साक्षात्कार था।

शङ्का—'वेदयसि ब्रह्म' इससे शाब्दज्ञान ही क्यों नहीं कहते।

समाधान—अपरोक्षज्ञान ही वस्तुमें प्रमाण माना जाता है। परोक्षज्ञान ब्रह्ममें प्रमाण नहीं है, यह 'यत्साक्षादपरोक्षाद् ब्रह्म' इस श्रुतिने स्पष्ट कहा है। 'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह' इत्यादि श्रुतिसे ब्रह्मविषयक यथार्थज्ञानकी सामग्रीका अभाव सिद्ध है॥ ३२॥

'जीवन्मुक्तस्य' इत्यादि। देहपातोत्तर ब्रह्ममें लय द्वितीय मोक्ष है, जो आशीर्वादसे प्राप्य है, यह भी कहना असंगत है।

शङ्का—क्यों?

समाधान—देहपातके अनन्तर जीवन्मुक्तकी मुक्ति सुनिश्चित ही है, अतः तदर्थ आशीर्वाद व्यर्थ ही है। जिसको आत्मैकत्वका साक्षात्कार हो गया है, उसकी मुक्तिमें क्या प्रतिबन्धक है? जिसकी निवृत्तिके लिए आशीर्वादकी अपेक्षा कहते हैं? अतः गुरुदक्षिणार्थ ही उसका कथन है। ज्ञानानुरूप दक्षिणा देनेकी इच्छा हुई, पर तदनुरूप कोई भी पदार्थ न देखकर 'अभयं त्वाम्' इत्यादि कहा।

शङ्का—मुनिको तो अभय प्राप्त ही था, फिर उक्त वाक्यकी क्या आवश्यकता है? देययोग्य कोई पदार्थ जब नहीं है, तब चुप रहना ही ठीक था।

समाधान—आपने जो उपदेश दिया, उसका पूर्ण अनुभव हमको हुआ, इसका ज्ञापन करनेके लिए तादृश उक्ति है, यह सिद्धान्त ठीक है॥ ३३॥

उत्तमा दक्षिणैषाऽऽशीर्मध्यमा तु नमस्क्रिया ।
स्वभूमिवपुषोर्दानं वित्तशाठ्यनिवृत्तये ॥ ३४ ॥
दक्षिणा त्रिविधाऽप्येषा व्यावहारिकदृष्टितः ।
वस्तुदृष्ट्या तु नैवाऽस्ति दक्षिणा न प्रतिग्रहः ॥ ३५ ॥
अहं ममेत्यविद्याधीः सहेतुर्नाशिता यदा ।
पूर्णात्मनि तदा दृष्टे कः कस्मै किं च दित्सति ॥ ३६ ॥

इति वार्त्तिकसारे चतुर्थाध्याये द्वितीयं ब्राह्मणं समाप्तम् ॥ २ ॥

'उत्तमा' इत्यादि । उत्तम दक्षिणा आशीर्वाद है, मध्यमा दक्षिणा नमस्कार है। विदेहराज्य और स्वशरीरका दान वित्तशाठ्य यानी कार्पण्यकी निवृत्तिके लिए है। वस्तुतः इसका अभिप्राय यह है कि आपके आत्मैकत्वके उपदेशसे यह निश्चित हुआ है कि आप हम हैं और हम आप हैं, अतः हमारा राज्य भी आपका ही है। हम और आपमें जब भेद नहीं रहा, तब यह राज्य किसका कहें ? यदि हमारा है, तो आपका ही है ॥ ३४ ॥

'दक्षिणा' इत्यादि ।

शङ्का—यदि राजाका उक्त अभिप्राय है, तो यही कहना पड़ेगा कि राजाको तत्त्वज्ञान हुआ ही नहीं। आत्मैकत्वविज्ञान होनेपर राज्यज्ञान और उसमें ममता यदि अभी बनी है, तो तत्त्वज्ञान कहां ? एवं देय, दान, सम्प्रदान आदि भेदज्ञानके बिना तादृश उक्तिकी संभावना नहीं है।

समाधान—हां, ठीक है। यह सब निरूपण व्यावहारिक दृष्टिसे किया गया है। तत्त्वदृष्टिसे न दक्षिणा ही है, न प्रतिग्रह है और न प्रतिग्राह्य ही है ॥ ३५ ॥

'अहं ममे०' इत्यादि । 'अहं मम' (मैं हूँ, यह मेरा है) इत्यादि ज्ञान अविद्यासे होता है। उसकी हेतु अविद्या तत्त्वज्ञानसे जब नष्ट हो गई, तब जीवन्मुक्त पूर्णात्मामें अवस्थित हो जाता है; अतः कौन किसको क्या देनेकी इच्छा करेगा ? उक्त ज्ञानसे क्रिया, फल और उसके साधन आदि द्वैतज्ञानका उपमर्दन हो जाता है, अतः सब कथन विद्या-स्तुति और आचार-प्रदर्शनके लिए कहा गया है ॥ ३६ ॥

द्वितीय ब्राह्मण समाप्त

तृतीयं ब्राह्मणम्

तृतीयब्राह्मणे स्वप्नसुषुप्त्योरतिविस्तृतिः ।
क्रियते तौ हि दृष्टान्तौ परलोकविमोक्षयोः ॥ १ ॥

तृतीय ब्राह्मण

'तृतीय०' इत्यादिसे ।

शङ्का—श्रीयाज्ञवल्क्यजीने जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्तिरूप तीन अवस्थाओंके उपन्यास द्वारा राजा जनकको अभय प्राप्त कराया । अब क्या वक्तव्य अवशिष्ट है, जिसके लिए उत्तर ग्रन्थकी आवश्यकता है ?

समाधान—कूर्चब्राह्मणमें स्वप्न, सुषुप्तिका कथन अतिसंक्षेपमें किया है । जनक विशिष्टबुद्धि थे, अतः उनको संक्षेपसे भी बोध हो गया । सर्वसाधारणको तावन्मात्रसे ज्ञान नहीं हो सकता, अतः सर्वसाधारणको ज्ञानप्राप्ति हो, इसलिए तृतीय ब्राह्मणमें उक्त अवस्थाओंका विस्तारसे वर्णन किया जायगा । स्वप्न तथा सुषुप्ति स्वर्ग और मोक्षमें दृष्टान्त हैं । भाव यह है कि 'अहं गौरः कृशः' इत्यादिसे शरीर आत्मा है, यों लौकिक पुरुष जानते हैं । मीमांसक और नैयायिक शरीरातिरिक्त कर्ता, भोक्ता आत्मा है, ऐसा मानते हैं, अन्यथा कृतहान और अकृताभ्यागमकी प्रसक्ति हो जायगी । विचित्रसर्गके अनुभवसे अदृष्ट मानना आवश्यक है । किन्तु इतना ज्ञान होनेपर भी मोक्ष नहीं हो सकता, मोक्ष अद्वैतात्मरूप है, यह अद्वैतवेदान्तसिद्धान्त है । कर्तृत्व आदि धर्म यदि वास्तविक आत्मामें है, तो उक्त मोक्ष असंभव ही है, क्योंकि वास्तविक धर्मकी निवृत्ति नहीं हो सकती । कर्तृत्व आदिसे शून्य आत्माकी प्रतीति नहीं हो सकती इत्यादि शङ्काओंकी निवृत्तिके लिए उक्त दो अवस्थाओंका प्रतिपादन आवश्यक है । जागरावस्थामें जो विषयका प्रकाश होता है, उसका कारण क्या है ? इन्द्रिय, मन या आत्मा । उस अवस्थामें तीनोंकी स्थिति है । परन्तु स्वप्नावस्थामें इन्द्रियोंका लय हो जाता है, अतः विषयप्रकाश मनसे ही होता है, यह भी कह सकते हैं । परन्तु सुषुप्ति-अवस्थामें मनका भी लय हो जाता है, अतः उस समय जो प्रकाश होता है, वह आत्मनिबन्धन ही है, यह परिशेषसे निश्चित होता है, अतः स्वप्नावस्थामें शरीरसे अतिरिक्त इन्द्रिय आदिसे जैसे विषयप्रकाश होता है, वैसे ही स्वर्ग आदि सुख तत्-तत् इन्द्रिय आदि सहित स्वर्गीय शरीरान्तरसे भी होता है, अतः स्वप्न स्वर्गमें दृष्टान्त है । सुषुप्ति मोक्षमें दृष्टान्त है,

देहादिव्यतिरिक्तत्वं स्वप्रभत्वमसङ्गता ।
स्वप्नप्रसङ्गतस्त्वेतत्त्रयमत्र प्रपञ्च्यते ॥ २ ॥

सुषुप्तिमें आत्मव्यतिरिक्त किसीका भान नहीं होता, सुखस्वरूप आत्माका स्फुरण अवश्य होता है, अन्यथा 'सुप्तोत्थित पुरुषको सुखपूर्वक सोया, कुछ भी नहीं जाना' यह स्मरण नहीं हो सकेगा। स्मरणमें संस्कार और संस्कारमें अनुभव कारण माना जाता है। सुषुप्तिका अनुभव निर्विकल्पक है, अतएव कर्तृत्व आदि धर्मका भान नहीं माना जाता है। यह आक्षेप असङ्गत है कि सुषुप्तिमें सुखका भान नहीं होता। यदि उसमें सुखका भान होता तो तदर्थ पर्यङ्कोपधानादि-संपादन-प्रयास ही व्यर्थ हो जायगा और सुखपूर्वक सोया, यह स्मरण भी अनुपपन्न हो जायगा, अथवा शरीरेन्द्रियादिसे व्यतिरिक्त आत्मा स्वयंप्रकाश है, इसका परिचय दो अवस्थाओंके उपन्याससे होता है, उससे अतिरिक्त आत्मा स्वर्गमोक्षका अधिकारी है, यह स्पष्ट होता है, अतः दो अवस्थाएँ स्वर्ग-मोक्षमें दृष्टान्त हैं, यह ठीक ही कहा गया है। सूक्ष्म अर्थको बुद्ध्यारूढ़ करनेमें दृष्टान्त साधन होता है ॥ १ ॥

'देहादि०' इत्यादि। देह, इन्द्रिय आदिमें व्यतिरिक्तत्व, स्वयंप्रकाशत्व, असंगत्व—इन तीनोंका इस ब्राह्मणमें स्वप्नप्रसङ्गसे विशेषरूपसे निरूपण किया जायगा, स्वप्नावस्थामें देहसे अतिरिक्त आत्मा है, यह समझाया जायगा और सुषुप्तिमें आत्मा स्वयंप्रकाश है, क्योंकि उस अवस्थामें इन्द्रिय और बुद्धि नहीं हैं, तो भी प्रकाश होता है, अतः आत्मा स्वयंप्रकाश समझा जाता है। 'असङ्गो ह्ययं पुरुषः' इस श्रुतिके अनुसार सांसारिक सकल धर्मोंसे असंबद्ध आत्मा है, यह अनायाससे मनमें आ जाता है। शारीरिक या मानसिक कोई भी असह्य दुःख जो जाग्रदवस्थामें प्राणीको व्याकुल करता है, वह दुःखादि शरीरमें रहता ही है, लेकिन सुषुप्तिमें अणुमात्र भी उसका भान नहीं होता। यदि वह आत्मगत होता, तो उस कालमें भी उसका भान अवश्य होता, पर होता नहीं है, इसलिए वे आत्मगत नहीं हैं, यह स्पष्ट है।

शङ्का—यदि आत्मामें नहीं है, तो जागरावस्थामें दुःखादि आत्मगत क्यों प्रतीत होते हैं?

समाधान—उस अवस्थामें शरीरमें ममकार एवं अहंकारका अध्यास है, मैं हूँ या मेरा शरीर है, इस प्रकारके आध्यासिक सम्बन्धसे शरीरस्थित कृशत्व आदि धर्मोंके

अद्वैतत्वं दृष्ट्यलोप आनन्दैकस्वभावता ।
इदं त्रयं सुषुप्तस्य प्रसङ्गेनोपपाद्यते ॥ ३ ॥

श्रुतिः—जनकं ह वैदेहं याज्ञवल्क्यो जगाम स मेने न वदिष्य इति, अथ ह यज्जनकश्च वैदेहो याज्ञवल्क्यश्चाग्निहोत्रे समूदाते तस्मै ह याज्ञवल्क्यो वरं ददौ सह कामप्रश्नमेव वव्रे तꣳ हास्मै ददौ तꣳ ह सम्राडेव पूर्वं पप्रच्छ ॥ १ ॥

समान दुःखादि भी आत्मामें आरोपित प्रतीत होते हैं । सुषुप्ति-दशामें 'अहं मम' इत्यादि अध्यास आत्मामें नहीं रहता, अतः शरीरादिगत दुःखादि आत्मामें भासित नहीं होते, इससे यह निश्चितरूपसे स्पष्ट होता है कि आत्मा वस्तुतः असङ्ग है ॥२॥

'अद्वैत०' इत्यादि । सुषुप्तके प्रसङ्गसे अद्वैतत्व, दृष्टिका आलोप और आनन्दैक-स्वभावताका आत्मामें प्रतिपादन करेंगे । यह तो निर्विवाद है कि सुषुप्तिदशामें आनन्दका अनुभव होता है और आत्मामें शरीरेन्द्रियादिका सम्बन्ध नहीं है, वह आनन्द बाह्य विषयका नहीं हो सकता, बाह्यानन्द शरीरेन्द्रियादि द्वारा ही आत्मामें प्रतीत होते हैं, अन्यथा नहीं, अतः प्रतीयमान आनन्द आत्मस्वरूप ही है, 'न किञ्चिदवेदिषम्' से द्वैताभावकी प्रतीति होती है, उक्ताभाव आत्मस्वरूप ही है, अतएव निर्विकल्पकबुद्धिवेद्य होता है, अन्यथा अभावज्ञान प्रतियोग्यधिकरणज्ञान-निबन्धन होनेसे सविकल्पकप्रसक्ति हो जायगी, आगे इनका विस्तारसे निरूपण किया जायगा ॥ ३ ॥

'जनकं ह वैदेहं याज्ञवल्क्यो जगाम' इत्यादि श्रुति । पूर्वोत्तर ब्राह्मणकी संगतिके प्रदर्शनके लिए पूर्व-कथितका अनुवाद करते हैं । विज्ञानमय आत्मा साक्षादपरोक्ष, ब्रह्म-स्वरूप, सर्वान्तर और पर ही है । 'नान्योऽतोस्ति द्रष्टा' इत्यादि श्रुतियोंसे आत्मैकत्वका निर्णय हो चुका है । 'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्' इत्यादि श्रुतियोंसे नाम, रूपादिसे युक्त कार्यका उत्पादन कर जलगत सूर्यप्रतिबिम्बके समान स्वयं इसमें प्रविष्ट हुआ और स्वाविद्या-से परिच्छिन्न हुआ । वदनादिलिङ्गोपन्यासससे तर्क द्वारा मधुकाण्डमें अधिगत हुआ, पुनः उषस्तके प्रश्नसे 'यः प्राणेन प्राणिति', 'दृष्टेर्द्रष्टा' इत्यादिसे नित्यदृष्टिस्वभाव है, यह भी निश्चित हुआ । उसमें अविद्योपाधिसम्बन्धसे संसार है, जैसे रज्जुमें सर्प, ऊषरमें सलिल, गगनमें मलिनत्व आदि ये परोपाधिनिमित्तक ही हैं, स्वतः नहीं, इसमें किसीका विवाद नहीं है, वैसे ही निरुपाधि और निरुपाख्य अतएव 'नेति

नेति' से व्यपदिष्ट साक्षादपरोक्ष सर्वान्तर आत्मा (ब्रह्म) अक्षर, अन्तर्यामी, प्रशास्ता, औपनिषद पुरुष विज्ञानानन्दस्वरूप है, यह ज्ञात हुआ। वही फिर इन्धसंज्ञक प्रविविक्ताहार, फिर हृदयके भीतर लिङ्गात्मा प्रविविक्ताहारतर, तदनन्तर जगदात्मा प्राणोपाधि, फिर प्राणोपाधिभूत जगदात्माका परमात्मामें प्रविलापन कर रज्जुमें सर्पका जैसे प्रविलापन होता है, [भ्रमदशामें सर्पकी प्रतीति है, किन्तु रज्जुज्ञानकी वेलामें प्रतीत सर्पका रज्जुमें प्रविलय होता है] वैसे ही उक्त आत्माका प्रविलय कर विद्यासे—'स एष नेति नेति'से—सर्वान्तर ब्रह्म ज्ञात हुआ। इस प्रकार जनक अभयको प्राप्त किये गये। श्रीयाज्ञवल्क्यजीने संक्षेपसे आगम द्वारा उन्हें समझाया। यहांपर जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीय अवस्थाओंका भी प्रसंगसे उपन्यास हुआ है। सब प्राण प्रविविक्ताहारतर हैं। इस समय जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्तिके द्वारा महान् तर्कसे विस्तारपूर्वक आत्माका ज्ञान कराना है और अभय प्राप्त कराना है। विप्रतिपत्तिजनित शङ्काके निराकरणके द्वारा आत्मसद्भावका भी प्रतिपादन करना है। व्यतिरिक्तत्व, शुद्धत्व, स्वयंज्योतिष्ट्व, अलुप्तशक्तिस्वरूपत्व, निरतिशयानन्दस्वभावत्व अद्वैतत्व अधिगन्तव्य है, इसलिए इस प्रकरणका आरम्भ करते हैं। आख्यायिका विद्यासम्प्रदानविधिके प्रकाशनके लिए तथा विद्यास्तुतिके लिए है, क्योंकि वरदानकी भी सूचना इसमें है। श्रीयाज्ञवल्क्यजी जनकके पास गये। जाते समय उन्होंने सोचा कि राजासे कुछ न कहूँगा। वे केवल योगक्षेमार्थ ही गये थे, किसी विशेषप्रयोजनसे नहीं। यद्यपि पूर्वमें याज्ञवल्क्यजीका यह संकल्प था कि मैं स्वयं बात न करूँगा, फिर भी जनकजीने जो पूछा, उसका उन्होंने उत्तर दिया।

शङ्का—यदि न बोलनेका सङ्कल्प था, तो फिर क्यों बोले?

समाधान—बोलनेका कारण आख्यायिका द्वारा स्पष्ट करते हैं। अग्निहोत्रके विषयमें पहले ही जनक और श्रीयाज्ञवल्क्यका संवाद हुआ था। अग्निहोत्रविषयक विशेष विज्ञान जनकमें देखकर श्रीयाज्ञवल्क्य बहुत सन्तुष्ट हुए और जनकजीको उन्होंने वरदान दिया। जनकजीने कहा—मैं यही वरदान चाहता हूँ कि जो मैं पूछूँ, उसका कृपया आप उत्तर दीजिये। श्रीयाज्ञवल्क्यजीने उनको वही वरदान दिया। यद्यपि श्रीयाज्ञवल्क्यजीकी व्याख्यान करनेकी इच्छा न थी, अतएव चुप होकर बैठे थे, तथापि पूर्वदत्त वरदानके अनुसार सम्राट् जनकजीने श्रीयाज्ञवल्क्यजीसे पहले पूछा।

श्रुतिः—याज्ञवल्क्य किञ्ज्योतिरेवायं पुरुष इत्यादित्यज्योतिः सम्राडिति होवाचादित्येनैवायं ज्योतिषाऽऽस्ते पल्ययते कर्म कुरुते विपल्येतीत्येवमेवैतद्याज्ञवल्क्य ॥ २ ॥

शङ्का—यदि अग्निहोत्र-प्रकरणमें कामवरदान दिया था, तो वहींपर प्रश्नोत्तर क्यों नहीं किया गया ?

समाधान—ब्रह्मविद्या कर्मसे विरुद्ध है, उक्त विद्या स्वतन्त्र है, अतः इस विषयमें स्वतन्त्र ही प्रश्नोत्तर होना चाहिए, ऐसा सूचन करनेके लिए पहले इस विषयमें प्रश्नोत्तर नहीं किया गया। स्वतन्त्र यानी सहकारिसाधनान्तरनिरपेक्ष ब्रह्मविद्या पुरुषार्थकी साधन है ॥ १ ॥

'याज्ञवल्क्य' इत्यादि श्रुति। श्रीयाज्ञवल्क्यजीका सम्बोधन कर जनकजीने पूछा कि यह पुरुष 'किंज्योति' है अर्थात् किस ज्योतिसे पुरुषका अर्थ-प्रकाश होता है। यहाँ पुरुषशब्द कार्यकरणसङ्घातस्वरूप हस्तपादादिविशिष्टपरक है। प्रश्नका अभिप्राय यह है कि स्वावयवसङ्घातसे बाह्य किसी दूसरी ज्योतिसे पुरुष अपना व्यवहार करता है अथवा शरीरान्तर्वर्ती ज्योतिसे अपना व्यवहार करता है।

शङ्का—बाह्य व्यतिरिक्त प्रकाशसे अपना व्यवहार करता है अथवा अव्यतिरिक्त प्रकाशसे करता है, यह प्रश्न निष्प्रयोजन है; क्योंकि उससे क्या अभीष्ट सिद्ध होगा ?

समाधान—उसमें जो कारण है, उसे सुनिये, यदि अतिरिक्त ज्योतिसे पुरुष अपना कार्य करता है, ऐसा पुरुषका स्वभाव माना जायगा, तो जहाँ दूसरी ज्योति नहीं देखते और पुरुष व्यवहार करता है, वहाँ व्यवहाररूप कार्यलिङ्गसे उसकी कारण अन्य ज्योति निमित्त है, यह अनुमान होगा। यदि अव्यतिरिक्त ज्योतिसे पुरुष अपना कार्य करता है, यह स्वभाव माना जायगा, तो जहाँ दूसरी ज्योति दृष्ट नहीं है और पुरुष अपना कार्य करता है, वहाँ यह अनुमान करेंगे कि अव्यतिरिक्त ज्योति ही कार्य करती है। यदि अनियम है, तो कहीं व्यतिरिक्त ज्योतिसे स्वकार्य करता है और कहीं अव्यतिरिक्त ज्योतिसे, यों अनिश्चय ही इस विषयमें रहेगा, यह मानकर जनकजी श्रीयाज्ञवल्क्यसे पूछते हैं कि 'किंज्योतिरयं पुरुषः' इति।

शङ्का—यदि इस प्रकारका अनुमानकौशल जनकजीमें था, तो प्रश्न व्यर्थ है, स्वयं जनक राजाने ही अनुमान द्वारा क्यों नहीं समझ लिया।

समाधान—ठीक है, साध्यसाधनसम्बन्धरूप व्याप्ति अतिसूक्ष्म है, अनेक

विद्वान् मिलकर भी उसे नहीं समझ सकते, फिर एक विद्वान्‌के जाननेकी क्या संभावना है ? अतएव सूक्ष्म धर्मके निर्णयके लिए विद्वत्समुदायको बोलना चाहिए, ऐसा धर्मशास्त्रोंमें विधान है। उसमें विद्वानोंकी संख्या दससे कम नहीं होनी चाहिए। यदि विशिष्ट विद्वान् दस या आठ न मिलें, तो तीन अथवा विशिष्ट एक भी विद्वान् निर्णय कर सकता है।

धर्मेणाऽधिगतो यैस्तु वेदः सपरिबृंहणः।
ते शिष्टा ब्राह्मणा ज्ञेयाः श्रुतिप्रत्यक्षहेतवः॥
दशावरा वा परिषद् यं धर्मं परिचक्षते।
त्र्यवरा वाऽपि वृत्तस्थास्तं धर्मं न विचालयेत्।
त्रैविद्यो हैतुकस्तर्की नैरुक्तो धर्मपाठकः।
त्रयश्चाऽऽश्रमिणः पूर्वे पर्षदेषा दशावरा

तीन विद्वानोंकी परिषत् वह है, जिसमें—

ऋग्वेदविद् यजुर्विच्च सामवेदविदेव च
त्र्यवरा परिषद् ज्ञेया धर्मसंशयनिर्णये॥

इस श्लोकके अनुसार त्रिवेदविद् तीन विद्वान् हों। 'एको वा' यह कल्प अध्यात्मविषयमें है, जैसे प्रकृतमें श्रीयाज्ञवल्क्यजी थे। अतः यद्यपि अनुमानकौशल जनकमें था, तथापि उक्त वचनके अनुसार श्रीयाज्ञवल्क्यसे उन्हें अवश्य पूछना चाहिए। पुरुषोंमें विज्ञानकौशलका तारतम्य (उत्कर्षापकर्ष) अवश्य रहता है यानी सबमें समान कौशल नहीं रहता। अथवा पुरुषमतिका अनुसरण कर रही श्रुति स्वयं अनुमानका उपन्यास कर हम लोगोंको आख्यायिकाके व्याजसे तत्त्वको समझाती है। दुर्ज्ञेय भी अर्थ आख्यायिका द्वारा शीघ्र बुद्धिमें आरूढ हो जाता है। जनकके अभिप्रायको समझकर श्रीयाज्ञवल्क्यजी व्यतिरिक्त आत्मज्योतिका बोध करावेंगे, इस अभिप्रायसे व्यतिरिक्त पक्षका ही प्रतिपादन किया गया है। हे सम्राट्, प्रसिद्ध आदित्य-ज्योति पुरुष है, यों श्रीयाज्ञवल्क्यजीने उत्तर दिया।

शङ्का—कैसे ?

समाधान—स्वावयवसंघातव्यतिरिक्त चक्षुकी अनुग्राहक आदित्य-ज्योतिसे प्राकृत पुरुष स्वकार्यको (उपवेशनादिको) करता है। उसी ज्योतिसे पुरुष खेत या अरण्यमें जाता है, वहां जाकर तदुचित स्वकार्योंको करता है, फिर घर लौट आता है।

श्रुतिः—अस्तमित आदित्ये याज्ञवल्क्य किंज्योतिरेवायं पुरुष इति चन्द्रमा एवास्य ज्योतिर्भवतीति चन्द्रमसैवायं ज्योतिषाऽऽस्ते पल्ययते कर्म कुरुते विपल्येतीत्येवमेवैतद्याज्ञवल्क्य ॥ ३ ॥

अस्तमित आदित्ये याज्ञवल्क्य चन्द्रमस्यस्तमिते किंज्योतिरेवायं पुरुष इत्यग्निरेवास्य ज्योतिर्भवतीत्यग्निनैवायं ज्योतिषाऽऽस्ते पल्ययते कर्म कुरुते विपल्येतीत्येवमेवैतद्याज्ञवल्क्य ॥ ४ ॥

अस्तमित आदित्ये याज्ञवल्क्य चन्द्रमस्यस्तमिते शान्तेऽग्नौ किंज्योतिरेवायं पुरुष इति वागेवास्य ज्योतिर्भवतीति वाचैवायं ज्योतिषाऽऽस्ते पल्ययते कर्म कुरुते विपल्येतीति तस्माद्वै सम्राडपि यत्र स्वः पाणिर्न विनिर्ज्ञायतेऽथ यत्र वागुच्चरत्युपैव तत्र न्येतीत्येवमेवैतद्याज्ञवल्क्य ॥ ५ ॥

शङ्का—आसनादिमें से किसी एक के ही कहनेसे व्याप्ति सिद्ध हो जाती है, फिर अनेक दाहरण क्यों हैं ?

समाधान—अत्यन्त व्यतिरिक्त ज्योतिष्ट्वकी प्रसिद्धिके लिए अनेक उदाहरण हैं। देह, इन्द्रिय और मनके व्यापाररूप कार्यलिङ्गके अनुमापक हैं, उसमें व्यतिरिक्त ज्योति अव्यभिचरित साधन है। अनेक दृष्टान्तोंसे व्याप्ति दृढ़ होती है, अतः पर्यायोपन्यास किया गया है ॥ २ ॥

'अस्तमित' इत्यादि श्रुति। राजा फिर पूछते हैं कि जब आदित्य अस्त हो जाते हैं, तब पुरुष किंज्योति होता है। रात्रिमें भी पुरुष अपना व्यवहार करता ही है, पर उस समय आदित्य है नहीं। ज्योतिके बिना कार्य हो नहीं सकता, अतः उस कालमें कौन ज्योति है ? याज्ञवल्क्यजीने उत्तर दिया कि चन्द्रमा ज्योति है। पुनः जनकजीने प्रश्न किया कि सूर्य तथा चन्द्रमाके अस्त होनेपर भी पुरुष अपना कार्य करता है, उस समय पुरुषकी कौन ज्योति है। श्रीयाज्ञवल्क्यजीने उत्तर दिया कि उस समय अग्नि ज्योति है। प्रदीपके प्रकाशसे लोक-व्यवहार होता है।

शङ्का—सूर्य और चन्द्रमाके अस्त हो जानेपर और अग्निके भी शान्त हो जानेपर पुरुष किंज्योति है ?

समाधान—वाग् ज्योति है। जैसे मेघमण्डलयुक्त वर्षाकालिक नैशान्धकारयुक्त निशीथमें भ्रान्त कोई पुरुष मार्ग पूछता है—किस मार्गसे अमुक ग्राममें आ सकते हैं; तो उत्तर मिलता है कि इधरसे आओ। वाणी सुनकर उसको यह अनुमान

अस्तमित आदित्ये याज्ञवल्क्य चन्द्रमस्यस्तमिते शान्तेऽग्नौ शान्तायां वाचि किंज्योतिरेवायं पुरुष इत्यात्मैवास्य ज्योतिर्भवतीत्यात्मनैवायं ज्योतिषाऽऽस्ते पल्ययते कर्म कुरुते विपल्येतीति ॥ ६ ॥

होता है कि अमुक दिशासे, इतनी दूरीसे, यह शब्द आया है, अतः इधर ही चलना चाहिए। तदभिमुख गतिसे उस स्थानपर पहुँच जाता है। अतीत और अनागत सूक्ष्म आदिकी प्रकाशक तो वाग्-ज्योति प्रसिद्ध ही है। वाग्से वागिन्द्रिय विवक्षित नहीं है, किन्तु उसका विषय शब्द विवक्षित है। शब्दसे श्रोत्रेन्द्रिय दीप्त होती है। उक्त इन्द्रियके दीप्त होनेपर मनमें विवेक उत्पन्न होता है। उस मनसे बाह्य चेष्टाका—स्वानुकूल गत्यादिका—ज्ञान होता है। मनसे देखता है, मनसे सुनता है, मनके समवधानके बिना तत्-तत् इन्द्रियोंसे तत्-तत् विषयका ज्ञान नहीं होता, यह अनुभवसिद्ध ही है।

शङ्का—वाग्में ज्योतिष्ट्व तो लोकमें प्रसिद्ध नहीं है।

समाधान—'वाचैवायं ज्योतिषा आस्ते' इत्यादि श्रुतिमें तो प्रसिद्ध ही है। विशेष आगे कहेंगे। वाणीसे कर्म करता है, वाग्ग्रहण गन्धादिका उपलक्षण है। गन्धादिसे घ्राणादिका अनुग्रह होता है और तदनुकूल प्रवृत्ति आदि भी होती है; अतः इनसे भी कार्यकरणसङ्घातका अनुग्रह होता है। जनकजीने कहा—हां, ऐसा ही है याज्ञवल्क्य।

शङ्का—हे श्रीयाज्ञवल्क्य, आदित्य और चन्द्रमाके अस्त हो जानेपर तथा अग्नि और वाक्के शान्त हो जानेपर पुरुष किंज्योति होता है।

समाधान—'आत्मज्योतिः' इत्यादि। भाव यह है कि वाग् और तदुपलक्षित गन्ध आदि अनुग्राहक विषयोंके शान्त हो जानेपर पुरुषकी प्रवृत्ति-निवृत्ति आदिका निरोध प्राप्त हो जाता है, यह स्पष्ट है। जाग्रद्विषयोंमें इन्द्रियकी बहिर्मुख प्रवृत्ति होती है, जिस समय आदित्य आदि ज्योतिसे चक्षुरादि अनुगृहीत होते हैं, उस समय पुरुषका व्यवहार स्फुट-तर होता है। इस प्रकार जागरित अवस्थामें स्वावयवसंघातसे व्यतिरिक्त ज्योतिसे ही पुरुषके ज्योतिसे होनेवाले कार्योंकी सिद्धि होती है, अतः हम लोग यह मानते हैं कि सब बाह्य ज्योतियोंके अस्त-समयमें स्वप्न, सुषुप्त और जागरित कालमें उस अवस्थामें स्वावयवसङ्घातव्यतिरिक्त ज्योतिसे ही पुरुषके ज्योतिहेतुक कार्य होते हैं। स्वप्नमें ज्योति-कार्य देखते हैं—बन्धुका संग, वियोग और देशान्तरगमन आदि। सुषुप्तिसे

उत्थान होनेपर सुखपूर्वक सोया, कुछ नहीं जाना; यह स्मरण होता है। अतः व्यतिरिक्त कोई ज्योति है, यह मालूम होता है।

शङ्का—वाक्के शान्त होनेपर कौन ज्योति है ?

समाधान—आत्मा ही ज्योति है। कार्यकरणसङ्घातसे व्यतिरिक्त आत्मा यहाँ आत्मशब्दसे विवक्षित है। उक्त ज्योति कार्य-करणकी भासक आदित्य आदि बाह्य ज्योतिके समान अन्यसे प्रकाशमान नहीं है, यह ज्योति परिशेषसे हृदयके भीतर है और कार्यकरणव्यतिरिक्त है, यह तो निर्विवादरूपसे सिद्ध है, जो कार्यकरणसङ्घातकी अनुग्राहक ज्योति है, वह बाह्य चक्षुरादि करणोंसे उपलभ्यमान देखी गई है, जैसे आदित्यादि। परन्तु आदित्य आदि ज्योतिके अस्त होनेपर प्रकृत ज्योति चक्षु आदिसे उपलब्ध नहीं होती, केवल उसका कार्य ही उपलब्ध होता है; अतः आत्मा ही ज्योति है। उसीसे पुरुष कार्य करता है; अतः यह निश्चित है कि अन्तःस्थ ज्योति है। किञ्च, यह ज्योति आदित्य आदिसे विलक्षण है। आदित्य आदि भौतिक हैं और यह अभौतिक है। अभौतिकत्व ही चक्षुरादिग्राह्य-त्वाभावमें हेतु है।

शङ्का—समानजातीयसे ही उपकार देखा गया है, अतः आदित्य आदिसे विलक्षण आन्तर ज्योति सिद्ध होती है, यह कथन असङ्गत है।

समाधान—उपक्रियमाणके सजातीय आदित्य आदि भौतिक ज्योतिसे भौतिक कार्यकरणसंघातका उपकार देखा गया है। जैसा देखा गया है, वैसा ही अनुमान होता है। यदि कार्यकरणसे भिन्न उपकारक आदित्य आदिके समान ज्योति है, तो भी कार्यकरणसंघातसजातीयका ही अनुमान करना चाहिए, क्योंकि वही कार्यकरण-संघातका आदित्यादिवत् उपकारक हो सकता है। जो यह कहा था कि उक्त-ज्योति अन्तःस्थ और अप्रत्यक्ष है, अतः आदित्यादिसे विलक्षण है, सो ठीक नहीं है, क्योंकि चक्षु आदि ज्योतिमें व्यभिचार स्पष्ट है। ये भी अन्तःस्थ और अप्रत्यक्ष हैं; चक्षु आदि ज्योति भी भौतिक ही है; अतः तुम्हारा केवल मनोरथ है कि विलक्षण आत्मज्योति सिद्ध हुई। यह ज्योति कार्यकरणसंघातभाव-भावी होनेसे संघातधर्म ही हो सकती है। चैतन्यं संघातधर्मः, तद्भावभावित्वात्, रूपवत्' यह अनुमान है। उक्त संघातके रहनेपर चैतन्यकी प्रतीति होती है और न रहनेसे चैतन्य प्रतीत नहीं होता, इसलिए उसकी प्रतीति भी नहीं होती। सामान्यतो दृष्ट अनुमान व्यभिचारी होनेसे अप्रमाण है। सामान्यतो दृष्ट अनुमानके बलसे

आप आदित्य आदिके समान व्यतिरिक्त ज्योति सिद्ध करते हैं। परन्तु अनुमानसे प्रत्यक्षका बाध नहीं कर सकते, यही कार्यकरणसंघात देखता है, सुनता है, मानता है, यह प्रत्यक्ष है। यदि दूसरी ज्योति इसकी उपकारक हो, जैसे आदित्यादि, तो आत्मा आदित्यादिके समान अन्यज्योति हो सकता है। जो यह कहते हैं कि जो दर्शन आदि क्रिया करता है, वही कार्यकरणसंघात आत्मा है, दूसरा नहीं है, क्योंकि प्रत्यक्षविरोधसे अनुमान अप्रमाण माना जाता है। अच्छा, यदि यही संघात दर्शनादि क्रियाका कर्ता आत्मा है, तो कभी दर्शन आदि क्रियाका कर्ता होता है कभी नहीं, यह क्यों होता है? नहीं, यह दोष नहीं है, क्योंकि वैसा देखते हैं। दृष्टमें क्या अनुपपत्ति है? जैसा देखते हैं, वैसा ही उसको मानना चाहिए। खद्योतमें प्रकाशकत्व और अप्रकाशकत्व दोनों धर्म दृष्ट हैं, अतः उभयस्वभाव खद्योत माना जाता है। इसमें कारणान्तरकी कल्पना नहीं की जाती।

शङ्का—जो होता है, वह किसी निमित्तसे ही होता है, स्वभावतः कोई नहीं होता।

समाधान—क्यों नहीं होता, अग्निमें उष्णत्व स्वाभाविक ही है एवं उदकमें शैत्यादि। ये भी निर्निमित्त नहीं हैं, इनमें भी प्राणियोंका अदृष्ट ही निमित्त है, यदि ऐसा कहें, तो धर्माधर्ममें भी निमित्तान्तर कहना पड़ेगा। यदि कहो कि है ही, तो अनवस्थाका प्रसङ्ग हो जायगा, जो अनिष्ट है।

सिद्धान्ती स्वप्न आदिकी सिद्धिकी अनुपपत्तिसे देहादिसे अतिरिक्त आत्मा मनवानेके लिए कहते हैं कि नहीं, स्वप्न और स्मरण दृष्टका ही होता है। दर्शन आदि क्रिया देहका धर्म है, उससे व्यतिरिक्तका नहीं, यह जो स्वभाववादीका मत है, सो ठीक नहीं है, क्योंकि यदि दर्शन आदि क्रिया देहधर्म है, तो स्वप्नमें दृष्टका दर्शन नहीं होगा। अन्ध स्वप्न देखता है, तो दृष्टको ही देखता है, द्वीपान्तरगत अदृष्ट रूपका स्वप्न नहीं देखता। इससे यह सिद्ध होता है, कि स्वप्नमें पूर्वदृष्टको देखता है। पहले जब चक्षु था तब देखा था, देहने नहीं देखा था। देह यदि द्रष्टा होती, तो जिस नेत्रसे देखा था, उसके नष्ट होनेपर स्वप्नमें पूर्व दृष्टको नहीं देख सकेगा। लोकमें यह प्रसिद्धि है कि पूर्वदृष्ट ही हिमालय-शृङ्ग आज स्वप्नमें देखा है। यह स्वप्न अन्धोंको भी होता है, अतः विद्यमान नेत्रावस्थामें जो स्वप्नका द्रष्टा है, वही आत्मा है, देह नहीं है, यह निश्चय होता है। एवं दर्शन और स्मरणमें भी नियम है, जो द्रष्टा है, वही स्मर्ता

होता है, अन्य द्रष्टा और अन्य स्मर्ता कभी नहीं होता, ऐसी परिस्थितिमें जिस समय आँख बन्द कर पूर्वदृष्ट रूपका स्मरण करता है, उस समय दृष्टके समान ही देखता है, अतः जो नेत्रादि बन्द किया जाता है, वह द्रष्टा नहीं है। जो नेत्र बन्द कर रूपका स्मरण करता हुआ देखता है, वही नेत्र खुले रहनेपर द्रष्टा है, यही निश्चय होता है। मरनेपर देह अविकल है, पर दर्शनादि क्रिया नहीं देखी जाती। यदि देह ही द्रष्टा होती, तो मृतमें भी दर्शनादि क्रियाकी प्रसक्ति होती, अतः जिसके अभावसे देहमें दर्शनादि क्रिया नहीं होती, जिसके रहनेपर उक्त क्रिया होती है, वही दर्शनादि क्रियाका कर्ता है, देहादि नहीं, यह स्पष्ट है।

इन्द्रियचैतन्यवादी शङ्का करता है—देह द्रष्टा मत हो, इन्द्रियको ही द्रष्टा मानिये, यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि जिसे मैंने देखा था, उसीका इस समय मैं स्पर्श करता हूँ, ऐसी प्रत्यभिज्ञा होती है। यदि भिन्नकर्तृक दर्शन-स्पर्शन होगा, तो प्रतिसन्धान (उक्त प्रत्यभिज्ञा) नहीं हो सकेगा। मनको ही चेतन मानिए, यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि मन तो रूपादिके समान विषय है, अतः द्रष्टा नहीं हो सकता, अतः अन्तःस्थ आदित्यादिव्यतिरिक्त ज्योति सिद्ध होती है। जो यह कहा था कि कार्यकरणसंघातसजातीय ही अन्य ज्योतिका अनुमान करना चाहिए, आदित्यादिसमानजातीयोंसे ही उपकार देखा जाता है, वह असङ्गत है, क्योंकि उपकार्योपकारकमें अनियम ही देखा जाता है।

शङ्का—क्यों ?

समाधान—'पार्थिव इन्धनसे अग्निमें प्रज्वलनादि उपकार होता है। अग्नि तेज है और इन्धन पार्थिव है। दोनोंमें एक जाति कहाँ है, तेजस्त्व पृथिवीत्वादिभिन्नजातीय है, परन्तु उपकार्योपकारकभाव है, फिर भी पार्थिवसमानजातीयसे ही सर्वत्र अग्निका उपकार होता है, यह नहीं कह सकते।

शङ्का—क्यों ?

समाधान—जलसे भी वैद्युत और जाठर अग्निका उपकार देखते ही हैं, अतः उपकार्योपकारकभावमें समानासमानजातीयत्वका नियम नहीं मानना चाहिए। किसी समय मनुष्यका समानजातीय मनुष्यसे उपकार होता है, किसी समय स्थावर, पशु आदि भिन्नजातीयोंसे होता है, अतः कार्यकारणसंघातसमानजातीय आदित्य आदि ज्योतिसे उपक्रियमाणत्व यह हेतु नहीं है यानी उक्त हेतुसे तादृश ही अन्य ज्योति होनी चाहिए, यह सिद्ध नहीं होता और जो यह

एतेन संवदिष्येऽहमित्यागच्छन्मुनिर्यतः ।
अग्निहोत्रोक्तितस्तुष्टः कामप्रश्नं वरं ददौ ॥ ४ ॥

कहा कि अन्तःस्थत्व, अदृश्यत्व धर्म आदित्य आदि ज्योतिसे वैलक्षण्यके साधक नहीं हो सकते, क्योंकि चक्षुरादिमें स्पष्ट ही व्यभिचार है, इन्द्रिय भी अदृश्य और अन्तःस्थ है, पर भौतिक ही है, विलक्षण नहीं है, वह भी ठीक नहीं है, क्योंकि वैलक्षण्यके साधक हेतुमें 'इन्द्रियादिभिन्नत्वे सति' यह निवेश है। ज्योति कार्यकरणसंघातका धर्म है, यह कथन भी ठीक नहीं है, क्योंकि इसमें अनुमानविरोध स्पष्ट है। प्रथम तो आपने यह कहा कि आदित्य आदि ज्योतिके समान कार्यकरणसंघातसे ज्योति अन्य पदार्थ है, उससे यह प्रतिज्ञा विरुद्ध है कि ज्योति कार्यकरणसंघातका धर्म है। तद्भावभावित्व हेतु भी असिद्ध है, क्योंकि मृतमें संघात है, पर ज्योति नहीं है, अतः रूप आदिके समान ज्योति संघातधर्म नहीं है। सामान्यरूपसे दृष्ट अनुमान अप्रमाण है, ऐसा माननेपर पान, भोजन आदि सब व्यवहारोंका लोप हो जायगा, जो अनिष्ट है। कारण कि पान और भोजन आदिसे क्षुधा और पिपासाकी निवृत्ति देखकर बुभुक्षा लगनेपर भोजन, पिपास लगनेपर जलपानमें लोग प्रवृत्त होते हैं। पूर्वमें भोजन, पान आदिसे क्षुधा, पिपासा आदिकी निवृत्तिका अनुभव कर फिर भूख और प्यास लगनेपर सामान्यानुमानसे उनकी निवृत्तिमें समर्थ पान और भोजनमें लोग प्रवृत्त होते हैं। यदि उक्त अनुमानको अप्रमाण मानते हो, तो अनागत पान और भोजनमें तत्फलजननशक्तिके ज्ञानका अभाव होनेसे उक्त कार्यमें प्रवृत्ति ही असंगत हो जायगी। जो यह कहा था कि देह ही दर्शनादि क्रियाका कर्ता है, उसका पहले खण्डन हो चुका है, स्वप्न और स्मरणका द्रष्टा देहसे अतिरिक्त है, इस कथनसे। इसी न्यायसे अन्य ज्योतिमें अनात्मत्वका भी खण्डन हो चुका। जो यह कहा था कि खद्योतादि कदाचित् प्रकाशक और अप्रकाशक होते हैं, वह भी निर्निमित्त नहीं है, क्योंकि पक्षप्रसारण प्रकाशका निमित्त है और उसका संकोच अप्रकाशका निमित्त है। और जो यह कहा था कि धर्माधर्ममें फलदातृत्वस्वभाव अवश्य मानना चाहिए, वह भी असङ्गत है, क्योंकि ऐसा माननेपर आपके सिद्धान्तकी हानि होगी। इसीसे अनवस्था दोषका भी परिहार हो गया, अतः व्यतिरिक्त आन्तर ज्योति आत्मा है, यह सिद्ध हुआ ॥ ३-६ ॥

'एतेन' इत्यादि। 'स मेने न वदिष्ये' इसके दो अर्थ होते हैं—'स

याज्ञवल्क्यः मेने' अर्थात् उस याज्ञवल्क्यने माना कि 'न वदिष्ये' यानी नहीं बोलेंगे। यही अर्थ भाष्यकारने किया है। दूसरा अर्थ वार्तिककारने ऐसा किया है कि 'एनेन जनकेन संवदिष्ये' जनकके साथ हम संवाद करेंगे। 'सम्' का धातुके साथ सम्बन्ध विवक्षित है। द्वितीय व्याख्याके अनुसार सारकारका श्लोक है। जनकके साथ संवाद करेंगे इस अभिप्रायसे मुनिजी जनकके पास आये। आनेका मुख्य कारण वरदान था। 'अथ ह (पुरा किल) यद् (यस्माद्) जनकश्च याज्ञवल्क्यश्च अग्निहोत्रे (निमित्ते) समुदाते (संवादं कृतवन्तौ) इत्यादि श्रुति। उस समय जनकके अग्निहोत्रविषयक ज्ञानातिशयसे सन्तुष्ट होकर श्रीयाज्ञवल्क्यजीने वरदान दिया था। राजाने कामप्रश्न ही वरदान माँगा था—जो अभीष्ट होगा, उसे मैं पूछूँगा, कृपया उत्तर दीजियेगा। दत्त वरकी पूर्तिके लिए मुनिजी आये, इस अभिप्रायसे द्वितीय अर्थ किया गया है।

शङ्का—प्रथम अर्थमें मुनिजीने संकल्प किया था कि न बोलेंगे, पर जनकजीके प्रश्न करनेपर मुनिजी बोले, अतः उनके व्रतका भङ्ग हुआ।

समाधान—यद्यपि मुनिजी बोलना नहीं चाहते थे, फिर भी उन्होंने जनकके प्रश्नोंका उत्तर दिया, इसमें कारण यह है कि वरदान पाकर जनकजीने प्रश्न किया। यदि मुनिजी उत्तर न देते, तो मिथ्यावादी हो जाते, अतः सत्यसंरक्षण और व्रतभङ्ग—इन दोनोंकी प्राप्तिमें व्रतभङ्गकी उपेक्षा कर सत्यसंरक्षण करना चाहिए, इस सदाचारकी सूचनाके लिए मुनिजीने उत्तर दिया।

शङ्का—दोनों व्याख्यानोंमें कौन व्याख्यान अच्छा है ?

समाधान—द्वितीय।

शङ्का—क्यों ?

समाधान—मुनिजी चुप बैठे थे, पर श्रीजनकजीने प्रश्न किया, इससे राजाको मुनिजीसे कामप्रश्नरूप वरदान प्राप्त था, यह स्पष्ट सूचित होता है। राजाने समझ लिया कि इस समय मुनिजीका आगमन पूर्वदत्त कामप्रश्नका उत्तर देनेके लिए है। यह समझ कर भी राजाने मुनिजीसे पूछा, अन्यथा मुनिके अभिप्रायको समझे बिना चुपचाप बैठे हुए मुनिजीसे राजाका पूछना अनुचित होगा। इससे द्वितीय व्याख्या प्रकृतानुकूल है। 'न वदिष्ये' इस संकल्पमें कुछ प्रमाण नहीं है। प्रत्युत उक्त संकल्प विरुद्ध है। राजाके प्रश्नोंका उत्तर दे रहे हैं और उनसे न बोलेंगे, ऐसी प्रतिज्ञा थी, यह कहना प्रकृत कार्यसे सर्वथा विरुद्ध है॥ ४॥

नाऽप्राक्षीत्तत्र राजाऽसौ वरे दत्तेऽपि तत्कुतः ।
विद्याया निरपेक्षत्वात्कर्मभिश्च विरोधतः ॥ ५ ॥
स्वोत्पत्तावेव विद्येयं सर्वकर्माण्यपेक्षते ।
प्रत्यगात्मतमोध्वस्तौ नाऽसौ कर्माण्यपेक्षते ॥ ६ ॥
स्वरूपमात्रलाभेन यतोऽविद्यां निहन्त्यतः ।
अभ्यासादिप्रयोगं च नैवाऽऽकाङ्क्षति दीपवत् ॥ ७ ॥

'नाऽप्राक्षीत्तत्र' इत्यादि ।

शङ्का—अग्निहोत्रप्रकरणमें मुनिजीने राजाको वरदान दिया था, तो उसी प्रकरणमें आत्मयाथात्म्यविषयक प्रश्नोत्तर क्यों नहीं किया गया ?

समाधान—वरदानके अनन्तर अग्निहोत्रप्रकरणमें राजाने उक्त प्रश्नको नहीं पूछा, कर्मप्रकरणका विद्यासे विरोध है, विद्या स्वतन्त्र है । अतः एतद्विषयक प्रश्नोत्तर स्वतन्त्र होना चाहिए ॥ ५ ॥

'स्वोत्पत्ता०' इत्यादि ।

शङ्का—'तमेतं वेदानुवचनेन' इत्यादि श्रुति और 'सर्वापेक्षा च यज्ञादिश्रुतेरश्ववत्' इत्यादि सूत्रसे विद्याकी उत्पत्तिमें सब कर्म साधन हैं, यह निश्चय किया गया है । साधनका साध्यके साथ विरोध कहना असंगत है ।

समाधान—ठीक है, विद्याकी उत्पत्तिमें सकल कर्मोंकी अपेक्षा मानते हैं, अतएव उसमें विरोध नहीं है, किन्तु विद्याफलमें उक्त विरोध है । प्रत्यगात्मगत अज्ञानके नाशमें केवल विद्या हेतु है, कर्म नहीं । कर्ममें केवल अहेतुत्व ही नहीं है, प्रत्युत विरोध भी है । साध्य, साधन तथा फल आदि भेदके बिना कर्म नहीं किया जा सकता, भेद अविद्याप्रयुक्त है । आत्मैकत्वरूप विद्यासे अविद्याका ध्वंस होता है, इस ध्वंसमें विद्यासे अतिरिक्त कर्मादिकी अपेक्षा नहीं है । जो यह कहते हैं कि कर्म सहित विद्या उक्त ध्वंसमें कारण है, वह असङ्गत है । इसका विशेष उपपादन पहले विस्तारपूर्वक हो चुका है॥ ६ ॥

'स्वरूपमात्र०' इत्यादि । विद्याका स्वरूपलाभ यानी उत्पत्ति । केवल उत्पत्तिमात्रसे विद्या अविद्याको नष्ट करती है ।

शङ्का—उपनिषत्का अध्ययन करनेपर विद्या तो होती है, किन्तु उससे अविद्याकी निवृत्ति नहीं होती, प्रत्युत पहलेके समान संसार ही प्रतीत होता है, अतएव अध्ययनके अनन्तर मनन और निदिध्यासनका भी विधान है ।

लब्धात्मकं यथा दात्रं प्रयुक्तं पुरुषेण सत् ।
करोति लवनं तद्वन्न दीपस्तु प्रयुज्यते ॥ ८ ॥
विद्या लब्धात्मिकाऽविद्यां घ्नन्ति कर्माण्यशेषतः ।
निहन्तीत्यतिविस्पष्टो विरोधः कर्मविद्ययोः ॥ ९ ॥
वरदानेन संवादमिच्छन्तं तमशङ्कया ।
आदौ राजेष्टमप्राक्षीत्प्रत्यग्ज्योतिर्बुभुत्सया ॥ १० ॥

इसलिए उत्पत्तिमात्रसे विद्या अविद्याकी निवर्तिका नहीं होती । अपि तु अभ्यास-सहकृत विद्या उसकी निवर्तिका है, स्वरूपमात्रलाभसे नहीं ।

समाधान—नहीं, अभ्यासकी भी अपेक्षा नहीं है । विद्या आत्मैकत्वविषयक शब्दज्ञानमात्र नहीं है, जो उपनिषदादिके अध्ययनसे होता है । किन्तु तद्विषयक-साक्षात्कार विद्या है । अयोग्यताज्ञाननिवर्तन द्वारा अभ्यास तादृश साक्षात्कारकी उत्पत्तिमें ही कारण माना जाता है । उत्पन्न साक्षात्कार अज्ञानका प्रदीपवत् निवर्तक है । जैसे प्रदीप अन्धकारकी निवृत्तिके लिए स्वोत्पत्तिसे अतिरिक्त किसीकी अपेक्षा नहीं करता, वैसे ही विद्याको भी समझना चाहिए ॥ ७ ॥

अन्वयी दृष्टान्तको कहकर व्यतिरेकी दृष्टान्त कहते हैं—**'लब्धात्मकम्'** इत्यादिसे ।

दात्र, कुठार आदिकी केवल उत्पत्तिसे ही छिदादि क्रिया नहीं होती, किन्तु जब पुरुष छेद्यके ऊपर उद्यमन किंवा तत्फल द्वैधीभावके लिए निपातन आदि व्यापार करता है, तब छिदादि क्रिया होती है, अन्यथा नहीं; अर्थात् कुठार आदिके लवनमें पुरुषप्रयोग सापेक्ष है । ज्ञान ऐसा नहीं है, यानी ज्ञानको उत्पन्न होनेपर प्रयोगा-पेक्षा नहीं होती, किन्तु, प्रदीपकी नाईं स्वयं तमका निवर्तक है ॥ ८ ॥

विद्या और कर्मके विरोधको स्फुट करते हैं—**'विद्या'** इत्यादिसे ।

विद्या उत्पन्न होकर अविद्या तथा तत्प्रयुक्त निखिल कर्मोंकी निःशेष निवृत्ति करती है । 'निहन्ति' से ही निवर्त्य और निवर्तकका विरोध स्पष्ट हो जाता है । यदि विरोध न होता, तो विद्या होनेपर भी अविद्या रह सकती पर ऐसा है नहीं, अतः तम और प्रकाशके समान विरोध स्पष्ट है ॥ ९ ॥

'वरदानेन' इत्यादि । पूर्वदत्त वरदानके अनुसार राजासे संवाद करनेकी इच्छा मुनिजीको थी । इसी अभिप्रायसे जनकजीके पास मुनिजी आये थे । जनक भी आत्म-ज्ञानी थे, अतः मुनिके सङ्कल्पको आनेपर ही उन्होंने समझ लिया, अतः समागत मुनिके प्रति निःशङ्क होकर राजाने अभीष्ट प्रश्न किया । निःशङ्क पदके दानसे मुनिके अभिप्रायको

देहेन्द्रियादिसङ्घातः पुमान्किंज्योतिरुच्यताम् ।
उपवेशनगत्यादि न युक्तं ज्योतिषा बिना ॥ ११ ॥
किं सङ्घातगतं ज्योतिः किं सङ्घातातिरेकि तत् ।
अतिरिक्तत्वमादत्त आदित्यादेरुदाहृतिः ॥ १२ ॥

जनकजीने जान लिया, यह सूचित होता है । प्रत्यग्-ज्योतिकी (आत्म-ज्योतिकी) सामर्थ्यसे ही देहमें कर्म और उसका फल होता है, अन्यथा अचेतन देह मृत्पिण्डके समान स्वतः व्यवहार-योग्य नहीं है । किञ्च, अचेतन रथादिमें जैसे चेतनके सम्बन्धसे ही उत्तरसंयोगानुकूल क्रिया होती है, वैसे ही शरीरमें भी क्रिया आत्मचैतन्यसे ही होती है, स्वतः नहीं । प्रत्यग्-ज्योतिके बलसे ही यतः देहमें कर्म तत्फल होता है, अतः प्रत्यग्-ज्योतिविषयक प्रश्न मुनिजीसे राजाने किया ॥ १० ॥

'देहेन्द्रियादि०' इत्यादि । 'किंज्योतिरयं पुरुषः' इस प्रश्नमें पुरुषशब्द शरीरेन्द्रियसङ्घातपरक है ।

शङ्का—क्यों ?

समाधान—'अयम्' इस प्रत्यक्षवाची शब्दका निर्देश है । संघात ही प्रत्यक्ष है, केवल आत्मा नहीं है, अतः प्रश्नवाक्यस्थ पुरुषशब्द उक्त संघातपरक है, इस संघातमें उपवेशन, गति आदि कार्य ज्योतिके बिना नहीं हो सकते और उक्त कार्यको सङ्घातमें देखते हैं, अतः कार्यलिङ्गक सामान्यानुमानसे कोई ज्योति अवश्य है, यह सामान्य ज्ञान होता है, विशेषतः अमुक ही ज्योति है; यह निश्चय नहीं होता, सामान्यतः ज्ञात और विशेषतः अज्ञातका ही प्रश्न होता है ।

शङ्का—उपवेशन, गमन आदि क्रियाएँ पीठ, क्षेत्र आदि कर्मकारकसे ही हो सकती हैं, ज्योतिकी क्या आवश्यकता है ?

समाधान—शरीरवत् पीठ, क्षेत्र आदि भी अचेतन है, अतः ज्योतिके बिना उक्त कर्मकारकोंसे भी उपवेशन आदि नहीं हो सकते ॥ ११ ॥

'किं सङ्घात' इत्यादि ।

शङ्का—कार्यकरणसंघातगत ज्योति है अथवा तद्भिन्न है ?

समाधान—मुनिजीने द्वितीय पक्षका ग्रहण किया ।

शङ्का—क्यों ?

समाधान—अतएव आदित्यका उदाहरण दिया । पुरुष आदित्यज्योति है, हे सम्राट्, सूर्यकी ज्योतिसे पुरुष पीठ आदिपर बैठता है । क्षेत्र और अरण्यमें जाता है, वहाँ

पूर्वब्राह्मण एवाऽस्य कृतमात्मानुशासनम् ।
मननायोच्यते युक्तिरादित्यादिनिदर्शनात् ॥ १३ ॥
यथा सङ्घातिरिक्तेन रव्यादिज्योतिषा जनः ।
करोत्यासनगत्यादि तथा स्वप्ने चिदात्मना ॥ १४ ॥

अपना कार्य कर लौट आता है। भाव यह है कि सङ्घातारिक्त ज्योतिसे पुरुषका अनुग्रह होता है, यह व्याप्तिग्रहणकालमें निश्चित हो जाता है। जहां (स्वप्न आदि दशामें) ज्योति अप्रत्यक्ष है और पुरुषानुग्रह प्रवृत्ति आदि लक्षण दृष्ट है, वहांपर भी व्यतिरिक्त ज्योतिका ही अनुमान किया जायगा, इससे स्वसिद्धान्तकी सिद्धि होगी। यदि व्याप्तिग्रहकालमें व्यवहर्तासे अव्यतिरिक्त ज्योतिसे अनुग्रह गृहीत होगा, तो स्वप्नादिमें व्यवहारलिङ्गसे अव्यतिरिक्त ज्योतिका अनुमान होगा, इससे भूत-चैतन्यकी सिद्धि द्वारा स्वसिद्धान्तकी हानि होगी और अनियम होगा। व्याप्तिग्रहकालमें ज्योति व्यतिरिक्त है अथवा अव्यतिरिक्त, यह संदिग्ध रहेगा, तो अनुमानसे भी एकता-पक्षका निर्णय नहीं होगा, इस अभिप्रायसे जनकजीने मुनिजीसे पूछा, मुनिजी शरीर-संघातापेक्षासे अतिरिक्त आत्मज्योतिकी सिद्धिके लिए उससे अतिरिक्त आदित्य-ज्योतिका उपादान किया।

शङ्का—यदि उक्त रीतिसे गुण और दोषके ज्ञानमें राजा स्वयं समर्थ हैं, तो वे स्वयं ज्योतिको जान सकते थे, एतदर्थ मुनिजीका अनुसरण क्यों किया ?

समाधान—कौन प्रेक्षापूर्वकारी पुरुष ऐसा होगा जो कि स्वाधीन अर्थमें परमुखका निरीक्षण करेगा। हां, यह सत्य है, राजामें उक्त निपुणता थी, परन्तु साध्य-साधनकी व्याप्ति अतिसूक्ष्म होनेसे दुर्ज्ञेय है, अतः उसके ज्ञानके लिए मुनिका अनुसरण युक्त ही है ॥ १२ ॥

पुनरुक्ति दोषका परिहार करते हैं—**'पूर्वब्राह्मण'** इत्यादिसे।

शङ्का—पूर्वब्राह्मणमें आत्माका अनुशासन (निरूपण) कर चुके हैं, अतः पुनः उसके निरूपणकी क्या आवश्यकता है ?

समाधान—ठीक है, मननके लिए पुनः उपदेश है, मनन अनुमान है। श्रवण आगममात्रसे होता है। मनन व्याप्ति और दृष्टान्त आदिसे साध्य अनुमिति है। अतः पुनरुक्त दोष नहीं है ॥ १३ ॥

'यथा' इत्यादिसे। देह, तदवयव और इनका सङ्घात (देहगत जातिसंस्थान),

रव्यादिकं बहिर्ज्योतिश्चिदात्मज्योतिरान्तरम् ।
सङ्घस्तु मध्ये निर्ज्योतिर्ज्योतिषोर्वर्तते द्वयोः ॥ १५ ॥

तत्क्रिया, देशकाल—इन सबसे अत्यन्त भिन्न और विलक्षण, प्रौढ़प्रकाश, अपरतन्त्र (प्रकाशान्तरानपेक्ष) आदित्यलक्षण ज्योतिसे जागरावस्थामें पुरुष पीठोपवेशन, क्षेत्रादिगमन और वहां उचित कर्तव्य करता है ॥ १४ ॥

शङ्का—आदित्य आदि ज्योतिसे देहादिव्यवहारकी उपपत्ति हो जायगी, फिर आत्मज्योति माननेकी क्या आवश्यकता है ?

समाधान—'**रव्यादिकम्**' इत्यादिसे । आदित्य ज्योति जड़ है और आत्मज्योति अजड़ है—इन दोनों जडा-जड ज्योतियोंके मध्यमें बुद्ध्यादिविषयान्त प्रत्यक्-चैतन्य प्रतिबिम्बविशिष्ट है ।

शङ्का—प्रत्यक् ज्योति क्या है ?

समाधान—सर्वान्तर, सर्वभेदरहित, चिदेकतान, स्थिर, कूटस्थ और निष्क्रिय प्रत्यक्-ज्योति है । तद्विपरीत पराग्भूत, परतन्त्र, पराधीनप्रकाश्य, संसृष्ट परिणामी आदित्यादि ज्योति हैं, इन दोनों ज्योतियोंके मध्यमें पुरुषशब्दसे विवक्षित बुद्ध्यादिको आदित्यादिज्योतिव्यतिरिक्त ज्योतिकी अपेक्षा है ।

शङ्का—क्यों ?

समाधान—आत्माज्ञानज बुद्ध्यादि मातृ, मान, मेय, कर्तृ, कर्म, कार्य, भोक्तृ, भोग और भोग्यस्वरूप तथा जन्म-नाशवान् है, अतएव अजड ज्योतिकी अपेक्षा करता है ।

शङ्का—अजड ज्योतिसे ही सब व्यवहार मानिए, जड ज्योतिको क्यों मानते हैं ?

समाधान—यह तो दृष्ट है, दृष्टका परित्याग ही असम्भव है । ब्रह्मादि संघात जो व्यवहर्ता है, उसका व्यवहार स्वविलक्षण आदित्यादि ज्योतिसहकृत दृश्याकारपरिणत बुद्धिविशेषसे होता है ।

शङ्का—'आदित्येनैव ज्योतिषा' ऐसा पाठ श्रुतिमें है । एवकार अवधारणके लिए है, इससे आदित्य ज्योतिसे ही व्यवहार होता है, अतिरिक्त ज्योतिसे नहीं, इससे अतिरिक्त ज्योतिका प्रतिषेध ही श्रुतिसे सिद्ध होता है ।

समाधान—अनुग्राह्य और अनुग्राहक ज्योति अतिविलक्षण है, वैलक्षण्यावधारणके लिए एवकार है, आदित्यावधारणके लिए नहीं ॥ १५ ॥

रवेः सङ्गातिरिक्तत्वं प्रसिद्धत्वान्निदर्शनम् ।
अतोऽनुवादो रव्यादेर्न त्वत्र प्रतिपाद्यता ॥ १६ ॥
आस्ते पर्येति कुरुते वाणिज्यादीन् निवर्तते ।
इत्यनेकोक्तितोऽत्यन्तज्योतिःसापेक्षतोच्यते ॥ १७ ॥
आदित्येनैव न त्वेतद्देहादिगततेजसा ।
इत्येवकारो यो ज्योतिश्चन्द्रादेर्न निराकृतिः ॥ १८ ॥

'रवेः' इत्यादि ।

शङ्का—स्वप्नव्यवहारान्यथानुपपत्तिसे आत्मज्योतिकी सिद्धि होती है, आदित्यादि दृष्टान्तके प्रदर्शनकी क्या आवश्यकता है ?

समाधान—उक्त व्यवहारसे आत्मा ज्योति है, यह सिद्ध होता है, परन्तु वह ज्योति देहातिरिक्त है, यह स्फुट नहीं होता, अतः उसके साधनके लिए आदित्यादि दृष्टान्त आवश्यक है ।

शङ्का—आदित्यादि ज्योति तो प्रसिद्ध ही है, अतः उसके प्रतिपादनकी क्या आवश्यकता है ?

समाधान—रवि आदिका अनुवाद किया गया है, प्रतिपादन नहीं ॥ १६ ॥

'आस्ते' इत्यादि । बैठता है, क्षेत्रकर्म, अरण्यमें गमन, वाणिज्य आदि करता है एवं उन कार्योंसे निवृत्त होता है ।

शङ्का—आसन आदि अनेक क्रियाओंका अभिधान क्यों ?

समाधान—ये सब व्यवहार ज्योतिसापेक्ष हैं, इसका प्रतिपादन करनेके लिए है ॥ १७ ॥

'आदित्येनैव' इत्यादि ।

शङ्का—'आदित्येनैव' इस वाक्यमें एवकार है, इससे यह बोध होता है कि आदित्यज्योतिसे ही पुरुष अपना व्यवहार करता है, पर यह ठीक नहीं है, आदित्यके अस्त हो जानेपर रात्रिमें चन्द्र आदिकी ज्योतिसे भी व्यवहार होता है । फिर आदित्यज्योतिसे ही अवधारण क्यों ?

समाधान—इस अवधारणसे चन्द्र आदि ज्योतिका निराकरण अभीष्ट नहीं है, किन्तु शरीरज्योति ही व्यावर्त्य है, अर्थात् आदित्य ज्योतिसे उक्त व्यवहार होते हैं, शरीर ज्योतिसे नहीं, इसमें तात्पर्य है ॥ १८ ॥

व्याप्तेरव्यभिचाराय बहुचन्द्राद्युदाहृतिः ।
रवीन्द्वग्नित्रयं तारामण्यादेरुपलक्षणम् ॥ १९ ॥
शब्दो वागिति संप्रोक्तः स गन्धाद्युपलक्षणम् ।
गन्धादीनपि विज्ञाय प्रवृत्तिर्वस्तुनीक्ष्यते ॥ २० ॥
अस्त्येवाऽस्तमिते सूर्ये ज्योतिरित्येवकारतः ।
तदयोगं व्यवच्छिन्दन् किंज्योतिरिति पृष्टवान् ॥ २१ ॥

'व्याप्ते०' इत्यादि ।

शङ्का—एक ही उदाहरणसे विवक्षित कार्य सिद्ध हो जायगा, फिर अनेक उदाहरणोंकी क्या आवश्यकता है ?

समाधान—व्याप्तिके दार्ढ्यके लिए अनेकविध उदाहरण हैं ।

शङ्का—मणि आदि ज्योतियाँ भी प्रवर्तक हो सकती हैं, फिर आदित्य आदि ज्योतियोंका ही उदाहरण क्यों दिया गया ?

समाधान—आदित्य, चन्द्र और अग्नि ये तीन उपलक्षण हैं, अर्थात् रवि, चन्द्र, अग्नि इनसे तारा एवं मणिका भी ग्रहण समझना चाहिए ॥ १९ ॥

चतुर्थ पर्यायको कहते हैं—'शब्दो' इत्यादिसे ।

उक्त सब ज्योतियोंके अस्त हो जानेपर पुरुष वाग्-ज्योति होता है । शब्द द्वारा श्रोत्रका संस्कार होनेपर उसके अधिष्ठाता मनके विवेकसे पुरुषकी बाह्य चेष्टाएँ होती हैं । वाक्से वागिन्द्रियका ग्रहण नहीं है, किन्तु उसके विषय शब्दका ग्रहण है, वह भी गन्धादिका उपलक्षण है, क्योंकि गन्ध द्वारा भी पुरुषकी प्रवृत्ति और निवृत्ति होती है । बाह्य आदित्य आदि ज्योतिसे सन्दीपितेन्द्रिय प्रत्यक्-चैतन्य संदीप्त होकर सब चेष्टाएँ करता है ॥ २० ॥

'अस्त्येवा०' इत्यादि ।

शङ्का—द्वितीय पर्यायके प्रश्नवाक्यमें 'किंज्योतिरेव' इसमें एवकार ठीक नहीं है, क्योंकि जब व्यवच्छेद्य ही नहीं है, तब किसकी व्यावृत्ति कर एवकार सार्थक होगा ?

समाधान—सूर्यास्त होनेके अनन्तर भी व्यवहार देखा जाता है, अतः यह अनुमान होता है कि कोई ज्योति अवश्य है, अन्यथा व्यवहार ही अनुपपन्न हो जायगा । इस प्रकार ज्योतिके सद्भावके प्रदर्शनके लिए 'एव' शब्द है, अन्य-व्यवच्छेदके लिए नहीं है ॥ २१ ॥

अस्तित्वेऽपि न देहादिगतं तत् किन्तु चन्द्रमाः ।
इत्यन्ययोगव्यावृत्तिश्चन्द्र एवेत्युदीरिता ॥ २२ ॥
रविसोमाग्निशब्दादिज्योतींष्युक्तानि जागरे ।
निदर्शनतया ज्योतिस्तैः स्वप्नेऽप्यनुमीयताम् ॥ २३ ॥
स्वप्ने देहव्यवहृतिर्भिन्नज्योतिःपुरःसरा ।
व्यवहारत्वतो जाग्रद्व्यवहारो यथा तथा ॥ २४ ॥
सुप्तौ च पुनरुत्थानव्यवहारस्य कारणम् ।
अस्ति ज्योतिरिति ज्ञात्वा तद्विशेषं स पृष्टवान् ॥ २५ ॥

'अस्तित्वे०' इत्यादि । प्रश्नगत एवकार अयोग-व्यवच्छेदके लिए है, इस कथनसे उत्तरवाक्यगत एवकार भी अयोग-व्यवच्छेदके लिए है, ऐसी शङ्का हो सकती है, किन्तु यह ठीक नहीं है, क्योंकि ज्योतिका सद्भाव तो राजाको भी निश्चित ही है। किन्तु पूर्वपर्यायके समान आत्मज्योतिके व्यवच्छेदके लिए 'एव'कार है यानी देहगत ज्योति नहीं है, किन्तु चन्द्रमा है, इस अभिप्रायसे 'चन्द्र एव' यह कहा गया है ॥ २२ ॥

'रवि०' इत्यादि । जागरावस्थामें पुरुषके व्यवहारकी हेतु ज्योति—रवि, सोम, अग्नि, शब्द आदि ज्योति—कही गई है । एवं स्वप्नावस्थामें उसकी प्रवृत्ति आदिकी हेतुभूत ज्योतिका उक्त दृष्टान्त द्वारा अनुमान होता है। ज्योतिके बिना जागरावस्थामें पुरुषका व्यापार कहीं भी नहीं देखा गया है, स्वप्नमें भी प्रवृत्ति आदि होते हैं, इसलिए वहाँ उसकी हेतु कोई ज्योति अवश्य है, यह मानना चाहिए ॥२३॥

अनुमान-प्रकार कहते हैं—'स्वप्ने देह०' इत्यादिसे ।

स्वप्नमें देहकी जो प्रवृत्ति होती है, वह देहभिन्न ज्योतिपूर्वक है, व्यवहारत्व-सामान्यधर्म जाग्रत्प्रवृत्ति और स्वप्नप्रवृत्तिमें साधारण है, अतः जाग्रत्प्रवृत्तिवत् स्वप्नप्रवृत्ति भी भिन्नज्योतिनिमित्तक है ॥ २४ ॥

'सुप्तौ च' इत्यादि । स्वप्न सुषुप्तिका भी उपलक्षण है, इन दशाओंमें पुनः उत्थान आदि व्यवहारकी कारण ज्योति थी, यह जनकजी जानते थे, किन्तु वह ज्योति कौन है ? यों ज्योतिविशेषविषयक ज्ञान उन्हें नहीं था, अतः तद्विशेषको जाननेके लिए राजाने मुनिजीसे पूछा ॥ २५ ॥

स्वप्रकाशस्वरूपत्वात् तद्विशेषो ह्यतिस्फुटः ।
तथाऽप्यविद्यया छन्नः सोऽस्पष्ट इव वर्तते ॥ २६ ॥
यत्प्रसादादविद्यादि सिध्यतीव दिवानिशम् ।
तमप्यपह्नुतेऽविद्या नाऽज्ञानस्याऽस्ति दुष्करम् ॥ २७ ॥
योऽविद्यात्माभिसम्बन्धः कल्पितोऽसौ न वास्तवः ।
अतोऽविद्यावृतत्वेऽपि न लोपोऽस्य मनागपि ॥ २८ ॥
निःसङ्गस्य ससङ्गेन कूटस्थस्य विकारिणा ।
आत्मनोऽनात्मना योगो वास्तवो नोपपद्यते ॥ २९ ॥

'**स्वप्रकाश०**' इत्यादि । यद्यपि आत्मा स्वप्रकाशस्वरूप होनेसे अतिस्फुट है, अतः तद्विषयक प्रश्न भी अयुक्त है, तथापि वह अविद्यासे आच्छन्न होनेके कारण अस्पष्टके समान है, अतः तद्विषयक प्रश्न युक्त ही है । वस्तुतः ज्ञातका प्रश्न अयुक्त होता है, अज्ञात स्पष्ट हो या अस्पष्ट, पर तद्विषयक प्रश्न उचित ही है ॥ २६ ॥

'**यत्प्रसादा०**' इत्यादि ।

शङ्का—अज्ञानसे भी स्वप्रकाशमें प्रश्न नहीं हो सकता ? क्योंकि स्वप्रकाशमें अज्ञानकी स्थितिका ही असंभव है । यदि स्वप्रकाशमें अज्ञान मान लिया जाय, तो अज्ञानकी सिद्धि ही नहीं हो सकेगी, क्योंकि 'अहमज्ञः' इत्यादि प्रतीति अज्ञानकी साधक है; अहमर्थके ज्ञानके बिना उक्त प्रतीति ही असंगत है ।

समाधान—यह ठीक है कि स्वप्रकाश आत्मा अज्ञानका साधक है, तथापि अविद्या उसका भी अपह्नव करती है । अज्ञानके लिए कुछ भी दुष्कर नहीं है, क्योंकि अविद्या अघटितघटनापटीयसी मानी गई है । अविद्या और अज्ञान एक ही हैं । मेरुमें भी अणुबुद्धि अज्ञानसे होती है, अतएव अज्ञानकी सामर्थ्य निरङ्कुश मानी गई है ॥ २७ ॥

शङ्का—यदि अज्ञानके लिए कुछ भी दुष्कर नहीं है, तो वह अपना वास्तविक सम्बन्ध भी आत्मामें कर सकता है क्या ?

समाधान—'**योऽविद्या०**' इत्यादि । आत्मा और अविद्याका जो सम्बन्ध है, वह कल्पित है, वास्तविक नहीं है । अतएव अविद्यासे आवृत होनेपर कुछ भी इसका लोप नहीं होता; यह तो पूर्वमें कह चुके हैं । आरोपित पदार्थसे अधिष्ठानमें कुछ विकार नहीं आता । मरुभूमि आरोपित जलसे आर्द्र नहीं होती ॥ २८ ॥

स्वतो बुद्धं स्वतः शुद्धं स्वतो मुक्तं निरात्मिका ।
अविचारितसंसिद्धिरविद्या लिङ्गते कथम् ॥ ३० ॥
एतादृश्या अविद्याया विचारेण निवृत्तये ।
आत्मैव ज्योतिरस्येति प्राह स्वप्नादिभासकम् ॥ ३१ ॥
भास्यं स्वप्नसुषुप्त्यादि यस्मिन्भाने प्रकल्पितम् ।
तद् भानं तत्स्वरूपत्वादात्मशब्देन भण्यते ॥ ३२ ॥

'स्वतो बुद्धम्' इत्यादि। स्वतः शुद्ध, स्वतः बुद्ध और स्वतः मुक्त यानी नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभाव आत्मामें अविचारितसंसिद्धि (सदसद्विचारानर्हसिद्धिक निस्तत्त्व) अविद्या कैसे रह सकती है ? क्योंकि सत् और असत्का सम्बन्ध ही नहीं हो सकता ॥ ३० ॥

'एतादृश्या' इत्यादि । आत्मस्वरूपके विचारके द्वारा एतादृश अविद्याकी निवृत्तिके लिए आत्मा ही ज्योति है, यह मुनिजीने जनकसे कहा । इसमें ज्योतिष्ट्वकी प्रसिद्धिके लिए स्वप्नका उपादान किया गया है । आदित्यादि ज्योतिसे उस समय प्रकाश नहीं हो सकता, क्योंकि तद्ग्राहक इन्द्रियां स्वकारणमें लीन हो जाती हैं । सुषुप्तिदशामें मन भी लीन हो जाता है, अतः उस समय केवल आत्मा ही प्रकाशमान रहता है, अन्य प्रकाशक है नहीं, अतः आत्मा ही स्वयंज्योति है, यह सिद्ध होता है ॥ ३१ ॥

आत्मामें स्वप्रकाशत्व सिद्ध करते हैं—**'भास्यम्'** इत्यादिसे ।

जिस भानमें (स्वयंप्रकाश आत्मामें) भास्य (भानविषय) स्वप्न, सुषुप्ति आदि [आदिसे अनात्मभूत दृशमात्र] कल्पित हैं; वह भान यानी दृश्यमात्र कल्पनाका अधिष्ठानभूत प्रकाश आत्मस्वरूप होनेसे आत्मशब्दसे कहा गया है । भाव यह है कि जाग्रदवस्थामें जितने ऐन्द्रियक विषय देखे जाते हैं, वे सब मनसे देखे जाते हैं । मनके न रहनेपर पुरुष किंज्योति है, यह प्रश्न है । यद्यपि स्वप्नमें मन रहता है, तथापि मन विषय है, अतः वह प्रकाशक नहीं हो सकता, यह आगे कहेंगे । आत्मा ही ज्योति है, यह ऋषिने उत्तर दिया । स्वप्नादिमें जब कि सब ज्योतियोंका उपरम हो जाता है, वासनारूप धी आत्मज्योतिसे दीप्त होकर स्वव्यापार करती है ।

शङ्का—बुद्धिका कौन व्यापार है ?

आत्माविद्या तदुत्थं वा पराग्धीरवगाहते ।
प्रत्यग्बुद्ध्यवगाह्योऽत आत्माऽहं भामि केवलः ॥ ३३ ॥
आत्मैवेत्येवकारेण स्वप्नदृश्येष्वनात्मसु ।
ज्योतिष्ट्वशङ्का व्यावर्त्या वासनामयवस्तुषु ॥ ३४ ॥
अस्येति वासनाऽऽरोपो दृश्यो देहादिरुच्यते ।
भास्यभासकसम्बन्धः षष्ठ्योक्तो वासनात्मनोः ॥ ३५ ॥

समाधान—प्रत्यक्षाद्युपलब्धिदशामें जो व्यापार बुद्धिमें आहित होता है, वह कर्मसे उद्भावित होकर स्मृतिरूपमें परिणत होता है ॥ ३२ ॥

स्वप्रकाश अद्वय यहां आत्मशब्दका अर्थ है । स्वप्रकाशत्वकी सिद्धि करते हैं—**'आत्मा०'** इत्यादिसे ।

अनात्मत्व दृश्यत्वका व्यापक है । आत्मासे व्यावर्तमान अनात्मत्व स्वव्याप्य दृश्यत्वका निवर्तक होता है । एक आत्मप्रत्यय होता है और दूसरा अनात्म-प्रत्यय होता है । अनात्मा (जड़) कल्पित है, वह प्रत्यग्बुद्धिसे ग्राह्य है; अतः आत्मा केवल अद्वितीय भासित होता है ।

शङ्का—आत्मप्रत्यय अद्वयविषयक नहीं हो सकता, क्योंकि 'खण्डो गौः मुण्डो गौः' इत्यादि प्रत्ययके समान वह सामान्यविशेषविषयक ही हो सकता है ।

समाधान—सामान्यविशेष आत्मामें कल्पित होनेसे दोनोंका वास्तविक स्वरूप आत्मा ही है, अतः उनका रजतादिवत् जब पृथक्-स्वरूप ही नहीं है, तब उनमें सम्यग्धी-विषयत्व कहाँसे होगा, प्रत्यग्धीविषयत्व तो दूरनिरस्त है । ज्ञानैकात्म्य अविद्याका नाशक है । आत्मज्ञानसे द्वैतका ग्रहण नहीं हो सकता । रज्जुमें सर्प विद्यानिरस्य होनेसे जैसे विद्यावेद्य नहीं है, वैसे ही प्रकृतमें भी समझना चाहिए ॥ ३३ ॥

'आत्मैवास्य ज्योतिः' इस वाक्यमें जो आत्मशब्द है, उसके अर्थका निरूपण कर अवशिष्ट पदोंकी क्रमसे व्याख्या करते हैं—**'आत्मैवेत्येव'** इत्यादिसे ।

वासनामय स्वप्नगजादि स्वसत्तामें प्रकाशाव्यभिचारी हैं, अतः उसमें भी स्व-प्रकाशत्वकी शङ्का होती है, उसकी निवृत्तिके लिए एवकार है, आत्मा ही स्वयंप्रकाश है, दूसरा नहीं ॥ ३४ ॥

'अस्येति' इत्यादि । वासनारोपित देहादि दृश्य भास्य है; आत्मा भासक है, इन दोनोंका यानी वासना और आत्माका भास्यभासकसंबन्ध षष्ठीका अर्थ है ॥ ३५ ॥

ज्योतिष्ट्वं भासकत्वं स्याच्चिदाभासमुखेन तत् ।
उपपन्नमसङ्गस्य भान्वादिवदनुग्रहात् ॥ ३६ ॥
भान्वादयः प्रभाद्वारा चक्षुराद्यनुगृह्णते ।
तथैवात्माऽनुगृह्णीते चिदाभासेन शेमुषीम् ॥ ३७ ॥
अविद्यान्वयवद् बुद्धेश्चिदाभासान्वयः सदा ।
अस्ति तद्व्यतिरेकेण बुद्धेः परिणतिर्वृथा ॥ ३८ ॥

'ज्योतिष्ट्वम्' इत्यादि ।

शङ्का—ज्योतिष्ट्व भासकत्वस्वरूप है । आत्मा भासक है, यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि रूपादिमान् या प्रकाश्यसम्बद्ध भानु आदि प्रकाशक माने जाते हैं । आत्मा रूपादिशून्य तथा प्रकाश्यासम्बद्ध है, अतः उसमें भासकत्वोक्ति अयुक्त है ।

समाधान—चिदाभास द्वारा आत्मामें भासकत्व उपपन्न है । जैसे भासक आदित्य आदि क्रियाके बिना केवल सान्निध्यमात्रसे ही पुरुषमें प्रकाशाख्य अनुग्रह करते हैं, वैसे ही चिदात्मा भी प्रकाशरूप अनुग्रह करता है, अतः उसमें सक्रियत्वप्रसङ्गकी सम्भावना नहीं है । जैसे स्थिर पुरुषमें देशान्तरप्राप्ति गतिके बिना नहीं होती, वैसे अभिव्यक्ति अभिव्यञ्जककी सन्निधिसे अतिरिक्त अभिव्यञ्जक-क्रियाकी अपेक्षा नहीं करती, क्योंकि सन्निधानमात्रसे अभिव्यक्ति सर्वत्र दृष्ट है ॥३६॥

'भान्वादयः' इत्यादि । सूर्यादि अपनी प्रभाके द्वारा जैसे चक्षुरादिके अनुग्राहक होते हैं, वैसे ही आत्मा चिदाभाससे बुद्धिका अनुग्रह करता है । स्वाज्ञानवश आत्मा बुद्ध्यादिमें उद्भूत होकर स्वाभाससहाय स्वसन्निद्धिमात्रसे प्रकाश कराता है । आत्माके अज्ञानका ही नानाभावनासहित बुद्ध्यादिरूपसे विवर्त होता है ॥३७॥

'अविद्यान्वय' इत्यादि ।

शङ्का—आत्मामें साक्षित्व सदा रहता है, अतः उसकी हेतु अविद्या भी सदा रहेगी, फिर मुक्ति कैसे हो सकती है ?

समाधान—जब तक चिदाभास है, तभी तक साक्षिता है, इस विवक्षासे बुद्ध्यादिमें चिदाभासकी अनुवृत्ति सिद्ध करते हैं । बुद्धि आदिकी सत्तामें चिदाभासका कभी व्यभिचार नहीं होता, क्योंकि बुद्ध्यादि जड़ हैं, अतः वे स्वतः साधक नहीं हो सकते । विषय घटादि और आत्मा स्वाकारबुद्धि द्वारा बुद्धिस्थ होते हैं, उसके द्वारा आत्मामें साक्षित्व होता है । चिदाभासशून्य बुद्धिका परिणाम ही वृथा होगा । चिदाभासके सम्बन्धके बिना तत्तद्विषयाकार बुद्धिका परिणाम कथञ्चित् हो भी जाय, तो भी वह विष-

चिदाभासविहीनस्य क्षीरस्य परिणामतः ।
न किञ्चिद्भासते वस्तु साभासा धीस्ततः सदा ॥ ३९ ॥
साभासपरिणामेन दुःख्यस्मीत्यपि धीर्भवेत् ।
तथा साभासमज्ञानं न वेद्मीत्यनुभूयते ॥ ४० ॥
अन्यथाऽऽत्मनि कौटस्थ्याद् बुद्धौ चैतन्यवर्जनात् ।
सर्वोऽपि व्यवहारः स्यादन्धकारप्रनृत्यवत् ॥ ४१ ॥

भासक नहीं होगा, अतः उसका परिणाम व्यर्थ ही हो जायगा और अविद्यामें आभासकी अनुवृत्ति सदा रहती है, इसमें यह भी कारण है कि अविद्या आत्मामें ही रहती है, मध्यमें कोई व्यवधायक नहीं है, इसलिए आभासानुवृत्ति आवश्यक है । बुद्धिवृत्तिरूप ज्ञान और आदित्यप्रकाशका सम्बन्ध होनेपर ही घटादि व्यवहारके योग्य होते हैं, अन्यथा नहीं । एवं बुद्धि आदिमें भी दो आकारोंके सम्बन्धसे व्यवहारयोग्यता होती है ॥ ३८ ॥

'चिदाभास०' इत्यादि । चिदाभासहीन अविद्यापरिणामस्वरूप क्षीर आदिसे किसीका भान नहीं होता, अतएव उसमें भासकत्वव्यवहार नहीं होता एवं अविद्यापरिणाम बुद्धि आदि यदि चिदाभासशून्य होंगे, तो उनमें भासकत्वव्यवहार नहीं होगा । तत्-तत् आकारकी वृत्ति होनेपर नियमसे तत्-तत् विषयका भान होता है, अतः बुद्धि आदिमें चिदाभासकी अनुवृत्ति सदा रहती है । यह मानना अत्यावश्यक है ॥ ३९ ॥

'साभास०' इत्यादि ।

शङ्का—चिदाभासके बिना भासकत्व न हो, तो मत हो ?

समाधान—ऐसा कहनेसे अनुभव-विरोध होगा, क्योंकि 'अहं दुःखी' इत्यादि प्रतीति साभास परिणामसे ही होती है एवं 'मैं नहीं जानता' यह भी प्रतीति साभासाज्ञान ही है, अतः बुद्ध्यादि परिणाममें चिदाभासका अन्वय सदा रहता है, इसमें सन्देह नहीं है ॥ ४० ॥

'अन्यथात्मनि' इत्यादि ।

शङ्का—आभासशून्य बुद्धिवृत्ति यदि मानी जाय, तो भी यह कह सकते हैं कि तत्-तत् बुद्धिवृत्तिसे अथवा आत्मचैतन्यसे उक्त अनुभव हो सकता है, अतः बुद्धिमें आभासव्याप्ति व्यर्थ है ।

समाधान—आत्मा कूटस्थ है, वह भासक हो ही नहीं सकता और बुद्धिमें

चिदाभासानुग्रहोऽत्र ज्योतिष्ट्वं भानुवन्मतम् ।
न तु रव्यादिवच्चक्षुर्ग्राह्यभास्वररूपता ॥ ४२ ॥

क्रिया है, पर वह अचेतन है, इसलिए एक-एकको भासक नहीं मान सकते, ऐसी परिस्थितिमें सब व्यवहार अन्धकारमें प्रवृत्त नृत्यके समान व्यर्थ हो जायँगे । नृत्य दर्शकोंके मनोविनोदके लिए कराया जाता है । यदि अन्धकारमें हो, तो गात्र-विक्षेपादि तत्-तत् कलाविशेषका साक्षात्कार न होनेसे तज्जन्य आनन्दविशेषका अनुभव भी नहीं होगा, केवल नर्तकका आयासमात्रफलक नृत्य व्यर्थ है । सूक्ष्मेङ्गितादिके ज्ञानके सूचनार्थ प्रशब्दका उपादान है । बाह्याकार वृत्ति द्वारा बुद्धिमें जैसे संक्रान्ति होती है, वैसे ही सब अवस्थाओंमें चिदाभासव्याप्ति अज्ञानमें रहती है, चिदाभास और विषयाकारमें एकाश्रयत्व सतत रहता है, अतएव 'नहीं जानता हूँ' इत्यादि सर्वजनीन अनुभव उपपन्न होता है ॥ ४१ ॥

'चिदाभासा०' इत्यादि ।

शङ्का—आत्मामें यदि ज्योतिष्ट्वको मानते हैं, तो चक्षुर्ग्राह्यत्वकी भी प्रसक्ति हो जायगी, 'विमतं चक्षुर्ग्राह्यम्, ज्योतिष्ट्वात्, आदित्यवत्' यानी आत्मा चक्षुर्ग्राह्य है ज्योष्ट्वधर्मसे सूर्यादिके समान । सूर्य ज्योति है, अतः वह चक्षुर्ग्राह्य है एवं आत्मा भी चक्षुर्ग्राह्य होना चाहिए ।

समाधान—उक्त अनुमानमें मेयत्व उपाधि है । जो मेय यानी ज्ञानविषय होता है, उसींमें उक्त धर्म रह सकता है । आत्मा अविषय है, अतः उसमें चक्षुर्ग्राह्यत्व नहीं रह सकता । साध्यव्यापक और साधनाव्यापक उपाधि कहलाती है, साध्य है—चक्षुर्ग्राह्यत्व, उसका व्यापक है—मेयत्व । साधन है—ज्योतिष्ट्व, उसका अव्यापक है—मेयत्व । ज्योतिष्ट्व आत्मामें भी है, पर मेयत्व नहीं, अतः मेयत्व उपाधि हुई । मेयत्व आत्मामें नहीं है, क्योंकि वह अविषय अतएव स्वयंप्रकाश है, अतः तद्व्याप्य चक्षुर्ग्राह्यत्व भी आत्मामें नहीं है । भाव यह है कि आत्मासे अतिरिक्त सब जड़ हैं । दूसरा अजड़ है नहीं, अतः अन्यदीय प्रत्यक्षादिगम्य आत्मा नहीं हो सकता । शब्दादिहीन प्रत्यक्स्वरूप असंहत तथा दृष्टिमात्रस्वभाव आत्मा है, अतः दर्शन-योग्य नहीं हो सकता । श्लोकार्थ—सूर्यके समान चिदाभासका अनुग्राहक आत्मा है, अतः वह ज्योति कहा गया है, तत्-तत् चक्षुर्ग्राह्य भास्वरस्वरूप आत्मा विवक्षित नहीं है, आदित्यादिके समान अनुग्राहकत्व आत्मामें कह चुके हैं ॥ ४२ ॥

आदित्यादिरनात्मार्थः सिध्यत्यक्षादिमानतः ।
मात्रादिसिद्धिदस्याऽस्य स्वतःसिद्धेर्न मेयता ॥ ४३ ॥
नाऽप्रमेयत्वमात्रेण शशशृङ्गादितुल्यता ।
अनन्यानुभवेनाऽस्य विशदं स्फुरणं यतः ॥ ४४ ॥

'आदित्यादि' इत्यादि । आदित्य आदि अनात्म पदार्थ हैं, अतः वे प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोंसे सिद्ध होते हैं । मान, मेय आदिका साधक स्वतःसिद्ध आत्मा मान आदिसे पूर्वसिद्ध है, अतः आत्माकी मानाधीन सिद्धि नहीं हो सकती । वही सबका साधक है, इसलिए उसका अन्य साधक कौन हो सकता है ? ॥ ४३ ॥

'नाऽप्रमेयत्व०' इत्यादि ।

शङ्का—आत्मामें कोई प्रमाण है या नहीं ? यदि है, तो उसमें भी मेयत्वकी प्रसक्ति होगी, ऐसी अवस्थामें मेयत्व साधनाव्यापक न होनेसे उपाधि नहीं हो सकता । द्वितीय पक्षमें शशशृङ्गवत् उसकी असत्त्वापत्ति होगी ?

समाधान—अप्रमेयत्व असत्त्वका प्रयोजक नहीं है, किन्तु अनात्मत्व असत्त्वका प्रयोजक है । आत्मा स्वाभिन्नप्रकाशस्वरूप है, अतः उसमें अनात्मत्वरूप जड़त्व नहीं है, शशशृङ्गादि जड़ हैं, अतः वे असत् हैं ।

शङ्का—मेयत्वके बिना भी यदि आत्मज्योतिकी सत्ता मानते हैं, तो शशशृङ्गकी क्यों नहीं मानते हैं ?

समाधान—शृङ्ग तो मानयोग्यस्वभाव है । यदि शशको भी शृङ्ग होता, तो वह अपने स्वभावका अतिक्रमण नहीं कर सकता, इसलिए प्रमाणाभावसे उसकी सत्ता नहीं मानी जाती ।

शङ्का—'आत्मा भी मानयोग्यस्वभाव है, वस्तुरूप होनेसे, विषाणके समान' इस अनुमानसे आत्मामें भी मानयोग्यत्व होना चाहिए, अन्यथा उसकी असत्त्वापत्ति हो जायगी ।

समाधान—इस अनुमानमें भी अनात्मत्व उपाधि है ।

शङ्का—अज्ञात आत्मा ही सर्वप्रमाणयोग्य है, यह आप पूर्वमें अपना सिद्धान्त कह चुके हैं, फिर यहाँ अन्यथा क्यों कहते हैं ?

समाधान—सर्वसाधक आत्माका मानयोग्यत्वस्वभाव नहीं है, किन्तु निरपेक्ष होनेसे सदा स्फुरणस्वभाव है । उसमें पूर्वमें मानयोग्यत्व जो कहा है, उसका

स्यात्स्वप्नव्यवहारोऽयमात्मना ज्योतिषा दृशा ।
देहादिव्यतिरिक्तत्वमेवं सिद्धं चिदात्मनः ॥ ४५ ॥
अत्र लोकायतो वक्ति देहाभिन्नत्वमात्मनः ।
अहं मनुष्य इत्येवं प्रत्यक्षेण तथेक्षणात् ॥ ४६ ॥

तात्पर्य आत्मव्यतिरिक्त अवस्तु है, इसमें है, आत्मामें मानविषयत्व है, इसमें नहीं है, अतः पूर्वोक्त कथन विरुद्ध नहीं है ॥ ४४ ॥

'स्यात्स्वप्न०' इत्यादि। स्वाप्निक व्यवहार दृक्स्वरूप आत्मासे ही होता है, इस रीतिसे चिदात्मामें देहादिव्यतिरिक्तत्वकी भी सिद्धि होती है।

शङ्का—आत्मज्योति स्वयंप्रकाश है, यह कहना अयुक्त है, दीपादिके समान भासक होनेसे उसमें अन्यभास्यत्वकी प्रसक्ति अनिवार्य है।

समाधान—सब ज्योतियोंके अस्त हो जानेपर स्वरूपदृष्टिसे चित्त और तच्चेष्टितका भान कराता हुआ जो रहता है, वही स्वयंज्योति आत्मा है, उसके भानके लिए अन्य भासककी अपेक्षा नहीं है। भासकान्तरकी अपेक्षा जड़को होती है, आत्मा उससे विलक्षण यानी अजड़ है, अन्यथा अनवस्थापत्ति होगी। जो जो भासक होगा, उसका भान यदि अन्य भासकसे होगा, तो अनवस्थादोष स्पष्ट है; अतः किसीको स्वयंप्रकाश मानना आवश्यक है। और भासकान्तरकी कल्पना दृष्टविरुद्ध भी है, क्योंकि स्वप्नादि अवस्थामें भासकान्तरकी सत्तामें कोई प्रमाण नहीं है ॥४५॥

'अत्र लोकायतो' इत्यादि।

शङ्का—यहांपर लोकायतिक (चार्वाक) कहता है कि देह ही आत्मा है, उससे अतिरिक्त आत्मा नहीं है, क्योंकि 'अहं मनुष्यः ब्राह्मणः' (मैं मनुष्य हूँ, ब्राह्मण हूँ, कृश हूँ, स्थूल हूँ) इत्यादि प्रतीति सर्वानुभवसिद्ध है। मनुष्यत्व, कृशत्व आदि देहका धर्म है, उससे अतिरिक्त आत्मामें इन धर्मोंकी सम्भावना नहीं है। और आप देहसे अतिरिक्त स्वप्रकाश वस्तुको ब्रह्माभेदार्थ ही मानते हैं, दूसरा प्रयोजन नहीं है, परन्तु देहातिरिक्त माननेपर भी ब्रह्माभेद नहीं हो सकता, कारण कि 'अहं कर्ता' इत्यादि प्रतीतिसे कर्तृत्व आदि धर्मकी प्रतीति होती है, चिन्मात्र ब्रह्ममें उक्त धर्म नहीं है, अतः अतिरिक्त कल्पना व्यर्थ है।

समाधान—आत्मा स्वप्रकाश है, अतः अनात्मगत कर्तृत्व आदि धर्मोंका योग आत्मामें नहीं है, यदि होता, तो सुषुप्ति, समाधि आदि दशामें भी उनका भान

चैतन्यं क्षितितोयाग्निमरुद्योगेन जायते ।
सर्पादेरिव कार्ष्ण्यादिर्देहधर्मस्ततश्चितिः ॥ ४७ ॥

होता । अतएव आत्मामें तादृशधर्मके सद्भावमें कोई प्रमाण नहीं है । यदि कर्तृत्व आदि भी स्वप्रकाश हैं, तो वे आत्मस्वरूप ही हो सकते हैं, उसके धर्म नहीं हो सकते । 'आत्मा अपहतपाप्मा' इत्यादि श्रौत वाक्य आत्मामें उक्त धर्मके असम्बन्धमें प्रमाण है । यदि आत्मा कर्ता होगा, तो धर्म आदिका सम्बन्ध उसमें अवश्य रहेगा । 'अहङ्कर्ता' इत्यादि प्रतीति 'नीलं नभः' के समान भ्रम है । अतएव 'नीरूपं नभः' 'अपहतपाप्मा आत्मा' इत्यादि वाक्य भी उक्त प्रत्यक्षविरुद्ध नहीं है 'यह आत्मा सर्वान्तर है' यह श्रुति जीव और ब्रह्मके अभेदमें ही अनुकूल है। 'आत्मा ब्रह्म है, वह तुम हो' इत्यादि वाक्य स्पष्ट ही आत्मैक्यपरक है ॥ ४६ ॥

शङ्का—जिसमें चैतन्य है, वही आत्मा है, देहमें चैतन्य नहीं है, अतः देह आत्मा कैसे हो सकती है ?

समाधान—'**चैतन्यम्**' इत्यादिसे। पृथिवी, जल, तेज, वायु—ये ही चार तत्त्व हैं, उनमें एक-एकमें 'चैतन्य नहीं है' पर उनके संघातभूत शरीरसे चैतन्य उत्पन्न होकर उसीमें रहता है। जैसे महुआ, गुड़ आदि जो मद्यारम्भक हैं, उनमें एक-एकमें मद्यजननशक्ति नहीं है, किन्तु उनके समुदायमें पाई जाती है, वैसे ही प्रकृतमें भी समझना चाहिए। अतएव चार्वाकोंका श्लोक है कि 'किण्वादिभ्यः समेतेभ्यो द्रव्येभ्यो मदशक्तिवत्' समुदित चार भूतोंमें चैतन्य है, अतः देह ही आत्मा है । चैतन्य और देहके धर्मधर्मिभावमें प्रत्यक्ष ही प्रमाण है ।'कृष्णः सर्पः' इत्यादि प्रत्यक्षादि प्रतीतिसे कृष्णत्व और सर्पमें धर्मधर्मिभावकी सिद्धि होती है, वैसे 'अहं मनुष्यः कृशः' इत्यादि समानाधिकरण्यप्रतीतिसे मनुष्यत्वजातिमान् अहमर्थ चैतन्य देहका धर्म है । उसमें प्रत्यक्ष प्रतीति प्रमाण है । देहातिरिक्त आत्मामें प्रमाण नहीं है यानी देहातिरिक्त अर्थ अहं प्रतीतिका विषय दृष्ट नहीं है। अतः कृष्णसर्पवत् 'अहं मनुष्यः' इत्यादि प्रतीति चैतन्य और देहके धर्मधर्मिभावमें ही प्रमाण है ।

शङ्का—सर्प और उसके धर्मसे अतिरिक्त इन दोनोंमें धर्मधर्मिभावका ग्रहण करनेवाला प्रमाता है, अतः अनात्मा सर्पमें कार्ष्ण्य प्रमा उचित है, किन्तु आत्मचैतन्यमें धर्मधर्मिभाव प्रमा ठीक नहीं है, क्योंकि तदतिरिक्त यहाँ प्रमाता नहीं है । अन्यो-न्याश्रयसे स्वमें स्वयं धर्मधर्मिभावका ग्रहण नहीं कर सकता एवं कार्ष्ण्य और सर्प—

चैतन्यं देहधर्मश्चेन्मृतावविकलस्य तत् ।
कस्मान्नेति न मन्तव्यं वायुना विकलत्वतः ॥ ४८ ॥
यः स्वप्नदेहमद्राक्षं सोऽहं पश्याम्यदो वपुः ।
इत्येषा प्रत्यभिज्ञाऽन्यमात्मानं गमयेद् यदि ॥ ४९ ॥

ये दोनों जड़ हैं, इसलिए इनमें धर्मधर्मिभाव होता है। चिति उससे विलक्षण है; अतः उसमें उक्त दोषसे धर्मधर्मिभाव नहीं हो सकता ।

प्रश्न—चिति अजड़ है, यह ठीक है, पर वह देहका धर्म क्यों नहीं हो सकती ?

उत्तर—एकबुद्धिबोध्यमें ही धर्मधर्मिभाव होता है। जैसे रूप और रूपवान्का, यह 'नीलो घटः' इत्यादिमें प्रसिद्ध है, वैसे ही चित् और जड़का एक बुद्धिमें भान नहीं हैं, कारण कि चित् अविषय है, अतः उन दोनोंमें धर्मधर्मिभाव नहीं है।

प्रश्न—युक्तिसे आप धर्मधर्मिभावका खण्डन करते हैं, परन्तु प्रत्यक्षविरोधसे युक्ति आभास है। प्रत्यक्ष और अनुमानके विरोधमें प्रत्यक्ष प्रबल है।

उत्तर—अच्छा, तो उक्त धर्मधर्मिभावमें प्रत्यक्षविरोध लीजिये—शरीरमें इदं प्रतीति होती है, जैसे घट आदिमें उक्त बुद्धि होती है, आत्मामें अहं प्रतीति होती है, अतः घट और आत्माका जैसे धर्मधर्मिभाव नहीं है वैसे ही शरीर और आत्माका भी धर्मधर्मिभाव नहीं है ॥ ४७ ॥

'चैतन्यम्' इत्यादि। यदि चैतन्यको रूप आदिके समान देहधर्म मानते हो, तो मरणानन्तर अविकल देहमें चैतन्यकी प्रसक्ति हो जायगी, पर होती नहीं है, यदि होगी, तो मरणाभावकी प्रसक्ति हो जायगी।

समाधान—पृथिवी आदि चार भूतोंके संघातभूत देहमें हम चैतन्य मानते हैं, मरणोत्तर शरीरमें वायु नहीं है, अतः तादृश संघात नहीं है, तो चैतन्यप्रसक्तिकी आपत्ति कैसे ? तादृश समुदायियोंमेंसे एकके भी वियोगसे तादृश समुदायाभावप्रयुक्त समुदायगत कार्यभूत तादृश धर्मका (चैतन्यका अभाव) अनुभव सिद्ध है॥ ४८ ॥

'यः स्वप्नदेह०' इत्यादि। जिस मैंने स्वप्नदेहको देखा था, वही मैं जागरावस्थाका यह वर्तमान शरीर देखता हूँ, यह प्रत्यभिज्ञा शरीरसे अन्य आत्माका बोधन करती है। भाव यह है कि स्वप्नावस्थामें पूर्वसंस्कारवश किसीको यह स्वप्न होता है कि हम राजा हैं अथवा व्याघ्र हैं, उस समय वह राजोचित तथा व्याघ्रोचित

तन्न स्वप्ने यतोऽभिज्ञा भ्रान्ता न प्रमितिस्ततः ।
दूरापेता प्रत्यभिज्ञा नाऽऽत्माऽतो भिद्यते तनोः ॥ ५० ॥

भोगका अनुभव करता है । जागनेपर वह शरीर बाधित हो जाता है और वर्तमान शरीरको देखकर उसको यह प्रत्यभिज्ञा होती है कि जिस मैंने राजा आदिके शरीरसे युक्त होकर तदुचित भोगका अनुभव किया था, वह मैं इस अवस्थामें इस शरीरको देखता हूँ । जाग्रत् मनुष्यकी देहसे स्वाप्निक राजा आदिकी देह भिन्न है, इसमें तो किसीको विवाद ही नहीं है, पर दोनों अवस्थाओंमें आत्मा एक ही है, अतः उभयदेहगत चैतन्य एक है, यह उक्त प्रत्यभिज्ञासे सिद्ध होता है । देहान्तर धर्मका अन्य देहगतत्वरूपसे अर्थात् व्याघ्रत्व आदि धर्मका मनुष्यशरीरगतत्वरूपसे प्रत्यभिज्ञान होता नहीं, अतः चैतन्य देहद्वयारम्भक भूतसमुदाय और तदारब्ध दो देहोंसे भिन्न है, अतः यह सिद्ध होता है कि देह आत्मा नहीं है ।

समाधान—ठीक है, परन्तु इसपर भी दृष्टि दीजिये कि जिस मैंने बाल्यावस्थामें माता और पिताका अनुभव किया था, वही मैं वृद्धावस्थामें परपोतेका अनुभव करता हूँ, यह भी प्रत्यभिज्ञा होती है, अतः बालदेहविशिष्ट चैतन्यसे अन्वित युवकशरीरका एवं युवकशरीरविशिष्ट चैतन्यसे युक्त स्थविर शरीरका भूतसमुदाय आरम्भक होता है, अतः शरीरका भेद होनेपर भी चैतन्यभेदाभावप्रयुक्त प्रत्यभिज्ञा होती है एवं जाग्रद्देहगत चैतन्यविशिष्ट ही अन्य देहका स्वप्नमें आरम्भ होता है, इस लिए देहभेद होनेपर चैतन्याभेदसे उक्त प्रत्यभिज्ञाकी अनुपपत्ति नहीं होती ॥४९॥

पूर्वश्लोकोक्त 'यदि' शब्दसे सूचित अरुचिको स्फुट करते हैं—**'तन्न स्वप्ने'** इत्यादिसे ।

स्वप्नादिदेहगत चैतन्यकी प्रत्यभिज्ञाको प्रमाण मानकर उक्त समाधान अभ्युपगमवादसे किया है । वस्तुतः प्रत्यभिज्ञा प्रमाण ही नहीं है । अभिज्ञाविषयक प्रत्यभिज्ञा होती है । 'मायामात्रं तु कार्त्स्न्येनानभिव्यक्तरूपत्वात्' इस सूत्रसे स्वाप्निक ज्ञान मिथ्या है, यह प्रतिपादन किया है; अतः उसके समान चैतन्य भी मिथ्या ही है, उसकी प्रत्यभिज्ञा भ्रान्ति है । बाल्य आदिके समान स्वप्नमें देहकी प्रमात्मक प्रतीति नहीं होती है, जातिस्मर पुरुष भी होते हैं, जो वर्तमान समयमें पूर्व जातिका स्मरण करते हैं, जैसे मैं पूर्व जन्ममें शूद्र था और इस जन्ममें ब्राह्मण हूँ । इससे शरीरसे अतिरिक्त आत्मा स्पष्ट सिद्ध होता है । शूद्र और ब्राह्मण शरीर तो एक नहीं हो

आत्मज्योतिः श्रुतौ यत्तु वर्णितं तच्च भौतिकम् ।
देहाद्यनुग्राहकत्वादादित्यादिप्रकाशवत् ॥ ५१ ॥

सकते, दो देहोंमें रहनेवाली आत्मा एक और उनसे अतिरिक्त है, इस दृष्टान्तसे सब शरीरोंमें आत्मा उनसे अतिरिक्त ही सिद्ध होता है । अतिरिक्तवादीके मतमें जातिस्मरण होता है, यह भी ठीक नहीं है, पूर्वजन्ममें शरीरके जिस अवयवमें शस्त्र आदिसे व्रण हुआ था, वर्तमान जन्ममें भी दैवात् व्रण हो गया, तो उसका भी स्मरण होता है, अतः देहको ही आत्मा क्यों नहीं कहते हो । किञ्च, आप जातिस्मरणको—स्मृति और प्रत्यभिज्ञाको—क्या प्रमाण मानते हैं, स्मृति स्वयं अप्रमाण है । उक्त न्यायसे प्रत्यभिज्ञा भी अप्रमाण है, अथवा पूर्वोक्त स्वप्नजाग्रद्-देहस्थ चैतन्यविशिष्ट देहान्तरका आरम्भक भूतसमुदाय होता है, इस प्रकार प्रत्यभिज्ञा भूतचैतन्यवादीके मतसे भी उपपन्न हो जाती है, अतः देहसे अतिरिक्त आत्मामें उक्त प्रमाणोंमें से कोई प्रमाण नहीं है ।

शङ्का—सव्रण पूर्वदेह भस्म हो गया है, इससे वह इस समय प्रत्यभिज्ञाका विषय नहीं हो सकता ।

समाधान—सव्रण देहके आरम्भक भूतोंमें प्रत्यभिज्ञा हो सकती है, पूर्वमें असत् देह तो था नहीं और न आरम्भक भूतोंके बिना उत्पन्न ही हो सकता है, केवल भेद इतना है कि आप सव्रण देहके आरम्भक भूतोंमें प्रत्यभिज्ञाको मानते हैं, हम उनसे आरब्ध देहमें मानते हैं ॥ ५० ॥

'आत्मज्योतिः' इत्यादि ।

शङ्का—आदित्य आदि दृष्टान्तसे देहातिरिक्त ज्योति श्रुतिसे सिद्ध होती है, अतः वह देहधर्म कैसे होगी ?

समाधान—आखिर आदित्य भौतिक ही है, अतः उसके दृष्टान्तसे जो ज्योति सिद्ध होती है, वह भी भौतिक होनेसे भूतधर्म ही होगी । अनुग्राहकत्व—व्यञ्जकत्व है, 'विमतं भौतिकम्, देहादिव्यञ्जकत्वाद् आदित्यादिवत्' यह अनुमान भी मेरे अर्थमें प्रमाण है । उपकार्यसजातीय ही उपकारक संसारमें देखा जाता है, आदित्य और चक्षु ये भौतिक हैं, अतः उपकारक चैतन्य भी भौतिक ही होगा । विमतं देहादिजातीयम्, उपकारकत्वाद्, आदित्यवत्' यह अनुमान उक्त अर्थमें प्रमाण है । भौतिक कुम्भ आदि भौतिक आदित्य आदिसे व्यक्त होता है, एवं भौतिक देहादिका उपकार भौतिक ज्योतिसे ही कहना ठीक है । यदि देह आदिसे अतिरिक्त भी

चाक्षुषत्वप्रसङ्गोऽस्य नाऽन्तःस्थातीन्द्रियत्वतः ।
अन्तःस्थातीन्द्रियं यत्तच्चक्षुरादि न चाक्षुषम् ॥ ५२ ॥
तस्मात्प्रत्यक्षमानेन देहे चिद्धर्मकेऽञ्जसा ।
गृह्यमाणे ततो भिन्नमात्मज्योतिर्न कल्प्यताम् ॥ ५३ ॥

ज्योति है, तो भी व्यञ्जक होनेसे असजातीय नहीं हो सकती, विमतं देहादि-सजातीयम्, व्यञ्जकत्वात्, प्रदीपवत्' यह अनुमान भी है ॥ ५१ ॥

'चाक्षुषत्व०' इत्यादि ।

शङ्का—यदि उक्त ज्योतिको भौतिक मानियेगा, तो चाक्षुषत्वकी प्रसक्ति भी हो जायगी ।

समाधान—जो अन्तःस्थ तथा अतीन्द्रिय है, वह चाक्षुष नहीं हो सकता, जैसे चक्षु आदि इन्द्रियाँ चाक्षुष नहीं हैं वैसे ही उक्त ज्योति भी उक्त धर्मसे चाक्षुष नहीं हो सकती ॥ ५२ ॥

पूर्वपक्षका उपसंहार करते हैं—**'तस्मात्'** इत्यादिसे ।

'अहं गौरः' इत्यादि प्रत्यक्षसे चिद्धर्मविशिष्ट देहका ग्रहण होता है, अतः देहानात्मत्वका अनुमान नहीं हो सकता, जैसे प्रत्यक्षसे अग्निमें उष्णत्वका ग्रहण होता है, उससे विरुद्ध 'वह्निः अनुष्णः, कृतकत्वात्, घटवत्' यह अनुमान नहीं होता, वैसे ही उक्त प्रत्यक्षविरोधसे प्रकृत अनुमान भी नहीं हो सकता, देहव्यतिरिक्त ज्योति अनुमानसे सिद्ध नहीं हो सकती ।

शङ्का—देहः स्वव्यतिरिक्तद्रष्टृकः, दृश्यत्वाद्, घटवत्' इस अनुमानसे देहसे अतिरिक्त ज्योतिकी सिद्धि होगी, यह कथन भी ठीक नहीं है, क्योंकि प्रत्यक्षविरोध है । अव्यभिचारसे दर्शन आदि क्रियाकारी शरीर दृष्ट है, अतः यह भी अनुष्णत्वके अनुमानके समान बाधित है ।

शङ्का—देहमें कदाचित् दर्शन कदाचित् अदर्शन होता है, यदि यह देह-निबन्धन है, तो इसकी उपपत्ति कैसे ?

समाधान—जैसे खद्योतमें कादाचित्क दर्शन और अदर्शन होते हैं, वैसे ही देहमें भी उपपन्न होंगे ।

शङ्का—खद्योतमें भी भास्वरत्व, अभास्वरत्व आदि स्वाभाविक नहीं हैं, किन्तु

अत्रोच्यते सर्वतीर्थदृशां स्वेष्टस्य वस्तुनः ।
सिद्धिर्यदभ्युपगमात्तत्सिद्धिर्वार्यते कुतः ॥ ५४ ॥
अहं मनुष्य इत्यस्य प्रत्यक्षस्य न मानता ।
अज्ञातज्ञापकत्वाख्यमानलक्षणवर्जनात् ॥ ५५ ॥

हेत्वन्तर सापेक्ष है, 'भास्वरत्वादि हेत्वन्तरकृतम्, कादाचित्कत्वात्, घटवत्' यह भी अनुमान प्रत्यक्ष-विरोधसे अयुक्त है ।

शङ्का—यदि स्वाभाविक धर्म नहीं मानियेगा, तो वह्निगत अनुष्णत्व आदि भी हेत्वन्तर सापेक्ष होगा ?

समाधान—इष्ट ही है, यह भी प्राणीके धर्माधर्मनिमित्तक ही है।

शङ्का—औष्ण्यादिहेतुत्व धर्म स्वभाव है या अतिरिक्त ? प्रथम पक्षमें अग्नि स्वभाव ही मानना उचित है । द्वितीय पक्षमें उसमें भी अन्य हेतुकी कल्पना करनेमें अनवस्था दोषकी प्रसक्ति स्फुट है, अतः स्वभाववाद ही श्रेयान् है । साधारण प्राणीके कर्मोंसे अग्नि आदिमें उष्णत्व होता है और दाह आदि न होनेमें प्राणियोंके असाधारण कर्म हेतु हैं, ऐसा माननेमें कोई क्षति नहीं है ।

समाधान—धर्ममें प्रत्यक्ष प्रमाण तो आप भी नहीं मानते । हमारे मतमें प्रत्यक्षसे अतिरिक्त प्रमाण है नहीं, 'नाप्रत्यक्षं प्रमाणम्' यह चार्वाकका सिद्धान्त है, अतः धर्म ही नहीं है, धर्मान्तरापेक्षा तो सुदूर निरस्त है। और प्रथम धर्म यदि धर्मान्तर-सापेक्ष है, तो द्वितीयधर्म भी धर्मान्तरसापेक्ष होगा, इस अवस्थामें अनवस्था दृढ़ है । अतः भूतसंघात देहात्मना परिणत होता है, इससे चैतन्यशक्तिका प्रादुर्भाव होता है, यह प्रत्यक्ष सिद्ध है, उससे अतिरिक्त आत्मकल्पना व्यर्थ है ॥ ५३ ॥

'अत्रोच्यते' इत्यादि। सब वादियोंको स्वस्व इष्टके व्यवस्थापक निर्विकार स्वयं-प्रकाश चिद्धातु मानना अत्यावश्यक है, अन्यथा किसी पदार्थकी सिद्धि नहीं हो सकेगी । जो सब पदार्थोंका साधक है, उसकी सिद्धिका वारण आप कैसे कर सकते हैं । जो यह कहा कि प्रत्यक्ष विरोधसे आत्मैकत्वकी सिद्धि नहीं होती, सो ठीक नहीं है, क्योंकि औपनिषद मतमें अद्वय आत्मासे अतिरिक्त कोई पदार्थ ही नहीं है । ऐसी अवस्थामें प्रत्यक्षमें प्रामाण्य कहां ? अप्रमाण प्रत्यक्ष अकिञ्चित्कर है ।

शङ्का—आत्मव्यतिरिक्त स्तम्भ आदि विषय हैं, उनमें प्रत्यक्ष प्रमाण हो सकता है, अतः तद्विषयासत्त्व कैसे ? ॥ ५४ ॥

समाधान—'अहम्' इत्यादि । 'अहं मनुष्यः अयं स्तम्भः' इत्यादि प्रत्यक्ष

देहात्मत्वमविज्ञातं तद्बोधाच्चेत् प्रमाणता ।
तदविज्ञातता केन सिध्यतीति निरूप्यताम् ॥ ५६ ॥
जडत्वान्न स्वतः सिद्धिर्नाऽपि मानाद्विरोधतः ।
निहन्त्यज्ञाततां मानं ज्ञातताजनकत्वतः ॥ ५७ ॥

भी प्रमाण नहीं है, क्योंकि अज्ञातज्ञापकत्व ही प्रमाणत्व है, वह उन प्रत्यक्षोंमें नहीं है, तात्पर्य यह कि सब विद्वानोंके मतमें अज्ञातज्ञापकत्व ही प्रमाणका लक्षण है, वह आपके सम्मत प्रमाणमें नहीं घटता। प्रमाणकी उत्पत्तिसे पहले अज्ञात स्तम्भ आदिकी सत्ताका साधक कोई है नहीं, अतः अज्ञात विषय ही असिद्ध है।

शङ्का—साधकका अभाव कैसे है? प्रमाण ही साधक है।

समाधान—'स्तम्भः, अहम्' इत्यादि प्रत्यक्ष प्रमाकी उत्पत्तिमें स्तम्भ, देह आदि विषय कर्मविधया कारण हैं, कार्याव्यवहित पूर्वक्षणमें कारणकी सत्ता होनी चाहिए। उक्त प्रमा स्वोत्पत्तिके बाद उक्त विषयकी सत्ताकी साधक हो सकती है, परन्तु अज्ञात तद्विषयकी पूर्वमें सत्ता है नहीं, अतः विषयका अभाव होनेसे तद्विषयक प्रमाकी उत्पत्ति ही असम्भव है ॥ ५५ ॥

'देहात्मत्वम०' इत्यादि। उक्त रीतिसे अविज्ञात देहात्मतत्त्वके बोधक अहमादिज्ञानको यदि प्रमाण कहते हो, तो तादृश ज्ञानकी उत्पत्तिसे पहले अज्ञात देह आदिकी सत्ता किससे सिद्ध होती है? उसे कहो, नित्यानुभवके स्वीकारके बिना उसकी सत्ता सिद्ध नहीं हो सकती, नित्यानुभव आप मानते नहीं हैं।

अपि च स्वतःसिद्ध देह आदि विषयको उक्त प्रमाणका विषय मानते हो या असिद्ध? उभयथा भी प्रमाण उत्पन्न नहीं हो सकता, क्योंकि देहादि जड़ हैं, अतः उनकी स्वतःसिद्धि हो नहीं सकती। असिद्ध देह आदि शशशृङ्गादिके समान प्रमाकारण ही नहीं हो सकते ॥ ५६ ॥

'जडत्वात्' इत्यादि। देह आदि जड़ हैं, अतः वे स्वतःसिद्ध नहीं हो सकते, ऐसी अवस्थामें उनकी मानसे भी सिद्धि विरुद्ध है।

शङ्का—क्यों?

समाधान—प्रमाण अज्ञातत्वांशका नाशक है। प्रमाणकी उत्पत्तिके बाद उसका विषय ज्ञात हो जायगा, अज्ञात नहीं रहेगा। प्रमाणके बिना भी यदि अज्ञात विषय जाने जायँ, तो कहिए प्रमाणका फल क्या होगा? प्रमेयसिद्धि ही प्रमाणका फल

मानादज्ञातता चेत्स्यात्तन्निवृत्तिः कुतो भवेत् ।
न दाहज्वरनुत्त्यर्थमग्निना स्याद् भिषक्क्रिया ॥ ५८ ॥

माना जाता है। यदि प्रमाणके बिना भी अज्ञात विषयोंको जानते हैं, तो ज्ञात विषय भी प्रमाणके बिना जाने जा सकते हैं फिर प्रमाणकथा ही व्यर्थ है। यदि विषय स्वतः असिद्ध हैं, तो वे प्रमाणसे भी अभिव्यक्त नहीं हो सकते। असत् शशशृङ्ग सूर्यसे कहाँ अभिव्यक्त होता है ?

शङ्का—प्रमाणको यदि असत्का व्यञ्जक नहीं मानते हो, तो असत् स्वयं-प्रकाश है क्या ?

समाधान—प्रमाणके बिना असत्त्व भी सिद्ध नहीं होता है।

शङ्का—तो क्या असत्त्वेन असत्का प्रकाश प्रमाणसे होता है ? यदि हाँ, तो प्रमाण असत्का प्रकाशक नहीं है, यह कैसे कहते हो ?

समाधान—ठीक है, परन्तु प्रश्न यह है कि मान और मेयका अभेद है या भेद ? प्रथम पक्षमें मानमेय-व्यवस्था भेदघटित होनेसे अभेद असङ्गत है। द्वितीय पक्षमें अज्ञात यदि सम्भावित होगा, तो उसका ज्ञापक होनेसे उसका ज्ञान प्रमाण होगा, परन्तु आपके मतमें अज्ञात, सत् हो या असत्, सिद्ध ही नहीं हो सकता, अतः प्रमाण नहीं है। सारांश यह है कि विषय चाहे सत् हो या असत् ? सबमें अज्ञातज्ञापकत्व ही प्रमाणत्व है। नित्यानुभवके बिना अज्ञात प्रमेय आपके मतमें सिद्ध नहीं होता, अतः प्रमाणप्रमेयभाव दुर्घट है।

शङ्का—तो आपके मतमें प्रमाणप्रमेयभाव कैसे होता है ?

समाधान—सुनिये, हमारे मतमें प्रमाणोत्पत्तिसे पहले अज्ञात शुक्तिकी सत्ताका साधक मान है। 'सर्वो हि विषयः ज्ञाततया अज्ञाततया वा साक्षिचैतन्यस्य विषयः' इस सिद्धान्तके अनुसार वह मान चैतन्य है, तद्विषय अज्ञात शुक्ति पूर्वसिद्ध है, उसमें शुक्तिज्ञान अज्ञातज्ञापकत्वेन प्रमाण है।

शङ्का—शुक्तिरजत भी ज्ञानसे पहले अज्ञात है, अतः उसका ज्ञान भी प्रमाण हो जायगा।

समाधान—शुक्तिके समान अज्ञात रजत पहले नहीं है, कारण कि शुक्तिमें भ्रमात्मक रजतज्ञान है, अतएव वह अज्ञातका साधक नहीं है, क्योंकि बाध्य होनेसे आत्मवत् ज्ञात नहीं है ॥ ५७ ॥

'मानाद्०' इत्यादि। अज्ञातत्व यदि मानसे सिद्ध होता है, तो उसकी निवृत्ति

मा भूदज्ञाततासिद्धिरिति चेत्कस्य मेयता ।
प्रमितभ्रान्तशून्यानां युज्यते न प्रमेयता ॥ ५९ ॥

किससे होगी ? मानसे ही उसकी निवृत्ति कहना तो दाहज्वरनिवृत्तिके लिए अग्निके तापनेके समान है । यदि वैद्य दाहज्वरकी निवृत्तिके लिए दाहज्वरीको अग्नि तपानेकी क्रिया करेगा, तो दाहज्वर और बढ़ेगा, घटेगा नहीं, कारण कि जो जिसका हेतु है, उससे उसकी निवृत्ति नहीं होती, अतः अज्ञातत्व प्रमाणसिद्ध नहीं है ॥ ५८ ॥

'मा भूदज्ञातता०' इत्यादि ।

शङ्का—अज्ञातत्व प्रमाणसिद्ध मत हो ?

समाधान—यदि वह प्रमाणसिद्ध नहीं होगा, तो उसकी अनुभवसे सिद्धि कैसे होगी ? जैसे प्रमाण आदिकी वेलामें साक्षीका स्वरूप स्वतः अनुभूत होता है, अन्य अनुभवसे नहीं, अन्यथा अनवस्थादोषकी प्रसक्ति हो जायगी, वैसे ही अज्ञानदशामें तादृश अनुभवसे ही अज्ञातत्वकी सिद्धि होती है, अतः ज्ञातत्व और अज्ञातत्व—ये दोनों अनुभवसिद्ध हैं और प्रमाणके व्यापारके अनन्तर ज्ञातत्व और अज्ञातत्व ये दोनों अनुभवसे ही प्रतीत होते हैं । अज्ञातमें भी अनुभवसे अतिरिक्तकी अपेक्षा नहीं है, इससे दोनों अनुभवसिद्ध हैं, यह मानना चाहिए ।

शङ्का—जो ज्ञातत्वसाधक अनुभव है, उसमें प्रमाणका व्यापार है अथवा नहीं है ? प्रथम पक्षमें उसमें भी अनुभाव्यत्वापत्ति होगी । द्वितीय पक्षमें असत्त्वकी आपत्ति होगी ?

समाधान—प्रमाणाविषय घट आदिका जैसे अपलाप होता है, वैसे अनुभूतिका, निश्चयसे पूर्व तदर्थ प्रमाणविरह होनेपर भी, अपलाप नहीं होता ।

शङ्का—प्रमाणके बिना यदि अनुभवको मानते हो, तो उसमें प्रमाण व्यर्थ है ?

समाधान—नहीं, आत्माके अज्ञानकी निवृत्तिके लिए प्रमाणकी आवश्यकता है ।

शङ्का—अनुभव-स्वरूप आत्मामें अज्ञान नहीं रह सकता, फिर उसकी निवृत्तिके लिए प्रमाणकी क्या आवश्यकता है ?

समाधान—अज्ञानका साधक अनुभव है, अतः प्रमाणके बिना अज्ञानकी निवृत्ति नहीं हो सकती, अतः अज्ञात अर्थमें प्रत्यक्षप्रामाण्यके लिए अज्ञातत्व आवश्यक है । यह नित्य अनुभवके अधीन है, इसलिए नित्य अनुभव प्रत्यक्ष-प्रामाण्य चाहनेवालोंके लिए भी आवश्यक है ॥ ६६ ॥

अज्ञातोऽर्थः प्रमेयोऽतो वक्तव्यं तस्य साधकम् ।
स्वप्रकाशात्मनोऽन्यः को यथोक्तां धुरमुद्वहेत् ॥ ६० ॥
प्रत्यक्षमेकं मानं चेत्सा प्रत्यक्षस्य मानता ।
यस्य प्रसादतः सिद्धा स आत्मेत्यभ्युपेयताम् ॥ ६१ ॥

'अज्ञातोऽर्थः' इत्यादि । अज्ञात (घट आदि) अर्थ प्रमेय है, अतः अज्ञात अर्थका साधक बतलाना चाहिए, क्योंकि प्रमाणके बिना जड़की सिद्धि नहीं होती । साधकत्वका भार स्वप्रकाश नित्य अनुभवसे भिन्न अन्य कौन उद्वहन कर सकता है? अर्थात् कोई नहीं ।

शङ्का—नित्य अनुभवको अज्ञातत्वका साधक मानिये, परन्तु आत्माको उससे भिन्न ही मानें, तो क्या दोष है ?

समाधान—उससे अतिरिक्त स्थूल देह है अथवा सूक्ष्म देह है, अतः कहो उनमें से किसे आत्मा मानोगे ? प्रथम पक्षमें दोष यह है कि वागादि व्यापारका कर्ता शब्द आदिसे विशिष्ट है और 'मम देहः' ऐसा आत्मा मानता है । यदि वही आत्मा होता, तो भेदार्थका प्रयोग ही असंगत हो जायगा । और प्रत्यक्षसिद्धमें किसीका विवाद नहीं होता, सब दार्शनिकोंका आत्मस्वरूपमें विवाद देखा जाता है, अतः स्थूल देह आत्मा नहीं है ।

शङ्का—तो 'मनुष्योऽहम्' यह प्रतीति कैसे ?

समाधान—'अयो दहति' यह प्रतीति जैसे अध्याससे होती है, वैसे ही देहमें आत्मतादात्म्याध्याससे उक्त प्रतीति होती है । द्वितीय पक्षमें दोष यह है कि तत्-तत् विषयेन्द्रियोंका सम्बन्ध होनेपर सुख, दुःख, राग आदिमान् प्रमाता प्रत्यगात्मासे बाह्य प्रतीत होता है, अतः बाह्यरूपसे प्रतीयमान देह आदिके समान प्रमाता भी आत्मा नहीं है ।

शङ्का—'अनुभवोऽपि नात्मा, प्रमात्रादिविषयत्वाद्, देहवत्' इस अनुमानसे वह भी आत्मा नहीं हो सकता ?

समाधान—अनुभव विषयी है, विषय नहीं है, अतः प्रमात्रादिविषयत्व हेतु स्वरूपासिद्ध है। ऐकान्त श्रुतिसे प्रत्यक्ष विरुद्ध नहीं है। पुण्य, पाप आदि दो देहोंके धर्म हैं, आत्मा शुद्ध है, क्योंकि 'आत्मा अपहतपाप्मा' ऐसी श्रुति है, 'आत्मा ब्रह्म' इत्यादि वाक्य प्रत्यक्षाविषय आत्मैक्यपरक है, अतः प्रत्यक्षविरोध भी नहीं है ॥६०॥

'प्रत्यक्ष०' इत्यादि । चार्वाकके मतमें एक प्रत्यक्ष ही प्रमाण है, अनुमान

प्रमाणं मेयविषयं तत्फलं मातृसंश्रयम् ।
इति यत्साक्षिकं सिद्ध्येत्स आत्मेत्यभ्युपेयताम् ॥ ६२ ॥
शब्दादींस्तदभावं च संशयानृतनिश्चयात् ।
विविच्य योऽनुगृह्णाति स आत्मेत्यभ्युपेयताम् ॥ ६३ ॥

आदि नहीं, परन्तु प्रामाण्य अज्ञातज्ञापकत्वस्वरूप है । वह नित्य अनुभवके अधीन है, उक्त रीतिसे नित्य अनुभवसे ही अज्ञात पदार्थकी सत्ता सिद्ध होती है, अन्यथा नहीं, अतः प्रत्यक्षमें प्रामाण्यके अभिलाषी चार्वाकको भी कूटस्थ नित्य अनुभव मानना आवश्यक है, क्योंकि नित्य अनुभवके प्रसादसे प्रत्यक्ष प्रमाण सिद्ध होता है । अतः उस आत्माको अवश्य मानिये, अन्यथा प्रत्यक्ष प्रमाण भी सिद्ध नहीं होगा ।

शङ्का—चार्वाक और बौद्ध नित्यानुभवको मानते ही नहीं हैं । वैशेषिक और नैयायिक नित्यानुभवको मानते हैं, पर उसको ईश्वरका गुण मानते हैं, अतः नित्यानुभवस्वरूप आत्मा कैसे सिद्ध हुआ ?

समाधान—ये सब प्रत्यक्षको प्रमाण यद्यपि मानते हैं, तथापि उक्त रीतिसे नित्यानुभवके बिना प्रत्यक्षमें प्रामाण्य ही नहीं सिद्ध होता, अतः गलेपादुकान्यायसे नित्यानुभव उनको भी मानना ही पड़ेगा और मानमेयादिभेदका भान भी स्वप्रकाश नित्यानुभवके बिना नहीं हो सकता, अन्यथा अनवस्थादोषकी प्रसक्ति हो जायगी । वैशेषिक और नैयायिक आगम माननेवाले हैं, आगममें नित्यानुभव सिद्ध ही है, इसलिए भी नित्यानुभव सर्वमान्य हुआ ॥ ६१ ॥

'प्रमाणम्' इत्यादि । मेयविषयक मान और मातृनिष्ठ प्रमाणका फल—ये दोनों जिस साक्षीसे सिद्ध होते हैं, उसको आत्मा मानिये । प्रत्यक्ष प्रमाण है, यह तो निर्विवाद है, परन्तु उसका निश्चय कैसे होगा ? क्योंकि प्रत्यक्ष स्वयं स्वप्रामाण्यका ग्रहण नहीं कर सकता । स्वग्रहणके बिना स्वनिष्ठ प्रामाण्यका ग्रहण हो नहीं सकता । कर्मकर्तृविरोधसे स्वसे स्वका ग्रहण होता नहीं है । कैसा भी सुशिक्षित खेलाडी क्यों न हो, पर अपने कन्धेपर वह स्वयं नहीं चढ़ सकता एवं ज्ञान भी अपनेको ग्रहण नहीं कर सकता, फिर उसके प्रामाण्यका ज्ञान दूर पराहत है; अतः उसकी साधक आत्मज्योति है, यह मानना चाहिए ॥ ६२ ॥

'शब्दादीन्' इत्यादि । जागरादि अवस्थामें शब्द आदि विषयका असङ्कीर्ण व्यवहारहेतु नित्यानुभव ही है । शब्दादि [आदिसे स्पर्श आदि विवक्षित हैं], तदभाव

देहेन्द्रियमनोबुद्धिसुखादीन्यो घटादिवत् ।
वेत्त्येनमन्तरात्मानं स्वप्रकाशं विनिश्चिनु ॥ ६४ ॥

(शब्द आदिका अभाव), 'स्थाणुर्न वा' यह ज्ञान संशय, शुक्तिरजतज्ञान मिथ्या (अनृत) और 'यह देवदत्त ही है' इत्यादि निश्चय है—इन सबका विवेकपूर्वक जो ग्रहण करता है, वह आत्मा है, यह निश्चय करो । ज्ञानान्तरसे इनका ग्रहण माननेपर अनवस्था दोष कह चुके हैं । सब ज्ञान मनमें होते हैं । मन जड है, अतः वह विवेक नहीं कर सकता ।

शङ्का—मानसे ही मेय (शब्द आदि) सिद्ध होंगे, उसके लिए त्वदुक्त अनुभवकी क्या आवश्यकता है ?

समाधान—मानका फल मेयमें नहीं है, किन्तु मातामें है, माता मानका विषय नहीं है । जो मेय मानका विषय है, उसमें उसका फल नहीं है, अतः स्वाविषय धमका उससे ग्रहण कैसे हो सकता है ?

शङ्का—अच्छा, तो माताको भी मानविषय मानिये, मेय ही मानविषय है, यों दुराग्रहकी क्या आवश्यकता ?

समाधान—संवेदन विषयनिष्ठ होता, तो माताको विषय करता, संवेदनको संवेद्यनिष्ठ माननेसे संवेद्यमें चेतनत्वकी प्रसक्ति हो जायगी, माताको मानगोचर माननेसे अनवस्था होगी । प्रमा, माता, फल आदिका साधक ज्योतिरूप आत्मा है ।

शङ्का—'विमतो न नित्यः, अनुभवत्वाद्, घटाद्यनुभववत्' इस अनुमानसे नित्यानुभवाभाव ही सिद्ध होता है ?

समाधान—ऐसा नहीं है, सब ज्ञान व्यभिचारी हैं, नित्यानुभव आत्मज्योति ही अव्यभिचारी है । व्यभिचारी ज्ञानसे अव्यभिचारी ज्ञानका निराकरण नहीं हो सकता ॥ ६३ ॥

'देहेन्द्रिय०' इत्यादि । देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, सुख, आदिसे (सुखेच्छा आदि) ये सब घटादिके समान हैं, जड अपने स्वरूपका ही प्रकाशक नहीं होता, दूसरेके प्रकाशकी इनसे क्या सम्भावना ? आत्मज्योतिके बिना ये स्वयं अप्रत्यक्ष हैं, इनका प्रत्यक्ष स्वप्रकाश आत्मासे ही है, अतः देहादिको जो जानता है, उसको स्वप्रकाश अन्तरात्मा जानो ॥ ६४ ॥

द्रष्टृदर्शनदृश्यानि यः स्वप्ने प्रसमीक्षते ।
तदभावं सुषुप्ते च स आत्मेत्यभ्युपेयताम् ॥ ६५ ॥
सर्वेषां वादिनां स्वस्वमतमेतत्प्रसादतः ।
सिध्यतीति विवादोऽस्मिन्कर्तुं शक्यो न केनचित् ॥ ६६ ॥
सत्येवं यत्तु चैतन्यं देहधर्मतयोदितम् ।
चिदाभासः स विज्ञेय आस्तामेष यथा तथा ॥ ६७ ॥

जो कहता है कि देह आदिसे अतिरिक्त आत्मा दृष्ट नहीं, उसके प्रति कहते हैं—'**द्रष्टृदर्शन०**' इत्यादिसे ।

द्रष्टा—प्रमाता—यानी चिदचिद्ग्रन्थि, दृश्य यानी घट आदि, दर्शन यानी वृत्तिरूप ज्ञान—इन सबको जो स्वप्नमें देखता है और इन सबका अभाव जो सुषुप्तमें देखता है, वही देह आदिसे भिन्न आत्मा है, यह समझो ।

शङ्का—स्वप्नावस्थामें प्रमातासे ही दृश्यके दर्शनादर्शन आदि भावाभावका भान हो जायगा, त्वदुक्त अतिरिक्त आत्माकी सिद्धि नहीं हो सकती, स्वप्नमें प्रमाता रहता ही है ।

समाधान—सुषुप्ति अवस्थामें प्रमाता नहीं रहता, उस समय दृश्यके अभाव आदिकी प्रकाशक आत्मज्योतिको ही मानना होगा, उसके अनुसार जागर और स्वप्नमें भी आत्मा ही प्रकाशक है । सुषुप्तिमें अनुभव भी नहीं रहता, यह शङ्का निराधार है । सुप्तोत्थितका एतावत्काल सुखपूर्वक सोया, यह सर्वानुभव सिद्ध परामर्श अनुपपन्न हो जायगा ॥ ६५ ॥

नित्य अनुभवके साधनका उपसंहार करते हैं—'**सर्वेषां वादिनाम्**' इत्यादिसे ।

चित्स्वयंप्रकाशज्योतिके प्रसादसे सब वादियोंका स्वस्वमत सिद्ध होता है । उस आत्मामें अस्तित्व-नास्त्विका विवाद कोई नहीं कर सकता । विवाद अनिश्चित पदार्थमें होता है । सबको अपने आत्माके विषयमें संशय, विपर्य्यास आदि नहीं है, अतः स्वस्वानुभवसिद्ध अर्थमें विवादकी सम्भावना नहीं है ॥ ६६ ॥

'**सत्येवम्**' इत्यादि । उक्त प्रकारसे कूटस्थ चैतन्यके सिद्ध होनेपर चैतन्य देहधर्म है, यह चार्वाकोंकी भ्रान्ति चिदाभासविषयक है । एवं सति यानी कूटस्थ चैतन्यके सिद्ध होनेपर ।

शङ्का—फिर भी वह देहधर्म तो नहीं है ?

समाधान—'यथा तथा आस्ताम्' यानी भले ही वह जैसे तैसे रहे, परन्तु

कूटस्थचैतन्यके स्वरूपमें विवाद नहीं है, वह तो सर्वमतसिद्ध है, देहके साथ परम्परया तादात्म्याध्यास होनेसे आपाततः देहधर्म भी प्रतीत होता है। वस्तुतः उसे देहधर्म माननेमें दोष है। यदि 'अहम्' यह प्रतीति देहस्थ-चैतन्यविषयक है, तो 'मैं घट जानता हूँ' यहाँपर भी अहं धर्मवान्में मैं बुद्धि माननी पड़ेगी, ऐसी अवस्थामें स्वदेहमें जैसे मैं बुद्धि होती है, वैसे ही परदेहमें भी मैं बुद्धि होनी चाहिए।

शङ्का—क्यों ?

समाधान—सब देहोंमें 'मैं' शब्दार्थ चैतन्य साधारण है। एवं यह मनुष्य है, यह प्रतीति जैसे स्वदेहमें नहीं होती, वैसे ही परदेहमें भी नहीं होगी। सब शुक्ल घटोंमें जैसे शुक्लबुद्धि होती है, वैसे ही चैतन्यधर्मवान् सब देहोंमें 'मैं' इस प्रतीतिकी आपत्ति होगी। प्रतिदेहगत चैतन्य भिन्न है, स्वदेहगत चैतन्य परदेहमें नहीं है, अतः उक्त प्रतीति नहीं होती, ऐसा यदि कहो, तो भी ठीक नहीं है, क्योंकि जैसे प्रतिपटमें शुक्ल गुण भिन्न है, पर शुक्लगुणसामान्यसे सब पटोंमें 'शुक्लः पटः' यह प्रतीति होती है, वैसे ही देहचैतन्यसामान्यसे स्वदेहके समान परदेहमें 'मैं' प्रतीतिका प्रसङ्ग दुर्वार होगा, अतः चैतन्य देहधर्म नहीं है। स्वदेहमें मैं बुद्धि जैसे होती है, वैसे ही परदेहमें मैं बुद्धिकी प्रसक्ति होगी? यह जो कहा था, उसका उत्तर यह है कि जो चैतन्य जिस देहमें समवेत है, उसी देहमें वह चैतन्य विशेषण होता है, अतः तद्विशिष्टमें ही मैं साक्षात् विशेषण होता है, देहान्तराश्रित चैतन्यमें मैं साक्षात् विशेषण नहीं होता। अतएव चैतन्यविशिष्ट अनेक देहोंको प्रत्यक्षसे नहीं देख सकते। केवल प्रत्यक्ष प्रमाणवादीके मतमें यह चैतन्याद्वैत होनेपर भी सब देहोंमें मैं बुद्धि नहीं हो सकती। यदि देहान्तराश्रित चैतन्यको अन्य देहमें साक्षात् विशेषण मानें, तो स्वदेहका आत्मत्वरूपसे ग्रहण करनेके अनन्तर जैसे मैं मनुष्य हूँ, यह प्रतीति करणव्यापारके बिना भी होती है, वैसे ही परदेहमें भी करणव्यापारके बिना 'चैत्र मैं हूँ' 'मैं मैत्र हूँ' इत्यादि प्रतीति होनी चाहिए, किन्तु होती नहीं है, अतः चैतन्य देहधर्म नहीं है। चैतन्य देहधर्म नहीं है, इसमें यह भी कारण है कि चैतन्य अहंधीग्राह्य है, देह इदंधीग्राह्य है, अतः भिन्नबुद्धिग्राह्य इन दोनोंका विशेषणविशेष्यभाव नहीं हो सकता। उष्णत्व जलमें और शीतत्व अग्निमें विशेषण नहीं होता। धर्मधर्मिका भिन्नबुद्धिग्राह्यत्वरूपसे विरोध जैसे होता है, वैसे ही प्रकृतमें भी समझना चाहिए। चैतन्य और देह ये दोनों यदि एकधीग्राह्य होते, तो कृष्णसर्पके समान परस्पर विशेष्यविशेषणभावापन्न होते, परन्तु चैतन्य

भूतेभ्यश्च चिदुत्पत्तिं न प्रत्यक्षप्रमाणिका।
स्वप्नेऽभिज्ञाऽपि न भ्रान्ता ज्ञेयवद्बाधवर्जनात् ॥ ६८ ॥

अवेद्य है, देह वेद्य है, अतः वेद्य और अवेद्यका विशेषणविशेष्यभाव कहीं भी दृष्ट नहीं है। किञ्च, अपढ़ लोग भी देहको अचेतन ही मानते हैं, वे भी मेरा शरीर है, इस प्रकार अहमर्थको देहभिन्न ही मानते हैं, अतः देह आत्मा नहीं हो सकती। वेद्य रूप आदि ही देहधर्म माने गये हैं, चैतन्य वेद्य नहीं है, अतएव वह देहधर्म भी नहीं हो सकता। किञ्च, चैतन्य स्वार्थ है, अतः वह परार्थ शरीरमें विशेषण नहीं हो सकता। चैतन्य ग्राहक है, अतः ग्राह्यमें विशेषण नहीं हो सकता। ग्रहीता ग्राह्य है, यह लोकमें प्रसिद्ध नहीं है और अनवस्थादोष भी है।

शङ्का—अच्छा, चैतन्य स्वतन्त्र है, अतः वह परतन्त्र देहमें विशेषण नहीं हो सकता, यह कहना ठीक है, परन्तु देह तो परतन्त्र है, वह चैतन्यमें विशेषण हो सकती है ?

समाधान—देह भी चैतन्यमें विशेषण नहीं हो सकती, क्योंकि देह पराक् पदार्थ है, चैतन्य प्रत्यक् पदार्थ है, विरोध होनेसे जैसे शीत अग्निमें विशेषण नहीं होता, वैसे ही उनका विरोध होनेके कारण देह आत्मामें विशेषण नहीं हो सकती ॥ ६७ ॥

'भूतेभ्यश्च' इत्यादि। जो यह कहा था कि अवनि, सलिल, अनल, अनिल—इन चारों भूतोंसे चैतन्यकी उत्पत्ति होती है, उसमें प्रश्न यह है कि क्या प्रत्यक्षप्रमाणसे वैसा आपने समझा है या अनुमानसे ? प्रथम पक्ष ठीक नहीं है, क्योंकि वैसा प्रत्यक्ष ही असिद्ध है, अन्यथा वादियोंकी इस विषयमें विप्रतिपत्ति ही असङ्गत हो जायगी। द्वितीय पक्षमें आप अनुमानको प्रमाण मानते हैं नहीं, इसलिए अनुमान प्रमाणका उपन्यास इस विषयमें व्यर्थ है। किञ्च, भूतसमुदाय भूतोंसे व्यतिरिक्त है ? या अव्यतिरिक्त, इस विकल्पसे भूतसमुदायका निर्वचन भी अशक्य है।

शङ्का—'चैतन्यं जायते, भावत्वे सति नाशित्वाद्, घटवत्' इस अनुमानसे चैतन्य उत्पत्तिमान् और विनाशी है।

समाधान—मृत शरीरमें आप चैतन्यका नाश मानते हैं, इस नाशका अनुभव किसको होता है ? देहको अथवा चेतनको ? देह जड़ है, अतः उसको तो अनुभव नहीं हो सकता। और चेतन स्वयं स्वनाशका अनुभव कैसे कर सकता है ? स्वस्थिति-समयमें स्वनाश है नहीं और स्वनाशसमयमें स्वस्थिति नहीं है। किञ्च, जो यह कहा

स्वप्नदृष्टगजादीनां बाधो जागरणे यथा।
तद्दर्शनं तथाऽबाध्यं प्रत्यभिज्ञा ततः प्रमा ॥ ६९ ॥
आदित्यादिसमत्वेन न च प्रत्यक्षमानिनः।
ज्योतिः साधयितुं युक्तमनुमानद्विषस्तव ॥ ७० ॥

था कि स्वप्नधीविषय सब मिथ्या होनेसे प्रत्यभिज्ञा भी मिथ्या है, अतः वह प्रमाण नहीं है, वह भी ठीकन हीं है, क्योंकि स्वप्नके समान स्वप्नधी मिथ्या नहीं है। जाग्रद्बोधसे स्वाप्निक विषयोंका बाध देखनेसे वे मिथ्या हैं, यह निश्चय होता है, परन्तु स्वप्नज्ञानका बाध जागरबुद्धिसे भी नहीं होता, क्योंकि वह मिथ्या नहीं है, अतः स्वप्नदेह मृषा होनेसे तद्गत चैतन्य भी मिथ्या है, अतः प्रत्यभिज्ञा भ्रम है, यह कहना अयुक्त है। जो यह कहा था कि मृत शरीरमें वायु नहीं रहता, इससे तादृश समुदायके नष्ट हो जानेके कारण चैतन्य भी नष्ट हो जाता है, वह भी असङ्गत है, क्योंकि वायुनाशका प्रत्यक्ष नहीं होता; प्रमाणान्तर आपके मतमें है नहीं। कथञ्चित् उसका निश्चय भी हो, तो भी अन्वयव्यतिरेकसे शरीरगत वायु ही चैतन्य है, यही मानिए, उससे अतिरिक्तको चैतन्य क्यों मानते हो? किञ्च, चैतन्य और देह—ये दोनों यदि भूतकार्य हैं, तो वायुके निकल जानेपर जैसे चैतन्य निकल जाता है, वैसे ही देह क्यों नहीं चली जाती? यदि देह रहती है, तो देहके समान चैतन्य भी क्यों नहीं रहता? किञ्च, स्वाप्निक देह सत्य हो अथवा मिथ्या, हमारा अभीष्ट उभयथा सिद्ध होता है। यद्यपि जाग्रत् और स्वप्नदेह परस्पर व्यभिचारी हैं, तथापि दोनोंमें चैतन्य अव्यभिचारी है, अतः अतिरिक्त आत्मा सिद्ध होता है। जो मैं सोया था, वही मैं जागता हूँ, यह प्रत्यभिज्ञा सत्य है, अतः देहसे अतिरिक्त आत्माकी सिद्धि होती है ॥ ६८ ॥

उक्तका ही स्पष्टीकरण करते हैं—'**स्वप्नदृष्ट०**' इत्यादिसे।

जागरावस्थामें स्वप्नदृष्ट गज आदिका जैसे बाध होता है, वैसे स्वप्नगजदर्शन (बुद्धि) का बाध नहीं देखा जाता है, किन्तु प्रत्यभिज्ञानके समान अबाध्यत्व ही देखा जाता है, इस कारणसे प्रत्यभिज्ञा प्रमाण है। प्रत्यभिज्ञाके प्रामाण्यसे व्यतिरिक्त आत्माकी सिद्धि समीचीन है ॥ ६९ ॥

'**आदित्यादि०**' इत्यादि। जो यह कहा था कि ग्राह्यसजातीय आत्मज्योति होनी चाहिए, वह भी अयुक्त है, क्योंकि चार्वाक प्रत्यक्षको ही प्रमाण मानता है,

अन्तःस्थातीन्द्रियं तेऽस्ति न प्रत्यक्षैकमानिनः ।
अतश्चाक्षुषतापत्तिरात्मज्योतिषि भौतिके ॥ ७१ ॥

अनुमान आदिको नहीं, अतएव वह अनुमानद्वेषी कहलाता है। आत्मज्योति उपकार्य देह आदिकी सजातीय ही होनी चाहिए, यह आपका कहना भी अयुक्त है, क्योंकि आप अनुमान मानते हैं नहीं और उसके द्वारा सजातीय ज्योतिका आग्रह करते हैं, ये दोनों बातें कैसे हो सकती हैं? तात्पर्य यह है कि 'आत्मज्योतिर्भौतिकम्, व्यञ्जकत्वात्, प्रदीपवत्' इस अनुमानसे उक्त ज्योतिको भौतिक कहना होगा, परन्तु आप अनुमानको प्रमाण नहीं मानते। जब अनुमानको प्रमाण मानेंगे, तभी आत्मज्योतिको कथञ्चित् भौतिक कह सकते हैं, अन्यथा नहीं। किञ्च, भौतिक देहका भौतिक ज्योतिसे उपकार मानते हो, तो सजातीय चक्षु आदि ज्योति देहमें हैं, फिर आदित्य-ज्योतिकी क्या अपेक्षा है?

अनुग्राह्य देहके अन्दर स्थित चक्षु आदिरूप अनुग्राहक ज्योतिके होनेपर व्यतिरिक्त आदित्य आदि ज्योतिकी प्रत्यक्षके लिए अपेक्षा है, ऐसा यदि कहो, तो वह भी युक्त नहीं है, क्योंकि वैसा कहनेपर भी साजात्य सिद्ध नहीं हो सकता, क्योंकि आदित्य आदि ज्योति अनुग्राहक है, इतर अनुग्राह्य है, दोनोंमें दोनों रूप नहीं हैं, किन्तु वैलक्षण्य स्फुट है। अनुग्राह्य और अनुग्राहकमें वैलक्षण्योक्तिसे प्राक्तन अनुमानमें दृष्टान्तके अभावका समर्थन हुआ और प्रतिकूल भी अनुमान है—'विमतं ज्योतिर्भिन्नजातीयम्, देहादिभासकत्वात्, रवीन्दुवत्'। किञ्च, अनुग्राह्यानुग्राहकत्व और साजात्य इन दोनोंकी समव्याप्ति है अथवा विषम-व्याप्ति है? प्रथम पक्षमें जहाँ अनुग्राह्य और अनुग्राहकत्व है, वहाँ साजात्य है, यह सिद्ध हुआ। द्वितीय विकल्पमें जहाँ साजात्य है, वहाँ अनुग्राह्यत्व है, यह सिद्ध हुआ। प्रथम नियम घट आदिमें व्यभिचरित है। द्वितीयका व्यभिचार देहमें स्फुट है। देहका उपकार सजातीय और विजातीय दोनोंसे होता है। अपि च 'अमित्वा कण्टकाभावं न्यस्यते चरणं कथम्' (प्रदेशको काँटोसे रहित जाने बिना पैर कैसे रक्खा जा सकता है) इस न्यायसे गमनमें आलोक जैसे उपकारक है, वैसे ही कण्टकाभाव भी उपकारक है, पर भावाभावमें साजात्य कहाँ है? पार्थिव इन्धनसे पार्थिव अग्निका और जलसे वैद्युत अग्निका उपकार देखा जाता है, इससे भी साजात्यनियमाभाव स्पष्ट है ॥ ७० ॥

'अन्तःस्था०' इत्यादि। जो यह कहा था कि आत्मज्योति भौतिक होनेपर भी चाक्षुष नहीं हो सकती, क्योंकि अतीन्द्रिय चक्षु आदिमें व्यभिचार है—चक्षु आदि

ग्राहकग्रहणग्राह्यभावाभावविभागवत् ।
स्वार्थमन्यानपेक्षं सच्चैतन्यं नाक्षमानकम् ॥ ७२ ॥

भौतिक हैं, पर चाक्षुष नहीं हैं, वह भी युक्त नहीं है, क्योंकि आपके मतसे ऐसे व्यभिचारका उद्भावन नहीं हो सकता, जो अनुमान प्रमाण नहीं मानते, उनके मतमें जब इन्द्रियधर्मी ही प्रमाणसिद्ध नहीं है, तब व्यभिचारका उद्भावन कैसे होगा ? गोलक आदि इन्द्रिय नहीं हैं, क्योंकि उनके रहनेपर भी यदि ज्योति नष्ट हो जाती है, तो दीख नहीं पड़ता । अतीन्द्रिय होनेसे अनुमानसे ही उनकी सिद्धि कर सकते हैं, अनुमान प्रमाण चार्वाक मानते नहीं हैं, अतः उनके मतमें व्यभिचार-निरूपणाधिकरण अप्रमित होनेसे व्यभिचार नहीं है । व्यभिचार देनेके लिए यदि अनुमान प्रमाण मानें, तो सिद्धान्तकी हानि होगी, अन्यथा व्यभिचार असंभव है, अतः चार्वाकोंके लिये उभयतःपाशा रज्जु है ॥ ७१ ॥

'ग्राहकग्रहण०' इत्यादि ।

शङ्का—अच्छा, तो आत्मामें चाक्षुषत्वकी प्रसक्ति होगी ?

समाधान—ग्राहक, ग्रहण, ग्राह्य, भाव, अभाव तथा उनके विभागको जानने-वाला अन्यानपेक्ष स्वतन्त्र चैतन्य है, वह प्रत्यक्षप्रमाणका विषय नहीं है, अतः उसमें चाक्षुषत्व इष्ट नहीं है । अनुमानमें अप्रामाण्य आपके मतमें प्रत्यक्षसिद्ध है या अनुमानसे सिद्ध करते हो? प्रथम पक्ष तो असम्भव ही है । द्वितीय पक्ष भी ठीक नहीं है, क्योंकि अनुमान तो आपके मतमें प्रमाण ही नहीं है । फिर वह प्रामाण्याभावमें कैसे प्रमाण होगा ? किञ्च, अनुमानप्रामाण्यको न माननेपर चार्वाककी सब प्रवृत्तियाँ बन्द हो जायँगी । सामान्यतः दृष्ट अनुमानसे ही लोक पान, भोजन आदिमें प्रवृत्त होते हैं । केवल इतना ही दोष नहीं है, किन्तु संसार ही अप्रवृत्तिनिवृत्तिशील हो जायगा । दूसरेके साथ व्यवहार करनेके लिए आप शब्दका उच्चारण करते हैं, आप यह जानते हैं कि जैसे परकीय शब्द सुननेसे स्वात्मामें बोध होता है, वैसे ही स्वशब्दो-च्चारणसे परात्मामें भी शाब्दबोध होगा, यह अनुमान कर अभिमत अर्थके बोधक शब्दका उच्चारण करते हैं, अतः अनुमान प्रमाण है । परकीय अन्तःकरणवृत्ति (ज्ञान) आदिका प्रत्यक्ष तो हो नहीं सकता । यदि अनुमान प्रमाण नहीं होगा, तो शब्द आदि व्यवहार ही लुप्त हो जायगा । परकीय शब्दके उच्चारणसे परहृदयगत संशय, विपर्य्यय आदिको अनुमान्से समझकर उसके निराकरणके लिए शब्दप्रयोग करते हो अनुमानप्रामाण्य न माननेपर यह भी असङ्गत हो जायगा । एवं शब्दमें भी प्रामाण्य

अतोऽक्षगम्यदेहस्य न चैतन्यात्मतोचिता ।
नाप्यात्मत्वे चक्षुरादेः प्रत्यभिज्ञोपपद्यते ॥ ७३ ॥
यमद्राक्षं पुरा कुम्भं तत्त्वचाऽद्य स्पृशाम्यहम् ।
इत्येतत्प्रभिज्ञानं न भिन्नद्रष्टृकं भवेत् ॥ ७४ ॥

मानना चाहिए, क्योंकि स्वपक्षका स्थापन, परपक्षका निराकरण तथा स्वशिष्योंको सदुपदेश इत्यादि शब्दका प्रामाण्य माननेपर ही हो सकते हैं, अन्यथा नहीं, अपने बोधके लिए कोई वाक्यका उच्चारण नहीं करता ॥ ७२ ॥

'अतोऽक्ष०' इत्यादि । पूर्वोक्त युक्तिसे इन्द्रियगम्य देहको चेतन मानना ठीक नहीं है । एवं चक्षु आदि इन्द्रिय भी आत्मा नहीं हैं, अन्यथा प्रत्यभिज्ञाकी उपपत्ति नहीं होगी । चक्षुकी विद्यमानतादशामें जो पुरुष घट आदिका प्रत्यक्ष करता है, वही पुरुष चक्षुकी विनाशदशामें घटका स्मरण करता है । यदि इन्द्रिय आत्मा होती, तो चक्षुकी नाशदशामें घटका स्मरण नहीं होगा । अनुभव और स्मरणका सामानाधिकरण्यसे कार्यकारणभाव है । अन्यदृष्टका अन्यको स्मरण नहीं होता । एवं विनिगमकके विरहसे सब इन्द्रियोंको आत्मा मानना पड़ेगा, उसमें यह प्रश्न होगा कि एक-एक इन्द्रिय आत्मा है या उनका समुदाय ? प्रथम पक्षमें सब आत्माओंका सदा एकमत रहना अस्वाभाविक है, वैमत्य अवश्यंभावी है यानी कोई सोना चाहेगा, कोई जागना चाहेगा, कोई पूर्वमें जाना चाहेगा, कोई पश्चिम जाना चाहेगा, ऐसी अवस्थामें एक समयमें एक शरीरमें विरुद्ध दिक्-क्रियाकी प्रसक्तिसे शरीरका ही मथन हो जायगा । द्वितीय पक्षमें एक इन्द्रियका नाश होनेपर तादृश समुदायके अभावसे शरीरमें निरात्मत्वकी प्रसक्ति हो जायगी और चक्षु आदिकी नाशदशामें पूर्व अनुभाविताकी प्रत्यभिज्ञा—जिस मैंने देखा था वही मैं हूँ—भी नहीं होगी आपके मतमें द्रष्टा चक्षु था, उसकी नाशदशामें जब वह है ही नहीं, तब वही मैं हूँ, यह प्रत्यभिज्ञा कैसे होगी ? अतिरिक्त आत्माको माननेपर चक्षु द्वारा जिस मैंने देखा था वही मैं हूँ, इस प्रत्यभिज्ञामें कोई अनुपपत्ति नहीं है ॥ ७३ ॥

इन्द्रियोंको आत्मा माननेमें और दोष कहते हैं—**'यमद्राक्षम्'** इत्यादिसे ।

इन्द्रिय यदि आत्मा हैं, तो चक्षु और त्वक् ये भी दोनों स्वतन्त्र आत्माएँ हैं, ऐसा कहना पड़ेगा । ऐसी स्थितिमें जिस मैंने पूर्वमें कुम्भको देखा था, वही मैं इस समय त्वगिन्द्रियसे उसका स्पर्श कर रहा हूँ, ऐसी प्रत्यभिज्ञा जो होती है, वह आपके

प्रत्यभिज्ञानकृत्तर्हि मन आत्मेति चेन्मतम् ।
नैवं तस्यापि मनसो विषयत्वेन दर्शनात् ॥ ७५ ॥

मतसे नहीं हो सकती। दर्शनका कर्ता चक्षु है, स्पर्शनका कर्ता त्वक् है यानी दर्शन चक्षुःकर्तृक है और स्पर्शन त्वक्-कर्तृक है। भिन्नकर्तृक होनेसे जिस मैंने देखा, वही मैं स्पर्श कर रहा हूँ, यह प्रत्यभिज्ञा कैसे होगी ? उक्त प्रत्यभिज्ञासे चक्षु द्वारा जो देखता है, वही त्वग् द्वारा स्पर्श करता है, ऐसा बोध होता है, अतः इन्द्रियोंसे अतिरिक्त आत्मा एक ही है । किञ्च, दर्शन आदि क्रियाओंके करण चक्षु आदि हैं । यदि चक्षु आदिको कर्ता मानेंगे, तो अन्य करण कहना पड़ेगा, कारण कि 'दर्शनादिक्रिया सकरणिका, क्रियात्वात्, छिदादिक्रियावत्' इस अनुमानसे क्रियामात्रमें करणकी आवश्यकता सिद्ध होती है । क्लृप्त करणका त्याग कर अक्लृप्तको करण मानना अयुक्त है और चाक्षुष, त्वाच आदि विशेष व्यवहारसे भी चक्षु आदि करण हैं, यह प्रतीत होता है । कर्तृविशेषप्रयुक्त ये व्यवहार नहीं हैं, अन्यथा देवदत्तकर्तृक दर्शन और मैत्रकर्तृक दर्शनोंमें चाक्षुषत्व व्यवहारकी अनुपपत्ति हो जायगी । यद्यपि ये दोनोंके चक्षु भिन्न हैं, पर एक जातीय है, अतः उसका कार्य भी एक जातीय कहा जाता है, अतएव 'सव्यदृष्टस्येतरेण प्रत्यभिज्ञानात्' (यानी बाएँ चक्षुसे देखे गये पदार्थका दक्षिण चक्षुसे प्रतिसन्धान होता है) इस न्यायसूत्रसे चक्षु आदिमें दर्शन आदिकर्तृत्वका निरास कर अतिरिक्त आत्माकी सिद्धिका प्रतिपादन किया गया है ॥ ७४ ॥

'प्रत्यभिज्ञान०' इत्यादि ।

शङ्का—नाना होनेसे इन्द्रियां यदि आत्मा नहीं हो सकतीं, तो मत हों, मन तो शरीरमें एक ही है, अतः वही आत्मा है, ऐसा ही मानिये, इसमें प्रत्यभिज्ञाकी भी अनुपपत्ति नहीं है । सकल इन्द्रियजन्य वासनाएँ मनमें रहती हैं, तद्वश अभिन्न इन्द्रियकर्तृक दर्शन आदिका प्रतिसन्धान सुखसे होगा ?

समाधान—मन भी करण है, अतः उक्त रीतिसे वह भी आत्मा नहीं है, अतएव न्यायसूत्र है—'ज्ञातुर्ज्ञानसाधनोपपत्तेः संज्ञाभेदमात्रम्' । ज्ञाताका ज्ञानसाधन मन है, उसको आत्मा मानियेगा, तो जो सुख आदिके प्रत्यक्षका करण मन है, वह कर्ता हुआ, ऐसी अवस्थामें अन्य करण मानना पड़ेगा, उससे भिन्न ही आत्मा हुआ अर्थात् चक्षु आदि बाह्येन्द्रिय और आन्तरेन्द्रिय मन—इनसे भिन्न

शब्दादिखचितं साक्षात्स्मृतिस्वप्नगतं मनः ।
कुम्भवद्वीक्ष्यते यस्मान्नात आत्मा मनोऽपि नः ॥ ७६ ॥
देहादिव्यतिरिक्तोऽतः प्रमात्रादिविलक्षणः ।
आत्मैव ज्योतिरित्यत्र विस्पष्टं सुविचारितः ॥ ७७ ॥

आत्मा है, यही निष्कर्ष हुआ । केवल संज्ञाबोधक शब्दका ही भेद होगा, पदार्थ तो सम ही हुए, शब्दभेद अकिञ्चित्कर है। सभी जगह इस प्रकारका आक्षेप हो सकता है, जो व्यर्थ है, यह तो न्यायमतसे समाधान हुआ । वेदान्तिमतमें मनको इन्द्रिय नहीं मानते, सुख आदिका साक्षीसे प्रत्यक्ष होता है, साक्षी नित्य है; अतः उसका प्रत्यक्ष इन्द्रियकरण नहीं है । मन विषय है, अतः वह दर्शन आदि क्रियाका कर्ता नहीं हो सकता ।

शङ्का—मन विषय है, इसमें क्या प्रमाण ?

समाधान—स्वप्नावस्थामें विषयका भान होता है, यह निर्विवाद है । बाह्य-विषयका भान हो नहीं सकता, अतः मनका ही विषयाकार परिणाम होता है । उसमें प्रतिबिम्बित चैतन्य उसका द्रष्टा है, इस मतके अनुसार मनको विषय मानकर उक्त परिहार किया गया है । यदि अविद्याका ही परिणाम स्वाप्निक विषय है, और उसका द्रष्टा मन है, यह कहो, तो वह भी अयुक्त है, क्योंकि मन जड़ है, वह द्रष्टा नहीं हो सकता, द्रष्टा प्रमाता है। यदि मन करण है, तो उक्त न्यायमतका परिहार ही वेदान्तिमतमें भी परिहार है ॥ ७५ ॥

अभिप्रायसे कहते हैं—'शब्दादि०' इत्यादिसे ।

शब्दादि [आदि शब्दसे स्पर्शादि विवक्षित हैं] से खचित यानी विशेषित स्मृति-स्वप्न-गत मन घटादिके समान साक्षात् दर्शनका विषय होता है, अतः मन हमारे मतमें आत्मा नहीं है, 'मनः न आत्मा, दृश्यत्वात्, 'घटवत्' यह अनुमान इस अर्थमें प्रमाण है ॥ ७६ ॥

'देहादि०' इत्यादि । पूर्वोपपत्तिसे देहादिव्यतिरिक्त आत्मा है, यह सिद्ध करनेपर 'आत्मैवास्य ज्योतिः' यह वाक्यार्थ सर्वथा पूर्वोक्त दोषसे शून्य है, इसका इस श्लोकसे उपसंहार करते हैं। देह, इन्द्रिय आदिसे व्यतिरिक्त तथा प्रमाता आदिसे विलक्षण आत्मा ही ज्योति है । इसका विस्पष्ट विचार किया गया है ॥ ७७ ॥

आत्मैवास्येति देहादेः स्वरूपत्वेन चित्स्थिता ।
चितो देहादिभेदोऽपि भान्वादिवदुदीरितः ॥ ७८ ॥

श्रुतिः—कतम आत्मेति योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु हृद्यन्तर्ज्योतिः पुरुषः स समानः सन्नुभौ लोकावनुसञ्चरति ध्यायतीव लेलायतीव स हि स्वप्नो भूत्वेमं लोकमतिक्रामति मृत्यो रूपाणि ॥ ७ ॥

'कतमः आत्मा' इस वाक्यका अवतार करते हैं—'आत्मैवा०' इत्यादिसे । इस देहकी आत्मा ज्योति है आत्माका अर्थ स्वरूप होता है यानी आत्मशब्द स्वरूपका वाचक है और भानु आदि दृष्टान्तसे निश्चित होता है कि पुरुषके व्यापारकी साधन ज्योति संघातसे भिन्न है, अतः विरोधसे राजाको सन्देह हुआ, अतः राजाने उसकी निवृत्ति और ज्योतिका निर्धारण करनेकी इच्छासे श्रीयाज्ञवल्क्यजीसे पूछा ।

शङ्का—विरोध क्या है ?

समाधन—उक्त रीतिसे आत्मशब्द स्वरूपवाची है, आत्मत्वेन प्रसिद्ध देहका त्याग कर अनात्मज्योतिसे पुरुषका व्यापार होता है, इस तात्पर्यसे आदित्य ज्योति याज्ञवल्क्यजीने कही, इस समय आत्मा ही इसकी ज्योति है, इस उक्तिसे आत्माके साथ ज्योतिका संबन्ध कहते हैं । अतः पूर्वोत्तरवाक्यविरोधसे संशयग्रस्त राजाने पूछा। अथवा देहस्वरूप आत्मा है, यह पूर्वमें कहा गया है और स्वप्न आदि अवस्थामें देहातिरिक्त ज्योतिका उपपादन किया गया है, इससे संशय हुआ कि ज्योतिःशब्द स्वरूपवाची है अथवा प्रकाशवाची है । देहादिके स्वरूपसे स्थित चित् ज्योति है, यह प्रतीत होता है । आदित्य आदि ज्योतिके उदाहरणसे देहातिरिक्त आत्म-ज्योति विवक्षित है, इसप्रकार संशय राजाको हुआ ॥ ७८ ॥

'कतम आत्मेति' इत्यादि श्रुति । यद्यपि शरीर आदिसे व्यतिरिक्त आत्मा है, यह सिद्ध हुआ, तथापि समानजातीयानुग्राहकत्वदर्शननिमित्त भ्रान्तिसे इन्द्रियोंमें से अन्यतम (कोई एक) अथवा उनसे व्यतिरिक्त आत्मा है, इस विषयके अविवेकसे राजा पूछते हैं—'कतम' इति । न्यायसूक्ष्मता दुर्विज्ञेय है, अतः भ्रान्ति उचित ही है । अथवा आत्मा शरीरसे व्यतिरिक्त है, यह प्रमाणित होनेपर भी जिससे सब करण विज्ञानवान्-से (चैतन्यसम्पन्नसे) प्रतीत होते हैं और उक्त इन्द्रिय समुदायसे आत्माकी विवेकसे (पार्थक्यसे) उपलब्धि नहीं हुई । इस कारण मैं पूछता हूँ कि कौन आत्मा है यानी देह, इन्द्रिय, प्राण और मनके मध्यमें जो आपने आत्मा कहा,

वह ज्योतिस्वरूप आत्मा कौन हैं ? जो कि आसन आदिका निमित्त कहा गया है। 'अथवा जो विज्ञानमय आत्मा आपको अभीष्ट है, वह इन सब विज्ञानमयके समान प्रतीत होनेवाले प्राणोंमें से कौन है ? जैसे अनेक ब्राह्मण तेजस्वी हैं, ऐसा कहनेपर उनमें षडङ्गवित् कौन है ? यह प्रश्न होता है, वैसे ही प्रकृतमें भी समझना चाहिए। पूर्वव्याख्यामें कौन आत्मा है ? इतना ही प्रश्न है और 'योऽयं विज्ञानमयः' यह उत्तर है। द्वितीय व्याख्यानमें प्राणोंमें कौन आत्मा है ? यहाँ तक प्रश्न है अथवा सब प्रश्नविषय है यानी विज्ञानमय हृद्यन्तर्ज्योति पुरुष कौन है, यहाँतक प्रश्न है। 'योऽयं विज्ञानमयः' इस शब्दका निर्धारित अर्थविशेष विषय है। 'कतम आत्मेति' यहांका इतिशब्द प्रश्नपरिसमाप्तिका सूचक है। 'कतम आत्मा' यहाँतक ही प्रश्नवाक्य है। 'योऽयम्' इत्यादि सब उत्तरवाक्य है, यह निश्चय होता है। 'योऽयम्' यह आत्माका प्रत्यक्ष निर्देश है। विज्ञानमय विज्ञानप्राय यानी बुद्धिरूप विज्ञानोपाधिके संपर्कसे जनित अविवेकसे आत्मा विज्ञानमय कहा गया है। जैसे चन्द्र आदित्यसे संयुक्त ही राहु दृष्टिगोचर होता है, केवल नहीं, वैसे ही बुद्धिरूप विज्ञानसे संयुक्त ही आत्मा उपलब्ध होता है, केवल नहीं। बुद्धि ही सम्पूर्ण विषयोंमें करण है, यानी अन्धकारमें आगे स्थित प्रदीप जैसे सर्वार्थ-प्रकाशमें करण है, वैसे ही बुद्धिको भी समझना चाहिए, अतएव मनसे ही देखता है, मनसे ही सुनता है, ऐसा कहा गया है। बुद्धिविज्ञानरूप आलोकसे संयुक्त ही संपूर्ण विषय उपलब्ध होते हैं, जैसे कि अन्धकारमें स्थित घट, पट आदिका प्रदीपालोकसंयुक्त प्रत्यक्ष होता है। अन्य इन्द्रियाँ बुद्धिके द्वार हैं, अतः विज्ञानमय विशेषण दिया गया है। किन्हींका मत है—विज्ञान ब्रह्म है और उसका विकार जीव है, इसलिए विज्ञानमय, मनोमय इत्यादि विशेषण दिये गये हैं, पर उनके मतमें—विज्ञानमय, मनोमय इत्यादिमें विज्ञानमयशब्दका अन्य अर्थ देखा गया है, इसलिए यानी प्रायोर्थक किंवा प्राचुर्य्यार्थक मयट्के देखनेसे—अश्रौतार्थकी प्रसक्ति होगी। उक्त उदाहरणमें वे लोग भी मयट्को विकारार्थक नहीं मानते हैं, क्योंकि विकारार्थक माननेसे पूर्वापरविरोध होता है, अतः उनका व्याख्यान अयुक्त है। जो पद संदिग्धार्थक होता है अर्थात् इस पदका यह अर्थ है अथवा यह ? यों जिसके विषयमें संशय होता है, ऐसे संदिग्ध पदार्थका, अन्यत्र निश्चित प्रयोगको देखकर, निर्णय किया जाता है, उसी प्रकार वाक्य-शेषसे अथवा निश्चितन्यायबलसे निर्णय किया जाता है। 'सधीः' यह आगे पाठ है तथा 'हृद्यन्तर्ज्योतिः' इस वचनसे विज्ञानमयशब्दका विज्ञानप्राय अर्थ करना ही उचित होता है। 'प्राणेषु' यहां सप्तमी व्यतिरेकका प्रदर्शन करनेके लिए है,

आधारमें सप्तमी नहीं है। जैसे 'वृक्षेषु पाषाणः' इस शब्दका वृक्षोंमें पाषाण है, यह अर्थ नहीं है, किन्तु वृक्षके समीपमें पाषाण है, यह अर्थ माना जाता है, वैसे ही प्रकृतमें भी समझना चाहिए। प्राणोंमें आत्माका व्यतिरेक एवं अव्यतिरेक संदिग्ध है। इस विषयमें प्राणेभ्यो व्यतिरिक्तः यानी आत्मा प्राणसे अतिरिक्त है, यही निर्णय है, क्योंकि जिनमें जो होता है, उनसे वह व्यतिरिक्त होता, जैसे पाषाणोंमें वृक्ष, यह व्याप्ति है।

हृदयमें यह होगा यानी प्राणमें प्राणजातीय ही बुद्धि होगी? इसपर श्रुति कहती है—'हृद्यन्तः' इत्यादि। हृत्-शब्दसे पुण्डरीकाकार मांसपिण्ड विवक्षित है, उसमें स्थित होनेके कारण बुद्धि भी हृत् कहलाती है। 'अन्तः' यह बुद्धि-वृत्तिसे व्यतिरेकप्रदर्शनके लिए कहा गया है। ज्योति अवभासात्मक है, अतः वह आत्मा कही गई है। उस अवभासक आत्मज्योतिसे पुरुष बैठता है, कर्म करता है और यह कार्यकरणसंघात चेतनावान्-सा भासता है, जैसे आदित्यके प्रकाशमें स्थित घटादि। जैसे दुग्धादि द्रव्यमें परीक्षाके लिए प्रक्षिप्त मरकतादि मणि दुग्धादि द्रव्यको स्वसदृश (मरकतादिमणिसदृश) ही करती है, वैसे ही यह आत्मज्योति बुद्धिकी अपेक्षा सूक्ष्म होनेके कारण हृदयान्तस्थ होनेपर भी कार्यकरणसंघात और हृदय सबको एकरूप बनाकर आत्म-ज्योतिके सदृश करती है, क्योंकि स्थूल-सूक्ष्मतार-तम्यसे परम्परया वह सर्वान्तर है। बुद्धि अत्यन्त स्वच्छ तथा आत्मासे अव्यवहित होनेसे आत्मछायापन्न होती है। इसी कारण विवेकियोंको भी उसमें आत्माभिमान-बुद्धि होती है। तदनन्तर बुद्धिके संबन्धसे मनमें चैतन्यावभास होता है। अनन्तर मनःसंयोगसे इन्द्रियोंमें, तदनन्तर इन्द्रियसंयोगसे शरीरमें, यों परम्परासे संपूर्ण कार्यकरणसंघातको आत्मा चैतन्यस्वरूप ज्योतिसे प्रकाशित करता है। उसीसे सब लोगोंके कार्यकरणसंघात और उनकी वृत्तियोंमें विवेकानुसार अनियत आत्माभिमान-बुद्धि होती है। भगवान्‌ने गीतामें कहा भी है—

'यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः।
क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत॥'
तथा 'यदादित्यगतं तेजः' इत्यादि।

'नित्योऽनित्यानां चेतनश्चेतनानाम्' इत्यादि काठकमें भी कहा गया है। एवं तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति' इत्यादि श्रुति भी है। 'येन सूर्यस्तपति तेजसेद्धः' यह मन्त्रवर्ण है। इससे यह हृदयमें अन्तर्ज्योति है। आकाशके समान सर्वगत होनेसे पूर्ण अतएव पुरुष है। सर्वावभासक और स्वयं अन्या-

नवभास्य होनेसे आत्मा निरतिशय स्वयंज्योति माना जाता है। वही पुरुष स्वयं ही ज्योतिःस्वभाव है, जिसको कि 'कौन आत्मा है' इत्यादिसे तुम पूछते हो। सम्पूर्ण करणोंकी अनुग्राहक बाह्य ज्योतियोंके अस्त हो जानेपर अन्तः-करण द्वारा हृदयान्तर्ज्योति पुरुष आत्मा करणोंका अनुग्राहक है, यह कहा जा चुका है। जिस समय बाह्य करणोंकी अनुग्राहक आदित्य आदि ज्योतियोंकी स्थिति है, उस समय भी आदित्य आदि जड़ ज्योतियोंके परार्थ होनेसे और कार्यकरण-संघातका, अचेतन होनेके कारण, कुछ स्वार्थ न होनेसे यदि स्वार्थज्योतिःस्वरूप आत्माका अनुग्रह न हो, तो यह कार्यकारणसंघात किसी भी व्यवहारके लिए योग्य नहीं होगा। आत्मज्योतिके अनुग्रहसे ही सदा सब व्यवहार होते हैं, क्योंकि 'यदेतद्धृदयं मनश्चैतत्संज्ञानम्' इत्यादि श्रुतियाँ हैं। सब प्राणियोंका व्यवहार साभिमान होता है और अभिमानके हेतुका मरकतमणिके दृष्टान्तसे व्याख्यान कर चुके हैं। यद्यपि यह ऐसा ही है, तथापि जागरावस्थामें आत्मज्योतिके सब करणोंके अगोचर होनेके कारण तथा बुद्धि आदि बाह्य एवं आभ्यन्तर कार्यकरण-व्यवहारसंघातसे व्याकुल होनेके कारण इषीकासे (सरईसे) जैसे मूंज निकालकर अलग दिखलाते हैं, वैसे ही उसे (आत्माख्यज्योतिको) पृथक् कर नहीं दिखला सकते। अतः स्वप्नमें अलग दिखलानेकी इच्छासे मुनि उपक्रम करते हैं—'स समानः सन्नुभौ लोकावनुसंचरति' इत्यादि। जो पुरुष स्वयं ही आत्मा और ज्योतिःस्वरूप है, वह हृदयके समान होकर दोनों लोकोंमें चलता है।

शङ्का—हृदयके समान होनेमें क्या प्रमाण है?

समाधान—प्रकरण और सन्निधान। हृदय प्रकृत और सन्निहित है। सादृश्यमें प्रतियोगीकी अपेक्षा होनेसे उसीका सम्बन्ध होता है, अतः उसीसे सादृश्य विवक्षित है। अश्व और महिषकी विवेकसे जैसे उपलब्धि होती है, वैसी उपलब्धि हृदय और आत्माकी नहीं होती, किन्तु अनुपलब्धि है, इसलिए यही सादृश्य प्रकृतमें विवक्षित है। अव-भास्य बुद्धि है और अवभासक आलोकवत् आत्मज्योति है। अवभास्य और अव-भासककी विवेकपूर्वक अनुपलब्धि प्रसिद्ध है। विशुद्ध होनेसे आलोक अवभास्यके सदृश है। जैसे रक्तका भासक आलोक रक्तसदृश होता है तथा हरित, नील और लोहित आदिका भासक आलोक नील आदिके समान होता है, वैसे ही बुद्धिका भासक आत्मा बुद्धि द्वारा समस्त शरीरका भासक होता है, यह मरकतमणिके दृष्टान्तसे कह चुके हैं। सर्वावभासक होनेसे आत्मा बुद्धिसामान्यके द्वारा सबके समान है,

अतएव श्रुति उसे सर्वमय आगे कहेगी। लोकभ्रान्तिका कारण है—आत्मा और अनात्माका विवेकाग्रह। सूक्ष्म होनेसे मुञ्जेषीकावत् असंकीर्णरूपसे विभागपूर्वक उसका (आत्माका) दर्शन नहीं कराया जा सकता, ऐसी अवस्थामें नामरूपगत सब व्यापारोंका उसमें आरोप कर, ज्योतिधर्मका नामरूपमें आरोप कर और नामरूपका आत्मज्योतिमें आरोप कर सब लोक अतिमुग्ध हो जाते हैं यानी यह आत्मा है, यह आत्मा नहीं है, यह ऐसे धर्मसे विशिष्ट है, ऐसे धर्मसे विशिष्ट नहीं है, कर्ता, अकर्ता, शुद्ध, अशुद्ध, मुक्त, अमुक्त, स्थित, गत, आगत, अस्ति और नास्ति इत्यादि अनेक विकल्प उन्हें होते हैं, अतः समान होकर दोनों लोकोंमें संचार करता है।

शङ्का—कौन दो लोक ?

समाधान—एक प्राप्त लोक (यह मृत्युलोक) और दूसरा प्राप्तव्य लोक (स्वर्गादि)। उनमें प्राप्त किये गये देह, इन्द्रिय आदि संघातका त्याग और अन्य संघातका उपादान—इनकी परम्पराके सैकड़ों संबन्धोंके समूहोंसे क्रमशः संचरण करता है। बुद्धिसादृश्य ही उभयलोकमें संचरण करनेमें हेतु है, स्वतः संचरण नहीं करता। उसमें नामरूपात्मक उपाधिसादृश्य भ्रान्तिमूल है यानी यही निमित्त है, स्वतः नहीं। यही कहा जाता है—यतः समान होकर उभयलोकका संचरण करता है, यह प्रत्यक्ष है। ऐसा श्रुति भी दिखलाती है—ध्यायतीव। वस्तुतः ध्यानव्यापार बुद्धि करती है, परन्तु तत्रस्थित चित्स्वभावज्योतिसे तादृश बुद्धिका प्रकाशक आत्मा तत्सदृश होकर स्वयं ध्यायतीव (ध्यान करता हुआ-सा) प्रतीत होता है, इससे पुरुष चिन्ता करता है, यह भ्रान्ति लोकको होती है, वस्तुतः वह ध्यान नहीं करता। तथा 'लेलायतीव', अत्यर्थं चलतीव, यह प्रतीत होता है। यानी उन कारणोंके (बुद्ध्यादिके) और वायुओंके चलनेपर तदवभासक तत्सदृश वह ज्योति भी चलती-सी प्रतीत होती है, वस्तुतः चलनधर्म आत्मज्योतिमें नहीं है।

शङ्का—यह कैसे जानते हो कि तत्सादृश्यभ्रान्ति ही आत्माके उभयलोक-संचरणादिमें हेतु है, आत्माका स्वतः संचरण नहीं है।

समाधान—इस अर्थको समझानेमें हेतु कहते हैं—वह आत्मा स्वप्न होकर। यानी जिस बुद्धिसे वह समान होता है यानी बुद्धि जैसी होती है, वैसा ही खुद भी होता है, अतः जब बुद्धि स्वाप्निक पदार्थविषयक होती है, तब आत्मा भी वहीं होता है। जब बुद्धि जागना चाहती है, तब पुरुष भी जागना चाहता है, इसीसे कहा गया है—'स्वप्नो भूत्वा' इत्यादि। स्वप्नवृत्तिका भासक आत्मा स्वाप्निक बुद्धिके

सदृश होकर इस लोकका (जागरितव्यवहारस्वरूप कार्यकरणसंघातात्मक लौकिक एवं शास्त्रीय व्यवहारके भाजन लोकका) अतिक्रमण करता है यानी विविक्त स्वात्मज्योतिसे स्वप्नात्मक धीवृत्तिका भान कराता हुआ स्थित रहता है; अतः स्वयंज्योतिःस्वभाव यह आत्मा विशुद्ध और क्रियाकारकफलशून्य है। परमार्थतः धी-सादृश्य ही उभयलोकसंचारादिव्यवहारकी भ्रान्तिका हेतु है। कर्म और अविद्या मृत्युका स्वरूप है, इसका दूसरा रूप नहीं है, स्वतः कार्यकरणसंघात ही इसका रूप है।

शङ्का—बुद्धिके समान बुद्धिकी भासक आत्मज्योति है नहीं, क्योंकि बुद्धिसे व्यतिरिक्त उक्त ज्योतिका प्रत्यक्ष या अनुमानसे उपलम्भ नहीं होता। जैसे एक बुद्धिके समयमें उससे अतिरिक्त दूसरी बुद्धि अनुभूत नहीं होती, वैसे ही प्रकृतमें भी समझना चाहिए। जो यह कहते हो कि अवभास्य और अवभासकका भेद है, किन्तु विवेकाभावसे सादृश्य है, जैसे घट और आलोकका, वह भी अयुक्त है, क्योंकि वहाँ घटादिभिन्नत्वरूपसे आलोकका उपलम्भ है, अतः भिन्न संश्लिष्ट पदार्थोंका सादृश्य है वैसे यहाँ घटादिके समान बुद्धिकी भासक अन्य ज्योति प्रत्यक्ष या अनुमानसे उपलभ्यमान नहीं है। बुद्धि ही चित्स्वरूपावभासकत्वरूपसे स्वाकार और विषयाकार प्रतीत होती है, अतः अनुमानसे और प्रत्यक्षसे बुद्धिभासक ज्योतिका प्रतिपादन नहीं कर सकते हो। जो यह दृष्टान्त कहा था कि भिन्न अवभास्यावभासक घटालोकमें ही सादृश्य होता है, उसमें मेरा अभ्युपगममात्र है। वस्तुतः वहाँ भी अवभास्य और अवभासक भिन्न नहीं हैं, वस्तुतः सालोक अवभासात्मक प्रतिक्षण भिन्न-भिन्न घटादिकी उत्पत्ति होती है। विज्ञानवादीका कथन है कि विज्ञानमात्र ही सालोक घटादि विषयाकार भासित होता है। यदि ऐसी स्थिति है, तो कोई बाह्य पदार्थ दृष्टान्त नहीं होगा, क्योंकि सब विज्ञानमात्र ही है, अतिरिक्त है नहीं, क्योंकि विज्ञानव्यतिरिक्त वस्तु नहीं है, यह विज्ञानवादीका सिद्धान्त है। इसी तरह उसी विज्ञानमें ग्राह्याकारत्व और ग्राहकाकारत्वकी कल्पना कर पुनः उसीमें विशुद्धिकी कल्पना करते हैं। वही विज्ञान ग्राह्यग्राहकत्वरूपसे विनिर्मुक्त स्वच्छीभूत क्षण भर रहता है, यह विज्ञान-वादीका मत है। उसकी भी शान्ति कोई चाहते हैं। वह भी विज्ञान ग्राह्यग्राह-कांशसे विनिर्मुक्त शून्य ही होता है। घटादि बाह्य वस्तु जैसे अन्तमें शून्य हो जाती है, वैसे ही विज्ञान भी शून्यमें ही पर्य्यवसन्न होता है, यह शून्यवादी माध्यमिकका मत है।

समाधान—सब कल्पनाएँ बुद्धि-विज्ञानावभासक व्यतिरिक्त आत्मज्योतिके

अपलापके लिए हैं, अतः ये वैदिक श्रेयोमार्गकी प्रतिपक्ष (प्रतिकूल) हैं। जिनके मतमें बाह्य अर्थ है, उन्हींके प्रति कहते हैं—घटादि स्वात्मावभासक नहीं है। अन्धकारस्थित घटादि स्वस्वरूपसे कभी भासित नहीं होता। प्रदीप आदि आलोकके संयोगसे सदा प्रकाशमान देखा जाता है। 'सालोको घटः' यह बुद्धि होती है। संश्लिष्ट घट और आलोक—ये दोनों भिन्न हैं, पुनः पुनः उनका संयोग और वियोग होनेपर भेद देखा जाता है, रज्जुघटके समान। घटालोकमें संयोगवियोगकालमें विशेष (भेद) अतिस्फुट है। भिन्नपक्षमें व्यतिरिक्तावभासकत्व निश्चित है, क्योंकि स्वात्मासे स्वात्माका भान नहीं हो सकता।

यदि कहो कि क्यों नहीं होता ? प्रदीप स्वयं ही स्वस्वरूपका प्रकाश कराता है क्या यह नहीं देखते हो ? प्रदीपप्रकाशके लिए अन्य प्रदीपकी अपेक्षा किसीको होती नहीं, इससे स्पष्ट है कि प्रदीप स्वयं स्वस्वरूपका प्रकाश कराता है, तो यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि घटादिके समान प्रदीपमें भी अवभास्यत्व तुल्य है। यद्यपि प्रदीप अन्यका अवभासक होकर स्वयं अवभासात्मक है, फिर भी घटादिके समान उसमें व्यतिरिक्तचैतन्यावभास्यत्व व्यभिचारी नहीं है। घटादि जैसे स्वव्यतिरिक्तसे अवभास्य हैं, वैसे ही प्रदीप भी स्वव्यतिरिक्तसे अवभास्य अवश्य है।

यदि कहो कि घट जैसे चैतन्यावभास्य होकर भी स्वव्यतिरिक्त आलोककी अपेक्षा करता है, वैसे प्रदीप स्वप्रकाशार्थ आलोकान्तरकी अपेक्षा नहीं करता, अतः प्रदीप अन्यावभास्य होकर भी आत्माको (स्वरूपको) और घटको प्रकाशित करता है, तो यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि स्वतः और परतःमें विशेष नहीं है। घट जैसे चैतन्यावभास्य है, वैसे ही प्रदीप भी चैतन्यसे अवभास्य है। अतः प्रदीप स्वयं-प्रकाश कैसे ? और जो यह कहा था कि प्रदीप घटको और अपने स्वरूपको प्रकाशित करता है, वह भी असंगत है।

प्रश्न—क्यों ?

उत्तर—यदि अपने स्वरूपको न प्रकाशित करता, तो वह कैसा होता, क्योंकि उस समय प्रदीपमें स्वतः या परतः कुछ भी विशेष उपलब्ध नहीं होता है। वही अवभास्य होता है, जिसमें अवभासककी सन्निधि और उसकी असन्निधि होनेपर विशेष उपलब्ध होता है। प्रदीपमें स्वात्मसन्निधि और असन्निधिकी कल्पना नहीं कर सकते। कादाचित्क विशेषके न रहनेपर प्रदीप अपनेको प्रकाशित करता है, यह कहना ही मिथ्या है। घटादिके समान चैतन्यग्राह्यत्व प्रदीपमें तुल्य है अर्थात् दोनों

चैतन्यग्राह्य हैं। इससे विज्ञानमें आत्मग्राह्यत्वग्राहकत्वमें प्रदीप दृष्टान्त नहीं हो सकता। विज्ञान भी चैतन्यग्राह्य है, बाह्य घटादि भी चैतन्यग्राह्य हैं, अतः दोनोंमें विशेष नहीं है। विज्ञान चैतन्यग्राह्य है, यह निश्चित होनेपर क्या ग्राह्यविज्ञानग्राह्यता है अथवा ग्राहकविज्ञानग्राह्यता है, इस विषयमें सन्देह होनेपर जो अन्यत्र न्याय दृष्ट है, वही यहाँ भी मानना चाहिए। दृष्टसे विपरीतकी कल्पना अनुचित है, ऐसी परिस्थितिमें जैसे व्यतिरिक्त ग्राहकसे बाह्य प्रदीपादिमें ग्राह्यत्व है, वैसे ही विज्ञानके चैतन्यग्राह्य होनेसे प्रकाशक होनेपर भी प्रदीपके समान उसमें व्यतिरिक्तचैतन्यग्राह्यत्वकी कल्पना युक्त है, अनन्यग्राह्यत्व कल्पना अयुक्त है, जो व्यतिरिक्त विज्ञानका ग्रहीता है, वह विज्ञानव्यतिरिक्त आत्मा अन्य ज्योति है।

शङ्का—विज्ञानको यदि अन्य ग्राहकसे ग्राह्य मानोगे, तो उसके ग्राहकको भी अन्य ग्राहककी अपेक्षा होगी, वैसे ही उसके ग्राहकको भी, इस प्रकार अनवस्था होगी।

समाधान—ग्राहकग्रहण ग्राहकान्तरसे ही होता है, ऐसा नियम नहीं मानते। सारांश यह है कि जो ग्राह्य है, वह अन्य ग्राहक-सापेक्ष है, ऐसा ही नियम कहा गया है, कूटस्थ चैतन्य अविषय होनेसे ग्राह्य नहीं है, किन्तु केवल साक्षी ही है, अतः उसमें ग्राहकान्तरापेक्षा नहीं है। इस अभिप्रायसे भाष्यकार कहते हैं कि एकान्ततः ग्राहकत्वमें या तद्ग्राहकान्तरास्तित्वमें कभी लिङ्ग नहीं है, अतः अनवस्था नहीं है।

शङ्का—विज्ञान व्यक्तिरिक्तग्राह्य है, ऐसा माननेपर करणान्तरकी अपेक्षा होनेसे अनवस्थाका प्रसङ्ग पुनः तदवस्थ है।

समाधान—सर्वत्र यह नियम नहीं है, जहाँ अन्यसे अन्यका ग्रहण होता है, वहाँ ग्राह्यग्राहकसे व्यतिरिक्त अन्य करण होता है, यह एकान्ततः नियम नहीं कर सकते। वैचित्र्यदर्शन भी दृष्ट है, कैसे ? जहां स्वात्मव्यतिरिक्त आत्मासे घट आदिका ग्रहण होता है, वहाँ प्रदीप आदि आलोक ग्राह्यग्राहकसे व्यतिरिक्त करण है। प्रदीपादि आलोक घटाद्यंश अथवा चक्षुराद्यंश नहीं है। प्रदीपमें घटके समान चक्षुर्ग्राह्यत्व है, चक्षु प्रदीपव्यतिरिक्त बाह्य आलोकस्थानीय किसी भी अन्य करणकी अपेक्षा नहीं करता, अतः जहाँ व्यतिरिक्तग्राह्यत्व है, वहां कारणान्तर अवश्य ही रहेगा, ऐसा नियम नहीं कर सकते, अतः विज्ञानमें व्यक्तिरिक्त-ग्राहकग्राह्यत्व माननेपर करण द्वारा अनवस्था नहीं है और न ग्राहकत्व द्वारा कभी उपपादन ही कर सकते हैं, इससे विज्ञानव्यतिरिक्त अन्य आत्मज्योति है, यह सिद्ध हुआ। बाह्यार्थ-वादिमतका खण्डन होनेपर विज्ञानवादी आत्मज्योतिका निराकरण करनेके लिए

उपस्थित होता है। वह कहता है कि विज्ञानसे व्यतिरिक्त बाह्य घट, पट, प्रदीप पदार्थ ही नहीं है, जो जिसके बिना उपलब्ध नहीं होता, वह तत्स्वरूप ही होता है, अतिरिक्त नहीं, जैसे स्वप्नग्राह्य घट, पट आदि वस्तु स्वप्नविज्ञानसे भिन्नरूपसे उपलब्ध नहीं होती, अतः स्वाप्निक घट, प्रदीप आदि स्वप्नविज्ञानस्वरूप ही निश्चित होते हैं, वैसे ही जागरित घट, प्रदीप आदि जाग्रद्विज्ञानसे भिन्नरूपसे उपलब्ध नहीं होते हैं, अतः जाग्रत्-विज्ञानस्वरूप ही हैं, अतिरिक्त नहीं हैं, अतः घट, प्रदीप आदि बाह्य पदार्थ हैं ही नहीं, विज्ञानात्मा ही सब हैं, अतएव कहते हैं कि 'सहोपलम्भनियमादभेदो नीलतद्धियोः' यानी सहोपलम्भनियमसे नील और उसका ज्ञान अभिन्न है। यदि विषय और विज्ञान परस्पर भिन्न होते, तो गोमहिषके समान भेदेन उपलब्ध होते, यह उनकी युक्ति है, ऐसी परिस्थितिमें जो आप (वेदान्ती) कहते हैं कि विज्ञान स्वव्यतिरिक्तसे अवभास्य होनेके कारण विज्ञानसे व्यतिरिक्त अन्य ज्योति है, पटादिके सामान यानी जैसे विज्ञानसे पटादि भिन्न हैं, वैसे ही आत्मज्योति भी है, वह मिथ्या है, क्योंकि सब विज्ञानमात्र ही हैं। जो आपने पटादि दृष्टान्त कहा वह भी विज्ञानस्वरूप ही है। परन्तु यह विज्ञानवादीका मत असंगत है, क्योंकि आप बाह्य अर्थका नियमसे अस्वीकार नहीं कर सकते।

शङ्का—मैं तो बाह्य पदार्थोंका कतई स्वीकार नहीं करता ?

समाधान—'विज्ञानम्, घटः, पटः' इत्यादि शब्दोंके भिन्न-भिन्न अर्थ हैं, अतः उन्हें विज्ञानसे व्यतिरिक्त मानना ही पड़ेगा। यदि बाह्य विषयोंको विज्ञानसे व्यतिरिक्त नहीं मानते, तो 'विज्ञानम्, घटः, पटः' इत्यादि शब्द एकार्थक हो जायँगे यानी घट और कुम्भके समान पर्य्याय हो जायँगे। एवं साधन और फलके एक हो जानेपर साध्य-साधनभेदोपदेशक शास्त्र ही निरर्थक हो जायँगे और शास्त्रकारोंमें अज्ञानकी प्रसक्ति हो जायगी। किञ्च, और भी दोष है—केवल पूर्वोक्त उपपत्तिसे ही बाह्य अर्थ माननेके लिए बाध्य नहीं करते, किन्तु अन्य भी कारण है, वह यह है—विज्ञानव्यतिरिक्त वादी और प्रतिवादीमें वाद-दोषोंको भी मानना आवश्यक है। वादी, प्रतिवादी और उनमें रहनेवाले दोष आदि विज्ञानमात्र ही है, यह कहना तो अत्यन्त असंगत है।

अपिच, प्रतिवादिगत वादादि निराकरणीय हैं। यदि वे आत्मविज्ञानस्वरूप होंगे, तो आत्मविज्ञान किसीको निराकार्य हो नहीं सकता, इससे वादी आदि भी

अनिराकार्य हो जायँगे । विज्ञानवादीको कथाधिकार भी न होगा । केवल यही नहीं है, किन्तु संपूर्ण व्यवहार ही लुप्त हो जायँगे और प्रतिवादियोंका आत्मत्व-रूपसे ग्रहण भी किसीको नहीं होता, प्रत्युत स्वव्यतिरिक्तत्वरूपसे ग्रहण होता है । 'तस्मात्सर्वं वस्तु व्यतिरिक्तग्राह्यम्, जाग्रद्विषयत्वात्, जाग्रद्वस्तुप्रतिवाद्यादिवत्' इस अनुमानसे विज्ञानसे व्यतिरिक्त वस्तुको अवश्य ही मानना पड़ेगा। अतएव उक्त मदीय अनुमानमें दृष्टान्त सुलभ ही है—चैत्रसन्तानसे मैत्रसन्तानका अनुमान आपके मतमें भी होता है । सर्वज्ञज्ञानसे असर्वज्ञज्ञानका ज्ञान होता है, उक्त ज्ञानमें आपके मतसे भी भेद सिद्ध है, इसी दृष्टान्तसे नील और उसके ज्ञानके भेदका अनुमान कर सकते हैं; इसी अभिप्रायसे श्रीभाष्यकारने कहा है—अन्य सन्ततिके समान और अन्य विज्ञानके समान। अतः विज्ञानसे व्यतिरिक्त अन्य ज्योतिके अनुमानका निराकरण नहीं कर सकते । और जो यह कहा कि 'विमतं न ज्ञानभिन्नम्, ग्राह्यत्वात्, स्वप्नग्राह्यवत्' वह भी असंगत है, क्योंकि आपके मतमें विज्ञानसे व्यतिरिक्त जब वस्तु है नहीं, तब अनुमान कैसे होगा, क्योंकि अनुमान साध्य, साधन आदि भेदसे घटित होता है । जो यह कहते हैं कि स्वप्नमें विज्ञानव्यतिरेकका अभाव है, वह भी ठीक नहीं है, क्योंकि अभावसे भाव अन्य वस्तु ही है, स्वप्नमें आप ही ने घटादिविज्ञानको भावभूत माना है, उसको मानकर उसके व्यतिरेकसे घटादिका अभाव कहते हैं । उस विज्ञानका विषय घटादि अभाव हो या भाव ? उभयथापि घट आदिके विज्ञानको भावभूत माना है, अतः उसकी निवृत्ति नहीं कर सकते । उसका निवर्तक न्याय भी नहीं है, इससे सब शून्य है, यह कथन भी प्रत्युक्त हुआ । प्रत्यगात्मग्राह्यता आत्मामें है, यह मीमांसकमत भी असङ्गत है । जो यह कहा था कि प्रतिक्षण सालोक घट अन्य अन्य उत्पन्न होता है, वह भी असङ्गत है, क्योंकि क्षणान्तरमें 'स एवाऽयं घटः' यानी वही यह घट है, ऐसी प्रत्यभिज्ञा होती है । यदि क्षणभेदसे घटभेद हो, तो उक्त प्रत्यभिज्ञामें अप्रामाण्यापत्ति हो जायगी । काटे गये और पुनः बढ़े हुए केश, नख, आदिकी प्रत्यभिज्ञाके समान यह प्रत्यभिज्ञा भी वस्तुके अभेदसे जायमान नहीं है, किन्तु सादृश्यसे जायमान है, आपने जिस औषधको खाया था उसीको ये भी खाते हैं, इत्यादि स्थलमें सादृश्य-निबन्धन ही प्रत्यभिज्ञा हो सकती है, अन्यथा नहीं। यदि कहो कि वहाँ भी क्षणिकत्वकी सिद्धि नहीं है, लून एवं पुनर्जात केश, नख आदिमें केशत्व, नखत्व आदि जाति-निबन्धन प्रत्यभिज्ञा है, क्योंकि लून एवं पुनर्जात केश तथा नखमें केशत्व एवं

नखत्व जाति एक है, वही केश और नखप्रत्ययका निमित्त है, अतएव उक्त प्रत्यभिज्ञा भ्रम नहीं है, क्योंकि उक्त केश और नखमें व्यक्तिनिमित्तक प्रत्यभिज्ञान नहीं है।

शङ्का—उक्त स्थलमें सादृश्यनिमित्तक व्यक्तिविषयक ही प्रत्यभिज्ञा क्यों नहीं मानते ?

समाधान—किसी भ्रान्तिरहित पुरुषको बहुत दिन पहले और भिन्न देशमें देखे गये समान परिणामवाले केश, नख आदिके विषयमें 'तात्कालिक केशादिके तुल्य ये केश, नख आदि हैं' ऐसी प्रतीति होती है, वे ही ये हैं, ऐसी प्रतीति नहीं होती, इससे स्पष्ट है कि सादृश्यनिमित्तक ही उक्त प्रत्यभिज्ञा है। अन्यथा उनके तुल्य ये हैं, ऐसी प्रतीति न होकर वे ही ये हैं, ऐसी प्रतीति होती, वह होती नहीं, अतः जातिनिमित्तक ही उक्त प्रत्यभिज्ञा है, यह समझना चाहिए। और घट आदिमें ये ही घटादि हैं, ऐसी प्रत्यभिज्ञा होती है, अतः दृष्टान्त सम नहीं है, किन्तु विषम है। वही यह है, इस प्रत्यक्षसे प्रत्यभिज्ञायमान घटादि वस्तुमें अन्यत्वका अनुमान नहीं हो सकता।

शङ्का—क्यों ?

समाधान—प्रत्यक्षविरोधसे लिङ्ग आभास हो जाता है यानी अग्निमें अनुष्णत्वके अनुमानके समान प्रत्यक्षसे अनुमानका बाध हो जाता है। यदि सदृशमें प्रत्यभिज्ञा मानोगे, तो सदृशप्रत्यय न होकर प्रत्यभिज्ञा ही होगी, ऐसी स्थितिमें ये सदृश हैं, यह ज्ञान ही नहीं होगा। ये उनके सदृश हैं, यह भी प्रत्यय सर्वानुभवसिद्ध है। और आपके मतमें ज्ञान क्षणिक है। एक वस्तुको देख कर क्षणान्तरमें वस्त्वन्तरदर्शीको सादृश्यप्रत्यय होता है—यह वर्तमान वस्तु पूर्वदृष्ट वस्तुके सदृश है, पर आपके मतमें एक वस्तुदर्शी अन्य वस्तुओंको देखनेके लिए क्षणान्तरमें नहीं रह सकता, क्योंकि विज्ञानको क्षणिक मानते हो, अतः सकृद् वस्तुदर्शनसे वह नष्ट हो जायगा। उससे यह सदृश है, ऐसा सादृश्य प्रत्यय होता है, 'उससे' इस अंशसे पूर्वक्षणमें दृष्टका स्मरण होता है। 'यह' वर्तमान प्रत्यय है, 'उससे' इस अंशसे दृष्टका स्मरण कर वर्तमान काल तक यदि द्रष्टा रहेगा, तो क्षणिकत्ववादकी हानि स्फुट ही है। 'उससे' इस अंशसे उपस्थित स्मार्त प्रत्यय उपक्षीण हो जाता है। 'यह' इससे उपस्थित प्रत्यय पूर्वप्रत्ययसे वर्तमान अन्य क्षीण होता है। पूर्वोत्तरक्षणका एक द्रष्टा दो क्षणोंमें नहीं रहता, अतः सादृश्यप्रत्ययकी (उसके सदृश यह है, इसकी) अनुपपत्ति है; क्योंकि अनेकक्षणदर्शी एक बौद्धमतमें

है नहीं। एवं व्यवहारकी भी अनुपपत्ति है, क्योंकि द्रष्टव्य घटादिके देखनेसे ही द्रष्टा शान्त हो जायगा, फिर 'इसको देखता हूँ, इसको देखा' इत्यादि व्यपदेशकी सर्वथा अनुपपत्ति हो जायगी, क्योंकि द्रष्टाकी स्थिति व्यवहारकाल तक रह नहीं सकती, अन्यथा क्षणिकत्वकी हानि हो जायगी। अनुभयक्षणदर्शीको व्यवहार और सादृश्यप्रत्यय होता है, ऐसा यदि कहें, तो अन्धेको भी तादृश व्यपदेश और तत्सादृश्यप्रत्ययकी प्रसक्ति हो जायगी। वैसा यदि मानिये, तो अन्धपरम्पराकी प्रसक्ति स्फुट है। एवं सर्वज्ञशास्त्रप्रणयन आदि भी असंगत ही होगा। कृतहानि और अकृताभ्युपगम स्फुटतर है। इन दोनों दोषोंका पूर्वमें विस्तृत व्याख्यान हो चुका है। इस विषयमें विज्ञानवादी कहता है कि दृष्टव्यवहारहेतु पूर्वोत्तरसहित एक ही शृङ्खलाके समान प्रत्यय उत्पन्न होता है, उसीसे उसके सदृश यह है, ऐसा ज्ञान हो जाता है। इसके ऊपर भाष्यकार कहते हैं कि वर्तमान और अतीत—ये भिन्नक्षणवर्ती हैं, इसमें वर्तमान प्रत्यय एक है, जो शृङ्खला (सीकड़ी अथवा जंजीर) के अवयवस्थानापन्न है, दूसरा अतीत है—ये दोनों प्रत्यय भिन्नकालिक हैं। यदि तदुभय (पूर्वोत्तरक्षणविषय वर्तमान और अतीत)। प्रत्ययका ज्ञाता शृङ्खलाप्रत्यय मानते हो, तो एक विज्ञान क्षणद्वयव्यापी सिद्ध होनेसे पुनः क्षणिकत्ववादकी हानि होगी। शृङ्खलावयव स्थिर हैं, वे शृङ्खलाकालमें भी रहते हैं, प्रत्यय क्षणिक होनेसे शृङ्खलाप्रत्ययकालमें तदवयव नहीं रह सकते। यदि रहें तो क्षणिकत्वकी हानि होगी अन्यथा दृष्टान्तसिद्धि होगी, यों उभयतः पाशारज्जु है। 'मम, तव' इत्यादि व्यवहारका लोप हो जायगा। यदि क्षणोंका परस्पर संबन्ध न माना जाय, तो असत्का संबन्ध होता नहीं, इसलिए संबन्ध मानना आवश्यक है। और सब स्वसंवेद्यविज्ञानमात्र हैं और विज्ञान स्वच्छावबोधावभासमात्रस्वभाव है, ऐसा आप मानते हैं, ऐसी अवस्थामें यदि तद्दर्शी अन्य नहीं होगा, तो अनित्य, दुःख, शून्यानात्मत्व आदि अनेक कल्पनाओंकी उपपत्ति नहीं हो सकती। क्योंकि विज्ञानव्यतिरिक्त कोई है नहीं, और एकविज्ञान विरुद्ध अनेकस्वभाववाला हो नहीं सकता। दाडिममें जैसे विरुद्ध अनेक अंश रहते हैं, वैसे ही विज्ञानमें उक्त विरुद्धांश रह सकते हैं, ऐसी कल्पना नहीं कर सकते, क्योंकि विज्ञानको स्वच्छावभासस्वभाव मानते हो। यदि अनित्य, दुःख आदि विज्ञानांश हैं, तो वे अनुभूयमान हैं, अनुभूयमान अनुभवसे भिन्न होते हैं, अतः विज्ञानव्यतिरिक्तसिद्धि आवश्यक है। यदि इस दोषके परिहारके लिए अनित्यदुःखाद्यात्मक ही विज्ञान है, ऐसा मानोगे, तो दुःखादिके वियोगसे विज्ञानमें शुद्धिकल्पना नहीं होगी। संयुक्त मलके

वियोगसे विशुद्धि होती है, जैसे दर्पणमें पार्थिवांशके संयोगसे दर्पण मलिन होता है और ईंटके चूर्णके निघर्षण आदिसे विशुद्ध होता है। परन्तु स्वाभाविक धर्मसे किसीका वियोग देखा नहीं जाता। धर्मीकी स्थिति तक जो रहता है, वही स्वाभाविक कहलाता है; जैसे अग्निमें प्रकाश और औष्ण्य। कभी भी उक्त धर्मोंसे अग्निका वियोग नहीं देखा गया है। पुष्प-गुणोंका (रक्तत्वादि गुणोंका) द्रव्यान्तरके संयोगसे जो वियोग होता है, वहाँ भी संयोगपूर्वकत्वका अनुमान होता है, अतः वह संयोगज धर्म है, स्वाभाविक नहीं है। बीजभावनासे पुष्प, फल आदिमें अन्य गुणकी उत्पत्ति होती है, यथा उसीका श्लोक है—

यस्मिन्नेव हि सन्ताने आहिताः कर्मवासनाः।
फलं तत्रैव बध्नन्ति कार्पासे रक्तता यथा।

लाक्षारसावसेकसे श्वेत कपासके पुष्प रक्त हो जाते हैं। सितशर्करामिश्रित क्षीरसेकसे आम्रके फल अतिमधुर होते हैं, ये सब दृष्ट है, परन्तु ये द्रव्यान्तरके संयोगसे होते हैं, स्वाभाविक नहीं होते। आप तो विज्ञानमें स्वाभाविक धर्म मानते हैं, अतः अग्निगत औष्ण्य आदिके समान वह निवृत्त नहीं होगा, अतः विज्ञानमें विशुद्धिकल्पना नहीं हो सकती। विज्ञानमें जो विषयविषय्याभासत्वरूप मलकी कल्पना करते हैं, वह भी विज्ञानमें अन्यसंसर्ग न होनेसे सर्वथा अनुपपन्न है, अविद्यमानसे विद्यमानका संसर्ग नहीं होता, अन्य संसर्गके बिना जो धर्म जिसमें होता है, वह उसका स्वाभाविक धर्म माना जाता है। अतएव उसके साथ उस धर्मीका वियोग नहीं होता, जैसे अग्निमें औष्ण्य, सूर्यमें प्रभा। इससे अनित्य संसर्गसे मलिनत्व और विशुद्धि विज्ञानमें है, यह कल्पना प्रमाणशून्य एवं अन्धपरम्परा ही है। जो विज्ञानका निर्वाण ही पुरुषार्थ है, ऐसी कल्पना करते हैं, उसमें फलके आश्रयकी अनुपपत्ति है। जिसको काँटा गड़ा है, उसमें काँटेके निकालनेसे तज्जनित दुःखकी निवृत्ति फल है। यदि जिसे काँटा चुभा है वह मर जाय, तो भी दुःखनिवृत्ति होती है; पर उस फलका आश्रय कोई नहीं रहता, इस कारण वह फल नहीं कहा जा सकता, अतः फलाश्रयकी असत्त्वदशामें अर्थात् स्थिर चेतनरूप पुरुषके बिना निर्वाण आदिकी कल्पना व्यर्थ ही है। जिस पुरुषपदवाच्य सत्त्वात्मक विज्ञानके अर्थकी कल्पना करते हैं, उस पुरुषका ही यदि निर्वाण (विनाश) होगा, तो किस पुरुषका अर्थ कहा जायगा? यानी पुरुष ही जब नहीं है, तब पुरुषार्थोक्ति मिथ्या है। जिसके मतमें अनेकार्थदर्शी विज्ञान-व्यतिरिक्त आत्मा है, उसके मतमें दृष्टका स्मरण, दुःखसंयोग, वियोग आदि सब

पूर्वोत्तरविरुद्धार्थं मत्वा पप्रच्छ भूपतिः ।
बहवोऽर्थाः समीक्ष्यन्ते आत्माऽत्र कतमो वद ॥ ७९ ॥

उपपन्न होते हैं । अन्यसंयोगनिमित्त कालुष्य और उसके वियोगनिमित्तक विशुद्धि यह सब ठीक होता है । शून्यवादीका मत तो सब प्रमाणोंसे विरुद्ध और प्रतिषिद्ध है, अतः उसके निराकरणके लिए आदर नहीं किया गया है ॥ ७ ॥

'पूर्वोत्तर०' इत्यादि । पूर्वोत्तर अर्थको विरुद्ध मानकर राजाने श्रीयाज्ञवल्क्य-जीसे पूछा ।

शङ्का—पूर्वोत्तर विरुद्ध अर्थ क्या है ?

समाधान—पण्डित, अपण्डित, बालक सभी यह जानते हैं कि देह आदि-संघातमें आत्मबुद्धि और आत्मशब्दका प्रयोग होता है । पूर्वमें पुरुषका व्यापार देह आदिसे व्यतिरिक्त अनात्मज्योतिसे होता है, यह आदित्य आदिके दृष्टान्तसे कहा जा चुका है। आत्मत्वरूपसे प्रसिद्ध देह आदिको छोड़कर अनात्मभूत ज्योतिसे पुरुषका व्यापार होता है, इस अभिप्रायसे मुनिजीने उत्तर दिया—हे सम्राट्, आदित्य ज्योतिसे पुरुष व्यापार करता है । इस समय 'आत्मैवास्य ज्योतिः' इस वाक्यसे आत्मसम्बन्धी ज्योतिसे उक्त व्यवहार होता है, ऐसा कहते हैं । इससे पूर्ववाक्यसे ज्योतिमें देहसम्बन्ध और इस वाक्यसे सम्बन्धकी प्रतीति होनेके कारण राजाको सन्देह हुआ, अतः उक्त प्रश्न समुचित ही है ।

शङ्का—देहादिसे व्यतिरिक्त आत्मज्योति यदि विवक्षित है, तो पूर्वोत्तर-विरोधकी शङ्का नहीं हो सकती, क्योंकि आत्मशब्दसे देहादिका ग्रहण करनेपर सन्देह हो सकता है, अतः देहातिरिक्त ज्योतिसे पहले पुरुषका व्यापार कहा गया, इस समय देहसम्बद्ध ज्योतिसे उक्त व्यापारको कहते हैं । यदि आत्मशब्दसे अर्थान्तरका ग्रहण करे, तो विरोध नहीं है, इससे विरोधशङ्काधीन संशयमूलक प्रश्न सिद्ध नहीं होता ।

समाधान—लोकमें आत्मशब्द अनेक अर्थोंमें प्रसिद्ध है। साक्षी, बुद्धि और शरीरमें उक्त शब्दका प्रयोग पाया जाता है; अतः आत्मशब्द अनेकार्थक है । 'बहूनामेकस्य निर्धारणे डतमच्' भगवान् पाणिनि आचार्यके इस सूत्रसे बहुतोंमें से एकके निर्धारणके लिए डतमच् प्रत्यय होता है । आत्मशब्दका अनेकोंमें प्रयोग देखकर संशयग्रस्त राजाने पूछा—आपने जिस ज्योतिको आत्मा कहा है, वह कौन है ? पूर्वोक्त

पिण्डस्तावदिहैकार्थो द्वितीयो लिङ्गसंज्ञितः ।
चिद्बिम्बतावधिश्चाऽन्यश्चतुर्थो नेति नेति यः ॥ ८० ॥
देहादिभेदमाश्रित्य योऽयमित्युत्तरं जगौ ।
अधिष्ठानारोप्यभाव आत्माऽस्येति विवक्षितः ॥ ८१ ॥

अनुमानसे अविरुद्ध आत्मज्योति है, यह 'योऽयम्' इत्यादिसे मुनिजीने राजाके प्रति कहा ॥ ७९ ॥

'पिण्डस्तावदि०' इत्यादि ।

शङ्का—अद्वैतवादीके मतमें अद्वयवाद ही सिद्धान्त है । अतः दो वाद अयुक्त हैं ।

समाधान—हाँ ठीक है, किन्तु दो वाद कल्पनासे होते हैं । आत्मामें कल्पित भेदको लेकर आत्मशब्द अनेकार्थक कहा गया है । वास्तवमें अनेकार्थक नहीं है । इसीका इस श्लोकसे विचार किया गया है । पिण्ड प्रथम आत्मशब्दका अर्थ है, लिङ्ग द्वितीय आत्मशब्दका अर्थ है, चिद्बिम्बितावधि (अन्तर्यामी) यानी साक्षी, यह तृतीय आत्मशब्दका अर्थ है और 'नेति नेति' से बोधित चतुर्थ आत्मशब्दका अर्थ है । चतुर्थ आत्मशब्दका मुख्य अर्थ है । इसकी प्रतीतिके लिए इतर अर्थ हैं, किन्तु लौकिक जन वृथा ही व्युत्पत्तिके पूर्व पहलेको मुख्य आत्मा मानते हैं, इसीसे सन्दिग्ध राजाने मुनिजीसे पूछा, व्यवहर्त्ता संघात (शरीर) आदित्य आदि ज्योतिसे अनुगृहीत इन्द्रिय द्वारा दीप्त मनवाला चैतन्याभासव्याप्त पुरुष विषयोंका अनुसन्धान कर योग्य चेष्टा करता है ॥ ८० ॥

'देहादिभेद०' इत्यादि ।

शङ्का—यदि देहादिसे व्यतिरिक्त ज्योति आत्मा है, तो 'आत्मैवास्य ज्योतिः' इस उत्तर वाक्यसे देहको ज्योति मुनिजीने क्यों बतलाया ? यह आक्षेप देह आत्मशब्दार्थ है, इस प्रथम पक्षमें है ।

समाधान—देहादिभेदकी ज्योतिमें कल्पना कर कल्पित देह आदिका अधिष्ठानचैतन्यातिरेकसे वस्तुतः अभाव है, अतः देहादिकल्पनाधिष्ठान चैतन्य ही सङ्घातका स्वरूप है, इस तत्त्वदृष्टिसे देहादिसंघात आत्मज्योति कहा गया है । लोकप्रसिद्ध व्यावहारिक भेदको मानकर आदित्य दृष्टान्त कहा गया है, इस अभिप्रायसे अधिष्ठानारोप्यभावका उपादान किया है; आरोप्य देहादि, अधिष्ठान

विचारदृष्ट्याऽधिष्ठानमेवाऽऽत्माऽध्यस्तवस्तुनः।
तथापि जाड्यचैतन्यभेदोऽप्यस्ति हि लोकतः ॥ ८२ ॥
एवं सत्यविरोधः स्याद् भेदाभेदार्थवाक्ययोः ।
योऽयमित्युत्तरे शब्दद्वयमेवं विचार्यताम् ॥ ८३ ॥
यः पृष्टः स पराग्वृत्तिप्रमामेयातिलङ्घितः ।
प्रत्यङ्मुखेन मानेन त्वयमित्युपदिश्यते ॥ ८४ ॥

है—तदाश्रय चैतन्य। आरोप्याधिष्ठान भेदघटित ही होता है, कल्पित भेद षष्ठ्यर्थ है।

शङ्का—यदि देहाधिष्ठान चैतन्य आत्मा ज्योति है, तथा आदित्यदृष्टान्तसे आत्मव्यतिरिक्त ज्योति आत्मा मुनिजीको विवक्षित है, यह कथन असंगत हो जायगा।

समाधान—लोकप्रसिद्ध व्यावहारिक भेदको मानकर आदित्य आदि दृष्टान्तसे वही देहादिभिन्न है, अतः पूर्वोत्तरविरोध भी नहीं है ॥ ८१ ॥

उक्त अर्थका ही पुनः प्रतिपादन करते हैं—**'विचार०'** इत्यादिसे।

विचारदृष्टिसे यद्यपि अध्यस्त वस्तुका आत्मा अधिष्ठान ही है, तो भी जाड्य चैतन्यसे लोकमें भेद भी है। देहादिसंघातका आत्मा तदधिष्ठान चैतन्य है, इसलिए देहको आत्मा कहनेमें कोई आपत्ति नहीं है, प्रत्युत ज्ञानदृष्टिसे ऐसा ही कहना उचित है। परन्तु प्रश्न यह होता है कि यदि यही ज्योति होती, तो आदित्य आदिका दृष्टान्त देना ठीक नहीं होता। आदित्य जैसे देहसे भिन्न है, वैसे ही उक्त ज्योति भिन्न नहीं है, इसका उत्तर देते हैं। यहां दो दृष्टिसे प्रश्नका उत्तर दिया गया है—एक शास्त्रदृष्टिसे और दूसरा लोकदृष्टिसे। लोकदृष्टिसे शरीर आत्मा है, यह कहा गया है और शास्त्रदृष्टिसे देहका अधिष्ठान चैतन्य देहसे भिन्न आत्मा है। देहमें जाड्य और अधिष्ठानमें चैतन्य है। अतः उक्त विरुद्ध दो धर्मोंके दर्शनसे दोनों भिन्न हैं, इसलिए दृष्टान्तमें आदित्यज्योति जैसे शरीरसे भिन्न है, वैसे ही तदधिष्ठान चैतन्य भी भिन्न है, अतः दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकभावमें कोई अन्तर नहीं है ॥ ८२ ॥

'एवं सत्य०' इत्यादि। शास्त्रकी दृष्टिसे अभेद और लोकदृष्टिसे भेद है, इस अर्थका बोध करनेवाले दो वाक्योंमें विरोध नहीं है, क्योंकि 'योऽयम्' इस उत्तर-वाक्यमें विद्यमान दोषका इस प्रकारसे विचार करना चाहिए ॥ ८३ ॥

विवेचन प्रकार कहते हैं—**'यः पृष्टः'** इत्यादिसे।

पराञ्चीति च मन्त्रोक्तिः साक्षादात्मेति च श्रुतिः ।
पराङ्मानप्रमेयत्वमात्मनोऽपि न्यवारयत् ॥ ८५ ॥
कुम्भाकारेण कुम्भार्थो यथा प्रत्यक्ष ईक्ष्यते ।
धीज्ञानेन तथा प्रत्यगात्माकारेण गृह्यते ॥ ८६ ॥

सबकी साधक जो आत्मज्योति है, वह देहादिसे अतिरिक्त है, इसकी सिद्धिके लिए 'योऽयम्' यह निर्देश है । तात्पर्य्यार्थको कहकर पदोंका अर्थ कहते हैं— पराचि—घटादिविषये—वृत्तिर्यस्याः सा पराग्वृत्तिः तद्रूप जो प्रमा है उसका मेय (परिच्छेद) विषय ही है । उसका अतिलङ्घन करनेवाले तादृश प्रमाके अविषय स्वरूपके साक्षात्कारसे जो सिद्ध है, वही 'अयम्' से कहा गया है, जिसको कि आपने 'कतमः' इससे पूछा है ॥ ८४ ॥

'पराञ्चीति' इत्यादि । 'पराञ्चि खानि व्यतृणत्स्वयम्भूः' इस मन्त्रवर्णसे यह स्फुट प्रतीत होता है । ब्रह्माने इनका स्वभाव ही ऐसा बनाया है कि वे पराग् विषयमात्रका ग्रहण करते हैं । प्रत्यग् विषयमें इनकी प्रवृत्ति नहीं हो सकती, अतएव इन्द्रियोंकी हिंसा स्वयम्भूने की । पराग्-विषय-दर्शीका जन्म-मरणप्रबन्ध सदा बना रहता है, उससे मुक्ति नहीं होती, प्रत्यग्दर्शीकी मुक्ति होती है, क्योंकि उसका वैसा स्वभाव नहीं है । इससे स्पष्ट होता है कि पराक्-प्रमाका अप्रमेय है ।

शङ्का—उक्त प्रमाविषयकी सत्तामें प्रमाण क्या है ?

समाधान—'साक्षादात्मा' यह श्रुति है । इस श्रुतिसे स्वरूपसाक्षात्कारसे सिद्ध है । आत्मा चेतन स्वयम्प्रकाश, अतः स्वतः सिद्ध है, उसकी सिद्धिके लिए अन्य प्रमाणकी आवश्यकता नहीं है, इस तात्पर्यसे कहते हैं कि तादृश प्रमाविषयत्वका आत्मामें निवारण किया गया है ॥ ८५ ॥

'कुम्भाकारेण' इत्यादि । जैसे कुम्भाकारसे कुम्भ प्रत्यक्ष देखा जाता है, वैसे ही आत्माकारविज्ञानसे आत्मा भी गृहीत होता है । भाव यह है कि 'घटं पश्यामि' यही घटका प्रत्यक्ष है । उसमें जैसे स्वाकारसे घटका प्रत्यक्ष होता है, वैसे ही स्वात्माकारसे स्वात्माका भी प्रत्यक्ष होता है । अन्यथा यह प्रत्यक्ष हमको हुआ या दूसरेको, ऐसा संशय नहीं होता, किन्तु घटादिविषयक निश्चय स्वात्मविषयका निश्चय होता है कि यह ज्ञान हमको हुआ है । यदि अन्यात्मव्यावृत्त स्वाकारसे स्वात्माकी प्रतीति नहीं होती, तो संशय आदिकी प्रसक्ति अवश्य होती ।

अयमित्यभिधायोग्यो लोके देहोऽपि वीक्ष्यते ।
विज्ञानमय इत्युक्त्या स्थूलदेहो निवर्त्यते ॥ ८७ ॥
विज्ञायतेऽनेन सर्वमिति विज्ञानशब्दतः ।
धीरुक्ता तन्मयत्वं तु तत्प्राचुर्यं विवक्षितम् ॥ ८८ ॥

शङ्का—यदि स्वसे आत्माका ग्रहण सदा होता है, ऐसा मानियेगा, तो एकमें ही कर्तृकर्मकरणत्वकी प्रसक्ति हो जायगी ।

समाधान—स्वरूपचैतन्यसे ही सदा उसका भान होता है, व्यापार द्वारा नहीं, अतः उक्त विरोध नहीं है, क्रिया द्वारा ही उक्त विरोध होता है। अनात्माकार भान परस्पर व्यभिचारी होते हैं, आत्मप्रत्यय सर्वत्र अव्यभिचारी है ।

शङ्का—'आत्मनः स्वरूपचैतन्यसिद्धतया न स्वप्रकाशत्वम्, व्यभिचारित्वात्, रज्जुसर्पवत्' इस अनुमानसे आत्मा भी व्यभिचारवान् है ।

समाधान—सुषुप्ति आदि अवस्थामें भी साधकत्वरूपसे स्वरूप-चैतन्यकी स्थिति है, अतः स्वरूपचैतन्यका कहीं व्यभिचार नहीं है। स्वप्नमें भी तो 'मैं देखता हूँ' इत्यादि प्रत्यय होता है, अतएव जागरावस्थामें 'मैंने ऐसा स्वप्न देखा' यह स्मरण होता है। 'नहि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यते' इस श्रुतिसे चैतन्यात्मक दृष्टिका लोप नहीं होता, यह स्पष्ट ही ज्ञात होता है। स्वरूप-चैतन्यरूप प्रत्यक्षसिद्ध आत्माका प्रत्यक्षार्थवाची 'अयम्' इस शब्दसे निर्देश किया गया है। यदि स्वरूपचैतन्यातिरिक्त वृत्तिरूप ज्ञानसे उसका ग्रहण होता, तो उसमें घट आदिके समान अनात्मत्वकी प्रसक्ति हो जाती ॥ ८६ ॥

'योऽयम्' इन दोनों पदोंका अर्थ कर पदान्तरका यानी 'विज्ञानमय' इस पदका व्याख्यान करते हैं—**'अयमित्यभिधा०'** इत्यादिसे ।

'अयम्' इस पदके अभिधेयके योग्य शरीर भी है, क्योंकि 'अहं गौरः' इत्यादि प्रत्यय देहमें भी होता है; अतः देह भी अयंशब्दका अर्थ हो जायगा। उसकी निवृत्तिके लिए 'विज्ञानमय' इस विशेषणका उपादान किया गया है। 'देहो जडः, भौतिकत्वात्, कुम्भवत्' इस अनुमानसे देह विज्ञानमय नहीं हो सकती, अतः उक्त विशेषणसे स्थूल देहकी निवृत्ति होती है ॥ ८७ ॥

'विज्ञायते' इत्यादि। 'विज्ञायते सर्वमनेन इति विज्ञानम्' यानी सम्पूर्ण पदार्थ जिससे जाने जाते हैं, वह विज्ञान है। प्रकृतमें 'मयट्' शब्द प्राचुर्य अर्थ

व्याचख्युर्मयटं केचिद्विकारार्थे न तच्छुभम् ।
अनिर्मोक्षो विकारत्वे प्रायार्थस्तूपपद्यते ॥ ८९ ॥

विवक्षित है । विज्ञान बुद्धि है । बुद्धिरूप उपाधिसे आत्मा अविविक्त (सम्बद्ध) रहता है, अतः प्रत्यगात्मा विज्ञानमय कहलाता है ।

शङ्का—असङ्ग एवं उदासीन प्रत्यगात्मामें बुद्धि रह नहीं सकती, अतः आत्मा विज्ञानमय कैसे ?

समाधान—बुद्धि या विज्ञानसे संपृक्त ही आत्माकी प्रतीति होती है, अतः विज्ञानमय आत्मा कहा जाता है । जैसे राहुका अपने स्वरूपसे प्रत्यक्ष नहीं होता, किन्तु चन्द्र और आदित्यके सम्बन्धसे ही प्रत्यक्ष होता है, वैसे ही यह आत्मा बुद्धिके सम्बन्धसे ही प्रतीत होता है, अन्यथा नहीं; अतः आत्मा विज्ञानमय कहा गया है।

शङ्का—आत्मा स्वप्रकाश है, अतएव सुषुप्ति अवस्थामें बुद्धिके संबन्धके बिना भी उसका प्रकाश होता है, ऐसी परिस्थितिमें बुद्धिके संपर्कसे ही वह प्रतीत होता है, यह कैसे कहते हो ?

समाधान—सविकल्प प्रतीति बुद्धिके सम्पर्कसे ही होती है, उक्त अवस्थामें निर्विकल्पक प्रतीति होती है, अतः विज्ञानमयता आत्मामें समुचित ही है ॥ ८८ ॥

'व्याचख्यु०' इत्यादि । भर्तृप्रपञ्चने 'विज्ञानमय' शब्दमें मयट् प्रत्ययको विकार अर्थमें मानकर विज्ञान ब्रह्म है और उसका विकार जीव विज्ञानमय है, ऐसा कहा है, पर वह ठीक नहीं है, क्योंकि कार्य ही विकार कहा जाता है। यदि जीव कार्य होगा, तो वह विनाशी अवश्य ही होगा, फिर मोक्ष किसका कहोगे, अतः विकारार्थक मयट् नहीं है, किन्तु प्राचुर्यार्थक ही है, यह मानना चाहिए । किञ्च, जीव परविकार है, ऐसा यदि मानो, तो यह प्रश्न होगा कि वह विकार आविद्यिक है या वास्तव ? प्रथम पक्षमें जैसे रज्जुमें सर्पका अध्यास है, वैसे ही परमें जीवका अध्यास है, यह कहना होगा, ऐसी अवस्थामें कोई विशेष दोष नहीं है । यदि विकार पारमार्थिक होगा, तो पूर्वोक्त दोषसे मुक्ति नहीं होगी । वस्तुतः प्रथम पक्ष भी प्रौढिवादसे है । जीव रज्जुसर्पके समान अध्यस्त नहीं है । विकारको वास्तविक माननेमें प्रकरणविरोध होगा । विज्ञानमयके समान आगे पृथिवीमय आदि लिखा गया है, वहाँ भी इसी मयट्का सम्बन्ध होनेसे पृथिवीविकार यह अर्थ होगा । आत्मा पृथिवीका विकार है, यह आप भी नहीं कह सकते । उक्त दोषके परिहारके लिए यदि मयट्का अर्थान्तर मानिए, तो प्रकरणके साथ विरोध स्पष्ट है । भगवान्

बुद्धिविज्ञानसंपृक्तश्चन्द्रसंपृक्तराहुवत् ।
प्रमीयते ततः प्रत्यग्विज्ञानमय उच्यते ॥ ९० ॥
द्रष्टृत्वाद्यभिसम्बन्धोऽकारकस्याऽपि सर्वदा ।
धीविज्ञानकृतोऽतोऽपि विज्ञानमय उच्यते ॥ ९१ ॥

भाष्यकारने परिहास भी किया है कि 'नहि गोधा सर्पन्ती सर्पणादहिर्भवति' अर्थात् गोधा अपने बिलसे निकल कर दौड़ती है एतावता वह साँप नहीं हो जाती, किन्तु गोधा ही रहती है। एवं यादृशार्थक जो पद पूर्वमें श्रुत है, उसका यदि उत्तरवाक्यमें सम्बन्ध होता है, तो वह अन्यार्थक नहीं हो जाता, किन्तु पूर्वार्थक ही रहता है।

शङ्का—विज्ञानमय पदार्थका निर्णय करनेके लिए प्रयोगान्तरका अनुसरण क्यों करते हो ?

समाधान—सन्दिह्यमान पदार्थका निर्णय अन्यत्र सुनिश्चित प्रयोगसे अथवा अत्यन्त निश्चित न्यायसे करना चाहिए, यह विद्वानोंका सिद्धान्त है। जैसे मीमांसामें 'पुरोडाशं चतुर्धा करोति' इस वाक्यमें पुरोडाशमात्रका चतुर्धाकरण इष्ट है किंवा आग्नेय पुरोडाशका ? ऐसा संशय होनेपर शाखान्तरमें 'आग्नेयं चतुर्धा करोति' यह लिखा है, तदनुसार पूर्वमें भी पुरोडाशपद आग्नेयपुरोडाशपरक है, यह निर्णय किया गया है, वैसे ही प्रकृतमें भी विज्ञानमयमें मयट् प्राचुर्यार्थक ही है, यह मानना चाहिए। 'व्याचख्युः' यही पाठ शुद्ध है। आदर्श प्रतिमें 'व्याचिख्युः' यह पाठ प्रमादप्रयुक्त है ॥ ८९ ॥

'बुद्धिविज्ञान०' इत्यादि। चन्द्रसंयुक्त राहुके समान बुद्धि यानी विज्ञानसे संपृक्त आत्माका भान होता है, अतः विज्ञानमय आत्मा कहा गया है। राहु सर्वदा आकाशमें रहता है, पर अन्यत्र दिखलाई नहीं देता। चन्द्र और सूर्यके उपरागके समय राहुका भान होता है। यद्यपि राहु चन्द्र और सूर्यका आवारक है, तथापि जैसे आवृत चन्द्र और सूर्यसे राहुका भान होता है, वैसे ही अज्ञान आत्माका आवारक है, अतः आवृत आत्मासे अज्ञान और उसके कार्यका प्रकाश होता है ॥ ९० ॥

'द्रष्टृत्वाद्य०' इत्यादि। असङ्ग उदासीन आत्मा यद्यपि दर्शन आदि क्रियाका कारक नहीं है, तथापि बुद्धिके योगसे सदा द्रष्टृत्व आदिके साथ सम्बन्ध होनेसे आत्मा द्रष्टा कहा जाता है, अतः आत्मा विज्ञानमय कहा जाता है।

सर्वार्थकारणं बुद्धिर्द्वारमात्रं ततोऽपरम् ।
इन्द्रियं तन्मयस्तस्माच्चिदाभासैकवर्त्मना ॥ ९२ ॥
प्राणा बुद्ध्यविनाभूता इति प्राणमयोऽप्यतः ।
प्राणात्मवादः सम्प्राप्तः प्राणेष्विति निवार्यते ॥ ९३ ॥

शङ्का—आत्मा बुद्धिके संयोगसे जैसे द्रष्टा होता है, वैसे ही चक्षु आदिके योगसे भी द्रष्टा होता है, फिर क्या कारण है कि विज्ञानमयके समान वह चक्षुर्मय नहीं कहा जाता ।

समाधान—बुद्धि विषयावारक अज्ञानके निवर्तन द्वारा सर्वार्थप्रकाशमें कारण है । जैसे घट, पट आदि विषयावारक अन्धकारके निवर्तन द्वारा आलोक सर्वार्थप्रकाशका कारण है, वैसे ही बुद्धि भी है; अतः विज्ञानमय कहा गया है । चक्षु इन्द्रिय केवल उद्भूतरूप और तद्वान् द्रव्यमात्रकी प्रकाशक है, रस, गन्ध आदिकी नहीं; अतः बुद्धिकी अपेक्षा चक्षु इन्द्रिय न्यून विषयकी प्रकाशक होनेसे अप्रधान है और सम्पूर्ण विषयोंकी प्रकाशक होनेसे बुद्धि प्रधान है । प्रधानसे व्यपदेश होता है, यह लोकमें भी प्रसिद्ध है, अतः उक्त न्यायसे श्रुतिने आत्माको विज्ञानमय कहा है ॥ ९१ ॥

'सर्वार्थकारणम्' इत्यादि ।

शङ्का—यदि बुद्धिको ही सम्पूर्ण अर्थोंके प्रकाशकी कारण मानते हो, तो चक्षु आदि अन्य कारण व्यर्थ हैं ।

समाधान—व्यर्थ नहीं हैं, क्योंकि अन्य इन्द्रियाँ इसीकी द्वार हैं, इन्द्रिय द्वारा बुद्धि सर्वार्थभासक है ।

शङ्का—आत्मा अजड़ है और बुद्धि जड़ है, अतः इन दोनोंका परस्पर सादृश्य कैसे ?

समाधान—ल्युडर्थ विज्ञान है, विज्ञानके साथ यह आत्मा स्वकीय अविद्यावश विज्ञानावस्थ होकर स्वाभास (चिदाभास) द्वारा समान होता है, अतः वस्तुतः असदृश होनेपर भी विज्ञानमयशब्दसे कहा जाता है, इस अभिप्रायसे 'चिदाभासैक-वर्त्मना' यानी चिदाभास द्वारा आत्मा विज्ञानमयशब्दसे व्यपदिष्ट हुआ है ॥ ९२ ॥

विज्ञानमयकी व्याख्या कर 'प्राणेषु' का व्यावर्त्य कहते हैं—**'प्राणा'** इत्यादिसे ।

विज्ञानमय कहनेसे प्राणमय स्वतः प्राप्त हो जाता है ।

दशेन्द्रियाणि मरुतः पञ्च च प्राणशब्दिताः ।
प्राणेषु योऽर्थोऽनुगतः स आत्मेत्यवधार्यताम् ॥ ९४ ॥
धीरेवाऽऽत्मेत्यपाकर्तुं हृदीति श्रुतिरभ्यधात् ।
स्वार्थं बुद्धौ यदाभाति स आत्मा बुद्धिनित्यदृक् ॥ ९५ ॥

शङ्का—क्यों ?

समाधान—तदविनाभूत इन्द्रियाँ हैं । पन्द्रह प्राणोंमें इन्द्रियोंका भी समावेश है । इन्द्रियाँ बुद्धिकी द्वार हैं, यह पूर्वमें कह चुके हैं । और तत्-तत् इन्द्रियोंके बिना तत्-तत् विषयका ज्ञान नहीं होता, यह अनुभवसिद्ध भी है, अतः प्राणात्मवाद (प्राण ही आत्मा है, यह वाद) भी प्राप्त हुआ । 'प्राणेषु' यह सप्तमी अधिकरणमें नहीं है, किन्तु निर्धारणमें है, इसका विचार आगेके श्लोकमें किया जायगा ॥९३॥

'दशेन्द्रियाणि' इत्यादि । वाक्, पाणि, पाद, पायु और उपस्थ—ये पाँच कर्मेन्द्रियाँ और चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, रसना और त्वक्—ये पांच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं। मिलाकर दश इन्द्रियाँ हुईं । पांच वायु हैं—प्राण, अपान, उदान, व्यान और समान—इनको पूर्वमें जोड़नेसे पन्द्रह हुए । ये ही पञ्चदश प्राण हैं—इन पन्द्रहोंमें जो अनुगत है, वही आत्मा है, यह निश्चय करो । इन प्राणोंमें से आत्माका विभजन या निष्कर्ष निर्धारण है, यही सप्तमीका अर्थ है । ये पञ्चदश आत्मीय हैं, पर आत्मा नहीं हैं।

शङ्का—क्यों ?

समाधान—प्रदीप आदिके समान आत्मा करण नहीं होता, अतः इनमें जो चैतन्यमात्र अनुगत है, वही आत्मा है ॥९४॥

'धीरेवा०' इत्यादि । प्राणसजातीय बुद्धि ही आत्मा है, इस भ्रमकी निवृत्तिके लिए 'प्राणेषु' ऐसा श्रुतिने कहा है ।

शङ्का—'हृदि' ऐसा कहनेपर आत्मा अर्थान्तर है, यह तो ज्ञात होता है, पर वह बुद्धिव्यतिरिक्त है, यह कैसे सिद्ध होता है ?

समाधान—'हृत्' शब्द यद्यपि 'पद्मकोशप्रतीकाशम्' इस लक्षणसे मांसखण्डविशेषमें प्रसिद्ध है, तथापि 'तात्स्थ्यात् तच्छब्दत्वम्' इस न्यायसे उसमें स्थित बुद्धिका लक्षणासे ग्रहण है । उस बुद्धिमें जो स्वार्थ भासित होता है, वह आत्मा है । स्वार्थ प्रकृतमें स्वप्रकाश विवक्षित है । वार्तिकमें 'वृत्तिदृक्' ऐसा पाठ है और सारमें 'नित्यदृक्' यह पाठ है, अर्थमें भेद नहीं है ॥९५॥

हृदीत्याधारनिर्देशाद्धीस्थवृत्तिष्विहाऽऽत्मता ।
प्रसक्ता तन्निवृत्त्यर्थमन्तरित्युपदिश्यते ॥ ९६ ॥
परागर्थानुसारिण्यो यतो धीवृत्तयस्ततः ।
प्रत्यक्त्ववाचकेनाऽन्तःशब्देनैता निवार्चिताः ॥ ९७ ॥

'अन्तः' इसका प्रयोजन कहते हैं—'हृदी०' इत्यादिसे ।

आधारबोधक सप्तमीके निर्देशसे उक्त बुद्धिस्थ जो वृत्तिरूप ज्ञान है, उसमें आत्मत्व प्राप्त हो जाता है, इसलिए 'अन्तः' यह विशेषण दिया गया है। सारांश यह है कि आत्मशब्दका अनेक अर्थोंमें प्रयोग देखकर संशयवान् राजाने मुनिजीसे पूछा। मुनिजीने उत्तर दिया कि देवता, विषय, प्राण, बुद्धि और बद्धि-वृत्तिसे पर प्रत्यक्स्वरूप जो भासित होता है, वही स्वयंज्योति आत्मा है।

शङ्का—'देवदत्तो जातो मृतः' इत्यादि व्यवहारसे आत्माके भी जन्म-मरण देखे जाते हैं, फिर बुद्धि आदिका साक्षी नित्य कैसे ?

समाधान—'नात्माऽश्रुतेः' इस सूत्रसे आत्माके जन्म और मरण नहीं हैं, ऐसा प्रतिपादन किया गया है। 'घटाकाशो जातो नष्टः' इत्यादि प्रयोगके समान देहादिगत उत्पत्ति आदिका आत्मामें औपाधिक भान होता है। जिसके प्रभावसे बुद्धि आदिमें आगमापायित्व सिद्ध होता है, उस उदय और अस्तसे रहित ज्ञप्तिस्वभाव स्वयंप्रकाश चित्स्वरूप बुद्धि आदि सकल जड़ पदार्थोंके साधकको विद्वानोंने आत्मा कहा है ॥९६॥

प्रश्नके निर्णयके लिए वाक्यार्थका संक्षेप और उपसंहार कर 'ज्योति' इत्यादिकी व्याख्याकी इच्छासे 'अन्तः' इस विशेषणसे वृत्तियोंकी व्यावृत्ति होती है, इस कथित अर्थमें हेतु कहते हैं—'परागर्था०' इत्यादिसे ।

यतः धीवृत्तियाँ पराग् घट आदि जड अर्थविषयक होती हैं, अतः 'अन्तः' इस विशेषणसे वे व्यावृत्त होती हैं ।

शङ्का—किस कारणसे वे निवृत्त हो जाती हैं ?

समाधान—प्रत्यक्त्व-वाचक अन्तःशब्दसे 'यः सर्वान्तरः' इस श्रुतिसे असङ्कुचित अन्तरत्व आत्मामें ही है। 'अन्तः' इस विशेषणसे ये वृत्तियाँ व्यावृत्त हो जाती हैं ॥ ९७ ॥

जाड्यमात्मन इच्छन्ति कणभुञ्मतजीविनः ।
तेषां विप्रतिषेधार्थं ज्योतिरित्यभिधीयते ॥ ९८ ॥
जडं बुद्ध्याद्युपादानं तमस्तस्याऽवभासकम् ।
सकृद्विभातं चिन्मात्रं ज्योतिरात्मेति भण्यते ॥ ९९ ॥

ज्योतिःशब्दका व्यावर्त्य कहते हैं—'जाड्य०' इत्यादिसे ।

कार्यकारणका साजात्य लोकमें नियत है । बुद्धि आदि कार्य जड़ हैं, अतः उनका कारण आत्मा भी जड़ ही होना चाहिए । यदि उसको ज्योतिःस्वरूप मानियेगा, तो बुद्धि आदि भी ज्योतिःस्वरूप हो जायँगे । एक शरीरमें अनेक ज्योतियाँ इष्ट नहीं हैं, यह कणभुक् (कणाद), वैशेषिक, नैयायिक और प्रभाकर-मिश्रका मत है । उनके प्रतिषेधके लिए 'ज्योति' यह विशेषण दिया गया है । तात्पर्य यह है कि बुद्धि आदिका उपादान आत्मा नहीं है, किन्तु 'ह्रीर्धीर्भीरित्ये-तत्सर्वं मन एव' इत्यादि श्रुतिसे मन ही उपादान है । आत्मा कूटस्थनित्य होनेसे किसीका भी उपादान नहीं है ।

शङ्का—पहले ही आत्मस्वरूपके निर्णयके समय आत्मा चित्स्वरूप स्वयंप्रकाश है, यह कह चुके हैं, इसीसे जाड्यकी व्यावृत्ति सिद्ध हो चुकी, फिर जाड्यप्रसक्ति है ही नहीं, अतः उसकी व्यावृत्तिके लिए ज्योतिःपद आवश्यक नहीं है और श्रुति अनादि है, उस समय जब वैशेषिक आदि मतका उदय ही नहीं था, तब फिर उसकी व्यावृत्तिके लिए उक्त पद सार्थक नहीं हो सकता ।

समाधान—ठीक है, पूर्वोक्त आत्मपदार्थका प्रकृत वाक्योक्त आत्मरूप ज्योतिके साथ सम्बन्धके लिए वह विशेषण है, जिससे पूर्वापरवाक्योक्त आत्मशब्दके अर्थका निर्णय हो, ज्योतिःशब्दका इसीमें तात्पर्य है ॥ ९८ ॥

जड़ बुद्धि आदिके कारण आत्माको जड़ मानना चाहिए, इस वैशेषिक मतके निराकरणके लिए 'ज्योति' यह विशेषण है, यह व्यक्त करते हुए बुद्धि आदिके कारणको कहते हैं—'जडम्' इत्यादिसे ।

बुद्धि और अविद्या—ये दोनों जड हैं, अतः इनमें उपादानोपादेयभाव ठीक है । अविद्या उपादान है, बुद्धि आदि उपादेय हैं । आत्मामें प्रयुक्त 'ज्योतिः' इस विशेषणमें उनकी व्यावृत्तिकी सामर्थ्य है । सकृद्विभात चिन्मात्रको ज्योति कहते हैं ।

शङ्का—'अज्ञोऽहम्' इत्यादि प्रतीतिसे आत्मामें अज्ञानकी प्रतीति स्फुट है; अतः ज्योतिष्ट्व उसमें कैसे है ?

अचेतनोऽपि बुद्ध्यादिश्चेतनावानिवेक्ष्यते ।
यस्य सन्निधितस्तस्य चिज्ज्योतिष्ट्वमतिस्फुटम् ॥ १०० ॥
आत्मच्छायं पयोऽशेषं यथा मरकतो मणिः ।
परीक्षणाय प्रक्षिप्तः कुर्यादात्मा तथैव हि ॥ १०१ ॥

समाधान—संसारदशामें अज्ञानकी प्रतीति होती है, किन्तु आत्मतत्त्वके साक्षात्कारके अनन्तर निःशेष अज्ञानका ध्वंस होनेपर आत्मामें ज्योतिष्ट्वकी स्फुट अभिव्यक्ति होती है। ज्योतिः, संवित्, चिति और प्रत्यगात्मा इत्यादि शब्दोंसे आत्माका ही व्यवहार होता है। वह जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति – इन तीनों अवस्थाओंमें स्वस्वरूपसे प्रकाशमान होता है ॥ ९९ ॥

'अचेतनोऽपि' इत्यादि। जिसकी सन्निधिसे यानी सामीप्यसे अचेतन बुद्धि आदि चेतनके समान लक्षित होते हैं, उसमें ज्योतिष्ट्व अतिस्फुट है। 'यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः' इत्यादि गीतावचनसे एक ही आत्म-ज्योति संसारमात्रकी भासक है, यह ज्ञात होता है ॥ १०० ॥

चेतनके सन्निधानसे जड़ भी चेतन-सा प्रतीत होता है, इसमें दृष्टान्त कहते हैं—**'आत्मच्छायम्'** इत्यादिसे।

मरकत मणिकी परीक्षा इस प्रकार की जाती है—दुग्धमें मरकत मणि छोड़नेसे दुग्ध सम्पूर्ण मरकत मणिके समान श्यामवर्ण हो जाता है। बस इसी प्रकार आत्माके सम्बन्धसे अनात्मा बुद्धि आदि सम्पूर्ण जड पदार्थ चैतन्यकी छायासे चेतन-से प्रतीत होते हैं। सूक्ष्म बुद्धि आदिमें जो सूक्ष्मतम है, वही बुद्धि आदिका कारण है, वही आत्माविद्या कही जाती है, जो आत्मामें साक्षित्व और कारणत्वकी निमित्त है। सब कार्योंका नाश होनेपर भी वह बीज प्रलयमें अवशिष्ट रहता है। स्वमोहाभाससे कूटस्थमें साक्षित्व होता है, इसलिए साक्षित्व भी पारमार्थिक नहीं है। अनुभवसे भी तमकी सिद्धि होती है। साक्षीके बिना 'न वेद्मि' यह प्रत्यक्ष नहीं हो सकता। मानसे उसकी सिद्धि नहीं कह सकते, कारण कि मान निवर्तक है, वह उसका साधक नहीं हो सकता, अतः साक्षीसे ही तमकी सिद्धि होती है।

'स्वयं सेद्धुमसामर्थ्यात् साधकान्तरहानतः ।
बाधकस्य च सद्भावात्तमसा साक्षिता चितेः ॥'

इससे स्पष्ट है कि चितिमें साक्षित्व अज्ञानकृत है, वास्तविक नहीं है ॥१०१॥

ज्योतिरात्मचितिच्छायं प्रथमं कुरुते तमः ।
तमोयोगेन धीस्तद्वद्धीयोगादिन्द्रियं तथा ॥ १०२ ॥
अक्षयोगात्तथा देह एवमेते चिदात्मवत् ।
भासन्ते तेष्वतः पुंसां प्रत्यगात्मत्वविभ्रमः ॥ १०३ ॥
तमेव भान्तमात्मानमनुभात्यखिलं जगत् ।
इति श्रुत्यन्तरे स्पष्टमुक्तं ज्योतिष्ट्वमात्मनः ॥ १०४ ॥

'**ज्योतिरात्म०**' इत्यादि ।

शङ्का—यदि आत्मज्योतिके अधीन सब पदार्थोंकी सिद्धि होती है, तो प्रथम सबको बुद्धिमें ही आत्मधी क्यों होती है ?

समाधान—बुद्धिके हेतु अज्ञानमें (तममें) चैतन्याभासके सम्बन्धसे पहले चैतन्याभासता होती है, क्योंकि सबसे अव्यवहित अज्ञान ही है; अतः उसमें पहले चैतन्याभासता मानना युक्त ही है। तदनन्तर बुद्धिमें पहले आत्मधी होती है, अतः सर्वप्रथम 'अहम्' यही अध्यास सबको होता है, वह चाहे विद्वान् हो अथवा अविद्वान् । केवल मनुष्य तक ही यह अध्यास सीमित नहीं है, किन्तु इतर प्राणियोंमें भी यही अध्यास सर्वप्रथम होता है ।

शङ्का—अच्छा, मनमें आत्मबुद्धि क्यों होती है ?

समाधान—बुद्धिके अनन्तर अव्यवहित मन है, अतः उसमें चिदाभासका संयोग होता है । अनन्तर मनका संयोग इन्द्रियोंके साथ होता है, अतः उनमें भी आत्मबुद्धि होती है ॥ १०२ ॥

देहमें अहंबुद्धिका उपपादन करते हैं—'**अक्षयोगा०**' इत्यादिसे ।

मन और करणके संबन्धसे देहमें भी अहंधीकी उत्पत्ति होती है । इस प्रकार बुद्धि, मन, इन्द्रिय, देह—ये सब चिदात्माके समान प्रतीत होते हैं । अतः उनमें प्राणियोंको प्रत्यगात्मतत्त्वका विभ्रम होता है; बुद्धिसे लेकर विषयपर्यन्त सूक्ष्मत्वका तारतम्य स्थित है, अतएव उनमें प्राणियोंकी आत्माभिमानबुद्धि क्रमसे होती है ॥ १०३ ॥

आत्मा ज्योति है, इसमें श्रुतिरूप प्रमाण कहते हैं—'**तमेव**' इत्यादिसे ।

आत्माके भानके अनन्तर सम्पूर्ण जगत्का भान होता है । 'उसीके भानसे सबका भान होता है' इत्यर्थक श्रुतिसे आत्मामें स्वयंज्योतिष्ट्व स्पष्ट कहा गया

आत्मन्येवं प्रबुद्धेऽस्मिञ्ज्योतिषि ध्वान्तनाशतः ।
सर्वस्यैवाऽऽत्मयाथात्म्यादात्मा पुरुष उच्यते ॥ १०५ ॥
आत्माज्ञानसमुच्छित्तौ तज्जस्य नहि वस्तुनः ।
प्रत्यग्रूपात्पृथग्रूपं सम्भाव्यं केनचित्क्वचित् ॥ १०६ ॥
पूर्णत्वात् पुरुषः सोऽयं ज्योतिरात्मेह भाष्यते ।
पूर्णस्य लोकसंचारो बुद्ध्युपाधित्वकारणात् ॥ १०७ ॥

है । तथा 'नित्योऽनित्यानाम्' इत्यादि कठश्रुति भी आत्मज्योति सर्वावभासक है, इसमें प्रमाण है । नित्य यानी अविनाशी अर्थात् नाशवानोंमें यह अविनाशी है । 'चेतनश्चेतनानाम्' अर्थात् ब्रह्मादि जो चेतयिता हैं, उनमें भी यही चेतन है । जैसे उष्ण जलमें दाहकत्व उदकनिमित्तक नहीं है, किन्तु अग्निनिमित्तक है; वैसे ही चैतन्यनिमित्तक ही चेतयितृत्व है । 'येन सूर्यस्तपति तेजसेद्धः' तथा 'न तत्र सूर्यो भाति' इत्यादि मन्त्र भी प्रमाण हैं । 'तत्र' यह विषयसप्तमी है । एवं 'ज्योतियोंका ज्योति ब्रह्म हैं इत्यर्थक वाक्य भी प्रमाण है एवं आत्मज्योति सबकी प्रकाशक है, इसमें 'यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः' यह भगवद्वचन पूर्वमें कह चुके हैं ॥१०४॥

ज्योतिःशब्दका व्याख्यान कर पुरुषशब्दार्थको कहते हैं—**'आत्मन्येवम्'** इत्यादिसे ।

पूर्वोक्त श्रुति और युक्तिसे आत्माके श्रवण, मनन आदि उपायों द्वारा अज्ञानका नाश होनेसे ज्योतिरूप इस आत्माके ज्ञात होनेपर सबमें आत्मयाथात्म्य होनेके कारण पूर्णता होती है; अतः आत्मा पुरुष कहलाता है ॥ १०५ ॥

शङ्का—ज्ञानसे अज्ञानका ध्वंस होनेपर भी जगत् अवशिष्ट होगा ही, फिर पूर्णत्वके अभावसे पुरुष कैसे ?

समाधान—**'आत्माज्ञान०'** इत्यादि । आत्माके अज्ञानका समुच्छेद होनेपर अज्ञानजनित वस्तुके (अनात्मसंसारमात्रके) आत्मस्वरूपसे अतिरिक्त स्वरूपकी ही कोई कहींपर संभावना नहीं कर सकता । जैसे मालाके अज्ञानसे उसमें सर्पबुद्धि उत्पन्न होती है, मालाका यथार्थज्ञान होनेपर उक्त अज्ञान और तज्जनित सर्पकी निवृत्ति हो जाती है, मालासे पृथक् उक्त सर्पके रूपकी संभावना नहीं है, वैसे ही प्रकृतमें भी अधिष्ठानस्वरूपसे पृथक् प्रपञ्चस्वरूप नहीं है ॥ १०६ ॥

'पूर्णत्वात्' इत्यादि । अव्यावृत्ताननुगत उक्त ब्रह्मस्वरूपमात्रावशेषसे पूर्ण होनेके कारण यह ज्योतिरूप आत्मा पुरुष कहा जाता है ।

य: पूर्णः स समानः सन्बुद्ध्या लोकावुभावपि ।
सम्प्राप्तप्रतिपत्तव्यावनुसञ्चरति क्रमात् ॥ १०८ ॥
किं पुनः स्यात् समानत्वमात्मबुद्ध्योस्तदुच्यते ।
विवेकानुपलम्भेन तादात्म्यं रज्जुसर्पवत् ॥ १०९ ॥

शङ्का—यदि आत्मा पूर्ण है, तो संसार कैसे ?

समाधान—अविद्याकल्पित बुद्धि आदि उपाधिनिमित्तक संसार है। 'योऽयम्' इत्यादिका व्याख्यान हो गया। अब 'स समानः सन्' इसका व्याख्यान किया जायगा। अवतरण इस प्रकार है—जागरावस्थामें सूर्य आदिके रहनेपर भी अजड़ आत्मज्योतिके बिना जड़ शरीर आदि अपनी स्थितिके लिए भी समर्थ नहीं हैं, फिर प्रकाश करना तो दूर रहा। भानु आदि, आत्मज्योतिके बिना साधकके अभावसे, सिद्ध नहीं हो सकते, अतः आत्मज्योतिको अवश्य मानना चाहिए। जागरावस्थामें आत्मज्योतिको स्पष्ट दिखला नहीं सकते। आत्मा, बुद्धि, मन, चक्षु, विषय और आलोककी सद्भावदशामें किसके प्रकाशसे प्राणी व्यवहार करता है, यह विवेकतः दिखलाया नहीं जा सकता, अतः श्रुतिने स्वप्नावस्थाका आश्रयण किया है। नित्यमुक्त आत्मामें संसारित्व अविद्यासे है, वास्तविक नहीं है ॥ १०७ ॥

'यः पूर्णः' इत्यादि। वह पूर्वोक्त पूर्ण आत्मा बुद्धि आदिके समान दोनों लोकोंमें क्रमसे संचार करता है। भाव यह है कि अविद्यावान् पुरुष प्राप्त एवं प्राप्तव्य लोकमें क्रमसे संचार करता है। प्राप्त शरीर, इन्द्रिय आदिका त्याग कर तथा प्राप्तव्य शरीर आदिका क्रमसे अर्थात् पूर्व-पूर्वका त्यागकर उत्तरोत्तरका उपादान करता है। वह भी वस्तुतः नहीं है, किन्तु अपनी अविद्यासे आत्मामें बुद्ध्यादिगत संसारित्व प्रतीत होता है। आत्मा वस्तुतः अद्वय है। संसारहेतु बुद्धि आदिमें अविद्यासे स्थित होकर आत्मा स्वाभास द्वारा संसारित्वके आभासका अनुभव करता है ॥ १०८॥

'किं पुनः' इत्यादि।

शङ्का—जाड्य और अजाड्यरूप परस्पर विलक्षण धर्मोंसे विसदृश बुद्धि और आत्मामें किस रूपसे सादृश्य विवक्षित है ?

समाधान—अश्व और महिषका जैसे विवेकपूर्वक उपलम्भ होता है, वैसे ही उनका उपलम्भ नहीं होता, अतः अनुपलम्भ ही सादृश्य है। रज्जुसर्पके समान दोनोंमें सादृश्य आविद्यिक है। अकारकस्वभाव पारमार्थिक आत्मामें आकाशमें नीलिमाके समान अविद्याकल्पित ही सादृश्य है ॥ १०९ ॥

> सम एव धिया लोकौ संचरत्येष न स्वतः ।
> अतः संसारमिथ्यात्वं ध्यायतीवेति वर्ण्यते ॥ ११० ॥
> ध्यायन्त्यां ध्यायतीवाऽऽत्मा चलन्त्यां चलतीव च ।
> बुद्धिस्थे ध्यानचलने कल्प्येते बुद्धिसाक्षिणि ॥ १११ ॥
> आलोके व्यञ्जके यद्वदभिव्यङ्ग्यघटाकृतिः ।
> आरोप्यते तथा बौद्धः संसारो बुद्धिसाक्षिणि ॥ ११२ ॥

'सम एव' इत्यादि । यह आत्मा बुद्धिके समान होकर ही दोनों लोकोंमें संचरण करता है, स्वतः नहीं, इस कारणसे संसारमें मिथ्यात्व सिद्ध होता है; अतएव 'ध्यायतीव, लेलायतीव' यह श्रुतिने कहा है ।

शङ्का—साक्षाद् आत्मामें ध्यानादिमत्त्व क्यों नहीं है ?

समाधान—कूटस्थ आत्मा है । तथा 'लेलायतीव' यह भी उक्त हेतुसे आत्मामें नहीं हो सकता, किन्तु आत्मा उन दोनोंका साक्षी है । ध्यान आदि संपूर्ण बुद्धि-वृत्तियोंका उपलक्षण है । प्रत्यङ्मोहसे जनित ध्यानादिमें मिथ्यात्वसूचन करनेके लिए 'इव' शब्दका प्रयोग आया है । जैसे नील आकाशसम्बद्ध नहीं है, किन्तु केवल मोहसे आकाशमें उसके सम्बन्धकी कल्पना कर अविवेकी पुरुष 'नीलं नभः' यह मानता है, वैसे ही संसारका आत्मासे सम्बन्ध न होनेपर भी मोहसे आत्मामें संसार समझता है ॥ ११० ॥

'ध्यायन्त्याम्' इत्यादि । बुद्धिके ध्यान करनेपर आत्मामें भी ध्यानकी प्रतीति होती है एवं बुद्धिके चलनेपर आत्मामें भी चलनकी प्रतीति होती है, उक्त क्रियाएँ वास्तवमें बुद्धिमें होती हैं, साक्षीमें वे कल्पित हैं ॥ १११ ॥

'आलोके' इत्यादि । व्यञ्जक आलोकके संपर्कसे व्यङ्ग्य घटादिके आकारकी जैसे प्रतीति होती है, वैसे ही बुद्धिगत संसार बुद्धिके साक्षी आत्मामें आरोपित ही प्रतीत होता है । यदि इस अर्थमें संशय हो, तो विद्वानोंके अनुभवको देखिए ।

शङ्का—'अहं सुखी दुःखी' इत्यादि प्रत्यग्दृष्टि भी आत्मामें वस्तुतः संसारको विषय करती है, फिर आत्मा असंसारी कैसे ?

समाधान—आत्ममात्रावगाहिनी प्रतीति शुद्धात्मप्रतीति है । उक्त प्रतीति अनात्म दुःखादिसे संबद्ध आत्माका अवगाहन करती है, अतः वह चिदाभास-विषयक है, शुद्धात्मविषयक नहीं है ।

शङ्का—जैसे घटविषयक ज्ञान घट और घटमें अवश्य रहनेवाले रूप आदिका

स समान इति प्रोक्तं बुद्ध्यैक्यं वास्तवं ततः ।
ध्यायत्येव चलत्येवेत्याहुः केचिदिदं त्वसत् ॥ ११३ ॥

अवगाहन करता है, वैसे ही आत्मप्रतीति आत्मवृत्ति दुःख आदिका अवगाहन करती है। अतः उक्त प्रतीति आत्मविषयक नहीं है, ऐसा नहीं कह सकते ।

समाधान—घटादिमें रूपादि रहते हैं, रूपग्रहणके बिना चक्षुसे उक्त द्रव्यका ग्रहण नहीं होता, अतः उक्त प्रतीतिसे रूपादिका ग्रहण आवश्यक है। 'आत्मा अद्वितीय है, अतः आत्मविषयक प्रतीति अर्थान्तरका स्पर्श भी नहीं कर सकती। घट जैसे रूपादियोगी है, वैसे ही आत्मा दुःखादियोगी यदि माना जाय, तो कैवल्य ही नहीं हो सकता, यह दोनोंमें वैषम्य है ॥ ११२ ॥

भर्तृप्रपञ्चोक्त अर्थका खण्डन करनेके लिए 'स समानः' इत्यादिके भाष्योक्त व्याख्यानका अनुवाद करते हैं—'**स समान**' इत्यादिसे ।

'स समानः' इस वाक्यसे आत्मामें बुद्ध्यैक्य वास्तविक है, कल्पित नहीं है। धी, मन, चक्षु आदि सर्वथा भिन्न अनेक ज्योतियाँ परस्पर संहत हैं।

शङ्का—विलक्षणोंमें परस्पर संहत्यकारित्व कैसे है ? तुरी, वेमा चक्र, चीवर आदि मिलकर कोई काम नहीं करते हैं ।

समाधान—यद्यपि चक्षु आदि विलक्षण हैं, तथापि एक देहस्थ होनेपर उनमें संहत्यकारित्व दृष्ट है, अतः संहतमें ही अर्थक्रियाकर्तृता जानी जाती है, एकदेहस्थत्वरूपसे सारूप्य मानकर उक्त संहतोंमें अर्थक्रियाकारित्व मानते हैं ।

शङ्का—फलभाक्त्व व्यवस्था कैसे ?

समाधान—सालक्षण्य होनेपर भी बुद्धिमें ही भोक्तृत्व आदि विलक्षण धर्म माने जाते हैं, इतरमें नहीं; वास्तविक ऐक्य मानकर शङ्काका 'समानः सन्' इससे उत्तर होता है। बुद्धिके साथ वास्तविक तादात्म्य नहीं है, किन्तु साम्य है। बुद्धिके समान आत्मा दोनों लोकोंमें संचार करता है। यदि आत्मा संघातसे भिन्न न होता, तो दोनों लोकोंमें समुदायाविशेषसे दोनों जगह भोगकी प्रसक्ति हो जायगी। दोनों जगह भोग होता नहीं, अतः कल्पना करते हैं कि कोई व्यतिरिक्त ज्योति है। व्यतिरिक्त आत्मज्योतिके रहनेपर भोग होता है और न रहनेपर भोग नहीं होता, अतः बुद्धि आदिके समान होकर दोनों लोकोंमें संचरण करता है, अतः व्यक्तिरिक्त है ।

बुद्ध्यभेदस्य नैव स्याद्धीस्थध्यानादिसाक्षिता ।
निःसाक्षिकं तु ध्यानादिर्नरशृङ्गसमं भवेत् ॥ ११४ ॥
नौस्थो नावो गतिं क्वाऽपि वीक्षते न तटस्थवत् ।
तथैवं बुद्ध्यभिन्नस्य न स्याद्धीवृत्तिसाक्षिता ॥ ११५ ॥
नौगतिं च तरुस्थैर्यमविविच्य विमुह्यति ।
स्थिता नौस्तरवो यान्तीत्येवमत्राऽपि योज्यताम् ॥ ११६ ॥

शङ्का—बुद्धि आदिमें भोक्तृत्वका निरास करनेपर भी देवतामें भोक्तृत्व हो सकता है ?

समाधान—करणानुग्राहक देवतामें भी भोक्तृत्व नहीं है, अन्यथा स्वप्नमें भोक्तृत्वाभावकी प्रसक्ति हो जायगी। करणोंका लय होनेपर तदनुग्राहक देवता अध्यात्मपरिच्छेदका त्यागकर आधिदैविकरूपसे अवस्थित रहते हैं, उसीसे तदन्य भोक्ता है, यह निश्चित होता है। मनुष्यादिके उचित भोगोंके भोक्ता देवता नहीं हो सकते, उनका भोग विशिष्ट होता है, अतः उनसे अन्य भोक्ता है। आत्मा यद्यपि विभु है, तथापि सहकारिवश भोगकी व्यवस्था हो सकती है। देवता स्वतन्त्र हैं, उनमें कर्मपारतन्त्र्य नहीं है, एक कालमें अनेक भोग होते नहीं, अतः देवतासे अतिरिक्त आत्मज्योति है, यह सिद्ध होता है ॥११३॥

'बुद्ध्यभेदस्य' इत्यादि। यदि आत्माको बुद्धिसे अभिन्न मानो, तो उसमें बुद्धिस्थ ध्यानादिकी साक्षिता नहीं हो सकती, असाक्षिक ध्यानादि नरशृङ्गके समान हैं यानी अत्यन्त असत् हैं। ध्यानचलनोपलक्षित दर्शन, वचन आदि आत्मामें नहीं रहते। आत्मा उनका साक्षी है, अतः वह उनसे अत्यन्त विलक्षण है, इसलिए आत्मामें भासमान संसार मृषा है ॥११४॥

'नौस्थो' इत्यादि।

शङ्का—बुद्धितादात्म्यापन्न भी बुद्धिका साक्षी हो सकता है क्या ? नहीं, इसमें दृष्टान्त कहते हैं—जैसे तीरमें स्थित पुरुष नौकाकी गतिको देखता है, नौकाके मध्यमें स्थित पुरुष नहीं देखता, वैसे ही बुद्धितादात्म्यापन्न आत्मा है, अतः जब नौकास्थित पुरुषके समान आत्मा बुद्धि आदिकी क्रियाको देखता ही नहीं तब साक्षी कैसे होगा।

समाधान—बुद्धितादात्म्यानापन्न ज्योतिरूप आत्मा उदासीन है, इसलिए तटस्थ पुरुषके समान उसकी क्रियाका द्रष्टा होनेसे साक्षी माना जाता है ॥ ११५ ॥

'नौगतिम्' इत्यादि। नौकाकी गति और तरुका स्थैर्य्य इन दोनोंका विवेक न

धीविकारस्ततः कल्प्यो बुद्धिसाक्षिण्यशङ्किते ।
साक्षिसाक्ष्यत्वमिथ्याधीस्तत्त्वज्ञानान्निवर्त्तते ॥ ११७ ॥
ध्यानादीनामवस्तुत्वे स हि स्वप्न इति श्रुतिः ।
हेतुमाह स आत्माऽयं स्वप्नो भवति धीवशात् ॥ ११८ ॥

कर भ्रान्त पुरुष नौकाकी गतिका तरुमें और तरुस्थैर्य्यका नौकामें आरोप कर भ्रान्तिसे यह समझता है कि नौका खड़ी है और बृक्ष चलते हैं। विवेक यह है कि वृक्ष खड़े हैं और नौका चलती है। एवं बुद्धिस्थ ध्यान, चलन आदिका आत्मामें आरोप कर 'ध्यायतीव लेलायतीव' इत्यादि कहा गया है। जैसे तटस्थ मनुष्य नदीगति आदिसे युक्त नौकाको देखता हुआ गतिमान् नहीं होता, वैसे ही ध्यान आदि धर्मयुक्त बुद्धिको देखता हुआ साक्षी वस्तुतः तद्धर्मवान् नहीं होता। और नौस्थ पुरुषमें नौगति-व्यतिरिक्त गति नहीं रहती, क्योंकि नौकास्थितिदशामें नौकास्थ पुरुष गति आदिमें स्वतन्त्र नहीं है, जैसे कि तटस्थ पुरुष गति आदिमें स्वतन्त्र है। नौकास्थ पुरुषकी नौकाकी गति और स्थितिके सिवा अपनी गति और स्थिति नहीं है, फिर भी आत्मामें उनको मानकर भ्रान्त होता है, नौकाके तत्त्वको वस्तुतः न समझकर नौका स्थित है, तीरस्थ वृक्ष शीघ्र जाते हैं, यह निश्चय करता है॥ ११६ ॥

'**धीविकार०**' इत्यादि। बुद्धिविकार यानी बुद्धिके कार्य ध्यान आदि अशङ्कित निर्विकार साक्षीमें कल्पित हैं, वास्तविक नहीं हैं, क्योंकि आत्मामें कोई विकार नहीं रहता। सम्पूर्ण धीविकारका साक्षी आत्मा है। वस्तुतः साक्षित्वके अपरिज्ञानसे तद्विरुद्ध अर्थकी कल्पना होती है। भोग्य, भोक्ता आदि साक्षि-साक्ष्यभावज्ञान मिथ्याज्ञान है। तत्त्वज्ञानसे उसकी निवृत्ति होती है। बुद्धिके साथ आत्माका तादात्म्याध्यास होनेसे आत्मामें लोकद्वयसंचरण आदि हैं, स्वतः नहीं, क्योंकि वह साक्षी है।

शङ्का—यह ज्ञान कैसे हुआ?

समाधान—अनुमानसे स्वयंज्योति आत्मा सिद्ध कर चुके हैं॥ ११७ ॥

'**ध्यानादी०**' इत्यादि। ध्यान आदि अवस्तु है, 'स हि स्वप्नो' यह श्रुति उक्त अर्थमें हेतु कहती है। 'हि' शब्द हेतुका वाचक है। यतः श्रुति—'स स्वप्नो भूत्वा' यह—कहती है; अतः उक्त धर्म अवस्तुभूत हैं।

शङ्का—स्वप्नशब्दका आत्मामें प्रयोग क्यों हुआ?

समाधान—आत्मा अपनी अविद्यासे जिस जिस अवस्थाका अभिमान करता है,

बुद्धेर्जागरणं यद्वज्जागर्मीत्यभिमन्यते ।
बुद्धिस्वप्ने तथा स्वप्नरूपत्वमभिमन्यते ॥ ११९ ॥
जाग्रद्भोगमिमं लोकं स्वप्नो भूत्वा निवर्त्तते ।
वासनाराशिसाक्षित्वं स्वाप्नं भोगं तथाऽऽप्नुयात् ॥ १२० ॥
अविद्याकामकर्माख्यमृत्यो रूपाण्यतीत्य सः ।
जाग्रद्देहेन्द्रियादीनि तिष्ठति ज्योतिरात्मना ॥ १२१ ॥

उस उस अवस्थासे युक्त अपनेको मानता है और तत्-तत् शब्दवाच्य होता है। स्वप्नकालिक बुद्धितादात्म्यको प्राप्त होकर स्वप्नशब्दसे आत्मा व्यवहृत होता है॥११८॥

उक्त अर्थको दृष्टान्तसे स्फुट करते हैं—**'बुद्धे०'** इत्यादिसे ।

जैसे बुद्धिस्थको जागरणावस्थापन्न होकर जागर्मि (मैं जागता हूँ) यह अभिमान होता है, वैसे ही स्वप्नबुद्ध्यवस्थापन्न हो जानेसे 'स्वप्नो भूत्वा' यह निर्देश होता है। बुद्धिगत स्वप्नका साक्षी होनेसे 'स्वप्नो भूत्वा' यह श्रुतिने कहा है। मोहसे आत्मामें स्वप्नधी होती है, यह फलितार्थ है ॥११९॥

'इमं लोकम्' इसकी व्याख्या करते हैं—**'जाग्रद्भोग०'** इत्यादिसे ।

इस लोक तथा इस जन्मका (जागरितावच्छिन्नका) स्वप्न बनकर अतिक्रमण करता है, तदनन्तर स्वाप्निक भोगका अनुभव करता है।

शङ्का—जागरितावस्थाका अतिक्रमण करनेपर सुषुप्तिदशामें जैसे भोग नहीं होता, वैसे ही स्वप्नमें भी भोग नहीं होना चाहिए।

समाधान—जाग्रद्वासनावासित होकर स्वाप्निक सुख, दुःख आदिका अनुभव करता है, यह लोकमें प्रसिद्ध है।

शङ्का—तो जाग्रत् और स्वप्नमें भेद क्या हुआ ?

समाधान—जाग्रत्कालमें व्यावहारिक विषयोंसे भोग होता है और स्वप्नकालमें प्रातिभासिक विषयोंसे भोग होता है, इतना ही भेद है। भोग और तदभावप्रयुक्त भेद नहीं है।

शङ्का—आत्मा यदि भोक्ता है, तो शुद्ध कैसे ?

समाधान—धर्मादि कारणसे जनित वासनासमुदायका साक्षित्व ही भोक्तृत्व है, अकारक आत्मामें इस प्रकारका धर्म रह सकता है। जाग्रत् लोकका परित्याग कर स्वप्नलोकको प्राप्त करता है, इससे आत्मा अकर्ता, असङ्ग और स्वयंज्योति सिद्ध होता है ॥ १२० ॥

'अविद्या०' इत्यादि। आत्माकी अविद्या ही मृत्यु है।

तस्मात् स्वाभाविको नैव क्रियाध्यानादिलक्षणः।
लोकद्वयानुसञ्चारः किन्त्वौपाधिक इष्यताम् ॥ १२२ ॥
योऽयमित्यादिना बुद्धिव्यतिरिक्ततया श्रुतम्।
आत्मानं नाऽनुमन्यन्ते बौद्धा बुद्ध्यात्मवादिनः ॥ १२३ ॥

शङ्का—इसमें प्रमाण क्या है?

समाधान—'मृत्युर्वै तमः' यह श्रुति ही प्रमाण है। तमःपदवाच्य अविद्या नित्यसिद्ध भी आत्माका अपह्नव करती है। अमृत आत्माका मरण अविद्यासे व्यतिरिक्त नहीं हो सकता, अतः मृत्युरहित आत्माका अविद्या ही मरण है। आत्माकी अविद्या ही मृत्यु है, इसमें कारण यह भी है कि 'न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति' इत्यादि श्रुतियोंसे विद्वानोंके मरणका निषेध है। सम्यग्-ज्ञान अज्ञानसे अतिरिक्तका निवर्तक नहीं है, अतः सम्यग्ज्ञाननिवर्त्य अज्ञान ही मृत्यु है।

शङ्का—अच्छा, रूप क्या है?

सामाधान—कार्य और करण अर्थात् शरीर और इन्द्रियाँ ये रूप हैं।

शङ्का—क्यों?

समाधान—'यैर्मृत्यू रूप्यते बोध्यते तानि रूपाणि' यानी जिनसे मृत्युका परिज्ञान होता है, वे ही रूप हैं। शरीर आदिसे अविद्या जानी जाती है। अविद्याशून्य मुक्तात्मामें शरीर आदिका सम्बन्ध नहीं रहता। जो प्रतिकूल है, वही मृत्यु है। अन्न, पान आदि भी यदि गलेमें फँस जायँ, नीचे नहीं उतरें, तो उनसे भी मृत्यु देखी गई है; अतः अनात्म जगन्मात्र ही मृत्यु है। घटादिके समान प्रमाणसे मृत्युको नहीं दिखला सकते, अतः इस रूपसे उसका निरूपण किया गया है। अविद्याकार्य शरीर आदिसे स्वकारण अविद्याका अनुमान होता है ॥१२१॥

'तस्मात्' इत्यादि। कूटस्थ, नित्य, शुद्ध, मुक्तस्वभाव आत्मा है। अविद्या मृत्यु है। शरीर, इन्द्रिय आदि जगत् रूप है, इससे यह स्पष्ट होता है कि क्रिया (ध्यानादि) आत्मामें स्वाभाविक नहीं है, किन्तु औपाधिक है; अतः उसका दो लोकोंमें संचरण भी औपाधिक ही मानिए ॥१२२॥

'योऽयम्' इत्यादि। बुद्धिको ही आत्मा माननेवाले बौद्ध 'योऽयम्' इत्यादि श्रुतिसे जो बुद्धि आदिसे व्यतिरिक्ति आत्मज्योति श्रुत है, उसको आत्मा नहीं मानते।

धीरेव ग्राहकाकारा ग्राह्याकारा च भासते ।
नाऽतो धीव्यतिरेकेण कश्चित्साक्ष्युपलभ्यते ॥ १२४ ॥

शङ्का—क्यों ?

समाधान—उनके मतमें दो ही प्रमाण हैं,—प्रत्यक्ष और अनुमान । इन दोनों प्रमाणोंसे या इन दोमें से किसी एकसे आत्मा सिद्ध नहीं होता । उनका कहना है कि अर्थाविसंवादी ज्ञान प्रमाण है । वह दो प्रकारका है—प्रत्यक्ष और अनुमान । इनसे अतिरिक्त प्रमाण नहीं है । अतः उनसे व्यतिरिक्त आत्मज्योति अप्रामाणिक है, जैसे एकज्ञानसन्तानमें पूर्व ज्ञानसे अतिरिक्त ज्ञानान्तरका उसी समयमें प्रत्यक्ष नहीं होता, वैसे ही उस ज्ञानसे अतिरिक्त आत्माका भी प्रत्यक्ष नहीं होता । तार्किक आदिके मतमें भी ज्ञानायौगपद्य है। एक कालमें एक आत्मामें दो ज्ञान नहीं रहते। अनुमानसे भी ज्ञानसे अतिरिक्त आत्माका अस्तित्व सिद्ध नहीं होता । प्रमाणसे आत्मा धर्मी यदि सिद्ध नहीं है, तो उसमें शुद्धत्वादि धर्मोंकी चिन्ता निरर्थक है ।

शङ्का—जो भास्य और भासक हैं, वे भिन्न हैं, जैसे घट और आलोक । भास्य और भासक बुद्धि और आत्मा हैं, अतः वे भिन्न हैं, इस अनुमानसे बुद्धिसे व्यतिरिक्त आत्माकी सिद्धि होती है ।

समाधान—घट और आलोकका मिथःसंश्लेष होनेसे अभेद भ्रमसे होता हैं, भेद दोनोंमें प्रत्यक्षसिद्ध है । बुद्धि और आत्माके भेदमें अनुमानादि प्रमाण हैं नहीं, अतः भेद भ्रम है, अभेद ही तात्त्विक है ॥ १२३ ॥

'धीरेव' इत्यादि ।

शङ्का—घट और आलोकके समान ग्राह्य और ग्राहकका भेद पूर्वोक्त अनुमानसे सिद्ध है, अतः भ्रम कैसे ?

समाधान—प्रत्यक्षके साथ विरोध होनेसे उक्त अनुमानमें भ्रमत्व सिद्ध होता है, चित्स्वरूप यह बुद्धि एक ही ग्राहकाकार और ग्राह्याकारसे भासित होती है, अतः धीसे व्यतिरिक्त आत्मा तथा उससे अतिरिक्त घटादि प्रत्यक्ष या अनुमानसे उपलब्ध नहीं होते । वही बुद्धि साक्षी कही जाती है । जो दृष्टान्तकी सिद्धिके लिए पूर्वमें व्यङ्ग्य-व्यञ्जकके भेदके साधक अनुमानका उपन्यास किया है, उसमें घटालोकादिका वस्तुतः भेद नहीं है, अतः अनुमान साध्यविकल है । आपके अभ्युपगमसे मैंने भी थोड़ी देरके लिए भेद मान लिया था, पर विचार करनेपर वहाँपर भी भेद

घटतद्भानवद् बुद्धिसाक्षिणौ भास्यभासकौ ।
भिन्नाविति न मन्तव्यं दृष्टान्तस्याऽप्रसिद्धितः ॥ १२५ ॥
अभिन्न एव बुद्ध्याऽऽत्मा विपर्यासितबुद्धिभिः ।
ग्राह्यग्राहकसंवित्तिभेदवानिव लक्ष्यते ॥ १२६ ॥

सिद्ध नहीं होता, अवभासात्मक घट क्षणमात्र स्थिर होता है, क्षणान्तरमें भिन्न-भिन्न होता है, एक ही घटमें आलोक और आलोकके अभावका सम्बन्ध नहीं है। सादृश्यभ्रमसे स्थैर्यबुद्धि होती है।

शङ्का—धीव्यतिरिक्त यदि धीसाक्षी नहीं है, तो पूर्वमें 'धिया समानः' इत्यादिसे अतिरिक्त कैसे कहा ?

समाधान—हां, आपने कहा, पर निष्प्रामाणिक ही कहा है। प्रत्यक्ष या अनुमानसे व्यतिरिक्त प्रमाणसे आत्मसिद्धि नहीं होती। अप्रामाणिक पदार्थ शशशृङ्गके समान नहीं माना जाता, विज्ञानमात्र ही पारमार्थिक है ॥ १२४ ॥

'**घटतद्भाव०**' इत्यादि। घट और घटके अभावके समान भास्य और भासक बुद्धि और साक्षी परस्पर भिन्न हैं, यह नहीं मानना चाहिए।

शङ्का—क्यों ?

समाधान—दृष्टान्त ही अप्रसिद्ध है। विज्ञानवादीके मतमें विज्ञानसे व्यतिरिक्त पदार्थ ही अप्रसिद्ध है। एक ही विज्ञान उभयाकारसे प्रतीत होता है। जैसे स्वप्नमें व्याघ्र आदिका दर्शन होता है, उस समय यह प्रतीत होता है कि मैं व्याघ्रको देखता हूँ, परन्तु व्याघ्राकार विज्ञानसे अतिरिक्त कोई पदार्थ नहीं है, यह जागर-दशामें स्पष्ट निश्चय होता है। एक ही विज्ञान ग्राह्य (व्याघ्र) और तद्ग्राहकरूपसे ('अयं व्याघ्रः' इत्याकारक विज्ञानरूपसे) परिणत होता है। एवं जाग्रद्दशामें 'अयं घटः' इत्यादि ज्ञान भी स्वाप्निक ज्ञानके समान उभयाकारसे परिणत होता है। यही विज्ञानवादका सिद्धान्त है ॥ १२५ ॥

'**अभिन्न**' इत्यादि। बुद्धि और आत्मा ये दोनों अभिन्न हैं, किन्तु भ्रान्त पुरुषोंको ग्राह्य और ग्राहकरूप बुद्धि तथा आत्मामें भेद प्रतीत होता है। उनका अभेद पारमार्थिक है, भेद कल्पित है।

शङ्का—ग्राह्य और ग्राहकका भेद प्रत्यक्षसिद्ध है, अतः भेदग्राही प्रत्यक्षसे अभेदका अनुमान बाधित है।

विज्ञानवादिनो मा भूद् दृष्टान्तो बाह्यवादिनः ।
अस्तीति चेत्तन्मतेऽपि न घटोऽन्येन गृह्यते ॥ १२७ ॥

समाधान—ज्ञानमें ग्राह्य और ग्राहकत्वकी कल्पना करके जो भेदग्रह होता है, वह विचारसे बाधित है। भेदग्रह भ्रम है, अतः उक्त अनुमानका बाधक नहीं हो सकता ॥ १२६ ॥

'विज्ञानवादि०' इत्यादि ।

शङ्का—विज्ञानवादीके मतमें दृष्टान्त नहीं है, तो न सही, बाह्यार्थवादीके मतमें तो दृष्टान्त है, उसके मतमें अतिरिक्त आत्माकी सिद्धि हो सकती है।

समाधान—बाह्यार्थवादीके मतमें भी घट विज्ञानसे ही गृहीत होता है, विज्ञानातिरिक्त आत्मासे नहीं। वे लोग भी विज्ञानको ही आत्मा मानते हैं। तीनों मतोंमें प्रमाणाभावसे अतिरिक्त आत्मा नहीं है। आत्मामें प्रत्यक्ष और अनुमानको आप भी प्रमाण नहीं मानते, किन्तु आगमको ही प्रमाण मानते हैं। आगमको स्वतः-प्रमाण तो हम लोग मानते नहीं, किन्तु प्रमाणान्तरसंवादसे प्रमाण मानते हैं। आत्मामें प्रमाणान्तरसंवाद नहीं है, अतः आगम भी प्रमाण नहीं है। अहंधीको केवल आलम्बनकी अपेक्षा है। आलम्बनमें बुद्ध्याद्यतिरिक्तत्व और स्थायित्वकी अपेक्षा नहीं है और वक्ष्यमाण क्षणिकत्वके अनुमानसे विरोध होनेके कारण आत्मा नित्य सिद्ध नहीं हो सकता, प्रत्यभिज्ञाबलसे भी आत्मनित्यत्व सिद्ध नहीं हो सकता, क्योंकि लून एवं पुनजात केशादिविषयक प्रत्यभिज्ञामें अप्रामाण्य बारबार दृष्ट है। स्मृतिमें कहा भी है—

स्मृतिः पूर्वानुभूतेऽर्थे दर्शनं वार्तमानिके ।
तयोरत्यन्तभेदे च कस्याऽभेदः प्रतीयताम् ॥
शब्दौ भिन्नौ स्वरूपेण वाच्योऽर्थोऽप्यतिभेदवान् ।
स इत्येष परोक्षार्थे प्रत्यक्षे चाऽयमित्यपि ।
तस्मान्मिथ्या विकल्पोऽयं भिन्नेष्वेकार्थताग्रहः ॥

पूर्वानुभूत अर्थकी स्मृति 'स' इस अंशसे है, 'अयम्' इस अंशसे वर्तमानविषयक प्रत्यक्ष है, ये दोनों अत्यन्त भिन्न हैं, अतः किसके अभेदकी प्रतीति हो, 'स' और 'अयम्' ये दोनों शब्द स्वरूपसे भिन्न हैं, इन दोनोंके वाच्य अर्थ भी अत्यन्त भिन्न हैं। 'स' यह परोक्षार्थक है और 'अयम्' यह प्रत्यक्षार्थक है, इससे 'सोऽयम्' से जो अभेदप्रत्यय होता है, वह मिथ्या है, भिन्नमें एकार्थताग्रह विकल्पमात्र है।

क्षणभङ्गी घटोऽन्येन नैव संयोक्तुमर्हति ।
अवभासात्मकः कुम्भस्तेन बाह्यार्थवादिनः ॥ १२८ ॥
एवं तर्हि विभेदः को बाह्यविज्ञानवादिनोः ।
ज्ञानज्ञेयपृथक्त्वेन तदैक्येन च तद्भिदा ॥ १२९ ॥
बाह्यार्थोऽस्त्वथवा मा भूत्साक्षी तु न धियः पृथक् ।
सर्वशून्यत्ववादे तु सुतरां नाऽस्ति साक्ष्यसौ ॥ १३० ॥

'शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः' इस योगसूत्रसे लक्षित विकल्प अर्थशून्य ही माना जाता है । इस ज्ञानसे किसी अर्थकी सिद्धि नहीं होती ॥ १२७ ॥

'क्षणभङ्गी' इत्यादि । क्षणभङ्गी (क्षणविनश्वर) घट अन्यके साथ संयुक्त नहीं हो सकता, क्योंकि बाह्यार्थवादीके मतमें भी कुम्भ अवाभासात्मक है, घटादिमें स्वातिरिक्त ग्राह्यत्व बाह्यार्थवादीके मतमें भी नहीं है । विज्ञानवादीके मतमें कुम्भ आदि विज्ञानात्मक हैं । विज्ञान क्षणिक है, अतः कुम्भ आदि विषय भी क्षणिक हैं । अतः क्षणान्तरवर्तीके साथ वे संयुक्त नहीं हो सकते । बाह्यार्थवादीके मतमें कुम्भ आदि ज्ञानमें अध्यस्त हैं, अतः क्षणिक होनेसे अर्थान्तरके साथ वे संयुक्त नहीं हो सकते ॥ १२८ ॥

'एवं तर्हि' इत्यादि । यदि बाह्यार्थवादी भी अवभासात्मक ही कुम्भादि माने, तो दोनोंमें भेद ही क्या होगा ? क्योंकि विज्ञानवादी और बाह्यार्थवादी दोनोंके मतमें कुम्भ आदि अवभासात्मक ही हुए । दोनोंमें भेद यही है कि विज्ञानवादीके मतमें ज्ञान और ज्ञेय एक हैं यानी विज्ञान ही ग्राह्य और ग्राहकरूपसे भासित होता है और बाह्यार्थवादीके मतमें ग्राहक ज्ञानके साथ अभेदरूपसे नील पीत आदि ग्राह्य पदार्थोंकी सिद्धि होती है, क्योंकि उसीमें उनका अध्यास है ॥ १२९ ॥

'बाह्यार्थो०' इत्यादि । बाह्य अर्थ हो, अथवा मत हो, परन्तु बुद्धिव्यतिरिक्त साक्षी तो नहीं है, यह मतत्रयका उपसंहार है और शून्यवादीके मतमें तो सुतरां साक्षी नहीं है। शून्यवादीका भाव यह है कि वे विज्ञानवादीके मतमें एक ही ज्ञानमें ग्राह्यग्राहक मलका त्यागकर शुद्ध विज्ञानकी शान्ति चाहते हैं । ज्ञानमें मलवत् संवृत रूप कल्पित है, पारमार्थिक नहीं है ।

शङ्का—यदि अर्थका अभाव है, तो ज्ञान कैसे होगा ? ज्ञानकी व्युत्पत्ति है—'ज्ञायतेऽनेन' इति ज्ञानम् । यदि विषय नहीं है, तो ज्ञानका विषय किसको बनाया जायगा ? अतएव कहा गया है—

अत्रोच्यते न कुम्भादेरवभासात्मतोचिता ।
दीपस्येवाऽवभासस्य पृथक्त्वं व्यञ्जकत्वतः ॥ १३१ ॥
न प्रदीपात्मकः कुम्भो नाऽवभासात्मकस्तथा ।
कुम्भावभासकं बुद्धिविज्ञानं दीपवत्पृथक् ॥ १३२ ॥

'स्वरूपं पररूपेण यया संव्रियते धिया ।
एकार्थप्रतिभासिन्या भावानाश्रित्य भेदिनः ॥
तया संवृतनानात्वाः संवृत्या भेदिनः स्वयम्
अभेदिन इवाऽऽभान्ति················ ॥'

इस न्यायसे रागादि मलवत् संवृतिकल्पित अर्थसे जब ज्ञानका विरोध नहीं है, तब अर्थके समान ज्ञानको भी कल्पित ही मानिए, आखिर अर्थकी संवृति कल्पित है, तब ज्ञानको भी लाघवानुसार कल्पित ही मानना उचित है; अतएव

'अनादिवासनोद्भूतविकल्पपरिकल्पितः ।
शब्दार्थस्त्रिविधो ज्ञेयो भावाभावोभयाश्रयः ॥'

ऐसा कहा गया है ।

समाधान—इसका निराकरण आगे किया जायगा ॥ १३० ॥

बाह्यार्थवादीके मतका प्रथम निराकरण करते हैं—**'अत्रोच्यते'** इत्यादिसे ।

कुम्भ आदि विषय अवभासात्मक नहीं हैं, किन्तु अवभास घट आदिका व्यञ्जक है । व्यञ्जक व्यङ्ग्यसे भिन्न देखा गया है । घटका व्यञ्जक प्रदीप जैसे घटसे अतिरिक्त है वैसे ज्ञान भी घटसे भिन्न ही है । 'भासकं भास्यभिन्नम्, व्यञ्जकत्वात्, प्रदीपवत्' यह अनुमान उक्त अर्थमें प्रमाण है ॥ १३१ ॥

प्रमाणके अभावसे बुद्धिसे व्यतिरिक्त आत्मा नहीं है, इसके निराकरणके लिए बाह्यार्थवाद अयुक्त है, इसकी प्रतिज्ञा करते हैं—**'न प्रदीपा०'** इत्यादिसे ।

जैसे ज्ञानावभास्य प्रदीप, आदित्य आदि स्वात्मना भासित होते हैं, सालोक कुम्भ आदि स्वेन अवभास्य हैं, आलोकान्तरकी अपेक्षा नहीं करते, वैसे ही बुद्धि भी स्वभास्य है, वह अतिरिक्त ज्योतिकी अपेक्षा नहीं करती, यह उनका कथन है, इसका खण्डन करते हैं कि कुम्भ प्रदीपभास्य है, किन्तु उसको प्रदीपात्मक कोई नहीं मानता। यदि व्यञ्जका व्यङ्ग्यके साथ अभेद हो, तो कुम्भको प्रदीपात्मक मानना चाहिए। एवं कुम्भ, प्रदीप, आदित्य आदि ज्ञानभास्य हैं, किन्तु प्रदीपके समान विज्ञान भी

व्यङ्ग्यव्यञ्जकता कुम्भदीपयोर्भासिता धिया।
यथा धीदीपसम्बन्धः साक्षिणाऽवेक्ष्यतां तथा ॥ १३३ ॥

कुम्भादिसे व्यतिरिक्त ही सिद्ध होता है। प्रदीप स्वात्मभास्य है, यह असङ्गत है, क्योंकि विज्ञानके बिना प्रदीप आदिका भान नहीं होता, अतः कुम्भावभासक दीपके समान भासक ज्ञान कुम्भसे भिन्न ही है ॥ १३२ ॥

'व्यङ्ग्यव्यञ्जकता' इत्यादि ।

शङ्का—कुम्भ और बुद्धिका भेद सिद्ध होनेपर भी साक्षीकी सिद्धि कैसे होगी ?

समाधान—कुम्भ और प्रदीपमें भास्य और भासकभाव बुद्धिवृत्तिके बिना जैसे सिद्ध नहीं होता, वैसे ही बुद्धिवृत्ति और दीपका सम्बन्ध भी अतिरिक्त साक्षीके बिना सिद्ध नहीं होता, 'यदवभास्यं तत्स्वातिरिक्तावभास्यम्' यह व्याप्ति कुम्भमें दृष्ट है, क्योंकि अन्धकारमें स्थित घटका भान नहीं होता, आलोकमें स्थित घटका भान होता है, अतः स्वातिरिक्तसे अवभास्यत्व नियत है।

शङ्का—सालोक घट स्वावभास्य है, उसमें आलोकान्तरकी जैसे अपेक्षा नहीं होती, वैसे ही विज्ञान भी स्वावभास्य है।

समाधान—आलोक और घट एक नहीं है, क्योंकि आलोकके संयोग और वियोगसे घटमें विशेष देखा जाता है, आलोक और घट भिन्न हैं, एक नहीं हैं, रज्जु और घटके समान, संयोग-वियोगदशामें विशेष-दर्शन दोनोंमें समान है।

शङ्का—अच्छा, तो प्रदीपका ही दृष्टान्त कहते हैं। जैसे प्रदीप स्वयंप्रकाश है, प्रदीपान्तरकी अपेक्षा अपने प्रकाशके लिए नहीं करता, वैसे ही विज्ञान भी स्वप्रकाशके लिए आत्मज्योतिकी अपेक्षा नहीं करता।

समाधान—'अवभास्यम् अवभासकारन्तरापेक्षम्, अवभास्यत्वाद्, घटादिवत्' इस अनुमानसे प्रदीपमें भी घटके समान अभास्यत्व है। अतः उसका भान भी अवभासकान्तर आत्मज्योतिसे ही होता है, घटमें जैसे अवभास्यत्व है, अतः उसका स्वात्मना अवभास नहीं होता, वैसे ही प्रदीपमें भी अवभास्यत्व है, अतः उसका भी स्वात्मना प्रकाश नहीं हो सकता, क्योंकि 'योऽवभास्यः स स्वेतरभास्यः यथा घटः' इस न्यायसे प्रदीप भी अवभास्य है, अतः स्वेतर आत्माज्योतिसे भास्य है, यह सिद्ध होता है, ऐसी परिस्थितिमें घट जैसे स्वभिन्नजातीय प्रदीपप्रकाशसे अवभास्य है, वैसे ही प्रदीप भी स्वभिन्नजातीय आत्मज्योतिसे अव-

ननु प्रकाशतमसोः क्रमात्कुम्भोऽनुगच्छति ।
दीपोऽननुगतस्तेन भेदः कुम्भप्रदीपयोः ॥ १३४ ॥

भास्य है। बोध चिद्व्यङ्ग्य है, यह सिद्ध होनेपर विचार यह है कि बोधमें ग्राह्यज्ञानगम्यत्व है अथवा ग्राहकज्ञानगम्यत्व है, संदिग्ध अर्थका लोकानुसार निर्णय करना चाहिए।

शङ्का—लोकानुसारी निर्णय क्या है ?

समाधान—लोकमें दीपादिमें भिन्नग्राहकग्राह्यता दृष्ट है, वैसे ही बोधमें भी भिन्नग्राहक आत्मज्योतिसे ग्राह्यत्व सिद्ध होता है, अतः ग्राहकग्रहणग्राह्योंके भावाभावविभागोंका ज्ञाता ग्रहणसे भिन्न जो है, वही आत्मा है, यह निश्चय करो।

शङ्का—ज्ञानको गम्य मानते हैं, तो उसके गमकका ज्ञान भी भिन्नसे होगा, फिर उसके गमकका भी ज्ञान गमकान्तरसे होगा, ऐसी अवस्थामें अनवस्था-दोष हो जायगा।

समाधान—अनवस्था नहीं होगी।

शङ्का—क्यों ?

समाधान—कूटस्थ आत्मा स्वयंप्रकाश है, उससे बोधका प्रकाश और स्वका भी प्रकाश होता है, अतः अनवस्थादोष नहीं है।

शङ्का—ग्राहकग्रहणप्रयुक्त अनवस्थाका परिहार हो गया, किन्तु करणान्तर-प्रयुक्त अनवस्था दुष्परिहर है, रूपादिका ग्रहण चक्षु आदिसे होता है और रूपादिग्रहणका ग्रहण करणान्तर मनसे होता है एवं तद्ग्रहण करणान्तरसे होना चाहिए, इस प्रकार अनवस्था होगी ?

समाधान—करणान्तर नियममें प्रमाण नहीं है। विद्वान्‌का अनुभवरूप प्रत्यक्ष, पूर्वब्राह्मणोक्त अनुमान तथा आगम—इन प्रमाणोंसे ज्ञानसे अतिरिक्त उसका साक्षी परचित्स्वभाव सिद्ध होता है, अतः इस विषयमें विवाद नहीं है। जो चार्वाकादि अनुमानादिको नहीं मानते, उनके मतमें भी प्रत्यक्षमें प्रमात्वकी सिद्धिके लिए अज्ञातज्ञापकत्वसाधक नित्यानुभव अवश्य मानना चाहिए, यह सब पूर्वमें सिद्ध कर चुके हैं। विस्तृत अन्यत्र देखिए ॥ १३३ ॥

घी एवं दीप तथा दीप एवं कुम्भका भेद मानकर घी एवं साक्षीके भेदका आक्षेप करते हैं—'**ननु**' इत्यादिसे ।

ज्ञातताज्ञातते तद्वदुभे दीपोऽनुगच्छति ।
ज्ञातत्वमेव धीस्तेन भेदो धीदीपयोरपि ॥ १३५ ॥
धीसाक्षिणोर्विभेदे तु नोपायः क्वचिदीक्ष्यते ।
न साक्ष्यस्ति विना बुद्ध्या न बुद्धिः साक्षिणा विना ॥ १३६ ॥
मैवं संशयमिथ्यात्वजन्मनाशादिभेदिनी ।
बुद्धिः साक्षी तु न तथा भेदोऽतो बुद्धिसाक्षिणोः ॥ १३७ ॥

भास्य और भासकका भेद उनमें से किसी एककी सत्तासे व्याप्त है, जैसे दीपके न रहनेपर भी अन्धकारमें कुम्भकी स्थिति है अथवा जैसे दीपज्ञानकी उत्पत्तिसे पहले अज्ञातस्वरूपसे दीपकी स्थिति है, वैसे ही धी और साक्षीमें से किसी एकका अभाव होनेपर भी अन्यतरसत्त्वका दर्शन नहीं होता, अतः व्यापककी अनुपलब्धि होनेसे तद्व्याप्त भेदका सम्भव नहीं हो सकता ॥ १३४ ॥

'**ज्ञातता०**' इत्यादि । वैसे ही कुम्भज्ञानकी उत्पत्तिसे पहले दीपमें अज्ञातत्व रहता है और कुम्भज्ञानकी उत्पत्तिके अनन्तर ज्ञातत्वकी उत्पत्ति होती है । धीमें ज्ञातत्व ही रहता है, इससे धी और दीपमें भी भेद सिद्ध होता है ॥ १३५ ॥

'**धीसाक्षिणो०**' इत्यादि । बुद्धि और साक्षीके भेदग्रहके लिए कोई उपाय नहीं है, कारण कि भेदग्रह अन्वयव्यतिरेकग्रहसे होता है, जैसे कि घट और प्रदीपका भेदग्रह बतलाया गया है । धी और साक्षीमें ऐसा नहीं है, कारण कि बुद्धिके बिना साक्षी नहीं है और साक्षीके बिना बुद्धि नहीं है, अतः बुद्धि और साक्षीका भेद मानना असङ्गत है ॥ १३६ ॥

सुषुप्तिमें बुद्धिवृत्तिके बिना भी अज्ञानसाधक साक्षीका अस्तित्व रहता है, अतः उसी स्थलमें व्यापककी अनुपलब्धि असिद्ध है और संशय आदिसे भी भेद सिद्ध होता है, यों पूर्वोक्त शङ्काका परिहार करते हैं—'**मैवम्**' इत्यादिसे ।

बुद्धिका संशयत्व, मिथ्यात्व, जन्म और नाश आदिसे भेद है । साक्षीमें उक्त धर्म नहीं हैं, अतः बुद्धि और साक्षीका भेद है, अभेद नहीं है । भाव यह है कि यदि सब क्षणिक हैं, तो सत्यमिथ्यात्व विकल्प नहीं हो सकता । क्षणिकोंमें विनष्टका ग्रहण कौन करेगा ? जो दो क्षणोंमें रहता हो, वही विनष्टका ग्रहण कर सकता है । मिथ्यात्वमें बाध प्रयोजक है, स्थैर्य नहीं, क्योंकि मृगतृष्णिकामें बाधसे ही मिथ्यात्वबुद्धि होती है । बाह्य स्तम्भ आदि अपने अवयवोंमें भेदसे रहते हैं या अभेदसे ? जैसे तलवार कोशमें भिन्नरूपसे रहती है, वैसे अवयवोंमें अवयवी

घटस्य व्यञ्जको दीपो दीपस्य व्यञ्जकं मनः ।
मनसो व्यञ्जकः साक्षीत्यनवस्था प्रसज्ज्यते ॥ १३८ ॥
मैवं न कोऽप्यतिशयः साक्षिण्यन्यकृतस्ततः ।
न व्यञ्जकान्तरापेक्षा नाऽनवस्था ततो भवेत् ॥ १३९ ॥

भिन्नरूपसे नहीं रह सकता । तलवार अपने अवयवोंमें अभेदेन रहती है, परन्तु कोशमें अभेदेन नहीं रहती, क्योंकि कोशावयव स्वारम्भक अवयवसे अतिरिक्त हैं। स्तम्भादि अवयवीका स्वारम्भक अवयवसे अतिरिक्त अवयव नहीं है, अतः उसमें वह भेदेन नहीं रह सकता । द्वितीय कल्पमें एक ही अवयवमें अवयवी परिसमाप्त हो जायगा, फिर अन्य अवयव अवयवीसे शून्य हो जायँगे और अवयवोंमें अणुत्वकी आपत्ति भी हो जायगी, इस प्रकार स्तम्भादि अवयवी ही दुर्भण हो जायंगे । इससे निश्चित होता है कि वह मिथ्या है । मृगतृष्णिकास्थलमें ज्ञानान्यरूपसे स्वीकृत जलका बाधसे ही उपादान नहीं होता, यह बाह्यार्थ-वादीको भी अभिमत है, ग्राहक स्थिर है, इसलिए मृगतृष्णिका मिथ्या है, यह जैसे इष्ट नहीं है, वैसे ही स्तम्भ आदि दुर्निरूप होनेसे मिथ्या हैं। किञ्च, भ्रान्त अर्थका ग्राहक बाधधीकालमें वर्तमान है अथवा नष्ट हो गया है ? प्रथम पक्षमें क्षणभङ्गवादकी असङ्गति स्फुट है । द्वितीय पक्षमें नष्टमें मिथ्याबुद्धि कैसे होगी ? विनष्ट घटमें जलकी स्थिति किसने कहाँ देखी है । मृगतोयमें बाधसे मिथ्यात्व दृष्ट है । दृष्टमें अनुपपत्ति नहीं हो सकती । अतः धीव्यतिरिक्त उसके साक्षीको नित्यसिद्ध स्वयंप्रकाश अवश्य मानना चाहिए ॥ १३७ ॥

'घटस्य व्यञ्जको' इत्यादि । घटका व्यञ्जक दीप है, दीपका व्यञ्जक मन है, मनका व्यञ्जक साक्षी है, इस प्रकार अनवस्था होगी ॥ १३८ ॥

उक्त अनवस्थाका परिहार करते हैं—**'मैवम्'** इत्यादिसे ।

साक्षीमें अन्यकृत अतिशय कुछ नहीं देखा जाता है । जैसे घटादिमें ज्ञानकी उत्पत्तिसे पहले अज्ञातत्व था, पर ज्ञानकी उत्पत्तिके अनन्तर ज्ञातत्वरूप विशेष ज्ञानकृत होता है, इसलिए घटादिको स्वभिन्न व्यञ्जक ज्ञानकी अपेक्षा होती है, वैसे साक्षीमें अन्य व्यञ्जककृत अतिशय प्रतीत नहीं होता, कारण कि साक्षी सदा स्वयंप्रकाश है । उसमें अज्ञातत्व आदि विशेषकी संभावना नहीं है; अतः अन्यकृत विशेषके अभावसे व्यञ्जकान्तरकृत अनवस्थादोष नहीं है ॥ १३९ ॥

न साक्षिणोऽक्रियत्वेन करणं बुद्धिभासने ।
अपेक्षितं ततः साक्षी सुगतैर्मा निवार्यताम् ॥ १४० ॥
क्षणिकत्वं च विज्ञानशून्यवादौ च बालकैः ।
वादिभिश्चाऽवहास्यन्ते नाऽतोऽत्र प्रयतामहे ॥ १४१ ॥

करणप्रयुक्त अनवस्थादोषका परिहार करते हैं—'**न साक्षिणो**' इत्यादिसे ।

घटादिका भासक चक्षु आदि, घटज्ञानका भासक मन, मनका भासक साक्षी, साक्षीका भासक अन्य इत्यादि रीतिसे अनवस्थादोष हो जायगा ? इस शङ्काकी निवृत्तिके लिए कहते हैं कि कार्यके लिए करणकी अपेक्षा होती है, साक्षी क्रियास्वरूप नहीं है, किन्तु अक्रिय है, अतः उसके भानके लिए अन्य करणकी अपेक्षा नहीं है। इसलिए सुगत बुद्धिसाक्षीका निराकरण किसी प्रकार नहीं कर सकते ॥ १४० ॥

'**क्षणिकत्वम्**' इत्यादि । पराभिमत क्षणिकत्व, विज्ञानवाद और शून्यवादका बालक और वादिगण परिहास करते हैं, अतः उक्त वाद अतितुच्छ हैं, उनके निराकरणके लिए यहाँ प्रयत्न नहीं करते हैं ।

संक्षेपसे क्षणिकपदार्थवादीका मत यह है—'यत् सत् तत् क्षणिकम्' सन्तश्च अमी भावाः तस्मात् प्रदीपवत् सर्वे घटपटादयः क्षणिकाः' अर्थात् जो सत् है, वह क्षणिक है, ये घट, पट आदि पदार्थ सत् हैं, अतः वे सब क्षणिक हैं ।

यहां प्रश्न यह होता है कि सत्त्वको अनेकानुगत एक सामान्यरूप धर्म मानते हैं अथवा नहीं ? प्रथम पक्षमें सत्त्वमें ही व्यभिचार स्फुट है । द्वितीय पक्षमें पक्ष और दृष्टान्तमें सत्त्व भिन्न भिन्न है, अतः व्याप्य पक्षवृत्ति नहीं होगा । भिन्नमें एकत्वग्रह भ्रम है । यदि अर्थक्रियाकारित्वरूप सत्त्व है, तो अर्थक्रिया-कारित्वमें अर्थक्रियाकारिता है नहीं, अतः वह स्वयं असत् ठहरी, फिर उसके द्वारा धर्मी कैसे सत् होगा । कार्यकारणभाव यदि सिद्ध हो, तो अर्थ-क्रियाकारित्व हो सकता है, परन्तु क्षणिकत्ववादमें कार्यकारणभाव हो नहीं सकता । क्षणिकत्व सत्त्वमें है या नहीं ? प्रथम पक्षमें प्रतिज्ञाहानि होगी और द्वितीय पक्षमें व्याप्तिकी असिद्धि होगी । क्षणिकत्व यदि भावस्वरूप है, तो क्षणिक और भाव ये दोनों पर्य्यायवाची हो जायँगे । यदि उसे भावका धर्म मानें, तो धर्मी स्थायी हो जायगा । धर्मिस्वरूप मानें, तो भावस्वरूप होनेसे क्षणिकत्वकी सिद्धि नहीं

होगी। किञ्च, यह भी प्रश्न है कि क्षणिक भाव स्वकालमें कार्य करनेमें शक्त हैं या नहीं ? प्रथम पक्षमें 'समर्थस्य क्षेपायोगात्' (समर्थको कालव्यवधान नहीं होता) इस न्यायसे उसी समय कार्यपरम्पराकी प्रसक्ति हो जायगी। द्वितीय पक्षमें कभी भी कार्य नहीं होगा। द्वितीय क्षणमें स्वयं असत् है, अतः कार्योत्पाद प्रसंग ही नहीं होगा। स्थिरवादमें सहकारीके समवधानसे कार्यकी उत्पत्ति और उसके असमवधानसे उसकी अनुत्पत्ति जैसे कही जा सकती है, वैसे क्षणिकत्वपक्षमें नहीं कह सकते।

शङ्का—क्यों ?

समाधान—यदि सहकारीका जबतक समवधान हो, तबतक क्षणिककी स्थिति मानें, तो क्षणिकत्व ही व्याहत हो जायगा। यदि न मानें, सहकारीके समवधानका लाभ ही नहीं हो सकता। किञ्च, यह भी प्रश्न होता है कि क्या सहकारी कारणमें कुछ अतिशयाधान करते हैं अथवा नहीं ? प्रथम पक्षमें उनके द्वारा सम्पादित उपकार कारणस्वरूपसे भिन्न है अथवा अभिन्न ? प्रथम पक्षमें पूर्व कारणमें तदनन्तर सहकारी कारण अतिशयाधान करेगा, तो अतिशयाधानकालमें धर्मिसत्त्वापत्तिसे पुनः क्षणिकत्वका व्याघात होगा। सहकारी द्वारा किये गये उपकारका संबन्ध कारणमें नहीं होता, ऐसा यदि कहें, तो सहकारीका समवधान ही व्यर्थ है। अभेदपक्षमें यदि कारणस्वरूप ही सहकारिकृत है, तो सहकारी व्यर्थ है। कारणस्वरूप तो पूर्वमें ही सिद्ध है। उपकारको ही कार्य मानें, तो बीजादि कारण व्यर्थ हैं, जनकव्यापारोत्तर जन्य अङ्कुर आदिकी उत्पत्ति होती है, अतः भिन्नकालिकमें ही कार्यकारणभाव होता है। दाहिने और बाँये सींगके समान एककालीनोंमें कार्यकारणभाव नहीं माना जाता। किञ्च, यह भी प्रश्न होता है कि न्यायमतवत् कार्य आरभ्य है अथवा सांख्यमतवत् परिणाम है ? प्रकारान्तर हो नहीं सकता, प्रथम पक्षमें कारणसे भिन्न कार्य मानना पड़ेगा, बौद्ध अवयवसे व्यतिरिक्त अवयवी नहीं मानते। द्वितीय पक्षमें सांख्यसिद्धान्तकी आपत्ति यानी सत्कार्यवादकी आपत्ति होगी इत्यादि अनेक दूषण हैं।

अतिसंक्षेपसे विज्ञानवादीका मत कहते हैं—ज्ञानके बिना वस्तुका पृथक् उपलम्भ नहीं होता, किन्तु ज्ञानके साथ ही उपलम्भ होता है, इसलिए जिसके बिना जो उपलब्ध नहीं होता, किन्तु साथ ही उपलब्ध होता है, वह उससे अतिरिक्त नहीं है, यह व्याप्ति स्वप्न आदि स्थलमें दृष्ट है। जैसे स्वप्नविज्ञानग्राह्य स्वप्नविज्ञानसे अतिरिक्त नहीं है, वैसे ही जागरावस्थ घटादि जागरावस्थ घटादिविज्ञानसे अतिरिक्त

नहीं हैं। उसके अनुसार यह अनुमान है—'विमतं न ज्ञानातिरिक्तम्, ग्राह्यत्वात्, स्वामिकग्राह्यवत्'। कुम्मादि भी ग्राह्य हैं, अतः वे ज्ञानातिरिक्त नहीं हैं और सुख, दुःख आदि वस्तुज्ञान होनेपर ही होते हैं। जैसे पुत्रकी उत्पत्ति होनेपर भी अज्ञातदशामें उससे सुख नहीं होता, किन्तु उसका ज्ञान होनेपर ही सुख होता है, वैसे पुत्रकी अनुत्पत्तिदशामें विदेशस्थ पुरुषको मालूम हो जाय कि पुत्र हुआ है, तो उसे सुख होता है। अतः भोगकारण विषयज्ञान है, केवल विषय नहीं है। वैसे ही घटाकारविज्ञान होनेपर घटका प्रत्यक्ष होता है, जिसको घटसत्तामें प्रमाण कहते हो। विज्ञान स्वाकाररूपसे परिणत जो घटाकार है, उसीको देखता है, बाह्य घटाकारको नहीं। ज्ञानाकारसे विषयाकार तिरोहित है और बाह्य होनेसे आन्तर ज्ञानके साथ विषयका सम्बन्ध भी नहीं है। ज्ञान असंबद्धका ग्राहक होता नहीं। वासनाविशेषसे ज्ञानविशेष होता है, स्वप्नमें यह इष्ट है, अतः ज्ञान-भेदार्थ भी विषयकी आवश्यकता नहीं है। अतीतानागत विषयके ज्ञानसे भी सुखादिकी उपलब्धि होती है। इससे भी ज्ञानमात्र ही तत्-तत् व्यवहारका कारण है, विषयविशेष नहीं।

शङ्का—यदि घटादिको विज्ञानव्यतिरिक्त न मानिये तो न सही, आत्मा तो विज्ञानव्यतिरिक्त होगा ?

समाधान—विज्ञानमात्र ही सब है, ऐसा निश्चय होनेपर घटादिके समान क्षणिक विज्ञानस्वरूप ही आत्मा है, तदतिरिक्त स्थिर आत्मा नहीं है, यह सिद्ध होता है।

शङ्का—घटाद्याः स्वातिरिक्तग्राह्याः, भास्यत्वात्, प्रदीपवत्' इस अनुमानसे अतिरिक्त आत्मा यदि सिद्ध होता है, तो उसका अपह्नव कैसे करते हैं ?

समाधान—प्रदीपादि भी तो विज्ञानस्वरूप ही हैं, अतिरिक्त नहीं हैं। अतः दृष्टान्तके अभावसे अनुमान आभास है, इसलिए वह अतिरिक्त आत्माका साधक नहीं है। जैसे आपको बाह्यार्थसे अतिरिक्त ज्ञानमात्र इष्ट है, वैसे ही ज्ञानसे अतिरिक्त घट, दीप आदि हमको इष्ट हैं। अतिरिक्त साधनमें दृष्टान्त हमको प्रदीपादि सुलभ हैं। ज्ञानसे अतिरिक्त अर्थको यदि आप नहीं मानते, तो 'सर्वं स्वप्नवत् ज्ञानमात्रम्' ऐसा माननेमें आपको भी दृष्टान्त नहीं है। साध्य, पक्ष, हेतु आदि सब ज्ञानरूप ही हैं, उससे अतिरिक्त नहीं हैं, अतः आपका अनुमान नहीं हो सकता, क्योंकि दृष्टान्ताभाव समान है।

शङ्का—बाह्य अर्थ मिथ्या है, अतः उसकी सत्ता नहीं है।

समाधान—ज्ञानके समान विषयतया भासमान घट, दीप आदि प्रत्यक्ष नहीं हैं, ऐसा कहना निर्लज्जता प्रकट करना है। क्योंकि विषयके समान ज्ञान भी नहीं है, ऐसा ही क्यों न हो? ज्ञान, घट, दीप—इनका भेद अवश्य मानना चाहिए, अन्यथा शब्दानर्थक्य होगा और दीप एवं ज्ञानके एक होनेपर जैसे दीप दाहक होता है, वैसे ही ज्ञानसे भी देहदाहकी प्रसक्ति हो जायगी, अतः प्रमाण और प्रमेयका भेद मानना ही ठीक है। एकमें ही मान-मेयत्वकी व्यवस्था नहीं हो सकती। नील आदि ज्ञान मान है, नील आदि विषय (मेय) हैं। यदि नील और उसके ज्ञानको एक ही मानोगे, तो मानमेयव्यवस्था असङ्गत ही हो जायगी। और यह इसका साधन है, यह फल है इत्यादि शास्त्रकारोंका उपदेश भी व्यर्थ हो जायगा। जब साधन और फलका भेद ही नहीं है, तब साध्यसाधनभाव कैसे होगा? एवं वादि-प्रतिवादी भी विज्ञानमात्र हैं, यह सुन कर बालक भी हँसेंगे। विज्ञान ही वादी है, अतः वही प्रतिवादी नहीं हो सकता इत्यादि हजारों दोष हैं। शून्य-वादका विशेष निरूपण अपेक्षित नहीं है, यह अत्यन्त स्थूल है। विज्ञानका भी निषेध करनेपर उक्त वाद सिद्ध होता है। सुषुप्तिदशा ही उसमें उदाहरण है। सुषुप्तिदशामें विज्ञान भी नहीं रहता, अतः शून्य ही परमार्थतत्त्व है। संक्षेपसे इसका निराकरण इस प्रकार है—'घटः सन् पटः सन्' इत्यादि प्रतीतिसे सब विषयोंका भान सत्त्वेन होता है, शून्यत्वेन नहीं और प्रत्यक्ष आदि प्रमाण सद्विषयक ही होते हैं, शून्यविषयक नहीं होते। किञ्च, शून्यतामें कोई प्रमाण है या नहीं? आद्य पक्षमें उसके साधकके प्रमाणकी यदि सत्ता है, तो सर्वशून्यता कहां हुई। यदि नहीं है, तो शशशृङ्गके समान प्रमाणाभावसे ही शून्यता सिद्ध नहीं हो सकती। एवं शून्यताका स्फुरण है या नहीं? प्रथम पक्षमें शून्यत्वकी असिद्धि है क्योंकि उसका स्फुरण मानते हो, द्वितीय पक्षमें उसकी असिद्धि स्फुट है। अपिच, शून्यतावादीकी सत्ता है या नहीं? यदि है, तो सर्वशून्यत्व नहीं है। यदि नहीं है, तो स्वयं उसकी असिद्धि है। यदि संवृतिका आश्रय नहीं है, तो संवृति ही नहीं हो सकती। संवृति अविद्या है, उसका यदि आश्रय न मानें, तो शून्यके स्वरूपकी हानि होगी इत्यादि सुनकर बालक भी हँसेंगे। इससे बुद्धि आदिसे व्यतिरिक्त अत्यन्त शुद्ध, नित्यसिद्ध कूटस्थ, अद्वय आत्मज्योति है, यह सिद्ध हुआ ॥ १४१ ॥

अनुभूत्या विरुध्यन्ते क्षणिकत्वादयो यथा।
न तथाऽनुभवात्मैष विरुद्धः केनचित् क्वचित् ॥ १४२ ॥
यो विज्ञानमयोऽक्षेषु हृद्यन्तः पूर्णचिद्घनः।
स संसरति धीयोगाद् भ्रान्त्येत्यभ्युपगम्यताम् ॥ १४३ ॥

श्रुतिः—स वा अयं पुरुषो जायमानः शरीरमभिसम्पद्यमानः पाप्मभिः सꣳसृज्यते स उत्क्रामन् म्रियमाणः पाप्मनो विजहाति ॥ ८ ॥

'अनुभूत्या' इत्यादि। क्षणिकत्व (आदिशब्दसे विज्ञानमयत्व, और शून्यत्वका ग्रहण है) जैसे अनुभवविरुद्ध है, वैसे यह नित्य ज्योतिःस्वरूप आत्मा किसी प्रमाणसे कहीं विरुद्ध नहीं है, यह विशदरूपसे कह चुके हैं, अतः पुनः कथनकी आवश्यकता नहीं है ॥ १४२ ॥

'यो विज्ञान०' इत्यादि। प्राणोंमें जो विज्ञानमय हृदयके भीतर पूर्ण चिद्घन ज्योति है और जो बुद्धियोगसे संसारी होता है, उसको आत्मा जानो ॥ १४३ ॥

'स वा अयं पुरुषो जायमानः' इत्यादि श्रुति। प्रसङ्गप्राप्त परपक्षका निराकरण कर श्रुतिव्याख्यानका ही अनुसरण कर रहे उत्तर वाक्यका तात्पर्य कहते हैं। आत्मा और देहका भेद होनेपर भी वर्तमान जन्मका त्याग कर जन्मान्तर ग्रहण करता हुआ कार्य-करणके संघातका अतिक्रमण करता है। अतः जैसे स्वप्नजागरितके संचारसे आत्मा देहव्यतिरिक्त सिद्ध होता है वैसे ही इस लोक और परलोकमें संचारकी उक्तिसे भी आत्मामें देहातिरेक कहते हैं। अब उत्तर वाक्यका ग्रहणकर भगवान् भाष्यकार व्याख्यान करते हैं 'स वा' इत्यादिसे। जैसे एक देहमें सुप्त होकर मृत्युके रूपोंका यानी कार्यकरणसंघातका अतिक्रमण कर आत्मज्योतिमें पुरुष स्थित होता है, वैसे ही वही प्रकृत पुरुष जायमान है।

शङ्का—क्यों 'जायमान' कहते हैं? आत्मा नित्य है, यह अनेक बार सिद्ध कर चुके हैं?

समाधान—शरीरेन्द्रियसंघातको प्राप्त कर अर्थात् शरीरमें आत्मभावका ग्रहण कर शरीरकी उत्पत्तिसे आत्मा अपनेको उत्पद्यमान मानता है। पाप्मभिः यानी पापसमवायि धर्माधर्माश्रय कार्यकरणोंसे संयुक्त होता है। वही मरणदशामें शरीरान्तरमें जाता हुआ उन्हीं संश्लिष्ट पापरूप कार्यकरणसंघातका त्याग करता है, उनसे वियुक्त होता है। जैसे स्वप्न और जागरित वृत्तियोंमें वर्तमान ही एकदेहमें पापरूप कार्य-

जाग्रद्देहादिकं मृत्यो रूपं स्वप्ने निवर्त्तताम् ।
न जन्मान्तर इत्येवमाशङ्क्योक्तं स वा इति ॥ १४४ ॥

करणका उपादान और परित्यागोंसे बुद्धिके समान होकर सतत संचरण करता है, वैसे वही यह पुरुष दोनों इहलोक और परलोकमें जन्म और मरणसे शरीर और इन्द्रियोंके त्याग और उपादानको अनवरत प्राप्त करता हुआ जबतक मोक्ष नहीं होता, तबतक संचरण करता है, अतः आत्मज्योति शरीर आदिसे व्यतिरिक्त है, यह सिद्ध होता है । यदि जन्म-मरण, पुण्यपाप आदि आत्माके स्वाभाविक धर्म होते, तो उनसे संयोग और वियोग आत्माका नहीं हो सकता ।

शङ्का—कैसे ?

समाधान—जैसे वह्निके स्वाभाविक औष्ण्य धर्मका संयोग और वियोग नहीं, होता ॥ ८ ॥

'स वा अयं पुरुषः' इस वाक्यका अवतरण करते हैं—'जाग्रद्देहा०' इत्यादिसे।

स्वप्नावस्थामें मृत्युशब्दोक्त जाग्रद्देहादिका अतिक्रम कहनेपर भी जन्मान्तरमें शरीर आदिका अतिक्रम नहीं कहा । आत्मामें देहाद्यतिरिक्तत्व स्फुटतर प्रतीत नहीं होता, अतः परलोकसंचारोक्तिसे भी देहातिरेक अनन्तर वाक्यसे आत्मामें कहते हैं । देहेन्द्रियादिरूप मृत्यु न आत्मस्वरूप ही है और न आत्मधर्म ही है, यह तो कह चुके हैं । इसमें 'स वा' यह श्रुति हेतु कहती है । जिस समयमें उपाधिभूत बुद्धि स्वप्नाकार होती है, तब स्वयं आत्मा स्वप्न होकर कार्यकरणोंका, जिन्हें अभिमानसे उसने अपनाया था, त्याग करता है । आसङ्गा-भाव ही त्याग है । स्वप्नावस्थामें अतिक्रमण करता है, जैसे एक ही देहमें अवस्था-भेदसे ग्रहण और त्याग होता है, वैसे ही देहभेदसे मरता हुआ वर्तमान जन्मका त्याग और अन्य जन्मका उपादान करता है । उस समय कार्य और करणोंका अतिक्रमण करता है, अतः स्वप्नजागरित संचारसे देहातिरेक या इहलोक और परलोकमें संचारोक्तिसे भी देहातिरेक आत्मामें सिद्ध होता है ।

शङ्का—श्रुतिमें जायमान और शरीरमभिसंपद्यमान' इन दोनोंका एक ही अर्थ होनेसे पुनरुक्त दोष होता है ।

समाधान—जायमान इसका केवल कथन करनेसे घटादिवत् आत्माकी उत्पत्तिकी शङ्का होती है, उसकी व्यावृत्तिके लिए शरीरमभिसंपद्यमान भी कहा ।

युज्यते जायमानः सन् दुःखैरात्मैष ऐहिकैः ।
मृतो वियुज्यते भावि जन्म स्वप्नसमं ततः ॥ १४५ ॥
जन्माऽत्र नाऽसतः सत्त्वं किन्तु देहेन संयुतिः ।
प्रादुर्भावो जनेरर्थः सत एव स युज्यते ॥ १४६ ॥
मृतिः प्राणवियोगः स्यान्न तु नाशः सतो मतः ।
मृङ् प्राणत्याग इत्युक्तं स्वयं नष्टः कथं त्यजेत् ॥ १४७ ॥

शरीरगत उत्पत्तिको स्वगत माननेसे यह जायमान कहा गया है, स्वतः आत्मामें जन्मादिका संसर्ग नहीं है ।

शङ्का—देहके संसर्गसे आत्माकी उत्पत्ति मानते हैं, स्वतः क्यों नहीं मानते ?

समाधान—स्वकीय अज्ञानसे प्राणोपाधिसे पूर्व स्थूल देहसे उत्क्रान्त होकर पूर्वकर्मवश अपूर्व देहमें आत्मत्वरूपसे मिथ्या अभिमान करता है, उस समय वस्तुतः अज होता हुआ भी जायमान कहा जाता है । जैसे घट आदि उपाधिके जन्मसे उसमें स्थित आकाश अज होता हुआ भी जायमान कहा जाता है, वैसे ही अज भी आत्मा देहादिके जन्मसे जायमान कहा जाता है । श्रुत्यादिविरोधसे वस्तुतः उसके उत्पत्त्यादि नहीं होते । उपाधिके संसर्गसे जैसे जन्म है, वैसे ही उपाधिके वियोगसे म्रियमाणत्व भी है, वास्तविक नहीं है ॥१४४॥

'युज्यते' इत्यादि । यह आत्मा जायमान होकर ऐहिक—वर्तमान जन्मकालिक—दुःखोंसे संयुक्त होता है, मृत होनेपर इन दुःखोंसे वियुक्त होता है और भावी जन्म प्राप्त करता है । जैसे स्वप्नमें वर्तमान शरीरमें आसङ्ग छोड़कर स्वाप्निक शरीरसे, आसङ्ग द्वारा, संयुक्त होता है, वैसे ही भावी जन्मका ग्रहण करता है, इससे शरीर आदिसे व्यतिरिक्त आत्मा है, यह अनायास ही समझमें आ जाता है ॥१४५॥

'जन्माऽत्र' इत्यादि । कारणव्यापारसे पूर्व असत्की कारणव्यापारोत्तर सत्त्वरूप उत्पत्ति नहीं है । जैसे घटादि पहले असत् होकर पश्चात् उत्पन्न होते हैं, वैसी आत्माकी उत्पत्ति नहीं है, किन्तु उसकी देहके साथ आद्यक्षणसम्बन्धरूप उत्पत्ति है । वस्तुतः सम्बन्ध भी आभिमानिक ही अभीष्ट है । यहां जनिका अर्थ प्रादुर्भाव विवक्षित है । आत्मा नित्य है, अतः अभूत्वाभवन नहीं कह सकते, किन्तु घटकी उत्पत्तिके अनन्तर घटाकाशप्रादुर्भावके समान आत्मप्रादुर्भाव जनि है । यह सत्की ही होती है ॥ १४६ ॥

'मृतिः' इत्यादि । प्राणवियोगको मृति कहते हैं । विनाश मृति नहीं है,

इमं लोकं परं चाऽयं जाग्रत्स्वप्नप्रवाहवत् ।
सदा भजति तेनाऽस्य सिद्धा देहादिभिन्नता ॥ १४८ ॥

श्रुतिः—तस्य वा एतस्य पुरुषस्य द्वे एव स्थाने भवत इदं च परलोकस्थानं च सन्ध्यं तृतीयँ स्वप्नस्थानं तस्मिन्सन्ध्ये स्थाने तिष्ठन्नेते उभे स्थाने पश्यतीदं च परलोकस्थानं च ।

अन्यथा नित्य आत्माका विनाश हो नहीं सकता, तथा च उसका मरण भी कहना असङ्गत हो जायगा। यदि प्राणवियोगको मरण मानते हैं, तो आत्मामें भी मरणका प्रयोग अबाधित होता है। मृङ् प्राण त्यागे, ऐसा धातुगणमें पाठ है, अतः प्राणत्याग ही मुख्य मरण है। उसका अन्यत्र प्रयोग गौण है। यदि आत्मा ही नष्ट माना जाय, तो वह प्राणत्याग कैसे करेगा ? विद्यमान ही क्रियाका कर्ता होता है, अविद्यमान नहीं। भाव यह है कि देहारम्भक कर्म जब भोगसे क्षीण हो जाता है, तब आत्मासे देहका पात होता है। अमृत अव्यय आत्मा उस समय देहका त्याग करता है। आत्मामें देहका संयोग और वियोग कर्माधीन ही होता है।

शङ्का—यदि आत्मा मृत्युकार्य देहादिका त्याग ज्ञानके बिना भी करता है, तो मृत्युका भी त्याग कर सकता है, उसके लिए ज्ञान व्यर्थ है।

समाधान—नैसर्गिक अज्ञान मृत्यु है, उसका त्याग ज्ञानके बिना नहीं हो सकता, अज्ञानका नाश स्वविरोधी ज्ञानसे ही होता है। ज्ञान हुआ नहीं और दूसरा विरोधी है नहीं, अतएव 'तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय' इत्यादि श्रुतियाँ संगत होती हैं ॥ १४७ ॥

'इमं लोकम्' इत्यादि। यह आत्मा जाग्रत्स्वप्नप्रवाहके समान—जाग्रदवस्थासे स्वप्नावस्थामें जब जाता है, तब जाग्रत् देहका त्याग कर स्वाप्निक देहका ग्रहण करता है और स्वाप्निक देहका त्यागकर पुनः जाग्रद्देह प्राप्त करता है, इस प्रकार एक ही देहमें वर्तमान होकर पूर्व शरीरका त्याग कर शरीरान्तरमें संचार करता है, वैसे ही वर्तमान शरीरका त्याग कर स्वकृत कर्मवश भावी शरीरका ग्रहण करता है। जबतक मोक्ष नहीं होता, तबतक शरीरसे शरीरान्तरमें लगातार संचार करता रहता है, अतएव देहादिसे अतिरिक्त आत्मा है, यह सिद्ध होता है ॥ १४८ ॥

'तस्य वा एतस्य पुरुषस्य' इत्यादि श्रुति। चार्वाक परलोक नहीं मानता, कारण कि उसके मतमें प्रत्यक्ष ही प्रमाण है, उससे अतिरिक्त प्रमाण नहीं है। परलोकमें

प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं है, अतः जन्म-मरणसे इहलोक और परलोक जाता है, यह अर्थ ठीक नहीं है, किन्तु स्वप्न और जागरित ये दोनों प्रत्यक्षसिद्ध हैं, परलोक प्रमाणसे सिद्ध नहीं है, इससे स्वप्न और जागरित ही इहलोक और परलोक हैं। इस पुरुषके दो ही स्थान हैं, तीसरा और चौथा स्थान नहीं है।

शङ्का—कौन दो ?

समाधान—यह वर्तमान जन्म शरीरेन्द्रियविषयवेदनाविशिष्ट स्थान जो प्रत्यक्षसे अनुभूयमान है। परलोक स्थान जो शरीरादिवियोगके अनन्तर कालमें अनुभवसिद्ध है।

शङ्का—स्वप्न भी तो परलोक है, अतएव दो ही स्थान हैं, यह अवधारण कैसे ?

समाधान—वह सन्ध्य है। इहलोक और परलोककी जो सन्धि है, उसमें होनेवाला सन्ध्य है। वही तृतीय स्वप्नस्थान है। इससे दो ही स्थान हैं ऐसा अवधारण किया गया है। लोकमें दो ग्रामोंकी सन्धि (सीमा) उन ग्रामोंकी अपेक्षा तीसरा ग्राम नहीं कही जा सकती। उसी प्रकार दोनोंकी सन्धिमें वर्तमान लोक तृतीय लोकमें परिगणित नहीं होता।

शङ्का—परलोकस्थानका अस्तित्व कैसे जानते हो, जिसकी अपेक्षा स्वप्न स्थान सन्ध्य कहा जाय।

समाधान—प्रत्यक्षको आप ही प्रमाण मानते हैं। सन्ध्याख्य स्वप्नस्थानमें स्थित होकर पुरुष इन दोनों लोकोंको देखता है।

शङ्का—वे दोनों लोक कौन हैं ?

समाधान—यह लोक और परलोकस्थान। इससे स्वप्न-जागरितव्यतिरिक्त दोनों लोक हैं। धिया समान होकर दोनों लोकोंमें संचरण करता है जन्म-मरणपरम्परासे जो कि विमोक्षपर्यन्त जीवमें सदा बनी रहती है।

शङ्का—स्वप्नमें स्थित होकर दोनों लोकोंको कैसे देखता है ? अविद्या कर्मादि उपाय किसमें आश्रित रहता है और किस विधिसे रहता है ?

समाधान—कैसे देखता है, प्रथम इसको सुनिये, यथाक्रम—'आक्रामति ऊर्ध्वं गच्छति अनेनेति आक्रमः'—आश्रय अविद्या कर्मादि। जिसका जैसा आश्रय रहता है, वह यथाक्रम है। यह पुरुष परलोकस्थान ही प्राप्तव्य है, तन्निमित्त तद्योग्य आश्रयमें स्थित होकर परलोकप्राप्तिके योग्य विद्या, कर्म और पूर्वप्रज्ञालक्षण साधनसे युक्त होता

है। अर्थात् यथाक्रम परलोकस्थानके लिए ऊर्द्ध्वमुखअङ्कुरप्रादुर्भावयोग्य बीजके समान उस आक्रमका आलम्बन कर दोनोंको देखता है।

शङ्का—लोक तो दो कहे गये हैं। यहां 'उभयान् पश्यति'में बहुवचनका प्रयोग है, जो तीनके बिना नहीं बन सकता ?

समाधान—धर्म और अधर्मके फल अनेक हैं, अतः बहुवचनका प्रयोग किया गया है। 'उभयान् पश्यति' इसका 'उभयान् उभयप्रकारान् लोकान् पश्यति' यह अर्थ है।

शङ्का—वे कैसे लोक हैं ?

समाधान—पापफलानुकूल हैं, क्योंकि साक्षात् पापका दर्शन नहीं होता, धर्मादि अदृष्ट माना जाता है, धर्मका फल आनन्द है और पापका फल दुःख है। इन दोनों पुण्य और पापके सुख और दुःखोंको देखता है। जन्मान्तरदृष्ट वासनामय सुखदुःखादि हैं, जैसा भावी जन्म है, तदनुसार क्षुद्र धर्माधर्मफलोंको देखता है, जो अक्षुद्र धर्माधर्म फल हैं उनको मृत्युलोक स्वर्गलोकके शरीरसे भोगता है, जो क्षुद्र हैं, उनका फल वासनामय है अथवा उन्हें देवतानुग्रहसे देखता है।

शङ्का—यह कैसे जानते हैं कि भावी जन्मके अनुकूल ही पाप और पुण्यके फलोंका स्वप्नमें दर्शन होता है, ऐहिक वासनावश ऐहिक पाप और उस आनन्दका ही स्वप्नमें दर्शन होना सम्भव है, इसलिए स्वप्नदर्शन परलोकसाधक कैसे ?

समाधान—स्वप्नमें वर्तमानजन्माननुभूत इन्द्र आदि भावका भी अपूर्व भान होता है, अतः स्वप्नदर्शन परलोकमें प्रमाण है।

शङ्का—अननुभूत अतएव अपूर्वका ही स्वप्नमें दर्शन होता है ?

समाधान—पूर्व दृष्टका स्मरण ही स्वप्नदर्शन माना जाता है। प्रायः स्वप्न ऐसा ही होता है। 'अदृष्टमप्यर्थमदृष्टवैभवात्करोति सुप्तिर्जनदर्शनातिथिम्' इस श्लोकके अनुसार 'त्रिजटास्वप्नदर्शनवत्' 'श्वो मे भ्राता आगन्ता' इत्यादि दर्शनके समान कहीं अननुभूतका भी स्वप्न होता है, जो फलसंवादसे अविसंवादी देखा जाता है, अतः स्वप्नजागरित स्थानसे व्यतिरिक्त दो लोक हैं, यह निश्चित होता है। जो आदित्य आदि बाह्य ज्योतिकी असत्त्व-दशामें यह कार्यकरणसंघात पुरुष जिस व्यतिरिक्त आत्मज्योतिसे व्यवहार करता है, वह पूर्वमें कहा जा चुका है, वही आदित्य आदि ज्योतिका अभावविशिष्टस्थान ही नहीं कहा गया, जहांपर यह विविक्त

स्वयंज्योति उपलब्ध हो, जिससे सदा यह कार्यकरणसंघात संसृष्ट ही उपलब्ध होता है, अतः असत्के समान अथवा स्वकीय विविक्तज्योतिस्वरूपसे असत् ही आत्मा है। यदि कहीं स्वकीय ज्योतिस्वरूपसे विविक्त बाह्य आध्यात्मिक भूतभौतिकसंसर्गशून्य उपलब्ध हो तो जैसा कहा वैसा हो सकता है। इसी अर्थको कहते हैं—पूर्व प्रकृत आत्मा जिस कालमें सोता है, स्वापका अनुभव करता है, उसका उपादान क्या है, किस विधिसे सोता है? सन्ध्य तृतीय स्थानमें प्राप्त होता है, ऐसा कहते हैं। यह दृष्ट लोक जो जागरित लक्षण है, सर्वरक्षाविशिष्ट यह लोक कार्यकरणसंघात विषयवेदना-संयुक्त है। इसके सर्वावत्त्व सर्वरक्षावत्त्वका व्याख्यान अन्नत्रय प्रकरणमें कर चुके हैं—'अथोऽयं वा' इत्यादि ग्रन्थसे। सब भूतभौतिकमात्रा इसके संसर्गकी कारणभूत हैं, अतः सर्ववान् ही सर्वावान् उस सर्वावान्की मात्रा (एकदेश) यानी अवयवका अव-च्छेद कर (ग्रहण कर) दृष्टजन्मवासनावासित होकर अपनेसे ही देहका पातनकर ज्ञानशून्य होकर सोता है, जागरितमें आदित्य आदि ज्योतिसे चक्षु आदिका अनुग्रह देहव्यवहारके लिए होता है। आत्मामें देहका व्यवहार धर्माधर्मफलोपभोगके लिए है। धर्म और धर्मके फलोपभोगका विराम इस देहमें आत्मकर्मोपरमनिमित्त होता है, इस प्रकार आत्मा देहका विहन्ता कहा जाता है। आत्माके सुकृत-दुष्कृतोंसे धर्माधर्मके फल सुख-दुःखादिका उपभोग होता है। भोगके लिए ही शरीर आदिका ग्रहण होता है, कारणकी निवृत्तिसे देहकी निवृत्ति होती है। अपने द्वारा विहित कर्मके सत्त्व और असत्त्व द्वारा आत्मा देहका उत्पादक और नाशक होता है। स्वप्न-दशामें वासनामय देहका स्वयं निर्माण कर उसके द्वारा स्वाप्निक सुख आदिका अनुभव करता है। स्वाप्निक शरीर मायामयके समान अतर्कित सामग्रीसे उत्पन्न अचिरस्थायी है, यह शरीर भी आत्मकर्मनिमित्त है, अतः स्वयंकर्तृक है। आत्मीय दीप्तिसे (प्रकाशसे) यानी सर्ववासनात्मकअन्तःकरणवृत्तिप्रकाशसे, उप-लक्षणमें यह तृतीया है, करणमें नहीं। यह अन्तःकरणदीप्ति प्रकाशविषयीभूता सर्ववासनामयी प्रकाशित होती है। तद्विषयक विविक्तरूपसे अलुप्तदृक्स्वरूपसे वासनात्मक अन्तःकरणवृत्तिको विषय करता हुआ आत्मा प्रसुप्त होता है, इस प्रकारकी वृत्तिको प्रस्वाप कहते हैं, इस अवस्थामें इस कालमें यह पुरुष आत्मा स्वयं विविक्तज्योति होता है।

शङ्का—इस लोकमें मात्रोपादान किंकृत है और कैसे है? अन्तःकरण रहनेपर आत्मा स्वयंप्रकाश होता है।

लोकायतः परं लोकं नेच्छत्यन्ये तु मन्वते ।
त्रीन्लोकान्स्वप्नसंयुक्तान् ततस्तस्येति वक्त्यसौ ॥ १४९ ॥

समाधान—अन्तःकरण विषयभूत प्रकाश्य है, उसीसे यहांपर वह पुरुष स्वयंज्योति है, यह दिखला सकते हैं अन्यथा नहीं। यदि विषय ही नहीं रहेगा, तो किसीका प्रकाश होगा नहीं, फिर पुरुष स्वयंज्योति है यह नहीं दिखला सकते। जैसे सुषुप्तिदशामें यह नहीं कह सकते कि पुरुष स्वयंज्योति है, क्योंकि उस समय कोई ज्योतिकार्य नहीं होता। स्वप्नदशामें स्वाप्निक विषयोंका भान होता है। किससे होता है, इस जिज्ञासासे विचार करनेपर अन्तःकरण स्वयं जड़ है, वह आत्मस्वरूपका भी साक्षात् भासक नहीं हो सकता, अन्य विषयके भानकी उसके द्वारा आशा दूर ही है, अतः उसकी भासक आत्मज्योतिको स्वयंप्रकाश मानना आवश्यक है। जिस समय वासनात्मक विषयभूत वह उपलब्ध होती है, उस समय म्यानसे निकली तलवारके समान सर्वससंर्गरहित चक्षुरादिकार्यकरणव्यावृत्तस्वरूप अलुप्तदृगात्मज्योति अपने रूपसे भान कराती हुई गृहीत होती है, इससे पुरुष स्वयंज्योति है, यह सिद्ध होता है॥

'**लोकायतः**' इत्यादि। चार्वाकका कथन है कि जैसे स्वप्न और जागरित लोक प्रत्यक्ष प्रमाणसे सिद्ध हैं, वैसे इहलोक और परलोक उक्त प्रमाणसे सिद्ध नहीं हैं। इस लोककी सत्ता प्रत्यक्षसिद्ध है, अतः उसके अस्तित्वमें शङ्का नहीं, परलोकके अस्तित्वमें शङ्का है, क्योंकि परलोक प्रत्यक्ष प्रमाणसे सिद्ध नहीं है।

शङ्का—'स्वर्गकामो यजेत' इत्यादि आगमप्रमाणसे वह भी सिद्ध ही है, फिर उसके अस्तित्वमें भी शङ्का नहीं।

समाधान—चार्वाक आगमको प्रमाण नहीं मानता, उसका यह भी कहना है कि जैसे प्रत्यगात्मा स्वानुभवरूप प्रत्यक्ष प्रमाणसे सिद्ध है और जैसे स्वप्न-जागरित सिद्ध हैं, वैसे ही इहलोक और परलोकमें भी प्रत्यक्ष प्रमाण होना चाहिए। इहलोकमें तो है, पर परलोकमें प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं है, अतः परलोक नहीं है, ऐसी आशङ्का कर प्रत्यक्ष प्रमाणसे परलोकका समर्थन करनेके लिए उत्तर ग्रन्थका आरम्भ है॥ १४९॥

अयोगं परलोकस्य वारयत्येवकारतः ।
सन्ध्यत्वेन तृतीयत्वं स्वप्नलोकस्य वार्यते ॥ १५० ॥
भोगभावात्तृतीयत्वमुच्यते चेत्तथोच्यताम् ।
वस्तुतो न तृतीयत्वं धर्माधर्मप्रसङ्गतः ॥ १५१ ॥
देशयोरुभयोः सन्धिर्नहि देशान्तरं यथा ।
लोकयोरुभयोः सन्धिस्तथा लोकान्तरं नहि ॥ १५२ ॥

'अयोगम्' इत्यादि । 'द्वे एव स्थाने' यहां एवकारसे परलोककी व्यावृत्ति होती है । स्वप्न और जागरित दो ही लोक हैं, परलोक नहीं है, क्योंकि इसमें प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं है । स्वप्न सन्ध्य है, इससे तृतीय लोककी व्यावृत्ति होती है, वह अग्रिम श्लोकसे स्फुट होगा ॥ १५० ॥

'भोगभावात्' इत्यादि । पूर्व श्लोकमें कहा गया है कि प्रत्यक्ष जन्म और भावी जन्म ये ही दो आत्माके लोक हैं । जिसमें पूर्वकृत कर्मका भोग आत्माको होता है, ऐहिक भोग इस देहमें और पारलौकिक भोग भावी देहमें होता है, अतः वर्तमान देह और भावी देह ये दो ही आत्माके लोक हैं; अतएव अवधारणके लिए एवकार है।

शङ्का—दो देहोंसे अतिरिक्त स्वाप्निक देह भी है; अतः अवधारणार्थक एवकार असङ्गत है ।

समाधान—भोग होनेसे तृतीय कहते हैं, तो कहिये, वस्तुतः तीसरा लोक है नहीं, अन्यथा स्वाप्निक कर्मोंसे भी धर्माधर्मका प्रसङ्ग हो जायगा, स्वप्न-स्थानमें लोकत्व औपचारिक है, अथवा स्वाभाविक ? प्रथम पक्ष इष्ट है, क्योंकि स्वप्नावस्थामें भी सुख-दुःखानुभव अनुभवसिद्ध है; द्वितीय पक्ष ठीक नहीं है, क्योंकि स्वप्नकृत यागसे स्वर्ग आदिकी प्राप्ति तथा स्वाप्निक ब्रह्महत्या आदिसे नरक आदिकी प्राप्ति नहीं होती, अतः उसमें मुख्य लोकत्व इष्ट नहीं है ।

शङ्का—आत्मामें देह आदिका सम्बन्ध क्यों है ?

समाधान—धर्माधर्मनिमित्तक आध्यासिक देहात्मसम्बन्ध है, शरीर धर्म और अधर्मका कार्य है, उस शरीरमें अविद्यासे आत्माका अभिमान होता है ॥१५१॥

'देशयो०' इत्यादि। दोनों देशोंकी सन्धि यानी सीमा जैसे देशान्तर नहीं है, किन्तु जिनकी सन्धि है, उसीमें अन्तर्भूत सीमा होती है, पृथक् देशान्तर नहीं है, वैसे ही इहलोक और परलोककी सन्धि (स्वप्न) उक्त लोकद्वयमें अन्तर्भूत होती है, इनसे अतिरिक्त लोक नहीं है ॥ १५२ ॥

इमं लोकमिव स्वप्ने परलोकं स पश्यति ।
अतः प्रत्यक्षतोऽस्तित्वं परलोकस्य गम्यताम् ॥ १५३ ॥
अतीतजन्मवृत्तान्तं बाल्ये प्रायेण पश्यति ।
ऐहिकं यौवनेऽन्ते तु तपस्वी भावि वीक्षते ॥ १५४ ॥

श्रुतिः—अथ यथाक्रमोऽयं परलोकस्थाने भवति तमाक्रममाक्रम्योभयान् पाप्मन आनन्दांश्च पश्यति ।

'इमं लोक०' इत्यादि ।

शङ्का—स्वप्न प्रत्यक्ष परलोकका साधक कैसे ?

समाधान—सुप्त पुरुष इस लोकके समान कभी परलोक भी देखता है । भाव यह है कि शरीरेन्द्रियसंघातकी तीन अवस्थाएँ होती हैं । बाल्य, यौवन और वार्द्धक्य । उनमें बाल्यावस्थामें परलोकविषयक स्वप्न होता है । बालक स्वप्नमें कभी हँस देता है, कभी चिहुँककर रोने लगता है, यह सुख और दुःखका स्मरण तद्विषयक अनुभवके बिना नहीं होता । वर्तमान जन्ममें तदनुभव नहीं है, अतः यह उचित ही कल्पना होती है कि परलोकमें जो दुःख और सुखके हेतुका अनुभव हुआ था, तदाहितवासनाके प्रबोधसे वर्तमान सुख-दुःखप्रकाशक चेष्टाएँ होती हैं, अतः पारलौकिक स्वप्न बालकको होता है ।

शङ्का—बालकका ही स्वप्न पारलौकिकविषयक है । युवाका भी स्वप्न तद्विषयक क्यों नहीं कहते हैं ?

समाधान—युवावस्थामें स्थूलार्थग्रहणसामर्थ्यवश प्रायः ऐहिकविषयक ही स्वप्न होता है । अदृष्टवश किसी समय इहाननुभूतविषयक (जिसका कभी इस जन्ममें अनुभव हुआ नहीं है, उसका) भी स्वप्न होता है, जैसे कि त्रिजटाको लङ्कादाह आदि भाविविषयक स्मरण हुआ था ॥ १५३ ॥

'अतीत०' इत्यादि । जीव बाल्यावस्थामें प्रायः अतीत जन्मका ही वृतान्त देखता है । यौवनावस्थामें ऐहिक विषयोंका स्वप्न देखता है । वृद्धावस्थामें भावी परलोकविषयक स्वप्न देखता है ।

शङ्का—अच्छा, आप स्वप्नप्रत्यक्षको परलोकमें भले ही प्रमाण मानिये, पर स्वप्न सन्ध्य कैसे है ? प्रत्यक्षसे वर्तमान देहका ग्रहण होता है । तदपेक्षया भूत या भावी कौन देह ग्राह्य है, जिससे वह सन्ध्य हो, भूतजन्म अतिक्रान्त होनेसे

आक्रम्य यादृग्देहादि भाविजन्मनि वीक्षते ।
स्वप्नेऽपि तादृगाक्रम्य सुखदुःखानि पश्यति ॥ १५५ ॥

श्रुतिः—स यत्र प्रस्वपित्यस्य लोकस्य सर्वावतो मात्रामुपादाय स्वयं विहत्य स्वयं निर्माय ।

बहुजन्मसु सञ्चाराद्देहादिव्यतिरिक्तताम् ।
निरूप्याऽथ स्वप्रभत्वं स यत्रेति निरूप्यते ॥ १५६ ॥

अविवक्षित है । परलोक और इहलोक इन्हीं दोनोंके मध्यमें स्वप्न है, अतः सन्ध्य कहलाता है ॥ १५४ ॥

'आक्रम्य' इत्यादि । स्वप्नस्थानका आश्रयण कर आत्मा परलोक देखता है ।

शङ्का—किस विधिसे किसका आश्रयण कर देखता है ?

समाधान—यही यहां कहते हैं, अच्छी तरह समझिये । जिससे आक्रमण करता है, वही आक्रम कहा जाता है, विद्या, कर्म आदि आक्रम है । आक्रममनतिक्रम्य यथाक्रमम्, जैसा जिसका उत्कृष्टापकृष्ट विद्या, कर्म आदि है, तदनुकूल लोकप्राप्ति होती है; जिस पुरुषका इस जन्ममें परलोकके लिए जैसा ज्ञान आदि साधन अर्जित हुआ है, वह तादृश आक्रम है । यथाक्रमका फलितार्थ है—यथोपाय यानी विद्या, कर्म आदिलक्षण उपायके अनुसार परलोकगमनोन्मुख पुरुष स्वकीय विद्या, कर्म आदिलक्षण आक्रमका आश्रयण कर सन्ध्य स्थानका निर्माण कर धर्म और अधर्मके विपाक पाप और आनन्दको देखता है । पाप (दुःख) अधर्मकार्य है और आनन्द धर्मकार्य है, इन दोनोंको देखता है । इस जन्ममें जो असंभाव्य है, उसको भी स्वप्नमें देखता है, अतः स्वप्नका विचार करते हैं ॥१५५॥

'स यत्र' इत्यादि श्रुति । श्रुत्यर्थ श्लोकोंके व्याख्यानसे स्पष्ट होगा ।

'बहुजन्मसु' इत्यादि । अनेक जन्मसंचारसे देहादिव्यतिरिक्त आत्मज्योति है, इसका निरूपण कर जिस अवस्थामें आत्मा स्वयंप्रभ सुखसे ज्ञात होता है, 'स यत्र' इत्यादि वाक्यसे उसका निरूपण करते हैं और यह भी सम्बन्ध है कि 'आत्मैवास्य ज्योतिः' इत्यादिसे व्यवहारलिङ्गक अनुमानसे स्वप्रकाश चिदात्मा पूर्वमें कहा गया है । अब अपरोक्ष अनुभवसे आत्मसिद्धि कही जाती है । बाह्यज्योतिसे अस्पृष्ट स्वयमेव ज्योति जैसे होती है, वैसे साक्षादनुभवयोग्य स्वप्नदृष्टान्तसे कहते हैं । सर्वदा स्वप्रकाश आत्माके निर्णयके लिए उत्तर वाक्य है ॥ १५६ ॥

स यदा वासनामस्य जाग्रल्लोकस्य सर्वशः ।
आदाय शेते विज्ञेया तस्य स्वप्रभता तदा ॥ १५७ ॥
स यत्र प्रस्वपित्यत्र स्वयञ्ज्योतिः पुमानिति ।
योऽयमस्येत्यादिना तु स्वापशब्दार्थ उच्यते ॥ १५८ ॥
न सुषुप्तिरिह स्वापः किन्तु स्वप्नो विवक्षितः ।
स जाग्रद्वासनाजन्यप्रपञ्चप्रतिभात्मकः ॥ १५९ ॥
जाग्रल्लोकस्तु सर्वावानशेषमवतीत्यतः ।
अवितृत्वं च सप्तान्नब्राह्मणात्प्राक् प्रपञ्चितम् ॥ १६० ॥

'स यदा' इत्यादि । वह पुरुष जागरित लोककी वासनाको लेकर जब शयन करता है, उस समय स्वप्रकाशता स्फुट ज्ञात होती है । जिस अवस्थामें 'स्वपिति' यह कहा जाता है, उस समय पुरुष अपने स्वरूपमें लीन हो जाता है । स्वयं अपीत यह स्वपितिका निर्वचन श्रुतिने किया है, लय प्रकृतमें उपाधियोंका है । चिदात्मा अनौपाधिक स्वस्वरूपापन्न होकर घटादिके समान लीन नहीं होता, यह अर्थ स्वप्नशब्दका सुषुप्ति अर्थ मानकर कहा गया है । यदि स्वप्नशब्दका प्रकृत अर्थ होता, तो जागरितफलप्रद कर्मोंके उपरत होनेपर और स्वप्नफलप्रद कर्मोंके विपाकोन्मुख होनेपर आत्मा बाह्य देहाभिमानका त्याग कर अर्थात् तदभिमानशून्य होकर अतएव स्वप्रधान होकर स्वाप्निक मायाको देखता । पूर्वकृत कर्मोंके फलप्रदानके लिए गृहीत जो जन्म है, वही आत्माका लोक है ॥१५७॥

स्वयंज्योति पुरुष जिस अवस्थामें सुप्त होता है, वहांपर स्वापशब्दका अर्थ कहते हैं—**'स यत्र'** इत्यादिसे ।

स्वप्न और सुषुप्त दोनोंमें स्वापशब्दका तात्पर्यभेदसे प्रयोग पाया जाता है, अतः प्रकृत स्वप्नका क्या अर्थ है, इस संशयकी निवृत्तिके लिए स्वापशब्दका अर्थ कहना आवश्यक है ॥ १५८ ॥

'न सुषुप्ति०' इत्यादि । यहां स्वापसे सुषुप्ति विवक्षित नहीं है; किन्तु स्वप्न विवक्षित है, वह स्वप्न जाग्रद्वासनाजन्यप्रपञ्चप्रतिभात्मक है । जाग्रत्कालमें जो प्रपञ्चका अनुभव होता है, तज्जन्यवासनासे स्वप्न होता है । स्वप्न प्रातिभासिक है । प्रतिभामात्रशरीर स्वप्न है ॥ १५९ ॥

'जाग्रल्लोक०' इत्यादि । जाग्रत् लोक सर्वावान् यानी 'सर्वमशेषमवति इति सर्वावान्' सबकी रक्षा करता है, अतः सर्वावान् कहा जाता है ।

यद्वाऽध्यात्मादिभेदोऽयं सर्वोऽत्राऽस्तीति सर्ववान् ।
तस्य सर्वावतोऽशेषवासना स्वप्नसृष्टिकृत् ॥ १६१ ॥
आदाय वासनां स्थूले देहे हित्वाऽभिमन्तृताम् ।
सूक्ष्मेऽभिमानं निर्माय पश्यन्देवोऽवतिष्ठते ॥ १६२ ॥
हननं च विनिर्माणं जीवकर्मवशादिति ।
विवक्षुः स्वयमित्याह दैवं कर्मानुसारतः ॥ १६३ ॥

श्रुतिः—स्वेन भासा स्वेन ज्योतिषा प्रस्वपित्यत्रायं पुरुषः स्वयञ्ज्योतिर्भवति ॥ ९ ॥

शङ्का—सबकी रक्षा कैसे करता है ?

समाधान—बुद्धिसे लेकर देहान्त सङ्घात यागादि द्वारा सब देवता आदिकी रक्षा करता है, इससे यह लोक सर्वावान् है ।

शङ्का—जुहोति द्वारा वह सम्पूर्ण जगत्का रक्षक कैसे है ?

समाधान—एकैक सङ्घातका व्यापार सब जगत्का उपादान कारण है, जीवके अदृष्टसे ही जगत्की उत्पत्ति होती है और भोगजनक अदृष्टकी समाप्ति होनेपर प्रलय होता है, तथा जगत्की स्थिति भी अदृष्टवश ही होती है, इस कारण अदृष्ट द्वारा सब जगत्का रक्षक सङ्घात है; यह सब सप्तान्नब्राह्मणसे पहले मधुब्राह्मणमें निरूपित हो चुका है, अतः यहाँ विशेष निरूपण नहीं किया गया है ॥ १६० ॥

'सर्वावत्' इसका अर्थान्तर कहते हैं—'यद्वा०' इत्यादिसे ।

अध्यात्म आदि भेदसे भिन्न यह सब आत्मामें है, अतः सर्वावान् सङ्घात है । सर्वावान् यह देह वासनारूप मात्राको लेकर स्वाप्निक भोगके लिए स्वाप्निक माया करता है । स्वप्नावस्थामें कर्मोत्थापित वासना ही स्वप्नसृष्टि करती है ॥ १६१ ॥

'आदाय' इत्यादि । स्थूल देहमें अभिमानका त्याग कर जाग्रत्कालिकानुभवजनित वासना लेकर सूक्ष्म देहमें अभिमान कर स्वप्न देखता हुआ यह आत्मा उपस्थित होता है ॥ १६२ ॥

'हननं च' इत्यादि । हननमें स्वयं विशेषण देवताप्रतिषेधके लिए है, देवता जाग्रद्देहका विहनन नहीं करते, किन्तु आत्मा स्वयं करता है । देवताकी व्यावृत्तिके लिए स्वयं विशेषण है । सुषुप्तमें जाग्रद्धेतु कर्मोंका ध्वंस होनेपर स्वात्मापसर्पणसे शरीरको बोधशून्य करता है, इसीसे विहत्य कहा है ।

स्वेन भासेति शब्दाभ्यां स्वकीया वासनोच्यते।
स्वरूपभूता चित्स्वेन ज्योतिषेति विवक्षिता ॥ १६४ ॥

शङ्का—कर्मक्षयप्रयुक्त देहापसर्पणसे विहतिकर्तृत्व कैसे ?

समाधान—आत्माके करणोंमें देवताओंके अनुग्रहसे देहकी चेष्टाके लिए रूप आदिका बोध होता है, अतएव जागरितमें देहकी चेष्टा होती है।

शङ्का—देहव्यवहार किसलिए और किससे होता है ?

समाधान—धर्म और अधर्म आदिके फलके भोगान्तमें देहका पतन होता है। जैसे 'स्वयं विहत्य' यहाँ देवताव्यावृत्तिके लिए स्वयं विशेषण है, वैसे विनिर्माणमें भी देवताकी व्यावृत्तिके लिए स्वयं विशेषण है। यतः आत्मकर्मापेक्षासे स्वप्न होता है, अतः आत्मामें स्वयं निर्माणकर्तृत्व है। समस्त देवता और करणोंकी उपेक्षा कर क्रियाकारकसिद्धिके लिए भावनाको ही कारण कहा गया है।

शङ्का—अच्छा, तो क्रियाकारकभावकी सिद्धिके लिए भावनाको मानिये, परन्तु सब स्वप्नोंका वही कारण है, यह क्यों ?

समाधान—जो निर्मातव्य तथा जो भोक्तव्य लोक है, उस रूपसे भावना व्यवस्थित होती है।

शङ्का—आत्मा कूटस्थ है, 'विहत्य, निर्माय' इत्यादिमें वह कर्ता कैसे ?

समाधान—त्यक्तकारक भी कर्मोत्थापितभावन आत्माभावनाकारक ईक्षिता होनेसे कारकके सदृश कहा जाता है। अतएव कर्मानुसारी दैव कहा गया है, जैसा कर्मानुसारी दैव होता है, तदनुकूल सुख-दुःखका अनुभवयोग्य स्वप्न होता है, अतएव दुःस्वप्नकी निवृत्तिके लिए शुभ कर्मोंके अनुष्ठान शास्त्रोंमें विहित हैं ॥ १६३ ॥

'स्वेन भासा' इत्यादि श्रुति। श्रुत्यर्थ नीचेके श्लोकार्थसे गतार्थ है ॥ ९ ॥

'स्वेन' इत्यादि।

शङ्का—'स्वेन' ऐसा विशेषण क्यों ?

समाधान—आत्मचैतन्याभिव्यक्तिकी हेतुभूत स्वप्नावस्थागत भा, जो बुद्ध्यादि द्वारा प्रवृत्त होती है, उसकी प्रस्तुत कूटस्थबोधरूप ज्योतिसे व्यावृत्ति करनेके लिए 'स्वेन' यह विशेषण है। भावनामयी स्वप्नस्थ जो भा है, वह आत्मज्योतिकी अभिव्यक्ति करती है, उसके साक्षीरूपसे स्वयंज्योतिष्ट्वकी सिद्धि होती है। स्वप्नमें दो भा हैं—एक अन्तःकरणका दूसरा आत्माका। विषयोंका

इत्थम्भावे तृतीया स्याद्वासनाज्योतिषोस्ततः ।
भास्यभासकरूपेण स्थितिः स्वप्न इतीर्यते ॥ १६५ ॥

भान जागरावस्थामें जैसे अन्तःकरण द्वारा होता है, वैसे ही स्वप्नावस्थामें स्वाप्निक विषयोंका भान भी अन्तःकरण द्वारा ही होता है, जड़ केवल अन्तःकरण चैतन्य-प्रतिबिम्बके बिना भासक नहीं हो सकता, 'स्वेन' यह विशेषण देनेपर अन्तःकरणकी दीप्तिकी व्यावृत्ति होती है । वह अन्तःकरणकी है, स्वकीय नहीं है। अभिव्यञ्जक अन्तःकरणवृत्तिके बिना आत्मज्योतिकी अभिव्यक्ति संसारदशामें नहीं होती, केवल निर्विकल्प समाधिमें ही होती है, अतः सुषुप्तिदशामें अन्तः-करणवृत्तिके अभावसे आत्मज्योतिकी अभिव्यक्ति नहीं होती ।

शङ्का—स्वशब्द आत्मा और आत्मीय दोनोंका वाचक है, अन्तःकरणवृत्ति आत्मीय है, अतः उसकी व्यावृत्ति कैसे ?

समाधान—भावना परार्थ है, आत्मज्योति स्वार्थ है; अतः प्रधान और प्रथमोपस्थित आत्मस्वरूप ज्योतिका ही ग्रहण है; निष्क्रिय अकारक अफल जो आत्मा है, वही स्वयंज्योतिशब्दसे कहा जाता है । आत्मीयवाची स्वशब्दसे स्वकीया वासना यह अर्थ होता है और आत्मवाची स्वशब्दसे चित्स्वरूपा ज्योति यह विवक्षित है; यहांपर दोनों स्वशब्दार्थोंका उक्त रीतिसे सम्बन्ध करना चाहिये, यह निर्गलित अर्थ है ॥ १६४ ॥

'इत्थम्भावे' इत्यादि । 'ज्योतिषा' यह तृतीया इत्थंभावमें है, अतः वासना और ज्योतिकी भास्यभासकरूपसे स्वप्नमें स्थिति कही जाती है ।

शङ्का—कूटस्थ प्रकाशैकरस आत्मामें स्वपितिका व्यपदेश कैसे ?

समाधान—बुद्धिस्थ वासनाके साक्षीरूपसे आत्माका जो अवस्थान है, वही 'प्रस्वपिति' इस श्रुतिसे कहा जाता है, ज्ञानका लोप नहीं होता, वासनाके साक्षी-रूपसे आत्माकी जो वृत्ति है, वह वर्तमान स्वाप है; अतः 'स्वेन ज्योतिषा' यह तृतीया इत्थंभावमें है, जैसे 'जटाभिस्तापसः' यहां इत्थंभूतमें तृतीया मानी जाती है, 'जटा-ज्ञाप्यतापसत्वविशिष्ट' यह अर्थ होता है, वैसे ही कूटस्थ प्रत्यक् ज्योति वासनाराशि-साक्षीरूपसे रहती है, यह अर्थ होता है । जैसे अतिशुद्ध प्रोज्ज्वल मण्यादिशिखा घटादिके सन्निधानमें उसकी प्रकाशक है; परन्तु प्रकाशकत्वव्यपदेश होनेपर भी घटाद्य-सन्निधानदशामें जैसे विक्रियाशून्य है, वैसे उसके सन्निधानमें भी विक्रियाशून्य है,

अत्राऽन्यज्योतिषोऽभावात्स्वयञ्ज्योतिः पुमान्भवेत् ।
न ज्योतिष्टं वासनाया भास्यत्वेन परिक्षयात् ॥ १६६ ॥
आत्मबुद्धिमनश्चक्षुरालोकविषयैर्युते ।
न जागरे स्वयंज्योतिर्विवेक्तुं शक्यते नृभिः ॥ १६७ ॥
न सुषुप्तेऽपि तच्छक्यं भास्याभिव्यक्त्यभावतः ।
स्वप्ने तु भास्यमस्त्येकं ततो ज्योतिर्विविच्यते ॥ १६८ ॥

उक्त मणिको प्रकाशक माननेपर उक्त शिखामें कोई क्रिया नहीं होती, असंनिधान समयके समान ही अविक्रिय रहती है, वैसे ही साक्षी आत्मज्योति भी प्रकाशक होनेपर अविक्रिय ही रहती है ॥ १६५ ॥

'अत्रान्य०' इत्यादि । स्वप्नावस्थामें अन्यज्योति नहीं है, आत्मा स्वयंज्योति होता है ।

शङ्का—स्वप्नमें ज्योतिरन्तराभाव नहीं है, मनोज्योति उस अवस्थामें है, अन्यथा स्वप्नसुषुप्तिमें भेद ही दुर्वच हो जायगा, स्वप्नमें मन रहता है, सुषुप्तिमें नहीं, यही दोनोंमें भेद है ।

समाधान—मन जड़ होनेसे भास्य है, भास्यत्वरूपसे उपक्षीण होनेसे भासक नहीं हो सकता एवं वासना भी भास्य है, भासक नहीं है आत्मसंबन्धसे दीपसम्बन्धसे सीसेके समान भासक है स्वतः नहीं और यह भी कारण है कि मनका कारण तमोविशिष्ट आत्मा है, कार्य कारणमें ही रहता है, स्वतन्त्र नहीं रहता, अतः उस दशामें भी मनकी स्वतन्त्र स्थिति नहीं हो सकती, आत्मा ही मनका साधक है । मन आत्माका साधक नहीं है ॥ १६६ ॥

'आत्मबुद्धि०' इत्यादि। आत्मा, बुद्धि, मन, चक्षु, आलोक और विषयोंसे युक्त जागरमें स्वयंज्योति आत्माका विवेक मनुष्य नहीं कर सकता है, अतः स्वप्नावस्थाका उदाहरण दिया गया है ॥१६७॥

'न सुषुप्तेऽपि' इत्यादि । सुषुप्तिमें स्वयंज्योतिका विवेक कोई नहीं कर सकता ।

शङ्का—क्यों ?

समाधान—भास्याभिव्यक्त्यभावतः—भास्यके रहनेपर भासककी अभिव्यक्ति होती है, उक्त अवस्थामें भास्य नहीं है, अतः भासक आत्मज्योतिकी अभि-

श्रुतिः—न तत्र रथा न रथयोगा न पन्थानो भवन्त्यथ रथान्रथयोगान्पथः सृजते न तत्रानन्दान्मुदः प्रमुदो भवन्त्यथामन्दान्मुदः प्रमुदः सृजते न तत्र वेशान्ताः पुष्करिण्यः स्रवन्त्यो भवन्त्यथ वेशान्तान्पुष्करिणीः स्रवन्तीः सृजते स हि कर्त्ता ॥ १० ॥

व्यक्ति नहीं होती है, स्वप्नमें भास्य एक है, अतः उक्त अवस्थामें ज्योतिका विवेक होता है।

शङ्का—जाग्रद्वासनावश ही आत्मसिद्धि हो सकती है, अतः स्वयंज्योतिष्ट्वकी सिद्धि नहीं है।

समाधान—जाग्रद्वासना स्वप्रकाशत्वकी बाधक नहीं, प्रत्युत तत्साधक है ॥ १६८ ॥

'न तत्र रथा' इत्यादि श्रुति।

शङ्का—पुरुष स्वयंज्योति कैसे है? जागरित दशामें ग्राह्यग्राहकादि-लक्षण सब व्यवहार देखते हैं। चक्षु आदिके अनुग्राहक आदित्य आदि लोक वैसे ही देखे जाते हैं, जैसे जागरित अवस्थामें देखे जाते हैं, तो कैसे विशेषाव-धारण करते हैं कि इस अवस्थामें यह पुरुष स्वयंज्योति है?

समाधान—स्वप्नदर्शनमें वैलक्षण्य है। जागरितदशामें इन्द्रियाँ, मन, आलोक आदि व्यापारसे आत्मज्योति संकीर्ण रहती है। इस स्वप्नमें इन्द्रियाभाव तथा तदनुग्राहक आदित्य आदिका भी अभाव होनेसे केवल आत्मा विविक्त होता है, अतः वैलक्षण्य है।

शङ्का—स्वप्नमें भी वैसे ही विषय उपलब्ध होते हैं, जैसे कि जागरित अवस्थामें, तब इन्द्रियाभावसे वैलक्षण्य कैसे कहते हैं?

समाधान—सुनो, 'न रथा' इत्यादि। स्वप्नमें न रथ हैं अर्थात् ग्राह्य विषय नहीं हैं, न रथयोग हैं, रथमें जो संयुक्त किये जाते हैं, वे अश्व आदि रथयोग कहे जाते हैं, और न पन्था यानी रथगमनमार्ग ही है। पर रथ, रथयोग और मार्ग स्वप्न बनाता है।

शङ्का—रथके निर्माणोपयोगी काष्ठादिके न होनेपर स्वयं रथ कैसे बनाता है?

समाधान—यह तो पूर्वमें कहा ही है, सर्वावत् इस लोककी मात्रासे लेकर स्वयं जाग्रत लोकका विनाशकर स्वप्न-लोकका स्वयं निर्माण करता है इत्यादि।

स्वप्नजागरवद् द्रष्टा मातृमानादयस्ततः ।
दुर्विवेचत्वमाशङ्क्य न तत्रेति निषिध्यते ॥ १६९ ॥

अर्थात् अन्तःकरणवृत्ति जाग्रत् लोककी मात्रा वासनाको लेकर रथादिवासनारूप अन्तःकरणवृत्ति तदुपलब्धिनिमित्तक कर्मसे प्रेरित रथादिदृश्यत्वरूपसे व्यवस्थित होते हैं, इसी तात्पर्यसे 'स्वयं निर्माय' कहा जाता है, यही श्रुति कहती है कि रथादिकी सृष्टि करता है, न करण है, न करणानुग्राहक आदित्य आदि ज्योति है और न तदवभास्य रथादि विषय ही हैं, केवल तद्वासनामात्र तदुपलब्धिनिमित्तप्रेरितोद्‌धृतान्तःकरणवृत्तिका आश्रय देखा जाता है; जिस ज्योतिसे ये सब दृश्य हैं वह अलुप्तदृक् आत्मज्योति है जैसे म्यानसे निष्कृष्ट तलवार विविक्त देखी जाती है, वैसे ही दृश्य बुद्धि आदिसे विविक्त आत्मज्योति है। उस अवस्थामें न आनन्द ही है और न हर्ष ही है (हर्षविशेष मुद है, मुद ही प्रकर्षोपेत प्रमुद है) तो भी आनन्दादिकी सृष्टि करता है, तथा वहां वेशान्त (छोटे तालाब), पुष्करिण्यः (तडाग), नदी भी नहीं हैं, तो भी वे शान्तादिकी सृष्टि करता है। ये सब वासनामात्रस्वरूप होते हैं, क्योंकि वह कर्ता है, उसकी वासनाश्रय-चित्तवृत्त्युद्भवनिमित्त कर्म कारणरूपसे कहा गया है। आत्मामें कर्तृत्व साक्षात् नहीं है।

शङ्का—क्यों ?

समाधान—साधनाभावसे क्रिया नहीं हो सकती, कारकके बिना क्रियाका संभव नहीं है और हस्त, पाद आदि क्रिया कारण हैं नहीं। जहां जागरितावस्थामें हस्त, पाद आदि हैं, वहांपर आत्मज्योतिसे अवभासी कार्यकरणोंसे रथादिवासनाश्रयान्तःकरणवृत्त्युद्भवनिमित्त कर्म किया जाता है, इससे कहा जाता है कि वही कर्ता है, यही श्रुतिने भी कहा है, आत्मा ज्योतिसे ही उपवेशन करता है। वहांपर भी परमार्थतः स्वतः कर्तृत्व नहीं है, क्योंकि वह कूटस्थ होनेसे क्रिया करता है। केवल तदवभासकत्वरूपसे कर्तृत्वव्यवहार होता है। अन्तःकरण द्वारा कार्य-करणोंका भान आत्मज्योतिसे होता है, उसके द्वारा तदवभासित कार्य-करण कर्ममें व्यापृत होते हैं, वहांपर कर्तृत्व आत्मज्योतिमें औपचारिक है। जो कहा था 'ध्यायतीव लेलायतीव' उसीका अनुवाद है। 'स हि कर्ता' इत्यादि हेत्वर्थ है।

'स्वप्नजागर०' इत्यादि।

रथाश्वादीनि वस्तूनि जाग्रत्कर्मक्षये सति।
लीयन्ते वासनास्तेषां तिष्ठन्ति स्वप्नसिद्धये ॥ १७० ॥

शङ्का—स्वप्नावस्थामें भी स्वयंज्योतिष्ट्वका दुर्विवेक है, कारण कि जागरावस्थामें मातृ, मेय आदि निखिल प्रपञ्च अनुभवसिद्ध है।

समाधान—ठीक है, इसका निराकरण करनेके लिए आगेकी श्रुति है, स्वप्नमें वासनात्मक माता आदि सामग्री प्रत्यग्-विषयक है। 'मैं स्वप्नको देखता हूँ' ऐसी स्वाप्निक प्रतीति होती है, अतः उक्त सामग्री स्वप्रकाशत्वकी साधिका है। प्रमेय-संबद्ध प्रमाताका जागरावस्थामें जैसे भान होता है, वैसे ही उक्त अवस्थामें भी वासनाराशिका भान होता है। स्वयंज्योति आत्मा सब साधनोंसे निस्पृह होकर वासनाको चिदाभास बनाता है। आत्माकी सन्निधिसे शरीर, इन्द्रिय आदिमें चिदाभास होता है, अतएव मोहसे आत्मामें द्रष्टृत्वका औपचारिक प्रयोग होता है। भाव यह है कि स्वप्नावस्थामें भी जागरितके समान ही माता, मेय आदिका भान होता है, अतः उस अवस्थामें भी स्वयंप्रकाशकत्वका विवेक नहीं हो सकता।

शङ्का—तब जागरण और स्वप्नमें क्या वैलक्षण्य रहा?

समाधान—दोनोंमें वैलक्षण्य स्फुट है, जागरित अवस्थामें मेय आदि व्यावहारिक रहते हैं, स्वप्नमें वे व्यावहारिक नहीं हैं, किन्तु केवल उनकी भावना रहती है।

शङ्का—यदि आत्मामें उक्त तीन अवस्थाओंको मानते हो, तो बुद्धि आदिके समान वह शुद्ध नहीं हो सकता।

समाधान—विशिष्टमें शुद्धि इष्ट नहीं है, लक्षितमें वे हैं नहीं, स्वप्नावस्थामें सब क्रियाओंसे रहित द्वैताभावोपलक्षित निर्विकार चेतनमात्र स्थित रहता है, अतः अवस्थावत्त्वकी संभावना नहीं है। अद्वय कूटस्थमें चैतन्याभाससे व्याप्त जाग्रद्वासनाके अनुसार स्वप्नमें साक्षित्व है ॥ १६९ ॥

'रथाश्वादीनि' इत्यादि। स्वप्नमें जाग्रद्भोगप्रद कर्मोंका क्षय होनेपर तथा स्वाप्निक भोगप्रद कर्मोंके प्रादुर्भावसे सम्पूर्ण जाग्रद् वस्तुएँ वासनामात्ररूपसे अवशिष्ट रहती हैं, इस आशयसे कहते हैं कि जाग्रत् कर्मका क्षय होनेपर रथादि वस्तुका भी लय होता है, स्वप्नकी सिद्धिके लिए केवल उनकी वासनाएँ रह जाती हैं ॥ १७० ॥

सूक्ष्मकर्मोद्भवे ताभिर्वासनाभिरयं पुमान् ।
निर्मिमीते रथाश्वादीनेतैः स्वप्ने रिरंसया ।। १७१ ।।
रथाद्यभावमुक्त्वाऽऽदावथ तत्सृष्टिकीर्त्तनात् ।
असतः सत्त्वभावेन तन्मिथ्यात्वं स्फुटीकृतम् ।। १७२ ।।
लोकसिद्धमुपादानं निमित्तं वा न विद्यते ।
स्वप्ने तेन रथादीनां मिथ्यात्वं युज्यतेतराम् ।। १७३ ।।
असङ्गस्याऽपि सम्भाव्यमविद्याकामकर्मभिः ।
स्रष्टृत्वमित्यभिप्रेत्य स हि कर्त्तेत्यवोचत ।। १७४ ।।

'सूक्ष्मकर्मोद्भवे' इत्यादि । सूक्ष्मकर्मोद्भव यानी जाग्रत् कर्मकी अपेक्षा सूक्ष्म कर्मोंकी उत्पत्ति होनेपर यह पुरुष जाग्रत्‌में अनुभूत उन्हीं पदार्थोंकी वासनाओंसे रथ, अश्व आदिका निर्माण करता है यानी स्वप्नमें रमणेच्छासे—स्वाप्निक विहारकामनासे—पुरुष स्वाप्निक पदार्थोंका निर्माण करता है ।

शङ्का—यदि आत्मा स्वप्नमें रमणेच्छासे रथादिका निर्माण करता है, तो बुद्धि आदिको भी बना लेगा और स्वकृत बुद्धिसे ही वह प्रकाशित होगा, फिर स्वप्रकाश कैसे ?

समाधान—वासनात्मक सब आत्माके स्वप्न भोगार्थ हैं, इसलिए वे आत्माके प्रकाशक नहीं हैं, साभास अज्ञानमें कल्पित बुद्धि आदि भी चिदाभास होनेके कारण अज्ञानके साथ आत्मामें कल्पित है, अतः वह आत्मविषयक है ।

शङ्का—आत्मा शुद्ध है, तो ये अवस्थाएँ कैसे आती हैं ?

समाधान—अविद्यासे जब अपनेको अबुद्ध मानता है, तब जाग्रद् आदि अवस्थाएँ होती हैं ।। १७१ ।।

'रथाद्यभाव०' इत्यादि । 'न रथा' इत्यादि वाक्यसे पहले रथादिका अभाव कहकर पश्चात् रथादिकी सृष्टिके कथनसे रथादिमें मिथ्यात्व श्रुतिने स्फुट किया ।। १७२ ।।

'लोकसिद्ध०' इत्यादि । लोकप्रसिद्ध रथादिका कारण तथा निमित्त उस समय नहीं है, अतः स्वप्नमें रथ, अश्व आदि मिथ्या हैं, यह ठीक ही है ।। १७३ ।।

'असङ्गस्या०' इत्यादि ।

शङ्का—असङ्ग आत्मामें क्रिया आदिका सङ्ग न होनेसे वह कर्ता कैसे ?

समाधान—अविद्या, काम, कर्मोंसे असङ्ग आत्मामें स्रष्टृत्व यानी सृष्टिकर्तृत्व संभावित है, इस अभिप्रायसे 'स हि कर्ता' यह कहा गया है ।

श्रुतिः—तदेते श्लोका भवन्ति—

स्वप्नेन शारीरमभिप्रहत्यासुप्तः सुप्तानभिचाकशीति ।
शुक्रमादाय पुनरैति स्थानꣳ हिरण्मयः पुरुष एकहꣳसः ॥११॥

शङ्का—यदि आत्मा इस अवस्थामें रथादिकी सृष्टि करता है, तो 'न रथा' इत्यादिसे श्रुतिने उसका अभाव क्यों कहा ?

समाधान—गमनादिहेतुक रथादिके निराससे स्वप्नमें रथ-गमन आदिमें मिथ्यात्वका सूचन करनेके लिए उसका अभिधान है । व्यावहारिक रथका निषेध और प्रातिभासिक रथकी सृष्टि श्रुतिने कही है, इस प्रकार संपूर्ण स्वप्नमें मिथ्यात्व है । 'मायामात्रम्' इत्यादि सूत्रमें भी यह स्फुट है । एवं आह्लाद, हर्ष, वेशान्त (छोटे तालाब) इत्यादि सब असत्की ही सृष्टि कही गई है । चैतन्याभाससे व्याप्त बुद्धि आदि कारकाकारसे अभिव्यक्त वासनाप्रयोजक स्वप्नभोगहेतु कर्मोंके प्रति अविद्या-प्रयुक्त हेतु होनेसे निर्व्यापार भी आत्मा उनका कर्ता कहा गया है ।

शङ्का—आत्मा यदि अकर्ता है, तो वह कर्मका हेतु कैसे ?

समाधान—जाग्रद्दृष्ट रथ आदिके आकारमें परिणत वासनाके आश्रयभूत चित्तमें स्थित प्रकाशरूप परिणामव्यञ्जक कर्महेतु होनेसे वस्तुतः अकर्ता भी आत्मा कर्ता कहा जाता है ।

शङ्का—स्वप्नमें आविद्यिक रथादिका भी कर्ता आत्मा कैसे ? क्योंकि उसके उपादान काष्ठादि उस समय हैं नहीं ?

समाधान—स्वाप्निक कार्यमें व्यावहारिक कार्योंके उपादान एवं निमित्तोंकी अपेक्षा नहीं है, वस्तुतः रथ आदिका द्रष्टा आत्मा है, कर्ता नहीं है ॥ १७४ ॥

'तदेते श्लोका भवन्ति' इत्यादि श्रुति । इस उक्त अर्थमें ये श्लोक यानी मन्त्र हैं—स्वप्नभावसे शरीरको निश्चेष्ट कर असुप्त (स्वयमलुप्तदृगादिशक्ति आत्मा) सुप्तान् यानी वासनाकारोद्भूत अन्तःकरणवृत्त्याश्रय सब भावोंको अपनेरूपसे (आत्मदृष्टिसे) भासित कराता है, शुद्ध ज्योतिष्मत् इन्द्रियमात्रारूपको लेकर फिर कर्मके लिए जागरित स्थानमें आता है, हिरण्यके समान चैतन्यज्योतिस्वभाव पुरुष एकहंस 'एक एव हन्ति इति एकहंसः' एक ही जाग्रत्, स्वप्न, इहलोक तथा परलोक आदिमें गमन करता है; अतः 'एकहंस' कहलाता है ॥ ११ ॥

ब्राह्मणोक्तार्थदार्ढ्यार्थं श्रुतिर्मन्त्रानुदाहरत् ।
स्वयञ्ज्योतिष्ट्वदेहादिभिन्नत्वे तेष्वपि स्फुटे ॥ १७५ ॥
स्वप्नवृत्त्या निहत्यैनं जाग्रद्देहमलुप्तचित् ।
आदाय वासनां तज्जान् भावान् पश्यति सुप्तिमान् ॥ १७६ ॥
पुनर्जागरितस्थानमेति ज्योतिर्मयः पुमान् ।
हन्ति याति क्रमेणैक इत्येको हंस उच्यते ॥ १७७ ॥

'ब्राह्मणोक्ता०' इत्यादि । बुद्धि आदिसे व्यतिरिक्त आत्मा स्वयंज्योति है, यह ब्राह्मणोंसे प्रतिपादित हुआ । इसी अर्थको दृढ़ करनेके लिए मन्त्रका भी उदाहरण देते हैं । अतिस्फुट ब्राह्मणोक्त अर्थको मन्त्र भी कहते हैं । श्रुतिने स्वयं अपने द्वारा कहे गये उक्त अर्थमें मन्त्रोंका उदाहरण दिया है । एक प्रमाणसे प्रतिपन्न अर्थमें दूसरा प्रमाण भी यदि मिल जाय, तो वह अर्थ दृढ़ होता है ॥१७५॥

'स्वप्नवृत्त्या' इत्यादि । स्वप्नवृत्तिसे शरीरको निश्चेष्ट कर स्वयं असुप्त (अलुप्त-दृक्शक्ति) आत्मा भावनारूप प्राणोंको देखता है ।

शङ्का—आत्मा असुप्त क्यों ?

समाधान—आत्मप्रकाश कर्महेतुक नहीं है, किन्तु स्वाभाविक है; अतः कर्मोंका क्षय होनेपर भी पूर्वके समान प्रकाश बना रहता है, अतः आत्मा असुप्त रहता है । प्राणोंकी प्रवृत्ति कर्मनिमित्तक मानी जाती है । कर्मोंका क्षय होनेपर प्राण सुप्त होते हैं, एकत्र उपसंहृत होते हैं, उनको देखता है । व्यवहारदृष्टिसे सारकारने सुप्तिमान् यह विशेषण दिया है । वार्तिकमें 'सुप्तान् प्राणान् प्रपश्यति' ऐसा पाठ है । यही भाष्य आदिसे अनुकूल है ॥ १७६ ॥

'पुनर्जागरित०' इत्यादि । स्वप्नोत्थ भोगके क्षीण होनेपर ज्योतिर्मय पुरुष फिर जागरित भोगके लिए बुद्धि आदिके स्थानको आता है, 'हन हिंसागत्योः' इस पाणिनीय धातु पाठके अनुसार 'हन' धातुका अर्थ यहां गति है, इस अर्थको स्फुट करनेके लिए सारश्लोकमें हन्ति और याति इन दोनों पदोंका प्रयोग आया है, जागरित स्थानसे स्वप्नस्थानमें, स्वप्नस्थानसे सुषुप्तिस्थानमें, सुषुप्तिसे जागरित स्थानमें एक ही आत्मा क्रमसे आता है, अथवा जागरस्थानसे स्वप्नमें तथा स्वप्नसे पुनः जागरस्थानमें आता है, जागरित आदिका क्रम यहां विवक्षित है, जागरित और स्वाप्निक शरीरादिका अविद्यातः निर्माण दो ही अवस्थाओंमें होता है, सुषुप्तिमें

श्रुतिः—प्राणेन रक्षन्नवरं कुलायं बहिष्कुलायादमृतश्चरित्वा। स ईयतेऽमृतो यत्रकामꣳ हिरण्मयः पुरुष एकहꣳसः ॥ १२ ॥

प्राणेन मरणाद्रक्षन्देहं देहाभिमानतः।
बहिर्भूतः स्वप्ननाड्यां यथेच्छं विहरत्ययम् ॥ १७८ ॥

नहीं; 'एक एव हन्ति इत्येकहंसः' पुराणज्ञ पुरुष आत्माको एकहंस कहते हैं—

'एकं पादं नोत्क्षिपति सलिलाद्धंस उच्चरन्।
स चेदुदखिदत्पादं न मृत्युर्नामृतं भवेत् ॥
योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातनम्।'
'मरीचिर्दमनो हंसः' 'एको नैकः सवः' ॥ इति,
अनन्तमचलं मेरुं हंसं नारायणं प्रभुम्।
धातारमजरं नित्यं तमाहुः परमव्ययम् ॥ इति च ॥

'हिरण्यमेव हिरण्मयम्' यह हिरण्यमयका विग्रह है। स्वार्थमें मयट् है, विकारमें नहीं। हिरण्यसे ज्योतिर्मय विज्ञान विवक्षित है। 'हिरण्मयः पौरुष एकहंसः' ऐसा माध्यंदिनोंका पाठ है। 'हिरण्मयः पुरुषः' यह काण्वोंका पाठ है। समस्त कार्यकारण वस्तुका पूरक है अथवा अद्वयात्मा होनेसे पूर्ण है; अतः पुरुष कहलाता है। हंसत्वका निर्वचन पारदर्शी विद्वानोंने प्रकारान्तरसे भी किया है। जैसे—

हानेन गतकालानां नवानां संचयेन च।
शरीराणामजस्याऽऽहुर्हंसत्वं पारदर्शिनः ॥

पुरानी शरीरकलाओंका यानी अवयवोंका हान (त्याग) और नवीन अवयवोंका संचय करनेसे पारदर्शी मुनि अज आत्माको हंस कहते हैं ॥ १७७ ॥

'प्राणेन रक्षन् अवरं कुलायम्' इत्यादि श्रुति। पञ्चवृत्ति प्राणसे अनेक अशुचि पदार्थोंका समूह होनेके कारण अवर यानी निकृष्ट अत्यन्त बीभत्स कुलाय (शरीर) की रक्षा करता हुआ [यदि प्राणवृत्तिका संचार उस कालमें न हो, तो लोगोंको यह भ्रम हो जायगा कि यह मर गया, सुप्त और मृतमें प्राणका संचार और असंचार ही विशेष है] स्वयं शरीरसे बाहर निकलकर वासनारूप तत्-तत् कार्योंको प्राप्त करता है।

शङ्का—शरीरस्थ आत्मा जब स्वप्नको देखता है, तब बाहर नहीं निकलता, यह सिद्धान्त है। फिर यहां 'बहिश्चरित्वा' यह कैसे कहते हो?

श्रुतिः—स्वप्नान्त उच्चावचमीयमानो रूपाणि देवः कुरुते बहूनि। उतेव स्त्रीभिः सह मोदमानो जक्षदुतेवापि भयानि पश्यन् ॥ १३ ॥

उच्चावचं देवतिर्यग्भावं प्राप्य वधूसुखम्।
स भक्ष्यं पश्यतीवैष यद्वा व्याघ्रादिजं भयम् ॥ १७९ ॥

समाधान—ठीक है, परन्तु उस कालमें शरीरके साथ सम्बन्ध नहीं रहता, इसलिए 'बहिः' यह कहा गया है। अमृत यानी अमरणधर्मा। जहाँ जहाँ काम है यानी जिन जिन विषयोंमें उद्भूतवृत्तिवाला होता है, वासनारूप उन उन कामोंको प्राप्त होता है ॥ १२ ॥

'प्राणेन' इत्यादि। यहाँ आत्मा देहाभिमानसे प्राणके द्वारा देहकी मरणसे रक्षा करता हुआ बहिर्भूत होकर स्वप्ननाडीमें यथेच्छ विहार करता है। देहरक्षण प्राणप्रयुक्त लोकमें प्रसिद्ध है, यदि आत्मा स्वप्नमें प्राणसे देहकी रक्षा न करे, तो मृतभ्रान्ति हो जायगी। अतः देहकी रक्षा करना आवश्यक है। यद्यपि देहस्थ आत्मा स्वप्न देखता है, तदर्थ शरीरसे बाहर नहीं होता, तथापि उस समय मिथ्या देहाभिमान नहीं रहता, इसलिए बहिश्चरित्वा यह कहा है। जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति इन तीनों अवस्थाओंमें भिन्न-भिन्न नाडीमें आत्मा रहता है। जाग्रद्भोगप्रद नाडीसे निकल कर स्वप्नभोगप्रद नाडीमें आत्मा जाता है। इस तात्पर्यसे बहिः यह कहा है। 'स ईयते' इसका अर्थ यह है कि स्वप्नहेतुकर्मव्यक्तार्थविशेषमें स्थित कामरूप वासनाका आश्रयण कर आत्मा वासनामय स्वकर्मोचित देहमें उस कालमें जाता है।

शङ्का—यदि आत्माको गमनवान् मानते हो, तो 'नाशापक्षयभागी' भी हो जायगा। इस शङ्काकी निवृत्तिके लिए 'अमृत' यह श्रुतिमें विशेषण है ॥१७८॥

'स्वप्नान्ते' इत्यादि श्रुति। इस श्रुतिका अर्थ निम्नस्थ श्लोकोंके व्याख्यानसे व्याख्यात है ॥१३॥

'उच्चावचं' इत्यादि श्रुति। स्वप्नस्थानमें उच्च देवादिभाव और अवच—नीच यानी तिर्यगादिभावको आत्मा प्राप्त होता है। अतएव देवादिवधू-सुखका अनुभव करता है। तत्-तत् जात्युचित भक्ष्यको भी प्राप्त करता है। और कभी कभी व्याघ्रादिदर्शनजन्य भयसे भीत भी होता है। श्रुतिमें 'जक्षति'का अर्थ है—परिहास और मोदतेका अर्थ है—हर्ष, व्याघ्रादिदर्शनजन्य भीति भय है—इन सबका आत्मा वास्तविक कारण नहीं है, किन्तु अविद्या ही कारण है ॥ १७९ ॥

श्रुतिः—आराममस्य पश्यन्ति न तं पश्यति कश्चनेति तन्नायतं बोधयेदित्याहुः ।

आराममेव मायोत्थं स्वप्ननिर्माणलक्षणम् ।
पश्यन्ति जन्तवस्तस्य न तं पश्यति कश्चन ॥ १८० ॥
प्रत्यक्षगोचरं देवं लोकं चाऽतिप्रमादिनम् ।
दृष्ट्वा श्रुतिः शिरस्ताडमनुक्रोशति दुःखिता ॥ १८१ ॥
स्वप्ने परीक्षते द्रष्टा देहाद्भिन्नः स्वयम्प्रभः ।
सुविवेचस्तथाऽप्येवं परीक्षन्ते न पामराः ॥ १८२ ॥

'**आराममस्य**' इत्यादि श्रुति । इस श्रुतिका अर्थ भी वार्तिक श्लोकोंके व्याख्यानसे व्याख्यात है ॥ १४ ॥

'**आराममेव**' इत्यादि । मायासे मोहित मनवाले संसारी मनुष्य स्वप्ननिर्मित वासनामय ग्राम, नगर, आराम, वनिता आदि पदार्थको ही स्वप्नमें देखते हैं। स्वयंज्योतिस्वरूप आत्माको नहीं देखते हैं, यह बड़े दुर्भाग्यकी बात है। बुद्धि आदिसे व्यतिरिक्त आत्मा स्वयंज्योतिस्वरूप है, इस अर्थको आगम द्वारा प्रमाणित कर लोकसंप्रतिपत्तिसे भी वह सिद्ध है, यों 'तं नाऽऽयतं बोधयेत्' यह श्रुति कहती है। गाढ सुप्तको सहसा प्रबुद्ध नहीं करना चाहिए, अतएव मनुजीने भी कहा है—'नैकः स्वपेच्छून्यगेहे शयानं न प्रबोधयेद्' । जैसे देवदत्त घरमें आता है और उससे निकलता है, अतः वह घरसे भिन्न है, यह सुखसे लोक जानता है, वैसे ही आत्माको भी, देहमें आने जानेसे, तदतिरिक्त मानो । आध्यात्मिक निखिल पदार्थोंसे भिन्न स्वात्मस्थितिको विविक्त नहीं देखते, यह दूषित हृदयोंका दुर्भाग्य ही है ॥१८०॥

'**प्रत्यक्ष०**' इत्यादि ।

शङ्का—आत्मा दृष्टियोग्य नहीं है, अतः वह अदृष्ट है, इसमें दुर्भाग्यकी क्या बात ?

समाधान—आत्मा होनेसे वह प्रत्यक्षगोचर है, क्योंकि 'यत्साक्षादपरोक्षाद् ब्रह्म' यह श्रुति है। तथा आत्मप्रत्यक्षके बिना किसीको प्रत्यक्ष ही नहीं होता। स्वप्न और सुषुप्तिमें स्पष्ट ही प्रत्यक्ष है । तथापि प्रमादी लोकको देख कर अति दुःखित श्रुति सिर पीट पीट कर रोती है और कहती है—यह कुबुद्धियोंका दुर्भाग्य है कि निःसीमानन्दसमुद्रको न देख मायामृगसलिलको ही देखते हैं ॥ १८१ ॥

'**स्वप्ने परीक्षिते**' इत्यादि । स्वप्नकी परीक्षा कर लेनेपर देहसे भिन्न द्रष्टा

चिकित्सकप्रसिद्ध्याऽपि सुप्तो देहाद्विभिद्यते ।
द्रुतं न बोधयेत्सुप्तमिति प्राहुश्चिकित्सकाः ॥ १८३ ॥
त्वरयाऽऽगतिरक्षाणां नाडीषु व्यत्ययाद्यदि ।
अचिकित्स्यस्तदारोग इति बाधं वदन्ति ते ॥ १८४ ॥
सुप्तावुपेक्षते देहं पुनर्व्याप्नोति जागरे ।
इति वैद्योक्तितो भाति सिद्धाऽतो देहतो भिदा ॥ १८५ ॥

स्वयंप्रभ सुविवेच है अर्थात् इसके द्वारा देहादिसे भिन्न आत्मा है, यों अनायास विवेक हो जाता है । तो भी पामर, हतप्रज्ञ लोग उसकी परीक्षा नहीं करते हैं इससे अधिक और दुर्भाग्य क्या हो सकता है ॥ १८२ ॥

'**चिकित्सक०**' इत्यादि । चिकित्सकप्रसिद्धिसे भी यह निश्चित होता है कि सुप्त पुरुष देहसे भिन्न है । वे लोग कहते हैं कि गाढ सुप्तको शीघ्र जगाना नहीं चाहिए ॥ १८३ ॥

'**त्वरयाऽऽगति०**' इत्यादि ।

शङ्का—गाढ सुप्तको द्रुत जगानेमें क्या दोष है ?

समाधान—दोष दुर्भिषज्य है यानी वैसा करनेसे ऐसा रोग हो सकता है, जो बड़े बड़े वैद्योंसे दुश्चिकित्स्य होता है ।

शङ्का—क्यों ?

समाधान—यह तो प्रसिद्ध ही है कि जागर आदि तीन अवस्थाएँ जीवके भिन्न भिन्न नाड़ियोंमें जानेसे होती हैं । जागर अवस्थामें जिस नाड़ीमें आत्मा रहता है, उस नाड़ीसे जब स्वप्न नाड़ीमें जाता है, तब स्वप्न होता है । स्वाभाविक क्रमसे स्वप्न नाड़ीसे फिर प्रबोधनाड़ीमें आता है, तब जागरावस्था होती है । स्वप्ननाड़ीगत जीव अतएव गाढ सुप्तको यदि शीघ्र जगाया जायगा, तो उसकी घबराहटसे अनजानमें इन्द्रियोंका प्रवेश हो जायगा । इन्द्रियाँ भी उक्त अवस्थामें जीवके साथ जाती हैं, जैसे राजाके साथ अमात्य जाया करते हैं, राजाके निर्दिष्ट स्थानमें पहुँचनेपर अमात्य आदिको भी अविलम्ब पहुँचना चाहिए । नियत समयसे पहले ही नोदनादिवश जीव यदि आ जाता है, तो इन्द्रियां घबड़ा कर अन्य नाडीमें प्रविष्ट हो जाती हैं, जिससे अन्धत्व, बाधिर्य आदि रोग अचिकित्स्य हो जाते हैं, यही डिण्डिमघोषसे वैद्य लोग कहते हैं ॥ १८४ ॥

'**सुप्तावुपेक्षते**' इत्यादि । जीव स्वप्नकालमें देहकी उपेक्षा करता है, उसमें

श्रुतिः—दुर्भिषज्य ँ हास्मै भवति यमेष न प्रतिपद्यतेऽथो खल्वाहु-र्जागरितदेश एवास्यैष इति यानि ह्येव जाग्रत्पश्यति तानि सुप्त इत्यत्रायं पुरुषः स्वयञ्ज्योतिर्भवति सोऽहं भगवते सहस्रं ददाम्यत ऊर्ध्वं विमोक्षाय ब्रूहीति ॥ १४ ॥

देहान्यत्वस्वप्रभत्वे ह्यसोढ्वा स्वप्नमप्यमुम् ।
अपह्नुवानाश्चार्वाकास्तस्याऽऽहुर्जागरात्मताम् ॥ १८६ ॥

आत्माभिमानका त्याग करता है और जागरावस्थामें देहको फिर व्याप्त करता है, इस वैद्योक्तिसे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि आत्मा देहसे भिन्न है। जैसे गमन और आगमनका कर्ता देवदत्त गृहसे भिन्न है, वैसे ही प्रकृतमें भी समझना चाहिए ॥ १८५ ॥

'दुर्भिषज्य ँ हास्मै' इत्यादि श्रुति । इसका अर्थ वार्तिकके श्लोकोंके व्याख्यानसे गतार्थ है ॥१४॥

'देहान्यत्व०' इत्यादि । आत्मामें देहान्यत्व तथा स्वयंप्रभत्वका जो पूर्व-ग्रन्थसे प्रतिपादन किया गया है, वह चार्वाकको असह्य है । अतएव उसका अपलाप करता हुआ वह कहता है कि जागरित स्थानमें ही स्वप्न होता है, भिन्न स्थानमें नहीं । जाग्रद्-दशाके समान स्वप्नमें भी आत्माके देहान्यत्व और स्वयंप्रभत्वका विवेक होना कठिन है। स्वप्न जागरित देशमें होता है, इसमें कारण यह है कि पुरुष जिन वस्तुओंको जागरावस्थामें देखता है, वे ही स्वप्नमें भी दिखलाई देती हैं । यदि स्वप्नदेश जागरसे भिन्न होता, तो जागरितसे अपूर्व यानी जिनको जागरितमें नहीं देखा है, उन्हींको देखता, अतः जाग्रद्-देश ही स्वप्न है । इससे यह निश्चय होता है कि जिस नाड़ीमें स्थित होकर जीव जागरमें गज आदिको देखता है, उसी नाड़ीमें गज आदिके स्वप्नको भी देखता है। जाग्रत् और स्वप्नका एक ही स्थान रहता है। स्थानैक्यके समान द्रष्टैक्य भी है यानी 'जो पहले जागता था, वही सो गया, जो सोया था वही जाग पड़ा' इत्यादि प्रत्यभिज्ञासे द्रष्टैक्य भी है । एवं विषयैक्य भी है—जागरावस्थामें जिन बन्धु, पुर, आराम आदिको देखा था, उन्हींको स्वप्नमें देखता है, अपूर्व वस्तुओंको नहीं। यही अर्थ व्यतिरेक द्वारा भी कहा जा सकता है । जैसे बङ्गदेशीय पुरुष बङ्गालसे मारवाड़में जाकर ऊँट, जिसको कि बंगालमें नहीं देखा था, देखता है, वैसे ही सुप्त पुरुष यदि स्थानान्तरमें गया होता, तो स्वप्नमें वह वस्तु

तदसत्स्वप्नपार्थक्यं प्रसिद्धं लोकशास्त्रयोः ।
अत्रायं पुरुषस्तेन स्वप्रभः स्वतनोः पृथक् ॥ १८७ ॥
उक्तमर्थद्वयं मुक्तेरङ्गमेवाऽस्य दक्षिणाम् ।
गोसहस्रं गृहाणाऽत ऊर्ध्वं ब्रूहि विमुक्तये ॥ १८८ ॥

देखता जिसको कि जागरमें नहीं देखा था, पर ऐसा नहीं होता, किन्तु पूर्वदृष्टका ही दर्शन होता है, अतः स्थानान्तर नहीं है। जब जाग्रत् ही स्वप्न है, तब जैसे जाग्रद्-दशामें आत्मा दुर्विवेक है, वैसे ही स्वप्नमें भी दुर्विवेक है, यह चार्वाकका आशय है ॥१८६॥

उक्त चार्वाक-मतका निराकरण करते हैं—'**तदसत्**' इत्यादिसे ।

जागरितसमानदेश स्वप्न होता है, यह चार्वाकोक्त असत् है । लोक और वेद दोनोंमें दोनोंका पार्थक्य प्रसिद्ध है । प्रसिद्धि पूर्वमें विस्तारपूर्वक कही जा चुकी है । वैद्योंकी सम्मति भी दिखला चुके हैं । 'अत्रायं पुरुषः' इत्यादि श्रुति भी दिखला चुके हैं । इस तात्पर्यसे लोक और वेद दोनोंका उपादान किया गया है, अतः आत्मामें देहातिरिक्तत्व और स्वयंप्रकाशत्व स्पष्ट सिद्ध हुआ ॥ १८७ ॥

'**उक्तमर्थद्वयम्**' इत्यादि । देहान्यत्व और स्वप्रकाशत्व ये दोनों वाक्यार्थ ज्ञानके अङ्ग हैं। राजा जनकने कहा—मुनिजी, अपने उपदेशकी दक्षिणा हजार गऊ आप ग्रहण कीजिये और तदनन्तर मुक्तिके लिए अद्वय आत्माका हमें उपदेश दीजिये। भाव यह है कि स्वप्नदृष्टान्तसे स्वयंप्रकाशत्व, अकारकात्मकत्व तथा मृत्युरूपातिक्रम आत्मामें पूर्ववाक्यसे निर्णीत किया गया है। अब यह सन्देह होता है कि काम, कर्म आदि आत्माका स्वभाव है अथवा नहीं, इस शङ्काकी निवृत्तिके लिए राजाने फिर श्रीयाज्ञवल्क्य मुनिजीसे पूछा। क्योंकि काम आदि यदि आत्माका स्वभाव है, तो मुक्ति नहीं हो सकती, क्योंकि स्वाभाविक धर्मका अपाय नहीं होता, इस आशयसे अद्वितीयात्माके निश्चयके लिए प्रश्न किया गया है ।

शङ्का—'कतम आत्मा' यह प्रश्न करनेपर राजाके प्रति आत्माके निर्णयके लिए प्रवृत्त मुनि आत्माके निर्णयके बिना निवृत्त नहीं होंगे, तो फिर राजाने सभाके मध्यमें मुनिजीसे फिर प्रश्न क्यों किया ?

समाधान—जिस आत्मवस्तुको राजाने पूछा था, उसका उत्तर 'यथावत् निर्णयोऽयम्' इत्यादि वाक्यसे मैंने कर दिया, इस ध्यानसे शायद मुनिजी उसके उपदेशसे निवृत्त हो जायँ, इस शङ्कासे फिर मुक्तिके लिए राजाने प्रश्न किया ।

श्रुतिः—स वा एष एतस्मिन्सम्प्रसादे रत्वा चरित्वा दृष्ट्वैव पुण्यं च पापं च पुनः प्रतिन्यायं प्रतियोन्याद्रवति स्वप्नायैव स यत्तत्र किञ्चित्पश्यत्यनन्वागतस्तेन भवत्यसङ्गो ह्ययं पुरुष इत्येवमेवैतद्याज्ञवल्क्य सोऽहं भगवते सहस्रं ददाम्यत ऊर्ध्वं विमोक्षायैव ब्रूहीति ॥ १५ ॥

स वा एष एतस्मिन्स्वप्ने रत्वा चरित्वा दृष्ट्वैव पुण्यं च पापं च पुनः प्रतिन्यायं प्रतियोन्याद्रवति बुद्धान्तायैव स यत्तत्र किञ्चित्पश्यत्यनन्वागतस्तेन भवत्यसङ्गो ह्ययं पुरुष इत्येवमेवैतद्याज्ञवल्क्य सोऽहं भगवते सहस्रं ददाम्यत ऊर्ध्वं विमोक्षायैव ब्रूहीति ॥ १६ ॥

स वा एष एतस्मिन्बुद्धान्ते रत्वा चरित्वा दृष्ट्वैव पुण्यं च पापं च पुनः प्रतिन्यायं प्रतियोन्याद्रवति स्वप्नान्तायैव ॥ १७ ॥

मृत्यो रूपाणि देहादीन्यत्येतीति पुरोदितम् ।
न मुक्तिस्तावता कामकर्ममृत्योरनत्ययात् ॥ १८९ ॥

शङ्का—बुद्धि आदिसे व्यतिरिक्त आत्मा स्वयंज्योति है, इस कथनसे ही मुक्तिकी सिद्धि हो जायगी, फिर उसके लिए प्रश्न ठीक नहीं है ।

समाधान—नहीं, क्योंकि स्वयंज्योतिष्ट्व मुक्तिका अङ्ग है ।

शङ्का—मोक्षाङ्ग स्वयंज्योतिष्ट्वके निर्णयसे अङ्गी मोक्षका निर्णय सिद्ध ही हो जायगा, अतः अङ्गीके निर्णयके लिए प्रश्न व्यर्थ है ।

समाधान—अङ्गी दर्श आदिके निर्णयसे ग्राहकग्रहणसामर्थ्य यानी प्रकरणसामर्थ्यसे तदर्थ अङ्गोंका निर्णय माना जाता है ।

शङ्का—अङ्गाङ्गिभावके निर्णायक श्रुति आदि हैं ।

समाधान—ठीक है, पर वे द्वारार्पक हैं; अतः अङ्गके निर्णयसे अङ्गीका निर्णय होता है, इसमें कोई न्याय नहीं हैं ॥१८८॥

'स वा एष' इत्यादि श्रुतियाँ । इनका व्याख्यान नीचेके श्लोकोंसे स्पष्ट है ॥१५-१७॥

'मृत्यो रूपाणि' इत्यादि । देहादि मृत्युरूपका आत्मा अतिक्रमण करता है, यह पूर्वमें कह चुके हैं, पर उतनेसे मुक्ति नहीं हो सकती ।

शङ्का—क्यों ?

समाधान—कामकर्मरूप मृत्युका ध्वंस हुआ नहीं है । भाव यह है कि कामकर्म आदि यदि आत्माके गुण हैं, तो निश्चित अनिर्मोक्ष है ।

मोदत्रासौ कर्मकार्यौ दृष्टौ स्वप्नेऽपि चाऽऽत्मनः ।
इत्याशङ्क्य स वा एष इति कर्म विविच्यते ॥ १९० ॥

शङ्का—क्यों ?

समाधान—गुणी आत्माके रहनेपर उसके गुण कामादिकी निवृत्ति नहीं हो सकती। यदि आत्माकी भी निवृत्ति गुणकी निवृत्तिके साथ ही मानी जाय, तो फलीके विनाशसे फल ही किसको होगा ॥ १८९ ॥

शङ्का—काम आदि आत्मस्वभाव नहीं हैं, यह निर्णय होनेपर भी उसके विवेकके लिए उत्तर वाक्य नहीं है; क्योंकि 'अतिक्रामति मृत्यो रूपाणि' इत्यादि वाक्यसे उसका विवेक पूर्वमें ही हो चुका है।

समाधान—**'मोदत्रासौ'** इत्यादिसे। मोद और त्रास ये भी कर्मके ही कार्य हैं। शुभ कर्मसे मोद और अशुभ कर्मसे त्रास, उद्वेग, भय इत्यादि स्वप्नमें भी होते ही हैं। अग्निके औष्ण्य और प्रकाशके समान यदि ये आत्माके स्वाभाविक धर्म होंगे, तो उनकी भी निवृत्ति न होनेसे मोक्षकथा ही लुप्त हो जायगी; अतः उसकी निवृत्तिके लिए 'स वा एष' इत्यादि उत्तर ग्रन्थ है। मोद, त्रास आदि आत्मधर्म नहीं हैं, यह दिखलानेके लिए 'स वा' इससे प्रकृत स्वयंज्योति पुरुष विवक्षित है। जो स्वप्नमें प्रदर्शित हुआ है। वह इस सम्प्रसादमें (सम्यक् प्रसीदति अस्मिन्निति संप्रसाद यानी सुषुप्तिमें) सम्यक् प्रसन्न रहता है। जागरितमें देहेन्द्रियादिव्यापारोंसे समुत्पन्न कालुष्यका त्याग कर उन देहेन्द्रिय आदिसे विमुक्त होकर स्वप्नमें थोड़ा प्रसन्न होता है और इस सुषुप्तमें सम्यक् प्रसन्न होता है। इस कारणसे सुषुप्तको संप्रसाद कहते हैं। उस समय सब शोकोंसे पार हो जाता है, क्योंकि 'शुद्ध ही एक द्रष्टा है' एतदर्थक श्रुति है, जो सुषुप्त आत्माका निरूपण करती है। वह यह पुरुष इस संप्रसादमें क्रमसे संप्रसन्न होकर सुषुप्तमें स्थित होता है।

शङ्का—कैसे संप्रसन्न है ?

समाधान—स्वप्नसे सुषुप्तस्थानमें प्रविविक्षु—प्रवेशेच्छावान्—स्वप्नावस्थामें रमणका अनुभव कर मित्र-बन्धुजनके दर्शन आदिसे अनेक प्रकारका विहार कर यानी चरणफल श्रमको प्राप्त कर 'दृष्ट्वैव न कृत्वा' यानी पुण्य-पाप सब देखता ही है, कुछ करता नहीं। पुण्य और पापसे पुण्यफल और पापफल विवक्षित है।

शङ्का—क्यों ?

समाधान—पुण्य और पापका कोई भी साक्षाद्दर्शन नहीं कर सकता, अतः शास्त्रमें अदृष्टशब्दसे उनका व्यवहार होता है। जो पुण्य और पाप करता है, वही उनसे संयुक्त होता है, उनके दर्शनमात्रसे कोई उनसे युक्त नहीं होता है, अतः स्वप्न होकर मृत्युका भी अतिक्रमण करता है, केवल मृत्युरूपका ही नहीं। अतः मृत्युमें आत्मस्वभावत्वप्रसक्ति नहीं है। यदि मृत्यु आत्माका स्वभाव होता, तो स्वप्नमें भी उसका अतिक्रमण नहीं करता। क्रिया यदि आत्माका स्वभाव होगी, तो अनिर्मोक्षता ही होगी, आत्माकी मुक्ति कभी नहीं होगी। स्वप्नमें क्रियादि न होनेसे वह आत्माका स्वभाव नहीं है। अतः आत्माका विमोक्ष होता है।

शङ्का—जागरितमें मृत्यु आत्माका स्वभाव है क्या ?

समाधान—नहीं, जागरितमें बुद्धि आदि उपाधिकृत मृत्यु है, यह 'ध्यायतीव लेलायतीव' इत्यादिसे पूर्वमें कह चुके हैं, अतः यह निश्चित है कि स्वप्नमें मृत्यु-रूपातिक्रमणसे स्वाभाविकत्वशङ्का या अनिर्मोक्षता नहीं हो सकती। 'चरित्वा'का अभिप्राय है—चरणफल श्रमका लाभ कर। ततः यानी सम्प्रसादके अनुभवके उत्तर-कालमें। पुनः प्रतिन्याय यानी यथान्याय अर्थात् जैसा गमन हुआ, वैसा निश्चित आय। (निश्चितम् अयनम् आयः न्यायः यानी निर्गमन) पुनः पूर्वगमनविपरीतरूपसे जो आगमन है, वह प्रतिन्याय है। तात्पर्य यह है कि जैसे गया था वैसे फिर आता है। प्रतियोनि यथास्थान स्वप्नस्थानसे सुषुप्तमें प्राप्त होता हुआ यथास्थान पुनः प्राप्त होता है। यही प्रतियोन्याद्रवतिका अर्थ हुआ, क्यों यथास्थान आगमन होता है ? स्वप्नस्थानके लिए।

शङ्का—स्वप्नमें पुण्य और पाप नहीं करता, किन्तु उनका फल ही देखता है, यह कैसे जानते हो ? जैसे मनुष्य जागरितमें करता है, वैसे ही स्वप्नमें भी करता ही है। क्रियादिदर्शन दोनों अवस्थाओंमें समान है।

समाधान—'स यत्' इत्यादिसे श्रुति स्वयं उत्तर देती है। जो कुछ स्वप्नमें देखता है, पुण्य और पापके उस फलसे (अनन्वागत) असंबद्ध वह होता है। यदि स्वप्नमें करता, जैसे कि जागरमें करता है, तो वह उसके फलसे सम्बद्ध हो जाता। उससे स्वप्नोत्थित पुरुष भी सम्बद्ध होता।

शङ्का—स्वप्नमें सम्बद्ध नहीं होता, यही कैसे जानते हो ?

समाधान—स्वप्नकृत कर्मफलका सम्बन्ध लोकमें प्रसिद्ध नहीं है। स्वप्नकृत दुष्कर्मसे कोई भी अपनेको अपराधी नहीं मानता और न स्वप्नद्रष्टाके अपराधको

कालुष्यं जागरे जीवे स्वप्ने स्वल्पा प्रसन्नता ।
सम्यक्प्रसीदत्यत्रेति सम्प्रसादः सुषुप्तकम् ॥ १९१ ॥

सुनकर कोई निन्दा ही करता है, न जाति बाहर ही करती है। अतः स्वाप्निक शुभाशुभोंसे कोई सम्बद्ध नहीं होता। इससे स्वप्नमें करता हुआ नहीं देखा जाता। वास्तविक उस समयमें क्रिया नहीं है, अतएव श्रुति भी कहती है—'उतेव स्त्रीभिः सह मोदमानः'। स्वप्नके विषयमें कुछ कहनेवाले भी 'इव' शब्दको लगाकर वाक्यका प्रयोग करते हैं—हस्तिनोऽद्य घटीकृता धावन्तीव मया दृष्टाः यानी हाथियोंका समुदाय दौड़ता हुआ-सा मैंने देखा, अतः उसमें कर्तृत्व नहीं हैं ।

शङ्का—कैसे उसमें अकर्तृत्व है ?

समाधान—कार्यकरण मूर्त्तोंके साथ मूर्त्तका सम्बन्ध क्रियाहेतु दृष्ट है। अमूर्त्त कोई भी क्रियावान् नहीं देखा जाता है। आत्मा अमूर्त्त है; अतः आकाशवत् असङ्ग है। जिस कारणसे आत्मा असङ्ग है, अतः स्वप्नदृष्टोंसे सम्बद्ध नहीं होता। अतएव किसी प्रकार क्रियाकर्तृत्वकी संभावना उसमें नहीं है। कार्यकरण-संसर्गसे ही कर्तृत्व होता है, परन्तु उसका संसर्ग असंग आत्मामें है नहीं। अतः आत्मा असङ्ग है, अतएव अमृत है, यही साक्षी है। हाँ भगवन् याज्ञवल्क्य, ऐसा ही है। हम आपको गोसहस्र दक्षिणा देते हैं। इसके आगे मुक्तिके लिए कहिए। मोक्षपदार्थैकदेश कर्मका प्रविवेक अच्छी तरहसे दिखलाया। अब आगे मोक्षके लिए कहिए ॥१९०॥

'एष' इत्यादि ग्रन्थसे आत्मासे कर्मका विवेक कहते हैं—'**कालुष्यम्**' इत्यादिसे।

जागरावस्थामें जीवमें अधिक कालुष्य पाया जाता है। पुरुष प्रतिपिद्धार्थ इष्ट प्राप्तिके लिए विहित एवं अविहित उपायमें प्रवृत्त होता है। उत्कट राग आदि आत्मामें कालुष्य हैं। स्वप्नमें तादृश कालुष्य नहीं रहता, फिर भी प्रसन्नता पूरी नहीं है, किन्तु स्वल्प होती है। 'सम्यक् प्रसीदति अस्मिन्निति संप्रसादः' इस व्युत्पत्तिसे सम्प्रसादशब्दार्थ सुषुप्ति है। आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक इन त्रिविध तापोंसे विह्वल पुरुष सुषुप्तिदशामें वेदनाके लेशका भी अनुभव नहीं करता, यह सर्वानुभवसिद्ध है। पूर्वमें जिस स्वयंज्योति आत्माका निरूपण हुआ है, वह यही है, स्वप्नावस्थामें असङ्ग होकर संप्रसादावस्थामें प्रसन्न होता है, निर्मली रजके सम्बन्धसे पङ्किल जल जैसे स्वच्छ होता है, वैसे ही सम्प्रसादके

अद्वैतत्वात् सम्प्रसादे रमणाद्युच्यते कथम् ।
अरत्वेति पदच्छेदे स- यत्तत्रेत्यसङ्गतम् ॥ १९२ ॥

सम्बन्धसे आत्मामें अतिप्रसन्नता होती है। स्वप्नावस्थामें रमणेच्छासे जाग्रद्वासना-मात्रका स्वभोगार्थ आदान करता है, वह केवल स्वभोगके लिए ही है। अतः स्वप्नकी निवृत्ति होनेपर उसकी वासनाकी भी निवृत्ति हो जाती है, अतः कामादिरहित आत्मा ही प्रसन्न होता है। जाग्रदवस्थासे स्वप्नमें कुछ प्रसन्न होता है, उसकी अपेक्षा सुषुप्तिमें अधिक प्रसन्न होता है, इसका सूचन करनेके लिए 'सम्' यह विशेषण दिया गया है। स्वप्नमें वासना रहती है, सुषुप्तिमें उसका भी त्याग होनेपर आत्मा अतिप्रसन्न होता है ॥ १९१ ॥

'अद्वैतत्वात्' इत्यादि। संप्रसादमें अद्वितीय आत्मा है और अन्यका भान नहीं है, तो रमणादि कैसे? 'एकाकी न रमते' इस श्रुति तथा अनुभवसे रमण आदि द्वैतसापेक्ष है। स्त्री, पुत्र आदि सापेक्ष मनोवाक्कायचेष्टा क्रीड़ा कहलाती है, यह भाष्यकारने स्पष्ट ही कहा है। 'न तु तद्द्वितीयमस्ति', 'न बाह्यं किञ्चन वेद' इस श्रुतिसे द्वैतका भी प्रतिषेध किया गया है। 'न किञ्चिदवेदिषम्' यह सुप्तोत्थितपरामर्श भी विषयभानाभावका ही समर्थन करता है। इसके समाधानके लिए कोई 'अरत्वा' पदच्छेद करते हैं, सो भी ठीक नहीं है, क्योंकि वैसा करनेसे 'स यत्तत्र पश्यति' इत्यादि वाक्यशेष असंगत हो जाता है। यदि दर्शनादि ही नहीं है, तो उसके संबन्ध और असंबन्धका विचार काकदन्तपरीक्षाके समान निष्फल है। यदि यह कहिये कि यत्पदसे संप्रसादका परामर्श नहीं है, किन्तु अव्यवहित श्रुत 'स्वप्नायैव' शब्दके घटक स्वप्नका परामर्श है, तो यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि अव्यवहित पूर्वके परामर्शसे वाक्यार्थ उपपन्न यदि होता हो, तो विप्रकृष्टका परामर्श अनुचित है और वाक्यार्थकी अनुपपत्तिके लिए उसका परामर्श तो और अनुचित है। स्वप्नावस्थामें रमणादि अनुभवसिद्ध हैं; यह भी ठीक नहीं है, कारण कि स्वप्नावस्थो-पन्यास ही व्यर्थ हो जायगा, क्योंकि तत्तत्क्रियाफल देखनेसे भी पुरुष तत्-तत् क्रियादिसे असंबद्ध रहता है, यही प्रतिपादन करना है। वह संप्रसाद ही से हो गया, फिर स्वप्नोपन्यास व्यर्थ ही हो जायगा। इसलिए यहाँ व्यवहितका परामर्श ही उचित है। यदि जागरावस्थामें असङ्गत्वप्रतिपादनके लिए स्वप्नोपन्यास कहें; तो भी ठीक नहीं है, कारण कि जागरोपन्यास व्यर्थ होता है; अतः यच्छब्दसे संप्रसादका

बहुधोत्तरमत्रोह्यमानन्दभुगिति श्रुतेः ।
भोगो रत्यादिरथवा सुप्त्यनैक्यादिहोत्तरम् ॥ १९३ ॥

परामर्श ही उचित प्रतीत होता है, इसमें 'पश्यति' इत्यादि वाक्यशेष कैसे उपपन्न होगा और 'रत्वा' इत्यादि निर्देश कैसे ? ॥१९२॥

'बहुधोत्तर०' इत्यादि । यहाँ अनेक प्रकारके उत्तरोंकी ऊहा करनी चाहिए। प्रथम उत्तर तो यह है कि संप्रसादमें भी भोग यानी स्वरूपानिन्दानुभवलक्षण भोग होता है, यह 'आनन्दभुक्' इत्यादि श्रुतिसे सिद्ध है तथा 'प्राज्ञ' यह वृद्धोक्ति भी है, इनसे और उपपत्तिसे भी संप्रसादमें भोग सिद्ध होता है, उससे रत्यादिदृष्टिका आरोप करते हैं ।

शङ्का—इस भोगमें रत्याद्यारोपमें निमित्त क्या है ?

समाधान—उस अवस्थामें कारणरूप ईश्वरात्मना अवस्थित जीवको ईश्वरीय भोग होता है; 'एतस्यैव आनन्दस्य अन्ये मात्रामुपजीवन्ति' यह श्रुति ऐश्वर भोग जीवका भी है, इसमें प्रमाण है । उपपत्ति भी इसमें यह है कि ईश्वर सबके कारण हैं, ईश्वर उक्त तीनों अवस्थाओंको आत्मीय मानते हैं, अतः स्वापमें तदात्मना अवस्थित जीव तद्भोगभागी है ।

शङ्का—इस पक्षमें यह दोष है कि उस भोगमें दृष्ट्यादिका आरोप माननेसे स्वप्नावस्थासे अविशिष्ट संप्रसाद हो जायगा, क्योंकि स्वप्नमें और संप्रसादमें फिर भेद ही क्या रह जायगा ?

समाधान—ठीक है, अच्छा, तो यह भी उत्तर हो सकता है । संप्रसादसे उत्थित स्वप्न या जागरमें स्थित जीव रत्यादि-दृष्टिमान् पाया जाता है । कारण-व्याप्त कार्य होता है, यह नियम है, स्वप्नादिमें रत्यादिदृष्टिसे तत्कारण सुषुप्त भी उससे युक्त है, यह अनुमान करते हैं । सत्कार्यवादी वेदान्ती कार्य और कारणकी समव्याप्ति मानते हैं, इससे उस अवस्थामें भी रत्यादिवाक्य युक्त ही है ।

शङ्का—अनुमानसे सुषुप्तिकी सिद्धि होनेपर 'स यत्र किञ्चित् पश्यति' इस वाक्यशेषकी अनुपपत्ति हो जायगी ।

समाधान—सुषुप्ति आत्माका अज्ञान ही है, वही बुद्धिका कारणात्मना अवस्थान है । वह 'न किञ्चिदवेदिषम्' इस सुप्तोत्थित परामर्शसे प्रत्यक्ष ही है, अतः उक्त वाक्यशेषकी अनुपपत्ति नहीं है ।

जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तीनामेकैकस्मिन् त्रिधा सति ।
जाग्रन्सुप्तिः स्वप्नसुप्तिः सुप्तिसुप्तिश्च लभ्यते ॥ १९४ ॥
प्रमितिर्जागरे जाग्रद्भ्रमः स्वप्नोऽथ मूढता ।
पानादिजन्या सुप्तिः स्यादेवं जागरणं त्रिधा ॥ १९५ ॥
स्पष्टस्मृतिरथाऽस्पष्टस्मृतिरस्मृतिरित्यमी ।
स्वप्नभेदाः स्वप्नमध्ये जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तयः ॥ १९६ ॥

शङ्का—संप्रसादको रत्यादिविशिष्ट माननेसे जो अवस्थान्तराविशेषापत्तिदोष (अन्य अवस्थाओंसे समानत्वापत्तिदोष) है, उसका परिहार तो नहीं हुआ ।

समाधान—सुषुप्तके अनैक्यसे उसका परिहार समीचीन हो जाता है ॥१९३॥

'जाग्रात्स्वप्न०' इत्यादि ।

शङ्का—सुषुप्ति अवस्था एक है, उसमें अनेकत्व कैसे ?

समाधान—जागर आदि अवस्थाओंमें प्रत्येक अवस्थाको तीन प्रकारकी मानते हैं, अतएव अनैक्य सिद्ध होता है । एक जाग्रत्सुप्ति, दूसरी स्वप्नसुप्ति और तीसरी सुप्तिसुप्ति ये तीन भेद हैं ॥ १९४ ॥

'प्रमिति०' इत्यादि । जिस जाग्रद् अवस्थामें प्रमा ज्ञान होता है, वह जाग्रज्जागर है, जिसमें भ्रम होता है, वह जाग्रत्स्वप्न है और कामादि विषयोंमें आसक्त होनेपर जिस जागरमें विवेक नहीं होता, वह जाग्रत्सुप्ति है । अथवा मादक द्रव्यका पान करनेपर जिसमें वक्तव्यावक्तव्य, भक्ष्याभक्ष्य और पेयापेयका विवेक लुप्त हो जाता है, वह जाग्रत्-सुषुप्ति है। मुख्य सुषुप्ति और जाग्रत्सुषुप्तिमें निर्विवेकस्वभावत्व समानधर्म है॥१९५॥

'स्पष्टस्मृति०' इत्यादि । यदि स्वप्नकी स्पष्ट स्मृति रहे, तो वह स्वप्नजागर है, यदि अस्पष्ट स्मृति रहे, तो वह स्वप्न-स्वप्न है और सर्वथा स्मृति न रहे, तो वह स्वप्नसुषुप्ति है । किसी स्वप्नका पूरा स्मरण उठनेके बाद होता है, किसीका स्पष्ट स्मरण नहीं होता और किसीका अवधान करनेपर भी स्मरण नहीं होता, इसमें कारण यही है कि जो स्वप्न स्वप्नजागरमें होता है, उसका स्मरण स्पष्ट होता है । जो स्वप्न स्वप्न-स्वप्नमें होता है, उसका स्मरण अस्पष्ट होता है यानी कुछ अंशका स्मरण होता है, और कुछका नहीं होता एवं जो स्वप्न स्वप्न-सुषुप्तिमें होता है, उसका कुछ भी स्मरण नहीं होता, यह अनुभवसिद्ध है । कार्यविशेषसे कारण-विशेषकी सिद्धि होती है, अन्यथा कार्य आकस्मिक हो जायगा ॥ १९६ ॥

आहारादिविभेदेन सात्त्विकी राजसी तथा ।
तामसीति त्रिधा सुप्तिः सा परामृश्यते त्रिधा ॥ १९७ ॥
सुखमवाप्समद्याऽद्य दुःखमस्वाप्समद्य तु ।
गाढमूढोऽहमस्वाप्समित्युक्तिः सार्वलौकिकी ॥ १९८ ॥
एवं सुप्ते बहुविधे रत्यादि क्वाऽपि सम्भवेत् ।
यद्वा सुप्तेः पुरा स्वप्ने रमणादीनि योजयेत् ॥ १९९ ॥

'आहारादि०' इत्यादि । एवं सात्त्विक आदि आहारके भेदसे सात्त्विका, राजस और तामस भेदसे सुषुप्ति फिर तीन प्रकारकी होती है । सात्त्विक आहारसे सात्त्विक, राजस आहारसे राजस और तामस आहारसे तामस, यह भेद भी उक्त अवस्थाओंमें प्रसिद्ध है, अतएव तीन प्रकारका परामर्श भी हो जाता है ॥१९७॥

'सुखमस्वाप्स०' इत्यादि । 'आज सुखपूर्वक सोया कुछ भी मालूम नहीं हुआ, आज रातमें दुःखसे सोया ठीक निद्रा नहीं आयी, अतएव सिरमें चक्कर-सा आता है, आज गाढ़ मूढ़ सोया, उठनेपर भी मन प्रसन्न नहीं है, किन्तु आलस्य-युक्त है किसी कार्यको करनेकी इच्छा नहीं होती' इत्यादि क्रमसे सात्त्विक, राजस, और तामस निद्राका स्पष्ट परामर्श सब लोगोंको प्रसिद्ध है और शास्त्रोंमें भी इन भेदोंका निरूपण पाया जाता है, इसका विशेष निरूपण पञ्चदशीमें भी है ॥१९८॥

उक्त तीन प्रकारकी अवस्थाओंके प्रतिपादनका फलितार्थ कहते हैं—'एवं सुप्ते' इत्यादिसे ।

उक्त रीतिसे स्वप्न अनेक हैं, अतः संप्रसादगत स्वप्नकी अपेक्षा वहाँ रत्यादि कहे गये हैं । यद्यपि सुषुप्ति कार्यकरणविनिर्मुक्त स्वप्रकाश आत्माके विवेकके लिए कही गई है, तथापि जाग्रत्स्वप्नमें दृष्टान्तार्थ भी है । जैसे संप्रसादमें आत्मा उक्त मृत्युस्वभाव नहीं है, वैसे ही स्वप्न और जागरमें भी उक्तस्वभाव नहीं है । धर्मीके अस्तित्वमें स्वभावकी स्थिति रहती है, संप्रसादमें धर्मीके रहनेपर भी उक्त धर्म नहीं है, अतः यह उसका स्वभाव नहीं है । 'एवम्' प्रकृतमें दृष्टान्त है—संप्रसादमें जैसे रत्यादि नहीं रहते, वैसे स्वप्नादिमें वास्तविक नहीं हैं । यतः काम, कर्म आदि दोषवर्जित आत्मा है, अतः वह स्वयंसिद्ध है । समाधानान्तर करते हैं—'यद्वा' इत्यादिसे । केवल प्रकृत स्वयंज्योति आत्मा उसी वासनारूप साधनसे युक्त हो अपनी मायासे स्वप्नभूमिमें रमणका अनुभव कर तथा विहार कर श्रान्त

स्वप्ने रत्वा चरित्वाऽथ विश्रान्तः सम्प्रसादके ।
पुनरायात्यसौ नाडीं स्वप्नार्थमिति योजना ॥ २०० ॥
दृष्ट्वैवेत्येवशब्देन न कृत्वेति विवक्षितम् ।
न कर्म कुरुते स्वप्ने कारकाणामसम्भवात् ॥ २०१ ॥

होकर संप्रसादमें आता है । 'रमु क्रीड़ायाम्' इस धातु पाठके अनुसार 'रम्' धात्वर्थ क्रीड़ा है, जो स्त्री, पुत्र आदि सापेक्ष मनोवाक्कायचेष्टात्मक है । और इधर उधर गमन विहार है; अतः पुनरुक्तिकी आशङ्का नहीं है ॥१९९॥

'स्वप्ने रत्वा' इत्यादि ।

शङ्का— यदि स्वप्नमें रमणादि सम्बन्ध मानते हैं, तो संप्रसादका अन्वय कहां होगा ?

समाधान—अध्याहृत पदार्थमें संप्रसादका अन्वय विवक्षित है, जो इस प्रकार है—स्वप्नमें रमण एवं विहार कर जब आत्मा श्रान्त यानी थक जाता है, तब विश्राम करनेके लिए संप्रसादमें आता है, उसमें मानस क्रिया भी नहीं होती, फिर वहांसे स्वप्नार्थ आता है, ऐसा अर्थ माननेपर कोई शङ्का नहीं रह जाती । अध्याहृतके साथ संप्रसादका संबन्ध है ॥२००॥

एवकारका प्रयोजन कहते हैं—**'दृष्ट्वैव०'** इत्यादिसे ।

देखता ही है, कर्म नहीं करता । एवकारका व्यवच्छेद्य कर्म है । स्वप्नमें क्रिया-कारक शरीर आदि नहीं हैं, स्वाप्निक शरीर अमूर्त होनेसे क्रियाकारण नहीं होता, क्योंकि मूर्तमें ही क्रिया उत्पन्न होती है ।

शङ्का—जागरके समान स्वप्नमें भी दर्शन आदि क्रियाएँ देखी जाती हैं, अतः कारकाभाव क्यों ?

समाधान—क्रियाकारण इन्द्रियार्थसंयोग जागरावस्थामें है, अतः उस अवस्थामें क्रियाका होना ठीक ही है, स्वप्नमें तो वह है नहीं, उस अवस्थामें इन्द्रियाँ प्राणमें लीन हो जाती हैं, अतः कारणाभावसे क्रियाएँ नहीं होतीं ।

शङ्का—तो उस समय क्रियाकी प्रतीति क्यों होती है ?

समाधानं—अविकारी आत्मामें वासनामय चिदाभासका ही भान होता है, स्वप्नमें क्रिया नहीं है, अतएव श्रुति स्वयं अवधारण करती है । 'दृष्ट्वैव' (देखकर ही न कि करके) यह श्रुति भी इस अर्थमें प्रमाण है, अतः आत्मा कारक नहीं है । क्रिया और कारकके समान फलकी भी केवल दृष्टि विवक्षित है । वस्तुतः फल नहीं होता ।

अगम्यागमनं स्वप्ने न प्रायश्चित्तमर्हति ।
स्कन्नस्य रेतसः सत्त्वात् प्रायश्चित्तं तदुद्भवम् ॥ २०२ ॥
मोदत्रासौ दर्शनार्हौ पुण्यपापगिरोदितौ ।
स्वप्ने कर्मफलं भुङ्क्ते स्वचिदाभासवर्त्मना ॥ २०३ ॥

यदि क्रिया वस्तुतः होती, तो उसका फल भी अवश्य होता । क्षुधार्त पुरुष स्वप्नमें भोजन पाकर अपनेको तृप्त मानकर भी जागरमें भूखा ही अपनेको पाता है। यदि स्वाप्निक क्रिया वास्तविक होती, तो जागनेपर भी तृप्त रहता । अतः उस अवस्थामें क्रिया, फल आदि सब मिथ्या ही हैं ॥२०१॥

शङ्का—यदि आत्मा स्वाप्निक क्रियाओंसे अस्पृष्ट है, तो रेतस्खलननिमित्तक प्रायश्चित्त धर्मशास्त्रमें क्यों कहा गया है ?

समाधान—'**आगम्या०**' इत्यादि । स्वप्नमें कोई पुरुष अगम्यागमन करता है, तो उसका प्रायश्चित धर्मशास्त्रमें है क्या ? यदि नहीं है, तो क्यों ? परमार्थतः इसका उत्तर यही है कि वस्तुतः स्वप्नमें अगम्यागमन करता ही नहीं है, फिर किसके निमित्तके होनेपर नैमित्तिक प्रायश्चित्तका अनुष्ठान किया जाय । एवं स्वाप्निक हत्या, चोरी आदि निकृष्ट कर्मोंका न प्रायश्चित्त ही है और न राजदण्ड या जातिदण्ड ही है । रह गया स्कन्नरेतका प्रायश्चित्त, जिसके बारेमें—

स्वप्ने चेदिन्द्रियदौर्बल्यात् स्त्रियं दृष्ट्वा क्षरेद्यदि ।
प्रायश्चित्तं तु तस्योक्तं प्राणायामास्तु षोडश ॥

इत्यादि लिखा है । वह रेतःक्षरणनिमित्तक प्रायश्चित्त है । रेतःक्षरण तो वस्तुतः हुआ ही । वीर्यरक्षामें अधिक ध्यान या यत्नके लिए यह उपदेश है । तथा 'अवकीर्णी नैर्ऋतं गर्दभमालभेत' इत्यादि श्रौत तथा स्मार्त विधियोंका भी यही तात्पर्य्य है । और यह भी कारण है कि स्वप्नमें जो स्कन्न (स्खलित) वीर्य पुरुष होता है, वह जागरावस्थामें भी स्खलितवीर्य देखा जाता है; यह नहीं कि स्त्रीदर्शनवत् वह केवल स्वप्नकालिक है । जागरमें स्त्रीदर्शन नहीं है, रेतस्खलन ज्योंका त्यों है । इसलिए वीर्यस्खलननिमित्तक प्रायश्चित्त समुचित ही है । स्वाप्निक अगम्यागमन ऐसा नहीं है, अतः तत्-क्रियाभावप्रयुक्त ही उसके प्रायश्चित्तका अभाव है ॥२०२॥

'**मोदत्रासौ**' इत्यादि ।

शङ्का—श्रुतिमें 'दृष्ट्वैव पुण्यं च पापं च' यह पाठ है । यथापाठ पुण्य और

रमणं चरणं मोदत्रास इत्यादिरूपतः ।
विजृम्भते वासनैव साक्षी पश्यति केवलः ॥ २०४ ॥
जागरात्स्वप्नमाप्नोति स्वप्नात्सुप्तिमिति क्रमात् ।
वैपरीत्यं प्रतिन्यायः प्रतिमार्ग इतीर्यते ॥ २०५ ॥

पापको देखकर ही ऐसा अर्थ करना चाहिए। पर भाष्यकारने तत्फलपरतया व्याख्यान किया है, वह क्यों ?

समाधान—पुण्य और पाप प्रत्यक्षयोग्य नहीं हैं, अतएव वे अदृष्ट कहे जाते हैं। अतः उनके फलभूत मोद और त्रास ही दर्शनयोग्य हैं। स्वप्नमें हर्ष, भय आदि कहीं अनुभूत होते हैं, पर पुण्य और पाप अनुभूत नहीं होते, अतः यही व्याख्यान समुचित है। स्वप्नमें शुभ और अशुभ कृत कर्मका भोग सुप्त पुरुषको होता है, अतः कारणवाची पुण्य और पापका उनके कार्यमें 'कार्यं कारणवत्' इस न्यायसे लक्षणया प्रयोग है। भोग भी वस्तुतः आत्मामें नहीं है, किन्तु स्वचिदाभास बुद्धिगत भोगको तादात्म्याध्याससे अपनेमें मानता है ॥ २०३ ॥

'रमणम्' इत्यादि। जागरानुभूत विषयवासना ही रमण, चरण, मोद और त्रास इत्यादि रूपसे प्रकाशित होती है, साक्षी आत्मा केवल (शरीरेन्द्रिय आदि संघातसे रहित) देखता ही है। वस्तुतः आत्मामें भोग भी नहीं है, कारण कि आत्मा असङ्ग और निर्विकार है। यतः अपेतसाधन आत्मा स्वविभ्रमको देखता है, इसलिए उसकी बासना ही क्रियाकारकरूपताको धारण करती है ॥ २०४ ॥

'जागरात्' इत्यादि। जागरावस्थासे स्वप्नमें जाता है और स्वप्नसे संप्रसादमें यह क्रम अनुक्रम कहलाता है। इससे विपरीत प्रतिशब्दार्थ है। प्रतिका सामान्यतः प्रतिकूल अर्थ होता है। विपरीत क्रमसे अर्थात् संप्रसादसे स्वप्नमें, स्वप्नसे जागरावस्थामें आत्मा आता है। आरोहक्रमसे विपरीत क्रम अवरोहका होता है। न्यायका अर्थ प्रकृतमें मार्ग है। प्रतिन्यायका प्रतिमार्ग अर्थ होता है।

शङ्का—'रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव' इस श्रुतिमें प्रतिशब्द जैसे आनुलोम्यार्थक है, वैसे प्रकृतमें भी आनुलोम्यार्थक प्रतिशब्दको क्यों नहीं मानते ?

समाधान—वहां तो जिन जिन रूपोंको सृष्टिमें देखते हैं, तदनुकूल रूप ही आत्मा हुआ, यह अर्थ विवक्षित है। प्रकृतमें जिस मार्गसे आत्मा जाता है, उसी क्रमसे उस मार्गसे आ नहीं सकता, किन्तु उससे विपरीत क्रमसे ही उसका आना हो सकता है,

प्रतियोनि यथास्थानं स्वप्ननाड्यादि भण्यते ।
प्रतिमार्गमवाप्याऽथ स्वप्नावस्थानमाव्रजेत् ॥ २०६ ॥
स्वप्नायैव न मोक्षाय सुषुप्तेः पुनरागमः ।
तथापि वस्तुस्वाभाव्यान्न दृष्टेनाऽनुगम्यते ॥ २०७ ॥

इसलिए जानेमें जो क्रम होता है, उससे विपरीत क्रम आनेका होता है, अतः प्रतिशब्दका प्रातिलोम्य अर्थ ही ठीक है। स्वापसे विपरीत गति स्वप्न और जागरितकी होती है। जागरितसे स्वप्नमें जाता है और स्वप्नसे जागरितमें आता है; अतः उक्त अर्थ ही प्रतिशब्दका यहां विवक्षित है ॥ २०५ ॥

'प्रतियोनि' इत्यादि। प्रतियोनिशब्दका अर्थ है—यथास्थान। प्रतिशब्दका यथा अर्थ है और योनिका स्थान। समुदायका यथास्थान अर्थ है। पदार्थका अभिधान कर वाक्यार्थ कहते हैं—जैसे पहले जागर अवस्थामें मात्रादानकरण यानी करणायतनशरीर था, वैसे ही स्वप्नसे जागरितमें आनेपर तथाविध शरीरको ही प्राप्त करता है यानी उसी शरीरमें आता है। 'प्रतियोन्याद्रवति बुद्धान्तायैव' यह माध्यन्दिन पाठ है, उसके अनुसार योनिशब्दका अर्थ यह है—जाग्रद्देहस्थ करणजात, जो रूपादिविषय धीवासनाके स्वीकारमें कारणभूत है। प्रतिशब्दका यह अर्थ है—जिस आत्माके रूपादि भोगवासनास्वीकारकी जो योनि—चक्षुरादि—जाग्रत् अवस्थामें स्थित है, स्वाश्रय उसी योनिको स्वप्नस्थ यह पुरुष स्वप्नकर्मका क्षय होनेपर और जाग्रत्कारण कर्मका प्रादुर्भाव होनेपर फिर प्राप्त करता है। 'प्रतियोन्याद्रवति स्वप्नान्तायैव' इस सम्पूर्ण पाठका अर्थ यह है कि जागरावस्थामें मात्रारूप वासनाका जैसे ग्रहण किया था, वैसे उन मात्राओंको लेकर स्वप्नस्थ होता है और स्वप्नकर्मका क्षय होनेपर सुषुप्तिमें जाता है। स्वप्नकर्मका प्रादुर्भाव होनेपर कारणात्मना स्थित वासनाभिव्यक्तिसे तन्निर्मित देह, तन्मय करणायतन स्वप्नयोनिवाच्यको प्राप्त करता है। दोनों पाठोंके अनुसार प्रतिन्यायशब्दका अर्थ है—यथामार्ग। स्वप्ननाड्यादि प्रतियोनिशब्दका अर्थ है। सुप्तेः स्वप्नं गच्छतः स्वप्नाद्वा जारितं गच्छतः, तात्पर्यार्थ यह है कि जैसे पूर्वमें वासनामय स्थान था, वैसे ही सुप्तिसे स्वप्नमें जानेपर वैसे ही स्थान होता है। जैसे जाग्रत्में मात्रादानकरणायतन शरीर पूर्वमें था, वैसे ही स्वप्नसे जागरितमें आनेपर वही शरीर होता है ॥ २०६ ॥

'स्वप्नायैव' इत्यादि। 'स्वप्नायैव' में एवकारव्यावर्त्य कहते हैं—स्वप्न

सम्प्रसादे ततः पूर्वं स्वप्ने वा यत्स ऐक्षत ।
तेनाऽनन्वागतः किन्तु स्वयमेव समागतः ॥ २०८ ॥

ही के लिए आता है, मोक्षके लिए नहीं, मोक्ष ही एवकारव्यावर्त्य है ।

शङ्का—यदि मोक्षमें नहीं जाता, तो उससे अनन्वागत होता है, इसको कहनेका क्या प्रयोजन ?

समाधान—यह वस्तुस्वभावोक्ति है, असङ्ग, अविक्रिय स्वयंप्रकाश आत्मामें किसी वस्तुका संश्लेष नहीं होता, इसका स्पष्टीकरण आगे होगा ॥२०७॥

'संप्रसादे' इत्यादि । संप्रसादमें उससे पूर्व स्वप्नमें जो शुभाशुभात्मक क्रिया आत्मा देखता है, उनका उसमें कुछ भी संश्लेष नहीं होता ।

शङ्का—सम्प्रसादमें तो बोध ही नहीं होता । फिर तद्विषयक संश्लेषकी क्या संभावना ?

समाधान—संप्रसादकी तीन अवस्थाएँ पूर्वमें सिद्ध कर चुके हैं, उसमें भी स्वप्न होता है और दूसरा स्वप्न प्रसिद्ध ही है, इसलिए दोनोंका उपादान किया गया है, किन्तु 'स्वयमेव'में एवकारसे तद्दर्शनादिकृत पुण्यादिकी व्यावृत्ति विवक्षित है; केवल स्वापके लिए स्वयं जागरित अवस्थामें आता है ।

शङ्का—जैसे कि देवदत्त आदि पुण्य और पापादि कर एक गाँवसे दूसरे गाँवमें जब जाते हैं, तब उनमें पूर्वकृत कर्मका संश्लेष रहता ही है, वैसे ही स्वप्नकृत शुभा-शुभका संपर्क एक स्थानसे अन्य स्थानमें जानेपर आत्मामें क्यों नहीं होता ?

समाधान—संघातात्मक देवदत्त आदि वस्तुतः उसके कर्ता हैं, अतः स्थानान्तरमें भी उसका संपर्क बना रहता है । आत्मा तो कर्ता नहीं है, किन्तु द्रष्टा है, अतः द्रष्टामें उसका संपर्क दर्शनसमयमें भी नहीं होता, कालान्तर या देशान्तरमें उसके सम्बन्धकी क्या संभावना ?

शङ्का—देवताके दर्शनसे सुकृत होता है; यह शास्त्र और लोकमें प्रसिद्ध है, अतएव सेतुदर्शन आदिजन्य सुकृतसे पापनिवृत्ति लिखी है । और सुकृतके लिए ही देवदर्शनार्थ यात्रा लोग करते हैं । तथा अन्त्यजादिदर्शननिमित्तक दुरित भी शास्त्रमें प्रसिद्ध ही है । लोकमें भी प्रसिद्धि है कि प्रातः अमुकका दर्शन हुआ है, अतः अच्छा न होगा इत्यादि । इसी प्रकार दर्शनकृत सुकृतादिका सम्बन्ध आत्मामें क्यों नहीं होता ?

समाधान—वस्तुतः द्रष्टा भी आत्मा नहीं है, किन्तु मन है; आत्मा केवल साक्षीमात्र है, अतः तदन्वागत नहीं होता ॥२०८॥

अनन्वागमने हेतुरसङ्गत्वं हिशब्दतः ।
सूच्यते बाधकस्तर्कः प्रसिद्धिर्वाऽत्र लौकिकी ॥ २०९ ॥
यदि स्थानान्तरं प्राप्तमन्वियात्स्वप्नजा क्रिया ।
शास्त्रारम्भस्तदा व्यर्थः स्वप्ने को नाऽपराध्यति ॥ २१० ॥

'अनन्वागमने' इत्यादि । अनन्वागमनमें कारण असङ्गत्व है । 'असङ्गो ह्ययं पुरुषः' इस श्रुतिसे आत्मा असङ्ग कहा गया है । 'नहि सज्जते' इससे किसीका सङ्ग आत्मामें नहीं है, यह निश्चय किया गया है; अतः स्वाप्नदर्शनकृत सुकृतादिका संपर्क आत्मामें नहीं होता, अन्यथा असङ्गश्रुतिसे विरोध होगा । जाग्रत्कालसे पूर्वकालमें जो स्वप्न हुआ था, तत्कृत शुभादिका संबन्ध आत्मामें नहीं होता; स्वप्नपूर्वकालमें जो द्रष्टा है, उसमें उत्तरकालिक स्वप्नकृत गुण और दोषोंके संपर्ककी संभावना ही नहीं है । आमपाकनिक्षिप्त घटमें जो रक्तगुण होता है; उसका सबन्ध आमपाकनिक्षेपसे पूर्वकालिक घटमें नहीं कह सकते; अतः जागरित पूर्वकालिक स्वप्नद्रष्टसे अनन्वागत कहा है । स्वाप्न शुभादिसे जागरादिगत आत्माका स्पर्श नहीं है, अतः आत्मा असंग है, असंगत्व ही अनन्वागतमें हेतु है ।

अनन्वागतत्वमें बाधक तर्क और लोकप्रसिद्धि भी है, पहले बाधक तर्कका विवरण करते हैं—**'यदि'** इत्यादिसे ।

यदि स्वप्नकालिक क्रिया स्थानान्तरप्राप्त आत्मामें भी अन्वित होती, तो शास्त्रारम्भ ही व्यर्थ होता ।

शङ्का—क्यों ?

समाधान—स्वप्नमें कौन अपराध नहीं करता, प्रायः सब करते हैं । स्वप्नदशामें पाप दुष्परिहर है । यदि स्वाप्निक पापसे पुरुष अन्वित होगा, तो मोक्षौपयिक ज्ञानोत्पादक शास्त्र ही व्यर्थ हो जायँगे । ज्ञानोत्पत्ति पापरहित चित्तमें होती है । 'ज्ञानमुत्पद्यते पुंसां क्षयात् पापस्य कर्मणः' इत्यादि शास्त्रोंसे ज्ञानोत्पत्तिमें पाप प्रतिबन्धक है । स्वाप्निक पाप यदि होंगे, तो स्वप्नकी निवृत्ति असंभव हो जायगी । किसी अधिकारीके न होनेपर शास्त्रवैयर्थ्य स्पष्ट है । अतः जब स्वाप्निक पाप होते ही नहीं, तब उनके संसर्गकी चिन्ता भी व्यर्थ है और धर्माधर्म शास्त्रैकसमधिगम्य है । स्वप्नक्रियासे पापादि होते हैं, ऐसा कोई शास्त्र है नहीं, यही बाधक तर्क है ॥२१०॥

लोकप्रसिद्धिर्विस्पष्टा जाग्रत्यननुवर्त्तने ।
स्वप्नलब्धगजादीनामनन्वागतता ततः ॥ २११ ॥
यद्वाऽनन्वागतत्वेन विवेकः कर्मणः कृतः ।
असङ्गत्वेन कामस्य कामो नह्यात्मनो गुणः ॥ २१२ ॥

'लोक०' इत्यादि । स्वाप्निक क्रियाफलोंकी अनुवृत्ति जागरमें नहीं होती, यह लोकप्रसिद्धि स्पष्ट है । स्वप्नमें किसीको गज (हाथी) मिला तो क्या वह जागरमें गजान्वित होता है ? कभी नहीं । केवल फलका संभोग ही स्वप्नमें देखता है; अतः अक्रिय आत्मामें फलादिका अन्वय कहाँ ? ॥ २११ ॥

अनन्वागतादिवाक्यका भाष्यकारोक्त एक व्याख्यान हुआ, अब द्वितीय व्याख्यान भर्तृप्रपञ्चोक्त भी लिखते हैं—'यद्वाऽन०' इत्यादिसे ।

वह भी यहां उपादेय ही है, अनुपादेय नहीं । भर्तृप्रपञ्च कहते हैं कि यहां दो वाक्य हैं—अनन्वागत और असङ्ग । अनन्वागतका तो व्याख्यान कर्मविवेकके लिए हो गया । असङ्गवाक्यका भी यदि उक्त विवेक ही प्रयोजन हो, तो वह व्यर्थ है, क्योंकि उसका निर्णय प्रथमसे ही हो चुका है; अतः असङ्गवाक्य काम्यके विवेकके लिए है । जागरित कर्म भी भावी फलका साक्षात् कारण नहीं है । काम भी फलहेतु है, अतएव नित्यकर्मसे फल नहीं मानते, क्योंकि उसमें कामना निमित्तत्वरूपसे श्रुत नहीं है, काम्य यागादि तत्-तत् फलकी कामनासे किये जाते हैं, इसलिए उनका फल माना जाता है । प्रकृतमें क्रियाहेतु काम स्वप्नमें हैं, अतः प्रवृत्ति भी होती है और कामना रहनेपर उस अवस्थामें भी आत्मा असङ्ग नहीं है, ऐसा लोग कहते हैं । जागरितमें भी उदय और अनुदयमें केवल क्रिया ही हेतु नहीं है, किन्तु काम भी हेतु है, अतएव फलाभावके लिए निष्काम कर्मका विधान है । कर्मका भी कामनारहित होकर अनुष्ठान करनेपर उससे फल नहीं होता । इसमें केवल कामनावैकल्य ही है, अन्यान्य सम्पूर्ण कारण तो विद्यमान हैं; अतः यह निर्विवाद है कि कामना भी निमित्त है ।

शङ्का—अकाम भी नित्यकर्ममें प्रवृत्त होता है, यह दृष्ट है, अतः कामनानियत प्रवृत्ति हेतु है; यह कहना असंगत है ।

समाधान—हाँ कामनाके बिना क्रिया निष्फल ही देखी जाती है; अतएव सफल तत्-तत् कर्मोंके विधायक शास्त्रमें 'स यथाकामः' इत्यादिका निर्देश रहता है; अतः फलवती क्रिया कामनिमित्ता होती है, यह नियम है । उपचयमूल

आत्मनश्चेदयं कामो गुणश्चैतन्यवत्तदा ।
दृश्यत्वं तस्य नैव स्यात्तस्माद् दृश्यधियो गुणः ॥२१३ ॥
पुष्पगन्धः पुटस्थोऽपि पुष्पस्यैव यथा तथा ।
आत्मनिष्ठतया वादिवर्णितोऽपि धियो गुणः ॥ २१४ ॥

काम स्वप्नमें उच्छिन्न नहीं हुआ है, अतः स्वप्नमें भी धर्मादि होने चाहिएँ। इस पूर्वपक्षका परिहार असङ्गवाक्यसे किया जाता है—जो कामासङ्ग स्वप्नमें आप कहते हैं, वह नहीं है, वास्तवमें काम भी आत्मामें नहीं है ।

शङ्का—क्यों ?

समाधान—श्रुति स्वयं कहती है कि वह असङ्ग है । यदि उस अवस्थामें कामासङ्गको मानते हो, तो श्रुतिविरोध स्पष्ट ही है । स्वप्नावस्थामें देह-कर्मका सम्बन्ध आत्मामें नहीं रहता, यह ठीक है, क्योंकि 'कुलायाद्बहिः स्वप्नं चरित्वा' इससे देशसम्बन्ध कहा गया है, अतएव देहधर्मका सम्बन्ध नहीं है, यह भी सिद्ध होता है । धर्मिसम्बन्ध द्वारा ही धर्मसम्बन्ध सर्वत्र माना जाता है; परन्तु एतावता कामका असंबन्ध कैसे ?

समाधान—काम देहसम्बन्धके बिना कहीं देखा नहीं जाता, देही पुरुष कामना करता है। देहसम्बन्धके न होनेपर देहधर्मके समान कामसंबन्ध भी स्वप्नगत आत्मामें नहीं है, स्वप्नमें सब वासनामात्र हैं । 'विमतं मिथ्या, स्वप्ननिर्माणत्वात्, तद्गत-रथादिनिर्माणवत्' इस अनुमानसे बाह्य रथ आदिके निर्माणके समान शरीर, इन्द्रिय आदि आन्तरका भी असत् ही निर्माण है । एवं कामका भी असन्निर्माण है; अतः काम भी आत्मगुण नहीं है ॥ २१२ ॥

'आत्मन०' इत्यादि । काम चैतन्यके समान यदि आत्मगुण होता, तो चैतन्यके समान दृश्य नहीं होता, किन्तु काम दृश्य है, अतएव दृश्य बुद्धिका ही गुण है ॥ २१३ ॥

'पुष्पगन्धः' इत्यादि । 'अहं कामये' इत्यादि प्रतीतिसे आत्मधर्मरूपसे प्रतीयमान काम आदि आत्मधर्म हैं, यह वैशेषिक आदिका कथन अयुक्त है । जिसमें जो प्रतीत होता है, वस्तुतः वह उसका गुण होता ही है, ऐसा नियम नहीं है, जिस पुष्पसे तैलादि वासित होता है; उस पुष्पका गन्ध वास्य तैलादिमें प्रतीत होता है, पर वस्तुतः वह उसका गुण नहीं कहा जाता है; किन्तु

कर्मकामविवेकोऽयमुक्तो युक्त्याऽभ्युपेत्य तम् ।
दत्वा तु दक्षिणां भूयः पप्रच्छ श्रुत्यपेक्षया ॥ २१५ ॥

वह पुष्पका ही गुण माना जाता है; इसी प्रकार बुद्धिगुण पुटवत् आत्मामें प्रतीत होता है । कामादिगुण बुद्धिनिष्ठ ही हैं, आत्मवृत्ति नहीं हैं, आत्मामें उनका औपचारिक व्यपदेश है, मुख्य नहीं है ।

शङ्का—मरणकालमें बुद्धि आदिका लय हो जाता है, अतः परलोक-फलदायक कर्मोंको अक्षीण और आत्माश्रित ही मानना पड़ेगा, फिर उन्हें आत्मगुण क्यों नहीं कहते ?

समाधान—बुद्ध्यादि कारणका सर्वथा लय मरणकालमें नहीं होता, किन्तु उसका अतिसूक्ष्मरूप हो जाता है; सत्कार्यवादीके मतमें तत्त्वज्ञानके बिना जिन पदार्थोंका लय होता है; उनका स्वकारणमें सूक्ष्मरूपसे अवस्थान ही लयशब्दार्थ है, अतएव विद्वानोंका कथन है कि 'बुद्ध्यादिलयेऽपि कर्मप्रयोगापेक्षमेवाऽऽस्ते, स्वात्मलाभाय नाऽऽत्मानमपेक्षते' अर्थ स्पष्ट है—बुद्ध्यादिके स्थूलरूपका लय होने पर मरणावस्थामें सूक्ष्मरूपाश्रित ही कर्म फल देता है, आत्माश्रित नहीं, अतः कामादिसे भी आत्माका प्रविवेक होता है । कामादि आत्मगुण नहीं हैं । 'कामो नात्मगुणः, दृश्यत्वात्, रूपवत्' यह अनुमान भी उक्त अर्थमें प्रमाण है और आत्मा सब कामोंसे निर्मुक्त है, इसमें सिद्धवद्धेतूपादान गमक है—'असङ्गो हि' इत्यादि । अतएव जागरके समान कर्मोपचय भी स्वप्नमें नहीं है, किन्तु सर्वासङ्गविनिर्मोकप्रयुक्त वासनामात्र ही अवशिष्ट रहती है । यह प्रत्यगात्मा न कर्ममय है और न काममय है, केवल आत्माज्ञानसे कर्ममय और काममय प्रतीत होता है । नानासाधनसंसर्गसे जगत्में कर्तृत्वादि देखा जाता है, यह तो सर्वथा असंग है, अतः आत्मा न कुछ करता है, न किसीसे लिप्त होता है ॥ २१४ ॥

'कर्मकाम०' इत्यादि । श्रीयाज्ञवल्क्यजीने तीन अवस्थाओंके उपन्यास द्वारा युक्तिसे काम, कर्म आदि आत्मगुण नहीं हैं, किन्तु बुद्धि आदिके गुण हैं, इस प्रकार उक्त विवेक राजाको करवाया। राजाने उसको स्वीकार कर मुनिजीको दक्षिणामें हजारों गाये दीं, परन्तु काम, कर्म आदिको आत्मधर्म न माननेसे श्रुतिविरोध होगा, क्योंकि 'यजेत स्वर्गकामः' इत्यादि वाक्यसे स्वर्गफलोद्देशेन यागादि कर्मका विधान श्रुतियोंमें है । सम्पूर्ण कर्मकाण्ड कामादि आत्मधर्म हैं, इसीमें साधक है, 'शास्त्रदेशितं फलं कर्तरि' यह उनका सिद्धान्त है। 'विज्ञानं यज्ञं तनुते' इत्यादि श्रुति कर्तृत्व आदि आत्मधर्म हैं

स ईयते यत्र कामं यथाकामं प्रवर्त्तते।
इति श्रुतिद्वयं स्वप्ने विस्पष्टं काममब्रवीत् ॥ २१६ ॥
सति कामे कर्मसत्त्वमनिवार्यं ततो द्वयात्।
विमोक्षायैव मे ब्रूहि मा शङ्कामवशेषय ॥ २१७ ॥

इसमें प्रमाण है। आत्मासे व्यतिरिक्त सब जड़ है, जड़ न स्वतः कर्ता ही हो सकता है और न भोक्ता ही। आत्मा भी यदि कर्ता नहीं है, तो सम्पूर्ण कर्मकाण्ड व्यर्थ हो जायगा। जनक स्वयं कर्मानुष्ठानपरायण थे। उनकी कर्ममें पूर्ण निष्ठा थी। अग्निहोत्रविषयक अपूर्व ज्ञान जनकको था, जिसका कि श्रवण कर श्रीमुनिजीने अतिप्रसन्न होकर राजाको कामप्रश्नका वरदान दिया था, इसलिए उक्त अर्थमें श्रुतिविरोधकी आशङ्का राजाकी अनुचित नहीं है और काम, कर्म आदिका विवेक युक्तिसे किया, परन्तु आत्मा औपनिषद् है, अतः श्रुति द्वारा ही उसका प्रतिपादन मुमुक्षेके लिए आवश्यक है, इसलिए पुनः प्रश्न किया।

शङ्का—जब प्रश्न शेष (अवशिष्ट) है, तब हजार गौएँ दक्षिणामें क्यों दी गईं?

समाधान—उक्त अर्थमें स्वकीय दृढ़ताका सूचन करनेके लिए उक्त दक्षिणा दी।

शङ्का—दक्षिणादानसे संपूर्ण प्रश्नका उत्तर हो गया, यही कल्पना क्यों नहीं करते।

समाधान—इसमें बाधक है—पुनः प्रश्न, अतः पूर्वकल्पना ही ठीक है ॥२१५॥

'स ईयते' इत्यादि। यदि यह कहिये कि कर्मकाण्ड अविद्वानोंके लिए है, अतः उनके मतमें चिदचिद्ग्रन्थि अहमर्थ आत्मा है, वह कर्ता ही है। ज्ञानियोंके लिए उपनिषत् है। इनके मतमें स्वयंज्योति आत्मा है, जिसमें कामादि नहीं हैं, सो भी कहना ठीक नहीं है, क्योंकि उपनिषत्से ही कामादि आत्मधर्म हैं यह ज्ञान होता है। चतुर्थाध्यायमें 'यथाकामं विपरिवर्तते' और इसी ब्राह्मणमें 'स ईयते यत्र कामम्' इत्यादिसे कामादि आत्मधर्म हैं; यह स्पष्ट प्रतीत होता है। आपके कथनानुसार उक्त धर्म यदि आत्माके न माने जायँ, तो यह श्रुतिविरुद्ध होगा, अतः इन विरोधोंका परिहार आवश्यक है ॥२१६॥

'सति कामे' इत्यादि। काम है, तो कर्मकी सत्ता भी आवश्यक है; अतः द्वैतसे यानी काम और कर्मसे मोक्षके लिए हमको उपदेश कीजिए, कुछ भी शङ्का अवशिष्ट मत रखिये।

शङ्का—'कतम आत्मा' यह राजाने पूछा। इस प्रश्नके निर्णयके लिए मुनि स्वयं

स्वप्नकामस्य वस्तुत्वं श्रुतिभ्यां चेद्विवक्षितम् ।
प्रबोधेऽप्यनुवर्त्तेत तच्च नाऽस्ति ततो मृषा ॥ २१८ ॥
उतेव स्यान्महाराज उतेव स्त्रीभिरुच्यते ।
श्रुतिवाक्ये इवेत्युक्त्या स्वप्नमिथ्यात्वमाहतुः ॥२१९ ॥
जाग्रत्प्रत्यक्षमाश्रित्य जागरे मृत्युसत्यताम् ।
आशङ्क्य पुनरप्राक्षीद् दृष्ट्वेति तदुत्तरम् ॥ २२० ॥

प्रवृत्त थे । निर्णयके बिना निवृत्त न होंगे, फिर क्यों राजाने सभाके मध्यमें प्रश्न किया ?

समाधान—जिस आत्मवस्तुके विषयमें राजाने पूछा था, उसका यथावत 'योऽयम्' इत्यादि वाक्यसे निर्णय किया, इस दृष्टिसे संभव है कि मुनिजी पुनः कथनसे उपरत हो जायँ, इस संभावनासे फिर विमोक्षके लिए राजाने पूछा ॥२१७॥

'स्वप्नकामस्य' इत्यादि । स्वप्नमें यदि कामको सत्य मानियेगा, तो उसी दृष्टान्तसे कामनाके विषय स्त्री आदिके विषयमें भी सत्यत्वकी प्रसक्ति हो जायगी । यदि सत्य होंगे, तो जागरमें भी उनकी अनुवृत्ति होगी । जागरमें स्वप्नदृष्टकी अनुवृत्ति नहीं होती, अतः स्वप्नकामनाविषय कलत्र आदिके समान कामना भी मिथ्या है; अतः तत्कामनाविषयमें सत्यत्व उक्त श्रुतिद्वयको विवक्षित नहीं है; किन्तु स्वप्नमें भासमान सब विषय मिथ्या हैं और स्वाप्निक पदार्थ सत्य हैं या मिथ्या, यह संशय ही नहीं है, सब लोग यह जानते हैं कि स्वप्न मिथ्या ही होता है; चिरप्रवृत्त वस्तुका स्वप्नमें भान होता है और देशान्तर कालान्तर वस्तुका दर्शन होता है; इसलिए स्वाप्निक पदार्थ मिथ्या हैं, इसमें किसीको विवाद नहीं है ॥२१८॥

'उतेव' इत्यादि । 'स्वप्नमें अकिञ्चन भी अपनेको महाराजके समान देखता है, विधुर भी अपनेको स्त्रीयुक्त-सा देखता है, इन वाक्योंमें समानशब्दका प्रयोग किया गया है । इसका तात्पर्य्य यह है कि वस्तुतः जैसा देखता है, वैसा है नहीं, किन्तु तादृश दृष्टिमात्र है, जहाँ वास्तविक पदार्थ देखे जाते है, वहाँ इवार्थकका प्रयोग नहीं होता—जैसे राजाको देखता है । अतः स्वप्न मिथ्या है, यह श्रुतिसे भी संमत है ॥२१९॥

'जाग्रत्०' इत्यादि ।

शङ्का—जाग्रत् अवस्थामें 'अहं कर्ता' यह अनुभव अबाधित होनेसे मिथ्या नहीं

मूढप्रत्यक्षतः कर्त्ता विद्वत्प्रत्यक्षतोऽक्रियः ।
विवेकिनामनुभवादात्मज्योतिर्विवेचितम् ॥ २२१ ॥

है, किन्तु सत्य ही है, इससे आत्मामें वस्तुतः कर्तृत्वादि धर्म है, कर्तृत्व रहनेसे मृत्यु सत्य ही है, इस आशङ्कासे राजाने मुनिजीसे पुनः प्रश्न किया। मुनिजीने श्रुतिवाक्यसे ही उत्तर दिया कि 'दृष्टेव' यानी दर्शन-कर्ताके समान अपनेको मानता है, वस्तुतः द्रष्टा या कर्ता नहीं है, किन्तु उसके समान अपनेको मानता है। इवके प्रयोगसे मिथ्यात्वसिद्धि पूर्वमें कह चुके हैं। भाव यह है कि वस्तुतः यहाँ भी कर्तृत्व आदि धर्म आत्मामें नहीं हैं, कर्ता चिदाभासव्याप्त है, इस कारण चिदात्मामें कारकत्व बुद्धि होती है, इस प्रकार जागरमें जब कर्तृत्व आदि काल्पनिक हैं, तब स्वप्न आदिमें काल्पनिक हैं, इसमें तो कहना ही क्या है? यानी कैमुतिकन्यायसे ही प्राप्त है। 'अहं कर्ता' इत्यादि ज्ञान औपचारिकभावसे होता है। 'आत्मनैवायम्' 'ध्यायतीव' इत्यादि श्रुतिप्रमाणसे औपाधिककर्तृत्व स्वतःअकर्तृत्व सिद्ध होता है। और अवस्थावान्में कर्तृत्व होता है; आत्मा सब अवस्थाओंसे अतिक्रान्त है, अतएव गीतामें भगवान्ने श्रीमुखसे स्वयं कहा है—

'अनादित्वान्निर्गुणत्वात् परमात्माऽयमव्ययः ।
शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते ॥' इति ॥ २२० ॥

'मूढ़प्रत्यक्षतः' इत्यादि ।

शङ्का—श्रुति अनुभवसे विरुद्ध अर्थको कैसे कहती है, 'अहं कर्ता' इस सर्वजनीन अनुभवसे आत्मामें कर्तृत्व सिद्ध होता है 'इव' शब्दका प्रयोग कर श्रुति उसको मिथ्या कहकर वस्तुतः अकर्ता कहती है। श्रुति और अनुभवका विरोध होनेपर अनुभवानुसार ही श्रुत्यर्थ करना उचित होता है; अतएव 'आदित्यो यूपः' इस श्रुतिका अर्थ 'आदित्यो न यूपः' इस प्रत्यक्षविरोधके परिहारके लिए 'आदित्यसदृशो यूपः' ऐसा माना जाता है ।

समाधान—ठीक कहते हो, पर इसपर भी दृष्टि दीजिये, अनुभव दो हैं—एक अविद्वान्का जो आत्मामें कर्तृत्वका साधक है और दूसरा विद्वानोंका, जो अकर्तृत्वका साधक है; ऐसी परिस्थितिमें किस प्रत्यक्षके अनुकूल श्रुत्यर्थ मानना ठीक होगा, यह आप स्वयं विचारिये। मेरी समझसे तो आगमैकवेद्य अतिसूक्ष्म प्रकृत श्रुत्यर्थका निर्णय विद्वानोंके अनुभवके अनुसार ही करना चाहिए। आदित्यादिभेद यूपमें उभयानुभव-

जाग्रद्बन्धस्य वस्तुत्वे आत्मा स्वप्नाय नो भवेत् ।
आयाति च ततोऽसङ्गः सिद्धोऽवस्थात्रये पुमान् ॥ २२२ ॥
असकृत्स्वप्नबुद्धान्तसंचारेऽपि न सङ्गवान् ।
इत्यर्थेऽस्मिन् महामत्स्यो दृष्टान्तत्वेन वर्ण्यते ॥ २२३ ॥

श्रुतिः—तद्यथा महामत्स्य उभे कूलेऽनुसञ्चरति पूर्वं चापरं चैवमेवायं पुरुष एतावुभावन्तावनुसञ्चरति स्वप्नान्तं च बुद्धान्तञ्च ॥ १८ ॥

सिद्ध है, इसलिए तदनुसार ही श्रुत्यर्थ किया गया है। प्रकृतमें विवेकियोंके अनुभवसे आत्मा ज्योति है, यह निर्णय किया गया है, अतः विद्वानोंके अनुभवके अनुसार वस्तुतः आत्मा कर्तृत्व आदि धर्मोंसे शून्य अतएव अमृत्युस्वभाव है। अविद्वानोंके अनुभवके अनुसार 'नीलं नभः' इत्यादिके समान औपचारिक कर्तृशब्दका प्रयोग है, ऐसा अर्थ करनेमें उभयानुभवका समर्थन किया गया है ॥ २२१ ॥

न्यायसे भी आत्मा अकर्ता है, यह सिद्ध करते हैं—**'जाग्रद्बन्धस्य'** इत्यादि।

'अहं मनुष्यः' यह प्रतीति जागर अवस्थामें होती है, इससे स्थूल शरीर तादात्म्याभिमानलक्षण बन्ध यदि सत्य हो, तो इसकी निवृत्ति ही नहीं होगी, फिर स्वप्नाद्यवस्था भी नहीं होगी। जैसे जागरदेहाद्यध्यासकी निवृत्तिके बिना स्वाप्निक शरीरादिका अध्यास असम्भव ही है, वैसे ही सुषुप्तिका भी अभाव समझना चाहिए। उसमें अतिरिक्तका भान ही नहीं है। यदि शरीरादिका भान होता रहेगा, तो सुषुप्ति कैसे मानी जायगी और दोनों अवस्थाएँ प्राणियोंकी होती हैं। इसलिए जाग्रत् बन्ध वस्तुतः है, यह जब नहीं कह सकते, तब आत्मा असङ्ग है, यही अर्थ सिद्ध होता है ॥२२२॥

'असकृत्' इत्यादि। पुनः पुनः स्वप्नबुद्धान्त-संचार करनेपर भी आत्मा सङ्गवान् नहीं है, क्योंकि उक्त संचारवाक्यसे आसङ्गलक्षण मृत्युसे असङ्गता अतियत्नसे प्रत्यगात्मामें निर्णीत हुई।

शङ्का—आसङ्ग विशेषणसे कामप्रविवेक ही विवक्षित है, कर्मविवेक नहीं।

समाधान—दो अवस्थाओंका परस्पर व्यभिचार होनेसे एकत्र किये गये कर्मोंका अन्यत्र अन्वय न देखनेसे कामकर्मात्मक आसङ्गलक्षण मृत्युसे आत्मा विविक्त है, यह पूर्वमें कहा चुका है। उक्त अर्थमें अब महामत्स्यका दृष्टान्त कहते हैं ॥२२३॥

'तद्यथा महामत्स्य' इत्यादि श्रुति। वार्तिकसारके श्लोकके व्याख्यानसे प्रकृत श्रुति और उसका भाष्य व्याख्यात हो जायगा, इसलिए श्रुतिका एवं उसके भाष्यका

महामत्स्यः प्रवाहस्य पारवश्यं न गच्छति ।
नाऽपि कूलद्वये सङ्गमेवमात्मनि योज्यताम् ॥ २२४ ॥
न कर्मवश आत्माऽयं कर्माध्यक्षत्वशास्त्रतः ।
अतो न तत्फलेनाऽपि सज्यते स्वप्नजाग्रतोः ॥ २२५ ॥
इत्थं स्वप्नप्रसङ्गेन देहादिव्यतिरिक्तता ।
स्वप्रभत्वमसङ्गत्वं चेत्येतेऽर्थाः प्रपञ्चिताः ॥ २२६ ॥

व्याख्यान अलग नहीं करते। जहां भाष्य अधिक होगा, वहां अलग व्याख्यान किया जायगा और जहां स्वल्प है, वहां साथ ही व्याख्यान होगा ।

'महामत्स्यः' इत्यादि । छोटे मत्स्य नदीप्रवाहके अधीन होते हैं । नदीप्रवाहपारतन्त्र्यके प्रतिषेधके लिए 'महान्' यह मत्स्यमें विशेषण दिया गया है । नदी वेगसे अकम्प्य महामत्स्य जैसे दोनों तटोंमें आता जाता है, परन्तु दोनोंसे उसका सङ्ग नहीं रहता, वैसे ही आत्मा एक अवस्थासे अवस्थान्तरमें आता जाता है, परन्तु अवस्था और उसके धर्मोका सङ्ग आत्मामें नहीं होता और जैसे दोनों तटोंसे भिन्न उक्त मत्स्य है, वैसे ही शरीरादिसे भिन्न आत्मा है ॥ २२४ ॥

'न कर्मवश' इत्यादि । यह आत्मा कर्मोंका अध्यक्ष है, ऐसा शास्त्र कहते हैं, अतः यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि वह कर्मवश नहीं है। जो जिसका अध्यक्ष होता है, वह उसके वशमें नहीं होता, जैसे कर्मचारीके वशमें उसका अध्यक्ष नहीं रहता है, यह लोकमें प्रसिद्ध है । अतएव स्वप्न और जागर कर्मसे आत्माका संबन्ध नहीं है, इसीमें महामत्स्यका दृष्टान्त कहा गया है ।

शङ्का—मत्स्य तो ससङ्ग है, अतः उसका असङ्ग प्रत्यगात्मामें दृष्टान्त कैसे ?

समाधान—मत्स्य दोनों तटोंके मध्यस्थ स्रोतमें रहता है, तटसे उसका सम्बन्ध नहीं है। मत्स्य सूखी भूमिमें नहीं रहता, किन्तु जलमें ही रहता है; अतः जैसे मत्स्य दो तटोंके मध्यमें स्थित स्रोतमें रह कर तटद्वयासङ्गी होता है; वैसे ही आत्मा स्वप्न और जागरके मध्य सुषुप्तमें रह कर स्थूल और सूक्ष्म दो देहोंसे असङ्गी है; उस अवस्थामें दो देहोंसे समुत्थित होकर स्वकीय रूपसे अभिनिष्पन्न होता है ॥२२५॥

'इत्थम्' इत्यादि । उक्त प्रकारसे स्वप्रकाशत्वनिरूपणके प्रसङ्गसे देहादिव्यतिरिक्तत्व, असङ्गत्व तथा कामकर्माद्यस्वभावत्व आदिका सप्रपञ्च निरूपण किया गया है। यह सब प्रपञ्च कूटस्थ स्वप्रकाशचिदात्माके परिचयके लिए किया गया है ॥२२६॥

केचिदत्र महामत्स्यदृष्टान्तेन निवर्त्तिता ।
लोकायतस्य शङ्केति प्राहुः शङ्का तु वर्ण्यते ॥ २२७ ॥
चैतन्यं भौतिकं भूतव्यतिरेकानिरूपणात् ।
कामकर्मविवेकोऽतः कस्येत्याशङ्क्य वर्ण्यते ॥ २२८ ॥
क्रमेण सञ्चरन् कूले मत्स्यस्ताभ्यां पृथग्यथा ।
स्वप्नबुद्धान्तभूम्योश्च तथाऽऽत्मा सञ्चरन् क्रमात् ॥ २२९ ॥
चिदात्मा भौतिकः स्याच्चेद् भूतानामविशेषतः ।
युगपत्प्राप्नुयाज्जाग्रत्स्वप्नयोर्दर्शनं द्वयोः ॥ २३० ॥

भर्तृप्रपञ्चोक्त मत्स्यवाक्यका तात्पर्य कहते हैं—**'केचित्'** इत्यादिसे ।

चैतन्य भूतचतुष्टयात्मक देहका धर्म है; अतएव वह भौतिक है । देहातिरिक्त चिदात्मामें प्रमाण नहीं है । उसमें असङ्गत्व आदिका निरूपण सुतरां असङ्गत है । इस चार्वाककी शङ्काका मत्स्यवाक्यसे निराकरण किया जाता है । उसकी शङ्का आगेके श्लोकसे स्फुट की जायगी ॥ २२७ ॥

'चैतन्यम्' इत्यादि । चैतन्य भौतिक है, वह भूतोंसे यानी पृथिवी, जल, तेज और वायुसे उत्पन्न होता है, क्योंकि शरीराकारमें परिणत भूतचतुष्टयसे अतिरिक्तमें चैतन्योपलब्धि नहीं होती, अतः वह भौतिक ही है, फिर काम, कर्म आदिसे किसका विवेक करते हो ? यह आशङ्का कर महामत्स्यदृष्टान्तसे अतिरिक्त आत्माकी सिद्धि कर उक्त धर्मोंसे उसका विवेक किया जाता है ॥ २२८ ॥

मत्स्यवाक्यार्थ कहते हैं—**'क्रमेण'** इत्यादिसे ।

जैसे दो तटोंमें क्रमशः संचार करनेवाला महामत्स्य दो तटोंसे भिन्न होता है, वैसे ही स्वप्न और जागरित दो अवस्थाओंमें क्रमशः संचार करनेवाला प्रत्यगात्मा शरीरादिगत अवस्थाओंसे भिन्न है । अतः उक्त दृष्टान्तसे उसका विवेक समीचीन होता है, अतः उसका दृष्टान्त तदर्थ आवश्यक है ॥२२९॥

आत्माके भौतिकत्वमें बाधक कहते हैं—**'चिदात्मा'** इत्यादिसे ।

चिदात्माको यदि भौतिक मानियेगा, तो भौतिक ज्योतिकी आरम्भक भूतमात्राएँ दोनोंमें—जाग्रत् और स्वप्नमें—समान हैं, अतः युगपद् दोनों अवस्थाओंका ज्ञान हो जायगा, जो अनुभवविरुद्ध अतएव अनिष्ट है ।

शङ्का—जाग्रद्देहकालमें स्वप्नदेह नहीं है, कारण कि आरम्भक भूतोंका अभाव है, फिर दो भोगोंका आपादन कैसे करते हो ?

अभौतिकत्वेऽप्यात्माऽयं व्यापित्वाद्युगपत्कुतः ।
द्वयं न पश्येदिति चेद्देवतास्तन्नियामकाः ।। २३१ ।।
अक्षाधिष्ठातृदेवानां क्रमेण स्वप्नजाग्रतोः ।
प्रयत्नस्तद्वशादात्मा क्रमेण द्वयमीक्षते ।। २३२ ।।

समाधान—यदि आत्माको दो देहोंसे अतिरिक्त नहीं मानते हो, तो आरम्भकोंकी समानतासे भोगयौगपद्यापत्ति अनिवार्य है। स्वप्नगत आत्मा तो वही है, जो जागरमें था। यदि आरम्भकका भेद मानियेगा, तो भिन्न शरीरवर्ती आत्माके समान भिन्नात्मत्वकी प्रसक्ति हो जायगी; अतः कार्यैक्यके लिए कारणैक्य आवश्यक है, इसलिए कारण वर्ती सूक्ष्म भूतमात्राओंसे स्वाप्निक सूक्ष्म शरीरका आरम्भ मानना होगा, अतः आरम्भकके ऐक्यसे आरब्ध चैतन्यको भी एक ही मानना समुचित है। इससे भोगयौगपद्यकी प्रसक्ति अनिवार्य है, अन्यथा चैतन्यभेद होनेसे जो सुप्त है, वह जागेगा नहीं और जो जागता है, वह सोवेगा नहीं, यह आपत्ति हो जायगी।

शङ्का—जाग्रद्देहारम्भक भूतको ही यदि स्वप्नदेहारम्भक मानोगे, तो समीपमें स्थित पुरुषको सुप्त पुरुषके पूर्वदेहकी अनुपलब्धि होगी, क्योंकि पूर्व देहसे निकल कर ही भूत देहान्तरके आरम्भक होंगे। ऐसी दशामें पूर्वदेहसंघातका अभाव ही होगा, अतः समीपस्थ पुरुषको उसकी उपलब्धि नहीं होगी, लेकिन होती है। बोध क्रमवृत्ति है, अतः भौतिक नहीं है ।।२३०।।

'अभौतिकत्वे' इत्यादि।

शङ्का—स्वप्न और जागरितके ज्ञानायौगपद्यसे देहातिरिक्त द्रष्टा है, ऐसा मानना चाहिए यह कहा, परन्तु देहात्मवादमें अतिप्रसङ्ग दिया है, वह अतिरिक्तात्मवादमें भी तदवस्थ है। आत्माके देहद्वयव्यापी होनेसे युगपत् ज्ञातृत्वप्रसक्ति है। एवं देहात्मवादमें भोगयौगपद्यापादनके समान अतिरिक्त आत्मवादमें भी अवस्थाद्वयके व्यापक होनेसे तदापादन दुर्वार है।

समाधान—देवता इत्यादिसे। इन्द्रियानुग्राहक आदित्यादि देवता ज्ञानक्रमके नियामक हैं, अतः अतिरिक्तात्मवादमें दोष नहीं है ।।२३१।।

'अक्षाधि०' इत्यादि। अक्षाधिष्ठातृ देवताका स्वप्न और जागरमें क्रमसे प्रयत्न होता है। इससे आत्मा क्रमसे दो अवस्थाओंको देखता है। आत्मा यद्यपि व्यापक अतएव युगपद्देहद्वयसम्बन्धी है तथापि केवल ज्ञानका कारण नहीं है, किन्तु

अथोच्यते न सन्त्येव स्वप्नेऽक्षाण्युपसंहृतेः।
कुतस्तद्देवतायत्नो व्यवहारस्तु वासना ॥ २३३ ॥

इन्द्रियादिके अधिष्ठातृ देवताके सहकारसे ज्ञानोत्पादक है। अधिष्ठातृदेवताका प्रयत्न क्रमसे होता है, इस कारणसे क्रमसे ज्ञान आदिकी उत्पत्ति होती है, युगपत् नहीं होती।

शङ्का—आत्मदेवता भी व्यापक है, अतः देहद्वयमें युगपत् तत्कृत इन्द्रियाधिष्ठान समान है, फिर युगपद्ज्ञानोत्पत्ति क्यों नहीं होती।

समाधान—यद्यपि देवता व्यापक है, तथापि धर्मादिकी अपेक्षासे क्रमकारी है। अवस्थाद्वयभोगजनक धर्मादि युगपद् उद्भूत नहीं होते, किन्तु क्रमसे होते हैं, अतः उनकी अपेक्षासे देवता क्रमकारी हैं। यह भी उत्तर ठीक नहीं है।

शङ्का—क्यों?

समाधान—धर्मादि तत्कार्यमें देवता स्वतन्त्र हैं, परतन्त्र नहीं हैं। आत्मा धर्मादि तत्कार्यमें अनीश्वर है, अतः उसकी परन्त्रतासे ही क्रमज्ञातृत्व होता है।

'अथोच्यते' इत्यादिसे। स्वप्नादिमें देवता ज्ञानक्रमहेतु नहीं हो सकते, कारण कि स्वप्नमें देवताधिष्ठेय चक्षु आदि करण रहते ही नहीं। उनका उस अवस्थामें लय हो जाता है। अधिष्ठेयके बिना अधिष्ठाता कर ही क्या सकता है? अतः देवताके प्रयत्नसे ज्ञानक्रम होगा, ऐसी प्रतिज्ञा नहीं करनी चाहिए।

शङ्का—तो उस अवस्थामें दर्शन, श्रवण आदि व्यवहार क्यों होता है?

समाधान—वासनामात्रसे दर्शनादिव्यवहार होता है, अतएव चिरप्रनष्ट अतिविप्रकृष्ट पदार्थोंका स्वप्नमें भान होता है। इसीलिए विषयेन्द्रियादिका अभाव होनेपर भी जो दृश्यदर्शन आदि होता है, वह मिथ्या ही है, यह पूर्वमें कह चुके हैं। निचोड़ अर्थ यह है कि देहात्मवादीके मतमें ज्ञानयौगपद्य दोष देकर अतिरिक्त आत्मसिद्धि वेदान्तियोंने की है। देहात्मवादीने आत्माके व्यापक होनेसे आपके मतमें भी ज्ञानयौगपद्यप्रसक्ति समान है, यह दोष दिया। देवताप्रयत्नसे भी ज्ञानयौगपद्यका परिहार नहीं हो सकता, क्योंकि तदधिष्ठेय इन्द्रियां स्वप्नमें हैं ही नहीं। इसका उत्तर अतिरिक्तात्मवादीने यह दिया कि आत्माके व्यापक होनेपर भी भोक्तृत्व आदि क्रमसे सिद्ध होता है; क्रमहेतु धर्मादि क्रमसे ही फलपरिपाकोन्मुख होते हैं। यह क्रमिकता कार्यानुपपत्तिगम्य है। इसीसे यह आचार्योक्ति है कि स्वप्नान्त या बुद्धान्तमें आत्मा व्यापी है; परन्तु द्रष्टृत्व आदि युगपद् नहीं होता, किन्तु क्रमसे होता है, इत्यादि।

एवं तर्हि क्रमे हेतुः कर्मैव स्वप्नजाग्रतोः ।
ज्ञानस्य तच्च दृष्टत्वान्न ह्युपालम्भमर्हति ॥ २३४ ॥
व्याख्यैषाऽप्यविरुद्धत्वान्मत्स्यवाक्यस्य युज्यते ।
श्येनवाक्यस्य सम्बन्धं वक्ति भर्तृप्रपञ्चकः ॥ २३५ ॥
पुण्यपापात्मकं कर्म बुद्धिस्थं तस्य वासना ।
आत्माश्रिता तद्विवेको गतग्रन्थेन वर्णितः ॥ २३६ ॥

शङ्का—अतिरिक्त आत्मामें क्या प्रमाण है ?

समाधान—'विमतो देहादतिरिच्यते, क्रमद्रष्टृत्वात्, गन्धरसादिद्रष्टृदेवदत्तवत्' यह अनुमान प्रमाण है, अतएव आचार्योक्ति है—'उपलब्ध्ययौगपद्यम् आत्मास्तित्वे लिङ्गम्' । यह भी सिद्धान्त है कि स्वप्नके निर्माणमें देवताका व्यापार नहीं होता, मृति और स्वप्नमें आध्यात्मिक विशेष कार्योंको छोड़कर वे देवता अपने अपने स्थानको चले जाते हैं । 'अग्निं वागप्येति' इत्यादि श्रुति उक्त अर्थमें प्रमाण है, एवं स्वप्नकालमें तद्भोगदर्शी जीवसे देवता अपसृत हो जाते हैं, अतः तन्निमित्तक ज्ञानका क्रम नहीं हो सकता ॥ २३४ ॥

'व्याख्यैषा०' इत्यादि । मत्स्यवाक्यकी भर्तृप्रपञ्चकृत यह व्याख्या अद्वैतमतके अविरुद्ध होनेसे युक्त ही है । इस परोक्त व्याख्यानमें कोई अरुचि नहीं है । अब भर्तृप्रपञ्च श्येनवाक्यका सम्बन्ध कहते हैं ॥ २३५ ॥

'पुण्य०' इत्यादि । वैशेषिकादि मतके समान पुण्यरूप कम आत्मसमवेत नहीं है ।

शङ्का—क्यों ?

समाधान—कूटस्थत्वबोधक श्रुतिविरोध स्फुट है, अतः वह बुद्ध्याश्रित है, उसकी वासना आत्माश्रित है । उसका विवेक (बुद्ध्यादिविवेक) गतग्रन्थसे वर्णित हुआ । सारांश यह है कि भर्तृप्रपञ्चके मतमें देहात्मवादके निराकरणके लिए महामत्स्यका दृष्टान्त है । अपने मतमें भी देहात्मवाद निराकार्य है ही, अतः उक्त मत अविरुद्ध होनेसे मान्य है । केवल देवतामें ज्ञानक्रमहेतुत्वकी शङ्का और उसका निराकरण अयुक्त है, क्योंकि देवता भूतसे भिन्न है अथवा अभिन्न ? प्रथम पक्षमें देवताके आत्मासे व्यतिरिक्त होनेसे ज्ञानक्रमहेतुत्व इष्ट ही है । द्वितीय पक्षमें देहाव्यतिरिक्त देवता होनेसे देहात्मवादके निराकरणसे ही उसका भी निराकरण सिद्ध हो जाता है, पृथक् निराकरणकी अपेक्षा ही नहीं है । भाष्यमतमें मत्स्य-

अविद्या ह्यूषरक्षेत्रस्थानीयाऽऽत्मनि तिष्ठति ।
श्येनादिग्रन्थसंदर्भस्तद्विवेकाय वर्ण्यते ॥ २३७ ॥

वाक्यका निष्कृष्ट अर्थ यह है कि कार्य, करण आदि सब मृत्युरूप संघातसे आत्मा अतिक्रान्त है । अवस्थाद्वयसे विविक्त आत्मा स्थूल-सूक्ष्म-देहद्वयरहित तद्विलक्षण केवल अक्रिय है ॥ २३६ ॥

'अविद्या' इत्यादि । ऊषर यानी अनुपज भूमि ऊषर लोकमें भी इसी अर्थमें प्रसिद्ध है। तत्स्थानापन्न (तत्सदृश) अविद्या आत्मामें रहती है, उसके विवेकके लिए उत्तर ग्रन्थका वर्णन किया जाता है। सारांश यह है कि आत्मामें संसारित्व अविद्याकृत है, पारमार्थिक नहीं है, अतः अविद्याके समुच्छेदसे ही संसारका समुच्छेद होनेके कारण आत्माकी मुक्ति होगी, अन्यथा नहीं; यही समुदित अर्थ पूर्वमें कहा गया है । अविद्यासे आत्मा सासङ्ग सकार्यकरण समृत्यु प्रतीत होता है । स्वप्नमें आत्मा मृत्युवर्जित वासनायुक्त रहता है । संप्रसादमें आत्मा असङ्ग प्रसन्न प्रतीत होता है । अविद्या और आत्माके विवेकके लिए श्येनवाक्य है ।

शङ्का—कर्मके विवेकसे मुक्ति हो जायगी, अविद्याके विवेककी क्या आवश्यकता ?

समाधान—कर्मनिर्मित लोकको अविद्यासे आत्मा देखता है, अतः दोनोंके विवेकसे मोक्ष होता है, केवल कर्मके विवेकसे नहीं, क्योंकि अविद्याका विवेक न होनेपर उसीसे अनर्थका उदय होगा ।

शङ्का—अविद्याका ही विवेक कीजिए, कर्मका विवेक व्यर्थ है ?

समाधान—रूपादिविषयासङ्ग चक्षु आदि करण द्वारा प्रविष्ट होकर भोक्ता आत्माको अनुरञ्जित करता है । विषयासङ्गका अविद्या द्वारा आत्मासे सम्बन्ध होता है, उससे वह अनर्थाधायक होता है । इस प्रकार इन दोनोंका परस्पर गुण-प्रधानभावसे सम्बन्ध है ।

शङ्का—मोक्षके लिए अविद्याका विवेक आवश्यक है, उसके लिए उत्तर ग्रन्थ है, यह आप कहते हैं, परन्तु उत्तर ग्रन्थमें अविद्याका विवेक दिखलाई नहीं पड़ता ।

समाधान—श्येनवाक्यसे लेकर स्त्रीवाक्यतक जितने वाक्य हैं, वे सब अविद्यासे आत्माके विवेकके लिए हैं, यह विद्वानोंका सिद्धान्त है, यह भर्तृप्रपञ्चका मत है, सो युक्त है अथवा अयुक्त, इसका विचार विद्वान् स्वयं कर लें, इस व्याख्यानमें मैं अपने असन्तोषका कारण कहता हूँ ।

मैवमात्मन्यविद्या वा वासना वा न वास्तवी।
सम्भाव्येति पुरा प्रोक्तं मूर्त्तामूर्त्तप्रसङ्गतः ॥ २३८ ॥

शङ्का—आत्मव्यतिरिक्त पदार्थ मानते हैं या नहीं, अन्तिम पक्षमें बाह्याभ्यन्तर विभाग कैसे? प्रथम पक्षमें पुनः वे प्रश्न वास्तव हैं या अवास्तव? प्रथम पक्षमें अविद्या-व्यतिरिक्त वस्तु है नहीं, अन्यथा अनेक श्रुति, स्मृति और न्यायसे प्राप्त आत्मैक्यका बाध ही हो जायगा। द्वितीय पक्षमें पूर्वोक्त कामकर्मविभागकी कल्पना अप्रामाणिक है। यदि विषय अविद्यासे कल्पित हैं, तो आत्मामें ही कल्पित हैं, बाहर नहीं हैं॥२३७॥

'मैवमात्मन्य०' इत्यादि। उक्त प्रकारसे अविद्या और वासना अद्वैतश्रुत्यादि-विरोधसे वास्तविक तो है नहीं, न होनेकी संभावना ही है, यह मूर्तामूर्तनिरूपण-प्रसङ्गसे कह चुके हैं। यहांपर भी संक्षेपसे इसका पुनः उपपादन किया गया है। संक्षेपसे यही कहना है कि अविद्यासे अतिरिक्त कोई भी कार्य इष्ट नहीं है, अतः आत्मामें कामासङ्गादिका वास्तविक सम्बन्ध तो अयुक्त ही है। अवस्तु होनेसे वह आत्मामें ही कल्पित है। बहिःस्थितका अविद्यासे आत्मामें सम्बन्ध नहीं है और अविद्या अथवा वासनाको आत्माश्रित कहते हैं। उसमें भी प्रश्न यही होता है कि वास्तविक संबन्ध मानते हैं या काल्पनिक? दोनोंका निराकरण उक्त प्रकारसे हो ही चुका है।

शङ्का—अच्छा, तो श्येनवाक्योदाहरणका अभिप्राय क्या कहते हैं?

समाधान—'तत्त्वमसि' इस वाक्यके अर्थकी प्रतिपत्तिके लिए परिशुद्धत्व अर्थ अवश्य वक्तव्य है, क्योंकि वाक्यार्थके ज्ञानमें पदार्थज्ञान कारण माना जाता है। और वाक्यार्थज्ञानसे ही अज्ञानध्वंस होता है; अन्यथा नहीं। त्वमर्थ शुद्ध्यधीन-वाक्यार्थज्ञानसे अज्ञानध्वस्तिसे पृथक् अविद्याविवेक है नहीं। स्थानत्रयमें क्रमा-क्रमसंचारसे जागरमें भी कामकर्मविनिर्मोकसे शुद्धत्व अर्थ होता है। जिससे निर्बाध ब्रह्मात्मैकत्व बोध होता है। श्येनवाक्यसे अविद्याविवेक नहीं करते, क्योंकि अज्ञात ब्रह्मलक्षणकारणरूप सुषुप्तिकी ही वहां प्रतीति होती है।

शङ्का—अवस्थात्रयविषयक वाक्य स्वार्थप्रधान होनेसे 'तत्त्वमसि' आदि वाक्यशेष कैसे होगा?

समाधान—क्रमिक अवस्थात्रयसंचारके प्रमाणान्तरसिद्ध होनेसे वाक्य अनुवादक है। अतः उक्त वाक्यशेष ही है।

सम्बन्धस्तूच्यते स्वात्मस्वभावोऽनवशेषतः ।
पुञ्जीकृत्योदितो न प्राक् श्येनवाक्ये तु वर्ण्यते ॥ २३९ ॥
अथवा परलोकस्य दृष्टान्तः स्वप्न ईरितः ।
सुषुप्तिर्मोक्षदृष्टान्तस्तदर्थो ग्रन्थ उत्तरः ॥ २४० ॥

शङ्का—महावाक्य भी जागरादिवाक्यके समान स्वार्थपरक नहीं है । तदर्थ भी सिद्ध होनेसे मानान्तरयोग्य है ।

समाधान—आत्मामें ब्रह्मता ब्रह्ममें आत्मता शब्दैकगम्य है, मानान्तरगम्य नहीं है।

शङ्का—क्यों ?

समाधान—निर्विशेषमें प्रामाणान्तरकी प्रवृत्ति नहीं होती, यह असकृत् निर्णीत हो चुका है ॥ २३८ ॥

'सबन्धस्तूच्यते' इत्यादि । पूर्ववाक्योंमें नित्यशुद्धत्व आदि जहां तहां प्रतिपादित हुआ है कि पिण्डीकृत यानी सब मिलाकर एक वाक्यसे उक्तका प्रतिपादन नहीं हुआ है, इसलिए श्येनादिवाक्य है । यहां सब आत्मस्वभावका अनवशेष यानी अवशेष रहित अर्थात् संपूर्णका प्रतिपादन किया जायगा, यही सम्बन्ध है । श्येनदृष्टान्तसे स्वतःशुद्ध, बुद्ध, मुक्तस्वभाव आदि आत्मस्वरूप दिखलाया जाता है, यह भाष्यकारका मत है । अन्य विद्वान् संबन्धान्तर भी कहते हैं । महामत्स्यदृष्टान्त स्वप्न और जागरितके लिए है और श्येनदृष्टान्त सम्प्रसादके लिए है; यह संबन्ध भी उत्तम है ॥२३९॥

'अथवा' इत्यादि । अथवा परलोकका दृष्टान्त स्वप्न है और मोक्षका दृष्टान्त सुषुप्ति है, तदर्थ उत्तरग्रन्थ है । चार्वाक परलोक नहीं मानता, स्वप्न तो वह भी मानता ही है; अन्यथा प्रलापित्वका प्रसंग होगा । यथा जाग्रत् लोकसे अतिरिक्त भोगलोक स्वप्न है वैसे ही परलोक भी है । शून्यवादी बौद्ध कहते हैं कि शून्यत्व परमार्थ है । उनके निराकरणके लिए सुषुप्तिदृष्टान्तसे वेदान्तानुकूल अद्वैतात्मस्वरूप मोक्ष होता है । यह तो कहना असंभव है कि सुषुप्तिमें आत्माका भी नाश होनेसे वहां भी शून्यता ही रहती है, क्योंकि सुप्तोत्थितके परामर्शसे आत्मसत्ता तत्कालमें भी निश्चित होती है । अतः यह सम्बन्ध भी अयुक्त नहीं है, यह मत सारकारका ही प्रतीत होता है । 'तद् यथा' यह पाठ शुद्ध प्रतीत होता है ।

तद्वा अस्यैतदित्यत्र आप्तकामस्वभावताम् ।
वक्तुं सुप्तावदुःखत्वं वक्ति श्येननिदर्शनात् ॥ २४१ ॥

श्रुतिः—तद्यथाऽस्मिन्नाकाशे श्येनो वा सुपर्णो वा विपरिपत्य श्रान्तः सꣳहत्य पक्षौ सल्लयायैव ध्रियत एवमेवायं पुरुष एतस्मा अन्ताय धावति यत्र सुप्तो न कञ्चन कामं कामयते न कञ्चन स्वप्नं पश्यति ॥ १९ ॥

नीडे विश्राम्यति श्येनस्तथा सुप्तौ स्वकर्मणः ।
क्षये जाग्रत्स्वप्नदुःखं त्यक्त्वा विश्राम्यति स्वयम् ॥ २४२ ॥

'तद्वा अस्यै०' इत्यादि । जैसे श्येन पक्षी लोकमें बाज प्रसिद्ध है, सुपर्ण-शब्दसे क्षिप्रगामी श्येन कहा जाता है । श्येन दो प्रकारके होते हैं—एकको बाज ही कहते हैं, जो क्षिप्रगामी होता है, परन्तु वार्तिककार लिखते हैं—

श्येनः शशादो विज्ञेयः बृहत्कायश्च रोहितः ।
क्षिप्रः श्येनः सुपर्णस्तु बलवानल्पविग्रहः ॥

प्रथमपादोक्त लक्षणलक्षित श्येन यद्यपि लोकप्रसिद्ध है, तो भी मैं उसको नहीं जानता । दूसरा सुपर्णाख्य श्येन हमारे देशमें बाज कहलाता है । वह भूताकाशमें आहारान्वेषणार्थ उड़कर बहुत उड़नेसे जब श्रान्त होता है, तब अपने घोसलेमें विश्रामके लिए जाता है, यह लोकमें प्रसिद्ध है । इस दृष्टान्तके अनुसार यह पुरुष भी अविद्याकामभोगवश सांसारिक कामोंमें दौड़कर जब थक जाता है, तब विश्रान्तिके लिए अन्तमें स्वयं ब्रह्मस्वरूप हो जाता है, यही दृष्टान्त संप्रसादार्थ आत्माका है ॥ २४१ ॥

'नीडे' इत्यादि । स्वप्नजाग्रद्भोगप्रद कर्मका क्षय होनेपर पुरीतत् नाडीमें आत्मा शयन करता है । स्वप्नकालिक भोगके हेतु कर्मका क्षय होनेपर संप्रसाद अवस्थामें जीव प्रविष्ट होता है। पूर्ण विश्राम सुषुप्तिमें ही मिलता है। वहांपर स्वप्न और जागरित दुःखोंसे छुटकारा मिलता है; स्वप्नावस्थामें बाह्यदुःखसे मुक्त होता है, पर स्वाप्निक दुःखादि रहते हैं; अतः पूर्ण विश्राम नहीं मिलता, संप्रसादमें स्वप्नजागरित दोनों दुःखोंसे विनिर्मुक्त होता है; अतः पूर्ण शान्ति संप्रसादमें ही संसारी पुरुषको अनुभूत है, अतः अति प्रसिद्ध होनेसे यही दृष्टान्त आत्मशोधन या मुक्तिके लिए दिया गया है ॥ २४२ ॥

कामं कामयते नेति जाग्रद्भोगो निषिध्यते ।
तदवान्तरभेदानां बहुत्वात्कश्चनेति गीः ॥ २४३ ॥
त्रय आवसथास्तस्य त्रयः स्वप्ना इति श्रुतेः ।
एकैकस्यामवस्थायामवस्थात्रयमिष्यताम् ॥ २४४ ॥

'कामम्' इत्यादि । 'यत्र सुप्तो न' इत्यादि वाक्यसे यह कहा गया है कि जहां कोई कामना नहीं करता है । जागरभोग अनेकविध हैं, अतः कंचन यानी किसीकी कामना नहीं करता, विशेष कूटके निषेध द्वारा कामनासामान्यका प्रतिषेध इष्ट है । जाग्रद्भोग उपलक्षण है, स्वाप्निक भोगका भी प्रतिषेध इष्ट है । केवल भोग ही नहीं, किन्तु उक्त दो अवस्थाओंका भी प्रतिषेध अनुभवसिद्ध है ।

शङ्का—सुप्तविशेषणसे ही जागरकी व्यावृत्ति सिद्ध है, उसकी व्यावृत्तिके लिए **'न कश्चन'** इत्यादि विशेषण क्यों ?

समाधान—तीनों अवस्थाओंमें सुप्तावस्था होती है, यह पूर्वमें सिद्ध कर चुके हैं । तीनों अवस्थाओंके साधारण स्वप्नसे जागरादिकी व्यावृत्ति नहीं हो सकती, इस लिए **'न कश्चन'** इत्यादि विशेषण सार्थक है । सुप्तविशेषणसे जागरकी व्यावृत्ति, **'न कंचन'** से सुप्तकी व्यावृत्ति सुषुप्तिमें विवक्षित है, अतएव जागर-स्वप्नभोगका और तदवस्थाओंका निषेध कहा गया है ।

शङ्का—'न कंचन स्वप्नं पश्यति', इस विशेषणका क्या प्रयोजन है ?

समाधान—स्वप्नव्यावृत्ति और जागरव्यावृत्ति ।

शङ्का—दोनोंकी व्यावृत्ति 'न कञ्चन कामं कामयते' से ही सिद्ध है ?

समाधान—पूर्वमें कामनाके प्राधान्यसे निषेध है और उत्तरमें स्वप्नप्राधान्येन यह तात्पर्य है ॥ २४३ ॥

'त्रय आव०' इत्यादि । 'त्रय आवसथाः' का अर्थ 'त्रयः स्वप्नाः' है। पूर्वोक्त रीतिसे एकैक अवस्थामें तीनों अवस्थाओंका प्रतिपादन पूर्वमें स्पष्ट कह चुके हैं ?

शङ्का—त्रैविध्य माननेसे प्रकृतमें क्या प्रयोजन है ?

समाधान—जागर, स्वप्न और सुषुप्ति इन तीनोंमें जो तीन प्रकारके जागर हैं उनका निषेध 'न किञ्चन' इत्यादि विशेषणसे होता है और त्रिविध स्वप्नका निषेध स्वप्नद्वितीय विशेषणसे होता है । इससे प्रबोध और स्वप्नसे विविक्त संप्रसाद विवक्षित है। दार्ष्टान्तिकमें आत्मा जाग्रत्स्वप्नात्मक पक्षद्वयको फैलाकर स्वभोगके लिए

बुद्‌ध्यादिषु विलीनेषु लीने चित्प्रतिबिम्बके ।
जाग्रत्स्वप्नभिदा सर्वा लीयते तत्सुषुप्तकम् ॥ २४५ ॥

दौड़-धूप लगाकर भुक्तभोग होनेके अनन्तर श्रान्त होकर विश्रान्तिके लिए अन्त-शब्दवाच्य ब्रह्मनीडमें आता है। 'पक्षौ संहृत्य' का यह भाव है कि विश्रान्तिके लिए गतिके साधन पक्षोंको आत्मशरीरमें संकुचित कर श्येन घोसलेमें जाता है वैसे ही आत्ममोहवान् आत्मा विश्वको अविद्यामें संकुचित कर ब्रह्मनीडमें जाता है ॥ २४४ ॥

'बुद्ध्यादिषु' इत्यादि ।

शङ्का—सुषुप्त भी अनेक प्रकारका है। प्रकृत वाक्यमें सुषुप्त कैसा विवक्षित है?

समाधान—चित्प्रतिबिम्बके आधार बुद्धि आदिका लय होनेपर चित्प्रतिबिम्ब भी लीन हो जाता है। सूर्यादिके प्रतिबिम्बके आधार तलैया आदिके जलके सूखनेपर प्रतिबिम्बाभाव उसमें दृष्ट ही है। जाग्रत्स्वप्नभेद भी लीन हो जाता है। इन सब भेदोंका मुख्य कारण बुद्‌ध्यादि ही है। कारणके नाशसे कार्यका नाश नियत ही है।

शङ्का—चित्प्रतिबिम्ब तो अद्वैतवेदान्तीके मतमें जीव ही है। यदि इसका भी लय कहते हैं, तो जन्म भी कहना पड़ेगा। क्योंकि जो भाव विनाशी हैं, उनका घट आदिके समान जन्म नियमसे होता है। ऐसी अवस्थामें 'अनात्माऽश्रुतेः' सूत्रमें स्थित अधिकरणसे विरोध होगा। इस अधिकरणमें जीवोत्पत्तिका प्रतिषेध किया गया है और मोक्षासंभवादि दोष भी स्पष्ट ही है।

समाधान—उपाधिका नाश होनेपर उपहित अनुपहित स्वरूपसे अवस्थित हो जाता है। वही अनुपहितात्मना अवस्थान लय कहा गया है। प्रकृतमें स्वरूपनाश लय विवक्षित नहीं है। घटका लय होनेपर घटाकाश महाकाशमें लीन होता है, इस कथनका तात्पर्य घटाकाशके नाशमें नहीं है, किन्तु घटाकाशका महाकाशात्मना अवस्थान होता है, इसमें है।

शङ्का—सुषुप्त्यवस्थामें जीव ब्रह्मस्वरूप हो जाता है, ऐसा कहनेपर यह सूचित होता है कि अवस्थान्तरमें ब्रह्मस्वरूप नहीं रहता, किन्तु तद्भिन्न रहता है, क्या यह इष्ट है?

समाधान—कभी नहीं, मेरा तात्पर्य यह है कि जो चैतन्य जागरादिदशामें अविद्याकार्यगत है, सुषुप्तिदशामें अविद्यासे विभक्त होकर चिद्बिम्बरूपसे अवस्थित हो जाता है। वस्तुतः बिम्ब-प्रतिबिम्ब दो तत्त्व नहीं हैं। बिम्ब ही उपाधिके संपर्कसे प्रतिबिम्बस्वरूपसे प्रतीत होता है। उपाधिके नष्ट होनेपर केवल चैतन्यात्मना बिम्बकी स्थिति रहती है।

शङ्का—क्या विभागहेतु अविद्याका ध्वंस होनेपर ही जीव ब्रह्मस्वरूप होता है, सदा नहीं ?

समाधान—आत्मा सकार्य अविद्याका सदा प्रत्याख्याता है, अतः सदा ब्रह्मस्वरूप ही आत्मा रहता है।

शङ्का—अविद्या ही आत्माका प्रत्याख्यान क्यों नहीं करती ?

समाधान—अविद्या अपने आत्माका प्रत्याख्यान कैसे करेगी ? आत्माके बिना तो अविद्या रह ही नहीं सकती। रज्जुके बिना भुजङ्ग कहाँ देखा गया है ? भुजङ्गका आत्मा रज्जु ही है। आत्मा चित्स्वरूप होनेसे तद्विरोधी और स्वतन्त्र है, अतः वह उसका प्रत्याख्यान करता है।

शङ्का—आत्मा भी असङ्ग है, अतः सकार्य अविद्याका निराकर्ता नहीं हो सकता। अविद्या स्वात्मलाभके लिए आत्मासे सम्बन्ध करनेकी इच्छा करती है, क्योंकि आत्माके बिना अविद्याका आत्मलाभ ही नहीं हो सकता और आत्मा चिदेकरस और असंग है; अतः अविद्याके सम्बन्धको नहीं सहता। आविद्यिक संबन्ध होनेपर वास्तविक सम्बन्ध नहीं होता। रज्जुमें आविद्यिक सर्पसम्बन्ध होनेपर भी वास्तविक सर्पसम्बन्ध कौन मानता है ?

शङ्का—जब आत्मा सकार्य अविद्याका प्रत्याख्याता है, तब अवास्तव सम्बन्ध भी दोनोंका कैसे ?

समाधान—जैसे घृतपिण्डका अग्निके साथ सम्बन्ध होता है वैसे ही समझिये। निवर्त्य है घृतपिण्ड और निवर्तक है अग्नि। जैसे घृतनाशके लिए घृतका अग्निके साथ सम्बन्ध होता है वैसे ही अविद्याके नाशके लिए आत्माका अविद्यासे सम्बन्ध होता है। अवास्तविक अविद्यात्मसम्बन्ध होनेसे आत्मप्रमाण तत्त्वमस्यादि वाक्यसे जन्य अबाध्याकारात्मबुद्धिसम्बन्धसे संसारके हेतु अज्ञानका बाध होनेसे मुक्ति होती है ॥ २४५ ॥

आत्मस्वभावो निःशेषः पुञ्जीकृत्येह लक्ष्यते ।
सुप्तौ मुक्ताविवाद्वैतस्वप्रभानन्दलक्षणः ॥ २४६ ॥
अविद्या तु स्थिताऽप्यत्र द्वैतदुःखाद्यनुद्भवात् ।
स्वभावं न तिरोधत्ते स्वप्रभानन्दमद्वयम् ॥ २४७ ॥

'आत्मस्व०' इत्यादि । आत्माका निःशेष स्वभाव नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, असङ्ग, स्वयंप्रकाश आदि एकत्र कर तत्समुदाय यहां लक्षित किया जाता है । मुक्तिमें जैसे अद्वैत स्वप्रकाशानन्दस्वभाव आत्मा होता है, सुषुप्तिमें भी तत्स्वभाव आत्मा होता है ॥ २४६ ॥

'अविद्या तु' इत्यादि ।

शङ्का—सुषुप्तिमें अविद्याकी अनुवृत्ति होती है, अतएव जागराद्यवस्थापन्न पुरुष पुनः पूर्ववत् प्रपञ्च देखता है और संसारव्यवहार करता है । मुक्तिमें अविद्यानुवृत्ति नहीं होती, कारण कि आगे संसारव्यवहार है नहीं, तो मुक्तिका दृष्टान्त सुषुप्तिमें कैसे ?

समाधान—हाँ, सुषुप्तिमें अविद्या स्थित रहती है, किन्तु जागराद्यवस्थामें द्वैत दुःखाद्युपद्रव जैसे प्रतीत होते हैं, वैसे सुषुप्तिदशामें वे सब प्रतीत नहीं होते, कारण कि अविद्या जब आत्माके स्वभावका तिरोधान करती है, तब ये सब दृष्टिगोचर होते हैं, अन्यथा नहीं, अतः द्वैतादिकार्यादर्शनसे तत्कालमें स्वरूपतिरोधायक नहीं है, इस तात्पर्यसे मुक्तिदृष्टान्त दिया गया है । श्येनवाक्यसे सौषुप्त आत्मस्वरूपका निर्देश हो गया । इस समय नाडीके सम्बन्धके लिए संगति कहते हैं । अप्रपञ्च सच्चिदानन्दैकरस आत्मस्वरूप है, इससे अन्य जाग्रत्स्वप्नलक्षण स्वरूप अविद्याप्रयुक्त है । जो कर्तृत्व-आदिलक्षण आत्मस्वरूप है, वह अविद्याकृत है अतएव अनर्थकर तथा जिहासित है । सुषुप्तमें अविद्याविहीन जो आत्मस्वरूप पूर्वमें कहा गया है, उसका विचार द्वारा प्रत्यक्षसे प्रतिपादन करनेकी इच्छासे उत्तर ग्रन्थ है । अविद्याका जो जो कार्य है, वह सब विवेकोत्पत्तिके लिए कहना चाहिए । अतस्तदभिधानार्थ उत्तर ग्रन्थ है ।

शङ्का—यदि अविद्याकार्य कहना ही है, तो उसीको कहिए । नाडीके उपन्याससे क्या प्रयोजन है ?

समाधान—अविद्योत्थ कर्तृत्वादिज्ञान नाडीकृत है, अन्यथा स्वापादिके

श्रुतिः—ता वा अस्यैता हिता नाम नाड्यो यथा केशः सहस्रधा भिन्नस्तावताणिम्ना तिष्ठन्ति शुक्लस्य नीलस्य पिङ्गलस्य हरितस्य लोहितस्य पूर्णा अथ यत्रैनं घ्नन्तीव जिनन्तीव हस्तीव विच्छाययति गर्तमिव पतति यदेव जाग्रद्भयं पश्यति तदत्राविद्यया मन्यते ।

द्वैतदुःखादिरूपं यत्स्वात्मनः स्वप्नजाग्रतोः ।
तदविद्योत्थमित्येतत्ता वा अस्येति वर्ण्यते ॥ २४८ ॥
स्थूलदेहस्य नाडीषु रसपूर्णासु सञ्चरन् ।
लिङ्गदेहपरिच्छिन्नो भुङ्क्ते भोग्यानि जाग्रति ॥ २४९ ॥

समान कर्तृत्वज्ञानकी अनुपपत्ति होगी, अतः कर्तृत्व आदि दृष्ट्युपयोगी नाड़ीका उपन्यास और तद्दृष्टि व्यवहारके लिए है। अथवा मृषात्वकी सिद्धिके लिए नाड़ीका उपन्यास है । अतिसूक्ष्म नाड़ियोंमें महापरिमाण विन्ध्याचल आदि पर्वतका दर्शन स्वाप्निक मिथ्या ही हो सकता है, कारण कि तदुचित देश नाड़ीमें नहीं है, इस दृष्टान्तसे जाग्रद्ज्ञान भी मिथ्या ही है । अवस्थाओंके मिथ्यात्वके लिए नाड़ीका उपन्यास है, कारणके मिथ्या होनेसे कार्यमिथ्यात्व होता है, यह लोकमें भी प्रसिद्ध है ॥२४७॥

'द्वैतदुःखादि०' इत्यादि । स्वप्न जागरावस्थामें जो स्वात्मामें दुःखादिरूप प्रतीत होता है, वह अविद्यासे उत्पन्न है, इसके बोधनके लिए 'ता वा अस्य' इत्यादि उत्तर ग्रन्थ है । चतुर्थाध्यायमें जो प्रकृत हैं, वे षष्ठाध्यायके आदिमें सन्निहित हैं, संघातसम्बन्धिनी हिता इत्यादि नामक हृदयसे ऊपर फैली और हृदयमें प्रतिष्ठित परम सूक्ष्म अनेक नाड़ियां प्रसिद्ध हैं ।

शङ्का—नाड़ीका शरीरके साथ सम्बन्ध कहिए। पुरुषके साथ क्या सम्बन्ध है?

समाधान—कर्मज्ञानके उत्कृष्टापकृष्ट फलोंको जिनसे आत्मा देखता है, वे आत्मीय हैं; अतः 'अस्य' यह षष्ठीसम्बन्धार्थक षष्ठीप्रयोग समुचित है । केशके सहस्रभागान्यतम भागके समान अतिसूक्ष्म नानारसपूर्ण नाड़ियां शरीरमें हैं ॥२४८॥

'स्थूलदेहस्य' इत्यादि । स्थूल देहकी नानान्नरसपूर्ण अतिसूक्ष्म हितादि नामक नाड़ियां अनेक वर्ण हैं । भुक्तान्नपरिणामविशेष वायुके आधिक्यसे नील होता है, पित्तके आधिक्यसे पिङ्गल, कफके आधिक्यसे शुक्ल, पित्ताल्पत्वसे हरित और धातुसाम्यसे लोहित होता है । वातादिके मिथःसंयोगवैषम्यसे विचित्रान्नरस होता है ।

शङ्का—नाड़ियां शुक्ल, नील आदि रसोंसे पूर्ण हैं, इससे आत्मामें क्या हुआ?

समाधान—स्वमध्यमें द्रष्टृत्वेन स्थित अन्नरसपूर्णनाड्युपाधिक होकर अविद्यासे अपनेको भी रक्तादिरूपवान् समझता है।

शङ्का—रसगतरक्तादिरूपभजन आत्मामें किसके द्वारा और किसलिए होता है?

समाधान—नाड़ीगत भुक्तान्नरस उक्त रीतिसे नाना वर्ण होता है, तदनुसार उस नाड़ीमें देवता, जो लिङ्गशब्दसे कही जाती हैं, वह मिथ्या रक्तरूपता अपनेमें देखती हैं। तदुपाधिक आत्मा भी अपने भोगके लिए उक्त रूपका भागी होता है। नाड़ीका उपन्यास पुनरुक्त होनेसे अप्रामाणिक है, अतः उक्त व्यवस्था अनुपादेय है। 'तदप्रामाण्यमनृतव्याघातपुनरुक्तदोषेभ्यः' इस न्यायसूत्रसे पुनरुक्तत्व अप्रामाण्यका प्रयोजक होता है, यह निश्चित है।

समाधान—धीपरिणाम ज्ञानका जागरादिमें विकाश और सुषुप्तिमें संकोच होता है, एतदर्थ चतुर्थमें नाड़ीका उपन्यास किया गया है। षष्ठादिमें सूक्ष्म नाड़ीग्रह-लिङ्गशब्दित देवतास्थितिकर अन्नरसमें अतिसूक्ष्मत्वके ज्ञापनके लिए तदुपन्यास है। प्रकृतमें त्वमर्थके ज्ञापनके लिए कामादि अविवेकविवक्षासे नाड़ीका उपन्यास है, लिङ्गात्मा कामादिका साक्षी होता हुआ तदुपाधिमें आत्माका आरोप करता है, इस प्रकार द्वारभेदसे नाड़ीका उपन्यास त्वमर्थकी शुद्धिके लिए है, अतः द्वारभेदसे पुनरुक्ति नहीं है।

शङ्का—कर्तृत्व आदि लिङ्गनिष्ठ हैं, तो स्थूलदेहके समान उसकी उपलब्धि क्यों नहीं होती?

समाधान—वह अतिसूक्ष्म और प्रत्यक्षके अयोग्य है, अन्यथा अतिसूक्ष्म नाड़ियोंमें तत्प्रवेश ही दुर्घट हो जायगा।

शङ्का—लिङ्ग चेतन है या अचेतन? प्रथम पक्षमें नामान्तरसे आत्माको ही कहा है। द्वितीयमें उसमें विषयरूपभागित्व है या नहीं? यदि नहीं है, तो प्रत्यगात्माको भी भोग न होगा। प्रथम पक्षमें अचेतनमें स्वतः भोग होता नहीं, अतः उसका निमित्त कहना होगा।

समाधान—देवतात्मक लिङ्ग जीवादृष्टवश शब्द आदि विषयका भागी होता है। लिङ्ग अर्थाकार होता है, इसमें कारण आत्मभोगातिरिक्त और कुछ नहीं है। भोग भी आभासमात्र है, अन्यथा आत्मामें विकारित्वापत्ति हो जायगी। असङ्ग होनेसे स्वयं अर्थाकार-ग्रहण नहीं कर सकता।

शङ्का—आत्माभोग कैसे होता है?

अथ वासनया स्वप्नो घ्नन्तीवैनं स्वशत्रवः ।
जयन्तीव न तं घ्नन्ति न जयन्ति च वस्तुतः ॥ २५० ॥

समाधान—अविद्याच्छादितस्वभाव बुद्ध्युपाधि सूक्ष्मदेहानुसारी नानासंस्कार-संस्कृत स्वप्नादिगतकर्तृत्वविकारका आत्मीयरूपसे आत्मा अभिमान करता है ।

शङ्का—यदि लिङ्ग द्वारा आत्मामें विक्रिया है, तो वह लिङ्गमें स्वतः होगी ?

समाधान—नहीं, उसमें अन्नरसानुसारी विक्रिया है, स्वतः नहीं । नाना-विशेषात्मक लिङ्गका अन्नरस स्थितिहेतु है, अतः उसमें तदनुसारी विक्रिया युक्त ही है । देहस्थितिहेतु रसकी भी स्वतः प्रवृत्ति नहीं है, अन्यथा भोजन व्यर्थ हो जायगा। वह भी भुक्तान्नपरिणामापेक्षी है। यतः अन्न परिणामरसहेतुत्वेन अपेक्षित है, इसलिए जातरस भी वातपित्तादि धातुका अनुसरण करता है । अविक्रिय आत्माको स्वाभास मार्गसे लिङ्गमें शुक्ल, पीत आदिका दर्शन कर्मवश होता है । कर्मसे यदि दृष्टि मानते हो, तो दृश्य वस्तु हो जायगा ।

समाधान—आत्मामें यह स्वाविवेकहेतुक है, शुक्तिका रजतवत् आध्यात्मिक प्रपञ्च है ।

शङ्का—यदि सब मिथ्या है, तो घटादि सत्य हैं, शुक्तिका रजत आदि असत्य है, यह लोकमें व्यवहार क्यों होता है ?

समाधान—सब अनृत हैं, फिर भी स्वप्नमें सत्य और मिथ्याके विभागवत् जागरमें भी अनृत वस्तुमें ही यह विभाग माना जाता है । तदनुसार ही लोक-प्रसिद्धि है । इसका विस्तारपूर्वक वर्णन अन्यत्र देखिए ॥ २४९ ॥

'अथ वास०' इत्यादि । जीवकी जाग्रत्स्थितिका निरूपण कर स्वप्नस्थितिके निरूपणार्थ 'यत्र' इत्यादि वाक्यका व्याख्यान करते हैं । जिस कालमें कोई आकर मुझको मार-सा रहा है, जिनन्ति जयन्ति जय-सा करता है कोई आकर मुझको आत्मवश कर रहा है इत्यादि ज्ञानके समान ज्ञानाभास होता है, उसको स्वप्न कहते हैं ।

शङ्का—स्वप्नमें भी जागरावस्थाके समान ही हन्ता दीख पड़ता है । तो हनन आदि ज्ञान मृषा क्यों ?

समाधान—जागरावस्थामें हन्ता, हनन और हननसाधन रहते हैं, जिनको अन्य लोग भी देखते हैं और स्वप्नमें हन्ता आदि नहीं है, किन्तु स्वकीय अज्ञान-वश उनको देखता-सा है । विषयाभावसे वास्तविक दर्शन भी नहीं कह सकते ।

भुक्ते कर्मफले लेशो बुद्धिस्थो वासनोच्यते ।
अविद्योत्कर्षतो भाति जयघातादिवासना ॥ २५१ ॥

शङ्का—तो स्वप्नमें हनन आदिमें सत्यत्व ज्ञान क्यों होता है ?

समाधान—वासनाविष्ट विज्ञान हननादिका अभिमान करता है, एवं अधर्म आदि प्रकर्षोत्थ गर्त्तपतनका मोहसे अभिमान करता है। आदिसे भुजङ्ग-दंशन, धावन आदिका भी स्वप्नमें प्रत्यगात्माको मोहसे मिथ्या अभिमानमात्र होता है। वस्तुतः जागरावस्थामें जो रथादि देखे हैं, सो भी मिथ्या ही हैं। वेदान्तिमतमें अद्वितीय ब्रह्म ही परमार्थ सत् है, वही वासनामय स्वप्नमें तो असंभाव्य ही है। केवल स्वकीया अविद्यासे संभावित मानता है, अतएव स्वकीयात्माका यथार्थदर्शन होनेपर स्वाप्निकवत् जागरविषय भी बाधित हो जाते हैं। दोनों अवस्थाओंमें भय तो आत्माज्ञानप्रयुक्त ही है, अतएव विद्वानोंकी 'विज्ञाततत्त्वानां भीतिर्नास्ति कुतश्चन' यह उक्ति सर्वमान्य है ॥ २५० ॥

'भुक्ते कर्मफले' इत्यादि ?

शङ्का—वासना क्या है ।

समाधान—जाग्रद् भोगप्रद जो अर्जित शुभाशुभ कर्म है, उसका फल सुख, दुःख आदि जो भोगा जा चुका है, उसका लेश वासना है, वही स्वप्नमें अभिव्यक्त होती है ।

शका—जाग्रद्भोगप्रद कर्म जागरफलभोगसे भुक्त हो गया और लेशवासना स्वप्नमें भुक्त हो गई तो फिर जागरण और तदवस्थामें अनुष्ठान न होगा, कारण कि अनुष्ठानकी कारण वासना ही मानी जाती है सो भी स्वप्नमें भुक्त हो चुकी है; अतः हेतुके अभावसे कोई अनुष्ठान ही नहीं होगा ।

समाधान—यद्यपि व्यक्तवासना स्वप्नमें पुरुषको भोगकालमें फल देकर समाप्तस्वभाव हो गई, तथापि फिर जागरमें दूसरी वासना नवीन कर्म करायेगी। वासना अनन्त हैं। अविद्या रहनेपर वासनोत्थानमें बाधा नहीं होती। कोई वासना स्वप्नभोगप्रद है, कोई जाग्रत्कर्महेतु है। जागर और स्वप्नमें कर्मोत्पत्ति और तत्फल भोगमें वासना ही प्रयोजिका है। जागरमें जो कर्मफल भुक्त हुआ, उसका लेश फलभोगान्त वासना कही जाती है। वही भावना भी है। वह अन्तःकरणमें रहती है, जैसे मूढ़ आकाशको रज, धूम, तुषार, अभ्र, नीहार आदिसे समन्वित मानते हैं, वैसे ही मूढ़ आत्माको कर्तृत्व आदिसे समन्वित मानते हैं ॥२५१॥

श्रुतिः—अथ यत्र देव इव राजेवाहमेवेदꣳ सर्वोऽस्मीति मन्यते सोऽस्य परमो लोकः ॥ २० ॥

आज्ञाने क्षीयमाणेऽथ जाग्रद्देवादिवासना ।
मतिं देवोऽस्मि राजाऽस्मीत्येतां स्वप्ने करोति हि ॥२५२॥
विद्यायाः परमोत्कर्षे जाग्रत्साक्ष्यात्मवासना ।
सर्वोऽस्मीति मतिं स्वप्नो करोत्यद्वैतभासिनीम् ॥ २५३ ॥
सर्वात्मभावः परमो लोको बाधविवर्जनात् ।
बाध्यन्ते देवराजाद्या इवशब्दस्ततः श्रुतः ॥ २५४ ॥

'अथ यत्र देव इव' इत्यादि श्रुति । श्लोक-व्याख्यानसे यह श्रुतिवाक्य-गतार्थ है ॥ २० ॥

'अज्ञाने' इत्यादि । अज्ञान-क्षय होनेपर जागरदेवादिवासना स्वप्नमें 'देवोऽस्मि' 'राजाऽस्मि' मैं देव हूँ, राजा हूँ, ऐसी बुद्धि करती है ।

शङ्का—अज्ञानक्षय तो होता नहीं ?

समाधान—अज्ञानशब्दसे प्रकृतमें उसका कार्य दुर्वासना विवक्षित है। दुर्वासना रहनेपर 'मैं व्याघ्र हूँ, हिंसक हूँ' इत्यादि स्वप्न होते हैं और सद्वासना रहनेपर 'देवोऽस्मि' (मैं देव हूँ) इत्यादि स्वप्न होते हैं ॥ २५२ ॥

'विद्यायाः' इत्यादि । जागरमें जब देवादिविषयक विद्या द्रष्टामें प्रादुर्भूत होती है, तब स्वप्नमें तदनुसारिणी वासना होती है । विद्याका परम उत्कर्ष होनेपर स्वप्नमें जाग्रत्-साक्ष्यात्मवासना 'सर्वोस्मि' ऐसी बुद्धि उत्पन्न करती है, जो कि अद्वैत-वासनानुसारिणी है । वासनाके दो भेद हैं एक सद्वासना और दूसरी दुर्वासना। सद्वासनाका फल देवादिभाव है और दुर्वासनाका फल हिंसकादिभाव है। इसमें भी मूल है—विहित-निषिद्धानुष्ठानतत्परिवर्जनादि, जो शास्त्र और लोकमें प्रसिद्ध है । स्वप्नमें भय आदि दर्शन दुरदृष्टसे ही होता है, स्वतः नहीं । अतएव उसकी शान्तिके लिए शास्त्रमें अनेक उपाय विहित हैं । 'दुःस्वप्नं च नृभिर्दृष्टं सुस्वप्नमुपजायते ।' इत्यादि सप्तशती-श्लोक भी इस अर्थका पोषक है ॥ २५३ ॥

'सर्वात्मभावः' इत्यादि । 'अहमेवेदं सर्वोऽस्मि' इत्यादि श्रुतिके अर्थका निरूपण करते हैं—जागरमें श्रवण, मनन आदिसे संपूर्ण अविद्या और उसके कार्यका ध्वंस होनेपर 'अहमेवेदं सर्वम्' 'सर्वोऽस्मि' इत्यादि स्वप्नमें अभिमान होता है ।

जयघातादिवद्देवराजादेरपि बाधनम् ।
लोकप्रसिद्धं कुत्राऽपि सार्वात्म्यं तु न बाध्यते ॥ २५५ ॥

'अहमेव'से चिन्मात्रका अवधारण होता है। 'इदं' शब्दसे अविद्या-कार्य विवक्षित है। उक्त रीतिसे 'अहम्' 'एव' और इदं इन तीनों पदोंका अर्थज्ञान होनेपर समानाधिकरण पदत्रयात्मक वाक्य चिन्मात्रका बोध कराकर सकार्य अविद्याके समुच्छेदनमें समर्थ होता है। इस अर्थमें वाक्यशेषानुग्रह भी है। 'सर्वोस्मि' परिच्छेदकके विरहसे आत्मामें पूर्णत्व होता है। यही इसका परम लोक है। परमशब्दका अर्थ पूर्ण है। पूर्ण लोक है, जो विद्यासे लब्ध होता है।

शङ्का—स्वर्ग आदि लोकका अस्तित्व होनेपर इसमें पूर्णत्व कहाँ?

समाधान—वे सब अविद्याकल्पित हैं।

शङ्का—सबकी चिन्मात्रता भी विद्याफल नहीं है, क्योंकि 'विमतं न तत्फलम्, स्वप्नदृष्टत्वात्, तद्दृष्टहननादिवत्' इस अनुमानसे स्वाप्निक सर्वभावापत्ति विद्याफल नहीं हो सकती?

समाधान—सबमें चिन्मात्रत्व जो स्वप्नमें भासित होता है, वह अन्य स्वप्नोंकी नाईं मिथ्या नहीं है, क्योंकि 'इव' शब्दके बिना साक्षादेव सर्वभावका श्रवण है।

शङ्का—जाग्रद्में दृष्ट देहात्मत्वके समान स्वप्नमें दृष्ट सर्वात्मत्व भी मिथ्या है?

समाधान—नहीं, ऐसा नहीं है, क्योंकि जागरमें देहात्मत्वमें अविद्यासाहित्य है, स्वप्नमें केवल विद्याफलभूत आत्मा ही है। वासनारूप अविद्याका भान होनेपर भी स्थूल अविद्याका जागरमें जैसे भान होता है, वैसा यहां भान नहीं होता, अतः प्रकृतमें मिथ्यात्वशङ्का नहीं हो सकती। अथवा जागरकालमें देहात्मत्वादिविषयक बाधक बोधका साहित्य है, स्वप्नमें केवल बाधविधुर आत्मा ही रहता है; अतः स्वाप्न सर्वभाव मिथ्या नहीं है। इस अर्थमें श्रुति सहायक है—देव, राज आदि वाक्योंमें इवशब्दका श्रवण है, अतः वे बाध्य हैं। यहां इवशब्दका श्रवण नहीं है, अतः यह पारमार्थिक है ॥२५४॥

'जयघाता०' इत्यादि। जय, घात आदि जैसे जागरावस्थामें बाधित होते हैं, यह लोकप्रसिद्ध है, कारण कि हननादिकर्त्ता और उसके साधनादि उस समयमें नहीं देख पड़ते और सर्वात्मभाव श्रवण, मननादि साधनवश जागरमें भी उक्तवाक्यार्थभावनासे अबाधित प्रतीत होता है, कहीं भी यानी न

वेदान्तमानसिद्धत्वाज्जागरे तन्न बाध्यते।
स्वप्नेऽपि बाध्यते नैतद्यथावस्त्ववभासनात् ॥ २५६ ॥
इदंशब्दोदितं यावज्जाग्रत्सर्वं तदात्मनि।
कल्पितं श्रूयते तस्मादहमेवेदमित्यदः ॥ २५७ ॥

स्वप्नमें और न जागरमें कहीं भी बाधित नहीं होता। भाव यह है कि पारमार्थिक पदार्थका बाध नहीं होता। स्वप्नमें देवभावादिका दर्शन होता है, जागरमें तादृश शरीरके न देखनेसे और तद्विपरीत मनुष्यशरीर आदि दर्शनसे वह मिथ्या है, यह निश्चय होता है। साथ ही स्वप्नदृष्ट आत्माका बाध नहीं होता। यदि सम्पूर्ण स्वाप्निकदृष्ट मिथ्या है, ऐसी प्रतिज्ञा की जाय, तो वह असंगत है, क्योंकि आत्मा भी स्वप्नदृष्ट है। 'जो मैं स्वप्नमें अपनेको देवशरीरी मानता था, वह मैं मनुष्यशरीरी हूँ' इस प्रत्यभिज्ञासे उभयावस्थामें अबाधित आत्मा सत्य है। शरीर आदि बाधित होनेसे जैसे मिथ्या हैं वैसे प्रकृतमें स्वप्नान्तरके मिथ्या होनेपर भी सर्वात्मभाव अबाधित होनेसे परमार्थ सत् है। अतएव इसमें इवशब्दका प्रयोग श्रुतिने नहीं किया ॥ २५५ ॥

'वेदान्त०' इत्यादि। सर्वात्मभाव वेदान्तरूप प्रमाणसे सिद्ध है, अतः जागरमें भी बाधित नहीं है। एक विषयमें दो विरोधी प्रमाणोंकी प्रवृत्ति होनेपर एक प्रबल प्रमाणसे दूसरे दुर्बल प्रमाणमें मिथ्यात्वका बोधन होता है और उसीसे विषयमें भी मिथ्यात्व प्रतीति होती है। प्रकृतमें नित्य निर्दुष्ट प्रबल वेदान्तप्रमाणसे दुर्बल आविधिक इन्द्रियादिजन्य ज्ञानमें मिथ्यात्वका बोधन होता है। जैसे ज्योतिश्शास्त्रजन्य चन्द्रपरिमाणके ज्ञानसे इन्द्रियजन्य चन्द्राल्पपरिमाणज्ञानका बाध होता है, वैसे ही प्रकृतमें भी समझना चाहिए। यद्यपि चन्द्राल्पपरिमाणानुवृत्तिवत् व्युत्थानमें द्वैतभाव-प्रसक्ति हो सकती है, तथापि उसमें मिथ्यात्वका निश्चय होनेसे तद्विषय सत्य नहीं माना जा सकता। स्वप्नमें भी यथार्थ वस्तुका भान जागरमें भी आत्मभानके समान अबाधित ही रहता है ॥ २५६ ॥

'इदंशब्दो०' इत्यादि। इदंशब्दप्रतिपाद्य जागरदृष्ट वस्तुमात्र आत्मामें कल्पित है, ऐसा श्रुतियोंसे सुना जाता है; अतः 'अहमेवेदं' यह जागरमें दृश्यमान प्रपञ्च मैं (चिन्मात्र) ही हूँ।

शङ्का—'अहम्' का 'इदम्' के साथ सामानाधिकरण्य कैसे ? उन पदोंमें

य: सर्पो रज्जुरेवैषा यथावस्तुनिरूपणे ।
तथेदं जगदात्मैव जगन्नैवाऽऽत्मनः पृथक् ॥ २५८ ॥
अतः सर्वोऽस्मीति मतिर्नैव स्वप्नेऽपि विभ्रमः ।
तत्त्वावेदकमानेन जाता धीर्विभ्रमः कथम् ॥ २५९ ॥

सामानाधिकरण्य माना जाता है, जिनके अर्थोंका परस्पर अभेदान्वय होता है; जैसे 'नीलो घटः' । यहां अहमर्थ चेतन विवक्षित है और इदमर्थ दृश्य जड़ है, अतः तिमिरालोकवत् विरुद्धार्थक दो पदोंका सामानाधिकरण्य कैसे ?

समाधान—इदम् आदि आत्मामें कल्पित है । अध्यस्त और अधिष्ठानका भी सामानाधिकरण्य दृष्ट है । 'इदं रजतम्' 'शुक्तिः रजतम्' यह सामानाधिकरण्य उक्त नियमसे नहीं होता, किन्तु 'इदं रजतम्' में सामानाधिकरण्य अवश्य होता है, इसी प्रकार प्रकृतमें भी यह सामानाधिकरण्य सूपपन्न है ।

शङ्का—'अहमेवेदं' में कौन विशेषण है और कौन न विशेष्य है ?

समाधान—अहमर्थ विशेषण है और इदमर्थ विशेष्य है । यहां साधिभूत तथा साधिदैवत शरीरान्त अविद्यासे प्रत्यगात्मामें जो कल्पित है, वह अहमर्थ है । इदमर्थ प्रत्यगात्मा विशेष्य है । 'इदं रजतम्' इत्यादिक स्थलमें ऐसा ही विशेष्य-विशेषणभाव सर्वसम्मत माना जाता है । अन्वयव्यतिरेकसे उक्त पदार्थोंका ज्ञान होनेपर अज्ञाननाशक वाक्यार्थबोध उत्पन्न होता है । वाणीका अगोचर प्रत्यगात्मा अहमर्थ अज्ञानादि सम्पूर्ण दृश्यका बाध होनेसे सब (सर्वात्मक) होता है ॥२५७॥

'यः सर्पो' इत्यादि । भ्रमदशामें जो सर्प ज्ञात हुआ था, वह यह रज्जु ही है, इस प्रकार यथार्थ ज्ञान होनेपर सर्पकी निवृत्ति और रज्जुका यथार्थ ज्ञान होता है । यहांपर 'य एष' दोनों पद यद्यपि भिन्नार्थक हैं, तथापि बाधामें जैसे सामानाधिरण्य होता है, वैसे ही 'इदं जगत् आत्मैव' यहांपर भी संसारदशामें जो जगत् विविध जड़रूपसे प्रतीत होता था, वह तत्त्वज्ञान होनेपर बाधामें आत्मस्वरूप ही निश्चित होता है । आत्मासे पृथक् जगत् तत्त्वान्तर नहीं है ॥ २५८ ॥

'अतः' इत्यादि । यतः जगत् आत्मासे पृथक् नहीं है, अतः 'सर्वोऽस्मि' यह बुद्धि स्वप्नमें भी भ्रम नहीं है ।

शङ्का—क्यों ?

समाधान—वेद तत्त्वावेदक मान है, तज्जनित होनेसे वह ज्ञान विभ्रम कैसे

परमो लोक इत्युक्ता सर्वभावस्य वस्तुता।
सुषुप्तौ तत्तु सार्वात्म्यं सर्वैरप्यनुभूयते ॥ २६० ॥
नन्वद्वैतमपि द्वैतं सुप्तसुप्त्योरिहाऽऽत्मनि।
क्रमाद् भात्यत्र किं रूपं तस्येत्याशङ्क्य वर्ण्यते ॥ २६१ ॥

होगा ? अतत्त्वावेदक तदितर प्रमाणसे उत्पन्न बुद्धि भ्रमात्मक हो सकती है। यदि तज्जनित बुद्धि भी भ्रम हो, तो तत्त्वावेदकत्व ही उसमें नहीं रह सकता॥ २५९ ॥

'परमो लोक' इत्यादि। 'परमो लोकः' इस उक्तिसे सर्वभाव वस्तु परमार्थिक है, यह निश्चित होता है और सुषुप्तिमें वह सार्वात्म्य सबको अनुभूत होता है ॥ २६० ॥

'नन्व०' इत्यादि।

शङ्का—सम्पूर्ण दृश्य आत्ममात्र ही है, अतः सुषुप्तिमें आत्मा अद्वय है, ऐसा यदि कहते हो, तो सुषुप्तिसे पूर्वावस्थामें तथोक्त रीतिसे उसे सद्वय भी कह सकते हैं। अतः यह संशय होता है कि आत्माका तत्त्व द्वैत है अथवा अद्वैत। कारण कि उसमें क्रमसे द्वैत और अद्वैत दोनोंका भान होता है। भानमात्रसे वस्तुके स्वरूपावधारण करनेसे पूर्वावस्थामें द्वैतरूपसे आत्माका भान होता है और सुषुप्तिमें अद्वैतरूपसे, मान उभयथा होता है, अतः इसके स्वरूपमें संशय स्वाभाविक है। श्रुतिसे अद्वयात्मधी होती है और प्रत्यक्षादिसे सद्वयात्मधी होती है, अतः दोनों बुद्धियां प्रमाणजन्य भी हैं।

समाधान—प्रमाणोंके विषयमें तो उत्तर दिया जा चुका है, परन्तु तद्विषयमें यह भी उत्तर है कि जागरावस्थामें जो अनात्मधी होती है, उसका व्यभिचार स्वप्नमें और सुषुप्तिमें देखते ही हैं। उक्त दशाओंमें जागर-द्वैतकी अनुवृत्ति नहीं है और स्वाप्निककी जागरमें अनुवृत्ति नहीं है और सुषुप्तिमें दोनोंकी अनुवृत्ति नहीं, अतः उक्त अनात्मधीसंवेद्या अनिर्वाच्या अविद्या ही है।

शङ्का—व्यभिचारसे अनात्मा मृषा है, अतः आत्मा अद्वय है, ऐसा यदि कहते हो, तो अद्वय आत्माका भी स्वप्न और जागरमें व्यभिचार स्फुट ही है, अतः वह भी मृषा होगी, ऐसी स्थितिमें शून्यवाद ही प्रसक्त होगा।

समाधान—उक्त व्यभिचारी बुद्धियोंका साधकान्तर है नहीं, अतः अव्यभिचारी संविदद्वयात्मा ही मानना पड़ेगा, दूसरा उपाय नहीं है, यह असकृत् कह चुके हैं ॥ २६१ ॥

यत्सार्वात्म्यं पुरा प्रोक्तं तदेवाऽद्वैतमात्मनः ।
रूपमागमतः स्वानुभूतेश्च पुरुषार्थतः ॥ २६२ ॥

श्रुतिः—तद्वा अस्यैतदतिच्छन्दा अपहतपाप्माऽभय ं रूपं तद्यथा प्रियया स्त्रिया संपरिष्वक्तो न बाह्यं । किञ्चन वेद नाऽऽन्तरमेवमेवायं पुरुषः प्राज्ञेनाऽऽत्मना संपरिष्वक्तो न बाह्यं किञ्चन वेद नाऽऽन्तरम् ॥

शास्त्रप्रसिद्धं तच्छब्दः प्राह प्रत्यक्षतां पुनः ।
एतच्छब्दः पुमर्थत्वमतिच्छन्दादिनोच्यते ॥ २६३ ॥

'यत्सार्वात्म्यम्०' इत्यादि । उक्त शङ्काका यह समाधान सहज है, इसको हृदयङ्गम कीजिये । उक्त रीतिसे आत्मतत्त्व सद्वय है कि अद्वय ? इसका निर्णय इस प्रकारसे भी होता है कि सार्वात्म्य शब्दान्तरसे अद्वयत्व जो पूर्वमें कहा है वही आत्माका वास्तव तत्त्व है ।

शङ्का—क्यों ?

समाधान—आगम प्रमाणसे वही सिद्ध होता है । 'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म' इत्यादि सैकड़ों श्रुति और स्मृतियां पूर्वमें प्रमाणभावसे कह चुके हैं । पुनः आम्रेडनकी आवश्यकता नहीं है और स्वानुभूतिसे भी यही सिद्ध होता है। स्वानुभूति ब्रह्मवेत्ताओंकी विवक्षित है और यही पुरुषार्थ भी है । अद्वितीयात्मविज्ञानसे मुक्त हुआ पुरुष सांसारिक विविध दुःख जालोंसे निवृत्त होकर अपरिच्छिन्नानन्दसन्दोहस्वरूप होता है, यह भी असकृत् कह चुके हैं । द्वैतप्रतिपादक आगम प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे सिद्ध अर्थके अनुवादक हैं, द्वैतपरक नहीं हैं । प्रमाणान्तरसे अप्राप्त अद्वैतके बोधक आगम तत्परक हैं अन्यथा उनमें अप्रामाण्यापत्ति हो जायगी इत्यादि बहु वक्तव्य है ॥ २६२ ॥

'तद्वा अस्यैतदतिच्छन्दा' इत्यादि श्रुति । इसका अर्थ श्लोकोंके व्याख्यानसे गतार्थ हो जायगा ।

'शास्त्रप्रसिद्धम्' इत्यादि । अद्वयात्मामें प्रत्यक्षादि भी प्रमाण हो सकते हैं । प्रत्यक्षादिका भी साधक आत्मा ही है । आत्मसंबन्धसे प्रत्यक्षादि विषय-परिच्छेदक होते हैं, अन्यथा अपने विषयके समान स्वयं जड़ हैं, चिद्व्याप्तिके बिना ये प्रकाशक नहीं होते । आत्मा स्वयंप्रकाश होनेसे स्वसिद्धिमें प्रत्यक्षादिकी अपेक्षा नहीं करता, यह भी कथितप्राय है । प्रत्यक्षादिके समान विषय भी आत्मसापेक्ष ही हैं, क्योंकि वे सब अवस्तु हैं अर्थात् निरात्मक हैं । परमार्थतः आत्माविद्या ही मेय और मान भावसे विवर्तित होती है । 'सर्वोऽस्मि' इस वाक्यसे जो अर्थ प्रतीत होता है—मैं सब हूँ,

यही विद्या है, इससे भिन्न दर्शन अविद्या है। दोनोंका संक्षेपसे यही स्वरूप है। ये दोनों स्वरूप संविदाश्रित हैं। विद्याकार्य सर्वात्मभावको स्वप्नमें दिखला चुके हैं, तद्गत हननादिके समान मिथ्यात्वकी शङ्का कर 'परमो लोक' इत्यादिसे उसका परिहार किया गया है। अब आगे परावस्था जो निरविद्या है, उसका निरूपण किया जाता है।

शङ्का—पूर्वमें भी सर्वात्मभावके प्रदर्शन द्वारा विद्याका ही निरूपण हुआ है, अतः स्तदर्थ अतिच्छन्दवाक्यकी क्या आवश्यकता है ?

समाधान—ठीक है, किन्तु सुषुप्तिमें अतिच्छन्दवाक्यसे उसीका स्पष्टीकरण किया जायगा। छन्दशब्द दो प्रकारका है, एक सान्त छन्दस् और दूसरा अदन्त छन्दः। प्रथम गायत्र्यादि छन्दका वाची है और द्वितीय कामवाची है। यहां कामवाची अदन्त छन्दशब्द है, क्योंकि 'न कञ्चन कामं' इस पूर्व वाक्यसे वही प्रकृत है और कामप्रयोज्य कर्मवाची पापके साथ पठित भी है। छन्दमतिक्रान्तमतिच्छन्दम्; यह विग्रह है। अतिच्छन्दा यहां दीर्घ छान्दस है। पापशब्दसे धर्मका भी ग्रहण विवक्षित है।

शङ्का—पापशब्द अधर्ममें निरूढ़ है, उसका पुण्यमें प्रयोग कैसे ?

समाधान—मुमुक्षुके लिए पापके समान पुण्य भी बन्धफलकत्वेन हेय है, अतएव 'पाप्मनो विजहाति' इस श्रुतिमें पापवत् पुण्य भी हेय कहा गया है।

शङ्का—'पापोऽहं पापकर्माऽहं पापात्मा पापसंभवः' ऐसा कहा गया है, तो अपहतपाप्मा कैसे ?

समाधान—जबतक अज्ञान है, तब तकके लिए वैसी उक्ति है। अज्ञानका नाश होनेपर तद्धेतुक पापादिका सम्भव ही नहीं है, तत् शब्द प्रसिद्धपरामर्शी है और एतच्छब्द प्रत्यक्षवाची है। दोनोंके समभिव्याहारसे प्रसिद्ध प्रत्यक्ष अर्थ होना चाहिए। प्रकृतमें आत्मा प्रसिद्ध नहीं है, अन्यथा उसका निरूपण ही व्यर्थ हो जायगा। अतएव प्रत्यक्ष भी नहीं, फिर दोनोंसे आत्माका अभिधान कैसे ?

समाधान—आगममें प्रसिद्ध है और ज्ञानियोंको स्वानुभवसे प्रत्यक्ष है, अथवा 'यत्साक्षादपरोक्षाद् ब्रह्म' इत्यादि श्रुतिसे आत्मा अपरोक्ष है, अतः उक्त शब्दद्वयसे तदभिधान युक्त ही है। लोकप्रसिद्धि ही प्रसिद्धिशब्दसे विवक्षित नहीं है, किन्तु शास्त्रप्रसिद्धि भी गृहीत होती है। अतएव ''स वः शशिकलामौलिस्तादात्म्यायोपकल्पताम्' इस श्लोकमें शशिकलामौलि शिव शास्त्रोंमें प्रसिद्ध है। उसका परामर्शी

शिवमद्वैतमित्यादिशास्त्रमुद्घुष्यते बहु ।
समाधिसुप्त्योरद्वैतं स्वयमेवाऽनुभूयते ॥ २६४ ॥
छन्दः कामः कर्म पापं भयं स्यात् कर्मणः फलम् ।
अनर्थरूपं त्रितयमद्वैते वीक्ष्यते नहि ॥ २६५ ॥
त्रितयानर्थनिर्मुक्तं नाऽनर्थान्तरयोगि च ।
इति द्वैतं श्रुतावस्यां वैशब्देन निवर्त्यते ॥ २६६ ॥

तच्छब्द है । साहित्यदर्पणमें प्रसिद्ध परामर्शी तच्छब्दका उक्त ही उदाहरण दिया गया है । उक्तस्वरूप अतिच्छन्द अपहतपाप्मस्वरूप आत्मज्ञान होनेपर कृतकार्य ज्ञातज्ञेय पुरुष हो जाता है । अवाप्तकाम होनेसे उनके साधनोंका अनुष्ठान नहीं है । आत्मव्यतिरिक्त पदार्थ नहीं है, आत्मा ज्ञात ही हो चुका, ज्ञातव्य कोई नहीं रह जाता, कामकर्म महामोह रहित आत्मस्वरूपको श्रुतिने दिखलाया ॥ २६३ ॥

'**शिवमद्वैत०**' इत्यादि । शास्त्रक्रिया समभिव्याहारसे डंकेकी चोट कहा गया है कि आत्मा शिव अद्वैत है । योगियों तथा साधारण लोगोंको सुषुप्तिदशामें ऐसा ही आत्मस्वरूपानुभव होता है । योगियोंको सुषुप्तिके अलावे समाधिमें भी उक्त स्वरूपका अनुभव होता है, अतः शास्त्रप्रसिद्धि और प्रत्यक्ष दोनों प्रकृत विषयमें हैं । इसलिए 'स एष' इन दोनों शब्दोंसे आत्माका निर्देश उचित ही किया गया है ॥ २६४ ॥

'**छन्दः कामः**' इत्यादि । छन्द यानी काम अतिछन्द यानी अतिक्रान्त-काम पापकर्मका फल भय, ये सब अद्वैतमें नहीं देखे जाते ॥ २६५ ॥

'**त्रितयानर्थ०**' इत्यादि । काम यानी पापमय । अथवा कायिक, वाचिक, मानसिक—ये तीनों अनर्थ हैं, तद्युक्त । एवमनर्थान्तरयुक्त द्वैत, इस श्रुतिमें वैशब्दसे निवृत्त किये गये हैं, क्योंकि द्वैत त्रितयानर्थनिर्मुक्त—त्रितयानर्थशून्य—नहीं होता, 'द्वैताद्धि भयं भवति' इत्यादि श्रुतियोंसे द्वैत दुःखमूल है, अतः वैशब्दसे तन्निषेध किया गया है ।

शङ्का—सुषुप्त आत्मा न अपनेको देखता है, न अनात्म पदार्थोंको ही देखता है, जागर अवस्थामें जब अनेकों देखता है, उसी समय काम आदि भी देख पड़ते हैं, इससे तो यही स्पष्ट होता है कि कामादि आत्मधर्म हैं, धर्मीकी अभावदशामें धर्मोंका अभाव स्फुट है ।

कामाद्यनर्थनिर्मुक्तमद्वैतं रूपमात्मनः ।
तेनाऽनर्थेन संयुक्तं द्वैतमात्मनि कल्पितम् ॥ २६७ ॥
द्वैताप्रतीतौ नाऽनर्थः किन्त्वानन्दो महानिति ।
अत्र लौकिकदृष्टान्तः प्रोच्यते सर्वसंमतः ॥ २६८ ॥
स्त्रिया वियुक्तस्तद्भेदं पश्यन्कामेन पीड्यते ।
आलिङ्गितस्तयैकत्वं प्राप्याऽऽनन्देन तृप्यति ॥ २६९ ॥
चित्तानुरागसिद्ध्यर्थं प्रिययेति विशेषणम् ।
द्विष्टायां सत्यपि स्त्रीत्वे चेतो नैवाऽनुरज्यते ॥ २७० ॥

समाधान—इससे आपका क्या तात्पर्य है ? क्या सुषुप्तिमें चैतन्यस्वरूपका ही निषेध करते हैं अथवा उसके ज्ञानका ? 'प्रथम पक्षमें 'यः सुप्तः सोऽहम्' इस प्रत्यभिज्ञाके साथ विरोध है और 'पश्यन् वै तन्न पश्यति' यह श्रुतिविरोध भी है। द्वितीय पक्षमें अन्वयव्यतिरेकसे कामादि आत्ममोहोत्थ अतएव कारकजन्य हैं, इससे निश्चय होता है कि वे मनोधर्म हैं, सुषुप्तमें 'अज्ञोऽहम्' इस प्रकार व्यक्त अज्ञान है नहीं, अतः तत्प्रयुक्त कारकसमुदायकी सत्ता दूरोत्सारित होनेसे उक्त कालमें उसका निषेध इष्ट ही है। आत्माका अज्ञान होनेपर ही द्वैतभान होता है, इस अन्वयका प्रदर्शन स्वयं श्रुति करती है—'यत्र द्वैतमिव भवति तदितरः इतरं पश्यति'। 'इव' शब्दके प्रयोगसे अज्ञान वस्तु नहीं है, अतः वास्तविक अन्वय नहीं है, किन्तु तत्सदृश है; जहां अज्ञान नहीं है, वहां विशेष ज्ञान नहीं है, इस व्यतिरेकमें 'यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत् तत् केन कं पश्येत्' यह श्रुति प्रमाण है, अतः अनर्थयोगी द्वैत आत्मामें कल्पित है ॥२६७॥

'द्वैताप्रतीतौ' इत्यादि। द्वैतकी अप्रतीतिदशामें अनर्थका भान नहीं होता, किन्तु महान् (बड़ा) आनन्द होता है, इसमें सर्वजनप्रसिद्ध लौकिक दृष्टान्त कहते हैं—सुषुप्तिमें जीवकी परके साथ एकता हो जाती है, इसीसे विशेष ज्ञान नहीं होता, इसमें स्त्री और पुरुषका दृष्टान्त देते हैं ॥ २६८ ॥

'स्त्रिया वियुक्त०' इत्यादि। स्त्रीसे वियुक्त कामी पुरुष स्त्रीके साथ भेदको प्राप्त कर अत्यन्त दुःखी होता है। स्त्रीसे आलिङ्गित होनेपर उसके साथ अभेद प्राप्तकर परमानन्दसे तृप्त होता है ॥ २६९ ॥

'चित्तानुराग०' इत्यादि। स्त्रीमें कामीका चित्त अनुरक्त होता ही है, यह बतलानेके लिए 'प्रियया' यह विशेषण है, क्योंकि द्विष्टा (द्वेषयुक्ता) स्त्रीमें अनुराग नहीं होता। उक्त गुणविशिष्ट स्त्रीमें भी केवल स्वकीय प्रीतिमात्रसे चित्तानुराग नहीं होता,

किन्तु उसकी (स्त्रीकी) भी कामना होनी चाहिए, अन्यथा पुनः द्वेषापत्ति होगी। अतः वार्त्तिकमें 'कामयन्त्या' भी विशेषण दिया है। वार्तिकसारकी आदर्श प्रतिमें 'दुष्टायाम्' यह पाठ है, सो प्रमादसे हुआ है। 'द्विष्टायाम्' पाठ उचित है। यह वार्तिकका श्लोक है और अविकलरूपसे यहाँ उद्‌धृत किया गया है। श्रुतिमें 'परिष्वक्त' शब्दसे व्यामिश्रीभाव कहा गया है। व्यामिश्रीभाव स्त्रीलक्षणमें पुरुषलक्षणका अनुप्रवेश है। ईदृश कर्ममें प्रवृत्त (स्त्री और पुरुष दोनोंकी प्रीतिसे उत्पन्न परस्पर संयोगात्मक मैथुन कर्ममें प्रवृत्त) पुरुष बाह्य अथवा आभ्यन्तर कुछ भी नहीं जानता, केवल उसके सुखका ही अनुभव करता है। यद्यपि उक्त कर्ममें प्रवृत्त स्त्री भी पुरुषवत् कुछ नहीं जानती, तथापि पुरुष-प्रकरणसे पुरुष कुछ नहीं जानता, ऐसा श्रुतिने कहा है, वस्तुतः स्त्रीमें भी तो वही आत्मा है। शरीरसम्बन्धकृत यह आत्मभेद है, आत्मा दोनोंमें एकरस ही है। दार्ष्टान्तिकके अनुसार भी पुरुषोक्ति समुचित है।

शङ्का—सम्बन्धाधीन सुखके आवेशसे ही बाह्य और आभ्यन्तरका अज्ञान है, स्वतः नहीं, इसमें क्या साधक है?

समाधान—इसमें यह साधक है कि परिष्वङ्गसे पहले और पीछे बाह्य एवं आभ्यन्तरका ज्ञान रहता है, केवल परिष्वङ्गकालमें ही उक्त बाह्य और आभ्यन्तरका ज्ञान नहीं रहता, इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि सम्बन्धाधीन सुखावेशसे ही अज्ञान है, स्वाभाविक नहीं है। जैसे संपरिष्वक्तमें विशेषाज्ञान रहता है, वैसे ही सुषुप्तिमें भी अव्यक्त अज्ञान जनित विशेषका अज्ञान है, ऐसा श्रुतिस्थ 'एवमेव' इत्यादिसे कहा गया है। सोपाधिक पुरुष सुषुप्तिमें निरुपाधिक ब्रह्मैक्य प्राप्त कर अव्यक्ताज्ञानजन्य विशेषको नहीं देखता।

शङ्का—उक्त अवस्थामें निरुपाधिक ब्रह्मैक्य कैसे सिद्ध होता है?

समाधान—जाग्रत्स्वप्नभोगप्रद कर्मका क्षय होनेपर जो प्रत्यगात्मा अज्ञानी है, उसका, बुद्धि आदिसे लेकर देहपर्यन्त विषयोंमें अभिमानका ध्वंस होनेपर, वितमस्क ब्रह्मरूपसे एकात्मसंयोग होता है, उसके होनेपर कुछ नहीं जानता। अतएव अन्य श्रुति भी उक्त अर्थका समर्थन करती है—'सम्पद्य न विदुः सति सम्पद्यामहे'।

शङ्का—अविद्या और उसके कार्यका आभासके साथ सम्बन्ध होनेसे आभास द्वारा आत्मामें भी उसका सम्बन्ध होना ही चाहिए।

समाधान—आभासका भी उस कालमें अतिक्रमण करता है, सौषुप्त आत्मा कूटस्थ आत्मानुरोधी अतएव तन्मात्र होकर कार्य और कारणको दृष्टिकोणसे भी नहीं

क्षेत्रारामादिकं बाह्यं गृहकृत्यं तथाऽऽन्तरम् ।
आलिङ्गितः सुखाविष्टो न वेत्ति द्वयमप्यसौ ॥ २७१ ॥
अवेदनेन तद्धानिवृद्ध्योश्चिन्तां परित्यजेत् ।
अप्राप्य चित्तविक्षेपं मज्जत्यानन्दसागरे ॥ २७२ ॥
एवं सुप्तौ समाधौ वाऽऽलिङ्गितः परमात्मना ।
न बहिर्जागरं नाऽन्तः स्वप्नं च द्वैतमीक्षते ॥ २७३ ॥
आनुकूल्यप्रातिकूल्ये द्वैतादर्शनतो नहि ।
ततः कामभयाभावादात्मानन्दे निमज्जति ॥ २७४ ॥

देखता, अतः संप्रसादमें विज्ञानात्माके परमात्मासे संयुक्त यानी अभिन्न हो जानेसे भेदकारण विध्वस्त हो जाता है, अतएव उक्त बुद्धिकी निवृत्ति हो जाती है। ऐकात्म्यमात्रावशिष्ट होनेसे आन्तर और बाह्य कुछ नहीं जानता, यह श्रुति कहती है॥२७०॥

'क्षेत्रारामा०' इत्यादि। प्रियालिङ्गित तत्सुखाविष्ट पुरुष बाह्य क्षेत्र, आराम (खेत, बगीचे) आदि और आभ्यन्तर गृहकृत्य दोनोंको भी [ये दोनों क्षेत्र आदिसे जनित आनन्दसे अतिरिक्त आनन्दके भी उपलक्षण हैं] नहीं जानता ॥ २७१ ॥

'अवेदनेन' इत्यादि।

शङ्का—बाह्यका अवेदन सुखका हेतु क्यों ?

समाधान—बाह्य वस्तुका भान होनेसे उसकी हानि तथा वृद्धिकी चिन्तासे पुरुषका चित्त विक्षिप्त होता है तथा उनके परिहारादिके साधनोंके अभावसे दुःखी होता है। यदि उसका ज्ञान ही नहीं है, तो हानि और वृद्धि भी अज्ञात ही हैं, अतएव विक्षेपकारणके अभावसे चित्त भी व्यग्र नहीं होता। तदनन्तर आनन्दसमुद्रमें गोता लगाता है। वैषयिक आनन्दके समान आत्मानन्द साधनसापेक्ष नहीं है, किन्तु स्वाभाविक है। उसका तिरोधायक अज्ञान और उसका कार्य है। उनकी निवृत्ति होनेपर आत्मानन्दसन्दोह स्वयं प्रादुर्भूत हो जाता है ॥ २७२ ॥

दृष्टान्तका व्याख्यान कर दार्ष्टान्तिकका व्याख्यान करते हैं—**'एवं सुप्तौ'** इत्यादिसे।

सुप्ति या समाधिमें परमात्मासे आलिङ्गित अतएव तदभेदप्राप्त पुरुष बाह्य जागर और आन्तर स्वप्नरूप द्वैतको नहीं देखता ॥ २७३ ॥

'आनुकूल्य०' इत्यादि। सुषुप्तिमें उक्त रीतिसे द्वैतका दर्शन नहीं होता,

श्रुतिः—तद्वा अस्यैतदाप्तकाममात्मकाममकामꣳ रूपꣳशोकान्तरम् ॥ २१ ॥

तद्वा अस्येति वाक्येन कामाभावः प्रपञ्च्यते ।
आत्मरूपं यदद्वैतमाप्तकामं तदीक्ष्यताम् ॥ २७५ ॥

अतः तद्विषयक आनुकूल्य (वृद्धि) और प्रातिकूल्य (हानि) नहीं होता अर्थात् चित्त-विक्षेपकारण द्वैतज्ञान ही नहीं होता, आनुकूल्य-प्रातिकूल्यमूलक काम और भय प्रसिद्ध हैं, कारणाभावसे कार्य काम और भय आदि नहीं होते। प्रतिबन्धकाभावसे आत्मा आनन्दमें निमग्न होता है। सारांश यह है कि जो वस्तु अन्यापेक्ष है, वह मिथ्या है। अनात्मवस्तु आत्मसापेक्ष है, अतः वह मिथ्या है, इसका उपपादन हो चुका है, इसमें मूल यही है कि जो वस्तुतः स्वप्न ही है, वह अन्यानपेक्ष कैसे होगा? अनात्मवस्तु जड़ होनेसे स्वयंसिद्ध नहीं होती, आत्मापेक्षासे भी वह वस्तुतः नहीं है, अन्यथा स्वाप्निक पदार्थोंकी भी सिद्धि हो जायगी। आत्मा सर्वानपेक्ष स्वमहिमासे ही सिद्ध है, अतः ऐकात्म्यलक्षण वही वास्तविक पदार्थ है। स्त्रीवाक्यसे सुषुप्तमें विशेषज्ञानाभाव सिद्ध कर अतिच्छन्दवाक्योक्त कामाविद्यादि-वर्जित आत्मस्वरूप श्रुतिने कहा।

शङ्का—सुषुप्तमें यदि विशेषज्ञानाभावको मानते हो, तो चैतन्य भी ज्ञानस्वरूप ही है, अतः वह भी नहीं रहेगा, अन्यथा ज्ञानसामान्याभावकी सिद्धि ही नहीं होगी।

समाधान—चैतन्य स्वयंज्योति आत्मा है, वह अज्ञानधर्म कामादिके समान आगन्तुक नहीं है, अतः सुषुप्तिमें क्यों नहीं रहेगा? आत्मा चैतन्य है, अतः ज्ञातृ, ज्ञान आदि विभाग नहीं है, ध्वस्ताज्ञान पुरुष आत्मामें उक्त विभाग नहीं देखता। अतिच्छन्दवाक्योक्तरूप आगन्तुक चैतन्य है, इस शङ्काकी स्त्रीवाक्यसे निवृत्ति कर अतिच्छन्दवाक्यार्थको परिष्कृत करनेके लिए आप्तकामादि श्रुतिकी प्रवृत्ति है ॥ ७४ ॥

'तद्वा अस्यैतदा०' इत्यादि श्रुति। श्लोकार्थसे श्रुत्यर्थ गतार्थ है ॥२१॥

'तद्वा' इत्यादि। 'तद्वा अस्यै' इत्यादि वाक्यसे आत्मविद्में कामाभावका प्रपञ्च करते हैं। आत्मस्वरूप जो अद्वैत है, उसीको आप्तकाम समझिये। सारांश यह है कि पुमर्थ ही कामशब्दका अर्थ है। 'काम्यतेऽनेन इति कामः' इस व्युत्पत्तिसे धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष, इस प्रकार विभक्त चार पदार्थोंमें सब काम अन्तर्भूत हैं। अप्राप्तकामकी कामना पुरुषमें होती है। जो आत्मदर्शी है, वह विश्वको ही आत्मा

सुषुप्सुश्च समाधित्सुर्वाह्यं कामयते नहि ।
अपि त्वात्मानमेवाऽऽत्मा प्राप्त एवाऽखिलैः सदा ॥२७६॥

मानता है, उसकी दृष्टिमें आत्मातिरिक्त काम्य पदार्थ ही नहीं है। आत्मा आत्मा होनेसे ही प्राप्त है, अतः प्राप्ताशेषपुरुषार्थ होनेसे सम्पूर्ण साधनोंसे निस्पृह वह आप्तकाम कहा जाता है। 'काम्यते इति कामः' यानी आत्मा, वह आप्त है, 'आप्तश्च कामश्च आप्तकामः' इस व्युत्पत्तिसे उक्त अद्वितीय आत्मस्वरूप आप्तकामशब्दसे विवक्षित है।

शङ्का—छान्दोग्यमें 'सत्यसङ्कल्पः सत्यकामः' इत्यादिमें 'सत्यः कामोऽस्य' इत्यादि व्युपत्ति कर कामशब्दका आत्मसम्बन्धी यानी तत्कामनाविषय अर्थ किया गया है। वहां कामसे आत्मा नहीं, किन्तु तत्सम्बन्धी यह अर्थ निश्चित हुआ है। इसी प्रकार यहां भी कामशब्दको आत्मातिरिक्तार्थक ही मानना चाहिए ।

समाधान—एतदनुसार वहां भी कामशब्दका यही अर्थ करना चाहिए, यहां स्वरूपसुख सकलदुःखलेशशून्य कामशब्दार्थ है ।

शङ्का—क्यों ?

समाधान—'आत्मकाम' इत्यादि विशेषणसे यही अर्थ स्फुष्ट प्रतीत होता है। परमात्मविषयक दोनों वाक्य हैं, अतः एकवाक्यताके लाभके लिए उक्त छान्दोग्यका एतदनुसार अर्थ है। किञ्च, आत्ममात्रको छोड़कर अन्यत्र सत्यत्व है नहीं, अतः निरतिशय सुख आत्मतत्त्व सत्यकामसे वेदनीय है, अतएव छान्दोग्यमें ही 'यत्र हि नान्यत्पश्यति' इत्यादि श्रुतिसे दर्शनादिका निषेध कर भूमलक्षणका व्याख्यान कर प्रत्यगात्मामें ही सुखत्व और सत्यत्व कहा है।

शङ्का—काम और कामीका भेद मानकर हिरण्यगर्भके समान आप्तकाम कहते हैं, क्योंकि हिरण्यगर्भ भी सर्वात्मा होनेसे आप्तकाम है या निर्भेद होनेसे आत्मकाम कहते हैं ?

समाधान—निर्भेदसे आप्तकाम प्रकृतमें कहा गया है, इसमें साधक 'आत्मैवेदं सर्वम्' इत्यादि श्रुति है, इससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि यदि सब आत्मा ही है, अतिरिक्त कुछ है नहीं, तो किसकी कामना कौन करेगा ॥ २७५ ॥

'सुषुप्सुश्च' इत्यादि ।

शङ्का—अद्वैतात्मस्वरूपमें आप्तकामत्व क्यों ?

पूर्वोक्तश्येनदृष्टान्तात्सुषुप्सोः काम आत्मनि ।
कामाभावे कुतो धावेत् श्येनवत्सहसाऽऽत्मनि ॥ २७७ ॥
समाधित्सोरात्ममात्रकामना सर्वसम्मता ।
काम्यात्मप्राप्तितोऽकामरूपमद्वैतमात्मनः ॥ २७८ ॥

समाधान—काम्यमान है, अतः काम है, नित्यप्राप्त है, अतः आप्त है । 'आप्तश्च कामश्च आप्तकामः' यह आप्तकामका विग्रह है ।

शङ्का—आत्मा काम्यमान कहां है ?

समाधान—सुषुप्सु और समाधित्सुमें । शयनकी इच्छा तो प्राणिमात्रको होती है । समाधित्सु योगी हैं, वे भी अत्यन्त अप्रसिद्ध नहीं हैं । इन दोनोंको बाह्य पदार्थविषयक कामना नहीं रहती, अन्यथा बाह्यव्यापारमें ही व्यापृत होनेसे सुषुप्ति ही न हो सकेगी । यह तो असकृत् ज्ञात ही है कि सुषुप्ति तथा समाधिमें बाह्य पदार्थका कुछ भी भान नहीं होता और बाह्य विषयोंसे उपरत होनेपर ही उक्त दोनों कार्य होते हैं । इच्छाके बिना तदर्थप्रवृत्ति किसीकी नहीं होती । प्रवृत्तिमात्रमें इच्छा कारण है, अतः उक्त दोनों पुरुषोंमें आत्मकामना रहती है । और वह नित्यप्राप्त है, इससे अद्वैतात्मामें आत्मकामत्व सिद्ध हुआ ॥ २७६ ॥

सुषुप्त आत्मामें काम्यमानत्व नहीं है, इस शङ्काकी निवृत्ति करते हैं—**'पूर्वोक्तश्येन०'** इत्यादिसे ।

उक्त श्येनदृष्टान्तसे तादृश आत्मामें काम्यमानत्व है । यदि आत्मामें कामना न होती, तो सुषुप्तिके लिए श्येनके समान क्यों दौड़ता ? अतः उक्त दृष्टान्तसे सुषुप्सुकी कामना आत्मामें रहती है, यह सिद्ध हुआ ॥ २७७ ॥

'समाधित्सो०' इत्यादि । सांसारिक सुख तथा उसके साधनोंसे उपरत होकर योगी समाधिनिरत होता है, यह तो प्रसिद्ध ही है । कामनाके बिना समाधि नहीं होती । निष्फल कर्ममें विद्वानोंकी प्रवृत्ति नहीं होती, अतः आत्मकामना समाधित्सुमें अवश्य रहती है, यह सर्वसम्मत है । उक्त उपाय द्वारा आप्तकाम होनेपर अकाम अद्वैतात्मस्वरूप सिद्ध होता है, इसमें सन्देह नहीं है ।

शङ्का—आप्तकाम और आत्मकाम—इन दो विशेषणोंसे ही सकल कामनाशून्यत्व आत्मामें प्रतीत होता है, फिर 'अकाम' यह विशेषण क्यों ? इससे सकल

काम्यभोजनतस्तृप्तस्तदा भोज्यं न वाञ्छति ।
एवं काम्यात्मनि प्राप्ते किमन्यत्काम्यते पुनः ॥ २७९ ॥
आत्मकाममकामं यत्तच्छोकरहितं तदा ।
शोकान्तरं पृथक् शोकादिति निःशोकतोच्यते ॥ २८० ॥

कामनाभावका ही बोध कराना इष्ट है, वह उक्त विशेषणोंसे हो जाता है, अतः उसका उपादान पुनरुक्त है ।

समाधान—काम और कामीके भेदके निराकरणके लिए 'अकाम' विशेषण है ।

शङ्का—उक्त भेदका निराकरण उक्त विशेषणोंसे हो जाता है, ऐसा पूर्वमें निरूपण कर चुके हैं, फिर इस विशेषणका क्या प्रयोजन ?

समाधान—ठीक कहते हैं, मन्दबुद्धि पुरुषोंके लिए उक्त विशेषण द्वारा निर्भेदात्मस्वरूपका प्रतिपादन किया गया है । उनको इसका निश्चय न होनेसे उक्त शङ्का हो सकती है, अतः उसके निराकरणके लिए 'अकामम्' यह विशेषण है ।

शङ्का—बहुव्रीहिसमास माननेसे इससे भी उक्त शङ्काकी निवृत्ति नहीं हो सकेगी ।

समाधान—उत्तर पदकी लक्षणा माननेसे गौरव तथा जघन्यवृत्तिसे श्रुत्यर्थ निरूपण असंगत है, अतः 'न कामः अकामः' यह तत्पुरुष समास मानना ही उचित है, यह स्थितकी गति है ॥ २७८ ।

उक्त अर्थको दृष्टान्तसे स्पष्ट करते हैं—**'काम्य०'** इत्यादिसे ।

ईप्सित भोजनसे तृप्त पुरुष फिर उस भोजनकी उस कालमें इच्छा नहीं करता, यह प्रत्यात्मप्रसिद्ध दृष्टान्त है । फलेच्छासे ही उसके साधनकी इच्छा होती है । प्राप्त फलकी इच्छा नहीं होती, क्योंकि उसकी उत्पत्तिमें फलसिद्धि प्रतिबन्धक है, जैसा कि दृष्टान्तमें कहा गया है । इसी प्रकार काम्य आत्माके प्राप्त होनेपर फिर तदन्यकी कामना क्यों करेगा । अर्थात् सब आत्मस्वरूप ही है; आत्माकी प्राप्ति होनेपर सकल कामोंकी प्राप्ति हो गई । फिर कृतभोजनके समान कामान्तरकी कामना कैसे करेगा ?

श्रुतिगत शोकान्तरकी व्याख्या करते हैं—**'आप्तकाम०'** इत्यादिसे ।

शङ्का—शोकान्तरका शोकराहित्य अर्थ कैसे होता है ?

ननु देहाभिमानश्च धर्माधर्मौ च शोकदाः ।
यथा जागरणे तद्वत्सुषुप्तौ च प्रसज्यते ॥ २८१ ॥

समाधान—यहां अन्तरशब्द पृथगर्थवाची है, सुषुप्तिमें आत्मा शोकसे पृथक् है, ऐसा कहनेपर यह प्रतीति होती है कि आत्मामें शोकका सम्बन्ध नहीं है। यदि उसके सम्बन्धसे रहित है, तो वह उससे रहित है, यह फलितार्थ होता है। व्याप्ति भी है—'यो यदीयसम्बन्धाभाववान् स तदभाववान्, यथा रूपसम्बन्धाभाववान् वायुः रूपाभाववान्'। इस तात्पर्यसे निःशोक आत्मा कहा गया है, शोक-कामादिसे होता है, काम अज्ञानहेतुक है, उस समयमें अज्ञान है नहीं, अतः निःशोकता प्राप्त ही है।

शङ्का—उस समयमें अज्ञान क्यों नहीं है? अन्यथा जागरादि नहीं हो सकेगा, प्रत्युत मुक्ति ही हो जायगी।

समाधान—अच्छा, तो यह उत्तर है कि शोक गुण है, अतः गुणवाची शोकशब्दसे मतुप् और उसका लुक् करके शोकशब्दका शोकवान् अन्तःकरण अर्थ हुआ। तद्रहित आत्मा उक्त दशामें है; काम, शोक आदि अन्तःकरणके धर्म हैं। अन्तःकरणके सम्बन्धसे वे आत्मामें प्रतीत होते हैं। जब अन्तःकरण ही उक्त कालमें है नहीं, तब तद्धर्मका संभव कैसे? अथवा शोक भी आत्मामें कल्पित होनेसे उसका भी अधिष्ठान प्रत्यगात्मा ही है, अतः वह शोकवान् कैसे हो सकता है। रज्जुके बिना अध्यस्त सर्पकी प्रतीति नहीं होती, अतः उस सर्पका आत्मा रज्जु है, परन्तु वस्तुतः रज्जु सर्पवती नहीं है, इस प्रकार वस्तुतः आत्मा शोकवान् नहीं है, इस तात्पर्यसे भी श्रुतिने आत्मस्वरूपको शोकान्तर कहा है। अथवा माध्यन्दिनशाखामें 'अशोकान्तरम्' यह पाठ है, तदनुसार 'अशोकादपरम् अशोकान्तरम्' यह अर्थ भी हो सकता है। ईश्वर मायाविशिष्ट है और अशोक तदन्य शुद्ध चैतन्य अशोकान्तर अथवा शोकमन्तरयति यानी आनन्दैकहेतु होनेसे जो शोकको आच्छन्न करता है, वह अशोकान्तर है ॥ २८० ॥

शङ्का—'ननु देहा०' इत्यादि। जागरके समान उस समयमें भी देहाभिमान और धर्मादि हैं ही, फिर शोक भी रह सकता है, अतः आत्मा शोकान्तर कैसे? ॥ २८१ ॥

मैवं पिताऽहमित्यादिदेहत्वभ्रान्तिलोपनात् ।
पितृत्वयुक्ते देहेऽभिमानः सुप्तस्य नाऽस्ति हि ॥ २८२ ॥
देहाभिमाने सत्येव शोकरागादि सम्भवेत् ।
नाऽन्यथा परदेहस्थदुःखस्याऽऽत्मन्यवेक्षणात् ॥ २८३ ॥

समाधान—'**मैवम्**' इत्यादि । देहतादात्म्याभिमान भ्रान्तिमूलक है । सुषुप्तमें भ्रम होता नहीं, इसलिए सुषुप्तको देहाभिमान ही नहीं होता, फिर वहाँ शोकादि कैसे रह सकते हैं ? भाव यह है कि पुत्रका कारण धर्मादि है । उसके सम्बन्धसे पिता और पुत्रमें कार्यकारणभाव सम्बन्ध होता है । सुषुप्तमें धर्मादिका सम्बन्ध नहीं है, कारण कि वे अन्तःकरणके धर्म हैं । अन्तःकरण उस समयमें नहीं रहता है । अतः उसके द्वारा भी वे आत्मामें नहीं रहते, अतः तन्निमित्तक कार्यकारण-भावकी व्यावृत्ति होनेसे जागरमें जो पिता है, सुषुप्तमें वह अपिता हो जाता है । यही न्याय पुत्र आदिमें भी समझना चाहिए। जागरकालमें पुत्र, भार्या आदिवाले सुषुप्तमें अपुत्रभार्या आदिवाले हो जाते हैं । इसी तात्पर्यसे श्रुति कहती है—'अत्र पिताऽपिता' इत्यादि । वस्तुतः आत्मा अकर्ता है । अविद्या द्वारा ही उसमें कर्तृत्व आदि माने जाते हैं । सुषुप्तमें कर्तृत्व आदिकी मूल व्यक्त अविद्या नहीं है, अतः मूलभूत कर्तृत्वादिकी निवृत्ति होनेसे तन्मूलक धर्मादिका सम्बन्ध और तन्मूलक पितृत्व, पुत्रत्व आदिका सम्बन्ध उक्त कालमें आत्मामें नहीं रह सकता, इसलिए श्रुतिने ठीक ही कहा—'अत्र पिताऽपिता' इत्यादि ॥ २८२ ॥

'**देहाभिमाने**' इत्यादि । देहाभिमान रहनेपर ही शोक और राग उत्पन्न होते हैं । अन्यथा यानी देहाभिमानके बिना यदि शोकादि उत्पन्न हों, तो परदेहस्थ आत्मामें वे क्यों उत्पन्न नहीं होते। भाव यह है कि आत्मा व्यापक होनेसे स्वदेहमें जैसे है, वैसे ही परदेहमें भी समानरूपसे विद्यमान है । भेद इतना ही है कि स्वदेहमें 'यह मेरी देह है' यह अभिमान होता है और परदेहमें वह अभिमान नहीं होता, प्रत्युत यह दूसरेका शरीर है, यह ज्ञान होता है, अतः शरीरान्तरमें स्वात्मसंबन्ध होनेपर भी स्वदेहाभिमानवैकल्यसे परकीय शोक आदि स्वगतत्वेन प्रतीत नहीं होते। सुषुप्तमें स्वशरीरमें तादृश अभिमान नहीं रहता, अतः परदेहके समान देहगत होनेपर भी वे पुरुषको दुःखी नहीं करते। पितृत्वनिरूपित पुत्रत्व होता है । पिता, पुत्र आदि ससम्बन्धिक पद हैं । स्वपितृत्वज्ञानाधीन पुत्रत्वज्ञान और तन्निबन्धन

पुत्ररागोऽपि नाऽस्त्यत्र पितृत्वस्याऽनवेक्षणात् ।
सुप्तः पिताऽहमस्येति न कश्चिदभिमन्यते ॥ २८४ ॥
पुत्रोऽपि मत्पितेत्येवं सुषुप्तो नाऽभिमन्यते ।

श्रुतिः—अत्र पिताऽपिता भवति माताऽमाता लोका अलोका देवा अदेवा वेदा अवेदाः ॥

स्वत्वस्वकीयताऽभावात्पिता स्यादपिता तथा ॥ २८५ ॥
देहतद्धर्मराहित्यं सुप्तौ सर्वेष्वपि स्फुटम् ।
इत्यभिप्रेत्य मात्रादिबहूदाहृतिरीरिता ॥ २८६ ॥
पुत्रकर्मोपास्तिसाध्यास्त्रयो लोकाः पुरा श्रुताः ।
इन्द्रादिदेवा यष्टव्या अध्येतव्या ऋगादयः ॥ २८७ ॥

रागादि होते हैं । उक्त कालमें पितृत्वज्ञानाभावसे पुत्रत्वज्ञानाभाव है और उससे रागादिका अभाव है ॥ २८३ ॥

'पुत्ररागो०' इत्यादि । सुषुप्तिमें 'मैं इसका पिता हूँ' ऐसा अभिमान कोई नहीं करता, अतः तन्निमित्तक पुत्रादिराग भी उक्त न्यायसे उस दशामें किसीको नहीं होता ॥ २८४ ॥

'पुत्रोऽपि' इत्यादि । एवं सुषुप्त पुत्र भी 'अयं मत्पिता' (ये मेरे पिता हैं), यह अभिमान नहीं करता । अभिमानमूलक ही स्वत्व, स्वकीयत्व आदि हैं। तन्निबन्धन पितृत्व, पुत्रत्व आदि हैं, वास्तविक नहीं । निर्विशेष आत्मामें किसीका सम्बन्ध ही है नहीं, फिर पितृत्व, पुत्रत्व आदि सम्बन्ध कहां ? तदभावसे पिता अपिता होता है । एवं माता आदि भी ससम्बन्धिक होते हैं । सम्बन्धनिवृत्तिसे पिता अपिताके समान, माता अमाताके समान, पुत्र अपुत्रके समान होता हैं इत्यादि समझना चाहिए ॥ २८५ ॥

'देहतद्धर्म०' इत्यादि। सुषुप्तिमें देह और देहधर्मोंसे रहित होना सबको स्फुट है, इस अभिप्रायसे बहुत उदाहरण दिये गये हैं । अनेकोदाहरण देखनेसे यह शङ्का हो सकती है कि इनमें कुछ तात्पर्यविशेष हो, इसलिए कहते हैं कि अनेक उदाहरण उक्त कालमें देहतद्धर्मराहित्य सबको स्फुट है, केवल इतना ही कहनेके लिए दिये गये हैं, अतः इसके लिए अर्थान्तरानुसन्धानक्लेश व्यर्थ है ॥ २८६ ॥

'लोका अलोका' इत्यादि वाक्यके तात्पर्यका व्याख्यान करते हैं—**'पुत्रकर्मो०'** इत्यादिसे ।

साधने यजने पाठे शोकोऽस्तीति न शङ्क्यताम् ।
यतो लोकादयो लीनाः सुषुप्तौ परमात्मनि ॥ २८८ ॥
देहतद्धर्मलोकादिरूपं जागरणे जगत् ।
भोगाय कर्मणाऽऽरब्धं क्षीणे कर्मणि लीयते ॥ २८९ ॥

श्रुतिः—अत्र स्तेनोऽस्तेनो भवति भ्रूणहाऽभ्रूणहा चाण्डालोऽचाण्डालः पौल्कसोऽपौल्कसः श्रमणोऽश्रमणस्तापसोऽतापसोऽनन्वागतं पुण्येनानन्वागतं पापेन तीर्णो हि तदा सर्वाञ्छोकान्हृदयस्य भवति ॥ २२ ॥

स्तेनभ्रूणघ्नचाण्डालपुल्कसाः पापिनो यतिः ।
वानप्रस्थश्च पुण्यात्मा सुप्तिः सर्वेष्वसौ समा ॥ २९० ॥

पुत्र, कर्म और उपासना इनसे प्राप्त होनेवाले लोक पूर्वमें कहे जा चुके हैं, वे लोक सुषुप्तिमें अलोक हो जाते हैं, यष्टव्य इन्द्रादि देवता अदेवता यानी अयष्टव्य हो जाते हैं। अध्येतव्य ऋचाएँ अनध्येतव्य हो जाती हैं ॥ २८७ ॥

'**साधने**' इत्यादि। साधन यजन और पाठमें शोक होता है, ऐसी शङ्का मत कीजिये।

शङ्का—क्यों ?

समाधान—उस अवस्थामें ये सब परम कारण परमात्मामें लीन हो जाते हैं, रहते ही नहीं, फिर उक्त व्यापारमें शोककी क्या सम्भावना है ? ॥ २८८ ॥

'**देहतद्धर्म०**' इत्यादि। देह, देहधर्म, लोक आदि [आदिसे देवता, वेद आदि विवक्षित हैं] भोगके लिए कर्मसे आरब्ध हैं। भोगारम्भक कर्मका क्षय होनेपर ये सब अपने कारणमें लीन हो जाते हैं ॥ २८९ ॥

'**अत्र स्तेनो**' इत्यादि श्रुति। श्रुत्यर्थ श्लोकोंके व्याख्यानसे गतार्थ है।

'**स्तेन०**' इत्यादि। स्तेनशब्द यद्यपि चोरमात्रका वाचक है, परन्तु अतिपतित भ्रूणघ्नके साथ पठित है, अतः विप्रसुवर्णापहारी महापातकी स्तेनशब्दसे यहां विवक्षित है। चाण्डालशब्दमें स्वार्थमें अण् हुआ है। शूद्र पुरुषसे ब्राह्मणीमें जो पुत्र उत्पन्न होता है, वह चाण्डाल कहलाता है। वैश्य स्त्रीमें शूद्रसे जो पुत्र होता है, वह 'आयोगव' कहलाता है, क्षत्रियामें शूद्रसे उत्पन्न होनेवाला क्षत्ता कहा जाता है। इसमें प्रमाण—

'ब्राह्मण्यां क्षत्रियात् सूतो वैश्याद्वैदेहकस्तथा ।
शूद्राज्जातस्तु चाण्डालः सर्वधर्मबहिष्कृतः ॥'

तत्तद्देहाभिमानस्तु क्षीणस्तत्कर्मसंक्षयात् ।
पुण्येन पाप्मनाऽनन्वागतं रूपं परात्मनः ॥ २९१ ॥
हृदयाख्यं मनस्तस्य पुण्यपापे ततोऽखिलाः ।
शोका मनोगताः, शोकान्सर्वानात्माऽतिवर्तते ॥ २९२ ॥

यह स्मार्त वचन है। क्षत्रियामें शूद्रसे उत्पन्न पुत्र पौल्कस कहा जाता है। यहाँ भी स्वार्थमें अण् है। पुल्कस एव पौल्कसः।

शङ्का—'जातो निषादाच्छूद्रायां जात्या भवति पुल्कसः' इस वचनसे विरोध होता है।

समाधान—शूद्रामें विप्रसे उत्पन्न पुरुषको निषाद कहते हैं।

विप्रात् मूर्द्धावसिक्तो हि क्षत्रियायां विशस्त्रियाम्।
अम्बष्ठः शूद्र्यां निषादो जातः पारशवोऽपि च ॥

शूद्रोमें ब्राह्मणसे जात जो निषाद जात्या शूद्र है, उससे क्षत्रियामें जात पुल्कस है, यह अर्थ हुआ। सारांश यह है कि निकृष्ट देहसम्बन्धप्रापक कर्मोंसे असम्बद्ध ही सुषुप्त होता है। जैसे श्रमण (संन्यासी) आश्रमधर्मोंसे रहित होता है, वैसे ही आत्माको भी वय, अवस्था आदि धर्मोंसे रहित समझना चाहिए ॥ २९० ॥

'तत्तद्देहाभिमान०' इत्यादि। सुषुप्तिदशामें चाण्डाल आदिका अभिमान न होनेसे तत्प्रयुक्त दुःख आदि नहीं होता, अतः दुःखाद्यभावरूप साम्यसे सबकी सुषुप्ति समान ही होती है। पुण्य और पापसे अनन्वागतका अर्थ यह है—पुण्य और पापसे असम्बद्ध रूप परमात्माका है। यह अर्थ 'अपहतपाप्मा' इत्यादि श्रुतिसे पूर्वमें निश्चित हो चुका है। सुषुप्त तद्रूपापन्न होता है। सारांश उत्तर श्लोकसे कहेंगे ॥ २९१ ॥

'हृदयाख्यम्' इत्यादि। 'सता सोम्य तदा सम्पन्नो भवति' इस श्रुतिके अनुसार सुषुप्तिमें परमात्मस्वरूपापन्न होकर कर्माविद्यानिमित्तक माता, पिता आदि सम्बन्धका अतिक्रमण कर जाता है।

शङ्का—जीवित दशामें वर्तमान शरीरस्थ होकर भी उक्त सम्बन्धका अतिक्रम कैसे करता है?

समाधान—इसमें आश्चर्य क्या? जो अतिसूक्ष्म ज्ञेय है, उसका ज्ञान हम लोगोंको श्रुति द्वारा ही होता है। श्रुति उक्त अवस्थामें पुण्य, पाप आदिसे अनन्वागत स्वरूप कहती हैं। पुण्यादिसे अनन्वागतस्वरूप 'य आत्मा अपहतपाप्मा' इस

शोका बुध्यात्मतादात्म्यभ्रमादात्मनि कल्पिताः ।
बुद्धेर्लये तु तन्निष्ठशोकानां युज्यते लयः ॥ २९३ ॥
सर्वेषामनुभूत्याऽपि प्रसिद्धः शोकसंक्षयः ।
तां प्रसिद्धिं हिशब्देन विशदीकुरुते श्रुतिः ॥ २९४ ॥

श्रुतिसे परमात्मा ही निश्चित किया गया है। अतः तद्रूपापन्न होता है। तद्रूपापन्न होनेपर हृदयाख्य मन लीन हो जाता है। मनका लय होनेपर तदाश्रित पुण्य और पापका भी लय हो जाता है। आश्रयका नाश होनेपर आश्रितका अवस्थान कहीं दृष्ट नहीं है, एवं तदाश्रित शोकका भी लय हो जाता है। इस न्यायसे सब शोकोंका अतिक्रमण कर जाता है; यह अर्थ 'तीर्णो हि' इत्यादि श्रुतिसे स्फुट है। हृदयका अतिक्रमण करनेसे उसके धर्मोंका अतिक्रमण स्वतः सिद्ध हो जाता है ॥ २९२ ॥

'**शोका०**' इत्यादि। शोक वस्तुतः बुद्ध्याश्रित हैं। बुद्धिके तादात्म्यभ्रमसे आत्मामें कल्पित होकर वे सर्वसाधारणको आत्मधर्मरूपसे प्रतीत होते हैं, जैसे कि दग्धृत्व और प्रकाशकत्व वस्तुतः वह्निगत हैं, परन्तु लोहेमें तत्तादात्म्याध्याससे वे लोहगतत्वरूपसे प्रतीत होते हैं। बुद्धिका लय होनेपर बुद्धिमें रहनेवाले शोक आदिका लय युक्त ही है, इसमें विवाद नहीं है ॥ २९३ ॥

'**सर्वेषाम०**' इत्यादि। सुषुप्तिमें शोक आदिका संक्षय सर्वानुभवसिद्ध है, इसमें किसीको विवाद ही नहीं है। श्रुतिस्थ 'हि' शब्द इस प्रसिद्धिका द्योतक है। 'हि' शब्दसे श्रुति उक्त प्रसिद्धिको विशद करती है। स्वप्नमें हृदय द्वारा पुण्य और पापका सम्बन्ध आत्मामें केवल वासनारूप होता है, सुषुप्तिमें हृदयका सम्बन्ध न होनेसे उसका भी निषेध किया गया है।

शङ्का—स्वप्नमें तो मन रहता ही है, फिर केवल वासनारूप सम्बन्ध क्यों कहते हो?

समाधान—कारणत्वका त्यागकर केवल अज्ञानमात्र मनोरूप वासनामय स्वप्नावस्थामें रहता है, अतः उक्त कालमें केवल वासनारूप क्रिया-फलका ही अनुभव करता है। यह तो स्पष्ट है कि स्वप्नद्रष्टाका स्वप्नमें तदन्य सम्बन्ध तो कोई है नहीं, अतः वासनामय मन होनेसे उसका सम्बन्ध भी 'यक्षानुरूपो बलिः' इस न्यायसे वासनामय ही है ॥ २९४ ॥

ननु शोकादिवत्सुप्तौ चैतन्यमपि लुप्यते ।
सुप्तौ न पश्यतीत्येवमाहुः सर्वेऽपि लौकिकाः ॥ २९५ ॥
आत्मन्यदृष्टवशतो ज्ञानमिच्छादिवद्भवेत् ।
इत्याहुस्तार्किकाः सुप्तौ न ज्ञानं कर्मसङ्क्षयात् ॥ २९६ ॥

शङ्का—स्वप्न और सुषुप्तिमें वासनासे अतिरिक्त कोई सम्बन्ध नहीं है, तो क्या जागरमें अन्य सम्बन्ध मानते हैं ?

समाधान—बुद्धि आदिमें रहनेवाले चित्प्रतिबिम्ब द्वारा ही आत्मा सदा अविद्यासे संयुक्त होता है, अतः स्वतः अविद्यासे संयुक्त नहीं रहता, क्योंकि असङ्ग श्रुति है ॥ २९४ ॥

'ननु शोकादि' इत्यादि ।

शङ्का—सुषुप्तिमें काम, शोक आदिकी प्रतीति नहीं है, अतः वे नहीं माने जाते एवं चैतन्यकी भी उस समयमें प्रतीति नहीं है, अतः वह भी नहीं माना जाना चाहिए, क्योंकि उक्त कालमें नहीं देखता है, यह लौकिक पुरुष कहते ही हैं और कोई भी सुषुप्त कुछ नहीं देखता, यह सर्वानुभवसिद्ध भी है ॥ २९५ ॥

सुषुप्तिमें चैतन्य नहीं है, यह लोकप्रसिद्धि कहकर वादी तार्किककी सम्मति भी दिखलाते हैं—**'आत्मन्य०'** इत्यादिसे।

आत्मामें अदृष्ट (पुण्यपापादि) तद्वश जैसे इच्छादि होते हैं वैसे ही ज्ञान भी होता है, सुषुप्तिदशामें अदृष्टका संक्षय होनेसे इच्छादिके समान ज्ञान भी नहीं होता । भाव यह है—तार्किक आत्माको पृथिवी आदिके समान अचेतन मानते हैं। आत्ममनःसंयोगसे उत्पन्न ज्ञानगुणको चैतन्यात्मक मानते हैं। अदृष्ट सबका कारण है। अतः आत्ममनःसंयोगका भी वह कारण है। उसके द्वारा ज्ञानका भी कारण है। सुषुप्तिदशामें मन पुरीतति नाडीमें चला जाता है। उस समय आत्माके साथ संयोग नहीं है। यद्यपि आत्माको व्यापक मानते हैं, अतः वहां भी उसका सम्बन्ध आवश्यक है, तथापि तद्बहिर्देशावच्छेदसे आत्ममनःसंयोग ज्ञान-हेतु है। पुरीतन्नाड्यवच्छिन्न उसका संयोग ज्ञानजनक नहीं है, अतएव 'सुषुप्तो न किञ्चिच्चेतयति' यह सर्वलोकप्रसिद्ध व्यवहार सूपपन्न होता है, अतः यह प्रश्न होता है कि सुषुप्तिमें चैतन्यका भी संबन्ध नहीं मानना चाहिए, अन्यथा उसके समान काम, शोक, आदिका सम्बन्ध दुष्परिहर होगा, युक्ति दोनोंमें समान है ॥ २९६ ॥

श्रुतिः—यद्वै तन्न पश्यति पश्यन्वै तन्न पश्यति।
यद्वैतन्नेत्यादिवाक्यैरस्योत्तरमुदीर्यते ।
न चिल्लोपः किन्तु बुद्धेर्लोप इत्येतदुत्तरम् ॥ २९७ ॥
तच्छब्दः सुप्तिमाचष्टे वैशब्दोऽवधृतौ भवेत्।
तत्र सुप्तौ पुमान्नैव पश्यतीति जना जगुः ॥ २९८ ॥
अदर्शनं सर्वथेति यदाहुरविवेकिनः ।
तद्विवेच्यं तथा चाऽऽत्मा पश्यन्नेव न पश्यति ॥ २९९ ॥

'यद्वै तन्न पश्यति पश्यन् वै तन्न' इत्यादि श्रुति। श्लोकार्थसे श्रुत्यर्थ गतार्थ है।

'यद्वै तन्ने०' इत्यादि। 'यद्वै तन्न पश्यति' इस श्रुतिवाक्यसे उक्त शङ्काका उत्तर दिया जाता है, चैतन्यका लोप नहीं है, किन्तु बुद्धिका लोप है। बुद्धि और चैतन्यका भेद तार्किक नहीं मानते। उनकी दृष्टिमें दोनों एक ही हैं, पर सांख्य, वेदान्त आदिमें दोनोंका भेद माना गया है और इसका उत्तर स्त्रीपुंदृष्टान्तवाक्यसे भी दिया जा चुका है। वह यह है कि बाह्य और आभ्यन्तर विभागका हेतु व्यक्त अज्ञान उस समयमें नहीं रहता। अविभागात्मक प्राप्त आत्मा कामकर्मादिमान् नहीं है, आत्मामें स्वयंज्योतिष्ट्व कह चुके हैं ॥ २९७ ॥

'तद्वै' इस श्रुतिवाक्यके पदोंका अर्थ कहते हैं—'तच्छब्दः' इत्यादिसे।

तच्छब्द सुषुप्तिको कहता है और 'वै' शब्द अवधारण अर्थको कहता है। इस तात्पर्यसे जन कहते हैं कि सुषुप्तिमें कुछ नहीं देखता। भाव यह है कि आत्मा यदि चिद्रूप है, तो सुषुप्तिमें कामादिवत् चैतन्यका त्याग क्यों होता है ? स्वभावभूत धर्मका त्याग कहीं नहीं देखा जाता है, अतः चैतन्यको आत्माका स्वाभाविक धर्म नहीं कह सकते, क्योंकि सुषुप्तिमें आत्माके रहनेपर भी उक्त धर्मकी उपलब्धि न होनेसे व्यभिचार स्फुट है। यदि संयोगादिके समान आगन्तुक है, तो विनाशी है, सुषुप्तिमें नष्ट हो जाता है, उस समय आत्मा जड़ ही रहता है। किञ्च, स्वयंज्योति आत्मा सुषुप्तिमें है, परन्तु देखता है नहीं, यह अभिधान 'आदित्योऽप्रकाशः' के (सूर्य प्रकाशरहित है, इस वाक्यके) समान व्याहत है। इस आक्षेपके परिहारके लिए उत्तर ग्रन्थ है। जो स्वप्रकाश है, वह जड़ नहीं है, अतएव 'पश्यन्वै तन्न पश्यति' इस ग्रन्थसे समाधान किया जायगा ॥ २९८ ॥

'अदर्शनम्' इत्यादि। अविवेकियोंने जो सर्वथा दर्शनाभाव कहा है, इसका

श्रुतिः—न हि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वान्न तु तद्द्वितीयमस्ति ततोऽन्यद्विभक्तं यत्पश्येत् ॥ २३ ॥

पश्यन्नेव कथं सुप्त इति चेदभिधीयते ।
द्रष्टुर्न लुप्यते दृष्टिर्यस्मात्पश्यन्नतः स्थितः ॥ ३०० ॥
को द्रष्टा का च सा दृष्टिर्या न लुप्तेति तच्छृणु ।
दर्शनस्य क्रियाकर्ता द्रष्टा स्याद् बुद्ध्युपाधिकः ॥ ३०१ ॥
चक्षुर्द्वारा धियो वृत्तिर्निर्गता रूपभागिनी ।
दर्शनस्य क्रिया, तस्याः कर्ताऽऽत्मा बुद्धिसंयुतः ॥ ३०२ ॥

विवेक करना चाहिए, क्योंकि श्रुतिमें लिखा है कि 'पश्यन्वै तन्न न पश्यति'। यदि सर्वथा दर्शनाभाव इष्ट होता, तो 'न पश्यति' इतना ही कहना पर्याप्त था, 'पश्यन्' क्यों कहा गया, दर्शन और तदभाव—ये दोनों परस्पर विरुद्ध हैं, अतः एक समयमें विवक्षित नहीं हैं। विवेकियोंने श्रुत्यर्थपर दृष्टि देकर जो विचार किया है, उसका निर्देश आगे करते हैं, जिससे पूरा समाधान हो जाता है ॥ २९९ ॥

'नहि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो' इत्यादि श्रुति। श्लोकव्याख्यानसे ही श्रुत्यर्थ स्पष्ट है।

'पश्यन्नेव' इत्यादि।

शङ्का—देखता हुआ कैसे सोता है ?

समाधान—कहते हैं—सुनो, द्रष्टा बुद्ध्युपाधिक चैतन्य है, उसकी भासिका जो दृष्टि है यानी शुद्धचिदात्मक साक्षी है, वह सुषुप्तिमें पश्यन्नेव (देखता हुआ ही) स्थित रहता है, अतः साक्षीरूप दृष्टिका लोप नहीं होता ॥ ३०० ॥

'को द्रष्टा' इत्यादि।

शङ्का—कौन द्रष्टा है ? और वह कौन दृष्टि है, जो लुप्त नहीं होती ?

समाधान—सुनो, दर्शनक्रियाका कर्ता द्रष्टा है, 'दृश्यते इति दर्शनम्' इस कर्मव्युत्पत्तिसे दर्शनशब्द रूपादिपरक है और करणव्युत्पत्तिसे यानी 'दृश्यते अनेन' इस व्युत्पत्तिसे दर्शनशब्द नेत्रादि करणपरक है, तत्सम्बन्धिनी क्रियाका यानी चक्षूरूपसंयोगसे जनित रूपाद्याकार अन्तःकरणवृत्तिका कर्ता द्रष्टृशब्दसे कहा जाता है। वह अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य है ॥ ३०१ ॥

उक्तार्थका ही स्पष्टीकरण करते हैं—**'चक्षुर्द्वारा'** इत्यादिसे।

प्रज्ञया चक्षुरारुह्य चक्षुषा रूपमीक्षते ।
इत्येषा प्रक्रिया स्पष्टं श्रुता कौषीतकीश्रुतौ ॥ ३०३ ॥
पश्यामीत्यभिमानो यश्चक्षुरारोहणं हि तत् ।
अभिमानश्च नाऽयं मे किन्त्वसौ बुद्ध्युपाधिके ॥ ३०४ ॥
तस्य द्रष्टुर्भासिका या चिदेषा दृष्टिरुच्यते ।
तदेतत्साक्षिचैतन्यमित्याहुर्वेदवादिनः ॥ ३०५ ॥
साक्षी चेता केवलश्चेत्यादिवाक्यमधीयते ।
किञ्चाऽनुव्यवसायोऽयमित्याहुस्तार्किका अपि ॥ ३०६ ॥

चक्षुके द्वारा अन्तःकरणकी वृत्ति चक्षुःसंयुक्त रूपमें जाकर रूपाकार होती है, 'परतन्त्रं बहिर्मनः' इस न्यायसे अन्तःकरण इन्द्रियसंयुक्त बाह्य विषयमें जाकर विषयाकाररूपसे परिणत हो जाता है । उसमें चैतन्यकी छाया पड़ती है, अतः स्वतः जड़स्वरूप भी वह उक्त छायासे प्रदीप्त होकर विषयावारक अज्ञानकी निवृत्ति करता है और तदनन्तर विषयका प्रकाश होता है । इसमें कई मत हैं—वृत्तिप्रतिफलित चैतन्यसे ही विषयप्रकाश होता है, यह किसीका मत है । किसीका मत है कि विषयावच्छिन्न चैतन्यसे ही विषयका भान होता है, वृत्तिनिर्गमका प्रयोजन विषयावारक अज्ञानकी निवृत्ति है । वृत्तिसे पूर्व अज्ञानावृत चैतन्यमें विषयाध्यास है, इसलिए विषयस्फुरण नहीं होता, वृत्तिके अनन्तर अनावृत चैतन्यमें अध्यास न होनेसे विषयस्फुरण होता है । किसीके मतमें साक्षीसे भान होता है इत्यादि प्रपञ्च अन्यत्र देखिये । प्रकृतमें बुद्धिसंयुक्त आत्मा दृष्टिका कर्ता है ॥ ३०२ ॥

'प्रज्ञया' इत्यादि । प्रज्ञा, बुद्धि, अन्तःकरण और मन ये समानार्थक हैं । बुद्धि चक्षुपर आरूढ़ होकर विषयदेशमें जाती है और चक्षु द्वारा विषयको देखती है, यह प्रक्रिया कौषीतकी श्रुतिमें स्पष्ट उपलब्ध होती है ॥ ३०३ ॥

'पश्यामी०' इत्यादि । 'पश्यामि' (मैं देखता हूँ) यह जो अभिमान द्रष्टाको होता है, वही चक्षुराद्यारोहण कहलाता है । उक्त अभिमान आत्माको स्वतः नहीं होता, किन्तु बुद्धिरूप उपाधिसे होता है ॥ ३०४ ॥

'तस्य द्रष्टु०' इत्यादि । उस द्रष्टाकी भासिका जो चित् है, वही दृष्टि कही जाती है, यह दृष्टि साक्षिचैतन्यस्वरूप है, ऐसा वेदवादी यानी वेदान्तवादी कहते हैं ॥ ३०५ ॥

'साक्षी' इत्यादि । नैयायिक भी विषयमात्रावभासक ज्ञानको व्यवसाय

व्यवसायो बुद्धिवृत्तिर्दृश्यमात्रावभासिका ।
द्रष्टृदर्शनदृश्यानि भान्त्यनुव्यवसायतः ॥ ३०७ ॥
जिघ्राणीममहं गन्धमिति यो वेत्ति तत्त्रयम् ।
स आत्मेति त्रयस्याऽस्य छन्दोगाः साक्षिणं जगुः ॥ ३०८ ॥

कहते हैं, जिसको कि वेदान्ती वृत्तिरूप ज्ञान कहते हैं और जो साक्षी है, उसको अनुव्यवमाय कहते हैं। श्रुतिमें भी 'साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च' इस प्रकार साक्षिस्वरूपका निरूपण है, इसका व्याख्यान पूर्वमें कर चुके हैं ॥ ३०६ ॥

'व्यवसायो' इत्यादि। दृश्यमात्रकी अवभासक जो बुद्धिवृत्ति है, वह व्यवसाय है, जैसे 'अयं घटः'। इससे केवल दृश्य घट आदिका भान होता है। और द्रष्टा, दृश्य एवं दर्शन—इन तीनोंका जो भासक है, उसको अनुव्यवसाय कहते हैं। नैयायिक ज्ञानप्रत्यक्षको स्वयंप्रकाश नहीं मानते। व्यवसायसे दृश्यमात्रका भान होता है, पर ज्ञान और ज्ञाता अवशिष्ट रह जाते हैं। यदि इन दोनोंका भान नहीं होगा, तो ज्ञान हुआ या नहीं ? यह संशय ज्ञान होनेपर भी होना चाहिए एवं 'अयं घटः' यह ज्ञान किसको हुआ ? हमको या दूसरेको ? ऐसा भी संशय होना चाहिए, परन्तु होता नहीं, इसलिए अनुव्यवसायरूप ज्ञानको मानते हैं। 'घटमहं जानामि' इस अनुव्यवसायसे ज्ञेय, ज्ञान और ज्ञाता—इन तीनोंका भान होता है, अतः उक्त संशय नहीं होते। वेदान्ती ज्ञानको स्वयंप्रकाश और आत्मस्वरूप मानते हैं, इसलिए आत्मव्यतिरिक्त अनुव्यवसाय नहीं मानते। व्यवसायात्मक ज्ञान बुद्धिवृत्तिस्वरूप और परप्रकाश्य है। वस्तुतः वह अन्तःकरणायत्तस्वरूप होनेसे जड़ है, परन्तु ज्ञानका अवच्छेदक है, इसलिए उसमें भी औपचारिक ज्ञानव्यवहार होता है ॥ ३०७ ॥

'जिघ्राणी०' इत्यादि।

शङ्का—अच्छा, तो द्रष्टा, दर्शन और दृश्य—इन तीनोंका प्रकाशक चैतन्य भले ही हो, पर वह साक्षी कहलाता है, इसमें क्या प्रमाण है ?

समाधान—छन्दोग-श्रुति प्रमाण है। 'अहं गन्धं जिघ्राणि' (मैं गन्धका घ्राण करूँ) ऐसा जो जानता है, वह तीनोंको जानता है। विषय (गन्ध), उसका ग्रहण और 'मिप्' से प्राप्त उसका कर्ता पुरुष—इन तीनोंको जो जानता है, छन्दोग उसको साक्षी कहते हैं, अतः छन्दोग-श्रुति ही प्रकृतमें प्रमाण है ॥३०८॥

ननु साक्षिण्यसङ्गेऽयं दृष्टिशब्दो न युज्यते ।
दृशिधातोः क्रियैवाऽर्थस्तद्भावः प्रत्ययस्य च ॥ ३०९ ॥
बाढं चाक्षुषधीवृत्तिं दृष्टिशब्दः क्रियां ब्रुवन् ।
भास्यभासकसम्बन्धाल्लक्षयेद् वृत्तिसाक्षिणम् ॥ ३१० ॥
अक्रियाकर्तुरप्यस्ति भासकत्वं चिदात्मनः ।
अदीप्तिकर्त्ताऽप्यादित्यो जगद्दीपयते यथा ॥ ३११ ॥

'ननु' इत्यादि ।

शङ्का—असङ्ग साक्षीके लिए प्रयोगयोग्य यह दृष्टिशब्द नहीं है ।

प्रश्न—क्यों ? उत्तर—'दृशिर् प्रेक्षणे' इस धातुपाठके अनुसार दृश्धातुका क्रिया ही अर्थ है, क्रिया क्षणभङ्गुर है, 'दृश्' धातुसे क्तिन् प्रत्यय भी भावमें विहित होनेके कारण उसका भी वही अर्थ है, जो उक्त धातुका है । कूटस्थ चैतन्य उससे विलक्षण है ॥ ३०९ ॥

समाधान—**'बाढम्'** इत्यादि । यह ठीक है कि लोकमें दृष्टिशब्दका प्रचुर प्रयोग चाक्षुषधीवृत्तिमें ही पाया जाता है, अतः वही उसका शक्यार्थ है, किन्तु शक्यार्थतात्पर्यसे ही सर्वत्र प्रयोग नहीं होता, किन्तु तात्पर्य रहनेपर लक्षणासे भी प्रयोग होता है, अतएव 'अन्नं वै प्राणाः' 'आयुर्वै घृतम्' इत्यादि श्रौतवाक्य संगत होते हैं । प्रकृतमें दृष्टिशब्द उक्तार्थका अभिधायक होकर भासकत्वसाधर्म्यसे लक्षणावृत्ति द्वारा साक्षीका भी बोधक होता है । चित्प्रतिफलित जैसे तत्-तद्विषयाकारवृत्ति तत्-तत् विषयकी भासक है, वैसे ही चित् भी सविषय वृत्तिकी भासक है ॥ ३१० ॥

'अक्रिया०' इत्यादि ।

शङ्का—साक्षी कूटस्थ एवं नित्यशुद्ध होनेसे मानक्रियाका कर्ता ही जब नहीं है, तब उसमें भासकत्व कैसे ?

समाधान—दीप्तिका कर्ता सूर्य नहीं है, किन्तु दीप्त्यात्मक स्वभाववाला है । स्वभावका धर्मी कर्ता नहीं होता, अन्यथा कर्तृत्व आनेसे पहले वह उक्त स्वभावसे रहित हो जायगा । जो कादाचित्क है, वह जलकी दाहकताके समान स्वाभाविक नहीं है । तात्पर्य यह है कि सूर्य दीप्तिका कर्ता न होनेपर भी जैसे जगत्का दीपक (भासक) है, वैसे ही अक्रियाकर्ता साक्षी भी भासक है, इसमें कोई बाधक नहीं है ॥ ३११ ॥

दीपकत्वोपचारोऽस्मिन्भवेत् सन्निधिमात्रतः ।
इति चेद् भासकत्वं च चिदात्मन्युपचर्यताम् ॥ ३१२ ॥

श्रुतिः—यद्वै तन्न जिघ्रति जिघ्रन्वै तन्न जिघ्रति न हि घ्रातुर्घ्रातेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वान्न तु तद्द्वितीयमस्ति ततोऽन्यद्विभक्तं यज्जिघ्रेत् ॥ २४ ॥

'दीपक०' इत्यादि । सान्निध्यमात्रसे सूर्यमें दीपकत्वका केवल उपचार ही है, ऐसा यदि मानते हो, तो भासकत्वका भी चिदात्मामें उपचार है, ऐसा मानिये, इसमें हमको कोई आपत्ति नहीं है । 'यद्वै तन्न पश्यति पश्यन्वै तन्न पश्यति' इस श्रुतिका संक्षिप्त भावार्थ यह है कि स्वप्न और जागर अवस्थामें जो द्रष्टा या प्रमाता था, वह सुषुप्तिमें नहीं है, इसलिए उक्त कालमें आत्मा नहीं देखता, यह तो पूर्व वाक्यका अर्थ हुआ । अब 'पश्यन् वै तन्न पश्यति' का अर्थ है—जो चैतन्यमात्र द्रष्टा है, वह अन्यदर्शी नहीं है ।

शङ्का—क्यों ?

समाधान—'न तु तद्द्वितीयमस्ति' इत्यादिसे अन्य पदार्थ ही जबनहीं है, तब देखेगा क्या ? यद्यपि सुषुप्तिमें अज्ञानका सर्वथा नाश नहीं है, तो भी व्यक्त अज्ञानसे ही जागर आदिमें देखता है, उस समय व्यक्त अज्ञान नहीं है । तन्मूलक ही निखिल द्वैत है, अतः दृश्यके अभावसे नहीं देखता । भर्तृप्रपञ्च इस श्रुतिका ऐसा व्याख्यान करते हैं—सुषुप्तिमें भी आत्मा स्वयंज्योति है, ऐसा पूर्व वाक्योंसे सिद्ध करनेपर यह प्रश्न होता है कि तब देखता क्यों नहीं है ? नहीं देखता है, अतः जड़ है, इस शङ्काकी निवृत्तिके लिए श्रुतिने कहा—'पश्यन्वै तन्न पश्यति' यानी उस समय वह जड़ है, ऐसी शङ्का मत करो, क्योंकि देखता ही वहाँ रहता है ।

शङ्का—दो श्रुतियोंके अनुसार आत्मा दर्शन और अदर्शन दो स्वभावोंसे युक्त है, ऐसा क्यों नहीं मानते ?

समाधान—आत्माको अदर्शनस्वभाव माननेसे उसमें जड़त्वापत्ति हो जायगी, अतएव 'न हि द्रष्टुर्दृष्टेः विपरिलोपो विद्यते' यह अग्रिम ग्रन्थ है, द्रष्टाकी यानी साभास चैतन्यकी दृष्टिका—चितिका—लोप नहीं होता इत्यादि विस्तृत विचार वार्तिकमें ही देखिए ॥ ३१२ ॥

यद्वै तन्न रसयते रसयन्वै तन्न रसयते न हि रसयितू रसयतेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वान्न तु तद्द्वितीयमस्ति ततोऽन्यद्विभक्तं यद्रसयेत् ॥ २५ ॥

यद्वै तन्न वदति वदन्वै तन्न वदति न हि वक्तुर्वक्तेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वान्न तु तद्द्वितीयमस्ति ततोऽन्यद्विभक्तं यद्वदेत् ॥ २६ ॥

यद्वै तन्न शृणोति शृण्वन्वै तन्न शृणोति न हि श्रोतुः श्रुतेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वान्न तु तद्द्वितीयमस्ति ततोऽन्यद्विभक्तं यच्छृणुयात् ॥२७॥

यद्वै तन्न मनुते मन्वानो वै तन्न मनुते न हि मन्तुर्मतेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वान्न तु तद्द्वितीयमस्ति ततोऽन्यद्विभक्तं यन्मन्वीत ॥२८॥

यद्वै तन्न स्पृशति स्पृशन्वै तन्न स्पृशति न हि स्प्रष्टुः स्पृष्टेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वान्न तु तद्द्वितीयमस्ति ततोऽन्यद्विभक्तं यत्स्पृशेत् ॥ २९ ॥

यद्वै तन्न विजानाति विजानन्वै तन्न विजानाति न हि विज्ञातुर्विज्ञातेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वान्न तु तद्द्वितीयमस्ति ततोऽन्यद्विभक्तं यद्विजानीयात् ॥ ३० ॥

लक्ष्यश्चाक्षुषधीवृत्तिद्वाराऽऽत्मा दृष्टिशब्दतः ।
तथैवमन्यधीवृत्तिद्वारा घ्रात्यादिशब्दतः ॥ ३१३ ॥
दृष्टिघ्रात्यादिभिः शब्दैर्लक्षितश्च चिदात्मकः ।
न लुप्यतेऽन्यथा स्वापो न सिद्ध्येत्स्मृत्यसम्भवात् ॥ ३१४ ॥
असन्दिहानाः सर्वेऽपि स्मरन्त्यस्वाप्समित्यसौ ।
स्मृतिर्न संभवेत्सुप्तौ चिदात्मानुभवं विना ॥ ३१५ ॥

'यद्वै तन्न जिघ्रति' इत्यादि श्रुतियाँ । वार्तिकसारके श्लोकार्थसे ही इनका अर्थ स्पष्ट है ॥ २४-३० ॥

'लक्ष्यश्चा०' इत्यादि । चाक्षुषधीवृत्ति द्वारा दृष्टिशब्दसे जैसे आत्मा लक्षित होता है, वैसे ही अन्यधीवृत्ति (घ्राणादिधीवृत्ति) द्वारा घ्राति आदि शब्दोंसे भी आत्मा लक्षित होता है । युक्ति सबमें तुल्य है ॥ ३१३ ॥

'दृष्टि०' इत्यादि । दृष्टि, घ्राति आदि शब्दोंसे लक्षित चिदात्माका लोप नहीं होता, अन्यथा स्मृतिके असंभवसे स्वाप ही सिद्ध नहीं होगा ॥ ३१४ ॥

'असन्दि०' इत्यादि । 'मैं सोया था' यह असंदिग्ध स्मरण सबको होता है ।

न बुद्धिवृत्त्यनुभवः सुप्तौ बुद्धेर्विलोपनात् ।
तदलोपे कुतः सुप्तिरैक्यं स्यात्स्वप्नजाग्रतोः ॥ ३१६ ॥

यदि स्वापमें चिदात्माका लोप हो जायगा, तो उसके अनुभवके अभावसे संस्कार ही नहीं होगा, उसके अभावसे स्मरणका अभाव स्फुट है, अतः स्वापका अनुभविता स्वापसमयमें अवश्य रहता है, यह मानना ही पड़ता है ॥ ३१५ ॥

आगन्तुक ज्ञानसे सुप्तिसिद्धिकी शङ्का कर निराकरण करते हैं—'न बुद्धि०' इत्यादिसे ।

आगन्तुक बुद्धिवृत्तिके स्वरूपके अनुभवसे सुप्तिकी सिद्धि नहीं हो सकती, क्योंकि उक्त समयमें बुद्धिवृत्तिका विलोप हो जाता है ।

शङ्का—बुद्धिवृत्तिका लोप ही मत मानिये ?

समाधान—यदि लोप न मानोगे, तो सुप्तिकी सिद्धि ही नहीं होगी ।

शङ्का—मत सिद्धि हो ?

समाधान—सिद्धि न होनेपर स्वप्न और जागरमें तो आत्मैक्यसिद्धि होगी, परन्तु सुषुप्तिमें नहीं होगी । और ऐसा मानना प्रसिद्धि एवं अनुसन्धानसे विरुद्ध है । आत्माकी तीन अवस्थाएँ प्रसिद्ध हैं—जागर, स्वप्न और सुषुप्ति । अब जागर और स्वप्न दो ही अवस्थाएँ रह जायंगी और 'सुखमहमस्वाप्सम्' यह अनुसन्धान भी आपके मतसे नहीं होगा, अतः बुद्धिवृत्तिसे अतिरिक्त अनुभविता है, ऐसा मानना आवश्यक है, अन्यथा सुषुप्तिकी सिद्धि नहीं होगी ।

शङ्का—अनुमानसे सुषुप्तिकी सिद्धि होगी । 'सुखमहमस्वाप्सम्' सुप्तोत्थितका यह ज्ञान स्मरण नहीं है, जिससे कि उसके अनुरोधसे कूटस्थ चैतन्यकी आवश्यकता हो, किन्तु वह अनुमानात्मक ज्ञान है, उसीसे सुषुप्तिकी सिद्धि हो जायगी ।

समाधान—अनुमानमें कोई हेतु नहीं है । 'नियमेन अस्मर्यमाणत्व'का पूर्वमें निरूपण कर चुके हैं । इसलिए उसके विषयमें यहां विशेष कुछ कहना पुनरुक्त होगा, उसका खण्डन भी हो चुका है और यह सिद्ध हो चुका है कि यह स्मरण ही है, अतः उसकें लिए अविनाशी कूटस्थचैतन्यको मानना परम आवश्यक है ॥ ३१६ ॥

दृष्टिवाचकशब्देन दृष्टिसाक्ष्युपलक्षणात् ।
विशब्देनाऽत्र चैतन्यलोपशङ्का निवर्त्तिता ॥ ३१७ ॥
नो चेत्सुप्तिं प्रकाश्योर्ध्वं लुप्येतेत्यपि शङ्क्यते ।
चिद्लोपं साधयितुमविनाशित्वहेतुगीः ॥ ३१८ ॥

'**दृष्टि०**' इत्यादि । 'न हि द्रष्टुर्दृष्टे विपरिलोपो विद्यते' यहाँ दृष्टिशब्दसे बुद्धि-वृत्ति विवक्षित नहीं है, किन्तु साक्षी विवक्षित है । यद्यपि वह शक्यार्थ नहीं है, तथापि उक्त रीतिसे लक्ष्यार्थ है । भावार्थ यह है कि 'पश्यन्'में 'शतृ' प्रत्यय है और द्रष्टामें 'तृच्' प्रत्यय है, ये दोनों दृशिक्रियाके कर्तामें होते हैं, कर्ता क्रिया-समवायी होता है । आत्माको कूटस्थ चैतन्य कहते हो, अतः क्रियासमवायित्वके अभावसे वह कर्ता नहीं हो सकता । उस समय बुद्धिका लय हो जाता है, आत्मा भी ब्रह्ममें लीन हो जाता है, क्योंकि 'स्वमपीतो भवति' ऐसा श्रुतिने निर्वचन किया है, 'प्राणं तर्हि वागप्येति' इत्यादिसे करणोंका भी लय हो जाता है ।

शङ्का—यदि कादाचित्की दृष्टि और उसका कर्त्ता स्वापमें नहीं है, तो 'पश्यन्' कैसे कहा ?

समाधान—कूटस्थ आत्माके तात्पर्यसे कहा गया है । जैसे 'आकाशः अवकाशदाता' ऐसा प्रयोग निष्क्रिय आकाशमें होता है, वैसे ही कूटस्थमें 'पश्यन् द्रष्टा' इत्यादि प्रयोग होता है । विनाशहेतुके अभावसे कूटस्थका विनाश नहीं होता ॥ ३१७ ॥

'**नो चेत्**' इत्यादि । प्रश्न—सुषुप्तिस्मृतिकी अन्यथानुपपत्तिसे चैतन्यानित्य-त्वका निराकरण हो ही जाता है, फिर लोपकी शङ्का क्यों ? उत्तर—यदि सुषुप्तिकी सिद्धिके लिए ही अलोप इष्ट है, तो उसका प्रकाश करके आत्मा लुप्त हो जाता है, ऐसी भी शङ्का होगी, उसकी निवृत्तिके लिए चिद्लोपसाधक हेतुका अभिधान है । वस्तुतस्तु यह शङ्का और समाधान ठीक नहीं है, क्योंकि सुषुप्तिका साधक उक्त स्मरण ही माना जाता है । स्मरण जागरमें ही होगा । उतने समय तक यदि साक्षी रहा, तो पश्चात् उसके नाशकी शङ्का ही नहीं हो सकती । जागरमें तो द्रष्टा है ही । केवल सुषुप्तिमें ही उसका भान न होनेसे उसके लोपकी शङ्का हो सकती है । सुषुप्तिमें कुछ क्षण रहकर, उसकी प्रसिद्धि कर अनन्तर क्षणमें लोपाशङ्का भी नहीं हो सकती, उस कालमें 'न किञ्चिदवेदिषम्' इस स्मृति

तथा अनुभवसे उसकी सिद्धिशङ्का ही दुर्घट है; अतः अविनाशहेतुके प्रतिपादनका तात्पर्य यह है कि कूटस्थ दृष्टि नित्य है, यह प्रतिज्ञा है। 'एकाकिनी प्रतिज्ञा हि प्रतिज्ञातं न साधयेत्' इस अभियुक्त वचनके अनुसार हेत्वभिधान भी उत्तरकालमें आवश्यक है; अतः अविपरिलोपका हेतुके अभिप्रायसे उपादान किया गया है, अतएव 'हि' का प्रयोग है।

शङ्का—यदि यह तात्पर्य है, तो एक ही हेतुसे प्रतिज्ञातार्थकी सिद्धि हो जाती, फिर 'अविनाशित्वात्' इस द्वितीय हेतुके अभिधानका क्या तात्पर्य्य है ?

समाधान—विनाश दो प्रकारका होता है—एक निरन्वय दूसरा कारणावशेष। निरन्वय विनाशके प्रतिषेधके लिए 'न हि विपरिलोपो' इत्यादिका निर्देश है; और दूसरे विनाशके प्रतिषेधके लिए अविनाशित्वका उपादान है। अतः निरन्वयनाशके समान सावशेष नाशका भी आत्मामें सम्बन्ध नहीं है। तस्मात् कूटस्थ नित्यदृष्टि आत्मा है, यह सिद्ध हुआ। मैत्रेयीब्राह्मणमें 'अविनाशी वा अरेऽयमात्मा-नुच्छित्तिधर्मा' इस वाक्यसे नाशद्वयाभावरूप हेतुका उपन्यास कर चुके हैं, उन्हींका यहाँ भी निर्देश है। केवलशब्दमात्रका भेद है। सर्वात्मना उच्छेद निरन्वय नाश है, वह आत्माका हो नहीं सकता ?

शङ्का—क्यों ?

समाधान—असाक्षिक नाश अप्रामाणिक है। साक्षी आत्मा ही है, वह स्वनाशका साक्षी हो नहीं सकता। नाशोत्तरकालमें यदि आत्मा ही नहीं रहेगा, तो तत्पूर्व कालमें जायमान आत्मनाशका कैसे ज्ञान होगा ? सावशेष नाश भी आत्माका नहीं हो सकता।

शङ्का—क्यों ?

समाधान—सकारणका उक्तनाश माना जाता है। आत्मा सकारण नहीं है।

शङ्का—क्यों ?

समाधान—इसमें भी साक्षीकी आवश्यकता है, 'इससे यह उत्पन्न हुआ', इसको भी देखनेवाला कार्यसे पूर्वमें रहता है, यदि न रहेगा, तो कारक असाक्षिक होगा। आत्मोत्पत्तिसे पहले यदि आत्मा है, तो उत्पत्ति ही असङ्गत है। यदि नहीं है, तो साक्षी कैसे ? अतः आत्मा उभयविधनाशसे रहित है।

शङ्का—आगमवाक्य स्वार्थबोधनमें हेतुकी आकांक्षा नहीं करता, क्योंकि

वह निरपेक्ष प्रमाण माना जाता है; अन्यथा आगममें निरपेक्ष प्रामाण्यका भङ्ग हो जायगा ?

समाधान—अच्छा, तो ऐसा कहिए—'न हि विपरिलोपो विद्यते' यह प्रतिज्ञा है। विपरिलोपाभावका तात्पर्य नित्यमें है। तदनन्तर अनुमानके समान यहाँ भी प्रतिज्ञाके बाद हेतुका अभिधान है। जैसे 'वह्निमान्' इस प्रतिज्ञैकदेशके अनन्तर 'धूमवत्त्वात्' ऐसा हेतुका अभिधान होता है, वैसे ही यहाँ भी 'अविनाशित्वात्' यह हेतुका अभिधान है। इसलिए अनुमानके समान यह बोधक है, वास्तवमें अनुमान यहाँ विवक्षित नहीं है।

शङ्का—उक्त अर्थमें साध्यावैशिष्ट्य होनेसे साध्यसम हेत्वाभास है, अतः दोष होनेसे वह अनुमान नहीं हो सकता, फिर वह अनुमानके समान बोधक कैसे होगा ? क्योंकि विपरिलोप और विनाश समानार्थक हैं।

समाधान—अविनाशीका 'विनष्टुमयोग्य' (विनाशके लिए अयोग्य) और अविपरिलोपका नित्यमें तात्पर्य माननेसे उक्त दोषका परिहार हो जाता है। अथवा 'यद्वै' यहाँ दो प्रतिज्ञाएँ हैं—एक 'पश्यन्नेवास्ते' और दूसरी 'तन्न पश्यति'। प्रथममें 'न हि' इत्यादि हेतु है और द्वितीयमें द्वितीय हेतु है।

शङ्का—फिर भी हेतु तो एकार्थ ही है।

समाधान—हाँ, प्रथम हेतुसे निरन्वय विनाशका प्रतिषेध इष्ट है और द्वितीय हेतुसे परिणामका निषेध इष्ट है। अलग अलग प्रयोजन होनेसे दोनों सार्थक हैं। अथवा दो प्रतिज्ञाओंका और दो हेतुओंका क्रमिक बोधमें तात्पर्य नहीं है, किन्तु 'सम्भूय' (मिलकर) दोनों प्रतिज्ञाएँ और दोनों हेतु साथ ही बोध कराते हैं। इससे फलित यह होता है कि आत्मामें द्रष्टृत्व और अविनाशित्व, जो कि प्रकृतमें विवक्षित है, सिद्ध होता है। दो प्रतिज्ञाओंमें दो हेतुओंकी योजनासे कूटस्थ नित्यदृष्टि आत्मा सिद्ध होता है।

शङ्का—'पश्यन्नेवास्ते' यह कहकर 'न पश्यन्' यह क्यों कहा गया है ?

समाधान—सुनिये, सुषुप्तिसे पहले स्वप्न और जागरणमें जो मोहसे कारकात्मकदर्शनकर्तृत्व था, वह इस समयमें नहीं है। अद्वय आत्माका द्वितीय जो अविद्यासे था, वह सुषुप्तिमें नहीं है। स्वप्नमें भी प्रमाता आदि तीन नहीं थे, केवल वासना शेष थी, फिर सुषुप्तिमें क्या कहना है ? उस समय समस्त द्वैतहेतु व्यक्त अज्ञानका ध्वंस हो जाता है, अतः भान किसका हो ? जो सुषुप्तिमें अभीष्ट

अविनाशी चिदात्माऽयं नाशहेतोरसम्भवात् ।
तन्नाशकमदृष्टं स्यान्नाऽऽत्मनोऽकर्मजत्वतः ॥ ३१९ ॥

है, वह कूटस्थ होनेसे अन्यदर्शी नहीं है, जो अन्यदर्शी प्रमाता था, वह उस अवस्थामें है नहीं, क्योंकि उसका हेतु व्यक्त अज्ञान वहाँ है नहीं, अतएव 'न तु तद्द्वितीयम्' इत्यादि श्रुति सुषुप्तिमें द्वितीयका निषेध-बोधन कराती है। कूटस्थ स्वप्रकाश चिदेकरस आत्माका द्वितीय साभास अज्ञान कहा जाता है, उसका निषेध सुषुप्तिमें उक्त श्रुति करती है।

शङ्का—साभास अज्ञानको यदि द्वितीय कहते हो, तो उसका सुषुप्तिमें निषेध असङ्गत है, वह तो उक्त कालमें रहता ही है, अन्यथा पुनरुत्थान कैसे होगा ?

समाधान—'अहमज्ञः' इस प्रतीतिसे जिस अज्ञानका विभाग भासित होता है, वह यद्यपि परमार्थतः असत् है, तथापि प्रतीतितः उसका स्वप्न और जागरणमें व्यवहार होता है। सुषुप्तिमें उसका विभागसे ज्ञान नहीं होता, अतः वह उस समय नहीं है, यही कहा जाता है।

शङ्का—स्वापमें यदि द्रष्टाका निषेध करते हो, तो वह निषेध आत्माका ही समझा जायगा।

प्रश्न—क्यों ?

उत्तर—'नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा' इस श्रुतिसे आत्मा ही द्रष्टा कहा गया है।

समाधान—श्रोत्रादिकरणोपेत साभास अन्तःकरण परिणामिरूपसे दृगात्माके शब्दादिदर्शनमें हेतु है, अक्षर कूटस्थ दर्शनादिका हेतु नहीं है, क्योंकि वह कूटस्थ नित्यदृष्टिस्वरूप होनेसे दृष्टि आदिका कर्ता नहीं है। उक्त श्रुति चक्षु आदिके द्वारा रूपाद्याकारमनोविकारसाक्षितामात्रका बोधन करती है, अतः उसके साथ विरोध नहीं है, विशेष अन्यत्र देखिये ॥ ३१८ ॥

'अविनाशी' इत्यादि ।

शङ्का—'दृष्टिर्न लुप्यते, अविनाशित्वात्' अविनाशी होनेसे दृष्टिका लोप नहीं होता, एतदर्थक उक्त अनुमान है, परन्तु इस अनुमानमें साध्याविशिष्टत्व दोष है, हेतु और साध्यमें कोई अन्तर नहीं है, जिसका विनाश न हो, वह अविनाशी है, जिसका लोप न हो, वह अलोपी है, इन दोनोंमें अर्थभेद नहीं है। जब पक्षमें साध्य अज्ञात हो और हेतु ज्ञात हो, तब ज्ञात हेतुसे अज्ञात साध्यका अनुमान होता है।

दाहच्छेदादिहेतूनां दृष्टानामप्यसम्भवः ।
अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च ॥ ३२० ॥
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः ।
अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः ॥
अनाशिनोऽप्रमेयस्येत्येवं कृष्णेन भाषितम् ॥ ३२१ ॥

यदि साध्यके समान हेतु अज्ञात रहे, तो उसके समान हेतु भी साध्य होनेसे साध्यसम हेत्वाभास होता है। हेत्वाभास अनुमितिकरणत्वका विरोधी है, अतः अलोपित्वका साधक अविनाशित्व नहीं हो सकता।

समाधान—अविनाशित्वका अर्थ विनाशायोग्यत्व है, अतः अर्थभेद होनेसे उक्त दोष नहीं है।

शङ्का—विनाशायोग्यत्वकी सिद्धि पक्षमें कैसे है ?

समाधान—विनाशहेत्वसमवहितत्व विनाशायोग्यत्व है। विनाशहेतु दो हैं—एक दृष्ट और दूसरा अदृष्ट। दृष्ट दो प्रकारका होता है—समवायी कारणका नाश अथवा असमवायी कारणका नाश। अकारण और अकारक प्रत्यगात्मामें ये दोनों नहीं रह सकते। द्वितीय अदृष्ट कर्मजन्यका नाशक होता है। आत्मा कर्मज नहीं है, अतः वह भी नाशक नहीं है। इस प्रकार नाशहेतुके अभावसे चिदात्माका लोप नहीं है ॥ ३१९ ॥

'दाहच्छेदादि०' इत्यादि। दाह, छेदन आदिमें हेतु अग्नि और कुठार आदिका संयोग जो दृष्ट है, वह भी प्रकृतमें कारण नहीं है, इसमें भगवद्वाक्यका प्रमाण रूपसे उद्धरण करते हैं—अच्छेद्यः। आत्मा किसीसे छेदन करने योग्य नहीं है, अवयवविभागफलक छेदन होता है। आत्मा आकाशके समान निरवयव है। आकाशका जैसे किसीसे छेदन नहीं हो सकता, वैसे ही आत्माका भी छेदन नहीं हो सकता, अतएव आकाशके समान अदाह्य है, तथा अशोष्य एवं अक्लेद्य भी उसे समझना चाहिए, ये सब सावयवमें ही होते हैं। आत्मा निरवयव है, अतः उक्त कार्य आत्मामें नहीं हो सकते हैं ॥ ३२० ॥

'नित्यः' इत्यादि। श्रीमद्भगवद्गीतामें भगवान्‌ने अर्जुनके प्रति कहा है कि यह आत्मा नित्य, सर्वव्यापक, स्थाणु, क्रियारहित और सनातन है, अप्रमेय अविनाशी शरीरी आत्माके ये देह ही विनाशी हैं ॥ ३२१ ॥

नन्वनाशी चिदात्माऽयं पश्यन्नास्ते यदा तदा ।
न पश्यतीति लोकाश्च तार्किकाः कथमूचिरे ॥ ३२२ ॥
अव्युत्पन्नाश्चितिं प्राहुस्त्रिपुट्यास्तत्र लोपनात् ।
चितोऽन्यद्यज्जडं तत्तु द्रष्ट्रादि त्रितयं नहि ॥ ३२३ ॥
बुद्धितद्वृत्तिविषया द्रष्टृदर्शनदृश्यकाः ।
प्रसिद्धा जागरे तस्मात् तद्व्युत्पत्तिर्नृणां स्फुटा ॥३२४॥

'नन्वनाशी' इत्यादि । सुषुप्तिमें यदि चिदात्माका लोप नहीं होता, तो उक्त कालमें चिल्लोपप्रसिद्धिकी क्या गति होगी ? यदि सुषुप्तिमें अविनाशी चिदात्मा देखता ही रहता है, तो अविवेकी लोक और तार्किक नहीं देखता है, यह कैसे कहते हैं । तार्किकमतमें तो आत्ममनःसंयोगसे ज्ञानगुणकत्वरूप चैतन्य उत्पन्न होता है । उक्त कालमें पुरीतत् नाड़ीमें मनके जानेसे तादृश गुणकी उत्पत्ति नहीं होती, अतः 'न पश्यति' यह उनका कहना उनके मतके अनुसार है । अविवेकी लौकिक पुरुष 'न पश्यति' यह कहते हैं, उनका कारण अग्रिम श्लोकसे कहेंगे ॥ ३२२ ॥

'अव्युत्पन्ना०' इत्यादि । सुषुप्तिमें त्रिपुटी (त्रयाणां पुटानां समाहारस्त्रिपुटी) यानी तीन पुट—माता, मेय और मान—इनका लोप होनेसे चितिको ही लुप्त मानकर 'न पश्यति' यह प्रयोग करते हैं । जागर आदि अवस्थामें 'घटमहं पश्यामि' ऐसा ज्ञान होता है । इसमें माता आदिका भान होता है, इसलिए अहमर्थ साभास अन्तःकरणको द्रष्टा समझते हैं, उसका उक्त कालमें लोप होता ही है; अतः उनको भ्रम होता है कि चितिका ही लोप हो गया । अन्यथा जागर आदिके समान यहाँ भी उसका भान होता, परन्तु वेदान्तविचारसे यह निष्कर्ष निकला है कि उक्त द्रष्टा आदि तीन द्रष्टा नहीं हैं, कारण कि उक्त तीन चित्से अतिरिक्त हैं, जो जो उससे अतिरिक्त हैं, वे सब जड़ हैं, जड़ प्रकाशक स्वतः नहीं होता, अन्तःकरण चितिच्छायापन्न होनेसे प्रकाशक होता है, जैसे जागरादिमें । उक्त कालमें उसका लय होनेसे केवल स्वयंप्रकाश आत्मा ही रहता है ॥ ३२३ ॥

'बुद्धितद्वृत्ति०' इत्यादि । बुद्धि द्रष्टा, उसकी वृत्ति दर्शन और उसके विषय घटादि जागरमें स्फुट भासित होते हैं—'अहं घटं जानामि' इत्यादि । इससे

बुद्धिर्जडाऽपि चिच्छायावशतो द्रष्टृतां व्रजेत् ।
पश्यतीत्येष शब्दोऽतस्तस्मिन्नेव प्रयुज्यते ॥ ३२५ ॥
ननु मा भूत्पश्यतीति सुषुप्तौ द्रष्टृगोचरः ।
साक्षिणि द्रष्टृताऽध्यासात्पश्यतीति प्रयुज्यताम् ॥ ३२६ ॥

उन लोगोंकी व्युत्पत्ति उक्त अर्थमें स्फुट है, जिसमें जिसकी व्युत्पत्ति होती है, वही उसके लिए सदर्थ प्रतीत होता है, यह स्पष्ट है, पर आगमके अनुकूल विचारसे यह अर्थ ठीक नहीं जँचता, क्योंकि बुद्धि आदि घटादिके समान स्वयं जड़ हैं, अतः वे स्वयंप्रकाशक नहीं हैं, किन्तु स्वयंज्योति आत्माके सम्बन्धसे उनमें प्रकाशकत्व आता है ॥ ३२४ ॥

'बुद्धिर्जडाऽपि' इत्यादि । बुद्धि जड़ है सही, किन्तु चितिच्छायापन्न होकर जागर आदिमें द्रष्टा होती है; अतः बुद्धि आदिके तात्पर्यसे 'देवदत्तः घटं पश्यति' यह व्यवहार लोकमें होता है । 'पश्यति' का मुख्य प्रयोग बुद्धिसे लेकर देहपर्यन्तमें पाया जाता है, उसमें जैसे परिणामित्वरूपसे दर्शनक्रियाकर्तृत्व वास्तविक है, वैसे आत्मस्वरूपभूतचैतन्य तत्क्रियासम्बन्धनिमित्तक द्रष्टा नहीं कहा जा सकता । दृष्टिसम्बन्धनिमित्तक द्रष्टृत्वके अभावके तात्पर्यसे 'न द्रष्टा' यह प्रयोग सुषुप्तिमें होता है । स्वरूपभूत नित्यदृष्टिका अभाव बोधन करनेके लिए उक्त प्रयोग नहीं है, अन्यथा 'न पश्यति' यह व्यवहार उक्त कालमें नहीं होगा । भाववत् अभाव भी साक्षिगम्य है, क्योंकि 'न किञ्चिदवेदिषम्' यह सुप्तोत्थितको अनुसन्धान होता है । यदि नित्यदृष्टि आत्मा न रहेगा, तो अनुभवाभावसे स्मरण नहीं हो सकेगा । अतः बुद्ध्यादिके तात्पर्यसे 'न पश्यति' और स्वरूपचैतन्यके तात्पर्यसे 'पश्यति' इन दो प्रयोगोंका उल्लेख श्रुतिमें आया है ॥ ३२५ ॥

'ननु मा भूत्' इत्यादि ।

शङ्का—सुषुप्तिमें बुद्धिका नाश होनेपर भी साक्षीको तो मानते ही हो, उसीमें द्रष्टृताका अध्यास कर 'पश्यति' यही प्रयोग होना चाहिए, 'न पश्यति' यह प्रयोग कैसे ? अर्थात् उक्त कालमें बुद्धि रहती, तो 'पश्यति' यह द्रष्टृगोचर प्रत्यक्ष होता, पर वह है नहीं, तो भी उसके धर्मका साक्षीमें अध्यास कर पुनः उसके प्रयोगकी प्रसक्ति दुर्निवार है ॥ ३२६ ॥

मैवं द्वितीयं द्रष्टव्यं साक्षिणोऽत्र न विद्यते ।
कथं सकर्मको धातुः कर्माभावे प्रयुज्यताम् ॥ ३२७ ॥
जागरे तु चितोऽन्यद्यज्जडं त्रेधा विभज्यते ।
तदनुव्यवसायस्य त्रितयं कर्मकारकम् ॥ ३२८ ॥
तत्कर्मकारकं सुप्तौ द्वितीयं नैव विद्यते ।
अतो न पश्यतीत्येवमाहुर्लौकिकतार्किकाः ॥ ३२९ ॥
यो बुद्ध्युपाधिको द्रष्टा सुप्तत्वात्स न पश्यति ।
चिदात्माऽपि द्वितीयस्याऽभावादत्र न पश्यति ॥३३०॥

समाधान—**'मैवम्'** इत्यादि । साक्षीका द्रष्टव्य स्वातिरिक्त विषय उस समय नहीं है, अतः दर्शनकर्मका अभाव होनेसे सकर्मक 'पश्यति' का प्रयोग उस समय कैसे किया जाय ? भाव यह है कि जागरादिमें श्रोत्रादिप्रयुक्त धर्मादि-कारणकस्वरूप मातृत्व जो था, वह सुषुप्तिमें निवृत्त हो गया । करण और कर्म भी जब नहीं हैं, तब 'पश्यति' का प्रयोग कैसे होगा ?

शङ्का—द्वितीय तम तो उक्त कालमें है, अतः द्वितीयाभाव कैसे ?

समाधान—व्यक्त द्वितीय नहीं है यानी उस कालमें व्यक्त तम नहीं है, 'अहमज्ञः' इत्यादि प्रतीतियोग्य तम व्यक्त तम विवक्षित है, वह उस समयमें है नहीं। बुद्ध्यादिकी उत्पत्तिमें धर्मादि कारण हैं। सुषुप्तिमें अन्तःकरणका ध्वंस होनेपर सुतरां तदाश्रय धर्मादिका अभाव है । अभिव्यक्तिनिमित्तके ध्वंससे पृथक् बुद्ध्यादि नहीं रह सकते, अतः बुद्धि आदि अज्ञात आत्मामें चले जाते हैं ॥ ३२७ ॥

'जागरे तु' इत्यादि । जागर आदिमें चैतन्यसे अतिरिक्त जड़ अज्ञान व्यक्त है, जो ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेयरूपसे त्रिधा विभक्त होता है। ज्ञाता आदि ही अनुव्यवसायके कर्म होते हैं—जैसे 'घटमहं पश्यामि'। यहां साभास अज्ञान ज्ञाता है, घटादि विषयाकारबुद्धिपरिणाम वृत्तिरूप ज्ञान है और घट आदि विषय है, इसलिए वहाँ द्रष्टृत्वकी प्रतीति होती है और 'पश्यति' यह प्रयोग होता है । सुषुप्तिमें उक्त कारक नहीं है, अतः 'पश्यति'के बदले 'न पश्यति' यह प्रयोग होता है । इसीसे लौकिक एवं तार्किक 'न पश्यति'का प्रयोग करते हैं ॥ ३२८ ॥

'यो बुद्ध्युपाधिको' इत्यादि । बुद्ध्युपाधिक जो वस्तुतः द्रष्टा है, वह सुप्त होनेसे नहीं देखता और चिदात्मा स्वातिरिक्त दृश्यके अभावसे नहीं देखता ।

चिल्लोपाभावतः साक्षी पश्यन्नेवेत्युदीर्यते ।
अकर्तर्यपि कर्तृत्वारोपेणैतदुदीरणम् ॥ ३३१ ॥

भर्तृप्रपञ्चस्त्वाहाऽस्ति वस्तुतः कर्तृताऽऽत्मनि ।
दाहशक्तिर्यथा वह्नेः कर्तृशक्तिस्तथा चिति ॥ ३३२ ॥

'पश्यति' यह सकर्मक है, कर्माभावसे उक्त प्रयोग नहीं होता । चिदात्मा अलुप्त है, परन्तु तदतिरिक्त दृश्य नहीं है । जब दृश्य नहीं है, तब वह किसको देखेगा ? द्रष्टा, दर्शन, दृश्य—ये सब अविद्याकल्पित हैं । मोहका ध्वंस होनेपर द्रष्टा आदि है नहीं ॥ ३३० ॥

'चिल्लोपा०' इत्यादि । चैतन्य नित्य है, उसका लोप होता नहीं, इसलिए साक्षी 'पश्यन्नेव' कहा जाता है । यद्यपि कूटस्थ होनेसे दर्शनक्रियाका कर्ता नहीं है, तथापि अकर्तामें कर्तृत्वका आरोप कर वह कर्ता कहा जाता है । जैसे 'आकाशोऽस्ति' यहाँ 'अस्ति' क्रियाका कर्ता आकाश नहीं है, फिर भी उसमें कर्तृत्वके आरोपसे 'आकाशोऽस्ति' यह प्रयोग होता है, वैसे ही प्रकृतमें भी समझना चाहिए ॥३३१॥

'भर्तृप्रपञ्च०' इत्यादि । वस्तुतः वह्निमें जैसे दाहशक्ति है, वैसे चितिमें कर्तृत्वशक्ति है, यह भर्तृप्रपञ्च कहते हैं । संक्षेपमें भाव यह है कि जैसे अग्निमें दाह-शक्ति यावदग्निभावी है यानी जबतक अग्नि रहती है, तबतक दाहशक्ति रहती है । अग्नि रहनेपर दाहशक्ति कभी नष्ट नहीं होती, इसी प्रकार आत्मामें दृक्-शक्ति यावदात्मभावी है यानी जबतक आत्मा रहेगा, तबतक उक्त शक्ति भी रहेगी । बुद्धि आदि जड़ होनेके कारण द्रष्टा नहीं हो सकते, सुषुप्तिमें आत्मा है, अतः द्रष्टृत्वशक्ति भी है, इसी प्रकार ज्ञानगुणस्वरूप नित्यदृष्टि भी आत्मामें है । यह दृष्टि भी यावदात्मभाविनी है, आत्माके रहनेपर उस दृष्टिका लोप नहीं होता, अतएव श्रुति है—'न हि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यते' । गुणीका नाश होनेपर गुणका नाश हो सकता है । जब गुणी नित्य है, तब उसका गुण भी नित्य ही होना चाहिए ॥३३२॥

शङ्का—द्रष्टा अविनाशी है यह कथन तो दृष्टिनित्यत्वपरक है ।

नित्या ज्ञानगुणा दृष्टिरस्त्यतोऽस्य चिदात्मनः ।
न पश्यति तथा पश्यन्नेवेत्यपि समञ्जसम् ॥ ३३३ ॥
न पश्यतीति तस्योक्तिर्द्वितीयाभावतो भवेत् ।
ज्वलन्नपि यथा वह्निर्दाह्याभावान्न दाहकः ॥ ३३४ ॥

समाधान—**'नित्या ज्ञान०'** इत्यादि । इसीसे दोनोंमें नित्यत्व सिद्ध होता है । गुणी यदि नित्य नहीं होगा, तो उसका गुण कैसे नित्य होगा ? अन्यत्र तो गुणकी स्थिति नहीं है । गुण होनेसे स्वतन्त्र भी नहीं रह सकता, धर्मिपरतन्त्र ही गुण रहता है और अनेक श्रुति, स्मृति तथा तदनुकूल युक्तियोंसे आत्मनित्यत्वका प्रतिपादन पूर्वमें हो चुका है और इसमें अद्वैतत्व सर्वात्मत्व आदि भी हेतु हैं । आत्मनाशकी शङ्का स्वतः है या परतः ? 'सर्वमात्मैवाभूत् तत्केन' इत्यादि श्रुतिसे परका अभाव होनेसे परतः शङ्का ही नहीं हो सकती, क्योंकि जिस नाशकसे उक्त शङ्का हो, वह आत्मासे अतिरिक्त नहीं है । प्रथम पक्ष भी अयुक्त है, क्योंकि अपनेसे अपना नाश कहीं दृष्टचर नहीं है, नाश्य और नाशकभाव अग्नि, इन्धन आदि भिन्नमें ही देखा जाता है । इन्धन इन्धनका और अग्नि अग्निका नाशक नहीं होता, अतः स्वतः पक्ष भी असङ्गत ही है । दृष्टि और द्रष्टा दोनों अविनाशी हैं, नित्यदृष्टिसे नित्य आत्मा सुषुप्तिमें भी 'पश्यन्नेवास्ते' यह विवक्षित है ॥ ३३३ ॥

शङ्का—यदि ऐसा ही विवक्षित है, तो श्रुतिने 'न पश्यति' यह कैसे कहा ?

समाधान—**'न पश्यतीति'** इत्यादि । सुषुप्तिमें 'न तु तद्द्वितीयमस्ति' इस श्रुतिके अनुसार द्वितीयाभावनिबन्धन 'न पश्यति' यह भी व्यवहार होता है । प्रदीप्यमान अग्निके होनेपर भी दाह्यके अभावसे 'न दहति' इस प्रकारका जैसे व्यवहार होता है, वैसे ही सुषुप्तिमें भी तथा व्यवहार उपपन्न होता है । जागरके समान विशेष बुद्ध्याद्यभिव्यक्ति सुषुप्तिमें नहीं होती, यह प्रसिद्ध ही है ।

शङ्का—भिन्नाभिन्नवादमें द्रष्टासे व्यतिरिक्त द्रष्टव्य जगत् हो नहीं सकता, क्योंकि जागरमें जैसे विभक्त जगत् रहता है, वैसे उक्त कालमें अविभक्तात्मना जगत्के रहनेपर भी विभक्तात्मना अवस्थित नहीं है । यदि जागर आदिके समान उस समय जगत् विभक्त होता तो, अवश्य दीखता ।

समाधान—उनका वह व्याख्यान स्थूलदर्शियोंके लिए आदरणीय हो सकता है, किन्तु जो श्रुत्यक्षरानुसारी अर्थ चाहते हैं, उनके लिए वह सर्वथा उपेक्ष्य ही है ॥ ३३४ ॥

नैतद्युक्तं तत्त्ववादिबहुश्रुतिविरोधतः ।
केवलो निर्गुणोऽसङ्गो नेति नेत्यादिका श्रुतिः ॥ ३३५ ॥

'नैतद्युक्तम्' इत्यादि। उनकी उक्त कल्पना ठीक नहीं है, कारण कि उसमें अनेक श्रुतियोंके साथ विरोध है।

शङ्का—कौन अनेक श्रुतियाँ हैं, जो प्रकृतमें विरुद्ध होती हैं?

समाधान—'साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च', 'असङ्गो ह्ययं पुरुषः', 'असङ्गो नहि सज्जते', 'नेति नेति' इत्यादि। कहांतक गिनावें, 'एकमेवाद्वितीयम्' इस प्रक्रमसे लेकर 'ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्' इस उपसंहारतक सब श्रुतियाँ विरुद्ध हैं। इसी प्रकार उनका उक्त व्याख्यान भी असंगत है; क्योंकि उसमें प्रश्न यह होता है कि क्या 'पश्यन्नाऽऽस्ते' इस श्रुतिसे आत्मामें दृष्टिरूपता कही गई है अथवा दृष्टिकर्तृता? यदि 'पश्यन्'से दृष्टिलक्षण आत्मस्वरूप कहा गया है, तो प्रत्यगात्मा दृष्टि-स्वभाव होगा, उसका कर्ता नहीं होगा, फिर दृष्टिकर्तृत्वव्यवस्था क्यों की गई? द्वितीय पक्षमें द्रष्टाके अधीन जो क्रिया होती है, वह यदि दृष्टि है, तो उसके लोपका वारण कैसे कर सकते हो? 'क्रिया हि परिलुप्यते, क्रियात्वाद्, गति-क्रियावत्' इस अनुमानसे उसका लोप ही सिद्ध होता है, अतः 'न हि' इत्यादि-से उसका निषेध करना स्पष्ट ही विरुद्ध है। किञ्च, यह भी प्रश्न हो सकता है कि आत्मा सती दृष्टिको करता है अथवा असती दृष्टिको? द्वितीय पक्षमें असती (अभूत) क्रियाके प्रति कर्तृत्व होनेसे द्रष्टामें द्रष्टृत्व कह सकते हैं, परन्तु 'सती दृष्टिके प्रति कर्ता नहीं कह सकते, क्योंकि सत्या दृष्टि विद्यमान ही रहेगी, अतः जब उसमें चिकीर्षाविषयत्वाभाव ही रहेगा, तब तन्निरूपित कर्तृत्व कैसे होगा? द्रष्टा दृष्टिको उत्पन्न करता है, पर वह दृष्टि लुप्त नहीं होती, यह आपका वचन आपके ही वचनसे विरुद्ध है।

शङ्का—उक्त अनुमानसे यद्यपि दृष्टिमें अनित्यत्व सिद्ध होता है, तथापि श्रुतिसे उसका बाध हो जायगा।

समाधान—यदि वचनसे नित्यत्व होगा, तो वचन कारक होनेसे अप्रमाण हो जायगा, क्योंकि प्रमाण बोधक होते हैं, कारक नहीं।

शङ्का—कारक प्रमाण क्यों नहीं हैं?

समाधान—सिद्ध वस्तुका बोधक प्रमाण कहा जाता है, वह अपने सम्बन्धसे

अवाङ्मनसगम्यं यन्निर्गुणं ब्रह्म वर्ण्यते।
तदेव ह्यात्मनस्तत्त्वमन्यन्मायाविजृम्भितम् ॥ ३३६ ॥

पूर्वमें सिद्ध वस्तुका व्यञ्जक होता है, अतएव विद्यमान विषयमें ही घट दीप आदिके सदृश वह व्यञ्जक देखा गया है।

शङ्का—अच्छा, बोधकर्में कारकत्व क्यों नहीं है ?

समाधान—उक्त अनुमानसे विरोध है और श्रुतिविरोध भी है—'तद्यथेह कर्मचितो लोकः क्षीयते' इत्यादि। अतः आत्मासे उत्पन्न दृष्टि नष्ट नहीं होती, इसका निराकरण हो गया और जो यह कहा था कि दो पदार्थोंका यहाँ विधान है, वह भी असङ्गत है, क्योंकि 'न पश्यति' यह तो सिद्ध ही है। सिद्धका विधान तो कहीं होता ही नहीं है, अतः उसका अनुवाद कर दृष्टिका ही विधान उचित है।

शङ्का—प्रकृतमें 'न पश्यति' इस अनुवादका फल क्या है ?

समाधान—केवल 'पश्यति' कहनेसे ज्ञानकर्तृत्व प्राप्त हो जायगा, अतः उसका निराकरण करनेके लिए 'न पश्यति' का अनुवाद है, अर्थान्तरके विधानके लिए नहीं। और जो द्रष्टाका दृष्टिक्रियाकारी अर्थ किया गया है, वह भी अयुक्त है, क्योंकि आत्मा कूटस्थ नित्य है, यह बारबार निर्णीत हो चुका है, ऐसी स्थितिमें उसे दृष्टि-क्रियाकारी कहना अनुचित है। दृष्टिशब्दसे दृष्ट्यात्मक वस्तु यदि अभीष्ट है, तो बुद्ध्युपारूढ रूपादिदृष्टिक्रियाकारी आत्मा है, यह कहना असङ्गत है। इसी प्रकार आत्मामें भोक्तृत्व भी चैतन्याभास द्वारा ही है, साक्षात् नहीं है। बुद्धिवृत्तिसे व्याप्त शब्दादि अर्थोंका चिदाभासाक्रान्तत्वाकारसे आत्मा भोक्ता कहा जाता है; अतः धीकर्तृत्वके समान फलकर्तृत्व भी उसमें नहीं है।

शङ्का—शब्द आदि अर्थोंको यदि चिदाकार कहते हो, तो चिदात्मा विकारी क्यों नहीं है ?

समाधान—अलक्तकादिसंयोगसे स्फटिक मणिके रक्ताकार प्रतीत होनेपर भी वस्तुतः उसका रक्ताकार विकार नहीं होता। यद्यपि मणिमें रक्तत्वकी प्रतीतिके लिए अलक्त आदिका संसर्ग अपेक्षित है, तथापि अलक्तकादि मणिका विकार नहीं होता, इसी प्रकार आत्मवस्तु भी है यानी बुद्धिवृत्तिव्याप्त शब्दादिके चिदाकार होनेपर भी वह विकारवान् नहीं होती ॥ ३३५ ॥

'अवाङ्मन०' इत्यादि। 'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह' इत्यादि श्रुतियोंसे निर्गुण ब्रह्मका वर्णन किया जाता है। वही ब्रह्म आत्माका (जीवका)

तत्त्व है, उसके सिवा सब मायाविजृम्भित यानी मायिक हैं। आत्मनिर्गुणत्वव्यवस्थापक उक्त श्रुतिके विरोधसे जो नित्यज्ञानगुणरूपा दृष्टि मानी थी यानी गुणीकी स्थितिके अनुरोधसे जो उक्त गुणभूता दृष्टिमें नित्यत्व सिद्ध किया था, वह भी असङ्गत है, क्योंकि जबतक गुणीकी स्थिति रहती है, तबतक गुणकी स्थिति रहती है, यह नियम नहीं है। पहले केश काले होते हैं, पर वृद्धावस्थामें वे श्वेत हो जाते हैं, यहाँ उक्त नियमका स्फुट ही व्यभिचार है। जो पूर्वमें अग्नि और इन्धनके समान यह दृष्टान्त कहा था, वह भी ठीक नहीं है, क्योंकि सत्कार्यवादके अनुसार अरणि और मणिसे अग्नि होती है, अतः उसमें अग्नि अवश्य है, पर दाह और प्रकाश नहीं हैं, अतः वह दृष्टान्त भी व्यभिचारी हुआ, इसलिए गुण गुणिस्थित्यनुसारी होते हैं, इसमें वह उदाहरण नहीं हो सकता।

अरणि आदिमें जैसे अग्नि अदृष्ट है, वैसे ही उसके गुण औष्ण्य आदि भी अदृष्ट हैं। गुणीके दृष्ट होनेपर गुण भी दृष्ट होते हैं, अदृष्ट गुणीमें गुण भी अदृष्ट ही रहते हैं, अतः व्यभिचार न होनेसे उक्त अर्थमें वह उदाहरण ठीक ही है। अस्तु, पर प्रकृतमें उससे क्या आया? दृष्टि क्रिया है, गुण नहीं है इसपर भी ध्यान दीजिये।

शङ्का—गुणके समान इस दृष्टिरूपा क्रियाको भी यावद्द्रष्टृभाविनी मानेंगे?

समाधान—कारकोंका यह स्वभाव है कि वे कदाचित् कार्य न करके भी रहते हैं, चक्र, चीवर आदिमें यह स्वभाव अनेक बार देखा जा चुका है, इसी प्रकार प्रकृतमें भी यदि द्रष्टा दृष्टिके बिना भी रहेगा, तो वह नित्यदृष्टि कैसे कहा जायगा? कारकस्वरूपके पर्यालोचनसे क्रिया अनित्य होती है तथा क्रियास्वरूपके पर्यालोचनसे भी क्रिया अनित्य ही होती है, जैसे अभूत्वाभवन क्रियाका स्वभाव है, वैसे ही भूत्वा अभवन भी उसका स्वभाव है अर्थात् नियमसे क्रिया उत्पत्तिविनाशशालिनी होती है। निष्कर्ष यह निकला कि गुण और क्रियामें यावद्द्रव्यभावित्वका नियम ही नहीं है और आत्मवस्तुमें जाति, गुण और क्रियाका सर्वथा निषेध ही है, क्योंकि 'अस्थूलम्', 'नेति नेति' इत्यादि श्रौत वाक्य हैं। द्रष्टा नित्य है, यह कहना भी असङ्गत है, क्योंकि दृशिक्रियाका सम्बन्ध होनेपर द्रष्टा होता है, दृशिक्रिया स्वयं अनित्य है, फिर द्रष्टा कारक और नित्य कैसे हो सकता है? हाँ, दृशिक्रियासे रहित केवल धर्मिमात्रको नित्य कह सकते हैं, पर वह तो निर्विशेष होगा, जो आपको विवक्षित नहीं है॥२३५॥

द्रष्टुरित्यादिशब्दानामर्थः पूर्वमुदीरितः ।
तस्मात् सुप्तौ चिदद्वैतं यत्तद्रूपं परात्मनः ॥ ३३७ ॥
एतद् द्रढयितुं प्रोक्ताः पर्याया बहवः श्रुतौ ।
यद्वै न जिघ्रतीत्यादौ योजना दृष्टिवाक्यवत् ॥ ३३८ ॥
अन्धादेर्दृष्ट्यभावेऽपि गन्धादिज्ञानमस्ति हि ।
मा भूत्तथेत्यभिप्रेत्य प्रोक्तं सर्वाक्षलोपनम् ॥ ३३९ ॥

'द्रष्टु०' इत्यादि । 'द्रष्टुः' आदि पदोंका अर्थ पूर्वमें कह चुके हैं, अतः सुषुप्तिमें जो अद्वैत चित् है, वह परमात्माका स्वरूप है। आत्मस्वरूपके निर्णयके लिए जागर आदि अवस्थाएँ दिखलाई गई हैं। जागर आदिमें इन्द्रिय आदि द्वारा घटादि अर्थकी उपलब्धि होती है, स्वप्नमें वासना द्वारा स्वाप्निक पदार्थकी उपलब्धि होती है और सुषुप्तिमें इन्द्रिय और मनके न रहनेसे स्वातिरिक्त पदार्थकी उपलब्धि नहीं होती, किन्तु अद्वितीय स्वस्वरूपका निर्विकल्पक अनुभव होता है, जिसके बलसे उत्थितको उसका केवल परामर्श होता है, सुषुप्तिमें अनुभूत अद्वितीय चिन्मात्र अनौपाधिक आत्मस्वरूप है ॥ ३३७ ॥

'यद्वै तन्न जिघ्रति' इत्यादि अनेक पर्यायोंके कथनका तात्पर्य कहते हैं— 'एतद्' इत्यादिसे ।

उक्त अर्थको दृढ़ करनेके लिए श्रुतिमें अनेक पर्यायोंका कथन है । अभ्याससे बुद्धि दृढ़ होती है, यह लोकमें भी प्रसिद्ध है। जैसे 'जावो जावो' कहनेसे अवश्य जावो, यह अर्थ स्फुट प्रतीत होता है, वैसे ही श्रुतिमें भी द्रष्टृ, घ्रातृ आदि सबके उपादानसे द्रष्ट्रयादि-वाक्यार्थ दृढ़ हो जाता है, इसका सूचन करने लिए उसका प्रपञ्च है। उत्तर वाक्योंमें श्रुत घ्राता आदिकी योजना द्रष्टृवाक्यकी योजनाके समान समझनी चाहिए ॥ ३३८ ॥

'अन्धादे०' इत्यादि । जैसे अन्ध आदिको चाक्षुष ज्ञान नहीं होता, किन्तु गन्ध आदिका ज्ञान होता है, वैसे ही सुषुप्त पुरुषको भी गन्धादिका ज्ञान होगा, इस शङ्काकी निवृत्तिके लिए सर्वाक्षलोप (सर्वेन्द्रियलोप) कहा । अन्धादिको गन्ध-ज्ञानका कारण गन्धेन्द्रियसंसर्ग है, सुषुप्तको घ्राणादि कोई इन्द्रियां हैं नहीं, अतः गन्धादिका ज्ञान सुषुप्त पुरुषको नहीं होता ॥ ३३९ ॥

मतिर्विज्ञातिरित्येते चित्तस्यैव क्रिये उभे।
संशयो निश्चयश्चेति तयोर्भेदोऽवगम्यते ॥ ३४० ॥
इदंबुद्धिरहंबुद्धिरिति वा तद्भिदेष्यताम्।
अनात्मविषयेदंधीरहंधीरात्मगोचरा ॥ ३४१ ॥

'मति०' इत्यादि।

शङ्का—मति और विज्ञाति—ये दोनों मनकी क्रियाएँ हैं, अतः दोनोंका पृथक्-रूपसे उपादान करनेका प्रकृतमें क्या तात्पर्य है ?

समाधान—हाँ, वे एकनिष्ठ क्रियाएँ हैं, पर उनमें अवान्तर भेद है। मति संशयको कहते हैं—जैसे 'स्थाणुर्न वा' और विज्ञाति वस्तुतत्त्वावधारणात्मक ज्ञानको कहते हैं—जैसे 'इदम् इत्थमेव' यानी यह ऐसा ही है। अतः भेद होनेसे दोनोंका पृथक् उपादान किया गया है। अतएव लोकमें व्यवहार होता है कि 'मनसा मनुते' और 'बुद्ध्या विजानाति'। विकल्पात्मक मन है और अध्यवसायात्मक बुद्धि है। इस प्रकार अवान्तर भेद होनेके कारण मनकी क्रिया संशय है माना गया और बुद्धिकी क्रिया निश्चय। क्रियाका तात्पर्य परिणाममें है। यद्यपि क्रियाके बिना परिणाम नहीं होता, तथापि प्रकृतमें क्रियाकार्यके तात्पर्यसे क्रिया कही गई है।

शङ्का—चक्षु आदिसे जन्य वृत्तिसे अतिरिक्त वृत्ति मन या बुद्धिकी है नहीं, किन्तु तत्साधारण ही है, ऐसी अवस्थामें सर्वपर्यायमें इन वृत्तियोंका अन्तर्भाव हो ही जायगा, फिर 'तन्न मनुते, तन्न विजानाति' इत्यादिसे उन दोनोंका पृथक् निर्देश करना युक्त नहीं है।

समाधान—अतीतानागत विषयोंमें भी ये वृत्तियां होती हैं। चक्षु आदिसे जन्य वृत्तियाँ वर्तमान विषयमें ही हुआ करती हैं, इसलिए उनका पृथक् उपादान करना युक्तियुक्त है। सर्वपर्यायोपादान द्वारा यह सिद्ध हुआ कि तत्-तत्-विषयक बुद्धिपरिणामरूप दृष्ट्यादि उपाधिमें साक्षित्वरूपसे स्थित प्रत्यगृदृष्टि ही उन पर्यायोंमें स्थित दृष्टिशब्दोंसे कही गई है, दृष्ट्यादि क्रिया नहीं है, अन्यथा अविनाशित्व-कथन ही विरुद्ध हो जायगा। ये क्रियाएँ तो विनाशयुक्त ही हैं ॥ ३४० ॥

मति और विज्ञातिका अर्थान्तर कहते हैं—'इदंबुद्धि०' इत्यादिसे।

मतिसे इदमाकार धी यानी अनात्मघटादिविषयक वृत्ति विवक्षित है और

धीवृत्तित्वेऽपि दृष्ट्यादिर्जन्यते बहिरिन्द्रियैः ।
वस्तुस्मृतिरहंधीश्च न जन्ये चक्षुरादिभिः ॥ ३४२ ॥
सर्वेन्द्रियव्यवहृतेर्लोपादद्वैतता चितः ।
सुषुप्तावननुभूतेति स्वात्मरूपं तदीर्यते ॥ ३४३ ॥

श्रुतिः—यत्र वा अन्यदिव स्यात्तत्रान्योऽन्यत्पश्येदन्योऽन्यज्जिघ्रेदन्योऽन्यद्रसयेदन्योऽन्यद्वदेदन्योऽन्यच्छृणुयादन्योऽन्यन्मन्वीतान्योऽन्यत्स्पृशेदन्योऽन्यद्विजानीयात् ॥ ३१ ॥

ननु सर्वजनैर्द्वैतं जागरे स्पष्टमीक्ष्यते ।
सद्वैत एव किं न स्यादात्मेत्याशङ्क्य वर्ण्यते ॥ ३४४ ॥

विज्ञातिसे आत्माकार बुद्धि विवक्षित है, इस प्रकारका भी उनका भेद है, क्योंकि विषयाकार प्रथम वृत्ति है और आत्मगोचर द्वितीय वृत्ति है, इसलिए उनका पृथगुपादान करना समुचित है ॥ ३४१ ॥

'धीवृत्तित्वे' इत्यादि । धीवृत्ति होनेपर भी दृष्टि आदि चक्षु आदिसे उत्पन्न होते हैं । चक्षु आदि इन्द्रिय और विषयका परस्पर संयोग होनेपर ही बुद्धिका विषयाकार परिणाम होता है, अन्यथा नहीं । अतः चक्षु आदि दृष्टि आदिमें कारण हैं । अहंधी वस्तुस्मृति (वस्तुकी —आत्मतत्त्वकी—स्मृति) होनेसे चक्षु आदिसे उत्पन्न नहीं होती, किन्तु आत्मज्योति-स्वरूप है, जो सुषुप्तिमें भी रहती है, अतएव अजन्य है, यह सारकारका मत है ॥ ३४२ ॥

'सर्वेन्द्रिय०' इत्यादि । सुषुप्तिमें सम्पूर्ण इन्द्रियवृत्तियोंका लोप हो जानेसे चैतन्यमें अद्वितीयत्व अनुभूत होता है, अतः अद्वितीयत्व आत्मस्वरूप है, यह कहते हैं । भाव यह है कि सुषुप्तिमें किसी अनात्मवस्तुका भान नहीं होता, यह वेदान्तियोंका मत है । किसी भी वस्तुका भान नहीं होता, यह तार्किक और लौकिक कहते हैं, अतएव वे आत्माको अचेतन मानते हैं । वेदान्ती श्रुतिसे नित्यात्मस्वरूप ज्योतिको मानकर तदतिरिक्तका लोपकर अनात्मपदार्थाभावप्रयुक्त इतराभानका (घटादिके अज्ञानका) समर्थन करते हैं, इसी अर्थमें 'पश्यन्वै तन्न पश्यति' इस श्रुतिका स्वरस कहते हैं ॥ ३४३ ॥

'यत्र वा अन्यदिव स्यात्' इत्यादि श्रुति । वार्तिकसारके श्लोकोंके व्याख्यानसे इस श्रुतिका अर्थ स्पष्ट हो जायगा ॥३१॥

'ननु सर्व०' इत्यादि । जागरमें द्वैतको सब मनुष्य देखते हैं । उसके अनुसार

यत्रैव जागरे स्वस्मादन्यत्किञ्चिदिति भ्रमः।
तत्रैवाऽन्यः स्वयं द्रष्टा दृश्यमन्यदपेक्ष्यते ॥ ३४५ ॥
द्वैतभ्रमस्य सिद्ध्यर्थमिवशब्दः प्रयुज्यते।
स्वप्नभ्रान्तेर्वर्णनार्थमिवशब्दोक्तिदर्शनात् ॥ ३४६ ॥
आरुक्षमिव शैलाग्रमद्राक्षमिव काननम्।
इत्यादिवचसा स्वप्नं वर्णयन्ति हि लौकिकाः ॥ ३४७ ॥

आत्मा सद्वैत ही क्यों न हो, इस आशङ्कासे आत्माका वर्णन करते हैं ॥ ३४४ ॥

'यत्रैव' इत्यादि। जिस जागर आदि अवस्थाओंमें स्वसे अतिरिक्त कोई है, ऐसा भ्रम होता है, वहींपर अन्य द्रष्टा अन्य दृश्यकी अपेक्षा करता है। भाव यह है कि अद्वैत आत्मा स्वकीय मोहवश अनेक पदार्थोंको देखता है। स्वप्नमें आत्मासे अतिरिक्त कोई पदार्थ नहीं है, यह यद्यपि निश्चित है, तथापि वासनावश गिरि, नदी, समुद्र आदि पदार्थोंको देखता है। उस प्रकारका देखना यद्यपि उस समय भ्रमात्मक नहीं मालूम पड़ता, परन्तु जागनेके बाद यह निश्चय होता है कि स्वप्नमें जो देखा था, वह नहीं था, अतः वह ज्ञान भ्रम था, इसी प्रकार जागरावस्थ पुरुष भी स्वप्नके समान स्वकल्पित भिन्न पदार्थोंको देखता है और स्वप्नके समान वर्तमान समयमें उन्हें तात्त्विक ही जानता है। परन्तु प्रबोधसमयमें—जागरमें स्वप्नके समान—वे बाधित हो जाते हैं। अतएव श्रुति स्पष्ट ही कहती है—'यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितर इतरं पश्यति।' यहाँ 'द्वैतं भवति' न कहकर 'द्वैतमिव' यों 'इव' शब्दके प्रयोगसे जागर-ज्ञान भी भ्रम है, यह स्पष्ट प्रतीत होता है। सुषुप्तिकालमें ब्रह्मसम्पन्न होकर स्वमात्र अवशिष्ट रहता है, अतः स्वान्यपदार्थ ही जब नहीं है, तब देखेगा क्या? इसी तात्पर्यसे श्रुति कहती है—'पश्यन्वै तन्न पश्यति' ॥ ३४५ ॥

'द्वैतभ्रमस्य' इत्यादि। द्वैतभ्रमकी सिद्धिके लिए 'इव' शब्दका प्रयोग उक्त श्रुतिमें है। लोकमें भी स्वप्नभ्रान्तिके वर्णनके लिए 'इव' शब्दका प्रयोग किया जाता है ॥ ३४६ ॥

'आरुक्षमिव' इत्यादि। 'मैं स्वप्नमें शैलाग्रपर चढ़ा-सा था, बनको देखता-सा था' इत्यादि लौकिक प्रयोगमें 'इव' शब्द भ्रमको स्फुट करता है। इसीलिए लोग उसका प्रयोग करते हैं। 'शैलाग्रपर आरोहण नहीं कर सकता, फिर भी वैसा अपनेको देखा' इस वाक्यमें पदार्थकी वैसी सामर्थ्य न होनेपर भी वैसी प्रतीति हुई

बाध्यते जाग्रति स्वप्नः स्वप्ने जाग्रच्च बाध्यते ।
चिदद्वैतं तु न क्वाऽपि बाध्यते वास्तवं ततः ॥ ३४८ ॥
चितो न बाधकं द्वैतं चित्प्रसादेन भासनात् ।
अबाध्यत्वाद्वास्तवत्वं चिदद्वैतस्य सुस्थितम् ॥ ३४९ ॥
श्रुतिः—सलिल एको द्रष्टाऽद्वैतो भवति ।
यद्वै तदित्युपक्रम्य व्याख्यातं वस्तु विस्तरात् ।
सलिलादिगिरा तस्य क्रियते ह्युपसंहृतिः ॥ ३५० ॥
आत्मा सलिलवच्छुद्धः कार्यकारणहानतः ।
स्वतोऽवबोधमात्रत्वात्कुतोऽविद्यादिसङ्गतिः ॥ ३५१ ॥

अतः भ्रम है । द्वितीय वाक्यमें कानन सन्निहित न होनेपर भी ज्ञानमें प्रत्यक्षवत् प्रतीत हुआ, इस भेदसे दो उदाहरण हैं ॥ ३४७ ॥

'बाध्यते' इत्यादि । जागरमें स्वप्न बाधित होता है और स्वप्नमें जागर बधित होता है, ये दोनों मिथ्या हैं । अद्वैत चित् कहीं भी बाधित नहीं होता, अतः वही वास्तवमें पारमार्थिक है, तीनों अवस्थाओंसे अबाध्य तथा उनका साक्षी आत्मा वस्तुतत्त्व है ॥ ३४८ ॥

'चितो' इत्यादि । द्वैत चित्-प्रसादसे यानी चित्सम्बन्धसे भासित होता है । इसलिए स्वोपजीव्य चित्का बाधक नहीं है । अबाध्य होनेसे अद्वैतात्मक चित्में वस्तुतत्त्व सुस्थित है । अबाध्यत्व ही पारमार्थिकत्व है । स्व स्वका बाधक नहीं होता, इसलिए चित्से चित्का बाध नहीं होता और उससे भिन्न द्वैत उक्त कारणसे बाधक नहीं हो सकता, अतः सर्वथा अबाध्य अद्वैत चित् ही परमार्थ सत् है और उससे भिन्न सब बाध्य होनेसे मिथ्या है ॥ ३४९ ॥

'सलिल एको द्रष्टा' इत्यादि श्रुति । इस श्रुतिका अर्थ निम्न श्लोकोंके व्याख्यानसे गतार्थ हो जायगा ।

'यद्वै तत्' इत्यादि । 'यद्वै तत्' इत्यादि ग्रन्थसे वस्तुरूप आत्मतत्त्वका विस्तारसे व्याख्यान हुआ । अब सलिल आदि वाक्यसे उसका उपसंहार किया जाता है, उपक्रमोपसंहारके मेलसे वाक्यार्थ परिशुद्ध होता है ॥ ३५० ॥

'आत्मा' इत्यादि । कार्य और कारणकी हानिसे आत्मा सलिलवत् शुद्ध है और स्वयं अवबोधस्वरूप है; अतः कार्य (जगत्) और कारण (मूल अविद्या) भी वस्तुतः

अन्तरेणाऽपि सम्बन्धं कार्यकारणवस्तुनः ।
स्वतोऽनेकात्मकं तत् स्यादित्याशङ्क्यैकतोच्यते ॥ ३५२ ॥

आत्मामें कहां ? उल्लू यदि सूर्यमें अन्धकार माने, तो क्या सूर्यमें वस्तुतः अन्धकार रह सकता है ? कभी नहीं । इसी प्रकार यदि संसारी पुरुष अविद्या द्वारा ब्रह्मको जगत्का कारण मानते हैं, तो क्या उससे वास्तविक अविद्याका सम्बन्ध स्वयंप्रकाश आत्मामें हो सकता है ? कभी नहीं । भाव यह है कि सुषुप्तिदशामें अन्य वस्तुकी उपस्थापक अविद्या शान्त हो जाती है, अतः अविद्याविभक्त कोई वस्तु ही उस समय नहीं रहती है, फिर प्रत्यगात्मा किससे किसको देखेगा ? दृश्य, दर्शन और उसके साधन द्वारा ही जागरादि अवस्थाओंमें पुरुष द्रष्टा कहा जाता है । दृश्यादि अविद्या द्वारा ही उपस्थित होते हैं । अन्याभावसे स्वयंपरिष्वक्त समस्त उपाधियोंसे अनवच्छिन्न अतएव संप्रसन्न सलिलवत् शुद्ध एक ही अद्वितीय आत्मा है, क्योंकि द्वितीयोपस्थापक अविद्या ही है, वह उस समय शान्त हो चुकी है । अलुप्तदृष्टि द्रष्टा है, वही अमृत और अभय है इत्यादि भाष्य है ॥ ३५१ ॥

'अन्तरेणा०' इत्यादि । कार्य और कारणके सम्बन्धके बिना भी स्वतः ब्रह्म अनेकात्मक है, इस आशङ्काकी निवृत्तिके लिए ब्रह्ममें एकता कहते हैं । भाव यह है कि वह्निमें दाह, प्रकाश और औष्ण्य आदि अनेक धर्म हैं, वे परस्पर भिन्न हैं, परन्तु अग्निसे जैसे भिन्नाभिन्न हैं, वैसे ही क्या आत्मामें विद्यमान द्रष्टृत्व, भोक्तृत्व आदि धर्म परस्पर भिन्न और धर्मीसे भिन्नाभिन्न हैं ? अथवा समान होनेपर भी मेघोदक जैसे नारिकेल, जम्बीर (नींबू) आदि आश्रयरूप उपाधिके भेदसे भिन्न होता है और स्वतः अभिन्न रहता है, वैसे ही क्या आत्मा उपाधिसे भिन्न और स्वतः अभिन्न है ? इस विषयमें यहाँ विचार किया जाता है—किसीका मत यह है कि सब वस्तुएँ भिन्नाभिन्न हैं, अतः ब्रह्म भी वस्तु होनेसे भिन्नाभिन्न ही होना चाहिए । 'ब्रह्म भिन्नाभिन्नम् , वस्तुत्वाद् , गवादिवत्' यह अनुमान भी उक्त अर्थका साधक है । आत्मामें एकरसत्व साधक प्रत्यनुमान नहीं कह सकते, क्योंकि आत्मातिरिक्तको अनेकरस आप भी मानते हैं, अतः आपके प्रत्यनुमानमें कोई दृष्टान्त नहीं है ।

शङ्का—'आत्मा भिन्नाभिन्नः, वस्तुत्वात्' इस अनुमानमें भी दृष्टान्तका अभाव तुल्य ही है, कारण कि भिन्नाभिन्न वस्तु नहीं मानी जाती ।

समाधान—गोमें गोत्वसामान्य, जो सकल गोव्यक्तिमें है, एक है, वह विशेषके (सास्नादिमद्विशेषके) साथ भिन्नाभिन्न है । यद्यपि विशेष परस्पर भिन्न हैं, तथापि गोत्वेन अभिन्न हैं, अतः एकमें सामान्यविशेषभाव अथवा भिन्नाभिन्नत्वका विरोध नहीं है । सामान्यबुद्धिसे विशेषबुद्धिकी निवृत्ति नहीं होती, इसलिए जैसे सामान्यविशेषबुद्धियोंमें बाध्यबाधकभाव नहीं होता, वैसे ही भेदाभेदबुद्धिमें भी परस्पर बाध्यबाधकभाव नहीं होता ।

शङ्का—स्थूल गऊ आदिमें जैसे भिन्नाभिन्नत्वबुद्धि होती है, वैसे अतिसूक्ष्म आकाश आदिमें वह बुद्धि कैसे होगी ?

समाधान—जैसे वस्तु होनेसे स्थूलमें भिन्नाभिन्नात्मकत्व दृष्ट है, वैसे ही वस्तुत्वरूपसे अतिसूक्ष्म आत्मा आदिमें अनुमान द्वारा उसको समझो, इस प्रकार कोई विद्वान् वस्तुमात्र भिन्नाभिन्नात्मक हैं, ऐसी व्यवस्था करते हैं ।

परन्तु भिन्नाभिन्नवादियोंका मत असङ्गत है । श्रेयोर्थियोंको वेदान्त-प्रतिपादित वस्तुका ही परिज्ञान करना चाहिए। भिन्नाभिन्नवादियोंके प्रति यह कहते हैं कि भेदके सिद्ध होनेपर भिन्नत्व आदि सिद्ध हो सकते हैं, परन्तु विचार करनेपर भेद ही सिद्ध नहीं होता, फिर तन्मूलक उक्त धर्म कैसे सिद्ध हो सकते हैं ? संसार भरमें वस्तु-स्वरूपको छोड़कर भेदका ग्रहण करनेवाला प्रमाण है नहीं, अतः उसका प्रमेय भेद कहाँ ? वस्तुस्वस्वरूपको ही यदि भेद कहते हो, तो प्रश्न यह होता है कि स्वरूपसे ही स्वरूपमें भेद कहते हो या वस्त्वन्तरापेक्षासे ? प्रथम कल्पमें वस्तुके अभावकी प्रसक्ति हो जायगी ? द्वितीयमें भेद प्रमाणाभासगोचर यानी अप्रामाणिक है। एवं भेद वस्तुस्वरूपसे अतिरिक्त है या तदात्मक ? प्रथम पक्षमें अनवस्था है और द्वितीयमें प्रतियोग्यसापेक्षत्वादि अनेक दोष हैं, जो खण्डनादिमें विस्तृत-रूपसे कहे गये हैं। यदि यहाँ उनका निरूपण किया जाय, तो अतिविस्तार हो जायगा, अतः उपरति ही ठीक है। तथा सामान्य और विशेष परस्पर भिन्न हैं अथवा अभिन्न ? असाधारण स्वस्वरूपसे जैसे विशेष परस्पर भिन्न हैं, वैसे सामान्य भी विशेषसे भिन्न हैं। यदि विशेष भी सामान्यमात्र ही है, तो विशेषाभावसे सामान्य भी सिद्ध नहीं होगा। एकके बिना अपरकी भी सिद्धि नहीं होगी। एवं विशेष यदि सामान्यात्मक है, तो विशेषसे अतिरिक्त सामान्य ही नहीं, फिर सामान्य और विशेषका भेदकथन ही व्याहत हो जायगा, तथा सामान्य विशेषसे भिन्न है अथवा अभिन्न ? भिन्न है, तो खण्ड,

मुण्ड आदिके समान विशेष ही होगा, सामान्य कैसे हुआ ? खण्डसे मुण्ड भिन्न है, तो खण्डके समान मुण्ड भी विशेष ही है, सामान्य नहीं। तथा सामान्यत्वरूपसे अभिप्रेत पदार्थ यदि विशेषसे भिन्न है, तो विशेष ही होगा, सामान्य नहीं हो सकता। यदि अभेद मानियेगा, तो सुतराम् वही दोष है। अभेदपक्षमें तो कण्ठसे ही सामान्यको विशेषात्मक कहते हो, फिर सामान्यविशेष-भाव किसका ? किञ्च, जो यह कहा था कि दृष्ट्यादि द्रष्टासे भिन्नाभिन्न हैं और मिथः दहनदाह्यवत् भिन्न हैं, इसमें अभेदांशको लेकर दोष यह है कि आत्माके धर्मरूप विशेष यदि आत्मस्वरूप ही हैं, तो दृष्ट्यादिका आत्मासे अभेद होनेपर परस्पर भेद भी सिद्ध नहीं होगा, क्योंकि आत्मस्वरूपका किसीसे भेद है नहीं।

शङ्का—आत्मस्वरूपका किसीसे भेद क्यों नहीं ? अनात्मका भेद आत्मामें प्रसिद्ध ही है।

समाधान—'इदं सर्वं यदयमात्मा' इत्यादि श्रुतिसे आत्मव्यतिरिक्त अनात्म-पदार्थ ही नहीं है।

शङ्का—आत्मामें अनात्मभेदकी प्रतीति क्यों होती है ?

समाधान—वह अविद्यातज्जन्यप्रयुक्त भ्रान्ति है। भ्रमसे पदार्थसत्ता सिद्ध नहीं होती, अन्यथा शुक्तिरूप्यसत्ताका भी स्वीकार करना पड़ेगा। अभेदांशपक्षमें दोष दिखलाकर भेदांश पक्षमें दोष कहते हैं। यदि द्रष्टासे दृष्टि आदि भिन्न हैं, तो प्रश्न यह होता है कि वे स्वतन्त्र हैं या परतन्त्र ? प्रथम पक्ष ठीक नहीं है, क्योंकि धर्मत्वकथन विरुद्ध होगा, क्योंकि जो स्वतन्त्र हैं, उनमें धर्मधर्मिभाव नहीं माना जाता जैसे कि काल और आकाशमें। द्वितीयमें धर्म्यन्तर है या नहीं ? द्वितीय पक्षमें धर्म्यन्तराभाव होनेपर आत्मभिन्न परतन्त्र नहीं हो सकते। प्रथम पक्षमें प्रतिज्ञासिद्धि नहीं हो सकती, समस्तव्यस्ततारूप आत्मा एक है, यही प्रतिज्ञात है। धर्म्यन्तर माननेसे एकत्व व्याहत है। ब्रह्मको यदि समस्तव्यस्तस्वरूप मानते हो, तो 'नेति नेति' इत्यादि श्रुतिविरोध स्पष्ट है।

शङ्का—प्रमाणसिद्ध भेदका युक्तिसे अपह्नव नहीं हो सकता ?

समाधान—क्या भेद अन्योन्याभावस्वरूप है अथवा पृथक्त्वस्वरूप ? प्रथम पक्षमें प्रमाण भेदमात्रका ग्रहण करता है अथवा वस्तुका भी ग्रहण करता है ? प्रथम पक्ष तो असम्भव ही है, क्योंकि धर्मिप्रतियोगीके ग्रहणके बिना उक्त भेदका ग्रहण होता ही नहीं। द्वितीय पक्षमें भेदग्रहपूर्वक वस्तुग्रह होता है अथवा

वस्तुग्रहपूर्वक भेदग्रह होता है अथवा युगपदुभयग्रह होता है ? प्रथम पक्ष असङ्गत है, क्योंकि अधिकरण और प्रतियोगीका ग्रह भेदग्रहमें कारण है; अतः वस्तु-ग्रहसे पूर्व भेदग्रह हो ही नहीं सकता। द्वितीय पक्षमें अन्योन्याश्रय दोष है—भेदग्रह होनेपर अन्यव्यावृत्त-वस्तुस्वरूपावधारण और वस्तुस्वरूपावधारणसे भेदग्रह, अतः वस्तुग्रहपूर्वक भी भेदग्रह नहीं हो सकता। तृतीय कल्प भी असङ्गत ही है, धर्मी आदिका ज्ञान भेदज्ञानमें कारण है, अतः कार्य और कारणका एक समयमें उत्पाद माननेसे कार्यकारणभावका ही बाध हो जायगा; कार्यकारणभाव पूर्वोत्तरकालनियत है। एवं पृथक्त्वपक्ष भी अयुक्त है—पृथकत्व धर्मीसे पृथक् होकर धर्मीमें रहता है, अथवा अपृथक् होकर ? प्रथम पक्षमें पृथक्त्वमें भी पृथक्त्वान्तरकी कल्पनासे अनवस्था होगी। द्वितीय पक्षमें यदि अपृथक् (अभिन्न) है, तो धर्मधर्मिभाव ही व्याहत है। एवं अपृथक्त्वमें भी समझना चाहिए। पृथक्त्वमें यदि स्वापेक्षया अपृथक्त्व है और अन्यापेक्षया पृथक्त्व है, तो रज्जुसर्पवत् वह कल्पित हुआ पारमार्थिक नहीं हुआ। कल्पित धर्म पारमार्थिक भेदका साधक नहीं हो सकता और स्वापेक्षया अन्तरङ्ग अपृथक्त्व बहिरङ्ग पृथक्त्वका बाधक होनेसे पृथक्त्वकी सिद्धि ही दुर्घट होगी।

शङ्का—दुर्घट क्यों ? 'घटः पटात् पृथक्' इस अनुभवसे पृथक्त्वकी सिद्धि होगी।

समाधान—क्या केवल यानी बाधिताबाधितसाधारण अनुभवसे ही वस्तुकी सिद्धि मानते हो या अबाधित अनुभवसे ? प्रथम कल्पमें शुक्तिरजत आदि भी सिद्ध हो जायँगे। द्वितीय कल्पमें क्या घटानुभव पृथक्त्वका साधक है अथवा उससे भिन्न दूसरा अनुभव ? द्वितीय पक्षमें पटानुभव भी घटके पृथक्त्वका साधक होगा। प्रथम पक्षमें क्या केवल यानी शुद्ध घटानुभव पृथक्त्वका साधक है या अनुभवान्तरसहित घटानुभव पृथक्त्वका साधक है? प्रथम पक्ष ठीक नहीं है, क्योंकि केवल घटानुभव घटमात्रका साधक होता है, पृथक्त्वका नहीं। अनुभवान्तरसहित घटानुभव भी पृथक्त्वका साधक नहीं हो सकता, क्योंकि कहींपर भी भिन्न भिन्न अनुभव परस्पर मिलकर एकार्थके साधक नहीं होते और अनुभूतिका भेद माननेसे अपसिद्धान्त भी हो जायगा। तार्किकके समान वेदान्ती लोग अनुभूतियोंको अलग अलग नहीं मानते। किञ्च, भिन्नाभिन्नत्वमें जो आपने अनुमान प्रमाण बतलाया है, वह भी असंगत है, क्योंकि प्रतिज्ञा, हेतु आदिका भेद होनेपर ही अनुमान होता है, अभेदमें नहीं। जब आप सबमें भेदाभेद मानते हैं, तब अनुमान भी कैसे होगा ?

शङ्का—अच्छा, तो आगमको ही इस अर्थमें प्रमाण कहेंगे और वह है—सृष्ट्यादिबोधक ।

समाधान—'नेति नेति' इत्यादि श्रुतिविरुद्ध भिन्नाभिन्नत्वमें सृष्ट्यादि श्रुति प्रमाण नहीं हो सकती, अवान्तर वाक्य प्रधानवाक्यविरुद्ध अर्थमें प्रमाण नहीं माने जाते ।

शङ्का—यदि भिन्नाभिन्नत्वका प्रतिपादक उक्त वाक्य नहीं है, तो फिर किसका प्रतिपादक है ?

समाधान—काम, कर्म आदिके समान चैतन्य भी स्वाभाविक नहीं है, क्योंकि सुषुप्तिमें चैतन्यका भी अदर्शन है, इस आशङ्काकी निवृत्तिके लिए लोकप्रसिद्ध दृष्टि आदिके भेदका अनुवाद कर दृष्टिमें अविनाशित्वका वह प्रतिपादन करता है अर्थात् स्वप्नप्रबोधमें प्रमाता आदिकी विक्रियाकी साक्षिणी आत्माकी जो दृष्टि है, वह अविनश्वरी है, इस अर्थमें उक्त वाक्यका तात्पर्य है । 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इत्यादि श्रुति दृष्टिनित्यत्वमें प्रमाण है । सब वस्तुएँ भिन्नाभिन्न होती हैं, आत्मा भी वस्तु है, अतः वह भी भिन्नाभिन्न है, इस मतका संक्षेपसे निराकरण किया गया और साथ-साथ यह भी दिखलाया गया कि भिन्नाभिन्नत्व अर्थ श्रौत नहीं है। जो आपने यह कहा है कि पर पक्षमें दृष्टान्त नहीं है, उसमें प्रश्न यह है कि एकका अनेक-रूपसे भान भ्रान्त है, इसमें दृष्टान्त नहीं है, ऐसा आप कहते हैं अथवा वस्तु एक-रूप है, इसमें दृष्टान्त नहीं है, ऐसा कहते हैं ? प्रथम पक्षमें स्फटिकमणि स्वतः स्वच्छ है, अरुण कुसुम आदिके संनिधानसे अरुण आदि प्रतीत होता है । द्वितीय पक्षमें ब्रह्मातिरिक्त वस्तु नहीं है, अतः दृष्टान्त नहीं है, इसका उत्तर यह है कि दृष्टान्त तो आपके लिए ही अपेक्षित है । आप भिन्नाभिन्न मानते ही हो, उसमें भिन्नांशको लेकर दृष्टान्त समझ लो ।

शङ्का—आत्मा यदि कूटस्थदृष्टिस्वरूप है, तो 'द्रष्टा श्रोता' इत्यादिसे उसमें नानात्वदृष्टि क्यों ?

समाधान—जैसे स्वच्छस्वभाव स्फटिक मणि जपाकुसम आदिके सन्निधानसे लोहित आदि अनेकरूपसे प्रतीत होती है, वैसे ही यद्यपि आत्मा ज्योतिःस्वरूपसे अविशिष्ट है, तथापि स्वमोहोत्थ उपाधिके सम्बन्धसे द्रष्टा, श्रोता आदि रूपसे नानात्वको प्राप्त करता है और अनेकरूपसे भासित होता है ।

अथवा जैसे प्रकाशक प्रदीप यद्यपि शुक्लस्वरूप है, तथापि नील, पीत आदि सीसेके सम्बन्धसे अनेकस्वरूप प्रतीत होता है, वैसे ही आत्मा भी भास्य,

न कपित्थादिवत्तत्त्वं स्वतोऽनेकस्वभावकम् ।
अखण्डैकरसे तस्मिन् कुतः स्यात्स्वगता भिदा ॥ ३५३ ॥
सजातीयनिषेधो वा ह्येकशब्देन भण्यते ।
सलिलोक्त्या विजातीयसम्बन्धो विनिवारितः ॥ ३५४ ॥

द्रष्टव्य आदिके भेदसे द्रष्टा, श्रोता इत्यादि अनेकरूपसे भासित होता है। परमार्थ तो यह है कि स्थूलमें अनेक अंश हैं, इसलिए उनमें भिन्नाभिन्नत्व कथञ्चित कह भी सकते हैं, परन्तु निरंश आत्मामें तो उसके कहनेमें ईश्वर भी अशक्त है फिर मनुष्यकी क्या सामर्थ्य ? आत्मामें दृष्टि आदिके भेदाभेदके निरासके न्यायसे दृगादिशक्ति चक्षु आदिसे या रूपादिसे परिणत होती है, यह कल्पना भी निरस्त हो गई। किञ्च, शक्ति कार्यगम्य है, ब्रह्म किसीका कारण ही जब नहीं है, तब उसमें शक्तिकी क्या संभावना ?

शङ्का—क्या आप ब्रह्मशक्ति नहीं मानते ?

समाधान—अवश्य मानते हैं, किन्तु वह शक्ति अविद्यास्वरूप है, उसीसे सबकी सृष्टि होती है, उससे अतिरिक्त शक्ति नहीं है इत्यादि विस्तृत विचार अन्यत्र देखिये ॥ ३५२ ॥

'न कपित्थादि०' इत्यादि। जैसे कपित्थ (कैथ) वृक्ष अथवा उसका फल अनेकावयवरचित होनेसे स्वतः अनेकात्मक है वैसे निरवयव ब्रह्म अनेकात्मक नहीं है। सलिल यानी जल, उसके समान शुद्ध आत्माको कहकर फिर 'एक' पदका श्रुतिने प्रयोग किया उसका तात्पर्य एकरसमें है यानी ब्रह्म एकरस है, इसमें तात्पर्य है। अन्यथा 'एक' विशेषण व्यर्थ हो जायगा ॥ ३५३ ॥

एकशब्दका अर्थान्तर कहते हैं—**'सजातीय०'** इत्यादि।

सजातीयनिषेध एकशब्दसे विवक्षित है। जैसे कि लोकमें प्रयोग देखा जाता है—इस गाँवमें यह एक ही पुरुष है। गाँव एक पुरुषका नहीं होता, अन्य पुरुष भी उसमें अवश्य हैं, किन्तु उसका सजातीय इस गाँवमें दूसरा पुरुष नहीं है, इस प्रकार जैसे सजातीय द्वितीयके निषेधमें एकशब्दका तात्पर्य है, वैसे यहां भी एकशब्द सजातीय द्वितीयके निषेधके लिए है। 'नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा श्रोता' इत्यादि श्रुतिसे द्वितीय चेतनका प्रतिषेध है। अतः एकशब्दसे उसका अनुवाद युक्त ही है।

एकशब्दो न संख्यार्थः संख्येयासम्भवादिह ।
अद्वितीयत्वमेवाऽर्थो द्वितीयार्थनिषेधतः ॥ ३५५ ॥
सदेवेत्यादिना चाऽस्य तथा सत्यविरुद्धता ।
प्रत्यङ्मात्रावसायित्वं प्रत्यग्दृष्टेः प्रसिध्यति ॥३५६ ॥

एकोऽन्यार्थे प्रधाने च प्रथमे केवले तथा ।
साधारणे समानेऽल्पे संख्यायां च प्रयुज्यते ॥

इस कोशसे एकशब्दसे सजातीयको भी कह सकते हैं, इसको स्फुट करनेके लिए श्लोकमें ही एकशब्दका उपादान किया गया है ।

शङ्का—'एक' पदमें ही सकल भेदोंके निवारणकी शक्ति है, फिर सजातीय ही का उक्त पदसे निषेध क्यों कहते हो ? आपको तो भेदमात्रका निषेध इष्ट है ।

समाधान—'सर्वं सलिलाद्यात्मकम्' इससे विजातीयसम्बन्धका निषेध सलिल-शब्दसे ही सिद्ध हो चुका, अतः सजातीय सम्बन्धका निषेध करनेवाला एकपद है। यहां सलिलशब्द आत्मपरक है, जल अर्थमें सलिल शब्द नपुंसक है, अतः एकपद आत्मभेदका निरास करनेके लिए है ॥ ३५४ ॥

'एकशब्दो' इत्यादि ।

शङ्का—एकशब्द संख्यावाची भी होता है, वही गुणगुणिसम्बन्धपरत्वेन यहां विवक्षित है, अतः सजातीयार्थक नहीं है, ऐसा भी तो कह सकते हैं ?

समाधान—नहीं, 'साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च' इत्यादि श्रुतिसे एकत्वसंख्यारूप गुणका आत्मामें निषेध है । प्रश्न—यदि एक गुण ही आत्मामें नहीं है, तो उसके सम्बन्धका बोधक एकशब्द कैसे हो सकता है ? उत्तर—संख्याका असम्भव होनेसे 'एक' शब्दका द्वितीयार्थनिषेध द्वारा अद्वितीयत्व ही अर्थ है ॥ ३५५ ॥

'सदेवेत्यादिना' इत्यादि ।

शङ्का—वृद्धव्यवहारमें एकशब्द संख्याका वाचक प्रसिद्ध है, अतः इसका अद्वितीयत्व अर्थ नहीं हो सकता ?

समाधान—ऐसा माननेपर अन्य श्रुतिके साथ विरोध होगा । 'सदेव सोम्येद-मग्र आसीत्' (उत्पत्तिसे पहले यह प्रपञ्च सदात्मक ही था और कुछ भी नहीं था) इस श्रुतिमें अद्वितीयत्व स्फुट प्रतीत होता है । एकशब्दका भी यदि अद्वितीयत्व अर्थ मानते हैं, तो उक्त श्रुतिके साथ विरोध नहीं होता । अन्य श्रुतिसे

अकारकस्वभावत्वमद्रष्टेत्यभिधीयते ।
यत्र हि द्वैतमित्युक्तेर्यत्र त्वस्येति चेरणात् ॥ ३५७ ॥
स्वतः पूर्णात्मकं ज्योतिर्यदद्रष्टेति चोच्यते ।
अविद्याकार्यराहित्याददद्वैतोऽयं भवेत्स्वतः ॥ ३५८ ॥
द्विधेतं द्वीतमित्याहुस्तद्भावो द्वैतमुच्यते ।
तन्निषेधेन चाऽद्वैतं प्रत्यग्वस्त्वभिधीयते ॥ ३५९ ॥

अविरुद्ध अर्थ हो सके, तो विरुद्ध अर्थ मानना सर्वथा अनुचित है, अतः प्रत्यग्-दृष्टि प्रत्यग्-मात्रावसायी है। आत्मदृष्टि आत्मस्वरूपा ही है, उससे अतिरिक्त नहीं है। 'सदेव' इत्यादि श्रुतिमें एवकार स्वगतभेदका निराकरण करनेके लिए है ॥३५६॥

हेतूक्तिपूर्वक 'अद्रष्टा' शब्दका अर्थ कहते हैं—'अकारक०' इत्यादिसे।

अकारकस्वभाव होनेसे अद्रष्टा कहा जाता है। दृष्टिक्रियाका कर्ता अविक्रिय आत्मा नहीं है, इसका विस्तारसे पूर्वमें निरूपण हो चुका है। 'यत्र हि द्वैतमिव भवति' इत्यादि वाक्यसे जागरादिदशामें स्वमोहोत्थ अन्तःकरणादि-गत दृष्टिकर्तृत्वका आत्मामें आरोप कर आत्मा द्रष्टा कहा जाता है। सुषुप्ति, मोक्ष आदि कालमें 'यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत् तत्केन कं पश्येत्' इत्यादिसे पारमार्थिक स्वरूपका निरूपण 'अद्रष्टा, अश्रोता' इत्यादि है ॥ ३५७ ॥

'स्वतः' इत्यादि। स्वतः पूर्णात्मक ज्योति, जो अद्रष्टा इत्यादिसे कही जाती है, वह अविद्याकार्य रहित होनेसे स्वतः अद्वैत है। अतः प्रत्यगात्मा सजातीय, विजातीय और स्वगत भेदसे रहित है, अतएव अद्वैत है। यद्यपि प्रत्यगात्मा स्वतः अद्वैत है, तथापि परतः द्वैत प्रतीत होता है। परतः प्रतीयमान रूप कल्पित होता है। अविवेकी इसीसे भ्रान्त होकर उसके वास्तविक स्वरूपके निर्णयमें असमर्थ होते हैं, अतः संसारानर्थरूप फलके भागी होते हैं। श्रुति दयापूर्वक जागरादि अवस्थाके निर्देश द्वारा अद्वैत आत्मस्वरूपका स्फुट निर्देश करती है, फिर भी ईश्वरकी कृपाके बिना यह अविद्याग्रन्थि सुलझती नहीं है ॥ ३५८ ॥

'द्विधेतम्' इत्यादि।

शङ्का—वाक्यार्थबोधमें पदार्थज्ञान कारण है। प्रकृत वाक्यमें तीन पद हैं, नञ्, द्वि और इत—इन तीनोंका अर्थ क्या है?

समाधान—द्विधा इत द्वीत यानी द्विप्रकारको प्राप्त, तस्य भावः इस अर्थमें तद्धित

प्रत्यग्दृष्ट्यव्यवहितेः प्रत्यक्षादात्मवस्तुनः ।
एषः इत्यात्मनिर्देशो यत्साक्षादिति च श्रुतेः ॥ ३६० ॥

'अण्' प्रत्यय हुआ । प्रकृत्यर्थमें प्रकार भावका अर्थ है । प्रकृति है—द्वीत, उसके अर्थमें प्रकार है । दो प्रकार यह द्वैतका अर्थ हुआ । नञर्थ है—निषेध यानी अभाव । दो प्रकारका जिसमें विषेध है वह अद्वैत है अर्थात् एकरस ही है, दूसरा कुछ नहीं है । आत्मस्थित अविद्यारूप कारण द्विधा, त्रिधा, बहुधा द्वैत होता है, उसका अत्यन्त निषेध करनेसे अद्वैत आत्मा सिद्ध होता है । भेदसंसर्गके निषेधके लिए इस प्रकार प्रयत्न करनेवाली श्रुतिका अनादर कर भिन्नाभिन्नत्ववादियोंने अन्यथाव्याख्यान किया है, अतः उनकी विद्या महती है, जिसके वशवर्ती होकर वे तत्त्वार्थसे पराङ्मुख हुए ।

शङ्का—दृष्टि आदि आत्मासे न भिन्न ही हैं और न अभिन्न ही हैं, अन्यथा धर्मधर्मिभाव ही नहीं होगा, अतः भिन्नाभिन्न हैं, यह पक्ष ठीक ही है ।

समाधान—रूप, घट आदि द्रष्टासे दृश्य हैं, इसलिए उनमें द्रष्टाकी अपेक्षा दृश्यत्व है, इसीसे रूप, घट आदिमें धर्मधर्मिभाव होता है । आत्मा दृश्य है नहीं, अतः उसके धर्ममें भी दृश्यत्व नहीं है, धर्मिदृश्यत्वके बिना उसके धर्ममें दृश्यत्व नहीं होता है । स्वसे स्वका दर्शन होता नहीं और अनवस्था आदिके भयसे अन्य द्रष्टाकी कल्पना हो नहीं सकती । द्रष्टा सलिलवत् शुद्ध है, अतएव असंग और अद्वय है, यही श्रुत्युक्त अर्थ है । इससे विरुद्ध भिन्नाभिन्नत्व आदिकी कल्पना अनुचित है । जैसे तम प्रकाशका अंश नहीं है, असत् सत्का अंश नहीं है, मूर्त आकाशका अंश नहीं है, वैसे ही आत्मामें भिन्नाभिन्नत्व अंश नहीं है ॥३५९॥

'एष ब्रह्मलोकः' इस श्रुतिमें स्थित 'एष' शब्दका व्याख्यान करते हैं—**'प्रत्यग्०'** इत्यादिसे ।

आत्मा 'एतत्' शब्दके योग्य है, इसमें प्रत्यक्षत्व हेतु है । लोक और वेदमें एतत्शब्द प्रत्यक्ष अर्थका वाची प्रसिद्ध है । प्रत्यग्दृष्टि आत्मदृष्टिसे अव्यवहित (अभिन्न) है, मनःप्रभृति पदार्थ बुद्धि आदिसे व्यवहित (भिन्न) हैं । यतः आत्मा स्वदृष्टिसे अव्यवहित है, अतः सबको स्वात्मा प्रत्यक्ष है और 'यत्साक्षादपरोक्षाद् ब्रह्म' इत्यादि श्रुति भी उसके अपरोक्षत्वमें मान है, अतः 'एष' शब्दसे आत्माका निर्देश श्रुतिमें किया गया है । अव्यावृत्ताननुगत सामान्यविशेषरहित ब्रह्मका स्वरूप पूर्वमें

श्रुतिः—एष ब्रह्मलोकः सम्राडिति हैनमनुशशास याज्ञवल्क्य एषास्य परमा गतिरेषास्य परमा संपत् ।

अव्यावृत्तानुगतं निःसामान्यविशेषवत् ।
ब्रह्मेति मुख्यवृत्त्येह वस्तु श्रुत्याऽभिधीयते ॥ ३६१ ॥
तथा लोकयतेर्धातोर्दर्शनार्थत्वहेतुतः ।
प्रकृतत्वात्तथा दृष्टेर्लोकनं लोक उच्यते ॥ ३६२ ॥
कर्मधारय एवाऽतः समासोऽत्रोपपद्यते ।
न तु षष्ठीसमासोऽत्र विभागस्याऽप्रसिद्धितः ॥ ३६३ ॥

कह चुके हैं । यद्यपि ब्रह्मशब्द कमलासनादिका (ब्रह्मा आदिका) भी वाचक है, तथापि मुख्य वृत्तिसे उक्त ब्रह्मका ही वाचक है । सम्भव होनेपर मुख्य अर्थको ही श्रुत्यर्थ मानना चाहिए ॥ ३६० ॥

'एष ब्रह्मलोकः सम्राडिति' इत्यादि । श्रुत्यर्थ वार्तिकसारश्लोकार्थोंसे स्पष्ट है ।

'अव्यावृत्ता०' इत्यादि । इस श्लोकका व्याख्यान पूर्वमें कर चुके हैं ॥३६१॥

'लोकस्तु भुवने जने' इस कोषसे प्रसिद्ध भुवन आदि अर्थकी व्यावृत्तिके लिए प्रकरण आदिसे प्राप्त लोकशब्दके विवक्षित अर्थको कहते हैं—**'तथा'** इत्यादिसे ।

'लोकृ दर्शने' धातुसे 'लोकनं लोकः' इस व्युत्पत्तिसे निष्पन्न लोकशब्द दर्शनार्थक है । इसमें हेतु धातुका दर्शनार्थत्व और प्रकृतत्व है यानी पूर्वप्रकरणसे प्राप्त दृष्टि है ॥ ३६२ ॥

अवयवार्थ कहकर ब्रह्मलोकशब्दका समास कहते हैं—**'कर्मधारय०'** इत्यादिसे ।

ब्रह्मशब्दसे तत्पदार्थ और लोकशब्दसे त्वंपदार्थका प्रकृतमें अभिधान है, अतः 'ब्रह्म चाऽसौ लोकश्च' ऐसा कर्मधारयसमास है, षष्ठीसमास नहीं है ।

शङ्का—क्यों ?

समाधान—'निषादस्थपतिं याजयेत्' इस श्रुतिमें जैसे मीमांसकोंने षष्ठी आदि समासका निराकरण कर कर्मधारयसमासका ही सिद्धान्त किया है वैसे ही प्रकृतमें भी समझना चाहिए । वहांका विचार यह है कि निषादस्थपतिमें तीन समास हो सकते हैं—बहुव्रीहि, षष्ठी और कर्मधारय । 'निषादः स्थपतिर्यस्य ब्राह्मणादेः सः' ऐसा समास माननेपर निषादस्थपति ब्राह्मण आदि

ब्रह्मणो लोक इत्युक्ते भाति ब्रह्मचितोर्भिदा ।
प्रज्ञानघन इत्यादिवाक्यैस्तत्र विरुध्यते ॥ ३६४ ॥

भी हो सकते हैं। निषादके राज्यमें ब्राह्मण आदि भी रहते ही हैं। इसमें दोष यह दिखलाया कि उत्तरपदकी स्वसम्बन्धीमें लक्षणा माननी पड़ेगी, यह गौरव है। 'निषादस्य स्थपतिः' इस षष्ठी समासमें निषादका स्थपति द्विजाति हो सकता है, परन्तु उसमें भी पूर्वपदकी सम्बन्धीमें लक्षणा माननी पड़ेगी। निषाद-सम्बन्धी स्थपति यह विवक्षित होगा, इसलिए यह भी ठीक नहीं है, किन्तु कर्मधारयसमास है, निषादश्चाऽसौ स्थपतिश्च यानी निषाद हो और स्थपति भी हो, तो उसको यज्ञ कराना चाहिए, इसमें यह दोष है कि वह संकरजाति-विशेष है, उसको यज्ञका अधिकार नहीं है, यज्ञका अधिकार उन्हींको है, जिनको वेद पढ़नेमें और अग्न्याधान करनेमें अधिकार है। 'अष्टवर्षं ब्राह्मणमुपनयीत तमध्यापयीत' इत्यादि वेदाध्ययनविधिमें ब्राह्मणपद द्विजोपलक्षक है। शूद्रको वेदाध्ययनका अधिकार नहीं है, प्रत्युत प्रतिषेध है—'स्त्रीशूद्रौ नाधीयाताम्', 'पद्यु ह वा एतच्छ्मशानं यच्छूद्रस्तस्माच्छूद्रसमीपे नाध्येतव्यम्' इत्यादि। अग्न्याधानके विषयमें भी 'वसन्ते ब्राह्मणोऽग्नीनादधीत ग्रीष्मे राजन्यः शरदि वैश्यः' इत्यादि स्पष्ट है। अतः समासमें लाघव होनेपर पश्चाद् वेदाध्ययनाधिकारकी कल्पना करनी पड़ेगी, अतः इसमें भी दोष है फिर उक्त श्रुतिमें कौन समास मानना चाहिए ? ऐसा सन्देह कर सिद्धान्त किया कि कर्मधारयसमास उभयपदार्थप्रधान होनेसे लक्षणा आदिका अभाव होनेके कारण युक्त है। पश्चाद् वेदाध्ययनकी कल्पना फलमुख गौरवसे दूषित नहीं है, एवं यहाँ भी लाघवसे ब्रह्मलोकमें कर्मधारयसमास ही समुचित है। षष्ठीसमास माननेमें भेदार्थक षष्ठी कहनी होगी। पूर्वमें भेदका निराकरण हो चुका है, अतः विभागभेद अप्रसिद्ध है, इसलिए षष्ठीसमास ठीक नहीं है ॥ ३६३ ॥

'ब्रह्मणो' इत्यादि। षष्ठीसमासका स्वीकार करनेसे 'ब्रह्मणो लोकः' ऐसा विग्रह आवश्यक होगा, इसमें ब्रह्म और लोकका भेद मानना पड़ेगा, ऐसी स्थितिमें लोक चित् है, इस अर्थमें 'प्रज्ञानघन' इत्यादि वाक्य विरुद्ध होता है। भाव यह है कि श्रुतिमें लोकशब्द प्रथमान्त श्रुत है, उससे समभिव्याहृत ब्रह्मशब्द लुप्तविभक्तिक होनेसे समासान्तर्गत विभक्तिकी अपेक्षा करता है। एवंच सन्निहित लोकशब्दवश यहां भी प्रथमान्त ही उचित है। प्रथमान्तत्वकल्पनाका कल्पक लोकशब्द है और उक्त न्यायसे लाघव भी है। ब्रह्मशब्दमें षष्ठ्यन्तत्व कहना ठीक नहीं है, एक तो कल्पक

ब्रह्मैव लोक इत्युक्ते प्रज्ञानघनता स्फुटा ।
एतच्छब्दब्रह्मलोकशब्दावैकात्म्यभासकौ ॥ ३६५ ॥
न प्रत्यग्व्यतिरेकेण ब्रह्मत्वमुपपद्यते ।
ब्रह्मणो व्यतिरेकेण प्रत्यक्त्वं न चितस्तथा ॥ ३६६ ॥
अनयोरैक्यसंमोहात् परोक्षद्वयकल्पने ।
संसारोऽयमतो मोहसमुच्छित्तौ विमुक्तता ॥ ३६७ ॥

नहीं है, दूसरा गौरव है और तीसरा अश्रुत षष्ठीकल्पनामें प्रकरणविरोध भी है। 'ब्रह्मलोक' शब्दका श्रवण होनेपर समासविशेषाकांक्षासे प्रथमोपस्थित प्रथमाविभक्तिसे उसका शमन होनेपर षष्ठीकल्पनासे उसका शमन उचित नहीं है। षष्ठीकल्पनानिरासके समान 'ब्रह्मणे लोकः' इत्यादि चतुर्थीकल्पना भी निरस्तप्राय समझनी चाहिए॥३६४॥

'ब्रह्मैव लोक०' इत्यादि । समासान्तरत्यागपूर्वक कर्मधारयसमास माननेमें गुण भी है। कर्मधारयसमासमें आत्मामें प्रज्ञानघनत्व स्फुट होता है, समासका व्यवस्थापन करके 'एष ब्रह्मलोकः' इन पदोंका 'तत्त्वमसि' इत्यादिके समान अखण्डार्थ-कत्व लब्ध होता है अर्थात् दोनों शब्द मिलकर अखण्ड एक अर्थको कहते हैं। ब्रह्मलोकपदके सामानाधिकरण्यसे तद्वाच्य अर्थोंमें विशेषणविशेष्यभाव और उन्हींके लक्ष्य एवं वाच्य अर्थमें लक्ष्यलक्षणसम्बन्ध 'तत्त्वमसि' इस वाक्यके समान होता है।

शङ्का—ब्रह्मशब्दसे अनात्मा और लोकशब्दसे अब्रह्म लक्ष्य है, तो अखण्डार्थ कैसे ? अन्यथा पदान्तर व्यर्थ हो जायगा ?

समाधान—ब्रह्मकी आत्मयाथात्म्यमें लक्षणा है और लोकशब्दकी ब्रह्मत्वो-पलक्षित आत्मामें लक्षणा है, अतः अखण्डार्थत्वकी उपपत्ति होती है, व्यावर्त्य-भेदसे वैयर्थ्यशङ्का भी नहीं है, यह अन्यत्र स्पष्ट है ॥ ३६५ ॥

'न प्रत्यग्०' इत्यादि । प्रत्यक् वस्तुसे अतिरिक्त वस्तुमें ब्रह्मत्वकी उपपत्ति नहीं हो सकती और चिद्वृत्तिप्रत्यक्त्व ब्रह्मव्यतिरिक्त वस्तुमें नहीं उपपन्न हो सकता है। यद्यपि आत्मासे अतिरिक्त ब्रह्म नहीं है और ब्रह्मसे अतिरिक्त आत्मा नहीं है, किन्तु ब्रह्म ही आत्मा और आत्मा ही ब्रह्म है, तथापि संसारी उसको नहीं समझता, इसीसे वह सांसारिक विविध कष्टोंका उपभोग करता है, इसी युक्तिसे मुख्य ऐक्य सिद्ध होता है ॥ ३६६ ॥

'अनयो०' इत्यादि ।

अतोऽशेषमहानर्थहेतोर्मोहस्य हानये ।
एष इत्यादिवाक्योक्तिः सम्यग्दर्शनजन्मने ॥ ३६८ ॥
इतिशब्दो यथोक्तार्थपरामर्शं करोति हि ।
ऐतिह्यार्थस्तथा हेति सम्राडित्यभिमन्त्रणम् ॥ ३६९ ॥
इत्युक्तेन प्रकारेण मुमुक्षुं जनकं मुनिः ।
अन्वशात् सकलानर्थहेत्वविद्यापनुत्तये ॥ ३७० ॥

शङ्का—ब्रह्म और आत्माका यदि ऐक्य है, तो संसारकी प्रतीति कैसे होगी ? ब्रह्ममें संसार मानते नहीं और आत्माको उससे अतिरिक्त कहते नहीं, ऐसी अवस्थामें यह अनुभूयमान संसार होगा किसको ? यदि प्रतीतिके अनुसार संसार है, तो विमुक्ति नहीं होगी । ब्रह्मस्वरूपप्राप्ति ही तो मुक्ति है, उसके स्वरूपकी प्राप्ति होनेपर भी ब्रह्मगत संसार जीवको उपलब्ध ही होगा, तो मुक्ति कैसे होगी ?

समाधान—आत्मा और ब्रह्मके ऐक्यमें संमोह होनेसे पुरुष दो परोक्ष पदार्थ मानता है । अतः आत्मा भिन्न है और ब्रह्म भिन्न है, ऐसा माननेपर ही यह अनुभूयमान संसार होता है, इस मोहका समुच्छेद होनेपर विमुक्ति होती है अर्थात् वास्तविक संसार नहीं है, किन्तु अनादि मोहवश संसारकी कल्पनासे पुरुष दुःखी होता है । काल्पनिक रज्जुसर्प भी भयदायक लोकमें प्रसिद्ध ही है । उक्त ऐक्यसाक्षात्कारसे मोह और तज्जन्य संसारकी निवृत्तिसे मोक्ष अभिव्यक्त होता है, यही सार है ॥ ३६७ ॥

'अतोऽशेष०' इत्यादि । यतः मोह ही संसारका निदान है, अतः अशेष (संपूर्ण) महान् अनर्थोंके हेतु मोहकी हानिके लिए समीचीन-ज्ञानोत्पत्तिके लिए 'एष' इत्यादि श्रुतिवाक्योक्ति है । यद्यपि वार्तिकसारकी आदर्शप्रतिमें 'जन्मना' यह पाठ उपलब्ध होता है, तथापि वार्तिकमें विद्यमान 'जन्मने' यह पाठ ही ठीक है । अतः तृतीयान्त प्रामादिक पाठ प्रतीत होता है । श्लोक भी वार्तिकका ही है ॥ ३६८ ॥

'इति शब्दो०' इत्यादि । 'इति' शब्द उक्तार्थका परामर्श करता है । 'ह' शब्द ऐतिह्यार्थक है और 'सम्राट्' यह अभिमन्त्रण है यानी संबोधन है ॥३६९॥

'इत्युक्तेन' इत्यादि । मुनि श्रीयाज्ञवल्क्यजीने उक्त प्रकारसे सकल अनर्थोंसे

व्युत्थायाऽऽख्यायिकातो नः श्रुतिरेवेदमब्रवीत् ।
अस्माकमादरस्तेन स्यादद्वैते दृगात्मनि ॥ ३७१ ॥
पुनराख्यानरूपेण मुनिर्भूत्वा दृगात्मनः ।
परमानन्दरूपत्वं प्रतिपादयति श्रुतिः ॥ ३७२ ॥
विज्ञानपुरुषस्याऽस्य प्रोक्ता ब्रह्मात्मता पुरा ।
नैष्ठिकी गतिरेषाऽत्र गत्यन्तरसमाप्तितः ॥ ३७३ ॥
इतोऽन्यगतयः सर्वाः क्षयिसाधनसंश्रयात् ।
क्षयिण्योऽतो हि परमा गतिरेषैव नाऽपरा ॥ ३७४ ॥

जनित दुःखकी मूल अविद्याकी निवृत्तिके लिए मुमुक्षु जनकके प्रति अनुशासन किया ॥ ३७० ॥

'व्युत्थाया०' इत्यादि ।

शङ्का—आख्यायिकामें जनक और याज्ञवल्क्य इन दोनोंका ही वाक्य होना चाहिए । प्रष्टा जनक हैं और उत्तरदाता श्रीयाज्ञवल्क्य हैं । 'हैनमनुशशास याज्ञवल्क्य' यह न राजाका ही वाक्य हो सकता है और न याज्ञवल्क्यका ही हो सकता है, अतः आख्यायिकामें यह वाक्य असङ्गत-सा प्रतीत होता है ।

समाधान—आख्यायिकासे उपरत होकर श्रुतिने ही स्वयं यह हम लोगोंसे कहा है, जिससे दृगात्मा स्वयंज्योतिःस्वरूप अद्वैतमें हम लोगोंका आदर हो ॥ ३७१ ॥

'पुनरा०' इत्यादि । श्रुति मुनि श्रीयाज्ञवल्क्य होकर अर्थात् याज्ञवल्क्यके अन्तःकरणमें आविर्भूत होकर फिर आख्यायिकारूपसे दृष्टिस्वरूप आत्मामें परमानन्दरूपताका प्रतिपादन करती है । आख्यायिका द्वारा उपदेश देनेका प्रयोजन पूर्वमें कह चुके हैं ॥ ३७२ ॥

'विज्ञान०' इत्यादि । इस विज्ञानात्मा संसारी पुरुषमें जो ब्रह्मात्मता यानी ब्रह्मस्वरूपता पूर्वमें कही गई है, वह गत्यन्तरकी समाप्ति होनेसे परमा यानी सर्वोत्कृष्टा गति है । बुद्ध्युपाधिक जीवकी जो अतिच्छन्दादिवाक्यसे गति कही गई है, वह यही नैष्ठिकी गति है, इसीमें सब गतियोंकी समाप्ति है ॥ ३७३ ॥

'इतोऽन्य०' इत्यादि । ज्ञानप्राप्य इस गतिसे अतिरिक्त जो गतियां हैं, वे सब विनाशी साधनके अधीन होनेसे अपरमा हैं । कर्मानुष्ठान आदिसे प्राप्य स्वर्ग आदि गतियोंके साधन कर्मादिके विनाशी होनेसे वे गतियां भी

अविद्यामात्रहेतुत्वात् कामकर्मादिसाधनाः ।
गतयोऽपरमाः सर्वा मायास्वप्नगती यथा ॥ ३७५ ॥
सम्पच्च परमैषैव मोहोत्थाश्चाऽन्यसम्पदः ।
उत्कर्षातिशयः सम्पद्विभूतिश्चेति भण्यते ॥ ३७६ ॥

श्रुतिः—एषोऽस्य परमो लोक एषोऽस्य परम आनन्दः ।
एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति ॥ ३२ ॥

वा०—एषोऽस्य परमो लोको लोकास्त्वन्ये क्षयिष्णवः ।
क्षयिष्णुसाधनोपेता न त्वेषोऽसाधनाश्रयात् ॥ ३७७ ॥

क्षयी हैं, यानी 'तद्यथेह कर्मचितो लोकः क्षीयत एवमेवामुत्र पुण्यचितो लोकः क्षीयते', 'क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोके विशन्ति' इत्यादि वचनोंसे कियत्कालिक होनेसे वे अपरमा गतियाँ हैं। ज्ञान अविनाशी है, अतः उससे प्राप्त होनेवाली गति परमा है, वह यही है ॥ ३७४ ॥

'अविद्या०' इत्यादि। काम, कर्म आदि साधन कर्मकाण्डोक्त विधि अविद्याहेतुक है; अतः वे सब गतियां अपरमा हैं। माया और स्वप्नगति जैसे अपारमार्थिक है वैसे ही प्रकृतमें भी समझना चाहिए।

'सम्पच्च' इत्यादि। 'किंज्योतिरयं पुरुषः' इस उपक्रमसे पूर्ववाक्य द्वारा जीवका जो कैवल्य कहा गया है, वही परमा गति है, कर्मफल नहीं है, यह भी कहा है। संप्रति वही उसकी परमा सम्पद् है।

शङ्का—परमगतिसे अतिरिक्त परमा संपत् क्या है ?

समाधान—उत्कर्ष, इतरापेक्षया यही परम उत्कर्ष है, इससे अतिरिक्त दूसरा उत्कर्ष नहीं है, सम्पत्का अर्थ उत्कर्ष है, उत्कृष्ट गति परमा गति है, अतः पुनरुक्तकी आशङ्का नहीं हो सकती। उत्कर्षको ही विभूति भी कहते हैं, अन्य सम्पत्तियाँ मोहोत्थ यानी अविद्योपन्न हैं ॥ ३७६ ॥

'एषोऽस्य परमो लोकः' इत्यादि श्रुति। श्रुत्यर्थ श्लोकव्याख्यानसे स्पष्ट हो जायगा ॥ ३२ ॥

'एषोऽस्य परमो लोकः' इसका अर्थ कहते हैं—'एषोऽस्य' इत्यादिसे। इसका यही परम लोक है, अन्य लोक विनाशी है।

शङ्का—क्यों ।

ब्रह्मैव सन्स्वतो यस्माद्ब्रह्माप्येत्यवबोधतः ।
तदविद्याविरोधेन मुक्तिर्नाऽतोऽन्यसाधनात् ॥ ३७८ ॥
लोकशब्दस्य मुख्यार्थ आत्मैवेह यतस्ततः ।
कर्मादिहेतुसाध्येषु गौणी लोकार्थता भवेत् ॥ ३७९ ॥
न कर्मणा कनीयस्ता वृद्धिर्वा नाऽन्तरात्मनः ।
इति बाहुमिवोद्धृत्य वेदान्तैर्घोषणा कृता ॥ ३८० ॥

समाधान—उसके साधन कर्मके क्षयी होनेके कारण उससे साध्य लोक भी क्षयी है । मोक्ष असाधन है, अतः क्षयी नहीं है । मोक्ष तो परमानन्दोदासीन, स्वयंप्रकाश नित्यशुद्धबुद्धमुक्तब्रह्मस्वभाव है; अतः इसमें क्षयित्वकी सम्भावना ही नहीं है ॥ ३७७ ॥

'ब्रह्मैव' इत्यादि ।

शङ्का—मोक्ष साधनानपेक्ष क्यों ? इसमें भी ज्ञान और कर्मकी अपेक्षा है ।

समाधान—वह तो स्वयं ब्रह्म है ही, अज्ञानावृत होनेसे अपनेको उससे भिन्न समझता था, ज्ञानप्रतिबन्धकीभूत अविद्याध्वंसके लिए ज्ञानकी अपेक्षा होनेपर भी कर्मकी अपेक्षा कहाँ ? ज्ञानकी भी अपेक्षा प्रतिबन्धकध्वंसके लिए ही अपेक्षित है, मोक्षके लिए वह भी अपेक्षित नहीं है, अतएव श्रुतिमें स्पष्ट है कि 'ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति' ब्रह्म ही होता हुआ ब्रह्म प्राप्त करता है ॥ ३७८ ॥

'लोकशब्दस्य' इत्यादि ।

शङ्का—मोक्ष भी तो ब्रह्मलोकशब्दवाच्य है, अतः लोकत्वात् स्वर्गलोकके समान कर्मसाध्य क्यों नहीं है ?

समाधान—लोकशब्दका मुख्य अर्थ ब्रह्म ही है, कर्मका हेतु मर्त्यलोक आदि और उससे साध्य स्वर्ग आदिमें लोकशब्द गौण है ?

शङ्का—इनमें भी मुख्य क्यों नहीं ?

समाधान—एकार्थत्वका सम्भव होनेपर अनेकार्थत्वकी कल्पना अन्याय्य है, ऐसा विद्वानोंका सिद्धान्त है, अतएव 'अग्निर्माणवकः' इत्यादिमें अग्निशब्द गौण माना जाता है । केवल प्रयोगदर्शनसे ही मुख्यार्थक नहीं मान सकते, अन्यथा लक्षणाका उच्छेद ही हो जायगा, इसलिए उक्त व्यवस्था ही समुचित है ॥ ३७९ ॥

'न कर्मणा' इत्यादि ।

आनन्दः परमो ह्येषः सुखोत्कर्षसमाप्तितः ।
सर्वानन्दातिशायित्वात् तथा चैतत्प्रवक्ष्यते ॥ ३८१ ॥
विषयस्पर्शजानन्दाः साधनानुविधानतः ।
आद्यन्तवत्त्वस्वाभाव्याद् दुःखयोनय एव ते ॥ ३८२ ॥

शङ्का—लोक कर्मसाध्य है, यह लोकमें प्रसिद्ध है। यदि आत्मा भी लोक है, तो वह भी कर्मसाध्य होगा।

समाधान—श्रुति हाथ उठाकर उच्चस्वरसे यह घोषणा करती है कि आत्मा कर्मसे यानी निषिद्धकर्मानुष्ठानसे छोटा नहीं होता और विहितकर्मानुष्ठानसे बड़ा भी नहीं होता, इससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि वह कर्मका विषय नहीं है ॥ ३८० ॥

'एषोऽस्य परमानन्दः' इसका अर्थ कहते हैं—'आनन्दः' इत्यादिसे।

परमानन्दत्वमें हेतु है—सुखोत्कर्षकी समाप्ति। संसारसुखसे लेकर हिरण्यगर्भके सुख तक जितने सुख हैं, वे सब उत्कर्ष-अपकर्षरूप तारतम्यसे ग्रस्त हैं। किसी सुखसे कोई सुख छोटा है और कोई बड़ा है; परन्तु इस सुखसे कोई सुख बड़ा नहीं है, सुखतारतम्यकी काष्ठा इसी सुखमें समाप्त हो जाती है, अतः यही परमानन्द है। सर्वानन्दातिशायित्व परमानन्दमें हेतु है—यतः यह सर्वानन्दातिशायी है, अतः परमानन्द है, इसको 'स यो मनुष्याणाम्' इत्यादि ग्रन्थसे आगे कहेंगे ॥ ३८१ ॥

'विषय०' इत्यादि।

शङ्का—हिरण्यगर्भका विषयानन्द भी परम है, अतः उसकी अपेक्षा इसमें परमत्व कैसे होगा ?

समाधान—विषयानन्द विषय और उसके उपभोगके साधनके अधीन होनेसे परम नहीं हो सकता। पहले तो विषय ही उत्कृष्ट और अपकृष्ट होते हैं, फिर उनके उपभोगसाधन इन्द्रियाँ भी देश, काल, अवस्था आदिवश उत्कृष्ट और अपकृष्ट होती हैं। जैसे युवावस्थामें जो इक्षुदण्ड आनन्ददायक होता है, वही वृद्धावस्थामें दन्तदौर्बल्यसे आनन्ददायक नहीं होता एवं शीतल जल ग्रीष्ममें आनन्ददायक होता है, पर शिशिरमें नहीं होता। और विषयानन्दके निकर्षका सबसे बड़ा कारण यह है कि विषय और उसके उपभोगके साधन आद्यन्तवान् हैं यानी उत्पादविनाशशाली हैं, अतः उनकी अनुत्पत्ति और नाश दशामें उनके आनन्दका सम्भव ही नहीं है।

कूटस्थात्मस्वभावत्वात् सर्वसाधननिस्पृहः ।
सर्वानन्दातिवर्तित्वादानन्दः परमो मतः ॥ ३८३ ॥
आनन्दः परमोऽस्यैष इत्युक्तार्थप्रसिद्धये ।
एतस्यैवेति वचसामथाऽर्थो हेतुरुच्यते ॥ ३८४ ॥
एतस्यैव यथोक्तस्य सर्वानन्दातिवर्तिनः ।
उपजीवन्ति भूतानि ब्रह्मानन्दस्य विप्लुषः ॥ ३८५ ॥
एष एवंविधो यस्मादानन्दः परमः स्मृतः ।
आनन्दानतिशेतेऽन्यान् सर्वानस्यैव कृत्स्नतः ॥ ३८६ ॥

उपभोगवेलामें भी 'ये विनश्वर हैं, अतः उनके अभावमें यह आनद कैसे होगा ?' यह परिताप तात्कालिक सुखको भी नीरस कर देता है और अर्जन और रक्षण आदिकी चिन्तासे मिश्रित होनेके कारण उसमें परमत्वकी सम्भावना कैसे हो सकती है ? ॥ ३८२ ॥

'कूटस्थात्म०' इत्यादि ।

शङ्का—तो आत्मसुख भी सुखविशेष होनेसे परमानन्दस्वरूप नहीं हो सकता, 'आत्मानन्दो न परमः, सुखत्वात्, विषयसुखवत्' इस अनुमानसे भी उसमें परमत्वका आक्षेप हो सकता है ।

समाधान—नहीं, आत्मा कूटस्थ नित्य है । उसका स्वरूपसुख भी नित्य है, अतएव वह सर्वसाधननिस्पृह है, उसके लिए किसी साधनकी अपेक्षा नहीं है । वह स्वभावतः सर्वानन्दातिशायी है, अतः उसमें परमानन्दता है ॥ ३८३ ॥

'आनन्दः' इत्यादि । आत्माका यही परमानन्द है, इस उक्तार्थकी सिद्धिके लिए 'एतस्यैव' इत्यादि वक्ष्यमाण वचनके अर्थको ही हेतु कहते हैं । हेतुके बिना प्रतिज्ञात अर्थकी सिद्धि नहीं होती, अतः उक्त अर्थमें श्रौत वाक्यार्थ ही हेतु है ॥ ३८४ ॥

'एतस्यैव' इत्यादि । उसी आनन्दके एक लेशका अन्य भूत अनुभव करते हैं । उक्त आनन्द सर्वानन्दातिशायी है, अतः भौतिक आनन्दोंका मूल है । उसकी अपेक्षा भूतोंका आनन्द बिन्दुके समान है; इससे आत्मानन्दमें आनन्द-सागरत्व ध्वनित होता है ॥ ३८५ ॥

'एष एवम्' इत्यादि । यतः इस प्रकारका यह आनन्द परम है, अतः पूर्ण आत्माका आनन्द सब आनन्दोंकी अपेक्षा सर्वोत्कृष्ट है ॥ ३८६ ॥

कृत्स्नोऽपि चैष आनन्दस्तदविद्यैकहेतुतः ।
बुद्ध्याद्युपाध्यवच्छेदान्मात्रेति व्यपदिश्यते ॥ ३८७ ॥

श्रुतिः—स यो मनुष्याणां राद्धः समृद्धो भवत्यन्येषामधिपतिः सर्वैर्मानुष्यकैर्भोगैः संपन्नतमः स मनुष्याणां परम आनन्दः ।

तन्मात्रावर्त्मनैवैनं बुबोधयिषते मुनिः ।
लवणाब्धिर्यथा नद्यां बुध्यते लवणोदकात् ॥ ३८८ ॥

यावद्यावत्समीपस्था लवणाब्धेर्महानदी ।
भासते लवणाधिक्यं तावत्तावन्नदीजले ॥ ३८९ ॥

'कृत्स्नोऽपि' इत्यादि । आत्मानन्द यदि पूर्ण है, तो उसको मात्रारूप क्यों कहा ?

समाधान—यद्यपि आनन्द पूर्ण है, तथापि अविद्योत्पन्न बुद्धि आदि उपाधिके सम्बन्धसे वह मात्राशब्दसे व्यवहृत होता है ॥ ३८७ ॥

'स यो मनुष्याणाम्' इत्यादि श्रुति । इस श्रुतिका अर्थ वार्तिकसारके श्लोकोंके व्याख्यानसे ही गतार्थ है ।

'स यो मनुष्याणाम्' इत्यादि वाक्यका तात्पर्य कहते हैं—**'तन्मात्रा'** इत्यादिसे । जैसे कलकत्ता आदिमें स्थित गङ्गा आदि नदियोंमें उपलब्ध लवणके अंश द्वारा समुद्रजलका बोधन कराया जाता है—समुद्रजलके संपर्कसे इस जलमें भी खारापन आ गया है; अतः इसमें समुद्र जल अवश्य है, वैसे ही ब्रह्मा नन्दमात्रा द्वारा ब्रह्मानन्दका बोधन श्रुति कराती है । मुनिजीको ब्रह्मानन्दमात्रा द्वारा आत्माका जनकके प्रति बोध कराना अभीष्ट था । जैसे यदि नदीमें लवणाब्धिका बोध कराना अभीष्ट हो, तो नदीमें समुद्रजल द्वारा समुद्रका बोध कराया जाताता है, वैसे ही जीवात्मामें परमानन्दमात्रा द्वारा परमानन्दका बोध होता है । यद्यपि वार्तिकमें 'बुबोधयिषुरादरात्' ऐसा पाठ है, तथापि 'नद्याम्' इस उपमानको स्फुट करनेके लिए वार्तिकसारका उक्त पाठ अनुचित नहीं है, अर्थमें अधिक भेद नहीं, केवल वाक्ययोजनामात्रका भेद है ॥ ३८८ ॥

'यावद्' इत्यादि । जैसे जैसे महानदी लवणसमुद्रके समीप जाती है, वैसे वैसे नदीके जलमें नीमकका आधिक्य हो जाता है ॥ ३८९ ॥

एवं च दूरग्रामस्थः स्वादयद् लवणं जले ।
नदीतीरे क्रमाद्गच्छेल्लवणाब्धिं स पश्यति ॥ ३९० ॥
तथैव मानुषानन्दमारभ्योत्तरवृद्धितः ।
बुध्वा हैरण्यगर्भान्तं परानन्दं प्रबुध्यते ॥ ३९१ ॥
मनुष्यमध्ये यः कोऽपि संसिद्धोऽवयवैर्दृढः ।
कृत्स्नसाधनसंपत्त्या समृद्धोऽपि भवेदसौ ॥ ३९२ ॥
बाह्यैराध्यात्मिकैरेवं साधनैरन्वितः पुमान् ।
सर्वेषामधिपो भूत्वा क्वाऽप्यन्यैर्न विहन्यते ॥ ३९३ ॥
मानुष्यकेण भोगेन संपन्नानां नृणामिह ।
संपन्नोऽतिशयेनाऽतः संपन्नतम उच्यते ॥ ३९४ ॥

'एवं च' इत्यादि । समुद्रसे अत्यन्त दूरवर्ती गाँवमें रहनेवाले पुरुषको समुद्र-दर्शनेच्छासे नदीजलका स्वाद लेते हुए जैसे जैसे लवणाधिक्य अनुभूत होता है, वैसे वैसे क्रमशः आगे बढ़ते-बढ़ते समुद्रका दर्शन उसको हो जाता है ॥ ३९० ॥

'तथैव' इत्यादि । उसी प्रकार ब्रह्मवित् मनुष्यानन्दसे लेकर उत्तरोत्तर वृद्धिसे हिरण्यगर्भका आनन्द इतर संसारी पुरुषोंकी अपेक्षा उत्कृष्ट समझकर ब्रह्मानन्दको परमानन्द समझता है ॥ ३९१ ॥

विकलाङ्ग दरिद्र मनुष्योंको आनन्द ही क्या है, इसलिए मनुष्यानन्द कैसा विवक्षित है ? उसको स्फुट करते हैं—'मनुष्यमध्ये' इत्यादिसे ।

मनुष्योंमें जो कोई सुदृढ़ावयवसंयुक्त, समृद्ध भोगसाधनसम्पन्न संपूर्णावयवोंसे भी संपन्न तथा अविकलाङ्ग होता है, उसको लोकमें सुखी मानते हैं ॥ ३९२ ॥

'बाह्यैरा०' इत्यादि । श्रुतिमें राद्ध और समृद्ध दोनों शब्द आये हैं । भोग-क्षम राद्ध है और कृत्स्नसाधनसंपन्न समृद्ध कहलाता है, अतः पुनरुक्त शङ्का नहीं है, बाह्य और आध्यात्मिक साधनोंसे संयुक्त जो सबका अधिपति नियन्ता होकर दूसरोंसे बाधित न हो अर्थात् स्वतन्त्र हो निर्व्याधि युवा अतिसुन्दर स्वतन्त्र सकल-साधनसम्पन्न सम्राट्का जो सुख है, वह मनुष्योंका परमानन्द है ॥ ३९३ ॥

'मानुष्यके०' इत्यादि । मानुष्यक भोगसे सम्पन्न मनुष्योंमें जो सबसे अधिक सम्पन्न है, वह सम्पन्नतम कहा जाता है ॥ ३९४ ॥

सर्वैर्मानुष्यकैर्भोगैः संपन्नो न तु दैविकैः ।
आनन्द एष परमो मनुष्याणामिहोच्यते ॥ ३९५ ॥

श्रुतिः—अथ ये शतं मनुष्याणामानन्दाः स एकः पितॄणां जितलोकानामानन्दोऽथ ये शतं पितॄणां जितलोकानामानन्दाः स एको गन्धर्वलोक आनन्दोऽथ ये शतं गन्धर्वलोक आनन्दाः स एकः कर्मदेवानामानन्दो ये कर्मणा देवत्वमभिसपद्यन्ते । अथ ये शतं कर्मदेवानामानन्दाः स एक आजानदेवानामानन्दो यश्च श्रोत्रियोऽवृजिनोऽकामहतोऽथ ये शतमाजानदेवानामानन्दाः स एकः प्रजापतिलोक आनन्दो यश्च श्रोत्रियोऽवृजिनोऽकामहतोऽथ ये शतं प्रजापतिलोक आनन्दाः स एको ब्रह्मलोक आनन्दो यश्च श्रोत्रियोऽवृजिनोऽकामहतः ।

शतकृत्वो मनुष्याणामानन्दो गणितस्तु यः ।
पितॄणामेक आनन्दः सोऽयं तुल्यप्रमाणतः ॥ ३९६ ॥
तारतम्यादुपायानां शुद्धिस्तरतमा धियः ।
शुद्धेस्तरतमत्वेन सुखं तरतमं भवेत् ॥ ३९७ ॥

'सर्वै०' इत्यादि । जो सब मानुष भोगोंसे सम्पन्न तथा दैविक भोगसे रहित हो, उस पुरुषरत्नका जो आनन्द है, वही यहां मनुष्यका परमानन्द विवक्षित है, जैसे मनुष्यभोगभोगी युधिष्ठिर आदिका आनन्द परमानन्द था ॥ ३९५ ॥

'अथ ये' इत्यादि श्रुति । वार्तिक श्लोकोंके व्याख्यानसे इस श्रुतिका अर्थ स्पष्ट हो जायगा ।

'शतकृत्वो' इत्यादि । मनुष्यानन्दसे शतगुणित परिमाण पितरोंका आनन्द है, मनुष्यानन्दसे सौ गुना अधिक पितृगणका आनन्द श्रुतिरूप प्रमाणसे माना जाता है ॥ ३९६ ॥

'तारतम्या०' इत्यादि । उपायोंके तारतम्यसे शुद्धिमें तारतम्य होता है । और शुद्धिके तारतम्यसे सुखमें तारतम्य होता है । सुख आत्मस्वरूप है; आत्मा एकरस है, उसमें जब अतिशयादिकी सम्भावना ही नहीं है, तब मनुष्य, देव आदिके सुखमें तारतम्य कैसे ? यह आक्षेप भी निरस्त हो गया ? उक्त सुख यद्यपि तरतमोपेत नहीं है, तथापि तदभिव्यक्ति अवश्य तरपमोपेत है । शुद्ध चित्तमें पूर्ण सुखाभिव्यक्ति होती है । चित्तशुद्धि भी उपायसे होती है । उपायशक्ति विद्याधीन है, सबका उपायानुष्ठान सम नहीं है, अतः सुखतारतम्य आवश्यक है ॥ ३९७ ॥

यावद्यावन्मलोऽप्येति बुद्धेर्धर्मादिसंचयात् ।
तावत्तावद्धियः स्वाच्छ्यात्तावत्तावत्सुखोन्नतिः ॥ ३९८ ॥
यावद्यावद्घनीभूतो मलः पापादिसङ्गतेः ।
तावत्तावद्धियोऽस्वाच्छ्याद् दुःखोद्भूतिस्तथा तथा ३९९
पितृलोको जितो यैः स्यात्पितृयज्ञादिकर्मभिः ।
जितलोकास्त उच्यन्ते पितरो दिव्यभोगिनः ॥ ४०० ॥
य एष दक्षिणः पन्थाः पितृलोकः स उच्यते ।
मनुष्यानन्दतः सोऽयं गणितः स्याच्छताधिकः ॥ ४०१ ॥

'यावद्यावन्' इत्यादि। धर्माद्यनुष्ठानसे ज्यों-ज्यों मल नष्ट होता जाता है, त्यों-त्यों बुद्धिमें स्वच्छता होती जाती है। और ज्यों-ज्यों बुद्धि स्वच्छ होती जाती है, त्यों-त्यों सुखकी उन्नति होती जाती है, अर्थात् सुख यद्यपि एकरस है, तथापि तदभिव्यञ्जक बुद्धि अनेकविध है, अतः सांसारिक सुख भी बहुविध होता है, प्रदीप एक ही है, पर मलिन और शुद्ध सीसेके द्वारा उसकी दीप्ति उत्कृष्ट और अपकृष्ट होती है। मलने, पोंछने आदि उपायसे सीसेके निर्मल होनेपर समान (तारतम्यरहित) दीप्ति होती है, एवं बुद्धिशुद्धिके तारतम्यसे विविध यानी उत्कृष्ट और अपकृष्ट सुख होता है। शम, दम आदि साधनोंके अनुष्ठानसे निःशेष मलनिवृत्ति होनेपर बुद्धिप्रकाश एकविध ही होता है, अतः उससे अभिव्यक्त होनेवाला मोक्ष सुख भी एक ही है॥ ३९८ ॥

'यावद्' इत्यादि। निषिद्ध कर्मके अनुष्ठानसे जैसे-जैसे मल घनीभूत होता है, वैसे-वैसे बुद्धिकी अस्वच्छतासे (स्वच्छताके अभावसे) दुःखोद्भूति (दुःखाभिवृद्धि) होती है॥ ३९९ ॥

'पितृलोको' इत्यादि। मनुष्यके आनन्दसे लेकर हिरण्यगर्भके आनन्द तक आनन्दके तारतम्यमें हेतु कहते हुए 'स एकः पितृणाम्' यहाँ तकका सन्दर्भ व्याख्यात हुआ। अब 'जितलोकानाम्' इस वाक्यका अर्थ कहा जाता है पिण्डपितृयज्ञादिके अनुष्ठान द्वारा जिन लोगोंने पितृलोकको जीत लिया है, वे ही पुरुष जितलोक कहे जाते हैं। पितर दिव्यभोगी होते हैं, अतः वे भी पितर होकर दिव्यसुखभोगी हो जाते हैं॥ ४०० ॥

'स एव' इत्यादि। जो दक्षिण पन्था है, वही पितृलोक कहा जाता है। वह मनुष्यानन्दकी अपेक्षा सौगुना अधिक आनन्दवान् है॥ ४०१ ॥

उत्तरेष्वपि वाक्येषु यथोक्तमुपपादयेत् ।
शताधिकोऽयमानन्दः पूर्वस्मादुत्तरक्रमात् ॥ ४०२ ॥
पितरोऽग्निष्वात्तमुख्या गन्धर्वा देवगायकाः ।
ज्योतिष्टोमादिना स्वर्गप्राप्ताः स्युः कर्मदेवताः ॥ ४०३ ॥
सृष्टेराजननादादौ देवत्वं ये प्रपेदिरे ।
आजानदेवास्तेऽत्र स्युः पूर्वेभ्यः सूक्ष्ममूर्तयः ॥ ४०४ ॥
नानाद्वन्द्वोपघातार्थहेतूनां बहुलत्वतः ।
पूर्वानन्देभ्य एतेषामानन्दोऽभ्यधिको मतः ॥ ४०५ ॥

'अथ ये शतम्' इत्यादि वाक्योंमें उक्त न्यायका अतिदेश करते हैं—'उत्तरेष्वपि' इत्यादिसे ।

उत्तर वाक्योंमें भी यथोक्तका (कथित न्यायका) उपपादन करना चाहिए अर्थात् पूर्वसे उत्तर आनन्द क्रमशः सौ गुना अधिक है ॥ ४०२ ॥

चार पर्यायोंसे प्रतिपादित पितर, गन्धर्व, कर्मदेव और आजान देवका विभाग कहते हैं—'पितर' इत्यादिसे ।

अग्निष्वात्त आदि पितर कहलाते हैं। देवताओंके गायक गन्धव हैं। ज्योतिष्टोम आदि यज्ञ द्वारा जो स्वर्गको प्राप्त होते हैं; वे कर्मदेव हैं ॥ ४०३ ॥

'सृष्टे०' इत्यादि । सृष्टिके आदिमें जो देवता उत्पन्न हुए वे आजान देव कहे जाते हैं। वे पूर्व-पूर्वसे उत्तर-उत्तर सूक्ष्म शरीरवाले है, अतः पूर्व पूर्वकी अपेक्षा उत्तरोत्तरका आनन्द सौगुना अधिक है। शरीरसूक्ष्मत्व ही आनन्दाधिक्यमें हेतु है ॥ ४०४ ॥

'नाना' इत्यादि ।

शङ्का—कर्मदेवोंमें भी देहमें व्यापित्व और सूक्ष्मत्व तुल्य ही है, फिर कर्मदेवताओंकी अपेक्षया आजानदेवोंमें आनन्दाधिक्य क्यों है ?

समाधान—नानाविध द्वन्द्वशब्दित जो दुःखरूप उपघातके हेतु हैं, उनके बाहुल्यसे आजानदेवोंकी अपेक्षा उनमें आनन्द कम है ।

शङ्का—आजान देव भी तो आखिर संसारी ही हैं, अतः उनमें भी दुःखोपघातार्थ हेतुओंका बाहुल्य है, फिर उनमें आनन्दका आधिक्य क्यों ?

समाधान—श्रुतिप्रामाण्यसे कर्मदेवापेक्षया उनके दुःखोपघातमें अल्पत्व है, अतः आनन्दाधिक्य युक्त ही है ॥ ४०५ ॥

सूक्ष्मभूतारब्धतया सूक्ष्मत्वं न त्विहाऽल्पता ।
शीतोष्णादि न देहेऽस्ति सूक्ष्मे स्थूलशरीरवत् ॥ ४०६ ॥
श्रोत्रियो वेदशास्त्रज्ञो निष्पापो ब्रह्मविन्त्वतः ।
भोग्यदोषान्विविच्याऽऽस्ते नाऽतः कामेन हन्यते ॥ ४०७ ॥
आजानदेवानन्देन समं स्याच्छ्रोत्रिये सुखम् ।
प्रजापतिर्विराट् ब्रह्मा सूत्रात्मेत्यनयोर्भिदा ॥ ४०८ ॥

'सूक्ष्म०' इत्यादि । आजानदेवोंके शरीर सूक्ष्मभूतोंसे आरब्ध होनेके कारण सूक्ष्म कहे गये हैं, यहाँ सूक्ष्मसे अल्पत्व विवक्षित नहीं है ।

शङ्का—सूक्ष्म होनेपर भी दुःखाभाव कैसे ? आखिर शरीर तो है ही ।

समाधान—शीत, उष्ण आदि दुःख स्थूल शरीरके समान सूक्ष्म शरीरमें नहीं होते, इसमें प्रमाण यह श्रुति है ॥ ४०६ ॥

श्रोत्रियपदकी व्याख्या करते हैं—**'श्रोत्रिय०'** इत्यादिसे ।

'श्रोत्रियच्छन्दोऽधीते' इसके अनुसार वेदशास्त्रका [वेद ही शास्त्र वेदशास्त्र, 'शास्ति हितं येन तच्छास्त्रम्' इस व्युत्पत्तिसे सर्वापेक्षा हिततम मोक्षका शासन वेद ही करता है, इसलिए वेद शास्त्र है] अध्येता तथा ज्ञाता । शास्त्र शब्दसे ज्ञात अर्थकी सूचना होती है; क्योंकि अर्थज्ञानके बिना शासन नहीं हो सकता; केवल अध्ययनमात्रसे मोक्षोपयोगी ज्ञान भी नहीं हो सकता, इसलिए प्रकृतशास्त्रका उपादान किया है । तात्पर्य यह निकला कि जिसने वेदका अध्ययन और उसके अर्थको जान लिया है, ऐसा विद्वान् प्रकृतमें श्रोत्रिय विवक्षित है । 'अवृजिन' शब्दका अर्थ कहते हैं—वृजिनका अर्थ पाप है, न वृजिनं यस्य सः अवृजिनः' यानी निष्पाप अर्थ हुआ, इसमें हेतु है—ब्रह्मविन्त्वतः । अनादि परंपरार्जित सब पापोंकी निवृत्ति ब्रह्मज्ञानके बिना नहीं हो सकती । 'क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे' इत्यादि श्रुतिसे सकल पापका निवर्तक आत्मज्ञान ही है । भोगादि तत्-तत् पापके निवर्तक माने जाते हैं; सामान्य पापके निवर्तक नहीं माने जाते । अकामहत वह है जो कि भोग्यदोषोंका विवेककर ब्रह्मका चिन्तन करता है । आत्मानन्दसे अर्वाचीन आनन्दोंमें विराग हो जाता है, अतएव कामसे प्रतिहत नहीं होता, इसीसे अकामहत कहा जाता है ॥ ४०७ ॥

'आजानदे०' इत्यादि । 'एकः प्रजापतिलोक आनन्दः' और 'स एको ब्रह्मलोक आनन्दः' इन दोनोंका एक ही अर्थ है, ऐसी शङ्का कर स्थूल एवं सूक्ष्म

सर्वत्र योजनायैष श्रोत्रियः पुनरुच्यते ।
सार्वभौमादिसूत्रान्तानन्दा ब्रह्मविदि स्थिताः ॥ ४०९ ॥
सुखं तृप्तिरकामत्वमित्येकार्था इमा गिरः ।
सर्वकामविहीनेऽतः सुखं सर्वं व्यवस्थितम् ॥ ४१० ॥
पूर्वं कामहतत्वेन सार्वभौमादयोऽखिलाः ।
दुःखिनोऽथ पदं प्राप्य निष्कामाः सुखिनोऽभवन् ॥४११॥

शरीरोपाधिके भेदसे दोनोंमें भेद कहते हैं । आजान देवोंके आनन्दके समान ही आनन्द श्रोत्रियको होता है । विराट् प्रजापति है, उसकी अपेक्षा सूक्ष्म शरीर-रूप उपाधिवाला सूत्रात्मा ब्रह्मा है । इस प्रकार दोनोंमें भेद होनेसे पुनरुक्तत्वकी शङ्का नहीं हो सकती ॥ ४०८ ॥

'सर्वत्र' इत्यादि ।

शङ्का—'यश्च श्रोत्रियः' यह पुनरुक्ति क्यों है ?

समाधान—सर्वत्र योजना करनेके लिए श्रोत्रियकी पुनरुक्ति है । सार्वभौमसे लेकर सूत्रपर्यन्त जितने आनन्द हैं, वे सब ब्रह्मवेत्तामें रहते हैं । तीन पर्यायोंकी उक्ति इतर पर्यायकी उपलक्षण है ॥ ४०९ ॥

'सुखम्' इत्यादि ।

शङ्का—श्रोत्रिय द्वारा अनुभूत ब्रह्मानन्दमें विषयसुखका भी अन्तर्भाव क्यों होता है?

समाधान—सुख, तृप्ति और अकामत्व—ये तीनों शब्द एकार्थक हैं यानी घट, कलश और कुम्भ के समान एक दूसरेके पर्याय हैं ।

शङ्का—उससे प्रकृतमें क्या आया ?

समाधान—सम्पूर्ण कामनाओंसे रहित पुरुषमें पूर्णरूपसे सब सुख रहता है । ऐहिक और आमुष्मिक भोगसमुदायसे विरक्तका ही ब्रह्मविद्यामें अधिकार है, अतः श्रवण आदिसे जन्य तदीयज्ञानसे अभिव्यक्त अनतिशय सुखमें सम्पूर्ण विषय-सुखोंका अन्तर्भाव हो सकता है, यह सारांश है ॥ ४१० ॥

'पूर्वम्' इत्यादि । पहले सार्वभौम आदि, कामनाओंसे उपहत होनेके कारण, दुःखी हुए, क्योंकि 'न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति' इस न्यायसे पहले मनोरथकी सिद्धि होनेपर अन्य मनोरथ आविर्भूत होते जाते हैं । 'मनोरथानामतट-प्रपातः'के अनुसार ऐसे भी मनोरथ होते हैं, जो साधनके अभावसे सिद्ध नहीं हो

पुंभेदात् कालभेदाद्वा तत्तत्साधनतो भवेत् ।
कामात्तत्तत्पदप्राप्तिर्नैकस्मिन्नेकदा क्वचित् ॥ ४१२ ॥
श्रोत्रिये कामराहित्यात्सर्वानन्दाः सह स्थिताः ।
सोऽश्नुते सकलान् कामान् स हेति प्राह तित्तिरिः ॥ ४१३ ॥

सकते, अतएव (उनकी) असिद्धिसे दुःख उत्पन्न होता है; इस कारण वे पूर्ण सुखी नहीं होते। भगवत्पदको प्राप्त होकर जो निष्काम होते हैं, वे ही परम सुखी होते हैं, उस कालमें दूसरा एष्टव्य नहीं रहता है, इसीसे आप्तकाम होकर परम सुखी होते हैं ॥ ४११ ॥

'पुंभेदात्' इत्यादि।

शङ्का—तत्-तत् पदकी प्राप्ति होनेपर उनकी भी कामना निवृत्त हो जाती है, फिर वह सुख सातिशय क्यों ?

समाधान—तत्-तत् पदकी प्राप्ति होनेपर भी उससे उत्कृष्ट अन्य पदकी लिप्सा फिर हो जाती है, क्योंकि उनकी सब कामनाएँ निवृत्त नहीं हुई हैं। पदप्राप्तिसे होनेवाला सुख निरतिशय नहीं है, किन्तु सातिशय ही है। ईप्सित पदकी प्राप्तिके अनन्तर उत्कृष्ट अन्य पदके ज्ञानसे उसी क्षणमें उसको प्राप्त करनेकी इच्छा हो जाती है, और किसीको कुछ कालके अनन्तर, इस तात्पर्यसे पुरुषभेद और कालभेदका उपादान किया गया है; क्योंकि एक कालमें एक पुरुषको अनेक पदोंकी प्राप्ति नहीं हो सकती।

शङ्का—क्यों ?

समाधान—'तत्-तत्' इत्यादि। तत्-तत् पदकी प्राप्तिके हेतुका अनुष्ठान भिन्न भिन्न है। एक समयमें अनेकफलक अनुष्ठान नहीं हो सकते, किन्तु कालभेदसे ही हो सकते हैं, या पुरुषभेदसे हो सकते हैं; एक कालमें एक पुरुषका तत्-तत् पदप्राप्तिफलक अनेक कर्मोंका अनुष्ठान नहीं हो सकता, अतः एक पुरुषको एक समयमें अनेक पदोंकी प्राप्ति नहीं हो सकती।

सप्रमाण उक्त अर्थका उपसंहार करते हैं—'श्रोत्रिये' इत्यादिसे।

सम्पूर्ण कामनाओंसे रहित श्रोत्रियमें सम्पूर्ण आनन्द एक साथ ही रहते हैं, अतः वह श्रोत्रिय एक साथ ही सब कामोंका उपभोग करता है; यह तित्तिरि आचार्य कहते हैं ॥ ४१३ ॥

श्रुतिः—अथैष एव परम आनन्द एष ब्रह्मलोकः सम्राडिति होवाच याज्ञवल्क्यः ।

सूत्रात्परमनन्तत्वाद्गणितं विनिवर्तते ।
यतो वाचो निवर्तन्ते इति श्रुत्यन्तरं जगौ ॥ ४१४ ॥

श्रोत्रियेनाऽनुभूतो यो ब्रह्मानन्दोऽस्य विप्रुषः ।
सार्वभौमादिसूत्रान्ताः प्राणिनोऽनुभवन्त्यमी ॥ ४१५ ॥

'अथैष एव परम आनन्दः' इत्यादि श्रुति । इस श्रुतिका अर्थ भी पूर्वोक्त दिशासे वार्तिकसारके श्लोकोंके व्याख्यानसे स्पष्ट है ।

'अथैष' इत्यादि आनन्दमें परमत्वको सिद्ध करते हुए उक्त वाक्यका अवतरण करते हैं—**'सूत्रात्'** इत्यादिसे ।

सूत्रसे पर परमात्मा अनन्त है, अतः वहां गणनाकी निवृत्ति हो जाती है । चूँकि उसमें सम्पूर्ण विषयसुखोंका अन्तर्भाव हो जाता है, अतः वह आनन्द परम है । 'यतो वाचो निवर्तन्ते' इत्यादि अन्य श्रुतिने भी ब्रह्मानन्दको अनन्त कहा है ॥ ४१४ ॥

'श्रोत्रियेना०' इत्यादि । श्रोत्रिय द्वारा अनुभूत जो ब्रह्मानन्द है, उसके बिन्दुओंका सार्वभौमसे लेकर सूत्र पर्यन्त प्राणी अनुभव करते हैं । भाव यह है कि ऐहिक और आमुष्मिक सारे आनन्द जिस परमानन्दमें समाप्त हो जाते हैं, वह आनन्द परम है । 'एषोऽस्य' इत्यादिसे जिस आनन्दमें परमत्वकी प्रतिज्ञा की गई थी, उसकी सिद्धि परमात्मामें अनुमानसे की गई है । इसमें उत्तरोत्तर वृद्धिका हेतु कहा गया है । जैसे उत्तरोत्तर वृद्धिसे परिमाणतारतम्यकी समाप्ति आकाशादि परिमाणमें होनेसे आकाश आदिका परममहत्परिमाण माना जाता है, वैसे ही ब्रह्मानन्दमें आनन्दतारतम्यकी विश्रान्ति पायी जाती है, अतः वही आनन्द परम है । अज्ञोंके प्रति यह अनुमान है । उनको इसका साक्षाद् अनुभव नहीं हो सकता, जो आत्मज्ञ हैं, उनके प्रति अनुमान अनावश्यक है; उनको उक्त अर्थका साक्षात् प्रत्यक्ष है । परमात्मामें जो अकामहतधीगम्य आनन्द है, वही आनन्दोंसे पर है, यह निष्कर्ष है ॥ ४१५ ॥

तस्मादप्येष परम आनन्द इति वक्त्यसौ ।
ब्रूते च भगवान् व्यासः सर्ववेदार्थतत्त्ववित् ॥ ४१६ ॥
यच्च कामसुखं लोके यच्च दिव्यं महत्सुखम् ।
तृष्णाक्षयसुखस्यैते नाऽर्हतः षोडशीं कलाम् ॥ ४१७ ॥
यतो यतो निवर्तेत ततस्ततो विमुच्यते ।
निवर्तनाद्धि सर्वतो न वेत्ति दुःखमण्वपि ॥ ४१८ ॥
सलिलादिगिरा योऽर्थः प्रत्यज्ञापि पुराऽखिलः ।
ब्रह्मलोकान्तवाक्येन तस्येयमुपसंहृतिः ॥ ४१९ ॥

'तस्माद्०' इत्यादि। सम्पूर्ण वेदार्थके तत्त्वको जाननेवाले भगवान् श्रीव्यासजी भी इसी आनन्दको परम कहते हैं। अज्ञोंके लिए उक्त श्रुति परोक्ष प्रमाण है। आत्मज्ञोंके प्रति उनका साक्षात् अनुभव ही प्रमाण है, यह पूर्वमें कहा है। 'यतो वाचो निवर्तन्ते' यह श्रुति उक्त अर्थमें प्रमाण है। आत्मज्ञोंके प्रत्यक्षका उदाहरण व्यासोक्ति है। उनका अनुभव तन्मूलक तद्वाक्यसे जाना जाता है ॥ ४१६ ॥

'यच्च काम०' इत्यादि। लोकमें जो काम-सुख है और जो दिव्य स्वर्गादि महासुख है, वे दोनों इसके षोडशांशके योग्य नहीं हैं। अर्थात् उससे भी न्यून है ॥ ४१७ ॥

'यतो यतो' इत्यादि। जिन-जिन विषयोंसे पुरुष निवृत्त होता है, उन उन विषयोंसे जायमान बन्धनोंसे वह विमुक्त होता जाता है। इस प्रकार क्रमशः सब विषयोंसे निवृत्ति हो जानेपर थोड़ा भी दुःख अनुभूत नहीं होता। भाव यह है कि दुःख स्वाभाविक नहीं है, किन्तु वह विषयकी तृष्णा, विषय सेवन आदिसे ही होता है, दुःख-प्राप्तिके हेतु विषके तृष्णा आदिय निवृत्त होनेपर संसारदुःखसे पुरुष विमुक्त हो जाता है ॥ ४१८ ॥

'एष' इत्यादि वाक्यका तात्पर्य कहते हैं—'सलिलादि०' इत्यादिसे।

'ब्रह्मलोकपदम् अन्ते मध्ये यस्य अस्ति तच्च वाक्यं तेन इति ब्रह्मलोकान्तवाक्येन'। यहाँ अन्तशब्द मध्यार्थके तात्पर्यसे प्रयुक्त हुआ है। 'सलिल एको द्रष्टा' इसका उपक्रम कर 'मात्रामुपजीवन्ति' यहाँ तकके वाक्यसे कार्यकारणरहित अनतिशयानन्द जो प्रत्यगात्मा परिपूर्ण प्रतिज्ञात हुआ है, वही फिर 'यो मनुष्याणाम्'

श्रुतिः—सोऽहं भगवते सहस्रं ददाम्यत ऊर्ध्वं विमोक्षायैव ब्रूहीत्यत्र ह याज्ञवल्क्यो बिभयांचकार मेधावी राजा सर्वेभ्यो मां तेभ्य उदरौत्सीदिति ॥ ३३ ॥

वक्तव्यार्थे समाप्तेऽपि राजा पप्रच्छ पूर्ववत् ।
भीतो मुनिर्भये हेतुर्मेधावीत्यादिनोक्तवान् ॥ ४२० ॥
सर्वेभ्यो निर्णयेभ्यो मामरौत्सीन्न तु मुञ्चति ।
अयमेव भये हेतुर्नोत्तरानवबोधनम् ॥ ४२१ ॥

यहाँसे आरम्भ कर 'अथैष एव' यहाँ तकके वाक्यसे प्रतिपादित हुआ । इस समय उसीका 'एष' इत्यादि वाक्यसे उपसंहार किया गया है ॥ ४१९ ॥

'सोऽहं भगवते सहस्रं ददाम्यत' इत्यादि श्रुति । वार्तिकसारके श्लोकोंके व्याख्यानसे श्रुत्यर्थ स्पष्ट है ॥ ३३ ॥

'वक्तव्यार्थे' इत्यादि । वक्तव्यार्थ समाप्त हुआ । अब उस विषयमें वक्तव्य नहीं होना चाहिए । कुछ वक्तव्य अवशिष्ट रहनेपर ही प्रश्न होता है । निश्शेष निर्णय होनेपर भी यदि प्रश्न होता रहे, तो कथावसान ही नहीं होगा, अनुपयुक्त और आहार्य संशय कहाँ नहीं होता ? परन्तु राजाने पूर्ववत् पुनः मुनिजीसे प्रश्न किया । इस बारके प्रश्नसे मुनिजी भयभीत हो गये ।

शङ्का—क्यों ?

समाधान—मुनिजीके भयका कारण 'मेधावी' इत्यादि वाक्यसे स्वयं श्रुतिने बतलाया है, जो अग्रिम श्लोकमें स्पष्ट है ॥ ४२० ॥

'सर्वेभ्यो' इत्यादि । राजाने सब निर्णयोंसे मुझको रोका, क्योंकि 'अत ऊर्ध्वम्' इत्यादि वाक्यका उच्चारण, अवान्तर अर्थका निर्णय और मुख्य अर्थका निर्णय आदि सब निर्णयोंमें समान है । कथासमाप्तिका अवरोध उक्त वाक्य द्वारा किया गया । अब भी मेरा पिण्ड नहीं छोड़ते, यही भयमें हेतु है, प्रश्नार्थका अज्ञान भयमें हेतु नहीं है ।

शङ्का—क्यों ?

समाधान—मुनिजी सर्वज्ञ थे, इस कारण अज्ञानजन्य भयका संभव नहीं है, अतएव असामर्थ्यप्रयुक्त भी भय नहीं है । श्रीयाज्ञवल्क्यजी सर्वज्ञ अतएव ब्रह्मीभूत थे और सर्वशक्तिसम्पन्न थे, अतः उनके प्रश्नोत्तरार्थके अज्ञानसे जनित उत्तर देनेकी असामर्थ्यसे भयकी संभावना नहीं हो सकती, किन्तु पूर्वोक्त ही कारण है ।

स्वप्नः सुप्तिश्च दृष्टान्तौ परलोकविमोक्षयोः ।
तावेव मुनिना प्रोक्तौ शिष्टं दार्ष्टान्तिकद्वयम् ॥ ४२२ ॥

शङ्का—दुराग्रहगृहीत राजा भले ही प्रश्न करे, पर अब मुनिजीको प्रत्युत्तर नहीं देना चाहिए, क्योंकि मार्गमें कृत अमौनव्रतका अकस्मात् भङ्ग होना भी ठीक नहीं है ।

समाधान—ठीक है, परन्तु सत्यका संरक्षण भी आवश्यक है ।

शङ्का—तो राजप्रश्नका निश्शेष निर्णय करना था ।

समाधान—स्वयंज्योतिष्ट्वका निश्शेष निर्णय हो चुका ।

शङ्का—निश्शेष निर्णय करनेपर भी भय क्यों हुआ ?

समाधान—निर्णय होनेपर भी पुनः पुनः 'विमोक्षाय ब्रूहि' यह इच्छा निर्णयको रोकती है ।

शङ्का—तब तो राजा अविवेकी ज्ञात होते हैं, अतः विद्यापात्र नहीं ।

समाधान—कामप्रश्नाङ्कुशसे मुझको राजा अपने वशमें कर मदीय निःशेष ज्ञानको लेना चाहते हैं, क्योंकि राजा अतिमेधावी हैं, अतः ज्ञानसर्वोपहारनिमित्तक ही भय श्रीमुनिजीको हुआ ।

शङ्का—विद्याग्रहणयोग्य राजा मुनिगत संपूर्ण ज्ञानको लेना चाहते हैं, तो उनको देनेके लिए मुनिजी भयभीत क्यों हुए ? दूसरेको देनेसे विद्या तो अपनेमें कम होती नहीं । देयान्तरमें यह भय हो सकता है, पर विद्याविषयमें यह भय नहीं हो सकता, इस प्रकार तो विद्याकी उत्तरोत्तर वृद्धि ही होती है ।

समाधान—ठीक है, पर पृष्ट वस्तुका अनेक बार अशेष निर्णय हो चुका, परन्तु फिर भी मेधावी राजा प्रश्न करते हैं । ब्राह्मणका धन ब्रह्मविद्या ही है, मोक्ष-फलक ज्ञान उक्त विद्या है । उक्त विद्याके परिपालनकी इच्छासे राजा जनकसे मुनिको भीत होना समुचित ही है । ब्राह्मणका धन तो विद्या ही है अपने-अपने धनकी रक्षा करना सबका कर्तव्य है ।

शङ्का—योग्य पात्रमें विद्याप्रदान आवश्यक है, फिर भय क्यों ?

समाधान—ठीक है; परन्तु मोक्षफलक ज्ञानका सहसा उपदेश नहीं देना चाहिए ॥ ४२१ ॥

'स्वप्नः' इत्यादि ।

शङ्का—वक्तव्य अर्थका निःशेष निर्णय मुनिजी कर चुके हैं, फिर प्रश्न क्यों ?

स्वप्नाज्जागरणं यद्वद्देहाल्लोकान्तरं तथा।
इत्यभिप्रेत्य मुनिना स्वप्नाद्बोधोऽभिधीयते ॥ ४२३ ॥

श्रुतिः—स वा एष एतस्मिन्स्वप्नान्ते रत्वा चरित्वा दृष्ट्वैव पुण्यं च पापं च पुनः प्रतिन्यायं प्रतिन्योन्याद्रवति बुद्धान्तायैव ॥ ३४ ॥

समाधान—स्वप्न परलोकमें दृष्टान्त है, और सुषुप्ति मोक्षमें दृष्टान्त है। इन दोनों अवस्थाओंका निरूपण मुनिजीने किया है; किन्तु दो दार्ष्टान्तिक (स्वर्ग और मोक्ष) अवशिष्ट हैं। उनका पूरा निरूपण अभी तक नहीं हुआ। दार्ष्टान्तिक अर्थ जबतक नहीं कहा जाता, तबतक दृष्टान्तका कथन असम्बद्ध प्रतीत होता है, दार्ष्टान्तिक अर्थसे मोक्षप्रकरण आयेगा। दार्ष्टान्तिक अर्थ कह चुकनेपर संपूर्ण प्रश्नार्थ परिसमाप्त हो जाता है। अतः दार्ष्टान्तिक अर्थको इस समय कहते हैं ॥ ४२२ ॥

'स्वप्ना०' इत्यादि। जैसे जीव स्वप्नावस्थासे जागरावस्थामें आता है, वैसे ही इस लोकसे परलोकमें भी जाता है, इस अभिप्रायसे मुनिजीने स्वप्नसे जागर कहा है ॥ ४२३ ॥

'स वा एष एतस्मिन्' इत्यादि श्रुति। स्वप्नमें स्वयंज्योति विज्ञानमय आत्मा है, ऐसा 'अत्रायं पुरुषः स्वयंज्योतिः' इत्यादि श्रुतिवाक्यसे कहा गया है। तथा स्वप्नान्तबुद्धान्तसंचार द्वारा वह शरीर, इन्द्रिय आदिसे व्यतिरिक्त है, यह भी समझाया गया। असङ्ग होनेसे महामत्स्यदृष्टान्त द्वारा कामकर्मादिविवेक भी दिखलाया गया। स्वप्नमें ही 'घ्नन्तीव' इत्यादिसे अविद्याकार्यको फिर दिखलाया। जो धर्म जिसमें नहीं है, वह धर्म अविद्यासे उसमें आरोपित प्रतीत होता है। अतः अतद्धर्मारोपणत्व, अनात्मधर्मत्व ही अविद्याका तत्त्व है, ऐसा निर्धारित किया गया है। तथा विद्याकार्य सर्वात्मभावका भी स्वप्नमें ही प्रत्यक्ष है, जिससे कि 'सर्वोऽस्मि' यों देखता है, वही उसका परम लोक है। उसमें सर्वात्मभाव आत्माका स्वभाव यानी पारमार्थिक स्वरूप है। एवं अविद्या, काम, कर्म आदि सम्पूर्ण धर्मोंसे रहित आत्म-स्वरूप साक्षात् सुषुप्तमें गृहीत होता है, यह भी 'स्वयंज्योतिरात्मा ऐष परम आनन्दः' इत्यादि वाक्यसे स्पष्ट किया गया है। 'यह विद्याविषय है, यही परम संप्रसाद है सुखकी पराकाष्ठा है' इत्यादि अन्तिम ग्रन्थसे व्याख्यात हुआ। यह सब विमोक्ष-पदार्थका दृष्टान्तभूत अर्थ है तथा बन्धनका भी। ये दोनों मोक्ष और बन्धन सहेतुक

तद्यथाऽनः सुसमाहितमुत्सर्जद्यायादेवमेवायꣳ शारीर आत्मा प्राज्ञेना-त्मनाऽन्वारूढ उत्सर्जन्याति यत्रैतदूर्ध्वोच्छ्वासी भवति ॥ ३५ ॥

विस्तारसे निर्दिष्ट किये गये हैं, जो विद्या और अविद्याके कार्य हैं। वे सब दृष्टान्त-भूत ही हैं, अतः उक्त दार्ष्टान्तिकभूत सहेतुक मोक्ष और बन्धन आपको कहना चाहिए, इस अभिप्रायसे राजा जनक फिर आग्रहसे पूछते हैं कि विमोक्षके लिए कहिए, उसमें महामत्स्यके समान स्वप्नान्त और बुद्धान्तमें असङ्ग एक ही आत्माका संचार होता है; जिस प्रकार यह आत्मा मृत्युरूप कार्यकरणका त्याग और उपादान करता हुआ महामत्स्यके समान स्वप्नान्त और बुद्धान्त दोनोंमें संचरण करता है, उस प्रकार जायमान और म्रियमाण भी उन्हीं मृत्युरूपोंसे संयुक्त और वियुक्त होता रहता है। 'उभौ लोकावनुसंचरति' इत्यादिसे सूचित संचरण स्वप्नबुद्धान्तान्तसञ्चरणका दार्ष्टान्तिक है। अतः यहाँ विस्तारसे सनिमित्त सञ्चरणका वर्णन अपेक्षित है; उसीके लिए यह आरम्भ है, यहाँपर बुद्धान्तसे स्वप्नान्तमें यह आत्मा प्रवेशित किया गया है; अतः संप्रसादावस्थान मोक्षका दृष्टान्त है, उससे प्रच्युत करा कर संसारव्यवहार दिखलाना चाहिए। यही उसके साथ इसका संबन्ध है, वह आत्मा बुद्धान्तसे स्वप्नान्तक्रमसे संप्रसन्न इस संप्रसादमें स्थित होकर फिर थोड़ा प्रच्युत होकर स्वप्नान्तमें रमणकर पूर्वके समान बुद्धान्तमें आता है ॥ ३४ ॥

'तद्यथाऽनः सुसमाहितम्' इत्यादि श्रुति। यहाँसे संसारका वर्णन किया जाता है। जैसे यह आत्मा स्वप्नान्तसे बुद्धान्तमें आया है, वैसे ही इस देहसे देहान्तरमें जायगा। इसमें दृष्टान्त यह है—जैसे लोकमें दूर जानेके समय यात्रामें अपेक्षित शरीरयात्रानिर्वाहोपयोगी अन्न, ओखरी, मूसर, सूप, कलश, थाली, लोटा आदि आवश्यक वस्तुजातके भारसे समाक्रान्त बैलगाड़ी शब्द करती हुई चलती है तथा गाड़ीवान्से अधिष्ठित होती है, वैसे ही शारीर लिङ्गोपाधि आत्मा, जो स्वप्नबुद्धान्तके समान पापसंसर्गवियोगलक्षण जन्म और मरणसे इस लोक और परलोकमें अनुसंचरण करता है और जिसके उत्क्रमणको देखकर प्राणोंका उत्क्रमण होता है, प्राज्ञ स्वयंज्योतिःस्वभाव परआत्मासे अधिष्ठित होकर जाता है, यह पूर्वमें कहा गया है—आत्मज्योतिसे ही रहता है, जाता है इत्यादि। चैतन्यात्मज्योतिसे भासित होनेवाला लिङ्ग जो प्राणघन है, वही जाता है अतः, तदुपाधिक आत्मा भी जाता है, ऐसा कहा जाता है। वस्तुतः आत्मा आकाशके समान

शकटं बहुभिर्द्रव्यैर्योजितं गुरुभारतः ।
कुर्वञ्छब्दान्बहून् याति चेतनेन प्रचोदितम् ॥ ४२४ ॥
शरीरस्थोऽपि लिङ्गात्मा स्वन्वारूढश्चिदात्मना ।
शब्दान् कुर्वन्हिक्किकादीन् प्रैत्यूर्ध्वश्वासपूर्वकम् ॥ ४२५ ॥

व्यापक है, अतएव उसमें गतिकी सम्भावना ही नहीं है। घट ले जानेपर 'तदाकाशो गच्छतीव' जैसा व्यवहार होता है, वैसा ही प्रकृतमें भी समझना चाहिए। श्रुत्यन्तरमें ऐसा ही है—'कस्मिन्नुत्क्रान्ते' इत्यादि तथा 'ध्यायतीव लेलायतीव' इत्यादि। अतः लिङ्गोपाधि आत्मा सशब्द परलोकमें जाता है। मर्मस्थानमें पीड़पीड़ा होनेसे दुःखवेदना होती है, इसीसे आर्त होकर शब्द करता है।

शङ्का—किस कालमें ?

समाधान—जिस समय पुरुष ऊर्द्धश्वास लेता है।

शङ्का—यह तो संसारमें अनेक बार देखा जाता ही है, अतः उसको कराहनेका क्या लाभ है ?

समाधान—यह दृष्टानुवाद संसारसे वैराग्य होनेके लिए किया गया है। संसार इस प्रकार कष्टसे परिपूर्ण है। उत्क्रान्तिकालमें मर्मस्थानमें निष्पीड़ित होनेसे पराधीनचित्त होता है; अतएव पुरुषार्थसाधनकी प्रतिपत्तिके स्मरणका लोप तथा उसकी असामर्थ्य हो जाती है, अतः जबतक यह अवस्था नहीं आती, तबतक ही पुरुषार्थसाधनकर्तव्यतामें अप्रमत्त होना चाहिए, यह दयासे श्रुति कहती है॥ ४२३ ॥

'शकटम्' इत्यादि। यात्रोपयोगी अन्नोपकरण आदि अनेक द्रव्योंसे भरी अतएव अधिक बोझसे दबी गाड़ीवान्‌से युक्त बैल गाड़ी जैसे सशब्द चलती है वैसे ही इस लोकसे परलोक आदिमें आत्मा जाता है॥ ४२४ ॥

'शरीरस्थोऽपि' इत्यादि। भोग-क्षय होनेपर भुक्तकर्मफलक देहसे भोगार्थ उत्क्रान्त लिङ्गात्मा कर्मविद्याविशिष्ट देहान्तरमें जाता है।

शङ्का—लिङ्गात्मा भुक्तदेहसे निकलकर देहान्तरमें क्यों जाता है ? आदित्यादिसे अनुगृहीत इसी देहमें क्यों नहीं रहता, क्योंकि उसकी गतिमें कारण या फल श्रुत नहीं है।

उपाध्यारोहमन्वात्मा रूढवत्प्रतिभासते ।
भानोरिवोदपात्रादावारोहो नाऽऽत्मनः स्वतः ॥ ४२६ ॥
मर्मस्वुत्कृष्यमाणेषु वायुनोदानरूपिणा ।
मुमूर्षोरत्र यद् दुःखं स्मर्यतां तन्मुमुक्षुभिः ॥ ४२७ ॥

समाधान—पूर्व देह आदित्यादि करणदेवता और भोग्य कर्मसे शून्य हो जाता है, अतः उक्त दो प्रयोजकोंसे विशिष्ट अन्य शरीरमें जाता है ।

शङ्का—श्रुतिमें आत्मा निर्दिष्ट है, फिर व्याख्यामें लिङ्गात्मा क्यों कहते हो ?

समाधान—असंग मुख्य आत्मामें गतिका सम्भव नहीं है, अतः गतियोग्य लिङ्गात्मा ही उक्त वाक्यमें विवक्षित है । शारीर विशेषण भी इसी अभिप्रायके लिए है ॥ ४२५ ॥

'उपाध्या०' इत्यादि । चिदाभासका आरोह (अन्तःकरणमें व्याप्ति) होनेके अनन्तर आत्मा भी आभास द्वारा व्याप्तवत् अन्तःकरणमें रहता है, अतः आत्मासे अन्वारूढ़ (अधिष्ठित) अन्तःकरण इस वाक्यमें कहा गया है ।

शङ्का—आभास द्वारा व्याप्ति क्यों कहते हो ? स्वतः आत्मासे व्याप्त होनेमें क्या आपत्ति है ?

समाधान—पात्रस्थ जलमें आलोक द्वारा जैसे सूर्यप्रतिबिम्बव्याप्ति होती है वैसे ही अन्तःकरणमें आभास द्वारा ही व्याप्ति होती है, स्वतः नहीं होती, कारण कि आत्मा असङ्ग है, यह बार बार कहा गया है ।

शङ्का—प्राज्ञाधिष्ठित लिङ्गकी गति क्यों होती है ? क्या स्वतः लिङ्गमें गति नहीं हो सकती ?

समाधान—नहीं, अन्तःकरण आदिका व्यापार आत्माके अधीन है, स्वतः नहीं है, इसको स्फुट करनेके लिए 'प्राज्ञेन अन्वारूढः' कहा गया है । कार्यकरणसंघात आत्मचैतन्याधिष्ठित होनेपर ही व्यापारवान् होता है । इसमें काठक श्रुति भी प्रमाण है—'आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु' इत्यादि ॥ ४२६ ॥

'मर्मस्वुत्कृ०' इत्यादि ।

शङ्का—'शब्दान् कुर्वन्' इत्यादि निर्देशका क्या प्रयोजन है ?

समाधान—मृत्युकाल उपस्थित होनेपर मर्मस्थानोंमें पीडा होनेसे उसकी वेदनासे अति दुःखी होकर जीव हिचकीके साथ वर्तमान शरीरको छोड़ता है,

श्रुतिः—स यत्रायमणिमानं न्येति जरया वोपतपता वाणिमानं निगच्छति तद्यथाम्रं वोदुम्बरं वा पिप्पलं वा बन्धनात्प्रमुच्यत एवमेवायं पुरुष एभ्योऽङ्गेभ्यः संप्रमुच्य पुनः प्रतिन्यायं प्रतियोन्याद्रवति प्राणायैव ॥ ३६ ॥

रोगेण जरया वाऽयं देहः कार्श्यं यदाऽऽप्नुयात् ।
तदाऽऽम्रादिफलं वृन्तादिवाऽङ्गेभ्यः प्रमुच्यते ॥ ४२८ ॥

यह सर्वानुभव सिद्ध है। इसका अपूर्व अभिधान नहीं है, किन्तु वैराग्योत्पादनके लिए अनुवादमात्र है।

शङ्का—यह संसारगति प्रत्यक्ष है, इससे यदि वैराग्य न होगा, तो उसके अनुवादमात्रसे वह कैसे होगा ?

समाधान—ठीक है, मुमूर्षुके दुःखका अनुवाद कर सहृदय श्रुति यह समझाती है कि स्वस्थावस्था में उक्त दुःखकी स्मृति कर तद्विरोधिसम्यग्धीकी सिद्धिके लिए उसके उपायमें पूर्ण यत्न करना चाहिए।

शङ्का—किस कालमें और किस निमित्तसे यह सब हो सकता है ?

समाधान—प्रथम प्रश्नका उत्तर यह है कि मृत्युकालमें मुमूर्षु प्राणीका जब उदानवायु प्रबल होता है तब वह प्राणी ऊर्द्ध्वश्वासी होता है और उस समयमें 'हा, हा' इत्यादि शब्दपूर्वक लिङ्गात्माका प्रस्थान होता है, अतः मरणसे पूर्व ही यत्न करना चाहिए। उस समय परवश जीव अपने हितके लिए कुछ भी नहीं कर सकता ॥ ४२७ ॥

'स यत्रा०' इत्यादि श्रुति। इसका अर्थ श्लोकव्याख्यानसे गतार्थ है ॥३६॥

'रोगेण' इत्यादि। द्वितीय प्रश्नका उत्तर देते हैं, रोगसे अथवा जरासे जब देह अतिकृश हो जाती है, तब प्राणी उर्द्ध्वश्वासी होता है। भाव यह है कि वृद्धावस्थासे अथवा रोगसे अग्निवैषम्य होता है, उसीसे भुक्त आदिका समीचीन परिपाक नहीं होता। अन्नरसकी कमीसे देह कृश होती जाती है। अति निर्बल होनेसे पुराने घरके तुल्य गिर जाती है, देहका भूमिमें गिरना प्रत्यक्ष है। वृन्तसे फलके समान देहसे लिङ्गात्मा अलग हो जाता है। इसमें दृष्टान्त विवक्षित है। भाव यह है कि जैसे आमका फल कच्ची अवस्थामें जिस दृढ़रससे स्ववृन्तमें बँधा रहता है, परिपाकावस्थामें वह रस स्वयं परिपक्व होनेसे अदृढ़ हो जाता है, इसीसे

आश्रयाश्रयिसम्बन्धहेतुरन्नरसो भवेत् ।
स्थूलसूक्ष्माख्यवपुषोरन्नं दामेत्युदीरणात् ॥ ४२९ ॥
रसबन्धनशैथिल्ये जरारोगादिहेतुतः ।
गोलकेभ्यश्चक्षुराद्या मुक्ता वृन्तात्फलं यथा ॥ ४३० ॥
अपक्वमप्याम्रफलं दण्डघातात् पतेत्तथा ।
दृढकायोऽपि पुरुषो म्रियते शस्त्रघाततः ॥ ४३१ ॥

वृन्तसे फलका पतन होता है, वैसे ही अन्नरसकी कमजोरीसे लिङ्गात्मा देहसे पृथक् हो जाता है। जिस कच्चे रससे वृन्तमें फल लगा रहता है, वह रस अथवा वृन्त बन्धन कहलाता है। कच्चे फलकी अवस्थामें जिस प्रकार वृन्तके साथ अपरिपक्वरस फलका दृढ़ सम्बन्ध होता है, वैसा पक्वरस फलका नहीं होता, कारण कि रस जब अतिक्लिन्न हो जाता है तब स्वयं निर्बल हो जाता है, अतएव आम्रादि फलका धारण नहीं कर सकता, यही प्रकार अन्नरस और लिङ्गात्माके विषयमें समझना चाहिए ॥ ४२८ ॥

'आश्रया०' इत्यादि। अन्नरस ही आश्रय शरीर और आश्रयी लिङ्ग शरीर इनके सम्बन्धमें हेतु है। स्थूल, सूक्ष्म शरीर इन दोनों शरीरोंका अन्न बन्धनार्थ दाम है, (रस्सी है) जैसे रस्सीसे कीलमें बछड़ा बाँधा जाता है, वैसे ही अन्नसे स्थूलशरीरमें सूक्ष्म शरीर बँधा रहता है, श्रुतिमें अन्नको 'दाम' इसी कारण कहा है। श्रोत्र, वाग् आदि नाड़ियाँ यहाँ अङ्गसे विवक्षित हैं; अर्थात् इन्द्रियाधिष्ठान चक्षुर्गोलक आदि अङ्गशब्दार्थ है। अङ्गका (कृष्णसारका) आधार करणभूत चक्षु इनके आश्रयाश्रयिभाव सम्बन्धका हेतु अन्नरस है ॥ ४२९ ॥

'रसबन्धन०' इत्यादि। अन्नरस उक्त दो देहोंके सम्बन्धका हेतु है, इस कथनसे अन्नरसका नाश उक्त सम्बन्धके नाशका हेतु है, यह अर्थात् सिद्ध होता है; अतः जरा रोग आदि कारणवश रसात्मक उक्त दोनों शरीर बन्धके शिथिल अथवा नाश होनेसे स्थूल शरीर शिथिल तथा क्रमशः नष्ट हो जाता है, इसी अर्थको अन्य शब्दसे कहते हैं, वृन्तसे जैसे फल पृथक् हो जाता है वैसे ही गोलक आदिसे चक्षुरादि मुक्त हो जाते हैं ॥ ४३० ॥

'अपक्व०' इत्यादि। अपक्व (कच्चा) भी आमका फल दण्डाघातसे जैसे गिरता है वैसे ही दृढ़काय भी शस्त्र आदिसे मरता है ॥ ४३१ ॥

पक्वमौदुम्बरं बन्धशैथिल्येन भवेद्यथा।
जरया प्राप्तशैथिल्यं म्रियते स्वयमेव हि ॥ ४३२ ॥
पतेद्वायूपघातेन यथाऽश्वत्थात्फलं तथा।
दैवेनाशनिपातेन म्रियते पुरुषः क्वचित् ॥ ४३३ ॥
निर्गत्य हृदयस्थानान्नाडीमार्गेण जागरम्।
प्राप्तोऽत्र वैपरीत्येन नाडीमार्गाद् हृदि व्रजेत् ॥ ४३४ ॥
जाग्रत्स्वप्नादिसिद्ध्यर्थं गमनागमने पुरा।
इदानीं त्वन्यदेहेऽसौ प्राणं धारयितुं व्रजेत् ॥ ४३५ ॥

श्रुतिः—तद्यथा राजानमायान्तमुग्राः प्रत्येनसः सूतग्रामण्योऽन्नैः पानैरावसथैः प्रतिकल्पन्तेऽयमायात्ययमागच्छतीति ।

'पक्व०' इत्यादि । जैसे पक्व औदुम्बर फल (गूलर) बन्धशैथिल्यसे गिरता है, वैसे ही जरासे शिथिल शरीर स्वयमेव मरता है । लिङ्गशरीरका स्थूलशरीरके साथ जो बन्धन है, उसके शिथिल होनेसे स्थूलशरीरसे लिङ्गशरीर अलग हो जाता है । यही मरण कहा जाता है ॥ ४३२ ॥

'पतेद्वा' इत्यादि । जैसे अश्वत्थ (पिप्पलवृक्ष) से उसका फल वायुके धक्केसे गिरता है, वैसे ही दुर्दैवकोपजनित अशनिपातसे कहीं पुरुष मरता है ॥४३३॥

'प्रतिन्यायम्' इत्यादिसे उक्त अर्थका फिर स्मरण कराते हैं—**'निर्गत्य'** इत्यादिसे ।

स्वप्नावस्थामें स्वप्ननाडीस्थ जीव स्वप्नभोगप्रद कर्मका क्षय होनेपर हृदयस्थानसे नाडीमार्ग द्वारा विपरीत क्रमसे हृदयदेशमें जागरावस्थ होता है ॥ ४३४ ॥

'प्राणायैव' इसका अर्थ कहते हैं—**'जाग्रत्स्वप्नादि०'** इत्यादिसे ।

जैसे जीवित अवस्थामें जाग्रद्भोगप्रद कर्मके समाप्त होनेपर नाडीमार्गसे स्वप्न या सुषुप्ति अवस्थामें जीव जाता है और पुनः जागर अवस्थामें आता है, वैसे ही इस देहके भोगप्रद कर्मोंके क्षीण होनेपर देहान्तरमें प्राणधारणके लिए इन्द्रियोंका उपसंहार कर वर्तमान देहसे देहान्तरमें जाता है और देहान्तरग्रहण करनेके लिए ही संसारी प्राणियोंका मरण होता है, अतएव श्रुतिमें 'प्राणाय' ऐसा निर्देश हुआ है ॥४३५॥

'तद्यथा राजानम्' इत्यादि श्रुति ।

ननूपादित्सिते देहे भोगाय प्राणधारणम् ।
भोग्यसम्पादने नास्ति शक्तिरस्येति चेच्छृणु ॥ ४३६ ॥
तत्कर्मोपार्जितैरन्यैर्भोग्यं सम्पादयेत्पुरा ।
इत्येतद्विशदीकर्तुं राजदृष्टान्त उच्यते ॥ ४३७ ॥
राज्ञ आगमनात्पूर्वं भृत्या राजप्रचोदिताः ।
कृत्वाऽन्नपानस्थानानि प्रतीक्षन्ते नृपं तदा ॥ ४३८ ॥
योजनेऽयं समायाति क्रोशाद् द्वारेऽपि चाऽऽगतः ।
इत्थं परस्परं प्राहुरुग्राद्या राजमन्त्रिणः ॥ ४३९ ॥

'ननूपादित्सिते' इत्यादि ।

शङ्का—जिस देहका ग्रहण करना इष्ट है, उसमें प्राणोंका धारण भोगके लिए है । किन्तु तत्सम्पादनमें इसकी शक्ति ही नहीं है, अतः देहान्तरमें प्राणोंका धारण व्यर्थ है ॥ ४३६ ॥

'तत्कर्मो०' इत्यादि ।

शङ्का—त्यक्तपूर्वदेह जीव अशरीरी है; अतः स्वभोगयोग्य शरीरका स्वयं निर्माण नहीं कर सकता, दूसरा कोई निर्माता श्रुत नहीं है, अतः देहान्तर सिद्ध ही नहीं होता फिर उसमें भोगार्थ प्राणधारणोक्ति ही असंगत प्रतीत होती है ।

समाधान—सुनो, संपूर्ण जगत् पुरुषभोगके लिए ही उसके कर्म द्वारा रचित है अतः करणादि देवता आदित्यादि और तत्-तत् पृथिव्यादि भूत स्वयं उसके शुभ और अशुभ कर्मोंके फलोंके उपभोगयोग्य शरीरादिका निर्माण कर उसमें भोक्ता जीवकी प्रतीक्षा करते हैं । अतएव 'कृतं लोकं पुरुषोऽभिजायते' यह श्रुति संगत होती है । इसका तात्पर्यार्थ यह है कि त्यक्तवर्तमानदेह जीव भूतपञ्चकादिसे निर्मित देहान्तरमें उत्पन्न होता है । जैसे स्वप्नसे जागरितमें जीवका प्रवेश होता है वैसे ही देहसे देहान्तरमें जीवका प्रवेश होता है, इसीमें राजदृष्टान्त कहते हैं ॥ ४३७ ॥

'राज्ञ' इत्यादि । जैसे राजाके निर्दिष्ट स्थानमें पहुँचनेके पूर्व ही राजा द्वारा प्रेरित उसके अमात्य, भृत्य आदि अन्नपानयोग्य उपवेशनादि स्थानका निर्माण कर राजाके आगमनकी प्रतीक्षामें रहते हैं वैसे ही जीवके अदृष्टसे प्रेरित आदित्य आदि करणानुग्राहक देवता और तत्-तत् भूत तददृष्टानुसारी सकलाङ्ग या विकलाङ्ग शरीरका निर्माण कर तदागमनकी प्रतीक्षा करते रहते हैं ॥ ४३८ ॥

'योजनेऽयम्' इत्यादि । केवल प्रतीक्षामात्र ही नहीं करते हैं, किन्तु उसके

उग्रशब्देन कथ्यन्ते याष्टिका भटभर्त्सकाः ।
प्रत्येनसः शिक्षकाः स्युश्चौर्यादौ तत्तदेनसि ॥ ४४० ॥
सूता रथप्रेरकाः स्युर्ग्रामण्यो ग्रामचिन्तकाः ।
राज्ञा जीवितदानेन उग्रादय उपार्जिताः ॥ ४४१ ॥

श्रुतिः—एवꣳहैवंविदꣳसर्वाणि भूतानि प्रतिकल्पन्त इदं ब्रह्मायातीदमागच्छतीति ॥ ३७ ॥

मुमूर्षुणा भाविदेहबन्धवः कर्मणाऽर्जिताः ।
एवं पुत्रादिभावाय प्रतीक्षन्तेऽखिलाः सदा ॥ ४४२ ॥

आगमनके लिए उत्सुक होकर महाराज चार कोशपर आ चुके हैं, अब केवल एक ही कोश मार्ग शेष है, अब द्वारपर पहुँच गये इत्यादि परस्पर उग्रादि वार्तालाप भी करते हैं और अपने-अपने कार्यके सम्पादनमें सावधान रहते हैं ॥ ४३९ ॥

'उग्रशब्देन' इत्यादि । उग्रकर्ममें जो राजासे नियुक्त होते हैं, वे उग्र कहलाते हैं, अथवा जिनकी उग्र जाति है, वे उग्र कहे जाते हैं, उग्रशब्दकी उभयवृत्ति मानी जाती है । प्रत्येनस वे कहलाते हैं, जो पापकर्मकारीचोर आदिके शिक्षणमें राजा द्वारा नियुक्त होते हैं । उग्र और प्रत्येनस ये दोनों शब्द भिन्नार्थक हैं । इनका कार्य भी भिन्न-भिन्न है ॥ ४४० ॥

'सूताः' इत्यादि । रथ चलानेवालेको सूत कहते हैं, ग्रामका नेता (अधिपति) 'ग्रामणी' कहलाता है । ये जीवननिर्वाहोपयोगी द्रव्यदान द्वारा राजाधीन होते हैं । राजाज्ञापालनमें सदा तत्पर रहते हैं । ये सब राजागमनसे पूर्व यथा राजाधीन हैं, अतएव अन्नपान आदिके अनुकूल आवसथका निर्माण कर राजागमनकी प्रतीक्षामें रहते हैं, वैसे ही सब भूत भोक्ताके कर्मार्जित होनेसे शुभाशुभ कर्मभोगके अनुकूल भोग्य देहान्तरका निर्माण कर भोक्ता जीवके आगमनकी प्रतीक्षामें रहते हैं ॥ ४४१ ॥

'एवं हैवंविदम्' इत्यादि श्रुति । श्रुत्यर्थ श्लोकोंके व्याख्यानसे स्पष्ट है ॥३७॥

'एवं ह' इत्यादि दार्ष्टान्तिक वाक्यका व्याख्यान करते हैं—**'मुमूर्षुणा'** इत्यादिसे ।

भावी देहके बन्धु तत्तद्भूत देवता मुमूर्षुके कर्मसे अर्जित हैं, अतएव पूर्वदेहका त्याग कर नूतन देहमें पुत्रादिभावसे आनेवाले मुमूर्षुकी सब प्रतीक्षा करते हैं ॥ ४४२ ॥

ऋतावस्मिन् समायाति ब्रह्म पुत्रादिरूपतः ।
ऋतावनन्तरे वाऽयमायास्यत्येव सर्वथा ॥ ४४३ ॥
क्षीरं पातुमियं धेनुरियं दोलाऽस्य लालने ।
इति सम्पाद्य तद्भोग्यमासते राजभृत्यवत् ॥ ४४४ ॥
अनेन जीवेनेत्यादिप्रवेशस्य विवक्षया ।
ब्रह्मैव पुत्ररूपेण समायातीत्यभिज्ञगीः ॥ ४४५ ॥

उक्त प्रतीक्षाका अभिनय करते हैं—'ऋतावस्मिन्' इत्यादि ।

इस ऋतुमें पुत्रादिस्वरूपसे ब्रह्म आता है अथवा इस ऋतुके अनन्तर यह अवश्य आयेगा ही, इस प्रकार प्रतीक्षा सदा करते हैं ॥ ४४३ ॥

'क्षीरं पातु०' इत्यादि । दुग्ध पीनेके लिए यह गौ है, यह सुखार्थ दोला (हिंडोला) है, यह शयनार्थ पलँग है इत्यादि आरामानुकूल वस्तुओंका निर्माण कर तत्कर्मोपार्जित भूत प्रतीक्षा करते हैं कि यह ब्रह्म अमुकरूपसे आता है जैसे राजभृत्य राजाकी प्रतीक्षा करते हैं, वैसे ही समझना चाहिए ।

'अनेन जीवेन' इत्यादि ।

शङ्का—हमें पुत्र होगा, ऐसा लोग मानते हैं, किन्तु यह कोई नहीं कहता कि पुत्ररूपसे ब्रह्म आता है । श्रुति फिर कैसे कहती है कि पुत्ररूपसे ब्रह्म आता है ?

समाधान—विज्ञानात्माके उपक्रममें ब्रह्म आता है, इस प्रकार श्रुतिका कथन 'अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि' इत्यादि श्रुतिसे बोधित परमार्थ ब्रह्म ही जीव है, उससे अतिरिक्त नहीं है, यह परमार्थ स्फुटीकरणार्थ तथाविध उक्ति है ।

शङ्का—जीव तो संसारी है, वह असंसारी ब्रह्मस्वरूप कैसे होगा ?

समाधान—स्वतः ब्रह्म ही है अविद्यासे उसमें जीवभाव कल्पित है। अनभिज्ञ पुरुष वस्तुतः जीवको संसारी मानते हैं । श्रुति तो परम अभिज्ञ है, इसलिए तत्त्व-दृष्टिसे ब्रह्म आता है, यही कहना ठीक है, जीवको 'अहं ब्रह्मास्मि' यह बुद्धि कैसे हो, इस तात्पर्यसे 'ब्रह्म आयाति' ऐसा कहा गया है, इससे जीवको अनायास यह बुद्धि होगी कि 'अहं ब्रह्मास्मि' यह ठीक है ॥ ४४५ ॥

नन्विन्द्रियाणि प्रेतस्य लीयन्ते वपुषा सह ।
इत्याहुस्तार्किका ब्रह्म निरुपाधि कथं व्रजेत् ॥ ४४६ ॥

श्रुतिः—तद्यथा राजानं प्रयियासन्तमुग्राः प्रत्येनसः सूतग्रामण्योऽभिसमायन्त्येवमेवेममात्मानमन्तकाले सर्वे प्राणा अभिसमायन्ति यत्रैतदूर्ध्वोच्छ्वासी भवति ॥ ३८ ॥

इत्युपनिषदि तृतीयं ब्राह्मणं समाप्तम् ।

प्राणोपाधिक एवाऽऽत्मा गच्छतीति विवक्षया ।
प्राणानामात्मसामीप्यगतिं वक्ति मृतौ श्रुतिः ॥ ४४७ ॥

शङ्का—'नन्विन्द्रियाणि' इत्यादि । तार्किक लोग कहते हैं कि प्रेतकी (मृतकी) इन्द्रियाँ शरीरके साथ इस लोकमें ही लीन हो जाती हैं, अतएव ब्रह्म निरुपाधि यानी शरीर, इन्द्रिय आदिसे रहित हो जाता है, फिर उसका गमन कैसे होगा ? व्यापक होनेसे ब्रह्ममें वास्तविक गमनका तो संभव ही नहीं है । किन्तु घटगमनसे तदुपाधिक आकाशमें जैसे गमनकी प्रतीति होती है, वैसे ही शरीर आदि उपाधिसे युक्त आत्मामें केवल उसकी प्रतीति होती है । उपाधिविलयदशामें तत्प्रयुक्त भी गमन आत्माका नहीं हो सकता, यह शङ्ककका अभिप्राय है ॥४४६॥

'तद्यथा' इत्यादि श्रुति । इस श्रुतिका अर्थ श्लोकव्याख्यानसे गतार्थ है ॥३८॥

समाधान—'प्राणोपाधिक' इत्यादि । प्राणोपाधिककी ही गति श्रुतिको विवक्षित है, निरुपाधिककी विवक्षित नहीं है । प्राणादि नष्ट नहीं होते, केवल शरीरका ही नाश होता है । लोकान्तरमें कर्मफलभोगके लिए इन्द्रियादि परलोकमें जाते हैं ।

शङ्का—शरीरके बिना प्राणादि फलभोगप्रद नहीं हो सकते, फिर उनका गमन उसके लिए निष्फल है ।

समाधान—वहां स्वर्गभोगयोग्य शरीरका निर्माण होता है, तत्प्रविष्ट प्राणादि भोगसंपादक माने जाते हैं ।

शङ्का—शरीरके समान प्राणादिकी भी उत्पत्ति हो सकती है; अतः उनके जानेकी भी आवश्यकता नहीं है ?

समाधान—प्रतिशरीर प्राण आदिकी उत्पत्ति तथा विनाश माननेमें गौरव है, अतः प्राण आदिका गमन मानना ही उत्तम है, दृष्टविरोधसे स्थूलशरीरका गमन

राजानमायियासन्तमाभिमुख्येन सेवितुम् ।
आयान्त्युग्रादयस्तद्वत्प्राणानामात्मसङ्गतिः ॥ ४४८ ॥

इति वार्तिकसारे तृतीयं ब्राह्मणं समाप्तम् ।

तो कह ही नहीं सकते । हाँ, निराश्रय प्राण आदिका गमन नहीं होता है, इसलिए सूक्ष्मशरीरका गमन माना ही जाता है, इस अभिप्रायसे लिखते हैं—मरणकालमें प्राणोंका आत्मसमीपगमन श्रुति कहती है; अतः सोपाधिक गमन श्रुतिप्रमाणसिद्ध है, इसलिए इस विषयमें श्रुतिविरुद्ध तर्कका समावेश ही नहीं है ॥ ४४७ ॥

'राजान०' इत्यादि । उग्रादि (चोरदण्डन आदि उग्र कर्ममें नियुक्त राजभृत्य) राजाके आरामयोग्य स्थान बनाकर आगमनेच्छुक राजाकी जैसे प्रतीक्षा करते हैं, वैसे ही प्राण आदि भूतपूर्व देहका त्यागकर पुनः भोगार्थ देहान्तरमें जाते हैं । देहान्तरके निर्माणके कारण उक्त भूत ही हैं जो भोगक्षम नवीन शरीर आदिका निर्माण कर उस शरीरमें आगमनके लिए जीवकी प्रतीक्षा करते हैं कि कब इस शरीरमें आवे और उसकी हम समुचित सेवा करें ।

शङ्का—प्राण आदि स्वयं नवीन शरीरमें जाते हैं अथवा किसीकी प्रेरणासे ? यदि प्रेरणासे तो किसकी प्रेरणासे ?

समाधान—आत्मकर्मप्रेरित होकर ही जाते हैं, स्वतः नहीं । जब वर्तमान-देहभोगयोग्य कर्म समाप्त हो जाता है, तब देहीके पूर्व देहसे देहान्तरमें जानेके लिए तत्कर्मोंकी प्रेरणा होती है, इसीसे वे पूर्व ही नवीन शरीरमें प्रवेश करते हैं । इसमें उक्त राजदृष्टान्त स्पष्ट है । भाव यह है कि संसारीकी प्रारब्ध कर्म-जनित वासनाके अनन्तर जिस अवस्थामें ऊर्द्धोच्छ्वासिता होती है, उसी अवस्थामें यथाशास्त्र-समभ्यस्त-उत्क्रान्तिवेत्ता अतएव संसारमें अनास्थावान् विद्वान्के वागादि अक्लेशकर अनुवृत्ति करते हैं । मरणावसरमें संसारीको वागादि क्लेश देते हैं, यह उत्सर्ग है, उत्क्रान्तिवेत्ताको वे क्लेश नहीं देते, यह उसका अपवाद है, यही इस विद्याका माहात्म्य है ॥ ४४८ ॥

वार्तिकसारके भाषानुवादमें चतुर्थाध्यायका तृतीय ब्राह्मण समाप्त ।

चतुर्थ ब्राह्मणम्

तृतीयब्राह्मणे प्रोक्ता देहे स्वप्नादिसंसृतिः ।
देहान्तरेषु संसारो मुक्तिश्चाऽथ प्रवक्ष्यते ॥ १ ॥

श्रुतिः—स यत्रायमात्माऽबल्यं न्येत्यसंमोहमिव न्येत्यथैनमेते प्राणा अभिसमायन्ति स एतास्तेजोमात्राः समभ्याददानो हृदयमेवान्ववक्रामति ।

चतुर्थ ब्राह्मण

पूर्व ब्राह्मणमें कार्यकरणसंघातसे अतिरिक्त स्वयंज्योति अवस्थात्रयातीत अविद्याकामकर्मनिर्मुक्त अनतिशयानन्दस्वरूप आत्माका अविद्यानिमित्तक काम आदि-कृत इहलोक और परलोकमें सञ्चरण अवस्थाद्वयसञ्चाररूप दृष्टान्तका दार्ष्टान्तिक है और मोक्षोदाहरणका दृष्टान्त सुपुप्ति है, ऐसा व्याख्यान किया । अब सुषुप्ति-दार्ष्टान्तिक केवल मोक्ष ही अवशिष्ट है; उसीका व्याख्यान अपेक्षित है; ऐसी अवस्थामें फिर संसारका वर्णन करना पुनरुक्त होनेसे अयुक्त है, इस आशङ्कासे ब्राह्मणान्तरका अवतरण करते हैं—'स यत्रायमात्मा' इत्यादिसे । यहाँसे 'अकाम-यमानः' इससे पूर्व संसारका वर्णन है, तदनन्तर मोक्षका वर्णन है । उक्त शङ्काका समाधान तीन प्रकारसे होता है—एक तो यह है कि पूर्वमें करणोंकी समुत्क्रान्ति और जीव-प्राणका सहगमन कहा गया है; जो तेजोमात्राद्यादान नहीं कहा गया है, उसके कहनेके लिए यह ब्राह्मण है । दूसरा संपूर्ण संसारवर्णनपरक नहीं है, किन्तु 'अकामयमानः' इत्यादिसे पूर्व अवधिभेदज्ञापनार्थ वैराग्यहेतु संसारका वर्णन है । तीसरा पूर्वमें संक्षेपसे कथित संसारका विस्तारसे कथन इस ब्राह्मणसे किया जायगा, अन्तिम प्रकार भाष्यकारका है ।

'तृतीय०' इत्यादि । तृतीय ब्राह्मणमें देहमें स्वप्नादि संसारका कथन हुआ है । अब देहान्तरमें संसार और मोक्षका कथन होगा । वृत्तानुवाद अवल्यब्राह्मण-सङ्गतिसूचनार्थ है । अर्थ स्पष्ट है ॥ १ ॥

'स यत्रायम्' इत्यादि श्रुति । इस श्रुतिवाक्यका अर्थ वार्तिकसारके व्याख्यानसे स्पष्ट है ।

स मुमूर्षुर्यदा देहे दौर्बल्यं प्राप्य मूढताम् ।
प्राप्नोतीव तदा तं वागाद्या आयान्ति देहिनम् ॥ २ ॥
बोधमात्रैकयाथात्म्यान्नाऽयं संमोहभाग्यतः ।
संमूढबुद्धिसाक्षित्वात् संमूढ इव भात्यतः ॥ ३ ॥
उत्क्रान्तिकाले प्राणानां गोलकादार्ढ्यहेतुका ।
स्वगोचरेष्वशक्तिर्या संमोहोऽसाविहाऽऽत्मनः ॥ ४ ॥

'**स मुमूर्षु०**' इत्यादि । संसारानर्थसम्बन्धज्ञापनार्थ 'तद्यथाऽनः सुसमाहितम्' इत्यादिमें प्रकृत अज्ञ आत्माका 'स' शब्दसे परामर्श है । वह मुमूर्षु आज्ञानी आत्मा जब देहमें दौर्बल्य प्राप्त कर मूढ़ताको प्राप्त-सा होता है, उस समयमें वागादि इन्द्रियाँ आत्माके समीप आ जाती हैं । जरारोगादिहेतुक दौर्बल्य शरीरमें जब होता है, तब अविद्वान् जीव मूढके समान हो जाता है अथवा 'अहं मनुष्यः, अहं कृशः' इत्यादि शरीराध्याससे अपनेको देहाभिन्न मान कर देहदौर्बल्यको आत्मदौर्बल्य समझ कर मुग्धके समान हो जाता है ॥ २ ॥

'संमोहमिव' यहांपर 'इव' शब्दका प्रयोग हुआ है, उसके द्वारा सूचित अर्थ कहते हैं—'**बोध०**' इत्यादिसे ।

बोधमात्रस्वरूप आत्मामें वस्तुतः मोहकी संभावना नहीं है, किन्तु संमूढ बुद्धि होती है । उसका साक्षी होनेसे आत्मा भी संमूढ़के समान भासता है, आत्मामें संमोह न होनेका कारण यह भी है—संमोहहेतुक कार्यमें संमोह होता है, आत्मा कार्यकारणकोटिसे बहिर्भूत है, अतः उसमें वास्तविक संमोह नहीं है । कार्श्यमोह-सम्बन्ध वस्तुतः आत्मामें न होने पर भी मोहोत्थ देह, बुद्धि आदिके सम्बन्धसे आरोपित प्रतीत होता है, इसीमें 'इव' शब्दप्रयोगका तात्पर्य है ॥ ३ ॥

मूलाज्ञान मोहशब्दका अर्थ है, यह कह कर मोहशब्दका अर्थान्तर कहते हैं—'**उत्क्रान्ति०**' इत्यादिसे ।

प्राणोत्क्रान्तिसमयमें तत्-स्थान-गोलक आदिकी अदृढ़तासे समुत्पन्न जो अपने विषयमें अशक्ति है, वही यहां आत्माका सम्मोह है ।

शङ्का—करणोंकी अशक्ति आत्मसम्मोह कैसे हो सकता है ? दूसरेका धर्म दूसरेका नहीं कहा जाता ?

समाधान—यद्यपि आत्मा अदाह्य और अच्छेद्य है, तथापि जैसे शरीरसम्बन्धी

राजदृष्टान्ततः प्रोक्तां प्राणानामात्मसंगतिम् ।
अनूद्य तत्प्रकारोऽत्र विस्तरेणाऽभिधीयते ॥ ५ ॥
तेजोमात्राश्चक्षुराद्याः प्रसृता मत्स्यजालवत् ।
जागरेऽथ मुमूर्षुस्ताः समादाय हृदि व्रजेत् ॥ ६ ॥

दाह और छेदसे आत्मामें भी दाह और छेदजन्य दुःख आदि प्रतीत होता है, वैसे ही प्रकृतमें भी समझना चाहिए ॥ ४ ॥

'अथैनं प्राणा अभिसमायान्ति' इस पुनरुक्तिके वैयर्थ्यका परिहार करते हुए 'एतास्तेजोमात्राः' इत्यादिका उपादान करते हैं—'राज०' इत्यादिसे ।

उक्त राजदृष्टान्त द्वारा आत्मसमीपगमन प्राणोंका होता है, इस उक्तका अनुवाद कर उसका विस्तार यहाँ कहते हैं । इसलिए अनुवाद व्यर्थ नहीं है, जहाँ स्वल्प भी विशेष वक्तव्य नहीं है, वहाँ अनुवाद व्यर्थ कहा जाता है । मरनेवालेकी आन्तरवृत्ति हृदयस्थलमें इन्द्रियात्माका उपसंहार है । अतएव वैद्यलोग नाड़ीकी गति बन्द होनेपर आसन्नमृत्यु कहते हैं, उस समय शरीरकी सब चेष्टाएँ शान्त हो जाती हैं ।

शङ्का—जीवके समीप वागादि इन्द्रियाँ मरणके समय क्यों आती हैं ? स्वस्वस्थिति-स्थानसे ही प्रस्थान क्यों नहीं करती ?

समाधान—वागादि इन्द्रियोंका राजा जीव है । राजाके समीप आकर ही राजसेवक उसकी आज्ञाके अनुसार सह प्रस्थान करते हैं, यह लोकमें असकृद् दृष्ट है, तदनुसार ही उच्चिक्रमिषु जीवके समीप तदधीन इन्द्रियोंका आना ही समुचित है, जीवित अवस्थामें ध्रुव आदि तारा देखनेके लिए चक्षुकी स्वस्थान गोलकेसे ही ऊर्द्ध्व गति होती है, परन्तु मरणावस्थामें इन्द्रियोंका स्वस्थानसे गमन नहीं होता, किन्तु जीवके समीप आकर ही उनकी गति होती है, अन्यथा मरण नहीं होगा, यह अतिगहन श्रुतिप्रमेय अर्थ है ॥ ५ ॥

'तेजोमात्रा०' इत्यादि ।

शङ्का—जीवित दशामें नाड़ियां हृदयस्थ होती हैं । यद्यपि तत्तदधिष्ठानभूत गोलक आदिमें ही वृत्तियां होती हैं, तथापि उनकी स्थिति हृदयप्रदेशमें स्वाभाविक मानी जाती है, फिर मरणकालमें हृदयदेशागमन आगन्तुक क्यों कहा गया ?

आनखाग्रात्कृत्स्नदेहे व्याप्तवान् बुद्ध्युपाधिकः ।
हृत्पद्मे तस्य संकोचो हृदये गतिरुच्यते ॥ ७ ॥
तेजोमात्रा गोलकेभ्यस्तदा संकुचिता हृदि ।
यथा कूर्मस्य संकोचो मत्स्यजालस्य वा यथा ॥ ८ ॥

समाधान—तेजोमात्रासे चक्षु आदि इन्द्रियां विवक्षित हैं । जागरण-अवस्थामें मत्स्य पकड़नेके लिए धीवर लोग तालाब, नदी, समुद्र आदिमें जैसे मत्स्यजालको फैलाते हैं, वैसे ही समस्त शरीरमें फैली हुई जो तेजोमात्राएँ हैं, उनको समेट कर मुमुर्षु उनको लेकर हृदयदेशमें जन्मान्तर ग्रहण करनेके लिए आता है, यह दशा अविद्वान् पुरुषके मरणकालकी है, विद्वानोंकी मृति इससे विलक्षण होती है ॥ ६ ॥

'आनखाग्रात्' इत्यादि । नखके अग्रभागसे लेकर शिखापर्य्यन्त समस्त देहमें बुद्ध्युपाधिक चैतन्य व्याप्त है । हृदयकमलमें—कमलाकार हृदयस्थ मांस-पिण्डमें—संकोच हृदयगति कही गई है ।

शङ्का—निरवयव व्यापक आत्माकी संकोचात्मक भी गति कैसे ? सावय पदार्थोंमें अवयवसंकोचविकास होते हैं । चर्ममें वर्षा और गीष्मकालके भेदसे संकोच और विकास देखा जाता है, क्योंकि वह सावयव है । परन्तु निरवयव आकाशमें नहीं देखा जाता । अतएव 'वर्षातपाभ्यां किं व्योम्नश्चर्मण्यस्ति तयोः फलम् । चर्मोपमश्चेत्सोऽनित्यः खतुल्यश्चेदसत्फलः' (वर्षा और घामसे आकाशमें कुछ फल नहीं होता, किन्तु चमड़ेमें ही संकोच या विकासरूप फल होता है । आत्मा यदि चर्मवत् है, तो वह अनित्य होगा । यदि आकाशवत् है तो उसमें कर्मादिसे कुछ अतिशय नहीं हो सकेगा) यह बाह्यवादियोंकी उक्ति है । और तर्क भी निरवयवके संकोच और विकासको सहन नहीं करता ।

समाधान—हां, वास्तविक संकोच और विकास साक्षात् आत्मामें नहीं हैं, किन्तु बुद्ध्युपाधिक आत्माके संकोच और विकास यहां अभिधित्सित हैं, सो असकृत् कह चुके हैं ॥ ७ ॥

जागरमें फैली हुई चक्षु आदि इन्द्रियोंके संकोचमें दो दृष्टान्त कहते हैं—**'तेजोमात्रा गोलकेभ्यः'** इत्यादिसे ।

मरणकालमें वृत्तिलाभस्थलरूप गोलकादि स्थानोंमें तेजोमात्रा यानी इन्द्रियां हृदय-

कर्मप्रयुक्तसंकोचे कर्तृत्वमुपचर्यते ।
स्वप्नादिगतिकर्तृत्वमात्मयुक्तं यथा तथा ॥ ९ ॥
मीयन्ते विषया याभिर्मात्रास्ताश्चक्षुरादयः ।
तेजः सत्त्वगुणस्तस्य कार्यास्ता भासकत्वतः ॥ १० ॥

देशमें कूर्मशिर अथवा मत्स्यजालके समान संकुचित होती हैं। जैसे कूर्म (कच्छप) अपने शिरोभागको कदाचित् खप्पड़से बाहर कर लेता है, कदाचित् उसके भीतर कर लेता है अथवा जैसे मत्स्यजालको जालुक कभी समेट लेता है, कभी फैला देता है, जब जैसा प्रयोजन होता है वैसा करता है, वैसे ही आत्मा प्रयोजनके अनुसार इन्द्रियां फैलाता और समेटता है ॥ ८ ॥

'कर्म०' इत्यादि ।

शङ्का—एतद्देहारम्भक कर्मके समाप्त होनेपर ही बुद्धि आदिका संकोच होता है, फिर आत्मा उसका कर्ता क्यों ?

समाधान—जैसे औपचारिक स्वप्नादि-गतिकर्तृत्व कहा गया है, वैसे ही 'समभ्याददान'से संकोचादिगतिकर्तृत्व भी कहा गया है। मुख्यपक्षमें उक्त आक्षेप हो सकते हैं। यहां आत्माभिप्रायानुसारित्व ही इन्द्रियाद्यादानकर्तृत्व आत्मामें विवक्षित है, अतएव 'ध्यायतीव लेलायतीव' इत्यादि श्रुति स्वरसतः संगत होती है और 'अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः' इत्यादि श्रुतिसे आत्मामें सर्वथा करणोंका प्रतिषेध होनेपर चैत्रादिगत पात्रानयनादिकर्तृत्ववत् मुख्य कर्तृत्वाभाव माननेपर भी अमुख्य कर्तृत्वमें अनुपपत्ति नहीं है ॥ ९ ॥

तेजोमात्राशब्द चक्षु आदिका वाचक है, यह पूर्वमें कहा गया है, उसीका व्युत्पादन करते हैं—'मीयन्ते' इत्यादिसे ।

जिनसे विषयोंके परिच्छेदका ज्ञान होता है, वे ही मात्राशब्दार्थ हैं। रूप, रस आदि विषयोंका ज्ञान चक्षु आदि करणोंसे ही होता है, यह लोकप्रसिद्ध है, अतः चक्षु आदि मात्रा हैं, यह सिद्ध होता है।

शङ्का—उक्त रीतिसे जब मात्राशब्द ही इन्द्रियवाचक है, तब तेजःशब्दका उपादान क्यों ?

समाधान—तेजःशब्दका वाच्य जो सत्त्वगुण है, तत्कार्यत्व इन्द्रियोंमें दिखलाना है, इस अभिप्रायसे उसका उपादान है, उसीको देखलाते हैं—'सत्त्व०'-

गुणोऽप्ययं भौतिकः स्यादात्मभूतातिरेकतः ।
वेदान्ते वस्त्वसद्भावात्सांख्यानां तु गुणाः पृथक् ॥ ११ ॥

इत्यादिसे । सत्त्व ही तेज है । सांख्योंने भी ऐसा ही कहा है—'सत्त्वं लघु प्रकाशकमिष्टमुपष्टम्भकं चलं च रजः' इत्यादि । सत्त्व लघु हलका है अर्थात् पृथिवी और जलके समान गुरु नहीं है, अतएव तेजकी ऊर्द्ध्वगति स्वाभाविक है और प्रकाशक है, इष्ट सुख है, प्रकाशको ही तेज कहते हैं, सत्त्व द्रव्य है, बन्धन-हेतु होनेसे रस्सीके समान गुण कहलाता है, इसीसे इन्द्रियां होती हैं, अतएव प्रकाशक होती हैं, भासक होनेसे इन्द्रियाँ तैजस कही जाती हैं ।

शङ्का—सत्त्वगुण इन्द्रियरूपसे परिणत होता है, इसमें प्रमाण क्या है ?

समाधान—सत्त्वोपचित गुणत्रयका प्रथम परिणाम बुद्धितत्त्व है, उसका परिणाम अहङ्कार है । सत्त्वोपचित अहङ्कारसे इन्द्रियोंकी उत्पत्ति होती है, गुणोंका साम्यावस्था-परिणाम प्रलय है, वैषम्यावस्थापरिणाम सृष्टि है, एक गुण अधिक होनेसे अङ्गी कहा जाता है, अन्य दो गुण तदनुरूप परिणत होनेसे अङ्ग माने जाते हैं, अङ्गाङ्गिभावेन गुणत्रयपरिणाम सर्ग है, कार्यानुसार गुणोंका अङ्गाङ्गिभावेन परिणाम कहा जाता है । प्रकृतमें इन्द्रियाँ अर्थप्रकाशक हैं, इसलिए अहङ्कारसे उपचित सत्त्वका इन्द्रियरूपसे परिणाम होता है, 'एकादशकः प्रवर्तते वैकृतादहङ्कारात्' यह सांख्योक्ति है । पांच कर्मेन्द्रिय—वाक्, पाणि, पाद, पायु और उपस्थ; पाँच ज्ञानेन्द्रिय—चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, रसन और त्वक्; एक अन्तःकरण, जिसमें बुद्धि, मन और अहङ्कार—इन तीनोंका समावेश होता है । ये एकादश-संख्या-परिमित इन्द्रियाँ वैकृत अहङ्कारसे होती हैं, यह सांख्यमतानुसारी व्यवस्था है ॥ १० ॥

'गुणोऽप्ययम्' इत्यादि ।

शङ्का—उक्त प्रकारसे इन्द्रियोंको यदि सात्त्विक परिणाम मानते हो, तो सांख्यमतकी आपत्ति होगी । सांख्यमतानुसार सृष्टिका असकृत् निराकरण वेदान्तमें किया गया है, अतः यह प्रक्रिया वेदान्तियोंको सर्वथा अमान्य है ।

समाधान—ठीक है, यह सांख्योक्त सत्त्वगुण भी भौतिक है ।

शङ्का—क्यों ?

समाधान—वेदान्तमें आत्मा और उसकी अविद्यासे सृष्ट भूतभौतिकव्यतिरिक्त नित्य सत्त्वगुण आदिकी सत्ता ही नहीं मानी जाती और सांख्य सत्त्व, रज और

भूतेषु निर्मलो योंऽशस्तेजस्त्वं तस्य दीपवत् ।
अक्षाणि भौतिकान्येव भौतिकार्थप्रकाशनात् ॥ १२ ॥
अक्षाणामात्मशक्तित्वात्तेजश्चैतन्यमित्यसत् ।
अविकारात्मनोऽक्षत्वरूपेणोत्पत्त्यसम्भवात् ॥ १३ ॥

तमोगुणात्मक प्रकृतिको नित्य स्वतन्त्र स्वयम्भू पदार्थ मानते हैं, जो 'एकमेवाद्वितीयम्' इत्यादि श्रुतिसे विरुद्ध है ॥ ११ ॥

'भूतेषु' इत्यादि ।

शङ्का—अच्छा तो 'तेजोमात्रा' इस श्रौतपदसे क्या विवक्षित है ?

समाधान—भूतोंमें जो अंश दीपवत् अतिनिर्मल है, वही अंश यहां तेज कहा जाता है, अतः अक्ष यानी इन्द्रियां भौतिक अर्थकी प्रकाशक होनेसे भौतिक ही हैं । भूत त्रिगुणात्मक अविद्याके कार्य हैं, ऐसा वेदान्तमें माना जाता है । आकाश, वायु, तेज, सलिल और पृथिवी—ये पांच भूत कहे जाते हैं, इनमें जो निर्मल अंश है, वह तेज प्रसिद्ध ही है । यद्यपि यह भी पाञ्चभौतिक ही है, तथापि इस समुदायमें जो निर्मल अंश है, वह तेज है, अतः अंशशब्दका उपादान भी पञ्चीकरणपक्षको स्फुट करता है, अतएव भर्तृप्रपञ्चने स्पष्ट ही कहा है—'प्रकाशः पुनरयं भौतिको न जात्यन्तरं भूतेभ्यः' ॥ १२ ॥

'अक्षाणा०' इत्यादि । किसीका मत है कि सविषय करण आत्मशक्ति (आत्मविकार) हैं, अतः तेजशब्दसे प्रकृतमें चैतन्य ही विवक्षित है, भौतिकत्व नहीं, यह मत ठीक नहीं है ।

शङ्का—क्यों ?

समाधान—आत्मा अविकारी है, यह सैकड़ों श्रुतियोंसे सिद्ध है, अतः इन्द्रियरूपसे उसकी उत्पत्तिका सम्भव नहीं है । करण भौतिक हैं, इसमें वाक्यशेष भी प्रमाण है—'एतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानुविनश्यति' । यहाँपर भूतशब्दसे शरीर और इन्द्रिय विवक्षित हैं, सेन्द्रिय शरीरमें ही आत्माकी अभिव्यक्ति होती है । अनभिव्यक्ति भी शरीरमें ही होती है । शरीरके समान इन्द्रियाँ भी भूतकार्य हैं, यह अग्रिम श्रुतिसे स्पष्ट है । भाष्यकार भी इसी अर्थको कहेंगे । अतः इन्द्रियोंमें भौतिकत्वका विवाद ही नहीं है । आयुर्वेदमें भी करणोंको भौतिक ही कहा है ।

पित्ताख्यं तेज उद्दिष्टं तदंशाश्चक्षुरादयः ।
इत्याहुरायुर्वेदज्ञा भौतिकत्वं तथापि च ॥ १४ ॥

वाक्यशेषसे करण भौतिक हैं, यह जो आपने कहा, वह भी ठीक नहीं है, क्योंकि वहाँपर अविद्यासहित सप्तदशक—पाँच प्राण, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और मन एवं बुद्धि, ये मिलकर सत्रहका गण—ही भूतशब्दसे विवक्षित है।

शङ्का—क्यों ?

समाधान—'तान्येवानुविनश्यति' इस वाक्यसे भूतनाशसे जीवका नाश कहा गया है, साविद्य सप्तदशगणके अविनाशसे जीवका अविनाश माना जाता है, अतः भूतशब्दसे उक्त गणका ही ग्रहण समुचित है।

शङ्का—स्थूल देहके नाशसे भी जीवनाश होता है, अतः भूतशब्दको तद्विषयक ही क्यों नहीं कहते।

समाधान—स्थूल शरीरके नाशसे जीवका नाश नहीं होता, स्थूल शरीर रहनेपर भी उक्त गणके साथ जीवका लोकान्तरगमन होता है, तन्निमित्तक ही शरीरमें मृतत्व व्यवहार होता है। सर्गसे लेकर प्रलयपर्य्यन्त लिङ्ग शरीर प्रतिजीव एक ही रहता है, उसीमें कर्मवासना आदि रहते हैं, अन्यथा अकृताभ्यागमादि दोषोंकी प्रसक्ति हो जायगी, वस्तुतः भूतमात्रा तेजोमात्रासे भिन्न नहीं है, अतः मात्रासंसर्गोक्तिसे इन्द्रियोंमें भौतिकत्वका लाभ होता है ॥ १३ ॥

'पित्ताख्यम्' इत्यादि। आयुर्वेदज्ञ वैद्य कहते हैं कि पित्त ही तेज है और उसीके अंश चक्षु आदि हैं, इससे भी इन्द्रियोंमें भौतिकत्व ही सिद्ध होता है,

'आमाशयाश्रयं पित्तं रञ्जकं रसरञ्जनात् ।
बुद्धिमेधाभिमानाद्यैरभिप्रेतार्थसाधनात् ॥
साधकं हृद्गतं पित्तं रूपालोचनतः स्मृतम् ।
दृक्स्थमालोचकं त्वक्स्थं भ्राजकं भ्राजनात्त्वचः ।

यद्यपि आयुर्वेदमें सांख्यानुसार ही जगत्सर्ग है, तथापि इन्द्रियोंके विषयमें मतभेद है। सांख्यमतमें इन्द्रियां आहङ्कारिक हैं और आयुर्वेदमें वे भौतिक मानी जाती हैं। अतएव—

'एकैकाधिकयुक्तानि खादीनामिन्द्रियाणि च ॥'
'खादीनि बुद्धिरव्यक्तमहङ्कारस्तथाऽष्टमः ।

मनोऽन्नमयमित्यादौ भौतिकत्वं स्फुटं श्रुतम् ।
प्रत्यक्षागोचरत्वं तु सूक्ष्मत्वात् परमाणुवत् ॥ १५ ॥
ता एतास्तेजसो मात्राः समस्ता अभिमुख्यतः ।
स्वीकुर्वन्नेव तद्द्वारा हृत्सद्मात्माऽनुसर्पति ॥ १६ ॥

भूतप्रकृतिरुद्दिष्टा विकाराः षोडशैव तु ॥
बुद्धीन्द्रियाणि पञ्चैव पञ्च कर्मेन्द्रियाणि च ।
समनस्काश्च पञ्चार्था विकारा इति संज्ञिताः ॥'

इत्यादि आयुर्वेदशास्त्रके वचन हैं ।

'षोडशकस्तु विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः ॥'

इस सांख्यकारिकासे सांख्यमतमें भी सोलह ही विकार हैं । आयुर्वेदमें भी षोडश ही विकार कहे गये हैं । भेद इतना ही है कि सांख्यमें इन्द्रियां आहङ्कारिक मानी जाती हैं और आयुर्वेदमें भौतिक मानी जाती हैं ॥ १४ ॥

'मनोऽन्नमय०' इत्यादि । 'अन्नमयं हि सोम्य मनः' इत्यादि श्रुतिसे मन इन्द्रियमें भौतिकत्वका स्पष्ट ही श्रवण है; तदनुसार चक्षु आदि इन्द्रियां भी भौतिक ही मानी जाती हैं ।

शङ्का—यदि मन भौतिक है, तो प्रत्यक्ष क्यों नहीं होता ?

समाधान—परमाणु भी भूत ही माना जाता है, परन्तु सूक्ष्म होनेसे जैसे उसका प्रत्यक्ष नहीं होता, वैसेही प्रकार मनका भी प्रत्यक्ष नहीं होता ।

शङ्का—'तेजोमात्राः समभ्याददानः' इस श्रुतिवाक्यमें तेजोमात्राशब्दसे भूतमात्रासे अतिरिक्तके ग्रहणमें बाधक क्या है ?

समाधान—आत्मव्यतिरिक्त भूत एवं भौतिक ही व्यवहारदशामें प्रतीत होते हैं, उससे अतिरिक्त संसारमें पदार्थ ही नहीं हैं, अतः यदि इन्द्रियोंको भूतात्मातिरिक्त मानते हो, तो उन्हें भौतिक ही कह सकते हो, दूसरी गति नहीं है, अतः भूतोंका अतिविशुद्ध जो अंश है, वही यहां तेजोमात्रासे विवक्षित है, अतएव ज्योतिर्ब्राह्मणमें भी इन्द्रियाँ भौतिक ही मानी गई हैं ॥ १५ ॥

'ता एता०' इत्यादि । उक्त तेजोमात्रारूप समस्त इन्द्रियोंको स्वाभिमुख स्वसमीप समेट कर उनका ईश्वर जीव हृदयदेशमें आ जाता है, उसी स्थलसे जन्मान्तर-ग्रहणके लिए वह प्रस्थान करता है । पहले स्वयं आत्मा हृदयदेशमें आता है, तदनन्तर इन्द्रियोंका भी स्वसमीपमें आकर्षण करता है; इस

एवशब्दानुशब्दाभ्यां स्वातन्त्र्यगतिवारणम् ।
लिङ्गोपाधिं विना नाऽस्ति सर्वगस्य स्वतो गतिः ॥ १७ ॥
लिङ्गव्याप्तिर्द्विधा देहे सामान्याच्च विशेषतः ।
उल्काग्निक्षुरदृष्टान्तादुभयं लीयते मृतौ ॥ १८ ॥

भ्रमके वारणके लिए श्रुतिने 'समभ्याददानः' यह शानच्-घटित प्रयोग किया है; इससे स्वीयोपसंहार और इन्द्रियोपसंहार एक कालमें ही होता है, उनमें पूर्वापर क्रम नहीं है ।

शङ्का—एक कालमें दो व्यापार कैसे हो सकते हैं ?

समाधान—'तद्द्वारा' इत्यादि । सप्तदशलिङ्गोपाधिक आत्माका संकोच-विकास लिङ्गसंकोच-विकास ही है, अतिरिक्त नहीं है, आत्मा स्वयं निर्व्यापार है, अतः उसमें दो व्यापार ही जब नहीं हैं, तब पूर्वापरत्वकी क्या संभावना है ? जब लिङ्गात्मा आपादतलमस्तक शरीरमें विकसित होता है, तब विशेषज्ञानका लाभ होता है और जब सब अवयवोंसे उपसंहृत होकर हृदयदेशमें आ जाता है, तब विज्ञानात्माका भी सब अवयवोंसे उपसंहार हो जाता है, अतएव उसमें विज्ञान भी नहीं रहता । इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि लिङ्गात्माका सङ्कोच-विकास ही जीवात्माका सङ्कोच-विकास है, तदतिरिक्त नहीं है ॥ १६ ॥

'एवशब्दा०' इत्यादि । 'एव' शब्द तथा 'अनु'शब्दसे जीवमें स्वतन्त्र गतिका वारण विवक्षित है, सो ठीक ही है, क्योंकि सर्वग (सर्वव्यापक) आत्माकी लिङ्गोपाधिके बिना स्वतः गति नहीं हो सकती ।

शङ्का—उपहितको लिङ्गानुविधायी कहते हो, किन्तु करणादान और हृदय-प्रवेशका कर्ता जो लिङ्गात्मा माना जाता है, वह तो उपहितसे भिन्न ही है । फिर उपहितमें लिङ्गानुविधायित्व व्यर्थ ही है ।

समाधान—जो सप्तदश लिङ्गमें अहमभिमानी है, वह इस वाक्यमें करणा-दानका कर्ता विवक्षित है, वह उपहित है, निर्व्यापार होनेसे इसके स्वतः निष्क्रमण और प्रवेश नहीं हो सकते, किन्तु लिङ्गोपाधिनिष्क्रमण आदिसे ही उसके निष्क्रमण आदि हैं । हृदयशब्दसे हृदयस्थधीका प्रकृतमें ग्रहण है, अवधारणार्थ एवकार है यानी स्वप्न और प्राज्ञकी निवृत्तिके लिए है । 'समभ्याददानः' और अन्ववक्रा-मति' इन दोनों स्थलोंमें कर्ता उपहित ही विवक्षित है ॥ १७ ॥

'लिङ्गव्याप्ति०' इत्यादि । सामान्य और विशेषके भेदसे दो प्रकारकी लिङ्ग-

सुप्तौ तिष्ठति सामान्यं विशेषस्यैव संहृतिः ।
सामस्त्यवाची संशब्दस्तद्वैलक्षण्यसिद्धये ॥ १९ ॥

श्रुतिः—स यत्रैष चाक्षुषः पुरुषः पराङ् पर्यावर्ततेऽथारूपज्ञो भवति ॥ १ ॥

अनुगृह्णाति यः पूर्वं चाक्षुषः पुरुषो रविः ।
भोगार्थमधुना सोऽयं भोगाभावादुपेक्ष्यते ॥ २० ॥

व्याप्ति शरीरमें रहती है, साभासबुद्धिकी व्याप्ति स्वप्न और सुषुप्ति दोनोंमें रहती है, यह सामान्यव्याप्ति है । रूप आदिकी वासनाके आश्रय नाडीविशेषवश वासनामय स्वाप्निकपदार्थानुभवकर्त्री साभासबुद्धिकी स्वप्नावस्थामें व्याप्ति विशेषव्याप्ति है। सुप्तिदशामें विशेषव्याप्तिका लय होता है, किन्तु सामान्यव्याप्ति रहती है। मरणमें दोनों व्याप्तियोंकी निवृत्ति होती है । अग्निक्षुरदृष्टान्त यह है कि संतप्त लौहमें जैसे अग्नि व्याप्त रहती है, वैसे ही स्वप्नजनक कर्मका क्षय होनेपर अन्तःकरण प्राणशब्दित अज्ञात ब्रह्मत्वको प्राप्त होकर निर्विकल्पक चिदाभास द्वारा समस्त देहको व्याप्तकर सुषुप्तिमें रहता है ॥ १८ ॥

उक्त अर्थको स्फुट करते हैं—'सुप्तौ' इत्यादिसे ।

सुषुप्तिमें सामान्यव्याप्ति रहती है, विशेषव्याप्तिका ही उपसंहार होता है । 'समभ्याददानः' यहांपर 'सम्' शब्द समस्तवाची है अर्थात् समस्त सामान्यविशेष-व्याप्तियोंको लेकर अन्तःकरण मरणके समय हृदयदेशमें आता है, इससे सुषुप्तिकी अपेक्षा मरणमें वैलक्षण्य सिद्ध होता है । निःशेषोपसंहारसे तदुपाधिक आत्माका भी उपसंहार कहा जाता है। स्वप्न और सुषुप्तिके समान मरणमें आत्मा तथा लिङ्गकी स्थितिसम्भावनाकी निवृत्तिके लिए 'एव' शब्दका प्रयोग श्रुतिने किया है ॥ १९॥

'स यत्रैष चाक्षुषः पुरुषः' इत्यादि श्रुति । श्लोकव्याख्यानसे इस श्रुत्यंशका अर्थ स्पष्ट है ॥ १ ॥

'अनुगृह्णाति' इत्यादि। यद्यपि सूर्य सर्वसाधारण है, तथापि भोक्तृपुरुषकर्मवश रूपादिज्ञानहेतु जो सूर्यका अंश अध्यात्ममें है, वही चाक्षुष पुरुष रवि है ।

शङ्का—सर्वसाधारण रविमें श्रोत्रत्व आदिको न मानकर चाक्षुषत्वको ही क्यों मानते हो?

समाधान—आदित्य सर्वसाधारण है, यह सत्य है, किन्तु तत्-तत्-प्राणिकर्म-

इन्द्रियस्योपसंहारादादित्यस्याऽप्युपेक्षया ।
आत्मा द्रष्टुमसामर्थ्यादरूपज्ञो भवेत्तदा ॥ २१ ॥
अस्मिन्नर्थे सर्वलोकप्रसिद्धिरभिधीयते ।
एकीभावादयं नैव पश्यतीति जगुर्जनाः ॥ २२ ॥

फलभोगार्थ तत्-तत्-प्राणि-कर्मवश तत्-तत् चक्षुसे परिच्छिन्न आदित्य चाक्षुष पुरुष माना गया है। अतएव 'आदित्यश्चक्षुर्भूत्वाक्षिणी प्राविशत्' यह श्रुति संगतार्थ होती है ॥ २० ॥

'इन्द्रियस्यो०' इत्यादि। चक्षुका अनुग्राहक देहगत आदित्यांश उक्त देह-भोगप्रद कर्मका क्षय होनेपर भोक्तृभोगसे विमुख होकर अपने अवयवी आदित्य-देवतास्वरूपमें जब लौट आता है, तब मुमूर्षु पुरुष अरूपज्ञ हो जाता है अर्थात् दृष्टिहीन हो जाता है।

शङ्का—अनुग्राहक आदित्यांशका अंशी देवतामें उपसंहार होनेपर भी रूपादिदर्शनहेतु नेत्र रहते हैं, अतः भोग क्यों नहीं होता ?

समाधान—गोलक या पुतलीमात्र नेत्र नहीं हैं, किन्तु तद्देशस्थ सूक्ष्म अतएव अतीन्द्रिय तेजोविशेष नेत्र हैं। जब तदनुग्राहक उक्त देवतांश लौटकर स्वावयवी आदित्यदेवतामें मिल जाता है, तब करण चक्षु भी निर्दिष्ट स्थानसे हट कर लिङ्गमें प्राप्त हो जाती है, अतः वह कार्यकरणसमर्थ नहीं रहती। श्रुतिस्थ 'अथ' शब्दका 'एवं सति' अर्थ है। तात्पर्य यह हुआ कि देवतांशका देवतामें और करणका लिङ्गमें ऐक्य होनेपर देवताच्युति, अनुग्राहकनिवृत्ति, करणच्युति और स्थानभ्रंश होता है। वस्तुतः मरणकालमें विषयज्ञान पुरुषको नहीं होता, उसका यह भी मुख्य कारण है कि रथादि अचेतनकी प्रवृत्ति जैसे चेतन अश्वादिसे अधिष्ठित होनेपर ही होती है, अन्यथा नहीं, वैसे ही अचेतन करणोंकी चेतनाधिष्ठानसे ही प्रवृत्ति होती है, इसमें अनुमान है—'विमता प्रवृत्तिश्चेतनाधिष्ठानपूर्विका, अचेतन-प्रवृत्तित्वात्, रथादिप्रवृत्तिवत्' 'यः प्राणेन प्राणिति' इत्यादि श्रुतिसे भी यही सिद्ध होता है। तथा च मरणकालमें चेतन अधिष्ठाता है नहीं, अतः करणादिकी प्रवृत्ति न होनेसे विषयज्ञानाभाव समुचित ही है ॥ २१ ॥

उक्त अर्थमें सर्वलोकप्रसिद्धि कहते हैं—'**अस्मिन्नर्थे**' इत्यादिसे।

एकीभाव होनेसे यह मुमूर्षु नहीं देखता है, ऐसा लोग कहते हैं। चक्षुका

श्रुतिः—एकीभवति न पश्यतीत्याहुरेकीभवति न जिघ्रतीत्याहुरेकीभवति न रसयत इत्याहुरेकीभवति न वदतीत्याहुरेकीभवति न शृणोतीत्याहुरेकीभवति न मनुते इत्याहुरेकीभवति न स्पृशतीत्याहुरेकीभवति न विजानातीत्याहुः ।

चक्षुर्बुद्धावैक्यमेति रवौ रव्यंश एकताम् ।
इन्द्रियान्तरतद्देवेष्वयं न्यायोऽत्र योज्यताम् ॥ २३ ॥

अनुग्राहक आदित्यांश आदित्यके साथ एक हो जाता है और करणांश लिङ्गके साथ एक हो जाता है, देवताकरणच्युति अरूपज्ञताका हेतु है, एकीकरण सुन कर मुमूर्षुके बन्धुगण उसके जीवनसे निराश हो जाते हैं, देवताकरणभागका गमन ही अज्ञानका कारण श्रुतिने कहा है और लोकप्रसिद्धिसे भी उक्त अर्थको दृढ किया गया है। परन्तु श्रुतिस्थ पाठक्रमसे अज्ञानके क्रमकी विवक्षा करनेमें अनुभवविरोध होगा, क्योंकि किसीकी प्रथम वाग् ही निरुद्ध हो जाती है—देखता है, पर बोल नहीं सकता। अतः इन्द्रियोंके गमनमें पूर्वापरभावनियम नहीं है, किन्तु अनुभवके अनुरोधसे उसका क्रम समझना चाहिए। श्रुतिका तात्पर्य क्रमप्रतिपादनमें नहीं है, किन्तु तत्तदिन्द्रियोंसे तत्तद्विषयावेदनमें तत्तद्देवता और तत्तत्करणोंकी तत्तत्स्थानसे च्युति ही कारण है, इस अर्थके प्रतिपादनमें है ॥ २२ ॥

'एकीभवति न पश्यतीत्याहु०' इत्यादि श्रुति। वार्तिकसारके नीचेके श्लोकव्याख्यानसे श्रुत्यर्थ स्पष्ट है।

'चक्षुर्बुद्धा०' इत्यादि। चक्षुका अनुग्राहक सूर्यांश रविमें और करणांश बुद्धि यानी लिङ्गमें उपसंहृत हो जाता है। एवं घ्राणादिके अनुग्राहक देवतांशके तत्तदधिष्ठानभूत देवतामें और करणांशके लिङ्गमें उपसंहृत होनेके कारण तत्तदिन्द्रियोंसे तत्तद्विषयका संवेदन नहीं होता। न देखता है, न सुनता है, न गन्ध ग्रहण करता है इत्यादि सम्पूर्ण ऐन्द्रियक ज्ञानाभावमें हेतु एकीभाव ही है, बाह्येन्द्रियवत् आन्तर बुद्धि और मनके विषयमें भी यही न्याय है। मनके विषयमें ऐसा है कि कभी मनकी अनुग्राहक देवता चन्द्रमें लौट कर मिल जाती है, तब पुरुष रूपको तो चक्षुसे देखता है। पर यह विवेक नहीं कर पाता कि यह रूप है। ऐसी अवस्थामें मनोदेवताका उत्क्रमण ही समझना चाहिए एवं बुद्धिदेवता प्रजापति है, उत्क्रान्त होकर बुद्धिदेवता जब प्रजापतिमें मिल जाती है,

श्रुतिः—तस्य हैतस्य हृदयस्याग्रं प्रद्योतते तेन प्रद्योतेनैष आत्मा निष्क्रामति चक्षुष्टो वा मूर्ध्नो वाऽन्येभ्यो वा शरीरदेशेभ्यस्तमुत्क्रामन्तं प्राणोऽनूत्क्रामति प्राणमनूत्क्रामन्तꣳ सर्वे प्राणा अनूत्क्रामन्ति ।

कृत्स्नप्राणोपसंहारसंयुक्तस्य मुमूर्षतः ।
नाड्यग्रं हृदयस्याऽथ प्रकर्षेण प्रकाशते ॥ २४ ॥
भाविदेहात्मता याऽस्य प्रत्यक्चैतन्यबिम्बता ।
वासनैवाऽऽत्मनः सैषा प्रद्योतवचसोच्यते ॥ २५ ॥

तो किसी भी विषयका निश्चयात्मक ज्ञान नहीं रहता है, मुमूर्षुकी ऐसी अवस्था होनेपर बुद्धिदेवतादिका उत्क्रमण समझना चाहिए । मनोदेवताके उत्क्रमणसे 'न मनुते' और बुद्धिदेवताके उत्क्रमणसे 'न विजानाति' ऐसा लोग कहते हैं ॥ २३ ॥

'तस्य हैतस्य हृदयस्याग्रम्' इत्यादि श्रुति। श्लोकव्याख्यानसे श्रुत्यर्थ स्पष्ट है।

करणोंकी स्वस्वस्थानसे प्रच्युति तथा हृदयदेशमें अवस्थान कह चुके, तदनन्तर उपसंहृताशेषकरण आत्माकी जैसे लोकान्तरगति होती है, उसे कहते हैं—**'कृत्स्न०'** इत्यादिसे ।

परलोकजिगमिषु पुरुषका हृदय, नाड़ी, मुख सर्वकरणोंके समावेशसे मरण-कालमें प्रकाशित होता है ।

शङ्का—नाडी और मुखके प्रकाशका क्या कारण है ?

समाधान—जो मरणकालमें नाड़ी और मुखका प्रकाश होता है, वह कर्मज है, उसका फल यह है कि जो लोक गन्तव्य होता है, उसका उसी समय प्रकाश होता है, तदनुकूल भावी देहका ज्ञान होता है ॥ २४ ॥

'भावि०' इत्यादि ।

शङ्का—कौन प्रकाश है ?

समाधान—मरणकालमें चैतन्यप्रकाश 'अयमहमस्मि' (यह मैं हूँ) ऐसी भावि-देहाकार वासना जो मुमूर्षु प्राणीको होती है, वही वासना प्रद्योतनपदसे प्रकृतमें विवक्षित है ।

शङ्का—भावी देहज्ञानमें अहन्ता और ममताका उल्लेख भी होता है ?

समाधान—हाँ, होता है, जिगमिषु प्राणीको कर्मवश भाविशरीरमें पुरुषतादात्म्य होता है, वही अहंता, ममता आदिका मूल है ।

य एष कर्मजो बुद्धेः प्रकाशो जायते मृतौ ।
स्वकर्मनिर्मितं लोकं तेनाऽऽत्माऽयं प्रपश्यति ॥ २६ ॥

शङ्का—मरणकालमें उपसंहृत-सकलकरण आत्माको भाविदेहज्ञान कैसे हो सकता है ? क्योंकि इन्द्रियादि सहकारी कारणके बिना केवल कर्ममें ज्ञान-हेतुत्वकी संभावना भी नहीं है।

समाधान—ठीक है, इसीका उत्तर श्लोकमें दिया है। चैतन्यप्रतिबिम्बित वासना ही प्रकृतमें हृदयप्रद्योतनपदसे विवक्षित है, भौतिक प्रकाश नहीं।

शङ्का—वासना भी अनुभवोत्तर कालमें होती है। भावी देहका अभी अनुभव ही नहीं है, तो वासना ही कैसे होगी ?

समाधान—मरणसे छः महीने पूर्व ही अनुभव होने लगता है। साधारण जीवको मालूम न हो, पर विशिष्ट पुरुषोंको ज्ञात होता ही है। अलौकिक अर्थको श्रुतिके अनुसार ही मानना चाहिए।

शङ्का—श्रुतिप्रमाणसे माना कि ज्ञान होता है, पर फिर भी यह सन्देह होता है कि मरणकालमें जब सब करणदेवताओंका उपसंहार हो जाता है, तब उक्त ज्ञान व्यक्त कैसे हो सकता है ? कारण कि तत् तत् देवता-विशिष्ट करण और आत्माका संयोग ज्ञानका हेतु है, वह प्रकृतमें है नहीं, अतएव वासना भी नहीं हो सकती, कारण कि वासनाका आश्रय सदेवताक मन है, सो भी उपसंहृत हो चुका है।

समाधान—इसका उत्तर आगे कहेंगे ॥ २५ ॥

'य एष कर्म०' इत्यादि।

शङ्का—हृदयाग्रप्रद्योतनका कारण और फल क्या है ?

समाधान—स्वकर्म कारण है, जैसा कर्म होता है, मरणकालमें तदनुरूप लोक-प्रकाश होता है। शुभकर्मसे भावी शुभलोक और दुष्कर्मसे दुःखलोक देखता हुआ आत्मा शरीरस्थ हृदय-प्रदेशसे निकलता है। कर्मवश भावी देहका विज्ञान और उसमें अहन्तादि उत्पन्न होते हैं। स्वकर्मनिर्मित लोकदर्शन ही फल है।

शङ्का—मरणकालिक पुरुषार्थानुपयोगी बाह्य और आभ्यन्तर इतिवृत्तके निर्देशका प्रयोजन क्या है ?

समाधान—विद्वानोंको चाहिए कि श्रुतिनिर्दिष्ट प्राणियोंकी कर्मगतिको देखकर सदा समीचीन कर्मानुष्ठानमें ही निरत रहें। निषिद्ध कर्म यद्यपि आरम्भमें भले ही

स्वप्नवत्प्राप्ततद्भावः पश्चाद्देहाद्विनिःसरेत् ।
गम्यलोकानुसारेण द्वारं स्याच्चक्षुरादिकम् ॥ २७ ॥
चक्षुर्द्वारं सूर्यलोके ब्रह्मलोके शिरस्तथा ।
लोकान्तरेष्वन्यनाड्या कर्म तत्र नियामकम् ॥ २८ ॥
लिङ्गं तु सर्वतो गच्छन्न क्वचित्प्रतिहन्यते ।
अतिसूक्ष्मस्वभावत्वात्सूक्ष्मसूची पटे यथा ॥ २९ ॥

सुखप्रद हो, तो भी परिणाममें सदा विरस ही रहता है, इसलिए उसे सदा त्याज्य ही समझें ॥ २६ ॥

उक्त करणाभावप्रयुक्त ज्ञानवासनाके अभावकी शङ्काका समर्थन करते हैं—'स्वप्नवत्' इत्यादिसे ।

जैसे स्वप्नमें चक्षु आदि इन्द्रियाँ लीन हो जाती हैं, अतएव स्वप्नकालमें मनके साथ नहीं रहतीं, फिर भी स्वप्नमें चाक्षुषादि ज्ञान होता ही है । ज्योतिर्ब्राह्मणमें श्रुतिने कहा है कि जाग्रद्वासनादान द्वारा स्वकीय चैतन्यज्योतिसे करणोंके बिना भी चाक्षुष आदि ज्ञान होता है, वैसे ही मरणकालमें भी उक्त प्रद्योतन होना है । उक्त प्रद्योतनसे प्रद्योतित मार्गसे मुमूर्षु हृदयसे यथाकर्म सुखपूर्वक अथवा दुःखपूर्वक निकलना है । गम्यलोकानुसार शरीरावयवोंसे प्राणीका निष्क्रमण होता है ॥ २७ ॥

'चक्षुर्द्वारम्' इत्यादि । सूर्यलोककी प्राप्तिके लिए चक्षुसे गति होती है और ब्रह्मलोककी प्राप्तिके लिए शिरसे गति होती है । तत्-तत् द्वारोंसे गतियोंका कारण कर्म है, उत्तम कर्म करनेसे उत्तम स्थान द्वारा निष्क्रमण उत्तम लोककी प्राप्तिका हेतु होता है । मध्यम कर्मसे मध्यम स्थानसे निष्क्रान्त होकर प्राणी मध्यम लोकको प्राप्त होता है । निकृष्ट कर्मोंसे निकृष्ट स्थानसे निकलकर निकृष्ट लोकमें जाता है । प्रायणकर्म ही भावी शुभाशुभ फलका बोधक होता है । यथाश्रुत यथाकर्म अन्यान्य लोककी प्राप्ति अन्यान्य नाड़ीनिर्गमोंसे होती है ॥ २८ ॥

'लिङ्गं तु' इत्यादि ।

शङ्का—देहसे विनिर्गत लिङ्गात्माका देहान्तरगमन नहीं हो सकता, कारण कि अनेक पदार्थोंका प्रतिघात होनेपर गति रुक सकती है ?

समाधान—अतिसूक्ष्मस्वभाव होनेसे लिङ्गकी गति किसीसे रुक नहीं सकती है । जैसे अति सूक्ष्म सुई किसी पटमें प्रतिहत नहीं होती, किन्तु सबके

तमुत्क्रामन्तमात्मानमनु प्राणस्य निर्गमः ।
निर्गच्छन्तं प्राणमनु प्राणास्ते चक्षुरादयः ॥ ३० ॥
नन्वात्मप्राणवागादेरन्योऽन्यव्यतिमिश्रणात् ।
क्रमो नाऽत्रेति चेन्मैवं क्रमस्याऽत्राऽनपेक्षणात् ॥ ३१ ॥
विवक्षितं प्रयोक्तृत्वमत्रोच्चिक्रमिषाऽऽत्मनः ।
प्रयोजकः प्राणगतेः प्राणः सोऽन्यप्रयोजकः ॥ ३२ ॥

अभ्यन्तरमें प्रविष्ट हो जाती है, वैसे ही वह अभेद्य लोहमें भी प्रविष्ट होकर निकल आता है ॥ २९ ॥

'तमुत्क्रामन्त०' इत्यादि। लिङ्गात्माके उत्क्रमणके पश्चात् प्राणका उत्क्रमण होता है और प्राणके उत्क्रमणके पश्चात् चक्षु आदि प्राणोंका (इन्द्रियोंका) उत्क्रमण होता है ॥ ३० ॥

'नन्वात्मप्राण०' इत्यादि ।

शङ्का—आत्मा, प्राण, वाक् आदिका परस्पर सम्मिश्रण है, उनकी भिन्न देश और कालमें स्थिति नहीं रहती। उस समय सबका अवस्थान हृदयदेशमें ही रहता है, फिर क्रम कैसा ?

समाधान—हाँ ठीक है, यहां क्रम विवक्षित नहीं है, किन्तु इनके निष्क्रमणोंमें प्रयोज्यप्रयोजकभावकी विवक्षा है—आत्मा प्रधान है, उसकी अपेक्षा प्राण अप्रधान है, प्राणकी अपेक्षा वागादि इन्द्रियाँ अप्रधान हैं। प्रधान निष्क्रमणाधीन अप्रधानोंका निष्क्रमण होता है, तदनुसार 'आत्मानमुत्क्रामन्तं प्राणोऽनूत्क्रामति' इत्यादि कहा गया है ॥ ३१ ॥

'विवक्षितम्' इत्यादि ।

शङ्का—आत्मा आदिमें प्रयोज्यप्रयोजकभाव क्या है ?

समाधान—जीवाश्रयोत्क्रान्तीच्छा प्राणोत्क्रान्तिकी प्रयोजिका है, प्राणोत्क्रान्ति वागाद्युत्क्रान्तिकी प्रयोजिका है। राजाकी जिगमिषा तदाश्रित जनोंके गमनकी प्रयोजक होती है, यह लोकमें प्रसिद्ध ही है। प्राणादिका ईश्वर आत्मा ही है।

शङ्का—जीवोत्क्रान्तिका प्रयोजक क्या है ?

समाधान—मुख्य प्राणोत्क्रान्ति जीवोत्क्रान्तिकी प्रयोजिका है। जीवोत्क्रान्ति स्वप्रयोजकत्वेन प्राणोत्क्रान्तिकी आक्षेपिका है, यही जीवोत्क्रान्तिकी उत्पादिका है।

श्रुतिः—सविज्ञानो भवति सविज्ञानमेवान्ववक्रामति तं विद्याकर्मणी समन्वारभेते पूर्वप्रज्ञा च ॥ २ ॥

देहाज्जिगमिषुः प्राणसहितो निर्गतः पुनः ।
सविज्ञानो भवेत्पूर्वं हृदि प्रद्योतनं यथा ॥ ३३ ॥
पुरा नाडीविशेषेण निर्गन्तुं ज्ञानमीरितम् ।
गन्तुं लोकविशेषेऽथ पुनर्विज्ञानमीर्यते ॥ ३४ ॥

'किसके उत्क्रमणसे हम उत्क्रान्त होंगे' इत्यादि प्रश्नोत्तर श्रुतिमें स्पष्ट ही है। तदुच्चिक्रमिषाका प्रयोजक कर्मादि स्फुट ही है ॥ ३२ ॥

'सविज्ञानो भवति' इत्यादि श्रुति । वार्तिकसारके नीचेके श्लोकोंके व्याख्यानसे श्रुत्यर्थ स्पष्ट है ॥ २ ॥

'सविज्ञानो भवति' इस श्रुतिकी व्याख्या करते हैं—**'देहात्'** इत्यादिसे ।

देहसे जिगमिषु जीव प्राणसहित निकलकर फिर सविज्ञान होता है । जैसे हृदयप्रद्योतनावस्थामें जीव सविज्ञान हुआ था, वैसे ही सप्राण देहसे निकलकर गन्तव्य मार्गका निश्चय करनेके लिए फिर सविज्ञान होता है ॥ ३३ ॥

'पुरा नाडी०' इत्यादि ।

शङ्का—हृदयप्रद्योतनसे ही मार्ग प्रकाशित हो चुका, फिर विज्ञानोत्पत्तिका कथन व्यर्थ है ।

समाधान—दोनों ज्ञानोंका फल पृथक् पृथक् है, प्रथम नाडीविशेषका परिज्ञान नाड़ी द्वारा निकलनेके लिए कहा गया है, क्योंकि अज्ञात द्वारसे निष्क्रमण नहीं हो सकता । निकलनेपर पुनः सविज्ञानकथन गन्तव्य देशविशेषके ज्ञानके लिए है; अतः पुनः सविज्ञान कथन व्यर्थ नहीं है ।

शङ्का—प्राणोपाधिक चैतन्य जीव है । चैतन्य क्रियाका आश्रय नहीं होता । प्राण सक्रिय है, अतः प्राणका उत्क्रमण हो सकता है; किन्तु जीवका निष्क्रमण कैसे ?

समाधान—जैसे जलपात्रमें सूर्यका प्रतिबिम्ब पड़ता है, जलपात्रके अन्यत्र ले जानेपर तत्प्रतिबिम्ब भी अन्यत्रगत प्रतीत होता है, वस्तुतः प्रतिबिम्बमें गति नहीं है, वैसे ही जीवाभिन्न होकर प्राण जब देहसे बाहर जाता है, तब तदनुसारी जीवचैतन्य भी बाहर जाता है, ऐसा प्रतीत होता है । जैसे उत्क्रमणसे पूर्व श्रुत और कर्मके अनुसार भाविदेहविज्ञानसहित होता है, वैसा

निर्गत्य नगरद्वारविशेषाद् बुद्धिपूर्वकम् ।
ततो गन्तव्यदेशस्य विशेषश्चिन्त्यते यथा ॥ ३५ ॥
ज्ञानद्वयं कर्मजन्यं पुंसः स्वातन्त्र्यमत्र न ।
अन्यथा मरणे सर्वो ज्ञात्वाऽऽत्मानं कृती भवेत् ॥ ३६ ॥

उत्क्रान्त्यनन्तर भी वह गन्तव्य देशविशेषविषयक विज्ञानसे उद्भासित गन्तव्य देशको जाता है ॥ ३४ ॥

उक्तार्थको दृष्टान्त द्वारा स्पष्ट करते हैं—**'निर्गत्य नगर०'** इत्यादिसे ।

जैसे गन्ता पुरुष प्रथम द्वारविशेषका ज्ञान कर उसके द्वारा बाहर निकलता है, तदनन्तर गन्तव्य देशविशेषका अवधान करता है कि अमुक ग्राममें जाना है, यह निश्चयकर तदनुसार गमन करता है, वैसे ही शरीरनिर्गत सप्राण जीव भी स्वगन्तव्यदेशविषयक विज्ञानवान् होकर ही अभीष्ट देशके लिए चलता है। माध्यंदिनवाक्यमें 'संज्ञान' लिखा है । उसका तात्पर्य्य है—प्रत्यभिज्ञान ।

शङ्का—अननुभूत अर्थका प्रत्यभिज्ञान नहीं हो सकता ।

समाधान—मरणसे पूर्व मुमूर्षुको 'हृदयाग्रप्रद्योत' शब्दसे शब्दित जो भावि-देहादिज्ञान होता है, वही प्रत्यभिज्ञानशब्दसे यहाँ इष्ट है। हृदयप्रदेशसे निष्क्रान्त जीवका ज्ञानके बिना देहान्तरगमन नहीं हो सकता। अतः पुनः सविज्ञान कहा गया है ॥ ३५ ॥

'ज्ञानद्वयम्' इत्यादि। मरणकालमें दो ज्ञान—नाड़ीका ज्ञान तथा गन्तव्य-लोकका ज्ञान—कर्मजन्य हैं। उस कालमें उक्त दो ज्ञानोंके संपादनमें पुरुष स्वतन्त्र नहीं है, जिससे कि तात्कालिक अनुकूल दो ज्ञानोंको प्राप्त कर ले। यदि ऐसा होता, तो सभी पुरुष मृतिमात्रसे कृती हो जाते यानी उस समय आत्मज्ञानी होकर मुक्त हो जाते। अतः यह उपदेश स्वस्थावस्थाके लिए है अर्थात् जब पुरुष स्वस्थ है उसी समय सब कर्मोंका संन्यास कर यमनियमाद्यनुष्ठानपूर्वक चित्तवृत्तिनिरोधलक्षण योगाभ्याससहित आत्मविचार द्वारा अनन्त पुण्यका संपादन करना चाहिए। इसी अन्तिम ज्ञानके विषयमें गीतामें श्रीमुखसे स्वयं भगवान् कहते हैं कि 'यं यं वापि स्मरन् भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम् । तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः ॥' इसीको प्रायण-ज्ञान कहते हैं। तात्कालिक ज्ञानके अनुसार ही शुभ और अशुभ फलकी प्राप्ति होती है। इसीके विषयमें गोस्वामी श्रीतुलसीदासजीने भी कहा है—'कोटि कोटि

यत एवमतः पुंभिः स्वातन्त्र्यार्थं प्रयत्नतः ।
योगादिसाधनाभ्यासः कर्तव्यः पुण्यसञ्चयः ॥ ३७ ॥

हेतुर्जाग्रद्वासनाऽस्य स्वप्नारम्भे यथा तथा ।
जन्मान्तरारम्भहेतुः किं स्यादिति तदुच्यते ॥ ३८ ॥

विद्या सम्पादिता तेन पुरा कर्म च यत्कृतम् ।
या वासना च तत्सर्वं जन्मभोग्यादिकारणम् ॥ ३९ ॥

मुनि यतन कराहीं । अन्त राम कहि आवत नाहीं' । एतदर्थ ही सब शास्त्रोंका महान् आरम्भ है । यह धर्म है, इसका यत्नतः सदा अनुष्ठान करना चाहिए, यह अधर्म है इसका यत्नतः परिहार करना चाहिए । इसका भी प्रयोजन मृतिकालमें साधु बुद्धि हो, यही है । वह धर्मानुष्ठान ही से होगी । एवं अधर्मकर्मके त्यागसे ही असाधु बुद्धिका मरणकालमें परिहार होगा, अन्यथा नहीं । इसलिए सदा अधर्मके त्यागमें तत्पर होना चाहिए । यद्यपि शास्त्रोंमें सुखकी प्राप्तिके लिए धर्मका विधान है और दुःखके परिहारके लिए अधर्मकी निन्दा है, तथापि शुभबुद्धिके उत्पादन द्वारा ही धर्माधर्मानुष्ठानाननुष्ठान उक्त कार्यके (सुख आदिके) कारण होते हैं ॥३६॥

उत्क्रान्तिप्रकरणका अभिप्राय कहते हैं—'**यत एवम०**' इत्यादिसे ।

मरणकालमें कर्माधीन मनुष्य स्वतन्त्र नहीं है, अतएव इच्छानुसार स्वयं कर्म नहीं कर सकता, अतः उस कालमें स्वातन्त्र्यार्थ योगादिसाधनाभ्यास और पुण्यसंचय करना चाहिए ॥ ३७ ॥

'**हेतुर्जाग्रद्०**' इत्यादि ।

प्रश्न—स्वप्नारम्भमें जैसे जाग्रद्वासना कारण है यानी 'दृष्टश्रुतार्थान् मनसाऽनुचिन्तयन्' इत्याद्यभियुक्तोक्त प्रकारसे जो दृष्ट या श्रुत विषय होता है, उसीका मनन करनेपर जैसे रात्रिमें स्वप्न होता है, वैसे ही जन्मान्तरारम्भमें हेतु क्या है ? ॥ ३८ ॥

प्रश्नका उत्तर कहते हैं—'**विद्या**' इत्यादिसे ।

संसारमें पुरुष स्थूल देह द्वारा स्थानान्तरमें गमन करता है, यह प्रसिद्ध ही है । मरणोत्तर लोकान्तरमें लिङ्गशरीरारूढ़ होकर पुरुष जाता है । पूर्वार्जित विद्या, शुभाशुभकर्म तथा तदनुकूल वासना—ये ही तीन जन्मान्तरारम्भके प्रधान कारण हैं ॥ ३९ ॥

सम्यक्संशयमिथ्याख्यज्ञानत्रयमुदीर्यते ।
विद्येति ब्रह्मविद्या तु न ग्राह्या जन्मघातिनी ॥ ४० ॥
मनोवाक्कायसाध्यं यच्छास्त्रतो यदि वाऽन्यतः ।
दृष्टादृष्टार्थरूपं तत्सर्वं कर्मेह गृह्यते ॥ ४१ ॥

'सम्यक्' इत्यादि । सम्यग्ज्ञान (व्यवहारकालाबाध्यविषयक ज्ञान), संशय ज्ञान और मिथ्या ज्ञान—ये तीनों ज्ञान विद्यापदार्थरूपसे प्रकृतमें विवक्षित हैं ।

शङ्का—विद्यापदसे ब्रह्मविद्याका भी ग्रहण क्यों नहीं करते ?

समाधान—यहाँ विद्यापदसे बन्धहेतु विवक्षित है । ब्रह्मविद्या तो जन्मध्वंसिनी है, अतः वह प्रकृतमें विवक्षित नहीं है ।

शङ्का—विद्यापदसे बन्धहेतुका ग्रहण क्यों है ?

समाधान—कर्मसाहित्य बन्धहेतु अविद्यामें ही हो सकता है, ब्रह्मविद्यामें नहीं, वह तो संसारकारणकी ध्वंसिनी है, अतः अपारमार्थिक विषयज्ञानका ही यहाँ ज्ञानपदसे ग्रहण करना अभीष्ट है ॥ ४० ॥

कर्मशब्दार्थको कहते हैं—**'मनोवाक्०'** इत्यादिसे ।

शुभाशुभात्मक कर्म तीन प्रकारके होते हैं—एक कायिक, जो शरीरसे होते हैं, दूसरे वाचिक ? जो वाणीसे होते हैं और तीसरे मानसिक यानी जो मनसे होते हैं । शास्त्रसे विहित जो कर्म हैं, वे शुभ कर्म हैं । अन्यतः यानी काम-क्रोधादिवश जो उक्त त्रिविध कर्म होते हैं, वे दो प्रकारके होते हैं—एक दृष्टार्थक और दूसरे अदृष्टार्थक । जिनका पुत्रयशग्रामादिप्राप्ति फल है, वे कर्म दृष्टार्थक हैं और जिनका स्वर्गादिप्राप्तिफल है, वे कर्म अदृष्टार्थक कहे जाते हैं । ये सब प्रकृतमें कर्मसे विवक्षित हैं । लोकान्तरमें जा रहे पुरुषके पीछे पीछे ज्ञानकर्म भी जाते हैं, अतएव श्रुतिमें 'तं समन्वारभेते' ऐसा निर्देश है, अनुशब्दका पश्चात् अर्थ स्पष्ट ही है ।

शङ्का—पुरुष तो लोकान्तरमें या शरीरान्तरमें फल भोगनेके लिए जाता है, विद्या और कर्म क्यों जाते हैं ?

समाधान—ज्ञान और कर्म स्वतन्त्र नहीं रह सकते, किन्तु सदा आश्रयपरतन्त्र ही रहते हैं, यह उनका स्वभाव है, अतः स्वस्वभाववश ये भी जाते हैं और ये ही लोकान्तरगमनमें तथा शरीरान्तरारम्भमें साधन होते हैं ॥ ४१ ॥

कर्मणः क्रियमाणस्य संस्कारो यो हृदि स्थितः।
तत्फलस्य च भुक्तस्य पूर्वप्रज्ञेति सोच्यते ॥ ४२ ॥
षण्मासशेषप्रोद्भूता भावना याऽस्य देहिनः।
मरिष्यतोऽन्यदेहार्था पूर्वप्रज्ञेति तां विदुः ॥ ४३ ॥
पूर्वप्रज्ञात उद्भूतिर्विद्यायाः कर्मणस्तथा।
ताभ्यां च भावनोद्भूतिरित्यन्योऽन्यस्य हेतुता ॥ ४४ ॥

'कर्मणः' इत्यादि।

शङ्का—पूर्वप्रज्ञाशब्दका क्या अर्थ है ?

समाधान—क्रियमाण कर्मका और भुक्त तत्फलका हृदयस्थित जो संस्कार है, वही पूर्वप्रज्ञा कही जाती है। उपात्त कर्म और अपूर्व—इन दोनों हेतुओंसे मरणकालमें पूर्वोक्त प्रज्ञा कार्याभिमुखसे अभिव्यक्त होती है ॥ ४२ ॥

पूर्वप्रज्ञाशब्दका अर्थान्तर कहते हैं—'षण्मासशेष०' इत्यादिसे।

उत्तर श्लोकसे मरणकालसे छः मास पूर्व मरनेवाले प्राणीको भावी देहमें 'मैं हूँ' यह जो भावना होती है और कभी-कभी यह वासना होती है कि मैं उस देहमें हूँ, इसीको पूर्व प्रज्ञा कहते हैं।

शङ्का—अच्छा तो विद्या, कर्म और पूर्वप्रज्ञा—इन तीनोंका समाससे ही निर्देश क्यों नहीं किया ? ज्ञान और कर्मका समाससे निर्देश किया और पूर्वप्रज्ञाका पृथक् निर्देश किया है, 'विद्याकर्मणी पूर्वप्रज्ञा च' ऐसा श्रुतिमें निर्देश है, 'विद्याकर्मपूर्वप्रज्ञाः' ऐसा क्यों नहीं कहा गया ? असमाससे कहनेका तात्पर्य क्या है ? ॥४३॥

समाधान—'पूर्वप्रज्ञात' इत्यादि। पूर्वप्रज्ञा और विद्याकर्म—इन दोनोंमें परस्पर हेतुहेतुमद्भाव—कार्यकारणभाव—है अर्थात् ज्ञान और कर्म पूर्वप्रज्ञाके कारण हैं, तृणारणिमणिन्यायेन कारण नहीं है, किन्तु दोनों मिलकर कारण हैं। कार्यमें कारणका एकरूपसे निर्देश करना ही उचित होता है; अतः ज्ञान और कर्मका समाससे निर्देश किया है, कारणकोटिसे कार्यकोटिका पृथक् निर्देश होता ही है। यदि समाससे ही तीनोंका निर्देश किया जाता, तो मिथः कार्यकारणभावकी प्रतीति न होती।

'पूर्वप्रज्ञात उद्भूतिर्विद्यायाः कर्मणस्तथा'।

ऐसा वार्तिकमें पाठ उपलब्ध होता है, आदर्श प्रतिमें जो 'पूर्वप्रज्ञा तदुद्भूत' पाठ

कर्मणो भुज्यमानस्य परिशेषो हि भावना।
मूलं च जायमानस्य प्रधानं तेन भावना ॥ ४५ ॥
देहं विद्या परिच्छिन्द्यादीदृशो देह इत्यथ।
विकर्तृ कर्म वोढ्री तु पूर्वप्रज्ञेह पूर्वयोः ॥ ४६ ॥
समर्था सैव ते यस्मादुद्वोढुं ज्ञानकर्मणी।
नरस्याऽतः प्रधानत्वात्ताभ्यां सा गृह्यते पृथक् ॥ ४७ ॥

है, वह प्रामादिक है। यद्यपि पूर्वप्रज्ञासे ज्ञान-कर्म और ज्ञान-कर्मसे पूर्वप्रज्ञा होती है, इस प्रकार परस्पर कार्यकारणभाव आदर्शपाठसे भी प्रतीत होता है। तथापि वार्तिक-पाठसे जैसा उक्तार्थ सुस्पष्ट होता है, वैसा उक्त पाठसे नहीं होता, तदुद्भूतका विद्याके साथ समास होनेसे कर्मके साथ सम्बन्ध भी दुर्घट है, अतः उक्त पाठ असङ्गत ही है ॥ ४४ ॥

'कर्मणो' इत्यादिसे।

शङ्का—पूर्वप्रज्ञा और ज्ञानकर्म—इनमें यदि परस्पर हेतुहेतुमद्भाव मानते हो, तो तीनों सम ही हैं, फिर पूर्वप्रज्ञामें ही प्राधान्य क्यों?

समाधान—भुज्यमान कर्मका अवशिष्ट अंश भावना कही जाती है, यही भावी शरीरके धारणमें मूल है, मूल ही प्रधान माना जाता है, इस अभिप्रायसे पूर्वप्रज्ञामें प्राधान्य कहा गया है ॥ ४५ ॥

'देहम्' इत्यादि। किञ्च, तीनोंके कार्योंपर ध्यान देनेसे भी भावनापर-पर्याय पूर्वप्रज्ञामें ही प्राधान्य सिद्ध होता है। देहगत रूपादिपरिणाम विद्याका फल है, कर्म अवयवोपचयका कारण है और पूर्वप्रज्ञा विद्या और कर्मोंकी निर्वाहिका है। मृत प्राणीके ज्ञानकर्म स्वरूपसे तो रह नहीं सकते, कारण कि ज्ञानकर्मका कारण शरीर, इन्द्रिय आदि हैं, इनके बिना स्वरूपसे उनके अवस्थानकी संभावना नहीं है, किन्तु वासनात्मक ही ज्ञानकर्मकी स्थिति हो सकती है, अतः तन्निर्वाहकत्वेन वासना ही उन दोनोंसे प्रधान है ॥ ४६ ॥

'समर्था' इत्यादिसे।

वासनाप्राधान्यका उपसंहार करते हुए फलितार्थ कहते हैं—

मनुष्यकी वासना ही ज्ञान और कर्मको धारण करनेमें समर्थ है, अतः उसमें प्रधान है, इसीलिए ज्ञान और कर्मसे उसका पृथक् उपादान है ॥ ४७ ॥

ननु जीवगतौ वादिविवादो बहुधेष्यते ।
वृक्षाद्वृक्षान्तरं पक्षी यात्येवमिति केचन ॥ ४८ ॥

आतिवाहिकदेहेन याति नावा जले यथा ।
प्रभाया इव सङ्कोचविकासावात्मनो गतिः ॥ ४९ ॥

'ननु जीव०' इत्यादि । जीव एक देहसे देहान्तरमें जाता है, यह तो ठीक है परन्तु गतिप्रकारमें बहुत विवाद है। इस विवादके साथ जीवस्वरूपमें भी विवाद हो जाता है—किसीका कहना है कि जैसे पक्षी एक वृक्षसे उड़कर दूसरे वृक्षपर बैठता है, वैसे ही जीव एक शरीरसे निकलकर शरीरान्तरमें प्रविष्ट होता है । इस कथनके अनुसार जीव पक्षीके समान परिच्छिन्न है । आकाशके समान व्यापक नहीं है ॥ ४८ ॥

'आतिवाहिक०' इत्यादि । देवतावादियोंका मत है कि देवता जिस देहसे जीवको परलोकमें ले जाता है वह आतिवाहिक देह कहलाती है। उसी आतिवाहिक देहपर जीवको बैठाकर, जैसे मलाह नौकापर यात्रीको बैठाकर नदी पार कराता है वैसे ही देवता संसारसे पार कराता है । दिगम्बरैकदेशीका मत है—घड़ेके भीतर प्रदीप रहनेपर घड़ेके भीतर ही प्रकाश होता है अर्थात् प्रकाश संकुचित हो जाता है, परन्तु घड़ेके फूटनेपर उसका प्रकाश दूरदेशव्यापी विकसित हो जाता है वैसे ही आत्मप्रकाश भी संकोच और विकाससे युक्त है। शरीरके नष्ट होनेपर आत्मप्रकाश विकसित होता है। यही आत्मगति कही जाती है । वार्त्तिककी टीकामें यह सांख्यादिका मत कहा गया है । सारमें दिगम्बरैकदेशीका मत कहा गया है । चाहे जिसका हो, पर श्रुतिसम्मत यह मत नहीं है, इसलिए इसपर विशेष विवेचन नहीं किया गया है । वैशेषिक मतमें आत्मा व्यापक है, अतः उसकी गति नहीं हो सकती । केवल मनोमात्र ही परलोकमें जाता है। और श्रुत कर्मके अनुसार भोगके लिए शरीर, इन्द्रिय आदि वहीं आरब्ध होते हैं । मनको नित्य मानते हैं, उसका आरम्भ नहीं हो सकता । शेष इन्द्रियां शरीरके समान वहीं आरब्ध होती हैं । यद्यपि वेदान्तसूत्रके अनुसार इन्द्रियोंका भी गमन होता है, तथापि शरीरके समान उनका भी वहां आरम्भ हो सकता है, अतः इन्द्रियोंका जाना व्यर्थ है, यह नैयायिकोंका भाव है ॥ ४९ ॥

सर्वगस्य मनोमात्रं गच्छेद्देहान्तरं प्रति ।
वृत्त्युद्भवः सर्वगाणामक्षाणां वपुरन्तरे ॥ ५० ॥

श्रुतिः—तद्यथा तृणजलायुका तृणस्यान्तं गत्वाऽन्यमाक्रममाक्रम्यात्मानमुपसꣳहरत्येवमेवायमात्मेदꣳशरीरं निहत्याविद्यां गमयित्वाऽन्यमाक्रममाक्रम्यात्मानमुपसꣳहरति ॥ ३ ॥

इति पञ्च मतानि स्युः श्रुतिस्तु स्वमतं जगौ ।
जीवस्तृणजलूकेव देहाद् देहान्तरं व्रजेत् ॥ ५१ ॥

'सर्वगस्य' इत्यादि । न्यायमतमें आत्मा सर्वग (व्यापक) है, अतः मनोमात्र ही देहान्तरमें जाता है, सो पूर्वमें कह चुके । इसी विषयमें वार्तिकमें 'किंवा सर्वगतानां स्यात्करणानामिहाऽऽत्मनि। श्रुतकर्मानुरोधेन वृत्तिहान्युद्भवौ क्वचित् ॥' ऐसा कहा है । इसकी टीकामें लिखा है—यह औपनिषद्दर्शन है । वार्तिकसारमें यह सांख्यमत कहा गया है । यहां वार्तिकसारकी टीका ही युक्तियुक्त प्रतीत होती है । औपनिषद मतमें इन्द्रियां आहंकारिक नहीं हैं, किन्तु भौतिक ही मानी जाती हैं । सारके आधे श्लोकमें वैशेषिकमत कहा गया है । आधेमें सांख्यमत । उसमें इन्द्रियां अहंकार-प्रतीक होनेसे सर्वत्र हैं । और केवल कर्मानुसार तत्-तत् देहमें वृत्तिलाभ होता है । उक्त दोनों मतोंमें साम्य इतना है कि चक्षुरादि इन्द्रियां जीवके साथ नहीं जातीं, किन्तु शरीरान्तरमें व्यापक इन्द्रियां पहिलेसे ही हैं । केवल वृत्तिलाभ यानी तत्तद्विषयग्रहण होता है ॥ ५० ॥

'तद्यथा तृणजलायुका' इत्यादि श्रुतिः । अर्थ अतिस्पष्ट है । सार-श्लोकोंके व्याख्यानसे ही श्रुति भी व्याख्यात हो जायगी, इसलिए पृथक् व्याख्यान नहीं किया गया है ।

'इति पञ्च०' इत्यादि । जीववादिमत, देवतावादिमत, दिगम्बरैकदेशिमत, वैशेषिकमत और सांख्यमत यों पाँच मत जीवगतिके विषयमें कहे गये हैं । ये सब श्रुतिसम्मत नहीं हैं । अनन्तर श्रुतिसम्मत मतका निर्देश करते हैं । जलूका और जलायुका ये दो नाम कीटविशेषके हैं । वह कीट स्वमुखके अग्रिमभागसे गन्तव्य तृणके अग्रिमभागको पकड़ कर पूर्वभागको छोड़ता है, यह लोकमें प्रसिद्ध है एवं जीव वर्तमान देहसे भावी देहमें जाता है । भावना भावी देहका स्पर्श करती हुई पूर्व देहका त्याग करती है, इसमें दृष्टान्त तृणजलूकादि है ।

जलूका हि तृणाग्रस्था स्वमुखेन तृणान्तरम् ।
अवलम्ब्य वपुः शिष्टं तत्सर्वत्रोपसंहरेत् ॥ ५२ ॥

लिङ्गोपाधिक आत्माऽपि क्रियाशक्त्युपसंहृतेः ।
पातयित्वा वपुर्ज्ञानशक्तिं संहरते तथा ॥ ५३ ॥

देहस्थ एव धीवृत्त्या भावयन् वपुरन्तरम् ।
लिङ्गोपाधिकमात्मानं प्रापयेदन्यदेहकम् ॥ ५४ ॥

ननु देहान्तरारम्भ उपादानं किमात्मनः ।
एतद्देहारम्भकं यत्तदेवोताऽन्यदीर्यताम् ॥ ५५ ॥

वर्तमान शरीरके आम्भक कर्मका क्षय होनेपर भावना लिङ्ग शरीरके उपसंहार द्वारा वर्तमान शरीरको निश्चेष्ट करती हुई और भावी शरीरका स्पर्श करती हुई जलूकाके समान पूर्वगृहीत देहका त्याग करती है ॥ ५१ ॥

'जलूका' इत्यादि । जैसे तृणाग्रस्थ जलूका स्वमुखके अग्रभागसे तृणा-न्तरको पकड़ कर अवशिष्ट शरीरभागका अपने शरीरके उत्तरांशमें उपसंहार करती है ॥ ५२ ॥

दार्ष्टान्तिक-विभाग करते हैं—**'लिङ्गो०'** इत्यादिसे ।

वैसे ही लिङ्गात्मा क्रियाशक्तिके उपसंहारसे शरीरको निश्चेष्ट कर ज्ञान-शक्तिका आत्मामें अविद्यासे उपसंहार करता है ॥ ५३ ॥

'देहस्थ' इत्यादि । अर्थ व्याख्यात हो चुका ॥ ५४ ॥

'ननु' इत्यादि ।

शङ्का—देहान्तरारम्भमें उपादानकारण है या नहीं ? अन्तिम पक्षमें भाव कार्य उपादानके बिना नहीं हो सकता, अतः उसके बिना देहान्तरारम्भ ही अशक्य है । प्रथम पक्षमें उसका निर्देश कीजिये, एतद्देहारम्भक ही उपादान है अथवा अन्य ? यदि नित्योपात्त भूतपञ्चक ही पूर्व शरीरका विनाश कर नूतन शरीरका निर्माण करते हैं, तो माया सबकी कारण है, यह सिद्धान्त भङ्ग होता है । द्वितीय पक्षमें भूतपञ्चकोत्पत्तिमें भी उपादानान्तरका निर्देश होना चाहिए और वही देहान्तरका उपादान क्यों नहीं कहा जाय ॥ ५५ ॥

श्रुतिः—तथा पेशस्कारी पेशसो मात्रामुपादायान्यन्नवतरं कल्याणतरꣳरूपं तनुत एवमेवायमात्मेदꣳशरीरं निहत्याविद्यां गमयित्वाऽन्यन्नवतरं कल्याणतरꣳ रूपं कुरुते पित्र्यं वा गान्धर्वं वा दैवं वा प्राजापत्यं वा ब्राह्मं वाऽन्येषां वा भूतानाम् ॥ ४ ॥

सुवर्णकारः स्वर्णांशमादायाऽन्यन्नवं नवम् ।
तेनैव कुरुते भूय उपमृद्नाति यत्नतः ॥ ५६ ॥
पूर्वभूषणमालिन्ये भङ्गे वाऽप्यतिनूतनम् ।
अतिरम्यं च कुरुते तथैवेहाऽपि गम्यताम् ॥ ५७ ॥
देहारम्भकभूतानि यानि पूर्वाणि वेष्टितः ।
तैर्लिङ्गोपाधिको यातीत्येवं सूत्रकृदब्रवीत् ॥ ५८ ॥

'तद्यथा पेशस्कारी' इत्यादि श्रुति । श्रुत्यर्थ श्लोकव्याख्यानसे स्पष्ट है ॥ ४ ॥

समाधान—'सुवर्णकारः' इत्यादि । नित्योपात्त भूतपञ्चक ही अन्य शरीरका आरम्भक है, इसमें दृष्टान्त है—पेशस्कार । मायावादका भी विरोध नहीं है । प्रत्यक् चैतन्याश्रित मायाके विवर्त पाँच भूतोंका परिणाम जगत् है । यही वेदान्त-स्थिति है । दृष्टान्तका व्याख्यान करते हैं—सुवर्णकार इत्यादिसे । सुवर्णकार (सोनार) पुराने आभूषणोंको गलाकर दूसरे आभूषण बनाते हैं, जो नये कहलाते हैं और पुरानोंसे चमकदार तथा सुन्दर होते हैं ॥ ५६ ॥

'पूर्वभूषण०' इत्यादि । पहले बना हुआ आभूषण जब अतिमलिन हो जाता है, अथवा टूट जाता है, तब उसी सोनेसे सोनार तज्जातीय अति सुन्दर नूतन आभूषण बनाता है अथवा आवश्यकतानुसार उससे विलक्षण जातीय उससे भी अतिसुन्दर आभूषण बनाता है, उसी प्रकार यहाँ भी समझना सर्वथा देहान्तर भी नित्योपात्त भूतोंका कार्य ही है ॥ ५७ ॥

'देहारम्भक०' इत्यादि । उक्त अर्थमें 'तदनन्तरप्रतिपत्तौ' इत्यादि सूत्र प्रमाण है । उक्त सूत्रमें जीव भूतसूक्ष्मपरिवेष्टित लोकान्तरमें जाता है ? या अपरिवेष्टित ? यह शङ्का कर भूत सर्वत्र सुलभ हैं, अतः उनसे परिवेष्टित होकर जाना व्यर्थ है, यह पूर्वपक्ष कर सूत्रकारने उक्त भूतसूक्ष्मोंसे परिवेष्टित ही जीव परलोकमें जाता है, ऐसा सिद्धान्त किया है । वहांपर 'अप्' शब्द भूतान्तरका भी उपलक्षण है । पाँच भूतोंका जाना वहाँ सुस्पष्ट है ॥ ५८ ॥

पञ्चीकृतास्तु भूतांशाः स्थूलदेहस्य हेतवः ।
अल्पत्वेनाऽपि सूक्ष्मास्तैर्लिङ्गं तिष्ठति वेष्टितम् ॥ ५९ ॥
निर्मितस्तैरयं देहः पोषितः पितृवीर्यतः ।
मृतौ कञ्चुकवत्त्याज्यो बाह्यांशो वीर्यनिर्मितः ॥ ६० ॥
सारस्त्वान्तरभूतांशो लिङ्गेन सह गच्छति ।
निष्पाद्यन्ते भाविदेहास्तेनांऽशेन पुनः पुनः ॥ ६१ ॥
स्वर्णे विशोधिते तस्य मालिन्यमपनीयते ।
भूषणं निर्मलांशेन क्रियते हि नवं नवम् ॥ ६२ ॥
पित्र्यगान्धर्ववैराजसूत्राद्या मानुषादयः ।
उत्तमाधमदेहाः स्युस्तत्तत्कर्मानुसारतः ॥ ६३ ॥

'पञ्चीकृता०' इत्यादि ।

शङ्का—अपञ्चीकृत पाँच भूत लिङ्ग शरीरका परिवेष्टन करके जाते हैं ? किंवा पञ्चीकृत भूत ? प्रथम पक्ष ठीक नहीं है, कारण कि वे स्थूलदेहके आरम्भक नहीं होते । अन्त्य पक्षमें मरणकालमें इनकी उपलब्धिका प्रसङ्ग अनिवार्य है ।

समाधान—हां, पञ्चीकृत भूत ही, स्थूल देहके आरम्भक होनेसे, जाते हैं, अपञ्चीकृत नहीं । मरणकालमें उनकी अनुपलब्धि सूक्ष्म होनेसे नहीं होती, पञ्चीकृत भूतोंका भी स्वल्पांश होनेसे प्रत्यक्ष नहीं होता ॥ ५९ ॥

'निर्मित०' इत्यादि । उन्हीं पञ्चीकृत पाँच भूतोंसे यह शरीर बनता है और पिताके वीर्य्यसे पोषित होता है । मृत्युकालमें सर्पकी कंचुकीके समान त्याज्य बाह्यांश वीर्यनिर्मित है ॥ ६० ॥

'सारस्त्वान्तर०' इत्यादि । आन्तर भूतांश ही इनमें सारभूत हैं, वे ही देहान्तरारम्भार्थक लिङ्ग शरीरके साथ जाते हैं, इन्हीं भूतोंसे भावी देहका पुनः पुनः निर्माण होता है ॥ ६१ ॥

'स्वर्णे' इत्यादि । जैसे स्वर्णको अग्निमें तपानेसे तद्गत मल निवृत्त हो जाता है । अर्थात् मल निकाल कर निर्मल सुवर्णांशसे भूषणका निर्माण होता है वैसे ही मलोपम बाह्य शरीरांश इस लोकमें रह जाते हैं। निर्मलांश उक्त भूतोंसे पुनः पुनः शरीरका निर्माण होता है ॥ ६२ ॥

'पित्र्य०' इत्यादि । पितृ, गन्धर्व, विराट्, सूत्र, मनुष्य आदि उत्तम, मध्यम

अधिष्ठानारोप्यभागौ तेषु देहेषु यौ स्थितौ ।
तावुभौ विशदीकर्तुं स वा इत्यादिका श्रुतिः ॥ ६४ ॥

श्रुतिः—स वा अयमात्मा ब्रह्म विज्ञानमयो मनोमयः प्राणमयश्चक्षुर्मयः श्रोत्रमयः ।

स इत्यनेन संसारी प्रकृतत्वादिहोच्यते ।
वैशब्दोऽवधृतौ भेदवारकोऽस्य चिता सह ॥ ६५ ॥

स्वप्रकाशोऽपरोक्षोऽर्थः कथ्यते ऽत्रायमित्यतः ।
देहादयः स्वस्वरूपा येनाऽसावात्मशब्दभाक् ॥ ६६ ॥

और अधम देहवाले होते हैं । उनमें निमित्त उत्तम, मध्यम और अधम कर्म हैं, श्रुत और कर्मके अनुसार ही देहादिका लाभ होता है ॥ ६३ ॥

'अधिष्ठाना०' इत्यादि । उन देहोंमें दो अंश हैं—एक अधिष्ठान और दूसरा आरोप्य, इन दोनोंको अतिस्पष्ट करनेके लिए 'स वा' इत्यादि श्रुति है । आत्माके दो स्वरूप हैं—एक वास्तव और दूसरा अवास्तव । उन्हींका निर्णय करनेसे संपूर्ण वेद अर्थका निर्णय हो जाता है ॥ ६४ ॥

'स वा अयमात्मा ब्रह्म' इत्यादि श्रुति । श्लोकव्याख्यानसे गतार्थ है ।

'स इत्यनेन' इत्यादि । लोकान्तरगमनके विवेकके लिए प्रस्तुत संसारी आत्मा 'स' शब्दसे विवक्षित है । 'वै' शब्द अवधारणार्थक है । चिद्ब्रह्मके साथ संसारी आत्माका भेदवारण इसका प्रयोजन है ॥ ६५ ॥

'स्वप्रकाशो' इत्यादि । स्वप्रकाश अपरोक्ष जो आत्मा है, उसका निर्देश 'अयम्' शब्दसे है । देहादि वस्तुतः आत्मसत्तासे ही सत्तावान् है अर्थात् देहद्वय-कल्पनाका अधिष्ठान आत्मा ही है, अतः देहादि आत्मस्वरूप ही माने जाते हैं, इसीसे अधिष्ठान चैतन्य आत्मशब्दभाक् कहा जाता है अर्थात् देहादि संसारके भाव और अभाव जिसके साक्ष्यसे सिद्ध होते हैं, वही संसारका आत्मा है । 'अयं घटः अयं पटः' इत्यादि प्रतीतिसे घट, पट आदि सब व्यभिचारी हैं, अयमर्थ आत्मा अव्यभिचारी है । घट, पट आदि निखिल वस्तुमें अयमर्थकी अनुवृत्ति होती है । आत्मा संनिहित एवं अपरोक्ष है, अतः अयमर्थ है ॥ ६६ ॥

अधिष्ठानस्रजा सर्पदण्डाद्याः स्युः स्वरूपिणः ।
स्रगभावे तु सर्पाद्या निःस्वरूपाः खपुष्पवत् ॥ ६७ ॥
यः संसारी पुरा प्रोक्तः स एवाऽयं स्वतः स्फुरन् ।
साक्षिचैतन्यरूपत्वादधिष्ठानमनात्मनः ॥ ६८ ॥

'अधिष्ठान०' इत्यादि ।

शङ्का—आत्मा जैसे अनात्मासे व्यतिरिक्त है, वैसे ही अनात्मको भी आत्म-व्यतिरिक्त क्यों नहीं मानते ?

समाधान—अनात्माको आत्मासे भिन्न मानते हो या अभिन्न ? उभयथापि उसकी सिद्धि नहीं हो सकती, इसमें दृष्टान्त कहते हैं—मालामें सर्प-दण्डादिका भ्रम होनेपर अधिष्ठानभूत मालासे ही सर्प, दण्ड आदि स्वरूपवान् हैं । यदि माला न हो, तो आरोपित सर्प आदि खपुष्पके समान अत्यन्त असत् ही हो जाते, क्योंकि स्रक्से अतिरिक्तमें तो आरोपित सर्पादिकी प्रतीति ही नहीं होती, अतः वहाँ उनकी सत्ता ही नहीं कह सकते, स्रगात्मा वस्तुतः सर्प है नहीं, क्योंकि कल्पित वस्तु सत् नहीं है, अतः निःस्वरूप खपुष्पके समान है ॥ ६७ ॥

'स, वा, अयम् और आत्मा' इन श्रौत चारों पदोंके अर्थोंका निगमन करते हैं—'यः संसारी' इत्यादिसे ।

पूर्वमें जो संसारी आत्मा कहा गया है, वही यह साक्षी चैतन्यस्वरूप स्वयंप्रकाश होनेसे अनात्म पदार्थोंका अधिष्ठान है, उसीमें जगत् कल्पित है, वही आत्मा 'अयम्' शब्दार्थ है ।

शङ्का—भावाभावविभागशून्य सर्वसाधक आत्मामें संप्रयुक्तत्व आदिका अभाव होनेसे 'अयम्' यह निर्देश कैसे ? 'इदमः सन्निकृष्टे' इत्यादि शास्त्रसे 'चक्षुः-संप्रयुक्त' ही इदमर्थ माना जाता है ?

समाधान—आत्मा सदा संनिहित और अपरोक्ष होनेसे 'अयम्' शब्दके निर्देशके योग्य है ।

शङ्का—जैसे 'अयम्' शब्दार्थ घटादि परिच्छिन्न हैं, वैसे ही आत्मा भी अयंशब्दार्थ होनेसे परिच्छिन्न हो जायगा ?

समाधान—अनात्मपदार्थ घटादि आत्मशेष हैं; आत्मा अनन्यशेष है, अतः परिच्छिन्न नहीं है ॥ ६८ ॥

अव्यावृत्तानतुगतं वस्तु ब्रह्मगिरोच्यते ।
ब्रह्मात्मनोस्तु तादात्म्यं सामानाधिकरण्यतः ॥ ६९ ॥
प्रत्यक्त्वं ब्रह्मणस्तत्त्वं ब्रह्मत्वं चाऽऽत्मनस्तथा ।
पारोक्ष्यद्वैतहानेन ह्यात्मा ब्रह्मेति बोध्यते ॥ ७० ॥
इति प्रोक्तं वस्तुतत्त्वं तत्राऽऽरोपः प्रपञ्च्यते ।
उक्ततत्त्वापरिज्ञानाद् बुद्ध्युपाधिः प्रजायते ॥ ७१ ॥
तेनोपहित आत्माऽयं विज्ञाताऽस्मीति भावनात् ।
विज्ञानमयतामेति स्रक्सर्पमयतामिव ॥ ७२ ॥

'अव्यावृत्ता०' इत्यादि । इस श्लोकसे ब्रह्मशब्दार्थ कहा गया है । अव्यावृत्त शब्दका अर्थ दो बार पूर्वमें कह चुके हैं; अतः पुनरुक्तिके भयसे अव्यावृत्त आदि पदका अर्थ यहाँ नहीं किया गया है । सामानाधिकरण्यसे यानी समानविभक्तिकत्वसे ब्रह्म आत्माका तादात्म्य यहां सुस्पष्ट है । आत्मा ही ब्रह्म है, तदतिरिक्त नहीं है ॥ ६९ ॥

'प्रत्यक्त्वम्' इत्यादि ।

शङ्का—ब्रह्म परोक्ष है, आत्मा सद्वय है, अतः दोनोंका अभेद कैसे ?

समाधान—आत्मामें सद्वयत्व और ब्रह्ममें पारोक्ष्य अविद्याप्रयुक्त है, वास्तविक नहीं है । विद्या द्वारा अविद्याका विनाश होनेपर कल्पित सद्वयत्व, पारोक्ष्य आदिकी निवृत्ति होनेसे दोनोंका वास्तविक अभेद ही सिद्ध होता है, एवमेव 'तत्त्वमसि' इत्यादि स्थलमें भागत्यागलक्षणासे अभेदका उपपादन पूर्वाचार्योंने किया है । 'सोऽयम्' इत्यादि लौकिक प्रयोगमें भी यही गति मानी जाती है । विद्यासे अविद्याका समुच्छेद होनेपर वस्तुतः ब्रह्मस्वरूप आत्मा ब्रह्मस्वरूप प्रतीत होता है । उक्त बोधविरहसे ही संसारी जीवको संसारानर्थपरम्पराका अनुभव होता है ॥ ७० ॥

'इति प्रोक्तम्' इत्यादि । इस प्रकार वस्तुतत्त्वका प्रतिपादन हो चुका, अब उसमें आरोपप्रकारका प्रपञ्च करते हैं ।

उक्त तत्त्वके—ब्रह्मात्मैकत्वके—अपरिज्ञानसे बुद्ध्युपाधि संसारी होता है, अतएव विज्ञानमय कहा जाता है ॥ ७१ ॥

'तेनोपहितः' इत्यादि । बुद्धिसे उपहित आत्माने अपनेमें 'मैं विज्ञाता हूँ'

विज्ञानं ज्ञातृतोपाधिर्मनः संकल्पसाधनम् ।
क्रियोपाधिर्भवेत्प्राणस्तेऽन्तर्बहिरवस्थिताः ॥ ७३ ॥
ज्ञातृत्वभ्रान्तिरादौ स्यात्ततः संकल्पविभ्रमः ।
संकल्पितेऽर्थे कर्तृत्वमित्यन्तर्बाह्यताभ्रमः ॥ ७४ ॥

ऐसी भावना की। उक्त भावनासे आत्मा विज्ञानमय हुआ। मालामें 'यह सर्प है' इस भावनासे जैसे माला सर्पमय प्रतीत होती है, वैसे ही प्रकृतमें भी समझना चाहिए ॥ ७२ ॥

विज्ञानमय और मनोमयमें पुनरुक्तिकी आशङ्का विज्ञान और मनके अर्थ भेदके कथन द्वारा परिहार करते हैं—'**विज्ञानम्**' इत्यादिसे।

ज्ञातृताकी उपाधि विज्ञान है, विज्ञान होनेसे पुरुष विज्ञाता कहलाता है, सङ्कल्पकी उपाधि मन है। मनसे ही पुरुष सङ्कल्प करता है। सङ्कल्पका साधन मन है, अतएव शास्त्रकारोंने सङ्कल्पको ही मनका असाधारण लक्षण माना है—'सङ्कल्पलक्षणं मनः' इत्यादि। 'प्राणमय' का अर्थ कहते हैं—क्रियोपाधि प्राण कहलाता है। वे प्राण शरीरके भीतर तथा बाहर व्याप्त रहते हैं। यहांपर श्रुतिमें प्रथम विज्ञानमय, तदनन्तर मनोमय, तदनन्तर प्राणमय कहा गया है। वार्तिकसारमें पाठक्रमानुसार ही व्याख्या की गई है, परन्तु वार्तिकमें पाठक्रमका अनादर कर पहले प्राणमय, तदनन्तर मनोमय, तदनन्र विज्ञानमयकी व्याख्या है। पाठक्रमानादरमें वार्तिककारका अभिप्राय टीकाकारने इस प्रकार स्पष्ट किया है कि प्रथम आत्मासे प्राणकी ही उत्पत्ति श्रुतिमें श्रुत है—'एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च', 'स प्राणमसृजत' इत्यादि और चलन आदिके बिना विज्ञानमयत्व आदिकी सम्भावना नहीं है, अतः पूर्वमें प्राणमयत्व और उसके बाद विज्ञानमयत्वका निर्देश समुचित है। आत्मा मोहसे अपनेको प्राणी मानकर प्राणनादि क्रिया करता है ॥ ७३ ॥

'**ज्ञातृत्व**' इत्यादि। पहले ज्ञातृताकी भ्रान्ति होती है, तदनन्तर सङ्कल्प आदिका भ्रम होता है, तदनन्तर संकल्पित अर्थमें कर्तृत्वका विभ्रम होता है, 'मैं संकल्प करता हूँ, ऐसा आत्मा जानता है। अज्ञातका संकल्प नहीं होता है, अतः पहले ज्ञान होता है तदनन्तर संकल्प होता है ॥ ७४ ॥

भवेत्प्राणमयादन्तर्मनोमय इति श्रुतिः ।
तस्मादप्यान्तरस्तद्वद्विज्ञानमय ईरितः ॥ ७५ ॥
क्रमाद् बुद्धिमनःप्राणैर्ज्ञातृत्वादिस्थितेः ।
विकारार्थे मयट् प्रोक्तः प्राचुर्यार्थेऽथवा भवेत् ॥ ७६ ॥
विज्ञानाद्यनुसारेण चिदात्मा ज्ञातृतादिमान् ।
प्राचुर्यमेतन्न त्वात्मा विकारः कस्यचित्क्वचित् ॥ ७७ ॥
चक्षुर्मयः श्रोत्रमयो द्रष्टा श्रोतेति विभ्रमात् ।
एतावता लिङ्गदेहतादात्म्यारोप ईरितः ॥ ७८ ॥

'भवे०' इत्यादि । तैत्तिरीय श्रुतिमें प्रथम प्राणमय कोशका निर्देश है, तदनन्तर मनोमय एवं तदनन्तर विज्ञानमय कहा गया है ॥ ७५ ॥

कारणनिर्देशपूर्वक विज्ञानमयका विकार अर्थ कहते हैं—'क्रमाद्' इत्यादिसे।

'तत्प्रकृतवचने मयट्' इस पाणिनीय सूत्रसे विकार अर्थमें 'मयट्' प्रत्यय होता है। ज्ञातृत्व आदिका अध्यास बुद्धि आदिका विकार है, क्योंकि बुद्ध्यादिके बिना ज्ञातृत्व आदि आत्मामें नहीं हो सकता, इसलिए तद्विशिष्ट आत्मामें औपचारिक विकार माना जाता है। यदि 'मयट्' का प्राचुर्य अर्थ है, तो भी प्रकृतमें दोष नहीं है क्योंकि 'अन्नमयो यज्ञः' इत्यादि प्रयोगसे जैसे अन्नप्रचुर यज्ञ है, ऐसा बोध होता है वैसे ही उक्त वाक्यसे बोध होगा ॥ ७६ ॥

'विज्ञानाद्य०' इत्यादि । ज्ञातृत्वाध्यासमें बुद्ध्यादिका अध्यास प्रधान कारण है, कारण कि बुद्धिसमवायित्व ही ज्ञातृत्व है; अतः विज्ञानप्राचुर्य्य आत्मामें इष्ट ही है।

शङ्का—विकारार्थ मयट् क्यों नहीं मानते ।

समाधान—आत्मा किसीका विकार नहीं है, अतः विकारार्थ मयट् ठीक नहीं है। किन्तु प्राचुर्यार्थक ही मयट् ठीक है ॥ ७७ ॥

'चक्षुर्मयः' इत्यादि । आत्मामें चक्षुर्मयत्व, और श्रोत्रमयत्वका उपपादन करते हैं, वस्तुतः आत्मा प्राणका प्राण है; चक्षुका भी चक्षु है, फिर भी अज्ञानसे जैसे आत्माको प्राणमय कहते हैं, वैसे चक्षुर्मय भी कहते हैं, यहां चक्षुः उपलक्षण है, श्रोत्रादिमय भी इसी प्रकार समझना चाहिए।

श्रुतिः—पृथिवीमय आपोमयो वायुमय आकाशमयस्तेजोमयोऽतेजोमयः ।

स्थूलदेहारोपयुक्तः पृथिव्यादिमयोक्तितः ।
काठिन्याद्या भूतधर्मा दृश्यन्ते स्थूलदेहके ॥ ७९ ॥
अहं मनुष्य इत्येवं स्थूलदेहे भ्रमः स्फुटः ।
वर्णाश्रमवयोऽवस्थाध्यासश्चाऽस्मिन्नतिस्फुटः ॥ ८० ॥
अतेज इतिशब्देन मूलाज्ञानं विवक्षितम् ।
अहमज्ञ इति स्पष्टमज्ञानाध्यास ईक्ष्यते ॥ ८१ ॥

शङ्का—आत्मामें प्राणादिमयत्व अज्ञानसे है, ऐसा क्यों कहते हो? वास्तविक माननेमें क्या आपत्ति है ?

समाधान—अज्ञानजन्य विज्ञान आदिको अहंत्वेन मानता हुआ आत्मा भ्रान्तिवश अपनेको विज्ञानमय मानता है । कूटस्थ असंग अद्वितीय आत्मा वस्तुतः तन्मय नहीं हो सकता । एतदनुसार ही 'अव्यक्तमात्मा क्षेत्रज्ञः शाश्वतो विभुरव्ययः ।' यह श्लोक सङ्गत होता है ॥ ७८ ॥

'**पृथिवीमयः**' इत्यादि । श्रुत्यर्थ श्लोकव्याख्यानसे स्पष्ट है ।

पृथिवीमय इत्यादिका तात्पर्य कहते हैं—'**स्थूलदेहा०**' इत्यादिसे ।

जैसे प्राणोंका प्राण आत्मा अज्ञानसे प्राणमय कहा गया है, वैसे 'अशब्दमस्पर्शम्' इत्यादि श्रुति द्वारा ज्ञात अशब्दादिमय आत्मा उक्त हेतुसे ही पृथिव्यादिमय भी कहा गया है, भूतधर्म काठिन्यादि स्थूल देहमें पाये जाते हैं ॥ ७९ ॥

'**अहं मनुष्यः**' इत्यादि । 'अहं ब्राह्मणः, अहं यतिः, अहं युवा' इत्यादि देहाकारेण परिणत भूतधर्म वर्णाश्रमादिका आत्मामें अध्याससे व्यवहार होता है । विज्ञानमयसे लेकर पृथिवीमय एतत्पूर्वान्तवाक्य तक व्यापी अतएव प्रधान लिङ्गदेहका व्याख्यान है और पृथिवीमय यहाँसे लेकर काममय एतत्पूर्व वाक्य तक व्याप्य अतएव गुणभूत स्थूल देहका निर्देश है । ये दोनों शरीर पाञ्चभौतिक हैं और परस्पर कार्यकारणभावापन्न हैं, अतएव यह सिद्ध हुआ कि आत्मा देहद्वयमय है ॥ ८० ॥

तेजोमय इत्यन्त वाक्यका व्याख्यान कर अतेजोमय इस वाक्यके अन्तर्गत अतेज शब्दका अर्थ कहते हैं—'**अतेज**' इत्यादिसे ।

श्रुतिः—काममयोऽकाममयः क्रोधमयोऽक्रोधमयो धर्ममयोऽधर्ममयः सर्वमयस्तद्यदेतदिदंमयोऽदोमय इति यथाकारी यथाचारी तथा भवति साधुकारी साधुर्भवति पापकारी पापो भवति पुण्यः पुण्येन कर्मणा भवति पापः पापेन ।

कामं क्रोधं तथाऽधर्मं तद्विरुद्धं च मोहतः ।
सम्भावयन्प्रतीच्यात्मा तन्मयत्वं निगच्छति ॥ ८२ ॥
इत्येवमादयोऽनेके क्लेशाः स्युर्भावनामयाः ।
ते सर्वमयशब्देन संक्षेपात्समुदीरिताः ॥ ८३ ॥
तद्यदित्यादिना सर्वशब्दस्यार्थ उदीर्यते ।
प्रत्यक्षवस्तुन्यध्यासे सतीदंमयता भवेत् ॥ ८४ ॥

उक्त शब्दका अर्थ अज्ञान है, अज्ञानाध्यासनिबन्धन ही 'अहमज्ञः' यह लौकिक प्रतीति होती है ॥ ८१ ॥

'काममयोऽकाममय' इत्यादि श्रुतिः । श्रुत्यर्थ सारके श्लोकार्थोंसे गतार्थ है ॥

'कामम्' इत्यादि । काममय इत्यादिका व्याख्यान करते हैं—काम और क्रोधरूप अधर्मकी और तद्विरुद्ध अकाम और अक्रोधरूप धर्मकी मोहसे अपनेमें भावना करनेसे आत्मा तन्मय होता है। 'अहं सकामः' इस भावनासे सकाम 'अहं निष्कामः' इत्यादि भावनासे निष्काम आत्मा कहा जाता है । इसी प्रकार क्रोध आदिमें भी समझना चाहिये । जितनी भावनाएँ आत्मामें होती हैं, उतनी ही कायिक, वाचिक और मानसिक प्रवृत्तियाँ भी होती हैं, सबका निर्देश करना असम्भव है ॥ ८२ ॥

पूर्वोक्त भावनामय क्लेश अनेक हैं, उन सबका सर्वमयशब्दसे संक्षेपसे श्रुतिने निर्देश किया है ॥ ८३ ॥

'तद्यदित्यादिना' इत्यादि । तत्, यत्, एतद् इत्यादि तीन पदोंसे श्रुतिने स्वयं सर्वशब्दार्थकी व्याख्या की है । प्रत्यक्षादि प्रमाणगम्य वस्तु सर्वशब्दका अर्थ है । इदंमय और अदोमय इन दोनों शब्दोंका अर्थ कहते हैं—प्रत्यक्ष वस्तुके अध्यासमें इदंमयता है जैसे 'अहं सुखी' यहां सुखका मानस प्रत्यक्ष है, अतः उसके अध्यासमें इदंमयता है 'अहं धार्मिकः' यह अध्यास परोक्ष है, क्योंकि धर्म परोक्ष है; अतः इसमें अदोमयता है । सारांश यह है कि जो कुछ शुभाशुभात्मक चेष्टारूप कर्म साक्षात् लक्षित होता है वह इदं शब्दसे कहा जाता है इस

परोक्षवस्तुन्यध्यासाददोमय इतीर्यते ।
आरोपोक्तिसमाप्त्यर्थमितिशब्दः प्रयुज्यते ॥ ८५ ॥
इदंमयत्वं विस्पष्टमैहिकत्वादुपेक्ष्यते ।
अदोमयत्वं व्याचष्टे यथाकारीतिवाक्यतः ॥ ८६ ॥
यथा करोतीह लोके चरत्यपि यथा तथा ।
परलोके भवत्येष कर्माचारप्रचोदितः ॥ ८७ ॥
करणं नित्यकर्म स्यात्काम्यं तु चरणं भवेत् ।
करणं कर्मसक्तिर्वा चरणं प्रत्ययात्मकम् ॥ ८८ ॥

प्रत्यक्ष लिङ्गसे अदः शब्दसे उक्त भावनारूप परोक्ष अनुमित होता है। इदंमयत्व लिङ्गसे आत्मामें अदोमयत्वका अनुमान होता है यथा स्वगतरागादिसंबद्ध शुभादि कर्म स्वानुभव सिद्ध हैं तथा अन्यके शुभादि व्यापार देखकर उनके द्वारा तद्गत रागादिका अनुमान पुरुषान्तर कर सकता है। वह्नि और धूमके समान इदंमयत्व और अदोमयत्वकी भी व्याप्ति है। अकाम, अक्रोध आदिके योगसे पुरुष धर्ममय होता है तथा काम, क्रोध आदिके योगसे अधर्ममय होता है, इस परम्परासे पुरुष सर्वमय होता है। कारण कि धर्माधर्महेतुक ही सब पदार्थ हैं, अतः सर्वमय होना समुचित ही है ॥ ८४–८५ ॥

'इदंमयत्वम्' इत्यादि। इदंमयत्व लौकिक होनेसे विस्पष्ट है, इसलिये इसकी उपेक्षा कर **'यथाकारी'** इत्यादि वाक्यसे अदोमयत्वका व्याख्यान करते हैं ॥ ८६ ॥

'यथा करोति' इत्यादि।

शङ्का—आत्मा असङ्ग तथा अद्वय है, फिर भी प्राणादिमय हुआ इसमें क्या कारण?

समाधान—'यथाकारी' इत्यादि वाक्यसे श्रुति स्वयं उत्तर देती है—जैसे इस लोकमें पुरुष यथाकारी और यथाचारी होता है वैसा ही परलोकमें होता है। स्वकीया अविद्यासे करचरणादिमयताभिमानसे प्राणादिमय होता है ॥ ८७ ॥

'करणम्' इत्यादि।

शङ्का—करण और आचरण तो एक ही हैं, फिर यहां पुनरुक्त दोष क्यों नहीं?

समाधान—नित्य कर्म अग्निहोत्रादि करण हैं और काम्य उद्भिदादि चरण

पुण्यकारी भवेत्साधुः पितृदेवादिजन्मभाक् ।
पापकारी स्थावरः स्यात्कामक्रोधादिचोदितः ॥ ८९ ॥
ताच्छील्यप्रत्ययात्कर्माभ्यास एव फलप्रदः ।
इति चेन्न सकृत्कर्म कृत्वाऽपि फलमाप्नुयात् ॥ ९० ॥
पुण्य इत्यादिवाक्येन तदेतदभिधीयते ।
कर्मशास्त्रस्य तात्पर्यमित्थं सम्यक् प्रपञ्चितम् ॥ ९१ ॥
सकृत्कृतौ फलप्राप्तिर्यदाऽभ्यासस्तदा वृथा ।
इति चेत्फलभूयस्त्वसिद्ध्येऽभ्यास इष्यताम् ॥ ९२ ॥

हैं अथवा कर्मशक्ति करण है और प्रत्ययात्मक चरण है । सर्व प्रकारकी व्यापारशक्ति करण है, कारण कि करोति व्यापारार्थक है और सर्व प्रकारकी ज्ञानयोग्यता चरण पदार्थ है, क्योंकि चरधातु गत्यर्थ है । गत्यर्थकधातु ज्ञानार्थक माने जाते हैं यह शाब्दिकसम्प्रदाय है ॥ ८८ ॥

'पुण्यकारी' इत्यादि । पुण्यकारी पुरुष साधु होता है और पितृ, गन्धर्व, देव आदिमें उसका जन्म होता है, पापकारी पुरुष स्थावरादि यानी वृक्षादि योनियोंमें जन्म पाता है ॥ ८९ ॥

'ताच्छील्य०' इत्यादि ।

शङ्का—'सुप्यजातौ णिनिस्ताच्छील्ये' इस भगवत्पाणिनि सूत्रसे अभ्यासार्थमें णिनिप्रत्ययका विधान है । साधुकारी इत्यादिमें उक्त प्रत्यय है, अतः असकृत् पुण्य, पाप आदि करनेसे उक्त फल हो, सकृत् करनेसे नहीं ।

समाधान—ऐसा नहीं सकृत्कर्मानुष्ठानसे भी फल होता है, अभ्याससे ही नहीं । असकृत्पुण्याद्यनुष्ठानसे फलातिशय होता है । सकृदनुष्ठानसे भी फल अवश्य ही होता है । कामक्रोधादिपूर्वक ही पुण्य पापमें मनुष्यकी प्रवृत्ति होती है, धर्माधर्म ही संसारका मुख्य कारण है । अतः मुमुक्षुओंको यत्नसे काम, क्रोध आदिका परिहार करना चाहिए ॥ ९० ॥

'पुण्यः' इत्यादि । 'पुण्यः पुण्येन' इत्यादि श्रौत वाक्यसे यही कहा गया है कि जो कर्मशास्त्रमें विधि-निषेध-वाक्योंसे विस्ताररूपसे प्रतिपादित है, यहांपर उक्त वाक्यसे धर्मशास्त्रके तात्पर्यका प्रकाश किया गया है ॥ ९१ ॥

'सकृत्कृतौ' इत्यादि ।

वासना कर्म विद्या च त्रयं जन्मप्रयोजकम् ।
उक्तं, तत्र प्रधानत्वं कर्मणः श्रूयते पुनः ॥ ९३ ॥
उत्तमाधमदेहाख्यवैषम्यं कर्मणा भवेत् ।
देहे विद्यावासनाभ्यां भवेद्भोगस्य कौशलम् ॥ ९४ ॥
कर्मसाध्वेव कर्त्तव्यमिच्छताऽभ्युदयं चिरम् ।
पापं तु सर्वदा हेयं दुःखेभ्यस्त्रस्यता भृशम् ॥ ९५ ॥
पूर्वकाण्डपरा इत्थं कर्मप्राधान्यमूचिरे ।
अथ वेदान्तशास्त्रज्ञाः प्राहुः कामप्रधानताम् ॥ ९६ ॥

शङ्का—यदि सकृद्धर्माद्यनुष्ठानसे फलप्राप्ति होती है, तो असकृत्तदनुष्ठान व्यर्थ है ।

समाधान—फलाधिक्यके लिये अभ्यास आवश्यक है ॥ ९२ ॥

'वासना०' इत्यादि ।

शङ्का—'तं विद्याकर्मणी समन्वारभेते' इस वाक्यसे ही कर्म जन्मका हेतु है, यह ज्ञात हो चुका, यहां पुनः उसका कथन व्यर्थ है ।

समाधान—पूर्वमें वासना, कर्म और विद्या ये तीनों जन्मके कारण कहे जा चुके हैं । यहां फिर कारणत्वाभिधान प्रधानकारणत्व सूचनार्थ है । यद्यपि तीनों कारण हैं तथापि तीनोंमें प्रधान कर्म ही है ॥ ९३ ॥

'उत्तमा०' इत्यादि । उत्तम कर्मसे ही उत्तम ब्राह्मण, क्षत्रिय आदिके देहकी प्राप्ति होती है और अधम पापादि कर्मसे श्वान, सूकर, चण्डाल आदि योनियोंकी प्राप्ति होती है, अतएव 'ये रमणीयचरणास्ते रमणीयां योनिमापद्यन्ते ये कपूयचरणास्ते कपूयां योनिमापद्यन्ते' इत्यादि श्रुति इतरापेक्षया कर्ममें ही प्राधान्यबोधन करती है ।

शङ्का—यदि कर्म ही प्रधान है, तो विद्या और वासनाका क्या प्रयोजन ?

समाधान—विद्या और वासनासे भोगकौशल्य होता है, इन्द्रियपाटव आदिके बिना पुरुष भोगमें कुशल नहीं हो सकता ॥ ९४ ॥

'कर्मसाध्वेव' इत्यादि । अभ्युदयेच्छाशील पुरुषको सदा साधु कर्म ही करना चाहिए । दुःखसे भीरुको सर्वदा पापका परित्याग करना चाहिये ॥ ९५ ॥

'पूर्वकाण्डपरा' इत्यादि । पूर्वकाण्ड यानी पूर्वमीमांसामें तत्पर विद्वान् कर्मको

श्रुतिः—अथो खल्वाहुः काममय एवायं पुरुष इति स यथाकामो भवति तत्क्रतुर्भवति यत्क्रतुर्भवति तत्कर्म कुरुते यत्कर्म कुरुते तदभिसम्पद्यते ॥ ५ ॥

पुमानादौ काममय एव भूत्वाऽथ कर्मकृत् ।
यतोऽयं कर्मणो हेतुः कामोऽतोऽस्य प्रधानता ॥ ९७ ॥
अकामस्य क्रिया काचिद् दृश्यते नेह कस्यचित् ।
यद्यद्धि कुरुते जन्तुस्तत्तत्कामस्य चेष्टितम् ॥ ९८ ॥

ही संसारका प्रधान कारण मानते हैं। विद्या और वासना भी कारण हैं, पर वे प्रधान कारण कर्म ही को मानते हैं। 'पुण्यः पुण्येन' इत्यादि श्रुतिको भी वे स्वोक्त अर्थमें प्रमाण कहते हैं, परन्तु वेदान्तशास्त्रतत्त्वज्ञ पुरुष कर्मको प्रधान कारण न मान कर कामको ही प्रधान कारण मानते हैं ॥ ९६ ॥

'अथो खल्वाहुः' इत्यादि श्रुति। वार्तिकसारके नीचेके श्लोकोंके व्याख्यानसे ही इस श्रुतिका अर्थ स्पष्ट है ॥ ५ ॥

'पुमानादौ' इत्यादि। पुरुष सर्वप्रथम काममय होकर ही कर्म करता है। स्वल्पयत्नसाध्य कर्ममें भी कामनाके बिना किसीकी प्रवृत्ति नहीं होती। अतएव तार्किक आदि प्रवृत्तिमात्रमें इष्टसाधनताज्ञानको कारण मानते हैं। काम ही कर्म करनेमें कारण है, अतः सबकी अपेक्षा प्राधान्य काममें ही है।

शङ्का—यदि काम ही संसारप्रयोजककी अन्तिम भूमि है, तो अज्ञान संसारका मूल कारण है; यह सिद्धान्त असंगत हो जायगा।

समाधान—कामनाका भी तो कारण अज्ञान ही है, अज्ञानके बिना द्वैत ही नहीं हो सकता और द्वैतके बिना अधिकारी, साधन, फल आदि नहीं हैं, फिर कौन किसकी कामना करेगा, अतः अज्ञानातिरिक्तमें प्रधान कारण कौन है? ऐसा विचार होनेपर कामको ही प्रधान कारण वेदान्तियोंने माना है। आत्मतत्त्वका अपरिज्ञान ही कामनामें कारण है, आत्मज्ञान होनेपर हेयोपादेय कुछ अवशिष्ट ही नहीं रहता, फिर किसके लिए कौन प्रवृत्त होगा। निःशेषदुःख असीमानन्दस्वरूप आत्मा सदा प्राप्त ही है ॥ ९७ ॥

कामप्राधान्यमें मनुवचन भी कहते हैं—**'अकामस्य'** इत्यादिसे।

कामनाके बिना किसीमें कोई क्रिया नहीं देखी जाती। कोई भी प्राणी चाहे महान् हो या क्षुद्र, जो कुछ करता है, सब कामकी ही चेष्टा है।

इत्येतद्विशदीकर्तुं स यथेत्युत्तरा श्रुतिः ।
कामः क्रतुः कर्म जन्मेत्येषामेष क्रमो भवेत् ॥ ९९ ॥
पुंसो या विषयापेक्षा स काम इति भण्यते ।
स एव वर्धमानः सन् क्रतुत्वं प्रतिपद्यते ॥ १०० ॥
रुचेरतिशयः काम्ये विषये क्रतुरीर्यते ।
पाक्षिकं कर्म कामे स्यात्करोत्येव क्रतौ सति ॥ १०१ ॥

शङ्का—कामनाके बिना भी क्रिया देखी जाती है, अतः गीतामें स्पष्ट कहा है कि 'नहि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्' तथा 'न कुर्यान्निष्फलं कर्म' इस मनुवचनसे भी निष्फल कर्मका निषेध किया गया है ।

समाधान—कामनारहित कर्म निष्फल कर्म कहा गया है, अतएव रागके बिना प्रमादवश उत्पन्न निषिद्ध कर्मसे स्वल्प पाप होता है, ऐसा धर्मशास्त्रोंमें कहा गया है । 'चाण्डालान्नं प्रमादेन यदि भुञ्जीत यो द्विजः । ततश्चान्द्रायणं कुर्यान्मासमेकं व्रतं चरेत् ॥' इत्यादि स्मार्त वचन भी उक्त अर्थमें प्रमाण हैं । फलवती त्रिविध प्रवृत्ति कामप्रयुक्त ही होती है । इसमें 'आत्मैवेदमग्र आसीदेक एव सोऽकामयत' इत्यादि श्रुति भी प्रमाण है । काम, गर्द्धा, अभिलाषा, तृष्णा ये सब पर्यायवाची हैं । आसङ्ग कामनाका हेतु है, उसका पर्याय नहीं है, अतएव गीतामें कहा गया है—'सङ्गात्संजायते कामः' इत्यादि ॥ ९९ ॥

'इत्येत०' इत्यादि । 'स यथा' इत्यादि उत्तर श्रुति उक्त अर्थको स्पष्ट करती है, काम, क्रतु, कर्म और जन्म—इनका यही क्रम है ॥ ९९ ॥

'पुंसो या' इत्यादि । पुरुषकी जो विषयग्रहणकी इच्छा है, वही काम कहलाती है । इष्टविषयके गुणस्मरणके अभ्याससे इच्छा उत्पन्न होती है । बढ़ रही वही इच्छा क्रतु कही जाती है । विषयके दोषके अनुसन्धानसे भी यदि इच्छा विरत न हो अर्थात् तत्क्षणमें दब जानेपर भी दोषाननुसन्धानदशामें पुनः प्रादुर्भूत हो और जिस किसी उपायसे निवृत्त न हो, प्रत्युत उसकी प्राप्तिके लिए समीहा हो, तो वही वर्द्धमान काम क्रतु कहा जाता है ॥ १०० ॥

'रुचेरतिशयः' इत्यादि । काम्य विषयमें रुचिका अतिशय (अभिलाषातिशय) क्रतु कहा जाता है । स्वरूपभेदकथनके अनन्तर फलसे भी भेद कहते हैं—कामसे पाक्षिक प्रवृत्ति होती है अर्थात् कामसे कदाचित् प्रवृत्ति होती है और

पुण्यपापात्मकं कर्म ह्यपूर्वादृष्टशब्दितम् ।
उत्तमाधमजन्माऽस्य फलं प्रोक्तं पुराऽपि च ॥ १०२ ॥
लोकेऽपि यादृशः कामस्तादृङ्निश्चयवांस्तथा ।
कर्म कृत्वा फलं गच्छेत्तच्छुभाशुभयोः समम् ॥ १०३ ॥

श्रुतिः—तदेष श्लोको भवति—तदेव शक्तः सह कर्मणैति लिङ्गं मनो यत्र निषिक्तमस्य । प्राप्यान्तं कर्मणस्तस्य यत्किञ्चेह करोत्ययम् । तस्माल्लोकात्पुनरेत्यस्मै लोकाय कर्मण इति नु कामयमानः ।

कामप्राधान्यदार्ढ्यार्थं मन्त्रस्योदाहृतिः श्रुता ।
लिङ्ग्यते गम्यते सर्वं मनसाऽतोऽस्य लिङ्गता ॥ १०४ ॥

कदाचित् नहीं भी होती, किन्तु क्रतुसे नियमेन प्रवृत्ति होती है । कायिक, वाचिक और मानसिक त्रिविध प्रवृत्तिका अव्यभिचारी हेतु क्रतु है ॥ १०१ ॥

कर्मशब्दार्थको कहते हैं—'**पुण्यपापा०**' इत्यादिसे ।

पुण्य-पापात्मक कर्म कहलाता है । विहितानुष्ठानसे पुण्य होता है और निषिद्धानुष्ठानसे पाप होता है, इसीको अपूर्व तथा अदृष्ट भी कहते हैं । पूर्वमें भी शुभाशुभकर्मवश उत्तमादि जन्म होता है, यह कह चुके हैं । अज्ञ संसारी होता है, इसमें कारण काम है, इस ब्राह्मणोक्त विषयका यह मन्त्र अनुवादक है, अपूर्वार्थक नहीं है ॥ १०२ ॥

पदार्थकथनोत्तर 'स यथा'से लेकर 'तदभिसंपद्यते' तक वाक्यका अर्थ कहते हैं—'**लोकेऽपि**' इत्यादिसे ।

जिस विषयमें संसारी अज्ञ पुरुषका मन अति आसक्त होता है, उसकी प्राप्तिके अनुकूल कर्म करके वह शुभाशुभात्मक फलको प्राप्त करता है ॥ १०३ ॥

'**तदेष श्लोको भवति**' इत्यादि श्रुति । श्लोकव्याख्यानसे श्रुति गतार्थ है ।

'तदेष' इत्यादि वाक्यका तात्पर्य कहते हैं—'**काम०**' इत्यादिसे ।

संसारमें काम ही प्रधान है, इस अर्थको दृढ़ करनेके लिए श्रुतिने उक्त मन्त्रका उल्लेख किया है । उत्तरार्द्धसे लिङ्गशब्दका व्युत्पत्तिप्रदर्शनपूर्वक अर्थ कहते हैं । सूक्ष्मदेह लिङ्ग कहलाता है ।

शङ्का—क्यों ?

तन्मनो नितरां सक्तमुत्तमे वाऽधमे फले ।
सक्तः सन्कर्मणा सार्धं तदेव फलमाप्नुयात् ॥ १०५ ॥
इह जन्मनि यत्किञ्चिच्छुभं कुर्यादुताऽशुभम् ।
तदीयफलसंपूर्त्तिः स्वर्गे वाऽन्यत्र वाऽऽप्नुयात् ॥ १०६ ॥
अथाऽऽगच्छति तल्लोकाल्लोकेऽस्मिन् कर्मसिद्धये ।
इत्थं कामाद् बंभ्रमीति संसारे गमनागमैः ॥ १०७ ॥

समाधान—इसीसे प्रत्यगात्मामें स्फुटतर ज्ञान होता है, अतः 'लिङ्ग्यते ज्ञायते प्रत्यगात्मा अनेन' इस व्युत्पत्तिसे लिङ्गशब्दका सूक्ष्म देह अर्थ है ।

शङ्का—आत्मा असङ्ग है, फिर लिङ्गदेहके साथ उसका सम्बन्ध कैसे ?

समाधान—वस्तुतः आत्मा असङ्ग ही है, पर स्वात्माज्ञानसे स्वचैतन्याभास द्वारा कल्पित आसङ्ग उसमें माना जाता है । यद्यपि विभु आत्मा कूटस्थ है, अतएव मनके द्वारा भी लिङ्गैक्यापन्न आत्मा मनके कामित अर्थमें नहीं जा सकता, तथापि जलपात्रकी गतिसे तत्प्रतिबिम्बमें जैसे गतिकी प्रतीति होती है, वैसे ही लिङ्गगतिका आत्मामें आरोप कर आत्मगति कही गई है, 'ध्यायतीव' इत्यादि श्रुतिसे औपाधिक क्रिया आत्मामें मानी जाती है ॥ १०४ ॥

'तन्मनो' इत्यादि । उत्तम स्वर्गादि और अधम सांसारिक फल है । उनमें मन आसक्त (उद्भूताभिलाष) होता है । यद्यपि 'कामः संकल्पो विचिकित्सा' इत्यादि श्रुतिसे कामादि आत्मधर्म हैं, मनोधर्म नहीं हैं, तथापि मनमें आत्माका अभिमान न होनेसे आरोपित आत्मधर्म कहे जाते हैं । उस विषयमें भी आत्मा आसक्त होकर कर्म करता है, उस कर्मके साथ परलोक प्राप्त कर वह फल पाता है ॥ १०५ ॥

'इह जन्मनि' इत्यादि । इस जन्ममें शुभ या अशुभ जो कर्म करेगा, उस कर्मके फलकी संपूर्त्ति स्वर्गमें या अन्यत्र यानी मृत्युलोकादिमें होगी अर्थात् उनमें फल भोगेगा । कर्मानुरूप फलभोग आवश्यक है ॥ १०६ ॥

'अथाऽऽगच्छति' इत्यादि । यह संसारी यदि परलोकसुखभोगयोग्य कर्म करता है, तो परलोकमें उक्त भोगके अनन्तर जिस शुभ कर्मके प्रभावसे उक्त भोग प्राप्त हुआ, उस भोगसे उक्त कर्मका क्षय होनेपर पुनः कर्म करनेके लिए मनुष्यलोकमें आता है; कारण कि कर्मभूमि मृत्युलोक ही

खेदानुकम्पयारेष नुशब्दोऽत्र प्रयुज्यते ।
कष्टेयं कामितैतस्य कामी मा भूत्कदाऽप्ययम् ॥ १०८ ॥
नन्वकष्टः शुभे कामः काम एवाऽशुभे तु न ।
इति चेन्न यतः कामो दृश्यते राजसे सुखे ॥ १०९ ॥
विषयेन्द्रियसंयोगाद्यद्यदग्रेऽमतोपमम् ।
परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम् ॥ ११० ॥

है, अन्य भोगभूमियां हैं । यों लगातार आने जानेके विषयमें श्रुति 'इत्थम्' और 'नु' शब्दसे खेद प्रकट करती है । 'बंभ्रमीति यानी पुनः पुनः इहलोक और परलोकमें भ्रमण करता है, कहीं स्थिर भावसे नहीं रह सकता ॥ १०७ ॥

'खेदानुकम्पयो०' इत्यादि । अनात्मतत्त्वज्ञ पुरुष घटीयन्त्रके समान बार बार इस लोकसे परलोक और परलोकसे इस लोकमें भोग एवं देहधारणके लिए आता जाता रहता है । इसपर खेद और दया प्रगट करनेके लिए श्रुतिमें 'नु' शब्द आया है । कामी यानी कामनावान्की यह दशा कष्टमय है, अतः कोई भी कामी न हो, ऐसा श्रुतिका सदाशापूर्ण उपदेश है । आत्मा शुद्धबुद्ध मुक्तस्वभाव है, किन्तु कामनावश ऐसी कष्टदशा पाता है, अतः श्रेयोर्थीको चाहिए कि इस अनर्थकी मूलभूत कामनाका सर्वथा त्याग करें ॥ १०८ ॥

'नन्वकष्टः' इत्यादि ।

शङ्का—शुभ विषयमें ही प्राणीकी कामना होती है, वह कष्ट नहीं है । जो कष्ट है, उसमें किसीकी कामना ही नहीं होती । सुख हो, दुःख कभी न हो, ऐसी प्राणिमात्रकी आशा देखी जाती है । फिर शुभ कामना कष्ट क्यों ?

समाधान—राजस भोगकी भी इच्छा होती है, वस्तुतः वह कष्टफलक होनेसे उसे कष्ट ही समझना चाहिए ॥ १०९ ॥

'विषयेन्द्रिय०' इत्यादि । शब्दादि विषय चक्षुरादि इन्द्रियके सम्बन्धसे जायमान सुख भोगावस्थामें अमृतके समान प्रिय प्रतीत होता है, पर परिणाममें यानी उत्तर कालमें विषके समान क्लेशप्रद होता है, वह सुख राजस कहलाता है, यह वचन गीताका है, इसके प्रामाण्यमें किसीको सन्देह नहीं हो सकता ।

तत्सुखं कामयन्ते हि प्रायेण बहवो जनाः ।
अन्यथा जारचोरादेः प्रवृत्तिः क्वाऽपि नो भवेत् ॥ १११ ॥
अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः ।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेयेत्यपृच्छत्सभ्यगर्जुनः ॥ ११२ ॥
काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः ।
इति प्रवर्तकौ कामक्रोधौ कृष्णस्तदोक्तवान् ॥ ११३ ॥
तर्ह्यस्तु सात्त्विकानन्दे काम इत्यपि मोच्यताम् ।
सुखस्य सात्त्विकस्याऽपि साधने क्लेशसत्त्वतः ॥ ११४ ॥

अतः यह कहना कि अशुभकी कामना ही नहीं होती है, निर्मूल है । हां, आरम्भमें ही जो अशुभ है, उसकी कामना न हो, पर उतनेसे ही इष्टकी सिद्धि नहीं होती ॥ ११० ॥

'तत्सुखम्' इत्यादि । राजस सुखमें किसीकी कामना ही नहीं होती, यह कहना अनुभवविरुद्ध है । यदि यह सच होता, तो जार (व्यभिचारी) तथा चोरकी कहीं प्रवृत्ति नहीं होती । यह संसारमें सर्वत्र प्रसिद्ध है, नहीं है, ऐसा कोई कह नहीं सकता ॥ १११ ॥

'अथ केन' इत्यादि । गीतामें श्रीभगवान्से अर्जुनने पूछा कि भगवन्, यद्यपि पुरुष पाप कर्म करना नहीं चाहता, तो भी किसकी प्रेरणासे पाप कर्म करता है ॥ ११२ ॥

श्रीभगवान्ने उत्तर दिया—'काम एष' इत्यादिसे ।

रजोगुणसे समुत्पन्न काम और क्रोध ये ही दो प्रवर्तक हैं, इस प्रकार वासुदेव श्रीकृष्ण भगवान्ने काम और क्रोधको ही प्रवर्तक कहा है, यह केवल आप्तवाक्यसे ही नहीं सिद्ध होता, किन्तु लोकानुभवसिद्ध भी है । ये गीता-के श्लोक हैं, अतः इनका विशेष व्याख्यान अन्यत्र प्रसिद्ध है, इसलिए संक्षेपमें किया है । ये अतिस्पष्ट भी हैं ॥ ११३ ॥

'तर्ह्यस्तु' इत्यादि ।

शङ्का—अच्छा तो सात्त्विक सुखकी कामना हो, क्योंकि तो दुःखप्रद नहीं है ।

समाधान—नहीं, क्योंकि वह तो साधनावस्थामें ही अति दुःखप्रद है, यह भी श्रीभगवान्ने गीतामें कहा ही है ॥ ११४ ॥

यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम् ।
तत्सुखं सात्त्विकं प्रोक्तमात्मबुद्धिप्रसादजम् ॥ ११५ ॥
प्रभूतानन्दयुक्तानां स्वर्गादीनां प्रसाधने ।
ज्योतिष्टोमादिके दुःखं सर्वैरप्यनुभूयते ॥ ११६ ॥
सर्वथाऽनर्थकृत्कामः संसारे किं बहूक्तितः ।
इत्यभिप्रेत्य कामेऽस्मिन्नत्यन्तं खिद्यते श्रुतिः ॥ ११७ ॥

'यत्तदग्रे' इत्यादि । सात्त्विक सुख साधानावस्थामें विषके समान क्लेश-प्रद है, परिणाममें अमृतोपम है, इस कथनसे राजस सुखके विपरीत सात्त्विक सुख है, यह प्रतीत होता है । दुःख दोनोंमें अपरिहार्य है । भेद इतना ही है कि राजसमें अन्तमें दुःख है और सात्त्विकमें पहले ही दुःख है, यह भी दुःखशून्य नहीं है । दोनों सुख स्वरूपसे भी भिन्न हैं, राजस सुख विषयेन्द्रिय-संपर्क .जन्य है, अतएव विषयाधीन है और सात्त्विक सुख आत्मबुद्धिप्रसादसे होता है, जो अकिञ्चनको भी सुलभ है ॥ ११५ ॥

'प्रभूतानन्द०' इत्यादि । 'यन्न दुःखेन सम्भिन्नं न च ग्रस्तमनन्तरम् । अभि-लाषोपनीतं च तत्सुखं स्वःपदास्पदम् ।' (जो सुख दुःखसे मिश्रित नहीं है, जो विनाशी नहीं है तथा अभिलाषासे जो प्राप्त होता है, वह सुख स्वर्गपदास्पद है) इस प्रामाणिक वचनके अनुसार दुःखासमानाधिकरण सुख स्वर्गपदार्थ है, अतएव प्रभूत आनन्द कहा गया है । लौकिक सुख दुःखमिश्रित है, अतएव यह आनन्द प्रभूतानन्द नहीं है । यागादिजन्य पारलौकिक सुख दुःखामिश्रित है, अतः वह प्रभूतानन्द माना जाता है । किन्तु उसके साधन ज्योतिष्टोम आदि यागके अनुष्ठानमें जो दुःख होता है, वह सर्वानुभवसिद्ध है । वाक्कायमनोनिग्रह, प्रभूत-द्रव्यव्यय, आयास आदि ये सब दुःखके कारण हैं, इनके द्वारा आरम्भमें दुःख अपरिहार्य है ॥ ११६ ॥

'सर्वथाऽनर्थ०' इत्यादि । इस संसारमें काम अनर्थकारी है, यह सबको विदित है, अतः इस विषयमें अधिक उपपादनकी आवश्यकता नहीं है, इसी अभिप्रायसे श्रुतिने कामके विषयमें अत्यन्त खेद प्रकट किया है । अज्ञानसे अनुचित होता है, तो अज्ञान शरण होता है, पर जानकर जो अनुचित किया जाता है, उसपर माननीयोंको खेद होता ही है ॥ ११७ ॥

यः पुरा स्वप्नदृष्टान्तात् परलोको विवक्षितः ।
इति न्वित्युपसंहारं तदुक्तेः कृतवान्मुनिः ॥ ११८ ॥
मुक्तिः सुषुप्तिदृष्टान्तान्मुनिना या विवक्षिता ।
मुनिरारभते वक्तुं तामथेत्यादिवाक्यतः ॥ ११९ ॥

श्रुतिः—अथाकामयमानो योऽकामो निष्काम आप्तकाम आत्मकामो न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति ब्रह्मैव सन्ब्रह्माप्येति ॥ ६ ॥

पूर्वोक्तकामिवैपम्यमथशब्देन सूच्यते ।
कामी संसरतीत्युक्तं कामाभावे विमुच्यते ॥ १२० ॥

'यः पुरा' इत्यादि । पूर्वमें स्वप्नदृष्टान्तसे जो परलोक विवक्षित है; उसका अस्तित्वप्रतिपादन द्वारा मुनि श्रीयाज्ञवल्क्य परलोकोक्तिका उपसंहार करते हैं; इतिका उपसंहार अर्थ है । 'नु' का खेद और अनुकम्पा अर्थ है, अज्ञ पुरुष-कामाङ्कुशवश इस लोकसे परलोक और परलोकसे इस लोकमें आता जाता है अर्थात् जन्म-मरणभाक् होता है ॥ ११८ ॥

'अथ अकामयमानः' इत्यादिका अवतारार्थ इतिवृत्त कहते हैं—'मुक्तिः' इत्यादिसे ।

सौषुप्त स्थानमें प्राप्त पुरुपस्वरूप जो मोक्ष-दृष्टान्त है, अतिछन्दादिवाकसे उसके कथनके अनन्तर दार्ष्टान्तिकत्वेन विवक्षित मुक्तिका 'तामथ' इत्यादि वाक्यसे मुनि कथन आरम्भ करते हैं ॥ ११७ ॥

'अथाकामयमान' इत्यादि श्रुति । श्रुत्यर्थ श्लोकव्याख्यानसे स्पष्ट है ॥ ६ ॥

'पूर्वोक्तकामि०' इत्यादि । अथशब्द हेत्वर्थ है, चूँकि कामसे कामीको संसार होता है, अतः अकामयमान मुक्त होता है । अथवा कामिवैपम्यसूचनार्थ अथ-शब्द है । कामीको संसार होता है, यह कह चुके हैं । कामनाके अभावसे मुक्ति होती है, यह सिद्धान्त है । जैसे काम और उसके अभावमें वैषम्य है, वैसे ही बन्ध और मुक्तिरूप फलमें समझना चाहिए । काम संसारका बीज है यह अन्वयव्यतिरेकसे भी सिद्ध है ।

शङ्का—सुषुप्त्यवस्थामें आत्मा अकाम रहता है, पर मुक्ति नहीं होती, किन्तु पुनरुत्थान और पूर्ववत्संसार ही रहता है ।

समाधान—अकामयमान मनुष्यके लिए कहा गया है, सुषुप्त्यवस्थामें मनुष्याभिमान नहीं रहता, अतः उक्त अर्थमें दोष नहीं है, निश्शेष दुःखनिवृत्ति

अतोऽकामयमानः स्यात् कामहेतुनिराकृतेः ।
कामहेतुश्च सङ्कल्पो व्यासेनैवमुदीरणात् ॥ १२१ ॥
सङ्कल्पहेतुः कामो वै यज्ञाः सङ्कल्पसम्भवाः ।
काम ! जानामि ते मूलं सङ्कल्पात्किल जायसे ॥ १२२ ॥
असम्यक्त्वेऽपि भोगेषु सम्यक्त्वस्य प्रकल्पनम् ।
सङ्कल्पस्तेन भोग्या मे भूयासुरिति वाञ्छति ॥ १२३ ॥
यन्मध्ये यच्च पर्यन्ते यदापाते मनोरमम् ।
सर्वमेवाऽपवित्रं तद्विज्ञानामेध्यदूषितम् ॥ १२४ ॥

स्वरूप एवं निरतिशय सुखस्वरूप आत्मा है, किन्तु मोहवश सुखको अप्राप्त मानकर मुझे सुख हो, ऐसी कामना करता है ॥ १२० ॥

'अतो०' इत्यादि । कामहेतुके त्यागसे पुरुष अकाम होता है ।

शङ्का—कामहेतु क्या है ?

समाधान—संकल्प ।

शङ्का—इसमें प्रमाण क्या है ?

समाधान—व्यास महर्षिका वचन ।

शङ्का—कौन ?

समाधान—'संकल्पहेतु०' इत्यादि ।

संकल्पका हेतु काम है । कामनाकी सिद्धिके लिए पुरुष साधनानुष्ठानका संकल्प करता है, तदनन्तर यागादिका अनुष्ठान करता है । फलकामनाके भेदसे अधिकारीका भेद है और अधिकारीके भेदसे तत्-तत् फलहेतु यागादि अनेक हैं । कामनाका संबोधन करके व्यास भगवान्‌ने स्पष्ट कहा है—हे काम, तुम्हारा मूल मैं जानता हूँ, तुम संकल्पसे होते हो ॥ २१, २२ ॥

'असम्यक्त्वेऽपि' इत्यादि ।

यद्यपि भोग परिणाममें प्रतिकूल है, अतएव असमीचीन माना जाता है, किन्तु अज्ञको वही समीचीन प्रतीत होता है, अतएव उसीका संकल्प करता है । संकल्पका सामान्यतः स्वरूप है—मुझको भोग्य पदार्थ प्राप्त हों, ऐसी इच्छा करना ॥ २३ ॥

'यन्मध्ये' इत्यादि । जो मध्यमें और परिणाममें थोड़े बोधसे (यानी

अतोऽसमीचि सम्यक्त्वभ्रान्तिः स्यादप्रबोधतः ।
यावन्न सम्यग्ज्ञानेन प्रत्यगात्माऽवबुध्यते ॥ १२५ ॥
प्रतीचि बुद्धे सम्यक्त्वं भोग्येषु विनिवर्तते ।
अथाऽकामयमानोऽयं भवतीति विवक्षितम् ॥ १२६ ॥
परमानन्दरूपत्वाग‌स्ति सम्यक्त्वमात्मनि ।
अबोधात् सुखमप्राप्तमिति मत्वा विमुह्यति ॥ १२७ ॥
प्रतिकूलस्य भोग्यस्य यथा स्याद् दुःखहेतुता ।
तथाऽनुकूलं हेतुः स्यात्सुखस्येत्यस्य विभ्रमः ॥ १२८ ॥
मा भूद् दुःखं ममेत्येवं यथा कामयतेऽनिशम् ।
सुखं मे स्यादिति तथा नरः कामयतेऽन्धधीः ॥ १२९ ॥

अविचारसे) प्रिय ज्ञात होता है, वह सब अपवित्र और विनाशरूप अपवित्रतासे दूषित अतएव अनुपादेय है ॥ १२४ ॥

'अतोऽसमीचि' इत्यादि ।

शङ्का—भोग्य यदि असमीचीन है, तो उसमें लोगोंकी समीचीनत्वबुद्धि क्यों होती है ?

समाधान—अज्ञानसे जबतक आत्मतत्त्वज्ञान नहीं होता, तबतक उसमें समीचीनत्वबुद्धि होती है ॥ १२५ ॥

'प्रतीचि' इत्यादि । आत्मतत्त्वका निश्चय होनेपर भोग्यसमुदायमें समीचीनत्व-बुद्धिकी निवृत्ति होती है, तब वह पुरुष अकामयमान होता है, यह प्रकृतमें विवक्षित है ॥ १२६ ॥

'परमानन्द०' इत्यादि । परमानन्दस्वरूप होनेसे आत्मामें समीचीनत्व है, किन्तु आत्मस्वरूप तादृश सुखके अज्ञात होनेसे अप्राप्त मान कर संसारी विमोहित होता है ॥ १२७ ॥

'प्रतिकूलस्य' इत्यादि । प्रतिकूल भोग्यमें जिस प्रकार दुःखहेतुत्व है, उसी प्रकार अनुकूल भोग्यमें सुखहेतुत्व है, यह अज्ञका विभ्रम है ॥ १२८ ॥

'मा भूद् दुःखम्' इत्वादि । मुझे दुःख न हो, यह कामना प्रतिक्षण जैसे मनुष्य करता है वैसे ही सुख मुझे सदा हो यह भी कामना करता है, ये कामनाएँ मूढ़धीकी हैं । वस्तुतः आत्मामें दुःख नहीं है, किन्तु अज्ञानसे उसमें दुःख

परमानन्दरूपत्वमात्मनश्चेद् विबुध्यते ।
कुतः कामयते भोग्यं ततो बोधादकामता ॥ १३० ॥

बोधलभ्यमकामत्वमथाकामेत्यसूचयत् ।
योऽकाम इत्यादिनैतत् सूत्रं विव्रियते स्फुटम् ॥ १३१ ॥

योऽकामस्तस्य न प्राणा उत्क्रामन्तीति योजना ।
संसृतिः कामिनो यद्वदकामो मुच्यते तथा ॥ १३२ ॥

दृष्टानुश्राविकाबाप्त्या कामा यस्य न सन्त्यसौ ।
अकामस्तादृशत्वं तु निष्कामत्वेन सिध्यति ॥ १३३ ॥

मान कर उसकी निवृत्तिकी इच्छा करता है। तथा आत्मा स्वतः सुखस्वरूप है, सुख अप्राप्त है नहीं, जिससे कि कामनाकी जाय, अज्ञानसे उसको अप्राप्त समझ कर उसकी जो कामना करता है, वह मूढधी नहीं है तो क्या है ? ज्ञानीको उक्त दोनों कामनाएँ नहीं होतीं ॥ १२९ ॥

'परमानन्द०' इत्यादि। ब्रह्मवित् जब आत्मा परमानन्दस्वरूप है, यह समझ जाता है तब भोगकी वह कामना क्यों करेगा ? अतः ब्रह्मबोधसे ही पुरुषमें अकामता होती है ॥ १३० ॥

'बोधलभ्य०' इत्यादि। अकामत्व आत्मबोधसे ही प्राप्त होता है, इसीसे 'अथाकामयमानः' इत्यादि सूचित किया गया है। 'योऽकामः' इत्यादि वाक्यसे उसका विवरण करते हैं ॥ १३१ ॥

'योऽकाम०' इत्यादि। जो अकाम है, उसके प्राण निधनके समय नाड़ियोंसे नहीं निकलते, किन्तु यहीं लीन हो जाते हैं। संसारी पुरुषके प्राण तो तत्तत् फलके भोगके लिए नाडीविशेषसे ही निकलते हैं, अतएव उसीको संसार यानी जन्ममरणबन्धन प्राप्त होता है। अकाम पुरुष मुक्त होता है ॥ १३२ ॥

'दृष्टानु०' इत्यादि। दृष्ट यानी ऐहलौकिक और आनुश्रविक यानी पारलौकिक स्वर्गादि अनात्मविषयोंकी कामनाएँ जिसको नहीं होतीं, वही अकाम कहा जाता है; यह अकामत्व यानी निष्कामना कामनाभावसे ही सिद्ध होती है ॥ १३३ ॥

विभ्रमापादिताः कामाः प्रत्यक्तत्त्वविवेकिनः ।
यस्माद्विनिर्गताः सोऽयं निष्काम इति भण्यते ॥ १३४ ॥
आप्तकामत्वतः सिध्येद् बुद्धेः कामविनिर्गमः ।
अप्राप्तौ काम्यमानस्य कामः क्वाऽपि न निःसरेत् ॥ १३५ ॥

'विभ्रमा०' इत्यादि । विभ्रमसे यानी सकलकामनाश्रय बुद्धिके तादात्म्यविभ्रमसे बुद्धिस्थ सकल कामनाएँ आत्मामें प्रतीत होती हैं, आत्मतत्त्वका विवेक होनेपर बुद्धितादात्म्यसे प्रतीयमान निखिल कामनाओंके साथ बुद्धि निवृत्त हो जाती है । निवृत्ति यहां उच्छेद विवक्षित है, लय नहीं है, इसको व्यक्त करनेके लिए वासनाके साथ निवृत्ति कही गई है, अतः तत्त्वज्ञानी निष्काम कहा जाता है ॥ १३४ ॥

'आप्तकाम०' इत्यादि । 'आप्तकाम' वाक्यघटक कामशब्द 'काम्यते' इस कर्मव्युत्पत्तिसे आत्मपरक है । आप्तः काम आत्मा येन तस्य भावः आप्तकामत्वम् । आत्मप्राप्तिसे बुद्धिगत कामकी निवृत्ति होती है । आत्मप्राप्ति न होनेपर काम्यमानका काम कभी नहीं निकलता, अतः कामनाकी निवृत्तिका हेतु आत्मज्ञान ही है । भाव यह है कि आत्मकामत्व आप्तकामत्वमें हेतु है । निखिल शब्दादि प्रपञ्च आत्मा ही है, अतिरिक्त नहीं है, ऐसा ज्ञान होनेपर उसके अतिरिक्त काम्य विषय ही नहीं रहता, अतः आत्मकामत्व होता है । आत्मकाम होनेसे आत्मा प्राप्त ही है, प्राप्तव्य नहीं है, इसलिए आप्तकामत्व स्फुट सिद्ध होता है, अतएव निष्कामत्व स्वतः सिद्ध होता है, इसीसे आत्मा 'अकाम' कहलाता है । अकामयमान मुक्त होता है ।

शङ्का—सम्यग् ज्ञानसे अज्ञानका ध्वंस होनेपर ज्ञाता आदिके भेदसे कामादि क्यों नहीं होते ?

समाधान—उक्त भेद भी अज्ञानावस्थामें ही रहता है, अतः ज्ञान होनेपर उक्त भेद भी नष्ट हो जाता है ।

शङ्का—इसमें क्या प्रमाण है ?

समाधान—'यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत् तत्केन कं पश्येत्' इत्यादि श्रुति प्रमाण है ।

शङ्का—ज्ञाता आदिके भेदकी अभावदशामें कामना क्यों नहीं होती ?

मिष्टान्नभोजनं मुक्त्वा बुभुक्षा न निवर्तते ।
अतः काम्यप्राप्तिरेव निष्कामत्वस्य कारणम् ॥ १३६ ॥
ननु दोषस्य दृष्ट्याऽपि भवेत्कामविनिर्गमः ।
श्वभिरास्वादितं भोज्यं पश्यन्भोक्तुं न वाञ्छति ॥ १३७ ॥
मैवं फले साधने च पुंसः कामो द्विधा भवेत् ।
तत्र साधनदोषेण फलकामो न नश्यति ॥ १३८ ॥
अन्यथा भोज्यदोषेण क्षुन्निवृत्तिः प्रसज्यते ।
न त्वेवमस्त्यन्यभोज्यं सम्पाद्याऽपि बुभुक्षते ॥ १३९ ॥

समाधान—ज्ञात विषयकी कामना होती है । 'ध्यायतो विषयान् पुंसः' इत्यादि भगवद्वाक्यसे और अनुभवसे भी सिद्ध है कि अज्ञातकी कामना नहीं होती ॥ १३५ ॥

'मिष्टान्नभोजनम्' इत्यादि । इस श्लोकसे लेकर ४१ वें श्लोकतक शङ्का और समाधान करना इस विषयमें व्यर्थ और असंगत है, अतएव वार्तिकमें इसका उल्लेख नहीं है । अतः इसपर लिखनेकी कुछ भी इच्छा नहीं होती, पर कर्तव्यवश कुछ लिखते हैं । मिष्टान्नभोजनके बिना मिष्टान्न खानेकी इच्छाकी निवृत्ति नहीं होती, अतः कामप्राप्ति ही निष्कामत्वका कारण है ॥ १३६ ॥

'ननु दोषस्य' इत्यादि ।

शङ्का—विषयदोषदर्शनसे भी भोज्यविषयक कामनाकी निवृत्ति देखी जाती है, जैसे कुत्तेके भुक्तावशिष्ट अन्नको देख कर कोई भी पुरुष भोजनकी इच्छा नहीं करता ॥ १३७ ॥

समाधान—**'मैवम् फलम्'** इत्यादि । पुरुषकी कामना दो प्रकारकी होती है—एक फलविषयिणी और साधनविषयिणी । इसमें साधनके दोषदर्शनसे फलविषयक कामनाकी निवृत्ति नहीं होती ॥ १३८ ॥

'अन्यथा' इत्यादि । यदि साधनके दोषदर्शनसे फलेच्छा निवृत्त हो, तो उक्त दृष्टान्तसे भोजनेच्छाकी भी निवृत्ति होनी चाहिए, किन्तु ऐसा नहीं देखा जाता, प्रत्युत अन्य भोजनसामग्रीका संपादन कर पुरुष भोजनेच्छा करता ही है ॥ १३९ ॥

फलं सर्वत्र चाऽऽनन्दो न त्वसौ क्वाऽपि दुष्यति ।
तस्मादानन्दकामोऽयमानन्दाप्त्यैव नश्यति ॥ १४० ॥

एवं सत्याप्तकामत्वं निष्कामत्वस्य साधनम् ।
काम्याप्तौ त्वात्मकामत्वमेव हेतुर्न चेतरत् ॥ १४१ ॥

सत्यामप्यात्मवाञ्छायां यागभार्यादिना विना ।
स्वर्गपुत्रादिकामाप्तिर्नेति चेच्छ्रूयतामिदम् ॥ १४२ ॥

किमेकं साधनं सर्वकामानां प्रापकं भवेत् ।
उतैकस्यैव नाऽऽद्योऽत्र युज्यते तददर्शनात् ॥ १४३ ॥

द्वितीये सर्वकामाप्तेरात्मवाञ्छैव कारणम् ।
सर्वाणि साधनान्येको न संपादयितुं क्षमः ॥ १४४ ॥

'फलं सर्वत्र' इत्यादि । सर्वत्र फल आनन्द ही है, यह कहीं भी दुष्ट नहीं होता, अतः आनन्दकी कामना आनन्दप्राप्तिसे ही निवृत्त होती है, कारणान्तरसे नहीं ॥ १४० ॥

'एवं सत्याप्त०' इत्यादि । पूर्वोक्त प्रकारसे आप्तकामत्व ही निष्कामत्वका साधन है । निखिल काम्यप्राप्तिका कारण आत्मकामत्व ही है, दूसरा नहीं है ॥ १४१ ॥

'सत्याम०' इत्यादि । आत्मकामना ही निखिल-काम्यप्राप्तिमें हेतु है, यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि आत्मकामना होनेपर भी यागके बिना स्वर्ग और भार्याके बिना पुत्र फल नहीं मिल सकता, उसके लिए तत्-तत् उपाय ही करना होगा ॥ १४२ ॥

'किमेकम्' इत्यादि । आपने जो यह कहा कि आत्मेच्छा ही सब कामोंका साधन है और आत्मप्राप्तिका साधनान्तर नहीं है, किन्तु उक्त इच्छा ही है, यहांपर प्रश्न यह होता है कि सब कामोंका एक ही साधन है अथवा एक ही का उक्त साधन है ? प्रथम पक्ष ठीक नहीं है, क्योंकि एक साधनसे सब फलोंकी सिद्धि कहीं भी दृष्टिगोचर नहीं होती ॥ १४३ ॥

'द्वितीये' इत्यादि । द्वितीय पक्षमें आत्मेच्छा ही सब कामोंकी साधन है, क्योंकि एक पुरुष सब साधनोंका संपादन नहीं कर सकता ।

यदुक्तमात्मवाञ्छाऽपि न पुत्राद्यभिसाधनम् ।
इत्यत्र कोऽयमात्मा स्यात् सोपाधिर्वाऽनुपाधिकः ॥ १४५ ॥
सोपाधिकात्माऽऽभासः स्यान्न तु मुख्यः श्रुतीरितः ।
निरुपाधिः परानन्द आत्मेति श्रुतिसंमतः ॥ १४६ ॥
आनन्दाः सर्वभूतानां तस्मिन्नन्तर्भवन्ति हि ।
पुत्रादिजन्या आनन्दा अपि तस्मिन्नवस्थिताः ॥ १४७ ॥
तथाविधात्मकामो य आप्तकामो भवेदयम् ।
आत्मनः प्राप्तरूपत्वात् कोऽन्यः कामोऽस्य शिष्यते ॥१४८॥

शङ्का—आत्मेच्छा ही सब कामोंका साधन है, इसमें अवधारण अनुचित है, साधनान्तरसे भी तत्तत्फल पाये जाते हैं, जैसे भोजनादिसे तृप्त्यादि ।

समाधान—ठीक है, पर सब साधनोंका अनुष्ठान एक पुरुष नहीं कर सकता, यह भी प्रसिद्ध ही है ॥ १४४ ॥

'यदुक्त०' इत्यादि । जो यह कहा कि आत्मेच्छा भी पुत्रप्राप्तिका साधन नहीं है, क्योंकि भार्याके बिना केवल तदिच्छामात्रसे पुत्रप्राप्ति नहीं देखी जाती, उसमें प्रश्न यह है कि आत्मा यहां सोपाधिक कहते हो या अनुपाधिक ? ॥ १४५ ॥

'सोपाधिक०' इत्यादि । सोपाधिक शरीराद्यवच्छिन्न आत्मा मुख्य श्रौत आत्मा नहीं है, किन्तु आभास है, निरुपाधिक परानन्दस्वरूप आत्मा ही श्रुतिसम्मत आत्मा है ॥ १४६ ॥

'आनन्दाः' इत्यादि । सब प्राणियोंके आनन्द उस परमात्मानन्द में ही अन्तर्भूत हैं, अतः पुत्रप्रभवादि आनन्द भी उसीमें अवस्थित हैं, आत्मानन्दानुभव होनेपर पुत्रानन्दादिविषयक इच्छा ही नहीं हो सकती ॥ १४७ ॥

'तथाविधा०' इत्यादि । निरतिशयानन्दात्मक आत्मा ही मोक्षरूप काम है । इसकी कामना जिसमें है, वही आत्मकाम कहा जाता है । इसमें सन्देह यह होता है कि आत्मा नित्य ही प्राप्त है फिर उसकी कामना ही कैसे ? कामना अप्राप्त वस्तुकी होती है, इसका उत्तर अन्तिम श्लोकसे दिया जायगा ॥ १४८ ॥

प्राप्तत्वादेव कामोऽपि नाऽऽत्मनीति मतं यदि ।
मैवमप्राप्तवत् सोऽयमनभिज्ञेन काम्यते ॥ १४९ ॥
कण्ठचामीकरं प्राप्तमप्यज्ञातं तु काम्यते ।
प्राप्तोऽप्यात्माऽनभिज्ञेन काम्यतां हीयतेऽत्र किम् ॥१५०॥
यद्यत्यन्तमविज्ञातो न काम्यस्तर्हि शास्त्रतः ।
सामान्यतोऽवबुद्धः सन् काम्यतामनुभूतये ॥ १५१ ॥
स कामः क्रतुमुत्पाद्य कारयेच्छ्रवणादिकम् ।
फलं त्वनुभवस्तत्र कामात्स्वर्गो यथा तथा ॥ १५२ ॥

'प्राप्तत्वादेव' इत्यादि ।

शङ्का—अप्राप्तवस्तुविषयक कामना होती है, यह सर्वसम्मत है । आत्मा सबको नित्यप्राप्त है, अतः उसकी कामना कैसे ?

समाधान—ठीक है, परन्तु आत्मानभिज्ञ पुरुष प्राप्त आत्माको अप्राप्तवत् मानकर उसकी कामना करता है ॥ १४९ ॥

उक्त अर्थका दृष्टान्त द्वारा समर्थन करते हैं—**'कण्ठचामीकरम्'** इत्यादिसे ।

कण्ठचामीकर (कण्ठगत सोना या स्वर्णनिर्मित कण्ठभूषण) यद्यपि कण्ठगत है, तथापि कण्ठमें नहीं है, इस भ्रान्तिसे बाहर खो जाता है और उसके वियोगसे दुःखी होता है । तुम्हारे कण्ठमें ही उक्त भूषण है, इस परोपदेशसे जब उसको यथार्थ ज्ञान होता है, तब वह सहर्ष कहता है—पा गया । पाया तो था ही, पर अज्ञानसे अप्राप्त था । ज्ञानसे प्राप्त मानता है एवं प्रकृतमें भी समझना चाहिए । प्रकृतमें भ्रान्तिदशामें कामना करे, तो क्या हानि है ? कुछ नहीं । ज्ञानदशामें कामना नहीं होती ॥ १५० ॥

'यद्यत्यन्त०' इत्यादि । यदि आत्मा अत्यन्त अज्ञात है, तो सुतरां कामना नहीं हो सकती । ज्ञानके बिना इच्छा नहीं होती, 'ज्ञानजन्या भवेदिच्छा' इत्यादि वचन इसमें प्रमाण है । सर्वथा अज्ञान नहीं है, किन्तु शास्त्र द्वारा सामान्यतः ज्ञान है, अतएव कामनाविषय हो सकता है ॥ १५१ ॥

'स कामः' इत्यादि ।

शङ्का—सामान्यतः ज्ञान होनेसे कामना हो सकती है, परन्तु यह अनुभवहेतु कैसे ?

य ईदृगात्मकामोऽयं प्राप्तकामो भवेत्ततः ।
निष्कामत्वादकामः सन् संसारात् प्रविमुच्यते ॥ १५३ ॥
संसारानर्थबीजस्य प्रध्वंसादात्मबोधतः ।
कामकाम्याद्यसद्भावात् पूर्ण आत्माऽवतिष्ठते ॥ १५४ ॥
योऽकामस्तस्य न प्राणा इति मोक्षं वदन्मुनिः ।
जिघृक्षत्यायसं तप्तं शास्त्राचार्यात्मनिश्चयात् ॥ १५५ ॥

समाधान—यद्यपि अनुभव प्रमाणजन्य होनेसे कामनाजन्य नहीं हो सकता तथापि श्रवणादि द्वारा परम्परया कामनाजन्य होता है। जैसे स्वर्गरूप फलका श्रवण होनेपर उसके उपायभूत यागादिमें कामना द्वारा प्रवृत्ति होती है, वैसे ही मोक्षरूप फलके उपायभूत श्रवणादिमें कामना द्वारा प्रवृत्ति होती है ॥ १५२ ॥

'योऽकाम' इत्यादि वाक्यार्थ हेतुहेतुमद्भावसे पूर्वमें व्याख्यात हुआ, उसीका उपसंहार करते हैं—'य' इत्यादिसे ।

इस प्रकार आत्मकाम पुरुष प्राप्तकाम कहा जाता है। आप्तकाम ही निष्काम होता है, उसीसे अकाम होकर संसारसे विमुक्त होता है ॥ १५३ ॥

'संसारानर्थ०' इत्यादि । आत्मबोधसे संसारानर्थजनक अज्ञानका ध्वंस होनेपर सम्पूर्ण आत्मरूप ही प्रतीत होता है, अतएव काम, कामी आदि भेद नहीं रहता, फिर कौन किसकी कामना करेगा ? कामना नियमसे भेदघटित होती है, उसीसे पुरुषमें अपूर्णता भी होती है। उसकी निवृत्तिसे पूर्णरूपसे आत्मा अवस्थित रह जाता है, यही मोक्ष है ॥ १५४ ॥

'योऽकाम०' इत्यादि । अखण्ड ब्रह्मात्मरूपसे अवस्थानलक्षण मोक्ष पूर्व वाक्यसे कहा गया है, उसीका समर्थन अनन्तर वाक्यसे करते हैं। मोक्षके विषयमें उपनिषदोंका परस्पर विवाद नहीं है। शास्त्रान्तरका विवाद भी इस विषयमें पूर्णरूपसे निराकृत हो चुका है। 'योऽकामः' इत्यादि वाक्यसे अकाम पुरुषके प्राणोंके उत्क्रमणका प्रतिषेध कर निश्चयसे मोक्षप्रतिपादक मुनिके अभिप्रायको स्फुट करते हैं। जो अकाम है, उसके प्राण नहीं निकलते, यह प्रतिज्ञा परोक्ष ब्रह्मज्ञानीके विषयमें नहीं है, किन्तु 'मनुष्योऽहम्' इस निश्चयके समान 'अहं ब्रह्म' इत्याकारक दृढ़ निश्चयवान् सत्यप्रतिज्ञ तप्तपरशुग्रहण आदि शपथमें समर्थ पुरुषके विषयमें है ॥ १५५ ॥

उत्पन्नतत्त्वज्ञानस्य प्राणा अज्ञानबाधनात् ।
नोत्क्रामन्ति न तिष्ठन्ति न च नश्यन्त्यहेतवः ॥ १५६ ॥

रज्जुसर्पो यथा लोके रज्जुतत्त्वावबोधने ।
न गच्छति न चाऽप्यास्ते न च नश्यत्यमी तथा ॥१५७॥

इत्यभिप्रेत्य वाक्यं तु केचिदेतदधीयते ।
अत्रैव समवेत्यादि तद्वाक्यार्थ उदीर्यते ॥ १५८ ॥

अविद्यातज्जनिर्मुक्तं वस्त्वत्रैवेति भाष्यते ।
समित्यैकात्म्यमात्रेण प्राणानां स्थितिरुच्यते ॥ १५९ ॥

'उत्पन्न०' इत्यादि ।

शङ्का—ब्रह्मविद्के प्राण अन्य प्राणीके प्राणके समान क्यों नहीं निकलते ?

समाधान—प्राण निकलनेका कारण अज्ञान है, उसका बाध हो चुका अतः 'कारणाभावात् कार्याभावः' इस न्यायसे उक्त अर्थ समर्थित होता है ।

शङ्का—तब क्या पूर्ववत् शरीरमें ही रहते हैं ?

समाधान—नहीं, रहते भी नहीं हैं, अन्यथा अनुभवविरोध होगा ।

शङ्का—तो क्या नष्ट हो जाते हैं ?

समाधान—नहीं, नाशकारणके अभावसे नष्ट भी नहीं होते हैं ॥ १५६ ॥

'रज्जुसर्पो' इत्यादि । आत्माके यथार्थज्ञानसे अज्ञानका ध्वंस होनेपर प्राणोंकी उत्क्रान्ति, स्थिति और नाश नहीं होता; इसमें दृष्टान्त कहते हैं—जैसे रज्जुतत्त्वका अवबोध होनेपर रज्जु सर्प नहीं कहा जाता है और न वह उसमें रहता ही है और न नष्ट ही होता है, वैसे ही उक्त प्राणको भी समझना चाहिए । उक्त अर्थका 'अत्रैव समवनीयन्ते' यह माध्यन्दिन श्रुति समर्थन करती है । आत्ममात्ररूपसे प्राणोंकी स्थिति अवनयन है । कल्पित अर्थका तत्त्व अधिष्ठान ही है, अतिरिक्त नहीं, इसीको स्पष्ट करते हैं ॥ १५७ ॥

'इत्यभिप्रेत्य' इत्यादि । इस अभिप्रायसे कोई 'अत्रैव' इत्यादि वाक्यको उक्त अर्थमें साधकभावसे पढ़ते हैं । उस वाक्यार्थको कहते हैं ॥ १५८ ॥

'अविद्या०' इत्यादि । अविद्या और तज्जन्य प्राण आदिसे रहित ब्रह्मवस्तु ही 'अत्रैव' से कही जाती है । 'सम्' इस उपसर्गका ऐकात्म्यमात्र अर्थ है,

अवनीयन्त इत्युक्त्या नाशादिभ्योऽन्यतो गतिः।
प्रत्यङ्मात्रैकनिष्ठत्वान्न भावाभावयोः स्थितिः ॥ १६० ॥
बन्धस्य कल्पितत्वेन तन्मुक्तिरपि कल्पिता ।
इत्यभिप्रायमाचष्टे ब्रह्मैवेत्यादिवाक्यतः ॥ १६१ ॥

प्राणका अधिष्ठान आत्मा है, वही रहता है, 'तदितर' रज्जुसर्पके समान निस्तत्त्व है ॥ १५९ ॥

उपसर्गार्थको कहकर क्रियापदार्थको कहते हैं—**'अवनीयन्ते'** इत्यादिसे ।

भावाभावव्यतिरेकसे प्राणोंकी आत्ममात्रस्वरूपसे अवस्थिति ही अवनयन है, आत्मभानस्वरूप होनेसे भावात्मरूपसे अभावात्मना अवस्थितिका प्रश्न ही नहीं हो सकता ।

शङ्का—इस रीतिसे तो सब आत्मा ही हैं, अतः उससे अतिरिक्त साधकका अभाव होनेसे उसकी सिद्धि भी नहीं हो सकेगी । वस्तुतः आत्मसिद्धि शास्त्रसे ही मानी जाती है । शास्त्र अज्ञात पदार्थमें प्रमाण माना जाता है । ज्ञात पदार्थमें तो चक्षु आदि ही प्रमाण हैं । उक्त रीतिसे यदि सब आत्मा ही हैं, तो अज्ञानकी भी सिद्धि नहीं होगी । अज्ञानके असिद्ध होनेपर अज्ञान निवृत्त होता है, अज्ञान निवृत्त हुआ, यह भी व्यवहार नहीं हो सकता ।

समाधान—आत्मामें साधककी अपेक्षा ही नहीं है, क्योंकि वह स्वयंप्रकाश अतएव स्वतःसिद्ध है ।

शङ्का—यदि आत्मा स्वयंसिद्ध है, तो 'शास्त्रयोनित्वात्' इत्यादि सूत्रसे ब्रह्ममें शास्त्र प्रामाण क्यों माना गया है ?

समाधान—ठीक है, 'अहमज्ञः' इत्यादि अनुभवसे आत्मामें अज्ञान सिद्ध ही है, अज्ञानकी त्रैकालिकी निवृत्ति भी विद्वानोंके अनुभवसे ही सिद्ध है, उसके लिए मानान्तरापेक्षा नहीं है ॥ १६० ॥

'बन्धस्य' इत्यादि । बन्धके कल्पित होनेसे उससे मुक्ति भी कल्पित ही है, वास्तविक नहीं है, इसी अभिप्रायका 'ब्रह्मैव सन् ब्रह्माऽऽप्नोति' यह माध्यन्दिन श्रुति समर्थन कहती है । कठवल्लीमें भी 'विमुक्तश्च विमुच्यते' इत्यादि वाक्यसे यही कहा गया है ॥ १६१ ॥

ब्रह्मैव सन् वस्तुतोऽयमब्रह्म स्यादविद्यया ।
अविद्यायां निवृत्तायां ब्रह्माऽऽप्नोतीव विद्यया ॥ १६२ ॥
नाऽन्यदज्ञानतोऽस्तित्वं द्वितीयस्याऽऽत्मनो यथा ।
निवृत्तिस्तद्वदेवाऽस्य नाऽवगत्याऽऽत्मनोऽपरा ॥ १६३ ॥
निरस्ताशेषसंभेदं दृष्टिमात्रं निरञ्जनम् ।
यो जानाति स आत्मज्ञस्ततोऽन्ये मूढचेतसः ॥ १६४ ॥
न तस्य जीवतः कश्चिद्विशेषोऽस्ति मृतस्य वा ।
यतः सर्वविशेषाणामविद्यैवाऽत्र कारणम् ॥ १६५ ॥

'ब्रह्मैव' इत्यादि । वस्तुतः जीवात्मा ब्रह्म ही है, केवल अविद्यासे ही अब्रह्म माना जाता है । अविद्याकी निवृत्ति होनेपर विद्यासे ब्रह्म प्राप्त होता है, ऐसा माना जाता है । प्राप्त ही ज्ञान होनेपर प्राप्तके सदृश माना जाता है ॥ १६२ ॥

अज्ञाननिवृत्तिमें आत्मभिन्नत्वकी शङ्का होनेपर असकृदुक्तका ही स्मरण कराते हैं—**'ना०'** इत्यादिसे ।

आत्मव्यतिरिक्त द्वितीय वस्तुका सद्भाव जैसे अज्ञानसे भिन्न नहीं है, वैसे ही उसकी निवृत्ति भी आत्मातिरिक्त नहीं है । अज्ञानकल्पित प्रमाता आदिकी निवृत्तिसे स्वतःसिद्ध, स्वतःमुक्त आत्मा अद्वय कहा जाता है ॥ १६३ ॥

'निरस्ताशेष०' इत्यादि ।

शङ्का—'ब्रह्मैव सन्' इत्यादि पूर्वोक्त वाक्योंसे यदि आत्माको ही ब्रह्म मानते हो, तो वह अहमाकारधीविषय होनेसे सभी ब्रह्मवेत्ता सिद्ध होते हैं, फिर उसके लिए शास्त्र व्यर्थ ही है ।

समाधान—जिसमें संपूर्ण भेदज्ञान निवृत्त हो चुका है, ऐसे [दृष्टिमात्रमें मात्र-शब्द ज्ञानत्व, गुणत्व आदि जातिका निरास करनेके लिए है] निरञ्जन (सकल कर्म और वासनादिसे शून्य और अज्ञानरहित) आत्माको जो जानता है, वही आत्मज्ञ है, उससे अन्य मूढ़चित्त हैं, वे आत्मज्ञ नहीं हैं ॥ १६४ ॥

'न तस्य जीवतः' इत्यादि ।

शङ्का—जीवित अवस्थामें मुक्ति नहीं हो सकती, कारण कि प्राणादिमत्त्व और तद्राहित्य एक समयमें एक धर्मीमें नहीं रह सकते । जीवनके लिए प्राणादिमत्त्व अपेक्षित है और मुक्तिके लिए तद्राहित्य, अतः मरणके अनन्तर ही मुक्ति होती है,

विद्यामात्रकृता ब्रह्मप्राप्तिर्मुक्तिः श्रुतीरिता ।
इतोऽन्यथा तु ये मोक्षं वदन्त्येते निरागमाः ॥ १६६ ॥
विमुक्तिः कर्मकार्या चेदनित्यत्वं प्रसज्यते ।
अग्न्यौष्ण्यवत्स्वभावश्चेत्तत्र कर्म निरर्थकम् ॥ १६७ ॥

यही सिद्धान्त ठीक है । 'तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्ये' इत्यादि श्रुति भी इसी अर्थमें अनुकूल है ।

समाधान—आत्मामें जीवनावस्था तथा मृतावस्थामें कोई विशेष नहीं है, जिससे कि यह कह सकें कि मृतावस्था ही मुक्ति ठीक है, कारण कि सब विशेषोंकी कारण अविद्या ही है । अविद्याके निवृत्त होनेपर उक्त विशेषोंकी निवृत्ति हो ही जाती है, फिर जीवनदशामें मुक्ति नहीं होती, ऐसा माननेमें कोई कारण नहीं है । अतः मृत जीव ही मुक्त होता है, ऐसा कहनेवाले भ्रान्त हैं ॥ १६५ ॥

'विद्यामात्र०' इत्यादि ।

शङ्का—यदि जीवनावस्था और तदितरावस्थामें विशेष नहीं है, तो विद्वान्को ब्रह्मप्राप्ति कैसे कही गई है ?

समाधान—अविद्या और तज्जन्य व्यवधानके अभिप्रायसे उक्त कथन है, ब्रह्मप्राप्ति मुख्य नहीं है, किन्तु गौण है, यह अनेक बार कह चुके हैं ।

शङ्का—ब्रह्मसे अतिरिक्त जीव है, वह ज्ञान और कर्मसे ब्रह्मको प्राप्त करता है, ऐसा ही क्यों नहीं मानते ?

समाधान—'ब्रह्मैव सन्' इत्यादि उपक्रम-श्रुतिके साथ विरोध स्पष्ट है, अतः ऐसा निरागमवादी ही कह सकते हैं, तदन्य नहीं । आत्मस्वरूपावस्थान मुक्ति है, वह अज्ञानव्यवधाननिरासके लिए ज्ञानकी अपेक्षा करती है, इसीमें आत्मैक्यार्थ श्रुति सार्थक है । आत्मभिन्न भावान्तरको यदि ब्रह्मभावरूप मुक्ति मानियेगा, तो पूर्वोक्त ऐक्यश्रुत्युपक्रम बाधित हो जायगा ॥ १६६ ॥

'विमुक्तिः' इत्यादि । यदि विमुक्तिको कर्मकार्य मानियेगा, तो वह अनित्य हो जायगी । 'यथेह कर्मचितो लोकः क्षीयत एवमेवाऽमुत्र पुण्यचितो लोकः क्षीयते' इत्यादि श्रुति एवं कार्यत्वलिङ्गक अनुमानसे भी अनित्यत्वापत्ति ध्रुव है । यदि अग्निगत औष्ण्यके समान मुक्ति आत्माका स्वाभाविक धर्म है, ऐसा

अभिव्यक्तिर्विमुक्तिश्चेदभिव्यञ्ज्यं किमत्र ते ।
अद्वैतश्रुतिबाधः स्याद् द्वैतं चेदभ्युपेयते ॥ १६८ ॥
निगडध्वंसवन्नाऽपि पुंसो मोक्ष इहाऽऽत्मनि ।
बन्धस्य वास्तवस्येह विद्यया ध्वस्त्यसंभवात् ॥ १६९ ॥

मानियेगा, तो उसमें कर्म निरर्थक है, ब्रह्म नित्य होनेसे तत्स्वभाव मुक्ति भी नित्य ही है, फिर कर्मकी क्या आवश्यकता है ?

शङ्का—काष्ठमें अग्नि है, परन्तु उसमें प्रकाशका उपलम्भ नहीं होता, मथनोत्तर प्रकाशोपलब्धि होती है, अतः कादाचित्क होनेसे प्रकाश मथनादि-व्यापारजन्य कार्य ही है, वैसे ही मोक्षके आत्मस्वरूप होनेपर भी उसकी अभिव्यक्ति कर्मजन्य हो सकती है ।

समाधान—काष्ठगत अग्नि मथनसे पहले स्वयं अनभिव्यक्त है, उसकी अभिव्यक्तिके लिए मथनादिव्यापार अपेक्षित है, वह्निके अभिव्यक्त होनेपर तद्गत प्रकाशादि स्वयं अभिव्यक्त होता है, तदभिव्यक्तिके लिए पुनर्व्या-पारान्तरापेक्षा नहीं होती ॥ १६७ ॥

'अभिव्यक्ति०' इत्यादि । यद्यपि आत्माका स्वाभाविक धर्म मोक्ष है, तथापि प्रदीपसे घटके समान कर्मसे मोक्षकी अभिव्यक्ति कहते हो, तो तदभिव्यञ्जक प्रदीपके समान पदार्थान्तर माननेसे अद्वैतका व्याघात होगा ॥ १६८ ॥

किसीका मत है कि ब्रह्मस्वभाव मोक्ष नहीं है, किन्तु बन्धध्वंस मोक्ष है, यह ज्ञानकर्मसाध्य है, इसका निराकरण करते हैं—**'निगड०'** इत्यादिसे ।

यदि वास्तव कहियेगा, तो सत्यकी ज्ञानसे निवृत्ति नहीं होती, अतः आत्मज्ञानसे बन्धकी निवृत्ति न होनेसे विद्या ही व्यर्थ हो जायगी । यदि बन्धको अवास्तव मानते हो, तो ज्ञानसे ही उसकी निवृत्ति हो जायगी, ज्ञानकर्म-समुच्चयको निवर्तक मानना असंगत है । ब्रह्माभिन्न होनेसे जीव वस्तुतः बद्ध ही नहीं है, फिर वास्तविक बन्धध्वंस कहाँ ?

शङ्का—प्रत्यग्-ब्रह्मातिरिक्त जीव नहीं है, तो मुक्ति कैसी ?

समाधान—मुक्तिप्रतिबन्धक अज्ञानकी निवृत्तिसे मुक्त व्यवहार होता है, रज्जुविषयक मोहकी निवृत्तिसे तज्जनित सर्पादिध्वंसके समान आत्मज्ञानसे उसके अज्ञानके ध्वंस द्वारा उससे उत्पन्न बन्धके ध्वंसका व्यवहार होता है । रज्जुमें उसके अज्ञानका ध्वंस होनेपर जैसे रज्जुभाव प्रतीत होता है,

ये तु व्याचक्षते मोक्षे नित्यानन्दानुभूतये ।
ज्ञानाऽभिव्यक्तिरित्येवं तदप्यत्र न युज्यते ॥ १७० ॥
चिदात्मनो य आनन्दः स्वरूपं चेत्तदा स्वतः ।
व्यक्त एव पुनस्तस्याऽभिव्यक्तिः कीदृशी भवेत् ॥ १७१ ॥

वैसे ही आत्मामें उसका अज्ञान और तज्जनित पदार्थका ध्वंस होनेसे आत्मस्वभाव मोक्ष कहा जाता है ॥ १६९ ॥

'ये तु व्याचक्षते' इत्यादि । वैषयिक ज्ञान और सुखसे अतिरिक्त परस्पर विषयविषयिभावसे अवस्थित ज्ञान और सुखकी जो अभिव्यक्ति होती है, वह मोक्ष ज्ञानकर्मसमुच्चयजन्य है, इस मतका भी निराकरण करते हैं। विषयानन्द अनित्य है, तद्भिन्न आत्मानन्द नित्यानन्द है, उसकी अनुभूतीके लिए ज्ञानकी अभिव्यक्ति मोक्ष है, वह ठीक नहीं है ॥ १७० ॥

'चिदात्मनो' इत्यादि । चिदात्माका जो आनन्द स्वरूप है, वह स्वयं प्रकाशानुभवरूप होनेसे सदा व्यक्त ही रहता है, अतः उसकी किसीसे अभिव्यक्ति होती है, ऐसी कल्पना करना व्यर्थ ही है । और यह प्रश्न भी होता है कि कैसी अभिव्यक्ति होती है ? उत्पत्ति अभिव्यक्ति है या प्रकाश ? प्रथम पक्षमें सुख आदिकी उत्पत्ति माननेसे मोक्ष ही अनित्य हो जायगा। द्वितीय पक्षमें विद्यमान आनन्द ज्ञानविषय है अथवा अविद्यमान ? प्रथम पक्षमें आत्माका आनन्द मुक्तिमें व्यक्त होता है, यदि यही अभिमत है, तो मुक्तका स्वरूप ही मोक्ष हुआ, अतएव भेदसे अवस्थित है, इसमें प्रमाण नहीं है, नित्य सुखादिकी अभिव्यक्ति मुक्तिमें होती है, यह विशेषोक्ति ही निरर्थक है ।

शङ्का—मुक्ति आत्मस्वरूप है, परन्तु मुक्तिसे पूर्व व्यवहित होनेसे वह अव्यक्त रहती है ।

समाधान—स्वरूप सुखका वास्तविक व्यवधान ही असम्भव है, अवास्तविक व्यवधान माननेसे मतभेद ही नहीं रहता। जो जिसका स्वरूप है वह उसका व्यवहित नहीं होता, जैसे प्रदीपका प्रकाश । प्रदीपसे प्रदीप-प्रकाश व्यवहित नहीं होता । और यह अब असत्कार्यवादी मतके अनुसार कहते हैं ? या सत्कार्यवादीके मतके अनुसार ? प्रथम पक्षमें स्वसिद्धान्तविरोध स्पष्ट है । द्वितीय पक्षमें सद्वस्तुकी अभिव्यक्ति मानी जाती है, अतः मोक्ष भी पूर्वसिद्ध ही है, फिर विशेषोक्ति क्या

अस्वरूपत्वपक्षे तु जन्यानन्दो विनश्यति ।
तस्मादात्माऽऽनन्द एव सर्वदा भासते स्वयम् ॥ १७२ ॥
नन्विदानीं यथा तद्वन्मुक्तौ चेदविशेषतः ।
नाऽतियत्नो भवेन्नृणां शास्त्रवैयर्थ्यमेव च ॥ १७३ ॥

है? एवं अभिव्यक्ति सत् है या असत्? प्रथम पक्षमें कारणसम्बन्ध नहीं बन सकता; अभिव्यक्तिपक्षमें यह भी दोष है कि ज्ञान और सुख इन दोनोंको अभिन्न मानते हो या भिन्न? प्रथम पक्षमें विषयविषयिभाव न होनेसे अभिव्यक्ति ही नहीं बन सकती, क्योंकि विषयविषयिभाव भिन्नमें होता है, अभिन्नमें नहीं, भेदमें देशान्तरव्यवधान भी आवश्यक है। और नित्यज्ञानसे अतिरिक्त सुखग्राही ज्ञान मानना पड़ेगा, ऐसी परिस्थितिमें मुक्तिकालमें भी कार्यकारणभावकी प्रसक्ति होगी, ऐसी अवस्थामें संसारसे कुछ विशेष नहीं होगा। यदि ज्ञान एवं आनन्दका न भेद और न अभेद किन्तु भेदाभेद मानिये, तो उत्तर यह है कि भेदाभेदमें कोई प्रमाण ही नहीं है, भेदग्राही प्रमाणका भेदनिरासके द्वारा पूर्वमें ही निरास कर चुके हैं।

शङ्का—स्वार्थव्यञ्जक मान अन्यव्यावृत्तिका भी बोधक होता है, अतएव घटज्ञान पटादिव्यावृत्त घटका बोधक होनेसे तदर्थी पुरुष घटमें ही प्रवृत्त होता है, पटादिमें नहीं।

समाधान—प्रमाण स्वविषयमात्रका ही बोधक होता है, स्वविषयमें इतर पदार्थोंके भेद, अभेद या तदुभयके बोधनमें सर्वथा उदासीन रहता है, निचोड़ अर्थ यह निकला कि आत्मा मुक्तिसे पहले और उस दशामें समान ही है, केवल अन्तर इतना ही है कि पूर्वकालमें निःशेषानर्थमूल अविद्या है और शास्त्रज मतिके अनन्तर अविद्या और तज्जन्य पदार्थोंका अभाव है, इससे अतिरिक्त दो अवस्थाओंमें अणुमात्रका भेद नहीं है ॥ १७१ ॥

'अस्वरूपत्व०' इत्यादि। यदि आत्मस्वरूपसे अतिरिक्त मोक्ष माना जाय, तो जन्यानन्द ही कहा जायगा। जन्यानन्द विनाशी होनेसे मोक्ष ही नहीं कहा जा सकता, अतः सदा भासमान आत्मानन्दस्वरूप ही मोक्ष मानना ठीक है ॥ १७२ ॥

'नन्विदानीम्' इत्यादि। जैसा आत्मा संसारदशामें है, वैसा ही यदि मुक्ति-

मैवमात्मन्यविद्याया हानिः कार्या यतस्ततः ।
तदर्थं यत्नसाफल्यं शास्त्रारम्भोऽपि चाऽर्थवान् ॥ १७४ ॥

मुक्तामुक्तत्वरूपोऽयं न विशेषोऽस्ति वस्तुनि ।
तदविद्यैव निःशेषविशेषाणां प्रसूतिकृत् ॥ १७५ ॥

अशेषानर्थहेतुं तामविद्यां शास्त्रजा मतिः ।
सर्वथा हन्ति तेन स्यात्साफल्यं यत्नशास्त्रयोः ॥ १७६ ॥

अविद्याध्वस्तिमापेक्ष्य सम्यग्धीजन्ममात्रतः ।
आत्मा ब्रह्मैव सन्साक्षाद्ब्रह्माऽप्येतीति सुस्थितम् ॥ १७७ ॥

इति वेदान्तसिद्धान्तसर्वस्वं ब्राह्मणोदितम् ।
अस्यैवाऽर्थस्य दार्ढ्यार्थं मन्त्रोदाहरणं भवेत् ॥ १७८ ॥

दशामें भी है, तो विशेष क्या हुआ ? यदि कुछ विशेष नहीं है, तो मनुष्यका मोक्षके लिए प्रयत्न और तदर्थ शास्त्रोपदेश भी व्यर्थ ही हो जायँगे ॥ १७३ ॥

'मैवमा०' इत्यादि ।

समाधान—आत्मामें अविद्याकी स्थिति संसारदशामें है, इसकी निवृत्ति मुक्तिके लिए अपेक्षित है, इसलिए पुरुषप्रयत्नका साफल्य एवं शास्त्रका सार्थक्य माना जाता है ॥ १७४ ॥

'मुक्तामुक्तत्व०' इत्यादि । आत्मवस्तुमें मुक्तत्वामुक्तत्वरूप विशेष नहीं है, क्योंकि आत्माविद्या ही समस्त विशेषकी जननी है; अविद्योपादनक विशेष परमार्थतः अधिष्ठानमें कभी नहीं रहता ॥ १७५ ॥

'अशेषानर्थ०' इत्यादि । शास्त्रजन्य आत्मैकत्वमति सर्वानर्थहेतु अविद्याको नष्ट करती है, इस कारणसे पुरुषप्रयत्न और शास्त्र दोनों सार्थक हैं ॥ १७६ ॥

'अविद्या०' इत्यादि । सम्यग्धीसे यानी 'तत्त्वमसि' इत्यादि वाक्यजन्य आत्मैकत्वमतिसे अविद्या विनिवृत्त होती है, उसकी अपेक्षा ब्रह्मप्राप्ति कही जाती है, जीव तो पूर्वमें भी ब्रह्म ही है, अतएव 'ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति' यह श्रुति स्वरसतः संगत होती है ॥ १७७ ॥

'इति वेदान्त०' इत्यादि । यही ब्राह्मणकथित अर्थ वेदान्तसिद्धान्तसर्वस्व है, इसी कथित अर्थको दृढ करनेके लिए मन्त्रोदाहरण होगा ॥ १७८ ॥

श्रुतिः—तदेष श्लोको भवति ।

यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः ।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुत इति ॥

कामिनः सर्वसंसारः पुरा मन्त्रेण वर्णितः ।
अकामस्य विमोक्षोऽत्र तथा मन्त्रेण वर्ण्यते ॥ १७९ ॥

पुंसो हृदि श्रिताः कामा मुच्यन्ते निखिला यदा ।
तदानीममृतो भूत्वा ब्रह्माऽत्रैव समश्नुते ॥ १८० ॥

सुषुप्तौ कामनाशेऽपि शिष्यते कामवासना ।
तद्वन्मा भूदिति प्राह मुक्तौ सर्वविशेषणम् ॥ १८१ ॥

'तदेष श्लोको भवति' इत्यादि श्रुति । इसमें यह मन्त्र है—जब हृदयमें स्थित कामनाएँ समूल नष्ट हो जाती हैं, तब मर्त्य अमृत हो जाता है और ब्रह्मभावको प्राप्त होता है ।

'कामिनः' इत्यादि । कामी पुरुषको अपने कर्मके अनुरूप संसार होता है, यह पूर्वमन्त्रोंसे कह चुके हैं, अकाम यानी सब कामनाओंसे रहित पुरुष मुक्त हो जाता है, यहाँपर मन्त्र द्वारा इसी अर्थका निरूपण किया जाता है ॥ १७९ ॥

'पुंसो' इत्यादि । जब पुरुषके हृदयस्थित सकल काम निवृत्त हो जाते हैं, तब पुरुष मुक्त होकर 'अहं ब्रह्मास्मि' यह अनुभव करता है ।

शङ्का—ज्ञानसे अज्ञानकी हानि होनेपर भी कामादि क्यों नहीं रहते ?

समाधान—कारणमें ही कामादि रहते हैं और अज्ञान ही कामादिका कारण है, उसका नाश होनेपर कामादिकी स्थितिकी सम्भावना नहीं है ॥ १८० ॥

'सुषुप्तौ' इत्यादि ।

शङ्का—काममें सर्वविशेषण क्यों दिया गया ?

समाधान—सुषुप्तिदशामें जागर और स्वप्नके काम निवृत्त हो जाते हैं, किन्तु उनकी वासना अवशिष्ट रह जाती है । सुषुप्तिदशाके समान मुक्तिदशा न समझी जाय, इसलिए सर्वविशेषण दिया गया है । मुक्तिमें वासना भी नहीं रहती, सुषुप्तिमें कामादिका मूल अज्ञान रहता है, अन्यथा पुनः जागरावस्था ही

कामास्तु मनसो धर्मा नाऽऽत्मनीति विवक्षया ।
हृदि श्रिता इति प्राह स्वात्मन्येते प्रकल्पिताः ॥ १८२ ॥
अविद्यायाः समुच्छित्तौ तद्धेतूनामशेषतः ।
कामानामपि नाशः स्याद्ग्रहातिग्रहरूपिणाम् ॥ १८३ ॥
काम एव हि संसारहेतुत्वेन पुरा श्रुतः ।
अतः कामस्य नाशेऽसावमृतो भवति ध्रुवम् ॥ १८४ ॥

अनुपपन्न हो जायगी । मुक्तिदशामें पुनः संसार इष्ट नहीं है, अतः उक्त अवस्थामें संसारके मूल अज्ञानका नाश माना जाता है ॥ १८१ ॥

'कामास्तु' इत्यादि । कामादि मनके धर्म हैं, नैयायिकोंका कहना है कि ये आत्मधर्म हैं, यह श्रुतिविरुद्ध है, इसीको स्फुट करनेके लिए 'हृदि' विशेषण है । आत्मामें 'अहं कामये' इत्यादि प्रतीति कल्पित कामादिविषयक है, 'कामः संकल्पः' इत्यादि श्रुति भी उक्त अर्थमें साधक है ।

शङ्का—पूर्वोक्त श्रुतिसे ही काम आदि मनोधर्म हैं, यह सिद्ध होता है, फिर उसकी सिद्धिके लिए 'हृदि' विशेषण व्यर्थ है ।

समाधान—ठीक है, यहाँपर यह कहा गया था कि तत्त्वज्ञानीके काम नष्ट हो जाते हैं, अतएव वह अकाम हो जाता है; इसमें हेतुविधया 'हृदि' यह विशेषण विवक्षित है, यतः कामादि हृदयमें रहते हैं, अतः तच्छून्य आत्मा कामादिरहित होता है । यदि आत्मधर्म होते, तो वे निवृत्त नहीं होते ॥ १८२ ॥

'अविद्यायाः' इत्यादि ।

शङ्का—अविद्याका ध्वंस होनेपर उसके कार्यभूत अन्तःकरणका यद्यपि 'कारण-नाशात्कार्यनाशः' इस न्यायसे नाश होता है, तथापि कार्यान्तर रह सकता है, फिर मुक्ति कहाँ ?

समाधान—कामहेतुक ही धर्मादि हैं, वे भी अविद्याका ध्वंस होनेपर ध्वस्त हो जाते हैं । अतः प्रतिबन्धकके अभावसे मुक्ति होनेमें बाधा नहीं है, कामशब्द अनेकार्थक है; इच्छा आदि काम-पदार्थ हैं और वासना भी कामशब्दार्थ है । बुद्धिस्थ रागादिवासना द्विविध इन्द्रियोंकी प्रवर्त्तिका है, इसीसे शुभ और अशुभ क्रियाएँ उत्पन्न हुआ करती हैं । वे ही जगत्‌को उत्पन्न करती हैं ॥ १८३ ॥

'काम' इत्यादि । पूर्वमें श्रुतिवाक्यसे यह सिद्ध कर चुके हैं कि काम ही

अस्मिन्नेव वपुष्येष बोधाद्ब्रह्मत्वमश्नुते ।
ब्रह्मणो मरणाभावादमृतत्वं व्यवस्थितम् ॥ १८५ ॥
भर्तृप्रपञ्चस्त्वाहाऽत्र मन्त्रव्याख्यानमन्यथा ।
हृन्निष्ठा आत्मनिष्ठाश्चेत्येवं कामा द्विधा मताः ॥ १८६ ॥
हृदि श्रिताः प्रमुच्यन्ते न तु प्रज्ञात्मनि श्रिताः ।
सत्यकामः सत्यसंकल्प इत्यन्यत्र संश्रवात् ॥ १८७ ॥
आत्मकामपदेनाऽपि सोऽयमर्थः पुरा श्रुतः ।
आत्मैव कामा यस्येति विग्रहादात्मनिष्ठता ॥ १८८ ॥

संसारका कारण है, अतः कामका नाश होनेपर आत्मा मुक्त होता है, यह निश्चित है ॥ १८४ ॥

'अमृतो भवति', 'अत्र ब्रह्म समश्नुते' इन दोनों वाक्योंमें पुनरुक्त दोषका परिहार करते हैं—'अस्मिन्नेव' इत्यादिसे ।

मरणानन्तर अमृत होता है, शरीरावस्थामें नहीं, इस शङ्काकी निवृत्तिके लिए कहते हैं—'अत्र ब्रह्म समश्नुते' इसी सशरीरावस्थामें इन्हीं कामादिके निवृत्त होनेपर पुरुष मुक्त होता है ॥ १८५ ॥

'भर्तृप्रपञ्च०' इत्यादि । भर्तृप्रपञ्चने इस मन्त्रका अन्यथा व्याख्यान किया है, उसका दूषणदानके लिए अनुवाद करते हैं, हृदयनिष्ठ और आत्मनिष्ठ इस भेदसे काम दो प्रकारके हैं ॥ १८६ ॥

'हृदि' इत्यादि । हृदयाश्रित काम निवृत्त हो जाते हैं, किन्तु प्रज्ञाश्रित कामादि रहते हैं; उनकी निवृत्ति नहीं होती है, इसी अर्थको स्फुट करनेके लिए काममें 'हृदिश्रिताः' विशेषण दिया है ।

शङ्का—हृदयाश्रित कामसे अतिरिक्त आत्माश्रित काम है, इसमें प्रमाण क्या है ?

समाधान—'सत्यकामः सत्यसङ्कल्पः' इत्यादि श्रुति ही उक्त अर्थमें प्रमाण है । हृदयशब्दका मुख्य अर्थ है—माँसपेशी यानी मांसखण्डविशेष, उसमें स्थित विज्ञान भी गौणी वृत्तिसे हृदय कहलाता है ॥ १८७ ॥

'आत्मकाम०' इत्यादि । आत्मकामशब्दका विग्रह है—'आत्मा एव कामो यस्य स आत्मकामः' सत्यसंकल्पादिरूप काम आत्मासे भिन्नाभिन्न है ।

सर्वकामः सर्वगन्ध इति श्रुत्यन्तरं भवेत् ।
तस्मादनश्वरैः कामैरात्मरूपैः समन्वितम् ॥ १८९ ॥
हृन्निष्ठकामा इत्याद्या प्रसिद्धास्तद्विमोचने ।
अमृतो रागहीनः सन्भवेद्विद्याधिकारभाक् ॥ १९० ॥
तथा कर्मसमूहेन छित्वा संसारमात्मनः ।
संसारबीजराहित्यादत्र ब्रह्म समश्नुते ॥ १९१ ॥
पुरा हृन्निष्ठकामेभ्यः प्रोद्भूता वासनाऽऽत्मनि ।
महारजनमुख्यैः सा दृष्टान्तैः प्रतिपादिता ॥ १९२ ॥

अभिन्न होनेसे वे विनश्वर नहीं हैं, किन्तु सदातन हैं, भिन्न होनेसे कामादि-भिन्नशब्दसे कहे जाते हैं, धर्मधर्मिभाव भी भिन्नाभिन्नमें ही होता है ॥ १८८ ॥

'सर्वकामः' इत्यादि । 'सर्वकाम' इत्यादि श्रुत्यन्तर भी आत्मगत कामादिमें प्रमाण है; अतः अविनाशी कामादिसे समन्वित ही मुक्त होता है ।

शङ्का—आत्मासे अभिन्न कामादिका आत्मामें संसर्ग क्यों नहीं मानते, आम्रादिवद् गुण और गुणीका संसर्ग हो सकता है ?

समाधान—मुक्त पुरुषमें स्वगत कामादि स्वाभिन्न होते हैं, अतः उनका संसर्ग-प्रविवेक नहीं हो सकता, क्षीर और नीरके समान जो भिन्न है, उन्हींका संसर्ग-प्रविवेक देखा जाता है, अन्यत्र नहीं ॥ १८९ ॥

'हृन्निष्ठकामाः' इत्यादि । हृद्गत कामादि जो सर्वलोकप्रसिद्ध हैं, उनका त्याग होनेपर पुरुष अमृत रागहीन होकर आत्मविद्याका अधिकारी होता है ॥ १९० ॥

'तथा कर्म०' इत्यादि । विद्याधिकारप्राप्तिके अनन्तर कर्मसमूहके (नित्य-नैमित्तिक कर्मसमूहके) निरभिसंधि अनुष्ठान द्वारा संसारका समुच्छेद कर आत्मनिष्ठ संसारबीजभूत काम और वासनासे रहित होकर वर्तमान शरीरमें ही ब्रह्म प्राप्त करता है यानी जीवन्मुक्त होता है ॥ १९१ ॥

'पुरा' इत्यादि ।

शङ्का—संसारबीज क्या है ?

समाधान—मूर्तामूर्तब्राह्मणमें यह कहा गया है कि बुद्धिस्थ काम आत्मामें पुष्पपुटन्यायसे वासनाओंका उत्पादन करता है । चमेली आदि पुष्पवासित

सा बीजं जन्मनस्तस्या उच्छेदो ज्ञानकर्मभिः ।
मन्त्रव्याख्यानमेतत्तु न्यायागमबहिष्कृतम् ॥ १९३ ॥

तिलसे जो तेल होता है, उसमें तत्-तत् पुष्पगन्ध जिस प्रकार संक्रान्त होता है, अतएव 'चमेलीका तेल' आदि व्यवहार होता है, वैसे ही आत्मामें उक्त वासना होती है, जो महारजनदृष्टान्तसे श्रुतिमें प्रतिपादत है । 'स्यात्कुसुम्भं वह्निशिखं महारजनमित्यपि' इस अमरकोशवचनके अनुसार वह कुसुम्भ या कुसुम नामसे लोकमें ख्यात है । कुसुमके रङ्गसे जैसे वस्त्रमें रङ्ग होता है वैसे ही मनमें स्थित वासनासे आत्मा भी तद्रूप प्रतीत होता है । वासनात्मक रूप आत्माका अन्तरङ्ग रूप है । हृदयाश्रित वासना बाह्य हृदयाश्रित होनेसे बहिरङ्ग कही जाती है । मनोगत स्थूल काम आत्मगत सूक्ष्म काममें कारण है, हृदयगतकामनानिवृत्तिका आत्मगतकामनानिवृत्ति फल है ॥ १९२ ॥

'सा बीजम्' इत्यादि । मनके द्वारा उपसंक्रान्त आत्मवासना शरीरीके जन्मका निदान है, उसके उच्छेदसे पुरुष विमुक्त होता है, उसका उच्छेद ज्ञान-कर्म-समुच्चयसे होता है ।

शङ्का—उक्त समुच्चयसे काम आदिका ध्वंस होनेसे बन्धका भी ध्वंस होता है, किन्तु ब्रह्मभावके लिए हेत्वन्तर वाञ्छनीय है ।

समाधान—जिस अज्ञानमूलक कामनादिसे यह विज्ञानात्मा परमात्मासे विभक्त होकर संसारी हुआ है, वह अखिल कामादि जब विद्याकर्मसमुच्चयसे नष्ट होता है, तब बन्धहानिसे परिशुद्ध आत्मा ब्रह्म होता है ।

शङ्का—बुद्धिस्थ और उसके द्वारा आत्मस्थ कामनिवृत्ति होनेपर भी जीव मुक्त हो सकता है आत्मा नहीं है, कारण कि सत्य काम आदि सहज धर्मका नाश न होनेसे निखिल कामका ध्वंस नहीं हुआ । 'आत्मकामः' इत्यादि वाक्यसे कामविशेषका अवस्थान स्पष्ट सूचित होता है ।

समाधान—आत्मकामादिका आत्माके साथ भेदाभेद है, अतः बन्धक नहीं होता, इत्यादि । यह भर्तृप्रपञ्चका मत अद्वैतवादियोंको मान्य नहीं है ।

शङ्का—क्यों ?

समाधन—यह अर्थ न्याय और आगम इन दोनोंसे विरुद्ध है ॥ १९३ ॥

अस्थूलं नेति नेतीति यत्तत्त्वमसकृच्छ्रुतम् ।
कुतस्तस्य सकामत्वं श्रुत्या तस्माद्बहिष्कृतम् ॥ १९४ ॥
काणादजैमिनीयैर्ये त्विच्छाद्या आत्मनो गुणाः ।
उक्ता ब्रह्मात्मनो नैते किन्तु लिङ्गात्मनो हि ते ॥ १९५ ॥
अचिदात्मनि ते प्राहुर्लिङ्गस्याऽप्यचिदात्मताम् ।
हृदि स्थिता इति प्राह श्रुतिश्चैतद्विवक्षया ॥ १९६ ॥

'अस्थूलम्' इत्यादि । 'अस्थूलमनणु' इत्यादि श्रुतियोंसे जो आत्मतत्त्व असकृत् सुना जाता है, वह सकाम कैसे हो सकता है ? अतः उक्त अर्थ श्रुतिसे बहिष्कृत है । कूर्चब्राह्मणमें भी कहा गया है, अतएव आत्मामें कामादिका सद्भाव दो ब्राह्मणोंसे विरुद्ध है । पुरुषव्यापारलिङ्गसे तथा आदित्य आदि दृष्टान्तसे भी, क्रियाकारकविषय स्थूल सूक्ष्मोपाधिसे पृथक् कर एकरस ज्योति आत्मा है, यह श्रुति बोधन कराती है, इससे यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि देहद्वयातिरिक्त आत्मामें कामादिका संभव नहीं है ॥ १९४ ॥

'काणाद०' इत्यादि । काणाद, वैशेषिक और जैमिनीय यानी मीमांसक—ये लोग इच्छादिको आत्मगुण कहते हैं । 'अहमिच्छामि' इत्यादि प्रतीतिको उक्त अर्थमें साधक मानते हैं, वह ठीक नहीं है, क्योंकि अहंप्रतीतिका विषय लिङ्गात्मा है, अतः इसके ये गुण हैं, ब्रह्मात्माके नहीं ।

शङ्का—क्यों ?

समाधान—कामादि अविद्यात्मक हैं, आविद्यिक गुण जीवमें ही रहते हैं । उपाधिके धर्म प्रतिबिम्बमें ही पाये जाते हैं, बिम्बमें नहीं । दर्पणादिगत मालिन्य प्रतिबिम्बमें ही देख पड़ता है, बिम्बमें नहीं; उसीके समान कामादि लिङ्गधर्म ही हैं, आत्मधर्म नहीं हैं ॥ १९५ ॥

'अचिदात्मनि' इत्यादि । वैशेषिकादि आत्माको आकाशादिवत् अचेतन मानते हैं, आत्ममनःसंयोगसे ज्ञानगुण चैतन्य उत्पन्न होता है, अतएव सुषुप्ति-दशामें मन पुरीतत् नाडीमें प्रविष्ट होता है, अतः आत्मा अचेतन हो जाता है, इसलिए कामादि धर्म अचेतन आत्मामें मानते हैं, ब्रह्मवादी आत्माको चेतन मानते हैं, अतः कामादि धर्म आत्मामें न मानकर लिङ्गमें ही मानते हैं, उचित भी यही है । मूर्तामूर्त-शाकल्य-कूर्च-मैत्रेयी-शारीरक ब्राह्मणोंमें कामादि आत्मधर्म

यदुक्तं सत्यकामत्वं तत्सोपाधिक आत्मनि ।
उपास्यत्वेन कथनान्न मुख्यब्रह्मताऽस्य हि ॥ १९७ ॥
व्यावहारिकसत्यत्वमेवोपास्त्यै विवक्षितम् ।
सर्वकामत्वमप्येवमतो निष्कामताऽऽत्मनः ॥ १९८ ॥
नन्वात्मा यदि निष्कामः किमर्थं हृद्विशेषणम् ।
प्रतिज्ञातार्थसिध्यर्थं हेतूक्तिरिति बुध्यताम् ॥ १९९ ॥

नहीं हैं, यह स्पष्ट निषेध है। इसी अभिप्रायसे श्रुतिने हृदयमें कामादिकी स्थिति स्फुट की है ॥ १९६ ॥

'यदुक्तम्' इत्यादि । सत्यकामत्व आदि गुण आत्माके हैं, अतएव सत्यकामः' इत्यादि श्रुति स्वरसतः संगत होती है, यह आप कहते हैं यह सोपाधिक आत्मामें ही माना गया है, क्योंकि सगुणोपासनाके विषयमें सत्यकामत्व आदि विशिष्ट आत्माकी उपासना कही गई है । सगुण आत्मा मुख्य आत्मा नहीं है, किन्तु गौण है, निर्गुण चैतन्य ही मुख्य आत्मा श्रुतिसंमत है, उसमें ही 'नेति नेति' से ब्रह्मव्यतिरिक्तका निषेध है ।

'व्यावहारिक०' इत्यादि ।

शङ्का—यदि 'सत्यकामत्वादि' पारमार्थिक नहीं हैं, तो तद्रूपसे उपासनाका विधान कैसे किया गया ?

समाधान—कामादिकी व्यावहारिक सत्ता मान कर उपासना कही गई है, धर्मिसमसत्ताक ही धर्म होता है; यह औत्सर्गिक नियम है, उपासनाविधानमात्रसे पारमार्थिक नहीं जा सकता है, अतः आत्मा वस्तुतः निष्काम ही है ॥ १९८ ॥

'नन्वात्मा' इत्यादि ।

शङ्का—आत्मा यदि निष्काम है, तो फिर काममें 'हृदि' विशेषण क्यों दिया ? विशेषण इतरव्यावर्तक ही सप्रयोजन माना जाता है । 'सम्भवव्यभिचाराभ्यां स्याद्विशेषणमर्थवत्' यह श्लोक उक्तार्थमें प्रमाण है । यदि आत्मामें भी काम होता, तो 'हृदि' विशेषण आत्मस्थकामव्यावर्तक होनेसे सार्थक होता । यदि उसे नहीं मानते, तो उक्त विशेषण व्यर्थ है । प्रत्युत विशेषणके अनुरोधसे आत्मामें कामादि अर्थापत्तिप्रमाणसे सिद्ध होते हैं, लोकमें देवदत्त बाँयीं आँखसे देखते हैं, यह कहनेपर दक्षिण नेत्रसे वे नहीं देखते, यह स्फुट ज्ञात होता है,

मुच्यन्ते आत्मनः कामा हृन्निष्ठास्ते यतस्ततः ।
अविद्ययाऽऽरोपिताश्चेद्बाध्यन्ते विद्यया हि ते ॥ २०० ॥

वैसे ही हृदयस्थ काम निवृत्त होते हैं, यह कहनेपर आत्मकाम अवशिष्ट रहते हैं, यह स्फुट ज्ञात होता है, उसके अनुसार आत्मामें काम सिद्ध होता है ।

समाधान—अर्थापत्तिप्रमाणमें अन्यथापि उपपत्ति दोष है, प्रकृतमें 'हृद्' विशेषण आत्मामें काम न माननेपर भी सार्थक होता है ।

शङ्का—कैसे ?

समाधान—विद्यासे कामादिकी निवृत्ति होती है, यह प्रतिज्ञा है, उसकी सिद्धिके लिए उक्त विशेषण है। सब काम हृदयाश्रित ही होते हैं, हृदयमें ही ज्ञान भी होता है, अतः ज्ञान होनेपर हृदयस्थित कामादि निवृत्त होते हैं ॥ १९९ ॥

प्रतिज्ञाहेतुको स्फुट करते हैं—'मुच्यन्ते' इत्यादिसे । ब्रह्मज्ञानसे आत्मामें कामादि निवृत्त होते हैं, इस प्रतिज्ञामें यतः अविद्योत्थ काम हृन्निष्ठ हैं, अतः वे अविद्यासे आत्मामें आरोपित हैं, आरोपकारण अविद्याकी निवृत्ति होनेसे वे भी निवृत्त हो जाते हैं, इस पूर्वोक्त प्रतिज्ञाकी सिद्धिके लिए काममें 'हृदि' यह विशेषण सार्थक है । आविद्यिक धर्म विद्याबाध्य होते हैं, यह प्रसिद्ध है, इसका द्योतन करनेके लिए 'हि' शब्द है । अथवा जो हृदयस्थित काम हैं, वे ही निवृत्त होते हैं, जो काम हृदयमें भावी हैं, उनकी निवृत्ति नहीं होती, इस तात्पर्यसे अनागत कामादिकी व्यावृत्तिके लिए उक्त विशेषण है ।

शङ्का—जो काम हृदयमें हैं नहीं, वे बन्धके कारण भी नहीं हो सकते, अतः उनकी व्यावृत्ति भी व्यर्थ ही है ।

समाधान—व्यर्थ नहीं है, क्योंकि भावी कामनाएँ आत्मामें पुनः उत्पन्न न हों, इसके लिए भी ज्ञानियोंको यत्न करना आवश्यक है, अतएव योगशास्त्रमें भी कहा गया है—'हेयं दुःखमनागतम्' यानी भावी दुःख ही वास्तवमें हेय है; वर्तमान तो भोगसे निवृत्त हो जाता है ।

शङ्का—क्या हृदयविशेषण अन्याश्रित कामनाकी व्यावृत्तिके लिए है ? अथवा भावी कामनाकी व्यावृत्तिके लिए ? इन दोनों पक्षोंमें आश्रयान्तरस्थ काम-व्यावृत्ति ही ठीक जँचती है, क्योंकि हृदयस्थित काम निवृत्त होते हैं, आत्मस्थ नहीं, ऐसी स्पष्ट प्रतीति होती है ।

समाधान--श्रुति, स्मृति और अनुभव आदिसे कामका आश्रय हृदय ही है, तदतिरिक्त नहीं है; फिर आप किस प्रमाणके बलसे उसका आश्रयान्तर मानते हैं? अथवा 'काम्यते' इस व्युत्पत्तिसे कामनाविषय कामशब्दका अर्थ होता है, 'काम्यतेऽनेन' इस व्युत्पत्तिसे कामशब्दका अर्थ कामनाकरण होता है और 'कामनम्' इस भावव्युत्पत्तिसे तृष्णाविशेष कामशब्दार्थ है; अतः काम शब्दके अनेकार्थक होनेसे किस कामकी निवृत्ति होती है इसके स्पष्ट बोधनके लिए 'हृदि' यह विशेषण दिया गया है। इससे भावव्युत्पत्तिलभ्य हृदयस्थित तृष्णाविशेषरूप कामकी ही निवृत्ति आत्मज्ञानसे होती है, यही यहाँ विवक्षित है; आत्मीय कामापेक्षया 'हृदयस्थ' काम निवृत्त होते हैं, यह अर्थ अपेक्षित नहीं है, क्योंकि उसका अभाव कहा जा चुका है, अतः सर्वविषयक तृष्णाके निवृत्त होनेपर ही मुक्ति होती है, अन्यथा नहीं; इसके बोधनके लिए ही 'हृदय' विशेषण दिया गया है। अतएव पहले श्रुतिमें 'अतिच्छन्दाः' कहा गया है। किञ्च, आत्मामें काम है, इसमें प्रत्यक्ष प्रमाण है? अथवा श्रुति? प्रथम पक्षमें कामाश्रय आत्मा है, इसमें प्रत्यक्ष कहीं भी प्रमाण नहीं होता, यदि होता, तो उक्त विषयमें विवाद ही नहीं होता, क्योंकि प्रत्यक्ष-सिद्ध वस्तुमें किसीका विवाद नहीं होता। शास्त्रकारोंका विवाद मात्सर्यसे नहीं है, किन्तु तत्त्वनिर्णयकी इच्छासे होता है। द्वितीय पक्षमें यदि 'सत्य-कामः सत्यसङ्कल्पः' इत्यादिको प्रमाण मानोगे, तो अतिच्छन्दवाक्य तथा छान्दोग्य-वाक्यके साथ विरोध होगा, अतः उक्त वाक्य आत्माश्रय काममें प्रमाण नहीं हो सकता।

शङ्का—'अतिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति', 'नातिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति' ये दोनों वाक्य अपौरुषेय होनेसे तुल्यबल हैं, अतः इनमें बाध्यबाधकभाव न मानकर विकल्प ही माना जाता है अर्थात् दोनों ठीक ही हैं चाहे षोडशीका ग्रहण करे अथवा न करे। इसी प्रकार यहाँ भी उक्त वाक्यमें विकल्प मानकर सकाम एवं निष्काम उभयस्वरूप आत्मा है, ऐसा क्यों न माना जाय? अतीन्द्रिय पदार्थको शास्त्रा-नुसार ही मानना चाहिए।

समाधान—विकल्प क्रियामें होता है, जो कि पुरुषतन्त्र है; पदार्थमें विकल्प नहीं हो सकता। विरुद्ध दो स्वरूपोंसे पदार्थकी अवस्थिति कहीं भी दृष्ट नहीं है, अतः उक्त दृष्टान्त विषम है। विशेष अन्यत्र स्पष्ट है॥ २००॥

निवार्यन्ते न चेत् कामा यथोक्ताः प्रत्यगात्मनः ।
सोऽयं काममयत्वेन संसारित्वान्न मुच्यते ॥ २०१ ॥
आत्मनिष्ठास्तु ये कामा न ते संसारहेतवः ।
इति चेन्निष्फलाः कामाः कल्प्यन्ते कुत आत्मनि ॥ २०२ ॥
कामादीनामनर्थानां प्रतीचि शतशः श्रुतौ ।
निषेधकानि वाक्यानि सन्ति निष्कामता ततः ॥ २०३ ॥

'**निवार्यन्ते**' इत्यादि । यह भी प्रश्न होता है कि आत्मामें जिन वासनामय कामोंको आप मानते हैं क्या वे संसारके हेतु हैं या नहीं? प्रथम पक्षमें ('वे संसारहेतु हैं' इस पक्षमें) उनका निषेध आप नहीं करते हैं, किन्तु हृदय स्थित तृष्णाविशेष कामका ही निषेध करते हैं, ऐसी परिस्थितिमें मुक्तिकी संभावना ही नहीं हो सकती । आत्मामें वासनात्मक कामके रहनेपर कर्म अवश्य ही होगा । कर्मफल भोगनेके लिए संसार आवश्यक है, अतएव 'स यथाकामो भवति' इत्यादि श्रुति पुरुषमें जैसा काम रहता है तदनुकूल ही वह जन्म पाता है, यह कहती है ॥ २०१ ॥

'**आत्मनिष्ठा०**' इत्यादि । द्वितीय पक्षमें यदि काम बन्धहेतु नहीं हैं, तो उनकी स्थिति आत्मामें क्यों मानी जाय? निष्प्रयोजन वस्तुसत्ता नहीं मानी जाती ।

शङ्का—अच्छा, तो उनका बन्ध फल न सही, फलान्तरके लिए ही वे माने जा सकते हैं ।

समाधान—मुक्ति फल है नहीं, मुक्तिको छोड़कर दूसरा फल बन्ध है, यदि वह भी नहीं है, तो फलान्तर कौन है? जिसके लिए उनकी सत्ता मानी जाय, अतः बकरीके गलस्तनके समान व्यर्थ ही उनकी सत्ताका स्वीकार होगा ।

शङ्का—तो अजागलस्तनको क्यों मानते हैं?

समाधान—प्रत्यक्ष प्रमाण है, अतः प्रमाणसिद्ध निष्फल भी माना जाता है, पर प्रमाणशून्य निष्फल नहीं माना जाता ॥ २०२ ॥

'**कामादीना०**' इत्यादि । केवल वैफल्यसे ही कामसम्बन्ध आत्मामें नहीं है, ऐसा नहीं कहते, किन्तु प्रमाणविरोधसे भी वैसा कहते हैं । कामसम्बन्ध माननेपर पूर्वोदाहृत 'नेति नेति' इत्यादि श्रुतिवाक्य एवं 'अविकार्य्योऽयमुच्यते'

इत्यादि स्मृतिवाक्यके साथ विरोध स्पष्ट ही है। फल नहीं है, प्रमाण नहीं है, प्रत्युत प्रमाणविरोध है, अतः विद्वानोंको आत्मामें कामसद्भाव मान्य नहीं है, किन्तु निष्कामता ही मान्य है। अतएव विद्वानोंका निष्कर्ष है—

'प्रमाणवन्त्यदृष्टानि कल्प्यानि सुबहून्यपि।
अदृष्टशतभागोऽपि न कल्प्यो निष्प्रमाणकः॥'

अर्थात् प्रमाणयुक्त अनेक अदृष्ट पदार्थोंकी कल्पना हो सकती है, परन्तु प्रमाणरहित अदृष्ट पदार्थके शतांशकी भी कल्पना नहीं की जा सकती।

शङ्का—'आत्मकाम' इत्यादि श्रुति ही आत्मामें स्वाभिन्न काम है, इस अर्थमें प्रमाण है?

समाधान—यह कामशब्द आत्मसुखतात्पर्यसे कहा गया है यानी आत्मा सुखाधार नहीं है, किन्तु सुखस्वरूप है, इस तात्पर्यसे कहा गया है। सूक्ष्म दृष्टिसे विचार कीजिये कि क्या यह वाक्य उपासनापरक है या वस्तुस्वरूपका निर्णायक है? प्रथम पक्षमें 'सर्वकामः सर्वरसः' इत्यादि श्रुतिके समान यह श्रुति उपासनापरक नहीं हो सकती, किन्तु ज्ञेय वस्तुके स्वरूपके निर्णयके लिए ही हो सकती है यानी अद्वैतार्थप्रकाशनमें ही इसका तात्पर्य्य है। यह भी विचारना चाहिए कि तार्किक लोग आत्मामें कामनाको जो मानते हैं, वह प्रामाणिक है या अप्रामाणिक? आत्मामें कामादि हैं, इसमें वे अनुमानको प्रमाण कहते हैं, जैसे—इच्छादयः क्वचिदाश्रिताः, गुणत्वात, रूपादिवत्' इस सामान्यानुमानसे इच्छादिका कोई धर्मी अवश्य है, यह ज्ञान होता है। परिशेषसे पृथिव्यादि द्रव्य उनके धर्मी नहीं हो सकते, इसलिए उनसे अतिरिक्त आत्माको ही उनका धर्मी मानना चाहिए, परन्तु यह उनका कथन ठीक नहीं है, क्योंकि मन इच्छादिका धर्मी है, इसमें 'कामः सङ्कल्पो विचिकित्सा···इत्येतत्सर्वं मन एव' इत्यादि श्रुति प्रमाण है। कार्य और कारणका अभेद मान कर श्रुतिने 'मन एव' कहा है। अन्यथा 'मनांसि एव' ऐसा कहना चाहिए था। वस्तुतः आत्मा मानमेयातिवर्ती है, अतः कामादिकी तन्निष्ठतामें कोई प्रमाण नहीं हो सकता।

शङ्का—यदि आत्मा मानमेयातिवर्ती है, तो प्रमाणसिद्ध न होनेसे अप्रामाणिक होगा।

समाधान—नहीं, अप्रामाणिक नहीं है, किन्तु स्वतःसिद्ध है। जो परतः सिद्ध होते हैं, उनमें प्रमाणकी अपेक्षा होती है। जो प्रमाणके समान स्वतःसिद्ध

हैं, उनमें प्रमाणकी अपेक्षा नहीं होती, अन्यथा प्रमाणमें प्रमाणान्तरापेक्षा होनेसे अनवस्था दोष होगा। और इसपर भी ध्यान दीजिये कि यदि आत्मामें कामादि मानते हैं, तो उनके ग्राहकको आत्मासे अतिरिक्त मानते हो या आत्माको ही उनका ग्राहक मानते हो ? प्रथम पक्ष तो आपको भी अभीष्ट नहीं है, क्योंकि 'अहमिच्छामि' इत्यादि प्रतीतिसे आप आत्माको ही ग्राहक कहते हैं। परन्तु इसपर विचार क्यों नहीं करते कि स्वनिष्ठ धर्मका स्वयं ग्रहण कोई भी नहीं कर सकता, कारण कि स्वग्रहणके बिना स्वधर्मका ग्रहण नहीं हो सकता, स्वसे स्वका ग्रहण नहीं होता, क्रियामें एक ही कर्ता और कर्म नहीं होता। कोई निपुण खेलाड़ी बाजीगर अपने कन्धेपर स्वयं सवार नहीं हो सकता अर्थात् आरोहण क्रियामें वही कर्ता और वही कर्म नहीं हो सकता। अतएव चक्षु स्वकीय कालिमाको नहीं देखती, यह सर्वानुभवसिद्ध है। और यह भी प्रश्न होता है कि क्या आप कामादिको जड़में मानते हैं या अजड़में ? प्रथम पक्षमें विप्रतिपत्ति नहीं है, फिर भी यह कह देना अनुचित नहीं है कि हम आपके समान आत्माको जड़ नहीं मानते और आपके समान उसमें कामादिको नहीं मानते, अतएव आत्मा स्वयंप्रकाश है, इसके समर्थनके लिए स्वप्नावस्थामें 'स्वेन ज्योतिषा प्रस्वपिति' इस श्रुतिसे आत्मामें स्वयंज्योतिष्ट्वकी सिद्धिके लिए वह कामादिनिखिलविशेषशून्य तत्त्वरूप बतलाया गया है। इस विरोधसे भी कामाश्रितत्व आत्मामें नहीं मान सकते। और इस मतमें बड़ा भारी दोष यह है कि एक-विज्ञानसे सब विज्ञात हो जाता है, ऐसी जो श्रुतिने प्रतिज्ञा की है, उसकी सिद्धिके लिए निखिल पदार्थ ब्रह्मजन्य हैं, अतएव 'कार्यकारणयोरभेदः' इस न्यायसे सब पदार्थ ब्रह्मसे अभिन्न ही हैं, ऐसा सिद्ध कर ब्रह्मज्ञानसे सकल पदार्थोंका ज्ञान हो जाता है, जैसे मिट्टीके ज्ञानसे तत्त्वतः उसके विकारभूत घट, शराव आदि निखिल कार्य ज्ञात हो जाते हैं, क्योंकि वे मिट्टीसे भिन्न नहीं हैं, वैसे ही ब्रह्मज्ञानसे निखिल संसार ज्ञात हो जाता है, यदि कामादि आत्मसमवेत अतएव आत्मभिन्न गुण हों, तो आत्मज्ञानसे ज्ञात नहीं हो सकेंगे, अतएव एकविज्ञानसे सर्वविज्ञानश्रौतप्रतिज्ञा असंगत हो जायगी। केवल श्रौत प्रतिज्ञा ही असंगत नहीं होगी, किन्तु निखिल वेदान्तका बाध भी हो जायगा। वेदान्त अद्वितीयैकरस आत्माका प्रतिपादन करते हैं। उसमें कामादि माननेपर उक्त अर्थ बाधित हो जायगा, अतः वैशेषिक आदिकी युक्ति सर्वथा मुमुक्षुके लिए हेय है ॥२०३॥

कामकाम्यादिभेदेषु आगमापायिवस्तुषु ।
यः साक्षी नाऽऽगमापायी स आत्मा श्रुतिसंमतः ॥ २०४ ॥

कामा आत्मनि मा भूवन् हृन्निष्ठास्तु स्थिता इति ।
यदुक्तं तदसद्यस्माद्वास्य आत्मा न केनचित् ॥ २०५ ॥

वास्येऽर्थे वासनाः सर्वाः सजातीये च तास्ततः ।
निःसङ्गे भिन्नजातीये कुतः स्युः प्रत्यगात्मनि ॥ २०६ ॥

'काम०' इत्यादि। काम, (इच्छा) आदि और काम्य (तद्विषय इष्ट) आदि जो आगमापायी यानी उत्पत्तिविनाशशील हैं, उन सबका साक्षी भासक आत्मा श्रुतिसम्मत है; 'अतः अहमिच्छामि' इत्यादि प्रतीति सोपाधिक आत्म-विषयक है, निरुपाधिक आत्मामें काम आदिका सम्बन्ध नहीं है ॥ २०४ ॥

जो यह कहा था कि हृन्निष्ठ कामसे पुष्पपुटिकान्यायसे समुत्पन्न संसार-बीजभूत वासना आत्मामें रहती है, उसका निराकरण करनेके लिए अनुवाद करते हैं—'कामा' इत्यादिसे।

आत्मामें स्वतः काम मत हों, किन्तु हृन्निष्ठ कामसे उत्पन्न वासनामय काम तो उसमें रहेंगे ही, अतएव 'हृन्निष्ठा' यह विशेषण है, यह जो कहा था, वह ठीक नहीं है।

शङ्का—क्यों ?

समाधान—आत्मा वास्य नहीं है, अतएव वास्यवासकन्यायसे उसमें वासना नहीं रह सकती ॥ २०५ ॥

'वास्येऽर्थे' इत्यादि। वास्य अर्थमें सब वासनाएँ उत्पन्न होती हैं, आत्मा अवास्य है, अतः उसमें वासनाएँ नहीं हो सकतीं।

शङ्का—आत्माको वास्य क्यों नहीं मानते ?

समाधान—सजातीयमें वास्य-वासकभाव होता है, विजातीयमें नहीं।

शङ्का—अच्छा, तो आत्मामें भी किसी धर्मको मानिये, जिससे धर्मवत्त्वेन उसे सजातीय कह सकें।

समाधान—'असङ्गो ह्ययं पुरुषः' इत्यादि श्रुतिसे आत्मा सकलधर्मशून्य है, यह सिद्धान्त किया गया है, अतः उक्त श्रुतिविरुद्ध कल्पना नहीं हो सकती ॥२०६॥

आत्माश्रयत्वं कामानां न युक्त्या नाऽपि शास्त्रतः ।
भर्तृप्रपञ्चव्याख्यानमपव्याख्येत्युपेक्ष्यताम् ॥ २०७ ॥

'आत्माश्रयत्वम्' इत्यादि । न युक्तिसे यानी अनुमान आदिसे और न शास्त्रसे ही आत्मामें काम आदिकी सिद्धि कर सकते हैं, अतः भर्तृप्रपञ्चका व्याख्यान अपव्याख्यान यानी असङ्गत व्याख्यान है, इसलिए उसकी उपेक्षा कर देनी चाहिए, यानी वह किसीको मान्य नहीं है । मूर्तामूर्तब्राह्मणके व्याख्यानके समय भर्तृप्रपञ्चने स्पष्ट कहा था कि कामादि स्वतः आत्मामें नहीं रहते और यहाँपर कहते हैं कि वासनात्मक काम स्वतः आत्मामें रहते हैं, अतः अपने ही वाक्यके साथ विरोध होनेसे यहाँका उनका व्याख्यान सर्वथा अश्रद्धेय है ।

शङ्का—काम दो प्रकारके माने जाते हैं—कुछ स्थूल और कुछ सूक्ष्म, स्थूल काम अपरमार्थ आत्मामें रहते हैं और सूक्ष्म परमार्थात्मस्वरूपमें रहते हैं ।

समाधान—ठीक है, किन्तु सूक्ष्मरूपसे काम आदिका अवस्थान कारणमें कह सकते हैं । प्रकृतमें आत्मा न किसीका कारण है, और न कार्य है, अतः शक्तिरूपसे भी उसका अवस्थान आत्मामें नहीं मान सकते, केवल काम आदिका ही प्रतिषेध आत्मामें नहीं है, किन्तु निखिल विशेषणोंके सम्बन्धका भी प्रतिषेध श्रुत है । कामादि आत्माश्रय हैं, यह न युक्तिसे और न शास्त्रसे ही सिद्ध होता है और वास्यवासक आदि युक्तिका निराकरण कर चुके हैं कि सजातीयमें ही उक्तभाव होता है । शास्त्रसे यानी 'तद्धेदं तर्ह्यव्याकृतमासीत्' इत्यादि श्रुतिस्थ सृष्ट्यादिके पर्यालोचनसे नाम, रूप आदि प्रपञ्चजात अविद्यासे ही समुत्पन्न हुआ है । 'अथ योऽन्यां देवतामुपास्ते' इत्यादिसे प्रपञ्चका अनुवाद कर 'ब्रह्म वा इदमग्र' इत्यादिसे उपसंहार किया है । अविद्याकार्यान्तर्गत कामादि भी आविद्यिक अतएव कारणमें (अविद्यामें) ही हैं, आत्मामें नहीं हैं, यह स्पष्ट प्रतीत होता है ।

शङ्का—रूपाश्रयत्ववत् कामाश्रयत्व भी आत्मामें क्यों नहीं है ?

समाधान—'सर्वाणि रूपाणि बिभर्ति' इत्यादि श्रुतिसे रूपमात्र मनोनिष्ठ माना गया है, आत्मनिष्ठ नहीं ।

ननु ब्रह्माऽश्नुतेऽत्रेति जीवतो मुक्तिरीरिता ।
जीवंश्चेत्को विशेषोऽस्य बन्धमुक्तावितीर्यताम् ॥ २०८ ॥

शङ्का—नामके समान आत्मनिष्ठ काम आदि क्यों नहीं है ?

समाधान—'एतद्धि सर्वाणि नामानि बिभर्ति' इस श्रुतिसे सम्पूर्ण नाम वाग्-धर्म हैं, यह स्पष्ट कहा गया है, अतः उक्त अर्थमें दृष्टान्त ही असिद्ध है ।

शङ्का—कर्मके समान आत्मधर्म कामादि क्यों नहीं हैं ?

समाधान—'एतद्धि सर्वाणि कर्माणि बिभर्ति' इत्यादि श्रुतिसे कर्ममात्र प्राणधर्म हैं, यह स्पष्ट कहा गया है। सम्पूर्ण प्रपञ्च मन, वाक् और प्राणका धर्म है, आत्मधर्म नहीं है । शाकल्यब्राह्मणको देखनेसे भी यही सिद्ध होता है कि कामादि मनोधर्म हैं, आत्मधर्म नहीं हैं, तथाहि—'किंदेवतोऽस्यां प्राच्याम्' यहाँसे लेकर 'हृदये' यहाँ तकके सन्दर्भसे काम आदिका आश्रय हृदय है, आत्मा नहीं, यह प्रतिपादित है, अतः कामादि आत्माश्रय हैं, यह मत सर्वथा अश्रौत है । तथा बुद्धिस्थ कामोंसे आत्मस्थ काम होते हैं, यह भी कथन निर्मूल है, क्योंकि उक्त अर्थमें न श्रुति और न अर्थापत्ति ही प्रमाण है । 'कामा येऽस्य हृदि श्रिताः' इस श्रुतिसे कामादिमें हृदयस्थत्वमात्रका ही श्रवण है । हृदयस्थ कामोंसे आत्मकाम उत्पन्न होते हैं, यह नहीं कहा है । श्रुतान्यथानुपपत्तिकी सम्भावना नहीं है, अतः आत्मकाम बौद्ध-कामोंसे उत्पन्न होते हैं, यह मत सर्वथा अश्रौत ही है । आत्मामें कामादिका कथन केवल अश्रौत ही नहीं है, किन्तु श्रुतिविरुद्ध भी है । कूर्चब्राह्मणमें आत्मा निर्विशेष ही कहा गया है । वही ज्योतिर्ब्राह्मणमें भी कहा गया है, एकविज्ञानसे सर्वविज्ञान-प्रतिज्ञाका भी समर्थन काम आदि आत्माश्रित हैं इस पक्षमें नहीं हो सकेगा, आत्मज्ञानसे आत्माश्रित अतएव तद्व्यतिरिक्त कामादिका ज्ञान नहीं होगा और सब वेदान्तोंका बाध हो जायगा, श्रुति और युक्तिसे आत्मा कामाश्रय नहीं है, यह संक्षेपसे कह चुके; विशेष अन्यत्र देखिए ॥ २०७ ॥

'ननु ब्रह्माऽश्नुते०' इत्यादि ।

शङ्का—'अत्र ब्रह्म' इत्यादि वाक्यसे जीवितावस्थामें ही यदि मुक्ति होती है, तो शरीरादिसम्बन्ध पूर्ववत् बना ही है, अतः बन्ध और मोक्षावस्थामें आत्माको अविशिष्ट ही मानना होगा, फिर विद्याका फल क्या है ?

श्रुतिः—तद्यथाऽहिनिर्ल्वयनी वल्मीके मृता प्रत्यस्ता शयीतैवमेवेद१ँ शरीर१ँ शेते।

समाधान—'मर्त्योऽमृतो भवति' इत्यादि श्रुतिप्रतिपादित फल है। उक्त श्रुतिका समुदित अर्थ है—मोक्षदशामें आत्मा अमृत यानी मृत्युरहित हो जाता है। भाव यह कि अनात्मभूत कामादि अविद्यालक्षण मृत्यु हैं, आत्मा उनसे रहित हो जाता है। 'अत्र' यानी इसी शरीरमें ब्रह्मभाव प्राप्त करता है। मोक्ष देशान्तरमें जानेसे नहीं मिलता यानी जैसा कि और लोग मानते हैं—मरनेके बाद जीव गोलोक या नामभेदसे ब्रह्मलोकमें जाता है और ईश्वरके समान ही वहाँपर आनन्दका उपभोग करता है, वैसा प्रकृतमें इष्ट नहीं है। अतएव ब्रह्म-वेत्ताके प्राण नहीं निकलते, किन्तु पहलेके समान शरीरमें ही स्थित रह कर स्वकारण पुरुषमें नाममात्ररूपसे अवशिष्ट हो जाते हैं।

शङ्का—देहसम्बन्धदशामें पूर्ववत् संसारित्वलक्षण भोग क्यों नहीं होता?

समाधान—'तद्यथा०' इत्यादि श्रुति। जैसे सर्पसे त्यक्त सांपकी केंचुल सांपके बिलमें पड़ी रहती है, उसमें सर्पका आत्मभाव नहीं होता, अतएव उसके द्वारा वेदनादि उसको नहीं होते, यही दृष्टान्त ज्ञानीके शरीरके विषयमें है। वर्तमान शरीर केंचुलके समान है, सर्पस्थानीय ज्ञानी जीवन्मुक्त पुरुषके द्वारा आत्मभावनासे परित्यक्त शरीर मृतके समान पड़ा रहता है। अतः मुक्त सर्वात्मभूत पुरुष, जो सर्पस्थानीय है, सर्पके समान उसीमें वर्तमान होकर भी अशरीर रहता है, पूर्ववत् सशरीर नहीं रहता। कामकर्मप्रयुक्त शरीरात्मभावसे पहले सशरीर और मरणधर्मा होता है। अज्ञानप्रयुक्त शरीरात्मभावनासे वियुक्त होनेपर अशरीर और अमृत हो जाता है। प्राणशब्दसे यहां परमात्मा विवक्षित है। 'प्राणस्य प्राणम्' इस श्रुतिमें द्वितीय प्राणशब्द उक्तार्थ-तात्पर्यसे प्रयुक्त हुआ है। प्रकरणसामर्थ्यसे भी प्राणशब्द उक्तार्थक ही है। ब्रह्मशब्दसे परमात्मा यहां इष्ट है, कमलासन नहीं।

शङ्का—क्यों?

समाधान—'तेज एव' यह श्रुति स्वयं उत्तर देती है। प्रकाशक होनेके कारण तेजःशब्दसे प्रकृतमें विज्ञान विवक्षित है, जो आत्मज्योति जगदवभासक प्रज्ञानेत्र (प्रकृष्ट ज्ञा—ज्ञप्ति—यानी आत्मज्योति ही नेत्रमिव नेत्र है अर्थात् नेत्रके समान प्रकाशक) है। विमोक्षार्थ जो कामप्रश्नका वरदान श्रीयाज्ञवल्क्यजीने जनक

राजाको दिया था, वह जनकयाज्ञवल्क्याख्यायिकारूपधारिणी श्रुतिके द्वारा सविस्तर निर्णीत हुआ। संसारीजनोंके मोक्षके लिए उपाय कहा गया है। अब श्रुति स्वयं कहती है—विद्याके निष्क्रयके (मूल्यके) लिए श्रीजनकजीने ऐसा कहा था—भगवन्, चूँकि आपने हमको संसारसे मुक्त कराया, अतः हम आपको हजार गौएँ देते हैं।

शङ्का—विमोक्षपदार्थका निर्णय होनेपर विदेहने राज्य और अपनेको विद्यानिष्क्रयार्थ श्रीयाज्ञवल्क्यजीके अर्पण क्यों नहीं किया? एकदेशोक्तिके समान ही यहांपर भी क्यों हजार गऊएँ ही देते हैं?

समाधान—यहांपर कोई यह अभिप्राय कहते हैं—अध्यात्म-विद्यारसिक जनक श्रुत भी अर्थको पुनः मन्त्र द्वारा सुनना चाहते हैं, इसलिए उन्होंने सर्वस्व-निवेदन नहीं किया। अभीष्ट सब सुन कर ही वे अन्तमें सब निवेदन करेंगे। यदि मैं यहांपर ही सब निवेदन करूँ, तो मुनिजी यह समझेंगे कि जनक अधिक सुननेसे उपरत हुए, अतः अधिक न कहेंगे, ऐसा समझ कर सर्वस्वनिवेदन न कर उन्होंने सहस्रदान ही किया, जिससे कि अपनी अभी और सुननेकी इच्छा सूचित हो। परन्तु यह एकदेशीकी परिहारोक्ति समीचीन नहीं है, क्योंकि अव्यवस्थित पुरुषके समान प्रामाणिक श्रुतिकी व्याजोक्ति नहीं हो सकती। हृदयमें दूसरे विषयको रख कर वाणीसे विषयान्तरका प्रकाश करना व्याजोक्ति है। श्रुतिमें ऐसी संभावना करने से तो स्वारसिक प्रामाण्यका ही भङ्ग हो जायगा। अर्थशेषोपपत्तिसे भी अग्रिम वक्तव्य आवश्यक है। यद्यपि श्रीयाज्ञवल्क्यजीने विमोक्ष पदार्थका उपदेश दिया, तथापि जब तक तदङ्ग सर्वैषणापरित्यागरूप संन्यासका निरूपण नहीं किया जायगा, तब तक विमोक्षोपदेश अर्थवान् नहीं हो सकेगा, अतः उसके शेषभूत उक्त अर्थका अभिधान आवश्यक है, इसलिए केवल मन्त्र सुननेकी इच्छाकी कल्पना चतुरस्र नहीं है। पुनरुक्तार्थकल्पना अगतिक गति है, उपाय रहनेपर उक्त कल्पना समुचित नहीं है। संन्यासादि विद्याकी स्तुतिके लिए नहीं है, यह पूर्वमें कह चुके हैं, क्योंकि 'विदित्वा व्युत्थाय' इस श्रुतिमें समानकर्तृकत्वका निर्देश स्पष्ट है। सहोत्पन्नोंमें एकके द्वारा अपरकी स्तुति नहीं हो सकती।

शङ्का—जनक प्रश्नकुशल नहीं थे, अन्यथा विमोक्षका ही प्रश्न करते, उसके अङ्गकी शुश्रूषासे सहस्रदान न करते।

समाधान—नहीं, जनक प्रश्नमें अतिकुशल थे, उनका अभिप्राय यह था कि आत्मज्ञानके समान मोक्षमें संन्यास प्रयोजक नहीं है।

अभिमानः पूर्वमासीद्देहादावधुना तथा ।
नास्तीत्यत्राऽपि विस्पष्टः सर्पदृष्टान्त उच्यते ॥ २०९ ॥

शङ्का—यदि वैसा नहीं है, तो संन्यास ज्ञानीके लिए आवश्यक नहीं है ।

समाधान—आवश्यक है ।

शङ्का—क्यों ?

समाधान—प्रतिपत्तिकर्मके समान संन्यासका अनुष्ठान होता है ।

शङ्का—प्रतिपत्तिकर्म किसको कहते हैं ?

समाधान—कृष्णमृगके शृङ्गका चात्वालमें यानी गर्तमें प्रक्षेपादि प्रतिपत्तिकर्म है । इसका 'चात्वाले कृष्णमृगशृङ्गं प्रक्षिपेत्' इत्यादिसे विधान है । तात्पर्य यह कि उपयुक्त वस्तुका पुनः उपयोग न होनेपर वैध स्थलमें त्याग आदि प्रतिपत्तिकर्म है, उसके समान संन्यास भी अवश्यानुष्ठेय है, अतएव 'संन्यासेन तनुं त्यजेत्' यह स्मार्त वचन संगत होता है । संन्यास मोक्षसाधन है, इस पक्षमें भी विमोक्ष प्रश्नयोग्य नहीं है, कारण कि मोक्षसाधनभूत आत्मज्ञानके परिपाकके लिए संन्यास आवश्यक है ॥ २०८ ॥

'अभिमानः' इत्यादि । तत्त्वज्ञानोत्पत्तिसे पहले जैसा देहादिमें अभिमान रहता है, वैसा तत्त्वज्ञानोत्तर कालमें नहीं रहता, इसमें अतिस्पष्ट सर्पदृष्टान्तको कहते हैं—जैसे सर्प त्वक्को यानी केचुलको छोड़कर उसमें अहन्ता या ममता नहीं रखता, वैसे ही तत्त्वज्ञानी भी स्वाविद्योत्थ शरीरादिका स्वविद्यासे त्याग कर ममत्वादिसे रहित हो जाता है । वह ज्ञानी लोकदृष्टिसे शरीरमें वर्तमान है, तथापि उस शरीरको आत्मा और आत्मीयत्वबुद्धिसे नहीं देखता ।

शङ्का—क्यों ?

समाधान—तत्त्वज्ञानसे सम्बन्धकी हेतु अविद्याका ध्वंस होनेपर आत्मा पूर्णरूपसे अवस्थित हो जाता है । सर्पदेहवियोग श्रौत मृत पदार्थ है और वल्मीकाश्रयण प्रत्यस्त-पदार्थ है । सर्प और उसका निर्मोक यहां दो दृष्टान्त हैं । अहिनिर्मोक विद्वद्देहका दृष्टान्त है और सर्प विद्वान्का दृष्टान्त है । जैसे बिलमें त्यक्त स्वनिर्मोकमें पूर्ववत् प्रवेश और निष्क्रमण कालमें सर्प निर्मोकानुरोध नहीं करता अर्थात् उसमें अहन्ता और ममता नहीं करता वैसे ही शरीरमें वर्तमान ही आत्मज्ञानीका सम्बन्धहेतु अविद्याके उच्छेदसे आत्मसम्बन्धसे शून्य शरीर पड़ा रहता है, पूर्वके समान उसमें वह अहन्ता, ममता आदि नहीं करता ।

अहिनिर्ल्वयनी सर्पनिर्मोको जीववर्जितः ।
वल्मीके पतितस्तिष्ठेत्तं सर्पो नाऽभिमन्यते ॥ २१० ॥

एवं स्थूलं च सूक्ष्मं च शरीरं साक्षितः पृथक् ।
भातं तादात्म्यविभ्रान्तिरहितं व्यवतिष्ठते ॥ २११ ॥

श्रुतिः—अथायमशरीरोऽमृतः प्राणो ब्रह्मैव तेज एव सोऽहं भगवते सहस्रं ददामीति होवाच जनको वैदेहः ॥ ७ ॥

शङ्का—जैसे सर्पसे सर्पनिर्मोकका भेदेन अवस्थान रहता है, वैसे ही तत्त्वज्ञानोत्तर उसके शरीरका भी भेदेन ही अवस्थान मानना चाहिए, परन्तु अद्वैत-वेदान्त-मतमें शरीरादि, कल्पित होनेसे, वस्तुतः शुक्तिरूप्य आदिके समान निवृत्त हो जाते हैं, ऐसा कहा जाता है, अतः दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिक सुसंगत नहीं है ।

समाधान—यहां विद्वद्देहमें पूर्ववत् तत्त्वज्ञानीका सम्बन्ध नहीं रहता केवल इसीमें सर्पनिर्मोक दृष्टान्त विवक्षित है, उसकी स्थिति नहीं यानी सर्पके त्याग करनेपर भी निर्मोककी स्थितिके समान ज्ञानीके शरीरकी स्थिति रहती है, यह दृष्टान्तसे विवक्षित नहीं है ।

शङ्का—क्यों ?

समाधान—यदि उसको भी विवक्षित माना जाय, तो प्रधानकारणवादकी प्रसक्ति हो जायगी, जिसका कि अनेक बार सविस्तर निराकरण किया जा चुका है ॥ २०९ ॥

'अहिनिर्ल्वयनी' इत्यादि । अहिनिर्ल्वयिनी—सांपकी केंचुली । जीववर्जित सर्पत्यक्त बिलमें पड़ी हुई केंचुलमें सर्प अभिमान नहीं करता । विशेष व्याख्यान हो चुका है ॥ २१० ॥

'एवं स्थूलं च' इत्यादि । स्थूल (पार्थिवशरीर) और सूक्ष्म (लिङ्ग-शरीर)—ये दोनों साक्षिचैतन्यसे भिन्न हैं, वे तादात्म्यभ्रान्तिरहित अवस्थित रहते हैं । अज्ञानदशामें तादात्म्यभ्रान्तिसहित होनेसे उनमें अहन्ता, ममता आदि होते हैं, उक्त भ्रान्तिकी निवृत्ति होनेपर वे उनसे रहित हो जाते हैं, अतः उनमें अहन्तादि नहीं होते, यही मुक्ति और संसारदशामें विशेष है ॥ २११ ॥

यस्माद्वपुः पृथग्भूतं तस्मात् साक्ष्यशरीरकः ।
सम्बन्धे सशरीरत्वं स च बोधेन बाधितः ॥ २१२ ॥

स्रगज्ञानमनादाय नाऽहियोगः स्रजो यथा ।
प्रतीचो देहसम्बन्धो नाऽऽत्माज्ञानमृते तथा ॥ २१३ ॥

'अथायमशरीरोऽमृतः' इसका अर्थ कहते हैं—'यस्माद्वपुः' इत्यादिसे ।

अथशब्दका यहां हेतु अर्थ है, यतः देहादि साक्षीसे पृथक्भूत हो जाते हैं, अतः साक्षी अशरीर कहा जाता है ।

शङ्का—विदेहकैवल्यदशामें आत्मा अशरीर है, यह कहना यद्यपि ठीक है; तथापि जीवन्मुक्तिदशामें तो शरीरमें ही आत्मा रहता है, फिर वह अशरीर कैसे ?

समाधान—जैसे दूसरेके घरमें रहनेवाले पुरुषका उसपर मेरा यह घर है, यह अभिमान नहीं होता, वैसे ही सम्बन्धके प्रयोजक अज्ञानकी निवृत्तिके बाद शरीरमें वर्तमान आत्माका मेरी देह है, ऐसा अभिमान नहीं होता । इसीसे साक्षी अशरीर कहा जाता है । अज्ञान ही देहसम्बन्धका प्रयोजक है, बोधसे उसके नष्ट हो जानेपर उसका अशरीर होना समुचित ही है, अज्ञानके साथ देहका नाश अशरीरत्वमें हेतु है, इसी अर्थका द्योतक प्रकृतमें 'अथ' शब्द है ॥ ११२ ॥

'स्रगज्ञान०' इत्यादि ।

शङ्का—'अज्ञानं न देहहेतुः, स्वाभाविकत्वादात्मनस्तत्सङ्गतेः' इत्यादि अनुमानके द्वारा आत्मा और देहका संयोग अज्ञानहेतुक नहीं है, किन्तु स्वाभाविक है ।

समाधान—जैसे मालाके अज्ञानके बिना मालामें सर्पभ्रान्ति और सर्पसम्बन्ध नहीं होता, किन्तु मालाके अज्ञानसे ही मालामें सर्पभ्रान्ति और सर्पसम्बन्ध होता है, वैसे ही आत्माके अज्ञानके बिना आत्मदेहसम्बन्ध नहीं हो सकता । वार्तिकसारकी आदर्शप्रतिमें मुद्रित 'न हि योगः' यह पाठ प्रामादिक है, 'नाऽहियोगः' यही पाठ ठीक है ॥ २१३ ॥

प्रत्यग्ज्ञानशिखिध्वस्ते मिथ्याज्ञाने सहेतुके ।
नेति नेति स्वरूपत्वादशरीरो भवत्ययम् ॥ २१४ ॥

स्वतोऽदिग्देशकालादेः प्रत्यक्चिन्मात्रवस्तुतः ।
देशादिमच्छरीरेण न सम्बन्धस्तमो विना ॥ २१५ ॥

कल्पितेनाऽभिसम्बन्धो न त्वकल्पितवस्तुनः ।
अज्ञानकालेऽप्यस्तीह किमुताऽज्ञाननिह्नुतौ ॥ २१६ ॥

स्थूलदेहं परित्यज्य लिङ्गदेहयुतो यदि ।
मृतस्तदा स्यान्न त्वेवममृतोऽसावतो भवेत् ॥ २१७ ॥

आत्मदेहसम्बन्धके आविद्यिक होनेपर फलित अर्थको कहते हैं—'प्रत्यग्ज्ञान०' इत्यादिसे ।

आत्मज्ञानरूप अग्निसे सहेतुक मिथ्याज्ञानके दग्ध हो जानेपर 'नेति नेति' से जिसमें सम्पूर्ण धर्मोंका प्रतिषेध हो चुका है, ऐसा प्रत्यगात्मा अशरीर कहा जाता है ॥ २१४ ॥

'स्वतो०' इत्यादि । असङ्ग चिदात्मामें स्वतः दिक्, देश, काल आदिका सम्बन्ध जब नहीं हो सकता, तब शरीर आदिके सम्बन्धकी क्या सम्भावना है ? किन्तु अविद्या द्वारा शरीर आदिका सम्बन्ध माना जाता है, वास्तविक नहीं है ॥ २१५ ॥

विद्वान्‌का देहके साथ सम्बन्ध नहीं है, यह जो कहा गया था, उसको कैमुतिकन्यायसे सिद्ध करते हैं—'कल्पितेना०' इत्यादिसे ।

कल्पित वस्तुके साथ अकल्पित वस्तुका यानी परमार्थ सद्वस्तुका सम्बन्ध अज्ञानकालमें यानी व्यवहारदशामें भी जब परमार्थतः नहीं हो सकता, तब अज्ञाननिवृत्तिकालमें उक्त सम्बन्धके सद्भावकी क्या कथा? अर्थात् उसके साधक व्यवहारके अभावसे ही उसका अभाव सिद्ध हो जाता है ॥ २१६ ॥

'स्थूलदेहम्' इत्यादि । 'अशरीर' और 'अमृत' शब्दसे क्रमशः स्थूल और सूक्ष्म शरीरका प्रतिषेध विवक्षित है । केवल स्थूल देहका परित्याग करनेपर भी वह मृत ही होगा, अमृत नहीं होगा, कारण कि सूक्ष्म शरीरका सम्बन्ध उस दशामें भी है ही, अतः सूक्ष्म शरीरका भी परित्याग कहा । सूक्ष्मशरीरकी निवृत्ति

प्रकृष्टचेष्टाहेतुत्वात् साक्ष्युक्तः प्राणशब्दितः ।
को ह्येवान्यादिति प्रोक्तं चेष्टाहेतुत्वमात्मनः ॥ २१८ ॥

साक्षिणो ब्रह्मरूपत्वं ब्रह्मैवेत्यभिधीयते ।
संसर्गशङ्कानुत्यर्थमेवकारः प्रयुज्यते ॥ २१९ ॥

हो जानेपर दो शरीरोंसे शून्य चिदात्मा अमृतशब्दसे व्यवहृत होता है। भाव यह है कि माध्यन्दिनशाखामें 'अनस्थिकोऽशरीरः' यह पाठ है; 'अनस्थिक' शब्दसे स्थूलशरीरका और अशरीरशब्दसे सूक्ष्म शरीरका प्रतिषेध विवक्षित है यानी दो विशेषणोंसे दो प्रतिषेध विवक्षित हैं। काण्वशाखामें 'अशरीर' ही पाठ है। इससे शरीरमात्रका ही प्रतिषेध पूर्व श्रुतिके अनुसार अभीष्ट है, केवल स्थूल शरीरका ही नहीं। अथवा अशरीरशब्दसे स्थूल शरीरका और अमृतशब्दसे सूक्ष्म शरीरका क्रमशः प्रतिषेध विवक्षित है। वार्तिकसारमें यही अर्थ कहा गया है ॥ २१७ ॥

'प्रकृष्ट०' इत्यादि।

शङ्का—मुक्त विद्वान्‌ने प्राणका परित्याग कर दिया है, अतः उसमें प्राण-शब्दका प्रयोग उचित नहीं है।

समाधान—ठीक है, विशेष्यभूत जो साक्षी है, इसके तात्पर्यसे प्राण-शब्दका प्रयोग हुआ है। कर, चरण आदिकी व्यापाररूप चेष्टाका कारण प्राण-है, चेतनाधिष्ठित अचेतनकी प्रवृत्ति लोकमें देखी जाती है, केवल अचेतनकी नहीं। चेतन साक्षी है, अतः चेष्टाहेतु होनेसे प्रकृतमें वही प्राणशब्दका अर्थ है। आत्मा ही चेष्टाका हेतु है, इसमें प्रमाण 'को ह्येवान्यात् कः प्राण्यात् यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्' इत्यादि श्रुति है। 'प्राणस्य प्राणम्' इत्यादि श्रुतिमें साक्षितात्पर्यसे प्राणशब्दका प्रयोग पाया जाता है ॥ २१८ ॥

'साक्षिणो' इत्यादि। साक्षी ब्रह्मस्वरूप है, यही 'ब्रह्मैव' इत्यादिसे बोधन किया गया है। 'साक्षी ब्रह्मैव' यों दो पदोंके सामानाधिकरण्यसे साक्षीमें सद्वि-तीयत्व और ब्रह्ममें परोक्षत्वका प्रतिषेध सूचित किया गया है। ब्रह्म परोक्ष है, साक्षी अपरोक्ष है। अपरोक्ष साक्षी ही ब्रह्म है, ऐसा कहनेपर ब्रह्म अपरोक्ष है और साक्षी अज्ञानोपहित होनेसे सद्वितीय समझा जा सकता है, किन्तु साक्षी

संयोगः समवायो वा नैव ब्रह्मात्मनोरिह ।
अखण्डैकरसत्वं तु भवतीति विवक्षितम् ॥ २२० ॥
तदेव विशदीकर्तुं तेज एवेत्युदीर्यते ।
चैतन्ये तेज इत्युक्तं तच्चैकमुभयोरपि ॥ २२१ ॥
अविद्यादिनिवृत्तिश्च चैतन्यव्यतिरेकतः ।
नाऽस्तीत्येवमभिप्राय एवकारेण सूच्यते ॥ २२२ ॥

ब्रह्म ही है, उससे अतिरिक्त नहीं है, ऐसा बोधन करनेपर साक्षी अद्वितीय है, यह स्पष्ट बोधित होता है । इस बोधनके तात्पर्यसे श्रुतिमें 'साक्षी ब्रह्मैव' यह सामानाधिकरण्यका निर्देश है ।

शङ्का—'कृष्णः सर्पः' इस समानाधिकरण वाक्यसे जैसे कृष्ण और सर्पके सबन्धका बोध होता है, वैसे ही साक्षी ब्रह्म, इस सामाधिकरण्यसे उन दोनोंके सम्बन्धका बोध होनेसे अखण्ड ब्रह्म सिद्ध नहीं हो सकता ।

समाधान—उक्त शङ्काकी निवृत्तिके लिए ही एवकारका प्रयोग किया गया है, साक्षी ही ब्रह्म और ब्रह्म ही साक्षी, यही अर्थ यहाँ विवक्षित है । कृष्ण सर्पके समान सम्बन्ध यहाँ विवक्षित नहीं है, एतदर्थ एवकार है ॥ २१९ ॥

एवकारार्थका विवरण करते हैं—'**संयोगः**' इत्यादिसे ।

आत्मा और ब्रह्मका दण्ड और पुरुषके समान संयोग सम्बन्ध नहीं है तथा तन्तु और पटके समान समवाय भी नहीं है, किन्तु अखण्डैकरसत्व दोनोंमें विवक्षित है । उक्त रीतिसे ब्रह्म ही आत्मा है और आत्मा ही ब्रह्म है, यही अखण्डार्थता—संसर्गासङ्गिसम्यग्धीविषयता—प्रकृतमें विवक्षित है ॥ २२० ॥

'**तदेव**' इत्यादि ।

शङ्का—'ब्रह्मैव' कह कर 'तेज एव' कहनेसे संसर्गनिषेध कैसे सिद्ध होता है ?

समाधान—दो सामर्थ्यसे उसके निषेधको व्यक्त करनेके लिए 'तेज एव' यह कहा गया है । तेज भौतिक नहीं है, किन्तु चैतन्यरूप विवक्षित है, एवकारसे पूर्वसंसर्गके निषेधके समान तेजोब्रह्मसंसर्गका भी निषेध इष्ट है । श्लोकस्थ उभय-शब्दसे जीव और परका ग्रहण है । जीव और ब्रह्म तेज ही हैं ॥ २२१ ॥

'**अविद्यादि०**' इत्यादि ।

कृतं चिकीर्षितं सर्वं बुद्धं यच्च बुभुत्सितम् ।
आप्तं बोधात्तथाऽऽप्तव्यं वर्जनीयं च वर्जितम् ॥ २२३ ॥
कामप्रश्नः समाप्तोऽतो निराकाङ्क्षोऽभवन्नृपः ।
सोऽहं सहस्रमित्याह स्वाभिप्रायं प्रबोधयन् ॥ २२४ ॥

शङ्का—विद्यासे अविद्या और तज्जन्य द्वैतकी निवृत्ति होनेपर भी अद्वैतात्माकी सिद्धि नहीं हो सकती, क्योंकि उस समय आत्मव्यतिरिक्त द्वैतनिवृत्ति रहेगी ही, ऐसी स्थितिमें भावाद्वैत कह सकते हैं, पर अद्वैत नहीं कह सकते। और मिथ्यात्वसाधक दृश्यत्वादिरूप हेतु भी व्यभिचरित हैं, अतः उनके द्वारा आत्मेतरमें मिथ्यात्वसिद्धि भी नहीं हो सकेगी, यों अद्वैतवेदान्त-सिद्धान्तका भङ्ग ही हो जायगा।

समाधान—अविद्यानिवृत्ति आत्मव्यतिरिक्त नहीं है। अभाव अधिकरणस्वरूप माना जाता है, अन्यथा अनवस्थापत्ति हो जायगी। पटमें घटाभाव है, उसमें भी घटाभाव है, उस घटाभावमें भी घट नहीं है, अतः पटनिष्ठ घटाभाव, घटाभावनिष्ठ घटाभाव एवं तत्र तत्र इत्यादि रीत्या अनन्त घटाभावोंकी आपत्ति होगी। अनन्त घटाभावोंमें प्रमाण भी नहीं है, इसलिए नैयायिक अभावाधिकरणक अभावको अधिकरणस्वरूप मानते हैं। प्रभाकरमतमें अभावमात्र अधिकरणस्वरूप माना जाता है, तदनुसार अविद्यानिवृत्ति चैतन्यस्वरूप है, उससे अतिरिक्त नहीं है, यही अभिप्राय एवकारसे सूचित किया गया है ॥ २२२ ॥

संसारी और जीवन्मुक्तमें महान् अन्तर है, इसका प्रतिपादन कर अथेत्यादि श्रुतिका तात्पर्य कहते हैं—'कृतम्' इत्यादिसे।

शङ्का—चिकीर्षा, बुभुत्सा, प्रेप्सा और परिजिहीर्षा यदि ज्ञानियोंमें भी हैं, तो फिर कार्यान्तर क्यों नहीं हो सकता ?

समाधान—चिकीर्षित जो कुछ था, वह सब हो चुका, जो बुभुत्सित था, वह सब ज्ञात हो चुका, जो प्राप्तव्य था, वह प्राप्त हो चुका, जो वर्जनीय था, वह वर्जित हो चुका, इसलिए कोई भी भाव आत्मामें उस समय नहीं रह सकता। सब अनर्थोंके मूल अज्ञानका नाश होनेसे सर्वाभीष्ट सिद्धप्राय हो जाता है, अतएव कार्यान्तर नहीं हो सकता। दग्ध पटके समान उसकी बुद्धि आभासमात्र रहती है ॥ २२३ ॥

'कामप्रश्नः' इत्यादि। 'सोऽहम्' इत्यादिका तात्पर्य यह है कि श्रीयाज्ञ-

पुमर्थस्य समाप्तत्वाद्विमोक्षायेति नोक्तवान् ।
शुश्रूषाया असंपूर्तेः सर्वस्वं च न दत्तवान् ॥ २२५ ॥
तत्त्वविद्यारसाकृष्टः श्रोतुं वाञ्छति संग्रहात् ।
साधनान्यपि विद्यायाः श्रोतुमिच्छति भूपतिः ॥ २२६ ॥

वल्क्यजीने मोक्षार्थ कामप्रश्नका वरदान राजा जनकजीको दिया था, उसकी समाप्तिका परामर्श करनेके लिए 'अतः' शब्द है। कामप्रश्नके समाप्त होनेपर राजा जनककी आकाङ्क्षा शान्त हो गई। और उन्होंने स्वाभिप्राय दर्शाते हुए यानी अपनेको कृतकृत्य मानकर सहस्र गौएँ देनेके लिए कहा। स्वाभिप्राय स्वकृतकृत्यतामें है ॥ २२४ ॥

'पुमर्थस्य' इत्यादि। जनकजी यदि कृतकृत्य न हुए होते, तो 'अत ऊर्ध्वं विमोक्षाय ब्रूहि' मुक्तिके लिए कहिये, ऐसा फिर प्रश्न करते, यह प्रश्न न करनेसे स्पष्ट प्रतीत होता है कि श्रीयाज्ञवल्क्यजीके पूर्वोपदेशसे जनकजी कृत-कृत्य हो गये, परन्तु इसमें भी यह सन्देह होता है कि यदि जनकजी कृत-कृत्य हुए, तो उन्हें सर्वस्वदान करनेकी घोषणा करनी चाहिए थी, पर उसे न कर एकदेशोपदेशके समान ही उन्होंने एकदेशदानकी प्रतिज्ञा क्यों की? उसका उत्तर यह है कि यद्यपि जनकजी पूर्वोपदेशसे कृत-कृत्य अवश्य हुए, फिर भी सर्वस्व न देनेका कारण यह है कि अभी भी उनको सुननेकी इच्छा है ॥ २२५ ॥

'तत्त्वविद्या०' इत्यादि। यद्यपि राजाने आत्मतत्त्वका पूरा श्रवण किया, तथापि पुनः श्लोकसे उसको सुननेकी इच्छा है।

शङ्का—श्रुतकी पुनः श्रवणेच्छा क्यों हुई?

समाधान—तत्त्वविद्याका रस इतना प्रीतिकर है कि उन्हें सकृत् श्रवणसे परि-तृप्ति नहीं हुई। 'श्रेयसि केन तृप्यते' इसके अनुसार विषयविशेष गुणाधिक्यसे पुनरुक्त नहीं होता। ज्ञात ही के पुनर्ज्ञानसे प्रीति अधिक होती है। अथवा सर्वस्वानिवेदनमें कारणान्तर भी है—विमोक्षका श्रवण होनेपर भी उसके साधन संन्यासादिका श्रवण करनेकी इच्छासे जनकजीने सर्वस्वका दान नहीं किया, अन्यथा सर्वस्वदान देखकर मुनिजीको यह ज्ञान होगा कि अब राजा कुछ सुनना नहीं चाहते। अतः अग्रिमोपदेशसे विरक्त हो जायँगे, इसलिए सहस्र ही दान दिया। वस्तुतः यही समाधान ठीक है। एकदेशीका उक्त समाधान ठीक नहीं है, सो

मुक्तस्य च मुमुक्षोश्च सर्वत्यागो ह्यपेक्षितः ।
फलत्वसाधनत्वाभ्यां तस्य द्वैरूप्यसंभवात् ॥ २२७ ॥

भाष्यमें तथा उसकी टीकामें स्फुट है, विस्तरभयसे पुनः उसका उल्लेख नहीं किया गया है । उक्त परिहार ठीक नहीं है, इसमें यह भी कारण है कि विमोक्षार्थ सम्यक् ज्ञानका उपदेश मुनीजीने किया, फिर भी उसके अङ्ग संन्यासका उपदेश नहीं हुआ, अङ्गके बिना केवल अङ्गीका उपदेश फलवान् नहीं होता, अतः अङ्गोपदेश भी आवश्यक है ।

शङ्का—संन्यासको भी पूर्वमें कह चुके हैं, अतः उसका उपदेश भी सहस्रदानका निमित्त नहीं हो सकता ।

समाधान—ठीक है, परन्तु शमादि भी ज्ञानसाधन हैं, जो पूर्वमें उपदिष्ट नहीं हुए हैं और उनके साथ संन्यासका कथन आवश्यक है, इसीलिए सहस्रदान है, इससे श्रुत विद्याको ही पुनः सुननेके लिए सहस्रदान है, यह अगतिक कल्पना ठीक नहीं है ।

शङ्का—यदि तत्त्वज्ञानशेषतया सहस्रदान है, तो पूर्वके समान यहाँ भी 'विमोक्षाय ब्रूहि' ऐसा प्रश्न क्यों नहीं किया ?

समाधान—आत्मज्ञान ही मोक्षका कारण है, दूसरा नहीं । वक्ष्यमाण संन्याससहित शमादि उसके साधन हैं, इस अभिप्रायसे उक्त प्रश्न नहीं किया । दूसरा कारण यह भी है कि मुक्त और मुमुक्षु दोनोंको संन्यास अपेक्षित है । भेद इतना है कि मुक्तको ज्ञानसाधनरूपसे संन्यासकी अपेक्षा नहीं है जैसी कि मुमुक्षुको है ।

शङ्का—क्यों ?

समाधान—मुक्तको ज्ञान तो हो चुका है, अतः उसको कोई कर्तव्य अवशिष्ट नहीं है, जिसके लिए साधनकी अपेक्षा हो ॥ २२६ ॥

शङ्का—तब तो आपने जो यह कहा था कि मुक्त और मुमुक्षु दोनोंको संन्यासकी अपेक्षा है, वह ठीक नहीं है, क्योंकि मुक्त तो कृतकृत्य हो चुका है, फिर मुमुक्षुके समान उसको संन्यासकी क्या आवश्यकता है ?

समाधान—'**मुक्तस्य**' इत्यादि । निःशेष क्लेशोपशमात्मक संन्यास मुक्तात्मस्वरूप है, अतः मुक्तको स्वस्वरूपत्वेन उसकी अपेक्षा है और मुमुक्षुको ज्ञानहेतुत्वेन

प्रागात्मज्ञानसंभूतेः संन्यासो ज्ञानसाधनम् ।
उत्पन्नात्मधियः पश्चात्फलरूपेण तिष्ठति ॥ २२८ ॥

श्रुतिः—तदेते श्लोका भवन्ति ।

अणुः पन्था विततः पुराणो माँ स्पृष्टोऽनुवित्तो मयैव तेन धीरा अपियन्ति ब्रह्मविदः स्वर्गं लोकमित ऊर्ध्वं विमुक्ताः ॥ ८ ॥

उसकी अपेक्षा है, केवल इतना ही भेद है । क्योंकि उपरत ही तत्त्वदर्शनमें अधिकारी है, अतएव 'शान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः समाहितो भूत्वा आत्मन्येवात्मानं पश्यति' इत्यादि श्रुति स्वरसतः संगत होती है । मुक्तके प्रति ज्ञानबलसे अर्थप्राप्त संन्यास फलस्वरूप है और मुमुक्षुके प्रति वैध संन्यास ज्ञानका साधन है, अतएव दोनों संन्यासोंका अपलाप नहीं कर सकते ।

शङ्का—विरक्तको संन्यास करना चाहिए, ऐसी विधि यदि मुमुक्षुके लिए मानते हो, तो 'मुक्तेनाऽपि संन्यासः कार्यः' ऐसी भी विधि मुक्तके लिए मानी जा सकती है, ऐसी अवस्थामें फलरूप संन्यासकी सिद्धि नहीं हो सकती ?

समाधान—ज्ञानसाधन संन्यास तो ज्ञानकी उत्पत्तिके लिए अपूर्वसाधन अग्निहोत्रादिके समान विधेय हो सकता है, परन्तु विद्वत्संन्यास तो स्वतःसिद्ध है, अतः अपूर्वत्वका अभाव होनेसे विधियोग्य नहीं है ।

शङ्का—'त्यागेनैके अमृतत्वमानशुः' इत्यादि श्रुतिसे विविदिषासंन्यास ज्ञानके समान मोक्षहेतु है, ऐसा क्यों नहीं मानते ?

समाधान—'नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय' इत्यादि श्रुतिसे ज्ञानातिरिक्त मोक्षमार्गका श्रुतिने स्वयं प्रतिषेध किया है, अतः उक्त श्रुतिका ज्ञानसाधन होनेसे त्याग परम्परया मोक्ष साधन है, साक्षात् नहीं, इसमें तात्पर्य है । इस अभिप्रायसे कहते हैं—'फलत्व०' इत्यादि । संन्यास दो रूपसे विवक्षित है—मुमुक्षुको ज्ञानसाधनरूपसे और मुक्तको फलरूपसे ॥ २२७ ॥

द्वैरूप्यका स्पष्टीकरण करते हैं—'प्रागात्म०' इत्यादिसे ।

आत्मज्ञानोत्पत्तिसे पहले संन्यास ज्ञानसाधनरूप है और आत्मज्ञानके अनन्तर वह फलरूप माना जाता है ॥ २२८ ॥

'तदेते श्लोकाः भवन्ति' इत्यादि श्रुति । श्लोकोंके व्याख्यानसे यह श्रुति गतार्थ है ॥ ८ ॥

एतत्सर्वं विवक्षुः सन्मुनिः सङ्ग्रहरूपिणः ।
श्लोकानुदाहरत्तत्र ज्ञानमार्गमिमं जगौ ॥ २२९ ॥
पन्थाः स्थूलादिनिःशेषविकल्पादिक्रमादणुः ।
अनन्तात्मैकमेयत्वाद्बोधोऽयं विततो भवेत् ॥ २३० ॥
अनुत्पन्नागमोत्थत्वात् पुराणश्चेति कथ्यते ।
ब्रह्मणः स्वस्वरूपत्वान्मा॰ स्पृष्ट इति भाषते ॥ २३१ ॥
शास्त्राचार्योक्तितः पश्चादनुवित्तो मयैव सः ।
ज्ञातव्याद्ब्रह्मणो नाऽन्यो ज्ञाताऽस्तीत्यवधारणम् ॥ २३२ ॥

सर्वस्वदानावसरमें सहस्रदानका निमित्त तथा 'विमोक्षाय' इत्यादि प्रश्नाकरणमें अभिप्राय कहकर 'तम्' इत्यादिका तात्पर्य कहते हैं—'एतत्॰' इत्यादिसे।

संग्रहरूपसे इस सबको कहनेकी इच्छा कर रहे मुनि श्रीयाज्ञवल्क्यजीने वक्ष्यमाण श्लोक कहे। उसमें यह वक्ष्यमाण ज्ञानमार्गका निरूपण है ॥ २२९ ॥

'पन्थाः' इत्यादि। पन्थाः—मोक्षमार्ग—यानी ब्रह्मबोध। आत्मा स्थूल और सूक्ष्म निखिल विकल्पविषयोंसे अतिक्रान्त है, अतएव अणु यानी अतिसूक्ष्म माना जाता है। अनन्त आत्मा एकमात्र बोधका विषय है, अतः विषय द्वारा बोध भी अनन्त होनेसे वितत है। माध्यन्दिन श्रुतिमें 'वितर' पाठ है, तदनुसार विस्पष्टतरणका हेतु होनेसे बोध वितर भी कहा जाता है ॥ २३० ॥

'अनुत्पन्ना॰' इत्यादि। यह ज्ञानमार्ग पुराण यानी अतिप्राचीन है।

शङ्का—आधुनिक ज्ञानमार्ग पुराण कैसे हो सकता है?

समाधान—नित्य वेदोक्त होनेसे अभिधान द्वारा वह पुराण है; तार्किककुबुद्धिकल्पित मार्गके समान आधुनिक नहीं है। वह ब्रह्मज्ञान मेरा स्पर्श करता है, ऐसा राजा कहते हैं।

शङ्का—ब्रह्मज्ञान ब्रह्मस्पर्शी होगा मत्स्पर्शी यानी जनकस्पर्शी कैसे होगा?

समाधान—जिसको जो पाता है, उससे वह स्पृष्ट होता ही है, अतः ब्रह्मविद्यालक्षण मोक्षमार्ग जनक द्वारा प्राप्त होनेपर 'माँ स्पृष्टः' ऐसा जो कहा गया है, वह ठीक ही है, मुझको प्राप्त हुआ यह फलितार्थ हुआ। अथवा ब्रह्म मैं ही हूँ, अतः ब्रह्मज्ञान ब्रह्मस्पर्शी होनेसे मत्स्पर्शी भी होता ही है ॥ २३१ ॥

'शास्त्राचार्योक्तितः' इत्यादि। पहले शास्त्र और आचार्यके द्वारा जाना और पीछे मैंने स्वयं उसका साक्षात्कार किया।

तेनाऽनेन पथा धीराः प्रत्यग्ध्वान्तच्छिदा सदा ।
ब्रह्माऽपियन्ति विद्वांसः प्राप्तमेव तमोहनुतेः ॥ २३३ ॥
आत्मैव ब्रह्मणोऽप्यात्मा ब्रह्मैव स्यात् स्वतस्ततः ।
तद्याथात्म्यापरिज्ञानात्तद्विपर्ययधीरयम् ॥ २३४ ॥

शङ्का—अन्यान्य मन्त्रद्रष्टाओंने भी ब्रह्मविद्याका फल पाया ही है, फिर 'मैंने ही' यह अवधारण युक्त नहीं है।

समाधान—यह ब्रह्मविद्याका स्तावक वाक्य है, इसका अभिधेय अर्थमें तात्पर्य नहीं है, अन्यथा 'तद्यो यो देवानां प्रत्यबुद्ध्यत' इत्यादि श्रुतिविरोध होगा। स्तुति इस प्रकार है कि 'मैं कृतार्थ हुआ' यों आत्मामें अभिमान करानेवाला आत्मप्रत्ययसाक्षिक ब्रह्मबोध सर्वोत्तम है, इससे उत्तम दूसरा कोई पदार्थ नहीं है। यह अभिप्राय कदापि नहीं है कि मुझे ही ब्रह्मज्ञान हुआ दूसरेको नहीं। ब्रह्मविद्या सबके लिए समान है। ब्रह्म ज्ञेय है और ब्रह्मविद् ज्ञाता है—इन दोनोंका वस्तुतः अभेदावधारण ही ज्ञान है ॥ २३२ ॥

'तेनाऽनेन' इत्यादि। प्रज्ञावान् अन्य भी ब्रह्मवेत्ता ब्रह्मविद्यामार्गमे ब्रह्म-विद्याके फल मोक्षको प्राप्त करते हैं।

शङ्का—श्रुतिमें स्वर्गफल लिखा है, आप मोक्ष फल कैसे कहते हैं?

समाधान—स्वर्गशब्द यद्यपि स्वर्लोकवाची अन्यत्र प्रसिद्ध है; तथापि प्रकृतमें प्रकरणवश मोक्षार्थक ही माना जाता है। ब्रह्मप्राप्ति आगन्तुक नहीं है, किन्तु नित्य है, इसीको स्फुट करनेके लिए 'प्राप्तमेव' यह निर्देश है। जीवित-दशामें ही मुक्त होकर शरीरपातोत्तर मुक्त होते हैं यानी विदेहकैवल्यको प्राप्त करते हैं; मोक्षमें केवल अविद्याध्वंसमात्र अपेक्षित है ॥ २३३ ॥

'आत्मैव' इत्यादि।

शङ्का—अज्ञानका नाश होनेपर प्राप्तकी ही प्राप्ति होती है, यह कहना ठीक नहीं है, कारण कि ब्रह्म और आत्मा ये दोनों परस्पर भिन्न हैं?

समाधान—आत्मा ही ब्रह्म है, ब्रह्म ही आत्मा है, दोनों अभिन्न हैं, अतएव अप्राप्तकी प्राप्ति नहीं है। केवल यथार्थज्ञानविरहदशामें उनमें भेदबुद्धि होती है ॥ २३४ ॥

निःशेषमिथ्याविज्ञानहेत्वविद्याविनाशकृत् ।
नाऽन्योऽस्ति ब्रह्मणो ज्ञानात् प्राप्तमेवाऽऽप्यते ततः ॥ २३५ ॥
परमानन्द एवाऽत्र स्वर्गशब्देन भण्यते ।
मोक्षप्रकरणान्नित्यं क्रियार्थोऽतो न गृह्यते ॥ २३६ ॥
स्वप्रकाशतया लोकशब्देनाऽपि स उच्यते ।
ब्रह्मस्वभावमानन्दं तद्विदो यान्ति तादृशम् ॥ २३७ ॥

'निःशेष०' इत्यादि । सम्पूर्ण मिथ्याज्ञानका मूलभूत अविद्याका नाशकारी ब्रह्मज्ञानसे अतिरिक्त दूसरा नहीं है, अतः प्राप्तकी ही प्राप्ति है ॥ २३५ ॥

'स्वर्गलोकम्' इसका अर्थ कहते हैं—'परमानन्द' इत्यादिसे

यद्यपि स्वर्गशब्द क्रियाजन्य सुखविशेषका वाची है, स्वर्गसुख भी यदि स्वर्गशब्दसे विवक्षित होगा, तो स्वर्गके समान वह भी अनित्य हो जायगा, तथापि यहाँ स्वर्गशब्द मोक्षप्रकरणके बलसे परमानन्दके तात्पर्यसे प्रयुक्त हुआ है ।

शङ्का—'स्वर्गकामो यजेत' वहाँपर जैसे स्वर्गशब्दसे भोगभूमिविशेषका ग्रहण होता है, वैसे यहाँपर भी लोकशब्दके समभिव्याहारसे उसी अर्थका ग्रहण क्यों नहीं होता ?

समाधान—वहाँ भी स्वर्गशब्दसे दुःखासम्भिन्न सुखविशेषका ही ग्रहण है, तत्-तत् कर्मजन्य लोकका ग्रहण नहीं होता । पूर्वसिद्ध तत्-तत् लोकमें भोगविशेष तत्-तत् कर्मजन्य ही माना जाता है । भेद इतना है कि स्वर्गसुख क्रियाजन्य है और मोक्षसुख क्रियाजन्य नहीं है, किन्तु ज्ञानैकलभ्य है ।

शङ्का—'अयमपि आनन्दः सोपाधिकः, लोकत्वात्, स्वर्गलोकवत्' इस अनुमानसे अनित्यसुखविशेषको ही प्रकृत स्वर्ग क्यों नहीं मानते ?

समाधान—परमानन्दमें भी लोकशब्दका प्रयोग हो सकता है, परन्तु प्रकरणविरोधसे उक्त अनुमानका अवकाश नहीं हो सकता ॥ २३६ ॥

'स्वप्रकाशतया' इत्यादि । स्वप्रकाश परमानन्द यहाँ लोकशब्दका अर्थ है, ब्रह्मवेत्ता ब्रह्मस्वभाव आनन्दको प्राप्त होते हैं ॥ २३७ ॥

इत उत्क्रात्मसंबोधान्मोहोच्छित्तेरनन्तरम् ।
स्वत एव यतो मुक्तो मुच्यतेऽनस्तमोहृतौ ॥ २३८ ॥
मुक्तौ तमोऽतिरेकेण नाऽन्तरायोऽन्य इष्यते ।
यतोऽतोऽज्ञानविध्वस्तौ मुक्तः सन्नेव मुच्यते ॥ २३९ ॥
देहपातव्यपेक्षाऽतो न स्यादूर्ध्वं श्रुतेरितः ।
ज्ञानेनाऽज्ञाननाशाख्ये मोक्षेऽन्यत्किमपेक्ष्यते ॥ २४० ॥
श्लोकेनाऽऽद्येन यः पन्थाः प्रोक्तस्तस्मान्मतान्तरम् ।
उपन्यस्याऽथ सिद्धान्तं प्राह श्लोकान्तरेण सः ॥ २४१ ॥
मोक्षमार्गे यथोक्तेऽस्मिन्नविद्योपप्लुताशयाः ।
दर्शनानि विचित्राणि कल्पयन्ति यथारुचि ॥ २४२ ॥

'इत उत्क्रात्म०' इत्यादि । इतः यानी इसी आत्मज्ञानसे ऊर्ध्वम् यानी मोहके उच्छेदके बाद । यतः आत्मा स्वतः ही मुक्त है, अतः अविद्यानिवृत्ति होनेपर मुक्त होता है ॥ २३८ ॥

'मुक्तौ तमो' इत्यादि । अविद्याव्यतिरिक्त मुक्तिमें व्यवधायक दूसरा नहीं है, किन्तु अविद्या ही व्यवधायक है, अतः अज्ञानका विध्वंस होनेपर मुक्त ही मुक्त होता है ॥ २३९ ॥

शङ्का—ज्ञानसमानकालिक मुक्ति नहीं है, किन्तु देहपातोत्तर ही वह होती है, यह 'ऊर्द्ध्वम्' श्रुतिसे निश्चित होता है ।

समाधान—'देहपात०' इत्यादि । यतः 'ब्रह्मैव सन्' इत्यादि अनन्यथासिद्ध श्रुतिसे मुक्त ही ज्ञानसे मुक्त होता है, यह निश्चित किया गया है, अतः ऊर्ध्वश्रुति हमारे कथनके अनुसार मोहोच्छित्त्यानन्तर्यपरक है । जैसे आलोक तमोनिवृत्तिके लिए किसी दूसरेकी अपेक्षा नहीं करता, वैसे ही अज्ञाननिवृत्तिके लिए ज्ञान अन्यकी अपेक्षा नहीं करता ॥ २४० ॥

'श्लोकेनाऽऽद्येन' इत्यादि । मुमुक्षुओंकी मोक्षमार्गमें अनेक विप्रतिपत्तियाँ हैं । प्रथम श्लोकसे जो मार्ग कहा गया है, उससे मतान्तरका उपन्यास कर श्लोकान्तरसे सिद्धान्त कहते हैं ॥ २४१ ॥

'मोक्षमार्गे' इत्यादि । पूर्वोक्त मोक्षमार्गमें अविद्योपप्लुतमति वादी लोग अपनी अपनी रुचिके अनुसार अनेक दृष्टियोंकी कल्पना करते हैं ॥ २४२ ॥

श्रुतिः—तस्मिञ्छुक्लमुत नीलमाहुः पिङ्गलꣳ हरितं लोहितं च ।

शुक्लं ब्रह्माऽतिसंशुद्धमिति केचित् प्रचक्षते ।
शरदि व्योमवन्नीलमित्याहुरपरे जनाः ॥ २४३ ॥
पिङ्गलं तत्परं ब्रह्म ज्वालेवेत्यपरे जगुः ।
वैडूर्यवत्तु हरितं केचिदाहुर्विपश्चितः ॥ २४४ ॥
अपरे लोहितं प्राहुर्जपाकुसुमसंनिभम् ।
नाडीरूपाणि वीक्ष्याऽऽत्मरूपाणीति भ्रमो ह्ययम् ॥ २४५ ॥
एकमेवैकरूपं यत्तत्त्वज्ञातं निरञ्जनम् ।
जात्यन्धगजदृष्ट्येव कोटिशः कल्प्यते मृषा ॥ २४६ ॥

'तस्मिन् शुक्लमुत नीलमाहुः' इत्यादि श्रुति । श्लोकोंके व्याख्यानसे श्रुत्यर्थ स्पष्ट है ।

'शुक्लम्' इत्यादि । गन्तव्य ब्रह्म अतिसंशुद्ध है, उसके योगसे उसका मार्ग भी यानी नाड़ीविशेष भी अतिशुक्लरूप है, यह किसीका मत है । दूसरे लोग कहते हैं कि शरदि व्योमवत् यानी शरत्कालिक आकाशके समान वह नील है ॥ २४३ ॥

'पिङ्गलम्' इत्यादि । कोई कहते हैं कि परब्रह्म ज्वालाके समान पिङ्गल है और कोई कहते हैं वह वैडूर्यमणिके समान हरित है । किसीका मत है कि ब्रह्म लोहित है । पुनरुक्त शङ्काकी निवृत्तिके लिए पिङ्गल और [illegible]त शब्दकी व्याख्या करनेवालोंने पिङ्गलको वह्निज्वालाके तुल्य कहा है और [illegible]को जपाकुसुमके तुल्य कहा है, अतः उक्त दोषका लेश नहीं है, इसी अभि[illegible] श्लोकमें 'ज्वालेव' और 'जपाकुसुमसंनिभम्' इन शब्दोंका उपादान है । सुषु[illegible] भी वस्तु नाड़ियां श्लेष्मादि रससे पूर्ण होती हैं, उनके सम्बन्धसे वादियोंको ब्रह्म[illegible]हीं । [illegible] रूपका दर्शन होता है, यह वस्तुतः उन लोगोंका भ्रम है, जो अन्यत्र [illegible]स्थित रूपकी अन्यत्र कल्पना करते हैं ॥ २४४,२४५ ॥

'एकमेवैक०' इत्यादि । निरञ्जन (सकलधर्मातीत), एकरूप एक ही अज्ञात वस्तु परमार्थ सत्में जात्यन्धकी (जन्मान्धकी) गजदृष्टिकी नाईं अनेकरूप कल्पनाएँ भ्रम हैं । भाव यह है कि जन्मान्ध पुरुष कभी हाथीकी सूंडका स्पर्शकर हाथीको तदाकार बतलाता है एवं कभी पुच्छका और कभी कानका स्पर्शकर उसे पुच्छाकार और उसके कानोंके आकारका बतलाता है । वास्तविक हाथीका ज्ञान

अस्थूलं नेति नेतीति सर्वमात्रादिनिह्नुतेः ।
कुतोऽकारणकार्येऽस्मिञ्छुक्लादेः सम्भवः परे ॥ २४७ ॥

श्रुतिः—एष पन्था ब्रह्मणा ह्यनुवित्तस्तेनैति ब्रह्मवित्पुण्यकृत्तैजसश्च ।.९॥

यस्तु वेदोदितोपायक्षपिताशेषकल्मषः ।
ब्रह्मणैवाऽनुवित्तोऽयं तेन पन्था गुरूक्तितः ॥ २४८ ॥

चक्षु इन्द्रियसे होता है, लेकिन वह तो है नहीं, केवल तत्-तत् स्थानमें त्वगिन्द्रिसे स्पर्शकर तत्तदाकार हाथीको बतलाता है। ये सब ज्ञान काल्पनिक होनेसे भ्रम हैं। जिसने अद्वितीय ब्रह्मका वास्तविक स्वरूप समाधि द्वारा नहीं जाना है, वह एक ही निर्भेद वस्तुमें अनेक प्रकारकी कल्पनाएँ करता है। आदर्शप्रतिमें मुद्रित 'जात्यन्धजाभदृष्ट्येव' यह पाठ प्रामादिक है, 'जात्यन्धगजदृष्ट्येव' ऐसा जो पाठ वार्तिकमें है, वही उचित है, अविकलरूपसे वह यहाँ उद्धृत हुआ है ॥ २४६ ॥

'अस्थूलम्' इत्यादि।

शङ्का—जन्मान्धोंकी गजदृष्टि प्रमाणविरुद्ध है, इसलिए वह मिथ्या है, परन्तु शुक्लगुणविशिष्ट ब्रह्म है, यह कल्पना तो श्रुतिमूलक है, अतः वह मिथ्या नहीं है।

समाधान—यह भी श्रुत्यन्तरविरुद्ध है, 'अस्थूलम्' 'नेति नेति' इत्यादि श्रुतियोंसे ब्रह्ममें सकल धर्मोंका निराकरण अनेक बार किया गया है।

शङ्का—सगुण और निर्गुण ब्रह्मकी बोधक श्रुतियाँ पायी जाती हैं, फिर निर्गुण-श्रुत्यनुसार ही ब्रह्मस्वरूप क्यों माना जाय ?

समाधान—तत्परश्रुतियोंसे अतत्पर श्रुतियाँ दुर्बल हैं, अतः तत्परक श्रुतियोंसे वे बाधित हो जाती हैं। 'शुक्ल' बोधक श्रुतियाँ अन्यदीयगुणारोपण द्वारा ब्रह्मस्वरूप-निरूपणपरक हैं, इससे मुक्त श्रुतियाँ केवल ब्रह्मस्वरूपमात्रके बोधनके लिए हैं, अन्यथा सार्थक नहीं हो सकतीं ॥ २४७ ॥

'एष पन्था ब्रह्मणा' इत्यादि श्रुति। श्लोकव्याख्यानसे श्रुत्यर्थ स्पष्ट है ॥९॥

कल्पित मोक्षमार्ग त्याज्य है, इसका निरूपण कर 'एष पन्था' इत्यादि सिद्धान्तभूत प्रथम पादका अर्थ कहते हैं—**'यस्तु'** इत्यादिसे।

वेदविहित यज्ञादि द्वारा समस्त पापोंकी निवृत्ति कर पुरुष तत्त्वज्ञानका अधिकारी होता है। शुद्धधी मुमुक्षु गुरुके उपदेशके बाद अखण्ड अद्वय प्रत्यगात्म-ब्रह्मस्वरूप मोक्षके हेतु ज्ञानमार्गका लाभ करता है। ब्रह्मशब्दसे ब्राह्मणका ग्रहण विवक्षित है ॥ २४८ ॥

विद्याधिकारी नैवाऽन्यो ब्रह्मणस्तेन वर्णितः ।
ब्रह्मशब्देन यद्वेत्थंभूतार्थे ब्रह्मणेति गीः ॥ २४९ ॥
बोधमार्गो ब्रह्मरूपो ब्रह्मैकविषयत्वतः ।
गुरूक्तिमनु सोऽप्यत्र लभ्यते नाऽन्यथा क्वचित् ॥ २५० ॥
ब्रह्मविन्मुक्तिमाप्नोति तेन बोधात्मना पथा ।
पुण्यकृत्तैजसश्चाऽऽदौ भूत्वाऽथ ब्रह्मविद्भवेत् ॥ २५१ ॥

'विद्याधिकारी' इत्यादि ।

शङ्का—ब्रह्मरूप मुमुक्षुने उक्त मार्गको जाना, इस तात्पर्यसे 'ब्रह्मने जाना' यह प्रयोग ठीक नहीं है, क्योंकि मुमुक्षु ब्रह्मशब्दका अर्थ नहीं हो सकता ।

समाधान—'तत्त्वमसि' इत्यादि श्रुतिसे उन दोनोंका अभेद बोधन किया गया है । अतः आत्मा तत्त्वान्तर नहीं है और इस अर्थका साक्षी विद्वानोंका अनुभव भी है । अथवा 'ब्रह्मणा' यह कर्तामें तृतीया नहीं है, जिससे कि उक्त प्रयोगकी असंगतिकी शङ्का हो, किन्तु इत्थंभूतलक्षणमें तृतीया है । क्रियाश्रयमें कर्तृत्व और करणत्व होता है, आत्मरूप ब्रह्म क्रियाश्रय नहीं है, अतः उक्तार्थमें तृतीया नहीं है । ब्रह्मसे अन्य ब्रह्मविद्याधिकारी नहीं है, इस तात्पर्यसे ब्रह्मविद्याप्राप्त ब्रह्मने उक्त मार्गको जाना, यह कहा गया है ॥ २४९ ॥

'बोधमार्गो०' इत्यादि ।

शङ्का—बोधात्मक मार्ग अन्तःकरणवृत्तिरूप है, अतः वह ब्रह्मस्वरूप कैसे हो सकता है ?

समाधान— हां ठीक है, ब्रह्मविषयक उक्त बोध भी वस्तुतः ब्रह्मस्वरूप है, सो भी गुरूपदेशानन्तर ही प्राप्त होता है, अन्यथा नहीं ।

शङ्का—आत्मवत् बोधमार्गको भी यदि ब्रह्मस्वरूप मानते हो, तो ब्रह्म सदा स्वयंप्रकाश है, अतः तद्रूप उक्त मार्गका सदा स्फुरण होता रहेगा, फिर गुरूपदेशादिकी क्या आवश्यकता है ?

समाधान—'तत्त्वमसि' इत्यादि वाक्यजन्य अखण्ड-अद्वयसाक्षात्कारके बिना अज्ञानावृत ब्रह्मस्वरूपका ही जब स्फुरण नहीं होता, तब तदात्मक उक्त मार्गका सदा भान कहांसे होगा ? ॥ २५० ॥

'ब्रह्मविन्मुक्ति०' इत्यादि । पूर्वमें पुण्यकृत् होकर पश्चात् तैजस होता

तेजःशब्देन संशुद्धा बुद्धिरेवाऽभिधीयते ।
पुण्ये कृते बुद्धिशुद्धौ विद्या स्यात् स्मर्यते तथा ॥ २५२ ॥
ज्ञानमुत्पद्यते पुंसां क्षयात् पापस्य कर्मणः ।
यथाऽऽदर्शतलप्रख्ये पश्यत्यात्मानमात्मनि ॥ २५३ ॥
गार्भैर्होमैर्जातकर्मचौलमौञ्जीनिबन्धनैः ।
महायज्ञैश्च यज्ञैश्च ब्राह्मीयं क्रियते तनुः ॥ २५४ ॥

है, तदनन्तर ब्रह्मवित् होकर उक्त ब्रह्मबोधात्मक मार्गसे ब्रह्मवेत्ता मुक्ति पाता है ॥ २५१ ॥

'तेजः०' इत्यादि। तेजःशब्दसे परिशुद्ध बुद्धि विवक्षित है, इसी शुद्ध बुद्धिका कारण पुण्य है। 'पुण्येन पापमपनुदति' इस श्रुतिके अनुसार पुण्य-कर्मानुष्ठानसे अशुद्धिसंपादक पापकी निवृत्ति होती है, तदनन्तर बुद्धिशुद्धि होती है और तदनन्तर ज्ञानोत्पत्ति होती है, यही स्मार्त क्रम है ॥ २५२ ॥

'ज्ञान०' इत्यादि। पापकर्मोंके क्षयसे पुरुषमें ज्ञानोत्पत्ति होती है, तदनन्तर जैसे स्वच्छ दर्पणमें मुख दीख पड़ता है, वैसे ही स्वच्छ अन्तःकरणमें आत्मदर्शन होता है।

शङ्का—माना कि पापक्षयसे ज्ञानोत्पत्ति होती है, किन्तु पुण्यसे पापक्षय कैसे होगा? यदि वैसा मान लिया जाय, तो संसारदशामें पुण्य और पापमें से किसी एकका ही शेष रह जायगा, किन्तु भिन्नफलक दो कर्मोंसे क्रमशः सुख और दुःख देखे जाते हैं।

समाधान—पुण्यसे पापक्षय होता है, इसमें मन्त्रादिस्मृति ही प्रमाण है ॥२५३॥

'गार्भै०' इत्यादि। गर्भाधान, जातकर्म, चूड़ाकरण, मौञ्जीबन्धन आदि कर्मोंसे तथा

पाठो होमश्चाऽतिथीनां सपर्या तर्पणं बलिः ।
एते पञ्च महायज्ञा ब्रह्मयज्ञादिनामकाः ॥

इस श्लोकमें उक्त पाँच महायज्ञ एवं सोमादि यज्ञोंसे पापनिवृत्ति द्वारा यह शरीर ब्राह्मीय—ब्रह्मज्ञानोत्पत्तियोग्य—किया जाता है, उक्त कर्मोंसे पापनिवृत्ति द्वारा शरीर ज्ञानयोग्य होता है, भगवान् श्री कृष्णचन्द्रजीने भी श्रीमुखसे गीतामें स्पष्ट कहा है—यति मुमुक्षुगण फलासक्तिका त्याग कर आत्मशुद्धिके लिए श्रुति और स्मृतिसे विहित कर्म करते हैं ॥ २५४ ॥

योगी वा तैजसोऽत्र स्यात् प्रत्यगृदृष्टौ समर्थतः ।
विषयाकृष्टधीर्यस्मान्न क्षमः प्रत्यगीक्षणे ॥ २५५ ॥
प्रसिद्धमहिमानौ वा पुण्यकृद्योगिनाविह ।
ब्रह्मवित् स्तूयते ताभ्यां ब्रह्मविद्याप्रवृत्तये ॥ २५६ ॥

'योगी वा' इत्यादि ।

शङ्का—पुण्य करनेसे ही शुद्धधी होता है, पुनः तैजसत्वबोधन विफल है ।

समाधान—ठीक है, पर तैजसत्वसे प्रकृतमें योगी विवक्षित है, समाहितबुद्धि योगी तैजस कहा जाता है, क्योंकि वह स्वात्मदर्शनमें समर्थ है ।

शङ्का—सभी प्राणी 'मैं अपनेको देखता हूँ' ऐसा मानते हैं, फिर योगीमें ही स्वात्मदर्शनसामर्थ्य है, दूसरेमें नहीं है, यह कैसे कहा जा सकता है ?

समाधान—विषयाकृष्टधी यानी विषयभोगवासनालिप्त पुरुष आत्मदर्शनसमर्थ नहीं होता, अतएव श्रुति कहती है—'कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मनमैक्षत्' यानी किसी योगिविशेषने प्रयगात्माको देखा । धीसमाधान आत्मदर्शनमें हेतु है, इसीसे श्रुतिमें निदिध्यासनका विधान है ।

एकाग्रधी तैजसको ही ज्ञानोत्पत्ति होती है, यही गीतावाक्यसे भी सिद्ध है, जैसे कि—

'सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चाऽऽत्मनि ।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ॥'

—योगयुक्तात्मा यानी एकाग्रधी योगी सब भूतोंमें अपनेको और अपनेमें सब भूतोंको देखता है, अतएव वह समदर्शन कहा जाता है । इस अर्थकी बोधक सैकड़ों श्रुतियाँ तथा स्मृतियाँ हैं ॥ २५५ ॥

पुण्यकृत्त्वादि ब्रह्मवित्त्वमें हेतु है, यह कहकर पक्षान्तरको कहते हैं— **'प्रसिद्धमहिमानौ'** इत्यादिसे ।

प्रख्यात महिमाशाली पुण्यकृत् और योगी लोकमें माने जाते हैं । उनके द्वारा ब्रह्मवेत्ताकी स्तुति की जाती है । जो ब्रह्मवित् कहा जाता है, वही पुण्यकृत् और योगी भी है । यह स्तुति मुमुक्षुओंकी प्रवृत्ति ब्रह्मविद्यामें हो, इसलिए की जाती है ॥ २५६ ॥

योगस्य कर्मणस्तत्त्वविद्यायाश्च समुच्चयः ।
श्रुतोऽत्रेति वदन्त्यन्ये तदयुक्तं विरोधतः ॥ २५७ ॥
अपुण्यपुण्योपरमे यं पुनर्भवनिर्भयाः ।
शान्ताः संन्यासिनो यान्ति तस्मै मोक्षात्मने नमः ॥ २५८ ॥
त्यज धर्ममधर्मं च उभे सत्यानृते त्यज ।
उभे सत्यानृते त्यक्त्वा येन त्यजसि तं त्यज ॥ २५९ ॥
निराशिषमनारम्भं निर्नमस्कारमस्तुतिम् ।
अक्षीणं क्षीणकर्माणं तं देवा ब्राह्मणं विदुः ॥ २६० ॥

'योगस्य' इत्यादि । योग, कर्म और तत्त्वविद्या—इन तीनोंका समुच्चय मोक्षमें हेतु है, यह यहाँ विवक्षित है । एकैकसे मुक्तिकी आशा न रख तीनोंके समुच्चयका सम्पादन मुमुक्षुओंको करना चाहिए ।

तात्पर्य यह कि ज्ञानी पुण्यकृत् और तैजस होकर योग द्वारा आत्मदर्शनमें समर्थ होता है, अतः उनका समुच्चय अभिप्रेत है, यह किसी महापुरुषका मत है, सो ठीक नहीं है । ज्ञानकर्मसमुच्चयका निराकरण सम्बन्धग्रन्थमें कर चुके हैं, पुनः यहाँ पिष्टपेषण करना व्यर्थ है । हां, क्रमसमुच्चय कहिये तो ठीक है, क्योंकि पहले कर्मानुष्ठान चित्तशुद्धि द्वारा आवश्यक है । समसमुच्चयका ही निराकरण वेदान्तियोंको इष्ट है और इसमें प्रमाण भी है ॥ २५७ ॥

'अपुण्य०' इत्यादि । समसमुच्चयका वेदान्ती विरोध करते हैं । भेदनिबन्धन कर्मानुष्ठान और ऐक्यनिबन्धन ज्ञान दोनों एक समयमें नहीं हो सकते, अतः समसमुच्चय ज्ञानहेतु नहीं हो सकता, अपुण्य (पाप) और पुण्य—इन दोनोंका उपरम होनेपर पुर्नभव यानी पुनरुत्पत्तिसे निर्भय होकर शान्तचित्त संन्यासी जिसको प्राप्त करते हैं, उस मोक्षात्मक ब्रह्मको नमस्कार है ॥ २५८ ॥

'त्यज धर्म०' इत्यादि । धर्मका त्याग करो, अधर्मका त्याग करो, उभे यानी सत्य और अनृत दोनोंका त्याग करो, जिससे इन सबका त्याग करते हो, उसका भी त्याग करो ॥ २५९ ॥

'निराशिष०' इत्यादि ।

शङ्का—ब्रह्मवेत्ताकी भी स्तुति पाई जाती है, अतः उससे ज्ञानका समुच्चय हो सकता है ?

नैतादृशं ब्राह्मणस्याऽस्ति वित्तं यथैकता समता सत्यता च ।
शीलं स्थितिर्दण्डनिधानमार्जवं ततस्ततश्चोपरमः क्रियाभ्यः ॥ २६१ ॥
अर्थस्य मूलं निकृतिः क्षमा च कामस्य रूपं च वयो वपुश्च ।
धर्मस्य यागादि दया दमश्च मोक्षस्य सर्वोपरमः क्रियाभ्यः ॥ २६२ ॥
इत्येवं स्मृतिशास्त्राणि सर्वत्यागपुरःसरम् ।
ज्ञानजन्माऽभिदधति तथा श्रुतिवचांस्यपि ॥ २६३ ॥
यत्पुण्यं बुद्धिशुद्ध्यर्थं योगो यश्चाऽऽत्मबोधकृत् ।
श्लोके द्वितीये तौ प्रोक्तौ तृतीये त्वन्यथोच्यते ॥ २६४ ॥

समाधान—इच्छाशून्य, अनारम्भ यानी काम्य कर्मोंके अनुष्ठानसे रहित, नमस्कार और स्तुतिसे रहित अक्षीण यानी निषिद्ध आचरणसे रहित, क्षीणकर्म यानी नित्य आदि कर्मरहित, एवंभूत पुरुषको देवगण ब्राह्मण कहते हैं ॥ २६० ॥

ज्ञान और कर्मके असमुच्चयमें वाक्यान्तर भी कहते हैं—'नैतादृशम्' इत्यादिसे ।

एकता—सर्वोदासीनता—, समता यानी शत्रुमित्रादिबुद्धिशून्य सबमें आत्म-समानदृष्टि, सत्यता, दण्डनिधान यानी अहिंसापरत्व और तत्-तत् काम्य कर्मादिसे उपरम—इनके समान ब्राह्मणका दूसरा वित्त नहीं है ॥ २६१ ॥

'अर्थस्य' इत्यादि । धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—इन चतुर्विध पुरुषार्थोंके भिन्न भिन्न साधन उपदिष्ट हैं, सबमें एक साधन नहीं है, अतएव समुच्चय शास्त्रको अभीष्ट नहीं है ।

शङ्का—सर्वक्रियोपरम मोक्षका कारण नहीं हो सकता, कारण कि श्रवणाद्य-नुष्ठानका मोक्षहेतुत्वेन विधान शास्त्रोंमें है ।

समाधान—वहां क्रियाशब्दसे अग्निहोत्रादि बाह्य क्रिया विवक्षित है आन्तर नहीं, अतः उक्त दोष नहीं है ॥ २६२ ॥

'इत्येवम्' इत्यादि । इस प्रकार सब स्मृतियां तथा श्रुतियाँ सर्वकर्मत्याग-पुरस्सर ज्ञानोत्पत्ति कहती हैं, इसलिए ज्ञान और कर्मका समुच्चय सर्वथा इष्ट नहीं है ॥ २६३ ॥

वृत्तका अनुवाद कर 'अन्धं तमः' इत्यादिका अवतरण करते हैं—'यत्पुण्यम्' इत्यादिसे ।

बुद्धिशुद्ध्यर्थ पुण्य और आत्मबोधसंपादक योग—ये जो दोनों द्वितीय

यत्काम्यं कर्म योगश्च योऽणिमादिप्रदो द्वयम् ।
तत्संसारस्यैव हेतुर्न मुक्तावुपयुज्यते ॥ २६५ ॥

श्रुतिः—अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते ।
ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायाᳪरताः ॥ १० ॥

जन्मान्तरप्रदं कर्म स्यादविद्या भ्रमात्मिका ।
एतामुपासते मूढास्तमोऽन्धं प्रविशन्ति ते ॥ २६६ ॥
देहभ्रान्तिस्तमोऽन्धत्वं देहभ्रान्तिपरम्परा ।
काम्यकर्मरतो जन्तुस्तामाप्नोति परम्पराम् ॥ २६७ ॥

श्लोकमें कहे गये हैं, तृतीय श्लोकमें प्रकारान्तरसे उनका अर्थ कहा जाता है ॥ २६४ ॥

'यत्काम्यम्' इत्यादि। जो याग, होमादि काम्य कर्म है और जो अणिमादिप्रद योग है, वे दोनों संसारके ही हेतु हैं, उनसे मोक्ष नहीं हो सकता यानी वे साक्षात् मोक्षके कारण नहीं हैं ॥ २६५ ॥

'अन्धं तमः प्रविशन्ति' इत्यादि श्रुति। वार्तिकसारके श्लोकोंके व्याख्यानसे श्रुत्यर्थ स्पष्ट है ॥ १० ॥

'जन्मान्तरप्रदम्' इत्यादि। जिन कर्मोंके अनुष्ठानसे जन्मान्तर होता है, वे ही कर्म अविद्याहेतुक होनेसे भ्रमात्मक यानी अविद्यामय ही हैं। उनकी जो उपासना यानी अनुष्ठान करते हैं, वे अन्ध तममें ही प्रविष्ट होते हैं।

शङ्का—तममें अन्ध विशेषणका क्या अभिप्राय है ?

समाधान—तम मोह, महामोह आदि भेदसे अनेक प्रकारका शास्त्रमें माना गया है, उसमें अन्धतामिस्र भी संकलित है, अतः उसके ग्रहणकी इच्छासे उक्त विशेषण है ॥ २६६ ॥

'देहभ्रान्ति०' इत्यादि। देहभ्रान्ति अन्धतम है, काम्यकर्मानुष्ठानपरायण प्राणी देहभ्रान्तिपरंपराको ही पाता है, उससे कभी भी मुक्त नहीं हो सकता, जो अविरक्त कर्ममात्रपरायण हैं, उन्हींकी अन्धतमःप्रवेशाभिधान द्वारा निन्दा की गई है और जो विरक्त दहराद्युपासक हैं, उनकी नहीं, ऐसा नहीं समझना चाहिए, क्योंकि ऐकात्म्यज्ञानशून्य होनेसे दोनोंकी समान निन्दामें तात्पर्य है, भेद केवल इतना ही है कि अविरक्त केवल कर्मी तामस देह पाते हैं, और विरक्त कर्मी

ये त्वासक्ता योगशिल्पविद्यायां ते पुरोदितात्।
अधिकं तम आविश्य मुच्यन्ते न कदाचन ॥ २६८ ॥

राजस देह पाते हैं, दोनोंका देहप्राप्तिरूप फल समान है, सोनेकी सीकड़ीसे बँधे तो क्या? लोहेकी सीकड़ीसे बँधे तो क्या? बन्धनरूप फल तो दोनोंका समान ही है॥२६७॥

'ये त्वासक्ता' इत्यादि। जो योगविद्या, शिल्पविद्या आदिमें आसक्त हैं, वे पूर्वकथित तमसे भी अधिक तममें प्रविष्ट होकर कभी भी मुक्त नहीं होते, यह उत्तरार्ध श्रुतिका व्याख्यान है। विद्याशब्दसे, जिसका अविद्योत्पन्न आठ प्रकारकी अणिमा आदि ऐश्वर्य फल है, ऐसी योगविद्या तथा यन्त्रतन्त्रादि शिल्पविद्या विवक्षित है, जो इनमें ही निरत रहते हैं, वे उससे भी अधिक तममें प्रविष्ट होते हैं।

शङ्का—अविद्याकी संन्निधिमें पठित विद्यासे अविद्याविरोधी विद्याका ही ग्रहण होना चाहिए, 'संयोगो विप्रयोगश्च साहचर्यं विरोधिता' इत्यादि अर्थविशेषके ग्रहणमें नियामक माने जाते हैं। अतः विद्यासक्तको 'अन्धं तमः' आदिकी प्राप्ति होती है, यह कहना असंगत है।

समाधान—ग्राह्य और ग्राहकरूप भेददर्शनयुक्त विद्याका ही यहां विद्यापदसे ग्रहण करना चाहिए, ऐकात्म्यसमीक्षणरूप विद्याका नहीं। भेददृष्टिविशिष्ट तामसयोनि ही होते हैं, अतः उनका अधिक तममें प्रवेश युक्त ही है। अथवा कर्मादिबोधक विद्या यहाँ विद्याशब्दसे विवक्षित है। वेदान्तार्थका परशीलन न कर जो उसीमें (कर्मादिबोधक विद्यामें ही) निरत रहते हैं, वे अज्ञ अधिक अन्धकारमें प्रविष्ट होते हैं।

शङ्का—तम तो अज्ञान पदार्थ है, अज्ञान ज्ञानाभावरूप है, अभावमें न्यूनाधिकभावकी सम्भावना ही नहीं है।

समाधान—मिथ्याज्ञानाधिक्य ही तममें भूयस्त्व है। अज्ञान भावाभावविलक्षण माना जाता है; अतः उसमें भूयस्त्व भी ठीक ही है, अतएव उच्चावच जगन्मात्रका निदान अज्ञान कहा जाता है। अविद्यारत तार्किक आदि ईश्वरको मानते हैं, तदुच्चरित तद्विषयत्वादिना उपनिषद्को प्रमाण मानते हैं, अतः उनका अविवेक अधिक नहीं है, उनकी अपेक्षा मीमांसकोंका अज्ञान अत्यधिक है, क्योंकि वे ईश्वरको भी नहीं मानते, कर्मविधिशेषतया उपनिषदोंको प्रमाण मानते हैं, क्योंकि सिद्धस्वरूप ब्रह्ममें उपनिषद्का प्रामाण्य नहीं इत्यादि अज्ञानविशेषका लिङ्ग है ॥ २६८ ॥

युज्यते मुक्त्यभावोऽयं तत्र बोधविवर्जनात् ।
तेन दुःखं महच्चेति चतुर्थश्लोक ईर्यते ॥ २६९ ॥

श्रुतिः—अनन्दा नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः ।
ताꣳस्ते प्रेत्याभिगच्छन्त्यविद्वाꣳसोऽबुधो जनाः ॥ ११ ॥

ये त्वनन्दाभिधा लोकास्तीव्रदुःखेन संयुताः ।
तांस्ते मृत्वाऽभिगच्छन्ति ब्रह्मबोधेन वर्जिताः ॥ २७० ॥

अविद्वांसो ह्यशास्त्रज्ञा अबुधोऽनुभवेन च ।
वर्जिता दुःखबाहुल्यं जन्ममृत्युजरादिकम् ॥ २७१ ॥

ब्रह्मावबोधयुक्तानां निःशेषो दुःखसंक्षयः ।
श्लोकेन पञ्चमेनाऽत्र विस्पष्टमभिधीयते ॥ २७२ ॥

'युज्यते' इत्यादि । योगानुष्ठानशील पुरुषकी मुक्ति नहीं होती, इसमें कारण तत्त्वज्ञानाभाव है, इस कारण उनको महान् दुःखका अनुभव होता है, यह चतुर्थ श्लोकमें स्पष्ट है ॥ २६९ ॥

'ये त्वनन्दा०' इत्यादि । वार्तिकसारकी आदर्श प्रतिमें जो 'ये त्वानन्दा' इत्यादि पाठ मुद्रित है, सो प्रामादिक है । वार्तिकमें 'अनानन्दाभिधा' इत्यादि पाठ है । शब्दोंका केवल परिवर्तन कर श्लोक सारमें पठित है । मरनेके अनन्तर वे तीव्र दुःखसंयुक्त अनन्दात्मक लोकमें जाते हैं ।

शङ्का—क्यों ?

समाधान—ब्रह्मज्ञानशून्य होनेके कारण वे संसाराधिकारी ही हैं ॥ २७० ॥

अबुध और अविद्वान् शब्दोंकी पुनरुक्तिका परिहार करते हैं—'अविद्वांसो' इत्यादिसे । अविद्वान् शब्दसे अशास्त्रज्ञ विवक्षित हैं और अबुधपदसे अनुभवशून्य विवक्षित हैं, अतः भिन्नार्थके तात्पर्य उक्त दो पदोंका प्रयोग है । शास्त्रको न जाननेवाले और अनुभवरहित पुरुष जन्म, मृत्यु, जरा आदि प्रचुर दुःख पाते हैं । 'अभिगच्छन्ति' क्रियाका यहां अनुषङ्ग अर्थ किया जाता है ॥ २७१ ॥

'ब्रह्मावबोध०' इत्यादि । ब्रह्मज्ञानियोंका दुःख निःशेष क्षीण हो जाता है, यह पञ्चम श्लोकसे स्पष्टरूपसे कहते हैं । यहां श्लोकसंख्या उपनिषद्के श्लोकोंके तात्पर्यसे है ॥ २७२ ॥

श्रुतिः—आत्मानं चेद्विजानीयादयमस्मीति पूरुषः ।
किमिच्छन् कस्य कामाय शरीरमनुसंज्वरेत् ॥ १२ ॥
पुरुषः परिपूर्णोऽयमस्मीति ह्यापरोक्ष्यतः ।
य आत्मानं विजानाति शरीरानुज्वरोऽस्य कः ॥ २७३ ॥
न वेत्ति चेत् स्वमात्मानं देहात्मत्वभ्रमादसौ ।
भोक्तुस्तस्यैव भोगाय भोगमिच्छन्ननुज्वरेत् ॥ २७४ ॥
यस्य सार्वात्म्यबोधेन बाधः स्याद्भोक्तृभोग्ययोः ।
किमिच्छन् कस्य कामाय शरीरमनुसंज्वरेत् ॥ २७५ ॥

'आत्मानं चेद्विजानीयात्' इत्यादि श्रुति। श्लोकव्याख्यानसे श्रुत्यर्थ स्पष्ट है ॥ १२ ॥

दो मन्त्रोंसे आत्मज्ञानाभावमें दोष कहकर आत्माके ज्ञानसे मुक्तिरूप फल होता है, यह श्लोकव्याख्यान द्वारा प्रतिपादन करते हैं—'पुरुषः' इत्यादिसे ।

अशनायादिसे उत्क्रान्त सर्वधीसाक्षी आत्माको जो शुद्ध धी द्वारा जानता है ।

शङ्का—कैसा जानता है ?

समाधान—'यह आत्मस्वरूप ब्रह्म मैं हूँ', 'तत्त्वमसि' इत्यादि श्रुतिरूप प्रमाणसे परमाख्य परिपूर्ण यह पुरुष मैं ही हूँ, यह यदि मुमुक्षु जानता है, तो फिर किस कामनासे क्यों शरीरको दुःखित करेगा ? तत्-तत् फलके लिए ही शरीरायास किया जाता है, ब्रह्मातिरिक्त पदार्थके अभावका निश्चय होनेपर शरीरायासका निमित्त ही कोई नहीं रह जाता । आप्तकामवाक्यसे ब्रह्मज्ञकी सब इच्छाएँ समाप्त हो जाती हैं, ऐसा कहा जा चुका है, अतएव इच्छाका आक्षेप 'किमिच्छन्'से श्रुतिने किया है ॥ २७३ ॥

'न वेत्ति' इत्यादि। 'अहं गौरः कृशः' इत्यादि देहात्मविभ्रम है । जो पुरुष वस्तुतः आत्माको नहीं जानता, वही भोक्ताके भोगसम्पादनके लिए शरीरको आयासित करता है अर्थात् अन्तःकरण भोक्ताको आत्मा मान कर विहित और प्रतिषिद्ध नाना क्रियाएँ करता है । 'क्लिष्टं कर्म' इस न्यायसे कर्ममात्र क्लेशकर होता है ॥ २७४ ॥

'यस्य' इत्यादि । 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म नेह नानास्ति किञ्चन' इत्यादि श्रुतियोंसे सब आत्मस्वरूप ही है, उससे अतिरिक्त कोई पदार्थ ही नहीं है, इस

निःसङ्गस्याऽभिसम्बन्धो देहेनाऽस्य न कश्चन ।
नाऽतो देहादिदुःखेन दुःखित्वं प्रत्यगात्मनः ॥ २७६ ॥
न दुःखक्षय एवाऽस्य किन्तु विश्वस्य कर्तृता ।
सर्वलोकात्मता चेति षष्ठे श्लोके उदीर्यते ॥ २७७ ॥

श्रुतिः—यस्यानुवित्तः प्रतिबुद्ध आत्माऽस्मिन्संदेह्ये गहने प्रविष्टः ।
स विश्वकृत्स हि सर्वस्य कर्ता तस्य लोकः स उ लोक एव ॥१३॥

सम्यग्दिह्यत इत्येद्वपुः संदेह उच्यते ।
सम्भूयोपचितः पञ्चभूतैरेष यतस्ततः ॥ २७८ ॥

प्रकारका अद्वैतात्मबोध जिस पुरुषरत्नको हो गया है, वह इच्छा ही क्यों करेगा ? इच्छा अप्राप्त इष्ट वस्तुकी प्राप्तिके लिए होती है, जब अप्राप्त इष्ट है, ही नहीं तब शरीरको क्यों कष्ट देगा ॥ २७५ ॥

'निःसङ्गस्या०' इत्यादि । 'असङ्गो ह्ययं पुरुषः' इत्यादि श्रुतिसे आत्मा सर्व-सङ्गशून्य है; अतः उसके साथ देहका कोई वास्तविक सम्बन्ध नहीं है, अतएव देहादिगत दुःखसे आत्मा कभी दुःखी नहीं हो सकता, भ्रमदशामें अनुभूयमान दुःखादि अज्ञानप्रयुक्त हैं ॥ २७६ ॥

'न दुःखक्षय' इत्यादि । आत्मैकत्वविज्ञानसे केवल दुःखक्षय ही नहीं होता, किन्तु विश्वकर्तृता और सर्वलोकात्मताकी प्राप्ति भी होती है, यह छठे श्लोकमें कहा जाता है । जलस्थ सूर्यप्रतिबिम्बके समान शरीरान्तःप्रविष्ट आत्माको विवेकसे जो जान लेता है, वही विश्वकृत् ईश्वर है । वही सबका कर्ता है, परमात्मस्वभाव ही आत्मा माना जाता है । 'स हि सर्वस्य कर्ता' इस श्रुतिके अनुसार विद्वान् ही अविद्वद्दशामें उसके द्वारा विश्वकर्ता कहा जाता है ॥ २७७ ॥

'यस्यानुवित्तः' इत्यादि श्रुति। श्लोकव्याख्यानसे श्रुत्यर्थ स्पष्ट हो जायगा ॥ १३ ॥

'सम्यग्दिह्यत०' इत्यादि। 'दिह उपचये' इस धातुसे संदेहशब्द बना है। यद्यपि यह संशयमें रूढ है, तथापि अवयवार्थबुद्धिसे शरीरका भी बोधक है, इस भावसे कहते हैं—'संदिह्यते' इस व्युत्पत्तिसे वपु यानी शरीर संदेह कहा जाता है, यतः पांच भूतोंसे यह बढ़ता है यानी पञ्चभूतोपचित है, अतः संदेह शरीर कहलाता है ॥ २७८ ॥

आध्यात्मिकादिभिः क्लेशैर्युक्तत्वाद्गहनो मतः ।
तत्र प्रविष्ट आत्माऽयं गुरूक्तिमनु लभ्यते ॥ २७९ ॥
योऽनुलब्धः पुनः सोऽनुभूत्या च प्रतिबुध्यते ।
स विश्वकृद्भवेदीशो जीवत्वभ्रान्तिवारणात् ॥ २८० ॥
स हि कर्तेति वाक्येन कृतकृत्यत्वमुच्यते ।
निःशेषपुरुषार्थाप्तेर्न कार्यं शिष्यते परम् ॥ २८१ ॥
यद्वाऽन्यदृष्ट्या सर्वस्य जननात् सर्वकृद्भवेत् ।
अज्ञानिनो ब्रह्मभूतमेनं मन्यन्त ईश्वरम् ॥ २८२ ॥
लोकः सर्वोऽपि तस्यैष कार्य इत्येव तन्मतिः ।
वस्तुदृष्ट्या तु सोऽप्येष लोको न तु ततः पृथक् ॥ २८३ ॥

'आध्यात्मिका०' इत्यादि । आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक त्रिविध क्लेशोंसे संयुक्त शरीर गहन है, जलसूर्यकादिके समान शरीरमें प्रविष्ट यह आत्मा गुरूपदेशके अनन्तर उपलब्ध होता है ॥ २७९ ॥

'योऽनुलब्धः' इत्यादि । 'तत्त्वमसि' इत्यादि श्रुतिके अनुसार 'तुम ब्रह्म हो' इस गुरुके उपदेशसे जो ब्रह्मात्मभाव लब्ध हुआ, वह निदिध्यासनके बाद 'अहं ब्रह्म अस्मि' (मैं ब्रह्म हूँ) इस अनुभवसे प्रत्यभिज्ञात हुआ । वही आत्मा विश्वकृत् ईश्वर है । अविद्यादशामें भ्रान्तिवश उसको जीव कहते हैं । भ्रान्तिके निवृत्त हो जानेपर वस्तुतः ईश्वर समझा जाता है ॥ २८० ॥

'स हि कर्तेति' इत्यादि । 'स हि कर्ता' इस श्रुतिवाक्यसे आत्मा कृतकृत्य कहा जाता है यानी सम्पूर्ण पुरुषार्थकी प्राप्ति हो जानेके कारण उसके लिए कुछ कार्य अवशिष्ट नहीं रह जाता है ॥ २८१ ॥

'यद्वाऽन्य०' इत्यादि ।

शङ्का—ब्रह्मविद् विश्वकृत् नहीं कहा जा सकता, क्योंकि उस दशामें विश्व है नहीं ।

समाधान—हाँ, ठीक है, पर ब्रह्मज्ञेतर पुरुषकी दृष्टिसे सबके उत्पादक ईश्वर-स्वरूप ब्रह्मज्ञ सर्वकृत् कहा जा सकता है, क्योंकि उसकी अपेक्षा विश्व है ही, इसीको उत्तरार्द्धसे स्पष्ट करते हैं—अज्ञानीजन ब्रह्मभूत ब्रह्मज्ञको ईश्वर मानते हैं ॥२८२॥

'लोकः सर्वोऽपि' इत्यादि । ये सब लोक ईश्वरके कार्य हैं, ऐसी बुद्धि

शास्त्राधिकारयुक्तेऽस्मिन् देहे विद्यात्परं पदम् ।
अन्यथाऽनर्थ इत्येतत्सप्तमे श्लोक उच्यते ॥ २८४ ॥

श्रुतिः—इहैव सन्तोऽथ विद्मस्तद्वयं न चेदवेदिर्महती विनष्टिः ।
ये तद्विदुरमृतास्ते भवन्त्यथेतरे दुःखमेवापियन्ति ॥ १४ ॥

यदेह देहे तिष्ठामस्तदा विद्मो वयं परम् ।
न चेद्विद्मस्तदाऽस्माकं विनष्टिर्महती भवेत् ॥ २८५ ॥

ये तद्विदुस्तेऽमृताः स्युरितरे दुःखमाप्नुयुः ।
दुःखमेव हि संसारः सुखं त्वल्पं च नेष्यते ॥ २८६ ॥

अज्ञानियोंकी होती है । मुक्तदृष्टिसे तो आत्मा ही लोक है, उससे अतिरिक्त लोकमें प्रमाण नहीं है, भेददृष्टिका सर्वथा निराकरण हो चुका है ॥ २८३ ॥

'शास्त्राधिकार०' इत्यादि । इस देहके शास्त्राधिकारयुक्त होनेपर पुरुषको परम पदकी यानी मोक्षकी अवश्य प्राप्ति करनी चाहिए । अन्यथा अनर्थकी यानी दुःखपरम्पराकी प्राप्ति होती है, यह सप्तम श्लोकमें कहा जाता है ॥ २८४ ॥

'इहैव सन्तोऽथ' इत्यादि श्रुति । श्लोकव्याख्यानसे श्रुत्यर्थ स्पष्ट है ॥१४॥

'यदेह' इत्यादि । यद्यपि इस अनर्थशतसंकुल वर्तमान देहमें स्थित हम लोग अज्ञानादिसे मोहित हैं, तथापि आत्मतत्त्वको यदि ब्रह्मत्वेन कथञ्चित् जान लेते हैं, तो हम लोग कृतार्थ हो जाते हैं कि हम लोग ब्रह्मको जान गये, न जाना तो महती विनष्टि यानी क्षति होगी । 'वेदनं वेदः स यस्य नास्ति सः अवेदिः' यानी यदि हम अवेदी होंगे तो महान् अनर्थ होगा ।

शङ्का—यदि मैं अवेदी हूँ, तो क्या दोष है ?

समाधान—महती—अपरिमित—विनष्टि यानी अनर्थपरम्परा होगी ॥२८५॥

'ये तद्विदुः' इस श्रुतिके उत्तरार्द्धसे फलितार्थका विस्तार करते हैं—'ये तद्विदुः' इत्यादिसे ।

हम लोग ब्रह्मज्ञानसे पूर्व भी वस्तुतः ब्रह्मस्वरूप ही हैं, तथापि वाक्योत्पन्न तत्त्वज्ञानके अनन्तर ब्रह्म होते हैं, पहले केवल अज्ञान व्यवधायक था, जिससे पृथक् मानते थे । ज्ञानोत्तर व्यवधायक अज्ञानकी निवृत्ति होनेपर ब्रह्मको प्राप्त होते हैं । स्वर्गादिवत् ब्रह्मप्राप्ति अपूर्व नहीं है, 'दशमस्त्वमसि' इत्यादि वाक्योत्पन्न ज्ञानके

गर्भप्रवेशादिरूपा जुगुप्सा नाऽऽत्मवेदिनः ।
इत्येषोऽर्थोऽष्टमश्लोके विस्पष्टमभिधीयते ॥ २८७ ॥

श्रुतिः—यदैतमनु पश्यत्यात्मानं देवमञ्जसा ।
ईशानं भूतभव्यस्य न ततो विजुगुप्सते ॥ १५ ॥

यदैतं दीप्तमात्मानमीश्वरं भूतभव्ययोः ।
श्रुत्या साक्षात्करोत्येष न तदा विजुगुप्सते ॥ २८८ ॥

श्रुतिः—यस्मादर्वाक्संवत्सरोऽहोभिः परिवर्तते ।
तद्देवा ज्योतिषां ज्योतिरायुर्होपासतेऽमृतम् ॥ १६ ॥

अनन्तर प्राप्त ही दशम प्राप्त माना जाता है, अपूर्व नहीं, वैसे ही प्रकृतमें भी समझना चाहिए। संसारदशामें थोड़ा भी सुख नहीं है, किन्तु उसका आभास-मात्र होता है ॥ २८६ ॥

'गर्भ०' इत्यादि। गर्भप्रवेशादिरूपा जुगुप्सा आत्मवेदीको नहीं होती, यह अष्टम श्लोकमें स्पष्टरूपसे श्रुति कहती है ॥ २८७ ॥

'यदैतमनु पश्यति' इत्यादि श्रुति। श्लोकव्याख्यानसे श्रुत्यर्थ स्पष्ट है ॥१५॥

'यदैतम्' इत्यादि। जब भूत और भावीके ईश्वर इस आत्माका, परम कारुणिक किसी आचार्यसे सुन कर उसके प्रसादसे श्रुति द्वारा, स्वयं साक्षात्कार करता है, तब उससे अपनेको विशेषरूपसे छिपानेकी इच्छा नहीं करता। सब मनुष्य प्रभुसे अपनेको छिपाते हैं, इसका कारण भेददर्शन है यानी अपनेको प्रभुसे भिन्न मानते हैं, यह एकत्वदर्शी होनेसे किसीसे भय नहीं रखता, फिर छिपानेकी क्या संभावना? अथवा किसीकी निन्दा नहीं करता, क्योंकि दूसरा कोई है नहीं, यह भाष्यसम्मत अर्थ है ॥ २८८ ॥

'यस्मादर्वाक्' इत्यादि श्रुति।

शङ्का—ईश्वर भी कालसे भिन्न है, वस्तु है और घटके समान कालपरि-च्छिन्न है, फिर कालके प्रति वह ईश्वर कैसे?

समाधान—जिस परमात्माको विषय न करता हुआ संवत्सर स्वावयव अहोरात्रसे कार्यमात्रको विकृत करता रहता है, वह परमात्मा ज्योतियोंकी ज्योति कूटस्थ आयु है, यों देवगण उपासना करते हैं, इसीसे वे आयुष्मान् और ज्योतिष्मान् प्रसिद्ध हैं ॥ १६ ॥

निःशेषविक्रियाहेतुकालातिक्रमहेतुतः ।
देवैरुपास्य इत्येतन्नवमे श्लोक उच्यते ॥ २८९ ॥
कालो यस्माद्ब्रह्मणोऽर्वागविद्याकल्पितत्वतः ।
तद्ब्रह्मोपासते देवाः स्वाभीष्टफलसिद्धये ॥ २९० ॥
ज्योतिषामपि तज्ज्योतिरादित्याद्यवशासनात् ।
आयुर्जीवनहेतुत्वादमृतं मृतिवर्जनात् ॥ २९१ ॥

'निःशेष०' इत्यादि । उक्त आत्मा सकल विकारोंके हेतु कालका अतिक्रमण करता है, अतएव देवता उसकी उपासना करते हैं, यह नवम श्लोकमें कहा जाता है ॥ २८९ ॥

'कालो यस्मा०' इत्यादि । अपने अपने अभीष्ट अर्थकी सिद्धिके लिए देवगण उस ब्रह्मकी उपासना करते हैं । अविद्याकल्पित काल ब्रह्मातिरिक्त वस्तु-विषयक है यानी ब्रह्मको विषय नहीं करता इस कारण ब्रह्ममें कालनिमित्तक अन्यथाभाव नहीं होता है । अतएव श्रुतिमें आत्मा कालञ्जर कहा गया है । कालका जारण यानी क्षय करनेसे आत्मा कालञ्जर माना गया है, अतएव—

कालः पचति भूतानि सर्वाण्येव सताऽऽत्मना ।
कालः पक्वो यमन्वेति यस्तं वेद स वेदवित् ॥
कालः स पच्यते यत्र न कालस्तत्र वै प्रभुः ।
कालस्यैव च मृत्योश्च जङ्गमस्थावरस्य च ॥
ईशते भगवानेकः सत्यमेतद् ब्रवीमि ते ।

मोक्षधर्ममें भी कहा है—

आहृत्य सर्वसंकल्पान् सत्त्वे चित्तं निवेशयेत ।
सत्त्वे चित्तं समावेश्य ततः कालञ्जरो भवेत् ॥' इति

अर्थ अतिस्पष्ट है ॥ २९० ॥

'ज्योतिषामपि' इत्यादि ।

शङ्का—परमात्मा ज्योतियोंकी ज्योति क्यों है ?

समाधान—'तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति' इत्यादि श्रुतिसे यह सिद्ध है कि ब्रह्मज्योतिसे ही आदित्यादि ज्योतिका प्रकाश होता है, 'येनेजसेद्धः सूर्यस्तपति' इत्यादि वाक्योंका यही अर्थ सुस्फुट होता है ।

चेतनाचेतनाधार आत्माऽस्य ब्रह्मतोचिता ।
इति स्फुटतरं श्लोके दशमे समुदीर्यते ॥ २९२ ॥

श्रुतिः—यस्मिन्पञ्च पञ्चजना आकाशश्च प्रतिष्ठितः ।
तमेव मन्य आत्मानं विद्वान् ब्रह्मामृतोऽमृतम् ॥ १७ ॥

आत्मा पञ्चजनाख्यानां पञ्चानामाश्रयस्तथा ।
आकाशस्य तमात्मानं वेद्मि ब्रह्म तथा श्रुतेः ॥ २९३ ॥

गन्धर्वाः पितरो देवा रक्षोभिश्च सहाऽसुराः ।
ज्ञेयाः पञ्चजनास्तैश्च चेतनं लक्ष्यतेऽखिलम् ॥ २९४ ॥

शङ्का—यदि ब्रह्मको सबकी आयु मानते हो, तो प्रत्येक प्राणीकी आयुके अन्यथा अन्यथा होनेसे ब्रह्म भी कूटस्थ नहीं हो सकता, फिर कालनिमित्तक अन्यथाभाव ब्रह्ममें नहीं होता, इस व्यवस्थासे क्या लाभ ?

समाधान—भावाभावात्मक कार्यकारणरूप संसारकी आयु स्वतःसिद्ध परमात्मा ही है, क्योंकि जड़ होनेसे प्रपञ्चमें स्वतःसत्ता और स्फूर्त्तिकी सम्भावना नहीं है, अतः परमात्मा ही उसका स्वरूप है यानी जीवनहेतु है और वह मृतिरहित होनेसे अमृत है ॥ २९१ ॥

'चेतनाचेतना०' इत्यादि । चेतन और अचेतन दोनों प्रकारके निखिल प्रपञ्चका आधार आत्मा है, अतः उसमें ब्रह्मत्व मानना उचित ही है, यही दशम श्लोकमें कहा जाता है ॥ २९२ ॥

'यस्मिन् पञ्च पञ्चजना' इत्यादि श्रुति । नीचेके श्लोकोंके व्याख्यानसे श्रुत्यर्थ स्पष्ट है ॥ १७ ॥

'आत्मा पञ्चजना०' इत्यादि । पाँच पञ्चजन तथा आकाश—इनका आश्रय आत्मा है । श्रुतिके अनुसार उसी आत्माको ब्रह्म मानते हैं ॥ २९३ ॥

'गन्धर्वाः' इत्यादि । गन्धर्व, पितर, देव, रक्षोगण तथा असुर—ये पांच पञ्चजन कहे जाते हैं । ये पांच तथा आकाश—यों छः पदार्थ जिसमें प्रतिष्ठित हैं, वही आत्मा ब्रह्म है ।

शङ्का—'प्राणादयो वाक्यशेषात्' इस वेदान्तसूत्रसे प्राणादि पाँच पञ्चजन कहे गये हैं, इससे प्रकृतार्थमें विरोध होता है ।

समाधान—'प्राणस्य प्राणम्' इत्यादि वाक्यशेषमें माध्यन्दिनशाखामें अन्नका

लक्ष्यते च तथाऽऽकाशशब्देन निखिलं जडम् ।
जडाजडाधार आत्मा तस्मिन् सर्वस्य कल्पनात् ॥ २९५ ॥
जडाजडे सात्मके हि नो चेच्छून्यत्वमापतेत् ।
एतमाधारमात्मानममृतं ब्रह्म वेद्म्यहम् ॥ २९६ ॥
तदा विद्वान् ब्रह्म भूत्वा ब्रह्मत्वादमृतोऽभवम् ।
मरणं ब्रह्मणः क्वाऽपि नैव संभावितं श्रुतौ ॥ २९७ ॥
प्राणादिसङ्घ आत्मा स्यादेतस्य ब्रह्मता कथम् ।
इत्याशङ्क्योत्तरं श्लोके ह्येकादश उदीर्यते ॥ २९८ ॥

पाठ है, काण्वमें अन्नका पाठ नहीं है, इस पक्षमें पञ्चत्वसंख्याकी पूर्ति 'ज्योतिषां ज्योतिः' इस पाठके अनुसार ज्योतिका ग्रहण कर करनी चाहिए । इस प्रकार इस पक्षमें भी उक्त संख्यापूर्ति ठीक हो जाती है । वस्तुतः पञ्चजनशब्द जगन्मात्रका उपलक्षण है, क्योंकि सबका आश्रय चेतन ब्रह्म ही है, अतः पूर्वोक्त विरोध नहीं है ॥ २९४ ॥

'लक्ष्यते च' इत्यादि । तथा आकाशशब्दकी लक्षणा निखिल जड़में है । उभय-लक्षणासे फलित अर्थ कहते हैं—'जडाजडा०' इत्यादिसे । आत्मा जड़ाजड़भेदसे भिन्न निखिल जगत्का आधार है, क्योंकि आत्मामें ही सबकी कल्पना है ॥ २९५ ॥

आत्मा ही सब कल्पनाओंका आधार है, इसको सिद्ध करते हैं—**'जडाजडे'** इत्यादिसे ।

यदि जडाजडका अधिष्ठान आत्मा न माना जाय, तो जगत् शून्य ही हो जायगा, अधिष्ठानशून्य भ्रम होता नहीं, अतः मैं सर्वाधार इस आत्माको ही ब्रह्म जानता हूँ ॥ २९६ ॥

'तदा विद्वान्' इत्यादि । मन्त्रद्रष्टाका वचन है कि उस समय विद्वान् ब्रह्म होकर 'अमृतोऽभवम्' (मैं अमृत हो गया), ऐसा अनुभव करता है, कारण ब्रह्मका मरण (विनाश) श्रुतिमें कहीं नहीं है ॥ २९७ ॥

'प्राणादिसङ्घ०' इत्यादि ।

शङ्का—प्राण आदिका संघ ही आत्मा है, अतः वह ब्रह्म कैसे हो सकता है ? ब्रह्म निर्विशेष अतएव अद्वैत है, सङ्घ समुदायात्मक होनेसे सद्वितीय होता है ।

समाधान—ठीक है, इसका उत्तर एकादश श्लोकमें है ॥ २९८ ॥

श्रुतिः—प्राणस्य प्राणमुत चक्षुषश्चक्षुरुत श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो ये मनो विदुः । ते निचिक्युर्ब्रह्म पुराणमग्र्यम् ॥ १८ ॥

प्राणादिसङ्घो नैवाऽऽत्मा किन्तु सङ्घोपलक्षितः ।
इत्यभिज्ञा ब्रह्मतां तु निश्चिन्वन्त्यात्मनो दृढम् ॥ २९९ ॥
आत्मन्यारोपिताः सन्ति चक्षुःप्राणादिशक्तयः ।
नामैकमेव सम्बन्धाच्छक्तेराधारशक्तयोः ॥ ३०० ॥
प्राणशक्तेराश्रयत्वादात्मा प्राण उदीरितः ।
तया शक्त्योत्पादितत्वाद्वायुश्च प्राणनामकः ॥ ३०१ ॥

'प्राणस्य प्राण०' इत्यादि श्रुति । श्लोकव्याख्यानसे श्रुत्यर्थ स्पष्ट है ॥ १८ ॥

'प्राणादि०' इत्यादि । प्राणादि-संघ आत्मा नहीं है, किन्तु उससे उपलक्षित चैतन्यस्वरूप आत्मा है, यों आत्मा और अनात्माके विवेकमें कुशल ज्ञानी पुरुष आत्माकी ब्रह्मरूपताका दृढ़रूपसे निश्चय करते हैं ॥ २९९ ॥

'आत्मन्यारोपिताः' इत्यादि । चक्षु, प्राण आदि शक्तियाँ आत्मामें आरोपित रहती हैं, चक्षु आदि कार्योंकी अन्यथानुपपत्तिरूप अर्थापत्तिप्रमाणसे कल्पित शक्तिका आधार आत्मा और शक्त प्राण—इन दोनोंका प्राणशक्तिसम्बन्धत्व अविशिष्ट (समान) होनेसे आत्माका भी प्राणशब्दसे व्यवहार होता है ।

शङ्का—जैसे आत्मामें चैतन्य स्वाभाविक है, वैसे ही आप प्राणमें प्राणत्वको स्वाभाविक क्यों नहीं मानते ? शक्तिसम्बन्धप्रयुक्त क्यों मानते हैं ?

समाधान—अनात्मपदार्थ जड हैं, अतः उन्हें स्वतःसिद्ध नहीं कह सकते, किन्तु स्वतःसिद्ध पदार्थ द्वारा ही वे सिद्ध होते हैं । स्वतःसिद्ध पदार्थ आत्मा ही है, उससे अतिरिक्त स्वतःसिद्ध पदार्थ नहीं है ।

शङ्का—आत्मा भी विषयज्ञानाश्रयत्वरूपसे सिद्ध होता है, इसलिए दोनोंमें सापेक्षत्व तुल्य है ।

समाधान—ऐसा माननेमें आत्माश्रयादि दोष होगा, इसलिए अनात्म-सम्बन्ध आत्मामें कल्पित ही है, परमार्थ सत् नहीं है ॥ ३०० ॥

उक्त अर्थका ही स्पष्टीकरण करते हैं—'प्राणशक्ते०' इत्यादिसे ।

प्राणशक्तिका आश्रय होनेसे आत्मा प्राण कहा जाता है, उस शक्तिसे उत्पादित होनेके कारण वायु भी प्राणशब्दार्थ है ॥ ३०१ ॥

न्यायः सर्वत्र योज्योऽसौ चक्षुरादिषु नामसु ।
अतस्तैर्नामभिः सर्वैरेक आत्माऽभिधीयते ॥ ३०२ ॥
प्रसिद्धचक्षुःप्राणादेर्य आत्मा मूलकारणम् ।
प्राणादिनामकं तं ये विदुस्ते ब्रह्मवेदिनः ॥ ३०३ ॥
आदिहीनत्वतो ब्रह्म पुराणमिति गीयते ।
अग्र्यं श्रेष्ठं भवेदेतन्नीचजीवत्ववर्जनात् ॥ ३०४ ॥
तस्याऽस्य दर्शनोपायः कः स्यादित्यभिचोदितः ।
श्लोकेन द्वादशेनाऽऽह मनसैवेति निर्णयम् ॥ ३०५ ॥

श्रुतिः—मनसैवानुद्रष्टव्यं नेह नानाऽस्ति किञ्चन ।
मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति ॥ १९ ॥

आत्मानात्मपदार्थेषु विज्ञानोत्पत्तिसाधनम् ।
मनः साधारणं दृष्टं सर्वज्ञानैकहेतुतः ॥ ३०६ ॥

'न्यायः' इत्यादि । चक्षु आदि नाममें भी इसी न्यायकी योजना करनी चाहिए । अर्थात् चक्षु आदि शब्द भी प्राणशब्दके समान आत्माके वाची हैं, इससे यह फलित अर्थ सिद्ध होता है कि सब नाम आत्माके ही वाचक हैं ॥ ३०२ ॥

'प्रसिद्धचक्षुः०' इत्यादि । प्रसिद्ध चक्षु, प्राण आदिका जो मूल कारण है, जिसके कि प्राण, चक्षु आदि नाम कहे गये हैं, उसको जो जानते हैं, वे ही ब्रह्मवेत्ता कहलाते हैं ॥ ३०३ ॥

'आदिहीन०' इत्यादि। ब्रह्मका आदि नहीं है, इसलिए वह पुराण कहा जाता है । निकृष्ट जीवत्व उसमें न होनेसे वह अग्र्य और श्रेष्ठ माना जाता है ॥ ३०४ ॥

पदार्थज्ञान वाक्यार्थज्ञानका उपयोगी होता है, यह कह कर उपायान्तर-जिज्ञासापूर्वक मन्त्रान्तरका अवतरण करते हैं—'तस्याऽस्य' इत्यादिसे ।

श्रवण आदिसे संस्कृत मन ब्रह्मज्ञानका साधन है, क्योंकि पूर्वप्रकृत आत्माके दर्शनका उपाय क्या है ? यह पूछनेपर बारहवें श्लोकसे मनसे ही वह देखा जाता है, यह निर्णय किया गया है ॥ ३०५ ॥

'मनसैवानुद्रष्टव्यम्' इत्यादि श्रुति । श्लोकोंके व्याख्यानसे ही श्रुत्यर्थ गतार्थ है ॥ १९ ॥

'आत्मानात्म०' इत्यादि । आत्मज्ञानका साधन मन है, यह हमको

प्रत्यक्चिदाकृतिस्तस्य नित्या व्योमाकृतिर्घटे ।
यथा तथाऽन्यनैराश्यादात्मत्वात् सन्निधेः सदा ॥ ३०७ ॥
धर्माधर्माद्यपेक्षत्वादन्यत्वाद् व्यवधानतः ।
शब्दाद्याकारता तस्य कादाचित्की न सर्वदा ॥ ३०८ ॥

विशेष यत्नसे सिद्ध करना नहीं है, करण कि सब ज्ञानोंका कारण मन है, यह सर्वतन्त्रसिद्धान्त है । अतः आत्मा और अनात्मपदार्थोंमें विज्ञानोत्पत्तिका साधन मन है ।

शङ्का—क्या विषयेन्द्रियसन्निकर्षादिको कारण नहीं मानते ?

समाधान—मानते क्यों नहीं है ? अनात्मपदार्थोंमें ज्ञानोत्पत्तिके साधनोंमें अन्यतम कारण मन है ॥ ३०६ ॥

'प्रत्यक्चिदा०' इत्यादि ।

शङ्का—यदि मन अनात्मज्ञानके समान आत्मज्ञानमें भी कारण माना जाय, तो घटादिके समान आत्मामें जाड्यापत्ति हो जायगी ।

समाधान—जबतक घट रहता है, तबतक जैसे उसमें आकाशका सम्बन्ध माना जाता है, वैसे ही जबतक बुद्धिवृत्ति रहती है, तबतक उसमें आत्माकारता स्वभावतः रहती है । उसके लिए अन्य धर्म आदिकी अपेक्षा नहीं है, अतएव उक्त वृत्तिके साथ आत्माकी सदा सन्निधि रहती है, अतः मन आत्मज्ञानका घटादिज्ञानकी तरह साधन नहीं है, इसलिए आत्मामें जड़त्वकी आपत्ति नहीं है ॥ ३०७ ॥

'धर्माधर्मा०' इत्यादि ।

शङ्का—बुद्धिवृत्तिमें जैसे आत्माकारता स्वतःसिद्ध है, वैसे ही अनात्माकारता भी क्यों नहीं मानते ?

समाधान—दोनों वृत्तियां विलक्षण हैं, मनमें शब्दाद्याकारता नित्य नहीं है ।

शङ्का—क्यों ?

समाधान—शब्दादिविषयक वृत्तियां धर्माधर्मसापेक्ष हैं, अनात्मस्वरूप शब्द आदिका मनमें सर्वदा सन्निधान नहीं रहता, इससे अनात्माकारता नित्य नहीं है ।

शङ्का—यदि आत्माकारता मनमें नित्य है, तो नित्य ही आत्मस्फूर्त्ति होती रहेगी, फिर आत्माज्ञानका अवस्थान ही नहीं हो सकेगा, क्योंकि आत्मस्फूर्त्तिव्याप्त मनोवृत्तिसे अज्ञाननिवृत्ति ही रहेगी ।

समाधान—अनात्माकारधीवृत्तिभावाभाव यद्यपि आत्मचैतन्यव्याप्त है,

सिद्धेऽप्यस्य चिदाकारे ब्रह्माकारः पुनर्गुरोः ।
शास्त्राच्चेति श्रुतिर्ब्रूते अनुद्रष्टव्यमित्यसौ ॥ ३०९ ॥
श्रोत्राद्यपेक्षा शब्दादौ नाऽऽत्मनीति विवक्षया ।
मनसैवेति वक्त्येषा बाह्येन्द्रियनिवृत्तये ॥ ३१० ॥

तथापि अद्वयप्रत्यङ्मात्रात्माकार तत्त्वमादिवाक्यजन्य बुद्धिवृत्ति ही अविद्याकी निवर्त्तिका है। वृत्त्यन्तर चिदाकार होनेपर भी आकारान्तरोपहित होनेसे उक्त वृत्तिकी निवर्तिका नहीं होती, अतः प्रत्यगात्मनिष्ठ अज्ञान सर्वानुभवसिद्ध है, इसका अपलाप नहीं हो सकता ।

शङ्का—प्रत्यगात्मामें अज्ञान मानते हो, तो मानो, पर प्रश्न यह है कि वह निवृत्त होता है अथवा नहीं ? उत्तर पक्षमें अनिर्मोक्षापत्ति दोष होगा । प्रथम पक्षमें उसका निवर्तक है या नहीं ? यदि नहीं है, तो उसकी कभी भी निवृत्ति नहीं होगी । यदि है तो कर्म है अथवा ज्ञान ? प्रथम पक्ष अस्वीकारपराहत है । द्वितीय पक्षमें स्वयं ज्ञान है अथवा ज्ञानान्तर ? प्रथम पक्षमें सदा निवृत्ति या अनिवृत्ति ही होगी; कादाचित्क निवृत्ति, जो इष्ट है, नहीं होगी और श्रवणादि भी व्यर्थ हो जायँगे । ज्ञानान्तरपक्षमें उसे जड़ मानते हो या अजड़ ? प्रथम पक्षमें अजड़त्वाविशेषसे अज्ञानका निवर्तक नहीं हो सकता । द्वितीय पक्षमें आत्मासे अतिरिक्त मानोगे तो अपसिद्धान्त हो जायगा । यदि आत्मस्वरूप ही मानियेगा, तो आत्मा भी कादाचित्क हो जायगा और स्वरूपज्ञानोक्तपक्षके दोष भी हैं ।

समाधान—यद्यपि नित्यसिद्ध आकाश माना जाता है, तथापि जैसे कूपाकाश यानी कूपावच्छिन्नाकाशकी उत्पत्ति मानी जाती है, अतएव 'कूपाकाश उत्पन्नः' इत्यादि व्यवहार होता है, वैसे ही यद्यपि प्रत्यगात्मस्वरूप बोध भी सदा लब्धात्मक है, तथापि शास्त्राचार्यबलसे 'मैं ब्रह्म हूँ' इस बुद्धिवृत्तिकी उत्पत्तिके अनन्तर तदुपहितमें भी उत्पत्तिका व्यवहार होता है ॥ ३०८ ॥

'सिद्धेऽप्यस्य' इत्यादि । चिदाकार यद्यपि सिद्ध है, तथापि ब्रह्माकारता—'अहं ब्रह्मास्मि' इत्याकारता—गुरुशास्त्रोपदेशसे ही होती है, इसी तात्पर्यसे श्रुति स्वयं कहती है, अनु—पश्चाद्— यानी गुरु आदिके उपदेशके अनन्तर ब्रह्मको देखता है ॥ ३०९ ॥

'श्रोत्राद्यपेक्षा' इत्यादि । 'मनसैव' इत्यादि श्रुतिस्थ एवकारका प्रयोजन

नेह नानेति हेतूक्तिर्द्वैतं शब्दादिकं नहि ।
ब्रह्मात्मनि ततो ग्राह्यमिन्द्रियं नोपयुज्यते ॥ ३११ ॥
मा भूच्छब्दादिकं द्रष्टृद्रष्टव्यात्मभिदाऽस्ति हि ।
द्रष्टव्यं ब्रह्म जीवेनेत्येतन्मतमपोह्यते ॥ ३१२ ॥
यः पश्यति ब्रह्म भिन्नमिव स्वस्मादसौ पुमान् ।
बहुयोनिषु जातः सन्मृत्योर्मृत्युमवाप्नुयात् ॥ ३१३ ॥
भ्रान्तो जीवेशयोर्भेदः कल्पितोऽसौ न वास्तवः ।
इत्येतत्प्रतिपत्त्यर्थमिवशब्दः प्रयुज्यते ॥ ३१४ ॥

शब्दादिप्रत्यक्षकी व्यावृत्ति कहते हैं । शब्दादिप्रत्यक्षमें भी मन कारण है, परन्तु केवल मन ही नहीं है, किन्तु श्रोत्रादि भी कारण है, आत्मप्रत्यक्षमें मन ही केवल कारण है, श्रोत्रादि नहीं, इस प्रकार सूचनके लिए एवकार है ॥ ३१० ॥

द्वैत शब्दादि नहीं है, इसमें कारण कहते हैं—**'नेह नानेति'** इत्यादिसे ।

'नेह नानास्ति किञ्चन' इत्यादि श्रुतिसे ब्रह्मव्यतिरिक्त शब्दादिका स्पष्ट प्रतिषेध होनेसे ब्रह्मदर्शनमें बाह्य श्रोत्रेन्द्रियादिकी अपेक्षा नहीं है, केवल मनकी ही अपेक्षा है ॥ ३११ ॥

'मा भूच्छब्दादिकम्' इत्यादि । अद्वैतसिद्धान्तके अनुसार दर्शनयोग्य शब्दादि विषय नहीं हैं, यह ठीक है, पर द्रष्टा और द्रष्टव्यका भेद तो आवश्यक है । द्रष्टा जीव है और द्रष्टव्य ब्रह्म है, जीव ब्रह्मको देखता है, फिर आत्मैकत्व-विज्ञानका कैसे समर्थन कर सकते हो? इस प्रकार भेदवादीके मतका खण्डन करते हैं ॥ ३१२ ॥

'यः पश्यति' इत्यादि । जो पुरुष अपनेसे भिन्नसम ब्रह्मको देखता है, वह अनेक योनियोंमें उत्पन्न होकर मृत्युसे मृत्युको प्राप्त होता है यानी मृत्युयन्त्रमें ही भ्रमण करता रहता है, मोक्ष नहीं पा सकता । भाव यह है कि मृत्यु हिरण्यगर्भ है, हिरण्यगर्भके कार्य उन्हींमें लीन होते हैं, हिरण्यगर्भका भी मृत्यु वह है, जिससे हिरण्यगर्भका आविर्भाव हुआ है । मिथ्यादर्शनदोषी मृत्यु यानी मिथ्यादर्शन-कारणको ही प्राप्त होता है, ब्रह्मको नहीं । तत्त्वज्ञानोत्पत्तिसे पहले नानात्वमति होती है, अनन्तर अज्ञानका बाध होनेसे 'नाना इव' ऐसी मति होती है ॥ ३१३ ॥

'भ्रान्तौ' इत्यादि । भ्रान्तिदशामें जीवेश्वरभेद कल्पित है, वास्तविक नहीं है,

अत्यन्तभेदाभावेऽपि भेदाभेदौ तयोरिति ।
मतं वारयितुं श्लोकस्त्रयोदश इहोच्यते ॥ ३१५ ॥

श्रुतिः- एकधैवानुद्रष्टव्यमेतदप्रमयं ध्रुवम् ।
विरजः पर आकाशादज आत्मा महान् ध्रुवः ॥ २० ॥

एकेनैव प्रकारेण भास्वच्चिन्मात्ररूपिणा ।
अनुद्रष्टव्यमत्रैषा समस्तव्यस्तता नहि ॥ ३१६ ॥
ब्रह्मात्मनोर्लक्षणैक्याद् भेदलेशोऽपि नेष्यते ।
ध्रुवं तद् ब्रह्मणो रूपमात्माऽप्येषः ध्रुवस्तथा ॥ ३१७ ॥
ध्रुवत्वं निर्विकारत्वं तच्चाऽऽत्मब्रह्मणोः समम् ।
प्रत्यग्बोधत्वमात्मत्वं ब्रह्मत्वं सर्वहेतुता ॥ ३१८ ॥

इसकी प्रतिपत्तिके लिए 'इव' शब्दका प्रयोग श्रुतिमें आया है ॥ ३१४ ॥

'अत्यन्तभेदा०' इत्यादि । जीव और ब्रह्मका अत्यन्त भेद न सही, पर भेदा-भेदको, उभयविध श्रुतियोंके अनुसार, अवश्य मानना चाहिए, ऐसा भेदाभेदवादी कहते हैं, उनका निराकरण करनेके लिए तेरहवाँ श्लोक यहाँ कहा जाता है ॥ ३१५ ॥

'एकधेवाऽनुद्रष्टव्यम्' इत्यादि श्रुति । श्लोकव्याख्यानसे श्रुत्यर्थ स्पष्ट है ।

'एकेनैव' इत्यादि । एक ही प्रकारसे ब्रह्मका दर्शन इष्ट है ।

शङ्का—किस प्रकारसे ?

समाधान—भासमान चिन्मात्रसे एवकारका व्यावर्त्य भेदाभेदप्रकार है, उभयथा ब्रह्मदर्शन मुमुक्षुओंके लिए इष्ट नहीं है, इस अभिप्रायसे कहते हैं । समुदायात्मना अभेद है और व्यष्ट्यात्मना भेद है, उभयथा अनुद्रष्टव्यका यहाँ निषेध है ॥ ३१६ ॥

'ब्रह्मात्मनो०' इत्यादि । ब्रह्म और आत्माका एक ही लक्षण है, इसलिए दोनोंका परस्पर भेद नहीं हो सकता ।

शङ्का—एक लक्षण क्या है ?

समाधान—ध्रुवत्व, ब्रह्म ध्रुव है, आत्मा भी ध्रुव है ॥ ३१७ ॥

'ध्रुवत्वम्' इत्यादि । ध्रुवत्व प्रकृतमें निर्विकारत्व विवक्षित है । सो आत्मा और ब्रह्ममें समान है ।

शङ्का—उक्त लक्षण समान होनेपर भी दोनोंमें वैलक्षण्य है ।

व्यवहारस्तु मोहोत्थो न तावन्मात्रहेतुकः ।
वस्त्वेकमेव तेनैतदेकधैवाऽवगम्यताम् ॥ ३१९ ॥
अप्रमेयं ब्रह्म तस्मान्मातृमेयभिदाऽपि न ।
प्रमेयं स्फुरणाधारो ब्रह्म तु स्फूर्तिरेव हि ॥ ३२० ॥

प्रश्न—कैसे ?

उत्तर—अहंप्रत्ययवेद्यत्व आत्मामें है और जगत्कारणत्व ब्रह्ममें है, ऐसा व्यवहार लोकमें प्रसिद्ध है, इस रूपसे उनमें वैलक्षण्य है ही ।

समाधान—ठीक है, पर यह व्यवहार कल्पित है, अतः वास्तविक वैलक्षण्य नहीं है ॥ ३१८ ॥

'व्यवहारस्तु' इत्यादि । वस्तु एक ही है, इसलिए ब्रह्मको एक ही प्रकारसे देखना वास्तविक देखना है । पूर्वोक्त व्यवहार मोहजनित है, वास्तविक नहीं है । संसारदशामें अज्ञानकल्पित नाना व्यवहार होते हैं । विद्यादशामें अज्ञानकी निवृत्तिके साथ कल्पित धर्मोंकी निवृत्ति होनेसे शुद्ध ब्रह्मका एक ही सद्रूपसे व्यवहार होता है, यह निष्कर्ष है ॥ ३१९ ॥

'अप्रमेयम्' इत्यादि ।

शङ्का—'एकधैवानुद्रष्टव्यम्' इस वाक्यमें विरोध प्रतीत होता है । जब एक ही ब्रह्म है, तब द्रष्टा, द्रष्टव्य आदिका भेद भी नहीं है, फिर कौन किसको देखेगा ? यदि द्रष्टा, द्रष्टव्य आदिका भेद है, तो एक ही ब्रह्म कैसे होगा ? ब्रह्मको 'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह' इत्यादि श्रुतिसे अप्रमेय कहते हैं । यदि वस्तुतः अप्रमेय ही ब्रह्म है, तो वह वेदान्त आदि प्रमाणसे प्रमेय कैसे हो सकता है ? यदि प्रमाणसे प्रमित होता है, तो अप्रमेय कैसे होगा ?

समाधान—इसका परिहार अनेक बार कर चुके हैं, अतः उसीका पुनः स्मरण कराते हैं—स्फुरणाधार यानी स्फुरणका विषय प्रमेय कहा जाता है, ब्रह्म तो स्वयं स्फुरणस्वरूप ही है । प्रमाता आदिका स्वीकार ऐकात्म्यका प्रतिबन्धक है; अतः उसका निरास होनेपर उसके ज्ञानमें वास्तविक प्रमाता आदिकी अपेक्षा नहीं होती, अतः एकधा द्रष्टव्य कहा गया है ॥ ३२० ॥

ब्रह्मैतदप्रमेयं चेत् कथं द्रष्टव्यता भवेत् ।
वृत्तिव्याप्यत्वमात्रेण द्रष्टव्यं समधिगच्छति ॥ ३२१ ॥
व्याप्यो वृत्तिफलाभ्यां यः प्रमेयः स घटो भवेत् ।
ब्रह्माऽमेयं फलाभावाद् द्रष्टव्यं वृत्तिसत्त्वतः ॥ ३२२ ॥

'ब्रह्मैतद०' इत्यादि ।

शङ्का—यदि ब्रह्म अप्रमेय है, तो वह द्रष्टव्य कैसे हो सकता है ? दर्शन-विषय द्रष्टव्य कहा जाता है ।

समाधान—दर्शनविषय दो प्रकारका होता है ? एक वृत्तिव्याप्य और दूसरा फलव्याप्य ? वृत्तिव्याप्यत्वके तात्पर्यसे द्रष्टव्य कहा जाता है, अतएव शास्त्र-कारोंने कहा है—

'फलव्याप्यत्वमेवाऽस्य शास्त्रकृद्भिर्निरासितम् ।
ब्रह्मण्यज्ञाननाशाय वृत्तिव्याप्यत्वमिष्यते ॥'

शास्त्रज्ञोंने फलव्याप्यत्वरूप द्रष्टव्यत्वका ही ब्रह्ममें प्रतिषेध किया है, परन्तु ब्रह्माज्ञानके नाशके लिए वृत्तिव्याप्यत्वरूप द्रष्टव्यत्व ब्रह्ममें माना जाता है ॥३२१॥

'व्याप्यो' इत्यादि । जो वृत्ति और फल दोनोंसे व्याप्य होता है, वह प्रमेय है, जैसे घटादि । ब्रह्ममें फलाभाव है, अतः वह अप्रमेय है । वृत्तिसत्तासे द्रष्टव्य ब्रह्म कहा गया है । भाव यह है कि जिस अन्तःकरण-वृत्तिसे विषयावारक अज्ञानका ध्वंस होता है, उस वृत्तिके विषय घटादि प्रमेय माने जाते हैं और जो वृत्ति स्वविषयाज्ञाननाशक नहीं है, किन्तु तद्विषयकमात्र होती है, उसका विषय वृत्तिव्याप्य कहलाता है । मतभेदसे विषयचैतन्याभिव्यक्ति अथवा विषयावारकाज्ञाननाश उसका फल है । उक्तफल-व्याप्यत्व अचेतन घटादिमें ही रह सकता है । ब्रह्म सदा अभिव्यक्तचैतन्यात्मक होनेसे फलव्याप्य नहीं हो सकता । जैसे अन्धकारमें प्रदीपालोक घटावारक अन्धकारका निरास कर घटको अभिव्यक्त करता है । वहाँ अन्धकारनिवृत्तिरूप फल होनेसे घट फलव्याप्य कहा जा सकता है । सूर्यालोकसंसृष्ट घटमें भी प्रदीपालोकसंसर्ग होता है, पर अन्धकारनिवृत्ति सौरालोकसे ही हो चुकी है, इसलिए घट केवल प्रदीपालोकवृत्तिव्याप्य है, वैसे ही प्रकृतमें भी समझना चाहिए । विशेष अन्यत्र देख सकते हैं ॥ ३२२ ॥

प्रत्यगज्ञानहेतूत्थो यत्राऽनात्मा प्रसिध्यति ।
ज्ञातृज्ञेयप्रभेदः स्यात्तत्र प्रत्यगनात्मनोः ॥ ३२३ ॥
ऐकात्म्ये कः प्रमाता स्यात् प्रमाणं चाऽत्र किं भवेत् ।
आगमोऽप्यनपेक्ष्यैव भेदमात्मावबोधकः ॥ ३२४ ॥

'प्रत्यगज्ञान०' इत्यादि ।

शङ्का—ब्रह्मको यदि जीवका द्रष्टव्य मानते हो, तो वह आत्मासे भिन्न ही सिद्ध होगा, क्योंकि द्रष्टा और द्रष्टव्यका भेद लोकमें प्रसिद्ध है, जैसे द्रष्टा देवदत्त और द्रष्टव्य घटादि विषय ।

समाधान—ठीक है, अविद्यादशामें भेद कहते हो या विद्यादशामें ? प्रथम पक्षमें तो इष्ट ही है, क्योंकि उस दशामें आत्माके अज्ञानसे जनित अनात्मा घटादि जब प्रकाशित होते हैं, तब आत्मा और अनात्माका भेद मानते ही हैं ॥ ३२३ ॥

द्वितीय पक्षका निराकरण करते हैं—'ऐकात्म्ये' इत्यादिसे ।

ऐकात्म्यपक्षमें प्रमाता कौन है ? कोई नहीं है, प्रमाण क्या है ? कुछ भी नहीं है, इस प्रकार जब प्रमातृ-प्रमाणभाव ही नहीं है, तब भेद किससे किसका कह सकते हो ?

शङ्का—प्रमाण क्यों नहीं है ? आत्मावबोधक आगम प्रमाण तो सब मानते ही हैं ।

समाधान—प्रमाता आदि भेदकी अपेक्षाके बिना ही आत्माका बोधक आगम माना जाता है । 'यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः' यानी यह परमात्मा जिस साधकके ऊपर अनुग्रह करता है कि यह हमको जाने, वही साधक ईश्वरको जान सकता है, दूसरा नहीं ।

शङ्का—यदि आत्मा प्रमाणका विषय नहीं है, तो सप्तम रसादिके समान सिद्ध ही नहीं होगा । 'प्रमाणात् प्रमेयसिद्धिः' यह सर्वसम्मत सिद्धान्त है ।

समाधान—ठीक है, जो प्रमाणसिद्ध माने जाते हैं, वे अनात्मपदार्थ हैं, आत्मा स्वयंसिद्ध है । उसकी सिद्धिके लिए प्रमाणकी आवश्यकता नहीं है। माता, मान और मेय प्रत्यगात्मा ही है, उससे अतिरिक्त नहीं है, अतः आत्मा किसीका प्रमेय नहीं है ।

आपीतकरणग्रामः पुमान् यद्वत्सुपुप्तिगः ।
शब्दान्निद्रामपास्याऽथ यथावस्त्ववबुध्यते ॥ ३२५ ॥
अगृहीत्वैव सम्बन्धमभिधानाभिधेययोः ।
हित्वा निद्रां प्रबुद्ध्यन्ते यथेहाऽपि तथाऽऽत्मनि ॥ ३२६ ॥
शब्दशक्तेरचिन्त्यत्वादात्मत्वाद्बोधरूपतः ।
हित्वा निद्रामिवाऽविद्यामागमाद् बुध्यते पुमान् ॥ ३२७ ॥

शङ्का—यदि ज्ञान और अज्ञानध्वंसमें पूर्वापरका निश्चय नहीं है, तो अज्ञानध्वंस मानका फल है, यह निश्चय ही कैसे होगा ?

समाधान—आत्मप्रमा और उसका फल अज्ञानध्वंस—ये दोनों हेतुफल-भावेन प्रसिद्ध हैं, अतः उनमें पौर्वापर्यका प्रश्न ही विफल है। क्रियाओंमें ही कौन पूर्व है और कौन पर है ? यह प्रश्न होता है ॥ ३२४ ॥

शङ्का—आत्मविपयक आगमजन्य प्रमा ही नहीं हो सकती ।

प्रश्न—क्यों ?

उत्तर—जाति आदि धर्मोंसे विशिष्ट वस्तुमें शक्तिका ग्रहण होनेसे शब्द विशिष्टका ही बोधक माना जाता है। आत्मा तो निर्विशेष है, अतः उसमें शक्तिग्रह न होनेसे शब्द उसका बोधक ही नहीं हो सकता, फिर प्रमा और उसके फलके पौर्वापर्यकी क्या कथा ?

समाधान—अज्ञातशक्तिक शब्द भी अर्थबोधक होता है, इसमें दृष्टान्त कहते हैं—'आपीत०' इत्यादिसे ।

करण यानी इन्द्रियसमुदायका लयकर आत्मा सोता है। यदि कोई कार्यवश शब्दादि द्वारा उसे जगाता है, तो वह निद्राका त्यागकर यथार्थरूपसे जागता है ॥ ३२५ ॥

'अगृहीत्वैव' इत्यादि। सुपुप्त पुरुप शब्दार्थसम्बन्धके ग्रहणके बिना ही निद्राका त्याग कर जागता है। यदि अगृहीतशक्तिक शब्द अर्थावबोधक न होता, तो सुषुप्तित्यागके बिना शब्दार्थसम्बन्धज्ञान नहीं हो सकता और उसके ज्ञानके बिना निद्रा-त्यागका भी संभव नहीं है, ऐसी अवस्थामें निद्रात्याग शब्दादि द्वारा कैसे होता ? ॥ ३२६ ॥

दार्ष्टान्तिकमें उक्त अर्थको स्फुट करते हैं—'शब्दशक्ते०' इत्यादिसे ।

शब्दकी महिमा अचिन्त्य है, वह प्राकृत बुद्धिसे ज्ञात नहीं हो सकती, केवल

धर्माधर्मौ रजो ज्ञेयौ रजोवत्तन्मलत्वतः ।
तदकर्तृत्वतो ब्रह्म विरजोऽकरणत्वतः ॥ ३२८ ॥
असम्यग्ज्ञानयाथात्म्यो जनिमत्प्रकृतित्वतः ।
आत्मैवाऽऽकाशशब्देन श्रुत्येह प्रतिपाद्यते ॥ ३२९ ॥
जनिमत्कारणादात्मा योऽस्थूलादिविशेषणः ।
आकाशात् स परो ज्ञेयस्तस्याऽपूर्वादिरूपतः ॥ ३३० ॥

कार्यानुमेय है । अतीत, अनागत और वर्तमान अर्थका बोधक शब्द देखा जाता है । अतः यह कहना भी ठीक नहीं है कि अज्ञातशक्तिक शब्द अर्थका बोधक नहीं हो सकता । बोध स्फुरणस्वरूप होनेसे बोधककी अपेक्षा भी नहीं करता । घटादि अबोधस्वरूप हैं, अतः उनको बोधककी अपेक्षा होती है । आत्मा स्वयं बोधस्वरूप है, इसलिए उसको बोधककी अपेक्षा नहीं है । आत्मा निद्राका साक्षी है । जैसे शब्दसे निद्राके छूटनेपर पुरुष जागता है, वैसे ही 'तत्त्वमसि' आदि आगमोंसे मोहका त्याग कर पुरुष ज्ञाततत्त्व होता है । निद्राकालमें शब्दार्थसंगतिग्रह न होनेपर भी शब्दादिसे जागता ही है ॥ ३२७ ॥

अप्रमेय वाक्यार्थको कह कर उत्तर वाक्यकी व्याख्या करनेके लिए विरज-शब्दार्थको कहते हैं—**'धर्माधर्मौ'** इत्यादिसे ।

धर्म और अधर्म—ये दोनों रजःशब्दसे यहां विवक्षित हैं । शरीरादिमें रज यानी धूलिके समान ये ही आत्मामें मल हैं । ब्रह्म उक्त धर्माधर्मका कर्ता नहीं है, अतः उससे शून्य है ।

शङ्का—धर्म और अधर्मका कर्ता ब्रह्म क्यों नहीं है ?

समाधान—अकरण यानी इन्द्रियादिशून्य होनेसे ब्रह्ममें कर्तृत्वका सम्भव नहीं है ॥ ३२८ ॥

'असम्यग्०' इत्यादि । जिसे अपनी यथार्थताका परिज्ञान नहीं है ऐसा अज्ञानतादात्म्यापन्न यानी अज्ञानसे उपहित आत्मा जगत्का कारण (प्रकृति) है, अतः श्रुतिने आकाशशब्दसे आत्माका प्रतिपादन किया है ॥ ३२९ ॥

'जनि०' इत्यादि । जगत्कारणीभूत अव्याकृत आकाशकी अपेक्षा अस्थूल आदि विशेषणोंसे विशिष्ट आत्मा पर है, ऐसा समझना चाहिए । अतएव आत्मस्वरूप-निरूपणके अवसरमें श्रुतिने 'अपूर्वमनपरम्' इत्यादि कहा है, उसी स्थलमें इसका अर्थ भी हो चुका है ॥ ३३० ॥

यस्मादेवमतोऽजोऽसावकार्यकारणत्वतः ।
अजत्वादेव निःशेषविकाराणामपाक्रिया ॥ ३३१ ॥
अव्यावृत्तानुगतेर्महानात्मेति भण्यते ।
कौटस्थ्याच्च ध्रुवो नाशविकारादिविवर्जितः ॥ ३३२ ॥

श्रुतिः—तमेव धीरो विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत ब्राह्मणः । नानुध्यायाद् बहून्छब्दान्वाचो विग्लापनं हि तदिति ॥ २१ ॥

बोधादूर्ध्वं च कर्तव्यमस्तीत्याशङ्क्य वार्यते ।
चतुर्दशेन श्लोकेन सङ्ग्रहोऽत्र समाप्यते ॥ ३३३ ॥

'यस्मादेव०' इत्यादि । यतः जन्यमात्रका कारण है, अतः वह अज है यानी स्वयं जन्य नहीं है, अन्यथा जन्यमात्रका कारण ही नहीं हो सकेगा । आत्माश्रयादि दोपसे स्वका कारण स्वयं नहीं होगा, किन्तु कारणान्तर ही कहना पड़ेगा । यदि अन्य कारण होगा, तो जन्यमात्रका कारण आत्मा नहीं होगा । अनवस्थाभयसे मूल कारणको अजन्य ही मानना उचित है । अतएव अकार्यकारण भी माना जाता है, निःशेषविकारात्यन्ताभाव भी आत्मामें माना जाता है । शरीर, इन्द्रिय आदि द्वारा ही विकारकी सम्भावना होती है, अतः इन्द्रियादिशून्यमें विकारकी क्या संभावना है ॥ ३३१ ॥

'अव्यावृत्ता०' इत्यादि । आत्माका अर्थ अव्यावृत्त है यानी जैसे घट, पट आदि परस्पर व्यावृत्त होते हैं, वैसे आत्मा किसीसे व्यावृत्त नहीं होता । 'इदं सर्वं यदयमात्मा' इत्यादि श्रुतिसे, कार्यकारणाभेदन्यायसे तथा एकविज्ञानसे सर्वविज्ञानकी श्रौत प्रतिज्ञासे यह स्पष्ट है कि आत्मा किसीसे व्यावृत्त नहीं होता । अननुगतिसे आत्मामें महत्त्व भी सिद्ध होता है । अमहान् घटादि स्वकारणमें अनुगत रहते हैं, आत्मा महान् होनेसे किसीमें अनुगत नहीं हो सकता, प्रत्युत आत्मव्यतिरिक्त निखिल पदार्थ आत्मामें ही अनुगत हैं । नाश, विकार आदिसे वर्जित होनेके कारण आत्मा कूटस्थ अतएव ध्रुव है ॥ ३३२ ॥

'तमेव धीरो विज्ञाय' इत्यादि श्रुति। श्रुत्यर्थ श्लोकव्याख्यानसे स्पष्ट है ॥२१॥

'बोधा०' इत्यादि । आत्मबोधोत्तर भी क्या कोई कर्तव्य अवशिष्ट रह जाता है ? ऐसी आशङ्का कर उसका चौदहवें श्लोकसे वारण करते हैं । कोई कर्तव्य बाकी नहीं रहता । यहाँपर श्लोकसंग्रह समाप्त हो जाता है ॥ ३३३ ॥

प्रत्यक्तया श्रुतेर्वाक्यात् तमेवोक्तविशेषणम् ।
अन्वयव्यतिरेकाभ्यां विद्यादात्मानमादितः ॥ ३३४ ॥
बुभुत्सोच्छेदिनीं प्रज्ञां सर्वाज्ञाननिरासिनीम् ।
सर्वज्ञेयसमाप्त्यर्थं कुर्याद्वाक्यार्थबोधतः ॥ ३३५ ॥
किं ब्रह्मेति बुभुत्साया निवृत्तौ तु समाप्यते ।
ज्ञातव्योऽर्थस्ततः शब्दचिन्तां सर्वां परित्यजेत् ॥ ३३६ ॥
भर्तृप्रपञ्चस्त्वाहाऽत्र शास्त्रादात्मानमादितः ।
विज्ञाय भावनां ज्ञानसन्तानैः पुनराचरेत् ॥ ३३७ ॥

'प्रत्यक्तया' इत्यादि । प्रत्यकृतया—अजड़रूपसे—अन्वयव्यतिरेक द्वारा और तन्मूलक श्रुतिसे भी पूर्वोक्त विरजस्त्व आदि विशेषणोंसे विशिष्ट आत्माको पहले जानना चाहिए ॥ ३३४ ॥

'बुभुत्सोच्छेदिनीम्' इत्यादि । विद्वान् पूर्वोक्त आत्माको शास्त्र और आचार्यसे समझकर प्रज्ञा करे । जिज्ञासासमाप्तिकरी बुद्धिको प्रज्ञा कहते हैं । प्रज्ञासे प्रकरणसाधन संन्यास, शम, दम, उपरति, तितिक्षा, समाधान आदि करे । पूर्वोक्त रीतिसे पदार्थका शोधन करके वाक्यार्थज्ञानसे सब पदार्थ ज्ञात हो जाते हैं, अतएव अज्ञाननिरास होनेसे आकांक्षाकी शान्ति हो जाती है । अतः वाक्यार्थधीरूप सर्वाकांक्षाविनाशक, परमपुरुषार्थहेतुभूत प्रज्ञाकी 'तत्त्वमसि' आदि वाक्यसे भावना करे ॥ ३३५ ॥

'किं ब्रह्मेति' इत्यादि । कौन ब्रह्म है ? इस बुभुत्साकी निवृत्ति होनेपर ज्ञातव्य अर्थ समाप्त हो जाता है । जब तक ब्रह्मज्ञान नहीं होता, तब तक ज्ञातव्यकी जिज्ञासा होती है । 'एकेन विज्ञातेन सर्वं विज्ञातं भवति' इस न्यायसे ब्रह्मज्ञान होनेपर फिर ज्ञातव्य पदार्थ कोई रहता ही नहीं है, इसलिए ज्ञातव्य समाप्त होनेपर सम्पूर्ण शब्दचिन्ताका त्याग करे ॥ ३३६ ॥

'भर्तृप्रपञ्च०' इत्यादि । 'विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत' इस वाक्यमें विज्ञान और प्रज्ञा—ये दोनों पद समानार्थक हैं, अतः विज्ञान होनेपर ज्ञान करे, यह अर्थ 'कृतस्य करणोपदेशः'के समान व्यर्थ है अथवा अशक्यार्थक है, अतः इसका अर्थान्तर किया गया है । अनुभवागोचर अर्थ शब्द द्वारा बुद्ध्यारूढ होता है । अतः शाब्द परोक्ष ज्ञान 'विज्ञान' पदसे विवक्षित है । परोक्षतया ज्ञात ब्रह्ममें प्रत्यगात्मतादात्म्यसाक्षात्कार जो परोक्षज्ञानाभ्यासके प्रचयसे उत्पन्न होता है, वह

परं तत्त्वं प्रविश्यैवं मनस्यद्वैततां गते ।
विज्ञानं केवलं शुद्धं स्वात्मन्येवाऽत्रतिष्ठते ॥ ३३८ ॥
द्वैताभिधायकान् शब्दान् ध्यानकाले न चिन्तयेत् ।
वाचं ते ग्लापयन्त्येतामेकतत्त्वाभिधायिनीम् ॥ ३३९ ॥

प्रज्ञापदसे विवक्षित है अर्थात् निर्विचिकित्सब्रह्मविषयकशाब्दज्ञानसन्ततिरूप निदिध्यासन द्वारा ब्रह्मविषयक साक्षात्कार करना चाहिए, यह मुमुक्षु पुरुषके प्रयत्नसे साध्य है। अपरोक्ष भ्रम अपरोक्ष ज्ञानसे ही निवृत्त होता है, इसलिए ब्रह्मविषयक परोक्षज्ञान होनेपर भी अपरोक्ष ज्ञानकी आवश्यकता है, यही अर्थ श्रुतिके स्वारस्यसे भी प्रतीत होता है। पहले अनुभवागोचर अर्थ शाब्दज्ञानविषय होता है, वही अभ्यस्यमान होकर फलवान् होता है; इसको मान कर श्रुतिने 'मनसैवानुद्रष्टव्यम्' कहा है ॥ ३३७ ॥

निरन्तर भावनाका फल कहते हैं—**'परं तत्त्वम्'** इत्यादिसे ।

इस भावनासे अद्वैत आत्मामें मन लीन होता है, मनके लीन होनेपर जीवस्वरूप निरतिशयानन्दस्वरूप परमात्मामें तत्स्वरूपमात्रसे अवस्थित होता है ॥ ३३८ ॥

श्लोकके पूर्वार्धका व्याख्यान कर उत्तरार्धका व्याख्यान करते हैं— **'द्वैताभिधायकान्'** इत्यादिसे ।

ध्यानकालमें द्वैताभिधायक शब्दोंकी चिन्ता न करे, जो ऐसा करते हैं, वे समीक्ष्यकारी नहीं हैं, किन्तु एकत्वाभिधायक वाणीका अपव्यय करते हैं। अतएव श्रुत्यन्तरसे यही कहा गया है—'अन्या वाचो विमुञ्चथ' इत्यादि। भाव यह है कि अद्वैतात्मचिन्तनसे मन ब्रह्ममें लीन हो जाता है, जैसे दाह्य काष्ठादिको भस्मकर अग्नि स्वयं आश्रयाभावसे नष्ट हो जाती है, वैसे ही मन समस्त द्वैतको अद्वैतस्वरूपतापन्न बना कर स्वयं भी अद्वैतस्वरूप हो जाता है। मनोलयके अनन्तर परमसुखस्वरूप परब्रह्मरूपावस्था, जो कि विद्वानोंके अनुभवसे सिद्ध है, प्राप्त होती है। योगशास्त्रमें भी उसका निर्वचन है—'सर्ववृत्तिनिरोधे त्वसंप्रज्ञातः समाधिः' इत्यादि। धर्ममेघसमाधि कह कर 'ततः क्लेशकर्मनिवृत्तिः' इत्यादि। अथवा जैसे लोहा भूमिमें गाड़ देनेसे कुछ दिनके बाद भूमिरूप हो जाता है, वैसे ही मनको ब्रह्ममें लगानेसे वह भी ब्रह्मरूप हो जाता है।

नैवं किमत्र विज्ञानं भावना वा विधीयते ।
नाऽऽद्योऽस्य वस्तुतन्त्रत्वात् कर्तृतन्त्रत्ववर्जनात् ॥ ३४० ॥

शङ्का—लोहा तो भूमिका विकार है, अतः वह भूमय हो सकता है। मन तो भौतिक है, अक्षरका विकार नहीं है, वह अक्षरमय कैसे हो सकता है ?

समाधान—यह तो लोकमें प्रसिद्ध ही है कि मन जब जिस भावका अनुचिन्तन करता है, तब तद्भावानुरञ्जित अतएव तन्मय कहलाता है ।

शङ्का—अच्छा, तो मन जैसे तत्-तत् भावोंसे अनुरञ्जित होकर भी कालान्तरमें उनसे विरक्त हो जाता है, वैसे ही प्रकृतमें भी ब्रह्मसे विरक्त हो सकता है ।

समाधान—ठीक है, अन्यत्र अतन्मय होता है, आत्मीभूत मनकी आत्मासे च्युति नहीं हो सकती, क्योंकि उससे अतिरिक्त दूसरा अनुसन्धेय है नहीं । मन विषयान्तरका ग्रहण करके ही पूर्व विषयका त्याग करता है ।

शङ्का—मनका लय भले ही ब्रह्ममें हो, तथापि मुक्ति नहीं हो सकती, कारण कि संसारी जीव तो विद्यमान ही है ।

समाधान—मनका विनाश होनेपर तदुपाधिक विज्ञानात्माका भी नाश हो जाता है यानी मनके साथ ही जीवका भी ब्रह्ममें लय हो जाता है, अतएव 'नेह नानास्ति किञ्चन' इत्यादि श्रुति स्वरसतः संगत होती है ।

शङ्का—मनोलय द्वारा मुमुक्षुको मोक्ष प्राप्त होता है, इसमें कारण क्या है ?

समाधान—मैं ब्रह्म हूँ, यह दृढ मानसप्रत्यय । विषय और विषयवृत्ति—इन दोनोंका लय हो जानेपर अद्वैतज्ञान स्वात्मामें प्रतिष्ठित हो जाता है, अतएव 'एकधैवानुद्रष्टव्यम्' ऐसा कहा गया है ॥ ३३९ ॥

उक्त भर्तृप्रपञ्चमतमें दूषण देनेके लिए विकल्प करते हैं—'**नैवम्**' इत्यादिसे ।

यहाँ पर ज्ञान विधेय है अथवा भावना विधेय है, प्रथम पक्ष युक्त नहीं है, क्योंकि वस्तुतन्त्र होनेसे ज्ञान विधेय नहीं हो सकता । जो ग्रामगमन आदि कर्तृतन्त्र हैं, वे ही विधेय हो सकते हैं । भाव यह है कि 'मनसैवानुद्रष्टव्यम्' इसका अर्थ भर्तृप्रपञ्चमतमें जो 'आत्मज्ञानका साधन मनसे अतिरिक्त दूसरा नहीं है' यह अंश है, वह दूषणीय नहीं है, क्योंकि हमारा भी ऐसा ही मत है । 'तत्त्वमसि' आदि प्रमाणव्यापार जैसा उनके मतमें है, वैसा ही हमको भी मान्य है । पहले

न द्वितीयो ज्ञानमात्रात् कृतकृत्यः पुमान् भवेत्।
निःशेषपुरुषार्थाप्तेः कृत्स्नदुःखौघनिह्नुतेः ॥ ३४१ ॥
अन्ये त्वाहुर्महावाक्यात् संसृष्टं ब्रह्म बुध्यते ।
विज्ञायोर्ध्वमसंसृष्टे प्रज्ञां ब्रह्मणि साधयेत् ॥ ३४२ ॥

शब्दप्रधान व्यापार होता है, यह भी उभयमतसिद्ध है, अतः इसमें भी विवाद नहीं है। आचार्य जब शब्दका उच्चारण करता है, तब वक्ता और श्रोताको शब्द-विषयक श्रावण प्रत्यक्ष समान ही होता है। कर्म, कारक और क्रियामें कर्म ही प्रधान होता है। शब्दकर्मक होनेसे शाब्द प्रत्यक्ष शब्दप्रधान कहा जाता है, उसके बाद शब्दार्थसम्बन्धका स्मरण होता है, उसके बाद शब्दार्थज्ञान होता है। ज्ञानमें शब्द गुण हो जाता है और प्राधान्य ज्ञानमें रहता है। मान-मेयसम्बन्धके अनन्तर क्षणिक ज्ञान नष्ट होता हुआ फलमें विशेषण होता है। प्रमाणकी अपेक्षा फल ही प्रधान होता है। फलके बिना प्रमाण उपेक्षणीय होता है, यहां तक भर्तृप्रपञ्चका मत अदूष्य है। अब दूष्यांशका निर्देश करते हैं—वे विज्ञानोत्तर प्रज्ञाकरणको विधेय मानते हैं, यह ठीक नहीं है, क्योंकि वस्तुतन्त्र विज्ञानमें नियम, अपूर्व या परिसंख्या विधि नहीं हो सकती। वस्तुतन्त्र होनेसे प्रमाणबलसे ही तत्त्वधी होती है। उसके उद्देश्यसे अभ्यासविधि अकिञ्चित्-कर है ॥ ३४० ॥

'**न द्वितीयो**' इत्यादि। द्वितीय पक्ष भी ठीक नहीं है, क्योंकि आत्मतत्त्व-ज्ञानमात्रसे पुरुष कृतकृत्य हो जाता है।

शङ्का—क्यों?

समाधान—सम्पूर्ण दुःखोंकी निवृत्ति उक्त ज्ञानसे ही होती है। उसीसे सब पुरुषार्थोंकी प्राप्ति भी हो जाती है। अतएव विद्वान् विध्यधीन कभी नहीं होता। लोकमें भी यह प्रसिद्ध है कि फलपर्यन्त ही उपायानुष्ठान होता है, फलप्राप्ति हो जानेपर फिर कोई उपायका अनुष्ठान नहीं करता ॥ ३४१ ॥

भर्तृप्रपञ्चके मतका निरास कर उक्त वाक्यका मण्डनमिश्रने जो अर्थ किया है, उसके निराकरणके लिए उनके मतका उत्थापन करते हैं—'**अन्ये**' इत्यादिसे।

स्वभावतोऽखिलं वाक्यं संसर्गात्मकमेव हि ।
बोधयेद्वस्तु तत्राऽपि पारोक्ष्येणैव नाऽन्यथा ॥ ३४३ ॥
साक्षाद् द्रष्टुमसंसृष्टमन्यत्राऽपि विधीयते ।
निदिध्यासनवाक्येन साधनं ध्यानलक्षणम् ॥ ३४४ ॥
मैवं प्रथमतो वाक्यात् संसृष्टं यदि बोध्यते ।
तदा ब्रह्म तथैव स्यात् प्रमाणप्रमितत्वतः ॥ ३४५ ॥

पहले महावाक्यसे संसृष्ट परोक्ष ब्रह्मको जान कर तदनन्तर असंसर्गि ब्रह्मके साक्षात्कारके लिए ब्रह्मकी भावना करे, यह 'विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत' का अर्थ है ॥ ३४२ ॥

'स्वभावतो०' इत्यादि ।

शङ्का—शब्द अखण्ड ब्रह्मका संसर्गिरूपसे बोध कैसे करायेगा ?

समाधान—यद्यपि ब्रह्म अखण्ड-अपरोक्ष-स्वरूप है, तथापि वाक्य उसका विपरीत यानी परोक्षसंसर्गित्वरूपसे बोध करायेगा । शब्दका ऐसा ही स्वभाव है । किसीके स्वभावका पर्यनुयोग नहीं होता । वाक्यजन्य ज्ञान वस्तुतः ब्रह्मविषयक नहीं हुआ, अतः उसके द्वारा ब्रह्मविषयक प्रज्ञाकी भावना करनी चाहिए अर्थात् ब्रह्मसाक्षात्कारके लिए उसकी भावना आवश्यक है । प्रज्ञाशब्दसे साक्षात्कार विवक्षित है ॥ ३४३ ॥

'साक्षाद्' इत्यादि । अखण्ड ब्रह्मके साक्षात्कारके उद्देश्यसे केवल यहींपर ज्ञानका विधान नहीं है, किन्तु अन्यत्र भी यानी 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यः' इत्यादि स्थलमें भी ब्रह्मसाक्षात्कारके लिए उसके निदिध्यासनका विधान देखा जाता है ॥ ३४४ ॥

'मैवं प्रथमतो' इत्यादि । 'तत्त्वमसि' इत्यादि वाक्यसे यदि संसृष्ट ब्रह्मका बोध होता है, तो प्रमाणप्रमित होनेसे ब्रह्मको संसृष्ट ही मानना उचित है । प्रमाणाभावसे असंसृष्ट ब्रह्म सिद्ध नहीं हो सकता । यदि प्रमाणसिद्ध वस्तुमें भी प्रकारान्तरका सन्देह हो, तो उसकी निवृत्ति कैसे होगी ?

शङ्का—जैसे दूरसे देखनेपर कोई वस्तु है, ऐसा सामान्यरूपसे बोध होता है, कुछ समीप जानेपर वृक्ष है और अधिक समीप जानेपर अमुक वृक्ष है, यह विशेषरूपसे ज्ञात होता है, वैसे ही स्वस्वभावके अनुरोधसे

नेति नेतीत्यसंसृष्टं यदि ब्रह्म प्रमीयते ।
तर्हि संसृष्टवाधेतदप्रमाणं भवेद्वचः ॥ ३४६ ॥
तादृशेनाऽववुद्धस्य ध्यानात् प्रज्ञा कथं भवेत् ।
नहि मिथ्याधियोऽभ्यासात् सम्यग्ज्ञानसमुद्भवः ॥ ३४७ ॥

शब्द द्वारा पहले संसृष्ट ब्रह्मज्ञान होता है । अभ्याससहकृत शब्दसे असंसृष्टा-परोक्षस्वरूपसे ब्रह्मका बोध होता है, इस प्रकार प्रमाणविरोध नहीं हो सकता ?

समाधान—यह कारकका स्वभाव है, बोधकका नहीं है । कारकोंसे युगपद् अनेक कार्योंकी उत्पत्ति नहीं होती, क्योंकि मृदादिमें यह स्वभाव दृष्ट है, व्यञ्जक एक कालमें अनेकका व्यञ्जक होता है । प्रदीप घट, पट आदिका एक समयमें व्यञ्जक देखा जाता है । प्रत्यक्षमें तारतम्य हो सकता है, परोक्ष ज्ञानमें नहीं ॥ ३४५ ॥

शङ्का—जब तक प्रमाणान्तरसे वस्तुका यथार्थ ज्ञान न हो, तब तक पहलेके तद्विपरीतग्राही प्रमाणको आभास नहीं कह सकते ।

समाधान—'नेति नेति' इत्यादि । ब्रह्म अन्य मानका विषय है अथवा नहीं ? द्वितीय पक्षमें असंसृष्ट अपरोक्ष ब्रह्म अन्य प्रमाणका यदि विषय नहीं है, तो संसृष्ट परोक्ष ब्रह्मविषयक शाब्दज्ञान अप्रमाण है, यह नहीं कह सकते, कारण कि पहलेका विरोधी दूसरा मान नहीं है । प्रथम पक्षमें भी यदि असंसृष्टापरोक्ष ब्रह्म मानान्तरजन्य शाब्दज्ञानका विषय है, तो भी दोनों समान हैं, अतः एकसे दूसरेको विनिगमनाविरहसे अप्रमाण नहीं कह सकते और यदि प्रमाणान्तरसे असंसृष्टा-संसर्गिब्रह्मज्ञान मानते हो, तो फिर प्रज्ञाका विधान ही व्यर्थ है, क्योंकि प्रज्ञासाध्य फल प्रमाणान्तरसे ही हो जायगा । शाब्दज्ञान ब्रह्ममें अप्रमाण है, अभ्यास-सहकृत शाब्दज्ञान प्रमाण है, यह उक्ति विचित्र पाण्डित्यको प्रकट करती है ॥ ३४६ ॥

'तादृशेना०' इत्यादि । यदि शाब्दज्ञान अप्रमाण है, तो अभ्याससहकृत होनेपर भी सम्यग्ज्ञानका उत्पादक नहीं हो सकता । 'स्थाणुर्वा पुरुषो वा' इत्यादि संशय तथा शुक्तिरूप्यादि विपर्य्यय शतशः अभ्यस्यमान होनेपर भी 'स्थाणुरेवायम्, शुक्तिरेवेयम्' इत्यादि तत्त्वनिर्णयजनक नहीं होते । किञ्च, संसारी प्राणीमात्र संसार-मिथ्याज्ञानका सदा अभ्यास करते ही हैं, किन्तु उससे ब्रह्मप्रमा कहीं नहीं देखी

तथा सत्यप्रयत्नेन मुक्तिः स्यात् सर्वदेहिनाम् ।
संसारमिथ्याविज्ञानमभ्यस्यन्त्येव सर्वदा ॥ ३४८ ॥
न च वाक्यस्य पारोक्ष्यबोधित्वनियमो यतः ।
दशमस्त्वमसीत्यादावापरोक्ष्येण बुध्यते ॥ ३४९ ॥
विज्ञायेत्यादिवाक्यस्य व्याख्यानं चेदपेक्षसे ।
मानान्तराविरोधेन व्याकुर्मो बहुधा शृणु ॥ ३५० ॥

गई है। मिथ्याज्ञानाभ्यास केवल तत्त्वज्ञानानुत्पादक ही नहीं होता, प्रत्युत तदुत्पादविरोधी भी है। यद्यपि विषयव्यतिरिक्त अक्रियाकारकफल अनतिशयानन्द-स्वरूप ब्रह्म वस्तुतः है, तथापि विषयासङ्गवश लोग उसे नहीं जानते। विषयासङ्गबुद्धि ही उसकी विरोधिनी है। किञ्च, जिसका अभ्यास करते हैं, वही दृढ़ होता है, यह लोकमें दृष्ट है, अतः मिथ्याज्ञानाभ्याससे वही दृढ़ होगा, उससे तत्त्वज्ञानोत्पत्तिकी आशा दुराशामात्र है।

शङ्का—अभ्यस्यमान मिथ्याज्ञान यदि तत्त्वज्ञानोत्पादक न माना जाय, तो 'विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत' यह वाक्य ही अप्रमाण हो जायगा ?

समाधान—यदि उक्त वाक्यका अर्थान्तर मानें, तो वह अप्रमाण नहीं हो सकता, ऐसी कोई राजाकी आज्ञा नहीं है और न कोई ऐसी श्रुति ही है। उक्त व्याख्यानमें और भी अनेक दोष दिखलाये गये हैं। अतः निर्दोष अर्थान्तरसे उक्त वाक्यमें प्रामाण्य और निखिल दोषोंका परिहार हो जाता है, इसलिए अर्थान्तर ही मानना ठीक है, वह आगे कहा जायगा ॥ ३४७ ॥

'तथा सत्य०' इत्यादि। यदि मिथ्याज्ञानके अभ्याससे मुक्ति हो जाय, तो अनायाससे सबकी मुक्ति हो जायगी, क्योंकि संसारी पुरुष सदा संसारमिथ्या-ज्ञानका अभ्यास करते ही रहते हैं ॥ ३४८ ॥

'न च वाक्यस्य' इत्यादि। वाक्यसे परोक्ष ही ज्ञान होता है, अपरोक्ष नहीं, ऐसा नियम नहीं है, क्योंकि 'दशमस्त्वमसि' इत्यादि वाक्यसे अपरोक्ष ज्ञान होता है। अन्यथा अपरोक्ष भ्रमकी निवृत्ति ही नहीं हो सकेगी। दिशा आदिका अपरोक्ष भ्रम दिशा आदिके तत्त्वके अपरोक्षानुभवसे ही निवृत्त होता है ॥ ३४९ ॥

'विज्ञाये०' इत्यादि।

वाक्यमाहात्म्यसंभूतं यद्विज्ञानमुच्यते ।
मेयमाहात्म्यसम्भूता प्रज्ञेतीह विवक्षिता ॥ ३५१ ॥
स्वर्गादौ शब्दसामर्थ्याद् बुद्धेः स्याद्विषयाकृतिः ।
घटादौ मेयसान्निध्याद्विषयाकारता धियः ॥ ३५२ ॥

शङ्का—अच्छा, तो 'विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत' इत्यादि वाक्यका निर्दुष्ट वाक्यार्थ आप ही कीजिए ।

समाधान—मानान्तराविरुद्ध उक्त वाक्यका अर्थ अनेकविध करते हैं, आप मन लगाकर सुनिए ॥ ३५० ॥

'वाक्य०' इत्यादि । वाक्यमाहात्म्यसे जैसे विज्ञान उत्पन्न होता है, वैसे ही मेयके (विषयके) माहात्म्यसे भी प्रज्ञा उत्पन्न होती है । भाव यह है कि वाक्यश्रवणके अनन्तर व्युत्पन्न पुरुषको वाक्यार्थका बोध होता है । परन्तु विचारसे पहले जो बोध होता है, वह संशयनिश्चयसाधारण होता है । विद्वान् उसको आपात ज्ञान कहते हैं, वही ज्ञान यहां 'विज्ञाय'से कहा जाता है । विचारके अनन्तर मेयस्वरूपानुरूप असंसृष्टापरोक्षज्ञान 'प्रज्ञा'शब्दसे विवक्षित है ॥ ३५१ ॥

'स्वर्गादौ' इत्यादि ।

शङ्का—वाक्यमेयमाहात्म्यजन्यत्व क्या है ?

समाधान—जो अर्थ देशान्तर, कालान्तर या अवस्थान्तरमें रहता है, तदाकार बुद्धि शब्दके माहात्म्यसे होती है । क्योंकि विषयका बुद्धिके साथ संसर्ग न होनेपर शब्द द्वारा ही तदाकार बुद्धि होती है । उदाहरण—'स्वर्गकामो यजेत' इत्यादिवाक्यघटक स्वर्गादिके असन्निहित होनेपर भी स्वर्गादिशब्दके माहात्म्यसे स्वर्गाद्याकार परोक्ष बुद्धि होती है ।

शङ्का—विषयमाहात्म्यसे ही तत्तदाकार परोक्ष बुद्धि क्यों न मानी जाय ?

समाधान—विषय न होनेपर भी तत्तदाकार बुद्धि अनुभवसिद्ध है । 'मेरे कानमें सिंह बैठ कर गर्जता है' ऐसा कहनेपर शाब्दबोध होता है, अर्थ सर्वथा असंभव है । अतएव योगसूत्र है—'शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः' जो वस्तु वस्तुतः नहीं है, उसका शब्दसे जो ज्ञान होता है, उसको विकल्प कहते हैं । 'अत्यन्तासत्यपि ह्यर्थे ज्ञानं शब्दः करोति हि' इत्यादि भर्तृहरिवचनसे शब्दमाहात्म्यसे ज्ञान होता है, यह प्रसिद्ध है । ज्ञानमें

दशमादौ द्वयोः सत्त्वात् स्याच्छब्देनाऽपरोक्षधीः ।
शब्दजत्वापरोक्षत्वे ह्येकज्ञानेऽपि तिष्ठतः ॥ ३५३ ॥
महावाक्यजबुद्धेश्च यौ स्वभावौ यथोदितौ ।
प्रज्ञाविज्ञानशब्दाभ्यां तावुभाविह वर्णितौ ॥ ३५४ ॥

तदाकारत्व तद्व्यवहारजननयोग्यत्वमात्र है, अन्यथा विषय न होनेपर तदाकार भी अप्रसिद्ध ही है, फिर बुद्धिमें तदाकारत्वका संभव कहां ? जहां अव्यवहित घटादि विषय हैं, वहां बुद्धि विषयमाहात्म्यसे घटाद्याकार होती है, अपरोक्ष स्थलमें तदाकारत्व तत्तादात्म्यरूप ही माना जाता है । निराकार ज्ञान विषयाकार नहीं होता, अतः ज्ञानमें विषयमाहात्म्यप्रयुक्त ही विषय-तादात्म्य है ॥ ३५२ ॥

'दशमादौ' इत्यादि ।

शङ्का—उक्तमाहात्म्यद्वयप्रयुक्त भले ही भेद हो, उससे प्रकृतमें क्या हुआ ?

समाधान—प्रकृत 'तत्त्वमसि' आदि वाक्यजन्य ज्ञानमें विज्ञानशब्दाभिप्रेत शाब्दत्व और प्रज्ञापदविवक्षित परोक्षत्व ये दोनों हैं, इनकी सिद्धिके लिए एक ही ज्ञानमें उभयाकारत्वका उदाहरण देते हैं—'दशमस्त्वमसि' इत्यादि । दस मनुष्य साथ ही किसी जङ्गलमें गये । लौटते समय उनके मनमें यह विचार हुआ कि गिनती करके समझ लेना चाहिए कि सब साथी आ गये अथवा कोई पीछे रह गया है ? गिननेवालेने अपनेको छोड़ कर गिना तो नौ ही हुए । उसने कहा कि एक साथी छूट गया है । दूसरेने भी वैसे ही गिना । सबकी इसी प्रकार गणना हुई । अनन्तर सब एक जगह बैठ कर विचार करने लगे कि अब क्या किया जाय ? उसी समय एक आगन्तुकने पूछा कि क्यों दुःखी होकर आप लोग बैठे हैं ? एकने उत्तर दिया कि हम दस साथ गये थे, पर लौटे हैं नौ ही, एक छूट गया है इससे हम दुःखी हैं । उसने देखा कि ये हैं तो पूरे दस फिर शोक किस बातका ? कुतूहलवश उसने उनसे कहा कि अच्छा अब मेरे सामने गिनो । उनमेंसे हर एकने पूर्ववत् अपनेको छोड़कर नौ गिने । तब तो आगन्तुक समझ गया कि ये नशेमें हैं । उसने गिननेवालेके सिरपर एक चपत जमाकर कहा कि दसवें तुम हो, तब उसको ज्ञान हुआ कि हाँ ठीक है । इससे सिद्ध हुआ कि वाक्यसे अपरोक्ष ज्ञान होता है, अन्यथा अपरोक्षभ्रमनिवृत्ति नहीं हो सकेगी । अतः शाब्दत्व और अपरोक्षत्व एक ज्ञानमें भी रहते हैं ॥३५३॥

'महावाक्य०' इत्यादि । 'तत्त्वमसि' महावाक्यजन्य बुद्धिमें वे ही दोनों

शाब्दविज्ञानमानेन प्रज्ञामैकात्म्यलक्षणाम् ।
ब्रह्माऽस्मीति प्रकुर्वीत बुभुत्सोच्छेदिनीं दृढाम् ॥ ३५५ ॥
मातृमानादिभेदोत्थं वाक्यमद्वैतबोधने ।
प्रवर्तते तदद्वैतं बुद्धं राद्भेदघातकम् ॥ ३५६ ॥
वाक्योत्थबुद्धिवृत्त्याऽत्र ब्रह्मण्यज्ञानसंक्षयः ।
ज्ञातेन ब्रह्मणा नश्येत् द्वैतमज्ञानजं तथा ॥ ३५७ ॥
विज्ञानाविद्ययोर्यद्वद्विरोधः सहजो भवेत् ।
अद्वैतद्वैतयोस्तद्वद्विरोधो बाधनं ततः ॥ ३५८ ॥

स्वभाव विज्ञान और प्रज्ञा शब्दसे कहे गये हैं। 'विज्ञाय' से परोक्ष ज्ञान और प्रज्ञासे अपरोक्ष ज्ञान विवक्षित है ॥ ३५४ ॥

'शाब्द०' इत्यादि। शब्द द्वारा आपाततः जीवब्रह्माभेदज्ञानके अनन्तर असम्भावनानिवृत्तिकर अखण्ड अपरोक्ष 'अहं ब्रह्म अस्मि' इत्याकारक ज्ञानकी भावना करे। आपाततः जो ज्ञान हुआ, उसीको विचारसे अविद्यानिवृत्तिक्षम करना चाहिए। यही भावित प्रज्ञा निखिल बुभुत्सादिकी निवृत्ति करती है, अज्ञानकी निवृत्ति होनेपर तन्मूलक बुभुत्सा आदिकी निवृत्ति न्यायतः सिद्ध है ॥ ३५५ ॥

'मातृमानादि०' इत्यादि।

शङ्का—विचारके अनन्तर वाक्यज्ञानसे ऐकात्म्यसिद्धि कैसे होगी ? क्योंकि प्रमाता-प्रमेय-भेदसापेक्ष ही वाक्य प्रमेयविषयक प्रमाको प्रमातामें उत्पन्न करता है, उक्त विचार द्वारा दोनोंमें ऐक्यज्ञान होनेसे भेद सुतरां निवृत्त हो जाता है।

समाधान—यद्यपि भेदापेक्ष वाक्य तत्त्वबोधका उत्पादक होता है, तो भी वाक्यज्ञानाभिव्यक्त चैतन्य सब भेदोंका निवर्तक है, अतः अद्वैतात्मसिद्धि स्वतः सिद्ध हो जाती है ॥ ३५६ ॥

'वाक्योत्थ०' इत्यादि। दृष्टान्त द्वारा उक्तार्थका ही इस श्लोकसे स्पष्टीकरण है। जैसे वाक्यजन्य बुद्धिवृत्तिसे ब्रह्ममें अज्ञानका नाश होता है, वैसे ब्रह्मज्ञानसे अज्ञानोत्पन्न द्वैतका नाश होता है। अज्ञान ही द्वैतमात्रका कारण है। उसके नाशसे कार्यनाश 'कारणनाशात्कार्यनाशः' इस न्यायसे सिद्ध है ॥ ३५७ ॥

'विज्ञाना०' इत्यादि। विज्ञान और अविद्याका जैसे स्वाभाविक विरोध

एकस्मिन्नपि बोधेऽत्र यथोक्तफलभेदतः ।
अंशभेदमपेक्ष्योक्ता विज्ञानप्रज्ञयोर्भिदा ॥ ३५९ ॥
शास्त्राचार्यमतिर्वाऽत्र विज्ञायेत्यभिधीयते ।
प्रज्ञेत्यनेन शब्देन ह्यात्मप्रत्यय उच्यते ॥ ३६० ॥
शास्त्राचार्यव्यपेक्षत्वात् परतन्त्रैव तन्मतिः ।
अनन्यापेक्षया ज्ञेया प्रत्यग्बुद्धौ स्वतन्त्रता ॥ ३६१ ॥

है, अतएव विद्यासे अविद्याका बाध होता है। एवं द्वैत और अद्वैतका भी स्वतः विरोध है, अतः द्वैतसे अद्वैतका बाध होता है ॥ ३५८ ॥

'एकस्मिन्' इत्यादि। फल विचारप्रवृत्तिका ज्ञान शाब्द है। विचाररूप मनन द्वारा निर्विचिकित्स्य अद्वितीयात्मविषयक शाब्दज्ञान होता है। यही उक्त विचारका, असंभावनानिवर्तन द्वारा, फल है। निदिध्यासनजन्य अद्वितीयात्मसाक्षात्कारसे अज्ञानकी निवृत्ति होती है, यही साक्षात्कारका फल है। फलभेदसे एक ही ज्ञान विज्ञान और प्रज्ञा शब्दसे दो प्रकारका कहा गया है ॥ ३५९ ॥

उक्त वाक्यका अर्थान्तर कहते हैं—'शास्त्राचार्य०' इत्यादिसे।

शास्त्राचार्यमति यानी श्रवण, मनन आदि रूप ज्ञान 'विज्ञाय'से विवक्षित है और आत्मप्रत्य यानी वाक्यार्थज्ञान 'प्रज्ञा' शब्दसे विवक्षित है। इससे श्रवणादिका अनुष्ठान कर वाक्यार्थज्ञान करना चाहिए, यही 'विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत' इस वाक्यका अर्थ है ॥ ३६० ॥

शास्त्राचार्यमति और आत्मप्रत्ययमें अवान्तर भेद कहते हैं—'शास्त्राचार्य०' इत्यादिसे।

श्रवणादिरूपा मति शास्त्र और आचार्यकी अपेक्षा रखनेके कारण पराधीन ही है। शास्त्राचार्योपदेशानुकूल ही मनन करना चाहिए, अन्यथा नहीं। वाक्यार्थज्ञान रूप प्रत्यग्बुद्धि यद्यपि श्रवणादिरूप शाब्दबोधजनक सामग्रीके अधीन है, तथापि तदतिरिक्त गुरु आदिकी अपेक्षा न होनेसे स्वतन्त्र मानी जाती है। भाव यह है कि पदार्थशोधनमें पुरुष स्वतन्त्र है और वाक्यार्थबोधमें परतन्त्र है।

शङ्का—पदार्थशोधनमें जैसे पुरुष स्वतन्त्र है, वैसे वाक्यार्थबोधमें स्वतन्त्र क्यों नहीं है?

यदि वोक्तात्मयाथात्म्यबोधेनैवाऽद्वयात्मिकाम् ।
ब्रह्मप्रज्ञां प्रकुर्वीत विशेषणसमाश्रयात् ॥ ३६२ ॥
प्रज्ञा वा परमात्मेह प्रज्ञानमिति वाक्यतः ।
विज्ञायेहेममात्मानं प्रज्ञां कुर्वीत बोधतः ॥ ३६३ ॥

समाधान—वाक्यार्थज्ञान प्रमाणतन्त्र होनेसे वस्तुतन्त्र है, पुरुषतन्त्र नहीं है। अनुत्पन्नवाक्यार्थज्ञानकालमें भी उसकी विधि नहीं हो सकती, कारण कि उस समय उसका अस्तित्व न होनेसे वह विधिके योग्य नहीं है और वाक्यार्थ-ज्ञानकी उत्पत्तिदशामें भी उसकी विधि नहीं हो सकती, कारण कि वाक्यार्थ-ज्ञानके उत्पन्न होनेपर पुरुष कृतकृत्य हो जाता है, अतः उस समय विधि मानना निरर्थक है ॥ ३६१ ॥

'विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत' इस वाक्यका अन्य भी अर्थान्तर कहते हैं—'यदि' इत्यादिसे ।

आत्मामें ब्रह्मत्वको समझना यह 'विज्ञाय'का अर्थ है और ब्रह्ममें प्रत्यक्त्वको समझना, यह 'प्रज्ञा'शब्दका अर्थ है। अतः आत्मामें ब्रह्मत्व समझकर उसी आत्मस्वरूपसे ब्रह्मका अनुसन्धान करना चाहिए, यह उक्त वाक्यका अर्थ होता है।

शङ्का—आत्मा ब्रह्म कैसे है और ब्रह्म आत्मा कैसे है? क्योंकि वैसा माननेमें विनिगमक कोई है नहीं।

समाधान—'विशेषणसमाश्रयात्' यानी 'तमेव धीरो विज्ञाय' यहांपर एव-काररूप विशेषणके समाश्रयणसे ब्रह्ममें प्रत्यक्त्वकी स्फुट प्रतीति होती है और 'अज आत्मा महान्' यहांपर 'महान्' विशेषणके आश्रयणसे प्रत्यगात्मामें ब्रह्मत्वकी प्रतीति होती है। इसलिए 'तत्त्वमसि' इत्यादि वाक्यसे जीवब्रह्माभेदात्मक प्रज्ञा आत्मयाथात्म्यबोध द्वारा करनी चाहिए, यह निचोड़ अर्थ निकलता है ॥ ३६२ ॥

उक्त वाक्यकी दूसरी व्याख्या करते हैं—'प्रज्ञा वा' इत्यादिसे ।

'प्रज्ञानं ब्रह्म' इत्यादि वाक्यसे प्रज्ञाशब्दार्थ परब्रह्म है, यह स्पष्ट ज्ञात होता है। इसलिए देहादिमें स्थित त्वमर्थ आत्माको देहादिसे पृथक् समझकर उसका ब्रह्मरूपसे अनुसन्धान करे, यही 'विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत' का अर्थ है ॥ ३६३ ॥

सर्वथाऽप्यात्मतत्त्वस्य ब्रह्मत्वे वाक्यबोधिते ।
बोधका अपि ते शब्दास्त्याज्याः कार्यान्तरं किमु ॥ ३६४ ॥
ग्रन्थमभ्यस्य मेधावी ज्ञानविज्ञानतत्परः ।
पलालमिव धान्यार्थी त्यजेद्ग्रन्थमशेषतः ॥ ३६५ ॥
शास्त्राण्यधीत्य मेधावी अभ्यस्य च पुनः पुनः ।
परमं ब्रह्म विज्ञाय उल्कावत्तान्यथोत्सृजेत् ॥ ३६६ ॥

'सर्वथा०' इत्यादि । आत्मा ब्रह्म है, इस तत्त्वका वाक्यसे बोध हो जानेपर तत्त्वबोधक शब्दोंका भी त्याग कर देना चाहिए, फिर अन्यकी तो चर्चा ही क्या ? इस तात्पर्यसे श्रुति कहती है—'नानुध्यायात्' इत्यादि । विद्यासाधन शम, दम आदिका आगे विधान करेंगे, अतः अनात्मवाची शब्दोंके अनुसन्धानका, विरोधी होनेसे, त्याग कर देना चाहिए। अतएव अनात्मवाची शब्दोंके अनुसन्धानकी श्रुतिने स्वयं निन्दा की है—'वाचो विग्लापनं हि तत्' इत्यादिसे । मोक्षसिद्धिके लिए वाक्, तालु आदिके शोषक अनेक शब्दोंका उच्चारण अपेक्षित नहीं है, किन्तु शम, दम आदि ही अपेक्षित हैं ॥ ३६४ ॥

'ग्रन्थमभ्यस्य' इत्यादि । मेधावी यानी ग्रन्थके अर्थके अवधारणमें निपुणमति पुरुष ज्ञान और विज्ञानमें तत्पर होकर ग्रन्थार्थका अभ्यास कर अभ्यासलब्ध तात्त्विक अर्थको रखकर उसके साधनभूत सम्पूर्ण ग्रन्थोंका त्याग करे । जैसे धान्यार्थी पुरुष पुआलयुक्त धानोंको खलिहानमें लाकर फिर शुद्ध धान निकाल कर अनुपादेय पुआलका त्याग करता है, वैसे ही मुमुक्षुको उपेयकी प्राप्तिके लिए उपायभूत शास्त्रका अभ्यास कर उपेय आत्मतत्त्वके प्राप्त हो जानेपर उसके उपायभूत शब्दजालका परित्याग करना चाहिए, इसी अर्थमें अन्य स्मृति-श्लोक भी हैं ॥ ३६५ ॥

'शास्त्राण्यधीत्य' इत्यादि । पूर्वार्धका अर्थ अति स्पष्ट है और व्याख्यातप्राय है । परम ब्रह्मको शास्त्रसे जानकर तदनन्तर शास्त्रका त्याग करना चाहिए, इसमें दृष्टान्त है—उल्का, जैसे चोर जब धनीके घरमें घुस जाता है, तब कौन चीज कहां है ? यह जाननेके लिए बत्ती जलाता है, उसके द्वारा ज्ञातव्य पदार्थको जान कर पीछे बत्तीको भी बुझा देता है । जाननेके बाद यदि बत्ती जलती

मनोवाचोर्ग्लानिरेत्र शब्दोच्चारणचिन्तयोः ।
हिशब्दस्तत्प्रसिद्ध्यर्थो मौनादिः स्मर्यते ततः ॥ ३६७ ॥
मौनं योगागनं योगस्तितिक्षैकान्तशीलता ।
निःस्पृहत्वं समत्वं च सप्तैतान्येकदण्डिनः ॥ ३६८ ॥

रहेगी, तो प्रकाशको देख कर लोग समझेंगे कि चोर भीतर घुसा है। उससे चोरी करनेमें बाधा पहुँचेगी, इसलिए चोर बत्तीको बुझा देता है, वैसे ही मुमुक्षु तब तक शास्त्रका आश्रय लेता है जब तक ब्रह्मका ज्ञान नहीं होता, किन्तु ज्ञान हो जानेके अनन्तर शास्त्रका त्याग कर देता है ॥ ३६६ ॥

'मनो०' इत्यादि। शब्दोच्चारणसे वाणीमें थकावट आती है और तदर्थ-चिन्तनसे मनकी ग्लानि होती है, यह अनुभवसिद्ध है। इसी अनुभूतकी प्रसिद्धिके द्योतनके लिए 'हि' शब्द है। अतएव इन दोषोंके परिहारके लिए ही मौनादिकी विधि है। मौन रहनेसे शब्दोच्चारण और तदर्थचिन्तनका अभाव स्वतःसिद्ध हो जाता है ॥ ३६७ ॥

'मौनम्' इत्यादि। मौन, योगासन यानी योगसाधन आसन [यम, नियम आदि आठ योगके अङ्ग हैं। उनमें आसन अनेक प्रकारके कहे गये हैं। परन्तु योगशास्त्रमें पतञ्जलिमहर्षिने कहा है कि 'स्थिरसुखमासनम्' यानी जो स्थिर और सुखकर आसन है, वही योगाङ्ग आसन है], चित्तवृत्तिनिरोधस्वरूप योग, तितिक्षा यानी शीतोष्णसुखदुःखादिद्वन्द्वसहनशीलता, एकान्त यानी निर्जन-स्थानवासमें [इस विषयमें रुचि गीतामें भगवान्‌ने श्रीमुखसे कहा है कि 'अरतिर्जनसंसदि'। वस्तुतः जनसमुदायमें बैठनेकी रुचि योगियों तथा ज्ञानियोंके लिए जैसी हानिकर है, वैसी हानिकर दूसरी कोई वस्तु नहीं है। 'सङ्गात् संजायते कामः' इत्यादिसे लेकर 'बुद्धिनाशात् प्रणश्यति' यहाँ तकके ग्रन्थसे इसका प्रभाव स्पष्ट बतलाया गया है।], निःस्पृहत्व यानी कामनाशून्यत्व [आत्मप्रतिष्ठाकी कामना भी किसी कामनासे कम जघन्य नहीं है, धन-कामनात्याग ही त्याग नहीं है, किन्तु अहङ्कारका त्याग वस्तुतः त्याग है, जो वास्तविक मुमुक्षुओंमें पाया जाता है। इसीसे भगवान्‌ने स्पष्ट कहा है कि 'अहङ्कारविमूढात्मा कर्ताऽहमिति मन्यते'] और समता यानी सुख, दुःख आदि तथा शत्रु, मित्र आदिमें समबुद्धि ['समत्वं योग उच्यते' यह भी भगवान्‌ने ही स्पष्ट

ज्ञानामृतेन तृप्तस्य कृतकृत्यस्य योगिनः ।
नैवाऽस्ति किञ्चित्कर्तव्यमस्ति चेन्न स तत्त्ववित् ॥ ३६९ ॥
यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः ।
आत्मन्येव च सन्तुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते ॥ ३७० ॥
इतिशब्दः समाप्त्यर्थः श्लोकास्तेन समापिताः ।
तत्त्वोपदेशः संपूर्णो विस्तरात् संग्रहेण च ॥ ३७१ ॥

कहा है ।], —ये सात एकदण्डीके लक्षण हैं । एकदण्डी संन्यासी विवक्षित है । वैष्णव संन्यासी त्रिदण्डी होते हैं और अद्वैतमतानुसार एकदण्डी संन्यासी होते हैं, जो काशीमें अधिक पाये जाते हैं ॥ ३६८ ॥

'ज्ञानामृतेन' इत्यादि । ज्ञानरूपी अमृतसे जो तृप्त हैं, अतएव जो कृतकृत्य हैं यानी सब कर्तव्योंको कर चुके हैं, उन योगियोंके लिए कुछ भी कर्तव्य बाकी नहीं रह जाता । यदि कुछ कर्तव्य शेष रहा, तो वे वस्तुतः तत्त्ववेत्ता ही नहीं हैं, अतएव भगवान् ने स्वयं गीतामें कहा है—'सर्वं कर्माऽखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते ।' ज्ञान होनेपर शरीरयात्रौपयिक कर्मसे अतिरिक्त कोई कर्म बाकी नहीं रहता । जबतक कर्तव्य है, तबतक न वह ज्ञानी है और न ज्ञानार्जनका अधिकारी ही हो सकता है, अतएव मुमुक्षुओंको श्रवण, मनन आदिका ही अनुष्ठान करना चाहिए ॥ ३६९ ॥

'यस्त्वात्म०' इत्यादि । जिसकी आत्मामें ही सदा रति रहती है, जो आत्मामें ही सदा तृप्त रहता है तथा जो आत्मामें ही सदा सन्तुष्ट रहता है, उसके लिए कोई कर्तव्य अवशिष्ट नहीं रहता है । सांसारिक सकल पदार्थोंसे वीततृष्ण वही हो सकता है, जिसको कि वस्तुतः आत्मरति होती है । आत्मानन्दसे अधिक आनन्द और किसी वस्तुमें नहीं रहता, इसलिए तत्त्ववेत्ता आत्मानन्दमें ही सदा तृप्त रहता है और प्राप्तव्य अन्यत्र है नहीं, इसलिए उसीमें सन्तुष्ट रहना स्वाभाविक है, अतएव उसके लिए कुछ भी कर्तव्य अवशिष्ट नहीं रहता, यह भी स्वरसतः प्राप्त ही है ॥ ३७० ॥

'इतिशब्दः' इत्यादि । 'वाचो विग्लापनं हि तदिति' इस वाक्यमें इति-शब्द हेत्वर्थ है । यतः बहुत शब्दोंका ध्यान करनेसे केवल कण्ठ, तालु

मन्त्रब्राह्मणभङ्गेन यत्तत्त्वं प्राङ्निरूपितम् ।
तद्विद्यासाधनं सर्वं मुनिरेष विवक्षति ॥ ३७२ ॥
तत्राऽऽदौ वेद्यतत्त्वस्याऽनुवादेन पुनः स्फुटम् ।
निरूप्यते स्वरूपं तत् स वा इत्यादिवाक्यतः ॥ ३७३ ॥

आदिका शोषण ही फल मिलता है, इसलिए मुमुक्षुओंको अधिक शब्दोंका ध्यान नहीं करना चाहिए ।

शङ्का—'बहु' विशेषणसे यह प्रतीत है कि योगियोंको कुछ शब्दोंका ध्यान करना भी आवश्यक है, अन्यथा शब्दमात्रका ध्यान नहीं करना चाहिए, इस अभिप्रायसे 'बहु' विशेषण व्यर्थ है, तथा अन्य श्रुतिमें भी कहा है—'अन्या वाचो विमुञ्चथ' । यहाँपर भी 'अन्याः' इस विशेषणसे वाङ्मात्रका त्याग इष्ट नहीं है, किन्तु कुछ वाक्योंकी आवश्यकता ज्ञानियोंके लिए भी है ।

समाधान—हाँ, 'तत्त्वमसि' आदि वाक्य जो आत्मैकत्वार्थक हैं; उनका ध्यान ज्ञानियोंके लिए भी आवश्यक है ।

शङ्का—'हि' शब्दसे ही हेतुकी प्रतीति हो जाती है, फिर उसके लिए इतिशब्द व्यर्थ है ?

समाधान—इसीलिए वार्तिकसारकार कहते हैं, 'इति' शब्द समाप्त्यर्थक है, हेत्वर्थक नहीं है, अन्यथा पुनरुक्ति हो जायगी । विवक्षित श्लोक समाप्त हो गये यानी संक्षेप और विस्तारसे तत्त्वोपदेश संपूर्ण हो गया ॥ ३७१ ॥

'मन्त्र०' इत्यादि । 'तदेव सक्तः सह कर्मणैति' इत्यादि मन्त्रसे तथा 'स यत्राऽयमात्माऽवल्यम्' इत्यादि ब्राह्मणोक्तिसे कामादिसहित बन्ध मुमुक्षुओंके लिए हेय कहा गया है । 'यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि स्थिताः' इत्यादि मन्त्रसे तथा 'अकामयमान आत्मकामः' इत्यादि ब्राह्मणसे सम्यक् ज्ञानसे मोक्ष भी कहा गया है । उन मन्त्र और ब्राह्मणोंसे जिस हेयोपादेय तत्त्वका निरूपण पहले किया गया था, उसका फिर श्लोकोंसे ('तदेते श्लोका भवन्ति' इत्यादि मन्त्रोंसे) सविस्तर निरूपण हुआ । वह सब विद्यासाधन है, यह श्रीयाज्ञवल्क्य-मुनि कहना चाहते हैं ॥ ३७२ ॥

'तत्राऽऽदौ' इत्यादि । प्रथम वेद्य तत्त्वका अनुवाद कर 'स वा' इत्यादि वाक्यसे उस स्वरूपका फिर अतिस्पष्ट निरूपण करते हैं ॥ ३७३ ॥

श्रुतिः—स वा एष महानज आत्मा ।

किंज्योतिरित्येवमादौ ब्राह्मणे बहुधेरितः ।
आत्मोच्यते स इत्युक्त्या मन्त्रस्य व्यवधानतः ॥ ३७४ ॥

अणुरित्यादिभिर्मन्त्रैरासन्नैः प्रतिपादितः ।
आत्मोक्त एष इत्युक्त्या वैशब्दोऽभेदवाचकः ॥ ३७५ ॥

मन्त्रब्राह्मणभेदेन वस्तुभेदो न शक्यताम् ।
स एवैषोऽवगन्तव्यो यस्मादात्मोच्यते द्वयोः ॥ ३७६ ॥

'स वा एष' इत्यादि श्रुति । श्लोकव्याख्यानसे इस श्रुतिवाक्यका अर्थ गतार्थ है ।

'किंज्योति०' इत्यादि । 'किंज्योतिरेवायं पुरुषः' इत्यादिसे लेकर 'अणुः पन्था' इत्यादि मन्त्रपर्यन्त पूर्वतन ग्रन्थसे जो आत्मा कहा गया है, उसीका यहाँ 'सः' शब्दसे परामर्श है । 'तत्' शब्द व्यवहितका परामर्शक होता है । यहाँ मन्त्रसे व्यवधान है, अतः योग्य होनेसे उसीका परामर्श मानना ठीक है ॥ ३७४ ॥

'स वा एष' इत्यादि वाक्यघटक 'तत्' शब्दके अर्थको कहकर अवशिष्ट पदोंका अर्थ कहते हैं—'अणु०' इत्यादिसे ।

मन्त्रप्रतिपाद्य आत्मा सन्निहित है; अतः 'एष' शब्दसे उसीका परामर्श समुचित है । 'इदमः संनिकृष्टे' इत्यादि कोशसे सन्निहितार्थक 'एतत्' शब्द माना जाता है, 'वै' शब्द उन दोनोंके अभेदके बोधनके लिए है ॥ ३७५ ॥

'मन्त्र०' इत्यादि ।

शङ्का—मन्त्र और ब्राह्मणसे अद्वितीय ब्रह्मतत्त्वका ही प्रतिपादन किया गया है, अतः दोनोंके अर्थमें भेदकी प्रसक्ति ही नहीं है, फिर उसकी निवृत्तिके लिए अभेदबोधक 'वै' शब्दकी क्या आवश्यकता है ?

समाधान—ठीक है, किसी मन्दमतिको यह शङ्का हो सकती है कि मन्त्र और ब्राह्मणसे भिन्न-भिन्न आत्माका प्रतिपादन किया गया है, अन्यथा पुनरुक्तिदोष हो जायगा । इस सन्देहकी निवृत्तिके लिए उन दोनोंके अर्थमें अभेदके बोधक 'वै' शब्दका श्रुतिमें उपादान है । निष्कर्ष यह निकला कि मन्त्र और ब्राह्मणरूप प्रतिपादकभेदसे प्रतिपाद्य भेदकी शङ्का न करो, वह यही

यद्वा शास्त्रानुभूतिभ्यां सिद्धयोर्ब्रह्मजीवयोः ।
तदेतच्छब्दनिर्देशो वैशब्देन तदेकता ॥ ३७७ ॥
बुद्ध्युपाधिपरिच्छेदो महच्छब्देन वार्यते ।
देहोपाधिकृतं जन्म वार्यते ह्यजशब्दतः ॥ ३७८ ॥

श्रुतिः—योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु य एषोऽन्तर्हृदय आकाशस्तस्मिञ्छेते सर्वस्य वशी ।

वैशब्दसूचितं जीवब्रह्मैक्यं प्रतिपादितम् ।
अजातशत्रुणा योऽर्थः स्मर्यते योऽयमित्यतः ॥ ३७९ ॥

है अर्थात् दोनों अभिन्न हैं, क्योंकि दोनोंसे एक ही आत्मा कहा गया है, भिन्न-भिन्न नहीं । 'विरजः पर आकाशादज आत्मा महान् ध्रुवः' इत्यादिसे त्वंपदलक्ष्य आत्माका 'एष' शब्दसे निर्देश किया गया है, त्वमर्थके शोधनके लिए 'अज' शब्द है । शुद्ध त्वमर्थमें ब्रह्मलक्षण विशेषणकी सिद्धिके लिए 'महान्' विशेषण है, निरवधिक महत्त्व ब्रह्ममें ही है ॥ ३७६ ॥

'स वा एष' इसी वाक्यका अर्थान्तर कहते हैं—'यद्वा' इत्यादिसे ।

'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इत्यादि शास्त्र तथा 'अहम्' इत्यादि अनुभवसे क्रमशः सिद्ध जो ब्रह्म और जीव हैं, वे ही 'तदेतत्' शब्दसे बोधित हुए हैं । 'तत्' शब्दसे परोक्ष ब्रह्मका और 'एतत्' शब्दसे अपरोक्ष आत्माका निर्देश है, उन दोनोंके अभेदके बोधनके लिए 'वै' शब्द है ॥ ३७७ ॥

'महान् अजः' इन दो विशेषणोंका प्रयोजन कहते हैं—'बुद्ध्युपाधि०' इत्यादिसे ।

जीवात्मा वस्तुतः परिच्छिन्न नहीं है; किन्तु बुद्धि आदि उपाधियोंके परिच्छिन्न होनेके कारण तदुपाधिक आत्मामें परिच्छिन्नत्व प्रतीति होती है । वस्तुतः आत्मा महान् है, जैसे आकाश व्यापक है, किन्तु घटोपाधिक घटाकाश परिच्छिन्न प्रतीत होता है, वैसे ही आत्मा भी स्वतः व्यापक है । देहोपाधिकृत जन्म, मरण आदिकी व्यावृत्तिके लिए वह 'अज' कहा गया है ॥ ६७८ ॥

'योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु' इत्यादि श्रुति । श्लोकव्याख्यानसे श्रुत्यर्थ स्पष्ट है ।

'वैशब्दसूचितम्' इत्यादि । 'वै' शब्द द्वारा सूचित जो जीवब्रह्मैक्य है,

ब्रह्मत्वादेव जीवस्य भ्रान्तजीवत्ववारणात् ।
वशित्वाद्याः ब्रह्मधर्माः शिष्यन्तेऽतोऽयमीश्वरः ॥ ३८० ॥
जीवत्ववद्वशित्वाद्या यद्यपि भ्रान्तिकल्पिताः ।
तथाऽप्येते समीचीनाः स्वप्ने मूत्रात्ययो यथा ॥ ३८१ ॥

वह प्रतिपादित हुआ। चतुर्थाध्यायमें गार्ग्यके प्रति अजातशत्रुने जो ब्रह्मात्मैक्य कहा था, उसी ब्रह्मात्मैक्यका 'योऽयम्' इत्यादि वाक्यसे स्मरण किया जाता है। काम, कर्म आदिसे विविक्त जो स्वयंज्योतिशब्दसे कहा गया है, वह यही साक्षात् ईश्वर है, यही 'योऽयम्' इत्यादि श्रुतिसे यहाँ विवक्षित है ॥ ३७९ ॥

'ब्रह्मत्वादेव' इत्यादि। 'सर्वस्य वशी' इत्यादि श्रुतिका अर्थ यह है कि वस्तुतः जीव ब्रह्म ही है। संसारदशामें जीवभाव भ्रान्तिकल्पित है। वशित्व आदि ब्रह्मधर्म हैं, उनका जीवमें श्रुतिने प्रतिपादन किया है। इससे आत्मामें भ्रान्तिसिद्ध जीवत्वका वारण होता है; अतः यह जीव ब्रह्म ही है, यह परम तात्पर्य है। 'सर्वेश्वरत्व' आदि विशेषणोंकी सामर्थ्यसे विशेष्य जीवगत ईशितव्यत्वका प्रतिषेध स्वतः सूचित होता है। यदि जीव ईशितव्य होता, जैसा कि संसारदशामें समझते हैं, तो वह सर्वेश्वर कैसे हो सकता? सर्वेश्वरत्वके साथ ईशितव्यत्वका विरोध है, अतः सर्वेश्वरत्वके व्यवस्थापनसे जीवमें ईशितव्यत्वकी निवृत्ति सुतरां सिद्ध हो जाती है ॥ ३८० ॥

'जीवत्व०' इत्यादि।

शङ्का— वशित्व आदि धर्म भी तो जीवत्व, ईशितव्यत्व आदिके समान आत्मामें कल्पित ही हैं; फिर मुक्त पुरुषकी स्तुति वशित्व आदि धर्मोंके द्वारा भी कैसे हो सकती है? मुक्त तो निर्विशेषात्मस्वरूप है। धर्ममात्र अविद्याकल्पित ही है। अविद्याकी निवृत्ति होनेपर उन धर्मोंकी निवृत्ति 'कारणनिवृत्तिसे कार्यनिवृत्ति होती है' इस न्यायसे सिद्ध ही है।

समाधान—ठीक है, स्वप्नमें अशुद्ध स्थलमें पादस्पर्श न हो, इस अभिप्रायसे सुषुप्त पुरुष उसका परिहार करके प्रसन्न होता है कि अमेध्यस्पर्शसे बच गये। स्वाप्निक अशुचिस्थलमें पादस्पर्शज्ञान जैसे भ्रम है, वैसे ही उसका परिहार भी भ्रम ही है। पारमार्थतः वहां कोई वस्तु है नहीं, फिर भी उसके परिहारसे प्रीति होती है, इसी प्रकार यद्यपि वशित्व आदि भी कल्पित ही हैं, तथापि वे

अत एव हि जिज्ञासुं प्ररोचयितुमीरितैः ।
वशित्वाद्यैः प्रेर्यतेऽसौ यज्ञादौ ज्ञानसाधने ॥ ३८२ ॥
ननु कल्पितधर्माणां स्यान्नो वा ज्ञानबाध्यता ।
आद्ये त्वीश्वरधर्माणां नाशः स्याज्जीवधर्मवत् ॥ ३८३ ॥
द्वितीये जीवधर्माणामप्यनाशोऽन्यधर्मवत् ।
अतो जन्मादिसत्तायां वशित्वाद्यस्तिता कुतः ॥ ३८४ ॥
मैवं यतो महान् भेदो विद्यते नाशबाधयोः ।
रज्जुसर्पो ज्ञानबाध्यो न नाशो भग्नकुम्भवत् ॥ ३८५ ॥

प्रीतिके उत्पादक हैं, अतः उनके द्वारा मुक्तकी स्तुति अनुचित नहीं कही जा सकती ॥ ३८१ ॥

'अत एव' इत्यादि । ब्रह्मजिज्ञासुकी ब्रह्मज्ञानसाधन यज्ञादिमें प्रवृत्ति हो, इसलिए तत्-तत् साधनमें प्रवृत्तिहेतु उत्साहके वर्द्धनके लिए वशित्व आदि गुणोंके उपन्यास द्वारा मुक्तकी स्तुति की गई है। प्रवृत्तिके लिए स्तुतिवाद है और निवृत्तिके लिए निन्दावाद है, यह लोक और शास्त्रमें प्रसिद्ध ही है। श्रुत वशित्व आदि गुणोंके लोभसे यज्ञ आदि साधनोंमें मुमुक्षुकी प्रवृत्ति होती है, अन्यथा निवृत्ततृष्ण पुरुषकी यज्ञादि कर्मोंमें प्रवृत्ति नहीं होगी और उसके बिना अन्तःकरणकी शुद्धि नहीं होगी। अशुद्ध अन्तःकरणसे आत्मज्ञान नहीं हो सकता ॥ ३८२ ॥

'ननु' इत्यादि। ब्रह्मज्ञानसाधन यज्ञ आदिमें प्रवृत्ति होनेके लिए मुक्त जीवकी 'सर्वस्य वशी' इत्यादिसे स्तुति की गई है; यह जो आपने कहा, वह ठीक नहीं है, कारण कि उसमें यह विकल्प होता है कि कल्पित धर्म ज्ञानबाध्य होते हैं अथवा नहीं ? प्रथम पक्षमें ईश्वरधर्म भी कल्पित ही माने जाते हैं, अतः जीवधर्मोंके समान उनका भी नाश अवश्यंभावी है ॥ ३८३ ॥

द्वितीय पक्षमें दोष देते हैं—'द्वितीये' इत्यादिसे।

यदि कल्पित धर्म ज्ञानबाध्य न हों, तो ईश्वरधर्मोंके समान जीवधर्मोंका भी नाश नहीं होगा, ऐसी परिस्थितिमें उसके जन्मादि अवश्य मानने होंगे। जन्मादि होनेपर 'सर्वस्य वशी' इत्यादि श्रुत्युक्त गुण कैसे हो सकते हैं ? ॥ ३८४ ॥

उक्त शङ्काकी निवृत्ति करते हैं—'मैवं यतो' इत्यादिसे।

ततः कालत्रयासत्त्वबोधो बाध इतीर्यते ।
स्वत एव कदाचिच्चेदसत्ता नाश एव हि ॥ ३८६ ॥
जीवधर्माश्चेशधर्माः सन्तीत्येवं न मे मतम् ।
असतामेव तेषां तु भानं मायिकमिष्यते ॥ ३८७ ॥
कादाचित्की सतोऽसत्त्वेत्येष नाशो न तेष्वतः ।
कालत्रयासत्त्वबोधरूपो बाधस्तु सम्भवेत् ॥ ३८८ ॥

नाश और बाधमें बड़ा भेद है । रज्जुसर्पका ज्ञानसे बाध माना जाता है, फूटे घड़ेके समान नाश नहीं माना जा सकता । अतः ज्ञानबाधित वशित्व आदिकी अनुवृत्ति हो सकती है, अतएव नष्टमें बाधितत्वबुद्धि नहीं होती और बाधितमें नष्टत्वबुद्धि नहीं होती ॥ ३८५ ॥

'ततः' इत्यादि । कालत्रय—भूत, वर्तमान और भविष्यत्—इन तीनों कालोंमें जिसकी असत्ताका बोध हो, वह बाधित कहलाता है, कालत्रयासत्त्व ही बाध है, जैसे रज्जुसर्प । भ्रान्ति होनेसे यह सर्प है, ऐसा भ्रमात्मक ज्ञान होता है, इसीसे उसकी तात्कालिक सत्ता प्रतीत होती है; रज्जुका साक्षात्कार होनेपर 'यह सर्प न था, न है और न होगा' इस प्रकार आरोपित सर्पकी तीनों कालोंमें असत्ता सिद्ध होती है, यही रज्जुमें सर्पका बाध कहा जाता है । जिस पदार्थकी ज्ञानके बिना ही कदाचिद् असत्ता होती है; उसका नाश कहा जाता है, जैसे 'मृद्घटः' इस प्रतीतिसे मृदात्मक घटकी सत्ता मानी जाती है, मुद्गरप्रहार आदिसे घटकी असत्ता होनेपर घटका नाश कहा जाता है, उससे पहले घटकी सत्ताका अभाव नहीं है, अतः उस समय नाशव्यवहार नहीं होता । यही बाध और नाशमें भेद है ॥ ३८६ ॥

'जीव०' इत्यादि । जीवधर्म और ईशधर्म वास्तवमें हैं, यह मेरा मत नहीं है क्योंकि ईशमें और जीवमें जो धर्म कहे गये हैं, वे वास्तविक नहीं हैं, अपि तु निर्विशेष आत्मामें वे मायिक यानी मायाकल्पित रज्जुभुजङ्गके समान प्रतिभामात्रशरीर हैं, वे कालत्रयमें उसमें नहीं हैं, परन्तु असत ही उन धर्मोंका भान मायासे होता है ॥ ३८७ ॥

'कादाचित्की' इत्यादि । कदाचिद् वर्तमानका असत्तारूप पूर्वोक्त नाश उक्त

बाधिता अपि भासन्ते सामग्र्याः सम्भवे सति ।
आरब्धशेषः सामग्री तन्निवृत्तौ न भासनम् ॥ ३८९ ॥
निवृत्तत्वाज्जीवधर्मा भासन्ते नैव कस्यचित् ।
अनिवृत्ता ईशधर्मा अकर्मापादितत्वतः ॥ ३९० ॥

धर्मोंके विषयमें नहीं कह सकते, किन्तु कालत्रयासत्त्वरूप बाध उनके विषयमें कह सकते हैं ॥ ३८८ ॥

'बाधिता' इत्यादि ।

शङ्का—बाधितका भान कैसे होता है ?

समाधान—सामग्रीका सम्भव होनेपर बाधितका भान अनुभवसिद्ध है ।

शङ्का—बाधितकी अनुवृत्तिमें सामग्री (कारण) कौन है ?

समाधान—क्या जीवधर्मोंके भानमें कारण पूछते हो या ईशधर्मोंके भानमें कारण पूछते हो ? यदि जीवधर्मोंके भानमें कारण पूछते हो, तो उसका उत्तर है—प्रारब्धकर्मसामग्री । जीवधर्म बोधसे बाधित हो जानेपर भी प्रारब्ध कर्मसे प्रतिबद्ध होकर निवृत्त नहीं होते अर्थात् उनकी निवृत्तिमें प्रारब्ध कर्म प्रतिबन्धक हैं ।

शङ्का—क्यों ?

समाधान—यदि जीवमें कर्तृत्व आदि धर्मकी निवृत्तिके समान भोक्तृत्वकी भी निवृत्ति हो जायगी, तो वह भोक्ता नहीं हो सकता, क्योंकि कर्तृत्वनिवृत्तिके समान भोक्तृत्वकी भी निवृत्ति हो जायगी । और भोगके बिना प्रारब्ध कर्मोंकी निवृत्ति ही असम्भव है । कर्मनिवृत्तिके बिना मोक्ष नहीं हो सकता । अतः कर्तृत्व आदि जीवधर्म ज्ञानबाधित होनेपर भी शरीरस्थितिपर्यन्त भासित होते हैं । कर्मका क्षय होनेपर तत्प्रापित कर्तृत्व आदि जीवधर्म भी निवृत्त हो जाते हैं, तब किसीका भान नहीं होता, यही विदेहकैवल्य कहलाता है ॥ ३८९ ॥

ईशधर्ममें जीवधर्मवैलक्षण्य कहते हैं— 'निवृत्त०' इत्यादिसे ।

जीवधर्म निवृत्त हो जाते हैं, इसलिए उनका भान किसीको नहीं होता, अकर्मनिमित्तक ईशधर्म अवशिष्ट रहते हैं, उनकी निवृत्ति नहीं होती ॥ ३९० ॥

भान्ति ते त्वीश्वरस्याऽपि बुद्धानां च स्वबुद्धितः ।
ईश्वरस्य ततो धर्माः सन्तु न त्विह विस्मयः ॥ ३९१ ॥
कर्माधीना जीवधर्मा बहुधा क्लेशयन्ति हि ।
ईशधर्मास्तु नो किञ्चित् क्लेशयन्ति कदाचन ॥ ३९२ ॥
तिष्ठत्स्वपीशधर्मेषु धर्माणां मायिकत्वतः ।
ईशो निर्धर्मको बोध्यो विमुक्त्यर्थं बुभुत्सुभिः ॥ ३९३ ॥
तस्मादत्र वशित्वादीन् श्रुतिर्बोधयत्यमून् ।
किन्तु शाखाग्रवद्वस्तुलक्षकत्वेन वक्त्यसौ ॥ ३९४ ॥
उपासनेषु ते धर्मा बोध्यत्वेन विवक्षिताः ।
यथोपासनमेत्येष फलमित्यभिधानतः ॥ ३९५ ॥

'भान्ति' इत्यादि । वशित्व आदि ईश्वरधर्म ईश्वरको भी प्रतीत होते हैं, बुद्ध (मुक्त) ईश्वरसे अभिन्न माना जाता है, अतः ईश्वरके धर्म वशित्व आदि यदि मुक्तमें प्रतीत हों, तो आश्चर्य ही क्या है ? ॥ ३९१ ॥

'कर्मा०' इत्यादि । कर्माधीन जीवधर्म अनेक प्रकारका क्लेश देते हैं, और ईशधर्म किसी समय कुछ क्लेश नहीं देते ॥ ३९२ ॥

'तिष्ठत्स्वपीश'० इत्यादि ।

शङ्का—यदि ईशमें धर्म रहते हैं, तो 'नेति नेति' इत्यादि वाक्योंसे निर्विशेष ब्रह्म कैसे माना जायगा ?

समाधान—ईशधर्मोंके रहनेपर भी उनको मायिक मानकर मुमुक्षुको अपनी मुक्तिके लिए निर्विशेष ब्रह्मको ही समझना चाहिए ॥ ३९२ ॥

'तस्माद्०' इत्यादि ।

शङ्का—वशित्व आदि धर्म भी श्रुतिप्रतिपाद्य ही हैं, अतः वे मायिक कैसे ?

समाधान—वशित्व आदि धर्मोंमें श्रुतियोंका परम तात्पर्य नहीं है, क्योंकि 'अस्थूलमनणु०' इत्यादि वाक्योंसे ब्रह्म निर्विशेष ही बोधित किया गया है। तदनुरोधसे वशित्व आदि धर्मोंकी बोधक श्रुतियाँ भी वशित्व आदि गुणोंसे विशिष्ट ब्रह्मका ध्येयत्वरूपसे प्रतिपादन नहीं करती, किन्तु 'शाखाग्रे चन्द्रः' न्यायसे तटस्थरूपसे निर्विशेष ब्रह्मका ही प्रतिपादन करती हैं ॥ ३९४ ॥

'उपासनेषु' इत्यादि ।

वशी सर्वस्येति वाक्ये स्वातन्त्र्यं चाऽन्यतन्त्रता ।
उच्यते लोकदृष्टान्तो द्विविधो दृश्यते यतः ॥ ३९६ ॥
सर्वमेतज्जगत्स्वात्मवशे तस्याऽत्र वर्तते ।
मन्त्रवादिवशे यद्वत् सकलं भूतभौतिकम् ॥ ३९७ ॥

शङ्का—यदि ब्रह्मधर्म ज्ञेयत्वरूपसे विवक्षित नहीं हैं, तो छान्दोग्योपनिषत्में 'अनुविद्य एतांश्च सत्यान् कामान्' इत्यादि वाक्यसे सत्यकाम आदि धर्मोंमें ज्ञेयत्वका अभिधान क्यों किया गया है?

समाधान—ठीक है, वह वाक्य सगुणोपासनापरक है, अतः तत्तद्गुण-विशिष्ट ब्रह्मके बोधनमें ही उसका तात्पर्य है, परन्तु तत्तद्गुणविशिष्ट ब्रह्म ध्येयत्व-रूपसे विवक्षित है, ज्ञेयत्वरूपसे नहीं, अन्यथा निर्विशेष ब्रह्मकी प्रतिपादक श्रुतियोंके साथ विरोध हो जायगा ।

शङ्का—ध्यानका विधान क्यों किया गया है?

समाधान—सत्यकामत्व आदि फलके अर्थियोंके लिए तत्तद्गुणविशिष्ट ब्रह्मकी उपासना कही गई है । जो पुरुष जिस गुणसे विशिष्ट आत्माकी उपासना करता है, उसको उस गुणकी प्राप्ति होती है ॥ ३९५ ॥

'वशी' इत्यादि । 'सर्वस्य वशी' इत्यादि वाक्यसे स्वतन्त्रत्व और परतन्त्रत्व दोनोंकी मुक्तात्मामें प्रतीति होती है, क्योंकि दोनों प्रकारका दृष्टान्त लोकमें मिलता है ॥ ३९६ ॥

'सर्वमेतत्' इत्यादि । यह सम्पूर्ण जगत ईश्वराभिन्न मुक्तात्माके वशमें है, इसलिए मुक्त सबको वशमें करनेवाला कहलाता है । जैसे मन्त्रसिद्ध पुरुषके वशमें सब भूत और भौतिक रहते हैं, वैसे ही मुक्तके वशमें सारा संसार रहता है । 'ऋषीणां पुनराद्यानां वाचमर्थोऽनुधावति' के अनुसार महर्षियोंके वचन मात्रसे ही सब भूत और भौतिक पदार्थ तत्-तत् रूपमें परिणत हो जाते थे, जिसको कहा—तुम देवता हो जाओ, वह देवतारूपसे तुरत परिणत हो जाता था, जिसको कहा तुम राक्षस हो जाओ, वह राक्षसरूपसे परिणत हो गया, यह पुराण और इतिहासमें स्पष्ट है । सम्पूर्ण भूत और भौतिक महर्षियोंकी आज्ञामें ही रहते हैं ॥ ३९७ ॥

अयं वा सकलैर्जीवैर्हृदि स्वस्य वशीकृतः ।
अपत्यैर्जननी यद्वत् स्वेषु स्निग्धा वशीकृता ॥ ३९८ ॥

श्रुतिः—सर्वस्येशानः सर्वस्याधिपतिः स न साधुना कर्मणा भूयान्नो एवासाधुना कनीयानेष सर्वेश्वर एष भूताधिपतिरेष भूतपाल एष सेतुर्विधरण एषां लोकानामसंभेदाय ।

सर्वमीष्टे जगत्सोऽयं स्वगृहं हि गृही यथा ।
अधिष्ठाय जगत्सर्वं पाति चैष यथा रविः ॥ ३९९ ॥

अब परतन्त्रताके विषयमें कहते हैं—'अयं वा०' इत्यादिसे ।

यह मुक्त पुरुष सकल सांसारिक पुरुषोंके हृदयमें जीवोंके द्वारा वशीभूत रहता है । जैसे अपने बच्चोंमें स्निग्धा (अतिस्नेहवती) माता बच्चोंके परतन्त्र रहती है, वैसे ही मुक्त पुरुष करुणासे सकल संसारी पुरुषोंके परतन्त्र रहता है, उन्हें नाना उपायोंका उपदेश देता है, जिससे कि वे अनेक प्रकारके दुःखोंसे मुक्त हो जायँ । यदि मुक्त पुरुषकी दया साधारण पुरुषोंपर न होती, तो उनके लिए उसको यत्न करनेकी क्या आवश्यकता होती ? ॥ ३९८ ॥

'सर्वस्येशानः' इत्यादि श्रुति । श्लोकोंके व्याख्यानसे श्रुतिका अर्थ स्पष्ट हो जायगा ।

'सर्वमीष्टे' इत्यादि । जैसे गृही पुरुष अपने घरका मालिक होता है, अतएव उसका सुचारुरूपसे शासन करता है, वैसे ही आत्मा सम्पूर्ण जगत्का ईशान—ईशनाशक्तिविशिष्ट—है यानी शासन करता है । 'सर्वस्याधिपतिः' इसका अर्थ कहते हैं—जैसे सूर्य जगत्के अधिष्ठाता होकर उसकी रक्षा करते हैं, वैसे ही वह भी जगत्के अधिष्ठाता होकर उसकी रक्षा करता है ।

शङ्का—उदासीन आत्मामें ईशानत्व नहीं हो सकता, वस्तुतः ईशानत्व क्रियावान्में ही हो सकता है, आत्मा क्रियाशून्य है, फिर वह ईशान कैसे होगा ?

समाधान—इसीलिए तो श्रुतिने अधिपति भी कहा है, जगत् आत्मकार्य है, अतः आत्मामें ही उत्पन्न होता है, अवस्थित रहता है तथा लीन भी होता है । उत्पत्ति, स्थिति और हानिप्रयोजक त्रिविध आधिपत्य आत्मामें ही है ॥ ३९९ ॥

कर्मणा सुकृतेनैष नाऽधिकः स्यात्कथञ्चन ।
सुकृतीह यथा लोके भूयान् स्याद्यशआदिना ॥ ४०० ॥
कर्मणा पातकेनाऽयं कनीयान्न भवेत् क्वचित् ।
लघुर्भवति पापेन यथा पापरतो जनः ॥ ४०१ ॥
न कर्मपरतन्त्रोऽयं कर्माध्यक्षत्वसंश्रयात् ।
तस्मादीशत्वाधिपत्ये इत्युक्तार्थोपसंहृतिः ॥ ४०२ ॥

'कर्मणा' इत्यादि । सुकृतसे आत्मा बढ़ता नहीं है, जैसे यश आदिसे पुण्यकारी पुरुष बढता है ।

शङ्का—क्यों ?

समाधान—आत्मा कार्य और कारण दोनोंसे भिन्न है, अतएव कूटस्थ है, उसीसे कर्तृत्व, स्वामित्व आदिसे शून्य होनेके कारण उसमें फलसम्बन्ध भी नहीं है, केवल कारणीभूत अविद्याका आश्रय होनेसे कारण कहा जाता है ॥ ४०० ॥

'कर्मणा' इत्यादि । जैसे पापकर्मपरायण पुरुष पापकर्मसे लघु होता है, वैसे ही आत्मा पापसे लघु भी नहीं होता। कर्तृत्वका अभिमानी होनेसे क्षेत्रज्ञ पुण्य और पापका संसर्गी होता है, ईशमें तादृश अभिमान नहीं है, अतः उसका संसर्गी भीन हीं है । ईशत्व भी अज्ञानकृत ही है, अज्ञानोपाधिक आगन्तुक—हेत्वनपेक्ष—होता है, इसीसे उसमें धर्मादिसंसर्ग नहीं है, अतः उसकी कर्मप्रयुक्त हानि और वृद्धि भी नहीं है ॥ ४०१ ॥

'न कर्मपर०' इत्यादि। 'एष सर्वेश्वर एष भूताधिपतिः' इन दोनों वाक्योंमें पुनरुक्ति दोषका परिहार करते हैं—'तस्मात्' इत्यादिसे । सर्वेश्वरत्व और आधिपत्य—इन दोनों पूर्वोक्तोंका यहां उपसंहार है । यह आत्मा कर्माध्यक्ष होनेसे कर्मपरतन्त्र नहीं है । काम, कर्म और अविद्याके आश्रय जीव जैसे तत्-तत् फलसे संसृष्ट अतएव कर्मपरतन्त्र होता है, वैसे यह पर आत्मा कर्मादिपरतन्त्र नहीं होता, कारण कि यह तो सर्वेश्वर होनेसे कर्मादिका भी ईश्वर यानी नियन्ता है, अतः वह कर्मपरतन्त्र कैसे हो सकता है ?

शङ्का—विष्णु या शिव सर्वेश्वर हैं, आत्मा सर्वेश्वर नहीं है ।

समाधान—आत्मासे ही भूतोंकी उत्पत्ति श्रुतिमें वर्णित है—'एतस्मादात्मनः आकाशः सम्भूतः' इत्यादि, 'एतस्माज्जायते प्राणः मनः सर्वेन्द्रियाणि च'

साधारणं च प्रत्येकमिति स्यात् पालनं द्विधा ।
साधारणं रविः पाति जननी तु विशेषतः ॥ ४०३ ॥
द्वेधाऽपीशः पालकः स्यात्सेतुवद्धारकोऽप्यसौ ।
मृद्दार्वादिमयः सेतुर्दृश्यते जलधारकः ॥ ४०४ ॥
एषां भूरादिलोकानामसाङ्कर्यार्थमीश्वरः ।
सर्वं संभिन्नमर्यादं निर्गच्छति यथायथम् ॥ ४०५ ॥
यद्ययं न भवेल्लोके मर्यादानां विधारकः ।
महाभूतान्यमून्यत्र को नामाऽन्यो निवारयेत् ॥ ४०६ ॥

इत्यादि । कारण ही कार्यका पालन करता है, यह सर्वत्र लोक और शास्त्रमें प्रसिद्ध है, अतः आत्मा सर्वेश्वर है ॥ ४०२ ॥

'साधारणम्' इत्यादि । पालन दो प्रकारके होते हैं—एक सर्वसाधारण जैसे सूर्य जगत्का पालन करते हैं, उनका पालन सर्वसाधारण ही होता है, प्रतिव्यक्ति विशेषरूपसे नहीं होता और दूसरा प्रत्येक व्यक्तिका विशेषरूपसे पालन किया जाता है, इसका उदाहरण मातृपालन है। माता पुत्रका पालन विशेषरूपसे करती है, यह लोकमें प्रसिद्ध ही है ॥ ४०३ ॥

'एष सेतुः' इसका अर्थ कहते हैं—'द्वेधा' इत्यादिसे ।

ईश उभयथा पालन करते हैं—रविके समान साधारणरूपसे और माताके समान विशेषरूपसे भी । यह ईश्वर सेतुके समान धारक भी है । मट्टी अथवा लकड़ीसे बना हुआ सेतु (बांध या फाटक) जैसे जलका धारण करता है यानी जलको आगे जानेसे रोकता है, वैसे ही यह आत्मा जगत्का धारक है यानी सर्वलोकव्यवस्थाका हेतु है ॥ ४०४ ॥

'एषां लोकानामसंभेदाय' इसका अर्थ स्फुट करते हैं—'एषां भूरादि०' इत्यादिसे ।

भूलोक, भुवर्लोक स्वर्लोक आदि चतुर्दश लोकोंका परस्पर सांकर्य न हो, इसलिए तथा वर्णाश्रमव्यवस्थाका साङ्कर्य न हो, इसलिए परमात्मा सेतुरूपसे सबका धारण करता है ॥ ४०५ ॥

'यद्ययं न' इत्यादि । मर्यादाका विधारक यदि परमात्मा लोकमें नहीं होता, तो इन महाभूतोंका परस्पर संघर्ष कौन बचाता ? ॥ ४०६ ॥

आशीविषादिकांस्तद्वत्तामसानतिकोपिनः ।
निवारयति को नाम सर्वदा प्राणिहिंसने ॥ ४०७ ॥
अम्भोनिधीनगाधोदान्कल्लोलशतमालिनः ।
निवारयेच्च को नाम जगदाप्लवने सति ॥ ४०८ ॥
इत्यादिकं समग्रस्य लोकस्याऽस्य विधारणम् ।
क्रियते येन स ज्ञेयः सेतुरात्मा महेश्वरः ॥ ४०९ ॥

श्रुतिः—तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन ।

इत्थं वेद्यस्य तत्त्वस्य रूपं स्पष्टं निरूपितम् ।
अथोच्यते ज्ञानहेतुर्वेदानुवचनादिकम् ॥ ४१० ॥
बहिरङ्गं कर्मजातं संन्यासस्याऽन्तरङ्गता ।
प्रत्यासन्नतराः शान्तिदान्त्याद्या इत्यसौ क्रमः ॥ ४११ ॥

'आशी०' इत्यादि । परमात्माके बिना अत्यन्त कोपशील तामस सर्पादिको प्राणिहिंसासे कौन विरत कर सकता ? वे सतत प्राणियोंकी हिंसा ही करते रहते ॥ ४०७ ॥

'अम्भो०' इत्यादि । विधारक ईश्वरके बिना सैंकड़ों कल्लोलमालाओंसे संयुक्त अगाध समुद्रसे जगत्‌को डुबानेसे कौन बचाता ? ॥ ४०८ ॥

'इत्यादिकम्' इत्यादि । पूर्वोक्त आपत्तियोंसे बचाकर समग्र इस लोकका विधारण करनेवाला महेश्वर परमात्मा ही है ॥ ४०९ ॥

'तमेतम्' इत्यादि श्रुति । श्लोकव्याख्यानसे श्रुत्यर्थ स्पष्ट है ।

'इत्थं वेद्यस्य' इत्यादि । उक्त प्रकारसे वेद्य आत्मतत्त्वके स्वरूपका स्पष्ट निरूपण किया गया, अब उसके ज्ञानके हेतु वेदानुवचन आदिको कहते हैं—'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति'। शोभनार्थधीकृत लौकिक इच्छा सुलभ है, आत्मविषयक विविदिषा दुर्लभ है; पर वेदन तो नितरां दुर्लभ है। जो पुरुष यज्ञाद्यनुष्ठानशील है, उसीको विविदिषा भी होती है, अन्यको नहीं । पापादि कर्म आत्मज्ञानोत्पत्तिमें प्रतिबन्धक हैं । यागादिकर्मानुष्ठानसे जब वे नष्ट हो जाते हैं, तब विविदिषा होती है ॥ ४१० ॥

'बहिरङ्गम्' इत्यादि । याग आदि कर्म आत्मज्ञानोत्पत्तिमें बहिरङ्ग साधन

अधीतवेदस्य जपो यज्ञो दर्शादिकस्तथा ।
दानं धान्यधनादीनां तपः कृच्छ्रादिरूपकम् ॥ ४१२ ॥
अनाशकं निजाहारसंत्यागो मरणावधिः ।
एतैर्वेदितुमिच्छन्ति ब्राह्मणाः शास्त्रकोविदाः ॥ ४१३ ॥
इच्छेति रुचिरत्र स्यात् सा चोक्तैः कर्मभिर्भवेत् ।
पापेन प्रतिबद्धाऽसौ पुण्यैस्तां जनयेद्रुचिम् ॥ ४१४ ॥

हैं संन्यास अन्तरङ्ग साधन है और शान्ति, दान्ति आदि अन्तरङ्गतर साधन हैं, यह क्रम है। कर्मादि विविदिषासाधन हैं, ज्ञानसाधन शमादि हैं ॥ ४११ ॥

'अधीत०' इत्यादि। अधीतवेदका जप [प्रकृतमें जपशब्दसे वेदानुवचन विवक्षित है।], दर्शपूर्णमासादि यज्ञ, धन (सुवर्णादि) और धान्य (यवादि) का परसत्वापादनरूप दान और कृच्छ्रादि तप, जो धर्मशास्त्रमें प्रसिद्ध है ॥ ४१२ ॥

'अनाशकम्' इत्यादि। और मरणपर्यन्त भोजनत्याग [संकल्पपूर्वक अनशन करके जो मरता है, इसको जन्मान्तरमें विविदिषा अवश्य होती है]—इन उपायोंसे शास्त्रज्ञ ब्राह्मण आत्माके वेदनकी इच्छा करते हैं ॥ ४१३ ॥

'इच्छेति' इत्यादि।

शङ्का—इच्छा विषयसौन्दर्यसे ही होती है, अतः वह कर्मसे कैसे हो सकती है ?

समाधान—केवल इच्छा विषयसौन्दर्याधीन होती है, परन्तु यहां इच्छासे रुचि यानी प्रवृत्तिपर्यन्त इच्छा विवक्षित है, वह पुण्यसाध्य है।

शङ्का—रुचि भी विषयसौन्दर्यसे ही क्यों नहीं होती ?

समाधान—पापसे प्रतिबद्ध होनेसे नहीं होती, उक्त पुण्य कर्मसे जब पापकी निवृत्ति हो जाती है, तब प्रतिबन्धकाभावसे वह उत्पन्न होती है। जैसे जिसकी रसनेन्द्रिय पित्त दोषसे दूषित हो गई है, उस पुरुषकी दुग्धपानमें प्रवृत्ति नहीं होती, वैसे ही जिसका अन्तःकरण मलिन है, उस पुरुषकी वेदनेच्छा होनेपर भी उसमें रुचि नहीं होती, अतः यज्ञादि कर्मोंसे पापनिवृत्ति द्वारा ज्ञानमें रुचि होती है, अतः यज्ञादिका विधान श्रुतिमें है ॥ ४१४ ॥

निश्शेषदुःखनाशस्य स्वानन्दप्रापणस्य च ।
हेतुर्वेदनमित्येवं जानन् सोऽपि न रोचते ॥ ४१५ ॥

अरुच्या पापमूहित्वा तच्च पुण्यैर्विनाशयेत् ।
उत्पन्नायां रुचौ पुण्यं यज्ञदानादि सन्त्यजेत् ॥ ४१६ ॥

पुरा यज्ञाद्यनुष्ठानात् प्रतिबन्धस्य सत्त्वतः ।
अद्वैतबुद्धिर्नोदेति जगत्सत्यत्वविभ्रमात् ॥ ४१७ ॥

महापापवतां नृणां ज्ञानयज्ञो न रोचते ।
प्रत्युत ज्ञानयज्ञस्तु प्रद्वेष्यो भासते स्वतः ॥ ४१८ ॥

भोगसारत्वविभ्रान्त्या ज्ञाने भोगौघघातिनि ।
प्रद्वेषोऽशुद्धचित्तस्य महापापवतो भवेत् ॥ ४१९ ॥

उक्तार्थ को ही पुनः स्फुट करते हैं—'निःशेष०' इत्यादिसे ।

निःशेषदुःखनाशरूप आत्मानन्दकी प्राप्तिका हेतु ब्रह्मज्ञान है, यह जानते हुए भी उक्त ज्ञानमें उक्त प्रतिबन्धकवश रुचि नहीं होती ॥ ४१५ ॥

'अरुच्या' इत्यादि । अरुचिसे पापका अनुमानकर पुण्यकर्मानुष्ठानसे उनकी निवृत्ति करनी चाहिए । रुचि उत्पन्न होनेपर यज्ञ, दान आदि कर्मका त्याग करना चाहिए । जबतक उपेयप्राप्ति न हो तबतक उपायानुष्ठान आवश्यक है, उपेयप्राप्ति होनेपर उपायका त्याग आवश्यक है ॥ ४१६ ॥

'पुरा यज्ञा०' इत्यादि । यज्ञादिके अनुष्ठानसे पहले प्रतिबन्धकीभूत पापके रहनेसे अद्वैतात्मबुद्धि नहीं होती, कारण कि जगत्में सत्यत्वका भ्रम रहता है, प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोंसे सिद्ध जगत्की सत्ता देखकर अद्वैतात्मश्रवण होनेपर भी उसमें पूर्ण आस्था नहीं होती ॥ ४१७ ॥

'महापाप०' इत्यादि । महापापी मनुष्योंकी ज्ञानयज्ञमें केवल रुचि ही नहीं होती, यह नहीं है, प्रत्युत ज्ञानयज्ञसे उनको प्रद्वेष भी होता है ॥ ४१८ ॥

'भोगसारत्व०' इत्यादि । सांसारिक भोग ही तत्त्व है, इस भ्रान्तिसे भोगसमुदायके विनाशक ज्ञानमें अशुद्धचित्त महापापियोंका प्रद्वेष ही होता है, रुचि कभी नहीं होती ॥ ४१९ ॥

शुद्धचित्तस्य यज्ञाद्यैर्विवेकः शुद्धिसंभवः ।
वैराग्यं ब्रह्मलोकादौ व्यनक्त्यथ सुनिर्मलम् ॥ ४२० ॥
ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्ते संसारेऽस्मिन्नसारताम् ।
बुद्ध्वा भोगान्निवृत्तः सन् प्रत्यक्प्रवणतां व्रजेत् ॥ ४२१ ॥
जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम् ।
कुर्वन्दोषविहीनं तं निजात्मानं बुभुत्सते ॥ ४२२ ॥
महापापस्य नाशः स्यात् कर्मभिस्त्वसकृत्कृतैः ।
अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम् ॥ ४२३ ॥
प्रत्यक्प्रवणतां बुद्धेः कर्माण्युत्पाद्य शुद्धितः ।
कृतार्थान्यस्तमायान्ति प्रावृडन्ते घना इव ॥ ४२४ ॥
सामर्थ्यमीदृक् चेदस्ति कर्मणां तर्हि किं तव ।
ज्ञानेनेति न वक्तव्यं शुनित्वार्थमपेक्षणात् ॥ ४२५ ॥

'शुद्धचित्तस्य' इत्यादि । यज्ञादिकर्मानुष्ठानसे जो पुरुष निर्मलचित्त हो जाते हैं, उनको शुद्धिप्रयुक्त विवेक होता है, यही विवेक ब्रह्मलोकका जो उत्तम भोग है, उसमें वैराग्य उत्पन्न करता है ॥ ४२० ॥

'ब्रह्मादि०' इत्यादि । ब्रह्मासे लेकर स्तम्ब (छोटे पौधे) पर्यन्त संसारको निस्सार समझकर विषयभोगवासनासे निवृत्त होकर वे आत्मचिन्तनाद्युन्मुख होते हैं, जिनके कि चित्त यागादि कर्मसे शुद्ध हो जाते हैं ॥ ४२१ ॥

'जन्ममृत्यु०' इत्यादि । जन्म (उत्पत्ति), मृत्यु (मरण), जरा (वृद्धावस्था), व्याधि (रोग) और दुःख—ये ही संसारदशामें दोष है, इनपर दृष्टि रक्खे । संसारी पुरुषोंका उनसे छुटकारा नहीं होता, उक्त दोषोंसे रहित आत्माको जानकर उसकी जिज्ञासा करे ॥ ४२२ ॥

'महापापस्य' इत्यादि । बार-बार शुभ कर्मानुष्ठानोंसे संसिद्ध होनेपर पुरुष तदनन्तर उत्कृष्ट गतिको (मोक्षको) प्राप्त करता है ॥ ४२२ ॥

'प्रत्यक्' इत्यादि । अन्तःकरणशुद्धि द्वारा आत्मविषयक बुद्धिका उत्पादन कर कृतार्थ हुए शुभकर्म वर्षाऋतुके अन्तमें मेघके समान अस्त हो जाते हैं ॥ ४२४ ॥

'सामर्थ्य०' इत्यादि ।

श्रुतिः—एतमेव विदित्वा मुनिर्भवत्येतमेव प्रव्राजिनो लोकमिच्छन्तः प्रव्रजन्ति ।

बुभुत्सतेऽयमात्मानं सर्वैर्यज्ञादिकर्मभिः ।
एतमेव विदित्वाऽसौ मुनिर्भवति नाऽन्यथा ॥ ४२६ ॥
सदा मननशीलो यो जीवन्मुक्तो मुनिः स हि ।
स्थितप्रज्ञादिभिः शब्दैर्मोक्षशास्त्रेषु वर्ण्यते ॥ ४२७ ॥
ज्ञानाभावे मुनिः कः स्यात् सत्स्वप्यन्येषु कर्मसु ।
गृहिणोऽतो विमुक्त्यर्थं स्मर्यते ज्ञाननिष्ठता ॥ ४२८ ॥
न्यायार्जितधनस्तत्त्वज्ञाननिष्ठोऽतिथिप्रियः ।
श्राद्धकृत्सत्यवादी च गृहस्थोऽपि विमुच्यते ॥ ४२९ ॥

शङ्का—शुभकर्म अन्तःकरणशुद्धि द्वारा ब्रह्मज्ञानका उत्पादन कर जब स्वयं नष्ट हो जाते हैं, तब ज्ञानसे क्या प्रयोजन ? कर्म-निवृत्ति ही मोक्ष है ।

समाधान—ऐसा मत कहो, मुनित्वके लिए ज्ञानकी अपेक्षा होती है ॥४२५॥

'एतमेव' इत्यादि श्रुति । श्लोकव्याख्यानसे श्रुत्यर्थ स्पष्ट है ।

'बुभुत्सते' इत्यादि । सब यज्ञादि कर्मोंसे जिस आत्माकी बुभुत्सा की जाती है, उस आत्माका ज्ञान होनेपर ही वह पुरुष मुनि कहा जाता है, आत्मज्ञानके बिना नहीं ॥ ४२६ ॥

'सदा मनन०' इत्यादि । जो आत्ममननशील होता है, वही जीवन्मुक्त मुनि कहलाता है । मोक्षशास्त्र यानी गीतादिमें स्थितप्रज्ञ आदिसे उसीका वर्णन किया गया है ।

शङ्का—संन्यासी भी मुनि कैसे ? आश्रमकर्मसे उनका भी चित्त चञ्चल ही रहता है ।

समाधान—वेदान्तवाक्योंका आत्मैक्यविषयमें जो परमतात्पर्य है, उसका निश्चय कर उसी तात्पर्यविषय अर्थका श्रौत युक्ति द्वारा केवल अनुसन्धान करना ही संन्यासियोंका केवल कर्म है, उसके अन्य विरोधी कर्म नहीं हैं, अतः संन्यासी ही वस्तुतः मुनि हैं ॥४२७॥

'ज्ञानाभावे' इत्यादि । अन्य कर्म करनेपर भी यदि ज्ञान न हो, तो मुनि कौन हो सकता है ? गृहीको भी मुक्तिलाभके लिए ज्ञाननिष्ठ होना आवश्यक है ॥४२८॥

'न्यायार्जित०' इत्यादि । जो गृहस्थ न्यायसे धनार्जन करता हो,

पारिव्राज्यस्य वैयर्थ्यमेवं तर्हीति मोच्यताम् ।
आत्मानं लोकमिच्छन्तः प्रव्रजन्ति यतः स्वतः ॥ ४३० ॥

लोक्यते दृश्यते योऽर्थः स लोक इति वर्णनात् ।
आत्मदर्शनहेतुः स्यात् पारिव्राज्यं विशेषतः ॥ ४३१ ॥

अरुचिप्रतिबन्धस्य कर्मभिः प्रक्षये सति ।
गृहस्थो वा परिव्राड् वा शास्त्रेणाऽऽत्मानमीक्षते ॥ ४३२ ॥

तत्त्वज्ञानमें निष्ठावान् हो और अतिथिप्रिय हो यानी भोजनके समय अन्नार्थी कोई अतिथि (अभ्यागत) उपस्थित हो, तो प्रेमपूर्वक उसको भोजन कराता हो, तथा पितृकर्म (श्राद्धादि) समयपर करता हो, एवं सत्यवादी हो, वह गृहस्थ भी मुक्तिका भागी होता है ॥ ४२९ ॥

'पारिव्राज्यस्य' इत्यादि ।

शङ्का—यदि गृहस्थको भी मुक्ति होती है, तो दुष्कर स्त्री, पुत्र आदिके त्यागरूप संन्यासका क्या प्रयोजन ? सुकरोपायसे इष्टसिद्धि होनेपर कठिन कर्ममें कौन प्रेक्षावान् प्रवृत्त होगा ?

समाधान—ऐसी शङ्का मत करो, आत्मलोककी इच्छा करनेवाले पुरुष स्वतः संन्यास ग्रहण करते हैं, विधिवश नहीं ॥ ४३० ॥

'लोक्यते' इत्यादि ।

शङ्का—'लोकमिच्छन्तः' इस श्रुतिके निर्देशसे संन्यास लोकहेतु है, ज्ञान-हेतु नहीं है, यह स्पष्ट प्रतीत होता है फिर आप संन्यास ज्ञानहेतु है, ऐसा क्यों कहते हैं ।

समाधान—'लोक्यते दृश्यते इति लोकः' इस व्युत्पत्तिसे लोकशब्द यहाँ ज्ञानपरक है; लोकहेतुका ज्ञानहेतु ही अर्थ है, इससे पारिव्राज्य आत्मदर्शन-हेतु है, यह अर्थ सिद्ध होता है ॥ ४३१ ॥

'अरुचि०' इत्यादि । आत्मज्ञानोत्पत्तिके प्रतिबन्धक गर्हित कर्मोंका यागादि शुभकर्मोंसे क्षय हो जानेपर गृहस्थ हो अथवा परिव्राड् (संन्यासी) हो, शास्त्रसे आत्माको देख सकता है, वस्तुतः अधिकारी होना चाहिए, अधिकार केवल संन्याससे ही नहीं होता, यह तो केवल बाह्य लिङ्गमात्र है । कर्मफलसंन्यास

जनकोपस्तगार्ग्यादेर्न स्याद् वेदनमन्यथा ।
सुलभं तु परिव्राजो बहुविक्षेपवर्जनात् ॥ ४३३ ॥
सोढ्वाऽपि कर्मविक्षेपं ज्ञाननिष्ठो भवेद्यदि ।
विमुच्यते गृहस्थोऽपि प्रव्रजन्त्यन्यथा पुनः ॥ ४३४ ॥
अतो विदित्वेति वाक्यं सामान्यविषयं भवेत् ।
प्रव्रजन्तीति वाक्यं तु विशेषेण प्रवर्तते ॥ ४३५ ॥
सकृद्बोधो वेदनं स्यान्मुनित्वं ज्ञानशीलता ।
अज्ञानहानिर्बोधात् स्याज्जीवन्मुक्तिर्मुनित्वतः ॥ ४३६ ॥

ही मुख्य संन्यास है । इसीसे भगवान्‌ने स्पष्ट कहा है—'न कर्मणामनारम्भात्' इत्यादि ॥ ४३२ ॥

'जनकोपस्त०' इत्यादि ।

शङ्का—संन्यास ज्ञानहेतु है, इस श्रौत अर्थसे गृहस्थको ज्ञान नहीं होता, ऐसा क्यों न माना जाय ?

समाधान—जनक, उषस्त और गार्ग्यको भी ब्रह्मज्ञान था, ऐसा उपनिषदोंमें स्पष्ट है । अतः उक्त कथन असङ्गत है ।

शङ्का—अच्छा, यदि गृहस्थ तथा संन्यासी दोनों मुक्त हो जाते हैं, तो संन्यासमें विशेषता क्या है ?

समाधान—विशेषता यह स्पष्ट है कि गृहस्थाश्रममें चित्तविक्षेपकारक कर्म अधिक होते हैं, इसलिए उक्त आश्रममें ज्ञानोत्पादन कष्टसाध्य है । संन्यासमें चित्तविक्षेपकर कर्मोंके न होनेसे ज्ञान सुलभ है, इसी तात्पर्यसे संन्यासका विधान किया गया है ॥ ४३३ ॥

'सोढ्वाऽपि' इत्यादि । गृहस्थ भी यदि कर्मविक्षेपोंको सहकर ज्ञाननिष्ठ हो, तो वह भी मुक्त होता ही है । यदि विक्षेपोंको न सह सके, तो संन्यासका ही ग्रहण करे ॥ ४३४ ॥

'अतो विदि०' इत्यादि । 'अतो विदित्वा' वाक्य सामान्यविषयक है, और 'प्रव्रजन्ति' वाक्य विशेषविषयक है ॥ ४३५ ॥

'सकृद्बोधो' इत्यादि ।

श्रुतिः—एतद्ध स्म वै तत्पूर्वे विद्वाꣳसः प्रजां न कामयन्ते किं प्रजया करिष्यामो येषां नोऽयमात्माऽयं लोक इति ते ह स्म पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्च व्युत्थायाथ भिक्षाचर्यं चरन्ति या ह्येव पुत्रैषणा सा वित्तैषणा या वित्तैषणा सा लोकैषणा ।

जीवन्मुक्तिरभीष्टा चेद् विद्वत्संन्यासमाचरेत् ।
एतद्ध स्मेति वाक्येन तदेतदभिधीयते ॥ ४३७ ॥
अपत्यैः किं करिष्यामः सर्वदा दुःखहेतुभिः ।
परमानन्द आत्माऽयमस्माभिर्वीक्ष्यतेऽनिशम् ॥ ४३८ ॥

शङ्का—'विदित्वा मुनिर्भवति' इस वाक्यमें वेदन और मुनित्व दोनों एक ही पदार्थ हैं, अतः उनमें साध्यसाधनभाव नहीं हो सकता ।

समाधान—वेदनसे सकृद्बोध विवक्षित है और मुनित्वसे ज्ञानशीलता विवक्षित है । केवल स्वरूपभेद ही नहीं है, किन्तु इनमें फलभेद भी है । बोधसे अज्ञाननिवृत्ति होती है और मुनित्वसे जीवन्मुक्ति होती है । यहाँपर अज्ञानशब्दसे जगत्-सत्यत्वविभ्रमापादक अज्ञानांश विवक्षित है, अखण्डानन्दावारक अज्ञानांश विवक्षित नहीं है, क्योंकि गृहस्थोंके लिए भी ज्ञाननिष्ठाका विधान है ॥ ४३६ ॥

'एतद्ध स्म' इत्यादि श्रुति । श्लोकव्याख्यानसे श्रुत्यर्थ स्पष्ट है ।

'जीवन्मुक्ति॰' इत्यादि । यदि जिवन्मुक्ति अभीष्ट है, तो विद्वत्संन्यासका ग्रहण करना चाहिए, क्योंकि 'एतद्ध स्म' इत्यादि अर्थवादवाक्यसे जीवन्मुक्तिसाधन विद्वत्संन्यास है, यह स्फुट प्रतीत होता है । 'ह' और 'स्म' ये दोनों शब्द ऐतिह्यार्थक हैं, 'वै' शब्द स्मरणार्थक है ॥ ४३७ ॥

'अपत्यैः' इत्यादि । सदा दुःखहेतु अपत्योंसे (सन्तानोंसे) हम लोगोंको क्या करना है ? आत्मसुखके लिए ही लोग अपत्य चाहते हैं, पर अपत्यसे सुखकी अपेक्षा दुःख ही अधिक होता है । अगर वह मूर्ख हुआ तो उससे पद पद पर दुःख ही होता है, गुणी होनेपर भी उसके दुःखसे दुःख ही होता है, फिर भी संसारी पुरुषोंके लिए उसकी आवश्यकता हो सकती है । किन्तु संसारपराङ्मुख हम मोक्षार्थी लोगोंको उससे क्या लेना है ? इस परमानन्दस्वरूप आत्माको हम लोग सतत देखते हैं, उससे अधिक आनन्द अन्यत्र है नहीं ॥ ४३८ ॥

इति मत्वा तत्त्वविदो व्युत्थायाऽथैषणात्रयात् ।
भिक्षया देहनिर्वाहं कुर्वन्तः सुखमासते ॥ ४३९ ॥

'इति मत्वा' इत्यादि । आत्मारूप पुरुषार्थमें पुत्रादि साधनकी अपेक्षा नहीं है, यह मानकर तत्त्ववेत्ता एषणात्रयसे यानी लोकैषणा, पुत्रैषणा और वित्तैषणासे निःस्पृह होकर भिक्षामात्रसे शरीरका निर्वाह करते हुए सुखपूर्वक रहते हैं। भाव यह है कि उनकी यह पक्की धारणा है कि जो जन्मादियुक्त वस्तु है, वह स्वाप्निक वस्तुके समान तुच्छ है। आत्मज्ञानमें ही निःशेष पुरुषार्थ समाप्त हो जाते हैं, अतः जब दूसरा पुरुषार्थ ही नहीं है, तब उसके साधन पुत्रादिकी क्या आवश्यकता है? इस अनुसन्धानसे पुत्रादिका तथा नृलोकादि फलोंका तिरस्कार करते हैं। एषणाका फल उत्पाद्य, विकार्य, संस्कार्य और आप्य भेदसे चार प्रकारका होता है। ऐसे सातिशय विनाशी फलमें किस विद्वान्‌की आस्था होगी? विरक्त अज्ञको भी एषणाके त्यागसे ज्ञान होता है। जैसे ब्रह्मविद्या प्रत्यग्भूतब्रह्मानुरूप होनेसे ब्रह्मप्राप्तिकी हेतु है, वैसे ही एषणात्याग भी कर्मविरोधी होनेके कारण ब्रह्मज्ञानानुरूप होनेसे उसकी उत्पत्तिका साधन है, अतः अज्ञ विरक्तका भी संन्यास फलवान् होता है। सब भूतोंके आत्मभूत सर्वकात्म्यदर्शी अतएव अशेष पुरुषार्थोंको प्राप्त करनेवाला, इसीसे सम्पूर्ण दुःखोंसे रहित परम स्वास्थ्यको प्राप्त हुए यतिको प्रजादिसे क्या लेना है? इस निश्चयसे निःसङ्ग होकर संन्यास ग्रहण करते हैं। मृगतृष्णामें जलबुद्धिसे दौड़नेवाले मूर्खोंको देख कर मृगतृष्णाके तत्त्वको जाननेवाला पुरुष मूढके समान दौड़ता नहीं है। पुत्रोत्पत्तिके उद्देश्यसे दारसंग्रहको पुत्रैषणा कहते हैं। मनुष्यलोककी प्राप्तिके उद्देश्यसे भी पुत्रैषणा होती है। कर्मप्रयोजक मानुष और दैव वित्त तथा देवतादि-परिज्ञानको वित्तैषणा कहते हैं।

शङ्का—ब्रह्मविज्ञान भी देवताविज्ञानके समान दैववित्तसे क्यों नहीं गृहीत होता है?

समाधान—ब्रह्मज्ञान संसारकारणध्वंसि अतएव मुक्तिप्रद है, अतः कर्म-विरोधी होनेसे दैववित्तसे उक्त ज्ञानका ग्रहण नहीं होता, विशेष अन्यत्र देखिए ॥ ४३९ ॥

परिव्राड्भिर्बुद्ध आत्मा कीदृगित्यभिशङ्किते ।
स एष नेति नेतीति श्रुतिराहोत्सुका सती ॥ ४४० ॥
ननु भिक्षादिना देहपोषणादौ समे सति ।
आत्मतत्त्वविदः कोऽतिशयो मूढादितीर्यताम् ॥ ४४१ ॥
सर्वेषामपि मूढानां चिन्ते स्तः पुण्यपापयोः ।
निमित्तमेते आत्मज्ञं चिन्ते द्वे प्राप्नुतो नहि ॥ ४४२ ॥
अतो मोहाद्धनं लब्धुमाकाङ्क्षं दुष्प्रतिग्रहम् ।
अतः कामात् स्वर्गमाप्तुमकार्षं दानमुत्तमम् ॥ ४४३ ॥
इति चिन्ते पुण्यपापविषये पुरुषं सदा ।
प्राप्नुतः प्राप्य तच्चिन्ते तापं जनयतः खलु ॥ ४४४ ॥

'परिव्राड्भि०' इत्यादि । संन्यासीसे ज्ञात आत्मा कैसा है ? ऐसी शङ्का होनेपर समाधान करनेके लिए उत्सुक (उत्कण्ठित) श्रुति स्वयं उत्तर देती है—नेति नेति इत्यादिसे । सकलधर्मातिग चैतन्यमात्र आत्मस्वरूपका उक्त श्रुति बोधन करती है । भाव यह है कि 'नेति नेति' इत्यादि वाक्यसे जब ऐकात्म्यसंमोह ध्वस्त हो जाता है, तब स्वमहिमामें प्रतिष्ठित आत्मा अगृह्य हो जाता है । परमात्माका ज्ञान होनेपर ज्ञेय (कार्य) समाप्त हो जाता है, फिर कुछ अवशिष्ट नहीं रहता ॥ ४४० ॥

'ननु' इत्यादि । भिक्षा या कृषि आदिसे देहपोषण ज्ञानी और मूढका समान ही है, फिर दोनोंमें विशेष ही क्या है ? यह कहो ॥ ४४१ ॥

'सर्वेषामपि' इत्यादि । सब मूढोंको अपने अपने चित्तमें पुण्य और पापकी चिन्ताएँ बनी रहती हैं । ये चिन्ताएँ आत्मज्ञके चित्तमें प्राप्त नहीं होती हैं ॥ ४४२ ॥

'अतो मोहा०' इत्यादि । इस मोहसे यानी अज्ञानसे धनके लाभके लिए अनुचित पापजनक प्रतिग्रहकी मैंने आकांक्षा की और इस कामनासे स्वर्गकी प्राप्तिके लिए उत्तम दान मैंने किया इस प्रकार पुण्य और पापविषयक चिन्ताएँ सदा अज्ञ पुरुषको होती हैं और चिन्ताएँ पुरुषमें आकर तापको उत्पन्न करती हैं ।

शङ्का—सदा पापका ही भोग करे, चिन्ता क्यों ?

करणात् तापयेत् पापं कर्तारि स्वफलेन च ।
सुकृतं करणात् तद्वत् स्वफलस्य क्षयादिना ॥ ४४५ ॥
यदा न प्राप्नुतश्चिन्ते उभे तत्त्वविदं तदा ।
न तापयत इत्येवं किमु वक्तव्यमस्ति हि ॥ ४४६ ॥

समाधान—असह्य अपार दुःखराशि उपस्थित हुई है, यह कठिन संकल्प हिचकीसे समाकुल सामार्थ्यहीन पुरुषके तापका कारण होता है ॥ ४४३,४४४ ॥

'करणात्' इत्यादि ।

शङ्का—सुकृत क्यों तापका कारण होता है ? उसका फल तो सुख है, जो सदा सबको अभीष्ट ही रहता है ।

समाधान—पाप करनेके अनन्तर ही कर्ताको पश्चात्तापसे सन्तप्त करता है, अनन्तर नरक आदि दुःसह दुःख द्वारा सन्तप्त करता है । पुण्य तो पहले अनुष्ठानके समयमें ही पुण्यकर्ता पुरुषको शरीरक्लेश आदिसे दुःखी करता है और पीछे स्वर्ग आदि फल प्रयुक्त गर्वादिसे और फलनाशकालमें पतन आदिसे दुःखी करता है ।

शङ्का— पूर्वोक्त संकल्प कौन करता है ?

समाधान—जो ज्ञानकर्मसमुच्चयका अनुष्ठान करता है, वही उक्त विचिकित्सावान् होकर मरनेके अनन्तर सूक्ष्म देहवेष्टित देवयान मार्गसे कार्यब्रह्मलोकको प्राप्त कर सुखी होता है । केवल इष्ट आदि कर्मोंका अनुष्ठान करनेवाला पितृयानसे चन्द्रलोकमें प्राप्त होता है और अनिष्ट कर्मोंका अनुष्ठान करनेवाला भूतसूक्ष्मपरिवेष्टित संयमनमें यमकी यातनाओंका पुनः पुनः अनुभव कर तदनन्तर वहांसे उतर कर पूर्वकर्मानुरूप योनिको प्राप्त होता है ॥ ४४५ ॥

'यदा न' इत्यादि । ब्रह्मवेत्ताको पुण्य और पाप दोनों तापकर नहीं होते, इसमें श्रुतिमुखसे उत्तर कहनेके लिए प्रश्नपूर्वक उत्तरवाक्य है । विद्वान् पुण्य और पाप दोनोंको तर जाता है, कारण कि कर्महेतु अविद्याका विद्यासे नाश होनेपर विद्वान् धर्माधर्मफलका अतिक्रमण कर जाता है । कृत यानी शुभकर्म फलप्रदान द्वारा अकृत प्रत्यवाय द्वारा नेतिनेतिदर्शीको तापकर नहीं होते । पुण्य या पाप ऐसा कोई नहीं है, जो ब्रह्मवेत्ताके लोकको नष्ट कर सके, वस्तुतः पुण्य रहता ही नहीं है ॥ ४४६ ॥

श्रुतिः—उभे ह्येते एषणे एव भवतः। स एष नेति नेत्यात्माऽगृह्यो नहि गृह्यतेऽशीर्यो नहि शीर्यतेऽसङ्गो नहि सज्यतेऽसितो न व्यथते न रिष्यत्येतमु हैवैते न तरत इत्यतः पापमकरवमित्यतः कल्याणमकरवमित्युभे उ हैवैष एते तरति नैनं कृताकृते तपतः ॥ २२ ॥

उभे उ हेति हेतूक्तिस्तच्चिन्ताया असम्भवे।
पुण्येन भूयान्पापेन कनीयान्वा भवेन्न यः ॥ ४४७ ॥
सोऽहमात्मेति विज्ञाते कर्मणोऽवसरः कुतः।
कृते देहादिभिस्ते द्वे अकृते वा द्विधाऽपि च ॥ ४४८ ॥
एनं तत्त्वविदं ते द्वे नैव तापयतः क्वचित्।
स्वयं न कुरुते तस्मात् तत्प्राप्तिश्च न विद्यते ॥ ४४९ ॥
नाऽप्राप्तयोस्तापकत्वं विद्यते परकीययोः।
मूढस्य तूभयोः कर्तुस्तापः पूर्वमुदाहृतः ॥ ४५० ॥

'उभे ह्येते' इत्यादि श्रुति। श्लोकव्याख्यानसे श्रुत्यर्थ स्पष्ट हो जायगा ॥२२॥

पुण्य और पापकी चिन्ता ब्रह्मवेत्ताको नहीं हो सकती। इसमें हेतु कहते हैं—'उभे' इत्यादिसे।

पुण्य और पापकी एषणासे ही ताप होता है, जो इन दोनों एषणाओंका अतिक्रमण कर चुका है, उसको उनकी चिन्ताकी क्या सम्भावना है ?। ब्रह्मवेत्ता न पुण्यसे महान् होता है और न पापसे लघु होता है। अपने आत्माको जो ब्रह्मस्वरूप जानता है और देहादिको परदेहके समान जानता है, उसको जब कर्मका संश्लेप ही नहीं होता, तब तन्निमित्तक चिन्ताका अवसर कहाँ ? यह परम तात्पर्य है ॥ ४४७ ॥

'सोऽहमात्मा' इत्यादि। शरीरातिरिक्त आत्मदर्शीको कृत अथवा अकृत दोनों यानी पुण्य और पाप ताप नहीं देते ॥ ४४८ ॥

'कर्मणोऽवसरः कुतः' इत्यादिसे कथित विद्वान्‌के कर्माभावका प्रपञ्च करते हैं—'एनम्' इत्यादिसे।

वे दोनों पुण्य और पाप ब्रह्मवेत्ताको ताप नहीं देते, विद्वान्‌में कर्तृत्व अभिमान न होनेसे जब स्वयं कर्म करता ही नहीं है, तब उसे उसकी प्राप्ति कैसे हो ? ॥ ४४९ ॥

'नाऽप्राप्तयो' इत्यादि। असंबद्ध पुण्य और पाप तापप्रद नहीं होते,

[illegible] यत्ताप [illegible] स्फुटम् ।
गर्वेण महता [illegible] [illegible] ॥ ४५१ ॥
पुण्यं च [illegible] [illegible] भवेत् ।
देहादिरक्षा[illegible]ऽपि कर्मतापस्य वर्जनम् ॥ ४५२ ॥
मूढाद्विशेषोऽभिज्ञस्य तावता कृतकृत्यता ।
ब्राह्मणे विस्तृतो योऽर्थो मन्त्रे संक्षिप्यते सहि ॥ ४५३ ॥

श्रुतिः—तदेतदृचाऽभ्युक्तम् । एष नित्यो महिमा ब्राह्मणस्य न वर्धते कर्मणा नो कनीयान् । तस्यैव स्यात्पदवित्तं विदित्वा न लिप्यते कर्मणा पापकेनेति तस्मादेवंविच्छान्तो दान्त उपरतः ॥

एष इत्यादिको मन्त्रस्तदर्थस्तूपवर्ण्यते ।
अद्वैतपरमानन्दमहिमाऽत्मविदोऽस्ति यः ॥४५४॥

अन्यथा अन्यदीय पुण्य और पापसे अन्यको भी तापकी प्रसक्ति हो जायगी ? मूढ कर्तृत्व अभिमानीको ताप होता है, यह पूर्वमें कहा जा चुका है ॥ ४५० ॥

'अकर्तुरपि' इत्यादि । यद्यपि वस्तुतः आत्मा अकर्ता है, फिर भी जो उसको ताप होता है, उसमें निमित्त महान् गर्व यानी अहङ्कार ही है। अहंकार अविद्वान्को स्वानुभवसिद्ध है । 'अहंकारविमूढात्मा कर्ताऽहमिति मन्यते' इसके अनुसार अज्ञानीको ही ताप होता है ॥ ४५१ ॥

मूढ और बुद्धमें भिक्षादिसे शरीरपोषणका साम्य होनेसे दोनोंमें कुछ विशेष नहीं है, इस आक्षेपका परिहार कर 'एतम्' इत्यादि वाक्यके तात्पर्यका निगमन करते हैं—'पुण्यं च' इत्यादिसे ।

पुण्य फल (सुख) राहित्यसे अकर्ताको तापप्रद होता है । देह आदिकी रक्षाका साम्य होनेपर भी कर्मताप तत्त्वज्ञमें नहीं होता । यही विशेष समझना चाहिए ॥ ४५२ ॥

'मूढाद्विशेषो०' इत्यादि । ब्रह्मज्ञमें मूढकी अपेक्षा यह विशेष है कि ब्रह्मज्ञ उसीसे कृतकृत्य हो जाता है । ब्राह्मणमें जो अर्थ विस्तृत है, वही मन्त्रमें संक्षिप्त किया गया हैं ॥ ४५३ ॥

'तदेतदृचाभ्युक्तम्' इत्यादि श्रुति। श्लोकव्याख्यानसे श्रुत्यर्थ गतार्थ है।

'एष' इत्यादि । 'एष' इत्यादि मन्त्र है, उसके अर्थका वर्णन किया जाता है, आत्मविद्की महिमा अद्वैत परमानन्द है ॥ ४५४ ॥

एष नित्यः कर्मजयोर्हानिवृद्ध्योरभावतः ।
आत्मनो यत्पदं तत्त्वं तदभिज्ञः पुमान्भवेत् ।
एनं विदित्वा पापेन कर्मणा नैव लिप्यते ॥ ४५५ ॥

बहिरङ्गं पुरा प्रोक्तं वेदानुवचनादिकम् ।
तत्संन्यासोऽतरङ्गत्वात्तत ऊर्ध्वमुदीरितः ॥ ४५६ ॥

अन्तरङ्गतरा ये ते शान्तिदान्त्यादयोऽखिलाः ।
वक्तव्या इत्यभिप्रेत्य श्रुतिस्तत्र प्रवर्त्तते ॥ ४५७ ॥

शान्तिः क्रोधपरित्यागो दान्तिर्बाह्याक्षनिग्रहः ।
शान्तो मुनिर्बलीवर्दो दान्त इत्युक्तिदर्शनात् ॥ ४५८ ॥

शमादिगुणसिद्ध्यर्थं मोक्षशास्त्रेऽप्यनेकधा ।
विवेको वर्णितस्तच्च सदा शास्त्रं विचिन्तयेत् ॥ ४५९ ॥

'एष नित्यः' इत्यादि । यह आत्मा नित्य है, इसमें कर्मजनित हानि या वृद्धिकी संभावना नहीं है । आत्माका जो पद यानी तत्त्व है, उसको जाननेवाला पुरुष होना चाहिए । श्रुतियोंमें पदशब्द तत्त्वपरक है । उक्त आत्माको जो जानता है, वह पापकर्मसे लिप्त नहीं होता ॥ ४५५ ॥

'बहिरङ्गम्' इत्यादि । आत्मज्ञानका बहिरङ्ग साधन वेदानुवचनादि है, जो पूर्वमें कहा गया है । कर्मसंन्यास उसका अन्तरङ्ग साधन है, इसीलिए उसको उसके बाद कहा गया है ॥ ५५६ ॥

'अन्तरङ्ग०' इत्यादि । जो शान्ति, दान्ति आदि उससे भी अति अन्तरङ्ग हैं, उनका भी निर्देश करना आवश्यक है, इस अभिप्रायसे श्रुति उनके निर्देशमें प्रवृत्त होती है ॥ ४५७ ॥

'शान्तिः' इत्यादि । क्रोधपरित्याग शान्ति कहलाती है, बाह्य विषयोंसे इन्द्रियोंको विरत करना 'दान्ति' कहा जाता है, इसको लौकिकोदाहरणसे स्पष्ट करते हैं—जैसे 'मुनिः शान्तो बलीवर्दो दान्तो हलवहनयोग्यः' (शान्त मुनि है और बधिया हुआ बलीवर्द हलवहनके योग्य है) ऐसा लोकमें प्रयोग देखा जाता है ॥ ४५८ ॥

'शमादि०' इत्यादि । शमादि गुणसिद्धिके लिए मोक्षशास्त्रमें अनेक प्रकारके

अपकारिणि कोपश्चेत्कोपे कोपः कथं न ते ।
धर्मार्थकाममोक्षाणां प्रसह्य परिपन्थिनि ॥ ४६० ॥
न पाणिपादचपलो न नेत्रचपलो यतिः ।
न च वाक्चपलश्चैवमिति शिष्टस्य लक्षणम् ॥ ४६१ ॥
पुमर्थः कर्मणा नेति धीरेषोपरतिर्भवेत् ।
न कर्मणा न प्रजयेत्यादिशास्त्रमधीयते ॥ ४६२ ॥

विवेकका वर्णन पाया जाता है, अतः विवेकोत्पत्तिके लिए सदा शास्त्रका चिन्तन करना चाहिए यानी --

न शब्दशास्त्राभिरतस्य मोक्षो न चाऽपि लोकग्रहणे रतस्य ।
न भोजनाच्छादनगर्वितस्य न चाऽपि रम्यावसथप्रियस्य ॥
आरण्यनित्यस्य जितेन्द्रियस्य सर्वेन्द्रियप्रीतिविवर्जितस्य ।
अध्यात्मचिन्तागतमानसस्य ध्रुवा ह्यनावृत्तिरपेक्षकस्य ॥

(व्याकरण आदि शास्त्रोंमें निपुण, लोकसङ्ग्रहमें निरत या भोजन, आच्छादन आदि विविध सामग्रियोंसे गर्वित तथा सुन्दर गृहमें निवासकी प्रीति रखनेवाले पुरुषको मोक्ष नहीं मिलता, किन्तु निर्जन अरण्यमें रहनेवाले, जितेन्द्रिय, सम्पूर्ण इन्द्रियोंमें प्रीतिसे रहित, अध्यात्मचिन्तनमें सदा तत्पर एवं मोक्षेच्छु पुरुषको निश्चित मोक्ष प्राप्त होता है) इत्यादि शास्त्रोंसे विवेकका सम्पादन करना चाहिए ॥ ४५९ ॥

'अपकारिणि' इत्यादि । अपकारीमें कोप करते हो, तो कोपमें कोप क्यों नहीं करते, क्योंकि कोप धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष चतुर्विध पुरुषार्थका विरोधी होनेसे अपकारी है । कोपमें यदि कोप हो, तो कोप नहीं कर सकेगा, इससे अनेक लाभ हो सकते हैं ॥ ४६० ॥

'न पाणि०' इत्यादि । यतिको हाथ और पैरसे चपल, नेत्रसे चपल एवं वाणीसे चपल नहीं होना चाहिए । वागादिचापल्यकी निवृत्ति ही शिष्टका लक्षण है । बाह्येन्द्रियोंके निग्रहके बिना चापल्यनिवृत्ति नहीं होती ॥ ४६१ ॥

'पुमर्थः' इत्यादि । कर्मोंसे पुरुषार्थ नहीं होता यह बुद्धि उपरति है, इसीसे न कर्मणा (कर्मसे, प्रजासे मोक्षरूप पुरुषार्थ नहीं सिद्ध होता, किन्तु त्यागसे मोक्ष होता है) इत्यादि कहा गया है ॥ ४६२ ॥

श्रुतिः—तितिक्षुः समाहितो भूत्वाऽऽत्मन्येवाऽऽत्मानं पश्यति।

अवश्यभोज्यं प्रारब्धं प्राप्तद्वन्द्वसहिष्णुता।
तितिक्षा, नहि तद्द्वन्द्ववर्जनोपाय ईक्ष्यते॥ ४६३॥
मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः।
आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत॥ ४६४॥
समाहितत्वमैकाग्र्यं मनसः श्रवणादिषु।
दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्येत्यस्यैतत्काठके वचः॥ ४६५॥

'तितिक्षुः समाहितो भूत्वा' इत्यादि श्रुति। श्लोकव्याख्यानसे श्रुत्यर्थ स्पष्ट है।

'अवश्य०' इत्यादि। प्रारब्ध शुभाशुभ कर्म अवश्य भोगना पड़ता है, इस धारणासे प्राप्त सुख, दुःख आदिकी सहिष्णुता तितिक्षा कहलाती है, भोगको छोड़कर द्वन्द्वकी निवृत्तिका दूसरा उपाय नहीं है, अतएव शास्त्रका वचन है—

'अवश्यंभाविभावानां प्रतीकारो भवेद्यदि।
तदा दुःखैर्न लिप्येयुर्नलरामयुधिष्ठिराः॥' इत्यादि।

—यानी अवश्यंभावी सुख, दुःख आदिका यदि प्रतिकार हो, तो नल, राम, युधिष्ठिर आदि दुःखसे लिप्त नहीं होते॥ ४६३॥

दुःख सहना ही पड़ता है, इसमें गीतावाक्यको भी प्रमाणरूपसे देते हैं—'मात्रा०' इत्यादि।

मात्राओंके यानी चक्षु आदि इन्द्रियोंके रूप, शब्द, स्पर्श आदि विषयोंके साथ हुए सम्बन्ध समय समय पर अनुकूल और प्रतिकूल होकर शीत और उष्णके समान सुख और दुःख देते हैं, वे उत्पत्ति एवं विनाशशील हैं, अतएव अनित्य हैं, हे अर्जुन, उनको सहो यानी तन्निमित्तक हर्ष या शोक मत करो॥ ४६४॥

'समाहित०' इत्यादि। ऐकाग्र्य समाहितशब्दार्थ है अर्थात् श्रवण, मनन आदि कर्ममें जिसका चित्त एकाग्र होता है, वही अधिकारी समझा जाता है। चञ्चलमतिसे श्रवण, मनन आदि नहीं हो सकते। 'दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या' इस काठक श्रुतिमें 'अग्र्यया'का तात्पर्य समाहित बुद्धिमें है। समाहित बुद्धिसे ब्रह्म देखा जा सकता है, अन्यथा नहीं॥ ४६५॥

श्रद्धावित्तत्वमप्येकं प्रोक्तं माध्यन्दिनैरिह ।
विश्वासातिशयः श्रद्धा वाक्येषु गुरुशास्त्रयोः ॥ ४६६ ॥
श्रद्धाभक्तिज्ञानयोगादित्याथर्वणिकं वचः ।
श्रद्धावांल्लभते ज्ञानमित्याह भगवानपि ॥ ४६७ ॥
रुचिमान् कर्मसंन्यासी युक्तः शमदमादिभिः ।
मुख्याधिकारी भूत्वाऽसावात्मन्यात्मानमीक्षते ॥ ४६८ ॥
देहेन्द्रियादिसाक्षित्वात् स्वानुभूत्येकमानतः ।
तस्मिन्नेव परात्मानं शास्त्रसिद्धं प्रपश्यति ॥ ४६९ ॥
आधाराधेयभावोऽयमेकस्मिन्नौपचारिकः ।
राहोर्मूर्द्धेति सम्बन्ध उपचाराद्यथा तथा ॥ ४७० ॥

शाखान्तरोक्त 'श्रद्धावित्त' शब्दका व्याख्यान करते हैं—'श्रद्धावित्तत्व०' इत्यादिसे ।

माध्यन्दिनशाखी श्रद्धाको भी ज्ञानसाधन मानते हैं । शास्त्रवाक्य तथा गुरुवाक्यमें विश्वासातिशयको श्रद्धा कहते हैं । श्रद्धा ही है वित्त यानी धन जिनका ऐसे श्रद्धावित्त (श्रद्धालु जन) ही ज्ञानी हो सकते हैं, दूसरे नहीं ॥ ४६६ ॥

'श्रद्धाभक्ति०' इत्यादि । श्रद्धा, भक्ति और ज्ञानयोगसे आत्मज्ञान होता है, यह अथर्ववेदका वाक्य है । श्रद्धावान्‌को ज्ञानका लाभ होता है, यह भगवान्‌ने भी गीतामें कहा है ॥ ४६७ ॥

'रुचिमान्' इत्यादि । पूर्वोक्तरुचिमान्, काम्य आदि कर्मोंका त्याग कर देनेवाला तथा शम, दम आदिसे संयुक्त पुरुष ही मुख्य ज्ञानाधिकारी होकर आत्मामें आत्माको देखता है ॥ ४६८ ॥

'देहेन्द्रियादि०' इत्यादि । देह, इन्द्रिय आदिके साक्षिरूपसे तथा प्रमाता आदिकी उत्पत्ति और विनाशके साक्षिरूपसे तथा अपने अनुभव प्रमाणसे जो आत्मा अपनी महिमासे ही स्फुरित होता है, उसीमें उपनिषदेकवेद्य परमात्माको देखता है यानी त्वंपदलक्ष्य चैतन्यको निरतिशयात्मरूपसे देखता है, यह तात्पर्य है ॥४६९॥

'आधारा०' इत्यादि ।

शङ्का—जीवात्मा और परमात्माका अभेद अद्वैतसिद्धान्तसिद्ध है, अतः एक ही में आधाराधेयभाव कैसे कहते हो ?

समाधान—ठीक है, मुख्य आधाराधेयभाव एकमें नहीं हो सकता, परन्तु

एवकारो भेदनुत्यै जीवात्मपरमात्मनोः ।
स्वात्मानमेव ब्रह्मेति ह्यखण्डत्वेन पश्यति ॥ ४७१ ॥

स्वात्मा यद्यपि दृष्टश्चेद् द्रष्टव्यं नाऽवशिष्यते ।
तथाऽप्यन्यः परात्मेति भ्रान्तिनुत्यै श्रुतेर्वचः ॥ ४७२ ॥

श्रुतिः—सर्वमात्मनं पश्यति नैनं पाप्मा तरति सर्वं पाप्मानं तरति नैनं पाप्मा तपति सर्वं पाप्मानं तपति विपापो विरजः ।

यहाँ औपचारिक आधाराधेयभाव विवक्षित है, मुख्य नहीं । राहुका सिर है, यह लोक और शास्त्रमें व्यवहार होता है । राहु और सिर दो पदार्थ नहीं हैं, जो राहु है, वही सिर भी है, धड़का तो नाम केतु है । षष्ठी भेदमें ही होती है । यहाँ राहु और सिरका यद्यपि भेद नहीं हैं, फिर भी 'अभेदे भेदमारोप्य' यानी अभेदमें भेदका आरोप कर जैसे औपचारिक षष्ठी मानी जाती है, वैसे ही प्रकृतमें भी औपचारिक आधाराधेयभाव समझना चाहिए । आत्मज्ञान होनेपर ज्ञान अनुत्पन्न नहीं कहा जा सकता । उस समय पूर्वके समान अज्ञान अबाधित भी नहीं है, संपूर्ण ज्ञेय समाप्त होनेसे कुछ भी ज्ञातव्य अवशिष्ट नहीं रह जाता । यही ब्रह्मविद्या मधुकाण्डमें पहले कही गई है । उसकी उत्पत्तिका फल इस समय श्रुतिने कहा है । अकर्त्रात्मविज्ञानसे समस्त अविद्या ध्वस्त हो जाती है; अतः अज्ञके समान ब्रह्मवेत्ताको पापका स्पर्श नहीं होता ॥ ४७० ॥

'एवकारो' इत्यादि । जीवात्मा और परमात्माके भेदके निरासके लिए एवकार है, ज्ञानी परमात्माको अपनेसे अभिन्न ही देखता है; स्वभिन्न नहीं ॥ ४४१ ॥

'स्वात्मा' इत्यादि ।

शङ्का—जीवात्मा और परमात्मा एक ही हैं अतः जिसने स्वात्मतत्त्वको देखा उसने परमात्माको देख ही लिया, फिर एवकारकी क्या आवश्यकता है ?

समाधान—द्वैतवादी जीवात्मासे परमात्माको भिन्न मानते और कहते हैं, उनके भ्रमका निरास करनेके लिए एवकार है । इससे द्वैतवादीका उपदेश भ्रान्तिमूलक होनेसे मुमुक्षुओंको उसपर आस्था नहीं करनी चाहिए ॥ ४७२ ॥

'सर्वमात्मानं पश्यति नैनं पाप्मा तरति' इत्यादि श्रुति । श्रुत्यर्थ श्लोकव्याख्यानसे गतार्थ है ।

परमात्मा यथा नाऽन्यः स्वात्मनोऽस्ति जगत्तथा ।
इति वक्ति श्रुतिः सर्वमात्मानमिति वाक्यतः ॥ ४७३ ॥
जडाजडं जगद्यच्च द्वयं तत्स्वात्मनाऽऽत्मवत् ।
आत्मनश्चेत् पृथक् तत् स्यान्निरात्मकमसद्भवेत् ॥ ४७४ ॥
जीवेशजगतां तत्त्वमखण्डैकरसं ततः ।
इति पश्यति यस्त्वेवं पाप्मा नाऽऽप्नोति कश्चन ॥ ४७५ ॥
पुण्यं च जन्महेतुत्वादत्र पाप्मेति वर्ण्यते ।
कर्महानिः पूर्वमुक्ता या तस्या उपसंहृतिः ॥ ४७६ ॥

'सर्वमात्मानं पश्यति' इस वाक्यकी व्याख्या करते हैं—'**परमात्मा**' इत्यादिसे।

जैसे परमात्मा स्वात्मासे व्यतिरिक्त नहीं है, वैसे ही चेतनाचेतनात्मक समस्त जगत् आत्मासे अतिरिक्त नहीं है। चेतन और अचेतन उभयात्मक जगत् परमात्मामें कल्पित है। कल्पित भुजङ्ग आदिकी अधिष्ठानसत्तासे अतिरिक्त सत्ता नहीं होती, किन्तु अधिष्ठानसत्ता ही होती है, यह अन्वयव्यतिरेकसे सिद्ध है इसी बातको श्रुति 'सर्वमात्मानम्' इस वाक्यसे कहती है। इसका पहले अनेकवार व्याख्यान भी हो चुका है, अतः प्रकृतमें विस्तार करना व्यर्थ है ॥ ४७३ ॥

'**जडाजडम्**' इत्यादि। जड़ (पृथिव्यादि) और अजड़ (जीवात्मा) उभयात्मक जगत् स्वात्मासे ही आत्मवान् है। यदि वह आत्मासे पृथक् माना जाय, तो निरात्मक असत् यानी खपुष्पादिके समान अत्यन्तासत् ही हो जायगा। उसको अत्यन्तासत् तो मान नहीं सकते, कारण कि अत्यन्तासत्का प्रत्यक्ष भान नहीं होता और यह प्रत्यक्ष प्रतीत होता है, अतः उभयात्मक जगत् स्वात्मव्यतिरिक्त नहीं है ॥ ४७४ ॥

'**जीवेश०**' इत्यादि। जीव, ईश और जगत्—इनका तत्त्व अखण्ड एकरस परब्रह्म ही है, अतः उस प्रकारके तत्त्वको जो देखता है, उसको किसी प्रकारका पाप नहीं लगता। पाप तो भेददर्शीको होता है, जो आत्मव्यतिरिक्त पापको जानता ही नहीं है, उसको पापप्राप्तिकी क्या सम्भावना है ? ॥ ४७५ ॥

'**पुण्यं च**' इत्यादि।

शङ्का—'पाप्मा' इस विशेषनिर्देशसे तत्त्वदर्शीको पापका स्पर्श नहीं होगा, पर पुण्यका स्पर्श तो होगा ही।

समाधान—नहीं, पापशब्दसे यहाँ पुण्यका भी ग्रहण विवक्षित है, कारण

उल्लङ्घयेन्न पाप्मैनं स तं प्रत्युत लङ्घयेत् ।
पाप्मा तापयते नैनं स तं प्रत्युत तापयेत् ॥ ४७७ ॥
कर्माधीनत्वमापाद्य मूढं पाप्माऽतिलङ्घयेत् ।
जन्मादिदुःखदानेन मूढं पाप्माऽतितापयेत् ॥ ४७८ ॥
कर्माध्यक्षस्वरूपत्वाज्ज्ञानी कर्माऽतिलङ्घयेत् ।
ज्ञानाग्निना दहेत् कर्म स्वात्माविद्यासमुत्थितम् ॥ ४७९ ॥

कि पुण्य भी तो शुभयोनि आदिमें उत्पत्ति होनेका कारण है, जन्म होनेपर सांसारिक दुःख अनिवार्य है। दुःखप्रयोजक ही पाप्मा कहलाता है, अतः मुमुक्षुके लिए पुण्य भी पाप ही है। देहग्रहणका हेतु होनेसे पुण्य भी अनिष्ट ही है, इसलिए ब्रह्मवेत्तामें धर्मका भी स्पर्श नहीं होता। कर्महानि पहले ही कही जा चुकी है, उसीका यहाँ उपसंहार है। देहाभिमानीको दुःखाभाव नहीं हो सकता, 'न ह वै सशरीरस्य' इत्यादि श्रुति ही उक्त अर्थमें प्रमाण है ॥ ४७६ ॥

'उल्लङ्घयेत्' इत्यादि। पाप तत्त्ववेत्ताका उलंघन नहीं कर सकता, प्रत्युत तत्त्ववेत्ता ही पापका उलंघन करता है तथा पाप तत्त्ववेत्ताको तप्त नहीं कर सकता, प्रत्युत तत्त्ववेत्ता ही पापको तप्त करता है ॥ ४७७ ॥

शङ्का—'पाप्मा विद्वांसं न तरति' यह वाक्य ही व्यर्थ है, क्योंकि पाप अचेतन है, वह विद्वान्का तरण कैसे कर सकता है? अचेतन लोष्ठ आदि कुल्याका तरण कहां करते हैं।

समाधान—'कर्माधीनत्व०' इत्यादि। यहां तरणका अर्थ कर्माधीनत्व है, जैसे पाप मूढको स्वाधीन कर जन्म आदि दुःख देता है, वैसे ज्ञानीको जन्म आदि दुःख नहीं देता एवं जैसे जन्म आदि दुःखके प्रदान द्वारा पाप मूढको संतप्त करता है, वैसे ज्ञानीको नहीं करता। ज्ञानीके ऊपर कर्मका प्रभाव ही नहीं पड़ता। भर्जनकपालस्थ बीजके समान स्वयं नष्ट हो जाता है। अतएव कविवाक्य है—प्रवृत्तयोऽप्यात्ममयप्रकाशान्नघ्नन्ति नघ्नन्तिमदेहमाप्तान् ॥ ४७८ ॥

'कर्माध्यक्ष०' इत्यादि। कर्माध्यक्ष होनेसे ज्ञानी कर्मका अतिलंघन करता है, क्योंकि सेवककी अपेक्षा स्वामी प्रबल होता है। स्वात्माके अज्ञानसे समुत्पन्न कर्मको ज्ञानरूप अग्निसे ज्ञानी भस्म करता है। अकर्त्रात्मयाथात्म्यज्ञानरूप अग्निसे

विपापो विरजस्कोऽयं पापविद्याविवर्जनात् ।
यस्मादविचिकित्सोऽतो ब्राह्मण्यं मुख्यमस्य हि ॥ ४८० ॥

श्रुतिः—अविचिकित्सो ब्राह्मणो भवत्येष ब्रह्मलोकः सम्राडेनं प्रापितोऽसीति होवाच याज्ञवल्क्यः सोऽहं भगवते विदेहान् ददामि मां चापि सह दास्यायेति ॥ २३ ॥ स वा एष महानज आत्माऽन्नादो वसुदानो विन्दते वसु य एवं वेद ॥ २४ ॥

नाऽयं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः ।
सर्वसंशयविच्छेदे भवति ब्राह्मणो बुधः ॥ ४८१ ॥

सब पापोंको ज्ञानी भस्म कर देता है, यह स्वयं भगवान्‌ने अपने श्रीमुखसे परम भक्त अर्जुनके प्रति कहा है—

'यथैधांसि समिद्धोऽग्निः भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन ।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा ॥'

यदि पापका सम्बन्ध हो, तो वह ज्ञानीको तप्त करे । अकर्तृत्वादिज्ञानसे जब उसका सम्बन्ध ही ज्ञानीके साथ नहीं है, तब उसमें तापकत्व कहां !

शङ्का—पहले आपने कहा कि ज्ञानाग्निसे कर्म भस्म हो जाता है और अब आप कहते हैं कि पाप उत्पन्न ही नहीं होता, इसमें वास्तविक तत्त्व क्या है ?

समाधान—सञ्चित कर्मकी अपेक्षा नाश कहा गया है और क्रियमाण कर्मकी अपेक्षा अनुत्पत्ति कही गई है, यह शास्त्रका निष्कर्ष है ॥ ४७९ ॥

'विपापो' इत्यादि । पाप और अविद्यासे रहित होनेके कारण ज्ञानी विपाप और विरजस्क होता है। सर्वसंशयहेतु आत्ममोहके नाशसे सर्वसंशयरहित अविचिकित्स ब्राह्मण होता है । ईदृश अवस्थापन्न ही वास्तविक ब्राह्मण माना जाता है, इससे पहले भावी अवस्थाका आश्रयण कर गौणवृत्तिसे ब्राह्मण कहलाता है ।

शङ्का—ब्राह्मणशब्द जातिवाचक है, अतः इस अवस्थासे पहले भी तो ब्राह्मण जाति है, अतः पहले भी मुख्य ही प्रयोग है, गौण क्यों ?

समाधान—श्रुति ऐसा नहीं मानती, श्रुति ईदृश अवस्थापन्नको ही मुख्य ब्राह्मण कहती है ॥ ४८० ॥

'अविचिकित्सो' इत्यादि श्रुति । श्लोकव्याख्यानसे श्रुत्यर्थ स्पष्ट है ॥२३,२४॥

'नाऽयं लोको' इत्यादि । यह लोक नहीं है, परलोक नहीं है, इस प्रकार

अथ ब्राह्मण इत्येवं जीवन्मुक्ताभिधानतः ।
स एव ब्राह्मणोऽत्र स्यान्न जात्या जातिबाधनात् ॥ ४८२ ॥
ब्रह्मत्वमेव ब्राह्मण्यमित्यभिप्रायमात्मनः ।
विशदीकर्तुमाहैष ब्रह्मलोक इतीदृशम् ॥ ४८३ ॥
यो वेदैष ब्रह्मलोको न तु मानुषविग्रहः ।
ब्रह्मैव लोक इत्येवं पूर्वमेवोपपादितम् ॥ ४८४ ॥

संशयग्रस्त आत्माको सुख नहीं होता है, अतः 'संशयात्मा विनश्यति' यह कहा गया है। संशयसे निष्कम्प प्रवृत्ति और श्रद्धा नहीं होती, इसलिए संशयान पुरुष ऐहिक या पारलौकिक फलको देनेवाले शुभ कर्मोंका अनुष्ठान नहीं कर सकता और उभयविध सुखका भाजन भी नहीं होता। सम्पूर्ण संशयोंकी निवृत्ति होनेपर विद्वान् ब्राह्मण होता है। ब्रह्मज्ञ ही श्रुत्यभिप्रेत मुख्य ब्राह्मण है ॥ ४८० ॥

'अथ' इत्यादि। जीवन्मुक्त ही वास्तविक ब्राह्मणशब्दका अर्थ है, अतः वही इस श्रुतिमें ब्राह्मणशब्दार्थरूपसे विवक्षित है; जातिके तात्पर्यसे नहीं।

शङ्का—क्यों ?

समाधान—उस अवस्थामें जातिका बाध है, जाति तो अज्ञानमूलक ही है, कारणीभूत अज्ञानका बाध होनेपर उसकी कार्यभूत जाति कहां ? ॥ ४८२ ॥

'ब्रह्मत्व०' इत्यादि। ब्रह्मत्व ही ब्राह्मण्य है, इस अपने अभिप्रायको व्यक्त करनेके लिए श्रुति स्वयं कहती है—'ब्रह्मलोकः'। इस वाक्यसे ब्रह्मत्व ही ब्राह्मण्य है, यह स्पष्ट है ॥ ४८३ ॥

'यो वेदैष' इत्यादि। जो पुरुष एवंभूत ब्रह्मको जानता है, वह ब्रह्मलोक है, मनुष्यशरीरी नहीं है। ब्रह्मलोकका यहांपर दो प्रकारसे समास हो सकता है—एक 'ब्रह्मैव लोकः' यों कर्मधारय और दूसरा 'ब्रह्मणो लोकः' यों षष्ठीसमास। प्रकृतमें कर्मधारयसमास ही इष्ट है, षष्ठीसमास इष्ट नहीं है।

शङ्का—क्यों ?

समाधान—'निषादः स्थपतिं याजयेत्' ऐसी श्रुति है, उसका विचार मीमांसकोंने यों किया है—मल्लाह निषाद कहलाता है और मालिक यानी अधिपति स्थपति कहलाता

है। यदि यहां 'निषादश्चासौ स्थपतिः' यों कर्मधारय समास मानें, तो यदि निषाद ज़मींदार हो तो उसको यज्ञ कराना, ऐसा प्रकृतवाक्यका अर्थ प्राप्त होता है। पर निषाद शूद्रजातिविशेष है, उसका वेदमें अधिकार ही नहीं, फिर वह यज्ञ कैसे करेगा? यज्ञमें बहुतसे मन्त्र यजमानको ही पढ़ने पड़ते हैं, अतः षष्ठीसमास या बहुव्रीहिसमास मानना चाहिए। षष्ठीसमाससे 'निषादस्य स्थपतिः' इस व्युत्पत्तिसे निषादके स्थपति ब्राह्मण आदि भी हो सकते हैं, जिन ब्राह्मण आदिकी भूमिमें निषाद बसते हों, वे ब्राह्मण आदि निषादस्थपति हैं, उनको वेद पढ़नेका अधिकार है, अतः उनको यज्ञ करानेमें आपत्ति नहीं है। अथवा 'निषादः स्थपतिर्यस्य येषां वा' यह बहुव्रीहिसमास मानें तो भी ठीक है, क्योंकि निषादकी ज़मीनमें रहनेवाले निषादस्वामिक ब्राह्मण आदि हो सकते हैं, अतः उनको यज्ञ कराना चाहिए, यह पूर्वपक्ष कर सिद्धान्त किया कि षष्ठीतत्पुरुष समास माननेपर पूर्वपद निषादकी सम्बन्धीमें लक्षणा करनी पड़ेगी यानी निषादस्थपतिपदसे निषादसम्बन्धी स्थपति ऐसा बोध होता है, यह कहना पड़ेगा, एवं बहुव्रीहिसमास माननेपर उत्तरपद स्थपतिकी सम्बन्धीमें लक्षणा माननी होगी, पर लक्षणामें गौरव होगा, अतः कर्मधारयसमास मानना ही ठीक है, यह उभयपदार्थ प्रधान है। यद्यपि उसको वेदाधिकार नहीं है, तथापि इस वाक्यसे तादृक् यागोपयोगी मन्त्र पढ़नेके अधिकारकी कल्पना की जायगी, अन्यथा उक्त वाक्य ही व्यर्थ हो जायगा।

शङ्का—जैसे उक्त वाक्यमें षष्ठीसमास और बहुव्रीहिसमास माननेमें लक्षणा-रूप गौरव है, इसलिए उनका त्याग किया जाता है, वैसे ही कर्मधारयसमास माननेमें निषादको वेदाध्ययनाधिकारकी कल्पना करनेमें भी तो गौरव समान ही है, फिर कर्मधारयसमास ही क्यों इष्ट है?

समा०—उक्त समासमें मूल वाक्यार्थमें लाघव होता है, फलमुख गौरव इष्ट है, इसलिए वाक्यान्तरकल्पनामें दोष नहीं है। किञ्च, लोकशब्दोत्तर प्रथमाविभक्ति श्रुत है, उसीका समासान्तवर्ती ब्रह्मशब्दोत्तर भी स्वीकार करना योग्य है, सन्निधान और लाघवसे श्रुत कल्पकशून्य षष्ठीकल्पनाकी अपेक्षा अतिलघुतर प्रथमा कल्पना युक्त है, अतः ब्रह्मलोकमें भी समासान्तर कल्पनामें उक्त दोष है, कर्मधारयमें उक्त लाघव है, इसलिए 'ब्रह्मैवलोकः' यों कर्मधारय समास ही इष्ट है, इसका पूर्वमें भी निरूपण हो चुका है ॥ ४८४ ॥

ससाधनाया विद्यायाः संपूर्णत्वादयं नृपः ।
स्वदेहसहितं राज्यं गुरवेऽस्मै न्यवेदयत् ॥ ४८५ ॥
आख्यायिकां परित्यज्य श्रुतिः स्वमुखतः पुनः ।
स वा इत्यादिना वक्ति ब्रह्मोपास्तिं फलार्थिनाम् ॥ ४८६ ॥
पूजार्थं भक्तदत्तान्नमत्तीत्यन्नाद उच्यते ।
वसुदाता च भक्तेभ्यः स एष परमेश्वरः ॥ ४८७ ॥
पूजास्वीकारदातृत्वगुणयुक्तं महेश्वरम् ।
य उपास्ते पुमानेष यथेष्टं लभते धनम् ॥ ४८८ ॥

'ससाधनाया' इत्यादि । उक्त प्रकारसे श्रीयाज्ञवल्क्यजीने राजा जनकका अनुशासन किया यानी संन्यास आदि साधनोंसे युक्त सेतिकर्तव्यताक ब्रह्म-विद्याका पूर्णरूपसे उपदेश दिया । अब कुछ भी उपदेष्टव्य अंश बाकी नहीं बचा, अतः जनक राजाने अपनी देहके साथ संपूर्ण राज्यको गुरु श्रीयाज्ञ-वल्क्यजीके अर्पण किया । विद्यानुरूप ही दक्षिणा देना उचित है । विद्या-निष्क्रयहेतु केवल राज्य या केवल शरीर नहीं हो सकता, इसलिए गुरुजीको दोनोंका समर्पण किया, इनसे अतिरिक्त और देय ही क्या था ? जो था, वह सब दे ही दिया ।

शङ्का —ब्रह्मविद्याके समाप्त हो जानेपर भी परमानन्दप्राप्तिके लिए क्या कुछ और कर्तव्यान्तर है ?

समाधान —नहीं, सर्वानर्थनिवृत्तिपुरःसर परमानन्दकी प्राप्तिके लिए अतिपरिश्रमसे केवल इस बोधका ही सम्पादन करना चाहिए, उसीसे पुरुष कृतार्थ हो जाता है ॥४८५॥

'आख्यायिकाम्' इत्यादि । आख्यायिका समाप्त कर श्रुति स्वमुखसे फिर 'स वा' इत्यादि वाक्यसे फलार्थियोंके लिए ब्रह्मोपासना कहती है । उक्त प्रकारसे विज्ञात आत्मा मोक्षके लिए होता है और अज्ञात आत्मा संसाररूप ऐश्वर्य आदिके लिए होता है ॥ ४८६ ॥

'पूजार्थम्' इत्यादि । पूजार्थ भक्तोंके द्वारा प्रदत्त अन्नको खानेसे आत्मा अन्नाद कहा जाता है और भक्तोंको वसु (धन) देनेसे वही परमात्मा वसुदाता भी कहा जाता है ॥ ४८७ ॥

'पूजा०' इत्यादि । जो उपासक पुरुष पूजास्वीकार और दातृत्वगुणसे विशिष्ट परमेश्वरकी उपासना करता है, वह यथेष्ट धन पाता है ॥ ४८८ ॥

श्रुतिः—स वा एष महानज आत्माऽजरोऽमरोऽमृतोऽभयो ब्रह्माभयं वै ब्रह्माभयं हि वै ब्रह्म भवति य एवं वेद ॥ २५ ॥

इत्युपनिषदि चतुर्थं ब्राह्मणं समाप्तम् ।

विद्वद्दृष्ट्या स एवाऽऽत्मा जरामरणवर्जितः ।
आनन्दो भयहीनश्च ब्रह्मैवाऽतो न चेतरः ॥ ४८९ ॥

'स वा एष महानज आत्मा' इत्यादि श्रुति । श्लोकव्याख्यानसे श्रुत्यर्थ स्पष्ट है ॥ २५ ॥

'विद्वद्दृष्ट्या' इत्यादि । जिस आत्माको अविद्वान् जरा, मरण आदि धर्मोंसे युक्त मानते हैं, वही विद्वानोंकी दृष्टिसे जरा, मरण आदिसे शून्य है, आनन्द-स्वरूप तथा भयहीन है । आत्मा ब्रह्मस्वरूप ही है, उससे अतिरिक्त नहीं है । अज्ञानसे ही आत्मा ब्रह्मभिन्न तथा जरा आदि धर्मोंसे युक्त प्रतीत होता है और बोध होनेपर ब्रह्मस्वरूप और जरादि धर्मोंसे रहित आत्मा अनुभूत होता है । 'अहं ब्रह्म' इत्यादि वाक्यजन्य विज्ञानसे प्रत्यगात्माके अज्ञानका ध्वंस हो जानेपर आत्माका जो रूप वस्तुतः रहता है, उसीको यहां कहते हैं । जैसे अज्ञानके बिना रज्जु सर्प नहीं होती, वैसे ही आत्मा अविद्याके बिना कार्यस्वरूप नहीं होता, अतः वह अज है, सब विकारोंका मूल जन्म ही है, उसके बिना वृद्धि, अपक्षय आदि कोई भावविकार नहीं होते । यद्यपि जन्मका प्रतिषेध करनेपर अन्य भावविकार स्वयं प्रतिषिद्ध हो जाते हैं, तथापि श्रुति यत्नसे जन्म, जरा आदिका प्रतिषेध करती है ।

शङ्का—क्यों ?

समाधान—आर्थिक निषेध शाब्दिक नहीं कहा जा सकता, अतः जन्म-जरादिमें पारमार्थिकत्वशङ्काका निरास करनेके लिए श्रुति अपने ही मुखसे उनका निषेध करती है । जैसे देह आदि कालावच्छिन्न होनेसे जरा आदि धर्मोंसे युक्त होते हैं, वैसे आत्मा उन धर्मोंसे युक्त नहीं होता, कारण कि आत्मा कालानवच्छिन्न है, अतएव अजर है । जन्मादिका निषेध करनेके अनन्तर आत्मामें नाशाख्य अन्त्य विकार यतः अमरश्रुतिसे निषिद्ध होता है, इसलिए उसके मध्यवर्ती वृद्धि आदि सब विकारोंका निषेध विवक्षित है । अमरोक्तिसे प्राणत्यागात्मक मृत्युका निषेध है, अजरोक्तिसे

द्वितीयाज्जायते भीतिर्ब्रह्म द्वैतविवर्जनात् ।
अभयं तत्प्रसिद्धिस्तु वैशब्देनाऽत्र वर्ण्यते ॥ ४९० ॥
य एष ब्रह्म जानाति तद्ब्रह्मैव भवत्यसौ ।
हिशब्दोऽशेषवेदान्तप्रसिद्धिं सूचयेदिह ॥ ४९१ ॥

इति वार्तिकसारे चतुर्थाध्याये चतुर्थं ब्राह्मणं समाप्तम् ।

पञ्चमं ब्राह्मणम्

श्रुतिः—अथ ह याज्ञवल्क्यस्य द्वे भार्ये बभूवतुर्मैत्रेयी च कात्यायनी च तयोर्ह मैत्रेयी ब्रह्मवादिनी बभूव स्त्रीप्रज्ञैव तर्हि कात्यायन्यथ ह याज्ञवल्क्योऽन्यद्वृत्तमुपाकरिष्यन् ॥ १ ॥

मैत्रेयीति होवाच याज्ञवल्क्यः प्रव्रजिष्यन् वा अरेऽहमस्मात्स्थाना-दस्मि हन्त तेऽनया कात्यायन्याऽन्तं करवाणीति ॥ २ ॥

सा होवाच मैत्रेयी यन्नु म इयं भगोः सर्वा पृथिवी वित्तेन पूर्णा स्यात् स्यां न्वहं तेनामृताऽऽहो ३ नेति नेति होवाच याज्ञवल्क्यो यथैवोपकरणवतां जीवितं तथैव ते जीवित१ स्यादमृतत्वस्य तु नाशास्ति वित्तेनेति ॥ ३ ॥

सा होवाच मैत्रेयी येनाहं नामृता स्यां किमहं तेन कुर्यां यदेव भगवान् वेद तदेव मे विब्रूहीति ॥ ४ ॥

स होवाच याज्ञवल्क्यः प्रिया वै खलु नो भवती सती प्रियम-

कारणसंसर्गरूप मृत्युका निषेध किया गया है और 'अमृत'से निरन्वय नाशका वारण किया गया है ॥ ४८९ ॥

'द्वितीयात्' इत्यादि । भय द्वितीयसे यानी दूसरेसे होता है, ब्रह्म अद्वितीय यानी द्वैतशून्य है, अतः भयकी संभावना ही नहीं है । वैशब्द द्वैतनिबन्धन भय अद्वैत आत्मामें नहीं होता, यह प्रसिद्धि बतलानेके लिए है । हम अद्वैत आत्म-स्वरूप हैं, ऐसा साक्षात्कारात्मक बोध हो जानेपर भयकी क्या संभावना ? सब उपनिषदोंका संक्षिप्त अर्थ यहां कहा गया है ॥ ४९० ॥

'य एष' इत्यादि । जो पुरुष ब्रह्मको जानता है, वह ब्रह्म ही हो जाता है, यहां 'हि' शब्द अशेषवेदान्तप्रसिद्धिका सूचक है । दो काण्डों द्वारा युक्त सफल संपूर्ण अर्थ यहां समाप्तिकी विवक्षासे उपसंहृत किया गया है ॥ ४९१ ॥

चतुर्थ ब्राह्मण समाप्त

वृधद्धन्त तर्हि भवत्येतद् व्याख्यास्यामि ते व्याचक्षाणस्य तु मे निदिध्यासस्वेति ॥ ५ ॥

स होवाच न वा अरे पत्युः कामाय पतिः प्रियो भवत्यात्मनस्तु कामाय पतिः प्रियो भवति, न वा अरे जायायै कामाय जाया प्रिया भवत्यात्मनस्तु कामाय जाया प्रिया भवति, न वा अरे पुत्राणां कामाय पुत्राः प्रिया भवन्त्यात्मनस्तु कामाय पुत्राः प्रिया भवन्ति, न वा अरे वित्तस्य कामाय वित्तं प्रियं भवति, आत्मनस्तु कामाय वित्तं प्रियं भवति, न वा अरे पशूनां कामाय पशवः प्रिया भवन्त्यात्मनस्तु कामाय पशवः प्रिया भवन्ति, न वा अरे ब्रह्मणः कामाय ब्रह्म प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय ब्रह्म प्रियं भवति, न वा अरे क्षत्रस्य कामाय क्षत्रं प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय क्षत्रं प्रियं भवति, न वा अरे लोकानां कामाय लोकाः प्रिया भवन्ति, आत्मनस्तु कामाय लोकाः प्रिया भवन्ति, न वा अरे देवानां कामाय देवाः प्रिया भवन्त्यात्मनस्तु कामाय देवाः प्रिया भवन्ति, न वा अरे वेदानां कामाय वेदाः प्रिया भवन्त्यात्मनस्तु कामाय वेदाः प्रिया भवन्ति, न वा अरे भूतानां कामाय भूतानि प्रियाणि भवन्त्यात्मनस्तु कामाय भूतानि प्रियाणि भवन्ति, न वा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति, आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो मैत्रेय्यात्मनि खल्वरे दृष्टे श्रुते मते विज्ञाते इदꣳ सर्वं विदितम् ॥ ६ ॥

ब्रह्म तं परादाद्योऽन्यत्रात्मनो ब्रह्म वेद, क्षत्रं तं परादाद्योऽन्यत्रात्मनः क्षत्रं वेद लोकास्तं परादुर्योऽन्यत्रात्मनो लोकान् वेद देवास्तं परादुर्योऽन्यत्रात्मनो देवान् वेद, वेदास्तं परादुर्योऽन्यत्रात्मनो वेदान्वेद, भूतानि तं परादुर्योऽन्यत्रात्मनो भूतानि वेद, सर्वं तं परादाद्योऽन्यत्रात्मनः सर्वं वेदेदं ब्रह्मेदं क्षत्रमिमे लोका इमे देवा इमे वेदा इमानि भूतानीदꣳ सर्वं यदयमात्मा ॥७॥

स यथा दुन्दुभेर्हन्यमानस्य न बाह्याञ्छब्दाञ्छक्नुयाद् ग्रहणाय दुन्दुभेस्तु ग्रहणेन दुन्दुभ्याघातस्य वा शब्दो गृहीतः ॥ ८ ॥

स यथा शङ्खस्य ध्मायमानस्य न बाह्याञ्छब्दाञ्छक्नुयाद्ग्रहणाय शङ्खस्य तु ग्रहणेन शङ्खध्मस्य वा शब्दो गृहीतः ॥ ९ ॥

स यथा वीणायै वाद्यमानायै न बाह्याञ्छब्दाञ्छक्नुयाद्ग्रहणाय वीणायै तु ग्रहणेन वीणावादस्य वा शब्दो गृहीतः ॥ १० ॥

स यथार्द्रैधाग्नेरभ्याहितस्य पृथग्धूमा विनिश्चरन्त्येवं वा अरेऽस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेवैतद्यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस इतिहासः पुराणं विद्या उपनिषदः श्लोकाः सूत्राण्यनुव्याख्यानानि व्याख्यानानीष्टꣳ हुतमाशितं पायितमयं च लोकः परश्च लोकः सर्वाणि च भूतान्यस्यैवैतानि सर्वाणि निःश्वसितानि ॥ ११ ॥

स यथा सर्वासामपाꣳ समुद्र एकायनमेवꣳ सर्वेषाꣳ स्पर्शानां त्वगेकायनमेवꣳ सर्वेषां गन्धानां नासिके एकायनमेवꣳ सर्वेषाꣳ रसानां जिह्वैकायनमेवꣳ सर्वेषाꣳ रूपाणां चक्षुरेकायनमेवꣳ सर्वेषाꣳ शब्दानाꣳ श्रोत्रमेकायनमेवꣳ सर्वेषाꣳ सङ्कल्पानां मन एकायनमेवꣳ सर्वासां विद्यानाꣳ हृदयमेकायनमेवꣳ सर्वेषां कर्मणाꣳ हस्तावेकायनमेवꣳ सर्वेषामानन्दानामुपस्थ एकायनमेवꣳ सर्वेषां विसर्गाणां पायुरेकायनमेवꣳ सर्वेषामध्वनां पादावेकायनमेवꣳ सर्वेषां वेदानां वागेकायनम् ॥ १२ ॥

स यथा सैन्धवघनोऽनन्तरोऽबाह्यः कृत्स्नो रसघन एवैवं वा अरेऽयमात्माऽनन्तरो ऽबाह्यः कृत्स्नः प्रज्ञानघन एवैतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानु विनश्यति न प्रेत्य संज्ञाऽस्तीत्यरे ब्रवीमीति होवाच याज्ञवल्क्यः ॥ १३ ॥

सा होवाच मैत्रेय्यत्रैव मा भगवान्मोहान्तमापीपिपन्न वा अहमिमं विजानामीति स होवाच न वा अरेऽहं मोहं ब्रवीम्यविनाशी वा अरेऽयमात्माऽनुच्छित्तिधर्मा ॥ १४ ॥

यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितर इतरं पश्यति तदितर इतरं जिघ्रति तदितर इतरꣳ रसयते तदितर इतरमभिवदति तदितर इतरꣳ शृणोति तदितर इतरं मनुते तदितर इतरꣳ स्पृशति तदितर इतरं विजानाति । यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं पश्येत्तत्केन कं जिघ्रेत्तत्केन कꣳ रसयेत्तत्केन कमभिवदेत्तत्केन कꣳ शृणुयात् तत्केन कं मन्वीत तत्केन कꣳ स्पृशेत्तत्केन कं विजानीयाद्येनेदꣳ सर्वं विजानाति तं केन विजानीयात् स एष नेति नेत्यात्माऽगृह्यो नहि गृह्यतेऽशीर्यो नहि शीर्यतेऽसङ्गो नहि सज्यतेऽसितो न व्यथते न रिष्यति विज्ञातारमरे केन विजानीयादित्युक्तानुशासनाऽसि मैत्रेय्येतावदरे खल्वमृतत्वमिति होक्त्वा याज्ञवल्क्यो विजहार ॥ १५ ॥

इत्युपनिषदि चतुर्थाध्यायस्य पञ्चमं ब्राह्मणं समाप्तम् ।

मधुकाण्डे याज्ञवल्क्यकाण्डे विज्ञानमीरितम् ।
तत्सर्वमुपसंहर्तुं मैत्रेयीब्राह्मणं भवेत् ॥ १ ॥
वक्तव्यश्च विशेषोऽत्र पूर्वोक्तादधिको नहि ।
इति सूचयितुं शेषस्तत्पाठः पुनरुच्यते ॥ २ ॥

पञ्चम ब्राह्मण

'मधुकाण्डे' इत्यादि । मधुकाण्डमें तथा याज्ञवल्क्यकाण्डमें जो विज्ञान कहा गया था, उस सबका उपसंहार करनेके लिए मैत्रेयी ब्राह्मण है । भाव यह है कि पूर्व ब्राह्मणमें मन्त्र और ब्राह्मणोंसे अर्थानर्थ और उनके हेतु, पुरुषार्थ और उसके हेतु—इन चारोंका उपदेश देकर मन्त्र ही से पुरुषार्थमार्गमें संपूर्ण वेदका विनियोग कह कर, सोपाधिक और निरुपाधिक भेदसे द्विविध ब्रह्म, उसका ज्ञान और ज्ञानका फल भी कहा गया । अब कुछ वक्तव्य अवशिष्ट नहीं है, अतः उत्तर ब्राह्मण अनावश्यक है, इस शङ्कासे पूर्ववृत्तका कीर्तन करते हैं । आगमाङ्ग युक्तियोंका आगमोत्तर कथन युक्त है, क्योंकि प्रधान आगमके निर्देशके अनन्तर गुणभूत तदङ्गका निर्देश समुचित होता है । जल्पन्यायसे पञ्चम अध्यायमें निरूपण और वादन्यायसे षष्ठ अध्यायमें निरूपण है—ससंन्यास आत्मविद्या जो मधुकाण्डागमसे कही गई है, वही संन्याससहित आत्मविद्या न्यायप्रधान मुनिकाण्डसे भी कही गई है, मोक्षके लिए ससंन्यास आगमसे कही गई है, श्रुति और युक्तिसे सिद्ध अर्थके उपसंहारके लिए यह ब्राह्मण है ॥ १ ॥

'वक्तव्यश्च' इत्यादि । पूर्वोक्तसे अधिक इस अध्यायमें कुछ भी वक्तव्य नहीं है, इसके सूचनके लिए उसी पाठको यहां फिर कहते हैं, यह सारा संसार परमात्मासे ही आविर्भूत हुआ है, अतः कार्य और कारणका अभेद होनेसे सब परमात्मस्वरूप है, सब कार्यका तत्त्व परमात्मा ही है । भीतर और बाहर सैन्धवके टुकड़ेके समान सैन्धवके समान विज्ञानघन विज्ञानात्मा है । स्वविकाराविद्योपश्लेषसे तद्विकारबुद्ध्यादिसे विज्ञानात्मत्वको प्राप्त कर विद्यासे अविद्याका नाश होनेपर पुनः स्वप्रकृतिस्थ हो जाता है अविनाशी शब्दसे परिणामरूप नाशका प्रतिषेध है और अनुच्छित्तिशब्दसे निरन्वय नाशका प्रतिषेध इष्ट है । चारों अध्यायोंमें एक ब्रह्म ही आत्मा है । ब्रह्मप्राप्तिके उपायोंके भेदसे उपेयभेदकी शङ्का अयुक्त है । उपेय सर्वत्र एक ही है ॥ २ ॥

यद्यप्यतीतकाण्डेऽस्ति मधुब्राह्मणमुत्तमम् ।
तथापि याज्ञवल्क्येन सम्बन्धायेदमुच्यते ॥ ३ ॥

इति वार्तिकसारे चतुर्थाध्यायस्य पञ्चमं ब्राह्मणं समाप्तम् ।

षष्ठं ब्राह्मणम्

अथ वꣳशः पौतिमाष्यात् पौतिमाष्यो गौपवनाद्गौपवनः पौतिमाष्यात्पौतिमाष्यो गौपवनाद्गौपवनः कौशिकात्कौशिकः कौण्डिन्यात्कौण्डिन्यः शाण्डिल्याच्छाण्डिल्यः कौशिकाच्च गौतमाच्च गौतमः ॥ १ ॥

आग्निवेश्यादाग्निवेश्यो गार्ग्याद्गार्ग्यो गार्ग्याद्गार्ग्यो गौतमाद्गौतमः सैतवात्सैतवः पराशर्यायणात्पाराशर्यायणो गार्ग्यायणाद्गार्ग्यायणः उद्दालकायनादुद्दालकायनो जाबालायनाज्जाबालायनो माध्यंदिनायनान्माध्यंदिनायनः सौकरायणात्सौकरायणः काषायणात्काषायणः सायकायनात्सायकायनः कौशिकायनेः कौशिकायनिः ॥ २ ॥

घृतकौशिकाद् घृतकौशिकः पाराशर्यायणात्पाराशर्यायणः पाराशर्यात्पाराशर्यो जातूकर्ण्याज्जातूकर्ण्य आसुरायणाच्च यास्काच्चासुरायणस्त्रैवणेस्त्रैवणिरौपजंघनेरौपजंघनिरासुरेरासुरिर्भारद्वाजाद्भारद्वाज आत्रेयादात्रेयो माण्टेर्माण्टिर्गौतमो गौतमाद्गौतमाद्गौतमो वात्स्याद्वात्स्यः शाण्डिल्याच्छाण्डिल्यः कैशोर्यात्काप्यात्कैशोर्यः काप्यः कुमारहारितात्कुमारहारितो गालवाद्गालवो विदर्भीकौण्डिन्याद्विदर्भीकौण्डिन्यो वत्सनपातो बाभ्रवाद्वत्सनपाद्बाभ्रवः पथः सौभरा-

---

'यद्यप्य०' इत्यादि ।

शङ्का—दो काण्डोंसे प्रतिपादित विज्ञानके उपसंहारके लिए यह ब्राह्मण है, यह जो आप कहते हैं, वह ठीक नहीं है, क्योंकि मधुकाण्डका उपसंहार तो मधुकाण्डब्राह्मणसे ही हो चुका है ।

समाधान—मधुब्राह्मणका अनेकार्थत्व कहा गया है, उसमें हेत्वसिद्धिके निराकरणके लिए यह ब्राह्मण है, अतः काण्डद्वयोपसंहारपरक है । यदि उसको मधुकाडार्थनिगमनपरक मानें, तो इसे केवल मुनिकाण्डार्थमात्रनिगमनपरक समझना चाहिए ॥ ३ ॥

पञ्चम ब्राह्मण समाप्त

त्पन्थाः सौभरेः सौभरिरयास्यादाङ्गिरसादयास्य आङ्गिरस आभूतेस्त्वाष्ट्रादाभूति-स्त्वाष्ट्रो विश्वरूपात्त्वाष्ट्राद्विश्वरूपस्त्वाष्ट्रोऽश्विभ्यामश्विनौ दधीच आथर्व-णाद्दध्यङ्ङाथर्वणो दैवादथर्वा दैवो मृत्योः प्राध्वंसनान्मृत्युः प्राध्वंसनः प्रध्वंसनात्प्रध्वंसन एकर्षेरेकर्षिर्विप्रचित्तेर्विप्रचित्तिर्व्यष्टेर्व्यष्टिः सनारोः सनारुः सनातनात्सनातनः सनगात्सनगः परमेष्ठिनः परमेष्ठी ब्रह्मणो ब्रह्म स्वयंभुब्रह्मणे नमः ॥ ३ ॥

इत्युपनिषदि षष्ठाध्याये षष्ठब्राह्मणं समाप्तम् ।

उपसंहृत्य तां विद्या काण्डवंशोऽथ वर्ण्यते ।
स व्याख्यातः पूर्वमेव ब्रह्माप्त्यै जप्यतामिति ॥ १ ॥
नवत्यधिकसंख्याताः श्लोका नवशतानि च ।
सन्ति वार्तिकसारेऽस्मिन् षष्ठाध्यायस्य सङ्ग्रहे ॥ २ ॥

इति वार्तिकसारे चतुर्थाध्यायस्य षष्ठब्राह्मणं समाप्तम् ।

*

छठा ब्राह्मण

'उपसंहृत्य' इत्यादि । आत्मविद्याका उपसंहार कर काण्डवंशका वर्णन करते हैं ।

शङ्का—पुनः वंशवर्णनकी क्या आवश्यकता है ?

समाधान—चतुर्थाध्यायमें इसका उत्तर कर चुके हैं, अतः उसीका यहाँ स्मरण करो । ब्रह्मप्राप्तिके लिए इसका जप करना चाहिए, यही प्रयोजन है ॥ १ ॥

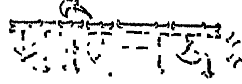
'नवत्य०' इत्यादि । ९९० नव सौ नब्बे श्लोक षष्ठाध्यायके सङ्ग्रहके लिए इस वार्तिकसारमें हैं ॥ २ ॥

वैक्रमे नागनन्दाङ्कशशाङ्कमितवत्सरे
वैशाखकृष्णैकादश्यां भौमे मध्याह्नगे रवौ ।
वाराणस्यां नीलकण्ठे राधाकृष्णस्य मन्दिरे
वसन् वार्तिकसारस्य भाषाटीकामपूपुरम् ॥

म० म० पण्डितप्रवरश्रीहरिहरकृपालुविरचितवार्तिकसारभाषानुवादमें छठा ब्राह्मण समाप्त ।

*

श्रीः



—❀—

क्रोशैरन्तरितं चतुर्भिरनघश्रेणीत्रिवेणीतटात्
विद्योपार्जितभूषु पण्डितपुरं यद्भात्यवाच्यां स्थितम् ।
अस्मत्तातपितामहेन सुधिया धाराधरेण स्वयं
सारामं नववासितं द्विजमयं तत्राऽस्मदीयं जनुः ॥ १ ॥

पूज्यश्रीलपितामहाद् मम विदो विश्वम्भरादक्षरा-
रम्भोऽभूत् सुदिने वराँवनृपतेर्द्वारि प्रधानात् पितुः ।
प्राज्ञाच्छ्रीबलभद्रदत्तकृतिनः प्रारभ्य शब्दागमं
स्वाध्यायव्युपरोधि कर्मबहुलं पश्यन्नयोध्यामगाम् ॥ २ ॥

रामाज्ञापदपङ्कजादधिगतिस्तत्राऽभवद् व्याकृतेः
श्रीलोमापतिपादपद्मरजसस्सप्राच्यतर्काम्बुधेः ।
वेदान्तादिकदर्शनस्य वसतः काश्यामगस्त्याश्रमे
निःशेषागममन्थमन्दरमतेः श्रीराममिश्राङ्घ्रितः ॥ ३ ॥

श्रीमद्रामनिरञ्जनस्य महतो व्यापारपुष्यद्धियः
श्रद्धाभक्तिदयादरादिगुणिनो विद्यालये पाटने ।
छात्रौघं सपरिश्रमम्बहुतिथं शास्त्राण्यलम्पाठयन्
तस्य स्वान्तमतूतुषं गुरुदयं सन्तोषवृत्त्या चिरम् ॥ ४ ॥

सत्यप्रेमशुभाश्रयाश्रितकृपादानोपकारक्षमा
तेजःसूक्तिविशुद्धिसंयमगुणग्रामाभिरामाकृतिः ।
वाग्मी धर्मधुरन्धरः परहितोन्मेषप्रदव्याहृतिः
ज्ञानानन्दमयेश्वराङ्घ्रिमधुपः श्रेष्ठी ममाऽऽसीच्चिरम् ॥ ५ ॥

काश्यां [illegible] निवसति द्रव्यं ददानोऽर्थिने
तस्मिन् योगनिरामयार्थिनि परमानन्दस्वभावं गते ।
संसारेषु तदादिमं त्वपरतो [illegible]-
[illegible] त्ववसरं [illegible] प्रार्तथे ॥ ६ ॥

हीरालालोऽस्य भ्राता [illegible] नोच्चः
ज्यायान्कालान्तरेऽसौ पुनरपि कथितो [illegible]मन्त्रयित्वा ।
श्रेयोर्थिभ्योपरोधः क्षतिरपि महतो माऽस्तु विद्यालयस्ये-
त्याह प्रेम्णा प्रबन्धं निवसतु विदधद् यत्र वोऽभीष्टसिद्धिः ॥ ७ ॥

पञ्चाशत्प्रतिमासमत्र भवते मुद्राः प्रदास्यामहे
सङ्कल्पं लघुमेनमेतमुचितं पुष्णातु नः प्रीतये ।
स्वीकृत्य प्रचुराशिषा सह मतः संयोज्य सन्तोष्य तान्
अष्टौ [illegible] [illegible]पुरं संसारसेतुं श्रये ॥ ८ ॥

संस्थाप्य स्थिरशास्त्रमार्मिकमतिं श्रीब्रह्मदत्तं सुतं
तत्रैतत्कृतिकौशलं बहुगुणं स्वामिप्रमोदप्रदम् ।
छात्रौघाभ्युदयादिसाधनमितः श्रुत्वा श्रुतेरीप्सितं
मन्ये रामसदाशिवस्य कृपया सर्वं फलं सूयते ॥ ९ ॥

आसीद्वैश्यान्वयोत्पलकुलमिहिरः श्रीसदानन्दरामः
व्यापारोत्कर्षशीलः प्रथितगुणगणः धर्मकर्मप्रवीणः ।
सन्मार्गाव्यग्रचित्तः सकलहितपरः प्रेमपूर्णोपदेशः
शुद्धोदारस्वभावप्रमितहितकथः सान्वितार्थाभिधानः ॥ १० ॥

राधाकृष्णोऽस्य पुत्रो जनकसमगुणः पूर्वजाध्वानुवर्ती
सर्वव्यापारदक्षः स्वगणपरिवृढः सर्वसामान्यवृत्त्या ।
दीनान्तःक्लेशशान्तिप्रणयननिपुणः सर्वदोदारवृत्तिः
न्याय्योद्योगप्रयोगप्रगुणितविभवो भूरिविख्यातिमापत् ॥ ११ ॥

तत्पुत्राः पञ्च तेषु प्रथमजननभृत् सर्वसुप्रीतिपात्रम्
जोखीरामोऽविरामोन्नतिपरहृदयो धर्मकर्मैकनिष्ठः ।
सर्वत्रोदारदृष्टिः प्रणतभयहरः सत्स्वभावानुवर्ती
व्यापारिव्यूहसेव्यव्यवहृतिवचनोऽभून्न कस्य प्रियः सः ॥ १२ ॥

तत्सूनु [illegible] ऽमलकुलालङ्कारहीरोपमः
[illegible] ह्यानवद्योदयः ।
वैधे कर्मणि कर्मठः परहितोत्पादप्रयासोत्सवः
धर्मोद्धारधुरन्धरोऽजनि जनः कोऽन्यस्तदीयोपमः ॥ १३ ॥

गौरीशङ्करनामकोऽस्य तनयः पुण्यापरोक्षाकृतिः
ब्रह्मानन्दपरानुभूतिसुहितो वीतस्पृहः संसृतौ ।
गौरीशङ्करपादपङ्कजरसैराप्यायितान्तस्थलः
प्रारब्धं क्षपयन्निहाऽस्ति जननीशुश्रूषया सान्वयः ॥ १४ ॥

निर्मानासङ्गमोहप्रमदमुखजनुर्दोषरोषादिरिक्तः
शुश्रूषाध्यानयोगप्रशमदमगुणैः प्रोतसंपूतचेताः ।
धर्म्यानुष्ठाननिष्ठापरिहृतहृदयानन्तसन्तानदोषः
लक्ष्मीसोद्दामलीलावलयितशरणो राजते शुद्धसत्त्वः ॥ १५ ॥

आबाल्यं विश्वकर्तुश्चरणकमलयोर्यस्य गाढोऽनुरागः
भक्त्या सानन्दमस्याऽच्युतचरितकथावाचनेऽयुङ्क्त चित्तम् ।
मातापित्रोः सदाज्ञानुसरणनियता सर्वकर्मप्रवृत्तिः
सोऽयं धर्माभिगुप्त्यै सुदृढपरिकरः पाति सद्धर्ममूलम् ॥ १६ ॥

सन्त्यन्येऽपि सहस्रमत्र धनिनो लक्ष्मीकृपाभूमयः
तस्योद्धारसमीहया च ददति द्रव्यं सहर्षं भृशम् ।
किन्त्वेते न विविञ्चते धिषणया मूलस्य रक्षाविधेः
शाखापुष्पफलादिरक्षणमपि स्यादेव कामं ततः ॥ १७ ॥

श्रीमच्छाङ्करभाष्यसिन्धुमथनज्ञातात्मतत्त्वामृतः
श्रीमद्भागवतार्थबोधवशतः प्रोद्भूतभक्त्यङ्कुरः ।
वेदान्तेषु परात्मबोधनिपुणैः संशोधिताभ्यन्तरः
युक्तः श्रेष्ठिमहोदयोऽपि कुरुते कर्माऽखिलं निर्ममः ॥ १८ ॥

अस्मिन् श्रीश्च सरस्वती च वसति प्रेम्णाऽऽश्रयोत्कर्षतः
त्यक्त्वा शाश्वतिकं विरोधमभितः स्वाचारधर्मैः समम् ।
दानौदार्यदयादरैकशरणव्यापारपारीणधीः
सोऽयं केन कथं गुणैकजलधिः कैरक्षरैः स्तूयताम् ॥ १९ ॥

[illegible]

[illegible]परम्परानुराग[illegible]शुद्धाशयः ।

अन्येषां भगिनामिवाऽस्य हृदयं [illegible]

संस्कारस्य न शिक्षयाऽपि नवया जातस्य चित्रीयते ॥ २० ॥

भूतिर्यस्य जगद्धितैकजननी धर्मानुबन्धी व्ययः

सन्न्यायप्रवणाऽनुभूतिरमला शुद्धचरित्रोदयः ।

सन्मार्गावननिष्ठितं च हृदयं सर्वोत्तमनीनं व्रतम्

आस्ते शान्तिकरं प्रियं सुवचनं तस्याऽस्य धन्यं जनुः ॥ २१ ॥

भूत्वा वैश्यकुलामलातुलमणिर्विज्ञानवद्याशयः

स्वामी सन्नपि कोमलैः श्रुतिसुखैः शिक्षाश्रयैर्भाषितैः ।

सागस्कस्य निजाश्रवस्य हृदयं सम्प्रीणयन् गुरुवरं

सर्वं गृष्यति या कृपाः पुरोरात अब्याहरंत्रप कः ॥ २२ ॥

आचारोपचितात्मबोधमहितप्रज्ञापरीताकृतिं

नित्यानन्दमयाद्वयात्मनियतप्रेमप्रबुद्धान्तरम् ।

दृष्ट्वा भक्तिरसप्रसक्तिहृदयः सोत्कण्ठमासं गृहं

प्रेष्ये सत्यपि सादरं स्वयमसौ शुश्रूषतेऽभ्यागतम् ॥ २३ ॥

एष श्रेष्ठिवरो विभज्य समयं धर्मार्थकामादिक-

प्राप्तेरौपयिकं करोति विधिवत्कर्माविरोधोदयम् ।

तत्त्वज्ञैर्यतिभिः सहाऽर्थनिपुणैर्मान्यैरमुष्याऽऽश्रवैः

नीतिज्ञैः सुविमृश्य पुष्यति ततः सर्वां समीहा फलम् ॥ २४ ॥

सायं प्रातर्विविक्तः सविधि हरिहरायर्चनं संविधाय

ब्रह्मज्ञं वीतरागं प्रशमितमनसं बोधनप्रौढवाचम् ।

ब्रह्मानन्दं बुभुत्सुः श्रयति यतिगुरुं श्रीघनश्यामनामा-

मन्दं संन्यासिवर्यैः सह शुचिमनसा श्रेष्ठिवर्योऽपि नित्यम् ॥ २५ ॥

आत्मानन्दैकनिष्ठः प्रथितयतिवरो ब्रह्मविद्यानदीष्णः

सभ्येभ्यो भिक्षुभिक्षाप्रमुखभरसहं यो गृहव्रातमच्छम् ।

निर्मायैतान्निवेश्य स्वयमुपदिशति श्रेयसे भिक्षुवर्गान्

सोऽयं शान्तः कदाचिद्भजति गृहगुहाभ्यन्तरस्थः समाधिम् ॥ २६ ॥

[illegible] नन्तशान्त्यै
काश्यामस्यां मुमुक्षोर्भवनभुवि मनोहारिनिर्माणशोभम् ।
स्निग्धग्रावोपक्लृप्तं कनकजकलशीवृन्दसन्दीप्रवप्रम्
यस्याऽऽस्ते मेरुशृङ्गद्युतिहरशिखरं मन्दिरं चन्द्रमौलेः ॥ २७ ॥

क्षुद्रानन्दप्रमुखाः सततशिवधियो येऽत्र संन्यासनिष्ठाः
तेषां मन्त्राभिलाषः श्रुतिशिखरगिरां ब्रह्मभूयोपलब्ध्यै ।
दृष्टिध्यानस्तवाद्यैः सगुणरतिपरा येऽपि संसारिचित्ताः
तेऽपि स्वेष्टं लभन्तामिति सकलहितं चेष्टितं श्रेष्ठिनः स्यात् ॥ २८ ॥

शिल्पोत्कर्षान्तिमश्रीपरिचितरचनं शर्वशैलाभलाभं
विद्युद्यन्त्रप्रदीपव्यजनपरिसरोद्धूपिताशेषशालम् ।
नीलानीलोत्पलांशम्फुरदजिररुचिस्वच्छिताद्भ्रशोभं
यस्याऽऽस्ते स्मेरवेश्म स्मरहरनगरे शुभ्रमभ्रंकषाग्रम् ॥ २९ ॥

मित्थे त्रैविक्रमं स्वश्चरणमिव वियद्व्यापि रम्योत्तमाङ्गं
बिभ्रच्छुभ्रांशुशोभां गिरिशगिरिशिशुश्रद्धयैवोपनम्रम् ।
सम्यक्कीर्मीरितांशं कलिकलुषहरश्लोकितान्तप्रदेशं
धर्म्यं हर्म्यं तदीयं हरति जनमनो ज्ञानवाप्यन्तिकस्थम् ॥ ३० ॥

सप्तप्रासादमालासुललितललिताघट्टसंघट्टिताङ्गः
गङ्गाम्भोभङ्गसङ्गीसुखशिशिरमरुत्पाविताशेषशालः ।
द्विव्यद्वारांशुदीप्रोन्नृहदुपलशिलारम्भणोज्जृम्भिशोभः
स्वास्ते विद्यालयोऽस्य त्रिपुरहरपुरे प्राच्यधर्मानुवर्ती ॥ ३१ ॥

ऋग्वेदः शुक्लकृष्णद्विविधयजुरथो सामवेदो ह्यथर्वा
वेदः सूत्रप्रयोगक्रमघनसहितः पाठ्यतेऽत्रैव भिन्नैः ।
तैस्तैरध्यापकैः किं क्वचिदपि विदिता वेदशिक्षेदृशी वः
एतस्यौदार्यमीदृक् प्रथयति नितरां श्रौतमार्गेऽस्य निष्ठाम् ॥ ३२ ॥

मीमांसापाणिनीयश्रुतिशिखरनयज्योतिषन्यायकाव्या-
युर्वेदौलूक्यसांख्यग्रहगणितकलाप्राच्यनव्यप्रभेदान् ।
हिन्दीरामायणाद्यैः सह निगमपुराणेतिहासेङ्ग्लिशादीन्
योग्यानध्यापयन्ति प्रमुदितगुरवो ब्राह्मणानेव यस्मिन् ॥ ३३ ॥

[illegible] मूर्तिमन्मूर्तिमा[illegible]

[illegible] ॥

[illegible] चाऽस्य [illegible]

[illegible] पिपुर्गति पुरुषाः निस्सहायाः कुटुम्बान् ॥ २४ ॥

वस्त्रव्यापारवृद्धिप्रमतविभवतः [illegible]कार्यस्य वृद्धि-

र्भूयादित्याशयेन प्रथितशिवपुरे भूरिशालं विशालम् ।

क्षुभ्यत्क्षुत्क्षामलोकोदरभरणकरं वस्त्रनिर्माणयन्त्रा-

गारं निर्माति भव्यं सुदृढपरिकरं भूतिमानेष धीरः ॥ ३५ ॥

भागीरथ्याः प्रतीरे विलसति विपुलं वस्त्रनिर्माणयन्त्रा-

गारं सर्वातिशायि त्रिदशपतिवनीसोदरोद्यानरम्यम् ।

लक्ष्मीसोल्लासलीलामृनिलयहवड़ागौलि[illegible]

केषां चेतो न [illegible] निखिलं वीक्ष्य [illegible]ऽस्मिन् ॥ ३६ ॥

[illegible]

पोतैः संभोनयन्त्रैः [illegible]सरिद्वारिवीचिप्रसिक्तैः ।

संपूतैः शीतवातैर्व्यवधि विहरतां [illegible]

उद्यानं हृष्टमस्य स्मरयति रुचिरं नन्दनं निर्विशेषम् ॥ ३७ ॥

साङ्गाम्नायप्रचारो भवतु बहुतिथं चिन्तयित्वा वदान्यः

दत्वा लक्षाणि सभाऽचलविभवदृढं कोशमेकं स कृत्वा ।

सर्वं कार्यं कुर्सादैः प्रचलतु निपुणं मा ऽस्त्वपेक्षा परेषां

इत्यास्थो देववाण्या यदकृत सुकृती कोऽपरस्तच्चिकीर्षेत् ॥ ३८ ॥

जन्मस्थानं किलाऽभून्नवलगढमिति ख्यातमेतत्कुलस्य

व्यापारोत्कर्षदृष्ट्या चिरमधिवसतः तद्धि खुर्जा समूर्जा ।

स्वल्पाकाराऽपि भूरिव्यवहृतिजननी भीष्मभूसूरभूता-

स्रोतःपूतद्विपार्श्वा जगति विजयते श्रेष्ठिसत्त्वोपलम्भात् ॥ ३९ ॥

तत्राऽऽस्ते मेघमालाविलसितशिखरोऽदभ्रशुभ्रोऽस्य सौधः

पीयूषांशुप्रसन्नस्फटिकमणिरुचिर्भूरिभूतिप्रभूतिः ।

विद्युद्यन्त्रप्रदीपव्यजनमुखसुखापेक्षिताशेषवस्तु-

स्थित्याऽमन्दप्रमोदं हरिनिलय इव स्वागतेभ्यो ददामः ॥ ४० ॥

आस्ते तस्योपकण्ठं सुरभिसुमलताशोभितान्तप्रदेशः
शीतस्फीतप्रमोदामलसलिलगलद्ग्रीष्मभीष्मोष्मतापः ।
विश्रान्त्यै श्रान्तिभाजां सुघटितशकलैः स्फाटिकैर्बद्धवेदिः
आरामो मृष्टमार्गः सकलजनमनोनन्दनो नन्दनाभः ॥ ४१ ॥

प्राचां वाचां प्रचारो विरल इह जनस्तद् व्युदास्ते स्वधर्मात्,
मैवं स्यादित्यमुष्य स्वकृत गुरुजनः संस्कृतानां प्रवाचाम् ।
प्रौढं विद्यालयं यं स्वपुरि विलसति ऋद्धदोषैरिदानीं
भिन्दानो वासनाभिः सह विमतिबलं जन्मिनां श्रेयसेऽसौ ॥ ४२ ॥

शास्त्राभ्यासोपनीतं परिणतिविरसं शुष्कतर्कोपजीव्यं
चित्तादिश्रान्त्युदर्कं भवभयशमने नाऽलमेकं कदाचिद् ।
विज्ञानं किन्तु भक्त्या सगुणविषयया युक्तमित्येतदीयः
राधाकृष्णस्य विष्णोरकृत जनमुदे मन्दिरं सुन्दराङ्गम् ॥ ४३ ॥

श्रेष्ठिश्रीशपदारविन्दरसिको गीर्वाणभाषाप्रियः
गौरीशङ्करनामकोऽत्रवसतिव्यापारिणामग्रणीः ।
धर्मानुष्ठितिसंस्कृतोज्ज्वलमनाः सप्रेमशुश्रूषया
मातुः श्रीपरमेश्वराङ्घ्रिनलिनध्यानप्रबुद्धात्मनः ॥ ४४ ॥

वार्धक्यप्रभवाप्रगल्भकरणग्रामाऽपि कल्योत्थिता
गङ्गास्नानसुरार्चनस्तुतिजपश्रीविश्वनाथेक्षणम् ।
तत्पूजादिसमाप्य मेध्यमशनं कृत्वा विरम्योत्तरम्
भक्तिप्रेमसुधारसस्रुतिकरान् ग्रन्थान् स्वयं वीक्षते ॥ ४५ ॥

काशीवासपरानुरागवशतो व्यावर्त्य चेतोऽन्यतः
लोकानन्दकराद्विरामविरसान्मायामरीच्यम्बुनः ।
साम्बध्यानपरायणाऽमृतपदप्राप्तिप्रसक्तान्तरा
निर्मोहा मुनिमानसा विजयतामेषा सुपुत्रप्रसूः ॥ ४६ ॥

अस्याः शुश्रूषयाऽसौ व्यवहृतिविषयं सम्पदुत्कर्षभाजं
शुद्धाचारश्रवेभ्यो विदितबहुविधव्यापृतिभ्योऽनुजेभ्यः ।
तत्रस्थेभ्यः समर्प्य स्वयमवहितहृच्चालयन् पत्रयन्त्र-
द्वारा कार्याणि काशीमधिवसति शिवं सान्वयः कर्म कुर्वन् ॥ ४७ ॥

[illegible] कृअदलभिपणः पिल्पलो मे मतीश्वौ
मित्रं विशालगे ऽस्य [illegible] मामदं [illegible] ।
[illegible] मम [illegible] त्वां नियोक्तुं
स्वीकारा[illegible] योगोऽमवदिद च गिरा श्रेष्ठिनो मे प्रवृत्तिः ॥ ४८ ॥

हिन्दीभाषाविवेकाविकसितहृदयः क्वाऽस्मि गम्भीरभावः
ग्रन्थस्याऽमुष्य योगापद्धतमलमनोमात्रमेयस्वभावः ।
क्वाऽस्ते ऽथाऽप्यच्युतस्वामिचरणसुकृपामात्रहस्तावलम्बः
व्याख्यं संक्षिप्य सारं सरलमतिमुदे भाषया वार्तिकस्थम् ॥ ४९ ॥

क्षन्तव्योऽस्मि ममेह दुष्करकृतौ नैव प्रवृत्तिः स्वतः
किन्तु श्रेष्ठिमहोदयोदितवचस्सम्पालनेच्छावशात् ।
दीपो भक्तिसमर्थितोऽम्बरमणिं प्रीणाति तद्वन्मिरं
मूलार्थावगमे स्वतन्त्रधिषणानेना कृतिः प्रीणयेत् ॥ ५० ॥

प्रज्ञावैभवदर्शनाय यशसे नैवाऽर्थलाभाय वा
क्वाऽहं मन्दमतिः क्व चेदृशफलं नैवाऽनभिज्ञाग्रणीः ।
निर्बाधेच्छतया मुनेर्गुरुगिरां निष्ठावतः श्रेष्ठिनः
प्रेमप्रेरणयाऽत्र चाऽच्युतमुनेः प्रावीवृतं प्रीतये ॥ ५१ ॥

अनूद्य सारस्य कियन्तमंशकं परात्मभावं समितेऽच्युते मुनौ ।
तदीप्सितस्याऽखिलपूर्तिवाञ्छया न्ययूयुजच्छ्रेष्ठिमहोदयोऽत्र माम् ॥ ५२ ॥

विद्याविवेकविकसन्महनीयकीर्तिः लोकोत्तरस्वजननीचरणानुरक्तिः ।
सर्वोपकारकरकर्मपरप्रवृत्तिः सुप्रीयताच्चिरमसावमुना वदान्यः ॥ ५३ ॥

यत्पादपद्मस्मरणप्रभावादतीतरं लेखमहाब्धिपारम् ।
सदाशिवौ तौ पितरौ जगत्याः नतेन मूर्ध्ना प्रणमामि भूयः ॥ ५४ ॥

अच्युतग्रन्थमालाया मनीषिभ्यः परश्शतान् ।
धन्यवादान् प्रयच्छामि, तत्सहायो व्यधारिषम् ॥ ५५ ॥
योगिगम्येऽत्र विषये चलतस्स्खलतोऽपि मे ।
उपहासो न योग्योऽस्ति बालस्येव विपश्चितः ॥ ५६ ॥